भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला संस्कृत ग्रन्थाङ्क–२७

श्री मज्जिनसेनाचार्यप्रणीत

हरिवंशपुराण

हिन्दी अनुवाद, प्रस्तावना,
तथा परिशिष्ट सहित

सम्पादक
पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

वीर निर्वाण सं० २४८८
वि० सं० २०१९, सन् १९६२

मूल्य
सोलह रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालामें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध
आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन और उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन होगा। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ,
शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और
लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी
ग्रन्थमालामें प्रकाशित होंगे।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. हीरालाल जैन, एम. ए., डी. लिट्.

डॉ. आ० ने० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

●

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

●

स्थापनाब्द : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फरवरी सन् १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ SAṆSKRIT GRANTH No. 27

HARIVAṀŚA PURĀṆA

of

JINASENA

WITH

HINDI TRANSLATION

INTRODUCTION & APPENDICES

EDITOR

Pt. PANNA LAL JAIN, SAHITYACHARYA

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

VIRA SAMVAT 2488
V. S. 2019, 1962 A. D.

Price
Rs. 16/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANATHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMŚA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES AND CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED.

•

General Editors

Dr. Hiralal Jain. M. A. D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A. D. Litt.

•

'ounded on–Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000.18th Febr.1944

प्रधान सम्पादकीय

साहित्यकी प्रेरणाके मूलाधार हैं प्रकृतिके दृश्य और घटनाएँ एवं जीवनके अनुभवन। मनुष्यके विभिन्न अनुभवोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली उन पुरुषोंके चरित्र सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणका कुछ विशेष कार्य किया, चाहे वह संकटसे मुक्ति सम्बन्धी हो अथवा भौतिक या आध्यात्मिक उत्कर्षके रूपमें। यह बात इसीसे सिद्ध है कि संसारका नब्बे प्रतिशत साहित्य वीर-गाथात्मक है, जिसमें यथार्थ व कल्पित कुछ असाधारण लोकोत्तर मानव-चरित्रका चित्रण पाया जाता है। भारतीय साहित्यको ही देखिए जहाँ वेदोंसे लगाकर कलकी चीनी लड़ाईके किसी छोटे-से समाचार तककी रचनाओंमें किसी-न-किसी प्रकारके पौरुषकी ही प्रधानता पायी जायेगी।

राष्ट्रके कुछ महापुरुषोंके चरित्र क्षेत्र और कालकी सीमाको पार कर व्यापक रूपसे लोकरुचिके विषय बन गये हैं। राम और कृष्णके चरित्र इसी प्रकारके हैं। हिन्दू और जैन साहित्यमें इनकी प्रधानता है, और गत दो-ढाई हजार वर्षोंमें अगणित पुराण, काव्य, नाटक व कथानक इन नामोंके आधारसे लिखे गये हैं। जैसे वैदिक परम्परामें रामायण और महाभारत उक्त विविध साहित्यिक धाराओंके स्रोत सिद्ध हुए हैं वैसे ही जैन साहित्यमें पद्मपुराण या पद्मचरित और हरिवंशपुराण या अरिष्टनेमिचरितका स्थान है। यहाँ हमारा प्रयोजन विशेषतः हरिवंश सम्बन्धी कथानकोंसे है। अर्धमागधी आगममें अनेक स्थलोंपर कृष्ण व कौरव-पाण्डवोंके आख्यान आये हैं। विशेषतः छठे श्रुताङ्ग णायाधम्मकहाओ एवं आठवें अन्तगडदसाओमें। आगमोतर 'वसुदेवहिंडी' आदि प्राकृत ग्रन्थ भी हरिवंश सम्बन्धी कथाओंके महान् आकर हैं। इनका बहुत-सा वर्णन महाभारतसे मिलता है, और कुछ स्वतन्त्र पाया जाता है। विशेष बात यह है कि इन चरित्रोंको भिन्न-भिन्न धर्मोंमें भी अपनी-अपनी सैद्धान्तिक व नैतिक परम्पराके अनुरूप बनाकर अपनाया गया है।

पूछा जा सकता है कि इन अन्य धर्मके देवरूप माने जानेवाले पुरुषोंको जैनधर्ममें क्यों और कैसे मान्यता प्राप्त हुई? उत्तर वही है, जो ऊपर दिया जा चुका है। जैनधर्ममें वीर-पूजाकी मान्यता है। उसने अपने अन्तिम तीर्थंकरको तो वीर व महावीर नामसे सम्बोधित ही किया है। ऐसे चौबीस महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने तप और ज्ञानके बलसे धर्मका मार्ग प्रशस्त बनाया और स्वयं तीर्थंकर रूपसे लोकाराधनके पात्र बने। बारह वीर पुरुष ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने लोकविजय और दुष्टनिग्रह करके शासनकी व्यवस्थाएँ स्थापित कीं। वे चक्रवर्ती पद प्राप्त करके लोकसम्मानके भाजन हुए। इसी प्रकार नौ बलभद्रों, नौ नारायणों तथा इन नारायणोंके शत्रु नौ प्रतिनारायणोंने भी अपने-अपने समयमें कुछ असाधारण पराक्रम-द्वारा विविध प्रकारके आदर्श उपस्थित किये। जैन पुराणोंमें विस्तारसे तथा चरित्रों व कथानकोंमें रचयिताकी प्रतिभा व रुचि अनुसार हीनाधिक कलात्मक रूपसे इन त्रेसठ शलाकापुरुषोंकी वीर-गाथा गायी गयी है। इन्हीं लोकोत्तर वीर पुरुषोंमें राम और कृष्ण भी गिने गये हैं। अतएव उनको भी जैन पुराणोंमें सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा पायी जाती है।

विषय-वर्णनकी दृष्टिसे वैदिक परम्परामें पुराणके पाँच अंग माने गये हैं – सृष्टिकी रचना, प्रलय और पुनः सृष्टि, मानव वंश, मनुओंके युग और राजवंशोंके चरित्र। अपने मौलिक सिद्धान्तोंके अनुसार उचित हेर-फेरके साथ जैन पुराणोंमें भी इन लक्षणोंका पालन किया गया है। जैन धर्म विश्वको जड़-चेतन रूपसे अनादि-अनन्त मानता है, किन्तु उसका विकास कालचक्रके आरोह-अवरोह क्रमसे ऊपर-नीचेकी ओर परिवर्तनशीलताको लिये हुए बदला करता है। अतः जैन पुराणोंमें सर्ग और प्रतिसर्गके स्थानपर विश्वका यही स्वरूप तथा कालचक्रके आरोंका उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप विपरिवर्तन व लोक-व्यवस्थामें हेर-फेरका विवरण दिया गया है। वंशों, मनुओं (कुलकरों) और वंशानुचरितोंका इन पुराणोंमें भी अपनी परम्परानुसार वर्णन है। पुराणविषयक जैन ग्रन्थोंकी संख्या सैकड़ों है, और वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा

तमिल, कन्नड, हिन्दी आदि सभी प्राचीन भारतीय भाषाओंमें पाये जाते हैं। इन विविध रचनाओंमें वर्णन-भेद भी पाया जाता है जिसका परस्पर तथा वैदिक पुराणोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन-अनुसन्धान एक रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है।

जैन हरिवंशपुराणमें उक्त प्रकार विषय-प्रतिपादनके साथ-साथ हरिवंशकी एक शाखा यादवकुल और उसमें उत्पन्न हुए दो शलाकापुरुषोंका चरित्र विशेष रूपसे वर्णित हुआ है। एक बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और दूसरे नवें नारायण कृष्ण। ये दोनों चचेरे भाई थे, जिनमें-से एकने अपने विवाहके अवसरपर निमित्त पाकर संन्यास ले लिया; और दूसरेने कौरव-पाण्डव युद्धमें अपना बल-कौशल दिखलाया। एकने आध्यात्मिक उत्कर्षका आदर्श उपस्थित किया, और दूसरेने भौतिक लीलाका। एकने निवृत्ति-परायणताका मार्ग प्रशस्त किया, और दूसरेने प्रवृत्तिका। इसी प्रसंगसे हरिवंशपुराणमें महाभारतका कथानक सम्मिलित पाया जाता है।

इस विषयकी प्राचीन संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनाएँ बहुसंख्यक हैं। हरिवंशपुराणके नामसे संस्कृतमें धर्मकीर्ति, श्रुतकीर्ति, सकलकीर्ति, जयसागर, जिनदास व मंगरस कृत, व पाण्डवपुराण नामसे श्रीभूषण, शुभचन्द्र, वादिचन्द्र, जयानन्द, विजयगणि, देवविजय, देवप्रभ, देवभद्र व शुभवर्धन कृत; तथा नेमिनाथ चरित्रके नामसे सूराचार्य, उदयप्रभ, कीर्तिराज, गुणविजय, हेमचन्द्र, भोजसागर, तिलकाचार्य, विक्रम, नरसिंह, हरिषेण, नेमिदत्त आदि कृत रचनाएँ ज्ञात हैं। प्राकृतमें रत्नप्रभ, गुणवल्लभ और गुणसागर-द्वारा तथा अपभ्रंशमें स्वयंभू, धवल, यशःकीर्ति, श्रुतकीर्ति, हरिभद्र व रयधू-द्वारा रचित पुराण व काव्य ज्ञात हो चुके हैं (देखिए--वेलणकर कृत जिनरत्नकोश, तथा कोछड़ कृत अपभ्रंश साहित्य)। इन स्वतन्त्र रचनाओंके अतिरिक्त जिनसेन, गुणभद्र व हेमचन्द्र तथा पुष्पदन्त कृत संस्कृत व अपभ्रंश महापुराणोंमें भी यह कथानक वर्णित है एवं उसकी स्वतन्त्र प्राचीन प्रतियाँ भी पायी जाती हैं। हरिवंशपुराण, अरिष्टनेमि या नेमिचरित, पाण्डवपुराण व पाण्डवचरित आदि नामोंसे न जाने कितनी संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश रचनाएँ अभी भी अज्ञात रूपसे भण्डारोंमें पड़ी होना सम्भव है। प्राचीन हिन्दी व कन्नड़में रचित ग्रन्थ भी अनेक हैं। अतः प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादकने अपनी प्रस्तावनाके पृष्ठ दो पर प्रस्तुत रचनाके अतिरिक्त केवल एक संस्कृत और एक अपभ्रंश रचना मात्रका जो उल्लेख किया है, उससे इस विषयपर जैन साहित्य रचनाके सम्बन्धमें भ्रम नहीं होना चाहिए।

पुराणोंको हिन्दू व जैन परम्पराओंमें अपने-अपने कालके विश्वकोश बनानेका प्रयत्न किया गया है। उनमें न केवल कथानक मात्र है, किन्तु प्रसंगानुसार धर्म व नीतिके अतिरिक्त नाना कलाओं और ज्ञान-विज्ञानका भी परिचय संक्षेप या विस्तारसे करा दिया गया है। इस प्रवृत्तिका उद्देश्य यह दिखायी देता है कि एक ही पुराणका पाठ करनेवाला श्रद्धालु अपनी परम्परासम्बन्धी सभी प्रकारकी जानकारी प्राप्त कर ले। प्रस्तुत हरिवंशपुराणमें भी यह प्रवृत्ति विशेष रूपसे पायी जाती है। यहाँ जो त्रैलोक्यका स्वरूप, महावीर तीर्थंकरका जीवनचरित्र, समवसरण व धर्मोपदेश तथा संगीत कला आदिका वर्णन किया गया है, वह उन-उन विषयोंका परिपूर्ण प्रकरण है और स्वतन्त्र रूपसे भी अध्ययन व प्रसारके योग्य है।

वैदिक साहित्य, और विशेषतः पौराणिक रचनाओंके कर्तृत्व और कालके सम्बन्धमें बड़ा विवाद तथा अनिश्चय है। सौभाग्यसे जैन परम्परामें कालनिर्देशकी प्रवृत्ति प्रायः अधिक स्पष्ट पायी जाती है। यहाँ प्रमुख पुराणोंके रचयिता और रचनाकालके स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं। प्रस्तुत हरिवंशपुराणके कर्ताने तो अपना परिचय भले प्रकार दे दिया है कि वे पुन्नाट संघके थे, उनके गुरुका नाम कीर्तिषेण था और उन्होंने अपनी यह रचना शक संवत् ७०५ में समाप्त की थी। यही नहीं, किन्तु वे ही एक ऐसे महाकवि पाये जाते हैं, जिन्होंने भगवान् महावीरसे लगाकर ६८३ वर्षकी सर्वमान्य गुरुपरम्पराके अतिरिक्त उसके आगे अपने समय तककी अन्यत्र कहीं न पायी जानेवाली गुर्वावली भी दी है।

हरिवंशपुराणकारकी इस अद्वितीय ऐतिहासिक चेतनाका एक और भी महत्त्वपूर्ण प्रमाण उनकी रचनामें उपलब्ध है, जिसने तत्कालीन समस्त भारतके इतिहासकी जानकारीको प्रभावित किया है। उन्होंने

अपने ग्रन्थके समाप्तिकालके साथ-साथ यह भी उल्लेख किया है कि उन्होंने कहाँ किन स्थानोंमें बैठकर यह रचना की थी। उनकी यह सूचना ग्रन्थके उपान्त्य दो श्लोकोंमें (६६, ५२–५३) में पायी जाती है, जहाँ उन्होंने कहा है कि उस ग्रन्थका बहुभाग पहले वर्धमानपुरके पार्श्वनाथ मन्दिरमें बैठकर रचा था और शेष भाग शान्तिनाथके उस शान्तिपूर्ण मन्दिरमें जहाँ दोस्तटिकाके लोगोंने एक बृहत्पूजाका आयोजन किया था। उस समय उत्तर दिशामें इन्द्रायुध, दक्षिणमें कृष्णके पुत्र श्रीवल्लभ तथा पूर्व और पश्चिममें अवन्तिनरेश, वत्सराज तथा सौरमण्डल (सौराष्ट्र) में वीर जयवराह राज्य करते थे। ये उल्लेख बड़े महत्त्वपूर्ण हैं और सभी इतिहास-लेखकोंने इनका उपयोग किया है। किन्तु कुछ बातोंमें उलझन भी उत्पन्न हुई है। एक मत यह है कि यहाँ पूर्वमें अवन्तिराज वत्सराजका और पश्चिममें सौराष्ट्रके नरेश वीर जयवराहका उल्लेख किया गया है। किन्तु दूसरे मतानुसार यहाँ पूर्वमें अवन्तिराज और पश्चिममें वत्सराज तथा वीर जयवराहका उल्लेख समझना चाहिए। इस बातमें भी मतभेद है कि इन राज्यसीमाओंका मध्यबिन्दु कहा जानेवाला वर्धमानपुर कौन-सा है। ग्रन्थमालाके हम दोनों प्रधान सम्पादक भी इस बातपर एकमत नहीं हैं। डॉ० उपाध्येके मतसे यह वर्धमानपुर काठियावाड़का वर्तमान वढवान है, और वहीं इसी पुन्नाट संघके हरिषेणने इससे १४८ वर्ष पश्चात् शक ८५३ में बृहत्कथाकोशकी रचना की थी (देखिए उक्त ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ० १२१)। किन्तु डॉ० हीरालाल जैनने अपने एक लेख (इण्डियन कलचर खण्ड ११, १९४४-४५ पृ० १६१ आदि, तथा जैन सिद्धान्त भास्कर, १२-२) में यह प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया है कि जिनसेन-द्वारा उल्लिखित वर्धमानपुर वर्तमान मध्यभारतके धार जिलेका बदनावर होना चाहिए, क्योंकि उसका प्राचीन नाम वर्धमानपुर पाया जाता है, वहाँ प्राचीन जैन मन्दिरोंके भग्नावशेष अब भी विद्यमान हैं, वहाँसे दुतरिया (प्राचीन दोस्तटिका) नामक ग्राम समीप है तथा वहाँसे उक्त राज्य विभाजनकी सीमाएँ ठीक-ठीक इतिहास-संगत सिद्ध होती हैं।

इसी प्रश्नके साथ पुन्नाट संघकी शाखाका कर्नाटकसे आकर वर्धमानपुरमें स्थापित होने और कमसे कम जिनसेन और हरिषेणके बीच कोई डेढ़-सौ वर्ष तक चलते रहनेका इतिहास भी गवेषणीय है। केवल संघके गिरनार यात्राके लिए आने और वर्धमानपुरमें रुक जानेकी बातसे इस महान् घटनाका पूरा मर्म नहीं खुलता। सम्भव है जैन धर्मके महान् आश्रयदाता राष्ट्रकूट-नरेशोंके मालवा और गुजरातमें प्रभुत्व बढ़नेसे इस संघपीठकी स्थापनाका कुछ सम्बन्ध हो। शिलालेखोंके अनुसार इन प्रदेशोंको राष्ट्रकूटनरेश दन्तिदुर्गने सन् ७५०के लगभग अपने अधीन कर लिया था।

ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें इस हरिवंशपुराणको ऐसा श्रीपर्वत कहा है जिसका कविने बोधिके लाभार्थ आश्रय लिया, और यह आशा व्यक्त की कि यह श्रीपर्वत समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर व स्थिरतर बनकर पृथ्वीपर प्रतिष्ठित रहे। प्रश्न है कि यहाँ कवि-द्वारा अपनी रचनाको श्रीपर्वतकी उपमा देनेकी सार्थकता क्या है? विचार करनेपर यहाँ भी भारतीय संस्कृतिकी एक धाराका महत्त्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ दिखायी देता है। बौद्धसाहित्यमें श्रीपर्वतका अनेक स्थलोंपर उल्लेख मिलता है। विशेषतः मञ्जुश्री मूलकल्प (पृ.८८) का यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है,

> श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञके।
> श्रीधान्यकटके चैत्ये जिन-धातुधरे भुवि।
> सिद्ध्यन्ते मन्त्र-तन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥

इस उल्लेखके अनुसार दक्षिणापथमें धान्यकटकके समीप श्रीपर्वत नामक महाशैलपर एक चैत्य है जिसमें जिन (बुद्ध) की अस्थियाँ व भस्मावशेष सुरक्षित हैं। वहाँ साधना करनेसे मन्त्र-तन्त्र शीघ्र सिद्ध होते और सब कामनाएँ सफल होती हैं। बौद्ध साहित्यमें ही नहीं, अन्य संस्कृत महाकवियोंने भी श्रीशैलकी इस ख्यातिका उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ, महाकवि बाणने अपनी कादम्बरी कथाके एक पात्र वृद्ध द्रविड धार्मिकको 'श्रीपर्वताश्चर्यवार्तासहस्राभिज्ञ' कहा है तथा हर्षचरितमें स्वयं हर्षको कहा है 'सकलप्रणयि-

मनोरथसिद्धिः श्रीपर्वतः' । भवभूतिने अपने मालतीमाधव नामक नाटकके एक पात्र बौद्ध भिक्षुणी सौदामिनीके मन्त्र-तन्त्र सीखनेके लिए पद्मावती नगरीसे श्रीपर्वतको आनेकी बात कही है । इस प्रकारके और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है, कि सातवीं शती व उसके आस-पास श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्रात्मक ऋद्धि-सिद्धिके लिए देशप्रसिद्ध केन्द्र बन गया था । इसी ख्यातिके कारण कुछ तिब्बती ग्रन्थोंमें तो यहाँ तक कहा गया है कि भगवान् बुद्धने अपना धर्मचक्र-प्रवर्तन धान्यकटक (श्रीपर्वतके निकटवर्ती नगर) में ही किया था (राहुल सांकृत्यायन कृत पुरातत्त्व-निबन्धावली) । खुदाईसे प्राप्त हुई पुरातत्त्व सामग्रीके आधारसे उक्त श्रीपर्वत आधुनिक आन्ध्रप्रदेशके गुण्टूर जिलेमें स्थित नागार्जुनी कोंडासे अभिन्न सिद्ध किया गया है । इस पहाड़ीका अब स्थानीय नाम नहरल्लबड्डु है । पूर्व इतिहासके ऐसे प्रकाशमें अब सन्देह नहीं रहता कि हरिवंशपुराणके कर्ताको भी श्रीपर्वतकी उक्त प्रख्याति विज्ञात थी, और उसीकी तुलनामें उन्होंने अपना यह पुराण रूपी नया श्रीपर्वत खड़ा किया । जिस प्रकार उस महायान बौद्धधर्मकी चैत्यवादी शाखा व वज्रयान सम्प्रदायमें मनोरथोंकी सिद्धि श्रीपर्वतकी उपासनासे मानी जाती थी, उसी प्रकार जिनसेनने अपनी इस रचनाके विषयमें कहा कि 'जो कोई इस हरिवंशको भक्तिसे पढ़ेंगे उन्हें अल्प यत्नसे ही अपनी आकांक्षित कामनाओंकी पूरी सिद्धि होगी, तथा धर्म, अर्थ और मोक्षका भी लाभ मिलेगा' (६६, ४६) । ग्रन्थकर्ता स्वयं जिनेन्द्रके नाम मात्रको ही ग्रहों आदिकी पीड़ाको दूर करनेका उपाय मानते थे (६६, ४१) और सिंहवाहिनी (अम्बादेवी) की उपासनासे सर्व विघ्नोंकी शान्ति होनेमें विश्वास रखते थे (६६, ४४) ।

भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मकी देन बड़ी विशाल और गम्भीर है, तथा इस संस्कृतिसे अन्य समानान्तर धाराओंसे ग्रहण किये हुए तत्त्वोंकी मात्रा भी कम नहीं है । बड़ी आवश्यकता है कि खोज-शोध पूर्वक इन बिखरी हुई कड़ियोंको जोड़ा जाये । इस कार्यके लिए पहले तो सुचारु रूपसे साहित्य-प्रकाशनकी ही बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि अभी तक भी विपुल जैन साहित्य अप्रकाशित व अज्ञात पड़ा हुआ है । यह बात जैन शास्त्रभण्डारों और विशेषतः जयपुरके भण्डारोंकी प्रकाशित सूचियोंके अवलोकन मात्रसे सिद्ध हो जाती है । इस प्राचीन साहित्यके प्रकाशनके साथ-ही-साथ हिन्दी व अन्य प्रचलित भाषाओंमें उसके शुद्ध अनुवादकी आवश्यकता है । हर्षकी बात है कि यह कार्य कुछ ग्रन्थमालाओं-द्वारा योजनाबद्ध रूपसे हो रहा है, जिनमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाका विशेष स्थान है । इस प्रकार प्रकाशित साहित्यको, और विशेषतः जैन पुराणोंकी ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टियोंसे आन्तरिक व तुलनात्मक गवेषणाकी नितान्त आवश्यकता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थको साहित्याचार्य पं० पन्नालालजीने पाँच छह प्रतियोंके आधारसे संशोधित कर उसको अपने अनुवादसे अलंकृत किया है । उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें ग्रन्थ सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख व संकेत किया है । कुछ बातें ऐसी भी कही गयी हैं जिनपर और अधिक विचार व प्रमाणीकरणकी आवश्यकता थी । उदाहरणार्थ, उन्होंने कुवलयमालामें विमलकृत हरिवंशपुराण या चरितके उल्लेखका कथन किया है, किन्तु उन्होंने उस अंशके उस पाठको सर्वथा भुला दिया है जिसे कुवलयमालाके सम्पादक (डॉ० उपाध्ये)ने अपने संस्करणमें स्वीकार किया है । उसमें 'हरिवंसं' के स्थानपर 'हरिवरिसं' का पाठ होनेसे कुछ अन्य भी अर्थ निकाला जा सकता है । उन्होंने रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणका प्रस्तुत रचनामें तथा महापुराणमें इस रचनाका अनुकरण किये जानेका उल्लेख किया है, किन्तु इन महत्त्वपूर्ण मतोंका जितनी सावधानी और गम्भीरतासे प्रमाणीकरण वांछनीय था वह यहाँ नहीं पाया जाता । अन्य कुछ बातोंका संशोधन उपर्युक्त विवेचन-द्वारा करनेका प्रयत्न किया गया है ।

इस ग्रन्थसहित पं० पन्नालालजीने जैन धर्मके तीन प्राचीन पुराणों – महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणका संस्करण और अनुवाद प्रस्तुत कर जैन साहित्यकी जो सेवा की है उसके लिए हम उनके बहुत अनुगृहीत हैं । ये तीनों ही संस्करण इनके पूर्व संस्करणोंसे अति अधिक शुद्ध और उपयोगी रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं, जिससे साधारण पाठकोंके अतिरिक्त इस विषयपर शोधकार्य करनेवालोंको वे बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसी आशा है ।

—हीरालाल जैन, आ० ने० उपाध्ये

प्रस्तावना

[१] सम्पादन-परिचय

हरिवंश पुराणका सम्पादन निम्नलिखित ६ प्रतियोंके आधारपर हुआ है—

'क' प्रति—यह प्रति पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सौजन्यसे श्री दि० जैन सरस्वतीभण्डार धर्मपुरा, देहलीसे प्राप्त हुई थी। इसकी पत्रसंख्या २८२ है, प्रति पत्रपर १३-१४ पंक्तियाँ और प्रति पंक्तिमें ४२ से ४५तक अक्षर हैं। प्रति प्राचीन है, जर्जर होनेसे कितने ही पत्र अलग कर नये पत्र लिखाये गये हैं। अन्तिम पत्र भी जर्जर होनेसे बदला गया है इसलिए लिपि संवत्का पता नहीं चल सका। स्याही लाल काली है, अक्षर सुवाच्य हैं, जहाँ-तहाँ टिप्पणी भी दी गयी हैं। प्रायः पाठ शुद्ध हैं। पत्रोंकी साइज ११ × ५ इन्च है। इसका साङ्केतिक नाम 'क' है।

'ख' प्रति—यह प्रति भी पं० परमानन्दजी शास्त्रीके सौजन्यसे पंचायती मन्दिर देहलीसे प्राप्त हुई है। संवत् १८७१ में लिखी गयी है। दशा अच्छी है; परन्तु कागज जर्जर होने लगा है। लाल-काली स्याही है, पत्रसंख्या ३३० है। प्रतिपत्रमें १२–१३ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्तिमें ३५–३८ अक्षर हैं। पत्रोंकी साइज १२½ × ६ इन्च है। इसका सांकेतिक नाम 'ख' है।

'ग' प्रति—यह प्रति श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल जयपुरके सौजन्यसे प्राप्त हुई है। इसमें १२ × ५ साइजके ३१३ पत्र हैं। प्रतिपत्रमें १२ पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्तिमें ४५–५० तक अक्षर हैं। प्राचीन है, परन्तु बीच-बीचमें कई जगह जीर्ण-शीर्ण हो जानेसे नये पत्र लिखाकर शामिल कराये गये हैं। कहीं-कहीं टिप्पण भी दिये गये हैं, पाठ शुद्ध है, दशा अच्छी है। लेख संवत् १८३० है। इसका सांकेतिक नाम 'ग' है।

'घ'प्रति—यह प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूनासे उपलब्ध हुई थी। इसमें १२ × ५ इन्चके ३७६ पत्र, प्रतिपत्रमें १२ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ३६–४० अक्षर हैं। काली-लाल स्याहीसे लिखी गयी है, सुवाच्य लिपि है और दशा अच्छी है। लेखनकाल अज्ञात है फिर भी कागजकी दशासे अधिक प्राचीन मालूम होती है। इसका सांकेतिक नाम 'घ' है।

'ङ' प्रति—यह प्रति पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ और डॉ० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालके सौजन्यसे जयपुरसे प्राप्त हुई थी। इसमें ११ × ५ इन्चकी साइजके ४२० पत्र हैं। प्रतिपत्रमें ११–१२ पंक्तियाँ और प्रतिपंक्तिमें ४०–४२ अक्षर हैं। अक्षर सुवाच्य हैं, कागज पतला है, लेखनकाल १६४० विक्रम संवत् है। दशा अच्छी है, स्याहीके दोषसे कुछ पत्र परस्पर चिपक गये हैं। बीच-बीचमें कुछ टिप्पणी भी हैं, पाठ शुद्ध है। अन्तमें लेख है—

'संवत् १६४० वर्षे चैत्रे मासे शुक्लपक्षे षष्ठयां तिथौ बुधवासरे रोहिणी नामक नक्षत्रे श्री मूलसंघे'। इसका सांकेतिक नाम 'ङ' है।

'म' प्रति—यह प्रति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ (साम्प्रतिक नाम-सत्यभक्त) के द्वारा सम्पादित होकर दो भागोंमें मूलमात्र प्रकाशित हुई है। जहाँ कहीं खटकने लायक अशुद्धियाँ रह गयी हैं। इसका सांकेतिक नाम 'म' है।

उक्त छह मूल प्रतियोंके पाठसे भी जहाँ-कहीं शुद्ध पाठका निर्णय नहीं हो सका वहाँ श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई तथा प्राच्य विद्या संशोधन मन्दिर मैसूरकी प्रतिसे भी पाठ मिलाकर शुद्ध पाठ स्थापित किये गये हैं। इस कार्यमें हमें श्री पं० कुन्दनलालजी शास्त्री तथा पं० के. श्री भुजबली शास्त्री मूडबिद्रीसे पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है।

[२] हरिवंशपुराण

अभीतक मेरी दृष्टिमें तीन हरिवंशपुराण आये हैं। जिनमें दो संस्कृतमें हैं और एक अपभ्रंश भाषाका है। अपभ्रंश हरिवंशके रचयिता महाकवि रइधू हैं। इसकी प्रति मैंने कुरवाई (सागर) के जैन मन्दिरमें देखी थी। संस्कृतके दो हरिवंशोंमें एक हरिवंश ब्रह्मचारी जिनदासका बनाया हुआ है। इसकी प्रति भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनामें विद्यमान है। रचना सरल और संक्षिप्त है। जिनसेनके हरिवंशमें जो यत्र-तत्र प्रसङ्गोपात्त अन्य वर्णन आये हैं उन्हें छोड़कर मात्र कथाभाग इसमें संगृहीत किया गया है। दूसरा हरिवंश आचार्य जिनसेनका है जिसका संस्करण पाठकोंके हाथमें है।

आचार्य जिनसेनका हरिवंश पुराण दिगम्बर-सम्प्रदायके कथासाहित्यमें अपना प्रमुख स्थान रखता है। यह विषय विवेचनाकी अपेक्षा तो प्रमुख स्थान रखता ही है, प्राचीनताकी अपेक्षा भी संस्कृत कथाग्रन्थोंमें तीसरा ग्रन्थ ठहरता है। पहला रविषेणाचार्यका पद्मपुराण, दूसरा जटासिंहनन्दीका वराङ्गचरित और तीसरा यह जिनसेनका हरिवंश है। यद्यपि जिनसेनने अपने हरिवंशमें महासेनकी सुलोचनाकथा तथा कुछ अन्यान्य ग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है; परन्तु अभीतक अनुपलब्ध होनेके कारण उनके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता। हरिवंशके कर्ता जिनसेनने अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें पार्श्वाभ्युदयके कर्ता जिनसेन स्वामीका स्मरण किया है इसलिए इनका महापुराण हरिवंशसे पूर्ववर्ती होना चाहिए''''यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जिस तरह जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें जिनसेन (प्रथम) का स्मरण करते हुए उनके पार्श्वाभ्युदय-का उल्लेख किया है उस तरह महापुराणका उल्लेख नहीं किया, इससे विदित होता है कि हरिवंशकी रचनाके पूर्व तक जिनसेन (प्रथम) महापुराणकी रचना नहीं हुई थी। महापुराण, जिनसेन स्वामीके जीवनकी अन्तिम रचना है इसीलिए तो वह उनके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकी, उनके शिष्य गुणभद्राचार्यके द्वारा पूर्ण किया गया है। हरिवंश और महापुराण दोनोंको देखनेके बाद ऐसा लगता है कि महापुराणकारने हरिवंशको देखनेके बाद उसकी रचना की है। हरिवंशपुराणमें तीन लोकोंका, संगीतका तथा व्रतविधान आदिका जो बीच-बीचमें विस्तृत वर्णन किया गया है उससे कथाके सौन्दर्यकी हानि हुई है। इसलिए महापुराणमें उन सबके अधिक विस्तारको छोड़कर प्रसङ्गोपात्त संक्षिप्त ही वर्णन किया गया है। काव्योचित भाषा तथा अलङ्कारकी विच्छित्ति भी हरिवंशपुराणकी अपेक्षा महापुराणमें अत्यन्त परिष्कृत है।

[३] हरिवंशपुराणका आधार

जिस प्रकार जिनसेनके महापुराणका आधार कवि परमेष्ठीका 'वागर्थसंग्रह' पुराण है उसी प्रकार हरिवंशका आधार भी कुछ-न-कुछ अवश्य रहा होगा। हरिवंशके कर्ता जिनसेनने प्रकृत ग्रन्थके अन्तिम सर्गमें भगवान् महावीरसे लेकर ६८३ वर्ष तककी और उसके बाद अपने समय तककी जो विस्तृत—अविच्छिन्न आचार्य-परम्परा दी है उससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके गुरु कीर्तिषेण थे और संभवतया हरिवंशकी कथावस्तु उन्हें उनसे प्राप्त हुई होगी।

कुवलयमालाके कर्ता उद्योतन सूरिने (वि० सं० ८३५) अपनी कुवलयमालामें जिस तरह रविषेणके पद्मचरित और जटासिंह नन्दीके वराङ्गचरितकी स्तुति की है उसी तरह हरिवंशकी भी की है[1]। उन्होंने लिखा है कि मैं हजारों बुधजनोंके प्रिय, हरिवंशोत्पत्तिकारक, प्रथम वन्दनीय और विमलपद हरिवंशकी वन्दना करता हूँ। यहाँ श्लेषसे विमलपदके (विमलसूरिके चरण और विमल हैं पद जिसके ऐसा हरिवंश) दो अर्थ घटित होते हैं। विमलसूरिका यह 'हरिवंश' अभीतक अप्राप्य है, इसके मिलनेपर हरिवंशके मूलाधारका

---

१. बुहअण सहस्स दइयं हरिवंसुप्पत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदियं पिहु हरिवंसं चेव विमलपयं ॥३८॥

निर्णय सहज हो सकता है। वर्णन शैलीको देखते हुए इन्होंने रविषेणके पद्मचरितको अच्छी तरह देखा है यह स्पष्ट है। पद्यमय ग्रन्थोंमें गद्यका उपयोग अन्यत्र देखनेमें नहीं आता परन्तु जिस प्रकार रविषेणने पद्मचरित-में वृत्तानुगन्धी गद्यका प्रयोग किया है उसी प्रकार जिनसेनने भी हरिवंशके ४९वें सर्गमें नेमि जिनेन्द्रका स्तवन करते हुए वृत्तानुगन्धी गद्यका प्रयोग किया है। हरिवंशका लोकविभाग एवं शलाकापुरुषोंका वर्णन 'त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति' से मेल खाता है[1]। द्वादशाङ्गका वर्णन राजवार्तिकके अनुरूप है, संगीतका वर्णन भरतमुनिके नाट्य-शास्त्रसे अनुप्राणित है और तत्त्वोंका निरूपण तत्त्वार्थसूत्र तथा सर्वार्थसिद्धिके अनुकूल है। इससे जान पड़ता है कि आचार्य जिनसेनने उन सब ग्रन्थोंका अच्छी तरह आलोडन किया है। तत्तत्प्रकरणोंमें दिये गये तुलनात्मक टिप्पणोंसे उक्त बातका निर्णय सुगम है।[1] हाँ, व्रतविधान, समवसरण तथा जिनेन्द्र विहारका वर्णन किससे अनुप्राणित है ? यह निर्णय मैं नहीं कर सका।

[४] हरिवंशपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन

हरिवंश पुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट संघके थे। ये महापुराणादिके कर्ता जिनसेनसे भिन्न हैं। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण और दादा गुरुका नाम जिनसेन था। महापुराणादिके कर्ता जिनसेनके गुरु वीर-सेन और दादागुरु आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटकका प्राचीन नाम है इसलिए इस देशके मुनिसंघका नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेनका जन्मस्थान, माता-पिता तथा प्रारम्भिक जीवनका कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। गृहविरत पुरुषके लिए इन सबके उल्लेखकी आवश्यकता भी नहीं है।

आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे—यह हरिवंशपुराणके स्वाध्यायसे स्पष्ट हो जाता है। हरिवंश-पुराण पुराण तो है ही साथ ही इसमें जैन वाङ्मयके विविध विषयोंका अच्छा निरूपण किया गया है इसलिए यह जैन-साहित्यका अनुपम ग्रन्थ है।

[५] ग्रन्थकर्ताकी गुरु-परम्परा

हरिवंशपुराणके छयासठवें सर्गमें भगवान् महावीरसे लेकर लोहाचार्य तककी वही आचार्य-परम्परा दी है जो कि श्रुतावतार आदि अन्य ग्रन्थोंमें मिलती है। परन्तु उसके बाद अर्थात् वीर निर्वाणसे ६८३ वर्षके अनन्तर जिनसेनने अपने गुरु कीर्तिषेण तककी जो अविच्छिन्न परम्परा दी है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इस दृष्टिसे इस ग्रन्थका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वह परम्परा इस प्रकार है—विनयधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त, मन्दरार्य, मित्रवीर्य, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण और जिनसेन (हरिवंशके कर्ता)।[2]

इनमें अमितसेनको पुन्नाटगणका अग्रणी तथा शतवर्षजीवी बतलाया है। वीरनिर्वाणसे लोहाचार्य तक ६८३ वर्षमें २८ आचार्य बतलाये हैं। लोहाचार्यका अस्तित्व वि० सं० २१३ तक अभिमत है और वि० सं० ८४० तक जिनसेनका अस्तित्व सिद्ध है। इस तरह इस ६२७ वर्षके अन्तरालमें ३१ आचार्योंका होना सुसंगत है।

---

१. ब्र० जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुरसे प्रकाशित त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिके द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें उसके सम्पादक डॉ० हीरालाल जी और डॉ० ए० एन० उपाध्यायने त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिकी अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करते हुए हरिवंशके साथ भी उसकी तुलना की है और दोनोंके वर्णनमें कहाँ साम्य और कहाँ वैषम्य है ? इसकी अच्छी चर्चा की है। विस्तार भयसे हम यहाँ उस चर्चाको न लेकर पाठकोंका ध्यान उस ओर अवश्य आकृष्ट करते हैं।

२. हरिवंशपुराण सर्ग ६६, श्लो० २२–३३।

[६] हरिवंशका रचना-स्थान

हरिवंशपुराणकी रचनाका प्रारम्भ वर्द्धमानपुरमें हुआ और समाप्ति दोस्तटिकाके शान्तिनाथ जिनालयमें हुई। यह वर्द्धमानपुर सौराष्ट्रका प्रसिद्ध शहर 'बढ़वाण' जान पड़ता है क्योंकि हरिवंशपुराणमें उस समयकी जो भौगोलिक स्थिति बतलायी है उसपर विचार करनेसे उक्त कल्पनाको बल प्राप्त होता है।

हरिवंशपुराणके ६६वें सर्गके ५२ और ५३वें श्लोकमें कहा है[1] कि शकसंवत् ७०५ में जब कि उत्तर दिशाकी इन्द्रायुध, दक्षिण दिशाकी कृष्णका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्वकी अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिमकी—सौरोंके अधिमण्डल सौराष्ट्रकी वीर जयवराह रक्षा करता था तब अनेक कल्याणोंसे अथवा सुवर्णसे बढ़नेवाली विपुल लक्ष्मीसे सम्पन्न वर्धमानपुरके पार्श्वजिनालयमें जो कि नन्नराज वसतिके नामसे प्रसिद्ध था यह ग्रन्थ पहले प्रारम्भ किया गया और पीछे चलकर दोस्तटिकाकी प्रजाके द्वारा उत्पादित प्रकृष्ट पूजासे युक्त वहाँके शान्ति जिनेन्द्रके शान्तिपूर्ण गृहमें रचा गया।

बढ़वाणसे गिरिनगरको जाते हुए मार्गमें 'दोत्तडि' नामक स्थान है वही 'दोस्तटिका' है। प्राचीन गुर्जर-काव्य संग्रह (गायकवाड सीरिज) में अमुलुकृत चर्चरिका प्रकाशित हुई है उसमें एक यात्रीकी गिरिनार-यात्राका वर्णन है। वह यात्री सर्वप्रथम बढ़वाण पहुँचता है, फिर क्रमसे रंगदुलई, सहजिगपुर, गंगिलपुर और लखमीघरको पहुँचता है। फिर विषम दोत्तडि पहुँचकर बहुत-सी नदियों और पहाड़ोंको पार करता हुआ करिवंदियाल पहुँचता है। करिवंदियाल और अनन्तपुरमें डेरा डालता हुआ बालणमें विश्राम करता है। वहाँसे उसे ऊँचा गिरिनार पर्वत दिखने लगता है। यह विषम दोत्तडि ही दोस्तटिका है।

वर्धमानपुर (बढ़वाण) को जिस प्रकार जिनसेनाचार्यने अनेक कल्याणोंके कारण विपुलश्रीसे सम्पन्न लिखा है उसी प्रकार हरिषेणकथाकोशके कर्ता हरिषेणने भी उसे 'कार्त्तस्वरापूर्णजनाधिवास' लिखा है। कार्त्तस्वर और कल्याण दोनों ही स्वर्णके वाचक हैं इससे सिद्ध होता है कि वह नगर अत्यधिक समृद्ध था और उसकी समृद्धि जिनसेनसे लेकर हरिषेण तक १४८ वर्षके लम्बे अन्तरालमें भी अक्षुण्ण बनी रही। हरिषेणने अपने कथाकोशकी रचना भी इसी वर्द्धमानपुर (बढ़वाण) में शक संवत् ८५३ (वि० सं ९८९) में पूर्ण की थी।

यद्यपि जिनसेन पुन्नाट संघके थे और पुन्नाट नाम कर्नाटकका है तथापि विहार प्रिय होनेसे उनका सौराष्ट्रकी ओर आगमन युक्ति-सिद्ध है। सिद्धक्षेत्रकी गिरिनार पर्वतकी वन्दनाके अभिप्रायसे पुन्नाट संघके मुनियोंने इस ओर विहार किया हो, यह आश्चर्यकी बात नहीं। जिनसेनने अपनी गुरुपरम्परामें अमितसेनको पुन्नाट गणके अग्रणी और शतवर्षजीवी लिखा है। इससे जान पड़ता है कि यह संघ अमितसेनके नेतृत्वमें ही पुन्नाट—कर्नाटक देशको छोड़कर उत्तर भारतकी ओर आया होगा और पुण्यभूमि श्री गिरिनार क्षेत्रकी वन्दनाके निमित्त सौराष्ट्र (काठियावाड़) में गया होगा।

---

१. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजे परां
सौर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्धमान-विपुल-श्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालय-नन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजा प्रजनितप्राज्यार्चना वर्जने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

वर्द्धमानपुरकी चारों दिशाओंमें जिन राजाओंका वर्णन जिनसेनने किया है, उनपर भी विचार कर लेना आवश्यक है—

१. इन्द्रायुध

स्व० ओझाजीने लिखा है कि इन्द्रायुध और चक्रायुध किस वंशके थे, यह ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु संभव है कि वे राठोड़ हों। स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनुसार इन्द्रायुध भण्डि कुलका था और उक्त वंशको वर्मवंश भी कहते थे।[1] इसके पुत्र चक्रायुधको परास्त कर प्रतिहारवंशी राजा वत्सराजके पुत्र नागभट द्वितीयने जिसका कि राज्यकाल विन्सेंट स्मिथके अनुसार वि० सं० ८५७—८८२ है[2]। कन्नौजका साम्राज्य उससे छीना था। बढ़वाणके उत्तरमें मारवाड़का प्रदेश पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कन्नौज-से लेकर मारवाड़ तक इन्द्रायुधका राज्य फैला हुआ था।

२. श्रीवल्लभ

यह दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशके राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविन्द (द्वितीय) था। कावीमें मिले हुए[3] ताम्रपटमें इसे गोविन्द न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषयमें सन्देह नहीं रहा कि यह गोविन्द (द्वितीय) ही था और वर्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें उसीका राज्य था। कावी भी बढ़वाणके प्रायः दक्षिणमें है। श० सं० ६९२ (वि० सं० ८२७) का उसका एक ताम्रपत्र[4] भी मिला है।

३. अवन्तिभूभृत् वत्सराज

यह प्रतिहार वंशका राजा था और उस नागावलोक या नागभट (द्वितीय) का पिता था जिसने चक्रायुधको परास्त किया था। वत्सराजने गौड़ और बंगालके राजाओंको जीता था और उनसे दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन्हीं छत्रोंको राष्ट्रकूट गोविन्द (द्वितीय) या श्रीवल्लभके छोटे भाई ध्रुवराजने चढ़ाई करके उससे छीन लिया था और उसे मारवाड़की अगम्य रेतीली भूमिकी ओर भागनेको विवश किया था।

ओझाजीने लिखा है कि उक्त वत्सराजने मालवाके राजापर चढ़ाई की और मालवराजको बचानेके लिए ध्रुवराज उसपर चढ़ दौड़ा। ७०५ में तो मालवा वत्सराजके ही अधिकारमें था क्योंकि ध्रुवराजका राज्या-रोहणकाल श० सं० ७०७ के लगभग अनुमान किया गया है। उसके पहले ७०५ में तो गोविन्द (द्वितीय) (श्रीवल्लभ) ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराजकी उक्त चढ़ाई हुई होगी।

उद्योतन सूरिने अपनी कुवलयमाला जावालिपुर या जालोर (मारवाड़) में तब समाप्त की थी जब श० सं० ७०० के समाप्त होनेमें एक दिन बाकी था। उस समय वहाँ वत्सराजका राज्य था अर्थात् हरिवंशकी रचनाके समय (श० सं० ७०५ में) तो (उत्तर दिशाका) मारवाड़ इन्द्रायुधके आधीन था और (पूर्वका) मालवा वत्सराजके अधिकारमें था। परन्तु इसके ५ वर्ष पहले (श० सं० ७००) में वत्सराज मारवाड़का अधिकारी था। इससे अनुमान होता है कि उसने मारवाड़से ही आकर मालवापर अधिकार किया होगा और उसके बाद ध्रुवराजकी चढ़ाई होनेपर वह फिर मारवाड़की ओर भाग गया होगा। श० सं० ७०५ में वह अवन्ति या मालवाका शासक होगा। अवन्ति बढ़वाणकी पूर्व दिशामें है ही। परन्तु यह पता नहीं लगता कि उस समय अवन्तिका राजा कौन था, जिसकी सहायताके लिए राष्ट्रकूट ध्रुवराज दौड़ा था। ध्रुवराज (श० सं० ७०७) के लगभग गद्दीपर आरूढ हुआ था। इन सब बातोंसे हरिवंशकी रचनाके समय उत्तरमें इन्द्रायुध,

---

१. देखो, सी० वी० वैद्यका 'हिन्दू भारतका उत्कर्ष' : पृ० १७५।

२. म० म० ओझाजीके अनुसार नागभटका समय वि० सं० ८७२-८९० तक है।

३. इण्डियन ऐण्टिक्वेरी : जिल्द ५, पृ० १४६।

४. एपिग्राफिया इण्डिका : जिल्द ६, पृ० २७९।

दक्षिणमें श्रीवल्लभ और पूर्वमें वत्सराजका राज्य होना ठीक मालूम होता है।

४. वीर जयवराह

यह पश्चिममें सौरोंके अधिमण्डलका राजा था। सौरोंके अधिमण्डलका अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते हैं जो काठियावाड़के दक्षिणमें है। सौर लोगोंका राष्ट्र सौर-राष्ट्र या सौराष्ट्रसे बढ़वाण और उसके पश्चिम-की ओरका प्रदेश ही ग्रन्थकर्ताको अभीष्ट है।

यह राजा किस वंशका था इसका ठीक पता नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि यह चालुक्य वंशका कोई राजा होगा और उसके नामके साथ 'वराह' का प्रयोग उस तरह होता होगा जिस तरह कि कीर्तिवर्मा (द्वितीय) के साथ महावराहका। राष्ट्रकूटोंसे पहले चौलुक्य सार्वभौम—राजा थे और काठियावाड़पर भी उनका अधिकार था। उनसे यह सार्वभौमपना श० सं० ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटोंने ही छीना था, इसलिए बहुत सम्भव है कि हरिवंशकी रचनाके समय सौराष्ट्रपर चौलुक्य वंशकी ही किसी शाखाका अधिकार हो और उसीको जयवराह लिखा हो। संभवतः पूरा नाम जयसिंह हो और वराह विशेषण।

प्रतिहार राजा महीपालके समयका एक दानपत्र हड्डाला गाँव (काठियावाड़) से श० सं० ८३६ का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय बढ़वाणमें धरणीवराहका अधिकार था, जो चावड़ा वंशका था और प्रतिहारोंका करद राजा था। इससे एक संभावना यह भी है कि उक्त धरणीवराहका ही कोई ४-६ पीढ़ी पहलेका पूर्वज उक्त जयवराह रहा हो।

[७] हरिवंशका रचनाकाल

जिनसेनाचार्यने अन्तिम सर्गके ५२वें श्लोकमें हरिवंशका रचनाकाल शकसंवत् ७०५ लिखा है जो वि० सं० ८४० होता है। जिनसेनने अपने ग्रन्थकी रचनाका समय मात्र शक संवत्में लिखा है जब कि हरिषेणने कथाकोशका रचनाकाल लिखते समय शक संवत्के साथ वि० सं० का भी उल्लेख किया है। उत्तरभारत, गुजरात और मालवा आदिमें वि० सं० का और दक्षिणमें शक संवत्का चलन रहा है। जिनसेन-को दक्षिणसे आये हुए एक-दो पीढ़ियाँ ही बीती थीं इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थमें शक संवत्का ही उल्लेख किया है, परन्तु हरिषेणको काठियावाड़में कई पीढ़ियाँ बीत गयी थीं इसलिए उन्होंने वहाँकी पद्धतिके अनुसार साथमें वि० सं० का देना भी उचित समझा।

[८] जिनसेनके पूर्ववर्ती विद्वान्

कृतज्ञताके नाते जिनसेनने अपनेसे पूर्ववर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, जटासिंहनन्दी, शान्त (शान्तिषेण) विशेषवादी, कुमारसेन गुरु, वीरसेन गुरु, जिनसेन स्वामी और वर्द्धमान पुराणके कर्ताका नामस्मरण करते हुए उनकी प्रशंसा[1] की है। अतः इनके सम्बन्धमें संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

समन्तभद्र

समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। इनका जन्मनाम शान्तिवर्मा था किन्तु बादमें आप 'समन्तभद्र' इस श्रुतिमधुर नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुए। इनके गुरुका नाम क्या था और इनकी क्या गुरु परम्परा थी यह ज्ञात नहीं हो सका। वादी, वाग्मी और कवि होनेके साथ-साथ स्तुतिकार होनेका श्रेय आपको ही प्राप्त है। आप दर्शन शास्त्रके तत्वद्रष्टा और विलक्षण प्रतिभासम्पन्न थे। एक परिचय पद्यमें तो आपको दैवज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक और तान्त्रिक होनेके साथ आज्ञासिद्ध सिद्धसारस्वत भी बतलाया है। आपकी सिंहगर्जनासे सभी वादिजन काँपते

---

१. हरिवंशपुराण सर्ग १, श्लोक० २९-४१

थे। आपने अनेक देशोंमें विहार किया और वादियोंको पराजित कर उन्हें सन्मार्गका प्रदर्शन किया। आपकी उपलब्ध कृतियाँ बड़ी ही महत्त्वपूर्ण, संक्षिप्त, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थकी उद्भाविका हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–१ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २ युक्त्यनुशासन, ३ आप्तमीमांसा, ४ रत्नकरण्ड श्रावकाचार और ५ स्तुतिविद्या। हरिवंशपुराणकार जिनसेनने इनके जीवसिद्धि और युक्त्यनुशासन इन दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इनका समय विक्रमकी २–३ शताब्दी माना जाता है।

सिद्धसेन

इस नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं पर यह सिद्धसेन वही ज्ञात होते हैं जो सन्मतिप्रकरण नामक प्राकृत ग्रन्थके कर्ता हैं। ये न्यायशास्त्रके विशिष्ट विद्वान् थे। इनका समय विक्रमकी ६-७ वीं शताब्दी होना चाहिए। कतिपय प्राचीन द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता भी दिगम्बर सिद्धसेन हुए हैं। ये सिद्धसेन, न्यायावतारके कर्ता श्वेताम्बरीय विद्वान् सिद्धसेन दिवाकरसे भिन्न हैं।[1]

देवनन्दी

यह पूज्यपादका दूसरा नाम है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ४० (६४) के उल्लेखानुसार इनके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं। यह आचार्य अपने समयके बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। दर्शनसारके इस उल्लेखसे वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरा या मदुरामें पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने द्राविड संघकी स्थापना की थी, आप ५२६ वि० सं० से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। आचार्य जिनसेनने इनका स्मरण वैयाकरणके रूपमें किया है। अबतक आपके जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश तथा दशभक्ति ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं।

वज्रसूरि

ये देवनन्दी या पूज्यपादके शिष्य द्राविड़संघके स्थापक वज्रनन्दि जान पड़ते हैं। जिनसेनने इनके विचारोंको प्रवक्ताओं या गणधर देवोंके समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत किया गया है जिसमें बन्ध और मोक्ष तथा उनके हेतुओंका विवेचन किया गया है। दर्शनसारके उल्लेखानुसार आप छठी शतीके प्रारम्भके विद्वान् ठहरते हैं।

महासेन

इन्हें जिनसेनने सुलोचना कथाका कर्ता कहा है। इनका विशिष्ट परिचय अज्ञात है।

रविषेण

आप पद्मपुराणके कर्ता रविषेण हैं। पद्मपुराणकी श्रुतिसुखद और हृदयहारी रचना कर आपने राम-कथाको अपने ढंगसे विद्वत्-समाजके समक्ष उपस्थित किया है। आप विक्रमकी आठवीं शतीके मध्यवर्ती विद्वान् थे। आपने पद्मपुराणकी रचना वि० सं० ७३३ में पूर्ण की है।

जटासिंहनन्दि

जिनसेनने इनका नामोल्लेख न कर इनके वराङ्गचरितका उल्लेख किया है। यह बड़े भारी तपस्वी थे। इनका समाधिमरण 'कोप्पण' में हुआ था। कोप्पणके समीपकी 'पल्लवकी गुण्डु' नामकी पहाड़ीपर इनके चरण-चिह्न भी अङ्कित हैं और उनके नीचे दो लाइनका पुरानी कनड़ीका एक लेख भी उत्कीर्ण है जिसे 'चापय्य' नामके व्यक्तिने तैयार कराया था। इनकी एकमात्र कृति 'वराङ्गचरित' डॉ० ए० एन० उपाध्याय-द्वारा सम्पादित होकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। राजा वराङ्ग बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथके समयमें हुआ है। उपाध्यायजीने जटासिंहनन्दिका समय ७वीं शती निश्चित किया है।

---

१. देखो, अनेकान्त : वर्ष ९, किरण ११-१२ में प्रकाशित, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका 'सन्मति-सूत्र और सिद्धसेन' शीर्षक लेख।

शान्त

इनका पूरा नाम शान्तिषेण जान पड़ता है। इनकी उत्प्रेक्षा अलंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गयी है। इनका कोई काव्य ग्रन्थ होगा। जिनसेनने, अपनी गुरु-परम्पराका वर्णन करते हुए जयसेनके पूर्व एक शान्तिषेण आचार्यका नामोल्लेख किया है बहुत कुछ सम्भव है, कि यह शान्त वही शान्तिषेण हों।

विशेषवादि

जिनसेनने इनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत किया है जो गद्य-पद्यमय है और जिसकी उक्तियोंमें बहुत विशेषता है। वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें भी इनका स्मरण किया है।

कुमारसेन गुरु

चन्द्रोदय ग्रन्थके रचयिता प्रभाचन्द्रके आप गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नहीं है। चामुण्डराय पुराणके पद्य न० १५ में भी इनका स्मरण किया गया है। डॉ० उपाध्यायने इनका परिचय देते हुए जैन संदेशके शोधांक १२ में लिखा है कि ये मूलगुण्ड नामक स्थानपर आत्म-त्यागको स्वीकार करके कोप्पणाद्रिपर ध्यानस्थ हो गये तथा समाधिपूर्वक मरण किया।

वीरसेन गुरु

ये उस मूलसङ्घ पञ्चस्तूपान्वयके आचार्य थे जो सेनसंघके नामसे लोकमें विश्रुत हुआ है। ये आचार्य चन्द्रसेनके प्रशिष्य और आर्यनन्दीके शिष्य तथा महापुराण आदिके कर्ता जिनसेनके गुरु थे। आप षट्खण्डागमपर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका तथा कषाय प्राभृतपर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर दिवंगत हुए थे। जिनसेनने उन्हें कवियोंका चक्रवर्ती तथा अपने-आपके द्वारा परलोकका विजेता कहा है। आपका समय विक्रमकी ९वीं शतीका पूर्वार्ध है।

जिनसेन स्वामी

आप वीरसेन गुरुके शिष्य थे। हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेनने आपके पार्श्वाभ्युदय ग्रन्थकी ही चर्चा की है। जब कि आप महापुराण तथा कषायप्राभृतकी अवशिष्ट चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीकाके भी कर्ता हैं। इससे जान पड़ता है कि हरिवंशपुराणकारके समय उन्होंने पार्श्वाभ्युदयकी ही रचना की होगी। जयधवला और महापुराणकी रचना पीछे की होगी। और महापुराणको रचना तो उनकी अन्तिम कृति कही जा सकती है जिसे वे पूरा नहीं कर सके। उनके सुयोग्य शिष्य गुणभद्रने उसे पूरा किया। आपका समय ९वीं शती है।

वर्धमानपुराणके कर्ता

जिनसेनने वर्द्धमानपुराणका उल्लेख किया है परन्तु इसके कर्ताका नाम नहीं लिखा है। जान पड़ता है कि उनके समयका अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ होगा।

[९] हरिवंशपुराणकी कथावस्तु

हरिवंशपुराणमें जिनसेनाचार्य प्रधानतया बाईसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान्‌का चरित्र लिखना चाहते थे परन्तु प्रसङ्गोपात्त अन्य कथानक भी इसमें लिखे गये हैं। यह बात हरिवंशके प्रत्येक सर्गके उस पुष्पिका वाक्यसे सिद्ध होती है जिसमें उन्होंने 'इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे' इसका उल्लेख किया है। भगवान् नेमिनाथका जीवन आदर्श त्यागका जीवन है। वे हरिवंश-गगनके प्रकाशमान सूर्य थे। भगवान् नेमिनाथके साथ नारायण और बलभद्र पदके धारक श्रीकृष्ण तथा रामके भी कौतुकावह चरित्र इसमें लिखा गया है। पाण्डवों तथा कौरवोंका लोकप्रिय चरित्र इसमें बड़ी सुन्दरताके साथ अंकित किया है। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका चरित भी इसमें अपना पृथक् स्थान रखता है।

[१०] हरिवंशपुराणकी साहित्यिक सुषमा

हरिवंशपुराण न केवल कथा ग्रन्थ है किन्तु महाकाव्यके गुणोंसे युक्त उच्च कोटिका महाकाव्य भी है। इसके सैंतीसवें सर्गसे नेमिनाथ भगवान्का चरित्र प्रारम्भ होता है वहींसे साहित्यिक सुषमा इसकी बढ़ती जाती है। इसका पचपनवाँ सर्ग यमकादि अलंकारोंसे अलंकृत है। अनेक सर्ग सुन्दर-सुन्दर छन्दोंसे विभूषित हैं। ऋतुवर्णन, चन्द्रोदयवर्णन आदि भी अपने ढंगके निराले हैं। नेमिनाथ भगवान्के वैराग्य तथा बलदेवके विलाप आदिके वर्णन करनेके लिए जिनसेनने जो छन्द चुने हैं वे रस परिपाकके अत्यन्त अनुरूप हैं। श्रीकृष्ण-की मृत्युके बाद बलदेवका करुण विलाप और स्नेहका चित्रण, लक्ष्मणकी मृत्युके बाद रविषेणके द्वारा पद्म-पुराणमें वर्णित राम-विलापके अनुरूप है। वह इतना करुण चित्रण हुआ है कि पाठक अश्रुधाराको नहीं रोक सकता। नेमिनाथके वैराग्य वर्णनको पढ़कर प्रत्येक मनुष्यका हृदय संसारकी माया-ममतासे विमुख हो जाता है। राजीमतीके परित्यागपर पाठकके नेत्रोंसे सहानुभूतिकी अश्रुधारा जहाँ प्रवाहित होती है वहाँ उनके आदर्श सतीत्वपर जन-जनके मानसमें उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न होती है।

मृत्युके समय कृष्णके मुखसे जो अन्तिम उद्गार प्रकट हुए हैं उनसे उनकी महिमा बहुत ही ऊँची उठ जाती है। तीर्थंकर प्रकृतिका जिसे बन्ध हुआ है उसके परिणामोंमें जो समता होनी चाहिए वह अन्ततक स्थित रही है। यहाँ हम कुछ अवतरण देकर ग्रन्थकी सुषमाको प्रकट करना चाहते थे परन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे वैसा नहीं कर रहा हूँ। मेरा अनुरोध है कि पाठक ग्रन्थका स्वाध्याय कर रसानुभूति करें।

[११] हरिवंशपुराण और लोकवर्णन

हरिवंशपुराणका लोकवर्णन प्रसिद्ध है जो त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिसे अनुप्राणित है। किसी पुराणमें इतने विस्तारके साथ इस विषयकी चर्चा आना खास बात है। पुराण आदि कथाग्रन्थोंमें लोक आदिका वर्णन संक्षेप रूपमें ही किया जाता है परन्तु इसका वर्णन अत्यन्त विस्तार और विशदताको लिये हुए है। कितने ही स्थलोंपर करणसूत्रोंका भी अच्छा उल्लेख किया गया है। यदि लोक-विभागके प्रकरणको हिन्दी अनुवाद-के साथ अलगसे प्रकाशित कर दिया जाये तो अल्पमूल्यमें पाठक इससे अवगत हो सकते हैं।

[१२] हरिवंशपुराण और धर्मशास्त्र

भगवान् नेमिनाथकी दिव्यध्वनिके प्रकरणको लेकर ग्रन्थकर्ताने बड़े विस्तारके साथ तत्त्वोंका निरूपण किया है। इस निरूपणका आधार उमास्वामी महाराजका तत्त्वार्थसूत्र और पूज्यपाद स्वामीकी सर्वार्थसिद्धि टीका है। वर्णनको देखकर ऐसा लगने लगता है कि मानो तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धि ही श्लोकरूपमें परिवर्तित हो सामने आये हैं। कथाके साथ-साथ बीच-बीचमें तत्त्वोंका निरूपण पढ़कर पाठकका मन प्रफुल्लित बना रहता है।

[१३] एक विचारणीय विषय

दिगम्बर परम्परामें नारदको नरकगामी माना गया है परन्तु हरिवंशपुराणके कर्ताने उसे चरमशरीरी बताया है—

प्रस्तावेऽत्र गणिन्द्रेशं श्रेणिकोऽपृच्छदित्यसौ।
क एष नारदो नाथ कुतो वाऽस्य समुद्भवः ॥१२॥ सर्ग ४२
गणभृदाह भो भव्यः शृणु श्रेणिक भण्यते।
उत्पत्तिरन्त्यदेहस्य नारदस्य स्थितिस्तथा ॥१३॥ सर्ग ४२
अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषायोऽप्यसौ क्षितौ।
रणप्रेक्षाप्रियः प्रायो जातौ कलहभास्करः ॥२२॥ सर्ग ४२

नारदोऽपि नरश्रेष्ठः प्रव्रज्य तपसो बलात्।
कृत्वा भवक्षयं मोक्षमक्षयं समुपेयिवान्॥२४॥ ६५ सर्ग

उक्त श्लोकोंमें १३ और २२वें श्लोकमें नारदको अन्त्यदेह लिखा है जिसपर कितनी ही प्रतियोंमें 'चरमशरीरस्य' यह टिप्पण भी दिया हुआ है और ६५वें श्लोकमें तो स्पष्ट ही अक्षय मोक्षको प्राप्त करनेकी बात लिखी है।

यह नारदकी मुक्तिका प्रकरण विचारणीय है। इसी प्रकार ६५वें सर्गके अन्तमें कथा है कि बलदेव जब ब्रह्मलोकमें देव हो चुके तब वे अवधिज्ञानसे कृष्णके जीवका पता जानकर उसे सम्बोधनेके लिए बालुकाप्रभापृथिवीमें गये। बलदेवका जीव देव, कृष्णको अपना परिचय देनेके बाद उसे वहाँसे अपने साथ ले जानेका प्रयत्न करता है परन्तु वह सब विफल होता है। अन्तमें कृष्णका जीव बलदेवसे कहता है कि, 'भाई आओ अपने स्वर्गका फल भोगो, आयुका अन्त होनेपर मैं भी मनुष्यपर्यायको प्राप्त होऊँगा। वह मनुष्यपर्याय जो कि मोक्षका कारण होगी। उस समय हम दोनों तप कर जिनशासनकी सेवासे कर्मक्षयके द्वारा मोक्ष प्राप्त करेंगे। परन्तु तुम इतना करना कि भारतवर्षमें हम दोनों पुत्र आदिसे संयुक्त तथा महाविभवसे सहित दिखाये जावें। लोग हमें देखकर आश्चर्यसे चकित हो जावें। तथा घर-घरमें शङ्ख,चक्र और गदा हाथमें लिये हुए मेरी प्रतिमा बनायी जाये और मेरी कीर्तिकी वृद्धिके लिए हमारे मन्दिरोंसे भरतक्षेत्रको व्याप्त किया जाये। बलदेवके जीवने कृष्णके वचन स्वीकार कर उससे कहा कि सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा रखो। तथा भरतक्षेत्रमें आकर कृष्णके कहे अनुसार विक्रियासे उनका प्रभाव दिखाया और तदनुसार उनकी प्रतिमा और मन्दिर बनवा कर भरतक्षेत्रको व्याप्त किया।

इस प्रकरणमें विचारणीय बात यही है कि जिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध है वह सम्यग्दृष्टि तो रहेगा ही। यह ठीक है कि बालुकाप्रभामें उत्पन्न होते समय उनका सम्यक्त्व छूट गया होगा परन्तु अपर्याप्तक अवस्थाके बाद फिरसे उन्हें सम्यग्दर्शन हो गया होगा यह निश्चित है। सम्यग्दृष्टि जीवने लोकमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए मिथ्यामूर्तिके निर्माणकी प्रेरणा दी और सम्यग्दृष्टि बलरामके जीव देवने वैसा किया भी। इस प्रकरणकी संगति कुछ समझमें नहीं आती।

सम्पादन और आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थके सम्पादनमें श्रम बहुत करना पड़ा। जिन स्थलोंका आधार मिल गया उनके सम्पादनमें तो सुविधा रही परन्तु जिनका कुछ आधार नहीं मिला उनके सम्पादनमें बहुत खोज-बीन करनी पड़ी। महापुराणके सम्पादनके लिए कुछ ताड़पत्रीय प्रतियाँ मिल गयी थीं जिनसे सही पाठ आँकनेमें बहुत सहायता मिली थी; परन्तु हरिवंशपुराणकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ नहीं मिल सकीं। उत्तर भारतके भाण्डारोंमें पायी जानेवाली कागजकी ही प्रतियाँ उपलब्ध हुईं। हमें यह लिखते हुए संकोच नहीं होता कि उत्तर भारतमें जो कागजपर प्रतियाँ लिखी गयी हैं वे यदा-कदा व ऐसे पेशेवर लेखकोंकी कलमसे भी लिखी गयी हैं जो संस्कृत भाषासे प्राय: अनभिज्ञ रहे हैं। ऐसे लेखकोंकी कृपासे प्रतियाँ प्राय: अशुद्ध हो गयी हैं अत: शुद्ध पाठकी कल्पना करनेमें बहुत चिन्तन करना पड़ता है। ऐसे कई स्थल इस ग्रन्थमें निकले जिनके विषयमें मुझे दूसरी प्रतियोंके पाठ मिलाने पड़े और 'पद्याम क्या है' इस विषयका एक लेख ही जैन संदेशमें लिखना पड़ा। पं० के० भुजबली शास्त्रीने मैसूरकी प्रतियोंसे पाठ मिलाने और पं० कुन्दनलालजीने बम्बईकी प्रतियोंसे पाठ मिलानेमें मुझे पर्याप्त सहयोग दिया। पं० रतनलालजी कटारया केकड़ी भी सुयोग्य विद्वान् हैं, आपने हमारा 'पद्याम' वाला लेख पढ़कर सुझाया कि सिन्धुरारोहुं के स्थानपर शम्भुरारोहुं पाठ होना चाहिए। सम्पादनके लिए उपलब्ध प्रतियोंमें-से सभीमें 'सिन्धुरारोहुं' पाठ था पर खोज करनेपर मैसूरकी प्रतियोंमें शम्भुरारोहुं पाठ मिल गया और उससे अर्थकी संगति बैठ गयी। और भी एक-दो स्थल और हैं जिनमें आपने अच्छा विचार व्यक्त

किया है। नारदमुक्ति तथा सम्यग्दृष्टि कृष्णके द्वारा मिथ्यामार्ग चलानेकी बातपर भी आपने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। इस तरह इन विद्वानोंका मैं आभार मानता हूँ। पं० दरबारीलालजी सत्यभक्त-द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित मूल हरिवंशपुराण तथा पं० दौलतरामजी और पं० गजाधरलालजी कृत हिन्दी टीकाएँ भी हमारे कार्यमें पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई हैं इसलिए इनके प्रति मैं समादर प्रकट करता हूँ। प्रस्तावना लेखमें श्रीमान् स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमीके 'जैन-साहित्यका इतिहास'से यथेष्ठ सहायता ली गयी है अतः उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करता हूँ। महापुराणकी प्रस्तावना प्रेमीजीने रुग्ण रहते हुए भी स्वयं देखी थी। पद्मपुराणकी प्रस्तावनामें काफी विचार पत्रों-द्वारा दिये थे पर हरिवंशपुराणकी प्रस्तावनाके समय हमें उनका प्रत्यक्ष सहयोग न मिलकर मात्र उनके लेखका परोक्ष सहयोग मिल रहा है इसका हृदयमें दुःख है। किसी भी व्यक्तिको परखने और उसे ऊँचा उठानेकी उनकी उदात्त भावना सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। हरिवंशके इस संस्करणको पद्यानुक्रमणिका, शब्दकोष तथा सूक्तिरत्नाकर आदि स्तम्भोंसे अत्यन्त उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया गया है। तत्तत्प्रकरणोंमें तुलनात्मक टिप्पणोंसे भी इसे उपयोगी बनाया गया है। इस कार्यके लिए श्री डॉ० हीरालालजी, डॉ० ए० एन० उपाध्ये तथा बाबू लक्ष्मीचन्द्रजीने सुझाव और सत्प्रेरणा दी है जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। इतना सुन्दर और सुव्यवस्थित प्रकाशन करनेके लिए भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक साहू शान्तिप्रसाद जी तथा उसकी अध्यक्षा रमारानीजी धन्यवादके पात्र हैं। महापुराण, पद्मपुराण और हरिवंशपुराणको सुसम्पादित करनेकी मेरी चिर-साधना साहूजीकी उदारतासे ही पूर्ण हो सकी है। इसलिए उनके प्रति अपनी श्रद्धा किन शब्दोंमें प्रकट करूँ?

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आजका वातावरण आर्हत दर्शनके प्रचारके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। शङ्कराचार्यके समयसे लेकर अभी पिछले पचीस-पचास वर्ष पूर्व तकका समय इतना संघर्षपूर्ण समय था कि लोग एक-दूसरेके दर्शन या धर्मकी बातको सुनना ही पाप समझते थे पर सौभाग्यसे अब वह संघर्षमय वातावरण समाप्तप्राय है और धीरे-धीरे बिलकुल ही समाप्त होनेके सम्मुख है। आजका मानव एक-दूसरे दर्शन या धर्मकी बातको सुनने और समझनेके लिए तैयार है। आज आर्हत दर्शनके हीरे-जवाहरात कुन्दकुन्द और समन्तभद्रके अनूठे-अनूठे ग्रन्थ विश्वके सामने रखे जावें तो विश्वके प्रत्येक मानवका अन्तरात्मा उनके अलौकिक प्रकाशसे जगमगा उठे। आवश्यकता है कि कुन्दकुन्द स्वामीकी अध्यात्मधारा विश्वके रंगमञ्चपर प्रवाहित की जाये जिससे आजका संताप—संत्रस्त मानव उसमें अवगाहन कर सच्ची शान्तिका अनुभव कर सके। आजकी सरकार जिन पञ्चशीलोंकी स्थापना कर विश्वमें शान्ति स्थापित करना चाहती है, उन पञ्चशीलोंके सिद्धान्त तथा समाजवाद और निरतिवादके सिद्धान्त आर्हत दर्शनोंमें उनके पुराण, काव्य और कथा-ग्रन्थोंमें कूट-कूट कर भरे हुए हैं। यदि आर्हत दर्शनका अनुयायी समाज अपने दर्शनके प्रकाशनार्थ पञ्चवर्षीय योजना बना ले और पूरी शक्तिके साथ जुट पड़े तो उसके इतिहासमें एक गणनीय कार्य हो जावेगा। जैनमन्दिरोंके अन्दर लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्ति अनावश्यक पड़ी हुई है। यदि जिनेन्द्र देवकी वाणीके प्रचारमें उसीका उपयोग कर लिया जाये तो यह महान् पुण्यका कार्य होगा। मन्दिरोंमें चाँदी-सोनेके बर्तनोंके संग्रह तथा सङ्गमर्मर आदि लगवानेकी अपेक्षा जिनवाणीके प्रचारमें जो द्रव्य खर्च होता है वह लाखगुना अच्छा है—अर्हन्त धर्मकी सच्ची प्रभावना करनेवाला है।

अन्तमें ग्रन्थकी अगाधता और अपनी अल्पज्ञता तथा व्यस्तताके कारण हुई त्रुटियोंके लिए क्षमायाचना करता हुआ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूँ।

सागर
२१।८।६२

विनम्र
पन्नालाल जैन

सम्पादनमें सहायक ग्रन्थ

हरिवंशपुराणके सम्पादनमें प्रस्तावनामें वर्णित पाण्डुलिपियोंके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है।

१	हरिवंशपुराण	(पं० दौलतरामजी कृत वचनिका) लाहौरका संस्करण
२	हरिवंशपुराण	(पं० गजाधरप्रसादजी कृत अनुवाद) कलकत्ताका संस्करण
३	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति प्रथम भाग	जीवराज ग्रन्थमालासे प्रकाशित
४	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति द्वितीय भाग	,,
५	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	,,
६	राजवार्तिक	ज्ञानपीठका संस्करण
७	सर्वार्थसिद्धि	सोलापुरका संस्करण
८	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	बम्बईका संस्करण
९	मोक्षशास्त्र	सूरतका संस्करण
१०	त्रिलोकसार (संस्कृत टीका सहित)	बम्बईका संस्करण
११	त्रिलोकसार (हिन्दी टीका सहित)	
१२	नाट्यशास्त्र (भरतमुनि)	
१३	वर्णप्रबोध	
१४	साहित्यदर्पण	
१५	जैन साहित्यका इतिहास	(स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी)
१६	जीवकाण्ड	
१७	सिद्धान्तकौमुदी	
१८	अमरकोष	
१९	विश्वलोचनकोष	
२०	पाण्डवपुराण	सोलापुरका संस्करण
२१	वृत्तरत्नाकर	
२२	छन्दोमञ्जरी	

विषय सूची

विषय पृष्ठ

चतुर्थ सर्ग

विषय पृष्ठ

पञ्चम सर्ग

षष्ठ सर्ग

सप्तम सर्ग

अष्टम सर्ग

सङ्केत सूची

क	दिल्लीकी प्रति
ख	पंचायती मन्दिर दिल्लीकी प्रति
ग	जयपुरकी प्रति
घ	भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट पूनाकी प्रति
ङ	जयपुरकी प्रति
म	माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित मूल प्रति
क + टि	क प्रतिके टिप्पणमें । इसी प्रकार अन्य प्रतियोंके टिप्पणका संकेत समझना चाहिए
वि० उ० श्रे०	विजयार्धकी उत्तर श्रेणी
वि० द० श्रे०	विजयार्धकी दक्षिण श्रेणी
आ + ती०	आगामी तीर्थंकर
आ + च०	आगामी चक्रवर्ती
आ + ना०	आगामी नारायण
आ + प्र० ना०	आगामी प्रतिनारायण
त्रै० प्र०	त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति
ज० प्र०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
त० वा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक
मो० शा०	मोक्षशास्त्र
पु० ऊ०	पुरुषार्थसिद्धयुपाय
ना० शा०	नाट्यशास्त्र
व्य०	व्यक्तिवाचक
भौ०	भौगोलिक
पा०	पारिभाषिक

श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितं

हरिवंशपुराणम्

सिद्धं ध्रौव्यव्यय[1]योत्पादलक्षणद्रव्यसाधनम् । जैनं द्रव्याद्यपेक्षातः साद्यनाद्यथ[2] शासनम् ॥१॥
[3]शुद्धज्ञानप्रकाशाय लोकालोकैकभानवे । नमः श्रीवर्द्धमानाय[4] वर्द्धमानजिनेशिने ॥२॥
नमः सर्वविदे सर्वव्यवस्थानां[5] विधायिने । कृतादिधर्मतीर्थाय वृषभाय स्वयम्भुवे ॥३॥
येन तीर्थमभिव्यक्तं द्वितीयमजितायितम् । अजिताय नमस्तस्मै जिनेशाय जितद्विषे ॥४॥
[6]शं भवे[7] वा विमुक्तौ[8] वा भक्ता यत्रैव[9] शम्भवे[10] । भेजुर्भव्या नमस्तस्मै तृतीयाय च शम्भवे[11] ॥५॥

यदु कुल जलधि सुचन्द्र सम, वृष रथचक्र सुनेमि
भव्य कमल दिनकर जयौ, जयौ जिनेन्द्र सुनेमि ॥१॥
देव शास्त्र गुरुको प्रणमि, बार बार शिर नाय ।
श्री हरिवंश पुराणकी, भाषा लिखूँ बनाय ॥२॥

जो वादी-प्रतिवादियोंके द्वारा निर्णीत होनेके कारण सिद्ध है, उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य लक्षणसे युक्त जीवादि द्रव्योंको सिद्ध करने वाला है, और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अनादि तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सादि है ऐसा जिन-शासन सदा मङ्गलरूप है ॥१॥ जिनका शुद्ध ज्ञान रूपी प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है, जो लोक और अलोकको प्रकाशित करनेके लिए अद्वितीय सूर्य हैं, तथा जो अनन्तचतुष्टय रूपी लक्ष्मीसे सदा वृद्धिङ्गत हैं ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥२॥ जो सर्वज्ञ हैं, युगके प्रारम्भकी सब व्यवस्थाओंके करनेवाले हैं, तथा जिन्होंने सर्वप्रथम धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति चलाई है उन स्वयंबुद्ध भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥३॥ जिन्होंने अपने ही समान आचरण करनेवाला द्वितीय तीर्थ प्रकट किया था तथा जिन्होंने अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली थी ऐसे उन अजितनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥४॥ जिन शंभव नाथके भक्त भव्यजन संसार अथवा मोक्ष—दोनों ही स्थानोंमें

---

१. ध्रौव्यव्ययोत्पादलक्षणं म० । २. अथेत्यव्ययं मङ्गलवाचकम् 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः । ३. शुद्धज्ञानमेव प्रकाशो यस्य तस्मै । ४. श्रिया वर्द्धमानो यः स तस्मै । ५. गृहस्थादिव्यापाराणाम् । ६. शं सुखम् । ७. संसारे । ८. मोक्षे । ९. यस्मिन् सति । १०. तृतीयतीर्थङ्करे । ११. शं सुखं भवति यस्मात् इति शम्भुस्तस्मै शम्भवे चतुर्थ्यन्तप्रयोगः ।

तीर्थं चतुर्थमन्वर्थं[1] चक्रकाराभिनन्दनः । लोकाभिनन्दनस्तस्मै जिनेन्द्राय नमस्त्रिधा ॥६॥
पञ्चमं सम्प्रपन्नार्थं[2] तीर्थं वर्तयति स्म यः । नमः सुमतये[3] तस्मै नमः सुमतये सदा ॥७॥
ककुभो[4]ऽभासयद्यस्य जिनपद्मप्रभा प्रभा । पद्मप्रभाय षष्ठाय तस्मै तीर्थंकृते नमः ॥८॥
यस्तीर्थं स्वार्थसम्पन्नः परार्थमुदपादयत् । सप्तमं तु नमस्तस्मै सुपार्श्वाय कृतात्मने ॥९॥
अष्टमस्येन्द्रजुष्टस्य कर्त्रे तीर्थस्य तापिने[5] । चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय नमश्चन्द्राभकीर्तये ॥१०॥
देहदन्तप्रभाक्रान्तकुन्दपुष्पत्विषे नमः । पुष्पदन्ताय तीर्थस्य नवमस्य विधायिने ॥११॥
शुचिशीतलतीर्थस्य जन्तुसन्तापनोदिनः । दशमस्य नमः कर्त्रे शीतलायापथाशिने[6] ॥१२॥
तीर्थं व्युच्छिन्नमुन्नाय्य भव्यानामाजवञ्जवम् । चिच्छेदैकादशो योऽर्हंस्तस्मै श्रीश्रेयसे नमः ॥१३॥
कुतीर्थध्वान्तमुद्धूय द्वादशं तीर्थमुज्ज्वलम् । नमस्कृतवते भर्त्रे वासुपूज्यविवस्वते ॥१४॥
विमलाय नमस्तस्मै यः कापथं[7]मलाविलम् । त्रयोदशेन तीर्थेन चकार विमलं जगत् ॥१५॥
तस्मै नमः कुसिद्धान्ततमोभेदनभास्वते । चतुर्दशस्य तीर्थस्य यः कर्ताऽनन्तजिज्जिनः ॥१६॥
अधर्मपथपातालपतदुद्धरणक्षमम् । कर्त्रे पञ्चदशं तीर्थं धर्माय मुनये नमः ॥१७॥
सृष्ट[8]षोडशतीर्थाय कृते[9]नानेतिशान्तये । चक्रेशाय जिनेशाय नमः शान्ताय[10] शान्तये[11] ॥१८॥

सुखको प्राप्त हुए थे उन तृतीय शंभवनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो ॥५॥ लोगोंको आनन्दित करनेवाले जिन अभिनन्दन नाथने सार्थक नामको धारण करनेवाले चतुर्थ तीर्थकी प्रवृत्ति की थी उन श्री अभिनन्दन जिनेन्द्रके लिए मन-वचन-कायसे नमस्कार हो ॥६॥ जिन्होंने विस्तृत अर्थसे सहित पञ्चम तीर्थकी प्रवृत्ति की थी तथा जो सदा सुमति-सद्बुद्धिके धारक थे उन पञ्चम सुमतिनाथ तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो ॥७॥ कमलोंकी प्रभाको जीतनेवाली जिनकी प्रभाने दिशाओंको देदीप्यमान किया था उन छठवें तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥८॥ जिन्होंने आत्महितसे सम्पन्न होकर परहितके लिए सप्तम तीर्थकी उत्पत्ति की थी तथा जो स्वयं कृतकृत्य थे उन सुपार्श्वनाथ भगवान्के लिए नमस्कार हो ॥९॥ जो इन्द्रोंके द्वारा सेवित अष्टम तीर्थके प्रवर्तक एवं रक्षक थे तथा जो चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिके धारक थे उन चन्द्रप्रभ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१०॥ जिन्होंने अपने शरीर तथा दाँतोंकी कान्तिसे कुन्दपुष्पकी कान्तिको परास्त कर दिया था और जो नौवें तीर्थके प्रवर्त्तक थे उन पुष्पदन्त भगवान्के लिए नमस्कार हो ॥११॥ जो प्राणियोंके संतापको दूर करनेवाले उज्ज्वल एवं शीतल दशवें तीर्थके कर्ता थे उन कुमार्गके नाशक श्री शीतलनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१२॥ जिन्होंने श्री शीतलनाथ भगवान्के मोक्ष जानेके बाद व्युच्छित्तिको प्राप्त तीर्थको प्रकट कर भव्यजीवोंका संसार नष्ट किया था तथा जो ग्यारहवें जिनेन्द्र थे उन श्री श्रेयांसनाथ भगवान्के लिए नमस्कार हो ॥१३॥ जिन्होंने कुतीर्थरूपी अन्धकारको नष्टकर बारहवाँ उज्ज्वल तीर्थ प्रकट किया था तथा जो सबके स्वामी थे ऐसे उन वासुपूज्य भगवान् रूपी सूर्यको नमस्कार हो ॥१४॥ जिन्होंने कुमार्ग रूपी मलसे मलिन संसारको तेरहवें तीर्थके द्वारा निर्मल किया था उन विमलनाथ भगवान्को नमस्कार हो ॥१५॥ जो चौदहवें तीर्थके कर्ता थे तथा जिन्होंने अनन्त अर्थात् संसारको जीत लिया था और जो मिथ्या धर्म रूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान थे उन अनन्तनाथ जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥१६॥ जो अधर्मके मार्गसे पाताल-नरकमें पड़नेवाले प्राणियोंका उद्धार करनेमें समर्थ पन्द्रहवें तीर्थके कर्ता थे उन श्री धर्मनाथ मुनीन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१७॥ जो सोलहवें तीर्थके कर्ता थे, जिन्होंने अतिवृष्टि

---

१. -मर्थ्यर्थं म० । २. सविस्तारार्थं । ३. सुष्ठु मतिर्ज्ञानं केवलं यस्य तस्मै । ४. दिशः । ५. पालकाय । ६. कापथस्फेटकाय । ७. कुमार्गमलिनम् । कषायमलाविलं ख०, म० । ८. सृष्टे षोडशतीर्थस्य म०, ख० । ९. कृता नानाप्रकाराणामीतीनां शान्तिर्येन स तस्मै । १०. शान्तमूर्तये । ११. शान्तिनाथाय ।

येन सप्तदशं तीर्थं प्रावर्ति[1] पृथुकीर्तिना[2]। तस्मै कुन्थुजिनेन्द्राय नमः प्राक्चक्रवर्तिने ॥१९॥
नमोऽष्टादशतीर्थेन[3] प्राणिनामिष्टकारिणे। [4]चक्रपाणिजिनाराय [5]निरस्तदुरितारये ॥२०॥
तीर्थेनैकोनविंशेन स्थापितस्थिरकीर्तये। नमो मोह[6]महामल्लमाथिमल्लाय मल्लये ॥२१॥
स्वं विंशतितमं तीर्थं कृत्वेशो मुनिसुव्रतः। अतारयद् भवाल्लोकं यस्तस्मै सततं नमः ॥२२॥
नमये मुनिमुख्याय [7]नमितान्तर्बहिर्द्विषे। एकविंशस्य तीर्थस्य कृताभिव्यक्तये नमः ॥२३॥
भास्वते हरिवंशाद्रिशिखामणये नमः। द्वाविंशतीर्थसच्चक्रनेमये[8]ऽरिष्टनेमये ॥२४॥
धर्ता [9]धरणनिर्धूतपर्वतोद्धरणासुरः। त्रयोविंशस्य तीर्थस्य पार्श्वो विजयतां[10] विभुः ॥२५॥
इत्यस्यामवसर्पिण्यां ये तृतीयचतुर्थयोः। कालयोः कृततीर्थास्ते जिना नः सन्तु सिद्धये ॥२६॥
येऽतीतापेक्ष[11]याऽनन्ताः संख्येया वर्तमानतः[12]। अनन्तानन्तमानास्तु भाविकालव्यपेक्षया[13] ॥२७॥
तेऽर्हन्तः सन्तु नः सिद्धाः सूर्युपाध्यायसाधवः। मङ्गलं गुरवः पञ्च सर्वे सर्वत्र सर्वदा ॥२८॥
[14]जीवसिद्धिविधायीह [15]कृतयुक्त्यनुशासनम्। वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥२९॥

अनावृष्टि आदि नाना ईतियोंको शान्त किया था, जो चक्ररत्नके स्वामी थे, और स्वयं अत्यन्त शान्त थे उन शान्तिनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥१८॥ जिन्होंने सत्रहवाँ तीर्थ प्रवृत्त किया था, जो विशाल कीर्तिके धारक थे, तथा जो जिनेन्द्र होनेके पूर्व चक्ररत्नको प्रवृत्त करनेवाले—चक्रवर्ती थे उन श्री कुन्थु जिनेन्द्रको नमस्कार हो ॥१९॥ जो अठारहवें तीर्थंकर थे, प्राणियोंका कल्याण करनेवाले थे, और जिन्होंने पापरूपी शत्रुको नष्ट कर दिया था उन चक्ररत्नके धारक श्री अरनाथ जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो ॥२०॥ जिन्होंने उन्नीसवें तीर्थके द्वारा अपनी स्थायी कीर्ति स्थापित की थी, तथा जो मोहरूपी महामल्लको नष्ट करनेके लिए अद्वितीय मल्ल थे ऐसे मल्लिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥२१॥ जिन्होंने अपना बीसवाँ तीर्थ प्रवृत्त कर लोगोंको संसारसे पार किया था उन श्री मुनिसुव्रत भगवान्‌के लिए निरन्तर नमस्कार हो ॥२२॥ जो मुनियोंमें मुख्य थे, जिन्होंने अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओंको नम्रीभूत कर दिया था, और जिन्होंने इक्कीसवाँ तीर्थ प्रकट किया था उन नमिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥२३॥ जो सूर्यके समान देदीप्यमान थे, हरिवंश रूपी पर्वतके उत्तम शिखामणि थे, और बाईसवें तीर्थ रूपी उत्तम चक्रके नेमि (अयोधारा) स्वरूप थे उन अरिष्टनेमि तीर्थंकरके लिए नमस्कार हो ॥२४॥ जो तेईसवें तीर्थके धर्त्ता थे तथा जिनके ऊपर पर्वत उठाकर उपद्रव करनेवाला असुर धरणेन्द्रके द्वारा नष्ट किया गया था वे पार्श्वनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥२५॥ इस प्रकार इस अवसर्पिणीके तृतीय और चतुर्थ कालमें धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले जो जिनेन्द्र हुए हैं वे सब हम लोगोंकी सिद्धिके लिए हों ॥२६॥ जो भूतकालकी अपेक्षा अनन्त हैं, वर्तमानकी अपेक्षा संख्यात हैं, और भविष्यत्‌की अपेक्षा अनन्तानन्त हैं वे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—समस्त पञ्च परमेष्ठी सब जगह तथा सब कालमें मंगल स्वरूप हों ॥२७–२८॥

जो जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ (पक्षमें जीवोंकी मुक्ति) के रचयिता हैं तथा जिन्होंने युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ (पक्षमें हेतुवादके उपदेश) की रचना की है ऐसे श्री समन्तभद्रस्वामीके

---

१. प्रवर्तितं। २. विस्तारितयशसा। ३. तीर्थाय म०। ४. चक्रवर्तिपदधारकतीर्थंकरपदधारक-अरनाथाय। ५. विध्वस्तपापवैरिवर्गाय। ६. मोह एव महामल्लस्तं मथितुं शीलं यस्य तादृशो मल्लस्तस्मै। ७. नमितान्तर्बहिर्वैरिवर्गाय। ८. प्रवर्तकाय। ९. धरणेन धरणेन्द्रेण निर्धूतः पर्वतोद्धरणः असुरो यस्य सः। १० सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। ११. भूतकालापेक्षातः। १२. वर्तमानकालापेक्षातः। १३. भविष्यत्कालापेक्षातः। १४. जीवानां सिद्धिस्तद्विधायि, द्वितीयपक्षे जीवसिद्धिनाम ग्रन्थस्तत्कारकं। १५. कृता युक्तिर्यत्र एतादृशम् अनुशासनं यत्र द्वितीयपक्षे युक्त्यनुशासनं नाम ग्रन्थः स कृतो येन तत्।

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः[1] । बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥३०॥
[2]इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः[3] । देवस्य देववन्द्यस्य[4] न वन्द्यन्ते गिरः कथम् ॥३१॥
वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः । प्रमाणं[5] धर्मशास्त्राणां प्रवक्तॄणामिवोक्तयः[6] ॥३२॥
महासेनस्य मधुरा शीलालङ्कारधारिणी । कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना[7] ॥३३॥
कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता । मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः[9] प्रिया ॥३४॥
वराङ्गनेव सर्वाङ्गैर्वराङ्गचरितार्थवाक्[10] । कस्य नोत्पादयेद् गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥३५॥
शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः । कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरञ्जयेत् ॥३६॥
[11]योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः । विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः ॥३७॥

वचन इस संसारमें भगवान् महावीरके वचनोंके समान विस्तारको प्राप्त हैं ॥२९॥ जिनका ज्ञान संसारमें सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्री सिद्धसेनकी निर्मल सूक्तियाँ श्री ऋषभ जिनेन्द्रकी सूक्तियोंके समान सत्पुरुषोंकी बुद्धिको सदा विकसित करती हैं ॥३०॥ जो इन्द्र चन्द्र अर्क और जैनेन्द्र व्याकरणोंका अवलोकन करनेवाली है ऐसी देववन्द्य देवनन्दी आचार्यकी वाणी क्यों नहीं वन्दनीय है ? ॥३१॥ जो हेतु सहित बन्ध और मोक्षका विचार करनेवाली हैं ऐसी श्री वज्रसूरिकी उक्तियाँ धर्मशास्त्रोंका व्याख्यान करनेवाले गणधरोंकी उक्तियोंके समान प्रमाण रूप हैं ॥३२॥ जो मधुर है—माधुर्य गुणसे सहित है (पक्षमें अनुपम रूपसे युक्त है) और शीलालंकारधारिणी है—शीलरूपी अलंकारका वर्णन करनेवाली है (पक्षमें शीलरूपी अलंकारको धारण करनेवाली है) इस प्रकार सुलोचना—सुन्दर नेत्रोंवाली वनिताके समान, महासेन कविकी सुलोचना नामक कथाका किसने वर्णन नहीं किया है ? अर्थात् सभीने वर्णन किया है ॥३३॥ श्री रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति सूर्यकी मूर्तिके समान लोकमें अत्यन्त प्रिय है क्योंकि जिस प्रकार सूर्यकी मूर्ति कृतपद्मोदयोद्योता है अर्थात् कमलोंके विकास और उद्योत—प्रकाशको करनेवाली है उसी प्रकार रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति भी कृतपद्मोदयोद्योता अर्थात् श्री रामके अभ्युदयका प्रकाश करनेवाली है—पद्मपुराणकी रचनाके द्वारा श्री रामके अभ्युदयको निरूपित करनेवाली है और सूर्यकी मूर्ति जिस प्रकार प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है उसी प्रकार रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्ति भी प्रतिदिन परिवर्तित—अभ्यस्त होती रहती है ॥३४॥ जिस प्रकार उत्तम स्त्री अपने हस्त-मुख पाद आदि अङ्गोंके द्वारा अपने आपके विषयमें मनुष्योंका गाढ़ अनुराग उत्पन्न करती रहती है उसी प्रकार* श्री वराङ्ग चरितकी अर्थपूर्ण वाणी भी अपने समस्त छन्द-अलङ्कार रीति आदि अंगोंसे अपने आपके विषयमें किस मनुष्यके गाढ़ अनुरागको उत्पन्न नहीं करती ? ॥३५॥ श्री शान्त (शान्तिषेण) कविकी वक्रोक्ति रूप रचना, रमणीय उत्प्रेक्षाओंके बलसे, मनोहर अर्थके प्रकट होने पर किसके मनको अनुरक्त नहीं करती है ? ॥३६॥ जो गद्य पद्य सम्बन्धी समस्त विशिष्ट उक्तियोंके विषयमें विशेष अर्थात् तिलक रूप हैं तथा जो विशेषत्रय (ग्रन्थविशेष) का निरूपण करनेवाले हैं ऐसे विशेषवादी कविका विशेषवादीपना सर्वत्र प्रसिद्ध

---

१. स्पष्टाः । २. रुद्रचन्द्रार्क्क क०, म०, घ०, ङ० । इन्द्र ख०, म० । ३. -णेक्षणाः म० । 'व्याकरणे-क्षिनः' इत्यपि पाठः । ४. देवसंघस्य ख०, म० । ५. प्रमाणभूताः । ६. गणधरदेवानाम् । ७. सुनेत्रा, सुलोचनानाम्नी कथा च । ८. पद्मं कमलं रामश्च । ९. पद्मपुराणकर्तुः रविषेणाचार्यस्य । १०. वराङ्गकथा अत्र वराङ्गचरितकर्तुः श्रीजटासिंहनन्दिनः कवेर्नाम नोल्लिखितम् । ११. वादिराजमुनिना पार्श्वनाथचरितेऽपि समुल्लेखः कृतः—"विशेषवादिगीगुंफश्रवणासक्तबुद्धयः । अक्लेशादधिगच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः ॥"

* यहाँ कविने वराङ्गचरितके रचयिता जटासिंह नन्दीका उल्लेख न कर केवल ग्रन्थका ही उल्लेख किया है ।

[1]आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम् । गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम्[2] ॥३८॥
जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः । वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥३९॥
[3]याऽमिताभ्युदये पार्श्वे जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः । स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं सङ्कीर्तयत्यसौ ॥४०॥
वर्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः । प्रस्फुरन्ति [4]गिरीशान्तःस्फुटस्फटिकभित्तिषु॥ ४१॥
निर्गुणाऽपि गुणान्[5] सद्भिः कर्णपूरीकृता कृतिः । बिभर्त्येव वधूवक्त्रैश्चूतस्येवाम्रमञ्जरी ॥४२॥
साधुरस्यति काव्यस्य दोषवत्तामयाचितः । पावकः शोधयत्येव कलधौतस्य कालिकाम् ॥४३॥
काव्यस्यान्तर्गतं लेपं कुतश्चिदपि सत्सभाः[6] । प्रक्षिपन्ति बहिः क्षिप्रं सागरस्येव [7]वीचयः ॥४४॥
मुक्ताफलतयाऽऽदानात् परिषद्भिः[8] कृतिः स्फुरेत् । जडात्मापि विशुद्धाभिस्तोयधेरिव शुक्तिभिः ॥४५॥
दुर्वचोविषदुष्टान्तर्मुख[9]स्फुरितजिह्वकान् । निगृह्णन्ति [10]खलव्यालान् सन्नरेन्द्राः[11] स्वशक्तिभिः ॥४६॥

है ॥३७॥ श्री कुमारसेन गुरुका वह यश इस ससारमें समुद्र पर्यन्त सर्वत्र विचरण करता है जो प्रभाचन्द्र नामक शिष्यके उदयसे उज्ज्वल है तथा जो अविजित रूप है—किसीके द्वारा जीता नहीं जा सकता है ॥३८॥ जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्षके लोगोंको जीत लिया है तथा जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं ऐसे श्री वीरसेन स्वामीकी निर्मल कीर्ति प्रकाशमान हो रही है ॥३९॥ अपरिमित ऐश्वर्यको धारण करनेवाले श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्रकी जो गुणस्तुति है वही जिनसेन स्वामीकी कीर्तिको विस्तृत कर रही है।

भावार्थ—श्री जिनसेन स्वामीने जो पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना की है वही उनकी कीर्तिको विस्तृत कर रही है ॥४०॥ * वर्धमान पुराण रूपी उगते हुए सूर्यकी सूक्ति रूपी किरणें† विद्वज्जनोंके अन्तःकरण रूपी पर्वतोंकी मध्यवर्तिनी स्फटिककी दीवालोंपर देदीप्यमान हैं ॥४१॥ जिस प्रकार स्त्रियोंके मुखोंके द्वारा अपने कानोंमें धारण की हुई आमकी मञ्जरी निर्गुणा—डोरा रहित होनेपर भी गुण सौन्दर्य विशेषको धारण करती है उसी प्रकार सत् पुरुषोंके द्वारा श्रवण की हुई निर्गुणा—गुण-रहित रचना भी गुणोंको धारण करती है। भावार्थ—यदि निर्गुण रचनाको भी सत् पुरुष श्रवण करते हैं तो वह गुण सहितके समान जान पड़ती है ॥४२॥

साधु पुरुष याचनाके बिना ही काव्यके दोषोंको दूर कर देता है सो ठीक ही है क्योंकि अग्नि स्वर्णकी कालिमाको दूर हटा ही देती है ॥४३॥ जिस प्रकार समुद्रकी लहरें भीतर पड़े हुए मैलको शीघ्र ही बाहर निकालकर फेंक देती हैं उसी प्रकार सत्पुरुषोंकी सभाएँ किसी कारण काव्यके भीतर आये हुए दोषको शीघ्र ही निकालकर दूर कर देती हैं ॥४४॥ जिस प्रकार समुद्रकी निर्मल सीपोंके द्वारा ग्रहण किया हुआ जल मोती रूप हो जाता है उसी प्रकार दोषरहित सत्पुरुषोंकी सभाओंके द्वारा ग्रहण की हुई जड़ रचना भी उत्तम रचनाके समान देदीप्यमान होने लगती है ॥४५॥ दुर्वचन रूपी विषसे दूषित जिनके मुखोंके भीतर जिह्वाएँ लपलपा रहीं हैं ऐसे दुर्जन रूपी साँपोंको सज्जन रूपी विषवैद्य अपनी शक्तिसे शीघ्र ही वश कर लेते हैं ॥४६॥

---

१. श्री कुमारसेनस्य शिष्यः प्रभाचन्द्र आसीत् येन चन्द्रोदय नाम शास्त्रं रचितम्। आदिपुराणे श्रीजिनसेनाचार्येणापि प्रभाचन्द्रस्य स्मरणं कृतम्—"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे। कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥"। २. न केनापि विजितम्। ३. यामिताभ्युदयपार्श्वं -ख०। यामिताभ्युदये पार्श्वं -म०, पार्श्वे = पार्श्वनाथतीर्थङ्करदेवे। ४. पण्डितानां मनःस्फाटिकभित्तिषु। ५. गुणान् बिभर्ति इति सम्बन्धः। ६. पण्डितपरिषदः। ७. कल्लोलाः। ८. सभाभिः। ९. मुखे म०। १०. दुर्जननागान्। ११. उत्तमनृपाः। पक्षे उत्तमविषवैद्याः।

* यहाँ भी वर्धमान पुराणके रचयिताका नाम प्रकट नहीं किया गया है।

† गिरां वाणीनाम् ईशा गिरीशाः विद्वांसः, पक्षे गिरीणां पर्वतानामीशा गिरीशाः।

[1]रजोबहुलमारूक्षं खलं कालं विदाहिनम्[2] । सन्तः काले कलध्वानाः शमयन्ति यथा घनाः ॥४७॥
साध्वसाधुसमाकारप्रवृत्तमबुधं बुधाः । वारयन्ति तमोराशिं रवीन्द्वोरिव रश्मयः ॥४८॥
इत्थं साधुसहायोऽहमनातङ्कमनुद्धतम् । देहं काव्यमयं लोके करोमि स्थिरमात्मनः ॥४९॥
बद्धमूलं भुवि ख्यातं बहुशाखाविभूषितम् । पृथुपुण्यफलं पूतं कल्पवृक्षसमं परम् ॥५०॥
अरिष्टनेमिनाथस्य चरितेनोज्ज्वलीकृतम् । पुराणं हरिवंशाख्यं ख्यापयामि मनोहरम् ॥५१॥ [युग्मम्]
द्युमणिद्योतितं[3] द्योत्यं द्योतयन्ति यथाणवः[4] । मणिप्रदीपखद्योतविद्युतोऽपि यथायथम् ॥५२॥
द्योतितस्य तथा तस्य पुराणस्य महात्मभिः । द्योतने वर्ततेऽत्यल्पो मादृशोऽप्यनुरूपतः ॥५३॥
विप्रकृष्टमपि ह्यर्थं सौकुमार्ययुतं मनः । [5]सूरिसूर्यकृतालोकं लोकचक्षुरिवेक्षते ॥५४॥
पञ्चधाप्रविभक्तार्थं[6] क्षेत्रादिप्रविभागतः । प्रमाणमागमाख्यं तत्प्रमाणपुरुषोदितम् ॥५५॥
तथाहि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकरः स्वयम् । ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गौतमाख्यो गणाग्रणीः ॥५६॥
उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्तारो बहवः क्रमात् । प्रमाणं तेऽपि नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः[7] ॥५७॥
त्रयः केवलिनः पञ्च ते चतुर्दशपूर्विणः । क्रमेणैकादश प्राज्ञा विज्ञेया दशपूर्विणः ॥५८॥
पञ्चैवैकादशाङ्गानां धारकाः परिकीर्तिताः । आचाराङ्गस्य चत्वारः [8]पञ्चधेति युगस्थितिः ॥५९॥

जिस प्रकार मधुर गर्जना करनेवाले मेघ, अत्यधिक धूलिसे युक्त, रूक्ष और तीव्र दाह उत्पन्न करनेवाले ग्रीष्मकालको समय आनेपर शान्त कर देते हैं उसी प्रकार मधुर भाषण करनेवाले सत्पुरुष, अत्यधिक अपराध करनेवाले, कठोर प्रकृति एवं सन्ताप उत्पन्न करनेवाले दुष्ट पुरुषको समय आने पर शान्त कर लेते हैं ॥४७॥ जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें, अच्छे और बुरे पदार्थोंको एकाकार करनेमें प्रवृत्त अन्धकारकी राशिको दूर कर देती हैं उसी प्रकार विद्वान् मनुष्य, सज्जन और दुर्जनके साथ समान प्रवृत्ति करनेमें तत्पर मूर्ख मनुष्यको दूर कर देती हैं ॥४८॥ इस प्रकार साधुओंकी सहायता पाकर मैं रोग और अभिमानसे रहित अपने इस काव्यरूपी शरीरको संसारमें स्थायी करता हूँ ॥४९॥ अब मैं उस हरिवंश पुराणको कहता हूँ जो बद्धमूल है—प्रारम्भिक इतिहाससे सहित (पक्षमें जड़से युक्त है), पृथिवीमें अत्यन्त प्रसिद्ध है, अनेक शाखाओं—कथाओं-उपकथाओंसे विभूषित है, विशाल पुण्यरूपी फलसे युक्त है, पवित्र है, कल्पवृक्षके समान है, उत्कृष्ट है, श्री नेमिनाथ भगवान्‌के चरित्रसे उज्ज्वल है, और मनको हरण करनेवाला है ॥५०–५१॥ जिस प्रकार सूर्यके द्वारा प्रकाशित पदार्थको, अत्यन्त तुच्छ तेजके धारक मणि, दीपक, जुगनू तथा बिजली आदि भी यथायोग्य—अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार बड़े-बड़े विद्वान् महात्माओंके द्वारा प्रकाशित इस पुराणके प्रकाशित करनेमें मेरे जैसा अल्प शक्तिका धारक पुरुष भी अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्रवृत्त हो रहा है ॥५२–५३॥ जिस प्रकार सूर्यका आलोक पाकर मनुष्यका नेत्र दूरवर्ती पदार्थको भी देख लेता है उसी प्रकार पूर्वाचार्य रूपी सूर्यका आलोक पाकर मेरा सुकुमार मन अत्यन्त दूरवर्ती—कालान्तरित पदार्थको भी देखनेमें समर्थ है ॥५४॥ जिसके प्रतिपादनीय पदार्थ-क्षेत्र, द्रव्य, काल, भव और भावके भेदसे पाँच भेदोंमें विभक्त हैं तथा प्रामाणिक पुरुषों—आप्तजनोंने जिसका निरूपण किया है ऐसा आगम नामका प्रमाण, प्रसिद्ध प्रमाण है ॥५५॥ इस तन्त्रके मूलकर्ता स्वयं श्री वर्धमान तीर्थंकर हैं, उनके बाद उत्तर तन्त्रके कर्ता श्री गौतम गणधर हैं, और उनके अनन्तर उत्तरोत्तर तन्त्रके कर्ता क्रमसे अनेक आचार्य हुए हैं सो वे सभी सर्वज्ञके कथनका अनुवाद करनेवाले होनेसे हमारे लिए प्रमाणभूत हैं ॥५६–५७॥ इस पञ्चमकालमें तीन केवली, पाँच चौदह पूर्वके ज्ञाता,

१. पापप्रचुरं पक्षे धूलिबहुलम् । २. दाहोत्पादकम् उष्णकालम् । ३. द्योतनं म० । ४. लघवः । ५. आचार्यैरविप्रकटीकृतम् । ६. द्रव्यक्षेत्रकालादिभिरन्तरितार्थं मूर्तामूर्तम् । ७. सर्वज्ञवाणीप्रकाशकाः । ८. केवलिनः चतुर्दशपूर्वधारिणः, दशपूर्वधारिणः, एकादशाङ्गधारिणः, एकाङ्गधारिणः एते पञ्चधा मुनयः ।

वर्धमानजिनेन्द्रोऽस्यादिन्द्रभूतिः श्रुतं दधे । ततः सुधर्मस्तस्मात्तु जम्बूनामान्त्यकेवली ॥६०॥
तस्माद्विष्णुः क्रमात् तस्मान्नन्दिमित्रोऽपराजितः । ततो गोवर्धनो दध्रे भद्रबाहुः श्रुतं ततः ॥६१॥
दशपूर्वी विशाखाख्यः प्रोष्ठिलः क्षत्रियो जयः । नागसिद्धार्थनामानौ धृतिषेणगुरुस्ततः ॥६२॥
विजयो बुद्धिलाभाख्यो गङ्गदेवाभिधस्ततः । दशपूर्वधरोऽन्यस्तु धर्मसेनमुनीश्वरः ॥६३॥
नक्षत्राख्यो यशःपालः[1] पाण्डुरेकादशाङ्गभृत्[2] । ध्रुवसेनमुनिस्तस्मात् कंसाचार्यस्तु पञ्चमः ॥६४॥
सुभद्रोऽतो यशोभद्रो यशोबाहुरनन्तरः । लोहाचार्यस्तुरीयोऽभूदाचाराङ्गधृतो[3] ततः ॥६५॥
पूर्वाचार्येभ्य एतेभ्यः परेभ्यश्च विसृत्वरः । एकदेशागमस्यायमेकदेशोऽपदिश्यते ॥६६॥
अर्थतः पूर्व एवायमपूर्वो ग्रन्थतोऽल्पतः । शास्त्रविस्तरभीरुभ्यः क्रियते सारसंग्रहः ॥६७॥
मनोवाक्कायशुद्धस्य भव्यस्याभ्यस्यतः सदा । श्रेयस्करपुराणार्थो वक्तुः श्रोतुश्च जायते ॥६८॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ । अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः ॥६९॥
यतस्ततः पुराणार्थः पुरुषार्थकरः परः । वक्तव्यो देशकालज्ञैः श्रोतव्यस्त्यक्तमत्सरैः ॥७०॥
लोकसंस्थानमत्रादौ राजवंशोद्भवस्ततः । हरिवंशावतारोऽतो वसुदेवविचेष्टितम् ॥७१॥
चरितं नेमिनाथस्य द्वारवत्या[4] निवेशनम् । युद्धवर्णननिर्वाणे पुराणेऽष्टौ शुभा इमे ॥७२॥
सङ्ग्रहादधिकारैः स्वैः सङ्गृहीतैरलङ्कृताः । अधिकाराः सूत्रिताः प्राक्सूरिसूत्रानुसारिभिः[5] ॥७३॥

पाँच ग्यारह अंगोंके धारक, ग्यारह दशपूर्वके जानकार और चार आचारांगके ज्ञाता इस तरह पाँच प्रकारके मुनि हुए हैं ॥५८-५९॥

श्री वर्धमान जिनेन्द्रके मुखसे श्री इन्द्रभूति (गौतम) गणधरने श्रुतको धारण किया उनसे सुधर्माचार्यने और उनसे जम्बू नामक अन्तिम केवलीने ॥६०॥ उनके बाद क्रमसे १ विष्णु, २ नन्दिमित्र, ३ अपराजित, ४ गोवर्धन, और ५ भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए ॥६१॥ इनके बाद ग्यारह अङ्ग और दशपूर्वके जाननेवाले निम्नलिखित ग्यारह मुनि हुए—१ विशाख, २ प्रोष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जय, ५ नाग, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गङ्गदेव, और ११ धर्मसेन ॥६२-६३॥ इनके अनन्तर १ नक्षत्र, २ यशःपाल, ३ पाण्डु, ४ ध्रुवसेन और ५ कंसाचार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अङ्गके ज्ञाता हुए ॥६४॥ तदनन्तर १ सुभद्र, २ यशोभद्र, ३ यशोबाहु और लोहार्य ये चार मुनि आचाराङ्गके धारक हुए ॥ ६५॥ इस प्रकार इन तथा अन्य आचार्योंसे जो आगमका एकदेश विस्तारको प्राप्त हुआ था उसीका यह एकदेश यहाँ कहा जाता है ॥६६॥ यह ग्रन्थ अर्थकी अपेक्षा पूर्व ही है अर्थात् इस ग्रन्थमें जो वर्णन किया गया है वह पूर्वाचार्योंसे प्रसिद्ध ही है परन्तु शास्त्रके विस्तारसे डरनेवाले लोगोंके लिए इसमें संक्षेपसे सारभूत पदार्थोंका संग्रह किया गया है इसलिए इस रचनाकी अपेक्षा यह अपूर्व अर्थात् नवीन है ॥६७॥ जो भव्यजीव मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक सदा इसका अभ्यास करते हुए कथन अथवा श्रवण करेंगे उनके लिए यह पुराण कल्याण करनेवाला होगा ॥६८॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका कहा गया है सो उन दोनों प्रकारके तपोंमें अज्ञानका विरोधी होनेसे स्वाध्याय परम तप कहा गया है ॥६९॥ यतश्च इस पुराणका अर्थ उत्तम पुरुषार्थोंका करनेवाला है इसलिए देश कालके ज्ञाता मनुष्योंके लिए मात्सर्यभाव छोड़कर इसका कथन तथा श्रवण करना चाहिए ॥७०॥

इस पुराणमें सर्व प्रथम लोकके आकारका वर्णन, फिर राजवंशोंकी उत्पत्ति, तदनन्तर हरिवंशका अवतार, फिर वसुदेवकी चेष्टाओंका कथन, तदनन्तर नेमिनाथका चरित, द्वारिकाका निर्माण, युद्धका वर्णन और निर्वाण—ये आठ शुभ अधिकार कहे गये हैं ॥७१-७२॥ ये सभी

१. यशःपालपाण्डु -ख०,म० । २. धृग् म० । ३. भृतस्ततः म० । ४. द्वारावत्या म० । ५. पूर्वाचार्यकृतशास्त्रानुगामिभिः ।

संक्षेपेण विभागेन विस्तारेण च वस्तुनः । शासने देशना यस्माद् विभागः कथ्यते ततः ॥७४॥
वर्धमानजिनेन्द्रस्य धर्मतीर्थप्रवर्तनम् । गणभृद्गणसंख्यानं भूयो राजगृहागमम् ॥७५॥
[1]गौतमश्रेणिकप्रश्ने क्षेत्रकालनिरूपणम् । ततः कुलकरोत्पत्तिमुत्पत्तिं वृषभस्य च ॥७६॥
कीर्तनं क्षत्रियादीनां हरिवंशप्रवर्तनम् । मुनिसुव्रतनाथस्य तत्र वंशे समुद्भवम् ॥७७॥
दक्षप्रजापतेर्वृत्तं वसुवृत्तान्तमेव च । जननं वृष्णिपुत्राणां सुप्रतिष्ठस्य केवलम् ॥७८॥
वृष्णिदीक्षां तथा राज्यं समुद्रविजयस्य तु । वसुदेवस्य सौभाग्यमुपायेन च निर्गमम् ॥७९॥
लाभं कन्यकयोस्तस्य सोमाविजयसेनयोः । वन्यहस्तिवशीकारं श्यामया सह सङ्गमम् ॥८०॥
अङ्गारकेण हरणं चम्पायां च विमोचनम् । लाभं गन्धर्वसेनाया मुनेर्विष्णोर्विचेष्टितम् ॥८१॥
चरितं चारुदत्तस्य तस्यैव मुनिदर्शनम् । चारुनीलयशोलाभं सोमश्रीलाभमेव च ॥८२॥
वेदोत्पत्तिमुपाख्यानं सौदासस्य नृपस्य तु । कपिलाकन्यकालाभं पद्मावत्युपलम्भनम् ॥८३॥
सम्प्राप्तिं चारुहासिन्या रत्नवत्यास्ततोऽपि च । सोमदत्तसुतालाभं वेगवत्याश्च सङ्गमम् ॥८४॥
लाभं मदनवेगाया बालचन्द्रावलोकनम् । प्रियङ्गुसुन्दरीलाभं बन्धुमत्या समन्वितम् ॥८५॥
प्रभावत्याः परिप्राप्तिं रोहिण्याश्च स्वयंवरम् । संग्रामे विजयं तस्य भ्रातृभिः सह सङ्गमम् ॥८६॥
बलदेवसमुत्पत्तिं कंसोपाख्यानमेव च । जरासन्धस्य वचनात् [2]सिंहस्यन्दनबन्धनम् ॥८७॥
तथा जीवद्यशोलाभं कंसस्य पितृबन्धनम् । देवक्या सह संयोगं ततोऽप्यानकदुन्दुभेः ॥८८॥

अधिकार संग्रहको भावनासे संगृहीत अपने अवान्तर अधिकारोंसे अलंकृत हैं तथा पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित शास्त्रोंका अनुसरण करनेवाले मुनियोंके द्वारा गुम्फित हैं ॥७३॥ वस्तुका निरूपण करनेके लिए दो प्रकारकी देशना पाई जाती है एक विभाग रूपसे और दूसरी विस्तार रूपसे। इनमेंसे यहाँ विभागरूपीय देशनाका निरूपण किया जाता है ॥७४॥ प्रथम ही इस ग्रन्थमें श्री वर्धमान जिनेन्द्रकी धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिका वर्णन है फिर गणधरोंकी संख्या और भगवान्‌के राजगृहमें आगमनका निरूपण है ॥७५॥ तदनन्तर श्रेणिक राजाका गौतम स्वामीसे प्रश्न करना, तदनन्तर क्षेत्र, कालका निरूपण, फिर कुलकरोंकी उत्पत्ति और भगवान् ऋषभदेवकी उत्पत्तिका वर्णन है ॥७६॥ तत्पश्चात् क्षत्रिय आदि वर्णोंका निरूपण, हरिवंशकी उत्पत्तिका कथन और उसी हरिवंशमें भगवान् मुनिसुव्रतके जन्म लेनेका निरूपण है ॥७७॥ तदनन्तर दक्ष प्रजापतिका उल्लेख, वसुका वृत्तान्त, अन्धक वृष्णिके दशकुमारोंका जन्म, सुप्रतिष्ठ मुनिके केवलज्ञानकी उत्पत्ति, राजा अन्धक वृष्णिकी दीक्षा, समुद्रविजयका राज्य, वसुदेवका सौभाग्य, उपायपूर्वक वसुदेवका बाहर निकलना, वहाँ उन्हें सोमा और विजयसेना कन्याओंका लाभ होना, जङ्गली हाथीका वश करना, श्यामाके साथ वसुदेवका सङ्गम, अङ्गारक विद्याधरके द्वारा वसुदेवका हरण, चम्पा नगरीमें वसुदेवका छोड़ना, वहाँ गन्धर्वसेनाका लाभ, विष्णुकुमार मुनिका चरित, सेठ चारुदत्तका चरित, उसीको मुनिका दर्शन होना, तथा वसुदेवको सुन्दरी नीलयशा और सोमश्रीका लाभ होनेका वर्णन है ॥७८-८२॥ तदनन्तर वेदोंकी उत्पत्ति, राजा सौदासकी कथा, वसुदेवको कपिला कन्या और पद्मावतीका लाभ, चारुहासिनी और रत्नवतीकी प्राप्ति, सोमदत्तकी पुत्रीका लाभ, वेगवती-का समागम, मदनवेगाका लाभ, बालचन्द्राका अवलोकन, प्रियङ्गुसुन्दरीका लाभ, बन्धुमतीका समागम, प्रभावतीकी प्राप्ति, रोहिणीका स्वयंवर, संग्राममें वसुदेवकी जीत और उनका भाइयोंके साथ समागम होनेका कथन है ॥८३-८६॥ तत्पश्चात् बलदेवकी उत्पत्ति, कंसका व्याख्यान, जरासन्धके कहनेसे राजा सिंहरथका बाँधना, कंसको जीवद्यशाकी प्राप्ति होना, पिता उग्रसेनको बन्धनमें डालना, देवकीके साथ वसुदेवका समागम होना, 'देवकीके पुत्रके हाथसे मेरा मरण है'

---

१. गौतमश्रेणिकप्रश्नं म०, ख० । २. सिंहरथबन्धनम् ।

सत्यातिमुक्तकादेशं कंससंक्षोभकारणम् । प्रार्थनं वसुदेवस्य देवकीप्रसवं प्रति ॥८९॥
[1]आनकेन मुनेः प्रश्नमष्टपुत्रभवान्तरम् । चरितं नेमिनाथस्य पापप्रमथनं तथा ॥९०॥
उत्पत्तिं [2]वासुदेवस्य गोकुले बालचेष्टितम् । ग्रहणं सर्वशास्त्राणां बलदेवोपदेशतः ॥९१॥
चापरत्नसमारोपं कालिन्द्यां नागनाथनम् । वाजिवारणचाणूरमल्लकंसवधं ततः ॥९२॥
उग्रसेनस्य राज्यं च सत्यभामाकरग्रहम् । [3]सर्वज्ञातिसमेतस्य प्रीतिं च परमां हरेः ॥९३॥
जीवद्यशोविलापं च जरासन्धरुषं ततः । प्रेषितस्य रणे कालयवनस्य पराभवम् ॥९४॥
तथाऽपराजितस्यापि मारणं हरिणा रणे । शौरीणां परमं तोषमकुतोभयतः स्थितिम् ॥९५॥
शिवादेव्याः सुतोत्पत्तौ षोडशस्वप्नदर्शनम् । फलानां कथनं पत्या नेमिनाथसमुद्भवम् ॥९६॥
मेरौ जन्माभिषेकं च बालक्रीडामहोदयम् । जरासन्धातिसन्धानं [4]शौरिसागरसंश्रयम् ॥९७॥
देवताकृतमायातो जरासन्धनिवर्तनम् । विष्णोः [5]साष्टमभक्तस्य दर्भशय्याधिरोहणम् ॥९८॥
गौतमेनेन्द्रवचनात् सागरस्यापसारणम् । कुबेरेण क्षणात्तत्र द्वारावत्या निवेशनम् ॥९९॥
रुक्मिण्याहरणं [6]भास्वद्भानुप्रद्युम्नसम्भवम् । [7]रौक्मिणेयहृतिं पूर्ववैरिणा धूमकेतुना ॥१००॥
विजयार्धस्थितिं पित्रोर्नारदेनेष्टसूचनम् । प्राप्तिं षोडशलाभानां प्रज्ञप्तेरुपलम्भनम् ॥१०१॥
कालसंवरसङ्ग्रामं पितृमातृसमागमम् । शम्बोत्पत्तिं शिशुक्रीडां प्रश्नं चापि पितुःपितुः ॥१०२॥
तेन [8]स्वाहिण्डनाख्यानं कुमाराणां च कीर्तनम् । वार्तोपलम्भाद् दूतस्य प्रेषणं प्रतिशत्रुणा ॥१०३॥

ऐसा श्री सत्यवादी अतिमुक्तक मुनिका आदेश सुन कंसका व्याकुल होना, 'देवकीका प्रसव हमारे घर ही हो' इस प्रकार कंसकी वसुदेवसे प्रार्थना करना, वसुदेवका अतिमुक्तक मुनिसे प्रश्न, देवकीके आठ पुत्रोंके भवान्तर पूछना और भगवान् नेमिनाथके पापापहारी चरितका निरूपण है ॥८७–९०॥ तदनन्तर श्रीकृष्णकी उत्पत्ति, गोकुलमें उनकी बालचेष्टाएँ, बलदेवके उपदेशसे समस्त शास्त्रोंका ग्रहण, धनुष रत्नका चढ़ाना, यमुनामें नागको नाथना, घोड़ा, हाथी, चाणूरमल्ल और कंसका वध, उग्रसेनका राज्य, सत्यभामाका पाणिग्रहण, सर्वकुटुम्बियों सहित श्रीकृष्णका परम प्रीतिका अनुभव करना, कंसकी स्त्री जीवद्यशाका विलाप, जरासन्धका क्रोध, रणमें भेजे हुए कालयवनका पराजय, श्रीकृष्णके द्वारा युद्धमें अपराजितका मारा जाना, यादवोंका परमहर्ष और निर्भयताके साथ रहना, पुत्रोत्पत्तिके निमित्त शिवादेवीके सोलह स्वप्न देखना, पतिके द्वारा स्वप्नोंका फल कहा जाना, नेमिनाथ भगवान्‌का जन्म, सुमेरु पर्वतपर उनका जन्माभिषेक होना, भगवान्‌की बालक्रीड़ा और महान् अभ्युदयका विस्तार, जरासंधका पीछा करना, यादवोंका सागरका आश्रय करना, देवीके द्वारा की हुई मायासे जरासन्धका लौटना, तीन दिनके उपवासका नियम लेकर कृष्णका डाभकी शय्यापर आरूढ़ होना, इन्द्रकी आज्ञासे गौतम नामक देवके द्वारा समुद्रका संकोच करना और कुबेरके द्वारा वहाँ क्षणभरमें द्वारावती (द्वारिका) नगरीकी रचना होना इन सबका वर्णन है ॥९१–९९॥ तदनन्तर रुक्मिणीका हरा जाना, देदीप्यमान भानुकुमार और प्रद्युम्नकुमारका जन्म होना, रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नका पूर्वभवके वैरी धूमकेतु असुरके द्वारा हरण होना, विजयार्धमें प्रद्युम्नकी स्थिति, नारदके द्वारा प्रद्युम्नके माता-पिताको इष्ट समाचारकी सूचना देना, प्रद्युम्नको सोलह लाभों तथा प्रज्ञप्ति विद्याकी प्राप्ति होना, राजा कालसंवरके साथ प्रद्युम्नका युद्ध, मातापिताका मिलाप, शम्बकुमारकी उत्पत्ति, प्रद्युम्नकी बालक्रीड़ा, वसुदेवका प्रद्युम्नसे प्रश्न, प्रद्युम्न द्वारा अपने भ्रमणका वृत्तान्त, सकल यादव कुमारोंका कीर्तन, समाचार पाकर प्रति शत्रु जरासन्धका कृष्णके प्रति दूत भेजना, यादवोंकी

१. वसुदेवेन । २. कृष्णस्य । ३. सर्वकुटुम्बयुक्तस्य । ४. यादवानां समुद्राश्रयम् । ५. उपवासत्रययुक्तस्य । ६. शोभमानभानुकुमारप्रद्युम्नोत्पत्तिम् । ७. प्रद्युम्नस्य हरणम् । ८. स्वकीयपरिभ्रमणाख्यानम् ।

यादवानां सभाक्षोभं सेनयोरुपसर्पणम् । विजयार्धे [1]खगक्षोभं वसुदेवपराक्रमम् ॥१०४॥
अक्षौहिणीप्रमाणं च रथिनोऽतिरथांस्तथा । महासमरथान् सर्वान् नृपानर्धरथानपि ॥१०५॥
चक्रव्यूहव्यपोहार्थं गरुडव्यूहकल्पनम् । सिंहगारुडविद्यासु रथाप्ति बलकृष्णयोः ॥१०६॥
नेमेः सारथिरूपेण मातुलेरुपसर्पणम् । नेम्यनावृष्णिपार्थैश्च चक्रव्यूहस्य भेदनम् ॥१०७॥
कदनं पाण्डुपुत्राणां धृतराष्ट्रसुतैः सह । सेनापत्योर्महायुद्धं कृष्णमागधयोरतः ॥१०८॥
चक्रोत्पत्तिं तदा विष्णोर्जरासन्धवधस्ततः । विजयं वसुदेवस्य खेचरीभिर्निवेदितम् ॥१०९॥
कृष्णकोटिशिलोत्क्षेपं वसुदेवागमं ततः । ततो दिग्विजयं दिव्यं रत्नानां च समुद्भवम् ॥११०॥
भ्रात्रोः राज्याभिषेकं च द्रौपदीहरणं सह । पाण्डवैर्धातकीखण्डाद् विष्णुनानयनं पुनः ॥१११॥
नेमिसामर्थ्यविज्ञानं मज्जनं तदनन्तरम् । पूरणं [2]पाञ्चजन्यस्य विवाहारम्भसम्भ्रमम् ॥११२॥
मृगमोक्षविधानं च दीक्षणं केवलोदयम् । देवागमविभूतिं च समवस्थानकीर्तनम् ॥११३॥
राजीमत्यास्तपःप्राप्तिं द्विधा धर्मोपदेशनम् । धर्मतीर्थविहारं च [3]षट्सहोदरसंयमम् ॥११४॥
ऊर्जयन्तनगारोहं देवकीप्रश्नसत्कथाम् । रुक्मिणीसत्यभामादिमहादेवीभवान्तरम् ॥११५॥
कुमारस्य गजाख्यस्य सम्भवं तस्य दीक्षणम् । [4]वसुदेवेतरोद्विग्ननवभ्रातृतपस्यनम् ॥११६॥
त्रिषष्टिपुरुषोत्पत्तिं सजिनान्तरविस्तरम् । बलदेवपरिप्रश्नं ततः प्रद्युम्नदीक्षणम् ॥११७॥
रुक्मिण्यादिहरिस्त्रीणां दुहितॄणां च संयमम् । द्वीपायनमुनेः क्रोधाद् द्वारवत्या विनाशनम् ॥११८॥

सभामें क्षोभ उत्पन्न होना, दोनों सेनाओंका पास-पास आना, विजयार्ध पर्वतके विद्याधरोंमें क्षोभ उत्पन्न होना, श्री वसुदेवका पराक्रम, अक्षौहिणी दलका प्रमाण, रथी, अतिरथ, समरथ, और अर्धरथ राजाओंका निरूपण, जरासन्धके चक्रव्यूहको नष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णको सेनामें गरुड़व्यूहकी रचना होना, बलदेवको सिंहवाहिनी और कृष्णको गरुडवाहिनी विद्याकी प्राप्ति होना, नेमिके सारथिके रूपमें उनके मामाके पुत्रका आगमन, नेमि, अनावृष्णि तथा अर्जुनके द्वारा चक्रव्यूहका भेदा जाना, पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध, दोनों सेनाओंके अधिपति कृष्ण तथा जरासन्धके महायुद्धका वर्णन है ॥१००-१०८॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके चक्ररत्नकी उत्पत्ति होना, जरासन्धका मारा जाना, विद्याधरियोंके द्वारा वसुदेवके लिए श्रीकृष्णकी विजयका समाचार सुनाना, कृष्णका कोटिशिलाका उठाना, वसुदेवका आगमन, श्रीकृष्णका दिग्विजय, दिव्यरत्नोंकी उत्पत्ति, दोनों भाइयोंका राज्याभिषेक, द्रौपदीका हरण, श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवोंके साथ जाकर धातकीखण्डसे द्रौपदीका पुनः वापिस लाना, श्रीकृष्णको नेमिनाथकी सामर्थ्यका ज्ञान होना, नेमिनाथकी जलक्रीड़ा, पाञ्चजन्य शङ्खका बजाना, नेमिनाथके विवाहका आरम्भ, पशुओंका छुड़ाना, दीक्षा लेना, केवलज्ञान उत्पन्न होना, ज्ञानकल्याणकके लिए देवोंका आगमन, समवसरणका निर्माण, राजीमतीका तप धारण करना, सागार और अनगारके भेदसे दो प्रकारके धर्मका उपदेश देना, धर्म-तीर्थोंमें विहार, श्रीकृष्णके छह भाइयोंका संयम धारण करना, नेमिनाथका गिरिनार पर्वतपर आरूढ़ होना, देवकीके प्रश्नका उत्तर देना, रुक्मिणी तथा सत्यभामा आदि आठ महादेवियोंके भवान्तरोंका निरूपण, गजकुमारका जन्म, उनकी दीक्षा और वसुदेवसे भिन्न नौ भाइयोंका संसारसे उद्विग्न हो तपश्चरण करनेका निरूपण है ॥१०९-११६॥

तदनन्तर भगवान् नेमिनाथके द्वारा त्रेसठ शलाकापुरुषोंकी उत्पत्तिका वर्णन, तीर्थंकरोंके अन्तरका विस्तार, बलदेवका प्रश्न, प्रद्युम्नकी दीक्षा, रुक्मिणी आदि कृष्णकी स्त्रियों और

१. खगक्षोभो क०, ख०, ग०, घ०, ङ०, म० । २. एतन्नामधेयस्य शङ्खविशेषस्य । ३. विष्णोः युगलत्रयरूपषट्सहोदरसंयमम् । ४. वसुदेवं विहाय समुद्रविजयादीनां नवानां भ्रातॄणां तपस्यनं वैराग्यम् ।

रामकेशवयोः [1]प्लुष्टबन्धुपुत्रकलत्रयोः । निर्गमं दुर्गमं शोकं कौशाम्बवनसेवनम् ॥११९॥
[2]सीरिरक्षणमुक्तस्य प्रमादाद्दैवयोगतः । जरत्कुमारमुक्तेन शरेण हननं हरेः ॥१२०॥
ततो घातकशोकं च शोकं रामस्य दुस्तरम् । सिद्धार्थबोधितस्यास्य निर्विण्णस्य तपस्यनम् ॥१२१॥
ब्रह्मलोकोपपादं च [3]कौन्तेयानां तपोवनम् । ऊर्जयन्तगिरावन्ते नेमिनाथस्य निर्वृतिम् ॥१२२॥
उपसर्गजयं पञ्चपाण्डवानां महात्मनाम् । दीक्षां जरत्कुमारस्य सन्तानं तस्य चायतम् ॥१२३॥
हरिवंशप्रदीपस्य जितशत्रोश्च केवलम् । पुरप्रवेशमन्ते च श्रेणिकस्य पृथुश्रियः ॥१२४॥
वर्धमानजिनेशस्य निर्वाणं गणिनां तथा । देवलोककृतं वक्ष्ये प्रदीपमहिमोद्भवम् ॥१२५॥
हरिवंशपुराणस्य विभागोऽयं ससङ्ग्रहः । श्रूयतां विस्तरः सिद्ध्यै भव्यैः सभ्यैरतः परम् ॥१२६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एकस्यापि महानरस्य चरितं पापस्य विध्वंसनं सर्वेषां जिनचक्रवर्तिहलिनामेतद्बुधाः किं पुनः ।
वार्येकस्य महाघनस्य महतस्तापस्य विच्छेदकं लोकस्यापि घनाघनौघनिपतद्धारासहस्रं न किम् ॥१२७॥
मुक्त्वा लौकपुराणतिर्यगपथभ्रान्तिं विवेकी जनो गृह्णातु प्रगुणां पुराणपदवीमेतां हितप्रापिणीम् ॥
दिङ्मूढं विरहय्य मोहबहुलं संशुद्धदृष्टिः परो विस्तीर्णे जिनभास्करप्रकटिते मार्गे भृगोः कः पतेत् ॥१२८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ संग्रहविभागवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

पुत्रियोंका संयम ग्रहण करना, द्वीपायन मुनिके क्रोधसे द्वारिका पुरीका विनाश, जिनके भाई, पुत्र तथा स्त्रियाँ जल गई थीं ऐसे बलराम और कृष्णका द्वारिकासे निकलना, असह्य शोक, कौशाम्बीके वनमें दोनों भाइयोंका जाना, बलभद्रकी रक्षासे रहित श्रीकृष्णका भाग्यवश जरत्कुमारके द्वारा छोड़े हुए बाणसे प्रमाद पूर्वक मारा जाना, तदनन्तर मारनेवाले जरत्कुमारका शोक करना, बलरामका दुस्तर शोक, सिद्धार्थ देवके द्वारा प्रतिबोधित होनेपर बलदेवका विरक्त हो दीक्षा धारण करना, ब्रह्मलोकमें जन्म होना, पाण्डवोंका तपके लिए वनको जाना, गिरिनार पर्वतपर नेमिनाथका निर्वाण होना, महान् आत्माके धारक पाँच पाण्डवोंका उपसर्ग जीतना, जरत्कुमारकी दीक्षा, उसकी विस्तृत सन्तान, हरिवंशके दीपक राजा जितशत्रुको केवलज्ञान, विशाल लक्ष्मीके धारक राजा श्रेणिकका अन्तमें नगरप्रवेश, श्री वर्धमान जिनेन्द्र और उनके गणधरोंका निर्वाण और देवोंके द्वारा किया हुआ दीपमालिका महोत्सवका वर्णन है। श्री जिनसेन स्वामी कहते हैं कि इस पुराणमें इन सबका मैं वर्णन करूँगा ॥११७–१२५॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार हरिवंशपुराणका यह संग्रह सहित अवान्तर विभाग दिखा दिया। अब इसके आगे भव्य सभासद् आत्म-सिद्धिके लिए इसके विस्तारका वर्णन श्रवण करें ॥१२६॥ हे विद्वज्जनो ! जब एक ही महापुरुषका चरित पापका नाश करनेवाला है तब समस्त तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और बलभद्रोंके चरितका निरूपण करनेवाले इस ग्रन्थकी महिमा का क्या कहना है ? सो ठीक ही है क्योंकि जब एक ही महामेघका जल अत्यधिक सन्तापको नष्ट करनेवाला है तब लोकमें सर्वत्र व्याप्त मेघ समूहसे पड़नेवाली हजारों जलधाराओंकी महिमाका क्या कहना है ? ॥१२७॥ विवेकीजन, लौकिक पुराणरूपी टेढ़े-मेढ़े कुपथके भ्रमणको छोड़, सीधे तथा हित प्राप्त करनेवाले इस पुराणरूपी मार्गको ग्रहण करें। मोहसे भरे हुए दिङ्मूढ मनुष्यको छोड़ अत्यन्त शुद्ध दृष्टिको धारण करनेवाला ऐसा कौन मनुष्य है जो जिनेन्द्र-देवरूपी सूर्यके द्वारा लम्बे-चौड़े मार्गके प्रकाशित होनेपर भी भृगुपात करेगा—किसी पहाड़की चट्टानसे नीचे गिरेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥१२८॥

इसप्रकार जिसमें भगवान् अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्री जिनसेनाचार्य विरचित हरिवंशपुराणमें 'संग्रह विभाग वर्णन' नामका प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

---

१. दग्धबन्धुपुत्रस्त्रीकयोः । २. बलभद्ररक्षारहितस्य । ३. पाण्डवानाम् ।

द्वितीयः सर्गः

अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते । विदेह इति विख्यातः स्वर्गखण्डसमः श्रिया ॥१॥
प्रतिवर्षविनिष्पन्नधान्यगोधनसञ्चितः । सर्वोपसर्गनिर्मुक्तः प्रजासौस्थित्यसुन्दरः ॥२॥
सखेटखर्वटाटोपिमटम्बपुटभेदनैः । द्रोणामुखाकरक्षेत्रग्रामघोषैर्विभूषितः[1] ॥३॥
किं तत्र वर्ण्यते यत्र स्वयं क्षत्रियनायकाः । [2]इक्ष्वाकवः सुखक्षेत्रे सम्भवन्ति दिवश्च्युताः ॥४॥
तत्राखण्डलनेत्रालीपद्मिनीखण्डमण्डनम् । सुखाम्भःकुण्डमाभाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ॥५॥
यत्र प्रासादसङ्घातैः शङ्खशुभ्रैर्नभस्तलम् । धवलीकृतमाभाति शरन्मेघैरिवोन्नतैः ॥६॥
चन्द्रकान्तकरस्पर्शाच्चन्द्रकान्तशिलाः निशि । द्रवन्ति यद्गृहाग्रेषु प्रस्वेदिन्य इव स्त्रियः ॥७॥
सूर्यकान्तकरासङ्गात् सूर्यकान्ताग्रकोटयः । [3]स्फुरन्ति यत्र गेहेषु विरक्ता इव योषितः ॥८॥
[4]पद्मरागमणिस्फीतिर्यत्र प्रासादमूर्धनि । [5]इनपादपरिष्वङ्गादङ्गनेवातिरज्यते ॥९॥
मुक्तामरकतालोकैर्वज्रवैडूर्यविभ्रमैः । एकमेवं सदा धत्ते यत्समस्ताकरश्रियम् ॥१०॥

अथानन्तर इस जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें लक्ष्मीसे स्वर्गखण्डकी तुलना करनेवाला, विदेह इस नामसे प्रसिद्ध एक बड़ा विस्तृत देश है ॥१॥ यह देश प्रतिवर्ष उत्पन्न होनेवाले धान्य तथा गोधनसे संचित है, सब प्रकारके उपसर्गोंमें रहित है, प्रजाकी सुखपूर्ण स्थितिसे सुंदर है और खेट, खर्वट, मटम्ब, पुटभेदन, द्रोणामुख, सुवर्ण, चाँदी आदिकी खानों, खेत, ग्राम और घोषोंसे विभूषित है। भावार्थ—जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे बुद्धिमान् पुरुष खेट कहते हैं, जो केवल पर्वतसे घिरा हुआ हो उसे खर्वट कहते हैं। जो पाँच सौ गाँवोंसे घिरा हो उसे पण्डितजन मटम्ब मानते हैं। जो समुद्रके किनारे हो तथा जहाँपर लोग नावोंसे उतरते हैं उसे पत्तन या पुटभेदन कहते हैं। जो किसी नदीके किनारे बसा हो उसे द्रोणमुख कहते हैं। जहाँ सोना-चाँदी आदि निकलता है उसे खान कहते हैं। अन्न उत्पन्न होनेकी भूमिको क्षेत्र या खेत कहते हैं। जिनमें बाड़से घिरे हुए घर हों, जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हैं तथा जो बाग-बगीचा और मकानोंसे सहित हों उन्हें ग्राम कहते हैं, और जहाँ अहीर लोग रहते हैं उन्हें घोष कहते हैं। वह विदेह देश इन सबसे विभूषित था ॥२-३॥ उस देशका क्या वर्णन किया जाय जहाँके सुखदायी क्षेत्रमें क्षत्रियोंके नायक स्वयं इक्ष्वाकुवंशी राजा स्वर्गसे च्युत हो उत्पन्न होते हैं ॥४॥ उस विदेह देशमें कुण्डपुर नामका एक ऐसा सुन्दर नगर है जो इन्द्रके नेत्रोंकी पंक्तिरूपी कमलिनियोंके समूहसे सुशोभित है तथा सुखरूपी जलका मानो कुण्ड ही है ॥५॥ जहाँ शङ्खके समान सफेद एवं शरद् ऋतुके मेघके समान उन्नत महलोंके समूहसे सफेद हुआ आकाश अत्यन्त सुशोभित होता है ॥६॥ जिसके महलोंके अग्र भागमें लगी हुई चन्द्रकान्तमणिकी शिलाएँ रात्रिके समय चन्द्रमारूपी पतिके कर अर्थात् किरण (पक्षमें हाथके) स्पर्शसे स्वेदयुक्त स्त्रियोंके समान द्रवीभूत हो जाती हैं ॥७॥ जहाँके मकानोंपर लगे हुए सूर्यकान्तमणिके अग्रभागकी कोटियाँ, सूर्यरूपी पतिके कर अर्थात् किरण (पक्षमें हाथ) के स्पर्शसे विरक्त स्त्रियोंके समान देदीप्यमान हो उठती हैं ॥८॥ जहाँके महलोंके शिखरपर लगे हुए पद्मराग मणियोंकी पंक्ति, सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे स्त्रीके समान अत्यन्त अनुरक्त हो जाती है ॥९॥ उस नगरमें कहीं मोतियोंकी मालाएँ लटक रही हैं, कहीं मरकत मणियोंका

---

१. -भूषैर्विभूषितः म० । २. इक्ष्वाकुवंशोद्भवा राजानः । ३. ज्वलन्ति । ४. 'पद्मरागमणिस्फातिः' इत्ययं पाठः शुद्धः प्रतिभाति । ५. सूर्यकिरणाश्लेषात् ।

शालशैलमहावप्रपरिखापरिवेष्टिनः । यस्योपरि परं [1]गच्छत्यमित्रेतरमण्डलम् ॥११॥
एतावतैव पर्याप्तं पुरस्य गुणवर्णनम् । स्वर्गावतरणे तद्धि वीरस्याधारतां गतम् ॥१२॥
[2]सर्वार्थश्रीमतीजन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः । सिद्धार्थोऽभवदर्काभो भूपः सिद्धार्थपौरुषः ॥१३॥
यत्र पाति धरित्रीयमभूदेकत्र दोषिणी । धर्मार्थिन्योऽपि [3]यत्त्यक्तपरलोकभयाः प्रजाः ॥१४॥
कस्तस्य तान् [4]गुणानुच्चाँस्तुलयितुं क्षमः । वर्धमानगुरुत्वं यः प्रापितः स नराधिपः ॥१५॥
उच्चैःकुलाद्रिसम्भूता सहजस्नेहवाहिनी । महिषी श्रीसमुद्रस्य तस्यासीत् [5]प्रियकारिणी ॥१६॥
चेतश्चेटकराजस्य यास्ताः [6]सप्तशरीरजाः । अतिस्नेहाकुलं चक्रुस्तास्वाद्या प्रियकारिणी ॥१७॥
कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः । या स्वपुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता ॥१८॥
सर्वतोऽथ नमन्तीषु सर्वासु सुरकोटिषु । प्रभावान्निपतन्तीषु नभसो [7]वसुवृष्टिषु ॥१९॥
वीरेऽवतरति त्रातुं धरित्रीमसुधारिणः[8] । तीर्थेनाच्युतकल्पोच्चैःपुष्पोत्तरविमानतः ॥२०॥

प्रकाश फैल रहा है, कहीं हीराकी प्रभा फैल रही है और कहीं वैडूर्यमणियोंकी नीली-नीली आभा छिटक रही है। उन सबसे वह एक होनेपर भी सदा सब रत्नोंकी खानकी शोभा धारण करता है ॥१०॥ कोट रूपी पर्वत, बड़े-बड़े धूलि कुट्टिम, और परिवारसे घिरे हुए उस नगरके ऊपर यदि कोई जा सकता था तो मित्र अर्थात् सूर्यका मण्डल ही जा सकता है, अमित्र अर्थात् शत्रुओंका मण्डल नहीं जा सकता था ॥११॥ इस नगरके गुणोंका वर्णन तो इतनेसे ही पर्याप्त हो जाता है कि वह नगर स्वर्गसे अवतार लेते समय भगवान् महावीरका आधार हुआ—भगवान् महावीर वहाँ स्वर्गसे आकर अवतीर्ण हुए ॥१२॥

राजा सर्वार्थ और रानी श्रीमतीसे उत्पन्न, समस्त पदार्थोंको देखनेवाले, सूर्यके समान देदीप्यमान और समस्त अर्थ-पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले सिद्धार्थ वहाँके राजा थे ॥१३॥ जिन सिद्धार्थके रक्षा करनेपर पृथिवी इसी एक दोषसे युक्त थी कि वहाँकी प्रजाने धर्मकी इच्छुक होनेपर भी परलोकका भय छोड़ दिया था। भावार्थ—जो प्रजा धर्मकी इच्छुक होती है उसे स्वर्ग, नरक आदि परलोकका भय अवश्य रहता है परन्तु वहाँकी प्रजा परलोकका भय छोड़ चुकी थी यह विरोध है परन्तु परलोकका अर्थ शत्रु लेनेसे विरोध दूर हो जाता है अर्थात् वहाँकी प्रजा धर्मकी इच्छुक थी और शत्रुओंके भयसे रहित थी ॥१४॥ जो राजा सिद्धार्थ, साक्षात् भगवान् वर्धमान स्वामीके पितृपदको प्राप्त हुए उनके उत्कृष्ट गुणोंका वर्णन करनेके लिए कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है? ॥१५॥

जो उच्च कुलरूपी पर्वतसे उत्पन्न स्वाभाविक स्नेहकी मानो नदी थी ऐसी रानी प्रियकारिणी लक्ष्मीके समुद्र स्वरूप राजा सिद्धार्थकी प्रिय पत्नी थी ॥१६॥ जिन सात पुत्रियोंने राजा चेटकके चित्तको अत्यधिक स्नेहसे व्याप्त कर रक्खा था उन पुत्रियोंमें प्रियकारिणी सबसे बड़ी पुत्री थी ॥१७॥ जो अपने पुण्यसे भगवान् महावीरको जन्म देनेके लिए प्रवृत्त हुई उस त्रिशला (प्रियकारिणी)के गुण वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है? ॥१८॥

अथानन्तर जब सब ओरसे समस्त देवोंकी पंक्तियाँ नमस्कार कर रही थीं, प्रभावके कारण जब आकाशसे रत्नोंकी वर्षा हो रही थी और भगवान् महावीर जब अपने तीर्थसे प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए अच्युत स्वर्गके उन्नतम पुष्पोत्तर विमानसे पृथिवीपर अवतीर्ण

१. सूर्यमण्डलं गच्छति न तु शत्रुमण्डलम्। २. सर्वार्थ नाम पिता, श्रीमती माता ताभ्यां जन्म यस्य सः। ३. प्रेत्य प्राप्यो लोकः परलोकः पक्षे शत्रुलोकः। ४. -नुद्यान् म०। ५. त्रिशला इति प्रियकारिण्या द्वितीयं नाम। ६. पुत्र्यः। ७. रत्नवृष्टिषु। ८. प्राणिगणान्।

सा तं षोडशसुस्वप्नदर्शनोत्सवपूर्वकम् । दध्रे [1]गर्भेश्वरं गर्भे श्रीवीरं प्रियकारिणी ॥२१॥
पञ्चसप्ततिवर्षाष्टमाससमासार्धशेषकः । चतुर्थस्तु तदा कालो दुःषमः सुषमोत्तरः ॥२२॥
आषाढशुक्लषष्ठ्यां तु गर्भावतरणेऽर्हतः । [2]उत्तराफाल्गुनीनीडमुडुराजद्विजः श्रितः ॥२३॥
[3]दिक्कुमारीकृताभिख्यां द्योतिमूर्तिं घनस्तनीम् । प्रच्छन्नोऽभासयद्गर्भस्तां रविः प्रावृषं यथा ॥२४॥
नवमासेष्वतीतेषु स जिनोऽष्टदिनेषु च । उत्तराफाल्गुनीष्विन्दौ वर्तमानेऽजनि प्रभुः ॥२५॥
ततोऽन्त्यजिनमाहात्म्यात्प्रलुठत्पीठकिरीटकाः । प्रणेमुरवधिज्ञाततद्वृत्तान्ताः सुरेश्वराः ॥२६॥
शङ्खभेरीहरिध्वानघण्टानिर्घोषघोषणम् । समाकर्ण्य सुरास्तूर्णं घूर्णितार्णवराविणः ॥२७॥
सप्तानीकमहाभेदाः सस्त्रीकाः कृतभूषणाः । सेन्द्राश्चतुर्णिकायास्ते प्रापुः कुण्डपुरं पुरम् ॥२८॥ (युग्मम्)
त्रिःपरीत्य पुरं देवाः पुरन्दरपुरस्सराः । जिनमिन्दुमुखं देवं [4]तद्गुरू च ववन्दिरे ॥२९॥
मातुः शिशुं विकृत्यान्यं सुप्तायाः सुरमायया । इन्द्राणी प्रणता नीत्वा जिनेन्द्रं हरये ददौ ॥३०॥
गृहीत्वा करपद्माभ्यां तमभ्यर्च्य चिरं हरिः । चक्रे नेत्रसहस्रोरुपुण्डरीकवनार्चितम् ॥३१॥
ततश्चन्द्रावदाताङ्गमिन्द्रस्तुङ्गमतङ्गजम् । शृङ्गौघमिव हेमाद्रेर्मुक्ताधोमदनिर्झरम् ॥३२॥

होनेके लिए च्युत हुए तब रानी प्रियकारिणीने उत्तमोत्तम सोलह स्वप्न देखकर गर्भमें गर्भ-कल्याणके स्वामी श्री महावीर भगवान्‌को धारण किया ॥१६–२१॥ जब भगवान् गर्भमें आये तब दुःषम-सुषम नामक चतुर्थ कालके पचहत्तर वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे ॥२२॥ आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके दिन जब भगवान् महावीर जिनेन्द्रका गर्भावतरण हुआ तब चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र पर स्थित था ॥२३॥ जिस प्रकार मेघमालाके भीतर छिपा हुआ सूर्य वर्षाऋतुको सुशोभित करता है उसी प्रकार दिक्कुमारियोंके द्वारा कृतशोभ, देदीप्यमान शरीरकी धारक एवं स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाली माता प्रियकारिणीको वह प्रच्छन्नगर्भ सुशोभित करता था ॥२४॥

तदनन्तर नौ माह आठ दिनके व्यतीत होनेपर जब चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रपर आया तब भगवान्‌का जन्म हुआ ॥२५॥ तत्पश्चात् अन्तिम जिनेन्द्रके माहात्म्यसे जिनके सिंहासन तथा मुकुट हिल उठे थे एवं अवधिज्ञानसे जिन्होंने उनके जन्मका वृत्तान्त जान लिया था ऐसे इन्द्रोंने उन्हें नमस्कार किया ॥२६॥ भवनवासियोंके यहाँ शङ्ख, व्यन्तरोंके यहाँ भेरी, ज्योतिषियोंके यहाँ सिंह और कल्पवासियोंके यहाँ घण्टाका शब्द सुनकर जो शीघ्र ही क्षुभित समुद्रके समान शब्द करने लगे थे जो सात प्रकारकी सेनाओंके महाभेदोंसे सहित थे, स्त्रियों सहित थे तथा जिन्होंने नाना प्रकारके आभूषण धारण कर रक्खे थे ऐसे चारों निकायके देव कुण्ड-पुर नगरमें आ पहुँचे ॥२७–२८॥ इन्द्र जिनके आगे-आगे चल रहा था ऐसे देवोंने नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देव तथा उनके माता-पिताको नमस्कार किया ॥२९॥ विनयावनत इन्द्राणीने देवकृत मायासे सोई हुई माताके समीप विक्रियासे एक दूसरा बालक रख, जिनेन्द्रदेवको उठा इन्द्रके लिए सौंप दिया ॥३०॥ इन्द्रने उन्हें दोनों हाथोंसे ले चिर काल तक उनकी पूजा की और विक्रिया निर्मित हजार नेत्र रूपी कमल वनमें उन्हें अर्चित किया ॥३१॥

तदनन्तर इन्द्रने भगवान्‌को उस अत्यन्त ऊँचे ऐरावत हाथीपर विराजमान किया जिसका कि शरीर चन्द्रमाके समान उज्ज्वल था, जो सुमेरुके शिखरोंके समूहके समान जान पड़ता था और जो नीचेकी ओर मदके निर्झर छोड़ रहा था ॥३२॥ जिसके गण्डस्थलोंपर मदकी सुगन्धि के कारण भ्रमरोंके समूह मँडरा रहे थे और उनसे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान

१. गर्भकल्याणनायकम् । २. -रिक्ष -क० ग० । ३. दिक्कुमारीकृतशोभां । ४. मातापितरौ ।

गण्डस्थलमदामोदभ्रमद्भ्रमरमण्डलम् । तमिवाधित्यकावस्थतमालवनमण्डितम् ॥२३॥
कर्णान्तरलुलद्रक्तचामरसंहतिम् । तं यथाधित्यकाधीनरक्ताशोकमहावनम् ॥२४॥
[1]सुवर्णरशनया चार्व्या परिवेष्टितविग्रहम् । तमेव च यथोपान्तकनत्कनकमेखलम् ॥२५॥
[2]अनेकरदसंभूतनृत्यसङ्गीतपोषितम्[3] । तमिवोत्तुङ्गशृङ्गाग्रनृत्यद्गायत्सुराङ्गनम् ॥२६॥
सुवृत्तदीर्घसञ्चारिकरव्याप्तदिगन्तरम् । [4]तमिवात्यायतस्थूलस्फुरद्भोगभुजङ्गमम् ॥२७॥
ऐशानधारितस्फीतधवलातपवारणम् । तमिवोर्ध्वस्थिताभ्यर्णसम्पूर्णशशिमण्डलम् ॥२८॥
चामरेन्द्रभुजोत्क्षिप्तचलच्चामरहारिणम् । तं यथा चमरीक्षिप्तवालव्यजनवीजितम् ॥२९॥
ऐरावतं समारोप्य जिनेन्द्रं तस्य मण्डनम् । देवैः सह गतः प्राप मन्दरं स पुरन्दरः ॥४०॥ (नवभिः कुलकम्)
तं पाण्डुकवने रम्ये मन्दरस्य जिनं हरिः । पाण्डुकायां प्रसिद्धायां शिलायां सिंहविष्टरे ॥४१॥
संस्थाप्य विबुधानीतक्षीरसागरवारिभिः । शातकुम्भमयैः कुम्भैरभिषिच्य समं सुरैः ॥४२॥
वस्त्रालङ्कारमालाद्यैरलङ्कृत्य कृतस्तुतिः । आनीय मातुरुत्सङ्गे जिनं कृत्वा कृतोचितः ॥४३॥
सिद्धार्थप्रियकारिण्योः समसानन्ददायकम् । वर्धमानाख्यया स्तुत्वा सदेवो वासवोऽगमत् ॥४४॥
मासान् पञ्चदशाऽऽजन्म द्युम्नधारा दिने दिने । याः पूर्वमापतंस्ताभिस्तर्पितोऽर्थी जनोऽखिलः ॥४५॥

पड़ता था जो कि ऊपरी भागपर स्थित तमाल वनसे मण्डित था ॥२३॥ जिसके कानोंके समीप लाल-लाल चमरोंके समूह लटक रहे थे और उनसे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान पड़ता था जिसके कि ऊपरी भागपर लाल-लाल अशोकोंका महावन फूल रहा था ॥२४॥ जिसका शरीर सुवर्णकी सुन्दर साँकलसे वेष्टित था और उससे जो सुमेरुके उस शिखर-समूहके समान जान पड़ता था जिसके कि समीप स्वर्णकी मेखला देदीप्यमान हो रही थी ॥२५॥ जो अनेक दाँतोंपर होनेवाले नृत्य और संगीतसे परिपुष्ट था और उससे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसकी कि अत्यन्त ऊँचे शिखरोंके अग्र भागपर देवाङ्गनाएँ नृत्य गायन कर रही थीं ॥२६॥ जिसने अपनी गोल लम्बी तथा चारों ओर घूमने वाली सूँड़ोंसे दिशाओंके अन्तरालको व्याप्त कर रक्खा था और उनसे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसके कि समीप अत्यन्त लम्बे-मोटे और फणाओंसे युक्त साँप घूम रहे थे ॥२७॥ जिसके ऊपर ऐशानेन्द्रने बड़ा भारी सफेद छत्र धारण कर रक्खा था और उससे जो उस सुमेरुके समान जान पड़ता था जिसके कि ऊपर समीप ही पूर्णचन्द्रमाका मण्डल विद्यमान था ॥२८॥ और जो चमरेन्द्रकी भुजाओंके द्वारा ढोरे हुए चञ्चल चमरोंसे सुन्दर था तथा उनसे उस सुमेरुके समूह-के समान जान पड़ता था जो कि चमरी मृगोंके द्वारा उत्क्षिप्त पूँछोंसे सुशोभित था ॥२९॥ इस प्रकार वह इन्द्र आभरण स्वरूप श्री जिनेन्द्र देवको उस ऐरावत हाथीपर विराजमान कर देवोंके साथ सुमेरु पर्वतपर गया ॥४०॥

वहाँ जाकर इन्द्रने सुमेरु पर्वतके अत्यन्त रमणीय पाण्डुकवनमें पाण्डुक नामकी प्रसिद्ध शिलापर जो सिंहासन था उसपर श्री जिन बालकको विराजमान किया, स्वर्णमय कुम्भोंमें भरकर देवों द्वारा लाये हुए क्षीरसागरके जलसे देवोंके साथ उनका अभिषेक किया, वस्त्र, अलंकार तथा माला आदिसे उन्हें अलंकृत कर उनकी स्तुति की, तदनन्तर वापिस लाकर माताकी गोदमें विराजमान किया, अन्य यथोचित कार्य किये और उनके माता-पिता राजा सिद्धार्थ तथा रानी प्रियकारिणीको समान आनन्द देने वाले उन जिन बालककी वर्धमान इस नामसे स्तुति की तदनन्तर वह देवोंके साथ यथास्थान चला गया ॥४१–४४॥ भगवान्के जन्मसे पन्द्रह मास पूर्व प्रतिदिन जो रत्नोंकी धाराएँ बर्षी थीं उनसे समस्त याचक संतुष्ट हो

१. सुवर्णक्षुद्रघण्टामालया । २. त्यायति म० । ३. अनेकरदसंकुल ख० । ४. पोषितं म० ।

वर्धमानः सुरैः सेव्यो ववृधे स यथा यथा। पितृबन्धुत्रिलोकानामनुरागस्तथा तथा ॥४६॥
सुरासुरनराधीशमौलिमालार्चितक्रमः। त्रिंशद्वर्षप्रमाणोऽभूद् वीरो भोगैः परिष्कृतः ॥४७॥
शुद्धवृत्तं न भोगेषु चित्तं तस्य चिरं स्थितम्। कुटिलेषु यथा सिंहनखरन्ध्रेषु मौक्तिकम् ॥४८॥
शान्तचित्तं कदाचित् तं स्वयंबुद्धमबोधयन्। नत्वा सारस्वतादित्यमुख्याः लौकान्तिकाः सुराः ॥४९॥
सौधर्माद्यैः सुरैरेत्य [1]कृताऽभिषवपूजनः। आरुह्य शिविकां दिव्यामुह्यमानां सुरेश्वरैः ॥५०॥
उत्तराफाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे। कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद्वनम् ॥५१॥
अपनीय तनोः सर्वं वस्त्रमाल्यविभूषणम्। पञ्चमुष्टिभिरुद्धृत्य मूर्धजानभवन्मुनिः ॥५२॥
केशकुण्डलसङ्घातं जिनस्य भ्रमरासितम्। प्रतिगृह्य सुराधीशो [2]निदधौ दुग्धवारिधौ ॥५३॥
इन्द्रनीलचयेनेव क्षिप्तेनेन्द्रेण चाभ्यभात्। जिनेन्द्रकेशपुञ्जेन रञ्जितः क्षीरसागरः ॥५४॥
जिननिष्क्रमणं दृष्ट्वा तुष्टाः सर्वे नरामराः। कृत्वा तृतीयकल्याणपूजां जग्मुर्यथायथम् ॥५५॥
मनःपर्ययपर्यन्तचतुर्ज्ञानमहेक्षणः। तपो द्वादशवर्षाणि चकार द्वादशात्मकम् ॥५६॥
विहरन्नथ नाथोऽसौ गुणग्रामपरिग्रहः। ऋजुकूलापगाकूले जृम्भिकग्राममीयिवान् ॥५७॥
तत्रातापनयोगस्थः [3]सालाभ्याशशिलातले। वैशाखशुक्लपक्षस्य दशम्यां [4]षष्ठमाश्रितः ॥५८॥

गये थे ॥४५॥ देवोंके द्वारा सेवनीय वर्धमान भगवान् जिस-जिस प्रकार वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे उसी-उसी प्रकार पिता, बन्धुजन तथा तीन लोकके जीवोंका अनुराग वृद्धिको प्राप्त हो रहा था—बढ़ता जाता था ॥४६॥

अथानन्तर सुर, असुर और राजाओंके मुकुटोंकी मालाओंसे जिनके चरण पूजित थे तथा जो देवोपनीत नाना प्रकारके भोगोंसे युक्त थे ऐसे भगवान् महावीर तीस वर्षके हो गये ॥४७॥ फिर भी जिस प्रकार सिंहके कुटिल नखोंके छिद्रोंमें मोती चिर काल तक नहीं ठहर पाते हैं उसी प्रकार उनका निर्मल चारित्रको धारण करनेवाला चित्त भोगोंमें चिरकाल तक नहीं ठहर सका ॥४८॥ किसी समय शान्त चित्तके धारक उन स्वयम्बुद्ध भगवान्को सारस्वत-आदित्य आदि प्रमुख लौकान्तिक देवोंने आकर तथा नमस्कार कर प्रतिबुद्ध किया ॥४९॥ प्रतिबुद्ध—विरक्त होते ही सौधर्मेन्द्र आदि देवोंने आकर उनका अभिषेक और पूजन किया। तदनन्तर देवोंके द्वारा उठाई जानेवाली दिव्य पालकीपर सवार होकर वे जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रपर ही विद्यमान था तब मगसिर बदी दशमीके दिन वनको चले गये ॥५०-५१॥ वहाँ जाकर उन्होंने शरीरसे समस्त वस्त्रमाला तथा आभूषण उतारकर अलग कर दिये और पञ्चमुष्टियोंसे केश उखाड़कर वे मुनि हो गये ॥५२॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले-काले भगवान्के घुँघराले बालोंके समूहको इन्द्रने उठाकर क्षीरसागरमें क्षेप दिया ॥५३॥ उस समय इन्द्रके द्वारा क्षेपे हुए जिनेन्द्र भगवान्के बालोंके समूहसे रँगा हुआ क्षीरसागर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इन्द्रनील मणियोंके समूहसे ही रङ्ग गया हो ॥५४॥ जिनेन्द्र भगवानका दीक्षा-कल्याणक देख संतोषको प्राप्त हुए समस्त मनुष्य और देव तृतीय कल्याणककी पूजा कर यथा-स्थान चले गये ॥५५॥

तदनन्तर मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चार ज्ञानरूपी महानेत्रोंको धारण करनेवाले भगवान्ने बारह वर्ष तक अनशन आदिक बारह प्रकारका तप किया ॥५६॥ तत्पश्चात् गुण समूहरूपी परिग्रहको धारण करनेवाले श्री वर्धमान स्वामी विहार करते हुए ऋजुकूला नदीके तटपर स्थित जृम्भिक गाँवके समीप पहुँचे ॥५७॥ वहाँ वैशाख सुदी दशमीके दिन दो

१. कृतोऽभिषवपूजनः म०। २. निदध्यौ म०। ३. शालवृक्षनिकटस्थशिलोपरि। ४. दिनद्वयोपवासम् आश्रितः।

उत्तराफाल्गुनीप्राप्ते शुक्लध्यानी निशाकरे । निहत्य घातिसङ्घातं केवलज्ञानमाप्तवान् ॥५९॥
केवलस्य प्रभावेण सहसा चलितासनाः । आगत्य महिमां चक्रुस्तस्य सर्वे सुरासुराः ॥६०॥
षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः । आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥
आरुरोह गिरिं तत्र [2]विपुलं विपुलश्रियम् । प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥६२॥
ततः प्रवृत्तवृत्तान्तैरापतद्भिरितस्ततः । जगत्सुरासुरैर्व्याप्तं जिनेन्द्रस्य गुणैरिव ॥६३॥
सौधर्माद्यैस्तदा देवैः [3]परीतोऽभात् स भूधरः । नाभेयाधिष्ठितः पूर्वं यथाष्टापदपर्वतः[4] ॥६४॥
चतुराशासुसद्द्वारस्थितद्वादशगोपुरम् । कृतं रत्नमयं देवैः प्राकारवलयत्रयम् ॥६५॥
जाते योजनविस्तीर्णे सरणे समवादिके । विभागा द्वादशाभासन्नभःस्फाटिकभित्तयः ॥६६॥
प्रातिहार्यैर्युतोऽष्टाभिश्चतुस्त्रिंशन्महाद्भुतैः[5] । तत्र देवैर्वृतोऽभासीज्जिनश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥६७॥
इन्द्राग्निवायुभूत्याख्याः कौण्डिन्याख्याश्च पण्डिताः । इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः ॥६८॥
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः । त्यक्ताम्बरादिसम्बन्धाः संयमं प्रतिपेदिरे ॥६९॥
सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा । धौतैकाम्बरसंवीता आर्याणां पुरःसरी ॥७०॥
श्रेणिकोऽपि च सम्प्राप्तः सेनया चतुरङ्गया । सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम् ॥७१॥
छत्रचामरभृङ्गारैः कलशध्वजदर्पणैः । व्यजनैः सुप्रतीकैश्च प्रसिद्धैरष्टमङ्गलैः ॥७२॥

दिनके उपवासका नियम कर वे साल वृक्षके समीप स्थित शिलातलपर आतापन योगमें आरूढ़ हुए ॥५८॥ उसी समय जबकि चन्द्रमा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें स्थित था तब शुक्लध्यानको धारण करनेवाले वर्धमान जिनेन्द्र घातिया कर्मोंके समूहको नष्टकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए ॥५९॥ केवलज्ञानके प्रभावसे सहसा जिनके आसन डोल उठे थे ऐसे समस्त सुर और असुरोंने आकर उनके केवलज्ञानकी महिमा की—ज्ञानकल्याणकका उत्सव किया ॥६०॥ तदनन्तर छयासठ दिनतक मौनसे विहार करते हुए श्री वर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये ॥६१॥ वहाँ जिसप्रकार सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है उसीप्रकार वे लोगोंको प्रतिबुद्ध करनेके लिए विपुल लक्ष्मीके धारक विपुलाचलपर आरूढ़ हुए ॥६२॥ तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्के आगमनका वृत्तान्त जान चारों ओरसे आनेवाले सुर और असुरोंसे जगत् इस प्रकार भर गया जिस प्रकार कि मानो जिनेन्द्रदेवके गुणोंसे ही भर गया हो ॥६३॥ उस समय सौधर्म आदि देवोंसे घिरा हुआ वह विपुलाचल ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि पहले श्री ऋषभ जिनेन्द्रसे अधिष्ठित कैलाश पर्वत सुशोभित होता था ॥६४॥

अथानन्तर देवोंने रत्नमयी ऐसे तीन कोट बनाये जिनकी चारों दिशाओंमें एक-एक प्रमुख द्वार होनेसे बारह गोपुर थे ॥६५॥ एक योजन विस्तार वाला समवसरण बनाया जिसमें आकाशस्फटिककी दीवालोंवाले बारह विभाग सुशोभित थे ॥६६॥ आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयोंसे सहित भगवान् उस समवसरणमें विराजमान हुए। वहाँ देवोंसे घिरे श्री वर्धमान ग्रहोंसे घिरे चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥६७॥ इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्रकी प्रेरणासे श्री अरहन्तदेवके समवसरणमें आये ॥६८॥ वे सभी पण्डित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्योंसे सहित थे तथा सभीने वस्त्रादिका सम्बन्ध त्यागकर संयम धारण कर लिया ॥६९॥ उसी समय राजा चेतककी पुत्री चन्दना कुमारी, एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर आर्यिकाओंमें प्रमुख हो गई ॥७०॥

राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके साथ समवसरणमें पहुँचा और वहाँ सिंहासनपर विराजमान श्रीवर्धमान जिनेन्द्रको उसने नमस्कार किया ॥७१॥ जिनेन्द्र भगवान्की

---

१. उत्तराफाल्गुनीं प्राप्ते म० । २. विपुलगिरिनामानम् । ३. परितो म० । ४. कैलासपर्वतः । ५. महातिशयैः ।

[1]स्रजचक्रदुकूलाब्जगजसिंहवृषध्वजैः । गरुडध्वजसंयुक्तैरष्टभेदैर्महाध्वजैः ॥७३॥
मानस्तम्भैस्तथा स्तूपैश्चतुर्भिश्च महावनैः । वाप्यम्भोरुहखण्डैश्च वल्लीवनलतागृहैः ॥७४॥
तैस्तैर्देवैः कृतैः सर्वैरन्यैश्चातिशयैस्तथा । यथास्थानस्थितैर्जैनी समवस्थानभूरभात् ॥७५॥
अथेन्दोरिव शुक्राद्या निषण्णा [2]गुर्वधिष्ठिताः । साधवोऽभाजिनस्यान्ते जातरूपाच्छविग्रहाः[3] ॥७६॥
ततः कल्पनिवासिन्यो देव्यः कल्पलताभुजाः । मेरोरिव जिनस्यान्ते ता बभुर्भोगभूमयः ॥७७॥
ततोऽलङ्कृतनारीभिरार्यिकाततिराबभौ । स्फुरद्विद्युद्भिराश्लिष्टा[4] शारदीव घनावली ॥७८॥
ज्योतिर्देवस्त्रियोऽतश्च रेजुरुज्ज्वलमूर्तयः । तास्तारा इव सङ्क्रान्ताः समवस्थानसागरे ॥७९॥
कान्ता व्यन्तरदेवानां ततस्तत्र विरेजिरे । करकुड्मलहारिण्यः साक्षादिव वनश्रियः ॥८०॥
ततो नागकुमारादिदेव्यो नागफणोज्ज्वलाः । नागलोकसमायाता नागवल्ल्य इवाबभुः ॥८१॥
ततोऽप्यग्निकुमाराद्या देवाः पातालवासिनः । ज्वलितोज्ज्वलवेषास्ते दशभेदा बभासिरे ॥८२॥
ततः किन्नरगन्धर्वयक्षकिम्पुरुषादयः । षोडशार्द्धविकल्पास्ते व्यन्तराश्च चकासिरे ॥८३॥
सप्रकीर्णकनक्षत्रसूर्याचन्द्रमसो ग्रहाः । पञ्चभेदास्तदाऽनल्पवपुषो ज्योतिषो बभुः ॥८४॥

वह समवसरण भूमि, यथायोग्य स्थानोंपर रक्खे हुए छत्र, चमर, भृङ्गार, कलश, ध्वजा, दर्पण, पङ्खा और ठौना इन आठ प्रसिद्ध मङ्गल द्रव्योंसे, माला, चक्र, दुकूल, कमल, हाथी, सिंह, वृषभ और गरुड़के चिह्नोंसे युक्त आठ प्रकारकी महाध्वजाओंसे, मानस्तम्भों-स्तूपोंसे, चार महावनोंसे, वापिकाओंमें प्रफुल्लित कमल-समूहोंसे, लताओंके वनोंमें बने हुए लतागृहों—निकुञ्जोंसे तथा देवोंके द्वारा निर्मित अन्य सभी प्रकारके उन-उन प्रसिद्ध अतिशयोंसे सुशोभित हो रही थी ॥७२–७५॥

अथानन्तर जिस प्रकार चन्द्रमाके समीप गुरु अर्थात् बृहस्पतिसे अधिष्ठित शुक्रादि ग्रह सुशोभित होते हैं उसी प्रकार श्रीवर्धमान जिनेन्द्रके समीप प्रथम कोठामें गुरु अर्थात् अपने-अपने दीक्षागुरुओंसे अधिष्ठित, निर्दोष दिगम्बर मुद्राको धारण करनेवाले अनेक मुनि सुशोभित हो रहे थे ॥७६॥ तदनन्तर द्वितीय कोठामें कल्पलताओंके समान भुजाओंको धारण करनेवाली कल्पवासिनी देवियाँ स्थित थीं और वे जिनेन्द्रके समीप इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं जिस प्रकार कि सुमेरुके समीप भोगभूमियाँ सुशोभित होती हैं ॥७७॥ तदनन्तर तृतीय कोठामें नाना प्रकारके अलङ्कारोंसे अलंकृत स्त्रियोंके साथ आर्यिकाओंकी पंक्ति इस प्रकार सुशोभित हो रही थी जिस प्रकार कि चमकती हुई बिजलियोंसे आलिङ्गित शरदृऋतुकी मेघपंक्ति सुशोभित होती है ॥७८॥ इनके बाद चतुर्थ कोठामें उज्ज्वल शरीरकी धारक ज्योतिष्क देवोंकी स्त्रियाँ सुशोभित हो रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो समवसरण रूपी सागरमें प्रतिबिम्बित तारा ही हों ॥७९॥ उनके बाद पञ्चम कोठामें हस्तरूपी कुण्डलोंको धारण करनेवाली व्यन्तर देवोंकी स्त्रियाँ साक्षात् वनकी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थीं ॥८०॥ तत्पश्चात् षष्ठ कोठामें नागलोकसे आयी हुई नागवेलके समान उज्ज्वल फणाओंको धारण करनेवाली नागकुमार आदि भवनवासी देवोंकी देवियाँ सुशोभित हो रही थीं ॥८१॥ तदनन्तर सप्तम कोठामें पाताललोकमें रहनेवाले एवं उज्ज्वलवेषके धारक अग्निकुमार आदि दस प्रकारके भवनवासी देव सुशोभित हो रहे थे ॥८२॥ तत्पश्चात् अष्टम कोठामें किन्नर, गन्धर्व, यक्ष तथा किम्पुरुष आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देव सुशोभित हो रहे थे ॥८३॥ उनके बाद नवम कोठामें प्रकीर्णक, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा और ग्रह ये पाँच प्रकारके विशाल शरीरके धारक ज्योतिषी देव सुशोभित हो रहे थे ॥८४॥

---

१. स्रजाचक्र ख० । २. गुरुभिराचार्यैरन्यत्र बृहस्पतिना । ३. जातरूपं यथा जातं अन्यत्र जातरूपं स्वर्णं तद्वदच्छा निर्मला विग्रहा येषां ते । ४. -राश्लिष्टशारदीव म० ।

मौलिकुण्डलकेयूरप्रालम्बकटिसूत्रिणः । हारिणः कल्पवृक्षाभास्ततोऽभान्[1] कल्पवासिनः ॥८५॥
[2]सपुत्रानमितानेकविद्याधरपुरस्सराः । न्यषीदन् मानुषा नानाभाषावेषवचस्ततः ॥८६॥
ततोऽहिनकुलेभेन्द्रहर्यश्वमहिषादयः । जिनानुभावसम्भूतविश्वासाः शमिनो बभुः ॥८७॥
इति द्वादशभेदेषु परीतिं विनुतिं नतिम् । गणेषु प्रथमं कृत्वा स्थितेषु परितो जिनम् ॥८८॥
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयम् । जिनेन्द्रं गौतमोऽपृच्छत् तीर्थार्थं पापनाशनम् ॥८९॥
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः । दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना ॥९०॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थमुदाहरत् ॥९१॥
आचाराङ्गस्य तत्त्वार्थं तथा सूत्रकृतस्य च । जगाद भगवान् वीरः संस्थानसमवाययोः ॥९२॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिसद्द्वयं ज्ञातृधर्मकथास्थितम् । श्रावकाध्ययनस्यार्थमन्तकृद्दशगोचरम् ॥९३॥
अनुत्तरदशस्यार्थं प्रश्नव्याकरणस्य च । तथा विपाकसूत्रस्य पवित्रार्थं ततः परम् ॥९४॥
त्रिषष्टिः त्रिशती यत्र दृष्टीनामभिधीयते । दृष्टिवादस्य यस्यार्थं पञ्चभेदस्य सर्वदृक् ॥९५॥
जगाद जगतां नाथः प्रथमं परिकर्मणः । सूत्रस्याद्यानुयोगस्य तथा पूर्वगतस्य च ॥९६॥
उत्पादपूर्वपूर्वस्य परमार्थं ततः परम् । अग्रायणीयपूर्वार्थमग्रणीरभणद्विदाम् ॥९७॥
वीर्यप्रवादपूर्वार्थमस्तिनास्तिप्रवादजम् । ज्ञानसत्यप्रवादार्थमात्मकर्मप्रवादयोः ॥९८॥
प्रत्याख्यानस्य विद्यानुवादकल्याणपूर्वयोः । प्राणावायस्य पूर्वस्य तत्त्वार्थं तदनन्तरम् ॥९९॥
क्रियाविशालपूर्वस्य विशालार्थमशेषवित् । सल्लोकबिन्दुसारार्थं चूलिकार्थं सवस्तुकम् ॥१००॥

तदनन्तर दशम कोठामें मुकुट कुण्डल केयूर हार और कटिसूत्रको धारण करनेवाले कल्पवृक्षके समान कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे। तत्पश्चात् एकादश कोठामें पुत्र स्त्री आदिसे सहित अनेक विद्याधरोंसे युक्त नाना प्रकारकी भाषा वेष और कान्तिको धारण करनेवाले मनुष्य बैठे थे ॥८५–८६॥ और उनके बाद द्वादश कोठामें जिनेन्द्र भगवान्के प्रभावसे जिन्हें विश्वास उत्पन्न हुआ था तथा जो अत्यन्त शान्तचित्तके धारक थे ऐसे सर्प नेवला गजेन्द्र सिंह घोड़ा और भैंस आदि नाना प्रकारके तिर्यञ्च बैठे थे ॥८७॥ इस प्रकार जब बारह कोठोंमें बारह गण, जिनेन्द्र भगवान्के चारों ओर प्रदक्षिणा रूपसे परिक्रमा, स्तुति और नमस्कार कर विद्यमान थे तब समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले एवं रागद्वेष और मोह इन तीनों दोषोंका क्षय करनेवाले पापनाशक श्रीजिनेन्द्र देवसे गौतम गणधरने तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए पूछा—प्रश्न किया ॥८८–८९॥

तदनन्तर श्रीवर्धमान प्रभुने श्रावण मासके कृष्णपक्षको प्रतिपदाके प्रातःकालके समय अभिजित् नक्षत्रमें समस्त संशयोंको छेदनेवाले, दुन्दुभिके शब्दके समान गम्भीर तथा एक योजन तक फैलनेवाली दिव्यध्वनिके द्वारा शासनकी परम्परा चलानेके लिए उपदेश दिया ॥९०–९१॥ प्रथम ही भगवान् महावीरने आचाराङ्गका उपदेश दिया फिर सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, श्रावकाध्ययनाङ्ग, अन्तकृद्दशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्नव्याकरणाङ्ग और पवित्र अर्थसे युक्त विपाकसूत्राङ्ग इन ग्यारह अङ्गोंका उपदेश दिया ॥९२–९४॥ इसके बाद जिसमें तीन सौ त्रेषठ ऋषियोंका कथन है तथा जिसके पाँच भेद हैं ऐसे बारहवें दृष्टिवाद अङ्गका सर्वदर्शी भगवान्ने निरूपण किया ॥९५॥ जगत्के स्वामी तथा ज्ञानियोंमें अग्रसर श्रीवर्धमान जिनेन्द्रने प्रथम ही परिकर्म, सूत्रगत, प्रथमानुयोग और पूर्वगत भेदोंका वर्णन किया—फिर पूर्वगत भेदके उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय पूर्व, वीर्यप्रवाद पूर्व, अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुवादपूर्व, कल्याणपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकबिन्दु सारपूर्व इन चौदह

१. अभुः, अभान् इति बहुवचने रूपद्वयम् । २. सपुत्रा आगतानेक ख०, सपुत्रवनिता- म०, घ० ।

अङ्गप्रविष्टतत्त्वार्थं प्रतिपाद्य जिनेश्वरः । अङ्गबाह्यमवोचत्तत्प्रतिपाद्यार्थरूपतः ॥१०१॥
सामायिकं यथार्थाख्यं सचतुर्विंशतिस्तवम् । वन्दनां च ततः पूतां प्रतिक्रमणमेव च ॥१०२॥
वैनयिकं विनेयेभ्यः[1] कृतिकर्म ततोऽवदत् । दशवैकालिकां पुण्यामुत्तराध्ययनं तथा ॥१०३॥
तं कल्पव्यवहारं च कल्पाकल्पं तथा महा—कल्पं च पुण्डरीकं च सुमहापुण्डरीककम् ॥१०४॥
तथा निषद्यकां प्रायः प्रायश्चित्तोपवर्णनम् । जगत्त्रयगुरुः प्राह प्रतिपाद्यं हितोद्यतः ॥१०५॥
मत्यादेः केवलान्तस्य स्वरूपं विषयं फलम् । अपरोक्षपरोक्षस्य ज्ञानस्योवाच सङ्ख्यया ॥१०६॥
मार्गणास्थानभेदैश्च गुणस्थानविकल्पनैः । जीवस्थानप्रभेदैश्च जीवद्रव्यमुपादिशत् ॥१०७॥
सत्सङ्ख्याद्यनुयोगैश्च सन्नामादिकमादिभिः । द्रव्यं स्वलक्षणैर्भिन्नं पुद्गलादि त्रिलक्षणम्[2] ॥१०८॥
द्विविधं कर्मबन्धं च सहेतुं सुखदुःखदम् । मोक्षं मोक्षस्य हेतुं च फलं चाष्टगुणात्मकम् ॥१०९॥
बन्धमोक्षफलं यत्र भुज्यते तत् त्रिधाकृतम् । अन्तःस्थितं जगौ लोकमलोकं च बहिःस्थितम् ॥११०॥
अथ सप्तर्द्धिसम्पन्नः श्रुत्वार्थं जिनभाषितम् । द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धं सोपाङ्गं गौतमो व्यधात् ॥१११॥
त्रैलोक्यं संसदि स्पृष्टं जिनार्कवचनांशुभिः । मुक्तमोहमहानिद्रं सुप्तोत्थितमिवाबभौ ॥११२॥
जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता । तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्[3] ॥११३॥

पूर्वोंका तथा वस्तुओंसे सहित चूलिकाओंका वर्णन किया ॥९९–१००॥ इस प्रकार श्रीजिनेन्द्रदेवने अङ्गप्रविष्ट तत्त्वका वर्णन कर अङ्गबाह्यके चौदह भेदोंका वास्तविक वर्णन किया। प्रथम ही उन्होंने सार्थक नामको धारण करनेवाले सामयिक प्रकीर्णकका वर्णन किया तदनन्तर चतुर्विंशति स्तवन, पवित्र वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक तथा जिसमें प्रायः प्रायश्चित्तका वर्णन है ऐसी निषद्यका इन चौदह प्रकीर्णकोंका वर्णन हित करनेमें उद्यत तथा जगत् त्रयके गुरु श्रीवर्धमान जिनेन्द्रने किया ॥१०१–१०५॥ इसके बाद भगवान्‌ने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंका स्वरूप, विषय, फल तथा संख्या बतलायी और साथ ही यह भी बतलाया कि उक्त पाँच ज्ञानोंमें प्रारम्भके दो ज्ञान परोक्ष और अन्य तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं ॥१०६॥ तदनन्तर चौदह मार्गणा स्थान, चौदह गुणस्थान और चौदह जीव समासके द्वारा जीव द्रव्यका उपदेश दिया ॥१०७॥ तत्पश्चात् सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प बहुत्व इन आठ अनुयोग द्वारोंसे तथा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपोंसे द्रव्यका निरूपण किया। उन्होंने यह भी बताया कि पुद्गल आदिक द्रव्य अपने-अपने लक्षणोंसे भिन्न-भिन्न हैं और सामान्य रूपसे सभी उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य रूप त्रिलक्षणसे युक्त हैं ॥१०८॥ शुभ-अशुभके भेदसे कर्मबन्धके दो भेद बतलाये, उनके पृथक्-पृथक् कारण समझाये, शुभबन्ध सुख देनेवाला है और अशुभबन्ध दुःख देनेवाला है यह बताया। मोक्षका स्वरूप, मोक्षका कारण और अनन्त ज्ञान आदि आठ गुणोंका प्रकट हो जाना मोक्षका फल है यह सब समझाया ॥१०९॥ जो अनन्त अलोकाकाशके मध्यमें स्थित है तथा जहाँ बन्ध और मोक्षका फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। इस लोकके ऊर्ध्व-मध्य और पातालके भेदसे तीन भेद हैं। लोकके बाहरका जो आकाश है उसे अलोक कहते हैं ॥११०॥

अथानन्तर सप्तऋद्धियोंसे सम्पन्न गौतम गणधरने जिनभाषित पदार्थका श्रवणकर उपाङ्ग-सहित द्वादशाङ्ग रूप श्रुतस्कन्धकी रचना की ॥१११॥ उस समय समवसरणमें जो तीनों लोकोंके जीव बैठे हुए थे वे जिनेन्द्र रूपी सूर्यके वचन रूपी किरणोंका स्पर्श पाकर सोयेसे उठे हुएके समान सुशोभित होने लगे और उनकी मोह रूपी महानिद्रा दूर भाग गयी ॥११२॥ ओठोंके

१. शिष्येभ्यः । २. उत्पादव्ययध्रौव्यरूपम् । ३. नाशयामास ।

ततो जिनोक्ततत्त्वार्थमार्गश्रद्धानलक्षणम् । शङ्काकाङ्क्षानिदानादिकलङ्कविगमोज्ज्वलम् ॥११४॥
सम्यग्दर्शनसद्रत्नं ज्ञानालङ्कारनायकम् । स्वकर्णहृदयेष्वेकं पिनद्धमखिलाङ्गिभिः[1] ॥११५॥
कायेन्द्रियगुणस्थानजीवस्थानकुलायुषाम् । भेदान् योनिविकल्पांश्च निरूप्यागमचक्षुषा ॥११६॥
क्रियासु स्थानपूर्वासु बधादिपरिवर्जनम् । षण्णां जीवनिकायानामहिंसाद्यं महाव्रतम् ॥११७॥
यद्रागद्वेषमोहेभ्यः परतापकरं वचः । निवृत्तिस्तु ततः सत्यं तद् द्वितीयं महाव्रतम् ॥११८॥
अल्पस्य महतो वापि परद्रव्यस्य साधुना । अनादानमदत्तस्य तृतीयं तु महाव्रतम् ॥११९॥
स्त्रीपुंसङ्गपरित्यागः कृतानुमतकारितैः । ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं चतुर्थं तु महाव्रतम् ॥१२०॥
बाह्याभ्यन्तरवर्तिभ्यः सर्वेभ्यो विरतिर्यतः । स्वपरिग्रहदोषेभ्यः पञ्चमं तु महाव्रतम् ॥१२१॥
चक्षुर्गोचरजीवौघान् परिहृत्य यतेर्यतः[2] । ईर्यासमितिराद्या सा व्रतशुद्धिकरी मता ॥१२२॥
त्यक्त्वा कार्कश्यपारुष्यं यतेर्यत्नवतः सदा । भाषणं धर्मकार्येषु भाषासमितिरिष्यते ॥१२३॥
पिण्डशुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत् । आहारग्रहणं सा स्यादेषणासमितिर्यतेः ॥१२४॥
निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः । समितिः सा तु विज्ञेया निक्षेपादाननामिका ॥१२५॥
शरीरान्तर्मलत्यागः प्रगतासु सुभूमिषु । यत्तत्समितिरेषा तु प्रतिष्ठापनिका मता ॥१२६॥
एवं समितयः पञ्च गोप्यास्तिस्रस्तु गुप्तयः । वाक्मनःकाययोगानां शुद्धरूपाः प्रवृत्तयः ॥१२७॥
चित्तेन्द्रियनिरोधश्च षडावश्यकसत्क्रियाः । लोचास्नानैकभक्तं च स्थितिभुक्तिरचेलता ॥१२८॥

विना हिलाये ही निकली हुई भगवान्‌की वाणीने तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवोंका दृष्टिमोह नष्ट कर दिया था ॥११३॥ तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कथित तत्त्वार्थ और मार्गका श्रद्धान करना ही जिसका लक्षण है, जो शङ्का कांक्षा निदान आदि दोषोंके अभावसे उज्ज्वल है तथा सम्यग्ज्ञान रूपी अलंकारका स्वामी है ऐसे सम्यग्दर्शन रूपी समीचीन रत्नको समस्त प्राणियोंने अपने कानों तथा हृदयमें धारण किया ॥११४-११५॥ काम, इन्द्रियाँ, गुणस्थान, जीवस्थान, कुल और आयुके भेद तथा योनियोंके नाना विकल्पोंका आगम रूपी चक्षुके द्वारा अच्छी तरह अवलोकनकर बैठने-उठने आदि क्रियाओंमें छह कायके जीवोंके वध-बन्धनादिकका त्याग करना प्रथम अहिंसा महाव्रत कहलाता है ॥११६-११७॥ राग, द्वेष अथवा मोहके कारण दूसरोंके संताप उत्पन्न करनेवाले जो वचन हैं उनसे निवृत्त होना सो द्वितीय सत्य महाव्रत है ॥११८॥ विना दिया हुआ पर द्रव्य चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत उसके ग्रहणका त्याग करना सो तृतीय अचौर्य महाव्रत है ॥११९॥ कृत, कारित और अनुमोदनासे स्त्री-पुरुषका त्याग करना सो चतुर्थ ब्रह्मचर्याणु व्रत कहा गया है ॥१२०॥ परिग्रहके दोषोंसे सहित समस्त बाह्याभ्यन्तरवर्ती परिग्रहोंसे विरक्त होना सो पञ्चम अपरिग्रह महाव्रत है ॥१२१॥ नेत्रगोचर जीवोंके समूहको बचाकर गमन करनेवाले मुनिके प्रथम ईर्यासमिति होती है। यह ईर्यासमिति व्रतोंमें शुद्धता उत्पन्न करनेवाली मानी गयी है ॥१२२॥ सदा कर्कश और कठोर वचन छोड़कर यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले यतिका धर्म कार्योंमें बोलना भाषासमिति कहलाती है ॥१२३॥ शरीरकी स्थिरताके लिए पिण्डशुद्धिपूर्वक मुनिका जो आहार ग्रहण करना है वह एषणा समिति कहलाती है ॥१२४॥ देखकर योग्य वस्तुका रखना और उठाना सो आदाननिक्षेपण समिति है ॥१२५॥ प्रासुक भूमिपर शरीरके भीतरका मल छोड़ना सो प्रतिष्ठापन समिति है ॥१२६॥ इस प्रकार इन पाँच समितियोंका तथा मनोयोग, वचनयोग और काययोगकी शुद्ध प्रवृत्तिरूप तीन गुप्तियोंका पालन करना चाहिए ॥१२७॥ मन और इन्द्रियोंका वश करना, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओंका पालन करना, केश लोंच करना, स्नान

---

१. सर्वप्राणिसमूहैः । २. गच्छतः ।

भूमिशय्याव्रतं दन्तमलमार्जनवर्जनम् । तपःसंयमचारित्रं परीषहजयः परः ॥१२९॥
अनुप्रेक्षाश्च धर्मश्च क्षमादिदशलक्षणः । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविनयसेवनम् ॥१३०॥
इति श्रमणधर्मोऽयं कर्मनिर्मोक्षहेतुकः । सुरासुरनराध्यक्षं[1] जिनोक्तस्तं तदा नराः ॥१३१॥
संसारभीरवः शुद्धजातिरूपकुलादयः । सर्वसङ्गविनिर्मुक्ताः शतशः प्रतिपेदिरे ॥१३२॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः शुद्धैकवसनावृताः । सहस्रशो दधुः शुद्धा नार्यस्तत्रार्यिकाव्रतम् ॥१३३॥
पञ्चधाणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्रीपुरुषा दधुः ॥१३४॥
तिर्यञ्चोऽपि यथाशक्ति नियमेष्ववतस्थिरे । देवाः सद्दर्शनज्ञानजिनपूजासु रेमिरे ॥१३५॥
श्रेणिकेन तु यत्पूर्वं बह्वारम्भपरिग्रहात् । परस्थितिकमारब्धं[2] नरकायुस्तमस्तमे[3] ॥१३६॥
तत्तु क्षायिकसम्यक्त्वात् स्वस्थितिं प्रथमक्षितौ । प्रापद्वर्षसहस्राणामशीतिं चतुरुत्तराम् ॥१३७॥
त्रयस्त्रिंशत् समुद्राः क्व क्व चेयं मध्यमा स्थितिः । अहो क्षायिकसम्यक्त्वप्रभावोऽयमनुत्तरः ॥१३८॥
अक्रूरो वारिषेणो यो योऽभयः स तथा परे । कुमारा मातरश्चैषां पराश्चान्तःपुरस्त्रियः ॥१३९॥
सम्यक्त्वं शीलसद्दानं प्रोषधं जिनपूजनम् । प्रतिपद्य विनेमुस्तं जिनेन्द्रं त्रिजगद्गुरुम् ॥१४०॥
ततः प्रणम्य देवेन्द्रा जिनेन्द्रं स्तोत्रपूर्वकम् । यथायथं ययुर्युक्ता निजवर्गैर्निजास्पदम् ॥१४१॥
श्रेणिकोऽपि गुणश्रेणीमुच्चकैरभिरूढवान् । अभिष्टुत्य जिनं नत्वा प्रविष्टस्तुष्टधीः पुरम् ॥१४२॥
निःसरद्भिर्विशद्भिश्च सभा जैनी जनोर्मिभिः । चुक्षोभ क्षुभितैर्वेला नदीपूरैरिवाम्बुधेः ॥१४३॥

नहीं करना, एकबार भोजन करना, खड़े-खड़े भोजन करना, वस्त्र धारण नहीं करना, पृथिवीपर शयन करना, दन्तमल दूर करनेका त्याग करना, बारह प्रकारका तप, बारह प्रकारका संयम, चारित्र, परीषह विजय, बारह अनुप्रेक्षाएँ, उत्तम क्षमादि दस धर्म, ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और तप विनयकी सेवा, इस प्रकार सुर, असुर और मनुष्योंके सम्मुख श्री जिनेन्द्र भगवान्ने कर्मक्षयके कारणभूत जिस मुनिधर्मका वर्णन किया था उसे उन सैकड़ों मनुष्योंने स्वीकृत किया था जो संसारसे भयभीत थे, शुद्ध जाति रूप और कुलको धारण करनेवाले थे तथा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित थे ॥१२८-१३२॥ सम्यग्दर्शनसे शुद्ध तथा एक पवित्र वस्त्रको धारण करनेवाली हजारों शुद्ध स्त्रियोंने आर्यिकाके व्रत धारण किये ॥१३३॥ कितने ही स्त्री-पुरुषोंने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत धारण किये ॥१३४॥ तिर्यञ्चोंने भी यथाशक्ति नियम धारण किये और देव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा जिन पूजामें लीन हुए ॥१३५॥ राजा श्रेणिकने पहले बहुत आरम्भ और परिग्रहके कारण तमस्तमः नामक सातवें नरककी जो उत्कृष्ट स्थिति बाँध रक्खी थी उसे क्षायिक सम्यग्दर्शनके प्रभावसे प्रथम पृथिवी सम्बन्धी चौरासी हजार वर्षकी मध्यम स्थिति रूप कर दिया ॥१३६-१३७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि कहाँ तो तैंतीस सागर और कहाँ यह जघन्य स्थिति ? अहो क्षायिक सम्यग्दर्शनका यह अद्भुत लोकोत्तर माहात्म्य है ॥१३८॥ राजा श्रेणिकके अक्रूर, वारिषेण और अभयकुमार आदि पुत्रोंने, इनकी माताओंने तथा अन्तःपुरकी अन्य अनेक स्त्रियोंने सम्यग्दर्शन, शील, दान, प्रोषध और पूजनका नियम लेकर त्रिजगद्गुरु श्री वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार किया ॥१३९-१४०॥

तदनन्तर इन्द्र, स्तुति पूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर अपने परिवारके साथ यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१४१॥ भावोंकी उत्तम श्रेणिपर आरूढ़ हुआ राजा श्रेणिक भी श्री वर्धमान जिनेन्द्रकी स्तुति कर तथा नमस्कार कर संतुष्ट होता हुआ नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥१४२॥ जिस प्रकार समुद्रकी वेला क्षोभको प्राप्त हुए नदीके पूरोंसे सुशोभित हो जाती है उसी प्रकार

१. सुरासुरनरप्रत्यक्षम् । २. परा उत्कृष्टा ३३ सागरप्रमिता स्थितिर्यस्य तत् परिस्थितिक—म० ।
३. सप्तमनरके ।

आकीर्णमेव नृभिर्नित्यं सभामण्डलमर्हतः । हीयते वा कदा स्फीतैर्भानुभि[1]र्भानुमण्डलम् ॥१४४॥
नोदयास्तमितं तत्र ज्ञायते ब्रध्नमण्डलम्[2] । धर्मचक्रप्रभाचक्रप्रभामण्डलरोचिषा ॥१४५॥
तत्र तीर्थंकरः कुर्वन् प्रत्यहं धर्मदेशनम् । सेवितः श्रेणिकेनास्य न हि तृप्तिस्त्रिवर्गजा ॥१४६॥
गौतमं च समासाद्य तदा तदुपदेशतः । सर्वानुयोगमार्गेषु प्रवीणः स नृपोऽभवत् ॥१४७॥
ततो जिनगृहैस्तुङ्गैः राज्ञा राजगृहं पुरम् । कृतमन्तर्बहिर्व्याप्तमजस्रमहिमोत्सवैः ॥१४८॥
कृतः सामन्तसङ्घातैर्महामन्त्रिपुरोहितैः । प्रजाभिर्जिनगेहाढ्यो मगधो विषयो[3]ऽखिलः ॥१४९॥
पुरेषु ग्रामघोषेषु पर्वताग्रेष्वदृश्यत । नदीतटवनान्तेषु तदा जिनगृहावली ॥१५०॥

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः

तिष्ठन्नेव महोदये विघटयन् मोहान्धकारोन्नतिं
प्राग्देशप्रजया विधाय मगधादेशं प्रबुद्धप्रजम् ।
तद्भूत्या पृथुमध्यदेशमगमन्मध्याह्निकश्रीधरं
मिथ्याज्ञानहिमान्तकृज्जिनरविर्बोधप्रभामण्डलः ॥१५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ धर्मतीर्थप्रवर्त्तनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२॥

उस समय वह सभा भीतर प्रवेश करते तथा बाहर निकलते हुए जन-समूहोंसे क्षुभित हो रही थी ॥१४३॥ अर्हन्त भगवान्‌का वह सभा मण्डल मनुष्योंसे सदा व्याप्त ही दिखाई देता था सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यमण्डल अपनी विस्तृत किरणोंसे कब रहित होता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥१४४॥ वहाँ धर्म चक्र और भामण्डलकी कान्तिके कारण सूर्यबिम्बके उदय-अस्तका पता नहीं चलता था ॥१४५॥ वहाँ विपुलाचलपर धर्मोपदेश करनेवाले श्री तीर्थंकर भगवान्‌की राजा श्रेणिक प्रतिदिन सेवा करता था अर्थात् वह प्रतिदिन आकर उनका धर्मोपदेश श्रवण करता था सो ठीक ही है क्योंकि त्रिवर्गके सेवनसे किसीको तृप्ति नहीं होती ॥१४६॥ वह राजा श्रेणिक, गौतम गणधरको पाकर उनके उपदेशसे सब अनुयोगोंमें प्रवीण हो गया ॥१४७॥ तदनन्तर राजा श्रेणिकने जिनमें निरन्तर महिमा और उत्सव होते रहते थे ऐसे ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरोंसे उस राजगृह नगरको भीतर और बाहर व्याप्त कर दिया ॥१४८॥ राजाके भक्त सामन्त, महामन्त्री, पुरोहित तथा प्रजाके अन्य लोगोंने समस्त मगध देशको जिनमन्दिरोंसे युक्त कर दिया ॥१४९॥ वहाँ नगर, ग्राम, घोष, पर्वतोंके अग्रभाग, नदियोंके तट और वनोंके अन्त प्रदेशोंमें-सर्वत्र जिन मन्दिर ही जिनमन्दिर दिखाई देते थे ॥१५०॥ इस प्रकार जो महान् अभ्युदयमें स्थित थे, मोहरूपी अन्धकारकी उन्नतिको नष्ट कर रहे थे, मिथ्याज्ञानरूपी हिमका अन्त करनेवाले थे तथा ज्ञानरूपी प्रभामण्डलसे सहित थे ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्ररूपी सूर्यने पूर्व देशकी प्रजाके साथ-साथ मगध देशकी प्रजाको प्रबुद्धकर मध्याह्नकी शोभा धारण करनेवाले विशाल मध्य देशकी ओर उसी पूर्वोक्त विभूतिके साथ गमन किया ॥१५१॥

इस प्रकार जिसमें भगवान् अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्री जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें 'धर्मतीर्थ प्रवर्तन' नामका दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥

१. किरणैः । २. सूर्यमण्डलम् । ३. देशः ।

तृतीयः सर्गः

मध्यदेशे जिनेशेन धर्मतीर्थे प्रवर्तिते । सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो व्यवर्तत ॥१॥
[1]आशयाः स्वच्छतां जग्मुर्जिनेन्द्रोदयदर्शनात् । लोकेऽगस्त्योदये यद्वत् कलुषाश्च जलाशयाः ॥२॥
काशिकौशलकौशल्यकुसन्ध्याश्वष्टनामकान् । साल्वत्रिगर्तपञ्चालभद्रकारपटच्चरान् ॥३॥
मौकमत्स्यकनीयांश्च सूरसेनवृकार्थपान् । मध्यदेशानिमान् मान्यान् कलिङ्गकुरुजाङ्गलान् ॥४॥
कैकेयाऽऽत्रेयकाम्बोजवाह्लीकयवनश्रुतीन् । सिन्धुगान्धारसौवीरसूरभीरुदशेरुकान् ॥५॥
वाडवानभरद्वाजक्वाथतोयान् समुद्रजान् । उत्तरांस्तार्णकार्णांश्च देशान् प्रच्छालनामकान् ॥६॥
धर्मेणायोजयद् वीरो विहरन् [2]विभवान्वितः । यथैव भगवान् पूर्वं वृषभो भव्यवत्सलः ॥७॥
द्योतमाने जिनादित्ये केवलोद्योतभास्करे । क्व लीना इति न ज्ञातास्तीर्थ[3]खद्योतसम्पदः ॥८॥
सर्वज्ञवीतरागस्य वपुर्वचनवैभवम् । तदोपलभमानानां [4]सक्तिर्नाभूत्परोक्तिषु ॥९॥
नित्यं निर्मलनिःस्वेदं [5]गोक्षीरनिभशोणितम् । दिव्यसंहतिसंस्थानरूपसौरभलक्षणम् ॥१०॥
अनन्तवीर्यपर्याप्तं स्वहितप्रियभाषणम् । स्वाभाविकपवित्रात्मदशातिशयशोभितम् ॥११॥
निमेषोन्मेषविगमप्रशान्तायतलोचनम् । सुव्यवस्थितसुस्निग्धनखकेशोपशोभितम् ॥१२॥

अथानन्तर श्री वर्धमान जिनेन्द्रके द्वारा मध्यदेशमें धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति होनेपर समस्त देशोंमें तीर्थ विषयक मोह दूर हो गया अर्थात् धर्मके विषयमें लोगोंका जो अज्ञान था वह दूर हो गया ॥१॥ जिस प्रकार संसारमें अगस्त्य नक्षत्रका उदय होनेपर मलिन तालाब स्वच्छताको प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवका उदय होनेपर लोगोंके कलुषित हृदय स्वच्छताको प्राप्त हो गये ॥२॥ जिस प्रकार पहले भव्यवत्सल भगवान् ऋषभदेवने अनेक देशोंमें विहार कर उन्हें धर्मसे युक्त किया था उसीप्रकार भगवान् महावीरने भी वैभवके साथ विहारकर मध्यके काशी, कौशल, कौशल्य, कुसन्ध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पञ्चाल, भद्रकार, पटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन और वृकार्थक, समुद्रतटके कलिङ्ग, कुरुजाङ्गल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, वाह्लीक, यवन, सिन्धु, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भरद्वाज और क्वाथतोय, तथा उत्तर दिशाके तार्ण, कार्ण और प्रच्छाल आदि देशोंको धर्मसे युक्त किया था ॥३-७॥ केवल ज्ञानरूपी प्रभाको फैलानेवाले श्री जिनेन्द्ररूपी सूर्यके प्रकाशमान होनेपर नाना मिथ्याधर्मरूपी जुगुनुओंके ठाट-बाट कहाँ विलीन हो गये थे यह नहीं जान पड़ता था ॥८॥ उस समय जिन लोगोंने श्री वर्धमान जिनेन्द्रके शरीरका साक्षात् दर्शन किया था, उनकी दिव्यध्वनिका साक्षात् श्रवण किया था तथा उनके वैभवका साक्षात् अवलोकन किया था उनकी अन्य पुरुषोंके वचनोंमें आसक्ति नहीं रह गई थी ॥९॥ निरन्तर मलमूत्रसे रहित शरीर, स्वेदका अभाव, गो दुग्धके समान सफेद रुधिर, वज्रवृषभनाराचसंहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अत्यन्त सुन्दर रूप, अतिशय सुगन्धता एक हजार आठ लक्षण युक्त शरीर, अनन्त बल और हितमित प्रिय वचन इन पवित्र दस अतिशयोंसे तो वे जन्मसे ही सुशोभित थे, परन्तु केवलज्ञान होनेपर निमेष उन्मेषसे रहित अत्यन्त शान्त विशाल लोचन, अत्यन्त व्यवस्थित अर्थात् वृद्धिसे रहित कान्तिपूर्ण नख और केशोंसे शोभित होना, कवलाहारका अभाव, वृद्धावस्थाका न होना, शरीरकी छाया नहीं पड़ना, परम कान्तियुक्त मुखका एक होनेपर भी चारों ओर

१. चित्तानि । २. समवसरणलक्ष्मीयुक्तः । ३. मिथ्यात्वतीर्थखद्योतलक्ष्म्यः । ४. शक्ति क०, म०, ग० । ५. गोदुग्धसदृशरक्तम् ।

[1]त्यक्तभुक्ति जरातीतमच्छायं[2] छाययोर्जितम्[3] । एकतो मुखमप्यच्छचतुर्मुखमनोहरम् ॥१३॥
द्वियोजनशतक्षोणीसुभिक्षत्वोपपादकम् । उपसर्गासुमत्पीडाव्यपोढं गगनायनम्[4] ॥१४॥
सर्वविद्येश्वरं कर्मक्षयोद्भूतदशाद्भुतम् । दृष्टं श्रुतं वपुर्जैनं व्यधत्त जगतः सुखम् ॥१५॥ [कुलकम्]
अमृतस्येव धारां तां [5]भाषां सर्वार्धमागधीम् । पिबन् कर्णपुटैर्जैनीं ततृपे त्रिजगज्जनः ॥१६॥
[6]अन्योन्यगन्धमासोढुमक्षमाणामपि द्विषाम् । मैत्री बभूव सर्वत्र प्राणिनां धरणीतले ॥१७॥
[7]अहंपूर्व इवाजस्रं फलपुष्पानतद्रुमाः । सहैव षडपि प्राप्ता ऋतवस्तं सिषेविरे ॥१८॥
स्वान्तःशुद्धिं जिनेशाय दर्शयन्तीव भूवधूः । सर्वरत्नमयी रेजे शुद्धादर्शतलोज्ज्वला ॥१९॥
जनिताङ्गसुखस्पर्शो ववौ विहरणानुगः । सेवामिव प्रकुर्वाणः श्रीवीरस्य समीरणः ॥२०॥
[8]विहरत्युपकाराय जिने परमबान्धवे । बभूव परमानन्दः सर्वस्य जगतस्तदा ॥२१॥
देवा वायुकुमारास्ते योजनान्तर्धरातलम् । चक्रुः कण्टकपाषाणकीटकादिविवर्जितम् ॥२२॥
तदनन्तरमेवोच्चैस्तनिताः[9] स्तनिताभिधाः[10] । कुमारा ववृषुर्मेघीभूता गन्धोदकं शुभम् ॥२३॥
पादपद्मं जिनेन्द्रस्य सप्तपद्मैः पदे पदे । भुवेव नभसाऽगच्छदुद्गच्छद्भिः प्रपूजितम् ॥२४॥
रेजे शाल्यादिसस्यौघैर्मेदिनी फलशालिभिः । जिनेन्द्रदर्शनानन्दप्रोद्भिन्नपुलकैरिव ॥२५॥

दिखाई देना, दो सौ योजन तककी पृथिवीमें सुभिक्ष होना, उपसर्गका अभाव, प्राणिपीड़ा अर्थात् अदयाका अभाव, आकाशगमन और सब विद्याओंका स्वामित्वपना, कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानके इन दस अतिशयोंसे और भी अधिक आश्चर्य उत्पन्न कर रहे थे। उस समय देखा अथवा सुना गया जिनेन्द्र भगवान्‌का शरीर जगत्‌के जीवोंको सुख उत्पन्न कर रहा था ॥१०-१५॥ सर्वभाषारूप परिणमन करनेवाली अमृतकी धाराके समान भगवान्‌की अर्धमागधी भाषाका कर्णपुटोंसे पान करते हुए तीन लोकके जीव संतुष्ट हो गये ॥१६॥ जो परस्परकी गन्ध सहन करनेमें भी असमर्थ थे ऐसे शत्रुरूप प्राणियोंमें पृथिवीतलपर सर्वत्र गहरी मित्रता हो गई ॥१७॥ जिनमें समस्त वृक्ष निरन्तर फल और फूलोंसे नम्रीभूत हो रहे थे ऐसी छहों ऋतुएँ 'मैं पहले पहुँचूँ, मैं पहले पहुँचूँ' इस भावनासे ही मानो एक साथ आकर उनकी सेवा कर रही थीं ॥१८॥ सर्व रत्नमयी तथा निर्मल दर्पण तलके समान उज्ज्वल पृथिवीरूपी स्त्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र भगवान्‌के लिए अपने अन्तःकरणकी विशुद्धता ही दिखला रही हो ॥१९॥ शरीरमें सुखकर स्पर्श उत्पन्न करनेवाली विहारके अनुकूल—मन्द सुगन्धि वायु बह रही थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान्‌की सेवा ही कर रही हो ॥२०॥ उस समय परोपकारके लिए उत्कृष्ट बन्धुस्वरूप श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के विहार करनेपर जगत्‌के समस्त जीवोंको परम आनन्द हो रहा था ॥२१॥ वायु कुमारके देव, एक योजनके भीतरकी पृथिवीको कण्टक, पाषाण तथा कीड़े-मकोड़े आदिसे रहित कर रहे थे ॥२२॥ उनके बाद ही जोरकी गर्जना करनेवाले स्तनितकुमार नामक देव मेघका रूप धारणकर शुभ सुगन्धित जलकी वर्षा कर रहे थे ॥२३॥ भगवान् पृथिवीके समान आकाशमार्गसे चल रहे थे तथा उनके चरण-कमल पद-पदपर खिले हुए सात-सात कमलोंसे पूजित हो रहे थे। भावार्थ—विहार करते समय भगवान्‌के चरण-कमलोंके आगे और पीछे सात-सात तथा चरणोंके नीचे एक इसप्रकार पन्द्रह कमलोंकी पन्द्रह श्रेणियाँ रची जाती थीं उनमें सब मिलाकर दो सौ पच्चीस कमल रहते थे ॥२४॥ फलोंसे सुशोभित शालि आदि धान्योंके समूहसे पृथिवी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जिनेन्द्र

१. कवलाहारादिरहितत्वम्। २. छायारहितम्। ३. छायया कान्त्या ऊर्जितम्। ४. गगने गमनम्। ५. भाषासर्वार्ध-म० भाषां सवार्थं ख०। ६. परस्परगन्धमपि सोढुमसमर्थानां शत्रूणाम्। ७. अहं अग्रे गच्छामि अहमग्रे गच्छामीति भावनया युक्ता इव। ८. विहारं कुर्वति सति। ९. उच्चैर्गर्जनयुक्ताः। १०. मेघकुमाराः।

जिनेन्द्रकेवलज्ञानवैमल्यमनुकुर्वता । घनावरणमुक्तेन गगनेन विराजितम् ॥२६॥
नीरजोभिरहोरात्रं अबलाभिरिवेश्वरः । [1]आशाभिरपि नैर्मल्यं बिभ्रतीभिरुपासितः ॥२७॥
धर्मदानं जिनेन्द्रस्य घोषयन्तः समन्ततः । आह्वानं चक्रिरेऽन्येषां देवा देवेन्द्रशासनात् ॥२८॥
सहस्रारं हसद्दीप्त्या [2]सहस्रकिरणद्युति । धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरभात् ॥२९॥
इति देवकृतैर्भूमौ चतुर्दशभिरद्भुतैः । विजहार जिनो युक्तः सध्वजैरष्टमङ्गलैः ॥३०॥
अशोकनगमाभासीदशोकानोकह[3]श्रिया । नमद्भुवनमाकाशं महत्त्वं किमतः परम् ॥३१॥
पुष्पवृष्टिभिरानम्रशिरोभिरमरैः करैः । [4]आवर्जिताभिराकाशादाशा[5]विश्वम्भरा बभुः ॥३२॥
चतुर्दिक्षु चतुःषष्टिचमरैरमरैर्जिनः । वीजितोऽभात् पतद्गाङ्गतरङ्गैर्हिमवानिव ॥३३॥
अभिभूयाबभौ धाम्ना मण्डलं चण्डरोचिषः[6] । प्रभामण्डलमीशस्य प्रध्वस्ताहर्निशान्तरम् ॥३४॥
[7]धीरमध्वनि देवानां जजृम्भे दुन्दुभिध्वनिः । कर्मशत्रुजयं जैनं घोषयन्निव विष्टपे ॥३५॥
एकातपत्रमैश्वर्यं भुवि मुक्तवतोऽर्हतः । आतपत्रत्रयैश्वर्यमाबभौ भुवनत्रये ॥३६॥
सिंहासनं नरेन्द्रौघैर्वृतं त्यक्तवतो बभौ । सिंहासनं जिनस्यान्यत्सुरेन्द्रपरिवारितम् ॥३७॥
धर्मोक्तौ योजनव्यापी चेतःकर्णरसायनम् । दिव्यध्वनिर्जिनेन्द्रस्य पुनाति स्म जगत्त्रयम् ॥३८॥

दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे उसके रोमाञ्च ही निकल आये हों ॥२५॥ मेघोंके आवरणसे रहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह जिनेन्द्रदेवके केवलज्ञानकी निर्मलताका ही अनुकरण कर रहा हो ॥२६॥ जिस प्रकार रजोधर्मसे रहित होनेके कारण निर्मलता-शुद्धताको धारण करनेवाली स्त्रियाँ रात-दिन अपने पतिकी उपासना करती हैं उसी प्रकार रज अर्थात् धूलिसे रहित होनेके कारण उज्ज्वलताको धारण करनेवाली दिशाएँ भगवान्‌की उपासना कर रही थीं ॥२७॥ इन्द्रकी आज्ञासे देव लोग, सब ओर जिनेन्द्रदेवके धर्मदानकी घोषणा करते हुए अन्य लोगोंको बुला रहे थे ॥२८॥ विहार करते हों चाहे खड़े हों प्रत्येक दशामें श्रीजिनेन्द्रके आगे, सूर्यके समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्तिसे हजार आरेवाले चक्रवर्तीके चक्ररत्नकी हँसी उड़ाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था ॥२९॥ इस प्रकार देवकृत चौदह अतिशयों और ध्वजाओं सहित अष्ट मङ्गल द्रव्योंसे युक्त श्रीमहावीर जिनेन्द्र पृथिवीपर विहार करते थे ॥३०॥

अष्ट प्रातिहार्योंमें प्रथम प्रातिहार्य अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अशोकवृक्षकी शोभाके बहाने समस्त संसार अथवा आकाश ही भगवान्‌को नमस्कार कर रहा हो इससे अधिक और महत्त्व क्या हो सकता है? ॥३१॥ नम्रीभूत शिरको धारण करनेवाले देवलोग अपने हाथोंसे जो पुष्प-वृष्टियाँ छोड़ रहे थे उनसे समस्त दिशाओंकी भूमियाँ सुशोभित हो रही थीं ॥३२॥ चारों दिशाओंमें देवों द्वारा चौंसठ चमरोंसे वीजित भगवान् उस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पड़ती हुई गङ्गाकी तरङ्गोंसे हिमगिरि सुशोभित होता है ॥३३॥ जिसने रात-दिनका अन्तर दूर कर दिया था ऐसा भगवान्‌का भामण्डल, अपने तेजसे सूर्य मण्डलको अभिभूत कर—दबा कर सुशोभित हो रहा था ॥३४॥ देवोंके मार्ग अर्थात् आकाशमें दुन्दुभियोंका शब्द इस गम्भीरतासे फैल रहा था मानो वह संसारमें इस बातकी घोषणा ही कर रहा था कि श्रीजिनेन्द्रदेव कर्मरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर चुके हैं ॥३५॥ जिसमें एक छत्र लगाया जाता है ऐसे पृथिवीके ऐश्वर्यको त्याग करनेवाले भगवान्‌के छत्र त्रयसे युक्त तीन लोकका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जान पड़ता था ॥३६॥ यतश्च भगवान्‌ने राजाओंके समूहसे घिरा हुआ सिंहासन छोड़ दिया था इसलिए उन्हें इन्द्रोंसे घिरा हुआ दूसरा सिंहासन प्राप्त हुआ था ॥३७॥ जो धर्मका उपदेश देनेके लिए एक योजन तक फैल रही थी तथा जो चित्त और कानोंके लिए रसायनके

१. दिशाभिः । २. सूर्यसमान-कान्तियुक्तम् । ३. शोकानोकुहश्रिया क०, ख०, ग० । ४. पातिताभिः । ५. आशा दिशा एव विश्वम्भराः पृथिव्यस्ताः । ६. सूर्यस्य । ७. धीरं गभीरं यथा भवति तथा ।

प्रातिहार्यादिविभवैर्विहृत्य विषयान्[1] बहून् । अर्च्यमानः सुरैराप मगधं विषयं विभुः ॥३९॥
प्राप्तसप्तर्द्धिसम्पद्भिः समस्तश्रुतपारगैः । गणेन्द्रैरिन्द्रभूत्याद्यैरेकादशभिरन्वितः ॥४०॥
इन्द्रभूतिरिति प्रोक्तः प्रथमो गणधारिणाम् । अग्निभूतिर्द्वितीयश्च वायुभूतिस्तृतीयकः ॥४१॥
शुचिदत्तस्तुरीयस्तु सुधर्मः पञ्चमस्ततः । षष्ठो माण्डव्य इत्युक्तो मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः ॥४२॥
अष्टमोऽकम्पनाख्यातिरचलो नवमो मतः । मेदार्यो दशमोऽन्त्यस्तु प्रभासः सर्व एव ते ॥४३॥
तप्तदीप्तादितपसः सुचतुर्बुद्धिविक्रियाः । अक्षीणौषधिरस्यर्द्धीशाः सप्तर्द्धिबलर्द्धयः ॥४४॥
पञ्चानामानुपूर्व्येण गणसंख्या गणेशिनाम् । द्वे सहस्रे शतं त्रिंशत् प्रत्येकमृषयः स्मृताः ॥४५॥
ततः परं द्वयोर्ज्ञेयाः पञ्चविंशा चतुःशती । चतुर्णां षट्शती तेषां पञ्चविंशा तपोभृताम् ॥४६॥
तत्र पूर्वधरास्त्रीणि शतानि नव वैक्रियाः । त्रयोदश शतान्यासन्नवधिज्ञानचक्षुषः ॥४७॥
शतानि सप्त कालेन केवलज्ञानलोचनाः । शतानि पञ्च संख्यातास्तथा विपुलबुद्धयः ॥४८॥
चतुःशतानि जेतारो वादिनः परवादिनाम् । शिक्षका नव विज्ञेयाः सहस्राणि शतानि च ॥४९॥
सैकादशगणाधीशश्चतुर्दशसहस्रकः । ऋषिसङ्घो जिनस्याभात् सनद्योघ इवाम्बुधिः ॥५०॥
युक्तः प्राप जिनो जैन्या जगद्विस्मयनीयया । लक्ष्म्या लक्ष्मीगृहं राजद्गृहं राजगृहं पुरम् ॥५१॥
पञ्चशैलपुरं पूतं मुनिसुव्रतजन्मना । यत्परध्वजिनीदुर्गं[2] पञ्चशैलपरिष्कृतम् ॥५२॥
ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः । दिग्गजेन्द्रं इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥५३॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः । दक्षिणापरदिग्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥५४॥

समान था ऐसी भगवान्‌की दिव्यध्वनि तीनों जगत्‌को पवित्र कर रही थी ॥३८॥ इस प्रकार प्रातिहार्य आदि विभवके साथ अनेक देशोंमें विहारकर देवोंके द्वारा पूजित होते हुए भगवान् महावीर फिरसे मगध देशमें आये ॥३९॥ वे भगवान् सप्त ऋद्धिरूपी सम्पदाको प्राप्त करनेवाले एवं समस्त श्रुतके पारगामी इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरोंसे सहित थे ॥४०॥ उन ग्यारह गणधरोंमें प्रथम गणधर इन्द्रभूति थे, द्वितीय अग्निभूति, तृतीय वायुभूति, चतुर्थ शुचिदत्त, पञ्चम सुधर्म, षष्ठ माण्डव्य, सप्तम मौर्यपुत्र, अष्टम अकम्पन, नवम अचल, दशम मेदार्य और अन्तिम प्रभास थे। ये सभी गणधर, तप्त दीप्त आदि तप ऋद्धिके धारक तथा चार प्रकारकी बुद्धि ऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, अक्षीणऋद्धि, औषधिऋद्धि रसऋद्धि और बलऋद्धिसे सम्पन्न थे ॥४१-४४॥ इनमेंसे प्रारम्भके पाँच गणधरोंकी गण—शिष्य संख्या, प्रत्येककी दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठवें और सातवें गणधरकी गण संख्या प्रत्येककी चार सौ पच्चीस, तदनन्तर शेष चार गणधरोंकी गण संख्या प्रत्येककी छह सौ पच्चीस। इस प्रकार ग्यारह गणधरोंकी शिष्य संख्या चौदह हजार थी ॥४५-४६॥ इन चौदह हजार शिष्योंमें तीन सौ पूर्वके धारी, नौ सौ विक्रिया-ऋद्धिके धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक, चार सौ परवादियोंको जीतनेवाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र देवका, ग्यारह गणधरोंसे सहित चौदह हजार मुनियोंका संघ, नदियोंके प्रवाहसे सहित समुद्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥४७-५०॥ इस तरह जगत्‌को विस्मयमें डालनेवाली आर्हन्त्य लक्ष्मीसे सहित श्रीवर्धमान जिनेन्द्र उस राजगृह नगरमें आये जो लक्ष्मीका मानो घर था और जिसमें अनेक उत्तमोत्तम घर सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ राजगृह नगरमें पाँच शैल हैं इसलिए उसका दूसरा नाम पञ्चशैलपुर भी है। यह श्री मुनिसुव्रत भगवान्‌के जन्मसे पवित्र है, शत्रु-सेनाओंके लिए दुर्गम है एवं पाँच पर्वतोंसे सुशोभित है ॥५२॥ पाँचों पर्वतोंमें प्रथम पर्वतका नाम ऋषिगिरि है, यह चौकोर, झरते हुए निर्झरनोंसे सुशोभित है तथा ऐरावत हाथीके समान पूर्व दिशाको अत्यन्त सुशोभित कर रहा है ॥५३॥ वैभार नामका दूसरा पर्वत

१. देशान्। २. शत्रुसेनादुर्गमम्।

सज्यचापाकृतिस्तिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः । शोभते पाण्डुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥५५॥
फलपुष्पभरानम्रलतापादपशोभिताः । पतन्निर्झरसङ्घातहारिणो गिरयस्तु ते ॥५६॥
वासुपूज्यजिनाधीशादितरेषां जिनेशिनाम् । सर्वेषां समवस्थानैः पावनोरुवनान्तराः ॥५७॥
तीर्थयात्रागतानेकभव्यसङ्घनिषेवितैः । नानातिशयसम्बद्धैः सिद्धक्षेत्रैः [1]पवित्रिताः ॥५८॥
तत्र तस्थौ जिनः शैले विपुले विपुलेशितः[2] । शतक्रतुकृताशेषसमवस्थितिसंस्थितौ ॥५९॥
सौधर्मादिषु देवेषु मर्त्येषु श्रेणिकादिषु । संस्थितेषु तदा भूभृत् देवमर्त्यार्चितो बभौ ॥६०॥
ऋषयः प्राक्ततस्तस्थुर्जिनान्ते प्राप्तलब्धयः । यतयश्च कषायान्ता मुनयोऽतीन्द्रियेक्षिणः ॥६१॥
अनगारास्तथाऽन्ये ते सङ्ख्याताः सङ्ख्ययाऽखिलाः । चतुर्दशसहस्राणि साधिकानि गणाधिपैः ॥६२॥
पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि आर्यिकाणां गणस्थितिः । श्रावकास्त्वेकलक्षाश्च त्रिलक्षाः श्राविकास्तदा ॥६३॥
तेऽपि तस्थुर्यथास्थानं देव्यो देवाश्चतुर्विधाः । तिर्यञ्चोऽप्यावृतोऽभासीद् वीरो द्वादशभिर्गणैः ॥६४॥
ततस्त्रिभुवने तत्र धर्मशुश्रूषया स्थिते । बभाण भगवान् धर्मं गणेशप्रश्नपूर्वकम् ॥६५॥
सिद्धः सिद्धेतरश्च द्वौ सामान्यादुपयोगिनौ । जीवभेदौ विशेषात्तावनन्तानन्तभेदिनौ ॥६६॥
सद्दृग्बोधक्रियोपायसाधितोपेयसिद्धयः । सिद्धास्तत्र प्रसिद्धात्मसिद्धिक्षेत्रमधिष्ठिताः ॥६७॥

दक्षिण दिशामें है तथा त्रिकोण आकृतिका धारक है। तीसरा पर्वत विपुलाचल है यह दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यमें स्थित है और वैभारगिरिके समान त्रिकोण आकृतिवाला है ॥५४॥ चौथा पर्वत बलाहक है वह डोरीसहित धनुषके आकार है तथा तीन दिशाओंको व्याप्त कर स्थित है और पाँचवाँ पर्वत पाण्डुक है यह गोल है तथा पूर्व और उत्तर दिशाके अन्तरालमें सुशोभित है ॥५५॥ ये सभी पर्वत, फल और फूलोंके भारसे नम्रीभूत लताओंसे सुशोभित हैं और पड़ते हुए निर्झरोंके समूहसे मनोहर हैं ॥५६॥ केवल वासुपूज्य जिनेन्द्रको छोड़कर अन्य समस्त तीर्थङ्करोंके समवसरणोंसे इन पाँचों पर्वतोंके बड़े-बड़े वन-प्रदेश पवित्र हुए हैं ॥५७॥ वे वन प्रदेश तीर्थयात्राके लिए आये हुए अनेक भव्यजीवोंके समूहसे सेवित तथा नाना प्रकारके अतिशयोंसे सम्बद्ध सिद्ध क्षेत्रोंसे पवित्र हैं ॥५८॥

अथानन्तर जहाँ इन्द्रने पहलेसे ही समवसरणकी सम्पूर्ण रचना कर रक्खी थी ऐसे विपुलाचल पर्वतपर विशाल ऐश्वर्यके धारक श्रीवर्धमान जिनेन्द्र जाकर विराजमान हुए ॥५९॥ उस समय सौधर्म आदि देव और श्रेणिक आदि मनुष्योंके सब ओर स्थित होनेपर देव और मनुष्योंसे व्याप्त हुआ वह पर्वत अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥६०॥ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले ऋषि श्रीजिनेन्द्र भगवान्के समीप सबसे पहले बैठे। उनके बाद कषायोंका अन्त करनेवाले यति, अतीन्द्रिय पदार्थोंका अवलोकन करनेवाले—प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनि और संख्यात अनगार बैठे, इस तरह ग्यारह गणधरोंके सहित चौदह हजार मुनि, पैंतीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकाएँ, चारों प्रकारके देव और देवियाँ तथा तिर्यञ्च ये सब यथास्थान बैठे। इन सब बारह सभाओंसे वेष्टित भगवान् अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥६१–६४॥

तदनन्तर जब धर्मश्रवण करनेकी इच्छासे तीनों लोकोंके जीव यथास्थान स्थित हो गये तब गणधरके प्रश्नपूर्वक श्रीतीर्थङ्कर भगवान्ने धर्मका उपदेश आरम्भ किया ॥६५॥ उन्होंने कहा कि सामान्यरूपसे सिद्ध और संसारीके भेदसे जीवके दो भेद हैं तथा दोनों ही भेद उपयोग रूप लक्षणसे युक्त हैं और विशेषकी अपेक्षा दोनों ही अनन्तानन्त भेदोंको धारण करनेवाले हैं ॥६६॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी उपायके द्वारा जिन्होंने प्राप्त करने योग्य मुक्तिको प्राप्त कर लिया है तथा जो स्वरूपको प्राप्तकर सिद्धिक्षेत्र-लोकके अग्रभागपर तनुवात-

---

१. प्रवर्तिताः ध० । २. विपुला ईशिता यस्य सः ।

प्रक्षयात् पञ्चभेदस्य ज्ञानावरणस्य कर्मणः। दर्शनावरणस्यापि नवभेदस्य भेदनात् ॥६८॥
साताऽसातविकल्पस्य वेदनीयस्य नोदनात्। अष्टाविंशतिभेदस्य मोहनीयस्य हानितः ॥६९॥
चतुर्विधस्य निःशेषप्रक्षोपणादायुषस्तथा। द्विचत्वारिंशतो नाशान्नाम्नो गोत्रद्वयस्य च ॥७०॥
पञ्चसङ्ख्यस्य विध्वंसादन्तरायस्य कर्मणः। सिद्धानुपेत्य तिष्ठन्ति सिद्धास्त्रैलोक्यमूर्द्धनि ॥७१॥
सम्यक्त्वपरमानन्तकेवलज्ञानदर्शनाः। अनन्तवीर्यतात्यन्तसूक्ष्मत्वगुणकल्पिताः ॥७२॥
स्वभावगहनाहीनगुणावगाहनान्विताः। अव्याबाधात्मकानन्तसुखिनोऽगुरुलाघवाः ॥७३॥
प्रसिद्धाष्टगुणाः सिद्धा असङ्ख्येयप्रदेशिनः। वर्णादिविंशतेर्नाशादमूर्तात्मतया स्थिताः ॥७४॥
ईषदूनसमाकारा वपुषश्चरमस्य ते। मूषापतितसद्व्योमस्वभावानुविधायिनः ॥७५॥
मृत्युजन्मजरानिष्टसंयोगेष्टवियोगजैः। क्षुत्तृष्णाव्याधिजैर्दुःखैरखिलैरप्यनाकुलाः ॥७६॥
द्रव्यभावभवक्षेत्रकालभेदप्रपञ्चितैः। वियुक्ताः पञ्चभिर्मुक्ताः परिवर्तैः सुखात्मकाः ॥७७॥
असंयतचतुःस्थानात् संयतासंयतस्थितेः। नवधा संयतस्थानादसिद्धस्त्रिविधः स्मृतः ॥७८॥
मोहस्योदयतो जीवः क्षयोपशमतद्द्वयात्। पारिणामिकभावस्थो गुणस्थानेषु वर्तते ॥७९॥
मिथ्यादृष्टिर्यथार्थोऽन्यः सासादन इतीरितः। सम्यग्मिथ्यादृगन्योऽस्ति सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥८०॥
संयतासंयतोऽन्वर्थस्ततः ऊर्ध्वमुदीरितः। प्रमत्तसंयतस्तस्मादप्रमत्तश्च संयतः ॥८१॥
उपशान्तकषायाद् प्रागपूर्वकरणादिषु। क्षपकाः सोपशमकास्त्रिषु स्थानेषु वर्णिताः ॥८२॥
ऊर्ध्वं क्षीणकषायोऽस्मात् सयोगः केवली प्रभुः। अयोगकेवली चेति गुणस्थानक्रमस्थितिः ॥८३॥
नवस्थानेषु निर्ग्रन्थाः रूपभेदविवर्जिताः। अध्यात्मकृतनानात्वास्तुपर्युपरिशुद्धयः ॥८४॥

वलयमें स्थित हो गये हैं वे सिद्ध कहलाते हैं ॥६७॥ ये पाँच प्रकारका ज्ञानावरण, नौ प्रकारका दर्शनावरण, साता असाताके भेदसे दो प्रकारका वेदनीय, अट्ठाईस प्रकारका मोहनीय, चार आयु, बियालीस प्रकारका नाम, दो प्रकारका गोत्र और पाँच प्रकारका अन्तराय कर्म नष्टकर अनन्त पूर्वसिद्धोंमें समाविष्ट हो तीन लोकके अग्रभागपर विराजमान रहते हैं ॥६८-७१॥ सम्यक्त्व, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अत्यन्त सूक्ष्मत्व, स्वाभाविक अवगाहनत्व, अव्याबाध अनन्तसुख और अगुरुलघु इन आठ प्रसिद्ध गुणोंसे सहित हैं, असंख्यात प्रदेशी हैं, पुद्गल सम्बन्धी वर्णादि बीस गुणोंके नष्ट होनेसे अमूर्तिक हैं, अन्तिम शरीरसे किञ्चित् न्यून आकारके धारक हैं, मोमके साँचेके भीतर स्थित आकाशके समान हैं, जन्म-जरा-मरण, अनिष्ट, संयोग, इष्ट वियोग तथा क्षुधा, तृष्णा, बीमारी आदिसे उत्पन्न समस्त दुःखोंसे रहित हैं तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पाँच प्रकारके परिवर्तनोंसे रहित होनेके कारण सुख स्वरूप हैं ॥७२-७७॥ असिद्ध अर्थात् संसारी जीव असंयत, संयतासंयत और संयतके भेदसे तीन प्रकारके माने गये हैं। इनमेंसे असंयत अवस्था तो प्रारम्भके चार गुणस्थानोंमें है, संयतासंयत अवस्था पञ्चम गुणस्थानमें है और संयत अवस्था छठवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतक नौ गुणस्थानोंमें है ॥७८। पारिणामिक भावोंमें स्थित रहनेवाला जीव मोहनीय कर्मके उदय, क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमके निमित्तसे गुणस्थानोंमें प्रवृत्त होता है ॥७९॥ गुणस्थान चौदह हैं उनमेंसे प्रथम गुणस्थान मिथ्यादृष्टि है जो कि सार्थक नामको धारण करनेवाला है, दूसरा सासादन, तीसरा मिश्र, चौथा असंयत सम्यग्दृष्टि, पाँचवाँ संयतासंयत, छठवाँ प्रमत्त संयत, सातवाँ अप्रमत्त संयत, आठवाँ अपूर्वकरण, नौवाँ अनिवृत्तिकरण, दशवाँ सूक्ष्मसाम्पराय, ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय, बारहवाँ क्षीणमोह, तेरहवाँ सयोग केवली और चौदहवाँ अयोग केवली है। इनमेंसे उपशान्त कषायके पूर्ववर्ती अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती उपशामक और क्षपक दोनों प्रकारके होते हैं ॥८०-८३॥ छठवेंसे लेकर चौदहवेंतक नौ गुणस्थानोंमें रहनेवाले मनुष्योंमें बाह्यरूपकी अपेक्षा

संयतासंयतान्तेषु गुणस्थानेषु पञ्चसु । रूपं प्रत्यभिभेदोऽस्ति यथाध्यात्मकृतस्तथा ॥८५॥
तत्र केवलिनां सौख्यं सयोगानामयोगिनाम् । क्षायिकलब्धीनामनन्तं नेन्द्रियार्थजम् ॥८६॥
कषायप्रशमोद्भूतं कषायक्षयजं तथा । अपूर्वकरणादीनामुभयेषां परं सुखम् ॥८७॥
निद्रेन्द्रियकषायारिविकथाप्रणयात्मकैः । प्रमादैरप्रमत्तानां सुखं प्रशमसत्रसम् ॥८८॥
हिंसानृतपरादत्तग्रहाब्रह्मपरिग्रहात् । निवृत्तानां प्रमत्तानामपि सौख्यं शमात्मकम् ॥८९॥
हिंसादिभ्यो यथाशक्ति देशतो विरतात्मनाम् । संयतासंयतानां च महातृष्णाजयात् सुखम् ॥९०॥
यद्यप्यविरता तृष्णा हिंसादेरपि देशतः । सत्सम्यग्दृष्टयोऽश्नन्ति तत्त्वश्रद्धानजं सुखम् ॥९१॥
परस्परविरुद्धात्मसम्यग्मिथ्यात्वगाङ्गिनाम् । सम्यग्मिथ्यादृशामन्तः सुखदुःखविमिश्रिताः ॥९२॥
सम्यक्त्वं [1]वमतामन्तर्भावः सासादनात्मनाम् । यथा क्षीरघृतोन्मिश्रशर्करोद्गारकारिणाम् ॥९३॥
सप्तप्रकृतिमिश्रेण मोहेन मतिभेदिना । राज्येनेव विमूढस्य मिथ्यादृष्टेः कुतः सुखम् ॥९४॥

कोई भेद नहीं है । सब निर्ग्रन्थमुद्राके धारक हैं परन्तु आत्माकी विशुद्धताकी अपेक्षामें उनमें भेद है । जैसे-जैसे ऊपर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे ही उनमें विशुद्धता बढ़ती जाती है ॥८४॥ प्रथमसे लेकर संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थानतक जिस प्रकार रूप—बाह्यवेषकी अपेक्षा भेद है उसी प्रकार आत्मविशुद्धिकी अपेक्षा भी भेद है ॥८५॥ इन गुणस्थानोंमेंसे सबसे अधिक सुख तो क्षायिक लब्धियोंको प्राप्त करनेवाले सयोगकेवली और अयोग केवलीके होता है । इनका सुख अन्त रहित होता है तथा इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंसे उत्पन्न नहीं होता ॥८६॥ उनके बाद उपशमक अथवा क्षपक दोनों प्रकारके अपूर्वकरणादि जीवोंके, कषायोंके उपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न होनेवाला परम सुख होता है ॥८७॥ तदनन्तर उनसे कम एक निद्रा, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, चार विकथा और एक स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे रहित अप्रमत्त संयत जीवोंके प्रशम रस रूप सुख होता है ॥८८॥ उनके बाद हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त प्रमत्त संयत जीवोंके शान्ति रूप सुख होता है ॥८९॥ तदनन्तर हिंसा आदि पाँच पापोंसे यथाशक्ति एकदेश निवृत्त होनेवाले संयतासंयत जीवोंके महातृष्णापर विजय प्राप्त होनेके कारण सुख होता है ॥९०॥ उनके बाद अविरत सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि हिंसादि पापोंसे एक देश भी विरत नहीं हैं तथापि तत्त्वश्रद्धानसे उत्पन्न सुखका उपभोग करते ही हैं ॥९१॥ उनके पश्चात् परस्पर विरुद्ध सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप परिणामोंको धारण करनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवोंके अन्तःकरण सुख और दुःख दोनोंसे मिश्रित रहते हैं ॥९२॥ सम्यग्दर्शनको उगलनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका अन्तर्भाव उस प्रकारका होता है जिस प्रकारका दूध और घीसे मिश्रित शक्कर खाकर उसकी डकार लेनेवालोंका होता है । भावार्थ—सम्यक्त्वके छूट जानेसे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंको सुख तो नहीं होता किन्तु सुखका कुछ आभास होता है जिस प्रकार कि दूध, घी, शक्कर आदि खानेवालोंको पीछेसे उसकी डकार द्वारा मधुर रसका आभास मिलता है । उसी प्रकार इनके सुखका आभास जानना चाहिए ॥९३॥ तदनन्तर जो स्वप्नके राज्यके समान बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले सप्तप्रकृतिक मोहसे अत्यन्त मूढ़ हो रहा है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवको सुख कहाँ प्राप्त हो सकता है ॥९४॥

विशेषार्थ—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके परिणामोंमें जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं । गुणस्थानके निम्न प्रकार १४ भेद हैं—१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ असंयत सम्यग्दृष्टि, ५ संयतासंयत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्त संयत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्म साम्पराय, ११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण मोह, १३ संयोगकेवली और १४ अयोगकेवली । इनमेंसे प्रारम्भके १२ गुणस्थान मोहके निमित्तसे होते हैं और अन्तके

१. दूरीकुर्वताम् ।

२ गुणस्थान योगके निमित्तसे। मोह कर्मकी १ उदय, २ उपशम, ३ क्षय, और ४ क्षयोपशम ऐसी चार अवस्थाएँ संक्षेपमें होती हैं। इन्हींके निमित्तसे जीवके परिणामोंमें तारतम्य उत्पन्न होता है। उदय—आबाधा पूर्ण होनेपर द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार कर्मोंके निषेकोंका अपना फल देने लगना उदय कहलाता है। उपशम—अन्तर्मुहूर्तके लिए कर्म निषेकोंके फल देनेकी शक्तिका अन्तर्हित हो जाना उपशम कहलाता है। जिस प्रकार निर्मली या फटकलीके सम्बन्धसे पानीकी कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्यक्षेत्रादिका अनुकूल निमित्त मिलनेपर कर्मके फल देनेकी शक्ति अन्तर्हित हो जाती है। क्षय—कर्म प्रकृतियोंका समूल नष्ट हो जाना क्षय है, जिस प्रकार मलिन पानीमेंसे कीचड़के परमाणु बिलकुल दूर हो जानेपर उसमें स्थायी स्वच्छता आ जाती है उसी प्रकार कर्म परमाणुओंके बिलकुल निकल जानेपर आत्मामें स्थायी स्वच्छता उद्भूत हो जाती है। क्षयोपशम—वर्तमान कालमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हींके आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम तथा देशघाती प्रकृतिका उदय रहना इसे क्षयोपशम कहते हैं। कर्म प्रकृतियोंकी उदयादि अवस्थाओंमें आत्माके जो भाव होते हैं उन्हें क्रमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिसमें कर्मोंकी उक्त अवस्थाएँ कारण नहीं होतीं उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं। अब गुणस्थानोंके संक्षिप्त स्वरूपका निदर्शन किया जाता है—

१. मिथ्यादृष्टि—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उदयसे जिसकी आत्मामें अतत्त्वश्रद्धान उत्पन्न रहता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस जीवको न स्व-परका भेद ज्ञान होता है, न जिनप्रणीत तत्त्वका श्रद्धान होता है और न आप्त आगम तथा निर्ग्रन्थ गुरुपर विश्वास ही होता है।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि—सम्यग्दर्शनके कालमें एक समयसे लेकर छह आवली तकका काल बाकी रहनेपर अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभमेंसे किसी एकका उदय आ जानेके कारण जो चतुर्थ गुणस्थानसे नीचे आ पड़ता है परन्तु अभी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नहीं आ पाया है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण आसादन अर्थात् विराधनासे सहित हो जाता है।

३ मिश्र—सम्यग्दर्शनके कालमें यदि मिश्र अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय आ जाता है तो यह चतुर्थ गुणस्थानसे गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थानमें आ सकता है। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीवका परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे मिश्रित रहता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थानसे गिरकर ही तृतीय गुणस्थानमें आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानसे भी तृतीय गुणस्थानमें पहुँच जाता है।

४ असंयत सम्यग्दृष्टि—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, माया, लोभ इन पाँच प्रकृतियोंके और सादि मिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन सात अथवा पाँच प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर जिसकी आत्मामें तत्त्व श्रद्धान तो प्रकट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय रहनेमें संयम भाव जागृत नहीं हुआ है उसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

५ संयतासंयत—अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होनेपर जिसके एकदेश चरित्र प्रकट हो जाता है उसे संयतासंयत कहते हैं। यह त्रस हिंसासे विरत हो जाता है इसलिए संयत कहलाता है और स्थावर हिंसासे विरत नहीं होता इसलिए असंयत कहलाता

है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें तारतम्य होनेसे दार्शनिक आदि ग्यारह अवान्तर भेद हैं।

६ **प्रमत्तसंयत**—प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम और संज्वलनका तीव्र उदय रहनेपर जिसकी आत्मामें प्रमाद सहित संयम प्रकट होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। इस गुणस्थानका धारक नग्न मुद्रामें रहता है। यद्यपि यह हिंसादि पापोंका सर्वदेश त्याग कर चुकता है तथापि संज्वलन चतुष्कका तीव्र उदय साथमें रहनेसे इसके चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा तथा स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे इसका आचरण चित्रल—दूषित बना रहता है।

७. **अप्रमत्तसंयत**—संज्वलनके तीव्र उदयकी अवस्था निकल जानेके कारण जिसकी आत्मासे ऊपर कहा हुआ पन्द्रह प्रकारका प्रमाद नष्ट हो जाता है उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके स्वस्थान और सातिशयकी अपेक्षा दो भेद हैं जो छठवें और सातवें गुणस्थानमें ही झूलता रहता है। वह स्वस्थान कहलाता है और जो उपरितन गुणस्थानमें चढ़नेके लिए अधःकरण रूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त संयत कहलाता है। जिसमें समसमय अथवा भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकारके होते हैं उसे अधःकरण कहते हैं।

८. **अपूर्वकरण**—जहाँ प्रत्येक समयमें अपूर्व अपूर्व—नवीन नवीन ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें सम समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकारके होते हैं परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं।

९. **अनिवृत्तिकरण**—जहाँ सम समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। ये अपूर्व करणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धताको लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुष्कके उदयकी मन्दतामें क्रमसे प्रकट होते हैं।

१०. **सूक्ष्म साम्पराय**—जहाँ केवल संज्वलन लोभका सूक्ष्म उदय रह जाता है उसे सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं। अष्टम गुणस्थानसे उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियाँ प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोहका उपशम करनेके लिए प्रयत्नशील हैं वे उपशम श्रेणीमें आरूढ़ होते हैं और जो चारित्र मोहका क्षय करनेके लिए प्रयत्नशील हैं वे क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ होते हैं। परिणामोंकी स्थितिके अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणीमें यह जीव स्वयं आरूढ़ हो जाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ़ नहीं होता। क्षपक श्रेणीपर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ़ हो सकता है पर उपशम श्रेणीपर औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दृष्टि आरूढ़ हो सकते हैं। यहाँ विशेषता इतनी है कि जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणीपर आरूढ़ होगा वह श्रेणीपर आरूढ़ होनेके पूर्व अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर उसे सत्तासे दूरकर द्वितीयौपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जायगा। जो उपशम श्रेणीपर आरूढ़ होता है वह सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानके अन्ततक चारित्र मोहका उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ होता है वह चारित्र मोहका क्षय कर चुकता है।

११. **उपशान्तमोह**—उपशम श्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थानमें चारित्र मोहका पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थानमें आता है। इसका मोह पूर्ण रूपमें शान्त हो चुकता है और शरद् ऋतुके सरोवरके समान इसकी सुन्दरता होती है। अन्तर्मुहूर्त तक इस गुणस्थानमें ठहरनेके बाद यह जीव नियमसे नीचे गिर जाता है।

पटप्रकृतिना सम्यग्बोधावृतिविधायिना । प्रतीहारात्मनान्येन ज्येष्ठदर्शनरोधिना ॥९५॥
मधुदिग्धोग्रखड्गाग्रधारामाधुर्यधारिणा । मद्येनेव परेणातिमतिविभ्रमकारिणा ॥९६॥
दृढेन निगडेनेव गतिधारणकारिणा । तथा चित्रकरेणेव विचित्राकारसर्गिणा ॥९७॥
कुलालेनेव चान्येन नीचैरुच्चैर्नियोगिना । [1]भाण्डाकरकरेणेव काम्यविघ्नविधायिना ॥९८॥
कर्मणोऽष्टविधस्यैवं भेदेन फलदायिना । मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने बाध्यन्ते जन्तवो भवे ॥९९॥
स्थानेषु नियमेनोर्ध्वं त्रयोदशसु भव्यता । जीवानां प्रथमस्थाने भव्यताऽभव्यताद्वयम् ॥१००॥

---

१२. क्षीणमोह—क्षपक श्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थानमें चारित्रमोहका पूर्ण क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानमें आता है यहाँ इसका मोह बिलकुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिकके भाजनमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान इसकी स्वच्छता होती है।

१३. सयोगकेवली—बारहवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभावसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत् क्षय कर जीव तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है। यहाँ इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिए केवली कहलाता है और योगोंकी प्रवृत्ति जारी रहनेसे सयोग कहा जाता है। दोनों विशेषताओंको लेकर इसका सयोगकेवली नाम प्रचलित है।

१४. अयोगकेवली—जिनकी योगोंकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं। यह जीव इस गुणस्थानमें 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है। उतने ही कालतक ठहरता है। अनन्तर शुक्लध्यानके चतुर्थ पादके प्रभावसे सत्तामें स्थित पचासी प्रकृतियोंका क्षय कर एक समयमें सिद्ध क्षेत्रमें पहुँच जाता है।

आचार्य जिनसेनने उक्त चौदह गुणस्थानोंमें सुखके तारतम्यका भी विचार किया है। सुख आत्माका गुण है और वह उसमें सदा विद्यमान रहता है परन्तु मोहके उदयसे उसका विभाव परिणमन होता रहता है अतः ज्यों-ज्यों मोहका संपर्क आत्मासे दूर होता जाता है त्यों-त्यों सुख गुण अपने स्वभाव रूप परिणमन करने लगता है। मिथ्यादृष्टि जीवके मोहका पूर्ण उदय है इसलिए उसके सुखका बिलकुल अभाव बतलाया है। मिथ्यादृष्टि जीवके जो विषय सम्बन्धी सुख देखा जाता है वह सुखका स्वाभाविक रूप न होकर वैभाविक रूप ही है। बारहवें गुणस्थानमें मोहका सम्पर्क बिलकुल छूट जाता है इसलिए वहाँ सुख स्वभावरूपमें प्रकट हो जाता है परन्तु वहाँ उस सुखको वेदन करनेके लिए अनन्त ज्ञानका अभाव रहता है इसलिए उसे अनन्त सुख नहीं कहते। केवलज्ञान होनेपर वही सुख अनन्त सुख कहलाने लगता है।

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तरायके भेदसे कर्म आठ प्रकारके हैं। इनमेंसे ज्ञानावरण कर्मपटके समान सम्यग्ज्ञानको ढकनेवाला है। दर्शनावरण कर्म द्वारपालके समान श्रेष्ठ दर्शनको रोकनेवाला है। वेदनीय कर्म मधुसे लिप्त तलवारकी तीक्ष्ण धाराके समान माधुर्यको धारण करनेवाला है। मोहकर्म मदिराके समान बुद्धिमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाला है। आयुकर्म सुदृढ़ बेड़ीके समान किसी निश्चित गतिमें रोकने वाला है। नामकर्म चित्रकारके समान विचित्र आकारोंकी सृष्टि करनेवाला है। गोत्रकर्म कुम्हारके समान उच्च-नीचका व्यवहार करानेवाला है और अन्तरायकर्म भाण्डारीके समान प्राप्त होने योग्य पदार्थोंमें विघ्न करनेवाला है। इस प्रकार फल देनेवाले आठ प्रकारके कर्मोंसे ये प्राणी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें निरन्तर बद्ध होते रहते हैं ॥९५-९९॥ दूसरे गुणस्थानसे लेकर अन्तिम गुणस्थान तकके तेरह गुणस्थानोंमें नियमसे जीवोंके

---

१. भाण्डागार क०, भाण्डाकार ख०।

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिपुरःसराः । मोक्षप्राप्तिक्षमा भव्या अभव्यास्तद्विलक्षणाः ॥१०१॥
आसन्नभव्यता हेतोरर्वाग्दर्शिभिरुह्यते । विशुद्धदर्शनज्ञानचरित्रत्रयलक्षणात् ॥१०२॥
सदाप्तवचनादेव बोद्धव्या दूरभव्यता । अभव्यता च भूतानामहेतुविषया ततः ॥१०३॥
जीवस्वभावभावोऽयं भव्याभव्यत्वलक्षणः । [१]एकाधारचुटन्माषकङ्कटुकारममाषवत् ॥१०४॥
अनादिरन्तवान् भव्यव्यक्तीनां भवसागरः । भव्यसन्तानसामान्यविवक्षावदन्तवर्जितः ॥१०५॥
अनादिरपि चानन्तः सन्तानाद् व्यक्तितोऽपि च । अभव्यजीवराशीनां भवव्यसनसागरः ॥१०६॥
भव्याभव्या भवेऽनन्ता जीवराशिद्वये स्थिताः । मिथ्यात्वाद् भुञ्जते दुःखं कालद्रव्यवदक्षयाः ॥१०७॥
द्रव्यपर्यायरूपत्वान्नित्यानित्योभयात्मकाः । मिथ्यात्वासंयमैर्योगैः कषायैः कलुषीकृताः ॥१०८॥
बध्नानाः सततं पाप-कर्म दुर्मोचबन्धनम् । जन्तवः परिवर्तन्ते चतुर्गतिषु दुःखिनः ॥१०९॥
रौद्रध्यानाविलात्मानो बह्वारम्भपरिग्रहाः । मिथ्यात्वाष्टमदक्लिष्टा विशिष्टानिष्टदृष्टयः ॥११०॥
स्वप्रशंसापरा निन्द्याः परनिन्दाभिनन्दिनः । परस्वहरणे लुब्धा भोगतृष्णातिरेकिणः ॥१११॥

भव्यपना ही रहता है और प्रथम गुणस्थानमें भव्यपना तथा अभव्यपना दोनों ही सम्भव हैं ॥१००॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी प्राप्ति पूर्वक जो जीव मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ हैं वे भव्य कहलाते हैं और जो इनसे विपरीत हैं वे अभव्य कहे जाते हैं ॥१०१॥ जो विशुद्ध सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी लक्षणसे युक्त हैं वे आसन्न भव्य हैं और उनकी आसन्नभव्यता आधुनिक पुरुषोंके द्वारा भी जानी जा सकती है। परन्तु दूर भव्यता और अभव्यता सदा आप्त भगवान्‌के वचनोंसे ही जानी जा सकती है क्योंकि वह साधारण प्राणियोंके हेतुका विषय नहीं है अर्थात् साधारण व्यक्ति उसे हेतु द्वारा जान नहीं सकते ॥१०२-१०३॥ यह भव्यत्व और अभव्यत्व भाव जीवका स्वाभाविक—पारिणामिक भाव है तथा एक बर्तनमें भरकर सीजनेके लिए अग्निपर रक्खे हुए सीजनेवाले और न सीजनेवाले उड़दके समान हैं। भावार्थ—भव्यजीव निमित्त मिलनेपर सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं और अभव्य जीव बाह्य निमित्त मिलनेपर भी निजकी योग्यता न होनेसे सिद्ध पर्याय नहीं प्राप्त कर पाते ॥१०४॥ भव्यजीवोंका संसार-सागर अनादि और सान्त है तथा सामान्य भव्यजीवोंकी अपेक्षा अनादि अनन्त है ॥१०५॥ अभव्यजीव राशिका संसारसागर व्यक्ति तथा समूह दोनोंकी अपेक्षा अनादि अनन्त है ॥१०६॥ संसारमें जीवोंकी दो राशियाँ हैं एक भव्य और दूसरी अभव्य। ये दोनों ही प्रकारकी राशियाँ अनन्त हैं, मिथ्यात्व कर्मके उदयसे दुःख भोगती रहती हैं और कालद्रव्यके समान अक्षय—अविनाशी हैं अर्थात् जिस प्रकार कालद्रव्यका कभी अन्त नहीं होता उसी प्रकार इन दोनों राशियोंका भी कभी अन्त नहीं होता ॥१०७॥ ये जीव द्रव्यकी अपेक्षा नित्य हैं पर्यायकी अपेक्षा अनित्य हैं तथा एक साथ दोनोंकी अपेक्षा उभयात्मक—नित्यानित्यात्मक हैं, मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषायके द्वारा कलुषित हो रहे हैं तथा जिसका छूटना कठिन है ऐसे पापकर्मका निरन्तर बन्ध करते हुए दुःखी हो चारों गतियोंमें घूमते रहते हैं ॥१०८-१०९॥

जिनकी आत्मा निरन्तर रौद्रध्यानसे मलिन है, जो बहुत आरम्भ और परिग्रहसे सहित हैं मिथ्यादर्शन तथा ज्ञानमद, पूजामद आदि आठ मदोंसे क्लेश उठाते हैं, जिनकी दृष्टि अत्यन्त अनिष्टरूप है, जो आत्मप्रशंसामें तत्पर हैं, निन्दनीय हैं, दूसरेकी निन्दासे आनन्द मानते हैं,

१. चुटन्माषाश्च कङ्कटुकारममाषाश्चेति चुटन्माषकङ्कटुकारममाषाः, एकाधाराश्च ते चुटन्माषकङ्कटुकारममाषाश्च, ते तथोक्ताः तेषामिव तद्वत्। एकाधारे एकस्मिन् भाजने एके चुटन्माषाः निष्पन्नाः, अन्ये कङ्कटुकारममाषाः अनिष्पन्नाः तेषामिव।

मधुमांससुराहारा मानुषाः कर्मभूमिजाः । तिर्यञ्चो व्याघ्रसिंहाद्या बन्धका नारकायुषः ॥११२॥
जायन्ते चातिशीतोष्णदह्यमानशरीरिषु । चण्डा नरककुण्डेषु नारकाः षण्डकात्मकाः[1] ॥११३॥
न तद् द्रव्यं न तत् क्षेत्रं न सा कालकलाऽपि च । स्वभावो यत्र दुःखस्य विश्रामो नरकश्रिताम् ॥
लाभः साधारणस्तेषामकाले मरणं न यत् । वल्लभं जीवलोकस्य सुलभं चिरजीवितम् ॥११५॥
रत्नप्रभादिषु ज्ञेयं पृथिवीष्वथ सप्तसु । महातमःप्रभान्तासु प्रमाणमिदमायुषः ॥११६॥
एकस्त्रयस्ततः सप्त दश सप्तदश क्रमात् । द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशत् सागराः परमा स्थितिः ॥११७॥
पूर्वात्पूर्वात्परोऽधः स्यात् जघन्या समयाधिका । दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां क्षितौ स्थितिः ॥११८॥
क्रोधमानमहामायालोभचिन्तावशीकृताः । आर्तध्यानमहावर्तसततभ्रान्तमानसाः ॥११९॥
तिर्यञ्चो मानुषा देवा नारका वा कुदृष्टयः । तिर्यग्गतिं प्रपद्यन्ते त्रसस्थावरसंकुलाम् ॥१२०॥
पृथिव्यप्कायभेदेषु ते तेजोऽनिलमूर्तिषु । वनस्पतिषु चाश्नन्ति जन्मदुःखं पुनः पुनः ॥१२१॥
कृम्यादिद्वीन्द्रियेष्वेके यूकादित्रीन्द्रियेष्वपि । चतुरिन्द्रियभेदेषु भ्रमन्ति भ्रमरादिषु ॥१२२॥
पञ्चेन्द्रियप्रकारेषु पक्षिमत्स्यमृगादिषु । ते भजन्ते चिरं दुःखं तिर्यग्जन्मनि जन्तवः ॥१२३॥
अन्तर्मुहूर्तकालस्या[2]तिरश्चामवरा स्थितिः । पूर्वकोटीः परा भोगभूमौ पल्योपमत्रयम् ॥१२४॥
स्वभावादार्जवोपेताः स्वभावान्मृदवो मताः । स्वभावाद् भद्रशीलाश्च स्वभावात् पापभीरवः ॥१२५॥

दूसरेका धन हरण करनेके लोभी हैं, जिन्हें भोगोंकी तृष्णा अत्यधिक है, जो मधु मांस और मदिराका आहार करते हैं ऐसे कर्मभूमिके मनुष्य और व्याघ्र, सिंह आदि तिर्यञ्च नरकायुका बन्ध करते हैं ॥११०-११२॥ एवं जहाँ अत्यन्त शीत और उष्णतासे शरीर जल रहे हैं ऐसे नरक-कुण्डोंमें अत्यन्त क्रोधी नारकी उत्पन्न होते हैं। वहाँ इन नारकियोंके खण्ड-खण्ड हो जाते हैं ॥११३॥ वहाँ न वह द्रव्य है, न क्षेत्र है और न वह कालकी कला भी है जहाँ नारकी जीवोंके दुःखका स्वाभाविक विश्राम हो सके ॥११४॥ उन नारकियोंके यदि एक साधारण लाभ है, तो यही कि उनका अकालमें मरण नहीं होता। संसारके समस्त प्राणियोंको चिरकाल तक जीवित रहना प्रिय है सो यह चिरजीवन नारकियोंको सुलभ है ॥११५॥ रत्नप्रभाको आदि लेकर महातमःप्रभा पर्यन्त—सातों पृथिवियोंमें नारकियोंकी आयुका प्रमाण क्रमसे एकसागर, तीन-सागर, सातसागर, दशसागर, सत्रहसागर, बाईससागर और तैंतीससागर जानना चाहिए। यह इनकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥११६-११७॥ पूर्व-पूर्व नरकोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही एक समय अधिक होनेपर आगामी नरकोंकी जघन्य स्थिति कहलाती है। प्रथम नरककी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है ॥११८॥

जो क्रोध मान महामाया और लोभके कारण चिन्तातुर है तथा आर्तध्यानरूपी बड़ी भारी भँवरके कारण जिनका मन निरन्तर घूमता रहता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च मनुष्य देव और नारकी त्रसस्थावर जीवोंसे भरी हुई तिर्यञ्चगतिको प्राप्त होते हैं ॥११९-१२०॥ तिर्यञ्चगतिमें जन्म लेने वाले प्राणी पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें बार-बार जन्म लेनेका दुःख भोगते रहते हैं ॥१२१॥ कितने ही कृमि आदि दो इन्द्रियोंमें, यूक आदि तीन इन्द्रियोंमें, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रियोंमें और पक्षी, मत्स्य, मृग आदि पञ्चेन्द्रियोंमें चिरकाल तक दुःख भोगते हैं ॥१२२-१२३॥ कर्मभूमिज तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ वर्ष पूर्वकी है तथा भोगभूमिज तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य एक पल्य प्रमाण है ॥१२४॥

जो मनुष्य स्वभावसे ही सरल हैं, स्वभावसे ही कोमल हैं, स्वभावसे ही भद्र हैं,

१. खण्डकात्मकाः म० । २. कालस्य तिरश्चा—म० ।

प्रकृत्या मधुमांसादिसावद्याहारवर्जिताः । अर्जयन्ति शुभमानुष्यं कुमानुष्यं कुकर्मभिः ॥१२६॥
पापनिर्जरणात् कैश्चित् तिर्यग्नारकजन्तुभिः । प्राप्यते प्रियमानुष्यं देवैश्च शुभकर्मभिः ॥१२७॥
मनुष्यत्वेऽपि सम्पूर्णमार्यम्लेच्छकुलाकुले । दुःखमेवेप्सितालाभाद् विप्रयोगात्प्रियैर्जनैः ॥१२८॥
नापि प्राप्तेप्सितार्थानां संयुक्तानां प्रियैर्जनैः । विषयेन्धनदीप्तेच्छापावकानां नृणां सुखम् ॥१२९॥
यदेव जायते नृत्वं केषाञ्चिन्मोक्षकारणम् । आसन्नभव्यसत्त्वानां दर्शनादिनिषेविणाम् ॥१३०॥
तदेव जायतेऽन्येषां दीर्घसंसारकारणम् । सुदूरभव्यसत्त्वानां नरत्वं मुग्धचेतसाम् ॥१३१॥
कर्मभूमिषु सर्वासु भोगभूमिषु च स्थितौ । तिरश्चामिव निश्चेये नृस्थिती च परावरे ॥१३२॥
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च मूलपत्रफलाशिनः । उपशान्तधियोऽभ्यस्तकषायेन्द्रियनिग्रहाः ॥१३३॥
तापसा बालतपसः कायक्लेशपरायणाः । अकामनिर्जरायुक्तास्तिर्यञ्चो बन्धरोधिनः ॥१३४॥
भावना व्यन्तरा देवा ज्योतिष्काः कल्पवासिनः । अल्पर्द्धयो हि जायन्ते ते मिथ्यात्वमलीमसाः ॥१३५॥
देवाः कन्दर्पनामानो नित्यं कन्दर्परञ्जिताः । आभियोग्याः सभाऽयोग्याः क्लिष्टाः किल्विषकादयः ॥१३६॥
ते महर्द्धिकदेवानां दृष्ट्वैश्वर्यं महोदयम् । देवदुर्गतिदुःखार्ताः दुःखमश्नन्ति मानसम् ॥१३७॥
सम्यग्दर्शनलाभस्य दुर्लभत्वादभव्यवत् । भव्या अपि निमज्जन्ति भवदुःखमहोदधौ ॥१३८॥
भावनानां भवत्यब्धिः साधिकः परमा स्थितिः । भौमानां पल्यमन्या तु दशवर्षसहस्रिका ॥१३९॥
ज्योतिषां साधिकं पल्यं पल्याष्टांशोऽवरा परा । स्वर्गिणां सागराः पल्यं साधिकं ह्यपरा स्थितिः ॥१४०॥

स्वभावसे ही पाप-भीरु हैं और स्वभावसे ही मधु मांसादि सावद्य आहारके त्यागी हैं वे उत्तम मनुष्य पर्याय प्राप्त करते हैं तथा जो खोटे कर्म करते हैं वे खोटी मनुष्य पर्याय प्राप्त करते हैं ॥१२५-१२६॥ पाप कर्मोंकी निर्जरा होनेसे कितने ही तिर्यञ्च तथा नारकी और शुभ कर्म करनेवाले देव भी उत्तम पर्याय प्राप्त करते हैं ॥१२७॥ आर्य तथा म्लेच्छ कुलसे भरा हुआ मनुष्य जीवन प्राप्त होनेपर भी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होनेसे तथा प्रियजनोंके साथ वियोग होनेके कारण जीवोंको दुःख ही प्राप्त होता रहता है ॥१२८॥ कितने ही मनुष्योंको यद्यपि इच्छित पदार्थ प्राप्त होते रहते हैं और प्रियजनोंके साथ उनका समागम भी होता रहता है तथापि विषय रूपी ईंधनके द्वारा उनकी इच्छा रूपी अग्नि निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। इसलिए उन्हें सुख प्राप्त नहीं होता ॥१२९॥ जो मनुष्य भव, सम्यग्दर्शनादिको धारण करनेवाले किन्हीं निकट भव्य जीवोंको मोक्षका कारण होता है वही मनुष्य भव, मोहपूर्ण चित्तको धारण करनेवाले दूरानुदूर भव्य जीवोंको दीर्घ संसारका कारण है ॥१३०-१३१॥ समस्त कर्मभूमियों और भोगभूमियोंमें मनुष्योंकी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति तिर्यञ्चोंके समान जानना चाहिए ॥१३२॥

जो केवल जल, वायु अथवा वृक्षोंके मूल पत्र तथा फलोंका भक्षण करते हैं, जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है, जिन्होंने कषाय तथा इन्द्रियोंके निग्रहका अभ्यास कर लिया है, जो बाल तप करते हैं तथा जो काय क्लेश करनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे तापसी और अकामनिर्जरासे युक्त बन्धनबद्ध तिर्यञ्च, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा अल्प ऋद्धिके धारक कल्पवासी देव होते हैं। ये सब मिथ्या दर्शनसे मलिन होते हैं ॥१३३-१३५॥ इनमें जो कन्दर्प नामके देव हैं वे निरन्तर कामसे आकुलित रहते हैं, आभियोग्य जातिके देव सभामें बैठनेके अयोग्य होते हैं और किल्विषक देव सदा संक्लेशका अनुभव करते रहते हैं ॥१३६॥ ये बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देवोंके महाभ्युदयसे युक्त ऐश्वर्यको देखकर तथा देव होनेपर भी अपनी दुर्गतिका विचार कर दुःखसे पीड़ित होते हुए मानसिक दुःख उठाते रहते हैं ॥१३७॥ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति दुर्लभ होनेसे भव्य जीव भी अभव्यकी तरह संसारके दुःख रूपी महासागरमें गोता लगाते रहते हैं ॥१३८॥ भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक सागर है, व्यन्तर देवोंकी एक पल्य प्रमाण है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है ॥१३९॥ ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ

भव्यसत्त्वैर्यदा कैश्चित् लभ्यन्ते पञ्च लब्धयः । क्षयोपशमसंशुद्धिक्रियाप्रायोग्यदेशनाः ॥१४१॥
अधःप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं तथा । तथाऽनिवृत्तिकरणं विधाय करणं त्रिधा ॥१४२॥
ततो दर्शनमोहस्य विधायोपशमं ततः । क्षयोपशमभावं च क्षयं चात्मविशुद्धितः ॥१४३॥
पूर्वमेवौपशमिकं क्षायोपशमिकं क्रमात् । क्षायिकं तैः समुत्पाद्य सम्यक्त्वमनुभूयते ॥१४४॥
तथा चारित्रमोहस्य क्षयोपशमलब्धितः । चारित्रं प्रतिपद्यामी क्षयं कुर्वन्ति कर्मणाम् ॥१४५॥
ततोऽनन्तसुखं मोक्षमनन्तज्ञानदर्शनम् । अनन्तवीर्यमध्यास्य तेऽधितिष्ठन्ति निर्वृताः ॥१४६॥
ये तु चारित्रमोहस्य नितान्तबलवत्तया । दर्शनादेव निष्कम्पा देवायुष्कस्य बन्धकाः ॥१४७॥
संयतासंयता ये च नराः कल्पेषु तेऽमराः । सौधर्माद्यच्युतान्तेषु सम्भवन्ति महर्द्धयः ॥१४८॥
सरागसंयमश्रेष्ठाः संयता ये तु तेऽनघाः । कल्पे सुरा भवन्त्येके कल्पातीतास्तथा परे ॥१४९॥
नवग्रैवेयकावासा नवानुदिशवासिनः । कल्पातीतास्तथा ज्ञेयाः पञ्चानुत्तरवासिनः ॥१५०॥
इन्द्राद्याः कल्पजा देवा अहमिन्द्राश्च सत्पथे । सुखं सुविहितस्यामी भुञ्जते तपसः फलम् ॥१५१॥
सौधर्मैशानयोरायुः साधिके सागरोपमे । सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः सप्त सागराः ॥१५२॥
[1]दशार्णवोपमायुष्का ब्रह्मब्रह्मोत्तरामराः । लान्तवेऽपि च कापिष्ठे स्युश्चतुर्दश सागराः ॥१५३॥

अधिक एकपल्य है, जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग प्रमाण है और स्वर्गवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर तथा जघन्य स्थिति कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है ॥१४०॥

जब कोई भव्य जीव, क्षयोपशम, विशुद्धि, प्रायोग्य, देशना तथा अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणके भेदसे तीन प्रकारकी करण लब्धि इन पञ्च लब्धियोंको प्राप्त करता है तब वह आत्म-विशुद्धिके अनुसार दर्शन-मोहनीय कर्मका उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयकर सर्व प्रथम औपशमिक, फिर क्षायोपशमिक और तदनन्तर क्रमसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न कर उसका अनुभव करता है ॥१४१–१४४॥ सम्यक्त्व प्राप्त करनेके बाद कितने ही भव्य जीव चारित्र मोह-के क्षयोपशमसे चारित्र प्राप्त कर कर्मोंका क्षय करते हैं तदनन्तर निर्वाणको प्राप्त कर अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्यसे युक्त होते हुए मोक्षमें निवास करते हैं ॥१४५–१४६॥ जो भव्य जीव चारित्र मोहकी अत्यन्त प्रबलतासे चारित्र नहीं धारण कर पाते हैं वे निश्चल सम्यक्त्वके प्रभावसे ही देवायुका बन्ध कर लेते हैं ॥१४७॥ इसी प्रकार जो मनुष्य संयतासंयत अर्थात् देश चारित्रके धारक हैं वे सौधर्मसे लेकर अच्युत स्वर्ग तकके कल्पोंमें बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंके धारक देव होते हैं ॥१४८॥ जो मनुष्य सराग संयमसे श्रेष्ठ तथा निर्दोष संयमके धारक हैं, उनमेंसे कितने ही कल्पवासी देव होते हैं और कितने ही कल्पातीत देव ॥१४९॥ नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पञ्च अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं ॥१५०॥ कल्पवासी देव इन्द्रादिकके भेदसे अनेक प्रकारके हैं और कल्पातीत देव केवल अहमिन्द्र कहलाते हैं—उनमें भेद नहीं होता। इन सभीने सन्मार्गमें चलकर जो उत्तम तप किया था वे देवगतिमें उसके फलस्वरूप सुखका उपभोग करते हैं ॥१५१॥ सौधर्म ऐशान स्वर्गमें देवोंकी आयु कुछ* अधिक दो सागर, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गमें कुछ अधिक सात

१. दशसागरप्रमितायुष्काः ।

* कुछ अधिक आयु घातायुष्क जीवोंकी अपेक्षा है। इसका सम्बन्ध बारहवें स्वर्गतक ही रहता है, क्योंकि घातायुष्क जीवोंको उत्पत्ति यहींतक होती है। जो उपरितन स्वर्गों की आयु बाँधकर पीछे संक्लेश रूप परिणाम हो जानेके कारण नीचेके स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते हैं। इनकी आयु निश्चित आयुसे आधा सागर अधिक होती है।

आयुः शुक्रमहाशुक्रकल्पयोः षोडशाब्धयः । शतारे च सहस्रारे तथाऽष्टादश सागराः ॥१५४॥
विंशत्यब्धिसमायुष्का आनतप्राणतामराः । आरणाच्युतयोर्देवा द्वाविंशत्यब्धिजीविनः ॥१५५॥
एकोत्तरा तु वृद्धिः स्यान्नवग्रैवेयकेष्वियम् । उत्कृष्टस्थितिरेषोर्ध्वं साधिका त्वपरा स्थितिः ॥१५६॥
नवस्वनुदिशेषु स्याद् द्वात्रिंशत्सागरोपमा । परा स्थितिर्जघन्या स्यादेकत्रिंशत्पयोधयः ॥१५७॥
त्रयस्त्रिंशदुदन्वन्तः पराऽनुत्तरपञ्चके । सर्वार्थसिद्धितोऽन्यत्र द्वात्रिंशदपरा स्थितिः ॥१५८॥
पल्यानि पञ्च सौधर्मे देवीनां परमा स्थितिः । आसहस्रारकल्पात्तु तान्येव द्व्यधिकानि तु ॥१५९॥
ततः सप्तभिराधिक्ये पञ्च पञ्चाशदुच्यते । पल्यानि स्वल्पकालास्ताः परतस्तु न योषितः ॥१६०॥
उपपादश्च सर्वासां कर्मशक्तिनियोगतः । कल्पवासीसुरस्त्रीणामाद्ये कल्पद्वये सदा ॥१६१॥
ज्योतिषो भावना भौमाः सौधर्मैशानवासिनः । देवाः कायप्रवीचारास्तीव्रमोहोदयत्वतः ॥१६२॥
सानत्कुमारमाहेन्द्रकल्पद्वयसमुद्भवाः । देवाः स्पर्शप्रवीचाराः मध्यमोहोदयत्वतः ॥१६३॥
ब्रह्मब्रह्मोत्तरोद्भूताः कान्ताः लान्तवकल्पजाः । देवा रूपप्रवीचाराः कापिष्टप्रभवास्तथा ॥१६४॥
देवाः शुक्रमहाशुक्रशतारस्थितयस्तथा । सहस्रारोद्भवाः शब्दप्रवीचारा भवन्त्यमी ॥१६५॥
आनतप्राणतोद्भूता आरणाच्युतवासिनः । देवा मनःप्रवीचारा मन्दमोहोदयत्वतः ॥१६६॥
परतस्त्वप्रवीचारा यावत्सर्वार्थसिद्धिजाः । शमप्रधानशर्माढ्या मोहाव्यक्तोदयत्वतः ॥१६७॥

सागर, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें कुछ अधिक दश सागर, लान्तव-कापिष्ट स्वर्गमें कुछ अधिक चौदह सागर, शुक्र महाशुक्र स्वर्गमें कुछ अधिक सोलह सागर, शतार-सहस्रारमें कुछ अधिक अठारह सागर, आनत-प्राणत स्वर्गमें बीस सागर और आरण अच्युत स्वर्गमें बाईस सागर प्रमाण आयु है ॥१५२–१५५॥ नव ग्रैवेयकोंमें एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकमें बाईस सागरकी आयु है और आगेके ग्रैवेयकोंमें एक-एक सागरकी बढ़ती हुई नौवें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी हो जाती है। पूर्व-पूर्व स्वर्गोंकी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही एक समय अधिक होनेपर आगे-आगेके स्वर्गोंकी जघन्य स्थिति होती है ॥१५६॥ नव अनुदिशोंमें बत्तीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है और एक समय अधिक इकतीस सागर जघन्य स्थिति है ॥१५७॥ पञ्च अनुत्तर विमानोंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है और सर्वार्थसिद्धिको छोड़कर बाकी चार अनुत्तरोंमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक बत्तीस सागर प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य स्थिति नहीं होती, वहाँ सब एक ही समान स्थितिके धारक होते हैं ॥१५८॥ सौधर्म स्वर्गमें देवियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पाँच पल्य प्रमाण है। उसके आगे सहस्रार स्वर्गतक प्रत्येक स्वर्गमें दो दो सागर अधिक है। उसके आगे सात-सात सागर अधिक है। इस तरह सोलहवें स्वर्गमें पचपन पल्यकी आयु है। उसके आगे स्त्रियोंका सद्भाव नहीं है ॥१५९–१६०॥ कर्मोंकी सामर्थ्यसे समस्त कल्पवासिनी देवियोंका उत्पाद सदा पहले और दूसरे स्वर्गमें ही होता है ॥१६१॥ मोहका तीव्र उदय होनेसे ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और सौधर्म तथा ऐशान स्वर्गके निवासी देव कामसे मैथुन करते हैं ॥१६२॥ मोहका मध्यम उदय होनेसे सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव स्पर्श मात्रसे प्रवीचार करते हैं अर्थात् वहाँके देव-देवियोंकी काम बाधा परस्परके स्पर्श मात्रसे शान्त हो जाती है ॥१६३॥ ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ट स्वर्गके देव, रूप मात्रसे प्रवीचार करते हैं अर्थात् वहाँके देव देवियोंका रूप देखने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६४॥ शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव शब्दसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् वहाँके देव देवियोंके शब्द सुनने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६५॥ मोहका उदय अत्यन्त मन्द होनेसे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव मनसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् वहाँके देव मनमें देवियोंका ध्यान आने मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥१६६॥ उसके आगे सर्वार्थसिद्धि तकके देव मोहका उदय अव्यक्त होनेसे प्रवीचार रहित हैं अर्थात् उन्हें कामकी बाधा उत्पन्न ही

[1]यथा स्थित्या तथा द्युत्या प्रभावेन सुखेन ते । विशुद्ध्यापि च लेश्यानामिन्द्रियावधिगोचरैः ॥१६८॥
[2]उपर्युपरि सौधर्मात् पूर्वतः पूर्वतोऽधिकाः । अल्पा गतितनूत्सेधैरभिमानपरिग्रहैः ॥१६९॥
मुक्तिमूलमहानर्घ्यरत्नत्रयाप्रयत्नसाधनम् । ध्यानस्वाधीनसर्वार्थं भुक्त्वा ते वैबुधं सुखम् ॥१७०॥
दिवश्च्युता विदेहेषु भरतैरावतेषु वा । कर्मभूमिविभागेषु भवन्ति पुरुषोत्तमाः ॥१७१॥
षट्खण्डप्रभवः केचिन्निधिरत्नोपलक्षिताः । सिद्धिसौख्यानुसन्धानसमर्थचरमक्रियाः ॥१७२॥
केचिद् द्वित्रिभवाश्चान्ये बलाः स्वर्गापवर्गिणः । निदानिनस्तु तत्रान्ये केशवप्रतिशत्रवः ॥१७३॥
केचित् पूर्वभवाभ्यस्तशुभषोडशकारणाः । [3]कीर्त्यास्तीर्थंकृतो भूत्वा प्रभवन्ति जगत्त्रये ॥१७४॥
सम्यक्त्वस्थिरमूलस्य ज्ञानकाण्डधृतात्मनः । चारित्रस्कन्धबन्धस्य नयशाखोपशाखिनः ॥१७५॥
नृसुरश्रीप्रसूनस्य जिनशासनशाखिनः । सेवितस्य लभन्तेऽग्रे ते निर्वाणमहाफलम् ॥ १७६॥[युग्मम्]
परमानन्दरूपं ते निर्वाणफलसम्भवम् । सारसौख्यरसं प्राप्ताः सिद्धाः तिष्ठन्ति निर्वृताः ॥१७७॥
इत्थमाकर्ण्य सा धर्मं भुवनत्रयपद्मिनी । मोक्षमार्गार्कसम्पर्कात् चकासेति प्रमोदिनी ॥१७८॥
प्राक् प्रशस्तानुरागाढ्या धर्मश्रवणतो दधुः । लोकास्त्रयोऽग्निशुद्धाच्छरत्नजातिचयश्रियम् ॥१७९॥
सद्धर्मदेशना जैनी जगत्त्रयतनूभृताम् । भ्रान्तिशेषरजः शेषमभ्राली[4]वाभ्यशीशमत्[6] ॥१८०॥

नहीं होती। वहाँके अहमिन्द्र शान्ति प्रधान सुखसे युक्त होते हैं ॥१६७॥ सौधर्म स्वर्गसे लेकर ऊपर-ऊपरके देव, पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा स्थिति, द्युति, प्रभाव, सुख, लेश्याओंकी विशुद्धता, इन्द्रिय तथा अवधि ज्ञानके विषयकी अपेक्षा अधिक-अधिक हैं तथा गति, शरीरकी ऊँचाई, अभिमान और परिग्रहकी अपेक्षा हीन-हीन हैं ॥१६८-१६९॥ मुक्तिके कारणभूत महा अमूल्य रत्नत्रयके प्रभावसे जिसकी सिद्धि अयत्न साध्य होती है तथा जहाँ इच्छा करते ही समस्त पदार्थोंकी सिद्धि हो जाती है ऐसे देवों सम्बन्धी सुख भोगकर वे देव स्वर्गसे च्युत हो विदेह, भरत और ऐरावत इन कर्मभूमियोंमें उत्तम पुरुष अथवा नारायण उत्पन्न होते हैं ॥१७०-१७१॥ कितने ही देव, नौनिधियों और चौदह रत्नोंसे सहित छह खण्डोंके प्रभु होते हैं अर्थात् चक्रवर्ती होते हैं। इनकी अन्तिम क्रियाएँ मोक्ष सुख प्राप्त करनेमें समर्थ होती हैं ॥१७२॥ कितने ही दो-तीन भव धारण कर मोक्ष चले जाते हैं, कोई बलभद्र होते हैं, और वे स्वर्ग अथवा मोक्ष जाते हैं तथा पूर्व भवमें निदान बाँधनेवाले कितने ही लोग नारायण एवं प्रतिनारायण होते हैं ॥१७३॥ जिन्होंने पूर्व भवमें शुभ सोलह कारण भावनाओंका अभ्यास किया है ऐसे कितने ही लोग कीर्तिके धारक तीर्थंकर होते हैं और वे तीनों जगत्का प्रभुत्व प्राप्त करते हैं ॥१७४॥ सम्यग्दर्शन ही जिसकी स्थिर जड़ है, जो ज्ञान रूप पिंडपर टिका हुआ है, चारित्र रूपी स्कन्धको धारण करनेवाला है, नय रूपी शाखाओं और उपशाखाओंसे सहित है तथा मनुष्य और देवोंकी लक्ष्मी रूप जिसमें फूल लग रहे हैं ऐसे जिनशासन रूपी वृक्षकी जो सेवा करते हैं वे उसके अग्रभाग-पर स्थित निर्वाण रूपी महाफलको प्राप्त होते हैं ॥१७५-१७६॥ निर्वाण रूपी फलमें उत्पन्न होने-वाले परमानन्द स्वरूप श्रेष्ठ सुख रूपी रसको प्राप्त हुए सिद्ध परमेष्ठी निर्वाणको प्राप्त हो सिद्धा-लयमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥१७७॥ इस प्रकारका धर्मोपदेश सुनकर वह लोकत्रय रूपी कमलिनी, मोक्ष मार्ग रूपी सूर्यके संसर्गसे प्रमुदित हो सुशोभित हो उठी ॥१७८॥ जो पहलेसे ही प्रशस्त अनुरागसे सहित थे ऐसे तीनों लोकोंके जीव धर्म श्रवण कर अग्निसे शुद्ध हुए निर्मल जातिके रत्न समूहकी शोभा धारण कर रहे थे ॥१७९॥ जिस प्रकार मेघमाला अवशिष्ट धूलिके

१. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः त० सू० च० अ०। २. गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः त० सू० च० अ०। ३. कीर्तनीयाः प्रशस्ता इत्यर्थः। ४. बल—म०। ५. मेघमालेव। ६. शमयामास।

अथ दिव्यध्वनेरन्ते जैनस्य तदनन्तरम् । चक्रुस्तदनुसन्धानं देवा दुन्दुभिनिःस्वनाः ॥१८१॥
पुष्पवृष्टिं प्रवर्षन्तो रत्नवृष्टिं च तुष्टुवुः । देवास्तत्र वनोद्देशे मुनिमेकं महामुनिम् ॥१८२॥
तं निशम्य मुनिश्रेष्ठं पूज्यमानं सुरेश्वरैः । श्रेणिको गौतमं नत्वा पप्रच्छ बहुविस्मयः ॥१८३॥
भगवन् ! ब्रूहि किंनामा मुनिः सुरगणैरयम् । पूज्यते पूज्य ! किंवंशः प्राप्तो वाऽद्य किमद्भुतम् ॥१८४॥
गदतिस्म ततस्तस्मै विस्मिताय गतस्मयाः[1] । [2]आगमानुमितिज्ञाप्यविज्ञेयः श्रुतकेवली ॥१८५॥
श्रीमतोऽस्य महाराज ! शृणु श्रेणिक सन्मतेः । मुनेर्नाम च वंशं च माहात्म्यं च वदामि ते ॥१८६॥
जितशत्रुः क्षितौ ख्यातो धरित्रीपतिरत्र यः । प्राप्त एव धरित्रीश ! भवतः श्रोत्रगोचरम् ॥१८७॥
हरिवंशनभोभानुरभिभूतनृपस्थितिः । राज्यश्रियं परित्यज्य प्राव्राजीज्जिनसन्निधौ ॥१८८॥
तपो दुष्करमन्येषां बाह्यमाध्यात्मिकं च सः । कृत्वा प्राप्तोऽद्य घात्यन्ते[3] केवलज्ञानमद्भुतम् ॥१८९॥
तेनायममरैः सर्वैर्जैनमार्गोपबृंहकैः । स पुनर्बोधिलाभार्थं भक्तितोऽभ्यर्चितो यतिः ॥१९०॥
पुनः प्रणम्य भक्त्याऽसौ समुद्भूतकुतूहलः । पृच्छति स्म गणाधीशमिति श्रेणिकभूपतिः ॥१९१॥
क एष भगवान् ! वंशो हरिशब्दोपलक्षितः । जातः कदा क्व वा कीदृशः को वास्य प्रभवः पुमान् ॥१९२॥
कियन्तः समतिक्रान्ताः[4] प्रजारक्षणदक्षिणाः । धर्मार्थकाममोक्षाढ्या हरिवंशक्षितीश्वराः ॥१९३॥
इह भारतजातानां जिनानां चक्रवर्तिनाम् । हलिनां वासुदेवानां तथा चैषां प्रतिद्विषाम् ॥१९४॥

समूहको शान्त कर देती है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌की सद्धर्मदेशना जगत्त्रयके जीवोंकी समस्त भ्रान्तिको शान्त कर देती है ॥१८०॥

अथानन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌की दिव्यध्वनिके बाद देवोंने उसका अनुसन्धान किया। तथा कुछ देव, दुन्दुभिके समान शब्द करते, पुष्पवृष्टि एवं रत्नवृष्टि करते हुए वनके एक देशमें स्थित एक महामुनिकी स्तुति करने लगे ॥१८१-१८२॥ इन्द्रोंके द्वारा पूजित उन श्रेष्ठ मुनिका नाम सुनकर अत्यधिक आश्चर्यसे युक्त राजा श्रेणिकने गौतम स्वामीको नमस्कार कर पूछा ॥१८३॥ कि हे भगवन् ! हे पूज्य ! कृपाकर कहिए कि देवलोग जिनकी पूजा कर रहे हैं ऐसे ये मुनि किस नामके धारक हैं ? इनका क्या वंश है ? और आज किस अतिशयको प्राप्त हुए हैं ? १८४॥ तदनन्तर जिनका अहंकार नष्ट हो गया था और जिन्होंने आगम तथा अनुमानके द्वारा जानने योग्य पदार्थोंको जान लिया था ऐसे श्रुतकेवली श्रीगौतम स्वामी, आश्चर्यसे भरे हुए राजा श्रेणिकसे कहने लगे कि ॥१८५॥ हे महाराज श्रेणिक ! मैं सद्बुद्धिके धारक इन श्रीमान् मुनिराजका नाम, वंश और माहात्म्य सब तुम्हारे लिए कहता हूँ सो श्रवण कर ॥१८६॥ हे पृथिवीपते ! इस पृथिवीपर जो जितशत्रु नामका प्रसिद्ध राजा था वह आपके कर्णगोचर हुआ होगा ॥१८७॥ जो हरिवंशरूपी आकाशका सूर्य था, जिसने अन्य राजाओंकी स्थितिको अभिभूत कर दिया था, जिसने राज्यलक्ष्मीका परित्याग कर जिनेन्द्रदेवके समीप प्रव्रज्या—दीक्षा धारण की थी तथा जिसने अन्य लोगोंके लिए कठिन बाह्य और आभ्यन्तर तप किया था आज वही राजा जितशत्रु घातिया कर्मोंको नष्ट कर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ॥१८८-१८९॥ इसीलिए जिनमार्गकी प्रभावना करनेवाले समस्त देवोंने मिलकर रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए भक्तिपूर्वक इन मुनिराजकी पूजा की है ॥१९०॥

तदनन्तर जिसे कुतूहल उत्पन्न हो रहा था ऐसे श्रेणिक राजाने भक्तिपूर्वक पुनः प्रणामकर गणधरसे इस प्रकार पूछा कि हे भगवन् ! यह हरिवंश कौन है ? कब और कहाँ उत्पन्न हुआ है ? तथा इसका मूल कारण कौन पुरुष है ? ॥१९१-१९२॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षसे सहित ऐसे हरिवंशमें कितने राजा हो चुके हैं ? ॥१९३॥ यह कह

---

१. गतगर्वः । २. आगमानुमानेन शाप्यो ज्ञातव्यो ज्ञेयो यस्य स० । ३. घातिकर्मक्षयानन्तरम् । ४. उत्पद्योत्पद्य गता ।:

शृणोमि चरितं सर्वं वंशानां च समुद्भवम् । लोकालोकविभागोक्तिपूर्वकं वक्तुमर्हसि ॥१६५॥
जगाद गौतमः स्थाने[1] राजन् ! प्रश्नस्त्वया कृतः । शृणु सर्वं यथावत्ते कथयामि यथायथम् ॥१६६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्रैलोक्यस्य सुखासुखानुभवनाधिष्ठानभूमेः स्थिरं,
संस्थानं प्रथमं तथैव विविधान् वंशावतारांस्ततः ।
भव्यार्थं हरिवंशसम्भवमतस्तद्वंशजान् भूपतीन्,
श्रीमच्छ्रेणिक ! कीर्तयामि भवते शुश्रूषवे श्रूयताम् ॥१६७॥

स्रग्धरा

[2]भव्यस्त्वाद्विप्रकृष्टेष्वपि च तनुभृतो देशकालस्वभावै-
र्भावेष्वाप्तोपदेशाद्विदधति विधिवन्निश्चयं निश्चितार्थम् ।
सद्दृष्टीनां हि मोहः प्रभवति भुवने तावदेवार्थदृष्टौ
यावन्नाभ्युदेति प्रथितजिनरविज्ञानभास्वन्मरीचिः ॥१६८॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ श्रेणिकप्रश्नवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

राजा श्रेणिकने पुनः कहा कि मैं इस भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तीर्थङ्करों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणोंका समस्त चरित, वंशोंकी उत्पत्ति और लोकालोकका विभाग सुनना चाहता हूँ सो आप कहनेके योग्य हैं ॥१६४-१६५॥

यह सुन, गौतम स्वामीने कहा कि हे राजन् ! तूने ठीक प्रश्न किया है तू सब ठीक-ठीक श्रवण कर मैं यथायोग्य कहता हूँ ॥१६६॥ हे श्रीमन् ! हे श्रेणिक ! मैं सर्वप्रथम सुख-दुःख भोगनेके स्थानभूत तीन लोकका स्थिर आकार कहता हूँ। फिर विविध वंशोंके अवतारकी बात करूँगा तदनन्तर मनोहर अर्थसे युक्त हरिवंशकी उत्पत्ति कहूँगा और तत्पश्चात् श्रवण करनेके इच्छुक तेरे लिए हरिवंशमें उत्पन्न हुए राजाओंका कीर्तन करूँगा ॥१६७॥ भव्य जीव, श्रीआप्त भगवान्के उपदेशसे देश-काल और स्वभावसे दूरवर्ती पदार्थोंका भी विधिवत् यथार्थ निश्चय कर लेते हैं। यथार्थमें सम्यग्दृष्टि मनुष्योंका मोह, इस संसारमें पदार्थोंका ठीक-ठीक स्वरूप देखनेमें तभी तक अपना प्रभाव रख पाता है जब तक कि ज्ञानरूपी देदीप्यमान किरणोंसे युक्त श्रीजिनेन्द्र देवरूपी सूर्यका उदय नहीं होता ॥१६८॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत हरिवंश पुराणमें श्रेणिक प्रश्न वर्णन नामका तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

---

१. युक्तः । २. भव्यत्वादिप्रकृष्टे—म० ।

चतुर्थः सर्गः

सर्वतोऽनन्तविस्तारमनन्तस्वप्रदेशकम् । द्रव्यान्तरविनिर्मुक्तमलोकाकाशमिष्यते ॥१॥
न लोक्यन्ते यतस्तस्मिन् जीवाजीवात्मकाः परे । भावा[1]स्ततस्तदुद्गीतमलोकाकाशसंज्ञया ॥२॥
न गतिर्न स्थितिस्तत्र जीवपुद्गलयोस्तयोः । निमित्तयोरभूतत्वात्[2] धर्माधर्मास्तिकाययोः ॥३॥
अनाद्यनिधनस्तस्य मध्ये लोको व्यवस्थितः । असंख्येयप्रदेशात्मा लोकाकाशविमिश्रितः ॥४॥
कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिलाः । लोक्यन्ते येन तेनायं लोक इत्यभिलप्यते ॥५॥ [युग्मम्]
वेत्रासनमृदङ्गोरुझल्लरीसदृशाकृतिः । अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोग्यमिति त्रिधा ॥६॥
मुरजार्धमधोभागे तस्योर्ध्वं मुरजो यथा । आकारस्तस्य लोकस्य किं त्वेष चतुरस्रकः ॥७॥
कटिस्थकरयुग्मस्य वैशाखस्थानवर्तिनः[3] । बिभर्ति पुरुषस्यायं संस्थानमचलस्थितेः ॥८॥
अधोलोकस्य सप्ताधः स्वविस्तारेण रज्जवः । प्रदेशहानितो रज्जुस्तिर्यग्लोकेऽवशिष्यते ॥९॥
ऊर्ध्वं प्रदेशवृद्ध्यातः पञ्च ब्रह्मोत्तरान्तरे । ततः प्रदेशहान्योर्ध्वं रज्जुरेकावशिष्यते ॥१०॥
आयामस्तु त्रिलोकानां स्याच्चतुर्दशरज्जवः । सप्ताधो मन्दरादूर्ध्वं सार्धं तेनैव सह ताः ॥११॥
चित्राधोभागतो रज्जुर्द्वितीयान्ते समाप्यते । द्वितीयातस्तृतीयान्ते चतुर्थ्यन्ते ततोऽपरा ॥१२॥
पञ्चम्यन्ते चतुर्थी च षष्ठ्यन्ते पञ्चमी ततः । सप्तम्यन्ते च षष्ठी सा लोकान्ते सप्तमी स्थिता ॥१३॥

अथानन्तर सब ओरसे जिसका अनन्त विस्तार है, जिसके अपने प्रदेश भी अनन्त हैं तथा जो अन्य द्रव्योंसे रहित है वह अलोकाकाश कहलाता है ॥१॥ यतश्च उसमें जीवाजीवात्मक अन्य पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं इसलिए वह अलोकाकाश इस नामसे प्रसिद्ध है ॥२॥ गति और स्थितिमें निमित्तभूत धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकायका अभाव होनेसे अलोकाकाशमें जीव और पुद्गलकी न गति ही है और न स्थिति ही है ॥३॥ उस अलोकाकाशके मध्यमें असंख्यातप्रदेशी तथा लोकाकाशसे मिश्रित अनादि लोक स्थित है ॥४॥ काल द्रव्य तथा अपने अवान्तर विस्तारसे सहित अन्य समस्त पञ्चास्तिकाय यतश्च इसमें दिखाई देते हैं इसलिए यह लोक कहलाता है ॥५॥ यह लोक नीचे, ऊपर और मध्यमें वेत्रासन, मृदङ्ग और बहुत बड़ी झालरके समान है अर्थात् अधोलोक वेत्रासन—मूँढाके समान है, ऊर्ध्वलोक मृदङ्गके तुल्य है और मध्यलोक जिसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं झालरके समान है ॥६॥ नीचे आधा मृदङ्ग रख कर उसपर यदि पूरा मृदङ्ग रखा जाय तो जैसा आकार होता है वैसा ही लोकका आकार है किन्तु विशेषता यह है कि यह लोक चतुरस्र अर्थात् चौकोर है ॥७॥ अथवा कमरपर हाथ रख तथा पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्यका जो आकार है उसी आकारको यह लोक धारण करता है ॥८॥ अपने विस्तारकी अपेक्षा अधोलोक नीचे सात रज्जु प्रमाण है, फिर क्रम-क्रमसे प्रदेशोंमें हानि होते-होते मध्यम लोकके यहाँ एक रज्जु विस्तृत रह जाता है ॥९॥ इसके ऊपर प्रदेश वृद्धि होते-होते ब्रह्मब्रह्मोत्तर स्वर्गके समीप पाँच रज्जु प्रमाण है। तदनन्तर उसके आगे प्रदेश हानि होते-होते लोकके अन्तमें एक रज्जु प्रमाण विस्तृत रह जाता है ॥१०॥ तीनों लोकोंकी लम्बाई चौदह रज्जु प्रमाण है। सात रज्जु सुमेरु पर्वतके नीचे और सात रज्जु उसके ऊपर है ॥११॥ चित्रा पृथिवीके अधोभागसे लेकर द्वितीय पृथिवीके अन्त तक एक रज्जु समाप्त होती है, इसके आगे तृतीय पृथिवीके अन्त तक द्वितीय रज्जु, चतुर्थ पृथिवीके अन्त तक तृतीय रज्जु, पञ्चम पृथिवीके अन्त तक चतुर्थ रज्जु, षष्ठ पृथिवीके अन्त तक पञ्चम रज्जु,

---

१. पदार्थाः । २. अविद्यमानत्वात् । ३. प्रसारितजङ्घाद्वयोर्ध्वस्थितस्य ।

चित्राधोदेशतस्तूर्ध्वं सार्धा रज्जुः समाप्यते । ऐशानान्ते ततः सार्धा माहेन्द्रान्ते तु तिष्ठति ॥१४॥
ततः कापिष्ठकल्पाग्रे रज्जुरेकावतिष्ठते । सा सहस्रारकल्पाग्रे ततोऽप्येका समाप्यते ॥१५॥
आरणाच्युतकल्पान्तवर्तिनी सा ततोऽपरा । सप्तमी तु ततो रज्जुरूर्ध्वलोकान्तनिष्ठिता ॥१६॥
रज्जुः प्रथमरज्ज्वन्ते सा षड्भिः सप्तभागकैः । अधोलोकस्य विस्तारो लोकविद्भिरुदाहृतः ॥१७॥
रज्जू द्वितीयरज्ज्वन्ते पञ्चभिः सप्तभागकैः । तिस्रस्तृतीयरज्ज्वन्ते चतुर्भिः सप्तभागकैः ॥१८॥
चतस्रस्तुर्यरज्ज्वन्ते सप्तभागैस्त्रिभिर्युताः । पञ्च पञ्चमरज्ज्वन्ते सप्तभागद्वयेन ताः ॥१९॥
षडेताः सप्तभागेन षष्ठरज्ज्वन्तगोचरे । सप्त सप्तमरज्ज्वन्ते विस्तारो रज्जवः स्मृताः ॥२०॥
ऊर्ध्वं च सार्धरज्ज्वन्ते रज्जू द्वे सप्तभागकैः । पञ्चभिः सह विस्तारो लोकस्य परिकीर्तितः ॥२१॥
परतः सार्धरज्ज्वन्ते सप्तभागैस्त्रिभिर्युताः । चतस्रो रज्जवो ज्ञेयो विस्तारो जगतस्ततः ॥२२॥
ततोऽर्धरज्जुपर्यन्ते ब्रह्मोत्तरमूर्धनि । विस्तारो रज्जवः पञ्चभुवनस्य निरूपितः ॥२३॥
कापिष्ठाग्रेऽर्धरज्ज्वन्ते सप्तभागै त्रिभिः सह । चतस्रो रज्जवो व्यासो जगतः प्रतिपादितः ॥२४॥

सप्तम पृथिवीके अन्त तक षष्ठ रज्जु और लोकके अन्त तक सप्तम रज्जु समाप्त होती है अर्थात् चित्रा पृथिवीके नीचे छह रज्जुकी लम्बाई तक सात पृथिवियाँ और उसके नीचे एक रज्जुके विस्तारमें निगोद तथा वातवलय हैं ॥१२–१३॥ यह तो चित्रा पृथिवीके नीचेका विस्तार बतलाया अब इसके ऊपर ऐशान स्वर्ग तक डेढ़ रज्जु, उसके आगे माहेन्द्र स्वर्गके अन्त तक फिर डेढ़ रज्जु, फिर कापिष्ठ स्वर्ग तक एक रज्जु, तदनन्तर सहस्रार स्वर्ग तक एक रज्जु, उसके आगे आरण अच्युत स्वर्ग तक एक रज्जु और उसके ऊपर ऊर्ध्व लोकके अन्त तक एक रज्जु इस प्रकार कुल सप्त रज्जु समाप्त होती हैं ॥१४–१६॥

चित्रा पृथिवीके नीचे प्रथम रज्जुके अन्तमें जहाँ दूसरी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ लोकके जाननेवाले आचार्योंने अधोलोकका विस्तार एक रज्जु तथा द्वितीय रज्जुके सात भागोंमेंसे छह भाग प्रमाण बतलाया है ॥१७॥ द्वितीय रज्जुके अन्तमें जहाँ तीसरी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे पाँच भाग प्रमाण बताया है। तृतीय रज्जुके अन्तमें जहाँ चौथी पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे चार भाग प्रमाण बतलाया है ॥१८॥ चतुर्थ रज्जुके अन्तमें जहाँ पाँचवीं पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे तीन भाग प्रमाण कहा गया है, पञ्चम रज्जुके अन्तमें जहाँ छठवीं पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार पाँच रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण बतलाया है, षष्ठ रज्जुके अन्तमें जहाँ सातवीं पृथिवी समाप्त होती है वहाँ अधोलोकका विस्तार छह रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है तथा सप्तम रज्जुके अन्तमें जहाँ लोक समाप्त होता है वहाँ अधोलोकका विस्तार सात रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥१९–२०॥

चित्रा पृथिवीके ऊपर डेढ़ रज्जुकी ऊँचाईपर जहाँ दूसरा ऐशान स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु पूर्ण और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे पाँच भाग प्रमाण कहा गया है ॥२१॥ उसके ऊपर डेढ़ रज्जु और चलकर जहाँ माहेन्द्र स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे तीन भाग प्रमाण बताया गया है ॥२२॥ उसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ ब्रह्मोत्तर स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार पाँच रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥२३॥ उसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ कापिष्ठ स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार चार रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे तीन भाग

ततोऽर्धरज्जुमानान्ते महाशुक्राग्रवर्तिनि । षट् सप्तभागसंयुक्तास्तिस्रो व्यासो जगद्गतः ॥२५॥
अर्धरज्ज्ववसानेऽतः सहस्रारान्तमिश्रिते । द्विसप्तभागसंयुक्ता व्यासस्तिस्रोऽस्य रज्जवः ॥२६॥
प्राणताग्रार्धरज्ज्वन्ते पञ्चसप्तांशमिश्रिते । द्वे रज्जू जगतो व्यासो व्यासविद्भिः प्रकाशितः ॥२७॥
अच्युतान्तार्धरज्ज्वन्ते सप्तभागेन सम्मिते । द्वे रज्जू रज्जुरेवान्तरज्ज्वन्ते लोकमस्तके ॥२८॥
अधोलोकोरुजङ्घादिस्तिर्यग्लोककटीतटः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरोरस्को माहेन्द्रान्तस्तु मध्यभाग् ॥२९॥
आरणाच्युतसुस्कन्धो द्विपर्यन्तमहाभुजः । नवग्रैवेयकग्रीवोऽनुदिशोदग्रहनुद्वयः ॥३०॥
पञ्चानुत्तरसद्वक्त्रः सिद्धक्षेत्रललाटभृत् । सिद्धजीवश्रिताकाशदेशविस्तीर्णमस्तकः ॥३१॥
स्वोदरस्थितनिःशेषपुद्गलादिपदार्थकः । अपौरुषेय एवैष सल्लोकपुरुषः स्थितः ॥३२॥
घनोदधिरिमं लोकं घनवातश्च सर्वतः । तनुवातश्च तिष्ठन्ति त्रयोऽप्यावेष्ट्य वायवः ॥३३॥
आद्यो गोमूत्रवर्णोऽत्र मुद्गवर्णस्तु मध्यमः । सम्पृक्तानेकवर्णोऽन्त्यो बहिर्वलयमारुतः ॥३४॥
दण्डाकारा घनीभूता ऊर्ध्वाधोभागभागिनः । भङ्गराकृतयो लोकपर्यन्तेषु प्रभञ्जनाः ॥३५॥
योजनानां सहस्राणि प्रत्येकं विंशतिः स्मृताः । अधोविस्तारतस्तूर्ध्वं त्रयोऽप्यूनैकयोजनाः ॥३६॥
दण्डाकारपरित्यागे यथाक्रममयी पुनः । सप्तपञ्चचतुःसंख्या योजनानि वितन्वते ॥३७॥
प्रदेशहानितः पञ्च चत्वारि त्रीणि च क्रमात् । बाहुल्यं योजनान्येषां तिर्यग्लोके भवत्यतः ॥३८॥

प्रमाण बतलाया गया है ॥२४॥ उसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ महाशुक्र स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे छह भाग प्रमाण कहा गया है ॥२५॥ इसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ सहस्रार स्वर्गका अन्त आता है वहाँ लोकका विस्तार तीन रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण बतलाया गया है ॥२६॥ इसके आगे आधी रज्जु और चलकर जहाँ प्राणत स्वर्गका अन्त आता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे पाँच भाग प्रमाण कहा गया है ॥२७॥ इसके ऊपर आधी रज्जु और चलकर जहाँ अच्युत स्वर्ग समाप्त होता है वहाँ लोकका विस्तार दो रज्जु और एक रज्जुके सात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण बतलाया है और इसके आगे सातवीं रज्जुके अन्तमें जहाँ लोककी सीमा समाप्त होती है वहाँ लोकका विस्तार एक रज्जु प्रमाण कहा गया है ॥२८॥ तीनों लोकोंमें अधोलोक तो पुरुष की जङ्घा तथा नितम्बके समान है, तिर्यग्लोक कमरके सदृश है, माहेन्द्र स्वर्गका अन्त मध्य अर्थात् नाभिके समान है, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग छातीके समान है, तेरहवाँ, चौदहवाँ स्वर्ग भुजाके समान है, आरण-अच्युत स्वर्ग स्कन्धके समान है, नव ग्रैवेयक ग्रीवाके समान है, अनुदिश उन्नत ठोंड़ीके समान है, पञ्चानुत्तर विमान मुखके समान है, सिद्ध क्षेत्र ललाटके समान है और जहाँ सिद्ध जीवोंका निवास है ऐसा आकाश प्रदेश मस्तकके समान है ॥२९-३१॥ जिसके मध्यमें जीवादि समस्त पदार्थ स्थित हैं ऐसा यह लोकरूपी पुरुष अपौरुषेय ही है—अकृत्रिम ही है ॥३२॥ घनोदधि, घनवात और तनुवात ये तीनों वातवलय इस लोकको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं ॥३३॥ आदिका घनोदधि वातवलय गोमूत्रके वर्णके समान है, बीचका घनवातवलय मूँगके समान वर्णवाला है और अन्तका तनुवातवलय परस्पर मिले हुए अनेक वर्णोंवाला है ॥३४॥ ये वातवलय दण्डके आकार लम्बे हैं, घनीभूत हैं, ऊपर नीचे तथा चारों ओर स्थित हैं, चञ्चलाकृति हैं तथा लोकके अन्ततक वेष्टित हैं ॥३५॥ अधोलोकके नीचे तीनों वलयोंमेंसे प्रत्येकका विस्तार बीस-बीस हजार योजन है और लोकके ऊपर तीनों वातवलय कुछ कम एक योजन विस्तारवाले हैं ॥३६॥ अधोलोकके नीचे तीनों वातवलय दण्डाकार हैं और ऊपर चलकर जब ये दण्डाकारका परित्याग करते हैं अर्थात् लोकके आजू-बाजूमें खड़े होते हैं तब क्रमशः सात, पाँच और चार योजन विस्तारवाले रह जाते हैं ॥३७॥ तदनन्तर प्रदेशोंमें हानि होते-होते मध्यम लोकके यहाँ इनका विस्तार क्रमसे पाँच,

प्रदेशवृद्धितः सप्त पञ्च चत्वारि च क्रमात् । योजनान्युपर्यायन्ते ब्रह्मब्रह्मोत्तरान्तिके ॥३९॥
पुनः प्रदेशहान्यैवं पञ्च चत्वारि च क्रमात् । त्रीणि चैव भवन्त्येषां योजनानि शिवान्तके ॥४०॥
अर्धयोजनबाहुल्यो मस्तकेषु घनोदधिः । घनवातस्तदर्धः स्यात्तनुवातस्तदूनकः ॥४१॥
भ्राजते वातवलयैः सर्वतस्त्रिभिरावृतः । कवचैरिव लोकस्तैर्महालोकजिगीषया ॥४२॥
अत्र रत्नप्रभाद्येयं द्वितीया शर्कराप्रभा । प्रथिता पृथिवी लोके तृतीया बालुकाप्रभा ॥४३॥
पङ्कप्रभा चतुर्थी तु पञ्चमी पृथिवी तथा । धूमप्रभा विनिर्दिष्टा षष्ठी चापि तमःप्रभा ॥४४॥
महातमःप्रभा भूमिः सप्तमी च घनोदधौ । वलयाधिष्ठिताः ह्येताः सप्ताधोऽधो व्यवस्थिताः ॥४५॥
गोत्राख्यया तु ताः ख्याता घर्मा वंशा यथाक्रमम् । मेघाञ्जनाप्यरिष्टा च मघवी माघवीति च ॥४६॥
लक्षैका योजनानां स्यात् सहाशीतिसहस्रिका । त्रिभिर्भागैर्विभक्तं च बाहुल्यं प्रथमक्षितेः ॥४७॥
योजनानां सहस्राणि खरभागेऽत्र षोडश । अशीतिः पङ्कबहुले चतुर्भिरधिकानि तु ॥४८॥
तथैवाब्बहुले भागे बाहुल्यं सुविनिश्चितम् । शाक्तेऽशीतिसहस्राणि योजनानि जिनेशिनाम् ॥४९॥
तं पङ्कबहुलं भागं भासयन्ति यथायथम् । रक्षसामसुराणां च निवासा रत्नभासुराः ॥५०॥
खरभागं नवानां तु वासा भवनवासिनाम् । भूषयन्ति महाभासा बहुभेदाः स्वयंप्रभाः ॥५१॥
चित्राख्यं पटलं पूर्वं वज्राख्यं तु ततः परम् । वैडूर्याख्यं ततो ज्ञेयं लोहिताङ्काख्यमप्यतः ॥५२॥
मसारगल्वगोमेद[1]प्रवालपटलान्यतः । ज्योती रसाञ्जनाख्ये च तथैवाञ्जनमूलकम् ॥५३॥
अङ्कस्फटिकसंज्ञे च चन्द्राभाख्यं च वर्चकम् । बहुशिलामयं चेति पटलानि हि षोडश ॥५४॥
एकैकस्य तु बाहुल्यं सहस्रगुणयोजनम् । पटलस्य तदात्मासौ खरभागः प्रभासुरः ॥५५॥

चार और तीन योजन रह जाता है ॥३८॥ तदनन्तर प्रदेशोंमें वृद्धि होनेसे ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक पाँचवें स्वर्गके अन्तमें क्रमशः सात, पाँच और चार योजन विस्तृत हो जाते हैं ॥३९॥ पुनः प्रदेशोंमें हानि होनेसे मोक्ष स्थानके समीप क्रमसे पाँच, चार और तीन योजन विस्तृत रह जाते हैं ॥४०॥ तदनन्तर लोकके ऊपर पहुँच कर घनोदधि वातवलय आधा योजन अर्थात् दो कोस, घनवात वलय उससे आधा अर्थात् एक कोस और तनुवातवलय उससे कुछ कम अर्थात् पन्द्रह-से पचहत्तर धनुष प्रमाण विस्तृत है ॥४१॥ तीनों वातवलयोंसे घिरा हुआ यह लोक ऐसा जान पड़ता है मानो महालोक जीतनेकी इच्छासे कवचोंसे ही आवेष्टित हुआ हो ॥४२॥

इस लोकमें पहली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा, तीसरी बालुकाप्रभा, चौथी पङ्कप्रभा, पाँचवीं धूमप्रभा, छठवीं तमःप्रभा और सातवीं महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये सातों भूमियाँ तीनों वातवलयोंपर अधिष्ठित तथा क्रमसे नीचे-नीचे स्थित हैं। अन्तमें चलकर ये सभी अधोलोकके नीचे स्थित घनोदधिवातवलय पर अधिष्ठित हैं ॥४३-४५॥ इन पृथिवियोंके रूढ़ि नाम क्रमसे घर्मा, वंशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी और माघवी भी हैं ॥४६॥ पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है तथा खर भाग, पङ्क भाग और अब्बहुल भाग इन तीन भागोंमें विभक्त है ॥४७॥ पहला खर भाग सोलह हजार योजन मोटा है, दूसरा पङ्क भाग चौरासी हजार योजन मोटा है और तीसरा अब्बहुल भाग अस्सी हजार योजन मोटा है ॥४८-४९॥ पङ्क भागको राक्षसों तथा असुरकुमारोंके रत्नमयी देदीप्यमान भवन यथा क्रमसे सुशोभित कर रहे हैं ॥५०॥ तथा खर भागको नौ भवनवासियोंके महाकान्तिसे युक्त, स्वयं जगमगाते हुए नाना प्रकारके भवन अलंकृत कर रहे हैं ॥५१॥ खर भागके १ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्य, ४ लोहिताङ्क, ५ मसारगल्व, ६ गोमेद, ७ प्रवाल, ८ ज्योति, ९ रस, १० अञ्जन, ११ अञ्जनमूल, १२ अङ्क, १३ स्फटिक, १४ चन्द्राभ, १५ वर्चस्क और १६ बहु-शिलामय ये सोलह पटल हैं ॥५२-५४॥ इनमेंसे प्रत्येक पटलकी मोटाई एक-एक हजार योजन

१. गोमेध—क० ।

विज्ञेयाः पङ्कबहुलाच्छेषाः षडपि भूमयः । स्वस्वबाहुल्यहीनैकरज्ज्वायामनिजान्तराः ॥५६॥
द्वात्रिंशदथ बाहुल्यमष्टाविंशतिरेव च । चतुर्विंशतिरप्यासां विंशतिः षोडशाष्ट च ॥५७॥
योजनानां सहस्राणि षण्णामपि यथाक्रमम् । पृथिवीनां विनिर्दिष्टं दृष्टतत्त्वैर्जिनेश्वरैः ॥५८॥
दशानामसुरादीनां प्रथमायां च सद्मनाम् । संख्या सा प्रतिपत्तव्या परिपाट्या व्यवस्थिता ॥५९॥
चतुःषष्टिः स्मृता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तरा । द्वासप्ततिस्तथा लक्षाः षण्णां षट्सप्ततिस्ततः ॥६०॥
भवनानां तथा लक्षा नवतिश्च षडुत्तरा । चैत्यालयाश्च विज्ञेयाः प्रत्येकं सद्मसंख्यया ॥६१॥
चतुर्दश सहस्राणि षोडशापि यथाक्रमम् । भूतानां राक्षसानां च सन्ति सद्मान्यधो भुवः ॥६२॥
असुरा नागनामानः सुपर्णास्तनयामराः । द्वीपोदधिकुमाराश्च तथैव स्तनितामराः ॥६३॥
विद्युत्कुमारनामानो दिक्कुमारास्तथाऽपरे । देवा अग्निकुमाराश्च कुमारा वायुपूर्वकाः ॥६४॥
मणिद्युमणिनित्याभे पाताले निवसन्ति ते । यथायथं निवासेषु देवा भवनवासिनः ॥६५॥
असुराणां च तत्रायुः साधिकः सागरः स्मृतः । तथा नागकुमाराणां ज्ञेयं पल्योपमत्रयम् ॥६६॥
तत् सुपर्णकुमाराणां सार्धं पल्योपमद्वयम् । द्वयं द्वीपकुमाराणां शेषाणां पल्यमर्धभाक् ॥६७॥
असुराणां धनूंषि स्यादुत्सेधः पञ्चविंशतिः । भौमैर्दशैव शेषाणां ज्योतिषां सप्त तत्त्वतः ॥६८॥
सौधर्मैशानयोर्देवाः सप्तहस्तोच्छ्रयास्ततः । एकार्धहानौ सर्वार्थसिद्धौ हस्तोऽवशिष्यते ॥६९॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि शृणु श्रेणिक ! लेशतः । सप्तानामपि भूमीनां क्रमेण नरकालयान् ॥७०॥

है तथा देदीप्यमान खर भाग इन सोलह पटल स्वरूप ही है ॥५५॥ पङ्क भागसे शेष छह भूमियोंका अपना-अपना अन्तर अपनी-अपनी मोटाईसे कम एक-एक रज्जु प्रमाण है ॥५६॥ समस्त तत्त्वोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले श्री जिनेन्द्र देवने द्वितीयादि पृथिवियोंकी मोटाई क्रमसे बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन बतलाई है ॥५७-५८॥

प्रथम पृथिवीमें असुरकुमार आदि दसभवनवासी देवोंके भवनोंकी संख्या निम्न प्रकार जानना चाहिए—असुर कुमारोंके चौंसठ लाख, नागकुमारोंके चौरासी लाख, गरुडकुमारोंके बहत्तर लाख, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, मेघकुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और विद्युत्कुमार इन छह कुमारोंके छिहत्तर लाख तथा वायुकुमारोंके छियानबे लाख भवन हैं। ये सब भवन श्रेणि रूपसे स्थित हैं तथा प्रत्येकमें एक-एक चैत्यालय हैं ॥५९-६१॥ पृथिवीके नीचे भूतोंके चौदह हजार और राक्षसोंके सोलह हजार भवन यथाक्रमसे स्थित हैं ॥६२॥ जहाँ मणिरूपी सूर्यकी निरन्तर आभा फैली रहती है ऐसे पाताल लोकमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार ये दस प्रकारके भवनवासी देव यथायोग्य अपने-अपने भवनोंमें निवास करते हैं ॥६३-६५॥ उनमें असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट-आयु कुछ अधिक एक सागर, नागकुमारोंकी तीन पल्य, सुपर्णकुमारोंकी अढ़ाई पल्य, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य और शेष छह कुमारोंकी डेढ़ पल्य प्रमाण है ॥६६-६७॥ असुरकुमारोंकी ऊँचाई पच्चीस धनुष, शेष नौ प्रकारके भवनवासियों तथा व्यन्तरोंकी दस धनुष और ज्योतिषी देवोंकी सात धनुष है ॥६८॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी ऊँचाई सात हाथ है। उसके आगे एक तथा आधा हाथ कम होते-होते सर्वार्थसिद्धिमें एक हाथकी ऊँचाई रह जाती है। भावार्थ—पहले दूसरे स्वर्गमें सात हाथ, तीसरे चौथे स्वर्गमें छह हाथ, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्गमें पाँच हाथ, नौवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें स्वर्गमें चार हाथ, तेरहवें, चौदहवेंमें साढ़े तीन हाथ, पन्द्रहवें सोलहवें स्वर्गमें तीन हाथ, अधोग्रैवेयकोंमें अढ़ाई हाथ, मध्यम ग्रैवेयकोंमें दो हाथ, उपरि ग्रैवेयकोंमें तथा अनुदिश विमानोंमें डेढ़ हाथ और अनुत्तर विमानोंमें एक हाथ ऊँचाई है ॥६९॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब इसके आगे संक्षेपसे रत्नप्रभा आदि सातों भूमियोंके बिलोंका यथाक्रमसे वर्णन करता हूँ सो सुन ॥७०॥

अबन्त्यब्बहुले भागे घर्मायां नारकाश्रयाः । योजनानां सहस्रं तु मुक्त्वोर्ध्वाधोविभागयोः ॥७१॥
अयमेव क्रमो ज्ञेयः शेषास्वपि च भूमिषु । सप्तम्यां मध्यदेशेऽमी सन्ति क्रोशपञ्चके ॥७२॥
लक्षा नरकभेदानां स्युस्त्रिंशत्पञ्चविंशतिः । तासु पञ्चदशैवैता दश तिस्रस्तथैव च ॥७३॥
पञ्चोनापि च लक्षैका पञ्च चैव यथाक्रमम् । लक्षाश्चतुरशीतिः स्युस्तेषां संग्रहसंख्यया ॥७४॥
त्रयोदश यथासंख्यमेकादश नवापि च । सप्त पञ्च त्रयश्चैकः प्रस्तारास्तासु भूमिषु ॥७५॥
सीमन्तको मतः पूर्वो नरको रौरुकस्ततः । भ्रान्तोद्भ्रान्तौ च सम्भ्रान्तः परोऽसम्भ्रान्त एव च ॥७६॥
विभ्रान्तश्च तथा त्रस्तो घर्मायां त्रसितः परः । वक्रान्तश्चाप्यवक्रान्तो विक्रान्तश्चेन्द्रकाः स्मृताः ॥७७॥
स्तरकः स्तनकश्चैव मनको वनकस्तथा । घाटसंघाटनामानौ जिह्वाख्यो जिह्विकाभिधः ॥७८॥
लोलश्च लोलुपश्चापि तथाऽन्यस्तनलोलुपः । वंशायामिन्द्रका ह्येते जिनैरेकादशोदिताः ॥७९॥
तप्तश्च तपितश्चान्यस्तपनस्तापनः परः । पञ्चमश्च निदाघाख्यः षष्ठः प्रज्वलितो मतः ॥८०॥
तथैवोज्ज्वलितो ज्ञेयस्ततः सञ्ज्वलितोऽष्टमः । सम्प्रज्वलित इत्यन्यस्तृतीयायां नवेन्द्रकाः ॥८१॥
आरस्तारश्च मारश्च वर्चस्कस्तमकस्तथा । खडः खडखडश्चेति चतुर्थ्यां सप्त वर्णिताः ॥८२॥
तमो भ्रमो झषोऽन्तश्च तामिस्रश्चेत्यमी स्मृताः । इन्द्रका नगराकाराः पञ्चम्यां पञ्च संहिताः ॥८३॥
हिमवर्दललल्लकाख्यः षष्ठ्यामपीन्द्रकाः । सप्तम्यामप्रतिष्ठानमेकमेवेन्द्रकं विदुः ॥८४॥
ज्ञेया ह्येकोनपञ्चाशदिन्द्रकाः संयुतास्त्वमी । अधोऽधो न्यूनका द्वाभ्यामुपर्युपरि वृद्धयः ॥८५॥
सीमन्तके चतुर्दिक्षु प्रत्येकं नारकालयाः । तिष्ठन्त्येकोनपञ्चाशत् श्रेणिबद्धा महान्तराः ॥८६॥
तावन्त एव चैकोनाः श्रेणिबद्धाः विदिक्षु च । प्रत्येकं बहवस्तेभ्यस्ताभ्योऽन्यत्र प्रकीर्णकाः ॥८७॥

घर्मा नामक पहिली पृथिवीके अब्बहुल भागमें ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर नारकियोंके बिल हैं। यही क्रम शेष पृथिवियोंमें भी समझना चाहिए, किन्तु सातवीं पृथिवीमें पैंतीस कोशके विस्तारवाले मध्य देशमें बिल हैं ॥७१–७२॥ पहली पृथिवीमें तीस लाख, दूसरीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पन्द्रह लाख, चौथीमें दस लाख, पाँचवींमें तीन लाख, छठवींमें पाँच कम एक लाख, सातवींमें पाँच और सातोंमें सब मिलाकर चौरासी लाख बिल हैं ॥७३–७४॥ उन पृथिवियोंमें क्रमसे तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन और एक प्रस्तार अर्थात् पटल हैं॥७५॥ घर्मा पृथिवीके तेरह प्रस्तारोंमें क्रमसे निम्नलिखित तेरह इन्द्रक बिल हैं—१ सीमन्तक, २ नारक, ३ रौरुक, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ संभ्रान्त, ७ असंभ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस्त, १० त्रसित ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त और १३ विक्रान्त ॥७६–७७॥ श्री जिनेन्द्र देवने वंशा नामक दूसरी पृथिवीके ग्यारह प्रस्तारोंमें निम्नाङ्कित ग्यारह इन्द्रक बिल बतलाये हैं—१ तरक, २ स्तनक ३ मनक, ४ वनक, ५ घाट, ६ संघाट, ७ जिह्वा, ८ जिह्वक, ९ लोल, १० लोलुप और ११ स्तन-लोलुप ॥७८–७९॥ तीसरी मेघा पृथिवीके नौ प्रस्तारोंमें निम्न प्रकार नौ इन्द्रक बिल बतलाये हैं—१ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ प्रज्वलित, ७ उज्ज्वलित, ८ संज्वलित और ९ संप्रज्वलित ॥८०–८१॥ चौथी पृथिवीके सात प्रस्तारोंमें क्रमसे निम्नलिखित सात इन्द्रक बिल हैं—१ आर, २ तार, ३ मार, ४ वर्चस्क, ५ तमक, ६ खड और ७ खडखड ॥८२॥ पाँचवीं पृथिवीके पाँच प्रस्तारोंमें निम्नलिखित पाँच इन्द्रक बिल हैं—१ तम, २ भ्रम, ३ झष, ४ अन्त और ५ तामिस्र। ये इन्द्रक बिल नगरोंके आकार हैं ॥८३॥ छठवीं पृथिवीमें १ हिम, २ वर्दल और ३ लल्लक ये तीन इन्द्रक बिल हैं ॥८४॥ सातों पृथिवियोंके सब इन्द्रक मिलकर उनचास हैं। ऊपरसे नीचेकी ओर प्रत्येक पृथिवीमें दो-दो कम होते जाते हैं और नीचेसे ऊपरकी ओर प्रत्येक पृथिवी-में दो-दो अधिक होते जाते हैं ॥८५॥ प्रथम पृथिवीके प्रथम प्रस्तार सम्बन्धी सीमन्तक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें प्रत्येकमें उनचास-उनचास श्रेणिबद्ध बिल हैं और ये परस्पर बहुत भारी अन्तरको लिये हुए हैं ॥८६॥ इसी सीमन्तक बिलकी चार विदिशाओंमें प्रत्येकमें अड़तालीस अड़तालीस श्रेणिबद्ध बिल हैं। इन श्रेणियों तथा श्रेणिबद्ध बिलोंके सिवाय बहुतसे प्रकीर्णक बिल

एकैको हीयते चाधः सीमन्तनरकादिषु । चतुःशेषोऽप्रतिष्ठानो न श्रेणी न प्रकीर्णकाः ॥८८॥
शतं षण्णवतं दिक्षु चतुरूनं विदिक्षु तत् । सीमन्तकस्य तन्मिश्रमष्टाशीतं शतत्रयम् ॥८९॥
शतं द्वानवतं दिक्षु साष्टाशीति विदिक्षु तत् । कुण्डानां नरकस्यैतद् युक्त्वाशीत्या शतत्रयम् ॥९०॥
अष्टाशीतं शतं दिक्षु चतुरूनं विदिक्षु तत् । रौरुकस्य विमिश्रं तद् द्वासप्तत्या शतत्रयम् ॥९१॥
शतं चतुरशीतिश्च भ्रान्ते दिक्षु विदिक्षु तत् । साशीति नारकं मिश्रं चतुःषष्ट्या शतत्रयम् ॥९२॥
साशीतिकं शतं दिक्षु षट्सप्तत्या विदिक्षु तत् । षट्पञ्चाशद्विमिश्रं स्यादुद्भ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९३॥
षट्सप्तत्या शतं दिक्षु द्वासप्तत्या विदिक्षु तत् । द्व्यूनपञ्चाशता मिश्रं सम्भ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९४॥
द्वासप्तत्या शतं दिक्षु साष्टषष्ट्या विदिक्षु तत् । असम्भ्रान्तस्य मिश्रं तच्चत्वारिंशं शतत्रयम् ॥९५॥
साष्टषष्टिशतं दिक्षु चतुःषष्ट्या विदिक्षु तत् । द्वात्रिंशं तद्द्वयं युक्तं विभ्रान्तस्य शतत्रयम् ॥९६॥
चतुःषष्ट्या शतं दिक्षु शतं षष्ट्या विदिक्षु च । त्रस्तस्य तद्द्वयं मिश्रं चतुर्विंशं शतत्रयम् ॥९७॥
शतं षष्ट्याधिकं दिक्षु षट्पञ्चाशं विदिक्षु तत् । त्रसितस्य समायुक्तं षोडशाग्रं शतत्रयम् ॥९८॥
षट्पञ्चाशं शतं दिक्षु द्वापञ्चाशं विदिक्षु तत् । वक्रान्तस्य समायुक्तमष्टोत्तरशतत्रयम् ॥९९॥
द्विपञ्चाशं शतं दिक्षु चत्वारिंशं सहाष्टभिः । विदिक्षु मिश्रितं तत्स्यादवक्रान्ते शतत्रयम् ॥१००॥

भी हैं ।।८७।। इन सीमन्तक आदि नरकोंमें नीचे-नीचे क्रम-क्रमसे एक-एक विल कम होता जाता है इस प्रकार सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रकको चार दिशाओंमें एक-एकके क्रमसे केवल चार विल हैं । वहाँ न श्रेणी है और न प्रकीर्णक विल ही हैं ।।८८।। इस प्रकार प्रथम पृथिवीके प्रथम सीमन्तक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ छियानवे, चार विदिशाओंमें एक सौ बानबे और सब मिलाकर तीन सौ अठासी श्रेणीबद्ध विल हैं ।।८९।। दूसरे प्रस्तारके नारक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ बानबे, चार विदिशाओंमें एक सौ अठासी और सब मिलाकर तीन सौ अस्सी श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९०।। तीसरे प्रस्तारके रौरुक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ अठासी, चार विदिशाओंमें एक सौ चौरासी और सब मिलाकर तीन सौ बहत्तर श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९१।। चौथे प्रस्तारके भ्रान्त नामक इन्द्रककी चार दिशाओंमें एक सौ चौरासी, विदिशाओंमें एक सौ अस्सी और सब मिलाकर तीन सौ चौसठ श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९२।। पाँचवें प्रस्तारके उद्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ अस्सी, विदिशाओंमें एक सौ छिहत्तर और सब मिलाकर तीन सौ छप्पन श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९३।। छठवें प्रस्तारके सम्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ छिहत्तर, विदिशाओंमें एक सौ बहत्तर और सब मिलाकर तीन सौ अड़तालीस श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९४।। सातवें प्रस्तारके असम्भ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चारों दिशाओंमें एक सौ बहत्तर, विदिशाओंमें एक सौ अड़सठ और सब मिलाकर तीन सौ चालीस श्रेणीबद्ध विल हैं ।।९५।। आठवें प्रस्तारके विभ्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ अड़सठ, विदिशाओंमें एकसौ चौसठ और सब मिलाकर तीन सौ बत्तीस श्रेणीबद्ध विल हैं ।।९६।। नौवें प्रस्तारके त्रस्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ चौसठ, विदिशाओंमें एक सौ साठ और सब मिलाकर तीन सौ चौबीस श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९७।। दसवें प्रस्तरके त्रसित नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ साठ, विदिशाओंमें एक सौ छप्पन और सब मिलाकर तीन सौ सोलह श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९८।। ग्यारहवें प्रस्तारके वक्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एक सौ छप्पन, विदिशाओंमें एक सौ बावन और सब मिलाकर तीन सौ आठ श्रेणिबद्ध विल हैं ।।९९।। बारहवें प्रस्तरके अवक्रान्त नामक इन्द्रक विलकी चार दिशाओंमें एकसौ बावन, विदिशाओंमें एक सौ अड़तालीस और सब मिलाकर तीन सौ श्रेणिबद्ध विल हैं ।।१००।।

१. सल्लका म०, ख० ।

चत्वारिंशं शतं दिक्षु विक्रान्तस्य सहाष्टभिः । चत्वारिंशं चतुर्भिस्तद् विदिक्षु परिकीर्तितम् ॥१०१॥
द्वयं तत्र समायुक्तं द्वयं द्वानवतं शतम् । इन्द्रके नरकाणां स्यात् परिवारस्त्रयोदशे ॥१०२॥
श्रेणिबद्धान्यमूनि स्युः सहस्राणीन्द्रकैः सह । त्रयस्त्रिंशच्चतुःशत्या चत्वारि समुदायतः ॥१०३॥
ये लक्षास्त्रिंशदेकोना नवतिः पञ्च पञ्चभिः । सहस्राणि शतैस्तेऽपि ससषष्ट्या प्रकीर्णकाः ॥१०४॥
चत्वारिंशं शतं दिक्षु चतुर्भिस्तरकस्य तत् । विदिक्षु चतुरूनं द्वे अशीत्या चतुरन्तया ॥१०५॥
चत्वारिंशं शतं दिक्षु षट्त्रिंशं तु विदिक्षु तत् । स्तनकस्य समस्तं तत् षट्सप्तत्या शतद्वयम् ॥१०६॥
षट्त्रिंशं हि शतं दिक्षु द्वात्रिंशं तु विदिक्षु तत् । मनकस्य समस्तं तत् साष्टषष्टि शतद्वयम् ॥१०७॥
द्वात्रिंशं हि शतं दिक्षु स्वष्टाविंशं विदिक्षु तत् । वनकस्य समस्तं तत् षष्ट्या युक्तं शतद्वयम् ॥१०८॥
अष्टाविंशं शतं दिक्षु चतुर्विंशं विदिक्षु तत् । घाटस्यापि समस्तं तत् द्वापञ्चाशं शतद्वयम् ॥१०९॥
चतुर्विंशं शतं दिक्षु विंशमेव विदिक्षु तत् । सङ्घाटस्य चतुर्युक्तं चत्वारिंशं शतद्वयम् ॥११०॥
दिक्षु विंशं शतं ज्ञेयं षोडशाग्रं विदिक्षु तत् । जिह्वाख्यस्य समस्तं तत् षट्त्रिंशं हि शतद्वयम् ॥१११॥
षोडशाग्रं शतं दिक्षु द्वादशाग्रं विदिक्षु तत् । जिह्वकाख्यस्य युक्तं स्यादष्टाविंशं शतद्वयम् ॥११२॥
द्वादशाग्रं शतं दिक्षु विदिक्ष्वष्टोत्तरं शतम् । लोलस्यापि समस्तं तत् विंशत्यग्रं शतद्वयम् ॥११३॥
अष्टोत्तरशतं दिक्षु विदिक्षु चतुरुत्तरम् । लोलुपस्य समस्तं तत् द्वादशाग्रं शतद्वयम् ॥११४॥
चतुर्भिश्च शतं दिक्षु विदिक्षु शतमायतम् । स्तनलोलुपाख्यस्य चतुर्युक्तं शतद्वयम् ॥११५॥

और तेरहवें प्रस्तारके विक्रान्त नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ अड़-तालीस, विदिशाओंमें एक सौ चौवालीस और दोनोंके सब मिलाकर दो सौ बानबे श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१०१-१०२॥ इस प्रकार तेरहों प्रस्तारोंके समस्त श्रेणिबद्ध बिल चार हजार चार सौ बीस, इन्द्रक बिल तेरह और श्रेणिबद्ध तथा इन्द्रक दोनों मिलाकर चार हजार चार सौ तैंतीस बिल हैं। इनके सिवाय उनतीस लाख पञ्चानबे हजार पाँच सौ सड़सठ प्रकीर्णक बिल हैं। इस प्रकार सब मिलाकर प्रथम पृथिवीमें तीस लाख बिल हैं ॥१०३-१०४॥

द्वितीय पृथिवीके प्रथम प्रस्तारके स्तरक नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चौवालीस, विदिशाओंमें एक सौ चालीस और सब मिलाकर दो सौ चौरासी श्रेणिबद्ध बिल हैं। ॥१०५॥ द्वितीय प्रस्तारके स्तनक नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चालीस, विदि-शाओंमें एक सौ छत्तीस और सब मिलाकर दो सौ छिहत्तर श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१०६॥ तृतीय प्रस्तारके मनक नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ छत्तीस, विदिशाओंमें एक सौ बत्तीस और सब मिलाकर दो सौ अड़सठ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१०७॥ चतुर्थ प्रस्तारके वनक नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ बत्तीस, विदिशाओंमें एक सौ अट्ठाईस और सब मिल कर दो सौ साठ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१०८॥ पञ्चम प्रस्तारके घाट नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ अट्ठाईस, विदिशाओंमें एक सौ चौबीस और सब मिलाकर दो सौ बावन बिल श्रेणिबद्ध हैं ॥१०९॥ षष्ठ प्रस्तारके संघाट नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें एक सौ चौबीस, विदिशाओंमें एक सौ बीस और सब मिलाकर दो सौ चौवालीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११०॥ सप्तम प्रस्तारके जिह्वनामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ बीस, विदिशाओंमें एक सौ सोलह और सब मिलाकर दो सौ छत्तीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१११॥ अष्टम प्रस्तारके जिह्वक नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ सोलह, विदिशाओंमें एक सौ बारह और सब मिलाकर दो सौ अट्ठाईस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११२॥ नवम प्रस्तारके लोल नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ बारह, विदिशाओंमें एक सौ आठ और सब मिलाकर दो सौ बीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११३॥ दशम प्रस्तारके लोलुप नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ आठ, विदिशाओंमें एक सौ चार और सब मिलाकर दो सौ बारह श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११४॥ और एकादश प्रस्तारके स्तन-

श्रेणिबद्धानि चैतानि द्वे सहस्रे च षट्शती । नवतिः पञ्चभिर्युक्ता भवन्ति नरकाणि तु ॥११६॥
चतुर्विंशतिलक्षाश्च नवतिः सप्तभिस्त्विह । सहस्रगुणिताः पञ्च त्रिशती च प्रकीर्णकाः ॥११७॥
तप्तस्यापि शतं दिक्षु नरकाणां विदिक्षु तत् । मता षण्णवतिर्युक्तं शतं षण्णवतं तु तत् ॥११८॥
दिक्षु षण्णवतिर्द्वाभ्यां विदिक्षु नवतिर्युता । तपितस्य तु[1] तद् युक्तमष्टाशीतं शतं मतम् ॥११९॥
दिक्षु द्वानवतिः सा स्यादष्टाशीतिर्विदिक्षु तत् । तपनस्य तु तद्युक्तमशीत्या सहितं शतम् ॥१२०॥
अष्टाशीतिर्महादिक्षु विदिक्षु चतुरुत्तरा । अशीतिस्तापनस्यैतत् द्वासप्तत्या शतं युतम् ॥१२१॥
अशीतिश्चतुरूर्ध्वा स्याद् दिक्ष्वशीतिर्विदिक्षु तत् । निदाघस्यापि तद्युक्तं चतुःषष्टियुतं शतम् ॥१२२॥
दिक्ष्वशीतिर्विदिक्षु स्यैः षट्सप्ततिरुदाहृता । युक्तं प्रज्वलितस्यापि षट्पञ्चाशं शतं हि तत् ॥१२३॥
दिक्षु षट्सप्ततिर्ज्ञेया चतुरूना विदिक्षु सा । शतमुज्ज्वलितस्योभे चत्वारिंशं शतं मतम् ॥१२४॥
दिक्षु द्वासप्ततिः सा स्यादष्टाषष्टिर्विदिक्षु तत् । युक्तं सञ्ज्वलितस्यापि चत्वारिंशं शतं मतम् ॥१२५॥
अष्टाषष्टिर्महादिक्षु चतुःषष्टिर्विदिक्षु तत् । सम्प्रज्वलितसंज्ञस्य द्वात्रिंशत्संयुतं शतम् ॥१२६॥
श्रेणिबद्धानि चामूनि सहस्रं च चतुःशती । पञ्चाशीतिश्च जायन्ते नवस्वपि सहेन्द्रकैः ॥१२७॥
लक्षाश्चतुर्दशाष्टाभिर्नवतिश्च प्रकीर्णकाः । सहस्रताडिता पञ्च-शती पञ्चदशापि च ॥१२८॥

लोलुप नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें एक सौ चार, विदिशाओंमें सौ और सब मिलाकर दो सौ चार श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११५॥ इस प्रकार इन ग्यारह प्रस्तारोंके श्रेणिबद्ध बिल दो हजार छह सौ चौरासी और इन्द्रक बिल ग्यारह हैं तथा दोनों मिलाकर दो हजार छह सौ पञ्चानबे हैं ॥११६॥ तथा प्रकीर्णक बिल चौबीस लाख सत्तानबे हजार तीन सौ पाँच है। इस तरह सब मिलकर पच्चीस लाख बिल हैं ॥११७॥

तीसरी पृथिवीके पहले प्रस्तार सम्बन्धी तप्त नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें सौ, विदिशाओंमें छियानबे और सब मिलाकर एक सौ छियानबे श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११८॥ दूसरे प्रस्तारके तपित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें छियानबे, विदिशाओंमें बानबे और दोनोंके मिलाकर एक सौ अठासी श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥११९॥ तीसरे प्रस्तारके तपन नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बानबे, विदिशाओंमें अठासी और दोनोंके मिलाकर एक सौ अस्सी श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२०॥ चौथे प्रस्तारके तापन नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें अठासी, विदिशाओंमें चौरासी और दोनोंके मिलाकर एक सौ बहत्तर श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२१॥ पाँचवें प्रस्तारके निदाघ नामक इन्द्रक बिलकी चारों दिशाओंमें चौरासी, विदिशाओंमें अस्सी और दोनोंके मिलाकर एक सौ चौंसठ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२२॥ छठवें प्रस्तारके प्रज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें अस्सी, विदिशाओंमें छिहत्तर और दोनोंके मिलाकर एक सौ छप्पन श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२३॥ सातवें प्रस्तारके उज्ज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें छिहत्तर, विदिशाओंमें बहत्तर और दोनोंके मिलाकर एक सौ अड़तालीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२४॥ आठवें संज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बहत्तर, विदिशाओंमें अड़सठ और दोनोंको मिलाकर एक सौ चालीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२५॥ और नौवें प्रस्तारके संप्रज्वलित नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें अड़सठ, विदिशाओंमें चौंसठ और दोनोंके सब मिलाकर एक सौ बत्तीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२६॥ इस प्रकार नौ प्रस्तारोंके समस्त श्रेणिबद्ध बिल एक हजार चार सौ छिहत्तर हैं। इनमें नौ इन्द्रक बिलोंकी संख्या मिलानेपर एक हजार चार सौ पचासी बिल होते हैं ॥१२७॥ पहली पृथिवीमें चौदह लाख, अंठानबे हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक हैं और सब मिलाकर पन्द्रह लाख बिल हैं ॥१२८॥

१. न म० ।

चतुःषष्टिर्महादिक्षु षष्टिरेव विदिक्षु च । आरस्यापि शतं मिश्रं चतुर्विंशतिसम्मतम् ॥१२९॥
षष्टिरेव महादिक्षु षट्पञ्चाशद्विदिक्षु च । तारस्यापि च तन्मिश्रं षोडशाग्रं शतं मतम् ॥१३०॥
षट्पञ्चाशन्महादिक्षु द्वापञ्चाशद्विदिक्षु च । मारस्यापि च तन्मिश्रं मतमष्टोत्तरं शतम् ॥१३१॥
द्वापञ्चाशन्महादिक्षु चत्वारिंशत् सहाष्टभिः । वर्चस्कस्य विदिक्षु स्यात्तन्मिश्रं शतमेव तु ॥१३२॥
चत्वारिंशत् सहाष्टाभिर्महादिक्षु विदिक्षु तु । तमकस्य चतुर्भिश्च युतं वा नवतिद्वयम् ॥१३३॥
चत्वारिंशच्चतुर्भिश्च महादिक्षु विदिक्षु तु । चत्वारिंशत् खडस्यैवमशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१३४॥
चत्वारिंशन्महादिक्षु षट्त्रिंशच्च विदिक्षु च । युता खडखडस्यैव षट्सप्ततिरुदाहृता ॥१३५॥
इन्द्रकैः सह सप्त स्युः शतान्येतानि सप्त च । श्रेणीबद्धानि सर्वाणि नरकाण्यत्र सम्भवात् ॥१३६॥
लक्षा नवसहस्राणि नवतिर्नवभिः सह । नवतिश्च त्रिभिर्युक्ता द्विशती च प्रकीर्णकाः ॥१३७॥
षट्त्रिंशच्च महादिक्षु द्वात्रिंशत्तु विदिक्षु तत् । तमःश्रुतेद्वयं मिश्रमष्टाषष्टिरुदाहृता ॥१३८॥
द्वात्रिंशच्च महादिक्षु [1]भ्रमस्याष्टौ च विंशतिः । विदिक्षु मिश्रितं तच्च षष्टिरिष्टा मनीषिभिः ॥१३९॥
अष्टाविंशतिरुद्दिष्टा महादिक्षु विदिक्षु तु । [2]ऋषस्य चतुरूना स्याद्द्वापञ्चाशद्द्वयं युता ॥१४०॥
चतुर्विंशतिरन्ध्रस्य महादिक्षु विदिक्षु तु । विंशतिर्मिश्रितं तस्य चत्वारिंशच्चतुर्युता ॥१४१॥
विंशतिस्तु महादिक्षु विदिक्ष्वपि च षोडश । तमिस्रस्य विमिश्रं तत् षट्त्रिंशन्नरकाणि तु ॥१४२॥

चौथी पृथिवीके पहले प्रस्तार सम्बन्धी आर नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चौंसठ, विदिशाओंमें साठ और दोनोंके मिलाकर एक सौ चौबीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१२९॥ दूसरे प्रस्तारके तार नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें साठ, विदिशाओंमें छप्पन और दोनोंके मिलाकर एक सौ सोलह श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३०॥ तीसरे प्रस्तारके मार नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें छप्पन, विदिशाओंमें बावन और दोनोंके मिलाकर एक सौ आठ श्रेणिबद्ध विमान हैं ॥१३१॥ चौथे प्रस्तारके वर्चस्क नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बावन, विदिशाओंमें अड़तालीस और दोनोंके मिलाकर एक सौ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३२॥ पाँचवें प्रस्तारके तमक नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें अड़तालीस, विदिशाओंमें चवालीस और दोनोंके मिलाकर बानबे श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३३॥ छठवें प्रस्तारके खड नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चवालीस, विदिशाओंमें चालीस और दोनोंके मिलाकर चौरासी श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३४॥ और सातवें प्रस्तारके खड-खड नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें चालीस, विदिशाओंमें छत्तीस और दोनोंके मिलाकर छिहत्तर श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३५॥ इस प्रकार चौथी भूमिमें सात इन्द्रक बिलोंकी संख्या मिलाकर सब इन्द्रक और श्रेणिबद्ध बिलोंकी संख्या सात सौ सात है ॥१३६॥ इनके सिवाय नौ लाख निन्यानबे हजार दो सौ तिरानबे प्रकीर्णक बिल हैं तथा सब मिलाकर दश लाख बिल हैं ॥१३७॥

पाँचवीं पृथिवी सम्बन्धी प्रथम प्रस्तारके तम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें छत्तीस, विदिशाओंमें बत्तीस और दोनोंके मिलाकर अड़सठ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३८॥ दूसरे प्रस्तारमें भ्रम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बत्तीस, विदिशाओंमें अट्ठाईस और दोनोंके मिलाकर साठ श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१३९॥ तीसरे प्रस्तारके ऋषभ नामक इन्द्र की चारों महादिशाओंमें अट्ठाईस, विदिशाओंमें चौबीस और दोनोंमें मिलाकर बावन श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१४०॥ चौथे प्रस्तारके अन्ध्र नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें चौबीस, विदिशाओंमें बीस और दोनोंके मिलाकर चवालीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१४१॥ और पाँचवें प्रस्तारके तमिस्र नामक इन्द्रककी चारों दिशाओंमें बीस, विदिशाओंमें सोलह और दोनोंके मिलाकर छत्तीस श्रेणिबद्ध

---

१. तमस्याष्टौ म० । २. ऋषभस्य म० ।

इन्द्रकैः सह सर्वाणि श्रेणीबद्धान्यमून्यपि । द्वे शते नरकाण्युक्ते पञ्चषष्टिविमिश्रिते ॥१४३॥
द्वे लक्षे च सहस्राणि नवभिर्नवतिस्तथा । शतानि सप्त कथ्यन्ते पञ्चत्रिंशत् प्रकीर्णकाः ॥१४४॥
षोडशैव महादिक्षु द्वादशैव विदिक्षु च । हिमस्यापि विमिश्रं स्यादष्टाविंशतिरेव तत् ॥१४५॥
द्वादशैव महादिक्षु विदिक्ष्वष्टौ तु तद्‌द्वयम् । सहितं नरकाणां स्याद् वर्दलस्य तु विंशतिः ॥१४६॥
अष्टावेव महादिक्षु चत्वार्येव विदिक्षु च । लल्लकस्य समेतं तु द्वादशैव तु तद्‌द्वयम् ॥१४७॥
त्रिषष्टिरिन्द्रकैः सार्धं श्रेणीबद्धान्यमून्यपि । नवतिश्च सहस्राणि नवभिः सहितानि तु ॥१४८॥
शतानि नव तत्रापि द्वात्रिंशच्च प्रकीर्णकाः । प्रकीर्णनारकाकीर्णाः प्रणीताः प्राणिदुःसहाः ॥१४९॥
एकमेव महादिक्षु विदिक्षु नरकं न हि । अप्रतिष्ठानयुक्तानि पञ्च स्युर्न प्रकीर्णकाः ॥१५०॥
कांक्षाख्यश्च महाकांक्षः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोः । पिपासातिपिपासाख्यौ दक्षिणोत्तरयोस्तथा ॥१५१॥
सीमन्तकेन्द्रकस्यामी चत्वारोऽनन्तराः स्थिताः । दुर्वर्णनारकाकीर्णाः प्रसिद्धा नारकालयाः ॥१५२॥
अनिच्छाख्यो महानिच्छो निरयो विन्ध्यनामकः । महाविन्ध्याभिधानश्च तरकस्य तथा स्थिताः ॥१५३॥
दुःखाख्यश्च महादुःखो निरयो वेदनाभिधः । महावेदननामा च तप्तस्यामी तथा स्थिताः ॥१५४॥
निसृष्टातिनिसृष्टाख्यौ निरोधो निरयोऽपरः । महानिरोधमाख्या च तेऽप्यारस्य तथा स्थिताः ॥१५५॥
निरुद्धातिनिरुद्धाख्यौ तृतीयश्च विमर्दनः । महाविमर्दनाख्यश्च तमोनाम्ना तथा स्थिताः ॥१५६॥

बिल हैं ॥१४२॥ इस प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें पाँच इन्द्रक बिल मिलाकर समस्त इन्द्रक और श्रेणिबद्ध बिलोंकी संख्या दो सौ पैंसठ हैं। तथा दो लाख निन्यानबे हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक बिल हैं और सब मिलकर तीन लाख बिल हैं ॥१४३–१४४॥

छठवीं पृथिवी सम्बन्धी प्रथम प्रस्तारके हिम नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें सोलह, विदिशाओंमें बारह और दोनोंके मिलाकर अट्ठाईस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१४५॥ दूसरे प्रस्तारके वर्दल नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें बारह, विदिशाओंमें आठ और दोनोंके मिलाकर बीस श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१४६॥ और तीसरे प्रस्तारके लल्लक नामक इन्द्रककी चारों महादिशाओंमें आठ, विदिशाओंमें चार और दोनोंके मिलाकर बारह श्रेणिबद्ध बिल हैं ॥१४७॥ इस प्रकार छठवीं पृथिवीके तीन प्रस्तारोंमें तीन इन्द्रकोंकी संख्या मिलाकर त्रेशठ इन्द्रक और श्रेणिबद्ध बिल हैं तथा निन्यानबे हजार नौ सौ बत्तीस प्रकीर्णक बिल हैं और सब मिलकर पाँच कम एक लाख बिल हैं। ये सभी बिल प्राणियोंके लिए दुःखसे सहन करनेके योग्य हैं ॥१४८–१४९॥

सातवीं पृथिवीमें एक ही प्रस्तार है और उसके बीचमें अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक है उसकी चारों दिशाओंमें चार श्रेणिबद्ध बिल हैं। इसकी विदिशाओंमें बिल नहीं हैं तथा प्रकीर्णक बिल भी इस पृथिवीमें नहीं हैं। एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध दोनों मिलकर पाँच बिल हैं ॥१५०॥

प्रथम पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो सीमन्तक नामका इन्द्रक बिल है उसकी पूर्व दिशामें काङ्क्ष, पश्चिम दिशामें महाकाङ्क्ष, दक्षिण दिशामें पिपास और उत्तर दिशामें अतिपिपास नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं। ये महानरक इन्द्रक बिलके निकटमें स्थित हैं तथा दुर्वर्ण नारकियोंसे व्याप्त हैं ॥१५१–१५२॥ दूसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तरक नामका इन्द्रक बिल है उसकी पूर्व दिशामें अनिच्छ, पश्चिम दिशामें महानिच्छ, दक्षिण दिशामें विन्ध्य और उत्तर दिशामें महाविन्ध्य नामके प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५३॥ तीसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तप्त नामका इन्द्रक बिल है उसकी पूर्व दिशामें दुःख, पश्चिम दिशामें महादुःख, दक्षिण दिशामें वेदना और पश्चिम दिशामें महावेदना नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५४॥ चौथी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो आर नामका इन्द्रक बिल है, उसकी पूर्व दिशामें निःसृष्ट, पश्चिम दिशामें अतिनिःसृष्ट, दक्षिण दिशामें निरोध और उत्तर दिशामें महानिरोध नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५५॥ पाँचवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो तम नामका इन्द्रक है उसकी

नीलश्चापरश्च महानीलो निरयौ मघवाक्षितौ । दिक्षु पङ्कमहापङ्कौ हिमनाम्नस्तथा स्थितः ॥१५७॥
स्थिताः कालमहाकालरौरवा निरयास्तथा । महारौरवनामा च स्वाप्रतिष्ठानदिक्षु ते ॥१५८॥
नवतिश्च सहस्राणि त्रिशती च प्रकीर्णकाः । लक्षास्त्वेव त्र्यशीतिः स्युश्चत्वारिंशच्च सप्तभिः ॥१५९॥
सहस्राणि नव श्रेणी-गतानां षट्शतीन्द्रकैः । त्रिभिः पञ्चाशता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तरा ॥१६०॥
तेषु सङ्ख्येयविस्ताराः षट्लक्षाः प्रथमक्षितौ । सन्त्यसङ्ख्येयविस्ताराश्चतुर्विंशतिरेव ताः ॥१६१॥
सन्ति सङ्ख्येयविस्ताराः पञ्चलक्षास्तु विंशतिः । ततोऽसङ्ख्येयविस्तारा नरकौघा अधःक्षितौ ॥१६२॥
लक्षास्तिस्रस्तृतीयायां ख्याताः सङ्ख्येययोजनाः । असङ्ख्येयास्तु विस्तारा लक्षा द्वादश तु क्षितौ ॥१६३॥
लक्षद्वयं चतुर्थ्यां तु नारकाणां क्षितौ ततः । सङ्ख्येययोजनानां स्यादन्येषामष्ट लक्षिताः ॥१६४॥
अधःषष्टिसहस्राणि सङ्ख्येया व्यमितान्यतः । चत्वारिंशत्सहस्राणि द्विलक्षाण्यपराण्यपि ॥१६५॥
एकोनविंशतिः षष्ठ्यां सहस्राणि नवोत्तरा । नवतिर्नवशत्यामा[1] सङ्ख्येया व्यमितानि तु ॥१६६॥
सप्ततिश्च सहस्राणि नवासङ्ख्येययोजनाः । शतानि नारकावासा नवषण्णवतिस्त्विह ॥१६७॥
एकं सङ्ख्येयविस्तारं सप्तम्यां नरकं मतम् । ततोऽसंख्येयविस्तारं नरकाणां चतुष्टयम् ॥१६८॥
तत्र संख्येयविस्तारा इन्द्रकाः सर्व एव ते । श्रेणीबद्धास्त्वसंख्येयविस्तारा नरकालयाः ॥१६९॥
केचित् संख्येयविस्ताराः सर्वभूमिप्रकीर्णकाः । केऽप्यसंख्येयविस्तारा इत्थं ते तूभयात्मकाः ॥१७०॥

पूर्व दिशामें निरुद्ध, पश्चिम दिशामें अतिनिरुद्ध, दक्षिणमें विमर्दन और उत्तरमें महाविमर्दन नामके चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५६॥ छठवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तारमें जो हिम नामका इन्द्रक बिल है उसकी पूर्व दिशामें नील, पश्चिम दिशामें महानील, दक्षिणमें पङ्क और उत्तरमें महापङ्क नामके चार प्रसिद्ध महानरक स्थित हैं ॥१५७॥ और सातवीं पृथिवीमें जो अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक है उसकी पूर्व दिशामें काल, पश्चिम दिशामें महाकाल, दक्षिण दिशामें रौरव और उत्तर दिशामें महारौरव नामके चार प्रसिद्ध महानरक हैं ॥१५८॥ इस प्रकार सातों पृथिवियोंमें तेरासी लाख, नब्बे हजार, तीन सौ सैंतालिस प्रकीर्णक, नौ हजार छह सौ श्रेणिबद्ध, उनंचास इन्द्रक और सब मिलाकर चौरासी लाख बिल हैं ॥१५९–१६०॥

प्रथम पृथिवीके तीस लाख बिलोंमें छह लाख बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और चौबीस लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥१६१॥ उसके नीचे दूसरी पृथिवीमें पाँच लाख संख्यात योजन विस्तार वाले और बीस लाख असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल हैं ॥१६२॥ तीसरी पृथिवीमें तीन लाख संख्यात योजन विस्तार वाले और बारह लाख असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल हैं ॥१६३॥ चौथी पृथिवीमें दो लाख बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और आठ लाख असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥१६४॥ पाँचवीं पृथ्वीमें साठ हजार बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और दो लाख चालीस हजार बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥१६५॥ छठवीं पृथिवीमें उन्नीस हजार नौ सौ निन्यानबे बिल संख्यात-योजन विस्तार वाले हैं और उन्यासी हजार नौ सौ छियानबे बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥१६६–१६७॥ सातवीं पृथिवीमें एक अर्थात् बीचका इन्द्रक बिल संख्यात योजन विस्तार वाला है और चारों दिशाओंके चार बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं ॥१६८॥ सातों पृथिवियोंमें जो इन्द्रक बिल हैं वे सब संख्यात योजन विस्तार वाले हैं, तथा श्रेणिबद्ध बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और प्रकीर्णक बिलोंमें कितने ही संख्यात योजन विस्तार वाले तथा कितने ही असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं इस तरह उभय विस्तार वाले हैं ॥१६९–१७०॥

---

१. साकमित्यर्थः ।

सीमन्तकस्य विस्तारो योजनानां मतं ततः । विद्वद्भिः प्रमितो लक्षाश्चत्वारिंशच्च पञ्च च ॥१७१॥
चत्वारिंशच्चतस्रश्च लक्षाः साष्टसहस्रिकाः । त्रिशती च त्रयस्त्रिंशत् सत्र्यंशो नारकस्य सः ॥१७२॥
त्रिचत्वारिंशदिष्टास्ताः सहस्राणि च षोडश । षट्शतानि च षट्षष्टिर्द्वौ त्र्यंशौ रौरवस्य च ॥१७३॥
द्विचत्वारिंशदुक्तास्ताः सहस्राणि च विंशतिः । पञ्चोत्तराणि विस्तारो भ्रान्तस्यापि समन्ततः ॥१७४॥
चत्वारिंशच्च लक्षा सैकोद्भ्रान्तस्य शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्तु भागवान् ॥१७५॥
चत्वारिंशत्स सम्भ्रान्ते ततः षट्षष्टि षट्शती । चत्वारिंशत् सहस्राणि सैकानि द्वौ त्रिभागकौ ॥१७६॥
ताश्चत्वारिंशदेकोना असम्भ्रान्तस्य विस्तृतिः । पञ्चाशच्च सहस्राणि योजनानां समन्ततः ॥१७७॥
अष्टात्रिंशत् स विभ्रान्ते ताः पञ्चाशत् सहस्रकैः । सह त्र्यंशत्रयस्त्रिंशत् त्रिशताष्टसहस्रकैः ॥१७८॥
सप्तत्रिंशदतो लक्षा सषट्षष्टिसहस्रिकाः । शतानि षट् त्रिभागौ द्वौ षट्षष्टिस्त्रस्तनामनि ॥१७९॥
षट्त्रिंशच्च तथा लक्षाः सहस्राणि च सप्ततिः । पञ्चोत्तराणि विस्तारस्त्रसितस्य परिस्फुटः ॥१८०॥
पञ्चत्रिंशदतो लक्षा वक्रान्तस्य त्रिभागवान् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥१८१॥
चतुस्त्रिंशदतो लक्षा नवत्येकसहस्रिकाः । षट्षष्टिः षट्शती त्र्यंशाववक्रान्तस्य सर्वतः ॥१८२॥
चतुस्त्रिंशदतो लक्षा योजनानामवस्थिताः । विक्रान्तस्यापि विस्तारः समस्तो विस्तरेरितः ॥१८३॥
स्तरकस्य त्रयस्त्रिंशत् लक्षाः साष्टसहस्रिकाः । शतानि त्रीणि सत्र्यंशः त्रिंशच्च त्रीणि विस्तृतिः ॥१८४॥
स्तनकस्य तु विस्तारो लक्षा द्वात्रिंशदंशकौ । षोडशापि सहस्राणि षट्षष्टिः षट्शती मता ॥१८५॥
मनकस्यापि विस्तारो त्रिंशल्लक्षा सहैकका: । योजनानां सहस्राणि पञ्चविंशतिरेव च ॥१८६॥

अब सातों पृथिवियोंके उनंचास इन्द्रक बिलोंका विस्तार कहते हैं—उनमेंसे प्रथम पृथिवीके सीमन्तक इन्द्रकका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है ॥१७१॥ दूसरे नारक इन्द्रकका विस्तार चवालीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन तथा एक योजनके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥१७२॥ तीसरे रौरव इन्द्रकका विस्तार तैंतालीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७३॥ चौथे भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे बयालीस लाख पच्चीस हजार योजन है ॥१७४॥ पाँचवें उद्भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार इकतालीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥१७५॥ छठवें सम्भ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७६॥ सातवें असंभ्रान्त इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे उनतालीस लाख पचास हजार योजन है ॥१७७॥ आठवें विभ्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार अड़तीस लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥१७८॥ नौवें त्रस्त नामक इन्द्रकका विस्तार सैंतीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१७९॥ दशवें त्रसित नामक इन्द्रकका विस्तार छत्तीस लाख पचहत्तर हजार योजन है ॥१८०॥ ग्यारहवें वक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार पैंतीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥१८१॥ बारहवें अवक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार सब ओरसे चौंतीस लाख एकानबे हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे दो भाग प्रमाण है ॥१८२॥ और तेरहवें विक्रान्त नामक इन्द्रकका विस्तार चौंतीस लाख योजन है ॥१८३॥

द्वितीय पृथिवीके पहले स्तरक नामक इन्द्रकका विस्तार तैंतीस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥१८४॥ दूसरे स्तनक नामक इन्द्रकका विस्तार बत्तीस लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है॥१८५॥ तीसरे मनक इन्द्रकका विस्तार इकतीस लाख पच्चीस हजार योजन है

वनकस्यापि विस्तारः त्रिंशल्लक्षाः शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्त्रिभागवान् ॥१८७॥
घाटस्य विंशतिर्लक्षा नव षट्षष्टिश्च षट्शतम् । चत्वारिंशत्सहस्राणि सैकानि त्र्यंशकौ हि सः ॥१८८॥
अष्टाविंशतिलक्षास्तु विस्तारः परिकीर्तितः । स पञ्चाशत् सहस्राणि संघाटस्य निरन्तरः ॥१८९॥
सप्तविंशतिलक्षाः स त्रयस्त्रिंशं शतत्रयम् । पञ्चाशच्च सहस्राणि साष्टौ जिह्वस्त्रिभागवान् ॥१९०॥
लक्षाः षड्विंशतिः प्रोक्ताः सषट्षष्टिसहस्रिकाः । षट्षष्टिः षट्शती त्र्यंशौ विस्तारो जिह्विकाश्रयः ॥१९१॥
पञ्चविंशतिलक्षास्तु लोलस्य परिकीर्तितः । सहस्राणि च विस्तारः समन्ततः पञ्चसप्ततिः ॥१९२॥
चतुर्विंशतिलक्षाश्च लोलुपस्य त्रिभागवान् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रिशती त्रिंशता त्रयम् ॥१९३॥
त्रयोविंशतिलक्षास्तु विस्तारः स्तनलोलुपे । सहस्राण्येकनवतिस्त्र्यंशौ षट्षष्टि षट्शतम् ॥१९४॥
त्रयोविंशतिलक्षास्तु तप्ते द्वाविंशतिः परे । त्रिभागोऽष्टौ सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥१९५॥
एकविंशतिलक्षा वै सहस्राणि च षोडश । तपनस्य त्रिभागौ च षट्षष्टिः षट्शती च सः ॥१९६॥
लक्षाः विंशतिरुद्दिष्टा मुनिभिः पञ्चविंशतिः । सहस्राणि च विस्तारस्तापनस्यापि सर्वतः ॥१९७॥
एकोनविंशतिर्लक्षा निदाघस्य शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रिभागस्त्रिंशता त्रयम् ॥१९८॥
स चाष्टादश लक्षास्ताः षट्षष्टिः षोडशात्मकम् । शतं प्रज्वलितस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः ॥१९९॥
लक्षाः सप्तदश प्रोक्ता विस्तारस्तत्त्वदर्शिभिः । सहैवोज्ज्वलितस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः ॥२००॥
लक्षाः षोडश विस्तारो ह्यष्टपञ्चाशदप्यतः । सहस्राणि त्रिशत्यंशस्त्रिंशत्संज्वलिते त्रिभिः ॥२०१॥
लक्षाः पञ्चदश त्र्यंशो षट्षष्टिः षट्शती च सः । सहस्राणि च षट्षष्टिः सम्प्रज्वलितनामनि ॥२०२॥

॥१८६॥ चौथे वनक इन्द्रकका विस्तार तीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१८७॥ पाँचवें घाट नामक इन्द्रकका विस्तार उनतीस लाख इकतालीस हजार छः सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है॥१८८॥ छठवें संघाट नामक इन्द्रकका विस्तार अट्ठाईस लाख पचास हजार योजन है ॥१८९॥ सातवें जिह्व नामक इन्द्रकका विस्तार सत्ताईस लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९०॥ आठवें जिह्वक इन्द्रकका विस्तार छब्बीस लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९१॥ नौवें लोल इन्द्रकका विस्तार पच्चीस लाख पचहत्तर हजार योजन है ॥१९२॥ दसवें लोलुप नामक इन्द्रकका विस्तार चौबीस लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९३॥ और ग्यारहवें स्तनलोलुप इन्द्रकका विस्तार तेईस लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९४॥

तीसरी पृथिवीके पहले तप्त नामक इन्द्रकका विस्तार तेईस लाख योजन है। दूसरे तपित इन्द्रकका विस्तार बाईस लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९५॥ तीसरे तपन इन्द्रकका विस्तार इक्कीस लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥१९६॥ चौथे तापन नामक इन्द्रकका विस्तार मुनियोंने सब ओर बीस लाख पच्चीस हजार योजन कहा है ॥१९७॥ पाँचवें निदाघ नामक इन्द्रकका विस्तार उन्नीस लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥१९८॥ छठवें प्रज्वलित इन्द्रकका विस्तार अठारह लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन है ॥१९९॥ सातवें उज्ज्वलित इन्द्रकका विस्तार तत्त्वदर्शी आचार्योंने सत्रह लाख चालीस हजार योजन बतलाया है ॥२००॥ आठवें संज्वलित इन्द्रकका विस्तार सोलह लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०१॥ और नौवें संप्रज्वलित इन्द्रकका विस्तार

लक्षाश्चतुर्दशैवोक्ताः पञ्चसप्ततिरप्यतः । सहस्राणि स विस्तारस्तस्यारस्यापि सर्वतः ॥२०३॥
लक्षास्त्रयोदश त्र्यंशस्त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि विस्तारस्तारगोचरः ॥२०४॥
लक्षा द्वादश त्र्यंशौ च षट्षष्टिः षट्शती तथा । सहस्राण्येकनवतिर्विस्तारो मारगोचरः ॥२०५॥
लक्षा द्वादश वर्चस्के लक्षोनास्तनके तु ताः । त्र्यंशश्चाष्टसहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥२०६॥
लक्षा दश खडस्योक्ताः सहस्रं षोडशात्मकम् । षट्शतीं च त्रिभागौ च षट्षष्टिः स प्रकीर्तितः ॥२०७॥
लक्षा नव सहस्राणि पञ्चविंशतिरेव च । विस्तारो विस्तरेणोक्तस्तज्ज्ञैः खडखडस्य सः ॥२०८॥
लक्षास्तमःश्रुतेरष्टौ योजनानां शतत्रयम् । त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्त्र्यंशं च सः ॥२०९॥
लक्षाः सप्त भ्रमस्यासौ चत्वारिंशत्सहस्रकैः । शतानि षोडशांशौ च षट्षष्टिरपि भाषितः ॥२१०॥
लक्षाः षडेव विस्तारः सपञ्चाशत्सहस्रिकाः । योजनानां समन्तात्तु झषस्य परिभाषितः ॥२११॥
लक्षाः पञ्चैव चान्धस्य त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । त्र्यंशश्चाप्यष्टपञ्चाशत् सहस्राणि स वर्णितः ॥२१२॥
लक्षाश्चतस्र उद्दिष्टास्तमिस्रे त्र्यंशकद्वयम् । षट्षष्टिश्च सहस्राणि षट्षष्टिः षट्शती च सः ॥२१३॥
लक्षास्तिस्रो हिमस्यापि विस्तारः पञ्चसप्ततिः । सहस्राणि समादिष्टः शुद्धकेवलदृष्टिभिः ॥२१४॥
लक्षद्वयं त्रिभागश्च विस्तारो वर्दलस्य तु । त्र्यशीतिश्च सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् ॥२१५॥
लल्लकस्य तु लक्षैका षट्षष्टिः षट्शती तथा । सहस्राण्येकनवतिर्विस्तारः त्र्यंशकद्वयम् ॥२१६॥

पन्द्रह लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०२॥

चौथी पृथिवीके आर नामक पहले इन्द्रकका विस्तार सब ओर चौदह लाख पचहत्तर हजार योजन कहा है ॥२०३॥ दूसरे तार इन्द्रकका विस्तार तेरह लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०४॥ तीसरे मार नामक इन्द्रकका विस्तार बारह लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२०५॥ चौथे वर्चस्क इन्द्रकका विस्तार बारह लाख योजन है। पाँचवें तनक इन्द्रकका विस्तार ग्यारह लाख आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०६॥ छठवें खड इन्द्रकका विस्तार दश लाख सोलह हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२०७॥ और सातवें खडखड नामक इन्द्रकका विस्तार जानकार आचार्योंने नौ लाख पचीस हजार योजन कहा है ॥२०८॥

पाँचवीं पृथिवीके पहले तम नामक इन्द्रकका विस्तार आठ लाख तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२०९॥ दूसरे भ्रम इन्द्रकका विस्तार सात लाख इकतालीस हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२१०॥ तीसरे झष इन्द्रकका विस्तार छह लाख पचास हजार योजन कहा गया है ॥२११॥ चौथे अन्ध नामक इन्द्रकका विस्तार पाँच लाख अंठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण वर्णित है ॥२१२॥ और पाँचवें तमिस्र नामक इन्द्रकका विस्तार चार लाख छियासठ हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२१३॥

छठवीं पृथिवीके पहले हिम नामक इन्द्रकका विस्तार निर्मल केवलज्ञानके धारी अरहन्त भगवान्‌ने तीन लाख पचहत्तर हजार योजन बतलाया है ॥२१४॥ दूसरे वर्दल इन्द्रकका विस्तार दो लाख तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२१५॥ और तीसरे लल्लक इन्द्रकका विस्तार एक लाख एकानबे हजार छह सौ छियासठ योजन और एक योजनके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२१६॥

केवलैव तु लक्षैका योजनानां प्रकीर्तितः । अप्रतिष्ठानविस्तारो वस्तुविस्तरवेदिभिः ॥२१७॥
इन्द्रकेषु च बाहुल्यं घर्मायां क्रोश एव च । श्रेणिन्द्रेषु स त्र्यंशो द्वौ त्र्यंशौ प्रकीर्णके ॥२१८॥
क्रोशः सार्धस्तु वंशायामिन्द्रकेषु तदीरितम् । श्रेणीगतेषु तु क्रोशौ त्रयः सार्धाः प्रकीर्णके ॥२१९॥
मेघायामिन्द्रकेषूक्तं बाहुल्यं क्रोशयोर्द्वयम् । स द्विभ्यंशं तु तच्छ्रेण्यां संयुक्तं तत्प्रकीर्णके ॥२२०॥
सार्धौ द्वाविन्द्रकेष्वेतौ चतुर्थ्यां त्र्यंशकास्त्रयः । श्रेण्यां प्रकीर्णकेष्वेते षड्भागैः पञ्च पञ्चभिः ॥२२१॥
इन्द्रकेषु त्रयः क्रोशाश्चत्वारः श्रेण्युपाश्रयः । सप्त प्रकीर्णकेष्वेते पञ्चम्यामुपवर्णिताः ॥२२२॥
सार्धाः षष्ठ्यां त्रयः क्रोशा इन्द्रके श्रेण्युपाश्रिताः । चत्वारस्त्र्यंशकावष्टौ ते षड्भागाः प्रकीर्णके ॥२२३॥
सप्तम्यामप्रतिष्ठाने चत्वारस्ते समुच्छ्रयाः । श्रेणिबद्धेषु पञ्चैव सत्रिभागाः प्रकीर्तिताः ॥२२४॥
योजनानां चतुःषष्टिः शतानि प्रथमक्षितौ । नवतिर्नवसंयुक्ता क्रोशयोश्च द्वयं तथा ॥२२५॥
क्रोशद्वादशभागाश्च तथैवैकादशापरे । इन्द्रकाणामिदं ज्ञेयमेकैकस्यान्तरं बुधैः ॥२२६॥
चतुःषष्टिशतान्येव नवतिश्च नवोत्तरा । श्रेणीगतान्तरं क्रोशौ तथा पञ्चनवांशकाः ॥२२७॥
नवतिर्नव चैतानि चतुःषष्टिशतानि तत् । क्रोशाः सप्तदशान्येषां क्रोशषट्त्रिंशदंशकाः ॥२२८॥
इन्द्रकाणां द्वितीयायां पृथिव्यां तु पृथुश्रुताः । तद्योजनशतान्याहुरेकान्नत्रिंशदन्तरम् ॥२२९॥
नवभिश्च नवत्या च योजनैः सहितानि तु । चत्वारिंशच्छतैर्युक्ता तथा सप्तधनुःशती ॥२३०॥
तावन्त्येव च जायन्ते योजनान्यन्तरयाऽनया । श्रेणिबद्धस्थितानां च या षट्त्रिंशद्धनुःशती ॥२३१॥

सातवीं पृथिवीमें केवल अप्रतिष्ठान नामका एक ही इन्द्रक है तथा वस्तुके विस्तारको जाननेवाले सर्वज्ञ देवने उसका विस्तार एक लाख योजन बतलाया है ॥२१७॥

घर्मा नामक पहली पृथिवीके इन्द्रक बिलोंकी मुटाई एक कोश, श्रेणिबद्ध बिलोंकी एक कोश तथा एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग और प्रकीर्णक बिलोंकी दो कोश तथा एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥२१८॥ दूसरी वंशा पृथिवीके इन्द्रक बिलोंकी मुटाई डेढ़ कोश, श्रेणिबद्धोंकी दो कोश और प्रकीर्णकोंकी साढ़े तीन कोश है ॥२१९॥ तीसरी मेघा पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई दो कोश, श्रेणिबद्धोंकी दो कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग, तथा प्रकीर्णकोंकी चार कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग है ॥२२०॥ चौथी अञ्जना पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई अढ़ाई कोश, श्रेणिबद्धोंकी तीन कोश और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग तथा प्रकीर्णकोंकी पाँच कोश और एक कोशके छह भागोंमें पाँच भाग है ॥२२१॥ पाँचवीं अरिष्टा पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई तीन कोश, श्रेणिबद्धोंकी चार और प्रकीर्णकोंकी सात कोश है ॥२२२॥ छठवीं मघवी पृथिवीके इन्द्रकोंकी मुटाई साढ़े तीन कोश, श्रेणिबद्धोंकी चार कोश और एक कोशके तीन भागोंमें दो भाग तथा प्रकीर्णकोंकी आठ कोश और एक कोशके आठ भागोंमें छह भाग प्रमाण है ॥२२३॥ एवं माघवी नामक सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान इन्द्रककी मुटाई चार कोश, श्रेणिबद्धोंकी पाँच कोश और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग है। सातवीं पृथिवीमें प्रकीर्णक बिल नहीं है ॥२२४॥

अब बिलोंका परस्पर अन्तर कहते हैं—प्रथम पृथिवीके इन्द्रक बिलोंका अन्तर बुद्धिमान् पुरुषोंको चौंसठ सौ निन्यानबे योजन (छह हजार चार सौ निन्यानबे योजन) दो कोश और एक कोशके बारह भागोंमेंसे ग्यारह भाग जानना चाहिए ॥२२५-२२६॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका चौंसठ सौ निन्यानबे योजन दो कोश और एक कोशके नौ भागोंमें पाँच भाग है ॥२२७॥ तथा प्रकीर्णक बिलोंका अन्तर चौसठ सौ निन्यानबे योजन दो कोश और एक कोशके छत्तीस भागों-में सत्रह भाग प्रमाण है ॥२२८॥ द्वितीय पृथिवीके इन्द्रक बिलोंका अन्तर बहुश्रुत-विद्वानोंने दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और चार हजार सात सौ धनुष कहा है ॥२२९-२३०॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और तीन हजार छह सौ धनुष

तावन्त्येव पुनस्तानि योजनानि परस्परम् । प्रकीर्णकान्तरं तस्यां तृतीयं तु धनुःशतम् ॥२३२॥
विनैकेन तु पञ्चाशदिन्द्रकाणां शतान्यपि । द्वात्रिंशच्च तृतीयायां पञ्चत्रिंशद्धनुःशतैः ॥२३३॥
योजनानि हि यावन्ति द्विसहस्रधनूंषि च । श्रेणीगतान्तरं तस्यां लब्धवर्णैः प्रवर्णितम् ॥२३४॥
चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्द्वात्रिंशच्च शतानि वै । धनूंषि पञ्चपञ्चाशच्छतान्येतत्प्रकीर्णके ॥२३५॥
पञ्चषष्टिश्च षट्त्रिंशच्छतानीन्द्रकगोचरम् । धनुःशतानि तद्वेद्यं चतुर्थ्यां पञ्चसप्ततिः ॥२३६॥
योजनानि हि तावन्ति श्रेण्यां पञ्चनवांशकैः । धनूंषि पञ्चपञ्चाशत्तावन्त्येव शतानि तत् ॥२३७॥
चतुःषष्टिश्च षट्त्रिंशद् योजनानां शतानि तु । सप्तसप्ततिसंख्यानैस्तथा चापशतैरपि ॥२३८॥
द्वाविंशतिधनुर्भिश्च नवभागद्वयेन च । प्रकीर्णकान्तरं बोध्यं तस्यामेव प्रकीर्तितम् ॥२३९॥
सहस्राणि तु चत्वारि तच्चत्वारि शतानि च । योजनानि समस्तानि नवतिश्च नवोत्तरा ॥२४०॥
धनुःशतानि पञ्चैव पञ्चम्यामिन्द्रकेऽन्तरम् । भेदान्तरप्रपञ्चज्ञैरन्तरं प्रतिपादितम् ॥२४१॥
सहस्राणि च चत्वारि श्रेण्यां तावच्छतानि च । अष्टानवति नन्वेतत् षट्सहस्रधनूंषि च ॥२४२॥
तच्चत्वारि सहस्राणि शतान्यपि च सप्तभिः । नवतिः शेषके चापपञ्चषष्टिशतानि च ॥२४३॥
सहस्राणि च षट्षष्ठ्यां शतानि नव चाष्टभिः । नवतिः पञ्चपञ्चाशद्धनुःशतवर्तीन्द्रके ॥२४४॥
तावन्त्येव भवन्त्यस्यां योजनानि तदन्तरम् । श्रेणीबद्धेषु वक्तव्यं द्विसहस्रधनुर्युतम् ॥२४५॥
सहस्राणि षडेवास्यां नवतिश्च षडुत्तरा । शतानि नव सप्तत्या शेषे पञ्चधनुःशती ॥२४६॥
ऊर्ध्वाधस्त्रिसहस्राणि नवतिश्च नवोत्तरा । शतानि नव गव्यूतिः सप्तम्यामिन्द्रकान्तरम् ॥२४७॥
श्रेणीबद्धान्तरं चास्यां योजनानि भवन्ति हि । गव्यूतेश्च त्रिभागेन तावन्त्येवेति निश्चयः ॥२४८॥
दशवर्षसहस्राणि नारकाणां लघुस्थितिः । सीमन्तके विनिर्दिष्टा नवतिस्तु परा स्थितिः ॥२४९॥

है ॥२३१॥ एवं प्रकीर्णक बिलोंका भी पारस्परिक अन्तर उतना ही अर्थात् दो हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और तीन सौ धनुष है ॥२३२॥ तीसरी पृथिवीमें इन्द्रक बिलोंका विस्तार बत्तीस सौ योजन और पैंतीस सौ धनुष प्रमाण है ॥२३३॥ श्रेणीगत बिलोंका अन्तर विद्वानोंने बत्तीस सौ योजन और दो हजार धनुष बतलाया है ॥२३४॥ तथा प्रकीर्णकोंका अन्तर बत्तीस सौ अड़तालीस योजन और पचपन सौ धनुष कहा है ॥२३५॥ चौथी पृथिवीमें इन्द्रकबिलोंका विस्तार छत्तीस सौ पैंसठ योजन और पचहत्तर सौ धनुष प्रमाण है ॥२३६॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर छत्तीस सौ पैंसठ योजन, पचहत्तर सौ धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमेंसे पाँच भाग प्रमाण है ॥२३७॥ तथा प्रकीर्णक बिलोंका विस्तार छत्तीस सौ चौंसठ योजन, सतहत्तर सौ बाईस धनुष और एक धनुषके नौ भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥२३८-२३९॥ पाँचवीं पृथिवीके इन्द्रक बिलोंका अन्तर भेद तथा अन्तरोंका विस्तार जाननेवाले आचार्योंने चार हजार चार-सौ निन्यानबे योजन और पाँच सौ धनुष बतलाया है ॥२४०-२४१॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर चार हजार चार सौ अंठानबे योजन और छह हजार धनुष है ॥२४२॥ तथा प्रकीर्णक बिलोंका अन्तर चार हजार चार सौ संतानबे योजन और छह हजार पाँच सौ धनुष है ॥२४३॥ छठवीं पृथिवीके इन्द्रक बिलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ अंठानबे योजन और पचपन सौ धनुष प्रमाण है ॥२४४॥ श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ अंठानबे योजन और दो हजार धनुष है ॥२४५॥ तथा प्रकीर्णक बिलोंका अन्तर छह हजार नौ सौ छियानबे योजन और सात हजार पाँच सौ धनुष है ॥२४६॥ सातवीं पृथिवीमें इन्द्रक बिलका अन्तर ऊपर-नीचे तीन हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और एक गव्यूति अर्थात् दो कोश प्रमाण है ॥२४७॥ तथा इसी सातवीं पृथिवीमें श्रेणिबद्ध बिलोंका अन्तर तीन हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और एक कोशके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ऐसा निश्चय है ॥२४८॥

अब सातों पृथिवियोंमें जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुका वर्णन करते हैं—पहली पृथिवीके

साधिका तु परे चासावपरा स्थितिरिष्यते । इन्द्रके नारकाभिख्ये लक्षास्तु नवतिः परा ॥२५०॥
इयमेव जघन्या स्याद् रौरवे[1] समयाधिका । पूर्वकोटयस्त्वसंख्येया परमा परिकीर्तिता ॥२५१॥
एषा चैवापरा भ्रान्ते स्थितिः स्यात् समयोत्तरा । सागरस्य परो भागो दशमोऽत्र परा स्थितिः ॥२५२॥
इयमेव जघन्या स्यादुद्भ्रान्ते परमा पुनः । द्वावेव दशमौ भागाविति तत्त्वविदां मतम् ॥२५३॥
सम्भ्रान्ते तु जघन्येयं दशभागास्त्रयः परा । अवराऽसावसम्भ्रान्ते परा भागचतुष्टया ॥२५४॥
अवराऽसौ च विभ्रान्ते परा सैकांशवर्द्धिता । त्रस्ते त्ववरा सा स्यात् षट् परा तु दशांशका ॥२५५॥
त्रसिते त्वपरा प्रोक्ता परा सप्त तदंशका । वक्रान्ते साऽपरा प्रोक्ता परा चाष्टौ दशांशकाः ॥२५६॥
एषैवोक्ता विपश्चिद्भिरवक्रान्तेऽवरा स्थितिः । नवैते दशमा भागास्तत्रैव परमा स्थितिः ॥२५७॥
इयमेव तु विक्रान्ते जघन्या परमा दश । दश भागा स्थितिः सैषा घर्मायां सागरोपमा ॥२५८॥
सातिरेकाऽवरा सैव स्तरके सागरोपमा । सागरैकादशांशौ च सागरस्य परा स्थितिः ॥२५९॥

प्रथम सीमन्तक नामक प्रस्तारमें नारकियोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी और उत्कृष्ट नब्बे हजार वर्षकी कही गई है ॥२४९॥ दूसरे नारक नामक इन्द्रकमें कुछ अधिक नब्बे हजार वर्षकी जघन्य स्थिति और नब्बे लाख वर्षकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५०॥ रौरव नामक तीसरे प्रस्तारमें एक समय अधिक नब्बे लाखकी जघन्य स्थिति और असंख्यात करोड़ वर्षकी उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५१॥ भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तारमें एक समय अधिक असंख्यात करोड़ वर्षकी जघन्य स्थिति और सागरके दसवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५२॥ उद्भ्रान्त नामक पाँचवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरका दसवाँ भाग जघन्य स्थिति है और एक सागरके दश भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तत्त्वज्ञ पुरुषोंने मानी है ॥२५३॥ संभ्रान्त नामक छठवें प्रस्तारमें एक सागरके दश भागोंमें दो भाग तथा एक समय जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें तीन भाग प्रमाण है। असम्भ्रान्त नामक सातवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति सागरके दश भागोंमें समयाधिक तीन भाग है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागों-में चार भाग प्रमाण है ॥२५४॥ विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें चार भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें पाँच भाग प्रमाण है। त्रस्त नामक नौवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें पाँच भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२५५॥ त्रसित नामक दसवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें छह भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है। वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें सात भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण है ॥२५६॥ अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तारमें एक समय अधिक सागरके दश भागोंमें आठ भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है और एक सागरके दश भागोंमें नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विद्वानोंने कही है। विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तारमें जघन्य स्थिति एक सागरके दश भागोंमें समयाधिक नौ भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति सागरके दश भागोंमें दशों भाग अर्थात् एक सागर प्रमाण है। इस प्रकार घर्मा नामक पहली पृथिवीके तेरह प्रस्तारोंमें जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थितिका कथन किया अब दूसरी पृथिवीके ग्यारह प्रस्तारोंमें स्थितिका वर्णन करते हैं ॥२५७–२५८॥

दूसरी पृथिवीके स्तरक नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंकी जघन्य आयु एक समय अधिक एक सागर और उत्कृष्ट स्थिति एक सागर तथा एक सागरके ग्यारह अंशोंमें दो अंश प्रमाण

---

1. रौरुके म० ।

स्थितिरेषैव विज्ञेया स्तनकेऽनन्तरावरा । चतुरेकादशांशाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६०॥
अनन्तरा विनिर्दिष्टा मुनिभिर्मनकेऽवरा । षडेकादशभागाश्च सागरश्च तथा परा ॥२६१॥
एषैवावादि विद्वद्भिर्वनके चावरा स्थितिः । अष्टैकादशभागाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६२॥
सैषैवाद्या विघाटेऽपि पटुभिः प्रकटाऽवरा । दशैकादशभागाश्च सागरश्च परा तथा ॥२६३॥
इन्द्रके स्थियमेव स्यात् सङ्घाटेऽनन्तराऽवरा । सप्तैकादशभागश्च सागरौ च परा स्थितिः ॥२६४॥
स्थितिरेषैव बोधव्या जिह्वाख्येऽपीन्द्रकेऽवरा । त्रयस्त्वेकादशांशास्ते सागरौ च तथा परा ॥२६५॥
असावेव समादिष्टा जिह्विकाख्येन्द्रकेऽवरा । पञ्चैकादशभागाश्च सागरौ च परा स्थितिः ॥२६६॥
एषैवानन्तरा वेद्या लोलनामेन्द्रकेऽवरा । सप्तैकादशभागाश्च सागरौ च परा तथा ॥२६७॥
भवत्यनन्तरैवैषा लोलुपेऽपीन्द्रकेऽवरा । नवैकादशभागाश्च सागरौ च परा तथा ॥२६८॥
अवरैषा परापीष्टा स्तनलोलुपनामनि । सागरत्रयमेतेषु वंशाया सागरास्त्रयः ॥२६९॥
सागरत्रयमेवासाववरा तप्तनामनि । चत्वारो नवभागाश्च परमा सागरास्त्रयः ॥२७०॥
इयमेवाऽवरा वर्ण्या तपितेऽपीन्द्रके स्थितिः । तथाऽष्टौ नवभागाश्च परमा सागरास्त्रयः ॥२७१॥
तपनेऽप्यवरैषैव नव भागास्त्रयोऽपि तु । चत्वारश्च समादिष्टा परमा सागराः स्थितिः ॥२७२॥
इयमेवोपगीता सा तापनेऽप्यवरा स्थितिः । सा सप्त नवभागास्तु चत्वारः सागराः परा ॥२७३॥

है ॥२५९॥ स्तनक नामक दूसरे प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६०॥ मनक नामक तीसरे प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और एक सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६१॥ वनक नामक चौथे प्रस्तारमें विद्वानोंने यही जघन्य स्थिति तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही है ॥२६२॥ विघाट नामक पाँचवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति तथा एक सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति विज्ञ पुरुषोंने प्रकट की है—बतलाई है ॥२६३॥ संघाट नामक छठवें इन्द्रक अथवा प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६४॥ जिह्व नामक सातवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६५॥ जिह्विक नामक आठवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति है और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६६॥ लोल नामक नौवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति तथा दो सागर पूर्ण और एक सागरके ग्यारह भागोंमें सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए ॥२६७॥ लोलुप नामक दसवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति और दो सागर पूर्ण तथा एक सागरके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२६८॥ एवं स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें यही जघन्य स्थिति और तीन सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह वंशा नामक दूसरी पृथिवीमें सामान्य रूपसे तीन सागर प्रमाण स्थिति प्रसिद्ध है ॥२६९॥

तीसरी पृथिवीके तप्त नामक प्रथम इन्द्रकमें तीन सागर जघन्य और तीन सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें चार भाग प्रमाण जघन्य स्थिति है ॥२७०॥ तपित नामक दूसरे इन्द्रकमें यही जघन्य तथा तीन सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें आठ भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन करने योग्य है ॥२७१॥ तपन नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य और चार सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें तीन भाग पूर्ण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२७२॥ तापन नामक चौथे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति और चार सागर पूर्ण तथा एक

निदाघेऽप्यवरैषैव स्थितिः समुपवर्णिता । परा तु नवभागाभ्यां सागराः पञ्च सम्मिताः ॥२७४॥
अजघन्या निदाघे या सैव प्रज्वलितेऽन्यथा । षड्नवांशकसन्मिश्रा परा पञ्च पयोधयः ॥२७५॥
परा प्रज्वलिते येयं सैव चोज्ज्वलितेऽपरा । तथा सनवभागास्ते षट्समुद्राः परा स्थितिः ॥२७६॥
उत्कृष्टोज्ज्वलिते येयं सैव सञ्ज्वलितेऽवरा । सपञ्चनवभागास्ते परमा षट् पयोधयः ॥२७७॥
सा सम्प्रज्वलिते हीना परा सागरसप्तकम् । तृतीयनरके तेऽमी प्रसिद्धाः सप्त सागराः ॥२७८॥
या सम्प्रज्वलिते दीर्घा ह्रस्वाऽऽरे सा प्रकीर्तिता । दीर्घा सप्त समुद्रास्ते सप्तभागास्तथा त्रयः ॥२७९॥
आरे या परमा प्रोक्ता तारे सैवापरा स्थितिः । परा सप्त समुद्रास्ते षड्भिः सप्तभागकैः ॥२८०॥
तारे या परमा प्रोक्ता सैव मारेऽवरा स्थितिः । सह सप्तमभागाभ्यां पराऽप्यष्टौ पयोधयः ॥२८१॥
मारे तु या परा सैव वर्चस्के वर्णिताऽवरा । पञ्चसप्तमभागैस्तु पराष्ट जलराशयः ॥२८२॥
वर्चस्के परमा याऽसौ तमकेऽप्यवरा स्थितिः । परा सप्तमभागेन संयुक्ता नव सागराः ॥२८३॥
परा तु तमके याऽसौ जघन्या सा षडे मता । चतुर्भिः सप्तमैर्भागैः पराऽपि नव सागराः ॥२८४॥
षडे तु परमा याऽसौ हीना षडषडेऽप्यसौ । चतुर्थ्यां सुप्रसिद्धास्ते परा तु दश सागराः ॥२८५॥

सागरके नौ भागोंमें सात भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२७३॥ निदाघ नामक पाँचवें इन्द्रकमें यही जघन्य और पाँच सागर पूर्ण तथा एक सागरके नौ भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति वर्णन की गई है ॥२७४॥ प्रज्वलित नामक छठवें इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति तथा पाँच सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें छह भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७५॥ प्रज्वलित इन्द्रककी जो उत्कृष्ट स्थिति है वही उज्ज्वलित नामक सातवें इन्द्रककी जघन्य स्थिति है तथा छह सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७६॥ उज्ज्वलित इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति है वही संज्वलित नामक आठवें इन्द्रककी जघन्य स्थिति है तथा छह सागर पूर्ण और एक सागरके नौ भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ॥२७७॥ संप्रज्वलित नामक नौवें इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति और सात सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। इस तरह तीसरे नरकमें सामान्य रूपसे सात सागरकी स्थिति प्रसिद्ध है ॥२७८॥

ऊपर संप्रज्वलित नामक इन्द्रकमें जो सात सागरकी उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है वह चौथी पृथिवीके आर नामक प्रथम इन्द्रकमें जघन्य स्थिति कही गई है तथा सात सागर पूर्ण और एक सागरके सात भागोंमेंसे तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२७९॥ आर इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही तार नामक दूसरे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है, तथा सात सागर पूर्ण और एक सागरके सात भागोंमेंसे छः भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२८०॥ तार इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही मार नामक तीसरे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२८१॥ मार इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही वर्चस्क नामक चौथे इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है और आठ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें पाँच भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२८२॥ वर्चस्क इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही तमक नामक पाँचवें इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें एक सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२८३॥ तमक इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही षड नामक छठवें इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है और नौ सागर पूर्ण तथा एक सागरके सात भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति प्रदर्शित की गई है ॥२८४॥ षड इन्द्रकमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वही षडषड नामक सातवें इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है

दशार्णवास्तमोनाम्नि जघन्या सा च तत्र मता । सह पञ्चमभागाभ्यामुत्कृष्टैकादशार्णवाः ॥२८६॥
इयमेव भ्रमे ह्रस्वा स्थितिः सम्प्रतिपादिता । चतुर्भिः पञ्चमैर्भागैः परा द्वादशसागराः ॥२८७॥
एषैव हि झषे हीना स्थितिरुत्कर्षिणी पुनः । साकं पञ्चमभागेन चतुर्दशपयोधयः ॥२८८॥
इयमेवावराऽन्ध्रे सा सत्यसन्धैरुदीरिता । सत्रिपञ्चमभागास्तु परा पञ्चदशाब्धयः ॥२८९॥
एषैव च तमिस्रेऽपि जघन्या स्थितिरिष्यते । पञ्चम्यां सुप्रतीतास्ते परा सप्तदशार्णवाः ॥२९०॥
अवरा तु स्थितिः प्रोक्ता हिमे सप्तदशार्णवाः । पराऽपि द्वित्रिभागाभ्यामष्टादश पयोधयः ॥२९१॥
वर्दले स्थितिरेषैव जघन्या समुदीरिता । परा त्रिभागसंमिश्राः विंशतिस्तु पयोधयः ॥२९२॥
लल्लके तु जघन्येयमजघन्या स्थितिः पुनः । षष्ठ्यां प्रोक्ता मुनिश्रेष्ठैर्द्वाविंशतिपयोधयः ॥२९३॥
इयमेवाप्रतिष्ठाने जघन्या स्थितिरुच्यते । योत्कृष्टा सा हि सप्तम्यां त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ॥२९४॥
नारकाणां तनूत्सेधो हस्ताः सीमन्तके त्रयः । तरके तु धनुर्हस्तः सार्धान्यष्टांगुलान्यसौ ॥२९५॥
रौरुके धनुरुत्सेधस्त्रयो हस्ताः शरीरिणाम् । अङ्गुलान्यपि तत्रैव भवेत् सप्तदशैव सः ॥२९६॥

और दश सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। इस प्रकार चौथी पृथिवीमें सामान्य रूपसे दश सागर स्थिति प्रसिद्ध है ॥२८५॥

ऊपर जो स्थिति कही गई है वही पाँचवीं पृथिवीके तम नामक प्रथम इन्द्रकमें जघन्य स्थिति बतलाई गई है। और ग्यारह सागर पूर्ण एक सागरके पाँच भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति कही गई है ॥२८६॥ भ्रम नामक दूसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही गई है और बारह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें चार भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२८७॥

झष नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही गई है और चौदह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२८८॥ अन्ध्र नामक चौथे इन्द्रकमें सत्यवादी जिनेन्द्र भगवान्ने यही जघन्य स्थिति कही है और पन्द्रह सागर पूर्ण तथा एक सागरके पाँच भागोंमें तीन भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है ॥२८९॥ तमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति मानी जाती है और सत्रह सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई जाती है। इस प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें सामान्य रूपसे सत्रह सागरकी आयु प्रसिद्ध है ॥२९०॥

छठवीं पृथिवीके हिम नामक प्रथम इन्द्रकमें सत्रह सागर प्रमाण जघन्य स्थिति कही गई है और अठारह सागर पूर्ण तथा एक सागरके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२९१॥ वर्दल नामक दूसरे इन्द्रक बिलमें यही जघन्य स्थिति कही गई है और बीस सागर पूर्ण तथा एक सागरके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है ॥२९२॥ मुनियोंमें श्रेष्ठ गणधरादि देवोंने लल्लक नामक तीसरे इन्द्रकमें यही जघन्य स्थिति कही है तथा बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बतलाई है। इस प्रकार छठवीं पृथिवीमें सामान्य रूपसे बाईस सागर प्रमाण आयु कही गई है ॥२९३॥

सातवीं पृथिवीमें केवल एक अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक है सो उसमें यही जघन्य स्थिति बतलाई गई है और जो उत्कृष्ट स्थिति है वह तैंतीस सागर प्रमाण है। इस प्रकार सातवीं पृथिवीमें सामान्य रूपसे तैंतीस सागर प्रमाण आयु प्रसिद्ध है ॥२९४॥ अब नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन किया जाता है—

पहली पृथिवीके सीमन्तक नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई तीन हाथ है। तरक नामक दूसरे प्रस्तारमें एक धनुष एक हाथ तथा साढ़े आठ अङ्गुल है ॥२९५॥ रौरुक नामक तीसरे प्रस्तारमें एक धनुष तीन हाथ तथा सत्रह अङ्गुल है ॥२९६॥

भ्रान्ते द्वे धनुषी हस्तावङ्गुलं सार्धमप्यसौ । उद्भ्रान्ते तु त्रयो दण्डाः सोऽङ्गुलानि दशोदितः ॥२९७॥
धनूंषि त्रीणि सम्भ्रान्ते द्वौ हस्तावङ्गुलान्यपि । अष्टादशैव सार्धानि नारकोत्सेध ईरितः ॥२९८॥
कार्मुकाणि तु चत्वारि हस्तस्त्रीण्यङ्गुलानि च । असम्भ्रान्तेऽप्यसम्भ्रान्तैरुत्सेधः साधु वर्णितः ॥२९९॥
चत्वारः खलु कोदण्डास्त्रयो हस्तास्तथोदिताः । विभ्रान्तेऽपि ह्यविभ्रान्तैः सार्धैरेकादशाङ्गुलैः ॥३००॥
चापपञ्चकमुत्सेधः तथा हस्तश्च विंशतिः । अङ्गुलानि समुद्दिष्टस्त्रस्तनामनि चेन्द्रके ॥३०१॥
धनूंषि च षडुत्सेधस्त्रसिते त्रासिताङ्गिनि । सार्धाङ्गुलचतुष्कं च चतुरैः प्रतिपादितः ॥३०२॥
वक्रान्ते धनुषां षट्कं सहस्तद्वितयं तथा । कथितं कथकैस्त्वङ्गुलानि त्रयोदश ॥३०३॥
धनुःसप्तकमुत्सेधः[1] सार्धमर्धाङ्गुलेन च । अवक्रान्ते बुधैरुक्तः सोऽङ्गुलान्येकविंशतिः ॥३०४॥
विक्रान्ते सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुली । स एष विहितः प्राज्ञैरुत्सेधः प्रथमावनौ ॥३०५॥
स्तरकेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तावङ्गुलयोर्द्वयोः । द्वावेकादशभागौ च नारकोत्सेध इष्यते ॥३०६॥
स्तनके नवदण्डास्तु द्वाविंशत्यङ्गुलानि च । उत्सेधो वर्णितो युक्तश्चतुरेकादशांशकैः ॥३०७॥
मनके नवदण्डाश्च त्रयो हस्ताः सहाङ्गुलैः । अष्टादशभिरुत्सेधः षड्भिरेकादशांशकैः ॥३०८॥
वनके दश दण्डा द्वौ हस्तावुत्सेध इष्यते । साष्टैकादशभागानि सोऽङ्गुलानि चतुर्दश ॥३०९॥
घाटे त्वेकादशप्रांशुर्दण्डा हस्तो दशाङ्गुलैः । दशैकादशभागाश्च देहोत्सेधः प्रकीर्तितः ॥३१०॥
संघाटे द्वादशोत्सेधो दण्डाः सप्ताङ्गुलान्यपि । तथैकादशभागाश्च नारकाणामुदाहृतः ॥३११॥

भ्रान्त नामक चौथे प्रस्तारमें दो धनुष दो हाथ और डेढ़ अङ्गुल है। उद्भ्रान्त नामक पाँचवें प्रस्तारमें तीन धनुष और दश अङ्गुल है ॥२९७॥ संभ्रान्त नामक छठवें प्रस्तारमें तीन धनुष दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल है ॥२९८॥ असंभ्रान्त नामक सातवें प्रस्तारमें विशाद ज्ञानके धारी आचार्योंने नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई चार धनुष, एक हाथ और तीन अङ्गुल बतलाई है ॥२९९॥ भ्रान्ति रहित आचार्योंने विभ्रान्त नामक आठवें प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरका उत्सेध चार धनुष तीन हाथ और साढ़े ग्यारह अङ्गुल प्रमाण कहा है ॥३००॥ त्रस्त नामक नौवें प्रस्तारमें पाँच धनुष एक हाथ और बीस अङ्गुल ऊँचाई कही गई है ॥३०१॥ जहाँ प्राणी भय-भीत हो रहे हैं ऐसे त्रसित नामक दसवें प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई चतुर आचार्योंने छह धनुष और साढ़े चार अङ्गुल प्रमाण बतलाई है ॥३०२॥ वक्रान्त नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें श्रेष्ठ वक्ताओंने नारकियोंका शरीर छः धनुष दो हाथ और तेरह अङ्गुल प्रमाण कहा है ॥३०३॥ अवक्रान्त नामक बारहवें प्रस्तारमें विद्वान् आचार्योंने नारकियोंकी ऊँचाई सात धनुष और साढ़े इक्कीस अङ्गुल कही है ॥३०४॥ और विक्रान्त नामक तेरहवें प्रस्तारमें सात धनुष तीन हाथ तथा छः अङ्गुल प्रमाण ऊँचाई है। इस प्रकार बुद्धिमान् आचार्योंने प्रथम पृथिवीमें ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३०५॥

दूसरी पृथिवीके स्तरक नामक पहले प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई आठ धनुष, दो हाथ, दो अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें दो भाग प्रमाण मानी जाती है॥३०६॥ स्तनक नामक दूसरे प्रस्तारमें नारकियोंका उत्सेध नौ धनुष बाईस अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें चार भाग प्रमाण कहा गया है ॥३०७॥ मनक नामक तीसरे प्रस्तारमें नौ धनुष तीन हाथ अठारह अङ्गुल तथा एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें छह भाग प्रमाण ऊँचाई बतलाई है ॥३०८॥ वनक नामक चौथे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई दश धनुष दो हाथ चौदह अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें आठ भाग प्रमाण मानी जाती है ॥३०९॥ घाट नामक पाँचवें प्रस्तारमें ग्यारह धनुष, एक हाथ, दश अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें दश भाग शरीरकी ऊँचाई कही गई है ॥३१०॥ संघाट नामक छठवें प्रस्तारमें नार-

१. मुद्देशः म० ।

जिह्वाख्ये द्वादशैवोक्ता दण्डा हस्तास्त्रयस्तथा । अङ्गुलानि च सत्रीणि त्रयश्चैकादशांशकाः ॥३१२॥
दण्डा हस्तोऽङ्गुलान्येषु जिह्विकाख्ये त्रयोदश । एक पञ्चोक्तभागैश्च त्रयोविंशतिरिष्यते ॥३१३॥
लोले चतुर्दशैवासौ दण्डास्त्वेकोनविंशतिः । अङ्गुलानि विनिर्दिष्टा सप्तैकादशभागकैः ॥३१४॥
त्रयो हस्ता धनूंष्येष लोलुपे च चतुर्दश । नवैकादशभागश्च तथा पञ्चदशाङ्गुली ॥३१५॥
दण्डाः पञ्चदशैवासौ हस्तौ च स्तनलोलुपे । द्वादशाङ्गुलमानं च द्वितीयायां च दृश्यते ॥३१६॥
तप्ते सप्तदशोत्सेधो दण्डा हस्तो दशाङ्गुली । द्वित्रिभागसमेतोऽसौ नारकाणां समीरितः ॥३१७॥
एकोनविंशतिर्दण्डास्तपितेऽसौ नवाङ्गुली । त्रिभागश्च समादिष्टः स्पष्टज्ञानेष्टदृष्टिभिः ॥३१८॥
तपने विंशतिर्दण्डास्त्रयो हस्तास्तथैव सः । अङ्गुलानि समुद्दिष्टः शिष्टैरष्टौ प्रकृष्टतः ॥३१९॥
द्वाविंशतिधनूंषि द्वौ हस्तावुक्तः षडङ्गुलैः । उत्सेधस्तापने त्र्यंशौ नारकाङ्गसमुद्भवः ॥३२०॥
चतुर्विंशतिचापानि हस्तः पञ्चाङ्गुलानि च । त्रिभागश्च निदाघेऽसावुत्सेधो बोधितो बुधैः ॥३२१॥
षड्विंशतिधनूंष्येष प्रोक्तः प्रोज्ज्वलितेन्द्रके । अङ्गुलानि च चत्वारि ज्ञानप्रज्वलितात्मभिः ॥३२२॥
सप्तविंशतिचापानि त्रयो हस्ता स वर्णितः । आगमोज्ज्वलितप्राज्ञैस्त्र्यंशावुज्ज्वलितेऽङ्गुली ॥३२३॥
एकान्नत्रिंशदुत्सेधः कोदण्डा हस्तयोर्द्वयम् । अगुलं च त्रिभागश्च बोध्यः सञ्ज्वलिते बुधैः ॥३२४॥
एकत्रिंशत्तु कोदण्डा हस्तश्चोत्सेध इष्यते । सम्प्रज्वलितसंज्ञे च तृतीये यः स भाष्यते ॥३२५॥

कियोंकी ऊँचाई बारह धनुष सात अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें एक भाग प्रमाण कही गई है ॥३११॥

जिह्व नामक सातवें प्रस्तारमें बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१२॥ जिह्वक नामक आठवें प्रस्तारमें तेरह धनुष, एक हाथ, तेईस अङ्गुल और एक अङ्गुलके पाँच भागोंमें एक भाग प्रमाण ऊँचाई इष्ट है ॥३१३॥ लोल नामक नौवें प्रस्तारमें चौदह धनुष, उन्नीस अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें सात भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१४॥ लोलुप नामक दसवें प्रस्तारमें चौदह धनुष तीन हाथ पन्द्रह अङ्गुल और एक अङ्गुलके ग्यारह भागोंमें नौ भाग प्रमाण ऊँचाई है ॥३१५॥ और स्तनलोलुप नामक ग्यारहवें प्रस्तारमें पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अङ्गुल ऊँचाई इष्ट है। इस प्रकार दूसरी पृथिवीमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाईका वर्णन किया ॥३१६॥

तीसरी पृथिवीके तप्त नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सत्रह धनुष, एक हाथ, दश अङ्गुल और एक अङ्गुलके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण कही गई है ॥३१७॥ स्पष्ट ज्ञान रूपी इष्ट दृष्टिको धारण करनेवाले तपित नामक दूसरे प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई उन्नीस धनुष नौ अङ्गुल और एक अङ्गुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण बतलाई है ॥३१८॥ शिष्टजनोंने तपन नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरका उत्सेध बीस धनुष तीन हाथ और आठ अङ्गुल प्रमाण बतलाया है ॥३१९॥ तापन नामक चौथे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई बाईस धनुष दो हाथ छः अङ्गुल और एक अङ्गुलके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण कही गयी है ॥३२०॥ निदाघ नामक पाँचवें प्रस्तारमें चौबीस धनुष, एक हाथ, पाँच अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण ऊँचाई विद्वानोंने बतलाई है ॥३२१॥ जिनकी आत्मा ज्ञानके द्वारा देदीप्यमान है ऐसे आचार्योंने प्रोज्ज्वलित नामक छठवें प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई छब्बीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण बतलाई है ॥३२२॥ आगम-ज्ञानसे सुशोभित विद्वज्जनोंने उज्ज्वलित नामक सातवें प्रस्तारमें नारकियोंका शरीर सत्ताईस धनुष, तीन हाथ, दो अंगुल और एक अंगुलके तीन भागोंमें दो भाग प्रमाण ऊँचा कहा है ॥३२३॥ विद्वानोंको संज्वलित नामक आठवें प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई उनतीस धनुष, दो हाथ एक अंगुलके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण जानना चाहिए ॥३२४॥ और संप्रज्वलित

पञ्चत्रिंशद्धनूंष्यारे द्वौ हस्तावङ्गुलान्यपि । विंशतिः सप्तभागाश्च चत्वारः सम्प्रकीर्तिताः ॥३२६॥
चत्वारिंशत्तथा तारे दण्डाः सप्तदशाङ्गुली । एकः सप्तमभागः स्यादुत्सेधो नारकाश्रयः ॥३२७॥
चत्वारिंशच्चतुर्भिश्च दण्डा हस्तौ त्रयोदश । अङ्गुलानि मतो मारे सप्तभागैः स पञ्चभिः ॥३२८॥
धनूंष्येकोनपञ्चाशदुत्सेधः स दशाङ्गुली । द्वौ च सप्तमभागौ तौ वर्चस्के वर्णितो बुधैः ॥३२९॥
धनूंषि त्रिपञ्चाशद्धस्तौ चापि षडङ्गुली । षट् च सप्तमभागास्ते तमके परिकीर्तिताः ॥३३०॥
अष्टापञ्चाशदुत्सेधो धनूंषि त्र्यङ्गुलानि च । त्रयः सप्तमभागाश्च षडेऽपि प्रकटस्थिताः ॥३३१॥
द्विषष्टिस्तु धनूंषि द्वौ हस्तौ षडषडे मतः । उत्सेधः सुप्रसिद्धो यश्चतुर्थे नरके सताम्[1] ॥३३२॥
तमोनामनि चोत्सेधः कोदण्डाः पञ्चसप्ततिः । सप्ताशीतिरसौ दण्डा द्वौ हस्तौ भवति भ्रमे ॥३३३॥
वपुषो नारकीयस्य झषे शतधनूंषि सः । अन्धे द्वादशमिश्राणि तानि हस्तद्वयं मतम् ॥३३४॥
तमिस्रेऽपि च तान्येव पञ्चविंशतिदण्डकैः । उत्सेधो वर्णितो योऽसौ पञ्चमे नरके बुधैः ॥३३५॥
षट्षष्ट्या शतकोदण्डा द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुली । उत्सेधो वर्णितः पूर्णो हिमनामनि चेन्द्रके ॥३३६॥
द्विशत्यष्टौ च कोदण्डा हस्तोऽष्टावङ्गुलान्यपि । उत्सेधः शास्त्रनेत्राढ्यैर्वर्दलेऽपि विलोकितः ॥३३७॥
शतद्वयं च पञ्चाशद्धनूंष्येव स भासितः । लल्लके नरके षष्ठे निष्ठितार्थैयं दृश्यते ॥३३८॥

नामक नौवें प्रस्तारमें ऊँचाईका प्रमाण इकतीस धनुष तथा एक हाथ प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार तीसरी पृथिवीमें नारकियोंकी ऊँचाईका वर्णन किया ॥३२५॥

चौथी पृथिवीके आर नामक प्रथम प्रस्तारमें पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें चार भाग प्रमाण ऊँचाई कही गई है ॥३२६॥ तार नामक दूसरे प्रस्तारमें चालीस धनुष, सत्रह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें एक भाग प्रमाण नारकियों-की ऊँचाई है ॥३२७॥ मार नामक तीसरे प्रस्तारमें चवालीस धनुष, दो हाथ, तेरह अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें पाँच भाग प्रमाण ऊँचाई मानी गई है ॥३२८॥ वर्चस्क नामक चौथे प्रस्तारमें विद्वानोंने शरीरकी ऊँचाई उनचास धनुष, दश अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें दो भाग प्रमाण बतलाई है ॥३२९॥ तमक नामक पाँचवें प्रस्तारमें त्रेपन धनुष, दो हाथ, छः अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें छः भाग प्रमाण ऊँचाई कही गई है ॥३३०॥ षड नामक छठवें प्रस्तारमें अठावन धनुष, तीन अंगुल और एक अंगुलके सात भागोंमें तीन प्रमाण ऊँचाई प्रकट की गई है ॥३३१॥ और षडषड नामक सातवें प्रस्तारमें बासठ धनुष, दो हाथ ऊँचाई प्रसिद्ध है। इस प्रकार चौथी पृथिवीमें विद्यमान नारकियोंकी ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३३२॥

पाँचवीं पृथिवीके तम नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई पचहत्तर धनुष बतलाई है। भ्रम नामक दूसरे प्रस्तारमें सत्तासी धनुष और दो हाथ है ॥३३३॥ झष नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई सौ धनुष कही गई है। अन्ध नामक चौथे प्रस्तारमें एक सौ बारह धनुष तथा दो हाथ है ॥३३४॥ और तमिस्र नामक पाँचवें प्रस्तारमें एक सौ पचीस धनुष है। इस प्रकार पाँचवीं पृथिवीमें विद्वानोंने ऊँचाईका वर्णन किया है ॥३३५॥

छठवीं पृथिवीके हिम नामक प्रथम प्रस्तारमें नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ तथा सोलह अंगुल बतलाई है ॥३३६॥ वर्दल नामक दूसरे प्रस्तारमें शास्त्ररूपी नेत्रोंके धारक विद्वानोंने नारकियोंकी ऊँचाई दो सौ आठ धनुष, एक हाथ और छः अंगुल प्रमाण देखी है ॥३३७॥ और लल्लक नामक तीसरे प्रस्तारमें नारकियोंकी ऊँचाई दो सौ पचास धनुष बतलाई है। इस प्रकार कृतकृत्य सर्वज्ञ देवने छठवीं पृथिवीमें ऊँचाईका वर्णन किया ॥३३८॥

---

१. शती म० ।

उत्सेधस्त्वप्रतिष्ठाने पञ्चचापशतानि सः । निश्चितो निश्चितज्ञानैः सप्तमे नरके च यः ॥३३९॥
सप्तसु प्रतिबोद्धव्यः प्रथितः प्रथमादिषु । अवधेर्विषयस्तासु पृथिवीषु यथाक्रमम् ॥३४०॥
योजनं तु त्रयः क्रोशाः सार्धा क्रोशत्रयं तथा । सार्धौ तौ तद्‌द्वयं सार्धः क्रोशः क्रोशश्च निश्चितः ॥३४१॥
क्रोशार्द्धं मृत्तिकागन्धः प्रथमे पटले व्रजेत् । तदधोऽधः क्रोशस्यार्द्धं वर्द्धते पटलं प्रति ॥३४२॥
पृथिव्योराद्ययोर्युक्ता जीवाः कापोतलेश्यया । तृतीयायां तथैवोर्ध्वमधस्तान्नीललेश्यया ॥३४३॥
अधश्चोर्ध्वं च सम्बद्धाश्चतुर्थ्यां नीललेश्यया । तथैवोपरि पञ्चम्यामधस्ते कृष्णलेश्यया ॥३४४॥
षष्ठ्यां च कृष्णयैवोर्ध्वमधः परमकृष्णया । सप्तम्यामुभयत्रामी क्लिष्टाः परमकृष्णया ॥३४५॥
स्पर्शेनोष्णेन बाध्यन्ते नारका भूचतुष्टये । पञ्चम्यामुष्णशीताभ्यां शीतेनैवान्ययोर्भुवोः ॥३४६॥
आकारेणोष्ट्रिकाकुम्भीकुस्थलीमुद्गरोपमाः । मृदङ्गनाडिकाकारा निगोदा[1] पृथिवीत्रये ॥३४७॥
गोगजाश्वादिभस्त्राब्जपुटसन्निभाः । ते चतुर्थ्यां च पञ्चम्यां नारकोत्पत्तिभूमयः ॥३४८॥
केदाराकृतयः केचित्कल्लरीमल्लकोपमाः । केचिन्मयूरकाकारा निगोदास्तेऽन्ययोर्भुवोः ॥३४९॥
एकद्वित्रिकगव्यूतियोजनव्याससङ्गताः । शतयोजनविस्तीर्णास्तेषूत्कृष्टास्तु वर्णिताः ॥३५०॥
उच्छ्रायो वस्तुतस्तेषां विस्तारः पञ्चताडितः । निगोदानां समस्तानामिति वस्तुविदो विदुः ॥३५१॥

सातवीं पृथिवीमें एक ही अप्रतिष्ठान नामका प्रस्तार है सो उसमें सन्देहरहित ज्ञानके धारक आचार्योंने नारकियोंकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण निश्चित की है ॥३३९॥

प्रथम पृथिवीको आदि लेकर उन सातों पृथिवियोंमें यथाक्रमसे अवधिज्ञानका विषय इस प्रकार जानना चाहिए ॥३४०॥ पहली पृथिवीमें अवधिज्ञानका विषय एक योजन अर्थात् चार कोश, दूसरीमें साढ़े तीन कोश, तीसरीमें तीन कोश, चौथीमें अढ़ाई कोश, पाँचवींमें दो कोश, छठवींमें डेढ़ कोश और सातवींमें एक कोश प्रमाण है ॥३४१॥ प्रथम पृथिवी सम्बन्धी पहले पटलकी मिट्टीकी दुर्गन्ध आध कोश तक जाती है और उसके नीचे प्रत्येक पटलके प्रति आधा-आधा कोश अधिक बढ़ती जाती है ॥३४२॥ पहली और दूसरी पृथिवीमें रहनेवाले नारकी कापोत लेश्यासे युक्त हैं। तीसरी पृथिवीके ऊर्ध्व भागमें रहनेवाले कापोत लेश्यासे और अधोभागमें रहनेवाले नील लेश्यासे सहित हैं ॥३४३॥ चौथी पृथिवीके ऊपर-नीचे दोनों स्थानोंपर तथा पाँचवीं पृथिवीके ऊपरी भागमें नील लेश्यासे युक्त हैं और अधोभागमें कृष्ण लेश्यासे सहित हैं ॥३४४॥ छठवीं पृथिवीके ऊर्ध्वभागमें कृष्ण लेश्यासे, अधोभागमें परमकृष्ण लेश्यासे और सातवीं पृथिवीके ऊपर नीचे दोनों ही जगह रहनेवाले परमकृष्ण लेश्यासे संक्लिष्ट हैं अर्थात् संक्लेशको प्राप्त होते रहते हैं ॥३४५॥ प्रारम्भकी चार भूमियोंमें रहनेवाले नारकी उष्ण स्पर्शसे, पाँचवीं भूमिमें रहनेवाले उष्ण और शीत दोनों स्पर्शोंसे तथा अन्तकी दो भूमियोंमें रहनेवाले केवल शीत स्पर्शसे ही पीड़ित रहते हैं ॥३४६॥ प्रारम्भकी तीन पृथिवियोंमें नारकियोंके उत्पत्ति-स्थान कुछ तो ऊँटके आकार हैं कुछ कुम्भी (घड़िया), कुछ कुस्थली, मुद्गर, मृदङ्ग और नाड़ीके आकार हैं ॥३४७॥ चौथी और पाँचवीं पृथिवीमें नारकियोंके जन्मस्थान अनेक तो गौके आकार हैं, अनेक हाथी घोड़े आदि जन्तुओं तथा धोंकनी, नाव और कमलपुटके समान हैं ॥३४८॥ अन्तिम दो भूमियोंमें कितने ही खेतके समान, कितने ही झालर और कटोरोंके समान, और कितने ही मयूरोंके आकारवाले हैं ॥३४९॥ वे जन्मस्थान एक कोश, दो कोश, तीन कोश और एक योजन विस्तारसे सहित हैं। उनमें जो उत्कृष्ट स्थान हैं वे सौ योजन तक चौड़े कहे गये हैं ॥३५०॥ उन समस्त उत्पत्ति स्थानोंकी ऊँचाई अपने विस्तारसे पँचगुनी है ऐसा वस्तु स्वरूपको जाननेवाले आचार्य जानते हैं ॥३५१॥ समस्त इन्द्रक बिल तीन द्वारोंसे युक्त तथा तीन कोणों-वाले हैं। इनके सिवाय जो श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक निगोद हैं उनमें कितने ही दो द्वारवाले

१. नारकोत्पत्तिस्थानानि ।

सर्वेऽप्येकनिगोदास्ते त्रिद्वाराश्च त्रिकोणकाः । द्विव्येकपञ्चसप्तान्यद्वारकोणास्ततः परे ॥३५२॥
संख्येयव्यासयुक्तानां निगोदानां निजान्तरम् । गव्यूतयः षडल्पं स्यादनल्पं द्वादशैव ताः ॥३५३॥
असंख्येयप्रमाणानामसंख्यं महदन्तरम् । योजनानां सहस्राणि सप्तैवाल्पमन्तरम्[1] ॥३५४॥
[2]त्रिगव्यूतिचतुर्भागसप्तयोजनमात्रकम् । घर्मानिगोदजा जीवा समुत्पत्य पतन्त्यधः ॥३५५॥
[3]गव्यूतिद्वितयं सार्धं सपञ्चदशयोजनम् । वंशानिगोदजन्मानः समुत्पत्य पतन्त्यधः ॥३५६॥
एकत्रिंशत्तु गव्यूत्या योजनानि नभस्तले । मेघानिगोदजा जीवाः समुल्लंघ्य पतन्त्यधः ॥३५७॥
द्विषष्टियोजनान्यूर्ध्वं गव्यूतिद्वयमुद्गताः । निपतन्त्युग्रदुःखार्तास्तेऽञ्जनाजनिगोदजाः ॥३५८॥
पञ्चविंशतिसम्मिश्रशतयोजनमातुराः । समुत्पत्य पतन्त्येव पञ्चमीस्था निगोदजाः ॥३५९॥
पञ्चाशता विमिश्रं तु योजनानां शतद्वयम् । वियदुत्पत्य षष्ठीस्थनिगोदोत्थाः पतन्त्यधः ॥३६०॥
सप्तमीस्थनिगोदोत्थाः सपञ्चशतयोजनम् । अध्वानमूर्ध्वमुत्पत्य पतन्ति वसुधातले ॥३६१॥
असुरा आतृतीयान्तं योधयन्ति परस्परम् । प्रयुध्यते स्वयं तेऽपि ज्ञात्वा वैरं पुरातनम् ॥३६२॥
कुन्तक्रकचशूलाद्यैर्नानाशस्त्रैस्तनूद्भवैः । खण्डं खण्डं विधीयन्ते पीडयन्ति परस्परम् ॥३६३॥
[4]सूतकस्येव सङ्घातः शरीरस्य प्रजायते । यावदायुःस्थितिस्तेषां न तावन्मरणं भवेत् ॥३६४॥
शारीरं मानसं दुःखमन्योऽन्योदीरितं खलु । सहन्ते नारका नित्यं पूर्वपापविपाकतः ॥३६५॥

दुकोने, कितने ही तीन द्वारवाले तिकोने, कितने ही पाँच द्वारवाले पँचकोने और कितने ही सात द्वारवाले सतकोने हैं ॥३५२॥ इनमें संख्यात योजन विस्तारवाले बिलोंका अपना जघन्य अन्तर छः कोश और उत्कृष्ट अन्तर बारह कोश है ॥३५३॥ एवं असंख्यात योजन विस्तारवाले बिलोंका उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात योजन तथा जघन्य अन्तर सात हजार योजन है ॥३५४॥

घर्मा नामक पहली पृथिवीके उत्पत्ति-स्थानोंमें उत्पन्न होनेवाले नारकी जीव जन्मकालमें जब नीचे गिरते हैं तब सात योजन सवा तीन कोश ऊपर आकाशमें उछलकर पुनः नीचे गिरते हैं ॥३५५॥ दूसरी वंशा पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले नारकी पन्द्रह योजन अढ़ाई कोश आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५६॥ तीसरी मेघा पृथिवीमें जन्म लेनेवाले जीव इकतीस योजन एक कोश आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५७॥ चौथी अञ्जना पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले जीव बासठ योजन दो कोश उछलकर नीचे गिरते हैं और तीव्र दुःखसे दुःखी होते हैं ॥३५८॥ पाँचवीं पृथिवीके निगोदोंमें जन्म लेनेवाले नारकी अत्यन्त दुःखी हो एकसौ पच्चीस योजन आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३५९॥ छठवीं पृथिवीमें स्थित निगोदोंमें जन्म लेनेवाले जीव दो सौ योजन आकाशमें उछलकर नीचे गिरते हैं ॥३६०॥ और सप्तमी पृथिवीमें स्थित निगोदोंमें उत्पन्न हुए जीव पाँच सौ धनुष ऊँचे उछलकर पृथिवी तलपर नीचे गिरते हैं ॥३६१॥ तीसरी पृथिवी तक असुरकुमार देव नारकियोंको परस्पर लड़ाते हैं। इसके सिवाय वे नारकी पुराने वैर भावको जानकर स्वयं भी लड़ते रहते हैं ॥३६२॥ विक्रिया शक्तिके द्वारा अपने शरीरसे ही उत्पन्न होनेवाले भाले, करौंत तथा शूल आदि नाना शस्त्रोंसे उन नारकियोंके खण्ड-खण्ड कर दिये जाते हैं और परस्पर एक दूसरेको पीड़ा पहुँचाते हैं ॥३६३॥ खण्ड-खण्ड होनेपर भी पारेके समान उनके शरीरके टुकड़ोंका पुनः समूह बन जाता है और जब तक उनकी आयुकी स्थिति रहती है तब तक उनका मरण नहीं होता ॥३६४॥ ये नारकी पूर्व कृत

१. अतः परं म० ख० पुस्तकयोः अयं श्लोकोऽधिकोऽस्ति—"क्रोशत्रयं सतुर्यांशं योजनानां च सप्तकम् । समुत्पतन्ति घर्मायां शेषास्तु द्विगुणोत्तरम् ।" २. एष श्लोकः ड० पुस्तके नास्ति । ३. नपुस्तके एतस्य श्लोकस्य स्थाने निम्नाङ्कितः श्लोकोऽस्ति—'यजिनं पञ्चदशकं सार्धक्रोशद्वयं तथा । समुच्छलन्ति वंशायां पतन्ति च निगोदजाः । ४. पारदस्येव ।

क्षारोष्णतीव्रसन्नावनदीवैतरणीजलात् । [1]दुर्गन्धान्मृन्मयाहारा[2]द्दुःखं भुञ्जन्ति दुःसहम् ॥३६६॥
अक्ष्णोर्निमीलनं यावन्नास्ति सौख्यं च जातुचित् । नरके पच्यमानानां नारकाणामहर्निशम् ॥३६७॥
स्युस्तेषामशुभतराः परिणामाः शरीरिणाम् । लिङ्गं नपुंसकाख्यं स्यात् संस्थानं हुण्डसंज्ञकम् ॥३६८॥
आगामितीर्थकर्तॄणां तथैवोपशमैनसाम् । उपसर्गाहृतिं भक्त्या कुर्वन्त्यत्यायने[3] सुराः ॥३६९॥
चत्वारिंशत्सहाष्टाभिर्घटिकाः प्रथमक्षितौ । अन्तरं नारकोत्पत्तेरन्तरज्ञैः स्फुटीकृतम् ॥३७०॥
सप्ताहश्चैव पक्षः स्यान्मासो मासौ यथाक्रमम् । चत्वारोऽपि च षण्मासा विरहः षट्सु भूमिषु ॥३७१॥
तीव्रमिथ्यात्वसंयुक्ता बह्वारम्भपरिग्रहाः । पृथिवीस्ताः प्रपद्यन्ते तिर्यञ्चो मानुषास्तथा ॥३७२॥
आद्यामसंज्ञिनो यान्ति द्वितीयां च प्रसर्पिणः । पक्षिणश्च तृतीयायां चतुर्थ्यां च भुजङ्गमाः ॥३७३॥
पञ्चमीमपि सिंहास्तु षष्ठीमपि च योषितः । प्रयान्ति प्राणिनः पापाः सप्तमीं मत्स्यमानुषाः ॥३७४॥
सप्तम्युद्वर्तितो यायात्तामेवानन्तरं सकृत् । षष्ठीतो निर्गतो द्विस्तां पञ्चमीं त्रिष्वथ व्रजेत् ॥३७५॥
चतुर्थीं च चतुर्वारान् प्रपद्येत ततश्च्युतः । तृतीयां पञ्चकृत्वोऽपि तस्या एव समागतः ॥३७६॥
द्वितीयायां च षट्कृत्वः सप्तकृत्वस्तथाऽसुमान् । प्रथमाया विनिर्यातः प्रथमायां प्रजायते ॥३७७॥
सप्तमीतो विनिर्यातः संज्ञितिर्यक्त्वभाक् पुनः । संख्येयायुर्वृतो याति नरकं तनुमद्गणः[4] ॥३७८॥
षष्ठीतस्तु विनिर्यातो लभते नैव संयमम् । तं लभेतापि पञ्चम्या निर्वाणं न तु तद्भवे ॥३७९॥
लभेतापि च निर्वाणं चतुर्थीनिःसृतः पुनः । निश्चयेनैव नैवाङ्गी तीर्थकृत्त्वं प्रपद्यते ॥३८०॥

पाप कर्मके उदयसे निरन्तर एक दूसरेके द्वारा दिये हुए शारीरिक एवं मानसिक दुःखको सहते रहते हैं ॥३६५॥ वे खारा गरम तथा अत्यन्त तीक्ष्ण वैतरणी नदीका जल पीते हैं और दुर्गन्धि युक्त मिट्टीका आहार करते हैं इसलिए निरन्तर असह्य दुःख भोगते रहते हैं ॥३६६॥ रात-दिन नरकमें पचनेवाले नारकियोंको निमेष मात्र भी कभी सुख नहीं होता ॥३६७॥ उन नारकियोंके निरन्तर अत्यन्त अशुभ परिणाम रहते हैं । तथा नपुंसक लिङ्ग और हुण्डक संस्थान होता है ॥३६८॥ जो आगामी कालमें तीर्थङ्कर होनेवाले हैं तथा जिनके पापकर्मोंका उपशम हो चुका है । देव लोग भक्तिवश छः माह पहलेसे उनके उपसर्ग दूर कर देते हैं ॥३६९॥ अन्तरके जाननेवाले आचार्योंने प्रथम पृथिवीमें नारकियोंकी उत्पत्तिका अन्तर अड़तालीस घड़ी बतलाया है ॥३७०॥ और नीचेकी छह भूमियोंमें क्रमसे एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मासका विरह—अन्तरकाल कहा है ॥३७१॥ जो तीव्र मिथ्यात्वसे युक्त हैं तथा बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहके धारक हैं ऐसे तिर्यञ्च और मनुष्य उन पृथिवियोंको प्राप्त होते हैं अर्थात् उनमें उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पहली पृथिवी तक जाते हैं, सरकनेवाले दूसरी पृथिवी तक, पक्षी तीसरी तक, सर्प चौथी तक, सिंह पाँचवीं तक, स्त्रियाँ छठवीं तक और तीव्र पाप करनेवाले मत्स्य तथा मनुष्य सातवीं पृथिवी तक जाते हैं ॥३७३–३७४॥ सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव यदि पुनः अव्यवहित रूपसे सातवींमें जावे तो एक बार, छठवींसे निकला हुआ छठवींमें दो बार, पाँचवींसे निकला हुआ पाँचवींमें तीन बार, चौथीसे निकला हुआ चौथीमें चार बार, तीसरीसे निकला हुआ तीसरीमें पाँच बार, दूसरीसे निकला हुआ दूसरीमें छः बार और पहलीसे निकला हुआ पहलीमें सात बार तक उत्पन्न हो सकता है ॥३७५–३७७॥ सातवीं पृथिवीसे निकला हुआ प्राणी नियमसे संज्ञी तिर्यञ्च होता है तथा संख्यात वर्षकी आयुका धारक हो फिरसे नरक जाता है ॥३७८॥ छठवीं पृथिवीसे निकला हुआ जीव संयमको प्राप्त तो हो सकता है पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता ॥३७९॥ चौथी पृथिवीसे निकला हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है परन्तु निश्चयसे तीर्थङ्कर नहीं हो सकता ॥३८०॥

---

१. दुर्गन्धा म०, २. मृन्मयाहाराः म० । ३. अन्तिमषण्मासेषु । ४. प्राणिसमूह ।

तृतीयायाः द्वितीयाया प्रथमायाश्च निःसृतः । तीर्थकृत्त्वं लभेतापि देही दर्शनशुद्धितः ॥३८१॥
बलकेशवचक्रित्वं परिहृत्यैव मन्त्यवः । नरत्वं प्रतिपद्येरन् नरकेभ्यो विनिर्गताः ॥३८२॥
अधोलोकविभागस्ते संक्षेपेण मयोदितः । तिर्यग्लोकविभागस्य शृणु श्रेणिक ! संग्रहम् ॥३८३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

सूर्याचन्द्रमसामगोचरमधोलोकान्धकारं बुधाः[1]
[2]प्रध्वंस्याऽऽप्तवचःप्रदीपविभवैः सर्वत्रगैः सर्वदा ।
पश्यन्तः प्रभवन्ति तत्त्वमिति किं चित्रं त्रिलोक्यां[3] कृता-
वालोके जिनभानुना विरचिते ध्वान्तस्य वा क्व स्थितिः ॥३८४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ अधोलोकसंस्थानवर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तीसरी दूसरी और पहली पृथिवीसे निकला हुआ जीव सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे तीर्थङ्कर पद प्राप्त कर सकता है ॥३८१॥ नरकोंसे निकले हुए जीव बलभद्र, नारायण और चक्रवर्ती पद छोड़कर ही मनुष्य पर्याय प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् मनुष्य तो होते हैं पर बलभद्र नारायण और चक्रवर्ती नहीं हो सकते ॥३८२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार मैंने संक्षेपसे तेरे लिए अधो लोकके विभागका वर्णन किया। अब तू तिर्यग्लोक—मध्यम लोकके विभागका वर्णन सुन ॥३८३॥

बुद्धिमान् मनुष्य सब समय, सर्वत्र व्याप्त रहनेवाले, जिनेन्द्र भगवान्के वचन रूपी उत्तम दीपकोंकी सामर्थ्यसे सूर्य और चन्द्रमाके अगोचर अधोलोकके अन्धकारको नष्टकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखते हुए प्रभुत्वको प्राप्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? क्योंकि तीन लोकमें जिनेन्द्र रूपी सूर्यके द्वारा प्रकाशके उत्पन्न होनेपर अन्धकारका सद्भाव कहाँ रह सकता है ? ॥३८४॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमिके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे जिनसेनाचार्य प्रणीत हरिवंशपुराणमें अधोलोकका वर्णन करनेवाला चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

१. बुधः म० । २. प्रध्वस्तास । ३. त्रिलोकाकृता-म०, त्रिलोक्याकृता-ख०, घ०, ङ० ।

पञ्चमः सर्गः

तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः । लक्षितावधिरूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया ॥१॥
तत्रैवास्मिन्नसंख्येयसागरद्वीपवेष्टितः । जम्बूद्वीपः स्थितो वृत्तो जम्बूपादपलक्षितः ॥२॥
विस्तारेणार्णवस्पर्शी[1] वज्रवेदिकयाऽऽवृतः । महामेरुमहानाभिर्लक्षयोजनलक्षया[2] ॥३॥
[3]तिस्रो लक्षाः परिक्षेपः स्यात्सहस्राणि षोडश । योजनानि त्रिगव्यूतिर्द्विशती सप्तविंशतिः ॥४॥
अष्टविंशतिसन्मिश्रं तथैवान्यं धनुःशतम् । त्रयोदशाङ्गुलानि स्युः साधिकार्धाङ्गुलानि तु ॥५॥
कोटीशतानि सप्त स्युः कोट्यो नवतिः स्फुटाः । षट्पञ्चाशत्तथा लक्षा नवतिश्चतुरुत्तरा ॥६॥
सहस्रगुणिता द्वीपे शतं पञ्चाशताधिकम् । योजनानि विभक्तेऽस्मिन् गणितस्य पदं विदुः ॥७॥
क्षेत्राणि सन्ति सप्ताऽत्र मेरुरेकः कुरुद्वयम् । जम्बूश्च शाल्मलीवृक्षौ षडेव कुलपर्वताः ॥८॥
महासरांसि षट् तेषु महानद्यश्चतुर्दश । द्विषट् विभङ्गनद्यश्च [4]वक्षारागाश्च विंशतिः ॥९॥
राजधान्यश्चतुस्त्रिंशद्रौप्याद्रिवृषभाद्रयः । अष्टाषष्टिर्गुहा वृत्तविजयार्धचतुष्टयम् ॥१०॥
तथा त्रीणि सहस्राणि पुनः सप्तशतान्यपि । चत्वारिंशत्पुराणि स्युर्विद्याधरमहीभृताम् ॥११॥
एतैः सर्वैरयं द्वीपो दीप्यते द्विगुणैरिमैः । यथाऽसौ धातकीखण्डः पुष्करार्धश्च सर्वतः ॥१२॥
भारतं दक्षिणं तत्र क्षेत्रं हैमवतं परम् । हरिक्षेत्रं विदेहं च रम्यकं च तथा परम् ॥१३॥

तनुवातवलयके अन्त भाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोककी अवधि निश्चित है। भावार्थ—मेरु पर्वत कुल एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसमें एक हजार योजन तो पृथिवीतलसे नीचे है और निन्यानबे हजार योजन पृथिवीतलसे ऊपर है। तिर्यग्लोक की सीमा इसी मेरु पर्वतसे निश्चित है अर्थात् तिर्यग्लोक पृथिवीतलके एक हजार योजन नीचे-से लेकर निन्यानबे हजार योजन ऊँचाई तक है ॥१॥ इसी मध्यम लोकमें असंख्यात द्वीप-समुद्रोंसे वेष्टित गोल तथा जम्बू वृक्षसे युक्त जम्बू द्वीप स्थित है ॥२॥ यह जम्बू द्वीप लवण समुद्रका स्पर्श करनेवाला है, वज्रमयी वेदिकासे घिरा हुआ है, महामेरु रूपी नाभिसे युक्त है अर्थात् महामेरु इसके मध्यभागमें अवस्थित है तथा एक लाख योजन विस्तारवाला है ॥३॥ जम्बू द्वीपकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल है ॥४-५॥ विभाग करनेपर गणितज्ञ मनुष्य इस जम्बू-द्वीपका घनाकार क्षेत्र सात सौ नब्बे करोड़ छप्पन लाख, चौरानबे हजार एक सौ पचास योजन बतलाते हैं ॥६-७॥ इस जम्बू द्वीपमें सात क्षेत्र, एक मेरु, दो कुरु, जम्बू और शाल्मली नामक दो वृक्ष, छह कुलाचल, कुलाचलोंपर स्थित छह महासरोवर, चौदह महानदियाँ, बारह विभङ्गा नदियाँ, बीस वक्षार गिरि, चौंतीस राजधानी, चौंतीस रूप्याचल, चौंतीस वृषभाचल, अड़सठ गुहाएँ, चार गोलाकार नाभि गिरि और तीन हजार सात सौ चालीस विद्याधर राजाओंके नगर हैं। ऊपर कही हुई इन सभी चीजोंसे यह जम्बू द्वीप अत्यधिक सुशोभित है। जम्बू द्वीपसे दूने क्षेत्र तथा मेरु आदिसे दूसरा धातकीखण्ड द्वीप देदीप्यमान है और पुष्करार्ध भी धातकीखण्डके समान समस्त क्षेत्रों तथा पर्वतों आदिसे युक्त है ॥८-१२॥ जम्बू द्वीपमें

१. स्पर्धि म० । २. -नाभिलक्षयोजन -म० । ३. जम्बूद्वीपस्य सूक्ष्मपरिधिः ३१६२२७ योजनानां कोशाः १२८ धनूंषि १३½ अङ्गुलानि च वर्तते । ४. वक्षागाराश्च म० ।

हैरण्यवतमित्यन्यत् स्यादैरावतमुत्तरम् । विस्तारेणाविदेहान्तं क्षेत्रं क्षेत्राच्चतुर्गुणम् ॥१४॥
प्रथमो हिमवानन्यो महाहिमवदाह्वयः । पर्वतो निषधो नीलो रुक्मी च शिखरी गिरिः ॥१५॥
पूर्वस्मादुत्तरो भूभृद् विस्तारेण चतुर्गुणः । निषधं यावदाख्याता दक्षिणैरुत्तराः समाः ॥१६॥
क्षेत्रस्याद्यस्य विस्तारः सपञ्चशतयोजनः । षड्विंशतिस्तथा भागः षट् चाप्येकोनविंशतेः ॥१७॥
जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भे नवत्या च शतेन च । विभक्ते भारतस्यायं विस्तारो भवति स्फुटः ॥१८॥
क्षेत्राद् द्विगुणविस्तारः पर्वतः क्षेत्रमप्यतः । आविदेहमतस्तस्य वृद्धिवच्च परिक्षयः ॥१९॥
मध्येभारतमन्योऽद्रिरन्तप्राप्ताम्बुधिद्वयः । भाति विद्याधरावासो विजयार्द्ध इति श्रुतः ॥२०॥
पञ्चविंशतिरुत्सेधः षट् सपादान्यधः स्थितः । योजनान्यस्य पञ्चाशद्विस्तारो रजतात्मनः ॥२१॥

भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। इनमें भरत क्षेत्र-सबसे दक्षिणमें है और ऐरावत क्षेत्र उत्तरमें है। प्रारम्भसे लेकर विदेह क्षेत्र तकके क्षेत्र विस्तारकी अपेक्षा पूर्व क्षेत्रसे चौगुने-चौगुने विस्तारवाले हैं। भावार्थ—भरत क्षेत्रसे चौगुना विस्तार हैमवत क्षेत्रका है, हैमवत क्षेत्रसे चौगुना विस्तार हरि क्षेत्रका है और हरि क्षेत्रसे चौगुना विस्तार विदेह क्षेत्रका है। विदेह क्षेत्रसे आगेके क्षेत्रोंका विस्तार चौथा भाग है अर्थात् विदेह क्षेत्रके विस्तारसे चौथा भाग विस्तार रम्यक क्षेत्रका है, रम्यक क्षेत्रसे चौथा भाग विस्तार हैरण्यवतका है और उससे चौथा भाग विस्तार ऐरावत क्षेत्रका है ॥१३-१४॥ हिमवान् , महाहिमवान् , निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह कुलाचल हैं। इनमें आगे-आगेका कुलाचल पूर्व-पूर्व कुलाचलसे चौगुने-चौगुने विस्तार वाला है। यह क्रम निषध कुलाचल तक ही चलता है। इसके आगे उत्तरके तीन कुलाचल दक्षिणके कुलाचलोंके समान कहे गये हैं ॥१५-१६॥ प्रथम भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें छह भाग प्रमाण है ॥१७॥ जम्बू द्वीपकी चौड़ाई—एक लाख योजनमें यदि एक सौ नब्बे योजनका भाग दिया जाय तो भरत क्षेत्रका उक्त विस्तार स्पष्ट हो जाता है। भावार्थ—भरत क्षेत्रका जो विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन बतलाया है वह जम्बू द्वीपके विस्तारका एक सौ नब्बेवाँ भाग है ॥१८॥ क्षेत्रसे पर्वत दूने विस्तारवाला है और पर्वतसे क्षेत्र दूने विस्तारवाला है। दूने विस्तारका यह क्रम विदेह क्षेत्र तक चलता है उसके आगेके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार ह्रासको लिये हुए है अर्थात् आगेके क्षेत्र और पर्वत अर्ध-अर्ध विस्तारवाले हैं ॥१९॥* भरत क्षेत्रके ठीक मध्य भागमें विजयार्ध नामसे प्रसिद्ध एक दूसरा पर्वत सुशोभित है। इसके दोनों अन्तभाग पूर्व और पश्चिमके दोनों समुद्रोंको प्राप्त हैं तथा इसपर विद्याधरोंका निवास है ॥२०॥ यह पर्वत पृथिवीसे पच्चीस योजन ऊँचा है सवा छह योजन पृथिवीके नीचे स्थित है, पचास योजन चौड़ा है और चाँदीके समान सफेद वर्णवाला है ॥२१॥

१. मुत्तमं म० । २. निषधो म० ।

* क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार निम्नलिखित है—

१ भरत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$ योजन	२ हिमवत् पर्वत	१०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन
३ हैमवत क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$ योजन	४ महाहिमवत् पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन
५ हरिक्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन	६ निषध पर्वत	१६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन
७ विदेह क्षेत्र	३३६८४$\frac{४}{१९}$ योजन	८ नील पर्वत	१६८४२$\frac{२}{१९}$ योजन
९ रम्यक क्षेत्र	८४२१$\frac{१}{१९}$ योजन	१० रुक्मी पर्वत	४२१०$\frac{१०}{१९}$ योजन
११ हैरण्यवत क्षेत्र	२१०५$\frac{५}{१९}$ योजन	१२ शिखरी पर्वत	१०५२$\frac{१२}{१९}$ योजन
१३ ऐरावत क्षेत्र	५२६$\frac{६}{१९}$ योजन		

योजनानि क्षितेरूर्ध्वं दशोत्पत्य दशोपरि । विस्तीर्णे पर्वतायामे श्रेण्यौ विद्याधराश्रिते ॥२२॥
दक्षिणस्यां महाश्रेण्यां पञ्चाशन्नगराणि च । उत्तरस्यां [1] पुरः षष्टिस्त्रिविष्टपपुरोपमाः [2] ॥२३॥
योजनानि दशातीत्य पुनः सन्ति पुराण्यतः । सुराणामाभियोग्यानां क्रीडायोग्यान्यनेकशः ॥२४॥
पुनरुत्पत्य पञ्चोर्ध्वं दशयोजनविस्तृता । श्रेणी तु पूर्णभद्राख्या विजयार्द्धसुराश्रिता ॥२५॥
सिद्धायतनकूटं प्राक् दक्षिणार्द्धकमेव च । खण्डकादिप्रपातं च पूर्णभद्रं ततः परम् ॥२६॥
विजयार्द्धकुमाराख्यं मणिभद्रं ततः परम् । तामिस्रगुहकं चान्यदुत्तरार्द्धं च नामतः ॥२७॥
अन्ते वैश्रवणाख्यं तु भान्ति तानि दधन्ति तम् । नगाग्रे नवकूटानि क्रोशषड्योजनोच्छ्रितिम् ॥२८॥
मूले तन्मात्रमेवैषां मध्येऽप्यूनानि पञ्च तु । साधिकान्युपरि त्रीणि विस्तारस्तेषु भाषितः ॥२९॥
सिद्धायतनकूटे च सिद्धकूटमितीरितम् । पूर्वाभिमुखमाभाति जिनायतनमुज्ज्वलम् ॥३०॥
उच्छ्रायस्तस्य पादोनः क्रोशः क्रोशार्द्धविस्तृतिः । आयामः क्रोश एव स्यात्प्रासादस्याविनाशिनः ॥३१॥
ज्याऽसौ नवसहस्राणि सप्तशत्यपि चाष्टभिः । चत्वारिंशद् कला द्विःषट् भारतार्द्धे तु दक्षिणा ॥३२॥
धनुःपृष्ठं पुनस्तस्याः षट्षष्टिः सप्तशत्यपि । सहस्राणि नव ज्यायाः साधिका च कलोदितम् ॥३३॥
योजनानां शते द्वे तु साष्टत्रिंशत्कलात्रयम् । धनुषोऽनन्तरस्येयमिषुर्भवति पुष्कला ॥३४॥
सहस्राणि दशामीषां सप्तशत्यपि विंशतिः । एकादशकला ज्यासौ विजयार्द्धनगोत्तरा ॥३५॥
ज्याया दशसहस्राणि धनुःसप्तशतीरितम् । त्रिचत्वारिंशदप्यस्याः कलाः पञ्चदशाधिकाः ॥३६॥
योजनानां प्रसिद्धेषुरष्टाशीतं शतद्वयम् । उत्तरा विजयार्द्धस्य तिस्रश्चापि कलाः कलाः ॥३७॥
चूलिका विजयार्द्धस्य योजनानां चतुःशती । षडशीतिर्मनागूना जिनेशैन प्रकीर्तिता [3] ॥३८॥

पृथिवीसे दश योजन ऊपर चलकर इस पर्वतकी दो श्रेणियाँ हैं जो पर्वतके ही समान लम्बी हैं तथा जिनमें अनेक विद्याधरोंका निवास है ॥२२॥ दक्षिण महाश्रेणीमें पचास और उत्तर महाश्रेणीमें साठ नगर है, ये सब नगर स्वर्गपुरीके समान हैं ॥२३॥ यहाँसे दश योजन और ऊपर चलकर आभियोग्य जातिके देवोंकी क्रीड़ाके योग्य अनेक नगर स्थित हैं ॥२४॥ यहाँसे पाँच योजन और ऊपर चढ़कर एक पूर्णभद्र नामकी श्रेणी है जो दश योजन चौड़ी है तथा विजयार्ध नामक देवसे आश्रित है अर्थात् जहाँ विजयार्ध देवका निवास है ॥२५॥ इस विजयार्ध पर्वतपर नौ कूट हैं जिनमें पहला सिद्धायतन, दूसरा दक्षिणार्धक, तीसरा खण्डकप्रपात, चौथा पूर्णभद्र, पाँचवाँ विजयार्धकुमार, छठवाँ मणिभद्र, सातवाँ तामिस्रगुहक, आठवाँ उत्तरार्ध और नौवाँ वैश्रवण कूट है। ये नौ कूट पर्वतके अग्रभागपर सुशोभित हैं तथा सवा छह योजन ऊँचाईको धारण करते हैं ॥२६-२८॥ इन पर्वतोंका विस्तार मूलमें सवा छह योजन, मध्यमें कुछ कम पाँच योजन और ऊपर कुछ अधिक तीन योजन कहा गया है ॥२९॥ सिद्धायतन कूटपर पूर्व दिशाकी ओर सिद्धकूट नामसे प्रसिद्ध अत्यन्त उज्ज्वल जिनमन्दिर सुशोभित है ॥३०॥ इस अविनाशी जिनमन्दिरकी ऊँचाई पौन कोश, चौड़ाई आध कोश और लम्बाई एक कोश है ॥३१॥ भरत क्षेत्रके अर्ध भागमें विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण प्रत्यञ्चा नौ हजार सात सौ अड़तालीस योजन और बारह कला प्रमाण विस्तृत है ॥३२॥ प्रत्यञ्चाके धनुःपृष्ठका विस्तार नौ हजार सात सौ छयासठ योजन तथा कुछ अधिक एक कला प्रमाण कहा गया है ॥३३॥ इस निकटस्थ धनुषका बाण दो सौ अड़तीस योजन और तीन कला प्रमाण है ॥३४॥ विजयार्ध पर्वतकी उत्तर प्रत्यञ्चा दश हजार सात सौ सत्ताईस योजन तथा ग्यारह कला प्रमाण है ॥३५॥ इस उत्तर प्रत्यञ्चाका धनुःपृष्ठ दश हजार सात सौ तैंतालीस योजन तथा कुछ अधिक पन्द्रह कला प्रमाण है ॥३६॥ विजयार्धके इस उत्तर धनुःपृष्ठका बाण दो सौ अठासी योजन तथा तीन कला प्रमाण है ॥३७॥ जिनेन्द्रदेवने विजयार्ध पर्वतकी चूलिका कुछ कम चार सौ छयासी योजन

१. पुनः म०, क० । २. स्वर्गपुरीसन्निभाः । ३. भागा द्वादश कीर्तिताः म० ।

पूर्वापरान्तयोरद्रेरष्टाशीतिं चतुःशती । प्रमाणं भुजयोरस्य भागाः षोडश चाधिकाः ॥३९॥
षट्कला भरतज्योना सैका सप्ततिरीरिता । चतुःशतीविमिश्राणि सहस्राणि चतुर्दश ॥४०॥
चतुर्दशसहस्राणि पञ्चशत्या तु विंशतिः । अष्टाभिर्भारतं भागा धनुरेकादशाधिकाः ॥४१॥
शतानि पञ्चविंशत्या सह षड्भिश्च षट् कलाः । प्रसिद्धेयमिषुर्माप्या धनुषस्तस्य भारती ॥४२॥
अष्टादशशती प्रोक्ता चूलिका पञ्चसप्ततिः । अर्धसप्तमभागाश्च साधिका भरतक्षितेः ॥४३॥
सहस्रमेकमष्टौ च शतानि नवतिर्द्वयम् । साधिकार्धाष्टमांशाश्च पूर्वापरभुजप्रमा ॥४४॥
शतयोजनमानः स्यादुच्छ्रायो हिमवद्गिरेः । अवगाहस्तु तस्यैव पञ्चविंशतियोजनः ॥४५॥
योजनानां सहस्रं तु द्वापञ्चाशत्समन्वितम् । द्वादशापि कलाः प्रोक्ता विस्तारो हिमवद्गिरेः ॥४६॥
चतुर्विंशतिरस्याद्रेः सहस्राणि शतान्यपि । नव द्वात्रिंशता ज्या स्यादीषदूनकलोत्तरा ॥४७॥
पञ्चविंशतिरस्यैव सहस्राणि शतद्वयम् । योजनानि धनुस्त्रिंशच्चतस्रः साधिका कलाः ॥४८॥
सहस्रं पञ्चशत्येकमष्टासप्ततिरेव च । कला चाष्टादशैवाद्रेरिषुरेषोऽस्य भाषिता ॥४९॥
योजनानां सहस्राणि पञ्च तानि शतद्वयम् । त्रिंशच्चूलिकाऽस्याद्रेर्भागाः सप्त च साधिकाः ॥५०॥
पञ्चैवास्य सहस्राणि पञ्चाशच्च शतत्रयम् । साधिकार्धेन तौ बाहू भागाः पञ्चदशाधिकाः ॥५१॥
भान्त्येकादश कूटानि हैमस्य हिमवद्गिरेः । शिखरेऽस्य निविष्टानि पंक्त्या पूर्वपरात्मना ॥५२॥
सिद्धायतनकूटं प्राक् हिमवत्कूटमप्यतः । कूटं भरतसंज्ञं स्यादिलाकूटं ततः परम् ॥५३॥
गङ्गाकूटं श्रियः कूटं रोहितास्यादिकं च तत् । सिन्धुकूटं सुरादेवीकूटं हैमवतं च यत् ॥५४॥
कूटं वैश्रवणाख्यं तु पाश्चात्यं परिकीर्तितम् । पञ्चविंशतिरुच्छ्रायः सर्वेषां योजनानि तु ॥५५॥
पञ्चविंशतिरेव स्याद् विस्तारो मूलगोचरः । अर्द्धत्रयोदशाग्रेऽन्तः[1] पादोनैकोनविंशतिः ॥५६॥

बतलाई है ॥३८॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्व-पश्चिम भुजाओंका विस्तार चार सौ अठासी योजन तथा कुछ अधिक सोलह कला प्रमाण है ॥३९॥ भरत क्षेत्रकी प्रत्यञ्चा चौदह हजार चार सौ इकहत्तर योजन और कुछ कम छह कला है ॥४०॥ इसका धनुःपृष्ठ चौदह हजार पाँच सौ अट्ठाईस योजन तथा ग्यारह कला प्रमाण है ॥४१॥ भरतक्षेत्र सम्बन्धी धनुःपृष्ठके बाणका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और छह कला प्रमाण प्रसिद्ध है ॥४२॥ भरत क्षेत्रकी चूलिका अठारह सौ पचहत्तर योजन तथा कुछ अधिक साढ़े छह भाग बतलाई है ॥४३॥ इसकी पूर्व-पश्चिम भुजाओंका विस्तार एक हजार आठ सौ बानवे योजन तथा कुछ अधिक साढ़े सात भाग है ॥४४॥ हिमवान् कुलाचलकी ऊँचाई सौ योजन, गहराई पच्चीस योजन और चौड़ाई एक हजार बावन योजन तथा बारह कला प्रमाण कही गई है ॥४५–४६॥ इस हिमवत् कुलाचल-की प्रत्यञ्चाका प्रमाण चौबीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन तथा कुछ कम एक कला प्रमाण बतलाया है ॥४७–४८॥ इसका बाण एक हजार पाँच सौ अठहत्तर योजन तथा अठारह कला प्रमाण कहा है ॥४९॥ हिमवत्कुलाचलकी चूलिकाका विस्तार पाँच हजार दो सौ तीस योजन तथा कुछ अधिक सात कला है ॥५०॥ इसकी पूर्व-पश्चिम दोनों भुजाओंका विस्तार पाँच हजार तीन सौ पचास योजन साढ़े पन्द्रह भाग है ॥५१॥ इस सुवर्णमय हिमवत् कुलाचलकी शिखर-पर पूर्वसे पश्चिम तक पंक्ति रूपसे स्थित ग्यारह कूट सुशोभित हो रहे हैं ॥५२॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१. सिद्धायतनकूट, २. हिमवत्कूट, ३. भरतकूट, ४. इलाकूट, ५. गङ्गाकूट, ६. श्रीकूट, ७. रोहितकूट, ८. सिन्धुकूट, ९. सुरादेवीकूट, १०. हैमवतकूट और ११. वैश्रवणकूट। इन सभी कूटोंकी ऊँचाई पच्चीस योजन प्रमाण है ॥५३–५५॥ इन सबका मूलमें पच्चीस योजन, मध्यमें पौने उन्नीस योजन और ऊपर साढ़े बारह योजन विस्तार है ॥५६॥

---

१. दशाग्रे तु म० ।

द्वे सहस्रे शतं पञ्च योजनानि तु पञ्चभिः । भागै हैमवतस्यापि विष्कम्भः पुष्कलो मतः ॥५७॥
सप्तत्रिंशत्सहस्राणि चतुःसप्तति षट्शती । ज्याऽपि हैमवतस्यान्ते न्यूनाः षोडश ताः कलाः ॥५८॥
साष्टत्रिंशत्सहस्राणि सप्तशत्यपि नोदिता । चत्वारिंशच्चतुर्ज्याया दशास्याः साधिकाः कलाः[1] ॥५९॥
षट्त्रिंशच्च शतानि स्यादशीतिश्चतुरुत्तरा । योजनानि कलाश्चास्य चतस्रो धनुषस्त्विषुः ॥६०॥
चूलिका चैकसप्तत्या त्रिषष्टिशतयोजना । साधिकैः सप्तभिर्भागैः क्षेत्रस्यास्योपवर्णिता ॥६१॥
सप्तषष्टिशतान्यस्याः पञ्चपञ्चाशता भुवः । योजनानि भुजामानं साधिकाश्च त्रयोंऽशकाः ॥६२॥
सहस्राणि तु चत्वारि दशोत्तरशतद्वयम् । दशभागाश्च विस्तारो महाहिमवतो गिरेः ॥६३॥
ऊर्ध्वं च पुनरुद्यातो योजनानां शतद्वयम् । पञ्चाशतमधो यातो धरिण्यां धरिणीधरः ॥६४॥
त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि योजनानि शतानि च । नवैकत्रिंशदेतस्य ज्या षट् भागाश्च साधिकाः ॥६५॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि सप्ताऽस्य द्विशती धनुः । त्रिनवत्या सह ज्यायाः साधिकाश्च [2]दशांशकाः ॥६६॥
धनुषोऽस्य सहस्राणि सप्त साष्टशतानि तु । चतुर्नवतियुक्तानि भागाश्चेषुश्चतुर्दश ॥६७॥
एकाशीतिशतानि स्यादष्टाविंशतिरेव च । चत्वारोऽर्द्धाधिका भागाश्चूलिकाऽस्य महीभृतः ॥६८॥
सहस्राणि नव द्वे तु शते षट्सप्ततिर्नव । भागा भुजद्वयं तस्य साधिकार्द्धकलाधिकाः ॥६९॥
अष्टार्जुनमयस्यास्य कूटानि शिखरे गिरेः । रत्नरञ्जितसानूनि नित्यानि सन्ति भान्ति च ॥७०॥
सिद्धायतनकूटं स्यान्महाहिमवदादिकम् । कूटं हैमवतं कूटं रोहिता कूटमप्यतः ॥७१॥
ह्रीकूटं हरिकान्तादि हरिवर्षादिकं हि तत् । वैडूर्यकूटमप्येषां पञ्चाशद्योजनोच्छ्रितिः ॥७२॥
पञ्चाशद्योजनो मौलो[3] विष्कम्भो मध्यगोचरः । सप्तत्रिंशत्तथार्द्धं च मस्तके पञ्चविंशतिः ॥७३॥

इसके आगे दूसरा हैमवत क्षेत्र है इसका विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन तथा पाँच कला प्रमाण माना गया है ॥५७॥ इसकी प्रत्यञ्चा सैंतीस हजार छह सौ चौहत्तर योजन तथा कुछ कम सोलह कला प्रमाण है ॥५८॥ इस प्रत्यञ्चाका धनुषपृष्ठ अड़तीस हजार सात सौ चालीस योजन तथा कुछ अधिक दश कला प्रमाण है ॥५९॥ और इसका बाण तीन हजार छह सौ चौरासी योजन तथा चार कला है ॥६०॥ इसकी चूलिका छह हजार तीन सौ इकहत्तर योजन तथा कुछ अधिक सात कला है ॥६१॥ पूर्व-पश्चिम भुजाओंका मान छह हजार सात सौ पचपन योजन और कुछ अधिक तीन भाग है ॥६२॥

इसके आगे महाहिमवान् कुलाचल है इसका विस्तार चार हजार दो सौ दश योजन तथा दश कला है ॥६३॥ यह पर्वत पृथिवीसे दो सौ योजन ऊपर उठा है तथा पचास योजन पृथिवीके नीचे गया है ॥६४॥ इसकी प्रत्यञ्चाका विस्तार त्रेपन हजार नौ सौ इकतीस योजन तथा कुछ अधिक छह कला है ॥६५॥ इस प्रत्यञ्चाके धनु:पृष्ठका विस्तार सत्तावन हजार दो सौ तिरानबे योजन तथा कुछ अधिक दश अंश है ॥६६॥ इसके बाणकी चौड़ाई सात हजार आठ सौ चौरानबे योजन तथा चौदह भाग है ॥६७॥ इस महाहिमवान् पर्वतकी चूलिका आठ हजार एक सौ अट्ठाईस योजन तथा साढ़े चार कला है ॥६८॥ इसकी दोनों भुजाएँ नौ हजार दो सौ छिहत्तर योजन तथा साढ़े नौ कला प्रमाण हैं ॥६९॥ चाँदीके समान श्वेतवर्णवाले इस पर्वतके शिखरपर रत्नोंसे शिखरोंको अनुरंजित करनेवाले उत्तम एवं स्थायी आठ कूट सुशोभित हो रहे हैं ॥७०॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१. सिद्धायतनकूट, २. महाहिमवत्कूट, ३. हैमवत कूट, ४. रोहिता कूट, ५. ह्री कूट, ६. हरिकान्त कूट, ७. हरिवर्ष कूट और ८. वैडूर्य कूट। सब कूटोंकी ऊँचाई पचास योजन प्रमाण है ॥७१–७२॥ मूलमें इन कूटोंका विस्तार पचास योजन, मध्यमें साढ़े सैंतीस योजन और ऊपर पचीस योजन है ॥७३॥

---

१. सकलाः कलाः ख० । २. दशान्तकाः म० । ३. मूले भवो मौलः ।

स्यादष्टौ हि सहस्राणि चतुःशत्येकविंशतिः । हरिवर्षस्य विस्तारो भागश्चैकोनविंशतेः ॥७४॥
शतानि नव सैकानि सहस्राणि त्रिसप्ततिः । ज्यापि चास्य विशेषेण भागाः सप्तदशाधिकाः ॥७५॥
अस्याश्चतुरशीतिश्च सहस्राणि पुनर्भवेत् । षोडशाऽपि धनुर्ज्यायाश्चतस्रः साधिकाः कलाः ॥७६॥
षोडशाऽस्य सहस्राणि योजनानां शतत्रयम् । इषुः पञ्चदश ज्ञेया सह पञ्चदशांशकैः ॥७७॥
सहस्राणि नवान्यानि शतानि नव चूलिका । पञ्चाशीतिश्च पञ्चांशाः सहार्द्धकलया तु सा ॥७८॥
त्रयोदशसहस्राणि त्रिशती षष्टिरेककम् । साधिकार्धाधिकार्धाः षट् भागास्तत्र भुजप्रमा ॥७९॥
द्वाचत्वारिंशदष्टौ च शतान्यन्यानि षोडश । सहस्राणि च भागौ द्वौ विष्कम्भो निषधस्य च ॥८०॥
उच्छ्रायः पुनरस्य स्याद् योजनानां चतुःशती । अवगाहस्त्वधो भूमेः शतयोजनमात्रकः[1] ॥८१॥
चतुर्नवतिसंख्यानि सहस्राणि शतं तथा । षट्पञ्चाशद्द्विभागौ च साधिकौ ज्याऽस्य भूभृतः ॥८२॥
लक्षैकाऽत्र सहस्राणि चतुर्विंशतिरंशकाः । साधिका नव चापं षट्चत्वारिंशच्छतत्रयम् ॥८३॥
धनुषोऽस्य त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि शतं तथा । सप्तपञ्चाशदेव स्यादिषुः सप्तदशांशकाः ॥८४॥
तथा दशसहस्राणि शतं स्यात्सप्तविंशतिः । साधिकौ च परौ भागौ चूलिका निषधस्य सा ॥८५॥
विंशतिश्च सहस्राणि पञ्चषष्टियुतं शतम् । साधिकार्धाधिकौ भागौ प्रमाणं भुजयोरिह ॥८६॥
तपनीयमयस्यास्य निषधस्यापि मूर्धनि । भासन्ते नवकूटानि सर्वरत्नमरीचिभिः ॥८७॥
सिद्धायतनकूटं च कूटं तन्निषधादिकम् । हरिवर्षादिकं पूर्वविदेहादिकमेव तत् ॥८८॥
ह्रीकूटं धृतिकूटं च शीतोदाकूटमेव च । विदेहकूटमित्येकं रुचकं नवमं मतम् ॥८९॥
उच्छ्रायो योजनशतं विष्कम्भश्चापि मूलजः । पञ्चाशन्मस्तकेऽमीषां मध्येऽसौ पञ्चसप्ततिः ॥९०॥

इसके आगे हरिवर्ष क्षेत्र है इसका विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण है ॥७४॥ इसकी प्रत्यञ्चाका विस्तार तेहत्तर हजार नौ सौ एक योजन और सत्रह कला है ॥७५॥ इस प्रत्यञ्चाका धनुःपृष्ठ आठ हजार चार सौ सोलह योजन तथा कुछ अधिक चार कला है ॥७६॥ इसके बाणका विस्तार सोलह हजार तीन सौ पन्द्रह योजन तथा पन्द्रह कला है ॥७७॥ इसकी चूलिका नौ हजार नौ सौ पचासी योजन तथा साढ़े पाँच कला है ॥७८॥ और इसकी भुजाओंका प्रमाण तेरह हजार तीन सौ इकसठ योजन साढ़े छह कला है ॥७९॥

इसके आगे निषध पर्वत है इसका विस्तार सोलह हजार आठ सौ बयालिस योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥८०॥ इसकी ऊँचाई चार सौ योजन है और पृथिवीके नीचे गहराई सौ योजन प्रमाण है ॥८१॥ इस पर्वतकी प्रत्यञ्चा चौरानबे हजार एक सौ छप्पन योजन तथा अधिक दो कला है ॥८२॥ इसका धनुःपृष्ठ एक लाख चौबीस हजार तीन सौ छियालीस योजन तथा कुछ अधिक नौ कला है ॥८३॥ इस धनुःपृष्ठके बाणका विस्तार तैंतीस हजार एक सौ सतावन योजन तथा सत्रह कला है ॥८४॥ इस निषध कुलाचलकी चूलिका दश हजार एक सौ सत्ताईस योजन तथा कुछ अधिक दो कला है ॥८५॥ इसकी भुजाओंका प्रमाण बीस हजार एक सौ पैंसठ योजन तथा कुछ अधिक अढ़ाई कला है ॥८६॥ इस स्वर्णमय निषधाचलके मस्तकपर नौ कूट हैं जो कि सब प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे सुशोभित हो रहे हैं ॥८७॥ उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ निषध कूट, ३ हरिवर्ष कूट, ४ पूर्व विदेह कूट, ५ ह्री कूट, ६ धृति कूट, ७ सीतोदा कूट, ८ विदेह कूट और ९ रुचक कूट ॥८८-८९॥ इन सबकी ऊँचाई और मूलकी चौड़ाई सौ योजन है। बीचकी चौड़ाई पचहत्तर योजन और मस्तक—ऊर्ध्व भागकी चौड़ाई पचास योजन है ॥९०॥

१. मात्रकाः म० ।

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि विदेहस्य च षट्शती । तथा चतुरशीतिश्च विस्तारश्चतुरंशकाः ॥९१॥
ज्या स्याच्छतसहस्राणि योजनानि प्रमाणतः । जम्बूद्वीपप्रमाणेन कृतस्पर्धेव साम्यतः ॥९२॥
अष्टापञ्चाशदिष्टानि सहस्राणि शतं धनुः । त्रयोदशैककलांशाः साधिकार्धेन षोडश ॥९३॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि योजनानीषुरिष्यते । महतो धनुषस्तस्य महती[1] युज्यते हि सा ॥९४॥
द्वे सहस्रे शतैर्युक्ते नवभिश्चैकविंशतिः । साधिकाष्टादशांशाश्च विदेहार्धस्य चूलिका ॥९५॥
त्र्यशीतिश्च शतान्यष्टौ सहस्राणीह षोडश । त्रयोदशांशकाः पादः साधिकश्च भुजाद्वयम् ॥९६॥
प्रमाणं दक्षिणार्धे यद् द्वीपस्य प्रतिपादितम् । बोध्यं तदुत्तरार्धेऽपि क्षेत्रपर्वतगोचरम् ॥९७॥
ज्यायां ज्यायां विशुद्धायां शेषार्धं चूलिका स्मृता । चापे चापे विशुद्धेऽर्धं तथा पार्श्वभुजा हि सा ॥९८॥
वैडूर्यमयनीलस्य सिद्धायतननामकम् । नीलकूटं च तत्पूर्वविदेहाद्युपरि स्थितम् ॥९९॥
सीताकूटं चतुर्थं स्यात्कीर्तिकूटं च पञ्चमम् । नरकान्तादिकं षष्ठं ततोऽपरविदेहकम् ॥१००॥
रम्यकाद्यष्टमं कूटमपदर्शनकं त्विह । उच्छ्रायमूलमध्यान्तविष्कम्भो निषधेषु यः ॥१०१॥
रौक्मस्य रुक्मिणोऽप्यग्रे सिद्धायतनमादितः । रुक्मिकूटं द्वितीयं स्यात् तृतीयं रम्यकादिकम् ॥१०२॥
नारीकूटं तुरीयं तु बुद्धिकूटं तु पञ्चमम् । रूप्यकूटं परं कूटं हैरण्यवतपूर्वकम् ॥१०३॥
मणिकाञ्चनकूटं च सामान्योच्छ्रायतस्तु ते । मूलमध्याग्रविस्तारैर्महाहिमवति स्थितैः ॥१०४॥
कूटान्येकादशैवाग्रे हैमस्य शिखरिश्रुतेः । सिद्धायतनमाद्यं स्यात् कूटं शिखरिपूर्वकम् ॥१०५॥
हैरण्यवतकूटं च सुरदेवीपुरःसरम् । रक्तालक्ष्मीसुवर्णादिकूटानि च यथाक्रमम् ॥१०६॥
तथा रक्तवती कूटं गन्धदेव्यास्ततः परम् । तथैरावतकूटं च पारचार्यं मणिकाञ्चनम् ॥१०७॥

इसके आगे विदेह क्षेत्र है इसका विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन तथा एक योजनके उन्नीस भागोंमें चार भाग प्रमाण है ॥९१॥ इसकी प्रत्यञ्चाका प्रमाण मानो समानताके कारण स्पर्धा करनेवाले जम्बू द्वीपके बराबर एक लाख योजन है ॥९२॥ इसके धनुः-पृष्ठका विस्तार एक लाख अंठावन हजार एक सौ तेरह योजन तथा कुछ अधिक साढ़े सोलह कला है ॥९३॥ बाणका विस्तार पचास हजार योजन है सो ठीक ही है क्योंकि उतने बड़े धनुषका उतना बड़ा बाण होना उचित हो है ॥९४॥ विदेहार्धकी चूलिका दो हजार नौ सौ इक्कीस योजन तथा कुछ अधिक अठारह कला है ॥९५॥ इसकी दोनों भुजाओंका विस्तार सोलह हजार आठ सौ तेरासी योजन तथा सवा तेरह कलासे कुछ अधिक है ॥९६॥ जम्बू द्वीपके दक्षिणार्ध भागमें क्षेत्र तथा पर्वत आदिका जो प्रमाण बतलाया है वही उत्तरार्ध भागमें भी जानना चाहिए ॥९७॥ प्रत्यञ्चा, धनुःपृष्ठ, बाण, भुजा तथा चूलिकाका जो विस्तार दक्षिणार्धमें बतलाया गया है वही शेषार्धमें भी है ॥९८॥ उत्तरार्धके पर्वतोंमें जो विशेषता है उसे बतलाते हैं—विदेह क्षेत्रके आगे जो वैडूर्यमणिमय नील पर्वत है उसके ऊपर निम्नलिखित नौ कूट हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ नील कूट, ३ पूर्व विदेह कूट, ४ सीताकूट, ५ कीर्ति कूट, ६ नरकान्तककूट, ७ अपर विदेह कूट, ८ रम्यक कूट और ९ अपदर्शन कूट। इन सब कूटोंकी ऊँचाई तथा मूल मध्य और ऊर्ध्व भागकी चौड़ाई निषधाचलके कूटोंके समान है ॥९९-१०१॥ रुक्मी पर्वत चाँदीका है उसके अग्रभागपर निम्नलिखित आठ कूट हैं—पहला सिद्धायतन कूट, दूसरा रुक्मि कूट, तीसरा रम्यक कूट, चौथा नारी कूट, पाँचवाँ बुद्धि कूट, छठवाँ रूप्य कूट, सातवाँ हैरण्यवत कूट और आठवाँ मणिकाञ्चनकूट। इन सबकी सामान्य ऊँचाई मूल मध्य तथा अग्र भागका विस्तार महाहिमवान् पर्वतके कूटोंके समान जानना चाहिए ॥१०२-१०४॥ शिखरी पर्वत सुवर्णमय है उसके अग्रभागपर निम्नलिखित ग्यारह कूट हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ शिखरी कूट, ३ हैरण्यवत कूट, ४ सुरदेवी कूट, ५ रक्ता कूट, ६ लक्ष्मी कूट, ७ सुवर्ण कूट, ८ रक्तवती

१. महिती म० ।

हिमवत्कूटतुल्यानि तानि कूटानि शोभया । आदिमध्यान्तविस्तारैरुच्छ्रायेण च चारुणा ॥१०८॥
तथैरावतमध्यस्थविजयार्द्धस्य मूर्धनि । हठन्ते[1] नवकूटानि सुरत्नमणिसत्कूटैः ॥१०९॥
सिद्धायतनकूटं स्यादुत्तरार्धाभिधानकम् । तामिस्रगुहकूटं च मणिभद्रमतः परम् ॥११०॥
विजयार्धकुमाराख्यं पूर्णभद्राख्यमन्यतः । खण्डकादिप्रपातं च दक्षिणार्धं च नामतः ॥१११॥
नवमं तु तथाख्यातं कूटं वैश्रवणश्रुतिः । तानि सर्वाणि तुल्यानि भारतीयैः प्रमाणतः ॥११२॥
पूर्वापरायतानां हि षण्णां तत्कुलभूभृताम् । सप्तक्षेत्रविभक्तॄणामेकैकस्योभयान्तयोः ॥११३॥
सर्वर्तुकुसुमाकीर्णफलभारनतद्रुमैः । हारिणौ[2] पक्षिसङ्घातमधुकृन्मधुरस्वनैः[3] ॥११४॥
अर्द्धयोजनविस्तीर्णौ विचित्रमणिवेदिकौ । भवतो वनखण्डौ द्वौ पर्वतायामसम्मितौ ॥११५॥
अर्धयोजनमानस्तु वेदिकोत्सेध इष्यते । वेदकैर्व्यासतस्तस्य व्यासः पञ्चधनुःशती ॥११६॥
[4]सुरत्नपरिणामानि नानावर्णानि सर्वतः । वेदिकोचितदेशेषु तोरणानि भवन्ति च ॥११७॥
भूभृतामुपरि ज्ञेया सर्वतः पद्मवेदिका । मणिरत्नमयी दिव्या गव्यूतिद्वयमुच्छ्रिता ॥११८॥
गृहद्वीपसमुद्राणां भूनदीह्रदभूभृताम् । वेदिकोत्सेधविस्तारौ तिर्यग्लोके स्थिताविमौ ॥११९॥
तेषां तु मध्यदेशेषु पूर्वापरसमायताः । षण्महाकुलशैलानां षड् महान्तो ह्रदाः स्थिताः ॥१२०॥
पद्मश्चापि महापद्मस्तिगिञ्छः केसरी ह्रदः । सुमहापुण्डरीकश्च पुण्डरीकश्च नामतः ॥१२१॥
चतुर्दश विनिर्गत्य सरितः पूर्वसागरम् । तेभ्यो विशन्ति सप्तैव सप्तैवापरसागरम् ॥१२२॥

कूट, ९ गन्धदेवी कूट, १० ऐरावत कूट और ११ मणिकाञ्चन कूट । ये सब कूट शोभा, मूल-मध्य और अन्त सम्बन्धी विस्तार तथा सुन्दर ऊँचाईसे हिमवत् पर्वतके कूटोंके समान हैं ॥१०५-१०८॥ ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें जो विजयार्ध पर्वत है उसके अग्रभागपर भी नौ कूट हैं जो कि उत्तमोत्तम रत्न तथा मणियोंके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं । उन कूटोंके नाम इस प्रकार हैं—१ सिद्धायतन कूट, २ उत्तरार्ध कूट, ३ तामिस्रगुह कूट, ४ मणिभद्र कूट, ५ विजयार्ध कुमार कूट, ६ पूर्णभद्र कूट, ७ खण्डकप्रपात कूट, ८ दक्षिणार्ध कूट और ९ वैश्रवण कूट । ये सब कूट प्रमाणकी अपेक्षा भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धपर स्थित कूटोंके तुल्य हैं ॥१०९-११२॥ सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले तथा पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे जिन छह कुलाचलोंका वर्णन पहले कर आये हैं उनमेंसे प्रत्येकके दोनों अन्त भागमें वन खण्ड सुशोभित हैं । ये वन खण्ड समस्त ऋतुओंके फूलोंसे भरे तथा फलोंके भारसे नम्रीभूत वृक्षों और पक्षि-समूह तथा भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे मनोहर हैं, आधा योजन विस्तृत हैं, चित्र-विचित्र मणियोंकी वेदिकाओंसे सहित हैं और पर्वतके लम्बाईके बराबर हैं ॥११३-११५॥ व्यास—विस्तारके रहस्यको जाननेवाले आचार्योंने इन वन खण्डोंकी वेदिकाकी ऊँचाई आधा योजन और चौड़ाई पाँच सौ धनुष बतलाई है ॥११६॥ वेदिकाओंके ऊपर योग्य स्थानोंपर चारों ओर उत्तमोत्तम रत्नोंसे निर्मित नाना रंगके तोरण हैं ॥११७॥ कुलाचलोंके ऊपर चारों ओर मणि तथा रत्नोंसे बनी हुई दिव्य तथा दो कोश ऊँची पद्म-वेदिका है ॥११८॥ मध्य लोकमें गृह, द्वीप, समुद्र, पृथिवी, नदी, ह्रद और पर्वतोंकी जो वेदिकाएँ हैं उनकी ऊँचाई और विस्तार भी इसी प्रकार समझना चाहिए अर्थात् सबकी ऊँचाई आधा योजन और चौड़ाई पाँच सौ धनुष हैं ॥११९॥

उक्त छह महाकुलाचलोंके मध्यभागमें पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे छह विशाल सरोवर हैं ॥१२०॥ उनके नाम इस प्रकार हैं—१ पद्म, २ महापद्म, ३ तिगिञ्छ, ४ केसरी, ५ महापुण्डरीक और ६ पुण्डरीक ॥१२१॥ उन सरोवरोंसे चौदह नदियाँ निकली हैं जिनमें सात तो पूर्व

१. हठन्ति ख०, म० । उत्तिष्ठन्ति-इत्यर्थः, 'हठ' प्लुतिशठत्वयोः । २. मनोहरौ । ३. मधुपस्वनैः म० । ४. उत्तमरत्ननिर्मितानि ।

गङ्गा सिन्धुश्च रोहा[1] च रोहितास्या हरित् सरित् । हरिकान्ता च सीता च सीतोदाऽपि च नामतः ॥१२३॥
नारी च नरकान्ता च तथैव परिवर्णिता । सुवर्णकूलया साकं रूप्यकूला पराऽपगा ॥१२४॥
रक्तया सह रक्तोदा ताश्च सर्वा यथायथम् । नदीबहुसहस्रैस्तु भवन्ति सहिताः क्षितौ ॥१२५॥
सहस्रयोजनायामः पद्मः पञ्चशतानि च । योजनानि स विस्तीर्णो दश स्यादवगाहतः ॥१२६॥
हिमवद्वेदिकातुल्या परिक्षिपति वेदिका । समन्ततस्तमापूर्णं शुभशीतलवारिणा ॥१२७॥
योजनादुच्छ्रित[2]विष्कम्भं पुष्करं पुष्करेऽम्भसः । निष्क्रम्य योजनार्धं तु काशते क्रोशकर्णिकम् ॥१२८॥
द्विगुणद्विगुणायामविष्कम्भादौ ह्रदान्तरे । दक्षिणोत्तरभागस्थे पुष्कराणि चकासते ॥१२९॥
पुष्करेषु वसन्त्युच्चैः प्रासादेषु यथाक्रमम् । श्रीह्रियौ धृतिकीर्त्यौ च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवताः ॥१३०॥
ताश्च पल्योपमायुष्काः सौधर्मेन्द्रस्य दक्षिणाः । ऐशानस्योत्तरा देव्यः ससामानिकसंसदः ॥१३१॥
गङ्गा पूर्वेण पद्मस्य द्वारेणानुनगं गता । सिन्धुरप्यपरेणास्य रोहितास्योत्तरेण तु ॥१३२॥
महापद्मह्रदात् रोहा हरिकान्ता च निःसृता । हरिता सह सीतोदा तिगिञ्छह्रदतस्तथा ॥१३३॥
केशरीह्रदतः सीता नरकान्ता च निर्गता । नारी च रूप्यकूला च सा महापुण्डरीकतः ॥१३४॥
सुवर्णकूलया रक्ता रक्तोदा पुण्डरीकतः । द्वारेण तोरणोद्भासा विनिःक्रान्ता महानदी ॥१३५॥
षड् योजनानि गव्यूतं व्यासो वज्रमुखस्य सः । अवगाहोऽर्द्धगव्यूतं गङ्गाया निर्गमे स्मृतम् ॥१३६॥
योजनानि नवोद्विद्धमष्टांशत्रितयं तथा । तोरणं तत्र विज्ञेयं विचित्रमणिभास्वरम् ॥१३७॥

सागरमें प्रवेश करती हैं और सात पश्चिम सागरमें ॥१२२॥ उन नदियोंके नाम इस प्रकार हैं—१ गङ्गा, २ सिन्धु, ३ रोहा (रोहित्), ४ रोहितास्या, ५ हरित्, ६ हरिकान्ता, ७ सीता, ८ सीतोदा, ९ नारी, १० नरकान्ता, ११ सुवर्णकूला, १२ रूप्यकूला, १३ रक्ता और १४ रक्तोदा। ये सब नदियाँ पृथिवीतलपर हजारों सहायक नदियोंसे युक्त हैं ॥१२३–१२५॥ पद्म सरोवर एक हजार योजन लम्बा, पाँच सौ योजन चौड़ा और दश योजन गहरा है ॥१२६॥ शुभ एवं शीतल जलसे भरे हुए इस सरोवरको हिमवत्कुलाचलकी वेदिकाके तुल्य एक वेदिका चारों ओरसे घेरे हुए है ॥१२७॥ इस पद्म सरोवरमें एक योजन विस्तारवाला कमल है। यह कमल पानीसे निकलकर आधा योजन ऊपर उठा हुआ है, तथा एक कोशकी उसकी कर्णिका सुशोभित है ॥१२८॥ दक्षिण तथा उत्तर भागमें जो अन्य सरोवर हैं उनकी लम्बाई चौड़ाई आदि पूर्व पूर्वके सरोवरोंसे दुगुनी दुगुनी है तथा उन सब सरोवरोंमें कमल सुशोभित हैं ॥१२९॥ कमलोंपर जो ऊँचे-ऊँचे भवन बने हुए हैं उनमें यथाक्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामकी देवियाँ निवास करती हैं ॥१३०॥ ये सब देवियाँ एक पल्यकी आयुवाली हैं। इनमें दक्षिण भागकी देवियाँ सौधर्मेन्द्रकी और उत्तर भागकी देवियाँ ऐशानेन्द्रकी आज्ञाकारिणी हैं। ये सब सामानिक देवोंकी सभासे सहित हैं ॥१३१॥

पद्म सरोवरके पूर्व द्वारसे गङ्गा, पश्चिम द्वारसे सिन्धु और उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकली है। ये नदियाँ सरोवरसे निकलकर कुछ दूर तक पर्वतपर ही बहती हैं ॥१३२॥ महापद्मसरोवरसे रोहा और हरिकान्ता, तिगिञ्छसे हरित् और सीतोदा, केशरी सरोवरसे सीता और नरकान्ता, महापुण्डरीक सरोवरसे नारी और रूप्यकूला और पुण्डरीक सरोवरसे सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदी निकली हैं। इन नदियोंके निकलनेके द्वार तोरणोंसे सुशोभित हैं ॥१३३–१३५॥ जिस वज्रमुख द्वारसे गङ्गा निकलती है उसका विस्तार छह योजन और एक कोश है तथा उसकी गहराई आधे कोशकी है ॥१३६॥ उस द्वारपर चित्र-विचित्र मणियोंसे देदीप्यमान एक तोरण बना हुआ है जो नौ योजन तथा एक योजनके आठ भागोंमें

---

१. रोहिच ख०, म० । २. योजनोच्छ्रित-म० ।

प्राच्य पञ्चशतीं प्राचीमावर्तेन निवर्त्य च । गङ्गाकूटादपाचीं सा भारतव्यासमागता ॥१३८॥
शतयोजनमाकाशं चाधिकं चातिलङ्घ्य सा । व्यपतत्पर्वताद्दूरे पञ्चविंशतियोजने ॥१३९॥
[1]षड्योजनीं सगव्यूतां विस्तीर्णां वृषभाकृतिः । जिह्विका [2]योजनार्द्धं तु बाहुल्यायामतो गिरौ[3] ॥१४०॥
तयैव पतिता गङ्गा गोशृङ्गाकारधारिणी । श्रीगृहाग्रेऽभवद् भूमौ दशयोजनविस्तृता ॥१४१॥
षष्टियोजनविस्तीर्णं वज्रकुण्डमुखं भुवि । अवगाहो दशास्यापि मध्ये द्वीपो व्यवस्थितः ॥१४२॥
अष्टयोजनविष्कम्भः सोऽम्भसः क्रोशयोर्द्वयम् । उत्थितस्तस्य चाम्योऽस्ति मूर्ध्नि वज्रमयोऽचलः ॥१४३॥
चत्वारि च गिरिर्द्वे च तथैकं च दशोन्नतिः । योजनानि स विस्तीर्णो मूले मध्ये च मूर्धनि ॥१४४॥
शिखरे च गिरेस्तस्य मूले मध्ये च मस्तके । त्रीणि द्वे च सहस्रं च विस्तारेण धनूंषि तु ॥१४५॥
अन्तः पञ्चशतायामं तदर्द्धं चापि विस्तृतम् । द्विसहस्रधनुस्तुङ्गं भाति वज्रमयं गृहम् ॥१४६॥
अशीतिधनुरुद्विद्धं चत्वारिंशच्च विस्तृतम् । तत्र वज्रकपाटाख्यं द्वारं वज्रमयं गृहे ॥१४७॥
यात्वा दक्षिणतः कुण्डात् क्वचित् कुण्डलगामिनी । गुहायां विजयार्द्धस्य विस्तृता [5]साष्टयोजनीम् ॥१४८॥
चतुर्दशसहस्रैस्तु प्रवेशे सरितामसौ । सार्द्धद्विषष्टिविष्कम्भा प्रविष्टा पूर्वसागरम् ॥१४९॥

तीन भाग प्रमाण ऊँचा है ॥१३७॥ गङ्गा नदी अपने निर्गम स्थानसे निकलकर पाँच सौ योजन तो पूर्व दिशाकी ओर बही है फिर बलखाती हुई गङ्गा कूटसे लौटकर दक्षिणकी ओर भरत क्षेत्रमें आई है ॥१३८॥ वह गङ्गा कुछ अधिक सौ योजन आकाशसे उलंघकर पर्वतसे पच्चीस योजनकी दूरीपर गिरी है ॥१३९॥

हिमवत् पर्वतके दक्षिण तटपर एक जिह्विका नामकी प्रणाली है जो छह योजन तथा एक कोश चौड़ी है, दो कोश ऊँची तथा उतनी ही लम्बी है और वृषभाकार अर्थात् गोमुखके आकारकी है ॥१४०॥ इस प्रणाली द्वारा गङ्गा, गोशृङ्गका आकार धारण करती हुई श्रीदेवीके भवनके आगे गिरी है और वहाँ भूमिपर इसका विस्तार दश योजन हो गया है ॥१४१॥ भूमिपर साठ योजन चौड़ा तथा दश योजन गहरा एक वज्रमुख नामका कुण्ड है इस कुण्डके मध्यमें एक द्वीप है जो आठ योजन चौड़ा है तथा पानीसे दो कोश ऊँचा है। इस द्वीपके ऊपर एक वज्रमय पर्वत है जो मूलमें चार योजन, मध्यमें दो योजन, तथा अन्तमें एक योजन चौड़ा एवं दश योजन ऊँचा है ॥१४२-१४४॥ उस पर्वतके शिखरपर एक सुशोभित वज्रमय भवन है जो मूलमें तीन हजार, मध्यमें दो हजार और अन्तमें एक हजार धनुष विस्तृत है। तथा भीतर पाँच सौ धनुष लम्बा, दो सौ पचास धनुष चौड़ा और दो हजार धनुष ऊँचा है ॥१४५-१४६॥ उस भवनका अस्सी योजन ऊँचा तथा चालीस योजन चौड़ा वज्रकपाट नामका वज्रमय द्वार है ॥१४७॥ वज्रमुख कुण्डसे दक्षिणकी ओर जाकर कहीं कुण्डलके आकार गमन करती हुई गङ्गा विजयार्ध पर्वतकी गुफामें आठ योजन चौड़ी हो गई है ॥१४८॥ चौदह हजार नदियोंके साथ जहाँ यह गङ्गा पूर्व लवण समुद्रमें प्रवेश करती है वहाँ इसकी चौड़ाई साढ़े बासठ योजन-

१. षड्योजनीं सगव्यूतां म० । २. योजनार्धं ।

३. कोसदुगदीहबहला वसहायारा य जिदिया संघ ।
छज्जोयणं सकोसं तिस्से गंतूण पडिदा सा ॥५८४॥ —त्रिलोकसार
हिमवन्त अन्त मणिमय वरकूड मुहम्मि वसह रूवम्मि ।
पविसित्तु पडइ धारा सय जोयण तुंग सम्मि धवला ॥१४९॥
छज्जोयण सक्कोशा पणालिया वित्थडा मुणेयव्वा ।
आयामेण य णेया वे कोसातेत्तिया बहला ॥१५०॥ —जम्बू० प्रज्ञप्ति

४. ऊर्जितः म० । ५. याष्टयोजनी क० ।

योजनानि त्रिनवति त्रिगव्यूतानि चोच्छ्रितम् । गाधतो योजनार्द्धं स्यात् सरिद्विस्तारतोरणम् ॥१५०॥
सर्वप्रकारतः सिन्धुः समाना गङ्गया ततः । आविदेहाच्च सरितां द्विगुणं जिह्विकादिकम् ॥१५१॥
तोरणान्यवगाहेन समस्तानि समानि तु । वसन्ति तेषु सर्वेषु दिक्कुमार्यो यथायथम् ॥१५२॥
षट्सप्तति कलाषट्कं योजनानां शतद्वयम् । गत्वाऽद्रौ रोहितास्यातो[1] निपत्य श्रीगृहेऽगमत् ॥१५३॥
शतानि षोडशाऽद्रौ तु रोह्या पञ्चयुतानि सा । कलाश्चागम्य पञ्चागाद् गिरेः पञ्चाशदन्तरम् ॥१५४॥
तावदेव गता शैले हरिकान्तोत्तरां दिशम् । समुद्रं पश्चिमं याता प्राप्य कुण्डं शतान्तरम्[2] ॥१५५॥
चतुःसप्ततिसंख्यानि शतानि कलया हरित् । एकविंशतिमागम्य निषधे प्रापतच्छते ॥१५६॥
सीतोदाऽपि गिरिं गत्वा तावदेव चतुःशती । उल्लङ्घ्यापतदद्रेः सा योजनानां शतद्वये ॥१५७॥
तावदेव समागत्य सीताऽसौ नीलपर्वते । तावत्येव समापत्य प्राग्विदेहान् बिभेद च ॥१५८॥
दक्षिणाभिः समा नद्यः षड्भिस्ताश्च षडुत्तराः । यथायोग्यं प्रपाताद्यैः प्रतिपाद्याः प्रतिद्विकम् ॥१५९॥
गङ्गा चैव नदी रोह्या हरित् सीता च पूर्वगाः । नारी सुवर्णकूला च सरक्ताः परगाः पराः ॥१६०॥
श्रद्धावान् विजयावांश्च पद्मवांश्चापि गन्धवान् । मध्ये हैमवतादीनां विजयार्द्धास्तु वर्तुलाः ॥१६१॥
योजनानां सहस्रं स्यान्मूले विस्तृतिरुच्छ्रितिः । तदर्धं मस्तके मध्ये पञ्चाशत् सप्तशत्यपि ॥१६२॥
योजनार्द्धेन न प्राप्ता नद्यो नाभिगिरीनिमान् । गता प्रदक्षिणा सीतासीतोदे मन्दरं यथा ॥१६३॥

की हो गई है ॥१४९॥ गङ्गा जिस तोरण द्वारसे लवण समुद्रमें प्रवेश करती है वह तेरानबे योजन तीन कोश ऊँचा है तथा आधा योजन गहरा है ॥१५०॥

सिन्धु नदी सब प्रकारसे गङ्गा नदीके समान है केवल विशेषता यह है कि यह पश्चिम लवण समुद्रमें मिली है। गङ्गा सिन्धुसे लेकर विदेह क्षेत्र तककी समस्त नदियोंकी जिह्विका आदिका विस्तार दूना-दूना जानना चाहिए ॥१५१॥ समस्त नदियोंके तोरण गहराईकी अपेक्षा समान हैं तथा उन समस्त तोरणोंमें यथायोग्य दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥१५२॥ रोहितास्या नदी दो सौ छिहत्तर योजन छह कला पर्वतपर बहती है। तदनन्तर पर्वतसे गिरकर श्री देवीके भवनकी ओर गई है ॥१५३॥ रोह्या नदी एक हजार छह सौ पाँच योजन पाँच कला पर्वतपर बहकर उससे पचास योजन दूर गिरी है ॥१५४॥ इसी प्रकार हरिकान्ता नदी भी महा हिमवान् पर्वतपर एक हजार छह सौ पचास योजन पाँच कला उत्तर दिशाकी ओर बहकर सौ योजन दूर कुण्डमें गिरी है और वहाँसे पश्चिम समुद्रकी ओर गई है ॥१५५॥ हरित् नदी सात हजार चार सौ इक्कीस योजन एक कला निषध पर्वतपर बहकर सौ योजन दूरपर गिरी है ॥१५६॥ सीतोदा नदी भी इतनी ही दूर पर्वतपर बहती है। तदनन्तर चार सौ योजन ऊँचे आकाशको उल्लंघकर पर्वतसे दो सौ योजन दूर गिरती है ॥१५७॥ सीता नदी भी इतनी ही दूर नील पर्वतपर बहती है और इतनी ही दूर आकाशमें उछलकर पूर्व विदेह क्षेत्रको भेदन करती है ॥१५८॥ उत्तर दिशाकी छह नदियाँ दक्षिण दिशाकी छह नदियोंके समान हैं इसलिए उनके प्रपात आदिका वर्णन दो-दो नदियोंके युगल रूपमें यथायोग्य करना चाहिए ॥१५९॥ गङ्गा, रोह्या, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता ये सात नदियाँ पूर्व समुद्रकी ओर जाती हैं और शेष सात नदियाँ पश्चिम समुद्रकी ओर ॥१६०॥ हैमवत आदि चार क्षेत्रोंके मध्यमें क्रमसे श्रद्धावान्, विजयावान्, पद्मवान् और गन्धवान् नामके चार गोलाकार विजयार्ध पर्वत हैं ॥१६१॥ ये पर्वत मूलमें एक हजार योजन, मध्यमें सात सौ पचास योजन और मस्तकपर पाँच सौ योजन चौड़े हैं तथा एक हजार योजन ऊँचे हैं ॥१६२॥ इन पर्वतोंका दूसरा नाम नाभि गिरि है जिस प्रकार सीता, सीतोदा नदी मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देती हुई गई है इसी प्रकार रोह्या, रोहितास्या आदि नदियाँ

१. तस्यान्तो म० । २. शतयोजनानन्तरे ।

प्रासादेषु गिरस्त्येषां स्वातिरप्यरुणः परः । पद्मश्चापि प्रभासश्च व्यन्तरा निवसन्ति ते ॥१६४॥
क्षेत्रपर्वतनद्याद्या येऽत्र द्वीपे प्रकीर्तिताः । द्विगुणा धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च ते स्थिताः ॥१६५॥
[1]द्वीपानतीत्य संख्यातान् जम्बूद्वीपः परः [2]स्थितः । सन्ति तत्र पुरोऽमीषामत्र ये गदिताः सुराः ॥१६६॥
नीलमन्दरमध्यस्था उत्तराः कुरवो मताः । स्थितास्तु देवकुरवः सुमेरुनिषधान्तरे ॥१६७॥
द्वाचत्वारिंशदष्टौ च शतानि व्यासतो मताः । एकादशसहस्राणि कुरवस्ते कलाद्वयम् ॥१६८॥
ज्या च तेषां त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि धनुः पुनः । षट्चतुःशतो चाष्टौ दशांशा द्वादशाधिकाः ॥१६९॥
त्रिचत्वारिंशतं सैकसहस्राणि च सप्ततिः । चतुरंशा नवांशाश्च कुरुवृत्तं प्रकीर्तितम् ॥१७०॥
सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत् षट्शती चतुरंशकाः । अशीतिश्चतुरग्राऽसौ विदेहक्षेत्रविस्तृतिः ॥१७१॥
मेरोः पूर्वोत्तराशायां सीतायाः पूर्वतः स्थितम् । समीपं नीलशैलस्य जम्बूस्थलमुदीरितम् ॥१७२॥
पञ्चचापशतव्यासा गव्यूतिद्वयमुद्धृता । स्थलस्योपरि पर्येति सर्वतो रत्नवेदिका ॥१७३॥
तस्य पञ्चशती व्यासो मध्ये बाहुल्यमष्ट तु । गव्यूतिद्वितयं चान्ते स्थलस्य परिकीर्तितम् ॥१७४॥
जाम्बूनदमये तत्र पीठिकाष्टोच्छ्रया स्थिता । मूलमध्याग्रविस्तारैर्द्वादशाष्टचतुर्मिता ॥१७५॥
अधोऽधोऽन्या षडेतस्याः परितो मणिवेदिकाः । प्रत्येकमुपरि द्वे द्वे तासां ताः पद्मवेदिकाः ॥१७६॥
मूले गव्यूतिविस्तीर्णः स्कन्धोच्छ्रायद्वियोजनः । अवगाहद्विगव्यूतिः शाखाव्यासाष्टयोजनः ॥१७७॥

भी आधा योजन दूर रहकर इन पर्वतोंकी प्रदक्षिणा देती हुई गई हैं ॥१६३॥ इन पर्वतोंके शिखरोंपर निर्मित भवनोंमें क्रमसे स्वाति, अरुण, पद्म और प्रभास नामके व्यन्तर देव निवास करते हैं ॥१६४॥

जम्बू द्वीपमें जिन क्षेत्र, पर्वत तथा नदी आदिका वर्णन किया है, धातकीखण्ड तथा पुष्करार्धमें वे सब दूने-दूने हैं ॥१६५॥ संख्यात द्वीप समुद्रोंको उल्लंघकर एक दूसरा जम्बू द्वीप भी है। इस जम्बू द्वीपमें जिन देवोंका कथन किया है उस दूसरे जम्बू द्वीपमें भी इन देवोंके नगर हैं ॥१६६॥ नील कुलाचल और सुमेरु पर्वतके मध्यमें जो प्रदेश स्थित हैं वे उत्तरकुरु माने जाते हैं और सुमेरु तथा निषध कुलाचलके बीचके प्रदेश देवकुरु कहे जाते हैं ॥१६७॥ ये दोनों कुरु विस्तारकी अपेक्षा ग्यारह हजार आठ सौ योजन दो कला प्रमाण माने गये हैं ॥१६८॥ इनकी प्रत्यञ्चा त्रेपन हजार और धनुःपृष्ठ छह हजार चार सौ अठारह योजन बारह कला है ॥१६९॥ इन कुरु प्रदेशोंका वृत्तक्षेत्र इकहत्तर हजार एक सौ तैंतालीस योजन तथा एक योजनके नौ अंशोंमें चार अंश प्रमाण है ॥१७०॥

विदेह क्षेत्रका समस्त विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन चार कला है ॥१७१॥ मेरु पर्वतकी पूर्वोत्तर (ऐशान) दिशामें, सीता नदीके पूर्व तटपर नील कुलाचलके समीप जम्बू स्थल कहा गया है ॥१७२॥ पाँच सौ धनुष चौड़ी और दो कोश ऊँची रत्नमयी वेदिका इस स्थलको चारों ओरसे घेरे हुए है ॥१७३॥ इस स्थलकी चौड़ाई मूलमें पाँच सौ कोश, मध्यमें आठ कोश और अन्तमें दो कोश कही गई है ॥१७४॥ इस स्वर्णमय स्थलमें आठ कोश ऊँची एक पीठिका स्थित है जो मूलमें बारह कोश, मध्यमें आठ कोश और अन्तमें चार कोश चौड़ी है ॥१७५॥ इस पीठिकाके नीचे-नीचे चारों ओर रत्ननिर्मित छह वेदिकाएँ और हैं तथा उन प्रत्येक वेदिकाओंपर दो-दो रत्नमयी वेदिकाएँ हैं। उन छहों वेदिकाओंपर जो लघु वेदिकाएँ हैं वे पद्मवेदिका कहलाती हैं ॥१७६॥

इस पूर्वोक्त पीठिकाके ऊपर जम्बू वृक्ष सुशोभित है। वह जम्बू वृक्ष मूलमें एक कोश चौड़ा है, उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है, उसकी गहराई दो कोश है, उसकी शाखाएँ आठ

१. द्वीपानतीतसंख्यातान् म० । २. जम्बूद्वीपनामान्यो द्वीपः स्थितः ।

पश्चात्तटेऽस्ति सीताया वतंसं कूटमुत्कटम् । रोचनाख्यं पुरस्तात्तु मेरोरुत्तरतश्च ते ॥२०८॥
भद्रशालवने भान्ति समान्येतानि काञ्चनैः । वसन्ति तेषु देवास्ते दिग्गजेन्द्रा इति श्रुताः ॥२०९॥
अपरोत्तरदिग्भागे मन्दराद् गन्धमादनः । ख्यातः काञ्चनकायोऽसौ सर्वतः पर्वतः स्थितः ॥२१०॥
मेरोः पूर्वोत्तराशायां माल्यवानिति विश्रुतः । वैडूर्यमयमूर्तिः [1]स्यात् प्रियं भाति स्वयंप्रभः ॥२११॥
मेरोः प्राग्दक्षिणाशायां सौमनस्यस्तु राजतः । विद्युत्प्रभोऽपरे कोणे तपनीयमयः स्थितः ॥२१२॥
ते नीलनिषधप्राप्तौ चतुःशतनिजोच्छ्रयाः । मेरुपर्वतसंप्राप्तौ प्रोक्ताः पञ्चशतोच्छ्रयाः ॥२१३॥
निजोच्छ्रितचतुर्भा[2]गास्त्वोभयान्तावगाहनाः । देवोत्तरकुरुप्राप्तौ स्युः पञ्चशतविस्तृताः ॥२१४॥
सहस्राणि पुनस्त्रिंशन्नवाधिकशतद्वयम् । आयामः षट् कलाश्चैषां चतुर्णामपि वर्णितः ॥२१५॥
मेरो प्रभृति कूटानि चतुर्ष्वपि यथाक्रमम् । सन्ति सप्त नवैतेषु पुनः सप्त [3]नवाद्रिषु ॥२१६॥
सिद्धायतनकूटं स्याद् गन्धमादननामकम् । तथोत्तरकुरुप्रख्यं गन्धमालिनिकाह्वयम् ॥२१७॥
कूटं च लोहिताक्षं च स्फुटिकानन्दनामनी । गन्धमादनशैलेषु सप्तैतानि भवन्ति तु ॥२१८॥
सिद्धाख्यं माल्यवत्कूटं तथोत्तरकुरूक्तिकम् । कच्छाकूटं विनिर्दिष्टं तथा सागरकं परम् ॥२१९॥
रजतं पूर्णभद्राख्यं सीताकूटं ततः परम् । कूटं हरिसहाभिख्यं नवमं माल्यवत्स्वपि ॥२२०॥
सिद्धं सौमनसाभिख्यं कूटं देवकुरुध्वनि । मङ्गलं विमलं चैव काञ्चनाख्यं विशिष्टकम् ॥२२१॥
सिद्धं विद्युत्प्रभाभिख्यं पुनर्देवकुरुश्रुति । पद्मकं तपनं चैव स्वस्तिकं च शतज्वलम् ॥२२२॥
सीतोदाकूटमन्यत्तु कूटं हरिसहश्रुति । विद्युत्प्रभेष्वशेषेषु नवैतानि भवन्ति तु ॥२२३॥

मेरुसे पश्चिम दिशामें माने गये हैं ॥२०७॥ सीता नदीके पश्चिम तटपर वतंस कूट और पूर्व तटपर रोचन नामका विशाल कूट है। ये दोनों कूट मेरु पर्वतसे उत्तरकी ओर हैं। ये समस्त कूट भद्रशाल वनमें सुशोभित हैं, कांचन कूटोंके समान हैं तथा इनमें दिग्गजेन्द्र नामके देव निवास करते हैं ॥२०८–२०९॥ मेरु पर्वतकी पश्चिमोत्तर दिशामें गन्धमादन नामका प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत सब ओरसे सुवर्णमय है ॥२१०॥ मेरुकी पूर्वोत्तर दिशामें माल्यवान् नामका प्रसिद्ध पर्वत है। यह पर्वत वैडूर्यमणिमय है तथा स्वयं देदीप्यमान होता हुआ अतिशय प्रिय मालूम होता है ॥२११॥ मेरुकी पूर्व दक्षिण दिशामें रजतमय सौमनस्य पर्वत और दक्षिण पश्चिम कोणमें सुवर्णमय विद्युत्प्रभ नामका पर्वत है ॥२१२॥ ये चारों पर्वत नील और निषध पर्वतके समीप चार सौ योजन तथा मेरु पर्वतके समीप पाँच सौ योजन ऊँचे कहे गये हैं ॥२१३॥ इनकी गहराई अपनी ऊँचाईसे चतुर्थभाग है, तथा देवकुरु और उत्तरकुरुके समीप इनकी चौड़ाई पाँच सौ योजन है ॥२१४॥ इन चारोंकी लम्बाई तीस हजार दो सौ नौ योजन तथा छह कला प्रमाण कही गई है ॥२१५॥ इन चारों पर्वतोंपर मेरु पर्वतसे लेकर अन्त तक क्रमसे सात, नौ, सात और नौ कूट हैं अर्थात् गन्धमादनपर सात, माल्यवान्पर नौ, सौमनस्यपर सात और विद्युत्प्रभपर नौ कूट हैं ॥२१६॥ १ सिद्धायतन कूट, २ गन्धमादन कूट, ३ उत्तरकुरु कूट, ४ गन्धमालिनिका कूट, ५ लोहिताक्ष कूट, ६ स्फटिक कूट और ७ आनन्द कूट ये सात कूट गन्धमादन पर्वतपर हैं ॥२१७–२१८॥ १ सिद्ध कूट, २ माल्यवत्कूट, ३ उत्तरकुरु कूट, ४ कच्छा कूट, ५ सागर कूट, ६ रजत कूट, ७ पूर्णभद्र कूट, ८ सीता कूट और ९ हरिसह कूट ये नौ कूट माल्यवान् पर्वतपर हैं ॥२१९–२२०॥ १ सिद्ध कूट, २ सौमनस कूट, ३ देवकुरु कूट, ४ मंगल कूट, ५ विमल कूट, ६ काञ्चन कूट और ७ विशिष्टक कूट ये सात कूट सौमनस्य पर्वतपर हैं ॥२२१॥ १ सिद्ध कूट, २ विद्युत्प्रभ कूट, ३ देवकुरु कूट, ४ पद्मक कूट, ५ तपन कूट, ६ स्वस्तिक कूट, ७ शतज्वल कूट, ८ सीतोदा कूट,

---

१. स प्रियं म० । २. -भागाः म० । ३. नवाद्रिषु म० ।

उच्छ्रायोऽपि सर्वेषां कूटानां च यथायथम् । आत्माधारावगाहस्य समानस्तु प्रभाषितः ॥२२४॥
सिद्धायतनकूटेषु तेषु सर्वेषु ये गृहाः । सिद्धबिम्बसनाथास्ते विभ्राजन्ते यथायथम् ॥२२५॥
शेषोभयान्तकूटेषु रमन्ते व्यन्तरामराः । मध्ये दिक्कुमार्यस्तु क्रीडागारेषु चारुषु ॥२२६॥
भोगङ्करा भोगवती सुभोगा भोगमालिनी । वत्समित्रा सुमित्राऽन्या[1] वारिषेणा[2] चलावती ॥२२७॥
विदेहे चित्रकूटाख्यः पद्मकूटश्च पर्वतः । नलिनश्चैकशैलश्च नीलसीतान्तरायताः ॥२२८॥
पूर्वायास्तु त्रिकूटश्च शैलो वैश्रवणोऽञ्जनः । आत्माञ्जनश्च सर्वेऽपि ते सीतानिषधस्पृशः ॥२२९॥
श्रद्धावान् सुप्रसिद्धोऽद्रिर्विजयावांस्तथैव च । आशीविषस्तदन्यस्तु सुखावह इतीरितः ॥२३०॥
विदेहेष्वपरेष्वेते चत्वारो देशभेदकाः । स्वायामेन प्रसिद्धेन सीतोदानिषधस्पृशः ॥२३१॥
चन्द्रसूर्यौ च मालान्तौ नागमालस्तथाचलः । मेघमालश्च ते मध्ये नीलसीतोदयोः स्थिताः ॥२३२॥
सरित्तटेषु चोच्छ्रायस्तेषां वक्षारभूभृताम् । शतानि पञ्च शेषं तु पूर्ववक्षारवर्णितम् ॥२३३॥
प्रत्येकं षोडशस्वेषु मूर्ध्नि कूटचतुष्टयम् । कुलाचलान्तकूटेषु दिक्कुमार्यो वसन्ति ताः ॥२३४॥
नदीसमीपकूटेषु जिनेन्द्रायतनानि तु । तथा मध्यमकूटेषु [3]व्यन्तराक्रीडनालयाः ॥२३५॥
भद्रशालवनं मेरोः पूर्वापरदिगायतम् । नानाद्रुमलताकीर्णं वर्णनीयं यथाक्रमम् ॥२३६॥
आयामो भागयोस्तस्य द्वाविंशतिसहस्रकः । प्रत्येकं द्विशती सार्द्धा दक्षिणोत्तरविस्तृतिः ॥२३७॥

और ९ हरिसह कूट ये नौ कूट विद्युत्प्रभ पर्वतपर हैं ॥२२२–२२३॥ इन सब कूटोंकी ऊँचाई यथायोग्य अपनी-अपनी गहराईके समान कही गई है ॥२२४॥ इन चारों पर्वतोंके सिद्धायतन कूटोंपर जो मन्दिर हैं वे श्री सिद्ध भगवान्की प्रतिमाओंसे सहित हैं तथा यथायोग्य सुशोभित हो रहे हैं ॥२२५॥ शेष तीन पर्वतोंके अन्तिम दो कूटोंमें व्यन्तर देव क्रीड़ा करते हैं और मध्यमें बने हुए सुन्दर क्रीड़ा-भवनोंमें दिक्कुमारी देवियाँ रमण करती हैं ॥२२६॥ चारों पर्वतोंके बीच-बीचके दो-दो कूट मिलकर आठ कूट होते हैं उनमें क्रमसे १ भोगंकरा, २ भोगवती, ३ सुभोगा, ४ भोगमालिनी, ५ वत्समित्रा, ६ सुमित्रा, ७ वारिषेणा और ८ अचलावती ये आठ देवियाँ क्रीड़ा करती हैं ॥२२७॥

विदेह क्षेत्रमें सोलह वक्षार गिरि हैं उनमें १ चित्रकूट, २ पद्मकूट, ३ नलिन और ४ एकशैल ये चार पर्वत पूर्व विदेहमें हैं तथा नील पर्वत और सीता नदीके मध्य लम्बे हैं ॥२२८॥ १ त्रिकूट, २ वैश्रवण, ३ अञ्जन और ४ आत्माञ्जन ये चार भी पूर्व विदेहमें हैं तथा सीता नदी और निषध कुलाचलका स्पर्श करनेवाले हैं अर्थात् उनके मध्य लम्बे हैं ॥२२९॥ १ श्रद्धावान्, २ विजयावान, ३ आशीविष और ४ सुखावह ये चार पश्चिम विदेह क्षेत्रमें हैं। ये चारों देशोंका भेद करनेवाले हैं और अपनी प्रसिद्ध लम्बाईसे सीतोदा नदी तथा निषध पर्वतका स्पर्श करनेवाले हैं ॥२३०–२३१॥ १ चन्द्रमाल, २ सूर्यमाल, ३ नागमाल और ४ मेघमाल ये चार पश्चिम विदेहक्षेत्रमें हैं तथा नील और सीतोदाके मध्यमें स्थित हैं ॥२३२॥ इन समस्त वक्षार पर्वतोंकी ऊँचाई नदी तटपर पाँच सौ योजनकी और अन्यत्र सब जगह पूर्व वर्णित वक्षारोंके समान चार सौ योजन है ॥२३३॥ इन सोलह वक्षार पर्वतोंमें प्रत्येकके शिखरपर चार-चार कूट हैं उनमें कुलाचलोंके समीपवर्ती कूटोंपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। नदीके समीपवर्ती कूटोंपर जिनेन्द्र भगवान्के चैत्यालय हैं और बीचके कूटोंपर व्यन्तर देवोंके क्रीड़ागृह बने हुए हैं ॥२३४–२३५॥

मेरुकी पूर्व-पश्चिम दिशामें लम्बा तथा नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे व्याप्त एक सुन्दर भद्रशाल वन है। यहाँ क्रमसे उसका वर्णन किया जाता है ॥२३६॥ उसकी पूर्व-पश्चिम भागकी लम्बाई बाईस हजार योजन और दक्षिण-उत्तर चौड़ाई ढाई सौ योजन है ॥२३७॥

१. सुवत्सान्या म० । २. चलाचिता म० । ३. व्यन्तराः क्रीडनालयाः म०, क० ।

वनात् पूर्वापरान्तस्था वेदिका योजनोच्छ्रितिः । क्रोशावगाहिनी ज्ञेया विस्तृता क्रोशयोर्द्वयम् ॥२३८॥
नीलात् ग्राहवती सीतां वाहिनी ह्रदवत्यपि । पङ्कवत्यपि यान्तीमा वक्षाराभ्यन्तरे स्थिताः ॥२३९॥
नदी तप्तजला पूर्वा सीतामेवेति नैषधी । ततो मत्तजला नाम्ना तथोन्मत्तजलाऽपरा ॥२४०॥
क्षीरोदाऽन्या च सीतोदा स्रोतोऽन्तर्वाहिनी नदी । विशन्ति नैषधोत्पन्नाः सीतोदां सुमहानदीम् ॥२४१॥
तामुत्तरविदेहेषु पश्चिमा गन्धमादिनी । सा फेनमालिनी नीलात् सम्प्राप्ता चोर्मिमालिनी ॥२४२॥
नाम्ना विभङ्गनद्यस्ताः प्रमाणे रोह्यया समाः । तोरणेषु वसन्त्यासां सङ्गमे दिक्कुमारिकाः २४३॥
वक्षाराणां च तासां च मध्ये नद्योस्तटद्वये । स्युः पूर्वापरयोर्मेरोर्विदेहाश्चतुरष्टकाः ॥२४४॥
कच्छा सुकच्छा महाकच्छा चतुर्थी कच्छकावती । आवर्ता लाङ्गलावर्ता पुष्कला पुष्कलावती ॥२४५॥
अपराश्चाष्टमी देशाः षट्खण्डा विषयाः स्थिताः । सीतानीलान्तराले स्युः प्रादक्षिण्येन वर्णिताः ॥२४६॥
वत्सा सुवत्सा महावत्सा चतुर्थी वत्सकावती । रम्या रम्यका रमणीयाष्टमी मङ्गलावती ॥२४७॥
पूर्वादयस्त्वमी देशा विषयाश्चक्रवर्तिनाम् । सीतानिषधयोर्मध्ये व्यायता दक्षिणोत्तराः ॥२४८॥
पद्मा सुपद्मा महापद्मा चतुर्थी पद्मकावती । शङ्खा च नलिनी चैव कुमुदा सरिता तथा ॥२४९॥
पूर्वतः प्रभृति प्रोक्ताः दक्षिणोत्तरमायताः । अष्टाविमे निविष्टास्तु सीतोदानिषधान्तरे ॥२५०॥
वप्रा सुवप्रा महावप्रा चतुर्थी वप्रकावती । गन्धा चापि सुगन्धा च गन्धिला गन्धमालिनी ॥२५१॥
अपराद्यास्त्विमे प्रोक्ताः विषयाश्चक्रपाणिनाम्[1] । नीलसीतोदयोर्मध्ये निविष्टास्तावदायताः ॥२५२॥

वनके पूर्व-पश्चिम भागमें एक वेदिका है । यह वेदिका एक योजन ऊँची, एक कोश गहरी और दो कोश चौड़ी जानना चाहिए ॥२३८॥ १ ग्राहवती, २ ह्रदवती और ३ पङ्कवती ये तीन नदियाँ नील पर्वतसे निकलकर सीता नदीकी ओर जाती हैं तथा वक्षार पर्वतोंके मध्यमें स्थित हैं ॥२३९॥ १ तप्तजला, २ मत्तजला, ३ उन्मत्तजला ये तीन नदियाँ निषध पर्वतसे निकलकर सीता नदीकी ओर जाती हैं ॥२४०॥ १ क्षीरोदा, २ सीतोदा और ३ स्रोतोऽन्तर्वाहिनी ये तीन नदियाँ निषध पर्वतसे निकलकर सीतोदा नामक महानदीमें प्रवेश करती हैं ॥२४१॥ उत्तर विदेह क्षेत्रमें १ गन्धमादिनी, २ फेनमालिनी और ३ ऊर्मिमालिनी ये तीन नदियाँ नीलाचलसे निकलकर सीतोदा नदीमें मिली हैं ॥२४२॥ ऊपर कही हुई बारह नदियाँ विभंगा नदी कहलाती हैं । ये प्रमाणमें रोह्या नदीके समान हैं तथा इनके संगम स्थानोंमें जो तोरण द्वार हैं उनमें दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥२४३॥

वक्षारगिरि और विभङ्गा नदियोंके मध्यमें सीता-सीतोदा नदियोंके दोनों तटोंपर मेरुकी पूर्व और पश्चिम दिशामें बत्तीस विदेह हैं ॥२४४॥ उनमें १ कच्छा, २ सुकच्छा, ३ महाकच्छा, ४ कच्छकावती, ५ आवर्ता, ६ लाङ्गलावर्ता, ७ पुष्कला और ८ पुष्पकलावती ये आठ देश पश्चिम विदेह क्षेत्रमें सीता नदी और नील कुलाचलके मध्य प्रदक्षिणा रूपसे स्थित हैं तथा प्रत्येक देशके छह खण्ड हैं ॥२४५-२४६॥ १ वत्सा, २ सुवत्सा, ३ महावत्सा, ४ वत्सकावती, ५ रम्या, ६ रम्यका, ७ रमणीया और ८ मङ्गलावती ये आठ देश पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीता नदी और निषध पर्वतके मध्य स्थित हैं । ये चक्रवर्तियोंके देश हैं और दक्षिणोत्तर लम्बे हैं ॥२४७-२४८॥ १ पद्मा, २ सुपद्मा, ३ महापद्मा, ४ पद्मकावती, ५ शङ्खा, ६ नलिनी, ७ कुमुदा और ८ सरिता ये आठ देश पूर्व विदेह क्षेत्रमें सीतोदा नदी और निषध पर्वतके मध्य स्थित हैं तथा दक्षिणोत्तर लम्बे हैं ॥२४९-२५०॥ १ वप्रा, २ सुवप्रा, ३ महावप्रा, ४ वप्रकावती, ५ गन्धा, ६ सुगन्धा, ७ गन्धिका और ८ गन्धमालिनी ये आठ देश पश्चिम विदेह क्षेत्रमें नील पर्वत और सीतोदा नदीके मध्य स्थित हैं तथा दक्षिणोत्तर लम्बे हैं । ये चक्रवर्तियोंके क्षेत्र कहे गये हैं अर्थात् इनमें

१. चक्रपाणिनामिति प्रयोगश्चिन्त्यः 'चक्रपाणीना' मिति भवितव्यम् , तत्र च कृते छन्दोभङ्गः स्यात् ।

सहस्रद्वितयं तेषां द्विशती च त्रयोदश । योजनाष्टमभागोना सा पूर्वापरविस्तृतिः ॥२५३॥
नदीविस्तारहीनस्य विदेहस्यार्धविस्तृतिः । आयामो देशवक्षारविभङ्गसरितामसौ ॥२५४॥
तद्देशविस्तरायामास्तन्मध्ये रजताद्रयः । द्वात्रिंशद्भारतेनामी समाना नवकूटकाः ॥२५५॥
श्रेण्योः स्युर्नगराण्येषां पञ्चपञ्चाशदेकशः । विद्याधराः वसन्त्येषु परे द्वीपद्वये यथा ॥२५६॥
क्षेमा क्षेमपुरी ख्याता रिष्टा रिष्टपुरी परा । खड्गा मञ्जूषया सार्धमौषधी पुण्डरीकिणी ॥२५७॥
कच्छादिषु यथासंख्यमष्टास्वष्टाविमाः पुरः । राजधान्यः समादिष्टाः शलाकापुरुषोद्भवाः ॥२५८॥
सुसीमा कुण्डलाभिख्या पुरी चान्या पराजिता । प्रभङ्करा चतुर्थी तु [1]पञ्चम्यङ्कावतीरिता ॥२५९॥
पद्मावती शुभाभिख्या साष्टमी रत्नसञ्चया । राजधान्यस्त्विमा मान्या वत्सादिषु यथाक्रमम् ॥२६०॥
तथैवाश्वपुरी ज्ञेया परा सिंहपुरीति च । महापुरी तथैवान्या विजया च पुरी पुनः ॥२६१॥
अरजा विरजा चासावशोका वीतशोकया । राजधान्यः प्रसिद्धास्ताः पद्मादिषु यथाक्रमम् ॥२६२॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चाऽपराजिता । [2]चक्रा खड्गा च वप्रादिष्वयोध्यावध्यया समम् ॥२६३॥
दक्षिणोत्तरतो दैर्घ्यात् पुर्यो द्वादशयोजनाः । नवयोजनविस्तारा हेमप्राकारतोरणाः ॥२६४॥
अल्पैः पञ्चशतैर्द्वारैर्बृहद्भिस्ताः सहस्रकैः । रत्नचित्रकपाटाढ्यैर्दभ्रैः[3] सप्तशतैर्युताः ॥२६५॥
द्वादश स्युः सहस्राणि रथ्यानां तु यथायथम् । सहस्रं तु चतुष्काणां नगरीष्वक्षयात्मसु ॥२६६॥

चक्रवर्तियोंका निवास रहता है ॥२५१–२५२॥ इन सबका पूर्वापर विस्तार योजनके आठ भागोंमें-से एक भाग कम दो हजार दो सौ तेरह योजन है ॥२५३॥ समस्त विदेह क्षेत्रके विस्तारमेंसे नदीका विस्तार घटा देनेपर जो शेष रहे उसका आधा भाग किया जाय। यही देश, वक्षारगिरि और विभंगा नदियोंकी लम्बाई है। भावार्थ—समस्त विदेह क्षेत्रका विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन चार कला है उसमें सीता नदीका पाँच सौ योजनका विस्तार घटा देनेपर तैंतीस हजार एक सौ चौरासी योजन चार कलाका विस्तार शेष रहता है। इसका आधा करनेपर सोलह हजार पाँच सौ बानबे योजन दो कला क्षेत्र बचता है। यही कच्छा आदि देश वक्षार गिरि और विभंगा नदियोंकी लम्बाईका है ॥२५४॥ इन बत्तीस विदेहोंमें बत्तीस विजयार्ध पर्वत हैं। इनकी लम्बाई कच्छादि देशोंकी चौड़ाईके समान है अर्थात् ये कुलाचलसे लेकर नदीतक लम्बे हैं। प्रत्येक विजयार्धपर नौ-नौ कूट हैं और इन सबका वर्णन भरत क्षेत्रके विजयार्धके समान है ॥२५५॥ इन विजयार्धोंकी दो-दो श्रेणियाँ हैं प्रत्येक श्रेणीमें पचपन-पचपन नगर हैं और उन नगरोंमें भरत तथा ऐरावत क्षेत्रके समान विद्याधर निवास करते हैं ॥२५६॥ १ क्षेमा, २ क्षेमपुरी, ३ रिष्टा, ४ रिष्टपुरी, ५ खड्गा, ६ मञ्जूषा, ७ औषधी और ८ पुण्डरीकिणी ये आठ नगरियाँ क्रमसे कच्छा आदि देशोंकी राजधानियाँ कही गई हैं। इनमें शलाका पुरुषोंकी उत्पत्ति होती है ॥२५७–२५८॥ १ सुसीमा, २ कुण्डला, ३ अपराजिता, ४ प्रभंकरा, ५ अङ्कावती, ६ पद्मावती, ७ शुभा और ८ रत्नसञ्चया ये आठ क्रमसे वत्सा आदि देशोंकी राजधानियाँ जानना चाहिए ॥२५९–२६०॥ १ अश्वपुरी, २ सिंहपुरी, ३ महापुरी, ४ विजयापुरी, ५ अरजा, ६ विरजा, ७ अशोका और ८ वीतशोका ये आठ नगरियाँ क्रमसे पद्मा आदि देशोंकी राजधानियाँ प्रसिद्ध हैं ॥२६१–२६२॥ १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती, ४ अपराजिता, ५ चक्रा, ६ खड्गा, ७ अयोध्या और ८ अवध्या ये आठ वप्रा आदि देशोंकी राजधानियाँ हैं। ये सभी नगरियाँ दक्षिणोत्तर दिशामें बारह योजन लम्बी हैं, पूर्व-पश्चिममें नौ योजन चौड़ी हैं, सुवर्णमयी कोट और तोरणोंसे युक्त हैं। रत्नमयी चित्र विचित्र किवाड़ोंसे युक्त पाँच सौ छोटे और एक हजार बड़े दरवाजों तथा सात सौ झरोखोंसे सहित हैं ॥२६३–२६५॥ इन अविनाशी नगरियोंमें बारह हजार गलियाँ और एक हजार चौक हैं ॥२६६॥

१. पञ्चम्यङ्कवती म० । २. चक्रा म० । ३. गवाक्षैः ।

गङ्गासिन्धू प्रतिक्षेत्रं कच्छादौ नीलतः स्रुते[1] । सीतां प्रविशतोऽतीत्य विजयार्धगुहाद्वयम् ॥२६७॥
गिरिव्याससमायामे योजनाष्टकमुच्छ्रिते । गुहे द्वादशविस्तारे द्वे द्वे स्यातां गिरौ गिरौ ॥२६८॥
नद्यः षोडश गङ्गायाः समा भरतगङ्गया । ता रक्तारक्तवत्योस्तु तावन्त्यो निषधच्युताः ॥२६९॥
निषधान्नीलतस्तावत्संख्यास्तन्नामिकाः श्रुताः । नद्योऽपरविदेहेषु सीतोदां तु व्रजन्ति ताः ॥२७०॥
नाम्ना साधारणेनोक्तास्ता[2] एता रतिनिम्नगाः । चतुर्दशसहस्रैस्तु प्रत्येकं सरितां युताः ॥२७१॥
अशीतिश्चापि चत्वारि सहस्राणि कुरुद्वये । प्रत्येकं निम्नगा नद्योरर्धमर्धं तटद्वये ॥२७२॥
पञ्चलक्षाः सहस्राणि द्वात्रिंशत्त्रिंशदष्टभिः । प्रत्येकमुभयोर्नद्यः सीतासीतोदयोर्युताः ॥२७३॥
दशलक्षाः चतुःषष्टिसहस्राण्यष्टसप्ततिः । सर्वा एवापगाः प्रोक्ता पूर्वापरविदेहयोः ॥२७४॥
चतुर्दशसहस्राणि प्रत्येकं सरितो मताः । गङ्गासिन्ध्वोः पतन्त्यस्ताः रक्तारक्तोदयोश्च ताः ॥२७५॥
रोह्यायां रोहितास्यायां सहस्राणि पतन्ति ताः । सुवर्णरूप्यकूलयोरष्टाविंशतिरेकशः ॥२७६॥
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि ता हरिद्धरिकान्तयोः । पतन्ति सिन्धवो यद्वत् सनारीनरकान्तयोः ॥२७७॥
सङ्गताश्च समस्तास्ता गङ्गासिन्ध्वादिसिन्धवः । तिस्रो लक्षा नवत्या द्वे सहस्रे द्वादशापि च ॥२७८॥
स्युश्चतुर्दशलक्षास्तु वैदेह्यस्ताश्च संख्यया । षट्पञ्चाशत्सहस्राणि नवतिश्च समुद्रगाः ॥२७९॥
द्वीपेऽस्मिन् काञ्चनैस्तुल्या वैडूर्यमयमूर्तयः । चतुस्त्रिंशत्सुरैः सेव्या[3] वृषैर्वृषभपर्वताः ॥२८०॥
पूर्वापरविदेहान्ताः समुद्रतटसङ्गताः । देवारण्यवनाभोगाश्चत्वारः सरितोस्तटे ॥२८१॥

कच्छा आदि प्रत्येक क्षेत्रमें गङ्गा सिन्धु नामकी दो नदियाँ हैं जो नील पर्वतसे निकल-कर विजयार्ध पर्वतकी दोनों गुफाओंको उल्लंघन करती हुई सीता नदीमें प्रवेश करती हैं ॥२६७॥ प्रत्येक विजयार्ध पर्वतमें उसकी चौड़ाईके समान लम्बी, आठ योजन ऊँची और बारह योजन चौड़ी दो-दो गुफाएँ हैं ॥२६८॥ ये गङ्गा आदि सोलह नदियाँ, भरत क्षेत्रकी गङ्गा नदीके समान हैं। इसी प्रकार निषधाचलसे निकली हुई सोलह रक्ता, रक्तोदा नदियाँ भी ऐरावत-की रक्ता-रक्तोदाके समान हैं ॥२६९॥ पश्चिम विदेह क्षेत्रमें भी इसी प्रकार गङ्गा, सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नामकी सोलह-सोलह नदियाँ निषधाचल और नीलाचलसे निकलकर सीतोदा नदीकी ओर जाती हैं ॥२७०॥ समान नामसे जिनका कथन किया गया है ऐसी ये समस्त नदियाँ अत्यन्त प्रीतिको बढ़ानेवाली हैं तथा प्रत्येक नदियाँ चौदह हजार नदियोंसे युक्त हैं ॥२७१॥ सीता और सीतोदा नदियोंका परिवार देवकुरु और उत्तरकुरुमें चौरासी हजार नदियोंका है। दोनों नदियोंमें प्रत्येक नदीके तटसे ब्यालीस हजार नदियोंका प्रवेश होता है ॥२७२॥ सीता, सीतोदा नामक उक्त नदियोंमेंसे प्रत्येक नदीमें पाँच लाख बत्तीस हजार अड़तीस नदियाँ मिली हैं ॥२७३॥ पूर्व और पश्चिम विदेहमें इन समस्त नदियोंका प्रमाण दश लाख चौंसठ हजार अठहत्तर कहा गया है ॥२७४॥ गङ्गा, सिन्धु एवं रक्ता-रक्तोदा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार चौदह-चौदह हजार नदियोंका है ॥२७५॥ रोहा, रोहितास्या और सुवर्णकूला, रूप्यकूलामें प्रत्येकका अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार नदियोंका परिवार है ॥२७६॥ हरित्, हरिकान्ता और नारी, नरकान्तामें प्रत्येक नदीका परिवार छप्पन हजार नदियोंका है ॥२७७॥ विदेह क्षेत्र-को छोड़ अन्य क्षेत्रोंकी गङ्गा, सिन्धु आदि नदियोंकी समस्त परिवार-नदियाँ मिलकर तीन लाख बानबे हजार बारह हैं ॥२७८॥ विदेह क्षेत्रकी समुद्रतक जानेवाली समस्त नदियोंकी संख्या चौदह लाख छप्पन हजार नब्बे है ॥२७९॥

जम्बू द्वीपमें काञ्चन कूटोंके समान वैडूर्य मणिमय तथा श्रेष्ठ देवोंके द्वारा सेवनीय चौंतीस वृषभाचल हैं ॥२८०॥ सीता और सीतोदा दोनों नदियोंके तटपर पूर्व-पश्चिम विदेह

१. निर्गते । श्रुते म० । २. एवारातिं-म०, क० । ३. प्रधानदेवः ।

द्वाविंशति सहस्रे द्वे शतानि नव विस्तृताः । योजनानि पुनस्तेषां वेदिका भद्रशालवत् ॥२८२॥
विदेहक्षेत्रमध्यस्थः कुरुक्षेत्रद्वयावधिः । योजनानां सहस्राणि नवतिर्नव चोद्धृतः[1] ॥२८३॥
मेखलात्रयसंयुक्तः ख्यातो मेरुमहीधरः । ऊर्ध्वं चूलिकयोद्भासी सचत्वारिंशदुच्छ्रयः ॥२८४॥
सहस्रमवगाहोऽस्य सहस्राणि दशाऽत्र च । विष्कम्भो नवतिश्च स्याद् दशैकादशभागकाः ॥२८५॥
सैकत्रिंशत्सहस्राणि शतानि नव वै दश । योजनानि तथा भागौ साधिकौ परिधिर्गिरेः ॥२८६॥
तस्मात् सहस्रमुद्गत्य सहस्राणि दशोपरि । योजनानि स विष्कम्भो भूमौ भवति भूभृतः ॥२८७॥
सैकत्रिंशत्सहस्राणि षट्शती विंशतिद्वयम् । योजनानि त्रयः क्रोशाः शते द्वादश दण्डकाः ॥२८८॥
हस्तास्त्रयस्तथैव स्यादङ्गुलानि त्रयोदश । साधिकानि परिक्षेपो भद्रशालेऽद्रिगोचरः ॥२८९॥
गत्वा पञ्चशतीमूर्ध्वं मेखलायां तु नन्दनः । स्यात्पञ्चशतविष्कम्भं मन्दरं परितो वनम् ॥२९०॥
नव तत्र सहस्राणि शतानि नव षट्कलाः । चतुःपञ्चाशदप्यस्य विष्कम्भः पुष्कलो गिरेः ॥२९१॥
एकत्रिंशत्सहस्राणि तथा तत्र चतुःशती । गिरेर्बाह्यपरिक्षेपः साधिका नवसप्ततिः ॥२९२॥
स एव च सहस्रोनो विष्कम्भोऽभ्यन्तरः स्फुटः । नन्दने मन्दरस्य स्यात् परिक्षेपोऽपि वक्ष्यते ॥२९३॥
अष्टाविंशतिरेव स्यात् सहस्राणि शतत्रयम् । षोडशाग्राः कलाश्चाष्टौ परिधिः साधिका गिरेः ॥२९४॥
सहस्राणि द्विषष्टिं च गत्वा पञ्चशतीं ततः । नन्दनेन समानं तद् वनं सौमनसं भवेत् ॥२९५॥
चत्वारि च सहस्राणि शते द्वे च द्विसप्ततिः । अष्टौ भागाश्च विष्कम्भो बाह्यस्तत्र भवेद्गिरेः ॥२९६॥
परिक्षेपः पुनस्तस्य सहस्राणि त्रयोदश । शतं पञ्चतयं ज्ञेयमेकादश च षट् कलाः ॥२९७॥
बाह्यो यो गिरिविष्कम्भः सहस्रेण स वर्जितः । स्यादभ्यन्तरविष्कम्भस्तस्येति मुनयो विदुः ॥२९८॥

पर्यन्त लम्बे तथा समुद्र तटसे मिले हुए चार देवारण्य [दो देवारण्य, दो भूतारण्य] वनके प्रदेश हैं ॥२८१॥ इन वनोंकी वेदिकाएँ भद्रशाल वनके समान बाईस हजार दो सौ नौ योजन विस्तृत हैं ॥२८२॥ विदेह क्षेत्रके मध्यमें प्रसिद्ध मेरु पर्वत स्थित है, उसकी सीमा देवकुरु और उत्तर-कुरु तक फैली हुई है, वह निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है, तीन मेखलाओंसे युक्त है, चालीस योजन ऊँची चूलिकासे सुशोभित है, उसकी गहराई एक हजार योजन है और पृथिवी तल-पर चौड़ाई दश हजार नब्बे योजन तथा एक योजनके ग्यारह भागोंमें दश भाग प्रमाण है ॥२८३–२८५॥ उसकी परिधि इकतीस हजार नौ सौ दश योजन तथा कुछ अधिक दो भाग प्रमाण है ॥२८६॥ तल भागसे एक हजार योजन ऊपर चलकर पृथिवीपर इस पर्वतकी चौड़ाई दश हजार योजन है ॥२८७॥ भद्रशाल वनके समीप इसकी परिधि इकतीस हजार छह सौ बाईस योजन तीन कोश बारह धनुष तीन हाथ और कुछ अधिक तेरह अङ्गुल है ॥२८८–२८९॥ भद्रशाल वनसे पाँच सौ योजन ऊपर चलकर मेरु पर्वतकी चारों ओर मेखलापर पाँच सौ योजन चौड़ा दूसरा नन्दन वन है ॥२९०॥ वहाँ इस पर्वतकी चौड़ाई नौ हजार नौ सौ चौवन योजन छह कला है ॥२९१॥ नन्दन वनके समीप इस पर्वतकी बाह्य परिधि इकतीस हजार चार सौ उन्यासी योजनसे कुछ अधिक है ॥२९२॥ भीतरी चौड़ाई आठ हजार नौ सौ चौवन योजन छह कला है। अब इसकी अभ्यन्तर परिधि कहते हैं ॥२९३॥ नन्दन वनके समीप मेरु-की अभ्यन्तर परिधि अट्ठाईस हजार तीन सौ सोलह योजन तथा कुछ अधिक आठ कला है ॥२९४॥ नन्दन वनसे साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर चलकर तीसरा सौमनस वन है। यह वन नन्दन वनके ही समान है ॥२९५॥ सौमनस वनमें पर्वतकी बाह्य चौड़ाई चार हजार दो सौ बहत्तर योजन आठ कला है ॥२९६॥ और बाह्य परिधि तेरह हजार पाँच सौ ग्यारह योजन छह कला है ॥२९७॥ पर्वतकी जो बाह्य चौड़ाई बतलाई है उसमें एक हजार योजन कम करने-

१. चोच्छ्रिता म० ।

१२

ईषदूनपरिक्षेपः सहस्राणि दश स्मृतः । त्रिशत्येकोनपञ्चाशत्त्रयश्चैकादशांशकाः ॥२९९॥
स्याद् षट्त्रिंशत्सहस्राणि गत्वातो पाण्डुकं वनम् । चतुर्नवतिसंयुक्ता तद्विस्तारश्चतुःशती ॥३००॥
द्विषष्टियोजनान्यत्र सहस्रत्रितयं शतम् । गव्यूतं साधिकं मेरोः परिधिः परिकीर्तितः ॥३०१॥
चत्वारिंशत्समुद्विद्धा मूर्ध्नि वैडूर्यचूलिका । मूलमध्यान्तविस्तारैर्द्वादशाष्टचतुर्विधा ॥३०२॥
सप्तत्रिंशद् भवेन्मूले मध्ये स्यात् पञ्चविंशतिः । चूलिकायाः परिक्षेपो द्वादशाग्रे च साधिकाः ॥३०३॥
पार्थिवाः षट्परिक्षेपाश्चूलिकायाः प्रभृत्यधः । एकादशप्रकारोऽन्यः सप्तमोऽपि वनैः कृतः ॥३०४॥
लोहिताक्षमयः पूर्वः पद्मरागमयः परः । तथा वज्रमयः सर्वरत्नो वैडूर्यविग्रहः ॥३०५॥
हरितालमयः षष्ठस्तेषां प्रत्येकमिष्यते । पञ्चशत्यपि विस्तारः सहस्राण्यपि षोडश ॥३०६॥
भद्रशालवनं भूमौ मानुषोत्तरमेव च । सदेवनागभूतानां रमणानि वनानि च ॥३०७॥
परिक्षेपो वनं चान्यन्नन्दनं चोपनन्दनम् । वनं सौमनसं चान्यदुपसौमनसं तथा ॥३०८॥
पाण्डुकं दशमं प्रोक्तमुपपाण्डुकमन्त्यजम् । मेरोरेकादश ज्ञेयाः परिक्षेपाः परीक्षकैः ॥३०९॥
देशेष्वेकादशानां तु पूरणेषु हि मन्दरः । मौलविष्कम्भभागानामेकैकेन प्रहीयते ॥३१०॥
सर्वत्राङ्गुलमानादौ यावद् योजनमानकम् । हानिवृद्धी इति ग्राह्ये मेरुविस्तारगोचरे ॥३११॥

पर भीतरी चौड़ाई निकलती है ऐसा मुनिगण कहते हैं ॥२९८॥ पर्वतकी भीतरी परिधि दश हजार तीन सौ उनचास योजन तथा एक योजनके ग्यारह भागोंमें तीन भाग प्रमाण है ॥२९९॥ यहाँसे छत्तीस हजार योजन ऊपर चलकर पर्वतके ऊपर चौथा पाण्डुक वन है, यहाँ पर्वत चार सौ चौरानबे योजन चौड़ा है ॥३००॥ यहाँ पर्वतकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन कुछ अधिक एक कोश है ॥३०१॥ मेरु पर्वतके मस्तकपर चालीस योजन ऊँची वैडूर्य मणिमयी चूलिका है। यह चूलिका मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन और अन्तमें चार योजन चौड़ी है ॥३०२॥ चूलिकाकी परिधि मूलमें सैंतीस योजन, मध्यमें पचीस योजन और अग्र भागमें कुछ अधिक बारह योजन है ॥३०३॥ मेरु पर्वतकी चूलिकासे लेकर नीचे तक १ लोहिताक्षमय, २ पद्मरागमय, ३ वज्रमय, ४ सर्वरत्नमय, ५ वैडूर्यमय और ६ हरितालमय ये छह पृथिवीकाय रूप परिधियाँ हैं। इन परिधियोंमें प्रत्येकका विस्तार सोलह हजार पाँच सौ योजन है। *इनके सिवाय वनोंके द्वारा की हुई एक सातवीं परिधि और भी है। तथा उसके नीचे लिखे अनुसार ग्यारह भाग परीक्षकोंके द्वारा जानने योग्य हैं—१ भद्रशाल वन, २ मानुषोत्तर, ३ देवरमण, ४ नागरमण, ५ भूतरमण, ६ नन्दन, ७ उपनन्दन, ८ सौमनस, ९ उपसौमनस, १० पाण्डुक और ११ उपपाण्डुक। इनमेंसे पृथिवीपर जो भद्रशाल वन है उसमें भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण ये पाँच वन हैं। उससे ऊपर चलकर नन्दन वनमें नन्दन और उपनन्दन, सौमनस वनमें सौमनस और उपसौमनस तथा पाण्डुक वनमें पाण्डुक और उपपाण्डुक वन हैं ॥३०४-३०९॥ इन भागोंमें यदि ग्यारह भाग मेरुपर चढ़ा जाय तो वहाँ मूल भागकी चौड़ाईसे एक भाग कम चौड़ाई हो जाती है। इसी प्रकार सब जगह योजन पर्यन्त अङ्गुल हाथ आदि प्रमाणोंमें भी मेरुके विस्तारमें हानि तथा वृद्धि समझना चाहिए। भावार्थ—ऊपर जो ग्यारह भाग बतलाये हैं उनमें प्रथम भागसे यदि ग्यारह योजन ऊँचा चढ़ा जाय तो मेरुकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे एक योजन कम हो जाती है और यदि ग्यारह हाथ या ग्यारह अङ्गुल चढ़ा जाय तो वहाँकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे एक हाथ या एक

*मेरु पर्वत निन्यानबे हजार योजन ऊँचा है। उसके सोलह हजार पाँच सौ योजन २ विस्तारवाले ६ खण्ड चूलिकासे लेकर नीचे तक हैं। उनकी रचना लोहिताक्ष आदि मणियोंकी है इसलिए उनके नाम भी उन्हींके अनुसार प्रतिपादन किये गये हैं।

एकादश सहस्राणि योजनानि तु मन्दरः । समरुन्द्रो नन्दनादूर्ध्वं वनात्सौमनसात्तथा ॥३१२॥
पञ्चमेषु प्रदेशेषु चूलिकैकेन हीयते । तथाऽङ्गुलादिमानेषु योजनान्तेष्वयं क्रमः ॥३१३॥
साधिकैकादशांशाभ्यां लक्षस्यास्युत्तरं शतम् । दैर्घ्यं योजनलक्षस्य मेरोः पार्श्वभुजाद्वयम् ॥३१४॥
पण्याख्यं दिशि पूर्वस्यां दक्षिणस्यां च [1]चारणम् । गन्धर्वमपरस्यां स्यादुत्तरस्यां च चित्रकम् ॥३१५॥
भवनं नन्दने तेषां त्रिंशत्स्यान्मुखविस्तृतिः । पञ्चाशद्योजनोच्छ्रायः परिधिर्नवतिः स्मृता ॥३१६॥
पण्याख्ये रमते सोमश्चारणाख्ये यमस्तथा । गान्धर्वे वरुणश्चित्रे कुबेरः सपरिच्छदः ॥३१७॥
चत्वारोऽपि ते दिक्षु लोकपालाः पृथक् पृथक् । सार्द्धाभिस्तु त्रिकोटीभिः स्त्रीणां क्रीडन्ति सन्ततम् ॥३१८॥
वज्रं वज्रप्रभं नाम्ना सुवर्णभवनं भवेत् । सुवर्णप्रभमप्येकं दिक्षु सौमनसे वने ॥३१९॥
भवनानां परिक्षेपमुखव्यासोच्छ्रया इह । त एवार्धीकृता बोध्या नन्दनस्थितसद्मनाम् ॥३२०॥
लोकपालास्त एवात्र देवाः सोमयमादयः । क्रीडन्ति स्वेच्छया स्त्रीभिस्तावतीभिर्यथायथम् ॥३२१॥
लोहिताञ्जनहारिद्रपाण्डुराख्यानि पाण्डुके । वेश्मान्यूर्ध्वस्वनामानि तावत्कन्यानि तान्यपि ॥३२२॥
स्वयंप्रभविमानेशः सोमोऽसौ पूर्वदिक्प्रभुः । रक्तवाहननेपथ्यः सार्द्धपल्यद्वयस्थितिः ॥३२३॥
स षट्षष्टिसहस्राणां विमानानां प्रभावताम् । षट्षष्टिषट्शतानां च षट्लक्षाणां च भोजकः ॥३२४॥

अङ्गुल कम हो जाती है। इसी प्रकार यदि ऊपरसे नीचेकी ओर आया जाय तो वहाँ उसकी चौड़ाई वृद्धिंगत हो जाती है ॥३१०-३११॥ परन्तु विशेषता यह है कि यदि नन्दन वन और सौमनस वनसे ग्यारह योजन ऊँचा चढ़ा जाय तो वहाँकी चौड़ाई मूलभागकी चौड़ाईसे कम नहीं होती किन्तु बराबर रही आती है ॥३१२॥ चूलिकासे पाँच योजन ऊपर चढ़नेपर एक योजन चौड़ाई कम हो जाती है और पाँच अङ्गुल अथवा पाँच हाथ चढ़नेपर एक अङ्गुल वा एक हाथ चौड़ाई घट जाती है ॥३१३॥ एक लाख योजन विस्तारवाले मेरु पर्वतकी दोनों पार्श्व भुजाओंकी लम्बाई एक लाख सौ योजन तथा ग्यारह भागोंमें दो भाग प्रमाण है ॥३१४॥ नन्दन वनकी पूर्व दिशामें पण्य नामका, दक्षिण दिशामें चारण नामका, पश्चिम दिशामें गन्धर्व नामका और उत्तर दिशामें चित्रक नामका भवन है। इन भवनोंकी चौड़ाई तीस योजन, ऊँचाई पचास योजन और परिधि नब्बे योजन है ॥३१५-३१६॥ इनमें पण्य नामक भवनमें सोम, चारण नामक भवनमें यम, गान्धर्व नामक भवनमें वरुण और चित्रक नामक भवनमें कुबेर सपरिवार क्रीड़ा करता है ॥३१७॥ ये चारों लोकपाल पृथक्-पृथक् दिशाओंमें साढ़े तीन करोड़ साढ़े तीन करोड़ स्त्रियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करते हैं ॥३१८॥

सौमनस वनकी चारों दिशाओंमें क्रमसे वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्णभवन और सुवर्णप्रभ नामके चार भवन हैं ॥३१९॥ इन भवनोंकी परिधि तथा अग्रभागकी चौड़ाई और ऊँचाई नन्दनवनके भवनोंसे आधी समझनी चाहिए ॥३२०॥ इन भवनोंमें भी वे ही सोम, यम आदि लोकपाल अपनी इच्छानुसार उतनी ही स्त्रियोंके साथ यथायोग्य क्रीड़ा करते हैं ॥३२१॥ पाण्डुक वनकी चारों दिशाओंमें लोहित, अञ्जन, हारिद्र और पाण्डु नामके चार भवन हैं। इन भवनोंकी ऊँचाई आदि सौमनस वनके भवनोंके समान है तथा इनमें वे ही लोकपाल उतनी ही स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥३२२॥ इन लोकपालोंमें सोम नामका लोकपाल पूर्व दिशाका स्वामी तथा स्वयंप्रभ विमानका अधिपति है। इसके वाहन तथा वस्त्राभूषण आदि सब लाल रंगके हैं और इसकी आयु अढ़ाई पल्य प्रमाण है। यह छह लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ देदीप्यमान भवनोंका भोग करनेवाला है अर्थात् इतने भवनोंका यह स्वामी है ॥३२३-३२४॥

---

१. वारणं म०।

तथाऽरिष्टविमानेशो यमो दक्षिणदिक्प्रभुः । सार्धपल्यद्वयायुष्कः कृष्णनेपथ्यवाहनः ॥३२५॥
जलप्रभविमानेशो वरुणो वारुणीप्रभुः । तथैव पीतनेपथ्यः त्रिभागोनत्रिपल्यकः ॥३२६॥
वल्गुप्रभविमानेशः कौबेरीप्रभुरिष्यते । कुबेरः शुक्लनेपथ्यः सत्रिपल्योपमस्थितिः ॥३२७॥
मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दने बलभद्रके । कूटे काञ्चनकैस्तुल्ये कूटनाम्नामरो भवेत् ॥३२८॥
नन्दनं मन्दरं कूटं निषधं हिमवच्च तत् । रजतं रजकं नाम्ना तथा सागरचित्रकम् ॥३२९॥
वज्रकूटं विनिर्दिष्टमष्टमं तु मनीषिभिः । दिशं दिशं प्रति द्वे द्वे स्यातां कूटे यथाक्रमम् ॥३३०॥
उच्छ्रायो मूलविस्तारस्तेषां पञ्चशतानि तु । तदर्धं मस्तके मध्ये त्रिशती पञ्चसप्ततिः ॥३३१॥
दिक्कुमार्यस्तु कूटेषु तेष्विमाः प्रतिपादिताः । मेघङ्करा तु पूर्वा स्यात् तथा मेघवती परा ॥३३२॥
ततः परं प्रसिद्धान्या सुमेघा मेघमालिनी । तोयधारा विचित्रा स्यात् पुष्पमाला त्वनिन्दिता ॥३३३॥
पूर्वदक्षिणदिग्भागे वाप्यो मेरुमहीभृतः । पूर्वा तूत्पलगुल्माख्या नलिना चोत्पला परा ॥३३४॥
उत्पलोज्ज्वलसंज्ञा स्यात् तासां पञ्चाशदायतिः । अवगाहो दश ज्ञेयो विस्तारः पञ्चविंशतिः ॥३३५॥
आसां मध्ये च शक्रस्य प्रासादः समवस्थितः । योजनान्यस्य गव्यूत्या सैकत्रिंशत्तु विस्तृतिः ॥३३६॥
उच्छ्रायः पुनरुद्दिष्टो द्वाषष्टिश्चार्धयोजनः । अवगाहः प्रमाणेन प्रासादस्यार्धयोजनः ॥३३७॥
सिंहासनं सुरेन्द्रस्य तस्य मध्येऽवतिष्ठते । स्वदिक्षु लोकपालानामासनानि भवन्ति च ॥३३८॥
तस्यैवोत्तरपूर्वस्यामपरोत्तरतोऽपि च । तत्र सामानिकानां तु भान्ति भद्रासनानि तु ॥३३९॥
पुरोऽप्यष्टाग्रदेवीनां तत्र भद्रासनानि हि । सासनाः परिषन्मुख्याः पूर्वदक्षिणतस्तथा ॥३४०॥
मध्यमा दक्षिणस्यां स्याद् बाह्यास्त्वापरदक्षिणा । त्रायस्त्रिंशाश्च तत्र स्युः पश्चात्सैन्यमहत्तराः ॥३४१॥
चतसृष्वात्मरक्षाणां दिक्षु भद्रासनान्यपि । आसेव्यतेऽत्र तैरिन्द्रः पूर्वाभिमुखमास्थितः ॥३४२॥

यम दक्षिण दिशाका राजा तथा अरिष्ट विमानका स्वामी है। इसके वाहन तथा वस्त्राभूषण आदि काले रङ्गके हैं और इसकी आयु ढाई पल्य प्रमाण है ॥३२५॥ वरुण पश्चिम दिशाका राजा है तथा जलप्रभ विमानका स्वामी है। उसकी वेषभूषा पीले रङ्गकी है और वह तीन भाग कम तीन पल्यकी आयुवाला है ॥३२६॥ कुबेर उत्तर दिशाका राज्य तथा वल्गुप्रभ विमानका स्वामी है। इसकी वेषभूषा शुक्ल रङ्गकी है तथा आयु तीन पल्य प्रमाण है ॥३२७॥ मेरुकी पूर्वोत्तर दिशामें नन्दनवनके बीच काञ्चन कूटके समान एक बलभद्रक नामका कूट है और उसमें कूट नामधारी बलभद्रक देवका निवास है ॥३२८॥ वहींपर १ नन्दन, २ मन्दर, ३ निषध, ४ हिमवत्, ५ रजत, ६ रजक, ७ सागर और ८ चित्रक नामके आठ कूट और हैं। ये प्रत्येक दिशामें क्रमसे दो-दो हैं ॥३२९-३३०॥ इन कूटोंकी ऊँचाई पाँच सौ योजन है तथा मूल भागकी चौड़ाई पाँच सौ योजन, मध्यभागकी तीन सौ पचहत्तर योजन और ऊर्ध्वभागकी ढाई सौ योजन है ॥३३१॥ इन कूटोंमें क्रमसे १ मेघंकरा, २ मेघवती, ३ सुमेघा, ४ मेघमालिनी, ५ तोयधारा, ६ विचित्रा, ७ पुष्पमाला और ८ अनिन्दिता ये आठ प्रसिद्ध दिक्कुमारी देवियाँ निवास करती हैं ॥३३२-३३३॥ मेरु पर्वतकी पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) दिशामें १ उत्पलगुल्मा, २ नलिना, ३ उत्पला और ४ उत्पलोज्ज्वला ये चार वापिकाएँ हैं। इनकी लम्बाई पचास योजन, गहराई दश योजन और चौड़ाई पच्चीस योजन है ॥ ३३४-३३५॥ इन वापिकाओंके मध्यमें इन्द्रका भवन स्थित है। इस भवनकी चौड़ाई इकतीस योजन एक कोश, ऊँचाई साढ़े बासठ योजन और गहराई अर्धयोजन प्रमाण है ॥३३६-३३७॥ उस भवनके मध्यमें इन्द्रका सिंहासन है तथा चारों दिशाओंमें चार लोकपालोंके आसन हैं ॥३३८॥ इन्द्रासनसे उत्तर-पूर्व तथा पश्चिमोत्तर दिशामें सामानिक देवोंके भद्रासन हैं ॥३३९॥ आगे आठ पट्टरानियोंके भद्रासन हैं, पूर्व-दक्षिण दिशामें सभाके मुख्य-मुख्य अधिकारी देव बैठते हैं, दक्षिणमें मध्यम अधिकारी, दक्षिण-पश्चिममें सामान्य अधिकारी एवं त्रायस्त्रिंश देव तथा उनके पीछे सैन्यके महत्तर देव आसन ग्रहण करते हैं ॥३४०-३४१॥ चार

भृङ्गा भृङ्गनिभाख्यान्या कज्जला कज्जलप्रभा । पुष्करिण्यश्च वापीनां समास्त्वपरदक्षिणाः ॥३४३॥
श्रीकान्ता प्रथमा वापी श्रीचन्द्रा चापरोत्तरा । तथा श्रीमहितैशानभोग्या श्रीनिलया ततः ॥३४४॥
तथा चोत्तरपूर्वस्यां वापी तु नलिनाभिधा । ततो नलिनगुल्मापि कुमुदा कुमुदप्रभा ॥३४५॥
प्रासादादिक्रमश्चाऽपि पूर्ववत्सर्वमिष्यते । यथैतन्नन्दने वेद्यं तथा सौमनसे वने ॥३४६॥
विदिक्षु चोत्तरपूर्वस्यां पाण्डुके पाण्डुका शिला । पाण्डुकम्बलया सार्द्धं रक्तया रक्तकम्बला ॥३४७॥
विदिक्षु सक्रमा हैमी राजती तापनीयिका । लोहिताक्षमयी चार्द्धचन्द्राकाराश्च ताः शिलाः ॥३४८॥
अष्टोच्छ्रयाः शतायामाः पञ्चाशद्विस्तृताश्च ताः । यत्राहन्तोऽभिषिच्यन्ते जम्बूद्वीपसमुद्भवाः ॥३४९॥
रक्तापाण्डुकयोर्दैर्घ्यं दक्षिणोत्तरतः स्थितम् । तत्पूर्वापरतः शेषशिलयोस्तु विशालयोः ॥३५०॥
चापं पञ्चशतोच्छ्रायं मूलव्यासोऽपि यस्य सः । प्रत्येकं तन्महारत्नं तत्र सिंहासनत्रयम् ॥३५१॥
ऐन्द्रं दक्षिणमेतेषामैशानं तूत्तरं मतम् । मध्यस्थितं तु जैनेन्द्रं प्राङ्मुखानि च तान्यपि ॥३५२॥
भारतापरवैदेहा ऐरावतविदेहजाः । जिना बाल्ये सुरस्नाप्यास्तासु तेषु यथाक्रमम्[1] ॥३५३॥

दिशाओंमें आत्मरक्ष देवोंके भद्रासन हैं। इन्द्र अपने आसनपर पूर्वाभिमुख बैठता है और आत्मरक्ष उसकी सेवा करते हैं ॥३४२॥ पश्चिम-दक्षिण (नैऋत्य) दिशामें उक्त वापिकाओंके समान १ भृंगा, २ भृंगनिभा, ३ कज्जला और ४ कज्जलप्रभा ये चार वापिकाएँ हैं ॥३४३॥ पश्चिमोत्तर (वायव्य) दिशामें १ श्रीकान्ता, २ श्रीचन्द्रा, ३ श्रीमहिता और ४ श्रीनिलया ये चार वापिकाएँ हैं।* इनमें ऐशानेन्द्र क्रीड़ा करता है ॥३४४॥ उत्तर-पूर्व (ऐशान) दिशामें १ नलिना, २ नलिनगुल्मा, ३ कुमुदा और ४ कुमुदप्रभा ये चार वापिकाएँ हैं। इनमें भवन आदिकी समस्त रचना पूर्ववत् जाननी चाहिए। जिस प्रकार नन्दन वनमें इन सबकी रचना है उसी प्रकार सौमनस वनमें भी जानना चाहिए ॥३४५-३४६॥

पाण्डुक वनको उत्तर-पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे १ पाण्डुक, २ पाण्डुकम्बला, ३ रक्ता और ४ रक्तकम्बला ये चार शिलाएँ हैं। ये शिलाएँ विदिशाओंमें हैं तथा क्रमसे सुवर्णमयी, रजतमयी, संतप्त स्वर्णमयी और लोहिताक्ष मणिमयी हैं। एवं इनका अर्ध चन्द्रके समान आकार है ॥३४७-३४८॥ ये शिलाएँ आठ योजन ऊँची, सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी हैं तथा इनपर जम्बू द्वीपमें उत्पन्न हुए तीर्थंकरोंका अभिषेक होता है ॥३४९॥ इनमें रक्ता और पाण्डुक शिलाकी लम्बाई दक्षिणोत्तर दिशामें है तथा रक्ता और रक्तकम्बलाकी लम्बाई पूर्व-पश्चिम दिशामें है ॥३५०॥ उन शिलाओंपर रत्नमयी तीन-तीन सिंहासन हैं जो पाँच सौ धनुष ऊँचे तथा उतने ही चौड़े हैं ॥३५१॥ तीन सिंहासनोंमें दक्षिण सिंहासन सौधर्मेन्द्रका, उत्तर सिंहासन ऐशानेन्द्रका तथा मध्य स्थित सिंहासन जिनेन्द्र देवका है। इन सब सिंहासनोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर होता है। भावार्थ—मध्यके सिंहासनपर श्री जिनेन्द्र देव विराजमान होते हैं और दक्षिण तथा उत्तरके सिंहासनोंपर क्रमसे सौधर्मेन्द्र और ऐशानेन्द्र खड़े होकर उनका अभिषेक करते हैं ॥३५२॥ उन पाण्डुक आदि शिलाओंके सिंहासनोंपर क्रमसे

---

१. ईसाण दिसाभागे भरह जिणिंदाण दिव्वदेहाणं ।
पंडुक सिलातले तह जम्मण महिमा समुद्दिट्ठा ॥१४८॥
अवर विदेहाण तहा वरपंडुयकंबलम्मि धूमदिसे ।
वरत्तकंबलम्मि दु णेरदि एरावदाणं तु ॥१४९॥
वाऊदिसे रत्तसिला पुव्वविदेहाण जिणवरिंदाणं ।
जम्मण महिमा मेरुप्पदाहिणेणं तु गंतूणं ॥१५०॥ ज० प्र० ४ उद्देश ।

* नैऋत्य और आग्नेय दिशाकी आठ वापिकाओंमें सौधर्म तथा वायव्य और ऐशान दिशाकी वापिकाओंमें ऐशानेन्द्रके भवन हैं।

पाण्डुके सन्ति चत्वारो महादिक्षु जिनालयाः । सर्वरत्नमया[1] दिव्या नित्या ह्यकृतकत्वतः ॥३५४॥
पञ्चविंशतिरायामः सार्द्धाः द्वादश विस्तृतिः । अर्द्धक्रोशोऽवगाहः स्यादुच्छ्रायोऽष्टादश त्रिपाद् ॥३५५॥
द्वारस्य चोच्छ्रयस्तेषां चतुर्योजनसम्मितः । द्वे तु विस्तृतिरस्यार्द्धमणुद्वारद्वयस्य हि ॥३५६॥
वने सौमनसे तेषां तदेव द्विगुणं भवेत् । कुलवक्षारशैलेषु मानं सौमनसोदितम् ॥३५७॥
नन्दने भद्रशाले च जिनायतनगोचरम् । प्रत्येकं द्विगुणं मानं तद् यत्सौमनसे वने ॥३५८॥
विजयार्द्धेषु सर्वेषु सिद्धायतनगोचरम् । मानं तदेव बोद्धव्यं विजयार्द्धे भरते तु यत् ॥३५९॥
अष्टायामो द्विविस्तारः सर्वेषु [2]चतुरुच्छ्रितः । [3]देवच्छन्दोऽवगाहश्च गव्यूतिस्तेषु वेश्मसु ॥३६०॥
शुम्भद्रत्नमहास्तम्भशातकुम्भात्मभित्तिभिः । चन्द्रादित्योत्पतत्पक्षिमृगयुग्माद्यलङ्कृतः ॥३६१॥
रत्नकाञ्चननिर्माणाः पञ्चचापशतोच्छ्रिताः । अष्टोत्तरशतं तत्र जिनानां प्रतिमा मताः ॥३६२॥
नागयक्षयुगे तासां प्रत्येकं सप्रकीर्णके[4] । सनत्कुमारसर्वाह्ण[5]निर्वृत्तिश्रुतमूर्तिभिः ॥३६३॥

भरत, पश्चिम विदेह, ऐरावत और पूर्व विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न हुए तीर्थंकर बाल्यकालमें देवोंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं। भावार्थ—भरत क्षेत्रके तीर्थंकरोंका पाण्डुक शिलापर, पश्चिम विदेह क्षेत्रके तीर्थंकरोंका रक्तापर और पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंका रक्तकम्बला शिलापर जन्माभिषेक होता है ॥३५३॥

पाण्डुक वनकी चारों महा दिशाओंमें चार जिनालय हैं जो सर्वरत्नमय हैं, दिव्य हैं तथा अकृत्रिम होनेसे नित्य हैं ॥३५४॥ इनकी पचीस योजन लम्बाई, साढ़े बारह योजन चौड़ाई, आधा कोश गहराई और पौने उन्नीस योजन ऊँचाई है ॥३५५॥ प्रत्येक मन्दिरमें एक बड़ा तथा आजू-बाजूमें दो लघु द्वार हैं। इनमें बड़े द्वारकी ऊँचाई चार योजन और चौड़ाई दो योजन है। तथा लघु द्वारोंकी ऊँचाई और चौड़ाई इससे आधी है ॥३५६॥ पाण्डुक वनके समान सौमनस वनकी चारों दिशाओंमें भी चार जिनालय हैं और उनके द्वारोंकी लम्बाई-चौड़ाई आदि पाण्डुक वनके चैत्यालयोंसे दूनी है। कुलाचल तथा वक्षार गिरियोंपर जो जिनालय हैं उनकी लम्बाई-चौड़ाई आदि भी सौमनस वनके चैत्यालयोंके समान कही गई है ॥३५७॥ इसी प्रकार नन्दन वन और भद्रशाल वनमें भी चार-चार जिनालय हैं उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई आदिका प्रमाण सौमनस वनके जिनालयोंसे दूना है ॥३५८॥ समस्त विजयार्ध पर्वतोंपर जो सिद्धायतन-जिनमन्दिर हैं उनका प्रमाण वही जानना चाहिए जो कि भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्धके जिन-मन्दिरोंका है ॥३५९॥ उन समस्त जिनालयोंमें आठ योजन लम्बा, दो योजन चौड़ा, चार योजन ऊँचा और एक कोश गहरा देवच्छन्द नामका एक गर्भगृह है ॥३६०॥ वह गर्भगृह, देदीप्यमान रत्नोंसे बने हुए विशाल स्तम्भों, सुवर्णमयी दीवालों तथा उनमें खिंचे हुए चन्द्र, सूर्य, उड़ते हुए पक्षी एवं हरिण-हरिणियोंके जोड़ोंसे अलंकृत है ॥३६१॥ उस गर्भगृहमें सुवर्ण तथा रत्नोंसे निर्मित पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ जिन-प्रतिमाएँ विद्यमान हैं ॥३६२॥ उन प्रतिमाओंके समीप

१. सर्वरत्नमहादिव्या म० । २. तनुरुच्छ्रितः म० । ३. त्रिलोकप्रज्ञप्तौ देवच्छन्दस्य प्रमाणं भिन्नप्रकारं वर्तते—वसहीए गब्भगिहे देवच्छन्दो दुजोयणच्छेहो । इगिजोयणवित्थारो चउजोयण दीह संजुत्तो ॥१८५५॥
सोलस कोसुच्छेहं समचउरस्सं तदद्धवित्थारं ।
लोयविणिच्छायकत्ता देवच्छन्दं परूवेई ॥१८६६॥ (पाठान्तरम्)
४. सचामरे । ५. सहशो म० । सर्वाणि ग०, ङ०, ख० सर्वाण क० ।
सिरि सुददेवीण तहा सव्वाह्ण सणक्कुमार जक्खाणं ।
रूवाणिं पत्तेक्कं पडि वररयणाइ रइदाणिं ॥१८८१॥ —त्रै० प्र०
सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण सणक्कुमार जक्खाणं ।
रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि ॥९८८॥ —त्रिलोकसार

भृङ्गारकलशादर्शपात्रीशङ्खाः समुद्गकाः । पालिकाधूपनीदीपकूर्चाः पाटलिकादयः ॥३६४॥
अष्टोत्तरशतं ते पि कंसतालनकादयः । परिवारोऽत्र विज्ञेयः प्रतिमानां यथायथम् ॥३६५॥
गवाक्षगेहजालानि मुक्ताजालानि भान्ति वै । मणिविद्रुमरूपाब्जकिंकिणीजालकानि च ॥३६६॥
षट् च चत्वारि च द्वे च मूले मध्ये च मस्तके । विस्तृतश्चतुरुच्छ्रायः सौवर्णः क्रोशगाहकः ॥३६७॥
अष्टोच्छ्रायश्चतुर्व्यासश्चतुस्तोरणदिङ्मुखः । प्राकारः प्रतिवेश्म स्यात् पञ्चाशत्तुङ्गगोपुरः ॥३६८॥
सिंहहंसगजाम्भोजदुकूलवृषभध्वजैः । मयूरगरुडाकीर्णचक्रमालामहाध्वजैः ॥३६९॥
दशार्द्धवर्णभासन्निर्दशभेदैर्दिशो दश । साशीतिकसहस्रान्तैर्भान्ति पल्लविता इव ॥३७०॥
उदग्रो मण्डपोऽस्याग्रे ततः प्रेक्षागृहं बृहत् । स्तूपाश्चैत्यद्रुमाश्चान्ये पर्यङ्कप्रतिमोज्ज्वलाः ॥३७१॥
मत्स्यकूर्मविमुक्तश्च प्रसन्नसलिलः शुभः । दिशि नन्दो ह्रदः प्राच्यां सिद्धायतनतो भवेत् ॥३७२॥
[1]वज्रमूलः सवैडूर्यचूलिको मणिभिश्चितः । विचित्राश्चर्यसङ्कीर्णः स्वर्णमध्यः सुरालयः ॥३७३॥
मेरुश्चैव सुमेरुश्च महामेरुः सुदर्शनः । मन्दरः शैलराजश्च वसन्तः प्रियदर्शनः ॥३७४॥
रत्नोच्चयो दिशामादिर्लोकनाभिर्मनोरमः । लोकमध्यो दिशामन्त्यो दिशामुत्तर एव च ॥३७५॥
सूर्याचरणविख्यातिः सूर्यावर्तः स्वयम्प्रभः । इत्थं सुरगिरिश्चेति लब्धवर्णैः स वर्णितः ॥३७६॥
इति व्यावर्णितं द्वीपं परिक्षिपति सर्वतः । पर्यन्तावयवत्वेन सास्यैव जगती स्थिता ॥३७७॥

चमर लिये हुए नागकुमार और यक्षोंके युगल खड़े हुए हैं तथा समस्त प्रतिमाएँ सनत्कुमार और सर्वाह्न यक्ष तथा निर्वृत्ति और श्रुत देवी की मूर्तियोंसे युक्त हैं ॥३६३॥ झारी कलश दर्पण, पात्री, शङ्ख, सुप्रतिष्ठक, ध्वजा, धूपनी, दीप, कूर्च, पाटलिका आदि तथा झाँझ मंजीरा आदि एक सौ आठ एक सौ आठ उपकरण उन प्रतिमाओंके परिवार स्वरूप जानना चाहिए अर्थात् ये सब उनके समीप यथायोग्य विद्यमान रहते हैं ॥३६४-३६५॥ उन जिनालयोंमें झरोखे, गृह-जाली, मोतियोंकी झालर, रतन तथा मूँगा रूप कमल और छोटी-छोटी घण्टियोंके समूह सुशोभित रहते हैं ॥३६६॥ प्रत्येक जिनमन्दिरमें एक-एक प्राकार—कोट है जो मूलमें छह योजन, मध्यमें चार योजन और मस्तकपर दो योजन चौड़ा है। चार योजन ऊँचा है, एक कोश गहरा है तथा सुवर्ण निर्मित है ॥३६७॥ इसकी चारों दिशाओंमें आठ योजन ऊँचे, तथा चार योजन चौड़े चार तोरण द्वार हैं और पचास योजन ऊँचा इसका गोपुर है ॥३६८॥ सिंह, हंस, गज, कमल, वस्त्र, वृषभ, मयूर, गरुड़, चक्र और मालाके चिह्नोंसे सुशोभित दश प्रकारकी पञ्चवर्णी महाध्वजाओंसे उन चैत्यालयोंकी दशों दिशाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो लहलहाते हुए नूतन पत्तोंसे ही युक्त हों। वे ध्वजाएँ एक-एक जातिकी एक सौ आठ एक सौ आठ तथा दशों दिशाओं-की मिलाकर एक हजार अस्सी होती हैं ॥३६९-३७०॥ चैत्यालयोंके आगे विशाल सभामण्डप, उसके आगे लम्बा-चौड़ा प्रेक्षा-गृह, उसके आगे स्तूप और स्तूपोंके आगे पद्मासनसे विराजमान प्रतिमाओंसे सुशोभित चैत्यवृक्ष हैं ॥३७१॥ जिनालयोंसे पूर्व दिशामें मच्छ तथा कछुआ आदि जल-जन्तुओंसे रहित, एवं स्वच्छ जलसे भरा हुआ नन्द नामका सरोवर है ॥३७२॥ वज्रमूल, सवैडूर्यचूलिक, मणिचित, विचित्राश्चर्यकीर्ण, स्वर्णमध्य, सुरालय, मेरु, सुमेरु, महामेरु, सुदर्शन, मन्दर, शैलराज, वसन्त, प्रियदर्शन, रत्नोच्चय, दिशामादि, लोकनाभि, मनोरम, लोकमध्य, दिशामन्त्य, दिशामुत्तर, सूर्याचरण, सूर्यावर्त, स्वयंप्रभ और सुरगिरि···इस प्रकार विद्वानोंने अनेक नामोंके द्वारा सुमेरु पर्वतका वर्णन किया है ॥३७३-३७६॥

इस प्रकारसे वर्णित जम्बू द्वीपको चारों ओरसे जगती घेरे हुए है। यह जगती इसी

---

१. मेरुपर्वतस्य पर्यायनामानि।

मूले द्वादश मध्येऽष्टौ चत्वार्यग्रे च विस्तृता । अष्टोच्छ्रयाऽवगाढा तु योजनार्द्धमधो भुवः ॥३७८॥
सर्वरत्नाग्रमध्या सा वैडूर्यमयमस्तका । मूले वज्रमयी भासा भासयन्ती दिशः स्थिता ॥३७९॥
पञ्च चापशतव्यासमूलाग्रे चापि वेदिका । गव्यूतिद्वितयोच्छ्राया जगत्या मध्यमाश्रिता ॥३८०॥
वेदिकाभ्यन्तरे कान्तं देवारण्यं वनं बहिः । सत्सौवर्णशिलापट्टं वापी प्रासादशोभितम् ॥३८१॥
धनुःशतं शतं सार्द्धं विस्तृताश्च शतद्वयम् । न्यूनमध्योत्तमा वाप्यो गाधाः स्वं स्वं दशांशकम् ॥३८२॥
पञ्चाशच्चापविस्ताराः शतचापसमायताः । पञ्चसप्ततिमुच्चैस्तु प्रासादास्तत्र चाल्पकाः ॥३८३॥
षट् चापविस्तृतान्येषां द्वादशोच्छ्रायवन्ति च । चत्वारि चापगाढानि द्वाराणि लघुवेश्मनाम् ॥३८४॥
द्विगुणास्त्रिगुणाश्च स्युर्व्यासायामोच्छ्रयैरतः । मध्यमाश्चोत्तमास्तेषां द्विर्द्विर्द्वारावगाहनम् ॥३८५॥
मालावल्लीकदल्याद्याः प्रेक्षासनसभागृहाः । वीणागर्भलताचित्रप्रसाधनमहागृहाः ॥३८६॥
मोहनास्थानसंज्ञाश्च रम्या रत्नमया गृहाः । सर्वतस्तत्र शोभन्ते व्यन्तरामरसेविताः ॥३८७॥
[1]हंसक्रौञ्चासनैर्मुण्डैर्मृगेन्द्रमकरासनैः । स्फाटिकैरुन्नतैर्नम्रैः प्रवालगरुडासनैः ॥३८८॥
दीर्घस्वस्तिकवृत्तैस्तैर्विपुलेन्द्रासनैरपि । गन्धासनैश्च रत्नाढ्यैर्युक्ताः सुरमनोरमैः ॥३८९॥
विजयं [2]वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । द्वाराण्यस्यां जगत्यां स्युः प्राच्यादौ दिक्चतुष्टये ॥३९०॥
अष्टोच्छ्रायं चतुर्व्यासं नानारत्नांशुरञ्जितम् । द्वारमेकैकमत्र स्याद् भास्वद्वज्रकवाटकम् ॥३९१॥
दश सप्तशती चान्या सहस्राणि च सप्ततिः । त्रयः क्रोशाश्चतुर्विंशाश्चतुर्दशशती युगैः ॥३९२॥

जम्बू द्वीपका अन्तिम अवयव—भाग है ॥३७७॥ वह मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन, और अग्रभागमें चार योजन चौड़ी है, आठ योजन ऊँची है तथा पृथिवीके नीचे आधा योजन गहरी है ॥३७८॥ उसका मूल भाग वज्रमय है, मध्य भाग सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित है और मस्तक—अग्रभाग वैडूर्य मणियोंका बना है। वह जगती अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको देदीप्यमान करती हुई स्थित है ॥३७९॥ जगतीके मध्यमें एक वेदिका है जो मूल और अग्र भागमें पाँच सौ धनुष चौड़ी है तथा दो कोश ऊँची है ॥३८०॥ वेदिकाके आभ्यन्तर तथा बाह्य—दोनों भागोंमें सुवर्णमय उत्तम शिलापट्टोंसे युक्त, एवं वापिकाओं और भवनोंसे सुशोभित देवारण्य नामका सुन्दर वन है ॥३८१॥ इनमें निम्न श्रेणीकी वापियाँ सौ धनुष, मध्यम श्रेणीकी डेढ़ सौ धनुष और उत्तम श्रेणीकी दो सौ धनुष चौड़ी हैं। इन सबकी गहराई अपनी-अपनी चौड़ाईके दशवें भाग हैं ॥३८२॥ देवारण्य वनमें जो लघु प्रासाद हैं वे पचास धनुष चौड़े, सौ धनुष लम्बे और पचहत्तर धनुष ऊँचे हैं ॥३८३॥ इन प्रासादोंके द्वार छह धनुष चौड़े, बारह धनुष ऊँचे और चार धनुष गहरे हैं ॥३८४॥ मध्यम और उत्तम प्रासादों तथा उनके द्वारोंकी लम्बाई-चौड़ाई एवं ऊँचाई लघु प्रासादोंसे क्रमशः दूनी और तिगुनी है। किन्तु द्वारोंकी गहराई दूनी-दूनी है ॥३८५॥ उस वनमें मालाओंकी पङ्क्ति कदली आदि वृक्ष, प्रेक्षागृह, सभागृह, वीणागृह, गर्भगृह, लतागृह, चित्रगृह, प्रसाधनगृह तथा मोहना स्थान नामके अनेक रत्नमयी सुन्दर-सुन्दर गृह सब ओर सुशोभित हैं। ये सब स्थान व्यन्तर देवोंके द्वारा सेवित हैं ॥३८६-३८७॥ ये भवन देवोंके मनको हर्षित करनेवाले रत्न खचित हंसासन, क्रौञ्चासन, मुण्डासन, मृगेन्द्रासन, मकरासन, प्रवालासन, गरुडासन, विशाल इन्द्रासन और गन्धासन आदि अनेक आसनोंसे युक्त हैं। ये आसन स्फटिक मणिके बने हैं, इनमें कितने ही आसन ऊँचे हैं, कितने ही नीचे हैं, कितने ही लम्बे हैं, कितने ही स्वस्तिकके समान हैं और कितने ही गोल हैं ॥३८८-३८९॥ जगतीकी पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं ॥३९०॥ इनमें प्रत्येक द्वार आठ योजन ऊँचा, चार योजन चौड़ा, नाना रत्नोंकी किरणोंसे अनुरञ्जित और वज्रमयी देदीप्यमान किवाड़ोंसे युक्त है ॥३९१॥ जगतीके अभ्यन्तर भागमें

१. आसनानां नामानि। २. विजयन्तं म०।

हस्तास्त्रयोऽङ्गुलानि स्यादेकविंशतिरेकशः । तेषां दिशान्तरज्यासौ द्वाराणां तु प्रमाणतः ॥३९३॥
अस्या ज्यायाः सहस्राणि सप्ततिर्नव चोदितम् । सह षड्भिश्च पञ्चाशद् गव्यूतित्रितयं तथा ॥३९४॥
धनुःसहस्रमेकं च पुनः पञ्चशतानि तु । द्वात्रिंशच्च धनुःपृष्ठमङ्गुलानां च सप्तकम् ॥३९५॥
चतुर्योजनहीनं तु तदेव परिनिश्चितम् । द्वाराणामन्तरं तेषामन्तरज्ञैः परस्परम् ॥३९६॥
संख्येयद्वीपपर्यन्तो जम्बूद्वीपसमोऽपरः । विजयस्य पुरं तत्र पूर्वस्यां दिशि शोभते ॥३९७॥
तद् द्वादशसहस्राणि विस्तृतं वेदिकायुतम् । चतुस्तोरणसंयुक्तं रुचिरं सर्वतोऽद्भुतम् ॥३९८॥
साष्टभागं त्रिकं चाग्रे मूले तत्तु चतुर्गुणम् । तत्प्राकारस्य विस्तारस्तस्य गाहोऽर्धयोजनम् ॥३९९॥
प्राकारस्योच्छ्रयस्तस्य सप्तत्रिंशत्तथार्धकम् । गोपुराणि चतुर्दिक्षु प्रत्येकं पञ्चविंशतिः ॥४००॥
एकत्रिंशत्सगव्यूतिविस्तारो गोपुरस्य च । उच्छ्रायो द्विगुणस्तस्माद् गाहः स्यादर्धयोजनम् ॥४०१॥
भूमिभिः सप्तदशभिः प्रासादा गोपुरेषु तु । सर्वरत्नसमाकीर्णा जाम्बूनदमयाश्च ते ॥४०२॥
गोपुराणां तु मध्ये स्यादौपपादिकलेणकम् । गव्यूतिबहलं व्यासः शतानि द्वादशास्य च ॥४०३॥
पञ्चचापशतव्यासा गव्यूतिद्वयमुच्छ्रिता । चतुस्तोरणसंयुक्ता वेदिका तस्य सर्वतः ॥४०४॥
गोपुरेण समो मानैः प्रासादः पुरमध्यगः । अष्टोच्छ्रायश्चतुर्व्यासो द्वारो [2]विजयसेवितः ॥४०५॥
सवज्रद्वारवंशश्च हेमरत्नकपाटकः । चतुर्दिक्षु पुनस्तस्य प्रासादास्तत्समानकाः ॥४०६॥
तेषामन्ये महादिक्षु चत्वारस्तत्समानकाः । द्वितीयमण्डले ज्ञेयाः प्रासादा रत्नभास्वराः ॥४०७॥

उन द्वारोंकी अन्तरज्याका प्रमाण सत्तर हजार सात सौ दश योजन, तीन कोश, चौदह सौ चौबीस धनुष, तीन हाथ और इक्कीस अंगुल है ॥३९२–३९३॥ इस ज्याके धनुष पृष्ठका परिमाण, उन्यासी हजार छप्पन योजन, तीन कोश, एक हजार पाँच सौ बत्तीस धनुष तथा सात अंगुल है ॥३९४–३९५॥ अन्तरके जाननेवाले आचार्योंने उन द्वारोंका पारस्परिक अन्तर धनुःपृष्ठके प्रमाणसे चार योजन कम निश्चित किया है ॥३९६॥

संख्यात द्वीपोंके अनन्तर जम्बू द्वीपके समान एक दूसरा जम्बू द्वीप है उसकी पूर्व दिशामें विजय द्वारके रक्षक विजय देवका नगर सुशोभित है ॥३९७॥ वेदिकासे युक्त वह नगर बारह योजन चौड़ा है, चारों दिशाओंके चार तोरणोंसे विभूषित, सब ओरसे सुन्दर और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है ॥३९८॥ उस नगरके चारों ओर एक प्राकार है, उसका विस्तार अग्र भागमें एक धनुषके आठ भागोंमें तीन भाग तथा मूलमें उससे चौगुना है। इस प्राकारकी गहराई आधा योजन है ॥३९९॥ ऊँचाई साढ़े सैंतीस योजन है और इसकी प्रत्येक दिशामें पच्चीस-पच्चीस गोपुर हैं ॥४००॥ प्रत्येक गोपुरकी ऊँचाई इकतीस योजन एक कोश है, चौड़ाई उससे दूनी है और गहराई आधा योजन प्रमाण है ॥४०१॥ उन गोपुरोंपर सत्रह-सत्रह खण्डके भवन बने हुए हैं। ये भवन सब प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त तथा स्वर्णमय हैं ॥४०२॥ गोपुरोंके मध्यमें देवोंके उत्पन्न होनेका स्थान है जो एक कोश मोटा और बारह योजन चौड़ा है ॥४०३॥ उस उत्पत्ति स्थानके चारों ओर एक वेदिका है जो पाँच सौ धनुष चौड़ी, दो कोश ऊँची और चार तोरणोंसे युक्त है ॥४०४॥

उस नगरके मध्यमें एक विशाल भवन है जो प्रमाणमें गोपुरके समान है। और उसका दरवाजा आठ योजन ऊँचा, चार योजन चौड़ा तथा विजय नामक देवके द्वारा सेवित है ॥४०५॥ उस भवनके द्वारका तोरण हीरेका बना है तथा स्वर्ण और रत्नमय उसके किवाड़ हैं। उसकी चारों दिशाओंमें उसीके समान विस्तारवाले और भी अनेक भवन बने हुए हैं ॥४०६॥ दूसरे मण्डलमें उन भवनोंकी चारों दिशाओंमें उन्हींके समान विस्तारवाले, रत्नोंके देदीप्यमान भवन बने हुए हैं ॥४०७॥ तीसरे मण्डलमें भी इसी प्रकार भवनोंकी रचना है परन्तु उनका

---

१. देवीनामुत्पादस्थानम् । २. तत्स्वामी देवः ।

पूर्वमानार्धमानाश्च तृतीये मण्डले स्थिताः । तत्समानाश्चतुर्थे तु प्रत्येकं दिक्चतुष्टये ॥४०८॥
चतुर्थेभ्योऽर्धहीनाश्च पञ्चमे मण्डले स्थिताः । षष्ठे तु तत्समानैस्ते प्रत्येकं दिक्चतुष्टये ॥४०९॥
क्षेत्रवेदिकया तुल्या वेदिका मण्डलद्वये । अर्धार्धमाना सा वेद्या मण्डलस्य द्वये द्वये ॥४१०॥
प्रासादे विजयस्यात्र सिंहासनमनुत्तरम् । सचामरसितच्छत्रं तत्र पूर्वमुखोऽमरः ॥४११॥
उत्तरस्यां सहस्राणि षट् सामानिकसंज्ञिनः । [1]विदिशोश्च पुरः षट् स्युरग्रदेव्यश्च[2] सासनाः ॥४१२॥
आसन्नष्टौ सहस्राणि परिषत्पूर्वदक्षिणाः । मध्यमा दश[3] बोधव्या दक्षिणस्यां दिशि स्थिताः ॥४१३॥
द्वादशैव सहस्राणि बाह्या साऽपरदक्षिणाः । आसनेष्वपरस्यां च सप्तसैन्यमहत्तराः ॥४१४॥
अष्टादश सहस्राणि चतुर्दिक्ष्वात्मरक्षकाः । भद्रासनानि तेषां च दिक्षु तावन्ति तासु च ॥४१५॥
अष्टादश सहस्राणि देव्यश्च परिचारिकाः । विजयः सेव्यमानस्तैः[4] पल्यं जीवति[5] साधिकम् ॥४१६॥
विजयादुत्तराशायां सुधर्माख्या तु तत्सभा । दीर्घा षट् विस्तृता त्रीणि नवोच्चैः क्रोशगाहिनी ॥४१७॥
ततोऽप्युत्तरदिग्भागे तावन्मानो जिनालयः । अपरोत्तरतश्चास्मादुपपार्श्वा सभा भवेत् ॥४१८॥
अभिषेकसभा तत्प्रागलङ्कारसभाप्यतः । व्यवसायसभा तस्मात् संसमानाः सुधर्मया ॥४१९॥
पञ्चैव च सहस्राणि चत्वारोऽपि शतानि च । सप्तषष्टिश्च ते सर्वे प्रासादा विजयास्पदे ॥४२०॥
बहिर्विजयपुर्यास्तु पञ्चविंशतियोजनीम् । गत्वा वनानि चत्वारि स्युः प्राच्या दिक्चतुष्टये ॥४२१॥

प्रमाण पूर्व प्रमाणसे आधा है। चौथे मण्डलकी चारों दिशाओंमें जो भवन-रचना है वह तीसरे मण्डलकी भवन-रचनाके समान है ॥४०८॥ पाँचवें मण्डलमें जो भवन हैं वे चौथे मण्डलके भवनोंसे अर्ध प्रमाण हैं और छठवें मण्डलके भवन पाँचवें मण्डलके भवनोंके समान हैं ॥४०९॥ आदिके दो मण्डलोंमें उत्पत्ति स्थानकी वेदिकाके तुल्य वेदिका है और उसके आगे दो-दो मण्डलोंकी वेदिकाएँ पूर्व-पूर्व वेदिकाके प्रमाणसे आधी-आधी विस्तारवाली जानना चाहिए ॥४१०॥

बीचके भवनमें चमर और सफेद छत्रोंसे युक्त विजयदेवका उत्तम सिंहासन है। उसपर वह विजयदेव पूर्वाभिमुख होकर बैठता है ॥४११॥ उसकी उत्तर दिशामें छह हजार सामानिक देव बैठते हैं। तथा आगे और दो दिशाओंमें छह पट्टदेवियाँ आसन ग्रहण करती हैं ॥४१२॥ पूर्व-दक्षिण—आग्नेय दिशामें आठ हजार उत्तम पारिषद देव बैठते हैं। मध्यम परिषद्के दश हजार देव दक्षिण दिशामें स्थित होते हैं। बाह्य परिषद्के बारह हजार देव, पश्चिम दक्षिण—नैऋत्य दिशामें आसनारूढ़ होते हैं और सात सेनाओंके महत्तर देव पश्चिम दिशामें आसन ग्रहण करते है ॥४१३-४१४॥ चारों दिशाओंमें अठारह हजार अङ्ग-रक्षक रहते हैं और चारों दिशाओंमें उतने ही उनके भद्रासन हैं ॥४१५॥ विजयदेवकी अठारह हजार परिवार देवियाँ हैं। इन सबके द्वारा सेवित होता हुआ वह कुछ अधिक एक पल्य तक जीवित रहता है ॥४१६॥ विजयदेवके भवनसे उत्तर दिशामें एक सुधर्मा नामकी सभा है जो छह योजन लम्बी, तीन योजन चौड़ी, नौ योजन ऊँची और एक कोश गहरी है ॥४१७॥ सुधर्मा सभासे उत्तर दिशामें एक जिनालय है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई आदिका विस्तार सुधर्मा सभाके समान है। पश्चिमोत्तर दिशामें उपपार्श्व सभा है ॥४१८॥ उसके आगे अभिषेक सभा, उसके आगे अलंकार सभा, और उसके आगे व्यवसाय सभा है। ये सब सभाएँ सुधर्मा सभाके समान हैं ॥४१९॥ विजयदेवके नगरमें सब मिलाकर पाँच हजार चार सौ सड़सठ भवन हैं ॥४२०॥

विजयदेवके नगरसे बाहर पचीस योजन चलकर पूर्वादि दिशाओंमें चार वन हैं ॥४२१॥

---

१. विदिशोऽस्य म० । २. आसनैः सह विद्यमाना सासनाः म० । विदिशि षट् महादेवीनामासनानि । ३. दशसहस्राणि । ४. सेव्यमानैस्तैः म० । ५. जीवन्ति म० ।

अशोकवनमाद्यं च सप्तपर्णवनं ततः । स्याच्चम्पकवनं नाम्ना तथा चूतवनं ततः ॥४२२॥
योजनानां सहस्राणि द्वादशायाम इष्यते । शतानि पञ्चविस्तारास्तेषां मध्ये तु पादपाः ॥४२३॥
अशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकश्चूतपादपः । जम्बूपीठार्धमानाश्च पीठा जम्ब्व[1]र्धमानकाः ॥४२४॥
चतस्रः प्रतिमास्तेषु चतुर्दिक्षु यथायथम् । अशोकादिसुरैरर्च्या जिनानां रत्नमूर्तयः ॥४२५॥
वनस्योत्तरपूर्वस्यामशोकपुरमत्र च । मानेन विजयस्येव प्रासादोऽशोकनायकः ॥४२६॥
सप्तपर्णपुरं पूर्वदक्षिणस्यां वनस्य तु । सप्तपर्णपुरस्यात्र प्रासादः पूर्वमानकः ॥४२७॥
दक्षिणापरदिग्भागे चम्पकस्य पुरं वनात् । अपरोत्तरदिग्भागे पुरं च[2] तामरस्य च ॥४२८॥
वैजयन्तादयो देवा विजयस्य समाश्रयः । दक्षिणादिपुराधीशाः स्वालयायुःपरिच्छदैः ॥४२९॥
योजनानां तु लक्षे द्वे विस्तीर्णो लवणार्णवः । परिक्षिप्य स्थितो द्वीपं परिखेव सवेदिकः ॥४३०॥
लक्षाः पञ्चदशाशीत्या सहस्रं च शतं तथा । त्रिंशन्नव च देशोना परिधिर्लवणाम्बुधेः ॥४३१॥
अष्टादश सहस्राणि कोट्या नवशतान्यपि । त्रिसप्ततिश्च निश्चेया लक्षाः षट्षष्टिरेव च ॥४३२॥
सहस्राणि च पञ्चाशन्नव तानि च षट्शती । गणितस्य पदं वेद्यं प्रकीर्णं[3] लवणार्णवे ॥४३३॥
दशैवोपरि मूले च सहस्राणि दश स्मृतः । सहस्रमवगाढोऽधो ध्रुवाण्येकादशोच्छ्रितः ॥४३४॥
तटान्तात्पञ्चनवतिं देशान् गत्वाऽवगाहते । देशमेकमधश्चैवमङ्गुलादि सयोजनम् ॥४३५॥
स गत्वा पञ्चनवतिं देशान् देशांश्च षोडश । उच्छ्रितोऽङ्गुलहस्तादीन् योजनानि च सागरः ॥४३६॥

उनमें पहला अशोकवन, दूसरा सप्तपर्णवन, तीसरा चम्पकवन और चौथा आम्रवन है ॥४२२॥ ये वन बारह योजन लम्बे और पाँच सौ योजन चौड़े हैं। इन वनोंके मध्यमें क्रमसे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक, और आमके प्रधान वृक्ष हैं। इन वृक्षोंकी पीठिका जम्बू वृक्षकी पीठिकासे आधी है तथा इनका निजका विस्तार जम्बू वृक्षसे आधा है ॥४२३-४२४॥ उन चारों वनोंकी चारों दिशाओंमें यथायोग्य अशोकादि देवोंके द्वारा पूजित जिनेन्द्र देवकी रत्नमयी चार प्रतिमाएँ हैं ॥४२५॥ अशोक वनकी उत्तर-पूर्व दिशामें अशोकपुर नामका नगर है इसमें अशोक नामक देवका भवन है जिसका विस्तार विजयदेवके भवनके समान है ॥४२६॥ सप्तपर्ण वनकी पूर्व-दक्षिण दिशामें सप्तपर्णपुर है उसमें पूर्व प्रमाणको धारण करनेवाला सप्तपर्ण देवका भवन है ॥४२७॥ चम्पक वनकी दक्षिण-पश्चिम दिशामें चम्पक देवका चम्पकपुर और आम्रवनकी पश्चिमोत्तर दिशामें आम्रदेवका आम्र नगर है ॥४२८॥ वैजयन्त आदि तीन देव दक्षिणादि दिशाओंमें बने हुए नगरोंके स्वामी हैं तथा अपने भवन आयु और परिवार आदिकी अपेक्षा विजयदेवके समान हैं ॥४२९॥ इस प्रकार जम्बू द्वीपका वर्णन किया। अब लवणसमुद्रका वर्णन करते हैं—

वेदिकासे सहित लवण समुद्र, दो लाख योजन विस्तारवाला है और वह परिखाके समान जम्बू द्वीपको घेरकर स्थित है ॥४३०॥ इसकी परिधि पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उनतालीस योजनमें कुछ कम है ॥४३१॥ तथा इसके गणितका प्रकीर्णक पद (क्षेत्रफल) अठारह हजार नौ सौ तिहत्तर करोड़, छयासठ लाख, उनसठ हजार छह सौ योजन है ॥४३२-४३३॥ इसकी ऊपर नीचे चौड़ाई दश हजार योजन, गहराई एक हजार योजन और अवस्थित रूपसे ऊँचाई ग्यारह योजन प्रमाण है ॥४३४॥ वह लवणसमुद्र, तटान्तसे पंचानबे हाथ जानेपर एक हाथ, पंचानबे अंगुल जानेपर एक अंगुल और पंचानबे योजन जानेपर एक योजन गहरा है ॥४३५॥ और पंचानबे अङ्गुल, पंचानबे हाथ या पंचानबे योजन जानेपर यह समुद्र सोलह अङ्गुल, सोलह हाथ या सोलह योजन ऊँचा है अर्थात् तटान्तसे पंचानबे अङ्गुल जानेपर

१. जम्बूर्द्ध- म० । २. भूतामरस्य च म० । ३. १८९७३६६५९६०० ।

शुक्ले पञ्चसहस्राणि यावत्तावत् प्रवर्धते । पक्षे प्रहीयते कृष्णे यावदेकादशैव सः ॥४३७॥
त्रिशती च त्रयस्त्रिंशद् योजनानि दिने दिने । त्रिभागं वर्धते वार्धिः शुक्ले कृष्णे च हीयते ॥४३८॥
मक्षिकापक्षसूक्ष्मान्तो वेदिकान्ते पयोनिधिः । स चोर्ध्वं मानतोयस्तु योजनार्धं प्रवर्द्धते ॥४३९॥
षट्षष्टि द्वे शते दण्डा द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुली । शुक्ले कृष्णे च ते स्यातां वृद्धिहानी दिने दिने ॥४४०॥
अधः संक्षेपणी द्रोणी विस्तीर्णोर्ध्वं क्षितौ दिवि । अन्यथा नौपुटाम्भोधिः समो वा यवराशिना ॥४४१॥
अगत्याः पञ्चनवतिं सहस्राणि प्रविश्य तु । मध्ये स्युर्दिक्षु चत्वारि पातालविवराण्यधः ॥४४२॥
प्राच्यां पातालमाशायां प्रतीच्यां वडवामुखम् । कदम्बुकमपाच्यां स्यादुदीच्यां यूपकेसरम् ॥४४३॥
तन्मूलमुखविस्तारः सहस्राणि दश स्मृतः । गाहस्वमध्यविस्तारावेका लक्षेति लक्षितौ ॥४४४॥
कलशलसमानानि पातालानि समन्ततः । बाहुल्यं वज्रकुड्यानां तेषां पञ्च शतानि तु ॥४४५॥
त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतत्रयम् । एकैकोऽत्र विभागः स्याद् योजनानां तु भागवान् ॥४४६॥
ऊर्ध्वभागे जलं तेषां तृतीये केवलं सदा । मूले च बलवान् वायुर्मध्यभागे क्रमेण तौ ॥४४७॥
वायोरुच्छ्वासनिश्वासौ पातालेषु स्वभावजौ । तद्वशादुदकस्योर्ध्वमधश्च परिवर्तनम् ॥४४८॥
भागः पञ्चदशः शुक्ले वायुभिः पूर्यते शनैः । पातालानां जलैः कृष्णे स्थितिः[1] स्यात्पक्षसन्धिषु ॥४४९॥

सोलह अङ्गुल ऊँचा है, पंचानवे हाथ जानेपर सोलह हाथ ऊँचा है और पंचानवे योजन जानेपर सोलह योजन ऊँचा है ॥४३६॥ शुक्ल पक्षमें समुद्रका जल पाँच हजार योजन तक ऊँचा बढ़ जाता है और कृष्ण पक्षमें स्वाभाविक ऊँचाई जो ग्यारह हजार योजन है वहाँ तक घट जाता है ॥४३७॥ शुक्ल पक्षमें समुद्र प्रतिदिन तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजनके तीन भाग बढ़ता है तथा कृष्ण पक्षमें उतना ही घटता है ॥४३८॥ वेदिकाके अन्तमें समुद्र मक्षिकाके पङ्खके समान अत्यन्त सूक्ष्म है परन्तु जब उसकी जलमें वृद्धि होती है तब आधा योजन तक बढ़ जाता है ॥४३९॥ शुक्लपक्षमें वेदिकाके अन्तमें प्रतिदिन समुद्रकी वृद्धि दो सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अङ्गुल होती है और कृष्णपक्षमें प्रतिदिन उतनी ही हानि होती है ॥४४०॥ संकुचित होता हुआ समुद्र नीचे भागमें नावके समान रह जाता है और ऊपर पृथिवीपर विस्तीर्ण हो जाता है तथा आकाशमें इसके विपरीत जुड़ी हुई दो नौकाओंके पुटके समान अथवा जौकी राशिके समान नीचे चौड़ा और ऊपर संकीर्ण हो जाता है ॥४४१॥

वेदीसे पंचानवे हजार योजन भीतर प्रवेश करनेपर चारों दिशाओंमें नीचे चार पाताल-विवर हैं ॥४४२॥ उनमें पूर्व दिशामें पाताल, दक्षिणमें बडवामुख, पश्चिममें कदम्बुक और उत्तरमें यूपकेसर नामका पाताल है ॥४४३॥ इन चारों पातालोंके मूल और अग्रभागका विस्तार दश हजार योजन है तथा गहराई और अपने मध्य भागका विस्तार एक-एक लाख योजन प्रमाण माना गया है ॥४४४॥ ये पाताल-विवर गोलीके समान हैं अर्थात् इनका तल और ऊपरका विस्तार अल्प है तथा मध्यका अधिक है। इनकी वज्रमयी दीवालोंकी मोटाई सब ओरसे पाँच-पाँच सौ योजन है ॥४४५॥ इन विवरोंके तीन-तीन भाग हैं उनमें-से एक भाग तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक कला प्रमाण है ॥४४६॥ इनके तीसरे ऊर्ध्व भागमें केवल जल रहता है, नीचेके भागमें बलवान् वायु रहती है और बीचके भागमें क्रमसे जल तथा वायु दोनों रहते हैं ॥४४७॥ पातालोंमें जो वायु है उसका उच्छ्वास–ऊँचा उठना और निःश्वास–नीचे आना स्वाभाविक है उसीके कारण उनमें जलका ऊँचा-नीचा परिवर्तन होता रहता है अर्थात् जब वायु ऊपर उठती है तब जल ऊपर उठ जाता है और जब वायु नीचे बैठती है तब जल नीचे बैठ जाता है ॥४४८॥ पातालोंका पन्द्रहवाँ भाग शुक्लपक्षमें धीरे-धीरे वायुसे भरता रहता है और कृष्णपक्षमें जलसे। अमावस्या और पूर्णिमाके दिन उनकी

१. स्थितिं स्यात्पक्षसन्धिषु म० ।

लक्षद्वयं सहस्राणि सप्तविंशतिरन्तरम् । शतं सप्ततिरेषां[1] स्यात् पादोनं योजनं पृथक् ॥४५०॥
विदिक्षु क्षुद्रपातालचतुष्कं मुखमूलयोः । सहस्रं विस्तृतं दैर्घ्यमध्यविस्तारतो दश ॥४५१॥
चतुर्णामपि तेषां स्यात्पञ्चाशत्कुड्यविस्तृतिः । एकैकस्य त्रिभागेषु प्रागिवाम्भःप्रभञ्जनौ ॥४५२॥
त्रियोजनसहस्राणि त्रयस्त्रिंशं शतत्रयम् । सत्रिभागं त्रिभागानां प्रत्येकं योजनस्थितिः ॥४५३॥
एकलक्षा सहस्राणि त्रयोदश निजान्तरम् । पञ्चाशीति त्रयोऽष्टांशाः कुण्डानां दिग्विदिक्स्थितम् ॥४५४॥
मुक्तावलीवदेतेषामन्तरालेषु चाष्टसु । समुद्रे क्षुद्रपातालसहस्रमवतिष्ठते ॥४५५॥
सहस्रमवगाहश्च मध्यविष्कम्भ एव च । योजनानां शतं तेषां विस्तारो मुखमूलयोः ॥४५६॥
पञ्चविंशशतं तानि प्रत्येकं चान्तरेऽन्तरे । द्विर्हीनाष्टशती क्रोशः सविशेषस्तदन्तरम्[2] ॥४५७॥
यथायोगपरावृत्तसलिलाप्लवविप्लवाः । पातालौघाः समस्तास्ते क्षुद्राश्च परिकीर्तिताः ॥४५८॥
तटाद्गत्वा सहस्राणि द्वाचत्वारिंशतं समौ । चतुर्दिक्षु सहस्रोच्चैः द्वौ द्वौ स्यातां तु पर्वतौ ॥४५९॥
कौस्तुभः कौस्तुभासश्च पातालस्योभयान्तयोः । राजतावर्धकुम्भाभौ तत्सुरौ विजयश्रियौ ॥४६०॥
उदकश्चोदवासश्च कदम्बुकसमीपगौ । शिवश्च शिवदेवश्च तयोर्देवौ यथाक्रमम् ॥४६१॥
नगौ शङ्खमहाशङ्खौ वडवामुखपार्श्वगौ । शङ्खाभावुदकश्च स्यादुदवासश्च तत्सुरौ ॥४६२॥
उदकोऽप्युदवासोऽपि यूपकेसरपार्श्वगौ । रोहितो लोहिताङ्कश्च तत्सुरौ परिकीर्तितौ ॥४६३॥

स्वाभाविक स्थिति हो जाती है ॥४४९॥ इन पाताल-विवरोंका पृथक्-पृथक् अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार एक सौ पौने इकहत्तर योजन है ॥४५०॥

चारों विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल-विवर हैं इनका ऊपर और नीचे एक-एक हजार तथा मध्यमें दश हजार योजन विस्तार है एवं उनकी ऊँचाई भी दश हजार योजन है ॥४५१॥ इन चारोंकी दीवालोंकी चौड़ाई पचास योजन है तथा प्रत्येकके तीन-तीन भाग हैं और उनमें पूर्वकी भाँति जल तथा वायुका सद्भाव है ॥४५२॥ तीनों भागोंमें प्रत्येक भाग तीन हजार तीन सौ तीस योजन तथा एक योजनके तीन भागोंमें एक भाग प्रमाण है ॥४५३॥ दिशाओं और विदिशाओंके पाताल-विवरोंका परस्पर अन्तर एक लाख तेरह हजार पचासी योजन है ॥४५४॥ लवण समुद्रमें इन आठ पाताल-विवरोंके आठ अन्तरालोंमें एक हजार क्षुद्र पाताल और भी हैं जो मोतियोंकी मालाके समान सुन्दर जान पड़ते हैं ॥४५५॥ इन क्षुद्र पाताल-विवरोंकी गहराई एक हजार योजन है और विस्तार मध्यमें एक हजार योजन तथा ऊपर-नीचे सौ-सौ योजन है ॥४५६॥ ये क्षुद्र पाताल-विवर एक-एक अन्तरालके बीचमें एक सौ पचीस एक सौ पचीस हैं तथा इनका पारस्परिक अन्तर सात सौ अंठानवे योजन एवं कुछ अधिक एक कोश है ॥४५७॥ जिनमें यथायोग्य पानीका प्रवेश तथा निर्गम होता रहता है, ऐसे ये समस्त पाताल-विवरोंके समूह क्षुद्र पाताल कहे गये हैं ॥४५८॥

तटसे बयालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओंमें एक-एक हजार योजन ऊँचे दो-दो पर्वत हैं ॥४५९॥ पूर्व दिशाके पाताल-विवरकी दोनों ओर कौस्तुभ और कौस्तुभास नामके अर्धकुम्भाकार चाँदीके दो पर्वत हैं इनके अधिष्ठाता (उदंग और उदवास) देव विजयदेवके समान वैभवको धारण करनेवाले हैं ॥४६०॥ दक्षिण दिशाके कदम्बुक पातालविवरके समीप उदक और उदवास नामके दो पर्वत हैं। क्रमसे शिव तथा शिवदेव उनके अधिष्ठाता देव हैं ॥४६१॥ पश्चिम दिशाके वडवामुख पातालविवरके समीप शङ्ख और महाशङ्ख नामके दो पर्वत हैं तथा शङ्खके समान आभावाले शिव और शिवदेव नामक देव अधिष्ठाता हैं ॥४६२॥ उत्तर दिशाके भूपकेसर पाताल-विवरके समीप उदक और उदवास ये दो पर्वत हैं तथा रोहित और

१. -रेव ख० । २. तदनन्तरं म० ।

योजनानां तु लक्षैका सहस्राणि च षोडश । अन्तरं पर्वतानां स्यान्निजपातालमूर्धभिः ॥४६४॥
नागवेलन्धरार्धीशा गिरिमस्तकवर्तिषु । वसन्ति नगरेष्वेते नागैर्वेलन्धरैः सह ॥४६५॥
नागानां च सहस्राणि द्विचत्वारिंशदम्बुधौ । लवणाभ्यन्तरां वेलां धारयन्ति नियोगतः ॥४६६॥
द्वासप्ततिसहस्राणि बाह्यां वेलां जलाकुलाम् । धारयन्ति सदा नागा जलक्रीडाकृतादराः ॥४६७॥
अष्टाविंशतिसंख्यानि सहस्राणि यथायथम् । अग्रोदकमुदग्रं[1] तु नागानां धारयन्ति च ॥४६८॥
द्वादशैव सहस्राणि वारिधावपरोत्तरम् । तावत्येव सहस्राणि विस्तृतः सर्वतः समः ॥४६९॥
गोतमो नामतो द्वीपो गोतमस्तस्य चामरः । सोऽपि कौस्तुभदेवेन परिवारादिभिः समः ॥४७०॥
मर्त्यास्त्वेकोरुकाः पूर्वे दक्षिणे तु विषाणिनः । लाङ्गूलिनोऽपरे च स्युरुत्तरेऽभाषकास्तथा ॥४७१॥
विदिक्षु शशकर्णास्तु चतसृष्वपि भाषिताः । एकोरुकोत्तरापाच्योरश्वसिंहमुखाः क्रमात् ॥४७२॥
शष्कुलीकर्णनामानः पार्श्वयोस्तु विषाणिनाम् । श्वमुखा वानरास्या ये ते लाङ्गूलिकपार्श्वयोः ॥४७३॥
अभाषकान्तयोश्चापि शष्कुलीकर्णमानुषाः । गोमुखा मेषवक्त्राः स्युर्विजयार्धोभयान्तयोः ॥४७४॥
हिमवत्प्राक्प्रतीच्योः स्युरुल्काकालमुखा नराः । मेघविद्युन्मुखाः प्राच्यप्रतीच्योः शिखरिश्रुतेः ॥४७५॥
आदर्शगजवक्त्राख्या विजयार्धान्तयोर्मताः । चतुर्विंशतिरेव स्युर्द्वीपाश्चापि तदाश्रयाः ॥४७६॥
गत्वा पञ्चशतीं दिक्षु विदिक्ष्वन्तरदिक्षु च । पञ्चाशतं च ते द्वीपाः षट्शतीं मुख्यपर्वताः ॥४७७॥

लोहितान्तक उनके अधिष्ठाता देव हैं ॥४६३॥ इन पर्वतोंका अपने-अपने पाताल-विवरोंसे एक लाख सोलह हजार योजन अन्तर है ॥४६४॥ इन पर्वतोंके ऊपर अनेक नगर बने हुए हैं उनमें वेलंधर जातिके नागकुमार देवोंके साथ उनके स्वामी निवास करते हैं ॥४६५॥ लवण समुद्रमें बयालीस हजार नागकुमार अपने नियोगके अनुसार उसकी आभ्यन्तर वेलाको धारण करते हैं और बहत्तर हजार नागकुमार जलसे भरी बाह्य वेलाको सदा धारण करते हैं। ये नागकुमार जलक्रीडा करनेमें दृढ़ आदर रखते हैं ॥४६६-४६७॥ अट्ठाईस हजार नागकुमार लवण समुद्रकी उन्नत अग्रशिखाको धारण करते हैं ॥४६८॥

लवण समुद्रकी पश्चिमोत्तर दिशामें बारह हजार योजन दूर चलकर बारह हजार योजन विस्तारवाला एक गोतम नामका द्वीप है। यह द्वीप सब ओरसे सम है तथा गोतम नामका देव उसका अधिष्ठाता है। परिवार आदिकी अपेक्षा गोतम देव कौस्तुभ देवके समान हैं ॥४६९-४७०॥ लवण समुद्रकी पूर्व दिशामें एक टाँगवाले, दक्षिणमें सींगवाले, पश्चिममें पूँछवाले और उत्तरमें गूँगे मनुष्य रहते हैं ॥४७१॥ चारों विदिशाओंमें खरगोशके समान कानवाले मनुष्य कहे गये हैं। एक टाँगवालोंकी उत्तर और दक्षिण दिशामें क्रमसे घोड़े और सिंहके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥४७२॥ सींगवाले मनुष्योंकी दोनों ओर शष्कुलीके समान कानवाले और पूँछ-वालोंकी दोनों ओर क्रमसे कुत्ते और वानरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥४७३॥ गूँगे मनुष्योंकी दोनों ओर शष्कुलीके समान कानवाले रहते हैं। विजयार्ध पर्वतके दोनों किनारोंपर जो कि पूर्व-पश्चिम समुद्रमें निकले हुए हैं क्रमसे गौ और भेड़के समान मुखवाले रहते हैं ॥४७४॥ हिमवत् पर्वतके पूर्व और पश्चिम कोणोंपर क्रमसे उल्कामुख और कृष्णमुख तथा शिखरी पर्वत-के पूर्व-पश्चिम कोणोंपर मेघमुख और विद्युन्मुख मनुष्य रहते हैं ॥४७५॥ और ऐरावत क्षेत्रमें जो विजयार्ध है उसके दोनों कोणोंपर दर्पण तथा हाथीके समान मुखवाले मनुष्य माने गये हैं। इस प्रकार उक्त चौबीस द्वीप ही ऊपर कहे हुए मनुष्योंके आश्रय हैं ॥४७६॥ दिशाओं और विदिशाओंके अन्तरद्वीप समुद्रतटसे पाँच सौ योजन, अन्तरदिशाओंके साढ़े पाँच सौ योजन और पर्वतोंके कोणवर्ती द्वीप छह सौ योजन आगे चलकर हैं इन द्वीपोंके अग्रभागमें एक-एक

१. -मुदग्रं ख० ।

दिग्गताः शतरुन्द्राः स्युः पञ्चविंशतिमद्रिजाः । रुन्द्रा पञ्चशतं द्वीपा विदिक्ष्वन्तरदिक्षु च ॥४७८॥
ते पञ्चनवतं भागं[1] स्वप्रदेशस्य चाप्लुताः । जलाद्योजनमुद्विद्धवेदिकापरिवारिताः ॥४७९॥
तेनैव षोडशाभ्यस्तमुपरिष्टाज्जलावृताः । सङ्कल्प्याधरं वोर्ध्वं[2] क्षेत्रं वाच्यं जलावृतम् ॥४८०॥
जम्बूद्वीपस्य यावन्तो द्वीपाः निकटवर्तिनः । तावन्तो धातकीखण्ड-द्वीपस्य लवणोदजाः ॥४८१॥
अष्टादशकुलास्तेषु पल्यायुष्काः कुमानुषाः । एकोरुकाः गुहावासाः मृष्टमृद्भोजनास्तु ते ॥४८२॥
शेषपुष्पफलाहाराः वृक्षमूलनिवासिनः । एकान्तराशनाः मृत्वा जायन्ते भौमभावनाः[3] ॥४८३
जम्बूद्वीपजगत्या च समुद्रजगती समा । अभ्यन्तरे शिलापट्टं बहिस्तु वनमालिका ॥४८४॥
चतुर्गुणस्तु[4] विस्तारो द्वीपस्य जलधेस्तथा । सूची भवेस्त्रिभिर्न्यूनः तदन्ते मण्डलेऽखिले ॥४८५॥
विस्ताररहिता सूची चतुर्व्यासगुणा तु या । तावन्तस्तु भवन्त्यस्य जम्बूद्वीपसमांशकाः ॥४८६॥
स्युश्चतुर्विंशतिर्भागा लवणद्वीपसम्मिताः । षड्गुणास्ते परद्वीपे काले सप्तचतुर्गुणाः ॥४८७॥

पर्वत हैं ॥४७७॥ दिशाओंके द्वीप सौ योजन, विदिशाओं तथा अन्तरदिशाओंके पाँच सौ योजन और पर्वतोंके तटान्तवर्ती द्वीप पचीस योजन विस्तारवाले हैं ॥४७८॥ इनका पंचानबेवाँ भाग जलमें डूबा है तथा ये एक योजन जलसे ऊपर उठी हुई वेदिकाओंसे घिरे हुए हैं ॥४७९॥ पंचानबेवें भागको सोलहसे गुणा करनेपर गुणित भागोंके बराबर इनके ऊपर-नीचेका क्षेत्र जलसे आवृत कहना चाहिए ॥४८०॥ लवण समुद्रके जितने अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके निकटवर्ती हैं उतने ही धातकी खण्डके निकटवर्ती हैं। भावार्थ—दिशाओंमें चार, विदिशाओंमें चार, अन्तरालोंमें आठ और हिमवत् शिखरी तथा दोनों विजयार्ध पर्वतोंके आठ इस प्रकार चौबीस अन्तर्द्वीप जम्बूद्वीपके निकटवर्ती लवणसमुद्रमें हैं तथा चौबीस धातकीखण्डके निकटवर्ती लवण समुद्रमें। सब मिलाकर लवण समुद्रमें ४८ अन्तर्द्वीप हैं ॥४८१॥ उनमें अठारह कुल कुभोग भूमिया जीवोंकी है और वे एक पल्यकी आयुवाले हैं। एक टाँगवाले मनुष्य गुफाओंमें रहते हैं तथा मधुर मिट्टीका भोजन करते हैं ॥४८२॥ शेष मनुष्य फूल और फलोंका आहार करते हैं तथा वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं। ये सब एक दिनके अन्तरसे भोजन करते हैं और मरकर व्यन्तर तथा भवनवासी देव होते हैं ॥४८३॥ लवण समुद्रकी जगती (वेदी) जम्बू द्वीपकी जगतीके समान हैं उसके भीतरी भागमें शिलापट्ट हैं और बाहरी भागमें वन-पंक्तियाँ हैं ॥४८४॥ किसी भी द्वीप अथवा समुद्रका जितना विस्तार है उसे चौगुना कर उसमेंसे तीन घटा देनेपर उसके अन्तिम मण्डलकी सूचीका प्रमाण निकलता है ॥४८५॥ इस करणसूत्रके अनुसार लवण समुद्रकी सूची पाँच लाख है उसमेंसे विस्तारके दो लाख घटा देनेपर तीन लाख रहे। उसमें चारका गुणा करनेपर बारह लाख हुए और उसमें विस्तारका प्रमाण जो दो लाख है उसका गुणा करनेपर चौबीस लाख हुए। इस तरह लवण समुद्रके जम्बू द्वीपके बराबर चौबीस खण्ड

१. द्वयप्रवेशस्य म० ।
२. दुगिगमणे पणणउदिग तुंगो सोलगुणमुवरि किं पयदे ।
दुगजोगे दीउदयो सवेदिया जोयणुग्गया जलदो ॥९१५॥ —त्रिलोकसारस्य
३. भवण वइवाण विन्तर जोइस भवणेसु ताण उप्पत्ती ।
ण य अण्णु त्थुपपत्ती बोधव्वा होई णियमेण ॥८५॥
सम्मद्दंसणरयणं जेहिं सुगहियं णरेहिं णारीहिं ।
ते सव्वे मरिऊणं सोहम्माईसु जायंति ॥८६॥ —जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति १० उद्देश
४. दीवस्स समुद्दस्स य विक्खंभं चदुहि संगुणं णियमा ।
तिहि सदसहस्स ऊणा सा सूची सव्वकरणेसु ॥९५॥ —ज० प्र० १० उद्देश

द्वे सहस्रे शतान्यष्टावशीतिरपि चोत्तराः । जम्बूद्वीपसमा भागाः पुष्करद्वीपभाविनः ॥४८८॥
द्वीपोऽपि धातकीखण्डः पर्येति लवणोदधिम् । योजनानां चतुर्लक्षाविस्तीर्णो वलयाकृतिः ॥४८९॥
सूचिरभ्यन्तरा पञ्च-लक्षा नव तु मध्यमा । बाह्या त्रयोदश द्वीपे धातकीखण्डमण्डिते ॥४९०॥
परिधिः पूर्वसूच्यास्तु लक्षाः पञ्चदशोदिताः । एकाशीतिसहस्राणि शतं त्रिंशन्नवाधिकम् ॥४९१॥
स चाष्टाविंशतिर्लक्षाः मध्यायाः षट्सहस्रकैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चाशद् योजनानि च ॥४९२॥
बाह्यसूच्यास्त्वसौ लक्षाश्चत्वारिंशत्सहैकया । शतानि नव षष्ट्यैकं सहस्राणि दशापि च ॥४९३॥
पूर्वापरौ महामेरोर्द्वौ मेरू भवतोऽस्य च । इष्वाकारौ विभक्तारौ पर्वतौ दक्षिणोत्तरौ ॥४९४॥
सहस्रयोजनव्यासौ द्वीपव्याससमायतौ । उच्छ्रायेणावगाहेन निषधेन समौ च तौ ॥४९५॥
क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त षट् कुलपर्वताः । हिमवत्पूर्वका द्वीपे तत्रापि प्रतिमन्दरम्[1] ॥४९६॥
पूर्वैः सहैकनामानः सर्वे नगनदीह्रदाः । समोच्छ्रायावगाहाः स्युस्तेभ्यो द्विगुणविस्तृताः ॥४९७॥
अरन्ध्राकृतान्यङ्कमुखान्यभ्यन्तरे बहिः । क्षुरप्राकृतवन्ति स्युः शैलक्षेत्राणि तानि च ॥४९८॥
लक्षया पर्वतै रुद्धं[2] सहस्राण्यष्टसप्ततिः । द्विचत्वारिंशदष्टौ च शतानि क्षेत्रमत्र च ॥४९९॥
षट् योजनसहस्राणि षट् शतानि चतुर्दश । भरतान्तरविष्कम्भः शतं विंशं नवांशकाः ॥५००॥

हैं। धातकी खण्डमें इससे छह गुने—एक सौ चालीस हैं। कालोदधिमें धातकीखण्डके खण्डोंसे सतगुने—छह सौ बहत्तर हैं और पुष्करार्धमें कालोदधिके खण्डोंसे चौगुने—दो हजार आठ सौ अस्सी हैं ॥४८६-४८८॥ इस प्रकार लवण समुद्रका वर्णन हुआ। अब धातकीखण्डका वर्णन करते हैं—

चार लाख योजन विस्तारवाला चूड़ीके आकार दूसरा धातकीखण्ड द्वीप भी चारों ओरसे लवणसमुद्रको घेरे हुए है ॥४८९॥ धातकी अर्थात् आँवलेके वृक्षोंसे सुशोभित इस धातकीखण्ड द्वीपकी अभ्यन्तर सूची पाँच लाख, मध्यम सूची नौ लाख और बाह्य-सूची तेरह लाख योजनकी है ॥४९०॥ इनमें पूर्व—आभ्यन्तर सूचीकी परिधि पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एकसौ उनतालीस योजन है ॥४९१॥ मध्यम सूचीकी परिधि अट्ठाईस लाख छियालीस हजार पचास योजनकी है ॥४९२॥ और बाह्य सूचीकी परिधि इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसठ योजनकी है ॥४९३॥ इस द्वीपमें जम्बू द्वीपके महामेरुसे पूर्व और पश्चिम दिशामें दो मेरु पर्वत हैं तथा दक्षिण और उत्तरके भेदसे दो इष्वाकार पर्वत इसका विभाग करनेवाले हैं ॥४९४॥ वे दोनों इष्वाकार पर्वत एक हजार योजन चौड़े, द्वीपकी चौड़ाई बराबर चार लाख योजन लम्बे तथा ऊँचाई और गहराईकी अपेक्षा निषध पर्वतके समान (चार सौ योजन ऊँचे और सौ योजन गहरे) हैं ॥४९५॥ द्वीपके समान इस धातकीखण्डमें भी प्रत्येक मेरुकी अपेक्षा भरतको आदि लेकर सात क्षेत्र तथा हिमवान् आदि छह कुलाचल हैं ॥४९६॥ यहाँके समस्त पर्वत नदी और सरोवर जम्बू द्वीपके पर्वत, नदी और सरोवरके समान नामवाले हैं तथा उन्हींके समान ऊँचाई और गहराईसे युक्त हैं केवल विस्तार उनका दूना-दूना है ॥४९७॥ इस द्वीपके पर्वत और क्षेत्र भीतरकी ओर नौ गाड़ीके पहियेमें लगे आरों तथा उनके बीचके अन्तरके समान हैं और बाहरकी ओर छुराके समान हैं अर्थात् इनका आभ्यन्तर भाग संक्षिप्त और बाह्य भाग विस्तृत है ॥४९८॥ इस धातकीखण्डमें एक लाख अठहत्तर हजार आठ सौ बियालीस योजन प्रमाण क्षेत्र पर्वतोंसे रुका हुआ है ॥४९९॥ भरत क्षेत्रका आभ्यन्तर विस्तार छह हजार छह सौ चौदह योजन तथा

१. परमन्दर म० । २. -रुध्वं म० ।

क्षेत्राणां च भवेच्छेदो द्विशती द्वादशोत्तरा । एकोनत्रिंशतिस्तत्र छेदः पर्वतगोचरः ॥५०१॥
द्वादशैव सहस्राणि तथा पञ्च शतानि च । एकाशीतिश्च षट्त्रिंशत्कला मध्यमविस्तृतिः ॥५०२॥
अष्टादश सहस्राणि पञ्चाशत्यपि सप्त तु । चत्वारिंशद्बहिर्भागाः पञ्च पञ्चाशता शतम् ॥५०३॥
विष्कम्भत्रितयं ज्ञेयमाविदेहं चतुर्गुणम् । क्रमेण परतो हानिर्यावदैरावतक्षितिः ॥५०४॥
पूर्वस्माद् द्विगुणो व्यासो हिमवत्पूर्वकाद्रिषु । द्वादशस्वपि च द्वीपे तेभ्यः पुष्करनामनि ॥५०५॥
भूभृतोऽर्धतृतीयेषु वृक्षावक्षारवेदिकाः । मेरुवर्ज्यं[2] विगाहन्ते चतुर्भागं निजोच्छ्रितेः ॥५०६॥
षड्गुणः स्वावगाहस्तु कुण्डानां विस्तृतिर्भवेत् । नदीह्रदावगाहोऽपि पञ्चाशद्गुणितश्च सा ॥५०७॥
उच्छ्रायश्चैत्यगेहस्य सार्धो ज्ञेयः शताहतः । जम्बूप्रभृतयस्तुल्या महावृक्षा दशापि ते ॥५०८॥
नद्यः सरांस्यरण्यानि कुण्डपद्मा नगा ह्रदाः । अवगाहैः समाः पूर्वैर्विस्तारैर्द्विगुणाः परे[3] ॥५०९॥
चैत्यचैत्यालया ये ते वृषभा नाभिपर्वताः । चित्रकूटादयश्चापि तथा काञ्चनकादयः ॥५१०॥
दिशागजेन्द्रकूटानि यथास्वं वेदिकादयः । व्यासावगाहनोच्छ्रायैः सर्वे द्वीपत्रये समाः ॥५११॥
अर्धयोजनमुद्दिष्टं व्यस्तं पञ्चधनुःशतीम् । प्रत्येकं सर्वकूटानां विदितं रत्नतोरणम् ॥५१२॥
अशीतिश्च सहस्राणि चत्वारि च समुच्छ्रयः । चतुर्णामपि मेरूणां परयोर्द्वीपयोर्भवेत् ॥५१३॥
सहस्रमवगाढाश्च मेदिनीं ते तु मेरवः । सहस्राणि नवव्यस्ता मूले पञ्च शतानि च ॥५१४॥
त्रिंशदेव सहस्राणि द्वाचत्वारिंशता सह । तेषामेव विनिर्दिष्टः परिधिर्मूलगोचरः ॥५१५॥

एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें एक सौ उनतीस भाग प्रमाण है ॥५००॥ धातकीखण्ड-द्वीपमें पर्वत रहित क्षेत्रोंके दो सौ बारह खण्ड और पर्वतावरुद्ध क्षेत्रके एक सौ उन्नीस खण्ड होते हैं ॥५०१॥ भरत क्षेत्रके मध्यम भागका विस्तार बारह हजार पाँच सौ इक्यासी योजन छत्तीस भाग है ॥५०२॥ और बाह्य विस्तार अठारह हजार पाँच सौ सैंतालीस योजन एक सौ पचपन भाग है ॥५०३॥ यह तीनों प्रकारका विस्तार विदेह क्षेत्र तकके क्षेत्रोंमें भरत क्षेत्रके विस्तारसे आगे-आगे चौगुना-चौगुना अधिक है और उसके आगे ऐरावत क्षेत्र तक क्रमसे चौगुना-चौगुना कम होता गया है ॥५०४॥ धातकीखण्ड द्वीपमें हिमवान् आदि बारहों पर्वतोंका विस्तार जम्बू द्वीपके पर्वतोंसे दूना-दूना है । इसी प्रकार पुष्करवर द्वीपमें भी उनसे दूना-दूना विस्तार है ॥५०५॥ अढ़ाई द्वीपमें मेरु पर्वतको छोड़कर कुलाचल, वृक्ष, वक्षार पर्वत और वेदिकाओंकी गहराई अपनी ऊँचाईसे चौथा भाग है ॥५०६॥ धातकीखण्डके कुण्डोंका विस्तार उनकी गहराईसे छह गुना, और नदी सरोवरोंका विस्तार उनकी गहराईसे पचास गुना है ॥५०७॥ धातकीखण्डके चैत्यालयोंकी ऊँचाई डेढ़ सौ योजन है और जम्बू आदि दशों महावृक्ष एक समान विस्तारवाले हैं ॥५०८॥ नदी, सरोवर, वन, कुण्ड, पद्म, पर्वत और सरोवर गहराईकी अपेक्षा जम्बू द्वीपकी नदी आदिके समान हैं तथा विस्तारकी अपेक्षा दूने-दूने हैं ॥५०९॥ चैत्य, चैत्यालय, वृषभाचल, नाभिपर्वत, चित्रकूट आदि कांचनगिरि आदि पर्वत, दिग्गजेन्द्रोंके कूट, तथा वेदिका आदि हैं वे सब विस्तार गहराई तथा ऊँचाईकी अपेक्षा तीनों द्वीपोंमें समान हैं ॥५१०–५११॥ धातकीखण्डमें समस्त कूटोंके रत्नमयी तोरण आधा योजन ऊँचे और पाँच सौ धनुष चौड़े हैं ॥५१२॥ धातकीखण्ड और पुष्कर इन दोनों द्वीपोंके चारों मेरु पर्वतोंकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है ॥५१३॥ वे मेरु पर्वत एक हजार योजन नीचे तो पृथिवीमें गहरे हैं और नौ हजार पाँच सौ योजन उनके मूलका विस्तार है ॥५१४॥ उनके मूल भागकी परिधि तीस हजार बियालीस योजन है ॥५१५॥

---

१. वंसधर विरहिदं खलु जं खेत्तं हवदि धादकीसण्डे ।
तस्स दु छेदाणियमा बे चेव सदाणि बाराणि ॥१४॥ ज० प्र० ११ उद्देश्य

२. -मेरुं वर्ज्यं म० । ३. परैः म० ।

नव चैव सहस्राणि चतुःशतयुतानि तु । चतुर्णामपि मेरूणां भूमौ विष्कम्भ इष्यते ॥५१६॥
एकोनत्रिंशदेव स्युः सहस्राणि शतानि च । पञ्चविंशति सप्तैव परिधिर्वसुधातले ॥५१७॥
सहस्रार्धं च गत्वोर्ध्वं नन्दनं स्वंतिविस्तृतम्¹ । पञ्च पञ्चाशतं पञ्चशतीं सौमनसं वनम् ॥५१८॥
पाण्डुकं च सहस्राणि गत्वाष्टाविंशतिः पृथु । चतुर्णवतिसंयुक्ता योजनानां चतुःशती ॥५१९॥
शतान्यर्धचतुर्थानि सहस्राणि नवापि च । नन्दने मन्दरस्यायं विष्कम्भः परिभाषितः ॥५२०॥
सप्तषष्टिसहस्रार्धमेकोनत्रिंशदेव च । सहस्राणि परिक्षेपो नन्दने मन्दराद् बहिः ॥५२१॥
शतान्यर्धचतुर्थानि सहस्राण्यष्ट नन्दनात् । विना मन्दरविष्कम्भः स चाभ्यन्तर ईरितः ॥५२२॥
षड्विंशतिसहस्राणि पञ्चाग्रा च चतुःशती । परिधिर्मन्दरस्यैष नन्दनान्तरगोचरः ॥५२३॥
बाह्यस्त्रीणि सहस्राणि विष्कम्भोऽष्टौ शतानि च । मेरोः सौमनसे सान्तः सहस्रेण विवर्जितः ॥५२४॥
बाह्यस्तस्य सहस्राणि द्वादशैव हि षोडश । मन्दरस्य परिक्षेपो वने सौमनसे स्थितः ॥५२५॥
अष्टौ चैव सहस्राणि तथैवाष्टौ शतानि च । चतुःपञ्चाशदप्यन्तः परिधिस्तस्य तद्वने ॥५२६॥
द्वाषष्ट्यैकं शतं त्रीणि सहस्राणि च पाण्डुके । गव्यूतं साधिकं बोध्यः परिधिर्मेरुभूभृतः ॥५२७॥
नन्दनात् समरुन्द्रोऽद्रिः सहस्राणि दशोपरि । हानिस्तत्र क्रमादेवं वनात्सौमनसादपि ॥५२८॥
दशमो दशमो भागो मूलात्प्रभृति हीयते । प्रदेशाङ्गुलहस्तादिश्चतुर्णां मेरुभूभृताम् ॥५२९॥
पुष्करिण्यः शिला²कूटप्रासादाश्चैत्यचूलिकाः । समानाः पञ्चमेरूणां व्यासावगाहनोच्छ्रयैः ॥५३०॥
शतानि द्वादशैव स्यात्पञ्चविंशति विस्तृतिः । भद्रशालवनस्यैषा धातकीखण्डवर्तिनः ॥५३१॥
लक्षा सप्त सहस्राणि शतान्यष्टौ च दीर्घता । नवसप्ततिरप्यस्य भद्रशालवनस्य तु ॥५३२॥

तथा पृथिवीपरका विस्तार नौ हजार चार सौ योजन है ॥५१६॥ पृथिवी तलपर उनकी परिधि उनतीस हजार सात सौ पचीस योजन है ॥५१७॥ भूमितलसे पाँच सौ योजन ऊपर चलकर अत्यन्त विस्तृत नन्दन वन है तथा पचपन हजार पाँच सौ योजन ऊपर सौमनस वन है ॥५१८॥ सौमनस वनसे अट्ठाईस हजार चार सौ चौरानबे योजनपर जाकर विशाल पाण्डुक वन है ॥५१९॥ नन्दन वनमें मेरुका विस्तार नौ हजार तीन सौ पचास योजन कहा गया है ॥५२०॥ इसी वनमें मेरुकी बाह्य परिधिका विस्तार उनतीस हजार पाँच सौ सड़सठ योजन है ॥५२१॥ नन्दन वनको छोड़कर मेरु पर्वतका भीतरी विस्तार आठ हजार तीन सौ पचास योजन है ॥५२२॥ मेरु पर्वतकी नन्दन वन सम्बन्धी परिधि छब्बीस हजार चार सौ पाँच योजन है ॥५२३॥ सौमनस वनमें मेरु पर्वतका बाह्य विस्तार तीन हजार आठ सौ योजन है और आभ्यन्तर विस्तार इससे एक हजार योजन कम है ॥५२४॥ सौमनस वनमें मेरु पर्वतकी बाह्य परिधि बारह हजार सोलह योजन है ॥५२५॥ और आभ्यन्तर परिधि आठ हजार आठ सौ चौवन योजन है ॥५२६॥ पाण्डुक वनमें मेरु पर्वतकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन तथा कुछ अधिक एक कोश जानना चाहिए ॥५२७। ये चारों मेरु पर्वत नन्दन वनसे दश हजार ऊपर तक जो समरुन्द्र हैं अर्थात् समान चौड़ाईवाले हैं और उसके बाद क्रमसे कम-कम होते जाते हैं। यही क्रम सौमनस वनके आगे भी जानना चाहिए। क्रम यह है कि मूलसे लेकर दश हजार योजनकी वृद्धि होनेपर अङ्गुल हस्त तथा योजनका दसवाँ-दसवाँ भाग कम होता जाता है। अर्थात् दश हजार योजन की ऊँचाईपर एक हजार योजन, दश हाथकी ऊँचाईपर एक हाथ और दश अङ्गुलकी ऊँचाईपर एक अङ्गुल विस्तार कम हो जाता है ॥५२८-५२९॥ पाँचों मेरुओंकी वापियाँ, शिला, कूट, प्रासाद, चैत्य और चूलिकाएँ, चौड़ाई, गहराई और ऊँचाईकी अपेक्षा एक समान हैं ॥५३०॥ धातकीखण्डके भद्रशाल वनकी चौड़ाई बारह सौ पचीस योजन है ॥५३१॥ और इसकी लम्बाई एक लाख सात हजार आठ सौ उन्यासी

---

१. भूति विस्तृतं म०, ङ० । भूमि- ग० । २. शिलाः कूटः प्रासादा—म० ।

षट्पञ्चाशत्सहस्राणि तिस्रो लक्षाः शतद्वयम् । सप्तविंशतिरायामो गन्धमादनविद्युतोः ॥५३३॥
नवषष्टिसहस्राणि लक्षाः पञ्च शतद्वयम् । एकोनषष्टिरायामो माल्यवत्सौमनस्ययोः ॥५३४॥
द्वे लक्षे च सहस्राणि त्रयोविंशतिरेव च । कुलाद्र्यन्ते कुरुव्यासः शतं पञ्चाशदष्ट च ॥५३५॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि नवतिः सप्त चाष्ट तु । शतानि सप्त नवतिर्भागा द्वानवतिस्त्वयम् ॥५३६॥
वक्रायामः कुरूणां स्यादामेरोराकुलाचलात् । पूर्वार्धेऽपि च पश्चार्द्धे धातकीखण्डमण्डले ॥५३७॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि षट्षष्टिः षट् शतान्ययम् । ऋज्वायामः कुरूणां स्यादशीतिरुभयान्तयोः ॥५३८॥
प्रतिमेरु विदेहाश्च द्वात्रिंशत्पूर्ववन्मताः । पूर्वे पूर्वविदेहाख्या अपरे त्वपरे स्थिताः ॥५३९॥
पूर्वस्मान्मन्दरात्पूर्वः कच्छाजनपदोऽवधिः । अपरादपरः सूच्या विजयो गन्धमालिनी ॥५४०॥
एकादशैव लक्षा हि सा सूचिः पञ्चविंशतिः । सहस्राणि शतं तस्मादष्टापञ्चाशता सह ॥५४१॥
लक्षाश्चास्याः परिक्षेपः पञ्चत्रिंशत्प्रकाशितः । द्वाषष्टिश्चाष्टपञ्चाशत्सहस्राणि प्रमाणतः ॥५४२॥
पद्मादिर्गृह्यते सूचीमङ्गलावत्यधिष्ठिता । सा पूर्वापरयोर्मेर्वोरन्तराले तु या स्थिता ॥५४३॥
लक्षाः षट् च सहस्राणि चतुःसप्ततिरष्ट च । शतानि योजनानां सा द्वाचत्वारिंशता सह ॥५४४॥
एकविंशतिलक्षाश्च चतुस्त्रिंशत्सहस्रकैः । त्रिंशदष्टौ पुनस्तस्याः सूच्याः परिधिरिष्यते ॥५४५॥
व्यापी विजयविस्तारः सहस्राणि नवात्र हि । षट्शती त्रितयं च स्यादष्टभागाश्रयस्तथा ॥५४६॥
स्वायामः क्षेत्रवक्षारविभङ्गसरितां त्रिधा । सदेवरमणानां स्यादादिमध्यान्तभेदतः ॥५४७॥
कच्छाख्यविजयायामः पञ्चलक्षाः सहस्रकैः । नवभिः पञ्चशत्याद्यः सप्तत्या द्विशतांशकैः ॥५४८॥
विजयायामवृद्ध्याद्यो युक्तो मध्योऽस्य जायते । मध्येऽपि च तदायामो युक्तोऽन्त्योऽन्यादिकेष्वपि ॥५४९॥

योजन है ॥५३२॥ धातकीखण्डके गन्धमादन और विद्युद् गजदन्त पर्वतोंकी लम्बाई तीन लाख छप्पन हजार दो सौ सत्ताईस योजन है ॥५३३॥ तथा माल्यवान् और सौमनस्य गजदन्तोंकी लम्बाई पाँच लाख उनहत्तर हजार दो सौ उनसठ योजन है ॥५३४॥ कुलाचलोंके समीप कुरुक्षेत्रका विस्तार दो लाख तेईस हजार एक सौ अंठावन योजन है ॥५३५॥ धातकी खण्ड द्वीपके पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दोनों भागोंमें मेरु पर्वतसे लेकर कुलाचलों तक कुरु प्रदेशोंकी वक्र लम्बाई तीन लाख सत्तानवे हजार आठ सौ सत्तानवे योजन और बानबे भाग है ॥५३६–५३७॥ और दोनों ओर सीधी लम्बाई तीन लाख छयासठ हजार छह सौ अस्सी योजन है ॥५३८॥ जिस प्रकार जम्बू द्वीपमें एक मेरु पर्वतके बत्तीस विदेह हैं उसी प्रकार धातकीखण्डमें भी प्रत्येक मेरुकी अपेक्षा बत्तीस-बत्तीस विदेह हैं। इनमें पूर्वकी ओर पूर्व विदेह और पश्चिमकी ओर पश्चिम विदेह स्थित हैं ॥५३९॥ मेरु पर्वतसे पूर्वमें कच्छा नामका देश है और पश्चिममें सूचीसे युक्त गन्धमालिनी देश है। वह सूची ग्यारह लाख पच्चीस हजार एक सौ अंठावन योजन है ॥५४०–५४१॥ इस सूचीकी परिधि पैंतीस लाख अंठावन हजार बासठ योजन प्रमाण है ॥५४२॥ पद्मा देशको आदि लेकर मङ्गलावती देश तक वह सूची ली जाती है जो पूर्व पश्चिम मेरु पर्वतोंके अन्तरालमें स्थित है ॥५४३॥ यह सूची छह लाख चौहत्तर हजार आठ सौ बयालीस योजन प्रमाण है ॥५४४॥ इस सूचीकी परिधिका प्रमाण इक्कीस लाख चौंतीस हजार अड़तीस योजन है ॥५४५॥ इसके देशका विस्तार नौ हजार छह सौ तीस योजन तथा एक योजनके आठ भागोंमें तीन भाग प्रमाण है ॥५४६॥ क्षेत्र, वक्षारगिरि, विभङ्गा नदी और देवारण्य इनकी लम्बाई आदि मध्य और अन्तके भेदसे तीन-तीन प्रकारकी है ॥५४७॥ कच्छा देशकी आदि लम्बाई पाँच लाख नौ हजार पाँच सौ सत्तर योजन तथा एक योजनके दो सौ बारह भागोंमें दो सौ भाग है ॥५४८॥ इसकी आदि लम्बाईमें देशकी

१. कुलाद्यन्ते म० । २. शते म० ।

पूर्वस्य विजयस्याद्रेरायामः सरितोऽपि वा । अन्त्यो यः स परस्याद्यो विजयादेर्व्यवस्थितः ॥५५०॥
विजयायामवृद्धिश्च सहस्रं तु चतुर्गुणम् । शतानि पञ्च चाशीतिश्चत्वारि च समीरिता ॥५५१॥
वक्षारायामवृद्धिस्तु सप्तसप्ततिसंयुता । चतुःशतीतिसंख्याता षष्टिश्च सकला कलाः ॥५५२॥
सा विभङ्गनदीवृद्धिः शतमेकोनविंशतिः । कलाश्चैव द्विपञ्चाशदिति वृद्धिविदो विदुः ॥५५३॥
सप्तशत्या सहस्रे द्वे तथाशीतिर्नवाधिका । देवारण्यायते वृद्धिर्वर्ण्या द्वानवतिः कलाः ॥५५४॥
स्थानक्रमात्त्रिकं द्वे च षट् चत्वारि नवद्विकम् । पद्माजनपदायामः शतं षण्णवतिः कलाः ॥५५५॥
आद्यो यो वृद्धिहीनोऽसौ मध्यो मध्योऽन्त एव हि । वक्षारक्षेत्रनद्यादौ वेद्यमेवं यथाक्रमम् ॥५५६॥
अन्योन्याभिमुखा देशा वक्षारनगसिन्धवः । तटयोः सदृशायामाः सीतासीतोदयोः स्थिताः ॥५५७॥
पूर्वान्मन्दरतः पूर्वैर्विदेहैरपरैरिमैः । पाश्चात्यादपरे पूर्वे ते समाः स्युर्यथाक्रमम् ॥५५८॥
चत्वारिंशच्च चत्वारस्तद्द्वीपे शतमेव च । जम्बूद्वीपसमाः खण्डा गणितस्य समं पुनः ॥५५९॥
कोटीनामेकलक्षा स्यात्सहस्राणि त्रयोदश । शतान्यष्टौ तथैका सा चत्वारिंशच्च कोटयः ॥५६०॥
नवभिर्नवतिर्लक्षा पञ्चाशत्सप्तभिः सह । सहस्राणि शतैः षड्भिरेकषष्ट्युत्तरैस्तथा ॥५६१॥
द्वीपं च धातकीखण्डं परिक्षिपति सर्वतः । द्वीपद्विगुणविस्तारः कालः कालोदसागरः ॥५६२॥
तस्यैकनवतिर्लक्षाः सहस्राणि च सप्ततिः । षट्शती साधिका पञ्च पर्यन्तपरिधिर्मतः ॥५६३॥
षट् शतानि च कालोदे द्वासप्ततिरितस्ततः । जम्बूद्वीपसमाः खण्डाः पण्डितैरिह पिण्डिताः ॥५६४॥
पञ्च लक्षास्तु कोटीनामेकत्रिंशत्सहस्रकैः । शतद्वयं द्विषष्टिश्च कोटयः प्रकटाः स्थिताः ॥५६५॥
लक्षाश्चैव चतुःषष्टिर्नवषष्टिसहस्रकैः । कालोदधावशीतिश्च गणितस्य पदं मतम् ॥५६६॥

लम्बाई मिला देनेपर मध्य लम्बाई हो जाती है और मध्य लम्बाईमें देशकी लम्बाई मिल जानेपर अन्त लम्बाई हो जाती है। यही क्रम पर्वतादिकमें जानना चाहिए ॥५४९॥ पूर्वमें देश, वक्षार पर्वत और विभङ्ग नदीकी जो अन्त्य लम्बाई है वही आगेके देश, वक्षार पर्वत और विभङ्ग नदीकी आदि लम्बाई है ॥५५०॥ देशकी आयामवृद्धि चार हजार पाँच सौ चौरासी योजन कही गई है ॥५५१॥ वक्षार गिरियोंकी आयाम वृद्धि चार सौ सतहत्तर योजन साठ कला है ॥५५२॥ विभङ्ग नदियोंकी आयामवृद्धि एक सौ उन्तीस योजन बावन कला है ऐसा वृद्धिके जाननेवाले आचार्य कहते हैं ॥५५३॥ और देवारण्यकी वृद्धि दो हजार सात सौ नवासी योजन बानवे कला है ॥५५४॥ पद्मा देशकी लम्बाई दो लाख चौरानबे हजार छह सौ तेईस योजन एक सौ छियानबे कला है ॥५५५॥ यहाँके वक्षार पर्वत, क्षेत्र तथा नदी आदिकी आयाम-वृद्धि हीन जो आदि लम्बाई है वही इनकी मध्य लम्बाई है और आयामवृद्धि हीन जो मध्य लम्बाई है वही इनकी अन्त्य लम्बाई यथाक्रमसे जानने योग्य है ॥५५६॥ देश वक्षारगिरि और विभङ्ग नदियाँ सीता सीतोदा नदियोंके दोनों तटोंपर आमने-सामने स्थित हैं तथा एक समान आयामके धारक हैं ॥५५७॥ पश्चिम मेरुसे पूर्व और पश्चिममें जो विदेह हैं वे क्रमशः पूर्व मेरुसे पूर्व तथा पश्चिमके विदेहोंके समान हैं ॥५५८॥ इस धातकीखण्डमें जम्बूद्वीपके समान एक-एक लाख विस्तारवाले एक सौ चौवालीस खण्ड हैं और समस्त धातकीखण्ड द्वीपका क्षेत्र-फल एक लाख तेरह हजार आठ सौ इकतालीस करोड़ निन्यानबे लाख संतावन हजार छह सौ इकसठ योजन है ॥५५९-५६१॥ इस प्रकार धातकीखण्डका वर्णन किया। अब कालोदधिका वर्णन करते हैं—

धातकीखण्ड द्वीपसे दूने विस्तारवाला काले रङ्गका कालोदधि सागर धातकीखण्ड द्वीपको सब ओरसे घेरे हुए है ॥५६२॥ इसकी परिधि एकानबे लाख सत्तर हजार छह सौ पाँच योजनसे कुछ अधिक मानी गई है ॥५६३॥ विद्वानोंने कालोदधि समुद्रमें जहाँ-तहाँ जम्बू-द्वीपके समान एक लाख योजन विस्तारवाले छह सौ बहत्तर खण्ड संकलित किये हैं ॥५६४॥ कालोदधि समुद्रका समस्त क्षेत्रफल पाँच लाख उनहत्तर हजार अस्सी योजन है ॥५६५-५६६॥

कालोदे दिशि निश्चेयाः प्राच्यामुदकमानुषाः । अपाच्यामश्वकर्णास्तु प्रतीच्यां पक्षिमानुषाः ॥५६७॥
उदीच्यां गजकर्णाश्च शूकरास्या विदिक्षु तु । उष्ट्रकर्णाश्च गोकर्णाः प्राच्येभ्यो दक्षिणोत्तराः ॥५६८॥
गजकर्णाश्वकर्णानां मार्जारास्यास्तु पार्श्वयोः । पक्षिणां गजवक्त्राश्च कर्णप्रावरणाः स्थिताः ॥५६९॥
शिशुमारमुखाश्चैव मकरामुखास्तथा । विजयार्द्धद्वयोपान्त्ये कालोदजलधौ स्थिताः ॥५७०॥
मर्त्या हिमवतोऽग्रे वृकव्याघ्रमुखाः स्थिताः । शृगालर्क्षमुखाश्चाग्रे शिखरिश्रुतिभूभृतः ॥५७१॥
स्थिता द्वीपिमुखाश्चाग्रे भृङ्गाराराजतागयोः । बाह्याभ्यन्तरयोरन्तर्जगत्योर्द्वीप्यमानवाः ॥५७२॥
आयुर्वर्णगृहाहारैः समा गत्यापि लावणैः । सहस्रमवगाढास्ते द्वीपाश्छिन्नतटाम्बुधौ ॥५७३॥
कालोदस्याः प्रवेशेन द्वीपाः पञ्चशताधिकाः । मता द्विगुणविस्तारा लावणेभ्यः कुमानुषैः ॥५७४॥
चतुर्विंशतिरन्तःस्थास्तावन्तश्च बहिः स्थिताः । लवणोदस्थितैः सर्वैः द्वीपाः षण्णवतिस्तु ते ॥५७५॥
कालोदं पुष्करद्वीपः परिष्कृत्य द्विमन्दरः । स्थितो द्विगुणविष्कम्भः पृथुपुष्करलाञ्छनः ॥५७६॥
मानुषक्षेत्रमर्यादा मानुषोत्तरभूभृता । परिच्छिन्नस्तु तस्यार्द्धः पुष्करार्द्धस्ततो मतः ॥५७७॥

कालोदधि समुद्रकी पूर्व दिशामें पानीके समान मुखवाले, दक्षिण दिशामें घोड़ेके समान कानवाले, पश्चिम दिशामें पक्षियोंके समान मुखवाले और विदिशाओंमें शूकरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं। पूर्व दिशामें जो पानीके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं उनके दक्षिण और उत्तरमें—दोनों ओर क्रमसे ऊँट तथा गौके समान कानवाले मनुष्य रहते हैं। गजकर्ण और अश्वकर्ण मनुष्योंकी दोनों ओर बिल्लीके समान मुखवाले तथा पक्षियोंके समान मुखवालोंकी दोनों ओर हाथीके समान मुखवाले मनुष्य स्थित हैं। इन मनुष्योंके कान इतने लम्बे होते हैं कि ये उन्हींको ओढ़-बिछाकर सो जाते हैं ॥५६७–५६९॥ कालोदधि समुद्रमें विजयार्ध पर्वतके जो दो छोर निकले हुए हैं उनपर शिशुमारके समान तथा मगरके समान मुखवाले मनुष्य रहते हैं ॥५७०॥ हिमवान् पर्वतके दोनों छोरोंपर भेड़िया और व्याघ्रके समान मुखवाले तथा शिखरी पर्वतके दोनों भागोंपर शृगाल और भालूके समान मुखवाले मनुष्य स्थित हैं ॥५७१॥ ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतके दोनों भागोंपर चीता तथा भृङ्गार (झारी) के समान मुखवाले और बाह्य एवं आभ्यन्तर जगतीपर चीतेके समान मुखवाले मनुष्य निवास करते हैं। ये समस्त मनुष्य आयु, वर्ण, गृह, आहार और गतिकी अपेक्षा लवण समुद्रके मनुष्योंके समान हैं, ये द्वीप एक हजार योजन गहरे हैं तथा जहाँ स्थित हैं वहाँ समुद्रका तट कटा हुआ है ॥५७२–५७३॥ कालोदधिमें स्थित रहनेवाले ये द्वीप प्रवेशकी अपेक्षा पाँच सौ योजनसे अधिक हैं अर्थात् दिशाओंके द्वीप समुद्र तटसे पाँच सौ योजन प्रवेश करनेपर, विदिशाओंके द्वीप पाँच सौ पचास योजन प्रवेश करनेपर और अन्तर्दिशाओंके द्वीप छह सौ योजन प्रवेश करनेपर स्थित हैं। इन सभीका विस्तार लवण समुद्रके द्वीपोंसे दूना माना गया है तथा कुमानुष कुभोग भूमिया जीव इनमें रहते हैं ॥५७४॥ चौबीस द्वीप कालोदधिकी आभ्यन्तर (धातकीखण्डकी समीपवर्ती) सीमामें और चौबीस द्वीप बाह्य (पुष्करार्द्धकी समीपवर्ती) सीमामें स्थित हैं। इस प्रकार कालोदधिमें अड़तालीस हैं। लवण समुद्रके अड़तालीस द्वीपोंके साथ मिलकर सब अन्तर्द्वीप छियानबे हो जाते हैं ॥५७५॥ इस प्रकार कालोदधिका वर्णन किया। अब पुष्कर द्वीपका वर्णन करते हैं—

जिसकी पूर्व-पश्चिम दिशाओंमें दो मेरु हैं, कालोदधिकी अपेक्षा जिसका दूना विस्तार है और जो पुष्कर अर्थात् कमलके विशाल चिह्नसे युक्त है ऐसा पुष्करवर द्वीप कालोदधिको चारों ओरसे घेरकर स्थित है ॥५७६॥ पुष्करवर द्वीपका अर्धभाग, मनुष्य क्षेत्रकी सीमा

१. शृगालाश्च म०।

इष्वाकाराद्रिणाप्येव दक्षिणेनोत्तरेण च । विभक्तो भिद्यते द्वेधा स पूर्वश्चापि पश्चिमः ॥५७८॥
प्रत्येकं मेरुमध्यौ तौ धातकीखण्डखण्डवत् । क्षेत्रपर्वतनद्याद्यैः पूर्वनामभिरन्वितौ ॥५७९॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि सहस्रं पञ्चशत्यपि । सप्ततिर्नव चांशास्तु त्रिसप्तत्युत्तरं शतम् ॥५८०॥
भरताभ्यन्तरविष्कम्भो मध्यो द्वादशयोजनैः । त्रिपञ्चाशत्सहस्राणि शतैः पञ्चभिरेव च ॥५८१॥
भागाश्चास्य शतं प्रोक्ता नवतिश्च नवापि च । बाह्योऽपि भाष्यते तस्य विष्कम्भो भरतस्य तु ॥५८२॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि योजनानि चतुःशतैः । षट् चत्वारिंशदेतानि भागाश्चास्मै त्रयोदश ॥५८३॥
आविदेहं च विष्कम्भाद् वर्षाद् वर्षं चतुर्गुणम् । गणितज्ञैर्विनिर्दिष्टं पर्वताद्‌पि पर्वतः ॥५८४॥
एका कोटिः पुनर्लक्षा द्वाचत्वारिंशदेव ताः । त्रिंशच्चापि सहस्राणि योजनानां शतद्वयम् ॥५८५॥
साधिकैकान्नपञ्चाशद् योजनानि बहिर्भवः । पुष्करार्धस्य सर्वस्य परिधिः परिभाषितः ॥५८६॥
तिस्रो लक्षाः सहस्राणि पञ्च पञ्चाशदद्रिभिः । रुद्धं क्षेत्रं शतैः षड्भिरशीत्या चतुरन्तया ॥५८७॥
वैताढ्यवृत्तवैताढ्यास्तथा[1] वर्षधरादयः । निजोत्सेधावगाहाभ्यां तैर्जम्बूद्वीपजैः समाः ॥५८८॥
धातकीखण्डजेभ्यस्तु[2] विष्कम्भा द्विगुणा मताः । पुष्करार्द्धे समौ प्राग्भ्यामिष्वाकारौ च मन्दरौ ॥५८९॥
मानुषक्षेत्रविष्कम्भश्चत्वारिंशच्च पञ्च च । लक्ष्यास्त्वर्धतृतीयौ तौ द्वीपौ वार्धिद्वयान्वितौ ॥५९०॥
योजनानां सहस्रं तु सप्तशत्येकविंशतिः । उच्छ्रायः सच्छ्रियस्तस्य मानुषोत्तरभूभृतः ॥५९१॥
सक्रोशोऽपि च सत्रिंशदवगाहश्चतुःशती । द्वाविंशत्या सहस्रं तु मूलविस्तार इष्यते ॥५९२॥
त्रयोविंशतियुक्तानि मध्ये सप्त शतानि तु । विस्तारोऽस्योपरि प्रोक्तश्चतुर्विंशश्चतुःशती ॥५९३॥
कोटी तु परिधिर्लक्षा द्विचत्वारिंशदस्य च । षट्त्रिंशच्च सहस्राणि सप्तशत्या त्रयोदश ॥५९४॥

निश्चित करनेवाले मानुषोत्तर पर्वतसे घिरा हुआ है इसलिए पुष्करार्ध माना गया है ॥५७७॥ यह द्वीप उत्तर और दक्षिण दिशामें पड़े हुए इष्वाकार पर्वतोंसे विभक्त है इसलिए इसके पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध इस प्रकार दो भेद हो जाते हैं ॥५७८॥ इन दोनों ही खण्डोंके मध्यमें धातकीखण्डके समान मेरु पर्वत हैं तथा पहलेके ही समान नामवाले क्षेत्र पर्वत तथा नदी आदिसे दोनों खण्ड युक्त हैं ॥५७९॥ पुष्करार्धके भरत क्षेत्रका आभ्यन्तर विस्तार इकतालीस हजार पाँच सौ उन्यासी योजन तथा एक सौ तेहत्तर भाग है। मध्य विस्तार त्रेपन हजार पाँच सौ बारह योजन एक सौ निन्यानवे भाग है और बाह्य विस्तार पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन तेरह भाग कहा जाता है ॥५८०-५८३॥ गणितज्ञ आचार्योंने विदेह क्षेत्र तक पूर्व क्षेत्रसे आगेके क्षेत्रका और पूर्व भवनसे आगेके पर्वतका चौगुना विस्तार बतलाया है ॥५८४॥ समस्त पुष्करार्धकी बाह्य परिधि एक करोड़ ब्यालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजनसे कुछ अधिक कही गई है ॥५८५-५८६॥ पुष्करार्धका तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी योजन प्रमाण क्षेत्र पर्वतोंसे रुका हुआ है ॥५८७॥ पुष्करार्धके विजयार्ध नाभिगिरि तथा कुलाचल आदि अपनी-अपनी ऊँचाई और गहराईकी अपेक्षा जम्बू द्वीपके विजयार्ध आदिके समान हैं ॥५८८॥ परन्तु विस्तारकी अपेक्षा धातकीखण्डके विजयार्ध आदिके दूने-दूने हैं। पुष्करार्धके दोनों इष्वाकार तथा दोनों मेरु धातकीखण्डके इष्वाकार और मेरुओंके समान हैं ॥५८९॥ अढ़ाई द्वीप तथा लवणोदधि और कालोदधि ये दो समुद्र मनुष्यक्षेत्र कहलाते हैं। इसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है ॥५९०॥ उत्तम शोभासे सम्पन्न मानुषोत्तर पर्वतकी ऊँचाई एक हजार सात सौ इक्कीस योजन है ॥५९१॥ गहराई चार सौ तीस योजन एक कोश है। मूल विस्तार एक हजार बाईस योजन, मध्य विस्तार सात सौ तेईस योजन और उपरितन भागका विस्तार चार सौ चौबीस योजन है ॥५९२-५९३॥ मानुषोत्तरकी परिधिका विस्तार एक करोड़ बयालीस

---

१. वृत्तवेदाढ्या म० । २. खण्डकेभ्यस्तु क०, म० ।

अन्तश्छिन्नतटो भाति बहिर्वृद्धिक्रमोन्नतिः । सोऽभ्यन्तरमुखा[1]सीनमृगाधिपतिविभ्रमः ॥५९५॥
चतुर्दशगुहाद्वारदत्तनिर्गमनो गिरिः । [2]पुष्करोदं नयत्येव पूर्वापरनदीवधूः ॥५९६॥
पञ्चाशद्योजनायामास्तदर्धव्याससंगताः । अर्धयोजनसंयुक्तसप्तत्रिंशत्समुच्छ्रिताः ॥५९७॥
अष्टोच्छ्रायचतुर्व्यासगृहद्वारोपशोभिताः । चत्वारो मूर्ध्नि तस्याद्रेश्चतुर्दिक्षु जिनालयाः ॥५९८॥
तत्प्रदक्षिणवृत्तानि प्राच्यादिषु दिशासु च । इष्टदेशनिविष्टानि कूटान्यष्टादशाचले ॥५९९॥
तानि पञ्चशतोत्सेधमूलविस्तारवन्ति तु । शते चार्धतृतीये द्वे विस्तृतान्यपि चोपरि ॥६००॥
त्रीणि त्रीणि हि कूटानि चतुर्दिक्षु विदिक्षु तु । चत्वारि वज्रमैशान्यामाग्नेय्यां तपनीयकम् ॥६०१॥
प्राच्यां दिशि तु वैडूर्ये यशस्वान् वसति प्रभुः । अश्मगर्भे यशस्कान्तः सुपर्णानां यशोधरः ॥६०२॥
सौगन्धिके ततोऽपाच्यां रुचके नन्दनस्तथा । लोहिताक्षे पुनः कूटे नन्दोत्तर इतीरितः ॥६०३॥
तस्यामशनिघोषोऽपि वसत्यञ्जनके दिशि । सिद्धश्चाञ्जनमूले तु प्रतीच्यां कनके पुनः ॥६०४॥
क्रमणो मानुषाख्यस्तु कूटे रजतनामनि । उदीच्यां स्फटिके कूटे सुदर्शन इति श्रुतः ॥६०५॥
अङ्के मोघः प्रवालेऽस्यां सुप्रबुद्धो वसत्यसौ । तपनीये सुरः स्वातिर्वज्रे तु हनुमानपि ॥६०६॥
निषधस्पृष्टभागस्थे रत्नाख्ये पूर्वदक्षिणे । वेणुदेव इति ख्यातः पन्नगेन्द्रो वसत्यसौ ॥६०७॥

लाख छत्तीस हजार सात सौ तेरह है ॥५९४॥ यह मानुषोत्तर भीतरकी ओर छिन्नतट टाँकीसे कटे हुएके समान एक सदृश है और इसका बाह्य भाग पिछली ओरसे क्रमसे ऊँचा उठता गया है अतः भीतरकी ओर मुखकर बैठे हुए सिंहके समान उसका आकार जान पड़ता है ॥५९५॥ यह पर्वत चौदह गुफा रूपी दरवाजोंके द्वारा निकलनेका मार्ग देकर पूर्व-पश्चिमकी नदी रूपी स्त्रियोंको पुष्करोदधिके पास भेजता रहता है ॥५९६॥ जिन गुफाओंसे नदियाँ निकलती हैं वे पचास योजन लम्बी पच्चीस योजन चौड़ी और साढ़े सैंतीस योजन ऊँची हैं ॥५९७॥ मानुषोत्तर पर्वतके उपरितन भागपर चारों दिशाओंमें आठ योजन ऊँचे और चार योजन चौड़े गृह-द्वारोंसे सुशोभित चार जिनालय हैं ॥५९८॥ इसी मानुषोत्तर पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें प्रदक्षिणा रूपसे इष्ट स्थानोंपर बने हुए अठारह कूट हैं ॥५९९॥ ये कूट पाँच सौ योजन ऊँचे हैं। इनके मूल भागका विस्तार पाँच सौ योजन और ऊर्ध्वभागका ढाई सौ योजन है ॥६००॥ मानुषोत्तर पर्वतकी चारों दिशाओंमें तीन-तीन तथा विदिशाओंमें चार❀ कूट हैं। इन चारके सिवाय ऐशान दिशामें वज्रकूट और आग्नेय दिशामें तपनीयक कूट और भी हैं ॥६०१॥ पूर्व दिशाके वैडूर्य नामक पहले कूटपर यशस्वान् देव, दूसरे अश्मगर्भकूटपर यशस्कान्त और तीसरे सौगन्धिक कूटपर सुपर्णकुमारोंका स्वामी यशोधर देव रहता है। तदनन्तर दक्षिण दिशाके रुचक कूटपर नन्दन, लोहिताक्ष कूटपर नन्दोत्तर और अंजन कूटपर अशनिघोष देव रहता है। पश्चिम दिशाके अञ्जनमूल कूटपर सिद्ध देव, कनक कूटपर क्रमण देव और रजत कूटपर मानुष नामका देव रहता है। उत्तर दिशाके स्फटिक कूटपर सुदर्शन, अङ्क कूटपर मोघ और प्रवाल नामक कूटपर सुप्रबुद्ध देव रहता है। आग्नेय विदिशाके पूर्वोक्त तपनीयक कूटपर स्वाति देव तथा ऐशान दिशाके वज्रक कूटपर हनुमान् नामका देव रहता है। मानुषोत्तर पर्वतके पूर्व-दक्षिण कोणमें निषधाचलसे स्पृष्ट भागमें रत्न नामका कूट है और उसपर नागकुमारोंका स्वामी वेणुदेव रहता

१. सुखासीन म० । २. पुष्करो नन्दयत्येष म० ।

❀ ऐशान और आग्नेय विदिशामें दो-दो तथा नैऋत्य और वायव्यमें एक-एक इस प्रकार विदिशाओंमें ६ तथा दिशाओंमें १२ कुल मिलाकर १८ कूट बनाये हैं। इनमें चार सिद्धायतन कूट और मिला देनेपर २२ कूट होते हैं।

नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थे पूर्वोत्तरदिगावृते । सर्वरत्ने सुपर्णेन्द्रो वेणुदारी वसत्यसौ ॥६०८॥
निषधस्पृष्टभागस्थं दक्षिणापरदिग्गतम् । वेलम्बं चातिवेलम्बो [1]वरुणोऽधिवसत्यसौ ॥६०९॥
नीलाद्रिस्पृष्टभागस्थमपरोत्तरदिग्गतम् । प्रभञ्जनं तु तन्नामा वातेन्द्रोऽधिवसत्यसौ ॥६१०॥
इत्यनेकाद्भुताकीर्णः सौवर्णो मानुषक्षितेः । प्राकार इव भात्येष मानुषोत्तरपर्वतः ॥६११॥
विद्याधरा न गच्छन्ति नर्षयः प्राप्तलब्धयः । समुद्घातोपपाताभ्यां विनात्मानुत्तरं गिरेः ॥६१२॥
जम्बूद्वीपं यथा क्षारः कालोदोऽब्धिः परं यथा । द्वीपं तथैव पर्येति पुष्करोदोऽपि पुष्करम् ॥६१३॥
वारुणीवरनामानं वारुणीवरसागरः । ततः क्षीरवरद्वीपं ख्यातः क्षीरोदसागरः ॥६१४॥
ततो घृतवरद्वीपं षष्ठं घृतवरोदधिः । ततश्चेक्षुवरद्वीपं पर्येतीक्षुरसोदधिः ॥६१५॥
नन्दीश्वरवरद्वीपं नन्दीश्वरवरोदधिः । अष्टमं चाष्टमः ख्यातः परिक्षिपति सर्वतः ॥६१६॥
अरुणं नवमं द्वीपं सागरोऽरुणसंज्ञकः । अरुणोद्भासनामानमरुणोद्भाससागरः ॥६१७॥
द्वीपं तु कुण्डलवरं स कुण्डलवरोदधिः । ततः शङ्खवरद्वीपं स शङ्खवरसागरः ॥६१८॥
रुचकादिवरद्वीपं रुचकादिवरोदधिः । भुजगादिवरद्वीपं भुजगादिवरोदधिः ॥६१९॥
द्वीपं कुशवरं नाम्ना ख्यातः कुशवरोदधिः । द्वीपं क्रौञ्चवरं चापि स क्रौञ्चवरसागरः ॥६२०॥
द्विगुणद्विगुणव्यासा यथैते द्वीपसागराः । नामभिः षोडश ख्याताः असंख्येयास्ततः परे ॥६२१॥
आषोडशादतीत्यान्यानसंख्यान् द्वीपसागरान् । द्वीपो [2]मनःशिलाभिख्यो हरितालस्ततः परः ॥६२२॥
सिन्दूरः श्यामको द्वीपस्तथैवाञ्जनसंज्ञकः । द्वीपो हिङ्गुलकाभिख्यस्ततो रूपवरः परः ॥६२३॥
सुवर्णवरनामाऽतो द्वीपो वज्रवरस्ततः । वैडूर्यवरसंज्ञश्च परो नागवरस्तथा ॥६२४॥

है। पूर्वोत्तर कोणमें नीलाचलसे स्पृष्ट भागमें सर्वरत्न नामका कूट है उसपर गरुडकुमारोंका इन्द्र वेणुदारी रहता है। दक्षिण-पश्चिम कोणमें निषधाचलसे स्पृष्ट भागमें वेलम्ब नामका कूट है उसपर वरुणकुमारोंका अधिपति अतिवेलम्ब देव रहता है। तथा पश्चिमोत्तर दिशामें नीलाचलसे स्पृष्टभागमें प्रभञ्जन नामका कूट है और उसके ऊपर वायुकुमारोंका इन्द्र प्रभञ्जन नामका देव रहता है ॥६०२–६१०॥ इस प्रकार अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ यह सुवर्णमय मानुषोत्तर पर्वत मनुष्य क्षेत्रके कोटके समान जान पड़ता है ॥६११॥ समुद्घात और उपपादके सिवाय विद्याधर तथा ऋद्धि प्राप्त मुनि भी इस पर्वतके आगे नहीं जा सकते ॥६१२॥

जिस प्रकार जम्बूद्वीपको लवण समुद्र घेरे हुए है उसी प्रकार पुष्करवर द्वीपको पुष्करवर समुद्र घेरे हुए है ॥६१३॥ उसके आगे वारुणीवर द्वीपको वारुणीवर सागर, क्षीरवर द्वीपको क्षीरोदसागर, घृतवर द्वीपको घृतवर सागर, इक्षुवर द्वीपको इक्षुवर सागर, आठवें नन्दीश्वर द्वीपको नन्दीश्वरवर सागर, नौवें अरुण द्वीपको अरुणसागर, अरुणोद्भास द्वीपको अरुणोद्भास सागर, कुण्डलवर द्वीपको कुण्डलवर सागर, शङ्खवर द्वीपको शङ्खवर सागर, रुचकवर द्वीपको रुचकवर सागर, भुजगवर द्वीपको भुजगवर सागर, कुशवर द्वीपको कुशवर सागर, और क्रौञ्चवर द्वीपको क्रौञ्चवर सागर ये सब ओरसे घेरे हुए हैं। जिस प्रकार दूने-दूने विस्तारवाले इन सोलह द्वीप सागरोंका नामोल्लेख पूर्वक वर्णन किया है उसी प्रकार दूने-दूने विस्तारवाले असंख्यात द्वीप सागर इनके आगे और हैं ॥६१४–६२१॥ सोलहवें द्वीप सागरके आगे असंख्यात द्वीप सागरोंका उल्लङ्घन कर १ मनःशिल नामका द्वीप है उसके बाद २ हरिताल, ३ सिन्दूर, ४ श्यामक, ५ अञ्जन, ६ हिङ्गुलक, ७ रूपवर, ८ सुवर्णवर, ९ वज्रवर, १० वैडूर्यवर, ११ नागवर, १२ भूतवर, १३ यक्षवर, १४ देववर

१. वरुणेन्द्रो वसत्यसौ म० । २. मतः शिलोऽभिख्यो म० ।

द्वीपो भूतवरश्चाब्धिस्ततो यक्षवरस्ततः । स्यातो देववरो द्वीपः परश्चेन्दुवरस्ततः ॥६२५॥
स्वयम्भूरमणाभिख्यौ सर्वान्त्यौ द्वीपसागरौ । षोडशैतेऽब्धिभिः सार्द्धं स्वनामसमनामभिः ॥६२६॥
राशिद्वयान्तराले स्युरसंख्या द्वीपसागराः । अनादिशुभनामानः सान्तरस्थितमूर्तयः ॥६२७॥
लवणो लवणस्वादस्तन्नामा वारुणीरसः । घृतक्षीररसौ द्वौ च कालोदान्त्यौ शुभोदकौ ॥६२८॥
मधूदकोभयास्वादः पुष्करोदः स्वभावतः । शेषास्त्विक्षुरसास्वादाः सर्वेऽपि जलराशयः ॥६२९॥
लवणोदे महामत्स्याः सम्मूर्च्छनजमूर्तयः । नवयोजनदीर्घाः स्युस्तीरे मध्ये द्विरायताः ॥६३०॥
नदीमुखेषु कालोदे ते त्वष्टादशयोजनाः । षट्त्रिंशद्योजना मध्ये गर्भजास्तु तदर्धकाः ॥६३१॥
[1]स्वयम्भूरमणेऽप्यादौ ते पञ्चशतयोजनाः । सहस्रयोजना मध्ये मत्स्याद्या नान्यसिन्धुषु ॥६३२॥
मानुषोत्तरपर्यन्ता जन्तवो विकलेन्द्रियाः । अन्त्यद्वीपार्द्धतः सन्ति परस्तात्ते यथा परे ॥६३३॥
द्वीपो वापि समुद्रो वा विस्तारेणैकलक्षया । सर्वेभ्यः समतीतेभ्यः परस्तेभ्योऽतिरिच्यते ॥६३४॥
अर्धमन्दरविष्कम्भात् स्वयम्भूरमणाम्बुधेः । अन्तः प्राप्य स्थितायास्तु रज्ज्वा मध्यमिदं विदुः ॥६३५॥
गुणितं पञ्चसप्तत्या सहस्रमवगाह्य तु । स्वयम्भूरमणाम्भोधिं रज्जुमध्यमवस्थितम् ॥६३६॥

१५ इन्दुवर तथा सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप तथा स्वयंभूरमण सागर हैं। ये सभी द्वीप अपने समान नामवाले सागरोंसे वेष्टित हैं ॥६२२-६२६॥ आदिके सोलह और अन्तके सोलह इन दोनों राशियोंके बीच अनादि कालिक शुभ नामोंको धारण करनेवाले असंख्यात द्वीप और असंख्यात सागर हैं। इनमें द्वीपोंके बीच सागरका और सागरोंके बीच द्वीपका अन्तर विद्यमान है अर्थात् द्वीपके बाद सागर और सागरके बाद द्वीप इस क्रमसे इनका सद्भाव है ॥६२७॥ इन समुद्रोंमें लवणसमुद्रके जलका स्वाद नमकके समान है, वारुणीवर समुद्रके जलका स्वाद वारुणी—शराबके तुल्य है, घृतवर और क्षीर समुद्रका जल क्रमसे घृत और दूधके समान है। कालोदधि और अन्तिम-स्वयंभूरमणका जल पानीके समान है। पुष्करवर समुद्र मधु और पानी दोनोंके स्वादसे युक्त है तथा बाकी समस्त समुद्र इक्षुरसके समान स्वादवाले हैं ॥६२८-६२९॥ लवण समुद्रके तीरपर सम्मूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न हुए महामच्छ नौ योजन लम्बे हैं तथा मध्यमें इससे दूने अर्थात् अठारह योजन लम्बे हैं। कालोदधि समुद्रमें नदियोंके प्रवेश स्थानपर अठारह योजन और मध्यमें छत्तीस योजन लम्बे हैं। गर्भ जन्मसे उत्पन्न होनेवाले मच्छोंकी लम्बाई संमूर्च्छनज मत्स्योंसे आधी है ॥६३०-६३१॥ स्वयंभूरमण समुद्रके तीरपर मच्छोंकी लम्बाई पाँच सौ योजन और मध्यमें एक हजार योजन है। लवण समुद्र कालोदधि और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रोंके सिवाय अन्य समुद्रोंमें मच्छ आदि जलचर जीव नहीं हैं ॥६३२॥ इस ओर विकलेन्द्रिय जीव (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय) मानुषोत्तर पर्वत तक ही रहते हैं। उस ओर स्वयम्भूरमण द्वीपके अर्ध भागसे लेकर अन्त तक पाये जाते हैं ॥६३३॥ यदि किसी द्वीप या सागरका विस्तार जानना है तो उसके पहले जो भी द्वीप और सागर निकल चुके हैं उन सबके विस्तारको इकट्ठा कर लीजिए उससे एक लाख योजन अधिक विस्तार उस विवक्षित द्वीप या सागरका होता है ॥६३४॥ मेरु पर्वतकी अर्ध चौड़ाईसे लेकर स्वयंभूरमण समुद्रके अन्त तक आधी राजू होती है। इस आधी राजूका मध्य स्वयंभूरमण समुद्रमें पचहत्तर हजार योजन प्रवेश करनेपर होता है। भावार्थ—समस्त मध्यम लोकका विस्तार एक राजू है। मेरु पर्वतकी जो चौड़ाई है उसके अर्ध भागसे लेकर स्वयम्भूरमण समुद्रके अन्त तक आधी राजू होती है। आधी राजूके आधे भागमें आधा जम्बूद्वीप तथा असंख्यात द्वीप सागर और अन्तिम स्वयम्भू-

१. जलयरजीवा लवणे काले यंतिम सयंभुरमणे य ।
कम्म महीपडिबद्धे ण हि सेसे जलयरा जीवा ॥३२०॥ —त्रिलोकसारस्य

अनावृतप्रभुर्यक्षो जम्बूद्वीपस्य रक्षकः । सुस्थितो लवणाम्भोधेरधिपः प्रतिपादितः ॥६३७॥
धातकीखण्डनाथौ तु प्रभासप्रियदर्शनौ । कालश्चापि महाकालः कालोदजलधीश्वरौ ॥६३८॥
पद्मश्च पुण्डरीकश्च पुष्करद्वीपनामकौ[1] । चक्षुष्मांश्च सुचक्षुश्च मानुषोत्तरशैलपौ[2] ॥६३९॥
श्रीप्रभश्रीधरौ नाथौ पुष्करोदस्य वारिधेः । वारुणीवरभूमीशौ वरुणो वरुणप्रभः ॥६४०॥
वारुणीवरवार्धीशौ मध्यमध्यमसंज्ञकौ । पाण्डुरः पुष्पदन्तश्च तौ क्षीरवरभूमिपौ ॥६४१॥
वार्धेः क्षीरवरस्येशौ विमलो विमलप्रभः । प्रभू घृतवरद्वीपे सुप्रभश्च महाप्रभः ॥६४२॥
कनकः कनकाभश्च नाथौ घृतवरोदधेः । तथैवेक्षुरसद्वीपे पूर्णपूर्णप्रभौ सुरौ ॥६४३॥
देवौ गन्धमहागन्धौ नाथाविक्षुरसोदधेः । नन्दीश्वरवरद्वीपे नन्दिनन्दिप्रभौ तथा ॥६४४॥
प्रभू भद्रसुभद्रौ तु नन्दीश्वरवरोदधेः । अरुणद्वीपपौ देवावरुणश्चारुणप्रभः ॥६४५॥
सुगन्धसर्वगन्धाख्यावरुणाब्धेरधीश्वरौ । द्वौ द्वौ द्वीपाधिपावेवं परतो दक्षिणोत्तरौ ॥६४६॥
कोटीशतं त्रिषष्ट्यग्रमशीतिश्चतुरुत्तराः । लक्षा नन्दीश्वरद्वीपो विस्तीर्णो वर्णितो जिनैः ॥६४७॥
षट्त्रिंशच्च सहस्रं च कोट्यो नियुतानि[3] च । द्वादशैव सहस्रे द्वे तथा सप्त शतानि च ॥६४८॥
योजनानि त्रिपञ्चाशदान्तरः परिधिः स च । नन्दीश्वरवरद्वीपसम्भवो परिभाषितः ॥६४९॥
द्वासप्तत्युत्तरं कोटी सहस्रद्वितयं[4] तथा । नियुतानि त्रयस्त्रिंशच्चत्वा सहितं शतम् ॥६५०॥
पञ्चाशच्च सहस्राणि चतुर्भिरधिकानि च । बहिः परिधिरेष स्यादष्टमद्वीपसम्भवी ॥६५१॥
मध्ये तस्य चतुर्दिक्षु चत्वारोऽञ्जनपर्वताः । तुङ्गाश्चतुरशीतिं ते व्यस्ताश्चाधःसहस्रगाः ॥६५२॥
पटहाकृतयश्चित्रा वज्रमूलाः प्रभोज्ज्वलाः । भ्राजन्ते पर्वताः सर्वे सर्वतस्ते मनोहराः ॥६५३॥
सुकृष्णशिखराः शैलास्ते जाम्बूनदमूर्तयः । विकिरन्ति परां कान्तिं दिङ्मुखेषु यथायथम् ॥६५४॥

रमण समुद्रके पचहत्तर हजार योजन तकका प्रदेश आता है, बाकी आधी राजूमें स्वयम्भूरमण समुद्रका अवशिष्ट भाग है ॥६३५–६३६॥ जम्बू द्वीपका रक्षक अनावृत्त यक्ष है, लवण समुद्रका स्वामी सुस्थित देव कहा गया है ॥६३७॥ धातकीखण्डके स्वामी प्रभास और प्रियदर्शन, कालोदधिके काल और महाकाल, पुष्करवर द्वीपके पद्म और पुण्डरीक, मानुषोत्तर पर्वतके चक्षुष्मान् और सुचक्षु, पुष्करवर समुद्रके श्रीप्रभ और श्रीधर, वारुणीवर द्वीपके वरुण और वरुणप्रभ, वारुणीवर समुद्रके मध्य और मध्यम, क्षीरवर द्वीपके पाण्डुर और पुष्पदन्त, क्षीरवर समुद्रके विमल और विमलप्रभ, घृतवर द्वीपके सुप्रभ और महाप्रभ, घृतवर समुद्रके कनक और कनकाभ, इक्षुवर द्वीपके पूर्ण और पूर्णप्रभ, इक्षुवर समुद्रके गन्ध और महागन्ध, नन्दीश्वर द्वीपके नन्दी और नन्दिप्रभ, नन्दीश्वर समुद्रके भद्र और सुभद्र, अरुण द्वीपके अरुण और अरुणप्रभ और अरुण समुद्रके सुगन्ध और सर्वगन्ध, देव स्वामी हैं। इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक द्वीप और सागरके दो-दो देव स्वामी हैं। उनमें एक दक्षिणका और दूसरा उत्तरका स्वामी है ॥६३८–६४६॥

जिनेन्द्र भगवान्ने आठवें नन्दीश्वर द्वीपका विस्तार एक सौ तिरसठ करोड़ चौरासी लाख योजन कहा है ॥६४७॥ नन्दीश्वर द्वीपकी आभ्यन्तर परिधि एक हजार छत्तीस करोड़ बारह लाख दो हजार सात सौ योजन है तथा बाह्य परिधि दो हजार बहत्तर करोड़ तैंतीस लाख चौवन हजार एक सौ नब्बे योजन है ॥६४८–६५१॥ नन्दीश्वर द्वीपके मध्यमें चारों दिशाओंमें चार अञ्जनगिरि हैं। ये पर्वत चौरासी हजार योजन ऊँचे, उतने ही चौड़े और एक हजार योजन गहरे हैं ॥६५२॥ ये सभी पर्वत ढोलके आकार हैं, चित्र-विचित्र हैं, वज्रमय मूलके धारक हैं, प्रभासे उज्ज्वल हैं और सब ओरसे मनको हरण करते हुए देदीप्यमान हैं ॥६५३॥ सुन्दर काले शिखरोंसे युक्त वे सुवर्णमयी पर्वत, दिशाओंमें सब ओर अपनी उत्तम कान्ति बिखेरते

---

१. नामको म० । २. शैलयोः म० । ३. लक्षाणि । ४. सहस्रं द्वितयं म० ।

गत्वा योजनलक्षाः स्युर्महादिक्षु महीभृताम् । चतस्रस्तु चतुष्कोणा वाप्यः प्रत्येकमक्षयाः ॥६५५॥
सहस्रपत्रसंछन्नाः स्फटिकस्वच्छवारयः । विचित्रमणिसोपाना [1] विनक्राद्याः सवेदिकाः ॥६५६॥
अवगाहः पुनस्तासां योजनानां सहस्रकम् । आयामोऽपि च विष्कम्भो जम्बूद्वीपप्रमाणकः ॥६५७॥
नन्दा नन्दवती चान्या वापी नन्दोत्तरा परा । नन्दीघोषा च पूर्वाद्रेर्दिक्षु प्राच्यादिषु स्थिताः ॥६५८॥
सौधर्मेन्द्रस्य भोग्याद्या द्वितीयैशानभोगिनः । तृतीया चमरेन्द्रस्य चतुर्थी तु बलेरसौ ॥६५९॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । दक्षिणाञ्जनशैलस्य दिक्षु पूर्वादिषु क्रमात् ॥६६०॥
शक्रस्य लोकपालानां पूर्वा तु वरुणस्य सा । क्रमाद् यमस्य सोमस्य भोग्या वैश्रवणस्य च ॥६६१॥
पाश्चात्याञ्जनशैलस्य पूर्वादिदिगवस्थिताः । अशोका सुप्रबुद्धा च कुमुदा पुण्डरीकिणी ॥६६२॥
भोग्याद्या वेणुदेवस्य वेणुतालेस्ततः परा । धरणस्य तृतीया तु भूतानन्दस्य चोत्तरा ॥६६३॥
उदीच्याञ्जनशैलस्य प्राच्याद्या सुप्रभङ्करा । सुमनाश्च दिशासु स्यादानन्दा च सुदर्शना ॥६६४॥
ऐशानलोकपालस्य वरुणस्य यमस्य च । सोमस्य च कुबेरस्य भोग्यास्तास्तु यथाक्रमम् ॥६६५॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि चत्वारिंशच्च पञ्च च । अन्तरं षोडशानां स्यादान्तरं योजनानि तु ॥६६६॥
मध्यान्तराणि लक्षैका चत्वारि च सहस्रकैः । द्वियोजनाधिकानि स्युस्तासां वै षट्शतानि च ॥६६७॥
बाह्यान्तराणि लक्षे द्वे त्रयोविंशतिरेव च । सहस्राणि तथैव स्युरेकषष्ट्या च षट्शती ॥६६८॥
तासां मध्येषु वापीनां जाम्बूनदमयाः स्थिताः । षोडशार्जुनमूर्धानो नाम्ना दधिमुखाद्रयः ॥६६९॥
सहस्रमवगाढास्तु तदेव दशसङ्गुणम् । पटहाकृतयो व्यस्ता व्यायताश्च समुच्छ्रिताः ॥६७०॥
परितस्ताश्चतस्रोऽपि वापीर्वनचतुष्टयम् । प्रत्येकं तत्समायामं तदर्धव्याससङ्गतम् ॥६७१॥

रहते हैं ॥६५४॥ एक लाख योजन आगे चलकर इन पर्वतोंकी चारों दिशाओंमें चार चौकोर अविनाशी वापियाँ हैं ॥६५५॥ ये वापियाँ कमलोंसे आच्छादित हैं, स्फटिकके समान स्वच्छ जलसे युक्त हैं, मगरमच्छादिसे रहित और वेदिकाओंसे युक्त हैं ॥६५६॥ इनकी गहराई एक हजार योजन तथा लम्बाई और चौड़ाई जम्बू द्वीपके बराबर एक-एक लाख योजनकी है ॥६५७॥ पूर्व दिशामें जो अञ्जनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा और नन्दीघोषा नामकी वापिकाएँ स्थित हैं ॥६५८॥ इनमें पहली नन्दा नामकी वापी सौधर्मेन्द्रकी, दूसरी नन्दवती ऐशानेन्द्रकी, तीसरी नन्दोत्तरा चमरेन्द्रकी और चौथी नन्दीघोषा वैरोचनकी भोग्य है—क्रीड़ाका स्थान है ॥६५९॥ दक्षिण दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये चार वापिकाएँ हैं ॥६६०॥ इनमेंसे पहली वापिकामें वरुण, दूसरीमें यम, तीसरीमें सोम, चौथीमें वैश्रवण क्रीड़ा करता है। ये चारों सौधर्मेन्द्रके लोकपाल हैं ॥६६१॥ पश्चिम दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे अशोका, सुप्रबुद्धा, कुमुदा और पुण्डरीकिणी ये चार वापिकाएँ हैं। इनमेंसे पहली वापी वेणुदेवकी, दूसरी वेणुतालिकी, तीसरी धरणकी और चौथी भूतानन्दकी क्रीड़ा-भूमि है ॥६६२–६६३॥ उत्तर दिशामें जो अंजनगिरि है उसकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे सुप्रभंकरा, सुमना, आनन्दा और सुदर्शना ये चार वापिकाएँ हैं। इनमें ऐशानेन्द्रके लोकपाल, वरुण, यम, सोम और कुबेर क्रमसे क्रीड़ा करते हैं ॥६६४–६६५॥ इन सोलह वापिकाओंका भीतरी अन्तर पैंसठ हजार पैंतालीस योजन है। मध्य अन्तर एक लाख चार हजार छह सौ दो योजन है और बाहरी अन्तर दो लाख तेईस हजार छह सौ इकसठ योजन है ॥६६६–६६८॥ उन वापिकाओंके मध्यमें रूपामयी सफेद शिखरोंसे युक्त सुवर्णमय सोलह दधिमुख पर्वत हैं ॥६६९॥ ये सभी पर्वत एक-एक हजार योजन गहरे, दश-दश हजार योजन चौड़े, लम्बे तथा ऊँचे एवं ढोलके आकार हैं ॥६७०॥ चारों वापिकाओंकी चारों ओर चार

१. नक्रमकरादिजन्तुरहिताः ।

प्रागशोकवनं तत्र सप्तपर्णवनं त्वपाक् । स्याच्चम्पकवनं प्रत्यक् चूतवृक्षवनं त्वुदक् ॥६७२॥
वापीकोणसमीपस्था नगा रतिकराभिधाः । स्युः प्रत्येकं तु चत्वारः सौवर्णाः पटहोपमाः ॥६७३॥
गाढाश्चार्द्धतृतीयं ते योजनानां शतद्वयम् । सहस्रोत्सेधविस्तारव्यायामा[1]व्ययवर्जिताः ॥६७४॥
[2]तत्राभ्यन्तरकोणस्था द्वात्रिंशत्सेविताः सुरैः । द्वात्रिंशद्बाह्यकोणस्थाः प्रत्येकं त्वेकचैत्यकाः ॥६७५॥
तथैवाञ्जनका ज्ञेया नगा [3]दधिमुखास्तथा । एकैकजिनगेहेन पवित्रीकृतमस्तकाः ॥६७६॥
प्राङ्मुखास्ते शतायामाः पञ्चाशद् व्यासयोगिनः । उत्सेधेन गृहा जैनाः पञ्चसप्ततियोजनाः ॥६७७॥
अष्टोत्सेधचतुर्व्यासगाढत्रिद्वारभास्वराः । ते द्विपञ्चाशदाभान्ति नन्दीश्वरजिनालयाः ॥६७८॥
पञ्चचापशतोत्सेधा रत्नकाञ्चनमूर्तयः । प्रतिमास्तेषु राजन्ते जिनानां जितजन्मनाम् ॥६७९॥
फाल्गुनाष्टाह्निकाद्येषु प्रतिवर्षं तु पर्वसु । शक्राद्याः कुर्वते पूजां गीर्वाणास्तेषु वेश्मसु ॥६८०॥
पूर्वाख्यातचतुःषष्टिवनखण्डान्तरस्थिताः । प्रासादास्तु चतुःषष्टिर्वननामसुराश्रिताः ॥६८१॥
द्विषष्टियोजनोत्सेधा एकत्रिंशत्समायताः । विस्तृताश्च पुरोद्दिष्टप्रमाणद्वारकाः पुनः ॥६८२॥
परौ नन्दीश्वराम्भोधेररुणद्वीपसागरौ । अन्धकारः पुनः सिन्धोर्ब्रह्मलोकान्तमाश्रितः ॥६८३॥
मृदङ्गसदृशाकाराः कृष्णराज्यो विजृम्भिताः । अष्टौ ताश्च घनाकारा बहिस्तस्य[4] व्यवस्थिताः ॥६८४॥

वन हैं जो वापिकाओंके समान एक लाख योजन लम्बे और उनसे आधे अर्थात् पचास हजार योजन चौड़े हैं ॥६७१॥ उनमें पूर्व दिशामें अशोकवन है, दक्षिणमें सप्तपर्णवन है, पश्चिममें चम्पकवन है और उत्तरमें आम्रवन है ॥६७२॥ वापिकाओंके कोणोंके समीप रतिकर नामके पर्वत हैं। ये पर्वत प्रत्येक वापिकाके प्रति चार-चार हैं, सुवर्णमय हैं तथा ढोलके आकार हैं ॥६७३॥ ढाई सौ योजन गहरे हैं, एक हजार योजन ऊँचे-चौड़े तथा लम्बे हैं और विनाशसे रहित हैं ॥६७४॥ इनमें बत्तीस रतिकर आभ्यन्तर कोणोंमें हैं और बत्तीस बाह्य कोणोंमें। ये सभी देवोंके द्वारा सेवित हैं तथा प्रत्येकपर एक-एक चैत्यालय है ॥६७५॥* रतिकरोंकी भाँति अंजनगिरि तथा दधिमुख पर्वतोंके मस्तक भी एक-एक जिन-मन्दिरसे पवित्र हैं अर्थात् उन सब-पर एक-एक चैत्यालय है ॥६७६॥ ये समस्त चैत्यालय पूर्वाभिमुख, सौ योजन लम्बे, पचास योजन चौड़े और पचहत्तर योजन ऊँचे हैं ॥६७७॥ आठ योजन ऊँचे, चार योजन चौड़े तथा गहरे तीन-तीन द्वारोंसे देदीप्यमान नन्दीश्वर द्वीपके ये बावन चैत्यालय अतिशय शोभायमान हैं ॥६७८॥ उन चैत्यालयोंमें संसारको जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌की पाँच सौ धनुष ऊँची रत्न एवं स्वर्ण निर्मित मूर्तियाँ विराजमान हैं ॥६७९॥ प्रतिवर्ष फाल्गुन, आषाढ़ और कार्तिकके आष्टाह्निक पर्वोंमें सौधर्मेन्द्र आदि देव उन चैत्यालयोंमें पूजा करते हैं ॥६८०॥ पहले जिन चौंसठ वन-खण्डोंका वर्णन किया गया है उनमें चौंसठ प्रासाद हैं तथा उन प्रासादोंमें वनोंके नामवाले देव रहते हैं ॥६८१॥ वे प्रासाद बासठ योजन ऊँचे, इकतीस योजन लम्बे, इतने ही चौड़े तथा पूर्वोक्त प्रमाणवाले द्वारोंसे सहित हैं ॥६८२॥

नन्दीश्वर समुद्रसे आगे अरुण द्वीप तथा अरुण सागर है वहाँ समुद्रसे लेकर ब्रह्म-लोकके अन्त तक अन्धकार ही अन्धकार है॥६८३॥ अरुण समुद्रके बाहर मृदङ्गके समान आकार-

१. व्यायामैश्चावर्णिताः ख० । २. अत्राभ्यन्तरकोणेषु रतिकरवर्णनं चिन्त्यम् । ३. गृहमुखा-म० । ४. तस्या म० ।

*रतिकरोंका यह वर्णन भ्रान्तिपूर्ण है क्योंकि रतिकर वापिकाओंके बाह्यकोणोंपर है। आभ्यन्तर कोणोंपर नहीं। इस तरह एक दिशाकी चार वापिकाओं सम्बन्धी आठ-आठ रतिकर होते हैं, चारों दिशाओंको मिलाकर बत्तीस होते हैं। यहाँ आभ्यन्तर और बाह्य दोनों कोणोंमें बत्तीस-बत्तीसका वर्णन किया है इससे चौंसठ रतिकर हो जाते हैं। नन्दीश्वर द्वीपकी चारों दिशाओंमें ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर इस तरह सब मिलकर ५२ चैत्यालय सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

अस्मिन्नल्पर्द्धयो देवा दिङ्मूढाश्चिरमासते । महर्द्धिकसुरैः सार्धं कुर्युस्तस्याभिलङ्घनम् ॥६८५॥
यः कुण्डलवरो द्वीपस्तन्मध्ये कुण्डलो गिरिः । वलयाकृतिराभाति सम्पूर्णयवराशिवत् ॥६८६॥
सहस्रमवगाहोऽस्य[1] द्विचत्वारिंशदुच्छ्रितिः । योजनानां सहस्राणि मणिप्रकरभासिनः ॥६८७॥
सहस्रं विस्तृतिर्बोध्या दशसहस्रचतुर्गुणम् । द्वाविंशं च त्रयोविंशं चतुर्विंशं प्रभृत्यधः ॥६८८॥
प्रत्येकं तस्य चत्वारि पूर्वाद्याशासु मूर्धनि । भान्ति षोडश कूटानि सेवितानि सुरैः सदा ॥६८९॥
पूर्वस्यां त्रिशिरा वज्रे दिशि पञ्चशिराः सुरः । कूटे वज्रप्रभे ज्ञेयः कनके च महाशिराः ॥६९०॥
महाभुजोऽपि तस्यां स्यात् कूटे तु कनकप्रभे । पद्मपद्मोत्तरोऽवाच्यां रजते रजतप्रभे ॥६९१॥
सुप्रभे तु महापद्मो वासुकिश्च महाप्रभे । अपाच्यामेव वाच्यौ तौ प्रतीच्यां तु सुरा इमे ॥६९२॥
हृदयान्तस्थिरोऽप्यङ्के महान्नङ्कप्रभेऽप्यसौ । श्रीवृक्षो मणिकूटे तु स्वस्तिकश्च मणिप्रभे ॥६९३॥
सुन्दरश्च विशालाक्षः स्फटिके स्फटिकप्रभे । महेन्द्रे पाण्डुकस्तुर्यः पाण्डुरो हिमवत्युदक् ॥६९४॥
येऽमी षोडश नागेन्द्राः सर्वे पल्योपमायुषः । यथायथं स्वकूटेषु प्रासादेषु वसन्ति ते ॥६९५॥
दिशि प्राच्यां प्रतीच्यां च कुण्डलाचलमस्तके । तद्द्वीपाधिपतेर्वासौ द्वे कूटे प्रकटे तयोः ॥६९६॥
उच्छ्रायो मूलविस्तारो योजनानां सहस्रकम् । अग्रे पञ्चशती मध्ये पञ्चाशत् सप्तशत्यपि ॥६९७॥
तस्यैवोपरि शैलस्य महादिक्षु जिनालयाः । चत्वारः सदृशा मानैरञ्जनाद्रिजिनालयैः ॥६९८॥
त्रयोदशस्तु यो द्वीपो रुचकादिवरोत्तरः । तन्नामा तस्य मध्यस्थः पर्वतो[2] वलयाकृतिः ॥६९९॥

वाली घनाकार आठ काली पङ्क्तियाँ फैली हुई हैं ॥६८४॥ अल्प ऋद्धिके धारी देव इस अन्धकारमें दिशामूढ हो चिरकाल तक भटकते रहते हैं। वे बड़ी ऋद्धिके धारक देवोंके साथ ही इस समुद्रको लाँघ सकते हैं ॥६८५॥

कुण्डलवर द्वीपके मध्यमें चूड़ीके आकारका एक कुण्डलगिरि पर्वत है जो सम्पूर्ण यवोंकी राशिके समान सुशोभित है ॥६८६॥ मणियोंके समूहसे सुशोभित रहनेवाले इस पर्वतकी गहराई एक हजार योजन और ऊँचाई बयालीस हजार योजन है ॥६८७॥ उस पर्वतकी मूलमें दश हजार दो सौ बीस योजन, मध्यमें सात हजार एक सौ इकसठ योजन और अन्तमें चार हजार छियानबे योजन चौड़ाई है ॥६८८॥ उसके मूर्धभागपर पूर्वादि दिशाओंमें चार-चार कूट हैं। चारों दिशाओंके ये सोलह कूट सदा देवोंके द्वारा सेवित हैं तथा अत्यन्त सुशोभित हैं ॥६८९॥ पूर्व दिशाके वज्र नामक पहले कूटपर त्रिशिरस्, वज्रप्रभ नामक दूसरे कूटपर पञ्चशिरस् कनक नामक तीसरे कूटपर महाशिरस्, और कनकप्रभ नामक चौथे कूटपर महाभुज नामका देव रहता है। दक्षिण दिशाके रजतकूटपर पद्म, रजतप्रभ कूटपर पद्मोत्तर, सुप्रभ कूटपर महापद्म और महाप्रभ कूटपर वासुकि देव रहता है। पश्चिम दिशाके अङ्क कूटपर स्थिरहृदय, अङ्कप्रभ कूटपर महाहृदय, मणि कूटपर श्रीवृक्ष और मणिप्रभ कूटपर स्वस्तिक देव रहता है। उत्तर दिशाके स्फटिक कूटपर सुन्दर, स्फटिकप्रभ कूटपर विशालाक्ष, महेन्द्र कूटपर पाण्डुक और हिमवत् कूटपर पाण्डुर देव रहता है ॥६९०-६९४॥ ये सोलह देव नागकुमार देवोंके इन्द्र हैं, सबकी एक पल्य प्रमाण आयु है और सब यथायोग्य अपने-अपने कूटोंपर बने हुए प्रासादोंमें निवास करते हैं ॥६९५॥ कुण्डल गिरिके ऊपर पूर्व-पश्चिम दिशामें कुण्डलवर द्वीपके स्वामीके दो कूट प्रकट हैं। उन कूटोंकी ऊँचाई एक हजार योजन है, मूल विस्तार एक योजन, मध्य विस्तार सात सौ पचास योजन और उपरितन विस्तार पाँच सौ योजन है ॥६९६-६९७॥ उसी कुण्डलगिरिके ऊपर चारों महा दिशाओंमें चार जिनालय हैं जो प्रमाणकी अपेक्षा अञ्जनगिरिके जिनालयोंके समान हैं ॥६९८॥

रुचकवर नामका जो तेरहवाँ द्वीप है उसके मध्यमें चूड़ीके आकारका रुचकवर नामका

---

१. -मवगाढोऽस्य म०, क० । २. सर्वतो म० ।

सहस्रमवगाहः स्यादशीतिश्चतुरुत्तरा । सहस्राण्युच्छ्रितिर्व्यासो द्विचत्वारिंशदस्य तु ॥७००॥
सहस्रयोजनव्यासं दिक्षु पञ्चशतोच्छ्रितम् । शिखरे तस्य शैलस्य भाति कूटचतुष्टयम् ॥७०१॥
नन्द्यावर्ते[1]ऽमरः प्राच्यां पद्मोत्तर इतीरितः । स्वहस्ती स्वस्तिके[2]ऽपाच्यां श्रीवृक्षे नीलकोऽपरे ॥७०२॥
उत्तरे च सुरः प्रोक्तो वर्धमानेऽञ्जनागिरिः । चत्वारो दिग्गजेन्द्राख्यास्तेऽपि पल्योपमायुषः ॥७०३॥
तस्यैवोपरि पूर्वस्यां कूटानामष्टकं दिशि । पूर्वोक्तकूटतुल्यं तु दिक्कुमारीभिराश्रितम् ॥७०४॥
वैडूर्ये विजया देवी वैजयन्ती च काञ्चने । जयन्ती कनके कूटे प्राच्यरिष्टेऽपराजिता ॥७०५॥
नन्दा नन्दोत्तरा चोभे ते दिक्स्वस्तिकनन्दने । आनन्दाप्यञ्जने नान्दीवर्धनाञ्जनमूलके ॥७०६॥
एतास्तीर्थंकरोत्पत्तौ दिक्कुमार्यः सपर्यया । मातुरन्तेऽवतिष्ठन्ते भास्वद्भृङ्गारपाणयः ॥७०७॥
अमोघे स्वस्थिता[3]ऽपाच्यां सुप्रबुद्धे सुपूर्विका । प्रणिधिः सुप्रबुद्धाऽपि मन्दरे परिकीर्तिता ॥७०८॥
दिक्कुमारी तथा ज्ञेया विमलेऽपि यशोधरा । लक्ष्मीमतीति रुचके कीर्तिमत्यपि कीर्तिता ॥७०९॥
दिक्कुमारी प्रसिद्धाऽसौ रुचकोत्तरवासिनी । चन्द्रे वसुन्धरा चित्रा सुप्रतिष्ठे प्रतिष्ठिता ॥७१०॥
अष्टौ तीर्थंकरोत्पत्तावेतास्तुष्टाः समागताः । मणिदर्पणधारिण्यस्तन्मातरमुपासते ॥७११॥
अपरस्यामिलादेवी लोहिताख्ये सुरा पुनः । जगत्कुसुमकूटे स्यात् पृथिवी नलिने[4] तथा ॥७१२॥
पद्मे पद्मावती ज्ञेया कुमुदे काञ्चनापि च । कूटे सौमनसाभिख्ये देवी नवमिका श्रुतिः ॥७१३॥
शीतापि च यशःकूटे भद्रकूटे च भद्रिका । इमा शुभ्रातपत्राणि धारयन्त्यवकासते ॥७१४॥

पर्वत है ॥६९९॥ इसकी गहराई एक हजार योजन, ऊँचाई चौरासी हजार योजन और चौड़ाई बयालीस हजार योजन है ॥७००॥ उस पर्वतके शिखरपर चारों दिशाओंमें एक हजार योजन चौड़े और पाँच सौ योजन ऊँचे चार कूट सुशोभित हैं ॥७०१॥ उनमें पूर्व दिशाके नन्द्यावर्त कूटपर पद्मोत्तर देव रहता है, दक्षिण दिशाके स्वस्तिक कूटपर स्वहस्ती देव रहता है। पश्चिम दिशाके श्रीवृक्ष कूटपर नीलक देव रहता है और उत्तर दिशाके वर्धमानक कूटपर अञ्जनागिरि देव रहता है। ये चारों देव दिग्गजेन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा एक पल्यकी आयुवाले हैं ॥७०२-७०३॥ इसी पर्वतकी पूर्व दिशामें पहले कहे हुए अन्य कूटोंके समान आठ कूट हैं और वे दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित हैं ॥७०४॥ उनमें पहले वैडूर्य कूटपर विजया, दूसरे काञ्चन कूटपर वैजयन्ती, तीसरे कनक कूटपर जयन्ती, चौथे अरिष्ट कूटपर अपराजिता, पाँचवें दिक्नन्दन कूटपर नन्दा, छठवें स्वस्तिकनन्दन कूटपर नन्दोत्तरा, सातवें अंजनकूटपर आनन्दा और आठवें अञ्जनमूलक कूटपर नान्दीवर्धना देवी निवास करती हैं ॥७०५-७०६॥ ये दिक्कुमारियाँ तीर्थंकरके जन्मकालमें पूजाके निमित्त हाथमें देदीप्यमान झारियाँ लिये हुए तीर्थंकरकी माताके समीप रहती हैं ॥७०७॥ दक्षिण दिशामें भी आठ कूट हैं और उनमें पहले अमोघ कूटपर स्वस्थिता, दूसरे सुप्रबुद्ध कूटपर सुप्रणिधि, तीसरे मन्दर कूटपर सुप्रबुद्धा, चौथे विमल कूटपर यशोधरा, पाँचवें रुचक कूटपर लक्ष्मीमती, छठवें रुचकोत्तर कूटपर कीर्तिमती, सातवें चन्द्र कूटपर वसुन्धरा और आठवें सुप्रतिष्ठ कूटपर चित्रादेवी निवास करती हैं ॥७०८-७१०॥ ये देवियाँ तीर्थंकरकी उत्पत्तिके समय संतुष्ट होकर आती हैं और मणिमय दर्पण धारण कर तीर्थंकरकी माताकी सेवा करती हैं ॥७११॥ पश्चिम दिशामें भी आठ कूट हैं उनमें पहले लोहिताख्य कूटपर इलादेवी, दूसरे जगत्कुसुम कूटपर सुरा देवी, तीसरे नलिन कूटपर पृथिवी देवी, चौथे पद्मकूटपर पद्मावती देवी, पाँचवें कुमुद कूटपर काञ्चना देवी, छठवें सौमनस कूटपर नवमिका देवी, सातवें यशःकूटपर शीता देवी और आठवें भद्र कूटपर भद्रिका देवीका निवास है। ये देवियाँ तीर्थंकरकी उत्पत्तिके समय शुक्ल छत्र धारण करती हुई सुशोभित होती हैं ॥७१२-७१४॥

१. नन्द्यावर्तामरः म० । २. हस्तिकेऽ-म० । ३. सुस्थिता म० । ४. नलिनी म० ।

स्फटिके लम्बुसा त्वङ्के मिश्रकेशी व्यवस्थिता । तथैवाञ्जनके ज्ञेया कुमारी पुण्डरीकिणी ॥७१५॥
वारुणी काञ्चनाख्ये स्यादाशाख्या रजते तथा । कुण्डले ह्रीरिति ज्ञाता रुचके श्रीरितीरिता ॥७१६॥
धृतिः सुदर्शने देवी दिक्कुमार्य इमाः पुनः । गृहीतचमरा जैनीं मातरं पर्युपासते ॥७१७॥
दिक्षु चत्वारि कूटानि पुनरन्यानि दीप्तिभिः । दीपिताशान्तराणि स्युः पूर्वादिषु यथाक्रमम् ॥७१८॥
पूर्वस्यां विमले चित्रा दक्षिणस्यां तथा दिशि । देवी कनकचित्राख्या नित्यालोकेऽवतिष्ठते ॥७१९॥
त्रिशिरा इति देवी स्यादपरस्यां स्वयम्प्रभे । सूत्रामणिरुदीच्यां च नित्योद्योते वसत्यसौ ॥७२०॥
विद्युत्कुमार्य एतास्तु जिनमातृसमीपगाः । तिष्ठन्त्युद्योतकारिण्यो भानुदीधितयो तथा ॥७२१॥
पूर्वोत्तरस्यां वैडूर्ये रुचका विदिशीरिता । तथा दक्षिणपूर्वस्यां रुचके रुचकोज्ज्वला ॥७२२॥
दक्षिणापरदिश्यन्ते रुचकाभा मणिप्रभे । रुचकोत्तमकेऽन्यस्यां दिशि स्याद् रुचकप्रभा ॥७२३॥
एतास्तु दिक्कुमारीणां स्युर्महत्तरिका वराः । विदिक्षु पुनरन्यानि चतुःकूटान्यमूनि च ॥७२४॥
पूर्वोत्तरे तु विजया रत्ने रत्नप्रभे पुनः । दिशि दक्षिणपूर्वस्यां वैजयन्ती प्रभाषिता ॥७२५॥
जयन्ती सर्वरत्ने तु दक्षिणापरदिग्गते । रत्नोच्चयेऽपि शेषायां दिशि स्यादपराजिता ॥७२६॥
एता विद्युत्कुमारीणां स्युर्महत्तरिका इमाः । तीर्थकृज्जातकर्माणि कुर्वन्त्यष्टाविहागताः ॥७२७॥
चतुर्दिक्षु नगस्योर्ध्वं चत्वार्यायतनानि च । अञ्जनालयतुल्यानि प्राङ्मुखानि जिनेशिनाम् ॥७२८॥
सविदिक्दिक्कुमारीणां वासकूटैर्जिनालयैः । नित्यालङ्कृतमूर्धासौ राजते रुचकालयः ॥७२९॥

इसी प्रकार उत्तर दिशामें भी आठ कूट हैं और उनमें पहले स्फटिक कूटपर लम्बुसा, दूसरे अङ्क कूटपर मिश्रकेशी, तीसरे अञ्जनक कूटपर पुण्डरीकिणी, चौथे काञ्चन कूटपर वारुणी, पाँचवें रजत कूटपर आशा, छठवें कुण्डल कूटपर ह्री, सातवें रुचक कूटपर श्री और आठवें सुदर्शन कूटपर धृति नामकी देवी रहती है। देवियाँ हाथमें चमर लेकर जिनमाताकी सेवा करती हैं ॥७१५-७१७॥ इनके सिवाय पूर्वादि दिशाओंमें दीप्तिसे दिशाओंके अन्तरालको देदीप्यमान करनेवाले चार कूट और हैं जो यथाक्रमसे इस प्रकार हैं—पूर्व दिशामें विमल नामका कूट है और उसपर चित्रा देवी रहती है। दक्षिण दिशामें नित्यालोक नामका कूट है और उसपर कनकचित्रा देवीका निवास है। पश्चिम दिशामें स्वयंप्रभ नामका कूट है और उसपर त्रिशिरस् देवी निवास करती है तथा उत्तर दिशामें नित्योद्योत नामका कूट है और उसपर सूत्रामणि देवी रहती है। ये विद्युत्कुमारी देवियाँ सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाश करती हुई जिनमाताके समीप स्थिर रहती हैं ॥७१८-७२१॥ पूर्वोत्तर—ऐशान विदिशामें वैडूर्य नामका कूट है उसपर रुचका देवी रहती है, दक्षिणपूर्वा—आग्नेय विदिशामें रुचक नामका कूट है उसपर रुचकोज्ज्वला देवी रहती है, दक्षिण-पश्चिम—नैऋत्य विदिशामें मणिप्रभ कूट है उसपर रुचकाभा देवी निवास करती है और पश्चिमोत्तर—वायव्य दिशामें रुचकोत्तम कूट है उसपर रुचकप्रभा देवीका निवास है ॥७२२-७२३॥ ये चारों दिक्कुमारी देवियोंकी उत्कृष्ट महत्तरिका (प्रधान) देवियाँ हैं। इनके सिवाय विदिशाओंमें निम्नलिखित चार कूट और हैं ॥७२४॥ उनमें ऐशान दिशामें रत्न कूटपर विजया देवीका निवास है, आग्नेय दिशामें रत्नप्रभ कूटपर वैजयन्ती देवी निवास करती है; नैऋत्य दिशामें सर्वरत्न कूटपर जयन्ती देवी रहती है और वायव्य दिशामें रत्नोच्चय कूटपर अपराजिता देवी निवास करती है। ये चार देवियाँ विद्युत्कुमारी देवियोंकी महत्तरिका हैं। ऊपर कही हुई चार विद्युत्कुमारियाँ तथा चार ये इस प्रकार आठों देवियाँ यहाँ आकर तीर्थंकरका जातकर्म करती हैं ॥७२५-७२७॥ रुचकगिरिके ऊपर चारों दिशाओंमें, चार जिन-मन्दिर हैं। ये अंजनगिरियोंके समान विस्तारवाले हैं तथा पूर्वकी ओर इनका मुख है ॥७२८॥ दिशाओं एवं विदिशाओंमें रहनेवाली देवियोंके निवास-कूटों तथा जिनमन्दिरोंसे जिसका मस्तक सदा अलंकृत रहता है ऐसा यह रुचकगिरि अतिशय सुशोभित है ॥७२९॥

स्वयम्भूरमणद्वीपमध्यदेशस्थितो गिरिः । स्वयम्प्रभ इति ख्यातो भ्राजते वलयाकृतः ॥७३०॥
मानुषोत्तरशैलस्य मध्ये तस्य च भूभृतः । भोगभूमिप्रतीभागास्तिरश्चां द्वीपवासिनाम् ॥७३१॥
परस्तात्तु गिरेस्तस्य तिर्यञ्चः कर्मभूमिवत् । असङ्ख्येया यतस्तत्र संयतासंयताश्च ते ॥७३२॥
उक्तद्वीपसमुद्रेषु पर्वतेष्वपि हारिषु । वसन्ति व्यन्तरा देवाः किन्नराद्या यथायथम् ॥७३३॥
प्रज्ञप्तिः श्रेणिक ज्ञाता द्वीपसागरगोचरा । प्रज्ञप्तिं शृणु संक्षेपाज्ज्योतिर्लोकोर्ध्वलोकयोः ॥७३४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जम्बूद्वीपतदम्बुधिप्रभृतिसद्द्वीपावलीसागर-
प्रज्ञप्तिस्फुटसङ्ग्रहं मुनिमतं भव्यस्य संशृण्वतः ।
संशीतिः प्रलयं प्रयाति सकला भूलोकसम्बन्धिनी
किं ध्वान्तस्य कृतोदये मुनिरवौ सन्तिष्ठते संहतिः ॥७३५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ द्वीपसागरवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः समाप्तः ।

स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित, चूड़ीके आकारवाला एक स्वयंप्रभ नामका पर्वत सुशोभित है ॥७३०॥ मानुषोत्तर और स्वयंप्रभ पर्वतके बीच असंख्यात द्वीपोंमें जो तिर्यञ्च रहते हैं उनकी जघन्य भोगभूमि तिर्यञ्चोंकी सदृशता है ॥७३१॥ स्वयंप्रभ पर्वतके आगे जो तिर्यञ्च हैं वे कर्मभूमिज तिर्यञ्चोंके समान हैं क्योंकि उनमें असंख्यात तिर्यञ्च संयतासंयत—देशव्रती भी होते हैं ॥७३२॥ ऊपर कहे हुए द्वीप समुद्रोंमें तथा मनोहारी पर्वतोंपर किन्नर आदि व्यन्तर देव यथायोग्य निवास करते हैं ॥७३३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार तूने द्वीप-सागर सम्बन्धी प्रज्ञप्ति जानी अब इसके आगे संक्षेपमें ज्योतिर्लोक तथा ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी प्रज्ञप्तिका श्रवण कर ॥७३४॥ जम्बू द्वीप तथा लवणसमुद्रको आदि लेकर उत्तमोत्तम द्वीप तथा सागर सम्बन्धी प्रज्ञप्तिके इस मुनि सम्मत स्पष्ट संग्रहको जो भव्य सुनता है उसका पृथिवी लोक सम्बन्धी समस्त संशय नष्ट हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि मुनि रूपी सूर्यके उदित होनेपर क्या अन्धकारका समूह कहीं ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥७३५॥

इस प्रकार जिसमें अरिष्टनेमि पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे जिनसेनाचार्यरचित हरिवंश पुराणमें द्वीप सागरोंका वर्णन करनेवाला पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।

षष्ठः सर्गः

शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं योजनानि भुवस्तलात् । नवतिं च स्थितास्ताराः सर्वाधस्तान्नभस्तले ॥१॥
शतानि नव गत्वोर्ध्वं योजनानि धरातलात् । स्थितं व्योमतले ज्योतिः सर्वेषामुपरि स्थितम् ॥२॥
ज्योतिःपटलमेतद्धि बहलं दशभिः सह । योजनानि शतं प्राप्तं सर्वतश्च घनोदधिम् ॥३॥
तारकापटलाद् गत्वा योजनानि दशोपरि । सूर्याणां पटलं तस्मादशीतिं शीतरोचिषाम् ॥४॥
चत्वारि च ततो गत्वा नक्षत्रपटलं स्थितम् । चत्वार्येव ततो गत्वा पटलं बुधगोचरम् ॥५॥
त्रीणि त्रीणि तु शुक्राणां गुर्वङ्गारकसंज्ञिनाम् । ग्रहाणां तथ्यथासङ्ख्यं स्यात् शनैश्चरसञ्ज्ञिनाम्[1] ॥६॥
सूर्याश्चन्द्राश्च तत्रस्था नक्षत्रग्रहतारकाः । ज्योतिष्काः पञ्चधा देवाः स्वस्थानसमनामकाः ॥७॥
पल्यं जीवन्ति चन्द्रास्ते पल्यतेऽधिकं वर्षलक्षया । सूर्या वर्षसहस्रेण शुक्रदेवाः शतेन तत् ॥८॥
पल्यमूनं तु जीवन्ति गुरवोऽर्द्धं ग्रहाः परे । पल्यं पादं तु ताराख्याः पादार्धं ते जघन्यतः ॥९॥
एकषष्टिकृता भागा बुद्ध्या ये योजनस्य ते । षट्पञ्चाशत्तु विष्कम्भश्चन्द्रमण्डल[2]गोचरः ॥१०॥
ते चत्वारिंशदष्टाभिः सूर्यमण्डल[3]विस्तृतिः । क्रोशः शुक्रस्य विस्तारो देशोनः स बृहस्पतेः ॥११॥
अर्द्धगव्यूतिविस्तारः सर्वतः परिभाषितः । ग्रहाणां परिशेषाणां सर्वेषामपि मण्डलम् ॥१२॥
[4]तारामण्डलमल्पत्वं पादं क्रोशस्य विस्तृतम् । मध्यमं साधिकं पादं क्रोशार्द्धं तु बृहत्तरम् ॥१३॥

पृथिवीतलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर चलकर आकाशमें सबसे नीचे तारा स्थित है ॥१॥ और पृथिवी तलसे नौ सौ योजन ऊपर चलकर आकाशमें सबसे ऊपर ज्योतिष्पटल स्थित है। भावार्थ—आकाशमें ज्योतिष्पटल सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाईमें शुरू होकर नौ सौ योजन तक है ॥२॥ यह ज्योतिष्पटल एक सौ दश योजन मोटा है तथा आकाशमें घनोदधि-वातवलय पर्यन्त सब ओर फैला है ॥३॥ ताराओंके पटलसे दश योजन ऊपर जाकर सूर्योंका पटल है और उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमाओंका पटल है ॥४॥ उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्रोंका पटल है और उससे चार योजन ऊपर चलकर बुधका पटल है ॥५॥ उससे तीन-तीन योजन ऊपर चलकर क्रमसे शुक्र, गुरु, मङ्गल और शनैश्चर ग्रहोंके पटल हैं ॥६॥ सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह और तारा ये पाँच प्रकारके ज्योतिर्विमान हैं। इनमें रहनेवाले देव भी इन्हींके समान नामवाले हैं तथा इन्हींके समान पाँच प्रकारके हैं ॥७॥ इनमें चन्द्र एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य तक, सूर्य एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य तक, शुक्र सौ वर्ष अधिक एक पल्य तक, बृहस्पति पौन पल्य तक, मङ्गल, बुध और शनैश्चर आधा पल्य तक और तारा चौथाई पल्य तक जीवित रहते हैं। यह सबकी उत्कृष्ट आयु है। जघन्य आयु पल्यके आठवें भाग प्रमाण है ॥८-९॥ बुद्धि द्वारा योजनके जो इकसठ भाग किये जाते हैं उनमें छप्पन भाग प्रमाण चन्द्र मण्डलका विस्तार है ॥१०॥ और अड़तालीस भाग प्रमाण सूर्यका विस्तार है। शुक्रका विस्तार एक कोश, बृहस्पतिका कुछ कम एक कोश, और शेष समस्त ग्रहोंका विस्तार आधा कोश प्रमाण है। जघन्य तारा मण्डल पाव कोश, मध्यम तारा मण्डल कुछ अधिक पाव कोश और उत्कृष्ट तारामण्डल

---

१. णउदुत्तर सत्तसए दस सीदी चदुदुगे तियचउक्के ।
तारिण ससि रिक्ख बुहा सुक्क गुरुंगार मन्दगदी ॥३३२॥ —त्रिलोकसारस्य

२. ५६ ÷ ६१ योजनप्रमाणं चन्द्रविमानम् । ३. ४८ ÷ ६१ योजनप्रमाणं सूर्यविमानम् ।

४. तारंतरं जहण्णं णायव्वा सत्त भाग गाउदियं ।
पण्णासा मज्झिमया उक्कस्सं जोयणसहस्सा ॥१०॥ —त्रै. प्र. सौ.

क्रोशस्य सप्तमो भागस्ताराणामल्पमन्तरम् । पञ्चाशन्मध्यमं दूरं सहस्रं योजनानि तत् ॥१४॥
भान्ति सूर्यविमानानि लोहिताक्षमयानि तु । अर्द्धगोलकवृत्तानि प्रतप्ततपनीयवत् ॥१५॥
[1]तथार्कमणिमूर्तीनि मृणालधवलानि तु । भान्ति चन्द्रविमानानि कान्तिसन्तानवन्ति वै ॥१६॥
अरिष्टमणिमूर्तीनि समान्यञ्जनपुञ्जकैः । भान्ति राहुविमानानि चन्द्रार्काधःस्थितानि तु ॥१७॥
एकयोजनविष्कम्भव्यायामानि तु तान्यपि । शते स्वर्द्धतृतीये द्वे धनुषां बहलानि च ॥१८॥
त्विषा राजतमूर्तीनि जयन्ति नवमालिकाम् । तथा शुक्रविमानानि प्रकाशन्ते समन्ततः ॥१९॥
जात्यमुक्ताफलाभानि विभान्त्यर्कमणित्विषा । बृहस्पतिविमानानि बुधानां कनकानि तु ॥२०॥
शनैश्चरविमानानि तपनीयमयानि तु । अङ्गारकविमानानि लोहिताक्षमयानि हि ॥२१॥
ज्योतिर्लोकविमानानामियं वर्णविकल्पना । अरुणद्वीपवार्धेस्तु केवलं कृष्णवर्णता ॥२२॥
मानुषोत्तरतः पूर्वमुदयास्तव्यवस्थितिः । परतस्तु समस्तानां स्थितिरेव नभस्थले ॥२३॥
सूर्याचन्द्रमसस्तेषां ज्योतिषां तु यथायथम् । सङ्ख्येयानामसङ्ख्यानामिन्द्रास्तावत्प्रमाणकाः ॥२४॥
तत्रैकादशभिर्मेरुमेकविंशैः शतैश्चलाः । ज्योतिष्कास्त्वनवाप्यैव प्रभ्रमन्ति प्रदक्षिणम् ॥२५॥
द्वीपे तु द्वौ मतौ सूर्यौ द्वौ च चन्द्रमसाविह । चत्वारो लवणोदेऽमी द्वीपे द्वादश तत्परे ॥२६॥
द्वाचत्वारिंशदादित्याः कालोदे शशिनस्तथा । पुष्करार्द्धे तु विज्ञेया द्वासप्ततिरमी पुनः ॥२७॥
षट् च षष्टिसहस्राणि तथा नवशतानि च । कोटीकोटयस्तु ताः सर्वाः पञ्चसप्ततिरेव च ॥२८॥
एकैकस्यैव चन्द्रस्य परिवारस्तु तारकाः । अष्टाविंशतिनक्षत्रास्तेऽष्टाशीतिर्महाग्रहाः ॥२९॥
परस्तात्पुष्करार्द्धे तु द्वासप्ततिरिति स्थिताः । निश्चलाः सर्वदादित्यास्तावन्तः शशिनस्तथा ॥३०॥

आधाकोश विस्तृत है ॥११–१३॥ ताराओंका जघन्य अन्तर कोशका सातवाँ, मध्यम अन्तर पचास योजन और उत्कृष्ट अन्तर एक हजार योजन है ॥१४॥ सूर्यके विमान लोहिताक्षमणिके हैं, अर्ध गोलकके समान गोल तथा तपाये हुए सुवर्णके समान सुशोभित हैं ॥१५॥ चन्द्रमाके विमान स्फटिक मणिमय हैं, मृणालके समान सफेद हैं तथा कान्तिके समूहसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हैं ॥१६॥ राहुके विमान अरिष्टमणिमय हैं, अञ्जनकी राशिके समान श्याम हैं तथा चन्द्रमा और सूर्य विमानके नीचे स्थित हैं ॥१७॥ राहुके विमान एक योजन चौड़े, एक योजन लम्बे, तथा ढाई सौ धनुष मोटे हैं ॥१८॥ शुक्रके विमान रजतमय हैं, अपनी कान्तिसे नूतन मालतीकी मालाको जीतते हैं तथा सब ओरसे प्रकाशमान हैं ॥१९॥ जिनकी आभा उत्तम मुक्ताफलके समान है, ऐसे बृहस्पतिके विमान स्फटिक मणिसदृश कान्तिसे सुशोभित हैं। बुधके विमान सुवर्णमय हैं, शनैश्चरके विमान ताम्र स्वर्णमय हैं, और अङ्गारक—मङ्गलके विमान लोहिताक्षमणिमय हैं ॥२०–२१॥ यह वर्णोंकी विविधरूपता ज्योतिर्लोक गत विमानोंकी है किन्तु अरुण समुद्रके ऊपर जो ज्योतिर्विमान हैं उनका केवल श्यामवर्ण ही है ॥२२॥ ज्योतिर्विमानोंके उदय और अस्तकी व्यवस्था मानुषोत्तर पर्वतके इसी ओर है उसके आगेके समस्त विमान आकाशमें स्थित ही हैं उनमें संचार नहीं होता ॥२३॥ मानुषोत्तर पर्वत तकके ज्योतिषी संख्यात हैं और उसके आगेके असंख्यात। उन दोनों प्रकारके ज्योतिषियोंके इन्द्र, सूर्य और चन्द्रमा हैं। संख्यात ज्योतिषियोंके इन्द्र संख्यात सूर्य चन्द्रमा हैं और असंख्यात ज्योतिषियोंके इन्द्र असंख्यात सूर्य चन्द्रमा हैं ॥२४॥ उनमें जो गतिशील ज्योतिषी हैं वे ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर हटकर मेरुकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण करते हैं ॥२५॥ जम्बू द्वीपमें दो सूर्य, दो चन्द्रमा, लवण समुद्रमें चार सूर्य, चार चन्द्रमा, धातकीखण्डमें बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा, कालोदधिमें बयालीस सूर्य, बयालीस चन्द्रमा और पुष्करार्धमें बहत्तर सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं ॥२६–२७॥ एक-एक चन्द्रमाके छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर कोड़ा-कोड़ी तारा, अट्ठाईस नक्षत्र और अठासी महाग्रह हैं ॥२८–२९॥ मानुषोत्तरके आगे पुष्करार्धमें बहत्तर

१. तथाङ्क म०, क० ।

सहस्राणि तु पञ्चाशत् सर्वतो मानुषोत्तरात् । प्रगत्यादित्यचन्द्राद्याश्चक्रवालैर्व्यवस्थिताः ॥३१॥
नियुतं नियुतं गत्वा परितः परितः स्थिताः । चतुरभ्यधिकं शश्वदन्योन्यमिश्ररश्मयः ॥३२॥
धातक्यादिषु चन्द्रार्काः क्रमेण त्रिगुणाः पुनः । व्यतिक्रान्तैर्युतास्ते स्युर्द्वीपे च जलधौ परे ॥३३॥
ज्योतिर्लोकविभागस्य संक्षेपोऽयमुदीरितः । ऊर्ध्वलोकविभागस्य संक्षेपः प्रतिपाद्यते ॥३४॥
मेरुचूलिकया सार्धमूर्ध्वलोकः समीरितः । उपर्युपरि तस्याः स्युः कल्पा ग्रैवेयकादयः ॥३५॥
सौधर्मः प्रथमः कल्पः परश्चैशाननामकः । सनत्कुमारमाहेन्द्रौ ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ ततः ॥३६॥
कल्पौ लान्तवकापिष्ठौ तथैव कथितौ ततः । पुनः शुक्रमहाशुक्रौ दक्षिणोत्तरदिग्गतौ ॥३७॥
शतारश्च सहस्रार आनतः प्राणतस्ततः । आरणश्चाच्युतश्चेति कल्पाः षोडश भाषिताः ॥३८॥
ग्रैवेयकास्त्रिधैव स्युरधोमध्योपरि स्थिताः । प्रत्येकं त्रिविधास्ते स्युरधोमध्योर्ध्वभेदतः ॥३९॥
नवानुदिशनामानि ततोऽनुत्तरपञ्चकम् । ईषत्प्राग्भारभूम्यन्त ऊर्ध्वलोकः प्रतिष्ठितः ॥४०॥

सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं, ये सदा निश्चल रहते हैं ॥३०॥ मानुषोत्तर पर्वतसे पचास हजार योजन आगे चलकर सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी-वलयके रूपमें स्थित हैं। भावार्थ—मानुषोत्तर-से पचास हजार योजन चलकर ज्योतिषियोंका पहला वलय है ॥३१॥ उसके आगे एक-एक लाख योजन चलकर ज्योतिषियोंके वलय हैं। प्रत्येक वलयमें चार-चार सूर्य और चार-चार चन्द्रमा अधिक हैं एवं एक दूसरेकी किरणें निरन्तर परस्परमें मिली हुई हैं ॥३२॥ धातकीखण्ड आदि द्वीप समुद्रोंमें सूर्य, चन्द्रमा क्रमसे तिगुने-तिगुने हैं। विशेषता यह है कि उनमें पिछले द्वीप समुद्रोंके सूर्य, चन्द्रमाओंकी संख्या भी मिलानी पड़ती है। जैसे, कालोदधि समुद्रके सूर्य, चन्द्रमाओंकी संख्या बयालीस है, वह इस प्रकार निकलती है—कालोदधिसे पिछला द्वीप धातकीखण्ड है इसके सूर्य, चन्द्रमाओंकी संख्या बारह है, इससे तिगुनी संख्या छत्तीस हुई, उसमें लवण समुद्र तथा जम्बू-द्वीपके सूर्य चन्द्रमाओंकी छह संख्या जोड़ देनेसे कालोदधिके सूर्य चन्द्रमाओंकी संख्या बयालीस निकल आती है। पुष्करवर द्वीपके मानुषोत्तर तक बहत्तर और उसके आगे बहत्तर दोनों मिला-कर एक सौ चौवालीस सूर्य-चन्द्रमा हैं। उनके निकालनेकी विधि यह है कि पुष्कर द्वीपसे पूर्व-वर्ती कालोदधिकी संख्या बयालीसको तिगुना किया तो एक सौ छब्बीस हुए, उनमें कालोदधिके बारह लवण समुद्रके चार और जम्बूद्वीपके दो इस प्रकार अठारह और मिलाये जिससे एक सौ चौवालीस सिद्ध हुए। इसी प्रकार आगे-आगेके द्वीप-समुद्रोंमें जानना चाहिए ॥३३॥ इस प्रकार यह ज्योतिर्लोकके विभागका संक्षेपसे वर्णन किया। अब ऊर्ध्वलोकके विभागका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है ॥३४॥

मेरु पर्वतकी चूलिकाके साथ ऊर्ध्वलोक शुरू होता है अर्थात् चूलिकासे ऊपर ऊर्ध्वलोक है। चूलिकाके ऊपर-ऊपर स्वर्ग तथा ग्रैवेयक आदि हैं ॥३५॥ १ सौधर्म, २ ऐशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर, ७ लान्तव, ८ कापिष्ठ, ९ शुक्र, १० महाशुक्र, ११ शतार, १२ सह-स्रार, १३ आनत, १४ प्राणत, १५ आरण और १६ अच्युत ये सोलह कल्प कहे गये हैं। इनकी रचना दक्षिण और उत्तरके भेदसे दो-दोके जोड़के रूपमें है ॥३६-३८॥ उनके ऊपर अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकके भेदसे तीन प्रकारके ग्रैवेयक हैं। इन तीनों ग्रैवेयकोंके भी आदि मध्य और ऊर्ध्वके भेदसे तीन-तीन भेद होते हैं। इन ग्रैवेयकोंके नौ पटल* हैं ॥३९॥ उसके

---

१. लक्षं लक्षम्।

* नव-ग्रैवेयक—१ सुदर्शन, २ अमोघ, ३ सुप्रबुद्ध, ४ यशोधर, ५ सुभद्र, ६ विशाल, ७ सुमन, ८ सौमनस, ९ प्रीतिंकर।

लक्षाः स्वर्गविमानानामशीतिश्चतुरुत्तरा । नवत्या च सहस्राणि सप्त[1] त्रिविंशदेव च ॥४१॥
त्रिषष्टिपटलानि स्युः त्रिषष्टीन्द्रकसंहतिः । पटलानां तु मध्येऽसावूर्ध्वावस्था व्यवस्थिता ॥४२॥
[2]ऋतुमादीन्द्रकं प्राहुस्त्रिषष्टिस्तस्य दिक्षु च । विमाना न्यूनता तेषामेकैकस्योत्तरेषु च ॥४३॥
तेषामृतुविमानं स्याद् विमलं चन्द्रनामकम् । वल्गुवीराभिधानं च तथैवारुणसंज्ञकम् ॥४४॥
नन्दनं नलिनं चैव काञ्चनं रोहितं ततः । चञ्चन्मारुतमृद्धीशं वैडूर्यं रुचकं तथा ॥४५॥
रुचिरं च तथार्कं च स्फटिकं तपनीयकम् । मेघं भद्रं च हारिद्रं पद्मसंज्ञं ततः परम् ॥४६॥
लोहिताक्षं च वज्रं च नन्द्यावर्तं प्रभङ्करम् । प्रष्टकं च जगन्मित्रं प्रभाख्यं चाद्यकल्पयोः ॥४७॥
अञ्जनं वनमालं च नागं गरुडसंज्ञकम् । लाङ्गलं बलभद्रं च चक्रं च परकल्पयोः ॥४८॥
अरिष्टदेवसम्मीतं ब्रह्मब्रह्मोत्तरद्वयम् । ब्रह्मलोकेऽपि चत्वारि लक्षयेदिन्द्रकाणि तु ॥४९॥
लान्तवे ब्रह्महृदयं लान्तवं च द्वयं विदुः । शुक्रमेकं महाशुक्रे सहस्रारे शतारकम् ॥५०॥
आनतं प्राणताख्यं च पुष्पकं चानते त्रयम् । अच्युते सानुकारं स्यादारणं चाच्युतं त्रयम् ॥५१॥
सुदर्शनममोघं च सुप्रबुद्धमधस्त्रयम् । यशोधरं सुभद्रं च सुविशालं च मध्यमे ॥५२॥
सुमनः सौमनस्यं च प्रीतिङ्करमितीरितम् । ऊर्ध्वग्रैवेयकेऽप्येवमिन्द्रकत्रितयं तथा ॥५३॥
मध्ये चानुदिशाख्यानामादित्यमिति चेन्द्रकम् । सर्वार्थसिद्धिसंज्ञं तु पञ्चानुत्तरमध्यमम् ॥५४॥
सौधर्मे च विमानानां लक्षा द्वात्रिंशदीरिताः । अष्टाविंशतिरैशाने तृतीये द्वादशैव ताः ॥५५॥

आगे नौ अनुदिश* और अनुदिशोंके आगे पाँच अनुत्तर† विमान हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानोंका एक-एक पटल है। अन्तमें ईषत्प्राग्भार भूमि है। उसीके अन्त तक ऊर्ध्वलोक कहलाता है ॥४०॥ स्वर्गोंके समस्त विमान चौरासी लाख संत्तानवे हजार तेईस हैं ॥४१॥ इनमें त्रेशठ पटल और त्रेसठ ही इन्द्रक विमान हैं। इन्द्रक विमानोंका समूह पटलोंके मध्यमें ऊर्ध्व रूपसे स्थित है ॥४२॥ आदि इन्द्रकका नाम ऋतु है उसकी चारों दिशाओंमें त्रेशठ-त्रेशठ श्रेणीबद्ध विमान हैं और आगे प्रत्येक इन्द्रकमें एक-एक विमान कम होता जाता है ॥४३॥ सौधर्म और ऐशान नामक प्रारम्भके दो स्वर्गोंमें १ ऋतु, २ विमल, ३ चन्द्र, ४ वल्गु, ५ वीर, ६ अरुण, ७ नन्दन, ८ नलिन, ९ काञ्चन, १० रोहित, ११ चञ्चल, १२ मारुत, १३ ऋद्धीश, १४ वैडूर्य, १५ रुचक, १६ रुचिर, १७ अर्क, १८ स्फटिक, १९ तपनीयक, २० मेघ, २१ भद्र, २२ हारिद्र, २३ पद्म, २४ लोहिताक्ष, २५ वज्र, २६ नन्द्यावर्त, २७ प्रभंकर, २८ प्रष्टक, २९ गज, ३० मित्र और ३१ प्रभा ये इकतीस पटल हैं ॥४४-४७॥ सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें १ अञ्जन, २ वनमाल, ३ नाग, ४ गरुड, ५ लाङ्गल, ६ बलभद्र और ७ चक्र ये सात इन्द्रक विमान हैं ॥४८॥ ब्रह्म लोकमें १ अरिष्ट, २ देवसंमीत, ३ ब्रह्म और ४ ब्रह्मोत्तर ये चार इन्द्रक विमान हैं ॥४९॥ लान्तवमें १ ब्रह्महृदय और २ लान्तव ये दो इन्द्रक विमान हैं। महाशुक्रमें १ शुक्र, सहस्रारमें १ शताख्य, आनतमें १ आनत, २ प्राणत और ३ पुष्पक ये तीन, अच्युतमें १ सानुकार, २ आरण और ३ अच्युत ये तीन इन्द्रक विमान हैं ॥५०-५१॥ अधोग्रैवेयकमें १ सुदर्शन, २ अमोघ और ३ सुप्रबुद्ध ये तीन, मध्य ग्रैवेयकमें १ यशोधर, २ सुभद्र और ३ सुविशाल ये तीन और ऊर्ध्व-ग्रैवेयकमें १ सुमन, २ सौमनस्य और ३ प्रीतिंकर ये तीन इन्द्रक विमान हैं ॥५२-५३॥ नौ अनुदिशोंके मध्यमें आदित्य नामका एक इन्द्रक विमान है और पाँच अनुत्तरोंमें सर्वार्थ-सिद्धि नामका एक इन्द्रक विमान है ॥५४॥ सौधर्म स्वर्गमें बत्तीस लाख, ऐशानमें अट्ठाईस लाख,

---

१. ८४९७०२३ विमानानि। २. ऋतुम्+आदि+इन्द्रकम् इतिच्छेदः।

* नव-अनुदिश—१ आदित्य, २ अर्चि, ३ अर्चिमाली, ४ वैरोचन, ५ प्रभास, ६ अर्चि-प्रभ, ७ अर्चिमध्य, ८ अर्चिरावर्त, ९ अर्चि-विशिष्ट।

† अनुत्तर विमान—१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित, ५ सर्वार्थ-सिद्धि।

माहेन्द्रेऽष्टौ तु लक्षे द्वे षण्णवत्या च पञ्चमे । ब्रह्मोत्तरे च लक्षैका सहस्रं च चतुर्गुणम् ॥५६॥
पञ्चविंशतिसङ्ख्यानि सहस्राणि भवन्ति तु । द्विचत्वारिंशता साकं विमानानि हि लान्तवे ॥५७॥
चतुर्विंशतिसङ्ख्यानि सहस्राणि शतान्यपि । नवपञ्चाशदष्टौ च कल्पे कापिष्ठनामनि ॥५८॥
शुक्रे विंशतियुक्तानि सहस्राणि तु विंशतिः । परेऽशीतिर्नवशती तानि चैकान्नविंशतिः ॥५९॥
त्रिसहस्री शतारे स्यात्तथैवैकान्नविंशतिः । त्रिसहस्री सहस्रारे वर्जितैकान्नविंशतिः ॥६०॥
आनतप्राणतस्था च चत्वारिंशच्चतुःशती । द्विशती च विमानानां षष्टिः स्यादारणाच्युते ॥६१॥
एकादश त्रिके पूर्वं शतं सप्तोत्तरं परे । शुद्धैकनवतिश्चोर्ध्वे नवैवानुदिशेष्वपि ॥६२॥
अर्चिराद्यं परं स्यात्तमर्चिमालिन्यभिख्यया । वज्रं वैरोचनं चैव सौम्यं स्यात्सौम्यरूप्यकम् ॥६३॥
अङ्कं च स्फुटिकं चेति दिशास्वनुदिशानि तु । आदित्याख्यस्य वर्तन्ते प्राच्याः प्रभृति सक्रमम् ॥६४॥
विजयं वैजयन्तं च जयन्तमपराजितम् । दिक्षु सर्वार्थसिद्धेस्तु विमानानि स्थितानि वै ॥६५॥
शतेनाष्टसहस्राणि सप्तविंशतिरेव च । श्रेणीगतानि सर्वाणि विमानानि भवन्ति वै ॥६६॥
चत्वारि स्युः सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च । श्रेणीगतानि सौधर्मे नवतिः पञ्चभिस्तथा ॥६७॥
अष्टाशीत्या सहैशाने सहस्रं तु चतुःशती । सनत्कुमारकल्पे तु षट्शती षोडशाधिका ॥६८॥
आवलिस्थविमानानां माहेन्द्रे त्र्युत्तरे शते । ब्रह्मलोकस्थितानां तु षडशीत्या शतद्वयम् ॥६९॥
चतुर्णवतिरेव स्युस्तानि ब्रह्मोत्तरेऽपि च । शतं लान्तवकल्पे च पञ्चविंशतिमिश्रितम् ॥७०॥
चत्वारिंशत्तथैकं च कापिष्ठे शुक्रनामनि । अष्टापञ्चाशदेकोना महाशुक्रे तु विंशतिः ॥७१॥
शतारे पञ्चपञ्चाशत् सहस्रारे दशाष्टभिः । आनते शतमुद्दिष्टं चत्वारिंशच्च सप्तभिः ॥७२॥
प्राणते पुनरष्टाभिश्चत्वारिंशत्तथारणे । शतं विंशं सप्तत्रिंशन्नवभिः पुनरच्युते ॥७३॥
चत्वारिंशत्तु पञ्चाग्रा सैवैकाग्रा प्रकीर्णके । सप्तत्रिंशद् यथासङ्ख्यमधोग्रैवेयकत्रिके ॥७४॥
विमानानि त्रयस्त्रिंशदेकान्नत्रिंशदेव च । पञ्चविंशतिरावल्यां मध्यग्रैवेयकत्रिके ॥७५॥

सनत्कुमारमें बारह लाख, माहेन्द्रमें आठ लाख, ब्रह्म-स्वर्गमें दो लाख छियानबे हजार, ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें एक लाख चार हजार, लान्तवमें पचीस हजार बयालीस, कापिष्ठमें चौबीस हजार नौ सौ अंठावन, शुक्रमें बीस हजार बीस, महाशुक्रमें उन्नीस हजार नौ सौ अस्सी, शतारमें तीन हजार उन्नीस, सहस्रारमें उन्नीस कम तीन हजार, आनत प्राणतमें चार सौ चालीस, तथा आरण अच्युतमें दो सौ साठ विमान हैं ॥५५–६१॥ ग्रैवेयकोंके पहले त्रिकमें एक सौ ग्यारह, दूसरे त्रिकमें एक सौ सात, तीसरे त्रिकमें एकानबे और अनुदिशोंमें नौ विमान हैं ॥६२॥ अनुदिशोंमें आदित्य नामका विमान बीचमें है और उसकी पूर्व आदि दिशाओं तथा विदिशाओंमें क्रमसे १ अर्चि, २ अर्चि-मालिनी, ३ वज्र, ४ वैरोचन, ५ सौम्य, ६ सौम्य-रूपक, ७ अङ्क और ८ स्फुटिक ये आठ विमान हैं ॥६३–६४॥ अनुत्तर विमानोंमें सर्वार्थ-सिद्धि विमान बीचमें है और उसकी पूर्वादि चार दिशाओंमें १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार विमान स्थित हैं ॥६५॥

सब श्रेणी-बद्ध विमान मिलकर आठ हजार एक सौ सत्ताईस हैं ॥६६॥ उनमें सौधर्म स्वर्गमें श्रेणीबद्ध विमान चार हजार चार सौ पंचानबे, ऐशानमें एक हजार चार सौ अट्ठासी, सनत्कुमारमें छह सौ सोलह, माहेन्द्रमें दो सौ तीन, ब्रह्मलोकमें दो सौ छियासी, ब्रह्मोत्तरमें चौरानबे, लान्तवमें एक सौ पचीस, कापिष्ठमें इकतालीस, शुक्रमें अंठावन, महाशुक्रमें उन्नीस, शतारमें पचपन, सहस्रारमें अठारह, आनतमें एक सौ सैंतालीस, प्राणतमें अड़तालीस, आरणमें एक सौ बीस और अच्युतमें उनतालीस कहे जाते हैं ॥६७–७३॥ अधोग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे पैंतालीस, इकतालीस और सैंतीस, मध्यमग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे तैंतीस, उनतीस और पचीस तथा ऊर्ध्व-ग्रैवेयकके तीन विमानोंमें क्रमसे इक्कीस, सत्तरह और तेरह, अनुत्तरोंमें

एकविंशतिरूर्ध्वे तु त्रिके सप्तदशत्रिभिः । इत्थं श्रेणीगतान्येव नवपञ्चकतत्परम् ॥७६॥
एतेषु तु विशुद्धेषु यथास्वं मूलराशिषु । प्रकीर्णकविमानानि शेषाणीति बुधा विदुः ॥७७॥
तेषु संख्येयविस्तारा विमानव्यक्तयः पुनः । चत्वारिंशत्सहस्राणि [1]सौधर्मे नियुतानि षट् ॥७८॥
पञ्चैव नियुतानि स्युः कल्पे [2]चैशाननामनि । सह षष्टिसहस्रैस्तु संयुतानि तु तानि वै ॥७९॥
सनत्कुमारकल्पे[3] तु नियतं नियुतद्वयम् । चत्वारिंशत्सहस्रैस्तु सहितं तदिति स्मृतिः ॥८०॥
[4]माहेन्द्रे नियुतं प्रोक्तं सह षष्टिसहस्रकैः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरेऽशीतिसहस्राणि[5] सहैव तु ॥८१॥
लान्तवेऽपि च [6]कापिष्ठे सहस्राणि दशैव तु । चत्वारि[7] तु सहस्राणि चतुर्भिः शुक्रनामनि ॥८२॥
षण्णवत्या नवशती त्रिसहस्री महत्यपि । शतारे[8] च सहस्रारे द्वादशैव शतानि तु ॥८३॥
अष्टाशीतिः सहैव स्यादानतप्राणताख्ययोः । द्विपञ्चाशत्सहैव स्यादारणाच्युतकल्पयोः ॥८४॥
सर्वत्रैवात्र संख्येयविस्तारास्तु चतुर्गुणाः । असंख्येयात्मविस्तारा विमानव्यक्तयः स्मृताः ॥८५॥
यथास्वमिन्द्रकैर्हीना नवग्रैवेयकादिषु । स्युरसंख्येयविस्तारा श्रेण्यो[9]ऽन्यास्तु ता द्विधा ॥८६॥
लक्षाः षोडशसंख्येयविस्तृता नवतिर्नव । सहस्राणि सहाशीत्या त्रिशती पिण्डितास्तु ताः ॥८७॥
षट्शतैकान्न[10]पञ्चाशत् सप्तभिर्नवतिः[11] पुनः । सहस्राणीतरा लक्षाः सप्तषष्टिरुदीरिताः ॥८८॥
प्राग्भारभूर्नरक्षेत्रमृतुः सीमन्तकः समम् । विस्तारेण तु[12] सम्प्राप्तो बालमात्रेण चूलिकाम् ॥८९॥
जम्बूद्वीपाप्रतिष्ठानक्षेत्रसर्वार्थसिद्धयः । त्रयोऽपि समविस्ताराः प्रोक्ता विस्तारवेदिभिः ॥९०॥

पाँच श्रेणी-बद्ध विमान हैं। विमान संख्याको मूल राशिमेंसे इन इन्द्रक और श्रेणी-बद्ध विमानोंकी संख्या घटा देनेपर जो शेष बचते हैं वे प्रकीर्णक विमान हैं ऐसा विद्वज्जन जानते हैं ॥७४-७७॥

उन विमानोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंकी संख्या सौधर्म स्वर्गमें छह लाख चालीस हजार है। ऐशान स्वर्गमें पाँच लाख साठ हजार, सनत्कुमार स्वर्गमें दो लाख चालीस हजार, माहेन्द्र स्वर्गमें एक लाख साठ हजार, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें अस्सी हजार, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गमें दश हजार, शुक्र-स्वर्गमें चार हजार चार, महाशुक्र स्वर्गमें तीन हजार नौ सौ छियानबे, शतार सहस्रार-स्वर्गमें बारह सौ, आनत प्राणत स्वर्गमें अठासी, और आरण अच्युत स्वर्गमें बावन है ॥७८-८४॥ इन सभी स्वर्गोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले विमानोंकी जो संख्या है उससे चौगुने असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान हैं ॥८५॥ नव-ग्रैवेयकादिकमें इन्द्रक विमानोंको छोड़कर श्रेणी-बद्ध विमानोंमें संख्यात योजन विस्तारवाले और असंख्यात योजन विस्तारवाले—दोनों प्रकारके विमान हैं। इन्द्रक विमान संख्यात योजन विस्तारवाले ही हैं ॥८६॥ संख्यात योजन विस्तारवाले सब विमान मिलाकर सोलह लाख निन्यानबे हजार तीन सौ अस्सी हैं और असंख्यात योजन विस्तारवाले विमान सड़सठ लाख सत्तानबे हजार, छह सौ उनचास कहे गये हैं ॥८७-८८॥ प्राग्भार-भूमि (सिद्धशिला) ढाई द्वीप, प्रथम स्वर्गका ऋतु विमान, प्रथम नरकका सीमन्तक इन्द्रक बिल और सिद्धालय ये पाँच विस्तारकी अपेक्षा समान हैं अर्थात् सब पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाले हैं। इनमें ऋतु विमान बाल मात्रका अन्तर देकर मेरुकी चूलिकाको प्राप्त है अर्थात् चूलिका और ऋतु विमानमें बालमात्रका अन्तर है ॥८९॥ जम्बूद्वीप, सातवें नरकका अप्रतिष्ठान नामका इन्द्रक बिल और सर्वार्थसिद्धि ये तीनों विस्तारके जाननेवाले आचार्योंने समान विस्तारसे युक्त कहे हैं अर्थात् इन सबका एक-एक

१. ६४०००० । २. ५६०००० । ३. २४०००० । ४. १६०००० । ५. ८०००० । ६. १०००० । ७. ४००४ । ८. ३९९६ । ९. 'श्रेणीष्वन्याकृता द्विधा म० । १०. ६४९ । ११. ९७००० । १२. तु शब्दान् मुक्तालयोऽपि, इति क प्रतिटिप्पण्याम् ।

सर्वश्रेणीविमानानामर्द्धं भूयर्धमितोऽपरम् । अन्येषां स्वविमानार्धं स्वयम्भूरमणोदधेः ॥९१॥
वेश्ममूलशिलापीठबाहुल्यं पूर्वकल्पयोः । योजनान्येकविंशत्या त्वेकादश शतानि च ॥९२॥
ऊर्ध्वं नवनवत्यास्तु युग्मे युग्मे[1] परिक्षयः । एकैकत्र त्रिके तुल्यश्चतुर्दशसु चोपरि ॥९३॥
आद्ये विंशं[2] शतं व्यासः कल्पयुग्मे तु वेश्मनाम् । परे[3] शतं दशोनोऽतश्चतुर्दशसु पञ्च[4] तु ॥९४॥
उच्छ्रायः षट् शतान्याद्ये पञ्च[5] कल्पयुगे परे । शतार्द्धे[6]नोनमूनोऽस्मात्पञ्चविंशतिमात्रकाः ॥९५॥
षष्टिराद्येऽवगाहोऽपि पञ्चाशद्युगले परे । पञ्चोनोऽस्मात्परेषु द्वे चतुर्दशसु सार्धके ॥९६॥
कृष्णा नीलाश्च रक्ताश्च पीताः श्वेताश्च वर्णिताः । प्रासादाः पञ्चवर्णास्ते सौधर्मैशानकल्पयोः ॥९७॥
नीलाद्याः परयोश्चोर्ध्वं रक्ताद्यास्तु चतुर्ष्वपि । सहस्रारावसानेषु पीताः श्वेताश्च नेतरे ॥९८॥
आनतप्राणताद्यौ च श्वेतवर्णाः प्रवर्णिताः । वैमानिकविमानेषु प्रासादाः प्रस्फुरत्प्रभाः ॥९९॥
द्वयोर्द्वयोर्विमानानि कल्पाष्टकपरेषु च । जले वाते द्वयोर्व्योम्नि संस्थितानि यथाक्रमम् ॥१००॥
षट्युगलेषु शेषेषु कल्पेषु चरमेन्द्रकात्[8] । श्रेणीबद्धे निजावासे वसन्त्यष्टादशे तथा ॥१०१॥

लाख योजन विस्तार है ॥९०॥ समस्त श्रणी-बद्ध विमानोंकी जो संख्या है उसका आधा भाग तो स्वयं-भू-रमण समुद्रके ऊपर है और आधा अन्य समस्त द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैला हुआ है ॥९१॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें भवनोंके मूल शिलापीठकी मोटाई ग्यारह सौ इक्कीस योजन है ॥९२॥ ऊपर प्रत्येक कल्प युगलमें निन्यानबे-निन्यानबे योजन मोटाई कम होती है। ग्रैवेयकोंके तीनों त्रिक तथा अनुदिश और अनुत्तर विमानोंके चौदह विमानोंमें समान मोटाई होती है ॥९३॥ प्रथम कल्प युगल—सौधर्म ऐशान स्वर्गमें भवनोंकी चौड़ाई एक सौ बीस योजन, दूसरे कल्प युगल—सानत्कुमार, माहेन्द्र स्वर्गमें सौ योजन और इसके आगे प्रत्येक कल्प युगल तथा ग्रैवेयकोंके प्रत्येक त्रिकोंमें दश-दश योजन कम होती जाती है। अनुदिशों और अनुत्तरोंके चौदह विमानोंमें केवल पाँच योजन चौड़ाई रह जाती है ॥९४॥ प्रथम कल्प युगलमें भवनोंकी ऊँचाई छह सौ योजन है, दूसरे कल्प युगलमें पाँच सौ योजन है और आगेके युगलोंमें पचास-पचास योजन ऊँचाई कम होती जाती है। इसके आगे अनुदिश और अनुत्तरोंके भवन मात्र पच्चीस योजन ऊँचे हैं ॥९५॥ प्रथम कल्प युगलमें भवनोंकी गहराई साठ योजन है, दूसरे कल्प युगलमें पचास योजन है और इसके आगेके कल्पोंमें पाँच-पाँच योजन कम होती जाती है। अनुदिश और अनुत्तर सम्बन्धी चौदह विमानोंमें मात्र ढाई योजन गहराई है ॥९६॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके वे भवन काले, नीले, लाल, पीले और सफेदके भेदसे पाँच रङ्गके कहे गये हैं ॥९७॥ आगेके युगल—सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें नीलेको आदि लेकर चार रङ्गके हैं, उसके आगे चार स्वर्गोंमें लालको आदि लेकर तीन रङ्गके हैं, उसके आगे सहस्रार स्वर्ग तकके चार स्वर्गोंमें पीले और सफेद दो रङ्गके हैं अन्य रङ्गके नहीं हैं ॥९८॥ उसके आगे आनत प्राणतको आदि लेकर समस्त स्वर्ग, ग्रैवेयक, अनुदिश तथा अनुत्तरविमानोंके भवन मात्र सफेद वर्णके हैं। वैमानिक देवोंके ये भवन जगमगाती हुई प्रभासे युक्त हैं ॥९९॥ सौधर्म और ऐशान स्वर्गके विमान घनोदधिके आधार हैं, सानत्कुमार और माहेन्द्रके विमान घनवातवलयके आधार हैं, आगे आठ कल्प अर्थात् सहस्रार स्वर्ग तकके विमान घनोदधि और घनवात दोनोंके आधार हैं और शेष विमान आकाशके आधार हैं ॥१००॥ छह युगलों तथा शेष कल्पोंमें अपने-अपने

१. सौधर्मयुग्मे ११२१, सानत्कुमारयुग्मे १०२२, ब्रह्मयुग्मे ९२३ इत्यादि नवनवतिहीनक्रमम्। २. १२० । ३. १००, ९०, ८०, ७०, ६०, ५०, ४०, ३०, २०, १० । ४. अनुदिशानुत्तरेषु । ५. ५०० । ६. पञ्चाशदूनक्रमम् ।

७. छज्जुगल सेसकप्पे अट्ठारसमम्हि सेढि बद्धम्मि ।
दोहीण कमं दक्खिण उत्तर भागम्हि देविंदा ॥४८३॥ —त्रिलोकसारस्य

८. चमरेन्द्रकाः म० ।

द्विहानिक्रमतोऽतोऽग्रे दक्षिणोत्तरसंभवाः । सुराधीशाः सुखाम्भोधिमध्यगा गतविद्विषः ॥१०२

आज्योतिष्कोंकमुत्पादस्तापसानां तपस्विनाम् । ब्रह्मलोकावधिर्ज्ञेयः परिव्राजकयोगिनाम् ॥१०३॥

सदृगाजीवकानां च सहस्रारावधिर्भवः । न जिनेतररूपेण लिङ्गेन तु ततः परम् ॥१०४॥

कल्पानच्युतपर्यन्तान् सौधर्मप्रभृतीन् पुनः । व्रजन्ति श्रावकास्तेभ्यः श्रमणाः परतोऽपि च ॥१०५॥

उपपादोऽस्त्यभव्यानामग्रग्रैवेयकेष्वपि । स च निर्ग्रन्थलिङ्गेन सक्तोग्रतपःश्रिया ॥१०६॥

रत्नत्रयसमृद्धस्य भव्यस्यैव ततः परम् । यावत्सर्वार्थसिद्धिं[1] स्यादुपपादस्तपस्विनः ॥१०७॥

कृष्णा नीला च कापोता लेश्याश्च द्रव्यभावतः । तेजोलेश्या जघन्या च ज्योतिषान्तेषु भाषिताः ॥१०८॥

सौधर्मैशानदेवानां तेजोलेश्या तु मध्यमा । सैवोत्कृष्टोत्तरद्वन्द्वे पद्मलेश्या जघन्यतः ॥१०९॥

मध्यमा पद्मलेश्या तु परस्मिन् युगलत्रये । उत्कृष्टा पद्मलेश्या च युग्मे शुक्लावरापरे ॥११०॥

अच्युतान्तचतुष्के च नवग्रैवेयकेषु च । सर्वेषामेव देवानां शुक्ललेश्या तु मध्यमा ॥१११॥

अहमिन्द्रविमानेषु चतुर्दशसु संस्थिताः । लेश्या परमशुक्लोध्वं संक्लेशरहितात्मनाम् ॥११२॥

निवासके योग्य अन्तिम इन्द्रकके श्रेणी-बद्ध विमानोंमें इन्द्रोंका निवास है। पहले युगलके अन्तिम इन्द्रक सम्बन्धी अठारहवें श्रेणीबद्ध विमानमें इन्द्रका निवास है और आगे दो-दो श्रेणिबद्ध विमानोंकी क्रमिक हानि है। १ सौधर्म, २ सनत्कुमार, ३ ब्रह्म, ४ शुक्र, ५ आनत और ६ आरण कल्पोंमें रहनेवाले इन्द्र दक्षिण दिशामें रहते हैं और १ ऐशान, २ माहेन्द्र, ३ लान्तव, ४ शतार, ५ प्राणत और ६ अच्युत इन छह कल्पोंमें रहनेवाले उत्तर दिशामें रहते हैं। ये इन्द्र सुखरूपी सागरके मध्यमें स्थित हैं तथा प्रतिद्वन्द्वियोंसे रहित हैं—भावार्थ—सौधर्म स्वर्गके अन्तिम पटलके इन्द्रक विमानसे दक्षिण दिशामें जो अठारहवाँ श्रेणीबद्ध विमान है उसमें सौधर्मेन्द्र रहता है और उत्तर दिशामें जो अठारहवाँ श्रेणीबद्ध विमान है उसमें ऐशानेन्द्र रहता है। सनत्कुमार इन्द्र अपने स्वर्गके अन्तिम पटल सम्बन्धी इन्द्रकसे दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणीबद्ध विमानमें रहता है और माहेन्द्र उत्तर दिशा सम्बन्धी। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए ॥१०१-१०२॥ पञ्चाग्नि आदि तप तपनेवाले तपस्वियोंकी उत्पत्ति भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें होती है, परिव्राजक—संन्यासियोंकी उत्पत्ति ब्रह्मलोक तक और सम्यग्दृष्टि आजीवकोंकी उत्पत्ति सहस्रार स्वर्ग तक हो सकती है। जिन-लिङ्गके सिवाय अन्य लिङ्गके द्वारा जीव सहस्रार स्वर्गके आगे नहीं जा सकते यह नियम है ॥१०३-१०४॥ श्रावक, सौधर्म स्वर्गसे लेकर अच्युत स्वर्ग तक जाते हैं और मुनि उसके आगे भी जा सकते हैं ॥१०५॥ अभव्य जीवोंका उपपाद अग्रिम ग्रैवेयक तक हो सकता है, परन्तु यह नियम है कि ग्रैवेयकोंमें उपपाद निर्ग्रन्थ लिङ्गके द्वारा उग्र तपश्चरण करनेसे ही हो सकता है ॥१०६॥ इसके सर्वार्थ-सिद्धि तक रत्नत्रय तपस्वी भव्य जीवकी ही उत्पत्ति होती है ॥१०७॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें द्रव्य तथा भावकी अपेक्षा कृष्ण नील और आपोतलेश्या तथा जघन्य पीत लेश्या होती है ॥१०८॥ सौधर्म और स्वर्गके देवोंके मध्यम पीत-लेश्या होती है। माहेन्द्र स्वर्गके देवोंके उत्कृष्ट पीतलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या होती है ॥१०९॥ इसके आगे तीन युगलोंमें मध्यम पद्मलेश्या होती है। उसके आगे दो युगलोंमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या और जघन्य शुक्ललेश्या होती है। तदनन्तर अच्युत स्वर्ग तकके चार स्वर्गों और नौ ग्रैवेयकोंके समस्त देवोंके मध्यम शुक्ललेश्या होती है और उसके आगे अनुदिश और अनुत्तर सम्बन्धी अहमिन्द्रोंके चौदह विमानोंमें परम शुक्ललेश्या होती है। यहाँके निवासी अहमिन्द्र संक्लेशसे रहित होते हैं ॥११०-११२॥

१. सर्वार्थसिद्धिः क०, ख०, ग०, ङ० ।

आधर्मायास्तु देवानामाद्ययोर्विषयोऽवधिः । कल्पयोः परयोश्चासावावंशाया व्यवस्थितः ॥११३॥
आऽसौ मेघावनेऽकश्चतुःकल्पे तु तत्परम् । आचतुर्थपृथिव्यास्तु परे कल्पचतुष्टये ॥११४॥
आनतादिचतुष्केऽसावापञ्चम्याः समीरितः । नवग्रैवेयकस्थानामाषष्ठ्या विषयोऽवधिः ॥११५॥
नवानुदिशदेवानामासप्तम्याः समाश्रितः । लोकनाडीसमस्तास्तु पञ्चानुत्तरवासिनाम् ॥११६॥
स्वविमानावधिस्तूर्ध्वं विषयोऽवधिचक्षुषः । विश्वेषामेव देवानामिति विश्वविदो विदुः ॥११७॥
स्थित्युत्सेधप्रवीचारा जिनेन्द्रप्रतिभाषिताः । चतुर्देवनिकायानां वेदितव्यं यथायथम् ॥११८॥
दक्षिणाशाऽऽरणान्तानां देव्यः सौधर्म एव तु । निजागारेषु जायन्ते नीयन्ते च निजास्पदम् ॥११९॥
उत्तराशाच्युतान्तानां देवानां दिव्यमूर्तयः । ऐशानकल्पसम्भूता देव्यो यान्ति निजाश्रयम् ॥१२०॥
शुद्धदेवीयुतान्याहुर्विमानानि मुनीश्वराः । षट् लक्षास्तु चतुर्लक्षाः सौधर्मैशानकल्पयोः ॥१२१॥
दिव्यवस्त्राधिभूषाभिः शुभविक्रियमूर्तिभिः । [1]चित्तनेत्रहरोदाररूपविभ्रमवृत्तिभिः ॥१२२॥
हावभावविदग्धाभिर्निसर्गप्रेमभूमिभिः । नैकपल्योपमायुर्भिर्देवीभिर्बहुभिः सुखम् ॥१२३॥
इन्द्राः सामानिका देवास्त्रायस्त्रिंशादयोऽखिलाः । कल्पोपपन्नपर्यन्ताः श्रयन्ते दीर्घजीविनः ॥१२४॥
अहमिन्द्रास्ततोऽनन्तं भजन्ते भवजं[2] सुखम् । तत्सातावेदनीयोत्थमस्त्रीकं प्रशमात्मजम् ॥१२५॥
सिद्धानां तु परं स्थानं परं द्वादशयोजनम् । सर्वार्थसिद्धितो गत्वा स्थितं त्रैलोक्यमूर्धनि ॥१२६॥
ईषत्प्राग्भारसंज्ञाऽसावष्टमी पृथिवी श्रुता[3] । अष्टयोजनबाहुल्या मध्ये हीना क्रमात्ततः ॥१२७॥

प्रथम दो स्वर्गके देवोंके अवधिज्ञानका विषय घर्मा पृथिवी तक है, उसके आगेके दो स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय वंशा पृथिवी तक है। उसके आगे चार स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय मेघा पृथिवी तक है, उसके आगे चार स्वर्गों सम्बन्धी देवोंका विषय अञ्जना नामक चौथी पृथिवी तक है। उसके आगे आनतादि चार स्वर्गोंके देवोंका विषय अरिष्टा नामकी पाँचवीं पृथिवी तक है। नव ग्रैवेयकवासियोंका छठवीं पृथिवी तक है। नवानुदिशवासियोंका सातवीं पृथिवीके अन्त तक है और पञ्चानुत्तरवासियोंका समस्त लोकनाडी तक है। समस्त देवोंके अवधिज्ञान रूपी नेत्रका ऊपरकी ओरका विषय अपने-अपने विमानके अन्त भाग तक है ऐसा सर्वज्ञ देव जानते हैं ॥११३-११७॥ चारों निकायके देवोंकी स्थिति, ऊँचाई तथा प्रवीचार—काम-सेवनका वर्णन जैसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने किया है वैसा यथायोग्य जानना चाहिए ॥११८॥ आरण स्वर्ग पर्यन्त दक्षिण दिशाके देवोंकी देवियाँ सौधर्म स्वर्गमें ही अपने-अपने उपपाद स्थानोंमें उत्पन्न होती हैं और नियोगी देवोंके द्वारा यथास्थान ले जाई जाती हैं ॥११९॥ तथा अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्तर दिशाके देवोंकी सुन्दर देवियाँ ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होती हैं एवं अपने-अपने नियोगी देवोंके स्थानपर जाती हैं ॥१२०॥ मुनियोंके ईश्वर गणधर देवने सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें शुद्ध देवियोंसे युक्त विमानोंकी संख्या क्रमसे छह लाख और चार लाख बतलाई है अर्थात् सौधर्म-ऐशान स्वर्गमें केवल देवियोंके उत्पत्ति स्थान छह लाख और चार लाख प्रमाण हैं ॥१२१॥ सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न एवं दीर्घ आयुको धारण करनेवाले इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देव, दिव्य वस्त्रालंकारोंसे विभूषित, शुभ विक्रिया करनेवाली हृदय तथा नेत्रोंको हरण करनेवाली उत्कृष्ट रूप और विभ्रमसे सहित, हाव-भाव दिखलानेमें चतुर स्वाभाविक प्रेमकी भूमि एवं अनेक पल्य-प्रमाण आयुवाली अनेक देवियोंके साथ सुखको प्राप्त होते हैं ॥१२२-१२४॥ सोलहवें स्वर्गके आगेके अहमिन्द्र, साता वेदनीयके उदयसे उत्पन्न, स्त्री रहित, शान्तिरूप आत्मासे उत्पन्न होनेवाले, देव पर्यायजन्य अपरिमित सुखका उपभोग करते हैं ॥१२५॥ सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन आगे जाकर तीन लोकके मस्तकपर सिद्ध भगवान्‌का उत्कृष्ट स्थान है ॥१२६॥ सिद्धोंका यह स्थान

१. चित्तस्ववृत्तिभिः म०, ख० । २. भवनं म० । ३. स्तुता म० ।

पर्यन्तेऽङ्गुलसङ्ख्येयभागमात्रतनुस्थितिः । सोत्तानितमहावृत्तश्वेतच्छत्रोपमाकृतिः ॥१२८॥
चत्वारिंशत्तु विस्तारो लक्षाः पञ्चभिरन्विताः । योजनानि क्षितेस्तस्या विद्वद्भिरभिधीयते ॥१२९॥
कोटी तु परिधिर्लक्षा द्विचत्वारिंशदिष्यते । द्विशत्येकान्नपञ्चाशत् त्रिसहस्री दशाहता ॥१३०॥
ऊर्ध्वं तस्या पुरा प्रोक्तं यद्वातवलयत्रयम् । तत्र त्रिकोशबाहुल्यमतीत्य वलयद्वयम् ॥१३१॥
धनुषां पञ्चशत्याभा पञ्चसप्ततियुक्तया । धनुः सहस्रमेकं हि बहलं वलयं तु यत् ॥१३२॥
तनुवातस्य तस्यान्ते पञ्चविंशतिसंयुताम् । विगाह्योत्कर्षतः सिद्धाः स्थिताः पञ्चधनुःशतीम् ॥१३३॥
सार्धहस्तत्रयं पूर्वं कृत्वान्तेऽनन्तरोच्छ्रितिम् । सिद्धावगाहनाकाशदेशो देशोन इष्यते ॥१३४॥
एकोऽवतिष्ठते यत्र सिद्धः सिद्धप्रयोजनः । तत्रानन्ताश्च तिष्ठन्ति सिद्धास्ते स्वावगाहतः ॥१३५॥
अशरीराः सुखात्मानः सिद्धा जीवघनायुताः । साकारेणोपयोगेन निराकारेण चात्मनः ॥१३६॥
सर्वलोकमलोकं च सन्ततानन्तपर्ययम् । जानन्तः सह पश्यन्तस्तिष्ठन्ति सुखिनः सदा ॥१३७॥
सिद्धाः शुद्धाः प्रबुद्धार्था विजन्मानोऽजरामराः । शाश्वताः [1]शाश्वतं स्थानमधितिष्ठन्त्यबन्धनाः ॥१३८॥

मन्दाक्रान्ता

[2]ज्योतिर्लोकप्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोक-
प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया संग्रहा[3]क्षेत्रमेवम् ।
सम्प्रोक्तं ते श्रवणसुभगं श्रेणिक श्रेयसेऽतः
शृण्वायुष्मन्नवहितमतिर्वच्मि कालोपदेशम् ॥१३९॥

(सिद्धशिला) ईषत्प्राग्भार नामकी आठवीं पृथिवी कहलाती है यह पृथिवी मध्यमें आठ योजन मोटी है उसके आगे क्रमसे कम-कम होती हुई अन्त भागमें अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती है, वह ऊपरकी ओर उठे हुए विशाल गोल सफेद छत्रके आकार है ॥१२७-१२८॥ विद्वज्जन उस पृथिवीका विस्तार पैंतालीस लाख योजन बतलाते हैं ॥१२९॥ उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन है ॥१३०॥ उस पृथिवीके ऊपर पहले कहे हुए तीन वातवलय हैं, उनमें तीन कोश विस्तारवाले दो वलयोंका उलंघन कर एक हजार पाँच सौ पचहत्तर धनुष विस्तारवाला जो तीसरा तनुवातवलय है उसके पाँच सौ पचीस धनुष मोटे अन्तिम भागको अपनी उत्कृष्ट अवगाहनासे व्याप्तकर सिद्ध भगवान् विराजमान हैं। जिन सिद्ध भगवान्‌का अनन्तर पूर्व शरीर साढ़े तीन हाथ ऊँचा रहता है उनकी अवगाहना सम्बन्धी आकाशका प्रदेश साढ़े तीन हाथसे कुछ कम माना जाता है ॥१३१-१३४॥ जहाँ कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त हुए एक सिद्ध भगवान् विराजमान हैं वहाँ अपनी अवगाहनासे अनन्त सिद्ध परमेष्ठी स्थित हैं। भावार्थ—अवगाह दानकी सामर्थ्य होनेसे सिद्ध परमेष्ठी एक दूसरेको बाधा नहीं पहुँचाते इसलिए जहाँ एक सिद्ध है वहीं अनन्त सिद्ध विराजमान रहते हैं ॥१३५॥ ये सिद्ध परमेष्ठी शरीररहित हैं, सुख रूप हैं, जीवके घन प्रदेशोंसे युक्त हैं और अपने ज्ञानोपयोग तथा दर्शनोपयोगके द्वारा अनन्त पर्यायोंसे युक्त समस्त लोक और अलोकको एक साथ जानते हुए सदा सुखसे स्थिर रहते हैं ॥१३६-१३७॥ जो कर्म कलंकसे रहित होनेके कारण शुद्ध हैं, अनन्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जान लिया है, जो आयुकर्मसे रहित होनेके कारण नूतन जन्मसे रहित हैं, शरीर रहित होनेके कारण अजर-अमर हैं, मोहजन्य विकारसे रहित होनेके कारण जो कर्मबन्धनसे दूर हैं और स्वाश्रित होनेसे शाश्वत हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी उस शाश्वत—अविनश्वर स्थानपर सदा विद्यमान रहते हैं ॥१३८॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे वररत्न श्रेणिक ! इस प्रकार हमने तेरे कल्याणके लिए

---

१. निश्चलं ख० । २. ज्योतिर्लोकः प्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोकः म० । ३. संग्रहाक्षेपमेवं ख० ।

धर्म्यध्यानं धवलमुदितं मोक्षहेतुर्जिनेन्द्रै-
राज्ञापायप्रभृतिविचयैश्चित्तवृत्तेर्निरोधः ।
यत्तत्कार्यो समितकरणैर्लोकसंस्थानचिन्ता
मन्दाक्रान्ता न हृदयमदेभेन्द्रिया[1]श्वा विधेयाः ॥१४०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ज्योतिर्लोकोर्ध्वलोकवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

ज्योतिर्लोक और अनेक पटलोंसे युक्त स्वर्ग एवं मोक्षसे सहित ऊर्ध्व लोकका कथन करनेवाले इस क्षेत्रका संक्षेपसे कर्णप्रिय वर्णन किया है। अब हे आयुष्मन्! हम कालद्रव्यका कथन करते हैं सो एकाग्रचित्तसे श्रवण कर ॥१३९॥ श्रीजिनेन्द्र भगवान्ने आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचयके द्वारा चित्तवृत्तिके निरोध करनेको उज्ज्वल धर्मध्यान कहा है और चूँकि धर्मध्यान मोक्षका कारण है इसलिए इन्द्रियोंको वश करनेवाले पुरुषोंको लोकके संस्थान—आकारका चिन्तन करना चाहिए। आचार्योंने ठीक ही कहा है कि इन्द्रिय रूपी मदोन्मत्त हाथी और इन्द्रिय रूपी घोड़े मन्द आक्रमण होनेपर वशमें नहीं रहते। भावार्थ—मोक्षाभिलाषी पुरुषोंको मन और इन्द्रियोंको स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए ॥१४०॥

इस प्रकार जिसमें श्रीअरिष्टनेमि जिनेन्द्रके पुराणका संग्रह किया गया है ऐसे जिनसेनाचार्यरचित हरिवंश पुराणमें ज्योतिर्लोक तथा ऊर्ध्वलोकका वर्णन करनेवाला छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

---

१. मेदेन्द्रियास्त्वाविधेयाः क०, ख०, ग०, घ० ।

सप्तमः सर्गः

वर्णगन्धरसस्पर्शमुक्तोऽगौरवलाघवः । वर्तनालक्षणः कालो मुख्यो गौणश्च स द्विधा ॥१॥
गतिस्थित्यवगाहानां धर्माधर्माम्बराणि च । निमित्तं सर्वभावानां वर्तनस्यात्र निश्चयः ॥२॥
धर्माधर्मनभोद्रव्यं यथैवागमदृष्टितः । तथा निश्चयकालोऽपि निश्चेतव्यो विपश्चिता ॥३॥
जीवानां पुद्गलानां च परिवृत्तिरनेकधा । गौणकालप्रवृत्तिश्च मुख्यकालनिबन्धना ॥४॥
सर्वेषामेव भावानां परिणामादिवृत्तयः । स्वान्तर्बहिर्निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते समन्ततः ॥५॥
निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता । बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥६॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन विना कालाणवः पृथक् । लोकाकाशमशेषं तु व्याप्य तिष्ठन्ति सञ्चिताः ॥७॥
द्रव्यार्थान्निर्विकारत्वादुदयव्ययवर्जिताः । नित्या एव कथञ्चित्ते स्वरूपसमवस्थिताः ॥८॥
अगुरुत्वलघुत्वात्मपरिणामसमन्विताः । परोपाधिविकारित्वादनित्यास्तु कथञ्चन ॥९॥
त्रिधा समयवृत्तीनां हेतुत्वात्ते त्रिधा स्मृताः । अनन्तसमयोत्पादादनन्तव्यपदेशिनः ॥१०॥
तेभ्यः कारणभूतेभ्यः समयस्य समुद्भवः । कारणेन विना कार्यं न कदाचित् प्रजायते ॥११॥
स्वत एवाऽसतो जन्म कार्यस्य यदि जायते । स्वत एव हि किं न स्याद् खरशृङ्गस्य सम्भवः ॥१२॥
न कालादन्यतो हेतोः कालकार्यसमुद्भवः । न हि सञ्जायते जातु शालिबीजाद् यवाङ्कुरः ॥१३॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित व हलका व भारी और वर्तना लक्षणसे युक्त कालद्रव्य है। वह मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है ॥१॥ जिस प्रकार जीव और पुद्गलके गमन करनेमें धर्म द्रव्य, ठहरनेमें अधर्म द्रव्य और समस्त द्रव्योंको अवगाह देनेमें आकाश द्रव्य निमित्त है उसी प्रकार समस्त द्रव्योंकी वर्तना—षड् गुणी हानि वृद्धि रूप परिणमनमें निश्चय कालद्रव्य निमित्त है ॥२॥ जिस प्रकार धर्म-अधर्म और आकाशद्रव्यका आगमदृष्टिसे निश्चय काल द्रव्यका भी निश्चय करना चाहिए ॥३॥ जीव और पुद्गलोंका परिणमन नाना प्रकारका होता है और गौण कालकी प्रवृत्ति मुख्य कालके कारण है ॥४॥ समस्त पदार्थोंमें जो परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व रूप परिणमन होते हैं वे अपने-अपने अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग निमित्तोंसे ही सब ओर प्रवृत्त होते हैं ॥५॥ उन अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग निमित्तोंमें अन्तरङ्ग निमित्त तो वस्तुकी अपनी योग्यता है जो सदा उसमें स्थित रहती है और बाह्य निमित्त निश्चय कालद्रव्य है ऐसा तत्त्वदर्शी आचार्योंने निश्चित किया है ॥६॥ परस्परके प्रवेशसे रहित कालाणु पृथक्-पृथक् समस्त लोकको व्याप्तकर राशि रूपमें स्थित हैं ॥७॥ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कालाणुओंमें विकार नहीं होता इसलिए उत्पाद व्ययसे रहित होनेके कारण वे कथञ्चित् नित्य हैं और अपने स्वरूपमें स्थित हैं ॥८॥ अगुरु लघु गुणके कारण उन कालाणुओंमें प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है तथा परपदार्थके सम्बन्धसे वे विकारी हो जाते हैं इसलिए पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथञ्चित् अनित्य भी है ॥९॥ भूत, भविष्य और वर्तमान रूप तीन प्रकारके समयका कारण होनेसे वे कालाणु तीन प्रकारके माने गये हैं और अनन्त समयोंके उत्पादक होनेसे अनन्त भी कहे जाते हैं ॥१०॥ उन कारणभूत कालाणुओंसे समयकी उत्पत्ति होती है सो ठीक ही है क्योंकि कारणके बिना कभी कार्य उत्पन्न नहीं होता ॥११॥ यदि असद्भूत कार्यकी उत्पत्ति कारणके बिना स्वयं ही होती है तो फिर गधेके सींगकी उत्पत्ति स्वयं ही क्यों नहीं हो जाती ? ॥१२॥ कालके सिवाय अन्य कारणसे काल रूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि धानके बीजसे कभी जौका अंकुर

जायते भिन्नजातीयो हेतुर्यत्राऽपि कार्यकृत् । तत्राऽसौ सहकारी स्यात् मुख्योपादानकारणः ॥१४॥
[1]युक्त्यागमबलादेवमनतीन्द्रियदर्शिनः । सद्भावं मुख्यकालस्य प्रतिपद्य व्यवस्थितः ॥१५॥
समयावलिकोच्छ्वास[2]प्राणस्तोकलवादिकः । व्यवहारस्तु विज्ञेयः कालः कालज्ञवर्णितः ॥१६॥
परिणामं प्रपन्नस्य गत्या सर्वजघन्यया । परमाणोर्निजाक्रान्तस्वप्रदेशव्यतिक्रमः ॥१७॥
कालेन यावतैव स्यादविभागः स भाषितः । समयः समयाभिज्ञैर्निरुद्ध[3]परमान्यतः ॥१८॥
तैरेवावलिकासङ्ख्यैः सङ्ख्याताभिस्तु भाषितौ । ताभिरुच्छ्वासनिश्वासौ तावुभौ प्राण इष्यते ॥१९॥
प्राणाः सप्त पुनः स्तोकः सप्तस्तोका भवेल्लवः । ते सप्त सप्ततिः सन्तो मुहूर्तस्त्रिंशदेव ते ॥२०॥
अहोरात्रं भवेत्पक्षस्तानि पञ्चदशैव तौ । मासो मासावृतुस्तेषां त्रितयं त्वयनं तथा ॥२१॥
अयनद्वयमब्दं स्यात् पञ्चाब्दानि युगं पुनः । युगद्वयं दशाब्दानि शतं तानि दशाहतौ ॥२२॥
भवेद्वर्षसहस्रं तु शतं चापि दशाहतम् । दशवर्षसहस्राणि तद्देव दशताडितम् ॥२३॥
ज्ञेयं वर्षसहस्रं तु तच्चापि दशसङ्गुणम् । पूर्वाङ्गं तु तदभ्यस्तमशीत्या चतुरग्रया ॥२४॥
तत्तद्गुणं च पूर्वाङ्गं पूर्वं भवति निश्चितम् । पूर्वाङ्गं तद्गुणं तच्च पूर्वसंज्ञं तु तद्गुणम् ॥२५॥
नियुताङ्गं परं तस्मान्नियुतं च ततः परम् । कुमुदाङ्गं ततश्च स्याद् कुमुदं तु ततः परम् ॥२६॥
पद्माङ्गं पद्ममप्यस्मात् नलिनाङ्गं तथैव च । नलिनं कमलाङ्गं च कमलं चाप्यतः परम् ॥२७॥
तुट्याङ्गं तुटयमप्यस्मादटटाङ्गं ततोऽपि च । अटटं चाममाङ्गं स्यादममं चाप्यतः परम् ॥२८॥

उत्पन्न नहीं होता ॥१३॥ जहाँ कहीं भिन्न जातीय कारण कार्य उत्पादक होता है वहाँ वह सहकारी कारण ही होता है। कार्यकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण उपादान है और सहकारी कारण उसका सहायक होता है ॥१४॥ इस प्रकार जो अतीन्द्रियदर्शी नहीं हैं अर्थात् स्थूल पदार्थको ही जानते हैं उनके लिए युक्ति और आगमके बलसे मुख्यकालका सद्भाव बताकर उसे व्यवस्थित किया है ॥१५॥ समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक और लव आदिको व्यवहार-काल जानना चाहिए ऐसा समयके ज्ञाता आचार्योंने वर्णन किया है ॥१६॥ सर्वजघन्य गतिसे परिणामको प्राप्त हुआ परमाणु जितने समयमें अपने द्वारा प्राप्त स्वर्गीय प्रदेशका उल्लंघन करता है उतने समयको समय-शास्त्रके ज्ञाता आचार्योंने समय कहा है। यह समय अविभागी होता है तथा परकी मान्यताको रोकनेवाला है ॥१७–१८॥

असंख्यात समयकी एक आवली होती है, संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास निश्वास होता है, दो उच्छ्वास निश्वासोंका एक प्राण होता है। सात प्राणोंका एक स्तोक होता है, सात स्तोकोंका एक लव होता है, सत्तर लवोंका एक मुहूर्त होता है, तीस मुहूर्तोंका एक दिन-रात होता है, पन्द्रह दिन-रातका एक पक्ष होता है, दो पक्षका एक मास होता है, दो मासकी एक ऋतु होती है, तीन ऋतुओंका एक अयन होता है, दो अयनोंका एक वर्ष होता है, पाँच वर्षोंका एक युग होता है, दो युगोंके दश वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर सौ वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर हजार वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर दश हजार वर्ष होते हैं, इसमें दशका गुणा करनेपर एक लाख वर्ष होते हैं इसमें चौरासीका गुणा करनेपर एक पूर्वाङ्ग होता है, चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व, चौरासी लाख पूर्वोंका एक नियुताङ्ग, चौरासी लाख नियुताङ्गोंका एक नियुत, चौरासी लाख नियुतोंका एक कुमुदाङ्ग, चौरासी लाख कुमुदाङ्गोंका एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदोंका एक पद्माङ्ग, चौरासी लाख पद्माङ्गोंका एक पद्म, चौरासी लाख पद्मोंका एक नलिनाङ्ग, चौरासी लाख नलिनाङ्गोंका एक नलिन, चौरासी लाख नलिनोंका एक कमलाङ्ग, चौरासी लाख कमलाङ्गोंका एक कमल, चौरासी लाख कमलोंका एक तुट्याङ्ग, चौरासी लाख तुट्याङ्गोंका एक तुट्य, चौरासी लाख तुट्योंका एक अटटाङ्ग, चौरासी लाख

१. युक्तागम- म०, क० । २. -कोच्छ्वासः प्राण म० । ३. निरुद्धः परमास्थितः म० ।

ऊहाङ्गमूहमप्यस्माल्लताङ्गं च लताह्वयम् । महालताङ्गसंज्ञं स्यात् कालवस्तु महालता ॥२९॥
शिरःप्रकम्पितं प्रोक्तं ततो हस्तप्रहेलिका । चर्चिकेत्यादिकः कालः सङ्ख्येयः परिभाषितः ॥३०॥
वर्षसङ्ख्याव्यतिक्रान्तः कालोऽसंख्येय इष्यते । पल्यसागरसङ्ख्यानं कल्पानन्तादिभेदवान् ॥३१॥
[1]आदिमध्यान्तनिर्मुक्तं निर्विभागमतीन्द्रियम् । मूर्तमप्यप्रदेशं च परमाणुं प्रचक्षते ॥३२॥
एकदैकं रसं वर्णं गन्धं स्पर्शावबाधकौ । दधत् स वर्ततेऽभेद्यः शब्दहेतुरशब्दकः ॥३३॥
आशङ्क्या नार्थतत्त्वज्ञैर्नभोंऽशानां समन्ततः । षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ॥३४॥
स्वल्पाकाशषडंशाश्च परमाणुश्च संहताः । सप्तांशाः स्युः कुतस्तु स्यात्परमाणोः षडंशता ॥३५॥
वर्णगन्धरसस्पर्शैः पूरणं गलनं च यत् । कुर्वन्ति स्कन्धवत्तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः ॥३६॥
[2]अनन्तानन्तसङ्ख्यानपरमाणुसमुच्चयः । अवसंज्ञादिकासंज्ञा स्कन्धजातिस्तु जायते ॥३७॥
ताभिरष्टाभिरप्युक्ता संज्ञासंज्ञादिका तथा । ताभिरप्यष्ट संज्ञाभिस्तुटिरेणुः स्फुटीकृतः ॥३८॥

अटटाङ्गोंका एक अटट, चौरासी लाख अटटोंका एक अममाङ्ग, चौरासी लाख अममाङ्गोंका एक अमम, चौरासी लाख अममोंका एक ऊहाङ्ग, चौरासी लाख ऊहाङ्गोंका एक ऊह, चौरासी लाख ऊहोंका एक लताङ्ग, चौरासी लाख लताङ्गोंकी एक लता, चौरासी लाख लताङ्गोंका एक महा लताङ्ग, चौरासी लाख महालताङ्गोंकी एक महालता, चौरासी लाख महालताओंका एक शिरः-प्रकम्पित, चौरासी लाख शिरःप्रकम्पितोंकी एक हस्त प्रहेलिका और चौरासी लाख प्रहेलिकाओंकी एक चर्चिका होती है। इस प्रकार चर्चिका आदिको लेकर संख्यात काल कहा गया है ॥१९-३०॥ जो वर्षोंकी संख्यासे रहित है वह असंख्येय काल माना जाता है इसके पल्य, सागर, कल्प तथा अनन्त आदि अनेक भेद हैं ॥३१॥

जो आदि मध्य और अन्तसे रहित है, निर्विभाग है, अतीन्द्रिय है और मूर्त होनेपर भी अप्रदेश—द्वितीयादिक प्रदेशोंसे रहित है उसे परमाणु कहते हैं ॥३२॥ वह परमाणु एक कालमें एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और परस्परमें बाधा नहीं करनेवाले दो स्पर्शोंको धारण करता है, अभेद्य है, शब्दका कारण है और स्वयं शब्दसे रहित है ॥३३॥ पदार्थके स्वरूपको जाननेवाले लोगोंको ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि सब ओरसे एक समय आकाशके छह अंशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुमें षडंशता है ॥३४॥ क्योंकि ऐसा माननेपर आकाशके छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तमांश हो जाते हैं अब परमाणुमें षडंशता कैसे हो सकती है? ॥३५॥ क्योंकि परमाणु रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके द्वारा पूरण तथा गलन करते रहते हैं इसलिए स्कन्धके समान परमाणु पुद्गल द्रव्य हैं ॥३६॥ अनन्तानन्त परमाणुओंके समूह-को अवसंज्ञ कहते हैं। ये अवसंज्ञ आदि स्कन्धकी ही जातियाँ हैं ॥३७॥ आठ अवसंज्ञाओंकी

---

१. अंतादिमज्झहीणं अपदेशं इंदियेहिं णहु गज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं वदंति जिणा ॥९८॥ —त्रै० प्र०

२. परमाणूहिं अणंताणंतेहिं बहुविहेहिं दव्वेहिं ।
अवसण्णासण्णोत्ति सो खंधो होइ णामेण ॥१०२॥
उवसण्णासण्णो वि य गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण ।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु इदि खंधो पमाणट्ठं ॥१०३॥
अट्ठेहिं गुणिदेहिं सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणु ।
तित्तियमेत्तहदेहिं तुडिरेणूहिं पि तसरेणु ॥१०४॥
तसरेणू रथरेणू उत्तमभोगावणीए बालग्गं ।
मज्झिमभोगखिदीए घोलं पि जहण्ण भोगखिदिवालं ॥१०५॥ इत्यादि —त्रै० प्र०

एतैरष्टबालाग्रैरेकमेकाग्रमानसैः । कर्मभूमिमनुष्याणां बालाग्रमिति भासितम् ॥३९॥
तैरष्टाभिर्भवेल्लिक्षा ताभिर्यूका तथाष्टभिः । यूकाभिस्तु यवोऽष्टाभिर्यवैरष्टाभिरङ्गुलम् ॥४०॥
उत्सेधाङ्गुलमेतत्स्यादुत्सेधोऽनेन देहिनाम् । अल्पावस्थितवस्तूनां प्रमाणं च प्रगृह्यते ॥४१॥
प्रमाणाङ्गुलमेकं स्यात् तत्पञ्चशतसङ्गुणम् । प्रथमस्यावसर्पिण्यामङ्गुलं चक्रवर्तिनः ॥४२॥
वोध्यं यथास्वमुत्सेधव्यासादि महतः पुनः । द्वीपसागरशैलादेः प्रमाणाङ्गुलसम्मितम् ॥४३॥
स्वे स्वे काले मनुष्याणामङ्गुलं स्वाङ्गुलं मतम् । मीयते तेन तच्छत्रभृङ्गारनगरादिकम् ॥४४॥
त्रिविधाङ्गुलषट्कः स्यात् पादः पादद्वयं पुनः । वितस्तिस्तद्द्वयं हस्तस्तद्द्वयं किष्कुरिष्यते ॥४५॥
दण्डः किष्कुद्वयं दण्डः धनुर्नाड्या समा मताः । अष्टौ दण्डसहस्राणि योजनं परिभाषितम् ॥४६॥
प्रमाणयोजनव्यासस्वावगाहं विशेषवत् । त्रिगुणं परिवेषेण क्षेत्रं पर्यन्तभित्तिकम् ॥४७॥
सप्ताहान्ताविरोमाग्रैरापूर्य कठिनीकृतम् । तदुद्धार्यमिदं पल्यं व्यवहाराख्यमिष्यते ॥४८॥
एकैकस्मिंस्ततो रोम्णि प्रत्यब्दशतमुद्धृते । यावताऽस्य क्षयः कालः पल्यं व्युत्पत्तिमात्रकृत् ॥४९॥
असङ्ख्येयाब्दकोटीनां समयै रोमखण्डितम् । प्रत्येकं पूर्वकं तत्स्यात्पल्यमुद्धारसंज्ञकम् ॥५०॥

एक संज्ञा-संज्ञा कही गई है, आठ संज्ञा-संज्ञाओंका एक त्रुटिरेणु प्रकट किया गया है ॥३८॥ आठ* त्रुटिरेणुओंका एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओंका एक रथरेणु, आठ रथरेणुओंका एक उत्तम भोगभूमिज मनुष्यके बालका अग्रभाग, उत्तमभोगभूमिज मनुष्यके आठ बालाग्रभागोंका एक मध्यमभोग भूमिज मनुष्यका बालाग्र और आठ मध्यमभोगभूमिज मनुष्यके बालाग्रोंका एक जघन्य भोगभूमिज मनुष्यका बालाग्र होता है] जघन्य भोगभूमिज मनुष्योंके आठ बालाग्रोंका एक कर्मभूमिज मनुष्यका बालाग्र होता है, इन आठ बालाग्रोंकी एक लीख, आठ लीखोंका एक जूंआ, आठ जुंओंका एक जौ और आठ जौका एक उत्सेधाङ्गुल होता है। इस उत्सेधाङ्गुलसे जीवोंके शरीरकी ऊँचाई और छोटी वस्तुओंका प्रमाण ग्रहण किया जाता है ॥३९-४१॥ उत्सेधाङ्गुलमें पाँच सौका गुणा करनेपर एक प्रमाणाङ्गुल होता है। यह प्रमाणाङ्गुल अवसर्पिणीके प्रथम चक्रवर्तीका अङ्गुल है ॥४२॥ इस अङ्गुलसे बड़े-बड़े द्वीप समुद्र आदिकी ऊँचाई चौड़ाई आदि यथायोग्य जानी जाती है ॥४३॥ अपने-अपने समयमें मनुष्योंका जो अङ्गुल है वह स्वाङ्गुल माना गया है इसके द्वारा छत्र, कलश तथा नगर आदिका विस्तार नापा जाता है ॥४४॥ छह अङ्गुलोंका एक पाद होता है, दो पादोंकी एक वितस्ति, दो वितस्तियोंका एक हाथ और दो हाथोंका एक किष्कु होता है ॥४५॥ दो किष्कुओंका एक दण्ड, धनुष अथवा नाड़ी होती है, आठ हजार दण्डोंका एक योजन कहा गया है ॥४६॥

एक ऐसा क्षेत्र (गर्त)बनाया जाय जो एक प्रमाण योजन बराबर लम्बा-चौड़ा तथा गहरा हो, जिसकी परिधि इससे कुछ अधिक तिगुनी हो तथा जिसके चारों तरफ दीवालें बनाई गई हों ॥४७॥ इस क्षेत्रको एकसे लेकर सात दिन तककी भेड़के बालोंके ऐसे टुकड़ोंसे जिनके कि दूसरे टुकड़े न हो सकें ऊपर तक कूट-कूट कर भरा जाय। इस गर्तको व्यवहारपल्य कहते हैं ॥४८॥ सौ-सौ वर्षके बाद एक-एक बालका टुकड़ा उस गर्तसे निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो जाय उतने समयको व्यवहारपल्योपम काल कहते हैं ॥४९॥ तदनन्तर उन्हीं बालके टुकड़ोंमें प्रत्येक टुकड़ेके, असंख्यात करोड़ वर्षोंमें जितने समय हैं उतने टुकड़े बुद्धिसे कल्पित टुकड़ोंसे पूर्वोक्त प्रमाणवाले गर्तको भरा जाय। इस भरे हुए गर्तको उद्धारपल्य कहते हैं और

---

१. रोमखण्डितैः म०, ग० ।

* कोष्ठकान्तर्गत भावको सूचित करनेवाले श्लोक सम्पादनके लिए प्राप्त चारों हस्तलिखित तथा एक मुद्रित पाँचों प्रतियोंमें नहीं है परन्तु है आवश्यक। इसलिए उनका प्रासङ्गिक अनुवाद दिया गया है।

कोटीकोट्यो दशामीषां[1] पल्यानां सागरोपमा । ताभ्यामर्द्धतृतीयाभ्यां द्वीपसागरसम्मितिः[2] ॥५१॥
[3]सोऽध्वा द्विगुणितो रज्जुस्तनुवातोभयान्तभाक् । निष्पद्यते[4] त्रयो लोकाः प्रमीयन्ते बुधैस्तथा ॥५२॥
असङ्ख्यवर्षकोटीनां समयै रोमखण्डितैः । उद्धारपल्यमद्धाख्यं स्यात्कालोऽद्धाभिधीयते ॥५३॥
कालः पल्योपमाख्योऽसौ समयं समयं प्रति । क्षीयमाणः प्रमाणार्थमायुषो विनियुज्यते ॥५४॥
कोटीकोट्यो दशामीषां जायते सागरोपमा । सैषा संसारिणां चाभिरायुःकर्मभवस्थितिः ॥५५॥
कोटीकोट्यो दशैतासां प्रत्येकमवसर्पिणी । उत्सर्पिणी च कालाः षट् प्रत्येकमनयोः समाः ॥५६॥
अवसर्पति वस्तूनां शक्तिर्यत्र क्रमेण सा । प्रोक्ताऽवसर्पिणी सार्था साऽन्यथोत्सर्पिणी तथा ॥५७॥
सुषमासुषमाऽऽद्या स्यात् द्वितीया सुषमा समा । दुःषमासुषमाऽऽद्या स्यात् सुषमादुःषमादिका ॥५८॥
दुःषमा चावसर्पिण्यामतिदुःषमया सह । ता एव प्रतिलोमाः स्युरुत्सर्पिण्यां च षट् समा ॥५९॥
कोटीकोटयश्चतस्रश्च तिस्रो द्वे च यथाक्रमम् । आदितस्तिसृणां तासां प्रमाणं सागरोपमाः ॥६०॥
द्वाचत्वारिंशदब्दानां सहस्रैः परिवर्जिता । कोटीकोटीसमुद्राणां तुरीयस्य यथाक्रमम् ॥६१॥
[5]तानि वर्षसहस्राणि विभक्तानि समं भवेत् । पञ्चमस्य च षष्ठस्य प्रमाणं कालवस्तुनः ॥६२॥
कल्पस्ते[6] द्वे तथार्थानां वृद्धिहानिमती स्थितिः । भरतैरावतक्षेत्रेष्वन्येष्वपि ततोऽन्यथा ॥६३॥

एक-एक समयमें एक-एक टुकड़ा निकालनेपर जितने समयमें वह गर्त खाली हो जाय उतने समयको उद्धारपल्योपम काल कहते हैं ॥५०॥ दश कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धार सागर होता है और ढाई उद्धार सागरोपम काल अथवा पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंके बालोंके जितने टुकड़े हों उतने द्वीपसागरोंका प्रमाण है ॥५१॥ द्वीपसागरोंका जो अध्वा अर्थात् एक दिशाका विस्तार है उसे दुगुना करनेपर रज्जुका प्रमाण निकलता है। यह रज्जु दोनों दिशाओंके तनुवातवलयके अन्त भागको स्पर्श करती है। विद्वान् लोग इसके द्वारा तीन लोकोंका प्रमाण निकालते हैं ॥५२॥ उद्धार पल्यके रोम खण्डोंके असंख्यात करोड़ वर्षोंके समय बराबर बुद्धि द्वारा खण्ड कल्पित किये जावें और उनसे पूर्वोक्त गर्तको भरा जाय। इस गर्तको अद्धा पल्य कहते हैं। उनमें से एक-एक समयके बाद एक-एक टुकड़ाके निकालनेपर जितने समयमें वह खाली हो जाय उतने समयको अद्धापल्योपम काल कहते हैं। आयुका प्रमाण बतलानेके लिए इसका उपयोग होता है ॥५३-५४॥ दश कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है, इसके द्वारा संसारी जीवोंकी आयु, कर्म तथा संसारकी स्थिति जानी जाती है ॥५५॥ दश कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंकी एक अवसर्पिणी तथा उतने ही सागरोंकी एक उत्सर्पिणी होती है। इनमें प्रत्येकके छह-छह भेद हैं ॥५६॥ जिसमें वस्तुओंकी शक्ति क्रमसे घटती जाती है उसे अवसर्पिणी और जिसमें बढ़ती जाती है उसे उत्सर्पिणी कहते हैं। इनका अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम सार्थक है ॥५७॥ १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमादुःषमा ये अवसर्पिणीके छह भेद हैं और इससे उल्टे अर्थात् १ दुःषमा-दुःषमा, २ दुःषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ये छह उत्सर्पिणीके भेद हैं ॥५८-५९॥ प्रारम्भके तीन कालोंका प्रमाण क्रमसे चार कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर और दो कोड़ाकोड़ी सागर है ॥६०॥ चौथे कालका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर है और पाँचवें तथा छठवें कालका प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है ॥६१-६२॥ जिस प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका अवसर्पिणी काल है उसी प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका उत्सर्पिणी काल है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों

१. दशैतेषां क० । २. द्वीपसागरप्रमाणम् । ३. द्वीपसागराणामेकस्मिन् दिशि मर्यादामार्गः अध्वा कथ्यते । ४. निष्पद्यन्ते म०, ग०, ङ०, क० । ५. द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि विभक्तानि द्विधाकृतानि अर्थात् एकविंशतिवर्षसहस्राणि । ६. उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ ।

आद्येषु त्रिषु कालेषु कल्पवृक्षविभूषिता । भोगभूमिरियं भूमिर्भोगभूमिस्तु भारती ॥६४॥
युग्मधर्मभुजो भूत्वा तेष्वाद्यो जगत्प्रजाः । षट्चतुर्द्विसहस्राणि धनूंषि वपुषोच्छ्रिताः ॥६५॥
आयुस्त्रिद्व्येकपल्यैस्तु तुल्यं तासां यथाक्रमम् । देवोत्तरकुरुक्षेत्रहरिहैमवतेष्विव ॥६६॥
प्रोद्यदादित्यवर्णाभाः पूर्णचन्द्रसमप्रभाः । प्रियङ्गुश्यामवर्णाश्च तेषु स्त्रीपुरुषास्त्रिषु ॥६७॥
[1]पृष्ठकाण्डकसङ्ख्यानं षट्पञ्चाशं शतद्वयम् । अष्टाविंशं शतं तेषां चतुःषष्टिर्यथाक्रमम् ॥६८॥
दिव्यं बदरमात्राक्षमात्रं च भोजनम् । तथाऽमलकमात्रं च चतुस्त्रिद्विदिनैस्त्रिषु ॥६९॥
तत्त्रिकालनियोगेन धरित्रीयं नियन्त्रिता । त्रिभेदानां तदा धत्ते नित्यभोगभुवां स्थितिम् ॥७०॥
रत्नप्रभा यथा भाति पृथिवीयमवस्थितैः । एषा तथा स्फुरद्रत्नपटलैरुपरिस्थितैः ॥७१॥
इन्द्रनीलादिभिर्नीलैः कृष्णैर्जात्यञ्जनादिभिः । पद्मरागादिकैः रक्तैः पीतैर्हेमादिभिः परैः ॥७२॥
श्वेतैर्मुक्तादिभिर्भूमिर्मयूखाक्रान्तदिङ्मुखैः । पञ्चवर्णैश्चिता रत्नैः स्वर्गभूरिव शोभते ॥७३॥
चन्द्रकान्तशिलाऽऽस्योर्वी विद्रुमाधरपल्लवा । ललनेव तदाऽऽभाति रत्नकाञ्चनकञ्चुका ॥७४॥
चन्द्रकान्तांशवः शीताः सूर्यकान्तांशवोऽन्यथा । विश्लिष्यन्त्यत्र नाश्लिष्टाः शीतोष्णव्यथिता इव ॥७५॥

मिलकर कल्प काल कहलाते हैं। इन दोनों कालोंके समय भरत ऐरावत क्षेत्रमें पदार्थोंकी स्थिति हानि और वृद्धिको लिये हुए होती है। इन दो क्षेत्रोंके सिवाय अन्य क्षेत्रोंमें पदार्थोंकी स्थिति हानिवृद्धिसे रहित—अवस्थित है ॥६३॥ प्रारम्भके तीन कालोंमें भरत क्षेत्रकी यह भूमि भोग-भूमि कहलाती है जो कि यथार्थमें नाना प्रकारके भोगोंकी भूमि—स्थान भी है ॥६४॥ उन तीनों कालोंके प्रारम्भमें मनुष्य क्रमसे छह हजार, चार हजार और दो हजार धनुष ऊँचे रहते थे तथा स्त्री-पुरुषोंकी उत्पत्ति युगल रूपमें—साथ ही साथ होती थी ॥६५॥ उस समय उनकी आयु देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवर्ष तथा हैमवत क्षेत्रके मनुष्योंके समान क्रमसे तीन पल्य, दो पल्य और एक पल्यके तुल्य होती थी ॥६६॥ उन तीन कालोंमें स्त्री-पुरुष क्रमसे उदित होते हुए सूर्यके समान, पूर्णचन्द्रके समान और प्रियङ्गु पुष्पके समान आभावाले होते थे ॥६७॥ उनकी पीठकी हड्डियोंकी संख्या पहले कालमें दो सौ छप्पन, दूसरे कालमें एक सौ अट्ठाईस और तीसरे कालमें चौंसठ थी ॥६८॥ उनका पहले कालमें चार दिनके अन्तरसे बेरके बराबर, दूसरे कालमें दो दिनके अन्तरसे बहेड़ाके बराबर और तीसरे कालमें दो दिनके अन्तरसे आँवलेके बराबर दिव्य—कल्पवृक्षोत्पन्न आहार होता था ॥६९॥ उन तीन कालोंके नियोगसे नियन्त्रित यह भारतवर्षकी भूमि उस समय क्रमशः तीन प्रकारकी स्थायी भोगभूमियोंकी रीतिको ग्रहण करती थी अर्थात् उस समय यहाँकी व्यवस्था शाश्वती उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंके समान थी ॥७०॥ जिस प्रकार रत्नप्रभा पृथिवी, स्थायी लगे हुए रत्नोंके पटलोंसे सुशोभित है उसी प्रकार भरत क्षेत्रकी यह भूमि भी उस समय ऊपर स्थित देदीप्यमान रत्नोंके पटलोंसे सुशोभित होती है ॥७१॥ अपनी किरणोंसे दिशाओंको व्याप्त करनेवाले इन्द्रनील आदि नीलमणि, जात्यञ्जन आदि कृष्णमणि, पद्मराग आदि लालमणि, हेम आदि पीले मणि और मुक्ता आदि सफेद मणि इस प्रकार पाँच वर्णके मणियोंसे व्याप्त हुई यह भूमि उस समय स्वर्गभूमिके समान सुशोभित हो रही थी ॥७२-७३॥ चन्द्रकान्तमणि जिसका मुख था, मूँगा जिसके ओठ थे तथा रत्न और स्वर्ण जिसकी चोली थे ऐसी यह भूमि उस समय किसी स्त्रीके समान सुशोभित होती थी ॥७४॥ चन्द्र-कान्त मणिकी किरणें शीतल होती हैं और सूर्यकान्त मणिकी उष्ण। परन्तु यहाँ दोनों ही एक दूसरेसे मिलकर अलग-अलग नहीं होती थीं जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्रकान्तकी किरणें ठण्डसे पीड़ित थीं इसलिए सूर्यकान्तकी उष्ण किरणोंको नहीं छोड़ना चाहती थीं और

---

१. पृष्ठास्थिचयानां संख्या एतेन पदेन वेदितव्या।

परस्परकराश्लेषरागमूर्च्छितमूर्तिभिः । मणिजातिविशेषैर्भूर्भाति प्रेमवशैरिव ॥७६॥
पञ्चवर्णसुखस्पर्शसुगन्धरसशब्दकैः । संच्छन्ना राजते क्षोणी तृणैश्च चतुरङ्गुलैः ॥७७॥
पूर्णैर्दधिमधुक्षीरघृतेक्षुरससज्जलैः । रत्नरोधोभिरत्यर्थमभाद् दिव्यवापीसरोवरैः ॥७८॥
नानावर्णमणिच्छन्नैः सौवर्णैः प्राणिसौख्यदैः । रम्यैः क्षोणीधरैः क्षोणी भ्राजते नितरां सदा ॥७९॥
ज्योतिर्गृहप्रदीपाङ्गैस्तूर्यभोजनभाजनैः । वस्त्रमाल्याङ्गभूषाङ्गैर्मद्याङ्गैश्च द्रुमैरभात् ॥८०॥
ज्योतिरङ्गद्रुमा ज्योतिश्छन्नचन्द्रार्कमण्डलाः । अहोरात्रकृतं भेदं भिन्दन्तो भान्ति सन्ततम् ॥८१॥
सोद्यानभूमयश्चित्राः प्रासादाः बहुभूमयः । गृहाङ्गद्रुमखण्डोत्था मण्डयन्ति नभोऽङ्गणम् ॥८२॥
विशालायतशाखाभिः पद्मकुड्मलपल्लवान् । धारयन्ति प्रदीपाभान् प्रदीपाङ्गमहीरुहाः ॥८३॥
चतुर्विधं शुभं वाद्यं ततं च विततं घनम् । सुषिरं च सृजन्त्यत्र तूर्याङ्गद्रुमजातयः ॥८४॥
षड्रसान्यतिमृष्टानि चतुर्भेदानि भोगिनाम् । भोजनाङ्गद्रुमा नानाभोजनानि सृजन्ति ते ॥८५॥
पात्राणि स्थालकं चोलसौवर्णादीन्यनेकशः । भाजनानि विचित्राणि भाजनाङ्गाः सृजन्त्यलम् ॥८६॥
पट्टचीनदुकूलानि वस्त्राणि विविधानि वै । बिभ्राणाः स्कन्धशाखासु भान्ति वस्त्राङ्गपादपाः ॥८७॥

सूर्यकान्तकी किरणें गर्मीसे पीड़ित हैं इसलिए चन्द्रकान्तकी शीतल किरणोंको नहीं छोड़ना चाहती थीं ॥७५॥ जिस प्रकार प्रेमके वशीभूत हुए मनुष्य परस्पर कराश्लेष अर्थात् हाथोंका आलिङ्गन करते हैं और राग अर्थात् प्रेमसे उनके शरीर मूर्च्छित रहते हैं, उसी प्रकार यहाँके नाना प्रकारके मणि भी परस्पर कराश्लेष अर्थात् किरणोंका आलिङ्गन करते हैं और राग अर्थात् रङ्गसे उनकी आकृति मूर्च्छित—वृद्धिंगत होती रहती है। इस प्रकार जो प्रेमके वशीभूतके समान जान पड़ते थे ऐसे मणियोंसे यह भूमि अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥७६॥ जिनका वर्ण पाँच प्रकारका था, स्पर्श सुखकारी था तथा गन्ध, रस और शब्द जिनके उत्तम थे ऐसे चार अंगुल प्रमाण तृणोंसे ढकी हुई यहाँकी भूमि सुशोभित हो रही थी ॥७७॥ जो दही, मधु, दूध, घी और ईखके समान स्वादवाले उत्तम जलसे भरे हुए थे तथा जिनके तट रत्ननिर्मित थे ऐसी सुन्दर-सुन्दर बावड़ियों और सरोवरोंसे वह भूमि अत्यधिक सुशोभित थी ॥७८॥ रङ्ग-विरङ्गे मणियोंसे आच्छादित एवं प्राणियोंको सुख देनेवाले सुवर्णमय सुन्दर पर्वतोंसे यह भूमि सदा अत्यधिक सुशोभित रहती थी ॥७९॥ १ ज्योतिरङ्ग, २ गृहाङ्ग, ३ प्रदीपाङ्ग, ४ तूर्याङ्ग, ५ भोजनाङ्ग, ६ भाजनाङ्ग, ७ वस्त्राङ्ग, ८ माल्याङ्ग, ९ भूषणाङ्ग और १० मद्याङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे वह भूमि सदा सुशोभित रहती थी ॥८०॥ जिन्होंने अपनी कान्तिसे चन्द्रमा और सूर्यके मण्डलको आच्छादित कर रखा था ऐसे ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्ष दिन-रातका भेद दूर करते हुए सदा सुशोभित रहते थे ॥८१॥ जो बाग-बगीचोंसे सहित थे तथा जिनमें अनेक खण्ड थे ऐसे गृहाङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्ष आकाश रूपी आँगनको सुशोभित कर रहे थे ॥८२॥ प्रदीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष अपनी लम्बी-चौड़ी शाखाओंसे दीपकके समान आभावाले कमलकी बोड़ियोंके आकार नये-नये पत्तोंको धारण कर रहे थे ॥८३॥ यहाँ जो तूर्याङ्ग जातिके कल्पवृक्ष थे वे तत, वितत, घन और सुषिरके भेदसे चार प्रकारके शुभ बाजोंको सदा उत्पन्न करते रहते थे ॥८४॥ भोजनाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष भोगी मनुष्योंके लिए छह प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण, अत्यन्त स्वादिष्ट तथा अन्न, पान, खाद्य और लेह्यके भेदसे चार भेदवाले नाना प्रकारके भोजनको उत्पन्न करते रहते थे ॥८५॥ भाजनाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष मणि एवं सुवर्णादिसे निर्मित थाली, कटोरा आदि अनेक प्रकारके बर्तन उत्पन्न करते थे ॥८६॥ वस्त्राङ्ग जातिके कल्पवृक्ष अपनी पीड तथा शाखाओंपर पाट, चीनी तथा रेशम आदिके बने हुए नाना प्रकारके वस्त्र धारण करते हुए

१. रत्नभासुराः क० ।

मालतीमल्लिकाद्युत्थकुसुमग्रथितानि तु । भान्ति माल्यानि बिभ्राणा माल्याङ्गधरणीरुहाः ॥८८॥

हारकुण्डलकेयूरकटिसूत्रादिभिश्चिताः । भूषणैर्भूषिताङ्गाश्च भान्ति स्त्रीपुरुषोचितैः ॥८९॥

मद्यभेदाः प्रसन्नाद्या मदशक्तेर्विधायकाः । सम्पाद्यन्ते नरस्त्रीणां हृद्या मद्याङ्गपादपैः ॥९०॥

दशधाकल्पवृक्षोत्थं भोगं युग्मानि भुञ्जते । दशाङ्गभोगचक्रेशभोगतोऽभ्यधिकं तदा ॥९१॥

तदा स्त्रीपुंसयुग्मानां गर्भान्निर्लुठितात्मनाम् । दिनानि सप्त गच्छन्ति निजाङ्गुष्ठावलेहनैः ॥९२॥

रंगतामपि सप्तैव सप्तास्थिरपराक्रमैः । स्थिरैश्च सप्त तैः सप्त कलासु च गुणेषु च ॥९३॥

कालेन तावता तेषां प्राप्तयौवनसम्पदाम् । सम्यक्त्वग्रहणेऽपि स्याद् योग्यता सप्तभिर्दिनैः ॥९४॥

स्त्रीपुंसलक्षणैः पूर्णा विशुद्धेन्द्रियबुद्धयः । कलागुणविदग्धास्ता रमन्ते नीरुजा प्रजाः ॥९५॥

नरा देवकुमाराभा नार्यो देवाङ्गनोपमाः । वर्णगन्धरसस्पर्शशब्दवेषमनोरमाः ॥९६॥

श्रोत्रं गीतरवे रूपे चक्षुर्घ्राणं सुसौरभे । जिह्वा सुखरसास्वादे सुस्पर्शे स्पर्शनं तनोः ॥९७॥

अन्योन्यस्य तदासक्तं दम्पतीनां निरन्तरम् । स्तोकमपि न सन्तृप्तं मनोऽधिष्ठितमिन्द्रियम् ॥९८॥

मिथुनानि यथा नृणां रमन्ते प्रेमनिर्भरम् । तथा कल्पद्रुमाहारैस्तिरश्चां तृप्तचेतसाम् ॥९९॥

क्वचित्सैंहं क्वचिन्नैभं क्वचिदौष्ट्रं च शौकरम् । क्वचित् क्रीडन्ति वैयाघ्रं मिथुनं मदमन्थरम् ॥१००॥

गवाश्वमहिषादीनां मिथुनानि मिथस्तदा । मर्त्यायुःप्रमितायूंषि रंरम्यन्ते निजेच्छया ॥१०१॥

आर्यामाह नरो नारीमार्यं नारी नरं निजम् । भोगभूमिनरस्त्रीणां नाम साधारणं हि तत् ॥१०२॥

उत्तमा जातिरेकैव चातुर्वर्ण्यं न षट्क्रियाः । न स्वस्वामिकृतः पुंसां सम्बन्धो न च लिङ्गिनः॥१०३॥

सुशोभित होते थे ॥८७॥ माल्याङ्ग जातिके कल्पवृक्ष मालती, मल्लिका आदिके ताजे फूलोंसे गुँथी हुई मालाओंको धारण करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥८८॥ भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष स्त्री-पुरुषोंके योग्य हार, कुण्डल, बाजूबन्द तथा मेखला आदि आभूषणोंसे व्याप्त हो सुशोभित थे ॥८९॥ और मद्याङ्ग जातिके कल्पवृक्षोंके द्वारा स्त्री-पुरुषोंके लिए प्रिय तथा उनकी मदशक्तिको उत्पन्न करनेवाले प्रसन्ना आदि नाना प्रकारके मद्य उत्पन्न किये जाते थे ॥९०॥ उस समय वहाँ स्त्री-पुरुषोंके युगल दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न चक्रवर्तीके दशाङ्ग भोगोंसे भी अधिक भोगोंका उपभोग करते थे ॥९१॥ उस समय गर्भसे उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुषों (युगलियों) के सात दिन तो अपना अँगूठा चूसते-चूसते व्यतीत हो जाते थे, तदनन्तर सात दिन रेंगते हुए, सात दिन लड़खड़ाती हुई गतिसे, सात दिन स्थिर गतिसे, सात दिन कला तथा अनेक गुणोंके अभ्यास-से और सात दिन यौवन रूप सम्पदाके प्राप्त करनेमें व्यतीत होते थे । उसके बाद सातवें सप्ताह-में उन्हें सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेकी योग्यता आती थी ॥९२-९४॥ स्त्री-पुरुषोंके उत्तमोत्तम लक्षणों-से युक्त, विशुद्ध इन्द्रिय और बुद्धिके धारक, कला और गुणोंमें चतुर एवं रोगोंसे रहित उस समयके लोग आनन्दसे क्रीड़ा करते थे ॥९५॥ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और वेषके द्वारा मनको आनन्दित करनेवाले वहाँके लोग देवकुमारोंके समान तथा वहाँकी स्त्रियाँ देवाङ्गनाओंके समान जान पड़ती थीं ॥९६॥ उस समय स्त्री-पुरुषोंके कान परस्परके संगीत शब्दोंमें, चक्षु रूपके देखनेमें, घ्राण सुगन्धिके ग्रहण करनेमें, जिह्वा मुखके रसास्वादमें और स्पर्शन शरीरके उत्तम स्पर्शके ग्रहण करनेमें निरन्तर आसक्त रहते थे । उनके मन तथा इन्द्रियाँ रञ्चमात्र भी सन्तुष्ट नहीं होती थीं ॥९७-९८॥ जिस प्रकार मनुष्योंके जोड़े कल्पवृक्ष सम्बन्धी आहारोंसे सन्तुष्ट हो प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार सन्तुष्ट चित्तके धारक तिर्यंचोंके जोड़े भी प्रेमपूर्वक क्रीड़ा करते थे ॥९९॥ उस समय कहीं सिंहोंके युगल, कहीं हाथियोंके युगल, कहीं ऊँटोंके युगल, कहीं शूकरोंके युगल, और कहीं मदसे धीमी चाल चलनेवाले व्याघ्रोंके युगल क्रीड़ा करते थे ॥१००॥ कहीं मनुष्योंके बराबर आयुको धारण करनेवाले गाय, घोड़े और भैंसोंके जोड़े अपनी इच्छानुसार अत्यधिक क्रीड़ा करते थे ॥१०१॥ वह पुरुष स्त्रीको आर्या और स्त्री पुरुषको आर्य कहती थी । यथार्थमें भोग भूमिज स्त्री-पुरुषोंका यह साधारण नाम है ॥१०२॥ उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती

मध्यस्था एव सर्वत्र न मित्राणि न शत्रवः । प्रकृत्याल्पकषायित्वाद्यान्ति चायुःक्षये दिवम् ॥१०४॥
सुखमृत्युः क्षुतेः पुंसो जृम्भारम्भेण च स्त्रियाः । जन्मबद्धस्य प्रेमस्य युगलस्य सहैव सः ॥१०५॥
अथ ज्ञात्वा गणाधीशः श्रेणिकस्य मनोगतम् । भोगभूमिसमुत्पत्तिनिमित्तमवर्णीदिति ॥१०६॥
कर्मभूमिगता मर्त्याः प्रकृत्याल्पकषायिणः । अत्र ते पात्रदानात् स्युर्भोगभूमिषु मानुषाः ॥१०७॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपःशुद्धिपवित्रिताः । मध्यस्थाः शत्रुमित्रेषु सन्तो हि पात्रमुत्तमम् ॥१०८॥
मध्यमं तु भवेत्पात्रं संयतासंयता जनाः । जघन्यमुदितं पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥१०९॥
त्रिविधेऽपि बुधः पात्रे दानं दत्त्वा यथोचितम् । भोगभूमिसुखं दिव्यं भुङ्क्ते भूत्वा तु मानुषः ॥११०॥
सुक्षेत्रे विधिवत्क्षिप्तं बीजमल्पमपि व्रजेत् । वृद्धिं यथा तथा पात्रे दानमाहारपूर्वकम् ॥१११॥
शाल्यीक्षुक्षेत्रनिक्षिप्तं यथा मिष्टं पयो भवेत् । धेनुभिश्च यथा पीतं क्षीरत्वं प्रतिपद्यते ॥११२॥
तथैवाल्परसास्वादमन्नपानौषधादिकम् । पात्रदत्तं परत्र स्यादमृतास्वादमक्षयम् ॥११३॥
निवृत्ताः स्थूलहिंसादेर्मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तयः । कुपात्रमिति विज्ञेयमपात्रमनिवृत्तयः ॥११४॥
कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यञ्चो भोगभूमिषु । सम्भुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा ॥११५॥
असत्क्षेत्रे यथा क्षिप्तं बीजमल्पफलं फलेत् । कुपात्रेऽपि तथा दत्तं दानं दात्रे कुभोगभाक् ॥११६॥
ऊषरक्षेत्रनिक्षिप्तशालिर्नश्यति मूलतः । यथाऽत्र विफलं दानं कुपात्रपतितं तथा ॥११७॥

है, वहाँ न ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं व असि, मषी आदि छह कर्म होते हैं, न सेवक और स्वामीका सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही होते हैं ॥१०३॥ वहाँके मनुष्य सब विषयोंमें मध्यस्थ रहते हैं, वहाँ न मित्र होते हैं और न शत्रु । एवं स्वभावसे ही अल्पकषायी होनेके कारण आयु समाप्त होनेपर सब नियमसे देव पर्यायको ही प्राप्त होते हैं ॥१०४॥ जन्मसे ही जिसका प्रेमभाव परस्परमें निबद्ध रहता था ऐसे पुरुषकी मृत्यु छींक आनेसे तथा स्त्रीकी मृत्यु जिमहाई लेने मात्रसे सुखपूर्वक हो जाती थी ॥१०५॥

अथानन्तर गणधर देव श्रेणिकका मनोभिप्राय जानकर भोगभूमिमें उत्पन्न होनेके कारण इस प्रकार कहने लगे ॥१०६॥ कर्म-भूमिके जो मनुष्य स्वभावसे ही मन्दकषाय होते हैं वे पात्र-दानके प्रभावसे भोगभूमिमें मनुष्य होते हैं ॥१०७॥ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तपकी शुद्धिसे पवित्र हैं तथा शत्रु और मित्रोंपर मध्यस्थ भाव रखते हैं ऐसे साधु उत्तम पात्र कहलाते हैं ॥१०८॥ संयमासंयमको धारण करनेवाले श्रावक मध्यम पात्र हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहे जाते हैं ॥१०९॥ उक्त तीनों प्रकारके पात्रोंमें यथायोग्य दान देकर बुद्धिमान् मनुष्य भोगभूमिमें आर्य होकर वहाँका दिव्य सुख भोगता है ॥११०॥ जिस प्रकार उत्तम क्षेत्रमें विधि-पूर्वक बोया हुआ छोटा भी बीज वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार पात्रके लिए दिया हुआ आहार आदि दान भी वृद्धिको प्राप्त होता है ॥१११॥ जिस प्रकार धान और ईखके खेतमें पड़ा हुआ जल मीठा हो जाता है और गायोंके द्वारा पीया हुआ पानी दूध पर्यायको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार पात्रके लिए दिया हुआ अल्प रसवाला अन्न, पान तथा औष-ध्यादिकका दान परभवमें अविनाशी तथा अमृतके समान स्वादसे युक्त हो जाता है ॥११२-११३॥ जो स्थूल हिंसा आदिसे निवृत्त हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्रके धारक हैं वे कुपात्र कहलाते हैं और जो स्थूल हिंसा आदिसे भी निवृत्त नहीं हैं उन्हें अपात्र जानना चाहिए ॥११४॥ कुपात्र दानके प्रभावसे मनुष्य, भोगभूमियोंमें तिर्यञ्च होते हैं अथवा कुमानुष कुलोंमें उत्पन्न होकर अन्तर द्वीपोंका उपभोग करते हैं ॥११५॥ जिस प्रकार खराब खेतमें बोया हुआ बीज अल्प फलवाला होता है उसी प्रकार कुपात्रके लिए दिया हुआ दान भी दाताको कुभोग प्राप्त करानेवाला होता है ॥११६॥ जिस प्रकार ऊषर क्षेत्रमें बोया हुआ धान समूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कुपात्रके लिए दिया हुआ दान भी निष्फल हो जाता है ॥११७॥

[1]अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृद् यथा । विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा ॥११८॥
सुपात्रे सुफलं दानं कुपात्रे कुफलं भवेत् । अपात्रे दुःखदं तस्मात्पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत् ॥११९॥
यात्युपाधिवशाद् भेदं निर्मलः स्फटिकोपलः । यथा तथा च दानार्थं प्रतिग्राहकभेदतः ॥१२०॥
सम्यग्दृष्टिः पुनः पात्रे स्वपरानुग्रहेच्छया । दानं दत्वा विशुद्धात्मा स्वर्गमेव गृही व्रजेत् ॥१२१॥
अथ कालद्वयेऽतीते क्रमेण सुखकारणे । पल्याष्टभागशेषे च तृतीये समवस्थिते ॥१२२॥
क्रमेण क्षीयमाणेषु कल्पवृक्षेषु भूरिषु । क्षेत्रे कुलकरोत्पत्तिं शृणु श्रेणिक ! साम्प्रतम् ॥१२३॥
गङ्गासिन्धुमहानद्योर्मध्ये दक्षिणभारते । चतुर्दश यथोत्पन्नाः क्रमेण कुलकारिणः ॥१२४॥
प्रतिश्रुतिरभूदाद्यस्तेषां कुलकरप्रभुः । महाप्रभावसम्पन्नः स्वभवस्मरणान्वितः ॥१२५॥
तस्य काले प्रजा दृष्ट्वा पौर्णमास्यां सहैव खे । आकाशगजघण्टाभे द्वे चन्द्रादित्यमण्डले ॥१२६॥
आकस्मिकभयोद्विग्नाः स्वमहोत्पातशङ्किताः । प्रजाः सम्भूय पप्रच्छुस्तं प्रभुं शरणागताः ॥१२७॥
नरप्रधान ! कावेतावपूर्वौ गगनान्तयोः । [2]दृश्येते मण्डलाकारावकाण्डे नो भयङ्करौ ॥१२८॥
अहो दुःसहमस्माकमकस्मात् भयमुद्गतम् । किं महाप्रलयः प्राप्तः प्रजानामेव दुस्तरः ॥१२९॥
इति पृष्टः प्रभुः प्राह शुचं मुञ्चत हे प्रजाः । न किञ्चिद् भयमस्माकं स्वस्था भवत कथ्यते ॥१३०॥
प्रभामण्डलसंवीतमेतदादित्यमण्डलम् । प्रतीच्यां वीक्ष्यते भद्रा ! प्राच्यां भोरचन्द्रमण्डलम् ॥१३१॥

जिस प्रकार नीमके वृक्षमें पड़ा हुआ पानी कड़ुआ हो जाता है, कोदोंमें दिया हुआ पानी मद-कारक हो जाता है और सर्पके मुखमें पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया हुआ दान विपरीत फलको करनेवाला हो जाता है ॥११८॥ चूँकि सुपात्रके लिए दिया हुआ दान सुफलको देनेवाला है, कुपात्रके लिए दिया हुआ दान कुफलको देनेवाला है और अपात्रके लिए दिया हुआ दान दुःख देनेवाला है अतः पात्रके लिए ही दान देना चाहिए ॥११९॥ जिस प्रकार निर्मल स्फटिकमणि उपाधिके वशसे भेदको प्राप्त होता है उसी प्रकार पात्रके भेद-से दानका फल भी भेदको प्राप्त हो जाता है ॥१२०॥ निर्मल अभिप्रायको धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ यदि पात्रके लिए दान देता है तो वह नियमसे स्वर्ग ही जाता है ॥१२१॥

अथानन्तर सुखके कारणभूत जब प्रारम्भके दो काल बीत गये और पल्यके आठवें भाग बराबर तीसरा काल बाकी रह गया तथा कल्पवृक्ष जो पहले अधिक मात्रामें थे क्रम-क्रमसे कम होने लगे तब इस क्षेत्रमें कुलकरोंकी उत्पत्ति हुई। हे श्रेणिक ! मैं इस समय उन्हीं कुल-करोंकी उत्पत्ति कहता हूँ तू श्रवण कर ॥१२२-१२३॥ गङ्गा और सिन्धु महानदियोंके बीच दक्षिण भरत क्षेत्रमें क्रमसे चौदह कुलकर उत्पन्न हुए थे ॥१२४॥ उन कुलकरोंमें पहला कुलकर प्रतिश्रुति था। वह महा प्रभावसे सम्पन्न था तथा अपने पूर्वभवके स्मरणसे सहित था ॥१२५॥ उसके समय प्रजाके लोग पौर्णमासीके दिन आकाशमें एक साथ, आकाशरूपी हाथीके दो घंटाओंके समान आभावाले चन्द्र और सूर्य-मण्डलको देखकर अपने ऊपर आनेवाले किसी महान् उत्पातसे शङ्कित हो आकस्मिक भयसे उद्विग्न हो उठे तथा सब एकत्रित हो प्रतिश्रुति कुलकरकी शरणमें जाकर उससे पूछने लगे ॥१२६-१२७॥ कि हे नररत्न ! आकाशके दोनों छोरोंपर, मण्डलाकार तथा असमयमें हम लोगोंको भय उत्पन्न करनेवाले ये दो कौन अपूर्व पदार्थ दीख रहे हैं ? ॥१२८॥ अहो ! हम लोगोंके लिए यह अकस्मात् ही दुःसह भय प्राप्त हुआ है। क्या यह प्रजाके लिए दुस्तर महाप्रलय ही आ पहुँचा है ? ॥१२९॥ इस प्रकार पूछे जानेपर स्वामी प्रतिश्रुतिने कहा कि हे प्रजाजनो ! भय छोड़ो, हमारे लिए कुछ भी भय प्राप्त नहीं हुआ है। आप लोग स्वस्थ रहिए। ये जो दिखाई दे रहे हैं मैं उनका कथन करता हूँ ॥१३०॥ हे भद्रपुरुषो ! यह पश्चिममें प्रभाके समूहसे व्याप्त सूर्य-मण्डल

---

१. अम्बु निम्बद्रुमे क०, ख० । २. दृश्यते म० ।

ज्योतिश्चक्राधिपावेतौ सूर्याचन्द्रमसौ स्थितौ[1] । मेरुप्रदक्षिणौ[2] नित्यं भ्रमन्तौ भ्रमणात्मकौ ॥१३२॥
चतुर्विधेषु देवेषु ज्योतिर्देवकदम्बकम् । खे करोत्यनयोर्नित्यमनुभ्रमणमीशयोः ॥१३३॥
ज्योतिरङ्गमहावृक्षप्रभाच्छादितविग्रहौ । प्रागन्यत्र विदेहेभ्यो न गतौ दृष्टिगोचरम् ॥१३४॥
तेजोहीनेऽधुना लोके ज्योतिरङ्गप्रभाक्षये । जिगीषयेव चन्द्रार्कौ स्थितौ प्रकटविग्रहौ ॥१३५॥
अहोरात्रादिको भेदो भवत्यर्कवशादिह । अथुनेन्दुवशाद् व्यक्तिः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः ॥१३६॥
शीतदीधितिरस्ताभो घर्मदीधितिना दिवा । न स्पष्टः स्पष्टतामेति ज्योतिश्चक्रसखो निशि ॥१३७॥
पूर्वजन्मनि युष्माभिर्दृष्टपूर्वाविमौ स्फुटम् । विदेहेषु यतस्तस्मान्नाद्य वोऽपूर्वदर्शनौ ॥१३८॥
दृष्टश्रुतानुभूतस्य वस्तुनः सति दर्शने । माभूदुत्पातशङ्का वो निर्भया भवत प्रजाः ॥१३९॥
कालस्वभावभेदेन स्वभावो भिद्यते[3] ततः । द्रव्यक्षेत्रप्रजावृत्तवैपरीत्यं प्रजायते ॥१४०॥
अव्यवस्थानिवृत्त्यर्थमतः परमतः प्रजाः । हा मा धिक्कारतो भूताः तिस्रो वै दण्डनीतयः ॥१४१॥
मर्यादोल्लङ्घनेच्छस्य कथञ्चित्कालदोषतः । दोषानुरूपमायोज्याः स्वजनस्य परस्य वा ॥१४२॥
नियन्त्रितो जनः सर्वस्तिसृभिर्दण्डनीतिभिः । दृष्टदोषभयत्रस्तो दोषेभ्यो विनिवर्तते ॥१४३॥
रक्षणार्थमनर्थेभ्यः प्रजानामर्थसिद्धये[4] । प्रमाणमिह कर्तव्याः प्रणीता दण्डनीतयः ॥१४४॥
प्रासादेषु यथास्थानं मिथुनान्यकुतोभयम् । अनुस्मृत्यावतिष्ठन्त्वस्मदीयमनुशासनम् ॥१४५॥
[5]इत्युक्ता प्रतिपद्याऽऽशु वचस्तस्य प्रजापतेः । श्रुत्वा तस्थुर्यथास्थानं प्रजातप्रमदाः प्रजाः ॥१४६॥

और यह पूर्व दिशामें चन्द्र-मण्डल दिखाई दे रहा है ॥१३१॥ ये सूर्य और चन्द्रमा समस्त ज्योतिश्चक्रके स्वामी हैं, भ्रमणशील हैं और निरन्तर मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए घूमते रहते हैं ॥१३२॥ चार प्रकारके देवोंमें जो ज्योतिषी देवोंका समूह है वह आकाशमें निरन्तर अपने इन दोनों स्वामियोंके पीछे-पीछे भ्रमण करता रहता है ॥१३३॥ पहले इनका आकार ज्योतिरङ्ग जातिके महावृक्षोंकी प्रभासे आच्छादित था इसलिए ये विदेह क्षेत्रको छोड़ अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं थे ॥१३४॥ इस समय लोक, ज्योतिरङ्ग वृक्षोंकी प्रभा क्षीण हो जानेसे तेजरहित हो गया है इसलिए उसे जीतनेकी इच्छासे ही मानो चन्द्रमा और सूर्य अपने शरीरको प्रकटकर स्थित हैं ॥१३५॥ अब पृथिवीपर सूर्यके भेदसे दिन-रातका भेद होगा और चन्द्रमाके द्वारा शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष प्रकट होंगे ॥१३६॥ दिनके समय चन्द्रमा सूर्यके द्वारा अस्त जैसा हो जाता है, स्पष्ट नहीं दिखाई देता और रात्रिके समय स्पष्टताको प्राप्त हो जाता है। यह चन्द्रमा समस्त ज्योतिश्चक्रका सखा है ॥१३७॥ तुम लोगोंने पूर्व जन्मके समय विदेह क्षेत्रमें इन्हें अच्छी तरह देखा है इसलिए आज इनका दिखना तुम्हारे लिए अपूर्व नहीं है ॥१३८॥ पहले देखी सुनी और अनुभवमें आई वस्तुका दर्शन होनेपर आप लोगोंको उत्पातकी आशङ्का नहीं होनी चाहिए। हे प्रजाजनो! तुम सब निर्भय होओ—उत्पातका भय छोड़ो ॥१३९॥ कालके स्वभावमें भेद होनेसे पदार्थोंका स्वभाव भिन्न रूप हो जाता है और उसीसे द्रव्य क्षेत्र तथा प्रजाके व्यवहारमें विपरीतता आ जाती है ॥१४०॥ इसलिए हे प्रजाजनो! अब इसके आगे अव्यवस्था दूर करनेके लिए हा, मा और धिक् ये तीन दण्डकी धाराएँ स्थापित की जाती हैं ॥१४१॥ यदि कोई स्वजन या परजन काल दोषसे मर्यादाके लाँघनेकी इच्छा करता है तो उसके साथ दोषोंके अनुरूप उक्त तीन धाराओंका प्रयोग करना चाहिए ॥१४२॥ तीन धाराओंसे नियन्त्रणको प्राप्त हुए समस्त मनुष्य इस भयसे त्रस्त रहते हैं कि हमारा कोई दोष दृष्टिमें न आ जाय। और इसी भयसे वे दोषोंसे दूर हटते रहते हैं ॥१४३॥ अनर्थोंसे बचनेके लिए तथा प्रजाकी भलाईके लिए आप लोगोंको ये निश्चित की हुई दण्डकी धाराएँ स्वीकृत करनी चाहिए ॥१४४॥ हमारी आज्ञाका स्मरणकर अब सब युगल निर्भय हो यथास्थान महलोंमें निवास करें ॥१४५॥ इस प्रकार कहने-

१. स्थितं म० । २. प्रदक्षिणां म० । ३. विद्यते म० । ४. हितसिद्धये । ५. इत्युक्त्वा म० ।

प्रतिश्रुतं वचस्ताभिर्यतस्तस्य गुरोर्यथा । प्रथमं प्रथितस्तस्मात्स पृथिव्यां प्रतिश्रुतिः ॥१४७॥
पल्यस्य दशमं भागं जीवित्वाऽसौ प्रतिश्रुतिः । पुत्रं सन्मतिमुत्पाद्य जीवितान्ते दिवं [1]सृतः ॥१४८॥
स रक्षन् पितृमर्यादां प्रजानां सम्मतो यतः । ततः सन्मतिनामायं कुलकारी कलालयः ॥१४९॥
पल्यस्य शततमं भागं स प्रतिजीव्य निजस्थितिम् । पुत्रं क्षेमङ्कराभिख्यमुत्पाद्य त्रिदिवं गतः ॥१५०॥
प्रजानां च तदा जाताः सिंहव्याघ्रविभीषिकाः[2] । सोऽपि क्षेमं ततः कृत्वा प्राप्तः क्षेमङ्करश्रुतिम् ॥१५१॥
सहस्रभागमाजीव्य पल्यस्यासौ प्रजाप्रभुः[3] । पुत्रं क्षेमन्धराभिख्यं जनयित्वा गतो दिवम् ॥१५२॥
क्षेमन्धरः स मत्वार्यस्थितिं कुलकरो गुरोः । सहस्रभागमाजीव्य पल्यस्य दशसङ्गुणम् ॥१५३॥
सूनुं सीमङ्करं नाम्ना समुत्पाद्य ययौ दिवम् । वृक्षलुब्धप्रजानां च स सीमामकरोत् प्रभुः ॥१५४॥
लक्षभागं स पल्यस्य जीवित्वा स्वर्गगोऽभवत् । सीमन्धरो यथार्थाख्यस्तत्सुतो दशताडितम् ॥१५५॥
तत्पुत्रो वाहनीकृत्य चिक्रीड विपुलद्विपान् । यतस्ख्यातः स भूम्नाऽभूत् नाम्ना विपुलवाहनः ॥१५६॥
कोटीभागं स पल्यस्य जीवित्वा स्वर्गमाश्रितः । चक्षुष्मानिति तत्सूनुरजनिष्ट जनप्रभुः ॥१५७॥
पुत्रचक्षुर्मुखालोकाच्चक्षुर्मत्वा भियाऽभया । आयुष्मत् प्रजया गीतश्चक्षुष्मानित्यसौ प्रभुः ॥१५८॥
कोटीभागं स पल्यस्य दशताडितमीडितः । भुक्त्वा भोगमुदात्तोऽपि[4] [5]स्वरितोऽभूत्स्थितिक्षये ॥१५९॥

पर सब लोगोंने प्रतिश्रुति कुलकरके वचन शीघ्र ही स्वीकृत किये और सब बड़ी प्रसन्नतासे यथा-स्थान महलोंमें रहने लगे ॥१४६॥ जिस प्रकार गुरुके वचन स्वीकृत किये जाते हैं उसी प्रकार प्रजाने चूँकि उसके वचन स्वीकृत किये थे इसलिए वह पृथिवीपर सर्वप्रथम प्रति श्रुति इस नाम-से प्रसिद्ध हुआ था ॥१४७॥ यह प्रतिश्रुति कुलकर, पल्यके दशवें भाग तक जीवित रहकर तथा सन्मति नामके पुत्रको उत्पन्नकर आयुके अन्तमें स्वर्ग गया ॥१४८॥ सन्मति कुलकर पिताकी मर्यादाकी रक्षा करता था, प्रजाको अतिशय मान्य था और अनेक कलाओंका घर था इसलिए सन्मति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१४९॥ वह सन्मति पल्यके सौवें भाग जीवित रहकर तथा क्षेमङ्कर नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१५०॥ उसके समयमें प्रजाको सिंह तथा व्याघ्रोंसे भय उत्पन्न होने लगा था उससे उनका कल्याण कर वह क्षेमङ्कर इस नामको प्राप्त हुआ था ॥१५१॥ यह प्रजाका स्वामी पल्यके हजारवें भाग जीवित रहकर तथा क्षेमन्धर नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१५२॥ वह क्षेमन्धर पिताकी आर्य मर्यादाकी रक्षा करनेवाला था और पल्यके दश हजारवें भाग जीवित रहकर तथा सीमङ्कर नामक पुत्रको उत्पन्नकर स्वर्ग गया। इसके समयमें कल्पवृक्षोंकी संख्या कम हो गई थी इसलिए उनकी लोभी प्रजामें परस्पर कलह होने लगी थी। इसने उनकी सीमा निर्धारित की थी इसलिए यह सीमङ्कर इस सार्थक नामको धारण करता था। यह पल्यके लाखवें भाग जीवित रहकर स्वर्गगामी हुआ और इसके सीमन्धर इस सार्थक नामको धारण करनेवाला पुत्र हुआ। वह पल्यके दश लाखवें भाग जीवित रहकर स्वर्ग गया। इसके विपुलवाहन नामका पुत्र हुआ, यह बड़े-बड़े हाथियोंको वाहन बनाकर उनपर अत्यधिक क्रीड़ा करता था इसलिए विपुलवाहन इस नामका धारी हुआ था ॥१५३-१५६॥ वह पल्यके करोड़वें भाग जीवित रहकर स्वर्ग गया और उसके चक्षुष्मान् नामका पुत्र हुआ ॥१५७॥ पहले माता-पिता, पुत्रका मुख तथा चक्षु देखे विना ही मर जाते थे पर इसके समय पुत्रका मुख और चक्षु देखकर मरने लगे इससे प्रजाको कुछ भय उत्पन्न हुआ परन्तु इसने उन सबके भयको दूर किया इसलिए कुछ अधिक काल तक जीवित रहनेवाली प्रजाने इसे 'चक्षुष्मान्' इस नामसे सम्बोधित किया ॥१५८॥ स्तुतिको प्राप्त हुआ वह चक्षुष्मान् पल्यके दश करोड़वें भाग तक भोग भोगकर आयु समाप्त होनेपर स्वर्ग गया। वह यद्यपि उदात्त=उदात्त नामका स्वर था तो भी

१. स्मृतः म० । २. व्याघ्रादिभीषकाः म० । ३. प्रजां प्रभुः म० । ४. उदात्तो महान् अन्यत्र उदात्तः स्वर उच्यते । ५. स्वर् इतः=स्वर्गं गतः, अन्यत्र स्वरितस्वर उच्यते शब्दच्छलेन ।

तदपत्यं यशस्वीति स्वकालेऽपत्यनामकया । प्रजयायोजयत्प्रायो योजितो [1] यशसाऽरुणा ॥१६०॥
कोटीभागं स पल्यस्य शतसङ्गुणितं प्रभुः । जीवित्वोत्पाद्य सत्पुत्रमभिचन्द्रं दिवं गतः ॥१६१॥
तत्कालेऽपत्यमुत्क्षिप्य प्रजा रमयति स्म यत् । अभिचन्द्रमतः प्राप्तस्तोऽभिचन्द्र इति श्रुतिम् ॥१६२॥
कोटीभागं स पल्यस्य सहस्रगुणितं गुणी । सञ्जीव्योत्पाद्य चन्द्राभं तनयं प्रययौ दिवम् ॥१६३॥
कोटीभागं सहस्रं तु तस्यायुर्दशसङ्गुणम् । पल्यस्य मरुदेवं स मासं पुत्रमलालयत् ॥१६४॥
मरुदेवस्य काले च मातः पितरिति ध्वनिम् । शुश्राव शिशुयुग्मस्य प्रथमं मिथुनं कलम् ॥१६५॥
एकमेवासृजत्पुत्रं प्रसेनजितमत्र सः । युग्मसृष्टेरिहैवोर्ध्वमितो स्वपनिर्गीषया ॥१६६॥
प्रसेनजितमायोज्य प्रस्वेदलवभूषितम् [2] । विवाहविधिना वीरः प्रधानकुलकन्यया ॥१६७॥
कोटीभागसहस्रं स पल्यस्य शतसङ्गुणम् । सञ्जीव्य मरुदेवोऽपि महतां लोकमुपयौ ॥१६८॥
पूर्वकोट्यायुषं नाभिं प्रसेनजिदजीजनत् । नाभिच्छेदव्यवस्थायाः कर्तारं स्वर्गगामिनम् ॥१६९॥
दशानां कोटिलक्षाणां पल्यांशानामथांशकम् । जीवित्वा कालधर्मेण प्रसेनजिदितो दिवम् ॥१७०॥
शतान्यष्टादशोत्सेधो धनूंष्यासन्प्रतिश्रुतेः । त्रयोदश तु पुत्रस्य पौत्रस्याष्टशतान्यतः ॥१७१॥
परतः क्रमहानिस्तु धनुषां पञ्चविंशतेः । स पञ्चविंशतिः शेषा नाभेः पञ्चधनुःशती ॥१७२॥
आद्यसंस्थानसङ्घातगम्भीरोदारमूर्तयः । स्वपूर्वभवविज्ञाना मनवस्ते चतुर्दश ॥१७३॥

स्वरित=स्वरित नामका स्वर हुआ था यह विरोध है। परिहार पक्षमें वह उदात्त–महान् था और स्वरितः=स्वर् इतः—स्वर्ग गया था ॥१५९॥ चक्षुष्मान्‌का पुत्र यशस्वी हुआ। इसने अपने समयमें प्रजाको पुत्रका नाम रखना सिखाया इसलिए प्रजाने इसे विस्तृत यशसे युक्त किया अर्थात् इसका यशस्वी यह नाम रक्खा ॥१६०॥ वह पल्यके सौ करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा अभिचन्द्र नामक उत्तम पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१६१॥ उसके समयमें प्रजा अपनी सन्तानको ऊपर उठा चन्द्रमाके सामने क्रीड़ा कराती थी इसलिए वह अभिचन्द्र इस नामको प्राप्त हुआ था ॥१६२॥ वह गुणवान् कुलकर पल्यके हजार करोड़वें भाग जीवित रहकर तथा चन्द्राभ नामक पुत्रको उत्पन्न कर स्वर्ग गया ॥१६३॥ चन्द्राभने पल्यके दश हजार करोड़वें भाग तक जीवित रहकर मरुदेवको उत्पन्न किया। वह अपने मरुदेव पुत्रको एक मास तक खिलाता रहा अनन्तर स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥१६४॥ मरुदेवके समय स्त्री-पुरुष अपनी सन्तानके मुखसे 'हे माँ', 'हे पिता' इस प्रकारके मनोहर शब्द सुनने लगे थे ॥१६५॥ पहले यहाँ युगल सन्तान उत्पन्न होती थी परन्तु इसके आगे युगल सन्तानकी उत्पत्तिको दूर करनेकी इच्छासे ही मानो मरुदेवने प्रसेनजित् नामक अकेले पुत्रको उत्पन्न किया था ॥१६६॥ इसके पूर्व भोगभूमिज मनुष्योंके शरीरमें पसीना नहीं आता था परन्तु प्रसेनजित्‌का शरीर जब कभी पसीनाके कणोंसे सुशोभित हो उठता था। वीर मरुदेवने अपने पुत्र प्रसेनजित्‌को विवाह विधिके द्वारा किसी प्रधान कुलकी कन्याके साथ मिलाया था ॥१६७॥ अन्तमें मरुदेव पल्यके लाख करोड़वें भाग तक जीवित रहकर स्वर्ग गया ॥१६८॥ तदनन्तर प्रसेनजित्‌ने एक करोड़ पूर्वकी आयुवाले, जन्म कालमें बालकोंकी नाल काटनेकी व्यवस्था करनेवाले थे, तथा स्वर्गगामी नाभिराज पुत्रको उत्पन्न किया ॥१६९॥ पल्यके दश लाख करोड़वें भाग तक जीवित रहकर आयु समाप्त होनेपर प्रसेनजित् स्वर्ग गया ॥१७०॥

प्रथम कुलकर प्रतिश्रुतिकी ऊँचाई अठारह सौ धनुष थी, इसके पुत्र दूसरे कुलकर सन्मतिकी तेरह सौ धनुष थी, प्रतिश्रुतिके पौत्र—तीसरे कुलकर क्षेमङ्करकी आठ सौ धनुष थी और इसके आगे प्रत्येककी पचीस-पचीस धनुष कम होती गई है। इस तरह अन्तिम कुलकर नाभिराजकी ऊँचाई पाँच सौ पचीस धनुष थी ॥१७१-१७२॥ ये चौदह कुलकर समचतुरस्र संस्थान

१. यशसा उरुणा = विशालेन यशसाऽरुणा म० । २. प्रस्वेदमलभूषितम् म० ।

चक्षुष्मांश्च यशस्वी च तथैवासौ प्रसेनजित् । त्रयः कुलकराः प्रोक्ताः प्रियङ्गुश्यामरोचिषः ॥१७४॥
चन्द्राभश्चन्द्रगौराभस्तथैव प्रथितः प्रभुः । कथिता दश शेषास्ते सन्तप्तकनकप्रभाः ॥१७५॥
मर्यादारक्षणोपायहामाधिक्कारनीतयः । प्रजानां जनकाभास्ते प्रभवः प्रतिभाधिकाः ॥१७६॥
इत्थं कुलकरोत्पत्तिः सकला कथिता नृप । नाभेयस्याद्भुतोत्पत्तिं शृणु पापविनाशिनीम् ॥१७७॥

शिखरिणीवृत्तम्

जगद्व्याप्तं षड्भिर्द्रव्यैरनुपचरितैर्व्याप्तमखिलं
तदप्यर्हंज्ज्ञानादधिकमभियुक्तैरधिगतम्[1][2] ।
यतः कालाद्यर्थे घनमपि क्षुणात्यन्धतमसं
जिनादित्यालोकः स्थिरपरिणतः श्रीमदुदयः ॥१७८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कालकुलकरोत्पत्तिवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ।

और वज्रवृषभ नाराचसंहननसे युक्त गम्भीर तथा उदार शरीरके धारक थे, इनको अपने पूर्व भवका स्मरण था तथा इनकी मनुसंज्ञा थी ॥१७३॥ इन कुलकरोंमें चक्षुष्मान्, यशस्वी और प्रसेनजित् ये तीन कुलकर प्रियङ्गु पुष्पके समान श्याम कान्तिके धारक थे, चन्द्राभ चन्द्रमाके समान गौरवर्ण था, और बाकी दश तपाये हुए स्वर्णके समान प्रभासे युक्त थे ॥१७४-१७५॥ ये चौदहों राजा मर्यादाकी रक्षाके उपायभूत 'हा', 'मा' और 'धिक्' इन तीन प्रकारकी दण्डनीतियोंको अपनाते थे, प्रजाके पिताके तुल्य थे और अत्यधिक प्रतिभाशाली थे ॥१७६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन्! इस तरह मैंने समस्त कुलकरोंकी उत्पत्ति कही । अब नाभिराजाके पुत्र भगवान् आदिकी पापनाशिनी कथा सुन ॥१७७॥ यद्यपि यह समस्त संसार छह अकृत्रिम द्रव्योंसे व्याप्त है तो भी उद्यमशील आचार्योंने उसे अरहन्त भगवान्‌के दिव्य ज्ञानके प्रभावसे जान लिया है सो ठीक ही है क्योंकि नित्य और श्रीसम्पन्न उदयको धारण करनेवाला जिनेन्द्र रूपी सूर्यका प्रकाश, काल आदि द्रव्योंके विषयमें जो गाढ़ अन्धकार है उसे भी क्षणभरमें नष्ट कर देता है ॥१७८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें कालद्रव्य तथा कुलकरोंकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१. तदप्यर्हत्ज्ञाना- ख० । २. ऋषीश्वरैः ज्ञातम् ।

अष्टमः सर्गः

श्रीमतामनुरूपं यः परिणाममनुस्सृतः । मननात् मनुजार्थस्य मनुसंज्ञामनुस्सृतः ॥१॥
प्रक्षीणः कल्पवृक्षात्मा मध्येदक्षिणभारतम् । नाभेरपि स एवाभूत् प्रासादः पृथिवीमयः ॥२॥
शातकुम्भमयस्तम्भो विचित्रमणिभित्तिकः । पुष्पविद्रुममुक्तादिमालाभिरुपशोभितः ॥३॥
सर्वतोभद्रसंज्ञोऽसौ प्रासादः सर्वतो मतः । सैकाशीतिपदः शालवाप्युद्यानाद्यलङ्कृतः ॥४॥
स्वस्थानमेककोऽनल्पकल्पवृक्षैर्वृतः क्षितौ । अध्यतिष्ठदधिष्ठातुः स नाभेरनुभावतः ॥५॥
अथ नाभेरभूद्देवी[1] मरुदेवीति वल्लभा । देवी शचीव शक्रस्य शुद्धसन्तानसम्भवा ॥६॥
अभ्युन्नतौ पदाङ्गुष्ठौ प्रोल्लसन्नखमण्डलौ । यस्या रेजतुरुच्चैव ललाटस्य दिदृक्षया ॥७॥
उन्नताग्रसमस्निग्धतनुताम्रनखांशुभिः । कुट्टिमे कुरुतां यस्याः क्रमौ कुरवकश्रियम् ॥८॥
श्लिष्टाङ्गुलिदलौ गूढगुल्फौ कान्तिजलप्लवम्[2] । समौ कूर्मोन्नतौ यस्याः पादपद्मौ प्रचक्रतुः ॥९॥
यस्याश्च चरणौ चारुमत्स्यशङ्खादिलक्षणौ । क्रीडास्वेव प्रियस्पर्शात्स्वेदसम्बन्धसङ्गिनौ ॥१०॥
आनुपूर्व्यसुवृत्ते च जङ्घे रोमशिरोज्झिते । लावण्यरसवर्णाढ्ये शरधी पुष्पधन्वनः ॥११॥
जानुनी मृदुनी यस्या गूढसन्धानवर्तिनी । ददतुः प्रियगात्राणां मृदुस्पर्शकृतं सुखम् ॥१२॥
आसाराः कदलीस्तम्भाः कर्कशाः करिणां कराः । परिणाहगुणत्वेऽपि यदूर्वोः सदृशा न ते ॥१३॥

अथानन्तर ऊपर जिन नाभिराजका कथन किया गया है वे श्रीमान् पुरुषोंके अनुरूप परिणामको प्राप्त थे तथा समस्त पुरुषार्थोंका मनन करनेसे मनु कहलाते थे ॥१॥ उस समय दक्षिण भरत क्षेत्रमें कल्पवृक्षरूप प्रासाद अन्यत्र नष्ट हो गये थे परन्तु राजा नाभिराजका जो कल्पवृक्षरूप प्रासाद था वही पृथिवी निर्मित प्रासाद बन गया था ॥२॥ राजा नाभिराजके उस प्रासादका नाम सर्वतोभद्र था, उसके खम्भे स्वर्णमय थे, दीवालें नाना प्रकारकी मणियोंसे निर्मित थीं, वह पुखराज, मूँगा तथा मोती आदिकी मालाओंसे सुशोभित था, इक्यासी खण्डसे युक्त था और कोट, वापिका तथा बाग-बगीचोंसे अलंकृत था ॥३-४॥ वह अधिष्ठाता नाभिराजके प्रभावसे अकेला ही अनेक कल्पवृक्षोंसे आवृत था तथा पृथिवीके मध्य अपने स्थानपर अधिष्ठित था ॥५॥

अथानन्तर राजा नाभिराजकी मरुदेवी नामकी पटरानी थी। वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुई थी तथा जिस प्रकार इन्द्रको इन्द्राणी प्रिय होती है उसी प्रकार राजा नाभिराजको प्रिय थी ॥६॥ जिनके नख अत्यन्त चमकदार थे ऐसे उसके उठे हुए दोनों पैरोंके अँगूठे ऐसे जान पड़ते थे मानो ललाटके देखनेकी इच्छासे ही ऊपरकी ओर उठ रहे हों ॥७॥ उसके दोनों चरण, उन्नत अग्रभागसे युक्त, सम, स्निग्ध, पतले और लाल-लाल नखोंकी किरणोंसे फर्स-पर कुरवककी शोभा उत्पन्न कर रहे थे ॥८॥ जिनकी अङ्गुलियाँ रूपी कलिकाएँ परस्परमें सटी हुई थीं, जिनकी गाँठें छिपी हुई थीं और जो कछुओंके समान उन्नत थे, ऐसे उसके दोनों चरण-कमल कान्तिरूपी जलमें मानो तैर ही रहे थे ॥९॥ सुन्दर मच्छ तथा शङ्ख आदिके लक्षणोंसे युक्त जिसके चरण, क्रीड़ाओंके समय ही पतिका स्पर्श पाकर पसीनाके सम्बन्धसे युक्त होते थे अन्य समय नहीं ॥१०॥ अनुक्रमिक गोलाईसे युक्त, तथा रोम एवं नसोंसे रहित उसकी दोनों जङ्घाएँ सौन्दर्य रससे भरे हुए मानो कामदेवके दो तरकश ही हैं ॥११॥ गूढ़ सन्धिसे युक्त जिसके दोनों कोमल घुटने पतिके अवयवोंको कोमल स्पर्श जन्य सुख प्रदान करते थे ॥१२॥ केलेके स्तम्भ

---

१. महादेवीति म० । २. जलप्लवौ म० ।

ऊरू स्निग्धौ नितम्बश्च कुकुन्दरमनोहरः[1] । गुरुर्जघनभारश्च यस्याः सादृश्यमत्यगात् ॥१४॥
प्रदक्षिणकृतावर्तं गम्भीरं नाभिमण्डलम् । रोमराजिकृतासङ्गं यस्या नाभेरमून्मुदे ॥१५॥
अरोमशं कृशं मध्यं यस्यास्त्रिवलिभङ्गुरम् । बभौ वृत्तसमोत्तुङ्गघनस्तनभरादिव ॥१६॥
कठिनस्तनचक्राभ्यां यस्या मृदुभियोरसा । प्रक्रीडच्चक्रवाकाभ्यां सरितेव विराजितम् ॥१७॥
रक्तहस्ततलौ श्रेष्ठप्रकोष्ठमणिबन्धनौ । स्वंसौ मृदुभुजौ यस्याः कामपाशौ बभूवतुः ॥१८॥
शङ्खावर्तसमग्रीवा प्रवालाधरपल्लवा । दन्तमुक्ताफलोद्योता सिन्धोर्वेलेव या बभौ ॥१९॥
संरक्ततालुजिह्वाग्रमन्तरास्यमराजत । [2]यस्या वाचि प्रवृत्तायां कोकिलस्वननिस्वनम् ॥२०॥
प्रियामुखमिवात्मीयं दिदृक्षोः प्रेयसो मुखम् । सम्मुखौ भवतो यस्याः कपोलाविव दर्पणौ ॥२१॥
सनासिकाऽतिमध्यस्था[3] समा समपुटाप्यभात् । स्पर्धिन्योर्वारयन्तीव दृशोरन्योन्यदर्शनम् ॥२२॥
त्रिवर्णाब्जनिभे यस्या दर्शने दीर्घदर्शने । मन्त्रस्य मन्त्रणायेव कर्णमूलमुपाश्रिते ॥२३॥
तनुरेखभ्रुवौ यस्या न दूरे न च संहते । समारोपितचापाभे शुशुभाते शुभावहे ॥२४॥
न नतस्य न तुङ्गस्य[4] सादृश्यस्य सिसृक्षया[5] । यस्या ललाटपट्टस्य [6]नार्धेन्दोरभवत् स्थितिः ॥२५॥
कुण्डलोज्ज्वलगण्डस्य यत्कर्णयुगलस्य तु । नोपमा मांसलस्यासीत् कोमलस्य समस्य तु ॥२६॥

सार रहित हैं और हाथीके शुण्डादण्ड कठोर स्पर्शसे युक्त हैं अतः विस्ताररूपी गुणोंसे युक्त होनेपर भी दोनों ऊरु देवीकी जाँघोंके समान नहीं थे ॥१३॥ जिसके कूल्हे, गर्तविशेषसे मनोहर नितम्ब और स्थूल जघन सादृश्यसे परे थे अर्थात् अनुपम थे ॥१४॥ जिसकी आवर्त—जलभँवरके समान गोल, गहरी एवं रोमराजिसे युक्त नाभि, राजा नाभिराजके हर्षका कारण थी ॥१५॥ जिसकी रोम रहित, पतली एवं त्रिवलिसे युक्त कमर ऐसी जान पड़ती थी मानो गोल, सम, ऊँचे और स्थूल स्तनोंके भारसे ही झुक रही हो ॥१६॥ जिस प्रकार मन्द भयके साथ क्रीड़ा करते हुए चकवा-चकवियोंके युगलसे नदी सुशोभित होती है उसी प्रकार जिसका वक्षःस्थल कठोर स्तनोंके मण्डलसे सुशोभित हो रहा था ॥१७॥ जिनकी हथेलियाँ लाल-लाल थीं, जिनकी कोहनी और कलाई उत्तम थीं और जिनके कन्धे शोभास्पद थे ऐसी उसकी दोनों कोमल भुजाएँ कामपाशके समान जान पड़ती थीं ॥१८॥ उसकी ग्रीवा शङ्खके आवर्तके समान थी, अधर पल्लव मूँगाके समान थे और दाँत मोतियोंके समान प्रकाशमान थे इसलिए वह समुद्रकी वेलाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१९॥ जिसका तालु और जिह्वाका अग्रभाग अत्यन्त लाल था ऐसा उसका अन्तर्मुख सुशोभित था और जब उससे शब्द निकलते थे तब वह कोकिलाके शब्दको भी अशब्द कर देता था—फीका बना देता था ॥२०॥ प्रियाके मुखके समान जब नाभिराज अपना मुख देखनेकी इच्छा करते थे तब सामने स्थित मरुदेवीके दोनों कपोल दर्पणके समान हो जाते थे ॥२१॥ ठीक बीचमें स्थित सम और समान पुटवाली उसकी नासिका ऐसी जान पड़ती थी मानो स्पर्धा करनेवाले दोनों नेत्रोंके पारस्परिक दर्शनको रोक ही रही थी ॥२२॥ सफेद, काले और लाल इन तीन वर्णके कमलोंके समान जिसके बड़े-बड़े नेत्र किसी मन्त्रकी सलाह करनेके लिए ही मानो कानोंके समीप तक गये थे ॥२३॥ जिसकी पतली भौंहें न दूर थीं और न पास ही थीं। शुभ लक्षणोंसे युक्त थीं तथा चढ़ाये हुए धनुषके समान सुशोभित थीं ॥२४॥ जिसका ललाटपट्ट न अधिक नीचा था और न अधिक ऊँचा था इसलिए उसका सादृश्य प्राप्त करनेके लिए अर्ध-चन्द्रकी सामर्थ्य नहीं थी ॥२५॥ जिसके कानोंका युगल अपने कुण्डलोंसे गालोंको उज्ज्वल बना रहा था, स्थूल था, कोमल था और समान था अतः

१. 'कूपकौ तु नितम्बस्थौ द्वयहीने कुकुन्दरे' इत्यमरः। २. यस्यां म०। ३. -भिमध्यस्था म०।
४. सादृश्यसिसृक्षया म०। ५. स्रष्टुमिच्छा सिसृक्षा तया। ६. नार्धेन्दु- म०।

नीलकुञ्चितसुस्निग्धसूक्ष्मकेशकलापिनः । समस्य शिरसो यस्याः शोभा वाक्पथमत्यगात् ॥२७॥
अखण्डमण्डलश्चन्द्रो मुखमण्डलशोभया । यस्याः पराजितः प्रापदाधिनेवातिपाण्डुताम् ॥२८॥
षोडशाल्पकलावस्था द्वासप्ततिकलोज्ज्वला । इन्दुमूर्त्योपमीयेत सा कथं सकलङ्कया ॥२९॥
चतुःषष्टिगुणोत्कृष्टा मार्दवातिशया कथम् । सा चतुर्गुणया तुल्या पृथिव्या कठिनात्मना ॥३०॥
स्निग्धाभिरपि सुस्निग्धा सौष्ठवाम्भा अकात्मभिः । कथं साऽन्यप्रणेयाभिरद्भिरप्युपमीयते ॥३१॥
तद्वद्भासुररूपापि कथं वा दहनात्मिका । भेजे[1] तेजोमयी मूर्तिस्तन्मूर्तेरुपमानताम् ॥३२॥
दर्शनस्पर्शनाभ्यां या नाभेरतिसुखावहा । स्पर्शमात्रसुखाहर्त्र्या वायुमूर्त्या कथं समा ॥३३॥
अशून्यहृदयस्पर्शा भर्तुर्या स्पर्शशून्यया । साऽकाशात्मिकया शक्त्या शुद्धयाऽपि कथं समा ॥३४॥
चतुर्दशविधं यस्याः कल्पपादपकल्पितम् । अङ्गप्रत्यङ्गसङ्गेन भूषणं भूष्यतां गतम् ॥३५॥
भुञ्जानस्य तया नाभेर्भोगं स्वर्लोकसन्निभम् । वक्तुं शक्तौ यदि व्यक्तं वक्ता [2]शुक्रो बृहस्पतिः ॥३६॥
अथ तीर्थकृतामाद्ये स्वर्गात् सर्वार्थसिद्धितः । तयोः प्रागेव षण्मासान् वृषभेऽवतरिष्यति ॥३७॥
दिवः पतितुमारब्धा वसुधारा गृहाङ्गणे । प्रत्यहं धनदोन्मुक्ता पुरुहूतनिदेशतः ॥३८॥
श्रीलक्ष्मीधृतिकीर्त्याद्या नवतिर्नव चार्ययुः । प्राग्विद्युद्दिक्कुमार्योऽपि दिग्विदिग्भ्यः ससम्भ्रमाः ॥३९॥

उसकी कहीं भी उपमा नहीं थी ॥२६॥ काले घुँघराले चिकने और महीन केशोंके समूहसे युक्त जिसके सुन्दर शिरकी शोभा वचन-मार्गको उल्लंघन कर गई थी ॥२७॥ जिसके मुख-मण्डलकी शोभासे पराजित हुआ पूर्णचन्द्र मानसिक व्यथासे ही मानो अत्यन्त सफेदीको प्राप्त हो गया था ॥२८॥ चन्द्रमाकी मूर्ति सोलह कलाओंसे युक्त है और मरुदेवी बहत्तर कलाओंसे सहित थी, चन्द्रमाकी मूर्ति कलंक सहित है और मरुदेवी अत्यन्त उज्ज्वल थी अतः चन्द्रमाकी मूर्ति-से उसकी तुलना कैसे हो सकती है ? ॥२९॥ मरुदेवी चौसठ गुणोंसे युक्त थी और पृथिवी मात्र चार गुणोंको धारण करनेवाली है। मरुदेवी कोमलताके अतिशयको प्राप्त थी और पृथिवी अत्यन्त कठिन है अतः यह उसके तुल्य कैसे हो सकती है ? ॥३०॥ यद्यपि जल स्निग्ध है—कुछ-कुछ चिकनाईसे युक्त है पर मरुदेवी सुस्निग्धा—अत्यधिक चिकनाईसे युक्त थी (पक्ष-में पति-विषयक स्नेहसे सहित थी), जल जड़रूप है, मूर्ख है—(पक्षमें पानीरूप है) और मरुदेवी कलाओंमें निपुण थी, जल, अन्यप्रणेया—दूसरेके द्वारा ले जाने योग्य है और मरुदेवी *अन्य प्रणेया नहीं थी*—स्वावलम्बा थी अतः उसकी जलके साथ उपमा कैसे हो सकती है ? ॥३१॥ यद्यपि अग्नि मरुदेवीके समान भास्वर रूप है परन्तु साथ ही दाहमयी भी है अतः वह मरुदेवीके शरीरकी उपमाको कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥३२॥ मरुदेवी, दर्शन और स्पर्श दोनोंके द्वारा नाभिराजको अतिशय सुख देनेवाली थी परन्तु वायु मात्र स्पर्शके द्वारा सुख पहुँचाती थी अतः वह वायुके समान कैसे हो सकती थी ? ॥३३॥ मरुदेवी पतिके हृदयका स्पर्श करनेवाली थी जबकि आकाश स्पर्शसे शून्य है अतः वह शुद्ध होनेपर भी आकाशरूपी शक्तिके सदृश कैसे हो सकती है ? ॥३४॥ कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए चौदह प्रकारके आभूषण जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्बन्ध पाकर भूष्यताको प्राप्त हुए थे। भावार्थ—आभूषणोंने उसके शरीरको विभूषित नहीं किया था किन्तु उसके शरीरने ही आभूषणोंको विभूषित किया था ॥३५॥ उस मरुदेवीके साथ स्वर्ग लोकके समान भोग भोगनेवाले राजा नाभिका यदि स्पष्ट वर्णन करनेके लिए कोई समर्थ है, तो वक्ता शुक्र और बृहस्पति ही समर्थ हैं अन्य नहीं ॥३६॥

अथानन्तर जब प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत हो राजा नाभिराज और मरुदेवीके यहाँ अवतार लेंगे उसके छह माह पूर्वसे ही उनके घरके आँगनमें इन्द्र-की आज्ञासे कुबेरके द्वारा छोड़ी हुई रत्नोंकी धारा आकाशमें पड़ने लगी ॥३७–३८॥ श्री, लक्ष्मी,

१. मेने म० । २. शुक्रबृहस्पती म०, क० ।

प्रयुज्य प्रणतिं तुष्टा जिनपित्रोर्भविष्यतोः । स्वनियोगागमं स्वं च पाकशासनशासनात्[1] ॥४०॥
प्रत्येकं शासनं देव्यो मरुदेव्या महादरात् । प्रतीयुर्देवि ! देह्याज्ञां नन्द जीवेति सद्गिरः ॥४१॥
रूपयौवनलावण्यसौभाग्यादिगुणार्णवम् । वर्णयन्ति तदा काश्चिदाश्चर्यं परमं श्रिताः ॥४२॥
अक्षरालेख्यगान्धर्वगणितागमपूर्वकम् । कलाकौशलमन्यास्तु प्रशंसन्ति समन्ततः ॥४३॥
दर्शयन्ति स्वयं काश्चित् तन्त्रीवीणादिकौशलम् । गायन्ति मधुरं गेयं काश्चित्कर्णरसायनम् ॥४४॥
शोभनाभिनयं काश्चिद् शृङ्गारादिरसोत्कटम् । हावभावविलासिन्यो नृत्यन्ति नयनामृतम् ॥४५॥
हस्तसंवाहने काश्चिद् पादसंवाहने पराः । अङ्गसंवाहने काश्चित् व्यापृता मृदुपाणयः ॥४६॥
अङ्गाभ्यङ्गविधौ काश्चिद् काश्चिदुद्वर्तने पराः । काश्चिन्मज्जनके काश्चित्स्नानवस्त्रनिपीलने[2] ॥४७॥
सद्गन्धानयने काश्चित् तत्समालभने पराः । काश्चिच्चित्राम्बराधाने परिधानविधौ पराः ॥४८॥
काश्चिद्भूषास्रगाधाने काश्चिद्देहप्रसाधने । दिव्यान्नानयने काश्चित् काश्चिद्भोजनकर्मणि ॥४९॥
शय्यासनविधौ काश्चित् काश्चित्ताम्बूलढौकने । काश्चित्पतद्ग्रहे व्यग्राः काश्चिच्च गृहकर्मणि ॥५०॥
दर्पणग्रहणे काश्चिच्चामरग्रहणे पराः । छत्रस्य ग्रहणे काश्चिद् व्यजनग्रहणे पराः ॥५१॥
अङ्गरक्षापरा देव्यः खड्गव्यग्राग्रपाणयः । ग्रहरक्षःपिशाचेभ्यो रक्षन्त्यः प्रतिजाग्रति ॥५२॥
अभ्यन्तरगृहद्वारे काश्चित्काश्चिद्बहिर्भुवः[3] । असिचक्रगदाशक्तिहेमवेत्रकराः स्थिताः ॥५३॥

धृति, कीर्ति आदि निन्यानबे विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियाँ भी छह माह पहलेसे बड़े हर्षके साथ दिशाओं और विदिशाओंसे आ गई ॥३९॥ उन्होंने आकर बड़े सन्तोषसे जिनेन्द्र भगवान्के होनहार माता-पिताको नमस्कार किया और हम इन्द्रकी आज्ञासे स्वर्गलोकसे यहाँ आई हैं, इस प्रकार अपना परिचय दिया ॥४०॥ हे देवि ! आज्ञा दो, समृद्धिसम्पन्न होओ, और चिर काल तक जीवित रहो इस प्रकारकी उत्तम वाणीको बोलती हुई वे देवियाँ महान् आदरके साथ मरुदेवीके आदेशकी प्रतीक्षा करने लगीं ॥४१॥ उस समय परम आश्चर्यको प्राप्त हुई कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके रूप, यौवन, सौन्दर्य और सौभाग्य आदि गुणोंके सागरका वर्णन करती थीं ॥४२॥ कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके अक्षर-विज्ञान, चित्र-विज्ञान, संगीत-विज्ञान, गणित-विज्ञान और आगम-विज्ञानको आदि लेकर उसके कला-कौशलकी प्रशंसा करती थीं ॥४३॥ कितनी ही देवियाँ स्वयं अपनी तन्त्री तथा वीणा आदि विषयक चतुराई दिखलाती थीं । कितनी ही कानोंके लिए रसायन स्वरूप मधुर गान गाती थीं ॥४४॥ हाव, भाव और विलाससे भरी हुई कितनी ही देवियाँ सुन्दर अभिनयसे युक्त, शृङ्गारादि रसोंसे उत्कट और नेत्रोंके लिए अमृत स्वरूप मनोहर नृत्य करती थीं ॥४५॥ कोमल हाथोंको धारण करनेवाली कितनी ही देवियाँ मरुदेवीके हाथ दाबनेमें, कितनी ही पैर दाबनेमें तथा कितनी ही अन्य अङ्गोंके दाबनेमें लग गई थीं ॥४६॥ कितनी ही शरीरपर तेलका मर्दन करनेमें, कितनी ही उबटन लगानेमें, कितनी ही स्नान करानेमें और कितनी ही स्नानके वस्त्र निचोड़नेमें तत्पर थीं ॥४७॥ कोई उत्तम गन्धके लानेमें, कोई उसका लेप लगानेमें, कोई चित्र-विचित्र वस्त्र सँभालनेमें, और कोई वस्त्र पहिनानेमें लग गई ॥४८॥ कोई आभूषण तथा मालाओंके लानेमें, कोई शरीरकी सजावटमें, कोई दिव्य भोजनके लानेमें और कोई भोजन करानेमें व्यग्र थी ॥४९॥ कोई विस्तर तथा आसनके बिछानेमें, कोई पान लगानेमें, कोई पीकदान रखनेमें, कोई गृह-सम्बन्धी कार्यमें, कोई दर्पण उठानेमें, कोई चमर ग्रहण करनेमें, कोई छत्र लगानेमें और कोई पङ्खा झलनेमें तत्पर थी ॥५०-५१॥ कितनी ही देवियाँ हाथमें तलवार ले अङ्ग-रक्षा करनेमें तत्पर रहती थीं एवं ग्रह, राक्षस और पिशाचोंसे रक्षा करती हुई जागृत रहती थीं ॥५२॥ कितनी ही देवियाँ घरके भीतरी द्वारपर और कितनी ही बाह्य द्वारपर तलवार, चक्र, गदा, शक्ति और स्वर्णमय छड़ी हाथमें लेकर खड़ी थीं ॥५३॥

१. इन्द्राज्ञया । २. निपीडने । ३. -र्भुः म०, क० ।

इति नक्तंदिवं दृष्ट्वा देवताभिरनुष्ठितम् । आत्मनः शासनं लोके परेषामतिदुर्लभम् ॥५४॥
निश्चितत्राऽपि षण्मासान् पतन्त्या वसुधारया । नाभिना मरुदेव्या च प्राप्स्यंस्तीर्थंकरोद्भवः ॥५५॥
अथासौ सौम्यताराभिरभितः कृतसेवना । मरुदेवी सुरस्त्रीभिश्चन्द्रलेखेव हारिणी ॥५६॥
शरदभ्रावलीशुभ्रे प्रासादेऽगुरुधूपिते । नानोपधानकाधाने शयाना शयने विधौ ॥५७॥
निधीनिव निशाशेषे ददर्श शुभसूचकान् । क्रमेण षोडशस्वप्नानिमान् दुर्लभदर्शनान् ॥५८॥
प्रभूतदानधाराग्रकरपुष्करधारिणम् । गीयमानं शुचिं भृङ्गैर्दानार्थिभिरिवेश्वरम् ॥५९॥
सुप्रसिद्धध्वनिविक्षिप्तप्रतिपक्षं शुभोदयम् । शुभं भद्राकृतिं धीरं वृषं वृषमिवोन्नतम् ॥६०॥
मत्तेभं तमिवान्वेष्टुं मदगन्धेन सूचितम् । सिंहमुत्थितमद्राक्षीन्नखदंष्ट्रासटोत्कटम् ॥६१॥
चित्ररत्नघटाटोपघनघोषघनाघनैः[1] । श्रियोऽभिषेकमम्भोजे नवाम्भोभिरिवाघनैः ॥६२॥
नानापुष्पघने दीर्घे श्रीमाले सौरभोत्कटे । सम्भूयेव च सर्वर्तुश्रीभिः सेवार्थमुद्धृते ॥६३॥

इस प्रकार लोकमें जो दूसरोंके लिए दुर्लभ थी, ऐसी देवियों द्वारा अपनी आज्ञाकी पूर्ति देखकर तथा लगातार छह माहसे पड़ती हुई रत्नधारासे राजा नाभिराज और मरुदेवीने निश्चय कर लिया कि हमारे यहाँ सबके द्वारा प्रार्थनीय तीर्थङ्करका जन्म होगा ॥५४-५५॥

अथानन्तर मनोहर ताराओंसे सेवित चन्द्रकलाके समान अनेक देवियोंसे सेवित मनोहराङ्गी मरुदेवी, शरद् ऋतुकी मेघावलीके समान सफेद एवं अगुरु चन्दनसे सुवासित राजभवनमें नाना गद्दा-तकियोंसे युक्त चन्द्र तुल्य शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने रात्रिके पश्चिम भागमें निधियोंके समान शुभ सूचक, इन दुर्लभ सोलह स्वप्नोंको क्रमसे देखा ॥५६-५८॥ प्रथम ही उसने सफेद हाथी देखा, ऐसा हाथी कि जो अत्यधिक मदकी धारासे गीली सूँड़ और उसके अग्रभागको धारण कर रहा था तथा मदके अर्थी भ्रमर जिसके आस-पास गुञ्जार कर रहे थे। वह हाथी किसी राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार राजाके कर पुष्कर—हस्त कमल अत्यधिक दानके संकल्पके लिए गृहीत जलकी धारासे गीले रहते हैं उसी प्रकार उस हाथीके कर पुष्कर—सूँड़ और उसके नथने अत्यधिक दान—मद जलकी धारासे गीले थे और जिस प्रकार राजाके समीप खड़े दानके अर्थीजन उसकी स्तुति किया करते हैं उसी प्रकार दान—मदके अर्थी भ्रमर उसके समीप गुञ्जार कर रहे थे ॥५९॥ दूसरी बार उसने भद्र आकृतिको धारण करनेवाला एक धीर-वीर बैल देखा। वह बैल ठीक धर्मके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार धर्म अपनी मधुर देशनासे एकान्तवादी प्रतिपक्षियोंको पराजित कर देता है उसी प्रकार वह बैल भी अपनी दुन्दुभिध्वनिसे प्रतिपक्षी बैलोंको पराजित कर रहा था, जिस प्रकार धर्म शुभ अभ्युदयको देता है उसी प्रकार वह बैल भी शुभ अभ्युदयको सूचित करनेवाला था। जिस प्रकार धर्म भद्राकृति—मङ्गलकारी होता है उसी प्रकार वह बैल भी भद्राकृति—उत्तम आकृतिका धारक था, जिस प्रकार धर्म धीर-धी बुद्धिको प्रेरणा करनेवाला है उसी प्रकार वह बैल भी धीर-गम्भीर था और जिस प्रकार धर्म उन्नत—उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार वह बैल भी उन्नत—ऊँचा था ॥६०॥ तीसरी बार तीक्ष्ण नख, दंष्ट्रा और सटा (गरदनके बालों) से युक्त एक सिंह देखा। वह सिंह ऐसा जान पड़ता था मानो पहले स्वप्नमें दिखे हाथीके मदकी गन्ध पा उसे ढूँढ़नेके लिए ही तैयार खड़ा हो ॥६१॥ चौथी बार उसने नाना रत्नमयी घड़ोंके विशाल शब्दसे युक्त मदोन्मत्त हाथियोंके द्वारा कमलपर बैठी लक्ष्मीका अभिषेक देखा। लक्ष्मीका वह अभिषेक ऐसा जान पड़ता था मानो इन्द्रधनुषसे उपलक्षित एवं घनघोर गर्जना करनेवाले मेघ नूतन जलसे पृथिवीका ही अभिषेक कर रहे हों ॥६२॥ पाँचवीं बार उसने नाना पुष्पोंसे व्याप्त तथा अत्यन्त सुगन्धित दो बड़ी-बड़ी मालाएँ देखीं। वे मालाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो समस्त ऋतुओंकी

१. घनाघना मत्तगजा मेघाश्च (इति क० प्रतिटिप्पण्याम्)।

अधोमुखमयूखौघदण्डमातपवारणम्[1] । ताराभरणयोत्क्षिप्तं श्यामयेवेन्दुमण्डलम् ॥६४॥
सन्ध्यारागाङ्गरागाढ्यं पूर्वाशाङ्गनयारुणम् । सिन्दूरारुणितं कुम्भं मङ्गलार्थमिवोद्धृतम् ॥६५॥
मीनौ कृतजलक्रीडौ हृतात्मोदरशोभयोः । नेत्रयोश्चलयोर्दातुमुपालम्भमिवागतौ ॥६६॥
हारिणौ वारिणा पूर्णौ विशालौ कलशौ घनौ । सौवर्णौ स्वोपमौ द्रष्टुं स्तनभाराविवोद्धृतौ ॥६७॥
[2]सोद्दण्डपुण्डरीकौघं राजहंसमनोहरम् । [3]रथपादातिनादाढ्यं सरः सैन्यमिवोर्जितम् ॥६८॥
[4]प्रमीनमिथुनोन्मेषमकराद्युरुराशिभिः । प्रपूर्णितमिवाकाशं वर्धमानं महार्णवम् ॥६९॥
सावष्टम्भभुजस्तम्भैः प्रौढदृष्टिभिरुन्मुखैः । सिंहैर्हेमासनं व्यूढं मनुराजैर्जगद् यथा ॥७०॥
स्वर्गसौन्दर्यसन्दर्भमिव दर्शयितुं नृणाम् । विमानं कलगीताभिर्देवकन्याभिराहृतम् ॥७१॥

लक्ष्मीने मिलकर मरुदेवीकी सेवाके लिए उन मालाओंको बनाकर ऊपर उठा रक्खा हो ॥६३॥ छठवीं बार उसने चन्द्रमण्डलको देखा। वह चन्द्रमण्डल ऐसा जान पड़ता था मानो तारा रूपी आभूषणोंसे युक्त रात्रिरूपी स्त्रीके द्वारा ऊपर उठाया हुआ छत्र ही हो। ऐसा छत्र कि जिसकी नीचेकी ओर आनेवाली किरणोंका समूह ही दण्डका काम दे रहा था ॥६४॥ सातवीं बार उसने सन्ध्याकी लालिमा रूपी अङ्गरागसे युक्त उदित होता हुआ सूर्य देखा। वह सूर्य ऐसा जान पड़ता था मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीने मङ्गलके लिए सिन्दूरसे रँगा हुआ कलश ही ऊपर उठाया हो ॥६५॥ आठवीं बार उसने जलके भीतर क्रीड़ा करते हुए दो मीन देखे। वे मीन ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने उदरकी शोभाको हरनेवाले चञ्चल नेत्रोंका उलाहना देनेके लिए ही मरुदेवीके पास आये हों ॥६६॥ नौवीं बार उसने जलसे भरे हुए दो स्वर्णमय विशाल कलश देखे। वे कलश ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी उपमा धारण करनेवाले माताके स्तनोंको देखनेके लिए ही ऊपर उठे हों ॥६७॥ दशवीं बार उसने एक ऐसा सरोवर देखा जो किसी बलिष्ठ सेनाके समान जान पड़ता था। क्योंकि जिस प्रकार सेना, सोद्दण्डपुण्डरीकौघ—ऊपर उठे दण्डोंसे युक्त छत्रोंके समूहसे सहित होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी सोद्दण्डपुण्डरीकौघ—ऊँचे-ऊँचे डण्ठलोंसे युक्त श्वेत कमलोंके समूहसे सहित था। जिस प्रकार सेना, राजहंस मनोहर—उत्तम राजाओंसे मनोहर होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी राजहंस मनोहर—हंस* विशेषोंसे सुन्दर था। और जिस प्रकार सेना, रथ पादातिनादाढ्य—रथके पहियोंकी विशाल चीत्कारसे युक्त होती है उसी प्रकार वह सरोवर भी रथपादातिनादाढ्य—चकवाक पक्षियोंके अत्यधिक शब्दसे युक्त था ॥६८॥ ग्यारहवीं बार उसने बढ़ता हुआ एक ऐसा महासमुद्र देखा जो ठीक आकाशके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार आकाश, मीन, मिथुन, मकर आदि राशियोंसे युक्त होता है—उसी प्रकार महासमुद्र भी उत्तम मीन युगलोंकी उछल-कूद तथा मगर-मच्छ आदिकी विशाल राशिसे पूर्ण था ॥६९॥ बारहवीं बार उसने एक सुवर्णमय सिंहासन देखा। वह सिंहासन जिस प्रकार सबल भुजाओंके धारक, प्रौढ़ दृष्टिसे युक्त एवं कार्य करनेमें तत्पर कुलकरोंके द्वारा जगत् धारण किया जाता है उसी प्रकार मजबूत भुज स्तम्भोंसे युक्त, प्रौढ दृष्टिसे सहित एवं ऊपरकी ओर मुख किये हुए सिंहोंके द्वारा धारण किया गया था ॥७०॥ तेरहवीं बार उसने एक विमान देखा जो ऐसा जान पड़ता था मानो मनुष्यों को स्वर्गलोकका सौन्दर्य दिखलानेके लिए सुन्दर

---

१. मयूखोग्रदण्ड म०। २. सौद्दण्डपुण्डरीकौघराज- म०। ३. रथपादाः चक्रवाकाः तेषामतिनादेन दीर्घशब्देन आढ्यं सहितम्। ४. प्रकर्षेण मीना मत्स्यास्तेषां मिथुनानि तेषामुन्मेषः। मकरादीनामुरुराशिश्च तैः, पक्षे राशिविशेषैः।

* राजहंसास्तु ते चञ्चूचरणैर्लोहितैः सिताः—जिनकी चोंच और चरण लाल होते हैं बाकी सफेद होते हैं, ऐसे हंस राजहंस कहलाते हैं।

नागलोकं विजित्येव नागेन्द्रभवनं श्रिया । नागकन्याभिरुद्भूतं शेषलोकजिगीषया ॥७२॥
अभ्रंलिहं निरभ्रेऽपि विद्युदिन्द्रधनुःश्रियम् । खे सृजन्तं महारत्नराशिं प्रांशुभिरंशुभिः ॥७३॥
सुप्रसन्नं भ्रमज्ज्वालं निर्धूमेन्धनपावकम् । प्रचलत्पुष्पिताद[1]भ्रकिंशुकोत्करविभ्रमम् ॥७४॥
[2]खण्डस्वप्नानिमान् दृष्ट्वा दध्रेऽनन्तरमात्मनि । जिनं सा वृषरूपेण प्रविष्टं मुखवर्त्मना ॥७५॥
सुस्वप्नदर्शनानन्दं स्वामिनी यन्नवं मया । प्रापितेति कृतार्थेव काऽपि निद्रासखी निरैत् ॥७६॥
विबुध्यस्व विबुद्धार्थे विवर्धस्व विवर्धने । विजयस्व जयश्रीशे देवि पूर्णमनोरथे ॥७७॥
इत्यादयो विबोधाय दिक्कुमारीभिरीरिताः । याताः स्वयं विबुद्धायाः केवलं मङ्गलं गिरः ॥७८॥
दोषाकरः कलङ्क्येव निःकलङ्कगुणाकरम् । दृष्ट्वेव मुखचन्द्रं ते ह्रिया भवति निष्प्रभः ॥७९॥
तवैव गृहमुद्योत्यं दशनप्रभयाऽधुना । इतीव स्फुरितव्याजात् प्रदीपाः [3]स्वं हसन्त्यमी ॥८०॥
अत्यन्तमुखरागाढ्या क्षणरञ्जितविद्विषा । प्रस्खलत्खलमैत्रीव वन्ध्या सन्ध्या विरज्यते ॥८१॥
स्वभावमत्सरारम्भा व्यापिकोदयमेष्यतः[4] । प्रभा रवेरवन्ध्यार्था साधोर्मैत्रीव वर्द्धते ॥८२॥

गीत गानेवाली देवकन्याएँ उसे पृथिवीपर ले आई हों ॥७१॥ चौदहवीं बार उसने नागेन्द्रका भवन देखा जो ऐसा जान पड़ता था मानो वह अपनी शोभासे नागलोकको तो जीत चुका था अब अन्य लोकोंको जीतनेकी इच्छासे ही नागकन्याएँ उसे पृथिवीपर ऊपर लाई हों ॥७२॥ पन्द्रहवीं बार उसने आकाशमें महारत्नोंकी एक ऐसी राशि देखी जो अपनी उन्नत किरणोंके द्वारा मेघ रहित आकाशमें बिजली और इन्द्रधनुषसे शोभित मेघकी रचना कर रही थी ॥७३॥ और सोलहवीं बार उसने अत्यन्त निर्मल एवं घूमती हुई ज्वालाओंसे युक्त, निर्धूम अग्नि देखी। वह अग्नि ऐसी जान पड़ती थी मानो चञ्चल फूलोंसे युक्त पलाशके बड़े-बड़े वृक्षोंका समूह ही हो ॥७४॥ इस प्रकार पृथक्-पृथक् दिखनेवाले इन सोलह स्वप्नोंको देखकर रानी मरुदेवीने उसके बाद बैलके रूपमें मुख मार्गसे प्रविष्ट हुए जिनेन्द्र भगवान्को भीतर धारण किया ॥७५॥

मैं स्वामिनीको उत्तम स्वप्नोंके देखनेका नूतन आनन्द प्राप्त करा चुकी हूँ इसलिए कृत-कृत्य हुईकी तरह रानी मरुदेवीकी निद्रारूपी सखी कहीं भाग निकली ॥७६॥ महारानी मरुदेवी स्वप्न-दर्शनके बाद स्वयं जाग गई थीं इसलिए दिक्कुमारियोंके द्वारा उसके जगानेके लिए 'हे पदार्थोंको जाननेवाली माता! जागो, हे वृद्धिरूपिणी माता! वृद्धिको प्राप्त होओ, हे जयलक्ष्मी-की स्वामिनि! पूर्ण मनोरथोंवाली माता! जयवन्त रहो' इत्यादि कहे गये वचन केवल मङ्गल-रूपताको प्राप्त हुए थे ॥७७-७८॥ हे माता! यह चन्द्रमा दोषाकर—दोषोंकी खान (पक्षमें निशाकर) और कलङ्की—दोषयुक्त (पक्षमें काले चिह्नसे युक्त) है अतः तुम्हारे निष्कलङ्क और गुणोंकी खान भूत मुखचन्द्रको देखकर लज्जासे ही मानो प्रभा-रहित हो गया है ॥७९॥ अब तो यह घर तुम्हारे ही दाँतोंकी प्रभासे प्रकाशित है—हम लोगोंकी आवश्यकता नहीं, यह विचार-कर ही मानो ये दीपक स्फुरणके बहाने अपने आपकी हँसी कर रहे हैं ॥८०॥ हे माता! यह प्रातः संध्या, दुष्टकी चञ्चल मित्रताके समान राग-रहित होती जा रही है अर्थात् जिस प्रकार दुष्टकी मित्रता प्रारम्भमें रागसे सहित होती है और क्षणभर बाद ही शत्रुओंको अनुरञ्जित करने लगती है उसी प्रकार यह प्रातः सन्ध्या पहले तो राग अर्थात् लालिमासे सहित थी और अब क्षणभर बाद लालिमासे रहित हुई जा रही है। जिस प्रकार दुष्टकी मित्रता वन्ध्या—निष्फल रहती है—उससे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार यह प्रातः संध्या भी वन्ध्या है—इससे किसी कार्यकी सिद्धि दृष्टिगत नहीं हो रही है ॥८१॥ और यह उदित होते हुए सूर्य-की प्रभा सज्जनकी मित्रताके समान उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है। क्योंकि जिस प्रकार सज्जनकी मित्रता प्रारम्भमें मत्सर-युक्त होनेके कारण फीकी रहती है और आगे चलकर खूब

१. पुष्पितादभ्रात् किंशुको म० । २. सान्तरान् वा । ३. त्वं म० । ४. -मेष्यति क० ।

भास्वराम्बरभूषैषा भाति भास्वद्विशेषका । पुरन्ध्रीरिव पूर्वाशा मङ्गलाय तवोद्गता ॥८३॥
दीर्घां नीत्वा निशामेषा दीर्घिकास्विनदर्शने[1] । तुष्टा स्वान् घटयत्येव चक्रवाकी कलारवान् ॥८४॥
त्वत्पादन्यासलीलायामार्गणार्थमिवाकुलम् । त्वामुत्थापयते कूजत्कलहंसकुलं कलम् ॥८५॥
घूर्णिता मृदुवातेन धृताभिनयमूर्तयः । भवत्या दर्शयन्तीव नृत्तारम्भममी द्रुमाः ॥८६॥
दिङ्मुखानि प्रसन्नानि चेष्टितानीव तेऽधुना । सुप्रभातमिदं देवि मुञ्च शय्यामनिन्दिते ॥८७॥
इति बन्दिजनैर्वन्द्या साऽमुञ्चत् शुचिविग्रहा । शय्यां पुष्पतरङ्गाढ्यां हंसीव सिकतास्थलीम् ॥८८॥
धौतवासं[2] गृहीत्वाऽसौ धौतच्छाया विनिर्गता । शुशुभे शारदाम्भोदात् तन्वीव शशिनः कला ॥८९॥
श्रीविद्युद्दिक्कुमारीभिः प्रत्यग्रकृतभूषणा । साऽन्तर्गर्भाऽन्तिकं याता घनश्रीर्नाभिभूभृतः ॥९०॥
भद्रासनस्थितायाऽस्मै क्रमेण स्वासनस्थिता । श्रीरिवावेदयत् स्वप्नान् सत्कराम्भोजकुड्मला ॥९१॥
स्वप्नार्थं सोऽवधार्यैतां जगाद दयिते ध्रुवम् । संक्रान्तोऽद्य त्रिलोकानां नाथस्तीर्थंकरस्त्वयि ॥९२॥
न दूराल्पफलप्राप्तावीदृशं स्वप्नदर्शनम् । अतोऽद्यैव प्रतीतो मे भवत्यां गर्भसम्भवः ॥९३॥
षण्मासवसुवृष्ट्या च देवतापरिचर्यया । सूचिता जिनसम्भूतिर्या साद्य फलिताऽऽवयोः ॥९४॥

फैल जाती है उसी प्रकार सूर्यकी प्रभा पहले मन्द होती है और आगे चलकर खूब फैल जाती है—सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। जिस प्रकार सज्जनकी मित्रता सार्थक है उसी प्रकार सूर्यकी प्रभा सार्थक है ॥८२॥ भास्वर-अम्बर—देदीप्यमान आकाश ही जिसका आभूषण है (पक्षमें जिसके वस्त्र और आभूषण देदीप्यमान हैं तथा भास्वद्विशेषका—सूर्य ही जिसका तिलक है (पक्षमें देदीप्यमान तिलकसे युक्त है) ऐसी यह पूर्व दिशा सौभाग्यवती स्त्रीके समान मानो तुम्हारा मंगल करनेके लिए ही उद्यत हुई है ॥८३॥ वापिकाओंमें लम्बी रात बितानेके बाद अब सूर्यका दर्शन हुआ है इसलिए यह चकवी प्रसन्न हो अपने मधुर शब्द कर रही है अथवा मधुर शब्द करनेवाले आत्मीय जनोंको इकट्ठा कर रही है ॥८४॥ इधर मधुर शब्द करता हुआ यह कलहंसोंका समूह तुम्हें उठा रहा है जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो तुम्हारे पादनिक्षेपकी लीलाको देखनेके लिए अत्यन्त उतावला हो रहा है ॥८५॥ जो मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे हैं, तथा अभिनयकी मुद्राको धारण किये हैं ऐसे ये वृक्ष, आपके लिए मानो अपने नृत्यका आरम्भ ही दिखला रहे हैं ॥८६॥ हे माता ! इस समय समस्त दिशाएँ तुम्हारी चेष्टाके समान निर्मल हो गई हैं एवं सुन्दर प्रभातकाल हो गया है, इसलिए हे अनिन्दिते देवि ! शय्याको छोड़ो ॥८७॥ इस प्रकार बन्दीजनोंके द्वारा वन्दनीय, एवं निर्मल शरीरको धारण करनेवाली महारानी मरुदेवीने शय्याको उस प्रकार छोड़ा जिस प्रकार कि हंसी नदीके रेतीले तटको छोड़ती है ॥८८॥ उज्ज्वल कान्तिको धारण करनेवाली मरुदेवी धुले हुए वस्त्रको ग्रहणकर जब शयनागारसे बाहर निकली तब शरद् ऋतुके मेघसे बाहर निकली चन्द्रमाकी पतली कलाके समान सुशोभित होने लगी ॥८९॥ विद्युत्कुमारी और दिक्कुमारी देवियोंने जिसे नवीन-नवीन आभूषण पहिनाये थे तथा जो अन्तर्गतगर्भा होनेसे गृहीतजला मेघमालाके समान जान पड़ती थी ऐसी मरुदेवी नाभिराजारूपी पर्वतके समीप गई ॥९०॥ जो शोभामें लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ऐसी मरुदेवी वहाँ जाकर अपने आसनपर बैठी और हस्तकमल जोड़, भद्रासनपर बैठे हुए महाराजसे क्रम-पूर्वक स्वप्नोंका वर्णन करने लगी ॥९१॥

स्वप्नोंका फल समझकर महाराज नाभिराजने उससे कहा कि हे प्रिये ! निश्चय ही आज तुम्हारे गर्भमें तीन लोकके नाथ तीर्थंकरने अवतार लिया है ॥९२॥ दूरवर्ती तथा अल्प फलकी प्राप्तिके समय ऐसे स्वप्न नहीं दिखते इसलिए मुझे विश्वास है कि आज ही आपके गर्भ रहा है ॥९३॥ लगातार छह माससे होनेवाली रत्नोंकी वर्षा और देवताओंके द्वारा की हुई शुश्रूषासे

---

१. सूर्यदर्शने सति । २. धौतेवासं म० ।

सर्वथा सर्वकल्याणभाजनात्मजजन्मना । प्रिये ! त्वमचिरेणैव जगदानन्दयिष्यसि ॥९५॥
इति सुस्वप्नफलं श्रुत्वा सद्यः सम्भूतमात्मनि । मुमुदेऽतितरां देवी दीप्तिं कान्तिं च बिभ्रती ॥९६॥
तृतीयकालशेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुतास्तदा ॥९७॥
स्वर्गावतरणं जैनमाषाढबहुलस्य तु । द्वितीयामुत्तराषाढनक्षत्रेऽत्र जगन्नुतम् ॥९८॥
वर्धमाने क्रमाद् गर्भे वर्धते वपुषो वपुः । तस्यास्त्रिवलिशोभाया भङ्गभीत्येव नोदरम् ॥९९॥
गौरवातिशयाधानी दधाना त्रिजगद्गुरुम् । लाघवातिशयं देहे दध्रे चित्रमिदं परम् ॥१००॥
सन्तापहेतुरन्तःस्थो मातुर्माभूत् सुनिश्चलः । ज्ञानवान् स जिनो भानुर्यथाऽप्सु प्रतिबिम्बितः ॥१०१॥
ज्ञाननेत्रैः त्रिभिः पश्यन् विश्वं मासानसौ सुखम् । नवगर्भगृहेऽतिष्ठद्दिक्कुमारीविशोधिते ॥१०२॥
पूर्णेषु तेषु मासेषु निपतद्वसुवृष्टिषु । जिनं सा सुषुवे देवी सोत्तराषाढसन्निधौ ॥१०३॥
प्राच्या इव विशुद्धाया विशुद्धस्फटिकोपमात् । घनोदराद्विनिःक्रान्तो जिनः सूर्य इवाबभौ ॥१०४॥
जातकर्मणि कर्तव्ये व्यापृता लघुदेवताः । अन्तरङ्गा हि कर्तव्ये व्याप्रियन्ते जगत्यरम् ॥१०५॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । नन्दा नन्दोत्तरा नन्दी नन्दीवर्धनया सह ॥१०६॥
आलोलकुण्डलालोकविलसद्गण्डमण्डलाः । एतास्ता दिक्कुमार्योऽष्टौ तस्थुर्भृङ्गारपाणयः ॥१०७॥
सुस्थिता प्रणिधान्या सुप्रबुद्धा च यशोधरा । लक्ष्मीमती तथैवान्या कीर्तिमत्युपवर्णिता ॥१०८॥

हम दोनोंको जिनेन्द्रदेवके जिस जन्मकी सूचना मिली थी वह आज सफल हुई ॥९४॥ हे प्रिये ! निश्चय ही समस्त कल्याणोंके पात्र रूप पुत्रको उत्पन्न कर तुम शीघ्र ही संसारको आनन्दित करोगी ॥९५॥ इन उत्तम स्वप्नोंका फल अपने-आपमें शीघ्र ही संघटित हो चुका है, यह सुन दीप्ति और कान्तिको धारण करती हुई मरुदेवी बहुत ही प्रसन्न हुई ॥९६॥ तीसरे कालमें जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे थे तब आषाढ़ कृष्ण द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें समस्त जगत्के द्वारा नमस्कृत श्री जिनेन्द्रदेवका स्वर्गावतरण हुआ था ॥९७-९८॥ क्रम-क्रमसे गर्भमें वृद्धि होनेपर माताका शरीर भी बढ़ गया परन्तु त्रिवलिकी शोभा कहीं नष्ट न हो जाय इस भयसे मानो उसके उदरमें वृद्धि नहीं हुई ॥९९॥ माता मरुदेवी स्वयं अत्यधिक गौरवसे सुशोभित थी और उसपर तीनों जगत्के गुरु—भारी (पक्षमें श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देवको धारण कर रही थी, फिर भी वह शरीरमें अत्यधिक लघुताका अनुभव करती थी यह बड़े आश्चर्यकी बात थी ॥१००॥ मैं गर्भमें स्थिर रहकर माताके सन्तापका कारण न बनूँ यह जानकर ही मानो जिन-बालक गर्भमें अत्यन्त निश्चल रहते थे। माताके गर्भमें उनका निवास वैसा ही था जैसा कि जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यका होता है ॥१०१॥ मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा जगत्को देखते हुए जिन बालक, दिक्कुमारियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए गर्भमें नौ माह तक सुखसे स्थित रहे ॥१०२॥

तदनन्तर नौ माह पूर्ण होनेपर जब लगातार रत्नोंकी वर्षा हो रही थी तब उत्तराषाढा नक्षत्रके समय माताने जिन-बालकको उत्पन्न किया ॥१०३॥ जिस प्रकार निर्मल पूर्व दिशामें विशुद्ध स्फटिकके तुल्य मेघ मण्डलके मध्यसे निकला हुआ सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार माता मरुदेवीके स्फटिकके समान स्वच्छ गर्भसे निकले हुए जिन-बालक सुशोभित हो रहे थे ॥१०४॥ उस समय वहाँ जो देवियाँ थीं वे शीघ्र ही करने योग्य जातकर्ममें लग गईं सो ठीक ही है क्योंकि जो अन्तरङ्ग व्यक्ति होते हैं वे संसारमें शीघ्र ही अपने करने योग्य काममें लग जाते हैं ॥१०५॥ चञ्चल कुण्डलोंके प्रकाशसे जिनके कपोल सुशोभित हो रहे थे ऐसी १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती, ४ अपराजिता, ५ नन्दा, ६ नन्दोत्तरा, ७ नन्दी और ८ नन्दीवर्धना ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथोंमें झारियाँ लिये हुए खड़ी थीं ॥१०६-१०७॥ नाना प्रकारके आभरणोंसे सुशोभित १ सुस्थिता, २ प्रणिधान्या, ३ सुप्रबुद्धा, ४ यशोधरा, ५ लक्ष्मीमती, ६ कीर्तिमती,

वसुन्धरा तथा चित्रा चित्राभरणभास्वराः । दिक्कुमार्य इमा अष्टौ तस्थुर्दर्पणपाणयः ॥१०९॥
इला सुरा पृथिव्याख्या पद्मावत्यपि काञ्चना । सीता नवमिकाऽन्या च दिक्कन्या भद्रकाभिधा ॥११०॥
अष्टौ मुदाः प्रकृष्टाङ्गप्रभाभासितदिङ्मुखाः । धवलान्यातपत्राणि धारयन्ति स्म विस्मिताः ॥१११॥
ह्रीः श्रीः धृतिः परा सा च वारुणी पुण्डरीकिणी । अलम्बुसाम्बुजास्यश्रीर्मिश्रकेशीति विश्रुताः ॥११२॥
¹कनत्कनकदण्डानि ²कनत्कनककुण्डलाः । चामराणि गृहीत्वाष्टौ दिक्कुमार्यः स्थिता इमाः ॥११३॥
चित्रा कनकचित्रा च सूत्रामणिरिमा बभुः । त्रिशिराश्च कृतोद्योता विद्युत्कन्यास्तडित्प्रभा ॥११४॥
विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता । इमा विद्युत्कुमारीणां चतस्रः प्रमुखाः स्थिताः ॥११५॥
रुचका दिक्कुमारीणां प्रधाना रुचकोज्ज्वला । रुचकाभाश्चतस्रस्ता रुचकप्रभया सह ॥११६॥
जातकर्म जिनस्यैताश्चक्रुरष्टौ यथाविधि । जातकर्मणि निष्णाताः सर्वत्र जिनजन्मनि ॥११७॥
आचेलुश्चलमौलीनां काले तस्मिन् सुरेशिनाम् । त्रैलोक्येऽप्यासनान्याशु जिनोद्भूतिप्रभावतः ॥११८॥
प्रणेमुरहमिन्द्रास्तं प्रयुक्तावधयो जिनम् । तत्रस्थाः सिंहपीठेभ्यो गत्वा सप्तपदान्यरम्³ ॥११९॥
लोके भावनदेवानां शङ्खध्वनिरभूत्स्वयम् । व्यन्तराणां रवो भेर्या ज्योतिषां सिंहनिस्वनः⁴ ॥१२०॥
घण्टारणन्महाघोषः कल्पलोकमतीतनत् । किंकर्तव्यत्वसंमुग्धं त्रैलोक्यमभवत्क्षणम् ॥१२१॥
आसनस्य प्रकम्पेन दध्यौ विस्मितधीस्तदा । सौधर्मेन्द्रश्चलन्मौलिर्धूत्वा मूर्धानमुन्नतम् ॥१२२॥
अतिबालेन मुग्धेन स्वतन्त्रेणाशुकारिणा । निर्भयेन विशङ्केन केनेदमप्यनुष्ठितम् ॥१२३॥

---

७ वसुन्धरा और ८ चित्रा ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ हाथोंमें दर्पण लिये हुए खड़ी थीं ॥१०८-१०९॥ अपने शरीरकी श्रेष्ठ प्रभासे दिशाओंको सुशोभित करनेवाली १ इला, २ सुरा, ३ पृथिवी, ४ पद्मावती, ५ काञ्चना, ६ सीता, ७ नवमिका और ८ भद्रका ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ आश्चर्यचकित हो सफेद छत्र धारण कर रही थीं ॥११०-१११॥ देदीप्यमान स्वर्णके कुण्डलोंको धारण करनेवाली १ ह्री, २ श्री, ३ धृति, ४ वारुणी, ५ पुण्डरीकिणी, ६ अलम्बुसा, ७ अम्बुजास्यश्री और ८ मिश्रकेशी ये आठ दिक्कुमारी देवियाँ देदीप्यमान सुवर्णमय दण्डोंसे युक्त चामर लेकर खड़ी थीं ॥११२-११३॥ बिजलीके समान प्रभावाली १ चित्रा, २ कनकचित्रा, ३ सूत्रामणि और ४ त्रिशिरा इन चार विद्युत्कुमारी देवियोंने सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर दिया था ॥११४॥ १ विजया, २ वैजयन्ती, ३ जयन्ती और ४ अपराजिता ये चार देवियाँ विद्युत्कुमारियोंमें प्रमुख थीं ॥११५॥ १ रुचका, २ रुचकोज्ज्वला, ३ रुचकाभा और ४ रुचकप्रभा ये चार देवियाँ दिक्कुमारियोंमें प्रधान थीं ॥११६॥ इन आठ देवियोंने विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवका जातकर्म किया था। ये देवियाँ जातकर्ममें अत्यन्त निपुण हैं और सब जगह जिनेन्द्र देवका जातकर्म ये ही देवियाँ करती हैं ॥११७॥ उस समय तीनों लोकोंमें जो इन्द्र थे, जिनेन्द्र जन्मके प्रभावसे उन सबके मुकुट चञ्चल हो गये और सबके आसन कम्पायमान हो उठे ॥११८॥ अवधिज्ञानका प्रयोग करनेवाले अहमिन्द्र अपने-अपने निवासस्थानोंमें ही स्थिर रहे, मात्र उन्होंने सिंहासनोंसे सात डग चलकर जिनेन्द्र भगवान्‌को शीघ्र ही परोक्ष नमस्कार किया ॥११९॥ भवनवासी देवोंके लोकमें अपने-आप शङ्खोंका शब्द, व्यन्तरोंके लोकमें भेरीका शब्द और ज्योतिषी देवोंके लोकमें सिंहोंके शब्द होने लगे ॥१२०॥ श्रेष्ठ घण्टाओंके जोरदार शब्दने कल्पवासी देवोंके लोकको व्याप्त कर लिया। उस समय तीनों लोक 'क्या करना चाहिए' यह विचार करनेमें तत्पर हो गये ॥१२१॥ उस समय आसनके कम्पायमान होनेसे जिसकी बुद्धि चकित हो गई थी ऐसा सौधर्मेन्द्र मुकुट हिलाकर तथा ऊँचे मस्तकको कँपाकर विचार करने लगा कि उत्पन्न बालक, मूर्ख, स्वच्छन्द, सहसा कार्य करनेवाले निर्भय एवं शङ्कारहित किस व्यक्तिने यह कार्य किया

---

१. क्वणत् म० । २. क्वणत् म० । ३. अरं शीघ्रं सप्तपदानि गत्वा । सप्तपदान्यरम् म० ।
४. निस्वनाः म० ।

देवदानवचक्रस्य स्वपराक्रमशालिनः । कथञ्चित्प्रतिकूलस्य यः समर्थः कदर्थने ॥१२४॥
इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः कथं न गणितोऽधुना । सोऽहं कम्पयताऽनेन सिंहासनमकम्पनम् ॥१२५॥
सम्भावयामि नेदृक्प्रभावं भुवनत्रये । प्रभुं तीर्थङ्करादन्यमिति मत्वा श्रितोऽवधिम् ॥१२६॥
ततो विस्फुरितेनायमवधिज्ञानचक्षुषा । तं तीर्थंकरमुत्पन्नमाद्यमैक्षिष्ट भारते ॥१२७॥
आसनादवतीर्याशु क्रान्त्वा सप्तपदानि सः । जयतां जिन इत्युक्त्वा प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥१२८॥
पुनश्चासनमारुह्य समाज्ञापयति स्म सः । ध्यानानन्तरमागम्य स्थितं सेनापतिं पुरः ॥१२९॥
अस्यामाद्योऽवसर्पिण्यां जातस्तीर्थकरोऽधुना । गन्तव्यं भारतं देवैर्बोध्यन्तां[1] ते त्वया त्विति ॥१३०॥
स्वाम्यादेशे कृते तेन चेलुः सौधर्मवासिनः । देवैश्चाच्युतपर्यन्ताः स्वयम्बुद्धाः सुरेश्वराः ॥१३१॥
यथास्वस्वं निमित्तेभ्यः प्रतिबुद्धाः प्रहर्षिणः । निश्चेलुर्निजलोकेभ्यो ज्योतिर्व्यन्तरभावनाः ॥१३२॥
गजाश्वरथसत्कृष्टपदातिवृषभैस्तदा । गन्धर्वनर्तकीमिश्रैः सप्तानीकैश्चितं नभः ॥१३३॥
महिषाद्यैश्च नावाद्यैः खड्गाद्यैर्गरुडादिभिः । शिविकाश्वोष्ट्रमकरद्विपहंसादिभिस्तथा ॥१३४॥
दशानामसुरादीनां कुमाराणां यथाक्रमम् । सप्तानीकैर्नभो व्याप्तं बभासे नितरां तदा ॥१३५॥
विमानानि समारूढा गोवृषान् गवयान् रथान् । अश्वान् शरभशार्दूलान् मकरान् करभान् सुराः ॥१३६॥
वराहमहिषान् सिंहान् पृषतान् द्वीपिनो द्विपान् । चमरान् हरिणांश्चारुहरुरून् केचिद् गरुत्मतः ॥१३७॥

है ? ॥१२२–१२३॥ अपने पराक्रमसे सुशोभित देव-दानवोंका समूह भी यदि कदाचित् प्रतिकूल हो जावे तो उसे भी जो नष्ट करनेमें समर्थ है ऐसा मैं इन्द्र, शक्र या पुरन्दर हूँ फिर मेरे अकम्पित आसनको कम्पित करनेवाले इस मूर्खने इस समय मुझे कुछ क्यों नहीं समझा ? १२४–१२५॥ मैं तीनों लोकोंमें तीर्थंकरके सिवाय किसी दूसरे प्रभुको ऐसे प्रभावसे युक्त नहीं समझता हूँ, ऐसा विचारकर उसने अवधिज्ञानका आश्रय लिया ॥१२६॥

तदनन्तर सौधर्मेन्द्रने प्रकट हुए अवधिज्ञान रूपी नेत्रके द्वारा भरत क्षेत्रमें उत्पन्न हुए प्रथम तीर्थङ्करको देख लिया ॥१२७॥ उसने शीघ्र ही आसनसे उतरकर तथा सात डग आगे जाकर 'जिनेन्द्र भगवान्‌की जय हो' यह कहते हुए हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया ॥१२८॥ तद-नन्तर सिंहासनपर आरूढ़ हो सौधर्मेन्द्रने विचार करते ही नमस्कार कर सामने खड़े हुए सेनापति-को आदेश दिया कि 'इस समय इस अवसर्पिणीके प्रथम तीर्थङ्कर उत्पन्न हो चुके हैं अतः समस्त देवोंको भरतक्षेत्र चलना है'। तुम यह सूचना सबके लिए दे दो ॥१२९–१३०॥ सेनापतिके द्वारा स्वामीका आदेश सुनाये जाते ही सौधर्म स्वर्गमें रहनेवाले समस्त देव चल पड़े। तथा अच्युत स्वर्ग तकके समस्त इन्द्र स्वयं ही इस समाचारको जान देवोंके साथ बाहर निकले ॥१३१॥ अपने-अपने स्थानोंमें होनेवाले निमित्तोंसे जिन्हें जिनेन्द्र जन्मका समाचार ज्ञात हुआ था, ऐसे हर्षसे भरे हुए ज्योतिषी व्यन्तर और भवनवासी देव अपने-अपने स्थानोंसे बाहर निकले ॥१३२॥ उस समय १ हाथी, २ घोड़ा, ३ रथ, ४ पैदल सैनिक, ५ बैल, ६ गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार-की सेनाओंसे आकाश व्याप्त हो गया था ॥१३३॥ असुर कुमार आदि दश प्रकारके भवनवासी देवोंकी भैंसा, नौका, गेंडा, हाथी, गरुड़, पालकी, घोड़ा, ऊँट, मगर, हाथी और हंसको आदि लेकर क्रमसे जो सात प्रकारकी सेनाएँ थीं उन सबसे व्याप्त हुआ आकाश उस समय अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥१३४–१३५॥ उन देवोंमें कितने ही देव विमानोंमें बैठे थे, कितने ही बैलोंपर, कितने ही रोझोंपर, कितने ही रथोंपर, कितने ही घोड़ोंपर, कितने ही अष्टापद और शार्दूलोंपर, कितने ही मगरोंपर, कितने ही ऊँटोंपर, कितने ही वराह और भैंसोंपर, कितने ही सिंहोंपर, कितने ही हरिणोंपर, कितने ही चीतोंपर, कितने ही हाथियोंपर, कितने ही सुरागायोंपर, कितने ही सामान्य हरिणोंपर, कितने ही श्याम हरिणोंपर, कितने ही गरुड़ोंपर, कितने ही तोताओं-

1. बोध्यतामिति म० ।

शुकान् परभृतान् क्रौञ्चान् कुररान् शिखिकुक्कुटान् । परे पारावतान् हंसान् सकारण्डवसारसान् ॥१३८॥
चक्रवाकबलाकौघान् बकादीन् समधिष्ठिताः । चतुर्देवनिकायास्ते सह जग्मुरितस्ततः ॥१३९॥
श्वेतच्छत्रैर्ध्वजैश्चित्रैश्चामरैः फेनपाण्डुरैः । कुर्वाणाः सर्वमाकाशं समाकीर्णं निरन्तरम् ॥१४०॥
भेरीदुन्दुभिशङ्खादिरवापूरितविष्टपम् । नृत्यगीतैर्युतं रेजे देवागमनमद्भुतम् ॥१४१॥
सौधर्मेन्द्रस्तदारूढो गजानीकाधिपं गजम् । ऐरावतं विकुर्वाणमाकाशाकारवद्वपुः ॥१४२॥
प्रोद्दन्तान्तरनिष्क्रान्तकरास्फारितपुष्करम् । प्रोद्वंशाङ्कुरमध्योद्यद्भोगीन्द्रमिव भूधरम् ॥१४३॥
कर्णचामरशङ्खाङ्कं कक्षानक्षत्रमालिनम् । बलाकाहंसविद्युद्भिरिव भ्रान्तं[1] मरुत्पथम्[2] ॥१४४॥
आरूढवारणेन्द्राणामिन्द्राणां निवहैर्युतः । जन्मक्षेत्रं जिनस्यासौ पवित्रं प्राप्तवान् सुरैः ॥१४५॥
नभसोऽवतरन्ती वै सा सुरासुरसन्ततिः । कुबेरकृतमद्राक्षीत् पुरं स्वर्गमिव क्षितौ ॥१४६॥
वप्रप्राकारपरिखापरिक्षेपमनोहरम् । सोद्यानकाननारामसरोवापीविराजितम् ॥१४७॥
इन्द्रनीलमहानीलवज्रवैडूर्यभित्तयः । प्रासादाः पद्मरागादिप्रभाढ्या यत्र रेजिरे ॥१४८॥
सुराणामसुराणां च तत्पुरश्रीविलोकिनाम् । मनोऽभूद्[3] दूरितोत्कण्ठं स्वर्गपातालजश्रियः ॥१४९॥
यतः साकमितं यत्प्राक् सुरासुरजगत्त्रयम् । पुरं तत्कीर्तिमत्तस्मात्साकेतमिति कीर्तितम् ॥१५०॥

पर, कितने ही कोकिलाओंपर, कितने ही क्रौञ्च पक्षियोंपर, कितने ही कुररोंपर, कितने ही मयूरों और मुर्गोंपर, कितने ही कबूतरों, हंसों, कारण्डव और सारसोंको, कितने ही चकवा और बलाकाओंके समूहपर और कितने ही बगुला आदि जीवोंपर बैठे थे। इस प्रकार उस समय चारों निकायके देव इधर-उधर जा रहे थे ॥१३६-१३९॥ सफेद छत्रों, नाना प्रकारकी ध्वजाओं, और फेनके समान सफेद चमरोंसे समस्त आकाशको व्याप्त करते हुए वे चारों निकायके देव जहाँ-तहाँ चल रहे थे ॥१४०॥ भेरी, दुन्दुभि तथा शङ्ख आदिके शब्दोंसे जिसने समस्त लोकको भर दिया था तथा जो नृत्य और गीतसे युक्त था, ऐसा वह देवोंका आश्चर्यकारी आगमन अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१४१॥

उस समय सौधर्मेन्द्र, हाथियोंकी सेनाके अधिपति तथा आकाशके समान अपने शरीरकी विक्रिया करनेवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ़ था ॥१४२॥ वह ऐरावत, दोनों खीसोंके बीच उठी हुई सूँड़के अग्रभागको फैलाये हुए था, अतएव जिसके बाँसोंके अंकुरोंके बीच सर्पराज ऊपरकी ओर उठ रहा था, ऐसे पर्वतके समान जान पड़ता था ॥१४३॥ वह ऐरावत ठीक आकाशके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार आकाश, बलाका, हंस और बिजलियोंसे युक्त होता है, उसी प्रकार वह हाथी भी कर्ण, चामर, शङ्ख तथा कक्षामें लटकती हुई नक्षत्रमालासे युक्त था ॥१४४॥ अन्य—दूसरे गजराजोंपर बैठे हुए इन्द्रोंके समूहसे युक्त सौधर्मेन्द्र, समस्त देवोंके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ ॥१४५॥ आकाशसे उतरती हुई उस सुर और असुरोंकी पङ्क्तिने पृथिवीपर कुबेरके द्वारा निर्मित नगरको ऐसा देखा मानो स्वर्ग ही हो ॥१४६॥ वह नगर धूलिके बन्धान, कोट और परिखाके चक्रसे मनोहर था तथा उद्यान, वन, आराम, सरोवर और वापिकाओंसे अलंकृत था ॥१४७॥ इन्द्रनील, महानील, हीरा और वैडूर्यमणिकी दीवालोंसे युक्त तथा पद्मराग आदि मणियोंकी प्रभासे परिपूर्ण वहाँके भवन अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१४८॥ उस नगरकी शोभा देखनेवाले सुर और असुरोंका मन स्वर्ग तथा पाताल सम्बन्धी शोभाके देखनेकी उत्कण्ठा दूर कर चुका था ॥१४९॥ क्योंकि सुर, असुर आदि तीनों जगत्के जीव वहाँ पहले एक साथ पहुँचे थे इसलिए वह कीर्तिशाली नगर उस समयसे 'साकेत' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥१५०॥

---

१. तान्तं म० । २. महत्पथम् म० । ३. दुरितोत्कण्ठ- म० ।

ततः समं पुरं देवैस्त्रिःपरीत्य पुरन्दरः । प्रविश्य जिनमानेतुमादिदेश शचीं शुचिम् ॥१५१॥
लब्धादेशा जनन्याः सा प्रविश्य प्रसवालयम् । सुखनिद्रां विधायान्यं शिशुं च सुरमायया ॥१५२॥
प्रणम्य जिनमादाय चकार करयोर्हरेः । तद्रूपातिशयं पश्यन् सहस्राक्षो न तृप्तिमैत्[1] ॥१५३॥
आरोप्य जिनमात्माङ्कमैरावतगजे स्थितः । सोऽभ्यभादुदितादित्यः शिखरात्मेव नैषधः ॥१५४॥
छत्रच्छायापटच्छन्नं चामरोत्करवीजितम् । जिनं निनाय देवौघैः सुमेरुशिखरं हरिः ॥१५५॥
समप्रदक्षिणमागत्य पाण्डुकाख्यशिलातले । सिंहासने जिनं शक्रश्चक्रे चक्रेण नाकिनाम् १५६॥
क्षुभिताम्भोधिगम्भीरा भेरीपटहमर्दलाः । ताडिताः समृदङ्गाद्याः सुरैः शङ्खाश्च पूरिताः ॥१५७॥
जगुः किन्नरगन्धर्वाः स्त्रीभिस्तुम्बुरुनारदाः । सविश्वावसवो विश्वे चित्रं श्रोत्रमनोहरम् ॥१५८॥
[2]ततं च विततं चैव घनं सुषिरमप्यकम् । मनोहारि तदा देवैर्वाद्यते स्म चतुर्विधम् ॥१५९॥
हावभावाभिरामं च नृत्यमप्सरसामभूत् । अङ्गहारकृतासङ्गं शृङ्गारादिरसाद्भुतम् ॥१६०॥
इत्थं तत्र महानन्दे देवसङ्घैः प्रवर्तिते । पूरिते प्रतिशब्दैश्च मन्दरे रुन्द्रकन्दरे ॥१६१॥
कृताऽऽकल्पेऽभिषेकार्थं सौधर्मेन्द्रे ससम्भ्रमे । साष्टमङ्गलहस्तासु प्र[3]शस्तामरयोषित्सु ॥१६२॥
[4]सघटैः सुरसङ्घातैर्महावेगैर्महाघनैः । सर्वदिक्षु गतैः क्षिप्रं क्षोभितः क्षीरसागरः ॥१६३॥

तदनन्तर देवोंके साथ-साथ उस नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर सौधर्मेन्द्रने भीतर प्रवेश किया और पवित्र जिनेन्द्रको लानेके लिए इन्द्राणीको आज्ञा दी ॥१५१॥ इन्द्रको आज्ञा पाते ही इन्द्राणीने माताके प्रसूति गृहमें प्रवेश किया और देवकृत मायासे माताको सुखनिद्रामें निमग्न कर उसके पास मायामयी दूसरा बालक लिटा दिया ॥१५२॥ तत्पश्चात् प्रणाम करनेके बाद जिन-बालकको लेकर उसने इन्द्रके हाथोंमें सौंपा। इन्द्रने हजार नेत्र बनाकर उनका अतिशय सुन्दर रूप देखा फिर भी वह तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ ॥१५३॥ जिन बालकको अपनी गोदमें रखकर ऐरावत हाथीपर बैठा हुआ सौधर्मेन्द्र उस समय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो सूर्योदयसे सहित निषधाचलका शिखर ही हो ॥१५४॥ जो छत्रकी छायारूपी वस्त्रसे आच्छादित थे तथा जिनकी दोनों ओर चामरोंके समूह ढोले जा रहे थे, ऐसे जिन बालकको सौधर्मेन्द्र देव-समूहके साथ सुमेरुके शिखरपर ले गया ॥१५५॥ इन्द्रने पहले आकर देव समूहके साथ मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा दी फिर पाण्डुक शिलापर स्थित सिंहासनपर जिन-बालकको विराजमान किया ॥१५६॥ उस समय देवोंने क्षोभको प्राप्त हुए समुद्रके समान गम्भीर शब्दवाले भेरी, पटह, मर्दल तथा मृदङ्ग आदि बाजे बजाये और शङ्ख फूँके ॥१५७॥ किन्नर, गन्धर्व, तुम्बुरु, नारद तथा विश्वावसु जातिके समस्त देव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ कानों एवं हृदयको हरनेवाले भाँति-भाँतिके गान गाने लगे ॥१५८॥ उस समय देव तत*, वितत, घन और सुषिर नामके चारों मनोहारी बाजे बजा रहे थे ॥१५९॥ हाव-भावसे सुन्दर, अङ्गहारोंसे युक्त तथा शृङ्गारादि रसोंसे आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला अप्सराओंका नृत्य हो रहा था ॥१६०॥ इस प्रकार जब वहाँ देव-समूहके द्वारा महान् आनन्द मनाया जा रहा था। लम्बी-चौड़ी गुफाओंसे युक्त मेरु पर्वत उनकी प्रतिध्वनिसे गूँज रहा था, हर्षसे भरा सौधर्मेन्द्र अभिषेकके लिए योग्य वेष धारण कर रहा था, और उत्तम देवाङ्गनाएँ अपने

१. प्राप।
२. ततं वीणादिकं वाद्यं सानद्धं मुरजादिकम्।
वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ अमरकोषस्य
३. मनोहरदेवस्त्रीषु। ४. सङ्घटैः म०।

*तारके बाजे वीणा आदिको तत कहते हैं। चमड़ेसे मढ़े हुए नगड़ा मृदङ्ग आदि वितत कहलाते हैं। झालर झाँझ मँजीरा आदि काँसेके बाजोंको घन कहते हैं और शङ्ख बाँसुरी आदि सुषिर कहलाते हैं।

क्षीरपूर्णाः सुरैः सिता राजताः करतः करम् । सौवर्णाश्च बभुः कुम्भाश्चन्द्रार्का इव मेरुगाः ॥१६४॥
कुम्भैर्निरन्तराराबैर्बहुदेवसहस्रकैः । क्षीराम्भोभिर्जिनेन्द्रस्य चक्रे जन्माभिषेचनम् ॥१६५॥
ऐन्द्राः कुम्भमहाम्भोदा दुग्धाम्भोऽम्बरवर्षिणः । शिशोर्जिनगिरेरासन् तदाऽऽयासहेतवः ॥१६६॥
जिनोच्छ्वासमुहुः क्षिप्तक्षीरवारिप्लवेरिताः । प्लवन्ते स्म क्षणं देवाः क्षीरौघे मक्षिकौघवत् ॥१६७॥
दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग् मन्दरो रत्नपिञ्जरः । स एव क्षीरपूरौघैर्धवलीकृतविग्रहः ॥१६८॥
तदाऽत्यन्तपरोक्षोऽपि प्रत्यक्षः क्षीरवारिधिः । कृतः खेचरसङ्घातैर्जिनजन्माभिषेचने ॥१६९॥
स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारि पयोम्बुधेः । स्नानसम्पादका देवाः स्नानमीदृग् जिनस्य तत् ॥१७०॥
इन्द्रसामानिकानेकलोकपालादयोऽमराः । क्रमेण चक्रुरम्भोभिरभिषेकं पयोम्बुधेः ॥१७१॥
अत्यन्तसुकुमारस्य जिनस्य सुरयोषितः । शच्याद्याः पल्लवस्पर्शसुकुमारकरास्ततः ॥१७२॥
दिव्यामोदसमाकृष्टषट्पदौघानुलेपनैः । उद्वर्तयन्त्यस्ताः प्रापुः शिशुस्पर्शसुखं नवम् ॥१७३॥
ततो गन्धोदकैः कुम्भैरभ्यषिञ्चन् जगत्प्रभुम् । पयोधरभराक्रान्ता वर्षा इव भूभृतम् ॥१७४॥
समं च चतुरस्रं च संस्थानं दधतः परम् । सुवज्रर्षभनाराचसंहातसुघनात्मनः ॥१७५॥
कर्णावक्षतकायस्य कथञ्चिद् वज्रपाणिना । विद्धौ वज्रघनौ तस्य वज्रसूचीमुखेन तौ ॥१७६॥
कृताभ्यां कर्णयोरीशः कुण्डलाभ्यामभात्ततः । जम्बूद्वीपः सुभानुभ्यां सेवकाभ्यामिवान्वितः ॥१७७॥

हाथोंमें अष्ट मङ्गल द्रव्य धारण कर रही थीं, तब महावेगशाली देवोंके समूह घट लेकर विशाल मेघोंके समान समस्त दिशाओंमें फैल गये और उन्होंने क्षीरसागरको क्षोभित कर दिया ॥१६१-१६३॥ क्षीरसे भरे चाँदी और सोनेके कलश देवों द्वारा एक हाथसे दूसरे हाथमें दिये जाकर सुमेरु पर्वतपर पहुँच रहे थे और वे चन्द्र तथा सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१६४॥ निरन्तर शब्द करनेवाले एवं क्षीर सागरके जलसे भरे हुए कलशोंके द्वारा हजारों देवोंने जिनेन्द्र भगवान्‌का अभिषेक किया ॥१६५॥ उस समय इन्द्रोंके कलशरूपी महामेघ जिनबालक रूपी पर्वतके ऊपर क्षीरोदककी वर्षा कर रहे थे परन्तु वे उन्हें रञ्च मात्र भी खेदके कारण नहीं हुए थे ॥१६६॥ भगवान्‌के श्वासोच्छ्वाससे बार-बार उछाले हुए क्षीरोदकके प्रवाहसे प्रेरित देव, उस क्षीरोदकके समूहमें क्षण भरके लिए मक्खियोंके समूहके समान तैरने लगते थे ॥१६७॥ देवोंके समूहने पहले जिस मेरुको रत्नोंसे पीला देखा वही उस समय क्षीरोदकके पूरसे सफेद दिखने लगा था ॥१६८॥ यद्यपि क्षीरसागर अत्यन्त परोक्ष है तथापि जिनेन्द्रके जन्माभिषेकके समय देवोंके समूहने उसे प्रत्यक्ष कर दिखाया था ॥१६९॥ जिसमें मेरु पर्वत स्नानका आसन था, क्षीर समुद्रका क्षीर स्नान जल था, और देव स्नान करानेवाले थे ऐसा वह भगवान्‌का स्नान था ॥१७०॥ इन्द्र सामानिक तथा लोकपाल आदि अनेक देवोंने क्षीरसागरके जलसे भगवान्‌का क्रम पूर्वक अभिषेक किया था ॥१७१॥

तदनन्तर जिनके हाथ पल्लवोंके समान अत्यन्त सुकुमार थे, ऐसी इन्द्राणी आदि देवियोंने अतिशय सुकुमार जिन-बालकको अपनी दिव्य सुगन्धिसे भ्रमर समूहको आकृष्ट करनेवाले अनुलेपनसे उबटन किया और इस तरह उन्होंने जिन-बालकके स्पर्शसे समुत्पन्न नूतन सुख प्राप्त किया ॥१७२-१७३॥ तदनन्तर पयोधरभार—मेघोंके भारसे नम्रीभूत वर्षा ऋतु जिस प्रकार पर्वतका अभिषेक करती है उसी प्रकार पयोधरभार—स्तनोंके भारसे नम्रीभूत देवियोंने सुगन्धित जलसे भरे कलशों द्वारा भगवान्‌का अभिषेक किया ॥१७४॥ जो परम सुन्दर समचतुरस्र संस्थानको धारण कर रहे थे तथा वज्रर्षभ नाराच संहननसे जिनका शरीर अत्यन्त सुदृढ़ था, ऐसे अक्षतकाय जिन-बालकके वज्रके समान मजबूत कानोंको इन्द्र वज्रमयी सूचीकी नोंकसे किसी तरह वेध सका था ॥१७५-१७६॥ तदनन्तर कानोंमें पहिनाये हुए दो कुण्डलोंसे भगवान् उस तरह सुशोभित हो रहे थे जिस तरह कि सदा सेवा करनेवाले दो सूर्योंसे जम्बूद्वीप

चूलायां स्निग्धनीलायां पद्मरागमणिः कृतः । परभागमसौ लेभे हरिनीलमणौ[1] यथा ॥१७८॥
ललाटपट्टविन्यस्ता सितचन्दनचर्चिका । रराजार्धेन्दुरेखेव सन्ध्यापीताभ्रवर्तिनी ॥१७९॥
सुरत्नहेमकेयूरभूषितौ च भुजौ मृदू । रेजतुः सफणारत्नाविव बालभुजङ्गमौ ॥१८०॥
प्रकोष्ठौ ज्येष्ठमाणिक्यकटकप्रकटप्रभौ । अभातां रत्नशैलस्य तटाविव सुराश्रितौ ॥१८१॥
स्थूलमुक्ताफलेनास्य रेजे हारेण हारिणा । वक्षःस्थलं महीध्रस्य निर्झरेणेव सत्तटम् ॥१८२॥
बभौ प्रालम्बसूत्रेण[2] भास्वद्रत्नमयेन सः । कल्पद्रुम इवाश्लिष्टः कान्तकल्पलतात्मना ॥१८३॥
विचित्रस्योपरिस्थेन कटिसूत्रेण वाससः । बभौ कटीतटीवाद्रेरभ्रस्य तडिदर्चिषा[3] ॥१८४॥
चरणौ मणिसङ्कीर्णरणच्चरणभूषणौ । परस्परसमालापं कुर्वाणाविव रेजतुः ॥१८५॥
मुद्रिकाभरणेनाभाद् रत्नहेमात्मना गलत्[4] । स्वाङ्गुलीबहुलावण्यरक्षामुद्रीकृतेन वा ॥१८६॥
दिग्धश्चन्दनपङ्केन कुङ्कुमस्थासकाचितः । [5]सन्ध्यापीताभ्रलेशाक्तस्फटिकाद्रिरिवाबभौ ॥१८७॥
उत्तरीयाम्बरं स्वच्छं हंसमालोज्ज्वलं सृतः । शुशुभेऽसौ शुभाकारः शरद्धन इवामलः ॥१८८॥
सन्तानपारिजातादिदेवलोकतरूद्भवैः । जलस्थलोद्भवैर्नानासुरभिप्रसवैः शुभैः ॥१८९॥
भद्रशालवनोद्भूतैर्नन्दनवनसम्भवैः । पुष्पैः सौमनसोद्भूतैः सपाण्डुकवनोद्भवैः ॥१९०॥

सुशोभित होता है ॥१७७॥ भगवान्‌की चिकनी एवं नीली चोटीपर धारण किया पद्मराग मणि, ऐसा वर्णोत्कर्षको प्राप्त हो रहा था मानो इन्द्रनील मणिके ऊपर ही धारण किया गया हो ॥१७८॥ भगवान्‌के ललाट पटपर बनाई हुई सफेद चन्दनकी खौर, संध्याके पीले बादलोंके बीच वर्तमान अर्धचन्द्रकी रेखाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७९॥ उत्तम रत्नोंसे खचित स्वर्णमय बाजूबन्दोंसे सुशोभित उनकी दोनों कोमल भुजाएँ फणाके मणियोंसे सहित दो बाल सर्पोंके समान जान पड़ती थीं ॥१८०॥ उत्तम मणिमय कड़ोंसे जिनकी शोभा बढ़ रही थी ऐसी उनकी दोनों कलाइयाँ, देवोंसे आश्रित रत्नाचलके दो तटोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१८१॥ जिसमें बड़े-बड़े मोती लगे हुए थे ऐसे सुन्दर हारसे उनका वक्षःस्थल उस तरह सुशोभित हो रहा था जिस तरह कि झरनेसे किसी पर्वतका उत्तम तट सुशोभित होता है ॥१८२॥ देदीप्यमान रत्नोंसे निर्मित प्रालम्ब सूत्रसे भगवान् उस तरह सुशोभित हो रहे थे जिस तरह कि सुन्दर कल्पलतासे वेष्टित कल्पवृक्ष सुशोभित होता है ॥१८३॥ रङ्ग-विरङ्गे वस्त्रके ऊपर स्थित कटिसूत्रसे भगवान्‌की कटि ऐसी जान पड़ती थी मानो मेघके ऊपर स्थित बिजलीकी किरणसे शोभित किसी पर्वतकी तटी ही हो ॥१८४॥ जिनमें रुनझुन करनेवाले मणिमय आभूषण पहिनाये गये थे, ऐसे उनके दोनों चरण परस्पर वार्तालाप करते हुएके समान जान पड़ते थे ॥१८५॥ रत्न-जटित स्वर्णमय मुद्रियोंसे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो अपनी अङ्गुलियोंसे टपकते हुए अत्यधिक सौन्दर्यकी रक्षाके निमित्त उनपर मुद्रा (मुहर) ही लगा दी हो ॥१८६॥ पहले तो भगवान्‌पर चन्दनका लेप लगाया और उसके ऊपर केशरके तिलक लगाये गये जिससे वे संध्याकालके पीले-पीले मेघखण्डोंसे युक्त स्फटिकके पर्वतके समान सुशोभित होने लगे ॥१८७॥ स्वच्छ एवं हंसमालाके समान उज्ज्वल उत्तरीय वस्त्रको धारण किये हुए भगवान् शुभ आकारवाले, शरद्‌ऋतुके निर्मल मेघके समान जान पड़ते थे ॥१८८॥ उस समय माला बनानेके कौशलमें अत्यन्त निपुण देवांगनाओंके द्वारा सन्तानक, पारिजात, आदि देवलोकके वृक्षोंसे उत्पन्न पुष्पोंसे, जल-स्थल सम्बन्धी नाना प्रकारके शुभ सुगन्धित पुष्पोंसे तथा भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वनके पुष्पोंसे गूँथी हुई मुण्डमालाके अग्रभागको अलंकृत करनेवाली मालासे वे सुमेरुके आभूषण भगवान्

---

१. तनौ म० । २. 'कटिभागादवालम्बि प्रालम्बं सूत्रमुच्यते' ॥ इति क० पुस्तके टिप्पणी । ३. तडिदर्चिषः म० । ४. गलत् म०, गलच्च तत्स्वाङ्गुली बहुलावण्यं च तस्य रक्षार्थं मुद्रीकृतेनेव (क०टि०) । ५. सन्ध्याभ्रदभ्रलेशाक्त ख०, घ०, ग० ।

ग्रन्थितेन सुरस्त्रीभिर्माल्यकौशल[1]चुञ्चुभिः । मण्डितो मुण्डमालाग्रमण्डनेनाद्रिमण्डनः ॥१९१॥
भद्रशालो जगत्युच्चैर्जगतामभिनन्दनः । सोऽभात्सौमनसोऽखण्डयशसा पाण्डुकः स्वयम् ॥१९२॥
विशेषको भुवामीशो विशेषकविभूषितः । विशेषतो बभौ देवविशेषकविभूषितः ॥१९३॥
शिशोर्निरञ्जनस्यास्ये स्वञ्जनाञ्जितलोचने । परं जितार्कचन्द्राभिदीप्तिकान्ती बभूवतुः ॥१९४॥
श्रीशचीकीर्तिलक्ष्मीभिः स्वहस्तैः कृतमण्डनः । स तथाऽऽखण्डलादीनां देवानामहरन्मनः ॥१९५॥
ततस्तमृषभं नाम्ना प्रधानपुरुषं सुराः । युगाद्यमभिधायेत्थं शक्राद्याः स्तोतुमुद्यताः ॥१९६॥
मतिश्रुतावधिश्रेष्ठचक्षुषा वृषभ ! त्वया । जातेन भारते क्षेत्रे द्योतितं भुवनत्रयम् ॥१९७॥
नृभवाभिमुखेनैव भवताऽद्भुतकर्मणा । आवर्जितं जगद् येन किं जातस्यैतदद्भुतम् ॥१९८॥
पादाधःस्थापितोत्तुङ्गमानशृङ्गमहागुरुः । महागुरुस्त्वमीशानां शैशवेऽप्यशिशुस्थितिः ॥१९९॥
अस्पृशन्तो भुवं सर्वां पादाग्रैः सुरपर्वताः । पादौ मुकुटकूटोच्चैःशिरोभिस्ते वहन्त्यमी ॥२००॥
मन्त्रशक्तिरियं किन्नु प्रभुशक्तिस्तथाऽथवा । प्रोत्साहशक्तिराहोस्वित् किमप्यन्यन्महाद्भुतम् ॥२०१॥
पौरुषाधिकमानीतं त्वया नाथ जगत्त्रयम् । कथमेकपदे विश्वं विधिनेव विधीयताम् ॥२०२॥

अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१८९–१९१॥ वे भगवान् भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक इन चारों वन-स्वरूप सुशोभित थे। भद्रशाल इसलिए थे कि उनकी शाला अर्थात् प्रासाद भद्र अर्थात् उत्तम था। नन्दन इसलिए थे कि जगत्‌के सब जीवोंको अत्यधिक आनन्दित करनेवाले थे, सौमनस इसलिए थे कि उत्तम हृदयको धारण करनेवाले थे और पाण्डुक इसलिए थे कि वे स्वयं यशसे पाण्डुक—सफेद हो रहे थे ॥१९२॥ जो तीनों लोकोंमें विशेषक अर्थात् तिलकके समान श्रेष्ठ थे, जो विशेषकों अर्थात् तिलकोंके द्वारा सुशोभित थे और जो देव-विशेषक अर्थात् विशिष्ट देवोंके द्वारा विभूषित किये गये थे ऐसे भगवान् उस समय विशेष रूपसे शोभायमान हो रहे थे ॥१९३॥ यद्यपि जिन-बालक स्वयं निरञ्जन—कज्जल (पक्षमें पाप) से रहित थे तो भी उनके मुखपर जो नेत्र थे वे उत्तम अञ्जन—कज्जलसे अलंकृत थे और सूर्य तथा चन्द्रमाकी दीप्ति एवं कान्तिको जीतनेवाले थे ॥१९४॥ श्री, शची, कीर्ति तथा लक्ष्मी नामक देवियोंने अपने हाथोंसे उन्हें उस तरह अलंकृत किया था कि जिससे वे इन्द्रादिक देवोंका मन हरण करने लगे थे ॥१९५॥ तदनन्तर युगके आदिमें हुए उन प्रधान पुरुषका ऋषभ नाम रखकर इन्द्र आदि देव उनकी इस प्रकार स्तुति करनेके लिए तत्पर हुए ॥१९६॥

हे ऋषभदेव ! मति श्रुत और अवधिज्ञान रूपी श्रेष्ठ नेत्रोंको धारण करनेवाले आप यद्यपि भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैं फिर भी आपने तीनों लोकोंको प्रकाशमान कर दिया है ॥१९७॥ हे भगवन् ! जब आप मनुष्य-भवमें आनेके लिए सन्मुख ही थे तभी रत्नवृष्टि आदि अद्भुत कार्य दिखाकर आपने जगत्‌को आधीन कर लिया था फिर अब तो आप मनुष्य-भवमें स्वयं उत्पन्न हुए, अब आश्चर्यकी बात ही क्या है ? ॥१९८॥ हे नाथ ! बहुत बड़े शिखर (पक्षमें मान रूपी शिखर) से युक्त सुमेरु पर्वतको भी आपने अपने पैरके नीचे दबा दिया इसलिए आप समस्त स्वामियोंमें महागुरु अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। और बालक अवस्थामें भी बालकों जैसी आपकी चेष्टा नहीं है ॥१९९॥ जो देव रूपी पर्वत अपने चरणोंके अग्रभागसे कभी समस्त पृथिवीका स्पर्श भी नहीं करते वे ही देवरूपी पर्वत अपने मुकुटरूपी ऊँचे शिखरोंसे आपके दोनों चरणोंको धारण कर रहे हैं। सो यह क्या आपकी मन्त्र शक्ति है ? या प्रभु शक्ति है ? या उत्साह शक्ति है ? अथवा कोई दूसरा ही महान् आश्चर्य है ? भावार्थ—जो देव, देवत्वके अभिमानमें चूर होकर पृथिवीको तुच्छ समझते हैं वे ही आपको अपने शिरपर धारण कर रहे हैं, इससे आपका सर्वोपरि प्रभाव सिद्ध है ॥२००–२०१॥ हे नाथ ! पौरुषसे वशमें न होनेवाले तीनों जगत्‌को आपने कैसे विधिके समान

---

१. 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति चुञ्चुप्प्रत्ययः ।

क्व चेदं सौकुमार्यं ते क्व च कार्कश्यमीदृशम् । नाथान्योन्यविरुद्धार्थसंभवस्त्वयि दृश्यते ॥२०३॥
अष्टोत्तरसहस्रोच्चैर्लक्षणं[1] व्यञ्जनाञ्चितम् । रूपं तवैतदाभाति भूसुरासुरदुर्लभम् ॥२०४॥
रूपातिशयतो लोके प्रथमश्चरमश्च[2] ते । विधत्ते प्रणतं विश्वं विग्रहो[3] विग्रहाद्[4] विना ॥२०५॥
हिरण्यवृष्टिरिष्टाभूद् गर्भस्थेऽपि यतस्त्वयि । हिरण्यगर्भ इत्युच्चैर्गीर्वाणैर्गीयसे ततः ॥२०६॥
सह ज्ञानत्रयेणात्र तृतीयभवभाविना । स्वयम्भूतो यतोऽतस्त्वं स्वयम्भूरिति भाष्यसे ॥२०७॥
व्यवस्थानां विधाता त्वं भविता विविधात्मनाम्[5] । भारते यत्ततोऽन्वर्थं विधातेत्यभिधीयसे ॥२०८॥
अपूर्वः सर्वतो रक्षां कुर्वन् जातः पतिः प्रभो । प्रजानां त्वं यतस्तस्मात् प्रजापतिरितीर्यसे ॥२०९॥
[6]आकन्तीक्षुरसं प्रीत्या बाहुल्येन त्वयि प्रभो । प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे ॥२१०॥
पूर्वः सर्वपुराणानां त्वं महामहिमा महान् । इह दीव्यसि यत्तेन पुरुदेव इतीष्यसे ॥२११॥
भरतासनमध्यास्य त्रैलोक्यैश्वर्यमर्जयत् । युज्यते तत्तवात्यल्पमनन्तैश्वर्ययोगिनः ॥२१२॥
त्वं विधाता स्वयम्बुद्धस्तपसां दुष्करात्मनाम् । सञ्चेता चेतसामुच्चैर्यशसां वाऽतिशायिनाम् ॥२१३॥
श्रेयसो दानधर्मस्य श्रेयोऽर्थं प्राणिनां मुनिः । भुवि दर्शयिता वीरः विशुद्धां पात्रतां स्वयम् ॥२१४॥
त्वमनङ्गभुजङ्गस्य मन्त्रो द्वेषद्विपाङ्कुशः । मोहान्धपटलभ्रान्तिभ्रंशहेतुः प्रभञ्जनः ॥२१५॥

एक साथ अपने आधीन कर लिया ? भावार्थ—जिस प्रकार विधि—नियति तीनों जगत्को अपने आधीन किये हुए है उसी प्रकार आपने भी तीनों जगत्को अपने आधीन कर लिया है, परन्तु यह कार्य पुरुषार्थ साध्य नहीं है, यह तो केवल आपकी अचिन्त्य आत्मशक्तिका ही प्रभाव है ॥२०२॥ हे नाथ ! कहाँ तो यह सुकुमारता ? और कहाँ ऐसी कठोरता ? हे प्रभो ! विरुद्ध पदार्थोंका संभव आपमें ही दीख पड़ता है ॥२०३॥ मनुष्य, देव और दानवोंके लिए दुर्लभ तथा एक हजार आठ व्यञ्जन और लक्षणोंसे युक्त आपका यह रूप अतिशय शोभायमान हो रहा है ॥२०४॥ हे भगवन् ! आपका शरीर चरम—पर्याय धारण करनेकी अपेक्षा अन्तिम है तथा रूपके अतिशयसे प्रथम है—सर्वश्रेष्ठ है और युद्धके बिना ही समस्त विश्वको नम्रीभूत कर रहा है ॥२०५॥ हे नाथ ! जब आप गर्भमें स्थित थे तभी सबको इष्ट हिरण्य—सुवर्णकी वृष्टि हुई थी इसलिए देव आपको हिरण्यगर्भ (हिरण्यं गर्भे यस्य सः) कहते हैं ॥२०६॥ हे प्रभो ! इस भवसे पूर्ण तीसरे भवमें जो तीन ज्ञान प्रकट हुए थे उन्हींके साथ आप यहाँ स्वयं उत्पन्न हुए हैं इसलिए आप स्वयम्भू कहे जाते हैं ॥२०७॥ क्योंकि आप भरत क्षेत्रमें नाना प्रकारकी व्यवस्थाओंके करनेवाले होंगे इसलिए आप विधाता इस सार्थक नामके धारी कहे जाते हैं ॥२०८॥ हे प्रभो ! आप सब ओरसे प्रजाकी रक्षा करते हुए अपूर्व ही प्रभु हुए हैं इसलिए आप प्रजापति कहलाते हैं ॥२०९॥ हे प्रभो ! आपके रहते हुए प्रजा बहुत प्रीतिसे इक्षुरसका आस्वादन करेगी इसलिए आप इक्ष्वाकु कहे जाते हैं ॥२१०॥ आप समस्त पुराण पुरुषोंमें प्रथम हैं, महा महिमाके धारक हैं, स्वयं महान् हैं और यहाँ अतिशय देदीप्यमान हैं इसलिए पुरुदेव कहलाते हैं ॥२११॥ हे भगवन् ! आपने *भरतक्षेत्रके आसनपर आरूढ होकर तीन लोकका* ऐश्वर्य उपार्जित किया है सो *अनन्त* ऐश्वर्यको धारण करनेवाले आपके लिए यह अत्यन्त तुच्छ बात है—आश्चर्यकी बात नहीं है ॥२१२॥ हे प्रभो ! आप स्वयं बुद्ध होकर अतिशय कठिन तपके करनेवाले हैं तथा उत्तम ज्ञान और बहुत भारी यशके संचेता हैं ॥२१३॥ हे विभो ! पृथिवीपर आप धीर-वीर मुनि बनकर प्राणियोंके लिए कल्याणकारी दान, धर्मकी श्रेष्ठता तथा स्वयं निर्दोष पात्रताको दिखलावेंगे । भावार्थ—आप मुनि बनकर लोगोंमें दान-धर्मकी प्रवृत्ति चलावेंगे तथा अपनी प्रवृत्तिसे प्रकट करेंगे कि निर्दोष पात्र कैसे होते हैं ? ॥२१४॥ हे भगवन् ! आप कामरूपी भुजङ्गको नष्ट करनेके लिए मन्त्र हैं, द्वेष रूपी

---

१. लक्षणं म० । २. चरमस्य म० । ३. शरीरं । ४. युद्धात् । ५. विधिनात्मनाम् म० । ६. आस्वादयन्ति ।

प्रशस्तस्तिमितध्यानसुप्तमीनमहाह्रदः । [1]बन्धानन्तरसन्धानघातीन्धनहुताशनः ॥२१६॥
स्नेहानपेक्षकैवल्यप्रदीपद्योतिताखिलः । देशको मोक्षमार्गस्य निसर्गाद् भविता भुवि ॥२१७॥
कालमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीप्रमाणकम् । धर्मनामनि निर्मूलं नष्टे स्रष्टेह भारते ॥२१८॥
स्वर्गापवर्गमार्गस्य मार्गणे भव्यदेहिनाम् । दिग्मोहान्धधियां धीमान् जातस्त्वमुपदेशकः ॥२१९॥
आयन्तेऽभ्युदयश्रीणामाश्रयं निःश्रेयसश्रियः । साम्प्रतं भुवि भव्यौघा नाथ त्वदुपदेशतः ॥२२०॥
प्रमाणनयमार्गाभ्यामविरुद्धेन जन्तवः । त्वदुपज्ञेन मार्गेण प्राप्नुवन्तु पदं प्रियम् ॥२२१॥
प्रणन्तव्यः प्रयत्नेन स्तोतव्यस्त्वं हितार्थिनाम् । स्मर्तव्यः सततं नाथ जगतामुपकारकः ॥२२२॥
प्रणतेस्ते कृती कायो गुणिनां वाग्गुणस्तुतेः । प्रणिनां प्रणिधानेन गुणानां गुणवन्मनः ॥२२३॥
नमस्ते मृत्युमल्लाय नमस्ते भवभेदिने । नमस्ते जरसोऽन्ताय नमस्ते ध्वस्तकर्मणे ॥२२४॥
नमस्तेऽनन्तबोधाय नमस्तेऽनन्तदर्शिने । नमस्तेऽनन्तवीर्याय नमस्तेऽनन्तशर्मणे ॥२२५॥
नमस्ते लोकनाथाय नमस्ते लोकबन्धवे । नमस्ते लोकवीराय नमस्ते लोकवेधसे ॥२२६॥

हाथीको वश करनेके लिए अंकुश हैं तथा मोहरूपी मेघ-पटलके संचारको नष्ट करनेके लिए प्रचण्ड वायु हैं ॥२१५॥ हे स्वामिन् ! आप प्रशस्त तथा निश्चल ध्यानके द्वारा जिसमें मछलियाँ सो रही हैं ऐसे महा सरोवरके समान हैं, तथा संवरको धारणकर आप घातिया कर्मरूपी ईन्धनको जलानेके लिए अग्नि स्वरूप हैं ॥२१६॥ हे नाथ ! तेलसे निरपेक्ष केवलज्ञानरूपी दीपकके द्वारा जिन्होंने समस्त पदार्थोंको प्रकाशित कर दिया है ऐसे मोक्षमार्गके उपदेशक आप पृथिवीपर स्वभावसे ही होंगे ॥२१७॥ हे भगवन् ! इस भारतवर्षमें अठारह कोड़ाकोड़ी सागर तक धर्मका नाम निर्मूल नष्ट रहा अब आप पुनः उसकी सृष्टि करेंगे । भावार्थ—उत्सर्पिणीके चौथे, पाँचवें, छठवें और अवसर्पिणीके पहले, दूसरे तथा तीसरे कालके अठारह कोड़ाकोड़ी सागर तक यहाँ भोग-भूमिकी प्रवृत्ति रही इसलिए भोगोंकी मुख्यता होनेसे यहाँ *चारित्र रूप धर्म नहीं रहा, अब आप पुनः उसकी प्रवृत्ति करेंगे ॥२१८॥ हे नाथ ! आप परम बुद्धिमान् हो तथा दिशा भ्रान्तिके कारण जिनकी बुद्धि अन्धी हो रही है ऐसे भव्य प्राणियोंके लिए आप स्वर्ग तथा मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए उपदेशक हुए हैं ॥२१९॥ हे नाथ ! इस समय आपके उपदेशसे भव्य जीवोंके समूह, संसारमें स्वर्ग लक्ष्मीके स्वामी तथा मोक्षलक्ष्मीके आश्रय होंगे ॥२२०॥ हे भगवन् ! आपके द्वारा चलाया हुआ मार्ग प्रमाण और नयमार्गके अविरुद्ध है, उसपर चलकर जगतके प्राणी अपने प्रिय स्थानको प्राप्त करें ॥२२१॥ हे नाथ ! आप तीनों लोकोंका उपकार करनेवाले हैं इसलिए हितके इच्छुक जीवोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक नमस्कार करने योग्य, स्तुति करने योग्य और ध्यान करने योग्य हैं ॥२२२॥ हे प्रभो ! आपको प्रणाम करनेसे प्राणियोंका काय कृतार्थ हो जाता है, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे उनकी वाणी सार्थक हो जाती है और आपका ध्यान करनेसे उनका मन गुणसहित हो जाता है ॥२२३॥ हे नाथ ! आप मृत्युको नष्ट करनेके लिए मल्ल हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप संसारको नष्ट करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप बुढ़ापेका अन्त करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, आप कर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥२२४॥ हे भगवन् ! आप अनन्त ज्ञानके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त दर्शनके धारक हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त-बलसे सहित हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो, आप अनन्त सुखसे सम्पन्न हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२५॥ आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप समस्त जीवोंके बन्धु हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप लोकमें अद्वितीय वीर हैं इसलिए आपको नमस्कार हो, आप

१. बन्धानन्तरा संवरः तस्य संधानं धारणं येन घातीन्धनस्य हुताशनः । २. भिया क० ।

* चारित्तं खलु धम्मो—(कुन्दकुन्द) ।

नमस्ते जिन चन्द्राय नमस्ते जिन भानवे । नमस्ते जिन सार्वाय[1] नमस्ते जिन तायिने ॥२२७॥
इति स्तुतिशतैः स्तुत्वा नत्वा शतमखादयः । भक्तिस्त्वय्यस्तु शस्तेति शतशस्तं ययाचिरे ॥२२८॥
ततः सरभसोद्यातसुरसङ्घातसेनया । वृतः शताध्वरो[2] मेरोरुच्चचाल जिनान्वितः ॥२२९॥
[3]सुवर्णकर्णिकारोरुराशिपिञ्जरविग्रहम् । तमैरावतमारोप्य रौप्याद्रिमिव जङ्गमम् ॥२३०॥
तामयोध्यां परायोध्यां ध्वजमालाविभूषिताम् । वादित्रध्वनिघोरां स्वामध्यास्य ध्वजिनीमिव ॥२३१॥
पौलोम्या मातुरुत्सङ्गे स्थापयित्वा जिनं ततः । जनकौ प्रणिपत्याशु कृतनेपथ्यविग्रहः ॥२३२॥
नृत्यत्सुराङ्गनोद्भासिभास्वद्भुजवनावृतः । ननर्त ताण्डवारम्भचलद्विश्वम्भरो हरिः ॥२३३॥
चिरं प्रेक्षकयोरग्रे नटित्वाऽऽनन्दनाटकम् । पित्रोः कृत्वोचितं देवैः सहेन्द्रः स्वास्पदं ययौ ॥२३४॥
कोट्यस्तिस्रोऽर्द्धकोटी च वसुवृष्टिर्दिने दिने । मासान् पञ्चदशोत्पत्तेः प्राग् जिनस्यापतद्गृहे ॥२३५॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

प्राप्तोऽभिषेकममरेन्द्रगणैर्गिरीन्द्रे
प्राप्तः सुतस्त्रिभुवनेश्वर इत्युदारौ ।
प्राप्तौ महाप्रमदभारवशौ तदानीं
नाभिश्च नाभिवनिता च सुखं स्ववेद्यम् ॥२३६॥

लोकके विधाता हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२६॥ हे जिन ! आप चन्द्रमा रूप हो इसलिए आपको नमस्कार हो, हे जिन ! आप सूर्य स्वरूप हो इसलिए आपको नमस्कार हो, हे जिन ! आप सबका हित करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो और हे जिन ! आप सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥२२७॥ इस तरह सैकड़ों प्रकारकी स्तुतियोंसे स्तुति कर तथा नमस्कारकर इन्द्र आदि देवोंने उनसे बार-बार यही याचना की कि हे भगवन् ! हमारी उत्तम भक्ति सदा आपमें बनी रहे ॥२२८॥

तदनन्तर शीघ्रगामी देवोंकी सेनासे घिरा हुआ इन्द्र, जिन-बालकको साथ ले मेरु पर्वतसे चला ॥२२९॥ सुवर्ण और कनेरके फूलोंकी राशिके समान पीत शरीरके धारक जिन-बालकको चलते-फिरते रजताचलके सदृश ऐरावत हाथीपर सवारकर वह अयोध्याकी ओर चला ॥२३०॥ जो शत्रुओंके द्वारा अयोध्या थी, ध्वजाओंकी पंक्तियोंसे सुशोभित थी, बाजोंकी ध्वनिसे व्याप्त थी तथा अपनी सेनाके समान जान पड़ती थी ऐसी अयोध्यामें पहुँचकर उसने जिन-बालकको इन्द्राणीके द्वारा माताकी गोदमें विराजमान कराया। तदनन्तर माता-पिताको नमस्कारकर शीघ्र ही सुन्दर वेषभूषासे युक्त हो ताण्डव-नृत्य करना प्रारम्भ किया। उस समय वह इन्द्र, नृत्य करनेवाली देवाङ्गनाओंसे सुशोभित सुन्दर भुजा रूपी वनसे घिरा हुआ था और ताण्डव नृत्यके प्रारम्भमें ही उसने पृथिवीको कम्पायमान कर दिया था ॥२३१-२३३॥ भगवान्के माता-पिता इस नृत्यके दर्शक थे। उनके आगे चिर काल तक आनन्द नाटकका अभिनय कर तथा यथायोग्य उनका सत्कारकर इन्द्र देवोंके साथ अपने स्थानपर चला गया ॥२३४॥ जिनेन्द्र भगवान्के जन्मसे पन्द्रह माह पूर्व प्रतिदिन उनके पिताके घर साढ़े तीन करोड़ रत्नोंकी वर्षा आकाशसे पड़ती थी ॥२३५॥ 'हमारा पुत्र इन्द्रोंके समूह द्वारा सुमेरु पर्वतपर अभिषेकको प्राप्त हुआ है तथा तीनों लोकोंका स्वामी है' यह जानकर उस समय अतिशय उदार राजा नाभिराज और मरुदेवी

---

१. जिनसर्वाय म० । २. इन्द्रः । ३. सुवर्णं च कर्णिकाराणि च तेषामुरुराशिस्तद्वत् पिञ्जरो विग्रहो यस्यतम् (क० टि०) । सुवर्णकर्णिकारोहराशि–म० ।

स्वर्गावतारजननाभिषवद्विभेद-
कल्याणवर्णनमिदं वृषभेश्वरस्य ।
भक्त्या सदा पठति योऽत्र शृणोति यश्च
कल्याणमेति स जनो जिनभास्करस्य ॥२३७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ऋषभनाथजन्माभिषेकवर्णनो नाम अष्टमः सर्गः ॥८॥

महान् आनन्दके वशीभूत हो स्वसंवेद्य सुखको प्राप्त हुए ॥२३६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि भगवान् वृषभदेवके स्वर्गावतार और जन्माभिषेक इन दो कल्याणकोंके इस वर्णनको जो भक्तिपूर्वक सदा पढ़ता है, अथवा जो सुनता है वह इस संसारमें जिन-सूर्यके ही समान कल्याणको प्राप्त होता है ॥२३७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें भगवान् ऋषभदेवके जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥

नवमः सर्गः

अथेन्द्रेण कराङ्गुष्ठे निषिक्तममृतं पिबन् । पित्रोर्नेत्रामृताहारं वितरन् वर्द्धते जिनः ॥१॥
[1]वृद्धः शीतमयूखस्य बालचन्द्रस्य दर्शनात् । प्रत्यहं वर्द्धमानस्य जगत्प्रमदसागरः ॥२॥
बालक्रीडामृतरसः पीयमानोऽप्यनारतम् । सुलभोऽपि विभोर्नाभूल्लोकलोचनतृप्तये ॥३॥
[2]कुमारः क्रीडितं चक्रे स शक्रप्रहितैर्हितैः[3] । प्रतिबिम्बैरिवात्मीयैर्हृद्यं देवकुमारकैः ॥४॥
मृदुशय्यासनं वस्त्रं भूषणं चानुलेपनम् । भोजनं वाहनं यानं तस्यासीद् देवनिर्मितम् ॥५॥
भक्त्या शक्राज्ञया चाभूद् [4]धनदो धन[5]दोऽर्थतः । वयःकालानुरूपेण वस्तुनाऽनुचरन् जिनम् ॥६॥
सहायैः सहजैः स्वच्छैः दिव्यैरिव कलागुणैः । सम्पूर्णो यौवनेनापि जिनश्चन्द्र इवाबभौ ॥७॥
तुङ्गांसौ साङ्गदौ वृत्तौ सुप्रकोष्ठौ महाभुजौ । परिष्वङ्गाय पर्याप्तौ त्रैलोक्यविपुलश्रियः ॥८॥
श्रीवत्सलक्षणेनोरुवक्षःस्थलमभाद् विभोः । [6]गाढोपगूढराज्यश्रीकुचाग्रोत्पीडितेन वा ॥९॥
सुश्लिष्टपदजङ्घोपगूढजानूरुदण्डयोः । वक्षःप्रासादसंस्तम्भस्तम्भयोः श्रीरभूत् परा ॥१०॥
केशकुन्तलभारोऽभाल्लोलो हेमाचलस्य सः । छत्राकारे शिरस्युच्चैरिन्द्रनीलचयो यथा ॥११॥
श्रीर्ललाटस्य नासायाः सुकर्णोत्पलनालयोः । [7]सज्यचापभ्रुवोर्वापि वाचागोचरमत्यगात् ॥१२॥

अथानन्तर इन्द्रके द्वारा हाथके अँगूठेमें स्थापित अमृतको पीते तथा माता-पिताके नेत्रोंके लिए अमृत रूप आहार प्रदान करते हुए भगवान् जिनेन्द्र दिनोंदिन बढ़ने लगे ॥१॥ प्रतिदिन बढ़ने वाले जिन-बालकरूपी चन्द्रमाके देखनेसे संसारके समस्त प्राणियोंका आनन्दरूपी सागर वृद्धिको प्राप्त होने लगा ॥२॥ यद्यपि भगवान्का बालक्रीड़ा रूपी अमृतरस पिया जाता था और सबके लिए निरन्तर सुलभ भी था तो भी वह मनुष्योंके नेत्रोंकी तृप्तिके लिए पर्याप्त नहीं था। भावार्थ—भगवान्की बालक्रीड़ा देखकर मनुष्योंके नेत्र संतुष्ट नहीं होते थे ॥३॥ जिन-बालक, इन्द्रके द्वारा भेजे हुए, हितकारी एवं अपने ही प्रतिबिम्बके समान दिखनेवाले देव-बालकोंके साथ मनोहर क्रीड़ा करते थे ॥४॥ भगवान्का कोमल बिस्तर, कोमल आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान आदि सभी वस्तुएँ देव निर्मित थीं ॥५॥ इन्द्रकी आज्ञानुसार अवस्था तथा ऋतुके अनुकूल वस्तुओंसे भक्तिपूर्वक भगवान्की सेवा करनेवाला धनद–कुबेर वास्तवमें ही धनद–धनको देनेवाला था ॥६॥ अपने सहज मित्रोंके समान स्वच्छ एवं दिव्य कलारूप गुणोंसे युक्त तथा यौवनसे परिपूर्ण जिनेन्द्र चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७॥ ऊँचे कन्धोंसे सुशोभित, बाजूबन्दोंसे युक्त गोल तथा उत्तम कलाइयोंसे सहित उनकी दोनों महाभुजाएँ त्रैलोक्य-की लक्ष्मीका आलिङ्गन करनेके लिए पर्याप्त थीं ॥८॥ भगवान्का विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्स चिह्न-से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अच्छी तरहसे आलिङ्गित राज्यलक्ष्मीके स्तनके अग्रभागसे ही पीड़ित हो ॥९॥ जिनके पैर और जंघाएँ अच्छी तरह मिली हुई थीं, जिनके घुटने मांसपेशियों-में भीतर छिपे हुए थे और जो वक्षःस्थल रूप महलके आधार भूत स्तम्भोंके समान जान पड़ते थे ऐसे उनके दोनों ऊरुओंकी शोभा बहुत चढ़ी-बढ़ी थी ॥१०॥ भगवान्के छत्राकार शिरपर काले घुँघराले बालोंका समूह ऐसा जान पड़ता था मानो सुमेरुके ऊँचे शिखरपर इन्द्रनील मणियोंका समूह ही रक्खा हो ॥११॥ उनके ललाट, नाक, सुन्दर कानोंपर लगे हुए नील कमलोंकी नाल, और डोरी चढ़े धनुषकी समानता करनेवाली भौंहोंकी शोभा वचन मार्गको उल्लंघन कर चुकी

१. वृद्धिंगतः । २. कुमारक्रीडितं म० । ३. हितः म० । ४. कुबेरः । ५. धनदायकः । ६. मारोप-म० । ७. सज्ज-म० ।

चन्द्रश्चन्द्रिकया रात्रौ दिवा दीप्त्या दिवाकरः । मुदे त्रिभुवने न स्यात् तस्य ताभ्यां तयोर्मुखम् ॥१३॥
पुण्डरीकस्य [1]पत्रेण नेत्रे श्रोते सृते समे । पिण्डालक्तकरक्तं वा हस्तपादतलाधरम् ॥१४॥
शुद्धमौक्तिकसङ्घातघटितेव घनद्युतिः । कुन्दद्युतिमधाज्जैनी दन्तपङ्क्तिरदन्तुरा ॥१५॥
सनवव्यञ्जनशते सहाष्टशतलक्षणे । पञ्चचापशतोच्छ्राये तथा हेमाद्रिसन्निभे ॥१६॥
रूपशोभासमस्तेयं जिनस्य गदितुं सह । लेशेनापि न सा शक्या शक्रकोटिशतैरपि ॥१७॥
स जगत्त्रयरूपिण्या नन्दया च सुनन्दया । प्रौढयौवनया प्रौढश्चिक्रीड विधिनोढया[2] ॥१८॥
स गौरीश्यामयोर्मध्ये स्तबकस्तनयोस्तयोः । जगत्कल्पद्रुमोऽभासील्लतयोरङ्कलग्नयोः ॥१९॥
न सा कान्तिर्न सा दीप्तिर्न सा सम्पद् न सा कला । अस्वामयोश्च या नाऽभूत् तत्र सौख्यं किमुच्यताम् ॥२०॥
[3]भरतानन्दनं नन्दा नन्दनं चक्रवर्तिनम् । भरताख्यं सुतां ब्राह्मीमपि युग्ममसूत सा ॥२१॥
सुनन्दा बाहुबलिनं महाबाहुबलं सुतम् । तथैव [4]सुषुवे लोके सुन्दरामपि सुन्दरीम् ॥२२॥
अष्टानवतिरस्येति नन्दायां सुन्दराः सुताः । जाता वृषभसेनाद्या वेद्याश्चरमविग्रहाः ॥२३॥
अक्षरालेख्यगान्धर्वगणितादिकलार्णवम् । सुमेधानैः[5] कुमारीभ्या[6]मवगाहयति स्म सः ॥२४॥
अथान्यदा प्रजाः प्राप्ता नाभेयं नाभिनोदिताः । स्तुतिपूर्वं प्रणम्योचुरेकीभूय महार्तयः ॥२५॥

थी ॥१२॥ तीनों लोकोंमें चन्द्रमा अपनी चाँदनीसे रात्रिमें ही आनन्द उत्पन्न करता है और सूर्य अपनी दीप्तिसे दिनमें ही लोगोंको आनन्द पहुँचाता है परन्तु भगवानका मुख दिन रातके भेदके विना निरन्तर सबको आनन्द पहुँचाता था अतः वह न तो चन्द्रमाकी चाँदनीके समान था और न सूर्यकी दीप्तिके ही सदृश था ॥१३॥ उनके कानों तक लम्बे नेत्र कमलपत्रके समान थे और हथेलियाँ पदतल और अधरोष्ठ महावरके रङ्गके समान लाल थे ॥१४॥ शुद्ध मोतियोंके समूहसे बनी हुईके समान अत्यन्त चमकदार एवं ऊँचे-नीचे विन्याससे रहित उनकी दाँतोंकी पंक्ति कुन्दपुष्पकी शोभा धारण कर रही थी ॥१५॥ नौ सौ व्यञ्जन, और एक सौ आठ लक्षणोंसे सहित, पाँच सौ धनुष ऊँचे एवं हेमाचल-सुमेरुके समान उनके शरीरको जो शोभा थी उस सबको यदि सैकड़ों करोड़ इन्द्र भी एक साथ कहना चाहें तो भी लेशमात्र नहीं कह सकते ॥१६-१७॥

जब भगवान् पूर्ण युवा हुए तब तीनों लोकोंकी अद्वितीय सुन्दरी प्रौढ़ यौवनवती नन्दा और सुनन्दाके साथ उनका विधिपूर्वक विवाह हुआ और उनके साथ वे क्रीड़ा करने लगे ॥१८॥ गुच्छोंके समान स्तनोंको धारण करनेवाली उन गौराङ्गी एवं नव यौवनवती नन्दा और सुनन्दाके बीचमें भगवान् ऐसे जान पड़ते थे मानो अङ्गमें लगी हुई दो लताओंके बीचमें संसारके कल्प-वृक्ष ही हों ॥१९॥ संसारमें न वह कान्ति थी, न दीप्ति थी, न संपत्ति थी, और न वह कला ही थी जो भगवान् ऋषभदेव और नन्दा सुनन्दाको प्राप्त नहीं थी फिर उनके सुखका क्या वर्णन किया जाय ? ॥२०॥ नन्दाने भरतक्षेत्रको आनन्दित करनेवाले भरत नामक चक्रवर्ती पुत्रको और ब्राह्मी नामक पुत्रीको युगल रूपमें उत्पन्न किया ॥२१॥ और सुनन्दा नामक दूसरी रानीने महा बाहुबलसे युक्त बाहुबली नामक पुत्र तथा संसारमें अतिशय रूपवती सुन्दरी नामक पुत्रीको जन्म दिया ॥२२॥ भरत और ब्राह्मीके सिवाय भगवानकी सुनन्दा रानीके वृषभसेनको आदि लेकर अंठानवे पुत्र और हुए। उनके ये सभी पुत्र चरमशरीरी थे ॥२३॥ भगवान्ने अतिशय बुद्धिसे सम्पन्न अपने समस्त पुत्रोंके साथ-साथ ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों पुत्रियोंको भी अक्षर, चित्र, सङ्गीत और गणित आदि कलाओंके सागरमें प्रविष्ट कराया था। भावार्थ—अपने समस्त पुत्र-पुत्रियोंको उन्होंने विविध कलाओंमें पारङ्गत किया था ॥२४॥

अथानन्तर किसी समय बहुत भारी व्यथासे युक्त समस्त प्रजा, राजा नाभिराजसे प्रेरित

---

१. पात्रेण -म० । २. विधिवत्परिणीतया । ३. भरतक्षेत्रजनानन्दनम् । ४. सुष्ठुवे (?) म० । ५. सुमेधावी म० । सुष्ठु बुद्धिसम्पन्नैः पुत्रैः सह (क० टि०) । ६. कुमाराभ्याम् म० ।

प्रभो कल्पद्रुमाः पूर्वं प्रजानां वृत्तिहेतवः । तेषां परिक्षयेऽभूवन् स्वयंच्युतरसेक्षवः ॥२६॥
दिव्येक्षुरसतृप्तानां रक्षितानां तवौजसा । प्रजानां नाथ ! दूरेण विस्मृताः कल्पपादपाः ॥२७॥
इदानीं छिन्नभिन्नाश्च न क्षरन्तीक्षवो रसम् । यान्ति कालानुभावेन मृदवोऽपि कठोरताम् ॥२८॥
फलभारवशानम्रा दृश्यन्ते तृणजातयः । न विद्मो वयमेताभिः कथमन्नविधिर्भवेत् ॥२९॥
सुरभीणां घटोध्नीनां महिषीणां च सन्ततम् । स्तनेभ्यो प्रक्षरत् भक्ष्यमभक्ष्यं वा तदुच्यताम् ॥३०॥
कण्ठाश्लेषोचिताः[1] पूर्वं सिंहव्याघ्रवृकादयः । अस्मानुद्वेजयन्तीशं[2] कुपुत्रा इव साम्प्रतम् ॥३१॥
अतः क्षुधामहाग्रस्ता जीवनोपायदर्शनात् । स्वामिन्ननुगृहाणैता रक्षणाच्च भयात् प्रजाः ॥३२॥
ततो वीक्ष्य क्षुधाक्षीणाः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिः । कृत्वार्तिहरणं तासां दिव्याहारैः कृपान्वितः ॥३३॥
सर्वानुपदिदेशासौ प्रजानां वृत्तिसिद्धये । उपायान् धर्मकामार्थान् साधनान्यपि पार्थिवः ॥३४॥
असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्यं शिल्पमित्यपि । षट्कर्म शर्मसिद्धयर्थं सोपायमुपदिष्टवान् ॥३५॥
पशुपाल्यं ततः प्रोक्तं गोमहिष्यादिसङ्ग्रहम्[3] । वर्जनं क्रूरसत्वानां सिंहादीनां यथायथम् ॥३६॥
ततः पुत्रशतेनापि प्रजया च कलागमः । गृहीतः सुगृहीतं च कृतं शिल्पिशतं जनैः ॥३७॥
पुरग्रामनिवेशाश्च ततः शिल्पिजनैः कृताः । सखेटकर्वटाख्याश्च सर्वत्र भरतक्षितौ ॥३८॥
क्षत्रियाः क्षतित्राणात्[4] वैश्या वाणिज्ययोगतः । शूद्राः शिल्पादिसम्बन्धाज्जाता वर्णास्त्रयोऽप्यतः ॥३९॥

ही एक साथ भगवान् वृषभदेवके पास पहुँची और स्तुति पूर्वक प्रणामकर कहने लगी ।।२५।। हे प्रभो ! पहले, कल्पवृक्ष प्रजाकी आजीविकाके साधन थे, फिर उनके नष्ट होनेपर स्वयं ही जिनसे रस चू रहा था ऐसे इक्षु वृक्ष साधन हुए ।।२६।। हे प्रजानाथ ! उन दिव्य इक्षु वृक्षोंके रससे प्रजा इतनी सन्तुष्ट हुई और आपके प्रतापने उसकी ऐसी रक्षा की कि उसने कल्पवृक्षोंको दूरसे ही भुला दिया ।।२७।। परन्तु इस समय वे इक्षुवृक्ष छिन्न-भिन्न होनेपर भी रस नहीं देते हैं सो ठीक ही है क्योंकि समयके प्रभावसे कोमल भी कठोरताको प्राप्त हो जाते हैं ।।२८।। यद्यपि फलोंके भारसे झुके हुए नाना प्रकारके तृण दिखाई देते हैं परन्तु हम लोग नहीं जानते कि इनसे अन्न कैसे प्राप्त किया जाता है ? ।।२९।। घटके समान स्थूल स्तनोंको धारण करनेवाली गायों और भैंसोंके स्तनोंसे भी कुछ झर रहा है सो वह भक्ष्य है या अभक्ष्य यह कहिये ।।३०।। जो सिंह, व्याघ्र तथा भेड़िया आदि पहले कण्ठालिङ्गन करनेके योग्य थे हे नाथ ! अब वे ही इस समय कुपुत्रोंके समान हम लोगोंको भयभीत कर रहे हैं ।।३१।। इसलिए हे स्वामिन् ! क्षुधाकी तीव्र बाधासे ग्रस्त इस प्रजाको जीवन निर्वाहके उपाय दिखाकर तथा भयसे उसकी रक्षाकर अनुगृहीत कीजिए ।।३२।।

तदनन्तर दयालु भगवान्ने समस्त प्रजाको भूखसे व्याकुल देख पहले तो दिव्य आहारके द्वारा सबकी पीड़ा दूर की फिर आजीविकाके निर्वाहके लिए सब उपाय तथा धर्म अर्थ और काम रूप साधनोंका उपदेश दिया ।।३३-३४।। उन्होंने सुखकी सिद्धिके लिए अनेक उपायोंके साथ असि, मषी, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मोंका भी उपदेश दिया ।।३५।। तदनन्तर उन्होंने यह भी बताया कि गाय, भैंस आदि पशुओंका संग्रह तथा उनकी रक्षा करनी चाहिए और सिंह आदिक दुष्ट जीवोंका परित्याग करना चाहिए ।।३६।।

तदनन्तर भगवान्के सौ पुत्रों और प्रजाने कला शास्त्र सीखा, एवं लोगोंने सैकड़ों शिल्पी बनाकर उन्हें अपनाया ।।३७।। जिससे शिल्पिजनोंने भरतक्षेत्रकी भूमिपर सब जगह गाँव, नगर तथा खेट, कर्वट आदिकी रचना की ।।३८।। उसी समय क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन वर्ण भी उत्पन्न हुए। विनाशसे जीवोंकी रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय, वाणिज्य-व्यापारके योगसे वैश्य और

१. कण्ठाश्लेषोदिताः म० । २.-तीशाः म० । ३. संग्रहः म० । ४. क्षततस्त्राणात् म० ।

षड्भिः कर्मभिरासाद्य सुखितामर्थवत्तया । प्रजाभिस्तत्सुतुष्टाभिः प्रोक्तं कृतयुगं युगम् ॥४०॥
देवेन्द्राः सुरास्तत्रागत्य कृत्वा राज्याभिषेचनम् । नाभेयस्य प्रजानां ते सौस्थित्यं विदधुः परम् ॥४१॥
अयोध्येति विनीतेति विनीतजनसंकुला । साकेतेति च विख्याता पुरी रेजे तदाधिकम् ॥४२॥
इक्ष्वाकुक्षत्रियज्येष्ठ[1]ज्ञातिज्ञा लोकबन्धुना । भूमौ वृषभनाथेन स्थापितास्तेऽत्र रक्षणे ॥४३॥
कुरवः कुरुदेशो[2]ग्रास्ते चोग्रशासनाः । न्यायेन पालनाद् भोजाः प्रजानामपरे मताः ॥४४॥
राजानश्च तथैवान्ये जाताः प्रकृतिरञ्जनाः । श्रेयःसोमप्रभाद्यैस्तैः कुरुपुत्रैस्तु भूरभा[3]त् ॥४५॥
दिव्यान् भोगान् सुरानीतान् भुञ्जानस्य जगद्गुरोः । पूर्वलक्षाण्यशीतिश्च त्र्यगुराजन्मनस्ततः ॥४६॥
सोऽथ नीलाञ्जसां[4] दृष्ट्वा नृत्यन्तीमिन्द्रनर्तकीम् । बोधस्या[5]भिनिबोधस्य निर्विवेदोपयोगतः ॥४७॥
ये रागहेतवो बाह्या भावाः प्रागभवन् भुवि । ते स्युरन्तर्निमित्तस्य शमे प्रशमहेतवः ॥४८॥
य एव विषया रम्या मतिविभ्रमकारिणः । प्रशमानुगुणे काले त एव स्युः शमावहाः ॥४९॥
स दध्यौ च स्वयं बुद्धो व्यावृत्तविषयस्पृहः । चिरं भोगसमासक्त्या लज्जितात्मात्मनात्मनः ॥५०॥
अहो परमवैचित्र्यं संसारस्य शरीरिणाम् । यत्र कर्मविधेयानामन्ये यान्ति विधेय[6]ताम् ॥५१॥
सद्भावं दर्शयन्तीयमतिनृत्यति नर्तकी । हावभावरसप्रायं विचित्राभिनयाङ्गिका ॥५२॥
तोषिते मयि नृत्येन[7] शक्रः स्यात् किल तोषितः । ततस्तु सुखितामेषा सम्मोहाद्वतिमन्यते ॥५३॥

शिल्प आदिके सम्बन्धसे शूद्र कहलाये ॥३९॥ उस समय असि, मषी आदि छह कर्मोंके द्वारा प्रजाने वास्तविक सुख प्राप्त किया और अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उसने उस युगको कृतयुग कहा ॥४०॥ उसी समय इन्द्र सहित समस्त देवोंने आकर तथा भगवान् वृषभदेवका राज्याभिषेककर प्रजाको परम सुखी किया ॥४१॥ उस समय विनयी मनुष्योंसे व्याप्त अयोध्या, विनीता और साकेता नामसे प्रसिद्ध, भगवान्की जन्मपुरी अधिक सुशोभित हो रही थी ॥४२॥ जो इक्ष्वाकु क्षत्रियोंमें वृद्ध तथा जाति व्यवहारके जाननेवाले थे उन्हें लोकबन्धु भगवान् वृषभदेवने यहाँ रक्षाके कार्यमें नियुक्त किया ॥४३॥ जो कुरु देशके स्वामी थे वे कुरु, जिनका शासन उग्र-कठोर था वे उग्र और जो न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करते थे वे भोज कहलाये ॥४४॥ इनके सिवाय प्रजाको हर्षित करनेवाले अनेक राजा और भी बनाये गये। उस समय श्रेयान्स तथा सोमप्रभ आदि कुरुवंशी राजाओंसे यह भूमि अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥४५॥ तदनन्तर देवोपनीत दिव्य भोगोंको भोगते हुए भगवान्के जन्मसे लेकर तेरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गये ॥४६॥

अथानन्तर किसी समय नृत्य करती हुई इन्द्रकी नीलाञ्जसा नामक नर्तकीको देख, मतिज्ञानका उस ओर उपयोग जानेसे भगवान् ऋषभदेव विरक्त हो गये ॥४७॥ इस संसारमें जो पदार्थ पहले रागके कारण थे वे ही पदार्थ अब अन्तरङ्ग निमित्तके शान्त हो जानेपर शान्तिके कारण हो गये ॥४८॥ जो विषय पहले बुद्धिमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाले थे वे ही विषय अब शान्तिके अनुकूल समयके आनेपर शान्तिके उत्पादक हो गये ॥४९॥ जिनकी भोगाभिलाषा दूर हो चुकी थी, तथा चिरकाल तक भोगोंमें आसक्त रहनेके कारण जिनकी आत्मा स्वयं अपने आपसे लज्जित हो रही थी ऐसे भगवान् वृषभदेव अपने मनमें विचार करने लगे कि अहो! संसारके जीवोंकी बड़ी विचित्रता देखो, इस संसारके जीव स्वयं कर्मोंके आधीन हैं और दूसरे जीव उनकी आधीनताको प्राप्त हो रहे हैं ॥५०-५१॥ अभिनयके विविध अङ्गोंसे युक्त यह नर्तकी समीचीन भावको दिखाती हुई हाव-भाव तथा रसपूर्वक इस अभिप्रायसे अधिक नृत्य कर रही है कि मेरे नृत्यसे भगवान् प्रसन्न होंगे, उनके प्रसन्न होनेपर इन्द्र प्रसन्न होगा और इन्द्रकी प्रसन्नतासे मैं

१. ज्येष्ठा ज्ञातिज्ञा म०, ज्येष्ठज्ञातिना क० । २. कुरुदेशोऽसावुग्रस्ते । ३. -रभूत् म० । ४. नीलजसां म० । ५. बोधस्यापि म० । ६. विधीयतां म० । ७. नृत्तेव म० ।

धिग् जन्तोः परतन्त्रस्य [1]सुखानुभवनस्पृहाम् । पराराधनसक्तस्य यन्मनः सततकुलम् ॥५४॥
यत्स्वतन्त्राभिमानस्य सुखं तदपि किं सुखम् । स्वकर्मपरतन्त्रस्य भोगतृष्णाकुलात्मनः ॥५५॥
आत्माधीनं यदत्यन्तमात्माधीनस्य यत्सुखम् । नेन्द्रियार्थ[2]पराधीनं पराधीनस्य कर्मभिः ॥५६॥
नानन्तेनापि कालेन नृसुरासुरभोगकैः । तृप्तिर्जीवस्य संसारे नद्योघैरिव वारिधेः ॥५७॥
महाबलस्य विद्येशो[3] ललिताङ्गस्य नाकिनः । वज्रजङ्घनरेन्द्रस्य तथोत्तरकुरुस्थितेः ॥५८॥
श्रीधरस्य सुरेशस्य सुविधेरच्युतस्थितेः । वज्रनाभेश्च सर्वार्थसिद्धिदेवस्य पश्यतः ॥५९॥
न तृप्तिस्तैरभूद् भोगैर्दिव्यैश्चिरनिषेवितैः । यस्य तस्याद्य किं सा स्यात् सुलभैर्विपुलैरपि ॥६०॥
तस्मात् [4]सांसारिकं सौख्यं त्यक्त्वान्ते दुःखदूषितम् । मोक्षसौख्यपरिप्राप्त्यै प्रविशामि तपोवनम् ॥६१॥
त्रिज्ञानोपचितो राज्ये स्थितोऽहमितरो यथा । कालोपेक्षणमेतद्धि कालो हि दुरतिक्रमः ॥६२॥
ज्ञातपूर्वभवे तस्मिन्निति ध्यानपरे जिने । ब्रह्मलोकालया ज्ञात्वा लौकान्तिकसुरास्तदा ॥६३॥
कुर्वाणाश्चन्द्रसङ्काशाश्चन्द्राकीर्णमिवाम्बरम् । नत्वा सारस्वतादित्यप्रमुखाः प्रोचुरीश्वरम् ॥६४॥
साधु नाथ ! यथाख्यातं स्वपरार्थहितं तथा । क्रियतां वर्तते कालो धर्मतीर्थप्रवर्तने ॥६५॥
चतुर्गतिमहादुर्गे दिग्मूढस्य प्रभो दृढम् । मार्गं दर्शय लोकस्य मोक्षस्थानप्रवेशकम् ॥६६॥
विच्छिन्नसम्प्र[5]दायस्य मन्त्रस्येव चिरं प्रभो । सिद्धिमार्गस्य विश्वेश ! कुरु द्योतनमुद्यतः ॥६७॥

अधिक सुखी हो सकूँगी । परन्तु यह भ्रान्ति वश ऐसा मान रही है ॥५२-५३॥ पराधीन प्राणीकी जो सुखोपभोगकी इच्छा है उसे धिक्कार है क्योंकि पराधीन मनुष्यका मन निरन्तर आकुल रहता है ॥५४॥ और अपने आपको स्वतन्त्र माननेवालेका जो सुख है वह भी क्या सुख है ? क्योंकि वह भी तो अपने कर्मोंके परतन्त्र है तथा भोगोंकी तृष्णासे उसकी आत्मा व्याकुल रहती है ॥५५॥ आत्माधीन मनुष्यका जो सुख है वह आत्माके ही आधीन होनेसे अन्तातीत है और कर्माधीन मनुष्यका सुख इन्द्रिय-विषयोंके आधीन होनेसे अन्तातीत नहीं है ॥५६॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार इस संसारमें मनुष्य सुर तथा असुरोंके सुखोंसे अनन्तकालमें भी जीवकी तृप्ति नहीं हो सकती ॥५७॥ मैं पहले विद्याधरोंका राजा महाबल था, फिर ललिताङ्ग देव हुआ, फिर वज्रजङ्घ राजा हुआ, फिर उत्तरकुरुमें आर्य हुआ, फिर श्रीधर देव हुआ, फिर सुविधि राजा हुआ, फिर अच्युतेन्द्र हुआ, फिर वज्रनाभि हुआ और फिर सर्वार्थसिद्धिका देव हुआ । चिरकाल तक भोगे हुए उन दिव्य भोगोंसे जिसे उस समय तृप्ति नहीं हुई उसे आज भले ही जो सुलभ और अधिक हों इन भोगोंसे क्या तृप्ति हो सकती है ? ॥५८-६०॥ इसलिए जो अन्तमें दुःखसे दूषित है ऐसे सांसारिक सुखको छोड़कर मैं मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके लिए तपोवनमें प्रवेश करता हूँ ॥६१॥ हाय, मैं मति श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंसे युक्त होकर भी साधारण मनुष्यके समान राज्यमें स्थित रहा; यह मेरी समयकी उपेक्षा ही है अर्थात् मैंने व्यर्थ बीतते हुए समयकी ओर दृष्टि नहीं दी । यथार्थमें समयका उल्लंघन करना कठिन है—जिस समय जो जैसा होनेवाला है वैसा ही होता है ॥६२॥ पूर्व भवोंको जाननेवाले जिनेन्द्र भगवान् जब इस प्रकारका ध्यान कर रहे थे तब ब्रह्मलोकके वासी सारस्वत, आदित्य आदि लौकान्तिक देव यह ज्ञातकर यहाँ आये । वे चन्द्रमाके समान थे अतः आकाशको चन्द्रमाओंसे व्याप्त जैसा करते हुए आये और नमस्कारकर भगवान्से बोले ॥६३-६४॥

हे नाथ ! ठीक है, जिससे स्वपर कल्याण हो वही कीजिए । धर्म-तीर्थके प्रवर्तनका यही समय है ॥६५॥ हे प्रभो ! यह संसार चतुर्गति रूप महावनमें दिशाभ्रान्त हो रहा है इसे आप मोक्ष-स्थानमें प्रवेश करानेवाला मार्ग दिखलाइए ॥६६॥ हे प्रभो ! हे जगदीश्वर ! मन्त्रकी तरह

१. सुखानुवनस्पृहं (?) म० । २. तदिन्द्रियार्थपराधीन -म० । ३. विद्यानाम् ईट् विचेट् तस्य । ४. विज्ञानोपचिते म० । ५. पारम्पर्येणोपदेशः सम्प्रदायो गुरुक्रम इत्यभिधानात् (क० टि०) ।

दुःखत्रयमहावर्ते दोषत्रयमहोरगे । भ्रमतो भव भर्तस्त्वं कर्णधारो भवोदधौ ॥६८॥
त्वं संसारमहाचक्राक्रमतो वेगशालिनः । उपदेशकरेणाशु विश्वमुत्तारय[1] प्रभो ॥६९॥
[2]विश्रमन्त्वधुना गत्वा सन्तस्त्वद्दर्शिताध्वना । ध्वस्तजन्मश्रमा [3]नित्यसौख्ये त्रैलोक्यमूर्धनि ॥७०॥
कीर्त्या लौकान्तिकैर्वाचः स्वयम्बुद्धस्य तस्य ताः । [4]पूजार्थमेव सञ्जाताः पत्युरापो यथा ह्यपाम् ॥७१॥
सुत्रामाद्यैश्च सम्प्राप्तैश्चतुर्विधसुरैर्नतैः । प्रोक्तं लौकान्तिकैः प्राक्तं यत्तदेव मुहुर्मुहुः ॥७२॥
ऋषभोऽभात् स्वयम्बुद्धो बोधितो विबुधैः करैः[5] । भानोः प्रबुद्धपद्मौघो यथा पद्ममहाह्रदः ॥७३॥
धीरपुत्रशतस्यासौ प्रविभक्तवसुन्धरः । कृती दशशतस्येव कराणां रविराबभौ ॥७४॥
अभिषिक्तस्ततो देवैः क्षीरार्णवजलैर्जिनः । दिग्धो गन्धैर्वरैर्वस्त्रैर्भूषामाल्यैर्विभूषितः ॥७५॥
सभास्थानो नृपैर्देवैर्वृतोऽभान्[6]मणिभूषणैः । पूर्वापरायतैर्मेरुर्यथाऽसौ कुलभूधरैः ॥७६॥
अथ वैश्रवणो दिव्यां निर्ममे शिबिकां नवाम् । नाम्ना सुदर्शनां भूरिशोभयाऽपि सुदर्शनाम् ॥७७॥
ताराभरत्नजातीनां प्रभाभिरतिभास्वरा । मण्डलाकृतिशुभ्राभ्रधवलातपवारणा ॥७८॥

चिरकालसे जिसकी परम्परा टूट चुकी है ऐसे मोक्षमार्गको आप फिरसे प्रकाश कीजिए ॥६७॥ हे स्वामिन् ! जो जन्म, जरा, मरण, इन तीन दुःखरूपी भँवरोंसे युक्त है, तथा राग द्वेष मोह ये तीन दोषरूपी बड़े-बड़े सर्प जिसमें निवास कर रहे हैं ऐसे इस संसाररूपी सागरमें भ्रमण करनेवाले—गोता खानेवाले जीवोंके लिए आप कर्णधार होइए ॥६८॥ हे प्रभो ! आप उपदेशरूपी हाथके द्वारा इस वेगशाली घूमते हुए संसाररूपी महाचक्रसे सबको उतारो—सबकी रक्षा करो ॥६९॥ इस समय सत्पुरुष आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्गसे चलकर तथा जन्म सम्बन्धी थकावटको दूरकर नित्य सुखसे सम्पन्न तीन लोकके शिखरपर विश्राम करें ॥७०॥ जिस प्रकार समुद्रके लिए चढ़ाया हुआ जल केवल उसकी पूजाके लिए है उसी प्रकार स्वयं ही प्रतिबोधको प्राप्त हुए भगवान्के लिए लौकान्तिक देवोंके वचन केवल पूजाके ही लिए थे। भावार्थ—लौकान्तिक देवोंके उपदेशके पहले ही भगवान् विरक्त हो चुके थे इसलिए उनके वचन केवल नियोग पूर्तिके लिए ही थे ॥७१॥ उसी समय इन्द्रको आदि लेकर चारों निकायके देव आ पहुँचे। उन्होंने भी नमस्कारकर वही कहा जो कि लौकान्तिक देवोंने इनके पूर्व बार-बार कहा था ॥७२॥ देवोंके द्वारा सम्बोधित स्वयं बुद्ध भगवान् ऋषभदेव, उस समय, जिसका कमल-समूह सूर्यकी किरणोंसे खिल उठा है उस महासरोवरके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७३॥ धीर-वीर सौ पुत्रोंके लिए जिन्होंने पृथिवीका विभाग कर दिया था ऐसे कृतकृत्य भगवान् उस समय, एक हजार किरणोंके लिए अपना तेज वितरण करनेवाले सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७४॥ तदनन्तर देवोंने क्षीर समुद्रके जलसे जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक किया, उत्तम गन्धसे लेपन किया और उत्तमोत्तम वस्त्र, आभूषण तथा मालाओंसे उन्हें विभूषित किया ॥७५॥ सभामें विराजमान तथा मणिमय आभूषणोंसे विभूषित देव और राजाओंसे घिरे हुए भगवान् उस समय पूर्व-पश्चिम लम्बे कुलाचलोंसे घिरे हुए सुमेरुके समान सुशोभित हो रहे थे ॥७६॥

अथानन्तर कुबेरने एक नूतन दिव्य पालकी बनायी जो नामकी अपेक्षा सुदर्शना थी और अत्यधिक शोभासे भी सुदर्शना—सुन्दर थी ॥७७॥ वह पालकी आकाश अथवा उत्तम स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार आकाश (ताराभरत्नजातीनां प्रभाभिरतिभास्वरा) तारा और श्रेष्ठ नक्षत्रोंकी प्रभासे अतिशय देदीप्यमान होता है, तथा उत्तम स्त्री नेत्रोंकी पुतलियों और नक्षत्रोंके समान देदीप्यमान रत्नोंकी प्रभासे उज्ज्वल होती है उसी प्रकार वह पालकी भी ताराओंके समान आभावाले रत्नोंकी प्रभासे अतिशय देदीप्यमान थी। जिस प्रकार आकाश

१. मुत्तरय म० । २. विश्राम- म० । ३. नित्यं सौख्ये म० । ४. पूर्वार्थमेव म० । ५. सुरैः म० । ६. -रभून्मणि-म० ।

चलच्चामरसङ्घातहंसमालांशुकोज्ज्वला । आदर्शमण्डलाखण्डदीप्ति[1]दिङ्मुखमण्डला ॥७९॥
बुद्बुदापाण्डुगण्डान्ता मूर्धचन्द्रालिकाकृतिः । सन्ध्याभ्रखण्डसंरक्तविस्फुरद्विद्रुमाधरा ॥८०॥
पतज्जलकणस्वच्छमुक्तादशनशोभिता । शुभ्रकेतुपताकालीलीलाभुजलतोज्ज्वला ॥८१॥
दिङ्नागनासिका[2]जङ्घारम्भास्तम्भोरुशोभिनी । चित्रस्त्रीतारकालोका जगतीजघनस्थला ॥८२॥

(मण्डलाकृतिशुभ्राभ्र-धवलातपवारणा) मण्डलाकार सफेद मेघोंसे उज्ज्वल तथा सन्तापको दूर करनेवाला होता है और उत्तम स्त्री मण्डलाकार सफेद मेघावलीके समान उज्ज्वल और सन्तापको हरनेवाली होती है; उसी प्रकार वह पालकी भी मण्डलाकार सफेद मेघके समान उज्ज्वल छत्रसे युक्त थी ॥७८॥ जिस प्रकार आकाश (चलच्चामरसंघात-हंसमालांशुकोज्ज्वला) चञ्चल चमरोंके समूहके समान उड़ती हुई हंसमालासे देदीप्यमान तथा उज्ज्वल होता है, और उत्तम स्त्री चञ्चल चमरोंके समूह तथा हंसपंक्तिके समान सफेद वस्त्रोंसे युक्त होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी हंसमालाके समान चञ्चल चमर और वस्त्रोंसे उज्ज्वल थी। जिस प्रकार आकाश (आदर्शमण्डलाखण्डदीप्तिदिङ्मुखमण्डला) दर्पण तलके समान अखण्ड दीप्तिसे युक्त दिशाओंसे सहित होता है, और उत्तम स्त्रीका मुखमण्डल दर्पण तलकी अखण्ड दीप्तिसे देदीप्यमान दिशाके समान भास्वर होता है उसी प्रकार वह पालकी भी दर्पणोंके समूहसे समस्त दिशाओंको अखण्ड प्रतिभासित करनेवाली थी ॥७९॥ जिस प्रकार आकाश (बुद्बुदापाण्डुगण्डान्ता) जलके बबूलोंके समान सफेद प्रदेशोंसे युक्त होता है, और उत्तम स्त्रीके कपोल चन्दनकी बिन्दुओंसे सफेद होते हैं उसी प्रकार उस पालकीके छज्जोंका चौगिर्द प्रदेश भी बुद्बुदाकार मणिमय गोलकोंसे सफेद था। जिस प्रकार आकाश (मूर्धचन्द्रालिकाकृतिः) ऊपर विद्यमान चन्द्रमासे युक्त होता है और उत्तम स्त्री मस्तक तथा चन्द्राकार ललाटसे युक्त होती है उसी प्रकार वह पालकी भी ऊपर तनी हुई चाँदनीसे सहित थी। जिस प्रकार आकाश (सन्ध्याभ्रखण्डसंरक्त-विस्फुरद्विद्रुमाधरा) लाल-लाल चमकते हुए मूँगोंके समान सन्ध्याके लाल-लाल मेघखण्डोंको धारण करता है और उत्तम स्त्रीका अधरोष्ठ सन्ध्याकालीन मेघखण्ड तथा चमकते हुए लाल मूँगेके समान होता है, उसी प्रकार वह पालकी भी सन्ध्याकालीन मेघखण्डके समान लाल चमकदार मूँगाको धारण कर रही थी ॥८०॥ जिस प्रकार आकाश (पतज्जलकणस्वच्छमुक्तादशनशोभिता) स्वच्छ मोतियों तथा दाँतोंके समान उज्ज्वल पड़ती हुई जलकी बूँदोंसे शोभित होता है और उत्तम स्त्री पड़ते हुए जलकण तथा उज्ज्वल मोतियोंके समान दाँतोंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी पड़ते हुए जलकणोंके समान स्वच्छ मोतियोंके जड़ावसे सुशोभित थी। जिस प्रकार आकाश (शुभ्रकेतुपताकालीलीलाभुजलतोज्ज्वला) सुन्दर भुजलताओंके समान केतुके शुभ्र विमानपर फहराती हुई पताकाओंकी पंक्तिसे सुशोभित होता है और उत्तम स्त्री शुभ्रध्वजदण्डसे युक्त पताकाओंकी पंक्तिके समान चञ्चल भुजलताओंसे उज्ज्वल होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी उत्तम ध्वजापताकाओं और सुन्दर भुजाओंकी तुलना करनेवाली लताओंसे सुशोभित थी ॥८१॥ जिस प्रकार आकाश (दिग्नागनासिकाजङ्घारम्भास्तम्भोरुशालिनी) दिग्गजोंकी सूँड़ों और केलाके स्तम्भोंके समान सुशोभित उनकी मोटी-मोटी जङ्घाओंसे अत्यधिक शोभित होता है और उत्तम स्त्री दिग्गजोंकी सूँड़के समान जङ्घाओं और केलाके स्तम्भोंके समान सुन्दर ऊरुओंसे सुशोभित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी दिग्गजोंकी सूँड़ों और स्त्रियोंकी जङ्घाओंकी समानता करनेवाले केलेके स्तम्भोंसे अत्यधिक सुशोभित थी। जिस प्रकार आकाश (चित्रस्त्रीतारकालोका) चित्रा नक्षत्रके आलोकसे युक्त होता है, और उत्तम स्त्री चित्रा नक्षत्र तथा ताराके समान देदीप्यमान होती है उसी प्रकार वह पालकी भी चित्रा नक्षत्र और ताराके समान प्रकाशसे युक्त

---

१. दीप्त म० । २. वासिता म० ।

वारिधारास्फुरद्धाराशुम्भत्कुम्भपयोधरा । तारापुष्पवती रम्या सुनक्षत्रबृहत्फला ॥८३॥
सुनीलघनकेशाऽसौ कुबेरेण सुदर्शना । द्यौरिवोत्तमयोषेव कौशिकाय[1] प्रदर्शिता ॥८४॥
अथ विज्ञापितो नाथः सुरनाथेन हर्षिणा । आपृच्छ्य पितृपुत्रादीन् परिवर्गं च संश्रितम् ॥८५॥
गृहीतचामरच्छत्रैः सेव्यमानः सुरेश्वरैः । स द्वात्रिंशत्पदान्युर्व्यां पद्भ्यामेव प्रचक्रमे ॥८६॥
लोकाञ्जलिपुटालोकजयशब्दाशीर्वादवन्दितः । शिबिकामारुरोहेशः सवितेवोदयश्रियम् ॥८७॥
क्षितेः क्षितीश्वरोत्क्षिप्तां समुत्पत्य सुरेश्वराः । खगाहिनः [2]समूहुस्तां शिरसाज्ञामिवेशितुः ॥८८॥
ततः शङ्खाः सभेरीका मुखरीकृतदिङ्मुखाः । दध्वनुर्वंशवीणाश्च पटहा बहुनिस्वनाः ॥८९॥
नानानीकैः सुरैरूर्ध्वं चतुरङ्गबलैरधः । राजक्षत्रोग्रभोजाद्यैर्जगद्व्याप्तमधीश्वरैः ॥९०॥
ऊर्ध्वं नवरसा जाता नृत्यदप्सरसां स्फुटाः । नाभेयेन [3]विमुक्तानामधः शोकरसोऽभवत् ॥९१॥

थी। जिस प्रकार आकाश (जगतीजघनस्थला) पृथिवीरूपी मध्यम स्थलसे सहित होती है और उत्तम स्त्री पृथिवीके समान स्थूल नितम्ब स्थलसे युक्त होती है, उसी प्रकार वह पालकी भी मध्यलोकमें विराजमान थी ॥८२॥ जिस प्रकार आकाश (वारिधारास्फुरद्धाराशुम्भत्कुम्भपयोधरा) जलसे भरे एवं पड़ती हुई धारोंसे सुशोभित घड़ोंके समान मेघोंसे युक्त होता है और उत्तम स्त्रीके स्तनकलश जलधाराके समान शोभायमान हारसे सुशोभित रहते हैं उसी प्रकार वह पालकी भी जलधाराके समान सुशोभित हारों-मणिमालाओंसे अलंकृत घड़ोंमें जलको धारण करनेवाली थी—जलसे भरे घड़ोंसे युक्त थी। जिस प्रकार आकाश (तारापुष्पवती रम्या) फूलोंके समान ताराओंसे युक्त एवं मनोहर होता है और उत्तम स्त्री तारोंके समान फूलोंसे युक्त एवं मनोहर रहती है उसी प्रकार वह पालकी भी ताराओंके समान चमकीले फूलोंसे युक्त और मनोहर थी। जिस प्रकार आकाश (सुनक्षत्रबृहत्फला) बड़े-बड़े फलोंके समान उत्तम नक्षत्रोंसे युक्त होता है और उत्तम स्त्री अच्छे नक्षत्रोंके विशाल परिणामसे सहित होती है उसी प्रकार वह पालकी भी उत्तम नक्षत्रोंके समान बड़े-बड़े फलोंसे युक्त थी ॥८३॥ और जिस प्रकार आकाश (सुनीलघनकेशा) केशोंके समान अत्यन्त नीले मेघोंसे युक्त रहता है और उत्तम स्त्री अत्यन्त काले एवं सघन केशोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह पालकी भी सघन केशोंके समान उत्तम नील मणियोंसे खचित थी। ऐसी वह सुदर्शना पालकी कुबेरने इन्द्रके लिए दिखलायी ॥८४॥

अथानन्तर हर्षसे भरे हुए इन्द्रने पालकीपर सवार होनेके लिए भगवान्से प्रार्थना की। तब भगवान् अपने माता-पिता पुत्र तथा आश्रित परिजनोंसे पूछकर बत्तीस कदम पृथिवीपर पैदल ही चले। उस समय चमर तथा छत्र लेकर इन्द्र उनकी सेवा कर रहे थे ॥८५-८६॥ तदनन्तर लोगोंने हाथ जोड़कर जय जयकार करते हुए जिन्हें नमस्कार किया था और माता पिता आदि गुरुजनोंने जिन्हें आशीर्वाद दिया था ऐसे भगवान् ऋषभदेव पालकीपर उस तरह आरूढ हुए जिस तरह कि सूर्य उदयकालीन लक्ष्मीपर आरूढ होता है ॥८७॥ उस पालकीको पृथिवीसे तो राजाओंने उठाया पर बादमें तैयार खड़े हुए इन्द्रोंने उसे आकाशमें उछलकर इस प्रकार धारण कर लिया जिस प्रकार कि प्रभुकी आज्ञाको शिरसे धारण करते हैं ॥८८॥ तदनन्तर दिशाओंको मुखरित करनेवाले शङ्ख, भेरी, बाँसुरी, वीणा तथा जोरदार शब्द करनेवाले नगाड़े शब्द करने लगे ॥८९॥ उस समय ऊपर आकाश तो देवोंकी नाना प्रकारकी चतुरङ्ग सेनाओंसे व्याप्त था और नीचे पृथिवी तल साथ-साथ चलनेवाले अनेक राज-क्षत्रियों तथा उग्रवंशी, भोजवंशी आदि राजाओंसे व्याप्त था ॥९०॥ ऊपर आकाशमें नृत्य करनेवाली अप्सराओंके शृङ्गारादि नौ रस प्रकट हो रहे थे और नीचे पृथिवी तलपर भगवान्के द्वारा छोड़े हुए माता-पिता आदिके

१. इन्द्राय । २. समायुः म० । ३. किमुक्तानाम् म० ।

सेव्यमानः सुरैरीशः सिद्धार्थं वनमाप सः । अशोकचम्पकाद्युग्रसप्तच्छदचूतवटैश्चितम् ॥९२॥
अवतीर्णः स सिद्धयर्थी[1] शिबिकायाः स्वयं यथा । देवलोकशिरस्थाया दिवः सर्वार्थसिद्धितः ॥९३॥
ततः प्राह प्रजास्तत्र शोकं त्यजत भोः प्रजाः । संयोगो[2] हि वियोगाय स्वदेहैरपि देहिनाम् ॥९४॥
राजा वो रक्षणे दक्षः स्थापितो भरतो मया । स्वधर्मवृत्तिभिर्नित्यं सेव्यतां सेव्यतां[3] श्रितः ॥९५॥
एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन् । प्रदेशः स[4] प्रजागाख्यो यतः पूजार्थयोगतः ॥९६॥
आपृच्छ्य ज्ञातिवर्गं च राजकं च नतं विभुः । त्यक्त्वाऽन्तर्बहिः सङ्गं संयमं प्रतिपन्नवान् ॥९७॥
पञ्चमुष्टिभिरुत्खातान् बिडौजा[5] मूर्धजान् विभोः । प्रतिगृह्य कृतान् मूर्ध्नि चिक्षेप क्षीरवारिधौ ॥९८॥
जाते निःक्रमणे जैने कृत्वा पूजां सुरासुराः । यथायथं ययुर्गत्वा चिन्ताक्रान्ताश्च मानवाः ॥९९॥
राजन्योग्रभोजाद्याः स्वामिभक्ता[6] महानृपाः । चतुःसहस्रसङ्ख्याता मुख्या नाग्न्यस्थितिं श्रिताः ॥१००॥
कायोत्सर्गेण षण्मासान् परीषहसहो जिनः । महातपाश्चतुर्ज्ञानी तस्थौ मौनी गिरिस्थिरः ॥१०१॥
नृपास्तेऽपि तथा तस्थुः कायोत्सर्गेण निश्चलाः । परमार्थमजानन्तः स्वामिच्छन्दानुवर्तिनः ॥१०२॥
भृत्यपुत्रकलत्राणि क्षुत्पिपासाकुलात्मनाम् । अद्य श्वो नो[7]ऽन्नमादाय समेष्यन्तीत्यमी विदुः ॥१०३॥

शोक-रस प्रकट हो रहा था ॥९१॥ अनेक देवोंसे सेवित भगवान् अशोक, चम्पा, सप्तपर्ण, आम, और वट वृक्षोंसे व्याप्त सिद्धार्थ नामक वनमें पहुँचे ॥९२॥ सिद्धि अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवान् वहाँ पालकीसे उस प्रकार उतरे जिस प्रकार कि पहले स्वर्ग लोकके शिखरपर स्थित सर्वार्थसिद्धि विमानसे उतरे थे ॥९३॥

तदनन्तर भगवान्ने प्रजासे कहा कि हे प्रजाजनो ! तुम लोग शोक छोड़ो क्योंकि प्राणियोंका अन्य वस्तुओंकी बात जाने दो, अपने शरीरके साथ भी जो संयोग है वह वियोगके ही लिए है। भावार्थ—जब शरीरका भी वियोग हो जाता है तब अन्य वस्तुओंको तो बात ही क्या है ? ॥९४॥ अतिशय चतुर भरतको मैंने आप लोगोंकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है। आप लोग निरन्तर अपने धर्ममें स्थिर रहते हुए उसकी सेवा करें, वह आपकी सेवाका पात्र है ॥९५॥ भगवान्के ऐसा कहनेके बाद प्रजाने उनकी पूजा की। प्रजाने जिस स्थानपर भगवान्की पूजा की वह स्थान आगे चलकर पूजाके कारण प्रयाग इस नामको प्राप्त हुआ ॥९६॥ प्रभुने कुटुम्बके लोगों तथा नम्रीभूत राजाओंसे पूछकर अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर संयम धारण कर लिया ॥९७॥ इन्द्रने पञ्चमुष्टियोंके द्वारा उखाड़े हुए भगवान्के शिरके बालोंको उठाकर पिटारेमें रख लिया और 'इन्हें भगवान्ने शिरपर धारण किया था।' यह विचारकर बड़े आदरसे उन्हें क्षीर-समुद्रमें क्षेप दिया ॥९८॥ इस प्रकार दीक्षाकल्याणक होनेपर समस्त सुर और असुर भगवान्की पूजाकर यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंपर चले गये। साथ ही चिन्तासे भरे हुए मनुष्य भी नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंपर गये ॥९९॥ उस समय इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र तथा भोज आदि वंशोंके चार हजार बड़े-बड़े मुख्य स्वामिभक्त राजाओंने भी नग्नदीक्षा धारण की ॥१००॥

परीषहोंको सहनेवाले, महातपस्वी, चार ज्ञानके धारक और पर्वतके समान निश्चल भगवान् छह माहका कायोत्सर्ग लेकर मौनसे विराजमान हुए ॥१०१॥ साथ ही वे अन्य राजा भी जो परमार्थको नहीं जानते थे मात्र स्वामीकी इच्छानुसार काम करना चाहते थे, निश्चल हो कायोत्सर्गसे स्थित हो गये ॥१०२॥ जब उनकी आत्मा भूख और प्याससे व्याकुल हो उठी तब वे विचार करने लगे कि हमारे नौकर, पुत्र अथवा स्त्रियाँ हमारे लिए भोजन लेकर आज-कलमें

---

१. सिद्धार्थी म० । २. संयोगी म० । ३. सततं श्रियः म० । ४. प्रजागारो म० । ५. इन्द्रः । ६. स्वामिभक्तमहानृपाः म० । ७. नः अस्माकम् ।

ततः कच्छमहाकच्छमरीच्यग्रेसरास्तके । षड्मासाभ्यन्तरे भग्नाः क्षुधाद्युग्रपरीषहैः ॥१०४॥
तेषां क्षुत्क्षामगात्राणां भ्रमन्ती दृष्टिरस्थिरा । भ्रान्तदृष्टेर्भविष्यन्त्याः पूर्वरङ्गमिवाकरोत् ॥१०५॥
दृष्टं तैमिरिकं कैश्चिदन्धकारेऽपि तादृशे । स्पर्धयेव[1] हि चन्द्राभैः शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥१०६॥
श्रुतं शब्दात्मकं विश्वं भावयद्भिरिवापरैः । स्वशब्दलिङ्गमाकाशमिति वैशेषिकागमम् ॥१०७॥
पतद्भिरपि तत्रान्यैर्न मनागपि चेतितम्[2] । अचित्स्वभावमात्मानमनुकर्तुमिवोद्यतैः ॥१०८॥
चेतयन्तोऽपि तत्रान्ये स्वैरमासितुमप्यलम् । निरीहात्मतया जग्मुः स्वां साङ्ख्यपुरुषस्थितिम् ॥१०९॥
केचित् निरन्वयध्वस्तबुद्धयो नैव सस्मरुः । पूर्वापरस्य मूर्च्छार्ताः क्षणभङ्गानुवर्तिनः ॥११०॥
इति ते क्षुत्पिपासाद्यैरतिव्याकुलबुद्धयः । कायोत्सर्गमुत्सृज्य दुद्रुवुश्च शनैः शनैः ॥१११॥
स्वामिनं कुलपुत्रांश्च मर्यादां चानुवर्तते । तावदेव जनो यावत् स्वशरीरस्य निर्वृतिः ॥११२॥
भक्षणं फलमूलादेरपां पानावगाहनम् । कुर्वतां नग्नरूपेण स्वयंग्राहेण भूभृताम् ॥११३॥
भो भो माऽनेन रूपेण स्वयंग्राहविरोधिना । प्रवर्तध्वमिति व्यक्ताः खेऽभवन्मरुतां[3] गिरः ॥११४॥
ततस्ते भयितास्त्रस्ता दिशो वीक्ष्य महीक्षितः । चक्रुर्वेषपरावर्तं कुशाचीवरवल्कलैः ॥११५॥

आते ही होंगे ॥१०३॥ तदनन्तर कच्छ, महाकच्छ और मरीचि जिनमें अग्रेसर थे, ऐसे वे कृत्रिम मुनि छह माहके भीतर ही क्षुधा आदि कठिन परीषहोंसे भ्रष्ट हो गये ॥१०४॥ भूखके कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे ऐसे इन कृत्रिम मुनियोंकी अस्थिर दृष्टि घूमने लगी तथा ऐसी जान पड़ने लगी मानो आगे होनेवाली भ्रान्त दृष्टि (भ्रान्त श्रद्धान)का पूर्वाभ्यास ही कर रही हो ॥१०५॥ कितने ही लोगोंने अन्धकारका समूह देखा अर्थात् उनकी आँखोंके सामने अन्धकार ही अन्धकार छा गया, उनके नेत्र क्षुधाके कारण चन्द्रमाके समान पाण्डुवर्ण हो गये तथा उन्हें उस अन्धकारके बीच आकाशमें एकके बदले सौ चन्द्रमा दिखाई देने लगे ॥१०६॥ कितने ही लोगोंने समस्त संसारको शब्दमय सुना अर्थात् उनके कानोंके सामने शब्द ही शब्द सुनाई पड़ने लगा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे 'शब्द रूप लक्षणसे सहित आकाश है' इस वैशेषिक मतके शास्त्रका ही चिन्तन कर रहे थे ॥१०७॥ कितने ही लोग जमीनपर गिरने लगे तथा उन्हें कुछ भी चेत नहीं रहा जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे आत्माको जड़-स्वभाव करनेके लिए ही उद्यत हुए हों अर्थात् जड़स्वभाव है यह चार्वाकका मत ही प्रचलित करना चाहते हों ॥१०८॥ कितने ही लोगोंको चेत (होश) तो था पर वे स्वच्छन्दता-पूर्वक रहनेके लिए निरीह वृत्तिके कारण अपने आपकी सांख्यमत संमत पुरुष जैसी स्थिति बतलाने लगे ॥१०९॥ जिनकी बुद्धि निरन्वय नष्ट हो गई थी तथा जो मूर्च्छासे दुःखी हो रहे थे, ऐसे कितने ही लोगोंको आगे-पीछेका कुछ भी स्मरण नहीं रहा, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे बौद्धोंके क्षणभङ्गवादका ही अनुकरण कर रहे हों ॥११०॥ इस प्रकार भूख-प्यास आदिसे जिनकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो गई थी ऐसे वे सब कायोत्सर्ग छोड़कर धीरे-धीरे भागने लगे ॥१११॥ सो ठीक ही है क्योंकि जब तक अपने शरीरकी सन्तोषपूर्ण स्थिति रहती है तभी तक मनुष्य स्वामी, कुल, पुत्र और मर्यादाका अनुसरण करता है ॥११२॥ वे राजा नग्नरूपमें रहकर ही फल-मूल आदिका भक्षण तथा जलका पीना और उसमें प्रवेश करना आदि कार्य स्वेच्छासे करनेके लिए उद्यत हुए तो उसी समय आकाशमें देवोंके यह शब्द प्रकट हुए कि स्वयं ग्राहके विरोधी इस नग्नवेषसे आपलोग ऐसी प्रवृत्ति न करें ॥११३–११४॥ तदनन्तर देवोंके उक्त शब्द सुनकर वे राजा बड़े लज्जित हुए और भयभीत हो दिशाओंकी ओर देख उन्होंने कुशा, चीवर तथा वल्कल आदिसे नग्नवेश बदल लिया अर्थात् कुशा, चीवर एवं

१. द्विचन्द्राद्यैः म०, ग०, ङ० । क्षुधावशाच्चन्द्रवर्णैः (क० टि०)। २. चेतिकं म० । ३. महतां म० ।

पुनः कृत्वा सुविश्रब्धास्ते वन्योदरपूरणम् । स्वस्थाः कार्यं विचार्योचुः स्वस्थे चित्ते हि बुद्धयः ॥११६॥
कोऽभिप्रायः प्रभोरस्य त्यक्तभोगस्य कथ्यताम् । नवैहिकफलायेदं चेष्टितं सुदुष्करम् ॥११७॥
तथा ह्यनेन भो दृष्टा सम्पदो विपदो यथा । रत्यरत्योर्विघातेन विषयाश्च विषोपमाः ॥११८॥
सालङ्कारं परित्यक्तं वसनं व्यसनं यथा । मूलोत्खाताः स्वहस्तेन मूर्धजा वैरिणो यथा ॥११९॥
शरीरमपि संन्यस्तं[1] संन्यस्ताहारवस्तुना । तदस्याभिमतं किञ्चिदामुत्रिकफलं भवेत् ॥१२०॥
नैष्ठिकव्रतमास्थाय स्वामिन्येवं व्यवस्थिते । किं नः कर्तव्यमित्येकं न विद्मः साम्प्रतं वयम् ॥१२१॥
निष्क्रान्तानामनेनामा स्वदेशात्[2] प्रतिनिवर्तनम् । नैव पुष्णाति नः कान्तिमपायबहुलं च तत् ॥१२२॥
न शक्ताश्चरितुं चर्यां यदि नाम वयं विभोः । वनवासित्वसाम्येन किं न कुर्मोऽनुवर्तनम्[3] ॥१२३॥
इति निश्चित्य तेऽन्योन्यं पाण्डुपत्रफलाशिनः । जटावल्कलिनो जातास्तापसा वनवासिनः ॥१२४॥
यो मरीचिकुमारस्तु नप्ता तप्ततनुर्विभोः । दृष्टवान् जलभावेन तृषामरुमरीचिकाम् ॥१२५॥
जलावगाहनाभ्यस्य गजस्येव विदाहिनः । मृदवश्च मृदवकुः शरीरपरिनिर्वृतिम् ॥१२६॥
बृहन्मानकषायी स काषायं वेषमग्रहीत् । एकदण्डी शुचिर्मुण्डी परिव्राड्व्रतपोषणम् ॥१२७॥
नमिश्च विनमिश्चोभौ भोगयाचनयातुरौ । तावुद्विग्नौ विभोर्लग्नौ पादयोर्दुःस्थितौ स्थितौ ॥१२८॥

वृक्षोंकी छाल आदि धारणकर नग्न वेष छोड़ दिया ॥११५॥ इसके बाद निश्चिन्ततासे अधम-उदरकी पूर्तिकर जब वे स्वस्थ हुए तब कार्यका विचारकर परस्पर कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि चित्तके स्वस्थ होनेपर ही बुद्धि उत्पन्न होती है—विचारशक्ति आती है ॥११६॥

वे कहने लगे कि भगवान्ने समस्त भोगोंको छोड़ दिया है सो इसमें इनका क्या अभिप्राय है यह ज्ञात किया जाय। ऐहिक फलके लिए तो इनकी यह अतिशय कठिन चेष्टा नहीं हो सकती क्योंकि इन्होंने सम्पत्तियोंको विपत्तियोंके समान देखा है, रति और अरतिको नष्ट कर विषयोंको विषके समान समझा है, वस्त्राभूषणको दुःखके समान छोड़ दिया है, शिरके बालोंको शत्रुओंकी तरह अपने हाथसे जड़से उखाड़ दिया है और आहार-पानीका परित्याग कर दिया है इसलिए शरीरको भी छोड़ा हुआ समझना चाहिए। इससे जान पड़ता है कि इन्हें कोई पारलौकिक फल ही अभिप्रेत होगा ॥११७–१२०॥ जबकि भगवान् नैष्ठिक व्रत लेकर इस प्रकार विराजमान हैं—कुछ बोलते-चालते नहीं हैं, तब इस स्थितिमें हमें क्या करना चाहिए, इस एक बातको हम लोग इस समय बिलकुल नहीं जानते ॥१२१॥ हमलोग इनके साथ अपने देशसे निकल आये हैं इसलिए अब लौटकर जाना तो हमारी शोभाको नहीं बढ़ाता। साथ ही लौटकर जाना अनेक बाधाओं-कष्टोंसे भरा है ॥१२२॥ यदि हम भगवान्की चर्याका आचरण करनेके लिए समर्थ नहीं हैं तो क्या वनवासीपनेकी सदृशतासे हम इनका अनुसरण नहीं कर सकते? भावार्थ—यदि हमसे इनके समान कुछ तपश्चर्या नहीं बनती है तो इनके समान वनमें तो रह सकते हैं ॥१२३॥ आपसमें ऐसा निश्चयकर वे भ्रष्ट राजा, पके पत्र और फलोंको खाते हुए जटा और वृक्षोंकी छाल धारणकर वनवासी तापस बन गये ॥१२४॥ उनमें मरीचि कुमार नामका जो भगवान्का पोता था, प्याससे उसका शरीर संतप्त हो रहा था, उसने भ्रान्तिवश मरुस्थलकी मरीचिकाको ही जल समझ लिया तथा उसमें लोटने लगा सो जिस प्रकार जलमें प्रवेश करना संतप्त हाथीके शरीरको शान्ति पहुँचाता है उसी प्रकार कोमल मिट्टीने उसके शरीरको कुछ शान्ति पहुँचाई ॥१२५–१२६॥ मरीचि बड़ा मानकषायी था इसलिए उसने परिव्राजकोंके व्रतको पोषण करनेवाला गेरुआ वेष स्वीकार कर लिया। वह एक दण्ड अपने साथ रखता था, स्नानादिसे अपनेको पवित्र मानता था तथा शिर मुड़ाये रखता था ॥१२७॥

इधर जो भोगोंकी याचनासे अतिशय दुःखी थे, भोगोंके अभावके कारण उद्विग्न थे,

---

१. त्यक्तं। २. स्वदेशान् म०। ३. -ऽनुवर्तितं म०।

धृतासनोऽवधिज्ञानात् तद्बुद्ध्वा धरणः फणी । आजगाम मुनेर्भक्त्या मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥१२९॥
विश्वास्य दिव्यरूपोऽसौ भ्रातरौ[1] भ्रातरौ यथा । महाविद्यां ददौ ताभ्यां विद्यालाभो गुरोर्वशात् ॥१३०॥
योऽगो विद्याधराधारो विजयार्द्ध इतीरितः । सोऽपि ताभ्यां ततो[2] लब्धः किं न स्याद् गुरुसेवया ॥१३१॥
स नमिर्दक्षिणश्रेण्यां पञ्चाशन्नगरेश्वरः । विनमिश्चोत्तरश्रेण्यामभूत् षष्टिपुरेश्वरः ॥१३२॥
अध्यतिष्ठन्नमिः श्रेष्ठं नगरं रथनूपुरम् । नभस्तिलकमन्वर्थं[3] विनमिः सह बान्धवैः ॥१३३॥
विद्याधरजनो धीरौ[4] प्राप्य तौ परमेश्वरौ । उपरिस्थितमात्मानं भुवनस्याप्यमन्यत ॥१३४॥
अथाऽसौ प्रतिमास्थोऽपि प्रविश्य भगवान् स्थितः[5] । परीषहाग्निविध्यापि[6] सद्ध्यानजलधौ स्थिरः ॥१३५॥
मत्वेतरमनुष्याणां भवतां च भविष्यताम् । मोक्षाय विजिगीषूणां भुक्त्यभावेऽल्पशक्तिताम् ॥१३६॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु धर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः । पुरुषार्थः[7] स्थितो मुख्यो मोक्षकामार्थसाधनः ॥१३७॥
प्राणाधिष्ठानतन्निष्ठं शरीरं धर्मसाधनम् । प्राणैरधिष्ठितः प्राणी [8]प्राणाश्चान्नैरधिष्ठिताः ॥१३८॥
पारम्पर्येण धर्मस्य ततोऽन्नमपि साधनम् । प्राणिनामल्पवीर्याणां प्रधानस्थितिकारणम् ॥१३९॥
अतस्तस्यानवद्यस्य ग्रहणे विधिमर्थिनाम् । शासनस्थितयेऽन्नस्य दर्शयामीह भारते ॥१४०॥
इति ध्यात्वा स्वयंशक्तः स क्षुधादिविनिग्रहे । [9]परार्थं मतिमाधत्त गोचरान्नपरिग्रहे ॥१४१॥

तथा दुःखमय स्थितिमें स्थित थे, ऐसे नमि और विनमि दोनों राजपुत्र भगवान्के चरणोंमें आ लगे ॥१२८॥ उसी समय जिसका आसन कम्पायमान हुआ था ऐसा धरणेन्द्र अवधिज्ञानसे यह समाचार जान जिनेन्द्रकी भक्तिपूर्वक वहाँ आया, सो ठीक ही है क्योंकि मौन सब कार्योंको सिद्ध करनेवाला है ॥१२९॥ दिव्यरूपको धारण करनेवाले उस धरणेन्द्रने उन दोनों भाइयोंको अपने भाइयोंके समान विश्वास दिलाकर महाविद्या प्रदान की सो ठीक ही है क्योंकि विद्याकी प्राप्ति गुरुसे ही होती है ॥१३०॥ और जो विद्याधरोंका निवासभूत विजयार्ध नामका पर्वत है वह भी उन दोनोंने धरणेन्द्रसे प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि गुरुसेवासे क्या नहीं होता है ? ॥१३१॥ उनमें नमि दक्षिणश्रेणीके पचास नगरोंका स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणीके साठ नगरोंका अधिपति हुआ ॥१३२॥ नमि अपने बन्धुजनोंके साथ रथनूपुर नामक श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगा और विनमि सार्थक नाम धारण करनेवाले नभस्तिलक नामक नगरमें रहने लगा ॥१३३॥ विद्याधर लोग उन धीर-वीर राजाओंको पाकर अपने-आपको संसारसे ऊपर मानने लगे ॥१३४॥

अथानन्तर—यद्यपि धीर-वीर भगवान् परीषहरूपी अग्निको बुझानेवाले प्रशस्त ध्यान-रूपी सागरमें प्रवेशकर प्रतिमायोगसे विराजमान थे—छह माहसे प्रतिमायोग धारण करनेपर भी आहारके विना उन्हें कुछ भी आकुलता नहीं थी तो भी 'मोक्ष प्राप्त करनेके लिए कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले जो अन्य मनुष्य वर्तमानमें हैं तथा आगे होंगे आहारके अभावमें उनकी शक्ति क्षीण हो जायगी' ऐसा मानकर वे विचार करने लगे कि क्षमा आदि लक्षणोंसे युक्त धर्म-पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमें मुख्य है, वही मोक्ष, काम और अर्थका साधन है। धर्मका साधन शरीर है और शरीर प्राणोंका आधार होनेसे प्राणोंपर निर्भर है। प्राणी प्राणोंसे अधिष्ठित है अर्थात् प्राणोंके द्वारा जीवित है और प्राण अन्नसे अधिष्ठित हैं अर्थात् अन्नसे ही प्राण सुरक्षित रहते हैं। इसलिए परम्परासे अन्न भी धर्मका साधन है। अल्पशक्तिके धारक मनुष्योंकी स्थिति प्रधान पुरुषार्थ—धर्ममें बनी रहे इसमें अन्न भी कारण है। अतः इस भरत क्षेत्रमें शासनकी स्थिरताके लिए मैं आहारके इच्छुक मनुष्योंको निर्दोष आहार ग्रहण करनेकी विधि दिखाता हूँ ॥१३५–१४०॥ ऐसा विचारकर, यद्यपि

१. चातुरौ म० । २. धरणेन्द्रात् । ३. -मत्यर्थं म० । ४. धीरः म० । ५. स्थिरः म० । ६. विध्यापी । ७. पुरुषार्थस्थितो मोक्षो मुख्यो म० । ८. प्राणास्त्वन्नै- म० । ९. परार्थमति म० ।

षण्मासानशनस्यान्ते संहृतप्रतिमास्थितिः । प्रतस्थे पदविन्यासैः क्षितिं पल्लवयन्निव ॥१४२॥
आकेवलोदयान्मौनी प्रलम्बितभुजः पथि । सावधानां गतिं बिभ्रदातिद्रुतविलम्बिताम् ॥१४३॥
मध्याह्नेषु पुरग्रामगृहपङ्क्तिषु दर्शनम् । प्रशस्तासु प्रजाभ्योऽदाच्चान्द्रीचर्यां चरन् क्षितौ ॥१४४॥
[1]भ्राम्यन्तं तं तथा नाथं सौम्यविग्रहमुन्मुखाः । [2]पश्यन्त्यो न प्रजास्तृप्ता यथा चन्द्रं नवोदितम् ॥१४५॥
[3]श्वेतभानुरयं किन्नु स्वर्भानुग्रासशङ्कया । भूमिगोचरमायातस्त्यक्ततारार्कगोचरः ॥१४६॥
पूषा किंवा भवेदेष भूभृत्प्रासादभूरुहाम् । छायातमस्तिरस्कर्तुं द्वितीयः क्षितिमागतः ॥१४७॥
अहो कान्तेः परं स्थानमहो दीप्तेः परं पदम् । अहो सुशीलशैलोऽयं गुणराशिरहो महान् ॥१४८॥
सौरूप्यस्य परा कोटिः सौलावण्यस्य भूः परा । माधुर्यस्य पराऽवस्था धैर्यस्यायं परा स्थितिः ॥१४९॥
एतैतेक्षणसाफल्य[4]मन्ते पश्यत पश्यत । जना [5]दिग्वसनस्यापि परमां रमणीयताम् ॥१५०॥
इत्यन्योन्यकृतालापा[6] घनसङ्घट्टसङ्कटाः । जिनं नराश्च नार्यश्च ददृशुर्विस्मयाकुलाः ॥ [षड्भिः कुलकम्]
केचिद् वस्त्राणि चित्राणि भूषणान्यपरे परे । दिव्यानि गन्धमाल्यानि प्रकुर्वन्ति पुरः प्रभोः ॥१५२॥
तुरङ्गतुङ्गमातङ्गरथयानान्यथाऽपरे । सद्यःसज्जानि तस्याग्रे स्थापयन्ति विमोहिनः ॥१५३॥
अदृष्टश्रुतपूर्वत्वात् [7]तत्प्रयोग्यमजानता । भिक्षादानविधिस्तस्मै न लोकेन विकल्पितः[8] ॥१५४॥

भगवान् क्षुधादिके दूर करनेमें स्वयं समर्थ थे तो भी परोपकारके अर्थ उन्होंने गोचर-वृत्तिसे अन्न-ग्रहण करनेकी इच्छा की ॥१४१॥

तदनन्तर छह महीनेके अनशनके बाद जिन्होंने प्रतिमा योगका संकोच कर लिया था ऐसे भगवान् आदि जिनेन्द्र अपने चरणोंके निक्षेपसे पृथिवीको पल्लवित करते हुए आहारके लिए चले ॥१४२॥ केवलज्ञान प्राप्त होने तक उन्होंने मौन व्रत ले रक्खा था, मार्गमें चलते समय उनकी भुजाएँ नीचेकी ओर लम्बी थीं, वे न अधिक शीघ्र और न अधिक धीमी चालसे साव-धानी पूर्वक चल रहे थे ॥१४३॥ पृथिवीपर चान्द्री चर्यासे विचरण करते हुए वे मध्याह्नके समय उत्तम नगर तथा ग्रामोंकी गृह-पंक्तियोंमें प्रजाके लिए दर्शन देते थे ॥१४४॥ जिस प्रकार नूतन उगे हुए चन्द्रमाको देखती हुई प्रजा सन्तुष्ट नहीं होती है उसी प्रकार उस तरह भ्रमण करते हुए सौम्य शरीरके धारक भगवान्‌को ऊपरकी ओर मुख उठा-उठाकर देखती हुई प्रजा सन्तुष्ट नहीं होती थी ॥१४५॥ भगवानको देख अनेक लोग ऐसा तर्क करते थे कि क्या यह राहुके द्वारा ग्रसे जानेके भयसे नक्षत्र और सूर्य मण्डलको छोड़कर चन्द्रमा ही पृथिवी तलपर आ गया है ? अथवा क्या पहाड़, महल और वृक्षोंकी छायारूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए यह सूर्य ही पृथिवीपर अव-तीर्ण हुआ है ? ॥१४६–१४७॥ अहो ! ये भगवान् कान्तिके परम स्थान हैं, दीप्तिके अद्वितीय धाम हैं, अहो ! ये उत्तम शीलके मानो पर्वत हैं, अहो ! ये गुणोंके महासागर हैं । ये सुन्दर रूपकी परम सीमा हैं, वे लावण्यकी उत्कृष्ट भूमि हैं, माधुर्यकी परम अवस्था हैं और धैर्यकी उत्कृष्ट रीति हैं ॥१४८–१४९॥ अरे भव्यजनो ! आओ, आओ नेत्रोंको सफल करो । देखो, नग्न-दिगम्बर होने-पर भी इनकी कैसी परम सुन्दरता है ? ॥१५०॥ इस प्रकार आपसमें वार्तालाप करते तथा बहुत-बहुत बड़ी भीड़के साथ इकट्ठे हुए नर-नारी आश्चर्यसे व्याकुल हो भगवान्‌के दर्शन कर रहे थे ॥१५१॥ उस समय कोई चित्र-विचित्र वस्त्र, कोई तरह-तरहके आभूषण और कोई उत्तमोत्तम गन्ध तथा मालाएँ भगवान्‌के आगे समर्पित करते थे ॥१५२॥ कितने ही अज्ञानी लोग तत्काल सजाये हुए घोड़े, ऊँचे-ऊँचे हाथी, रथ तथा अन्य वाहन उनके आगे रखते थे ॥१५३॥ लोगोंने कभी किसीको आहार देते हुए न देखा था और न सुना था और न वे भगवान्‌के अभिप्रायको ही जानते थे इसलिए किसीको आहार देनेका विकल्प नहीं उठा ॥१५४॥ जिस प्रकार लोगोंको जागृत

---

१. भ्राम्यन्तं म० । २. पश्यन्तो क०, ख०, म० । ३. चन्द्रः । ४. साफल्यं एनं म० । ५. नग्नस्यापि । ६. कृतालापघनसङ्घट्टसङ्कटा म० । ७. जिनस्याभिप्रायं क० टि० । ८. विकल्पिता ।

लोकस्य प्रतिबोधार्थमुदितस्य दिने दिने । जिनार्कस्य न खेदाय जगद्भ्रमणमप्यभूत् ॥१५५॥
तथा यथागमं नाथः षण्मासानविषण्णधीः । प्रजाभिः पूज्यमानः सन् विजहार महीं क्रमात् ॥१५६॥
सम्प्राप्तोऽथ सदादानैरिभैरिभपुरं[1] विभुः । दानप्रवृत्तिरत्रेति सूचयद्भिरिवाचितम्[2] ॥१५७॥
तस्मिन् सोमप्रभः श्रेयानपि[3] भूपौ[4] सहोदरौ । तस्यामेव विभावर्यां स्वप्नानेतानपश्यताम् ॥१५८॥
चन्द्रमिन्द्रध्वजं मेरुं सतडित्कल्पपादपम् । रत्नद्वीपं विमानं च नाभेयं पुरुषोत्तमम् ॥१५९॥
प्रभाते तौ [5]कुरुश्रेष्ठावास्थानस्थौ च विस्मितौ । चक्राते बुधचक्रेण सुस्वप्नफलसंकथाम् ॥१६०॥
बन्धुः कौमुदखण्डानामिव कौमुदमावही । अद्यैवेष्यति बन्धुर्नः कोऽपि नूनमनूनभाः ॥१६१॥
उच्चैर्यशोध्वजो लोके सर्वकल्याणपर्वतः । जगत्कल्पद्रुमो विद्युत्क्षणदर्शितविग्रहः ॥१६२॥
धर्मरत्नमहाद्वीपो वैमानिकजगच्च्युतः । स्वप्नवत्किन्तु[6] नाभेयः स्वयमेवाद्य दृश्यते ॥१६३॥
पुरस्य राजगेहस्य लक्ष्मीरद्यैव लक्ष्यते । भद्रं निवेदयत्याशु ककुभां च प्रसन्नता ॥१६४॥
स्वप्नार्थमिति बुद्ध्वा तौ नियुज्यान्तर्बहिर्नरान् । कथया जिननाथस्य शक्तौ यावदवस्थितौ ॥१६५॥
तावदाध्मातमाध्याह्नशङ्खनादः समुच्छ्रितः । वर्धयन्निव दिष्ट्या तौ जिनागमनिवेदनात् ॥१६६॥
रचितः परिवर्गेण स्नातयोश्च तयोस्ततः । सुभोजनविधिस्तत्र दिव्याहारमनोहरः ॥१६७॥

करनेके लिए उगे हुए सूर्यका जगत्‌में भ्रमण करना उसके खेदका कारण नहीं है उसी प्रकार लोगोंको प्रतिबुद्ध करनेके लिए तत्पर जिनेन्द्र भगवान्‌का जगत्‌में जहाँ-तहाँ भ्रमण करना उनके खेदका कारण नहीं था ॥१५५॥ इस प्रकार जिनकी बुद्धिमें रञ्चमात्र भी विषाद नहीं था ऐसे भगवान् प्रजाके द्वारा पूजित होते हुए लगातार छह माह तक आगमके अनुसार क्रमसे पृथिवीपर विहार करते गये ॥१५६॥

तदनन्तर विहार करते-करते भगवान् हस्तिनागपुर नगर पहुँचे। वह नगर जिनसे सदा दान (मद) चूता रहता था और जो मानो इस बातकी सूचना ही दे रहे थे कि यहाँ दान (त्याग) की प्रवृत्ति होगी ऐसे हाथियोंसे सहित था ॥१५७॥ उस नगरके राजा सोमप्रभ और श्रेयान्स थे। उन दोनों भाइयोंने उसी रातमें चन्द्रमा, इन्द्रकी ध्वजा, मेरु पर्वत, बिजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और पुरुषोत्तम भगवान् ऋषभदेव ये आठ स्वप्न देखे ॥१५८-१५९॥ प्रातःकाल दोनों भाई सभामें बैठे और आश्चर्यसे चकित हो विद्वत्समूहके साथ इन्हीं उत्तम स्वप्नोंके फलकी चर्चा करने लगे ॥१६०॥ विद्वानोंने उक्त स्वप्नोंका फल इस प्रकार बताया कि कुमुदबन्धु—चन्द्रमाके समान पृथिवीपर आनन्दको बहानेवाला तथा उत्कृष्ट कान्तिको धारण करनेवाला हमारा कोई बन्धु आज ही यहाँ आवेगा। वह उत्तम यश रूपी ध्वजाका धारक होगा, संसारमें समस्त कल्याणोंका पर्वत होगा, जगत्‌के मनोरथोंको पूर्ण करनेके लिए कल्पवृक्ष रूप होगा, बिजलीके समान क्षण-भर ही अपना शरीर दिखलानेवाला होगा, धर्मरूपी रत्नोंका महाद्वीप होगा और वैमानिक जगत्—स्वर्ग लोकसे च्युत हुआ होगा। भगवान् ऋषभदेवने जिस प्रकार स्वप्नमें दर्शन दिया है क्या आज वे स्वयं ही दर्शन देंगे—स्वयं यहाँ पधारेंगे। नगर तथा राजभवनकी जो शोभा है वह आज ही दिखाई दे रही है ऐसी शोभा पहले कभी नहीं दिखी। तथा दिशाओंकी निर्मलता भी शीघ्र ही कल्याणकी सूचना दे रही है ॥१६१-१६४॥ इस प्रकार स्वप्नोंका फल जानकर तथा भीतर और बाहर अनेक मनुष्योंको नियुक्तकर जिनेन्द्र भगवान्‌की चर्चा करते हुए दोनों समर्थ भाई जब तक बैठे तब तक मध्याह्न कालके फूँके हुए शङ्खका जोरदार शब्द हुआ। वह शंखका शब्द ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्र भगवान्‌का आगमन होनेवाला है—इस शुभ समाचारसे उन दोनोंको बढ़ा ही रहा हो ॥१६५-१६६॥ तदनन्तर दोनों भाई स्नानकर तैयार हुए और परि-

१. हस्तिनागपुरम्। २. -रिवोचितम् म०। ३. श्रीमानपि म०। ४. भूमौ म०। ५. कुरुवंशश्रेष्ठौ। ६. किन्तु म०।

मणिकुट्टिमभूमौ तावुपविष्टौ [1]भुजिं प्रति । सिद्धार्थस्तूर्णमागत्य दिष्ट्या वर्धयतीत्यसौ ॥१६८॥
[2]तितिक्षोः पृथिवीं यस्य सकराब्धिमेखलाम् । शिबिकोद्वाहिनोऽभू[3]वन् देवा वज्रधरादयः ॥१६९॥
भग्ने कच्छमहाकच्छपूर्वपुरुषमण्डले । बिभर्ति दुर्वहामेको वृषभो यस्तपोधुराम् ॥१७०॥
यत्कथामृततृप्तानां गोष्ठीषु विदुषां सदा । वर्तते युष्मदादीनां नाहारग्रहणे मतिः ॥१७१॥
प्राघूर्णिकोऽद्य सोऽस्माकमकस्माज्जगतां पतिः । क्षान्तिमैत्रीतपोलक्ष्मीसहायः समुपागतः ॥१७२॥
दिशा वैश्रवणस्यैव[4] प्रविश्य नगरीं विभुः । युगान्तरदृष्टिरास्थाय चान्द्रीं चर्यां यथोचिताम् ॥१७३॥
सम्भ्रान्त्यान्वितलोकस्य पादयोरर्घ्यदायिनः । स्तुतिभिर्वन्दनाभिश्च समन्तादुपसेवितः ॥१७४॥
[5]धाम धाम निजं धाम[6] प्रकिरन्निव शीतगुः । अस्मदीयतया नाथो निशान्ता[7]जिरमासवान् ॥१७५॥
इति सिद्धार्थवागर्थं ज्ञातोच्छ्रायससम्भ्रमौ । अभिजग्मतुरीशस्य ललाटे न्यस्तहस्तकौ ॥१७६॥
आगच्छ भर्तरादेशं प्रयच्छेति कृतध्वनी । चन्द्रार्काविव शैलेशमध्व[8]नीमं परीयतुः ॥१७७॥
पतित्वा पादयोस्तस्य सुखपृच्छापुरःसरौ । [9]आगतेमौ जिनो हेतुं ध्यायन्तावग्रतः स्थितौ ॥१७८॥
सोमप्रभस्य देवीभिर्लक्ष्मीमत्यकरोत् प्रिया । शशिरेखेव ताराभिर्गिरीशं तं प्रदक्षिणम् ॥१७९॥
स श्रेयानीक्षमाणस्तं निमेषरहितेक्षणः । रूपमीदृक्षमद्राक्षं क्वचित् प्रागित्यधान्मनः ॥१८०॥

जनोंने उनके लिए दिव्य आहारसे मनोहर उत्तम भोजनकी विधि की—भोजनसे थालियाँ सजायीं। मणिमय फर्शके ऊपर दोनों भाई भोजनके लिए बैठे ही थे कि उसी समय सिद्धार्थ नामका द्वारपाल शीघ्रतासे आकर इस हर्षवर्धक समाचारसे उन्हें वृद्धिंगत करने लगा ॥१६७–१६८॥ कि समुद्रान्त पृथिवीका त्याग करते समय इन्द्रादिक देव जिनकी पालकीके उठानेवाले थे। कच्छ, महाकच्छ आदि पूर्व पुरुषोंके भ्रष्ट हो जानेपर जो अकेले ही तपके दुर्धर भारको धारण कर रहे हैं, सभा-गोष्ठियोंमें आप जैसे विद्वान् जिनकी कथा रूपी अमृतसे सन्तुष्ट होकर आहार ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रखते और जो क्षमा, मैत्री तथा तप रूपी लक्ष्मीसे सहित हैं, वे त्रिलोकी नाथ भगवान् वृषभदेव आज अकस्मात् हमारे अतिथि बनकर आये हुए हैं ॥१६९–१७२॥ वे प्रभु उत्तर दिशासे ही नगरमें प्रवेशकर पधार रहे हैं, यथायोग्य ※ चान्द्रीचर्याका नियम लेकर जूड़ा प्रमाण दृष्टिसे विहार कर रहे हैं, हड़बड़ाहटसे युक्त मनुष्य उनके चरणोंमें अर्घ दे रहे हैं तथा स्तुति और वन्दनाके द्वारा उनकी सब ओरसे सेवा कर रहे हैं, वे चन्द्रमाके समान प्रत्येक घरमें अपना तेज बिखेरते हुए अपना समक्ष अन्तःपुरके आँगनमें आ पहुँचे हैं ॥१७३–१७५॥

इस प्रकार सिद्धार्थके वचनोंका तात्पर्य समझ हर्षसे भरे हुए दोनों भाई, हाथ जोड़ ललाटपर धारणकर भगवान्के सामने गये ॥१७६॥ हे स्वामिन्! आइए आज्ञा दीजिए, यह कहते हुए दोनों भाइयोंने जिस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य सुमेरुकी प्रदक्षिणा देते हैं उसी प्रकार मार्गमें भगवान्की प्रदक्षिणा दी ॥१७७॥ तदनन्तर चरणोंमें पड़कर (नमस्कार कर) सुख-समाचार पूछते हुए दोनों भाई आगे खड़े हो गये। उस समय वे मौनके धारक भगवान्के आगमनका कारण विचार रहे थे ॥१७८॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी रेखा ताराओंके साथ सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा देती है, उसी प्रकार राजा सोमप्रभकी रानी लक्ष्मीमतीने अन्य अनेक रानियोंके साथ भगवान्की प्रदक्षिणा दी ॥१७९॥ उसी समय टिमकार रहित नेत्रोंसे भगवान्की ओर देखते हुए श्रेयान्सके

१. भुजं म० । २. त्यक्तुमिच्छोः । ३. वाहनो भूवन् म० । ४. वैश्रवणस्येव म० । ५. गृहं गृहं प्रति । ६. तेजः । ७. भवनाङ्गणं । ८ अध्वनि मार्गे; इमं भगवन्तं । ९. आगतो म० ।

※ जिस प्रकार चन्द्रमा छोटे-बड़े सभीके घरपर अपना प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जिसमें अतिथि छोटे-बड़े सभीके घरपर जाता है, उसे चान्द्रीचर्या कहते हैं।

दीप्रेणाप्युपशान्तेन स तद्रूपेण बोधितः । [1]दशात्मेशभवान् बुद्ध्वा पादावाश्रित्य मूर्च्छितः ॥१८१॥
मूर्च्छितेनापि तत्पादौ प्रमृज्य मृदुमूर्धजैः । [2]अध्वश्रमच्छिदा धौतौ सोष्णानन्दाश्रुधारया ॥१८२॥
श्रीमतीवज्रजङ्घाभ्यां दत्तं दानं पुरा यथा । चारणाभ्यां स्वपुत्राभ्यां संस्मृत्य जिनदर्शनात् ॥१८३॥
भगवन् ! तिष्ठ तिष्ठेति चोक्त्वा नीतो गृहान्तरे । उच्चैः स [3]चासने स्थाप्य धौततत्पादपङ्कजः ॥१८४॥
[4]तच्चरणपूजनं कृत्वा प्रणतिं च त्रिधा तथा । दानधर्मविधेर्बोद्धा विधाता स्वयमेव सः ॥१८५॥
श्रद्धादिगुणसम्पूर्णः पात्रे सम्पूर्णलक्षणे । दित्सुरिक्षुरसापूर्णं कुम्भमुद्धृत्य सोऽब्रवीत् ॥१८६॥
षोडशोद्गमदोषैश्च षोडशोत्पादनिश्रितैः । दशभिश्चैषणादोषैर्विशुद्धमपरैस्तथा ॥१८७॥
धूमाङ्गारप्रमाणाख्यैः संयोजनयुतैः प्रभो । मुक्तं दायकदोषैश्च गृहाण प्रासुकं रसम् ॥१८८॥
वृत्तवृद्ध्यै विशुद्धात्मा पाणिपात्रेण पारणम् । समपादस्थितश्चक्रे दर्शयन् क्रियया विधिम् ॥१८९॥
श्रेयसि श्रेयसा पात्रे प्रतिलब्धे जिनेश्वरे । पञ्चाश्चर्यविशुद्धिभ्यः पञ्चाश्चर्याणि जज्ञिरे ॥१९०॥
अहो दानमहो दानमहो पात्रमहो क्रमः । साधु साध्विति खे नादः प्रादुरासीद्दिवौकसाम् ॥१९१॥
नेदुरम्बुदनिर्घोषाः सुरदुन्दुभयोऽम्बरे । दानतीर्थकरोत्पत्तिं घोषयन्तो जगत्त्रये ॥१९२॥
श्रेयोदानयशोराशिपूर्णदिग्वनिताननैः । प्रोद्गीर्ण इव निःश्वाससुरभिः पवनो ववौ ॥१९३॥
पपात सुमनोवृष्टिरमान्तीवाङ्गनिर्गता । श्रेयसः सुमनोवृत्तिरमान्तीव दिवः पुनः ॥१९४॥

मनमें यह विचार आया कि ऐसा रूप तो मैंने पहले कहीं देखा है ॥१८०॥ भगवान्‌के देदीप्यमान होनेपर भी उपशान्त रूपसे प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। श्रेयान्स अपने तथा भगवान्‌के दश पूर्व भवों-को जान गया और उनके चरणोंके समीप आकर मूर्च्छित हो गया ॥१८१॥ मूर्च्छित होनेपर भी श्रेयान्सने अपने शिरके कोमल-बालोंसे भगवान्‌के चरण पोंछे और मार्गका श्रम दूर करनेके लिए आनन्दजन्य गरम-गरम आँसुओंकी धारासे धोये ॥१८२॥ श्रीमती और वज्रजंघने पहले चारण ऋद्धिके धारक अपने दो पुत्रोंके लिए जिस विधिसे दान दिया था वह सब विधि भगवान्‌का दर्शन करते ही श्रेयान्सकी स्मृतिमें आ गई ॥१८३॥

तदनन्तर दान-धर्मकी विधिका ज्ञाता और उसकी स्वयं प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयान्स श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त हो हे भगवन् ! तिष्ठ-तिष्ठ—ठहरिए-ठहरिए यह कहकर भगवान्‌को घर-के भीतर ले गया, वहाँ उच्चासनपर विराजमानकर उसने उनके चरण-कमल धोये, उनके चरणोंकी पूजा करके उन्हें मन, वचन, कायसे नमस्कार किया फिर संपूर्ण लक्षणोंसे युक्त पात्रके लिए देने-की इच्छासे उसने इक्षुरससे भरा हुआ कलश उठाकर कहा कि प्रभो ! यह इक्षुरस सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष तथा धूम-अङ्गार प्रमाण और संयोजना इन चार दाता सम्बन्धी दोषोंसे रहित एवं प्रासुक है, इसे ग्रहण कीजिए ॥१८४–१८८॥ तदनन्तर जिनकी आत्मा विशुद्ध थी और जो पैरोंको सीधाकर खड़े थे ऐसे भगवान् वृषभदेवने क्रियासे आहारकी विधि दिखाते हुए चारित्रकी वृद्धिके लिए पारणा की ॥१८९॥ राजा श्रेयान्सने कल्याणकारी श्रीजिनेन्द्र-रूपी पात्र प्राप्त किये इसलिए पाँच प्रकारकी आश्चर्यजनक विशुद्धियोंसे पञ्चाश्चर्य प्रकट हुए ॥१९०॥ 'अहो दान, अहो दान, अहो पात्र, अहो दान देनेकी पद्धति, धन्य-धन्य,' इस प्रकार आकाशमें देवोंके शब्द हुए ॥१९१॥ आकाशमें मेघोंके समान शब्द करनेवाले देव-दुन्दुभि बजने लगे। वे दुन्दुभि तीनों जगत्‌में मानो इस नामकी घोषणा ही कर रहे थे कि दानरूपी तीर्थको चलानेवालेकी उत्पत्ति हो चुकी है ॥१९२॥ राजा श्रेयान्सके दानसे उत्पन्न यशकी राशिसे पूर्ण दिशारूपी स्त्रियोंके मुखसे प्रकट हुए श्वासोच्छ्वासके समान सुगन्धित वायु बहने लगी ॥१९३॥ उस समय आकाशमें न समा सकनेके कारण ही मानो सुमन (पुष्पों) की वर्षा होने लगी थी

१. आत्मनः ईशस्य च दश भवान् बुद्ध्वा । २. अध्वश्रम म० । ३. सदासने म० । ४. सर्वपुस्तके-ष्वित्थमेव पाठः किन्त्वत्र पादे नवाक्षरत्वात् छन्दोभङ्गो भवति 'तत्पादपूजनं कृत्वा' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ।

श्रेयसा पात्रनिक्षिप्तपुण्ड्रेक्षुरसधारया । स्पर्धयेव सुरैः सृष्टा वसुधाराऽपतद्दिवः ॥१९५॥
अभ्यर्चिते तपोवृद्ध्यै धर्मतीर्थंकरे गते । दानतीर्थंकरं देवाः साभिषेकमपूजयन् ॥१९६॥
श्रुत्वा देवनिकायेभ्यः सद्दानफलघोषणम् । समेत्य पूजयन्ति स्म श्रेयांसं भरतादयः ॥१९७॥
इतिहासमनुस्मृत्य दानधर्मविधिं ततः । शुश्रुवुः श्रद्धया युक्ताः प्रत्यक्षफलदर्शिनः ॥१९८॥
प्रतिग्रहोऽतिथेरुच्चैःस्थानस्थापनमन्यतः । पादप्रक्षालनं दात्रा पूजनं प्रणतिस्ततः ॥१९९॥
मनोवचनकायानामेषणायाश्च शुद्धयः । प्रकारा नव विज्ञेया दानपुण्यस्य सङ्ग्रहे ॥२००॥
पुण्यमित्थमुपात्तं यत् तदभ्युदयलक्षणम् । [1]दत्त्वा दातुः फलं दत्ते प्राग् निश्रेयसलक्षणम् ॥२०१॥
इतिश्रुतयथातत्त्वा श्रेयांसमभिनन्द्य ते । दानधर्मोद्यतस्वान्ता नृपा याता यथागतम्[2] ॥२०२॥
सहस्रवर्षं वृषभो चतुर्ज्ञानचतुर्मुखः । चक्रे मोक्षार्थबोधार्थं तपो नानाविधं स्वयम् ॥२०३॥
सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुर्जिष्णुराबभौ । रूढप्ररोहशाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः ॥२०४॥
अन्यदा विहरन् प्राप्तः पूर्वतालपुरं पुरम् । राजा वृषभसेनाख्यो यत्रास्ते भरतानुजः ॥२०५॥
तत्रोद्यानं महोद्योगः शकटास्यभिधानकम् । ध्यानयोगमथासाद्य स न्यग्रोधतरोरधः ॥२०६॥
उपविष्टः शिलापट्टे पर्यङ्कासनबन्धनः । वशस्थकरणग्रामः शुक्लध्यानासिधारया ॥२०७॥
आरूढः क्षपकश्रेणिं रणक्षोणीं क्षणेन सः । महोत्साहगजारूढो मोहराजमपासयत् ॥२०८॥

और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो राजा श्रेयान्सकी सुमनोवृत्ति—पवित्र मनका व्यापार ही भीतर न समा सकनेके कारण शरीरसे बाहर निकल रहा हो ॥१९४॥ राजा श्रेयान्सने पात्रके लिए जो इक्षुरसकी धारा दी थी उसके साथ ईर्ष्या होनेके कारण ही मानो आकाशसे देवकृत रत्नोंकी धारा नीचे पड़ने लगी ॥१९५॥ पूजा होनेके बाद जब धर्म तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव तपकी वृद्धिके लिए वनको चले गये तब देवोंने अभिषेक पूर्वक दान तीर्थकर—राजा श्रेयान्सकी पूजा की ॥१९६॥ देवोंसे समीचीन दान और उसके फलकी घोषणा सुन भरतादि राजाओंने भी आकर राजा श्रेयान्सको पूजा की ॥१९७॥ इतिहास—पूर्व घटनाका स्मरणकर राजा श्रेयान्सने जो दान-रूपी धर्मकी विधि चलाई थी उसे दानका प्रत्यक्ष फल देखनेवाले भरत आदि राजाओंने बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण किया ॥१९८॥ राजा श्रेयान्सने बताया कि दान सम्बन्धी पुण्यका संग्रह करने-के लिए १ अतिथिको पड़गाहना, २ उच्च स्थानपर बैठाना, ३ पाद-प्रक्षालन करना, ४ दाता द्वारा अतिथिकी पूजा होना, ५ नमस्कार करना, ६ मनः-शुद्धि, ७ वचन-शुद्धि, ८ काय-शुद्धि और ९ आहार-शुद्धि बोलना ये नौ प्रकार जाननेके योग्य हैं ॥१९९–२००॥ दानका फल बताते हुए राजा श्रेयान्सने कहा कि इस तरह दान देनेसे जो पुण्य संचित होता है वह दाताके लिए पहले स्वर्गादि रूप फल देकर अन्तमें मोक्षरूपी फल देता है ॥२०१॥ इस तरह यथार्थ बातको सुनकर जिनके चित्त दानरूपी धर्मके लिए उद्यत हो रहे थे ऐसे भरत आदि राजा जैसे आये थे वैसे चले गये ॥२०२॥ चार ज्ञानरूपी चार मुखोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवने स्वयं मोक्ष तत्त्व-का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिए एक हजार वर्ष तक नाना प्रकारका तप किया ॥२०३॥ लम्बी-लम्बी जटाओंके भारसे सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय जिसकी शाखाओंसे पाये लटक रहे थे ऐसे वट-वृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२०४॥

अथानन्तर किसी समय विहार करते हुए भगवान्, पूर्वतालपुर नामक उस नगरमें पहुँचे जहाँ कि भरतका छोटा भाई राजा वृषभसेन रहता था ॥२०५॥ वहाँ वे शकटास्य नामक उद्यान-में बड़ी तत्परताके साथ ध्यान धारण कर वटवृक्षके नीचे एक शिलापर पर्यङ्कासनसे विराजमान हो गये। उस समय उन्होंने शुक्ल ध्यानरूपी तलवारकी धारसे इन्द्रियोंके समूहको अपने वश कर लिया था ॥२०६–२०७॥ उन्होंने क्षपक श्रेणिरूपी रणभूमिमें प्रवेशकर महोत्साह रूपी हाथी-

१. दत्वा तु यत्फलं भुक्तं म० । २. यथाक्रमम् म० ।

ज्ञानावरणशत्रुं च दर्शनावरणद्विषम् । अन्तरायरिपुं चैव जघान युगपत् प्रभुः ॥२०९॥
चतुर्घातिक्षयात्तस्य केवलज्ञानमुद्गतम् । समस्तद्रव्यपर्यायलोकालोकावलोकनम् ॥२१०॥
चतुर्देवनिकायाश्च पूर्ववत् समुपागताः । सेन्द्राः नेमुर्जिनेन्द्रं तं गायन्तः कर्मणां जयम् ॥२११॥
प्रातिहार्यैस्ततोऽष्टाभिर्जिनेन्द्रस्तत्क्षणोद्भवैः । स चतुस्त्रिंशद्विशेषैरशेषैः सहितो बभौ ॥२१२॥
पुत्रचक्रसमुत्पत्त्या जिनकेवलजन्मना । दिष्ट्याभिवर्धितो यातो भरतो वन्दितुं विभुम् ॥२१३॥
[1]सम्प्राप्तः कुरुभोजाद्यैश्चतुरङ्गबलावृतः । आर्हन्त्यविभवोपेतमभ्यर्च्य प्रणनाम तम् ॥२१४॥
नृपैर्वृषभसेनस्तं बहुभिर्वृषभं श्रितः । संयमं प्रतिपद्याभूत् गणभृत् प्रथमः प्रभोः ॥२१५॥
लक्ष्मीमत्यात्मजं राज्ये जयमाधायाथ सानुजम् । प्रव्रज्यां प्रतिपन्नौ तौ श्रेयःसोमप्रभौ नृपौ ॥२१६॥
ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसङ्गते । प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते ॥२१७॥
आर्हन्त्यैश्वर्यमालोक्य वृषभस्य जिनस्य यत् । सम्यक्त्वव्रतसंयुक्तं यथायोगमभूत्तदा ॥२१८॥
इन्द्रनीलनिभान् केशान् पद्मरागमयैः करैः । उद्धरन्तः स्वयं रेजुः स्त्रीपुंसोऽरागिणस्ततः ॥२१९॥
तदा प्रव्रजतां तेषां नापेक्षाभून्मनस्विनाम् । केशेष्विव शरीरेषु मृदुस्निग्धघनेष्वपि ॥२२०॥
ततश्चतुर्विधे सङ्घे निकाये च दिवौकसाम् । शरणे सम[2]वाये च जाते द्वादशयोजने ॥२२१॥
महाप्रभावसम्पन्नास्तत्र शासनदेवताः । नेमुश्चाप्रतिचक्राद्या वृषभं धर्मचक्रिणम् ॥२२२॥

पर सवार हो क्षणभरमें मोहरूपी राजाको नीचे गिरा दिया ॥२०८॥ और उसके बाद ही एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन शत्रुओंको भी नष्ट कर दिया ॥२०९॥ इस तरह चार घातिया कर्मोंके क्षयसे उन्हें समस्त द्रव्य पर्याय तथा लोक अलोकको दिखानेवाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥२१०॥ पूर्वकी भाँति इन्द्रों सहित चारों निकायोंके देवोंने आकर जिनेन्द्र देवको नमस्कार किया। उस समय समस्त देव भगवान्‌ने कर्म शत्रुओंपर जो विजय प्राप्त की थी उसका गुणगान कर रहे थे ॥२११॥ तदनन्तर तत्क्षणमें उत्पन्न हुए आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयोंसे सहित भगवान् अत्यधिक सुशोभित होने लगे ॥२१२॥ उसी समय भरतको पुत्रकी उत्पत्ति, चक्ररत्नकी प्राप्ति और भगवान्‌को केवलज्ञानका लाभ ये तीन समाचार एक साथ मिले। इस भाग्यवृद्धिसे प्रसन्न होता हुआ भरत सर्वप्रथम भगवान्‌की वन्दना करनेके लिए चला ॥२१३॥ कुरुवंशी तथा भोजवंशी आदि राजाओंके साथ चतुरङ्ग सेनासे आवृत भरतने जाकर अरहन्त सम्बन्धी विभूतिसे युक्त भगवान्‌की पूजाकर उन्हें प्रणाम किया ॥२१४॥ उसी समय अनेक राजाओंके साथ राजा वृषभसेन भगवान्‌के पास गया और संयम धारणकर उनका प्रथम गणधर हो गया ॥२१५॥ लक्ष्मीमतीके पुत्र जयकुमार तथा उसके छोटे भाईको राज्यकार्यमें नियुक्तकर राजा श्रेयान्स और सोमप्रभने भी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६॥ धैर्यसे युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियोंके साथ दीक्षा ले आर्यिकाओंकी स्वामिनी बन गईं ॥२१७॥ वृषभ जिनेन्द्रके अर्हन्त सम्बन्धी वैभवको देखकर अन्य लोग भी उस समय यथायोग्य सम्यग्दर्शन तथा श्रावकोंके व्रतसे युक्त हुए थे ॥२१८॥ उस समय रागरहित स्त्री-पुरुष, पद्मराग मणियोंके समान अपने लाल-लाल हाथोंसे इन्द्रनील मणिके समान काले-काले केशोंको स्वयं उखाड़ते हुए अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥२१९॥ उस समय दीक्षा लेनेवाले धैर्यशाली मनुष्योंका जिस प्रकार कोमल, चिकने और सघन बालोंमें स्नेह नहीं था उसी प्रकार अपने शरीरोंमें भी उनका स्नेह नहीं था ॥२२०॥ तदनन्तर बारह योजन विस्तारवाले समवशरणकी रचना हुई, उसमें चतुर्विध संघ और चार निकायके देव यथास्थान आसीन हुए ॥२२१॥ उस समवसरणमें महाप्रभावसे सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता, धर्मचक्रके धारक भगवान् वृषभदेवको निरन्तर नमस्कार करते

१. सम्प्राप्तकुरु म० । २. समवाये म० ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

तस्थुर्दक्षिणतो जिनस्य मुनयः कल्पाङ्गनाश्चार्यिकाः
ज्योतिर्व्यन्तरभावनामरवधूवर्गाः क्रमेणैव हि ।
भूयोभावनभौमदेव[1]निवहा ज्योतिष्ककल्पाः नृपाः
तिर्यञ्चश्च पृथक् पृथक् पृथुनिजस्थाने गणा द्वादश ॥२२३॥
त्रैलोक्ये जिनशासनोरुपदवीशुश्रूषयावस्थिते
सम्पृष्टः प्रथमेन तत्र गणिना विश्वार्थविद्योतनः ।
भूयोभेदविवृत्तयाधरपरिस्पन्दोज्झितस्वात्मना[2]
मोहध्वान्तमपाकरोदथ जिनो भानुः स्वभाषाश्रिया ॥२२४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ ऋषभनाथकैवल्योत्पत्तिवर्णनो नाम नवमः सर्गः ।

रहते थे ॥२२२॥ समवसरणमें बारह सभाएँ थीं उनमें भगवान्‌की दाहिनी ओरसे लेकर १ मुनि, २ कल्पवासिनी देवियाँ, ३ आर्यिकाएँ, ४ ज्योतिषीदेवोंकी देवियाँ, ५ व्यन्तर देवोंकी देवियाँ, ६ भवनवासी देवोंकी देवियाँ, ७ भवनवासी देव, ८ व्यन्तर देव, ९ ज्योतिषी देव, १० कल्पवासी देव, ११ मनुष्य और तिर्यञ्च ये बारह गण पृथक्-पृथक् अपने-अपने विस्तृत स्थानोंपर बैठे थे ॥२२३॥ अथानन्तर जब तीन लोकके जीव भगवान्‌का दिव्य उपदेश सुननेकी इच्छासे शान्तिपूर्वक बैठ गये तब प्रथम गणधरने समस्त पदार्थोंके प्रकाशित करनेवाले जिनेन्द्ररूपी सूर्यसे प्रश्न किया और उन्होंने नाना भेदोंमें परिवर्तित होनेवाली एवं ओठोंके परिस्पन्दसे रहित अपनी दिव्य ध्वनिरूपी लक्ष्मीके द्वारा मोहरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया ॥२२४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराण के संग्रहसे सहित जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें श्रीऋषभनाथ भगवान्‌की केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला नवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

---

१. भौम म० । २. परिस्पन्दोज्झितः स्वात्मना म०, परिस्पन्दोज्झितास्यात्मना क०, ङ० ।

दशमः सर्गः

धर्मं प्रवदता तेन तदा त्रैलोक्यसन्निधौ । धृतं वर्षसहस्रान्तं मौनमुद्योदितं दृढम् ॥१॥
संसारतरणं तीर्थं नाथे दर्शयति स्वयम् । ददर्श जगदत्यर्थं गम्भीरार्थमपि स्फुटम् ॥२॥
वागाद्यतिशयोद्योते द्योतयत्यर्थसम्पदम्[1] । जिनेन्द्रद्युमणौ को वा मिथ्यान्धतमसं भजेत् ॥३॥
जिनेन्द्रोऽथ जगौ धर्मः कार्यः सर्वसुखाकरः । प्राणिभिः सर्वयत्नेन स्थितः प्राणिदयादिषु ॥४॥
सुखं देवनिकायेषु मानुषेषु च यत्सुखम् । इन्द्रियार्थसमुद्भूतं तत्सर्वं धर्मसम्भवम् ॥५॥
कर्मक्षयसमुद्भूतमपवर्गसुखं च यत् । आत्माधीनमनन्तं तद् धर्मादेवोपजायते ॥६॥
दया सत्यमथाऽस्तेयं ब्रह्मचर्यममूर्च्छता । सूक्ष्मतो यतिधर्मः स्यात्स्थूलतो गृहमेधिनाम् ॥७॥
दानपूजातपःशीललक्षणश्च चतुर्विधः । त्यागजश्चैव शारीरो धर्मो गृहनिषेविणाम् ॥८॥
सम्यग्दर्शनमूलोऽयं महर्द्धिकसुरश्रियम् । ददाति यतिधर्मस्तु पुष्टो मोक्षसुखप्रदः ॥९॥
स्वर्गापवर्गमूलस्य सद्धर्मस्येह लक्षणम् । श्रुतज्ञानाद्विनिश्चेयमर्वाग्दर्शिभिरर्थिभिः ॥१०॥
द्वादशाङ्गं श्रुतज्ञानं द्रव्यभावभिदाश्रितम्[2] । आप्ताभिव्यङ्ग्यमाप्तश्च निर्दोषावरणो[3] मतः ॥११॥

उस समय त्रिलोकवर्ती जीवोंके सन्निधानमें धर्मका उपदेश देते हुए भगवान्‌ने एक हजार वर्ष तक दृढ़तापूर्वक धारण किया हुआ मौन खोला ॥१॥ श्री आदि जिनेन्द्र स्वयं ही संसार-सागरमें पार करनेवाला तीर्थ दिखला रहे थे, इसलिए संसारके समस्त जीव अतिशय गूढ़ अर्थको भी सरलतासे देख रहे थे। भावार्थ—यद्यपि दिव्यध्वनिमें प्रतिपादित पदार्थ अत्यन्त गम्भीर था फिर भी वक्ताके प्रभावसे लोग उसे सरलतासे समझ रहे थे ॥२॥ उस समय जब कि वचन आदिके अतिशयोंसे प्रकाशमान जिनेन्द्ररूपी सूर्य स्वयं पदार्थोंको प्रकाशित कर रहे थे तब कौन मनुष्य मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको प्राप्त हो सकता था? अर्थात् कोई नहीं ॥३॥

अथानन्तर जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा कि समस्त प्राणियोंको जीव-दया आदि कार्योंमें स्थित धर्म पूर्ण प्रयत्नसे करना चाहिए क्योंकि धर्म ही समस्त सुखोंकी खान है ॥४॥ चार निकायके देवों और मनुष्योंमें इन्द्रिय विषयजन्य जो सुख दिखाई देता है वह सब धर्मसे ही उत्पन्न हुआ है ॥५॥ और कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न, स्वाधीन तथा अन्तसे रहित जो मोक्षसम्बन्धी सुख है वह भी धर्मसे ही उत्पन्न होता है ॥६॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सूक्ष्म रीतिसे धारण किये जावें तो मुनिका धर्म है और स्थूल रीतिसे धारण किये जावें तो गृहस्थका धर्म है ॥७॥ दान, पूजा, तप और शील यह गृहस्थका चार प्रकारका शारीरिक धर्म है—शरीरसे करने योग्य है। गृहस्थका यह चतुर्विध धर्म-त्यागसे ही उत्पन्न होता है ॥८॥ सम्यग्दर्शन जिसकी जड़ है ऐसा यह गृहस्थका धर्म महर्द्धिक देवोंकी लक्ष्मी प्रदान करता है और पूर्णतासे पालन किया हुआ मुनिधर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है ॥९॥ जो मात्र अर्वाचीन बातको ही देख सकते हैं ऐसे हिताभिलाषी मनुष्योंको (छद्मस्थ जीवोंको) स्वर्ग और मोक्षके मूल भूत समीचीन धर्मका लक्षण श्रुतज्ञानके द्वारा जानना चाहिए भावार्थ—अल्पज्ञानी मनुष्य द्वादशाङ्गके सहारे ही धर्मका लक्षण समझ सकते हैं, इसलिए यहाँ द्वादशाङ्गका वर्णन करना उचित है ॥१०॥ द्रव्यश्रुत और भावश्रुतके भेदको प्राप्त हुआ द्वादशाङ्ग

१. सम्पदां म०, ख०, ङ० । २. सृतं म० । ३. निर्दोषाचरणो म० ।

श्रुतं च स्वसमासेन पर्यायोऽक्षरमेव च । पदं चैव हि सङ्घातः प्रतिपत्तिरतः परम् ॥१२॥
अनुयोगयुतं द्वारैः प्राभृतप्राभृतं ततः । प्राभृतं वस्तु पूर्वं च भेदान् विंशतिमाश्रितम्[1] ॥१३॥
श्रुतज्ञानविकल्पः स्यादेकह्रस्वाक्षरात्मकः । अनन्तानन्तभेदाणुपुद्गलस्कन्धसञ्चयः ॥१४॥
अनन्तानन्तभागैस्तु भिद्यमानस्य तस्य च । भागः पर्याय इत्युक्तः श्रुतभेदो ह्यनक्षरः ॥१५॥
सोऽपि सूक्ष्मनिगोदस्याऽलब्धपर्याप्तदेहिनः । सम्भवी सर्वथा तावान् श्रुतावरणवर्जितः ॥१६॥
सर्वस्यैव हि जीवस्य तावन्मात्रस्य नावृतिः । आवृतौ तु न जीवः स्यादुपयोगवियोगतः ॥१७॥
जीवोपयोगशक्तेश्च न विनाशः सयुक्तिकः । स्यादेवाभ्ररोधेऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा ॥१८॥
पर्यायानन्तभागेन पर्यायो युज्यते यदा । स पर्यायसमासः स्यात् श्रुतभेदो हि सावृतिः ॥१९॥
अनन्तासङ्ख्यसङ्ख्येयभागवृद्धित्रयान्वितः । सङ्ख्येयासङ्ख्यकानन्तगुणवृद्धिक्रमेण च ॥२०॥
स्यात्पर्यायसमासोऽसौ यावदक्षरपूर्णता । एकैकाक्षरवृद्ध्या स्यात् तत्समासः पदावधिः ॥२१॥
पदमर्थपदं ज्ञेयं प्रमाणपदमित्यपि । मध्यमं पदमित्येवं त्रिविधं तु पदं स्थितम् ॥२२॥
[2]एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताक्षरमर्थवत् । पदमाद्यं द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम् ॥२३॥

श्रुतज्ञान आप्तके द्वारा प्रकट होता है और आप्त वही माना गया है जो रागादिक दोष तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन आवरणोंसे रहित हो ॥११॥ श्रुतज्ञानके १ पर्याय, २ पर्याय-समास, ३ अक्षर, ४ अक्षर-समास, ५ पद, ६ पद-समास, ७ संघात, ८ संघात-समास, ९ प्रतिपत्ति, १० प्रतिपत्ति-समास, ११ अनुयोग, १२ अनुयोग-समास, १३ प्राभृत-प्राभृत, १४ प्राभृत-प्राभृत-समास, १५ प्राभृत, १६ प्राभृत-समास, १७ वस्तु, १८ वस्तु-समास, १९ पूर्व और २० पूर्व-समास—ये बीस भेद हैं ॥१२-१३॥ श्रुतज्ञानके अनेक विकल्पोंमें एक विकल्प एक ह्रस्व अक्षर रूप भी है। इस विकल्पमें द्रव्यकी अपेक्षा अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंसे निष्पन्न स्कन्धका सञ्चय होता है ॥१४॥ इस एक ह्रस्वाक्षररूप विकल्पके अनेक बार अनन्तानन्त भाग किये जावें तो उनमें एक भाग पर्याय नामका श्रुतज्ञान होता है ॥१५॥ वह पर्याय ज्ञान सूक्ष्म-निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवके होता है और श्रुतज्ञानावरणके आवरणसे रहित होता है ॥१६॥ सभी जीवोंके उतने ज्ञानके ऊपर कभी आवरण नहीं पड़ता। यदि उसपर भी आवरण पड़ जावे तो ज्ञानोपयोगका सर्वथा अभाव हो जायगा और ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका भी अभाव हो जायगा ॥१७॥ यह युक्तिसे सिद्ध है कि जीवकी उपयोग शक्तिका कभी विनाश नहीं होता। जिस प्रकार कि मेघका आवरण होनेपर भी सूर्य और चन्द्रमाकी प्रभा कुछ अंशोंमें प्रकट रही आती है उसी प्रकार श्रुतज्ञानका आवरण होनेपर भी पर्याय नामका ज्ञान प्रकट रहा आता है ॥१८॥ जब यही पर्यायज्ञान पर्याय ज्ञानके अनन्तवें भागके साथ मिल जाता है तब वह पर्याय-समास नामका श्रुतज्ञान कहलाने लगता है। यह श्रुतज्ञान आवरणसे सहित होता है अर्थात् जब तक पर्याय-समास नामक श्रुतज्ञानावरणका उदय रहता है तब तक प्रकट नहीं होता उसका क्षयोपशम होनेपर ही प्रकट होता है ॥१९॥ यह पर्याय-समास-ज्ञान अनन्तभागवृद्धि, असंख्यभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि तथा अनन्तभागहानि, असंख्यात-भागहानि एवं संख्यातभागहानिसे सहित हैं। पर्यायज्ञानके ऊपर संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यात-गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते-होते जब तक अक्षरज्ञानकी पूर्णता होती है तब तकका ज्ञान पर्याय-समासज्ञान कहलाता है। उसके बाद अक्षरज्ञान प्रारम्भ होता है उसके ऊपर पदज्ञान तक एक-एक अक्षरकी वृद्धि होती है। इस वृद्धि प्राप्त ज्ञानको अक्षर-समास ज्ञान कहते हैं। अक्षर-समासके बाद पदज्ञान होता है ॥२०-२१॥ अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यम-पदके भेदसे पद तीन प्रकारका है ॥२२॥ इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात अक्षर-

---

१. मासृतं म० । २. एकं म०, क० ।

कोट्यश्चैव चतुस्त्रिंशत् तच्छतान्यपि षोडश । त्र्यशीतिश्च पुनर्लक्षाः शतान्यष्टौ च सप्ततिः ॥२४॥
अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युर्मध्यमे तु पदे स्थिताः । पूर्वाङ्गपदसङ्ख्या स्यान्मध्यमेन पदेन सा ॥२५॥
एकैकाक्षरवृद्ध्या तु तत्समासनिरुक्ततः । इत्थं पूर्वसमासान्तं द्वादशाङ्गं श्रुतं स्थितम् ॥२६॥
अष्टादशसहस्राणां पदानां सङ्ख्यया युतम् । तत्राचाराङ्गमाचारं साधूनां वर्णयत्यलम् ॥२७॥
षट्त्रिंशत्सहस्रैस्तु पदैः सूत्रकृतं युतम् । परस्वसमयार्थानां वर्णकं तद् विशेषतः ॥२८॥
चत्वारिंशत्सहस्रैश्च द्विसहस्रैः पदैर्युतम् । स्थानं स्थानान्तरं जन्तोर्वक्त्येकादिदशोत्तरम् ॥२९॥
चतुःषष्टिसहस्रैर्लक्षपदैश्च पदलक्षया । कथितं समवायाङ्गं वक्ति द्रव्यादितुल्यताम् ॥३०॥
धर्माधर्मैकजीवानां लोकाकाशस्य वा यथा । प्रदेशा द्रव्यतस्तुल्याः समवायेन वर्णिताः ॥३१॥
सिद्धिसीमन्तकर्त्वाख्यं[1] विमानं नरलोकजम् । प्रमाणं सममित्युक्तं तत्रैव क्षेत्रतस्तथा ॥३२॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालतः समतोदिता । भावतोऽनन्तयोस्तत्र ज्ञानदर्शनयोरपि ॥३३॥
पदानां तु सहस्राणि यत्राष्टाविंशतिस्तथा । लक्षयोर्द्वयमाख्यातं व्याख्याप्रज्ञप्तिसंज्ञके ॥३४॥
तत्रोत्पथव्युदासेन विनयेन सविस्तरः । प्रश्नव्याख्यानभेदानां क्रमः समुपवर्ण्यते ॥३५॥

तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षररूप प्रमाणपद होता है और मध्यमपदमें सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं, और अङ्ग तथा पूर्वोंके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है ॥२३-२५॥ एक-एक अक्षरकी वृद्धिकर पद-समाससे लेकर पूर्व-समास पर्यन्त समस्त द्वादशाङ्ग श्रुत स्थित है ॥२६॥ उनमें पहला अङ्ग आचाराङ्ग है जो मुनियोंके आचारका अच्छी तरह वर्णन करता है और अठारह हजार पदोंसे सहित है ॥२७॥ दूसरा अङ्ग सूत्रकृताङ्ग है जो स्वसमय और परसमयका विशेष रूपसे वर्णन करता है तथा छत्तीस हजार पदोंसे सहित है ॥२८॥ तीसरा अङ्ग स्थानाङ्ग है जो जीवके एकसे लेकर दश तक स्थानोंका वर्णन करता है और बयालीस हजार पदोंसे सहित है। भावार्थ—स्थानाङ्गमें—जीवके एक केवलज्ञान, एक मोक्ष, एक आकाश, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य आदि। दो दर्शन, दो ज्ञान, दो राग-द्वेष आदि। तीन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रूप रत्नत्रय, माया, मिथ्या, निदान—तीन शल्य, जन्म जरा मरण—तीन दोष आदि। चार गति, चार कषाय, चार अनन्त चतुष्टय आदि। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच अस्तिकाय, पाँच कषाय आदि। छह द्रव्य, छह लेश्या, छह काय, छह आवश्यक आदि। सात तत्त्व, सात भय, सात व्यसन, सात नरक आदि। आठ कर्म, आठ गुण, आठ ऋद्धियाँ आदि, नौ पदार्थ, नौ नय, नौ शील आदि। तथा दश धर्म, दश परिग्रह, दशदिशा आदि। इस तरह सदृश संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन है ॥२९॥ चौथा अङ्ग समवायाङ्ग है यह एक लाख चौंसठ हजार पदोंसे सहित है तथा द्रव्य आदिकी तुल्यताका वर्णन करता है ॥३०॥ जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाशके प्रदेश एक बराबर हैं—असंख्यात-प्रदेशी हैं—यह द्रव्यकी अपेक्षा तुल्यता समवाय अङ्ग द्वारा वर्णित है ॥३१॥ सिद्धशिला, प्रथम नरकका सीमन्तक नामका इन्द्रक बिल, प्रथम स्वर्गका ऋतु-विमान और अढ़ाई द्वीप ये क्षेत्रसे समान हैं—पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाले हैं—यह क्षेत्रकी अपेक्षा समानता उसी समवायाङ्गमें कही गई है ॥३२॥ कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी समानता कही गई है अर्थात् दोनों दश-दश कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हैं और भावकी अपेक्षा केवलज्ञान तथा केवलदर्शनकी तुल्यता बतलाई गई है अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद हैं उसी प्रकार केवलदर्शनके भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं ॥३३॥ पाँचवाँ अङ्ग व्याख्या-प्रज्ञप्ति अङ्ग है उसमें पदोंकी संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है। इस अङ्गमें कुमार्गत्यागी

१. कर्त्वाख्यं म०।

षट्पञ्चाशत् सहस्राणि पञ्च लक्षाः पदानि तु । ज्ञातृधर्मकथाचष्टे जिनधर्मकथामृतम् ॥३६॥
यत्रैकादशलक्षाश्च सहस्राण्यपि सप्ततिः । पदान्युपासकास्तत्रोपासकाध्ययने स्मृताः ॥३७॥
त्रयोविंशतिलक्षाश्च सहस्राणि च विंशतिः । अष्टौ चैव सहस्राणि स्युः पदान्यन्तकृद्दशे ॥३८॥
दशोपसर्ग[1]जेतारः प्रतितीर्थं दशोदिताः । संसारान्तकृतस्तत्र मुनयो ह्यन्तकृद्दशे ॥३९॥
लक्षा द्वानवतिर्यत्र चत्वारिंशत्सहस्रकैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि पदान्यभिहितानि तु ॥४०॥
तत्रौपपादिके देशे वर्ण्यन्तेऽनुत्तरादिके । दशोपसर्गजयिनो दशानुत्तरगामिनः ॥४१॥
स्त्रीपुंनपुंसकैस्तिर्यग्नृसुरैरष्ट ते कृताः । शारीराचेतनत्वाभ्यामुपसर्गा दशोदिताः ॥४२॥
आक्षेपण्यादयो यत्र प्रश्नव्याकरणे कथाः । पदलक्षास्त्रिनवतिः सहस्राण्यत्र षोडश ॥४३॥
अङ्गं विपाकसूत्रं यद् विपाकं कर्मणोऽवदत् । कोटी चतुरशीतिश्च पदलक्षा इहोदिताः ॥४४॥
शतं कोटीभिरष्टाभिः सहाष्टाः षष्टिलक्षकाः । षट्पञ्चाशत्सहस्राणि पदानां पञ्च यत्र हि ॥४५॥
दृष्टिवादप्रमाणं स्यादेतत्तत्र सविस्तरम् । शतानि त्रीणि वर्ण्यन्ते त्रिषष्ट्याधिकदृष्टयः ॥४६॥
क्रियातश्चाक्रियातोऽन्या अज्ञानाद्विनयात्पराः । वदन्त्यो दृष्टयः सिद्धिं ताश्चतुर्धा व्यवस्थिताः ॥४७॥
सक्रियाः शतधाऽशीत्या चतस्रोऽशीतिरक्रियाः । अज्ञानात्सप्तषष्टिस्ता द्वात्रिंशद्विनयाश्रिताः ॥४८॥

गणधरादि शिष्योंके द्वारा विनय-पूर्वक केवलीसे किये गये अनेक प्रश्न तथा उनके उत्तरका विस्तारके साथ वर्णन है ॥३४-३५॥ छठवाँ अङ्ग ज्ञातृकथाङ्ग है यह जिनधर्मकी कथारूप अमृतका व्याख्यान करता है तथा इसमें पाँच लाख छप्पन हजार पद हैं ॥३६॥ सातवाँ अङ्ग उपासकाध्ययनाङ्ग है। श्रावकगण इसी अङ्गके आश्रित हैं अर्थात् श्रावकाचारका वर्णन इसी अङ्गमें है, इस अङ्गमें ग्यारह लाख सत्तरह हजार पद हैं ॥३७॥ आठवाँ अङ्ग अन्तकृद् दशाङ्ग है इसमें तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद हैं ॥३८॥ इसमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दश प्रकारके उपसर्गको जीतकर संसारका अन्त करनेवाले दश-दश मुनियोंका वर्णन है ॥३९॥ नौवाँ अङ्ग अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग है इसमें बानवे लाख चवालीस हजार पद कहे गये हैं। इस अङ्गमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें दश प्रकारके उपसर्ग जीतकर अनुत्तरादि विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोंका वर्णन है ॥४०-४१॥ स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेदसे तीन प्रकारके तिर्यञ्च, तीन प्रकारके मनुष्य एवं स्त्री और पुरुषके भेदसे दो प्रकारके देव इन आठ चेतनोंके द्वारा किये हुए आठ प्रकारके चेतनकृत, एक शारीरिक, कुष्टादिककी वेदनाकृत और एक अचेतनकृत—दीवाल आदिके गिरनेसे उत्पन्न सब मिलाकर दश प्रकारके उपसर्ग कहे गये हैं॥४२॥ दशवाँ अङ्ग प्रश्नव्याकरणाङ्ग है इसमें *आक्षेपिणी आदि कथाओंका वर्णन है तथा इसमें तिरानबे लाख सोलह हजार पद हैं ॥४३॥ ग्यारहवाँ अङ्ग विपाकसूत्राङ्ग है। यह अङ्ग ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके विपाक-फलका वर्णन करता है और इसमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं ॥४४॥ और बारहवाँ अङ्ग दृष्टिप्रवाद अङ्ग है इसमें पदोंकी संख्या एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच है ॥४५॥ इस अङ्गमें तीन सौ त्रेशठ दृष्टियोंका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है ॥४६॥ मूलमें १ क्रिया-दृष्टि, २ अक्रियादृष्टि, ३ अज्ञानदृष्टि और विनयदृष्टिके भेदसे दृष्टियाँ चार प्रकारकी हैं। ये दृष्टियाँ क्रमसे, क्रिया, अक्रिया, अज्ञान और विनयसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है, ऐसा निरूपण करती हैं ॥४७॥ इनमें क्रियावादी एक सौ अस्सी, अक्रियावादी चौरासी, अज्ञानवादी अड़सठ और विनय-

---

१. के ते दशोपसर्गाः ? तिर्यञ्चः स्त्रीपुंनपुंसकाः, नरः स्त्रीपुंनपुंसकाः, देवाः स्त्रीपुरुषाः इत्थं चेतनकृता अष्टौ शारीरिकं कुष्टव्याध्यादि, अचेतनं भित्तिपतनादिकम्–सर्वे दशविधा उपसर्गाः।

* १ आक्षेपिणी, २ विक्षेपिणी, ३ संवेदिनी और ४ निर्वेदिनीके भेदसे कथाएँ चार प्रकारकी हैं; जिसमें स्वमतका स्थापन होता है उसे आक्षेपिणी, जिसमें पर मतका खण्डन है उसे विक्षेपिणी, जिसमें धर्मके फलका वर्णन है उसे संवेदिनी और जिसमें वैराग्यका वर्णन है उसे निर्वेदिनी कथा कहते हैं॥

नियतिश्च स्वभावश्च कालो दैवं च पौरुषम् । पदार्था नव जीवाद्याः स्वपरौ नित्यतापरौ ॥४९॥
पञ्चभिर्नियतिपूर्वैश्चतुर्भिः स्वपरादिभिः । एकैकस्यात्र जीवादेर्योगेऽशीत्युत्तरं शतम् ॥५०॥
नियत्याऽस्ति स्वतो जीवः परतो नित्यतोऽन्यतः । स्वभावात्कालतो दैवात् पौरुषाच्च तथेतरे[1] ॥५१॥
सप्तजीवादितत्त्वानि स्वतश्च परतोऽपि च । प्रत्येकं पौरुषान्तेभ्यो न सन्तीति हि सप्ततिः[2] ॥५२॥
नियतेः कालतः स्वस्तत्वं तानीति चतुर्दश । सप्तत्या तत्समायोगेऽशीतिश्चतुरधिष्ठिताः ॥५३॥
पदार्थांश्च को वेत्ति सदाद्यैः सप्तभङ्गकैः । इत्या[3]ज्ञानिकसंदृष्ट्या त्रिषष्टिरुपचीयते ॥५४॥
सज्जीवभाववित्को वा को वाऽसज्जीवभाववित् । सदसज्जीवभावज्ञः कश्चावक्तव्यजीववित् ॥५५॥
सदवक्तव्यजीवज्ञोऽसदवक्तव्यविच्च कः । सदसत्तमवक्तव्यं को वा वेत्तीति यो जनः ॥५६॥
सद्भावोत्पत्तिविद् वा कोऽसद्भावोत्पत्तिविच्च कः । उभयोत्पत्तिवित्कश्चाऽवक्तव्योत्पत्तिविच्च कः ॥५७॥

वादी बत्तीस हैं ॥४८॥ नियति, स्वभाव, काल, दैव और पौरुष इन पाँचका स्वतः, परतः, नित्य और अनित्य इन चारके साथ गुणा करनेपर बीस भेद होते हैं और इन बीस भेदोंका जीवादि नौ पदार्थोंके साथ योग करनेपर क्रियावादियोंके एक सौ अस्सी भेद होते हैं। जैसे कोई मानता है कि जीव नियतिसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है। कोई मानता है कि जीव स्वभावसे स्वतः है; कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है। कोई मानता है कि जीव कालसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है, कोई मानता है कि नित्य है, कोई मानता है कि अनित्य है और कोई मानता है कि जीव दैवसे स्वतः है। कोई मानता है कि परतः है। कोई मानता है कि नित्य है और कोई मानता है कि अनित्य है। और कोई मानता है कि जीव पौरुषसे स्वतः है, कोई मानता है कि परतः है। कोई मानता है कि नित्य है और कोई मानता है कि अनित्य है। जिस प्रकार नियति आदिके कारण जीव पदार्थके बीस-बीस भङ्ग हैं उसी प्रकार अजीवादि पदार्थोंके भी बीस भङ्ग हैं। इस तरह क्रियावादियोंके सब मिल मिलाकर एक सौ अस्सी भेद होते हैं ॥४९-५१॥ जीवादि सात तत्त्व, नियति, स्वभाव, काल, दैव और पौरुषकी अपेक्षा न स्वतः हैं और न परतः हैं। इस तरह जीवादि सात तत्त्वोंमें नियति आदि पाँचका गुणा करनेपर पैंतीस और पैंतीसमें स्वतः, परतः इन दोका गुणा करनेपर सत्तर भेद हुए। पुनः जीवादि सात तत्त्व नियति और कालकी अपेक्षा नहीं हैं इसलिए सातमें दोका गुणा करनेपर चौदह भेद हुए। पूर्वोक्त सत्तर भेदोंके साथ इन चौदह भेदोंको मिला देनेपर अक्रियावादियोंके चौरासी भेद होते हैं ॥५२-५३॥ जीवादि नौ पदार्थोंको १ सत्, २ असत्, ३ उभय, ४ अवक्तव्य, ५ सद् अवक्तव्य, ६ असत् अवक्तव्य, और उभय अवक्तव्य इन नौ भङ्गोंसे कौन जानता है? इस प्रकार नौ पदार्थोंमें सात भङ्गोंका गुणा करनेपर आज्ञानिक मिथ्यादृष्टियोंके त्रेशठ भेद होते हैं ॥५४॥ जैसे १ कोई कहता है कि जीव सत् रूप है यह कौन जानता है? २ कोई कहता है कि जीव असद् रूप है यह कौन जानता है? ३ कोई कहता है कि जीव सत् असत्—उभय रूप है यह कौन जानता है? ४ कोई कहता है कि जी अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? ५ कोई कहता है कि जीव सद् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? ६ कोई कहता है कि जीव असद् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? और कोई कहता है कि जीव सत्-असत् अवक्तव्य रूप है यह कौन जानता है? इसी प्रकार अजीवादि पदार्थोंके साथ सात-सात भङ्गोंकी योजना करनेपर त्रेशठ भेद होते हैं। इन त्रेशठ भेदोंमें १ जीवकी सत् उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है? २ जीवकी असत्

---

१. तथोत्तरे म०, घ० । २. वसन्तीति हि सप्ततिः ख० । ३. इत्याद्यनेक-म० ।

भावमात्राभ्युपगमैर्विकल्पैरेभिराहृतैः । त्रिषष्टिः सप्तषष्टिः स्यादाज्ञानिकमतात्मिका ॥५८॥
विनयः खलु कर्तव्यो मनोवाक्कायदानतः । [१]पितृदेवनृपज्ञानिबालवृद्धतपस्विषु ॥५९॥
मनोवाक्कायदानानां मात्राद्यष्टकयोगतः । द्वात्रिंशत्परिसंख्याता वैनयिक्यो हि दृष्टयः ॥६०॥
इत्येवं वदतो दृष्टिं दृष्टिवादस्य पञ्च ते । परिकर्मादयो भेदाश्चूलिकान्ता व्यवस्थिताः ॥६१॥
पञ्चप्रज्ञप्तयः प्रोक्ताः परिकर्मणि ताः पुनः । व्याख्याप्रज्ञप्तिपर्यन्ताश्चन्द्रसूर्यादिनामिकाः ॥६२॥
षट्त्रिंशत्पदलक्षाभिः सहस्रैः पञ्चभिः पदैः । चन्द्रप्रज्ञप्तिराचष्टे चन्द्रभोगादिसम्पदाम् ॥६३॥
पदानां पञ्चलक्षाभिः सहस्रैस्त्रिभिरेव च । सूर्यप्रज्ञप्तिराख्याति सूर्यश्रीविभवोदयम् ॥६४॥
सहस्रैः पञ्चविंशत्या लक्षाभिस्तिसृभिः पदैः । जम्बूद्वीपस्य सर्वस्वं तत्प्रज्ञप्तिः प्रभाषते ॥६५॥
पदलक्षा द्विपञ्चाशत् षट्त्रिंशत्सहस्रकाः । प्रज्ञप्तौ सन्ति यस्यां सा द्वीपसागरवर्णिनी ॥६६॥
लक्षाश्चतुरशीतिर्या सषट्त्रिंशत्सहस्रकाः । पदानां प्रवदत्येषा व्याख्याप्रज्ञप्तिरुच्यते ॥६७॥
रूपिद्रव्यमरूपं च भव्याभव्यादिसञ्चयम् । व्याख्याप्रज्ञप्तिराख्याति समस्तं सा सविस्तरम् ॥६८॥
पदाष्टाशीति लक्षा हि सूत्रे चाद्यावबन्धकाः । श्रुतिस्मृतिपुराणार्था द्वितीये सूत्रताः पुनः ॥६९॥
तृतीये नियतिः पक्षश्चतुर्थे समयाः परे । सूत्रिता ह्यधिकारेऽपि [२]नानाभेदव्यवस्थिताः ॥७०॥
पदैः पञ्चसहस्रैस्तु प्रयुक्ते प्रथमे पुनः । अनुयोगे पुराणार्थस्त्रिषष्टिरुपवर्ण्यते ॥७१॥
चतुर्दशविधं पूर्वं गतं श्रुतमुदीर्यते । प्रतिपूर्वं च वस्तूनि ज्ञातव्यानि यथाक्रमम् ॥७२॥

उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? ३ जीवकी सत्-असत् उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? और जीवकी अवक्तव्य उत्पत्तिको जाननेवाला कौन है ? केवल भावकी अपेक्षा स्वीकृत इन चार भेदोंके और मिला देनेपर आज्ञानिक मिथ्यादृष्टियोंके सब भेद सड़सठ हो जाते हैं ॥५५-५८॥ १ माता, २ पिता, ३ देव, ४ राजा, ५ ज्ञानी, ६ बालक, ७ वृद्ध और ८ तपस्वी इन आठका मन वचन, काय और दानसे विनय करना चाहिए। इसलिए मन, वचन, काय और दान इन चारका माता आदि आठके साथ संयोग करनेपर वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके बत्तीस भेद हो जाते हैं ॥५९-६०॥ इस प्रकार अनेक मिथ्यादृष्टियोंका कथन करनेवाले दृष्टिवाद अङ्गके १ परिकर्म, २ सूत्र, ३ अनुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका ये पाँच भेद हैं ॥६१॥ परिकर्ममें १ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति ये पाँच प्रज्ञप्तियाँ कही गई हैं अर्थात् इन पाँच प्रज्ञप्तियोंकी अपेक्षा परिकर्मके पाँच भेद हैं ॥६२॥ इनमें चन्द्रप्रज्ञप्ति छत्तीस लाख पाँच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी भोग आदि सम्पदाका वर्णन करती है ॥६३॥ सूर्यप्रज्ञप्ति पाँच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यके श्री आदि विभवका निरूपण करती है ॥६४॥ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तीन लाख पच्चीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपके सर्वस्वका वर्णन करती है ॥६५॥ जिसमें बावन लाख छत्तीस हजार पद हैं, ऐसी द्वीप और सागरोंका वर्णन करनेवाली चौथी द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति है ॥६६॥ जो चौरासी लाख छत्तीस हजार पदोंसे युक्त है वह पाँचवीं व्याख्याप्रज्ञप्ति कही जाती है ॥६७॥ व्याख्याप्रज्ञप्ति, रूपीद्रव्य अरूपीद्रव्य तथा भव्य अभव्य जीवोंके समूह आदि सबका विस्तारके साथ वर्णन करती है ॥६८॥ दृष्टिवादके दूसरे भेद सूत्रमें अठासी लाख पद हैं, इसके अनेक भेदोंमेंसे प्रथम भेदमें अबन्धक-बन्ध न करनेवाले भावोंका वर्णन है। दूसरे भेदमें श्रुति, स्मृति और पुराणके अर्थका निरूपण है। तीसरे भेदमें नियति पक्षका कथन है और चौथे भेदमें नाना प्रकारके परसमयों—अन्य दर्शनोंका निरूपण है ॥६९-७०॥ दृष्टिवादके तीसरे भेद अनुयोगमें पाँच हजार पद हैं तथा इसके अवान्तर भेद प्रथमानुयोगमें त्रेशठ शलाकापुरुषोंके पुराणका वर्णन है ॥७१॥ दृष्टिवादका

---

१. माता च पिता च इति पितरौ एकशेषात् मातृपदस्य लोपः । २. ते म० ।

दश चतुर्दशाष्टौ चाष्टादश द्वादश द्वयोः । दशषड्विंशतिस्त्रिंशत्तत्पञ्चदशैव तु ॥७३॥
दशैवोत्तरपूर्वाणां चतुर्णां वर्णितानि वै । प्रत्येकं विंशतिस्तेषां वस्तूनां प्राभृतानि तु ॥७४॥
पूर्वमुत्पादपूर्वाख्यं पदकोटीप्रमाणकम् । द्रव्यध्रौव्यव्ययोत्पादत्रयव्यावर्णनात्मकम् ॥७५॥
लक्षाः षण्णवतिर्यत्र पदानां तेन हृद्यः । वर्ण्यन्तेऽग्रायणीयेन स्वमताग्रपदानि तु ॥७६॥
अग्रायणीयपूर्वस्य यान्युक्तानि चतुर्दश । विज्ञातव्यानि वस्तूनि तानीमानि यथाक्रमम् ॥७७॥
पूर्वान्तमपरान्तं च ध्रुवमध्रुवमेव च । तथाच्यवनलब्धिश्च पञ्चमं वस्तु वर्णितम् ॥७८॥
अध्रुवं सम्प्रणध्यन्तं कल्पाख्यार्थश्च नामतः । भौमावयाद्यमित्यन्यत् तथा सर्वार्थकल्पकम् ॥७९॥
निर्वाणं च तथा ज्ञेयाऽतीतानागतकल्पता । सिद्धयाख्यं चाप्युपाध्याख्यं ख्यापितं वस्तु चान्तिमम् ॥८०॥
वस्तुनः पञ्चमस्यात्र चतुर्थे प्राभृते पुनः । कर्मप्रकृतिसंज्ञे तु योगद्वाराण्यमूनि तु ॥८१॥
कृतिश्च वेदनास्पर्शः कर्माख्यं च पुनः परम् । प्रकृतिश्च तथैवान्यद् बन्धनं च निबन्धनम् ॥८२॥
प्रक्रमोपक्रमौ प्रोक्तावुदयो मोक्ष एव च । संक्रमश्च तथा लेश्या लेश्याकर्म च वर्णितम् ॥८३॥
लेश्यायाः परिणामश्च सातासातं तथैव च । दीर्घह्रस्वमपि तथा भवधारणमेव च ॥८४॥
पुद्गलात्माभिधानं च तन्निधत्तानिधत्तकम् । सनिकाचितमित्यन्यदनिकाचितसंयुतम् ॥८५॥
कर्मस्थितिकमित्युक्तं पश्चिमं स्कन्ध एव च । समस्तविषयाधीना बोध्याल्पबहुता तथा ॥८६॥
अन्येषामपि पूर्वाणां वस्तुषु प्राभृतेषु च । अनुयोगेषु चान्येषु भेदो ग्राह्यो यथागमम् ॥८७॥
पदानां सप्ततिर्लक्षा यत्र वर्णयति स्फुटम् । तद्वीर्यानुप्रवादाख्यं वीर्यं वीर्यवतां सताम् ॥८८॥
अस्तिनास्तिप्रवादं च षष्टिपदलक्षकम् । जीवाद्यस्तित्वनास्तित्वं स्वपरादिभिराह तत् ॥८९॥
एकोनपदकोटीकं यत्तद्वर्णयति श्रुतम् । पूर्वं ज्ञानप्रवादाख्यं ज्ञानं पञ्चविधं गुणैः ॥९०॥

चौथा भेद पूर्वगत कहा जाता है उसके उत्पाद आदि चौदह भेद हैं और प्रत्येक भेदमें निम्न प्रकार वस्तुओंकी संख्या जाननी चाहिए ॥७२॥ उन भेदोंमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश और दश वस्तुएँ हैं तथा प्रत्येक वस्तुके बीस-बीस प्राभृत होते हैं ॥७३–७४॥ पहला उत्पादपूर्व है उसमें एक करोड़ पद हैं तथा द्रव्योंके उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है ॥७५॥ दूसरा आग्रायणीय पूर्व है उसमें छियानबे लाख पद हैं तथा स्वमत सम्मत सात तत्त्व नव पदार्थ आदिका वर्णन है ॥७६॥ पहले आग्रायणीय पूर्वकी जिन चौदह वस्तुओंका कथन किया गया है उनके नाम यथाक्रमसे इसप्रकार जानना चाहिए॥७७॥ १ पूर्वान्त, २ अपरान्त, ३ ध्रुव, ४ अध्रुव, ५ अच्यवन लब्धि, ६ अध्रुव सम्प्रणधि, ७ कल्प, ८ अर्थ, ९ भौमावय, १० सर्वार्थकल्पक, ११ निर्वाण, १२ अतीतानागत, १३ सिद्ध और १४ उपाध्याय ॥७८–८०॥ आग्रायणीय पूर्वकी पञ्चम वस्तुके बीस प्राभृत (पाहुड) हैं। उनमें कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृतमें निम्नलिखित चौबीस योगद्वार हैं ॥८१॥ १ कृति, २ वेदना, ३ स्पर्श, ४ कर्म, ५ प्रकृति, ६ बन्धन, ७ निबन्धन, ८ प्रक्रम, ९ उपक्रम, १० उदय, ११ मोक्ष, १२ संक्रम, १३ लेश्या, १४ लेश्याकर्म, १५ लेश्यापरिणाम, १६ सातासात, १७ दीर्घह्रस्व, १८ भवधारण, १९ पुद्गलात्मा, २० निधत्ता-निधत्तक, २१ सनिकाचित, २२ अनिकाचित, २३ कर्मस्थिति और २४ स्कन्ध। इन योगद्वारोंमें समस्त विषयोंकी हीनाधिकता यथायोग्य जाननी चाहिए ॥८२–८६॥ अन्य पूर्वोंकी वस्तु, प्राभृत तथा अनुयोग आदिका भेद आगमके अनुसार जानना चाहिए ॥८७॥ जिसमें सत्तर लाख पद हैं ऐसा तीसरा वीर्यानुप्रवाद नामका पूर्व अतिशय पराक्रमी सत्पुरुषोंके पराक्रमका वर्णन करता है ॥८८॥ जिसमें साठ लाख पद हैं ऐसा चौथा अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व स्वचतुष्टयकी अपेक्षा जीवादि द्रव्योंके अस्तित्व और पर-चतुष्टयकी अपेक्षा उनके नास्तित्वका कथन करता है ॥८९॥ एक कम एक करोड़ पदोंसे सहित जो पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद

पूर्वं सत्यप्रवादाख्यं पदकोटीकषट्पदम् । भाषा द्वादशधा[1] प्राह दशधा[2] सत्यभाषणम् ॥९१॥
हिंसाद्यकर्तुः कर्तुर्वा कर्तव्यमिति भाषणम् । अभ्याख्यानं प्रसिद्धो हि वागादिकलहः पुनः ॥९२॥
दोषाविष्करणं दुष्टैः पश्चात्पैशुन्यभाषणम् । भाषा बद्धप्रलापाख्या चतुर्वर्गविवर्जिता ॥९३॥
रत्यरत्यभिधे वोभे रत्यरत्युपपादिके । आसज्यते यथार्थेषु[3] श्रोता सोपाधिवाक् पुनः ॥९४॥
वञ्चनाप्रवणं जीवं कर्त्री निःकृतिवाक्यतः । न नमत्यधिकेष्वात्मा सा चाप्रणतिवागभूत् ॥९५॥
या प्रवर्तयति स्तेये मोघवाक् सा समीरिता । सम्यग्मार्गे नियोक्त्री या सम्यग्दर्शनवागसौ ॥९६॥
मिथ्यादर्शनवाक् सा या मिथ्यामार्गोपदेशिनी । वाचो द्वादशभेदाया वक्तारो द्वीन्द्रियादयः ॥९७॥
दशधा सत्यसद्भावे नामसत्यमुदाहृतम् । इन्द्रादिव्यवहारार्थं यत् संज्ञाकरणं हि तत् ॥९८॥
यदर्थासंनिधानेऽपि रूपमात्रेण भाष्यते । तद्रूपसत्यं चित्रादिपुरुषादावचेतने ॥९९॥
आकारेणाक्षपुस्तादौ सता वा यदि वाऽसता । स्थापितं व्यवहारार्थं स्थापनासत्यमुच्यते ॥१००॥
प्रतीत्य[4] वर्तते भावान् यदौपशमकादिकान् । प्रतीत्यसत्यमित्युक्तं वचनं तद्यथाऽऽगमम् ॥१०१॥

नामका पूर्व है वह पाँच प्रकारके ज्ञानका वर्णन करता है ॥९०॥ जिसमें छह अधिक एक करोड़ पद हैं ऐसा छठवाँ सत्यप्रवाद नामका पूर्व बारह प्रकारकी भाषा तथा दश प्रकारके सत्य वचनका कथन करता है ॥९१॥ बारह प्रकारकी भाषाओंके नाम और स्वरूप इस प्रकार हैं—हिंसादि पापोंके करनेवाले अथवा नहीं करनेवालेके लिए 'करना चाहिए' इस प्रकार कहना सो अभ्याख्यान भाषा है। कलह कारक वचन बोलना सो कलह भाषा है यह प्रसिद्ध ही है ॥९२॥ दुष्ट मनुष्योंके द्वारा पीठ पीछे दोषोंका प्रकट किया जाना सो पैशुन्य भाषा है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गोंके वर्णनसे रहित है वह बद्धप्रलाप नामक भाषा है ॥९३॥ रति अर्थात् राग उत्पन्न करनेवाली भाषाको रति भाषा कहते हैं और अरति अर्थात् द्वेष उत्पन्न करनेवाली भाषाको अरति भाषा कहते हैं, जिसके द्वारा श्रोता अर्थार्जन आदि कार्योंमें लग जाता है वह उपाधि वाक् भाषा है। जो जीवको धोखादेहीमें निपुण करती है वह निकृति भाषा है। जो अपनेसे अधिक गुणवालोंको नमस्कार नहीं करती है वह अप्रणति भाषा है ॥९४–९५॥ जो जीवको चोरीमें प्रवृत्त करती है वह मोघ (मोष) भाषा है। जो समीचीन मार्गमें लगाती है वह सम्यग्दर्शन भाषा है और जो मिथ्या मार्गका उपदेश देती है वह मिथ्यादर्शन भाषा है। इन बारह प्रकारकी भाषाओंके बोलनेवाले द्वीन्द्रियादिक जीव हैं ॥९६–९७॥

सत्य वचन दश प्रकारके हैं उनमें पहला नाम सत्य कहा गया है, व्यवहार चलानेके लिए किसीका इन्द्र आदि नाम रख लेना नामसत्य है ॥९८॥ पदार्थके न होनेपर भी रूप-मात्रकी मुख्यतासे जो कथन होता है वह रूपसत्य है जैसे किसी मनुष्यके अचेतन चित्रको उस मनुष्यरूप कहना ॥९९॥ पाँसा तथा खिलौना आदिमें आकारकी समानता होने अथवा न होने-पर भी व्यवहारके लिए जो स्थापना की जाती है वह स्थापना सत्य है जैसे सतरंजकी गोटोंमें वैसा आकार न होनेपर भी बादशाह-वजीर आदिकी स्थापना करना और हाथी, घोड़ा आदिके खिलौनोंमें उन जैसा आकार होनेपर हाथी, घोड़ा आदिकी स्थापना करना ॥१००॥ आगमके अनुसार प्रतीतिकर औपशमिकादि भावोंका कथन करना प्रतीत्य सत्य है। जैसे मिथ्यादृष्टि गुण-स्थानमें आगममें औदयिक भाव बतलाया है। यद्यपि वहाँ ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भाव

---

१. अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यग्दर्शनमिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा।—राजवार्तिक प्रथमाध्याय सूत्र २०।

२. नामरूपस्थापनाप्रतीत्यसंवृतिसंयोजनाजनपददेशभावसमयसत्यभेदेन दशविधः सत्यभावः।
—राजवार्तिक प्र० अ० सू० २०।

३. अयार्थेषु म०, जयार्थेषु सोतारो बाधिता पुनः क०। ४. प्रतीत्या म०।

सामग्रीकृतकार्यस्य वाचकत्वैकदेशतः । वचः संवृतिसत्यं स्यात् भेरीशब्दादिकं यथा ॥१०२॥
चेतनाचेतनद्रव्यसन्निवेशाविभागकृत् । वचः संयोजनासत्यं क्रौञ्चव्यूहादिगोचरम् ॥१०३॥
यदार्योऽनार्यनानात्वनानाजनपदेष्विह । चतुर्वर्गकरं वाक्यं सत्यं जनपदाश्रितम् ॥१०४॥
यद्ग्रामनगराचारराजधर्मोपदेशकृत् । गणाश्रमपदोद्भासि देशसत्यं तु तन्मतम् ॥१०५॥
छद्मस्थे द्रव्ययाथात्म्यज्ञान[1]वैकल्यवत्यपि । प्रासुकाप्रासुकत्वेऽपि भावसत्यं वचः स्थितम् ॥१०६॥
द्रव्यपर्यायभेदानां याथात्म्यप्रतिपादकम् । यत्तत्समयसत्यं स्यादागमार्थपरं वचः ॥१०७॥
कोटयः षड्विंशतिर्यत्र पदानां परिवर्णिताः । आत्मप्रवादपूर्वेऽपि भूयोयुक्तिपरिग्रहे ॥१०८॥
तत्र कर्तृत्वभोक्तृत्वनित्यताऽनित्यतादयः । आत्मधर्मा निरूप्यन्ते तद्भेदाश्च सयुक्तिकाः ॥१०९॥
साशीतिपदलक्षैकपदकोटीप्रमाणकम् । पूर्वं कर्मप्रवादाख्यं कर्मबन्धस्य वर्णकम् ॥११०॥
लक्षाश्चतुरशीतिस्तु पदानां यत्र वर्णिताः । पूर्वं नवममाख्यातं प्रत्याख्यानं तदाख्यया ॥१११॥
प्रमिताप्रमितं तत्र द्रव्यभावसमाश्रयम् । प्रत्याख्यानं समाख्यातं यच्च श्रा[2]मण्यवर्धनम् ॥११२॥
कोटी च दशलक्षाश्च यत्पदानां प्रवर्तिता । तद्विद्यानुप्रवादाख्यं पूर्वं दशममत्र च ॥११३॥
लघ्वोऽङ्गुष्ठप्रसेनाद्या विद्याः सप्तशतानि तु । रोहिण्याद्या महाविद्याः प्रोक्ताः पञ्चशतानि च ॥११४॥

होनेसे क्षयोपशमिक तथा जीवत्व और भव्यत्व अथवा जीवत्व और अभव्यत्वकी अपेक्षा पारिणामिक भाव भी है परन्तु आगमके कहे अनुसार वहाँ दर्शनमोहकी अपेक्षा औदयिक भाव ही कहना ॥१०१॥ समुदायको एक देशकी मुख्यतासे एक रूप कहना संवृति सत्य है, जैसे भेरी, तबला, बाँसुरी, वीणा आदि अनेक बाजोंका शब्द जहाँ एक समूहमें हो रहा है वहाँ भेरी आदिकी मुख्यतासे भेरी आदिका शब्द कहना ॥१०२॥ जो चेतन-अचेतन द्रव्योंके विभागको करनेवाला न हो उसे संयोजना सत्य कहते हैं। जैसे क्रौञ्चव्यूह आदि। भावार्थ—क्रौञ्चव्यूह, चक्रव्यूह आदि सेनाओंको रचनाके प्रकार हैं और सेनाएँ चेतन-अचेतन पदार्थोंके समूहसे बनती हैं पर जहाँ अचेतन पदार्थोंकी विवक्षा न कर केवल क्रौञ्चाकार रची हुई सेनाको क्रौञ्चव्यूह और चेतन पदार्थोंकी विवक्षा न कर केवल चक्रके आकार रची हुई सेनाको चक्रव्यूह कह देते हैं वहाँ संयोजनासत्य होता है ॥१०३॥ जो वचन आर्य-अनार्य आदि अनेक देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका करनेवाला है उसे जनपदसत्य कहते हैं ॥१०४॥ जो वचन गाँवकी रीति, नगरकी रीति तथा राजाकी नीतिका उपदेश करनेवाला हो एवं गण और आश्रमोंका उपदेशक हो वह देशसत्य माना गया है ॥१०५॥ यद्यपि छद्मस्थके द्रव्योंके यथार्थ ज्ञानकी विकलता है तथापि केवलीके वचनकी प्रमाणता कर वे प्रासुक और अप्रासुक द्रव्यका निर्णय करते हैं यह भावसत्य है ॥१०६॥ और जो द्रव्य तथा पर्यायके भेदोंकी यथार्थताको बतलानेवाला तथा आगमके अर्थको पोषण करनेवाला वचन है वह समयसत्य है ॥१०७॥ जिसमें छब्बीस करोड़ पद कहे गये हैं ऐसा सातवाँ आत्मप्रवाद नामका पूर्व है। इसमें अनेक युक्तियोंका संग्रह है तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि जीवके धर्मों और उनके भेदोंका सयुक्तिक निरूपण है ॥१०८–१०९॥ जिसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं ऐसा आठवाँ कर्मप्रवाद नामका पूर्व है। यह पूर्व ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका निरूपण करनेवाला है ॥११०॥ जिसमें चौरासी लाख पद हैं ऐसा नौवाँ प्रत्याख्यान पूर्व कहा गया है ॥१११॥ इस पूर्वमें परिमित द्रव्य-प्रत्याख्यान और अपरिमित भाव-प्रत्याख्यानका निरूपण है तथा यह पूर्व मुनिधर्मको बढ़ानेवाला है ॥११२॥ जिसमें एक करोड़ दश लाख पद हैं ऐसा दशवाँ विद्यानुवाद नामका पूर्व है ॥११३॥ इसमें अङ्गुष्ठ प्रसेन आदि सात सौ लघु विद्याएँ और रोहिणी आदि पाँच सौ

---

१. याथात्म्यज्ञानं वैकल्य म० । २. प्रावण्य म० ।

कोटयः षड्‌विंशतिर्यस्मिन् पदानां सुप्रतिष्ठिताः । कल्याणनामधेयं तत् पूर्वमन्वर्थनामकम् ॥११५॥
ज्योतिर्गणस्य सञ्चारं त्रिषष्टिपुरुषाश्रितम् । सुरासुरेन्द्रकल्याणं वर्णयत्यतिविस्तरम् ॥११६॥
स्वप्नान्तरिक्षभौमाङ्गस्वरव्यञ्जनलक्षणम् । छिन्नमित्यष्टधाभिन्नं निमित्तं शाकुनं तथा ॥११७॥
यत्त्रयोदशकोटीभिः पदानां समधिष्ठितम् । प्राणावायाख्यपूर्वं तत्प्रणीतं द्वादशं परम् ॥११८॥
यत्र कायचिकित्सादिरायुर्वेदोऽष्टधोदितः । प्राणापानविभागादिभूतकर्मविधिस्तथा ॥११९॥
क्रियाविशालपूर्वं तु नवकोटीपदात्मकम् । छन्दःशब्दादिशास्त्राणि तत्र शिल्पकला गुणाः ॥१२०॥
पञ्चाशत्पदलक्षाभिः कोट्यो द्वादश यत्र तु । पूर्वे चतुर्दशे लोकबिन्दुसारे हि तत्र च ॥१२१॥
अङ्कराशिविधिश्चाष्टव्यवहारविधिस्तथा । परिकर्मविधिः प्रोक्तः समस्तश्रुतसम्पदा ॥१२२॥
जलस्थलगताकाशरूपमायागता पुनः । चूलिका पञ्चधान्वर्थसंज्ञा भेदवती स्थिता ॥१२३॥
द्विकोट्यो नवलक्षाश्च नवाशीतिसहस्रकैः । द्वे शते पदसङ्ख्यानां पञ्चानां च पृथक् पृथक् ॥१२४॥
चतुर्दशप्रकारं स्यादङ्गबाह्यं प्रकीर्णकम् । ग्राह्यं प्रमाणमेतस्य प्रमाणपदसङ्ख्यया ॥१२५॥
अष्टावक्षरकोट्यस्तु लक्षैकाष्टसहस्रकैः । शतं च पञ्चसप्तत्या तत्रैषोऽक्षरसंग्रहम्[1] ॥१२६॥
त्रयोदशसहस्राणि पञ्चशत्येकविंशतिः । कोटी च पदसङ्ख्येयं वर्णाः सप्तैव वर्णिताः ॥१२७॥
पञ्चविंशतिलक्षाश्च त्रयस्त्रिंशत् शतानि च । अशीतिः श्लोकसङ्ख्येयं वर्णाः पञ्चदशात्र च ॥१२८॥
तत्र सामायिकं नाम शत्रुमित्रसुखादिषु । रागद्वेषपरित्यागात्समभावस्य वर्णकम् ॥१२९॥

महाविद्याएँ कही गई हैं ॥११४॥ जिसमें छब्बीस करोड़ पद प्रतिष्ठित हैं ऐसा ग्यारहवाँ कल्याणवाद नामका पूर्व है। यह सार्थक नामधारी है और सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देवोंके संचार तथा सुरेन्द्र, असुरेन्द्रकृत त्रेशठ शलाकापुरुषोंके कल्याणका विस्तारके साथ वर्णन करता है। साथ ही इसमें १ स्वप्न, २ अन्तरिक्ष, ३ भौम, ४ अङ्ग, ५ स्वर, ६ व्यञ्जन, ७ लक्षण और ८ छिन्न इन अष्टाङ्ग निमित्तों और अनेक शकुनोंका भी वर्णन है ॥११५–११७॥ जो तेरह करोड़ पदोंसे सहित है वह प्राणावाय नामका बारहवाँ पूर्व है॥११८॥ इसमें काय-चिकित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका तथा प्राणापान आदिके विभाग और उनकी पार्थिवी आदि धारणाओंका वर्णन है ॥११९॥ तेरहवाँ नौ करोड़ पदोंसे सहित क्रियाविशाल नामका पूर्व है इसमें छन्दःशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र तथा शिल्पकला आदि अनेक गुणोंका वर्णन है ॥१२०॥ और जिसमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं ऐसा चौदहवाँ लोकबिन्दुसार नामक पूर्व है। इसमें समस्त श्रुतरूपी सम्पदाके द्वारा अंकराशिकी विधि, आठ प्रकारके व्यवहारकी विधि तथा परिकर्मकी विधि कही गई है ॥१२१–१२२॥ पहले बारहवें दृष्टिवाद अङ्गके पाँच भेदोंमें एक चूलिका नामक भेद बता आये हैं वह जलगता, स्थलगता, आकाशगता, रूपगता और मायागताके भेदसे पाँच प्रकारकी है। चूलिकाके ये समस्त भेद सार्थक नामवाले हैं और इनमें प्रत्येकके दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पाँच पद हैं ॥१२३–१२४॥ इस प्रकार अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञानका वर्णन किया, अब अङ्गबाह्यश्रुतका वर्णन करते हैं—

अङ्गबाह्यश्रुत सामायिक आदिके भेदसे चौदह प्रकारका है, यह प्रकीर्णकश्रुत कहलाता है और इसका प्रमाण, प्रमाणपदकी संख्यासे ग्रहण करना चाहिए ॥१२५॥ अङ्गबाह्य श्रुतज्ञानके समस्त अक्षरोंका संग्रह आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर प्रमाण है ॥१२६॥ इसके समस्त पदोंका जोड़ एक करोड़ तेरह हजार पाँच सौ इक्कीस पद तथा शेष सात अक्षर प्रमाण है ॥१२७॥ और इसके समस्त श्लोकोंकी संख्या पचीस लाख तीन हजार तीन सौ अस्सी तथा शेष पन्द्रह अक्षर प्रमाण है ॥१२८॥ उन चौदह प्रकीर्णकोंमें पहला सामायिक नामका

१. तत्रैकोऽक्षर म० ।

जिनस्तवविधानाख्यः स चतुर्विंशतिस्तवः । वर्णको वन्दना वन्द्यवन्दनाविधि[1]वादिनी ॥१३०॥
द्रव्ये क्षेत्रे च कालादौ कृतावद्यस्य शोधनम् । प्रतिक्रमणमाख्याति प्रतिक्रमणनामकम् ॥१३१॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्योपचारिकम् । पञ्चधा विनयं वक्ति तद् वैनयिकनामकम् ॥१३२॥
चतुःशिरस्त्रिद्विनतं द्वादशावर्तमेव च । कृतिकर्माख्यमाचष्टे कृतिकर्मविधिं परम् ॥१३३॥
दशवैकालिकं वक्ति गोचरग्रहणादिकम् । उत्तराध्ययनं वीरनिर्वाणगमनं तथा ॥१३४॥
तत्कल्पव्यवहाराख्यं प्राह कल्पं तपस्विनाम् । अकल्प्यसेवनायां च प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥१३५॥
यत्कल्पाकल्पसंज्ञं स्यात् कल्पाकल्पद्वयं पुनः । महाकल्पं पुनर्द्रव्यक्षेत्रकालोचितं यतेः ॥१३६॥
देवोपपादमाचष्टे पुण्डरीकाख्य[2]मप्यतः । देवीनामुपपादं तु पुण्डरीकं महादिकम् ॥१३७॥
निषद्यकाख्यमाख्याति प्रायश्चित्तविधिं परम् । अङ्गबाह्यश्रुतस्यायं व्यापारः प्रतिपादितः ॥१३८॥
एकमष्टौ च चत्वारि चतुः षट् सप्त[3]भिश्चतुः । चतुः शून्यं च सप्तत्रिसप्तशून्यं नवापि च ॥१३९॥
पञ्च पञ्चैककं षट् च तथैकं पञ्चतस्त्वतः । समस्तश्रुतवर्णानां प्रमाणं[4] परिकीर्तितम् ॥१४०॥
लक्षाशीतिसहस्राणि चतुर्भिश्च चतुःशती । सप्तषष्टिश्च निर्दिष्टाः कोटीकोट्य इमाः स्फुटाः ॥१४१॥
चत्वारिंशच्चतुर्लक्षास्त्रिसप्ततिशतानि च । सप्ततिश्च तथा ज्ञेया इमाः कोट्यः स्फुटीकृताः ॥१४२॥
सपञ्चनवतिर्लक्षाः सपञ्चाशत्सहस्रकम् । सहस्रं षट्शती वर्णा वर्णाः पञ्चदशापि ते ॥१४३॥

प्रकीर्णक है। यह प्रकीर्णक, शत्रु, मित्र तथा सुख-दुःख आदिमें राग-द्वेषका परित्याग कर समता-भावका वर्णन करनेवाला है ॥१२९॥ दूसरा जिनस्तव नामका प्रकीर्णक है इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन किया गया है। तीसरा वन्दना नामका प्रकीर्णक है इसमें वन्दना करने योग्य पञ्चपरमेष्ठी आदिकी वन्दनाकी विधि बतलाई गई है ॥१३०॥ प्रतिक्रमण नामका चौथा प्रकीर्णक द्रव्य क्षेत्र काल आदिमें किये गये पापको शुद्ध करनेवाले प्रतिक्रमणका कथन करता है ॥१३१॥ वैनयिक नामका पाँचवाँ प्रकीर्णक दर्शन-विनय, ज्ञान-विनय, चारित्र-विनय, तपोविनय और उपचार-विनयके भेदसे पाँच प्रकारकी विनयका कथन करता है ॥१३२॥ कृतिकर्म नामका छठवाँ प्रकीर्णक, सामायिकके समय चार शिरोनति, मन-वचन-कायसे आदि-अन्तमें दो दण्डवत् नमस्कार और बारह आवर्त करना चाहिए। इस प्रकार कृति-कर्मकी उत्तम विधिका वर्णन करता है ॥१३३॥ दशवैकालिक नामका सातवाँ प्रकीर्णक मुनियोंकी गोचरी आदि वृत्तियोंके ग्रहण करने आदिका वर्णन करता है। आठवाँ उत्तराध्ययन नामका प्रकीर्णक महावीर भगवान्के निर्वाणगमन सम्बन्धी कथन करता है ॥१३४॥ कल्पव्यवहार नामक नौवाँ प्रकीर्णक तपस्वियोंके करने योग्य विधिका तथा नहीं करने योग्य कार्योंके हो जानेपर उनकी प्रायश्चित्त-विधिका वर्णन करता है ॥१३५॥ कल्पाकल्प नामक दशवाँ प्रकीर्णक करने योग्य तथा न करने योग्य दोनों कार्योंका निरूपण करता है। महाकल्प नामका ग्यारहवाँ प्रकीर्णक मुनिके द्रव्य क्षेत्र तथा काल-के योग्य कार्यका उल्लेख करता है ॥१३६॥ पुण्डरीक नामका बारहवाँ प्रकीर्णक देवोंके उपपाद-का वर्णन करता है। महापुण्डरीक नामका तेरहवाँ प्रकीर्णक देवियोंके उपपादका निरूपण करता है ॥१३७॥ और निषद्य नामका चौदहवाँ प्रकीर्णक प्रायश्चित्त-विधिका उत्तम वर्णन करता है। इस प्रकार यह अङ्गबाह्य श्रुतज्ञानका विस्तार कहा ॥१३८॥ समस्त श्रुतके अक्षरोंका प्रमाण एक, आठ, चार, चार, छह, सात, चार, चार, शून्य, सात, तीन, सात, शून्य, नौ, पाँच, पाँच, एक, छह, एक, और पाँच अर्थात् एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोड़ाकोड़ी चवालीस लाख, सात हजार तीन सौ सत्तर करोड़ पंचानबे लाख इक्यावन हजार छह सौ पन्द्रह

1. वन्दना द्विविधादिना म० । 2. पुण्डरीकाद् म० । 3. सप्तति- क० ।
4. १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ ।

क्षयोपशमभावे च श्रुतावरणकर्मणः । मतिपूर्वं परोक्षं स्यादनन्तविषयं श्रुतम् ॥१४४॥
इन्द्रियानिन्द्रियोत्थं स्यान्मतिज्ञानमनेकधा । परोक्षमर्थसांनिध्ये प्रत्यक्षं व्यवहारिकम् ॥१४५॥
क्षयोपशमसापेक्षं निजावरणकर्मणः । अवग्रहेहावायाख्याधारणातश्चतुर्विधः ॥१४६॥
इन्द्रियानिन्द्रियैः षड्भिश्चत्वारोऽवग्रहादयः । भवन्ति गुणिता भेदाश्चतुर्विंशतिरेव ते ॥१४७॥
शब्दगन्धरसस्पर्शव्यञ्जनावग्रहैर्युताः । चाष्टाविंशतिरुक्तास्ते द्वात्रिंशन्मूलभङ्गकैः ॥१४८॥
बह्वाद्यैः षड्भिरभ्यस्तास्ते त्रयो राशयश्चतुः । चत्वारिंशं शतं[2] चाष्टाषष्टिः[3] द्वानवतं[4] शतम् ॥१४९॥
अभ्यस्ताः सेतरैस्तैस्तैरष्टाशीतं शतद्वयम् । षट्त्रिंशत् त्रिशती च स्यादशीत्याऽसौ चतुर्युता ॥१५०॥
मतिज्ञानविकल्पोऽयं तावत्स्वावृतिकर्मणः । क्षयोपशमभेदेन भिद्यमानः सुदृष्टिषु ॥१५१॥
देशप्रत्यक्षमुद्भूतो जीवशुद्धौ[5] त्रिधावधिः[6] । देशः सर्वश्च परमः पुद्गलावधिरिष्यते ॥१५२॥
देशप्रत्यक्षमेव स्यान्मनःपर्यय इत्यपि । विपुलर्जुमतिप्रख्यः सोऽवधेः सूक्ष्मगोचरः ॥१५३॥
सर्वप्रत्यक्षमन्त्यं स्यात्केवलावरणक्षयात् । अक्षयं केवलज्ञानं केवलं विश्वगोचरम् ॥१५४॥

है ॥१३९-१४३॥ यह श्रुत ज्ञान, श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, मतिज्ञानपूर्वक होता है, परोक्ष है और अनन्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है ॥१४४॥

पाँच इन्द्रियों तथा मनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं। यह मतिज्ञान अनेक प्रकारका है एवं परोक्ष है। यदि पदार्थोंके सान्निध्यमें होता है तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाता है ॥१४५॥ यह मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता है तथा अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है ॥१४६॥ अवग्रह आदि चारों भेद पाँच इन्द्रिय और मन इन छहके द्वारा होते हैं इसलिए चारमें छहका गुणा करनेसे मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं ॥१४७॥ इन चौबीस भेदोंमें शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शसे होनेवाले व्यञ्जनावग्रहके चार भेद मिलानेसे मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हो जाते हैं और इन अट्ठाईस भेदोंमें अवग्रह आदि चार मूलभेद मिला देनेसे बत्तीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीसके भेदमें मतिज्ञानके भेदोंकी प्रारम्भमें तीन राशियाँ होती हैं। उनमें क्रमसे बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव इन छह पदार्थोंका गुणा करनेपर एक सौ चवालीस, एक सौ अड़सठ तथा एक सौ बानबे भेद होते हैं। यदि बहु आदि छह तथा इनसे विपरीत एक आदि छह इन बारह भेदोंका उक्त तीन राशियोंमें क्रमसे गुणा किया जावे तो दो सौ अठासी, तीन सौ छत्तीस और तीनसौ चौरासी भेद होते हैं ॥१४८-१५०॥ मतिज्ञानके ये विकल्प मतिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशममें भेद होनेसे प्रकट होते हैं तथा सम्यग्दृष्टि जीवोंके होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीवोंका मतिज्ञान कुमतिज्ञान कहलाता है ॥१५१॥ अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जीवमें शुद्धि होनेपर देशावधि, सर्वावधि और परमावधि यह तीन प्रकारका अवधिज्ञान होता है। यह अवधिज्ञान देश-प्रत्यक्ष है तथा पुद्गल द्रव्यको विषय करता है ॥१५२॥ मनःपर्यय ज्ञान भी देश-प्रत्यक्ष ही है। इसके विपुलमति और ऋजुमतिके भेदसे दो भेद हैं तथा यह अवधिज्ञानकी अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थको विषय करता है। अवधिज्ञान परमाणुको जानता है तो यह उसके अनन्तवें भागतकको जान लेता है ॥१५३॥ अन्तिम ज्ञान केवलज्ञान है यह केवलज्ञानावरणकर्मके क्षयसे होता है, सर्व प्रत्यक्ष है, अविनाशी है और समस्त पदार्थोंको जाननेवाला है ॥१५४॥

---

१. चतुश्चत्वारिंशं शतं १४४ । २. उभयदीपकमिदम् । ३. शतं चाष्टाषष्टिः १६८ । ४. १९२ । ५. जीवसिद्धौ म० । ६. विधिः म० ।

परोक्षस्य प्रमाणस्य हानोपादानधीः फलम् । प्रत्यक्षस्य तथोपेक्षा[1] प्रागमोहः फलद्वयम्[2] ॥१५५॥
पारम्पर्येण मोक्षस्य हेतुर्ज्ञानचतुष्टयम् । साक्षादेव भवत्येकं केवलज्ञानमव्ययम् ॥१५६॥
प्रमाणप्रमितार्थानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम् । शुभक्रियासुवृत्तिश्च[3] चारित्रमिति वर्ण्यते ॥१५७॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रितयं मोक्षसाधनम् । श्रद्धेयं चाप्यनुष्ठेयं परसम्पदमिच्छता ॥१५८॥
इतोऽन्यदुत्तरं नास्ति नासीन्नापि भविष्यति । मुक्त्यङ्गमित्यवेतव्यमिति सारसमुच्चयः ॥१५९॥
इत्याद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रपीय वचनौषधम् । सन्देहान्तकनिर्मुक्ता मुक्तेवाभाज्जगत्त्रयी ॥१६०॥

वंशस्थवृत्तम्

गृहीतरत्नत्रयभूषणा पुरा जना बभूवुः स्थिरभावनास्तदा ।
परे यतिश्रावकधर्मदीक्षिताः कृते युगे युक्तगुणाश्चकासिरे ॥१६१॥
श्रुतं च संघेन चतुर्विधेन तं जगद्विहाराभिमुखं जिनेश्वरम् ।
विशुद्धसम्यक्त्वधियश्चतुर्विधाः प्रणम्य जग्मुर्विबुधा निजास्पदम् ॥१६२॥
गृहाश्रमी श्रावकमुख्यतां श्रितो[4] जिनेश्वरं तं भरतेश्वरो नृपः ।
समर्च्य साकेतमितः प्रमोदवानुदारवंशस्थनृपैः परिष्कृतः ॥१६३॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ प्रथमतीर्थंकरधर्मतीर्थप्रवर्तनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

परोक्ष प्रमाणका फल हेय पदार्थको छोड़ने और उपादेय पदार्थको ग्रहण करनेकी बुद्धि उत्पन्न होना है तथा प्रत्यक्ष प्रमाणका फल उपेक्षा—रागद्वेषका अभाव एवं उसके पूर्व मोहका क्षय होना है ॥१५५॥ मतिज्ञानादि चार ज्ञान परम्परासे मोक्षके कारण हैं और एक अविनाशी केवलज्ञान साक्षात् ही मोक्षका कारण है ॥१५६॥ प्रमाणके द्वारा जाने हुए पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति होना सम्यक्-चारित्र कहलाता है ॥१५७॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों मोक्षप्राप्तिके उपाय हैं, इसलिए उत्तम सम्पदाकी इच्छा करनेवाले पुरुषको इनका श्रद्धान तथा तदनुरूप आचरण करना चाहिए ॥१५८॥ इन तीनोंसे बढ़कर दूसरा मोक्षका कारण न है, न था, और न होगा। यही सबका सार है ॥१५९॥ इस प्रकार आदि जिनेन्द्रके वचनरूपी औषधिका पानकर तीनों जगत् सन्देह रूपी रोग-से छूटकर ऐसे सुशोभित होने लगे मानो मुक्त ही हो गये हों—मोक्षको ही प्राप्त हो गये हों ॥१६०॥ उस कृतयुगमें जिन जीवोंने रत्नत्रयरूप आभूषणोंको पहलेसे ग्रहण कर रक्खा था उस समय भगवान्की दिव्यध्वनि सुननेसे उनकी भावना और भी दृढ़ हो गई तथा कितने ही नवीन लोग मुनिधर्म एवं श्रावक धर्मकी दीक्षा ले सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे युक्त हो सुशोभित हुए ॥१६१॥ निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त चार प्रकारके देव, चतुर्विध संघसे युक्त तथा जगत्में विहार करनेके लिए उद्यत श्री जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१६२॥ गृहस्थाश्रमसे युक्त तथा श्रावकोंमें मुख्यताको प्राप्त राजा भरतेश्वर, जिनेन्द्र भगवान्की पूजाकर उच्चकुलीन राजाओंके साथ हर्षित होता हुआ अयोध्याकी ओर वापिस गया ॥१६३॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश-पुराणमें प्रथम तीर्थंकरके द्वारा धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति होनेका वर्णन करनेवाला दशवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

---

१. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वं वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥ आ० मी०

२. प्रागमोहफलं द्वयम् म० । ३. सुवृत्तिश्च म० (?) । ४. स्तो म० ।

एकादशः सर्गः

अथ कृत्वात्मजोत्पत्तौ भरतः सुमहोत्सवम् । कृतचक्रमहोऽयासीत् षट्खण्डविजिगीषया ॥१॥
चतुरङ्गमहासेनो नृपचक्रेण सङ्गतः । अग्रप्रस्थितचक्रेण युक्तो दिक्चक्रिणां नृणाम् ॥२॥
गङ्गानुकूलमागत्य गङ्गासागरसङ्गतः । गङ्गाद्वारेऽष्टमं[1] [2]सद्वागङ्गाद्यकृत[3] भक्तकम् ॥३॥
द्वारेणोद्घाटितेनासौ प्रविश्याश्वयुगान्वितम् । अजितञ्जितनामानं रथमारुह्य वेगिनम् ॥४॥
अवगाह्य महाबाहुर्जानुदघ्नं महोदधिम् । वज्रकाण्डधनुःपाणिर्वैशाखस्थानमास्थितः ॥५॥
सदृष्टिमुष्टिसन्धानविधानेषु विशारदः । स्वनामाङ्कममोघाख्यं मुमोचाशु[4]गमाशुगम्[5] ॥६॥
शरः पपात वज्राभो गत्वा द्वादशयोजनीम् । प्रासादे मागधस्याशु प्रविशन्मुखराम्बरः ॥७॥
हृदयेन समं तस्मिन् प्रासादे चलिते सुरः । सम्भ्रान्तः स तमालोक्य चक्रिनामाङ्कितं शरम् ॥८॥
चक्रवर्तिनमुत्पन्नं ज्ञात्वा स्वं पुण्यमल्पशः । निन्दित्वा भग्नमानोऽसौ रत्नपाणिरुपागतः ॥९॥
हारं स पृथिवीसारं मुकुटं रत्नकुण्डले । उपनीय सुरत्नानि वस्त्रतीर्थोदकानि तु ॥१०॥
[6]शाधि किं करवाणीश देह्यादेशं बुधोऽवदत् । मुक्तस्तेन गतः स्थानं निर्ययौ भरतोऽप्यतः ॥११॥
भूतव्यन्तरसङ्घातान् दाक्षिणात्यान् महाबलान् । साधयन् सागरद्वारं [7]वैजयन्तमवाप सः ॥१२॥

अथानन्तर समवसरणसे आकर भरतने पुत्र-जन्मका उत्सव किया, चक्ररत्नकी पूजा की और उसके बाद छह खण्डोंको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥१॥ उस समय चतुरङ्ग सेना उसके साथ थी, वे राजाओंके समूहसे युक्त थे और नाना दिशाओंसे आये हुए अपार जन-समूहके आगे-आगे चलनेवाले चक्ररत्नसे सहित थे ॥२॥ वे गङ्गा नदीके किनारे-किनारे चलकर गङ्गासागरपर पहुँचे। वहाँ गङ्गाद्वारपर उन्होंने मन, वचन, कायकी क्रियाको प्रशस्त कर तीन दिनका उपवास किया ॥३॥ जिसमें दो घोड़े जुते हुए थे ऐसे वेगशाली रथपर सवार होकर उन्होंने द्वार खोला और समुद्रमें घुटने पर्यन्त प्रवेश किया। उस समय लम्बी भुजाओंके धारक भरत अपने हाथमें वज्रकाण्ड नामक धनुष लिये हुए थे, तथा वैशाख आसनसे खड़े थे। वे दृष्टिके स्थिर करने, कड़ी मुट्ठी बाँधने और डोरीपर बाण स्थापित करनेमें अत्यन्त निपुण थे। उसी समय उन्होंने अपने नामसे चिह्नित अमोघ नामका शीघ्रगामी बाण छोड़ा ॥४-६॥ वज्रके समान चमकता हुआ बाण शीघ्र ही बारह योजन जाकर मागध देवके भवनमें गिरा और उसने भवनमें प्रवेश करते ही समस्त आकाशको शब्दायमान कर दिया ॥७॥ बाणके गिरते ही मागधदेवका भवन और हृदय दोनों ही एक साथ हिल उठे। वह बहुत ही क्षोभको प्राप्त हुआ। परन्तु जब उसने चक्रवर्तीके नामसे चिह्नित बाणको देखा और चक्रवर्ती उत्पन्न हो चुका है यह जाना तब वह अपने पुण्यको अल्प जान अपनी निन्दा करने लगा। तदनन्तर जिसका मान खण्डित हो गया था ऐसा मागधदेव हाथोंमें रत्न लेकर भरतके पास आया ॥८-९॥ आकर उस बुद्धिमान् देवने पृथिवीका सारभूत हार, मुकुट, रत्ननिर्मित दो कुण्डल, अच्छे-अच्छे रत्न, वस्त्र तथा तीर्थोदककी भेंट दी और कहा कि हे स्वामिन्! बताइए मैं क्या करूँ? मुझे आज्ञा दीजिए। तदनन्तर भरतसे विदा हो वह अपने स्थानपर गया और भरत भी वहाँसे चलकर दक्षिण

१. उपवासत्रयम् 'तेला' कृत्वा। २. वाक् च अङ्गानि च इति वागङ्गं तदादौ यस्य तत् वागङ्गादि सत् शोभनं वागङ्गादि यस्मिन् तत्। ३. कृतवान्। ४. शीघ्रगामिनम्। ५. बाणम्। ६. कथय। ७. विजयं तम-म०।

सुरं वरतनुं[1] तत्र यथा मागधमाह्वयत् । चूडामणिमसौ दिव्यं ग्रैवेयकमुरश्छदम् ॥१३॥
वीराङ्गदे च कटके कटीवस्त्रं च सूत्रकम् । उपनीय प्रणम्येशं [2]विमुक्तः किङ्करो ययौ ॥१४॥
पाश्चात्यं साधयन् विश्वं दधन्नृपकमण्डलम् । अनुवेदिकमागच्छत् सिन्धुद्वारं स बन्धुरम् ॥१५॥
प्रभासममरं तत्र गङ्गाद्वारविधानतः । नमयित्वा वशं चक्रे चक्रेशः शक्रविक्रमः ॥१६॥
लेभे सान्तानकं तस्मान्माल्यदामकमुत्तमम् । मुक्ताजालं च मौलिं च रत्नचित्रं च हेमकम् ॥१७॥
चक्ररत्नानुमार्गो स विजयार्धस्य वेदिकाम् । प्राप्तश्चक्रधरो दध्यौ सोपवासो गिरेः सुरम् ॥१८॥
बुद्ध्वा स्वावधिकात्प्राप्तः सोऽभिषिच्य महर्द्धिभिः । विजयार्धकुमाराख्यो देवः प्रणतिपूर्वकम् ॥१९॥
भृङ्गारं [3]कुम्भतोयं च सिंहासनमनुत्तमम् । छत्रचामरयुग्मानि दत्वा तेऽहमिति न्यगात् ॥२०॥
तत्र चक्रमहं कृत्वा स तमिस्रगुहामुखम् । प्रापत्तु कृतमालस्तं सुरः प्राप ससम्भ्रमः ॥२१॥
तिलकाद्यानि दिव्यानि भूषणानि चतुर्दश । प्रदाय प्रणिपत्यासौ तवाहमिति यातवान् ॥२२॥
सेनापतिरयोध्याख्यो[4] राजराजस्य शासनात् । अश्वरत्नं शुकच्छायं कुमुदामेलकाभिधम् ॥२३॥
आरुह्य दण्डरत्नेन प्रचण्डेन पराङ्मुखः । गुहाद्वारकवाटानि प्रताड्याशु पलायितः ॥२४॥
उद्घाटिते गुहाद्वारे षण्मासैः स निरूष्मणि । सेनयाऽविशदारुह्य गजं विजयपर्वतम् ॥२५॥
तत्रोन्मग्नजला नाम्ना सनिमग्नजलापगा । महानद्योस्तयोस्तीरे गुहामध्येऽमुचच्चमूः ॥२६॥

दिशामें रहनेवाले महाबलवान् भूत और व्यन्तर देवोंके समूहको वश करते हुए समुद्रके वैजयन्त-द्वारपर जा पहुँचे ॥१०-१२॥ वहाँपर उन्होंने मागधदेवके समान उस प्रदेशके स्वामी वरतनु देवको बुलाया और वरतनु देवने आकर चूडामणि, सुन्दर कण्ठहार, कवच, वीरोंके बाजूबन्द, कड़े और करधनी भेंटकर भरतको प्रणाम किया। तदनन्तर सेवकवृत्तिको स्वीकार करनेवाला वरतनु भरतसे विदा ले अपने स्थानपर चला गया ॥१३-१४॥ वहाँसे चलकर भरत पश्चिम दिशाके समस्त राजाओंको वश करते हुए वेदिकाके किनारे-किनारे चलकर सिन्धु नदीके मनोहर द्वारपर पहुँचे ॥१५॥ वहाँ इन्द्रके समान पराक्रमको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने गङ्गाद्वारके समान वहाँके अधिपति प्रभास देवको नम्रीभूत कर अपने वश किया ॥१६॥ तथा उससे सन्तानक वृक्षोंके पुष्पोंकी उत्तम माला, मोतियोंकी जाली, मुकुट और रत्नोंसे चित्र-विचित्र कटीसूत्र प्राप्त किया ॥१७॥

तदनन्तर भरत, चक्ररत्नके पीछे-पीछे चलकर विजयार्ध पर्वतकी वेदिकाके समीप आये। वहाँ उन्होंने उपवास कर पर्वतके अधिष्ठाता (विजयार्ध कुमार) देवका स्मरण किया ॥१८॥ वह देव अपने अवधिज्ञानसे भरतको वहाँ आया जानकर आया। उसने भरतको प्रणाम कर बड़ी ऋद्धियोंसे उनका अभिषेक किया तथा झारी, कलशजल, उत्तम सिंहासन, छत्र और दो चमर भेंटकर कहा कि मैं आपका हूँ—आपका सेवक हूँ। इस प्रकार निवेदन कर वह चला गया ॥१९-२०॥ राजा भरत वहाँ चक्ररत्नकी पूजाकर तमिस्र गुहाके द्वारपर आये। वहाँ घबड़ाया हुआ कृतमाल नामका देव उनके पास आया ॥२१॥ और तिलक आदि चौदह दिव्य आभूषण देकर तथा प्रणामकर 'मैं आपका हूँ' यह कहता हुआ चला गया ॥२२॥ राजराजेश्वर भरतकी आज्ञासे उनके अयोध्य नामक सेनापतिने सुआके समान कान्तिवाले कुमुदामेलक नामक अश्वरत्नपर सवार हो तथा पीछेकी ओर अपना मुखकर दण्डरत्नसे गुहाद्वारके किवाड़ोंको ताड़ित किया और ताड़ित कर वह एकदम पीछे भाग गया ॥२३-२४॥ खुला हुआ गुहाद्वार जब छह माहमें ऊष्मा रहित हो गया तब चक्रवर्तीने विजयपर्वत नामक हाथीपर सवार हो सेनाके साथ उसमें प्रवेश किया ॥२५॥ गुहाके बीचमें उन्मग्नजला और निमग्नजला

१. वरतनुस्तत्र म० । २. विमुक्तं म० । ३. कुततोयं च म० । ४. अयोध्यस्य म० ।

नित्यान्धकारमुद्घाट्य काकणीमणिरोचिषा । स्कन्धावारं स्थितं तत्र नक्तन्दिवमतन्द्रितम् ॥२७॥
कामवृष्टिर्गृहपती रत्नभद्रमुखो द्रुतम् । स्थपतिश्च स्थिरस्ताभ्यां संक्रमः सरितोः कृतः ॥२८॥
उत्तीर्य संक्रमाक्रान्त्या सद्यो नद्योर्ययौ चमूः । द्वारमुत्तरमुद्घाट्य प्रागिवोत्तरभारतम् ॥२९॥
म्लेच्छराजसहस्राणि वीक्ष्यापूर्ववरूथिनीम् । क्षुभितान्यभिगम्याशु योधयामासुरश्रमात् ॥३०॥
ततः क्रुद्धो युधि म्लेच्छैरयोध्यो दण्डनायकः । युद्ध्वा निर्धूय तानाशु दध्रे नामार्थसङ्गतम् ॥३१॥
भयान्म्लेच्छास्ततो [1]याताः शरणं कुलदेवताः । घोरान्मेघमुखान्नागान् दर्भशय्याधिशायिनः ॥३२॥
ततो मेघमुखा देवा खमापूर्य युधि स्थिताः । युद्ध्वा जयकुमारस्तैर्लेभे मेघस्वराभिधाम् ॥३३॥
पुनर्मेघमुखा घोरैर्मेघैरापूर्य पुष्करम्[2] । ववृषुर्मुष्टि[3]मात्राभिर्धाराभिः सैन्यमस्तके ॥३४॥
दृष्ट्वा वृष्टिं ततश्चक्री सतडिद्गर्जिताशनिम् । चर्मरत्नमधश्चक्रे छत्ररत्नं तथोपरि ॥३५॥
द्विषट्योजनविस्तीर्णा तरन्ती साऽम्बु वाहिनी । अण्डायते स्म सप्ताहं कान्दिशीकत्वमागता ॥३६॥
ततो निधिपतिः क्रुद्धो गणबद्धाभिधानकान् । देवानाज्ञापयत् तैस्तैर्ध्वस्ता मेघमुखाः सुराः ॥३७॥
ततो मेघमुखैर्म्लेच्छाः प्रोक्ताः संहृतवृष्टिभिः । चक्रिणं शरणं जग्मुरादाय वरकन्यकाः ॥३८॥
भीतानामभयं दत्त्वा स तेषां शासनैषिणाम् । आयादायासनिर्मुक्तः सिन्धुनद्यनुवेदिकम् ॥३९॥
सिन्धुदेव्यभिषिच्यैनं सिन्धुकूटाग्रवासिनी । ददौ भद्रासने भद्रे पादपीठोपशोभिते ॥४०॥

नामकी दो नदियाँ थीं, उनके तटपर भरतने सेनाओंको छोड़ दिया—उन्हें विश्राम कराया ॥२६॥ उस गुफामें निरन्तर अन्धकार रहता था जिसे भरतने काकणी मणिकी किरणोंसे दूर कर दिया था। भरतकी सेनाने वहाँ आलस्य रहित होकर एक दिन-रात निवास किया ॥२७॥ कामदृष्टि नामक गृहपतिरत्न और रत्नभद्रमुख नामक स्थपतिरत्न इन दोनोंने उन नदियोंपर मजबूत पुल बनाये ॥२८॥ सेना उन पुलोंके द्वारा शीघ्र ही नदियोंको पारकर आगे बढ़ गई और पहलेकी तरह उत्तर द्वारको खोलकर उत्तर भारतमें जा पहुँची ॥२९॥ उत्तर भारतके हजारों म्लेच्छ राजा चक्रवर्तीकी अपूर्व सेनाको देखकर क्षुभित हो गये और शीघ्र ही सामने आकर अनायास युद्ध करने लगे ॥३०॥ तदनन्तर क्रोधसे भरे अयोध्य सेनापतिने युद्धमें म्लेच्छ राजाओंके साथ युद्धकर तथा उन्हें शीघ्र ही खदेड़कर अपना 'अयोध्य' नाम सार्थक किया ॥३१॥ सेनापतिसे भयभीत हुए म्लेच्छ, अपने कुलदेवता, दर्भशय्यापर शयन करनेवाले एवं भयंकर मेघमुख नागकुमारोंकी शरण गये ॥३२॥ जिससे मेघमुख देव आकाशको व्याप्तकर युद्धके लिए आ डटे परन्तु जयकुमारने उनके साथ युद्धकर उन्हें परास्त कर दिया और स्वयं 'मेघस्वर' यह नाम प्राप्त किया ॥३३॥ कुछ देर बाद मेघमुख देव भयंकर मेघोंसे आकाशको व्याप्तकर मुट्ठी बराबर मोटी-मोटी धाराओंसे सेनाके मस्तकपर जल-वर्षा करने लगे ॥३४॥ तदनन्तर जिसमें बिजलीके साथ वज्रकी भयंकर गर्जना हो रही थी ऐसी जलवृष्टि देखकर चक्रवर्तीने सेनाके नीचे चर्मरत्न और ऊपर छत्ररत्न फैला दिया ॥३५॥ बारह योजन पर्यन्त फैली एवं जलके भीतर तैरती हुई वह सेना अण्डाके समान जान पड़ती थी। वह सेना सात दिन तक इसी तरह भयभीत रही ॥३६॥ तदनन्तर निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने कुपित होकर गणबद्ध देवोंको आज्ञा दी और उन्होंने उन मेघमुख देवोंको परास्त कर खदेड़ दिया ॥३७॥ तत्पश्चात् जिन्होंने वृष्टिका संकोच कर लिया था ऐसे मेघमुख देवोंकी प्रेरणा पाकर वे म्लेच्छ राजा उत्तमोत्तम कन्याएँ लेकर चक्रवर्तीकी शरणमें आये ॥३८॥ चक्रवर्तीने उन भयभीत तथा आज्ञा पानेकी इच्छा करनेवाले म्लेच्छ राजाओंको अभयदान दिया और उसके बाद श्रमसे रहित हो सिन्धु नदीकी वेदिकाके किनारे-किनारे गमन किया ॥३९॥ बीचमें सिन्धुकूटपर निवास करनेवाली सिन्धु देवीने

---

१. जाताः म० । २. आकाशम् । ३. मेघमात्राभि-म० ।

चक्रवर्ती चमूं मूले संस्थाप्य हिमवद्गिरेः । कृताष्टमोपवासोऽसौ दर्भशय्यामधिष्ठितः ॥४१॥
कृततीर्थोदकस्नानः कृतकौतुकमण्डनः[1] । आरूढाश्वरथो धन्वी चक्रायुधपुरःसरः ॥४२॥
क्षुल्लकं हिमवत्कूटं यत्र तत्र गतः शरी । वैशाखस्थानमास्थाय[2] बभाण रणदक्षिणः ॥४३॥
भो भो नागसुपर्णाद्याः शासनं शृणुताशु मे । देशस्था इत्यतश्चापमाकृष्य शरमाक्षिपत् ॥४४॥
पपाताशनिनिर्घोषो योजने द्वादशे शरः । हिमवत्कूटवासी तं सुरो दृष्ट्वा समागमत् ॥४५॥
दिव्यामोषधिमालां स दिव्यं च हरिचन्दनम् । दत्त्वा सम्पूज्य तं यातः शासनैषी विसर्जितः ॥४६॥
आगत्य चक्रवर्ती च ततो वृषभपर्वतम् । तत्रालिखन्निजं नाम काकण्या स परिस्फुटम् ॥४७॥
वृषभस्य सुतो भोऽहं चक्री भरत इत्यसौ । प्रवाच्य विजयार्द्धस्य वेदिकामगमत् प्रभुः ॥४८॥
बुद्ध्वोपवासिनं तत्र श्रेणिद्वयनिवासिनौ । नमिश्च विनमिश्चोभौ गन्धाराद्यैः समागतौ ॥४९॥
स्त्रीरत्नं प्रतिगृह्याभ्यां सुभद्राख्यं खगैर्नतः । गङ्गानुवेदिकं गत्वा भक्तमष्टममास्थितः ॥५०॥
गङ्गादेवी विदित्वा तं गङ्गाकूटनिवासिनी । हेमकुम्भसहस्रेण कृत्वा तदभिषेचनम् ॥५१॥
रत्नसिंहासने तस्मै पादपीठयुते ददौ । विजयार्द्धकुमारोऽपि तस्थौ चक्रेशशासने ॥५२॥
अष्टादशसहस्राणि म्लेच्छक्षितिभृतां ततः । वशीकृत्यात्तसद्रत्नः खण्डकापातमाप सः ॥५३॥

भरतका अभिषेक कर उन्हें पादपीठसे सुशोभित दो उत्तम आसन भेंट किये ॥४०॥ चक्रवर्ती सेनाको हिमवान् पर्वतकी तराईमें ठहराकर तथा स्वयं तीन दिनके उपवासका नियम लेकर दर्भशय्यापर आरूढ़ हुए ॥४१॥ तदनन्तर जिन्होंने तीर्थजलसे स्नान किया था, उत्तम वेषभूषा धारण की थी, जो घोड़ोंके रथपर सवार थे, जिनके आगे-आगे चक्ररत्न चल रहा था और जो रणमें अत्यन्त कुशल थे ऐसे भरत, जहाँ हिमवान् पर्वतका हिमवत् नामक छोटा कूट था वहाँ आये और बाण हाथमें ले तथा वैशाख आसनसे खड़े होकर बोले कि 'हे इस देशमें रहनेवाले नागकुमार, सुपर्णकुमार आदि देवो! तुम लोग शीघ्र ही मेरी आज्ञा सुनो।' यह कह उन्होंने धनुष खींचकर बाण छोड़ा ॥४२-४४॥ वज्रके समान शब्द करता हुआ वह बाण बारह योजन दूर जाकर गिरा तथा हिमवत् कूटपर रहनेवाला देव उसे देखकर भरतके पास आया ॥४५॥ उसने दिव्य ओषधिओंकी माला तथा दिव्य हरिचन्दन देकर भरतकी पूजा की। तदनन्तर आज्ञाकी इच्छा करता हुआ वह भरतसे विदा ले अपने स्थानपर चला गया ॥४६॥ चक्रवर्ती वहाँसे चलकर वृषभाचल पर्वतपर आये और वहाँ उन्होंने काकणी रत्नसे साफ-साफ अपना यह नाम लिखा कि 'मैं भगवान् वृषभदेवका पुत्र भरत चक्रवर्ती हूँ'। नाम लिखकर तथा बाचकर वे विजयार्ध पर्वतकी वेदिकाके समीप आये ॥४७-४८॥ वहाँ जाकर उन्होंने उपवास धारण किया। दोनों श्रेणियोंके निवासी नमि और विनमिको जब यह ज्ञात हुआ कि भरत यहाँ विद्यमान हैं तब वे गन्धार आदि विद्याधरोंके साथ वहाँ आये ॥४९॥ समस्त विद्याधरोंने उन्हें नमस्कार किया और भरतने नमि, विनमिसे सुभद्रा नामक स्त्री-रत्न ग्रहण किया। तत्पश्चात् वे गङ्गा नदीकी वेदिकाके किनारे-किनारे चलकर गङ्गाकूटके समीप आये और तीन दिनके उपवासका नियम लेकर वहाँ ठहर गये। वहाँ गङ्गाकूटपर रहनेवाली गंगा देवीने उनके आनेका समाचार जानकर सुवर्णमय एक हजार कलशोंसे उनका अभिषेक किया ॥५०-५१॥ अभिषेकके बाद उसने पादपीठसे युक्त दो रत्नोंके सिंहासन भेंट किये। यहाँ विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध कुमारदेव चक्रवर्तीकी आज्ञामें खड़ा रहा ॥५२॥

तदनन्तर वहाँसे चलकर अठारह हजार म्लेच्छ राजाओंको वश करते और उनसे उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट स्वीकार करते हुए भरत विजयार्धकी दूसरी गुफा खण्डकाप्रपातके समीप

---

१. मण्डलः म० । २. वैशाखं स्थान ग०, घ०, ङ०, म० ।

उपोषिताष्टमायास्मै नाट्यमालोऽत्र दत्तवान् । नानारूपं स नेपथ्यं विद्युदाभे च कुण्डले ॥५४॥
अयोध्योद्घाटितेनासौ गुहाद्वारेण पूर्ववत् । प्रविश्य निर्गतः सिन्धोरिव गाङ्गेन सेनया ॥५५॥
विजित्य भारतं वर्षं स षट्खण्डमखण्डितम् । षष्टिवर्षसहस्रैस्तु विनीतां प्रस्थितः कृती ॥५६॥
चक्रे सुदर्शनेऽयोध्यामविशत्यथ चक्रभृत् । बुद्धिसागरमप्राक्षीत् सन्दिहानः पुरोधसम् ॥५७॥
साधिते भारते वास्ये चक्ररत्नमिदं किमु । दिव्यं विशति नायोध्यां योध्याः सन्ति न के च नः ॥५८॥
पुरोधाः सोऽभ्यधान्नतं[1]भ्रातरो भवतो ननु । ये महाबलसम्पन्नास्ते न शृण्वन्ति शासनम् ॥५९॥
तदाकर्ण्य वचस्तूर्णं तेषां प्रेषयति स्म सः । ससामोपप्रदानादिनीतिपूर्वं वचोहरान्[2] ॥६०॥
ततस्ते तन्निमित्तेन मानिनो लब्धबोधयः । स्वराज्यान्यत्यजंस्त्यागं मन्यमाना महोत्सवम् ॥६१॥
प्रपद्य शरणं सर्वे नाभेयं भवभीरवः । मानशल्यविनिर्मुक्ताः प्रव्रज्यां मोक्षिणो दधुः ॥६२॥
सुकुमारैः कुमारैस्तैर्भव्यसिंहैः सहैव हि । ज्ञेयानि त्यक्तदेशानां नामानीमानि पण्डितैः ॥६३॥
कुरुजाङ्गलपञ्चालसूरसेनपटच्चराः । तुलिङ्ग-काशि-कौशल्य-मद्रकारवृकार्थकाः ॥६४॥
सोल्वावृष्टत्रिगर्ताश्च कुशाग्रो मत्स्यनामकः । कुणीयान् कोशलो मोको देशास्ते मध्यदेशकाः ॥६५॥
वाह्लीकात्रेयकाम्बोजा यवनाभीरमद्रकाः । क्वाथतोयश्च शूरश्च वाटवानश्च कैकयः ॥६६॥
गान्धारः सिन्धुसौवीरभारद्वाजदशेरुकाः । प्रास्थालास्तीर्णकर्णाश्च देशा उत्तरतः स्थिताः ॥६७॥
खड्गाङ्गारकपौण्ड्राश्च मल्लप्रवकमस्तकाः । प्राग्ज्योतिषश्च वङ्गश्च मगधो मानवर्तिकः ॥६८॥

पहुँचे ॥५३॥ वहाँ वे तीन दिनके उपवासका नियम लेकर ठहर गये। वहाँ नाट्यमाल नामक देवने उन्हें नाना प्रकारके आभूषण और बिजलीके समान चमकते हुए दो कुण्डल भेंट किये ॥५४॥ जिस प्रकार पहले अयोध्य सेनापतिने दण्डरत्नके द्वारा सिन्धु नदीकी गुफाका द्वार खोला था उसी प्रकार यहाँ भी उसने दण्डरत्नसे गङ्गानदीकी गुफाका द्वार खोला और भरत उस द्वार-से प्रवेशकर सेनासहित बाहर निकल आये ॥५५॥ इस तरह अतिशय कुशल भरतने साठ हजार वर्षोंमें छह खण्डोंसे युक्त समस्त भरतक्षेत्रको जीतकर अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान किया ॥५६॥

अथानन्तर—समीप आनेपर जब सुदर्शनचक्रने अयोध्यामें प्रवेश नहीं किया तब भरतने सन्देहयुक्त हो बुद्धिसागर पुरोहितसे पूछा कि समस्त भरत क्षेत्रको वश कर लेनेपर भी यह दिव्य चक्ररत्न अयोध्यामें प्रवेश क्यों नहीं कर रहा है ? अब तो हमारे युद्धके योग्य कोई नहीं है ? ॥५७–५८॥ पुरोहितने कहा कि आपके जो महाबलवान् भाई हैं वे आपकी आज्ञा नहीं सुनते हैं ॥५९॥ यह सुनकर भरतने शीघ्र ही उनके पास साम, दाम आदि नीतिके साथ दूत भेजे ॥६०॥ तदनन्तर इस निमित्तसे जिन्हें बोधिकी प्राप्ति हुई थी ऐसे भरतके अभिमानी भाइयोंने त्यागको ही महोत्सव मान अपने-अपने राज्य छोड़ दिये ॥६१॥ जो संसारसे भयभीत थे, जिनकी मानरूपी शल्य छूट चुकी थी, और जो अन्तरङ्गमें मोक्षकी इच्छा रखते थे ऐसे भरतके समस्त भाइयोंने भगवान् वृषभदेवके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥६२॥ उन सुकुमार एवं भव्य-शिरोमणि कुमारोंने जो देश छोड़े थे विद्वानोंको उनके नाम इस प्रकार जानना चाहिए ॥६३॥ कुरुजाङ्गल, पञ्चाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिङ्ग, काशि, कौशल्य, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान्, कोशल और मोक ये मध्यदेश थे ॥६४–६५॥ वाह्लीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, वाटवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तरकी ओर स्थित थे ॥६६–६७॥ खड्ग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वङ्ग, मगध, मानवर्तिक,

---

१. न तु म० । २. वचोहरात् म० ।

मलदो भार्गवश्चामी प्राच्यां जनपदाः स्थिताः । बाणमुक्तश्च वैदर्भाः माणवः सककापिराः ॥६९॥
मूलकाश्मकदाण्डीककलिङ्गासिककुन्तलाः । नवराष्ट्रो माहिषकः पुरुषो भोगवर्धनः ॥७०॥
दाक्षिणात्या जनपदा निरुच्यन्ते स्वनामभिः । माल्यकल्लीवनोपान्तदुर्गसूर्पारकर्बुकाः ॥७१॥
काक्षिनासारिकागर्ताः ससारस्वततापसाः । माहेभो भरुकच्छश्च सुराष्ट्रो नर्मदस्तथा ॥७२॥
एते जनपदाः सर्वे प्रतीच्यां नामभिः स्मृताः । दशार्णकेति किष्कन्धत्रिपुरावर्तनैषधाः ॥७३॥
नेपालोत्तमवर्णश्च वैदिशान्तपकौशलाः । पत्तनो विनिहात्रश्च विन्ध्यापृष्ठनिवासिनः ॥७४॥
भद्रवत्सविदेहाश्च कुशभङ्गाश्च सैतवाः । वज्रखण्डिक इत्येते मध्यदेशाश्रिता मताः ॥७५॥
देशानेताननुज्ञातान् गुरुणा[1] भरतानुजाः । दारानिव विधेयांश्च मुमुचुस्ते मुमुक्षवः ॥७६॥
अथ बाहुबली चक्रे चक्रेशं प्रत्यवस्थितिम् । सन्दधानो मनश्चक्रे चक्रेऽलातमये यथा[2] ॥७७॥
भवतो न भुजिष्योऽहमिति[3] प्रेष्य वचोहरान् । पोदनान्निर्ययौ योद्धुमक्षौहिण्या युतो द्रुतम् ॥७८॥
चक्रवर्त्यपि सम्प्राप्तः सैन्यसागररुद्धदिक् । विततापर[4]दिग्भागे चम्वोः स्पर्शस्तयोरभूत् ॥७९॥
उभये मन्त्रिणो मन्त्रं मन्त्रयित्वाहुरीशयोः । माभूज्जनपदक्षयो धर्मयुद्धमिहास्त्विति ॥८०॥
प्रतिपद्य वचस्तौ तत् दृष्टियुद्धं प्रचक्रतुः । चिरं निमेषमुक्ताक्षौ दृष्टौ खे खेचरामरैः ॥८१॥
कनिष्ठोऽप्राजयज्ज्येष्ठं पञ्चचापशतोच्छ्रितिम् । ऊर्ध्वदृष्टिमधोदृष्टिस्तदुच्चैः पञ्चविंशतिः ॥८२॥
ततोऽन्योन्यभुजक्षिप्ततरङ्गाघातदुःसहम् । जलयुद्धमभूद् रौद्रं सरस्यत्र जितोऽग्रजः ॥८३॥

मलद और भार्गव, ये देश पूर्व दिशामें स्थित थे। बाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिङ्ग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन, ये दक्षिण दिशाके देश थे। माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सूर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद, ये सब देश पश्चिम दिशामें स्थित थे। दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र, ये देश विन्ध्याचलके ऊपर स्थित थे ॥६८–७४॥ भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भङ्ग, सैतव और वज्रखण्डिक, ये देश मध्यदेशके आश्रित थे ॥७५॥ पिता—भगवान् वृषभदेवके द्वारा दिये हुए इन सब देशोंको मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले भरतके छोटे भाइयोंने स्त्रियोंके समान छोड़ दिया साथ ही उन्होंने आज्ञाकारी सेवकोंका भी परित्याग कर दिया ॥७६॥

अथानन्तर कुमार बाहुबलीने भरतके प्रति अपनी प्रतिकूलता प्रकट की। उन्होंने उनके सुदर्शनचक्रको अलातचक्रके समान तुच्छ समझा और 'मैं आपके आधीन नहीं हूँ' यह कहकर दूत भेज दिये तथा वे शीघ्र ही अक्षौहिणी सेना साथ ले युद्धके लिए पोदनपुरसे निकल पड़े॥७७–७८॥ इधर सेनारूपी सागरसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए चक्रवर्ती भरत भी आ पहुँचे जिससे वितता नदीके पश्चिम दिग्भागमें दोनों सेनाओंकी मुठभेड़ हुई ॥७९॥ तदनन्तर दोनों राजाओंके मन्त्रियोंने परस्पर सलाह कर कहा कि देशवासियोंका क्षय न हो इसलिए दोनों ही राजाओंमें धर्मयुद्ध हो ॥८०॥ भरत और बाहुबलीने मन्त्रियोंकी यह बात मानकर सर्वप्रथम दृष्टियुद्ध शुरू किया और आकाशमें खड़े हुए देव और विद्याधरोंने दोनोंको चिरकाल तक टिमकार रहित नेत्रोंसे युक्त देखा। अर्थात् दोनों भाई चिरकाल तक टिमकार रहित नेत्रोंसे खड़े रहे और कोई किसीसे हारा नहीं। परन्तु अन्तमें छोटे भाईने बड़े भाईको हरा दिया क्योंकि बड़े भाई पाँच सौ धनुष ऊँचे थे इसलिए उनकी दृष्टि ऊपरकी ओर थी और छोटे भाई उनसे पचीस धनुष ऊँचे थे इसलिए उनकी दृष्टि नीचेकी ओर थी ॥८१–८२॥ दृष्टियुद्धके बाद दोनों भाइयोंका

१. 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ख०, घ०। २. तथा ख०, घ०। ३. दासः। ४. विनतापर -ङ०।

वल्गितास्फोटिताटोपं नानाकरणकौशलम् । मल्लयुद्धमभूत्पश्चाद् रङ्गभूमौ चिरं तयोः ॥८४॥
पादावष्टम्भसंभिन्नहृदया युध्यमानयोः । तयोर्भियेव वरयो[1] ररास वसुधावधूः ॥८५॥
भरतं भुजयन्त्रेण दयावान् भुजविक्रमी । निरुद्धयोत्क्षिप्य सन्तस्थे रत्नशैलमिवामरः ॥८६॥
प्रेक्षकैः सुरसङ्घातैः खेचरैरपि भूचरैः । अहो वीर्यमहो धैर्यं साधु साध्विति वर्णितम् ॥८७॥
साधु संसाध्य मुक्तेन भरतेन रुषा ततः । अपमृत्यु स्मृतं चक्रं सहस्रारं स्थितं करे ॥८८॥
रक्ष्यं यक्षसहस्रेण सहस्रकिरणप्रभम् । प्रभ्राम्य चक्रमुन्मुक्तं वधार्थं भ्रातुरुन्मुखम् ॥८९॥
चरमोत्तमदेहस्य तस्याशक्तं विनाशने । देवताधिष्ठितं चक्रं त्रिःपरीत्यागतं पुनः ॥९०॥
ज्येष्ठभ्रातरमालोक्य निर्घृणं भुजविक्रमी । कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां निनिन्द श्रियमित्यसौ ॥९१॥
स्वच्छानामनुकूलानां संहतानां नृचेतसाम् । विपर्यासकरीं लक्ष्मीं धिक् पङ्कर्द्धिमिवाम्भसाम् ॥९२॥
मधुरस्निग्धशीलानां चिरस्थस्नेहहारिणीम् । चलाचलात्मिकां धिक् धिक् यन्त्रमूर्तिमिव श्रियम् ॥९३॥
सर्वतोऽपि सुदुःप्रेक्ष्यां नरेन्द्राणामपि स्वयम् । दृष्टिं दृष्टिविषस्येव धिक् धिक् लक्ष्मीं भयावहाम् ॥९४॥

तालाबमें भयंकर जलयुद्ध हुआ। उस समय दोनों ही भाई एक दूसरेपर अपनी भुजाओंसे लहरें उछाल-उछालकर दुःसह आघात कर रहे थे। परन्तु इस युद्धमें भी बड़े भाई भरत हार गये ॥८३॥ तदनन्तर दोनोंका रङ्गभूमिमें चिरकाल तक मल्लयुद्ध हुआ। उनका वह मल्लयुद्ध तालोंकी फटाटोपसे युक्त था तथा नाना प्रकारके पैंतरा बदलनेकी चतुराईसे पूर्ण था ॥८४॥ उस समय युद्ध करते हुए दोनों वरोंके पदाघातसे जिसका हृदय फट गया था ऐसी पृथिवीरूपी स्त्री भयसे ही मानो चिल्ला उठी थी ॥८५॥ अन्तमें दयावान् बाहुबली अपने भुजयन्त्रसे भरतको पकड़कर तथा ऊपरकी ओर उठाकर इस प्रकार खड़े हो गये मानो कोई देव रत्नोंके पर्वतको उठाकर खड़ा हो ॥८६॥ देखनेवाले देवोंके समूह, विद्याधरों तथा भूमिगोचरी मनुष्योंने उसी समय जोरसे यह शब्द किया कि अहो! वीर्यम्—आश्चर्यकारी शक्ति है, अहो! धैर्यम्—आश्चर्यकारी धैर्य है, साधु-साधु—ठीक है, ठीक है आदि ॥८७॥ तदनन्तर अच्छी तरह जीतकर जब बाहुबलीने भरतको छोड़ा तब उन्होंने क्रोधके कारण अपमृत्यु करनेवाले सुदर्शनचक्रका स्मरण किया और स्मरण करते ही हजार अरोंको धारण करनेवाला सुदर्शनचक्र उनके हाथमें आकर खड़ा हो गया ॥८८॥ एक हजार यक्ष जिसकी रक्षा कर रहे थे तथा जो सूर्यके समान देदीप्यमान प्रभाका धारक था ऐसे सुदर्शनचक्रको उन्होंने ऊपरकी ओर घुमाकर भाईको मारनेके लिए छोड़ा ॥८९॥ परन्तु वह देवाधिष्ठित चक्र चरमोत्तम शरीरके धारक बाहुबलीके मारनेमें असमर्थ रहा इसलिए उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर वापिस आ गया ॥९०॥

तदनन्तर बाहुबली बड़े भाईको निर्दय देख हाथोंसे कान ढँककर लक्ष्मीकी इस प्रकार निन्दा करने लगे ॥९१॥ जिस प्रकार कीचड़ स्वच्छ, अनुकूल, एवं मिले हुए जलको विपरीत—मलिन कर देती है उसी प्रकार यह लक्ष्मी स्वच्छ, अनुकूल और मिले हुए मनुष्योंके चित्तको विपरीत कर देती है अतः इसे धिक्कार हो ॥९२॥ जिस प्रकार यन्त्र-मूर्ति—(कोल्हू) मधुर एवं चिक्कण स्वभाववाले तिलहनोंके दीर्घकालिक स्नेह—तेलको हर लेती है तथा अत्यन्त अस्थिर होती है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी मधुर एवं स्नेहपूर्ण स्वभाववाले मनुष्योंके चिर-कालिक स्नेह-प्रियको नष्ट कर देती है एवं अत्यन्त अस्थिर है अतः इसे धिक्कार हो ॥९३॥ जिस प्रकार दृष्टिविष सर्पकी दृष्टि नरेन्द्र-विषवैद्योंके लिए भी सब ओरसे स्वयं अत्यन्त दुःखसे देखनेके योग्य तथा भय उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी नरेन्द्र—राजाओंके लिए भी सब ओरसे अत्यन्त दुःप्रेक्ष्य—दुःखसे देखने योग्य तथा भय उत्पन्न

1. वरयो म० ।

मूलमध्यान्तदुःस्पर्शां सर्वदाग्निशिखामिव । भास्वरामपि धिग्लक्ष्मीं सर्वसन्तापकारिणीम् ॥९५॥
मर्त्यलोके सुखं तद् यच्चित्तसन्तोषलक्षणम् । सति बन्धुविरोधे हि न सुखं न धनं नृणाम् ॥९६॥
जनयन्ति नृणां भोगाः प्रतिकूलेषु बन्धुषु । [1]शीतज्वराभिभूतानां शीतस्पर्शा इवासुखम् ॥९७॥
इति सञ्चिन्त्य सन्त्यज्य स राज्यं तपसि स्थितः । कैलासे प्रतिमायोगं तस्थौ वर्षं सुनिश्चलः ॥९८॥
वल्मीकरन्ध्रनिर्यातैः फणिभिर्मणिभूषितैः । चरणौ रेजतुस्तस्य पुरेव नरपैर्वृतैः ॥९९॥
वल्लभेव पुरा वल्ली माधवी कोमलाङ्गिका । निःशेषाङ्गपरिष्वङ्गं चक्रे तस्य मुनेरपि ॥१००॥
लतां व्यपनयन्तीभ्यां खेचरीभ्यां बभौ मुनिः । श्याममूर्तिः स्थिरो योगी यथा मरकताचलः ॥१०१॥
कषायान्तमसौ कृत्वा भरतेन कृतानतिः । केवलज्ञानमुत्पाद्य पार्षदः प्रभोरभूत् ॥१०२॥
चतुर्दशमहारत्नैर्निधिभिर्नवभिर्युतः । निःसपत्नं ततश्चक्री बुभोज वसुधां कृती ॥१०३॥
अदाद्द्वादशवर्षाणि दानं चासौ यथेप्सितम् । लोकाय कृपया युक्तः परीक्षापरिवर्जितम् ॥१०४॥
जिनशासनवात्सल्यभक्तिभारवशीकृतः । परीक्ष्य श्रावकान् पश्चाद् यवधान्याङ्कुरादिभिः ॥१०५॥
काकिण्या लक्षणं कृत्वा सुरत्नत्रयसूत्रकम् । सम्पूज्य स ददौ तेभ्यो भक्तिदानं कृते युगे ॥१०६॥

करनेवाली है इसलिए इसे धिक्कार हो ॥९४॥ जिस प्रकार अग्निकी शिखा सदा मूल, मध्य और अन्तमें दुःखकर स्पर्शसे सहित है तथा देदीप्यमान होकर भी सबको सन्ताप करनेवाली है उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी आदि, मध्य और अन्तमें दुःखकर स्पर्शसे सहित है—सब दशाओंमें दुःख देनेवाली है तथा देदीप्यमान-तेज तर्राटेसे युक्त होनेपर भी सबको सन्ताप उत्पन्न करनेवाली है—आकुलताकी जननी है इसलिए इसे धिक्कार हो ॥९५॥ मनुष्य लोकमें सुख वही है जो चित्तको सन्तुष्ट करनेवाला हो परन्तु बन्धुजनोंमें विरोध होनेपर मनुष्योंको न सुख प्राप्त होता है और न धन ही उनके पास स्थिर रहता है ॥९६॥ जिस प्रकार शीत-ज्वरसे आक्रान्त मनुष्योंके लिए शीतल स्पर्श दुःख उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार बन्धुजनोंके विरुद्ध होनेपर भोग भी मनुष्योंके लिए दुःख उत्पन्न करते हैं ॥९७॥ इस प्रकार विचार कर तथा राज्यका परित्याग कर बाहुबली तप करने लगे और कैलास पर्वतपर एक वर्षका प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े हो गये ॥९८॥ उनके चरण, वामीके बिलोंसे निकले हुए मणिभूषित सर्पोंसे इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जिस प्रकार कि पहले मणिभूषित आश्रित राजाओंसे सुशोभित होते थे ॥९९॥ जिस प्रकार पहले कोमलाङ्गी वल्लभा उनके समस्त शरीरका आलिङ्गन करती थी उसी प्रकार कोमलाङ्गी माधवीलता उनके मुनि होनेपर भी उन बाहुबलीके समस्त शरीरका आलिङ्गन कर रही थी ॥१००॥ दो विद्याधर परियाँ उनके शरीरपर लिपटी हुई लताको दूर करती रहती थीं जिससे श्याममूर्तिके धारक एवं स्थिर खड़े हुए योगिराज बाहुबली मरकतमणिके पर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१०१॥ तदनन्तर भरतने आकर जिन्हें नमस्कार किया था ऐसे बाहुबली मुनिराज कषायोंका अन्तकर तथा केवलज्ञान उत्पन्न कर भगवान् वृषभदेवके सभासद् हो गये—उनके समवसरणमें पहुँच गये ॥१०२॥

तदनन्तर चौदह महारत्नों और नौ निधियोंसे युक्त अतिशय बुद्धिमान् चक्रवर्ती भरत, पृथिवीका निष्कण्टक उपभोग करने लगे ॥१०३॥ भरत महाराज दयासे युक्त हो बिना किसी परीक्षाके बारह वर्ष तक लोगोंके लिए मनचाहा दान देते रहे ॥१०४॥ तदनन्तर जिन-शासन सम्बन्धी वात्सल्य और भक्तिके भारसे वशीभूत होकर उन्होंने जौ तथा धान्य आदिके अङ्कुरोंसे श्रावकोंकी परीक्षा की, काकिणी रत्नसे निर्मित रत्नत्रयसूत्र—यज्ञोपवीतको उनका चिह्न बनाया

१. शीतज्वराभिभूतानां ख० ।

ततस्ते ब्राह्मणाः प्रोक्ताः व्रतिनो भरतादृताः । वर्णत्रयेण पूर्वेण जाता वर्णचतुष्टयी ॥१०७॥
चक्रच्छत्रासिदण्डास्ते काकिणीमणिचर्मणी । सेनागृहपतीभाश्वाः पुरोधःस्थपतिस्त्रियः ॥१०८॥
चतुर्दशमहारत्ननिचयाश्चक्रवर्तिनः । प्रत्येकं रक्षिता देवैः सहस्रगणनैर्बभुः ॥१०९॥
कालश्चापि महाकालः पाण्डुको माणवस्तथा । नैःसर्पः सर्वरत्नाश्च शङ्खः पद्मश्च पिङ्गलः ॥११०॥
धर्मी पुण्यवतस्तस्य निधयोऽनिधना[1] नव । पालिता निधिपालाख्यैः सुरैर्लोकोपयोगिनः ॥१११॥
शकटाकृतयः सर्वे चतुरक्षाष्टचक्रकाः । नवयोजनविस्तीर्णा द्वादशायामसम्मिताः ॥११२॥
ते चाष्टयोजनागाधा बहुवक्षारकुक्षयः । नित्यं यक्षसहस्रेण प्रत्येकं रक्षितेक्षिताः ॥११३॥
ज्योतिर्निमित्तशास्त्राणि हेतुवादकलागुणाः । शब्दशास्त्रपुराणाद्याः[2] सर्वे कालनिधौ मताः ॥११४॥
पञ्चलोहादयो लोहा नानाभेदाः प्रवर्तिताः । लब्धवर्णैर्विनिर्णेया महाकालनिधौ पुनः ॥११५॥
धान्यानां सकला भेदाः शालिव्रीहियवादयः । कटुतिक्तादिभिर्द्रव्यैः प्रणीताः पाण्डुके निधौ ॥११६॥
कवचैः खेटकैः खड्गैः शरैः शक्तिशरासनैः । चक्राद्यैरायुधैर्दिव्यैः पूर्णो माणवको निधिः ॥११७॥
शयनासनवस्तूनां विविधानां महानिधिः । सर्पो गृहोपयोग्यानां [3]भाजनानां च भाजनम् ॥११८॥
इन्द्रनीलमहानीलवज्रवैडूर्यपूर्वकैः । सर्वरत्ननिधिः पूर्णः सुरत्नैः सुमहाशिखैः ॥११९॥
भेरीशङ्खानकैर्वीणाझल्लरीमुरजादिभिः । आतोद्यैश्चोद्यसम्पूर्णैः पूर्णः शङ्खनिधिर्महान् ॥१२०॥

और आदर-सत्कार कर कृतयुगमें उन्हें भक्तिपूर्वक दान दिया ॥१०५–१०६॥ आगे चलकर भरतके द्वारा आदरको प्राप्त हुए वे व्रती ब्राह्मण कहे जाने लगे। इस तरह पहले कहे हुए तीन वर्णोंके साथ मिलकर अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हो गये ॥१०७॥ १ चक्र, २ छत्र, ३ खड्ग, ४ दण्ड, ५ काकिणी, ६ मणि, ७ चर्म, ८ सेनापति, ९ गृहपति, १० हस्ती, ११ अश्व, १२ पुरोहित, १३ स्थपति और १४ स्त्री चक्रवर्तीके ये चौदह रत्न थे, इनमें प्रत्येककी एक-एक हजार देव रक्षा करते थे तथा ये अत्यधिक सुशोभित थे ॥१०८–१०९॥ १ काल, २ महाकाल, ३ पाण्डुक, ४ माणव, ५ नौसर्प, ६ सर्वरत्न, ७ शङ्ख, ८ पद्म और ९ पिङ्गल ··· ये पुण्यशाली चक्रवर्तीकी नौ निधियाँ थीं। ये सभी निधियाँ अविनाशी थीं, निधिपाल नामक देवोंके द्वारा सुरक्षित थीं और निरन्तर लोगोंके उपकारमें आती थीं ॥११०–१११॥ ये गाड़ीके आकारकी थीं, चार-चार भौंरों और आठ-आठ पहियोंसे सहित थीं। नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी, आठ योजन गहरी और वक्षार गिरिके समान विशाल कुक्षिसे सहित थीं। प्रत्येककी एक-एक हजार यक्ष निरन्तर देख-रेख रखते थे ॥११२–११३॥

इनमेंसे पहली कालनिधिमें ज्योतिषशास्त्र, निमित्तशास्त्र, न्यायशास्त्र, कलाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, एवं पुराण आदिका सद्भाव था अर्थात् कालनिधिसे इन सबकी प्राप्ति होती थी ॥११४॥ दूसरी महाकाल निधिमें विद्वानोंके द्वारा निर्णय करने योग्य पञ्चलोह आदि नाना प्रकारके लोहोंका सद्भाव था अर्थात् उससे इन सबकी प्राप्ति होती थी ॥११५॥ तीसरी पाण्डुक निधिमें शालि, व्रीहि, जौ आदि समस्त प्रकारकी धान्य तथा कडुए चिरपरे आदि पदार्थोंका सद्भाव था ॥११६॥ चौथी माणवक निधि, कवच, ढाल, तलवार, बाण, शक्ति, धनुष तथा चक्र आदि नाना प्रकारके दिव्य शस्त्रोंसे परिपूर्ण थी ॥११७॥ पाँचवीं सर्प-निधि, शय्या, आसन आदि नाना प्रकारकी वस्तुओं तथा घरमें उपयोग आनेवाले नाना प्रकारके भाजनोंकी पात्र थी ॥११८॥ छठवीं सर्वरत्न निधि इन्द्रनील मणि, महानील मणि, वज्रमणि आदि बड़ी-बड़ी शिखाके धारक उत्तमोत्तम रत्नोंसे परिपूर्ण थी ॥११९॥ सातवीं शङ्ख-निधि, भेरी, शंख, नगाड़े, वीणा, झल्लरी और मृदङ्ग आदि आघातसे तथा फूँककर बजाने

---

१. नाशरहिताः, निधनानि च ङ० । २. पुराणाद्याः म० । ३. भोजनानां म० ।

पट्टचीनमहानेत्रदुकूलवरकम्बलैः । वस्त्रैर्विचित्रवर्णाढ्यैः पूर्णपद्मनिधिः सदा ॥१२१॥
कटकैः कटिसूत्राद्यैः स्त्रीपुंसाभरणैः शुभैः । स पिङ्गलनिधिः पूर्णो गजवाजिविभूषणैः ॥१२२॥
[1]कामवृष्टिवशास्तेऽमी नवापि निधयः सदा । निष्पादयन्ति निःशेषं चक्रवर्तिमनोषितम् ॥१२३॥
शतानि त्रीणि षष्ट्या तु सूपकाराः परे परे । कल्याणसिक्थमाहारं प्रत्यहं ये वितन्वते ॥१२४॥
सहस्रसिक्थः कवलो द्वात्रिंशत् तेऽपि चक्रिणः । एकश्चासौ सुभद्रायाः एकोऽन्येषां तु तृप्तये ॥१२५॥
चित्रकारसहस्राणि नवतिर्नवभिः सह । द्वात्रिंशत् ते सहस्राणि नृपा मुकुटबद्धकाः ॥१२६॥
देशास्चापि हि तावन्तो जयन्त्यपि सुरस्त्रियः । अन्तःपुरसहस्राणि तस्य षण्णवतिः प्रभोः ॥१२७॥
हलकोटी तथा गावस्त्रिकोटयः कामधेनवः । कोटयश्चाष्टादशाश्वानां निश्चेया वातरंहसाम् ॥१२८॥
लक्षाश्चतुरशीतिस्तु मदमन्थरगामिनाम् । हस्तिनां सुरथानां च प्रत्येकं चक्रवर्तिनः ॥१२९॥
[2]आदित्ययशसा सार्धं [3]विवर्धनपुरोगमाः । पञ्च पुत्रशतान्यस्य वशाश्चरमदेहकाः ॥१३०॥
भाजनं भोजनं शय्या चमूर्वाहनमासनम् । [4]निधिरत्नपुरं नाट्यं भोगास्तस्य दशाङ्गकाः ॥१३१॥
स षोडशसहस्रैश्च गणबद्धसुरैः सदा । सेवायां सेव्यते दक्षैः प्रमादरहितैर्हितैः ॥१३२॥
विभवेन नरेन्द्रोऽसौ तादृशेन युतोऽपि सन् । शास्त्रार्थक्षुण्णधीश्चक्रे दुर्गतिग्रहनिग्रहम् ॥१३३॥
स द्वात्रिंशत्सहस्राणां स्मयबाहुल्यमस्मयः । अपाकरोद्विकीर्यैतान् दोःकृताहितमन्थनः ॥१३४॥
[5]श्रीवृक्षलक्षितोरस्के सचतुःषष्टिलक्षणे । षोडशे मनुराजेऽस्मिन् विडौजः श्रीविडम्बिनि ॥१३५॥
स्वायम्भुवे महाभागे भरते भरतक्षितिम् । नीत्वा शासति खण्डानां नित्याखण्डितपौरुषे ॥१३६॥

योग्य नाना प्रकारके बाजोंसे पूर्ण थी ॥१२०॥ आठवीं पद्मनिधि पाटाम्बर, चीन, महानेत्र, दुकूल, उत्तम कम्बल तथा नाना प्रकारके रङ्ग-बिरङ्गे वस्त्रोंसे परिपूर्ण थी ॥१२१॥ और नौवीं पिङ्गलनिधि कड़े तथा कटिसूत्र आदि स्त्री-पुरुषोंके आभूषण और हाथी, घोड़ा आदिके अलङ्कारोंसे परिपूर्ण थी ॥१२२॥ ये नौकी नौ निधियाँ कामवृष्टि नामक गृहपतिके आधीन थीं और सदा चक्रवर्तीके समस्त मनोरथोंको पूर्ण करती थीं ॥१२३॥ चक्रवर्तीके एक-से-एक बढ़कर तीन सौ साठ रसोइया थे जो प्रतिदिन कल्याणकारी सीथोंसे युक्त आहार बनाते थे ॥१२४॥ एक हजार चावलोंका एक कवल होता है ऐसे बत्तीस कवल प्रमाण चक्रवर्तीका आहार था, सुभद्राका आहार एक कवल था और एक कवल अन्य समस्त लोगोंकी तृप्तिके लिए पर्याप्त था ॥१२५॥ चक्रवर्तीके निन्यानबे हजार चित्रकार थे, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उतने ही देश थे और देवाङ्गनाओंको भी जीतनेवाली छियानबे हजार स्त्रियाँ थीं ॥१२६–१२७॥ एक करोड़ हल थे, तीन करोड़ कामधेनु गायें थीं, वायुके समान वेगशाली अठारह करोड़ घोड़े थे, मत्त एवं धीरे-धीरे गमन करनेवाले चौरासी लाख हाथी और उतने ही उत्तम रथ थे ॥१२८–१२९॥ अर्ककीर्ति और विवर्धनको आदि लेकर पाँचसौ चरम शरीरी तथा आज्ञाकारी पुत्र थे ॥१३०॥ १ भाजन, २ भोजन, ३ शय्या, ४ सेना, ५ वाहन, ६ आसन, ७ निधि, ८ रत्न, ९ नगर और १० नाट्य ये दश प्रकारके भोग थे ॥१३१॥ सेवामें निपुण, प्रमाद रहित एवं परमहितकारी सोलह हजार गणबद्ध देव सदा उनकी सेवा करते थे ॥१३२॥ यद्यपि राजाधिराज चक्रवर्ती इस प्रकारके विभवसे सहित थे तथापि उनकी बुद्धि शास्त्रोंका अर्थ विचारनेमें निरत रहती थी और वे दुर्गतिरूपी ग्रहका सदा निग्रह करते रहते थे ॥१३३॥ भुजाओंसे शत्रुओंका मथन करने वाले चक्रवर्तीने यद्यपि बत्तीस हजार राजाओंको बिखेर कर उनका अभिमान नष्ट कर दिया था तथापि स्वयं अभिमानसे रहित थे ॥१३४॥ जिनका वक्षःस्थल श्रीवृक्षके चिह्नसे सहित था, जो चौंसठ लक्षणोंसे युक्त थे, जो इन्द्रकी लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाले थे और जो नित्य एवं अखण्डित पौरुषको धारण करनेवाले थे ऐसे स्वयंभूपुत्र सोलहवें कुलकर भरत महाराज जब भरत क्षेत्र सम्बन्धी छह खण्डोंकी भूमिका

१. कामदृष्टि-म० । २. अर्ककीर्तिना । ३. विवर्द्धनकुमारादयः । ४. निधिरत्नं पुरं म० । ५. श्रीवत्स-म० ।

धर्मार्थकाममोक्षेषु यथेष्टमनुरागिणः । जनाः सन्ततमारेमुर्निःप्रत्यूहसमीहिताः ॥१३७॥
अवाग्विसर्गमन्येषां पूर्वधर्मफलं प्रभुः । श्रिया स दर्शयन् केषां नाभूद्धर्मस्य देशकः ॥१३८॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

धर्मस्याचरितस्य पूर्वजनने मार्गो जिनानां महान्
माहात्म्येन सपौरुषः सुखनिधिर्लोकैककल्पद्रुमः ।
सम्यग्दर्शनरत्नरञ्जितमनोवृत्तिर्मनश्चक्रभृत्
चक्रे शक्रनिभः श्रियाऽत्र भरतः शार्दूलविक्रीडितम् ॥१३९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ भरतदिग्विजयवर्णनो नाम एकादशः सर्गः ।

नीतिपूर्वक शासन करते थे तब धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें यथेष्ट अनुराग रखने वाले लोग निर्विघ्न रूपसे निरन्तर आनन्दका उपभोग करते थे ॥१३५-१३७॥ जो अपनी लक्ष्मीके द्वारा विना वचन बोले ही अन्य मनुष्योंके लिए पूर्वजन्ममें किये हुए धर्मका फल दिखला रहे थे ऐसे भरत महाराज किनके लिए धर्मके उपदेशक नहीं थे। भावार्थ—उनकी अनुपम विभूतिको देखकर लोग अपने आप समझ जाते थे कि यह इनके पूर्वकृत धर्मका फल है इसलिए सबको धर्म करना चाहिए ॥१३८॥ इस प्रकार पूर्वजन्ममें आचरण किये हुए धर्मके माहात्म्यसे जो स्वयं अतिशय महान् थे, पौरुषसे युक्त थे, सुखके भाण्डार थे, लोगोंके लिए कल्पवृक्ष स्वरूप थे, सम्यग्दर्शन रूपी रत्नसे रञ्जित मनोवृत्तिसे युक्त थे, और लक्ष्मीसे इन्द्रके समान थे ऐसे चक्रवर्ती भरत, सिंहकी चेष्टाके समान सुदृढ़ मनको जिनमार्गमें लीन रखने लगे ॥१३९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें भरतकी दिग्विजयका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

द्वादशः सर्गः

चकार वन्दनां गत्वा चक्री भर्तुरनारतम् । स त्रिषष्टिपुराणानि शुश्राव च सविस्तरम् ॥१॥
चतुर्विंशतितीर्थेश[1]वन्दनार्थं शिरःस्पृशम् । अचीकरदसौ वेश्मद्वारे वन्दनमालिकाम् ॥२॥
अदृष्टपूर्वतीर्थेशाः प्रविष्टाः समवस्थितिम् । कदाचिच्चक्रिणा सार्द्धं विवर्द्धनपुरोगमाः[2] ॥३॥
क्लिष्टाः स्थावरकायेष्वनादिमिथ्यात्वदृष्टयः । दृष्ट्वा भगवतो लक्ष्मीं राजपुत्राः सुविस्मिताः ॥४॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः । त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभिर्बभुः ॥५॥
तान् प्रशस्य ततश्चक्री शासनं च जिनेशिनाम् । नत्वेशं साधुसङ्घं च विवेश मुदितः पुरीम् ॥६॥
शनैर्याति ततः काले साम्राज्ये लोकपालिनः । चतुर्वर्गोचितज्ञानजलक्षालितचेतसः ॥७॥
ततः स्वयंवरारम्भे प्राप्ते भूचरखेचरे । वृते मेघेश्वरे धीरे सुसुलोचनया तथा ॥८॥
युद्धे बद्धे[3]ऽर्ककीर्त्तौ च मुक्ते च कृतपूजने । अकम्पनसुताभर्त्ता पूजितश्चक्रवर्तिना ॥९॥
स हास्तिनपुराधीशः प्रासादस्थोऽन्यदा वृतः । स्त्रीभिः खे खेचरं यान्तं खेचर्या[4] वीक्ष्य मूर्च्छितः ॥१०॥

अथानन्तर चक्रवर्ती भरत समवसरणमें जाकर निरन्तर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार करते थे और त्रेशठ शलाकापुरुषोंके पुराण विस्तारके साथ सुनते थे ॥१॥ उन्होंने चौबीस तीर्थङ्करोंकी वन्दनाके लिए अपने महलोंके द्वारपर शिरका स्पर्श करने वाली वन्दनमालाएँ बँधवाई थीं। भावार्थ—चक्रवर्ती भरतने अपने महलोंके द्वारपर रत्ननिर्मित चौबीस घंटियोंसे सहित ऐसी वन्दन-मालाएँ बँधवाई थीं जिनका निकलते समय शिरसे स्पर्श होता था। घंटियोंकी आवाज सुनकर भरतको चौबीस तीर्थकरोंका स्मरण हो आता था जिससे वह उन्हें परोक्ष नमस्कार करता था ॥२॥ किसी समय चक्रवर्तीके साथ विवर्द्धन कुमार आदि नौ सौ तेईस राजकुमार भगवान्के समवसरणमें प्रविष्ट हुए। उन्होंने पहले कभी तीर्थंकरके दर्शन नहीं किये थे। वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे और अनादि कालसे ही स्थावर कायोंमें जन्ममरण कर क्लेशको प्राप्त हुए थे। भगवान्की लक्ष्मी देखकर वे सब परम आश्चर्यको प्राप्त हुए और अन्तर्मुहूर्तमें ही उन्होंने संयम प्राप्त कर लिया ॥३-४॥ चक्रवर्तीने उन सब कुमारोंकी तथा जिनेन्द्रदेवके शासनकी प्रशंसा की और अन्तमें वे श्रीजिनेन्द्र भगवान् तथा मुनिसंघको नमस्कार कर प्रसन्न होते हुए अयोध्या नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥६॥

तदनन्तर धीरे-धीरे समय व्यतीत होनेपर लोगोंकी रक्षा करने वाले एवं चतुर्वर्गके वास्तविक ज्ञानरूपी जलसे प्रक्षालित चित्तके धारक महाराज भरतके साम्राज्यमें सर्व प्रथम स्वयंवर प्रथाका प्रारम्भ हुआ। स्वयंवर मण्डपमें अनेक भूमिगोचरी तथा विद्याधर इकट्ठे हुए। बनारसके राजा अकम्पनकी पुत्री सुलोचनाने हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभके पुत्र मेघेश्वर जयकुमारको वरा। अर्ककीर्ति और जयकुमारका युद्ध हुआ जिसमें जयकुमारने अर्ककीर्तिको बाँध लिया। पश्चात् अकम्पनकी प्रेरणासे जयकुमारने अर्ककीर्तिको छोड़ दिया एवं उसका सत्कार किया और चक्रवर्तीने सुलोचनाके पति जयकुमारका सत्कार किया ॥७-९॥

तदनन्तर किसी समय हस्तिनापुरका राजा जयकुमार स्त्रियोंसे घिरा महलकी छतपर बैठा था कि आकाशमें जाते हुए विद्याधर और विद्याधरीको देखकर अकस्मात् मूर्च्छित हो

---

१. तीर्थेशं वन्दनार्थं म०। २. विवर्द्धनकुमारप्रभृतयः ९२३ भरतपुत्राः अनादिमिथ्यादृष्टयः सर्वतः पूर्वं भगवतो वैभवं दृष्ट्वा संयमं स्वीचक्रुरिति कथासारः। ३. बद्धे च कीर्तौ च म०। ४. विद्याधर्या सह।

विह्वलान्तःपुरस्त्रीभिः कृतमूर्च्छाप्रतिक्रियः[1] । हा प्रभावति ! यातासि क्वेत्यवादीत्प्रबुद्धवान् ॥११॥
जये जातिस्मरे जाते तत्प्रियाऽपि सुलोचना । प्रासादवलभौ क्रीडत्पारावतयुगेक्षणात् ॥१२॥
भूत्वा जातिस्मरा मूर्च्छां गत्वा प्राप्य प्रतिक्रियाम्[2] । हिरण्यवर्मणो नाम गृह्णतीव समुत्थिता ॥१३॥
हिरण्यवर्मपूर्वोऽहमित्युवाच जयः प्रियाम् । साऽहं प्रभावतीत्याह प्रहृष्टा तं सुलोचना ॥१४॥
विद्याधरभवं पूर्वमभिज्ञानैरुभावपि । परस्परस्य संवाद्यं स्पष्टं विदधतुः प्रियौ ॥१५॥
ततोऽन्तःपुरलोकस्य कौतुकव्याप्तचेतसः । किमेतदिति जिज्ञासाशमनार्थं जयोक्तया ॥१६॥
सुखदुःखरसोन्मिश्रमवियोगसुखान्वितम् । द्वयोश्चरितमाख्यातं चतुर्भवमयं तया ॥१७॥
उट्टिण्टिकारिसम्बन्धं सुकान्तरतिवेगयोः । दम्पत्योर्दग्धयोस्तेन मरणं करुणावहम् ॥१८॥
मार्जारेण सता तेन स्वपारावतजन्मनि । भक्षणे दुःखमरणं स्वं जगाद सुलोचना ॥१९॥
साधुदानानुमोदेन प्रभावत्या प्रभावितः । हिरण्यवर्मणो भोगं महाविद्याधरश्रियः ॥२०॥
स्वपूर्ववैरिणा दाहं तयोः सह तपस्थयोः । आद्यकल्पसमुत्पत्तिं संक्लेशपरिणामतः ॥२१॥
क्रीडार्थमागतस्यास्य धर्मो देवमिथुनस्य च । वैरिणो नरकोत्थस्य भीमसाधोश्च मर्षणम् ॥२२॥
स्वर्गच्यवनपर्यन्तं दम्पत्योश्चरितं यथा । [3]दृष्टश्रुतानुभूतार्थं सविस्तरमुदीरितम् ॥२३॥

गया ॥१०॥ घबड़ायी हुई अन्तःपुरकी स्त्रियोंने उसकी मूर्च्छाका उपचार किया जिससे सचेत होकर वह कहने लगा कि 'हाय ! प्रभावति ! तू कहाँ गई ?' ॥११॥ उधर विद्याधर और विद्याधरीको देखकर जयकुमारको जातिस्मरण हुआ और इधर महलके छज्जेपर क्रीड़ा करते हुए कबूतर और कबूतरीका युगल देखनेसे सुलोचनाको भी जातिस्मरण हो गया जिससे वह भी मूर्च्छित हो गई । पश्चात् मूर्च्छाका उपचार प्राप्त कर सुलोचना हिरण्यवर्माका नाम लेती हुई उठी ॥१२-१३॥ प्रियाके मुखसे हिरण्यवर्माका नाम सुनकर जयकुमारने उससे कहा कि पहले मैं ही हिरण्यवर्मा था इसके उत्तरमें सुलोचनाने भी प्रसन्न होती हुई कहा कि वह प्रभावती मैं ही हूँ ॥१४॥ इस प्रकार पति-पत्नी दोनोंने अनेक चिह्नोंसे हम पहले विद्याधर थे, इसका स्पष्ट निर्णय कर लिया ॥१५॥

तदनन्तर जिसका चित्त कौतुकसे व्याप्त हो रहा था ऐसे अन्तःपुरके समस्त लोगोंकी 'यह क्या है' इस जिज्ञासाको दूर करनेके लिए जयकुमारकी प्रेरणा पाकर सुलोचनाने दोनोंके पिछले चार भवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला चरित कहना शुरू किया । उनका वह चरित सुख और दुःख रूपी रससे मिला हुआ था तथा संयोग सम्बन्धी सुखसे सहित था ॥१६-१७॥ उसने बताया कि सुकान्त और रतिवेगा नामक दम्पतिके साथ उट्टिंटिकारिका क्या सम्बन्ध था तथा किस प्रकार उसने उक्त दोनों दम्पतियोंको जलाकर उनका करुणापूर्ण मरण किया था । उट्टिंटिकारि मरकर बिलाव हुआ और सुकान्त तथा रतिवेगा मरकर कबूतर-कबूतरी हुए तो उट्टिंटिकारिने कबूतर-कबूतरीका भक्षण किया । जिससे उन्हें मरते समय बड़ा दुःख उठाना पड़ा ॥१८-१९॥ मुनिदानकी अनुमोदनासे कबूतरीका जीव प्रभावती नामकी विद्याधरी हुई और कबूतरका जीव हिरण्यवर्मा नामका विद्याधर हुआ तथा दोनों ही विद्याधरोंकी लक्ष्मीका उपभोग करते रहे । कदाचित् हिरण्यवर्मा और प्रभावती वनमें तपस्या करते थे उसी समय अपने पूर्व भवके वैरी—मार्जारके जीव (विद्युद्वेग नामक चोर) ने उन्हें अग्निमें जला दिया । संक्लिष्ट परिणामोंके कारण हिरण्यवर्मा और प्रभावती मरकर प्रथम स्वर्गमें देव-देवी हुए और विद्युद्वेग चोरका जीव मरकर नरक गया । किसी समय उक्त देव-देवियोंका युगल क्रीडाके लिए पृथिवीपर आया था और विद्युद्वेगका जीव नरकसे निकलकर भीम नामका साधु हुआ था । सो कारण पाकर तीनों जीवों-

---

१. कृतमूर्च्छानिवारणः । २. प्रतिक्रियः म० । ३. दृष्टं श्रुता म० ।

निजाज्ञया च कथितं श्रीपालचरितं तथा । सान्तःपुरो जयः श्रुत्वा महान्तं विस्मयं श्रितः ॥२४॥
भवपञ्चकसम्बन्धस्नेहसागरवर्तिनोः । स्मरणादेव सम्प्राप्ताः विद्याः प्राग्जन्मजास्तयोः ॥२५॥
ततो विद्याप्रभावेण विद्याधरयुवश्रियौ । विजह्रतुर्जयन्तौ तौ लोकं खेचरगोचरम् ॥२६॥
जिनेन्द्रवन्दनापूर्वं त्रिवर्गपरिपोषिणा । मन्दरस्य रतं तेन कन्दरासु समं तया ॥२७॥
कुलशैलनितम्बेषु सुविशालनितम्बया । रेमे किन्नरगीतेषु रामया सोऽभिरामया ॥२८॥
कर्मभूमिभवेनापि क्रीडितं भोगभूमिषु । कलागुणविदग्धेन मिथुनेन यथेप्सितम् ॥२९॥
शक्रप्रशंसनादेत्य रतिप्रभसुरेण सः । परीक्ष्य स्वस्त्रिया मेरावन्यदा पूजितो जयः ॥३०॥
सर्वासामेव शुद्धीनां शीलशुद्धिः प्रशस्यते । शीलशुद्धिविशुद्धानां किङ्कराम्त्रिदशा नृणाम् ॥३१॥
वर्षाणि बहुपत्नीकः सुबहूनि बहुप्रजाः । बुभुजे परमान् भोगान् विजयेन समं जयः ॥३२॥
सुतयाऽकम्पनस्यासावाक्रीड्याद्रिषु चान्यदा । वन्दनार्थं जिनेन्द्रस्य वृषभस्य समागमत् ॥३३॥
प्रत्यासन्नमुपायान्तीं[1] प्रोवाच दयितां च सः । प्रिये पश्य जिनाधीशं त्रैलोक्यपरिवारितम् ॥३४॥
प्रातिहार्यैर्युतोऽष्टाभिश्चतुस्त्रिंशन्महाद्भुतैः । अयं भाति विशुद्धात्मा[2] त्रैलोक्यपरमेश्वरः ॥३५॥
अमी चतुर्विधा देवाः सौधर्मप्रमुखाः प्रिये । देव्योऽमीषामपि मूर्ध्ना प्रणमन्ति जिनेश्वरम् ॥३६॥

ने परस्पर क्षमा भाव धारण किया। काल पाकर भीम मुनि तो मोक्ष चले गये और देवदम्पती स्वर्गसे च्युत होकर हम दोनों हुए हैं। इस प्रकार स्वर्गसे च्युत होने पर्यन्त देवदम्पतीका चरित जैसा देखा, सुना अथवा अनुभव किया था वैसा सुलोचनाने विस्तारके साथ वर्णन किया ॥२०–२३॥ तदनन्तर जयकुमारकी आज्ञा पाकर सुलोचनाने श्रीपाल चक्रवर्तीका भी चरित कहा जिसे अन्तःपुरके साथ-साथ सुनकर जयकुमार परम आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥२४॥ जो पाँच भवोंके सम्बन्धसे समुत्पन्न स्नेह रूपी सागरमें निमग्न थे ऐसे जयकुमार और सुलोचनाको स्मरण मात्रसे ही पूर्व भव सम्बन्धी विद्याएँ प्राप्त हो गईं ॥२५॥ तदनन्तर विद्याके प्रभावसे विद्याधर और विद्याधरियोंकी शोभाको जीतते हुए वे दोनों विद्याधरोंके लोकमें विहार करने लगे ॥२६॥ धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्गको पुष्ट करनेवाला जयकुमार कभी जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना कर सुमेरुपर्वतकी गुफाओंमें सुलोचनाके साथ रमण करता था और कभी जहाँ किन्नर देव गाते थे ऐसे कुलाचलोंके नितम्बोंपर विशाल नितम्बोंसे सुशोभित सुन्दरी सुलोचनाके साथ क्रीड़ा करता था ॥२७–२८॥ वह यद्यपि कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ था तथापि कला गुणमें विदग्ध आर्य दम्पतीके समान भोगभूमियोंमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता था ॥२९॥

किसी समय इन्द्रके द्वारा की हुई प्रशंसासे प्रेरित होकर रतिप्रभ नामक देवने अपनी स्त्रीके साथ सुमेरु पर्वतपर जयकुमारके शीलकी परीक्षा की और परीक्षा करनेके बाद उसकी पूजा की ॥३०॥ सो ठीक ही है क्योंकि सब प्रकारकी शुद्धियोंमें शीलशुद्धि ही प्रशंसनीय है। जो मनुष्य शीलकी शुद्धिसे विशुद्ध हैं उनके देव भी किंकर हो जाते हैं ॥३१॥ बहुत पत्नियों और बहुत पुत्रोंसे सुशोभित जयकुमार अपने छोटे भाई विजयके साथ उत्तमोत्तम भोग भोगता रहा ॥३२॥

तदनन्तर किसी दिन वह सुलोचनाके साथ पर्वतोंपर क्रीड़ा कर श्री वृषभ जिनेन्द्रकी वन्दनाके लिए समवसरण गया ॥३३॥ समवसरणके समीप पहुँचकर उसने पासमें खड़ी सुलोचनासे कहा कि प्रिये! तीन लोकके जीवोंसे घिरे हुए जिनेन्द्रदेवको देखो ॥३४॥ ये त्रिलोकीनाथ आठ प्रातिहार्योंसे सहित हैं तथा चौंतीस अतिशयोंसे सुशोभित हो रहे हैं ॥३५॥ हे प्रिये! ये सौधर्म आदि चारों निकायके देव और इनकी देवियाँ मस्तक झुका-झुकाकर जिनेन्द्र देवको

---

१. मवोचन्ती म०। २. विशुद्धात्मो म०, ख०।

नानर्द्धियतिभिर्युक्ताः सप्ततिर्गणधारिणः । अमी वृषभसेनाद्याः प्रकाशन्तेऽन्तिके प्रभोः ॥३७॥
असौ बाहुबली कान्ते ! केवली जटिलो वृतः । स्वभ्रातृमुनिभिर्भाति न्यग्रोध इव पादपैः ॥३८॥
एष सोमप्रभो देवि ! शोभते गुरुरावयोः । श्रेयसा सहितो योगी तपःश्रीपरिवारितः ॥३९॥
अयं पुत्रसहस्रेण तपस्थो जनकस्तव । अकम्पनमहाराजो राजते तपसः[1] श्रिया ॥४०॥
दुर्मर्षणादयस्तेऽमी त्वत्स्वयंवरयोधिनः । उपशान्तधियः कान्ते ! तपस्यन्ति महानृपाः ॥४१॥
ब्राह्मीयं सुन्दरीयं च समस्तार्यागणाग्रणीः । कुमारीभ्यां प्रिये ताभ्यां मारभङ्गः स्फुटीकृतः ॥४२॥
भरतोऽयं नृपैः सार्धमुपविष्टो जिनान्तिके । अन्तःपुरमिदं तस्य सुभद्रादिकमेकतः ॥४३॥
पश्य पश्य प्रिये चित्रं यदन्योन्यविरोधिनः । तिर्यञ्चोऽमी समासीनाः सममेकत्र मित्रवत् ॥४४॥
दर्शयन्निति कान्तायै समवस्थितिमर्हतः । सोऽवतीर्य नभोमार्गात् कृतजैनेन्द्रसंस्तवः ॥४५॥
निविष्टश्चक्रिणः पार्श्वे विनयी नयविज्जयः । सुभद्रान्तिकमासाद्य समासीना सुलोचना ॥४६॥
धर्मं तत्र जयः श्रुत्वा सप्रपञ्चकथामृतम् । बोधिलाभमसौ लेभे मोहनीयतनुत्वतः ॥४७॥
स्नेहपाशं दृढं छित्वा प्रबोध्य स सुलोचनाम् । पुत्रायानन्तवीर्याय दत्त्वा राज्यं निजं कृती ॥४८॥
चक्रिणा रुध्यमानोऽपि स स्नेहवशवर्तिना । प्रवव्राज जिनस्यान्ते विजयेन जयः समम् ॥४९॥
शतान्यष्टौ जयेनामा प्राव्रजन् क्षितिपास्तदा । कलत्रपुत्रमित्राणि सराज्यान्यपहाय ते ॥५०॥
दुःसंसारस्वभावज्ञा सपत्नीभिः सिताम्बरा । ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना ॥५१॥

प्रणाम कर रही हैं ॥३६॥ ये भगवान् ऋषभदेवके समीप नाना ऋद्धियोंके धारक मुनियोंसे युक्त वृषभसेन आदि सत्तर गणधर सुशोभित हो रहे हैं ॥३७॥ हे कान्ते ! यहाँ ये केवलज्ञानी जटाधारी बाहुबली भगवान् विराजमान हैं । ये मुनि अवस्थाको प्राप्त हुए अपने भाइयोंसे घिरे हुए हैं और अनेक वृक्षोंसे घिरे वटवृक्षके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥३८॥ हे देवि ! इधर ये तपरूपी लक्ष्मीसे घिरे हुए हमारे पिता सोमप्रभ मुनिराज, अपने छोटे भाई श्रेयान्सके साथ सुशोभित हो रहे हैं ॥३९॥ इधर ये तुम्हारे पिता अकम्पन महाराज एक हजार पुत्रोंके साथ तप-में लीन हैं तथा तपोलक्ष्मीसे अत्यधिक सुशोभित हो रहे हैं ॥४०॥ हे कान्ते ! इधर ये तुम्हारे स्वयंवरमें युद्ध करनेवाले दुर्मर्षण आदि बड़े-बड़े राजा शान्त चित्त होकर तपस्या कर रहे हैं ॥४१॥ हे प्रिये ! यह समस्त आर्यिकाओंकी अग्रणी ब्राह्मी है और यह सुन्दरी है इन दोनोंने कुमारी अवस्थामें ही कामदेवको पराजित कर दिया है ॥४२॥ इधर यह जिनेन्द्र भगवान्के समीप अनेक राजाओंके साथ भरत चक्रवर्ती बैठा है और उधर दूसरी ओर उसकी सुभद्रा आदि रानियाँ अवस्थित हैं ॥४३॥ हे प्रिये ! देखो देखो, कैसा आश्चर्य है कि ये परस्परके विरोधी तिर्यञ्च यहाँ एक साथ मित्रकी तरह बैठे हैं ॥४४॥ इस प्रकार प्राणवल्लभा—सुलोचनाके लिए अरहन्त भगवान्का समवसरण दिखाता हुआ नीतिका वेत्ता कुमार आकाशसे नीचे उतरा और जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति करता हुआ विनय-पूर्वक चक्रवर्तीके पास बैठ गया तथा सुलोचना सुभद्राके पास जाकर बैठ गई ॥४५-४६॥ जयकुमारका मोह अत्यन्त सूक्ष्म रह गया था इसलिए वहाँ विस्तृत कथारूपी अमृतसे सहित धर्मका उपदेश सुनकर उसने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूपी बोधिका लाभ प्राप्त किया ॥४७॥ तदनन्तर अतिशय बुद्धिमान् जयकुमारने स्नेहरूपी सुदृढ़ बन्धनको छेदकर सुलोचनाको समझाया, अनन्तवीर्य नामक पुत्रके लिए अपना राज्य दिया और स्नेहके वशवर्ती चक्रवर्तीके मना करनेपर भी छोटे भाई विजयके साथ जिनेन्द्र-देवके समीप दीक्षा ले ली ॥४८-४९॥ उस समय जयकुमारके साथ एक सौ आठ राजाओंने स्त्री, पुत्र, मित्र तथा राज्यको छोड़कर दीक्षा धारण कर ली ॥५०॥ दुष्ट संसारके स्वभावको जाननेवाली सुलोचनाने अपनी सपत्नियोंके साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिये और ब्राह्मी तथा

१. तपसा श्रिया म० ।

द्वादशाङ्गधरो जातः क्षिप्रं मेघेश्वरो गणी । एकादशाङ्गभृज्जाता साऽऽर्यिकाऽपि सुलोचना ॥५२॥
भूचरेषु ततोऽन्येषु खेचरेषु च राजसु । निष्क्रान्तेषु श्रियस्त्यक्त्वा दोषिणीरिव योषितः ॥५३॥
अभूवन् गणिनो भर्तुरशीतिश्चतुरुत्तरा । सहस्राणि गणास्चासन्नशीतिश्चतुरुत्तरा ॥५४॥
आद्यो वृषभसेनोऽन्यः कुम्भो दृढरथो गणी । चतुर्थः शत्रुदमनो देवशर्मा च पञ्चमः ॥५५॥
षष्ठो गणधरो धीमान् धनदेव इतीरितः । नन्दनः सोमदत्तश्च सुरदत्तस्तथा परः ॥५६॥
वायुशर्मा सुबाहुश्च देवाग्निर्द्वादशो गणी । अग्निदेवोऽग्निभूतिश्च[1] चतुर्दश उदीरितः ॥५७॥
तेजस्वी चाग्निमित्रश्च तथा हलधरः श्रुती । महीधरश्च माहेन्द्रो वसुदेवो वसुन्धरः ॥५८॥
तथैवाचलनामाख्यो मेरुश्च जगतीष्यते । भूतिः सर्वसहो यज्ञः सर्वगुप्तस्तथापरः ॥५९॥
द्वौ च सर्वप्रियो देवो विजयश्चापि संज्ञया । परो विजयगुप्तश्च मित्रान्तविजयस्ततः ॥६०॥
विजयश्रीरिति ख्यातः पराख्योऽप्यपराजितः । वसुमित्रोऽपि सेनान्तो वसुसाधुरनीदृशः ॥६१॥
सत्यदेव इति ज्ञेयः सत्यवेदः पुनर्गणी । सर्वगुप्तश्च मित्रश्च सत्यवानिति नामतः ॥६२॥
विनीतः संवरश्चोभावृषिगुप्तर्षिदत्तकौ । यज्ञदेव इति प्रोक्तो यज्ञगुप्तस्तथैव च ॥६३॥
यज्ञमित्रो यज्ञदत्तः स्वायम्भुव इति स्तुतः । भागदत्तो भागफल्गुर्गुप्तफल्गुः प्रकीर्तितः ॥६४॥
तथाऽन्यो गणभृन्नाम्ना मित्रफल्गुः प्रजापतिः । ततः सत्ययशा नाम्ना वरुणो धनवाहिकः[2] ॥६५॥
गणी महेन्द्रदत्तश्च तेजोराशिर्महारथः । विजयश्रुतिरन्यश्च महाबल इति श्रुतः ॥६६॥
सुविशालश्च वज्रश्च वैरनामा ततोऽपरः । सन्ततिश्चन्द्रचूडोऽन्यस्ततो मेघेश्वरः परः ॥६७॥
कच्छश्चापि महाकच्छः सुकच्छोऽतिबलोऽपि च । भद्रावलिश्च विख्यातो नमिश्च विनमिस्तथा ॥६८॥
गणी भद्रबलो नन्दी तथाऽन्यः समुदीरितः । महानुभावसंज्ञश्च नन्दिमित्रश्च नामतः ॥६९॥
तथैव कामदेवश्च चरमोऽनुपमः स्मृतः । वृषभस्य गणिनस्तेऽमी अशीतिश्चतुरुत्तराः ॥७०॥

सुन्दरीके पास जाकर दीक्षा ले ली ॥५१॥ मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशाङ्गके पाठी होकर भगवान्‌के गणधर हो गये और आर्यिका सुलोचना भी ग्यारह अङ्गोंकी धारक हो गई ॥५२॥ तदनन्तर अनेक भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंने जब दोषवती स्त्रियोंके समान लक्ष्मीका त्यागकर दीक्षा धारण कर ली तब भगवान्‌के चौरासी गणधर हो गये और गणोंकी संख्या चौरासी हजार हो गई ॥५३-५४॥ उनमें चौरासी गणधरोंके नाम ये हैं—१ वृषभसेन, २ कुम्भ, ३ दृढरथ, ४ शत्रुदमन, ५ देवशर्मा, ६ धनदेव, ७ नन्दन, ८ सोमदत्त, ९ सुरदत्त, १० वायुशर्मा, ११ सुबाहु, १२ देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निभूति, १५ तेजस्वी, १६ अग्निमित्र, १७ हलधर, १८ महीधर, १९ माहेन्द्र, २० वसुदेव, २१ वसुन्धर, २२ अचल, २३ मेरु, २४ भूति, २५ सर्वसह, २६ यज्ञ, २७ सर्वगुप्त, २८ सर्वप्रिय, २९ सर्वदेव, ३० विजय, ३१ विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयश्री, ३४ पराख्य, ३५ अपराजित, ३६ वसुमित्र, ३७ वसुसेन, ३८ साधुसेन, ३९ सत्यदेव, ४० सत्यवेद, ४१ सर्वगुप्त, ४२ मित्र, ४३ सत्यवान् , ४४ विनीत, ४५ संवर, ४६ ऋषिगुप्त, ४७ ऋषिदत्त, ४८ यज्ञदेव, ४९ यज्ञगुप्त, ५० यज्ञमित्र, ५१ यज्ञदत्त, ५२ स्वायंभुव, ५३ भागदत्त, ५४ भागफल्गु, ५५ गुप्त, ५६ गुप्तफल्गु, ५७ मित्रफल्गु, ५८ प्रजापति, ५९ सत्ययश, ६० वरुण, ६१ धनवाहिक, ६२ महेन्द्रदत्त, ६३ तेजोराशि, ६४ महारथ, ६५ विजय-श्रुति, ६६ महाबल, ६७ सुविशाल, ६८ वज्र, ६९ वैर, ७० चन्द्रचूड, ७१ मेघेश्वर, ७२ कच्छ, ७३ महाकच्छ, ७४ सुकच्छ, ७५ अतिबल, ७६ भद्रावलि, ७७ नमि, ७८ विनमि, ७९ भद्रबल, ८० नन्दी, ८१ महानुभाव, ८२ नन्दिमित्र, ८३ कामदेव और ८४ अनुपम। भगवान् वृषभदेवके ये चौरासी गणधर थे ॥५५-७०॥

१. भूतश्च म० । २. धनवाहकः म०, ख० ।

सङ्घः परिषदि श्रीमान् बभौ सप्तविधस्तदा । विचित्रगुणपूर्णानामृषीणां वृषभेशिनः ॥७१॥
सहस्राणि च चत्वारि तत्र सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च महाभागा बभुः [1] पूर्वधरास्तदा ॥७२॥
तावन्त्येव सहस्राणि शतं पञ्चाशतायुतम् । श्रुतस्य शिक्षकाः [2] प्रोक्ताः संयताः संयतात्मकाः ॥७३॥
सहस्राणि नवार्धीता मुनयोऽवधिलोचनाः [3] । विंशतिस्ते सहस्राणि केवलज्ञानलोचनाः [4] ॥७४॥
विंशतिस्ते सहस्राणि षट् शतानि च वैक्रियाः [5] । विक्रियाशक्तियोगेन जयन्तः शक्रमप्यलम् ॥७५॥
द्वादशैव सहस्राणि तथा सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च युतास्तत्र मत्या विपुलया [6] बभुः ॥७६॥
तावन्त एव संख्याताः संख्ययाऽसंख्यसद्गुणाः । श्रेतारो हेतुवादज्ञा वादिनः प्रतिवादिनाम् ॥७७॥
सपञ्चाशत्सहस्रास्ता शुद्धशा बभुरार्यिकाः । श्राविकाः पञ्चलक्ष्यस्तास्त्रिलक्षाः श्रावकाश्च ते ॥७८॥
छद्मस्थकालनिर्मुक्तां पूर्वलक्षां जिनेश्वरः । विजहार महीं भव्यान् भवाब्धेस्तारयन् बहून् ॥७९॥

स्रग्धराच्छन्दः

इत्थं कृत्वा समर्थं भवजलधिजलोत्तारणे भावतीर्थं
कल्पान्तस्थायि भूयस्त्रिभुवनहितकृत् क्षेत्रतीर्थं स कर्तुम् ।
स्वाभाव्यादारुरोह श्रमणगणसुरव्रातसत्पूज्यपादः
कैलासाख्यं महीध्रं निषधमिव वृषादित्य इद्धप्रभाढ्यः ॥८०॥

तस्मिन्नद्रौ जिनेन्द्रः स्फटिकमणिशिलाजालरम्ये निषण्णो
योगानां सन्निरोधं सह दशभिरथो योगिनां यैः सहस्रैः ।
कृत्वा कृत्वान्तमन्ते चतुरपरमहाकर्मभेदस्य शर्म-
स्थानं स्थानं स सैद्धं समगमदमलस्रग्धराभ्यर्च्यमानः ॥८१॥

भगवान् वृषभदेवकी सभामें नाना प्रकारके गुणोंसे पूर्ण मुनियोंका सात प्रकारका संघ था ॥७१॥ उनमें चार हजार सात सौ पचास महाभाग तो पूर्वधर थे ॥७२॥ चार हजार सात सौ पचास मुनि श्रुतके शिक्षक थे, ये सब मुनि इन्द्रियोंको वश करनेवाले थे ॥७३॥ नौ हजार मुनि अवधिज्ञानी थे, बीस हजार केवलज्ञानी थे, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक थे, ये मुनि अपनी विक्रिया शक्तिके योगसे इन्द्रको भी अच्छी तरह जीतनेवाले थे, बीस हजार सात सौ पचास विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक थे, बीस हजार सात सौ पचास ही असंख्यात गुणोंके धारक; हेतुवादके ज्ञाता तथा प्रतिवादियोंको जीतनेवाले वादी थे, शुद्ध आत्मतत्त्वको जाननेवाली पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, पाँच लाख श्राविकाएँ थीं और तीन लाख श्रावक थे ॥७४–७८॥ भगवान्की कुल आयु चौरासी लाख पूर्व वर्षकी थी उसमेंसे छद्मस्थ कालके तेरासी लाख वर्ष पूर्व वर्ष कम कर देनेपर एक लाख पूर्व वर्ष तक उन्होंने अनेक भव्य जीवोंको संसार-सागरसे पार करते हुए पृथिवीपर विहार किया था ॥७९॥ इस प्रकार मुनिगण और देवोंके समूहसे पूजित चरणोंके धारक श्री वृषभ जिनेन्द्र, संसाररूपी सागरके जलसे पार करनेमें समर्थ रत्नत्रयरूप भाव तीर्थका प्रवर्तन कर कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले एवं त्रिभुवन जनहितकारी क्षेत्र तीर्थको प्रवर्तनके लिए स्वभाववश (इच्छाके बिना ही) कैलास पर्वतपर उस तरह आरूढ़ हो गये जिस तरह कि देदीप्यमान प्रभाका धारक वृषका सूर्य निषधाचलपर आरूढ़ होता है ॥८०॥ स्फटिक मणिकी शिलाओंके समूहसे रमणीय उस कैलास पर्वतपर आरूढ़ होकर भगवान्ने एक हजार राजाओंके साथ योग निरोध किया और अन्तमें चार अघातिया कर्मोंका अन्त कर निर्मल मालाओंके धारक देवोंसे पूजित हो अनन्त

१–४७५० । २–४१५० । ३–९००० । ४–२०००० । ५–२०६०० । ६–१२७५० ।

उद्भूतः सङ्घोऽस्य [1]मौनः स्फुटभुवनगुरोर्देवदेवस्य देहं
देवौघश्चक्रवर्तिप्रमुखनृपगणश्चातिभक्त्या समेत्य ।
गन्धैः पुष्पैश्च धूपैः सुरभिभिरमलैरक्षतैश्च प्रदीपैः
सम्पूज्यानम्य सम्यग्वृषभजिनगुणश्रीफलं याचते स्म ॥८२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ वृषभेश्वरपरिनिर्वाणवर्णनो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

सुखके स्थानभूत मोक्षस्थानको प्राप्त किया ॥८१॥ मोक्षप्राप्तिके अनन्तर मुनियोंका श्रेष्ठ संघ, देवोंका समूह और चक्रवर्ती आदि प्रमुख राजाओंका समूह—इन सबने तीव्र भक्तिवश आकर गन्ध, पुष्प, सुगन्धित धूप, उज्ज्वल अक्षत और देदीप्यमान दीपकके द्वारा त्रिजगद्गुरु देवादिदेव वृषभदेवके शरीरकी पूजा कर तथा अच्छी तरह नमस्कार कर यही याचना की कि हम-लोगोंको श्री ऋषभ जिनेन्द्रके गुण लक्ष्मीरूपी फलकी प्राप्ति होवे ॥ ८२ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें श्रीवृषभदेवकी निर्वाण-प्राप्तिका वर्णन करनेवाला बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

१. मुनीनामयं मौनः 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्ययः ।

त्रयोदशः सर्गः

अनुभूय चिरं लक्ष्मीं भूपतिर्भरतेश्वरः । आदित्ययशसं पुत्रमभिषिच्य भुवो विभुः ॥१॥
दीक्षां जग्राह जैनेन्द्रीमुग्रामात्मपरिग्रहाम् । दुर्निग्रहेन्द्रियग्राममृगनिग्रहवागुराम् ॥२॥
पञ्चमुष्टिभिरुत्पाट्य त्रुट्यद्बन्धस्थितिः कचान् । लोचानन्तरमेवापद् राजन् श्रेणिक ! केवलम् ॥३॥
द्वात्रिंशत्त्रिदशेन्द्रैः[1] स कृतकेवलपूजनः । दीपको मोक्षमार्गस्य विजहार चिरं महीम् ॥४॥
पूर्वलक्षाः कुमारत्वे तस्यायुः सप्तसप्ततिः । साम्राज्ये षट् प्रभोरेका श्रामण्ये विश्वदृश्वनः ॥५॥
शैलं वृषभसेनाद्यैः कैलासमधिरुह्य सः । शेषकर्मक्षयान्मोक्षमन्ते प्राप्तः सुरैः स्तुतः ॥६॥
आदित्ययशसः पुत्रो जातः स्मितयशःश्रुतिः । श्रियं तस्मै वितीर्यासौ तपसा प्राप निर्वृतिम् ॥७॥
बलस्तस्मादभूत्पुत्रः सुबलोऽतो महाबलः । ततोऽतिबलनामा च तस्यामृतबलः सुतः ॥८॥
सुभद्रः सागरो भद्रो रवितेजाः शशी ततः । प्रभूततेजास्तेजस्वी तपनोऽन्यः प्रतापवान् ॥९॥
अतिवीर्यः सुवीर्योऽतस्तथोदितपराक्रमः । महेन्द्रविक्रमः सूर्य इन्द्रद्युम्नो महेन्द्रजित् ॥१०॥
प्रभुर्विभुरविध्वंसो वीतभीर्वृषभध्वजः । गरुडाङ्को मृगाङ्काख्य इत्याद्याः पृथिवीभृतः ॥११॥
आदित्यवंशसम्भूताः क्रमेण पृथुकीर्तयः । सुते न्यस्तभराः प्रापुस्तपसा [2]परिनिर्वृतिम् ॥१२॥

अथानन्तर षट्खण्ड पृथिवीके स्वामी महाराज भरतने चिरकाल तक लक्ष्मीका उपभोगकर अर्ककीर्ति नामक पुत्रका अभिषेक किया और स्वयं अतिशय कठिन आत्मरूप परिग्रहसे युक्त, एवं कठिनाईसे निग्रह करने योग्य इन्द्रियरूपी मृग समूहको पकड़नेके लिए जालके समान जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥१-२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् श्रेणिक ! महाराज भरतने अपने समस्त केश पञ्चमुष्टियोंसे उखाड़कर फेंक दिये तथा उनके कर्मबन्धनकी स्थिति इतनी जल्दी क्षीण हुई कि उन्होंने केशलोंचके बाद ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया ॥३॥ तदनन्तर बत्तीसों इन्द्रोंने आकर जिनके केवलज्ञानकी पूजा की थी और जो मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान थे ऐसे भगवान् भरतने चिरकाल तक पृथिवीपर विहार किया ॥४॥ सर्वदर्शी भगवान् भरतकी आयु भी चौरासी लाख पूर्वकी थी उसमेंसे सतहत्तर लाख पूर्व तो कुमार कालमें बीते, छह लाख पूर्व साम्राज्य पदमें व्यतीत हुए और एक लाख पूर्व उन्होंने मुनि पदमें विहार किया ॥५॥ आयुके अन्त समय वे वृषभसेन आदि गणधरोंके साथ कैलास पर्वतपर आरूढ़ हो गये और शेष कर्मोंका क्षयकर वहींसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, देवोंने उनकी स्तुति-वन्दना की ॥६॥

राजा अर्ककीर्तिके स्मितयश नामका पुत्र हुआ। अर्ककीर्ति उसे लक्ष्मी दे तपके द्वारा मोक्षको प्राप्त हुआ ॥७॥ स्मितयशके बल, बलके सुबल, सुबलके महाबल, महाबलके अतिबल, अतिबलके अमृतबल, अमृतबलके सुभद्र, सुभद्रके सागर, सागरके भद्र, भद्रके रवितेज, रवितेजके शशी, शशीके प्रभूततेज, प्रभूततेजके तेजस्वी, तेजस्वीके तपन, तपनके प्रतापवान्, प्रतापवान्के अतिवीर्य, अतिवीर्यके सुवीर्य, सुवीर्यके उदितपराक्रम, उदितपराक्रमके महेन्द्रविक्रम, महेन्द्रविक्रमके सूर्य, सूर्यके इन्द्रद्युम्न, इन्द्रद्युम्नके महेन्द्रजित्, महेन्द्रजित्के प्रभु, प्रभुके विभु, विभुके अविध्वंस, अविध्वंसके वीतभी, वीतभीके वृषभध्वज, वृषभध्वजके गरुडाङ्क और गरुडाङ्कके मृगाङ्क आदि अनेक राजा क्रमसे सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए। ये सब राजा विशाल यशके धारक थे

---

१. कल्पवासिनः १२, भवनवासिनः १०, व्यन्तराः ८, सूर्याचन्द्रमसौ इति = ३२। २. मोक्षम्।

मोक्षमिक्ष्वाकवो जग्मुर्भरताद्या निरन्तराः । ते चतुर्दशलक्षास्तु प्रापैकोऽग्रेऽहमिन्द्रताम् ॥१३॥
तथा दशगुणाश्चाष्टौ परिपाट्या नरेश्वराः । मुक्तास्तदन्तरे प्रापदेकैकः सुरनाथताम् ॥१४॥
धीरा राज्यधुरां त्यक्त्वा धृत्वान्तेऽन्ये तपोधुराम् । स्वर्गमेकेऽपवर्गं तु जग्मुरादित्यवंशजाः ॥१५॥
योऽसौ बाहुबली तस्माज्जातः सोमयशाः सुतः । सोमवंशस्य कर्तासौ तस्य सूनुर्महाबलः ॥१६॥
ततोऽभूत्सुबलः सूनुरभूद्भुजबली ततः । एवमाद्याः शिवं प्राप्ताः सोमवंशोद्भवा नृपाः ॥१७॥
पञ्चाशत्कोटिलक्षाश्च सागराणां प्रमाणतः । तीर्थे वृषभनाथस्य तदा वहति सन्तते ॥१८॥
इक्ष्वाकवो द्विधादित्यसोमवंशोद्भवा नृपाः । उग्राद्याः कौरवाद्याश्च मोक्षं स्वर्गं च भेजिरे ॥१९॥
नमेः खेचरनाथस्य रत्नमाली शरीरजः । रत्नवज्रोऽभवत्तस्मात्ततो रत्नरथस्तथा ॥२०॥
रत्नचिह्नाभिधानोऽस्मात् तस्माच्चन्द्ररथः सुतः । वज्रजङ्घो बभूवास्माद् वज्रसेनसुतस्ततः ॥२१॥
सञ्जातो वज्रदंष्ट्रोऽस्मादभूद्वज्रध्वजस्ततः । वज्रायुधश्च वज्रोऽतः सुवज्रो वज्रभृत्पुनः ॥२२॥
वज्राभो वज्रबाहुश्च वज्राङ्को वज्रसुन्दरः । वज्रास्यो वज्रपाणिश्च वज्रभानुश्च वज्रवान् ॥२३॥
विद्युन्मुखः सुवक्त्रश्च विद्युद्दंष्ट्रस्तथैव च । विद्युत्वान् विद्युदाभश्च विद्युद्वेगश्च वैद्युतः ॥२४॥
इत्याद्याः सुतविन्यस्तविभवाः खेचराधिपाः । आद्ये तीर्थे तपः कृत्वा स्वर्गं मोक्षं च भेजिरे ॥२५॥
स्वर्गाग्राद्‍वतीर्याऽथ जातस्तीर्थंकरोऽजितः । [2]नाभेयस्येव तस्यापि पञ्चकल्याणवर्णना ॥२६॥
काले तस्याभवच्चक्री द्वितीयः सगरश्रुतिः । अर्णवनिधिरत्नेशः प्रसिद्धो भरतो यथा ॥२७॥

और पुत्रोंके लिए राज्यभार सौंप तपकर मोक्षको प्राप्त हुए ॥८–१२॥ भरतको आदि लेकर चौदह लाख इक्ष्वाकु वंशीय राजा लगातार मोक्ष गये। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धिसे अहमिन्द्र पदको प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्ष गये परन्तु उनके बीचमें एक-एक राजा इन्द्र-पदको प्राप्त होता रहा ॥१३–१४॥ सूर्यवंशमें उत्पन्न हुए कितने ही धीर-वीर राजा अन्तमें राज्यका भार छोड़ और तपका भार धारणकर स्वर्ग गये तथा कितने ही मोक्षको प्राप्त हुए ॥१५॥ भगवान् ऋषभदेवके जो बाहुबली पुत्र थे उनसे सोमयश नामक पुत्र हुआ। वही सोमयश सोमवंश (चन्द्रवंश) का कर्त्ता हुआ। सोमयशके महाबल, महाबलके सुबल और सुबलके भुजबली पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर सोमवंशमें उत्पन्न हुए अनेक राजा मोक्षको प्राप्त हुए ॥१६–१७॥ इस प्रकार भगवान् वृषभदेवका तीर्थ पृथिवीपर पचास लाख करोड़ सागर तक अनवरत चलता रहा। इस तीर्थकालमें अपनी दो शाखाओं—सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुए इक्ष्वाकुवंशीय तथा कुरुवंशीय आदि अनेक राजा स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥१८–१९॥

विद्याधरोंके स्वामी राजा नमिके रत्नमाली, रत्नमालीके रत्नवज्र, रत्नवज्रके रत्नरथ, रत्नरथके रत्नचिह्न, रत्नचिह्नके चन्द्ररथ, चन्द्ररथके वज्रजङ्घ, वज्रजङ्घके वज्रसेन, वज्रसेनके वज्रदंष्ट्र, वज्रदंष्ट्रके वज्रध्वज, वज्रध्वजके वज्रायुध, वज्रायुधके वज्र, वज्रके सुवज्र, सुवज्रके वज्रभृत्, वज्रभृत्के वज्राभ, वज्राभके वज्रबाहु, वज्रबाहुके वज्राङ्क, वज्राङ्कके वज्रसुन्दर, वज्रसुन्दरके वज्रास्य, वज्रास्यके वज्रपाणि, वज्रपाणिके वज्रभानु, वज्रभानुके वज्रवान्, वज्रवान्के विद्युन्मुख, विद्युन्मुखके सुवक्त्र, सुवक्त्रके विद्युद्दंष्ट्र, विद्युद्दंष्ट्रके विद्युत्वान्, विद्युत्वान्के विद्युदाभ, विद्युदाभके विद्युद्वेग और विद्युद्वेगके वैद्युत पुत्र हुआ। इन्हें आदि लेकर जो विद्याधर राजा हुए वे भी भगवान् आदिनाथके तीर्थमें पुत्रोंके लिए राज्य-वैभव सौंप तपश्चरण कर यथायोग्य स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥२०–२५॥

अथानन्तर सर्वार्थसिद्धिसे च्यवकर दूसरे अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इनके पञ्च कल्याणकोंका वर्णन भगवान् ऋषभदेवके समान ही जानना चाहिए ॥२६॥ इनके कालमें सगर नामका

१. एको मुक्तिमन्यः सुरनाथतां पुनरेको मुक्तिमन्य इन्द्रत्वमित्यनेन क्रमेण । २. नाभेयस्यापि म० ।

पुत्राः षष्टिसहस्राणि तस्य दुर्लङ्घितक्रियाः । परस्परमहाप्रीताः प्रख्याताऽद्गुपूर्वकाः[1] ॥२८॥
कृताष्टापदकैलासा दण्डरत्नेन ते क्षितिम् । भिन्दानाः कुपितेनामी नागराजेन भस्मिताः ॥२९॥
संसारस्थितिविज्ञानी पुत्रशोकमुदस्य सः । दीक्षित्वाजितनाथान्ते मोक्षमैत् मुक्तबन्धनः ॥३०॥
ततः सम्भवनाथोऽभूत्ततोऽभूदभिनन्दनः । ततः सुमतिनाथश्च ततः पद्मप्रभो जिनः ॥३१॥
सुपार्श्वश्च जिनेन्द्रोऽस्मात् ततश्चन्द्रप्रभः प्रभुः । पुष्पदन्तः परस्तस्माद्दशमः शीतलस्ततः ॥३२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

इक्ष्वाकुः प्रथमः प्रधानमुदगादादित्यवंशस्तत-
स्तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वन्ये कुरूग्रादयः ।
पश्चाद् श्रीवृषभादभूदृषिगणः श्रीवंश उच्चैस्तरा-
मित्थं ते नृपखेचरान्वययुता वंशास्तवोक्ता मया ॥३३॥
शुद्धे श्रेणिक ! शीतलस्य दशमे तीर्थे वहत्युज्ज्वले
काले केवलदीपकोज्ज्वलजगद्देवेन्द्रदेवागमे ।
योऽद्भूतः प्रकटप्रभावमहतो वंशो हरीणां यथा
वर्ण्यः सोऽपि मया तथा जिनपथे तथ्यो नृपाकर्ण्यताम् ॥३४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ इक्ष्वाकुवंशवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

दूसरा चक्रवर्ती हुआ यह अक्षीणनिधियों तथा रत्नोंका स्वामी था और भरत चक्रवर्तीके समान प्रसिद्ध था ॥२७॥ इसके अद्गुको आदि लेकर साठ हजार पुत्र थे । ये सभी पुत्र अद्भुत चेष्टाओंके धारक थे और परस्परमें महाप्रीतिसे युक्त थे ॥२८॥ किसी समय ये समस्त भाई कैलास पर्वतपर गये वहाँ आठ पाद स्थान बनाकर दण्डरत्नसे वहाँकी भूमि खोदने लगे परन्तु इस क्रियासे कुपित होकर नागराजने सबको भस्म कर दिया ॥२९॥ चक्रवर्ती सगर संसारकी स्थितिका ज्ञाता था इसलिए पुत्रोंका शोक छोड़ उसने अजितनाथ भगवान्के समीप दीक्षा धारण कर ली और कर्म-बन्धनसे छूटकर मोक्ष प्राप्त किया ॥३०॥ तदनन्तर अजितनाथके बाद संभवनाथ, उनके बाद अभिनन्दन नाथ, उनके बाद सुमतिनाथ, उनके बाद पद्मप्रभ, उनके बाद सुपार्श्वनाथ, उनके बाद चन्द्रप्रभ, उनके बाद पुष्पदन्त और उनके बाद शीतलनाथ हुए ॥३१-३२॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक ! सर्व-प्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ फिर उसी इक्ष्वाकुवंशसे सूर्यवंश और चन्द्रवंश उत्पन्न हुए । उसी समय कुरुवंश तथा उग्रवंश आदि अन्य अनेक वंश प्रचलित हुए । पहले भोगभूमिमें ऋषि नहीं थे परन्तु आगे चलकर भगवान् ऋषभदेवसे दीक्षा लेकर अनेक ऋषि उत्पन्न हुए और उनका उत्कृष्ट श्रीवंश प्रचलित हुआ । इस प्रकार मैंने तेरे लिए अनेक राजाओं और विद्याधरोंके वंशोंका कथन किया ॥३३॥ अब जिस समय शीतलनाथ भगवान्का शुद्ध एवं उज्ज्वल दसवाँ तीर्थ बीत रहा था तथा केवलज्ञानरूपी दीपकसे उज्ज्वल संसारमें इन्द्र और देवोंका आगमन जारी था ऐसे समय महाप्रभावके धारक हरियोंका जो वंश प्रकट हुआ था उसका भी वर्णन करता हूँ । हे राजन् ! जिनमार्गमें इसका जो यथार्थ वर्णन है उसे तू श्रवण कर ॥३४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें इक्ष्वाकुवंशका वर्णन करनेवाला तेरहवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥१३॥

---

१. अद्गुः इति ज्येष्ठपुत्रस्य नाम ।

चतुर्दशः सर्गः

अस्ति वत्साभिधो देशो देशेष्विह परेषु यः । सत्यु वत्साकृतिं धत्ते गोदोहे दोग्धृगोचरे[1] ॥१॥
कालिन्दीस्निग्धनीलाम्बुप्रतिबिम्बितसौधभा[2] । कौशाम्बी नगरी तस्य गम्भीरा [3]नाभिरत्यभात् ॥२॥
वप्रप्राकारपरिखाभूषणाम्बरधारिणी । नितम्बस्तनभारार्त्तस्तम्भितेव वधूरभात् ॥३॥
रत्नचित्राम्बरधरा या प्रासादमुखैर्घनान् । वर्षानिशास्विव स्निग्धान् लेढि प्रौढाभिसारिका ॥४॥
[4]दोषाकरकराप्राप्ता रत्नभूषाचिषां चयैः । लेभे बहुल[5]दोषासु परभागं[6] सतीव या ॥५॥
पुर्याः प्रभुरभूत्तस्याः [7]प्रतापप्रभवो नृपः । सवितेव [8]कराक्रान्तदिक्चक्रः सुमुखः सुखी[9] ॥६॥

अथानन्तर जम्बूद्वीपमें एक वत्स नामका देश है जो दूसरे देशोंके विद्यमान रहते हुए दोहनकर्ता जब गायको दुहते हैं तब सचमुच ही वत्स—बछड़ेकी आकृतिको धारण करता है। भावार्थ—जिस प्रकार वत्स गायके दूध निकालनेमें सहायक है उसी प्रकार यह देश भी गौ—पृथिवीसे धन सम्पत्ति निकालनेमें सहायक था ॥१॥ यमुना नदीके स्निग्ध एवं नीले जलमें जिसके महलोंका समूह सदा प्रतिबिम्बित रहता था ऐसी कौशाम्बी नगरी उस वत्स देशकी गहरी नाभिके समान अतिशय सुशोभित थी ॥२॥ वप्र, प्राकार और परिखा रूपी आभूषण तथा अम्बर—आकाश (पक्षमें वस्त्र) को धारण करनेवाली वह नगरी नितम्ब और स्तनोंके भारसे पीड़ित होकर खड़ी हुई स्त्रीके समान जान पड़ती थी ॥३॥ वह नगरी प्रौढ़ अभिसारिकाके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार प्रौढ़ अभिसारिका रत्नचित्राम्बरधरा—रत्नोंसे चित्र-विचित्र वस्त्रको धारण करती है उसी प्रकार वह नगरी भी रत्न-चित्राम्बरधरा—रत्नोंसे चित्र-विचित्र आकाशको धारण करती थी, और अभिसारिका जिस प्रकार रात्रिके समय अपने स्नेही जनोंका प्रसन्न मुखसे स्पर्श करती है उसी प्रकार वह नगरी भी वर्षा ऋतु रूपी रात्रिके समय स्निग्ध—नूतन जलसे भरे मेघोंका महलरूपी मुखोंसे स्पर्श करती थी ॥४॥ अथवा वह स्त्री कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें पतिव्रता स्त्रीके समान सुशोभित होती थी क्योंकि जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री दोषाकर-कराप्राप्ता—दोषोंकी खान स्वरूप दुष्ट मनुष्योंके हाथसे अस्पृष्ट रहती है उसी प्रकार वह नगरी भी बहुलदोषासु—कृष्ण पक्षकी रात्रिमें दोषाकरकराप्राप्ता—चन्द्रमाकी किरणोंसे अस्पृष्ट थी और पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार बहुलदोषासु—अनेक दोषोंसे भरी व्यभिचारिणी स्त्रियोंमें रत्नमय आभूषणोंकी किरणोंके समूहसे उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त होती है, उसी प्रकार वह नगरी भी बहुल-दोषासु—कृष्ण पक्षकी रात्रियोंमें रत्नमय आभूषणोंकी किरणोंसे उत्कृष्ट शोभाको प्राप्त थी ॥५॥ उस कौशाम्बी नगरीका स्वामी राजा सुमुख था। वह सुमुख ठीक सूर्यके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सूर्य प्रतापप्रभवः—प्रकृष्ट संतापका कारण है उसी प्रकार वह राजा भी प्रताप-प्रभवः—उत्कृष्ट प्रभावका कारण था। जिस प्रकार सूर्य कराक्रान्तदिक्चक्रः—अपनी किरणोंसे दिङ्मण्डलको व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार वह राजा भी कराक्रान्तदिक्चक्रः—अपने टेक्ससे

---

१. ख पुस्तके 'दोग्धगोचरे' इति पाठः केनापि 'दुग्धगोचरे' इति रूपेण शोधितः। २. सौधसमूहः। ३. मध्यदेशो नाभिश्च। ४. दोषाकरः दोषवान् मनुष्यः तस्य करेण अप्राप्ता पक्षे दोषाकरश्चन्द्रस्तस्य करैः किरणैः अप्राप्ता। ५. प्रभूतदोषासु स्त्रीषु पक्षे कृष्णपक्षनिशासु। ६. गुणोत्कर्षम्। ७. प्रकृष्टस्तापः प्रतापस्तस्य प्रभवः कारणं पक्षे प्रतापस्य प्रभावस्य प्रभवः कारणं 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। ८. कराः किरणाः पक्षे राजग्राह्यो बलिः। ९. सुष्ठु खम् आकाशं यस्य स पक्षे सुखमस्यास्तीति सुखी।

वर्णसङ्करविक्षेपि धनुर्येनेन्द्रधनुर्गुणैः । यस्याधिक्षिप्तम[1]क्षिप्तवर्णसङ्करदोषकम् ॥७॥
दर्शनीयतमाङ्गस्य सङ्गतस्य युवश्रिया । अ[2]दृष्टविग्रहेऽनङ्गो रूपेणास्य समः कथम् ॥८॥
धर्मशास्त्रार्थकुशलः कलागुणविशेषवान् । निग्रहेऽनुग्रहे शक्तः प्रजानामनुपालकः ॥९॥
सोऽवरोधमराजीववनराजीमधुव्रतः । ऋतून्मानयति प्राप्तानकृतत्रिगुणक्षतिः ॥१०॥
अथ प्राप्तो वसन्तर्तुः सुमुखद्युतिरुद्यमी । पुष्पपल्लवरागश्रीवनमालामनोहरः ॥११॥
नवपल्लवरागाढ्याश्चूताश्चेतोहरा बभुः । वनमालानुरागस्य सूचकाः सुमुखस्य च ॥१२॥
अज्वलज्ज्वलनज्वालालीलाः किंशुकराशयः । वियुज्येवानुयुक्तानां विमुक्ता विरहाग्नयः ॥१३॥
रणन्नूपुरचार्वङ्गीकोमलक्रमताडितः । नवाशोकयुवोद्भिन्नपल्लवाङ्गरुहो बभौ ॥१४॥
अखण्डमधुगण्डूषपानपूरितदौहृदः । बकुलोऽपूरयत्पुष्पैः प्रमदाजनदौहृदम् ॥१५॥
चक्रे कुरवको यूनां शिलीमुखरवैः सुखम् । सुखिनां यः स एवाभूदितरेषां यथाश्रुतिः[3] ॥१६॥

दिङ्मण्डलको व्याप्त कर रहा था, और जिस प्रकार सूर्य सुखी—उत्तम ख—आकाशसे सहित होता है उसी प्रकार वह राजा भी सुखी—सुखसे सहित था ॥६॥ राजा सुमुखके धनुषने अपने गुणोंसे इन्द्रधनुषको तिरस्कृत कर दिया था क्योंकि राजा सुमुखका धनुष वर्णसंकरविक्षेपि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णोंके संकर दोषको दूर करनेवाला था और इन्द्रधनुष अक्षिप्तवर्णसंकरदोषकं—लाल, पीले, नीले, हरे आदि वर्णोंके संकर-संमिश्रण रूपी दोषको दूर नहीं कर सका था ॥७॥ तारुण्य-लक्ष्मीसे सहित होनेके कारण राजा सुमुखका शरीर अत्यन्त सुन्दर था अतः जिसका शरीर ही नहीं दिखाई देता ऐसा कामदेव सौन्दर्यमें उसके समान कैसे हो सकता था ॥८॥ वह राजा धर्मशास्त्रके अर्थ करनेमें कुशल था, कला और गुणोंसे विशिष्ट था, दुष्टोंके निग्रह और सज्जनोंके अनुग्रह करनेमें समर्थ था और प्रजाका सच्चा रक्षक था ॥९॥ वह राजा अन्तःपुर रूपी कमलवनकी पंक्तिका भ्रमर था और धर्म, अर्थ, काममें परस्पर बाधा नहीं पहुँचाता हुआ आगत ऋतुओंका सम्मान करता था अर्थात् ऋतुओंके अनुकूल भोग भोगता था ॥१०॥

अथानन्तर किसी समय वसन्त ऋतुका आगमन हुआ। वह वसन्त ऋतु ठीक सुमुख राजाके ही समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार सुमुख राजा उद्यमी—उद्यमसे सम्पन्न था उसी प्रकार वसन्त ऋतु भी उद्यमी—अपना वैभव बतलानेमें उद्यमसम्पन्न थी, जिस प्रकार राजा सुमुख फूलों और पल्लवोंके रागसे युक्त वनमाला नामक स्त्रीके मनको हरण करनेवाला था उसी प्रकार वसन्त ऋतु भी फूलों और पल्लवोंकी लाल-लाल शोभासे युक्त वनपंक्तियोंसे मनोहर थी ॥११॥ मनुष्योंके मनको हरण करनेवाले आमोंके वृक्ष उस समय नये-नये पल्लवोंकी लालिमासे युक्त हो गये थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानो राजा सुमुखके लिए वनमाला—वनपंक्ति (पक्षमें वनमाला नामक स्त्री) के अनुरागकी सूचना ही दे रहे हों ॥१२॥ अग्नि-ज्वालाओंकी शोभाको धारण करनेवाले टेसूके वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो विरहके अनन्तर मिले हुए स्त्री-पुरुषोंके द्वारा छोड़ी हुई विरहाग्नि ही हो ॥१३॥ रुनझुन करनेवाले नूपुरोंसे सुन्दर स्त्रीके कोमल पदाघातसे ताड़ित होनेके कारण जिसमें पल्लवरूपी रोमाञ्च निकल आये थे ऐसा अशोक वृक्ष रूपी नवीन युवा उस समय अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१४॥ अखण्ड मद्यके कुल्लोंके पान करनेसे जिसका दोहला पूर्ण हो गया था ऐसे वकुल वृक्षने अपने फूलोंसे स्त्री जनोंकी अभिलाषाको पूर्ण कर दिया था ॥१५॥ जो कुरवक वृक्ष सुखी युवाओंके लिए भ्रमरोंके शब्दसे सुख उत्पन्न कर रहा था वही कुरवक दुखी (विरही) युवाओंके लिए सार्थक

१. अक्षिप्तो वर्णसङ्करदोषो येन तत् । इन्द्रधनुषो विशेषणमिदम् । २. अदृष्टविग्रहानङ्गो म० । ३. यथाभुति म० ।

पाटलामोदसुभगां वनश्रीवनितामलम् । चक्रुः पुष्पवतीं फुल्लास्तिलकास्तिलकश्रियः[1] ॥१७॥
जिगीषयेव विकसन्नागसंहतिसन्ततेः[2] । सिंहकेसरसिंहस्य केसरश्रीर्व्यजृम्भत ॥१८॥
मालतीवल्लभां मासश्चिरविश्लेषशोषिताम् । चकाराश्लेषपुष्टाङ्गीं सद्यः पुष्पवतीं मधुः[3] ॥१९॥
हिन्दोलग्रामरागेण रक्तकण्ठाधरश्रियः । [4]दोलायान्दोलनक्रीडाव्यासक्ताः कोमलं जगुः ॥२०॥
उद्यानवनखण्डेषु तत्कालोचितमण्डनाः । स्त्रीसखाः केचिदाभेजुः प्रीत्या पानपरम्पराम् ॥२१॥
प्राग्दूर्वाङ्कुरमास्वाद्य[5] हरिण्यै हरिणो ददौ । तं साऽऽस्वाद्य ददौ तस्मै प्रियाघ्रातोऽपि हि प्रियः ॥२२॥
सल्लकीपल्लवोल्लासिकवलग्रासलालसाम् । स्वाननस्पर्शसौख्यान्धां चकार करिणीं करी ॥२३॥
मधुपानमदोन्मत्तमधुपद्वन्द्वमुत्स्वनम् । मधौ विजृम्भितेऽन्योऽन्यं जिघ्रति स्म वनस्पृहम् ॥२४॥
कोकिलाकलकण्ठीनां गीतं श्रुत्वेव योषिताम् । चुकूज कोकिलस्तोषपोषी तस्य जिगीषया ॥२५॥
मधुपैः परपुष्टैश्च कलकोलाहलाकुलैः । गीयते स्म मधुर्यत्र तत्रान्येषु कथा नु का ॥२६॥

नामका धारक (कु—खोटे रवक—शब्द करानेवाला) था ॥१६॥ उस समय तिलककी शोभाको धारण करनेवाले जो तिलकके फूल चारों ओर फूल रहे थे उन्होंने गुलाबकी सुगन्धिसे सुवासित वनलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अत्यधिक पुष्पवती—फूलोंसे युक्त (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) कर दिया था ॥१७॥ जिस प्रकार इधर-उधर घूमते हुए हस्ति-समूहको जीतनेकी इच्छासे सिंहकी केशर (अयाल) सुशोभित होती है उसी प्रकार पुन्नाग-वृक्षोंके समूहको जीतनेकी इच्छासे सिंहकेशर वृक्ष विशेषकी केशर सुशोभित हो रही थी ॥१८॥ जो चिरकालके विरहसे सूख रही थी ऐसी मालती रूपी वल्लभाको चैत्र मासने अपने आलिङ्गनसे शीघ्र ही पुष्ट तथा पुष्पवती—फूलोंसे युक्त (पक्षमें रजोधर्मसे युक्त) बना दिया था। भावार्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष चिरकालके वियोगसे कृष अपनी वल्लभाको आलिङ्गनसे पुष्ट कर पुष्पवती (रजोधर्मसे युक्त) बना देता है उसी प्रकार चैत्रमासने चिरकालसे वियुक्त सूखी हुई मालती लता रूपी वल्लभाको अपने आलिङ्गनसे पुष्ट तथा फूलोंसे व्याप्त कर दिया ॥१९॥ उस समय राग-पूर्ण कण्ठ और अतिशय लाल ओठोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुष, मूला मूलनेकी क्रीड़ामें आसक्त हो हिन्दोल रागमें कोमल गान गा रहे थे ॥२०॥ उस समयके अनुरूप वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाले कितने ही पुरुष अपनी स्त्रियोंके साथ बाग-बगीचोंमें बड़े प्रेमसे मद्यपान करते थे ॥२१॥ हरिण दूबाके अङ्कुरका पहले स्वयं आस्वादन कर हरिणीके लिए देता था और हरिणी भी उसका आस्वादन कर हरिणके लिए वापिस देती थी सो ठीक ही है क्योंकि प्रेमीजनोंके द्वारा सूँघी हुई भी वस्तु प्रिय होती है ॥२२॥ सल्लकी वृक्षके पल्लवोंका हरा-भरा ग्रास खानेमें जिसकी लालसा लग रही थी ऐसी हस्तिनीको हस्तीने अपने मुखके स्पर्शसे समुत्पन्न सुखसे अन्धी कर दिया था—अपने स्पर्शजन्य सुखसे उसके नेत्र निमीलित कर दिये थे ॥२३॥ उस समय वसन्तका विस्तार होनेपर मधुपान सम्बन्धी नशासे उन्मत्त हुए भ्रमर और भ्रमरियोंके जोड़े उच्च शब्द करते हुए तीव्र लालसाके साथ परस्पर एक दूसरेको सूँघ रहे थे ॥२४॥ उस समय हर्षसे पुष्ट हुए कोकिल जहाँ-तहाँ मधुर शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो कोकिलाओंके समान कलकण्ठी स्त्रियोंका गीत सुनकर उसे जीतनेकी इच्छासे ही शब्द कर रहे हों ॥२५॥ आचार्य कहते हैं कि जहाँ मनोहर कोलाहलसे आकुल भ्रमर तथा कोकिल भी वसन्तके गीत गाते हैं वहाँ दूसरोंकी तो कथा ही क्या है ? ॥२६॥

---

१. तिलकश्रिया म० । २. नागपुन्नागसंहतेः ख०, म० । नागाः पुन्नागवृक्षाः पक्षे हस्तिप्रधानाः । ३. चैत्रमासः । ४. दोलाद्वयं म० । ५. -मासाद्य म० ।

इत्थं राजा मधौ मासे जाते जनमनोहरे । चक्रे वनविहाराय मनो मदनविभ्रमम् ॥२७॥
कृतमण्डनमारूढो द्विपेन्द्रं कृतमण्डनः । अखण्डमण्डलेद्दामच्छत्रच्छन्नार्कमण्डलः ॥२८॥
पूर्यमाणः पुरो निर्यन् नृपैरोघैरिवोदधिः । राजा राजपथं भेजे वन्दिवृन्दस्तुतोऽन्यदा ॥२९॥
वसन्तमिव साक्षात् तं वसन्तं हृदि सन्ततम् । दिदृक्षुः क्षुभिता मंक्षु पौरनारीजनाततिः ॥३०॥
वर्धस्व जय नन्देति कृतनादा कृताञ्जलिः । भूपरूपं पपौ सैषा नेत्राञ्जलिभिराकुला ॥३१॥
तत्र स्त्रीजनमध्यस्थामेकामत्यन्तहारिणीम् । रतिं साक्षादिव प्राप्तामद्राक्षीद् वनितां नृपः ॥३२॥
मुखेन्दौ नेत्रयुग्माब्जे बिम्बोष्ठे कम्बुकण्ठके । स्तनचक्रे कृशे मध्ये गम्भीरे नाभिमण्डले ॥३३॥
सुघने जघने तस्या नितम्बे सकुकुन्दरे । ऊरुजानुलसज्जङ्घापाणिपादे पदे पदे ॥३४॥
लोलां निपतितां दृष्टिं मनसाधिष्ठितां निजाम् । न शशाकोपसंहर्तुं मतिरक्तो नरेश्वरः ॥३५॥
दध्यौ वधूरियं कस्य रूपपाशेन मे मनः । बद्ध्वा मुग्धमृगीनेत्रा समाकर्षति हर्षिणी ॥३६॥
यदीयं नानुभूयेत मया हृदयहारिणी । ततो व्यर्थं ममैश्वर्यं रूपं च नवयौवनम् ॥३७॥
लोकोऽयमेकतो भूयात्सर्वदा दुर्व्यतिक्रमः । अभिलाषोऽन्यदारेषु दुःसहोऽयमथैकतः ॥३८॥
इति ध्यायन्मनश्चक्रे स तस्याहरणे नृपः । अपवादो हि सह्येत रक्तेन न मनोव्यथा ॥३९॥
यशःप्रकाशमानोऽपि लोकज्ञः सोऽत्यमुह्यत । तमः पतनकाले हि प्रभवत्यपि भास्वतः ॥४०॥

इस प्रकार मनुष्योंके मनको हरण करनेवाले चैत्रमासके आनेपर राजा सुमुखने काम-विलाससे परिपूर्ण अपने मनको वन-विहारके लिए उद्यत किया ॥२७॥ तदनन्तर किसी दिन, जिसने नाना प्रकारके आभूषण धारण किये थे, अपने अखण्डमण्डलवाले देदीप्यमान छत्रसे जिसने सूर्यके मण्डलको आच्छादित कर दिया था, जो सजाये हुए हाथीपर आरूढ़ हो नगरसे बाहर निकल रहा था, जिस प्रकार नदियोंके प्रवाह आकर समुद्रमें मिलते हैं उसी प्रकार अनेक राजा आकर जिसके साथ मिल रहे थे तथा वन्दीजनोंके समूह जिसकी स्तुति कर रहे थे ऐसा राजा सुमुख राजमार्गको प्राप्त हुआ ॥२८-२९॥ साक्षात् वसन्तके समान हृदयमें निरन्तर वास करनेवाले राजा सुमुखको देखनेके लिए इच्छुक नगरकी स्त्रियाँ शीघ्र ही क्षोभको प्राप्त हो गईं ॥३०॥ 'हे राजन् ! वृद्धिको प्राप्त होओ, जयवन्त रहो, और 'समृद्धिमान् हो' जो इस प्रकार शब्द कर रही थीं, हाथ जोड़े हुई थीं तथा बड़ी आकुलताका अनुभव कर रही थीं, ऐसी नगरकी स्त्रियोंने नेत्ररूपी अञ्जलियोंके द्वारा राजा सुमुखके सौन्दर्यका पान किया ॥३१॥ राजा सुमुखने उन स्त्रियोंके मध्यमें स्थित एक अत्यन्त सुन्दर स्त्रीको देखा। वह स्त्री ऐसी जान पड़ती थी मानो साक्षात् रति ही आ पहुँची हो ॥३२॥ अतिशय रागको प्राप्त हुआ राजा, उसके मुखचन्द्र, नेत्र कमल, बिम्बके समान लाल-लाल ओठ, शंखतुल्य कण्ठ, स्तनचक्र, पतली कमर, गम्भीर नाभि-मण्डल, सुन्दर जघन, गर्तविशेषसे सुशोभित नितम्ब, जाँघों-घुटनों, पिंडरियों—हाथ एवं पैरोंपर पद-पदमें पड़ती हुई अपनी मनोयुक्त चञ्चल दृष्टिको संकुचित करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥३३-३४॥ वह विचार करने लगा कि यह भोली-भाली हरिणीके समान नेत्रोंवाली हर्षसे भरी किसकी स्त्री रूपपाशसे मेरे मनको बाँधकर खींच रही है ॥३६॥ यदि मैं इस हृदयहारिणी स्त्रीका उपभोग नहीं करता हूँ तो मेरा यह ऐश्वर्य, रूप एवं नवयौवन व्यर्थ है ॥३७॥ जिसका सर्वदा उल्लंघन करना कठिन है ऐसा यह लोक तो एक ओर है और जिसका सहन करना अतिशय कठिन है ऐसी परस्त्री विषयक अभिलाषा एक ओर है ॥३८॥ इस प्रकार विचार करते हुए राजा सुमुखने उसके हरण करनेमें मन लगाया सो ठीक ही है क्योंकि रागी मनुष्य अपवाद को तो सह सकता है परन्तु मनकी व्यथाको नहीं सह सकता ॥३९॥ आचार्य कहते हैं कि देखो राजा सुमुख यशसे प्रकाशमान था तथा लोक-व्यवहारका ज्ञाता था फिर भी अत्यन्त मोहको प्राप्त हो गया सो ठीकही है क्योंकि सूर्यके पतनका जब समय आता है तब अन्धकारकी प्रबलता

साऽपि दर्शनतस्तस्य रूपिणः शिथिलाङ्गिका । शशाक न मनो धर्तुं दोलारूढेव कामिनी ॥४१॥
[1]विचित्ररससंस्पर्शप्रादुर्भावफलोदयम् । भावं च प्रकटीचक्रे सानुलुब्धमनोगतम् ॥४२॥
दूरात्कटाक्षविक्षेपि चक्षुरन्ते निकुञ्चितम् । अहृदस्यास्तन्मनो भङ्गि प्रतिचक्षुःप्रयामतः ॥४३॥
अधरस्तनमध्यान्तःश्रोणीचरणवीक्षणैः । परावृत्तेक्षितैश्चक्रे सा तस्य स्मरदीपनम् ॥४४॥
प्रियालापेऽक्षिभिः स्निग्धैरन्योन्यघटितैः कृते । जिह्वा विह्वलयोर्वाचि न लेभेऽवसरं तयोः ॥४५॥
तावारूढौ च दुर्मोचप्रेमबन्धौ मनोरथम् । दुर्लभाश्लेषसम्भोगफललाभार्थमर्थिनौ ॥४६॥
रक्तायाश्चित्तमादाय प्रदायास्यै मनो निजम् । नगर्या निर्ययौ राजा पणबन्धाकृतीव सः ॥४७॥
यमुनोत्तंसमुद्यानं वसन्तस्यावतंसकम् । विवेश जनतानन्दि नरेन्द्रो नन्दनोपमम् ॥४८॥
रम्यं नागलताश्लिष्टैः पुष्पितैः फलितैर्द्रुमैः । क्रमुकैर्नालिकेराद्यैर्दाडिमीकदलीवनैः ॥४९॥
विजहार [2]वने हृद्ये[3] स्त्रीजनैः स निजैर्वृतः । वयस्यैरनुकूलैश्च नृपपुत्रैः सहारमत ॥५०॥
कांचित्कालकलां तस्य क्रीडतो जनसंकुला । शून्येव वनमालाऽऽसीद् वनमालावियोगिनः ॥५१॥
वनमालानुरागेण ह्रियमाणोऽविशत्पुरीम् । क्षितीशः स्थीयते स्वस्थैः परचित्तैः कियच्चिरम् ॥५२॥

हो ही जाती है ॥४०॥ उधर सुन्दर शरीरके धारक राजा सुमुखको देखनेसे उस स्त्रीके भी अङ्ग-अङ्ग ढीले हो गये और वह झूलापर बैठी स्त्रीके समान मनको रोकनेके लिए समर्थ नहीं हो सकी ॥४१॥ उसका मन राजा सुमुखमें अत्यन्त लुभा गया था इसलिए वह नाना प्रकारके रसके स्पर्श और प्रादुर्भाव रूप फलसे सहित भावको प्रकट करने लगी ॥४२॥ जो दूर तक कटाक्ष छोड़ रहा था तथा जिसका अन्तभाग संकोचको प्राप्त था, ऐसा उस स्त्रीका नेत्र, बदलेमें सुमुखकी ओर देखकर उसके चञ्चल मनको हर रहा था ॥४३॥ वह अधर, स्तन, नाभिका मध्यभाग, नितम्ब और चरणोंको दिखानेसे तथा मुड़कर संचारित तिरछी चितवनसे उसके कामको उद्दीपित कर रही थी ॥४४॥ उस समय विह्वलताको प्राप्त हुए दोनोंके स्निग्ध तथा परस्पर मिले हुए नेत्रोंने ही मधुर वार्तालाप कर लिया था इसलिए बेचारी जिह्वाको बोलनेका अवसर ही नहीं मिल सका था ॥४५॥ जिनका प्रेम बन्धन छूट नहीं सकता था ऐसे दोनों स्त्री-पुरुष, दुर्लभ आलिङ्गन, तथा संभोगरूप फलकी प्राप्ति करानेवाले मनोरथपर आरूढ़ हुए। भावार्थ—आलिङ्गन तथा संभोगकी इच्छा करने लगे ॥४६॥ अतिशय अनुरक्त उस स्त्रीका चित्त लेकर और अपना चित्त उसे देकर राजा सुमुख नगरीसे बाहर निकला। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो आगामी मिलापके लिए बयाना देकर कृत-कृत्य ही हो गया हो ॥४७॥ नगरीसे निकलकर राजाने यमुनोत्तंस नामक उद्यानमें प्रवेश किया। वह उद्यान, वसन्त ऋतुका आभूषण स्वरूप था, जनताको आनन्दित करनेवाला था और नन्दन वनके समान जान पड़ता था ॥४८॥ वह उद्यान, नागलताओंसे आलिङ्गित फूले-फले सुपारीके वृक्षों और नारियल, अनार तथा केलोंके वनोंसे अतिशय रमणीय था ॥४९॥ अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा सुमुखने उस सुन्दर वनमें विहार किया एवं अनुकूल मित्रों और राज-पुत्रोंके साथ क्रीड़ा की ॥५०॥ वह वहाँ कुछ काल तक क्रीड़ा करता रहा परन्तु वनमालाके वियोगसे उसे वह मनुष्योंसे व्याप्त वनकी पंक्ति शून्य जैसी जान पड़ती थी ॥५१॥ वनमालाके अनुरागसे हरे हुए राजाने लौटकर शीघ्र ही कौशाम्बीपुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनका चित्त दूसरेमें लग रहा है वे कितनी देर तक स्वस्थ रह सकते हैं? ॥५२॥

---

१. विचित्ररसस्य संस्पर्शप्रादुर्भावौ एव फलं तस्योदयो यस्मात् तं, एवंभूत भावम् । २. वनं क० । ३. हृद्यं क० ।

अपृच्छत्सुमतिर्मन्त्री तमुपांशु विशां विभुम् । विषण्णोऽसि किमद्येश ! कथ्यतामिति सादरः ॥५३॥
एकच्छत्रमिदं राज्यमनुरक्ताः प्रजाः प्रभो । अनुरागप्रतापाभ्यां विभूता भृत्यभूभृतः ॥५४॥
इष्टार्थस्य प्रदानेन प्रीणितोऽर्थिजनोऽखिलः । बहुशाः प्रणयोद्रेकान्मानितास्च प्रसादिना ॥५५॥
धर्मे चार्थे च कामे च प्रार्थितं दुर्लभं न ते । तदित्थं नाथ ! सौस्थित्य[1] मनो दुःखमितं कुतः ॥५६॥
संविभज्य मनोदुःखं सख्यौ प्राणसमे सुखी । सम्पद्यते जनः सर्वं इतीयं जगतः स्थितिः ॥५७॥
तदुच्यतां प्रभोऽद्यैव विदधामि तवेप्सितम् । सुस्थिते हि प्रभौ लोके सुस्थिताः सकलाः प्रजाः ॥५८॥
इत्युक्तः सोऽभ्यधात् सद्यो [2]मयाद्योद्यानयातया । दृष्ट्या परवध्वाऽऽशु विद्ययेव वशीकृतः ॥५९॥
ईदृशी[3] दृक्स्वनेपथ्या प्रायेण भवताऽप्यसौ । लक्षितैव निजं भावं कथयन्ती स्फुटेङ्गितैः ॥६०॥
इति श्रुत्वाऽवदन्मन्त्री लक्षिता लक्षिता विभो । वणिजो वीरकस्यासौ वनमालाभिधा वधूः ॥६१॥
नृपोऽवादीत्तया योगो यदि मेऽद्य न जायते । न मन्ये जीवितं स्वस्य तस्याश्च कुटिलभ्रुवः ॥६२॥
मन्ये दिवसमप्येषा सहते न मया विना । अनयाऽहमपि क्षिप्रं तद्विधत्स्व प्रतिक्रियाम् ॥६३॥
दुर्यशः प्राप्यतेऽमुष्मिन्ननर्थोऽमुत्र मूढधीः । तथापि नेक्षते कार्यं यथैवानिमिषान्धकः[4] ॥६४॥
तत्त्वया न निवार्योऽहमकार्येऽपि प्रवृत्तधीः । पापोपशमनोपायाः सत्येव सति जीविते ॥६५॥
अनुमेने वचो मन्त्री तदन्यायमपि प्रभोः । अत्यभ्यर्णविपत्तीनां मन्त्रिणो हि निवर्तकाः ॥६६॥

सुमति नामक मन्त्रीने एकान्तमें आदरपूर्वक राजासे पूछा कि हे स्वामिन् ! आज आप विषादयुक्त क्यों हैं ? कृपाकर कहिए ॥५३॥ हे प्रभो ! आपका यह एकछत्र राज्य है, प्रजा आपमें अनुरक्त है तथा अन्य राजा अनुराग और प्रतापसे वशीभूत हो आपके दास हो रहे हैं ॥५४॥ अभिलषित वस्तुओंको देकर आपने समस्त याचकोंको सन्तुष्ट कर रक्खा है तथा प्रेमकी अधिकतासे प्रसन्न होकर आपने समस्त स्त्रियोंको सम्मानित किया है ॥५५॥ धर्म, अर्थ तथा काम-विषयक कोई भी वस्तु आपको दुर्लभ नहीं है, इस प्रकार हे नाथ ! सब प्रकारकी कुशलता होनेपर भी आपका मन दुःखी क्यों हो रहा है ? ॥५६॥ सभी लोग प्राणतुल्य मित्रके लिए मनका दुःख बाँटकर सुखी हो जाते हैं यह जगत्‌की रीति है ॥५७॥ इसलिए हे प्रभो ! बतलाइए मैं आज ही आपकी अभिलाषाको पूर्ण करूँगा क्योंकि स्वामीके सुखी रहनेपर ही समस्त प्रजा सुखी रहती है ॥५८॥

मन्त्रीके इस प्रकार कहनेपर राजाने शीघ्र ही कहा कि आज उद्यानको जाते समय मैंने एक पर-स्त्रीको देखा था उसीने विद्याकी भाँति मुझे शीघ्र ही वश कर लिया है ॥५९॥ वह ऐसी थी, ऐसी उसकी वेष-भूषा थी और अपनी स्पष्ट चेष्टाओंसे अपना अभिप्राय प्रकट कर रही थी प्रायः आपने भी वह देखी होगी ॥६०॥ यह सुनकर मन्त्रीने कहा कि हे स्वामिन् ! देखी है, अवश्य देखी है, वह वीरक वैश्यकी वनमाला नामकी स्त्री है ॥६१॥ राजाने कहा कि यदि आज उसके साथ मेरा समागम नहीं होता है तो मैं मानता हूँ कि न मेरा जीवन बचेगा और न उस कुटिल भौंहोंवाली वनमालाका ॥६२॥ जान पड़ता है कि वह मेरे बिना एक दिन भी नहीं ठहर सकती और न इसके बिना मैं भी एक दिन ठहर सकता हूँ इसलिए शीघ्र ही इसका उपाय करो ॥६३॥ यद्यपि इस कार्यसे इस जन्ममें अपयश प्राप्त होता है और परजन्ममें अनर्थकी प्राप्ति होती है तथापि जन्मान्धके समान मूर्ख मनुष्य कार्यको नहीं देखता ॥६४॥ इसलिए अकार्यमें प्रवृत्त होनेपर भी मैं तुम्हारे द्वारा रोकने योग्य नहीं हूँ। यदि जीवन रहा तो पापको शान्त करनेके बहुतसे उपाय हो जावेंगे ॥६५॥ यद्यपि राजाका वह वचन अन्याय रूप था तथा मन्त्रीने उसे

---

१. सौस्थित्ये म० । २. मया द्योतनया नया म० । ३. ईदृग्भूतं स्वनेपथ्यं यस्याः सा (क० टि०) ।
४. अनिमिषमात्रेणान्धः जात्यन्ध इत्यर्थः (क० टि०) ।

आह चात्यनुकूलस्तमित्यसौ प्रणतः प्रभो । वनमालां सुकण्ठे ते पश्याद्यैव मया कृताम् ॥६७॥
त्वं मज्जनविधिं सद्यः भुक्तिं च भज पूर्ववत् । दिव्यानुलेपनश्लक्ष्णवस्त्रताम्बूलमाल्यकम् ॥६८॥
इति विज्ञापितो नत्वा प्रज्ञानेत्रेण मन्त्रिणा । कर्तुमैच्छत्तदुद्दिष्टं द्विष्टभुक्तिरपि प्रभुः ॥६९॥
विज्ञाय सुमुखाकूतं कृपयेव विभाकरः । प्रतीचीमगमत्क्षिप्रमुपसंहृतदीधितिः ॥७०॥
प्रौढेऽस्ताभिमुखे ध्वस्तप्रतापे मित्रमण्डले । सोद्यमोऽप्यभवल्लोको निखिलः स्खलितोद्यमः ॥७१॥
दृष्टिरश्मिभिराकृष्य चक्रवाकैर्धृतो यथा । तदा कथमपि प्रायात् शनैर्भानुरदृश्यताम् ॥७२॥
सन्ध्यारागेण व्याप्तं भुवनं तदनन्तरम् । वनमालानुरागेण सुमुखस्येव भूरिणा ॥७३॥
सङ्कोचः पद्मखण्डानां ततोऽभूत्खण्डितौजसाम् । मित्रोदयोदयाः के वा मित्रापदि विकासिनः ॥७४॥
सन्ध्यारागानुसन्धाने ध्वान्तेनापि कृते बभौ । मुक्तरक्ताम्बरं गूढं जगन्नीलपटेन वा ॥७५॥
लब्धो वर्णविवेको न [1]लब्धवर्णैरपि क्षणम् । प्रदोषे विषमे काले तिमिरोपप्लुतैस्तदा ॥७६॥

मान लिया सो ठीक ही है क्योंकि मन्त्री अत्यन्त निकटवर्ती आपत्तियोंको ही दूर करते हैं ॥६६॥ मन्त्रीने अत्यन्त अनुकूल एवं विनम्र होकर कहा कि हे प्रभो! मैं प्रयत्न करता हूँ आप वनमालाको आज ही अपने कण्ठमें लगी देखिए ॥६७॥ आप पहलेकी भाँति शीघ्र ही स्नान कीजिए, भोजन कीजिए, दिव्य विलेपन, सुकोमल वस्त्र, पान तथा माला आदि धारण कीजिए ॥६८॥ यद्यपि राजाको वनमालाके बिना भोजन करना इष्ट नहीं था तथापि बुद्धिरूपी नेत्रको धारण करनेवाले मन्त्रीने जब नमस्कार कर प्रार्थना की तब उसने उसके कहे अनुसार सब कार्य करनेकी इच्छा की ॥६९॥

तदनन्तर सुमुखका अभिप्राय जानकर दयासे ही मानो सूर्य अपनी किरणोंको संकुचित कर पश्चिम दिशाकी ओर चला गया ॥७०॥ जिस समय अतिशय प्रतापी मित्रमण्डल—सूर्यमण्डल (मित्रोंका समूह) प्रताप-रहित हो अस्त होने लगा उस समय समस्त उद्यमी मनुष्य भी उद्यमरहित हो गये। भावार्थ—जिस प्रकार समर्थ मित्रोंके समूहको नष्टप्रताप एवं नाशके सन्मुख देखकर उसके अनुगामी अन्य लोग पुरुषार्थहीन हो जाते हैं उसी प्रकार प्रतापी सूर्यको भी नष्टप्रताप एवं अस्त होनेके सन्मुख देख दूसरे उद्यमी मनुष्य भी उद्यम रहित हो गये—दिनभर काम करनेके बाद संध्याके समय विश्रामके लिए उद्यत हुए ॥७१॥ उस समय सूर्य धीरे-धीरे किसी तरह अदृश्यताको प्राप्त हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो चकवाक पक्षियोंने उसे अपनी दृष्टि रूपी रस्सियोंसे खींचकर रोक ही रक्खा था ॥७२॥ तदनन्तर जिस प्रकार राजा सुमुखका अन्तःकरण वनमालाके अनुरागसे व्याप्त था उसी प्रकार समस्त संसार संध्याकालकी लालीसे व्याप्त हो गया ॥७३॥ तत्पश्चात् जिनका तेज खण्डित हो गया था ऐसे कमलोंका समूह भी संकोचको प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मित्र (सूर्य पक्षमें मित्र) के उदयकालमें अभ्युदयको प्राप्त होनेवाले ऐसे कौन हैं जो मित्रकी विपत्तिके समय विकसित (पक्षमें हर्षित) रह सकें ? ॥७४॥ धीरे-धीरे अन्धकारने भी जब सन्ध्या-कालिक लालिमाकी खोज की तब संसार लाल वस्त्रको छोड़कर नील-वस्त्रसे आच्छादित हो गया ॥ भावार्थ—संध्याकी लालीको दूर कर उसके स्थानपर अन्धकारने अपना अधिकार जमा लिया जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो संसारने लाल वस्त्र छोड़कर नीला वस्त्र ही धारण कर लिया हो ॥७५॥ जिस प्रकार प्रदोष–दोषपूर्ण विषम कालमें मोहरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुए विद्वान् मनुष्य भी ब्राह्मणादि वर्णोंका विवेक नहीं प्राप्त करते हैं—वर्णभेदको भूल जाते हैं उसी प्रकार उस प्रदोष—रात्रिके प्रारम्भ रूप विषम कालमें अन्धकारसे उपद्रुत विद्वान् मनुष्य भी लाल-पीले आदि वर्णोंके भेदको नहीं प्राप्त कर सके थे—उस समय सब पदार्थ एक वर्ण—काले-काले ही दिखाई देते थे ॥७६॥

---

१. विद्वद्भिरपि ।

वेलायां तत्र सम्मन्त्र्य मन्त्री दूतीमजीगमत् । आत्रेयीं वनमालायाः समीपं सुमुखाज्ञया ॥७७॥
मानिताऽऽसनदानाद्यैः सत्फली[1] वनमालया । साभिनन्द्य रहस्येतामुवाचैवं विचक्षणा ॥७८॥
वनमाले प्रिये वत्से विचित्तेवाद्य लक्ष्यसे । वद वैचित्त्यहेतुं मे पत्या किमसि कोपिता ॥७९॥
वीरको ह्येकपत्नीकस्तत्र किं कोपकारणम् । अन्यदत्र निमित्तं स्यात्स्वसंवेद्यं निगद्यताम् ॥८०॥
पुत्रि ! सर्वरहस्येषु नन्वहं तु परीक्षिता । भवत्या मयि सत्यां वा दुर्लभं किमभीप्सितम् ॥८१॥
इत्युक्ता सोष्णनिश्वासग्लपिताधरपल्लवा । तया प्रार्थितया वार्ता[2] कथमप्यब्रवीद् वचः ॥८२॥
त्वां मुक्त्वांम्ब[3] न मे काचिद्विश्रम्भस्थानमत्र हि । षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रो रक्षणीयः स यत्नतः ॥८३॥
दृष्टो मयाऽद्य सद्रूपः सुमुखः[4] सुमुखो[5] नृपः । दृष्टमात्रं प्रविष्टोऽमा[6] स मनो मे मनोभुवा ॥८४॥
दुर्लभेऽप्यभिलाषस्य द्वेषिणः सुलभे[7] जने । हृदयस्य खलस्येव वृत्तिरात्मोपतापिनी ॥८५॥
दिग्धं चन्दनपङ्केन हृदयं मम शुष्यति । बहिरङ्गो विधिः कुर्यादन्तरङ्गे विधौ तु किम् ॥८६॥
आर्द्रवस्त्रमपि न्यस्तमङ्गोपाङ्गेऽतिशुष्यति । शीतस्पर्शोऽल्पशोऽत्युष्णे किं करोतु निर्वापितः ॥८७॥
यस्य पल्लवतल्पोऽपि कल्पितो म्लायतेतराम् । तापकर्कशगात्रस्य मृदुं शीतः करोतु किम् ॥८८॥
अङ्गस्पर्शाद्विना तस्य नाहं पश्यामि निर्वृतिम् । तत्कुरुष्व दयां पूते तत्समागममेव मे ॥८९॥

उस समय मन्त्रीने सलाह कर राजा सुमुखकी आज्ञासे वनमालाके पास आत्रेयी नामकी दूती भेजी ॥७७॥ वनमालाने आसन आदि देकर उस दूतीका सम्मान किया जिससे वह बहुत प्रसन्न हुई। तदनन्तर उस चतुर दूतीने एकान्तमें वनमालासे इस प्रकार कहा कि प्रिय बेटी वनमाला ! तू आज उदास-सी दिख रही है। उदासीका कारण मुझसे कह, क्या पतिने तुझे नाराज कर दिया है ? ॥७८–७९॥ वीरकके तो तू ही एक पत्नी है अतः उसके क्रोधका कारण क्या हो सकता है ? उदासीमें कुछ दूसरा ही कारण होना चाहिए जो कि तेरे अनुभवमें आ रहा है, उसे बता ॥८०॥ बेटी ! तूने सब रहस्योंमें कई बार मेरी परीक्षा की है, मेरे रहते हुए तुझे कौन-सा इष्ट कार्य दुर्लभ रह सकता है ? ॥८१॥ दूतीके यह कहते ही उसके मुखसे गरम-गरम साँसें निकलने लगीं जिनसे उसका अधरपल्लव मुरझा गया। तदनन्तर दूतीके कई बार प्रार्थना करनेपर उसने बड़े दुःखसे यह वचन कहे कि हे माँ ! तुझे छोड़कर इस विषयमें मेरा कोई भी विश्वासपात्र नहीं है। चूँकि छह कानोंमें पहुँचा हुआ मंत्र फूट जाता है—उसका रहस्य खुल जाता है इसलिए मन्त्रकी यत्न-पूर्वक रक्षा करनी चाहिए ॥८२–८३॥ बात यह है कि आज मैंने प्रशस्त रूप एवं सुन्दर मुखके धारक राजा सुमुखको देखा था और देखते ही कामदेवके साथ वह मेरे मनमें प्रविष्ट हो गया ॥८४॥ इस समय मेरे हृदयकी प्रवृत्ति दुर्जनकी प्रवृत्तिके समान अपने आपको संताप उत्पन्न कर रही है। क्योंकि जिस प्रकार दुर्जन दुर्लभ वस्तुकी अभिलाषा करता है और सुलभ वस्तुसे द्वेष करता है उसी प्रकार मेरा हृदय, जो मेरे लिए सर्वथा दुर्लभ है ऐसे राजा सुमुखकी अभिलाषा कर रहा है और सुलभ वीरकसे द्वेष कर रहा है ॥८५॥ मेरा हृदय चन्दनके लेपसे लिप्त होनेपर भी सूख रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि बाह्य उपचार अन्तरङ्ग कार्यमें क्या कर सकता है ? ॥८६॥ मेरे अङ्ग और उपाङ्गोंपर रखा हुआ गीला कपड़ा भी सूख जाता है सो ठीक ही है क्योंकि अत्यन्त उष्ण पदार्थपर रखा हुआ थोड़ा-सा शीत-स्पर्श क्या कर सकता है ? ॥८७॥ जिस तापसे कर्कश शरीरके लिए बनाया हुआ पल्लवोंका बिस्तर भी अत्यन्त मुरझा जाता है उसके लिए थोड़ा-सा शीत-स्पर्श क्या कर सकता है ? ॥८८॥ मैं उसके शरीरके स्पर्शके बिना शान्ति नहीं देखती इसलिए हे पवित्रे ! दया करो और

---

१. दूती । २. वा + आर्त्ता कामेन सरोगा (क० द० टि०) । ३. मुक्त्वात्र म० । ४. सुन्दरमुखयुक्तः । ५. एतन्नामा नृपः । ६. सह । ७. सुलभो जनः म० ।

तस्यापि हि मनोवृत्तिं प्रतीहि मम दर्शनात् । मदभिप्रायसंमिश्रां सर्वाकारोपलक्षिताम् ॥९०॥
तदा तज्ज्ञे प्रवीणे ! द्वौ त्वं नौ रहसि योजयेः । सुखेनैव हि कालज्ञे तप्तं तप्तेन योज्यते ॥९१॥
निशम्य वनमालायास्तद्वचो भावसूचकम् । जगाद वचनं दूती तदेति मुदितात्मिका ॥९२॥
वत्से वत्सेश्वरेणाहं त्वद्रूपहृतचेतसा । प्रहितास्मि तदेह्याशु तेन त्वां घटयाम्यहम् ॥९३॥
इति स्वेष्टार्थसंवादे वनमाला स्मरातुरा । दूत्या पत्यौ परोक्षे द्रागविशद्राजमन्दिरम् ॥९४॥
विलोक्य मनसश्चौरीं सुमुखः सुमुखीं मुदा । एह्येहीति प्रियालापाश्चकार सुखिनीं सुखी ॥९५॥
हस्ते स्तनानुलुप्तां[1] तां स्वेदिनि स्वेदिना युवा । हस्तेनादाय तन्वङ्गीं शयने स्वे न्यवेशयत् ॥९६॥
प्रौढयौवनयोर्योगमनुकर्तुमिवैतयोः । उदियाय निशानाथो प्रसादितनिशामुखः ॥९७॥
शशाङ्कस्य करस्पर्शान्मुमोदाशु कुमुद्वती । सुमुखस्य करस्पर्शाद् वनमालेव हारिणी ॥९८॥
उक्तप्रत्युक्तयुक्तार्थान्[2] स्त्रीपुंसगुणसङ्गतान् । प्रेमबन्धप्रवृद्ध्यै तौ बहून् भावांस्तु चक्रतुः ॥९९॥
सोऽपि विश्रम्भदूरास्तनवसङ्गमसाध्वसाम् । तामुत्सङ्गे कृतां गाढमालिलिङ्गाङ्गसङ्गताम् ॥१००॥
असन्तोषभुजाश्लेषैर्विश्लेषमुषितश्रमैः[3] । चुम्बनैश्चूर्णदंशैः कण्ठग्रहकचग्रहैः ॥१०१॥

मेरे लिए शीघ्र ही उसका समागम प्राप्त कराओ ॥८९॥ तुम यह विश्वास करो कि मेरे देखनेसे उसकी मनोवृत्ति भी मेरी चाहसे मिश्रित है—उसके मनमें मेरी चाह है क्योंकि उसकी समस्त चेष्टाओंसे यह स्पष्ट प्रतीत होता था ॥९०॥ तुम बड़ी चतुर और समयकी गतिको जाननेवाली हो इसलिए हम दोनों संतप्त स्त्री-पुरुषोंको एकान्तमें मिला दो क्योंकि संतप्त वस्तु दूसरी संतप्त वस्तुके साथ सुखसे मिलाई जा सकती है ॥९१॥

इस प्रकार वनमालाके अभिप्रायको सूचित करनेवाले उन वचनोंको सुनकर दूती बहुत प्रसन्न हुई और निम्नाङ्कित वचन कहने लगी ॥९२॥ उसने कहा कि हे बेटी ! तेरे रूपसे जिसका चित्त हरा गया है ऐसे वत्स देशके स्वामी राजा सुमुखने ही मुझे भेजा है अतः चल मैं शीघ्र ही तुझे उसके साथ मिलाये देती हूँ ॥९३॥ इसप्रकार अपने मनोरथके अनुकूल बात होनेपर कामसे पीड़ित वनमाला, पतिकी अनुपस्थितिमें दूतीके साथ शीघ्र ही राजभवनमें प्रविष्ट हो गई ॥९४॥ राजा सुमुख, मनको चुरानेवाली सुमुखीको देखकर बहुत सुखी हुआ और हर्षसे 'आइए, आइए' इस प्रकारके प्रिय वचन कहकर उसे सुखी करने लगा ॥९५॥ जिसके स्तनोंका स्पर्श किया गया था ऐसी कृशाङ्गी वनमालाको तरुण सुमुखने अपने स्वेद युक्त हाथसे उसका स्वेद युक्त हाथ पकड़कर अपनी शय्यापर बैठा लिया ॥९६॥ उसी समय रात्रि रूपी स्त्रीके मुखको प्रसन्न करता हुआ (पक्षमें रात्रिके प्रारम्भको प्रकाशमान करता हुआ) चन्द्रमा उदित हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो वह प्रौढ़ यौवनसे युक्त राजा सुमुख और वनमालाके समागमका अनुकरण करनेके लिए ही उदित हुआ था ॥९७॥ जिस प्रकार राजा सुमुखके कर स्पर्श (हाथके स्पर्श) से सुन्दरी वनमाला प्रसन्न हो रही थी उसी प्रकार चन्द्रमाके करस्पर्श (किरणोंके स्पर्श) से कुमुदिनी शीघ्र ही प्रसन्न हो उठी—खिल उठी ॥९८॥ राजा सुमुख और वनमालाने उत्तर-प्रत्युत्तरसे सहित तथा स्त्री-पुरुषोंके गुणोंसे संगत बहुतसे भाव किये—नाना प्रकारकी शृङ्गार चेष्टाएँ कीं ॥९९॥ विश्वासकी अधिकतासे नूतन समागमके समय होनेवाला जिसका भय दूर छूट गया था ऐसी वनमालाको राजा सुमुखने गोदमें उठा लिया और अपने शरीरसे लगाकर उसका गाढ़ आलिङ्गन किया ॥१००॥ तदनन्तर कामसे उत्तप्त दोनों स्त्री-पुरुषोंने, बीच-बीचमें आलिङ्गन छोड़ देनेसे जिनमें आलिङ्गन जन्य थकावट दूर हो जाती थी ऐसे भुजाओंके गाढ़

---

१. स्तनावलुप्तां तां ग०, ङ० । हस्तस्तनानुलुप्तां तां म० । स्वेदिनि हस्ते स्तनयोश्च अनुलुप्तां कृतस्पर्शां (ख० टि०) । २. मुक्तार्थां म० । ३. सुखितश्रमैः म० ।

नितम्बास्फालनैरङ्गप्रत्यङ्गस्पर्शनैर्मिथः । मिथुनं मन्मथोद्दामं विक्रीड विविधक्रियम् ॥१०२॥
यथासत्त्वं यथाभावं यथावैदग्ध्यमङ्गना । पुंसः सुखाय तस्याऽसौ बभूव सुरतोत्सवे ॥१०३॥
श्रमप्रस्विन्नसर्वाङ्गौ कृतसंवाहनौ मिथः । नागाविव कृताश्लेषौ शयने शयितावुभौ ॥१०४॥

वंशस्थवृत्तम्

प्रकृष्टवैदग्ध्यहृतात्मनोस्तयोः प्रसुप्तयोः प्रेमनिबद्धचित्तयोः ।
प्रवृत्तवृत्तान्तमिव प्रवेदितुं प्रभातसन्ध्यां[1] व्यसृजत्प्रभाकरः ॥१०५॥
सहेन्दुना बन्धुरयाऽप्रसन्ध्यया[2] सुरञ्जिता द्यौरभजत्परां द्युतिम् ।
सुचित्तवृत्त्या सुमुखेन सम्मुखी वधूरिवाऽसौ वनमालिका नवा ॥१०६॥
नृपं शयानं सुमुखं विभाकरः सरोरुहश्रीवनमालया सह ।
महोदयाद्रिस्थित एव च द्रुतो व्यबोधयल्लोकमिमं यथा जिनः ॥१०७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सुमुखवनमालावर्णनो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

आलिङ्गनसे, चुम्बनसे, चूषणसे, दशनसे, कण्ठ ग्रहणसे, केश ग्रहणसे, नितम्बास्फालनसे और अङ्ग-प्रत्यङ्गके स्पर्शसे परस्पर नाना प्रकारकी क्रीड़ा की ॥१०१–१०२॥ वनमालामें जैसा उत्साह था, जैसा भाव था, और जैसा चातुर्य था उन सबके अनुसार वह संभोगोत्सवके समय राजा सुमुखके सुखके लिए हुई थी—उसने अपनी समस्त चेष्टाओंसे राजा सुमुखको सुखी किया था ॥१०३॥ तदनन्तर थकावटसे जिनके सर्व शरीरमें पसीना आ गया था और जो परस्पर एक दूसरेका संमर्दन कर रहे थे ऐसे वे दोनों, हस्ती-हस्तिनियोंके समान आलिङ्गनकर शय्यापर सो गये ॥१०४॥ तदनन्तर अत्यधिक चातुर्यसे जिनकी आत्मा हरी गई थी, और चित्त प्रेमरूपी बन्धनसे बद्ध थे ऐसे गाढ़ निद्रामें निमग्न सुमुख और वनमालाका क्या हाल है ? यह जाननेके लिए ही मानो सूर्यने प्रभात सन्ध्याको भेजा। भावार्थ—आकाशमें प्रातःकालकी लालिमा छा गई ॥१०५॥ उस समय चन्द्रमाके साथ-साथ सुन्दर प्रभात सन्ध्यासे अनुरञ्जित (रक्तवर्ण की हुई) द्यावा (आकाशरूपी स्त्री) राजा सुमुख द्वारा उत्तम मनोवृत्तिसे अनुरञ्जित (प्रसन्न की हुई) सुवदना नव-वधू वनमालाके समान सुशोभित हो रही थी ॥१०६॥ जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् समवसरणमें सिंहासनारूढ़ हो इस समस्त लोकको प्रबुद्ध करते हैं उसी प्रकार आगत सूर्यने उदयाचलपर स्थित होकर कमलोंके समान सुशोभित वनमालाके साथ सोते हुए राजा सुमुखको प्रबुद्ध किया—जगाया ॥१०७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे सहित जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें सुमुख और वनमालाका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

---

१. सन्ध्या म० । २. सन्धया म० ।

पञ्चदशः सर्गः

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अथ विबुद्धसरोजवनस्पृशा सुरभिणा स्पृशता मरुता[1] तदा ।
हृतवपुःश्रमकं मिथुनं मिथस्तदकरोदुपगूढमतिश्लथम् ॥१॥
मृदुतरङ्गघने शयनस्थले मृदितपुष्पचये शयितोत्थितः ।
सह बभौ प्रियया सुमुखो यथा समदहंसयुवा सिकतास्थले ॥२॥
विषहते स्म वियोगविषं क्षणं विरहिणोरिव रात्रिषु पक्षिणोः ।
प्रियवधूवरयोर्वरयोस्तयोर्न हृदयं [2]हृदयङ्गमचेष्टयोः ॥३॥
न विससर्ज ततः स्वपतेर्गृहं स्वगृह एव रुरोध वधूं प्रभुः ।
रहसि दुर्लभमाप्य मनीषितं न हि विमुञ्चति लब्धरसो जनः ॥४॥
सुमुखमुख्यवधूजनमुख्यतां समधिगम्य निजैः सुमुखैर्गुणैः ।
वरवधूरतिगौरवमाप सा न सुलभं सुमुखे[3] किमु भर्तरि ॥५॥
अवततार कदाचिदचिन्तितो निधिरिवोरुतपोनिधिरञ्जितः ।
नृपगृहं वरधर्ममुनिर्गृहानतिथिरेति हि भूरिशुभोदये ॥६॥
परमदर्शनशुद्धिविशुद्धधीरधिकबोधविबुद्धपदार्थकः ।
व्रतसुगुप्तिसमित्यतिशुद्धतामयचरित्रपवित्रितविग्रहः ॥७॥

अथानन्तर खिले हुए कमल वनका स्पर्श करनेवाली सुगन्धित वायुने स्पर्श कर जिसका समस्त श्रम दूर कर दिया था ऐसे उस मिथुनने उस समय परस्परका आलिङ्गन अत्यन्त ढीला कर दिया ॥१॥ जिसपर तरङ्गोंके समान कोमल सिकुड़नें उठ रही थीं तथा जिसपर फूलोंका समूह मसला गया था ऐसी शय्यापर सोकर उठा सुमुख, प्रिया वनमालाके साथ उस तरह सुशोभित हो रहा था जिस तरह कि बालूके स्थलपर हंसीके साथ मदोन्मत्त युवा हंस सुशोभित होता है ॥२॥ जिस प्रकार रात्रिके समय बिछुड़नेवाले चकवा-चकवीका हृदय क्षण भरके लिए भी वियोगरूपी विषको सहन नहीं करता है उसी प्रकार मनोहर चेष्टाके धारक उन प्रिय वधू-वरका हृदय क्षण भरके लिए भी वियोगरूपी विषको सहन नहीं करना चाहता था ॥३॥ इसलिए राजा सुमुखने वधू-वनमालाको उसके पतिके घर नहीं भेजा अपने ही घर रोक लिया सो ठीक ही है क्योंकि दुर्लभ वस्तुको पाकर उसका रस प्राप्त करनेवाले उसे छोड़ते नहीं हैं ॥४॥ सुन्दरी वनमाला, अपने उत्तम गुणोंसे राजा सुमुखकी समस्त मुख्य स्त्रियोंमें मुख्यताको पाकर परम गौरवको प्राप्त हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि भर्ताके अनुकूल रहनेपर कौन-सी वस्तु सुलभ नहीं ? ॥५॥

तदनन्तर किसी समय अचिन्तित निधिके समान उत्कृष्ट तपके भाण्डार वरधर्म नामके पूज्य मुनि राजा सुमुखके घर आये सो ठीक ही है क्योंकि अत्यधिक पुण्यका उदय होनेपर ही अतिथि घर आते हैं ॥६॥ उन मुनिकी बुद्धि उत्कृष्ट दर्शनविशुद्धिसे विशुद्ध थी, अधिक ज्ञानसे वे अनेक पदार्थोंको जानते थे, व्रत गुप्ति और समितिकी अतिशय शुद्धि रूपी चारित्रसे उनका शरीर पवित्र था, वे अनशन तथा स्वाध्याय आदि तपकी निर्मल लक्ष्मीसे युक्त थे और धवल

१. मरुता । २. हृदयङ्गमा मनोज्ञा चेष्टा ययोस्तयोः । ३. अनुकूले ।

अनशनाध्ययनादितपःश्रिया धवलया प्रशमास्तविकारया ।
जनितगौरवया शुचिभूषितो विपुलनिर्जरया जरया यथा ॥८॥
विजितदोषकषायपरीषहं सुनिगृहीतजितेन्द्रियवृत्तकम् ।
यतिवृषं[1] सुमुखः स्वगृहागतं समभिवीक्ष्य नृपः सहसोत्थितः ॥९॥
प्रमदभारवशीकृतमानसस्तमभिगत्य परीत्य वधूयुतः ।
सविनयं प्रतिगृह्य शुचिः शुचिं शुचिनि साधुमधान्मणिकुट्टिमे ॥१०॥
प्रियवधूकरधारितसत्कनत्कनककर्करिकाजलधारया[2] ।
व्यपगतासुकया[3] वरभूभृता स्वकरधौतमकारि मुनेः पदम् ॥११॥
सुरभिगन्धशुभाक्षतपुष्पसत्प्रकरदीपकधूपपुरःसरैः ।
समभिपूज्य वचस्तनुचेतसा तमभिवन्द्य सुदानमदान्मुदा ॥१२॥
समगुणात्परिणामविशेषतः परभवे सहभोगफलोदयम् ।
सुमनसा सुमुखो वनमालया सह बबन्ध सुपुण्यमपुण्यभित् ॥१३॥
बहुदिनानशनव्रतधारणः कृशतनुस्थितये[4] कृतपारणः ।
विहितदातृसुखोदयकारणः स मुनिरैत्पटुतत्त्वविचारणः ॥१४॥
व्रजति नित्यसुखे सुमुखेशिनः शममनेहसि[5] पुण्यफलाशिनः ।
[6]परयुवत्यपहारदुराहितं[7] प्रतिकृतानुशयस्य हताहितम् ॥१५॥
मणिगणच्छविविच्छुरितोदरे सुरभिगर्भगृहे विहितादरे ।
सह कदाचिदसौ गुणमालया दयितया शयितो वनमालया ॥१६॥

अर्थात् सफेद (पक्षमें उज्ज्वल) समस्त विकारोंसे रहित एवं गौरवको उत्पन्न करनेवाली वृद्धावस्थाके समान कर्मोंकी विपुल निर्जरासे सुशोभित थे ॥७-८॥ जिन्होंने दोष कषाय और परिषहको जीत लिया था एवं इन्द्रियोंकी वृत्तिको अच्छी तरह रोककर परास्त कर दिया था ऐसे अपने घर आये हुए उत्तम मुनिराजको देखकर राजा सुमुख सहसा उठकर खड़ा हो गया ॥९॥ आनन्दके भारसे जिसका हृदय विवश था ऐसे उज्ज्वल परिणामोंके धारक राजा सुमुखने स्त्रीके साथ आगे जाकर पहले तो उन पवित्र मुनिराजको प्रदक्षिणा दी फिर विनय सहित पड़गाह कर उन्हें रत्नमय पवित्र फर्शपर विराजमान किया ॥१०॥ तदनन्तर प्रिय स्त्रीके द्वारा हाथमें धारण की हुई सुवर्णमय झारीकी प्रासुक जलधारासे राजाने मुनिराजके चरण धोये॥११॥ फिर सुगन्धित चन्दन, शुभ अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप आदि अष्टद्रव्यसे पूजा कर मन, वचन, कायसे उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर हर्ष-पूर्वक दान दिया॥१२॥ उस समय राजा सुमुख और वनमालाके परिणाम एक समान थे इसलिए दोनोंने ही परभवमें एक साथ भोग-रूपी फलको देनेवाला पापापहारी उत्तम पुण्य बन्ध किया ॥१३॥ जिन्होंने अनेक दिनका उपवास रूपी व्रत धारण किया था, जो दाताओंके लिए सुख प्राप्तिका कारण जुटानेवाले थे और जो तत्त्वके विचार करनेमें अतिशय निपुण थे ऐसे मुनिराज अपने कृश शरीरकी स्थिरताके लिए पारणा कर वनको चले गये ॥१४॥

तदनन्तर जो पुण्यका फल भोग रहा था और परस्त्रीके अपहरणसे उत्पन्न पापके प्रति जो निरन्तर पश्चात्ताप करता रहता था ऐसे राजा सुमुखका काल जब अहितोंको नष्ट कर निरन्तर सुखसे बीत रहा था तब वह किसी समय गुणोंकी माला स्वरूप वनमाला स्त्रीके साथ सुगन्धित

१. यतिश्रेष्ठम् । २. झारी । ३. प्रासुकया । व्यपगतांशुकया (?)म० । ४. कृततनु-म० । ५. सममनेहसि क०, ख०, ग०, घ०, म० । ६. वरयुवत्य -ङ० । ७. प्रतिकृतः अनुशयः पश्चात्तापो येन स तस्य ।

अथ तयोः परिपाकमुपेयुषि प्रगुणमानसयोः प्रगुणायुषि ।
अविपपात हि कालनियोगतो [1]जलदकालसमागतचञ्चला ॥१७॥
अशनिपातसहोज्झितजीवितौ परमदानफलोदयसेवितौ ।
सुविजयार्द्धगिराविह तावितौ विपुलखेचरतां सुखमावितौ ॥१८॥
उभयकोटितटीघटितोदधिर्धवलताधरितेन्दुपयोदधिः ।
स्फुरितराजतमूर्तिरसौ यतः क्षितिवधूपृथुहार इवायतः ॥१९॥
विभृतीत्य भुवो दशयोजनीं स्वजगतीद्वितयांशयुगेन सः ।
जगति भोगभुवोऽभिनवा यथा वहति खेचरराजपुरीर्गिरिः ॥२०॥
[2]सुभृतभारतभूरिगिरीशते स्थिरदशोत्तररम्यपुरीशते ।
उचितपञ्चकविंशतियोजने विततत्तद्द्विगुणे[3] सुखयोजने ॥२१॥
पुरमिहोत्तरमस्ति सुखक्षमं तरुवनानुकृतोरुकुरु[4]क्षमम् ।
हरिपुरं विदितं तदभिख्यया हरिपुरप्रतिमं यदभिख्यया[5] ॥२२॥
अभवदस्य पुरस्य तु गोपिता[6] पवनपूर्वगिरिः खचरः[7] पिता ।
सुमुखराजचरस्य मृगावती गुणवती जननी हि कलावती ॥२३॥
अभृत सार्थवतीमभिधामयं प्रकटमार्य इतीह सुधामयम् ।
वचनमार्यजनप्रमदावहं स्मरणमन्यभवप्रमदावहम् ॥२४॥

गर्भगृहमें सोया था। उस गर्भगृहका मध्य भाग मणिसमूहकी कान्तिसे व्याप्त था तथा आदरको प्रदान करनेवाला था ॥१५-१६॥ उसी समय जिनके मन एक दूसरेके आधीन थे ऐसे उन दोनोंकी श्रेष्ठ आयु समाप्त होनेको आई इसलिए उनके ऊपर वर्षाकालकी बिजली आ गिरी ॥१७॥ बिजली गिरनेसे जिनके प्राण एक ही साथ छूटे थे, तथा जो उत्तम दानके फलको प्राप्त थे ऐसे दोनों दम्पती सुखसे मरणकर विजयार्ध पर्वतपर विद्याधर-विद्याधरी हुए ॥१८॥ वह विजयार्ध पर्वत, अपनी पूर्व पश्चिम—दोनों कोटियोंसे समुद्रका स्पर्श करता है, उसने अपनी सफेदीसे चन्द्रमा और क्षीर समुद्रको जीत लिया है, वह चाँदीके समान देदीप्यमान मूर्तिका धारक है और पृथिवी रूपी स्त्रीके बड़े भारी हारके समान लम्बा है ॥१९॥ वह विजयार्ध पर्वत पृथिवीसे दश योजन ऊपर चलकर अपनी दो श्रेणियोंके द्वारा विद्याधर राजाओंकी उन नगरियोंको धारण करता है जो संसारमें नूतन भोगभूमियोंके समान जान पड़ती हैं ॥२०॥ यह पर्वत भरत क्षेत्रके समस्त पर्वतोंके स्वामित्वको धारण करता है, इसपर एकसौ दश सुन्दर नगरियाँ स्थित हैं, यह पच्चीस योजन ऊँचा, पचास योजन चौड़ा तथा सुखको उत्पन्न करनेवाला है ॥२१॥ इसी पर्वतकी उत्तर श्रेणीपर एक हरिपुर नामका नगर है जो सब प्रकारके सुख देनेमें समर्थ है, नाना प्रकारके वृक्षोंके वनसे उत्तरकुरुकी पृथिवीका अनुकरण करता है और शोभामें इन्द्रपुरीके समान जान पड़ता है ॥२२॥ इस नगरका रक्षक पवनगिरि विद्याधर था। वही राजा सुमुखके जीवका पिता था तथा इसकी अनेक कलाओं और गुणोंमें निपुण मृगावती नामकी स्त्री थी वही सुमुखके जीवकी माता थी ॥२३॥ यहाँ सुमुखका जीव, 'आर्य' इस सार्थक नामको धारण करता था। धीरे-धीरे वह आर्यजनोंको आनन्द उत्पन्न करनेवाले अमृतमय वचन बोलने लगा तथा उसे अपनी पूर्व भवकी स्त्रीका स्मरण हो आया ॥२४॥

१. क्षणरुचिः सहसा समयोगतः घ०, ङ० । २. सुभृता भारतभूरिगिरीणामीशता येन स तस्मिन् । ३. पञ्चाशद्योजनविष्कम्भे । ४. विनिहिताखिलवाञ्छगणश्रमं ख०, ग०, ङ०, म० अत्र यः पाठः स्वीकृतस्तस्य ङ० पुस्तकस्य टिप्पण्यां समुल्लेखः कृतः । विनिहिताखिलवाञ्छगणश्रमं क० । ५. शोभया । ६. रक्षकः । ७ खचराधिपः घ० ।

पुरमथोत्तरदिग्जगतीमितं भवति तत्र गिरौ विभवामितम् ।
यदिह मेघपुरं परमं परां वहति सन्मणिसौधपरम्पराम् ॥२५॥
अधिवसत्यथ तद्यमनो हरी रिपुमदेभकुलस्य मनोहरी ।
रतिषु यस्य मनोहरति प्रिया पवनवेगखगस्य रतिप्रिया ॥२६॥
भजनि साथ तयोर्दुहिता सती सहचरी सुमुखस्य हिता सती ।
विदितपूर्वभवाऽत्र मनोरमा[1] जगति चन्द्रकलेव मनोरमा ॥२७॥
कुलमुवाह विवाहविधोचितं[2] शुचि यथैव तथाकृतभावितम् ।
शिशुसमागममाशु विधिः स्वयं कृतिषु यद् यतते सकलास्वयम् ॥२८॥
मिथुनमर्भकयोः सुखलालितं निजनिषक्तकृताक्षिनिमीलितम् ।
स्मितमुखं सुमुखं वचनाध्वनि स्वजनतोषमपोषयदुद्ध्वनि ॥२९॥
स्वजननीस्तनपानकृताशनं निजरुचोपमितार्कहुताशनम् ।
भजति भोगभुवां शिशुभावनां विजयिनां मिथुनं स्म सुभावनाम् ॥३०॥
स्वतनुवृद्धिमतश्च शनैः शनैः सह कलाभिरिदं च दिने दिने ।
शशिवपुर्वदियाय यथा यथा स्वजनमुज्जलधिश्च[3] तथा तथा ॥३१॥
निखिलखेचरसाधितविद्यया मिथुनमेतदभाद् भवविद्यथा[4] ।
ललितयौवनभाररुचा तथा जनमनोऽप्यहरद् गुणयातया[5] ॥३२॥

इसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक मेघपुर नामका उत्तम नगर है जो अपरिमित वैभवसे युक्त है तथा मणिमयी उत्तम महलोंकी पंक्तिको धारण करता है ॥२५॥ उस मेघपुर नगरका राजा पवनवेग था। पवनवेग शत्रुरूपी मदोन्मत्त हाथियोंको नष्ट करनेके लिए सिंहके समान था। इसकी स्त्री मनोहरी थी। मनोहरी रतिकालमें पतिके मनको हरण करती थी इसलिए वह पवनवेगको रतिके समान प्यारी थी ॥२६॥ राजा सुमुखकी जो वनमाला नामकी हित-कारिणी उत्तम स्त्री थी वह इन्हीं दोनोंके मनोरमा नामकी उत्तम पुत्री हुई। मनोरमा अपने पूर्वभवको जानती थी और संसारमें चन्द्रकलाके समान मनको आनन्दित करती थी ॥२७॥ उन दोनोंने जैसी पहले भावना की थी उसीके अनुसार विवाहके योग्य पवित्र कुल प्राप्त किया और उन दोनोंका विधाता सदा समस्त कार्योंमें स्वयं ऐसा ही प्रयत्न करता था कि जिससे उन दोनों शिशुओंका शीघ्र ही समागम हो जाय ॥२८॥ उन दोनों बालक-बालिकाओंका अपने-अपने घर सुखपूर्वक पालन होता था, वे अपनी हथेलियोंसे कभी अपनी आँखें बन्द कर लेते थे, कभी मन्द हास्य करते थे, कभी वचन बोलनेमें तत्पर होते थे, और कभी किलकारियाँ भरते हुए अपने कुटुम्बीजनोंके हर्षको बढ़ाते थे ॥२९॥ और अपनी-अपनी कान्तिसे जो सूर्य तथा अग्निकी उपमा धारण कर रहे थे ऐसे उन दोनों बालिका-बालिकाओंका युगल भोगभूमियाँ बालकोंकी विजययुक्त उत्तम भावनाको प्राप्त हो रहा था अर्थात् वे भोग-भूमियाँ बालकोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥३०॥ चन्द्रमाके समान शरीरको धारण करनेवाला वह युगल प्रतिदिन कलाओंके साथ जिस प्रकार धीरे-धीरे शरीरकी वृद्धिको प्राप्त होता जाता था उसी प्रकार उनके कुटुम्बीजनोंका आनन्दरूपी सागर भी वृद्धिको प्राप्त होता जाता था ॥३१॥ संसारको जाननेवाला वह युगल, जिस प्रकार समस्त विद्याधरोंकी सिद्ध की हुई विद्याओंसे सुशोभित हो रहा था उसी प्रकार अनेक गुणोंके साथ प्राप्त हुई सुन्दर यौवनकी शोभासे लोगोंके मनको हरण कर रहा था ॥३२॥

१. मनोहरा म० । २. विधोचितभावितं ख० । ३. स्वजनहर्षोदधिः । 'जनमनो मुदितं च तथा तथा' ख० । ४. भववेत्ता, यथा । ५. गुणान् याता तया ।

अथ तया स खगेन्द्रयुवाऽन्वहा कमलयेव च खेचरकन्यया ।
परमभूतिविवाहविधानतः सममयोजि[1] निजैर्जनतानतः ॥३३॥
अनुबभूव सुखं चिरमेतया मदनभावविलाससमेतया ।
सुरतनाटकभूमिविनीतया मदननर्तकसूरिविनीतया ॥३४॥
सुरवधूवरसुन्दरकन्दरे परमवल्लभया सह मन्दरे ।
सुरभिदेवतरूत्तचन्दने चिरमरंस्त तया सह नन्दने ॥३५॥
स कुलशैलसरःसरितां तया सह तटेषु सरागमतान्तया[2] ।
रतिमवाप कदाचन कान्तया तरुषु भोगभुवामपि कान्तया ॥३६॥
स्थितिमितं विजयार्द्धगिरौ पुरे रणितदिव्यवधूपदनूपुरे ।
भुवि यदन्यसुदुर्लभमर्थितं भजति तत्तदयत्नसमर्पितम्[3] ॥३७॥
अथ स वीरक ईश्वरवञ्चितः प्रियतमाविरहान्न[4] शिवं चितः ।
क्वचिदियाय शुचा मृदुपल्लवे शिशिरतल्पतलेऽस्तविपल्लवे ॥३८॥
न समशीशमदस्य शशी करैः हृदयदाहममा हिमशीकरैः ।
निशि सदा विहगस्य वियोगिनः[5] ससरसो[6]ऽपि यथा भुवि योगिनः ॥३९॥
स विनिगृह्य चिराद्विरहव्यथां रतिरहस्यगृहाश्रममाश्रमम् ।
जिननिदेशितमासृतवान्[7] वशी स हि परं शरणं शरणार्थिनाम् ॥४०॥

तदनन्तर जनसमूहके द्वारा नमस्कृत उस विद्याधर युवाको, उसके कुटुम्बीजनोंने वैभव पूर्ण विवाहकी विधिसे लक्ष्मीकी तुलना करनेवाली विद्याधर-कन्या मनोरमाके साथ युक्त किया ॥३३॥ विवाहके बाद कुमार आर्य, कामजनित हाव-भावोंसे सहित कामदेवरूपी नर्तकाचार्यके द्वारा शिक्षित एवं सुरतरूपी नाटककी रङ्गभूमिमें लाई हुई इस मनोरमाके साथ सुखका उपभोग करने लगा ॥३४॥ कभी वह देव दम्पतियोंसे सुन्दर कन्दराओंसे युक्त मन्दर गिरिपर इस परम वल्लभाके साथ क्रीड़ा करता था तो कभी सुगन्धित देवदारु और चन्दनके ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंसे सुशोभित नन्दन वनमें इसके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहता था ॥३५॥ कभी वह कुलाचलोंके पद्म आदि सरवरों और गङ्गा आदि महानदियोंके तटोंपर तथा कभी भोगभूमिके वृक्षोंके नीचे खेदरहित सुन्दरी वल्लभाके साथ राग-सहित रति-क्रीड़ाको प्राप्त होता था ॥३६॥ इस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर रहनेवाला वह युगल, दिव्य स्त्रियोंके पदनूपुरोंकी झनकारसे युक्त अपने नगरमें उस सुखका उपभोग करता था जो पृथिवीपर दूसरे मनुष्योंके लिए इच्छा करनेपर भी दुर्लभ था और उसे विना ही प्रयत्नके प्राप्त था ॥३७॥

अथानन्तर—राजा सुमुखके द्वारा ठगा हुआ वीरक सेठ, प्रियतमा—वनमालाके विरहमें शोकके कारण कहीं भी हृदयको शान्तिको प्राप्त नहीं होता था। यहाँतक कि जिसपर विपत्तिका एक अंश भी नहीं था ऐसे कोमल-पल्लवोंसे रची हुई शीतल शय्यापर भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता था ॥३८॥ वह विरह-ज्वाला शान्त करनेके लिए रात्रिके समय खुली चाँदनीमें सरोवरके तटपर जा बैठता था पर वहाँपर भी चन्द्रमा बर्फके कणोंके साथ-साथ अपनी किरणोंसे उसके हृदयकी दाहको शान्त नहीं कर पाता था। वह विरही चक्रवाक पक्षीके समान सदा विरहकी दाहमें झुलसता ही रहता था ॥३९॥ तदनन्तर उस वीरकने चिरकाल बाद विरहकी व्यथाको

---

१. नृपतिना समयोजि विधानतः ह० । २. सरागम् अतान्तया इति च्छेदः । अतान्तया = अश्रान्तया इति घपुस्तके टिप्पण्याम् । ३. तत्तदयत्नसमर्पितम् ह० । ४. न्नसिवंचितः म०, चितो हृदयस्य शिवं सुखं न इयाय । ५. नियोगिनः म० । ६. सुसरसोऽपि म० । सरोवरसहितस्यापि । ७. -माश्रितवान् म० ।

अतिवितत्य तपस्तनुशोषणं विषयलुब्धमनोभवपेषणम् ।
अगमदेशसुखाम्बुधिपोषणं प्रथमकल्पमथामरतोषणम् ॥४१॥
सुरवधूनिवहादिपरिग्रहः सकलभूषणभूषितविग्रहः ।
सुरसुखामृतसागरसङ्गतः सममतिष्ठत भावरसं गतः ॥४२॥
दिवि कदाचिदसौ वरकामिनीनिवहमध्यगतोऽवधिगोचरम् ।
समनयद्वनितां वनमालिकां परिचितः प्रणयः खलु दुस्त्यजः ॥४३॥
सुमुखराजकृतं च पराभवं स परिचिन्त्य सुरस्तदनन्तरम् ।
विषमितोन्मिषितावधिचक्षुषा[1] मिथुनमैक्षत खेचरयोस्तयोः ॥४४॥
प्रभुतया प्रविधाय पराभवं परभवे [2]हृतवांश्च मम प्रियाम् ।
इह भवेऽपि तयैव सहेक्ष्यते रतिमितः स परां सुमुखः खलः ॥४५॥
कृतवतोऽपकृतिं विषमां द्विषो द्विगुणिता यदि सा न विधीयते ।
प्रभुतया किमनर्थिकया प्रभोः प्रभवतोऽपि निरुद्यमचेतसः ॥४६॥
इति विचिन्त्य रुषा कलुषीकृतः प्रतिविधानकृतौ कृतनिश्चयः ।
भुवमवातरदाशु स वैरधीत्रिदिवतो दिवसाधिपभास्वरः ॥४७॥
स खलु खेचरराजसुतं सुरः सुमुखराजचरं खचरीसखम् ।
प्रविलसन्तमवाप यदृच्छया सुहरिवर्षगतं हरिविभ्रमम् ॥४८॥

रोककर रति रूप रहस्यसे युक्त गृहस्थाश्रमको छोड़ दिया और जितेन्द्रिय हो जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रदर्शित आश्रमकी शरण ली अर्थात् दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली, सो ठीक ही है क्योंकि शरणकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिए वह ही सर्वोत्तम शरण है ॥४०॥ दीक्षा लेकर उसने शरीरको सुखा देनेवाला एवं विषयके लोभी कामदेवको पीस देनेवाला कठिन तप किया जिसके फलस्वरूप वह सुखरूपी सागरको पुष्ट करनेवाले एवं देवोंके संतोषदायक प्रथम स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥४१॥ वहाँ देवाङ्गनाओंके समूहको आदि लेकर अनेक प्रकारका परिग्रह जिसे प्राप्त था, सब प्रकारके आभूषणोंसे जिसका शरीर सुशोभित था और जो देवोंके सुखरूपी अमृतके सागरमें निमग्न था ऐसा वह देव अनेक भावों और रसोंको प्राप्त होता हुआ वहाँ सुखसे रहने लगा ॥४२॥

कदाचित् वह देव स्वर्गमें उत्तमोत्तम स्त्रियोंके बीच बैठा था कि उसने अचानक ही अपनी पूर्वभवकी स्त्री वनमालाको अवधिज्ञानका विषय बनाया अर्थात् अवधिज्ञानके द्वारा उसका विचार किया सो ठीक ही है क्योंकि परिचित—अनुभूत स्नेह बड़ी कठिनाईसे छूटता है ॥४३॥ विचार करते ही उसे सुमुख राजाके द्वारा किया हुआ पराभव स्मृत हो गया। तदनन्तर एकबार निमीलित कर उसने अवधिज्ञानरूपी नेत्रको पुनः खोला तो विद्याधर और विद्याधरीका वह युगल सामने दिखने लगा ॥४४॥ वह विचार करने लगा कि देखो जिस दुष्ट सुमुखने पूर्वभवमें प्रभुतावश तिरस्कार कर हमारी स्त्रीका हरण किया था वह इस भवमें भी उसी स्त्रीके साथ परम रतिको प्राप्त हुआ दिखाई दे रहा है ॥४५॥ यदि विषम अपकार करनेवाले शत्रुका दूना अपकार नहीं किया तो समर्थ होनेपर भी निरुद्यम चित्तके धारक प्रभुकी निरर्थक प्रभुतासे क्या लाभ है ? ॥४६॥ ऐसा विचारकर क्रोधसे जिसका चित्त कलुषित हो रहा था, तथा बदला लेनेका जिसने दृढ़ निश्चय कर लिया था ऐसा वह सूर्यके समान देदीप्यमान देव पूर्व वैरको बुद्धिमें रख शीघ्र ही स्वर्गसे पृथिवीपर उतरा ॥४७॥ उस समय राजा सुमुखका जीव आर्य नामका विद्याधर, अपनी विद्याधरीके साथ हरिवर्ष क्षेत्रमें इच्छानुसार क्रीड़ा करता हुआ इन्द्रके समान सुशोभित

१. चक्षुषः म० । २. हृतवांश्च म० ।

तदवलोक्य सुरो मिथुनं वरं प्रथमयौवननिर्भर[1]विग्रहम् ।
अकृत खण्डितविद्यमखण्डया सहजखण्डतया सुरमायया ॥४९॥
परवधूप्रिय वीरकवैरिणं स्मरसि किं सुमुख प्रमुखाधुना ।
त्वमपि किं सुखले वनमालिके ! स्खलितशीलभरे ! परजन्मनि ॥५०॥
अहमसौ तपसा सुरतामितः खचरतां मुनिदानफलाद् युवाम् ।
अरतिमेव ममारतिदायिनोः क्षपितविद्यकयोः प्रददामि वाम् ॥५१॥
इति निगद्य तदा विबुधः खगौ चकितकम्पितचित्तशरीरकौ ।
गरुडवत्परिगृह्य समुद्ययौ भरतवर्षवरं प्रति दक्षिणम् ॥५२॥
[2]मृतवताधृतदीधितिकीर्तिना रहितयाऽनृपया वरचम्पया ।
स तमयोजयदत्र महीपतिं प्रणतराजकमैच्च दिवं सुरः ॥५३॥
त्रिदशखण्डितविद्यकदम्पती क्षपितपक्षशकुन्तवदक्षमौ ।
वियति पर्यटितुं त्रुटितेच्छकौ सह समीयतुरत्र धृतिं क्षितौ ॥५४॥
नवतिकार्मुकपूर्वसुलक्षितस्थितिमतो दशमस्य मुनेरिदम् ।
समधिकाब्धिशतोज्झितकोटिके वहति तीर्थपथेऽकथि वृत्तकम् ॥५५॥
स बुभुजे भुजदण्डवशीकृतप्रणतपार्थिवमानितशासनः ।
विषयसौख्यमखण्डितरागया सुचिरकालमतृप्तमतिस्तया ॥५६॥
अथ तयोस्तनयो हरिरित्यभूद्धरिरिव[3] प्रथितः पृथिवीपतिः ।
समनुभूय सुतश्रियमूर्जितां स्वचरितोचितलोकमितौ च तौ ॥५७॥

हो रहा था सो उस देवने उसे प्राप्त किया ॥४८॥ नव यौवनसे जिसका शरीर भरा हुआ था ऐसे उस विद्याधर दम्पतीको देखकर देवने अपनी स्वाभाविक अखण्ड मायासे उसे खण्डितविद्य कर दिया अर्थात् उसकी विद्याएँ हर लीं ॥४९॥ और क्रुद्ध होकर उससे कहा कि अरे ! पर-स्त्रीको हरनेवाले प्रमुख सुमुख ! क्या तुझे इस समय अपने वीरक वैरीका स्मरण है और परजन्मसे शीलव्रतको खण्डित करनेवाली दुष्ट वनमाला ! तुझे भी वीरककी याद है ? ॥५०॥ मैं तपकर देव हुआ हूँ और तुम दोनों मुनिदानके फलसे विद्याधर हुए हो। तुम दोनोंने पूर्वभवमें मुझे दुःख दिया था इसलिए मैं भी तुम्हारी विद्याएँ नष्टकर तुम्हें दुःख देता हूँ ॥५१॥ इस प्रकार कह-कर वह देव, जिस प्रकार पक्षियोंको गरुड़ उठा ले जाता है उसी प्रकार आश्चर्यसे चकित चित्त एवं भयसे कम्पित शरीरको धारण करनेवाले दोनों—विद्याधर और विद्याधरीको उठाकर दक्षिण भरत क्षेत्रकी ओर आकाशमें उड़ गया ॥५२॥ उस समय चम्पापुरीका राजा चन्द्रकीर्ति मर चुका था इसलिए वह राजासे रहित थी। वह देव आर्य विद्याधरको यहाँ ले आया और उसे चम्पापुरीका अनेक राजाओंके द्वारा नमस्कृत राजा बनाकर स्वर्ग चला गया ॥५३॥ देव द्वारा जिनकी विद्याएँ खण्डित कर दी गई थीं ऐसे वे दोनों विद्याधर दम्पती, पङ्ख कटे पक्षियोंके समान आकाशमें चलनेको असमर्थ हो गये इसलिए उसकी इच्छा छोड़ पृथिवीमें ही संतोषको प्राप्त हुए ॥५४॥ यह वृत्तान्त नब्बे धनुष ऊँचे शरीर और एक लाख पूर्वकी स्थितिको धारण करने-वाले दशवें शीतलनाथ भगवान्के तीर्थमें हुआ था। उस समय उनका तीर्थ कुछ अधिक सौ सागर कम एक करोड़ सागर प्रमाण चल रहा था ॥५५॥ राजा आर्यने अपने भुजदण्डसे समस्त राजाओंको वश कर नम्रीभूत एवं आज्ञाकारी बनाया और अखण्डित प्रेमवाली मनोरमाके साथ चिरकाल तक विषय सुखका उपभोग किया फिर भी तृप्त नहीं हुआ ॥५६॥

तदनन्तर उन दोनोंके हरि नामका पुत्र हुआ जो इन्द्रके समान प्रसिद्ध राजा हुआ। राजा

१. निर्जर म० । २. मृतेन चन्द्रकीर्तिना राज्ञा । ३. इन्द्रसदृशः ।

हरिरयं प्रभवः प्रथमोऽभवत्सुयशसो हरिवंशकुलोद्गतेः ।
जगति यस्य सुनामपरिग्रहाचरति भो हरिवंश इति श्रुतिः ॥५८॥
अभवदस्य महागिरिरङ्गजो हिमगिरिस्तनयः सुनयस्ततः ।
वसुगिरिश्च ततो गिरिरित्यमी त्रिदिवमोक्षयुजस्तु यथायथम् ॥५९॥
शतमखप्रतिमाः शतशस्ततः क्षितिभृतो हरिवंशविशेषकाः ।
क्रमधृताधिकराज्यतपोधुराः शिवपदं ययुरत्र दिवं परे ॥६०॥
व्यपगतेषु नृपेषु बहुष्वतः क्षितिपतिर्मगधाधिपतिः क्रमात् ।
इह बभूव हरिप्रभवान्वये कुशलधामकुशाग्रपुराधिपः ॥६१॥
स हि सुमित्र इति श्रुतनामकः श्रुतविशेषविभूषितपौरुषः ।
अनुशशास भुवं सह पद्मया चिरसुखः प्रियया जिनभक्तया ॥६२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ हरिवंशोत्पत्तिवर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

आर्य और रानी मनोरमाने चिरकाल तक पुत्रकी विशाल लक्ष्मीका अनुभव किया तत्पश्चात् दोनों अपने-अपने कर्मोंके अनुसार परलोकको प्राप्त हुए ॥५७॥ यही राजा हरि, परम यशस्वी हरिवंश-की उत्पत्तिका प्रथम कारण था । जगत्में इसीके नामसे हरिवंश इस नामकी प्रसिद्धि हुई ॥५८॥ राजा हरिके महागिरि नामका पुत्र हुआ । महागिरिके उत्तम नीतिका पालक हिमगिरि पुत्र हुआ । हिमगिरिके वसुगिरि और वसुगिरिके गिरि नामका पुत्र हुआ । ये सभी यथायोग्य स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त हुए ॥५९॥ तदनन्तर हरिवंशके तिलक स्वरूप इन्द्रके समान सैकड़ों राजा हुए जो क्रमसे विशाल राज्य और तपका भार धारण कर कुछ तो मोक्ष गये और कुछ स्वर्ग गये ॥६०॥ इस प्रकार क्रमसे बहुतसे राजाओंके होनेपर उसी हरिवंशमें मगध देशका स्वामी राजा सुमित्र हुआ । वह कुशल-मङ्गलका स्थान तथा कुशाग्रपुर नगरका अधिपति था । उसका पराक्रम शास्त्रोंके विशिष्ट ज्ञानसे विभूषित था । वह अपनी जिनभक्त प्रिया पद्मावतीके साथ सुखका उपभोग करता हुआ चिरकाल तक पृथिवीका शासन करता रहा ॥६१–६२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें हरिवंशकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

षोडशः सर्गः

वसन्ततिलकावृत्तम्

श्रीशीतलादिह परेषु जिनेषु पश्चात् तीर्थं प्रवर्त्य भरते जगतां हितार्थम् ।
कालक्रमेण नवसु श्रितवत्सु मोक्षं स्वर्गादिहैष्यति जिनाधिपतौ च विंशे ॥१॥
शक्राज्ञया प्रतिदिनं वसुधारयोच्चैरापूरयत्यवनिपस्य गृहं कुबेरः ।
पद्मावती मृदुतले शयने शयाना स्वप्नान् ददर्श दश षट् च निशावसाने ॥२॥
नागोक्षसिंहकमलाकुसुमस्रगिन्दुबालार्कमत्स्यकलशाब्जसरोऽम्बुराशीन् ।
सिंहासनामरविमानफणीन्द्रगेहसद्रत्नराशिशिखिनो जिनसू[1]रपश्यत् ॥३॥
सोपासिता नवनवत्युपमाव्यतीतदिव्यप्रभावदिगभिख्यकुमारिकाभिः ।
शय्यातले सकुसुमे शुशुभे विबुद्धा लेखा यथा नभसि तारकिता हिमांशोः ॥४॥
उन्निद्रपद्मनयनाननपाणिपादा सा रागिणी दिनमुखेऽधिपतिं सु[2]मित्रम् ।
भद्रासनोदयगतं स्थलपद्मिनीव पद्मावती समुदियाय सपुण्डरीका ॥५॥
[3]चित्राम्बराम्बुरमनागुरणितातिमञ्जुमञ्जीरसिञ्जितविहङ्गनिनादरम्या ।
मीनेक्षणा त्रिवलिभङ्गतरङ्गिणी सा स्त्रीवाहिनी समगमद् वर[4]वाहिनीशम् ॥६॥
पीनस्तनस्तबकभारनताङ्गयष्टिःताम्रपल्लवकरा मृदुबाहुशाखा ।
सञ्चारिणी मणिविभूषणभृन्महीशकल्पद्रुमं युवतिकल्पलता ननाम ॥७॥

अथानन्तर श्रीशीतलनाथ भगवान्के पश्चात् जब कालक्रमसे नौ तीर्थङ्कर भरत क्षेत्रमें जगत्के जीवोंके हितार्थ धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति कर मोक्ष चले गये और बीसवें तीर्थङ्कर स्वर्गसे अवतार लेनेके सन्मुख हुए तब इन्द्रकी आज्ञासे कुबेर प्रतिदिन राजा सुमित्रके घरको रत्नोंकी उत्कृष्ट धारासे भरने लगा। कदाचित् कोमल शय्यापर शयन करनेवाली रानी पद्मावतीने रात्रिके अन्तिम समय १ गज, २ वृषभ, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ पुष्पमाला, ६ चन्द्रमा, ७ बालसूर्य, ८ मत्स्य, ९ कलश, १० कमलसरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देवविमान, १४ नागेन्द्रभवन, १५ रत्नराशि और १६ अग्नि ये सोलह स्वप्न देखे ॥१-३॥ उपमा रहित एवं दिव्य प्रभावको धारण करनेवाली निन्यानवे दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा सेवित जिनमाता पद्मावती जब जागकर फूलोंकी शय्यापर बैठी तब ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशमें ताराओंसे घिरी हुई चन्द्रमाकी लेखा ही हो ॥४॥ तदनन्तर जिसके नेत्र, मुख, हाथ और पैर फूले हुए कमलके समान थे, जो अनुरागसे युक्त थी, हर्षसे सहित थी और हाथमें सफेद कमल धारण कर रही थी ऐसी रानी पद्मावती प्रातःकालके समय ऊँचे सिंहासनपर विराजमान राजा सुमित्रके पास गई सो ऐसी जान पड़ती थी मानो अनेक कमलोंसे सुशोभित, लालिमा युक्त स्थल-कमलिनी ही उदयाचल-पर स्थित सुमित्र—सूर्यके पास जा रही हो ॥५॥ जो नाना प्रकारके वस्त्ररूपी जलसे युक्त थी, अत्यधिक रुन-झुन करनेवाले अतिशय सुन्दर नूपुरोंकी झनकाररूपी पक्षियोंकी कल-कल ध्वनिसे मनोहर थी, मछलियोंके समान नेत्रोंसे सहित थी और त्रिवलिरूपी तरङ्गोंसे सुशोभित थी ऐसी वह स्त्रीरूपी नदी राजा सुमित्ररूपी समुद्रके पास गई यह उचित ही था ॥६॥ उस समय

---

१. तीर्थङ्करजननी। २. सुमित्राख्यं नृपं, सूर्यं च। ३. चित्राण्यम्बराण्येवाम्बु यस्यां सा। ४. उत्तमसेनाध्यक्षं पक्षे उत्तमनदीपतिम्।

आसीनयाऽऽसनवरे स तया समीपे स्वप्नावलीफलमिलाधिपतिः प्रपृष्टः ।
तस्यै जगौ जिनपतेर्जगतां त्रयस्य भर्तुर्गुरू[1] लघु[2] भवाव इति प्रहृष्टः ॥८॥
स्पृष्टा [3]नृपोक्तिकिरणमालिवचोमयूखैः सा तोषपोषमुपगाद्धतनूरुहाऽभात् ।
स्त्रैणं निकृष्टमपि तीर्थकृतो गुरुत्वात् मत्वा प्रशस्तमिति विस्तृतपद्मिनीव ॥९॥
आरात्सहस्रपदपूर्वपदादुदारादाराद्धमत्सुरसहस्रगणोऽवतीर्य ।
मासाननुवास नवगर्भगृहे प्रशुद्धे सार्धाष्टमीह[4] गणनान्(?)मुनिसुव्रतोऽस्याः ॥१०॥
आनीलचूचुकविपाण्डुपयोधरश्रीः सा वज्रसंहतिसगर्भतया स्फुरन्ती ।
विद्युत्प्रभाभरणबृंहितभा बभासे वर्षाशरत्समयसन्धियुता यथा द्यौः ॥११॥
साऽसूत सूतिसमयेन्द्रमहे च माघपक्षेऽसिते जनमनोनयनोत्सवं तम् ।
द्वादश्यभीप्सि[5]ततिथौ श्रवणेऽश्रमेण व्योमेव पापरहिता जिनपूर्णचन्द्रम् ॥१२॥

मणिमय आभूषणोंको धारण करनेवाली रानी पद्मावती चलती-फिरती कल्पलताके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार कल्पलता गुच्छोंके भारसे नम्रीभूत होती है उसी प्रकार उसकी अङ्गयष्टि भी स्थूल स्तनरूपी गुच्छोंसे नम्रीभूत थी, जिस प्रकार कल्पलता लाल-लाल पल्लवोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी लाल-लाल हथेलियोंसे युक्त थी और जिस प्रकार कल्पलता कोमल शाखाओंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह भी कोमल भुजाओंसे युक्त थी। इस प्रकार रानी पद्मावतीरूपी कल्पलताने राजा सुमित्ररूपी कल्पवृक्षको नमस्कार किया ॥७॥ पास ही में उत्तम आसनपर बैठी रानी पद्मावतीने जब राजासे स्वप्नावलीका फल पूछा तब उन्होंने हर्षित होते हुए कहा कि हम दोनों शीघ्र ही तीनों जगत्‌के स्वामी जिनेन्द्र भगवान्‌के माता-पिता होंगे ॥८॥ इस प्रकार राजारूपी सूर्यकी वचनरूपी किरणोंसे स्पर्शको प्राप्त हुई रानी पद्मावतीके शरीरमें हर्षातिरेकसे रोमाञ्च निकल आये और वह फूली हुई कमलिनीके समान सुशोभित होने लगी। वह पहले जिस स्त्रीपर्यायको निकृष्ट समझती थी उसे ही अब तीर्थङ्करकी माता होनेके कारण श्रेष्ठ समझने लगी ॥९॥ जिन्हें हजारों देवोंके समूह दूरसे ही नमस्कार करते थे ऐसे भगवान् मुनिसुव्रतने सहस्रार नामक उत्कृष्ट स्वर्गसे अवतीर्ण होकर माता पद्मावतीके विशुद्ध गर्भ-गृहमें नौ माह निवास किया ॥१०॥ उस समय माता पद्मावती, वर्षा और शरद्‌ऋतुके संधिकालसे युक्त आकाशके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार वर्षा और शरद्‌के संधिकालका आकाश कुछ काले और कुछ सफेद पयोधरों—मेघोंसे युक्त होता है उसी प्रकार पद्मावती भी नीली चूचुकसे युक्त सफेद पयोधरों—स्तनोंसे युक्त थी। जिस प्रकार वर्षा और शरद्‌के संधि-कालका आकाश वज्रसमूह—वज्रके समूहसे गर्भित होनेके कारण देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार पद्मावती भी वज्रवृषभ संहननके धारक भगवान्‌के गर्भमें स्थित होनेसे देदीप्यमान हो रही थी और जिस प्रकार वर्षा तथा शरद्‌के सन्धिकालका आकाश विद्युत्प्रभाभरणबृंहितभा—बिजली की प्रभाको धारण करनेसे कान्तियुक्त होता है उसी प्रकार माता पद्मावती भी विद्युत्प्रभाभरण बृंहितभा—बिजलीके समान देदीप्यमान आभूषणोंसे बढ़ी हुई कान्तिसे युक्त थी ॥११॥

तदनन्तर पाप (पक्षमें कलंक) से रहित रानी पद्मावती रूप आकाशने प्रसूतिके योग्य समय आनेपर इन्द्रमह उत्सवके दिन माघ कृष्ण द्वादशीकी शुभ तिथिमें जब कि श्रवण नक्षत्र था बिना किसी श्रमके, मनुष्योंके मन और नेत्रोंको आनन्द देनेवाले जिनेन्द्ररूपी पूर्णचन्द्रको

१. मातापितरौ। २. शीघ्रम्। ३. नृपसूर्यवचनकिरणैः। ४. सार्धाष्टमीत ख० (?)। सार्धाष्टमाह क०, ङ० (?)। अष्टदिनसहितान्नवमासान् (क० टि०)। ५. -भीप्सित -म०।

जातेन तेन शुभलक्षणलक्षितेन पद्मावती प्रमुदिता मुनिसुव्रतेन ।
सा रूढरा[1]गशिखिकण्ठरुचा चकासे स्निग्धेन्द्रनीलमणिनाकरभूरिवैका ॥१३॥
आकम्पितासनकिरीटजगत्त्रयेन्द्राः सद्यःप्रयुक्तविशदावधयोऽधिगम्य ।
चेलुः सुरा जिनसमुद्भवमद्भुतोच्चैर्घण्टास्फुटोद्[2] पटहशङ्खरवैश्च शेषाः ॥१४॥
[3]गन्धाम्बुवर्षमृदुमारुतपुष्पवृष्टिसम्पूरिताखिलजगद्वलयाः समन्तात् ।
आगत्य चाशु सुकृतोज्ज्वलभूषवेषाः शक्रादयः पुरकुशाग्रपुरं परीयुः ॥१५॥
नत्वा जिनं जिनगुरू[4] च सुरासुराश्च तज्जातकर्मणि कृते सुरकन्यकाभिः ।
ऐरावतं समधिरोप्य महाविभूत्या गत्वा परीत्य गिरिराजमधित्यकायाम् ॥१६॥
संस्थाप्य पाण्डुकशिलातलमस्तके तं सिंहासने सुपयसोद्धपयःपयोधेः ।
भूत्याभिषिच्य कृतभूषमभिष्टवैस्ते स्तुत्वाऽभिधाय मुनिसुव्रतनामधेयम् ॥१७॥
आनीय नीतिकुशलाः जननीशुभाङ्कमारोप्य नाटकविधिं प्रविधाय देवाः ।
नत्वा ययुः शतमखप्रमुखा यथास्वमानन्दितत्रिभुवनं सगुरुं जिनं ते ॥१८॥
ज्ञानत्रयं सहजनेत्रमुदारनेत्रो बिभ्रज्जिनः सुरकुमारकसेव्यमानः ।
कालानुरूपकृतसर्वकुबेरयोगक्षेमो ययावपघनस्य[5] गुणस्य वृद्धिम् ॥१९॥

उत्पन्न किया।।१२।। जिस प्रकार इन्द्रनीलमणिसे खानकी भूमि सुशोभित होती है उसी प्रकार शुभ लक्षणोंसे युक्त एवं लाली सहित नीलकण्ठ—मयूरकी कान्तिको धारण करनेवाले मुनिसुव्रत भगवान्से हर्षित पद्मावती सुशोभित हो रही थी।।१३।। उस समय तीनों जगत्के इन्द्रोंके आसन और मुकुट कम्पायमान हो गये थे जिससे तत्काल ही अवधिज्ञानका प्रयोग कर उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्के जन्मका समाचार जान लिया था और शेष देवोंने अत्यन्त आश्चर्य तथा जोरके साथ होनेवाली घंटाध्वनि, सिंहध्वनि, पटहध्वनि और शङ्खध्वनिसे जिनेन्द्र-जन्मका निश्चय कर लिया था। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्का जन्म जानकर समस्त इन्द्र और देव जन्मोत्सवके लिए चले।।१४।। सुगन्धित जल, मन्द वायु और पुष्पोंकी वर्षासे जिन्होंने समस्त जगत्को भर दिया था तथा जिन्होंने उत्तमोत्तम देदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित वेष धारण किया था ऐसे इन्द्र आदि देवोंने सब ओरसे शीघ्र आकर विशाल कुशाग्रपुरकी प्रदक्षिणाएँ दीं।।१५।। तत्पश्चात् समस्त सुर-असुर देवोंने जिनेन्द्र भगवान् और उनके माता-पिताको नमस्कार किया, देव-कन्याओंने जातकर्म किया और उसके बाद समस्त देव जिनेन्द्र भगवान्को ऐरावत हाथीपर बैठाकर बड़े वैभवके साथ सुमेरु पर्वतपर ले गये। वहाँ प्रथम ही उन्होंने मेरु पर्वतकी प्रदक्षिणाएँ दीं फिर उसके ऊर्ध्वभागपर बनी पाण्डुक शिलाके ऊपर स्थित सिंहासनपर जिनेन्द्र भगवान्को विराजमान किया। वहाँ क्षीर सागरके उत्तम जलसे महाविभूतिके साथ उनका जन्माभिषेक किया, नाना प्रकारके स्तोत्रोंसे स्तुति की, मुनिसुव्रत नाम रक्खा। तदनन्तर नीति-निपुण देवोंने भगवान्को ला माताकी शुभ गोदमें विराजमान कर आनन्द नाटक किया। तत्पश्चात् इन्द्रादि देव, त्रिभुवनको आनन्दित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् और उनके माता-पिताको नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये।।१६–१८।। जो स्वयं विशाल नेत्रोंसे युक्त थे, तीन ज्ञानरूपी सहज नेत्रोंको धारण करनेवाले थे, देवकुमार जिनकी निरन्तर सेवा करते थे और समय-समयके अनुरूप कुबेर जिनके योग-क्षेमका ध्यान रखता था—सब सुख-सामग्री समर्पित करता था ऐसे भगवान् मुनिसुव्रत शरीर और गुणोंकी वृद्धिको प्राप्त होने लगे। भावार्थ—जैसे-

---

१. सा रागरूढ-म०। २. मृगे पटह-म०। ३. गत्वाम्बुवर्षमृदुमारुतपुष्पवृष्टिं म०। ४. जिनमातापितरौ। ५. शरीरस्य।

रम्याङ्गनाश्च कुलशैलसमुद्भवास्तमाद्यन्तमध्यसततान्युदया युवानम् ।
लावण्यवाहिनमवाप्य विवाहपूर्वं नद्यः समुद्रमिव संवरयाम्बभूवुः ॥२०॥
राज्यस्थितः स हरिवंशमरीचिमाली राजा प्रजाकमलिनीहितलोकपाकः ।
राजाधिराजसुरसेवितपादपद्मो भेजे चिरं विषयसौख्यमखण्डिताज्ञः ॥२१॥
प्राप्ता कदाचिदथ तं शरदम्बुजास्या¹ बन्धूकबन्धुरतराधरपल्लवश्रीः ।
काशाच्छचामरकरा विशदाम्बुवस्त्रा वर्षावधूव्यतिगमे स्ववधूरिवैका ॥२२॥
अन्तर्दधे धवलगोकुलघोषघोषैर्मेघावली लघुविधूतरवेव धूम्रा ।
मेघावरोधपरिमुक्तदिशासु सूर्यः पादप्रसारणसुखं श्रितवांश्चिरेण ॥२३॥
रोधोनितम्बगलदम्बुविचित्रवस्त्राः सावर्तनाभिसुभगाश्चलमीननेत्राः ।
फेनावलीवलयवीचिविलासबाहाः क्रीडासु जह्रुरबलासरितोऽस्य चित्तम् ॥२४॥
ऊर्मिभ्रुवश्चटुलनेत्रशफर्यपाङ्गाः मत्तद्विरेफकलहंसनिनादरम्याः ।
फुल्लारविन्दमकरन्दरजोऽङ्गरागा रागं रतौ विदधुरस्य वधूसरस्यः ॥२५॥

जैसे उनका शरीर बढ़ता जाता था वैसे-वैसे ही उनके गुण बढ़ते जाते थे ॥१९॥ जिस प्रकार कुलाचलोंसे उत्पन्न, आदि मध्य और अन्तमें समान रूपसे बहनेवाली नदियाँ लवण समुद्रको प्राप्त कर वरती हैं उसी प्रकार उत्तम कुलरूपी पर्वतोंसे उत्पन्न, बालक, युवा और वृद्ध तीनों अवस्थाओंमें निरन्तर अभ्युदयको धारण करनेवाली सुन्दर स्त्रियोंने सौन्दर्यके धारक युवा मुनिसुव्रतनाथको प्राप्त कर विवाहपूर्वक वरा था ॥२०॥

तदनन्तर जो राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ थे, हरिवंशरूपी आकाशके मानो सूर्य थे, प्रजारूपी कमलिनीका हित करनेके लिए सूर्यस्वरूप थे, राजा, महाराजा और देव जिनके चरण-कमलोंकी सेवा करते थे तथा जो अखण्ड आज्ञाके धारक थे ऐसे राजा मुनिसुव्रतनाथने चिरकाल तक विषय-सुखका उपभोग किया ॥२१॥ अथानन्तर किसी समय शरद्-ऋतु आई सो वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षारूपी स्त्रीके चले जानेपर एक दूसरी अपनी ही स्त्री आई हो अर्थात् वह शरद्ऋतु स्त्रीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार स्त्री कमलके समान मुखसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी कमलरूपी मुखसे सहित थी, जिस प्रकार स्त्री लाल-लाल अधरोष्ठसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी बन्धूकके लाल-लाल फूलरूपी अधरोष्ठसे युक्त थी, जिस प्रकार स्त्री हाथमें चामर लिये रहती है उसी प्रकार वह शरद्ऋतु भी काशके फूलरूपी स्वच्छ चामर हाथमें लिये थी और जिस प्रकार स्त्री उज्ज्वल वस्त्रोंसे युक्त होती है उसी प्रकार वह शरद् भी उज्ज्वल मेघरूपी वस्त्रोंसे युक्त थी ॥२२॥ जिसने शीघ्र ही अपना शब्द बन्द कर दिया था ऐसी धूमिल मेघमाला, सफेद-सफेद गायोंके समूहसे युक्त अहीरोंकी बसतीके जोरदार शब्द सुनकर ही मानो अन्तर्हित हो गई थी और मेघोंके आवरणसे रहित दिशाओंमें सूर्य चिरकालके बाद पाद—पाँवों (पक्षमें किरणों) के फैलानेका सुख प्राप्त कर सका था ॥२३॥ जिनके तटरूपी नितम्बसे जलरूपी चित्र-विचित्र वस्त्र नीचे खिसक गये थे, जो भँवररूपी नाभिसे सुन्दर थीं, मीनरूपी चञ्चल नेत्रोंसे युक्त थीं और फेनावलीरूपी चूड़ियोंसे युक्त तरङ्गरूपी चञ्चल भुजाओंसे सहित थीं ऐसी नदीरूपी स्त्रियाँ क्रीड़ाओंके समय इनका हृदय हरने लगीं ॥२४॥ ऊर्मियाँ ही जिनकी भौंहें थीं, मछलियाँ ही जिनके चञ्चल कटाक्ष थे, जो मदोन्मत्त भौंरों और कलहंसोंके शब्दसे मनोहर थीं और फूले हुए कमलोंका मकरन्द सम्बन्धी पराग ही जिनका अंगराग था ऐसी सरसीरूपी स्त्रियाँ क्रीड़ाके समय इनके रागको उत्पन्न

---

१. शरदम्बुजाढ्या म० ।

नम्रो भृशं फलभरेण सुगन्धिशालिः शालेयजा च विकचोत्पलजातिरुच्चा ।
सौभाग्यगन्धवशवर्तितयाङ्गमङ्गमासाद्य जिघ्रतुरिवास्यमजस्रमेतौ ॥२६॥
धूलीः [1]कदम्बमदधूलिगताङ्गरागाधाराः कदम्बमधुनो विधुराः स्मरन्तः ।
माद्यद्द्विपेन्द्रमदगन्धिषु षट्पदौघाः सप्तच्छदेषु विततेषु रतिं वितेनुः[2] ॥२७॥
काले स तत्र मुनिसुव्रतराजहंसः कैलासशैलसदृशे स्थितवान् सुसौधे ।
लीलावधूतरतिविभ्रमराजहंसीः व्रीडाभयातिरुचिराभरणाः प्रपश्यन् ॥२८॥
पश्यन् दिशः सकलशारदसस्यशोभाः मेघं ददर्श शशिशुभ्रमदभ्रशोभम्[3] ।
व्योमार्णवारमणतृष्णमिवावतीर्णमैरावणं भ्रमणविभ्रमवारणेन्द्रम् ॥२९॥
निःशेषनिर्गलितनीरनिजोत्तरीयमाशावधूविपुलपीनपयोधरं सः ।
प्रोत्तुङ्गपाण्डुपरिणाहिनमम्बरस्य भूषायमाणमवलोक्य तमाप तोषम् ॥३०॥
पश्चात्प्रचण्डतरमारुतवेगघातनिर्मूलितावयवमाशु विलीयमानम् ।
ज्वालोपनीतमिव तं नवनीतपिण्डमालोक्य लोकविभुरित्थमचिन्तयत्सः ॥३१॥
शीर्णः शरज्जलधरः कथमेष शीघ्रमायुःशरीरवपुषां विशरारुतायाः[4] ।
लोकस्य विस्मरणशीलविशीर्णबुद्धेराशूपदेशमिव[5] विश्वगतं वितन्वन् ॥३२॥

कर रही थी ॥२५॥ फलके भारसे अतिशय झुके हुए सुगन्धित धानके पौधे और धानके खेतोंमें उत्पन्न हुई ऊँची उठी विकसित उत्पलोंकी श्रेणियाँ—दोनों ही सौभाग्य सम्बन्धी हर्षके वशीभूत हो अंगसे-अंग मिलाकर मानो एक दूसरेका मुख ही सूँघ रही थीं ॥२६॥ जिनके शरीरपर विकसित कदम्ब-पुष्पोंकी परागका अङ्गराग लगा था तथा जो कदम्ब मधुकी धाराओं और धूलिका स्मरण करते हुए दुःखी हो रहे थे ऐसे भ्रमरोंके समूह अब कदम्ब-पुष्पोंका अभाव हो जानेसे मदोन्मत्त गजराजके मद जैसी गन्धसे युक्त सप्तपर्ण वृक्षोंके लम्बे-चौड़े वनोंमें प्रीति करने लगे ॥२७॥ ऐसी शरदृऋतुके समय भगवान् मुनिसुव्रतरूपी राजहंस—श्रेष्ठ राजा (पक्षमें राजहंस), लज्जा और भय ही जिनके सुन्दर आभूषण थे तथा जिन्होंने अपनी लीलासे रतिकी शोभाको दूर कर दिया था ऐसी राजहंसियों—श्रेष्ठ रानियों (पक्षमें राजहंसिनियों) को देखते हुए भगवान् मुनिसुव्रतनाथ कैलास पर्वतके समान ऊँचे महलपर विराजमान थे ॥२८॥ शरदृ-ऋतुके समस्त धान्योंकी शोभासे युक्त दिशाओंको देखते-देखते उन्होंने एक मेघको देखा। वह मेघ चन्द्रमाके समान सफेद था, अत्यधिक शोभासे युक्त था और आकाशरूपी समुद्रमें क्रीड़ा करनेकी अभिलाषासे अवतीर्ण भ्रमणप्रेमी, गजराज ऐरावतके समान जान पड़ता था ॥२९॥ जिसके ऊपरसे समस्त जलरूपी अपना उत्तरीय वस्त्र नीचे खिसक गया था, जो अतिशय ऊँचा, सफेद एवं विस्तारसे युक्त था, आकाशका आभूषण था, और दिशारूपी स्त्रीके अतिशय स्थूल स्तनके समान जान पड़ता था ऐसे उस मेघको देखकर भगवान् आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥३०॥ कुछ ही समयके पश्चात् अत्यन्त प्रचण्ड वायुके वेगजन्य आघातसे उस मेघके समस्त अवयव नष्ट हो गये और वह ज्वालाओंके समीप रखे हुए नवनीतके पिण्डके समान शीघ्र ही विलीन हो गया, यह देख जगत्के स्वामी भगवान् मुनिसुव्रतनाथ इस प्रकार विचार करने लगे ॥३१॥

अरे ! यह शरदृऋतुका मेघ इतनी जल्दी कैसे विलीन हो गया ? जान पड़ता है आयु, शरीर और वपुकी क्षणभंगुरताको भुला देनेवाले मनुष्यको व्यापक उपदेश देनेके लिए ही मानो

१. धूलीकदम्बमदधूलिगतां सरागा धारां ख० । २. वितेने म० । ३. अभ्रशशोभम् । ४. नश्वरतायाः । ५. आशु + उपदेशमिव । आशु शीघ्रमित्यर्थः ।

अल्पप्रमाणपरमाणुसमूहराशिरासञ्चितः [1]स्वपरिणामवशादसारः ।
कालप्रभञ्जनजवाबनिपातमात्रादायुर्घनः[2] प्रलयमत्र लघु[3] प्रयाति ॥३३॥
वज्रात्मसंहननसंहतसन्धिबन्धः[4] सत्सन्निवेशनवरम्य[5]शरीरमेघः ।
[6]मोघीभवत्यसुभृतामसमर्थ एव वायुप्रकोपभरभग्नसमस्तगात्रः ॥३४॥
सौभाग्यरूपनवयौवनभूषणस्य भूलोकचित्तनयनामृतवर्षणस्य ।
देहाम्बुदस्य दिनकृत्प्रतिघातिनी स्याच्छायावयःपरिणतिद्रुतवात्ययाऽस्य ॥३५॥
शौर्यप्रभावसुवशीकृतसागरान्तभूराजसिंहचिररक्षितभूमिभागाः ।
सौराज्यभोगगिरयोऽपि विशीर्णशृङ्गाश्चूर्णीभवन्ति समयान्तरवज्रघातैः ॥३६॥
नेत्रं मनश्च भवदत्र कलत्रमिष्टं प्राणैः समं समसुखासुखमित्रपुत्रम् ।
व्येतीह पत्रमिव शुष्कमदृष्टवाताद्देवोऽप्युपैति हि भवे प्रियविप्रयोगम् ॥३७॥
पश्यन्नपि क्षणविभङ्गुरमङ्गभाजामङ्गादिकं स्वयममृत्युभयोऽयमङ्गी ।
मोहान्धकारपिहितागमदृष्टिरिष्टं मार्गं विहाय विषयामिषगर्तमेति ॥३८॥
प्रत्यङ्गमङ्गजमतङ्गजसङ्गताङ्गः स्वाङ्गैः स्पृशन् प्रियवधूजनगात्रयष्टीः ।
धिक् स्पर्शसौख्यविनिमीलितनेत्रभागो मातङ्गवद् विषमबन्धमियर्ति मर्त्यः ॥३९॥
आहारमिष्टमिह षड्रसभेदभिन्नमाहारयन् बहुविधं स्पृहयापदृष्टिः ।
जिह्वावशो दलितशङ्कुविलग्नमांसपेशीप्रियश्चपलमीन इवैति बन्धम् ॥४०॥

यह शीघ्र विलीन हो गया है ॥३२॥ अपने-अपने परिणामोंके अनुसार संचित, अल्प प्रमाण परमाणुओंका राशिस्वरूप यह आयुरूप मेघ निःसार है इसी लिए तो मृत्युरूपी प्रचण्ड वायुके वेगका आघात लगते ही शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥३३॥ वज्र रूपी संधियोंके बन्धनसे युक्त यह प्राणियोंका उत्तम रचनासे सुशोभित नूतन एवं सुन्दर शरीररूपी मेघ, मृत्युरूपी पवनके प्रबल आघातसे क्षत-विक्षत हो असमर्थ होता हुआ विफल हो जाता है ॥३४॥ सौभाग्य, रूप और नवयौवन ही जिसका आभूषण है तथा जो पृथिवीके समस्त मनुष्योंके चित्त और नेत्रोंके लिए अमृतकी वर्षा करता है ऐसे इस शरीररूपी मेघकी छाया, वृद्धावस्थारूपी तीव्र आँधीसे सूर्यको आच्छादित करनेवाली हो जाती है—नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है ॥३५॥ शौर्य और प्रभावके द्वारा सागरान्त पृथिवीको अच्छी तरह वश करनेवाले बड़े-बड़े राजाओंके द्वारा जिनमें भूमि-भागोंकी चिर रक्षा की गई है ऐसे उत्तम राज्यके भोगरूपी पर्वतोंके शिखर भी कालरूपी प्रचण्ड वज्रके आघातसे चूर-चूर हो जाते हैं ॥३६॥ नेत्र और मनरूप होती हुई नेत्र और मनके समान प्यारी स्त्री तथा प्राणोंके समान सुख-दुःखके साथी मित्र और पुत्र इस संसारमें अदृष्टरूपी वायुसे प्रेरित हो सूखे पत्तेके समान नष्ट होते रहते हैं। मनुष्यकी तो बात ही क्या है देव भी इस संसारमें प्रियजनोंके वियोगको प्राप्त होता है ॥३७॥ अहो ! यह प्राणी, अन्य प्राणियोंके शरीर आदिको क्षणभङ्गुर देखता हुआ भी स्वयं मृत्युके भयसे रहित है तथा इसकी शास्त्ररूपी दृष्टि मोहरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो गई है इसलिए यह इष्ट मार्गको छोड़कर विषयरूपी आमिषके गर्तमें पड़ रहा है ॥३८॥ जिसका प्रत्येक अंग कामरूपी मत्त हाथीसे संगत है ऐसा यह मनुष्य अपने अवयवोंसे प्रिय स्त्रियोंके शरीरका स्पर्श करता हुआ उनके स्पर्शजन्य सुखसे निमीलित नेत्र हो मत्त-मातङ्गके समान विषय बन्धको प्राप्त होता है इसलिए इस स्पर्शजन्य सुखके लिए धिक्कार है ॥३९॥ जिसकी विवेक दृष्टि नष्ट हो गई है ऐसा यह मनुष्य जिह्वा इन्द्रियके वशीभूत हो

---

१. सपरिणाम- म०, क० ख० । २. आयुरेव घनः । ३. शीघ्रम् । ४. बन्ध-म० । ५. वनरम्य म०, ख० । ६. मेघीभव-म० ।

घ्राणेन्द्रियप्रियसुगन्धिसुगन्धमन्धो[1] जड्डालकादिव विलङ्घिततृप्तिमार्गः ।
दुष्पाकमस्तधिषणो विषपुष्पगन्धमाघ्राय शीघ्रमवमेति यथा षडङ्घ्रिः ॥४१॥
चित्तद्रवीकरणदक्षकटाक्षपातसस्मेरवक्त्रवनिताङ्गनिविष्टदृष्टिः ।
रूपप्रियोऽपि लभते परितापमुग्रं प्राप्तः पतङ्ग इव दीपशिखाप्रपातम् ॥४२॥
स्वेष्टाङ्गनामुखरनूपुरमेखलादिनानाविभूषणरवैः प्रियभाषणैश्च ।
सङ्गीतकैश्च मधुरैर्हृतधीरधीरः श्रोत्रेन्द्रियैर्मृग इव म्रियते मनुष्यः ॥४३॥
सङ्क्लिश्यते विषयभोगकलङ्कपङ्के यत्पुङ्गवा ततिरिहाल्पबला निमग्ना ।
चित्रं न तद् यदतिमज्जति वज्रकायपुंनागसन्ततिरितीदमतीव चित्रम् ॥४४॥
यः स्वर्गसौख्यजलधीनतिदीर्घकालं पीत्वाऽपि तृप्तिमगमद् बहुशो न जीवः ।
सौहित्यमल्पदिवसैः कथमस्य कुर्यात् भूलोकसौख्यलवलोल[2]तृणोदबिन्दुः ॥४५॥
अग्नेरिवेन्धनमहानिचयैर्न तृप्तिरम्भोनिधेरिव सदापि नदीसहस्रैः ।
जीवस्य तृप्तिरिह नास्ति [3]तथानिषेव्यैः सांसारिकैरुपचितैरपि कामभोगैः ॥४६॥
भोगाभिलाषविषमाग्निशिखाकलापसंवृद्धये हि विषयेन्धनराशिरुच्चैः ।
तस्यैव तु प्रशमहेतुरिहैव तस्मात् व्यावृत्तिरिन्द्रियजिति स्थिरवारिधारा ॥४७॥
हित्वा ततो विषयसौख्यमसारभूतं शीघ्रं यतेऽहमिह मोक्षपथे सनाथे ।
स्वार्थं प्रसाध्य परमं प्रथमं परार्थं तीर्थप्रवर्तनमथ प्रथयामि तथ्यम् ॥४८॥

इच्छापूर्वक छह प्रकारके रसोंसे युक्त नाना प्रकारके इष्ट आहारको ग्रहण करता हुआ वंशीके काँटेपर लगे मांसके लोभी मीनके समान बन्धको प्राप्त होता है ॥४०॥ जिस प्रकार निर्बुद्धि भ्रमर विषपुष्पकी गन्धको सूँघकर दुष्पाकसे युक्त मरणको प्राप्त होता है उसी प्रकार जड्डावलके कारण हो मानो तृप्तिके मार्गको उल्लंघन करनेवाला यह मनुष्य घ्राणेन्द्रियको अच्छे लगनेवाले सुगन्धित पदार्थोंकी सुगन्धको सूँघकर अन्धा होता हुआ दुष्परिणामसे युक्त पाप बन्धको प्राप्त होता है ॥४१॥ जिस प्रकार दीप-शिखापर पड़ा पतंग उग्र संतापको प्राप्त होता है उसी प्रकार रूपका लोभी यह प्राणी, चित्तको द्रवीभूत करनेमें दक्ष कटाक्ष और मन्द-मन्द मुसकुराहटसे युक्त मुखसे सुशोभित स्त्रियोंके शरीरपर दृष्टि डालता हुआ भयंकर संतापको प्राप्त होता है ॥४२॥ अपनी इष्ट स्त्रियोंके शब्दायमान नूपुर तथा मेखला आदि नाना प्रकारके आभूषणोंके शब्दों, प्रियभाषणों और मधुर संगीतोंसे जिसकी बुद्धि हरी गई है ऐसा यह मनुष्य अधीर होता हुआ श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा मृगके समान मृत्युको प्राप्त होता है ॥४३॥ अल्प शक्तिके धारक क्षुद्र मनुष्योंका समूह विषय-भोग जन्य पापरूपी कीचड़में फँसकर जो क्लेश उठाता है वह आश्चर्य नहीं है किन्तु वज्रमय शरीरके धारक श्रेष्ठ मनुष्योंका समुदाय भी जो उस पापपङ्कमें अतिशय निमग्न हो रहा है यह अत्यधिक आश्चर्यकी बात है ॥४४॥ जो जीव अनेकों बार अत्यन्त दीर्घ कालतक स्वर्गके सुखरूपी सागरको पीकर भी तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ उसे भूलोक सम्बन्धी अल्प सुखरूपी तृणकी चञ्चल जलबिन्दु कुछ दिनोंमें कैसे सन्तुष्ट कर सकती है ? ॥४५॥

जिस प्रकार ईन्धनकी बहुत बड़ी राशिसे अग्निको तृप्ति नहीं होती और सदा गिरनेवाली हजारों नदियोंसे समुद्रको सन्तोष नहीं होता उसी प्रकार सेवन किये हुए संसारके संचित काम-भोगोंसे जीवको तृप्ति नहीं होती ॥४६॥ निश्चयसे विषयरूपी ईन्धनकी बहुत बड़ी राशि, भोगाभिलाषारूपी विषम अग्निकी ज्वालाओंकी वृद्धिका कारण है और इन्द्रियविजयी मनुष्यकी जो उन विषयोंसे व्यावृत्ति है वह स्थिर जलधाराके समान उस विषमाग्निकी शान्तिका कारण है ॥४७॥ इसलिए मैं सारहीन विषयसुखको छोड़कर शीघ्र ही हितरूप मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्ति करता

---

१. सन्धो म० । २. -मणुलोल-ख० । ३. तथाभिषेकैः म० ।

इत्थं मतिश्रुतयुतावधिबोधनेत्रे [1]जाते स्वयम्भुवि तदा स्वयमेव बुद्धे ।
आकम्पितासनमभूदमरेन्द्रवृन्दं सर्वार्थसिद्धिसुरपर्यवसानमाशु ॥४९॥
लौकान्तिका ललितकुण्डलहारशोभाः सारस्वतप्रभृतयो निभृताः सिताभाः ।
आगत्य मौलिमिलिताञ्जलयः किरन्तः पुष्पाञ्जलीमिति जिनं तुष्टुवुर्नमन्तः ॥५०॥
वर्धस्व नन्द जय जीव जिनेन्द्रचन्द्र ! विज्ञानरश्मिहतमोहतमोवितान ।
[2]निर्बन्धबन्धुतम ! भव्यकुमुद्वतीनां तीर्थस्य विंशतितमस्य हितस्य कर्ता ॥५१॥
त्वं वर्तय त्रिभुवनेश्वर ! धर्मतीर्थं यत्रायमुग्रभवदुः[3]खशिखिप्रतप्तः ।
स्नात्वा जनस्त्यजति मोहमलं समस्तमह्नाय याति च शिवं शिवलोकमग्र्यम् ॥५२॥
चारित्रमोहपरमोपशमात्प्रबुद्धं लौकान्तिका इति जिनं प्रतिबोधयन्तः ।
नान्यज्जगुर्निजनियोगनिवेदनेषु युक्ता[4] हि यान्ति न पुनः पुनरुक्तदोषम् ॥५३॥
सौधर्मपूर्वविबुधाश्च चतुर्णिकाया नानाविमाननिवहस्थगितान्तरिक्षाः ।
सम्प्राप्य नाथमभिषिच्य सुगन्धितोयैस्तं भूषितं विदधुरद्भुतभूषणाद्यैः ॥५४॥
पुत्रं च सुव्रतमसौ मुनिसुव्रतेशः [5]प्राभावतेयमभिराज्यपदेऽभ्यषिञ्चत् ।
श्वेतातपत्रसितचामरविष्टराणि सोऽलञ्चकार हरिवंशनभःशशाङ्कः ॥५५॥
भूपोद्धृतां नभसि देवगणैरूढामारूढवान् सुरुचिरां शिबिकां विचित्राम् ।
यातो वनं विदितकार्तिकशुक्लपक्षे षष्ठोपवासकृदुपाश्रितसत्समीकः ॥५६॥

हूँ और सबसे पहले अपना उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्धकर पश्चात् परहितके लिए यथार्थ तीर्थकी प्रवृत्ति करूँगा ॥४८॥ इस प्रकार मति, श्रुत और अवधि ज्ञान रूपी नेत्रोंसे युक्त स्वयंभू भगवान् जब स्वयं प्रतिबुद्ध हो गये तब सर्वार्थसिद्धि तकके समस्त इन्द्रोंके आसन शीघ्र ही कम्पायमान हो गये ॥४९॥ उसी समय सुन्दर कुण्डल और हारोंसे सुशोभित, निश्चल मनोवृत्ति और श्वेत दीप्तिके धारक सारस्वत आदि लौकान्तिक देव आ गये और हाथ जोड़ मस्तकसे लगा पुष्पाञ्जलियाँ बिखेरते हुए नमस्कार कर जिनेन्द्र भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥५०॥

हे जिनेन्द्र चन्द्र ! हे सम्यग्ज्ञानरूपी किरणोंसे मोहरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाले ! आप वृद्धिको प्राप्त हों, समृद्धिमान् हों, जयवन्त रहें, चिरकाल तक जीवित रहें, आप बन्ध रहित हैं, भव्य जीवरूपी कुमुदिनियोंके उत्तम बन्धु हैं और हितकारी बीसवें धर्मतीर्थके प्रवर्तक हैं ॥५१॥ हे त्रिलोकीनाथ ! आप उस धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करें जिसमें संसारके तीव्र दुःखरूपी अग्निसे संतप्त प्राणी स्नानकर समस्त मोहरूपी मलको छोड़ दें और शीघ्र ही आनन्ददायी उत्तम शिवालयको प्राप्त हो जावें ॥५२॥ भगवान्, चारित्र मोहकर्मके परमोपशम (उत्कृष्ट क्षयोपशम) से स्वयं ही प्रतिबोधको प्राप्त हो गये थे इसलिए उन्हें उक्त प्रकारसे संबोधते हुए लौकान्तिक देवोंने अन्य कुछ नहीं कहा सो ठीक ही है क्योंकि योग्य मनुष्य अपने नियोगकी पूर्तिमें कभी पुनरुक्त दोषको प्राप्त नहीं होते ॥५३॥ उसी समय नाना विमानोंके समूहसे आकाशको आच्छादित करते हुए सौधर्मेन्द्र आदि चारों निकायके देव आ पहुँचे। आकर उन्होंने सुगंधित जलसे भगवान्‌का अभिषेक किया और आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले उत्तमोत्तम आभूषण आदिसे उन्हें अलंकृत किया ॥५४॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथने अपनी प्रभावती स्त्रीके पुत्र सुव्रतका राज्य पदपर अभिषेक किया और हरिवंशरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित सुव्रतने भी सफेद छत्र, सफेद चामर तथा सिंहासनको अलंकृत किया ॥५५॥ तदनन्तर पहले जिसे भूमिपर राजाओंने उठाया था और उसके बाद जिसे देवलोग आकाशमें उठा ले गये थे ऐसी अतिशय

---

१. ज्ञाने । २. निर्बन्ध-क० । ३. दुःखाग्नि । ४. योग्याः । ५. प्रभावत्याः अपत्यं पुमान् प्राभावतेयः तम् ।

भूभृत्सहस्रपरिवारभृदेष भेजे दीक्षां समक्षमखिलस्य जगत्त्रयस्य ।
तन्मूर्धजानधिनिधाय निजोत्तमाङ्गे शक्रश्चकार विधिना सुपयःपयोधौ ॥५७॥
कृत्वामराश्च जिननिष्क्रमणं तृतीयकल्याणपूजनममी जगुरीश्वरोऽपि ।
ज्ञानैश्चतुर्भिरनुगैश्च सहस्रसंख्यैस्तैः पार्थिवैर्दिनमणिः किरणैरिवाभात् ॥५८॥
षष्ठोपवासिनि परेद्युरिनेऽवतीर्णे भिक्षाविधिप्रकटनाय कुशाग्रपुर्याम् ।
भिक्षां ददौ वृषभदत्त इति प्रसिद्धः [1]सत्पायसं सविधिना मुनिसुव्रताय ॥५९॥
स्वाधीनमप्रतिहतं स्थितिभुक्तियुक्तं सत्पाणिपात्रमधिपेन विधानपूर्वम् ।
प्रावर्ति वर्तनसुवर्तनसाधुयोग्यं तीर्थे निजे स्थितिविदा जिनभास्करेण ॥६०॥
चित्रं तदा हि परमान्नमपूर्णपाणौ [2]शुद्ध्यान्वितेन ददता परिनिष्ठशेषम् ।
शेषैरशेषयतिभिश्च[3] सहस्रसंख्यैर्भुज्यमानमपरैश्च ययौ न निष्ठाम्[4] ॥६१॥
नेदुस्ततस्त्रिदशदुन्दुभयो निनादाः साधुस्वनः सकलमम्बरमाततान ।
वायुर्ववौ सुरभिरद्भुतपुष्पवृष्टिर्व्योम्नः पपात महती वसुनश्च धारा ॥६२॥
आश्चर्यपञ्चकमिदं चिरमम्बरस्था देवा विकृत्य परमं परदुर्लभं ते ।
सम्पूज्य दानपतिमर्जितपुण्यपुञ्जं जग्मुर्जिनोऽपि विजहार विहारयोग्यम् ॥६३॥
छद्मस्थकालमतिवाह्य [5]समासवर्षं सन्मार्गशीर्षसुतिथिं सितपञ्चमीं तु ।
ध्यानाग्निदग्धघनघातिसमित्समृद्धिः कैवल्यलाभविभवेन चकार [6]पूताम् ॥६४॥

सुन्दर विचित्र पालकीपर आरूढ़ होकर भगवान् वनमें गये तथा वहाँ कार्तिक शुक्ल सप्तमीके दिन वेलाका नियम लेकर दीक्षा लेनेके लिए उद्यत हुए ॥५६॥ उस समय एक हजार राजाओंके साथ भगवान्ने समस्त जगत् त्रयके समक्ष दीक्षा धारण की। उन्होंने अपने शिरके केश उखाड़कर फेंक दिये और इन्द्रने उन केशोंको पिटारेमें रखकर विधिपूर्वक क्षीरसमुद्रमें क्षेप दिया ॥५७॥ इस प्रकार देव, भगवान्का निष्क्रमणकल्याणक तथा उसकी पूजाकर यथा स्थान चले गये और भगवान् भी चार ज्ञानों तथा एक हजार अनुगामी राजाओंसे उस तरह सुशोभित होने लगे जिस तरह कि एक हजार किरणोंसे सूर्य सुशोभित होता है ॥५८॥ वेलाका उपवास धारण करनेवाले भगवान् जब आगामी दिन, आहारकी विधि प्रकट करनेके लिए कुशाग्रपुरीमें अवतीर्ण हुए तब वृषभदत्त नामसे प्रसिद्ध पुरुषने उन्हें विधिपूर्वक खीरका आहार दिया ॥५९॥ उस समय मर्यादाके जाननेवाले भगवान् मुनिसुव्रतरूपी सूर्यने अपने तीर्थमें निर्दोष चारित्रके धारक मुनियोंके योग्य आहारकी वह विधि प्रवृत्त की जो स्वाधीन थी, बाधासे रहित थी, खड़े होकर जिसमें भोजन करना पड़ता था, जिसमें पाणिपात्रमें भोजन होता था और दानपति जिसमें विधिपूर्वक भोजन प्रदान करता था ॥६०॥ आश्चर्यकी बात थी कि उस समय शुद्धिसे सहित वृषभदत्तने मुनिराजके हाथमें जो खीर दी थी उससे बाकी बची खीरको हजारोंकी संख्यामें अन्य मुनियोंने खाया तथा घरके अन्य लोगोंने भी बार-बार ग्रहण किया फिर भी वह समाप्तिको प्राप्त नहीं हुई ॥६१॥ तदनन्तर विशाल शब्द करते हुए देव दुन्दुभि बजने लगे, धन्य-धन्यके शब्दने समस्त आकाशको व्याप्त कर दिया, सुगन्धित वायु बहने लगी, आश्चर्यकारी फूलोंकी वर्षा होने लगी और आकाशसे बड़ी मोटी रत्नोंकी धारा पड़ने लगी ॥६२॥ दूसरोंके लिए अतिशय दुर्लभ इस पञ्चाश्चर्यको आकाशमें खड़े देवोंने चिरकाल तक किया। तदनन्तर पुण्यराशिका सञ्चय करनेवाले दानपतिकी पूजाकर वे देवलोग यथास्थान चले गये और भगवान् भी विहारके योग्य स्थानमें विहार कर गये ॥६३॥ तत्पश्चात् तेरह महीनेका छद्मस्थ

१. सत्पात्रसं म० । २. शुद्धान्वितेन । ३. -रशेषपतिभिश्च । ४. समाप्तिम् । ५. त्रयोदशमासात्मकम् ।
६. पूतम् म० ।

साक्षाच्चकार युगपत्सकलं स मेयमेकेन केवलविशुद्धविलोचनेन ।
न्याय्यस्तदा न हि निरावरणो विवस्वानभ्युद्गतः क्रमसहायपरः प्रकाश्ये ॥६५॥
नेमुः ससप्तपदमेत्य निजासनेभ्यः सर्वेऽहमिन्द्रनिवहाः कृतमौलिहस्ताः ।
तं प्रापुरभ्युदिततोषविशेषचित्ताः शेषा महेन्द्रसुरसन्ततयः समन्तात् ॥६६॥
भक्त्याऽर्चयन् त्रिभुवनेश्वरमानवेन्द्रास्तं देवमभ्युदितचम्पकचैत्यवृक्षम् ।
सत्प्रातिहार्यविभवातिविशेषरूपमार्हन्त्यमद्भुतमचिन्त्यमनन्तमेतम्[1] ॥६७॥
स द्वादशस्वथ गणेषु निषण्णवत्सु स द्वादशाङ्गमनुयोगपथं जिनेन्द्रः ।
धर्मं विशाखगणिना विनयेन पृष्टः सम्भाष्य तीर्थमवनौ प्रकटं प्रचक्रे ॥६८॥
कल्याणपूजनमिनस्य तुरीयमिन्द्राः कृत्वा यथायथमगुः प्रणिपातपूर्वम् ।
देशान् जिनोऽपि विजहार बहून् बहूनां धर्मामृतं तनुभृतां घनवत्प्रवर्षन् ॥६९॥
अष्टौ च विंशतिरिनस्य जिनेन्द्रवर्याः क्रोडीकृताखिलचतुर्दशपूर्वशास्त्राः ।
त्रिंशत्सहस्रगणना परिषद् यतीनां नानागुणैरजनि सप्तविधः स सङ्घः ॥७०॥
स्युस्तत्र पञ्चशतपूर्वधरा यतीशा एकादिविंशतिसहस्रमिदाश्च शिक्षाः ।
अष्टादशैव गदितानि शतानि तेषु प्रत्येकमस्य मुनयोऽवधिकेवलाप्ताः ॥७१॥
द्वाविंशतिर्यतिशतानि तु वैक्रियाख्यास्तान्येव पञ्चदश ते विपुलास्तु मत्या ।
स्युर्द्वादशैव हि शतानि विवान्तवैराः सद्वादिनो मुनिपतेः प्रथिताः सभायाम् ॥७२॥

काल बिताकर भगवान्‌ने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा घातिया कर्मरूपी ईन्धनकी विपुल राशिको दग्धकर केवलज्ञानकी प्राप्तिसे मगसिर मासकी शुक्ल पञ्चमी तिथिको पवित्र किया ॥६४॥ अब केवलज्ञानरूपी एक ही विशुद्ध लोचनसे भगवान् समस्त पदार्थोंको एक साथ प्रत्यक्ष देखने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जब निरावरण सूर्यका उदय होता है तब वह प्रकाशित करने योग्य पदार्थोंके विषयमें न तो क्रमकी अपेक्षा करता है और न दूसरेको सहायताकी ही अपेक्षा करता है ॥६५॥ उस समय समस्त अहमिन्द्रोंने अपने-अपने आसनोंसे सात-सात डग आगे चलकर तथा हाथ जोड़ मस्तकसे लगा जिनेन्द्र भगवान्‌को परोक्ष नमस्कार किया और जिनके चित्तमें विशेष हर्ष प्रकट हो रहा था ऐसे शेष समस्त इन्द्र तथा देव सब ओरसे वहाँ आये ॥६६॥ जिनके चम्पक नामक चैत्य वृक्ष प्रकट हुआ था, जो अष्ट प्रातिहार्यरूपी वैभवसे अतिशय सुन्दर थे, और जो आश्चर्यकारी अचिन्त्य एवं अन्तातीत आर्हन्त्य पदको प्राप्त थे ऐसे देवाधिदेव मुनिसुव्रतनाथको, तीनों लोकोंके स्वामी तथा राजाओंने भक्तिपूर्वक पूजा की ॥६७॥

तदनन्तर जब बारह गण बारह सभाओंमें यथास्थान बैठ गये तब विशाख नामक गणधरने विनयपूर्वक अनुयोग द्वारसे द्वादशाङ्गका स्वरूप पूछा उसके उत्तरमें भगवान्‌ने धर्मका निरूपणकर पृथिवीपर तीर्थ प्रकट किया ॥६८॥ इन्द्रादि देव भगवान्‌के चतुर्थ कल्याणककी पूजा कर नमस्कार करते हुए यथास्थान चले गये और भगवान् भी अनेक प्राणियोंके लिए धर्मामृतकी वर्षा करते हुए अनेक देशोंमें विहार करने लगे ॥६९॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथके सम्पूर्ण चौदह पूर्वोंको जाननेवाले अट्ठाईस गणधर थे, और तीस हजार मुनि थे। भगवान्‌का यह संघ नाना गुणोंसे सात प्रकारका था ॥७०॥ उस संघमें पाँच सौ मुनिराज पूर्वधारी थे, इक्कीस हजार शिक्षार्थी थे, अठारह सौ अवधिज्ञानी थे, इतने ही केवलज्ञानी थे, बाईस सौ विक्रियाऋद्धिके धारक थे, पन्द्रह सौ विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानके धारक थे, वैर को दूर करनेवाले बारह सौ प्रसिद्ध वादी थे, पचास हजार आर्यिकाएँ थीं, एक लाख अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंको धारण करनेवाले श्रावक थे, और सम्यग्दर्शनसे पवित्र हृदयको धारण करनेवाली तीन लाख श्राविकाएँ थीं।

१. -मेकं म० ।

पञ्चाशदेकसहस्रमितास्तदार्याः शिक्षागुणव्रतधरा गृहिणोऽपि लक्षाः ।
सम्यक्त्वपूतमनसो वनिताश्च लक्षाः सभ्योडुभिः परिवृतश्च बभौ जिनेन्दुः ॥७३॥
त्रिंशत्सुगुणप्रथितवर्षसहस्रजीवी प्राक् पञ्चसप्तशताब्दकुमारकालः ।
राज्येऽपि पञ्चदशवर्षसहस्रभोगी सत्संयमेन विजहार स शेषकालम् ॥७४॥
अन्ते स सम्मदविधायिवनान्तकान्तं सम्मेदशैलमधिरुह्य निरस्तबन्धः ।
बन्धान्तकृन्मुनिसहस्रयुतो जगाम मोक्षं महामुनिपतिर्मुनिसुव्रतेशः ॥७५॥
माघत्रयोदशतिथौ सितपक्षभाजि मासोपसंहृतविहारविसृष्टदेहे ।
स्थित्वाऽपराह्णसमये वरपुष्ययोगे सिद्धे जिने ननु महं विदधुः सुरेन्द्राः ॥७६॥
षड्वर्षलक्षपरिमाणमिनस्य तस्य प्रावर्तत प्रविततं भुवि धर्मतीर्थम् ।
विद्यावबोधबुधितार्थमुनिप्रभावं देवागमाविरतिवर्धितलोकहर्षम् ॥७७॥
विंशस्य तस्य चरितस्य जिनस्य लोके कल्याणपञ्चकविभूति विभावयन् यः ।
भक्त्या शृणोति पठति स्मरतीदमस्मिन् भव्यो जनो भजति सिद्धिसुखं स शीघ्रम् ॥७८॥
एवं वसन्ततिलकप्रचुरप्रसूनमालामिमां समधिरोप्य विनूतवृत्तः ।
विघ्नान् विधूय विदधातु समाधिबोधी धीरो जिनो जितभवो मुनिसुव्रतो नः ॥७९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मुनिसुव्रतनाथपञ्चकल्याणवर्णनो नाम षोडशः सर्गः ।

इन सभासद रूपी नक्षत्रोंसे घिरे हुए भगवान् रूपी चन्द्रमा अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥७१-७३॥ भगवान्‌की पूर्ण आयु तीस हजार वर्षकी थी, उसमें साढ़े सात हजार वर्षका कुमारकाल था, पन्द्रह हजार वर्ष तक उन्होंने राज्यका भोग किया और शेष साढ़े सात हजार वर्ष तक संयमी होकर विहार किया ॥७४॥ महामुनियोंके अधिपति मुनिसुव्रत भगवान् आयुके अन्त समयमें हर्षको उत्पन्न करनेवाले वन-खण्डोंसे सुशोभित सम्मेदाचलपर आरूढ़ होकर कर्मोंके बन्धसे रहित हुए और बन्धका नाश करनेवाले एक हजार मुनियोंके साथ वहींसे मोक्ष गये ॥७५॥ मोक्ष जानेके एक माह पूर्व भगवान्‌ने विहार आदि बन्दकर योगनिरोध कर लिया था तथा माघ शुक्ला त्रयोदशीके दिन अपराह्न कालमें पुष्य नक्षत्रका उत्तम योग रहते हुए पद्मासनसे मोक्ष प्राप्त किया था। मुक्त होनेपर इन्द्रने निर्वाणकल्याणककी पूजा की थी ॥७६॥ भगवान् मुनिसुव्रतनाथका धर्मतीर्थ पृथिवीपर छह लाख वर्ष तक अखण्ड रूपसे चलता रहा। उनके तीर्थमें विद्याओंका परिज्ञान होनेसे मुनियोंका पूर्ण प्रभाव था, और देवोंका निरन्तर आगमन होते रहनेसे लोगोंका हर्ष बढ़ता रहता था ॥७७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि संसारमें जो भव्य प्राणी बीसवें तीर्थंकरके पञ्चकल्याणक विभूतिसे युक्त इस चरितका चिन्तवन करता है, भक्तिसे इसे सुनता है, पढ़ता है, और इसका स्मरण करता है वह शीघ्र ही मोक्षके सुखको प्राप्त होता है ॥७८॥ जिनसेनाचार्य कहते हैं कि इस तरह वसन्ततिलका छन्दसे निर्मित (पक्षमें वसन्तऋतुके श्रेष्ठ नाना पुष्पोंसे निर्मित) पुष्पोंकी माला समर्पित कर जिनके चरित्रकी स्तुति की गई है वे संसारको जीतनेवाले धीर-वीर मुनिसुव्रत जिनेन्द्र विघ्नोंको नष्टकर हमारे लिए समाधि (चित्तकी स्थिरता) और बोधि (रत्नत्रयकी प्राप्ति) करावें ॥७९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराण के संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌के पञ्चकल्याणकोंका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

सप्तदशः सर्गः

बभूव हरिवंशानां प्रभुर्वश्यवसुन्धरः । अरिषड्वर्गजिन्मार्गस्त्रिवर्गस्य स सुव्रतः ॥१॥
स दक्षं दक्षनामानं पुत्रं कृत्वा निजे पदे । दीक्षितः स्वपितुस्तीर्थे प्राप मोक्षं तपोबलात् ॥२॥
ऐलेयाख्यमिलायां स दक्षः पुत्रमजीजनत् । मनोहरीं च तनयामर्णवोऽपि यथा श्रियम् ॥३॥
ववृधेऽनुकुमारं च कुमारी नेत्रहारिणी । साऽनुचन्द्रं यथा कान्तिः कलागुणविशेषिणी ॥४॥
यौवनेन कृताश्लेषा कृशमध्याऽवभासते । स्तनभारेण गुरुणा जघनेन च भारिणा ॥५॥
[1]स्वाधीने सति रूपास्त्रे तस्या धीरमनोभिदि । मनोभवोऽत्यजत्स्वेषु कुसुमास्त्रेषु गौरवम् ॥६॥
तद्रूपास्त्रविमोक्षेण मनोभूर[2]करोद् भृशम् । दक्षस्यापि मनोभेदमन्येषां नु किमुच्यताम् ॥७॥
कन्यया [3]हृतचित्तश्च ततो दक्षः प्रजापतिः । आहूय छद्मना सद्म पप्रच्छ प्रणताः प्रजाः ॥८॥
पृष्टा वदत यूयं मे सज्जना जगति स्थितिम् । अविरुद्धं विचार्येह विश्वे विदितवृत्तयः ॥९॥
यद्वस्तु भुवनेऽनर्घ्यं हस्त्यश्ववनितादिकम् । प्रजानुचितमेतस्य राजा विभुरहो न वा ॥१०॥
केचिदूचुर्जनास्तत्र विचार्य चिरमात्मनि । यत्प्रजानुचितं देव ! तत्प्रजापतये हितम् ॥११॥
यथा नदीसहस्राणां रत्नानां च सागरः । आकरोऽनर्घरत्नानां तथैवात्र प्रजापतिः ॥१२॥

अथानन्तर भगवान् मुनिसुव्रतनाथके पुत्र सुव्रत हरिवंशके स्वामी हुए। उन्होंने समस्त पृथिवीको वश कर लिया था, काम क्रोध लोभ मोह मद एवं मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीत लिया था, तथा वे धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्गके मार्ग-प्रवर्तक थे ॥१॥ उनके दक्ष नामका अतिशय दक्ष—चतुर पुत्र था। वे उसे अपने पदपर नियुक्त कर अपने ही पिताके समीप दीक्षित हो गये और तपोबलसे मोक्ष चले गये ॥२॥ राजा दक्षने इला नामक रानीमें ऐलेय नामका पुत्र उत्पन्न किया और उसके बाद जिस प्रकार समुद्रने लक्ष्मीको उत्पन्न किया था उसी प्रकार मनोहरी नामकी पुत्रीको उत्पन्न किया ॥३॥ जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ-साथ कलारूपी गुणसे युक्त उसकी कान्ति बढ़ती जाती है उसी प्रकार कुमार ऐलेयके साथ-साथ कलारूपी गुणसे युक्त नेत्रोंको हरण करनेवाली कुमारी मनोहरी दिनों-दिन बढ़ने लगी ॥४॥ जब वह यौवनवती हुई तब उसकी कमर पतली हो गई और वह स्थूल स्तनोंके भार तथा विस्तृत नितम्ब स्थलसे अतिशय सुशोभित होने लगी ॥५॥ धीर-वीर मनुष्योंके मनको भेदन करनेवाले उसके सौन्दर्यरूपी अस्त्रके स्वाधीन रहते हुए कामदेवने अपने पुष्पमयी बाणोंका गर्व छोड़ दिया था ॥६॥ उसके सौन्दर्यरूपी शस्त्रको छोड़कर कामदेवने राजा दक्षके भी मनको भेद दिया फिर अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या कही जाय ? ॥७॥

तदनन्तर कन्याके द्वारा जिसका चित्त हरा गया था ऐसे दक्ष प्रजापतिने एक दिन किसी छलसे नम्रीभूत प्रजाको अपने घर बुलाकर उससे पूछा कि हे सज्जनो ! आप सब व्यवहारके ज्ञाता हैं। मैं आपलोगोंसे एक बात पूछता हूँ सो आप सब जगत्की स्थितिका पूर्वापरविरोध रहित विचारकर उत्तर दीजिए ॥८-९॥ बात यह है कि यदि हाथी घोड़ा स्त्री आदि कोई वस्तु संसारमें अमूल्य हो और प्रजाके योग्य न हो तो राजा उसका स्वामी हो सकता है या नहीं ? ॥१०॥ प्रजाजनोंमें कितने ही लोगोंने चिरकालतक आत्मामें विचारकर कहा कि हे देव ! जो वस्तु प्रजाके लिए अयोग्य है वह राजाके लिए हितकारी है ॥११॥ जिस प्रकार समुद्र हजारों

---

१. साधीने म०, ग०, घ०, ङ० । २. कामः । ३. हृतचित्तं स म० ।

तद् यत्तव स्थितं चित्ते समस्ते वसुधातले । रत्नाकरेषु समुत्पन्नं तद्रत्नं क्रियतां करे ॥१३॥
एवं दक्षः प्रजावाक्यमाकर्ण्य विपरीतधीः । प्रजानुमतिकारित्वं प्रकाश्य विससर्ज ताः ॥१४॥
ततः स दुहितुस्तस्याः स्वयमेवाग्रहीत् करम् । कामग्रहगृहीतस्य का मर्यादा क्रमोऽपि कः ॥१५॥
इला देवी ततो रुष्टा पत्युः पुत्रमभेदयत् । तावद्भार्यादयो यावन्मर्यादासंस्थितः प्रभुः[1] ॥१६॥
इला चैलेयमादाय[2] महासामन्तसंवृता । प्रत्यवस्थानमकरोद्दुर्गदेशमुपाश्रिता ॥१७॥
त्रिविष्टपपुराकारं सन्निविष्टं पुरं तया । [3]इलायां वर्धमानायामिलावर्धनसंज्ञया ॥१८॥
ऐलेयः स्थापितो राजा रेजे तत्र प्रजावृतः । वीर्यधैर्यनयाधारो हरिवंशविशेषकः ॥१९॥
पार्थिवेन सता तेन ताम्रलिप्ति[4]प्रसिद्धिकाम् । निवेशितं पुरं कान्तमङ्गदेशनिवासिना ॥२०॥
जिगीषता परान् देशान् नर्मदातटमीयुषा । मह्यां माहिष्मती ख्याता नगरी विनिवेशिता ॥२१॥
तत्र स्थितश्चिरं राज्यं कृत्वा प्रणतपार्थिवम् । पुत्रं कुणिमनामानं संस्थाप्य तपसे ययौ ॥२२॥
कुणिमश्च विदर्भेषु विजिगीषुर्द्विषन्तपः । कुण्डिनाख्यं पुरं चक्रे वरदायास्तटे वरे ॥२३॥
कुणिमः क्षणिकं मत्वा जीवितं निजवैभवम् । [5]पुलोमाख्ये सुते न्यस्य तपोवनमयात् स्वयम् ॥२४॥
पुलोमपुरमेतेन विनिवेशितमीशिना । श्रियं न्यस्य तपस्यागात् पौलोमचरमाख्ययोः ॥२५॥

नदियाँ और उत्तम रत्नोंकी खान है उसी प्रकार राजा भी इस लोकमें अनर्घ्य वस्तुओंकी खान है ॥१२॥ इसलिए समस्त पृथिवीतल और उत्तमोत्तम खानोंमें उत्पन्न हुआ जो भी रत्न आपके चित्तमें है—जिसे आप प्राप्त करना चाहते हैं उसे हाथमें कीजिए ॥१३॥ इस प्रकार विपरीत बुद्धिके धारक राजा दक्षने प्रजाके वचन सुन प्रकट किया कि जैसी आपलोगोंकी अनुमति है वैसा ही कार्य करूँगा—यह कहकर उसने प्रजाके लोगोंको विदा किया ॥१४॥

तदनन्तर उसने पुत्री मनोहरीका कर ग्रहण स्वयं ही कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि कामरूपी पिशाचसे गृहीत मनुष्यकी मर्यादा क्या है ? और क्रम क्या है ? भावार्थ—कामी मनुष्य सब मर्यादाओं और क्रमोंको छोड़ देता है ॥१५॥ राजा दक्षकी रानी इला देवी, पतिके इस कुकृत्यसे बहुत ही रुष्ट हुई इसलिए उसने पुत्रको पितासे फोड़ लिया—अलग कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री आदि तभी तक है जब तक स्वामी मर्यादामें रहता है—मर्यादाका पालन करता है ॥१६॥ बड़े-बड़े सामन्तोंसे घिरी इला देवी अपने ऐलेय पुत्रको लेकर दुर्गम स्थानमें चली गई और वहीं उसने निवास करनेका निश्चय किया ॥१७॥ उसने स्वर्गपुरीके समान एक नगर बसाया जो बढ़ती हुई पृथिवीपर स्थित होनेके कारण इलावर्धन नामसे प्रसिद्ध था ॥१८॥ ऐलेय-को उसने उसका राजा बनाया सो प्रजासे सहित, वीर्य धैर्य और नीतिका आधार तथा हरिवंश का तिलक स्वरूप राजा ऐलेय वहाँ अत्यधिक सुशोभित होने लगा ॥१९॥ राजा होनेपर अंग देशमें निवास करनेवाले ऐलेयने ताम्रलिप्ति नामसे प्रसिद्ध एक सुन्दर नगर बसाया ॥२०॥ जब ऐलेय नाना देशोंको जीतनेकी इच्छा करता हुआ नर्मदा नदीके तटपर आया तो उसने पृथिवी पर प्रसिद्ध माहिष्मती नामकी नगरी बसाई ॥२१॥ उस नगरीमें रहकर राजा ऐलेयने चिरकाल तक नम्रीभूत राजाओंसे युक्त राज्य किया । तदनन्तर वह कुणिम नामक पुत्रके लिए राज्य सौंप-कर तपके लिए चला गया ॥२२॥ विजयके अभिलाषी एवं शत्रुओंको संताप देनेवाले कुणिम-ने विदर्भ देशमें वरदा नदीके किनारे कुण्डिन नामका सुन्दर नगर बसाया ॥२३॥ कुछ समय बाद कुणिमको जीवन क्षण-भङ्गुर जान पड़ा इसलिए वह अपना वैभव पुलोम नामक पुत्रके लिए सौंपकर स्वयं तपोवनको चला गया ॥२४॥ राजा पुलोमने भी पुलोमपुर नामका नगर बसाया ।

---

१. पतिः । २. -मावृत्ता म०, ख०, ग०, ङ० । ३. इलया वर्धमानं यदि- म० । ४. -मलिप्तप्रसिद्धकम् घ० । ५. सुलोमाख्ये घ० ।

जगत्प्रभावसम्भारौ तावखण्डितमण्डलौ । सूर्याचन्द्रमसौ नित्यं विजिगीषू प्रजिग्यतुः ॥२६॥
ताभ्यामिन्द्रपुरं चक्रे रेवायाः सरितस्तटे । जयन्तीवनवास्यौ द्वे चरमेण पुरौ कृते ॥२७॥
सञ्जयश्चरमस्यासीत् तनयो नयवित्तथा । पौलोमस्य महीदत्तस्तपस्थौ जनकौ च तौ ॥२८॥
महीदत्तेन नगरं कृतं कल्पपुराख्यया । सोऽरिष्टनेमिमत्स्याख्यौ तनयावुदपादयत् ॥२९॥
मत्स्यो भद्रपुरं जित्वा सेनया चतुरङ्गया । तथा हास्तिनपुरं प्रीतस्सोऽध्यतिष्ठत् प्रतापवान् ॥३०॥
तस्य पुत्राः शतं [1] जाताः शतमन्युसमाः क्रमात् । अयोधनाद्यो ज्येष्ठे राज्यं न्यस्य स दीक्षितः ॥३१॥
अयोधनसुतो मूलः शालस्तस्य सुतोऽभवत् । सूर्यस्तस्याभवत् सूनुस्तेन शुभ्रपुरं कृतम् ॥३२॥
तस्यासीत्स्वमरस्तेन वज्राख्यं पुरमाहितम् । देवदत्तस्ततो जातो देवेन्द्रसमविक्रमः ॥३३॥
मिथिलानाथमुत्पाद्य विदेहानामभूद्विभुः । हरिषेणस्ततो जज्ञे नभसेनस्तु तत्सुतः ॥३४॥
ततः शङ्ख इति ख्यातस्ततो भद्र इतीरितः । अभिचन्द्रस्ततश्चाभूदभिभूतरिपुद्युतिः ॥३५॥
विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम् । शुक्तिमत्यास्तटेऽधायि नाम्ना शुक्तिमती पुरी ॥३६॥
उग्रवंशप्रसूतायां वसुमत्यामभूद्वसुः । अभिचन्द्राद् यथाद्रात्मा चन्द्रकान्तमहामणिः ॥३७॥
नाम्ना क्षीरकदम्बोऽभूत्तत्र वेदार्थविद्द्विजः । तस्य स्वस्तिमती पत्नी पर्वतस्तनयस्तयोः ॥३८॥
अध्यापितास्त्रयस्तेन वसुपर्वतनारदाः । सरहस्यानि शास्त्राणि गुरुणा धिषणावता ॥३९॥
आरण्यकमसौ वेदमरण्येऽध्यापयन् सुतान् । आकर्णयद् गिरं व्योम्नि मुनेराकाशगामिनः ॥४०॥

अन्तमें वह पौलोम और चरम नामक पुत्रोंके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर तपके लिए चला गया ॥२५॥ पौलोम और चरमका प्रभाव समस्त जगत्में फैल रहा था तथा वे दोनों अखण्डित मण्डल—अखण्ड राष्ट्रके धारक थे इसलिए विजयकी अभिलाषा रखते हुए वे दोनों निरन्तर सूर्य और चन्द्रमाको जीतते थे। सूर्य और चन्द्रमाका प्रभाव भी समस्त जगत्में फैला रहता है और वे अखण्ड मण्डल—अखण्ड बिम्बके धारक होते हैं ॥२६॥ उन दोनोंने मिलकर रेवा नदीके तटपर इन्द्रपुर नामका नगर बसाया और चरमने जयन्ती तथा वनवास्य नामकी दो नगरियाँ बसाईं ॥२७॥ पौलोमके महीदत्त और चरमके संजय नामका नीतिवेत्ता पुत्र था। अन्तमें पौलोम और चरम दोनों ही तप करने लगे ॥२८॥ महीदत्तने कल्पपुर नामका नगर बसाया और अरिष्टनेमि तथा मत्स्य नामक दो पुत्र उत्पन्न किये ॥२९॥ प्रतापी मत्स्य अपनी चतुरंग सेनासे भद्रपुर और हास्तिनपुरको जीतकर बड़ी प्रसन्नतासे हस्तिनापुरमें रहने लगा ॥३०॥ उसके क्रम-क्रमसे अयोधनको आदि लेकर इन्द्रके समान पराक्रमके धारक सौ पुत्र उत्पन्न हुए। अन्तमें वह ज्येष्ठ पुत्रके लिए राज्य सौंपकर दीक्षित हो गया ॥३१॥ राजा अयोधनके मूल, मूलके शाल और शालके सूर्य नामका पुत्र हुआ। सूर्यने शुभ्रपुर नामका नगर बसाया था ॥३२॥ सूर्यके अमर नामका पुत्र हुआ और उसने वज्र नामका नगर बसाया। अमरके देवेन्द्रके समान पराक्रमी देवदत्त नामका पुत्र हुआ ॥३३॥ देवदत्त मिथिलानाथके हरिषेण, हरिषेणके नभसेन, नभसेनके शङ्ख, शङ्खके भद्र और भद्रके शत्रुओंकी कान्तिको तिरस्कृत करनेवाला अभिचन्द्र नामका पुत्र हुआ ॥३४-३५॥ अभिचन्द्रने विन्ध्याचलके ऊपर चेदिराष्ट्रकी स्थापना की तथा शुक्तिमती नदीके किनारे शुक्तिमती नामकी नगरी बसाई ॥३६॥ अभिचन्द्रकी उग्रवंशमें उत्पन्न वसुमती नामकी रानीसे वसु नामका पुत्र हुआ। वह वसु चन्द्रकान्त महामणिके समान आर्द्रहृदय था ॥३७॥ उसी नगरीमें वेदार्थका वेत्ता एक क्षीरकदम्ब नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम स्वस्तिमती था और उन दोनोंके पर्वत नामका पुत्र था ॥३८॥ बुद्धिमान् गुरु क्षीरकदम्बने वसु, पर्वत और नारद इन तीन शिष्योंको गूढार्थ सहित समस्त शास्त्र पढ़ाये ॥३९॥

एकबार क्षीरकदम्बक वनमें उक्त तीनों पुत्रोंको आरण्यक वेद पढ़ा रहा था कि उसने

---

१. याताः म० ।

वेदाध्ययनसक्तानां मध्येऽमीषामधोगतिम् । गन्तारौ द्वौ नरौ पापाद् द्वौ पुण्यादूर्ध्वगामिनौ ॥४१॥
इत्युक्त्वा मुनिरन्यस्मै साधवेऽवधिलोचनः । करुणावान् गतः क्वापि ज्ञातसंसारसंस्थितिः ॥४२॥
श्रुत्वा क्षीरकदम्बोऽपि वचनं शङ्किताशयः । विसृज्य सदनं शिष्यानपराह्णेऽन्यतो गतः ॥४३॥
अपश्यन्ती पतिं शिष्यान् पप्रच्छ स्वस्तिमत्यसौ । उपाध्यायो गतः पुत्राः ! कुतो ब्रूतेति शङ्किता ॥४४॥
तेऽब्रुवन्नहमेमीति वयं तेन विसर्जिताः । आयात्येवानुमार्गे नो मातर्माभूस्त्वमुन्मनाः ॥४५॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा तस्थौ स्वस्तिमती दिवा । रात्रावपि यदा चासौ गृहं नागतवांस्तदा ॥४६॥
गता सा शोकिनी बुद्ध्वा भर्त्तुराकूतमाकुला । ध्रुवं प्रव्रजितो विप्र इत्यरोदीच्चिरं निशि ॥४७॥
तमन्वेष्टुं प्रभाते तौ गतौ पर्वतनारदौ । वनान्तेऽपश्यतां श्रान्तौ दिनैः कतिपयैरपि ॥४८॥
स निषण्णमधीयानं निर्ग्रन्थं गुरुसन्निधौ । पितरं पर्वतो दृष्ट्वा दूरान्निववृतेऽधृतिः ॥४९॥
मात्रे निवेद्य वृत्तान्तं तया दुःखितचित्तया । कृत्वा दुःखं विशोकाऽसौ तिष्ठति स्म यथासुखम् ॥५०॥
नारदस्तु विनीतात्मा गुरोः कृत्वा प्रदक्षिणम् । प्रणम्याणुव्रती भूत्वा सम्भाष्य गृहमागतः ॥५१॥
[1]आश्वास्य शोकसन्तप्तां नत्वा पर्वतमातरम् । जगाम निजधामासौ नारदोऽतिविशारदः ॥५२॥
वसोरपि पिता राज्यं वसौ विन्यस्य विस्तृतम् । संसारसुखनिर्विण्णः प्रविवेश तपोवनम् ॥५३॥

आकाशमें किन्हीं चारण ऋद्धिधारी मुनिके निम्नांकित वचन सुने ॥४०॥ वे कह रहे थे कि वेदाध्ययनमें लगे हुए इन चार मनुष्योंके बीचमें पापके कारण दो तो अधोगतिको जावेंगे और दो पुण्यके कारण ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे ॥४१॥ जो अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे, दयालु थे और संसारकी सब स्थिति जानते थे ऐसे वे मुनिराज साथके दूसरे मुनिसे इस प्रकार कहकर कहीं चले गये ॥४२॥ इधर मुनिराजके उक्त वचन सुनकर क्षीरकदम्बकका हृदय शङ्कित हो उठा। जब दिन ढल गया तो उसने शिष्योंको तो घर भेज दिया पर स्वयं अन्यत्र चला गया ॥४३॥ पतिको शिष्योंके साथ न देख स्वस्तिमतिने शङ्कित हो पूछा कि अरे शिष्यो ! उपाध्याय कहाँ गये हैं ? बताओ ॥४४॥ शिष्योंने कहा कि उन्होंने हमलोगोंको यह कहकर भेजा था कि मैं अभी आता हूँ। हे माँ ! वे मार्गमें पीछे आते ही होंगे, व्यग्र न होओ ॥४५॥ शिष्योंके उक्त वचन सुन स्वस्तिमती दिन भर तो चुप बैठी रही परन्तु जब वह रात्रिको भी घर नहीं आया तो उसके शोककी सीमा नहीं रही। वह पतिका अभिप्राय जानती थी इसलिए जान पड़ता है ब्राह्मणने दीक्षा ले ली है, यह विचारकर वह चिरकाल तक रोती रही ॥४६-४७॥ प्रातःकाल होनेपर पर्वत और नारद उसे खोजनेके लिए गये। वे कितने ही दिन भटकते रहनेसे थक गये। अन्तमें उन्होंने देखा कि पिता क्षीरकदम्बक वनके अन्तमें गुरुके पास निर्ग्रन्थ मुद्रामें बैठकर पढ़ रहे हैं। पिताको उस प्रकार बैठा देखकर पर्वतका धैर्य छूट गया। उसने दूरसे ही लौटकर माताके लिए सब समाचार सुनाया। पर्वतके मुखसे पतिकी दीक्षाका समाचार जानकर ब्राह्मणी स्वस्तिमती बहुत दुःखी हुई। पर्वतने भी माताके साथ दुःख मनाया। अन्तमें धीरे-धीरे शोक दूरकर दोनों पहलेके समान सुखसे रहने लगे ॥४८-५०॥

पर्वत तो दूरसे चला आया था परन्तु नारद विनयी था इसलिए उसने गुरुके पास जाकर प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया, उनसे वार्तालाप कर अणुव्रत धारण किये और उसके बाद वह घर वापिस आया ॥५१॥ अतिशय निपुण नारदने आकर शोकसे संतप्त पर्वतकी माताको आश्वासन दिया, नमस्कार किया और उसके बाद अपने घरकी ओर प्रस्थान किया ॥५२॥ तदनन्तर वसुके पिता राजा अभिचन्द्र भी संसारके सुखसे उदासीन हो गये इसलिए अपना विस्तृत राज्य वसुके

---

१. आश्वास्य म० ।

वसुना वासवेनेव नवयौवनवर्तिना । वनितेव विनीतास्यं नीता नीतिविदावनिः ॥५४॥
नभःस्फटिकमूर्द्धस्थसिंहासनमधिष्ठितम् । नभस्थमेव भूपास्तं दृष्टास्थानममंसत ॥५५॥
भूमौ कीर्तिरभूत्तस्य महिम्ना धर्मजन्मना । [1]अश्मोपरिचरस्यात्र वसोरन्वर्थतापुषः[2] ॥५६॥
इक्ष्वाकुवंशजा जाया कुरुवंशोद्भवा परा । दशपुत्रास्तयोर्जाताः वसोर्वसुसमाः क्रमात् ॥५७॥
बृहद्वसुरिति ज्ञेयः पूर्वश्चित्रवसुः परः । वासवश्चार्कनामा च पञ्चमश्च महावसुः ॥५८॥
विश्वावसू रविः सूर्यः सुवसुश्च बृहद्ध्वजः[3] । इत्यमी वसुराजस्य सुताः सुविजिगीषवः ॥५९॥
सुतैर्दशभिरन्योऽन्यप्रीतिबद्धमनोरथैः । इन्द्रियार्थैरिवोपेतः पार्थिवः सुखमन्वभूत् ॥६०॥
एकदा नारदश्छात्रैर्बहुभिश्छत्रिभिर्वृतः । गुरुवद्गुरुपुत्रेक्षः पर्वतं द्रष्टुमागतः ॥६१॥
कृतेऽभिवादने तेन कृतप्रत्यभिवादनः । सोऽभिवाद्य गुरोः पत्नीं गुरुसत्कथया स्थितः ॥६२॥
अथ व्याख्यामसौ कुर्वन् वेदार्थस्यापि गर्वितः । पर्वतः सर्वतश्छात्रैर्वृतो नारदसन्निधौ ॥६३॥
अजैर्यष्टव्यमित्यत्र वेदवाक्ये विसंशयम् । अजशब्दः किलाम्नातः पश्वर्थस्याभिधायकः ॥६४॥
तैरजैः खलु यष्टव्यं स्वर्गकामैरिह द्विजैः । पदवाक्यपुराणार्थपरमार्थविशारदैः ॥६५॥
प्रतिबन्धमिहाज्ञस्य तस्य चक्रे स नारदः । [4]युक्त्यागमबलालोकध्वस्ताज्ञानतमस्तरः ॥६६॥
भद्रपुत्र ! किमित्येवमपव्याख्यामुपाश्रितः । कुतोऽयं सम्प्रदायस्ते सहाध्यायिन्नुपागतः ॥६७॥

लिए सौंपकर तपोवनको चले गये ॥५३॥ नव यौवनसे मण्डित, नीतिका वेत्ता वसु इन्द्रके समान जान पड़ता था। उसने समस्त पृथिवीको स्त्रीके समान वशीभूत कर लिया था ॥५४॥ राजा वसु सभामें आकाशस्फटिकके ऊपर स्थित सिंहासनपर बैठता था इसलिए अन्य राजा उसे आकाशमें ही स्थित मानते थे ॥५५॥ राजा वसु सदा आकाशस्फटिक पर चलता था और सदा सत्यका ही पोषण करता था इसलिए पृथिवीपर उसका यही यश फैल रहा था कि वह धर्मकी महिमासे आकाशमें चलता है ॥५६॥ उसकी एक स्त्री इक्ष्वाकुवंशकी और दूसरी कुरुवंशकी थी। उन दोनोंसे उसके क्रमसे १ बृहद्वसु, २ चित्रवसु, ३ वासव, ४ अर्क, ५ महावसु, ६ विश्वावसु, ७ रवि, ८ सूर्य, ९ सुवसु और १० बृहद्ध्वज ये दश पुत्र हुए। ये सभी पुत्र वसुके ही समान अतिशय विजिगीषु—विजयाभिलाषी—पराक्रमी थे ॥५७-५९॥ इन्द्रियोंके विषयोंके समान परस्परकी प्रीतिसे युक्त इन दश पुत्रोंसे सहित राजा वसु अत्यधिक सुखका अनुभव कर रहा था ॥६०॥

अथानन्तर एक दिन बहुतसे छत्रधारी शिष्योंसे घिरा नारद, गुरुपुत्रको गुरुके समान मानता हुआ पर्वतसे मिलनेके लिए आया ॥६१॥ पर्वतने नारदका अभिवादन किया और नारदने पर्वतका प्रत्यभिवादन किया। तदनन्तर गुरुपत्नीको नमस्कारकर नारद गुरुजीकी चर्चा करता करता हुआ बैठ गया ॥६२॥ उस समय पर्वत सब ओरसे छात्रोंसे घिरा वेद वाक्यकी व्याख्या कर रहा था सो नारदके सन्मुख भी उसी तरह गर्वसे युक्त हो व्याख्या करने लगा ॥६३॥ वह कह रहा था कि 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद वाक्यमें जो अज शब्द आया है वह निःसन्देह पशु अर्थका ही वाचक माना गया है ॥६४॥ इसलिए पद वाक्य और पुराणके अर्थके वास्तविक जाननेवाले एवं स्वर्गके इच्छुक जो द्विज हैं उन्हें बकरासे ही यज्ञ करना चाहिए ॥६५॥ युक्तिबल और आगम बलरूपी प्रकाशसे जिसका अज्ञानरूपी अन्धकारका पटल नष्ट हो गया था ऐसे नारदने अज्ञानी पर्वतके उक्त अर्थपर आपत्ति की ॥६६॥ नारदने पर्वतको सम्बोधते हुए कहा कि हे गुरुपुत्र ! तुम इस प्रकारकी निन्दनीय व्याख्या क्यों कर रहे हो ? हे मेरे सहाध्यायी ! यह

---

१. अस्योपरि -म० । २. -रन्वर्थतायुषः म०, क० । ३. बृहद्ध्वजाः म० । ४. युक्तागम- म० । युक्त्यागमबलाल्लोक- ख० ।

एकोपाध्यायशिष्याणां नित्यमव्यभिचारिणाम् । गुरुशुश्रूषताऽत्यागे[1] सम्प्रदायभिदा कुतः ॥६८॥
न स्मरस्यजशब्दस्य यथेहार्थो गुरूदितः । त्रिवर्षा व्रीहयोऽबीजा अजा इति सनातनः ॥६९॥
इत्युक्तोऽपि स दुर्मोचग्राहग्रहगृहीतधीः । सोऽनादृत्य वचस्तस्य प्रतिज्ञामकरोत्पुनः ॥७०॥
किमत्र बहुनोक्तेन शृणु नारद ! वस्तुनि । पराजितोऽस्मि यद्यत्र जिह्वाच्छेदं करोम्यहम् ॥७१॥
नारदेन ततोऽवाचि किं दुःखाग्निशिखाततौ । पतङ्ग इव दुःपक्षः पर्वत ! पतसि स्वयम् ॥७२॥
पर्वतोऽपि ततोऽवोचद् यात[2] किं बहुजल्पितैः । [3]श्वोऽस्तु नौ वसुराजस्य सभायां जल्पविस्तरः ॥७३॥
नष्टस्त्वं दृष्ट[4] इत्युक्त्वा स्वावासं नारदोऽगमत् । पर्वतोऽपि च तां वार्तां मातुरार्तमतिर्जगौ ॥७४॥
सा निशम्य हतास्मीति वदन्ती तान्तमानसा । निनिन्द नन्दनं मिथ्या त्वदुक्तमिति वादिनी ॥७५॥
नारदस्य वचः सत्यं परमार्थनिवेदनात् । वचस्तवान्यथा पुत्र ! विपरीतपरिग्रहात् ॥७६॥
समस्तशास्त्रसन्दर्भगर्भनिर्भेदशुद्धधीः । पिता ते पुत्र ! यत्प्राह तदेवाख्याति नारदः ॥७७॥
एवमुक्त्वा निशान्ते सा निशान्तमगमद्वसोः । आदरेणेक्षिता तेन पृष्टा चागमकारणम् ॥७८॥
निगद्य वसवे सर्वं ययाचे गुरुदक्षिणाम् । हस्तन्यासकृतां पूर्वं स्मरयित्वा गुरोर्गृहे[5] ॥७९॥
जानताऽपि त्वया पुत्र ! तत्त्वाऽतत्त्वमशेषतः । पर्वतस्य वचः स्थाप्यं दूष्यं नारदभाषितम् ॥८०॥
सत्येन श्रावितेनास्या वचनं वसुना ततः । प्रतिपन्नमतः साऽपि कृतार्थेव ययौ गृहम् ॥८१॥

सम्प्रदाय तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ है ? ॥६७॥ जो निरन्तर साथ-ही-साथ रहे हैं तथा जिन्होंने कभी गुरुकी शुश्रूषाका त्याग नहीं किया ऐसे एक ही उपाध्यायके शिष्योंमें सम्प्रदाय भेद कैसे हो सकता है ? ॥६८॥ यहाँ अज शब्दका जैसा अर्थ गुरुजीने बताया था वह क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? गुरुजीने तो कहा था जिसमें अंकुर उत्पन्न होनेकी शक्ति नहीं है ऐसा पुराना धान्य अज कहलाता है यही सनातन अर्थ है ॥६९॥ दुःखसे छूटने योग्य हठ रूपी पिशाचसे जिसकी बुद्धि ग्रस्त थी ऐसे पर्वतने नारदके इस प्रकार कहनेपर भी अपना हठ नहीं छोड़ा प्रत्युत नारदके वचनोंका तिरस्कारकर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि हे नारद ! अधिक कहनेसे क्या ? यदि इस विषयमें मैं पराजित हो जाऊँ तो अपनी जीभ कटा लूँ ॥७०-७१॥ पश्चात् नारदने कहा कि हे पर्वत ! खोटा पक्ष लेकर, खोटे पंखोंसे युक्त पतंगेके समान दुःखरूपी अग्निकी ज्वालाओंमें स्वयं क्यों पड़ रहे हो ? इसके उत्तरमें पर्वतने भी कहा कि जाओ बहुत कहनेसे क्या ? कल हम दोनों-का राजा वसुकी सभामें शास्त्रार्थ हो जावे ॥७२-७३॥ वितण्डावाद बढ़ते देख नारद यह कहकर अपने घर चला गया कि पर्वत ! मै तुम्हें देखने आया था सो देख लिया, तुम भ्रष्ट हो गये। नारदके चले जानेपर पर्वतने भी दुःखी होकर यह वृत्तान्त अपनी मातासे कहा ॥७४॥ पर्वतकी बात सुनकर उसकी माताका हृदय बहुत दुःखी हुआ। 'हाय मैं मरी' यह कहती हुई उसने पर्वत-की निन्दा की, उसके मुखसे बार-बार यही निकल रहा था कि तेरा कहना झूठ है ॥७५॥ हे पुत्र ! परमार्थका प्ररूपक होनेसे नारदका कहना सत्य है और विपरीत अर्थका आश्रय लेनेसे तेरा कहना मिथ्या है ॥७६॥ समस्त शास्त्रोंके पूर्वापर सन्दर्भके ज्ञानसे जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल थी ऐसे तेरे पिताने जो कहा था हे पुत्र ! वही नारद कह रहा है ॥७७॥ इस प्रकार पर्वतसे कहकर वह प्रातःकाल होते ही राजा वसुके घर गई। राजा वसुने उसे बड़े आदरसे देखा और उससे आनेका कारण पूछा ॥७८॥ स्वस्तिमतीने वसुके लिए सब वृत्तान्त सुनाकर पहले पढ़ते समय गुरुगृहमें उसके हाथमें धरोहर रूपी रखी हुई गुरुदक्षिणाका स्मरण दिलाते हुए याचना की कि हे पुत्र ! यद्यपि तू सब तत्त्व और अतत्त्वको जानता है तथापि तुझे पर्वतके ही वचनका समर्थन करना चाहिए और नारदके वचनको दूषित ठहराना चाहिए ॥७९-८०॥ स्वस्तिमतीने

---

१. शुश्रूषतां त्यागे म० । २. यातः म० । ३. सोऽस्तु म०, क०, ङ० । ४. दुष्ट म० । ५. गृहम् ।

आस्थानीसमये तस्थौ दिनादौ वसुरासने । तमिन्द्रमिव देवौघाः क्षत्रियौघाः सिषेविरे ॥८२॥
प्रविष्टौ च नृपास्थानीं विप्रौ पर्वतनारदौ । सर्वशास्त्रविशेषज्ञैः प्राश्निकैः परिवारितौ ॥८३॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राः साश्रमिणोऽविशन् । लौकिकाः सहजं प्रष्टुमविशेषाहते सभाम् ॥८४॥
तत्सामानि[1] जगुः केचिज्जनश्रोत्रसुखान्यलम् । तत्र प्रोच्चारणं स्पष्टं केचिद् विप्राः प्रचक्रिरे ॥८५॥
यजूंषि प्रणवारम्भघोषभाजोऽपरेऽपठन् । पदक्रमजुषो मन्त्रानामनन्ति स्म केचन ॥८६॥
उदात्तस्यानुदात्तस्य स्वरस्य स्वरितस्य च । ह्रस्वदीर्घप्लुतस्थस्य स्वरूपमुदचीचरन् ॥८७॥
द्विजैः [2]सामर्ग्यजुर्वेदमारभ्याध्ययनोद्धुरैः । बधिरीकृतदिक्चक्रैर्निचितं सदसोऽजिरम् ॥८८॥
सिंहासनस्थमाशीर्भिर्दृष्ट्वोपरिचरं वसुम् । पीठमर्दैः सहासीनौ विप्रौ नारदपर्वतौ ॥८९॥
कूर्चप्ररोहिणस्तत्र कमण्डलुबृहत्फलाः । सवल्कलजटाभारास्तस्थुस्तापसपादपाः ॥९०॥
सदःसागरसंक्षोभसेतुबन्धेषु केषुचित् । अपक्षपातसम्बन्धतुलादण्डेषु केषुचित् ॥९१॥
उत्पथोत्थानवादीभस्वंकुशेषु च केषुचित् । निकषोपलकल्पेषु केषुचित्तत्त्वमार्गणे ॥९२॥
पण्डितेषु यथास्थानं निविष्टेषु यथासनम् । भूपं ज्ञानवयोवृद्धाः[3] केचिदेवं व्यजिज्ञपन् ॥९३॥
राजन् ! वस्तुविसंवादादिमौ नारदपर्वतौ । विद्वांसावागतौ पार्श्वं न्यायमार्गविदस्तव ॥९४॥

चूँकि वसुको गुरुदक्षिणाविषयक सत्यका स्मरण कराया था इसलिए उसने उसके वचन स्वीकृत कर लिये और वह भी कृतकृत्यके समान निश्चिन्त हो घर वापिस गई ॥८१॥

तदनन्तर जब प्रातःकालके समय सभाका अवसर आया तब राजा वसु सिंहासनपर आरूढ़ हुआ और जिस प्रकार देवोंके समूह इन्द्रकी सेवा करते हैं उसी प्रकार क्षत्रियोंके समूह उसकी सेवा करने लगे ॥८२॥ उसी समय सर्व शास्त्रोंके विशेषज्ञ प्रश्नकर्ताओंसे घिरे हुए पर्वत और नारदने राजसभामें प्रवेश किया ॥८३॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और आश्रमवासी भी आये तथा अन्य साधारण मनुष्य भी विशेष आमन्त्रण न होनेपर भी सहज स्वभाववश प्रश्न करनेके लिए सभामें आ बैठे ॥८४॥ उस समय राजसभामें कितने ही ब्राह्मण मनुष्योंके कानोंको सुख देनेवाले सामवेद गा रहे थे और कितने ही वेदोंका स्पष्ट एवं मधुर उच्चारण कर रहे थे ॥८५॥ कितने ही ओंकार ध्वनिके साथ यजुर्वेदका पाठ कर रहे थे और कितने ही पद तथा क्रमसे युक्त अनेक मन्त्रोंकी आवृत्ति कर रहे थे ॥८६॥ कितने ही ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेदोंको लिये हुए उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरोंके स्वरूपका उच्चारण कर रहे थे ॥८७॥ जो ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको प्रारम्भकर जोर-जोरसे पाठ कर रहे थे तथा जिन्होंने दिशाओंके समूहको बहिरा कर दिया था ऐसे ब्राह्मणोंसे सभाका आँगन खचा-खच भर गया ॥८८॥ अन्तरीक्ष सिंहासनपर स्थित राजा वसुको आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने-अपने सहायकोंके साथ यथा योग्य स्थानोंपर बैठ गये ॥८९॥ जो डाँढ़ीरूपी अंकुरोंसे सहित थे तथा कमण्डलुरूपी बड़े-बड़े फल धारण कर रहे थे ऐसे वलकल और जटाओंके भारसे युक्त अनेक तापसरूपी वृक्ष वहाँ विद्यमान थे ॥९०॥ उस समय जो पण्डित सभामें यथा स्थान बैठे थे उनमें कितने ही सभारूपी सागरमें क्षोभ उत्पन्न होनेपर उसे रोकनेके लिए सेतुबन्धके समान थे, कितने ही पक्षपात न हो सके इसके लिए तुलादण्डके समान थे, कितने ही कुमार्गमें चलनेवाले वादीरूपी हाथियोंको वश करनेके लिए उत्तम अंकुशोंके समान थे और कितने ही श्रेष्ठतत्त्वकी खोज करनेके लिए कसौटी पत्थरके समान थे। जब सब विद्वान् यथास्थान यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये तब जो ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध थे ऐसे कितने ही लोगोंने राजा वसुसे इस प्रकार निवेदन किया ॥९१-९३॥

हे राजन् ! ये नारद और पर्वत विद्वान् किसी एक वस्तुमें विसंवाद होनेसे आपके पास

---

१. तत्समानि म० । २. सामयजुर्वेद–म० । ३. रूपाः म० ।

वैदिकार्थविचारोऽयं त्वदन्येषामगोचरः । विच्छिन्नसम्प्रदायानामिदानीमिह भूतले ॥९५॥
तदत्र भवतोऽध्यक्षममीषां विदुषां पुरः । कुरुतां निश्चयादेतौ न्याय्यौ जयपराजयौ ॥९६॥
न्यायेनावसिते ह्यत्र वादे वेदानुसारिणाम् । स्यात्प्रवृत्तिरसन्दिग्धा सर्वलोकोपकारिणी ॥९७॥
इत्युर्वीन्द्रः स विज्ञप्तः पूर्वपक्षमदापयत् । पर्वताय सदस्यैस्तैः सगर्वः पक्षमग्रहीत् ॥९८॥
अजैर्यज्ञविधिः कार्यः स्वर्गार्थिभिरिति श्रुतिः । अजाश्चात्र चतुष्पादाः प्रणीताः प्राणिनः स्फुटम् ॥९९॥
न केवलमयं वेदे लोकेऽपि पशुवाचकः । आवृद्धादङ्गनाबालादजशब्दः प्रतीयते ॥१००॥
नरोऽजपोतगन्धोऽयमजायाः क्षीरमित्यपि । नाऽपनेतुमियं शक्या प्रसिद्धिस्त्रिदशैरपि ॥१०१॥
सिद्धशब्दार्थसम्बन्धे नियते तस्य बाधने । व्यवहारविलोपः स्यादन्धघूकमिदं जगत् ॥१०२॥
अबाधितः पुनर्न्याय्ये शाब्दे शब्दः प्रवर्तते । शास्त्रीयो लौकिकश्चात्र व्यवहारः सुगोचरे ॥१०३॥
यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति श्रुतौ । अग्निप्रभृतिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरिग्रहः ॥१०४॥
तथैवात्राजशब्दस्य पश्वर्थः स्फुटः स्थितः । कुत्र यागादिशब्दार्थः पशुघातश्च निश्चितः ॥१०५॥
अतोऽनुष्ठानमास्थेयमजपोतनिपातनम् । अजैर्यष्टव्यमित्यत्र वाक्यैर्निश्छितसंशयैः ॥१०६॥
आशङ्का च न कर्तव्या पशोरिह निपातने । दुःखं स्यादिति मन्त्रेण सुखमृत्योर्न दुःखिता ॥१०७॥
मन्त्राणां वाहने साक्षाद् दीक्षान्तेऽतिसुखासिका । मणिमन्त्रौषधीनां हि प्रभावोऽचिन्त्यतां गतः ॥१०८॥

आये हैं क्योंकि आप न्याय मार्गके वेत्ता हैं ॥९४॥ यह वैदिक अर्थका विचार इस समय पृथिवीतलपर आपके सिवाय अन्य लोगोंका विषय नहीं है क्योंकि उन सबका सम्प्रदाय छिन्न-भिन्न हो चुका है ॥९५॥ इसलिए आपकी अध्यक्षतामें इन सब विद्वानोंके आगे ये दोनों निश्चय कर न्यायपूर्ण जय और पराजयको प्राप्त करें ॥९६॥ न्याय द्वारा इस वादके समाप्त होनेपर वेदानुसारी मनुष्योंकी प्रवृत्ति सन्देह रहित एवं सब लोगोंका उपकार करनेवाली हो जायगी ॥९७॥ इस प्रकार वृद्धजनोंके कहने पर राजा वसुने पर्वतके लिए पूर्व पक्ष दिलवाया अर्थात् पूर्वपक्ष रखनेका उसे अवसर दिया और अपने साथी सदस्योंके कारण गर्वसे भरे पर्वतने पूर्व पक्ष ग्रहण किया ॥९८॥ पूर्व पक्ष रखते हुए उसने कहा कि 'स्वर्गके इच्छुक मनुष्योंको अजों द्वारा यज्ञकी विधि करना चाहिए' यह एक श्रुति है इसमें जो अज शब्द है उसका अर्थ चार पावों वाले जन्तु विशेष—बकरा है ॥९९॥ अज शब्द न केवल वेदमें ही पशु वाचक है किन्तु लोकमें भी स्त्रियों और बालकोंसे लेकर वृद्धों तक पशु वाचक ही प्रसिद्ध है ॥१००॥ यह मनुष्य अजके बालकके समान गन्ध वाला है, और 'यह अजा—बकरीका दूध है' इत्यादि स्थलोंमें अज शब्दकी जिस अर्थमें प्रसिद्धि है वह देवोंके द्वारा भी दूर नहीं की जा सकती ॥१०१॥ सिद्ध शब्द और उसके अर्थका जो सम्बन्ध पहलेसे निश्चित चला आ रहा है यदि उसमें बाधा डाली जावेगी तो व्यवहारका ही लोप हो जावेगा क्योंकि यह जगत् अंध उलूकोंसे सहित है—निर्विचार मनुष्योंसे भरा हुआ है ॥१०२॥ शब्द योग्य अर्थमें अवांछित रूपसे प्रवृत्त होता है और ऐसा होनेपर ही शास्त्रीय अथवा लौकिक व्यवहार चलता है ॥१०३॥ जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्गका इच्छुक मनुष्य अग्निहोत्र यज्ञ करे,' इस श्रुतिमें अग्नि आदि शब्दोंका प्रसिद्ध ही अर्थ लिया जाता है उसी प्रकार 'अजैर्यष्टव्यं स्वर्गकामैः' स्वर्गके इच्छुक मनुष्योंको अजोंसे होम करना चाहिए इस श्रुतिमें भी अजका पशु अर्थ ही स्पष्ट है और यागादि शब्दोंका अर्थ तो पशुघात निश्चित ही है ॥१०४–१०५॥ इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा निःसन्देह, जिसमें अजके बालकका घात होता है ऐसा अनुष्ठान करना चाहिए ॥१०६॥ यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि घात करते समय पशुको दुःख होता होगा क्योंकि मन्त्रके प्रभावसे उसकी सुखसे मृत्यु होती है उसे दुःख तो नाम मात्रका भी नहीं होता ॥१०७॥ दीक्षाके अन्तमें मन्त्रोंका उच्चारण होते ही पशुको सुखमय स्थान साक्षात् दिखाई देने लगता है

निपातनं च कस्यात्र यत्रात्मा सूक्ष्मतां श्रितः । [1]अवध्योऽग्निविषास्त्राद्यैः किं पुनर्मन्त्रवाहनैः ॥१०९॥
सूर्यं चक्षुर्दिशं श्रोत्रं वायुं प्राणानसृक्पयः । गमयन्ति वपुः पृथ्वीं शमितारोऽस्य याज्ञिकाः ॥११०॥
स्वमन्त्रेणेष्टमात्रेण स्वर्लोकं गमितः सुखम् । याजकादिवदाकल्पमनल्पं पशुरश्नुते ॥१११॥
अभिसन्धिकृतो बन्धः स्वर्गाप्त्यै सोऽस्य नेत्यपि । न बलाद्धाव्यमानस्य शिशोर्वृद्धिर्घृतादिभिः ॥११२॥
स्वपक्षमित्युपन्यस्य विरराम स पर्वतः । नारदस्तमपाकर्तुमित्युवाच विचक्षणः ॥११३॥
शृण्वन्तु मद्वचः सन्तः सावधानधियोऽधुना । पर्वतस्य वचः सर्वं शतखण्डं करोम्यहम् ॥११४॥
अजैरित्यादिके वाक्ये यन्मृषा पर्वतोऽब्रवीत् । अजाः पशव इत्येवमस्यैषा स्वमनीषिका ॥११५॥
स्वाभिप्रायवशाद् वेदे न शब्दार्थगतिर्यतः । वेदाध्ययनवत्साप्तादुपदेशमपेक्षते ॥११६॥
गुरुपूर्वक्रमादर्थात् [2]दृश्यः शब्दार्थनिश्चयः । सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥११७॥
अथाध्ययनमन्य[3]त् स्यादन्यस्स्यादर्थवेदनम् । स्थिते साधारणे न्याये कामचारगतिः कुतः ॥११८॥
शब्दस्यार्थं स्वतो वेत्ति प्रज्ञासातिशयोऽपि हि । न शब्दमिति शापोऽयं कुतः कस्यात्र दुस्तरः ॥११९॥

सो ठीक ही है क्योंकि मणि मन्त्र और ओषधियोंका प्रभाव अचिन्त्य होता है ॥१०८॥ जब कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्मताको प्राप्त है तब यहाँ घात किसका होता है ? यह आत्मा तो अग्नि, विष तथा अस्त्र आदिके द्वारा भी घात करने योग्य नहीं है फिर मन्त्र पाठोंके द्वारा तो इसका घात होगा ही किस तरह ? ॥१०९॥ याज्ञिक लोग यज्ञमें पशुका घातकर उसके चक्षुको सूर्यके पास, श्रोत्रको दिशाओंके पास, प्राणोंको वायुके पास, खूनको जलके पास और शरीरको पृथिवीके पास भेज देते हैं। इस तरह याज्ञिक उसे शान्ति ही पहुँचाते हैं न कि कष्ट। मन्त्र द्वारा होम करने मात्रसे ही पशु सीधा स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ यज्ञ करानेवाले आदिके समान वह कल्पकाल तक बहुत भारी सुख भोगता रहता है ॥११०–१११॥ अभिप्राय पूर्वक किया हुआ पुण्य बन्ध ही स्वर्ग प्राप्तिका कारण है और बलपूर्वक होमे गये पशुके वह सम्भव नहीं है इसलिए उसे स्वर्गकी प्राप्ति होना असम्भव है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार बच्चेको उसकी उसकी इच्छाके विरुद्ध जबर्दस्ती दिये हुए घृतादिकसे उसकी वृद्धि देखी जाती उसी प्रकार यज्ञमें जबर्दस्ती होमे जानेवाले पशुके भी स्वर्गकी प्राप्ति देखी जाती है ॥११२॥ इस प्रकार वह पर्वत अपना पूर्व पक्ष स्थापित कर चुप हो रहा तदनन्तर बुद्धिमान नारद उसका निराकरण करनेके लिए इस तरह बोला ॥११३॥

उसने कहा कि हे सज्जनो ! सावधान होकर मेरे वचन सुनिए मैं अब पर्वतके सब वचनोंके सौ टुकड़े करता हूँ ॥११४॥ 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादि वाक्यमें पर्वतने जो कहा है वह झूठ है। क्योंकि अजका अर्थ पशु है यह इसकी स्वयंकी कल्पना है ॥११५॥ वेदमें शब्दार्थकी व्यवस्था अपने अभिप्रायसे नहीं होती किन्तु वह वेदाध्ययनके समान आप्तसे उपदेशकी अपेक्षा रखती है ॥११६॥ कहनेका तात्पर्य यह है कि गुरुओंकी पूर्व परम्परासे शब्दोंके अर्थका निश्चय करना चाहिए। यदि शब्दार्थका निश्चय अन्यथा होता है तो अध्ययन भी अन्यथा हो जायगा ॥११७॥ यदि यह कहा जाय कि अध्ययन दूसरा है और अर्थज्ञान उससे भिन्न हो सकता है तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उभयत्र न्याय समान होने या एकके विषयमें मनमानी कैसे हो सकती है ? भावार्थ—यदि अध्ययन गुरु-परम्पराकी अपेक्षा रखता है तो अर्थज्ञान भी गुरु-परम्पराकी अपेक्षा रक्खेगा यह न्याय सिद्ध बात है ॥११८॥ यदि यह कहा जाय कि प्रज्ञाशाली

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
—भगवद्गीता

२. दृश्यः शब्दार्थनिश्चितिः घ०, म०, ङ० । इष्टः शब्दार्थ -क० । ३. -मन्यः स्यादन्यः म० ।

न चायं सम्प्रदायोऽस्मायेकस्मै गुरुणोदितः । त्रयः शिष्या वयं योग्या वसुनारदपर्वताः ॥१२०॥
समानश्रुतिकाः शब्दाः सन्ति लोकेऽत्र भूरिशः । गवादयः प्रयोगोऽपि तेषां विषयभेदतः ॥१२१॥
पशुरश्मिमृगाशाशावज्रवाजिषु वाग्भुवोः । गोशब्दव्यक्तयो व्यक्ताः प्रयुज्यन्ते पृथक्-पृथक् ॥१२२॥
न हि चित्रगुरित्यत्र[1] रश्मिवस्तुनि शेमुषी । न चाशीतगुरित्यत्र[2] सास्नादिमति वर्तते ॥१२३॥
रूढ्या क्रियावशाद्वाच्ये वाचां वृत्तिरवस्थिता । तामस्थिरोपदेशास्तु विस्मरन्ति गुरूदिताम् ॥१२४॥
तदत्र चोदनावाक्ये रूढिशब्दार्थदूरगः । क्रियाशब्दस्य[3] चाम्नातो न जायन्त इति ह्यजाः ॥१२५॥
ऐश्वर्यं रूढिशब्दस्य विद्वल्लोकशास्त्रयोः । अजगन्धोऽयमित्यादौ प्रयोगो न निषिध्यते ॥१२६॥
तेन पूर्वोक्तदोषोऽपि नैवास्माकं प्रसज्यते । व्यवहारोपयोगित्वाद् वाचां स्वोचितगोचरे ॥१२७॥
सत्यां क्षित्यादिसामग्र्यामप्ररोहादिपर्ययाः । व्रीहयोऽजाः पदार्थोऽयं वाक्यार्थो यजनं तु तैः ॥१२८॥
देवपूजा[4] यजेरर्थस्तैरजैर्यजनं द्विजैः । [5]नैवेद्यादिविधानेन यागः स्वर्गफलप्रदः ॥१२९॥

मनुष्य शब्दका अर्थ तो स्वयं जान लेता है पर शब्दको नहीं जान पाता तो यह दुस्तर शाप यहाँ किसके लिए किससे प्राप्त हुआ था सो बताओ। भावार्थ—यदि बुद्धिमान् मनुष्य अपनी इच्छासे शब्दके अर्थकी कल्पना कर लेता है तो उसे शब्द भी बना लेना चाहिए इसमें द्विविधा की क्या बात है? ॥११९॥ गुरुने यह सम्प्रदाय एक पर्वतके लिए ही बनाया हो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि हम वसु, नारद और पर्वत ये तीन योग्य शिष्य थे। भावार्थ—तीन शिष्योंमेंसे एक शिष्यको गुरु दूसरा अर्थ बतलावें और शेषको दूसरा अर्थ यह सम्भव नहीं दिखता ॥१२०॥ लोकमें गोको आदि लेकर ऐसे बहुत शब्द हैं जिनका समान श्रवण होता है—समान उच्चारण होता है परन्तु विषय भेदसे उनका प्रयोग जुदा-जुदा होता है। जैसे गो शब्द—पशु, किरण, मृग, इन्द्रिय, दिशा, वज्र, घोड़ा, वचन और पृथिवी अर्थमें प्रसिद्ध है परन्तु सब अर्थोंमें उसका पृथक्-पृथक् ही प्रयोग होता है। 'चित्रगु' इस शब्दमें गोका किरण अर्थ कोई नहीं करता और 'अशीतगु' इस शब्दमें गो शब्दका अर्थ सास्नादिमान् पशु कोई नहीं मानता किन्तु प्रकरणके अनुसार 'चित्रगु' शब्दमें गोका अर्थ गाय और 'अशीतगु' शब्दमें किरण ही माना जाता है ॥१२१-१२३॥ शब्दोंके अर्थमें जो प्रवृत्ति है वह या तो रूढ़िसे होती है या क्रियाके आधीन होती है परन्तु जिनके हृदयमें गुरुका उपदेश चिरकाल तक स्थिर नहीं रहता वे गुरु-प्रतिपादित अर्थको भूल जाते हैं ॥१२४॥ इसलिए 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेद-वाक्यमें अज शब्दका अर्थ रूढ़िगत अर्थसे दूर 'न जायन्ते इति अजाः' (जो उत्पन्न न हो सकें वे अज हैं) इस व्युत्पत्तिसे क्रिया सम्मत 'तीन वर्षका धान्य' लिया गया है ॥१२५॥ विद्वान् लोग, लोक और शास्त्र दोनोंमें रूढ़ि शब्दके ऐश्वर्यको जानते हैं अतः 'अजगन्धोऽयं पुरुषः' इत्यादि स्थलोंमें अज शब्दका बकरा अर्थमें प्रयोग निषिद्ध नहीं है ॥१२६॥ पर्वतने जो पहले यह दोष दिया था कि यदि शब्दोंका स्वभावसिद्ध अर्थ न किया जायगा तो व्यवहारका ही लोप हो जायगा उसका हमारे ऊपर प्रसङ्ग ही नहीं आता क्योंकि शब्दोंका अपने-अपने योग्य स्थलोंपर व्यवहारकी सिद्धिके लिए ही उपयोग किया जाता है ॥१२७॥ इसलिए पृथिवी आदि सामग्रीके रहते हुए भी जिसमें अंकुरादि रूप पर्याय प्रकट न हो सके ऐसा तीन वर्षका पुराना धान अज कहलाता है। यह तो अज शब्दका अर्थ है और ऐसे धान्यसे यज्ञ करना चाहिए यह 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका अर्थ है ॥१२८॥ यज धातुका अर्थ देव-पूजा है इसलिए द्विजोंको पूर्वोक्त धानसे ही पूजा करनी चाहिए क्योंकि नैवेद्य आदि-

---

१. चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः=चित्रवर्णगोयुक्तः। २. अशीता उष्णाः गावः किरणा यस्य सोऽशीतगुः=सूर्यः। ३. क्रियाशब्दसमाम्नातो म०। ४. यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु। ५. निवेद्यादि—क०, ङ०।

षट्कर्मणां विधातारं पुराणपुरुषं परम् । त्रातारमिन्द्रमिन्द्रेज्यं वेदे गीतं स्वयम्भुवम् ॥१३०॥
देशकं मुक्तिमार्गस्य शोषकं भववारिधेः । अनन्तज्ञानसौख्यादिमदीशाख्यं[1] महेश्वरम् ॥१३१॥
ब्रह्माणं विष्णुमीशानं सिद्धं बुद्धमनामयम् । आदित्यवर्णं वृषभं[2] पूजयन्ति हितैषिणः ॥१३२॥
ततः स्वर्गसुखं पुंसां ततो मोक्षसुखं ध्रुवम् । ततः कीर्तिस्ततः कान्तिस्ततो दीप्तिस्ततो धृतिः ॥१३३॥
पिष्टेनापि न यष्टव्यं पशुत्वेन विकल्पितात् । संकल्पादशुभात्पापं पुण्यं तु शुभतो यतः ॥१३४॥
यो नामस्थापनाद्रव्यैर्भावेन च विभेदनात् । चतुर्धा हि पशुः प्रोक्तस्तस्य चिन्त्यं न हिंसनम् ॥१३५॥
यदुक्तं मन्त्रतो मृत्योर्न दुःखमिति तन्मृषा । न चेद् दुःखं न मृत्युः स्यात् स्वस्थावस्थस्य पूर्ववत् ॥१३६॥
पादनासाधिरोधेन विना चेन्म्रियतेऽपशुः । मन्त्रेण मरणं तथ्यमसम्भाव्यमिदं[3] पुनः ॥१३७॥
सुखासिकाऽपि नैकान्तान्मृत मन्त्रप्रभावतः । दुःखिताप्यारटज्जन्तोर्ग्रहार्तस्य निरीक्ष्यते ॥१३८॥
सुसूक्ष्मत्वादवध्योऽयमात्मेति यदुदीरितम् । तत्र स्थूलशरीरस्थः स्थूलोऽपि सम्भवेद्यतः ॥१३९॥
[4]प्रदीपवदयं देही देहाधारवशाद् यतः । सूक्ष्मस्थूलतया याति स्वसंहारविसर्पणम् ॥१४०॥
अनीदृशस्तु संसारी शरीरानन्तवेदकः । सूक्ष्म एव कथंकारं सुखदुःखमवाप्नुयात् ॥१४१॥
अतः शरीरबाधायां मन्त्रतन्त्राद्युपयोगतः । बाधनं नियमादस्य देहमात्रस्य देहिनः ॥१४२॥

से की हुई पूजा ही स्वर्ग रूप फलको देनेवाली होती है ॥१२९॥ हिताभिलाषी मनुष्य जिन्होंने युगके आदिमें असि, मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य इन छह कर्मोंकी प्रवृत्ति चलाई थी, जो पुराण पुरुष हैं, उत्कृष्ट हैं, रक्षक हैं, इन्द्र रूप हैं, इन्द्रके द्वारा पूज्य हैं, वेदमें स्वयंभू नामसे प्रसिद्ध हैं, मोक्ष मार्गके उपदेशक हैं, संसार-सागरके शोषक हैं, अनन्त ज्ञान-सुख आदि गुणोंसे युक्त ईश नामसे प्रसिद्ध हैं, महेश्वर हैं, ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं, ईशान हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, अनामय-रोगरहित हैं और सूर्यके समान वर्णवाले हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवकी ही पूजा करते हैं ॥१३०-१३२॥ उसी पूजासे पुरुषोंको स्वर्ग सुख प्राप्त होता है, उसीसे मोक्षका अविनाशी सुख मिलता है, उसीसे कीर्ति, उसीसे कान्ति, उसीसे दीप्ति और उसीसे धृतिकी प्राप्ति होती है ॥१३३॥ साक्षात् पशुकी बात तो दूर रही पशुरूपसे कल्पित चूनके पिण्डसे भी पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि अशुभ संकल्पसे पाप होता है और शुभ संकल्पसे पुण्य होता है ॥१३४॥ जो नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके भेदसे चार प्रकारका पशु कहा गया है उसकी हिंसाका कभी मनसे भी विचार नहीं करना चाहिए ॥१३५॥ यह जो कहा है कि मन्त्र द्वारा होनेवाली मृत्युसे दुःख नहीं होता है वह मिथ्या है क्योंकि यदि दुःख नहीं होता है तो जिस प्रकार पहले स्वस्थ अवस्थामें मृत्यु नहीं हुई थी उसी प्रकार अब भी मृत्यु नहीं होना चाहिए ॥१३६॥ यदि पैर बाँधे बिना और नाक मूँदे बिना अपने आप पशु मर जावे तब तो मन्त्रसे मरना सत्य कहा जाय परन्तु यह असंभव बात है ॥१३७॥ मन्त्रके प्रभावसे मरनेवाले पशुको सुखासिका प्राप्त होती है यह भी एकान्त नहीं है क्योंकि जो पशु मारा जाता है वह ग्रहसे पीड़ितकी तरह जोर-जोरसे चिल्लाता है इसलिए उसका दुःख स्पष्ट दिखाई देता है ॥१३८॥ यह जो कहा है कि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अवध्य है—मारनेमें नहीं आता है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जब आत्मा स्थूल शरीरमें स्थित होता है तब स्थूल भी तो होता है ॥१३९॥ यह आत्मा शरीररूपी आधारके अनुसार दीपकके प्रकाशके समान सूक्ष्म और स्थूलरूप होता हुआ संकोच तथा विस्तार-को प्राप्त होता रहता है ॥१४०॥ यदि अनन्त शरीरोंका अनुभव करनेवाला संसारी जीव इस प्रकार छोटा-बड़ा न माना जावे और एकान्तसे सूक्ष्म ही माना जावे तो वह सुख-दुःखको किस तरह प्राप्त कर सकेगा ? ॥१४१॥ इसलिए यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीव शरीर प्रमाण है और

---

१. महेशाख्यं म० । २. –वर्णवृषभं म० । ३. तत्थ्यादसंभाव्य—म० । ४. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् त० सू० अ० ५ ।

म्रियमाणोऽतिदुःखेन चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः । वियुज्यते स्वयं तेन कोऽन्यस्तेषां वियोजकः ॥१४३॥
[1]प्राणिघातकृतः स्वर्गः कुतः स्याद्याजकादयः । याज्यस्य स्वर्गगामित्वे दृष्टान्तत्वं गता यतः ॥१४४॥
[2]धर्म्यमेव हि शर्माप्त्यै कर्म याज्यस्य जायते । नह्यपथ्यं शिशोर्दत्तं मात्राऽपि स्यात्सुखाप्तये ॥१४५॥
परिषत्प्रावृषि स्फूर्जद्वचोवज्रमुखैरिति । भित्त्वा पर्वतदुःपक्षं स्थिते नारदनीरदे ॥१४६॥
साधुकारो मुहुर्दत्तस्तस्मै धर्मपरीक्षकैः । सलौकिकैः शिरःकम्पै[3]स्साङ्गुलिस्फोटनिस्वनैः ॥१४७॥
राजोपरिचरः पृष्टस्ततः शिष्टैर्बहुश्रुतैः । राजन् यथाश्रुतं ब्रूहि त्वं सत्यं गुरुभाषितम् ॥१४८॥
मूढसत्यविमूढेन वसुना दृढबुद्धिना । स्मरताऽपि गुरोर्वाक्यमिति वाक्यमुदीरितम् ॥१४९॥
युक्तियुक्तमुपन्यस्तं नारदेन सभाजनाः । पर्वतेन यदत्रोक्तं तदुपाध्यायभाषितम् ॥१५०॥

मन्त्र-तन्त्र तथा अस्त्र आदिसे शरीरका घात होनेपर इसे नियमसे दुःख होता है ॥१४२॥ जब यह जीव तीव्र दुःखसे मरने लगता है तब चक्षु आदि इन्द्रियोंसे स्वयं ही वियुक्त हो जाता है इसलिए उनका वियोग करानेवाला और दूसरा कौन है ? । भावार्थ—जब जीव स्वयं ही चक्षु आदि इन्द्रियोंसे वियुक्त होता है तब यह कहना कि 'याजक लोग उनके चक्षु आदिको सूर्य आदिके पास भेज देते हैं' मिथ्या है ॥१४३॥ प्राणियोंका घात करनेवालेको स्वर्ग कैसे हो सकता है ? जिससे कि याजक आदिको याज्य (पशु आदिके) स्वर्ग जानेमें दृष्टान्त माना जा सके । भावार्थ—पर्वतने कहा था कि मन्त्र द्वारा होम करते ही पशु स्वर्ग भेज दिया जाता है और वहाँ वह याजकादिके समान कल्प काल तक अत्यधिक सुख भोगता रहता है सो प्राणियोंका घात करनेवाले याजक आदिको स्वर्ग कैसे मिल सकता है ? उन्हें तो इस पापके कारण नरक मिलना चाहिए अतः जब याजक आदि स्वर्ग नहीं जाते तब उन्हें पशुके स्वर्ग जानेमें दृष्टान्त कैसे बनाया जा सकता है ?॥१४४॥ धर्म सहित कार्य ही पशुको सुख प्राप्तिमें सहायक हो सकता है अधर्म सहित कार्य नहीं क्योंकि बच्चेके लिए माताके द्वारा दिया हुआ अपथ्य पदार्थ सुख प्राप्तिका कारण नहीं होता । भावार्थ—पर्वतने कहा था कि जिस प्रकार न चाहनेपर भी बच्चेके लिए घी आदि दिया जाता है तो वह उसकी वृद्धिका कारण होता है, उसी प्रकार पशुके न चाहनेपर भी उसे यज्ञमें होमा जाता है तो वह उसके लिए स्वर्गप्राप्तिका कारण होता है'''। पर्वतका यह कहना ठीक नहीं क्योंकि धर्मयुक्त कार्य ही पशुके लिए सुखप्राप्तिमें सहायक हो सकता है अधर्मयुक्त नहीं। जिस प्रकार माताके द्वारा दिये हुए घृत, दुग्ध आदि हितकारी पदार्थ ही बच्चेके लिए सुखप्राप्तिमें सहायक होते हैं विषादिक अपथ्य पदार्थ नहीं उसी प्रकार पशुको जबर्दस्ती होम देने मात्रसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु उसके धर्मयुक्त कार्यसे ही हो सकती है ॥१४५॥

इस प्रकार सभारूपी वर्षाकालमें अपने तीक्ष्ण वचन रूपी वज्रके अग्रभागसे पर्वतके मिथ्या पक्षरूपी पर्वत-पहाड़के भद्दे किनारेको तोड़कर जब नारदरूपी मेघ चुप होरहा तब सभामें बैठे हुए धर्मके परीक्षक लोगोंने एवं साधारण मनुष्योंने शिर हिला-हिलाकर तथा अपनी-अपनी अँगुलियाँ चटकाकर नारदके लिए बार-बार धन्यवाद दिया ॥१४६–१४७॥

तदनन्तर अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता शिष्टजनोंने अन्तरिक्षचारी राजा वसुसे पूछा कि हे राजन् ! आपने गुरुके द्वारा कहा हुआ जो सत्य अर्थ सुना हो वह कहिए ॥१४८॥ यद्यपि राजा वसु दृढ़-बुद्धि था और गुरुके वचनोंका उसे अच्छी तरह स्मरण था तथापि मोह वश सत्यके विषयमें अविवेकी हो वह निम्न प्रकार वचन कहने लगा ॥१४९॥ कि हे सभाजनो ! यद्यपि नारदने युक्ति-

---

१. प्राणिघातं करोतीति प्राणिघातकृत् तस्य । २. धर्ममेव म० । ३. शिरःकंपं म० ।

वाङ्मात्रेण ततो भूमौ निमग्नः स्फटिकासनः । वसुः पपात पाताले पातकात् पतनं ध्रुवम्[1] ॥१५१॥
पातालस्थितकायोऽसौ सप्तमीं पृथ्वीं गतः । नरके नारको जातो महारौरवनामनि ॥१५२॥
हिंसानन्दमृषानन्दरौद्रध्यानाविलो वसुः । जगाम नरकं रौद्रं रौद्रध्यानं हि दुःखदम् ॥१५३॥
प्रत्यक्षं सर्वलोकस्य पाताले पतिते वसौ । तदाकुलः समुत्तस्थौ हा हा धिग्धिगिति ध्वनिः ॥१५४॥
[2]लब्धासत्यफलं सद्यो निनिन्दुर्नृपतिं जनाः । पर्वतं च निराचक्रुः खलीकृत्य खलं पुरात् ॥१५५॥
तत्त्ववादिनमक्षुद्रं नारदं जितवादिनम् । कृत्वा ब्रह्मरथारूढं पूजयित्वा जना ययुः ॥१५६॥
पर्वतोऽपि [3]खलीकारं प्राप्य देशान् परिभ्रमन् । दुष्टं द्विष्टं निरैक्षिष्ट महाकाल[4]महासुरम् ॥१५७॥
ततस्तस्मै पराभूतिं पराभूतिजुषे पुरा । निवेद्य तेन संयुक्तः कृत्वा हिंसागमं कुधीः ॥१५८॥
लोके प्रतारको भूत्वा हिंसायज्ञं प्रदर्शयन्[5] । अरञ्जयज्जनं मूढं प्राणिहिंसनतत्परम् ॥१५९॥
मृत्वा पापोपदेशेन पापशापवशान्मृतः । सेवामिव वसोः कुर्वन् पर्वतो नरकेऽपतत् ॥१६०॥
स्थापिता वसुराज्येऽष्टौ ज्येष्ठानुक्रमशः क्रमात् । स्वल्पैरेव दिनैर्मृत्युं सूनवोऽपि वसोर्ययुः १६१॥
ततो मृत्युभयात्त्रस्तः सुवसुः प्रपलायितः । गत्वा नागपुरेऽतिष्ठन्मथुरायां बृहद्ध्वजः ॥१६२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

कष्टं ख्यातिमवाप्य सत्यजनितां पापादधोऽगाद्वसुः
पापं पर्वतकोऽभिमानवशगस्तस्यैव पश्चाद् ययौ ।

युक्त कहा है तथापि पर्वतने जो कहा है वह उपाध्यायके द्वारा कहा हुआ कहा है ॥१५०॥ इतना कहते ही वसुका स्फटिकमणिमय आसन पृथिवीमें धँस गया और वह पातालमें जा गिरा सो ठीक ही है क्योंकि पापसे पतन होता ही है ॥१५१॥ जिसका शरीर पातालमें स्थित था ऐसा वसु मरकर सातवीं पृथिवी गया और वहाँ महारौरव नामक नरकमें नारकी हुआ ॥१५२॥ हिंसानन्द और मृषानन्द रौद्र ध्यानसे कलुषित हो वसु भयंकर नरकमें गया सो ठीक ही है क्योंकि रौद्रध्यान दुःखदायक होता ही है ॥१५३॥ सब लोगोंके समक्ष जब वसु पातालमें चला गया तब सब ओर आकुलतासे भरा हा-हा धिक्-धिक् शब्द गूँजने लगा ॥१५४॥ जिसे तत्काल ही असत्य बोलनेका फल मिल गया था ऐसे राजा वसुकी सब लोगोंने निन्दा की और दुष्ट पर्वतका तिरस्कार कर उसे नगरसे बाहर निकाल दिया ॥१५५॥ तत्त्ववादी, गम्भीर एवं वादियोंको परास्त करनेवाले नारदको लोगोंने ब्रह्म रथपर सवार किया तथा उसका सम्मान कर सब यथा स्थान चले गये ॥१५६॥ इधर तिरस्कार पाकर पर्वत भी अनेक देशोंमें परिभ्रमण करता रहा अन्तमें उसने द्वेष-पूर्ण दुष्ट महाकाल नामक असुरको देखा ॥१५७॥ पूर्व भवमें जिसका तिरस्कार हुआ था ऐसे महाकाल असुरके लिए अपने पराभवका समाचार सुनाकर पर्वत उसके साथ मिल गया और दुर्बुद्धिके कारण हिंसापूर्ण शास्त्रकी रचनाकर, लोकमें ठगिया बन हिंसापूर्ण यज्ञका प्रदर्शन करता हुआ प्राणिहिंसामें तत्पर मूर्खजनोंको प्रसन्न करने लगा ॥१५८-१५९॥ अन्तमें पापोपदेशके कारण पापरूपी शापके वशीभूत होनेसे पर्वत मरा और मरकर वसुकी सेवा करनेके लिए ही मानो नरक गया ॥१६०॥ मन्त्रियोंने वसुके आठ पुत्रोंको क्रमसे एक दूसरेके बाद उसकी गद्दीपर बैठाया परन्तु वे भी थोड़े ही दिनोंमें मृत्युको प्राप्त हो गये ॥१६१॥ तदनन्तर जो दो पुत्र शेष बचे उनमें मृत्युके भयसे भयभीत हो सुवसु तो भागकर नागपुरमें रहने लगा और बृहद्ध्वज मथुरामें जा बसा ॥१६२॥

बड़े खेदकी बात है कि एक ओर तो वसु सत्य जनित प्रसिद्धिको पाकर अन्तमें पापके कारण नरक गया और अभिमानके वशीभूत हुआ पर्वत भी उसके पीछे पापपूर्ण नरकको प्राप्त

---

१. खलु म० । २. लब्ध्वा म० । ३. तिरस्कारं । ४. महाकाय -म० । ५. प्रदर्शयत् म० ।

सम्यग्दृष्टिदिवाकराख्यखचरं लब्ध्वा सखायं पुनः
क्षिप्त्वा पर्वतदुर्मतं कृतितया स्वर्गं गतो नारदः ॥१६३॥
धर्मः प्राणिदया दयाऽपि सततं हिंसाव्युदासो मनो-
वाक्कायैर्विरतिर्वधात्प्रणिहितैः प्राणात्ययेऽप्यात्मनः।
धत्तेऽसौ बुधमादरेण चरितः स्वर्गापवर्गार्गलां
भित्त्वा मोहमयीं सुखेऽतिविपुले धर्मो जिनव्याहृतः ॥१६४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ वसूपाख्याने नारदपर्वतविवादवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः।

हुआ तथा दूसरी ओर सम्यग्दृष्टि दिवाकर नामक विद्याधर मित्रको पाकर एवं पर्वतके मिथ्या मतका खण्डनकर नारद कृत-कृत्य होता हुआ स्वर्ग गया ॥१६३॥ जीवोंपर दया करना धर्म है, निरन्तर हिंसाका त्याग करना दया है और अपने प्राण जानेपर भी उस ओर लगे हुए मन, वचन, कायके द्वारा वधसे दूर रहना हिंसा त्याग है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने हिंसा त्यागको ही धर्म कहा है। आदरपूर्वक आचरण किया हुआ यह धर्म, स्वर्ग और मोक्षकी मोहरूपी अर्गलाको भेदकर विद्वज्जनोंको अतिशय विस्तृत सुखमें पहुँचा देता है ॥१६४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराण के संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें राजा वसुके चरितमें नारद और पर्वतके विवादका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः

अथ योऽसौ वसोः सूनुर्मथुरायां बृहद्ध्वजः । सुबाहुरभवत्तस्मात्तनयो विनयोद्यतः ॥१॥
लक्ष्मीं स तत्र निक्षिप्य तपोलक्ष्मीमुपाश्रितः । सुबाहुर्दीर्घबाहौ च वज्रबाहौ नृपश्च सः ॥२॥
सोऽपि लब्धाभिमानेऽसौ भानौ सोऽपि यवौ[1] सुते । सुभानौ भयने सोऽपि भीमनामनि स प्रभुः ॥३॥
एवमाद्यास्तथाऽन्येऽपि शतशोऽथ सहस्रशः । मुनिसुव्रतनाथस्य तीर्थेऽतीयुः क्षितीश्वराः ॥४॥
आयुर्वर्षसहस्राणि यस्य पञ्चदशाऽगमत् । नमेर्वहति तस्येह पञ्चलक्षाब्दके पथि ॥५॥
उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले । यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपविभाकरः[2] ॥६॥
सुतो नरपतिस्तस्मादुदभूद् भूवधूपतिः । यदुस्तस्मिन् भुवं न्यस्य तपसा त्रिदिवं गतः ॥७॥
शूरश्चापि सुवीरश्च शूरौ वीरौ नरेश्वरौ । स तौ नरपती राज्ये स्थापयित्वा तपोऽभजत् ॥८॥
शूरः सुवीरमास्थाप्य मथुरायां स्वयं कृती । स चकार कुशद्येषु पुरं शौर्यपुरं पुरम् ॥९॥
शूराश्चान्धकवृष्ण्याद्याः शूरादुदभवन् सुताः । वीरा भोजक[3]वृष्ण्याद्याः सुवीरान्मथुरेश्वरात् ॥१०॥
ज्येष्ठपुत्रे विनिक्षिप्तक्षितिभारौ यथायथम् । सिद्धौ शूरसुवीरौ तौ सुप्रतिष्ठेन दीक्षितौ ॥११॥
आसीदन्धकवृष्णेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा । पुत्रास्तस्या दशोत्पन्नास्त्रिदशाभा दिवश्च्युताः ॥१२॥
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथा स्तिमितसागरः । हिमवान् विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ ॥१३॥

अथानन्तर—राजा वसुका जो बृहद्ध्वज नामका पुत्र मथुरामें रहने लगा था उसके सुबाहु नामका विनयवान् पुत्र हुआ। राजा बृहद्ध्वज सुबाहुके लिए राज्यलक्ष्मी सौंप आप तपरूपी लक्ष्मीको प्राप्त हो गया। यथाक्रमसे सुबाहुके दीर्घबाहु, दीर्घबाहुके वज्रबाहु, वज्रबाहुके लब्धाभिमान, लब्धाभिमानके भानु, भानुके यवु, यवुके सुभानु और सुभानुके भीम पुत्र हुआ। इस प्रकार इन्हें आदि लेकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें सैकड़ों हजारों राजा उत्पन्न हुए और सबने अपने-अपने पुत्रोंपर राज्य-भार सौंपकर तप धारण किया ॥१–४॥ भगवान् मुनिसुव्रतके बाद नमिनाथ हुए। इनकी आयु पन्द्रह हजार वर्षकी थी तथा इनका तीर्थ पाँच लाख वर्ष तक प्रचलित रहा। इन्हींके तीर्थमें हरिवंशरूपी उदयाचलपर सूर्यके समान यदु नामका राजा हुआ। यही यदु राजा, यादवोंकी उत्पत्तिका कारण था तथा अपने प्रतापसे समस्त पृथिवीपर फैला हुआ था ॥५–६॥ राजा यदुके नरपति नामका पुत्र हुआ। उसपर पृथिवीका भार सौंप राजा यदु तप-कर स्वर्ग गया ॥७॥ राजा नरपतिके शूर और वीर नामक दो पुत्र हुए सो नरपति उन्हें राज्य-सिंहासनपर बैठाकर तप करने लगा ॥८॥ अत्यन्त कुशल शूरने छोटे भाई सुवीरको मथुराके राज्यपर अधिष्ठित किया और स्वयं कुशद्य देशमें एक शौर्यपुर नामका नगर बसाया ॥९॥ शूरसे अन्धकवृष्णिको आदि लेकर अनेक शूर वीर उत्पन्न हुए, और मथुराके स्वामी सुवीरसे भोजक-वृष्णिको आदि लेकर अनेक वीर पुत्र उत्पन्न हुए ॥१०॥ यथायोग्य अपने-अपने बड़े पुत्रोंपर पृथिवीका भार सौंपकर कृतकृत्यताको प्राप्त हुए शूर और सुवीर दोनों ही सुप्रतिष्ठ मुनिराजके पास दीक्षित हो गये ॥११॥ अन्धकवृष्णिकी सुभद्रा नामक उत्तम स्त्री थी उससे उनके दश पुत्र हुए जो देवोंके समान कान्तिवाले थे तथा स्वर्गसे च्युत होकर आये थे ॥१२॥ उनके नाम इस प्रकार थे—१ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान्, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण

---

१. यवुनाम्निपुत्रे । २. भूपतिभास्करः (क० टि०) । ३. भोजनकवृष्ण्याद्याः म० ।

अभिचन्द्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश । [1]दशार्हाः सुमहाभागाः सर्वेऽप्यन्वर्थनामकाः ॥१४॥
कुन्ती मद्री च कन्ये द्वे मान्ये स्त्रीगुणभूषणे । लक्ष्मीसरस्वतीतुल्ये भगिन्यौ वृष्णिजन्मनाम् ॥१५॥
राज्ञो भोजकवृष्णेर्या पत्नी पद्मावती सुतान् । उग्रसेनमहासेनदेवसेनानसूत सा ॥१६॥
सुवसोरप्यभवत्सूनुः कुञ्जरावर्तवर्तिनः । बृहद्रथ इति ख्यातो मागधेशपुरेऽवसत् ॥१७॥
तस्माद्दृढरथो जातस्ततो [2]दृढरथोऽग्रजः । तस्मान्नरवरो जज्ञे ततो दृढरथस्ततः ॥१८॥
जातः सुखरथस्तस्माद्दीपनः कुलदीपनः । सूनुः सागरसेनोऽस्मात्सुमित्रो वप्रथुस्ततः ॥१९॥
विन्दुसारः सुतस्तस्माद्देवगर्भस्तदर्भकः । ततः शतधनुर्वीरो धनुर्धरपुरःसरः ॥२०॥
क्रमात् शतसहस्रेषु व्यतिक्रान्तेषु राजसु । जातो निहतशत्रुः स सुतः शतपतिर्नृपः ॥२१॥
जातो बृहद्रथो राजा ततो राजगृहाधिपः । तस्य सूनुर्जरासन्धो वशीभूतवसुन्धरः ॥२२॥
स रावणसमो भूत्या त्रिखण्डभरताधिपः । नवमः प्रतिशत्रूणां सुरश्रीसदृशौजसाम् ॥२३॥
मध्ये कालिन्दसेनाख्या महिषी महिषीगुणा । तनयाः [3]सनयास्तस्य ते कालयवनादयः ॥२४॥
अपराजित इत्याद्या भ्रातरश्चक्रवर्तिनः । हरिवंशमहावृक्षशाखायाः फलितात्मनः ॥२५॥
एकस्या एकवीरोऽयं धारको धरणीपतिः । बहुविद्याधरेन्द्राणां दक्षिणश्रेण्युपाश्रिताम् ॥२६॥
संहतिं नृपसिंहोऽसौ शास्ति राजगृहे स्थितः । उत्तरापथभूपालाः दक्षिणापथभूभृतः[4] ॥२७॥
पूर्वापरसमुद्रान्ता मध्यदेशाश्च तद्वशाः । भूचरैः खेचरैः सर्वैः शेखरीकृतशासनः ॥२८॥

८ पूरण ९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव । ये सभी पुत्र योग्य दशाके धारक, महाभाग्यशाली और सार्थक नामोंसे युक्त थे ॥१३–१४॥ उक्त पुत्रोंके सिवाय कुन्ती और मद्री नामकी दो कन्याएँ भी थीं जो अतिशय मान्य थीं, स्त्रियोंके गुणरूपी आभूषणोंसे सहित थीं, लक्ष्मी और सरस्वतीके समान जान पड़ती थीं और समुद्रविजयादि दश भाइयोंकी बहिनें थीं ॥१५॥

राजा भोजकवृष्णिकी जो पद्मावती नामकी पत्नी थी उसने उग्रसेन, महासेन तथा देवसेन नामक तीन पुत्र उत्पन्न किये थे ॥१६॥ राजा वसुका जो सुवसु नामका पुत्र, कुञ्जरावर्तपुर (नागपुर) में रहने लगा था उसके बृहद्रथ नामका पुत्र हुआ और वह मागधेशपुरमें रहने लगा ॥१७॥ बृहद्रथके दृढरथ नामका पुत्र हुआ । दृढरथके नरवर, नरवरके दृढरथ, दृढरथके सुखरथ, सुखरथके कुलको दीप्त करनेवाला दीपन, दीपनके सागरसेन, सागरसेनके सुमित्र, सुमित्रके वप्रथु, वप्रथुके विन्दुसार, विन्दुसारके देवगर्भ और देवगर्भके शतधनु नामका वीर पुत्र हुआ । यह शतधनु, धनुर्धारियोंमें सबसे श्रेष्ठ था ॥१८–२०॥ तदनन्तर क्रमसे लाखों राजाओंके व्यतीत हो जानेपर उसी वंशमें निहतशत्रु नामका राजा हुआ । उसके शतपति और शतपतिके बृहद्रथ नामका पुत्र हुआ । यह राजगृह नगरका स्वामी था । बृहद्रथके पृथिवीको वश करनेवाला जरासन्ध नामका पुत्र हुआ ॥२१–२२॥ वह विभूतिमें रावणके समान था, तीन खण्ड भरतका स्वामी था और देवोंके समान प्रतापी प्रति नारायणोंमें नौवाँ नारायण था ॥२३॥ अनेक स्त्रियोंके बीच उसकी कालिन्दसेना नामकी पट्टरानी थी जो पट्टरानियोंके समस्त गुणोंसे सहित थी । राजा जरासन्धके कालयवन आदि अनेक नीतिज्ञ पुत्र थे ॥२४॥ चक्रवर्ती जरासन्धके अपराजित आदि अनेक भाई थे जो हरिवंशरूपी महावृक्षकी शाखापर लगे हुए फलोंके समान जान पड़ते थे ॥२५॥ राजा जरासन्ध अपनी अद्वितीय माताका अद्वितीय वीर पुत्र था । वह राजसिंह, राजगृह नगरमें स्थिर रहकर ही दक्षिण श्रेणीमें रहनेवाले समस्त विद्याधर राजाओंके समूहपर शासन करता था । उत्तरापथ और दक्षिणापथके समस्त राजा, पूर्व पश्चिम समुद्रोंके तट तथा मध्यके समस्त देश उसके वशमें थे । समस्त भूमिगोचरी और समस्त विद्याधर उसकी आज्ञाको

१. दशया अर्हाः योग्याः पूज्याश्च । २. दृढरथोऽग्रजः म० । ३. नयेन सहिताः सनयाः । ४. भूभृताम् म०।

चक्रवर्तिश्रियो भर्ता बिभर्तीन्द्रस्य विभ्रमम् । जातु शौर्यपुरोद्याने गन्धमादननामनि ॥२९॥
रात्रौ प्रतिमया तस्थौ सुप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः । पूर्ववैरानुबन्धेन तस्य चक्रे यक्षः सुदर्शनः ॥३०॥
अग्निपातं महावातं मेघवृष्ट्यादिदुःसहम् । उपसर्गं स जित्वाऽऽप केवलं घातिघातकृत्[1] ॥३१॥
तद्वन्दनार्थमिन्द्रौघाः सौधर्माद्याश्चतुर्विधैः । देवैः सह समागत्य तेऽर्चयित्वा ववन्दिरे ॥३२॥
वृष्णिरप्यागतो भक्त्या पुत्रदार[2]बलान्वितः । सम्पूज्यानम्य सौम्यं तं निजभूमावुपाविशत् ॥३३॥
सावधाने स्थिते धर्मदत्तकर्णे कृताञ्जलौ । जगज्जने जगादेत्थं सुप्रतिष्ठमुनीश्वरः ॥३४॥
धर्मात्त्रिवर्गनिष्पत्तिस्त्रिषु लोकेषु भाषिता । ततस्तामिच्छता कार्यः सततं धर्मसंग्रहः ॥३५॥
धर्मो धामनि सन्धत्ते शर्माधारे शरीरिणम्[3] । निर्मितो वाङ्मनःकायकर्मभिः शुभवृत्तिभिः ॥३६॥
धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमहिंसासंयमस्तपः । तस्य लक्षणमुद्दिष्टं सद्दृष्टिज्ञानकल्पितम् ॥३७॥
धर्मो जगति सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य इहोत्तमः । कामधेनुः स धेनूनामप्यनूनसुखाकरः ॥३८॥
धर्म एव परं लोके शरणं शरणार्थिनाम् । मृत्युजन्मजरारोगशोकदुःखार्कतापिनाम् ॥३९॥
विश्वाभ्युदयसौख्यानां मनुजामरवर्तिनाम् । धर्म एव मतो हेतुर्निःश्रेयससुखस्य च ॥४०॥
नमिना भाषितो धर्मः समन्वन्तरवर्तिनाम्[4] । एकविंशेन नाथेन कर्त्रा तीर्थस्य साम्प्रतम् ॥४१॥
पञ्चकल्याणपूजानां स्वर्गावतरणादिषु । भाजनं यो बभूवात्र तेन धर्मोऽयमीरितः ॥४२॥
महाव्रतानि साधूनामहिंसा सत्यभाषणम् । अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च निर्मूर्च्छा[5] चेति पञ्चधा ॥४३॥

शेखरके समान शिरपर धारण करते थे ॥२६–२८॥ वह चक्रवर्तीकी लक्ष्मीका स्वामी था तथा इन्द्रकी शोभाको धारण करता था। कदाचित् शौर्यपुरके उद्यानमें गन्धमादन नामक पर्वतपर रात्रिके समय सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमा योग लेकर विराजमान थे। पूर्व वैरके कारण सुदर्शन नामक यक्षने उन मुनिराजपर अग्निवर्षा, प्रचण्ड वायु तथा मेघ वृष्टि आदि अनेक कठिन उपसर्ग किये परन्तु उन सबको जीतकर घातिया कर्मोंका क्षय करनेवाले उक्त मुनिराजने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥२९–३१॥ उनकी वन्दनाके लिए सौधर्म आदि इन्द्रोंके समूह, चारों निकाय-के देवोंके साथ वहाँ आये और सबने भक्तिपूर्वक पूजाकर केवली भगवान्को नमस्कार किया ॥३२॥ शौर्यपुरका राजा अन्धकवृष्णि भी अपने पुत्रों-स्त्रियों तथा सेनाओंके साथ आया और भक्तिपूर्वक सुप्रतिष्ठ केवलीकी पूजा-वन्दनाकर अपने स्थानपर बैठ गया ॥३३॥ जब जगत्के जीव धर्मोपदेश सुननेके लिए कान देकर तथा हाथ जोड़कर सावधानीके साथ बैठ गये तब सुप्रतिष्ठ मुनिराजने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया ॥३४॥

उन्होंने कहा कि तीनों लोकोंमें त्रिवर्गकी प्राप्ति धर्मसे ही कही गयी है इसलिए उसकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा धर्मका संग्रह करना चाहिए ॥३५॥ शुभ वृत्तिसे युक्त मन, वचन, कायके द्वारा किया हुआ धर्म, प्राणीको सुखके आधारभूत स्थान—स्वर्ग अथवा मोक्षमें पहुँचा देता है ॥३६॥ धर्म उत्कृष्ट मङ्गल स्वरूप है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे सहित अहिंसा, संयम और तप उस धर्मके लक्षण बतलाये गये हैं ॥३७॥ इस संसारमें धर्म सब पदार्थोंसे उत्तम है, यह धेनुओंमें कामधेनु है तथा उत्कृष्ट सुखकी खान है ॥३८॥ जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदिसे उत्पन्न दुःखरूपी सूर्यसे संतप्त शरणार्थी जनोंके लिए लोकमें धर्म ही उत्तम शरण है ॥३९॥ मनुष्यों और देवोंमें पाये जानेवाले समस्त अभ्युदय सम्बन्धी सुख और मोक्ष सम्बन्धी सुखका कारण धर्म ही माना गया है ॥४०॥ जो स्वर्गावतरणादिके समय पञ्चकल्याणक पूजाओंके पात्र थे ऐसे इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान् नमिनाथने इस युगमें अपने समयवर्ती जीवोंके लिए जो धर्म कहा था वह इस प्रकार है ॥४१–४२॥ उन्होंने मुनियोंके लिए १ अहिंसा, २ सत्य भाषण,

१. घातिनां घातं करोतीति घातिघातकृत्। २. पुत्रदारानबलान्वितः म०। ३. शरीरिणाम् म०। ४. –वर्तिना म०। ५. अपरिग्रहः।

गुप्तिश्च त्रिविधा प्रोक्ता पञ्चधा समितिस्त्वियम् । सर्वसावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानं मतं सतः ॥४४॥
पञ्चधाऽणुव्रतं प्रोक्तं त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं धर्मोऽयं गृहिणां स्मृतः ॥४५॥
हिंसादेर्देशतो मुक्तिरणुव्रतमुदीरितम् । दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिश्च गुणव्रतम् ॥४६॥
सामायिकं त्रिसन्ध्यं तु प्रोषधातिथिपूजनम् । आयुरन्ते च सल्लेखः शिक्षाव्रतमितीरितम् ॥४७॥
मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरिवृक्षफलोज्झनम् । वेश्यावधूरतित्याग इत्यादिर्नियमो मतः ॥४८॥
इदमेवेति तत्त्वार्थश्रद्धानं ज्ञानदर्शनम् । शङ्काऽऽकाङ्क्षाजुगुप्सान्यमतशंसास्तवोज्झनम् ॥४९॥
तथोपगूहनं मार्गभ्रंशिनां स्थितियोजनम् । हेतवो दृष्टिसंशुद्धेर्वात्सल्यं च प्रभावना ॥५०॥
साक्षादभ्युदयोपायः पारम्पर्येण मुक्तये । गृहिधर्मोऽत्र मौन[1]स्तु साक्षान्मोक्षाय कल्पते ॥५१॥
स धर्मो मानुषे देहे प्राप्यते नान्यजन्मनि । मानुषस्तु भवो दुःखाल्लभ्यते भवसङ्कटे ॥५२॥
स्थावरत्रसकायेषु चतुर्गतिषु देहिनः । कर्मोदयवशात्क्लेशानश्नन्तः पर्यटन्त्यमी ॥५३॥
पृथिव्यप्तेजसां काये मरुतां च वनस्पतेः । स्पर्शनैकेन्द्रियो जीवो दीर्घकालमटाट्यते ॥५४॥
[2]सन्ति चानन्तभेदास्ते जीवाः कर्मकलङ्किताः । ये त्रसत्वमनापन्नाः कुनिगोदनिवासिनः ॥५५॥
कुयोन्यशीतिलक्षासु चतुरभ्यधिकास्वमी । अनेककुलकोटीषु बम्भ्रम्यन्ते तनूभृतः ॥५६॥

---

३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत, १ मनोगुप्ति, २ वचनगुप्ति और ३ कायगुप्ति ये तीन गुप्तियाँ, १ ईर्या, २ भाषा, ३ एषणा, ४ आदान निक्षेपण और ५ प्रतिष्ठापन ये पाँच समितियाँ और विद्यमान समस्त सावद्य योगका त्याग—यह धर्म बतलाया है ॥४३-४४॥ तथा गृहस्थोंके लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत यह बारह प्रकारका धर्म कहा है ॥४५॥ हिंसादि पापोंका एक देश छोड़ना अणुव्रत कहा गया है, दिशा देश और अनर्थदण्डोंसे विरत होनेको गुणव्रत कहते हैं और तीनों संध्याओंमें सामायिक करना, प्रोषधोपवास करना, अतिथिपूजन करना और आयुके अन्तमें सल्लेखना धारण करना इसे शिक्षाव्रत कहते हैं ॥४६-४७॥ मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग, द्यूत-त्याग, क्षीरिफल-त्याग, वेश्या-त्याग तथा अन्यवधू-त्याग आदि नियम कहलाते हैं ॥४८॥ 'तत्त्व यही है' इस प्रकार ज्ञान और श्रद्धान होना सो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है । शङ्का, आकांक्षा, जुगुप्सा तथा अन्य मतकी प्रशंसा और स्तुतिका छोड़ना, उपगूहन, मार्गसे भ्रष्ट होनेवालोंका स्थितीकरण करना, वात्सल्य और प्रभावना ये सब सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेके हेतु हैं ॥४९-५०॥ गृहस्थ धर्म साक्षात् तो स्वर्गादिक अभ्युदयका कारण है और परम्परासे मोक्षका कारण है परन्तु मुनि धर्म मोक्षका साक्षात् कारण है ॥५१॥ वह मुनिधर्म मनुष्य शरीरमें ही प्राप्त होता है अन्य जन्ममें नहीं और मनुष्य-जन्म संकटपूर्ण संसारमें बड़े दुःखसे प्राप्त होता है ॥५२॥ ये प्राणी कर्मोदयके वशीभूत हो स्थावर तथा त्रसकायोंमें अथवा नरकादि चतुर्गतियोंमें क्लेश भोगते हुए भ्रमण करते रहते हैं ॥५३॥ मात्र स्पर्शन इन्द्रियको धारण करनेवाला एकेन्द्रिय जीव पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके शरीरमें दीर्घकाल तक भ्रमण करता रहा है ॥५४॥ कर्मकलंकसे कलंकित ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने आज तक त्रसपर्याय नहीं प्राप्त की और आगे भी उसी निगोद पर्यायमें निवास करते रहेंगे ॥५५॥ ये प्राणी चौरासी लाख कुयोनियों तथा अनेक कुलकोटियोंमें निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ॥५६॥

---

१. मुनेरयं मौनः मुनिसम्बन्धी ।

२. अत्थि अणन्ता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंक सुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥ गो० जी० का० ।

[1]प्रत्येकं सप्तलक्षाः स्युर्नित्येतरनिगोदयोः । पृथिवीवायुतेजोऽम्भःकायेष्वपि तथैव ताः ॥५७॥
[2]ता वनस्पतिकायेषु दश षट् विकलेन्द्रिये । [3]द्विःसप्त नृषु चतस्रस्तास्तिर्यङ्नारकनाकिनाम् ॥५८॥
द्वाविंशतिपृथिव्यङ्गा लक्षाः सप्ताम्बुवायुजाः । तेजस्कायिकजीवानां त्रिलक्षाः कुलकोटयः ॥५९॥
वनस्पतिजलक्षास्ता अष्टाविंशतिरीरिताः । द्वित्रीन्द्रियेषु सप्ताष्टौ चतुरिन्द्रियजा नव ॥६०॥
अर्धत्रयोदश प्रोक्ता लक्षा जलचरेष्वपि । पक्षिषु द्वादशैव स्युश्चतुष्पात्सु दशाङ्गिषु ॥६१॥
नवोरःपरिसर्पेषु मनुजेषु चतुर्दश । नारकामरभेदेषु विंशतिः पञ्च षड् युताः ॥६२॥
कोटीकोटी च लक्षाश्च नवतिर्नवभिः सह । पञ्चाशच्च सहस्राणि कुलकोट्यः समासतः ॥६३॥
द्वाविंशतिसहस्राणि वत्सराणि खरक्षितेः । आयुर्मृदुपृथिव्यास्तु द्वादश प्राणधारिणाम् ॥६४॥
सप्ताप्कायिकजीवानां त्रीणि वायुमयाङ्गिनाम् । अहोरात्रास्त्रयस्तेजोमयानां समये मताः ॥६५॥
दशवर्षसहस्राणि वनस्पतिमयाङ्गिनाम् । द्वादश द्वीन्द्रियाणां च वर्षाण्यायुरुदीरितम् ॥६६॥
दिनान्येकोनपञ्चाशत्त्रीन्द्रियाणां प्रकीर्तितम् । चतुरिन्द्रियजीवानां षण्मासाः परमायुषः ॥६७॥
द्वासप्ततिसहस्राणि वर्षाण्यपि च पक्षिणाम् । द्विचत्वारिंशदब्दानां सहस्राण्यहिदेहिनाम् ॥६८॥
नव पूर्वाङ्गमानं स्यादुरसां परिसर्पिणाम् । पूर्वकोटी मनुष्याणां मत्स्यानां चापि जीवितम् ॥६९॥

वे कुयोनियाँ नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंमें प्रत्येकको सात-सात लाख होती हैं ॥५७॥ वनस्पतिकायिकोंकी दश लाख, विकलेन्द्रियोंकी छह लाख, मनुष्योंकी चौदह लाख, तिर्यञ्च, नारकी और देवोंकी प्रत्येकको चार-चार लाख होती हैं ॥५८॥ पृथिवीकायिक जीवोंकी बाईस लाख, जलकायिक और वायुकायिककी प्रत्येककी सात-सात लाख, अग्निकायिककी तीन लाख, वनस्पतिकायिककी अट्ठाईस लाख, दो इन्द्रियोंकी सात लाख, तीन इन्द्रियोंकी आठ लाख, चौइन्द्रियोंकी नौ लाख, जलचरोंकी साढ़े बारह लाख, पक्षियोंकी बारह लाख, चौपायोंकी दश लाख, छातीसे सरकनेवालोंकी नौ लाख, मनुष्योंकी चौदह लाख, नारकियोंकी पच्चीस लाख और देवोंकी छब्बीस लाख कुल कोटियाँ हैं। संक्षेपसे ये सब कुल कोटियाँ साढ़े निन्यानबे लाख हैं ॥५९-६३॥ खर पृथिवीकी बाईस हजार वर्ष, कोमल पृथिवीकी बारह हजार वर्ष, जलकायिक जीवोंकी सात हजार वर्ष, वायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन रात, वनस्पतिकायिक जीवोंकी दश हजार वर्ष, दो इन्द्रिय जीवोंकी बारह वर्ष, तीन इन्द्रिय जीवोंकी उनचास वर्ष, चार

---

१. णिच्चिदरधादु सत्तय तरु दस वियलिंदियेसु छच्चेव ।
सुरणिरय तिरिय चउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा ॥ गो० जी० ।

२. बावीस सत्ततिण्णि य सत्त य कुलकोटि सयसहस्साइं ।
णेया पुढवि दगागणि वाउक्कायाण परिसंखा ॥११३॥
कोडिसयसहस्साइं सत्तट्ठ णव य अट्ठवीसाइं ।
वेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय हरिदकायाणं ॥११४॥
अद्धत्तेरस बारस दसयं कुलकोडि सदसहस्साइं ।
जलचर पक्खि चउप्पय उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥११४॥
छप्पंचाधिय वीसं बारस कुलकोडि सदसहस्साइं ।
सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥११५॥
एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सद सहस्साइं ।
पण्णं कोडि सहस्सा सव्वंगीणं कुलाणं य ॥११६॥ गो० जी० ।

३. द्विसप्तद्विश्चतस्रस्तास्—म० ।

[1]भौमा मसूरसंस्थाना जीवा [2]आप्यास्तृणाम्बुवत् । [3]तैजसाः सूचिसंस्थानाः पताकावच्च [4]वायुजाः ॥७०॥
बहुसंस्थानभाजस्तु वनस्पतिभवाङ्गिनः । विज्ञेया हुण्डसंस्थाना विकलेन्द्रियनारकाः ॥७१॥
षट्संस्थानभृतो मर्त्यास्तिर्यञ्चः कथितास्तथा । समेन चतुरस्रेण संस्थानेन युताः सुराः ॥७२॥
[5]देहः सूक्ष्मनिगोदस्य भागोऽसंख्येय अङ्गुलः । अपर्याप्तस्य जातस्य तृतीयसमयेऽल्पशः ॥७३॥
स एवैकेन्द्रियादीनां देहः स्यादल्पमानतः । पञ्चेन्द्रियावसानानां सूक्ष्मोदारप्रभेदिनाम् ॥७४॥
[6]सहस्रयोजनं पद्मं सगव्यूतं प्रमाणतः । समस्तैकेन्द्रियोत्कृष्टदेहमानमिदं मतम् ॥७५॥
उत्कर्षाद् द्वीन्द्रियेषु स्यात् शङ्खो द्वादशयोजनः । त्रीन्द्रियोऽपि त्रिगव्यूतो भ्रमरो योजनाङ्ककः ॥७६॥
सहस्रयोजनो मत्स्यः सपर्याप्तः स्वयम्भुवः । सिक्थप्रमाणकोऽल्पवपुः प्राणी जलचरः स्मृतः ॥७७॥
संमूर्च्छनजसत्त्वानां खजलस्थलचारिणाम् । तिरश्चां तु वितस्तिः स्यादपर्याप्तशरीरिणाम् ॥७८॥
अपर्याप्ताः पुनः सत्त्वा ये जलस्थलगर्भजाः । संमूर्च्छनोत्थपर्याप्ताः खगा [7]जलचरास्तथा ॥७९॥
धनुःपृथक्त्वमुत्कर्षात् खगाश्चापि च गर्भजाः । पर्याप्ताश्चाप्यपर्याप्ता देहमानं वहन्ति ते ॥८०॥
जलगर्भजपर्याप्ताः स्युः पञ्चशतयोजनाः । त्रिपल्यायुर्नृतिर्यञ्चस्त्रिगव्यूताः प्रमाणतः ॥८१॥

इन्द्रिय जीवोंकी छह माह, पक्षियोंकी बहत्तर हजार वर्ष, साँपोंकी ब्यालीस हजार वर्ष, छातीसे सरकनेवालोंकी नौ पूर्वाङ्ग, मनुष्यों और मत्स्योंकी एक करोड़ वर्ष पूर्वकी उत्कृष्ट आयु है ॥६४–६९॥ पृथिवीकायिक जीव मसूरके आकार हैं, जलकायिक तृणके अग्रभागपर रखी बूँदके समान हैं, तैजस्कायिक जीव खड़ी सूइयोंके सदृश हैं, वायुकायिक जीव पताकाके समान हैं, वनस्पतिकायिक जीव अनेक आकारके धारक हैं। विकलेन्द्रिय तथा नारकी जीव हुण्डक संस्थानसे युक्त हैं ॥७०–७१॥ मनुष्य और तिर्यञ्च छहों संस्थानोंके धारक कहे गये हैं और देव केवल समचतुरस्र संस्थानसे युक्त बतलाये गये हैं ॥७२॥ सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका शरीर अङ्गुलके असंख्यातवें भाग है और वह उत्पन्न होनेके तीसरे समयमें जघन्य अवगाहना रूप होता है ॥७३॥ सूक्ष्म और स्थूल भेदोंको धारण करनेवाले एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवों तकका शरीर यदि छोटेसे छोटा होगा तो अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होगा इससे छोटा नहीं ॥७४॥ कमल प्रमाणकी अपेक्षा एक हजार योजन तथा एक कोश विस्तारवाला है। समस्त एकेन्द्रिय जीवोंमें देहका उत्कृष्ट प्रमाण यही माना गया है ॥७५॥ दोइन्द्रिय जीवोंमें सबसे बड़ी अवगाहना शङ्खकी है और वह बारह योजन प्रमाण है। तीन इन्द्रियोंमें सबसे बड़ा कानखजूरा है और वह तीन कोश प्रमाण है। चौइन्द्रियोंमें सबसे बड़ा भ्रमर है और वह एक योजन—चार कोश प्रमाण है तथा पञ्चेन्द्रियोंमें सबसे बड़ा स्वयंभूरमण समुद्रका राघव मच्छ है और वह एक हजार योजन प्रमाण है। पञ्चेन्द्रियोंमें सूक्ष्म अवगाहना सिक्थक मच्छकी है ॥७६–७७॥ सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न अपर्याप्तक जलचर, थलचर और नभचर तिर्यञ्चोंकी जघन्य अवगाहना एक वितस्ति प्रमाण है ॥७८॥ गर्भजोंमें अपर्याप्तक जलचर, स्थलचर, सम्मूर्च्छनोंमें पर्याप्तक जलचर, नभश्चर तथा गर्भजोंमें पर्याप्तक, अपर्याप्तक दोनों प्रकारके नभश्चर, तिर्यञ्च, उत्कृष्ट रूपसे पृथक्त्व धनुष प्रमाण शरीरकी अवगाहना धारण करते हैं ॥७९–८०॥ गर्भजन्मसे उत्पन्न पर्याप्तक जलचर जीव पाँच

---

१. पृथिवीकायिकाः । २. जलकायिकाः । ३. अग्निकायिकाः । ४. वायुकायिकाः । मसुरंबु बिन्दु सूई कलावधयसण्णिहो हवे देहो । पुढवी आदि चउण्हं तरु तस काया अणेयविहा ॥१९८॥ गो० जी० । ५. सुहुमणिगोद अपजत्तयस्स जादस्स तदिय समयम्हि । अंगुल असंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥९४॥ गो० जी० । ६. साहिय सहस्समेक्कं वारं कोसूणमेकमेक्कं च । जोयणसहस्स दीहं पम्मे वियले महामच्छे ॥९५॥ बिति च य पुण्ण जहण्णं अणुंधरी कुंथुकाणमच्छीसु । सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखे संखगुणिदकमा ॥९६॥ गो० जी० । ७. जलचरा -म० ।

पञ्चचापशतोत्सेधा उत्कर्षान्नारकाः सुराः । पञ्चविंशतिचापाः स्युरायुस्तेषां पुरा यथा[1] ॥८२॥
[2]पर्याप्तयः षडाहारशरीरेन्द्रियगोचराः । आनप्राणमनोभाषाभेदैस्ताः परिभाषिताः ॥८३॥
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं तथैव तत् । इन्द्रियपञ्चकं प्रोक्तं स्थावरत्रसगोचरम् ॥८४॥
[3]लब्धिश्चैवोपयोगश्च भावेन्द्रियमिहोदितम् । द्रव्येन्द्रियं तु [4]निर्वृत्तिः सहोपकरणैर्मतम् ॥८५॥
[5]स्पर्शनं नैकसंस्थानं रसनं तु क्षुरप्रवत् । घ्राणं चानुकरोत्येवमतिमुक्तकचन्द्रिकाम् ॥८६॥
चक्षुर्मसूरमन्वेति श्रोत्रं तु यवनालिकाम् । स्वाकारेणेति संस्थानं तद्द्रव्येन्द्रियगोचरम् ॥८७॥
[6]धनुःशतानि चत्वारि स्पर्शनेन्द्रियगोचरः । एकेन्द्रियस्य चोत्कृष्टस्ततो यावदसंज्ञिनाम् ॥८८॥
अष्टौ षोडश संख्यातो द्वात्रिंशद्द्विगुणान्यपि । चतुःषष्टिःशतं दण्डा घ्राणान्ते द्विरसंज्ञिनः ॥८९॥
चतुःपञ्चाशता सार्धमेकान्नत्रिंशदीक्षते । शतानि योजनानां तु चक्षुषा चतुरिन्द्रियः ॥९०॥
योजनानां शतान्येकन्यूनं षष्टिः सहाष्टभिः । असंज्ञिचक्षुर्विषयो योजनं श्रोत्रगोचरः ॥९१॥
स्पर्शं रसं च गन्धं च नवयोजनमात्रगम् । संज्ञी यथास्वमादत्ते शब्दं द्वादशयोजनम् ॥९२॥

सौ योजन विस्तारवाले हैं। जिन मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी आयु तीन पल्यकी है उनकी अवगाहना तीन कोश प्रमाण है ॥८१॥ नारकी उत्कृष्टतासे पाँच सौ धनुष ऊँचे हैं, और देव पचीस धनुष प्रमाण हैं। इनकी आयु पहलेके समान है ॥८२॥

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके भेदसे पर्याप्तियाँ छह कही गई हैं ॥८३॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ कही गई हैं। इनमें स्थावर जीवोंके केवल स्पर्शन इन्द्रिय और त्रसजीवोंके यथाक्रमसे सभी इन्द्रियाँ पाई जाती हैं ॥८४॥ भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रियके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं। इनमें भावेन्द्रियाँ लब्धि और उपयोग रूप हैं तथा द्रव्येन्द्रियाँ निर्वृत्ति और उपकरण रूप मानी गई हैं ॥८५॥ स्पर्शन इन्द्रिय अनेक आकारवाली है, रसना खुरपीके समान है, घ्राण अतिमुक्तक—तिल पुष्पका अनुकरण करती है, चक्षु मसूरका अनुसरण करती है और कर्ण इन्द्रिय यवकी नलीके समान है। इस प्रकार द्रव्येन्द्रियोंका आकार कहा ॥८६–८७॥ एकेन्द्रिय जीवकी स्पर्शन इन्द्रियका उत्कृष्ट विषय चार सौ धनुष है। उसके आगे असैनी पञ्चेन्द्रिय तक दूना-दूना होता जाता है ॥८८॥ इस प्रकार द्वीन्द्रियके स्पर्शनका विषय आठ सौ धनुष, त्रीन्द्रियके सोलह सौ धनुष, चतुरिन्द्रियके बत्तीस सौ धनुष और असैनी पञ्चेन्द्रियके चौंसठ सौ धनुष है। रसना इन्द्रियका विषय द्वीन्द्रिय जीवके चौंसठ धनुष, त्रीन्द्रियके एक सौ अट्ठाईस धनुष, चतुरिन्द्रियके दो सौ छप्पन धनुष, और असैनी पञ्चेन्द्रियके पाँच सौ धनुष है। घ्राण इन्द्रियका विषय त्रीन्द्रिय जीवके सौ धनुष, चतुरिन्द्रियके दो सौ धनुष और असैनी पञ्चेन्द्रियके चार सौ धनुष प्रमाण है ॥८९॥ चतुरिन्द्रिय जीव अपनी चक्षुरिन्द्रियके द्वारा उनतीस सौ चौवन योजन तक देखता है ॥९०॥ और असैनी पञ्चेन्द्रियके चक्षुका विषय उनसठ सौ साठ योजन है। एवं असैनी पञ्चेन्द्रियके श्रोत्रका विषय एक योजन है ॥९१॥ सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव नौ योजन दूर स्थित स्पर्श, रस और गन्धको यथायोग्य ग्रहण कर सकता है

---

१. ययौ म०। २. आहारसरीरिंदियपज्जत्तीआणपाणभासमणो। चत्तारि पंच छप्पिय एइंदिय वियलसण्णीणं ॥११८॥ गो० जी०। ३. लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् त० सू०। ४. निर्वृत्तिं म०। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् त० सू०।

५. चक्खू सोदं घाणं जिब्भायारं मसूर जवणाली।
अतिमुत्तखुरप्पसमं फासं तु अणेयसंठाणं ॥
६. धणुवीसड दसय कदी जोयण छादाल हीणतिसहस्सा।
अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति ॥१६७॥

सहस्रैः सप्तभिः सत्रा चत्वारिंशत्सहस्रकैः । त्रिषष्टया च द्विशत्या च योजनैश्चक्षुरीक्षते ॥९३॥
इत्यनेकविकल्पेऽस्मिन् संसारे सारवर्जिते । मोक्षसाधनतः सारं मानुष्यं दुर्लभं च तत् ॥९४॥
दुष्कर्मोपशमाल्लब्ध्वा तन्मानुष्यं कथञ्चन । यत्नो भवविरक्तेन विधेयो मुक्तये धिया ॥९५॥
अथात्रावसरेऽपृच्छन्नत्वा केवलिनं भवान् । पूर्वानन्धकवृष्णिः स्वानित्युवाच च सर्ववित् ॥९६॥
साकेते रत्नवीर्यस्य राज्ञो राज्ये जिताहिते । तीर्थे वृषभनाथस्य वर्तमाने महोदये ॥९७॥
श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्तोऽभूद्द्वात्रिंशत्कोटिभिर्धनी । तस्य जैनस्य मित्रं च रुद्रदत्तोऽभवद्द्विजः ॥९८॥
तिथिपर्वचतुर्मासी जिनपूजार्थमस्य सः । दत्वार्थं द्वादशाब्दान्तं [2]वणिग्यातो वणिज्यया ॥९९॥
स द्यूतवेश्याव्यसनी विनाश्य द्रविणं द्विजः । चौर्यगृहीतमुक्तोऽगादुल्कामुखवनं खलः ॥१००॥
स हि मुष्णन् सह व्याधैर्लोकं व्याधिनिभो हतः । सेनान्या श्रेणिकेनागान्नरकं रौरवं ततः ॥१०१॥
[3]देवस्वस्य विनाशेन त्रयस्त्रिंशदुदन्वताम् । समं कालं महादुःखं प्राप्योद्वृत्याभ्रमद् भवे ॥१०२॥
पापस्योपशमात् पश्चादुदभूद् गजपुरे पुरे । कापिष्ठलायनाभिख्यादनुमत्यामिह द्विजः ॥१०३॥

और बारह योजन दूर तकके शब्दको सुन सकता है ॥९२॥ सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव अपने चक्षुके द्वारा सैंतालीस हजार दो सौ त्रेशठ योजनकी दूरीपर स्थित पदार्थको देख सकता है ॥९३॥ इस प्रकार यह असार संसार अनेक विकल्पोंसे भरा हुआ है । इसमें मोक्षका साधक होनेसे मनुष्य पर्याय ही सार है परन्तु वह अत्यन्त दुर्लभ है ॥९४॥ दुष्कर्मोंका उपशम होनेसे यदि किसी तरह मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है तो बुद्धिमान् मनुष्यको संसारसे विरक्त होकर मुक्ति प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥९५॥

अथानन्तर इसी बीचमें केवली भगवान्को नमस्कार कर अन्धकवृष्णिने अपने पूर्वभव पूछे और सर्वज्ञ सुप्रतिष्ठ केवली उसके पूर्वभवोंका वर्णन इस प्रकार करने लगे ॥९६॥ जब भगवान् वृषभदेवका महाप्रभावशाली तीर्थ चल रहा था तब अयोध्या नगरीमें राजा रत्नवीर्य राज्य करता था । उसके निष्कण्टक राज्यमें एक सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था जो बत्तीस करोड़ दीनारोंका धनी था, जैनधर्मका परम श्रद्धालु था और रुद्रदत्त ब्राह्मण उसका मित्र था ॥९७–९८॥ कदाचित् सुरेन्द्रदत्त सेठ, बारह वर्ष तक अष्टमी, चतुर्दशी, आष्टाह्निक पर्व तथा चौमासोंमें जिनपूजाके लिए उपयुक्त धन, रुद्रदत्तको देकर व्यापारके लिए बाहर चला गया ॥९९॥ ब्राह्मण रुद्रदत्त बड़ा दुष्ट था उसने जुआ तथा वेश्या व्यसनमें पड़कर वह धन शीघ्र ही नष्ट कर दिया । जब धन नष्ट हो गया तब चोरी करने लगा । चोरीके अपराधमें पकड़ा गया और जब छूटा तब उल्कामुख नामक वनमें जाकर रहने लगा ॥१००॥ वहाँ वह भीलोंके साथ मिलकर लोगोंको लूटने लगा और अपने दुष्कर्मसे लोगोंके लिए व्याधि स्वरूप हो गया । अन्तमें श्रेणिक नामक सेनापतिके हाथसे मरकर रौरव नामक सातवें नरक गया ॥१०१॥ देवद्रव्यके हड़पनेसे वह तैंतीस सागर तक नरकके भयंकर दुःख भोगकर वहाँसे निकला और संसारमें भ्रमण करता रहा ॥१०२॥ कदाचित् पाप कर्मका उपशम होनेसे वह हस्तिनागपुरमें कापिष्ठलायन नामक ब्राह्मणकी अनुमति नामक स्त्रीसे गौतम नामका ब्राह्मण-पुत्र हुआ । वह महादरिद्र था, उत्पन्न होते ही उसके माता-पिता मर गये थे तथा भीख माँगता हुआ वह इधर-उधर घूमता-फिरता था । एक बार

१. सण्णिस्स बार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।
सत्तेताल सहस्सा वेसद तेसट्ठिमदिरेया ॥१६७॥
तिण्णिसय सट्ठि विरहिद लक्खं दसमूल ताडिदे मूलं ।
णवगुणिदे सट्ठिहिदे चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥१६८॥ गो० जी० ।
२. वणिज्यातो म० । ३. देवद्रव्यस्य ।

निःश्रीगौतमनामाऽसौ क्षतमातृपितृक्षयः । साधुं भुञ्जानमद्राक्षीद् भिक्षार्थी पर्यटन् बटुः ॥१०४॥
समुद्रदत्तनामानमनुगम्य तमाश्रमे । जगादात्मसमं यूयं कुरुध्वं मां बुभुक्षितम् ॥१०५॥
भव्यसत्त्वमसौ बुद्ध्वा दीक्षां तस्मै ददौ गुरुः । पापं वर्षसहस्रेण विघ्नकृत् सोऽप्यशीशमत् ॥१०६॥
स श्रीगौतमसंज्ञाकः प्राप्तोऽक्षीणमहानसम् । पदानुसारिणीं लब्धिं बीजबुद्धिरसर्द्धिमान्[1] ॥१०७॥
आराध्याराधनां सम्यक् सुविशालमगाद् गुरुः । शिष्यो वर्षसहस्राणि पञ्चाशत् स तपोऽतपत् ॥१०८॥
उदियाय स तत्रैव सुविशाले[2] विशालधीः । स्थितिं सन्मानयन्नाभ्यामष्टाविंशतिसागरैः ॥१०९॥
अहमिन्द्रसुखं भुक्त्वा सोऽवतीर्य ततो नृपः । सञ्जातोऽन्धकवृष्णिस्त्वमहं तु भवतो गुरुः ॥११०॥
अप्राक्षीत् पूर्वजन्मानि दुःखितः क्षितिपः पुनः । स्वपुत्राणां दशानां च केवली च जगाविति ॥१११॥
सद्भद्रिलपुरे राजा नाम्नो मेघरथोऽभवत् । भार्या तस्य सुभद्राख्या तयोर्दृढरथः सुतः ॥११२॥
इभ्यो[3] राजसमस्तस्य भार्या नन्दयशाः सुते । सुदर्शना च सुज्येष्ठा धनदत्तस्य सूनवः ॥११३॥
धनश्च जिनदेवौ च पालान्तास्ते त्रयो मताः । अर्हद्दासः प्रसिद्धश्च जिनदासस्तथा परः ॥११४॥
अर्हद्दत्त इति ख्यातो जिनदत्तः परः स्मृतः । प्रियमित्रः प्रतीतोऽन्यस्तथा धर्मरुचिर्ध्वनिः ॥११५॥
सुमन्दरगुरोः पार्श्वे प्रवव्राज नरेश्वरः । धनदत्तोऽपि पुत्रैस्तैर्नवभिः सह दीक्षितः ॥११६॥
सुदर्शनार्यिकापार्श्वे सुभद्रा च सुदर्शना । सुज्येष्ठा[4] च तपो ज्येष्ठं सहैव प्रतिपेदिरे ॥११७॥
धनदत्तो गुरुश्चैव वाराणस्यां नृपस्तथा । केवलज्ञानमुत्पाद्य विहृत्य[5] वसुधां क्रमात् ॥११८॥

उसने समुद्रदत्त नामक मुनिराजको आहार करते देखा। आहारके बाद वह उनके पीछे लग गया तथा आश्रममें पहुँचनेपर उनसे बोला कि मैं भूखा मरता हूँ आप मुझे अपने समान बना लीजिए ॥१०३-१०५॥ मुनिराजने उसे भव्य प्राणी जानकर दीक्षा दे दी और उसने भी दीक्षा लेकर एक हजार वर्षको कठिन तपस्यासे विघ्नकारक पापोंका उपशम कर दिया ॥१०६॥ तपस्याके प्रभावसे उक्त गौतम मुनि, बीजबुद्धि तथा रसऋद्धिसे युक्त हो गये और अक्षीणमहानस एवं पदानुसारिणी ऋद्धि भी उन्होंने प्राप्त कर ली ॥१०७॥ गुरु समुद्रदत्त मुनि, अच्छी तरह आराधनाओंकी आराधना कर छठवें ग्रैवेयकके सुविशाल नामक विमानमें अहमिन्द्र हुए और शिष्य गौतम मुनिने पचास हजार वर्ष तप किया ॥१०८॥ अन्तमें विशाल बुद्धिके धारक गौतम मुनि भी अट्ठाईस सागरकी सम्भावनीय आयु प्राप्तकर उसी सुविशाल विमानमें उत्पन्न हुए ॥१०९॥ अहमिन्द्रके सुख भोगनेके बाद वहाँसे चलकर गौतमका जीव तो तू अन्धकवृष्णि हुआ है और तेरा गुरु मुनि समुद्रदत्तका जीव मैं सुप्रतिष्ठ हुआ हूँ ॥११०॥

तदनन्तर दुःखी होते हुए राजा अन्धकवृष्णिने अपने दशों पुत्रोंके पूर्व भव पूछे सो केवली भगवान् इस प्रकार कहने लगे ॥१११॥ उन्होंने कहा कि किसी समय सद्भद्रिलपुर नगरमें राजा मेघरथ रहता था, उसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था और उन दोनोंके दृढ़रथ नामका पुत्र था ॥११२॥ उसी नगरमें राजाकी तुलना करनेवाला धनदत्त नामका सेठ रहता था उसकी स्त्रीका नाम नन्दयशा था। नन्दयशासे उसके सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामकी दो कन्याएँ तथा धनपाल, जिनपाल, देवपाल, अर्हद्दास, जिनदास, अर्हद्दत्त, जिनदत्त, प्रियमित्र और धर्मरुचि ये नौ पुत्र उत्पन्न हुए ॥११३-११५॥ कदाचित् राजा मेघरथने सुमन्दर गुरुके पास दीक्षा ले ली। यह देख सेठ धनदत्त भी अपने नौ ही पुत्रोंके साथ दीक्षित हो गया ॥११६॥ और सुदर्शना नामक आर्यिकाके पास सुभद्रा सेठानी तथा उसकी सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक दोनों पुत्रियोंने साथ ही-साथ दीक्षा धारण कर ली ॥११७॥ कदाचित् धनदत्त सेठ, सुमन्दर गुरु और मेघरथ

१. सुरर्द्धिमान् म० । २. षष्ठग्रैवेयके विशालनाम्नि विमाने । ३. श्रेष्ठी । ४. सुस्येष्ठा म० ।
५. विहृता म० ।

सप्तभिः पञ्चभिः पूज्या[1] वर्षैर्द्वादशभिश्च ते । अन्ते सिद्धशिलारूढाः सिद्धा राजगृहे पुरे ॥११९॥
अन्तर्वत्नी प्रसूता सा पूर्वं नन्दयशाः सुतम् । धनमित्रं यथा योग्यं सन्त्यज्य तपसि स्थिता ॥१२०॥
पुत्रान् सिद्धशिलारूढान् प्रायोपगमनस्थितान् । वन्दित्वा पुत्रमातृत्वमावृणोत् स्नेहमोहिता ॥१२१॥
स्नेहगह्वरमोहिन्यौ भगिन्यौ च तदैच्छताम् । सोदरत्वं भवेऽन्यत्र किं वा स्नेहस्य दुष्करम् ॥१२२॥
माता सुताः समाराध्य देवा भूत्वाऽच्युतेऽखिलाः । द्वाविंशतिसमुद्रान्तं कालं भुक्त्वा परं सुखम् ॥१२३॥
अवतीर्य ततो भूमिं देवीदुहितृदेहजाः । तथैवं भूप ! चित्रा हि परिणामवशाद् गतिः ॥१२४॥
बभाण भगवानन्ते वसुदेवभवान्तरम् । प्रणिधानपरोत्कर्णं[2] नरदेवसभान्तरे ॥१२५॥
कश्चिन्नवाब्धिदुःखोर्मिनिमग्नोन्मग्नताकुलः । प्राणी प्राप युगच्छिद्रं कीलवत् नृभवान्तरम् ॥१२६॥
मागधाभिधदेशोऽसौ शालिग्रामेऽग्रजन्मनोः । अभूद्दुर्विधयो[3]स्तोकं [4]स्तोकं नोपनयत् सुखम् ॥१२७॥
गर्भस्थेऽपि पिता तस्मिन्नर्भकेऽमृत मातृका । दुर्भगस्याष्टवर्षस्य [5][6]निर्भा मातृष्वसा शुचा ॥१२८॥

राजा—तीनों ही मुनि बनारस आये और वहाँ केवलज्ञान उत्पन्नकर पृथिवीपर विहार करने लगे ॥११८॥ पूजनीय धनदत्त, सुमन्दर गुरु और मेघरथ मुनि क्रमसे सात वर्ष, पाँच वर्ष और बारह वर्ष तक पृथिवीपर विहारकर अन्तमें राजगृह नगरसे सिद्धशिलापर आरूढ़ हुए—मोक्ष पधारे ॥११९॥ उस समय सेठ धनदत्तकी स्त्री नन्दयशा गर्भवती थी इसलिए दीक्षा नहीं ले सकी थी परन्तु जब उसके धनमित्र नामका पुत्र हो गया और वह योग्य बन गया तब वह भी उसे छोड़ तप करने लगी ॥१२०॥

एक दिन सेठ धनदत्तके पुत्र धनपाल आदि नौके-नौ मुनिराज प्रायोपगमन संन्यास लेकर सिद्धशिलापर विराजमान थे। मुनियोंकी माता आर्यिका नन्दयशाने उन्हें देख वन्दना की और स्नेहसे मोहित हो निदान किया कि मैं अग्रिम भवमें भी इनकी माता बनूँ ॥१२१॥ मुनियोंकी बहिन सुदर्शना और सुज्येष्ठा नामक आर्यिकाओंने भी स्नेहरूपी गर्तमें मोहित हो निदान किया कि ये अग्रिम भवमें भी हमारे भाई हों। सो ठीक ही है क्योंकि स्नेहके लिए क्या कठिन है ? ॥१२२॥ अन्तमें समाधि धारण कर माता पुत्र और पुत्रियाँ—सबके-सब अच्युत स्वर्गमें देव हुए। तदनन्तर बाईस सागर तक उत्कृष्ट सुख भोगकर वहाँसे चले और पृथिवीपर आकर हे राजन् ! तुम्हारी स्त्री, पुत्रियाँ तथा पुत्र हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि परिणामोंके अनुसार नाना प्रकारकी गति होती ही है ॥ भावार्थ—नन्दयशाका जीव तो तुम्हारी रानी सुभद्रा हुआ है, सुदर्शना और सुज्येष्ठाके जीव क्रमसे कुन्ती और माद्री हुए हैं तथा धनपाल आदिके जीव वसुदेवके सिवाय नौ पुत्र हुए हैं ॥१२३-१२४॥

तदनन्तर भगवान् सुप्रतिष्ठ केवली, ध्यानमें तत्पर एवं कान खड़े कर बैठे हुए मनुष्य और देवोंकी उस सभामें वसुदेवके भवान्तर कहने लगे—॥१२५॥ जिस प्रकार समुद्रकी लहरोंमें तैरती हुई कील जुएके छिद्रको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर सकती है उसी प्रकार संसार सागरकी दुःखरूपी लहरोंमें डूबता और उबरता हुआ यह प्राणी मनुष्य भवको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त कर पाता है ॥१२६॥ इसी पद्धतिसे वसुदेवका जीव मागध देशके शालिग्राम नामक नगरमें रहनेवाले अत्यन्त दरिद्र ब्राह्मण और ब्राह्मणीके यहाँ ऐसा पुत्र हुआ जिसे थोड़ा भी सुख प्राप्त नहीं था ॥१२७॥ जब वह गर्भमें था तब पिता मर गया। और उत्पन्न होते ही माता मर गई इसलिए मौसीने इसका पालन-पोषण किया परन्तु वह लगभग आठ वर्षका ही हो पाया था कि उसकी

१. पूज्या म०। २. परोत्कर्म म०। ३. दरिद्रयोः। ४. पुत्रः। तोकः क०। ५. इतः आरभ्य १३१ श्लोकपर्यन्ताः श्लोकाः 'ख' पुस्तके न सन्ति। 'क' पुस्तकेऽपि पश्चात् केनापि पादटिप्पण्यां योजिताः। ६. शोकेन मातृष्वसापि निर्भाः दीप्तिरहिता जाता मृतेत्यर्थः।

पुरे राजगृहे सोऽथ मातुलस्य गृहेऽवसत् । भर्तुः स्वस्त्रीय इत्येव पितृष्वस्रानुपालितः ॥१२९॥
मलग्रस्तशरीरोऽसावुग्रगन्धोऽजपोतवत् । विकीर्णशीर्णकेशाग्रः कुचेलः पिङ्गलेक्षणः ॥१३०॥
दुहितॄर्मातुलस्यासौ वाञ्छन् दमरकश्रुतेः । ताभिर्जुगुप्सुभिर्दुःखी स्वगृहाद्विनिघाटितः ॥१३१॥
दुर्भाग्याग्निशिखालीढः स्थाणुरेव [1]मलीमसः । मर्तुमिच्छन् पतङ्गाभो वैभारे साधुभिर्वृ[2]तः ॥१३२॥
निन्दित्वात्मानमाकर्ण्य धर्माधर्मफलं ततः । प्राव्राजीद् गुरुपादान्ते शान्तः संख्याख्ययोगिनः ॥१३३॥
चचार गुरुसन्देशादाशापाशविनाशनः । तपोऽन्यदुश्चरं चारुचारित्रज्ञानदर्शनः ॥१३४॥
ननन्द नन्दिषेणाख्यस्तपसोत्पन्नलब्धिभिः । एकादशाङ्गभृत्साधुः सोढाशेषपरीषहः ॥१३५॥
उपवासविधिर्यो यः शासनेऽन्यातिदुष्करः । तस्य धैर्यवतः साधोः स सर्वः सुकरोऽभवत्[3] ॥१३६॥
आचार्यग्लानशैक्ष्यादिदशभेदमुदीरितम् । वैयावृत्यतपश्चक्रे सविशेषमसावृषिः ॥१३७॥
महाऋद्धिमतस्तस्य वैयावृत्योपयोगि यत् । वस्तु तच्चिन्तितं हस्ते भेषजाद्याशु जायते ॥१३८॥
तपो वर्षसहस्राणि बहूनि तपतोऽस्य च । वैयावृत्यं तपः शक्रः शशंस सुरसंसदि ॥१३९॥
काले सम्प्रति साधूनां वैयावृत्यं करोति यः । नन्दिषेणः परो जातो जम्बूद्वीपस्य भारते ॥१४०॥
यद्येन चिन्तितं पथ्यमनुल्लाघसु[4]दृष्टिना । तत्तस्य क्षिप्रमक्षूणं स सम्पादयति क्षमी ॥१४१॥

मौसी भी शोकके कारण प्राणरहित हो गई ॥१२८॥ अब वह राजगृह नगरमें मामाके घर रहने लगा। वहाँ 'यह हमारे पतिका भानजा है' यह सोचकर बुआने उसका पालन-पोषण किया ॥१२९॥ इसका शरीर मलसे ग्रस्त था, शरीरसे छागके बच्चेके समान तीव्र गन्ध आती थी, केश रूखे तथा बिखरे हुए थे, वह मैले-कुचैले वस्त्र पहिने रहता था और उसकी आँखें स्वभावसे ही पीली थीं ॥१३०॥ इतनेपर भी वह अपने मामा दमरककी पुत्रियोंके साथ विवाह करना चाहता था। परन्तु विवाह करना तो दूर रहा घृणा करनेवाली उन पुत्रियोंने उसे घरसे निकाल दिया जिससे वह बहुत दुःखी हुआ ॥१३१॥ अन्तमें वह दुर्भाग्यरूपी अग्निकी शिखाओंसे झुलसकर ठूँठके समान मलिन हो गया और पतंगकी तरह कूदकर मरनेकी इच्छासे वैभार गिरिपर गया परन्तु मुनियोंने उसे रोक लिया ॥१३२॥ तदनन्तर धर्म-अधर्मका फल सुनकर उसने अपने-आपकी बहुत निन्दा की और शान्त हो संख्य नामक मुनिराजके चरण मूलमें दीक्षा धारण कर ली ॥१३३॥ गुरुके सम्यक् उपदेशसे आशारूपी पाशको नष्टकर वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका धारक हो गया और अन्य मनुष्योंके लिए दुश्चर तप तपने लगा ॥१३४॥ उसका नन्दिषेण नाम था, वह तपके प्रभावसे उत्पन्न ऋद्धियोंसे युक्त हो गया, ग्यारह अङ्गका धारी एवं समस्त परीषहोंको सहनेवाला उत्तम साधु हो गया ॥१३५॥ शास्त्रोंमें जो-जो उपवास दूसरोंके लिए अत्यन्त कठिन थे वे सब उस धैर्यशाली साधुके लिए सरल हो गये ॥१३६॥ आचार्य ग्लान शैक्ष्य आदिके भेदसे जिसके दश भेद बताये गये हैं उस वैयावृत्य तपको वह विशेष रूपसे करता था ॥१३७॥ वह मुनि बड़ी-बड़ी ऋद्धियोंसे युक्त था इसलिए वैयावृत्यमें उपयोग आनेवाली जिस औषधि आदिका वह विचार करता था वह शीघ्र ही उसके हाथमें आ जाती थी ॥१३८॥ इस प्रकार मुनि नन्दिषेणको तप करते हुए जब कई हजार वर्ष बीत गये तब एक दिन इन्द्रने देवोंकी सभामें उसके वैयावृत्य तपकी प्रशंसा की ॥१३९॥ इस समय जम्बू द्वीपके भरत क्षेत्रमें जो साधुओंकी वैयावृत्य करता है वह नन्दिषेण मुनि सबसे उत्कृष्ट है ॥१४०॥ क्योंकि रोगसे पीड़ित मुनि जिस पथ्यकी इच्छा करता है उसे क्षमाको धारण करनेवाला नन्दिषेण मुनि शीघ्र ही पूर्ण कर

१. मणीमयः म० । मलीमयः ग०, ङ० । २. वृतः म० । ३. अस्मादग्रे 'तपोलब्धिप्रभावेन वैयावृत्यं करोति सः' इति 'ख' पुस्तकेऽधिकः। ४. रोगयुक्तसुदृष्टिना 'उल्लाघो निर्गतो गदात्' इति कोषः। न उल्लाघोऽनुल्लाघः स चासौ सुदृष्टिश्च तेन ।

प्रासुकद्रव्ययोगेन वैयावृत्त्योद्यतस्य हि । संयतस्यापि नो बन्धो निर्जरैव तु जायते ॥१४२॥
[1]धर्मसाधनमाद्यं हि शरीरमिह देहिनाम् । तस्य धारणमाधेयं यथाशक्ति च शासने ॥१४३॥
सम्यग्दृष्टिरशेषोऽपि मन्दरुक्कामादिरादरात् । पर्युपासनया नित्यमुपचर्यः सुदृष्टिना ॥१४४॥
प्रतीकारसमर्थोऽपि यस्सुदृष्टिमुपेक्षते । व्याधिक्लिष्टमसौ नष्टः सम्यक्त्वस्यापबृंहकः[2] ॥१४५॥
यन्नोपयुज्यते यस्य धनं वा वपुरेव वा । स्वशासनजने तेन तस्य किं [3]बन्धहेतुना ॥१४६॥
तदेव हि धनं तस्य वपुर्वा सर्वथा मतम् । यद्यस्य शासनस्था[4]नां यथास्वमुपयुज्यते ॥१४७॥
शक्तस्योपेक्षमाणस्य सदृष्टिजनमापदि । का वा कठिनचित्तस्य जिनशासनभक्तता ॥१४८॥
सम्यक्त्वशुद्धिशुद्धे तु जैने भक्तिविलोपने । पुंसो मिथ्याविनीतस्य का वा दर्शनशुद्धिता ॥१४९॥
बोधिलाभनिमित्ताया दृष्टिशुद्धेर्विबाधने । पुनर्बोधिपरिप्राप्तिर्दुर्लभा भवसङ्कटे ॥१५०॥
बोधिलाभपरिप्राप्त्यभावे मुक्तिसाधनम् । कुतो वृत्तमभावेऽस्य कुतो मुक्तिस्तदर्थिनः ॥१५१॥
मुक्त्यभावे कुतः सौख्यमनन्तमनपायि च । सौख्याभावे कुतः स्वास्थ्यं स्वास्थ्याभावे कुतः कृती ॥१५२॥
अतः सर्वात्मना भाव्यं यथास्वं स्वहितैषिणा । वैयावृत्त्योद्यतेनाऽत्र यतिना गृहिणा तथा ॥१५३॥
शरीरं [5]दर्शनं ज्ञानं चारित्रं परमं तपः । वैयावृत्त्यकृता सर्वं स्थापितं हि परात्मनोः ॥१५४॥
शासनस्थितिविद् विद्वानुपकुर्वन् परं स्वयम् । निरपेक्षोपकारो यः परात्मकसुमोक्षभाग् ॥१५५॥

देता है ॥१४१॥ गृहस्थकी तो बात ही क्या प्रासुक द्रव्यके द्वारा वैयावृत्य करनेमें तत्पर रहने वाले मुनिको भी उससे बन्ध नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है ॥१४२॥ इस संसारमें शरीर ही प्राणियोंका सबसे पहला धर्मका साधन है इसलिए यथाशक्ति उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह आगमका विधान है ॥१४३॥ मन्द शक्ति अथवा बीमार आदि जितने भी सम्यग्दृष्टि हैं, सम्यग्दृष्टि मनुष्यको उन सबकी वैयावृत्य द्वारा निरन्तर सेवा करनी चाहिए ॥१४४॥ जो प्रतिकार करनेमें समर्थ होकर भी रोगसे दुःखी सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा करता है वह पापी है तथा सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है ॥१४५॥ जिसका धन अथवा शरीर सहधर्मी जनोंके उपयोगमें नहीं आता उसका वह धन अथवा शरीर किस कामका? वह तो केवल कर्मबन्धका ही कारण है ॥१४६॥ जिसका जो धन अथवा जो शरीर सहधर्मी जनोंके उपयोगमें आता है यथार्थमें वही धन अथवा वही शरीर उसका है ॥१४७॥ जो समर्थ होकर भी आपत्तिके समय सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा करता है उस कठोर हृदय वालेके जिनशासनकी क्या भक्ति है? कुछ भी नहीं है ॥१४८॥ जो सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे शुद्ध सहधर्मीकी भक्ति नहीं करता है वह झूठ-मूठका विनयी बना फिरता है उसके सम्यग्दर्शनकी शुद्धि क्या है! ॥१४९॥ यदि बोधिकी प्राप्तिमें निमित्तभूत दर्शनविशुद्धिमें बाधा पहुँचाई जाती है तो फिर इस संसारके संकटमें पुनः बोधिकी प्राप्ति दुर्लभ ही समझनी चाहिए ॥१५०॥ यदि बोधिकी प्राप्ति नहीं होती है तो मुक्तिका साधन भूत-चारित्र कैसे हो सकता है? और जब चारित्र नहीं है तब मुक्तिके अभिलाषी मनुष्यको मुक्ति कैसे मिल सकती है? ॥१५१॥ मुक्तिके अभावमें अनन्त एवं अविनाशी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? सुखके अभावमें स्वास्थ्य कैसे मिल सकता है? और स्वास्थ्यके अभावमें यह जीव कृत्यकृत्य कैसे हो सकता है? ॥१५२॥ इसलिए आत्महित चाहनेवाला चाहे मुनि हो चाहे गृहस्थ, उसे सब प्रकारसे अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करनेमें उद्यत रहना चाहिए ॥१५३॥ जो मनुष्य वैयावृत्य करता है वह अपने तथा दूसरेके शरीर, दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं उत्तम तप आदि सभी गुणोंको स्थिर करता है ॥१५४॥ जिन-शासनकी रीतिको जाननेवाला जो विद्वान् परका उपकार

---

१. 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' कुमारसम्भवे। २. हानिकारकः। ३. बन्धुहेतुना म०, क०। ४. शासनस्थानं म०। ५. दर्शनज्ञानं म०।

वैयावृत्यप्रवृत्तो यः शासनार्थातिभावितः । न स शक्यः सुरै रोद्धुं किं पुनः क्षुद्रजन्तुभिः ॥१५६॥
नन्दिषेणमुनिश्चैष तथाविध इति स्तुते[1] । सौधर्मेन्द्रेण देवास्तं प्रशशंसुः प्रणामिनः ॥१५७॥
मुनिधैर्यपरीक्षार्थं तत्रैको विबुधस्तदा । मुनिरूपधरः प्राह नन्दिषेणमिति श्रितः ॥१५८॥
वैयावृत्यमहानन्द नन्दिषेण मुने शृणु । व्याधिव्यथितदेहस्य देहि मे किञ्चिदौषधम् ॥१५९॥
इत्युक्तस्स तमाहैवमविकल्पानुकम्पया । ददामि वत्स ते साधो रुचिः कस्मिन्निहाशने ॥१६०॥
पूर्वदेशजशालीनामोदनः सुरभिः शुभः । पञ्चालदेशमुद्गानां सूपः स्वादुरसान्वितः ॥१६१॥
हैयङ्गवीनमुत्तप्तमपरान्तसुवां गवाम् । पयः कलिङ्गधेनूनां सुमृष्टं व्यञ्जनान्तरम् ॥१६२॥
लभ्येत यदि साधु स्यात् श्रद्धा ह्यत्र ममाधिका । इत्युक्तश्चानयामीति जगाम श्रद्धयान्वितः ॥१६३॥
विरुद्धदेशवस्तूनां प्रार्थनेऽप्यविषण्णधीः । गत्वा गोचरवेलायामानीय सहसा ददौ ॥१६४॥
उपभुक्तान्नपानोऽसौ शरीरान्तर्मलाविलः । [2]धौतस्तेन स्वहस्ताभ्यां निशि निर्विचिकित्सया ॥१६५॥
अभग्नोत्साहमालोक्य नन्दिषेणमनिन्दितम् । वैयावृत्यकृतं प्रोचे दिव्यरूपधरः सुरः ॥१६६॥
यथा देवसभेऽस्तौषीत् भगवन्तं मघवानृषे । वैयावृत्योद्यतो लोके तथैव भगवान् भवान् ॥१६७॥
अहो लब्धिरहो धैर्यमहो निर्विचिकित्सता । अहो शासनवात्सल्यमशल्यं तव [3]सन्मुनेः ॥१६८॥
अन्येषामपि यद्येषा मनीषा स्यान्मनीषिणाम् । कालत्रये तपस्यत्र तेषां शासनभक्तता ॥१६९॥

करता हुआ स्वयं प्रत्युपकारकी अपेक्षासे रहित होता है वह शीघ्र ही स्वपर आत्माका मोक्ष प्राप्त करता है ॥१५५॥ जो जिन शासनके अर्थकी उत्कट भावना करता हुआ वैयावृत्य करनेमें प्रवृत्त रहता है उसे देव भी रोकनेके लिए समर्थ नहीं हैं फिर क्षुद्र जीवोंकी तो बात ही क्या है ॥१५६॥ यह नन्दिषेण मुनि ऐसे ही उत्तम मुनि हैं इस प्रकार सौधर्मेन्द्र द्वारा स्तुति किये जानेपर सब देवोंने उनकी प्रशंसा की और परोक्ष नमस्कार किया ॥१५७॥ उन्हीं देवोंमें एक देव, मुनिके धैर्य-की परीक्षाके लिए मुनिका रूप रख नन्दिषेण मुनिराजके पास पहुँचा और इस प्रकार कहने लगा ॥१५८॥ हे वैयावृत्यमें महान् आनन्दवाले नन्दिषेण मुनि ! मेरा शरीर व्याधिसे पीड़ित हो रहा है इसलिए मुझे कुछ ओषधि दीजिए ॥१५९॥ उसके इस प्रकार कहनेपर नन्दिषेण मुनिने अपनी अखण्ड अनुकम्पासे कहा कि हे साधो ! मैं ओषधि देता हूँ परन्तु यह बताओ कि तुम्हारी किस भोजनमें रुचि है ? ॥१६०॥ मुनि रूपधारी देवने कहा—पूर्वदेशके धानका शुभ एवं सुगन्धित भात, पंचाल देशकी मूँगकी स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देशकी गायोंका तपाया हुआ घी, कलिङ्ग देशकी गायोंका मधुर दूध और नानाप्रकारके व्यञ्जन यदि मिल जावें तो अच्छा हो क्योंकि मेरी श्रद्धा इन्हीं चीजोंमें अधिक है। इस प्रकार कहनेपर 'मैं अभी लाता हूँ' यह कहकर नन्दिषेण मुनि बड़ी श्रद्धाके साथ उक्त आहार लेनेके लिए चल दिये ॥१६१-१६३॥ विरुद्ध देशकी वस्तुओंकी चाह होनेपर भी उनके मनमें कुछ भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ और गोचरी वेलामें जाकर तथा उक्त सब आहार लाकर उन्होंने शीघ्र ही उस कृत्रिम मुनिको दे दिया ॥१६४॥ कृत्रिम मुनिने उस आहार पानीको ग्रहण किया परन्तु रात्रिमें शरीरके अन्तर्गत मलसे उसका समस्त शरीर मलिन हो गया और नन्दिषेण मुनिने बिना किसी ग्लानिके उसे अपने हाथोंसे धोया ॥१६५॥ तदनन्तर जिनका उत्साह भग्न नहीं हुआ था, तथा जो बराबर वैयावृत्य कर रहे थे ऐसे प्रशंसनीय नन्दिषेण मुनि-को देखकर दिव्य रूपको धारण करनेवाले देवने कहा कि हे ऋषे ! देवोंकी सभामें इन्द्रने आपकी जिस प्रकार स्तुति की थी मैं देख रहा हूँ कि आप उसी तरह वैयावृत्य करनेमें उद्यत हैं ॥१६६-१६७॥ अहो ! आपकी ऋद्धि, आपका धैर्य, आपकी ग्लानि जीतनेकी क्षमता और संशय रहित आपका शासन वात्सल्य सभी आश्चर्यकारी हैं, आप उत्तम मुनिराज हैं ॥१६८॥ यदि तप करते समय

---

१. स्तुतेः म० । २. भौतस्तेन म० । ३. सन्मुने म० ।

इति स्तुत्वा मुनिं नत्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्य सः । स्वर्गी स्वर्गमगाम्मार्गं जैनेन्द्रमतिवर्तयन् ॥१७०॥
पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि वर्षाण्यतिगमय्य सः । प्रायोपगमनं भेजे षण्मासावधि धीरधीः ॥१७१॥
संन्यस्तवपुराहारः स्वपरास्तप्रतिक्रियः । श्रीसौभाग्यनिदानेन स्वं बबन्ध सुमोहतः ॥१७२॥
निन्दितं नाकरिष्यच्चेन्निदानं स मुनिस्तदा । अबध्यत तदा शक्त्या तीर्थकृन्नाम तद्ध्रुवम् ॥१७३॥
स चाराध्य महाशुक्रे शक्रतुल्यस्ततोऽभवत् । तत्र तस्थौ सुखं कालं सार्द्धं षोडशसागरम् ॥१७४॥
स भुक्तसुरसौख्यस्ते ततः प्रच्युत्य पार्थिव । पार्थिवो वसुदेवोऽयं सुभद्रायामभूत्सुतः ॥१७५॥
इति श्रुत्वा भवान् पूर्वान् वृष्णिभार्यासुताः स्वकान् । धर्मसंवेगसम्पन्नाः सञ्जाता नृसुरास्तथा ॥१७६॥
सुप्रतिष्ठं प्रणम्येयुस्त्रिदशा नृपतिः पुनः । समुद्रविजयं राज्ये साभिषेकमतिष्ठपत् ॥१७७॥
समर्प्य वसुदेवं च समुद्रविजयाय सः । सुप्रतिष्ठस्य पादान्ते निष्क्रान्तस्तद्भवान्तकृत् ॥१७८॥
राज्ये भोजकवृष्णिश्च मथुरायां निधाय सः । उग्रसेनं समग्रेऽयं निर्ग्रन्थव्रतमग्रहीत् ॥१७९॥

पृथिवीछन्दः

समुद्रविजयः शिवां विहितपट्टबन्धां प्रियां
वधूनिवहमुख्यतामधिगमय्य राज्यस्थितिम् ।
स्थिरां स परिपालयन् सहजबन्धुभव्याम्बुजः
प्रतापमभिवर्धयन्नुदयनैर्जिनार्को यथा ॥१८०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ समुद्रविजयराज्यलाभवर्णनो नामाष्टादशः सर्गः ॥१८॥

अन्य बुद्धिमान् मनुष्योंको भी इसी प्रकार त्रिकालमें वैयावृत्य करनेकी बुद्धि हो जावे तो उसे उनकी शासन भक्ति समझना चाहिए ॥१६९॥ इस प्रकार वह देव, मुनिराजकी स्तुति कर तथा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर जिन-शासनकी प्रभावना करता हुआ स्वर्गको चला गया ॥१७०॥ अत्यन्त धीर बुद्धिको धारण करनेवाले नन्दिषेण मुनिने तपश्चरण द्वारा पैंतीस हजार वर्ष बिताकर अन्तिम समय छह माहका प्रायोपगमन संन्यास ले लिया ॥१७१॥ उन्होंने शरीर और आहारका त्याग कर दिया वे अपने शरीरकी वैयावृत्ति न स्वयं करते थे न दूसरेसे कराते थे किन्तु इतना होनेपर भी मोहकी तीव्रतासे उन्होंने 'मैं अग्रिम भवमें लक्ष्मीमान् तथा सौभाग्यवान् होऊँ' इस निदानसे अपनी आत्माको बद्ध कर लिया ॥१७२॥ यदि वे मुनि उस समय यह निन्दित निदान नहीं करते तो अपनी सामर्थ्यसे अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करते ॥१७३॥ तदनन्तर वह आराधनाओंकी आराधना कर महाशुक्र स्वर्गमें इन्द्र तुल्य देव हुआ और वहाँ साढ़े सोलह सागर तक सुखसे विद्यमान रहा ॥१७४॥ हे राजन् ! वही पुत्र देवोंके सुख भोगकर अन्तमें वहाँसे च्युत हो तेरी सुभद्रा रानीसे यह पृथिवीका अधिपति वसुदेव नामका पुत्र हुआ है ॥१७५॥ इस प्रकार अन्धकवृष्णि, उसकी सुभद्रारानी तथा समुद्रविजय आदि पुत्र सुप्रतिष्ठ केवलीसे अपने-अपने पूर्वभव सुनकर धर्म और संवेगको प्राप्त हुए। इनके सिवाय जो वहाँ मनुष्य तथा देव थे वे भी धर्म और संवेगको प्राप्त हुए ॥१७६॥ सुप्रतिष्ठ स्वामीको नमस्कार कर देवलोग अपने-अपने स्थानपर चले गये। तदनन्तर संसारका अन्त करनेवाले राजा अन्धकवृष्णिने समुद्रविजयका अभिषेक कर उसे राज्य-सिंहासनपर बैठाया और वसुदेवको समुद्रविजयके लिए सौंपकर सुप्रतिष्ठ केवलीके पादमूलमें दीक्षा धारण कर ली ॥१७७-१७८॥ उधर भोजकवृष्णिने भी मथुराके समग्र राज्यपर उग्रसेनको बैठाकर निर्ग्रन्थ व्रत धारण कर लिया—मुनि दीक्षा ले ली ॥१७९॥ राजा समुद्रविजयने अपनी प्रियरानी शिवादेवीको पट्ट बाँधकर समस्त स्त्रियोंमें मुख्यता प्राप्त करा दी। तदनन्तर जिस प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य, अष्ट प्रातिहार्य रूप अभ्युदयसे प्रभावको बढ़ाते हुए भव्य जीवरूपी कमलोंको प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार राज्य मर्यादाकी रक्षा करनेवाले राजा समुद्रविजय भी अपनी अनुपम विभूतिसे प्रतापको बढ़ाते हुए अपने बन्धुरूपी कमलोंको प्रसन्न करने लगे ॥१८०॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें समुद्रविजयके लिए राज्य प्राप्तिका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः

अथाह गणनाथाद्यः[1] शृणु श्रेणिक वर्ण्यते । चेष्टितं वसुदेवस्य वसुधाविजयार्द्धजम् ॥१॥
समुद्रविजयो भूभृद्दृष्टानां नवयौवने । भ्रातॄणां राजपुत्रीभिः [2]सत्कल्याणमकारयत् ॥२॥
उवाह धृतिमक्षोभ्यस्ततः स्तिमितसागरः । स्वयंप्रभां प्रभाऽनूनां सुनीतां हिमवानपि ॥३॥
सिताख्यां विजयः ख्यातां प्रियालापां तथाऽचलः । उपयेमे युवा धीरो धारणश्च प्रभावतीम् ॥४॥
कालिङ्गीं पूरणश्चार्वीमभिचन्द्रश्च सुप्रभाम् । अष्टौ स्त्रीषु महादेव्यस्त्वष्टानामपि ताः स्मृताः ॥५॥
कलागुणविदग्धानां तेषामासीत् सयोषिताम् । अन्योन्यप्रेमबद्धानामनन्यसदृशी रतिः ॥६॥
तदा देवकुमाराभो वसुदेवः श्रिया श्रितः । शौर्यपुर्यां च चिक्रीड कुमारक्रीडया युतः ॥७॥
रूपलावण्यसौभाग्यभाग्यवैदग्ध्यवारिधिः । जहार जनचेतांसि कुमारो मारविभ्रमः ॥८॥
चतुर्णां लोकपालानां वेषमादाय हारिणम् । इन्द्रादिदिक्षु निःक्षुद्रः क्रमात्पुर्या विनिर्ययौ ॥९॥
[3]निर्याति [4]सूर्यदीप्ताङ्गे [5]चन्द्रसौम्यमुखाम्बुजे । तत्र शौर्यपुरे स्त्रीणां भवत्याकुलता परा ॥१०॥
सङ्घट्टः पुरनारीणां वसुदेवदिदृक्षया । जायतेऽर्णववेलायां पूर्णचन्द्रोदये [6]यथा ॥११॥
भूमौ रथ्या यथा स्त्रीभिस्त्यक्त[7]प्रस्तुतकर्मभिः । प्रासादेषु गवाक्षाश्च सञ्छाद्यन्ते दिदृक्षुभिः ॥१२॥
सौभाग्यहृतचेतस्कं बहिरन्तरितस्ततः । बभूव पुरमुद्भ्रान्तं वसुदेवकथामयम् ॥१३॥

अथानन्तर गौतम गणधरने कहा कि हे श्रेणिक ! अब वसुदेवकी पृथिवी तथा विजयार्ध सम्बन्धी चेष्टाओंका वर्णन करता हूँ सो सुन ॥१॥ राजा समुद्रविजयने अपने आठ छोटे भाइयों- के नवयौवन आनेपर उनका राजपुत्रियोंके साथ विवाह करा दिया ॥२॥ अक्षोभ्यने धृतिको, स्तिमितसागरने उत्कृष्ट प्रभाको धारण करनेवाली स्वयंप्रभाको, हिमवानने सुनीताको, विजयने सिताको, अचलने प्रियालापाको, युवा तथा धीर वीर धारणने प्रभावतीको, पूरणने कालिङ्गीको और अभिचन्द्रने सुप्रभाको विवाहा। ये आठों स्त्रियाँ अक्षोभ्य आदि कुमारोंकी आठ महादेवियाँ थीं तथा अनेकों स्त्रियोंमें प्रधान मानी गई थीं ॥३-५॥ जो कला तथा अनेक गुणोंमें चतुर थे, अपनी-अपनी स्त्रियोंसे सहित थे और पारस्परिक प्रेमसे आपसमें बँधे हुए थे ऐसे उन सब भाइयों- में परस्पर बेजोड़ प्रेम था ॥६॥ उस समय लक्ष्मीसे सेवित वसुदेव, देव कुमारके समान जान पड़ते थे और बालक्रीड़ासे युक्त हो शौर्यपुरी नगरीमें यथेच्छ क्रीड़ा करते थे ॥७॥ रूप, लावण्य, सौभाग्य, भाग्य और चतुराईसे सागर तथा कामदेवके समान सुन्दर वसुदेव जनताके चित्तको हरण करते थे ॥८॥ अतिशय उदार वसुदेव क्रम-क्रमसे चार लोकपालोंका मनोहर वेष रखकर पूर्व आदि दिशाओंमें निकलते थे ॥९॥ जिनका शरीर सूर्यके समान देदीप्यमान था तथा मुख कमल चन्द्रमाके समान सौम्य था ऐसे वसुदेव जब उस शौर्यपुरमें बाहर निकलते थे तब स्त्रियोंमें बड़ी आकुलता उत्पन्न हो जाती थी ॥१०॥ जिस प्रकार पूर्णचन्द्रका उदय होनेपर समुद्रकी वेलामें संघट्ट मच जाता है उसी प्रकार वसुदेवको देखनेकी इच्छासे नगरकी स्त्रियोंमें संघट्ट मच जाता था—उनकी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो जाती थी ॥११॥ उनके बाहर निकलते ही देखनेके लिए इच्छुक स्त्रियाँ अपने प्रारब्ध कार्योंको छोड़कर पृथिवीपर तो गलियोंको रोक लेती थीं और ऊपर महलोंके झरोखोंको आच्छादित कर लेती थीं ॥१२॥ वसुदेवके सौभाग्यसे जिसका चित्त हरा गया था

---

१. गौतमः । २. विवाहम् । ३. निर्गच्छति सति । ४. सूर्यवत् दीप्तमङ्गं यस्य तस्मिन् । ५. चन्द्रवत् सौम्यं मुखाम्बुजं यस्य तस्मिन् । ६. पूर्णचन्द्रोदयं यथा म० । ७. प्रारब्ध म० ।

अन्यदा पुरवृद्धास्ते समुद्रविजयं नृपम् । नत्वा व्यजिज्ञपन्नित्यमुपांशु [1]पिशुनान्तराः ॥१४॥
अभयं नः प्रदाय त्वं शृणु [2]विज्ञापनं विभो । युक्तं वा यदि वाऽयुक्तं बालस्येव वचः पिता ॥१५॥
नृपस्त्वं रक्षणान्नृणां भूपो रक्षणतो भुवः । त्वमेव जगतो राजा राजन् ! प्रकृतिरञ्जनात् ॥१६॥
त्वयि राजनि राजन्ते [3]जनितप्रमदाः प्रजाः । अक्षुद्रोपद्रवाः पूर्वं पितरीव तवाधुना ॥१७॥
उर्वरा सर्वसस्यौघैः शालिव्रीह्यादिभिर्वरैः । [4]अवग्रहोज्झितैर्धत्ते प्रतिवर्षमवन्ध्यताम् ॥१८॥
यथा कृषिस्तथात्यर्थं वणिज्या फलति प्रभो । क्रयविक्रयबाहुल्याद् वणिजां राज्यमूर्जितम् ॥१९॥
घटोध्न्यो घटपूरं हि गोमहिष्युरुधेनवः । दुहन्ति सततं दुग्धं प्रभूताः [5]सुहितास्तृणैः ॥२०॥
गृहार्थमन्नमल्पं प्रसाधितमयत्नतः । नान्तमेति दिनान्तेऽपि दानधर्मात्मभुक्तिभिः ॥२१॥
स्वस्वभावविभक्तान्यभावेषष्ट्यब्दवस्तुनि[6] । त्वत्प्रभावाच्चिरस्थैर्यः कालो दुन्दुभिरेव[7] नः ॥२२॥
एवं सति सुखे दुःखं स्वल्पं तदपि भूपते । न प्रकाशयितुं शक्यं यथात्मोदरपाटनम् ॥२३॥

ऐसा समस्त नगर उस समय भीतर-बाहर उद्भ्रान्त हो गया था तथा जहाँ-तहाँ एक वसुदेवकी ही कथा सुनाई देती थी ॥१३॥ तदनन्तर किसी समय जिनके हृदय मात्सर्यसे परिपूर्ण थे ऐसे वृद्धजन राजा समुद्रविजयके पास जाकर तथा नमस्कार कर एकान्तमें इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥१४॥

उन्होंने कहा कि हे प्रभो ! जिस प्रकार बालकके वचन चाहे युक्त हों चाहे अयुक्त, उन्हें पिता सुनता ही है उसी प्रकार आप हम लोगोंको अभय देकर हमारे वचन सुनिए। हमारे वे वचन भले ही युक्त हों अथवा अयुक्त हों ॥१५॥ हे नाथ ! आप मनुष्योंकी रक्षा करते हैं इसलिए नृप हैं, पृथिवीकी रक्षा करते हैं इसलिए भूप हैं और प्रजाको अनुरञ्जित करते हैं इसलिए आप ही राजा हैं ॥१६॥ जिस प्रकार पहले आपके पिताके राज्य-कालमें प्रजा सानन्द तथा क्षुद्र उपद्रवोंसे रहित थी उसी प्रकार इस समय आपके राज्य-कालमें भी प्रजा सानन्द तथा क्षुद्र उपद्रवोंसे रहित है ॥१७॥ यहाँकी उपजाऊ भूमि वर्षाके प्रतिबन्धसे रहित शालि, व्रीहि आदि सब प्रकारके उत्तमोत्तम धान्योंके समूहसे प्रतिवर्ष सफलताको धारण करती है ॥१८॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार खेती सफल रहती है उसी प्रकार वाणिज्य भी सफल रहता है। आपका राज्य व्यापारियोंके क्रय-विक्रयकी अधिकतासे अत्यधिक सम्पन्न हो रहा है ॥१९॥ घटके समान बड़े-बड़े स्तनोंको धारण करनेवाली एवं हरे-भरे तृणोंसे सन्तुष्ट बहुत-सी गायें, भैंसे और उत्तम जातिकी धेनुएँ निरन्तर घड़े भर-भरकर दूध देती हैं ॥२०॥ घरके उपयोगके लिए साधारण रीतिसे तैयार किया हुआ थोड़ा-सा अन्न भी, दानके समय धर्मात्माओंके भोजनमें आनेसे सायंकालतक भी समाप्त नहीं होता ॥२१॥ हे नाथ ! साठ संवत्सरी रूप जो वस्तु है उसमें स्वभाववश ही अन्यथा परिणमन होता रहता है परन्तु आपके प्रभावसे हमलोगोंका तो दुन्दुभि नामक काल ही चिरकालसे स्थिर है। भावार्थ—ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार साठ संवत्सर होते हैं जो क्रमसे परिवर्तित होते रहते हैं उनमें हानि-लाभ सभी कुछ होते हैं। परन्तु उन संवत्सरोंमें एक दुन्दुभि नामका संवत्सर भी होता है जिसमें प्रजाका समय आनन्दसे बीतता है। प्रजाके लोग राजा समुद्रविजयसे कह रहे हैं कि यद्यपि संवत्सर परिवर्तनशील हैं परन्तु हमारे लिए आपके प्रभावसे दुन्दुभि नामक संवत्सर ही चिरस्थायी होकर आया है ॥२२॥ हे राजन् ! इस प्रकार सुखके रहते हुए थोड़ा-सा

---

१. पिहितान्तराः म० । २. विज्ञापनां म० । ३. प्रमदाः सफलाः म० । ४. वृष्टिप्रतिबन्धरहितैः । ५. सुतृप्ताः । ६. व्ययकृदस्ति षष्टिसंवत्सरीरूपे काले सत्यपि इति ख० पुस्तकं विहाय सर्वत्र टिप्पणी । ७. 'सर्वसस्ययुता धात्री पालिता धरणीधरैः । पूर्वदेशविनाशः स्यात्तत्र दुन्दुभिवत्सरे' ॥ इति वर्षप्रबोधे ।

इत्याकर्ण्य नृपः प्राह पौरप्राग्रहरानिति । ब्रूत वीतभया दुःखं यूयं मह्यं हिता यदि ॥२४॥
आधिर्व्याधिरिवाल्पोऽपि हृदये कृतसंनिधिः । प्राणकारणमप्यन्नं प्रतिहन्ति न संशयः ॥२५॥
इत्युक्तास्तेन ते प्रोचुरिति विस्रम्भमागताः । दुर्विज्ञप्तिमिमां राजन् निबुध्यस्व प्रजाहितम् ॥२६॥
वसुदेवकुमारस्य नित्यं निःसरतः पुरात् । रूपदर्शनविभ्रान्ता विस्मरन्ति वपुः स्त्रियः ॥२७॥
निर्गमे च प्रवेशे च कुमारस्याभ्यदङ्गनाः । न पश्यन्ति न शृण्वन्ति भवन्ति विकलेन्द्रियाः ॥२८॥
तिष्ठन्तु तावदन्यानि स्वानुष्ठेयानि योषिताम् । स्तनन्धयस्तनादानं रागान्धानां सुविस्मृतम् ॥२९॥
अतिरूपतमो धीरः स्वभावस्वच्छमानसः । सर्वोपधाविशुद्धात्मा कुमारः शीलशेखरः ॥३०॥
नृप ! कस्य न विज्ञातस्समस्ते वसुधातले । तथापि किं वयं कुर्मो चित्तोद्भ्रान्तमभूत्पुरम् ॥३१॥
यदत्र युक्तमाधातुं तत्त्वमेव निरूपय । [1]यथास्वन्तं पुरस्येश ! कुमारस्य च जायते ॥३२॥
तन्निशम्य वचो राजा विचिन्त्य चिरमात्मनि । तथेति प्रतिपद्यैतान् विससर्ज ययुश्च ते ॥३३॥
पर्यट्य चिरमागत्य प्रणतं भ्रातरं नृपः । आलिङ्ग्याङ्कं तमारोप्य स्नेहेनाघ्राय मस्तके ॥३४॥
[2]श्रान्तोऽत्यन्तं कुमार ! त्वं चिरं भ्रान्त्वा वनान्तरम् । विवर्ण ! क्षुत्पिपासार्त ! किमित्येवं चिरायितम् ॥
वातातपपरि[3]म्लानः शिरःशेखरनीरुचिः । अगणय्य वपुःखेदं पर्यटस्यटनप्रियः ॥३६॥

दुःख भी है परन्तु जिस प्रकार अपना पेट फाड़कर नहीं दिखाया जा सकता उसी प्रकार वह थोड़ा-सा दुःख भी नहीं प्रकट किया जा सकता ॥२३॥

इस प्रकार सुनकर राजा समुद्रविजयने नगरके वृद्धजनोंसे कहा कि यदि आप लोग हमारा हित चाहते हैं तो निर्भय होकर वह दुःख कहिए ॥२४॥ क्योंकि हृदयमें रहनेवाली छोटी-सी मानसिक व्यथा भी शारीरिक व्यथाके ही समान, प्राण-रक्षाका कारण जो अन्न है उसे भी छुड़ा देती है इसमें संशय नहीं है। भावार्थ—मानसिक पीड़ाके कारण मनुष्य खाना-पीना भी छोड़ देता है ॥२५॥ इस प्रकार समुद्रविजयके कहनेपर प्रजाके लोग विश्वस्त हो कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे राजन् ! हमारी विज्ञप्ति, विज्ञप्ति नहीं किन्तु दुर्विज्ञप्ति है परन्तु प्रजाके हितके लिए उसे अवश्य सुनिए ॥२६॥ वसुदेवकुमार प्रतिदिन नगरसे बाहर निकलते हैं जिससे नगरकी स्त्रियाँ उनका रूप देखकर पागल-सी हो जाती हैं और अपने शरीरकी सुध-बुध भूल जाती हैं ॥२७॥ कुमारके बाहर निकलने और भीतर प्रवेश करनेके समय स्त्रियाँ इन्द्रियोंसे रहित जैसी हो जाती हैं इसलिए वे न अन्य किसीको देखती हैं और न अन्य कुछ सुनती ही हैं ॥२८॥ स्त्रियोंके अपने करने योग्य दूसरे काम तो दूर रहें परन्तु रागान्ध होकर वे छोटे-छोटे बच्चोंके लिए स्तन देना—दूध पिलाना भी भूल जाती हैं ॥२९॥ हे राजन् ! यद्यपि कुमार वसुदेव, अत्यन्त सुन्दर, धीर-वीर, स्वभावसे स्वच्छ हृदयके धारक, सर्वप्रकारसे विशुद्ध आत्मासे युक्त और शीलके शिरोमणि हैं ॥३०॥ यह समस्त पृथिवीतलपर किसे नहीं विदित है ? फिर भी हम क्या करें ? नगरवासियोंका चित्त उद्भ्रान्त हो रहा है ॥३१॥ हे स्वामिन् ! हम लोगोंने अपनी मनोव्यथा कही अब यहाँ जो कुछ करना उचित हो तथा जिससे नगर और कुमार दोनोंका परिणाम अच्छा हो वह आप ही कहिए ॥३२॥

राजा समुद्रविजयने नगरवासियोंकी बात सुनकर चिरकाल तक अपने-आपमें उसका विचार किया, उसके बाद सबको आश्वासन देकर बिदा किया और आश्वासन पाकर नगरवासी यथास्थान चले गये ॥३३॥ उसी समय भाई वसुदेवने चिरकाल तक भ्रमण करनेके बाद आकर राजा समुद्रविजयको प्रणाम किया। समुद्रविजयने उनका आलिङ्गन कर गोदमें बैठाया और स्नेहसे मस्तक सूँघते हुए कहा कि कुमार ! तुम चिरकाल तक वनके मध्यमें भ्रमण करनेसे अत्यन्त थक गये हो। देखो, तुम्हारा वर्ण फीका पड़ गया है और तुम भूख-प्याससे पीड़ित जान पड़ते हो।

१. शोभनपरिणामः। २. श्रान्तोऽत्यन्तं म०। ३. परिम्लानशिरः-म०।

स्नानभोजनवेलाया मा कृथास्त्वमतिक्रमम् । अद्य प्रभृति शुद्धान्तवनान्तेश्चारमाचर ॥३७॥
इति राजाऽनुजं भक्तमनुशिष्य शिवागृहम् । सप्तकक्षापरिक्षेपि तं गृहीत्वा करेऽविशत् ॥३८॥
स्नात्वा भुक्त्वा स तेनामा कृतरक्षाविधिः स्वयम् । तदलक्षितसंकेतो बभूव नृपतिः सुखी ॥३९॥
कुमारोऽपि शिवादेव्याः स वनोद्यानभूमिषु । क्रीडन्नाट्य[1]सुगीताद्यैर्विनोदैश्चावसत्सदा ॥४०॥
एकदा तु शिवादेव्यै समालम्भनमेकया । कुब्जया नीयमानं तां खलीकृत्य जहार सः ॥४१॥
सा जगाद ततो रुष्टा कुमार ! तव चेष्टितैः । ईदृशैरेव सम्प्राप्तो बन्धनागारमीदृशम् ॥४२॥
स तां पप्रच्छ [2]शङ्कावान् कुब्जे ! किमिति जल्पितम् । न्यवेदयच्च सा तस्मै यथावन्नृपमन्त्रणम् ॥४३॥
ततः स्वं वञ्चनं[3] ज्ञात्वा विमनाः स नृपं प्रति । सछद्मशद्मना दक्षो निरगान्नगरात्ततः ॥४४॥
गत्वैकानुचरो मन्त्रसाधनव्याजवान्निशि । श्मशाने चैकदेशस्थं तं कृत्वोत्तरसाधकम् ॥४५॥
किञ्चिद्दूरे निवेश्यैकं मृतकं भूषणैर्निजैः । विभूष्य चितिकामध्ये निक्षिप्य वदति स्म सः ॥४६॥
आर्यस्तातसमो राजा पौराश्च पिशुनाश्चिरम् । सुखं जीवन्तु सन्तुष्टाः प्रविष्टोऽहं हुताशनम् ॥४७॥
इत्युक्त्वोच्चैः प्रधाव्यासौ प्रदर्श्याग्निप्रवेशनम् । अन्तर्धानं गतो दूरं [4]भुजिष्योऽपि पुरं ततः ॥४८॥
वसुदेवस्य वृत्तान्ते तद्भृत्येन निवेदिते । सपौरान्तःपुरभ्रातृवृष्णिवर्गस्तदा नृपः ॥४९॥

इतनी देर तुमने किस लिए की ? वायु तथा घामसे तुम मुरझा गये हो, तुम्हारे शिरका सेहरा भी कान्तिहीन हो गया है, तुम घूमनेके ऐसे शौकीन हो कि शरीरके खेदकी परवाह न कर घूमते रहते हो ? अब आजसे स्नान तथा भोजनके समयका उल्लंघन नहीं करना तथा आजसे अन्तः-पुरके भीतर जो बगीचा है उसीमें क्रीड़ा करना ॥३४–३७॥ इस प्रकार राजा समुद्रविजय भक्तिसे भरे हुए छोटे भाई—समुद्रविजयको समझाकर तथा हाथ पकड़कर सात कक्षाओंसे घिरे हुए शिवादेवीके महलमें प्रविष्ट हुए ॥३८॥ वहाँ वसुदेवके साथ ही उन्होंने स्नान किया, भोजन किया तथा 'वे वहीं रहें' इस बातकी स्वयं ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिसका वसुदेवको कुछ भी संकेत मालूम नहीं हुआ। यह सब कर राजा समुद्रविजय सुखी हुए—निश्चिन्त हो गये ॥३९॥ और कुमार वसुदेव भी शिवादेवीके बगीचोंमें नाट्य संगीत आदि विनोदोंसे क्रीड़ा करते हुए सदा रहने लगे ॥४०॥

अथानन्तर एक दिन अन्तःपुरकी एक कुब्जादासी शिवादेवीके लिए विलेपन लिये जा रही थी सो कुमारने उसे तंगकर छीन लिया। इससे रुष्ट होकर कुब्जाने कहा कि कुमार ! ऐसी ही चेष्टाओंसे तुम इस प्रकार बन्धनागारको प्राप्त हो—कैद किये गये हो ॥४१–४२॥ कुब्जाकी बात सुनकर शङ्कायुक्त हो वसुदेवने उससे पूछा कि कुब्जे ! तूने यह क्या कहा ?—तेरे कहनेका क्या तात्पर्य है ? तब उसने राजाकी जो सलाह थी वह ज्योंकी-त्यों कुमारको बता दी ॥४३॥ तदनन्तर 'हमारे प्रति धोखा किया गया' यह जानकर कुमार राजासे विमुख हो गये। वे चतुर तो थे ही इसलिए छलपूर्वक घरसे तथा नगरसे बाहर निकल गये ॥४४॥ वे मन्त्रसिद्धिका बहाना बना एक नौकरको साथ लेकर रात्रिके समय श्मशानमें गये। वहाँ नौकरको एक स्थानपर बैठाकर तथा 'जब मैं पुकारूँ उत्तर देना' ऐसा संकेतकर कुछ दूर अकेले गये। वहाँ एक मुर्दाको अपने आभूषणोंसे अलंकृत कर तथा उसे एक चितापर रखकर उन्होंने कहा कि पिताके समान पूज्य राजा और चुगली करनेवाले नगरवासी सन्तुष्ट होकर चिरकाल तक सुखसे जीवित रहें; मैं अग्निमें प्रविष्ट हो रहा हूँ। इस प्रकार जोरसे कहकर तथा 'दौड़कर अग्निमें प्रवेश किया है' यह दिखाकर अन्तर्हित हो दूर चले गये। इस घटनाके बाद वह नौकर भी नगरमें वापिस आ गया ॥४५–४८॥ नौकर द्वारा वसुदेवका वृत्तान्त कहे जानेपर राजा समुद्रविजय उसी समय नगरवासी,

---

१. नाद्य- म० । २. शङ्कासात् म० । ३. वचनं म० । ४. अनुचरोऽपि ।

सम्प्राप्य प्रातराक्रन्दमुखरो वीक्ष्य भस्मनि । कुमाराभरणं तत्र रुदित्वा मृत इत्यसौ ॥५०॥
पश्चात्तापहतो दुःखी स कृतोचिततत्क्रियः । निन्दन् मन्दोद्यमः स्वं च वञ्चितोऽहमिति स्थितः ॥५१॥
वसुदेवस्तु निःशङ्को गृहीत्वा पश्चिमां दिशम् । द्विजवेषधरो धीरो योजनानि बहून्ययात् ॥५२॥
प्रापद् विजयखेटाख्यं पुरं खेटपुरोपमम् । क्षत्रियान्वयजेनात्र दृष्टो गन्धर्वसूरिणा ॥५३॥
सुग्रीव इत्यनुग्राही गान्धर्वार्थिजनस्य सः । चौक्ष्यैवाकारमेतस्य वशीकृत इवाऽभवत् ॥५४॥
कन्याऽनन्यसमा तस्य सोमा [1]सोमसमानना । अन्या विजयसेनाख्या रूपपारमिते शुभे ॥५५॥
गन्धर्वादिकलापारं प्राप्तयोः स तयोः पिता । गान्धर्वे योऽनयोर्जेता स भर्तेत्यभिमन्यते ॥५६॥
लक्ष्यलक्षणयोगेन यत्र यत्र तयोर्जयः । तत्र तत्र सभामध्ये ते जिगाय स यादवः ॥५७॥
सुग्रीवेण सतोषेण कन्ये दत्ते ततः शुभे । परिणीय मुदा रेमे प्रासादवरभूमिषु ॥५८॥
सूनुं विजयसेनायामुत्पाद्याक्रूरसंज्ञकम् । शौरिः शौर्यसहायोऽयादविज्ञातविनिर्गतः ॥५९॥
गच्छन्मार्गवशात् क्वाऽपि प्रविवेश महाटवीम् । अपश्यच्च सरो रम्यं हंससारसवारिजैः ॥६०॥
[2]नाम्ना तत् स जलावर्तमवगाह्य महासरः । शीतं [3]प्रपाय पानीयं सस्नौ तत्र चिरन्तनम् ॥६१॥
जलं मुरजनिर्घोषं [4]समवादयदुन्नतः । निशम्य रवमुत्तस्थौ तत्र सुप्तो महागजः ॥६२॥

अन्तःपुर, भाई तथा अन्य यदुवंशियोंके साथ श्मशान गये । उस समय सबके मुखसे रोनेकी ध्वनि निकल रही थी । जब प्रातःकाल राखमें कुमारके आभूषण देखे तब 'कुमार निश्चित ही मर गये हैं' यह जानकर सब रोने लगे । राजा समुद्रविजय पश्चात्तापसे पीड़ित हो बहुत दुःखी हुए । उन्होंने मरणोत्तर कालकी सब क्रियाएँ कीं, अपने-आपकी बहुत निन्दा की और हम भाईसे वञ्चित हुए हैं इस खेदसे उनका उद्यम कुछ मन्द पड़ गया ॥४९–५१॥

इधर धीर-वीर वसुदेव निःशङ्क हो पश्चिम दिशाकी ओर चल पड़े और एक ब्राह्मणका वेष रखकर बहुत योजन दूर निकल गये ॥५२॥ चलते-चलते वे देवोंके नगरके समान सुन्दर विजयखेट नामक नगरमें पहुँचे । वहाँ क्षत्रियवंशमें उत्पन्न सुग्रीव नामका एक गन्धर्वाचार्य रहता था । वह गन्धर्वाचार्य संगीत विद्याके इच्छुक मनुष्योंका बड़ा उपकारी था तथा वसुदेवका रूप देखकर उनका वशीभूत जैसा हो गया ॥५३–५४॥ उस गन्धर्वाचार्यकी, रूपमें अपनी शानी न रखनेवाली चन्द्रमुखी सोमा और विजयसेना नामकी दो उत्तम पुत्रियाँ थीं । ये पुत्रियाँ सौन्दर्यकी परम सीमाको प्राप्त हुई-सी जान पड़ती थीं ॥५५॥ ये कन्याएँ गन्धर्व आदि कलाओंकी परम सीमाको प्राप्त थीं इसलिए उनके पिता सुग्रीवने अभिमानवश ऐसा विचार कर लिया था कि जो गन्धर्व-विद्यामें इन दोनोंको जीतेगा वही इनका भर्ता होगा ॥५६॥ लक्ष्य-लक्षणके योगसे अन्यत्र जिन-जिन विषयोंमें उन दोनों कन्याओंकी जीत हुई थी उन्हीं-उन्हीं विषयोंमें सभाके बीच वसुदेवने उन कन्याओंको पराजित कर दिया ॥५७॥ तदनन्तर सुग्रीवने संतुष्ट होकर अपनी दोनों कन्याएँ वसुदेवके लिए दे दीं । वसुदेव उन्हें विवाह कर महलकी उत्तम भूमियोंमें आनन्द पूर्वक क्रीड़ा करने लगे ॥५८॥ शूरवीरता ही जिनकी सहायक थी ऐसे वसुदेव, विजयसेना नामक स्त्रीमें अक्रूर नामक पुत्र उत्पन्न कर अज्ञात रूपसे बाहर निकल गये ॥५९॥ मार्गके अनुसार भ्रमण करते हुए उन्होंने एक बहुत बड़ी अटवीमें प्रवेश किया और वहाँ हंस, सारस तथा कमलोंसे सुशोभित एक सुन्दर सरोवर देखा ॥६०॥ जलावर्त नामके उस महासरोवरमें प्रवेशकर वसुदेवने ठण्डा पानी पिया तथा चिरकाल तक स्नान किया ॥६१॥ तदनन्तर अतिशय उन्नत शरीरके धारक वसुदेवने वहाँ जलको इस तरह बजाया कि जिससे मृदङ्गके समान शब्द निकलता था । उस शब्दको सुनकर वहाँ सोया हुआ एक बड़ा हाथी उठकर

---

१. चन्द्रतुल्यवदना । २. नाम्नान्तः स- म० । ३. पीत्वा । ४. समवादयदुन्नतः० म० ।

आपतन्तं स तं हन्तुं वञ्चयन्नतिदक्षिणः । चिक्रीड दन्तिदन्ताग्रे दोलाप्रेङ्खनमाचरन् ॥६३॥
वशीकृत्य वशी शीतकरशीकरशोभितम् । आरुह्यास्फाल्य हस्तेन हस्तिनं निश्चलं स्थितम् ॥६४॥
विस्मितः स्वयमेवासौ सशिरःकम्पमुत्करः । अरण्यरुदितं जातमित्यचिन्तयदेककः ॥६५॥
अभविष्यदिभक्रीडा यदि शौर्यपुरे त्वियम् । अभविष्यत्ततो लोको मुखरः साधुकारतः ॥६६॥
इति ध्यायन्तमेवैनं जहतुर्गजमस्तकात् । सौम्यरूपधरौ धीरौ विद्याधरकुमारकौ ॥६७॥
नीत्वा तं कुञ्जरावर्तं नगरं विजयार्द्धजम् । चक्रतुर्बहिरुद्याने सर्वकामिकनामनि ॥६८॥
अशोकानोकहस्याधः शोकक्लेशविवर्जितम् । वसुदेवं सुखासीनं नत्वा ताविदमूचतुः ॥६९॥
स्वामिन्नशनिवेगस्य विद्याधरमहेशिनः । शासनात्त्वमिहानीतो जानीहि श्वशुरः स ते ॥७०॥
अर्चिर्माली कुमारोऽहं वायुवेगोऽयमित्यमुम् । निवेद्य पुरमेकोऽगादस्थादेकोऽत्र पालकः ॥७१॥
दिष्ट्या त्वं वर्द्धसे स्वामिन्नानीतो द्विपमर्दनः । धीरः शूरोऽभिरूपश्च विनीतो नवयौवनः ॥७२॥
नत्वेति ज्ञापितस्तेन स प्रमोदवशो नृपः । अङ्गस्पृष्टं ददज्जातः [1]परिधानावशेषकः ॥७३॥
ततः समङ्गलं तेन नगरं स प्रवेशितः । अलङ्कृतवपुः पौरनरनारीभिरीक्षितः ॥७४॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रमुहूर्तकरणोदये । कन्यामशनिवेगस्य [2]श्यामां श्यामामुवाह सः ॥७५॥
रेमे कामं स कामिन्या कलागुणविदग्धया । तथा तदा तदुच्छ्रित्सुखपङ्कजषट्पदः ॥७६॥

खड़ा हो गया ॥६२॥ मारनेके लिए आनेवाले उस हाथीको छलकर अतिशय चतुर वसुदेव उसके दाँतोंके अग्रभागपर झूला-सा झूलते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥६३॥ तदनन्तर जो चन्द्रमाके समान जलके कणोंसे सुशोभित था, ऐसे निश्चल खड़े हुए उस हाथीको वशकर जितेन्द्रिय वसुदेव हाथसे उसका आस्फालन करते हुए उसपर सवार हो गये ॥६४॥ उस समय एकाकी वसुदेव स्वयं आश्चर्यसे चकित हो तथा हाथ ऊपरको उठा शिर हिलाते हुए मनमें इस प्रकार विचार करने लगे कि मेरा यह कार्य अरण्यरोदन जैसा हुआ ॥६५॥ यदि यह हस्तिक्रीड़ा शौर्यपुरमें हुई होती तो लोग धन्यवादसे मुखर हो जाते अथवा यह संसार धन्यवादकी ध्वनिसे गूँज उठता ॥६६॥ वसुदेव इस प्रकार विचार कर रहे थे कि उसी समय सौम्यरूपके धारक दो धीर-वीर विद्याधर-कुमार हाथीके मस्तकसे उन्हें हर ले गये ॥६७॥ और विजयार्ध पर्वतके कुञ्जरावर्त नगरमें ले जाकर उसके सर्वकामिक नामक बाह्य उपवनमें छोड़ दिया ॥६८॥ वहाँ जब वसुदेव अशोक वृक्षके नीचे शोक और क्लेशसे रहित सुखसे बैठ गये तब उन दोनों विद्याधर कुमारोंने नमस्कार कर कहा ॥६९॥ कि हे स्वामिन् ! तुम अशनिवेग नामक विद्याधर राजाकी आज्ञासे यहाँ लाये गये हो। उसे तुम अपना श्वसुर समझो ॥७०॥ मैं अर्चिमाली नामका कुमार हूँ और यह दूसरा वायुवेग है। इस तरह वसुदेवसे कहकर उनमें-से एक तो नगरकी ओर चला गया और एक रक्षा करता हुआ वहीं खड़ा रहा ॥७१॥ 'हे स्वामिन् ! आप भाग्यसे बढ़ रहे हैं। हाथीको मर्दन करनेवाला, धीर-वीर, शूरवीर, सुन्दर, विनीत और नवयौवनसे सुशोभित वह कुमार यहाँ लाया जा चुका है' इस प्रकार नमस्कार कर जब उसने राजासे कहा तो राजा आनन्दसे विभोर हो गया। उसने मात्र वस्त्र शेष रखकर शरीरपरके सब आभूषण उसे पुरस्कारमें दे दिये ॥७२-७३॥ तदनन्तर जिसका शरीर अलंकृत था और नगरके नर-नारी जिसे बड़ी उत्सुकतासे देख रहे थे ऐसे वसुदेवको राजाने मङ्गलाचार पूर्वक नगरमें प्रविष्ट कराया ॥७४॥ वहाँ उत्तम तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त और करणका उदय होनेपर वसुदेवने राजा अशनिवेगकी यौवनवती श्यामा नामक कन्याको विवाहा ॥७५॥ जो कलाओं और गुणोंमें अत्यन्त चतुर थी ऐसी उस कन्याके साथ वसुदेव इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे। अधिक क्या कहें उस समय वसुदेव उसके अतिशय देदीप्यमान

---

१. परिधानं वर्जयित्वा सर्वं ददौ । २. यौवनवतीं ।

सा सप्तदशतन्त्रीकां वादयन्ती प्रियाऽमुना । विपञ्चीं तोषिणाऽयाचि वृणीष्व वरमित्यरम् ॥७७॥
सा प्रणम्य वरं वव्रे [1]निशायां यदि वा दिवा । मया विनेश ! न स्थेयं स प्रसादवरोऽस्तु मे ॥७८॥
शृणु कारणमेतस्य वरस्य वरणे प्रिय । रिपुरङ्गारको रन्ध्रे त्वां हरेदिति मे भयम् ॥७९॥
अस्तीह किंनरोद्गीतं किंनरोद्गीतसद्गुणम् । वैताढ्यदक्षिणश्रेण्यां नगरं नगशेखरम्[2] ॥८०॥
अर्चिर्माली प्रभुस्तत्र खेचरार्चितशासनः । प्रिया प्रभावती पुत्रौ वेगान्तौ [3]ज्वलनाशनी ॥८१॥
राज्यं प्रज्ञप्तिविद्यां च दत्त्वासौ[4] ज्येष्ठसूनवे । युवराज्यं कनिष्ठाय दीक्षितोऽरिन्दमान्तिके ॥८२॥
तनयोऽङ्गारको राज्ञो [5]विमलायामभूत्ततः । अहं त्वशनिवेगस्य सुप्रभायां प्रभोऽभवम् ॥८३॥
[6]राजा राज्यं च मत्पित्रे प्रज्ञप्तिं च स्वसूनवे । दत्त्वा जग्राह जैनेन्द्रीं दीक्षां कल्याणदायिनीम् ॥८४॥
नाम्ना चाङ्गारको दुष्टो युवराजोऽतिगर्वितः । निर्वास्याशु नृपं देशात्पाप्मा राज्यं जहार सः ॥८५॥
तिष्ठत्यत्र पिता भ्रष्टः कुञ्जरावर्तपत्तने । नरकुञ्जर ! चिन्तार्तः पञ्जरस्थशकुन्तवत् ॥८६॥
अन्यदाष्टापदं [7]यातो दृष्ट्वा[8] गिरिसमागतम् । चारणश्रमणं नत्वा ज्ञात्वा त्रैलोक्यदर्शिनम् ॥८७॥

मुखरूपी कमलके भ्रमर हो गये ॥७६॥ एक दिन उसने सत्रह तारवाली वीणा बजाई जिससे वसुदेव बहुत ही प्रसन्न हुए। और प्रसन्न होकर बोले कि प्रिये ! तुम शीघ्र ही वर माँगो ॥७७॥ इसके उत्तरमें उसने नमस्कारकर वसुदेवसे यह उत्तम वर माँगा कि हे स्वामिन् ! चाहे दिन हो चाहे रात्रि, आप मेरे बिना अकेले न रहें यही उत्तम वर मुझे दीजिए ॥७८॥ हे प्रिय ! मेरे इस वरदानके माँगनेका कारण भी सुनिए ? वह कारण यही है कि मेरा शत्रु अंगारक अवसर पाकर तुम्हें हर ले जा सकता है यह भय मुझे लगा हुआ है ॥७९॥ इसका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—

विजयार्ध पर्वतकी इस दक्षिण श्रेणीपर, किन्नर देव जिसके सद्गुणोंकी प्रशंसा करते हैं तथा जो विजयार्ध पर्वतके मुकुटके समान जान पड़ता है ऐसा किन्नरोद्गीत नामका नगर है ॥८०॥ उस नगरमें विद्याधरोंपर पूर्ण शासन चलानेवाला अर्चिमाली नामका राजा था उसकी प्रभावती स्त्री है और उसके ज्वलनवेग तथा अशनिवेग नामके दो पुत्र हैं ॥८१॥ राजा अर्चिमाली, बड़े पुत्रके लिए राज्य तथा प्रज्ञप्ति विद्या और छोटे पुत्रके लिए युवराज पद देकर अरिंदम गुरुके पास दीक्षित हो गया ॥८२॥ हे नाथ ! आगे चलकर राजा ज्वलनवेगकी विमला रानीके अङ्गारक नामका पुत्र हुआ और युवराज अशनिवेगकी सुप्रभा स्त्रीसे मैं श्यामा नामकी पुत्री हुई ॥८३॥ तत्पश्चात् राजा ज्वलनवेगने भी मेरे पिता अशनिवेगके लिए राज्य और अपने पुत्रके लिए प्रज्ञप्ति विद्या देकर कल्याणदायिनी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली ॥८४॥ युवराज अङ्गारक प्रकृतिका बड़ा दुष्ट तथा गर्वीला है इसलिए उस पापीने हमारे पिताको शीघ्र ही देशसे निकालकर राज्य छीन लिया है ॥८५॥ हे नरकुञ्जर ! अब मेरे पिता राज्यसे भ्रष्ट हो इसी कुञ्जरावर्त नगरमें रहते हैं और पिंजड़ेमें स्थित पक्षीके समान निरन्तर चिन्तासे दुःखी रहते हैं ॥८६॥ किसी एक

---

१. दिशायां म० । २. नगरशेखरम् म० । ३. ज्वलनवेगः अशनिवेगश्च । ४. वितीर्य म० । ५. विशालायां ख० । ६. घपुस्तके इत्थं पाठः—

सोऽन्यदाऽशनिवेगाय मत्पित्रे राज्यमूर्जितम् । प्रज्ञप्तियुवराज्यं चाङ्गारकाय सुसूनवे ॥
दत्त्वा जग्राह जैनेन्द्रीं दीक्षां कर्मविनाशिनीम् । नाम्ना चाङ्गारको दुष्टो युवराजोऽन्यदा मम ॥
निर्घाट्य पितरं देशात्प्राज्यं राज्यं जहार सः । म० पुस्तके एवं पाठः—
राज्यं ज्वलनवेगोऽन्ते दत्त्वा मज्जनकाय सः । प्रज्ञप्तियौवराज्यं च सूनवे मुनितामितः ॥
अङ्गारकोऽपि संग्रामे प्रज्ञः प्रज्ञप्तिविद्यया । निर्वाप्य मे पितुः शीघ्रं राज्यं प्राज्यं जहार सः ॥

७. यातो म० । ८. दृष्ट्वागिरिसमागतं क० ।

पिता मे पृष्टवानेवं भगवन् ! दिव्यचक्षुषा । राज्यं पश्यसि मेऽवश्यं स्थाने नाथ ! पुनर्न वा ॥८८॥
कथितं मुनिना दिव्यचक्षुरुन्मील्य निर्मलम् । श्यामायास्तव कन्यायाः पत्या राज्यपुनर्भवः ॥८९॥
पुनः पृष्टे कथं नाथ ! ज्ञायत इति स स्फुटम् । तेनोक्तं यो जलावर्ते मदेभमदमर्दनः[1] ॥९०॥
भविता तव कन्यायाः श्यामायाः पतिरित्यलम् । तदादेशात्सरस्यां च द्वौ द्वौ तत्र नभश्चरौ ॥
पित्रा नित्यं नियुक्तौ मे तव[2] स्थानगवेषणे ॥९१॥
लब्धस्त्वमचिरेणैव मन्मनोरथसारथिः । जायते जातुचिन्नाथ ! न हि मिथ्या मुनेर्वचः ॥९२॥
अङ्गारकेण वृत्तान्तो निश्चितः स्यात्स हि द्विषन् । धूमायमानमूर्तिर्नो धूमकेतुरिवोत्थितः ॥९३॥
अविद्याकुशलं त्वाऽसौ महाविद्याबलोद्धतः । विद्यावत्या मया मुक्तं कदाचित्स हरेदरिः ॥९४॥
श्यामाया वचनं श्रुत्वा कोऽत्र दोषस्तथाऽस्त्विति । स्मेरः स्मेरमुखीं गाढं प्रियामुपजुगूह सः ॥९५॥
सविशेषमसौ तत्र विद्याधरजगद्गतम् । हृद्यं गान्धर्वविज्ञानं शिशिक्षे चतमत्सरः ॥९६॥
निःप्रमादतया याति तयोः काले कदाचन । चिराय सुरतक्रीडाखिन्नयोर्निशि सुप्तयोः ॥९७॥
सङ्गत्याङ्गारकः स्वैरं विश्लिष्याश्लेषबन्धनम् । श्यामायाः शयनात् जह्रे गरुडो वा[3] नृपोरगम् ॥९८॥

दिन मेरे पिता कैलास पर्वतपर गये थे वहाँ पर्वतपर आये हुए एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके दर्शनकर पिताने उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर मुनिराजको त्रैलोक्यदर्शी जानकर पिताने पूछा कि हे भगवन् ! आप तो अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे मेरे राज्यको अवश्य ही देख रहे हैं। हे नाथ ! कृपाकर कहिए मुझे पुनः राज्य प्राप्त होगा या नहीं ?॥८७–८८॥ इसके उत्तरमें मुनिराजने अतिशय निर्मल अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रको खोलकर कहा कि जो तुम्हारी श्यामा नामकी कन्या है उसके पतिके द्वारा तुम्हें पुनः राज्यकी प्राप्ति होगी ॥८९॥ पिताने इसके उत्तरमें पुनः पूछा कि हे नाथ ! श्यामा कन्याका पति कौन होगा ? यह स्पष्ट किस तरह जाना जावेगा ? तब मुनिराजने कहा कि जलावर्त नामक सरोवरमें जो मदोन्मत्त हाथीके मदका मर्दन करेगा वही तुम्हारी श्यामा कन्याका पति होगा यही उसकी पर्याप्त पहिचान है। मुनिराजके आदेशसे उसी समयसे पिताने जलावर्त नामक सरोवरपर आपकी स्थितिका अन्वेषण करनेके लिए दो विद्याधर नियुक्त कर दिये ॥९०–९१॥ और उसके फलस्वरूप शीघ्र ही आपकी प्राप्ति हो गई है। हे नाथ ! आप मेरे मनरूपी रथके सारथि हैं—उसे आगे बढ़ानेवाले हैं। यथार्थमें मुनिराजके वचन कभी मिथ्या नहीं होते ॥९२॥ अङ्गारकको इस वृत्तान्तका निश्चित ही पता चल गया होगा क्योंकि वह हमलोगोंसे सदा द्वेष रखता है और हमलोगोंको नष्ट करनेके लिए सदा धूमिल अग्निके समान उद्यत रहता है ॥९३॥ वह महाविद्याके बलसे उद्धत है और आप विद्यामें कुशल नहीं हैं। यद्यपि मैं विद्यासे युक्त होनेके कारण आपकी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ तो भी यदि कदाचित् आप मेरे बिना रहेंगे तो वह आपको हर ले जा सकता है। हे नाथ ! इसी भयके कारण मैंने आपसे वर माँगा है कि आप चाहे दिन हो चाहे रात, कभी मेरे बिना न रहें ॥९४॥ श्यामाके उक्त वचन सुनकर वसुदेवने कहा कि ऐसा ही हो इसमें क्या दोष है। यह कहकर मन्द-मन्द हँसते हुए वसुदेवने मुसकराती हुई प्रियाका गाढ़ आलिङ्गन किया ॥९५॥ वहाँ रहकर वसुदेवने ईर्ष्या रहित हो विद्याधर लोक सम्बन्धी सुन्दर गन्धर्व विद्याको विशेषताके साथ सीखा ॥९६॥

तदनन्तर उन दोनोंका समय सदा सावधानीके साथ बीत रहा था। एक दिन रात्रिके समय चिरकाल तक संभोग क्रीड़ासे खिन्न होकर दोनों सोये हुए थे ॥९७॥ कि अङ्गारकने स्वच्छन्दतासे आकर उनके आलिङ्गन सम्बन्धी बन्धनको अलग कर दिया और जिस प्रकार गरुड़ साँपको ले उड़ता है उसी प्रकार वह श्यामाकी शय्यासे राजा वसुदेवको ले उड़ा ॥९८॥

---

१. वर्तनः म० । २. तवास्थातां म० । ३. इवार्थे वा प्रयोगः ।

एवं बुद्ध्वा ह्रियमाणं खे खेचरं स निरीक्षितम् । कस्त्वं हरसि मां पाप मुञ्च मुञ्चेति भाषणः ॥९९॥
बुद्ध्वाप्यङ्गारकं शत्रुं श्यामया कथिताकृतिम् । नावधीद् बद्धमुष्टिः खादधःपतनशङ्कया ॥१००॥
तावच्च सहसा बुद्ध्वा खड्गखेटकहस्तया । वेगिन्या प्राप्तया रुद्धः शौरिवध्वा स शूरया ॥१०१॥
तिष्ठ तिष्ठ दुराचार चौरखेचर निर्घृण । हरसि प्राणनाथं मे जीवन्त्यां मयि भोः कथम् ॥१०२॥
राज्यस्थोऽपि न सन्तुष्टः सदाऽस्मद्दुःखचिन्तकः[1] । चिरेणाद्य मया दृष्टः क्व प्रयासि मृतोऽधुना ॥१०३॥
इति व्याहृत्य रुद्ध्वाऽग्रे खड्गमुद्गीर्य तां स्थिताम् । बभाण [2]रिपुरात्मानं रक्षन् राक्षसरूक्षवाक् ॥१०४॥
श्यामिके स्त्रीवधो लोके गर्हितोऽपसराधमे । स्वसाऽपि मे कथं हस्तो हन्तुमुद्यच्छ[3]तु त्वकाम् ॥१०५॥
का स्त्री का वा स्वसा भ्राता को वै कार्याभिलाषिणः । वैरिणो ननु हन्तारो हन्तव्या नात्र दुर्यशः ॥१०६॥
सिंही व्याघ्री च किं पुंसां मारयन्ती न मार्यते । वृथा न्यायविचारोऽयं जहि यद्यस्ति पौरुषम् ॥१०७॥
विद्याशाखाबलेनोत्थां रुद्धमार्गां जघान सः । खड्गधाराशिलाघातैः श्यामामङ्गारकोत्करः[4] ॥१०८॥
[5]प्रतिघातमनेकाऽभूत्खड्गखेटकसङ्कटा । खड्गस्यूतस्फुलिङ्गाङ्कमङ्गारकमथाकरोत् ॥१०९॥
मायायुद्धमिदं दृष्ट्वा तयोः स हृदये रिपुम् । दृढमुष्टिप्रहारेण प्राणसन्देहमावहत्॥११०॥

अपने आपको हरा हुआ जानकर वसुदेवने आकाशमें उस विद्याधरसे कहा कि अरे पापी ! तू कौन मुझे हरे लिये जा रहा है छोड़-छोड़ ॥९९॥ यद्यपि वसुदेवने उसे जान लिया था कि यह श्यामाके द्वारा बताये हुए आकारको धारण करनेवाला शत्रु अङ्गारक है फिर भी आकाशसे नीचे गिरनेकी आशंकासे उन्होंने उसे मुट्ठियोंकी मारसे मारा नहीं ॥१००॥ इतनेमें ही सहसा जागकर तथा तलवार और ढाल हाथमें ले वीराङ्गना श्यामाने बड़े वेगसे जाकर उसे रोका ॥१०१॥ श्यामाने ललकारते हुए कहा कि ठहर, ठहर, अरे दुराचारी, निर्दय ! चोर विद्याधर ! तू मेरे जीवित रहते हुए मेरे प्राणनाथको कैसे हर सकता है ? ॥१०२॥ तू राज्यपर बैठकर भी संतुष्ट नहीं हुआ । सदा हमारे दुःखका ध्यान रखता है ! तू आज मुझे चिरकाल बाद दिखा है, कहाँ जाता है ? तू अभी मारा जाता है ॥१०३॥ यह कहकर श्यामाने उसका मार्ग रोक लिया और तलवार उभारकर वह उसके आगे खड़ी हो गई । तदनन्तर राक्षसके समान रूक्ष वचनोंका प्रयोग करनेवाला शत्रु अपनी रक्षा करता हुआ श्यामासे बोला ॥१०४॥ अरी नीच श्यामा ! संसारमें स्त्रीका मारना निन्दित समझा जाता है इसलिए तू सामनेसे हट जा । तू मेरी बहिन भी है अतः तुझे मारनेके लिए मेरा हाथ कैसे उठे?॥१०५॥ अथवा कार्यके इच्छुक मनुष्योंके लिए क्या स्त्री ? क्या बहिन ? क्या भाई ? उन्हें तो जो वैरी अपना घात करे उसका अवश्य ही घात करना चाहिए इसमें कुछ भी अपयश नहीं है ॥१०६॥ क्या पुरुषोंको मारनेवाली सिंही और व्याघ्री नहीं मारी जाती ? इसलिए न्यायका विचार करना व्यर्थ है । यदि तुझमें पौरुष है तो मार ॥१०७॥

तदनन्तर जिसने विद्यारूपी शाखाके बलसे उठकर अङ्गारकका मार्ग रोक रक्खा था ऐसी श्यामाको अङ्गारोंके समूहके समान उग्र अङ्गारक, तलवारकी धार और पत्थरोंकी चोटसे मारने लगा ॥१०८॥ प्रत्येक चोटके समय तलवार और ढालकी करारी टक्कर होती थी । कुछ समय बाद श्यामाने तलवारसे निकले हुए तिलगोंके द्वारा अङ्गारकके शरीरको आच्छादित कर दिया ॥१०९॥ श्यामा और अङ्गारकके इस माया युद्धको देखकर कुमार वसुदेवने भी शत्रुके हृदयपर अपनी मुट्ठियोंसे इतना दृढ़ प्रहार किया कि उसे प्राणोंका सन्देह उत्पन्न कर दिया ॥११०॥

---

१. दुःखचिन्तक म० । २. रिपुमात्मानं म० । ३. -मुद्यत्कृतित्विकाम् म० । ४. अंगारकस्य उत् ऊर्ध्वः करो हस्तः अंगारकोत्करः अन्यत्र अंगारकसमूहः । ५. घातं घातं प्रति, प्रतिघातम् । अन्योऽन्यप्रतिघातोऽभूत्खड्गखेटकसङ्कटः म० ।

मुक्तश्च दुःखिना खिन्नः स खे श्यामानियुक्तया । स्वपुरं नीयमानोऽसौ तथा खाद्ध्वनिरुद्गतः ॥१११॥
[1]खेटेऽस्यैवात्र लाभोऽस्ति मोच्यो मुञ्च साम्प्रतम् । मुञ्चितो यादवेन्द्रोऽसौ तथा श्यामलच्छायया ॥११२॥
[2]समर्प्य तं स्वविद्याया जगाम स्वगृहं प्रति । विद्यया पर्णलघ्व्यायं गां शनैः पर्णवल्लघुः ॥११३॥
बाह्योद्यानेऽथ चम्पायाः पतितोऽम्बुजसङ्क्रमे । सरस्यम्बुरुहच्छन्ने तदुत्तीर्य तटीमितः ॥११४॥
मानस्तम्भादिसल्लक्ष्यं वासुपूज्यजिनालयम् । परीत्य तत्र वन्दित्वा दीपिकोज्ज्वलितेऽवसत् ॥११५॥
देवार्चनार्थमायातं प्रत्यूषे द्विजमत्र सः । अपृच्छद्विषयः कोऽयं पुरीयं चेति सोऽवदत् ॥११६॥
अङ्गो जनपदश्चम्पापुरी त्रिभुवनश्रुता । किं न वेत्सि किमाकाशात्पतितस्त्वं महामते ॥११७॥
सत्यमेतद् द्विज ! ज्ञातं किमु ज्योतिषविद् भवान् । अस्ति संवादि ते ज्ञानं नान्यथा जिनशासनम् ॥
हृतो यक्षकुमारीभ्यां रूपलोभान्नभस्तलात् । च्युतश्च पतितो भूमावन्योन्यकलहे तयोः ॥११९॥
इत्युत्तरमसौ दत्त्वा विप्रवेषधरोऽभवत् । पुरीं विशन् विशालाक्षो गन्धर्वनगरीनिभाम् ॥१२०॥
लोकं वीक्ष्य तु तत्राऽसौ वीणाहस्तमितोऽमुतः । अप्राक्षीद्विप्रमेकं हि बम्भ्रमीतीति किं जनः ॥१२१॥
सोऽब्रवीच्चारुदत्ताख्यः कुबेरविभवः प्रभुः । पुर्यामिभ्यपतिस्तस्य तनया रूपगर्विता ॥१२२॥
नाम्ना गन्धर्वसेनेति गान्धर्वपथपण्डिता । गान्धर्वे योऽत्र मे जेता स भर्तेत्यवतिष्ठते ॥१२३॥
तदर्थमत्र लोकोऽयं मिलितो लोभनोदितः । वीणावादनविज्ञानो नानादेशसमागतः ॥१२४॥

अन्तमें दुःखी होकर अङ्गारकने कुमारको छोड़ दिया। नीचे गिरनेके भयसे कुमार कुछ खिन्न हुए परन्तु श्यामाके द्वारा नियुक्त श्यामलछाया नामकी दासी उन्हें बीचमें ही सँभालकर अपने नगर ले जाने लगी। उस समय यह आकाशवाणी हुई कि कुमारको इसी ग्राममें लाभ होनेवाला है इसलिए इस समय यहीं छोड़ दो। आकाशवाणीके अनुसार श्यामलछाया कुमारको अपनी पर्णलघ्वी नामक विद्याके लिए सौंपकर अपने घर चली गई और कुमार उस पर्णलघ्वी विद्याके द्वारा पत्तेके समान लघु शरीर होकर धीरे-धीरे पृथिवीकी ओर आये ॥१११-११३॥ तदनन्तर कुमार वसुदेव, चम्पानगरीके बाह्योद्यानमें कमलोंसे ढँका हुआ जो कमल सरोवर था उसमें गिरे। तालाबसे निकलकर वे तटपर आये ॥११४॥ सरोवरके तटपर मानस्तम्भ आदिसे युक्त श्रीवासुपूज्य भगवान्का मन्दिर था। वसुदेवने पास जाकर प्रदक्षिणा दी, वन्दना की और उसके बाद दीपिकाओंके प्रकाशसे प्रकाशित उसी मन्दिरमें वह बस गये ॥११५॥ प्रातःकाल भगवान्की पूजाके लिए एक ब्राह्मण आया तो वसुदेवने उससे पूछा कि यह कौन देश है? तथा कौन नगरी है? इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि यह अङ्गदेश है और यह तीन लोकमें प्रसिद्ध चम्पा नगरी है। इसे क्या तुम नहीं जानते? अरे महाविद्वन्! क्या तुम यहाँ आकाशसे पड़े हो?॥११६-११७॥ इसके उत्तरमें वसुदेवने कहा कि हे ब्राह्मण! आपने बिलकुल ठीक जाना। क्या आप ज्योतिष जानते हैं? आपका ज्ञान संवादी—यथार्थज्ञान है। अहा! जिन-शासन अन्यथा नहीं हो सकता ॥११८॥ रूपके लोभसे दो यक्ष कुमारियाँ मुझे हरकर ले गई थीं; उनका आपसमें झगड़ा होने लगा और मैं छूटकर आकाशसे पृथिवीपर गिरा हूँ ॥११९॥ यह उत्तर देकर विशाल नेत्रोंके धारक वसुदेवने ब्राह्मणका वेष रख गन्धर्वनगरीके समान उस चम्पापुरीमें प्रवेश किया ॥१२०॥ वहाँ उन्होंने जहाँ-तहाँ वीणा हाथमें लिये मनुष्योंको देखकर एक ब्राह्मणसे पूछा कि ये लोग इधर-उधर क्यों घूम रहे हैं? ॥१२१॥

ब्राह्मणने कहा कि इस नगरीमें कुबेरके समान वैभव वाला एक चारुदत्त नामका सेठ रहता है उसकी गन्धर्वसेना नामकी पुत्री है। वह पुत्री सौन्दर्यके गर्वसे युक्त है, गन्धर्व शास्त्रमें अत्यन्त निपुण है तथा उसने यह नियम किया है कि जो मुझे गन्धर्वशास्त्र-संगीतशास्त्रमें जीतेगा वही मेरा पति होगा ॥१२२-१२३॥ लोभसे प्रेरित, वीणा बजानेमें निपुण, तथा नाना-

---

१. खेटस्यैवात्र म०। २. समर्पितः म०, ग०, ङ०।

रूपलावण्यसौभाग्यसागरप्लवकारिणी । [1]हारिणी हरिणीनेत्रा कन्या व्यामोहयज्जगत् ॥१२५॥
कन्यार्थी च यशोऽर्थी च वीणाविधिविशारदः । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो जयार्थी हि जनः स्थितः ॥१२६॥
मासे मासे समाजश्च भवत्यत्र कलाविदाम् । सदा जयपताकाया हर्त्री कन्या सरस्वती ॥१२७॥
समाजः समतीतश्च ह्यस्तनेऽहनि साम्प्रतम् । गुणनैकमनस्कानां पुनर्मासेन जायते ॥१२८॥
उपाध्यायः प्रसिद्धोऽत्र किन्नामा साम्प्रतं पुरि । वदेति तेन पृष्टश्च जगौ सुग्रीव इत्यसौ ॥१२९॥
ऊचे गत्वेति सुग्रीवमभिवाद्य गृहीव सः । गौतमो गोत्रतस्तेऽहं कर्तुमिच्छामि शिष्यताम् ॥१३०॥
अभिरूपोऽतिमुग्धोऽयमिति मत्वा दयावता । प्रतिपन्नश्च तत्रास्थाद्वीणया [3]हासयन् जनम् ॥१३१॥
सम्प्राप्ते दिवसे तस्मिन् समाजोऽभूत्स पूर्ववत् । वसुदेवोऽपि संविश्य पश्यति स्म महाजनम् ॥१३२॥
सा सुक्षोभ सभा लोकैर्वाद्यश्रवणवेदिभिः । कौतूहलिभिरन्यैश्च महाकोलाहलाकुलैः ॥१३३॥
ततः कन्या सभामध्यमविशद्विशदप्रभा । स्वलंकृता दिवो मध्यं प्रावृषीव [4]शतह्रदा ॥१३४॥
वीणावाद्यविदग्धेषु जितेषु बहुषु क्रमात् । गन्धर्वसेनया मूर्त्तगान्धर्वविद्यया ॥१३५॥
वसुदेवः समासीनस्ततः सोऽपि वरासने । [5]समानीताः समानीताः वीणाः स समदूषयत् ॥१३६॥
सुघोषाख्यां ततो वीणां दत्तां गन्धर्वसेनया । सुसप्तदशतन्त्रीकां सन्ताड्य मुदितोऽवदत् ॥१३७॥
साध्वी साध्वी सुवीणेयं प्रवीणे ! दोषवर्जिता । वद गान्धर्वसेने ! ते गेयवस्तु मनीषितम् ॥१३८॥

देशोंसे आये हुए ये लोग उसी कन्याके लिए यहाँ इकट्ठे मिले हैं ॥१२४॥ रूप लावण्य और सौभाग्यके सागरमें तैरनेवाली इस मृगनेत्री मनोहर कन्याने समस्त संसारको व्यामोहित कर रक्खा है ॥१२५॥ यहाँ जो भी ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य रहता है वह कन्याका अर्थी, यशका अर्थी, वीणा बजानेमें निपुण और विजयका अभिलाषी है ॥१२६॥ यहाँ एक-एक महीनेमें कलाके जानकार मनुष्योंकी सभा जुड़ती है जिससे सदा जयपताकाको हरनेवाली यही कन्यारूपी सरस्वती रहती है—सदा इसीकी जीत होती है ॥१२७॥ पिछले दिन ही यहाँ गुणी मनुष्योंकी सभा जुड़ी थी अब एक माह बाद फिरसे होगी ॥१२८॥ यह सुन वसुदेवने उस ब्राह्मणसे पूछा कि इस नगरीमें संगीतका प्रसिद्ध विद्वान् कौन है ? यह कहो ? इसके उत्तरमें ब्राह्मणने कहा कि इस समय सुग्रीव संगीतका सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान् है ॥१२९॥

तदनन्तर वसुदेव घरके लोगोंकी तरह सुग्रीवके पास चले गये और उसे नमस्कार कर बोले कि मैं गौतम गोत्री हूँ तथा आपकी शिष्यता करना चाहता हूँ ॥१३०॥ यह परम सुन्दर तथा भोला-भाला है यह मानकर सुग्रीवने दयापूर्वक उन्हें स्वीकार कर लिया—अपना शिष्य बना लिया। और वे अपनी उलटी-सीधी वीणासे सबको हँसाते हुए वहाँ रहने लगे ॥१३१॥ दिन आनेपर पहलेकी भाँति फिरसे विद्वानोंकी सभा हुई; वसुदेव भी उस सभामें प्रविष्ट होकर विशाल जन-समूहको देखने लगे ॥१३२॥ वह सभा बाजा सुननेको कलासे युक्त तथा बहुत भारी कोलाहल करनेवाले अन्य कौतूहली मनुष्योंसे क्षोभको प्राप्त हो रही थी ॥१३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार वर्षाऋतुमें बिजली आकाशके मध्यमें प्रवेश करती है उसी प्रकार निर्मल कान्तिकी धारक एवं उत्तमोत्तम आभूषणोंसे अलंकृत कन्याने सभाके मध्यमें प्रवेश किया ॥१३४॥ मूर्तिमती गन्धर्व विद्याके समान कन्या गन्धर्वसेनाके द्वारा जब क्रम-क्रमसे वीणा बजानेमें निपुण बहुतसे विद्वान् जीत लिये गये तब वसुदेव भी उत्तम आसनपर आसीन हुए। उस समय वसुदेवको अनेक वीणाएँ दी गईं पर उन सबको दोषयुक्त बता दिया ॥१३५–१३६॥ अन्तमें गन्धर्वसेनाने अपनी सुघोषा नामकी सत्तरह तारोंवाली वीणा उन्हें दी। उसे बजाकर वे प्रसन्न होते हुए बोले कि यह

१. हरिणी म० । २. व्यमोहयजगत् म० । ३. हासयज्जनम् म० । ४. विद्युत् । ५. समानीताः समानीतां वीणाः म० ।

मृदूपवीणवाद्येषामादेशस्थानमग्रतः । विदुषां दीयतां मेऽद्य गेयवस्तुनि पण्डिते ॥१३९॥
साऽऽह विष्णुकुमारस्य बलिबन्धनकारिणः । त्रिविक्रमकृतौ गीतं हाहातुम्बुरुनारदैः ॥१४०॥
यत्तदत्र त्वया वस्तु वाद्यतां वाद्यविद् यदि । पुराणप्रतिबद्धं हि गेयवस्तु प्रशस्यते ॥१४१॥
[1]ततं चाप्यवनद्धं च घनं सुषिरमित्यपि । यथास्वं लक्षणैर्युक्तमातोद्यं स्याच्चतुर्विधम् ॥१४२॥
ततं तन्त्रीगतं तेषामवनद्धं हि पौष्करम् । घनं तालस्ततो वंशस्तथैव सुषिराख्यया ॥१४३॥
प्राणिप्रीतिकरं प्रायः श्रवणेन्द्रियतर्पणात् । गान्धर्वदेहसम्बद्धं ततं गान्धर्वमीरितम् ॥१४४॥
वीणा वंशश्च गानं च तस्य योनिरितीरितम् । गान्धर्वं त्रिविधं चैतत्स्वरतालपदे गतम् ॥१४५॥
वैणाश्चापि च शारीरा द्विविधास्तु स्वराः स्मृताः । विधानं लक्षणं चापि तेषामिति निरूपितम् ॥१४६॥
अति[श्रुति]वृत्तिस्वरग्रामवर्णालङ्कारमूर्च्छनाः । धातुसाधारणाद्याश्च[2] दारुवीणास्वराः स्मृताः ॥१४७॥
जातिवर्णस्वरग्रामस्थानसौधारण[साधारण][3]क्रियाः । सालङ्कारविधिश्चायं शारीरस्वरगोचरः ॥१४८॥
अति[जाति]तद्धितवृत्तानि सन्धिस्वरविभक्तयः । नामाख्यातोपसर्गाद्या वर्णाद्यास्ते पदे विधिः ॥१४९॥
[4]आवापश्चापि[5] निःक्रामो[6] विक्षेपश्च[7] प्रवेशनम्[8] । शम्याताल[9] [10]परावर्त्तः सन्निपातः[11] सवस्तुकः[12] ॥१५०॥

वीणा बहुत अच्छी है, बहुत अच्छी है, हे चतुरे ! यह वीणा निर्दोष है । हे गन्धर्वसेने ! कह तुझे कौन-सी गेय वस्तु पसन्द है ? तू गेय वस्तुओंमें पण्डित है अतः मुझे आदेश दे मैं इन विद्वानोंके आगे कोमल-कान्त वीणा बजाता हूँ ॥१३७–१३९॥ इसके उत्तरमें गन्धर्वसेनाने कहा कि बलिको बाँधनेवाले विष्णुकुमार मुनिने जब अपनी तीन डगोंका कर्तव्य दिखाया था तब हाहा, तुम्बुरु तथा नारदने जो गेय वस्तु गाई थी यदि आप वाद्य विद्याके जानकार हैं तो वही वस्तु आज बजाइए क्योंकि पुराणसे सम्बन्ध रखनेवाली गेय वस्तु ही प्रशंसनीय होती है ॥१४०–१४१॥ गन्धर्वसेनाका आदेश पाकर वसुदेव संगीत विद्याका निम्नप्रकार वर्णन करने लगे—

१ तत, २ अवनद्ध, ३ घन और ४ सुषिरके भेदसे बाजे चार प्रकारके हैं । ये सभी बाजे यथायोग्य अपने-अपने लक्षणोंसे युक्त हैं ॥१४२॥ जो तारसे बजते हैं ऐसे वीणा आदि तत कहलाते हैं । जो चमड़ेसे मढ़े जाते हैं ऐसे मृदङ्ग आदि अवनद्ध कहलाते हैं । काँसेके झाँझ, मजीरा आदि घन कहलाते हैं और बाँसुरी आदिको सुषिर कहते हैं ॥१४३॥ इनमें तत नामका वादित्र कर्ण इन्द्रियको तृप्त करनेवाला होनेसे प्रायः प्राणियोंके लिए अधिक प्रीति उपजानेवाला है तथा गन्धर्व शरीरके साथ सम्बद्ध होनेसे गान्धर्व नामसे प्रसिद्ध है ॥१४४॥ गान्धर्वकी उत्पत्तिमें वीणा, वंश और गान ये तीन कारण हैं तथा स्वरगत, तालगत और पदगतके भेदसे वह तीन प्रकारका माना गया है ॥१४५॥ वैण और शारीरके भेदसे स्वर दो प्रकारके माने गये हैं और उनके भेद तथा लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं ॥१४६॥ श्रुति, वृत्ति, स्वर, ग्राम, वर्ण, अलंकार, मूर्च्छना, धातु और साधारण आदि वैण स्वर माने गये हैं और जाति, वर्ण, स्वर, ग्राम, स्थान, साधारण क्रिया और अलंकार विधि ये शारीर स्वरके भेद कहे गये हैं ॥१४७–१४८॥ जाति, तद्धित, छन्द, सन्धि, स्वर, विभक्ति, सुबन्त, तिङन्त, उपसर्ग तथा वर्ण आदि पदगत गान्धर्वकी विधि हैं और आवाप, निष्काम, विक्षेप, प्रवेशन, शम्याताल, परावर्त, सन्निपात, सवस्तुक

१. ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च । चतुर्विधन्तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥१॥
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धन्तु पौस्करम् । घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वंश उच्यते ॥२॥
नाट्य-शास्त्र अध्याय २८

२. 'ज्याश्च' ख० पुस्तके । ३. सौधरणक्रियाः ख०, म० । सौवारण- क० । ४. आवायश्चापि म०, घ० । ५. तालप्रक्षेपः आवापः । ६. तालनिष्कासनं क्रमः । ७. तिर्यक्चालनं विक्षेपः । ८. पुनस्तत्र प्रवेशः प्रवेशनम् । ९. उभयोस्तालयोः सदृशी शब्दवृत्तिः शम्यातालम् । १०. वामहस्तेन दक्षिणतालास्ताटनं परावर्त्तः । ११. संनिपातः शब्दसाम्यम् । १२. सवस्तुकः सलघुकः ।

मात्राविदार्यंगलया[मात्राविदार्याङ्गलया]गतिप्रकरणं यतिः ।
गीती च मार्गावयवाः पादभागाः सपाणयः ॥१५१॥
द्वाविंशतिप्रमाणोऽयं विधिस्तालगतस्तदा । गन्धर्वसंग्रहस्तत्र प्रयुक्तस्तेन विस्तरः ॥१५२॥
[1]षड्जश्चाप्यृषभश्चैव गान्धारो मध्यमोऽपि च । पञ्चमो धैवतश्च स्यान्निषादः सप्तमः स्वरः ॥१५३॥
वादी चापि च संवादी तौ विवाद्यनुवादिनौ । प्रयुक्ता वसुदेवेन चत्वारोऽमी यथाक्रमम् ॥१५४॥
संवादो मध्यमग्रामे पञ्चमस्यर्षभस्य च । षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पञ्चमस्य च ॥१५५॥
षड्जश्चतुःश्रुतिश्च स्यादृषभस्त्रिश्रुतिस्तथा । गान्धारो द्विश्रुतिश्चैव मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥१५६॥
चतुर्भिः पञ्चमश्चैव द्विश्रुतिर्धैवतस्तथा । त्रिश्रुतिश्च निषादोऽपि षड्जग्रामे स्वरास्त्वमी ॥१५७॥
चतुःश्रुतिश्च विज्ञेयो मध्यमे मध्यमाश्रयः । द्विश्रुतिश्चैव गान्धार ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः ॥१५८॥
षड्जश्चतुःश्रुतिश्चैव निषादो द्विश्रुतिस्तथा । धैवतस्त्रिश्रुतिर्ज्ञेयः पञ्चमस्त्रिश्रुतिस्तथा ॥१५९॥
द्वाविंशतिस्त्विमा वेद्याः श्रुतयोऽत्र निदर्शनात् । द्वैग्रामिक्यस्तथैव स्युर्मूर्च्छनास्तु चतुर्दश ॥१६०॥
आद्योत्तरमन्द्रा स्याद् रजनी चोत्तरायता । चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता ॥१६१॥

मात्रा, अविदार्य, अङ्ग, लय, गति, प्रकरण, यति, दो प्रकारकी गीति, मार्ग, अवयव, पादभाग और सपाणि। ये तालगत गान्धर्वके बाईस[2] प्रकार हैं। इस प्रकार गान्धर्व (तत) वाद्यका जितना विस्तार है वसुदेवने उस सबका प्रयोग किया अर्थात् तदनुसार वीणा बजाई ॥१४९-१५२॥ दूसरी तरहसे स्वर १ षड्ज, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ मध्यम, ५ पञ्चम, ६ धैवत और ७ निषादके भेदसे सात प्रकारके हैं[3]। इन स्वरोंके प्रयोग करनेके वादी[4], संवादी[5], विवादी और अनुवादी ये चार प्रकार हैं सो वसुदेवने इन चारों प्रकारोंका यथाक्रमसे प्रयोग किया ॥१५३-१५४॥ मध्यम ग्राममें पञ्चम और ऋषभ स्वरका तथा षड्ज ग्राममें षड्ज तथा पञ्चम स्वरका संवाद होता है ॥१५५॥ षड्ज[6] ग्रामके षड्ज स्वरमें चार, ऋषभमें तीन, गान्धारमें दो, मध्यममें चार, पञ्चममें चार, धैवतमें दो और निषादमें तीन श्रुतियाँ होती हैं[7] ॥१५६-१५७॥ मध्यम ग्रामके मध्यम स्वरमें चार, गान्धारमें दो, ऋषभमें तीन, षड्जमें चार, निषादमें दो, धैवतमें तीन और पञ्चममें तीन श्रुतियाँ[8] होती हैं ॥१५८-१५९॥ इस प्रकार षड्ज और मध्यम—दोनों ग्रामोंमें प्रत्येककी बाईस-बाईस श्रुतियाँ होती हैं एवं उक्त दोनों ग्रामोंको मिलकर चौदह मूर्च्छनाएँ कही गई हैं॥१६०॥ इनमें पहली उत्तरभद्रा, दूसरी रजनी, तीसरी उत्तरायता, चौथी शुद्धषड्जा, पाँचवीं मत्सरीकृता,

---

१. खड्गश्चापि म० । २. आवापस्त्वथ निष्कामो विक्षेपश्च प्रवेशकः । शम्यातालः सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः ॥१५॥ मात्राविदार्यङ्गलया यतिः प्रकरणं तथा । गीतयोऽवयवा मार्गा पादभागाः सपाणयः । इत्येकंविंशको ज्ञेयो विधिस्तालगतो बुधैः ॥१६॥ नाट्यशास्त्र अध्याय २८ । ३. षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा । पञ्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वराः ॥१९॥ चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं श्रुतियोगतः । वादी चैवाथ संवादी अनुवादी विवाद्यपि ॥२०॥ ४. 'रागोत्पादनशक्तेर्वदनं तद्योगतो वादी' । वादी राजा स्वरस्तस्य संवादी स्यादमात्यवत् । शत्रुर्विवादी तस्य स्यादनुवादी तु भृत्यवत् ॥ ५. श्रुतयोऽष्टौ द्वादश वा भवन्ति मध्ये ययोः स्वरयोः । संवादिनौ तु कथितौ परस्परं निषादगान्धारौ (॥ संगीतदर्पणे १-६-६९ ॥) ६. ग्रामः स्वराणां समूहः स्यान्मूर्च्छनादेः समाश्रयः। तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात् षड्जग्राम आदिमः॥ द्वितीयो मध्यमग्रामः (संगीतमहोदधौ १-७-५) ७. षड्जश्चतुश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः । द्विश्रुतिश्चापि गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥२३॥ चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा । द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे ॥२४॥ ना. शा. अ. २८ । ८. चतुःश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यमः पञ्चमः पुनः । त्रिश्रुतिर्धैवतस्तु स्याच्चतुःश्रुतिक एव च ॥२५॥ निषादषड्जौ विज्ञेयौ द्विचतुःश्रुतिसम्भवौ । ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्यात् गान्धारो द्विश्रुतिस्तथा ॥२६॥ ना. शा. अ २८॥

अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता । षड्ग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥१६२॥
सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात्कलोपनता[कलोपनता] तथा । शुद्धमध्यमसंज्ञा च मार्गवी पौरवी तथा ॥१६३॥
रिष्यका[हृष्यका]सप्तमी चेति मूर्च्छनाः सप्त वर्णिताः । मध्यमग्रामसम्भूता बोद्धव्या बुधसत्तमैः ॥१६४॥
षड्जेनोत्तरमन्द्रा स्यादृषभेणाभिरुद्गता । अश्वक्रान्ता तु गान्धारे मध्यमे मत्सरीकृता ॥१६५॥
पञ्चमे शुद्धषड्जा स्याद्धैवते चोत्तरायता । निषादे रजनी ज्ञेया इत्येताः सप्त मूर्च्छनाः ॥१६६॥
मध्यमग्रामजाश्चापि मध्यमे गान्धरर्षभैः । षड्जेन च निषादेन धैवतेन च मूर्च्छनाः ॥१६७॥
पञ्चमेन च विज्ञेया सौवीर्याद्या यथाक्रमम् । रिष्यकान्ता[हृष्यकान्ता]इतीमाश्च ताश्चतुर्दश मूर्च्छनाः॥१६८॥

षट्पञ्चैकस्वरास्तामाः[षट्पञ्चकस्वरास्तासां]षाडवौडवसंश्रयाः ।
साधारणकृताश्चैव काकलीसमकक्कृताः ॥१६९॥

आन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः । द्विधैकमूर्च्छनासिद्धिर्यथायोगमुदाहृता ॥१७०॥
तानाश्चतुरशीतिः स्युः पञ्चषट्स्वरसम्भवाः । ते पञ्चत्रिंशदेकान्नपञ्चाशच्च यथाक्रमम् ॥१७१॥

छठवीं अश्वक्रान्ता और सातवीं आभिरुद्गता ये सात षड्ज ग्रामकी मूर्च्छनाएँ हैं[1] ॥१६१–१६२॥ और पहली सौवीरी, दूसरी हरिणाश्वा, तीसरी कलोपनता, चौथी शुद्धमध्यमा, पाँचवीं मार्गवी, छठवीं पौरवी और सातवीं रिष्यका (हृष्यका) ये सात मूर्च्छनाएँ[2] मध्यम ग्राममें विद्वज्जनोंके द्वारा जानने योग्य हैं ॥१६३–१६४॥ षड्ज स्वरमें उत्तरमन्द्रा, ऋषभमें आभिरुद्गता, गान्धारमें अश्वकान्ता, मध्यममें मत्सरीकृता, पञ्चममें शुद्ध षड्जा, धैवतमें उत्तरायता और निषादमें रजनी मूर्च्छना होती है। ये मूर्च्छनाएँ षड्जग्राम सम्बन्धिनी हैं ॥१६५–१६६॥ अब मध्यम[3] ग्राम सम्बन्धिनी मूर्च्छनाएँ कहते हैं। मध्यम ग्रामके मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत और पञ्चम स्वरमें क्रमसे सौवीरीको आदि लेकर हृष्यका तक सात मूर्च्छनाएँ[4] होती हैं अर्थात् मध्यममें सौवीरी, गान्धारमें हरिणाश्वा, ऋषभमें कलोपनता, षड्जमें शुद्धमध्यमा, निषादमें मार्गवी, धैवतमें पौरवी और पञ्चममें हृष्यका मूर्च्छना होती है। इस प्रकार दोनों ग्रामोंकी ये चौदह मूर्च्छनाएँ हैं[5] ॥१६७–१६८॥ इन चौदह मूर्च्छनाओंके षाडव, औडव, साधारण-कृत और काकलीके भेदसे चार-चार स्वर होते हैं। इस तरह इनके छप्पन स्वर हो जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति छह स्वरोंसे होती है उसे षाडव और जिसकी पाँच स्वरोंसे उत्पत्ति होती है उसे औडव कहते हैं[6] ॥१६९॥ षड्ज मध्यम इन दोनों ग्रामोंकी मूर्च्छनाएँ अनन्तर स्वरसे भी संयुक्त होती हैं तथा इनका यथायोग्य मेल होनेपर एक मूर्च्छना दो रूप हो जाती है इसकी सिद्धि भी बताई गई है[7] ॥१७०॥ तान चौरासी प्रकारकी हैं इनमें पाँच स्वरोंसे उत्पन्न होनेवाली पैंतीस और छह स्वरोंसे उत्पन्न

---

१. आद्या ह्युत्तरमन्द्रा स्याद् रजनी चोत्तरायता । चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पञ्चमी मत्सरीकृता ॥२७॥ अश्वक्रान्ता तु षष्ठी स्यात् सप्तमी चाभिरुद्गता । षड्जग्रामाश्रिता एता विज्ञेयाः सप्तमूर्च्छनाः ॥२८॥ नाट्य-शास्त्र अध्याय २८ । २. सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा । चतुर्थी शुद्धमध्या तु मार्गवी पौरवी तथा ॥२९॥ हृष्यका चैव विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः । मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥ ३० ॥ ना० शा० अ० २८ । ३. तत्र षड्जग्रामे—षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता, पञ्चमेन शुद्धषड्जा, मध्यमेन मत्सरीकृता, गान्धारेणाश्वक्रान्ता, ऋषभेणाभिरुद्गता इति । ना० शा० पृ० ३२० । ४. अथ मध्यमग्रामे—मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वक्रान्ता, ऋषभेण कलोपनता, षड्जेन शुद्धमध्यमा, निषादेन मार्गी, धैवतेन पौरवी, पञ्चमेन हृष्यका इति ना० शा० पृ० ३२० । ५. एवमेताः क्रमयुताः षट्पञ्चाशत् स्वराः स्मृताः । षाडवौडवितसंज्ञिताः पूर्णाः साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दशमूर्च्छनाः । ना० शा० पृ० ३२० । ६. षट्पञ्चकस्वरास्तासां षाडवौडुवितस्मृताः । साधारणकृताश्चेति काकली संमत्तं कृताः ॥ ७. अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः ॥३२॥ द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः इत्यादि व्याख्यानेन नाट्यशास्त्रस्य ३२० पृष्ठे स्पष्टीकृतम् ।

अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः । कार्योऽल्पविशेषेण नावरोही कदाचन ॥१७२॥
क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु ।
जाति रागं श्रुतिश्चैव नयते स्वं ततः स्वरः[जातिरागं श्रुतिश्चैव नयते त्वन्तरस्वरः] ॥१७३॥
षाड्जी स्यादार्षभी चैव धैवत्यथ निषादजा ।
सुषड्जा दिच्य[सुषड्जोदीच्य]वा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ॥१७४॥
षड्जमध्या तथा चैव षड्जग्रामसमाश्रया । जातयोऽष्टौदशोद्दिष्टा मध्यमग्रामजाश्रिताः ॥१७५॥
गान्धारी मध्यमा चैव गान्धारी दिच्यवा[गान्धारोदीच्यवा]तथा ।
पञ्चमी रक्तगान्धारी तथाऽन्या रक्तपञ्चमी ॥१७६॥
मध्यमोदिच्यवा[मध्यमोदीच्यवा]चैव नन्दयन्ती तथैव च ।
कर्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी तथा ॥१७७॥
स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः । मध्यमा षड्जमध्या च पञ्चमी चेति सूरिभिः ॥१७८॥
ताश्चापि द्विविधाः शुद्धा विकृताश्च प्रकीर्तिताः । अपरस्परनिष्पन्ना ज्ञेयाश्चैव तु जातयः ॥१७९॥
अपृथग्लक्षणैर्युक्ता द्वैग्रामिक्यः स्वरप्लुताः । चतस्रो जातयो नित्यं ज्ञेयाः सप्तस्वरा बुधैः ॥१८०॥
चतस्रः षट्स्वराश्चान्या दश पञ्चस्वराः स्मृताः । मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्जकैशिकी ॥१८१॥

होनेवाली उनचास हैं[1] ॥१७१॥ अन्तर स्वरका संयोग सदा आरोही अवस्थामें ही करना चाहिए अवरोही अवस्थामें थोड़ा या बहुत किसी भी रूपमें कभी भी नहीं करना चाहिए ॥१७२॥ क्योंकि यदि अवरोही अवस्थामें थोड़ा या बहुत अन्तर स्वरका संयोग किया जाता है तो उस समय अन्तर स्वर जातिके राग और श्रुति दोनोंको समाप्त कर देता है[2] ॥१७३॥ अब दोनों ग्रामोंकी जातियोंका वर्णन करते हैं, उनमें षड्ज ग्रामसे सम्बन्ध रखनेवाली १ षाड्जी, २ आर्षभी, ३ धैवती, ४ निषादजा, ५ सुषड्जा, ६ उदीच्यवा, ७ षड्जकैशिकी और ८ षड्जमध्या ये आठ जातियाँ हैं एवं नीचे लिखी दश जातियाँ मध्यमग्रामके आश्रित हैं —१ गान्धारी, २ मध्यमा ३ गान्धारोदीच्यवा, ४ पञ्चमी, ५ रक्तगान्धारी, ६ रक्तपञ्चमी, ७ मध्यमोदीच्यवा, ८ नन्दयन्ती, ९ कर्मारवी, १० आन्ध्री, ११ कैशिकी । दोनों ग्रामोंकी मिलाकर अठारह जातियाँ होती हैं[3] ॥१७४-१७७॥ इन जातियोंमें मध्यमा, षड्जमध्या और पञ्चमी ये तीन जातियाँ साधारण स्वरगत हैं[4] ॥१७८॥ ये जातियाँ शुद्ध और विकृतके भेदसे दो प्रकारकी कही गई हैं। जो परस्परमें मिलकर उत्पन्न नहीं हुई हैं तथा पृथक्-पृथक् लक्षणोंसे युक्त हैं वे शुद्ध कहलाती हैं और जो समान लक्षणोंसे युक्त हैं वे विकृत कहलाती हैं। विकृत जातियाँ दोनों ग्रामोंकी जातियोंसे मिलकर बनती हैं तथा दोनोंके स्वरोंसे आप्लुत रहती हैं। इन जातियोंमें चार जातियाँ सात स्वरवाली, चार जातियाँ छह स्वरवाली और शेष दश जातियाँ पाँच स्वरवाली कही गई हैं। मध्यमोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, कर्मारवी और गान्धारपञ्चमी ये चार जातियाँ सात स्वरवाली हैं।

---

१. तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः । तत्रैकोनपञ्चाशत् षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत् पञ्चस्वराः । नाट्यशास्त्र पृ० ३२० 'मूर्च्छना एव तानाः स्युः शुद्धा आरोहणाश्च ताः' । (नारदपुराणे) 'विस्तार्यन्ते प्रयोगाय मूर्च्छनाः शेषसंश्रयाः । तानास्तेषूनपञ्चाशत् समस्वरसमुद्भवाः' ॥ (संगीतदामोदरे १-३५) । २. अन्तरस्वरसंयोगो नित्यमारोहिसंश्रयः । कार्यस्त्वल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन ॥ क्रियमाणोऽवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु । जातिरागं श्रुतिश्चैव नयन्ते त्वन्तरे स्वराः ॥३५॥ नाट्यशास्त्र अध्याय २८ । ३. नाट्यशास्त्रे तु षड्जग्रामाश्रिताः सप्त, मध्यमग्रामाश्रितास्त्वेकादश जातयो निर्दिष्टाः । (श्लोका अष्टाविंशाध्याये ३६-४२) । ४. स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः । मध्यमा पञ्चमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥३६॥ ना० शा० अ० २८ ।

कर्मारवी च सम्पूर्णा तथा गान्धारपञ्चमी । षड्जान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा ॥१८२॥
चतस्रः षट्स्वरा ह्येताः शेषाः पञ्चस्वरा दश । नैषादी[1] चार्षभी चैव धैवती षड्जमध्यमा ॥१८३॥
षड्जोदीच्यवती चैव पञ्च षड्जाश्रया स्मृताः । गान्धारी रक्तगान्धारी मध्यमा पञ्चमी तथा ॥१८४॥
कैशिकी चेति विज्ञेया पञ्चैता मध्यमाश्रयाः । यास्ताः पञ्चस्वरा ज्ञेया याश्चैताः षट्स्वराः स्मृताः ॥
कदाचित् [2]षाडवीभूताः कदाचिच्चौडवीकृताः । [3]षड्जग्रामेऽपि[4] सम्पूर्णा विज्ञेया षट्[षड्ज]कैशिकी ॥१८६
[5]षट्स्वराश्चैव विज्ञेया षड्जे ता गानयोगतः । [6]सम्पूर्णा मध्यमग्रामे ज्ञेया कर्मारवी तथा ॥१८७॥
गान्धारपञ्चमी चैव मध्यमोदीच्यवा तथा । पुनश्च षट्स्वरोपेता गान्धारोदीच्यवा तथा ॥१८८॥
आन्ध्री च नन्दयन्ती च मध्यमग्रामसंश्रयाः । [7]एवमेता बुधैर्ज्ञेया द्वैग्रामिक्यो हि जातयः ॥१८९॥
[8]षट्स्वरे सप्तमस्त्वंशो नेष्यते षड्जमध्यमः । संवादिलोपाद् गान्धारस्तत्रैव न विशिष्यते ॥१९०॥
गान्धारी रक्तगान्धारी कैशिकीनां च पञ्चमः । षड्जायाश्चैव गान्धारी मानसं विद्धि षाडवम् ॥१९१॥
षाडवे धैवतो नास्ति षड्जोदीच्या वियोगतः । संवादिलोपात्सप्तैताः षट्स्वरेण विवर्जिताः ॥१९२॥
आसां तु रक्तगान्धार्याः षड्जमध्यमपञ्चमाः । सप्तमश्चैव विज्ञेयो येषु नौडवितं भवेत् ॥१९३॥
द्वौ षड्जमध्यमावंशौ गान्धारोऽथ निषादवान् । ऋषभश्चैव पञ्चम्याः कैशिक्याश्चैव धैवतः ॥१९४॥

षड्जा, आन्ध्री, नन्दयन्ती और गान्धारोदीच्यवा ये चार जातियाँ छह स्वरवाली हैं और शेष दश जातियाँ पाँच स्वरवाली हैं । नैषादी, आर्षभी, धैवती, षड्जमध्यमा और षड्जोदीच्यवती ये पाँच जातियाँ षड्जग्रामके आश्रित हैं और गान्धारी, रक्तगान्धारी, मध्यमा, पञ्चमी तथा कैशिकी ये पाँच मध्यमग्रामके आश्रित हैं । इन जातियोंमें जो पाँच स्वरवाली (ओडव) और छह स्वरवाली (षाडव) जातियाँ कही गई हैं वे कदाचित् क्रमसे षाडव (छह स्वरवाली) और ओडव (पाँच स्वरवाली) हो जाती हैं । षड्जग्राममें सात स्वरवाली षड्जकैशिकी जाति होती है और गानके योगसे छह स्वरवाली भी होती है । मध्यमग्राममें सात स्वरवाली कर्मारवी, गान्धारपञ्चमी और मध्यमोदीच्यवा होती हैं और छह स्वरवाली गान्धारोदीच्यवा, आन्ध्री एवं नन्दयन्ती जातियाँ होती हैं । इस तरह विद्वानोंके द्वारा ये दोनों ग्रामोंकी जातियाँ जानने योग्य हैं ॥१७६-१८९॥ जहाँ छह स्वर होते हैं वहाँ षड्जमध्यम स्वर उसका सप्तांश नहीं होता और संवादिका लोप हो जानेसे वहाँ गान्धारस्वर विशेषताको प्राप्त नहीं होता ॥१९०॥ गान्धारी, रक्तगान्धारी, कैशिकी और षड्जामें पञ्च स्वर नहीं होता तथा षाडवको गान्धारीका हृदय जानना चाहिए ॥१९१॥ षाडवमें धैवत स्वर नहीं रहता क्योंकि वहाँ षड्जोदीच्यवा जातिका वियोग हो जाता है । एवं ये सात जातियाँ संवादीका अभाव होनेसे छह स्वरोंसे वर्जित रहती हैं ॥१९२॥ इनमेंसे रक्तगान्धारी जातिमें षड्ज मध्यम और पञ्चमस्वर सप्तमस्वर रूप हो जाते हैं तथा इनमें औडवित नहीं रहता ॥१९३॥ षड्ज, मध्यम, गान्धार, निषाद और ऋषभ ये पाँच अंश पञ्चमी जातिमें रहते हैं और कैशिकीमें धैवतके साथ छह रहते हैं । ये बारहों जातियाँ पञ्चस्वरमें सदा वर्जनीय मानी गई हैं । किन्तु इनमें जो औडवितसे रहित हैं उनका स्वरके आश्रय निरन्तर प्रयोग

---

१. निषादवृषभी म० । २. षोडशीभूता कदाचित् षडवीकृताः म० । 'कदाचित् षाडवीभूता कदाचिच्चौडवीकृता' ना० शा० अ० २८ । ३. षड्जग्रामे तु विज्ञेया सम्पूर्ण षड्जकैशिकी ॥६१॥ ना० शा० अ० २८ । ४. ग्रामे च म० । ५. षड्जग्रामे तु विज्ञेया षाड्ज्येका षट्स्वराश्रया ॥५६॥ ना०शा०अ० २८ । ६. सम्पूर्णा मध्यमग्रामे ज्ञेया कर्मारवी तथा ॥६०॥ मध्यमोदीच्यवा चैव तथा गान्धारपञ्चमी । ना० शा० अ० २८ । ७. एवमेता बुधैर्ज्ञेया द्वैग्रामिक्यश्च जातयः ॥६२॥ ना० शा० अ० २८ । ८. षट्स्वर्ये सप्तमांशा तु नेष्यते षड्जमध्यमा । संवादिलोपाद् गान्धारस्तत्रैव न भविष्यति ॥६३॥ ना० शा० अ० २८ ।

एवं तु द्वादशैवेह वर्ज्याः पञ्च स्वरे सदा । यास्तु औडविता नित्यं कर्तव्या हि स्वराश्रयाः ॥१९५॥
सर्वस्वराणां नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु । न मध्यमस्य नाशस्तु कर्तव्यो हि कदाचन ॥१९६॥
सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यनाशी मध्यमः स्मृतः । गान्धर्वकल्पे विहिते समस्तेष्वपि मध्यमः ॥१९७॥
जातीनां लक्षणं तारो मन्द्रो न्यासादिरेव च । अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडविते तथा ॥१९८॥
एवमेता बुधैर्ज्ञेया जातयो दशलक्षणाः । यथा यस्मिन् रसे यावदिति तत्प्रतिपाद्यते ॥१९९॥
यस्मिन् भवति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्तते । मन्द्रश्च तारमन्द्रश्च योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥२००॥
ग्रहोपन्यासविन्याससंन्यासन्यासगोचरः । अनुवृत्तिश्च या चेह सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः ॥२०१॥
[1]संसारोत्साबलस्थानमल्पत्वं दुर्बलासु च । द्विविधोत्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः ॥२०२॥(?)
मन्द्रास्वं[2] पसरो नास्ति न्यासौ तु द्वाववस्थितौ । गान्धारो न्यासलिङ्गं तु दृष्टमार्षभमेव च ॥२०३॥(?)
ग्रहस्तु[3] सर्वजातीनामंशवत् परिकीर्तितः । यत्प्रवृत्ते भवेदंशः सोंऽशो ग्रहविकल्पितः ॥२०४॥
[4]द्वैग्रामिकीनां जातीनां सर्वासां चैव नित्यशः । अंशास्त्रिषष्टिर्विज्ञेयास्तासां वै षट्सु संग्रहः ॥२०५॥
[5]मध्यमोदीच्यवायास्तु नन्दयन्त्यास्तथैव च । ततो गान्धारपञ्चम्यां पञ्चमोंऽशो ग्रहस्तथा ॥२०६॥
धैवत्याश्च तथा द्वंशौ विज्ञेयौ धैवतर्षभौ । पञ्चम्याश्च तथा ज्ञेयौ ग्रहांशौ पञ्चमर्षभौ ॥२०७॥
गान्धारोदीच्यवायाश्च ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ । आर्षभ्यास्तु तथा चैव विज्ञेया धैवतर्षभौ ॥२०८॥

करना चाहिए ॥१९४–१९५॥ जातियोंमें समस्त स्वरोंका नाश किया जा सकता है परन्तु मध्यम-स्वरका नाश कभी नहीं करना चाहिए ॥१९६॥ क्योंकि मध्यम स्वरका कभी नाश नहीं होता इसलिए वह समस्त स्वरोंमें प्रधान स्वर माना गया है। साथ ही यह मध्यमस्वर गान्धर्व कल्पके समस्त भेदोंमें भी स्वीकृत किया गया है ॥१९७॥ १ तार, २ मन्द्र, ३ न्यास आदि (४ उपन्यास, ५ ग्रह, ६ अंश) ७ अल्पत्व, ८ बहुत्व, ९ षाडव और १० औडवित ये जातियोंके नाम हैं ॥१९८॥ इस प्रकार विद्वानों द्वारा ये दश जातियाँ जानने योग्य हैं। उन जातियोंका जिस रसमें जितना प्रयोग होता है उसका कथन किया जाता है ॥१९९॥ राग जिसमें रहता है, राग, जिससे प्रवृत्त होता है, जो मन्द्र अथवा तारमन्द्र रूपसे अधिक उपलब्ध होता है, जो ग्रह उपन्यास, विन्यास, संन्यास और न्यासरूपसे अधिक उपलब्ध होता है, तथा जो अनुवृत्ति पाई जाती है वह दश प्रकारका अंश कहलाता है ॥२००–२०१॥ सञ्चार, अंश, बलस्थान, दुर्बल स्वरोंकी अल्पता और नाना प्रकारका अन्तर मार्ग ये जातियोंको प्रकट करनेवाले हैं ॥२०२॥ मन्द्रमें अंश नहीं होता परन्तु न्यासमें दो अंश होते हैं। गान्धार ग्रह तथा न्यासमें आर्षभ अंश देखा जाता है ॥२०३॥ समस्त जातियोंमें जिस प्रकार अंश स्वीकार किया गया है उसी प्रकार ग्रह भी माना गया है। जिस ग्रहके प्रवृत्त होनेपर जो अंश होता है वह अंश उसी ग्रहसे विकल्पित माना जाता है ॥२०४॥ समस्त द्वैग्रामिकी जातियोंके सदा त्रेशठ अंश जानना चाहिए और जातियोंका संग्रह छह स्वरोंमें माना गया है ॥२०५॥ मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती और गान्धार पञ्चमीमें पञ्चम अंश तथा पञ्चम ही ग्रह रहता है ॥२०६॥ धैवतीमें धैवत और ऋषभ ये दो अंश तथा दो ग्रह और पञ्चमीमें पञ्चम तथा ऋषभ दो अंश और दो ग्रह जानना चाहिए ॥२०७॥ गान्धारो-

१. सञ्चारोंऽशबलस्थानमल्पत्वं दुर्बलेषु च । विविधोऽन्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः ॥६१॥ अ० २८ नाट्यशास्त्रे एवं पाठः । २. मन्द्रो ह्यंशपरो नास्ति न्यासे तु द्वौ व्यवस्थितौ । गान्धारे च ग्रहे न्यासे दृष्टमार्षभदैवतम् ॥९४॥ नाट्य अ० २८ । ३. ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः । यत्प्रवृत्तं भवेद्गानं सोऽंशो ग्रहविकल्पितः ॥७१॥ ना० शा० अ० २८ । ४. द्वैग्रामिकीनां जातीनां सर्वासामपि नित्यशः । अंशास्त्रिषष्टिर्विज्ञेयास्तासां चैव तथा ग्रहः ॥७५॥ ना० शा० अ० २८ । ५. नाट्यशास्त्रस्य अष्टाविंशतितमाध्यायस्य ७६–८७ श्लोकाः द्रष्टव्याः ।

निषादः षाडवश्चैव गान्धारोऽथर्षभस्तथा । तथैव षड्जकैशिक्याः षड्जगान्धारमध्यमाः ॥२०९॥
तिसृणामपि जातीनां ग्रहा न्यासाश्च कीर्तिताः । गान्धार ऋषभश्चैव निषादः पञ्चमस्तथा ॥२१०॥
ग्रहाद्यंशाश्च चत्वारस्तथैवान्त्याः प्रकीर्तिताः । षड्जश्चाप्यृषभश्चैव मध्यमः पञ्चमस्तथा ॥२११॥
मध्यमायां ग्रहांशौ तु गान्धारो धैवतस्तथा । निषादषड्जगान्धारा मध्यमाः पञ्चमस्तथा ॥२१२॥
गान्धारो रक्तगान्धार्यां गृह्यांशाः परिकीर्तिताः । अक्षितर्षभयोगास्तु कैशिक्यांशा[१] ग्रहास्तथा ॥२१३॥
स्वराः सर्वे च विज्ञेयाः ग्रहांशौ षड्जमध्यमौ । एवं त्रिषष्टिर्विज्ञेया ग्रहाश्चांशाः स्वजातिषु ॥२१४॥
अंशवच्च ग्रहा ज्ञेयाः सर्वास्वपि हि जातिषु । सर्वासामेव जातीनां त्रिजात्यास्तु गुणाः स्मृताः ॥२१५॥
षड्गुणास्तेषु विज्ञेया वर्धमानाः स्वरास्तथा । एकस्वरो द्विस्वरश्च त्रिस्वरोऽथ चतुःस्वरः ॥२१६॥
पञ्चस्वरस्तथा चैव षट्स्वरः सप्तकस्तथा । पूर्वमुक्तमिदं त्वासां ग्रहांशपरिकल्पनम् ॥२१७॥
पञ्चैव तु भवेत् षड्जे निषादर्षभहानतः । उपन्यासा भवन्त्यत्र गान्धारः पञ्चमस्तथा ॥२१८॥
न्यासश्चात्र भवेत् षष्ठो लोपो वै सप्तमर्षभौ । गान्धारस्य तु बाहुल्यं तत्र कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥२१९॥
आर्षभ्यास्तु तथा त्वंशौ निषादो धैवतस्तथा । एतावन्तो ह्युपन्यासा न्यासश्चाप्यार्षभस्तथा ॥२२०॥
धैवत्या धैवतश्चैव न्यासश्चैवार्षभः स्मृतः । उपन्यासा भवन्त्यत्र धैवतर्षभपञ्चमाः ॥२२१॥
षड्जपञ्चमहीनं च पञ्चस्वर्यं विधीयते । पञ्चमं च विना चैव षाडवः परिकीर्तितः ॥२२२॥
आरोहणीयौ तौ कार्यौ लङ्घनीयौ तथैव च । निषादश्चर्षभश्चैव गान्धारो बलवाँस्तथा ॥२२३॥

दीच्यवामें षड्ज और मध्यम ये दो अंश तथा ग्रह हैं। आर्षभीमें धैवत, ऋषभ और निषाद ये तीन अंश और ग्रह हैं। [२]नैषादिनीमें षाडव, गान्धार और ऋषभ ये तीन अंश और ग्रह हैं। इसी प्रकार षड्ज कैशिकीमें षड्ज, गान्धार और मध्यम ये तीन अंश तथा ग्रह हैं ॥२०८–२०९॥ तीनों जातियोंके ग्रह और न्यास कहे जा चुके हैं। गान्धार, ऋषभ, निषाद और पञ्चम ये चार ग्रहके आदि अंश हैं तथा षड्ज, ऋषभ, मध्यम और पञ्चम ये अन्त्य अंश कहे गये हैं ॥२१०–२११॥ मध्यमा जातिमें गान्धार और धैवत ये दो ग्रह एवं अंश हैं। निषाद, षड्ज, गान्धार, मध्यम और पञ्चम ये रक्तगान्धारीके ग्रह और अंश हैं। कैशिकीमें ऋषभ योगके साथ समस्त ग्रहोंसे युक्त समस्त स्वर हैं। इसमें षड्ज और मध्यम ये दो ग्रह और अंश हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी जातियों-में त्रेसठ ग्रह तथा इतने ही अंश जानना चाहिए ॥२१२–२१४॥ समस्त जातियोंमें अंशोंके ही समान ग्रह जानना चाहिए। समस्त जातियोंके गुण त्रिजातीय होते हैं ॥२१५॥ इनमें एकसे लेकर बढ़ते-बढ़ते छहगुने स्वर हो जाते हैं और वे एक स्वर, दो स्वर, तीन स्वर, चार स्वर, पाँच स्वर, छह स्वर और सात स्वर—इस क्रमसे होते हैं। इन जातियोंमें ग्रह और अंश कल्पना पहले कही जा चुकी है ॥२१६–२१७॥ षड्जमें निषाद और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच स्वर होते हैं और वहाँ गान्धार तथा पञ्चम अपन्यास होते हैं। षष्ठ स्वर न्यास होता है एवं ऋषभ तथा सप्तम स्वरका लोप होता है। इसमें प्रयोक्ताओंको गान्धारकी बहुलता करनी चाहिए ॥२१८–२१९॥ आर्षभीमें निषाद और धैवत ये दो अंश तथा ये ही दो उपन्यास होते हैं और आर्षभ न्यास होता है ॥२२०॥ धैवतीमें धैवत और आर्षभन्यास तथा धैवत, ऋषभ और पञ्चम ये उपन्यास होते हैं ॥२२१॥ इसमें षड्ज और पञ्चमको छोड़कर पाँच स्वरोंका प्रयोग किया जाता है तथा पञ्चमको छोड़कर शेष षाडव कहा जाता है ॥२२२॥ पूर्वोक्त पञ्चस्वर्य और षाडव आरोहणीय और लङ्घनीय दोनों प्रकारके हैं। इसी प्रकार निषाद, ऋषभ और बलवान्

---

१. कैशिकीसग्रहास्तथा ख०।

२. नैषादिन्या निषादस्तु गान्धारश्चार्षभस्तथा।
अंशाश्च षड्ज कैशिक्याः षड्जगान्धारपञ्चमाः ॥७९॥
—ना० शा० अ० २८।

निषादश्च [1]निषादांशो गान्धारश्चर्षभस्तथा । एवमेते ह्युपन्यासा न्यासश्चैव तु सप्तमः ॥२२४॥
धैवत्या अपि कर्तव्यौ षाडवौडविती तथा । तद्वच्च लङ्घनीयौ तु बलवन्तौ तथैव च ॥२२५॥
अंशास्तु षड्जकैशिक्या ज्ञेयौ गान्धारपञ्चमौ । उपन्यासाश्च विज्ञेयाः षड्जपञ्चममध्यमाः ॥२२६॥
गान्धारश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यं भवात्र तु । दौर्बल्यं चात्र कर्तव्यं धैवतस्यर्षभस्य च ॥२२७॥
षड्जश्च मध्यमश्चैव निषादो धैवतस्तथा । षड्जोदीच्यवांशास्तु न्यासश्चैवात्र मध्यमः ॥२२८॥
उपन्यासस्तथा चैव धैवतः षड्ज एव तु । परस्परांशातिगमश्छन्दतश्च विधीयते ॥२२९॥
पञ्चमर्षभहीनं तु [2]पञ्चस्वर्यं तु तत्र वै । षड्जश्चाप्यर्षभश्चैव गान्धारश्च बली भवेत् ॥२३०॥
षड्जमध्यास्तु सर्वेषामुपन्यासास्तथैव च । षड्जश्च सप्तमश्चैव न्यासौ कार्यौ प्रयोक्तृभिः ॥२३१॥
[3]गान्धारसप्तमोपेतं [4]पञ्चस्वर्यं च तद् [5]भवेत् । षाडवः सप्तमोपेतः कार्यश्चैवात्र योगतः ॥२३२॥
सर्वस्वराणां सञ्चार इष्टवस्तु विधीयते । षड्जग्रामाश्रया ह्येताः विज्ञेयाः सप्त जातयः ॥२३३॥
गान्धार्याः पञ्चधैवांशा धैवतर्षभवर्जिताः । षड्जश्च पञ्चमश्चैव ह्युपन्यासाः प्रकीर्तिताः ॥२३४॥
गान्धारोऽत्र भवेन्न्यासो षाडवर्षभसम्भवः । धैवतर्षभहीनं च तथा चौडवितं भवेत् ॥२३५॥
लङ्घनीयौ च तौ नित्यमार्षभाद्धैवतं व्रजेत् । इति गान्धारविहितः स्वरन्यासांशसञ्चरः ॥२३६॥
लक्षणं रक्तगान्धार्या एवं तत्समतां गतम् । बलवाँश्चैव तत्र स्याद्धैवतः पञ्चमस्तथा ॥२३७॥
गान्धारषड्जयोश्चाऽत्र सञ्चारो ह्युभयं विना । [6]उपन्यासः समध्यस्तु मध्यमस्तु विधीयते ॥२३८॥
गान्धारोदीच्यवायास्तु विज्ञेयौ षड्जमध्यमौ । सप्तमश्च ततोऽन्यत्र षट्स्वर्यमृषभं विना ॥२३९॥

गान्धार भी आरोहणीय तथा लङ्घनीय दोनों प्रकारके हैं ॥२२३॥ निषाद, निषादका अंश, गान्धार और ऋषभ इस प्रकार ये उपन्यास हैं परन्तु सप्तम स्वर न्यास ही होता है ॥२२४॥ धैवती जातिमें भी षाडव और औडवितका प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों ही पूर्वकी भाँति लङ्घनीय तथा आरोहणीय होते हैं ॥२२५॥ षड्ज कैशिकीके गान्धार और पञ्चम ये महांश हैं तथा षड्ज, पञ्चम और मध्यम ये उपन्यास हैं ॥२२६॥ यहाँपर गान्धार चाहे हीन स्वरवाला हो चाहे अधिक स्वरवाला हो न्यास होता है साथ ही इसके यहाँ धैवत तथा ऋषभ स्वरमें दुर्बलताका प्रयोग करना चाहिए ॥२२७॥ षड्ज, मध्यम, निषाद और धैवत ··· ये षड्जोदीच्यवाके अंश हैं, मध्यम न्यास हैं और धैवत तथा षड्ज उपन्यास हैं। यहाँ छन्दके अनुसार परस्परके अंशोंमें व्यतिक्रम भी हो जाता है ॥२२८-२२९॥ जहाँ पञ्चम और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच स्वर होते हैं वहाँ षड्ज, ऋषभ और गान्धार बलवान् होते हैं ॥२३०॥ षड्ज और मध्यम सबके उपन्यास हैं तथा षड्ज और सप्तम सबके न्यास हैं ॥२३१॥ पञ्चस्वर्य गान्धार और सप्तम स्वरसे युक्त होता है तथा षाडवको सप्तम स्वरसे युक्त अवश्य करना चाहिए ॥२३२॥ इन समस्त स्वरोंका संचार इच्छानुसार किया जाता है। ये सात जातियाँ षड्ज ग्रामके आश्रय रहती हैं ॥२३३॥ गान्धारी जातिमें धैवत और ऋषभको छोड़कर शेष पाँच ही अंश रहते हैं। षड्ज और पञ्चम उपन्यास होते हैं ॥२३४॥ इसमें षाडव और ऋषभसे उत्पन्न गान्धार न्यास होता है तथा धैवत और ऋषभसे रहित औडवित होता है ॥२३५॥ यहाँ ऋषभ और धैवत नियमसे लङ्घनीय माने गये हैं और जब लङ्घन होता है तो ऋषभसे धैवतकी ओर ही होता है। इस प्रकार गान्धारी जातिके स्वर न्यास और अंशोंके संचारका वर्णन किया ॥२३६॥ रक्तगान्धारीका लक्षण इसी—गान्धारीके समान होता है। विशेषता यह है कि इसमें धैवत और पञ्चम स्वर बलवान् होते हैं ॥२३७॥ यहाँ धैवत और पञ्चमके बिना गान्धार और षड्जका संचार होता है, तथा मध्य सहित मध्यम उपन्यास होता है ॥२३८॥ गान्धारोदीच्यवामें षड्ज, मध्यम और सप्तम

१. नषादोऽसौ म०। २. पंचमं यत्तु म०। ३. गान्धारं सप्तमोपेतं म०। ४. यवस्वर्यं ग०। ५. "गान्धारसप्तमोपेतं पंचस्वर्यं विधीयते" नाट्यशास्त्रे। ६. उपन्यासो मध्यमस्तु म०।

कार्यः स्वन्तरमार्गश्च न्यासोपन्यास एव च । गान्धारोदीच्यवायास्तु तत्र सर्वो विधिः स्मृतः ॥२४०॥
मध्यमायाः भवेदंशो विना गान्धारसप्तमौ । एक एव ह्यपन्यासो न्यासश्चैव तु मध्यमः ॥२४१॥
गान्धारसप्तमापेतं पञ्चस्वर्यं विधीयते । षट्स्वरं चाप्यगान्धारं कर्त्तव्यं तु प्रयोगतः ॥२४२॥
षड्जमध्यमयोश्चात्र कार्यं बाहुल्यमेव हि । गान्धारलङ्घनं चात्र नित्यं कार्यं प्रयोक्तृभिः ॥२४३॥
मध्यमोदीच्यवायाः स्यादेको ह्यंशस्तु मध्यमः । शेषो विधिश्च कर्त्तव्यो मध्यमायास्तु यो भवेत् ॥२४४॥
[1]द्वावंशावथ पञ्चम्यामृषभः पञ्चमस्तथा । अपन्यासो भवेदेको न्यासश्चैव तु पञ्चमः ॥२४५॥
मध्यमाया विधिर्योऽत्र षाडवौडविते तथा । दौर्बल्यं चात्र कर्त्तव्यं षड्जगान्धारपञ्चमैः ॥२४६॥
कुर्यादत्र सञ्चारं पञ्चमस्यर्षभस्य च । गान्धारगमनं चैव कुर्यादपि च पञ्चमैः ॥२४७॥
अथ गान्धारपञ्चम्याः [2]पञ्चमोंऽशः प्रकीर्तितः । पञ्चमश्चर्षभश्चैव ह्यपन्यासः प्रकीर्तितः ॥२४८॥
[3]न्यासश्चैवात्र गान्धारः स च पूर्वस्वरो भवेत् । पञ्चम्यास्त्वथ गान्धार्याः सञ्चरः संविधीयते ॥२४९॥
ऋषभः पञ्चमश्चैव गान्धारोऽथ निषादवान् । चत्वारोंऽशास्तथा [4]ह्यान्ध्रया अपन्यासास्त एव च ॥२५०॥
गान्धारश्च तथा न्यासः षड्जापेतश्च षाडवः । गान्धारर्षभयोश्चापि सञ्चरस्तु परस्परम् ॥२५१॥
सप्तमस्य च षष्ठस्य न्यासगत्यनुपूर्वशः । षड्जस्य लङ्घनं चात्र नास्ति चौडवितं तथा ॥२५२॥

अंश जानना चाहिए। इसमें ऋषभके बिना छह स्वर होते हैं ॥२३९॥ इसमें अन्तरमार्ग, न्यास और अपन्यास करना चाहिए तथा उनमें गान्धारोदीच्यवाकी सब विधि स्मरणमें रखना चाहिए ॥२४०॥ मध्यमामें गान्धार और सप्तमको छोड़कर षड्ज, ऋषभ, मध्यम, पञ्चम और धैवत ये पाँच अंश होते हैं। इसमें एक मध्यम ही अपन्यास तथा न्यास रहता है ॥२४१॥ यहाँ गान्धार और सप्तमसे रहित पञ्चस्वर्य किया जाता है और कभी प्रयोगवश गान्धारको छोड़कर षट्स्वर्य भी किया जाता है ॥२४२॥ इसमें प्रयोक्ताओंको षड्ज और मध्यम स्वरकी बहुलता करनी चाहिए तथा गान्धार स्वरका लङ्घन निरन्तर करना चाहिए—उसे छोड़ते रहना चाहिए ॥२४३॥ मध्यमोदीच्यवामें एक ही मध्यम अंश होता है और शेष विधि जो मध्यमामें होती है वही इसमें करनी चाहिए ॥२४४॥ पञ्चमी जातिमें ऋषभ और पञ्चम ये दो अंश होते हैं तथा ये ही दो अपन्यास होते हैं परन्तु न्यास एक पञ्चम ही होता है ॥२४५॥ मध्यमाकी जो विधि बता आये हैं वह तथा षाडव और औडवित इसमें भी जानना चाहिए तथा इसमें षड्ज गान्धार और पञ्चम स्वरको दुर्बल करना चाहिए ॥२४६॥ यहाँ पञ्चम और ऋषभ स्वरका संचार करना चाहिए तथा पञ्चम स्वरके साथ गान्धार स्वरका भी संचार किया जा सकता है ॥२४७॥ गान्धार पञ्चमीका एक पञ्चम अंश ही कहा गया है तथा पञ्चम और ऋषभ ये दो उसके अपन्यास कहे गये हैं ॥२४८॥ इसमें गान्धार न्यास होता है और वह अपने पूर्व स्वरको लिये हुए होता है। पञ्चमी और गान्धारी जातिका परस्पर संचार भी किया जाता है ॥२४९॥ आन्ध्री जातिके ऋषभ, पञ्चम, गान्धार और निषाद ये चार अंश हैं तथा ये ही चार अपन्यास हैं ॥२५०॥ गान्धार न्यास है, तथा षड्जसे रहित षाडव-षड्स्वर्य है। यहाँ गान्धार और ऋषभ स्वरका परस्पर संचार होता है ॥२५१॥ कभी-कभी न्यासकी गतिके अनुसार षष्ठ और सप्तम

---

१. द्वादशावथ म०। द्वावंशावथ पञ्चम्या भवतः पञ्चमर्षभौ। अपन्यासो निषादश्च पञ्चमर्षभसंयुतः॥१२३॥ न्यासः पञ्चम एव स्यात् मध्यमर्षभहीनता। दुर्बलाश्चात्र कर्त्तव्या षड्जगान्धारमध्यमाः॥१२४॥ कुर्याच्चाप्यत्र सञ्चारं मध्यमस्यर्षभस्य च। गान्धारगमनं चाल्पं सप्तमात् सम्प्रयोजयेत् ॥१२५॥ —ना० शा० अध्याय २८। कैशिक्यास्तु भवन्त्यंशाः सर्वे चर्षभवर्जिताः। एत एव ह्यपन्यासा न्यासौ गान्धारसप्तमौ ॥१३७॥ धैवतेंऽशे निषादे च न्यासः पञ्चम इष्यते। —ना० शा० २८ अ०। २. पञ्च दोषाः प्रकीर्तिताः म०, ग०। ३. न्यासश्चैवानुगान्धारः म०, ग०। ४. चैते ह्यपन्यासा ग०। चैष ह्यपन्यासा म०।

[1]नन्दयन्त्या अपि न्यासा अंशाश्चापि तथैव च । गान्धारो मध्यमश्चैव पञ्चमश्चैव नित्यशः ॥२५३॥
न षड्जो लङ्घनीयोऽत्रो न चान्ध्रीसञ्चरः स्मृतः । लङ्घनं ह्यार्षभस्यात्र तच्च मन्द्रगतं स्मृतम् ॥२५४॥
तारे चापि ग्रहे कार्यस्तथा न्यासश्च नित्यशः । कर्मारव्यास्तथा ह्यंशा ऋषभः पञ्चमस्तथा ॥२५५॥
धैवतश्च निषादोऽपि ह्यपन्यासः प्रकीर्तितः । पञ्चमश्च भवेन्न्यासो हीनस्वर्यस्तथैव च ॥२५६॥
गान्धारस्य विशेषेण सर्वतो गमनं भवेत् । कैशिक्यास्तु सषड्जायाः सर्वे चैवार्षभं विना ॥२५७॥
एत एव ह्यपन्यासा गान्धारः सप्तमो भवेत् । [2]धैवते सनिषादे च न्यासः पञ्चम एव च ॥२५८॥
अपन्यासः कदाचित् स ऋषभोऽभिविधीयते । [3]व्यार्षभं षाडवं चात्र धैवतश्चार्षभं विना ॥२५९॥
तथा [4]नौडवितं कुर्याद्बलिनश्चान्त्यपञ्चमाः । दौर्बल्यमृषभस्यात्र लङ्घनं च विशेषतः ॥२६०॥
सषड्जो मध्यमश्चात्र सञ्चारस्तु विधीयते । यथारसं बुधैर्योज्या जातयः स्वरसञ्चराः ॥२६१॥
इत्यादि स यथायोग्यं तथा गन्धर्वविस्तरे[5] । सुगीते वसुदेवेन श्रोतारो विस्मयं ययुः ॥२६२॥
तुम्बुरुर्नारदः किंवा गन्धर्वः किन्नरो ह्ययम् । वीणावादनमीदृक्षं कुतोऽन्यस्येति वेदनम् ॥२६३॥
विष्णुगीतक्रमोद्देश्स्थानं गीतं सुवीणया । श्रुत्वा गन्धर्वसेनाऽभूद् विस्मिता च निरुत्तरा ॥२६४॥
तथा जयपताकायां वसुदेवेन संसदि । गृहीतायां समुत्तस्थौ गम्भीरः साधुनिस्वनः ॥२६५॥
अनुरागवती वव्रे वसुदेवं स्वभावतः । कण्ठे [6]कण्ठगुणं कन्या कुर्वती तस्य संसदि ॥२६६॥

स्वरका भी संचार होता है । इसमें षड्ज स्वरका लङ्घन और औडवित नहीं होता ॥२५२॥ जो न्यास, अंश तथा अपन्यास आन्ध्री जातिके हैं वे ही नन्दयन्तीके भी हैं । इसमें गान्धार, मध्यम और पञ्चम स्वर नित्य रहते हैं ॥२५३॥ इसमें षड्ज स्वर लङ्घनीय नहीं हैं और न आन्ध्रीके समान इसमें संचार ही होता है । इसमें ऋषभ स्वरका लङ्घन होता है और वह मन्द्र-गतिके समय होता है ॥२५४॥ तार ग्रहमें भी निरन्तर उसीके अनुरूप न्यास करना चाहिए । कर्मारवी जातिमें ऋषभ, पञ्चम, धैवत और निषाद ये चार अंश कहे गये हैं तथा ये ही चार अपन्यास बतलाये गये हैं । इसमें पञ्चम न्यास होता है और वह हीनस्वर्य होता है ॥२५५–२५६॥ यहाँ गान्धार स्वरका विशेष रूपसे सर्वत्र गमन होता है । षड्जा सहित कैशिकीमें ऋषभ-को छोड़कर शेष सभी अंश और अपन्यास माने गये हैं । गान्धार और सप्तममें दो न्यास हैं परन्तु धैवत और निषाद अंशमें एक पञ्चम ही न्यास होता है ॥२५७–२५८॥ कभी-कभी इसमें ऋषभ भी न्यास हो जाता है । इसमें षाडव ऋषभसे रहित होता है तथा धैवत ऋषभके विना प्रयुक्त होता है । यहाँ औडवित नहीं करना चाहिए, अन्तिम और पञ्चम स्वरको बलवान् करना चाहिए तथा ऋषभको दुर्बल करना चाहिए और उसीका विशेष रूपसे लङ्घन करना चाहिए ॥२५९–२६०॥ इसमें षड्ज और मध्यमका संचार किया जाता है । इस प्रकार स्वरोंमें संचार करनेवाली जातियाँ कहीं । विद्वान् इनका रसके अनुसार प्रयोग करें ॥२६१॥

इस प्रकार गन्धर्व शास्त्रके विस्तारके साथ जब वसुदेवने यथायोग्य उत्तम गाना गाया तब सभी श्रोता आश्चर्यको प्राप्त हो गये ॥२६२॥ लोग कहने लगे कि यह क्या तुम्बुरु है ? या नारद है ? या गन्धर्व है ? अथवा किन्नर है क्योंकि ऐसी वीणा बजाना किसी दूसरेको कहाँ आ सकती है ? ॥२६३॥ बलिको बाँधते समय नारद आदिने विष्णुकुमार मुनिका जिस रूपसे स्तवन किया था वसुदेवने वीणा बजाकर वही गाया जिसे सुनकर गन्धर्वसेना आश्चर्यसे चकित एवं निरुत्तर हो गई ॥२६४॥ इस प्रकार जब सभामें विजयपताका वसुदेवने ग्रहण की तब चारों ओरसे 'साधु-साधु' 'ठीक-ठीक'का जोरदार शब्द गूँज उठा ॥२६५॥ स्वाभाविक अनुरागसे भरी

---

१. मन्दयन्त्या म० । २. धैवतं सनिषादे च म०, ग० । ३. विगतम् आर्षभं यस्मात् तत् । ४. तथा चौडवितं कुर्याद्बलिनश्चात्र पञ्चमः म० । ५. विस्तारे म० । ६. मालाम् ।

गन्धर्व इव देवोऽसौ वृतो गन्धर्वकन्यया । गान्धर्वसेनया हर्षसम्बन्धं जगतो व्यधात् ॥२६७॥
चारुदत्तस्ततस्तुष्टो यथोक्तविधिना ततः । [1]विवाहं मगधाधीश निरवर्तयदेतयोः ॥२६८॥
सुग्रीवश्च यशोग्रीव उपाध्यायौ च कन्यके । वितीर्य वसुदेवाय नितान्तं तोषमापतुः ॥२६९॥
कलागुणविदग्धाभिस्ताभिरानकदुन्दुभिः[2] । रामाभिरभिरामाभिश्चिरं चिक्रीड तत्र सः ॥२७०॥

स्रग्धरावृत्तम्

लब्ध्वा लुब्धेन रन्ध्रं कथमपि हरता वैरिणा खेऽतिदूरं
नीत्वा मुक्तं पतन्तं गतशरणमधः पद्मखण्डोपधानम् ।
कृत्वा यः शीघ्रमस्मिन्झटिति घटयति प्राज्यलाभैः पुमांसं
कर्तुं भव्यास्तमेकं पथि जिनकथिते धर्मबन्धुं यतध्वम् ॥२७१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ गान्धर्वसेनावर्णनो नाम एकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९॥

गन्धर्वसेनाने सभामें ही वसुदेवके गलेमें माला डालकर उनका वरण किया ॥२६६॥ उस समय गन्धर्व-कन्यासे वृत गन्धर्वके समान गन्धर्वसेनासे वृत वसुदेवने समस्त जगत्को हर्षित कर दिया ॥२६७॥ तदनन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! कन्याके पिता चारुदत्तने सन्तुष्ट होकर दोनोंका विधिपूर्वक विवाह कर दिया ॥२६८॥ उपाध्याय सुग्रीव और यशोग्रीव भी अपनी-अपनी कन्याएँ वसुदेवके लिए प्रदान कर सन्तोषको प्राप्त हुए ॥२६९॥ अनेक कलाओं और गुणोंमें चतुर उन सुन्दर स्त्रियोंके साथ वसुदेव वहाँ चिरकालतक क्रीड़ा करते रहे ॥२७०॥ लोभसे भरा वैरी विद्याधर छिद्र पा जिसे हरकर आकाशमें बहुत दूर ले गया और वहाँसे अशरण अवस्थामें जिसे कमल वनमें नीचे छोड़ा ऐसे पुरुषको भी जो शीघ्र ही उत्कृष्ट लाभोंसे युक्त करता है हे भव्यजनो ! तुम जिन-कथित मार्गमें उस एक धर्म रूप बन्धुको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो ॥२७१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें गन्धर्वसेना कन्याका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥

---

१. विवाहो मगधाधीशो (?) म० । २. वसुदेवः ।

विंशतितमः सर्गः

अथापृच्छत्पृथुश्रीकः श्रेणिकोऽत्र गणेश्वरम् । कथं विष्णुकुमारेण विभो बलिरबध्यत ॥१॥
अभणीद्गणमुख्यश्च शृणु श्रेणिक ! वैष्णवीम् । दृष्टिशुद्धिकरीं श्रव्यां सत्कथां कथयामि ते ॥२॥
उज्जयिन्यामभूद्राजा[1] श्रीधर्मा[2] नाम विश्रुतः । श्रीमती श्रीमती तस्य महादेवी महागुणा ॥३॥
चत्वारो मन्त्रिणश्चास्य मन्त्रमार्गविदो बलिः । बृहस्पतिश्च नमुचिः प्रह्लाद इति चाभिधः ॥४॥
अन्यदा श्रुतपारस्थः सप्तशतसंयतः । आगत्याकम्पनस्तस्थौ बाह्योद्याने महामुनिः ॥५॥
वन्दनार्थं नृपो लोकं [3]निर्यान्तमिव सागरम् । प्रासादस्थस्तदालोक्य मन्त्रिणोऽपृच्छदित्यसौ ॥६॥
अकालयात्रया लोकः क यातीति ततो बलिः । राजन्नज्ञानिनो द्रष्टुं श्रमणानित्यवेदयत् ॥७॥
ततो जिगमिषू राजा निषिद्धोऽपि बलाद् ययौ । मन्त्रिणोऽपि सहागत्य दृष्ट्वा किञ्चिदवीवदन् ॥८॥
गुर्वादेशाच्च सङ्घोऽपि स्थितो मौनमुपाश्रितः । यान्तः प्रतिनिवृत्यामी संमुखं वीक्ष्य योगिनम् ॥९॥
[4]अनूनुदन्नृपाध्यक्षं मिथ्यामार्गविमोहिताः । प्रमाणमार्गतस्तान् स जिगाय श्रुतसागरः ॥१०॥
स्थितं प्रतिमया रात्रौ जिघांसूस्तांश्च तद्दिवा । देवतास्तम्भितान् दृष्ट्वा राजा देशादपाकरोत् ॥११॥
तदा नागपुरे चक्री महापद्म इतीरितः । अष्टौ च कन्यकास्तस्य ताश्च विद्याधरैर्हृताः ॥१२॥

अथानन्तर विशाल लक्ष्मीके धारक राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे पूछा कि हे विभो ! विष्णु कुमार मुनिने बलिको क्यों बाँधा था ? ॥१॥ इसके उत्तरमें गौतम गणपतिने कहा कि हे श्रेणिक ! तू सम्यग्दर्शनको शुद्ध करनेवाली विष्णुकुमार मुनिकी मनोहारिणी कथा सुन, मैं तेरे लिए कहता हूँ ॥२॥

किसी समय उज्जयिनी नगरीमें श्रीधर्मा नामका प्रसिद्ध राजा रहता था । उसकी श्रीमती नामकी पटरानी थी । वह श्रीमती वास्तवमें श्रीमती—उत्तम शोभासे सम्पन्न और महा गुणवती थी ॥३॥ राजा श्रीधर्माके बलि, बृहस्पति, नमुचि और प्रह्लाद ये चार मन्त्री थे । ये सभी मन्त्री मन्त्र मार्गके जानकार थे ॥४॥ किसी समय श्रुतके पारगामी तथा सात सौ मुनियोंसे सहित महामुनि अकम्पन आकर उज्जयिनीके बाह्य उपवनमें विराजमान हुए ॥५॥ उन महामुनिकी वन्दनाके लिए नगरवासी लोग सागरकी तरह उमड़ पड़े । महलपर खड़े हुए राजाने नगरवासियोंको देख मन्त्रियोंसे पूछा कि ये लोग असमयकी यात्रा द्वारा कहाँ जा रहे हैं ? तब बलिने उत्तर दिया कि हे राजन् ! ये लोग अज्ञानी दिगम्बर मुनियोंकी वन्दनाके लिए जा रहे हैं ॥६-७॥ तदनन्तर राजा श्रीधर्माने भी वहाँ जानेकी इच्छा प्रकट की । यद्यपि मन्त्रियोंने उसे बहुत रोका तथापि वह जबर्दस्ती चल ही पड़ा । अन्तमें विवश हो मन्त्री भी राजाके साथ गये और मुनियोंके दर्शनकर कुछ विवाद करने लगे ॥८-९॥ उस समय गुरुकी आज्ञासे सब मुनि सङ्घ मौन लेकर बैठा था इसलिए ये चारों मन्त्री विवश होकर लौट आये । लौटकर आते समय उन्होंने सामने एक मुनिको देखकर राजाके समक्ष छेड़ा । सब मन्त्री मिथ्यामार्गमें मोहित तो थे ही इसलिए श्रुतसागर नामक उक्त मुनिराजने उन्हें जीत लिया ॥ १०॥ उसीदिन रात्रिके समय उक्त मुनिराज प्रतिमा योगसे विराजमान थे कि सब मन्त्री उन्हें मारनेके लिए गये परन्तु देवने उन्हें कीलित कर दिया । यह देख राजाने उन्हें अपने देशसे निकाल दिया ॥११॥

उस समय हस्तिनापुरमें महापद्म नामक चक्रवर्ती रहता था । उसकी आठ कन्याएँ थीं

---

१. उज्जयिन्यां भवेद्राजा म० । २. श्रीधर्मो म० । ३. निर्यातमिव म० । ४. अनूनुदं म०

आनीताः शुद्धशीलास्ताः संवेगिन्यः प्रवव्रजुः । तेऽपि संवेगिनोऽष्टौ च खेचराः तपसि स्थिताः ॥१३॥
चक्रवर्ती च तद्धेतोः पद्मं लक्ष्मीमतीसुतम् । ज्येष्ठं राज्ये निधायान्त्यदेहोऽदीक्षिष्ट विष्णुना ॥१४॥
तपो विष्णुकुमारोऽसौ रत्नत्रयधरस्तपन् । निधिर्बभूव लब्धीनां नदीनां वा नदीपतिः ॥१५॥
नवराज्यस्थमागत्य पद्मं बलिपुरोगमाः । मन्त्रिणोऽशिश्रियन् देशकालावस्थाविदस्तथा ॥१६॥
स्थितं सिंहबलं दुर्गे पद्मं बल्युपदेशतः । गृहीत्वाऽऽह गृहाणेष्टं वरत्वेति[1] बलिं तदा ॥१७॥
तं प्रणम्य विदग्धोऽसौ हस्तन्यासं न्यधाद् वरम् । ततः सन्तोषिणां तेषां काले याति कदाचन ॥१८॥
आगत्याकम्पनाचार्यस्तदा नागपुरं शनैः । मुनीनामग्रहीद् योगं चातुर्मास्यावधिं बहिः ॥१९॥
ततस्ते मन्त्रिणो भीताः शङ्काविषमुपागताः । तदपाकरणोपायं चिन्तयन्ति स्म सस्मयाः ॥२०॥
अब्रवीद् बलिराश्रित्य पद्मं राजन् ! वरस्त्वया । दत्तः स दीयतां मेऽद्य राज्यं सप्तदिनावधि ॥२१॥
दत्तं गृहाण ते राज्यमित्युक्त्वाऽदृश्यवत्स्थितः । राज्यस्थोऽपि बलिस्तेषामुपद्रवमकारयत् ॥२२॥
यतीनभ्यन्तरीकृत्य परितोऽहर्निशं कृतम्[2] । पत्रधूमादिकोच्छिष्टशरावोत्सर्जनादिकम् ॥२३॥
उपसर्गसहास्तेऽपि कायोत्सर्गेण योगिनः । तस्थुः सालम्बमादाय प्रत्याख्यानं ससूरयः ॥२४॥
तस्मिन् काले गुरुर्विष्णोर्मिथिलायामवस्थितः । दिव्यज्ञानी जगौ ध्यात्वा स संयुक्तोऽनुकम्पया ॥२५॥

और आठ विद्याधर उन्हें हरकर ले गये थे। शुद्ध शीलको धारण करनेवाली वे कन्याएँ जब वापिस लाई गई तो उन्होंने संसारसे विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। उधर संसारसे विरक्त हो वे आठ विद्याधर भी तप करने लगे ॥१२-१३॥ इस घटनासे चरमशरीरी महापद्म चक्रवर्ती भी संसारसे विरक्त हो गया जिससे उसने लक्ष्मीमती रानीसे उत्पन्न पद्म नामक बड़े पुत्रको राज्य देकर छोटे पुत्र विष्णु कुमारके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥१४॥ जिस प्रकार सागर नदियों-का भाण्डार होता है उसी प्रकार रत्नत्रयके धारी एवं तप तपने वाले विष्णुकुमार मुनि अनेक ऋद्धियोंके भाण्डार हो गये ॥१५॥ देशकालकी अवस्थाको जाननेवाले बलि आदि मन्त्री नये राज्य-पर आरूढ़ राजा पद्मकी सेवा करने लगे ॥१६॥ उस समय राजा पद्म, बलि मन्त्रीके उपदेशसे किलेमें स्थित सिंहबल राजाको पकड़नेमें सफल हो गया इसलिए उसने बलिसे कहा कि वर माँग-कर इष्ट वस्तुको ग्रहण करो ॥१७॥ बलि बड़ा चतुर था इसलिए उसने प्रणामकर उक्त वरको राजा पद्मके हाथमें धरोहर रख दिया अर्थात् 'अभी आवश्यकता नहीं है जब आवश्यकता होगी तब माँग लूँगा।' यह कहकर अपना वर धरोहर रूप रख दिया। तदनन्तर बलि आदि चारों मन्त्रियों-का सन्तोष पूर्वक समय व्यतीत होने लगा ॥१८॥

अथानन्तर किसी समय धीरे-धीरे विहार करते हुए अकम्पनाचार्य, अनेक मुनियोंके साथ हस्तिनापुर आये और चार माहके लिए वर्षायोग धारण कर नगरके बाहर विराजमान हो गये ॥१९॥ तदनन्तर शङ्कारूपी विषको प्राप्त हुए बलि आदि मन्त्री भयभीत हो गये और अहंकार-के साथ उन्हें दूर करनेका उपाय सोचने लगे ॥२०॥ बलिने राजा पद्मके पास आकर कहा कि राजन् ! आपने मुझे जो वर दिया था उसके फलस्वरूप सात दिनका राज्य मुझे दिया जाय ॥२१॥ 'सँभाल, तेरे लिए सात दिनका राज्य दिया' यह कहकर राजा पद्म अदृश्यके समान रहने लगा। और बलि राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ होकर उन अकम्पनाचार्य आदि मुनियोंपर उपद्रव कर-वाया ॥२२॥ उसने चारों ओरसे मुनियोंको घेरकर उनके समीप पत्तोंका धुआँ कराया तथा जूठन व कुल्हड़ आदि फिकवाये ॥२३॥ अकम्पनाचार्य सहित सब मुनि 'यदि उपसर्ग दूर होगा तो आहार-विहार करेंगे अन्यथा नहीं' इस प्रकार सावधिक संन्यास धारण कर उपसर्ग सहते हुए कायोत्सर्गसे खड़े हो गये ॥२४॥

उस समय विष्णुकुमार मुनिके अवधिज्ञानी गुरु मिथिला नगरीमें थे। वे अवधिज्ञानसे

---

१. वरस्तदा म० । २. कृतः म० ।

आचार्याकम्पनादीनां सप्तशततपोभृताम् । वर्ततेऽभूतपूर्वोऽयमुपसर्गोऽद्य दारुणः ॥२६॥
क्षुल्लकः पुष्पदन्तस्तं क्व नाथेत्यतिसम्भ्रमः । अप्राक्षीदित्यथ प्राह स हास्तिनपुरे स्फुटम् ॥२७॥
कुतोऽपवर्तते नाथ स इत्युक्ते जगौ गुरुः । प्राप्तवैक्रियसामर्थ्याद्विष्णोर्जिष्णोर्विधृष्यतः ॥२८॥
तस्मै स क्षुल्लको गत्वा तमुदन्तं न्यवेदयत् । विक्रियालब्धिसद्भावपरीक्षामकरोन्मुनिः ॥२९॥
बाहुः प्रसारितस्तेन गिरिभित्तौ विभिद्य ताम् । [1]अरुद्धप्रसरो दूरं सहसाप्सु यथा तथा ॥३०॥
ज्ञातलब्धिपरिप्राप्तिर्जिनशासनवत्सलः । गत्वा पद्मं मुनिः प्राह प्रणतं प्रणतप्रियः ॥३१॥
पद्मराज ! किमारब्धं भवता राज्यवर्तिना । न वृत्तं कौरवेष्वत्र कदाचिदपि यद्भुवि ॥३२॥
अनार्यजनसंभूतमुपसर्गं तपस्विनाम् । निवर्तयेन्नृपस्तस्य प्रवृत्तिस्तु कुतस्ततः ॥३३॥
निर्वाप्यते ज्वलन्नग्निर्जलेन सुमहानपि । उत्तिष्ठेद् यद्यसौ तस्मात्तस्य शान्तिः कुतोऽन्यतः ॥३४॥
[2]नन्वाऽऽज्ञाफलमैश्वर्यमाज्ञा दुर्वृत्तशासनम् । ईश्वरः स्थाणुरप्युक्तः क्रियाशून्यो[3] यदीश्वरः ॥३५॥
तन्निवर्तय दुर्वृत्ताद् बलिमाशु पशूपमम् । प्रद्वेषः कोऽस्य मित्रारिसमभावेषु साधुषु ॥३६॥
साधोः शीतलशीलस्य[4] तापनं न हि शान्तये । गाढतप्तो दहत्येव तोयात्मा विकृतिं गतः ॥३७॥

विचार कर तथा दयासे युक्त हो कहने लगे कि हा ! आज अकम्पनाचार्य आदि सात सौ मुनियों-पर अभूतपूर्व दारुण उपसर्ग हो रहा है ॥२५-२६॥ उस समय उनके पास पुष्पदन्त नामका क्षुल्लक बैठा था। गुरुके मुखसे उक्त दयार्द्र वचन सुन उसने बड़े संभ्रमके साथ पूछा कि हे नाथ ! वह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ? इसके उत्तरमें गुरुने स्पष्ट कहा कि हस्तिनापुरमें ॥२७॥ क्षुल्लकने पुनः कहा कि हे नाथ ! यह उपसर्ग किससे दूर हो सकता है ? इसके उत्तरमें गुरुने कहा कि जिसे विक्रिया ऋद्धिकी सामर्थ्य प्राप्त है तथा जो इन्द्रको भी धौंस दिखानेमें समर्थ है ऐसे विष्णुकुमार मुनिसे यह उपसर्ग दूर हो सकता है ॥२८॥ क्षुल्लक पुष्पदन्तने उसी समय जाकर विष्णुकुमार मुनिसे यह समाचार कहा और उन्होंने 'विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुई है या नहीं ?' इसकी परीक्षा की ॥२९॥ उन्होंने परीक्षाके लिए सामने खड़ी पर्वतकी दीवालके आगे अपनी भुजा फैलाई सो वह भुजा, पर्वतकी उस दीवालको भेदनकर विना किसी रुकावटके दूरतक इस तरह आगे बढ़ती गई जिस तरह मानो पानीमें ही बढ़ी जा रही हो ॥३०॥

तदनन्तर जिन्हें ऋद्धिकी प्राप्तिका निश्चय हो गया था, जो जिनशासनके स्नेही थे और नम्र मनुष्योंके लिए अत्यन्त प्रिय थे ऐसे विष्णुकुमार मुनि उसी समय विनयावनत राजा पद्मके पास जाकर उससे बोले कि हे पद्मराज ! राज्य पाते ही तुमने यह क्या कार्य प्रारम्भ कर रक्खा ? ऐसा कार्य तो कुरुवंशियोंमें पृथिवीपर कभी हुआ ही नहीं ॥३१-३२॥ यदि कोई दुष्टजन तपस्वी-जनोंपर उपसर्ग करता है तो राजाको उसे दूर करना चाहिए। फिर राजासे ही इस उपसर्गकी प्रवृत्ति क्यों हो रही है ? ॥३३॥ हे राजन् ! जलती हुई अग्नि कितनी ही महान् क्यों न हो अन्त-में जलके द्वारा शान्त कर दी जाती है फिर यदि जलसे ही अग्नि उठने लगे तो अन्य किस पदार्थसे उसकी शान्ति हो सकती है ? ॥३४॥ निश्चयसे ऐश्वर्य, आज्ञारूप फलसे सहित है अर्थात् ऐश्वर्यका फल आज्ञा है और आज्ञा दुराचारियोंका दमन करना है, यदि ईश्वर—राजा इस क्रियासे शून्य है—दुष्टोंका दमन करनेमें समर्थ नहीं है तो फिर ऐसे ईश्वरको स्थाणु—ठूँठ भी कहा है अर्थात् वह नाममात्रका ईश्वर है ॥३५॥ इसलिए पशुतुल्य बलिको इस दुष्कार्यसे शीघ्र ही दूर करो। मित्र और शत्रुओंपर समान भाव रखनेवाले मुनियोंपर इसका यह द्वेष क्या है ? ॥३६॥ शीतल स्वभावके धारक साधुको सन्ताप पहुँचाना शान्तिके लिए नहीं है क्योंकि जिस प्रकार अधिक तपाया हुआ पानी विकृत होकर जला ही देता है उसी प्रकार अधिक

---

१. अरुद्धः प्रसरः म० । २. न त्वाज्ञा म० । ३. उक्तक्रियाशून्यो म० । ४. शीतलशीतस्य म० ।

धीराः प्रच्छन्नसामर्थ्या [1]गाढावष्टब्धमूर्तयः । साधवोऽपि कदाचित् स्युर्दाहका ननु वह्निवत् ॥३८॥
तेन ते यावदायाति नापायो वस्तुपेक्षणम् । नृप ! तावन्निवर्तस्व मोपेक्षस्व स्वतोऽन्यतः ॥३९॥
पद्मस्ततो नतः प्राह नाथ ! राज्यं मया बलेः । सप्ताहावधिकं दत्तं नाधिकारोऽधुनाऽत्र मे ॥४०॥
त्वमेव भगवन् ! गत्वा शाधि ते कुरुते वचः । बलिर्दाक्षिण्यतोऽन्यूनादित्युक्ते बलिमाप सः ॥४१॥
प्राह चैनमथो साधो ! किं दिनार्द्धनिमित्तकम् । संवर्द्धनमधर्मस्य कुरुषे कर्म गर्हितम् ॥४२॥
तपःकर्मैकनिष्ठैस्तैः किमनिष्टमनुष्ठितम् । वरिष्ठेन त्वया येषु कनिष्ठेनेव यत्कृतम् ॥४३॥
स्वकर्मबन्धभीरुत्वान्नान्यानिष्टं कदाचन । तपस्विनो विचेष्टन्ते मनोवाक्कायकर्मभिः ॥४४॥
तदित्थमुपशान्तेषु न ते युक्तं दुरीहितम् । उपसंहर शान्त्यर्थमुपसर्गं प्रमादजम् ॥४५॥
ततो बलिरुवाचामी यान्ति मे यदि राज्यतः । तदा निरुपसर्गः स्यादन्यथा तदवस्थितिः ॥४६॥
विष्णुरूचे स्वयोगस्था न यान्ति पदमप्यतः । कुर्वन्त्यमी तनुत्यागं न व्यवस्थितिलङ्घनम् ॥४७॥
अनुमन्यस्व मे भूमिं स्थातुं तेषां पदत्रयम् । माऽतिकर्कशमात्मानं कुर्वयाचकयाचितः ॥४८॥
अनुमन्याब्रवीदित्थं तद्बहिः पदमप्यमी । यद्यतीयुस्ततो दण्ड्या न मे दोषोऽत्र विद्यते ॥४९॥
तदा हि पुरुषो लोके प्रत्यवायेन युज्यते । यदा प्रच्यवते वाक्यात् न तु वाक्यस्य पालकः ॥५०॥

दुःखी किया हुआ साधु विकृत होकर जला ही देता है—शाप आदिसे नष्ट ही कर देता है ॥३७॥ जो धीर-वीर हैं, जिनकी सामर्थ्य छिपी हुई है और जिन्होंने अपने शरीरको अच्छी तरह वश कर लिया है ऐसे साधु भी कदाचित् अग्निके समान दाहक हो जाते हैं ॥३८॥ इसलिए हे राजन् ! जब तक तुम्हारे ऊपर कोई बड़ा अनिष्ट नहीं आता है तब तक तुम बलिके इस कुकृत्यके प्रति की जानेवाली अपनी उपेक्षाको दूर करो। स्वयं अपने तथा आश्रित रहनेवाले अन्य जनोंके प्रति उपेक्षा न करो ॥३९॥

तदनन्तर राजा पद्मने नम्रीभूत होकर कहा कि हे नाथ ! मैंने बलिके लिए सात दिनका राज्य दे रक्खा है इसलिए इस विषयमें मेरा अधिकार नहीं है ॥४०॥ हे भगवन् ! आप स्वयं ही जाकर उसपर शासन करें आपके अखण्ड चातुर्यसे बलि अवश्य ही आपकी बात स्वीकृत करेगा। राजा पद्मके ऐसा कहनेपर विष्णुकुमार मुनि बलिके पास गये ॥४१॥ और बोले कि हे भले आदमी ! आधे दिनके लिए अधर्मको बढ़ानेवाला यह निन्दित कार्य क्यों कर रहा है ? ॥४२॥ अरे ! एक तपरूप कार्यमें ही लीन रहनेवाले उन मुनियोंने तेरा क्या अनिष्ट कर दिया जिससे तूने उच्च होकर भी नीचकी तरह उनपर यह कुकृत्य किया ॥४३॥ अपने कर्मबन्धसे भीरु होनेके कारण तपस्वी मन, वचन, कायसे कभी दूसरेका अनिष्ट नहीं करते ॥४४॥ इसलिए इस तरह शान्त मुनियोंके विषयमें तुम्हारी यह दुश्चेष्टा उचित नहीं है। यदि शान्ति चाहते हो तो शीघ्र ही इस प्रमादजन्य उपसर्गका संकोच करो ॥४५॥ तदनन्तर बलिने कहा कि यदि ये मेरे राज्यसे चले जाते हैं तो उपसर्ग दूर हो सकता है अन्यथा उपसर्ग ज्योंका-त्यों बना रहेगा ॥४६॥ इसके उत्तरमें विष्णुकुमार मुनिने कहा कि ये सब आत्मध्यानमें लीन हैं इसलिए यहाँसे एक डग भी नहीं जा सकते। ये अपने शरीरका त्याग भले ही कर देंगे पर व्यवस्थाका उल्लंघन नहीं कर सकते ॥४७॥ उन मुनियोंके ठहरनेके लिए मुझे तीन डग भूमि देना स्वीकृत करो। अपने आपको अत्यन्त कठोर मत करो। मैंने कभी किसीसे याचना नहीं की फिर भी इन मुनियोंके ठहरनेके निमित्त तुमसे तीन डग भूमिकी याचना करता हूँ अतः मेरी बात स्वीकृत करो ॥४८॥ विष्णुकुमार मुनिकी बात स्वीकृत करते हुए बलिने कहा कि यदि ये उस सीमाके बाहर एक डगका भी उल्लंघन करेंगे तो दण्डनीय होंगे इसमें मेरा अपराध नहीं है ॥४९॥ क्योंकि लोकमें मनुष्य

---

१. सुगाढा वष्ट- म० ।

तं कूटव्यवहारस्थमविनेयमनार्जवम् । दुष्टाहिमिव दुःशीलं वशीकर्तुं प्रचक्रमे ॥५१॥
मिनोमि पाप ! पश्य त्वं पदत्रयमितीरयन् । व्यजृम्भत महाकायो ज्योतिःपटलमास्पृशन् ॥५२॥
मेरावेकक्रमो न्यस्तो द्वितीयो मानुषोत्तरे । अलाभादवकाशस्य तृतीयोऽभ्रमदम्बरे ॥५३॥
तदा विष्णोः प्रभावेण क्षुभिते भुवनत्रये । किं किमेतदितिध्वाना जाताः किंपुरुषादयः ॥५४॥
अनुकर्णं मुनेस्तस्य वीणावंशादिवादिनः । मृदुगीताः सनारीकाः जगुर्गन्धर्वपूर्वकाः ॥५५॥
तस्य रक्ततलः पादो भ्रमन् स्वैरं नभस्यभात् । सङ्गीतकिंनरादिस्त्रीमुखाब्जनखदर्पणः ॥५६॥
संक्षोभं मनसो विष्णो प्रभो संहर संहर । तपःप्रभावतस्तेऽद्य चलितं भुवनत्रयम् ॥५७॥
देवैर्विद्याधरैर्वीरैः अव्यगान्धर्ववीणिभिः । सिद्धान्तगीतिकागानैरुच्चैराकाशचारणैः ॥५८॥
इति प्रसाद्यमानोऽसौ शनैः संहृत्य विक्रियाम् । स्वभावस्थोऽभवद्भानुर्यथोत्पातशमेस्थितः[1] ॥५९॥
उपसर्गं विनाश्याशु बलिं बद्ध्वा सुरास्तदा । विनिगृह्य दुरात्मानं देशाद् दूरं निराकिरन् ॥६०॥
वीणाघोषोत्तरश्रेणौ खगानां किंनरैः कृता । सिद्धकूटे महाघोषा सुघोषा दक्षिणे तटे ॥६१॥
कृत्वा शासनवात्सल्यमुपसर्गविनाशनात् । विष्णुः स्वगुरुपादान्ते विक्रियाशल्यमुज्जहौ ॥६२॥

तभी आपत्तिसे युक्त होता है जब वह अपने वचनसे च्युत हो जाता है। अपने वचनका पालन करनेवाला मनुष्य लोकमें कभी आपत्तियुक्त नहीं होता ॥५०॥

तदनन्तर जो कपट-व्यवहार करनेमें तत्पर था, शिक्षाके अयोग्य था, कुटिल था और दुष्ट साँपके समान दुष्ट स्वभावका धारक था ऐसे उस बलिको वश करनेके लिए विष्णुकुमार मुनि उद्यत हुए ॥५१॥ 'अरे पापी ! देख, मैं तीन डग भूमिको नापता हूँ' यह कहते हुए उन्होंने अपने शरीरको इतना बड़ा बना लिया कि वह ज्योतिष्पटलको छूने लगा ॥५२॥ उन्होंने एक डग मेरुपर रक्खी दूसरी मानुषोत्तरपर और तीसरी अवकाश न मिलनेसे आकाशमें ही घूमती रही ॥५३॥ उस समय विष्णुके प्रभावसे तीनों लोकोंमें क्षोभ मच गया। किम्पुरुष आदि देव 'क्या है ? क्या है ?' यह शब्द करने लगे ॥५४॥ वीणा-बाँसुरी आदि बजानेवाले कोमल गीतोंके गायक गन्धर्वदेव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ उन मुनिराजके समीप मनोहर गीत गाने लगे ॥५५॥ लाल-लाल तलुएसे सहित एवं आकाशमें स्वच्छन्दतासे घूमता हुआ उनका पैर अत्यधिक सुशोभित हो रहा था और उसके नख संगीतके लिए इकट्ठी हुई किन्नरादि देवोंकी स्त्रियोंको अपना-अपना मुख-कमल देखनेके लिए दर्पणके समान जान पड़ते थे ॥५६॥ 'हे विष्णो ! हे प्रभो ! मनके क्षोभको दूर करो, दूर करो, आपके तपके प्रभावसे आज तीनों लोक चल-विचल हो उठे हैं' इस प्रकार मधुर गीतोंके साथ वीणा बजानेवाले देवों, धीर-वीर विद्याधरों तथा सिद्धान्त शास्त्रकी गाथाओंको गानेवाले एवं बहुत ऊँचे आकाशमें विचरण करनेवाले चारण ऋद्धिधारी मुनियोंने जब उन्हें शान्त किया तब वे धीरे-धीरे अपनी विक्रियाको संकोच कर उस तरह स्वभावस्थ हो गये—जिस तरह कि उत्पातके शान्त होनेपर सूर्य स्वभावस्थ हो जाता है—अपने मूल रूपमें आ जाता है ॥५७-५९॥ उस समय देवोंने शीघ्र ही मुनियोंका उपसर्ग दूर कर दुष्ट बलिको बाँध लिया और उसे दण्डित कर देशसे दूर कर दिया ॥६०॥ उस समय किन्नरदेव तीन वीणाएँ लाये थे उनमें घोषा नामकी वीणा तो उत्तरश्रेणिमें रहनेवाले विद्याधरोंको दी। महाघोषा सिद्धकूटवासियोंको और सुघोषा दक्षिणतटवासी विद्याधरोंको दी ॥६१॥ इस प्रकार उपसर्ग दूर करनेसे जिनशासनके प्रति वत्सलता प्रकट करते हुए विष्णुकुमार मुनिने सीधे गुरुके पास जाकर प्रायश्चित्त द्वारा विक्रियाकी शल्य छोड़ी ॥६२॥

---

१. यथोत्पातः समोत्थितः म० ।

तपो घोरमसौ कृत्वा कृत्वाऽन्तं घातिकर्मणाम् । विहृत्य केवली विष्णुर्मोक्षमन्ते ययौ विभुः ॥६३॥
इदं विष्णुकुमारस्य चरितं [1]दुरिताशनम् । यः शृणोति जनो भक्त्या दृष्टिशुद्धिं श्रयेत सः ॥६४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वस्थानाच्चलयेद्दलं गुरुतरान् कामन्दराम्मन्दरां-
श्चन्द्रार्कानपि [2]पातयेत्करतलव्यापारत[3]ः पारतः ।
तोयेशान् विकिरेदुपप्लवयुताश्चिमुक्तये मुक्तये
साधुः स्यात् किमु दुष्करं जिनतपःश्रीयोगिनां योगिनाम् ॥६५॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ विष्णुकुमारमाहात्म्यवर्णनो नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

स्वामी विष्णुकुमार, घोर तपश्चरण कर तथा घातिया कर्मोंका क्षयकर केवली हुए और विहार कर अन्तमें मोक्षको प्राप्त हुए ॥६३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य विष्णुकुमार मुनिके इस पापापहारी चरितको भक्तिपूर्वक सुनता है वह सम्यग्दर्शनकी शुद्धिको प्राप्त होता है ॥६४॥ साधु चाहे तो अतिशय विशाल मन्दराचलोंको भी स्वेच्छानुसार भयसे अपने स्थानसे विचलित कर सकता है, हथेलियोंके व्यापारसे सूर्य और चन्द्रमाको भी आकाशसे नीचे गिरा सकता है, उपद्रवोंसे युक्त लहराते हुए समुद्रोंको भी बिखेर सकता है और जो मुक्तिका पात्र नहीं है उसे भी मुक्ति प्राप्त करा सकता है, सो ठीक ही है क्योंकि जिनशासन प्रणीत तपोलक्ष्मीके धारक योगियोंके लिए क्या कठिन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥६५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यविरचित हरिवंशपुराणमें विष्णुकुमारका वर्णन करनेवाला बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥

---

१. दुरितनाशनम् म० । २. पातयेऽम्बरतल -म० । ३. व्यापारतोपारतः क० ।

एकविंशतितमः सर्गः

अथ गान्धर्वसेनां तां कथञ्चित्खेचरान्वयाम् । अतिराजविभूतिं च चारुदत्तं निरूप्य सः ॥१॥
चारुगोष्ठीसुखास्वादश्चारुदत्तं यदूत्तमः । उदारचरितोऽपृच्छदुदारचरितप्रियः ॥२॥
[1]आर्यास्य कथमीदृश्यः सादृश्यपरिवर्जिताः । दैवपौरुषसूचिन्यः सम्पदो भवतार्जिताः ॥३॥
वद विद्याधरी चेयं कुतः स्तुत्या तवास्पदे । न्यवसद् वसुभिः पूर्णे वर्षत्कर्णामृतं मम ॥४॥
इति पृष्टोऽवदत्सोऽस्मै प्रहृष्टमतिरादरात् । साधु पृष्टमिदं धीर ! वच्मि ते शृणु वृत्तकम् ॥५॥
आसीदत्रैव वैश्येशश्चम्पायां सुमहाधनः । भानुदत्त इति ख्यातः सुभद्रा तस्य भामिनी ॥६॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धिनानाणुव्रतधारिणोः । काले याति सुखाम्भोधिमग्नयोर्यौवनस्थयोः ॥७॥
चिरायति तयोश्चित्तनयनामृतवर्षिणि । साक्षाद्गृहिफले श्रीमदपत्यमुखपङ्कजे ॥८॥
अर्हदायतने पूजां कुर्वाणावन्यदा च तौ । चारणश्रमणं दृष्ट्वा पुत्रोत्पत्तिमपृच्छताम् ॥९॥
अचिरेणैव तेनापि यतिना कृपया तयोः । प्रधानसुतसम्भूतिरादिष्टा पृष्टमात्रतः ॥१०॥
उत्पन्नश्चाचिरेणाहं तयोः प्रीतिकरः सुतः । चारुदत्ताभिधानश्च कृतः कृतमहोत्सवः ॥११॥
कृताणुव्रतदीक्षश्च ग्राहितः सकलाः कलाः । बालचन्द्रः परां वृद्धिं बान्धवाम्भोनिधेरधात् ॥१२॥

अथानन्तर जिन्हें उत्तमोत्तम गोष्ठियोंके सुखका स्वाद था, जो स्वयं उदार चरितके धारक थे और उदारचरितके धारक मनुष्योंके लिए अत्यन्त प्रिय थे ऐसे यदुवंशशिरोमणि वसुदेव, किसी तरह विद्याधरोंके कुलमें उत्पन्न गान्धर्वसेनाको एवं राजाओंकी विभूतिको तिरस्कृत करनेवाले चारुदत्तको देखकर उनसे पूछने लगे कि—हे पूज्य ! जो अपनी तुलना नहीं रखतीं तथा जो आपके भाग्य और पुरुषार्थ दोनोंको सूचित करनेवाली हैं ऐसी ये सम्पदाएँ आपने किस तरह प्राप्त कीं ? कहिए कि यह प्रशंसनीय विद्याधरी, धन-धान्यसे परिपूर्ण आपके भवनमें निवास करती हुई मेरे कानोंमें अमृतकी वर्षा क्यों कर रही है ? ॥१-४॥ वसुदेवके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर चारुदत्त बहुत ही प्रसन्न हुआ और आदरके साथ कहने लगा कि हे धीर ! तुमने यह ठीक पूछा है । अच्छा, ध्यानसे सुनो मैं तुम्हारे लिए अपना वृत्तान्त कहता हूँ ॥५॥

इसी चम्पापुरीमें अतिशय धनाढ्य भानुदत्त नामका वैश्यशिरोमणि रहता था । उसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था ॥६॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताके साथ नाना अणुव्रतोंको धारण करनेवाले सुखरूपी सागरमें निमग्न एवं पूर्ण यौवनसे सुशोभित उन दोनोंका समय सुखपूर्वक बीत रहा था ॥७॥ तदनन्तर किसी समय जब कि उन दोनोंके चित्त और नेत्रोंके लिए अमृत बरसाने वाला एवं गृहस्थीका साक्षात् फलस्वरूप, भाग्यशाली पुत्रका मुख कमल विलम्ब कर रहा था अर्थात् उन दोनोंके जब पुत्र उत्पन्न होनेमें विलम्ब दीखा तब वे दोनों मन्दिरमें पूजा कर रहे थे उसी समय चारणऋद्धिधारी मुनिके दर्शन कर उन्होंने उनसे पुत्रोत्पत्तिकी बात पूछी ॥८-९॥ पूछते ही उन मुनिराजने दोनों दम्पतियोंपर दया कर कहा कि तुम्हारे शीघ्र ही उत्तम पुत्रकी उत्पत्ति होगी ॥१०॥ और कुछ ही समय बाद उन दोनों दम्पतियोंके आनन्दको बढ़ानेवाला मैं पुत्र हुआ । मेरा चारुदत्त नाम रक्खा गया तथा मेरे जन्मका बड़ा उत्सव मनाया गया ॥११॥ अणुव्रतोंकी दीक्षाके साथ-साथ जिसे समस्त कलाएँ ग्रहण कराई गई थीं ऐसा वह बालकरूपी चन्द्रमा परिवार रूपी समुद्रकी वृद्धि करने लगा । भावार्थ—वह बालक ज्यों-ज्यों कलाओंको ग्रहण करता जाता

१. पूज्य !

वराहगोमुखाभिख्यहरिसिंहतमोऽन्तकाः । मरुभूतिरिति प्रीता वयस्या मेऽभवंस्तदा ॥१३॥
तैः सह क्रीडया यातो निम्नगां रत्नमालिनीम् । [1]अपादोपहतं पश्यन् दम्पत्योः पुलिने पदम् ॥१४॥
आत्तविद्याधराशङ्काः प्रगत्वाऽनुपदं च तम् । रतशय्यामपश्याम श्यामले कदलीगृहे ॥१५॥
रतिव्यतिकरम्लानपुष्पपल्लवतल्पतः । अल्पमन्तरमन्विष्य सुमहागहनं वनम् ॥१६॥
दृष्टो विद्याधरो वृक्षे कीलितो लोहकीलकैः । [2]पार्श्वखेटकखड्गाग्रव्यग्ररक्तनिरीक्षणः ॥१७॥
तिस्रः खेटकसंगूढा गृहीत्वौषधिवर्तिकाः । चालनोत्कीलनोन्मूलव्रणरोहाः कृता मया ॥१८॥
निःकीलो निर्व्रणश्चासौ गृहीत्वा खड्गखेटकौ । निरुत्तरः खमुत्पत्य दधावोत्तरया दिशा ॥१९॥
प्रलापानुपदं गत्वा ह्रियमाणां द्विषा प्रियाम् । विमोच्यादाय तामेत्य मामवोचन्महादरः ॥२०॥
भद्र ! दत्ता यथा प्राणा म्रियमाणाय मे त्वया । तथैव दीयतामाज्ञा[3] वद किं विदधामि ते ॥२१॥
वैताढ्येऽस्ति नृपः श्रेण्यां दक्षिणस्यां हि दक्षिणः । महेन्द्रविक्रमो नाम्ना नगरे शिवमन्दिरे ॥२२॥
तस्यामितगतिर्नाम्ना तनयोऽहमतिप्रियः । मित्रं मे धूमसिंहश्च गौरमुण्डश्च खेचरः ॥२३॥
ह्रीमन्तं पर्वतं ताभ्यामागतेन मयाऽन्यदा । यौवनश्रियमारूढा दृष्टा तापसकन्यका ॥२४॥
हिरण्यरोमतनया शिरीषसुकुमारिका । जहार हृदयं दृष्टा नाम्ना मे सुकुमारिका ॥२५॥

था त्यों-त्यों बन्धुजनोंका हर्षरूपी सागर वृद्धिंगत होता जाता था ॥१२॥ उस समय वराह, गोमुख, हरिसिंह, तमोऽन्तक और मरुभूति ये पाँच मेरे मित्र थे जो मुझे अतिशय प्रिय थे ॥१३॥ एकबार उन मित्रोंके साथ क्रीड़ा करता हुआ मैं रत्नमालिनी नदी गया। वहाँ मैंने किनारेपर किसी दम्पतीका एक ऐसा स्थान देखा जिसपर पहुँचनेके लिए पैरोंके चिह्न नहीं उछले थे ॥१४॥ हम लोगोंको विद्याधर दम्पतीकी आशङ्का हुई इसलिए कुछ और आगे गये वहाँ जाकर हमलोगोंने हरे-भरे कदली गृहमें उस विद्याधर दम्पतीकी रति-शय्या देखी ॥१५॥ रति सम्बन्धी कार्यसे जिसके फूल और पल्लव मुरझा रहे थे ऐसी उस रतिशय्यासे कुछ दूर आगे चलनेपर एक बड़ा सघन वन दिखा ॥१६॥ वहाँ एक वृक्षपर लोहकी कीलोंसे कीलित एक विद्याधर दिखाई दिया। उस विद्याधरके लाल-लाल नेत्र समीपमें पड़ी हुई ढाल और तलवारके अग्रभागमें व्यग्र थे अर्थात् वह बार-बार उन्हींकी ओर देख रहा था ॥१७॥ उसके इस संकेतसे मैंने ढालके नीचे छिपी हुई चालन, उत्कीलन और उन्मूलव्रणरोह नामक तीन दिव्य ओषधियाँ उठा लीं। और चालन नामक ओषधिसे मैंने उस विद्याधरको चलाया, उत्कीलन नामक ओषधिसे उसे कील रहित किया तथा उन्मूलनव्रणरोह नामक ओषधिसे कील निकालनेका घाव भर दिया ॥१८॥ ज्योंही वह विद्याधर कील रहित एवं घाव रहित हुआ त्यों ही ढाल और तलवार लेकर चुपचाप आकाशमें उड़ा और उत्तर दिशाकी ओर दौड़ा ॥१९॥ जिस ओरसे रोनेका शब्द आ रहा था वह उसी ओर दौड़ता गया और शत्रुके द्वारा हरी हुई अपनी प्रियाको छुड़ा लाया। प्रियाको लाकर वह वहीं आया और बड़े आदरके साथ मुझसे बोला कि हे भद्र! जिसप्रकार आज मुझ मरते हुएके लिए आपने प्राण दिये हैं उसी प्रकार आज्ञा दीजिए। कहिए मैं आपका क्या प्रत्युपकार करूँ? ॥२०-२१॥

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक शिवमन्दिर नामका नगर है। उसमें महेन्द्रविक्रम नामका सरल राजा है। उसी महेन्द्रविक्रम राजाका मैं अतिशय प्यारा अमितगति नामका पुत्र हूँ। धूमसिंह और गौरमुण्ड नामके दो विद्याधर मेरे मित्र हैं ॥२२-२३॥ किसी समय उन दोनों मित्रोंके साथ मैं ह्रीमन्त नामक पर्वतपर आया। वहाँ एक हिरण्यरोम नामका तापस रहता था उसकी पूर्ण यौवनवती एवं शिरीषके फूलके समान सुकुमार सुकुमारिका नामकी सुन्दर कन्या थी।

१. आपदोपहतं म०, ख० । २. पार्श्वे खेटक- म० । ३.-माशां म० ।

गाढाकल्पकशल्याय पित्रा मे याचिता च सा । संवृत्तश्चोभयोराशु विवाहः परमोत्सवः ॥२६॥
धूमसिंहोऽपि यामुष्यां साभिलाषोऽभिलक्षितः । अप्रमत्ततया चाहं विहरामि तया सदा ॥२७॥
रममाणोऽद्य तेनाहं कीलितो मोचितस्त्वया । हृताऽसौ मोचिता शत्रोर्मयेयं सुकुमारिका ॥२८॥
तदेष योज्यतामद्य जनः कर्मणि वाञ्छिते । वयोज्येष्ठोऽपि तं कुर्वे प्राणदस्यानुवर्तनम् ॥२९॥
भवतोद्धृतशल्यं मां जीवन्तमिह जन्मनि । कृतप्रत्युपकारं ते प्रतीह्युद्धृतशल्यकम् ॥३०॥
इति प्रियंवदोऽवादि स्त्रीसखः खेचरो मया । कृतं कृतं हि मे सर्वं त्वया सद्भावदर्शिना ॥३१॥
शुद्धं दर्शयता भावं वद किं न कृतं त्वया । तदेवोपकृतं पुंसां यत् सद्भावदर्शनम् ॥३२॥
पुण्यवान् ननु पूज्योऽहं तत्तवानघदर्शनम् । आप्तं मे सुलभं लोके सामान्यनरदुर्लभम् ॥३३॥
सर्वसाधारणं नृणामवस्थान्तरवर्तनम्[1] । एवं विषण्णमना मा भूः कीलितोऽस्मीति वैरिणा ॥३४॥
उपकारमतिस्तात ! यदि मां प्रति ते ततः । मय्यपत्यमतिः कार्या त्वया नित्यमितीरिते ॥३५॥
बाढमित्यभिधायासौ नाम गोत्रं च मे ततः । पृष्ट्वाभिधाय [2]मापृच्छ्य स्त्रीसखः स समुद्ययौ ॥३६॥
प्रविष्टाश्च वयं चम्पां विद्याधरकथारताः । दृष्टश्रुतानुभूतं हि नवं धृतिकरं नृणाम् ॥३७॥
[3]ऊढा च यौवनस्थेन नाम्ना मित्रवती मया । सर्वार्थस्य सुमित्राया मातुलस्य तनूभवा ॥३८॥
शास्त्रव्यसनिनो मेऽभूदात्मस्त्रीविषयेऽपि धीः । शास्त्रव्यसनमन्येषां व्यसनानां हि बाधकम् ॥३९॥

वह मेरे देखनेमें आई और देखते ही साथ उसने मेरा मन हर लिया ॥२४-२५॥ मैं वहाँसे चला तो आया परन्तु उसकी प्राप्तिकी उत्कण्ठारूप शल्य मेरे मनमें बहुत गहरी लग गई। अन्तमें पिताने मेरे लिए उस कन्याकी याचना की और शीघ्र ही दोनोंका बड़े उत्सवके साथ विवाह हो गया ॥२६॥ चूँकि मुझे दिखा कि मेरा मित्र धूमसिंह भी इस सुकुमारिकाको पानेकी अभिलाषा रखता है इसलिए मैं सदा प्रमादरहित होकर इसके साथ विहार करता हूँ ॥२७॥ परन्तु आज मैं इसके साथ रमण कर रहा था कि वह धूमसिंह मुझे कीलित कर इस सुकुमारिकाको हर ले गया। आपने मुझे छुड़ाया और मैं इसे शत्रुसे छुड़ा लाया हूँ ॥२८॥ इसलिए आज इस जनको (मुझे) इच्छित कार्यमें लगाइए। क्योंकि आप मेरे प्राणदाता हैं इसलिए अवस्थामें ज्येष्ठ होनेपर भी मैं आपकी सेवा करूँगा ॥२९॥ यद्यपि आपने मेरी शल्य निकालकर मुझे जीवित किया है तथापि यथार्थमें मेरी शल्य तभी निकलेगी जब मैं आपका प्रत्युपकार कर लूँगा ॥३०॥

इस प्रकार स्त्री सहित मधुर वचन बोलनेवाले उस विद्याधरसे मैंने कहा कि जब आप मेरे प्रति इस तरह शुभ भाव दिखला रहे हैं तब मेरा सब काम हो चुका। कहिए शुद्ध अभिप्रायको दिखाते हुए आपने मेरा क्या नहीं किया है? मनुष्योंको जो शुभ भावको दिखाना है वही तो उनका उपकार है ॥३१-३२॥ हे निष्पाप! निश्चयसे मैं आज पुण्यवान् और पूज्य हुआ हूँ क्योंकि संसारमें अन्य सामान्य मनुष्योंके लिए दुर्लभ आपका दर्शन मुझे सुलभ हुआ है ॥३३॥ मनुष्योंकी अवस्थाओंका पलटना सर्वसाधारण बात है इसलिए मैं शत्रुके द्वारा कीलित हुआ। यह सोचकर आप खिन्नचित्त न हों ॥३४॥ हे तात! यदि आपकी मेरे प्रति उपकार करनेकी भावना ही है तो आप मुझे सदा अपना पुत्र समझिए। इस प्रकार मेरे कहनेपर उसने कहा कि बहुत ठीक है। तदनन्तर वह मेरा नाम और गोत्र पूछकर स्त्री सहित आकाशमें उड़ गया ॥३५-३६॥ और हम लोग उसी विद्याधरकी कथा करते हुए चम्पा नगरीमें प्रविष्ट हुए सो ठीक ही है क्योंकि देखी-सुनी और अनुभवमें आई नूतन वस्तु ही मनुष्योंको सुखदायक होती है ॥३७॥

तरुण होनेपर मैंने अपने मामा सर्वार्थकी सुमित्रा स्त्रीसे उत्पन्न मित्रवती नामक कन्याके साथ विवाह किया ॥३८॥ क्योंकि मुझे शास्त्रका व्यसन अधिक था इसलिए अपनी स्त्रीके विषयमें

१. वर्धनं म० । २. मां पृच्छ्य क०, ख०, ग०, घ० । मा = माम् + आपृच्छ्य, इतिच्छेदः ।
३. रूढा म० ।

रुद्रदत्तः पितृव्यो मे बहुव्यसनसक्तधीः । सम्मान्य योजितो मात्रा कामुकव्यवहारवित् ॥४०॥
आसीत्कलिङ्गसेनाऽत्र गणिका गणनायिका । सुता वसन्तसेनाऽस्या वसन्तश्रीरिव श्रिया ॥४१॥
कन्याऽसौ नृत्यगीतादिकलाकौशलशालिनी । सौरूप्यस्य परा कोटिर्यौवनस्य नवोन्नतिः ॥४२॥
नृत्यारम्भेऽन्यदा तस्या रुद्रदत्तेन सङ्गतः । ससाहित्यजनाकीर्णे स्थितोऽहं नृत्यमण्डपे ॥४३॥
सूचिनाटकसूच्यग्रे सा जातिमुकुलाञ्जलिम् । व्यकिरत् [1]प्रविकासं च प्राप्तेषु मुकुलेषु च ॥४४॥
सुष्ठुकारे प्रयुक्तेऽस्याः कैश्चित्साहित्यवर्तिभिः । मया विकासकालज्ञमालाकारस्य योजिते ॥४५॥
तस्या दत्ते बुधैस्तस्मिन्नङ्गुष्ठेऽभिनये कृते । नापितस्य मया दत्ते नखमण्डलशोधिनः ॥४६॥
कुक्षेर्गोमक्षिकायाश्च व्युरासाभिनये कृते । पूर्ववत् तैः कृते प्राप्तगोपालस्य मया पुनः ॥४७॥
रसभावविवेकस्य व्यञ्जिका सा च सम्प्रति । सुष्ठुकारमदात्प्रीता स्वाङ्गुलिस्फोटकारिणी ॥४८॥
ततः सर्वस्य लोकस्य पश्यतो मम सम्मुखम् । ननाट नाटकं हारि साऽनुरागवशा च सा ॥४९॥
उपसंहृतनृत्या च निजप्रासादवर्तिनी । स्वमात्रेऽकथयद्भावमिति साकल्पकातुरा ॥५०॥
इह जन्मनि मे मातश्चारुदत्तात्परस्य न । सङ्कल्पस्तेन तेनारं मां योजयितुमर्हसि ॥५१॥
माता ज्ञात्वा सुताचित्तं चारुदत्तस्य योजने । दानमानादिनाभ्यर्च्य रुद्रदत्तमयोजयत् ॥५२॥
तेन चाहमुपायेन व्रजन्नश्चाग्रतः पथि । गजौ प्रयोज्य तद्वेश्यावेश्म जातु प्रवेशितः ॥५३॥

मेरी कुछ भी रुचि नहीं थी सो ठीक ही है क्योंकि शास्त्रका व्यसन अन्य व्यसनोंका बाधक है ॥३९॥ मेरा एक रुद्रदत्त नामका काका था जो अनेक व्यसनोंमें आसक्त था तथा कामीजनोंके समस्त व्यवहारको जाननेवाला था। मेरी माताने उसे मेरे साथ लगा दिया ॥४०॥ इसी चम्पा नगरीमें एक कलिङ्गसेना नामकी वेश्या थी जो समस्त वेश्याओंकी शिरोमणि थी और उसकी वसन्तसेना नामकी पुत्री थी जो शोभामें वसन्तकी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥४१॥ वह वसन्तसेना नृत्य-गीत आदि कलाओं सम्बन्धी कौशलसे सुशोभित थी, सौन्दर्यकी परम सीमा थी और यौवनकी नूतन उन्नति थी ॥४२॥ किसी एक दिन वसन्तसेनाका नृत्य प्रारम्भ होनेवाला था। उसके लिए मैं भी रुद्रदत्तके साथ साहित्यिक जनोंसे भरे हुए नृत्य-मण्डपमें बैठा था ॥४३॥ वह सूचीनृत्य करना चाहती थी। उसके लिए उसने सुइयोंके अग्रभागपर अञ्जलि भरकर जाति पुष्पोंकी बोंड़ियाँ बिखेर दीं और गायनके प्रभावसे जब सब बोंड़ियाँ खिल गईं तो सभामें बैठे हुए कितने ही लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। मैं जानता था कि पुष्पोंके खिलनेसे कौन-सा राग होता है, इसलिए मैंने उसे मालाकार रागका संकेत कर दिया। सूची-नृत्यके बाद उसने अङ्गुष्ठ नृत्य किया तो सभाके विद्वान् उसकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु मैंने नखमण्डलको शुद्ध करने-वाले नापित रागका संकेत कर दिया। तदनन्तर उसने गौ और मक्षिकाकी कुक्षिका अभिनय किया तो अन्य लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। परन्तु मैंने गोपाल रागका संकेत कर दिया। इस प्रकार रस और भावके विवेकको प्रकट करनेवाली उस वसन्तसेनाने प्रसन्न हो अपनी अङ्गु-लियाँ चटकाती हुई मेरी बहुत प्रशंसा की। तदनन्तर अनुरागसे भरी हुई उक्त वेश्याने सब लोगोंके देखते-देखते मेरे सामने सुन्दर नृत्य किया ॥४४–४९॥ नृत्य समाप्त कर वह अपने घर गई और तीव्र उत्कण्ठासे आतुर हो अपनी मातासे कहने लगी कि हे माता ! इस जन्ममें मेरा चारुदत्तके सिवाय किसी दूसरेके साथ समागमका संकल्प नहीं है इसलिए मुझे शीघ्र ही चारु-दत्तके साथ मिलानेके योग्य हो ॥५०–५१॥ माताने पुत्रीका अभिप्राय जानकर चारुदत्तके साथ मिलानेके लिए दान सम्मान आदिसे सन्तुष्ट कर रुद्रदत्तको नियुक्त किया अर्थात् इस कार्यका भार उसने रुद्रदत्तके लिए सौंप दिया ॥५२॥ किसी दिन मैं रुद्रदत्तके साथ मार्गमें जा रहा था कि

१. प्रविकासात्प्राक् ग० ।

कृतसङ्केतया पूर्वं कृतः कालिङ्गसेनया । स्वागतासनदानाद्यैरुपचारोऽत्र चावयोः ॥५४॥
द्यूते तत्रोत्तरीयं च [1]रौद्रदत्तं जितं तथा । ततोऽहमुद्यतो रन्तुमपसार्य तमेतया ॥५५॥
वसन्तसेनया द्यूतादपसार्य स्वमातरम् । कृता दुरोदरक्रीडा मया सह विदग्धया ॥५६॥
आसक्तश्च चिरं तत्र पायितोऽतिपिपासितः । मतिमोहनयोगेन वासितं शिशिरोदकम् ॥५७॥
अतिविश्रम्भतस्तस्यामनुरागे समोद्गते । करग्रहणमेतस्या जनन्या कारितोऽस्म्यहम् ॥५८॥
वसता तत्र वर्षाणि मया द्वादश विस्मृतौ । पितरौ मित्रवत्यामा कार्येष्वन्येषु का कथा ॥५९॥
वृद्धसेवाविवृद्धा मे गुणास्तरुणिसेवया । दोषैरुपचितैश्छन्नाः सज्जना इव दुर्जनैः ॥६०॥
स्वर्णषोडशकोटीषु प्रविष्टासु निजं गृहम् । दृष्ट्वा कालिङ्गसेनान्ते मित्रवत्या विभूषणम् ॥६१॥
जगौ वसन्तसेनां तामेकान्ते मन्त्रकोविदा । दुहितर्हितमाभाषे कर्णे मद्वचनं कुरु ॥६२॥
गुरुवाक्यामृतं मन्त्रं सदाभ्यस्यति यो जनः । तमनर्थग्रहा दूराद् ढौकन्ते न कदाचन ॥६३॥
जानास्येव जघन्या नो [2]वृत्तिं यद्वित्तवान् प्रियः । हेयः पीलितसारः स्यादिक्षवलक्कवन्नरः ॥६४॥
तनुलग्नमलङ्कारं चारुदत्तस्य भार्यया । प्रेषितं [3]प्रेष्यकारुण्याद् व्यसर्जयमहं पुनः ॥६५॥
तदस्य पीतसारस्य कुरु तावद्विमोक्षणम् । सारवन्तं नरं त्वन्यं नवेक्षुमिव भक्षय ॥६६॥

उसने उपाय कर मेरे आगे और पीछे दो-दो हाथियोंको लड़ा दिया और सुरक्षा पानेके लिए मुझे उस वेश्याके घर प्रविष्ट कर दिया ॥५३॥ कलिङ्गसेना वेश्याको इस बातका पहलेसे ही संकेत कर दिया गया। इसलिए उसने स्वागत तथा आसन आदिके द्वारा हम दोनोंका सत्कार किया ॥५४॥ तदनन्तर कलिङ्गसेना और रुद्रदत्तका जुआ प्रारम्भ हुआ सो कलिङ्गसेनाने जुआमें रुद्रदत्तका दुपट्टा तक जीत लिया। तब मैं रुद्रदत्तको हटाकर कलिङ्गसेनाके साथ जुआ खेलनेके लिए उद्यत हुआ ॥५५॥ मुझे उद्यत देख वसन्तसेनासे भी नहीं रहा गया। इसलिए वह चतुरा अपनी माताको अलग कर मेरे साथ जुआ खेलने लगी ॥५६॥ मैं जुआ खेलनेमें चिरकालतक आसक्त रहा। इसीके बीच मुझे जोरकी प्यास लगी तो उसने बुद्धिको मोहित करनेवाले योगसे सुवासित ठण्डा पानी मुझे पिलाया ॥५७॥ अतिशय विश्वासके कारण जब उसपर मेरा अनुराग बढ़ गया तब उसकी माताने मुझे उसका हाथ पकड़ा दिया ॥५८॥ मैं उसमें इतना आसक्त हुआ कि उसके घर बारह वर्षतक रहा। इस बीचमें मैंने अपने माता-पिता तथा प्रिय स्त्री मित्रवतीको भी भुला दिया। फिर अन्य कार्योंकी तो कथा ही क्या थी ? ॥५९॥ वृद्धजनोंकी सेवासे पहले जो मेरे गुण-वृद्धिको प्राप्त हुए थे वे तरुणीकी सेवासे उत्पन्न हुए दोषोंसे उस तरह आच्छादित हो गये जिस तरह कि दुर्जनोंसे सज्जन आच्छादित हो जाते हैं ॥६०॥ हमारे पिता सोलह करोड़ दीनारके धनी थे। सो जब सब धन क्रम-क्रमसे कलिङ्गसेनाके घर आ गया और अन्तमें मित्रवतीके आभूषण भी आने लगे तब यह देख मन्त्र करनेमें निपुण कलिङ्गसेना एक दिन एकान्तमें वसन्तसेनासे बोली कि बेटी ! मैं हितकी बात कहती हूँ सो मेरे वचन कानमें धर ॥६१-६२॥ जो मनुष्य गुरुजनोंके वचनामृत रूप मन्त्रका सदा अभ्यास करता है अनर्थ रूपी ग्रह सदा उससे दूर रहते हैं, कभी उसके पास नहीं आते ॥६३॥ तू हम लोगोंकी इस जघन्य वृत्तिको जानती ही है कि धनवान् मनुष्य ही हमारा प्रिय है। जिसका धन खींच लिया है ऐसा मनुष्य ईखके छिलकेके समान छोड़ने योग्य होता है ॥६४॥ आज चारुदत्तकी भार्याने अपने शरीरका आभूषण उतार कर भेजा था सो उसे देख मैंने दयावश वापिस कर दिया है ॥६५॥ इसलिए अब सारहीन (निर्धन) चारुदत्तका साथ छोड़ और नई ईखके समान किसी दूसरे सारवान् (सधन) मनुष्यका उपभोग कर ॥६६॥

१. रुद्रदत्तस्येदं रौद्रदत्तं, उत्तरीयं वस्त्रम् । २. जघन्यातो वृत्तिर्यद्वित्तवान् प्रियः म० । ३. प्रेष्य म० ।

शङ्कुनेव ततः कर्णे ताडिता साऽतिपीडिता । अगाद् मातरं मातः किमिदं गदितं त्वया ॥६७॥
कौमारं परिभुज्यित्वा चारुदत्तं चिरोषितम् । कुबेरेणापि मे कार्यं नेश्वरेण परेण किम् ॥६८॥
प्राणैरपि हि मे [1]नार्थश्चारुदत्तवियोजकैः । मैवं वोचः पुनर्मातर्यदि मे जीवितं प्रियम् ॥६९॥
पूरितं कोटिशो युम्नैर्गृहं ते तद्गृहागतैः । तथापि तज्जिहासाऽभूदकृतज्ञा हि योषितः ॥७०॥
कलापारमितस्यास्य रूपातिशययोगिनः । सद्धर्मदर्शिनो मेऽस्य स्यात्त्यागस्त्यागिनः कुतः ॥७१॥
[2]अत्यासक्तामिति ज्ञात्वा कृत्वा तदनुवर्तनम् । चिन्तयन्ती स्थितोपायमावयोः सा वियोजने ॥७२॥
आसने शयने स्नाने भोजने चापि युक्तयोः । योगेनायुज्य नौ निद्रामहं रात्रौ बहिः कृतः ॥७३॥
निद्रापाये गृहं गत्वा भर्तृनिः[3]क्रान्तिदुःखिनीम् । अपश्यं मातरं दुःखी भार्यां च [4]कृतरोदनाम् ॥७४॥
ततः कृततदाश्वासः [5]प्रियालङ्कारहस्तकः । उशीरावर्तमायातो मातुलेन वणिज्यया ॥७५॥
क्रीत्वा तत्र च कार्पासं ताम्रलिप्तं प्रगच्छतः । दैवकालनियोगेन सोऽप्यदाहि दवाग्निना ॥७६॥
मुक्त्वा मातुलमश्वेन पूर्वाशां गच्छतो मृतः । सोऽपि पद्भ्यां ततो यातः प्रियङ्गुं नगरं श्रमी ॥७७॥
सुरेन्द्रदत्तनाम्नाऽहं पितृमित्रेण वीक्षितः । विश्रान्तः कतिचित्तत्र दिनानि सुखसङ्गतः ॥७८॥

कलिङ्गसेनाकी बात सुनकर वसन्तसेनाको इतना तीव्र दुःख हुआ मानो उसके कानमें कीला ही ठोक दिया हो। उसने मातासे कहा कि हे मातः ! तूने यह क्या कहा ? ॥६७॥ कुमार कालसे जिसे स्वीकार किया तथा चिरकाल तक जिसके साथ वास किया उस चारुदत्तको छोड़कर मुझे कुबेरसे भी क्या प्रयोजन है ? फिर दूसरे धनाढ्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? ॥६८॥ अधिक क्या कहूँ चारुदत्तके साथ वियोग करानेवाले इन प्राणोंसे भी मुझे प्रयोजन नहीं है। हे मातः ! यदि मेरा जीवन प्रिय है तो अब पुनः ऐसे वचन नहीं कह ॥६९॥ अरे ! उसके घरसे आये हुए करोड़ों दीनारोंसे तेरा घर भर गया फिर भी तुझे उसके छोड़नेकी इच्छा हुई सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियाँ अकृतज्ञ होती हैं ॥७०॥ हे मातः ! जो कलाओंका पारगामी है, अत्यन्त रूपवान् है, समीचीन धर्मको जाननेवाला है एवं अतिशय त्यागी—उदार है, उस चारुदत्तका त्याग मैं कैसे कर सकती हूँ ? ॥७१॥ इस प्रकार वसन्तसेनाको मुझमें अत्यन्त आसक्त जान कलिङ्गसेना उस समय तो कुछ नहीं कह सकी, उसीकी हाँमें-हाँ मिलाती रही परन्तु मनमें हम दोनोंको वियुक्त करनेका उपाय सोचती रही ॥७२॥ हम दोनों आसनपर बैठते समय, शय्यापर सोते समय, स्नान करते समय और भोजन करते समय साथ-साथ रहते थे इसलिए उसे वियुक्त करनेका अवसर नहीं मिलता था। एक दिन उसने किसी योग (तन्त्र) द्वारा हम दोनोंको निद्रामें निमग्न कर रात्रिके समय मुझे घरसे बाहर कर दिया ॥७३॥ निद्रा दूर होनेपर मैं घर गया। मेरे पिता मुनिदीक्षा ले चुके थे इसलिए मेरी माता और स्त्री बहुत दुःखी थीं। वे बिलख-बिलखकर रोने लगीं उन्हें देख मैं भी बहुत दुःखी हुआ ॥७४॥

तदनन्तर माता और स्त्रीको धैर्य बँधाकर तथा स्त्रीके आभूषण हाथमें ले व्यापारके निमित्त मैं अपने मामाके साथ उशीरावर्त देश आया ॥७५॥ वहाँ कपास खरीदकर बेंचनेके लिए मैं ताम्रलिप्त नगरकी ओर जा रहा था कि भाग्य और समयकी प्रतिकूलताके कारण वह कपास दावानलसे बीचमें ही जल गया ॥७६॥ मैंने मामाको वहीं छोड़ा और घोड़ापर सवार हो मैं पूर्व दिशाकी ओर चला परन्तु घोड़ा बीचमें ही मर गया इसलिए पैदल चलकर थका-माँदा प्रियङ्गु-नगर पहुँचा ॥७७॥ उस समय प्रियङ्गु नगरमें मेरे पिताका मित्र सुरेन्द्रदत्त नामका सेठ रहता था उसने मुझे देखकर बड़े सुखसे रक्खा और कुछ दिनतक मैंने वहाँ विश्राम किया ॥७८॥

---

१. नाथश्चारुदत्तो वियोजकैः म० । २. अन्यासक्ता–म० । ३. निःक्रान्त म० । ४. कृतरोदनीम् म० ।
५. प्रियाया अलंकारा हस्ते यस्यासौ ।

समुद्रयात्रया यातः षट्कृत्वो भिन्ननौस्थितिः । अष्टकोटीश्वरश्चाहमभवं भिन्नपात्रकः ॥७९॥
आसाद्य फलकं कृच्छ्रादुत्तीर्य मकरालयम् । प्राप्तो राजपुरं तत्र परिव्राजकमैक्षिषि ॥८०॥
तेनाहं शान्तवेषेण श्रान्तो विश्रान्तिमाहितः[1] । रसलोभेन च विश्वास्य कान्तारं च प्रवेशितः ॥८१॥
मुग्धः सतुम्बिको रज्ज्वा परिव्राजावतारितः । प्रविष्टोऽहं बिलं[2] भीमं प्रेरितो रसतृष्णया ॥८२॥
रसाधा मूलमासाद्य[3] रज्ज्वारूढो दृढासनः । आददानो रसं पुंसा निषिद्धस्तत्र केनचित् ॥८३॥
मा स्प्राक्षीस्त्वं रसं भद्र ! रौद्रं यदि जिजीविषुः । [4]स्पृश्येत चेन्न जीवन्तं मुञ्चति क्षयरोगवत् ॥८४॥
ततश्चकितचित्तोऽहमवोचं तमिति द्रुतम् । त्वं भोः कः केन वा क्षिप्त इहेत्युक्तो जगाद सः ॥८५॥
उज्जयिन्या वणिग्भिन्नपात्रोऽपात्रेण लिङ्गिना । रसमादाय निक्षिप्तो रसराक्षसवक्षसि ॥८६॥
त्वगस्थिशेषभूतोऽहं रसभुक्तो व्यवस्थितः । ममातो निर्गमो भद्र ! मृतस्यैव न जीवतः ॥८७॥
संपृष्टस्तेन भोः कस्त्वमित्यवोचमहं पुनः । चारुदत्तो वणिक् क्षिप्तः परिव्राजा तवारिणा ॥८८॥
प्रियवादीति विश्वस्य बकवृत्तेर्दुरात्मनः । अधोऽधोऽनुचरो मुग्धः पततीति किमद्भुतम् ॥८९॥
पूरयित्वा रसं तेन रज्जुमारोप्य चालितम् । एकामाकृष्य [5]कृत्वैकां कृतार्थः स खलो गतः ॥९०॥
पतितस्य तटे तेन पुंसा निर्गमनाय मे । उपायः साधुनाऽवाचि ततश्चेति कृपावता ॥९१॥

वहाँसे मैं समुद्रयात्राके लिए गया सो छह बार मेरा जहाज फट गया। अन्तमें जिस किसी तरह मैं आठ करोड़का स्वामी होकर लौट रहा था कि फिर भी जहाज फट गया और सारा धन समुद्रमें डूब गया ॥७९॥ भाग्यवश एक तख्ता पाकर बड़े कष्टसे मैंने समुद्रको पार किया। समुद्र पारकर मैं राजपुर नगर आया और वहाँ एक संन्यासीको मैंने देखा ॥८०॥ मैं थका हुआ था इसलिए शान्तवेषको धारण करनेवाले उस संन्यासीने मुझे विश्राम कराया। तदनन्तर रसका लोभ देकर एवं विश्वास दिलाकर वह मुझे एक सघन अटवीमें ले गया ॥८१॥ मैं भोला-भाला था इसलिए उस संन्यासीने एक तूमड़ी देकर मुझे रस्सीके सहारे नीचे उतारा जिससे मैं रसकी तृष्णा-से एक भयंकर कुएँमें जा घुसा ॥८२॥ पृथिवीके तलमें पहुँचकर रस्सीपर अपना दृढ़ आसन जमाये हुए जब मैं रस भरने लगा तब वहाँ स्थित किसी पुरुषने मुझे रोका ॥८३॥ उसने कहा कि हे भद्र ! यदि तू जीवित रहना चाहता है तो इस भयंकर रसका स्पर्श मत कर। यदि किसी तरह इसका स्पर्श हो जाता है तो क्षयरोगकी तरह यह जीवित नहीं छोड़ता ॥८४॥ तदनन्तर आश्चर्यचकित हो मैंने उससे शीघ्र ही इस प्रकार पूछा कि महाशय ! तुम कौन हो ? और किसने तुम्हें यहाँ डाल दिया है ? मेरे यह कहनेपर वह बोला कि मैं उज्जयिनीका एक वणिक् हूँ। मेरा जहाज फट गया था इसलिए एक अपात्र साधुने रस लेकर मुझे रसरूपी राक्षसके वक्षःस्थलपर गिरा दिया है ॥८५-८६॥ रसके उपभोगसे मेरी चमड़ी तथा हड्डी ही शेष रह गई है। हे भद्र ! मेरा तो यहाँसे निकलना तभी होगा जब मैं मर जाऊँगा जीवित रहते मेरा निकलना नहीं हो सकता ॥८७॥ उस मनुष्यने मुझसे भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब मैंने कहा कि मैं चारुदत्त नामका वणिक् हूँ और जो तुम्हारा शत्रु था उसी संन्यासीने मुझे यहाँ गिराया है ॥८८॥ 'यह प्रियवादी है' इसलिए बगलेके समान मायाचारी दुष्ट मनुष्यका विश्वास कर उसके पीछे-पीछे चलनेवाला मूढ़ मनुष्य यदि नीचे-नीचे गिरता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? ॥८९॥ अन्तमें मैंने तूमड़ीमें रस भरकर तथा रस्सीमें बाँधकर उसे चलाया। जिस रस्सीमें रसकी तूमड़ी बँधी थी उस रस्सीको तो उस संन्यासीने खींच लिया और जिसके सहारे मुझे ऊपर चढ़ना था उसे काट दिया। इस प्रकार अपने मनोरथको सिद्ध कर वह दुष्ट वहाँसे चला गया ॥९०॥ जब मैं किनारेपर जा पड़ा तब उस सज्जन पुरुषने दयायुक्त हो मेरे लिए निकलनेका मार्ग बतलाया ॥९१॥

---

१. -माहतः म० । २. कूपम् ग० टि० । ३. मूलमाशाया म० । ४. स्पृशेत म० । स्पृशत ग० । ५. छित्त्वा ।

गोधैका रसपानाय साधोऽत्रावतरिष्यति । सृत्वा शीघ्रं हि तत्पुच्छं धृत्वा निर्गच्छ निश्चयम् ॥९२॥
सदेत्युक्तवते धर्मं तस्मै सम्यक्त्वपूर्वकम् । समुपाश्रुश्रावाहं सहपञ्चनमस्कृतिम् ॥९३॥
परेद्युश्च रसं पीत्वा गच्छन्त्याः पुच्छमाश्वहम्[1] । गोधाया धृतवान् दोर्भ्यामाकृष्टश्च बहिस्तया ॥९४॥
तटीपाटितगात्रोऽहं बहिर्मुक्तोऽतिमूर्च्छितः । विबुद्धश्च पुनर्जन्म जातमित्यन्वचिन्तयम् ॥९५॥
शनैरुत्थाय गच्छन्तमन्वधावद् यमोपमः । महिषो [2]वनमध्ये मां प्रविष्टोऽहं गुहां ततः ॥९६॥
प्रसुप्तोऽजगरस्तत्र मयाक्रान्तः समुत्थितः । अभिधावन्तमत्युग्रं सोऽगृहीन्महिषं मुखे ॥९७॥
यावद्योद्धतयोर्युद्धं वर्तते विषमं तयोः । तावत् तत्पृष्ठमाक्रम्य निर्गतोऽहमतिद्रुतम् ॥९८॥
निःसृत्य महारण्याद् प्रत्यन्तग्राममाप्नुवाम् । काकतालीयतस्तत्र रुद्रदत्तं ददर्श तम् ॥९९॥
क्षुत्पिपासातिहरणं कृत्वाऽसौ मे ततोऽब्रवीत् । चारुदत्त ! विषादं मा कार्षीस्त्वं शृणु मे वचः ॥१००॥
सुवर्णद्वीपमाविश्य समुपार्ज्य धनं महत् । प्रत्येष्यावः पुनर्येन रक्ष्यते कुलसन्ततिः ॥१०१॥
एकवाक्यतया तेन यातौ चैरावतीं नदीम् । उत्तीर्य गिरिकूटं च गिरिं वेत्रवनं वनम् ॥१०२॥
टङ्कणं देशमासाद्य क्रीत्वाऽजौ गतिदक्षिणौ । गतौ वामपथेनातिविषमेण शनैः शनैः ॥१०३॥
अतिलङ्घ्य समां प्राह रुद्रदत्तोऽन्वितादरः । चारुदत्त ! पशून् हत्वा कृत्वा भस्त्राप्रवेशनम् ॥१०४॥
आस्वहे तत्र नौ द्वीपे भारुण्डाश्चण्डतुण्डकाः । गृहीत्वाऽऽमिषलोभेन पक्षिणः प्रक्षिपन्ति हि ॥१०५॥

उसने कहा कि हे सत्पुरुष ! रस पीनेके लिए यहाँ एक गोह आवेगी सो तुम सरककर यदि शीघ्र ही उसकी पूँछ पकड़ लोगे तो निश्चय ही बाहर निकल जाओगे ॥९२॥ वह उस पुरुषका अन्तिम समय था इसलिए इस प्रकार निकलनेका मार्ग बतलानेवाले उस पुरुषके लिए मैंने सम्यग्दर्शन-पूर्वक विस्तारके साथ धर्मका उपदेश दिया और पञ्च नमस्कार मन्त्र भी सुनाया ॥९३॥ दूसरे दिन रस पीकर जब गोह जाने लगी तब मैंने दोनों हाथोंसे शीघ्र ही उसकी पूँछ पकड़ ली और वह मुझे बाहर खींच लाई ॥९४॥ किनारोंकी रगड़से मेरा शरीर छिन्न-भिन्न हो गया था इस-लिए उस गोहने जब मुझे बाहर छोड़ा तब मैं अत्यन्त मूर्च्छित हो गया। सचेत होनेपर मैंने विचार किया कि मेरा पुनर्जन्म ही हुआ है ॥९५॥ धीरे-धीरे उठकर मैं आगे चला तो वनके बीचमें यमराजके समान भयंकर भैंसाने मेरा पीछा किया। अवसर देख मैं एक गुहामें घुस गया ॥९६॥ उस गुफामें एक अजगर सो रहा था मेरा पैर पड़नेपर वह जाग उठा और सामने दौड़ते हुए उस भयंकर भैंसेको उसने अपने मुखसे पकड़ लिया ॥९७॥ भैंसा और अजगर दोनों ही अत्यन्त उद्धत थे इसलिए जबतक उन दोनोंमें युद्ध हुआ तबतक मैं उसकी पीठपर चढ़कर बड़ी शीघ्रतासे बाहर निकल आया ॥९८॥ उस महावनसे निकलकर मैं समीपवर्ती एक गाँवमें पहुँचा तो काकतालीयन्यायसे (अचानक) मैंने वहाँ अपने काका रुद्रदत्तको देखा ॥९९॥ मैं कई दिन-का भूखा-प्यासा था इसलिए रुद्रदत्तने मेरी भूख-प्यासकी बाधा दूरकर मुझसे कहा कि चारुदत्त ! खेद मत करो मेरे वचन सुनो ॥१००॥ हम दोनों सुवर्णद्वीप चलकर तथा बहुत भारी धन कमा कर चम्पापुरी वापिस आवेंगे जिससे अपने कुलकी रक्षा होगी ॥१०१॥

तदनन्तर रुद्रदत्तके साथ एक सलाह हो जानेपर दोनों वहाँसे चले और ऐरावती नदीको उतरकर तथा गिरिकूट नामक पर्वत और वेत्रवनको उल्लंघकर टंकण देशमें जा पहुँचे। वहाँ मार्ग अत्यन्त विषम था इसलिए चलनेमें चतुर दो बकरा खरीदकर तथा उनपर सवार हो धीरे-धीरे आगे गये ॥१०२–१०३॥ तदनन्तर समभूमिको उल्लंघकर रुद्रदत्तने बड़े आदरके साथ मुझसे कहा कि चारुदत्त ! अब आगे मार्ग नहीं है इसलिए इन बकरोंको मारकर तथा इनकी भस्त्रा (भाथड़ी) बनाकर उनमें हम दोनों बैठ जावें। तीक्ष्ण चोंचोंवाले भारुण्ड पक्षी मांसके लोभसे हम

१. आशु + अहम्। २. वनवध्ये म०।

निषिद्धोऽपि बधाद्रौद्रो रुद्रदत्तोऽवधीदजम् । अजं मदीयमप्यन्तं निनाय विनयच्युतः ॥१०६॥
यावन्न मार्यते तावत्पूर्वमेव प्रतीकृतः । मार्यमाणाय चाहापि तस्मै पञ्चनमस्कृतिः ॥१०७॥
भस्त्रां कृत्वा सशस्त्रां[1] मामन्तस्तस्य निधाय सः । प्रविश्य स्वयमन्यस्यां शस्त्रहस्तो व्यवस्थितः ॥१०८॥
भारुण्डैश्चण्डतुण्डाभ्यां भस्त्रे नीते विहायसा । भस्त्रा काणेन मेऽन्यत्र नीत्वा क्षिप्ता क्षितौ ततः ॥१०९॥
वेगाद्विपाट्य तां भस्त्रां निर्गतः स्वर्गसन्निभम् । रत्नरश्मिभिरुद्दीप्तमपश्यं द्वीपमायतम् ॥११०॥
पश्यता च दिशो रम्या पर्वताग्रे जिनालयः । प्रेक्षितो मरुदुद्धूत[2]पताकाभिरिवानटन् ॥१११॥
तत्रातापन[3]योगस्थश्चारणः श्रमणोऽन्तिके । वीक्षितो वीक्ष्य यं प्राप प्रागप्राप्तं परं सुखम् ॥११२॥
ततः पर्वतमारुह्य त्रिःपरीत्य जिनालयम् । वन्दिता जिनचन्द्राणां कृत्रिमाः प्रतिमा मया ॥११३॥
योगस्थो योगभक्त्याऽसौ वन्दितश्च मुनिर्मया । समाप्तनियमश्चाह दत्त्वाऽऽसीनस्तदाशिषम् ॥११४॥
कुशली चारुदत्ताऽत्र कुतः स्वप्न इवागमः । प्राकृतस्य यथा पुंसः[4] सहायरहितस्य ते ॥११५॥
कुशलं नाथ ! युष्माकं प्रसादादिति वादिना । नत्वा विस्मितचित्तेन मयाऽपृच्छ्यत सन्मुनिः ॥११६॥
प्रत्यभिज्ञा कुतो नाथ तव मद्विषया च ते । अपूर्वदर्शनं मन्ये मान्यमान्यस्य पावनम् ॥११७॥
इति पृष्टेन तेनोक्तं चम्पायां यस्तदा द्विषा । खेचरोऽमितगत्याख्यः कीलितो मोचितस्त्वया ॥११८॥

दोनोंको उठाकर सुवर्णद्वीपमें डाल देंगे ॥१०४-१०५॥ रुद्रदत्त बड़ी दुष्ट प्रकृतिका था इसलिए मेरे रोकनेपर भी उसने अपना बकरा मार डाला और विनयसे च्युत हो मेरे बकराका भी अन्त कर दिया ॥१०६॥ मेरा बकरा जबतक मारा नहीं गया तबतक मैंने पहले उसके मारनेका पूर्ण प्रतिकार किया—रुद्रदत्तको मारनेसे रोका परन्तु जब मारा ही जाने लगा तब मैंने उसे पञ्च-नमस्कार मन्त्र ग्रहण करा दिया ॥१०७॥ रुद्रदत्तने मृत बकरोंकी भाथड़ियाँ बनाई और एकके भीतर छुरी देकर मुझे बैठा दिया तथा दूसरीमें वह स्वयं हाथमें छुरी लेकर बैठ गया ॥१०८॥ तदनन्तर भारुण्ड पक्षी पैनी चोंचोंसे दबाकर दोनों भस्त्राओंको आकाशमें ले गये। मेरी भाथड़ी एक काना भारुण्ड पक्षी ले गया था इसलिए उसने दूसरी जगह ले जाकर पृथिवीपर गिरा दी ॥१०९॥ मैं वेगसे उस भाथड़ीको चीरकर जब बाहर निकला तो मैंने रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्य-मान स्वर्गके समान एक विस्तृत द्वीप देखा ॥११०॥ उस द्वीपकी सुन्दर दिशाओंको देखते हुए मैंने पर्वतके अग्रभागपर एक जिनमन्दिर देखा जो हवासे उड़ती हुई पताकाओंसे ऐसा जान पड़ता था मानो नृत्य ही कर रहा हो ॥१११॥ उसी जिनमन्दिरके समीप मैंने आतापन योगसे स्थित एक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजको देखा। उन मुनिराजको देखकर मुझे ऐसा उत्तम सुख प्राप्त हुआ जैसा कि पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था ॥११२॥

तदनन्तर पर्वतपर चढ़कर मैंने जिनमन्दिरकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और श्री जिनेन्द्र भग-वान्‌की कृत्रिम प्रतिमाओंकी वन्दना की ॥११३॥ प्रतिमाओंकी वन्दनाके बाद मैंने ध्यानमें लीन मुनिराजकी भी मुनिभक्तिके कारण वन्दना की। जब मुनिराजका नियम समाप्त हुआ तब वे मेरे लिए आशीर्वाद देकर वहीं बैठ गये और मुझसे कहने लगे कि चारुदत्त ! कुशल तो हो ? यहाँ स्वप्नकी तरह तुम्हारा आगमन कैसे हुआ ? तुम एक साधारण पुरुषकी तरह हो तथा कोई तुम्हारा सहायक भी नहीं दिखाई देता ॥११४-११५॥ 'हे नाथ ! आपके प्रसादसे कुशल है' यह कहकर मैंने उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर आश्चर्यसे चकित होते हुए मैंने उन उत्तम मुनिराजसे पूछा कि हे नाथ ! आपको मेरी पहिचान कैसे हुई ? हे माननीयोंके माननीय ! मैं तो आपके इस पवित्र दर्शनको अपूर्व ही मानता हूँ ॥११६-११७॥ इस प्रकार पूछनेपर मुनिराजने कहा कि मैं वही अमितगति नामका विद्याधर हूँ जिसे चम्पापुरीमें उस समय शत्रुने कील दिया था और तुमने

१. सशस्त्रां-म०, ग० । २.-दुद्भूत म० । ३. तत्र तापन-म० । ४. पुंसां ग० ।

राज्ये संस्थाप्य मां प्राज्ये सम्यग्दर्शनभावितम् । गुरोर्हिरण्यकुम्भस्य समीपे प्राव्रजत् पिता ॥११९॥
भार्या विजयसेना मे मान्याऽन्यासीन्मनोरमा । तयाता गान्धर्वसेनाख्या प्रथमायामभूत्सुता ॥१२०॥
इतरस्यामभूत्पुत्रो ज्येष्ठो सिंहयशःश्रुतिः । वाराहग्रीवनामान्यो विनयादिगुणाकरः ॥१२१॥
राज्ये तौ यौवराज्ये च स्थापयित्वा यथाक्रमम् । [1]गुरोरेव गुरोरन्ते प्रव्रज्यां श्रितवानहम् ॥१२२॥
कुम्भकण्टकनामायं द्वीपः सागरवेष्टितः । गिरिः कर्कोटकश्चात्र चारुदत्तागतः कथम् ॥१२३॥
इत्युक्ते यतिनाथन्तो सुखदुःखविमिश्रिताम् । कथंकथमहं तस्मै कथामकथयन्निजाम् ॥१२४॥
तदा विद्याधरौ द्वौ तं मुनिं पुत्रौ नमस्तलात् । अवतीर्य ववन्दाते वन्दनीयमनिन्दितौ ॥१२५॥
कुमारौ ! चारुदत्तोऽयं भ्राता यो वां मयोदितः । इत्युक्ते मां परिष्वज्य स्थितावुक्त्वा बहुप्रियम् ॥१२६॥
तावच्च द्वौ विमानाग्रादवतीर्य सुरौ पुरा । मां प्रणम्य मुनिं पश्चात्स्वासीनौ ममाग्रतः ॥१२७॥
अक्रमस्य तदा हेतुं खेचरौ पर्यपृच्छताम् । देवावृषिमतिक्रम्य प्राग्नतौ श्रावकं कुतः ॥१२८॥
त्रिदशावूचतुर्हेतुं जिनधर्मोपदेशकः । चारुदत्तो गुरुः साक्षादावयोरिति बुध्यताम् ॥१२९॥
तत्कथं कथमित्युक्ते छागपूर्वः सुरोऽभणीत् । श्रूयतां मे कथा तावत् कथ्यते खेचरौ ! स्फुटम् ॥१३०॥
वाराणस्यां पुराणार्थवेदव्याकरणार्थवित् । ब्राह्मणः सोमशर्माऽसीत्सोमिला[2] तस्य [3]माहनी ॥१३१॥
तयोर्दुहितरौ भद्रा सुलसा च सुयौवने । वेदव्याकरणादीनां शास्त्राणां पारगे परे ॥१३२॥

जिसे छुड़ाया था ॥११८॥ उस घटनाने मेरे हृदयमें सम्यग्दर्शनका भाव भर दिया था। कुछ समय बाद हमारे पिताने विशाल राज्यपर मुझे बैठाकर हिरण्यकुम्भ नामक गुरुके पास दीक्षा ले ली ॥११९॥ मेरी विजयसेना और मनोरमा नामकी दो स्त्रियाँ थीं उनमें पहली विजयसेनाके गान्धर्वसेना नामकी पुत्री हुई और दूसरी मनोरमाके सिंहयश नामका बड़ा और वाराहग्रीव नामका छोटा इस प्रकार दो पुत्र हुए। ये दोनों ही पुत्र विनय आदि गुणोंकी खान थे ॥१२०-१२१॥ एक दिन मैंने क्रमसे बड़े पुत्रको राज्यपर और छोटे पुत्रको युवराज पदपर आरूढ़कर अपने पिता रूप गुरुके समीप ही दीक्षा धारण कर ली ॥१२२॥ हे चारुदत्त ! यह समुद्रसे घिरा हुआ कुम्भकंटक नामका द्वीप है और यह कर्कोटक नामका पर्वत है यहाँ तुम कैसे आये ? ॥१२३॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर मैंने आदिसे लेकर अन्त तक सुख-दुःखसे मिली हुई अपनी समस्त कथा जिस-किसी तरह उनके लिए कह सुनाई ॥१२४॥ उसी समय मुनिराजके दोनों उत्तम विद्याधर पुत्रोंने आकाशसे नीचे उतरकर उन वन्दनीय मुनिराजकी वन्दना की—उन्हें नमस्कार किया ॥१२५॥ मुनिराजने दोनों पुत्रोंको संबोधते हुए कहा कि हे कुमारो ! जिसका पहले मैंने कथन किया था यह वही तुम्हारा भाई चारुदत्त है। मुनिराजके ऐसा कहनेपर दोनों विद्याधर मेरा आलिङ्गनकर प्रिय वचन कहते हुए समीप ही बैठ गये ॥१२६॥ उसी समय दो देव विमानके अग्रभागसे उतरकर पहले मुझे और बादमें मुनिराजको नमस्कारकर मेरे आगे बैठ गये ॥१२७॥ विद्याधरोंने उस समय इस अक्रमका कारण पूछा कि हे देवो ! तुम दोनोंने मुनिराजको छोड़कर श्रावकको पहले नमस्कार क्यों किया ? ॥१२८॥ देवोंने इसका कारण कहा कि इस चारुदत्तने हम दोनोंको जिन-धर्मका उपदेश दिया है इसलिए यह हमारा साक्षात् गुरु है यह समझिए ॥१२९॥ यह कैसे ? इस प्रकार कहनेपर जो पहले बकराका जीव था वह देव बोला कि हे विद्याधरो ! सुनिए मैं अपनी कथा स्पष्ट कहता हूँ ॥१३०॥

किसी समय बनारसमें पुराणोंके अर्थ, वेद तथा व्याकरणके रहस्यको जाननेवाला एक सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था उसकी ब्राह्मणीका नाम सोमिला था ॥१३१॥ उन दोनोंके भद्रा और सुलसा नामकी दो यौवनवती पुत्रियाँ थीं। जो वेद, व्याकरण आदि शास्त्रोंकी परम पार-

---

१. पितुरेव । २. सौमिल्ला म० । ३. भामिनी म० । ब्राह्मणी (ग० टि०) ।

कुमार्यावेव वैराग्यात् परिव्राजकतां श्रिते । सुप्रसिद्धिं गते भूमौ जित्वा वादेषु वादिनः ॥१३३॥
याज्ञवल्क्य इति ख्यातः परिव्राट् पर्यटन् धराम् । वाराणसीं तदायासीत्तज्जिगीषामनीषया ॥१३४॥
सुलसा अल्पकालेऽस्य सावलेपा सभान्तरे । स्वां शुश्रूषाकरीं जेतुरिति सङ्गरमग्रहीत् ॥१३५॥
पूर्वपक्षमुपन्यस्तं तया न्यायविदां पुरः । संदूष्य याज्ञवल्क्यस्तं स स्वपक्षमतिष्ठिपत् ॥१३६॥
याज्ञवल्क्यो वृतो वादे सुपराजितया तया । विषयामिषलुब्धस्तां सस्मरां समरीरमत् ॥१३७॥
सुलसायाज्ञवल्क्यौ तौ जनयित्वा शुभं शिशुम् । अश्वत्थतरुमूलस्थं कृत्वा यातौ कृपाच्युतौ ॥१३८॥
तत्रोत्तानशयं भद्रा दृष्ट्वाश्वत्थफलादिनम् । पिप्पलादाभिधानेन व्याहूयैनमवीवृधत् ॥१३९॥
पारगः सर्वशास्त्राणामेकदाऽपृच्छदित्यसौ । मातः ! किमभिधानो मे पिता जीवति वा न वा ॥१४०॥
तयोक्तं ते पिता पुत्र ! याज्ञवल्क्यः कनीयसी । मम तेन जिता वादे सुलसा जननी तव ॥१४१॥
जातमात्रमपत्राणं त्वां तौ पुत्र ! तयोरधः । मुक्त्वा मुक्तकृपौ पापौ यातावद्यापि जीवतः ॥१४२॥
स्तनैरन्यस्त्रियाः क्लेशान्मया समभिवर्द्धितः । कर्म पूर्वं कृतं पुत्र ! पितरौ तु स्मरातुरौ ॥१४३॥
इत्याकर्ण्य तदा तस्याः [1]कर्णदाहकरं वचः । तद्वार्ताकर्णनोत्कर्णो लब्धवर्णो रुषा स्थितः ॥१४४॥
लब्धवार्तो रुषा गत्वा स जित्वा जनकं ततः । शुश्रूषां च तयोश्चक्रे मिथ्याविनयपूर्वकम् ॥१४५॥
स मातृपितृसेवाख्यं पिप्पलादः स्वयं कृतम् । [2]क्रतुं प्रवर्त्य तौ निन्ये समन्युर्मृत्युगोचरम् ॥१४६॥

गामिनी थीं ॥१३२॥ उन दोनों पुत्रियोंने कुमारी अवस्थामें ही वैराग्यवश परिव्राजकको दीक्षा ले ली और दोनों ही शास्त्रार्थमें अनेक वादियोंको जीतकर पृथिवीमें परम प्रसिद्धिको प्राप्त हुईं ॥१३३॥ किसी समय पृथिवीपर घूमता हुआ याज्ञवल्क्य नामका परिव्राजक उन्हें जीतनेकी इच्छासे बनारस आया ॥१३४॥ शास्त्रार्थके समय अहंकारसे भरी सुलसाने सभाके बीच यह प्रतिज्ञा की कि जो मुझे शास्त्रार्थमें जीतेगा मैं उसीकी सेविका (स्त्री) बन जाऊँगी ॥१३५॥ शास्त्रार्थ शुरू होनेपर सुलसाने न्याय विद्याके जानकार विद्वानोंके आगे पूर्व पक्ष रक्खा परन्तु याज्ञवल्क्यने उसे दूषित कर अपना पक्ष स्थापित कर दिया ॥१३६॥ सुलसा शास्त्रार्थमें हार गई इसलिए उसने याज्ञवल्क्यको वर लिया—अपना पति बना लिया। याज्ञवल्क्य विषयरूपी मांसका बड़ा लोभी था तथा सुलसाको भी कामेच्छा जागृत हो उठी इसलिए दोनों मनमानी क्रीड़ा करने लगे ॥१३७॥ सुलसा और याज्ञवल्क्यने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया परन्तु वे इतने निर्दयी निकले कि उस सद्योजात पुत्रको पीपलके वृक्षके नीचे रखकर कहीं चले गये ॥१३८॥ वह पुत्र पीपलके नीचे चित्त पड़ा था तथा मुखमें पड़े हुए पीपलके फलको खा रहा था। सुलसाकी बड़ी बहिन भद्रा उसे इस दशामें देख उठा लाई और उसका पिप्पलाद नाम रखकर उसका पोषण करने लगी ॥१३९॥ समय पाकर पिप्पलाद समस्त शास्त्रोंका पारगामी हो गया। एक दिन उसने भद्रासे पूछा कि मातः ! मेरे पिताका क्या नाम है ? वे जीवित हैं या नहीं ? ॥१४०॥ भद्राने कहा कि बेटा ! याज्ञवल्क्य तेरा पिता है। उसने मेरी छोटी बहिन सुलसाको शास्त्रार्थमें जीत लिया था वही तेरी माता है ॥१४१॥ हे बेटा ! जब तू पैदा ही हुआ था तथा कोई तेरा रक्षक नहीं था तब तुझे एक वृक्षके नीचे छोड़कर वे दोनों दयाहीन पापी चले गये थे और आजतक जीवित हैं ॥१४२॥ मैंने दूसरी स्त्रीके स्तन पिला-पिलाकर तुझे बड़े क्लेशसे बड़ा किया है। हे पुत्र ! तूने पहले ऐसा ही कर्म किया होगा यह ठीक है परन्तु कहना पड़ेगा कि तेरे माता-पिता बड़े कामी निकले ॥१४३॥ उस समय कानोंमें दाह उत्पन्न करनेवाले भद्राके पूर्वोक्त वचन सुनकर विद्वान् पिप्पलादको बड़ा क्रोध आया और उसकी बात सुनकर उसके कान खड़े हो गये ॥१४४॥ पता चलाकर वह अपने पिता याज्ञवल्क्यके पास गया और रोष पूर्वक उसे शास्त्रार्थमें जीतकर झूठ-मूठकी विनय दिखाता हुआ माता-पिताकी सेवा करने लगा ॥१४५॥ पिप्पलाद माता-पिताके प्रति क्रोधसे भरा था इस-

---

१. कर्णशूलकरं ग० । २. कर्तुं म० ।

पिप्पलादस्य शिष्योऽहं जडो ग्रन्थेन वाग्बलिः । तद्दर्शनं समर्थ्यागां नारकं घोरवेदनम् ॥१४७॥
ततो निर्गत्य जातोऽस्मि षड्वारानजपोतकः । हुतश्च यज्ञविद्याज्ञैर्यज्ञे पर्वतदर्शिते ॥१४८॥
सप्तमेऽपि च वारेऽहं देशे टङ्कणकेऽभवत् । अज एव निजैः पापैः प्रेरितः प्राणिघातजैः ॥१४९॥
चारुदत्तेन मे जैनो धर्मोऽदर्शि निरञ्जनः । दत्तः पञ्चनमस्कारो मरणे करुणावता ॥१५०॥
जातोऽहं जिनधर्मेण सौधर्मे विबुधोत्तमः । चारुदत्तो गुरुस्तेन प्रथमो नमितो मया ॥१५१॥
इत्युक्त्वा [1]विरते तस्मिन्नितरोऽपि सुरोऽब्रवीत् । श्रूयतां चारुदत्तो मे यथाऽभूद्धर्मदेशकः ॥१५२॥
रसकूपे परिव्राजा पातितः पतिताय मे । सद्धर्मं वणिजेऽवोचच्चारुदत्तः कृपापरः ॥१५३॥
मृतो गृहीतधर्मोऽहं सौधर्मेऽभवमुत्तमः । सुरस्तेन गुरुः पूर्वं चारुदत्तो नतो मया ॥१५४॥
पापकूपे निमग्नेभ्यो धर्महस्तावलम्बनम् । ददता कः समो लोके संसारोत्तारिणा[2] नृणाम् ॥१५५॥
अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य[3] पदस्य वा । दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम् ॥१५६॥
पूर्वं कृतोपकारस्य पुंसः प्रत्युपकारतः । कृतित्वमुपकार्यस्य नान्यथेति विदो विदुः ॥१५७॥
तत्कृतौ शक्तिवैकल्ये कुलीनः स कथं न यः । सद्भावं दर्शयेत्तस्मै स्वाधीनं विगतस्मयः ॥१५८॥

लिए उसने मातृ-पितृ सेवा नामका एक यज्ञ स्वयं चलाया और उसे कराकर दोनोंको मृत्युके अधीन कर दिया ॥१४६॥ मैं उसी पिप्पलादका वाग्वलि नामका शिष्य था। उससे शास्त्र पढ़कर मैं जड़–विवेकहीन हो गया था और उसीके मतका समर्थन कर घोर वेदनाओंसे भरे नरकमें उत्पन्न हुआ ॥१४७॥ नरकसे निकलकर मैं छह बार बकराका बच्चा हुआ और छहों बार यज्ञ विद्याके जानने वाले लोगोंने मुझे पर्वत द्वारा दिखाये हुए यज्ञमें होम दिया ॥१४८॥ सातवीं बार भी मैं प्राणिघातसे उत्पन्न हुए अपने पापोंसे प्रेरित हो टंकणक देशमें बकरा ही हुआ ॥१४९॥ उस समय दयालु चारुदत्तने मुझे पापरहित जैनधर्म दिखलाया तथा मरणकालमें पञ्च नमस्कार मन्त्र दिया ॥१५०॥ जिनधर्मके प्रभावसे मैं सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुआ हूँ। इस प्रकार चारुदत्त मेरा साक्षात् गुरु है और इसीलिए मैंने उसे पहले नमस्कार किया है ॥१५१॥ यह कहकर जब वह देव चुप हो गया तब दूसरा देव बोला कि सुनिए चारुदत्त जिस तरह मेरा धर्मोपदेशक है वह मैं कहता हूँ ॥१५२॥

मैं पहले वणिक् था। एक परिव्राजकने मुझे रसकूपमें गिरा दिया। पीछे चलकर उसी परिव्राजकने चारुदत्तको भी उसी रसकूपमें गिरा दिया। मेरी दशा मरणासन्न थी इसलिए चारुदत्तने वहाँ दयायुक्त होकर मुझे समीचीन धर्मका उपदेश दिया ॥१५३॥ चारुदत्तके द्वारा बताये हुए उस समीचीन धर्मको ग्रहण कर मैं मरा और मरकर सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुआ। इसतरह चारुदत्त मेरा साक्षात् गुरु है और इसीलिए मैंने उसे पहले नमस्कार किया है ॥१५४॥ जो पाप-रूपी कुएँमें डूबे हुए मनुष्योंके लिए धर्मरूपी हाथका सहारा देता है तथा संसार-सागरसे पार करनेवाला है उस मनुष्यके समान संसारमें मनुष्योंके बीच दूसरा कौन है? ॥१५५॥ एक अक्षर, आधे पद अथवा एक पदको भी देनेवाले गुरुको जो भूल जाता है वह भी जब पापी है तब धर्मोपदेशके दाताको भूल जानेवाले मनुष्यका तो कहना ही क्या है? ॥१५६॥ जिसका पहले उप-कार किया गया है ऐसे उपकार्य मनुष्यकी कृतकृत्यता प्रत्युपकारसे ही होती है अन्य प्रकारसे नहीं, ऐसा विद्वान् लोग जानते हैं ॥१५७॥ प्रत्युपकारकी शक्तिका अभाव होनेपर जो अहंकार रहित होता हुआ अपने उपकारीके प्रति अपना शुभ अभिप्राय नहीं दिखलाता है वह कुलीन कैसे हो सकता है? भावार्थ—प्रथम पक्ष तो यही है कि अपना उपकार करनेवाले मनुष्यका अवसर आनेपर प्रत्युपकार किया जावे। यदि कदाचित् प्रत्युपकार करनेकी सामर्थ्य न हो तो

१. निरते म० । २. -तारणां म० । ३. प यस्य म० ।

इत्युक्त्वा महतीमृद्धिं मुनिखेचरसंनिधौ । सम्प्रदर्श्य तदा देवौ देवदेवीविमानकैः ॥१५९॥
वस्त्रैरग्निविशुद्धैर्मां भूषामाल्यविलेपनैः । भूषयित्वा ससत्कारमभाषेतां सुभूषणैः ॥१६०॥
आदेशो दीयतां स्वामिन् कर्तव्ये समुपस्थिते । चम्पां किं प्राप्यसेऽद्यैव सद्यो भूर्यर्थसङ्गतः ॥१६१॥
इत्युक्तेन मया प्रोक्तं व्रजतं[1] निजमास्पदम् । स्मरणानन्तरं देवौ पुनरागम्यतामिति ॥१६२॥
यथादेशमिति प्रोच्य प्राञ्जली प्रणिपत्य तौ । मुनिं मां च समापृच्छ्य प्रयातौ त्रिदिवं निजम् ॥१६३॥
अहं च मुनिमानम्य विमानेन विहायसा । खेचराभ्यां सहायातः प्राविशं शिवमन्दिरम् ॥१६४॥
तत्र स्वर्गं इवातिष्ठन् सुखेन खचरार्चितः । जन्मान्यदिव च प्राप्तः शृण्वन् निजयशो जनात् ॥१६५॥
अन्यदा मातृपुत्रास्ते मयाऽमा सम्प्रधारणम् । चक्रुर्गान्धर्वसेनाख्यां कुमारीं सम्प्रदर्श्य मे ॥१६६॥
चारुदत्त ! शृणु श्रीमानेकदावधिचक्षुषम् । राजेति पृष्टवान् भर्ता को मे[2] दुहितुरीप्यते ॥१६७॥
सोऽवोचच्चारुदत्तस्य गृहे गान्धर्वपण्डितः । जेताऽस्या भविता तेऽसौ कन्याया यादवः पतिः ॥१६८॥
इत्याकर्ण्य तदा तेन राज्ञा प्रव्रजताऽपि च । स्थिरीकृतमिदं कार्यं प्रमाणं त्वं ततोऽसि नः ॥१६९॥
दिष्ट्याभ्युपगतं तत्तु बन्धुकार्यं मया ततः । धात्र्यादिपरिवाराढ्या[3] कन्येयं मे समर्पिता ॥१७०॥
कन्याया भ्रातरौ नानारत्नस्वर्णादिसम्पदाम् । वृतौ खेचरवाहिन्या सज्जौ चम्पागमं प्रति ॥१७१॥

उपकर्ताके प्रति नम्रताका भाव अवश्य ही दिखलाना उचित है ॥१५८॥ इस प्रकार कहकर उन दोनों देवोंने उस समय मुनिराज तथा विद्याधरोंके समीप देव-देवियों तथा विमान आदिके द्वारा अपनी बड़ी भारी ऋद्धि दिखलाकर अग्निमें शुद्ध किये हुए वस्त्र, आभूषण, माला, विलेपन आदि-से मेरा बहुत सत्कार किया तथा उत्तमोत्तम आभूषणोंसे विभूषित कर मुझसे कहा कि हे स्वामिन् ! जो भी कार्य करने योग्य हो उसके लिए आप आज्ञा दीजिए । क्या आज शीघ्र ही आपको बहुत भारी धन-सम्पदाके साथ चम्पापुरी भेज दिया जाय ? ॥१५९-१६१॥ इसके उत्तरमें मैंने कहा कि इस समय आप अपने-अपने स्थानपर जाइए । जब मैं आपका स्मरण करूँ तब पुनः आइए ॥१६२॥ देवोंने 'जो आज्ञा' यह कहकर मुझे तथा मुनिराजको हाथ जोड़कर नमस्कार किया एवं मुझसे तथा मुनिराजसे पूछकर वे अपने स्वर्ग चले गये ॥१६३॥ देवोंके चले जानेपर मैंने भी मुनिराज-को नमस्कार किया और विद्याधरोंके साथ विमानपर बैठकर उनके शिवमन्दिर नगरमें प्रवेश किया ॥१६४॥ शिवमन्दिर नगर स्वर्गके समान जान पड़ता था मैं उसमें सुखसे रहने लगा । अनेक विद्याधर मेरी सेवा करते थे । वहाँ रहते हुए मुझे ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरे ही जन्मको प्राप्त हुआ हूँ । वहाँ प्रत्येक मनुष्यसे मेरा यश सुनाई पड़ता था ॥१६५॥

एक दिन वे दोनों कुमार अपनी माताके साथ मेरे पास आये तथा मेरे लिए कुमारी गान्धर्वसेनाको दिखाकर मेरे साथ इस प्रकार सलाह करने लगे ॥१६६॥ उन्होंने कहा कि हे चारुदत्त ! सुनो, एक समय लक्ष्मीसे सुशोभित राजा अमितगतिने अवधिज्ञानी मुनिराजसे पूछा था कि आपके दिव्यज्ञानमें हमारी पुत्री गान्धर्वसेनाका स्वामी कौन दिखाई देता है ? ॥१६७॥ मुनिराजने कहा था कि चारुदत्तके घर गान्धर्व विद्याका पण्डित यदुवंशी राजा आवेगा वही इस कन्याको गन्धर्वविद्यामें जीतेगा तथा वही इसका पति होगा ॥१६८॥ मुनिराजके वचन सुनकर राजाने उस समय इस कार्यका निश्चय कर लिया था । यद्यपि राजा अमितगति इस समय दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं तथापि उस समय उन्होंने इसका पूर्ण भार आपके ही ऊपर रखनेका निश्चय किया था इसलिए हम लोगोंको आप ही प्रमाणभूत हैं ॥१६९॥ इसके उत्तरमें भाग्यवश प्राप्त हुए इस भाईके कार्यको मैंने स्वीकृत कर लिया । तदनन्तर धाय आदि परिवारके साथ यह कन्या मेरे लिए सौंप दी गई ॥१७०॥ नाना रत्न तथा सुवर्णादि सम्पदासे युक्त कन्याके दोनों भाई विद्या-

---

१. व्रजतो म० । २. के मे म० । ३. परिवाराद्या म० ।

मित्रकार्यसमुद्युक्तौ मित्रदेवौ मया स्मृतौ । स्मरणादेव सम्प्राप्तौ निधिहस्तौ ममान्तिकम् ॥१७२॥
चारुहंसविमानेन साकं गान्धर्वसेनया । आनीय मित्रदेवौ मां भूत्या विस्मयनीयया ॥१७३॥
सुव्यवस्थाप्य चम्पायामक्षयैर्निधिभिः सह । नत्वा देवौ गतौ स्वर्गं खेचरौ च निजास्पदम् ॥१७४॥
मातुलं मातरं पत्नीं बन्धुवर्गं च सादरम् । दृष्ट्वा तुष्टमतिं प्राप्तं प्राप्तोऽहं सुखितां पराम्[1] ॥१७५॥
तां शुश्रूषाकरीं श्वश्र्वं मदणुव्रतसङ्गताम् । श्रुत्वा वसन्तसेनां च प्रीतः स्वीकृतवानहम् ॥१७६॥
दत्तं किमिच्छकं दानं दीनानाथाङ्गितर्पणम् । विश्वस्मै बन्धुलोकाय दीयते स्म यथेप्सितम् ॥१७७॥
एष यादव ! सम्बन्धः कथितस्ते मयाखिलः । खेचरेन्द्रकुमार्या मे विभवस्य च सम्भवः ॥१७८॥
यदर्थं रक्षिता कन्या स त्वं प्राप्तोऽसि धन्यया । कृतकृत्यः कृतश्चाहं भवता यदुनन्दन ! ॥१७९॥
प्रत्यासन्नापवर्गस्य मम स्वर्गस्तपस्विभिः । तपःस्थस्योदितश्चेतो यतिष्ये च तपस्यहम् ॥१८०॥
इति गान्धर्वसेनायाः श्रुत्वा सम्बन्धमादितः । चारुदत्तस्य चोत्साहं तुष्टस्तुष्टाव यादवः ॥१८१॥
अहो चेष्टितमार्यस्य महौदार्यसमन्वितम् । अहो पुण्यबलं गण्यमनन्यपुरुषोचितम् ॥१८२॥
न हि पौरुषमीदृक्षं विना दैवबलं तथा । ईदृशान् विभवान् शक्याः प्राप्तुं ससुरखेचराः ॥१८३॥
श्रुत्वेति चारुदत्तोऽथमात्मीयं च विचेष्टितम् । तस्मै गान्धर्वसेनादिपर्यन्तं यादवोऽवदत् ॥१८४॥

धरोंकी सेना साथ लेकर चम्पानगरीके प्रति आनेके लिए तैयार हो गये ॥१७१॥ उसी समय मित्र-का कार्य करनेके लिए उद्यत दोनों मित्र देवोंका मैंने स्मरण किया और स्मरणके बाद ही वे दोनों देव निधियाँ हाथमें लिये हुए मेरे पास आ पहुँचे ॥१७२॥ वे देव, गान्धर्वसेनाके साथ मुझे सुन्दर हंस विमानमें बैठाकर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली सम्पदा सहित चम्पानगरी ले आये। यहाँ आकर अक्षय निधियोंके द्वारा उन्होंने मेरी सब व्यवस्था की। तदनन्तर नमस्कार कर देव स्वर्ग चले गये और दोनों विद्याधर अपने स्थानपर गये ॥१७३-१७४॥ मैं मामा, माता, पत्नी तथा अन्य बन्धुवर्गसे बड़े आदरसे मिला, सबको बड़ा सन्तोष हुआ और मैं भी बहुत सुखी हुआ ॥१७५॥ 'वसन्तसेना वेश्या, अपनी माँके घरसे आकर सासकी सेवा करती रही है तथा अणुव्रतोंसे विभूषित हो गई है' यह सुनकर मैंने बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकृत कर लिया—अपना बना लिया ॥१७६॥ मैंने दीन तथा अनाथ मनुष्योंको सन्तुष्ट करनेवाला किमिच्छक दान दिया और समस्त कुटुम्बी जनोंके लिए भी उनकी इच्छानुसार वस्तुएँ दीं ॥१७७॥ इस प्रकार हे यादव ! विद्याधर कुमारीका मेरे साथ जो सम्बन्ध है तथा इस विभवकी जो मुझे प्राप्ति हुई है वह सब मैंने आपसे कहा है ॥१७८॥

हे यदुनन्दन ! जिनके लिए यह कन्या रखी गई थी इस भाग्यशालिनी कन्याने उन्हीं तुमको प्राप्त किया है इसलिए कहना पड़ता है कि आपने मुझे कृतकृत्य किया है ॥१७९॥ तपस्वियोंने बताया है कि मेरा मोक्ष निकट है और तप धारण करनेसे इस भवके बाद तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा इसलिए अब मैं निश्चिन्त होकर तपके लिए ही यत्न करूँगा ॥१८०॥ इस प्रकार वसुदेव, गान्धर्वसेनाका आदिसे लेकर अन्ततक सम्बन्ध तथा चारुदत्तका उत्साह सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुए और चारुदत्तकी इस तरह स्तुति करने लगे कि अहो ! आपकी चेष्टा अत्यधिक उदारतासे सहित है, अहो ! आपका असाधारण पुण्य बल भी प्रशंसनीय है। बिना भाग्यबलके ऐसा पौरुष होना कठिन है और बिना भाग्यबलके साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है देव तथा विद्याधर भी ऐसे विभवको प्राप्त नहीं हो सकते ॥१८१-१८३॥ इस प्रकार चारुदत्तका वृत्तान्त सुनकर वसुदेवने उसके लिए गान्धर्वसेना आदिकी प्राप्ति पर्यन्त अपना भी समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥१८४॥

---

१. परं म० ।

इत्यन्योन्यस्वरूपज्ञा रूपविज्ञानसागराः । त्रिवर्गानुभवप्रीताश्चारुदत्तादयः स्थिताः ॥१८५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

क्षीणार्थोऽपि पयोधिमप्यधिगतः कूपावतीर्णोऽप्यतो
दुर्लङ्घ्येऽपि च सञ्चरन् गिरितटे द्वीपान्तरे वा पुमान् ।
लक्ष्मीं धर्मसखः प्रयाति निखिलां पापव्यपायाद्यत-
स्तद्धर्मं जिनबोधितं बुधजनाश्चिन्वन्तु चिन्तामणिम् ॥१८६॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ चारुदत्तचरित्रवर्णनो नाम एकविंशतितमः सर्गः ॥२१॥

इस प्रकार आपसमें एक दूसरेके स्वरूपको जाननेवाले रूप तथा विज्ञानके सागर और त्रिवर्गके अनुभवसे प्रसन्न चारुदत्त आदि सुखसे रहने लगे ॥१८५॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे राजन् ! धर्मात्मा मनुष्य भले ही अत्यन्त निर्धन हो गया हो, समुद्रमें भी गिर गया हो, कुएँमें भी उतर गया हो, पर्वतके अलंघ्य तटपर भी विचरण करने लगा हो और दूसरे द्वीपमें भी जा पहुँचा हो तो भी पाप नष्ट हो जानेसे सम्पूर्ण लक्ष्मीको प्राप्त होता है इसलिए हे विद्वज्जनो ! जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रतिपादित धर्मरूपी चिन्तामणि रत्नका संचय करो ॥१८६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें चारुदत्तके चरित्रका वर्णन करनेवाला इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥

द्वाविंशतितमः सर्गः

चम्पायां रममाणस्य सह गान्धर्वसेनया । वसुदेवस्य सम्प्राप्तः फाल्गुनाष्टदिनोत्सवः ॥१॥
देवा नन्दीश्वरं द्वीपं खेचरा मन्दरादिकम् । यान्ति वन्दारवः स्थानमानन्दं दधतस्तदा ॥२॥
जन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणप्राप्तितोऽर्हतः । वासुपूज्यस्य पूज्यां तां चम्पां प्रापुः स्फुरद्गृहाम् ॥३॥
आगच्छन्ति तदा कर्तुं जिनेन्द्रमहिमोत्सवम् । सर्वतः पुत्रदाराद्यैर्भूचराश्च नभश्चराः ॥४॥
चम्पावासी जनः सर्वो निरचक्राम सराजकः । प्रतिमां वासुपूज्यस्य पूज्यां पूजयितुं बहिः ॥५॥
रथैः केचिद्गजैः केचित् वाजियुग्यादिभिः परे । निर्यान्ति स्त्रीजनाः पुर्या यात्रायां चित्रभूषणाः ॥६॥
शौरिरश्वरथारूढः सार्द्धं गान्धर्वसेनया । जिनं पूजयितुं पुर्या निर्यातोऽसौ सपर्यया ॥७॥
भटमण्डलमध्यस्थो गच्छन् जिनगृहाग्रतः[1] । मातङ्गकन्यकावेषां नृत्यत्कन्यां निरैक्षत ॥८॥
नीलोत्पलदलश्यामां वृत्तोत्तुङ्गपयोधराम् । भूषाविद्युल्लताश्लिष्टां योषां वा प्रावृषः श्रियम् ॥९॥
सुबन्धूकाधरच्छायां सुपद्मपद्पाणिकाम् । पुण्डरीकदृशं दृश्यां मूर्तामिव शरच्छ्रियम् ॥१०॥
श्रियं ह्रियं धृतिं बुद्धिं लक्ष्मीं चापि सरस्वतीम् । स्वयं जिनेन्द्रभक्त्येव[2] नृत्यन्तीमतिरूपिणीम् ॥११॥
स्थितो रङ्गविभागेऽत्र गायकः सपरिग्रहः । मृदङ्गी पणवी चैव दर्दुरी कंसवादकः ॥१२॥

अथानन्तर कुमार वसुदेव चम्पापुरीमें गान्धर्वसेनाके साथ क्रीड़ा करते हुए रहते थे कि उसी समय फाल्गुन मासकी अष्टाह्निकाओंका महोत्सव आ पहुँचा ॥१॥ वन्दनाके प्रेमी एवं हृदयमें आनन्दको धारण करनेवाले देव नन्दीश्वर द्वीपको तथा विद्याधर सुमेरु पर्वत आदि स्थानोंपर जाने लगे ॥२॥ भगवान् वासुपूज्यके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच कल्याणकोंके होनेसे पूज्य एवं देदीप्यमान गृहसे सुशोभित चम्पापुरीमें भी देव और विद्याधर आये ॥३॥ उस समय श्री जिनेन्द्र भगवान्की पूजाका उत्सव करनेके लिए भूमिगोचरी और विद्याधर राजा अपनी स्त्री तथा पुत्र आदिके साथ सर्व ओरसे वहाँ आये थे।॥४॥ चम्पापुरीके रहनेवाले सबलोग भी राजा को साथ ले श्री वासुपूज्य स्वामीकी प्रतिमाको पूजनेके लिए नगरसे बाहर गये ॥५॥ उस समय नाना प्रकारके आभूषणोंको धारण करनेवाली स्त्रियाँ नगरसे बाहर जा रही थीं। उनमें कितनी ही हाथीपर बैठकर तथा कितनी ही घोड़े एवं बैल आदिपर बैठकर जा रही थीं ॥६॥ कुमार वसुदेवभी गान्धर्वसेनाके साथ घोड़ोंके रथपर आरूढ हो श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा करनेके लिए सामग्री साथ लेकर नगरीसे बाहर निकले ॥७॥ अनेक योद्धाओंके मध्यमें जाते हुए कुमार वसुदेवने वहाँ जिनमन्दिरके आगे मातङ्गकन्याके वेषमें नृत्य करती हुई एक कन्याको देखा ॥८॥ वह कन्या नील कमल दलके समान श्याम थी, गोल एवं उठे हुए स्तनोंसे युक्त थी तथा बिजलीके समान चमकते हुए आभूषणोंसे सहित थी इसलिए हरी-भरी, ऊँचे मेघोंसे युक्त एवं चमकती हुई बिजलीसे युक्त वर्षा ऋतुकी लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥९॥ अथवा उसके ओठ बन्धूकके पुष्पके समान लाल थे, उसके हाथ-पैर उत्तम कमलके समान थे और नेत्र सफेद कमलके समान थे, इसलिए वह साक्षात् मूर्तिमती शरद् ऋतुकी लक्ष्मीके समान दिखाई देती थी ॥१०॥ अथवा वह रूपवती कन्या जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिसे स्वयं नृत्य करती हुई श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, लक्ष्मी एवं सरस्वती देवीके समान जान पड़ती थी ॥११॥ नृत्यकी रङ्गभूमिमें गाने वाले, अपने परिकरके साथ स्थित थे। मृदंग, पणव, दर्दुर, झाँझ, विपञ्ची और वीणा बजानेवाले वादक तथा उत्तम

---

१. जिनगृहागतः म० । २. जिनेन्द्रभक्तेव म० ।

वैपञ्ची वैणिकश्चैव कुतुपः[1] परिभाषितः । उत्तमाधममध्याभिः स्थितः प्रकृतिभिर्युतः ॥१३॥
कुतुपेषु[2] यथास्थानं सुप्रयुक्तं प्रयोक्तृभिः । अलातचक्रप्रतिमं गानं वाद्यं च नाटकम् ॥१४॥
रसाभिनयभावानामभिव्यक्तिं सुनर्तकी । सा कुर्वाणा रथस्थेन शौरिणैक्षि सजानिना ॥१५॥
रूपविज्ञानपाशेन तं बबन्धाशु सा स ताम् । बन्धव्यबन्धकत्वं तावन्योन्यस्य तत्रापतुः ॥१६॥
ततो गान्धर्वसेनाऽभूदीर्ष्याकुञ्चितलोचना । विपक्षस्य हि सांनिध्यमक्षिसङ्कोचकारणम् ॥१७॥
सापायमत्र विभ्रासकोपायं च चिरस्थितम् । मन्वाना सारथिं साह धन्विनो रथिनः प्रिया ॥१८॥
क्षिप्रमस्मात्प्रदेशात्त्वं रथं प्रेरय सारथे । शर्कराप्यलमास्वादा[3]न्नाददाति रसान्तरम् ॥१९॥
इत्युक्तो नोदयद्वेगात्सारथी रथमाप सः । जिनवेश्म समास्थाप्य तौ प्रविष्टौ प्रदक्षिणम् ॥२०॥
क्षीरेक्षुरसधारौघैर्घृतदध्युदकादिभिः । अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चामर्चितां नृसुरासुरैः ॥२१॥
हरिचन्दनगन्धाढ्यैर्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः । पुष्पैर्नानाविधैरुद्धैर्धूपैः कालागुरूद्भवैः ॥२२॥
दीपैर्दीप्रशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः । तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदौ ॥२३॥
समपादौ पुरः स्थित्वा जिनार्चनकृताञ्जली । उच्चार्योपांशु[4]पाठेन प्रागीर्यापथदण्डकम् ॥२४॥

नृत्य करने वाले कुतुप उत्तम मध्यम और जघन्य प्रकृतिके साथ युक्त थे। इनमें जो अच्छेसे-अच्छे प्रयोग दिखानेवाले थे वे यथास्थान अलातचक्रके समान-व्यवधान रहित गायन-वादन और नर्तनके प्रयोग दिखला रहे थे[5] ॥१२–१४॥ इस प्रकार रस, अभिनय और भावोंको प्रकट करनेवाली उस नर्तकीको प्रिया गान्धर्वसेनाके साथ रथपर बैठे हुए कुमार वसुदेवने देखा ॥१५॥ देखते ही उस नर्तकीने कुमारको और कुमारने उस नर्तकीको अपने-अपने रूप तथा विज्ञानरूपी पाशसे शीघ्र ही बाँध लिया। उस समय वे दोनों ही आपसमें बन्धव्य और बन्धक दशाको प्राप्त हुए थे अर्थात् एक दूसरेको अनुराग रूपी पाशमें बाँध रहे थे ॥१६॥ यह देख गान्धर्वसेनाने अपने नेत्र ईर्ष्यासे संकुचित कर लिये सो ठीक ही है क्योंकि विरोधीका सन्निधान नेत्र संकोचका कारण होता ही है ॥१७॥ 'यहाँ अधिक ठहरना हानिकर एवं भयको उत्पन्न करनेवाला है' ऐसा मानती हुई गान्धर्वसेनाने सारथिसे कहा कि हे सारथे ! तुम इस स्थानसे शीघ्र ही रथ ले चलो क्योंकि शक्कर भी अधिक खानेसे दूसरा रस नहीं देती ॥१८–१९॥ गान्धर्वसेनाके ऐसा कहनेपर सारथिने रथको वेगसे बढ़ाया और सब जिन-मन्दिर जा पहुँचे। वहाँ रथको खड़ा कर वसुदेव और गान्धर्वसेनाने मन्दिरमें प्रवेश किया, तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और दूध, इक्षुरसकी धारा, घी, दही तथा जल आदिके द्वारा मनुष्य सुर एवं असुरोंके द्वारा पूजित जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका अभिषेक किया ॥२०–२१॥ दोनों ही पूजाकी विधिमें अत्यन्त निपुण थे इसलिए उन्होंने हरिचन्दनकी गन्ध, धानके सुगन्धित एवं अखण्ड चावल, नाना प्रकारके उत्तमोत्तम पुष्प, कालागुरु चन्दनसे निर्मित उत्तम धूप, देदीप्यमान शिखाओंसे युक्त दीपक और निर्दोष नैवेद्यसे जिन-प्रतिमाकी पूजा की ॥२२–२३॥ पूजाके बाद वे सामायिकके लिए उद्यत हुए सो प्रथम ही दोनों पैर बराबर कर जिन प्रतिमाके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तदनन्तर ईर्यापथ दण्डकका मन्द स्वरसे उच्चारण कर कायोत्सर्ग करने लगे। कायोत्सर्गके द्वारा उन्होंने ईर्यापथ शुद्धि की। तत्पश्चात्

१. नटपेटकः (ग० टि०) । २. नटपेटकेषु (ग० टि०) । ३. -मास्वाद्य नाददाति म० । ४. उपांशु इत्यप्रकाशोच्चारणरहस्ययोः । ५. प्रयोगस्त्रिविधो ह्येषां विज्ञेयो नाटकाश्रयः । ततं चैवावनद्धं च तथा नाट्यकृतश्च सः ॥३॥ तते कुतपविन्यासो गायनः सपरिग्रहः । वैपञ्चिको वैणिकश्च वंशवादक एव च ॥४॥ मार्दङ्गिकः पाणविकस्तथा दार्दुरिको बुधैः । अनाविद्धविधावेष कुतपः समुदाहृतः ॥५॥ उत्तमाधममध्याभिस्तथा प्रकृतिभिर्युतः । कुतपो नाट्ययोगेऽत्र नानादेशसमाश्रयः । एवं गानं च नाट्यं च वाद्यं च विविधाश्रयम् । अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥७॥—नाट्यशास्त्र अध्याय २८ ।

कायोत्सर्गविधानेन शोधितेर्यापथौ पथि । जैनेऽतिनिपुणौ क्षोण्यां निपेतुः[1] पुनरुत्थितौ ॥२५॥
पुण्यपञ्चनमस्कारपदपाठपवित्रितौ । [2]चतुरुत्तममांगल्यशरणप्रतिपादिनौ ॥२६॥
द्वीपेष्वर्धतृतीयेषु सप्ततिशतात्मके । धर्मक्षेत्रे त्रिकालेभ्यो जिनादिभ्यो नमोऽस्त्विति ॥२७॥
सामायिकं करोमीति सर्वं सावद्ययोगकम् । प्रत्याख्यामि कायं च तावदित्युज्झिताङ्गकौ ॥२८॥
शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे जीविते मरणेऽपि वा । समताऽलाभलाभे मे तावदित्यन्तराशयौ ॥२९॥
सप्तप्राणप्रमाणं तु स्थित्वा कृत्वा शिरोऽञ्जलिम् । इत्युदाहरतां भव्यं तौ चतुर्विंशतिस्तवम् ॥३०॥
ऋषभाय नमस्तुभ्यमजिताय नमो नमः । शम्भवाय नमः शश्वदभिनन्दन ! ते नमः ॥३१॥
नमः सुमतिनाथाय नमः पद्मप्रभाय ते । नमः सुपार्श्वं [3]विश्वेशे नमश्चन्द्रप्रभार्हते ॥३२॥
नमस्ते पुष्पदन्ताय नमः शीतलतायिने । नमोऽस्तु श्रेयसे [4]श्रीशे श्रेयसे श्रितदेहिनाम् ॥३३॥
नमोऽस्तु वासुपूज्याय सुपूज्याय जगत्त्रये । वर्तते यस्य चम्पायां निःकम्पोऽयं महामहः ॥३४॥
विमलाय नमो नित्यमनन्ताय नमो नमः । नमो धर्मजिनेन्द्राय शान्तये शान्तये नमः ॥३५॥
नमस्ते कुन्थुनाथाय तथाऽराय नमस्त्रिधा । मल्लये शल्यमल्लाय मुनिसुव्रत ! ते नमः ॥३६॥

जिनेन्द्र प्रदर्शित मार्गमें अतिशय निपुणता रखनेवाले दोनों, नमस्कार करनेके लिए जमीनपर पड़ गये, फिर उठकर खड़े हुए। पञ्च नमस्कार मन्त्रके पाठसे अपने आपको उन्होंने पवित्र किया, अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्रज्ञप्त धर्म ये चार ही संसारमें उत्तम पदार्थ हैं, चार ही मंगल हैं और इन चारोंकी शरणमें हम जाते हैं इस प्रकार उच्चारण किया। 'अढ़ाई द्वीपके एक सौ सत्तर धर्मक्षेत्रोंमें जो तीर्थङ्कर आदि पहले थे, वर्तमानमें हैं और आगे होंगे उन सबके लिए हमारा नमस्कार हो, यह कहकर उन्होंने निम्नांकित नियम ग्रहण किया कि हम जब तक सामायिक करते हैं तबतकके लिए समस्त सावद्य योग और शरीरका त्याग करते हैं—यह नियम लेकर उन्होंने शरीरसे ममत्व छोड़ दिया और शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा लाभ-अलाभमें मेरे समता भाव हो ऐसा मनमें विचार किया। तदनन्तर सात श्वासोच्छ्वास प्रमाण खड़े रहकर उन्होंने शिरोनति की और उसके बाद चौबीस तीर्थङ्करोंके सुन्दर स्तोत्रका उच्चारण किया ॥२५-३०॥ चौबीस तीर्थङ्करोंका स्तोत्र इस प्रकार था—

हे ऋषभदेव ! तुम्हें नमस्कार हो, हे अजितनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे शम्भवनाथ ! तुम्हें निरन्तर नमस्कार हो, हे अभिनन्दन नाथ ! तुम्हें नमस्कार हो ॥३१॥ हे सुमतिनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे पद्मप्रभ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे जगत्‌के स्वामी सुपार्श्वनाथ ! तुम्हें नमस्कार हो, हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! तुम्हें नमस्कार हो ॥३२॥ हे पुष्पदन्त ! तुम्हें नमस्कार हो, हे शीतलनाथ ! आप रक्षा करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो, हे श्रेयांसनाथ ! आप अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मीके स्वामी हैं तथा आश्रित प्राणियोंका कल्याण करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥३३॥ जिनका चम्पापुरीमें यह अचल महोत्सव मनाया जा रहा है तथा जो तीनों जगत्‌में पूज्य हैं ऐसे वासुपूज्य भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥३४॥ हे विमलनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे अनन्तनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे धर्मजिनेन्द्र ! आपको नमस्कार हो, हे शान्तिके करनेवाले शान्तिनाथ ! आपको नमस्कार हो ॥३५॥ हे कुन्थुनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे अरनाथ ! आपको नमस्कार हो, हे मल्लिनाथ ! आप शल्योंको नष्ट करनेके लिए मल्लके समान हैं अतः

---

१. निपेतुः म०, ग०। २. 'चत्तारि मंगलं–अरहन्ता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा–अरहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। ३. विश्वस्य ईट् विश्वेट् तस्मै। ४. श्रिया ईट् श्रीट् तस्मै।

नमोऽस्तु नमिनाथाय नतत्रिभुवनेशिने[1] । यस्येदं वर्तते तीर्थं साम्प्रतं भरतावनौ ॥३७॥
अरिष्टनेमिनाथाय भविष्यत्तीर्थकारिणे । हरिवंशमहाकाशशशाङ्काय नमो नमः ॥३८॥
नमः पार्श्वजिनेन्द्राय श्रीवीराय नमोऽस्तु ते । सर्वतीर्थङ्कराणां च गणेन्द्रेभ्यो नमः सदा ॥३९॥
कृत्रिमाकृत्रिमेभ्यश्च सद्मेभ्योऽर्हतां नमः । भुवनत्रयवर्तिभ्यः प्रतिबिम्बेभ्य एव च ॥४०॥
इत्थं कृत्वा स्तवं भक्त्या तौ प्रहृष्टतनूरुहौ । प्रणेमतुः शिरोजानुकरस्पृष्टधरातलौ ॥४१॥
पूर्ववत्पुनरुत्थाय कायोत्सर्गनयोगतः । पुण्यं पञ्चगुरुस्तोत्रमुदचीचरतामिति[2] ॥४२॥
अर्हद्भ्यः सर्वदा सर्वसिद्धेभ्यः सर्वभूमिषु । आचार्येभ्य उपाध्यायसाधुभ्यश्च नमो नमः ॥४३॥
परीत्य जिष्णुधिष्ण्यं[3] तौ रथमारुह्य हारिणौ । प्रविष्टौ दम्पती चम्पां सम्पदा परया ततः ॥४४॥
नर्तकीप्रेक्षणक्षिप्तचक्षुरिङ्गितलक्षितः । स तां प्रणाममात्रेण मानिनीमनयद्वशम् ॥४५॥
विपक्षप्रेक्षणासक्तिसापराधेऽपि भर्तरि । स्त्रीणां प्रणयकोपस्य प्रणामो हि निवर्तकः ॥४६॥
अथ विद्याधरी वृद्धा वृद्धा विद्येव रूपिणी । तत्कन्ययान्यदोत्सृष्टा त्रिपुण्ड्रकृतमण्डना ॥४७॥
एकान्ते सुस्थितं हर्म्ये कथञ्चिच्चित्तहारिणी । दत्ताशीः शौरिम[4] हैवमासीना सन्मुखासने ॥४८॥
पुराणवस्तुनो वीर ! विस्तरस्तव चेतसि । शुद्धादर्शतले यद्वद् यद्यपि प्रतिभासते ॥४९॥

आपको नमस्कार हो, हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपको नमस्कार हो ॥३६॥ जिन्हें तीन लोकके स्वामी सदा नमस्कार करते हैं और इस समय भरत क्षेत्रमें जिनका तीर्थ चल रहा है उन नमिनाथ भगवान्‌के लिए नमस्कार हो ॥३७॥ जो आगे तीर्थङ्कर होनेवाले हैं तथा जो हरिवंशरूपी महान् आकाशमें चन्द्रमाके समान सुशोभित होंगे उन अरिष्टनेमिको नमस्कार हो॥३८॥श्रीपार्श्वजिनेन्द्र-के लिए नमस्कार हो, श्रीवर्धमान स्वामीको नमस्कार हो, समस्त तीर्थङ्करोंके गणधरोंको नमस्कार हो, श्रीअरहन्त भगवान्‌के त्रिलोकवर्ती कृत्रिम अकृत्रिम मन्दिरों तथा प्रतिबिम्बोंके लिए नमस्कार हो ॥३९–४०॥ इस प्रकार स्तवनकर भक्तिके कारण जिनके शरीरमें रोमाञ्च उठ रहे थे ऐसे कुमार वसुदेव तथा गान्धर्वसेनाने मस्तक, घुटने तथा हाथोंसे पृथिवीतलका स्पर्श करते हुए प्रणाम किया ॥४१॥ तदनन्तर पहलेके समान खड़े होकर कायोत्सर्ग किया और पुण्यवर्धक पञ्च नमस्कार मन्त्रका उच्चारण किया ॥४२॥ पञ्च नमस्कार मन्त्र पढ़ते हुए उन्होंने कहा कि अरहन्तों-को सदा नमस्कार हो, समस्त सिद्धोंको नमस्कार हो, और समस्त पृथिवीमें जो आचार्य, उपा-ध्याय तथा साधु हैं उन सबके लिए नमस्कार हो ॥४३॥ अन्तमें जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा देकर सुन्दर शरीरके धारक दोनों दम्पति रथपर सवार हो बड़े वैभवके साथ चम्पापुरीमें प्रविष्ट हुए ॥४४॥ नृत्यकारिणीको देखते समय कुमार वसुदेवके नेत्रोंमें जो विकार हुआ था वह गान्धर्व-सेनाकी दृष्टिमें आ गया था इसलिए वह उनसे मान करने लगी थी परन्तु कुमारने प्रणामकर उसे वश कर लिया ॥४५॥ सो ठीक ही है क्योंकि सपत्नीके देखनेमें आसक्ति होनेसे पतिके सापराध होनेपर भी हाथ जोड़कर किया हुआ नमस्कार स्त्रियोंके मानको दूर कर देता है ॥४६॥

अथानन्तर किसी समय कुमार वसुदेव महलके एकान्त स्थानमें अच्छी तरह बैठे थे कि उस नृत्य करनेवाली कन्याके द्वारा भेजी हुई एक वृद्ध विद्याधरी उनके पास आई। वह वृद्धा त्रिपुण्ड्राकार तिलकसे सुशोभित थी, कुमार वसुदेवके चित्तको हरनेवाली थी, और मूर्तिमती वार्धक्य विद्याके समान जान पड़ती थी। उसने आते ही कुमारको आशीर्वाद दिया और सामने-के आसनपर बैठकर कुमारसे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥४७–४८॥ हे वीर ! यद्यपि आपके हृदयमें शुद्ध दर्पणतलके समान पुराणोंका विस्तार प्रतिभासित हो रहा है तथापि मैं विद्याधरोंसे

१. नमस्त्रिभुवने सदा ख०, ग०, घ०, ङ० । नमितस्त्रिभुवने सदा म० । २. -मुदचीरचतामिति म० । ३. जिनगृहम् । ४. वसुदेवम् ।

तथाप्यनूद्यते वस्तु मया विद्याधराश्रितम् । [1]रोचिषौषधिनाथस्य स्पृष्टं किं नौषधिः स्पृशेत् ॥५०॥
प्रदर्शितजगज्जीव्यो[2] युगाद्यो वृषभेश्वरः । भरतेश्वरविन्यस्तराज्योऽसौ प्राव्रजद् यदा ॥५१॥
राजक्षत्रोग्रभोजाद्यास्तदा तत्तपसि स्थिताः । चतुःसहस्रसङ्ख्या ये प्राग्भग्नाश्च परीषहैः ॥५२॥
तेषां मध्ये तु यौ भग्नौ नमिर्विनमिरित्युभौ । भ्रातरौ पादयोर्लग्नौ भर्तुस्तस्थतुरर्थिनौ ॥५३॥
धरणेन शरण्येन निरीक्ष्य धरणैः सह । दित्यदित्यभिधानाभ्यां देवीभ्यामागतेन तौ ॥५४॥
आश्वास्य जिनभक्तेन विद्याकोशो जिनान्तिके । ताभ्यां प्रदापितस्तेन स्वदेवीभ्यां महात्मना ॥५५॥
विद्यानामदितिस्त्वष्टौ निकायान् प्रददौ तदा । गान्धर्वसेनकश्चासौ विद्याकोशः प्रकाशितः ॥५६॥
मनुश्च मानवस्तत्र निकायः कौशिकस्तदा । गौरिकश्चैव गान्धारो भूमितुण्डश्च खण्डितः ॥५७॥
निकायौ चापरौ ख्यातौ मूलवीर्यकशङ्कुकौ । ते चार्यादित्यगन्धर्वास्तथा व्योमचराः स्मृताः ॥५८॥
दित्या चाष्टौ निकायास्ते वितीर्णाः पन्नगाभिधाः । मातङ्गः पाण्डुकः कालः स्वपाकः पर्वतोऽपि च ॥५९॥
वंशालयः पांशुमूलो वृक्षमूलस्तथाष्टमः । दैत्यपन्नगमातङ्गनामतः परिभाषिताः ॥६०॥
षोडशानां निकायानामिमा विद्याः प्रकीर्तिताः । सर्वविद्याप्रधानत्वं याः प्रपद्य व्यवस्थिताः ॥६१॥
प्रज्ञप्ती रोहिणी विद्या विद्या चाङ्गारिणीरिता । महागौरी च गौरी च [3]सर्वविद्याप्रकर्षिणी ॥६२॥
महाश्वेताऽपि मायूरी हारी निर्वज्ञशाड्वला । सा [4]तिरस्करिणी विद्या छायासङ्क्रामिणी परा ॥६३॥
कूष्माण्डगणमाता च सर्वविद्याविराजिता । आर्यकूष्माण्डदेवी च देवदेवी नमस्कृता ॥६४॥

सम्बन्ध रखनेवाली एक बात आपसे कहती हूँ और यह उचित भी है क्योंकि ओषधियोंका नाथ—चन्द्रमा अपनी किरणोंसे जिसका स्पर्श कर चुकता है क्या सामान्य ओषधि उसका स्पर्श नहीं कर सकती ? अर्थात् अवश्य कर सकती है ? भावार्थ—बड़े पुरुष जिस वस्तुको जानते हैं उसे छोटे पुरुष भी जान सकते हैं ॥४९-५०॥ जिस समय जगत्को आजीविकाका उपाय बतलाने वाले, युगके आदिपुरुष भगवान् वृषभदेव भरतेश्वरके लिए राज्य देकर दीक्षित हुए थे उस समय उनके साथ उग्रवंशीय, भोजवंशीय आदि चार हजार क्षत्रिय राजा भी तपमें स्थित हुए थे परन्तु पीछे चलकर वे परीषहोंसे भ्रष्ट हो गये। उन भ्रष्ट राजाओंमें नमि और विनमि ये दो भाई भी थे। ये दोनों राज्यकी इच्छा रखते थे इसलिए भगवान्के चरणोंमें लगकर वहीं बैठ गये ॥५१-५३॥ उसी समय रक्षा करनेमें निपुण जिन-भक्त धरणेन्द्रने अनेक धरणों—देवविशेषों और दिति तथा अदिति नामक अपनी देवियोंके साथ आकर नमि, विनमिको आश्वासन दिया और अपनी देवियोंसे उस महात्माने वहीं जिनेन्द्र भगवान्के समीप उन दोनोंके लिए विद्याकोश—विद्याका भाण्डार दिलाया ॥५४-५५॥ अदिति देवीने उन्हें विद्याओंके आठ निकाय दिये तथा गान्धर्व सेनक नामका विद्याकोश बतलाया ॥५६॥ विद्याओंके आठ निकाय इस प्रकार थे—१ मनु, २ मानव, ३ कौशिक, ४ गौरिक, ५ गान्धार, ६ भूमितुण्ड, ७ मूलवीर्यक और ८ शङ्कुक। ये निकाय आर्य, आदित्य, गन्धर्व तथा व्योमचर भी कहलाते हैं ॥५७-५८॥ धरणेन्द्रकी दूसरी देवी दितिने भी उन्हें १ मातङ्ग, २ पाण्डुक, ३ काल, ४ स्वपाक, ५ पर्वत, ६ वंशालय, ७ पांशुमूल और ८ वृक्षमूल ये आठ निकाय दिये। ये निकाय दैत्य, पन्नग और मातङ्ग नामसे कहे जाते हैं ॥५९-६०॥ इन सोलह निकायोंकी नीचे लिखी विद्याएँ कही गई हैं जो समस्त विद्याओंमें प्रधानताको प्राप्त कर स्थित हैं ॥६१॥ प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अङ्गारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्या-प्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वज्ञशाड्वला, तिरस्करिणी, छायासंक्रामिणी, कूष्माण्ड गण-माता, सर्वविद्याविराजिता, आर्य कूष्माण्डदेवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृति, दण्डाध्यक्ष-

---

१. ओषधिनाथस्य चन्द्रस्य रोचिषा कान्त्या स्पृष्टमिति सम्बन्धः। शोचिषौषधिनाथस्य ख०, ग०, घ०, ङ० । २. जीवो ग०, ङ० । ३. सर्वविद्यापकर्षिणी म० । ४. तिरस्कारिणी म० ।

[1]अच्युतार्यवती चाऽपि गान्धारी निर्वृतिः परा । दण्डाध्यक्षगणश्चापि दण्डभूतसहस्रकम् ॥६५॥
भद्रकाली महाकाली काली कालमुखी तथा । एवमाद्याः समाख्याता विद्या विद्याधरेशिनाम् ॥६६॥
एकपर्वा द्विपर्वा च त्रिपर्वा दशपर्विका । शतपर्वा सहस्राख्या लक्षपर्वाऽवलक्षिता ॥६७॥
उत्पातिन्यश्च ताः सर्वास्त्रिपातिन्यस्तथापि च । धारिण्यन्तर्विचारिण्यो जलाग्निगतिदक्षिणाः ॥६८॥
निःशेषेषु निकायेषु नानाशक्तिसमन्विताः । नानानगनिवासिन्यो नानौषधिविदस्तथा ॥६९॥
सर्वार्थसिद्धा सिद्धार्था जयन्ती मङ्गला जया । सङ्क्रामिण्यः प्रहाराणामशय्याराधनी[2] तथा ॥७०॥
विशल्यकारिणी चैव व्रणसंरोहिणी तथा । सवर्णकारिणी चैव मृतसञ्जीवनी परा ॥७१॥
सर्वाः परमकल्याण्यः सर्वा मन्त्रपरिष्कृताः । सर्वविद्याबलैर्युक्ताः सर्वलोकहितावहाः ॥७२॥
सर्वाः पठितविद्यास्ता विद्या दिव्यौषधिस्तथा । धरणो नमये तस्मै ददौ विनमयेऽप्यसौ ॥७३॥
धरणेन्द्रवितीर्णे च विजयार्धे धराधरे । नमिर्दक्षिणभागेऽस्थादुत्तरे विनमिस्तथा ॥७४॥
नानाजनपदोपेतौ मित्रबान्धवसंस्तुतौ । सुखेन तस्थतुर्वीरौ तौ श्रेण्योरुभयोरुभौ ॥७५॥
ओषधीश्चापि विद्याश्च सर्वेभ्यो ददतुश्च तौ । विद्यानिकायसंज्ञाभिः ख्याताः विद्याधराश्च ते ॥७६॥
गौरीणां गौरिका वेद्या मनूनां मनुनामकाः । गान्धारीणां च गान्धारा मानवीनां च मानवाः ॥७७॥
कौशिकीनां च विद्यानां वेद्याः कौशिकनामकाः । भूमितुण्डकविद्यायां भूमितुण्डाः प्रभाषिताः ॥७८॥
तथैव मूलवीर्यास्तु मूलवीर्यकखेचराः । शङ्कुकानां च विद्यानां शङ्कुकाः खेचराः स्मृताः ॥७९॥
विद्यानां पाण्डुकीनां च पाण्डुकेयाः प्रभाषिताः । कालाः कालकविद्यानां स्वपाकानां स्वपाकजाः ॥८०॥
मातङ्गीनां च विद्यानां मातङ्गा नामतो मताः । पर्वतानां च विद्यानां पार्वतेयाः खचारिणः ॥८१॥
वंशालयानां विद्यानां वंशालयगणः स्मृतः । पांशुमूलकविद्यानां विज्ञेयाः पांशुमूलिकाः ॥८२॥
विद्यानां वृक्षमूलानां खेचरा वार्क्षमूलिकाः । एवं ते क्रमशः प्रोक्ता निकायानां खचारिणः ॥८३॥
दशोत्तरशतं तेषां नगराणि खगामिनाम् । षष्टिरुत्तरभागे स्युः पञ्चाशद्दक्षिणे पुनः ॥८४॥

गण, दण्डभूतसहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली और कालमुखी—इन्हें आदि लेकर विद्याधर राजाओंकी अनेक विद्याएँ कही गई हैं ॥६२–६६॥ इनके सिवाय एकपर्वा, द्विपर्वा, त्रिपर्वा, दशपर्वा, शतपर्वा, सहस्रपर्वा, लक्षपर्वा, उत्पातिनी, त्रिपातिनी, धारिणी, अन्तर्विचारिणी, जलगति और अग्निगति ये विद्याएँ समस्त निकायोंमें नाना प्रकारकी शक्तियोंसे सहित हैं, नाना पर्वतोंपर निवास करनेवाली हैं एवं नाना ओषधियोंकी जानकार हैं ॥६७–६९॥ सर्वार्थसिद्धा, सिद्धार्था, जयन्ती, मङ्गला, जया, प्रहारसंक्रामिणी, अशय्याराधिनी, विशल्याकारिणी, व्रणसंरोहिणी, सवर्णकारिणी और मृतसंजीवनी—ये सभी विद्याएँ परम कल्याण रूप हैं, सभी मन्त्रोंसे परिष्कृत हैं, सभी विद्याबलसे युक्त हैं, सभी लोगोंका हित करनेवाली हैं। ये ऊपर कही हुई समस्त विद्याएँ तथा दिव्य ओषधियाँ धरणेन्द्रने नमि और विनमिको दीं ॥७०–७३॥ धरणेन्द्रके द्वारा दिये हुए विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिमें नमि रहता था और उत्तर श्रेणिमें विनमि निवास करता था ॥७४॥ नाना देशवासियोंसे सहित एवं मित्र तथा बन्धुजनोंसे परिचित दोनों वीर विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंमें सुखसे निवास करने लगे ॥७५॥ इन दोनोंने सब लोगोंको अनेक ओषधियाँ तथा विद्याएँ दी थीं इसलिए वे विद्याधर उन्हीं विद्या-निकायोंके नामसे प्रसिद्ध हो गये ॥७६॥ जैसे गौरी विद्यासे गौरिक, मनुसे मनु, गान्धारीसे गान्धार, मानवीसे मानव, कौशिकीसे कौशिक, भूमितुण्डकसे भूमितुण्ड, मूलवीर्यसे मूलवीर्यक, शङ्कुकसे शङ्कुक, पाण्डुकीसे पाण्डुकेय, कालकसे काल, श्वपाकसे श्वपाकज, मातङ्गीसे मातङ्ग, पर्वतसे पार्वतेय, वंशालयसे वंशालय गण, पांशुमूलसे पांशुमूलिक और वृक्षमूलसे वार्क्षमूल—इस प्रकार विद्यानिकायोंसे सिद्ध होनेवाले विद्याधरोंका क्रमसे उल्लेख किया ॥७७–८३॥ विद्याधरोंकी कुल नगरियाँ एक सौ दश हैं उनमें

१. अच्युतार्जवती ग० । २. अशब्दाराधिनी ख० ।

आदित्यनगरं रम्यं पुरं गगनवल्लभम् । पुरी चमरचम्पा च पुरं गगनमण्डलम् ॥८५॥
विजयं वैजयन्तं च शत्रुञ्जयमरिञ्जयम् । पद्मालं केतुमालं च रुद्राश्वं च धनञ्जयम् ॥८६॥
वस्वौकं सारनिवहं जयन्तमपराजितम् । वराहं हस्तिनं सिंहं सौकरं हस्तिनायकम् ॥८७॥
पाण्डुकं कौशिकं वीरं गौरिकं मानवं मनुः । चम्पा काञ्चनमैशानं मणिवज्रं जयावहम् ॥८८॥
नैमिषं हास्तिविजयं खण्डिका मणिकाञ्चनम् । अशोकं वेणुमानन्दं नन्दनं श्रीनिकेतनम् ॥८९॥
अग्निज्वालं महाज्वालं माल्यं सत्पुरनन्दिनी । विद्युत्प्रभं महेन्द्रं च विमलं गन्धमादनम् ॥९०॥
महापुरं पुष्पमालं मेघमालं शशिप्रभम् । चूडामणिं पुष्पचूडं हंसगर्भं बलाहकम् ॥९१॥
वंशालयं सौमनसं तथैव परिकीर्त्तितम् । विजयार्धोत्तरश्रेण्यां षष्टिरिष्टा इमाः पुरः ॥९२॥
रथनूपुरमानन्दं चक्रवालमरिञ्जयम् । मण्डितं बहुकेत्वाख्यं नगरं शकटामुखम् ॥९३॥
पुरं गन्धसमृद्धं च नगरं शिवमन्दिरम् । वैजयन्तं रथपुरं श्रीपुरं रत्नसञ्चयम् ॥९४॥
आषाढं मानवं सूर्यं स्वर्णनाभं शतह्रदम् । अङ्कावर्तं जलावर्त्तं तथावर्त्तं बृहद्गृहम् ॥९५॥
शङ्खवज्रं च नाभान्तं मेघकूटं मणिप्रभम् । कुञ्जरावर्त्तनगरं तथैवासितपर्वतम् ॥९६॥
सिन्धुकक्षं महाकक्षं सुकक्षं चन्द्रपर्वतम् । श्रीकूटं गौरिकूटं च लक्ष्मीकूटं धराधरम् ॥९७॥
कालकेशपुरं रम्यं पार्वतेयं हिमाह्वयम् । किन्नरोद्गीतनगरं नभस्तिलकनामकम् ॥९८॥
मगधासारनलकां पांशुमूलं परं तथा । दिव्यौषधं चार्कमूलं तथैवोदयपर्वतम् ॥९९॥
विख्यातामृतधारं च मातङ्गपुरमेव च । भूमिकुण्डलकूटं च जम्बूशङ्कुपुरं परम् ॥१००॥
श्रेण्यां तु दक्षिणस्यां हि पुराण्येतानि पर्वते । शोभया स्वर्गतुल्यानि पञ्चाशच्चैव संख्यया ॥१०१॥
पुरेषु तेषु च स्तम्भास्तन्निकायाख्ययाऽऽहिताः । ऋषभाधीशनागेशदित्यदित्यर्चयाञ्चिताः ॥१०२॥

उत्तर भागमें साठ हैं और दक्षिण भागमें पचास हैं ॥८४॥ १ आदित्यनगर, २ गगनवल्लभ, ३ चमरचम्पा, ४ गगनमण्डल, ५ विजय, ६ वैजयन्त, ७ शत्रुञ्जय, ८ अरिञ्जय, ९ पद्माल, १० केतुमाल, ११ रुद्राश्व, १२ धनञ्जय, १३ वस्वौक, १४ सारनिवह, १५ जयन्त, १६ अपराजित, १७ वराह, १८ हास्तिन, १९ सिंह, २० सौकर, २१ हस्तिनायक, २२ पाण्डुक, २३ कौशिक, २४ वीर, २५ गौरिक, २६ मानव, २७ मनु, २८ चम्पा, २९ काञ्चन, ३० ऐशान, ३१ मणिव्रज, ३२ जयावह, ३३ नैमिष, ३४ हास्तिविजय, ३५ खण्डिका, ३६ मणिकाञ्चन, ३७ अशोक, ३८ वेणु, ३९ आनन्द, ४० नन्दन, ४१ श्रीनिकेतन, ४२ अग्निज्वाल, ४३ महाज्वाल, ४४ माल्य, ४५ पुरु, ४६, नन्दिनी, ४७ विद्युत्प्रभ, ४८ महेन्द्र, ४९ विमल, ५० गन्धमादन, ५१ महापुर, ५२ पुष्पमाल, ५३ मेघमाल, ५४ शशिप्रभ, ५५ चूडामणि, ५६ पुष्पचूड, ५७ हंसगर्भ, ५८ वलाहक, ५९ वंशालय, और ६० सौमनस—ये साठ नगरियाँ विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें हैं ॥८५-९२॥ और १ रथनूपुर, २ आनन्द, ३ चक्रवाल, ४ अरिञ्जय, ५ मण्डित, ६ बहुकेतु, ७ शकटामुख, ८ गन्धसमृद्ध, ९ शिवमन्दिर, १० वैजयन्त, ११ रथपुर, १२ श्रीपुर, १३ रत्नसंचय, १४ आषाढ़, १५ मानस, १६ सूर्यपुर, १७ स्वर्णनाभ, १८ शतह्रद, १९ अङ्कावर्त, २० जलावर्त, २१ आवर्तपुर, २२ बृहद्गृह, २३ शङ्खवज्र, २४ नाभान्त, २५ मेघकूट, २६ मणिप्रभ, २७ कुञ्जरावर्त, २८ असितपर्वत, २९ सिन्धुकक्ष, ३० महाकक्ष, ३१ सुकक्ष, ३२ चन्द्रपर्वत, ३३ श्रीकूट, ३४ गौरिकूट, ३५ लक्ष्मीकूट, ३६ धराधर, ३७ कालकेशपुर, ३८ रम्यपुर, ३९ हिमपुर, ४० किन्नरोद्गीतनगर, ४१ नभस्तिलक, ४२ मगधसारनलक, ४३ पांशुमूल, ४४ दिव्यौषध, ४५ अर्कमूल, ४६ उदयपर्वत, ४७ अमृतधार, ४८ कूटमातंगपुर, ४९ भूमिकुण्डल तथा ५० जम्बूशंकुपुर ये पचास नगरियाँ विजयार्धकी दक्षिण-श्रेणीमें हैं। ये सभी नगरियाँ शोभामें स्वर्गके तुल्य जान पड़ती हैं ॥९३-१०१॥ उन नगरियोंमें विद्याधर निकायोंके नामसे युक्त तथा भगवान् वृषभदेव, धरणेन्द्र और उसकी दिति-अदिति देवियोंकी प्रतिमाओंसे सहित अनेक स्तम्भ खड़े किये गये हैं ॥१०२॥

सूनवो विनमेर्युक्ता विनयेन नयेन च । नानाविद्याकृतोद्योता जाताः सुबहुशस्ततः ॥१०३॥
सञ्जयोऽरिञ्जयो नाम्ना शत्रुञ्जयधनञ्जयौ । मणिचूलो हरिश्मश्रुर्मेघानीकः प्रभञ्जनः ॥१०४॥
चूडामणिः शतानीकः सहस्रानीकसंज्ञकः । सर्वञ्जयो वज्रबाहुर्महाबाहुररिन्दमः ॥१०५॥
इत्याद्यस्तु ते स्तुत्या उत्तरश्रेणिभूषणाः । भद्रा कन्या सुभद्रान्या स्त्रीरत्नं भरतस्य सा ॥१०६॥
नमेस्तु तनया जाता बहुशो [1]बहुशोचिषः । रविस्तनयसोमश्च[2] पुरुहूतोंऽशुमान् हरिः ॥१०७॥
जयः पुलस्त्यो विजयो मातङ्गो वासवादयः । कन्या कनकपुञ्जश्रीः कन्या कनकमञ्जरी ॥१०८॥
नमिश्च विनमिः पश्चाद्विपश्चित्पुत्रमण्डले । न्यस्तविद्याधरैश्वर्यौ निवृत्तौ जिनदीक्षितौ ॥१०९॥
मातङ्गो विनमेः सूनुः सूनवस्तस्य भूरिशः । तत्पुत्रपौत्रसन्तानो जातः स्वर्मोक्षसाधनः ॥११०॥
जिनस्य ह्येकविंशस्य तीर्थे मातङ्गवंशजः । राजा प्रहसितो जातः पुरे ह्यसितपर्वते ॥१११॥
श्रीमातङ्गान्वयव्योमपतङ्गस्य प्रतापिनः । अहं हिरण्यवत्याख्या [3]विद्यावृद्धास्य भामिनी ॥११२॥
पुत्रो मे सिंहदंष्ट्राख्यस्तस्य नीलाञ्जना प्रिया । नीलनीरजनीलाभा कन्या नीलयशास्तयोः ॥११३॥
[4]अनीलयशसस्तस्याः कुलशीलकलागुणैः । कृतोद्यमं मया वंशो वर्णितो लब्धवर्णया ॥११४॥
हरिवंशनभश्चन्द्र ! चन्द्रमुख्याऽवलोकितः । नृत्यन्त्या त्वं तयेहैत्य वासुपूज्यमहाहवे ॥११५॥
तव दर्शनमेतस्याः सुखहेतुरभूद् यथा । दुःखहेतुस्तथैवाद्य वर्तते विरहे स्मृतम् ॥११६॥
न सा स्नाति न सा भुङ्क्ते न सा वक्ति न चेष्टते । साऽनङ्गशरशल्या च जीवतीति महाद्भुतम् ॥११७॥

तदनन्तर राजा विनमिके संजय, अरिंजय, शत्रुञ्जय, धनञ्जय, मणिचूल, हरिश्मश्रु, मेघानीक, प्रभञ्जन, चूडामणि, शतानीक, सहस्रानीक, सर्वञ्जय, वज्रबाहु, महाबाहु और अरिंदम आदि अनेक पुत्र हुए। ये सभी पुत्र विनय एवं नीतिज्ञानसे सहित थे, नाना विद्याओंसे प्रकाशमान थे और उत्तरश्रेणिके उत्तम आभूषण स्वरूप थे। पुत्रोंके सिवाय भद्रा और सुभद्रा नामकी दो कन्याएँ भी हुईं। इनमें सुभद्रा भरत चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें एक स्त्रीरत्न थी ॥१०३–१०६॥ इस प्रकार नमिके भी रवि, सोम, पुरुहूत, अंशुमान, हरि, जय, पुलस्त्य, विजय, मातङ्ग तथा वासव आदि अत्यधिक कान्तिके धारक अनेक पुत्र हुए और कनकपुञ्जश्री तथा कनकमञ्जरी नामकी दो कन्याएँ हुईं ॥१०७–१०८॥ आगे चलकर परम विवेकी नमि और विनमि, पुत्रोंके ऊपर विद्याधरोंका ऐश्वर्य रखकर संसारसे विरक्त हो गये और दोनोंने जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥१०९॥ राजा विनमिके पुत्रोंमें जो मातङ्ग नामका पुत्र था उसके बहुतसे पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्र आदि हुए और वे अपनी-अपनी साधनाके अनुसार स्वर्ग तथा मोक्ष गये ॥११०॥ इस तरह बहुत दिनके बाद इक्कीसवें तीर्थंकरके तीर्थमें असितपर्वत नामक नगरमें मातङ्ग वंशमें एक प्रहसित नामका राजा हुआ। वह बड़ा प्रतापी था और मातङ्ग वंशरूपी आकाशका मानो सूर्य था। उसीकी मैं हिरण्यवती नामकी स्त्री हूँ और विद्यासे मैंने वृद्धस्त्रीका रूप धारण किया है ॥१११–११२॥ सिंहदंष्ट्र नामका मेरा पुत्र है और नीलांजना उसकी स्त्री है। उन दोनोंकी नील कमलके समान नीली आभासे युक्त नीलयशा नामकी एक पुत्री है। मुझे बोलनेका अभ्यास है इसलिए मैंने उद्यमकर कुल, शील, कला तथा अनेक गुणोंके द्वारा उज्ज्वल यशको धारण करने-वाली उस कन्याके वंशका वर्णन किया है ॥११३–११४॥ हे हरिवंशरूपी आकाशके चन्द्र ! वह चन्द्रमुखी कन्या आष्टाह्निक पर्वके समय श्रीवासुपूज्य भगवान्के पूजा-महोत्सवमें इस चम्पापुरी-में आई थी और मन्दिरके आगे जब नृत्य कर रही थी तब उसने आपको देखा था ॥११५॥ हे कुमार ! इस कन्याके लिए उस समय आपका दर्शन जैसा सुखका कारण हुआ था वैसा ही आज विरहकालमें दुःखका कारण हो रहा है ॥११६॥ न वह स्नान करती है, न खाती है, न बोलती

---

१. बहुरोचिषः म० । २. तनयः सोमश्च ग० । ३. विद्यावृद्धस्य म० । ४. अनीलममलिनं यशो यस्यास्तस्याः ।

तस्यामेतदवस्थायां कुलमस्माकमाकुलम् । न वेत्ति किं करोमीति पितृमातृपुरोगमम् ॥११८॥
कन्याया मानसं प्रश्ने द्योतितं कुलविद्यया । पद्मिन्येवान्यथाभूत्या युवमातङ्गदूषितम् ॥११९॥
ततो विनिश्चितास्माभिर्यादवस्य[1] तवेप्सया । मत्तमातङ्गगामिन्याः कन्याया हृदयव्यथा ॥१२०॥
आगतास्मि ततो नेतुं भवन्तं तत्र यादव । सा तवैव विदोद्दिष्टा तदेहि परिणीयताम् ॥१२१॥
स श्रुत्वा तदवस्थां तां चेतश्चोरणकारिणीम् । सोत्कण्ठितोऽपि तत्काले नैच्छच्चम्पाविनिर्गमम् ॥१२२॥
आगमिष्याम्यहं तावत्त्वं तां तावत्तनूदरीम् । अम्ब ! बिम्बाधरां गत्वा ममोदन्तेन सान्त्वय ॥१२३॥
सेत्युक्त्यानुज्ञया मुक्ता दत्ताशीरेवमस्त्विति । मनोरथरथारूढा गत्वा कन्यामसान्त्वयत् ॥१२४॥
स्नात्वा पयोधरोन्मुक्तैर्वसुदेवो नवोदकैः । कृत्वा पयोधराश्लेषं कान्तया शयितोऽन्यदा ॥१२५॥
भीमदर्शनयाऽऽकृष्टकरो वेतालकन्यया । विबुद्धोऽताडयन्मुग्धो भुजेन दृढमुष्टिना ॥१२६॥
नीतश्च निशि निस्त्रिंशनराकारभृता तया । रथ्यामार्गेण दुर्ग्राहं महापितृवनं यदुः ॥१२७॥
मातङ्गीभिर्भृशं भृङ्गीसङ्गताङ्ग[2]प्रभात्मभिः । सङ्गतामिङ्गितज्ञोऽत्र मातङ्गीं [3]शौरिरैक्षत ॥१२८॥
एहि स्वागतमित्याह सा हसन्ती[4] तमेतया । [5]सिक्तो वेतालविद्याभिर्हसन्त्यन्तरधायत[6] ॥१२९॥

है और न कुछ चेष्टा ही करती है। कामके बाणरूपी शल्योंसे छिदी हुई वह कन्या जीवित है यही बड़े आश्चर्यकी बात है ॥११७॥ उसकी इस दशामें माता-पिताको लेकर हमारा समस्त कुल व्याकुल हो रहा है तथा वह यह भी नहीं जानता है कि मैं क्या कर रहा हूँ ? ॥११८॥ जब मैंने उसके हृदयका हाल जाननेके लिए कुल-विद्यासे पूछा तो उसने यह प्रकट किया कि हाथीके द्वारा नष्ट की हुई कमलिनीके समान इसका हृदय किसी युवा पुरुषके द्वारा दूषित किया गया है ॥११९॥ तदनन्तर मैंने निश्चय कर लिया कि मत्त-मतङ्गजके समान चलनेवाली कन्याके हृदयकी पीड़ा आपकी ही इच्छासे है। भावार्थ—उसके हृदयकी पीड़ा आपके ही कारण है ॥१२०॥ हे यादव ! मैं आपको वहाँ ले जानेके लिए आई हूँ, निमित्तज्ञानीने भी वह आपकी ही बतलाई है अतः आप चलें और उसे स्वीकार करें ॥१२१॥ कुमार वसुदेव अपने चित्तको चुरानेवाली नीलंयशाकी वह अवस्था सुन जानेके लिए यद्यपि उत्कण्ठित हो गये तथापि उस समय उन्होंने चम्पापुरीसे बाहर जाना ठीक नहीं समझा ॥१२२॥ और यही उत्तर दिया कि हे अम्ब ! मैं आऊँगा तुम तबतक जाकर उस कृशोदरी बिम्बोष्ठीको मेरा समाचार सुनाकर सान्त्वना देओ ॥१२३॥ कुमारने इस प्रकारकी आज्ञा देकर जिसे छोड़ा था ऐसी वृद्धा स्त्रीने 'तथास्तु' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया और मनोरथ रूपी रथपर आरूढ़ हो जाकर कन्याको सान्त्वना दी ॥१२४॥

तदनन्तर किसी समय वसुदेव, मेघों द्वारा छोड़े हुए नूतन जलसे स्नान कर कान्ता गान्धर्वसेनाके साथ उसके स्तनोंका गाढ़ालिङ्गन करते हुए शयन कर रहे थे ॥१२५॥ कि एक भयंकर आकारवाली वेताल-कन्याने आकर उनका हाथ खींचा। वे जाग तो गये पर यह नहीं समझ सके कि इस समय क्या करना चाहिए फिर भी दृढ़ मुट्ठियोंवाली भुजासे उन्होंने उसे खूब पीटा ॥१२६॥ इतना होनेपर भी दुष्ट मनुष्यकी आकृतिको धारण करनेवाली वह कन्या उन्हें मजबूत पकड़कर रात्रिके समय गलीके मार्गसे श्मशान ले गई ॥१२७॥ हृदयकी चेष्टाओंको जाननेवाले कुमारने वहाँ भ्रमरीके समान काली-काली मातङ्गियोंसे युक्त एक मातङ्गीको देखा। उस मातङ्गीने हँसकर कुमारसे कहा कि आइए आपके लिए स्वागत है। यह कहकर वेताल विद्याओंसे उसने इनका अभिषेक कराया और उसके बाद वह हँसती हुई अन्तर्हित हो गई ॥१२८-१२९॥ तदनन्तर उसने असली रूपमें प्रकट होकर कहा कि कुमार, मुझे मातङ्गी मत समझो, मैं हिरण्यवती हूँ। मैंने कार्य सिद्ध

१. यादवश्च म० । २. सङ्गीताङ्ग-म० । ३. वसुदेवः । ४. हसन्तीतिमेनया ग० । ५. सिक्ता म०, ख० । ६. अन्तर्हिता बभूव ।

मातङ्ग इति मा मंस्था त्वं हिरण्यवतीत्यहम् । कल्पो मातङ्गविद्यायाः शौरेऽयं कार्यसाधनः ॥१३०॥
सेयं त्वा नाप्तितो म्लाना बाला चेतोमलिम्लुचम् । बाला वष्टि इदं नेतुं बाहुपाशेन बन्धनम् ॥१३१॥
तमित्युक्त्वान्तिकं प्राप्तां सा नीलयशसं जगौ । वल्लभः स्पृश सोऽयं ते करेण करपल्लवम् ॥१३२॥
साऽनुज्ञाता करेणास्य प्रस्विन्नावयवा करम् । प्रसारिताङ्गुलिं बाला स्वेदिनस्ताद्दशाऽग्रहीत् ॥१३३॥
तयोः प्रेमतरुः सिक्तस्तनुस्पर्शसुखाम्भसा । रोमाञ्चव्यपदेशेन व्यमुञ्चत् [1]कर्कशाङ्कुरान् ॥१३४॥
पाणिग्रहणमाद्यं हि तदैवासीत्तदा तयोः । भावार्द्रीकृतयोः पश्चाद्भाविता व्यावहारिकम् ॥१३५॥
सद्यो विद्याधरीवृन्दं [2] समुत्पत्य ततोऽखिलम् । शौरिणा सह संहृष्टमुत्तरां दिशमुद्ययौ ॥१३६॥
भूषौषधिप्रभापिण्डखण्डितध्वान्तसन्ततिः । रेजे खे खेचरस्त्रीणां [3]संहतिस्तडितां यथा ॥१३७॥
तदा शौरिरिवार्कोऽपि करसम्पर्कमात्रतः । प्राग्नीलाशावधूवक्त्रमकरोत् प्रभयोज्ज्वलम् ॥१३८॥
अर्धोदितो बभौ भानुः पाटलः प्राग्वधूमुखे । दिवसस्य स्फुरद्बालमर्धदष्ट इवाधरः ॥१३९॥
सर्वोदितप्रभास्तस्या मुखमण्डलमण्डनम् । मार्तण्डमण्डलं यद्वत्सौवर्णं कर्णकुण्डलम् ॥१४०॥
रविणा शौरिणेवाशु भुवनद्योतकारिणी । द्यावापृथिव्यौ विस्पष्टे द्राग्दृष्टिप्रसरे कृते ॥१४१॥
शौरिं हिरण्यवत्याह महारण्यनगावृतम् । अधः पश्यसि यं भूमौ कुमार ! गिरिमुन्नतम् ॥१४२॥
श्रीमन्तं प्रवदन्तीमं ह्रीमन्तं नामतो गिरिम् । तपःश्रीमन्तमाधत्ते लोकं ह्रीमन्तमप्ययम् ॥१४३॥

करनेके लिए मातङ्ग विद्याके प्रभावसे यह वेष रक्खा था ॥१३०॥ यह कहकर उसने पासमें बैठी नीलंयशाकी ओर संकेत कर कहा कि देखो यह वही बाला नीलंयशा है जो हृदयको चुरानेवाले आपको न पाकर मुरझा गई है। यह बाला आपको अपने बाहुपाशसे बाँधना चाहती है—आपका आलिङ्गन करना चाहती है ॥१३१॥ कुमारसे इतना कहकर हिरण्यवतीने पासमें बैठी हुई नीलंयशासे भी कहा कि यही तेरा वह स्वामी है अपने हाथसे इसके हस्त पल्लवका स्पर्श कर ॥१३२॥ इस प्रकार हिरण्यवतीकी आज्ञा पाकर कुमारी नीलंयशाने कुमार वसुदेवके फैलाये हुए हाथको अपने हाथसे पकड़ लिया। उस समय एक दूसरेके स्पर्शसे दोनोंके शरीरसे पसीना छूट रहा था ॥१३३॥ उन दोनोंका प्रेमरूपी वृक्ष शरीरके स्पर्शजन्य सुखरूपी जलसे सींचा गया था इसलिए वह रोमाञ्चके बहाने कठोर अङ्कुरोंको प्रकट कर रहा था ॥१३४॥ वे दोनों ही स्नेहसे आर्द्रचित्त थे इसलिए उनका प्रथम पाणिग्रहण उसी समय हो गया था और व्यावहारिक पाणिग्रहण पीछे होगा ॥१३५॥ तदनन्तर हर्षसे भरा विद्याधरियोंका समस्त समूह शीघ्र ही कुमार वसुदेवके साथ आकाशमें उड़कर उत्तर दिशाकी ओर चल दिया ॥१३६॥ आभूषण तथा औषधियोंकी प्रभासे अन्धकारकी सन्ततिको नष्ट करता हुआ वह विद्याधरियोंका समूह आकाशमें बिजलियोंके समूहके समान सुशोभित हो रहा था ॥१३७॥ उस समय जिस प्रकार कुमार वसुदेवने हाथके स्पर्शमात्रसे नीलंयशाके मुखको प्रभासे उज्ज्वल कर दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अपनी किरणोंके स्पर्श मात्रसे पूर्व दिशारूपी स्त्रीके मुखको प्रभासे उज्ज्वल कर दिया था ॥१३८॥ उस समय पूर्व दिशाके अग्रभागमें आधा उदित हुआ लाल-लाल सूर्य ऐसा जान पड़ता था मानो दिवसरूपी युवाके द्वारा आधा डसा हुआ पूर्व दिशारूपी स्त्रीका लाल अधर ही हो ॥१३९॥ थोड़ी देर बाद जब सूर्यमण्डल पूर्ण उदित हो गया तब ऐसा जान पड़ने लगा मानो पूर्व दिशारूपी स्त्रीके मुखमण्डलको अलंकृत करनेवाला सुवर्णमय कानोंका कुण्डल ही हो ॥१४०॥ कुमार वसुदेवके समान संसारको प्रकाशित करनेवाले सूर्यने जब शीघ्र ही आकाश और पृथिवीको स्पष्ट कर दिया तथा उनकी ओर शीघ्र ही दृष्टिका प्रसार होने लगा ॥१४१॥ तब हिरण्यवतीने वसुदेवसे कहा कि हे कुमार ! नीचे पृथिवीपर महावनके वृक्षोंसे घिरे हुए जिस उन्नत पर्वतको देख रहे हो उस शोभासम्पन्न पर्वतको लोग ह्रीमन्त गिरि कहते हैं। यह पर्वत लज्जासे युक्त मनुष्यको भी

१. कर्कशाङ्कुरान् म० । २. समूहः । ३. समूहः ।

श्यामयाऽशनिवेगस्य दुहित्राङ्गारकः खगः । युद्धे खण्डितविद्योऽत्र विद्यासिद्धिं प्रतिस्थितः ॥१४४॥
दर्शनेन तवास्याशु किल विद्या प्रसिद्ध्यति । [1]तदाऽस्यानुग्रहेच्छा चेद्देहि देहि स्वदर्शनम् ॥१४५॥
इत्युक्तो विदितश्यामाक्षेमवार्त्तः स तोषवान् । जगाद किमनिष्टेन दृष्टेनाङ्गारकेण मे ॥१४६॥
कालातिपातिभिर्व्यर्थैः क्रीडितैरिह किं कृतैः । प्रयामो वयमास्स्व त्वं पश्यामः [2]श्वाशुरं पुरम् ॥१४७॥
एवमस्त्विति नीत्वाऽसौ स्थापितोऽसितपर्वते । कृतविद्याधरीरक्षो बाह्योद्याने मनोहरे ॥१४८॥
प्रविष्टा तुष्टचित्ता च निजं नीलयशाः पुरम् । शौरिसत्कथया तस्थौ तत्समागमकाङ्क्षया ॥१४९॥
सुस्नातोऽलङ्कृतो भूत्या महत्या स [3]रथस्थितः । प्रवेशितः पुरं वीरः खेचरैः स्वर्गसन्निभम् ॥१५०॥
दृष्टः सप्रश्रयं श्रीमानवितृप्तविलोचनैः । जनैः ससिंहदंष्ट्रैः स तुष्टान्तःपुरपूर्वकैः ॥१५१॥
ततः पुण्यदिने पुण्यपूर्णयोः पूर्णरूपयोः । विधिपूर्वं तयोर्वृत्तं पाणिग्रहणमङ्गलम् ॥१५२॥
स नीलयशसा शौरिर्नगरेऽसितपर्वते । रत्येव सहितः कामः कामभोगानसेवत ॥१५३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नीलं नीलयशोयशो न जनितं स्त्रीभिर्यतः[4] स्वैर्गुणैः
शौरेः शौर्यशरीरिणो हि न यशः कृष्णीकृतं खेचरैः ।

तपरूपी लक्ष्मीसे युक्त कर देता है ॥१४२–१४३॥ यहाँ अशनिवेगकी पुत्री श्यामाने युद्धमें जिसकी विद्या खण्डित कर दी थी ऐसा अङ्गारक नामका विद्याधर विद्या सिद्ध करनेके लिए स्थित है। आपके दर्शनसे इसे शीघ्र विद्या सिद्ध हो जावेगी इसलिए यदि इसका उपकार करनेकी आपकी इच्छा है तो इसे अपना दर्शन दें ॥१४४–१४५॥ हिरण्यवतीके इस प्रकार कहनेपर प्रियतमा श्यामाके कुशल समाचार जानकर कुमार बहुत सन्तुष्ट हुए और कहने लगे कि अङ्गारक तो हमारा शत्रु है इसको देखनेसे क्या लाभ है ? ॥१४६॥ इस पर्वतपर की हुई समयको बितानेवाली व्यर्थकी क्रीडाओंसे मुझे क्या प्रयोजन है ? यदि तुम्हें रहना इष्ट है तो रहो मैं तो जाता हूँ और श्वसुरके नगरको देखता हूँ ॥१४७॥ कुमारके ऐसा कहनेपर हिरण्यवतीने 'एवमस्तु' कहा अर्थात् जैसा आप चाहते हैं वैसा ही करती हूँ। यह कह उसने असितपर्वत नगर ले जाकर उन्हें नगरके बाहर एक सुन्दर उद्यानमें ठहरा दिया तथा रक्षाके लिए विद्याधरियोंको नियुक्त कर दिया ॥१४८॥ कुमारी नीलंयशा प्रसन्नचित्त हो अपने नगरमें प्रविष्ट हुई और कुमारके समागमकी आकांक्षा तथा उन्हींकी कथा करती हुई रहने लगी ॥१४९॥ तदनन्तर बड़े वैभवके साथ जिन्हें स्नान कराया गया था तथा उत्तमोत्तम आभूषण पहिनाये गये थे ऐसे वीर कुमार वसुदेवको रथपर बैठाकर विद्याधरोंने स्वर्ग तुल्य नगरमें प्रविष्ट कराया ॥१५०॥ वहाँ कुमारका मनोहर रूप देख-देखकर जिसके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे थे ऐसे नीलंयशाके पिता सिंहदंष्ट्र तथा सन्तोषसे युक्त अन्तःपुरको आदि लेकर समस्त लोगोंने बड़े विभवके साथ श्रीमान् वसुदेवको देखा ॥१५१॥ तदनन्तर जो पुण्यसे परिपूर्ण थे और जिनका रूप चरम सीमाको प्राप्त था ऐसे कुमार वसुदेव और नीलंयशाका पाणिग्रहण मङ्गल किसी पवित्र दिन विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ ॥१५२॥ तत्पश्चात् जिस प्रकार कामदेव अपनी स्त्री रतिके साथ इच्छानुसार भोगोंका सेवन करता है उसी प्रकार कुमार वसुदेव असितपर्वत नगरमें नीलंयशाके साथ इच्छानुसार भोगोंका सेवन करने लगे ॥१५३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि चूँकि वहाँकी स्त्रियाँ अपने गुणोंसे नीलंयशाके यशको मलिन नहीं कर सकीं थीं और न विद्याधर ही पराक्रमी वसुदेवके यशको कलंकित कर सके थे

१. तवास्या-म० । २. श्वसुरस्येदम् श्वाशुरम् । ३. रथः स्थितः म० । ४. -र्जितः म० ।

तत्तत्र स्थितयोस्तयोः सुखरसं प्रेमप्रसक्तात्मनोः
साकल्येन जनो जिनप्रवचनज्ञो हि प्रवक्तुं क्षमः ॥१५४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ नीलयशोलाभवर्णनो नाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥

इसलिए वहाँ प्रेमपूर्वक रहनेवाले वसुदेव और नीलंयशाको जो सुख उपलब्ध था उसका सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करनेके लिए जिन प्रवचनका ज्ञाता श्रुतकेवली ही समर्थ हो सकता है ॥१५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें नीलंयशाके लाभका वर्णन करनेवाला बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२२॥

त्रयोविंशः सर्गः

प्रासादस्थोऽन्यदा श्रुत्वा महाकलकलध्वनिम् । इत्यपृच्छत्प्रतीहारीं शौरिः पार्श्वव्यवस्थिताम् ॥१॥
कुतो हेतोरयं लोको वर्तते मुखरोऽखिलः । इत्युक्ता साऽवदत्तस्मै वृत्तवृत्तान्तवेदिनी ॥२॥
शृणु देवास्ति शैलेऽस्मिन् नगरं शकटामुखम् । तस्येशो नीलवान् नाम्ना व्योमगानामधीश्वरः ॥३॥
नीलस्तस्य सुतः[1] कन्या मान्या नीलाञ्जनाभिधा । कुमारकन्ययोर्वृत्ता सङ्कथा च तयोरिति ॥४॥
पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः । अविवादो विवाहोऽत्र गोत्रप्रीतौ परस्परम् ॥५॥
ऊढायाः सिंहदंष्ट्रेण श्वशुरेण तवामुना । सेयं नीलाञ्जनायाश्च जाता नीलयशाः सुता ॥६॥
नीलस्योढभार्यस्य नीलकण्ठस्तु यः सुतः । जातोऽस्मै याचते स्मैतां स नीलयशसं तदा ॥७॥
सिद्धादेशस्य सत्साधोरादेशात्तु बृहस्पतेः । दत्तेयं तेऽर्धचक्रेशपित्रे पित्रा यशस्विने ॥८॥
[2]पितापुत्रौ च तौ नीलनीलकण्ठौ सभान्तरे । खलौ च सिंहदंष्ट्रेण व्यवहारं श्रिताविमौ ॥९॥
न्यायेन च तयोरत्र जितयोः श्वशुरेण ते । उच्चैः खेचरलोकेन कृतः कलकलध्वनिः ॥१०॥
इति श्रुत्वा प्रतीहार्या वचः सूर्यपुरोद्भवः[3] । कृतस्मितमुखं तस्थौ स नीलयशसा सह ॥११॥
प्राप्तां घनकृताश्लेषां प्रावृषं [4]विषयप्रियाम् । [5]शुक्लापाङ्गस्वनैर्हृद्यां सोऽन्वभूतां वधूमिव ॥१२॥

अथानन्तर—किसी समय महलके ऊपर बैठे हुए कुमारने लोगोंका बहुत भारी कोलाहल सुनकर पासमें बैठी प्रतीहारीसे पूछा कि ये समस्त लोग किस कारण कोलाहल कर रहे हैं ? कुमारके इस प्रकार कहनेपर अतीत वृत्तान्तको जाननेवाली प्रतीहारीने कहा कि हे देव ! सुनिए, इस पर्वतपर एक शकटामुख नामका नगर है उसका स्वामी विद्याधरोंका अधिपति नीलवान् नामका विद्याधर है ॥१-३॥ राजा नीलवान्के नील नामका पुत्र और नीलाञ्जना नामकी माननीय पुत्री इस प्रकार दो सन्तान हैं। एक बार नील और नीलाञ्जनाके बीच यह बात हुई कि यदि मेरे पुत्र हो और तुम्हारे पुत्री हो तो परस्पर गोत्रकी प्रीति बनाये रखनेके लिए दोनोंका विवादरहित विवाह होगा ॥४-५॥ नीलाञ्जनाको तुम्हारे श्वसुर सिंहदंष्ट्रने विवाहा था और उससे यह नीलयशा नामकी पुत्री हुई थी ॥६॥ कुमार नीलका भी विवाह हुआ और उसके नीलकण्ठ नामका पुत्र हुआ। पूर्व वार्ताके अनुसार नीलने अपने पुत्र नीलकण्ठके लिए सिंहदंष्ट्रसे नीलयशा-की याचना की ॥७॥ परन्तु सिंहदंष्ट्रने अमोघवादी बृहस्पति नामक मुनिराजके कथनानुसार यह कन्या आपके लिए दी है। आप अर्धचक्रवर्तीके यशस्वी पिता हैं ॥८॥ आज दुष्ट प्रकृतिके धारक पिता-पुत्र—नील और नीलकण्ठने सभाके बीच सिंहदंष्ट्रके साथ विवाद ठाना था परन्तु तुम्हारे श्वसुर—सिंहदंष्ट्रने उन दोनोंको न्याय मार्गसे जीत लिया इसलिए विद्याधरोंने बहुत भारी कल-कल शब्द किया है ॥९-१०॥ इस प्रकार प्रतीहारीके वचन सुनकर कुमार वसुदेव मुसकराये और नीलयशाके साथ पहलेकी तरह रहने लगे ॥११॥

तदनन्तर वर्षा ऋतु आई, सो कुमार वसुदेवने स्त्रीके समान उसका अनुभव किया क्योंकि जिस प्रकार स्त्री घनकृताश्लेषा—गाढ़ आलिङ्गनसे युक्त होती है उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी घन-कृताश्लेषा—मेघकृत आलिङ्गनसे युक्त थी। जिस प्रकार स्त्री विषय-प्रिया—विषयोंसे प्रिय होती है उसी प्रकार वर्षा ऋतु भी विषय-प्रिया—देशोंके लिए प्रिय थी। और जिस प्रकार स्त्री शुक्ला-

१. सुताः म० । २. पितृपुत्रौ ख०, म० । ३. वसुदेवः । ४. विषया भोग्यवस्तूनि अन्यत्र जनपदाः । ५. मयूरकेकाध्वनिभिः, पक्षे कटाक्षस्वनैः ।

प्राप्तः शरत्सुभटः शरपुङ्खकरस्ततः । गुञ्जद्भृङ्गज्यया सज्जः प्राज्यबाणासनश्रिया ॥१३॥
काले विद्याधरास्तत्र स्वविद्यौषधिसिद्धये । निगृहीतमनोवेगा मनोवेगा विनिर्ययुः ॥१४॥
तदा तौ दम्पती शैलं ह्रीमन्तं कामवर्षिणौ । प्रयातौ विद्ययाश्लिष्टौ घनं विद्युद्घनौ यथा ॥१५॥
[1]असपत्नसपत्नीकतापसस्त्रीधरोरसम् । असिधाराव्रतं तीव्रं चरन्तमिव सन्ततम् ॥१६॥
मधुपानमदोन्मत्तपतत्रिमधुपारवैः । विध्यतो मदनस्येव स शरज्यारवैर्युतः ॥१७॥
अवतीर्णौ तमुद्गन्धिसप्तपर्णावतंसकम् । [2]हारिणं वर्णयन्तौ तौ मरुद्घूर्णितभूरुहम् ॥१८॥
परिभ्रम्य चिरं शोभां पश्यन्तौ तृप्तिवर्जितौ । गिरेः सानुषु रम्येषु रंरम्येते स्म सस्मरौ ॥१९॥
तयोः सम्भोगसम्भारः पुष्पपल्लवकल्पिते । तल्पेऽनल्पोऽपि खेदाय समजायत नो तदा ॥२०॥
चिरेण रतिसम्भोगसम्भूतस्वेदभूषितौ । निष्क्रान्तौ कदलीगेहात् तौ रक्तान्तविलोचनौ ॥२१॥
मुक्तकेकारवं तत्र चित्रगात्रमपश्यताम् । कलापिनमकस्मात्तौ मयूरं मत्तलोचनम् ॥२२॥
शोभया [3]हृतचित्तं तमुत्कादित्सुः सकौतुका । स्कन्धमारोप्य तेनाऽसौ नीता नीलयशा नभः ॥२३॥
नीचेन नीलकण्ठेन [4]नीलकण्ठवपुर्भृता । हृतायां विह्वलो वध्वां वसुदेवोऽभ्रमद्वने ॥२४॥

पाङ्गस्वनैर्हृद्या—सफेद-सफेद कटाक्षों और मधुर वाणीसे मनोहर होती है उसी प्रकार वर्षा-ऋतु भी शुक्लापाङ्गस्वनैर्हृद्या—मयूरोंकी वाणीसे मनोहर थी ॥१२॥ वर्षाके बाद, जो बाणोंकी मूठको हाथमें धारण कर रहा था तथा गुंजार करते हुए भ्रमररूपी डोरीसे युक्त उत्तम बाणासन जातिके वृक्षरूपी बाणासन—धनुषकी शोभासे युक्त था ऐसे अहंकारी सुभटके समान शरद् ऋतु आई ॥१३॥ उस समय मनके समान तीव्र वेगको धारण करनेवाले विद्याधर अपनी-अपनी विद्याओं और ओषधियोंकी सिद्धिके लिए मनके वेगको नियन्त्रित कर बाहर निकले ॥१४॥ उस समय इच्छानुसार कामभोग करनेवाले एवं विद्याके द्वारा अत्यन्त आलिङ्गित दोनों दम्पती—कुमार वसुदेव और नीलयशा भी ह्रीमन्त पर्वतकी ओर गये। उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें गाढ़ आलिङ्गनको प्राप्त एवं इच्छानुसार वर्षा करते हुए बिजली और मेघ ही पर्वतकी ओर जा रहे हों ॥१५॥ उस पर्वतका मध्य भाग वैरिरहित सपत्नीक तपस्वियोंकी स्त्रियोंको धारण करता था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो निरन्तर अतिशय कठिन असिधारा-व्रतका ही आचरण कर रहा हो ॥१६॥ वह पर्वत जगह-जगह मधुपानके मदसे उन्मत्त पक्षियों और भ्रमरोंके शब्दसे युक्त था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो कामीजनोंको वेधनेवाले कामदेवके बाण और प्रत्यञ्चाके शब्दोंसे ही युक्त हो ॥१७॥ उत्कट सुगन्धिसे युक्त सप्तपर्णवन जिसकी शोभा बढ़ा रहा था, जो स्वयं सुन्दर था तथा वायुसे जिसके वृक्ष हिल रहे थे ऐसे ह्रीमन्त पर्वतपर उतरकर वे दोनों उसकी प्रशंसा करने लगे। चिरकाल तक इधर-उधर भ्रमण कर शोभाको देखते हुए वे तृप्त ही नहीं होते थे अतः कामाकुलित होकर दोनोंने पर्वतकी सुन्दर शिखरोंपर बार-बार रमण किया था ॥१८-१९॥ उन्होंने पुष्प और पत्तोंसे निर्मित शय्यापर अत्यधिक सम्भोग किया था फिर भी वह उस समय उनके खेदके लिए नहीं हुआ था ॥२०॥ जो रतिक्रीड़ासे उत्पन्न पसीनासे सुशोभित थे तथा जिनके नेत्रोंके कोण लाल-लाल हो रहे थे ऐसे वे दोनों चिरकाल बाद कदली गृहसे बाहर निकले ॥२१॥ बाहर निकलते ही उन्होंने एक ऐसा मयूर देखा जो केका वाणी छोड़ रहा था, चित्र-विचित्र शरीरसे युक्त था, शिखण्डोंसे सहित था और जिसके नेत्र अत्यन्त मत्त थे ॥२२॥ शोभासे चित्तको हरण करनेवाले उस मयूरको देखकर जो अत्यन्त उत्कण्ठित थी तथा कौतुकवश जो उसे पकड़ लेना चाहती थी ऐसी नीलयशाको कन्धेपर बैठाकर वह मयूर आकाशमें ले गया ॥२३॥ यथार्थमें वह मयूर नहीं था किन्तु मयूर-

१. असपत्ना ये सपत्नीकतापसास्तेषां स्त्रिय इति असपत्नसपत्नीकतापसस्त्रियस्तासां धरभुरो वक्षो यस्य पर्वतस्य स तम्। २. मनोहरम्। ३. हृतचित्तां तां म०। ४. मयूराकारधारिणा।

गोष्ठे गोपवधूधूतक्षुत्पिपासापरिश्रमः । उषित्वा प्रातरुत्थाय स प्रायाद्दक्षिणां दिशम् ॥२५॥
पुरं गिरितटं तत्र वप्रप्राकारवेष्टितम् । दृष्ट्वा हृष्टः प्रविष्टोऽसौ विशिष्टजनताकुलम् ॥२६॥
वेदाध्ययननिर्घोषमुखरीकृतदिङ्मुखे । तत्राप्राक्षन्नरं कञ्चिदिति शौरिः सकौतुकः ॥२७॥
किं केनात्र महादानं माहनेभ्यः[1] प्रवर्तितम् । येनामी मिलिता विश्वे मेदिन्या वेदवेदिनः ॥२८॥
सोऽवोचद्वसुदेवोऽत्र भोजकोऽस्यास्ति कन्यका । [2]सोमश्रीरिव सोमश्रीः कलावेदविशारदा ॥२९॥
जेता वेदविचारेऽस्याः यः स भर्ता भविष्यति । इति दैवज्ञवाक्येन संहता वैदिकी[3] प्रजा ॥३०॥
जघनस्तनभारार्त्ता तनुमध्यातिरूपिणी । भरक्षमस्य नो विद्मः कस्योपरि पतिष्यति ॥३१॥
श्रुत्वैवं शब्दमात्रेण सा कन्या श्रोत्रहारिणी । हंसीव राजहंसस्य चक्रे सोत्कण्ठितं मनः ॥३२॥
ब्रह्मदत्तमुपाध्यायं सोऽभ्युपेत्य निवेद्य च । गोत्रसञ्चारणं वेदानद्योऽध्यापय[4] मामिति ॥३३॥
आर्षांस्त्वमिह किं वेदान् धर्मानधिजिगांससे । अनार्षानथवा वेदानित्यवादीदसौ गुरुः ॥३४॥
कथं द्वैविध्यमेतेषामिति पृष्टोऽवदत्पुनः । प्रहृष्टहृदयोऽत्यर्थं यथार्थवचनो द्विजः ॥३५॥
षट्कर्मसु प्रजाः प्राप्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये । यः शशास पुरा वेदैस्त्रिभिर्वर्णैरिवाश्रिताः ॥३६॥
हिमविन्ध्यस्तनाभोगां [5]रौप्यपर्वतहारिणीम् । वार्धिकाञ्चीगुणां राजा योऽन्वभूद्वसुधावधूम् ॥३७॥

का शरीर धारण करनेवाला नीच नीलकण्ठ था। उसके द्वारा स्त्रीके हरे जानेपर वसुदेव विह्वल होकर वनमें घूमते रहे ॥२४॥ वह भूखे थे इसलिए गोपोंकी एक बस्तीमें गये वहाँ गोपोंकी स्त्रियों-ने उनकी भूख-प्यासकी बाधा तथा परिश्रमको दूर किया। उस बस्तीमें रातभर रहकर वे प्रातः-काल दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये ॥२५॥ वहाँ धूलिकुट्टिम तथा प्राकारसे वेष्टित गिरितट नामक नगरको देखकर वसुदेवने हर्षित हो उसमें प्रवेश किया। उस समय वह नगर विशिष्ट जनसमूहसे व्याप्त था तथा वेद-पाठकी ध्वनिसे उसकी समस्त दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं। वहाँ कौतुकसे भरे वसुदेवने किसी मनुष्यसे इस प्रकार पूछा ॥२६–२७॥ क्या यहाँ ब्राह्मणोंके लिए किसीने महादान किया है? जिससे वेदोंको जाननेवाले पृथिवीके समस्त ब्राह्मण यहाँ आकर इकट्ठे हुए हैं ॥२८॥ उस मनुष्यने कहा कि यहाँ एक वसुदेव नामका ब्राह्मण रहता है। उसके एक सोमश्री नामकी कन्या है जो चन्द्रमाके समान सुन्दर और अनेक कला तथा वेद-शास्त्रमें निपुण है ॥२९॥ ज्योतिषीने कहा है कि जो इसे वेदोंके विचारमें जीत लेगा वही इसका पति होगा इसीलिए यह वेदोंको जाननेवाली प्रजा इकट्ठी हुई है ॥३०॥ स्थूल नितम्ब और स्तनोंके भारसे पीड़ित, कमरकी पतली यह अतिशय सुन्दरी कन्या, भार धारण करनेमें समर्थ किस भाग्यशाली-के ऊपर गिरती है यह हम नहीं जानते ॥३१॥ यह सुनकर जिस प्रकार शब्दमात्रसे कानोंको हरनेवाली हँसी राजहंसके मनको उत्कण्ठित कर देती है उस प्रकार चर्चामात्रसे कानोंको हरने-वाली उस कन्याने वसुदेवके मनको उत्कण्ठित कर दिया ॥३२॥

तदनन्तर कुमारने ब्रह्मदत्त नामक उपाध्यायके पास जाकर तथा उसे अपना गोत्र बताकर प्रार्थना की कि आप हमें वेद पढ़ा दीजिए ॥३३॥ इसके उत्तरमें ब्रह्मदत्तने कहा कि यहाँ तुम धर्मको प्रकट करनेवाले आर्ष वेदोंको पढ़ना चाहते हो या अनार्ष वेदोंको ?॥३४॥ यह सुन कुमार-ने फिर पूछा कि दो वेद कैसे ? कुमारके इस तरह पूछनेपर अत्यन्त प्रसन्न चित्त एवं यथार्थवादी उपाध्याय पुनः इस प्रकार कहने लगा कि युगके आदिमें कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेपर जिन्होंने शरणा-गत प्रजाको असि मषि आदि छह कार्योंका उपदेश दिया था तथा अपने पूर्व ज्ञानके आधारपर उनमें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंका विभाग किया था ॥३५–३६॥ जिन्होंने राजा

१. ब्राह्मणेभ्यः क० । माहवेभ्यः म० । २. सोमस्येव चन्द्रस्येव श्रीर्यस्याः सा । ३. वैदिकप्रजाः ग० । ४. -नाद्याध्यापय मामिति क० । ५. रौप्यपर्वत एव हारो यस्याः सा ताम् ।

राज्ये पुत्रशतं प्राज्ये संस्थाप्य भरतादिकम् । यो मुमुक्षुर्विनिःक्रान्तः सचतुर्नृसहस्रकः ॥३८॥
[1]यश्चचार चतुर्वेदस्तपो दुश्चरमात्मभूः । धीरो वर्षसहस्रं वै पराजितपरीषहः ॥३९॥
समुत्पादितकैवल्यवेदनेत्रेक्षिताखिलः । धर्मतीर्थेन यश्चक्रे धर्मक्षेत्रं[2] खलोज्झितम् ॥४०॥
यौ द्वौ धर्माश्रमौ धर्म्यौ गृहिश्रमणसंश्रयौ । स्वर्गापवर्गसौख्यस्य सिद्धयेऽदर्शयन्मुनिः ॥४१॥
द्वादशाङ्गविकल्पेषु वेदेषु यतिवृत्तिषु । अन्तर्गता गृहस्थानां यथोक्ताचारदर्शिता ॥४२॥
गुणशिक्षाव्रतस्थानामनेकनियमश्रिताम् । तेन ये दर्शिता वेदा ऋषभप्रभुणार्षकाः[3] ॥४३॥
तानधीत्य तदुक्तेन विधिना भरतार्चितः । धर्मयज्ञानयष्टा[4]द्ययुगे विप्रगणोऽखिलः ॥४४॥
अनार्षाणां तु वेदानामुत्पत्तिरभिधीयते । ऐदंयुगीनविप्राणां तात्पर्यं यत्र वर्तते ॥४५॥
भूपो धारणयुग्मेऽभूत्पुरे यो रणभूमिषु । अयोधनतया योधैरयोधन इतीरितः ॥४६॥
भूषितादित्यवंशस्य सोमवंशतनूद्भवा । दितिस्तस्य महादेवी तृणबिन्दोः कनीयसी ॥४७॥
सा योषिद्गुणमञ्जूषामसूत सुलसां सुताम् । यौवने च पिता तस्याः स्वयंवरमचीकरत् ॥४८॥
आगताश्च समाहूताः पृथिव्यां पृथुकीर्तयः । स्वयंवरार्थिनो भूपाः सादराः सगरादयः ॥४९॥
सगरस्य प्रतीहारी नाम्ना मन्दोदरी दितेः । गृहं गताऽन्यदाऽश्रौषीदेकान्ते वचनं दितेः ॥५०॥

बनकर हिमाचल और विन्ध्याचल रूप स्तनोंसे युक्त, विजयार्ध रूपी हारसे सुशोभित और सागर रूपी मेखलासे अलंकृत पृथिवी रूपी स्त्रीका उपभोग किया था ॥३७॥ जिन्होंने अन्तमें विरक्त हो श्रेष्ठ राज्यपर भरतादिक सौ पुत्रोंको आसीन कर चार हजार राजाओंके साथ दीक्षा धारण की थी ॥३८॥ जो स्वयं प्रतिबुद्ध थे, धीर-वीर थे, परीषहोंके जेता थे और जिन्होंने चार ज्ञानके धारक होकर एक हजार वर्षतक कठिन तप किया था ॥३९॥ जिन्होंने उत्पन्न हुए केवलज्ञान रूपी नेत्रके द्वारा समस्त पदार्थोंको जान लिया था तथा धर्म रूप तीर्थके द्वारा जिन्होंने धर्मक्षेत्र-को दुष्टोंसे रहित कर दिया था ॥४०॥ जिन्होंने स्वर्ग और मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिए गृहस्थ और मुनियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले दो धर्माश्रम दिखलाये थे ॥४१॥ जिन्होंने मुनिधर्मका वर्णन करनेके लिए द्वादशाङ्ग रूप वेदोंका निर्माण किया था तथा उन्हीं वेदोंके अन्तर्गत (उपासका-ध्ययनाङ्ग) गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके धारक एवं अनेक नियमोंका पालन करनेवाले गृहस्थोंके भी आचारका वर्णन किया था। उन्हीं भगवान् वृषभदेवके द्वारा उस समय जो वेद दिखाये गये थे वे आर्ष वेद कहलाते हैं ॥४२-४३॥ युगके आदिमें भरत चक्रवर्तीने जिसका सम्मान किया था ऐसा समस्त ब्राह्मणोंका समूह उन्हीं आर्ष वेदोंका अध्ययन कर उन्हींमें बतायी हुई विधिसे धर्म-यज्ञ करता था ॥४४॥ अब जिनमें इस युगके ब्राह्मणोंका तात्पर्य है उन अनार्ष वेदों-की उत्पत्ति कही जाती है ॥४५॥

धारण-युग्म नगरमें एक राजा रहता था जिसे युद्ध-भूमिमें अयोध्य होनेके कारण योधा लोग अयोधन कहते थे ॥४६॥ सूर्यवंशको अलंकृत करनेवाले राजा अयोधनकी महारानीका नाम दिति था। यह दिति चन्द्रवंशकी लड़की थी तथा चन्द्रवंशी राजा तृणविन्दुकी छोटी बहिन थी ॥४७॥ महारानी दितिने कदाचित् स्त्रियोंके गुणोंकी पिटारी स्वरूप सुलसा नामकी कन्याको जन्म दिया। जब वह यौवनवती हुई तब पिताने उसका स्वयंवर करवाया ॥४८॥ और पृथिवी-के यशस्वी राजाओंको बुलवाया जिससे विशाल यशके धारक, स्वयंवरके अभिलाषी एवं आदरसे युक्त सगर आदि राजा वहाँ आ पहुँचे ॥४९॥

एक दिन राजा सगरकी मन्दोदरी नामकी प्रतीहारी रानी दितिके घर गई थी, वहाँ उसने एकान्तमें दितिके यह वचन सुने कि बेटी सुलसा! तू मुझसे बहुत स्नेह करती है क्योंकि पुत्रीका

१. यश्चत्वारश्चतुर्वेद- म० । २. धर्मं तीर्थं म० । ३. -णार्षभाः म० । ४. -नयच्छाद्य -म० ।

[1]सुलसे ! शृणु वत्से मे वचस्त्वं मातृवत्सले । [2]स्तन्यानुसारिणी स्नेहव्यक्तिर्मातरि [3]यन्मता ॥५१॥
जातः सर्वयशोदेव्यां तृणबिन्दोर्ममाग्रजात् । [4]स्थितः क्षत्रमधिक्षिप्य श्रिया तु मधुपिङ्गलः ॥५२॥
पूर्वमेव मया तस्मै मनसा त्वं निरूपिता । मन्मनोरथमेवातः पूरय त्वं स्वयंवरे ॥५३॥
इत्युक्त्वा सुलसा साश्रु मातरं प्राह सा वरा । मारोदीर्मातरिष्टं ते कुर्वे राजन्यसंनिधौ ॥५४॥
इत्युक्तमखिलं श्रुत्वा गत्वा मन्दोदरी रहः । [5]कन्यास्वीकारचित्ताय सगराय न्यवेदयत् ॥५५॥
ततः पुरोहितेनाशु सगरो विश्वभूतिना । नरलक्षणविज्ञापि रहः शास्त्रमकारयत् ॥५६॥
स्वयंवरधरोत्खातलोहमञ्जूषिकोद्धृतम् । अदर्शयत्पुरो राज्ञां पुस्तकं धूमधूसरम् ॥५७॥
स्वयंवरार्थिनां तेषां पुरः पुस्तकमुच्चकैः । अवाचयत्पुरोधाश्च लक्षणश्रवणार्थिनाम् ॥५८॥
मत्स्यशङ्खाङ्कुशाद्यङ्कौ पद्मगर्भनिभोदरौ । सुपार्ष्णिभागशोभाढ्यौ सुश्लिष्टाङ्गुलिपर्वकौ ॥५९॥
स्निग्धताम्रनखौ पादौ गूढगुल्फौ सिरोज्झितौ । सोष्णौ कूर्मोन्नतौ स्वेदमुक्तौ स्तां पृथिवीपतेः ॥६०॥
सूर्पाकारौ सिरानद्धौ वक्रौ रूक्षनखौ स्मृतौ । पादौ पापवतः पुंसः संशुष्कौ विरलाङ्गुली ॥६१॥
सच्छिद्रौ सकषायौ च वंशच्छेदकरौ तु तौ । हिंस्रस्य दग्धमृच्छायौ पीतौ गम्येत रोषिणः ॥६२॥
अल्पातितनुरोमानुवृत्तजङ्घा सुजानवः । वृत्तोरवः शुभा निन्द्याः शुष्कजङ्घोरुजानवः ॥६३॥

माताके ऊपर जो स्नेह होता है वह दूधके अनुसार प्रकट होता है, इसलिए तू मेरी बात सुन ॥५०–५१॥ मेरे बड़े भाई राजा तृणविन्दुकी सर्वयशा देवीसे उत्पन्न हुआ मधुपिङ्गल नामका पुत्र है जो अपनी शोभासे समस्त राजाओंका तिरस्कार कर स्थित है—सबसे अधिक सुन्दर एवं प्रतापी है ॥५२॥ मैंने पहले ही उसके लिए तेरे देनेका मनमें संकल्प कर लिया था। इसलिए तू स्वयंवरमें मेरा ही मनोरथ पूर्ण कर ॥५३॥ इस प्रकार कहकर माता दिति आँसू छोड़ने लगी। माताको रोती देख कन्या सुलसाने कहा कि हे माता ! तू रो मत। मैं राजाओंके सामने जो तुझे इष्ट है वही करूँगी—तेरे कहे अनुसार मधुपिङ्गलको ही वरूँगी ॥५४॥ मन्दोदरीने यह सब सुना और जाकर कन्याकी प्राप्तिके लिए उत्कण्ठित राजा सगरके लिए एकान्तमें कह सुनाया ॥५५॥

तदनन्तर राजा सगरने शीघ्र ही अपने विश्वभूति नामक पुरोहितसे एकान्तमें मनुष्योंके लक्षणोंको बतानेवाला एक शास्त्र बनवाया ॥५६॥ और उसे धूमसे धूसरित कर तथा लोहेकी सन्दूकमें भरवा कर स्वयंवरकी भूमिमें गड़वा दिया। जब स्वयंवरका दिन आया तब सगरने स्वयंवरकी भूमिको खुदवा कर लोहेका वह सन्दूक निकलवाया और उससे उक्त शास्त्र निकालकर राजाओंके आगे दिखाया ॥५७॥ स्वयंवरमें जो राजा आये थे, वे मनुष्योंके लक्षण सुनना चाहते थे। इसलिए उन सबके आगे पुरोहितने जोर-जोरसे उस शास्त्रको बाँचना शुरू किया ॥५८॥ उसमें लिखा था कि राजाके पैर मछली, शंख तथा अंकुश आदिके चिह्नोंसे युक्त होते हैं, कमलके भीतरी भागके समान उनका मध्य भाग होता है, एड़ियोंकी उत्तम शोभासे वे सहित होते हैं, उनकी अँगुलियोंके पौरा एक दूसरेसे सटे रहते हैं, उनके नख चिकने एवं लाल होते हैं, उनकी गाँठें छिपी रहती हैं, वे नसोंसे रहित होती हैं, कुछ-कुछ ऊष्ण होते हैं, कछुएके समान उठे होते हैं और पसीनासे युक्त रहते हैं ॥५९–६०॥ पापी मनुष्यके पैर सूपाके आकार, फैले हुए, नसोंसे व्याप्त, टेढ़े, रूखे नखोंसे युक्त, सूखे एवं विरल अँगुलियोंवाले होते हैं ॥६१॥ जो पैर छिद्र सहित एवं कषैले रंगके होते हैं वे वंशका नाश करनेवाले माने गये हैं। हिंसक मनुष्यके पैर जली हुई मिट्टीके समान और क्रोधी मनुष्यके पैर पीले रंगके जानना चाहिए ॥६२॥ जिनकी पिण्डलियाँ थोड़े एवं अत्यन्त सूक्ष्म रोमोंसे युक्त और ऊपर-ऊपर गोल होती जाती हैं, जिनके घुटने अच्छे हैं और जाँघें गोल हैं वे

१. सुलसे ! शृणु वृत्तं मे वत्से त्वं मातृवत्सले म० । २. सूत्यानुसारिणी म० । ३. जन्मता क०, घ०, ङ० । ४. स्थितं क्षेत्रमधिक्षिप्य म० । ५. कन्यायाः स्वीकारे चित्तं यस्य स तस्मै ।

एकैकं कूपके रोम राज्ञां द्वे द्वे सुमेधसाम् । त्र्यादीनि जडनिस्वानां केशाश्चैवंफलाः स्मृताः ॥६४॥
अल्पं दक्षिणतो वक्रं स्थूलग्रन्थि शुभं शिश्नोः । शिश्नं तद्विपरीतं तु विपरीतफलं मतम् ॥६५॥
म्रियन्ते स्वल्पवृषणा विषमैः स्त्रीचकाश्च तैः । समैर्भूपाश्चिरायुष्काः प्रलम्बवृषणा नराः ॥६६॥
सशब्दमूत्राः सुखिनो विपरीतास्तु दुःखिनः । द्व्यादिप्रदक्षिणावर्तधाराः श्रीशास्तु नेतरे ॥६७॥
स्थूलस्फिक्च पुमान्निःस्वो मांसलस्फिक् सुखी भवेत् । माण्डूकस्फिक् नरो व्याघ्रादुद्धतस्फिक्मृतिं व्रजेत् ॥६८॥
राजा सिंहकटिः प्रोक्तो वानरोष्ट्रकटिर्धनी । समोदरः सुखी दुःखी घटोदपिठरोदरः ॥६९॥
सम्पूर्णैर्धनिनः पार्श्वैर्निम्नवक्रैरभोगिनः । कुक्षिभिश्च तथा निम्नैर्भोगिनः समकुक्षयः ॥७०॥
उन्नतैः कुक्षिभिर्भूपाः कुधना विषमैश्च तैः । सर्पोदरा दरिद्रास्तु भवन्ति बहुभोजनाः ॥७१॥
विस्तीर्णोन्नतगम्भीरवृत्तनाभिः सुखी नरः । निम्नाल्पाहश्यनाभिस्तु कथितः क्लेशभाजनः ॥७२॥
शूलबाधाश्च दारिद्र्यं विषमा वलिमध्यमाः । सा वामदक्षिणावर्ता [1]साध्वीं मेधां करोति च ॥७३॥
कुरुते भूपतिं नाभिः पद्मकर्णिकया समा । आयतोपर्यधः[2]पार्श्वा वित्तगोमच्चिरायुषः ॥७४॥

शुभ हैं—अच्छे पुरुष हैं और जिनकी पिण्डलियाँ, घुटने तथा जाँघें सूखी हैं वे निन्दनीय हैं ॥६३॥ राजाओंके एक रोम-कूपमें एक रोम होता है, विद्वानोंके एक रोम-कूपमें दो रोम होते हैं और मूर्ख तथा निर्धन मनुष्योंके एक रोम-कूपमें तीनको आदि लेकर अनेक रोम होते हैं। रोमोंके समान ही केशोंका भी फल समझना चाहिए ॥६४॥ बच्चेका लिंग यदि छोटा दाहिनी ओर कुछ टेढ़ा और मोटी गाँठसे युक्त है तो शुभ है और इससे विपरीत अशुभ है ॥६५॥ जिन मनुष्योंके वृषण (अण्डकोष) अत्यन्त छोटे होते हैं वे शीघ्र मर जाते हैं, जिनके विषम-एक छोटे एक बड़े होते हैं वे स्त्रियोंपर अपना बल रखते हैं—स्त्रियोंको वश करनेवाले होते हैं, जिनके एक बराबर होते हैं वे राजा होते हैं और जिनके नीचेकी ओर लटकते रहते हैं वे दीर्घजीवी होते हैं ॥६६॥ पेशाब करते समय जिनका मूत्र शब्द सहित निकलता है वे सुखी होते हैं और जिनका मूत्र शब्दरहित निकलता है वे दुखी होते हैं। पेशाब करते समय जिनके मूत्रकी पहली और दूसरी धारा दाहिनी ओर पड़ती है वे लक्ष्मीके स्वामी होते हैं और जिनकी धारा इसके विपरीत पड़ती है वे निर्धन होते हैं ॥६७॥ जिस पुरुषका नितम्ब स्थूल होता है वह दरिद्र होता है, जिसका पुष्ट होता है वह सुखी होता है और जिसका मण्डूकके समान ऊँचा उठा होता है वह व्याघ्रसे मृत्युको प्राप्त होता है ॥६८॥ जिसकी कमर सिंहकी कमरके समान पतली होती है वह राजा होता है और जिसकी कमर वानर अथवा ऊँटकी कमरके समान होती है वह धनी होता है। जिसका पेट न छोटा न बड़ा किन्तु समान होता है वह सुखी होता है और जिसका पेट घड़ा अथवा मटकाके समान हो वह दुखी होता है ॥६९॥ जिनकी पसलियाँ भरी हुई हों वे सुखी होते हैं और जिनकी पसलियाँ नीची तथा टेढ़ी हों वे भोगरहित होते हैं। जिनकी कूँख नीची हो वे भोग रहित होते हैं, जिनकी कूँख सम हों वे भोगी होते हैं, जिनकी कूँख उठी हुई हों वे राजा होते हैं और जिनकी कूँख विषम हों वे निर्धन होते हैं। जिनका उदर सर्पके समान लम्बा हो वे दरिद्र तथा बहुत भोजन करनेवाले होते हैं ॥७०–७१॥ जिसकी नाभि चौड़ी, ऊँची, गहरी और गोल होती है वह सुखी होता है और जिसकी नाभि छोटी तथा कुछ-कुछ दीखनेवाली होती है वह क्लेशका पात्र होता है ॥७२॥ यदि मध्य भागकी रेखाएँ विषम हैं, तो वे शूलकी बाधा तथा दरिद्रताको उत्पन्न करती हैं और वही रेखा यदि बायीं और दाहिनी ओर आवर्तों—भँवरोंसे युक्त हैं तो उत्तम बुद्धिको करती हैं ॥७३॥ कमलकी कर्णिकाके समान नाभि मनुष्यको राजा बना देती है और जिसका ऊपर, नीचे तथा आजू-बाजूका भाग विस्तृत हो ऐसी नाभि मनुष्यको धनवान्

१. साध्व्यं म० । २. पार्श्वं म० ।

[1]शास्त्रार्थी स्त्रीप्रियो नित्यमाचार्यो बहुपत्यकः । एकद्वित्रिचतुर्भिः स्याद्वलिभिः क्षितिपोऽवलिः[2] ॥७५॥
ज्ञेयाः स्वदारसन्तुष्टा ऋजुभिर्वलिभिर्नराः । [3]अगम्यगामिनः पापा विषमैर्वलिभिः पुनः ॥७६॥
[4]मांसलैर्मृदुभिः पार्श्वैर्दक्षिणावर्तरोमभिः । भूपास्तद्विपरीतैस्तु परप्रेष्यकरा नराः ॥७७॥
सुभगाः स्युरनुद्भूतैश्चूचुकैः पीवरैर्नराः । दीर्घैश्च विषमैर्मर्त्या जायन्ते धनवर्जिताः ॥७८॥
मांसलं हृदयं राज्ञां पृथून्नतमवेपनम् । विपरीतमपुण्यानां खररोमभिराचितम् ॥७९॥
वक्षोभिश्च समैराढ्याः पीनैः शूरास्त्वकिञ्चनाः । तनुभिर्विषमैर्निःस्वास्तथा शस्त्रान्तजीविताः[5] ॥८०॥
पीनेन जानुना ह्याढ्यो भोगवानुन्नतेन तु । निःस्वो निम्नास्थिबद्धेन विषमो विषमेण ना ॥८१॥
नित्यमस्वेदनाः कक्षाः पीनोन्नतसुगन्धयः । निःस्वेतव्या धनेशानां सङ्कुलाः समरोमभिः ॥८२॥
निःस्वस्य चिपिटा ग्रीवा संशुष्का च सिरान्विता । कम्बुग्रीवो नृपः शूरो महिषग्रीवसानवः ॥८३॥
अरोमशमभग्नं च पृष्ठं शुभकरं मतम् । रोमशं चातिभुग्नं[6] च न शुभावहमिष्यते ॥८४॥
अल्पावमांसलौ भुग्नौ[7] रोमशावधनस्य तु । सुश्लिष्टौ मांसलावंसौ शौर्यवित्तवतां नृणाम् ॥८५॥
पीनौ समौ प्रलम्बौ च करौ करिकरोपमौ । नृपाणामधमानां तु नृणां ह्रस्वौ च रोमशौ ॥८६॥
दीर्घा दीर्घायुषां पुंसां करशाखाः सुकोमलाः । सुभगानामवलिताः सूक्ष्मा मेधाविनां पुनः ॥८७॥

गोमान् और दीर्घजीवी करती है ॥७४॥ जिसके एक वलि होती है वह शास्त्रार्थी होता है, जिसके दो वलि होती हैं वह निरन्तर स्त्रीका प्रेमी होता है, जिसके तीन वलि होती हैं वह आचार्य होता है और जिसके चार वलि होती हैं वह बहुत सन्तानवाला होता है और जिसके एक भी वलि नहीं होती वह राजा होता है ॥७५॥ जिन मनुष्योंकी वलि सीधी होती हैं वे स्वदार-सन्तोषी होते हैं और जिनकी वलि विषम होती हैं वे अगम्यगामी एवं पापी होते हैं ॥७६॥ जिन मनुष्योंके पसवाड़े पुष्ट, कोमल एवं दाहिनी ओर आवर्ताकार रोमोंसे सहित होते हैं वे राजा होते हैं और जिनके इनसे विपरीत होते हैं वे दूसरोंके आज्ञाकारी किङ्कर होते हैं ॥७७॥ जिन मनुष्योंके स्तनोंके अग्रभाग छोटे और स्थूल हों वे उत्तम भाग्यशाली होते हैं और जिनके दीर्घ अथवा विषम होते हैं वे निर्धन होते हैं ॥७८॥ राजाओंका हृदय पुष्ट, चौड़ा, ऊँचा और कम्पनसे रहित होता है तथा पुण्यहीन मनुष्योंका हृदय इससे विपरीत तीक्ष्ण रोमोंसे व्याप्त होता है ॥७९॥ जिनके वक्षःस्थल सम हों वे सम्पत्तिशाली होते हैं, जिनके स्थूल हों वे शूर-वीर किन्तु निर्धन होते हैं और जिनके कृश तथा विषम हों वे निर्धन एवं शस्त्रसे मरनेवाले होते हैं ॥८०॥ जो मनुष्य स्थूल घुटनेसे सहित होता है वह धनाढ्य होता है, जिसका घुटना ऊँचा उठा होता है वह भोगी होता है, जिसका गहरा तथा हड्डियोंसे बद्ध रहता है वह निर्धन होता है और जिसका विषम होता है वह विषम ही रहता है ॥८१॥ धनाढ्य मनुष्योंकी बगलें निरन्तर पसीनासे रहित, पुष्ट, ऊँची, सुगन्धित और समान रोमोंसे व्याप्त रहती हैं ॥८२॥ निर्धन मनुष्यकी गरदन चपटी सूखी एवं नसोंसे व्याप्त रहती है। इसके विपरीत शङ्खके समान गरदनवाला मनुष्य राजा होता है और भैंसेके समान गरदनवाला मनुष्य शूर-वीर होता है ॥८३॥ जो पीठ रोमरहित एवं सीधी हो वह शुभ मानी गई है तथा जो रोमोंसे व्याप्त और अत्यन्त झुकी हुई हो वह अच्छी नहीं मानी गई है॥८४॥निर्धन मनुष्यके कन्धे छोटे, अपुष्ट, नीचेकी ओर झुके हुए और रोमोंसे व्याप्त होते हैं तथा पराक्रमी और धनवान् मनुष्योंके कन्धे सटे हुए एवं पुष्ट होते हैं ॥८५॥ राजाओंके हाथ स्थूल, सम, लम्बे और हाथीकी सूँडके समान होते हैं परन्तु निर्धन मनुष्योंके हाथ छोटे और रोमोंसे युक्त रहते हैं ॥८६॥ दीर्घायु मनुष्योंकी अङ्गुलियाँ लम्बी तथा अत्यन्त कोमल होती हैं, भाग्यशाली

१. शास्त्रार्थस्त्रीप्रियो म० । २. वलिरहितः । ३. अन्यदाररता नीचा वर्जिता विषमैर्नराः ख० । ४. अस्य श्लोकस्य स्थाने 'ख' पुस्तके इत्थं पाठः 'स्थूलैश्च मृदुभिः पार्श्वैर्दक्षिणावर्तरोमभिः । राजा भवति मर्त्योऽसावन्यथा किंकरो भवेत् ॥' ७७ ॥ ५. -जीविनः म० । ६. चातिभग्नं म० । ७. भग्नौ म० ।

स्थूला धनविमुक्तानां चिपिटाः प्रेष्यकारिणाम् । आढ्याः कपिकरा मर्त्याः क्रूरा व्याघ्रकराः स्मृताः ॥८८॥
निगूढगूढसुश्लिष्टसन्धिसम्मणिबन्धनैः । भूपा दारिद्र्ययुक्तास्तैः सशब्दैश्च श्लथैस्तथा ॥८९॥
निम्नैः करतलैः क्लीबाः पितृवित्तविवर्जिताः । धनिनः [1]संभृतैर्निम्नैः प्रोत्तानैस्तु प्रदायकाः ॥९०॥
लाक्षाभैरीश्वरा निस्स्वा विषमैर्विषमाश्च तैः । अगम्यगामिनः पीतै रूक्षै रूपविवर्जिताः ॥९१॥
तुषवन्नखिनखैः क्लीबाः स्फुटितैर्वित्तवर्जिताः । आताम्रैश्च चमूनाथाः कुनखैः परितर्किणः ॥९२॥
अङ्गुष्ठैर्यवैराढ्याः पुत्रिणोऽङ्गुष्ठमूलजैः । निम्नातिस्निग्धरेखाभिर्धनिनो व्यत्ययेऽन्यथा ॥९३॥
सुघनाङ्गुलयोऽर्थाढ्या विरलाङ्गुलयोऽन्यथा । तिस्रः करमिता रेखा नृपतेर्मणिबन्धनात् ॥९४॥
[2]प्रदेशिनीं सृता रेखा लक्षणं परमायुषः । छिन्नाभिस्ताभिरूनाभिरायुरूनं निरूपितम् ॥९५॥
असिशक्तिगदाकुन्तचक्रतोमरपूर्विकाः । कथयन्ति चमूनाथं कररेखाः परिस्फुटम् ॥९६॥
कृशैस्तु चिबुकैर्दीर्घैर्निस्स्वा धन्यास्तु मांसलैः । [3]ओष्ठैरस्फुटिताबक्रैर्भूपा बिम्बफलोपमैः ॥९७॥
तीक्ष्णदंष्ट्राः समाः स्निग्धा विशदा दशना घनाः । जिह्वा रक्ता च दीर्घा च श्लक्ष्णा भोगवतां नृणाम् ॥९८॥
आननं सम्भृतं सौम्यं समं राज्ञामवक्रकम् । दुर्भगानां बृहद्वक्त्रं शठानां परिमण्डलम् ॥९९॥

मनुष्योंकी बलिरहित और बुद्धिमान् मनुष्योंकी छोटी-छोटी होती हैं ॥८७॥ निर्धन मनुष्योंके हाथ स्थूल रहते हैं, सेवकोंके हाथ चिपटे होते हैं, वानरोंके समान हाथवाले मनुष्य धनाढ्य होते हैं और व्याघ्रके समान हाथवाले मनुष्य शूर-वीर होते हैं ॥८८॥ जिनकी कलाइयाँ अत्यन्त गूढ एवं सुश्लिष्ट सन्धियोंसे युक्त होती हैं वे राजा होते हैं और जिनकी कलाइयाँ ढीली तथा शब्दोंसे सहित हैं वे दरिद्रतासे युक्त होते हैं ॥८९॥ जिनकी हथेलियाँ गहरी—भीतरको दबी हुई हों वे नपुंसक तथा पिताके धनसे रहित होते हैं, जिनकी हथेलियाँ भरी हुई तथा गहरी हों वे धनाढ्य होते हैं और जिनकी हथेलियाँ ऊपरको उठी हुई हों वे दानी होते हैं ॥९०॥ जिनकी हथेलियाँ लाखके समान लाल हों वे धनाढ्य होते हैं, जिनकी विषम होती हैं वे दरिद्र तथा विषम होते हैं, जिनकी पीली हों वे अगम्यगामी होते हैं और जिनकी रूक्ष होती हैं वे सौन्दर्यसे रहित कुरूप होते हैं ॥९१॥ जिनके नख तुषके समान हों वे नपुंसक, जिनके फटे हों वे निर्धन, जिनके कुछ-कुछ लाल हों वे सेनापति और जिनके भद्दे हों वे तर्क-वितर्क करनेवाले होते हैं ॥९२॥ जिनके अँगूठेपर यवका चिह्न हो वे धनाढ्य होते हैं, जिनके अँगूठेके मूलमें यवका चिह्न हो वे अधिक पुत्रवाले होते हैं, जिनके अँगूठेमें गहरी तथा चिकनी रेखाएँ होती हैं वे धनाढ्य होते हैं और जिनके इससे विपरीत रेखाएँ हैं वे निर्धन होते हैं ॥९३॥ जिनकी अँगुलियाँ अत्यन्त सघन होती हैं वे धन-सम्पन्न होते हैं और जिनकी अँगुलियाँ विषम होती हैं वे निर्धन होते हैं। जिनकी कलाईसे लेकर हाथ तक तीन रेखाएँ होती हैं वे राजा होते हैं ॥९४॥ प्रदेशिनी अँगुली तक लम्बी रेखा दीर्घायुका चिह्न है अर्थात् जिसकी रेखा कनिष्ठासे लेकर प्रदेशिनी तक लम्बी चली जाती है वह दीर्घायु होता है और जिसकी रेखाएँ कटी तथा छोटी होती हैं वह अल्प आयुका धारक होता है ॥९५॥ तलवार, शक्ति, गदा, भाला, चक्र और तोमर आदिकी रेखाएँ हाथमें हों तो वे स्पष्ट कहती हैं कि यह व्यक्ति सेनापति होगा ॥९६॥ जिनकी दाढ़ी पतली और लम्बी होती है वे दरिद्र होते हैं तथा जिनकी पुष्ट होती है वे धनी होते हैं। जिनके ओंठ बिना फटे, सीधे और बिम्बीफलके समान लाल होते हैं वे राजा होते हैं ॥९७॥ जिनकी डाढ़ें तीक्ष्ण, सम और स्निग्ध होती हैं, दाँत सफेद और सघन रहते हैं एवं जीभ लाल, लम्बी और कोमल होती है वे भोगी होते हैं ॥९८॥ जिनका मुख भरा हुआ, सौम्य, सम और कुटिलता रहित होता है वे राजा होते हैं। जिनका मुख बहुत बड़ा होता है वे अभागे

---

१. संभृतै-म०, ग० । २. प्रदेशिनी स्मृता म० । ३. उष्ठैरस्फुटिता वक्त्रैर्भूपा म० ।

स्त्रीवक्त्रमनपत्यानां निम्नं वक्त्रं च निश्चितम् । ह्रस्वं कृपणमर्त्यानां दीर्घमद्रव्यभागिनाम् ॥१००॥
शङ्कुकर्णाः महीपालाः रोमकर्णाश्चिरायुषः । ऋज्वी समपुटा नासा स्वल्पच्छिद्रा च भोगिनाम् ॥१०१॥
क्षुत्क्षुतं[1] धनेशानां द्विश्रिः शास्त्रवतां विदुः । संहतं च प्रमुक्तं च विदितं चिरजीविनाम् ॥१०२॥
रक्तान्तैः पद्मपत्राभैर्नेत्रैः श्रीधनभागिनः । गजेन्द्रवृषनेत्रास्तु भवन्ति वसुधाधिपाः ॥१०३॥
अमङ्गलदृशः पापाः पिङ्गलाक्षसङ्गिनः । असम्भाष्याः सदा पुंसामदृश्याश्च विशेषतः ॥१०४॥
मानसैर्वाचिकैः कायैः पापैः सम्पर्चिताः सदा । दुर्जना दुर्भगाः क्रूराः पापा मार्जारलोचनाः ॥१०५॥
लक्षणानां समस्तानां गुणदोषविचिन्तने । चक्षुर्लक्षणमेवात्र पर्याप्तं फलसाधने ॥१०६॥
मानोन्मानस्वरं देहं गतिसंहतिमन्वयम् । सारं वर्णं बुधो दृष्ट्वा प्रकृतिं च वदेत्फलम् ॥१०७॥
इति प्रवाच्यमानेऽसौ पुस्तके मधुपिङ्गलः । नेत्रदोषकृताशङ्को निर्गत्य सदसोऽगमत् ॥१०८॥
सुलसां च परित्यज्य प्रव्रज्य नवयौवनः । मुनिचर्याश्रितो देशान् पर्यटन्मधुपिङ्गलः ॥१०९॥
इतः सुलसदम्भोजलोचनां[2] सुलसां स्वयम् । प्राप्तः स्वयंवरे दक्षः सगरः सुखमन्वभूत् ॥११०॥
तदात्वेऽश्येति शब्दश्चेद् वैदग्ध्यमभिकथ्यते । नातिगूढतया जन्तुरायत्यां तु दुरन्तताम् ॥१११॥
सामुद्रिकोऽन्यदाऽद्राक्षीन्निःसङ्गमधुपिङ्गलम् । मध्याह्ने पुरि कस्याञ्चित्पारणार्थमुपागतम् ॥११२॥

होते हैं और जिनका मुख गोलाकार होता है वे मूर्ख होते हैं ॥९९॥ सन्तान-रहित मनुष्योंका मुख स्त्रीके समान तथा नीचा होता है। कंजूस मनुष्योंका मुख छोटा और निर्धन मनुष्योंका मुख लम्बा होता है ॥१००॥ जिनके कान कीलाके समान हों वे राजा होते हैं, जिनके कानोंपर रोम होते हैं वे दीर्घायु होते हैं, जिनकी नाक सीधी समान पुटवाली एवं छोटे छिद्रोंसे युक्त होती है वे भोगी होते हैं ॥१०१॥ जिनको एक छींक आवे वे धनाढ्य, जिनको दो-तीन छींकें एक साथ आवें वे विद्वान् तथा जिनको लगातार अनेक खुली छींकें आवें वे दीर्घायु होते हैं ॥१०२॥ जिनके नेत्र अन्तमें लाल और कमल पत्रके समान हों वे लक्ष्मीमान् और जिनके गजेन्द्र एवं बैल-के समान हों वे राजा होते हैं ॥१०३॥ जो मनुष्य पिङ्गलवर्णके नेत्रोंसे युक्त हैं वे अमाङ्गलिक और पापी हैं उनके साथ न कभी बात करना चाहिए और न उनकी ओर खासकर देखना चाहिए ॥१०४॥ जिनके नेत्र मार्जारके नेत्रोंके समान रहते हैं वे सदा मानसिक, वाचनिक और कायिक पापोंसे युक्त होते हैं तथा दुर्जन, अभागे, क्रूर और पापी माने गये हैं ॥१०५॥ समस्त लक्षणोंके गुण और दोषका विचार करते समय चक्षुके लक्षणका पूर्ण विचार करना चाहिए क्योंकि फलकी सिद्धिके लिए यही पर्याप्त कारण है ॥१०६॥ विद्वान्को चाहिए कि वह मनुष्यके मान, उन्मान, स्वर, देह, चाल-ढाल, वंश, उत्तमवर्ण और प्रकृतिको देखकर फलका प्रतिपादन करे ॥१०७॥

इस प्रकार पुस्तक बाँचे जानेपर मधुपिङ्गलको यह आशङ्का हो गयी कि हमारे नेत्रमें दोष है इसीलिए वह सभासे निकलकर चला गया ॥१०८॥ यद्यपि मधुपिङ्गल नवयौवनसे युक्त था तथापि सुलसाको छोड़कर दीक्षित हो गया और मुनिचर्याको धारणकर अनेक देशोंमें विहार करने लगा ॥१०९॥ इधर राजा सगर बड़ा चतुर था इसलिए वह कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुलसाको स्वयंवरमें स्वयं प्राप्तकर सुखका उपभोग करने लगा ॥११०॥ आचार्य कहते हैं कि ऐसी प्रवृत्ति तत्काल तो चतुराई कही जाती है परन्तु वह सदा छिपी नहीं रहती इसलिए इसका करने-वाला प्राणी आगामी कालमें अवश्य ही दुष्परिणामको प्राप्त होता है—उसका खोटा फल भोगता है ॥१११॥

तदनन्तर एक दिन मध्याह्नके समय पारणाके लिए किसी नगरमें आये हुए दिगम्बर मुद्रा

---

१. क्षुतं म० । २. सुलसती सुशोभमाने अम्भोजलोचने यस्याः सा ताम् ।

पादमस्तकपर्यन्तान्निरूप्यावयवान्यतेः । सशिरःकम्पमाहासौ महाविस्मयसङ्गतः ॥११३॥
तिलमात्रोऽपि देहस्य नेक्ष्यतेऽवयवो मुनेः । सामुद्रया सुदृष्ट्या यः शुद्धया परिदूष्यते ॥११४॥
तिष्ठत्वन्यदिहामुष्य सल्लक्षणकदम्बकम् । राज्यं सौभाग्यमप्याह मधुपिङ्गलनेत्रता ॥११५॥
ईदृग्लक्षणयुक्तोऽपि यदयं नवयौवने । परिभ्रमति भिक्षार्थी तद्धिक् सामुद्रशास्त्रकम् ॥११६॥
यद्येष दग्धदैवेन कदर्थयितुमर्पितः । तत्किमर्थमनिन्द्येन लक्षणौघेन चर्चितः ॥११७॥
अथवा दुःखभीरुत्वान्न स्पृशन्ति सुखैषिणः । फलितामपि दुष्पाकां विषवल्लीमिव श्रियम् ॥११८॥
शुभलक्षणपूर्णस्य पुनः शुद्धान्वयस्य हि । युज्यते[1] तपसोऽमुष्य मुमुक्षोर्दीक्षया धृतिः ॥११९॥
सामुद्रिकवचः श्रुत्वा नरः कश्चिदुवाच तम् । किं सामुद्रिकवार्ताऽस्य न श्रुता विश्रुतावनौ ॥१२०॥
मिलितैः खलभूपालैः सुलसायाः स्वयंवरे । चक्षुर्लक्षणहीनोऽयमिति संसदि दूषितः ॥१२१॥
यथैव सूचकः पुंसां पृष्ठमांसस्य खादकः । निन्दितः स्वप्रशंसी च तथैव किल पिङ्गलः ॥१२२॥
परप्रमाणको मुग्धो मत्वात्मानमलक्षणम् । मधुपिङ्गः शुभाक्षोऽयं विलक्षस्तपसि स्थितः ॥१२३॥
प्रमादालस्यदर्पेभ्यो ये स्वतो नागमेक्षिणः । ते शठैर्विप्रलभ्यन्ते दृष्टादृष्टार्थगोचरे ॥१२४॥
स्वयंवरे नरश्रेष्ठः कन्यया सगरो वृतः । वृतः[2] क्षत्रसमूहेन भोगासक्तोऽवतिष्ठते ॥१२५॥

धारी मधुपिङ्गलको एक सामुद्रिकशास्त्रीने देखा ॥११२॥ वह पैरसे लेकर मस्तक तक मुनिराजके समस्त अवयवोंको देखकर बहुत भारी आश्चर्यमें पड़ गया और शिर हिलाता हुआ कहने लगा कि इन मुनिके शरीरमें तिल बराबर भी ऐसा अवयव नहीं दिखाई देता जो सामुद्रिक शास्त्रकी शुद्ध दृष्टिसे दूषित किया जा सके अर्थात् जिसमें सामुद्रिक-शास्त्रके अनुसार दोष बताया जा सके ॥११३-११४॥ इनके शरीरमें जो उत्तमोत्तम अन्य लक्षणोंका समूह है वह तो एक ओर रहे एक नेत्रोंकी पीलाई ही इनके राज्य तथा सौभाग्यको सूचित कर रही है ॥११५॥ क्योंकि ऐसे लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी जब यह नई जवानीमें भिक्षाके लिए इधर-उधर भ्रमण कर रहा है तब ऐसे सामुद्रिक शास्त्रको धिक्कार हो ॥११६॥ यदि दुर्दैव इसे पीड़ित ही करना चाहता है तो फिर निर्दोष लक्षणोंके समूहसे इसे युक्त क्यों किया ? ॥११७॥ अथवा यह भी हो सकता है कि जो मनुष्य सुखकी इच्छा रखते हैं वे दुःखसे भयभीत होनेके कारण फलोंसे लदी किन्तु खोटा फल देनेवाली विष लताके समान प्राप्त हुई लक्ष्मीको छूते भी नहीं हैं ॥११८॥ यथार्थमें यह मुनि शुभ लक्षणोंसे पूर्ण और शुद्ध कुलका है तथा मोक्षकी इच्छासे तप कर रहा है इसलिए इसका दीक्षा द्वारा सन्तोष धारण करना युक्त ही है ॥११९॥

सामुद्रिकके उक्त वचन सुनकर किसी मनुष्यने उससे कहा कि क्या आपने इसके सामुद्रिक शास्त्रकी बात सुनी नहीं ? वह तो समस्त पृथिवीमें प्रसिद्ध है ॥१२०॥ सुलसाके स्वयंवरमें इकट्ठे हुए दुष्ट राजाओंने 'यह नेत्रके लक्षणोंसे हीन है' यह कहकर इसे सभामें दूषित ठहराया था ॥१२१॥ उस समय कहा गया था कि जिस प्रकार पीठ पीछे दूसरेकी बुराई करनेवाला चुगल और अपनी प्रशंसा स्वयं करनेवाला मनुष्य निन्दित है उसी प्रकार यह पिङ्गल भी निन्दित है–दोषयुक्त है ॥१२२॥ यह मधुपिङ्गल भोला-भाला था तथा दूसरोंको प्रमाण मानता था इसलिए शुभ नेत्रोंका धारक होनेपर भी अपने आपको अशुभ लक्षणवाला मान बैठा और लज्जित हो तप करने लगा ॥१२३॥ ठीक ही है जो मनुष्य प्रमाद, आलस्य और अहंकारके कारण स्वयं शास्त्रोंको नहीं देखते हैं वे देखे-अनदेखे पदार्थोंके विषयमें धूर्तोंके द्वारा ठगे जाते हैं ॥१२४॥ मधुपिङ्गलके चले जानेपर कन्याने स्वयंवरमें राजा सगरको वर लिया जिससे वह क्षत्रियोंके समूहसे घिरा भोगोंमें आसक्त है ॥१२५॥

---

१. क्षपितेऽ-ग । -क्षिपितेऽ-ङ । ऽक्षयतो ख. । २. वृतस्त्र -म० ।

इति श्रुत्वा महाक्रोधः स मृत्वा मधुपिङ्गलः । जातो वननिकायेषु[1] महाकालोऽधमामरः ॥१२६॥
अहो कषायपानस्य वैषम्यं यद्विरोधिनः । सम्यक्त्वौषधिपानस्य जातमत्यन्तदूषणम् ॥१२७॥
सुलसापहृतिं ध्यात्वा सोपायां सगरेण सः । क्रोधाग्निना महाकालो जज्वाल हृदये भृशम् ॥१२८॥
स्त्रीवैरविषदग्धस्य हृदयस्य विदाहिनः । स दाहोपशमं कर्तुं न शशाक शमाम्बुना ॥१२९॥
अचिन्तयदसौ येन शत्रोर्दुःखपरम्परा[3] । जायते दीर्घसंसारे तमुपायं करोम्यहम् ॥१३०॥
प्राणी प्रत्यपकाराय चेष्टते ह्यपकारिणः । तैरुपायैर्यकैर्याति मूढधीः स्वयमप्यधः ॥१३१॥
आगतश्च महाकालः सगरक्रोधेन दीपितः । नारदेन जितं जल्पे पश्यति स्म स पर्वतम् ॥१३२॥
शाण्डिल्याकृतिरूपोऽथ तस्य विश्वासमाह सः । मागाः पर्वत ! निर्वेदं जल्पे[4]ऽहं जित इत्यलम् ॥१३३॥
ध्रौव्यनाम्नो गुरोः शिष्यः शाण्डिल्योऽहं पिता च ते । वैन्यश्चापि तथोदञ्चः प्रावृतश्चैव पञ्चमः ॥१३४॥
सूनोः क्षीरकदम्बस्य भवतो यः पराभवः । स ममैव ततोऽस्याहं मार्जनाय समुद्यतः ॥१३५॥
सहायं मां परिप्राप्य कुरु क्षेत्रमकण्टकम् । मरुत्सखस्य रौद्रस्य शिखिनः किमु दुष्करम् ॥१३६॥
इति पर्वतमाभाष्य पुरस्कृत्य स दुष्टधीः । सक्षत्रं भरतक्षेत्रं चक्रे व्याधिशताकुलम् ॥१३७॥
चक्रे व्याधिविनाशाय शान्तिकर्म च पर्वतः । विश्वासेन ततो लोकः शरणं प्रतिपद्यते ॥१३८॥
सगरः क्षत्रलोकेन सहोपेत्य तमादरात् । होमैर्मन्त्रविधानैश्च बभूव विगतज्वरः ॥१३९॥

यह सुनकर मधुपिङ्गलको बहुत भारी क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी समय मरकर वह व्यन्तर देवोंमें महाकाल नामका नीच देव हुआ ॥१२६॥ आचार्य कहते हैं कि अहो कषाय रूपी कषैले शरबतकी बड़ी विषमता है क्योंकि वह सम्यग्दर्शन रूपी ओषधिके शरबतको अत्यन्त दूषित कर देता है। भावार्थ—जिस प्रकार कषैला रस पीनेसे उसके पूर्व पिया हुआ मीठा रस दूषित हो जाता है उसी प्रकार क्रोधादि कषायोंकी तीव्रतासे सम्यग्दर्शन रूप ओषधिका रस दूषित हो जाता है—सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥१२७॥ राजा सगरने उपाय भिड़ाकर सुलसाका अपहरण किया था इसका ध्यान आते ही महाकाल, हृदयमें क्रोध रूपी अग्निसे अत्यन्त जलने लगा ॥१२८॥ उसका हृदय स्त्रीके वैर रूपी विषसे जलकर तीव्र दाह उत्पन्न कर रहा था इसलिए वह शान्ति रूपी जलसे उसकी दाहको शान्त करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका ॥१२९॥ वह विचार करने लगा कि जिससे शत्रुको दीर्घ संसारमें दुःखोंकी परम्परा प्राप्त होती रहे मैं उसी उपायको करता हूँ ॥१३०॥ आचार्य कहते हैं कि यह प्राणी अपने अपकारी मनुष्यका उन उपायोंसे अपकार करनेकी—बदला लेनेकी चेष्टा करता है कि जिनसे वह मूर्ख स्वयं नीचेकी ओर जाता है—अधोगतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ इस प्रकार राजा सगरके ऊपर क्रोधसे देदीप्यमान होता हुआ महाकाल पृथिवीपर आया और आते ही उसने शास्त्रार्थमें नारदके द्वारा जीते हुए पर्वतको देखा ॥१३२॥ महाकालने शाण्डिल्यका रूप धारण कर पर्वतको विश्वास दिलाते हुए उससे कहा कि हे पर्वत ! तुम इस बातका खेद मत करो कि मैं शास्त्रार्थमें हार गया हूँ ॥१३३॥ ध्रौव्य नामक गुरुके मैं शाण्डिल्य, तुम्हारे पिता क्षीरकदम्बक, वैन्य, उदञ्च और प्रावृत ये पाँच शिष्य थे ॥१३४॥ तुम क्षीरकदम्बकके पुत्र हो इसलिए जो तुम्हारा पराभव है वह मेरा ही पराभव है और इसीलिए मैं उसे दूर करनेके लिए उद्यत हूँ ॥१३५॥ तुम मेरी सहायता पाकर अपने क्षेत्रको निष्कण्टक करो, क्योंकि वायुसे प्रज्वलित भयंकर अग्निको क्या कार्य कठिन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥१३६॥ इस प्रकार दुर्बुद्धिके धारक महाकालने पर्वतसे कहकर तथा उसे आगे कर राजाओं सहित समस्त भरत क्षेत्रको सैकड़ों बीमारियोंसे व्याकुल कर दिया ॥१३७॥ उन बीमारियोंको नष्ट करनेके लिए पर्वत शान्तिकर्म करता था जिससे लोग विश्वास कर उसकी शरणमें आने लगे ॥१३८॥ राजा सगर भी अनेक

१. व्यन्तरदेवेषु । भवननिकायेषु म० । २. महाकायो म० । ३. परम्परां म० । ४. वादे ।

हिंसाप्रोत्सयाऽनार्यान् क्रूरान् क्रूरः स्वयंकृतान्। वेदानध्यापयन् विप्रान् क्षिप्रं देवोऽनयद्वशम् ॥१४०॥
अश्वमेधोऽजगोमेधो यागो यागफलैषिणाम्। दर्शितः क्षत्रियादीनां साक्षात्प्रत्ययकारिणाम् ॥१४१॥
सूयन्ते यत्र राजानः शतशोऽपि सहस्रशः। राजसूयक्रतुस्तेन दर्शितो राजवैरिणा ॥१४२॥
प्राग्दिवाकरदेवाख्यः खेचरो नारदान्वितः। पापविघ्नकरस्तेन विघ्नितः सुरमायया ॥१४३॥
अणिमादिगुणोत्कृष्टे[1] विकुर्वाणे सुराधमे। विद्याबलसमृद्धोऽपि मानुषः किं करिष्यति ॥१४४॥
घातयित्वा बहून् जीवान् ब्राह्मणादिभिरुद्यतैः। यष्टेऽयष्ट[2] स दुष्टस्तान् स्वपराहितकृत्सुरः ॥१४५॥
हुत्वा च सगरं यागे सुलसां च कृपोज्झितः। हिंसानन्दं परिप्राप्तः प्रयातश्च निजं पदम् ॥१४६॥
प्रवर्तिताश्च ते वेदा महाकालेन कोपिना। विस्तारितास्तु सर्वस्यामवनौ पर्वतादिभिः ॥१४७॥
नारदस्य सुतायाऽसौ खेचरोऽपि सुदृष्टये। सुतां परमकल्याणीं ददौ विद्यासमन्विताम् ॥१४८॥
अन्वये तनुजातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका। सोमश्रीरिति विख्याता वसुदेवद्विजन्मनः ॥१४९॥
करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा। वेदे जेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ॥१५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान् वेदान् यदूत्तमः[3]। जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे[4] विधानतः ॥१५१॥
वरे प्रेम वरं जातं नववध्वा यथा दृढम्। वरस्यापि तथा तस्यां तत्र का सुखवर्णना ॥१५२॥

राजाओंके साथ आदरपूर्वक उसके पास आया और बताये हुए होम तथा मन्त्र-विधानसे नीरोग हो गया ॥१३९॥ दुष्ट महाकाल देव हिंसाकी प्रेरणा देनेके लिए स्वयं बनाये हुए अनार्ष वेद ब्राह्मणोंको पढ़ाता था और उन्हें शीघ्र अपने वश कर लेता था ॥१४०॥ उसने यज्ञके फलकी इच्छा रखनेवाले एवं साक्षात् विश्वास करनेवाले क्षत्रिय आदि जनोंको अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध यज्ञ बतलाये ॥१४१॥ जिसमें सैकड़ों हजारों राजा होमे जाते थे ऐसा राजसूय यज्ञ भी उस राजाओंके वैरी महाकालने दिखलाया था ॥१४२॥ यद्यपि प्राग्दिवाकर देव नामका विद्याधर नारदके साथ आकर महाकालके इस पाप कार्यमें विघ्न करनेके लिए उद्यत था तथापि देवकी मायाने उसके इस कार्यमें विघ्न डाल दिया ॥१४३॥ सो ठीक ही है क्योंकि अणिमादि गुणोंसे उत्कृष्ट नीच देव जब अपनी विक्रिया दिखानेमें तत्पर है तब मनुष्य विद्याबलसे समृद्ध होनेपर भी क्या कर सकता है ? ॥१४४॥ इस प्रकार निज और परका अहित करनेवाले उस दुष्ट देवने आज्ञापालन करनेमें उद्यत ब्राह्मण आदिके द्वारा बहुत जीवोंका घात कराकर उन्हें यज्ञमें होम दिया। यही नहीं उस निर्दयने राजा सगर और सुलसाको भी यज्ञमें होम दिया और इस प्रकार हिंसानन्द नामक रौद्र ध्यानको प्राप्त होता हुआ अपने स्थानपर चला गया ॥१४५-१४६॥ क्रोधसे युक्त महाकाल देवने उन अनार्ष वेदोंको चलाया और पर्वत आदिने समस्त पृथिवीपर उनका विस्तार किया ॥१४७॥ नारदका एक सम्यग्दृष्टि पुत्र था। उसे प्राग्दिवाकर देव नामक विद्याधरने विद्याओंसे सहित अपनी परम कल्याणी पुत्री प्रदान की थी ॥१४८॥ उसी वंशमें वसुदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिया स्त्रीसे यह सोमश्री नामकी उत्तम कन्या उत्पन्न हुई है ॥१४९॥ करालब्रह्मदत्त नामक अवधिज्ञानी मुनिराजने कहा था कि जो इसे वेदोंमें जीतेगा उसी महापुरुषकी यह स्त्री होगी ॥१५०॥

यह सुनकर श्रीमान् कुमार वसुदेवने उस समय समस्त वेदोंका अध्ययन किया और सोमश्रीको जीतकर विधिपूर्वक उसके साथ विवाह किया ॥१५१॥ जिस प्रकार नववधूका कुमार वसुदेवमें दृढ़ प्रेम था उसी प्रकार कुमार वसुदेवका भी नववधूमें दृढ़ प्रेम था। इसलिए उनके

---

१. सुरोत्कृष्टे म०। २. यष्टे यष्टा स दुष्टस्तां म०। ३. वसुदेवः। ४. परिणीतवान्।

पृथ्वीच्छन्दः

रहस्यकृत वक्षसा घनपयोधरोत्पीडनं
चुचुम्ब सकचग्रहं जघनमाजघानाधरम् ।
ददंश नृवरो वरः सनखपातमस्या वधू-
र्विवेद मदनातुरा न च तथाविधं बाधनम् ॥१५३॥
चचार खचरीसखः खचरलोकलोकाधिकः
स्वरूपगुणसम्पदा रतिषु दक्षिणो यो युवा ।
स्वतन्त्रजिनभक्तयाऽरमदसौ च सोमश्रिया
पुरे गिरितटाभिधे सुमतिचारुयोषित्सखः ॥१५४॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सोमश्रीलाभवर्णनो नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥

सुखका क्या वर्णन किया जाय ? ॥१५२॥ कुमार वसुदेवने एकान्त स्थानमें अपने वक्षःस्थलसे उसके स्थूल स्तनोंका पीडन किया, केश खींचते हुए चुम्बन किया, नखक्षत करते हुए नितम्बका आस्फालन किया और अधरको डसा परन्तु कामातुर सोमश्रीने उस प्रकारकी बाधाको कुछ भी नहीं जाना ॥१५३॥ जो अपने सौन्दर्य तथा गुण रूपी सम्पदाके द्वारा विद्याधरोंसे भी श्रेष्ठ थे, जो विद्याधरियोंके साथ भ्रमण करते थे, जो रतिक्रियामें अत्यन्त कुशल एवं युवा थे और जो सुबुद्धि रूपी सुन्दर स्त्रीके सखा थे, ऐसे कुमार वसुदेवने गिरितट नामक नगरमें स्वतन्त्र एवं जिनभक्त रमणी सोमश्रीके साथ अत्यधिक क्रीडा की ॥१५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें सोमश्रीके लाभका वर्णन करनेवाला तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२३॥

चतुर्विंशः सर्गः

अथासावेकदा शौरिरिन्द्रशर्मोपदेशतः। उद्याने साधयन् विद्यां निशि धूर्तैर्निरीक्षितः ॥१॥
आरोप्य शिबिकां क्वापि दूरं नीतो दिवानने[1]। अपसृत्य ततो यातो नगरं तिलवस्तुकम् ॥२॥
बाह्यचैत्यगृहोद्याने रात्रौ सुप्तः प्रबोधितः। केनचिद्राक्षसेनेव पुंसा मानुषभक्षिणा ॥३॥
भो! भो! बुध्यस्व बुध्यस्व कस्त्वं स्वपिषि मानुष। व्याघ्रस्येव क्षुधार्त्तस्य ममास्ये पतितः स्वयम् ॥४॥
विनिद्रो रौद्रनादेन शौरिः शूरतरोऽमुना। जिघांसन्तं भुजेनारिमाजघान भुजेन सः ॥५॥
दृढमुष्टिघनाघातघोरनिर्घोषभीषणम्। भूतं[2] भूतलसंक्षोभं युद्धमुद्धतयोस्तयोः ॥६॥
चिरेण दानवाकारो यादवेन बलीयसा। निहत्य मल्लयुद्धेऽसौ मोचितः प्रियजीवितम् ॥७॥
प्रभाते पौरलोकस्तं नराशिनरनाशनम्[3]। रथेन पुरमावेश्य सत्पौरुषमपूजयत् ॥८॥
कन्याः पञ्चशतान्यत्र रूपलावण्यवाहिनीः। कुलशीलवतीर्लब्ध्वा तत्र तावदतिष्ठपत्[4] ॥९॥
कुतस्त्योऽयं नृमांसादः पुरुषः परुषाशयः। इति तेन तदा पृष्टैर्वृद्धैरिति निवेदितम् ॥१०॥
आसीन्नृपः कलिङ्गेषु पुरे काञ्चननामनि। जितशत्रुगणः[5] ख्यातो जितशत्रुरभिख्यया ॥११॥
आसीदयममोघाज्ञः स्वदेशे देशपालकः। जीवघातनिवृत्तेच्छः सर्वत्राभयघोषणः ॥१२॥

अथानन्तर एक समय कुमार वसुदेव, इन्द्रशर्मा ब्राह्मणके उपदेशसे गिरितट नगरके उद्यानमें रातको विद्या सिद्ध कर रहे थे कि कुछ धूर्तोंने उन्हें देख लिया ॥१॥ वे उन्हें पिछली रात्रिमें पालकीपर बैठाकर कहीं दूर ले गये। वसुदेव वहाँसे चलकर तिलवस्तु नामक नगर पहुँचे ॥२॥ और वहाँ नगरके बाहर जो चैत्यालय था उसके उद्यानमें रात्रिके समय सो गये, वहाँ राक्षसके समान एक मनुष्यभक्षी पुरुषने आकर उन्हें जगाया ॥३॥ वह कहने लगा कि अरे मनुष्य! जाग-जाग, तू यहाँ कौन सो रहा है? भूखसे पीड़ित बाघके समान मेरे मुखमें तू स्वयं आकर पड़ा है ॥४॥ शूर-वीर वसुदेव उस भयंकर शब्दसे जाग उठे। जब मनुष्यभक्षी पुरुष अपनी भुजासे वसुदेवको मारनेके लिए उद्यत हुआ तब उन्होंने भी अपनी भुजाओंसे उसे कसकर पिटाई लगाई ॥५॥ तदनन्तर प्रबल शक्तिको धारण करनेवाले उन दोनोंके बीच पृथिवीको कँपा देनेवाला युद्ध हुआ। उनका वह युद्ध मुट्ठियोंके प्रबल प्रहारसे उत्पन्न घोर शब्दसे भयंकर था ॥६॥ वसुदेव बहुत बलवान् थे इसलिए उन्होंने बहुत देर तक युद्ध करनेके बाद उस दानवाकार मनुष्यको मल्लयुद्धमें मारकर प्राण-रहित कर दिया ॥७॥ जब प्रातःकाल हुआ तब नगरवासी लोग, उत्तम पौरुषके धारी एवं नरभोजी मनुष्यको नष्ट करनेवाले वसुदेवको रथपर बैठाकर नगरमें ले गये और उन्होंने वहाँ उनका बहुत सन्मान किया ॥८॥ कुमार वसुदेव उस नगरमें रूप और सौन्दर्यको धारण करनेवाली कुल और शीलसे सुशोभित पाँच सौ कन्याएँ प्राप्त कर वहीं रहने लगे ॥९॥ मनुष्योंके मांसको खानेवाला यह दुष्ट मनुष्य यहाँ कहाँसे आया था? इस प्रकार वसुदेवके पूछनेपर वहाँके वृद्धजनोंने इस प्रकार कहा ॥१०॥

कलिङ्ग देशके काञ्चनपुर नामक नगरमें शत्रुओंके समूहको जीतनेवाला एक जितशत्रु नामका राजा था ॥११॥ अपने देशमें उस राजाकी आज्ञाका कोई भी उल्लङ्घन नहीं करता था। वह नीति पूर्वक देशका पालन करता था, उसकी इच्छा जीव-हिंसासे दूर रहती थी तथा समस्त

---

१. पश्चिमरात्रौ। २. जातम्। ३. मनुष्यभक्षिमनुष्यनाशकं—वसुदेवम्। ४. स्थितवान्। ५. जितः शत्रुगणो येन सः।

तनयस्तस्य सौदासः स मांसरसलालसः । मायूरमांसमाम्नायाः पितुराज्ञामदापयत् ॥१३॥
प्रत्यहं शिखिनो मांसं सूपकारेण संस्कृतम् । भक्षयत्यप्रकाशं तत् प्रासादाभ्यन्तरस्थितः ॥१४॥
कदाचित्तु हृते मांसे मार्जारेण पुरो बहिः । सूपकारो गतोऽपश्यन्मृतं शिशुमुपांशु च ॥१५॥
आनीयादात्सुसंस्कृत्य सौदासोऽप्यखसन्मुदा । अपृच्छच्च स तं मांसं कस्येदमिति सादरः ॥१६॥
अशितानि पुरा भद्र ! पिशितानि बहूनि भोः । न शतांशेन तान्यस्य स्पृशन्ति स्म रसान्तरम् ॥१७॥
सत्यं ब्रूहि हितं साधो ! सत्यमस्मत्त ते भयम् । इत्युक्तः सोऽवदत्सर्वं नीत्या युक्तः स्वचेष्टितम् ॥१८॥
सौदासोऽपि च तत् श्रुत्वा सूपकारं शशास सः । तुष्टोऽस्मि मर्त्यमांसं मे नित्यमानीयतामिति ॥१९॥
पितर्युपरते तावत्सौदासेऽपि पदस्थिते । सोपायं सूपकारोऽभूदन्वहं शिशुमारकः ॥२०॥
प्रत्येकं प्रत्यहं हानिमपत्यानामवेक्ष्य वै । परीक्ष्य भक्षको लोकैराशु देशान्निराकृतः ॥२१॥
रन्ध्रे व्याघ्रवदापत्य निशि नीत्वा तु मानुषान् । दिवाऽरण्ये चरः कुर्याद् व्यसनोपहतो न किम् ॥२२॥
असाध्यो लोकवित्रासी स एष भवताऽधुना । प्रापितः साधुना मृत्युमसाधारणशक्तिना ॥२३॥
इत्यावेद्य वयोवृद्धाः सौदासस्य कुचेष्टितम् । वस्त्रमाल्यविभूषाद्यैः पूजयन्ति स्म यादवम् ॥२४॥
लेभे च सोऽचलग्रामे सार्थवाहस्य देहजाम् । वेदसामपुरं चागा प्रयातो वनमालया ॥२५॥

राज्यमें उसने अभयकी घोषणा करा रक्खी थी ॥१२॥ उसका एक सौदास नामका पुत्र था। वह मांस खानेका बड़ा लम्पट था इसलिए उसने पितासे मयूरका मांस खानेकी आज्ञा प्राप्त कर ली थी ॥१३॥ प्रतिदिन रसोइया उसे मयूरका मांस तैयार कर देता था और वह उसे महलके भीतर छिपकर खाया करता था ॥१४॥ किसी एक दिन तैयार मांसको बिल्ली उठा ले गई जिससे मांसकी तलाशमें रसोइया नगरके बाहर गया वहाँ उसने एक मरा हुआ बालक देखा जिसे वह छिपाकर ले आया और अच्छी तरह तैयार कर उसे सौदासके लिए दे दिया। सौदासने उस मांसको बड़ी प्रसन्नतासे खाया और आदरपूर्वक उस रसोइयासे पूछा कि यह मांस किसका है ? ॥१५-१६॥ वह कहने लगा कि हे भद्र ! मैंने पहले बहुतसे मांस खाये हैं पर वे इस मांसके रसके सौवें भागका भी स्पर्श नहीं करते ॥१७॥ हे भले आदमी ! जो बात सत्य और हितकारी हो वह कहो। यह सच है कि तुम्हें मुझसे कुछ भी भय नहीं है। इस प्रकार कहनेपर नीतिसे युक्त रसोइयाने अपनी सब चेष्टा सौदासके लिए बतला दी ॥१८॥ रसोइयाकी बात सुनकर सौदासने उसको बहुत प्रशंसा की और कहा कि मैं तुम्हारे ऊपर बहुत सन्तुष्ट हूँ तुम प्रतिदिन मेरे लिए मनुष्यका ही मांस लाया करो ॥१९॥

तदनन्तर पिताके मरनेपर सौदास राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हुआ और उसका रसोइया किसी उपायसे प्रतिदिन बच्चोंको मारने लगा ॥२०॥ 'प्रतिदिन एक-एक बच्चेकी हानि होती जा रही है' यह देख नगरवासी लोगोंमें खलबली मच गई। उन्होंने परीक्षा कर सौदासको शिशु-भक्षक पाया। और उसे शीघ्र ही देशसे बाहर खदेड़ दिया ॥२१॥ अब वह अवसर देख व्याघ्रकी तरह रात्रिमें झपाटा मारकर मनुष्योंको ले जाता है और दिनभर जङ्गलमें रहता है सो ठीक ही है क्योंकि व्यसनमें पड़ा मनुष्य क्या नहीं करता है ? ॥२२॥ हे कुमार ! लोगोंको भय-भीत करनेवाला यह वही सौदास था। यह हमलोगोंके लिए असाध्य था परन्तु असाधारण शक्तिको धारण करनेवाले आपने उसे आज यमलोक पहुँचा दिया ॥२३॥ इस प्रकार नगरके वयोवृद्ध लोगोंने सौदासकी कुचेष्टाओंका वर्णन कर वस्त्र, माला तथा आभूषण आदिसे वसुदेवका खूब सत्कार किया ॥२४॥

तदनन्तर, वहाँसे चलकर कुमार वसुदेवने अचलग्रामके सेठकी वनमाला नामक पुत्रीको प्राप्त किया—उसके साथ विवाह किया और वहाँसे वनमालाके साथ चलकर वे वेदसामपुर

तत्पुराधिपतिं युद्धे स जित्वा कपिलश्रुतिम् । उवाह विधिना वीरस्तत्कन्यां कपिलाभिधाम् ॥२६॥
तस्यामजनयत्पुत्रं प्रसिद्धं कपिलाख्यया । प्रीतिं श्वसुरपुत्रेण प्राप्तश्चांशुमता पराम् ॥२७॥
वारिबन्धेऽन्यदा गन्धगजेन[1] ह्रियमाणकः । दृढमुष्टिर्जघानेभं नीलकण्ठः शुचाभवत्[2] ॥२८॥
पतितश्च शनैः शौरिस्तडागाम्भस्यनाकुलः । अटव्याश्च विनिष्क्रम्य गतः शालगुहां पुरीम् ॥२९॥
तत्र पद्मावतीं लेभे धनुर्वेदोपदेशतः । जित्वा जयपुरेशं च तत्सुतामपि[3] लब्धवान् ॥३०॥
साकमंशुमता यातो भद्रिलाख्यपुरं परम् । पौण्ड्रश्च नृपतिस्तत्र दुहिता चारुहासिनी ॥३१॥
दिव्यौषधिप्रभावेन सा युववेषधारिणी[4] । तेन विज्ञातवृत्तान्ता परिणीतातिहारिणी ॥३२॥
पुत्रं पात्रं श्रियां तस्यां स पौण्ड्रमुदपादयत् । निशि हंसापदेशेन हृतश्चाङ्गारकारिणा ॥३३॥
विसृष्टश्चापि गङ्गायां पपात वियतः शनैः । अपश्यत्पुरं प्रातरिलावर्धनसंज्ञकम् ॥३४॥
तत्रापणे निविष्टोऽसौ वणिग्दत्तवरासने । आपणः क्षणमात्रेण पूर्यते स्म धनैश्च सः ॥३५॥
तत्प्रभावमसौ बुद्ध्वा वणिग्नीत्वा स्वमन्दिरम् । ददौ रत्नवतीं यूने कन्यां धन्याय सम्पदा ॥३६॥
भुञ्जानः स तया दिव्यान् भोगानन्तरवर्जितान् । यातः शक्रमहं द्रष्टुमेकदा तु महापुरम् ॥३७॥
पुरो बहिरसौ दृष्ट्वा प्रासादान् विपुलान् बहून् । पृष्टवानिति केनामी किमर्थं वा निवेशिताः ॥३८॥

पहुँचे ॥२५॥ वीर वसुदेवने वेदसामपुरके राजा कपिलमुनिको युद्धमें जीतकर उसकी कपिला नामक पुत्रीके साथ विधि-पूर्वक विवाह किया ॥२६॥ वहाँ कपिलाके भाई अंशुमान नामक साले-के साथ वसुदेव परम प्रीतिको प्राप्त हुए जिससे वहाँ रहकर उन्होंने कपिलाके कपिल नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२७॥ एक दिन जिस नीलकण्ठने पहले नीलयशाका अपहरण किया था वह गन्ध-हस्तीका रूप धरकर वेदसामपुरमें आया। उसे बन्धनमें डालनेके लिए जब वसुदेव उसपर आरूढ हुए तो उन्हें वह हरकर आकाशमें ले गया। यह देख वसुदेवने उसे मुट्ठियोंके दृढ प्रहारसे खूब पीटा जिससे शोकवश वह गन्धहस्तीका रूप छोड़कर नीलकण्ठ हो गया ॥२८॥ वसुदेव धीरे-धीरे तालाबके जलमें गिरे और बिना किसी आकुलताके अटवीसे निकलकर शालगुहा नामक नगरीमें पहुँच गये ॥२९॥ वहाँ धनुर्वेदके उपदेशसे उन्होंने पद्मावती नामकी कन्या प्राप्त की। वहाँसे चलकर जयपुर गये और वहाँके राजाको जीतकर उसकी कन्या भी प्राप्त की ॥३०॥ वहाँसे चलकर वे अपने साले अंशुमान्के साथ भद्रिलपुर नामक श्रेष्ठ नगर गये। वहाँ उस समय पौण्ड्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी चारुहासिनी नामकी एक कन्या थी, वह कन्या दिव्य ओषधिके प्रभावसे सदा युवाका वेष धारण करती थी। वसुदेवको इसका पता लग गया इसलिए उन्होंने उस अतिशय सुन्दरी कन्याके साथ विवाह कर लिया ॥३१-३२॥ तथा कुछ समय बाद उस कन्यामें उन्होंने लक्ष्मीका पात्र एक पौण्ड्र नामका पुत्र उत्पन्न किया। एक दिन वसुदेव रात्रिके समय शयन कर रहे थे कि उनका वैरी अंगारक उन्हें हंसका रूप धरकर हर ले गया ॥३३॥ जब उससे छूटे तो धीरे-धीरे आकाशसे गङ्गा नदीमें गिरे। उसे पारकर जब किनारे-पर आये तो सबेरा होते ही उन्होंने इलावर्धन नामका नगर देखा ॥३४॥ वहाँ वे एक दुकानमें सेठके द्वारा दिये हुए उत्तम आसनपर बैठ गये। उनके बैठते ही क्षणमात्रमें वह दुकान धनसे भर गई ॥३५॥ इसको सेठ, वसुदेवका ही प्रभाव जानकर उन्हें अपने घर ले गया तथा वहाँ ले जाकर उसने भाग्यशाली तरुण वसुदेवके लिए अपनी रत्नवती कन्या प्रदान की ॥३६॥ वसुदेव रत्नवतीके साथ निरन्तराय दिव्य भोगोंको भोगते हुए वहीं रहने लगे। तदनन्तर वे एक समय इन्द्रध्वज विधान देखनेके लिए महापुर नगर गये ॥३७॥ वहाँ उन्होंने नगरके बाहर बहुतसे बड़े-बड़े महल देखकर किसी मनुष्यसे पूछा कि ये महल किसने किसलिए बनवाये हैं? ॥३८॥

१. गन्धगजेन्द्रह्रियमाणकः घ० । २. स चाभवत् म० । ३. तत्रैता- म० । ४. युवन्वेष- म०, क०, ग०, घ०, ङ० ।

तेनोक्तं सोमदत्तेन राज्ञा कन्यास्वयंवरे । कारिता बहुशश्चित्राः प्रासादाः पृथिवीभृताम् ॥३९॥
स्वयंवरविधेः कन्या कुतश्चिदपि हेतुतः । विरक्ताऽभूदतः सर्वे राजानश्च विसर्जिताः ॥४०॥
इत्याकर्ण्य स तस्याश्च चिन्तयन्मनसो गतिम् । पश्यन्निन्द्रमहं तत्र शौरिर्यावदवस्थितः ॥४१॥
तावत्ता सहसा प्राप्ताः सरक्षाः नृपतिस्त्रियः । इन्द्रध्वजं च वन्दित्वा प्रस्थिताः स्वगृहं पुनः ॥४२॥
आलानस्तम्भमाभज्य तदा स समदद्विपः । मारयन्सहसाऽऽगच्छन्मर्त्यान्मृत्युरिव स्वयम् ॥४३॥
लोकस्य मार्यमाणस्य महाकलकलध्वनिः । दिशो दश तदा व्याप रसतः पश्यतः पथि ॥४४॥
प्राप्तश्च मत्तमातङ्गो वेगी प्रवहणान्यसौ । कन्या प्रवहणात्त्वैका पपात सभया क्षितौ ॥४५॥
करिणं निर्मदीकृत्य तां ररक्ष भयाकुलाम् । पश्यतः सर्वलोकस्य कृतक्रीडः स यादवः ॥४६॥
परित्यज्य गजं श्रान्तं कन्यां भयविमूर्च्छिताम् । समाश्वासयदुत्थाय सा तमैक्षिष्ट रूपिणम् ॥४७॥
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य वाष्पाकुलविलोचना[1] । त्रपानता करं तस्य जग्राह स्पर्शसौख्यदम् ॥४८॥
गते शौरौ यथास्थानं धात्री वृद्धा महत्तराः । प्रगृह्य कन्यकां तां च ययुरन्तःपुरालयम् ॥४९॥
ततः कुबेरदत्तस्य [2]भवने कृतभूषणम् । शौरिमेत्य प्रतीहारी राजादेशात्ततोऽवदत् ॥५०॥
ज्ञातमेव हि ते नूनं वृत्तं देव ! यथा नृपः । सोमदत्तः प्रिया चास्य पूर्णचन्द्रेति कीर्तिता ॥५१॥
नाम्ना भूरिश्रवाः पुत्रः सोमश्रीस्तनयाऽनयोः । अस्याः स्वयंवरार्थं च समाहूता नरेश्वराः ॥५२॥
सोमश्रीर्निशि हर्म्यस्था देवागमनदर्शनात् । जातिस्मरणसंयुक्ता मुमूर्च्छ प्रेमवाहिनी ॥५३॥

मनुष्यने कहा कि राजा सोमदत्तने अपनी कन्याके स्वयंवरमें आनेवाले राजाओंके ठहरनेके लिए ये नाना प्रकारके महल बनवाये थे ।।३९।। परन्तु कन्या, किसी कारण स्वयंवरकी विधिसे विरक्त हो गई इसलिए स्वयंवर नहीं हो पाया और सब लोग विदा कर दिये गये ॥४०॥ यह सुनकर कुमार वसुदेव, उस कन्याके मनकी गतिका विचार करते हुए इन्द्रध्वज विधान देखनेके लिए ज्योंही बैठे त्योंही रक्षकोंके साथ राजाकी स्त्रियाँ सहसा वहाँ आ पहुँचीं। कुछ समय बाद वे स्त्रियाँ इन्द्रध्वज विधानको नमस्कारकर अपने घरकी ओर चलीं ॥४१-४२।। उसी समय बन्धनका खम्भा तोड़कर एक मदोन्मत्त हाथी साक्षात् मृत्यु (यम) की तरह मनुष्योंको मारता हुआ वहाँ आ पहुँचा ।।४३।। उस समय जो लोग मारे जा रहे थे तथा जो मार्गमें यह सब देखते हुए चिल्ला रहे थे उनका बहुत भारी कलकल शब्द दशो दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥४४।। वह मदोन्मत्त हाथी बड़े वेगसे उन स्त्रियोंके वाहनोंके समीप आया जिससे भयभीत हो एक कन्या वाहनसे नीचे पृथिवीपर गिर पड़ी ॥४५॥ यह देख कुमार वसुदेवने उस हाथीको मदरहित कर भयसे घबड़ाई हुई उस कन्याकी रक्षा की और सब लोगोंके देखते-देखते वे उस हाथीके साथ क्रीड़ा करने लगे ।।४६।। तदनन्तर जब हाथी थक गया तो उसे छोड़ उन्होंने भयसे मूर्च्छित कन्याको सान्त्वना दी। कन्याने उठकर सुन्दर रूपके धारक वसुदेवको देखा। देखते ही वह गरम और लम्बी साँस भरने लगी, उसके नेत्र आँसुओंसे व्याप्त हो गये तथा लज्जासे नम्रीभूत होकर उसने स्पर्शजन्य सुखको देनेवाला कुमारका हाथ पकड़ लिया ।।४७-४८॥

तदनन्तर वसुदेव यथास्थान चले गये और वृद्धा धाय, तथा कुलकी बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ उस कन्याको लेकर अन्तःपुर चली गयीं ।।४९॥ तत्पश्चात् एक दिन कुमार वसुदेव कुबेरदत्त सेठके घर आभूषण आदि धारणकर बैठे थे कि इतनेमें राजाकी आज्ञासे उनकी द्वारपालिनी आकर कहने लगी कि हे देव ! यह समाचार आपको अच्छी तरह विदित ही है कि यहाँका राजा सोमदत्त है और उसकी रानी पूर्णचन्द्र नामसे प्रसिद्ध है ॥५०-५१॥ इन दोनोंके भूरिश्रवा नामका पुत्र और सोमश्री नामकी कन्या है। कन्या सोमश्रीके स्वयंवरके लिए राजाने अनेक राजाओंको बुलाया था ।।५२।। परन्तु सोमश्री रात्रिके समय महलके ऊपर बैठी थी वहाँ देवोंका आगमन देख वह

१. विमोचना म० । २. भुवने म० ।

लब्धसंज्ञा समुत्थाय ध्यायन्ती स्वर्गिणं पतिम् । स्नानाशनविमुक्तेच्छा मौनव्रतमशिश्रियत् ॥५४॥
एकान्ते पृष्टया कृच्छ्रात् कथितं च ममानया । पूर्वजन्मनि देवेन सह क्रीडितमात्मनः ॥५५॥
पूर्वप्रच्युतदेवस्य हरिवंशे समुद्भवः । विज्ञातश्चानया देव्या सत्यात् केवलिभाषितात् ॥५६॥
समागमश्च विज्ञातः पत्या हस्तिभयच्छिदा । संवादे चाधुना जाते सा ते वाञ्छति सङ्गमम् ॥५७॥
राज्ञा मद्वचनाज्ज्ञात्वा प्रेषिताहं तवान्तिकम् । सौम्य ! सोमश्रिया साकं भज वीवाहमङ्गलम् ॥५८॥
इत्यावेदितसम्बन्धः स तुष्टोऽन्धकवृष्णिजः । सोमश्रियमुवाहेष्टां सोमदत्ततनूद्भवाम् ॥५९॥
स्वास्यारविन्दसौगन्ध्यमकरन्दोपयोगिनोः । काले याति सुखे तावत् सोमश्रीवसुदेवयोः ॥६०॥
अथ कोऽप्येकदा भर्तुर्भुजपञ्जरशायिनीम् । सोमश्रियं श्रियं वाऽरिरहरन्निशि खेचरः ॥६१॥
विबुद्धस्तु पतिः पत्नीमपश्यन् परमाकुलः । सोमश्रीः क्व गताऽसि त्वमेह्येहीति जुहाव ताम् ॥६२॥
ततोऽनन्तरमेवाऽहमिति दत्त्वा वचः स्थिताम् । खेटस्वसारमद्राक्षीत्सोमश्रीरूपधारिणीम् ॥६३॥
निष्क्रान्तासि बहिः कान्ते किमर्थमिति नोदिता । घर्मशान्त्यर्थमित्याह सोमश्रीरिव सा स्वयम् ॥६४॥
कृतरूपपरावर्तिः शौरिरूपवशीकृता । कन्याभावमुदस्यैनमरीरमदरिस्वसा ॥६५॥
नित्यशो भुक्तभोगा च सुप्ते पत्यौ स्वपित्यसौ । प्राक् प्रबुद्धा करोत्यूरुपादसंवाहनादिकम् ॥६६॥

जाति स्मरणसे युक्त हो गई और अपने पूर्व पतिके प्रेमको प्रकट करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥५३॥ जब वह सचेत हुई तो उठकर अपने देव पतिका ध्यान करने लगी और स्नान, भोजन आदिकी इच्छा छोड़ मौन लेकर बैठ गई ॥५४॥ एकान्तमें मैंने उससे पूछा तो उसने बड़ी कठिनाईसे मुझे बताया कि पूर्वजन्ममें मैंने देवके साथ क्रीड़ा की थी उसने यह भी बताया कि जब मैं देवी थी और वह देव मुझसे पहले ही वहाँसे च्युत हो गया तब केवली भगवान्के सत्य कथनसे मुझे मालूम हुआ था कि वह देव हरिवंशमें उत्पन्न हुआ है तथा हाथीके भयको नष्ट करनेवाले उस पतिके साथ मेरा पुनः समागम होगा। इस समय केवली भगवान्का कथन ज्योंका-त्यों मिल गया है अर्थात् जैसा उन्होंने बताया था वैसा ही हुआ है इसलिए वह आपके समागमकी इच्छा करती है ॥५५-५७॥ मेरे कथनसे सब समाचार जानकर राजाने मुझे आपके पास भेजा है इसलिए हे सौम्य ! मेरी यही प्रार्थना है कि आप सोमश्रीके साथ विवाह मङ्गलको प्राप्त हों ॥५८॥

इस प्रकार पूर्व भवका सम्बन्ध बतलानेपर वसुदेव बहुत ही संतुष्ट हुए और उन्होंने राजा सोमदत्तकी पुत्री सोमश्रीके साथ जो कि उनकी पूर्वभवकी प्रिय स्त्री थी विवाह कर लिया ॥५९॥ तदनन्तर जब अपने मुख कमलकी सुगन्धि और मकरन्दका उपयोग करनेवाले सोमश्री और वसुदेवका काल सुखसे व्यतीत हो रहा था तब एक दिन रात्रिके समय पतिके भुजपञ्जरमें शयन करनेवाली लक्ष्मीके समान सुन्दर सोमश्रीको कोई विद्याधर वैरी हर ले गया ॥६०-६१॥ जब वसुदेव जागे तब पत्नीको न देख बहुत व्याकुल हुए और 'हे सोमश्री ! तू कहाँ गई ? जल्दी आओ, आओ' इस प्रकार उसे पुकारने लगे ॥६२॥ जिस विद्याधरने सोमश्रीका हरण किया था उसकी बहिनने वसुदेवके पास आकर सोमश्रीका रूप धारण कर लिया और उनके पुकारते ही कहा कि 'मैं यह तो हूँ' इस प्रकार उत्तर देकर पासमें खड़ी हुई तथा सोमश्रीका रूप धारण करने-वाली विद्याधरकी बहिनको वसुदेवने देखा ॥६३॥ उसे देखकर कुमारने पूछा कि हे प्रिये ! बाहर किसलिए गई थीं ? इसके उत्तरमें उसने स्वयं सोमश्रीके समान कहा कि गरमी शान्त करनेके लिए गई थी ॥६४॥ इस प्रकार वसुदेवके रूपसे वशीभूत हुई शत्रुकी बहिन रूप बदलकर तथा अपना कन्याभाव छोड़कर उनके साथ क्रीड़ा करने लगी ॥६५॥ वह प्रतिदिन भोग भोगनेके बाद पति जब सो जाते थे तब सोती थी और उनके पहले ही जागकर जंघा तथा पैर आदिका मर्दन करने लगती थी ॥६६॥

अन्यदा तु विबुद्धोऽसौ प्रथमं कथमप्यथ । सोमश्रीरूपमुक्तां तां ददर्श शयितां निशि ॥६७॥
धीरो विस्मययुक्तस्तां सहसा स्वयमुत्थिताम् । अप्राक्षीद् मुग्धहो का त्वं सोमश्रीरिव वर्तसे ॥६८॥
सा प्रणम्याभणीत्सौम्य ! दक्षिणश्रेण्यवस्थितम् । स्वर्णाभं पुरमस्येशो मनोवेगो नभश्चरः ॥६९॥
पत्न्यङ्गारवती तस्य प्रत्यङ्गं सङ्गतप्रभा । सूनुर्मानसवेगोऽस्याः सुता वेगवती त्वहम् ॥७०॥
राज्यं मानसवेगे च पिता न्यस्य तपस्यया । पापस्योपशमं कर्तुं तपोवनमुपाविशत् ॥७१॥
नीता मानसवेगेन सोमश्रीः स्वपुरं परम् । आर्य ! तिष्ठति तत्रासौ शीलवेलावलम्बिनी ॥७२॥
तस्याः प्रसादने तेन प्रयुक्ताऽहमशक्तितः । त्वत्प्रियायाः सखी जाता सत्त्वशीलवशीकृता ॥७३॥
वार्तानिवेदनायाहं प्रेषिताऽशु तया तदा । त्वत्कलत्रत्वमायाता विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥७४॥
इत्यावेद्य तदादेशाद्वेगवत्या निवेदितम् । सक्रमं पितृबन्धुभ्यः सोमश्रीहरणादिकम् ॥७५॥
श्रुत्वा च तत्तथा तेऽपि विषण्णमतयः स्थिताः । वेगवत्यपि पत्यासा प्रकृत्या चिरमारमत् ॥७६॥
तया सह सुखं तस्य रममाणस्य भोगिनः । सम्प्राप्तो माधवो मासो मधुमत्तमधुव्रतः ॥७७॥
कदाचित्सह सुप्तोऽसौ तया सुरतखिन्नया । हृतो मानसवेगेन खेचरेण निशि द्रुतम् ॥७८॥
ताडितश्च विबुद्धेन खेचरो दृढमुष्टिना । तेन गङ्गाजले तं च मुमोच भयविह्वलः ॥७९॥
विद्यां साधयतस्तत्र स्कन्धे विद्याधरस्य सः । पपात नभसस्तस्य विद्यासिद्धिस्तथोदिता ॥८०॥
सिद्धविद्यः प्रणम्यासौ प्रयातो यदुनन्दनम् । कन्या विद्याधरी चैनं निनाय खचराचलम् ॥८१॥

अथानन्तर किसी दिन वसुदेव उससे पहले जाग गये और रात्रिके समय सोमश्रीका रूप छोड़कर सोती हुई उस स्त्रीको उन्होंने असली रूपमें देख लिया ॥६७॥ यह देख धीर-वीर वसुदेव आश्चर्यमें पड़ गये। उसी समय वह स्त्री भी सहसा जाग उठी। वसुदेवने उससे पूछा कि अहो! तू सोमश्रीके समान कौन है? ॥६८॥ इसके उत्तरमें उसने प्रणाम कर कहा कि हे सौम्य! दक्षिण श्रेणीमें एक स्वर्णाभ नामका नगर है। इसका स्वामी मनोवेग नामका विद्याधर है ॥६९॥ मनोवेगकी अङ्गारवती नामकी अत्यन्त सुन्दर पत्नी है। उसके मानसवेग नामका पुत्र और वेगवती नामकी मैं पुत्री हूँ ॥७०॥ हमारे पिता मानसवेगको राज्य देकर तपस्यासे पापका उपशम करनेके लिए तपोवनमें चले गये ॥७१॥ हे आर्य! हमारा भाई मानसवेग, सोमश्रीको हरकर अपने श्रेष्ठ नगरको ले गया जहाँ वह शीलकी मर्यादाका अवलम्बन लेकर विद्यमान है ॥७२॥ मानसवेगने उसे प्रसन्न करनेके लिए मुझे नियुक्त किया था पर मैं इस कार्यमें समर्थ नहीं हो सकी अतः आपकी प्रियाके सत्त्व और शील गुणसे वशीभूत हो उसकी सखी बन गई ॥७३॥ उस समय शीघ्रतासे अपना समाचार देनेके लिए उसने मुझे आपके पास भेजा था पर मैं आपकी स्त्री बन गई सो ठीक ही है क्योंकि चित्तवृत्तियाँ नाना प्रकारकी होती हैं ॥७४॥ इस प्रकार वेगवतीने कुमारको सब समाचार बताकर उनकी आज्ञानुसार सोमश्रीके पिता तथा भाई आदिको भी उसके हरण आदिके सब समाचार क्रमसे सुनाये ॥७५॥ जिन्हें सुनकर वे सब खेदखिन्न हुए। इधर वेगवती भी अपने असली रूपमें रहकर चिरकाल तक पतिके साथ क्रीड़ा करती रही ॥७६॥

अथानन्तर जब भोगी वसुदेव वेगवतीके साथ सुखसे क्रीड़ा करते हुए समय व्यतीत कर रहे थे तब वसन्तका महीना आ पहुँचा और भ्रमर मधु पी-पी कर उन्मत्त होने लगे ॥७७॥ कदाचित् वसुदेव संभोगसे खिन्न हुई वेगवतीके साथ सो रहे थे कि रात्रिके समय मानसवेग विद्याधर उन्हें शीघ्र ही हर ले गया। जागनेपर उन्होंने मुट्ठियोंके दृढ़ प्रहारसे उसे इतना पीटा कि उसने भयसे विह्वल हो उन्हें गङ्गाके जलमें छोड़ दिया ॥७८-७९॥ उस समय गङ्गाके जलमें बैठकर एक विद्याधर विद्या सिद्ध कर रहा था सो वसुदेव आकाशसे उसके कन्धेपर गिरे और उनके गिरते ही उस विद्याधरको विद्या सिद्ध हो गई ॥८०॥ विद्या सिद्ध होनेपर वह विद्याधर तो

तदनन्तरमाकीर्णं खेचरैर्नभसस्तलम् । पुष्पाणि पञ्चवर्णानि मुञ्चद्भिः प्रणतैः पुरः ॥८२॥
प्रवेशितः पुरं सोऽथ रथेन रविरोचिषा । तूर्यशङ्खनिनादेन पूरिताखिलदिङ्मुखम् ॥८३॥
कन्यां मदनवेगां च मदनोपमविभ्रमः । उपयेमे मुदा दत्तां खगैर्दधिमुखादिभिः ॥८४॥
बिभ्राणो वसुदेवोऽत्र भावं मदनवेगजम्[1] । चिक्रीड निबिडस्तन्या चिरं मदनवेगया ॥८५॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अनुभवन्तममुं जिनधर्मजं शमनुषक्त[2]मनङ्गजगोचरम् ।
रतिषु लब्धवरा वरमङ्गना जनकबन्धविमोक्षमयाचत ॥८६॥

इति अरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मदनवेगालाभवर्णनो नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

वसुदेवको प्रणाम कर चला गया और एक विद्याधर कन्या उन्हें विजयार्ध पर्वतपर ले गई ॥८१॥ उनके वहाँ पहुँचते ही आकाश विद्याधरोंसे व्याप्त हो गया। वे विद्याधर उस समय पाँच रङ्गके फूलोंकी वर्षा कर रहे थे तथा सामने आ-आकर प्रणाम करते थे ॥८२॥ तदनन्तर उन विद्याधरोंने सूर्यके समान देदीप्यमान रथपर बैठाकर वसुदेवका नगरमें प्रवेश कराया। उस समय तुरही और शङ्खोंके शब्दसे दशों दिशाएँ भर गई थीं ॥८३॥ वहाँ कामदेवके समान सुन्दर शरीरके धारक वसुदेवने, दधिमुख आदि विद्याधरोंके द्वारा प्रदत्त मदनवेगा नामक कन्याके साथ हर्षपूर्वक विवाह किया ॥८४॥ और वहीं रहकर कामके वेगसे उत्पन्न भावको धारण करते हुए वसुदेवने पीनस्तनी मदनवेगाके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा की ॥८५॥

कदाचित् कुमार वसुदेव, जिनधर्मके प्रसादसे मदनवेगाके साथ कामजनित सुखका उपभोग कर रहे थे कि रतिकालमें मदनवेगाने उन्हें अत्यन्त आनन्द दिया इसलिए प्रसन्न होकर उन्होंने मदनवेगासे कहा कि 'प्रिये ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ जो वर माँगना हो माँगो।' इस प्रकार वह वर पाकर मदनवेगाने उनसे यही वर माँगा कि हमारे पिता बन्धनमें पड़े हैं सो उन्हें छुड़ा दीजिए ॥८६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मदनवेगाके लाभका वर्णन करनेवाला चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२४॥

---

१. कामवेगोत्पन्नं । २. समसुखं गज म० ।

पञ्चविंशः सर्गः

भ्राता मदनवेगायाः भित्त्वा दधिमुखोऽन्यदा। पितृबन्धविमोक्षार्थी सम्बन्धं शौरयेऽवदत्[1] ॥१॥
शृणु देव ! नमेर्वंशे संख्यातीतेषु राजसु। अरिञ्जयपुराधीशो मेघनादोऽभवन्नृपः ॥२॥
पद्मश्रीस्तस्य कन्याऽभूत् सा च नैमित्तिकैः पुरा। स्त्रीरत्नं भवितेत्येवमादिष्टा चक्रवर्तिनः ॥३॥
नभस्तिलकनाथश्च प्रियपूर्वमनेकशः। वज्रपाणिरिति ख्यातस्तामयाचत रूपिणीम् ॥४॥
अलाभे च ततस्तस्या स रुष्टो दुष्टखेचरः। युद्धे जेतुमशक्तोऽगात्दकृतार्थो निजं पुरम् ॥५॥
मेघनादोऽपि तत्काले जातकेवललोचनम्। मुनिमभ्यर्च्य पप्रच्छ नृसुरासुरसंसदि ॥६॥
प्रभो ! मे दुहितुर्भर्ता भविता भरतेऽत्र कः। इति पृष्टोऽवदत्सोऽपि वरमन्वयपूर्वकम् ॥७॥
कौरवान्वयसम्भूतो भूतो गजपुरे नृपः। कार्तवीर्य इति ख्यातिं बिभ्रद्वीर्यसमुद्धतः ॥८॥
सोऽवधीत् कामधेन्वर्थं जमदग्निं[2] तपस्विनम्। क्रोधात्परशुरामस्तं जघान पितृघातिनम् ॥९॥
क्षत्रियेषु तथाऽन्येषु सकलत्रेषु शत्रुणा। क्रुद्धेन दत्तयुद्धेषु मार्यमाणेषु भूरिषु ॥१०॥
अन्तर्वत्नी तदा पत्नी कार्तवीर्यस्य कातरा। तारा रहसि निःसृत्य प्राविशत्कौशिकाश्रमम् ॥११॥
वसन्ती तत्र सा भीरुः प्रसूता तनयं शुभम्। क्षत्रियत्रासनिर्भेदमष्टमं चक्रवर्तिनम् ॥१२॥

अथानन्तर किसी दिन मदनवेगाका भाई दधिमुख अपने पिताको बन्धनसे छुड़ानेकी इच्छा करता हुआ कुमार वसुदेवके पास आकर निम्नाङ्कित सन्दर्भ कहने लगा ॥१॥ उसने कहा कि हे देव ! सुनिए, नमिके वंशमें असंख्यात राजाओंके हो जानेसे अरिञ्जयपुरका स्वामी राजा मेघनाद हुआ ॥२॥ उसके एक पद्मश्री नामकी कन्या थी। उस कन्याके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने बताया था कि यह चक्रवर्तीकी स्त्री-रत्न होगी ॥३॥ उसीके समयमें नभस्तिलक नगरका राजा वज्रपाणि भी हुआ। उसने रूपवती पद्मश्री कन्याकी पहिले अनेक बार याचना की परन्तु जब वह उसे नहीं प्राप्त कर सका तो उस दुष्ट विद्याधरने रुष्ट होकर युद्ध ठान दिया। मेघनाद प्रबल शक्तिका धारक था इसलिए वज्रपाणि उसे युद्धमें जीत नहीं सका फलस्वरूप वह कार्यमें असफल हो अपने नगरको वापिस लौट गया ॥४-५॥ उसी समय किन्हीं मुनिराजको केवलज्ञानरूपी लोचनकी प्राप्ति हुई सो उनकी पूजाके अर्थ अनेक मनुष्य, देव और धरणेन्द्रोंकी सभा जुटी। उस सभामें केवली भगवान्‌की पूजा कर मेघनादने उनसे पूछा कि हे प्रभो ! इस भरत क्षेत्रमें मेरी पुत्रीका भर्ता कौन होगा ? इस प्रकार पूछनेपर केवलज्ञानी मुनिराजने उसके योग्य वर और उसके कुलका निरूपण किया ॥६-७॥

उन्होंने कहा कि हस्तिनापुर नगरमें कौरववंशमें उत्पन्न हुआ कार्तवीर्य नामका एक राजा था जो पराक्रमसे बहुत ही उद्दण्ड था ॥८॥ उसने कामधेनुके लोभसे जमदग्नि नामक तपस्वीको मार डाला था। जमदग्निका लड़का परशुराम था। वह भी बड़ा बलवान् था अतः उसने क्रोध-वश पिताका घात करनेवाले कार्तवीर्यको मार डाला ॥९॥ इतनेसे ही उसका क्रोध शान्त नहीं हुआ अतः उसने क्रुद्ध होकर युद्धमें स्त्री-पुत्रों सहित और भी अनेक क्षत्रियोंको मार डाला। इस तरह जब वह अनेक क्षत्रियोंको मार रहा था तब राजा कार्तवीर्यकी गर्भवती तारा नामकी पत्नी भयभीत हो गुप्त रूपसे निकलकर कौशिक ऋषिके आश्रममें जा पहुँची ॥१०-११॥ वहाँ भय सहित निवास करती हुई तारा रानीने एक पुत्र उत्पन्न किया जो क्षत्रियोंके त्रासको नष्ट करने-

---

१. पितृबन्धु म० । २. यमदग्निं क०, ख०, ग० ।

यस्माद्भूमिगृहे जातः सुभौमस्तेन भाषितः । कौशिकस्याश्रमे रम्ये प्रच्छन्नो वर्धतेऽधुना ॥१३॥
स हन्ता जामदग्न्यस्य षट्खण्डपतिरूर्जितः । दुहितुर्भविता भर्ता भवतोऽल्पैर्दिनैरिह ॥१४॥
सप्तकृत्वः कृतान्ताभः स कृत्वा क्षत्रमारणम् । रामोऽपि निभृतं चेतो धत्ते द्विजहितेऽधुना ॥१५॥
एवमेकातपत्रायां पृथिव्यां जमदग्निजः । प्रतापाग्निपरीताशः पूरिताशो विजृम्भते ॥१६॥
सुभौमे वर्धमाने तु तापसाश्रमवासिनि । उत्पाताः शतशो जाता जामदग्न्यगृहेऽधुना ॥१७॥
आशङ्कितः स नैमित्तं पृच्छति स्म सविस्मयः । उत्पाताः कथयन्तीमे किमनिष्टमिति श्रुतम् ॥१८॥
स आह वर्धते वैरी भवतोऽन्तर्हितः क्वचित् । विज्ञेयः कथमित्युक्ते प्राह नैमित्तिकस्ततः ॥१९॥
हतक्षत्रियसक्तानां दंष्ट्रा यस्य जिघत्सतः । पायसत्वेन वर्तन्ते स एवारिस्तवोद्धतः ॥२०॥
इति श्रुत्वा स [1]जिज्ञासुः शत्रुं क्षत्रियपुङ्गवम् । विशालां [2]सत्रशालां तामाश्वेव समचीकरत् ॥२१॥
[3]सत्रमध्ये व्यवस्थाप्य दंष्ट्राभरितभाजनम् । [4]निरूपितस्तदध्यक्षो यत्नवानवतिष्ठते ॥२२॥
आकर्ण्य मेघनादस्तं कृत्वा केवलिवन्दनाम् । गत्वा गजपुरं शीघ्रं पश्यति स्म कुमारकम् ॥२३॥
शस्त्रशास्त्रार्णवस्यान्ते वर्तमानमधिश्रियम् । ज्वलत्प्रतापमभितो भानुमन्तमिवोदितम् ॥२४॥
शनैः स प्रेरितस्तेन वृत्तान्तविनिवेदिना । अहितेन्धनदाहाय वायुनेव [5]तनूनपात् ॥२५॥
आजगाम च तेनैव सह शत्रुगृहं गृहात् । बुभुक्षुरुपविष्टश्च दर्भासनपरिग्रहः ॥२६॥

वाला आठवाँ चक्रवर्ती होगा ॥१२॥ क्योंकि वह पुत्र भूमिगृह—तलघरमें उत्पन्न हुआ था इसलिए 'सुभौम' इस नामसे पुकारा जाने लगा । इस समय वह बालक कौशिक ऋषिके रमणीय आश्रममें गुप्तरूपसे बढ़ रहा है ॥१३॥ वही कुछ ही दिनोंमें परशुरामको मारनेवाला बलशाली चक्रवर्ती होगा और वही तुम्हारी कन्याका पति होगा ॥१४॥ परशुराम यमराजके समान क्रूर है वह सात बार क्षत्रियोंका अन्त कर इस समय ब्राह्मणोंके हितमें अपना मन लगा रहा है ॥१५॥ इस तरह जिसने प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंको व्याप्त कर दिया है तथा मनोवाञ्छित दान देकर जिसने याचकोंकी आशाएँ पूर्ण कर दी हैं ऐसा परशुराम इस समय एकछत्र पृथिवीपर निरन्तर वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥१६॥

इधर तपस्वीके आश्रममें निवास करनेवाला सुभौम जैसे-जैसे बढ़ने लगा उधर परशुरामके घर वैसे-वैसे ही सैकड़ों उत्पात होने लगे ॥१७॥ उत्पातोंसे आशङ्कित एवं आश्चर्य चकित हो उसने निमित्तज्ञानीसे पूछा कि ये उत्पात मेरे किस अनिष्टको कह रहे हैं ? ॥१८॥ निमित्तज्ञानीने कहा कि आपका शत्रु कहीं छिपकर वृद्धिको प्राप्त हो रहा है । वह कैसे जाना जा सकता है ? इस प्रकार परशुरामके पूछनेपर निमित्तज्ञानीने पुनः कहा कि ॥१९॥ तुम्हारे द्वारा मारे हुए क्षत्रियोंकी डाढ़ें जिसके भोजन करते समय खीर रूपमें परिणत हो जावें वही तुम्हारा उद्दण्ड शत्रु है ॥२०॥ यह सुनकर क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ शत्रुको जाननेकी इच्छा करते हुए परशुरामने शीघ्र ही एक विशाल दानशाला बनवाई ॥२१॥ और दानशालाके मध्यमें डाढ़ोंसे भरा बर्तन रखकर उसके अध्यक्षको सब वृत्तान्त समझा दिया जिससे वह यत्नपूर्वक वहाँ सदा अवस्थित रहता है ॥२२॥ यह सब समाचार सुन राजा मेघनाद केवलीको वन्दना कर शीघ्र ही हस्तिनापुर गया और वहाँ उसने कुमार सुभौमको देखा ॥२३॥ उस समय सुभौम कुमार शस्त्र और शास्त्ररूपी सागरके अन्तिम तटपर विद्यमान था, अधिक शोभासे युक्त था, सब ओर उसका देदीप्यमान प्रताप फैल रहा था, और वह उदित होते हुए सूर्यके समान जान पड़ता था ॥२४॥ जिस प्रकार इन्धनको नष्ट करनेके लिए वायु अग्निको प्रेरित कर देती है उसी प्रकार पूर्ववृत्तान्त सुनानेवाले राजा मेघनादने उसे शत्रुरूपी इन्धनको जलानेके लिए धीरेसे प्रेरित कर दिया ॥२५॥ वह उसी

१. जिघांसुः म० । २. भोजनशालाम् । ३. शत्रुमध्ये क० । ४. निरूपितं तदध्यक्षे क० । ५. अग्निः ।

[1]दंष्ट्राभाजनमग्रेऽस्य द्विजाग्रासनवर्तिनः । विन्यस्तं तत्प्रभावेण दंष्ट्राः पायसतां ययुः ॥२७॥
ततोऽध्यक्षनरैराशु रामाय विनिवेदितम् । स जिघांसुस्समागच्छत्परशुव्यग्रपाणिकः ॥२८॥
भुञ्जानः पायसं पात्र्यां[2] सुभौमो हन्यमानकः । जघानारिं [3]तयैवाशु चक्रत्वपरिवृत्तया ॥२९॥
तं चतुर्दशरत्नानि निधयो नव भेजिरे । द्वात्रिंशच्च सहस्राणि नृपाश्चक्रिणमष्टमम् ॥३०॥
स्त्रीरत्नलाभतुष्टेन मेघनादोऽपि चक्रिणा । नीतो विद्याधरेशित्वमवधीद्वज्रपाणिकम् ॥३१॥
एकविंशतिवारांश्च चक्रवर्त्यपि रोषणः । चक्रेणाब्राह्मणां क्षोणीं शठं प्रतिशठस्तत[4]: ॥३२॥
षष्टिवर्षसहस्राणि जीवित्वा तृप्तिवर्जितः । सुभौमः [5]सार्वभौमोऽन्ते सप्तमीं पृथिवीं गतः ॥३३॥
[6]सन्ताने मेघनादस्य विद्याबलसमुद्धतः । प्रतिशत्रुरभूत्षष्ठस्त्रिखण्डाधिपतिर्बलिः ॥३४॥
नन्दश्च पुण्डरीकश्च [7]हलचक्रधरौ ततः । अभूतां निहतस्ताभ्यां बलिभ्यां बलिराहवे ॥३५॥
बलेर्वंशे समुत्पन्नः सहस्रग्रीवखेचरः । परः पञ्चशतग्रीवो द्विशतग्रीव इत्यतः ॥३६॥
एवमादिष्वतीतेषु खेचरेषु बहुष्वभूत् । विद्युद्वेगः पिताऽस्माकं श्वशुरस्तव यादव ॥३७॥
सोऽन्यदा मुनिमप्राक्षीदवधिज्ञानचक्षुषम् । पतिर्मदनवेगायाः कोऽस्त्वस्या भगवन्निति ॥३८॥
मुनिराह भवत्सूनोर्विद्यां साधयतो निशि । चण्डवेगस्य यः स्कन्धे गङ्गास्थस्य पतिष्यति ॥३९॥
तं निश्चित्य पिता पुत्रं चण्डवेगं न्ययोजयत् । गङ्गायां चण्डवेगाख्यं विद्याराधनकर्मणि ॥४०॥

समय घरसे निकल राजा मेघनादके साथ शत्रुके घर जा पहुँचा औ भूखा बन दर्भका आसन ले परशुरामकी दानशालामें भोजनार्थ जा बैठा ॥२६॥ ब्राह्मणके अग्रासनपर बैठे हुए कुमार सुभौमके आगे डाँढ़ोंका पात्र रक्खा गया और उसके प्रभावसे समस्त डाढ़ें खीर रूपमें परिणत हो गईं ॥२७॥ तदनन्तर अध्यक्षके आदमियोंने शीघ्र ही जाकर परशुरामके लिए इसकी सूचना दी और परशुराम उसे मारनेकी इच्छासे फरसा हाथमें लिये शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥२८॥ जिस समय सुभौम थालीमें आनन्दसे खीरका भोजन कर रहा था उसी समय परशुरामने उसे मारना चाहा। परन्तु सुभौमके पुण्य प्रभावसे वह थाली चक्रके रूपमें परिवर्तित हो गई और उसीसे उसने शीघ्र ही परशुरामको मार डाला ॥२९॥ सुभौम अष्टम चक्रवर्तीके रूपमें प्रकट हुआ। चौदह रत्न, नौ निधियाँ और मुकुट बद्ध बत्तीस हजार राजा उसकी सेवा करने लगे ॥३०॥ स्त्री-रत्नके लाभसे सन्तुष्ट हुए चक्रवर्ती सुभौमने मेघनादको विद्याधरोंका राजा बना दिया जिससे शक्ति सम्पन्न हो उसने वज्रपाणिको मार डाला ॥३१॥ तदनन्तर शठके प्रति शठता दिखानेवाले सुभौम चक्रवर्तीने भी क्रोधयुक्त हो चक्ररत्नसे इक्कीस बार पृथिवीको ब्राह्मण-रहित किया ॥३२॥ चक्रवर्ती सुभौम साठ हजार वर्ष तक जीवित रहा परन्तु तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ इसलिए आयुके अन्तमें मरकर सातवें नरक गया ॥३३॥

राजा मेघनादकी सन्ततिमें आगे चलकर छठवाँ राजा बलि हुआ। बलि विद्याबलसे उद्दण्ड था, और तीन खण्डका स्वामी प्रतिनारायण था ॥३४॥ उसी समय नन्द और पुण्डरीक नामक बलभद्र तथा नारायण विद्यमान थे और अतिशय बलके धारक इन्हीं दोनोंके द्वारा युद्धमें बलि मारा गया ॥३५॥ बलिके वंशमें सहस्रग्रीव, पञ्चशतग्रीव और द्विशतग्रीवको आदि लेकर जब बहुतसे विद्याधर राजा हो चुके तब हे यादव! विद्युद्वेग नामका राजा उत्पन्न हुआ। वह विद्युद्वेग हमारा पिता है तथा आपका श्वसुर है ॥३६-३७॥ एक दिन राजा विद्युद्वेगने अवधि-ज्ञानी मुनिराजसे पूछा कि हे भगवन्! हमारी इस मदनवेगा पुत्रीका पति कौन होगा? ॥३८॥ मुनिराजने कहा कि रात्रिके समय गङ्गामें स्थित होकर विद्या सिद्ध करनेवाले तुम्हारे चण्डवेग नामक पुत्रके कन्धेपर जो गिरेगा उसीकी यह स्त्री होगी ॥३९॥ यह निश्चय करके पिताने अपने

१. दंष्ट्राभोजन म० । २. पात्र्या । ३. तथैवाशु म० । ४. तथा म० । ५. सर्वस्याः भूमेरधिपः सार्वभौमः चक्रवर्ती । ६. सन्तानो म० । ७. हलशक्रधरौ म० ।

नभस्तिलकनाथश्च खेटस्त्रिशिखरः खलः । याचित्वैनां स्वपुत्राय सूर्यकाय न लब्धवान् ॥४१॥
युद्धे रन्ध्रमसौ लब्ध्वा बद्ध्वाऽस्मज्जनकं व्यधात् । वैरानुबन्धबुद्धिस्तं बन्धनागारवर्तिनम् ॥४२॥
सम्प्राप्तश्च त्वमस्माभिः साम्प्रतं पुरुविक्रमः । श्वशुरस्यारिबद्धस्य कुरु बन्धविमोक्षणम् ॥४३॥
पूर्वजानां च दत्तानि सुभौमेन प्रसादिना । विद्यास्त्राणि गृहाणेश ! शात्रवस्य जिघांसया ॥४४॥
श्रुत्वा दधिमुखस्योक्तं वसुदेवः प्रतापवान् । श्वशुरस्य विमोक्षार्थं मतिमात्मनि चादधे ॥४५॥
चण्डवेगस्ततस्तस्मै विद्यास्त्राणि बहून्यसौ । विधिपूर्वं ददौ यूने सेवितानि सुरैः सदा ॥४६॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम्ना लोकोत्सादनमप्यतः । आग्नेयं वारुणं चास्त्रं माहेन्द्रं वैष्णवं तथा ॥४७॥
यमदण्डमथैशानं स्तम्भनं मोहनं तथा । वायव्यं जृम्भणं चापि बन्धनं मोक्षणं ततः ॥४८॥
विशल्यकरणं चास्त्रं व्रणसंरोहणं तथा । सर्वाच्छादनं चैव छेदनं हरणं परम् ॥४९॥
एवमाद्यानि चान्यानि सरहस्यानि यादवः । चण्डवेगवितीर्णानि अग्राहीदस्त्राणि सादरः ॥५०॥
स्वयमेव [1]बलोद्रेकात् क्रूरस्त्रिशिखरो बलैः । युयुत्सुरागमत्क्षिप्रं चण्डवेगपुरान्तिकम् ॥५१॥
गत्वा बध्यः स्वयं प्राप्तः समीपमिति तोषवान् । शौरिः श्वशुरपुत्रादिबलैः[2]सामा विनिर्ययौ ॥५२॥
खेचराणां निकायस्य मध्ये स यदुनन्दनः । कल्पवासिनिकायस्य पुरन्दर इवाबभौ ॥५३॥
खे मातङ्गनिकायस्य मध्ये त्रिशिखरो बभौ । रौद्रासुरनिकायस्य यथैव चमरासुरः ॥५४॥
विमानैश्च महामानैर्गजैश्च मदमत्सरैः । तुरङ्गैर्वायुवेगैश्च बलयोः [3]स्थगितं नभः ॥५५॥

चण्डवेग नामक पुत्रको तेज वेगसे युक्त गङ्गा नदीमें विद्या सिद्ध करनेके कार्यमें नियुक्त किया ॥४०॥ नभस्तिलक नगरका राजा त्रिशिखर नामका दुष्ट विद्याधर, अपने सूर्यक नामक पुत्रके लिए इस कन्याकी कई बार याचना कर चुका था पर इसे प्राप्त नहीं कर सका ॥४१॥ इसलिए सदा वैर रखता था। एक दिन युद्धमें अवसर पाकर उसने हमारे पिताको बाँधकर कारागृहमें डाल दिया ॥४२॥ इस समय प्रबल पराक्रमको धारण करनेवाले आप हम सबको प्राप्त हुए हैं इसलिए शत्रुके द्वारा अपने श्वसुरको शीघ्र ही बन्धनसे मुक्त करो ॥४३॥ सुभौम चक्रवर्तीने प्रसन्न होकर हमारे पूर्वजोंके लिए जो विद्यास्त्र दिये थे हे स्वामिन् ! शत्रुका घात करनेकी इच्छासे उन्हें ग्रहण कीजिए ॥४४॥

इस प्रकार दधिमुखके कहे वचन सुनकर प्रतापी वसुदेवने श्वसुरको छुड़ानेके लिए मनमें विचार किया ॥४५॥ तदनन्तर चण्डवेगने युवा वसुदेवके लिए देव जिनकी सदा सेवा करते थे ऐसे बहुतसे विद्यास्त्र विधिपूर्वक प्रदान किये ॥४६॥ उनमेंसे कुछ विद्याओंके नाम ये हैं—ब्रह्मशिर, लोकोत्सादन, आग्नेय, वारुण, माहेन्द्र, वैष्णव, यमदण्ड, ऐशान, स्तम्भन, मोहन, वायव्य, जृम्भण, बन्धन, मोक्षण, विशल्यकरण, व्रणसंरोहण, सर्वाच्छादन, छेदन और हरण ॥४७–४९॥ इस प्रकार इन्हें आदि लेकर चलाने और संकोचनेकी विधि सहित अन्य अनेक विद्यास्त्र चण्डवेगने कुमार वसुदेवके लिए दिये और उन्होंने आदरके साथ उन्हें ग्रहण किया ॥५०॥ उस समय बलकी अधिकतासे युद्धकी इच्छा रखता हुआ दुष्ट त्रिशिखर, स्वयं ही सेनाओंके साथ शीघ्र चण्डवेगके नगरके समीप आ पहुँचा ॥५१॥ 'जिसे जाकर बाँधना था वह स्वयं ही पास आ गया' यह विचारकर संतुष्ट होते हुए वसुदेव, अपने सालों आदिकी सेनाके साथ बाहर निकले ॥५२॥ विद्याधरोंके झुण्डके बीच वह वसुदेव कल्पवासी देवोंके समूहके बीच इन्द्रके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५३॥ और आकाशमें खड़े मातङ्ग जातिके विद्याधरोंके बीच त्रिशिखर क्रूर असुरोंके बीचमें स्थित चमरेन्द्रके समान सुशोभित हो रहा था ॥५४॥ दोनों ही सेनाओंके बड़े-बड़े विमानों, मदोन्मत्त हाथियों और वायुके समान वेगशाली घोड़ोंसे आकाश आच्छादित हो गया ॥५५॥

---

१. शक्त्यतिरेकात् । २. सह । ३. आच्छन्नम् ।

शस्त्रांशुनिकरच्छन्नचण्डांशुकरयोरभूत् । तूर्यादिरवतोषिण्योः सङ्घातो व्योम्नि सेनयोः ॥५६॥
आकर्णाकृष्टकोदण्डमण्डलोन्मुक्तसायकैः । अभिद्यत नृणां बाह्या नान्तःस्था हृदयस्थली ॥५७॥
अच्छिद्यन्त शिरांस्युग्रचक्रधाराभिराहवे । शशिशङ्खविशुद्धानि न यशांसि मनस्विनाम् ॥५८॥
पपात सुभटः खड्गधारापातेन मूर्च्छितः । अनेकरणनिर्व्यूढप्रतापस्तु न संयुगे ॥५९॥
घोरमुद्गरघातेन चक्षुर्बभ्राम मानिनः । विपक्षस्य जयोद्ग्रासघस्मरं तु न मानसम् ॥६०॥
गजाश्वरथपादातं यथास्वं सुमनोरथम् । युयुधे युधि धैर्येण शौर्येण च विशेषितम् ॥६१॥
शस्त्रार्थैः प्राकृतैर्योधाः कृतयुद्धमहोत्सवाः । [1]युद्धश्रमविनिर्मुक्ताश्चिरं युयुधिरेऽधिकम् ॥६२॥
[2]सौर्पकाङ्गारवैगारिनीलकण्ठपुरोगमाः । पुरस्कृत्य जिताश्चण्डाश्चण्डवेगेन वेगिना ॥६३॥
जवनाश्वरथारूढं नानाशस्त्रास्त्रभीषणम् । अग्रेदधिमुखं शौरिं प्राप्तस्त्रिशिखरोऽभितः ॥६४॥
प्राकृतास्त्रैस्तयोरासीत्प्रथमं प्रधनं महत् । परस्परशरासारव्याप्ताशान्तान्तरिक्षयोः ॥६५॥
क्षिप्रं चिक्षेप चाग्नेयमस्त्रं शौरिर्धनुर्धरः । रौद्रज्वालाकुलेनाशु तेनादाहि रिपोर्बलम् ॥६६॥
अस्त्रेण वारुणेनारिर्विध्याप्याग्नेयमाहवे । मोहनेन महास्त्रेण शौरिसैन्यं व्यमोहयत् ॥६७॥
चित्तप्रसादनेनाशु मोहनास्त्रमपास्य सः । शौरिर्व्यनाशयद् व्योम्नि वायव्येन च वारुणम् ॥६८॥
क्षिप्रं क्षिप्रं निरस्यासावस्त्रमस्त्रेण वैरिणः । माहेन्द्रास्त्रेण चिच्छेद शिरस्तस्य यदूत्तमः ॥६९॥
तस्मिन्नस्तमिते दीप्ते क्षिप्रं शेषा नभश्चराः । नेशुराशाः परित्यज्य रवाविव करोत्कराः ॥७०॥

शस्त्र-समूहकी किरणोंसे जिन्होंने सूर्यकी किरणोंको आच्छादित कर दिया था तथा जो तुरही आदि वादित्रोंके शब्दसे अपना संतोष प्रकट कर रही थीं ऐसी दोनों सेनाओंकी आकाशमें मुठभेड़ हुई ॥५६॥ कानों तक खींचे हुए धनुष-मण्डलोंसे छूटे बाणोंसे मनुष्योंके बाह्य हृदय तो खण्डित हुए थे परन्तु अन्तर्मन हृदय नहीं ॥५७॥ युद्धमें चक्रोंकी तीक्ष्ण धाराओंसे तेजस्वी मनुष्योंके शिर तो कटे थे परन्तु चन्द्रमा और शङ्खके समान उज्ज्वल यश नहीं ॥५८॥ युद्धमें तलवारकी धारके पड़नेसे मूर्च्छित हुआ योद्धा तो गिरा था, परन्तु अनेक युद्धोंमें वृद्धिको प्राप्त हुआ प्रताप नहीं ॥५९॥ मुद्गरकी भयंकर चोटसे अभिमानीका नेत्र तो घूमने लगा था परन्तु शत्रुकी विजय रूपी उत्कट ग्रासको खानेवाला मन नहीं ॥६०॥ युद्धस्थलमें धीरता और शूरतासे विशेषताको प्राप्त हुई हाथी, घोड़ा, रथ और पयादोंकी—चतुरङ्गिणी सेना, अपनी-अपनी इच्छानुसार यथायोग्य रीतिसे युद्ध कर रही थी ॥६१॥ जो योद्धा पहले साधारण शस्त्रोंसे युद्धका महोत्सव मनाया करते थे वे भी उस समय युद्धजन्य परिश्रमसे रहित हो चिरकाल तक अधिक युद्ध करते रहे। ॥६२॥ सौर्पक, अङ्गार, वैगारि तथा नीलकण्ठ आदि शत्रुपक्षके जो प्रमुख शूरवीर थे वेगशाली चण्डवेगने सामनाकर उन सबको जीत लिया ॥६३॥ तदनन्तर जो वेगशाली घोड़ोंके रथपर आरूढ थे, नाना शस्त्र और अस्त्रोंसे भयंकर थे, तथा जिनके आगे रथ हाँकनेके लिए दधिमुख विद्यमान था ऐसे वसुदेवके सामने त्रिशिखर आया ॥६४॥ परस्परकी बाण वर्षासे जिन्होंने दिशाओंके अन्त तथा आकाशको व्याप्त कर रक्खा था ऐसे उन दोनोंका पहले तो साधारण शस्त्रोंसे महायुद्ध हुआ किन्तु पीछे धनुर्धारी वसुदेवने शीघ्र ही आग्नेय अस्त्र छोड़ा जिसकी भयंकर ज्वालाओंसे शत्रुकी सेना तत्काल जलने लगी ॥६५–६६॥ उधर शत्रुने वारुणास्त्रके द्वारा आग्नेयास्त्रको बुझाकर मोहन नामक महा अस्त्रसे वसुदेवकी सेनाको विमोहित कर दिया ॥६७॥ इधर वसुदेवने चित्तप्रसादन नामक अस्त्रसे मोहनास्त्रको दूर हटा दिया और आकाशमें वायव्य अस्त्र चलाकर वारुणास्त्रको नष्ट कर दिया ॥६८॥ इस प्रकार अपने प्रतिद्वन्द्वी शस्त्रसे शत्रुके शस्त्रको शीघ्रातिशीघ्र नष्ट कर वसुदेवने माहेन्द्रास्त्रके द्वारा शत्रुको काट डाला ॥६९॥ जिस प्रकार सूर्यके अस्त होनेपर किरणोंके समूह दिशाएँ छोड़कर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार देदीप्यमान

१. युद्धश्रम -म० । २. शौर्यकांगारि -म० ।

ततः शौरिः समस्तैस्तैरात्मीयैः खेचरैर्वृतः । श्वशुरं बन्धनागाराद्विमोच्य स्वपुरं ययौ ॥७१॥

दोधकवृत्तम्

दुर्जयमप्यरिलोकमनेकैः शौर्यसखो निखिलं खचरौघैः ।
आशु विजित्य जनो जिनधर्मादाश्रयतामिह याति बहूनाम् ॥७२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मदनवेगालाभत्रिशिखरवधवर्णनो नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥२५॥

त्रिशिखरके अस्तमित होते ही शेष विद्याधर दिशाएँ (अथवा अभिलाषाएँ) छोड़कर नष्ट हो गये—भाग गये ॥७०॥ तदनन्तर अपने पक्षके समस्त विद्याधरोंसे घिरे हुए वसुदेव, कारागृहसे श्वसुरको छुड़ाकर अपने नगर वापिस गये ॥७१॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जिनधर्मके प्रसादसे एक प्रतापी मनुष्य, अनेक विद्याधरोंके समूहसे दुर्जेय समस्त शत्रुओंको शीघ्र ही जीतकर बहुतसे मनुष्योंकी आश्रयताको प्राप्त हो जाता है—उनके द्वारा सेवनीय हो जाता है अतः सदा जिनधर्मकी उपासना करनी चाहिए ॥७२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें मदनवेगाके लाभ और त्रिशिखरके वधका वर्णन करनेवाला पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२५॥

षड्विंशः सर्गः

[1]शौरेर्मदनवेगायां मदनप्रतिमोऽभवत् । अनावृष्टिरिति ख्यातस्तनयो नयविद्बली ॥१॥
सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूटजिनालयम् । एकदा वन्दितुं सोऽपि शौरिः मदनवेगया ॥२॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः[2] प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् । तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥३॥
विद्युद्वेगोऽपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः । कृतपूजास्थितिः श्रीमान् स्वनिकायपरिष्कृतः ॥४॥
पृष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया । विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥५॥
अस्मदीयं विभो स्तम्भं ये श्रिताः पद्मपाणयः । पद्ममालाधरास्तेऽमी गौरिकाख्या नभश्चराः ॥६॥
रक्तमालाधराश्चैते रक्तकम्बलवाससः । गान्धारस्तम्भमाश्रित्य गान्धाराः खेचराः स्थिताः ॥७॥
नानावर्णमयस्वर्णपीतकौशेयवाससः । मानवस्तम्भमेत्यामी स्थिता मानवपुत्रकाः ॥८॥
किञ्चिदारक्तवस्त्रा ये लसन्मणिविभूषणाः । मानस्तम्भमिता ह्येते खेचरा मनुपुत्रकाः ॥९॥
विचित्रौषधिहस्तास्तु विचित्राभरणस्रजः । ओषधिस्तम्भमायाता मूलवीर्या नभश्चराः ॥१०॥
सर्वर्तुकुसुमामोदकाञ्चनाभरणस्रजः । अन्तर्भूमिचरा ह्येते ये स्तम्भे भूमिमण्डके ॥११॥
विचित्रकुण्डलाटोपा ये नागाङ्गदभूषणाः । शङ्कुस्तम्भाश्रितास्तेऽमी शङ्कुकाः खचराः प्रभो ॥१२॥
आबद्धमुकुटापीडविलसन्मणिकुण्डलाः । ये तेऽमी कौशिकाः खेटाः कौशिकस्तम्भमाश्रिताः ॥१३॥

अथानन्तर कुमार वसुदेवसे मदनवेगामें कामदेवके समान सुन्दर अनावृष्टि नामका नीतिज्ञ और बलवान् पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१॥ एक दिन अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर सिद्धकूट जिनालयकी वन्दना करनेके लिए गये सो कुमार वसुदेव भी मदनवेगाके साथ वहाँ पहुँचे ॥२॥ नाना प्रकारके वेषोंको धारण करनेवाले विद्याधर जिनेन्द्र भगवान्की पूजा कर तथा प्रतिमा-गृहोंकी वन्दना कर यथायोग्य स्तम्भोंका आश्रय ले बैठ गये ॥३॥ शोभासम्पन्न विद्युद्वेग भी भगवान्की पूजा कर अपने निकायके लोगोंके साथ गौरी विद्याओंके स्तम्भका सहारा ले बैठ गया ॥४॥ तदनन्तर वसुदेवने मदनवेगासे विद्याधर निकायोंका परिचय पूछा सो वह यथायोग्य इस प्रकार उनका वर्णन करने लगी ॥५॥

उसने कहा कि हे नाथ ! जो ये हाथमें कमल लिये तथा कमलोंकी माला धारण किये हमारे खम्भाके आश्रय बैठे हैं वे गौरिक नामके विद्याधर हैं ॥६॥ ये लाल मालाएँ धारण किये तथा लाल कम्बलके वस्त्रोंको पहिने हुए गान्धार खम्भाका आश्रय ले गान्धार जातिके विद्याधर बैठे हैं ॥७॥ ये जो नाना वर्णोंसे युक्त एवं सुवर्णके समान पीले वस्त्रोंको धारण कर मानव स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मानव पुत्रक विद्याधर हैं ॥८॥ जो कुछ-कुछ लाल वस्त्रोंसे युक्त एवं मणियोंके देदीप्यमान आभूषणोंसे सुसज्जित हो मानस्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मनुपुत्रक विद्याधर हैं ॥९॥ नाना प्रकारकी ओषधियाँ जिनके हाथमें हैं तथा जो नाना प्रकारके आभूषण और मालाएँ पहिनकर ओषधि स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे मूलवीर्य विद्याधर हैं ॥१०॥ सब ऋतुओंके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त स्वर्णमय आभरण और मालाओंको धारण कर जो भूमिमण्डक स्तम्भके समीप बैठे हैं वे अन्तर्भूमिचर विद्याधर हैं ॥११॥ हे प्रभो ! जो चित्र-विचित्र कुण्डल पहिने तथा सर्पाकार बाजू-बन्दोंसे सुशोभित हो शङ्कु स्तम्भके समीप बैठे हैं वे शङ्कुक नामक विद्याधर हैं ॥१२॥ जिनके मुकुटोंपर सेहरा बँधा हुआ है तथा जिनके मणिमय कुण्डल देदीप्यमान

---

१. शौरिर्मदन -म० । २. विद्याधराः ।

अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः । मातङ्गानामपि स्वामिन् निकायान् शृणु वच्मि ते ॥१४॥
नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्रजः । अमी मातङ्गनामानो मातङ्गस्तम्भसङ्गताः ॥१५॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः । श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तम्भसंश्रिताः ॥१६॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयन्त्यम्बराणि ये । पाण्डुरस्तम्भमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥१७॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः । कालस्तम्भं समभ्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥१८॥
पिङ्गलैर्मूर्धजैर्युक्तास्तप्तकाञ्चनभूषणाः । श्वपाकीनां च विद्यानां श्रिताः स्तम्भं श्वपाकिनः ॥१९॥
पत्त्रिपर्णांशुकच्छन्नविचित्रमुकुटस्रजः[1] । पार्वतेया इति ख्याताः पार्वतं स्तम्भमाश्रिताः ॥२०॥
वंशीपत्त्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः । वंशस्तम्भाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः[2] ॥२१॥
महाभुजगशोभाङ्कसंदष्टवरभूषणाः । वृक्षमूलमहास्तम्भमाश्रिता वार्क्षमूलिकाः ॥२२॥
स्ववेषकृतसञ्चाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः । समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्गताः ॥२३॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः । शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम् ॥२४॥
शौरिर्मदनवेगां तामेकदा तु कुतश्चन । एहि वेगवतीत्याह साऽपि रुष्टाऽविशद्गृहम् ॥२५॥
प्रज्ञाप्त्याशान्तरे गेहात्[3] शौरिं त्रिशिखराङ्गना । श्रित्वा मदनवेगाभां[4] सूर्पणख्याहरच्छलात् ॥२६॥

हो रहे हैं ऐसे ये कौशिक स्तम्भके आश्रय कौशिक जातिके विद्याधर बैठे हैं ॥१३॥ हे स्वामिन् ! अभी मैंने संक्षेपसे आर्य विद्याधरोंका वर्णन किया है अब आपके लिए मातङ्ग विद्याधरोंके भी निकाय कहती हूँ सो सुनिए ॥१४॥

जो नील मेघोंके समूहके समान श्याम वर्ण हैं तथा नीले वस्त्र और नीली मालाएँ पहिने हैं वे मातङ्ग स्तम्भके समीप बैठे मातङ्ग नामके विद्याधर हैं ॥१५॥ जो श्मशानकी हड्डियोंसे निर्मित आभूषणोंको धारणकर भस्मसे धूलि-धूसर हैं वे श्मशान स्तम्भके आश्रय बैठे हुए श्मशान-निलय नामक विद्याधर हैं ॥१६॥ जो ये नीलमणि एवं वैडूर्यमणिके समान वस्त्रोंको धारण किये हुए हैं तथा पाण्डुर स्तम्भके समीप आकर बैठे हैं वे पाण्डुक नामक विद्याधर हैं ॥१७॥ जो ये काली मृग-चर्मको धारण किये तथा काले चमड़ेसे निर्मित वस्त्र और मालाओंको पहिने हुए काल-स्तम्भके पास आकर बैठे हैं वे कालश्वपाकी विद्याधर हैं ॥१८॥ जो पीले-पीले केशोंसे युक्त हैं, तपाये हुए स्वर्णके आभूषण पहिने हैं और श्वपाकी विद्याओंके स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे श्वपाकी विद्याधर हैं ॥१९॥ जो वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे रङ्गके वस्त्रोंसे आच्छादित हैं तथा नाना प्रकारके मुकुट और मालाओंको धारण कर पार्वत स्तम्भके सहारे बैठे हैं वे पार्वतेय नामसे प्रसिद्ध हैं ॥२०॥ जिनके आभूषण बाँसके पत्तोंके बने हुए हैं तथा जो सब ऋतुओंके फूलोंकी मालाओंसे युक्त हो वंशस्तम्भके आश्रय बैठे हैं वे वंशालय विद्याधर माने गये हैं ॥२१॥ जिनके उत्तमोत्तम आभूषण महासर्पोंके शोभायमान चिह्नोंसे युक्त हैं तथा जो वृक्षमूल नामक महा-स्तम्भोंके आश्रय बैठे हैं वे वार्क्षमूलिक नामक विद्याधर हैं ॥२२॥ जो अपने-अपने निश्चित वेषमें ही भ्रमण करते हैं तथा जो आभूषणोंको अपने-अपने चिह्नोंसे अंकित रखते हैं ऐसे इन विद्याधरों-के निकायोंका संक्षेपसे वर्णन किया ॥२३॥ इस प्रकार आर्या मदनवेगाके कथनसे विद्याधरोंका अन्तर जानकर वसुदेव अपने स्थानपर चले गये तथा अन्य विद्याधर भी यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंकी ओर रवाना हुए ॥२४॥

अथानन्तर एक दिन कुमार वसुदेवने किसी कारणवश मदनवेगासे 'आओ वेगवति !' यह कह दिया जिससे रुष्ट होकर वह घरके भीतर चली गई ॥२५॥ उसी समय त्रिशिखर विद्या-धरकी विधवा पत्नी शूर्पणखी, मदनवेगाका रूप धरकर तथा अपनी प्रभासे महलोंको एकदम

१. पर्णपत्रांशुक-म०, पत्रपर्णांशुक-ग० । २. गताः म० । ३. गेहात् म० । ४. सूर्पनख्य-म०, ख० ।

अन्तरिक्षे मुमुक्षुस्तमद्राक्षीद् द्रागधोऽम्बरे । रिपुं मानसवेगाख्यमकस्मात्समुपस्थितम् ॥२७॥
विमुच्य [1]वियतः शौरिमारब्धे विनियुज्य तम् । यथेष्टं सा गता सोऽपि पपात तृणकूटके ॥२८॥
गीयमानं नरैः श्रुत्वा जरासन्धयशः सितम् । ज्ञात्वा राजगृहं तुष्टः प्रविष्टः पुरमुत्तमम् ॥२९॥
द्यूते जित्वा हिरण्यस्य कोटिमत्र जनाय सः । त्यागशीलो ददौ सर्वां सर्वस्मै तामितस्ततः ॥३०॥
जरासन्धस्य हन्तारमीदृग्ना[2] जनयिष्यति । इति नैमित्तिकादेशादीदृगन्विष्यते तदा ॥३१॥
दृष्ट्वा च तं तदाध्यक्षैर्भस्त्राबद्धतनुश्च सः । नीत्वा मुक्तो गिरेरग्रान् म्रियतामिति तत्क्षणे ॥३२॥
ततः [3]पतन्नसौ वेगाद्वेगवत्या धृतो बलात् । नीयमानस्तया क्वापि चिन्तामेतामुपागतः ॥३३॥
भारुण्डैरण्डजैः पूर्वं चारुदत्तो यथाऽऽहृतः[4] । तथाऽहमपि नूनं तैर्दुरन्तं किं नु मे भवेत् ॥३४॥
दुरन्ता बन्धुसम्बन्धा दुरन्ता भोगसम्पदः । दुरन्ताः कान्तिकायाश्च तथापि स्वन्तधीर्जनः ॥३५॥
पुण्यपापकृदेकोऽयं भोक्ता च सुखदुःखयोः । जायते म्रियते चात्मा तथापि स्वजनोन्मुखः ॥३६॥
त एव सुखिनो धीरास्त एव स्वहिते स्थिताः । विहाय भोगसम्बन्धान् ये स्थिता मोक्षवर्त्मनि ॥३७॥
भोगतृष्णोर्मिनिर्मग्ना वयं तु गुरुकर्मकाः । संसारसुखदुःखाप्तौ मुहुः कुर्मो विवर्तनम् ॥३८॥
इत्यादि चिन्तयन् वीरो वेगवत्या गिरेस्तटे । अवतार्यैव भस्त्रायाः समाकृष्य बहिः कृतः ॥३९॥

प्रज्वलितकर छलसे वसुदेवको हर ले गई ॥२६॥ वह उन्हें आकाशमें ले जाकर छोड़ना ही चाहती थी कि उसे नीचे आकाशमें अकस्मात् आता हुआ कुमारका वैरी मानसवेग विद्याधर दिखा। आकाशसे छोड़कर कुमारको मार दिया जाय इस कार्यमें मानसवेगको नियुक्तकर सूर्पणखी यथेष्ट स्थानपर चली गई और कुमार घासकी गंजीपर नीचे गिर गये ॥२७-२८॥ वहाँ मनुष्योंके द्वारा गाये हुए जरासंधके उज्ज्वल यशको सुनकर कुमारने जान लिया कि यह राजगृह नगर है अतः उन्होंने सन्तुष्ट होकर उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया ॥२९॥ राजगृह नगरमें कुमारने जुएमें एक करोड़ स्वर्णकी मुद्राएँ जीतीं और दानशील बनकर सबकी सब यहाँ-वहाँ समस्त लोगोंको बाँट दीं ॥३०॥ निमित्तज्ञानियोंने जरासंधको बतलाया था कि जो जुएमें एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ जीतकर बाँट देगा वह तुम्हें मारनेवाले पुत्रको उत्पन्न करेगा। निमित्त-ज्ञानियोंके आदेशानुसार वहाँ उस समय ऐसे व्यक्तिकी खोज हो रही थी ॥३१॥ जरासंधके अधिकारियोंने वसुदेवको देखकर पकड़ लिया और 'तत्काल मर जाय' इस भावनासे उन्हें एक चमड़ेकी भाथड़ीमें बन्दकर पहाड़की चोटीसे नीचे छोड़ दिया ॥३२॥ वसुदेव नीचे गिर ही रहे थे कि अकस्मात् वेगवतीने वेगसे आकर जोरसे उन्हें पकड़ लिया। जब वेगवती उन्हें पकड़कर कहीं ले जाने लगी तब वे मनमें ऐसा विचार करने लगे कि देखो! जिस प्रकार पहले भारुण्ड पक्षी चारुदत्तको हर ले गये थे उसी प्रकार जान पड़ता है मुझे भी भारुण्डपक्षी हरकर लिये जा रहे हैं, न जानें अब क्या दुःख होता है? ॥३३-३४॥ ये बन्धुजनोंके सम्बन्ध दुरन्त—दुःखदायक हैं, भोग सम्पदाएँ दुरन्त हैं, और कान्तिपूर्ण शरीर भी दुरन्त हैं फिर भी मूर्ख प्राणी इन्हें स्वन्त—सुखदायक समझता है ॥३५॥ यह जीव अकेला ही पुण्य और पाप करता है, अकेला ही सुख और दुःख भोगता है, और अकेला ही पैदा होता तथा मरता है फिर भी आत्मीयजनोंके संग्रह करनेमें तत्पर रहता है ॥३६॥ वे ही धीर, वीर मनुष्य सुखी हैं और वे ही आत्महितमें लगे हुए हैं जो भोगोंसे सम्बन्ध छोड़कर मोक्षमार्गमें स्थित हैं ॥३७॥ हमारे कर्म बड़े वजनदार हैं इस-लिए हम भोग तृष्णारूपी तरङ्गोंमें डूब रहे हैं तथा सुख-दुखकी प्राप्तिमें ही बार-बार परिभ्रमण करते-फिरते हैं ॥३८॥

तदनन्तर इस प्रकार चिन्तन करते हुए वीर वसुदेवको वेगवतीने पर्वतके तटपर उतारा

---

१. वियति म० । २. ईदृशो नरः । ३. पतदसौ म० । ४. यथाहृतः म० ।

पतिं वेगवती दृष्ट्वा रुरोद विरहाकुला । परिष्वज्य स तां मेने स्वपराङ्गसुखासिकाम् ॥४०॥
ततस्तेन प्रिया पृष्टा तस्मै सर्वं न्यवेदयत् । हृते भर्तरि यद्वृत्तं सुखदुःखं निजास्पदे ॥४१॥
द्वयोरन्वेषितः श्रेण्योर्वनारण्यपुरादिषु । पर्यटन्त्या चिरं क्षेत्रं भारताख्यमशेषतः ॥४२॥
पार्श्वे मदनवेगायाः पत्युर्दर्शनमेतया । वियोगमपि कांक्षन्त्या स्वस्याः स्थानमलक्षितम् ॥४३॥
श्रित्वा मदनवेगाया रूपं त्रिशिखभार्यया । सूर्पणख्या हृतः खं त्वमुत्क्षिप्य जिघांसया ॥४४॥
च्युतोऽधित्यकातस्त्वमापतन् विधृतो मया । तीर्थं पञ्चनदं चाद्रिं ह्रीमन्तमधितिष्ठसि ॥४५॥
इत्यावेदितवृत्तान्तः स तया चन्द्रवक्त्रया । रेमे तत्र धुनीधीरध्वानहारिषु सानुषु ॥४६॥
सोऽटन् यदृच्छयाऽद्राक्षीन्नागपाशवशां दृढम् । धन्यां कन्यां यथा वन्यां नागपाशवशां वशाम्[1] ॥४७॥
तदार्द्रहृदयो भद्रां[2] तां स्फुरन्मुखकान्तिकाम् । व्यपाशयदसौ पाशात्पापपाशाद् यथा यतिः ॥४८॥
मुक्तबन्धा च नत्वा सा तमचिन्तितबान्धवम् । प्रसादात्तव मे नाथ ! सिद्धा विद्येत्यभाषत ॥४९॥
शृणु त्वं दक्षिणश्रेण्यां पुरे गगनवल्लभे । विद्युद्दंष्ट्रान्वयोत्थाहं बालचन्द्रा नृपात्मजा ॥५०॥
साधयन्ती महाविद्यां नद्यां विद्याभृतारिणा । नागपाशैरहं बद्धा मोचिता भवता[3] विभो ॥५१॥
अन्वयेऽस्मदीयेऽन्या कन्या केतुमतीत्यभूत् । मोचिताहमिवाकाण्डे पुण्डरीकार्धचक्रिणा ॥५२॥

और भाथड़ीसे खींचकर बाहर निकाला ॥३९॥, पतिको देख वेगवती विरहसे आकुल हो रोने लगी और वसुदेवने भी उसका आलिङ्गन कर उसे स्वपरके शरीरके लिए सुख देनेवाली माना ॥४०॥ तदनन्तर वसुदेवके द्वारा पूछी प्रिया वेगवतीने पतिके हरे जानेपर अपने घर जो सुख-दुख उठाया था वह सब उनके लिए कह सुनाया ॥४१॥ उसने कहा कि मैंने आपको विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंमें खोजा, अनेक वन और नगरोंमें देखा तथा समस्त भरत क्षेत्रमें चिरकाल तक भ्रमण किया परन्तु आपको प्राप्त न कर सकी ॥४२॥ बहुत घूमने-फिरनेके बाद मैंने मदनवेगाके पास आपको देखा। सो देखकर यह विचार किया कि यहाँ रहते हुए भले ही आपके साथ वियोग रहे पर आपके दर्शन तो पाती रहूँगी। इसी विचारसे मैंने वहाँ अलक्षित रूपसे रहनेकी इच्छा की परन्तु त्रिशिखरकी भार्या शूर्पणखी मदनवेगाका रूप धरकर आपके पास आई और मारनेकी इच्छासे हरकर आपको आकाशमें ले गई ॥४३–४४॥ उधर उस पर्वतकी चोटीसे आप नीचे गिराये जा रहे थे कि मैंने बीचमें ही लपककर आपको पकड़ लिया। इस समय आप पञ्चनद तीर्थ और ह्रीमन्त नामक पर्वतपर विराजमान हैं ॥४५॥ इस प्रकार चन्द्रमुखी वेगवतीसे सब समाचार जानकर वसुदेव, नदियोंके गम्भीर शब्दसे सुन्दर ह्रीमन्त पर्वतकी अधित्यकाओंपर क्रीड़ा करने लगे ॥४६॥

एक दिन कुमार वसुदेव अपनी इच्छानुसार वहाँ घूम रहे थे कि उन्होंने नागपाशसे बँधी हुई वनकी हस्तिनीके समान, नागपाशसे मजबूत बँधी हुई एक भाग्यशालिनी सुन्दर कन्याको देखा ॥४७॥ उसे देखते ही कुमारका हृदय दयासे आर्द्र हो गया इसलिए उन्होंने जिस प्रकार मुनि संसारके प्राणियोंको पाप रूपी पाशसे मुक्त कर देते हैं उसी प्रकार मुखकी फैलती हुई कान्तिसे युक्त उस बन्धनबद्ध कन्याको बन्धनसे मुक्त कर दिया ॥४८॥ बन्धनसे छूटते ही उस कन्याने अतर्कित बन्धु—वसुदेवको नमस्कार किया और कहा कि हे नाथ ! आपके प्रसादसे मेरी विद्या सिद्ध हो गई है ॥४९॥ सुनिए, मैं दक्षिण श्रेणीपर स्थित गगनवल्लभ नगरकी रहनेवाली राजकन्या हूँ, मेरा नाम बालचन्द्रा है और मैं विद्युद्दंष्ट्रके वंशमें उत्पन्न हुई हूँ ॥५०॥ मैं नदीमें बैठकर महाविद्या सिद्ध कर रही थी कि एक शत्रु विद्याधरने मुझे नागपाशसे बाँध दिया और हे प्रभो ! आपने मुझे उस बन्धनसे मुक्त किया है ॥५१॥ हमारे वंशमें पहले भी एक केतुमती

१. करिणीम् । २. नद्याम् म० । ३. भक्तिता म० ।

तस्यैव साऽभवत्पत्नी निःसपत्नं[1] यथा तथा । अवश्यम्भाविनी पत्नी तवाहमिति बुध्यताम् ॥५३॥
त्वं गृहाण विभो विद्यां विद्याधरसुदुर्लभाम् । [2]इत्युक्तः सोऽवदद्देया वेगवत्यै ममेच्छया ॥५४॥
लब्धादेशा तथेत्युक्त्वा ततो वेगवतीमसौ । समुत्क्षिप्य ययौ कन्या पुरं गगनवल्लभम्[3] ॥५५॥

शालिनीच्छन्दः

विद्यादानं बालचन्द्राभिधाना विद्यां[4] दत्त्वा कन्यका वेगवत्यै ।
सद्यो जाता मुक्तशल्या च जैन्यो विद्याधर्यः साधयन्त्यभ्युपेतम् ॥५६॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ बालचन्द्रादर्शनवर्णनो नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

नामकी कन्या हो गई है। उसे मेरे ही समान पुण्डरीक नामक अर्धचक्रीने अचानक आकर बन्धनसे मुक्त किया था और वह जिस प्रकार उसी अर्धचक्रीकी निर्विरोध पत्नी हो गई थी उसी प्रकार मैं भी आपकी पत्नी अवश्य होनेवाली हूँ। यह आप निश्चित समझ लीजिए ॥५२-५३॥ हे नाथ! आप विद्याधरोंके लिए अतिशय दुर्लभ इस विद्याको ग्रहण कीजिए। कन्याके इस प्रकार कहनेपर कुमार वसुदेवने कहा कि वह विद्या मेरी इच्छासे वेगवतीके लिए देने योग्य है ॥५४॥ कुमारकी आज्ञा पाकर उसने 'तथास्तु' कह वेगवतीके लिए वह विद्या दे दी और तदनन्तर आकाशमें उड़कर वह गगनवल्लभ नगरको चली गई ॥५५॥ कुमारी बालचन्द्रा, वेगवतीके लिए विद्या रूपी विद्या दान देकर शीघ्र ही निःशल्य हो गई सो ठीक हो है क्योंकि जिन धर्मकी उपासना करनेवाली विद्याधरियाँ अपने मनोरथको शीघ्र ही सिद्ध कर लेती हैं ॥५६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें बालचन्द्राके दर्शनका वर्णन करनेवाला छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२६॥

---

१. निःसपत्नी म० । २. इत्युक्तोऽसौ वदद्देया म०, क०, ख० । ३. नगरवल्लभम् म० । ४. विद्या क०, ख० ।

सप्तत्रिंशः सर्गः

गौतमोऽत्रान्तरे पृष्टः स्वस्थेन मगधेशिना । विद्युद्दंष्ट्रो मुने ! कोऽसौ कीदृगाचरणोऽपि वा ॥१॥
इत्युक्तो सोऽवदद्वंशे नमेर्गगनवल्लभे । विद्युद्दंष्ट्रोऽभवद् भर्ता श्रेण्योरद्भुतविक्रमः ॥२॥
अपरेभ्यो विदेहेभ्यः सोऽन्यदानीय योगिनम् । सञ्जयन्तमिहोदारमुपसर्गमकारयत् ॥३॥
हेतुना केन नाथेति प्रश्नितः कौतुकाद् गणी । पुराणं सञ्जयन्तस्य जगौ पापविनाशनम् ॥४॥
इहापरविदेहेऽस्ति विषयो गन्धमालिनी । वीतशोका पुरीहात्र वैजयन्तोऽभवन्नृपः ॥५॥
सर्वश्रीरिति भार्यास्य स्वयं श्रीरिव रूपिणी । सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ तस्याश्च तनयौ शुभौ ॥६॥
विहरन्नन्यदा यातः स्वयम्भूस्तीर्थकृत्ततः । धर्मं श्रुत्वा पिता पुत्रौ ते त्रयोऽपि प्रवव्रजुः ॥७॥
तेषां विहरतां सार्धं पिहितास्रवसूरिणा । सञ्जातं वैजयन्तस्य केवलं घातिघातिनः ॥८॥
चतुर्णिकायदेवेषु वन्दमानेषु तं मुनिम् । जयन्तो वीक्ष्य धरणं निदानी[1] धरणोऽभवत् ॥९॥
स्वपुर्याश्च मनोहर्याः श्मशाने भीमदर्शने । सप्ताहप्रतिमो योगी सञ्जयन्तोऽन्यदा स्थितः ॥१०॥
भद्रशाले वने स्त्रीभिर्विद्युद्दंष्ट्रोऽन्यदा चिरम् । रन्त्वाऽऽगच्छत्पुरं दृष्ट्वा सञ्जयन्तं यदृच्छया ॥११॥
पूर्ववैरवशात्क्रुद्धस्तमानीयात्र भारते । वैताढ्यदक्षिणोपान्ते गिरौ वरुणनामनि ॥१२॥

अथानन्तर इसी बीचमें निश्चिन्ततासे बैठे हुए राजा श्रेणिकने गौतम स्वामीसे पूछा कि हे मुनिनाथ ! विद्युद्दंष्ट्र कौन था ? और उसका आचरण कैसा था ? ॥१॥ इस प्रकार पूछनेपर गौतम स्वामी कहने लगे कि नमिके वंशमें गगनवल्लभ नामक नगरमें एक विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर हो गया है जो दोनों श्रेणियोंका स्वामी था तथा अद्भुत पराक्रमसे युक्त था ॥२॥ एक समय वह पश्चिम विदेह क्षेत्रसे संजयन्त नामक मुनिराजको अपने यहाँ उठा लाया और उनपर उसने घोर उपसर्ग कराया ॥३॥ यह सुन राजा श्रेणिकने कौतुक वश फिर पूछा कि हे नाथ ! विद्युद्दंष्ट्रने संजयन्त मुनिराजपर किस कारण उपसर्ग कराया था ? इसके उत्तरमें गणधर भगवान् संजयन्त मुनिका पापनाशक पुराण इस प्रकार कहने लगे ॥४॥

हे राजन् ! इसी जम्बू द्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें एक गन्धमालिनी नामका देश है। उसमें वीतशोका नामकी नगरी है। उस नगरीमें किसी समय वैजयन्त नामका राजा राज्य करता था ॥५॥ उसकी सर्वश्री नामकी रानी थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो शरीरको धारण करनेवाली साक्षात् लक्ष्मी हो। इन दोनोंके संजयन्त और जयन्त नामके दो उत्तम पुत्र थे ॥६॥ किसी एक समय विहार करते हुए स्वयंभू तीर्थंकर वहाँ आये। उनसे धर्म श्रवण कर पिता और दोनों पुत्र—तीनोंने दीक्षा धारण कर ली ॥७॥ अपने पिहितास्रव नामक आचार्यके साथ वे तीनों मुनि विहार करते थे। कदाचित् घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले वैजयन्त मुनिको केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ॥८॥ केवलज्ञानके उत्सवमें जब चारों निकायके देव मुनिराज वैजयन्तकी वन्दना कर रहे थे तब धरणेन्द्रको देख जयन्त मुनिने धरणेन्द्र होनेका निदान किया और उसके फलस्वरूप वे मरकर धरणेन्द्र हो भी गये ॥९॥ किसी समय जयन्तके बड़े भाई संजयन्त मुनिराज अपनी वीतशोका नामक सुन्दर नगरीके भीमदर्शन—भयंकर श्मशानमें सात दिनका प्रतिमा योग लेकर विराजमान थे ॥१०॥ उसी समय विद्युद्दंष्ट्र, भद्रशाल वनमें अपनी स्त्रियोंके साथ चिरकालतक क्रीड़ा कर अपने नगरकी ओर लौट रहा था कि अचानक उसकी दृष्टि संजयन्त मुनिराजपर पड़ी ॥११॥ पूर्व वैरके कारण कुपित हो वह उन्हें उठा लाया और भरत क्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध

१. निदानधरणो क० ।

हरिद्वती सरिच्चण्डवेगा[1] गजवतीति च । तथा कुसुमवत्यन्या या सुवर्णवती च सा ॥१३॥
पञ्चानां सङ्गमे तासां प्रदोषसमये स तम् । स्थापयित्वा समं गत्वा प्रत्यूषेऽक्षोभयत्खगान् ॥१४॥
राक्षसोऽद्य महाकायः स्वप्नेऽदर्शि मया निशि । क्षयकृत्स किलास्माकं निहन्मस्तं खगा लघु[2] ॥१५॥
इति प्रणोद्य तैः साकमुद्यतैर्विविधायुधैः । सोऽवधीन्निर्ववौ[3] तीर्थे शीतले शीतलस्य सः ॥१६॥
तच्छरीरस्य [4]पूजार्थं धरणेन्द्रः समागतः । रुष्टो हृत्वाऽखिला विद्यास्तं हन्तुं स समुद्यतः ॥१७॥
आदित्याभस्तमागत्य लान्तवेन्द्रो न्यवारयत् । मा मा प्राणिवधं कार्षीर्धरणेन्द्र ! फणीन्द्र ! भोः ॥१८॥
त्वमहं च खगेन्द्रोऽयं सञ्जयन्तश्च संसृतौ । बद्धवैरा वयं सर्वे यथा भ्रान्तास्तथा शृणु ॥१९॥
अत्राऽस्ति भरतक्षेत्रे विषयः शकटश्रुतिः । पुरं सिंहपुरं तत्र सिंहसेनो नृपोऽभवत् ॥२०॥
रामदत्ता प्रिया तस्य कलागुणविभूषणा । धात्री निपुणमत्याख्या निपुणा निपुणेष्वपि ॥२१॥
सत्यवादी नरेन्द्रस्य श्रीभूत्याख्यः पुरोहितः । अलुब्ध इति स ख्यातः श्रीदत्ता तस्य माहनी[5] ॥२२॥
भाण्डशालाः समस्तासु दिशासु नगरस्य सः । कारयित्वा वणिग्वर्गविश्वासं कुरुतेतराम् ॥२३॥
वणिक् सुमित्रदत्तोऽस्ति पद्मखण्डे पुरोधसि । रत्नानि पञ्च विन्यस्य यातः पोतेन तृष्णया ॥२४॥
भिन्नपोतः स चागत्य याचित्वा तान्यलब्धवान् । पुरोहितप्रमाणैश्च राजलोकैर्निराकृतः ॥२५॥

पर्वतके दक्षिण भागके समीप वरुण नामक पर्वतपर उन्हें ले गया ॥१२॥ हरिद्वती, चण्डवेगा, गजवती, कुसुमवती और सुवर्णवती इन पाँच नदियोंका जहाँ समागम हुआ है वहाँ सायंकालके समय उन्हें रखकर चला गया और प्रातःकाल उसने विद्याधरोंको यह कहकर क्षुभित कर दिया कि आज रात्रिको मैंने स्वप्नमें एक महाकाय राक्षस देखा है। वह राक्षस हम लोगोंका क्षय करनेवाला होगा। इसलिए हे विद्याधरो ! चलो उसे शीघ्र ही मार डालें ॥१३–१५॥ इस प्रकार विद्याधरोंको प्रेरित कर उसने नाना प्रकारके शस्त्र धारण करनेवाले विद्याधरोंके साथ उन्हें मार डाला। मुनिराज संजयन्त भी अन्तिम समय केवलज्ञान प्राप्त कर श्री शीतलनाथ भगवान्‌के शान्तिदायक तीर्थमें निर्वाणको प्राप्त हुए ॥१६॥ तदनन्तर उनके शरीरकी पूजाके लिए जयन्तका जीव-धरणेन्द्र आया सो विद्युद्दंष्ट्रकी इस करतूतसे वह बहुत ही रुष्ट हुआ। वह विद्युद्दंष्ट्रकी समस्त विद्याओंको हरकर उसे मारनेके लिए उद्यत हुआ ही था कि उसी समय आदित्याभ दिवाकर देव नामक लान्तवेन्द्रने वहाँ आकर 'हे धरणेन्द्र ! हे फणीन्द्र ! व्यर्थ ही जीव हिंसा न करो' इन शब्दों द्वारा उसे हिंसासे रोक दिया ॥१७–१८॥ तुम, मैं, यह विद्याधरोंका राजा विद्युद्दंष्ट्र और संजयन्त इस प्रकार हम सब वैर बाँधकर संसारमें जिस तरह भटकते रहे हैं वह मैं कहता हूँ सो सुनो ॥१९॥

इसी भरत क्षेत्रमें एक शकट नामका देश है। उसके सिंहपुर नगरमें किसी समय सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था ॥२०॥ सिंहसेनकी कला और गुण रूपी आभूषणोंसे सुशोभित रामदत्ता नामकी स्त्री थी तथा निपुणमति नामकी एक धाय थी जो निपुण मनुष्योंमें भी अतिशय निपुण थी ॥२१॥ राजाका एक श्रीभूति नामका पुरोहित था जो अपनेको सत्यवादी प्रकट करता था तथा लोकमें अलुब्ध–निर्लोभ है इस तरह प्रसिद्ध था। उसकी ब्राह्मणीका नाम श्रीदत्ता था ॥२२॥ वह श्रीभूति नगरकी समस्त दिशाओंमें भाण्डशालाएँ—धरोहर रखनेके स्थान बनवा कर व्यापारी वर्गका बहुत विश्वासपात्र बन गया था ॥२३॥ उसी समय पद्मखण्ड नामक नगरमें एक सुमित्रदत्त नामक वणिक् रहता था। वह किसी समय अपने पाँच रत्न श्रीभूति पुरोहितके पास रखकर तृष्णा वश जहाज द्वारा कहीं गया था ॥२४॥ भाग्यवश उसका जहाज फट गया।

१. शरच्चन्द्रवेगा म० । २. 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । ३. निर्वाणं प्राप्तवान् । ४. महार्थं ख०, ग०, ङ०, माहार्थं म० । ५. माहिनी म० । ब्राह्मणी ।

मत्वाशानुबद्धचित्तश्च नृपागारसमीपगम् । उच्चैस्तरुं समारुह्य पूत्करोतीति नित्यशः ॥२६॥
सिंहसेनो महाराजो रामदत्ता कृपावती । साधुलोकस्तथाऽन्योऽपि शृणोतु कृपया युतः ॥२७॥
मासे पक्षेऽह्नि चामुष्मिन् श्रीभूतेः सत्यतो मया । पञ्चैवंविधरत्नानि हस्ते न्यस्तानि तान्यसौ ॥२८॥
प्रदातुं नेच्छतीदानीमतिलुब्धमतिर्मम । इति प्रत्यूषवेलायां नित्यं पूत्कृत्य यात्यसौ ॥२९॥
बहुष्वेवमतीतेषु मासेषु नृपमेकदा । रात्रौ प्रियाऽवदद्राजन्नन्यायोऽयमहो महान् ॥३०॥
बलिनो दुर्बलाश्चापि लोके सन्ति तदत्र किम् । बलिनां दुर्बला हस्तैर्लभन्ते नैव जीवितुम् ॥३१॥
दुर्बलस्य वराकस्य हृतान्यस्य बलीयसा । रत्नानि तानि दाप्यन्तां यदि तेऽस्ति कृपा प्रभो ॥३२॥
राजा प्राह प्रिये ! वार्धौ भिन्नपात्रोऽयमत्रपः । अर्थनाशे ग्रही जातः प्रलपत्यतिदुःखितः ॥३३॥
इत्युक्ता सा जगौ राजन्नैषोऽर्थग्रहदूषितः । यतो नियमितालापस्तस्मात्तत्परीक्ष्यताम् ॥३४॥
इत्याकर्ण्य नृपोऽपृच्छत्तमुपांशु दिनानने । अपह्नुते स्म स द्रोही कुतो लुब्धस्य सत्यता ॥३५॥
ततो द्यूतच्छलेनैव स परीक्षितुमुद्यतः । राज्ञी तं तु पुराप्राक्षीत् रात्रौ भुक्तमकथिता ॥३६॥
गत्वा निपुणमत्या च राजपत्न्या निदेशतः । [1]याचिता नो ददौ तानि साभिज्ञानमपि प्रिया ॥३७॥
द्यूते निर्जितमादाय ब्रह्मसूत्रं ययाच सा । धात्री तथापि नो लेभे पत्यादेशो हि तादृशः ॥३८॥

लौटकर उसने पुरोहितसे अपने रत्न माँगे परन्तु प्राप्त नहीं कर सका। राजद्वारमें उसने प्रार्थना की परन्तु पुरोहितको प्रमाण माननेवाले राज-कर्मचारियोंने उसे तिरस्कृत कर भगा दिया ॥२५॥ अन्तमें बदलेकी आशासे जिसका चित्त जल रहा था ऐसा सुमित्रदत्त वणिक् राज महलके समीप एक ऊँचे वृक्षपर चढ़कर प्रतिदिन यह कहता हुआ रोने लगा कि महाराज सिंहसेन, दयावती रानी रामदत्ता तथा अन्य सज्जन पुरुष दयायुक्त हो मेरी प्रार्थना सुनें। मैंने अमुक मास और पक्षके अमुक दिन श्रीभूति पुरोहितकी सत्यवादितासे प्रभावित होकर उसके हाथमें इस-इस प्रकारके पाँच रत्न रक्खे थे परन्तु इस समय वह अत्यन्त लुब्ध होकर मेरे वह रत्न देना नहीं चाहता है। इस प्रकार प्रतिदिन प्रातःकालके समय रोकर वह यथास्थान चला जाता था ॥२६–२९॥ इस प्रकार उसे रोते-रोते जब बहुत महीने बीत गये तब एक दिन प्रिया रामदत्ताने रात्रिके समय राजासे कहा कि हे राजन् ! यह बड़ा अन्याय है। लोकमें बलवान् और दुर्बल सभी होते हैं तो क्या बलवानोंके हाथसे दुर्बल मनुष्य जीवित नहीं रह सकते ? ॥३०–३१॥ इस बेचारे दुर्बलके रत्न अतिशय बलवान् पुरोहितने हड़प लिये हैं। इसलिए हे प्रभो ! यदि इसपर आपको दया आती है तो इसके रत्न दिलाये जावें ॥३२॥ राजाने कहा कि हे प्रिये ! समुद्रमें इसका जहाज फट गया था, इसलिए यह निर्लज्ज धन नष्ट हो जानेके कारण अतिशय दुःखी हो पिशाचसे आक्रान्त हो गया है और उसी दशामें कुछ बकता रहता है ॥३३॥ इस प्रकार राजाका उत्तर पाकर रामदत्ताने कहा कि हे राजन् ! यह धन रूपी पिशाचसे आक्रान्त नहीं है क्योंकि यह प्रतिदिन एक ही बात कहता है अतः इसकी परीक्षा की जाय ॥३४॥ यह सुनकर राजाने प्रातःकाल एकान्तमें पुरोहितसे पूछा परन्तु वह द्रोही सर्वथा मेंट गया सो ठीक ही है क्योंकि लोभी मनुष्यके सत्यता कैसे हो सकती है ? ॥३५॥ तदनन्तर राजा जुआके छलसे ही पुरोहितकी परीक्षा करनेके लिए उद्यत हुआ। रानी रामदत्ताने जुआ खेलनेके पूर्व ही किसी बहाने पुरोहितसे पूछ लिया था कि आज आपने रात्रिमें क्या भोजन किया था ? ॥३६॥ रानी रामदत्ताकी आज्ञा पाकर निपुणमति धायने जाकर पुरोहितकी स्त्रीसे रत्न माँगे और पहिचानके लिए रात्रिके भोजनकी बात बताई परन्तु पुरोहितकी स्त्रीने रत्न नहीं दिये ॥३७॥ अबकी बार जुआमें जीता हुआ जनेऊ ले जाकर निपुणमतिने पुरोहितकी स्त्रीसे रत्न माँगे परन्तु फिर भी वह उन्हें प्राप्त

---

१. याचितानि म० ।

पतिनामाङ्कितां दृष्ट्वा मुद्रिकां तान्यदात् प्रिया । वचनाद्रामदत्ताया द्यूतं चाप्युपसंहृतम् ॥३९॥
व्यामिश्राण्यपि सद्रत्नैः परकीयैरसौ वणिक् । स्वरत्नान्येवमादाय राजपूजामवाप्तवान् ॥४०॥
परस्वहरणप्रीतः सर्वस्वहरणं द्विजः । गोमयादनमप्याप्य मल्लमुष्टिहतो मृतः ॥४१॥
आर्तध्यानाविलश्चासौ सर्पोऽगन्धननामकः । भाण्डागारान्तरे जज्ञे राज्ञो द्रोही हताशकः ॥४२॥
स्थापितोऽन्यः पदे तस्य द्विजो धम्मिल्लसंज्ञकः । मिथ्यादृष्टिरदिष्टार्थं[1] प्रति प्रायः कृतोद्यतः ॥४३॥
पद्मखण्डपुरं गत्वा जैनीभूतोऽप्यसौ वणिक् । दानी चासीन्निदानी च दत्तापुत्रत्ववाञ्छया[2] ॥४४॥
सुमित्रदत्तिका तस्य भार्या मृत्वा विरोधिनी । व्याघ्रीभूता चखादाद्रौ तं साधोर्नतये गतम् ॥४५॥
सोऽभवद्रामदत्तायाः पुत्रः सस्नेहबन्धनः । सिंहचन्द्र इतीन्द्रत्वमगणय्य निदानतः ॥४६॥
पूर्णचन्द्र इतीन्द्राभः कनीयान् तस्य जातवान् । जातौ च तौ क्षितौ ख्यातौ सूर्याचन्द्रमसौ यथा ॥४७॥
भाण्डागारप्रविष्टं च सिंहसेनमगन्धनः[3] । दष्टवान् दुष्टसर्पोऽसावेकदा वैरभावतः ॥४८॥
मन्त्रैर्गरुडदण्डेन महागारुडिकेन तु । अगन्धनादयः सर्पास्तत्राहूय प्रणोदिताः ॥४९॥
तिष्ठत्वेकोऽपराधी हि शेषा यान्तु यथागतम् । इत्युक्तोऽगन्धनोऽतिष्ठद् याताश्चान्ये पृदाकवः[4] ॥५०॥

नहीं कर सकी सो ठीक ही है क्योंकि उसके लिए पतिकी आज्ञा ही वैसी ही थी ॥३८॥ तीसरी बार पतिके नामसे चिह्नित अँगूठी देखकर पुरोहितकी स्त्रीने वे रत्न दे दिये। उसी समय रानी रामदत्ताकी आज्ञानुसार जुआ बन्द कर दिया गया ॥३९॥ यद्यपि राजाने वणिक्के उन रत्नोंको दूसरेके रत्नोंके साथ मिलाकर दिया था तथापि वणिक्ने अपने ही रत्न पहिचान कर उठा लिये और इस सचाईके कारण राजासे सम्मानको भी प्राप्त किया ॥४०॥ दूसरेका धन हरण करनेमें प्रीतिका अनुभव करनेवाले पुरोहितका सब धन छीन लिया गया, उसे गोबर खिलाया गया और मल्लोंके मुक्कोंसे पिटवाया गया जिससे वह मर गया ॥४१॥ चूँकि वह धनके आर्तध्यानसे कलुषित चित्त होकर मरा था इसलिए राजाके भाण्डार गृहमें अगन्धन नामका साँप हुआ और अपनी दुष्टताके कारण राजासे सदा द्रोह रखने लगा ॥४२॥ श्रीभूति पुरोहितके स्थानपर धम्मिल्ल नामक दूसरा ब्राह्मण रक्खा गया परन्तु वह भी मिथ्यादृष्टि था और प्रायः नहीं कहे हुए कार्यको करनेके लिए उद्यत रहता था ॥४३॥

सुमित्रदत्त वणिक् रत्न लेकर अपने पद्मखण्डपुर नगरको चला गया। यद्यपि वह जैन था—जैन धर्मके स्वरूपको समझता था तथापि 'मैं रानी रामदत्ताका पुत्र होऊँ' ऐसा उसने निदान बाँध लिया और इसी इच्छासे वह खूब दान करने लगा ॥४४॥ वणिक्की स्त्री सुमित्रदत्तिका जो सदा उससे विरोध रखती थी मरकर एक पर्वतपर व्याघ्री हुई। एक दिन सुमित्रदत्त किन्हीं मुनिराजकी वन्दनाके लिए उसी पर्वतपर गया था सो उस व्याघ्रीने उसे खा लिया ॥४५॥ मरकर वह रामदत्ताका पुत्र हुआ। यद्यपि वह अपने पुण्य बलसे इन्द्र हो सकता था तथापि निदानके द्वारा इन्द्रत्वकी उपेक्षा कर राजपुत्र ही हुआ। उसका सिंहचन्द्र नाम रक्खा गया तथा वह रामदत्ताके स्नेह-बन्धनसे युक्त था—उसे अतिशय प्यारा था ॥४६॥ सिंहचन्द्रके, इन्द्रके समान आभावाला पूर्णचन्द्र नामका एक छोटा भाई भी हुआ। ये दोनों भाई पृथिवीपर सूर्य-चन्द्रमाके समान प्रसिद्ध थे ॥४७॥ एक समय राजा सिंहसेन कार्यवश भाण्डागारमें प्रविष्ट हुए सो वहाँ पूर्व वैरके कारण पुरोहितके जीव अगन्धन नामक दुष्ट साँपने उन्हें काट खाया ॥४८॥ उसी नगरमें एक गारुडिक विद्या (सर्प उतारनेकी विद्या) का अच्छा जानकार गरुडदण्ड रहता था। उसने मन्त्रों द्वारा अगन्धनको आदि लेकर समस्त सर्पोंको बुलाकर उनसे कहा कि तुम लोगोंमें जो एक अपराधी सर्प है वही यहाँ ठहरे, बाकी सब यथास्थान चले जावें। गरुडदण्डके ऐसा

१. -रदृष्टार्थं म० । २. रामदत्तायाः पुत्रोऽहं भवेयमिति वाञ्छया निदानयुक्तोऽभूत् । ३. सिंहसेनं स गन्धनः म० । ४. सर्पाः ।

उपसंहर हे दुष्ट ! स्वविसृष्टं विषं लघु । नोपसंहर्तुमिच्छा चेत्प्रविशाशु हुताशनम् ॥५१॥
इत्युक्तो नोपसंहृत्य विषं विषधरो रुषा । अकरुन्धानुमाविश्य मृत्वाऽभूच्चमरी मृगी ॥५२॥
सिंहसेनो मृतो जातः स हस्ती सल्लकीवने । शाखामृगस्तु धम्मिल्लः का वा मिथ्यादृशां गतिः ॥५३॥
रामदत्तासुतौ राजयुवराजौ नयान्वितौ । शशासतुरिलां वेलावलयावधिकां विभू ॥५४॥
पोदने पूर्णचन्द्रो यो या हिरण्यवती च तौ[1] । पितरौ रामदत्ताया जिनशासनभावितौ ॥५५॥
राहुभद्रमुनेः पार्श्वे प्रव्रज्यावधिमैत्पिता । दत्तवत्यार्यिकापार्श्वे माताऽधत्तार्यिकाव्रतम् ॥५६॥
पूर्णचन्द्रमुनेः श्रुत्वा रामदत्ताम्बिकाऽर्यिका । प्रवृत्तिं रामदत्ताया गत्वा बोधयतिस्म ताम् ॥५७॥
प्राव्रजद्रामदत्ता सा संसारभयवेदिनी । राहुभद्रगुरोरन्ते सिंहचन्द्रोऽपि बोधितः ॥५८॥
पूर्णचन्द्रस्तु राज्यस्थः [2]प्रतापप्रणताहितः । भोगासक्तो बभूवासौ सम्यक्त्वव्रतवर्जितः ॥५९॥
एकदा रामदत्ताऽर्या सिंहचन्द्रं धृतावधिम् । पप्रच्छ चारणं नत्वा स्वमातृसुतजन्म सा ॥६०॥
स प्राह भरतेऽत्रैव विषये कोसलाभिधे । बभूव वर्द्धकिग्रामे विप्रो नाम्ना मृगायणः ॥६१॥
ब्राह्मणस्य स्वभावेन मधुरा मधुराभिधा । सुता च वारुणी यूनां वारुणीव[3] मदावहा ॥६२॥

कहनेपर राजाको काटनेवाला अगन्धन सर्प रह गया बाकी सब चले गये ॥४९–५०॥ गरुडदण्डने उसे ललकारते हुए कहा कि अरे दुष्ट ! अपने द्वारा छोड़े हुए विषको शीघ्र ही खींच और यदि खींचनेकी इच्छा नहीं है तो शीघ्र ही अग्निमें प्रवेश कर ॥५१॥ गरुडदण्डके इस प्रकार कहनेपर उस अगन्धन सर्पने क्रोधके कारण विष तो नहीं खींचा पर जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर मरण स्वीकार कर लिया और मरकर वह चमरी मृग हुआ ॥५२॥ विषके वेगसे मरकर राजा सल्लकी वनमें हाथी हुआ और जिसे श्रीभूतिके स्थानपर रक्खा गया था वह धम्मिल्ल मरकर उसी वनमें वानर हुआ सो ठीक ही है क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवोंकी और गति हो ही क्या सकती है ?॥५३॥ रामदत्ताके सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामक दोनों नीतिज्ञ एवं सामर्थ्यवान् पुत्र क्रमसे राजा और युवराज बनकर समुद्रान्त पृथिवीका पालन करने लगे ॥५४॥

पोदनपुर नगरमें जो राजा पूर्णचन्द्र और रानी हिरण्यवती थी वे रानी रामदत्ताके माता-पिता थे और वे दोनों ही जिनशासनकी भावनासे युक्त थे ॥५५॥ एक बार रामदत्ताके पिता पूर्णचन्द्रने राहुभद्र मुनिके समीप दीक्षा ले अवधिज्ञान प्राप्त किया और माता हिरण्यवतीने दत्तवती आर्यिकाके समीप दीक्षा ले आर्यिकाके व्रत धारण कर लिये ॥५६॥ कदाचित् रामदत्ताकी माता हिरण्यवती आर्यिकाने अवधिज्ञानी पूर्णचन्द्र मुनिसे रामदत्ताका सब समाचार सुना और जाकर उसे सम्बोधित किया—समझाया ॥५७॥ माताके मुखसे उपदेश श्रवण कर रामदत्ता संसारसे भयभीत हो उठी जिससे उसने उसी समय दीक्षा ले ली। हिरण्यवतीने रामदत्ताके पुत्र सिंहचन्द्रको भी समझाया जिससे उसने भी राहुभद्र गुरुके समीप दीक्षा ले ली ॥५८॥ सिंहचन्द्रके बाद प्रतापके द्वारा शत्रुओंको नम्रीभूत करनेवाला युवराज पूर्णचन्द्र राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ हुआ परन्तु वह सम्यग्दर्शन और व्रतसे रहित होनेके कारण भोगोंमें आसक्त हो गया ॥५९॥ एक बार आर्यिका रामदत्ताने अवधिज्ञानी एवं चारण ऋद्धिके धारक सिंहचन्द्र मुनिको नमस्कार कर उनसे अपना, अपनी माताका तथा अपने पुत्रोंका पूर्वभव पूछा ॥६०॥

इसके उत्तरमें मुनिराज कहने लगे कि इसी भरतक्षेत्रके कोसल देशमें एक वर्धकि नामका ग्राम था और उसमें मृगायण नामका एक ब्राह्मण रहता था ॥६१॥ ब्राह्मणकी ब्राह्मणीका नाम मधुरा था जो न केवल नामसे ही मधुरा थी किन्तु स्वभावसे भी मधुरा थी। उन दोनोंके एक वारुणी नामकी पुत्री थी जो तरुण मनुष्योंके लिए वारुणी–मदिराके समान मद उत्पन्न करनेवाली

१. -वतीत्यसौ म० । २. प्रतापेन प्रणताः अहिताः शत्रवो येन सः । ३. मदिरेव ।

मृत्वा मृगायणो राज्ञः साकेतेऽतिबलस्य सः । हिता हिरण्यवत्येषा श्रीमत्याश्च सुताऽभवत् ॥६३॥
मधुरा त्वं रामदत्ताऽभूः पूर्णचन्द्रस्तु वारुणी । वणिक्सुमित्रदत्तोऽहं सिंहचन्द्रस्तवात्मजः ॥६४॥
[1]दष्टः श्रीभूतिपूर्वेण भुजगेन पिता गजः । सञ्जातो ग्राहितो धर्मं मया स मदवारणः ॥६५॥
दुर्भुजङ्गचरी मृत्वा चमरी चमरातुरा । रौद्रः कुक्कुटसर्पोऽभूद् रूक्षपक्षपरिग्रहः ॥६६॥
सोपवासव्रतश्रान्तः स विश्रान्तमदः करी । ग्रस्तः कुक्कुटसर्पेण सहस्रारमगात्सुधीः ॥६७॥
विमाने श्रीप्रभे तत्र श्रीधरः [3]श्रीधरोऽमरः । अप्सरोभिरमा भोगी धर्मेण रमतेऽधुना ॥६८॥
क्रोधाद् धम्मिल्लपूर्वेण मर्कटेन हतस्तदा । पापः कुक्कुटसर्पोऽगात्पृथिवीं वालुकाप्रभाम् ॥६९॥
म्लेच्छः शृगालदत्तस्तद्दन्तिदन्तास्थिमौक्तिकम् । दत्तवान् धनमित्राय पूर्णचन्द्राय वाणिजः ॥७०॥
दन्तास्थिभिरयं तुष्टः कारयित्वा नृपासनम् । हारभारं तु मुक्ताभिरथास्ते तद्बिभर्ति तम् ॥७१॥
अहो संसारवैचित्र्यं देहिनामिह मोहिनाम् । पितुरङ्गानि जायन्ते भोगाङ्गानि पराङ्गवत् ॥७२॥
निशम्य शमिनो [4]वाक्यं रामदत्ता प्रमादिनम् । तदशेषमुदाहृत्य पूर्णचन्द्रमबोधयत् ॥७३॥
दानपूजातपःशीलसम्यक्त्वमनुपाल्य सः । कल्पे तस्मिन् विमानेऽभूद्वैडूर्यप्रभनामनि ॥७४॥
रामदत्ताऽपि सम्यक्त्वात्स्त्रैणमुन्मुच्य तत्र तु । प्रभङ्करविमानेऽभूद्देवः सूर्यप्रभाभिधः ॥७५॥
सिंहचन्द्रमुनिः सम्यगाराधितचतुष्टयः । ग्रैवेयकेऽहमिन्द्रोऽभूत्स प्रीतिङ्करसंज्ञके ॥७६॥

थी ॥६२॥ मृगायण मरकर साकेत नगरमें राजा अतिबल और उसकी रानी श्रीमतीके तुम्हारी माँ हिरण्यवती हुआ है॥६३॥ उसकी मधुरा ब्राह्मणी तू रामदत्ता हुई है, वारुणीका जीव तेरा छोटा पुत्र पूर्णचन्द्र हुआ है, और वणिक् सुमित्रदत्तका जीव मैं तेरा सिंहचन्द्र नामका पुत्र हुआ हूँ ॥६४॥ पिता सिंहसेनको श्रीभूतिके जीव अगन्धन सर्पने डस लिया था इसलिए मरकर वे हाथी हुए थे मैंने उन्हें हाथीकी पर्यायमें श्रावकका धर्म धारण कराया था ॥६५॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव साँप हुआ था फिर चमरी मृग हुआ। तदनन्तर चमरमृगके लिए आतुर होता हुआ मरकर रूखे पङ्खोंको धारण करनेवाला दुष्ट कुक्कुट सर्प हुआ ॥६६॥ पिताका जीव जो हाथी हुआ था वह उपवासका व्रत लेकर शिथिल पड़ा हुआ था और उसका सब मद सूख गया था। उसी दशामें पुरोहितके जीव कुक्कुट सर्पने उसे डस लिया जिससे वह अच्छे परिणामोंसे मरकर सहस्रार स्वर्ग गया ॥६७॥ वह वहाँ श्रीप्रभ नामक विमानमें लक्ष्मीको धारण करनेवाला श्रीधर नामका देव हुआ है और इस समय धर्मके प्रभावसे भोगोंसे युक्त हो अप्सराओंके साथ रमण कर रहा है ॥६८॥ धम्मिल्लका जीव जो मर्कट हुआ था उसने हाथीका घात करनेवाले कुक्कुट सर्पको क्रोधवश मार डाला जिससे वह मरकर बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरकमें गया ॥६९॥ किसी शृगालदत्त नामक भीलने उस हाथीके दाँत, हड्डी और मोती इकट्ठे कर धनमित्र सेठके लिए दिये और धनमित्रने राजा पूर्णचन्द्रके लिए समर्पित किये ॥७०॥ राजा पूर्णचन्द्र उन्हें पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ। उसने दाँतोंकी हड्डियोंसे सिंहासन बनवाया है और मोतियोंसे बड़ा हार तैयार करवाया है। इस समय वह उसी सिंहासनपर बैठता है और उसी हारको धारण करता है ॥७१॥ अहो! मोही प्राणियोंकी संसारकी विचित्रता तो देखो कि जहाँ अन्य प्राणियोंके अङ्गके समान पिताके अङ्ग भी भोगके साधन हो जाते हैं ॥७२॥ मुनिराज सिंहचन्द्रके वचन सुनकर आर्यिका रामदत्ताने जाकर प्रमादमें डूबे पूर्णचन्द्रको वह सब बताकर अच्छी तरह समझाया ॥७३॥ जिससे वह दान, पूजा, तप, शील और सम्यक्त्वका अच्छी तरह पालन कर उसी सहस्रार स्वर्गके वैडूर्यप्रभ नामक विमानमें देव हुआ ॥७४॥ रामदत्ता भी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे स्त्री पर्यायको छोड़कर उसी सहस्रार स्वर्गके प्रभंकर नामक विमानमें सूर्यप्रभ नामका देव हुई॥७५॥ और सिंहचन्द्र मुनि भी अच्छी तरह चार

१. दृष्टः म० । २. लक्ष्मीधरः । ३. एतन्नामधेयः । ४. वाच्यं म० ।

सूर्यप्रभसुरश्च्युत्वा जम्बूद्वीपस्य भारते । वैताढ्यदक्षिणश्रेण्यां धरणीतिलके पुरे ॥७७॥
भूभृतोऽतिबलस्यामूत्सम्यक्त्वच्युतिदोषतः । सुलक्षणमहादेव्यां श्रीधराख्या शरीरजा ॥७८॥
अलकापतये दत्ता सा सुदर्शनभूभुजे । स वैडूर्यविमानेशस्तस्यां जाता यशोधरा ॥७९॥
दत्तायामुत्तरश्रेण्यां प्रभाकरपुरेशिने । सूर्यावर्ताय जातोऽस्यां सुतोऽसौ श्रीधरोऽमरः ॥८०॥
तस्मै तु रश्मिवेगाय राज्यं दत्त्वा पिता ततः । मुनिचन्द्रसमीपेऽसौ मोक्षार्थी तपसि स्थितः ॥८१॥
गुणवत्यार्यिकापार्श्वे श्रीधरा सयशोधरा । सम्यग्दर्शनसंशुद्धा प्रव्रज्यां प्रत्यपद्यत ॥८२॥
रश्मिवेगोऽन्यदा यातः[1] सिद्धकूटं ववन्दिषुः[2] । हरिचन्द्रमुनेस्तत्र धर्मं श्रुत्वाऽभवद्यतिः ॥८३॥
काञ्चनाख्यगुहायां तं स्वाध्यायध्वनिपावनम् । आर्ये ते वन्दितुं याते रश्मिवेगं महामुनिम् ॥८४॥
वालुकाप्रभभूमेर्यो निर्यातो नारकश्चिरम् । स संसृत्य गुहायां हि जातः सोऽजगरोऽत्र तु ॥८५॥
कायोत्सर्गस्थितं साधुमुपसर्गनिरीक्षणात् । आर्ये च ते समयादि सोऽगिलद्विपुलोदरः ॥८६॥
रश्मिवेगो मृतः कल्पे कापिष्ठे श्रेष्ठधीरभूत् । अर्कप्रभस्तथाऽऽर्ये विमाने रुचके सुरौ ॥८७॥
महाशत्रुरसौ मृत्वा रौद्रध्यानदुराशयः । पङ्कप्रभां भुवं प्राप्तः पापपङ्ककलङ्कितः ॥८८॥
प्रीतिङ्करविमानेशः सिंहचन्द्रचरश्च्युतः । अपराजितसुन्दर्योः पुत्रश्चक्रपुरेऽजनि ॥८९॥
चक्रायुधाभिधानस्य चित्रमालाऽस्य भामिनी । तस्यामर्कप्रभश्च्युत्वा जातो वज्रायुधः सुतः ॥९०॥

आराधनाओंकी आराधना कर प्रीतिङ्कर नामक ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए ॥७६॥ रामदत्ताका जीव जो सूर्यप्रभ देव हुआ था वहाँ उसका सम्यग्दर्शन छूट गया था इसलिए आयु पूर्ण होनेपर वहाँसे च्युत हो वह विजयार्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीपर जो धरणीतिलक नामका नगर है उसके राजा अतिबलकी सुलक्षणा नामक महादेवीके श्रीधरा नामकी पुत्री हुआ ॥७७–७८॥ श्रीधरा, अलका नगरीके स्वामी राजा सुदर्शनको दी गई और उसके पूर्णचन्द्रका जीव जो वैडूर्यप्रभ विमानका स्वामी था वहाँसे चयकर यशोधरा नामकी पुत्री हुआ ॥७९॥ यशोधरा, उत्तरश्रेणीपर स्थित प्रभाकरपुरके स्वामी राजा सूर्यावर्तके लिए दी गई और उसके राजा सिंहसेनका जीव जो श्रीधर देव हुआ था वह वहाँसे चयकर रश्मिवेग नामका पुत्र हुआ॥८०॥ तदनन्तर जब राजा सूर्यावर्त मोक्षकी अभिलाषासे उस रश्मिवेग पुत्रके लिए राज्य देकर मुनिचन्द्र गुरुके समीप तप करने लगा तब श्रीधरा और यशोधराने भी सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो गुणवती आर्यिकाके पास दीक्षा ले ली ॥८१–८२॥ एक समय रश्मिवेग वन्दना करनेकी इच्छासे सिद्धकूट गया था कि वहाँ हरिचन्द्र मुनिसे धर्म श्रवण कर मुनि हो गया ॥८३॥ एक दिन महामुनि रश्मिवेग, काञ्चन नामक गुहामें स्वाध्याय करते हुए विराजमान थे कि श्रीधरा और यशोधरा नामकी आर्यिकाएँ उनकी वन्दनाके लिए वहाँ गईं ॥८४॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव जो बालुकाप्रभा पृथिवीमें नारकी हुआ था वह चिरकालके बाद वहाँसे निकलकर तथा संसारमें परिभ्रमण कर उसी गुहामें अजगर हुआ था ॥८५॥ उपसर्ग आया देख मुनि रश्मिवेग कायोत्सर्गमें स्थित हो गये और दोनों आर्यिकाओंने भी साव-धिक संन्यास ले लिया। विशाल उदरका धारक वह अजगर उन तीनोंको निगल गया ॥८६॥ रश्मिवेग मरकर कापिष्ठ स्वर्गमें उत्तम बुद्धिके धारक अर्कप्रभ देव हुए और दोनों आर्यि-काएँ भी उसी स्वर्गके रुचक विमानमें देव हुईं ॥८७॥ जिसका हृदय रौद्र ध्यानसे दूषित था ऐसा महाशत्रु अजगर पापरूपी पङ्कसे कलङ्कित हो मरकर पङ्कप्रभा नामक चौथी पृथिवीमें उत्पन्न हुआ ॥८८॥ सिंहचन्द्रका जीव जो प्रीतिङ्कर विमानका स्वामी था वह वहाँसे च्युत हो चक्रपुर नामक नगरके राजा अपराजित और रानी सुन्दरीके चक्रायुध नामका पुत्र हुआ। चक्रायुधकी स्त्री चित्रमाला थी और उसके मुनि रश्मिवेगका जीव (रानी रामदत्ताका पति राजा सिंहसेनका

---

१. जातः म० । २. वन्दितुमिच्छुः ।

श्रीधरापूर्वको देवः पृथिवीतिलके पुरे । प्रियङ्करातिवेगाभ्यां रत्नमालाऽभवत्सुता ॥९१॥
वज्रायुधाय सा दत्ता तस्यां रत्नायुधः सुतः । जातो यशोधरापूर्वः[1] सुरः पूर्वसुकर्मणः ॥९२॥
चक्रायुधः श्रियं न्यस्य सुते वज्रायुधे तपः । पिहितास्रवपादान्ते कृत्वान्ते[2] निर्वृतिं श्रितः ॥९३॥
वज्रायुधोऽपि विन्यस्य राज्यं रत्नायुधे तपः । दध्रे राज्यमदोन्मत्तः स च मिथ्यात्वमागतः ॥९४॥
जलावगाहनायास्य राजहस्त्यन्यदा गतः । मुनिदर्शनतः स्मृत्वा जातिं नापः पिबत्यसौ ॥९५॥
तस्य मेघनिनादस्य राज्ञा कृत्यमजानता । वज्रदत्तमुनिः पृष्टः कारणं प्रत्यभाषत ॥९६॥
चित्रकारपुरेऽत्राभूत्प्रीतिभद्रो नरेश्वरः । दयिता सुन्दरी तस्य पुत्रः प्रीतिङ्करस्तयोः ॥९७॥
चित्रबुद्धिस्तथा मन्त्री कमला तस्य कामिनी । विचित्रमतिरित्यासीत्तनयः सनयोऽनयोः ॥९८॥
अमात्यराजपुत्रौ तौ श्रुत्वा तु तपसः फलम् । श्रुतसागरपादान्ते युवानौ तपसि स्थितौ ॥९९॥
तौ च निर्वाणधामानि पश्यन्तौ कान्तदर्शनौ । साकेतमन्यदा यातौ नानाविधतपोधनौ ॥१००॥
गणिकां बुद्धिसेनाख्यां तत्र दृष्ट्वाऽतिरूपिणीम् । भग्नः कर्मवशात्मन्त्रिपुत्रस्त्वपत्रपः[3] ॥१०१॥
राज्ञः स गन्धमित्रस्य सूपकारपदे स्थितः । मांसपाकविशेषज्ञो लेभे तां गणिकां ततः ॥१०२॥
स भुक्त्वाऽमाऽनया कामं सर्वतोऽविरतात्मकः । मांसाशनप्रियो मृत्वा सप्तमीं पृथिवीमितः ॥१०३॥

जीव) अर्कप्रभ देव कापिष्ठ स्वर्गसे च्युत हो वज्रायुध नामका पुत्र हुआ ॥८९-९०॥ श्रीधरा आर्यिकाका जीव जो कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुआ था, वहाँसे च्युत हो पृथिवीतिलक नगरमें राजा प्रियंकर और अतिवेगा रानीके रत्नमाला नामकी पुत्री हुआ ॥९१॥ रत्नमाला वज्रायुधके लिए दी गई और उसके आर्यिका यशोधराका जीव जो कापिष्ठ स्वर्गमें देव हुआ था वहाँसे च्युत हो पूर्व पुण्यके उदयसे रत्नायुध नामका पुत्र हुआ ॥९२॥ चक्रायुध वज्रायुध पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर पिहितास्रव मुनिके पादमूलमें तप करने लगा और अन्तमें निर्वाणको प्राप्त हुआ ॥९३॥ राजा वज्रायुधने भी राज्यका भार रत्नायुध पुत्रके लिए सौंपकर तप धारण कर लिया। परन्तु रत्नायुध राज्यके मदसे उन्मत्त हो मिथ्यादृष्टि हो गया ॥९४॥ राजा रत्नायुधका एक मेघनिनाद नामका मुख्य हस्ती था। एक समय वह जलावगाहनके लिए गया था परन्तु बीचमें मुनिराजका दर्शन होनेसे उसे जाति स्मरण हो गया जिससे उसने पानी नहीं पिया ॥९५॥ राजा रत्नायुध मेघनिनादके इस कार्यको नहीं समझ सका इसलिए उसने वज्रदत्त नामक मुनिराजसे इसका कारण पूछा। उत्तरमें मुनिराज कहने लगे ॥९६॥

इसी भरत क्षेत्रके चित्रकारपुरमें एक प्रीतिभद्र नामका राजा रहता था। उसकी सुन्दरी नामकी स्त्री थी और दोनोंके प्रीतिंकर नामका पुत्र था ॥९७॥ राजा प्रीतिभद्रका एक चित्रबुद्धि नामका मन्त्री था। मन्त्रीकी स्त्रीका नाम कमला था और दोनोंके विचित्रमति नामका नीतिवेत्ता पुत्र था ॥९८॥ राजपुत्र प्रीतिंकर और मन्त्रिपुत्र विचित्रमति दोनोंने एक बार श्रुतसागर मुनिसे तपका फल सुना और दोनों ही युवावस्थामें उनके चरणोंके समीप रहकर तप करने लगे ॥९९॥ जो देखनेमें बहुत सुन्दर थे और नाना प्रकारका तपश्चरण ही जिनका धन था ऐसे वे दोनों मुनि एक समय सिद्ध क्षेत्रोंके दर्शन करते हुए साकेतनगर पहुँचे ॥१००॥ साकेतनगरमें एक बुद्धिसेना नामकी वेश्या बहुत सुन्दरी थी। उसे देखकर मन्त्रिपुत्र विचित्रमति कर्मोदयके कारण मुनिपदसे भ्रष्ट हो गया और उसने निर्लज्ज हो मुनिपद छोड़ दिया ॥१०१॥ विचित्रमति, मुनिपदसे भ्रष्ट हो राजा गन्धमित्रका रसोइया बन गया। वह मांस बनानेमें अत्यन्त निपुण था। इसलिए अपनी कलासे राजाको प्रसन्न कर उसने वर स्वरूप वह वेश्या प्राप्त कर ली ॥१०२॥ जिसकी आत्मा समस्त पापोंसे अविरत थी—जिसे किसी भी पापके करनेमें संकोच नहीं था तथा जो मांस खानेका प्रेमी हो चुका था ऐसा विचित्रमति उस वेश्याके साथ इच्छानुसार भोग भोगकर मरा

---

१. यशोधरापूर्वं म० । २. मृत्वान्ते म० ग० । ३. अपगता त्रपा लज्जा यस्य सः ।

ऊहुत्वोऽपि ततो भ्रान्त्वा संसारं सारवर्जितम् । जातः पापविशेषेण मारणो मत्तवारणः ॥१०४॥
साधुदर्शनयोगेन जातिस्मृतिमुपागतः । निन्दन् मन्दरुचिः कर्म गजोऽयमुपशान्तवान् ॥१०५॥
तदाकर्ण्य करीन्द्रोऽसौ नरेन्द्रश्च यतेर्वचः । मिथ्याकलङ्कमुत्सृज्य जातौ श्रावकतायुजौ ॥१०६॥
पङ्कप्रभाविनिर्यातो नारकोऽप्यभवत्पुनः । भङ्गीदारुणयोर्व्याधो नामकर्मातिदारुणः ॥१०७॥
वने प्रियङ्गुखण्डेऽसौ वज्रायुधमहामुनिम् । व्याधो विव्याध योगस्थं सोऽपि सर्वार्थसिद्धिमैत्[1] ॥१०८॥
महातमःप्रभां प्राप्तो मृत्वा व्याधोऽतिदारुणः । दुःखमन्वभवत्सोऽस्यां घोरं मुनिवधोद्भवम् ॥१०९॥
मृत्वा श्रावकधर्मेण रत्नमालाऽच्युतेऽमरः । जातो रत्नायुधश्चापि तत्रैव सुरसत्तमः ॥११०॥
द्वीपे च धातकीखण्डे पूर्वमेरोश्च पश्चिमे । विदेहे गन्धिलादेशे राज्ञोऽयोध्यापतेः सुतौ ॥१११॥
अर्हद्दासस्य तौ देवौ सुव्रताजिनदत्तयोः । जातौ वीतभयः सीरी चक्री चात्र विभीषणः ॥११२॥
पृथ्वीं रत्नप्रभां यातो जीवितान्ते विभीषणः । अनिवृत्तिमुनेस्त्वन्ते कृत्वा वीतभयस्तपः ॥११३॥
जातः स लान्तवेन्द्रोऽहमादित्याभो मयाप्यसौ । नारको बोधितो गत्वा विभीषणचरस्ततः ॥११४॥
जम्बूद्वीपविदेहे यो विषयो गन्धमालिनी । तत्र रौप्यगिरौ[2] चारौ[3] चारुखेचरगोचरे[4] ॥११५॥
प्राणी श्रीधर्मणः पूर्वः श्रीदत्तायामजायत । श्रीदामनामधेयोऽसौ मया मेरौ प्रबोधितः ॥११६॥

और मरकर सातवें नरक गया ॥१०३॥ वहाँसे निकलकर इस असार संसारमें भटकता रहा। अब किसी पाप विशेषके कारण आपका हिंसाशील मदोन्मत्त हाथी हुआ है ॥१०४॥ मुनिराजके दर्शनका योग पाकर यह जाति-स्मरणको प्राप्त हुआ है और इसीलिए संसारसे मन्दरुचि हो अपने कार्यकी निन्दा करता हुआ शान्त हो गया है ॥१०५॥ वज्रदत्त मुनिराजके उक्त वचन सुनकर वह मेघनिनाद हाथी और राजा रत्नायुध दोनों ही मिथ्यात्व रूपी कलंकको छोड़ श्रावकके व्रतसे युक्त हो गये ॥१०६॥ श्रीभूति पुरोहितका जीव, जो अजगर पर्यायसे पङ्कप्रभा पृथिवीमें गया था वह वहाँसे निकलकर भंगी और दारुण नामक भील भीलनीके नाम और कार्य दोनोंसे ही अतिदारुण पुत्र हुआ। भावार्थ—उस पुत्रका नाम अतिदारुण था और उसका काम भी अति दारुण—अत्यन्त कठोर था ॥१०७॥ एक दिन राजा सिंहसेनके जीव वज्रायुध महामुनि प्रियङ्गुखण्ड नामक वनमें ध्यानारूढ़ थे कि उस अतिदारुण भीलने उन्हें मार डाला। महामुनि मरकर सर्वार्थसिद्धि गये और वह अतिदारुण भील मरकर महातमःप्रभा नामक सातवीं पृथिवीमें गया जहाँ मुनिवधसे उत्पन्न घोर दुःख उसे भोगना पड़ा ॥१०८–१०९॥ रत्नमाला, मर कर श्रावक धर्मके प्रभावसे अच्युत स्वर्गमें देव हुई तथा रत्नायुध भी उसी स्वर्गमें उत्तम देव हुआ ॥११०॥ धातकीखण्ड द्वीपमें पूर्व मेरुके पश्चिम विदेहमें एक गन्धिला नामका देश है। उसकी अयोध्या नगरीमें राजा अर्हद्दास राज्य करते थे। उनकी सुव्रता और जिनदत्ता नामकी दो रानियाँ थीं। रत्नमाला और रत्नायुधके जीव जो अच्युत स्वर्गमें देव हुए थे वहाँसे च्युत हो उन्हीं दोनों रानियोंके क्रमसे वीतभय नामक बलभद्र और विभीषण नामक नारायण हुए ॥१११–११२॥ इनमें विभीषण तो आयुका अन्त होनेपर रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवीमें उत्पन्न हुआ और वीतभय अनिवृत्ति मुनिके समीप तप कर आदित्याभ नामका लान्तवेन्द्र हुआ। वह लान्तवेन्द्र मैं ही हूँ। मैंने रत्नप्रभा पृथिवीमें जाकर विभीषणके जीव नारकीको अच्छी तरह समझाया ॥११३–११४॥ तदनन्तर इसी जम्बू द्वीपके विदेह क्षेत्रमें जो गन्धमालिनी नामका देश है उसमें विद्याधरोंके मनोहर-मनोहर निवासोंसे युक्त एक अतिशय सुन्दर विजयार्ध पर्वत है। उसी विजयार्धपर श्रीधर्म राजा और श्रीदत्ता नामकी रानी रहती थी। विभीषणका जीव नारकी, नरकसे निकलकर इन्हीं दोनोंके श्रीदाम नामका पुत्र हुआ। यह श्रीदाम मुझे एक बार सुमेरु

१. अगच्छत्। २. विजयार्धपर्वते। ३. सुन्दरे। ४. गोचरः म०, ग०।

अनन्तमतिसंज्ञस्य गुरोः कृत्वातिशिष्यताम् । स चन्द्राभविमानेन्द्रो ब्रह्मलोकेऽभवत्सुरः ॥११७॥
व्याधपूर्वोऽपि सप्तम्या निःसृत्य भुजगोऽभवत् । रत्नप्रभां प्रविश्यैत्य भ्रान्त्वा तिर्यक्षु दुःखभाक् ॥११८॥
स भूतरमणाटव्यामैरावत्यास्तटेऽभवत् । तोकं कनककेश्यां तु तापसस्य खमालिनः ॥११९॥
स पञ्चाग्नितपः कुर्वन् मृगशृङ्गो मृगोपमः । चन्द्राभं खेचरं दृष्ट्वा खे चरन्तं यदृच्छया ॥१२०॥
निदानी वज्रदंष्ट्रस्य विद्युद्दंष्ट्रोऽयमात्मजः । जातो विद्युत्प्रभागर्भे विद्याविद्योतितोद्यमः ॥१२१॥
वज्रायुधचर[2]श्च्युत्वा जातः सर्वार्थसिद्धितः । संजयन्तः फणीन्द्रस्त्वं जयन्तो ब्रह्मलोकतः ॥१२२॥
एकजन्मापकारेण बहुजन्मसु वैरधीः । अवधीत् सिंहसेनं तं श्रीभूतिचरजीवकः ॥१२३॥
घ्नतोऽस्य घनवैरेण कोपनिघ्नस्य को गुणः । जातः प्रत्युत जातोऽयं सौख्यविघ्नकृदात्मनः ॥१२४॥
उपलभ्य मतं जैनं गजो जन्मनि पञ्चमे । निर्वैरो निर्वृतोऽहिस्त्वं संसरस्येष वैरभाक् ॥१२५॥
वैरबन्धमिति ज्ञात्वा घोरसंसारवर्धनम् । धरणेन्द्र ! विमुञ्च त्वं तथा मिथ्यात्वमप्यरम् ॥१२६॥
इत्यादित्याभदेवेन धरणेन्द्रः प्रबोधितः । मुक्तवैरः स सम्यक्त्वं जग्राह भवतारणम् ॥१२७॥
ततः खण्डितविद्यास्ते छिन्नपक्षाः खगा यथा । खिन्नोद्यमास्तदेत्युक्ता धरणेन्द्रेण खेचराः ॥१२८॥
प्रतिमां व्योमगाः सर्वे संजयन्तस्य पावनीम् । शैले स्थापयतात्राशु पञ्चचापशतोच्छ्रयाम् ॥१२९॥

पर्वतपर मिला तो वहाँ भी मैंने उसे समझाया ॥११५-११६॥ जिससे अनन्तमति गुरुका शिष्य बनकर वह ब्रह्मलोक स्वर्गमें चन्द्राभ विमानका स्वामी देव हुआ है ॥११७॥ श्रीभूतिका जीव जो पहले भील था सातवीं पृथिवीसे निकलकर सर्प हुआ। फिर रत्नप्रभा नामक पहिली पृथिवीमें गया, वहाँसे निकल कर तिर्यञ्चोंमें भ्रमण कर दुःख भोगता रहा ॥११८॥

तदनन्तर भूतरमण नामक अटवीमें ऐरावती नदीके किनारे खमाली नामक तापसकी कनककेशी स्त्रीसे पुत्र उत्पन्न हुआ ॥११९॥ वह मृगके समान था तथा मृगशृङ्ग उसका नाम था। एक बार वह पञ्चाग्नि तप तप रहा था कि उसकी दृष्टि स्वेच्छासे आकाशमें विचरण करते हुए चन्द्राभ नामक विद्याधरपर पड़ी। विद्याधरको देखकर उसने विद्याधर होनेका निदान किया और उसके फलस्वरूप वह राजा वज्रदंष्ट्रकी विद्युत्प्रभा रानीके गर्भसे, जिसका उद्यम विद्याओंसे प्रकाशमान है ऐसा यह विद्युद्दंष्ट्र नामका पुत्र हुआ है ॥१२०-१२१॥ वज्रायुधका जीव सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर संजयन्त हुआ है और ब्रह्मलोकसे चलकर जयन्तका जीव तू धरणेन्द्र हुआ है ॥१२२॥ देखो वैरकी महिमा, राजा सिंहसेनने श्रीभूति पुरोहितका एक जन्ममें अपकार किया था पर उसी अपकारसे वैर बाँधकर श्रीभूतिके जीवने अनेक जन्मोंमें सिंहसेनका वध किया ॥१२३॥ तीव्र वैरसे क्रोधके वशीभूत हो श्रीभूतिके जीवने सिंहसेनका अनेक बार घात किया अवश्य पर उससे उसे क्या लाभ हुआ ? प्रत्युत उसका यह कार्य अपने ही सुखको नष्ट करनेवाला हुआ ॥१२४॥ सिंहसेनका जीव तो जब हाथी था तभी जैनधर्म प्राप्तकर वैर रहित हो गया था और उसके फलस्वरूप पाँचवें भवमें संजयन्त पर्यायसे मोक्ष चला गया है पर तू नागेन्द्र होकर भी वैरको धारणकर संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ॥१२५॥ हे धरणेन्द्र ! इस प्रकार वैर भावको घोर संसारका वर्धक जानकर तू छोड़ दे और सबका मूल जो मिथ्यादर्शन है उसका भी शीघ्र त्याग कर दे ॥१२६॥ इस प्रकार आदित्याभ देवके द्वारा प्रबोधको प्राप्त हुए धरणेन्द्रने सब वैर-भाव छोड़कर संसारसागरसे पार करनेवाला सम्यग्दर्शन धारण कर लिया ॥१२७॥

तदनन्तर विद्याओंके खण्डित हो जानेसे जो पङ्ख कटे पक्षियोंके समान खेद खिन्न हो रहे थे ऐसे उन विद्याधरोंसे धरणेन्द्रने कहा कि हे समस्त विद्याधरो ! तुम सब शीघ्र ही इस पर्वतपर

---

१. पुत्रः। 'पुत्रः सूनुरपत्यं च तुक्तोकं चात्मजः प्रजा' इत्यमरः। २. भूतपूर्वो वज्रायुध इति वज्रायुधचरः।

तस्याश्चरणमूले वः पुरश्चरणकारिणाम् । कालेन महता क्लेशाद्विद्याः सिद्ध्यन्तु नान्यथा ॥१३०॥
इतः प्रभृति च स्त्रीणां विद्युद्दंष्ट्रस्य सन्ततौ । प्रज्ञप्तिरोहिणीगौर्यः सिध्यन्तु न नृणां तु ताः ॥१३१॥
इत्युक्तमनुमन्यैते खगाः प्रणतिपूर्वकम् । विद्याः स्वा लेभिरे भूयो यथास्वं च ययुः सुराः ॥१३२॥
खेचराः स्थापयाञ्चक्रुस्तां यतेः प्रतियातनाम् । नानोपकरणां तत्र हेमरत्नमयीं गिरौ ॥१३३॥
हृतविद्या यतस्तत्र ह्रीमन्तस्तस्थुरानताः । विद्याधरास्ततः शैलं ह्रीमन्तं तं जना जगुः ॥१३४॥
भूभृतो रत्नवीर्यस्य मथुरायां पृथुश्रियः । स मेरुर्मेघमालायां लान्तवेन्द्रोऽभवत्सुतः ॥१३५॥
अमितप्रभया तस्य प्रिययाऽलाभि भूपतेः । धरणेन्द्रचरः पुत्रो मन्दरश्चन्द्रसुन्दरः ॥१३६॥
युवानौ तौ ततो भुक्त्वा कामभोगान् यथेप्सितान् । श्रेयसो जिनचन्द्रस्य शिष्यतामुपजग्मतुः ॥१३७॥
स मेरुर्मेरुनिष्कम्पः प्राप्य केवलसम्पदम् । निर्ववौ तु गणेन्द्रत्वं मन्दरो मन्दरोपमः ॥१३८॥

रथोद्धतावृत्तम्

सञ्जयन्तचरितं जगत्त्रये सुप्रसिद्धमतिभक्तिभावतः ।
सम्भवन्तु भुवि भव्यजन्तवः संस्मरन्तु जिनतां यियासवः[1] ॥१३९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सञ्जयन्तपुराणवर्णनो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥२७॥

संजयन्त स्वामीकी पाँच सौ धनुष ऊँची पवित्र प्रतिमा स्थापित करो। उसी प्रतिमाके पादमूलमें उनकी सेवा करते हुए तुम लोगोंको बहुत समय बाद बड़े कष्टसे विद्याएँ सिद्ध होंगी अन्य प्रकार-से नहीं ॥१२८-१३०॥ आजसे विद्युद्दंष्ट्रके वंशमें केवल स्त्रियोंको ही प्रज्ञप्ति, रोहिणी और गौरी नामकी विद्याएँ सिद्ध हो सकेंगी पुरुषोंको नहीं ॥१३१॥ इस प्रकार धरणेन्द्रकी आज्ञाको विद्याधरोंने नमस्कार पूर्वक स्वीकार किया तथा यथायोग्य विधिसे अपनी विद्याएँ पुनः प्राप्त कीं। यह सब होनेके बाद देव यथास्थान चले गये ॥१३२॥ विद्याधरोंने धरणेन्द्रकी आज्ञानुसार उस पर्वतपर नाना उपकरणोंसे युक्त एवं सुवर्ण और रत्नोंसे निर्मित संजयन्त स्वामीकी प्रतिमा स्थापित कराई ॥१३३॥ विद्याओंके हरे जानेसे लज्जित हो नीचा मस्तक किये हुए विद्याधर चूँकि उस पर्वतपर बैठे थे इसलिए लोग उस पर्वतको ह्रीमन्त कहने लगे ॥१३४॥ मथुरामें विशाल लक्ष्मीका धारक रत्नवीर्य नामका राजा रहता था। उसकी मेघमाला नामकी स्त्री थी, आदित्याभ नामका लान्तवेन्द्र उन्हीं दोनोंके मेरु नामका पुत्र हुआ ॥१३५॥ उसी राजा रत्नवीर्यकी दूसरी स्त्री अमितप्रभा थी, उसके धरणेन्द्रका जीव चन्द्रमाके समान सुन्दर मन्दर नामका पुत्र हुआ ॥१३६॥

तदनन्तर युवा होनेपर दोनोंने इच्छानुसार कामभोगोंका उपभोग किया और उसके बाद दोनों ही, श्री श्रेयांसनाथ जिनेन्द्रके शिष्य हो गये—दीक्षा लेकर मुनि हो गये ॥१३७॥ उनमें मेरु पर्वतके समान निष्कम्प मेरु मुनिराज केवलज्ञानरूपी सम्पत्तिको प्राप्त कर मोक्ष चले गये और मन्दरगिरिकी उपमाको धारण करनेवाले मन्दर मुनिराज श्रेयान्सनाथ भगवान्के गणधर हो गये ॥१३८॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि इस पृथिवीपर जो भव्य जीव तीर्थंकर पद प्राप्त करना चाहते हैं वे तीनों लोकोंमें अतिशय प्रसिद्ध संजयन्त स्वामीके इस चरितका उत्कट भक्ति भावसे आदर करें तथा उसीका अच्छी तरह स्मरण करें ॥१३९॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें संजयन्त पुराणका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२७॥

---

१. यातुमिच्छवः ।

अष्टाविंशः सर्गः

अतः परं [1] परं शौरेः शृणु श्रेणिक ! चेष्टितम् । वेगवत्या वियुक्तस्य पुण्यपौरुषयोगिनः ॥१॥
पर्यटन्नटवीं वीरस्तापसाश्रममश्रमः । प्रविष्टोऽपश्यदाविष्टविकथान् [2] तत्र तापसान् ॥२॥
राजयुद्धकथासक्ताः यूयं किमिति तापसाः । तापसास्तपसा युक्तास्तपो वाक्संयमादिकम् ॥३॥
इति पृष्टा जगुस्ते तं विशिष्टजनवत्सलाः । नवप्रव्रजिता वृत्तिं मौनीं विद्मो वयं न भोः ॥४॥
श्रावस्त्यामस्ति विस्तीर्णयशस्तीर्णमहार्णवः । एणीपुत्र इति ख्यातो क्षोणीपतिरक्षीणपौरुषः ॥५॥
प्रियङ्गुसुन्दरी तस्य दुहिता लोकसुन्दरी । तस्याः स्वयंवरार्थं तु तेनाहूता वयं नृपाः ॥६॥
केनापि हेतुना कोऽपि न वृतो वृतया श्रिया । कन्यया वन्यहस्तिन्या वन्येतरगजो यथा ॥७॥
भूपाः सम्भूय भूयांसो विलक्षा लोभलक्षिताः । कन्यापित्रा ततः सत्रा सद्यो योद्धुं समुद्यताः ॥८॥
तेन भोः क्षुभितान्याशु सहस्राणि महीभुजाम् । सङ्कोचितानि सङ्ग्रामे नेत्राणि रविणा यथा ॥९॥
तुङ्गाभिमानिनः केचिद् भङ्गाङ्गी [3] करणाक्षमाः । रणाङ्गणगता भूपाः प्राणान् सद्यो हि तत्यजुः ॥१०॥
विभ्येऽप्यश्वरवात्तस्मात्सहस्रकरतो वयम् । ध्वान्तौघा इव भीता भोः प्रविष्टा गह्वरं वनम् ॥११॥
कुरु धर्मोपदेशं भो धर्मतत्त्वमजानताम् । त्वं वचोभिरलं मृष्टैर्दृष्टतत्त्वोऽभिलष्यसे ॥१२॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! अब तुम वेगवतीसे रहित तथा पुण्य और पुरुषार्थके समागमको प्राप्त वसुदेवका आगेका चरित सुनो ॥१॥ एक दिन बिना किसी थकावटके अटवीमें भ्रमण करते हुए वीर वसुदेवने तपस्वियोंके आश्रममें प्रवेश किया और वहाँ विकथा करते हुए तापसोंको देखा ॥२॥ कुमारने उनसे कहा—अये तापसो ! आप लोग इस तरह राज-कथा और युद्ध-कथामें आसक्त क्यों हैं ? क्योंकि तापस वे कहलाते हैं जो तपसे युक्त हों और तप वह कहलाता है जिसमें वचन संयम आदिका पालन किया जाय अर्थात् वचनोंको वशमें किया जाय ॥३॥ इस प्रकार कहनेपर विशिष्ट आगन्तुकसे स्नेह रखनेवाले उन तपस्वियोंने कहा कि हम लोग अभी नवीन ही दीक्षित हुए हैं। इसलिए मुनियोंकी वृत्तिको जानते नहीं हैं ॥४॥ इसी श्रावस्ती नगरीमें विस्तृत यशसे समुद्रको पार करनेवाला एवं अखण्ड पौरुषका धारक एक एणीपुत्र नामका राजा है ॥५॥ उसकी लोकमें अद्वितीय सुन्दरी प्रियङ्गुसुन्दरी नामकी कन्या है। उसके स्वयंवरके लिए एणीपुत्रने हम सब राजाओंको बुलाया था ॥६॥ परन्तु किसी कारणवश, जिस प्रकार वनकी हस्तिनी वनके सिवाय किसी दूसरे हस्तीको नहीं वरती है उसी प्रकार उस शोभासम्पन्न कन्याने किसीको नहीं वरा ॥७॥ तदनन्तर जो कन्याके लोभसे युक्त थे, परन्तु उसके प्राप्त न होनेसे मन-ही-मन लज्जित हो रहे थे, ऐसे बहुतसे राजा मिलकर कन्याके पिताके साथ शीघ्र ही युद्ध करनेको तैयार हो गये ॥८॥ परन्तु जिस प्रकार एक ही सूर्य हजारों नेत्रोंको अकेला ही संकोचित कर देता है उसी प्रकार उस अकेले एणीपुत्रने हजारों राजाओंको शीघ्र ही क्षुभित कर संकोचित कर दिया ॥९॥ उत्कट अभिमानसे भरे कितने ही राजाओंने जो पराजयको स्वीकृत करनेमें समर्थ नहीं थे, युद्धके मैदानमें जाकर शीघ्र ही प्राण त्याग दिये ॥१०॥ जिस प्रकार सूर्यसे डरकर अन्धकारके समूह सघन वनमें जा घुसते हैं उसी प्रकार हम सब भी घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे युक्त युद्धसे डरकर इस सघन वनमें आ घुसे हैं ॥११॥ भो महाशय ! हम लोग धर्मका कुछ भी तत्त्व नहीं जानते। इसलिए आप हम लोगोंको धर्मका उपदेश दीजिए।

---

१. श्रेष्ठम् । २. -दाविष्टदिग्वासांस्तत्र क०, ग०, घ०, ङ० । ३. रणाङ्गीकरणक्षमाः क०, भङ्गाङ्गीकरणक्षमाः म० ।

पृष्टस्तथा तथा शौरिस्तेषां धर्मं द्विधाऽभ्यधात् । यतिश्रावकभेदज्ञाः श्रामण्यं ते यथा ययुः ॥१३॥
प्रियङ्गुसुन्दरीलाभलोभेन यदुनन्दनः । श्रावस्तीं वस्तुविस्तारविश्रुतां तामशिश्रियत् ॥१४॥
बाह्योद्याने च तत्रासौ कामदेवगृहेऽग्रतः । त्रिपादं कृत्रिमं हैमं महामहिषमैक्षत ॥१५॥
पप्रच्छ विप्रमेकं भो किमेष महिषस्त्रिपाद् । निर्मितो रत्ननिर्माणो भाव्यमत्र हि हेतुना ॥१६॥
स प्राहैवमिहैवाभूत्पुर्यां भूपतिरार्यकः । इक्ष्वाकुर्जितशत्रुस्तत्पुत्रश्चापि मृगध्वजः ॥१७॥
श्रेष्ठी तु कामदत्तोऽत्र गोष्ठं द्रष्टुं गतोऽन्यदा । पपात पादयोस्तस्य कृपणो महिषोऽल्पकः ॥१८॥
ततश्चाश्चर्यकृत् कार्यं यथास्वं स्वामिनाऽमुना । [1]पिण्डारो दण्डकस्तत्र पृष्टः कारणमब्रवीत् ॥१९॥
उत्पन्नदिन एवास्योपरि करुणा मेऽभवत् । [2]वने दृष्ट्वा मुनिं नत्वा पृष्टवान् तमहं पुनः ॥२०॥
अस्योपरि किमर्थं मे करुणा महती मुने । स बभाण मुनिर्ज्ञानी शृणु गोपाल ! निश्चितम् ॥२१॥
एकस्यामेव चामुष्यां महिष्यामेष जातवान् । पञ्चकृत्वो वराकस्तु जातो जातो हतस्त्वया ॥२२॥
वारे षष्ठे तु तज्जिह्वकनिष्ठस्य तवैषकः[3] । सहसोत्थाय सन्त्रस्तः पादयोः पतितः शिशुः ॥२३॥
कृपया स मयाऽत्रायं पुत्रवत्परिपालितः । जीवितार्थी तवेदानीं पतितः पादयोरिह ॥२४॥
श्रुत्वैवं कृपया तेन समानीतः पुरीमसौ । अभयं राजलोकेभ्यो लब्ध्वाऽवर्द्धिष्ट भद्रकः ॥२५॥

आपके मधुर वचनोंसे पता चलता है कि आपने धर्मका तत्त्व अच्छी तरह देखा है ॥१२॥ इस प्रकार उन सबके पूछनेपर वसुदेवने उन्हें श्रावक और मुनिके भेदसे दोनों प्रकारका धर्म बतलाया जिससे वे मुनि और श्रावकके भेदको अच्छी तरह जानकर यथार्थ साधु अवस्थाको प्राप्त हुए ॥१३॥

तदनन्तर प्रियंगुसुन्दरीके लाभके लोभसे प्रेरित हो कुमार वसुदेवने, वस्तुओंके विस्तारसे प्रसिद्ध उस श्रावस्ती नगरीमें प्रवेश किया ॥१४॥ वहाँ उन्होंने बाह्य उद्यानमें कामदेवके मन्दिरके आगे निर्मित तीन पाँवका एक बड़ा भारी सुवर्णमय भैसा देखा ॥१५॥ उसे देखकर उन्होंने एक ब्राह्मणसे पूछा कि हे महानुभाव ! यहाँ यह रत्नमयी तीन पाँवोंका भैंसा किसलिए बनाया गया है ? इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए ॥१६॥ ब्राह्मणने कहा कि इस नगरमें पहले शत्रुओं-को जीतनेवाला एक इक्ष्वाकुवंशीय जितशत्रु नामका उत्तम राजा था और उसका मृगध्वज नामक पुत्र था ॥१७॥ इसी नगरमें एक कामदत्त नामका सेठ रहता था। वह एक समय गोशाला देखनेके लिए गया तो वहाँ एक दीन-हीन छोटा-सा भैंसा उसके चरणोंपर आ गिरा ॥१८॥ उसका यह आश्चर्यजनक कार्य देख सेठने गोशालाके अधिकारी पिण्डार नामक गोपालसे इसका कारण पूछा ॥१९॥ गोपालने कहा कि जिस दिन यह उत्पन्न हुआ था उसी दिनसे इसपर मुझे बहुत दया उत्पन्न हुई थी इसलिए मैंने वनमें विराजमान मुनिराजके दर्शन कर नमस्कार पूर्वक उनसे इसके विषयमें पूछा था ॥२०॥ कि हे मुनिनाथ ! इसके ऊपर मेरे हृदयमें बहुत भारी दया क्यों उत्पन्न हुई है ? इसके उत्तरमें ज्ञानी मुनिराजने कहा था कि हे गोपाल ! सुन, मैं इसका कारण कहता हूँ ॥२१॥ यह बेचारा इसी एक भैंसके पाँच बार उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही तू ने इसे मार डाला ॥२२॥ अब छठवीं बार भी उसी भैंसके उत्पन्न हुआ है, अबकी बार इसे जाति स्मरण हुआ है इसलिए भयभीत हो सहसा उठकर तेरे पैरोंपर आ गिरा था। छोटे बच्चोंका संरक्षण भी तो तेरे ही आधीन था ॥२३॥

मुनिराजके उक्त वचन सुनकर मैंने यहाँ पुत्रवत् इसका पालन किया है। अब जीवित रहनेकी इच्छासे यह यहाँ आपके चरणोंमें भी गिरा है ॥२४॥ गोपालके वचन सुनकर वह सेठ दयापूर्वक उस भैंसके बच्चेको अपने साथ नगर ले गया और राज-कर्मचारियोंसे उसे अभय

१. पेण्डारो म० । २. वनं म० । ३. ममैषकः म० ।

अन्यदाऽन्यभवोपात्तवैरबन्धानुबन्धतः । पादं चकर्त चक्रेण महिषस्य मृगध्वजः ॥२६॥
राज्ञा विज्ञाय [1]चाज्ञप्ते मृगध्वजवधे रुषा । कृपना मन्त्रिणा नीत्वाऽरण्ये श्रामण्यमापितः ॥२७॥
भद्रके भद्रभावेन मृते चाष्टादशेऽहनि । द्वाविंशे केवली जातः शुद्धध्यानान्मृगध्वजः ॥२८॥
चतुर्णिकायदेवैः स मर्त्यैश्च कृतपूजनः । संपृष्टो वैरसम्बन्धः पित्रा तु जितशत्रुणा ॥२९॥
मृगध्वजमुनिः प्राह देवदानवमानवैः । कथाक[2]र्णनसन्तुष्टचित्तकर्णपुटैर्वृतः ॥३०॥
प्रतिशत्रुस्त्रिपिष्टस्य प्रोऽभूदलकापुरे । अश्वग्रीव इति ख्यातो विद्याधरमहेश्वरः ॥३१॥
सचिवस्तस्य निस्तीर्णतर्कमार्गमहार्णवः । [3]हरिश्मश्रुवदस्पृश्यो हरिश्मश्रु इति श्रुतः ॥३२॥
नास्तिकैकान्तवादी स प्रत्यक्षैकप्रमाणकः । प्रत्यक्षानुपलभ्यं यत्तन्नास्तीत्यभ्युपेतवान् ॥३३॥
चतुर्भूतसमूहेऽस्मिन् किण्वादौ मदशक्तिवत् । चैतन्यशक्तिरत्यन्तमसत्येव भवत्यसौ ॥३४॥
आत्मेति व्यवहारोऽत्र लोकस्य न विरुध्यते । न भूतव्यतिरिक्तोऽस्ति संसार्यनुपलब्धितः ॥३५॥
पुण्यापुण्यविधाता यो भोक्ता च सुखदुःखयोः । [4]दृष्टो ज्ञैस्तस्य वा दृष्टेरभावात् पारलौकिकः ॥३६॥
नारकस्वर्गतिर्यक्त्वविकल्पोऽत्र विकल्पितः । भोगाधिष्ठात्रधिष्ठानः परलोको न विद्यते ॥३७॥

दिखाकर उसका भद्रक नाम रख दिया। भद्रक दिन-प्रति-दिन बड़ा होने लगा ॥२५॥ किसी समय राजपुत्र मृगध्वजने अन्यभव सम्बन्धी वैरके संस्कारसे चक्रके द्वारा उस भैंसेका एक पाँव काट डाला ॥२६॥ राजाको जब इस बातका पता चला तो उसने क्रोधमें आकर मृगध्वजको मारनेका आदेश दे दिया। मन्त्री बुद्धिमान् था इसलिए उसने मृगध्वजको मारा तो नहीं किन्तु किसी छलसे वनमें ले जाकर उसे मुनि दीक्षा दिला दी ॥२७॥ भद्रक शुभ परिणामोंसे अठारहवें दिन मर गया और बाईसवें दिन निर्मल ध्यानके प्रभावसे मृगध्वज मुनि केवलज्ञानी हो गये ॥२८॥ चारों निकायके देव तथा मनुष्योंने आकर मृगध्वज केवलीकी पूजा की। तदनन्तर पिता जितशत्रुने मृगध्वज केवलीसे मृगध्वज तथा भैंसेके वैरका सम्बन्ध पूछा ॥२९॥ तदनन्तर कथाके सुननेसे जिनके चित्त तथा हृदय प्रसन्न हो रहे थे ऐसे देव, दानव और मानवोंसे घिरे मृगध्वज मुनि इस प्रकार कहने लगे ॥३०॥

किसी समय अलका नगरीमें प्रथम नारायण त्रिपिष्टका प्रतिशत्रु—प्रतिनारायण, अश्वग्रीव नामसे प्रसिद्ध विद्याधरोंका राजा रहता था ॥३१॥ उसका हरिश्मश्रु नामका एक मन्त्री था जिसने तर्कशास्त्र रूपी महासागरको पार कर लिया था और सिंहकी मूँछके समान जिसका स्पर्श करना कठिन था ॥३२॥ हरिश्मश्रु एकान्तवादी नास्तिक तथा सिर्फ प्रत्यक्षको प्रमाण माननेवाला था इसलिए जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं दिखती थी उसे वह 'है ही नहीं' ऐसा मानता था ॥३३॥ उसका कहना था कि जिस प्रकार आटा आदिमें मद शक्ति पहले नहीं थी किन्तु विभिन्न वस्तुओंका संयोग होनेपर नवीन ही उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतोंके समूह स्वरूप इस शरीरमें जो पहले बिलकुल ही नहीं थी ऐसी नवीन ही चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है ॥३४॥ इसी चैतन्य शक्तिमें 'यह आत्मा है' ऐसा लोगोंका व्यवहार विरुद्ध नहीं होता अर्थात् उस चैतन्य शक्तिको लोग आत्मा कहते रहें इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। यथार्थमें पृथिव्यादि भूतोंसे अतिरिक्त कोई संसारी आत्मा नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती ॥३५॥ पुण्य-पापका कर्ता, सुख-दुःखका भोक्ता और परलोकमें जानेवाला जो अज्ञानी जनोंने मान रक्खा है वह नहीं है क्योंकि वह दिखाई नहीं पड़ता ॥३६॥ भोगोंके अधिष्ठाता-आत्माके रहनेका आधार, तथा नरक देव और तिर्यञ्चोंके भेदसे युक्त जिस परलोककी कल्पना

---

१. चाज्ञप्तैर्मृग- म० । २. वर्णन म० । ३. सिंहश्मश्रुवत् । ४. इष्टाज्ञैः म० ।

ज्ञानवृत्तिविशेषस्य शक्यो यश्च विनिश्चितः । मोक्षो मोक्तुरभावात्स न युक्तो निःप्रमाणकः ॥३८॥
भूतसंश्लेषजातस्य भूतविश्लेषनाशिनः । सुखिनश्चिद्विशेषस्य संयमो भोगनाशनः ॥३९॥
इत्येकान्तकुतर्केण रञ्जितः सचिवः स च । आगमानुमितिज्ञेय[1]जीवाद्यर्थात् परोङ्मुखः ॥४०॥
परलोककथापोढदुःकथामूढमानसः । [2]कामभोगैकनिष्ठोऽभूत्कनिष्ठो धर्मदूषकः ॥४१॥
नास्तिकस्य तथा तस्य प्रेत्य[3]भावापलापिनः । तीर्थकृच्चक्रवर्त्यादिमहापुरुषदूषिणः ॥४२॥
हरिश्मश्रोर्दुराहस्य हरिकण्ठोऽपि[4] नास्तिकः । धर्मकुण्ठोऽपि भावेन नित्याविष्टोऽवतिष्ठते ॥४३॥
अश्वग्रीवो हतो युद्धे त्रिपिष्टेन तमस्तमः । विजयेन हरिश्मश्रुः प्राविशन्नरकं ततः ॥४४॥
चिरं संसृत्य जातोऽहं हयग्रीवो मृगध्वजः । हरिश्मश्रुः पुना राजन् भद्रको महिषोऽधुना ॥४५॥
पूर्वकोपानुबन्धेन मयैव महिषो हतः । अकामनिर्जरातोऽभूल्लोहिताख्यो[5] महासुरः ॥४६॥
आगतो वन्दनाभक्त्या देवभूत्याऽधुना युतः । आस्तेऽयमत्र जातेन मित्रभावेन भावितः ॥४७॥
क्रोधानुबन्धमित्येकं सत्त्वान्धीकरणक्षमम् । विनियम्य महाराज ! शाम्यन्तु शिवकांक्षिणः ॥४८॥
राजाद्याः प्राव्रजन् श्रुत्वा प्रशान्तो महिषासुरः । निःशल्यो लौल्यमुज्झित्वा रराज सदभाजनः ॥४९॥
[6]गताः केवलिनं नत्वा ससुरासुरमानवाः । यथास्वं स्थानमन्ये च सिद्धस्थानं मृगध्वजः ॥५०॥

अज्ञानी जनोंने कर रखी है वह नहीं है ॥३७॥ विशिष्ट ज्ञानवान् मनुष्योंको ही जिसकी प्राप्ति शक्य एवं सुनिश्चित की गई है ऐसा मोक्ष मानना भी निष्प्रमाण है क्योंकि जब मुक्त होनेवाला आत्मा ही नहीं है तब मोक्षका मानना उचित कैसे हो सकता है ? ॥३८॥ जो भूतोंके संयोगसे उत्पन्न होता है और भूतोंके वियोगसे नष्ट हो जाता है ऐसे सुखके उपभोक्ता चेतनके लिए संयम धारण करना भोगोंको नष्ट करना है ॥३९॥ इस प्रकार जो एकान्त मत रूपी कुतर्कोंसे रँगा हुआ था, आगम तथा अनुमान प्रमाणके द्वारा ज्ञेय जीवादि पदार्थोंसे सदा पराङ्मुख रहता था, परलोक सम्बन्धी कथाओंसे रहित दुष्ट कथाओंमें ही जिसका मन मूढ रहता था और जो धर्मकी निन्दा करता रहता था ऐसा वह क्षुद्र मन्त्री निरन्तर काम भोगोंमें ही आसक्त रहता था ॥४०-४१॥ नास्तिक, परलोकके अपलापी, तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंको दोष लगानेवाले और खोटी चेष्टासे युक्त हरिश्मश्रु मन्त्रीके संसर्गसे अश्वग्रीव भी नास्तिक बन गया जिससे वह भी धर्मसे विमुख एवं भवों द्वारा पिशाचादिसे निरन्तर आक्रान्त हुएके समान रहने लगा ॥४२-४३॥ तदनन्तर किसी समय युद्धमें अश्वग्रीवको त्रिपिष्ट नारायणने और हरिश्मश्रुको विजय बलभद्रने मार गिराया जिससे वे दोनों ही मरकर तमस्तमः नामक सातवें नरक गये ॥४४॥ हे राजन् ! चिर काल तक अनेक योनियोंमें भ्रमण कर अश्वग्रीवका जीव तो मैं मृगध्वज हुआ हूँ और हरिश्मश्रुका जीव इस समय भद्रक नामका भैंसा हुआ है ॥४५॥ पूर्व क्रोधके संस्कारसे मैंने ही उस भैंसेको मारा था और अकाम निर्जराके प्रभावसे वह लोहित नामका असुर हुआ है ॥४६॥ वह लोहितासुर इस समय वन्दनाकी भक्तिसे यहाँ आया है और देवोंकी विभूतिसे युक्त हो मित्र भावसे यहीं बैठा है ॥४७॥ हे महाराज ! यह क्रोधका संस्कार प्राणीको अन्धा बना देनेमें समर्थ है इसलिए जो मोक्षकी इच्छा रखते हैं वे इसे रोककर शान्त हों ॥४८॥ मृगध्वज केवलीके मुखसे यह वृत्तान्त सुन जितशत्रुको आदि लेकर कितने ही राजाओंने दीक्षा ले ली । महिषासुर शान्त हो गया और सभाके लोग लोलुपता छोड़, शल्य रहित हो सुशोभित होने लगे ॥४९॥ तदनन्तर देव-दानव और केवलीको नमस्कार कर यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये और केवली मृगध्वज सिद्ध स्थानपर जा

१. ज्ञेयो जीवाद्यर्थात् म० । २. कामभोगैः कनिष्ठोऽभूत् म० । ३. प्रेत्याभावाप -म० । ४. अश्वग्रीवोऽपि । ५. लोहिताख्यो क० । ६. गत्वा म० ।

आर्यागीतिच्छन्दः

[1]महिषमृगध्वजवृत्तं यः सततं शुद्धवृत्तमनसि धत्ते ।
स भजति दृष्टिविशुद्धिं जिनदृष्टपदार्थगोचरां भव्यजनः ॥५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ मृगध्वजमहिषोपाख्यानवर्णनो नाम अष्टाविंशः सर्गः ॥२८॥

विराजे ॥५०॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो भव्य जीव इस महिषासुर और मृगध्वजके वृत्तान्तको सदा अपने शुद्ध हृदयमें धारण करता है वह जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा इष्ट पदार्थोंको विषय करनेवाली दर्शनविशुद्धि—सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको प्राप्त होता है ॥५१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें मृगध्वज और महिषके चरितका वर्णन करनेवाला अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२८॥

१. महिषध्वज म० ।

एकोनत्रिंशः सर्गः

कामदत्तो जिनागारपुरो लोकप्रवेशने । मृगध्वजस्य प्रतिमां स न्यधान्महिषस्य च ॥१॥
अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमां न्यधात् । जिनागारे समस्तायाः प्रजायाः कौतुकाय सः ॥२॥
कामदेवरतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः । जिनायतनमागत्य प्रेक्ष्य तत्प्रतिमाद्वयम् ॥३॥
संविधानकमाकर्ण्य तद् भाद्रकमृगध्वजम् । बहवः प्रतिपद्यन्ते जिनधर्ममहर्दिवम् ॥४॥
प्रसिद्धं च गृहं जैनं कामदेवगृहाख्यया । कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमताप्तये ॥५॥
व्यतिक्रान्तेषु बहुषु सञ्जातपुरुषेष्विह । कामदेवाभिधः श्रेष्ठी कामदत्तान्वयेऽधुना ॥६॥
रूपयौवनसम्पूर्णा पूर्णचन्द्रसमानना । कन्या बन्धुमती तस्य बन्धुलोकाभिनन्दिनी ॥७॥
आदिष्टः पितृपृष्टेन दैवज्ञेन[1] नरो वरः । तस्याः स्मरगृहद्वारमुद्घाट्य स्मरपूजनः ॥८॥
एवंविधवचः श्रुत्वा तद्गृहद्वारमेत्य सः । द्वात्रिंशदर्गलादुर्गमुद्घाट्य सहसाऽविशत् ॥९॥
ततोऽभ्यर्च्य जिनेन्द्रार्चाः सोऽर्चयत् सरतिस्मरम् । चैत्यार्चनार्थमेतेन कामदेवेन वीक्षितः ॥१०॥
तेन नैमित्तिकादेशसंवादमुदितात्मना । दत्ता बन्धुमती तस्मै बन्धुराभरबन्धुरा ॥११॥
कामदः कामदेवेन कामदेवस्य कामिनः । जामाता कामदेवाभः कोऽपि दत्त इतीदृशी ॥१२॥
वार्ता प्रादुरभूत्पुर्यामतस्तस्यामितोऽद्भुतः । राज्ञान्तःपुरपौरैश्च दृष्टः स्वैरमसौ ततः ॥१३॥

अथानन्तर सेठ कामदत्तने, जहाँ लोगोंका आना जाना अधिक था ऐसे स्थानपर नगरमें जिनमन्दिरके आगे मृगध्वज केवलीकी प्रतिमा और महिषकी मूर्ति स्थापित की ॥१॥ सेठने इसी मन्दिरमें समस्त प्रजाके कौतुकके लिए कामदेव और रतिकी भी मूर्ति बनवाई ॥२॥ कामदेव और रतिको देखनेके कौतूहलसे जगत्के लोग जिन-मन्दिरमें आते हैं और वहाँ स्थापित दोनों प्रतिमाओंको देखकर मृगध्वज केवली और महिषका वृत्तान्त सुनते हैं जिससे अनेकों पुरुष प्रतिदिन जिनधर्मको प्राप्त होते हैं ॥३-४॥ यह जिनमन्दिर कामदेवके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध और कौतुकवश आये हुए लोगोंको जिनधर्मकी प्राप्तिका कारण है ॥५॥ उसी कामदत्त सेठके वंशमें अनेक लोगोंके उत्पन्न हो चुकनेके बाद इस समय एक कामदेव नामका सेठ उत्पन्न हुआ है ॥६॥ उसकी रूप और यौवनसे पूर्ण, पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली तथा बन्धुजनोंको आनन्दित करनेवाली बन्धुमती नामकी एक कन्या है ॥७॥ पिताके पूछनेपर निमित्तज्ञानीने बताया था कि जो मनुष्य कामदेवके मन्दिरका दरवाजा खोलकर कामदेवकी पूजा करेगा वही इसका पति होगा ॥८॥

ब्राह्मणके इस प्रकारके वचन सुन वसुदेव कामदेवके मन्दिरके द्वारपर पहुँचे और बत्तीस अर्गलाओंसे दुर्गम उस द्वारको खोलकर शीघ्र ही भीतर जा पहुँचे ॥९॥ भीतर जाकर वसुदेवने प्रथम तो जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाओंकी पूजा की और उसके बाद रति सहित कामदेवकी पूजा की। उसी समय कामदेव सेठ प्रतिमाओंकी पूजाके लिए मन्दिरमें आया था सो उसने वसुदेवको देखा ॥१०॥ तदनन्तर निमित्तज्ञानीके आदेशकी सचाईसे जिसकी आत्मा प्रसन्न हो रही थी ऐसे कामदेव सेठने सुन्दर ओठोंसे सुशोभित अपनी बन्धुमती कन्या वसुदेवके लिए प्रदान कर दी ॥११॥ उसी समय नगरीमें चारों ओर यह समाचार फैल गया कि वरके अभिलाषी सेठ कामदेवके लिए कामदेवने, मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला एवं कामदेवके समान

१. निमित्तज्ञेन, ज्योतिर्विदा।

प्रियङ्गुसुन्दरी तं च कथञ्चिदवलोक्य सा । अनुरक्ता तथा जाता विरक्ताऽभूद् यथाऽम्भसि ॥१४॥
रहस्याघाय चापृच्छत् तां स्वां बन्धुमतीं सखीम् । पत्युर्वल्लभिकाऽसि त्वं वैदग्ध्यं चाऽस्य कीदृशम् ॥१५॥
साऽस्यै मुग्धाऽवदत्तस्य विदग्धस्य विचेष्टितम् । तथा यथा गता मोहं स्वसंवेद्यसुखासिकम् ॥१६॥
साभिमानमुदस्यान्तं तस्यै[1] द्वाःस्थमजीगमत् । तत्समागममिच्छाशु स्त्रीवधं वेत्यनुत्तरम् ॥१७॥
अन्याय्यमुभयं चैतदिति सञ्चिन्त्य यादवः । व्याजेन केनचिद्दक्षः कालक्षेपमयोजयत् ॥१८॥
लब्धप्रत्याशया कन्या शौरिविन्यस्तधीरसौ । शयने निशि सम्पूर्णं मन्यमाना मनोरथम् ॥१९॥
बन्धुमत्युपगूढाङ्गं सुप्तमन्धकवृष्णिजम् । ज्वलनप्रभनागस्त्री[2] रात्रौ दिव्या व्यबोधयत् ॥२०॥
विबुद्धो देहभूषाभाभासिताखिलदिङ्मुखाम् । तां दृष्ट्वा नागचिह्नां स्त्रीं केयमत्रेत्यचिन्तयत् ॥२१॥
आहूतश्च तया धीरः प्रियालापविदग्धया । अशोकवनिकां[3] नीत्वा नीत्याऽभाषि विनीतया ॥२२॥
शृणु त्वं धीर ! विश्रब्धो ममागमनकारणम् । तर्प्येते श्रवणे येन तवामृतरसेन वा ॥२३॥
आसीदमोघविक्रान्तिः समाक्रान्तारिमण्डलः । अमोघदर्शनो नाम्ना नरेन्द्रश्चन्दने वने ॥२४॥
कान्ता चारुमतिश्चारुश्चारुचन्द्रोऽस्य देहजः । नीतिपौरुषसम्पन्नो नवयौवनभूषितः ॥२५॥
रङ्गसेना च गणिका कलागुणगणान्विता । सुता कामपताकाऽस्याः कामस्येव पताकिका ॥२६॥

आभावाला कोई अद्भुत जामाता दिया है। इस समाचारसे प्रेरित होकर राजाने, उसके अन्तः-पुरकी स्त्रियोंने, तथा नगरवासी लोगोंने इच्छानुसार वसुदेवको देखा ॥१२-१३॥ राजपुत्री प्रियङ्गु-सुन्दरीने भी उन्हें किसी तरह देख लिया और देखकर वह उनपर इतनी अनुरक्त हो गई कि पानीसे विरक्त हो गई अर्थात् भोजन पानीसे भी उसे अरुचि हो गई ॥१४॥ प्रियङ्गुसुन्दरीने अपनी सखी बन्धुमतीको एकान्तमें बुलाकर उससे पूछा कि हे सखी ! तुम पतिको बहुत प्यारी हो, कहो इनकी चतुराई कैसी है ? ॥१५॥ भोलीभाली बन्धुमतीने चतुर वसुदेवकी चेष्टाओंका प्रियङ्गुसुन्दरीके लिए इस ढङ्गसे वर्णन किया कि वह एकदम स्वसंवेद्य सुखसे युक्त मोहको प्राप्त हो गई ॥१६॥ निदान प्रियङ्गुसुन्दरीने अभिमान छोड़कर द्वारपालको यह संदेश देकर वसुदेवके पास भेजा कि या तो हमारे साथ समागम करो या शीघ्र ही हत्या स्वीकृत करो ॥१७॥ 'यह दोनों ही काम अनुचित है' यह विचारकर वसुदेव चिन्तामें पड़ गये। अन्तमें वे चतुर तो थे ही इसलिए किसी बहाने उन्होंने कुछ समय तक ठहरनेका समाचार कहला भेजा ॥१८॥ वसुदेवमें जिसकी बुद्धि लग रही थी ऐसी प्रियङ्गुसुन्दरीको उनकी प्राप्तिकी आशा हो गई और इसी आशा-से वह रात्रिके समय शय्यापर अपने मनोरथको पूर्ण हुआ ही मानने लगी ॥१९॥

एक दिन रात्रिके समय कुमार वसुदेव बन्धुमतीका गाढ़ आलिङ्गन कर सो रहे थे कि एक ज्वलनप्रभा नामकी दिव्य नागकन्याने आकर उन्हें जगा दिया ॥२०॥ कुमार जाग गये और शरीर तथा आभूषणोंकी कान्तिसे जिसने समस्त दिशाओंको प्रकाशित कर दिया था तथा जिसके शिरपर नागका चिह्न था ऐसी उस स्त्रीको देखकर वे विचार करने लगे कि यह कौन स्त्री यहाँ आई है ? ॥२१॥ उसी समय प्रिय वार्तालाप करनेमें निपुण नागकन्याने धीर, वीर कुमारको बुलाया और बड़ी विनयके साथ नीतिपूर्वक अशोकवाटिकामें ले जाकर कहा कि हे धीर ! निश्चिन्त होकर मेरे आनेका कारण सुनिए। वह कारण कि जिससे तुम्हारे कान अमृत रसके समान तृप्त हो जावेंगे ॥२२-२३॥

हे धीर वीर कुमार ! चन्दनवन नामक नगरमें, अमोघ शक्तिका धारक एवं शत्रुमण्डलको वश करनेवाला अमोघदर्शन नामका राजा था ॥२४॥ उसकी चारुमति नामकी स्त्री थी और दोनोंके नीति तथा पुरुषार्थसे युक्त नवयौवनसे सुशोभित चारुचन्द्र नामका पुत्र था ॥२५॥ उसी नगरमें कला और गुणोंके समूहसे सहित एक रङ्गसेना नामकी वेश्या थी और उसकी काम-

१. तस्या म० । २. नागश्री म० । ३. वनितां म० ।

प्राविशद् यागदीक्षायै क्षितिपो धर्ममोहितः । तापसाः कौशिकाद्याश्च तदायाता जटाधराः ॥२७॥
नृत्यमस्या च भूपादेशात् तया कामपताकया । व्यक्तं कामपताकात्वं हरन्त्या हृदयं नृणाम् ॥२८॥
शास्त्रकौशलसंयुक्तो मूलपत्रफलाशनः । कौशिकः क्षुभितो यत्र तत्रान्यस्य तु का कथा ॥२९॥
यागकर्मणि निर्वृत्ते सा कन्या राजसूनुना । स्वीकृता तापसा भूपं भक्तं कन्यार्थमागताः ॥३०॥
कौशिकायात्र तैस्तस्यां याचितायां नृपोऽवदत् । कन्या सोढा[1] कुमारेण यातेत्युक्तास्तु ते ययुः ॥३१॥
सर्पीभूयापि हन्तव्यो मया त्वमपि भूपते । आक्रुश्य कौशिको यातः क्लिशितेनान्तरात्मना ॥३२॥
अभिषिच्य नृपस्ततो धरित्रीधरणे सुतम् । अव्यक्तगर्भया देव्या सहाभूत्तापसस्तया ॥३३॥
तापस्यपि सुतां लेभे तापसाश्रमभूषिणीम् । ऋषिदत्ताख्यया ख्यातां भूषितामप्यभिख्यया ॥३४॥
अणुव्रतानि सा लेभे चारणश्रमणान्तिके । यौवनं च नवं यूनां मनोनयनबन्धनम् ॥३५॥
शान्तायुधसुतः श्रीमान् श्रावस्तीपतिरेकदा । शीलायुध इति ख्यातस्तं यातस्तापसाश्रमम् ॥३६॥
एकयैव कृतातिथ्यस्तया तापसकन्यया । रुच्याहारैर्मनोहारिसवल्कलकुचश्रिया ॥३७॥
अतिविश्रम्भतः[2] प्रेम तयोरप्रतिरूपयोः । बिभेद निजमर्यादां चिरं समनुपालिताम् ॥३८॥
ततो रहसि निःशङ्कां निःशङ्कस्तामसौ युवा । अरीरमद् यथाकामं कामपाशवशो वशाम् ॥३९॥

पताका नामकी पुत्री थी जो सचमुच ही कामकी पताकाके समान जान पड़ती थी ॥२६॥ एक बार धर्म-अधर्मके विवेकसे रहित राजा अमोघदर्शनने यज्ञदीक्षाके लिए प्रवेश किया। उसी समय जटाओंको धारण करनेवाले कौशिक आदि ऋषि भी आये ॥२७॥ उस यज्ञोत्सवमें राजाकी आज्ञासे कामपताकाने नृत्य किया। ऐसा नृत्य, कि मनुष्योंके हृदयको हरण करती हुई उसने स्पष्ट कर दिया कि मैं यथार्थमें कामकी पताका ही हूँ ॥२८॥ उस नृत्यको देखकर शास्त्रोंकी निपुणतासे युक्त तथा वृक्षोंके मूल पत्र और फलोंको खानेवाला कौशिक ऋषि भी क्षोभको प्राप्त हो गया तब अन्यकी तो कथा ही क्या थी? ॥२९॥ यज्ञ कार्य समाप्त होनेपर राजपुत्र चारुचन्द्रने उस कन्या—कामपताकाको स्वीकृत कर लिया। उसी समय कौशिक ऋषिके शिष्य कुछ तापस राजाको भक्त जान कन्याकी याचना करनेके लिए वहाँ आये ॥३०॥ जब उन्होंने कौशिक ऋषिके लिए कामपताकाकी याचना की तब राजाने कहा कि वह कन्या तो राजकुमारने विवाह ली है आपलोग जावें। राजाके इस प्रकार कहनेपर वे तापस चले गये ॥३१॥ कन्याके न मिलनेसे कौशिककी आत्मामें बड़ा संक्लेश उत्पन्न हुआ। वह राजाके पास गया और 'हे राजन्! तूने मुझे कन्या नहीं दी है इसलिए मैं सर्प बनकर भी तुझे मारूँगा' इस प्रकार आक्रोशपूर्ण वचन कहकर चला आया ॥३२॥ राजा, कौशिकके आक्रोशपूर्ण वचन सुनकर डर गया इसलिए पुत्रका राज्याभिषेककर अव्यक्त गर्भवाली रानी चारुमतिके साथ तापस हो गया ॥३३॥ कुछ समय बाद तापसी चारुमतिने तपस्वियोंके आश्रमको सुशोभित करनेवाली, एवं अनुपम शोभासे सुशोभित ऋषिदत्ता नामकी कन्याको जन्म दिया ॥३४॥ कन्या ऋषिदत्ताने एक बार चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके समीप अणुव्रत धारण किये। धीरे-धीरे उस कन्याने तरुण पुरुषोंके मन और नेत्रोंको बाँधनेवाला नवयौवन प्राप्त किया ॥३५॥

एक समय शान्तायुधका पुत्र, लक्ष्मीसे सुशोभित एवं शीलायुध नामसे प्रसिद्ध श्रावस्तीका राजा तपस्वियोंके उस आश्रममें पहुँचा ॥३६॥ उसे देख अकेली ऋषिदत्ता कन्याने रुचिवर्धक उत्तम आहार देकर उसका अतिथि सत्कार किया। कन्या ऋषिदत्ता सुन्दरी तो थी ही उसपर वल्कलोंके कारण उसके स्तनोंकी शोभा और भी अधिक मनोहारिणी हो गई थी ॥३७॥ फल यह हुआ है कि अनुपम रूपको धारण करनेवाले उन दोनोंके प्रेमने विश्वासकी अधिकतामें चिरकालसे पाली हुई अपनी-अपनी मर्यादा तोड़ दी ॥३८॥ कामपाशसे बँधा युवा शीलायुध निःशङ्क

१. सा + ऊढा इतिच्छेदः। २. अतिविश्रमतः म०।

व्यजिज्ञपत् ततस्तं सा साध्वी साध्वसपूरिता । ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी ॥४०॥
तदा वद विधेयं मे किमिहाकुलचेतसा[2] । पृष्टस्तया[3] स तामाह माऽऽकुला भू प्रिये ! शृणु ॥४१॥
इक्ष्वाकुकुलजो राजा श्रावस्त्यामस्तशात्रवः । शीलायुधस्त्वयाऽवश्यं द्रष्टव्योऽहं सपुत्रया ॥४२॥
इत्याश्वास्य रहस्येनामाश्लिष्य विरहासहः । तावन्निजबलं प्राप्तं तापसाश्रमगोचरम् ॥४३॥
दृष्ट्वा तुष्टेन तेनामा प्रविष्टो नगरीमसौ । याते नृपे तया पित्रोर्विनिगूह्य तत्त्रपाम् ॥४४॥
निवेदितमिदं वृत्तं लोकवृत्तविदग्धया । अन्तर्वत्नी रहःपत्नी निस्त्रपस्य नृपस्य सा ॥४५॥
असूत सुतमुद्गीर्णमिव पित्रानुहारिणम् । प्रसूतिक्लेशतः सा च प्रसूतिसमनन्तरम् ॥४६॥
मृता नागवधूर्जाता ज्वलनप्रभवल्लभा । साऽहं सम्यक्त्वयोगेन भवप्रत्ययसावधिः ॥४७॥
कृपास्नेहवशात्प्राप्ता पितृपुत्रतपोवनम् । आश्वास्य शोकसन्तप्तौ पितरौ पृथुकं[4] तकम्[5] ॥४८॥
एणीस्वरूपिणी स्तन्यपानतोऽवर्द्धयं ततः । पिता कौशिकपूर्वेण दंदशूकेन वैरिणा ॥४९॥
स दष्टोऽमोघमन्त्रेण जीवितं प्रापितो मया । धर्मोपदेशदानेन दुर्मोचक्रोधदूषितः ॥५०॥
मयाऽसौ ग्राहितो धर्ममयासीद् गतिमर्चिताम् । गताऽहं पुत्रमादाय तापसीवेषधारिणी ॥५१॥
सोपचारं नृपं दृष्ट्वा समवोचं नयान्वितम् । तनयस्तव राजेन्द्र ! राजलक्षणराजितः ॥५२॥

होकर एकान्तमें ऋषिदत्ताके पास चला गया और शङ्कारहित एवं वशीभूत ऋषिदत्ताके साथ उसने इच्छानुसार क्रीड़ा की ॥३९॥ तदनन्तर भयसे युक्त हो तापसी ऋषिदत्ताने राजासे कहा कि हे आर्यपुत्र ! मैं ऋतुमती हूँ यदि गर्भवती हो गई तो मुझे क्या करना होगा सो बताओ। इस प्रकार व्याकुल चित्तसे युक्त ऋषिदत्ताके पूछनेपर शीलायुधने कहा कि हे प्रिये ! व्याकुल मत होओ। सुनो, मैं शत्रुओंको नष्ट करनेवाला, इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुआ श्रावस्तीका राजा शीलायुध हूँ। पुत्रके साथ-साथ तुम मुझे अवश्य ही दर्शन देना अर्थात् पुत्र प्रसवके बाद श्रावस्ती आ जाना ॥४०–४२॥ इस प्रकार आश्वासन देकर तथा एकान्तमें आलिङ्गनकर विरहसे उत्कण्ठित होता हुआ वह जानेके लिए उद्यत हो था कि इतनेमें उसकी सेना तपस्वियोंके आश्रममें आ पहुँची ॥४३॥ सेनाको देख राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसके साथ नगरीको लौट आया। तदनन्तर राजाके चले जानेपर लोकव्यवहारको जाननेवाली ऋषिदत्ताने लज्जा छोड़कर माता-पिताके लिए यह वृत्तान्त सुना दिया और कह दिया कि मैं निर्लज्ज राजा शीलायुधकी एकान्तमें पत्नी बन चुकी हूँ और गर्भवती हो गई हूँ ॥४४–४५॥ तदनन्तर नव मास व्यतीत होनेपर ऋषिदत्ताने सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया जो बिलकुल पिताके अनुरूप था और ऐसा जान पड़ता था मानो पिताके द्वारा ही प्रकट किया गया हो। प्रसूतिके समय ऋषिदत्ताको क्लेश अधिक हुआ था इसलिए वह प्रसूतिके बाद ही मर गई और सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ज्वलनप्रभवल्लभा नामकी नागकुमारी उत्पन्न हुई। वही मैं हूँ, मुझे देव पर्यायके कारण भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी प्रकट हुआ है ॥४६–४७॥ इसलिए उससे पूर्वभवकी सब बात जानकर दया और स्नेहके वशीभूत हो मैं पिता और पुत्रके तपोवनमें गई। वहाँ शोकसन्तप्त माता-पिताको आश्वासन देकर मैंने अपने उस पुत्रको मृगीका रूप रख दूध पिला-पिलाकर बड़ा किया। तदनन्तर कौशिक ऋषिका जीव निदानके कारण सर्प हुआ था सो उसने पूर्व वैरके कारण हमारे पिताको डस लिया परन्तु मैंने अमोघमन्त्रसे उन्हें जीवन प्राप्त करा दिया—अच्छा कर दिया। मेरे पिता यद्यपि जो छूट न सके ऐसे क्रोधसे दूषित थे तथापि धर्मोपदेश देकर मैंने उन्हें धर्म ग्रहण करा दिया जिससे वे मरकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए। तत्पश्चात् तापसीका वेष धारणकर और उस पुत्रको लेकर मैं राजा शीलायुधके पास गई ॥४८–५१॥ राजा शीलायुध बड़ी विभूतिसे युक्त तथा

---

१. भयपूरिता। २. चेतसः म०, ग०। ३. तथा म०, ग०। ४. पुत्रम्। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। ५. स्वार्थेऽकच्प्रत्ययः।

गृहाण गृहिणीत्यक्तमेणीपुत्राख्यमेतकम् । इत्युक्तेन तु तेनोक्तमपुत्रस्य कुतः सुतः ॥५३॥
कथं वा तापसि ! प्राप्तो दारकोऽयं त्वया वद । वृत्तं मया समस्तं तत्साभिज्ञानं ततोऽकथि ॥५४॥
देवीत्वं च निजं येन स राजात्मजमग्रहीत् । वर्धमानस्य तस्याहं पुत्रस्नेहेन मोहिना[1] ॥५५॥
आतानुपालिनी नित्यं राज्ञश्चेप्सितदायिनी । एणीपुत्रमसौ राजा स्वराज्ये न्यस्य पण्डितः ॥५६॥
प्रव्रज्य मुनिमार्गस्थः स्वर्गलोकमवाप्तवान् । जाता च तनया पश्चादेणीपुत्रस्य रूपिणी ॥५७॥
प्रियङ्गुसुन्दरीनाम्ना प्रियङ्गुश्यामवर्तिनी । स्वयंवरविधौ धीरा प्रत्याख्यातवती च सा ॥५८॥
भूमौ राजसुतान् कामसौख्यभोगविरागिणी । अद्राक्षीद् बन्धुमत्यामा त्वां सा राजगृहे यदा ॥५९॥
ततः परमधत्ताङ्गमनङ्गशरशल्यितम् । तद् विधत्स्व तया वीर ! वचनान्मम सङ्गमम् ॥६०॥
अदत्तेति न चाशंक्यं तुभ्यं दत्ता मया हि सा । अस्य राजकुलस्याहं प्रमाणं कार्यवस्तुनि ॥६१॥
अतो मया वितीर्णेयं वितीर्णा पितृबान्धवैः । समागमस्तु वामस्तु[2] देवतागृहे ततः ॥६२॥
[3]श्वस्तन्यां कृतसङ्केतो रजन्यां सुविनिश्चितः । अमोघदर्शनं देव ! देवतानामतो भवान् ॥६३॥
वरित्वा वरमाद्स्त्व यत् किञ्चिदिह वाञ्छितम् । इत्युक्तेनैव साऽवाचि वाचा विनयपूर्वया ॥६४॥
कृतस्मरणया देवि ! स्मर्तव्योऽमोघसस्मिते[4] । एवमुक्ता च तेनासावेवमस्त्विति देवता ॥६५॥

परम नीतिज्ञ था उसे देखकर मैंने कहा कि हे राजेन्द्र ! यह राजाओंके लक्षणोंसे युक्त आपका पुत्र है ॥५२॥ यह आपकी मृत स्त्री द्वारा छोड़ा गया है और एणीपुत्र इसका नाम है । इसे आप ग्रहण कीजिए। मेरे इस प्रकार कहनेपर राजा शीलायुधने कहा कि मैं तो पुत्रहीन हूँ। मेरे पुत्र कहाँसे आया ? ॥५३॥ हे तापसि ! ठीक-ठीक बता यह पुत्र तुझे कैसे प्राप्त हुआ है ? राजाके इस प्रकार पूछनेपर मैंने अभिज्ञान–परिचायक घटनाओंके साथ-साथ वह सब वृत्तान्त कह दिया ॥५४॥ और यह भी कह दिया कि मैं मरकर देवी हुई हूँ। मेरे इस कथनपर विश्वासकर राजा शीलायुधने वह पुत्र ले लिया । पुत्र धीरे-धीरे बढ़ने लगा और मैं मोहयुक्त पुत्रस्नेहके कारण उसकी निरन्तर रक्षा करने लगी। राजा शीलायुधकी जो इच्छा होती थी उसकी मैं तत्काल पूर्ति कर देती थी। कदाचित् परम विवेकी राजा शीलायुध, उस एणीपुत्रको अपने राज्यपर पदारूढ कर दीक्षा ले मुनि हो गया और मरकर स्वर्गलोकको प्राप्त हुआ । पश्चात् राजा एणीपुत्रके प्रियङ्गु-पुष्पके समान श्यामवर्ण, अतिशय रूपवती, प्रियङ्गुसुन्दरी नामकी पुत्री हुई। राजा एणीपुत्रने उसका स्वयंवर किया परन्तु कामभोगसे विरक्त उस धैर्यशालिनीने पृथिवीतलके समस्त राजकुमारोंका निराकरण कर दिया अर्थात् किसीके साथ विवाह करना स्वीकृत नहीं किया । तदनन्तर जिस दिनसे उसने राजमहलमें बन्धुमतीके साथ आपको देखा है उसी दिनसे वह कामके बाणोंसे अत्यन्त सशल्य शरीरको धारण कर रही है इसलिए हे वीर ! मेरे कहनेसे तू उसके साथ समागम कर ॥५५–६०॥ वह कन्या अदत्ता है किसीके द्वारा दी नहीं गई है—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए क्योंकि मैंने तेरे लिए वह कन्या दी है। इस राजकुलके करने योग्य कार्योंमें मैं प्रमाणभूत हूँ अर्थात् समस्त कार्य मेरी ही सम्मतिसे होते हैं ॥६१॥ इसलिए मैंने तुझे यह कन्या दी मानो इसके पिता और भाइयोंने ही दी है। अतः कामदेवके मन्दिरमें तुम दोनोंका समागम हो और इसके लिए कलकी रातका संकेत निश्चित किया गया है। हे देव ! देवताओंका दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता इसलिए आप मुझसे वर माँगकर इस संसारमें जो कुछ भी आपको इष्ट हो वह प्राप्त करो । नागकुमारीके इस प्रकार कहनेपर वसुदेवने विनयपूर्ण वचनों द्वारा उससे कहा कि हे अमोघ मुस्कानको धारण करनेवाली देवि ! मैं यही वर चाहता हूँ कि जब मैं आपका स्मरण करूँ तब आप मेरा ध्यान रक्खें । वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर उसने 'एवमस्तु' कहा ॥६२–६५॥

---

१. मोहिनी म० । २. युवयोः । ३. आगामिन्याम् । ४. संमिते म० ।

अन्तर्धानमिता सोऽपि निजवासमुपागमत् । दैवलोकविधानेन देवताया गृहे ततः ॥६६॥
प्रियङ्गुसुन्दरीं शौरी रहसि प्रत्यपद्यत । सा गान्धर्वविवाहासा[1] विहसन्मुखपङ्कजा ॥६७॥
रमिता यदुसूर्येण पद्मिनीव तदा बभौ । प्रियङ्गुसुन्दरीसद्मन्यहान्यस्य बहून्यगुः ॥६८॥
अन्योन्यप्रेमबद्धस्य मिथुनस्य रहस्यतः । कृतं देवतया योगं राजा ज्ञात्वाऽनुरूपयोः ॥६९॥
तोषाल्लोकप्रकाशार्थं तद्विवाहमकारयत् । ततः सर्वस्य लोकस्य विदितो यदुनन्दनः ॥७०॥
रेमे प्रियङ्गुसुन्दर्यां सुन्दर्या सह सुन्दरः । रूपयौवनहारिण्या शच्येव कौशिको[2] यथा ॥७१॥

पृथिवीच्छन्दः

स राजसुतया तया प्रथमबन्धुमत्यापि च
प्रतीतगुणसम्पदा गुणकलाकलापश्रिया ।
क्रमेण रतिगोचरे रहसि सेव्यमानः पुरी-
मिमां जिनगृहार्चितां सुचिरमध्युवासार्चितः ॥७२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ बन्धुमतीप्रियङ्गुसुन्दरीलाभवर्णनो नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

उक्त वरदान देकर देवी अन्तर्हित हो गई और वसुदेव अपने निवास स्थानपर आ गये । तदनन्तर देवीसे कहे अनुसार कुमार वसुदेव एकान्त पाकर कामदेवके मन्दिरमें प्रियङ्गुसुन्दरीके पास गये । कुमारको देख प्रियङ्गुसुन्दरीका मुख-कमल खिल उठा और गन्धर्व विवाहसे उन्होंने उसे स्वीकृत किया ॥६६–६७॥ उस समय वसुदेवरूपी सूर्यके द्वारा रमणको प्राप्त हुई प्रियङ्गुसुन्दरी कमलिनीके समान सुशोभित हो रही थी । इस प्रकार प्रियङ्गुसुन्दरीके घरमें वसुदेवके बहुत दिन निकल गये ॥६८॥ तदनन्तर परस्परके प्रेमसे बँधे हुए इस दम्पतिका यह समागम रहस्यपूर्ण रीतिसे देवीने कराया है—यह जानकर राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने लोकमें प्रकट करनेके लिए उस अनुरूप दम्पतीका विवाह करा दिया । विवाहके पश्चात् सुन्दर वसुदेव सबलोगोंकी जानकारीमें रूप और यौवनके द्वारा मनको हरण करनेवाली सुन्दरी प्रियंगुसुन्दरीके साथ, इन्द्राणीके साथ इन्द्रके समान रमण करने लगे ॥६९–७१॥ इस प्रकार जिनकी गुणरूपी सम्पदाएँ प्रसिद्ध थीं तथा जो गुण और कलाओंके समूहसे लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ऐसी बन्धुमती तथा राजपुत्री प्रियंगुसुन्दरी एकान्त पूर्ण रतिगृहमें क्रमसे जिनकी सेवा करती थीं तथा जो नगरवासियोंके द्वारा अत्यन्त सम्मानको प्राप्त थे ऐसे कुमार वसुदेवने जिन-मन्दिरोंसे सुशोभित इस श्रावस्ती नगरीमें चिर काल तक निवास किया ॥७२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें बन्धुमती और प्रियंगुसुन्दरीके लाभका वर्णन करनेवाला उनतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२९॥

१. गन्धर्वविवाहादिसहसन् म० । २. इन्द्रः 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः ।

त्रिंशः सर्गः

अथ [1]कार्तिकराकायां चिरक्रीडातिखेदकः । प्रियङ्गुसुन्दरीगाढभुजबन्धवशः प्रियः ॥१॥
सुखनिद्राप्रसुप्तोऽसौ विबुद्धश्च कुतश्चन । अद्राक्षीद् रूपिणीमेकां कन्यामन्यामिव श्रियम् ॥२॥
अप्राक्षीत् पुण्डरीकाक्षि ! का त्वमत्रेत्यसौ हि सा । ज्ञास्यसे हि कुमारेति तमाहूय विनिर्ययौ ॥३॥
व्यपनीय प्रियाश्लेषमेषोऽनुपदवीमयात् । रम्यहर्म्यतलासीना हेतुं साह निजागमे ॥४॥
आर्यपुत्र ! शृणु श्रीमन्[2] समाधाय निजं मनः । वचो मदीयमप्राप्यवस्तुप्रापणकारणम् ॥५॥
इहास्ति दक्षिणश्रेण्यां देशो गान्धारनामनि । पुरं गन्धसमृद्धाख्यं गन्धाराख्यस्तु तत्पतिः ॥६॥
पृथिवीति महादेवी पृथिवीवास्य वल्लभा । सुता प्रभावती तस्य श्रीरिवाहं प्रभावती ॥७॥
गता मानसवेगस्य स्वर्णनाभपुरं परम् । ज्ञात्वाङ्गारवतीं[3] वार्तां दुहितुः पृष्टवत्यहम् ॥८॥
प्रवृत्तिर्वेगवत्यास्तु तत्सखीभिर्मम्मोदिता । सङ्गमो यदुचन्द्रेण चित्रया इव च त्वया ॥९॥
तत्रैव नगरे या सा शुद्धशीलविभूषणा । त्वन्नामग्रहणाहारा सोमश्रीरवतिष्ठते ॥१०॥
त्वद्वियोगमहादुःखपाण्डुगण्डालकान्तया । कान्तया प्रहिता तेऽहं सन्देशप्रापिणी तया ॥११॥
शीलप्राकाररक्षाऽहमलङ्घ्यानुनयैररेः । आर्यपुत्रावतिष्ठेयं शत्रुस्थाने कियच्चिरम् ॥१२॥

अथानन्तर कार्तिककी पूर्णिमाके दिन चिरकाल तक क्रीड़ा करनेसे अतिशय खिन्न कुमार वसुदेव प्रियंगु सुन्दरीसे प्रगाढ़ भुजबन्धनसे बँधे सुखकी नींद सो रहे थे कि किसी कारण जाग पड़े। जागते ही उन्होंने सामने खड़ी द्वितीय लक्ष्मीके समान अतिशय रूपवती एक कन्या देखी ॥१-२॥ कुमारने उससे पूछा कि हे कमललोचने ! यहाँ तुम कौन हो ? उत्तरमें कन्याने कहा कि हे कुमार ! थोड़ी देर बाद मेरा सब वृत्तान्त जान लोगे। अभी मेरे साथ आइए—इस प्रकार कुमारको बुलाकर वह कन्या बाहर चली गई ॥३॥ कुमार भी प्रियाका आलिङ्गन दूरकर उसके पीछे-पीछे चल दिये। बाहर जाकर वह सुन्दर महलके फर्सपर बैठ गई और अपने आनेका कारण इस प्रकार कहने लगी ॥४॥

हे आर्यपुत्र ! हे श्रीमन् ! अपना मन स्थिरकर अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिमें कारणभूत मेरे वचन सुनिए ॥५॥ इस विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके गान्धार देशमें एक गन्धसमृद्ध नामका नगर है उसका स्वामी राजा गन्धार है ॥६॥ उसकी पृथिवी नामकी स्त्री है जो उसे पृथिवीके ही समान प्यारी है। मैं उन दोनोंकी साक्षात् लक्ष्मीके समान कान्तिमती प्रभावती नामकी पुत्री हूँ ॥७॥ मैं एक दिन मानसवेगके स्वर्णनाभ नामक उत्तम नगरको गई थी। वहाँ मैंने मानसवेगकी माता अङ्गारवतीको जानकर उससे उसकी पुत्री वेगवतीका वृत्तान्त पूछा ॥८॥ वेगवतीकी सखियोंने मुझे उसका समाचार बताया और साथ ही यह भी बताया कि जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ चित्रा नक्षत्रका संगम होता है उसी तरह आपके साथ उसका संगम हुआ है ॥९॥ उसी नगरमें शुद्ध शील ही जिसका आभूषण है तथा आपका नाम ग्रहण करना ही जिसका आहार है ऐसी सोमश्री भी रहती है ॥१०॥ जिसकी अलकावलीके छोर आपके वियोगजन्य महा दुःखसे सफेद-सफेद दिखनेवाले गालोंपर लटक रहे हैं ऐसी आपकी उस सोमश्री प्रियाने मुझे सन्देश लेकर आपके पास भेजा है ॥११॥ उसने कहलाया है कि हे आर्यपुत्र ! यद्यपि मैं शत्रुकी अनुनय-विनयके द्वारा अलंघनीय शीलरूपी प्राकारके अन्दर सुरक्षित हूँ तथापि इस तरह मुझे यहाँ

---

१. कार्तिकपूर्णिमायाम् । २. श्रीमान् म० । ३. ज्ञात्वाङ्गारवती म० ।

रक्षिता शत्रुमात्राहं पुत्रतर्जनशीलया । प्राणिमि [1]प्राणनाथाऽतो मोचनीया लघु त्वया ॥१३॥
अविरामवियोगात्मा मा कदाचिदिहैव मे । स्यादिपत्तिरतो वीर ! मोपेक्षिष्ठाः कठोरधीः ॥१४॥
साश्रुलोचनयाऽत्रमिति सन्दिष्टमिष्टया । निवेद्याऽसीत्कृतार्थाऽहं कृत्यं पत्यौ त्वयि स्थितम् ॥१५॥
न चागम्यमगस्थानमिति चिन्त्यं त्वया यतः । [2]नेष्ये निमेषमात्रेण तत्र त्वाहं यथेप्सितम् ॥१६॥
साभिज्ञानमभिज्ञोऽसौ तं निशम्य निशाम्यं[3] ताम् । प्राह प्रापय सौम्यास्ये सोमश्रीधाम मां द्रुतम् ॥१७॥
सा प्राप्तानुमतिः प्रीता समुत्क्षिप्य [4]प्रभावती । विद्याप्रभावसम्पन्ना ययौ विद्युदिवोदिता ॥१८॥
अन्योन्याङ्गसमासङ्गात् सञ्जाताङ्कुरौ च तौ । समुल्लङ्घ्य लघु प्राप्तौ स्वर्णनाभपुरं वरम् ॥१९॥
प्रवेशितस्तया स्रस्तरसनांशुकया गृहम् । अप्रकाशमसौ देवः सोमश्रियमवैक्षत ॥२०॥
[5]प्रलम्बालककर्का[6]म्लानकपोलवदनश्रियम् । स्वान्तभ्रान्तालिसम्लानिस[6]पद्मामिव पद्मिनीम् ॥२१॥
देवदर्शनपर्यन्तवेणीबन्धेन सङ्गताम् । तनुना सेतुबन्धेन धुनीमिव तदन्तिकम् ॥२२॥
ताम्बूलरागनिर्मुक्तकिञ्चिद्धूसरिताधराम् । म्लानामीषत्परिम्लानपल्लवामिव वल्लरीम् ॥२३॥
अभ्युत्थितां विभुं वीक्ष्य पीनपाण्डुपयोधराम् । तुष्टः सोमश्रियं दृष्ट्वा शारदीमिव स श्रियम् ॥२४॥
आलिलिङ्गतुरन्योऽन्यं गाढं रोमाञ्चकर्कशौ । पुनर्विरहभीत्यादेकतामिव तौ गतौ ॥२५॥

कितनी देर तक रहना होगा ? ॥१२॥ पुत्रको डाँटनेवाली शत्रुकी माता ही मेरी रक्षा कर रही है इसीलिए अबतक जीवित हूँ । हे प्राणनाथ ! इस शत्रुसे आप मुझे शीघ्र छुड़ाइये ॥१३॥ निरन्तर वियोग सहते-सहते कदाचित् मेरी यहींपर मृत्यु न हो जावे इसलिए हे वीर ! कठोर बुद्धि होकर मेरी उपेक्षा न कीजिए ॥१४॥ इस तरह जिसके नेत्र सदा आँसुओंसे युक्त रहते हैं ऐसी सोमश्री द्वारा भेजा हुआ सन्देश सुनाकर मैं कृत-कृत्य हुई हूँ । अब जो कुछ करना हो वह आपपर निर्भर है आप उसके पति हैं ॥१५॥ आप यह नहीं सोचिए कि वह पर्वतका स्थान मेरे लिए अगम्य है क्योंकि आपकी इच्छा होते ही मैं निमेष मात्रमें आपको वहाँ ले चलूँगी ॥१६॥ बुद्धिमान् वसुदेवने अनेक परिचायक चिह्नोंके साथ श्रवण करने योग्य बातको सुनकर उससे कहा कि हे सौम्यवदने ! तुम मुझे शीघ्र ही सोमश्रीके घर पहुँचा दो ॥१७॥ कुमारकी अनुमति पाते ही विद्याके प्रभावसे सम्पन्न प्रभावती उन्हें लेकर आकाशमें उस तरह जा उड़ी जिस तरह मानो बिजली ही कौंध उठी हो ॥१८॥ परस्परके अङ्ग-स्पर्शसे जिन्हें रोमाञ्च निकल आये थे ऐसे वे दोनों, आकाशको उल्लंघकर शीघ्र ही स्वर्णनाभपुर नामक उत्तम नगरमें जा पहुँचे ॥१९॥ तदनन्तर जिसका कटीसूत्र और वस्त्र कुछ-कुछ नीचेकी ओर खिसक गया था ऐसी प्रभावतीने गुप्त रीतिसे वसुदेवको सोमश्रीके घर जा उतारा। वहाँ पहुँचते ही कुमारने सोमश्रीको देखा ॥२०॥ उस समय विरहके कारण सोमश्रीकी बुरी हालत थी। चारों ओर लटकते हुए बालोंसे उसके विरहपाण्डु मुखकी शोभा मलिन हो गई थी इसलिए समीपमें भ्रमण करते हुए भौरोंसे मलिन-कमलसे युक्त कमलिनीके समान जान पड़ती थी ॥२१॥ वह पतिका दर्शन होनेकी अवधि तक बाँधे हुए वेणी बन्धनसे युक्त थी इसलिए ऐसी जान पड़ती थी मानो पतले पुलसे युक्त नदी ही हो। उसका अधरोष्ठ ताम्बूलकी लालिमासे रहित होनेके कारण कुछ-कुछ मटमैला हो गया था इसलिए वह कुछ कुम्हलाये हुए पल्लवको धारण करनेवाली म्लान लताके समान जान पड़ती थी ॥२२-२३॥ पतिको आया देख जो उठकर खड़ी हो गई थी तथा जो स्थूल एवं पाण्डुवर्ण पयोधरों—स्तनोंको धारण करनेके कारण स्थूल धवल पयोधरों—मेघोंको धारण करनेवाली शरद् ऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थी ऐसी सोमश्रीको देखकर कुमार वसुदेव बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥२४॥ जिनके शरीर रोमाञ्चोंसे कर्कश हो रहे थे ऐसे दोनोंने परस्पर गाढ़ आलिङ्गन किया,

१. प्राणनाथोऽतो म० । २. नेष्यम् म०, ग० । ३. निशाम्य म० । ४. प्रभावतीम् म० । ५. प्रल-म्बालसकाम्लान म० । ६. सम्लान् क० ।

साधुसाधितकार्या सा तामाश्लिष्य प्रभावतीम् । सखीं प्राणसमां श्लक्ष्णैर्वचनैरभ्यनन्दयत् ॥२६॥
रूपं नाम च तस्यासौ निजं कृत्वा प्रभावती । आपृच्छ्य दम्पती मुक्त्वा ययावात्मीयमास्पदम् ॥२७॥
धाम्नि मानसवेगस्य परावर्तितरूपभृत् । सोमश्रिया सहाहानि न्यवसत्कतिचिद् यदुः ॥२८॥
एकदा प्राग् विबुद्धाऽसौ प्रकृतिस्थाकृतिं पतिम् । दृष्ट्वारुदद्विपद्भीत्या प्रमादपरिशङ्किनी ॥२९॥
अपृच्छच्च विबुद्धोऽसौ किमर्थं रोदिषि प्रिये । आह रूपपरावृत्तिमपश्यन्ती तवेत्यसौ ॥३०॥
मा भैषीरेव विद्यानां स्वभावः स्वपतां वपुः । अपसृत्याऽवतिष्ठन्ते संश्रयन्ते सुजाग्रताम् ॥३१॥
इत्युक्त्वा सुपरावृत्त्यरूपं[1] पूर्ववदेव सः । वसुदेवोऽवसत्तत्र यथेष्टं प्रियया युतः ॥३२॥
ततो मानसवेगेन कथञ्चिदुपलक्षितः[2] । वैजयन्तीपतिं पत्न्या[3] बलसिंहमसौ श्रितः ॥३३॥
तस्य न्यायपरस्याग्रे व्यवहारे पराजितः । मायी मानसवेगोऽसौ विलक्षो योद्धुमुत्थितः ॥३४॥
शौरिपक्षतया केचित् खचराः समवस्थिताः । ततोऽभूद्युद्धसंग्रामः शौरिमानसवेगयोः ॥३५॥
वेगाद्[4] वेगवतीमात्रा जामात्रे धनुरर्पितम् । दिव्यं दिव्यशरापूर्णं शरधिद्वयसंयुतम् ॥३६॥
प्रज्ञप्तिश्च प्रभावत्या विज्ञाय लघु योजिता । तत्प्रभावादसौ संख्ये[5] बबन्ध रिपुखेचरम् ॥३७॥
तन्मात्रा याचितः शौरिः पुत्रभिक्षां दयापरः । सोमश्रीदर्शनं नीत्वा मुमोच खचराधिपम् ॥३८॥

उस समय आलिङ्गनको प्राप्त हुए दोनों ऐसे जान पड़ते थे मानो पुनः विरह न हो जाय इस भयसे एकरूपताको ही प्राप्त हो गये थे ॥२५॥ अच्छी तरह कार्य सिद्ध करनेवाली प्राणतुल्य प्रभावती सखीका आलिङ्गन कर सोमश्रीने मनोहर वचनों द्वारा उसका अभिनन्दन किया—मीठे-मीठे वचन कहकर उसे प्रसन्न किया ॥२६॥ वसुदेवके आनेका रहस्य प्रकट न हो जाय इस विचारसे प्रभावती वसुदेवको अपना रूप तथा अपना नाम देकर दोनों दम्पतीसे पूछकर एवं उनसे विदा लेकर अपने स्थानपर चली गई। भावार्थ—प्रभावतीने अपनी विद्याके प्रभावसे वसुदेवको प्रभावती बना दिया ॥२७॥ इस प्रकार परिवर्तित रूपको धारण करनेवाले कुमार वसुदेवने मानसवेगके घर सोमश्रीके साथ कितने ही दिन निवास किया ॥२८॥

एक दिन सोमश्री पहले जाग गई और पति-वसुदेवको अपने स्वाभाविक वेषमें देख शत्रुके भयसे किसी विपत्तिकी आशङ्का करती हुई रोने लगी ॥२९॥ इतनेमें कुमार भी जाग गये और उसे रोती देख पूछने लगे कि हे प्रिये! किसलिए रोती हो? सोमश्रीने उत्तर दिया कि आपका रूप परिवर्तित नहीं देख रही हूँ यही मेरे रोनेका कारण है ॥३०॥ कुमारने कहा कि डरो मत, विद्याओंका यह स्वभाव है कि वे सोते हुए मनुष्योंके शरीरको छोड़कर पृथक् हो जाती हैं और जागनेपर पुनः आ जाती हैं ॥३१॥ इस प्रकार कहकर तथा पहलेके ही समान रूप बदलकर कुमार वसुदेव प्रिया सोमश्रीके साथ वहाँ रहने लगे ॥३२॥

तदनन्तर एक दिन मानसवेगने किसी तरह कुमार वसुदेवको देख लिया जिससे 'कुमार वसुदेव हमारी स्त्री सोमश्रीके साथ रूप बदलकर रहता है' यह शिकायत लेकर वह पत्नीके साथ वैजयन्ती नगरीके राजा बलसिंहके पास गया ॥३३॥ राजा बलसिंह न्यायपरायण पुरुष था इसलिए जब उसने इस शिकायतकी छानबीन की तो मानसवेग हार गया। हार जानेसे मानसवेग बहुत ही लज्जित हुआ और वसुदेवके साथ युद्ध करनेके लिए उठ खड़ा हुआ ॥३४॥ यह देख कितने ही विद्याधर वसुदेवका पक्ष लेकर खड़े हो गये। तदनन्तर वसुदेव और मानसवेगका युद्ध हुआ ॥३५॥ वेगवतीकी माताने जमाई वसुदेवके लिए एक दिव्य धनुष तथा दिव्य बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दे दिये और प्रभावतीने युद्धका समाचार जानकर शीघ्र ही प्रज्ञप्ति नामकी विद्या दे दी। उसके प्रभावसे कुमारने मानसवेगको युद्धमें शीघ्र ही बाँध लिया ॥३६-३७॥ तदनन्तर मानसवेगकी माताने कुमारसे पुत्र भिक्षा माँगी जिससे दयायुक्त हो कुमारने उसे सोमश्रीके पास

---

१. सुपरावृत्ति रूपं म०, ग० । २. -दुपलक्षितम् ग० । ३. पत्या ग० । ४. वेदात् म० । ५. युद्धे ।

तेन मानसवेगेन बन्धुभावमुपेयुषा । सपत्नीको विमानेन प्रापितः स महापुरम् ॥३९॥
सोमश्रीबन्धुभिस्तत्र जाते तस्य समागमे । गतो मानसवेगोऽपि स्वस्थानं तद्वचःस्थितः ॥४०॥
श्रुतानुभूतवार्त्तादिप्रश्नप्रकथनात्मनोः । याति कामरसक्षिप्तचेतसोः[1] समयस्तयोः ॥४१॥
अश्वरूपधरेणासावेकदा सूर्पकारिणा । हृतो नभसः क्षिप्तो[2] गङ्गायामपतद् यदुः ॥४२॥
स तामुत्तीर्य सम्प्राप्तस्तापसाश्रममत्र च । निरीक्ष्योन्मादिनीं नारीं नरास्थिमयशेखराम् ॥४३॥
पप्रच्छ तापसं कञ्चित् कस्येयं युवतिर्वरा । परिभ्रमति विभ्रान्ता महोन्मादवशा वशा ॥४४॥
तस्मै सोऽकथयद् राज्ञो जरासन्धस्य देहजा । नाम्ना केतुमतीयं च जितशत्रुनृपप्रिया ॥४५॥
मन्त्रवादिपरिव्राजा वराकी स्ववशीकृता । हतस्यास्यास्थिमालां च मालीकृत्याटति क्षितिम् ॥४६॥
इत्याकर्ण्य कृपायुक्तो महामन्त्रप्रभावतः । आवेशपूर्वकं तस्याः स चक्रे ग्रहनिग्रहम् ॥४७॥
शौरिस्तदा नियुक्तैस्तु जरासन्धस्य मानवैः । पुरं राजगृहं नीतः परित्रायोपकार्यपि ॥४८॥
तानवोचदसौ राज्ञः कोऽपराधो मया कृतः । ब्रूत मे येन नीयेऽहं[3] तद्राजपुरुषाः रुषा ॥४९॥
इत्युक्ता इत्यवोचंस्ते यो राजदुहितुर्ग्रहम् । व्युदस्यति भवेत्सोऽत्र राजारिजनकः किल ॥५०॥
इत्यावेद्य वधस्थानं नीतो नीचैर्नरैर्वृतः । समुत्क्षिप्यापनीतः प्राक् केनचित्खचरेण सः ॥५१॥
उक्तश्च वीर ! विद्धि त्वं प्रभावत्याः पितामहम् । मां भगीरथनामानं त्वन्मनोरथपूरकम् ॥५२॥

ले जाकर छोड़ दिया ॥३८॥ इस घटनासे मानसवेग कुमारका गहरा बन्धु हो गया और विमान द्वारा सोमश्री सहित वसुदेवको उनके अभीष्ट स्थान महापुर नगरतक पहुँचाने गया ॥३९॥ वहाँ पहुँचनेपर वसुदेवका सोमश्रीके बन्धुओंके साथ समागम हो गया और मानसवेग भी उनका आज्ञाकारी हो अपने स्थानपर वापिस चला गया ॥४०॥ तदनन्तर सुनी एवं अनुभवी बातोंके प्रश्नोत्तर करना ही जिनका काम शेष था और जिनके चित्त कामरसके आधीन थे ऐसे उन दोनों दम्पतियोंका समय सुखसे व्यतीत होने लगा ॥४१॥

अथानन्तर एक समय कुमारका शत्रु राजा त्रिशिखरका पुत्र सूर्पक अश्वका रूप रखकर कुमारको हर ले गया और आकाशसे उसने नीचे गिरा दिया जिससे वे गङ्गा नदीमें जा गिरे ॥४२॥ गङ्गा नदीको पारकर कुमार वसुदेव तापसोंके एक आश्रममें पहुँचे। वहाँ उन्होंने मनुष्योंकी हड्डियोंका सेहरा धारण करनेवाली एक पागल स्त्रीको देखकर किसी तापससे पूछा कि यह सुन्दरी युवती किसकी स्त्री है जो मदोन्मादके वश हो पागल हस्तिनीके समान इधर-उधर घूम रही है ॥४३-४४॥ तापसने कहा कि यह राजा जरासन्धकी पुत्री केतुमती है और राजा जितशत्रुको विवाही गई है ॥४५॥ इस बेचारीको एक मन्त्रवादी परिव्राजकने अपने वश कर लिया था वह मर गया इसलिए उसकी हड्डियोंके समूहकी माला बनाकर यह पृथिवीपर घूमती रहती है ॥४६॥ यह सुनकर वसुदेवकी दया उमड़ पड़ी और उन्होंने महामन्त्रोंके प्रभावसे शीघ्र ही केतुमतीके पिशाचका निग्रह कर दिया ॥४७॥ वहाँ वसुदेवकी खोजमें जरासन्धके आदमी पहलेसे ही नियुक्त थे इसलिए यद्यपि कुमार उपकारी थे तथापि वे उन्हें घेरकर राजगृह नगर ले गये ॥४८॥ उनको ले जानेवाले लोगोंसे वसुदेवने पूछा कि हे राजपुरुषो ! बताओ तो सही मैंने राजाका कौन-सा अपराध किया है जिससे मैं इस तरह क्रोधपूर्वक ले जाया जा रहा हूँ ॥४९॥ इस प्रकार कहनेपर राजपुरुष बोले कि जो राजपुत्रीके पिशाचको दूर करेगा वह राजाको घात करनेवाले शत्रुका पिता होगा ॥५०॥ इस प्रकार कहकर नीच मनुष्योंसे घिरे वसुदेव वध स्थान-पर ले जाये गये परन्तु वध होनेके पहले ही कोई विद्याधर उन्हें झपटकर आकाशमें ले गया ॥५१॥ उस विद्याधरने कुमारको सम्बोधते हुए कहा कि हे वीर ! तुम मुझे प्रभावतीका

---

१. कामरसासिक्तचेतसोः म० । २. क्षिप्रो म० । ३. नीयेयं म० ।

प्रभावतीसमीपं त्वं मया नीतिज्ञ ! नीयसे । इति प्रियवचोवाचा निनाय खचराचलम् ॥५३॥
प्राप्य गन्धसमृद्धं च नगरं नगमूर्धनि । प्रवेशितो महाभूत्या विद्याधरजनैर्वृतः ॥५४॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगे [1]योगे कृते ततः । पितृबन्धुजनैः शौरिप्रभावत्योः प्रहृष्टयोः ॥५५॥
प्रागेव मदनावेशपरस्परवशात्मकौ । वधूवरौ वरौ वृत्तौ भोगसागरवर्तिनौ ॥५६॥

रथोद्धतावृत्तम्

सम्प्रयुक्तमपि वल्लभैः सदा विप्रयोजयति पापकृत्परम् ।
पूर्वतोऽपि शतशोऽतिवल्लभैर्युज्यते तु जिनधर्मकृत्पुरा ॥५७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ प्रभावतीलाभवर्णनो नाम त्रिंशः सर्गः ॥३०॥

पितामह जानो, भगीरथ मेरा नाम है और तुम्हारे मनोरथको पूर्ण करनेवाला हूँ ॥५२॥ हे नीतिज्ञ ! मैं तुम्हें प्रभावतीके पास लिये जाता हूँ—इस प्रकार मधुर वचन कहता हुआ वह विद्याधर उन्हें विजयार्ध पर्वतपर ले गया ॥५३॥ वहाँ पर्वतके मस्तकपर एक गन्धसमृद्ध नामक नगर था। उसमें अनेक विद्याधरोंसे घिरे हुए वसुदेवका उसने बड़े वैभवके साथ प्रवेश कराया ॥५४॥ तदनन्तर प्रशस्त तिथि और नक्षत्रके योगमें प्रभावतीके पिता तथा बन्धुजनोंने हर्षसे युक्त वसुदेव और प्रभावतीका विवाहोत्सव किया ॥५५॥ वसुदेव और प्रभावतीके हृदय कामके आवेशसे पहले ही एक दूसरेके वशीभूत थे। अतः अब वर-वधू बनकर दोनों भोग रूपी सागरमें निमग्न हो गये ॥५६॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि यद्यपि पापी मनुष्य प्रियजनोंके साथ संयोगसे प्राप्त हुए अन्य मनुष्यको सदा प्रियजनोंसे वियुक्त करता है तथापि पूर्वभवमें जिनधर्मको धारण करनेवाला मनुष्य पूर्वकी अपेक्षा सैकड़ों बार अतिशय प्रियजनोंके साथ संयोगको प्राप्त होता है ॥५७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें प्रभावतीके लाभका वर्णन करनेवाला तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३०॥

---

१. योग म०, सम्बन्धे कृते सतीत्यर्थः ।

एकत्रिंशत्तमः सर्गः

अथ हर्म्यतले सुप्तः प्रभावत्या सहान्यदा । सूर्पकेण हृतः शौरिर्बुबुधे स चिरेण खे ॥१॥
जघान मुष्टिघातेन विद्विषं चामुचत् स खात् । गोदावर्याः पपातायं ह्रदे देहसुखावहे ॥२॥
तत्र कुण्डपुरे लेभे कन्यां पद्मरथस्य सः । माल्यकौशलयोगेन कलाकौशलशालिनीम् ॥३॥
ततोऽपि नीलकण्ठेन नीत्वा मुक्तोऽपतद् यदुः । चम्पासरसि सम्प्राप्तस्तस्यां सोऽमात्यदेहजाम् ॥४॥
जलक्रीडारतस्तत्र स हृतः सूर्पकारिणा । विमुक्तश्च पपातासौ भागीरथ्यां मनोरथी ॥५॥
पर्यटन्नटवीं तत्र म्लेच्छराजेन वीक्षितः । परिणीय सुतां तस्य जराख्यां तत्र चावसत् ॥६॥
जरत्कुमारमुत्पाद्य तस्यामुन्नतविक्रमः । अवन्तिसुन्दरीं प्राप शूरसेनां च शंसिताम् ॥७॥
पुरुषान्वेषिणीमन्यां कन्यां जीवद्यशःश्रुतिम् । उपयम्यापराश्चासावरिष्टपुरमाययौ ॥८॥
राजा तत्र तदा धीरो रुधिरो युधि रोधनः । तस्य मित्रा महादेवी देवीव द्युतिसम्पदा ॥९॥
ज्येष्ठो हिरण्यनाभाख्यस्तनयो नयवित्तयोः । रणशौण्डो महासत्त्वः शस्त्रशास्त्रे कृतग्रहः ॥१०॥
कलापारमिता रूपयौवनोदयधारिणी । तनया रोहिणीनाम्ना रोहिणीव यशस्विनी ॥११॥

अथानन्तर—किसी समय कुमार वसुदेव प्रभावतीके साथ महलमें सो रहे थे कि उसी समय उनका वैरी शूर्पक उन्हें हरकर आकाशमें ले गया ।। कुछ देर बाद जब उनकी नींद खुली तो मुक्कोंके प्रहारसे उन्होंने शत्रुको पीटना शुरू किया । मुक्कोंकी मारसे घबड़ाकर शूर्पकने उन्हें आकाशसे छोड़ दिया जिससे वे शरीरको सुख पहुँचानेवाले गोदावरीके कुण्डमें गिरे ॥१–२॥ वहाँसे निकलकर वे कुण्डपुर ग्राममें पहुँचे । वहाँका राजा पद्मरथ था उसकी कला कौशलसे सुशोभित एक सुन्दरी कन्या थी । उस कन्याकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे माला गूँथनेमें पराजित करेगा उसीके साथ मैं विवाह करूँगी । कुमार वसुदेवने उसे माला गूँथनेका कौशल दिखाकर प्राप्त किया—उसके साथ विवाह किया ॥३॥ एक दिन कुमारका शत्रु नीलकण्ठ वहाँसे भी उन्हें हरकर ले गया तथा आकाशमें ले जाकर उसने छोड़ दिया । भाग्यवश कुमार चम्पानगरीके तालाबमें गिरे । वहाँसे निकलकर उन्होंने चम्पापुरीमें प्रवेश किया तथा वहाँके मन्त्रीकी पुत्रीके साथ विवाह किया ॥४॥ एक दिन कुमार चम्पानगरीमें जलक्रीड़ा कर रहे थे कि वैरी शूर्पक फिर हर ले गया । अबकी बार उससे छूटकर अनेक मनोरथोंको धारण करनेवाले कुमार भागीरथी नदीमें गिरे ॥५॥ वहाँसे निकलकर वे अटवीमें घूमने लगे । वहाँ म्लेच्छोंके राजाने उन्हें देखा जिससे वे म्लेच्छराजकी जरा नामक कन्याको विवाहकर वहीं रहने लगे ॥६॥ उन्नत पराक्रमको धारण करनेवाले वसुदेवने उस कन्यामें जरत्कुमार नामका पुत्र उत्पन्न किया । उसी समय कुमारने अवन्तिसुन्दरी और शूरसेना नामकी उत्तम कन्याको भी प्राप्त किया ॥७॥ तदनन्तर पुरुषको खोजनेवाली जीवद्यशा नामकी कन्याको एवं अनेक कन्याओंको विवाह कर कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नामक नगर आये ॥८॥ उस समय वहाँ युद्धमें शत्रुओंको रोकनेवाला धीर वीर रुधिर नामका राजा था । उसकी मित्रा नामकी महारानी थी जो कान्ति रूपी सम्पदासे देवीके समान जान पड़ती थी ॥९॥ उन दोनोंके नीतिका वेत्ता, रण-निपुण महा पराक्रमी एवं शस्त्र और शास्त्रका अभ्यास करनेवाला हिरण्यनाभका ज्येष्ठ पुत्र था ॥१०॥ और कलाओंकी पारगामिनी, रूप तथा यौवनके अभ्युदयको धारण करनेवाली, रोहिणी नामकी पुत्री थी । वह

---

१. अपराः अन्याः कन्याः विवाह्य असौ अरिष्टपुरम् आययौ । २. नीतिज्ञः ।

स्वयंवरविधौ तस्याः सङ्गताः सकलाः नृपाः । जरासन्धं पुरोधाय समुद्रविजयादयः ॥१२॥
तत्र चित्रमणिस्तम्भधारितेषु यथाक्रमम् । ते मञ्चेषु समासीना नृपा भूषितविग्रहाः ॥१३॥
वसुदेवोऽपि तत्रैव [1]भ्रात्रलक्षितवेषभृत् । तस्थौ पाणविकान्ते स्थो गृहीतपणवोऽग्रणीः ॥१४॥
ततः स्वयंवरान्तर्भूभागं सौभाग्यभूमिका । प्रविष्टा रोहिणी कन्या रोहिणीवातिरूपिणी ॥१५॥
तदा च सर्वभूपालैर्बलितैरक्रमाकुलैः । साऽलोकि युगपन्नेत्रैरर्चयद्भिरिवाम्बुजैः ॥१६॥
तद्रूपश्रवणाद् येषां परा प्रीतिरभूत्पुरा । सा रूपदर्शनात्तेषां महत्त्वमगमत्परम् ॥१७॥
श्रुतितूलततौ[2] वृद्धो योऽनुरागतनूनपात् । दर्शनेन्धनलब्धस्य तस्य वृद्धिः किमुच्यताम् ॥१८॥
शङ्खतूर्यरवस्यान्ते ततो धात्री पवित्रवाक् । धृतप्रसाधनां कन्यां मान्यामाहाभितो नृपान् ॥१९॥
आतपत्रमिदं यस्य चन्द्रमण्डलपाण्डुरम् । त्रिखण्डजयतो लब्धं यशः स्वमिव शोभते ॥२०॥
यस्य चाज्ञाकराः सर्वे भूचरास्तु नभश्चराः । वसुन्धरेश्वरः सोऽयं जरासन्धोऽवतिष्ठते ॥२१॥
वृणीष्व रोहिणीशं[3] तं नृपं त्वल्लाभलोभतः । रोहिणीसङ्गमुज्झित्वा क्षितिं चन्द्रमिवागतम् ॥२२॥
तस्मिन्नरागिणीं बुद्ध्वा रोहिणीं साह सात्त्विका । जरासन्धसुतास्त्वेते वृणीष्वैषु हृदि स्थितम् ॥२३॥
धात्री चेतोविदूचे तां मथुरानाथमग्रतः । उग्रसेननृपं पश्य रोचते यदि ते सुते ॥२४॥

पुत्री सचमुच ही रोहिणी ताराके समान कीर्तिमती थी॥११॥रोहिणीके स्वयंवरमें जरासंधको आगे कर समुद्रविजय आदि समस्त राजा आये ॥१२॥ शोभित शरीरको धारण करनेवाले राजा लोग स्वयंवर मण्डपमें नाना प्रकारके मणिमयी खम्भोंसे सुशोभित मञ्चोंपर यथाक्रमसे बैठ गये ॥१३॥ भाइयोंकी पहचानमें न आ सके ऐसे वेषको धारण करनेवाले कुमार वसुदेव भी स्वयंवरमें गये और पणव नामक बाजा बजानेवालोंके पास जाकर बैठ गये। उस समय कुमार अपने हाथमें पणव नामक बाजा लिये हुए थे और उसके बजानेवालोंमें सबसे अग्रणी जान पड़ते थे ॥१४॥

तदनन्तर सौभाग्यकी भूमि और रोहिणी-ताराके समान अतिशय रूपवती रोहिणी कन्याने स्वयंवरके भीतर प्रवेश किया ॥१५॥ उस समय समस्त राजाओंने मुड़-मुड़कर, आकुलतासे युक्त नेत्रों द्वारा एक साथ उसका अवलोकन किया। उस समय उसकी ओर देखनेवाले राजा ऐसे जान पड़ते थे मानो नेत्ररूपी कमलोंसे उसकी पूजा ही कर रहे हों ॥१६॥ जिन राजाओंको पहले उसका रूप सुनकर परम प्रीति उत्पन्न हुई थी अब उसका रूप देखकर उन राजाओंकी वह परम प्रीति और भी अधिक महत्त्वको प्राप्त हो गई ॥१७॥ सो ठीक ही है क्योंकि जो अनुरागरूपी अग्नि श्रवण रूपी रूईकी सन्ततिमें लगकर धीरे-धीरे सुलग रही थी वह यदि दर्शनरूपी ईंधनको पाकर एक दम प्रज्वलित हो उठे तो उसकी वृद्धिका क्या कहना है? ॥१८॥ तदनन्तर जब शङ्ख और तुरही आदि वादित्रोंका शब्द शान्त हुआ तब पवित्र वचन बोलनेवाली धाय, अलंकारोंको धारण करनेवाली माननीय कन्याको राजाओंके सम्मुख ले जाकर कहने लगी ॥१९॥ कि हे पुत्रि ! जिसका यह चन्द्र-मण्डलके समान सफेद छत्र, तीनखण्डोंकी विजयसे प्राप्त यशरूपी धनके समान सुशोभित हो रहा है और समस्त भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजा जिसके आज्ञाकारी हैं ऐसा यह वसुधाका स्वामी राजा जरासंध बैठा है॥२०-२१॥ हे रोहिणी! तुझे पानेके लोभसे रोहिणीका समागम छोड़कर पृथिवीपर आये हुए चन्द्रमाके समान जान पड़ता है ऐसे इस राजा जरासंधको तू स्वीकृत कर॥२२॥ सत्त्वगुणको धारण करनेवाली धायने जब देखा कि इसका अनुराग जरासंधमें नहीं है तब उसने आगे बढ़कर कहा कि ये जरासन्धके पुत्र हैं इनमेंसे जो तुझे पसन्द हो उसे वर॥२३॥ उनमें भी जब अनुराग नहीं देखा तब चित्तको जाननेवाली धायने आगे बढ़कर कहा कि हे बेटी ! यह आगे मथुराके स्वामी राजा उग्रसेन बैठे हैं यदि तेरी रुचि हो

१. भ्रातृभिरलक्षितं वेषं बिभर्तीति भ्रात्रलक्षितवेषभृत्। २. तनौ म०। श्रुतिकुलतनौ ग०। ३. रोहिणी शान्तम् म०।

कलधीः साह शौर्यादीन् पश्य सौर्यपुराधिपान् । मालामारोपयामीषामेकस्य रुचितस्य ते ॥२५॥
इत्युक्ते तेषु चेतोऽस्या बभार गुरुगौरवम् । ततोऽदर्शयदेवास्यै पाण्डुं विदुरमप्यतः ॥२६॥
दमघोषं यशोघोषं दन्तवक्त्रं सुविक्रमम् । [1]शल्यं शल्यमिवारीणां तथ्यं शत्रुंजयं नृपम् ॥२७॥
चन्द्राभं चन्द्रवत्कान्तं मुख्यं कालमुखं ततः । पौण्ड्रं च पुण्डरीकाक्षं मत्स्यं मात्सर्यवर्जितम् ॥२८॥
संजयं च जये सक्तं सोमदत्तं नृपोत्तमम् । तत्पुत्रं भ्रातृभिर्युक्तं भूरिश्रवसमाश्रवम्[2] ॥२९॥
सूनुनांऽशुमताऽत्यन्तं कपिलं विपुलेक्षणम् । तथा पद्मरथं भूपं सोमकं सोमसौम्यकम् ॥३०॥
देवकं देवनाथाभं श्रीदेवं श्रीवधूश्रितम् । प्रदर्श्य तान् नृपानित्थं वंशस्थानादिशंसिनी ॥३१॥
अन्यानपि च कन्यायै धात्री सा न्यायविज्ञगौ । एतावन्तो नृपा बाले मुख्याः किमिदमास्यते ॥३२॥
कुरु कन्ये गुणं कण्ठे चित्तस्थस्येह कस्यचित् । त्वत्सौभाग्यगुणाकृष्टराजमस्यास्य सन्निधौ ॥३३॥
[3]त्वं प्रकाशय सौभाग्यं कस्यचिच्चित्तहारिणः । योग्यभर्तृपरिप्राप्तिचित्तचिन्तात्तनिद्रयोः ॥
कृतयोग्यवरा पित्रोर्मुग्धे कुरु सुखासिकाम् ॥३४॥
एवमुक्ताऽवदत्कन्या[4] साधु मातरुदीरितम् । किन्तु त्वद्दर्शितेष्वेषु न मनो रज्यते क्वचित् ॥३५॥
दर्शनानन्तरं यत्र स्नेहोऽभिव्यज्यते हृदि । पौनरुक्त्यं भवेद्वाच्यं तत्राप्यत्राप्यपार्थता[5] ॥३६॥

तो इसकी ओर देख ॥२४॥ तदनन्तर विवेकवती धायने आगे बढ़कर कहा कि सौर्यपुरके स्वामी समुद्रविजय आदिको देख, यदि तेरी रुचि हो तो इनमेंसे किसी एकके गलेमें माला डाल ॥२५॥ धायके इस प्रकार कहनेपर कन्याके चित्तने उन सबके ऊपर गुरुके समान गौरव धारण किया अर्थात् उन्हें गुरु समझकर प्रणाम किया। तदनन्तर धायने कन्याके लिए राजा पाण्डुको दिखाया और उसके बाद विदुरको भी दिखलाया ॥२६॥ जब उसे इनमेंसे किसीपर भी कन्याका अनुराग नहीं दिखा तब उसने यशकी घोषणा करनेवाले दमघोष, अतिशय पराक्रमी दन्तवक्त्र, शत्रुओंके लिए शल्यके समान दुःख देनेवाले शल्य, सार्थक नामको धारण करनेवाले शत्रुञ्जय, चन्द्रमाके समान सुन्दर चन्द्राभ, अतिशय मुख्य कालमुख, कमलके समान नेत्रोंको धारण करनेवाले पौण्ड्र, मात्सर्यसे रहित मत्स्य, विजय प्राप्त करनेमें लीन संजय, राजाओंमें उत्तम सोमदत्त, भाइयोंसे सहित सोमदत्तका आज्ञाकारी पुत्र भूरिश्रवा, अंशुमान् नामक पुत्रसे सहित तथा अतिशय विशाल नेत्रोंको धारण करनेवाला राजा कपिल, राजा पद्मरथ, सोम—चन्द्रमाके समान सौम्य राजा सोमक, इन्द्रके समान आभाको धारण करनेवाला देवक और लक्ष्मीरूपी वधूसे सेवित श्रीदेव राजाको दिखाया तथा इन सब राजाओंको दिखाकर उनके वंश और स्थान आदि-का भी वर्णन किया ॥२७–३१॥ तदनन्तर न्यायको जाननेवाली धायने कन्याके लिए और भी अनेक राजाओंका परिचय देते हुए कहा कि हे बाले! मुख्य इतने ही हैं। इस तरह चुपचाप क्यों खड़ी है? इनमेंसे जो भी तेरे हृदयमें स्थित हो—जिसे तू चाहती हो उसके कण्ठमें माला डाल दे। ये सभी राजा तेरे सौभाग्यरूपी गुणसे आकर्षित होकर इधर तेरे समीप स्थित हैं इनमें जो तुम्हारे चित्तको हरण करनेवाला हो उसके सौभाग्यको प्रकाशित कर। हे मुग्धे! तेरे लिए योग्य भर्ताकी प्राप्तिकी चिन्तासे तेरे माता-पिताकी निद्रा नष्ट हो गई है सो योग्य वरको स्वीकार कर उन्हें सुखी बना ॥३२–३४॥

धायके इस प्रकार कहनेपर कन्याने उत्तर दिया कि हे मातः! आपने ठीक कहा है किन्तु आपके द्वारा दिखाये हुए इन राजाओंमेंसे किसीपर मेरा मन अनुरक्त नहीं हो रहा है ॥३५॥ देखनेके बाद ही जिसके ऊपर हृदयमें स्नेह प्रकट हो जाता है उसे वरनेके लिए वचन कहना पुनरुक्त होता है तथा आन्तरिक स्नेहके प्रकट होनेपर ही स्त्री-पुरुष दोनोंमें सन्तोषका अनुभव

१. शल्यं म० । २. -माश्रयं म० । ३. षट्पादोऽयं श्लोकः । ४. कन्यां म० । ५. -प्यनर्थता म० ।

न रागो न च विद्वेषो न मोहो न च शून्यता । मुनेरिव ममामीषु जातोपेक्षा कुतोऽप्यहो ॥३७॥
यद्यमीभ्यः परः कोऽपि विधिना मे विधित्सितः । वरस्तं दर्शयत्वद्य विधिरेव जगद्गुरुः ॥३८॥
तद्वचोऽनन्तरं कन्या शुश्राव पणवध्वनिम् । श्रव्यं श्रवणमार्गेण गत्वा चेतोऽतिकर्षिणम् ॥३९॥
इतः पश्य वरारोहे ! त्वन्मनोहरणक्षमम् । राजहंसमिति स्पष्टं बभाण पणवः स हि ॥४०॥
परावृत्य ततः कन्या पश्यन्ती सा व्यलोकत । राजलक्षणसंयुक्तं वसुदेवं वसूपमम्[1] ॥४१॥
अन्योन्यदृष्टिसम्पातनिशातशरसम्पदा[2] । मनो मनसिजश्चक्रे ततो जर्जरितं तयोः ॥४२॥
आसाद्य सा ततस्तस्य भूषणस्वनहारिणी । कण्ठे कण्ठगुणं चक्रे स्तनचक्रेण सन्नता ॥४३॥
मञ्चस्थस्योपकण्ठेऽस्य समासीना व्यराजत । रोहिणी हारिणी तारा रोहिणीव कलावतः[3] ॥४४॥
नवसङ्गमसञ्जातसाध्वसेन सकम्पना । कन्या सा स्वाङ्गसङ्गेन तस्याङ्गसुखमाहरत् ॥४५॥
तं स्वयंवरमालोक्य केचिदूचुरिदं[4] नृपाः । जातोऽनुरूपयोर्योगो रत्नकाञ्चनयोरिव ॥४६॥
अहो नैपुण्यमेतस्याः कन्याया यदयं नृपः । कोऽपि गूढकुलः श्रीमान् प्रधानपुरुषो वृतः ॥४७॥
मात्सर्योपहतास्त्वन्ये जगुः पाणविकं वरम् । कुर्वन्त्या पश्यतात्यन्तमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥
पराभूतिमिमां राज्ञां नैव युक्तमुपेक्षितुम् । सर्वदातिप्रसङ्गः स्यादेवं सति महीतले ॥४९॥
कुलीनानां समाजेऽस्मिन् परस्यावसरोऽस्य कः । वक्तु वा वक्तुकामश्चेत्कुलीनः कुलमात्मनः ॥५०॥
न चेदेवं करोत्येष कोऽपि नीचान्वयोद्भवः । कुव्यतां राजपुत्रस्य कन्याप्यस्त्विह कस्यचित् ॥५१॥

होता है ॥३६॥ इन राजाओंपर मुझे न राग है, न द्वेष है, न मोह है और न शून्यता है । अहो ! मुनिके समान मेरी इन सबपर किसी कारणसे उपेक्षा हो गई है ॥३७॥ यदि विधाताने इन सबसे बढ़कर कोई दूसरा वर मेरे लिए बनाना चाहा है तो जगत्‌का गुरु विधाता ही आज उस वरको दिखलावे ॥३८॥ इतना कहनेके बाद ही कन्याने, कर्ण मार्गसे भीतर जाकर चित्तको खींचनेवाली पणवकी मधुर ध्वनि सुनी ॥३९॥ वह ध्वनि मानो स्पष्ट रूपसे यही कह रही थी कि हे सुन्दरि ! तुम्हारे मनको हरण करनेवाला राजहंस इधर बैठा है, अतः इस ओर देखो ॥४०॥ तदनन्तर ज्योंही कन्याने मुड़कर उस ओर देखा, त्योंही उसे राजलक्षणोंसे युक्त कुबेरके समान वसुदेव दिखे ॥४१॥ उसी क्षण कामदेवने परस्पर दृष्टि सम्मिश्रण रूप तीक्ष्ण बाणोंकी सम्पदासे दोनोंका मन जर्जरित कर दिया ॥४२॥ तदनन्तर जो आभूषणोंके शब्दसे अतिशय मनोहर जान पड़ती थी और स्तनचक्रके भारसे नीचेकी ओर झुक रही थी । ऐसी रोहिणीने पास जाकर वसुदेवके गलेमें माला डाल दी ॥४३॥ मञ्चपर आसीन वसुदेवके समीप बैठी हुई रोहिणी, चन्द्रमाके समीप स्थित रोहिणी ताराके समान मनोहर जान पड़ती थी ॥४४॥ नवीन समागमसे उत्पन्न भयके कारण जिसका शरीर कुछ-कुछ काँप रहा था ऐसी रोहिणीने अपने शरीरके स्पर्शसे वसुदेवके शरीरको सुख उत्पन्न कराया ॥४५॥ उस स्वयंवरको देखकर कितने ही राजा यह कहने लगे कि अहो ! जिस प्रकार रत्न और सुवर्णका संयोग होता है उसी प्रकार यह दोनों योग्य वर-वधूका संयोग हुआ है ॥४६॥ अहो ! इस कन्याकी चतुराई देखो कि जिसने छिपे कुलसे युक्त लक्ष्मी सम्पन्न एवं प्रधान पुरुष रूप इस किसी अनिवर्चनीय राजाको वरा है ॥४७॥ मात्सर्यसे पीड़ित अन्य राजा लोग यह कह रहे थे कि देखो पणववादकको वर बनाती हुई कन्याने यह बड़ा अन्याय किया है ॥४८॥ राजाओंको इस पराभवकी उपेक्षा करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा होनेसे तो पृथिवी तलपर सदा अतिप्रसङ्ग होने लगेगा—कुल मर्यादाकी सब व्यवस्था ही भङ्ग हो जायगी ॥४९॥ कुलीन मनुष्योंकी इस सभामें इस अकुलीन मनुष्यका असर ही क्या था ? अथवा यह कुलीन है और अपना कुल बताना चाहता है तो बतावे ॥५०॥ यदि यह ऐसा नहीं करता

१. 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति वैजयन्ती । २. तीक्ष्ण । ३. चन्द्रस्य । ४. -रिमं म० ।

वसुदेवस्ततो धीरः प्रोवाच क्षुभितान् नृपान् । श्रूयतां क्षत्रियैर्दृप्तैः साधुभिश्च वचो मम ॥५२॥
स्वयंवरगता कन्या वृणीते रुचिरं वरम् । कुलीनमकुलीनं वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥५३॥
अक्षान्तिस्तत्र नो युक्ता पितुर्भ्रातुर्निजस्य वा । स्वयंवरगतिज्ञस्य परस्येह च कस्यचित् ॥५४॥
कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः । कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोऽस्ति कश्चन ॥५५॥
तदत्र यदि सौभाग्यमविज्ञातस्य मेऽनया । अभिव्यक्तं न वक्तव्यं भवद्भिरिह किंचन ॥५६॥
अथ पौरुषदर्पेण कश्चिदत्र न शाम्यति । शमयामि तमाकर्णकृष्टमुक्तैः शिलीमुखैः ॥५७॥
तच्छ्रुत्वाऽऽशु जरासन्धः क्रुद्धः प्राह नृपान् नृपाः । गृह्यतामयमुद्वृत्तो[1] रुधिरश्च सपुत्रकः[2] ॥५८॥
क्षुभिताः पूर्वमेवाऽऽसन् द्विगुणं चक्रिवाक्यतः । खलप्रकृतयो भूपाः सन्नद्धाः योद्धुमुद्यताः ॥५९॥
साधुप्रकृतयः केचित्तत्र क्षत्रियपुङ्गवाः । तस्थुः पापनिवृत्तेच्छाः पृथक् स्वबलसङ्गताः ॥६०॥
पक्षात्तु रुधिरस्यैके प्रतिपक्षबिभित्सया । सन्नह्य सहसा प्राप्ताः रुधिरारुणवीक्षणाः ॥६१॥
रथं हिरण्यनाभः स्वं तस्थावारोप्य रोहिणीम् । समस्तबलसंयुक्तो रुधिरोऽपि वरं वरम् ॥६२॥
रुधिरो मधुरैर्वाक्यैर्निजयोधानबोधयत् । यूयं महारथा[3] युद्धे[4] कुरुध्वं युक्तमात्मनः ॥६३॥
वरेण श्वशुरोऽयाचि पूज्य ! मे स्यन्दनं द्रुतम् । समर्पय महानेकशस्त्रास्त्रपरिपूरितम् ॥६४॥

है—अपना कुल नहीं बतलाता है तो यह कोई नीच कुलमें उत्पन्न हुआ है अतः इसे यहाँसे हटा दिया जाय और यह कन्या किसी राजपुत्रको दे दी जाय ॥५१॥

तदनन्तर धीर-वीर वसुदेवने क्षोभको प्राप्त हुए राजाओंसे कहा कि अहंकारसे भरे क्षत्रिय तथा सज्जन पुरुष हमारे वचन सुनें ॥५२॥ स्वयंवरमें आई हुई कन्या अपनी इच्छाके अनुरूप कुलीन अथवा अकुलीन वरको वरती है। स्वयंवरमें कुलीन अथवा अकुलीनका कोई क्रम नहीं है ॥५३॥ इसलिए कन्याके पिता, भाई अथवा स्वयंवरकी विधिको जाननेवाले किसी अन्य महाशयको इस विषयमें अशान्ति करना योग्य नहीं है ॥५४॥ कोई महाकुलमें उत्पन्न होकर भी दुर्भग—स्त्रीके लिए अप्रिय होता है और कोई नीच कुलमें उत्पन्न होकर भी सुभग—स्त्रीके लिए प्रिय होता है। यही कारण है कि इस विषयमें कुल और सौभाग्यका कोई प्रतिबन्ध नहीं है ॥५५॥ इसलिए यदि इस कन्याने मुझ अपरिचितका सौभाग्य प्रकट किया है तो इस विषयमें आप लोगोंको कुछ नहीं कहना चाहिए ॥५६॥ इतनेपर भी यदि कोई पराक्रमके गर्वसे यहाँ शान्त नहीं होता है तो मैं कानतक खींचकर छोड़े हुए बाणोंसे उसे शान्त कर दूँगा ॥५६॥ वसुदेवके उक्त वचन सुनकर राजा जरासन्ध शीघ्र ही कुपित हो उठा। उसने राजाओंसे कहा कि इस उद्दण्डको तथा पुत्र सहित राजा रुधिरको पकड़ लो ॥५७॥ दुष्ट स्वभावके राजा पहले हीसे कुपित थे फिर चक्रवर्तीका आदेश पाकर तो दूने कुपित हो गये। तदनन्तर वे दुष्ट राजा तैयार होकर युद्धके लिए उद्यत हो गये ॥५८-५९॥ वहाँ जो सज्जन प्रकृतिके राजा थे वे पापसे निःस्पृह हो अपनी-अपनी सेना लेकर अलग खड़े हो गये ॥६०॥ जो क्षत्रिय रुधिरके पक्षके थे वे क्रोधसे रक्तके समान लाल-लाल नेत्र करते हुए, शत्रुको घायल करनेकी इच्छासे शीघ्र ही तैयार होकर वहाँ आ पहुँचे ॥६१॥ राजा रुधिरका पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणीको अपने रथपर चढ़ाकर खड़ा हो गया और समस्त सेनासे युक्त राजा रुधिर उत्कृष्ट वर—वसुदेवको अपने रथपर सवार कर खड़ा हो गया ॥६२॥ रुधिरने मीठे-मीठे शब्दों द्वारा अपने योधाओंको सम्बोधते हुए कहा कि हे महारथियो ! तुम लोग युद्धमें अपने अनुरूप ही कार्य करो—जैसा तुम लोगोंका नाम है वैसा ही कार्य करो ॥६३॥ वसुदेवने अपने श्वसुर—राजा रुधिरसे कहा कि हे पूज्य ! आप मुझे अनेक

१. -मुद्वृत्ता म० । २. सुपुत्रकः म० । ३. महारथो म० । ४. युद्धैः कुरुध्वं युद्धमात्मनः ग० ।

[1]काम्दिशीकान् करोम्यद्य यद्भुतं क्षत्रियानमून् । संख्येऽप्रख्यातवंशस्य सहन्तां मे शरानमी ॥६५॥
इत्युक्ते रुधिरोऽसौऽपि पुरुषान्तरवीक्षणात् । अढौकयद्[2]दृढाशास्त्रं [3]जवनाश्वमहारथम् ॥६६॥
खेटो दधिमुखः शौरिं शूरो रथवर[4]स्थितः । मनोरथ इव प्राप्तस्तदा दिव्यास्त्रभासुरः ॥६७॥
प्रणतश्च स तं प्राह रथमारोह मे द्रुतम् । सारथिस्तव युद्धेऽहं जहि शत्रुकदम्बकम् ॥६८॥
आरुरोह रथं शौरिस्तस्य तुष्टः परिष्कृतः । चापी च कवची चित्रशरसंघातसंकुलम् ॥६९॥
द्विसहस्ररथं सैन्यं षट्सहस्रमदद्विपम् । चतुर्दशसहस्राश्वं लक्षात्मकपदातिकम् ॥७०॥
[5]रौधिरं युधि सान्निध्यं शौरेराशु तदाश्रितम् । शत्रुसैन्यविनाशाय कृतनिश्चयमाबभौ ॥७१॥
चतुरङ्गेण तेनाशु बलेन बलशालिना । अदृष्टपारम[6]भ्याच्च शौरिः शत्रुबलोदधिम् ॥७२॥
सम्पातश्च तयोर्जातः सेनयोश्चतुरङ्गयोः । समुद्रघोषयोः शङ्खतूर्यादिरवरौद्रयोः ॥७३॥
हस्त्यश्वरथपादातमौचित्येन यथायथम् । हस्त्यश्वरथपादातम[7]भ्येत्यायुध्यदाहवे ॥७४॥
नीरन्ध्रशरजालेन नभोरन्ध्रपिधायिना । न सहस्रकरोऽदर्शि रणेऽन्यत्र कथैव[8] का ॥७५॥
असिचक्रगदाघातरक्तधारान्धकारिते । निरुद्धः पादसञ्चारो रणे तेजोनिधेरपि ॥७६॥
पतद्भिर्मत्तमातङ्गैः पर्वतैरिव सर्वतः । नरैरश्वै रथैर्वापि शीर्यमाणैर्महानभूत् ॥७७॥

अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ रथ शीघ्र ही दीजिए ॥६४॥ जिससे मैं इन क्षत्रियोंको शीघ्र ही पलायमान कर दूँ। ये लोग युद्धमें जिसके कुलका पता नहीं ऐसे मेरे बाणोंको सहन करें ॥६५॥ वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर राजा रुधिर बहुत सन्तुष्ट हुआ। वह पुरुषोंके अन्तरको समझनेवाला जो था। तदनन्तर उसने मजबूत अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त एवं वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ महारथ बुलाया ॥६६॥ उसी समय शूर, वीर, उत्तम रथपर स्थित तथा दिव्य अस्त्रोंसे देदीप्यमान दधिमुख नामका विद्याधर मनोरथके समान कुमार वसुदेवके पास आ पहुँचा ॥६७॥ और नम्र होकर बोला कि आप शीघ्र ही मेरे रथपर चढ़ जाइए। युद्धमें मैं आपका सारथी रहूँगा। आप इच्छानुसार शत्रुओंके समूहको नष्ट कीजिए ॥६८॥ उसके वचन सुनकर वसुदेव बहुत सन्तुष्ट हुए और धनुष हाथमें ले तथा कवच धारण कर नाना प्रकारके बाणोंके समूहसे भरे हुए उसके रथपर चढ़ गये ॥६९॥ जिसमें दो हजार रथ थे, छह हजार मदोन्मत्त हाथी थे; चौदह हजार घोड़े थे और एक लाख पैदल सैनिक थे। ऐसी राजा रुधिरकी विशाल सेना, शत्रु सेनाके नाशका दृढ़ निश्चय कर शीघ्र ही कुमार वसुदेवके समीप आ गई ॥७०-७१॥ उस बलशाली चतुरङ्ग सेनाके साथ वसुदेव शीघ्र ही, जिसका अन्त नहीं दिखाई देता था ऐसे शत्रुकी सेना रूपी समुद्रके सम्मुख गये ॥७२॥

तदनन्तर समुद्रके समान शब्द करनेवाली एवं शङ्ख तुरही आदिके शब्दोंसे भयंकर दोनों चतुरङ्ग सेनाओंमें मुठभेड़ शुरू हुई ॥७३॥ हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिक यथायोग्य रीतिसे हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिकोंके सामने जाकर रणक्षेत्रमें युद्ध करने लगे ॥७४॥ आकाश-विवरको आच्छादित करनेवाले सघन बाणोंके समूहसे उस समय युद्धमें सूर्य भी दिखाई नहीं देता था फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या थी? ॥७५॥ तलवार, चक्र और गदाके प्रहारसे निकलती हुई खूनकी धाराओंसे जहाँ अन्धकार फैल रहा था ऐसे उस रणक्षेत्रमें सूर्यका भी पादसंचार—किरणोंका संचार रुक गया था। पक्षमें अतिशय तेजस्वी मनुष्यका पैदल आना जाना रुक गया था ॥७६॥ वहाँ सब ओर पर्वतोंके समान बड़े-बड़े हाथी गिर रहे थे तथा मनुष्य घोड़े और रथ जीर्ण-शीर्ण होकर धराशायी हो रहे थे। इन सबसे वहाँ बहुत भारी शब्द हो रहा

१. भयद्रुतान्। २. आदौक्य म०। ३. यावनाश्व—म०। ४. रथवरं स्थितः म०। ५. रुधिरस्येदं रौधिरं। ६. मध्यं च म०। अभ्याञ्च सम्मुखं जगाम। ७. अभ्येत्य + अयुध्यत् + आहवे। ८. रणोऽन्यत्रैव म०।

अथ सेनामुखं खिन्नं चिरं कृतरणं निजम् । शौरिर्हिरण्यनाभश्च साधारयितुमुद्यतौ ॥७८॥
तौ दृष्टिमुष्टिसन्धानप्रयोगानभिलक्षितौ । शरै[1]श्छादयितुं लग्नौ परै[2]र्योधानितस्ततः ॥७९॥
न नागो न रथो नाश्वो न नरो वा महाहवे । यो न जर्जरितस्ताभ्यां मुञ्चद्भ्यां निशितान् शरान् ॥८०॥
द्विट्प्रयुक्तशरासारं वायव्यास्त्रेण सोऽकिरत् । शौरिर्माहेन्द्रबाणेन निचकर्त धनूंष्यपि ॥८१॥
छत्राणि शशिशुभ्राणि शत्रूणां स यशांसि च । सुतुङ्गान्मूर्धजान्मान्यान् शरपातैरपातयत् ॥८२॥
युध्यमाने तथा तस्मिन् घोरे वीरभयानके । हिरण्यनाभवीरेण रणे पौण्ड्रः पुरस्कृतः ॥८३॥
कुमारयोस्तयोस्तत्र सुमहारथवर्तिनोः । शरैर्युद्धमभूद्रौद्रं यथा सिंहकिशोरयोः ॥८४॥
अपातयद् ध्वजं छत्रं रौधिरिः[3] सारथिं रिपोः । रथस्य तुरगान् वेगाद्ध्वजांश्च शरैः शितैः ॥८५॥
ततश्चण्डरुषा पौण्ड्रो वज्रदण्डनिभैः शरैः । कृतानुरूपमस्यारेः स चकार तदेव हि ॥८६॥
ततो हिरण्यनाभोऽपि बिभेद कवचं द्विषः । केतुं छत्रं च बाणौघै रथसारथिवाजिनः ॥८७॥
विरथीकृत्य पौण्ड्रोऽपि तमाशु शितसायकैः[4] । सद्यः प्राणहरं तस्य संधत्ते यावदाशुगम् ॥८८॥
वसुदेवोऽर्धचन्द्रेण तावच्छित्वाऽस्य तद्धनुः । चक्रे हिरण्यनाभं च त्वरयाश्व[5] रथे स्थिरे ॥८९॥
छाद्यमाने तथा पौण्ड्रे शौरिणा शरवर्षिणा । ववृषुः शरसङ्घातानेकीभूय बहुद्विषः ॥९०॥
शरैः शरान् निवार्यासौ बिभेद निशितैः शरैः । शत्रून् शत्रुविसीर्णोच्चैः साधुकारः पदे पदे ॥९१॥

था ॥७७॥ तदनन्तर चिरकाल तक युद्ध करनेके बाद जो खेद खिन्न हो गया था ऐसी अपनी सेनाके अग्रभागको सहारा देनेके लिए वसुदेव और स्वर्णनाभ दोनों ही उद्यत हुए ॥७८॥ दृष्टिको अपहरण करनेवाले प्रयोगसे जिन्हें कोई देख नहीं पाता था ऐसे ये दोनों ही जहाँ-तहाँ बाणोंके द्वारा शत्रु-पक्षके योद्धाओंको आच्छादित करने लगे ॥७९॥ उस महायुद्धमें न ऐसा हाथी था, न रथ था, न घोड़ा था और न मनुष्य ही था जो तीक्ष्ण बाणोंको छोड़नेवाले उन दोनोंके द्वारा जर्जरित न किया गया हो ॥८०॥ कुमार वसुदेव, शत्रुके द्वारा चलाये हुए बाणोंकी वर्षाको तो वायव्य अस्त्रसे तितर-बितर कर देते थे और अपने माहेन्द्र बाणसे शत्रुओंके धनुष तकको तोड़ देते थे ॥८१॥ उन्होंने बाणोंके प्रहारसे शत्रुओंके चन्द्रमाके समान सफेद छत्र, उज्ज्वल यश तथा अतिशय-उन्नत माननीय शिरके बालोंको नीचे गिरा दिया ॥८२॥ इधर वीरोंको भय उत्पन्न करनेवाले शूरवीर वसुदेव इस प्रकारका भयंकर युद्ध कर रहे थे और उधर वीर स्वर्णनाभने युद्धक्षेत्रमें पौण्ड्र राजाको अपने सामने किया ॥८३॥ जिस प्रकार सिंहके दो बच्चोंका भयंकर युद्ध होता है उसी प्रकार अतिशय महान् रथपर बैठे हुए उन दोनों कुमारोंमें भी बाणों द्वारा भयंकर युद्ध होने लगा ॥८४॥ स्वर्णनाभने देखते-देखते तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुकी ध्वजा, छत्र, सारथि और रथके घोड़ोंको शीघ्र ही नीचे गिरा दिया ॥८५॥ तदनन्तर राजा पौण्ड्रने भी अत्यन्त कुपित हो वज्रदण्डके समान तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुकी नकल करते हुए उसकी ध्वजा, छत्र, सारथि और घोड़ोंको धराशायी कर दिया ॥८६॥ तत्पश्चात् स्वर्णनाभने भी बाणोंके समूहसे शत्रुके कवच, पताका, छत्र, रथ, सारथि, और घोड़ोंको काट डाला ॥८७॥ यह देख पौण्ड्रने भी तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा स्वर्णनाभको शीघ्र ही रथ-रहित कर तत्काल ही उसके प्राणोंको हरण करनेवाला बाण ज्योंही धनुषपर चढ़ाया त्योंही वसुदेवने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसके धनुषको काट डाला और शीघ्रताके साथ स्वर्णनाभको अपने स्थिर रथपर चढ़ा लिया ॥८८-८९॥ तदनन्तर लगातार बाण वर्षा करनेवाले वसुदेवने जब पौण्ड्रको आच्छादित कर लिया तब बहुतसे शत्रु एक होकर—मिलकर वसुदेवपर बाणोंके समूहकी वर्षा करने लगे ॥९०॥ परन्तु फिर भी वसुदेव अपने बाणोंसे शत्रुके बाणोंका निवारण

१. शनैः म० । २. परं योधानितस्ततः म० । ३. रुधिरस्यापत्यम् पुमान् रौधिरिः । ४. शितिसायकैः म० । ५. त्वरयाश्वरथे म० ।

अथ साधुनृपैस्तत्र न्यायविद्भिरितीरितम् । न द्रष्टव्यमिदं युद्धमेकस्य बहुभिः सह ॥९२॥
ततो जगौ जरासन्धो धर्मयुद्धदिदृक्षया । अनेन सह कन्यार्थमेकैको युध्यतामिति ॥९३॥
ततः शत्रुंजयो जन्यः शौरिणा योद्धुमुद्यतः । शेषास्तु प्रेक्षका जाता क्षत्रियाः [1]क्षतमत्सराः ॥९४॥
शरान् शत्रुंजयोत्क्षिप्तान् शौरिः प्रक्षिप्य दूरतः । तं ध्वस्तरथसन्नाहं विह्वलीकृत्य मुक्तवान् ॥९५॥
दत्तवक्त्रस्ततो दत्तचिरयुद्धो मदोद्धतः । विरथीकृत्य निर्मुक्तो निःसारीकृतपौरुषः ॥९६॥
रिपुं कालमुखं प्राप्तं रणे कालमिवोद्धतम् । प्राणशेषमसौ कृत्वा विससर्जोर्जितो यदुः ॥९७॥
शल्यं रथेन सम्प्राप्तं तीक्ष्णसायकमोचकम् । जृम्भणास्त्रेण रौद्रेण बबन्धान्धकवृष्णिजः ॥९८॥
समुद्रविजयं प्राह जरासन्धस्ततो द्रुतम् । त्वं हरास्य रणे दर्पं पार्थिवास्त्रविशारदः ॥९९॥
अपि न्यायविदुत्तस्थौ स राजा राजशासनात् । युद्धे प्रायोऽनुवर्तन्ते प्रभुं न्यायविदोऽपि हि ॥१००॥
समुद्रविजयादेशात्पुनः सारथिना रथः । दधावोच्चैर्ध्वजच्छत्रो वासुदेवरथं[2] प्रति ॥१०१॥
दृष्ट्वा ज्येष्ठरथं दूरात् कनीयान् सारथिं जगौ । ज्यायांसं मम जानीहि समुद्रविजयं स्विमम् ॥१०२॥
मन्दमत्र गुरौ वाह्यो रथो दधिमुख ! त्वया । सापेक्षं हि मया योध्यमनेन गुरुणा रणे ॥१०३
यथोद्दिष्टं ततस्तेन रथः सारथिना रणे । नोदितोऽपि ययौ मन्दः स्यन्दनं गुर्वधिष्ठितम् ॥१०४॥

कर तीक्ष्ण बाणोंसे शत्रुपर प्रहार करते रहे। उस समय कुमारकी कुशलतासे प्रसन्न होकर शत्रु भी उन्हें पद-पदपर साधु-साधु—बहुत अच्छा बहुत अच्छा कहकर धन्यवाद दे रहे थे ॥९१॥

अथानन्तर जो वहाँ न्याय-नीतिके जाननेवाले सज्जन राजा थे उन्होंने कहा कि हम लोगोंको यह युद्ध नहीं देखना चाहिए क्योंकि यह एकका अनेकके साथ हो रहा है—एकके ऊपर अनेक व्यक्ति प्रहार कर रहे हैं इसलिए यह अन्यायपूर्ण युद्ध है ॥९२॥ तदनन्तर धर्म-युद्ध देखनेकी इच्छासे जरासंधने कहा कि अच्छा, कन्याके लिए इसके साथ एक-एक राजा युद्ध करे ॥९३॥ तत्पश्चात् जरासंधका आदेश पाकर राजा शत्रुञ्जय कुमार वसुदेवके साथ युद्ध करनेके लिए उठा और शेष राजा मत्सर रहित हो युद्ध देखने लगे ॥९४॥ कुमारने शत्रुञ्जयके द्वारा चलाये हुए बाणोंको दूर फेंककर उसके रथ और कवचको तोड़ डाला तथा उसे मूर्च्छित कर छोड़ दिया ॥९५॥ तदनन्तर मदसे उद्धत राजा दत्तवक्त्र युद्ध करने लगा परन्तु कुमारने उसका भी रथ तोड़ डाला और उसके पौरुषको निःसार कर उसे भगा दिया ॥९६॥ तदनन्तर जो यमराजके समान उद्धत था ऐसा कालमुख युद्धके लिए सामने आया सो अतिशय बलवान् वसुदेवने उसे भी प्राण-शेषकर छोड़ दिया ॥९७॥ अब रथपर सवार हो तीक्ष्ण बाणोंको छोड़ता हुआ शल्य सामने आया सो वसुदेवने उसे भी अतिशय भयंकर जृम्भण नामक अस्त्रसे बाँध लिया ॥९८॥

तदनन्तर जरासंधने समुद्रविजयसे कहा कि हे राजन् ! तुम अस्त्र-विद्यामें अत्यन्त निपुण हो इसलिए शीघ्र ही युद्धमें इसका गर्व हरण करो ॥९९॥ यद्यपि समुद्रविजय न्याय-नीतिके वेत्ता थे—युद्ध नहीं करना चाहते थे तथापि राजा जरासंधकी आज्ञासे उठे सो ठीक ही है क्योंकि युद्धके विषयमें न्यायके वेत्ता मनुष्य भी प्रायः अपने स्वामीका ही अनुसरण करते हैं ॥१००॥ तत्पश्चात् समुद्रविजयकी आज्ञा पाकर सारथिके द्वारा चलाया हुआ रथ, ऐसा रथ कि जिसपर बहुत ऊँची ध्वजा और छत्र लगा हुआ था, वसुदेवके रथकी ओर दौड़ा ॥१०१॥ वसुदेवने दूरसे ही बड़े भाईके रथको देखकर अपने सारथिसे कहा कि इन्हें तुम मेरे बड़े भाई समुद्रविजय जानो ॥१०२॥ हे दधिमुख ! ये हमारे पितातुल्य हैं अतः तुम्हें इनके आगे रथ धीरे-धीरे ले जाना चाहिए। मुझे रणभूमिमें इनके साथ इनकी रक्षाका ध्यान रखते हुए ही युद्ध करना चाहिए ॥१०३॥ सारथि-दधिमुखने, वसुदेवकी आज्ञानुसार ही रथ चलाया जिससे वह प्रेरित होनेपर भी

---

१. च्युतमत्सराः म० । २. वसुदेवं रथं म० ।

निजसारथिमाजिस्थः[1] समुद्रविजयो जगौ । भद्र ! योधमिमं दृष्ट्वा सस्नेहं मे मनः कुतः ॥१०५॥
दक्षिणाक्षिभुजास्पन्दो बन्धुसम्बन्धशंसनः । युधि बध्यस्य सांनिध्ये वद सम्बध्यते कथम् ॥१०६॥
सुनिमित्तविसंवादो नानुभूतश्च जातुचित् । विरुद्धदेशकालत्वात्संवादोऽपि न युज्यते ॥१०७॥
इत्युक्ते सोऽवदत् स्वामिन्नभ्यमित्रमितस्य ते । अवश्यं बन्धुसम्बन्धो जितजेयस्य जायते ॥१०८॥
परै राजन्नजय्यस्य राजलोकस्य संनिधौ । परस्य विजये पूजां राजराजादवाप्स्यसि ॥१०९॥
सोऽभिनन्दितसद्वाक्यः कार्मुकी तं सकार्मुकम् । शरधेः शरमुद्धृत्य जगादोद्धृतसायकम् ॥११०॥
भो धीर ! ते यथादृष्टं मृधे धनुषि कौशलम् । तथा निर्वहणं तस्य त्वं कुरुष्व ममाग्रतः ॥१११॥
शौर्यशैल ! तवोत्तुङ्गमानशृङ्गमनावृतम् । आवृणोमि शरैर्मेघैः समुद्रविजयस्त्वहम् ॥११२॥
कुमारः स्वरभेदेन जगौ किं नो बहूदितैः । आवयोरिह राजेन्द्र ! रणे व्यक्तिर्भविष्यति ॥११३॥
समुद्रविजयस्त्वं चेत्संग्रामविजयस्त्वहम् । न चेत्प्रत्येषि तत्क्षिप्रं क्षिप संधाय सायकम् ॥११४॥
इत्युक्ते मुक्तमाध्यस्थ्यो वैशाखस्थानमास्थितः । संधाय शरमाकृष्य विव्याध क्रोधतो नृपः ॥११५॥
प्रतिक्षिप्तेन स क्षिप्रमाशुगेन तमाशुगम् । दूरादेव च विच्छेद वैशाखस्थानमण्डितः ॥११६॥
मुक्तान्मुक्तान्नृपेणासाविषूनिषुभिराहवे । प्रत्युन्मुक्तैरतिक्षिप्रं दूरादेव निराकरोत् ॥११७॥
वायव्यवारुणाद्यैस्तौ दिव्यास्त्रैरस्त्रकोविदौ । युयुधाते नृदेवानां साधुकारैः स्तुतौ चिरम् ॥११८॥

समुद्रविजयसे अधिष्ठित रथकी ओर धीरे-धीरे ही चला ॥१०४॥ युद्धके मैदानमें आनेपर राजा समुद्रविजयने अपने सारथिसे कहा कि हे भद्र ! इस योद्धाको देखकर मेरा मन स्नेहयुक्त क्यों हो रहा है ? ॥१०५॥ दाहिनी आँख तथा भुजा भी फड़क रही है जो बन्धुके समागमको सूचित करनेवाली है परन्तु युद्धके मैदानमें जब कि शत्रु सामने खड़ा है इस शकुनकी संगति कैसे बैठ सकती है तुम्हीं कहो ॥१०६॥ उत्तम शकुनोंमें विसंवाद—विरोधका कभी अनुभव नहीं किया और देश तथा कालके विरुद्ध होनेसे निमित्तोंका संवाद भी संगत नहीं जान पड़ता ॥१०७॥ समुद्रविजयके इस प्रकार कहनेपर सारथिने कहा कि हे स्वामिन् ! अभी आप शत्रुके सामने खड़े हैं जब इसे आप जीत लेंगे तब अवश्य ही बन्धु समागम होगा ॥१०८॥ हे राजन् ! यह शत्रु दूसरोंके द्वारा अजेय है अतः इसके जीत लेनेपर आप राजाओंके समक्ष राजाधिराज जरासंधसे अवश्य ही विशिष्ट सम्मानको प्राप्त करेंगे ॥१०९॥

समुद्रविजयने सारथिके वचनोंकी प्रशंसाकर धनुष उठाया और तरकशसे बाण निकालकर धनुष हाथमें ले बाण निकालकर खड़े हुए कुमार वसुदेवसे कहा कि हे धीर ! युद्धमें तुम्हारे धनुषका जैसा कौशल देखा है अब मेरे आगे वैसा ही उसका समारोप करो—उसी प्रकारकी कुशलता दिखाते रहो तो जानें ॥११०-१११॥ हे शूरवीरताके पर्वत ! तुम्हारा अतिशय उन्नत यह मानरूपी शिखर अभी तक अनाच्छादित है सो मैं बाणरूपी मेघोंसे अभी आच्छादित करता हूँ मैं समुद्रविजय हूँ ॥११२॥ कुमारने आवाज बदलकर कहा कि हे राजेन्द्र ! हम लोगोंको बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? युद्धमें ही हम दोनोंकी प्रकटता हो जायगी—जो जैसा होगा वह वैसा सामने आ जावेगा ॥११३॥ यदि आप समुद्रविजय हैं तो मैं संग्रामविजय हूँ । यदि आपको प्रतीति न हो तो शीघ्र ही धनुषपर बाण रखकर छोड़िए ॥११४॥ वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर जिनकी मध्यस्थता छूट गई थी तथा जो वैशाख आसनसे खड़े थे ऐसे राजा समुद्रविजयने डोरीपर बाण रखकर तथा खींचकर क्रोधवश जोरसे मारा ॥११५॥ उधर वैशाख आसनसे सुशोभित वसुदेवने शीघ्र ही बदलेमें चलाये हुए बाणसे समुद्रविजयके उस बाणको दूरसे ही काट डाला ॥११६॥ इस प्रकार राजा समुद्रविजयने युद्धमें जितने बाण छोड़े उन सबको बदलेमें छोड़े हुए बाणोंके द्वारा वसुदेवने बहुत शीघ्र दूरसे ही निराकृत कर दिया ॥११७॥ तदनन्तर जो अस्त्र

---

१. युद्धस्थः ।

ज्येष्ठो मुमोच यान् बाणान् योद्धृसारथिवाजिनाम् । तान् कनिष्ठोऽच्छिनद्बाणैर्वैनतेय इवोरगान् ॥११९॥
एकैकं स त्रिधा छित्त्वा क्षुरप्रं भ्रातृयोजितम् । युवा विव्याध तस्यास्त्रै रथसारथिवाजिनः ॥१२०॥
दृष्ट्वास्त्रकौशलं तस्य शशंसुरवनीश्वराः । शिरःकम्पाङ्गुलिस्फोटसाधुवादविधायिनः ॥१२१॥
ज्यायानज्ञातसम्बन्धः पुनः सन्धाय सायकम् । दिव्यमस्त्रसहस्राणां सहस्रमसुचद् रुषा ॥१२२॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरः शीघ्रमस्त्रच्छादनमप्यसौ । युवा क्षिप्त्वाऽच्छिनद्रौद्रं ज्यायसा क्षिप्तसायकम् ॥१२३॥
परं कौशलमस्त्रेषु वसुदेवस्य यद्रणे । चिच्छेदास्त्राणि चित्राणि ररक्ष च निजाग्रजम् ॥१२४॥
इत्थं कृतरणक्रीडः कनीयान् ज्यायसे ततः । प्रजिघाय घनस्नेहः स्वनामाङ्कं शनैः[१] शरम् ॥१२५॥
अनुकूलमिषुं राजा तमादायेत्यवाचयत् । अज्ञातो निर्गतो योऽसौ महाराज ! तवानुजः ॥१२६॥
सोऽयं वर्षशतेऽतीते सम्प्राप्तः स्वजनान्तिकम् । पादप्रणाममत्रार्य वसुदेवः करोति ते ॥१२७॥
भ्रातृस्नेहसमुद्रेकात्समुद्रविजयस्ततः । क्षिप्तचापो रथात्तूर्णमुत्तीर्याप निजानुजम् ॥१२८॥
उत्तीर्णः स्यन्दनादाशु वसुदेवोऽपि दूरतः । प्रणतः पादयोस्तेन दोर्भ्यामालिङ्ग्य चोद्धृतः ॥१२९॥
आश्लिष्य रुदतोर्भ्रात्रोः साश्रुलोचनयोस्तयोः । प्राप्याक्षुभ्यादयः सर्वे कण्ठलग्नास्ततोऽरुदन् ॥१३०॥

विद्यामें निपुण थे और राजा लोग 'साधु-साधु' शब्द कहकर जिनकी स्तुति कर रहे थे ऐसे उन दोनोंने वायव्य तथा वारुण आदि अस्त्रोंसे चिरकाल तक युद्ध किया ॥११८॥ योद्धा, सारथि और घोड़ोंको लक्ष्यकर बड़े भाई जिन बाणोंको छोड़ते थे छोटे भाई उन्हें अपने बाणोंसे उस तरह छेद डालते थे जिस तरह कि गरुड़ सर्पोंको छेद डालता है ॥११९॥ तदनन्तर युवा वसुदेवने भाईके द्वारा चलाये हुए एक-एक बाणके तीन-तीन टुकड़े कर अपने अस्त्रोंसे उनके रथ, सारथि और घोड़ोंको छेद डाला ॥१२०॥ वसुदेवके अस्त्र-कौशलको देखकर राजा लोग उनकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। उस समय कितने ही राजा अपना शिर हिला रहे थे, कोई अंगुलियाँ चटका रहे थे और कोई मुखसे साधु-साधु शब्दका उच्चारण कर रहे थे ॥१२१॥ बड़े भाईको इस बातका पता नहीं था कि इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है इसलिए उन्होंने क्रोधमें आकर वसुदेवपर हजारों अस्त्रोंसे युक्त दिव्य रौद्रास्त्र छोड़ा परन्तु कुमार वसुदेवने भी शीघ्र ही अस्त्रोंको आच्छादित करनेवाला ब्रह्मशिर नामक अस्त्र छोड़कर बड़े भाईके द्वारा छोड़े हुए उस रौद्रास्त्रको बीचमें ही काट डाला ॥१२२-१२३॥ वसुदेवका संग्राममें शस्त्र चलानेका कौशल परम प्रशंसनीय था क्योंकि उन्होंने नाना प्रकारके शस्त्रोंको तो काट दिया था परन्तु अपने बड़े भाईको सुरक्षित रक्खा था ॥१२४॥

इस प्रकार रणक्रीड़ा करते-करते जिनका हृदय स्नेहसे भर गया था ऐसे वसुदेवने बड़े भाईके पास अपने नामसे चिह्नित बाण भेजा। उनका वह बाण मन्दगतिसे गमन करता हुआ बड़े भाईके पास पहुँचा ॥१२५॥ राजा समुद्रविजयने उस अनुकूल बाणको लेकर उसमें लिखा हुआ यह समाचार पढ़ा कि 'हे महाराज ! जो अज्ञात रूपसे निकल गया था वही मैं आपका छोटा भाई वसुदेव हूँ। सौ वर्ष बीत जानेके बाद वह आज आत्मीय जनोंके समीप आया है। हे आर्य ! वह आपके चरणोंमें प्रणाम करता है ॥१२६-१२७॥ तदनन्तर भ्रातृ स्नेहकी प्रबलतासे समुद्रविजयने अपने हाथका धनुष दूर फेंक दिया और वे शीघ्र ही रथसे उतरकर छोटे भाईके पास जा पहुँचे ॥१२८॥ इधर वसुदेव भी शीघ्र ही रथसे उतरकर दूरसे ही उनके चरणोंमें गिर गये। समुद्रविजयने दोनों भुजाओंसे उठाकर उनका आलिङ्गन किया ॥१२९॥ दोनों भाई एक दूसरेका आलिङ्गन कर रोने लगे और उनके नेत्रोंसे आँसू टप-टप गिरने लगे। उसी समय अक्षुभ्य

१. निजं म० ।

श्वशुरास्तस्य यावन्तः सपुत्रास्तत्र सङ्गताः । बान्धवाश्चापरे लग्ना रुरुदू रणरङ्गगाः ॥१३१॥
जरासन्धादयस्तुष्टा दृष्ट्वा भ्रातृसमागमम् । शशंसू रोहिणीं कन्यां तद्भ्रातृपितृबान्धवाः ॥१३२॥
यथास्वं शिबिरस्थानं दिनान्ते ते ययुर्नृपाः । वसुदेवकथासक्ता[1] निशा निन्युर्दिनान्यपि ॥१३३॥
ततस्तिथौ प्रशस्तायां रोहिणीचन्द्रसङ्गमे । रोहिणीमुपयेमेऽसौ समुद्रविजयानुजः ॥१३४॥
दृष्ट्वा विवाहमुर्वीशास्तुष्टिपुष्टिसमन्विताः । वर्षं तस्थुर्जरासन्धसमुद्रविजयादयः ॥१३५॥
कृतसाहाय्यकः संख्ये वसुदेवः[2] सुपूजितः । आपृच्छ्य प्रययौ प्रीतो निजं दधिमुखः पदम् ॥१३६॥
वरो नववधूहारिवक्त्राम्भोजमधुव्रतः । न सस्मार स्मरासक्तः पूर्वभुक्तवधूलताः ॥१३७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रादुर्भूतसमस्तभूतलमहाभूपाललोकैः समं
सम्भूयाद्भुतविक्रमैकशरणप्राणे रणप्राङ्गणे ।
प्रारब्धोऽप्यतिलुब्धबुद्धिभिरभूज्जय्यो न यद्दोःसखः
शौरिः शौर्यगिरिर्जिनोक्ततपसस्तत्तस्य तत्प्राभवम् ॥१३८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ रोहिणीस्वयंवर-भ्रातृसमागमवर्णनो नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥३१॥

आदि शेष भाई भी आ गये और सब गले लगकर रोने लगे ॥१३०॥ उस समय युद्धभूमिमें वसुदेवके जितने श्वसुर, साले तथा अन्य बन्धुजन थे वे सब उनसे लिपटकर रोने लगे ॥१३१॥ जरासन्ध आदि राजा, भाइयोंके इस समागमको देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए। रोहिणीके भाई, पिता तथा अन्य सम्बन्धी जन उसकी बहुत प्रशंसा करने लगे ॥१३२॥

तदनन्तर सायंकालके समय सब राजा लोग अपने-अपने शिविरोंमें गये और वसुदेवकी ही कथामें आसक्त हो दिन तथा रात्रियाँ व्यतीत करने लगे ॥१३३॥ तत्पश्चात् शुभ तिथिमें जब कि चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्रपर था वसुदेवने रोहिणीको विधिपूर्वक विवाहा ॥१३४॥ जरासन्ध तथा समुद्रविजय आदि राजा उस विवाहोत्सवको देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए और एक वर्ष तक वहीं राजा रुधिरके यहाँ रहे आये ॥१३५॥ युद्धमें जिसने सहायता की थी तथा वसुदेवने जिसका अच्छा सम्मान किया था ऐसा दधिमुख वसुदेवसे आज्ञा लेकर प्रसन्न होता हुआ अपने स्थानपर चला गया ॥१३६॥ कामासक्त वसुदेव नवीन स्त्रीके सुन्दर मुख कमलके भौंरे बन गये थे इसलिए उन्होंने पहले भोगी हुई स्त्रीरूपी लताओंका स्मरण भी नहीं किया ॥१३७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो शूरवीरताके पर्वत वसुदेव यद्यपि रणांगणमें अकेले ही थे केवल भुजाएँ ही उनकी सहायक थीं और अद्भुत पराक्रमके धारक, अतिशय लोभी पृथिवीतलके समस्त राजाओं-ने एक साथ मिलकर उन्हें पराजित करना चाहा था तथापि वे उन्हें पराजित नहीं कर सके सो यह अच्छी तरह तपे हुए जिनेन्द्र कथित तपका ही प्रभाव समझना चाहिए ॥१३८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें रोहिणीका स्वयंवर और भाइयोंके समागमका वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३१॥

---

१. शक्तो म० । २. वसुदेवः स पूजितः । म० वसुदेवेन सुपूजितः शिष्टाचारीकृत इत्यर्थः ।

द्वात्रिंशः सर्गः

अथ सा रोहिणी भर्त्रा विचित्रे शयनेऽन्यदा । प्रसुप्ता चतुरः स्वप्नान् ददर्श शुभसूचिनः ॥१॥
रुन्द्रं[1] चन्द्र[2]समच्छायं गजेन्द्रं मन्द्रगर्जितम् । समुद्रं सान्द्रनिर्घोषं [3]महीध्रोच्चैर्महोर्मिकम् ॥२॥
चन्द्रं चन्द्रमुखी पूर्णं दृष्ट्वा पूर्णमनोरथा । कुन्दशुभ्रं मृगेन्द्रं सा ददर्शास्यप्रवेशिनम् ॥३॥
विबुद्धा च प्रभाते तान् विबुद्धाम्बुजलोचना[4] । पत्ये न्यवेदयत्सोऽस्या इति स्वप्नफलं जगौ ॥४॥
उत्पत्स्यते सुतः क्षिप्रं धीरोऽलङ्घ्यः शशिप्रभः । एकवीरो भुवो भर्त्ता प्रिये ! ते जनताप्रियः ॥५॥
इति पत्या समादिष्टं श्रुत्वा स्वप्नफलं शुभम् । हारिणी रोहिणी हृष्टा शिश्रिये श्रियमैन्दवीम् ॥६॥
च्युत्वा कल्पान्महाशुक्रान्महासामानिकः सुरः । गर्भेऽभूदिह रोहिण्या धरण्या इव सन्मणिः ॥७॥
ततः पूर्णेषु मासेषु सुखं सम्पूर्णदोहला । साऽसूत सुतमृक्षेषु शुभेषु शशिसन्निभम् ॥८॥
तस्य जन्मोत्सवं दृष्ट्वा जरासन्धपुरःसराः । यथास्थानं ययुः प्रीताः पार्थिवाः कृतपूजनाः ॥९॥
अभिरामः स रामाख्यां प्रख्याप्य पृथिवीतले । वर्द्धते वर्द्धयन् प्रीतिं पित्रोर्बन्धुजनस्य च ॥१०॥
श्रीमण्डपस्थितान् सर्वानेकदा रौधिरास्पदे । समुद्रविजयाद्यांस्तान् वसुदेवहितोद्यतान् ॥११॥
खादवतीर्णाभिनम्यैका दिव्या विद्याधरी श्रिता । वसुदेवमितः प्राह सुखासनकृतासना ॥१२॥

अथानन्तर किसी समय वह रोहिणी अपने भर्ता—वसुदेवके साथ विचित्र शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने शुभको सूचित करनेवाले चार स्वप्न देखे ॥१॥ पहले स्वप्नमें उसने गम्भीर गर्जन करता हुआ चन्द्रमाके समान सफेद विशाल हाथी देखा। दूसरे स्वप्नमें पर्वतके समान ऊँची एवं बड़ी-बड़ी लहरोंसे युक्त अत्यधिक शब्द करनेवाला समुद्र देखा। तीसरे स्वप्नमें पूर्ण चन्द्रमाको देखकर चन्द्रमुखी रोहिणीका मनोरथ पूर्ण हो गया और चौथे स्वप्नमें उसने मुखमें प्रवेश करता हुआ कुन्दके समान सफेद सिंह देखा ॥२–३॥ प्रातःकालके समय जागनेपर जिसके नेत्र खिले हुए कमलके समान सुशोभित थे ऐसी रोहिणीने वे स्वप्न पतिके लिए बतलाये और पतिने उनका यह फल बताया कि हे प्रिये ! तुम्हारे शीघ्र ही ऐसा पुत्र होगा, जो धीर, वीर, अलङ्घ्य, चन्द्रमाके समान कान्तिवाला, अद्वितीय वीर, पृथिवीका स्वामी और जनताका प्यारा होगा ॥४–५॥ इस प्रकार पतिके द्वारा बताये हुए स्वप्नोंका शुभ फल सुनकर सुन्दरी रोहिणी हर्षित हो उठी तथा चन्द्रमाकी शोभा धारण करने लगी ॥६॥ उसी समय महासामानिक देव महाशुक्र स्वर्गसे च्युत होकर रोहिणीके गर्भमें उस तरह स्थित हो गया जिस तरह कि पृथिवीके गर्भमें उत्तम मणि स्थित होता है ॥७॥

तदनन्तर जिसके समस्त दोहला पूर्ण किये गये थे ऐसी रोहिणीने सुखसे नौ माह पूर्ण होनेपर शुभ नक्षत्रोंमें चन्द्रमाके समान सुन्दर पुत्र उत्पन्न किया ॥८॥ जो जरासन्ध आदि राजा एक वर्षसे राजा रुधिरके यहाँ रह रहे थे वे उस पुत्रका जन्मोत्सव देखकर प्रसन्न होते हुए अपने-अपने स्थानपर गये। जाते समय राजा रुधिरने उन सबका खूब सत्कार किया ॥९॥ वह बालक अत्यन्त सुन्दर था इसलिए पृथिवी तलपर अपना 'राम' नाम प्रसिद्ध कर माता-पिता और बन्धुजनोंकी प्रीतिको बढ़ाता हुआ दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥१०॥

तदनन्तर एक समय कुमार वसुदेवके हितमें उद्यत समुद्रविजय आदि सभी भाई राजा रुधिरके घर श्रीमण्डपमें बैठे थे कि एक दिव्य विद्याधरी आकाशसे उतरकर वहाँ आई और

---

१. रुद्रं ग०, म० । २. चन्द्रं म० । ३. महीन्द्रोच्चै—म० । ४. विकसितकमलनयना ।

देव ! वेगवती पत्नी बालचन्द्रा च मे सुता । पादयोस्तव सम्पत्य वाञ्छति प्रियदर्शनम् ॥१३॥
कुमारी त्वद्गतप्राणा बालचन्द्राऽवतिष्ठते । गत्वा तां त्वं विवाह्याऽऽशु कुरु तच्चित्तनिर्वृतिम् ॥१४॥
तदाऽऽकर्ण्य वचस्तेन दृष्टिर्ज्येष्ठे समर्पिता । अभिप्रायविदा तेन लघ्वेहीति[1] विसर्जितः ॥१५॥
तमादाय गता साऽपि पुरं गगनवल्लभम् । समुद्रविजयाद्याश्च ययुः शौर्यपुरं नृपाः ॥१६॥
भार्यां वेगवतीं दृष्ट्वा शौरिर्गगनवल्लभे । बालचन्द्रामुवाहाऽत्र पूर्णचन्द्रसमाननाम् ॥१७॥
नववध्वा तया [2]सार्धं वेगवत्या च हृद्यया । रममाणोऽवसत्तत्र दिनानि कतिचित्सुखी ॥१८॥
ताभ्यां जिगमिषोस्तस्य शीघ्रं शौर्यपुरं पुरम् । चक्रे [3]वनवती देवी विमानं रत्नभास्वरम् ॥१९॥
पिता काञ्चनदंष्ट्रोऽथ परिवारं ददौ परम् । समस्तं बालचन्द्राया वेगवत्याश्च सोऽग्रजः ॥२०॥
कामगेन विमानेन सोऽनेन वनितासखः । अरिञ्जयपुरं गत्वा विद्युद्वेगं निरैक्षत[4] ॥२१॥
प्रियां मदनवेगां तामनावृष्टिं च देहजम् । आदायाऽऽशु विमानेन तेनैव वियदुद्ययौ ॥२२॥
पुरं गन्धसमृद्धं द्राक् श्रीसमृद्धमवाप्य सः । सुतां गान्धारराजस्य पश्यति स्म प्रभावतीम् ॥२३॥
समारोप्य विमाने तां परिवारसमन्विताम् । प्राप्तः प्राप्तमहाहर्षः सहसाऽसितपर्वतम् ॥२४॥
सिंहदंष्ट्रात्मजां दृष्ट्वा स नीलयशसं प्रियाम् । तत्रारमत्तया चित्रं[5] प्रवियुक्तसमेतया ॥२५॥
तामप्यादाय सम्प्राप्तः किन्नरोद्गीतमत्र च । नीलोत्पलदलश्यामां कामं श्याममानयत् ॥२६॥

सबको अभिनन्दनकर सुखदायक आसनपर बैठ गई। कुछ समय बाद उसने वसुदेवको लक्ष्यकर कहा कि हे देव ! आपकी पत्नी वेगवती तथा हमारी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणोंमें गिरकर आपका प्रिय दर्शन करना चाहती हैं ॥११–१३॥ कुमारी बालचन्द्राके प्राण एक आपमें ही अटक रहे हैं इसलिए शीघ्र जाकर उसे विवाहो और उसका चित्त सन्तुष्ट करो ॥१४॥ विद्याधरीके वचन सुनकर कुमार वसुदेवने अपनी दृष्टि बड़े भाई समुद्रविजयपर डाली और अभिप्रायको जाननेवाले बड़े भाईने भी 'जल्दी जाओ' यह कहकर उन्हें छोड़ दिया—विद्याधरीके साथ जानेकी अनुमति दे दी ॥१५॥ तदनन्तर विद्याधरी वसुदेवको लेकर गगनवल्लभपुर गई और समुद्रविजय आदि राजा शौर्यपुर चले गये ॥१६॥ वसुदेवने गगनवल्लभ नगरमें अपनी प्रिया वेगवतीसे मिलकर पूर्णचन्द्रके समान मुखवाली बालचन्द्राको विवाहा ॥१७॥ और विवाहके बाद वे नयी वधू बालचन्द्रा तथा हृदयको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वेगवतीके साथ क्रीड़ा करते हुए कुछ दिन तक वहीं सुखसे रहे आये ॥१८॥

कुछ दिन बाद कुमार वसुदेवने उन दोनों स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही शौर्यपुर लौटनेकी इच्छा प्रकट की जिससे एणीपुत्रकी पूर्व भवकी माँ वनवती देवीने रत्नोंसे देदीप्यमान एक विमान रचकर उन्हें दे दिया ॥१९॥ यह देख बालचन्द्राके पिता काञ्चनदंष्ट्र तथा वेगवतीके बड़े भाई मानसवेगने समस्त परिवारके साथ बालचन्द्रा और वेगवतीको कुमारके लिए सौंप दिया ॥२०॥ कुमार, दोनों स्त्रियोंको साथ ले इच्छानुसार चलनेवाले विमानके द्वारा अरिञ्जयपुर नगर गये और वहाँ जाकर विद्युद्वेगसे मिले ॥२१॥ वहाँसे प्रिया मदनवेगा और अनावृष्णि नामक उसके पुत्रको लेकर वे शीघ्र ही उसी विमानसे आकाशमें उड़ गये ॥२२॥ तदनन्तर शीघ्र ही लक्ष्मीसे समृद्ध गन्धसमृद्ध नामक नगरमें जाकर वे गान्धार राजाकी पुत्री प्रभावतीसे मिले ॥२३॥ तत्पश्चात् परिवार सहित उसे विमानमें बैठाकर महान् हर्षको प्राप्त होते हुए वे असितपर्वत नामक नगरमें पहुँचे ॥२४॥ वहाँ राजा सिंहदंष्ट्रकी पुत्री प्रिया नीलंयशासे मिले और वियोगके बाद मिली हुई उस नीलंयशाके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करने लगे ॥२५॥ तत्पश्चात् उसे साथ ले किन्नरोद्गीत नामक नगर पहुँचे और वहाँ नील कमलकी कलिकाओंके समान श्यामवर्ण श्यामा नामक

१. शीघ्रमागच्छेत्युक्त्वा विसर्जितः । २. सार्द्धं म० । ३. या नागदेवता पूर्वं प्रोक्ता सैव वनवतीत्यपरनामधेया । ४. निरीक्ष्यत म०, क० । ५. चित्तं प्रवियुक्तं समेतया म० ।

श्यामामादाय सम्प्राप्तः श्रावस्तीमथ ततः । प्रियङ्गुसुन्दरीं शौरिस्तां च बन्धुमतीं प्रियाम् ॥२७॥
महापुरात्समादाय सोमश्रियमसौ प्रियाम् । इलावर्धनतो निन्ये मान्यां रत्नावतीं च ताम् ॥२८॥
नगरे भद्रिलाभिख्ये गृहीत्वा चारुहासिनीम् । पौण्ड्रं संस्थाप्य तत्रैव गत्वा जयपुरं ततः ॥२९॥
अश्वसेनामुपादाय गत्वा शालगुहं पुरम् । पद्मावतीं समादाय वेदसामपुरं ययौ ॥३०॥
कपिलं तत्र पुत्रं स्वमभिषिच्य ततोऽपि च । गृहीत्वा कपिलां प्रापदचलग्राममत्र च ॥३१॥
मित्रश्रियं प्रगृह्यागान्नगरं तिलवस्तुकम् । कन्यापञ्चशतं प्राह्य पुरं गिरितटं गतः ॥३२॥
ततः सोमश्रिया युक्तश्चम्पां प्राप महापुरीम् । अतोऽमात्यसुतां निन्ये सह गन्धर्वसेनया ॥३३॥
पुरे विजयखेटे च सूनुमक्रूरदृष्टिकम् । दृष्ट्वा विजयसेनां स निन्ये कुलपुरं ततः ॥३४॥
पद्मश्रियमुपादाय तथैवावन्तिसुन्दरीम् । सूरसेनां सपुत्रां च जरां जीवद्यशोऽन्विताम् ॥३५॥
गृहीत्वाऽन्याः स्वभार्याः स वसुदेवः ससम्मदः । आययौ प्रमदं प्राप्तो विमानेनाशुगामिना ॥३६॥
आससाद विमानं तच्चारुसङ्गीतसङ्गतम् । आशु शौर्यपुरं सूर्यविमानमिव भास्वरम् ॥३७॥
ततो [1]वनवती देवी समुद्रविजयं स्वयम् । प्राग् दृष्ट्वाऽवर्धयत्तुष्ट्या वसुदेवागमाशया ॥३८॥
कारयित्वा ततः पौरैः पुरशोभां नृपो मुदा । निर्ययौ बन्धुभिः सार्द्धं तस्याभिमुखमादृतैः ॥३९॥
सोऽवतीर्य विमानात्मादप्रजान् गुरुबान्धवान् । प्रणनाम प्रियायुक्तः प्रणतः प्रणयात् परैः ॥४०॥
देव्यः शिवादयो नत्रं सयोषं साश्रुलोचनाः । तमाश्लिष्याशिषो भूयः खेऽविश्लेषफला ददुः ॥४१॥
सन्मानितयथायोगजनताजनितादरः । स रेमे रोहिणीशोऽस्मिन् बन्धुसिन्धुहितोदयः ॥४२॥

स्त्रीको उन्होंने अच्छी तरह मनाया—प्रसन्न किया ॥२६॥ तदनन्तर श्यामाको लेकर श्रावस्ती पहुँचे। वहाँसे प्रियङ्गुसुन्दरी और बन्धुमतीको साथ ले महापुर गये। महापुरसे प्रिया सोमश्रीको लेकर इलावर्धनपुर पहुँचे। वहाँसे माननीय रत्नावतीको लेकर भद्रिलपुर गये। वहाँसे चारुहासिनीको साथ लेकर तथा उसके पुत्र पौण्ड्रको वहीं बसाकर जयपुर गये। वहाँसे अश्वसेनाको साथ ले शालगुह नगर पहुँचे। वहाँसे पद्मावतीको लेकर वेदसामपुर गये ॥२७–३०॥ वहाँ अपने कपिल नामक पुत्रका राज्याभिषेक कर कपिलाको साथ ले अचलग्राम आये ॥३१॥ वहाँसे मित्रश्रीको लेकर तिलवस्तु नगर गये वहाँ पाँच सौ कन्याओंको ग्रहणकर गिरितट नगर पहुँचे ॥३२॥ वहाँसे सोमश्रीको साथ ले चम्पापुरी पहुँचे। वहाँसे मन्त्रीकी पुत्री और गन्धर्वसेनाको साथ ले विजय-खेट नगर गये। वहाँ अक्रूरदृष्टि नामक पुत्रसे मिलकर तथा विजयसेनाको साथ लेकर कुलपुर पहुँचे ॥३३–३४॥ वहाँसे पद्मश्री, अवन्तिसुन्दरी, पुत्र सहित सूरसेना, जरा, जीवद्यशा तथा अपनी अन्य स्त्रियोंको साथ ले हर्षित होते हुए शीघ्रगामी विमानसे वापिस आये ॥३५–३६॥ जो सुन्दर संगीतसे युक्त, तथा सूर्यके विमानके समान देदीप्यमान था ऐसा उनका वह विमान शीघ्र ही शौर्यपुर आ पहुँचा ॥३७॥

तदनन्तर वनवती देवीने स्वयं ही पहलेसे आकर वसुदेवके आगमनसे उत्पन्न हर्षसे राजा समुद्रविजयको वृद्धिंगत किया—वसुदेवके आगमनका समाचार सुनाकर प्रसन्न किया ॥३८॥ तत्पश्चात् राजा समुद्रविजय, प्रजाजनोंसे नगरकी शोभा कराकर बड़े हर्षसे आदरसे युक्त बन्धु-जनोंके साथ कुमार वसुदेवको लेनेके लिए उनके सम्मुख गये ॥३९॥ वसुदेवने अपनी समस्त स्त्रियों सहित विमानसे उतरकर बड़े भाइयों तथा अन्य गुरुजनोंको प्रणाम किया तथा अन्य लोगोंने प्रेमपूर्वक वसुदेवको प्रणाम किया ॥४०॥ जिनके नेत्रोंमें हर्षके अश्रु भर रहे थे ऐसी शिवा आदि महारानियोंने स्त्रियों सहित नमस्कार करते हुए वसुदेवका आलिङ्गन कर आकाशकी ओर मुँह कर बार-बार यही आशीर्वाद दिया कि अब पुनः वियोग न हो ॥४१॥ कुमारने आगत जनताका यथायोग्य सन्मान किया और जनताने भी उनके प्रति आदरका भाव प्रकट किया।

---

१. धनवती म० ।

समुद्रविजयं दृष्ट्वा वसुदेवं च देवता[1] । ययौ [2]वनवतीप्रीता निजं स्थानं हितोद्यता ॥४३॥

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

लोकः शौर्यपुरोद्भवोऽपि च तदा शौर्यार्जितं निर्जित-
क्ष्माभृच्चक्रमुदारचारुचरितं विद्याधरीवल्लभम् ।
देवाभं वसुदेवमाप्तविभवं दृष्ट्वातितुष्टोऽगदीद्
धर्मस्यैष जिनोदितस्य महिमा पूर्वार्जितस्येत्यसौ ॥४४॥

*इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ सकलबन्धुवधू-
समागमवर्णनो नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥३२॥*

समाप्तं चेदं विद्याधरकाण्डम्

तदनन्तर जिनका उदय, बन्धुरूपी सागरके लिए हितकारी था ऐसे रोहिणीश—कुमार वसुदेव (पक्षमें चन्द्रमा) शौर्यपुरमें रहते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥४२॥ सदा हित करनेमें उद्यत रहनेवाली वनवती देवी समुद्रविजय और वसुदेवको देखकर बहुत प्रसन्न हुई और अन्तमें उनसे पूछकर अपने स्थानको चली गयी ॥४३॥ जो शूर वीरतासे बलिष्ठ थे, जिन्होंने राजाओंके समूहको जीत लिया था, जो उदार एवं सुन्दर चरित्रसे युक्त थे, विद्याधरियोंके स्वामी थे, देवतुल्य थे, और महान् वैभवको प्राप्त थे ऐसे वसुदेवको देखकर उस समय शौर्यपुरके लोग अत्यन्त सन्तुष्ट हो यही कहते थे कि यह पूर्वोपार्जित जैनधर्मकी ही महिमा है ॥४४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें समस्त भाइयों और स्त्रियोंके समागमको वर्णन करनेवाला बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३२॥

विद्याधर काण्ड समाप्त

१. वसुदेवःपक्षे चन्द्रः । २. वेगवती ग०, क०, ङ० ।

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

अथ स प्रार्थितः प्राज्यैः पार्थिवः[1] पार्थिवात्मजैः । [2]शास्त्रोपदेशमातन्वन्नास्ते सूर्यपुरे यदुः ॥१॥
*जातु कंसादिभिः शिष्यैर्धनुर्वेदविचक्षणैः । गतो राजगृहं शौरिर्जरासन्धदिदृक्षया ॥२॥
अश्रौषीद् घोषणां राज्ञः पुरे [3]राजकराजिते । सावधानस्य लोकस्य [4]समाकर्णयतस्तदा ॥३॥
यः सिंहरथमुद्वृत्तं तं सिंहपुरवासिनम् । सत्यसिंहरथारूढमारूढपुरुपौरुषम् ॥४॥
जीवग्राहं गृहीत्वाऽसौ दर्शयिष्यति मेऽग्रतः । स एव पुरुषो लोके शूरः शूरतरोऽपि च ॥५॥
तस्य मानधनस्यान्ते पीतशत्रुयशोऽम्बुधेः । आनुषङ्गिकमप्येतत्फलमन्यसुदुर्लभम् ॥६॥
जीवद्यशसमाशा[5]न्तविश्रान्तयशसं गुणैः । सुतामीप्सितदेशेन सह दास्यामि सुन्दरीम् ॥७॥
श्रुत्वा तां घोषणां श्रव्यां वीरैकरसभावितः । कंसेनाग्राहयद्धीरः पताकां यदुनन्दनः ॥८॥
गत्वाऽसौ स समारुह्य विद्यासिंहमयं रथम् । सिंहश्रृङ्खलमच्छैत्सीत शरैस्ते हरयोऽप्यगुः ॥९॥
शत्रुमुत्प्लुत्य कंसस्तं बबन्ध गुरुशासनात् । दृष्ट्वा कंसस्य कौशल्यं वसुदेवो जगौ तकम् ॥१०॥

अथानन्तर राजा वसुदेव, श्रेष्ठ राजपुत्रों द्वारा प्रार्थित होनेपर उन्हें शस्त्र विद्याका उपदेश देते हुए सूर्यपुरमें रहने लगे ॥१॥ किसी दिन कुमार वसुदेव, धनुर्विद्यामें प्रवीण अपने कंस आदि शिष्योंके साथ, राजा जरासंधको देखनेकी इच्छासे राजगृह नगर गये ॥२॥ उस समय वह राजगृह नगर बाहरसे आये हुए अनेक राजाओंके समूहसे शोभित था। उसी समय वहाँ सावधान होकर श्रवण करनेवाले लोगोंके लिए राजा जरासंधकी ओरसे निम्नाङ्कित घोषणा दी गई थी जिसे वसुदेवने भी सुना ॥३॥ घोषणामें कहा गया था कि "सिंहपुरका स्वामी राजा सिंहरथ बड़ा उद्दण्ड है, वह वास्तविक सिंहोंके रथपर सवारी करता है और उत्कट पराक्रमका धारक है। जो मनुष्य उसे जीवित पकड़कर हमारे सामने दिखावेगा वही पुरुष संसारमें शूर और अतिशय शूरवीर समझा जावेगा ॥४-५॥ शत्रुके यशरूपी सागरको पीनेवाले उस पुरुषको सन्मानरूपी धन तो समर्पित किया ही जावेगा उसके बाद यह अन्य जन दुर्लभ आनुषङ्गिक फल भी प्राप्त होगा ॥६॥ गुणोंके कारण जिसका यश दिशाओंके अन्तमें विश्राम कर रहा है तथा जो अद्वितीय सुन्दरी है ऐसी अपनी जीवद्यशा नामकी पुत्री भी मैं उसे इच्छित देशके साथ दूँगा" ॥७॥

उस हृदयहारी घोषणाको सुनकर वीररसमें पगे हुए धीर-वीर वसुदेवने कंससे पताका ग्रहण करवाई। भावार्थ—वसुदेवने प्रेरित कर कंससे, सिंहरथको पकड़नेकी प्रतिज्ञा स्वरूप पताका उठवाई ॥८॥ तदनन्तर वसुदेव, कंसको साथ ले विद्यानिर्मित सिंहोंके रथपर सवार हो सिंहपुर गये। जब सिंहरथ, सिंहोंके रथपर बैठकर युद्धके लिए वसुदेवके सामने आया तब उन्होंने बाणोंके द्वारा उसके सिंहोंकी रास काट डाली जिससे उसके सिंह भाग गये ॥९॥ उसी समय कंसने गुरुकी आज्ञासे उछलकर शत्रुको बाँध लिया। कंसकी चतुराई देख वसुदेवने उससे कहा

---

१. पार्थिवैः म०। २. शास्त्रोपदेश–म०। ३. राजकेन-राजसमूहेन राजिते-शोभिते। ४. समाकर्ण्य यतस्तदा म०। ५. -माक्रान्त-म।

* म पुस्तके प्रथमश्लोकादनन्तरं निम्नाङ्कितः श्लोको दृश्यते—

दृष्ट्वा कंसस्य कौशल्यं वसुदेवो जगौ तकम्।
वरं वृणीष्व तेनोक्तं तिष्ठत्वार्य तवान्तिकम् ॥२॥

वरं वृणीष्व तेनोक्तं तिष्ठत्वार्यं तवौकसि[1] । दर्शितो वसुदेवेन जरासन्धाय सोऽप्यरिः ॥११॥
दृष्ट्वा च तेन तुष्टेन सुतोपनयनं प्रति । वसुदेवः समादिष्टः कंसेनारेर्ग्रहं जगौ ॥१२॥
पृष्टः कंसो नृपेणाख्यत् स्वजातिमिति भूपते । मम मञ्जोदरी[2] माता कौशाम्ब्यां सीधुकारिणी ॥१३॥
कंसवाक्यमिति श्रुत्वा ततो राजेत्यचिन्तयत् । आकृतिः कथयत्यस्य नायं सीधुकरीसुतः ॥१४॥
आनीनयन्नृपं मंक्षु कौशाम्ब्यास्तां निजैस्ततः । प्राप्ता[3] मञ्जोदरी स्वाससमंजूषानाममुद्रिका ॥१५॥
पृष्टा पूर्वापरं राज्ञा व्यजिज्ञपदिति प्रभो । यमुनायाः प्रवाहेऽयं लब्धो मंजूषया सह ॥१६॥
संवर्धितः शिशू राजन् मया कारुण्ययुक्तया । उपालम्भसहस्राणां भूयो भाजनभूतया[4] ॥१७॥
स्वभावाच्चण्डतुण्डोऽयमर्भकान् दुर्भगोऽर्भकः । रमयन् शिरस्ताडाद्विना क्रीडति पुण्यवान् ॥१८॥
गृहं सीधुगृहीत्यर्थं[5] वेश्यानां बालिकाः श्रिताः । पाणिनाऽऽकृष्य वेणीस्ताः सुखलीकृत्य मुञ्चति ॥१९॥
लोकोपालम्भतो भीत्या मयकाऽयं निराकृतः । कृतवान् शस्त्रशिक्षार्थी शिष्यतां किल कस्यचित् ॥२०॥
कंसमंजूषिका ह्येषा माता तिष्ठति नाहकम् । तद्गुणैरस्य दोषैर्वा न स्पृश्ये स्पृश्यतामियम् ॥२१॥
इत्युक्ते दर्शितायां च तया तस्यां व्यलोकत । तन्नाममुद्रिकां राजा ततो वाचयति स्म सः ॥२२॥
गर्भस्थोऽपि सुतोऽस्त्युग्रः पद्मावत्युग्रसेनयोः । जीवताद्दूरमात्मीयैः कर्मभिः कृतरक्षणः ॥२३॥
वाचयित्वेति विज्ञाय राजा स्वस्रीयमात्मनः । हृष्टः कन्यां ददौ तस्मै सम्पन्नगुणसम्पदाम् ॥२४॥

कि वर माँग । कंसने उत्तर दिया कि हे आर्य ! अभी वर आपके ही घर रहने दीजिए । वसुदेवने शत्रुको ले जाकर जरासंधको दिखा दिया ॥१०-११॥ शत्रुको सामने देख जरासंध संतुष्ट हुआ और वसुदेवसे बोला कि तुम पुत्री जीवद्यशाके साथ विवाह करो । इसके उत्तरमें वसुदेवने कह दिया कि शत्रुको कंसने पकड़ा है मैंने नहीं ॥१२॥ राजा जरासंधने जब कंससे उसकी जाति पूछी तब उसने कहा कि हे राजन् ! मेरी माता मञ्जोदरी कौशाम्बीमें रहती है और मदिरा बनानेका काम करती है ॥१३॥ तदनन्तर कंसके वचन सुनकर राजा इस प्रकार विचार करने लगा कि इसकी आकृति कहती है कि यह मदिरा बनानेवालीका पुत्र नहीं है ॥१४॥ तत्पश्चात् राजा जरासंधने अपने आदमी भेजकर शीघ्र ही कौशाम्बीसे मञ्जोदरीको बुलाया और मञ्जोदरी मंजूषा तथा नामकी मुद्रिका लेकर वहाँ आ पहुँची ॥१५॥ राजाने उससे पूर्वापर कारण पूछा तो वह कहने लगी कि हे प्रभो ! मैंने यमुनाके प्रवाहमें इसे इस मञ्जूषाके साथ पाया था ॥१६॥ हे राजन्, इस शिशुको देखकर मुझे दया आ गई अतः पीछे चलकर हजारों उपालम्भोंका पात्र बनकर भी मैंने इसका पालन-पोषण किया ॥१७॥ यह बालक स्वभावसे ही उग्रमुख है—कठोर शब्द बकनेवाला है । यद्यपि यह पुण्यवान् है तो भी अभागा जान पड़ता है । यह बच्चोंके साथ खेलता था तो उनके शिरमें थप्पड़ लगाये बिना नहीं खेलता था । मदिरा खरीदनेके लिए घरपर वेश्याओंकी लड़कियाँ आती थीं तो हाथसे उनकी चोटियाँ खींचकर तथा उन्हें तंग करके ही छोड़ता था ॥१८-१९॥ इसकी इस दुष्प्रवृत्तिसे मेरे पास लोगोंके उलाहने आने लगे जिनसे डरकर मैंने इसे निकाल दिया । यह शस्त्र विद्या सीखना चाहता था इसलिए किसीका शिष्य बन गया ॥२०॥ यह कांसकी मञ्जूषा ही इसकी माता है मैं नहीं हूँ अतः इसके गुण अथवा दोषोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । लीजिए यह मञ्जूषा है—यह कहकर उसने साथ लाई हुई मञ्जूषा राजाको दिखा दी । जब मंजूषा खोली गई तो उसमें उसके नामकी मुद्रिका दिखी । राजा जरासंध उसे लेकर बाँचने लगा ॥२१-२२॥ उसमें लिखा था कि यह राजा उग्रसेन और रानी पद्मावतीका पुत्र है । जब यह गर्भमें स्थित था तभीसे अत्यन्त उग्र था । इसकी उग्रतासे भयभीत होकर ही इसे छोड़ा गया है, यह जीवित रहे तथा इसके अपने कर्म ही इसकी रक्षा करें ॥२३॥ मुद्रिकाको बाँचकर राजा जरासंध समझ गया कि यह हमारा भानजा है अतः उसने हर्षित होकर उसे

---

१. तवान्तिके म०, ख० । २-३. रंजोदरी म० । ४. भीतया म० । ५. सीधुनो मद्यस्य ग्रहीतिस्तदर्थम् ।

सद्योजातं पिता नद्यां मुक्तवानिति स क्रुधा । वरीत्वा मथुरां लब्ध्वा सर्वसाधनसङ्गतः ॥२५॥
कंसः कालिन्दसेनाया सुतया सह निर्घृणः । गत्वा युद्धे विनिर्जित्य बबन्ध पितरं द्रुतम् ॥२६॥
महोग्रो भग्नसञ्चारमुग्रसेनं निगृह्य सः । अतिष्ठिपत् कनिष्ठाशः स्वपुरद्वारगोचरे ॥२७॥
वसुदेवोपकारेण हृतः प्रत्युपकारधीः । न वेत्ति किं करोमीति किङ्करत्वमुपागतः ॥२८॥
अभ्यर्थ्य गुरुमानीय मथुरां पृथुभक्तितः । स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम् ॥२९॥
आस्ते कंसोपरोधेन मथुरायां ततो यदुः । प्रदीव्य दिव्यदीप्त्याऽसौ देवक्या हारिवाक्यया ॥३०॥
सूरसेनमहाराष्ट्रराजधानीं द्विषन्तपः । शशास मथुरां कंसो जरासन्धातिवल्लभः ॥३१॥
जातुचिन्मुनिवेलायामतिमुक्तकमागतम् । कंसज्येष्ठं मुनिं नत्वा पुरः स्थित्वा सविभ्रमम् ॥३२॥
हसन्ती नर्मभावेन जगौ जीवद्यशा इति । आनन्दवस्त्रमेतत्ते देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम्[1] ॥३३॥
तस्या निर्बन्धचित्ताया प्रमत्ताया निवृत्तये । वचोगुप्तिमसौ भित्त्वा संसारस्थितिविज्जगौ ॥३४॥
अहो क्रीडनशीलासि त्वमेतत्वमतिमूढता । शोकस्थाने प्रवृत्तासि यदानन्दमनन्दिनि ॥३५॥
भविता यो हि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः । पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीयं भवितव्यता ॥३६॥
ततो भीतमतिर्मुक्त्वा मुनिं साश्रुनिरीक्षणा । गत्वा न्यवेदयत्पत्ये सत्यं हि यतिभाषितम् ॥३७॥

गुणरूपी सम्पदासे सम्पन्न अपनी जीवद्यशा पुत्री दे दी ॥२४॥ पिताने मुझे उत्पन्न होते ही नदीमें छोड़ दिया था। यह जानकर कंसको बड़ा क्रोध आया इसलिए उसने जरासंधसे मथुराका राज्य माँगा और जरासंधने दे भी दिया। उसे पाकर सब प्रकारकी सेनासे युक्त कंस जीवद्यशा-के साथ मथुरा गया। वह निर्दय तो था ही इसलिए वहाँ जाकर उसने पिता उग्रसेनके साथ युद्ध ठान दिया तथा युद्धमें उन्हें जीतकर शीघ्र ही बाँध लिया ॥२५-२६॥ तत्पश्चात् जो प्रकृतिका अत्यन्त उग्र था और जिसकी आशाएँ अत्यन्त क्षुद्र थीं ऐसे उस कंसने अपने पिता राजा उग्रसेनका इधर-उधर जाना बन्द कर उन्हें नगरके मुख्य द्वारके ऊपर कैद कर दिया ॥२७॥

वसुदेवके उपकारका आभारी होनेसे कंस उनका प्रत्युपकार तो करना चाहता था पर यह नहीं निर्णय कर पाता था कि मैं इनका क्या प्रत्युपकार करूँ। वह सदा अपने-आपको वसुदेवका किङ्कर समझता था ॥२८॥ एक दिन वह प्रार्थनापूर्वक बड़ी भक्तिसे गुरु वसुदेवको मथुरा ले आया और वहाँ लाकर उसने उन्हें गुरु-दक्षिणा स्वरूप अपनी देवकी नामक बहिन प्रदान कर दी ॥२९॥ तदनन्तर वसुदेव, कंसके आग्रहसे, सुन्दर कान्तिकी धारक एवं मधुर वचन बोलनेवाली देवकीके साथ क्रीड़ा करते हुए मथुरामें ही रहने लगे ॥३०॥ शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाला एवं जरासंधको अतिशय प्रिय कंस, शूरसेन नामक विशाल देशकी राजधानी मथुराका शासन करने लगा ॥३१॥

एक दिन कंसके बड़े भाई अतिमुक्तक मुनि आहारके समय राजमन्दिर आये सो कंसकी स्त्री जीवद्यशा नमस्कार कर विभ्रम दिखाती हुई उनके सामने खड़ी हो गई और हँसती हुई क्रीड़ा भावसे कहने लगी कि यह आपकी बहिन देवकीका आनन्द वस्त्र है इसे देखिए ॥३२-३३॥ संसारकी स्थितिको जाननेवाले मुनिराज, उस निर्मर्याद चित्तकी धारक एवं राज्य-वैभवसे मत्त जीवद्यशाको रोकनेके लिए अपनी वचनगुप्ति तोड़कर बोले कि अहो! तू हँसी कर कर रही है परन्तु यह तेरी बड़ी मूर्खता है तू दुःखदायक शोकके स्थानमें भी आनन्द प्राप्त कर रही है ॥३४-३५॥ तू यह निश्चित समझ, कि इस देवकीके गर्भसे जो पुत्र होगा वह तेरे पति और पिताको मारनेवाला होगा। यह ऐसी ही होनहार है—इसे कोई टाल नहीं सकता ॥३६॥

यह सुनते ही जीवद्यशा भयभीत हो उठी, उसके नेत्रोंसे आँसू निकलने लगे। वह उसी समय मुनिराजको छोड़ पतिके पास गई और 'मुनिके वचन सत्य ही निकलते हैं' यह विश्वास

१. रीक्षताम् क०, ग०।

श्रुत्वा कंसोऽपि शंकावानाशु गत्वा पदानतः । वसुदेवं वरं वव्रे तीव्रधीः सत्यवाग्व्रतम् ॥३८॥
स्वामिन् ! वरप्रसादो मे दातव्यो भवता ध्रुवम् । प्रसूतिसमये वासो देवक्या मद्गृहेऽस्त्विति ॥३९॥
सोऽप्यविज्ञातवृत्तान्तो दत्तवान् वरमस्तधीः । नापायः शङ्कयते कश्चित्सोदरस्य गृहे स्वसुः ॥४०॥
पश्चाद्विदितवृत्तान्तः पश्चात्तापहतान्तरः । सहकारवनान्तस्थमतिमुक्तकमासवान् ॥४१॥[1]
देवक्या सह वन्दित्वा चारणश्रमणं स तम् । दत्ताशिषमुपासृत्य पप्रच्छ मनसि स्थितम् ॥४२॥
भगवन्नत्र कंसोऽयं कृतेनान्यत्र जन्मनि । पितुरेव रिपुर्जातः कर्मणा केन दुर्मतिः ॥४३॥
कथं वा मम पुत्रोऽस्य कंसस्य भविता विभो । हिंसकः पापचित्तस्य वद वाञ्छामि वेदितुम् ॥४४॥
इति पृष्टो मुनिः प्राह स दीप्तावधिलोचनः । संशयच्छेदिनी यस्मात्प्रवृत्तिर्दिव्यचक्षुषः ॥४५॥
आकर्णयस्व देवानाम्प्रिय ! सर्वजनप्रियः । कथयामि यथाप्रश्नं वस्तु जिज्ञासितं नृप ॥४६॥
मथुरायामिहैवासीदुग्रसेने तु राजनि । प्राक् पञ्चाग्नितपोनिष्ठो वशिष्ठो नाम तापसः ॥४७॥
एकपादस्थितश्चासावूर्ध्वबाहुर्बृहज्जटः । यमुनायास्तटे सोऽज्ञः तपस्तपति तापसः ॥४८॥

जमाकर उसने सब समाचार कह सुनाया ॥३७॥ स्त्रीके मुखसे यह समाचार सुनकर कंसको भी शङ्का हो गई। वह तीक्ष्ण बुद्धिका धारक तो था ही इसलिए शीघ्र ही उपाय सोचकर सत्यवादी वसुदेवके पास गया और चरणोंमें नम्रीभूत होकर वर माँगने लगा ॥३८॥ उसने कहा कि हे स्वामिन् ! मेरा जो वर आपके पास धरोहर है उसे दे दीजिए और वह वर यही चाहता हूँ कि 'प्रसूतिके समय देवकीका निवास मेरे ही घरमें रहा करे' ॥३९॥ वसुदेवको इस वृत्तान्तका कुछ भी ज्ञान नहीं था इसलिए उन्होंने निर्बुद्धि होकर कंसके लिए वह वर दे दिया। भाईके घर बहिनको कोई आपत्ति आ सकती है यह शङ्का भी तो नहीं की जा सकती ? ॥४०॥ पीछे जब उन्हें इस वृत्तान्तका पता चला तो उनका हृदय पश्चात्तापसे बहुत दुःखी हुआ। वे उसी समय आम्रवनके मध्यमें स्थित चारण ऋद्धिधारी अतिमुक्तक मुनिराजके पास गये और देवकीके साथ प्रणाम कर समीपमें बैठ गये। मुनिराजने दोनोंको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर वसुदेवने उनसे अपने हृदयमें स्थित निम्नाङ्कित प्रश्न पूछा ॥४१-४२॥

हे भगवन् ! कंसने अन्य जन्ममें ऐसा कौन-सा कर्म किया कि जिससे वह दुर्बुद्धि अपने पिताका ही शत्रु हुआ। इसी प्रकार हे नाथ ! मेरा पुत्र इस पापी कंसका विघात करनेवाला कैसे होगा ?—यह मैं जानना चाहता हूँ सो कृपाकर कहिए ॥४३॥ अतिमुक्तक मुनिराज देदीप्यमान अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे और अवधिज्ञानरूपी दिव्य नेत्रके धारक पुरुषोंकी वाणी चूँकि संशयको नष्ट करनेवाली होती है इसलिए कुमार वसुदेवके पूछनेपर मुनिराज कहने लगे ॥४४॥

हे देवोंके प्रिय ! राजन् ! सुन, तेरा प्रश्न सब लोगोंके लिए प्रिय है इसलिए मैं तेरे प्रश्नके अनुसार तेरी जिज्ञासित वस्तुको कहता हूँ ॥४५॥ इसी मथुरा नगरीमें जब राजा उग्रसेन राज्य करता था तब पहले पञ्चाग्नि तप तपनेवाला एक वशिष्ठ नामक तापस रहता था ॥४६॥ वह अज्ञानी यमुना नदीके किनारे तप तपता था, एक पाँवसे खड़ा रहता था, ऊपरको ओर भुजा उठाये रहता था और बड़ी-बड़ी जटाओंको धारण करता था ॥४७॥ वहाँपर लोगोंकी पनिहारिनें पानीके लिए आती थीं। एक दिन जिनदास सेठकी प्रियङ्गुलतिका नामकी पनिहारिन भी वहाँ आई। हितकी बुद्धि रखनेवाली अन्य पनिहारिनोंने प्रियङ्गुलतिकासे कहा कि हे प्रियङ्गुलतिके !

१. अत्र क० ग० ङ० पुस्तकेषु एवंविधः पाठः–'पश्चाद्विदितवृत्तान्तः पश्चात्तापहतान्तरः। देवकी रुदमानासौ निजनाथं जगाद सा ॥४१॥ बहवो नन्दनास्तेऽस्मिन् किं करिष्याम्यहं पुनः। तच्छ्रुत्वा स वनान्तस्थमतिमुक्तकमासवान् ॥४२॥'

जलार्थं तत्र लोकानां घटदासीभिः सा तथा । भणिता जिनदासस्य चेटिकाहितबुद्धिभिः ॥४९॥
प्रियङ्गुलतिके त्वस्य प्रणामं कुरु सत्वरम् । सा चावादीन्न मे भक्तिरस्योपरि करोमि किम् ॥५०॥
ततो हठान्नामिताभिः[1] सा जगौ धीवरस्य हे । पातिताहं पदद्वन्द्वे श्रवणात्क्रुद्धः[2] स मूढधीः ॥५१॥
गतो राजसमीपेऽसौ जगावाक्रोशितोऽप्यहम् । श्रेष्ठिना जिनदत्तेन भो प्रभो कारणं विना[3] ॥५२॥
राज्ञा ज्ञानाय्य[4] पृष्टोऽसौ जिनदत्तो बभाण तम् । अस्य मे दर्शनं नास्ति किं शाप्यमब्रवीन्मुनिः ॥५३॥
शापितश्चास्य दास्याऽहं पृष्टा चानाय्य तेन सा । कथं न नमसे पापे मुनिं निन्दयसि क्रुधा ॥५४॥
तयोक्तं न मुनिस्त्वेष धीवरोऽस्ति प्रभो कुधीः । जटाभारस्य नो अस्य शुद्धिः कुत्रापि दृश्यते ॥५५॥
शोधिते बहवो मत्स्याः सूक्ष्मास्तेभ्यश्च निर्गताः । लज्जितो हसितो लोकैर्मृषावादी त्वसौ मुनिः ॥५६॥
[5]यदा स परीक्षितो राज्ञा तदा कोपं विधाय सः । प्रकाशितनिजाज्ञानो मथुराया विनिर्गतः ॥५७॥
वाराणसीं समासाद्य समासादितनिश्चयः । गत्वा बाह्यञ्च[6] गङ्गायाः सङ्गमे कुरुते तपः ॥५८॥
वीरभद्रगुरुश्चागात् सपञ्चशतशिष्यकः । तद्देशं तत्र चैकेन नवप्रव्रजितेन सः ॥५९॥
प्रशंसितो वशिष्ठोऽयमहो घोरतपा इति । वारितः स तपः कीदृगज्ञानस्येति सूरिणा ॥६०॥
वशिष्ठेन किमज्ञोऽहमित्युक्तो गुरुरब्रवीत् । त्वं षड्जीवनिकायानां पीडनादज्ञ इत्यसौ ॥६१॥
पञ्चाग्नितपसि प्रायो नियोगो दहनस्य हि । दह्यन्ते तेन चावश्यं पञ्चैकविकलेन्द्रियाः ॥६२॥

तू शीघ्र ही इस साधुको नमस्कार कर। उत्तरमें प्रियङ्गुलतिकाने कहा कि इसके ऊपर मेरी भक्ति बिलकुल नहीं है। मैं क्या करूँ? ॥४८-४९॥ तदनन्तर अन्य पनिहारिनोंने प्रियङ्गुलतिकाको जबर्दस्ती उस साधुके चरणोंमें नमा दिया। प्रियङ्गुलतिकाने रुष्ट होकर कहा कि अहो! तुम लोगोंने मुझे धीवरके चरणोंमें गिरा दिया। प्रियङ्गुलतिकाके उक्त वचन सुनते ही मूर्ख साधु कुपित हो उठा ॥५०-५१॥ वह सीधा राजा उग्रसेनके पास गया और कहने लगा कि हे प्रभो! जिनदत्त सेठने मुझे बिना कारण ही गाली दी है ॥५२॥ राजाने जिनदत्त सेठको बुलाकर पूछा तो उसने कहा कि नाथ! मैंने तो इसे देखा भी नहीं है फिर गाली तो दूर रही है। इसके उत्तरमें साधुने कहा कि इसकी दासीने गाली दी है। राजाने दासीको बुलाकर क्रोध दिखाते हुए पूछा कि अरी पापिन! तू इस साधुको नमस्कार क्यों नहीं करती? उल्टी निन्दा करती है? ॥५३-५४॥

दासीने कहा कि प्रभो! यह साधु नहीं है यह तो मूर्ख धीवर है। इसकी जटाओंमें कहीं भी शुद्धता नहीं दिखाई देती ॥५५॥ साधुकी जटाएँ शोधी गईं तो उनसे बहुत-सी छोटी-छोटी मछलियाँ निकल पड़ीं। इससे साधु बहुत लज्जित हुआ और यह 'असत्यवादी है' यह कहकर लोगोंने उसकी बहुत हँसी उड़ाई ॥५६॥ जब राजाने उसकी परीक्षा ली तो वह क्रोधकर अपना अज्ञान प्रकट करता हुआ मथुरासे बाहर चला गया ॥५७॥ और बनारस जाकर वहाँ रहनेका उसने निश्चय कर लिया। अब वह बनारसके बाहर जाकर गङ्गाके किनारे तप करने लगा ॥५८॥ किसी एक दिन वहाँ अपने पाँच सौ शिष्योंके साथ वीरभद्र मुनिराज आये। उनके संघके एक नवदीक्षित मुनिने वशिष्ठकी तपस्या देख, 'अहा! यह घोर तपस्वी वशिष्ठ है' इस प्रकार उसकी प्रशंसा की। 'अरे अज्ञानीका तप कैसा?' यह कहते हुए आचार्यने उस नवदीक्षित मुनिको प्रशंसा करनेसे रोका ॥५९-६०॥ वशिष्ठने पूछा कि 'मैं अज्ञानी कैसे हूँ?' इसके उत्तरमें आचार्यने कहा कि तुम छह कायके जीवोंको पीड़ा पहुँचाते हो इसलिए अज्ञानी हो ॥६१॥ पञ्चाग्नि तपमें अग्निका संसर्ग अवश्य रहता है और उस अग्निके द्वारा पञ्चेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा एके-

१. नामिता आभिः। २. श्रवणाद्दुष्टो क०, ग०। ३. प्रभोऽहं कारणाद्विना म०। ४. राज्ञानाय्य म०। ५. ख पुस्तके एकोनपञ्चाशत्तमात् षट्पञ्चाशत्तमपर्यन्ताः श्लोकाः न सन्ति। तत्स्थाने निम्नाङ्कितः पाठोऽधिको वर्तते—'श्रेष्ठिनो जिनदत्तस्य भृत्ययाऽज्ञान इत्यसौ। हेतोः कुतोऽप्यधिक्षिप्तः प्रियङ्गुलतिकाख्यया॥ क्रुद्धो राजानमद्राक्षीद् राज्ञा चापि परीक्षितः॥' ६. बाह्यश्च म०, ग०।

पृथिव्यप्तेजसां वायोः प्राणिनां च वनस्पतेः । प्रघाते ज्ञानहीनस्य कुतः स्यात् प्राणिसंयमः ॥६३॥
विरागस्यापि मिथ्यादृग्ज्ञानचारित्रमानिनः । संज्ञानपूर्वको जन्तोः कुतश्चेन्द्रियसंयमः ॥६४॥
केवलं कायसंतापं भजमानस्य मानिनः । सम्यक्संयमहीनस्य तापस्यं मुक्तये कुतः ॥६५॥
जैन एव हि सन्मार्गे संयमस्तप एव च । दर्शनं चापि चारित्रं ज्ञानं चाशेषभासनम् ॥६६॥
अवेहि तापसात्मीयं पितरं व्यालतां गतम् । ज्वालाधूमावलीव्याप्ते दह्यमानमिहेन्धने ॥६७॥
इत्युक्ते तापसः काष्ठं कुठारेण विपाट्य सः । ददर्श दंदशूकं तं दह्यमानं तदाकुलम् ॥६८॥
कृततापसधर्मस्य ब्रह्माख्यस्वपितुर्गतिम् । कुत्सितामवगम्यासावज्ञत्वं चापि चात्मनः ॥६९॥
ज्ञात्वा च जैनधर्मस्य ज्ञानपूर्वकतां तथा । वीरभद्रगुरोरन्ते [1]वशिष्ठोऽधिष्ठितस्तपः ॥७०॥
एको लाभान्तरायस्य कर्मणः परिपाकतः । [2]तपस्यतामभूत् साधुः स भिक्षालब्धिवर्जितः ॥७१॥
स पर्युपासनाहेतोरागमागमनाय च । शिवगुप्तयतेर्यत्नात् गुरुणापि समर्पितः ॥७२॥
सन्तप्तं च स षण्मासान् वीरदत्ते न्ययोजयत् । तथा सोऽपि सुमत्याख्ये षण्मासान् सोऽप्यपालयत् ॥७३॥
यतिधर्मविधानज्ञः परीषहसहस्ततः । बभूवैकविहारी स वशिष्ठो विदितः क्षितौ ॥७४॥
मथुरायामथ सम्प्राप्तो विहरन् स महातपाः । पूज्यते च प्रजापालप्रजाभिर्गुरुवत्तया ॥७५॥

न्द्रिय जीव अवश्य जलते हैं ॥६२॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरों तथा अन्य त्रस प्राणियोंका विघात होनेसे अज्ञानी जीवके प्राणिसंयम कैसे हो सकता है ॥६३॥ इसी प्रकार जो विरक्त होकर भी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको माननेवाला है उसके सम्यग्ज्ञान पूर्वक होनेवाला इन्द्रिय संयम भी कैसे हो सकता है ?॥६४॥ जो केवल काय-क्लेश तपको प्राप्त है, मानसे भरा हुआ है और समीचीन संयमसे रहित है उसकी तपस्या मुक्तिके लिए कैसे हो सकती है ?॥६५॥ एक जैन मार्ग ही सन्मार्ग है, उसीमें संयम, तप, दर्शन, चारित्र और समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान प्राप्त हो सकता हैं ॥६६॥ हे तापस ! तुम जानते हो तुम्हारा पिता मरकर साँप हुआ है और ज्वालाओं तथा धूमकी पंक्तिसे व्याप्त इसी ईंधनमें जल रहा है ॥६७॥

आचार्यके इस प्रकार कहनेपर तापसने कुल्हाड़ासे उस काष्ठको चीरकर देखा तो उसके अन्दर साँप जलता हुआ छटपटा रहा था ॥६८॥ तदनन्तर आचार्यने फिर कहा कि तेरे पिताका नाम ब्रह्मा था और वह तेरे ही समान तापसके धर्मका पालन करता था। उसीसे उसकी यह कुगति हुई है । आचार्यके मुखसे यह सब जानकर वशिष्ठ तापसको जान पड़ा कि मैं अज्ञानी हूँ और जैनधर्म सम्यग्ज्ञानसे परिपूर्ण है । अतः उसने उन्हीं वीरभद्र गुरुके पास जैन दीक्षा धारण कर ली ॥६९-७०॥ उनके साथ अनेक मुनि तपस्या करते थे परन्तु लाभान्तराय कर्मके उदयसे उन सबमें एक वशिष्ठ मुनि ही भिक्षाके लाभसे वर्जित रह जाते थे अर्थात् उन्हें भिक्षाकी प्राप्ति बहुत कम होती थी ॥७१॥ तदनन्तर वीरभद्र गुरुने सेवाके निमित्त और आगमका विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वशिष्ठ मुनिको यत्नपूर्वक शिवगुप्तयतिको सौंप दिया ॥७२॥ छह महीने तक तप करनेके बाद शिवगुप्त यतिने वशिष्ठ मुनिको वीरदत्त नामक मुनिराजके लिए सौंप दिया । वीरदत्त मुनिने भी छह माह अपने पास रखकर उन्हें सुमति नामक मुनिके लिए सौंप दिया और सुमति मुनिने भी छह माहतक उनका अच्छी तरह पालन किया ॥७३॥ तदनन्तर अनेक गुरुओंके पास रहनेसे जो मुनि-धर्मकी विधिको अच्छी तरह जानने लगे थे और परिषह सहन करनेका जिन्हें अच्छा अभ्यास हो गया था ऐसे वशिष्ठ मुनि पृथिवीपर प्रसिद्ध एकविहारी हो गये—अकेले ही विचरण करने लगे ॥७४॥

अथानन्तर महातपस्वी वशिष्ठ मुनि कदाचित् विहार करते हुए मथुरा आये सो राजा

---

१. वशिष्ठः तपोऽधिष्ठितवान् इत्यर्थः । २. तपः कुर्वतामन्येषां मध्ये । तपस्यन्समभूत् साधुः क० ।

धृतातपनयोगं तं मुदा पर्वतमस्तके । सप्तैत्योचुस्तपोवश्याः किं कुर्मस्तेऽथ देवताः ॥७६॥
कर्तव्यं मम नास्तीति स निषिध्य तपोधनः । व्यसर्जयद्धि[1] तद्वश्या गताश्च वनदेवताः ॥७७॥
मासोपवासिने तस्मै निःस्पृहाय तपस्विने । पारणास्वन्नदानाय स्पृहयन्त्यखिलाः प्रजाः ॥७८॥
उग्रसेनोऽन्यदा दातुं पारणां तमयाचत । न्यवारयत्तदा दातॄन् मथुरावासिनोऽखिलान् ॥७९॥
पारणासु नृपस्तस्य विसस्मार तिसृष्वपि । दूताग्निद्विरदक्षोभव्यासङ्गेन प्रमादवान् ॥८०॥
अटित्वा मथुरां सर्वामलाभे श्रमपीडितः । श्रमणोऽन्ते विशश्राम नगरद्वारि सोऽन्यदा ॥८१॥
तं दृष्ट्वा केनचित्प्रो[2]क्तं हा कष्टं भूभृता कृतम् । भिक्षां स्वयं न दत्तेऽस्मै परानपि निषिद्धवान् ॥८२॥
तदाऽऽकर्ण्य रुषा तेन ध्यातास्ताः पूर्वदेवताः । कार्यं कुर्यात मेऽन्यस्मिन् जन्मनीति विनिर्ययौ ॥८३॥
निकारायोग्रसेनस्य प्रकृतोग्रनिदानतः । स मिथ्यात्वमितो मृत्वा पद्मावत्युदरेऽवसत् ॥८४॥
तस्मिन् गर्भस्थिते देवीमेकान्ते कृशविग्रहाम् । नृपः पप्रच्छ तां कान्ते दौर्हृदं ते किमित्यसौ ॥८५॥
नाथावाच्यमचिन्त्यं च गर्भदोषेण चिन्तितम् । इत्युक्ते स त्वयाऽवश्यं वाच्यमित्यवदन्नृपः ॥८६॥

तथा प्रजाने बड़ी प्रतिष्ठाके साथ उनकी पूजा की ॥७५॥ एक समय वे बड़ी प्रसन्नतासे पर्वतके मस्तकपर आतापन योग धारण कर विराजमान थे कि उनके तपसे वशीभूत हुईं सात देवियाँ पास आकर कहने लगीं कि हम लोग आपका क्या कार्य करें ?॥७६॥ तपोधन वशिष्ठ मुनिने यह कहकर उन देवियोंको वापिस कर दिया कि मेरा कोई काम नहीं है। अन्तमें उनके आधीन हुईं वे वन-देवियाँ चली गईं ॥७७॥ आहारकी इच्छासे रहित वशिष्ठ मुनि एक मासके उपवास-का नियम लेकर तपस्या कर रहे थे, इसलिए समस्त प्रजा पारणाओंके समय उन्हें आहार देना चाहती थी ॥७८॥ परन्तु राजा उग्रसेनने किसी समय नगरवासियोंसे यह याचना की कि मासो-पवासी मुनिराजके लिए पारणाओंके समय मैं ही आहार दूँगा और इसी भावनासे उसने मथुरा-में रहनेवाले सब दाताओंको आहार देनेसे रोक दिया ॥७९॥ मुनिराज एक-एक मास बाद तीन बार पारणाओंके लिए आये परन्तु तीनों बार राजा प्रमादी बन आहार देना भूल गया। पहली पारणाके समय जरासन्धका दूत आया था सो उसकी व्यवस्थामें निमग्न हो आहार देना भूल गया। दूसरी पारणाके समय आग लग गई सो उसकी व्यवस्थामें संलग्न होनेसे प्रमादी हो गया और तीसरी पारणाके समय नगरमें हाथीने क्षोभ मचा दिया इसलिए उसके व्यासंगसे प्रमादी हो आहार देना भूल गया ॥८०॥ मुनि आहारके लिए समस्त मथुरा नगरीमें घूमे परन्तु कहीं आहार प्राप्त नहीं हुआ। अन्तमें श्रमसे पीड़ित हो नगरके द्वारमें विश्राम करने लगे ॥८१॥ उन्हें देख किसी नगरवासीने कहा कि हाय बड़े खेदकी बात राजाने कर रक्खी है—इन मुनि-राजके लिए वह स्वयं आहार देता नहीं है तथा दूसरोंको मना कर रक्खा है ॥८२॥ यह सुनकर मुनिराजको क्रोध आ गया। उन्होंने उसी समय पहले आई हुईं देवियोंका स्मरण किया। स्मरण करते ही देवियाँ आ गईं। उन्हें देख मुनिने कहा कि 'आप लोग अन्य जन्ममें मेरा काम करें।' मुनिकी आज्ञा स्वीकृत कर देवियाँ वापिस चली गईं और मुनि वनकी ओर प्रस्थान कर गये ॥८३॥ राजा उग्रसेनका अपमान करनेके लिए वशिष्ठ मुनिने यह उग्र निदान बाँध लिया कि मैं उग्रसेनका पुत्र होकर इसका बदला लूँ। निदानके कारण वे मुनि पदसे भ्रष्ट हो मिथ्यात्व गुण-स्थानमें आ गये और उसी समय मरकर राजा उग्रसेनकी रानी पद्मावतीके उदरमें निवास करने लगे ॥८४॥ जब कंसका जीव पद्मावतीके गर्भमें था तब पद्मावतीका शरीर एकदम दुर्बल हो गया। एक दिन राजाने उससे एकान्तमें पूछा कि कान्ते ! तुम्हारा दोहला क्या है ? जिसके कारण तुम सूखकर काँटा हुई जा रही हो ॥८५॥ पद्मावतीने कहा कि हे नाथ ! गर्भके दोषसे मुझे

१. विसृष्टस्या ग० (?) । २. प्रोक्तो म० ।

साऽस्य निर्बन्धतो वाचा दुःखगद्गदयाऽगदीत् । विपाट्य जठरं पातुं रुधिरं तव मे स्पृहा ॥८७॥
सचिवोपायतस्तस्या दौहृदे विहिते ततः । असूत तनयं देवी भ्रुकुटीकुटिलाननम् ॥८८॥
गर्भप्रभृतिरौद्रं तं कंसमञ्जूषिकाकृतम् । देव्यमोचयदेकान्ते प्रवाहे यामुने[1] भयात् ॥८९॥
अथांबुधरसौ लब्ध्वा कौशाम्ब्यां सीधुकारिणी । कृतकंसाभिधं शेषं तवापि विदितं नृप ॥९०॥
निदानदोषदुष्टोऽयं कृतवान् पितृनिग्रहम् । उग्रसेननृपं क्वापि मोचयिष्यति ते सुतः ॥९१॥
नृपोक्तः कंससम्बन्धः पितृबन्धनिबन्धनः । वच्मि ते पुत्रसम्बन्धं शृणु सन्धाय मानसम् ॥९२॥
देवक्याः सप्तमः सूनुः शङ्खचक्रगदासिभृत् । निहत्य कंसपूर्वारीन् निःशेषां भोक्ष्यति क्षितिम् ॥९३॥
चरमोत्तमदेहास्तु शेषाः षडपि सूनवः । न तेषामपमृत्युः[2] स्यादाधिव्याधिमतस्त्यज ॥९४॥
रामभद्रसमेतानां तेषां जन्मान्तराणि ते । भणामि शृणु सस्त्रीकश्चित्तप्रीतिकराण्यहम् ॥९५॥
शूरसेननृपे पाति मथुरां भानुरिभ्यभूत् । इभ्यो द्वादशकोटीशो यमुना तस्य भामिनी ॥९६॥
सुभानुर्भानुकीर्तिश्च भानुषेणस्तथा परः । शूरश्च सूरदेवश्च शूरदत्तस्तथैव च ॥९७॥
शूरसेनश्च सप्तैते यमुनाभानुसूनवः । अभिरामाः स्वभावेन तेऽन्योऽन्यानुगतास्तदा ॥९८॥
कालिन्दी तिलका कान्ता श्रीकान्ता सुन्दरी द्युतिः । चन्द्रकान्ता च तत्कान्ता क्रमेण कुलबालिकाः ॥९९॥
भानुः प्राव्रजदन्तेऽसौ गुरोरभयनन्दिनः । तथा यमुनदत्तापि जिनदत्तार्यिकान्तिके ॥१००॥

जो दोहला हुआ है वह न तो कहने योग्य है और न विचार करने योग्य है। रानीके इस प्रकार कहनेपर राजाने कहा कि वह दोहला तुम्हें अवश्य कहना चाहिए ॥८६॥ राजाका हठ देख उसने दुःखसे गद्गद वाणी द्वारा कहा कि हे नाथ! मेरी इच्छा है कि मैं आपका पेट फाड़कर आपका रुधिर पीऊँ ॥८७॥ तदनन्तर मन्त्रियोंके उपायसे उसका दोहला पूर्ण किया गया। नौ माह बाद रानी पद्मावतीने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जिसका मुख भौंहोंसे अत्यन्त कुटिल था ॥८८॥ चूँकि वह बालक गर्भसे ही अत्यन्त रौद्र था इसलिए रानी पद्मावतीने भयसे उसे काँसकी मञ्जूषामें बन्द कर एकान्तमें यमुनाके प्रवाहमें छुड़वा दिया ॥८९॥ वह मञ्जूषा बहती-बहती कौशाम्बी नगरी पहुँची। वहाँ एक कलारिनने उसे पाकर पुत्रका कंस नाम रक्खा तथा उसका पालन-पोषण किया। हे राजन्! इसके आगेका सब समाचार तुम्हें विदित ही है ॥९०॥ निदानके दोषसे दूषित होकर इसने पिताका निग्रह किया है। आगे चलकर तुम्हारा पुत्र उसे मारेगा और उसके पिता राजा उग्रसेनको भी बन्धनसे छुड़ावेगा ॥९१॥ हे राजन्! कंसने अपने पिताको बन्धनमें क्यों डाला इसका कारण बतलानेवाला कंसका वृत्तान्त कहा। अब तेरे पुत्रोंका वृत्तान्त कहता हूँ सो मनको स्थिर कर सुन ॥९२॥

देवकीका सातवाँ पुत्र शङ्ख, चक्र, गदा तथा खड्गको धारण करनेवाला होगा और वह कंस आदि शत्रुओंको मारकर समस्त पृथिवीका पालन करेगा ॥९३॥ शेष छहों पुत्र चरम-शरीरी होंगे। उनकी अपमृत्यु नहीं हो सकेगी, अतः चिन्ता रूपी व्याधिका त्याग करो ॥९४॥ मैं रामभद्र (बलदेव) सहित उन सबके पूर्वभव तुम्हें कहता हूँ सो अपनी स्त्रीके साथ श्रवण करो। अवश्य ही उन सबके पूर्वभव तेरे चित्तको प्रीति करनेवाले होंगे ॥९५॥

जब राजा सूरसेन मथुरापुरीकी रक्षा करते थे तब वहाँ बारह करोड़ मुद्राओंका अधिपति भानु नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्रीका नाम यमुना था ॥९६॥ उन दोनोंके सुभानु, भानुकीर्ति, भानुषेण, शूर, सूरदेव, शूरदत्त और शूरसेन ये सात पुत्र उत्पन्न हुए। ये सातों भाई अत्यन्त सुन्दर तथा स्वभावसे ही एक दूसरेके अनुगामी थे ॥९७-९८॥ उन सातों पुत्रोंकी क्रमसे कालिन्दी, तिलका, कान्ता, श्रीकान्ता, सुन्दरी, द्युति और चन्द्रकान्ता ये सात स्त्रियाँ थीं जो उच्च कुलोंकी कन्याएँ थीं ॥९९॥ कदाचित् भानु सेठने अभयनन्दी गुरुके समीप और उसकी

१. यमुनाया इदमिति यामुनं तस्मिन् यामुने। २. तेषामपि म०।

द्यूतवेश्याप्रसङ्गेन विनाश्य द्रविणं पितुः । चौर्यार्थं भ्रातरः सर्वे गतास्तूज्जयिनीं पुरीम् ॥१०१॥
कनीयांसं महाकाले सन्तत्यर्थं निधाय ते । प्राविशन् निशि निःशङ्काः पुरीं षडपि चेतरे ॥१०२॥
कमलायास्तदा भर्ता राजाऽत्र वृषभध्वजः । वप्रश्रीवल्लभस्तस्य [1]दृढमुष्टिर्भटोत्तमः ॥१०३॥
स वज्रमुष्टये मङ्गीं स्वाङ्गजायाङ्गजार्तये । राज्ञा विमलचन्द्रेण विमलाजामदापयत् ॥१०४॥
सातिवल्लभिका तस्य [2]बल्लकीवाङ्गवर्तिनी । [3]श्वश्रूं शुश्रूषया मङ्गी सङ्गता नानुवर्तते ॥१०५॥
अन्तःकलुषिणी साऽस्याः सततापायचिन्तनी । उपायं चिन्तयन्त्यास्ते छद्मना तद्वियोजने ॥१०६॥
सा वसन्तोत्सवे रन्तुं वनं प्रमदपूर्वकम् । द्राक् मामन्वेहि मङ्गीति राज्ञामा प्रागतेऽङ्गजे ॥१०७॥
माल्यदानापदेशेन तामादिष्टां वधूं क्रुधाः । संदष्टां दंदशूकेन धूपिनेन घटोदरे ॥१०८
मूर्च्छितां विषवेगेन श्वश्रूर्भृत्यैरजीहरत् । श्मशानं तन्महाकालं कालस्यापि भयङ्करम् ॥१०९॥
स रात्रौ गृहमागत्य ज्ञात्वा वृत्तान्तमाविशत् । महाकालं महास्नेहादन्वेष्टुं स्वप्रियां प्रियः ॥११०॥
खड्गदीप्रकरः सोऽयं तच्छ्मशानमशङ्कितः । [6]रात्रौ प्रतिमयाऽपश्यद् वरधर्ममुनिं स्थितम् ॥१११॥

स्त्री यमुनाने जिनदत्ता आर्यिकाके समीप दीक्षा ले ली ॥१००॥ सातों भाइयोंने जुआ और वेश्या व्यसनमें फँसकर पिताका सब धन नष्ट कर दिया। जब उनके पास कुछ भी नहीं रहा तब सब भाई चोरी करनेके लिए उज्जयिनी नगरी गये ॥१०१॥ उज्जयिनीके बाहर एक महाकाल नामका वन है। वहाँ सन्ततिकी रक्षाके लिए छोटे भाईको रखकर शेष छहों भाई निःशङ्क हो रात्रिके समय नगरीमें प्रविष्ट हुए ॥१०२॥

उस समय उज्जयिनीका राजा वृषभध्वजका था। उसकी स्त्रीका नाम कमला था। राजा वृषभध्वजका दृढमुष्टि नामका एक उत्तम योद्धा था। उसकी स्त्रीका नाम वप्रश्री था। उन दोनों-को वज्रमुष्टि नामका पुत्र था। युवा होनेपर जब वह कामसे पीड़ित हुआ तब उसने राजा विमलचन्द्रसे उनकी विमला रानीसे उत्पन्न मङ्गी नामक पुत्री उसके लिए दिलवा दी ॥१०३-१०४॥ मङ्गी वज्रमुष्टिके लिए बहुत प्यारी थी। वह वीणाकी तरह सदा उसीके साथ रहती थी और शुश्रूषा-सेवासे युक्त हो सासके अनुकूल आचरण नहीं करती थी अर्थात् सासकी कभी सेवा नहीं करती थी। इसलिए उसकी सास मन-ही-मन बहुत कलुषित रहती थी और निरन्तर उसके नाश-का उपाय सोचती रहती थी। एक दिन वह छलसे उसके मारनेका उपाय सोचती हुई बैठी थी कि इतनेमें वसन्तोत्सवका समय आ गया और उसका पुत्र वज्रमुष्टि प्रमदवनमें क्रीड़ा करनेके लिए राजाके साथ पहले चला गया तथा मंगीसे कह गया कि हे मंगि! तू शीघ्र ही मेरे पीछे आ जाना ॥१०५-१०७॥ इधर सासने मंगीको वसन्तोत्सवमें नहीं जाने दिया। उस दुर्बुद्धिने एक घड़ेमें धूपिन जातिका जहरीला साँप पहलेसे बुला रक्खा था। अवसर देख उसने मंगीसे कहा कि तू वसन्तोत्सवमें नहीं जा सकी है इसलिए दुःखी न हो। मैंने तेरे लिए पहलेसे ही सुन्दर माला बुला रखी है। जा उस घड़ेमेंसे निकालकर पहिन ले। भोली भाली मंगीने मालाके लोभ-से घड़ेमें ज्योंही हाथ डाला त्योंही उस धूपिन सर्पने उसे डस लिया ॥१०८॥ मंगी विषके वेगसे तुरन्त ही मूर्च्छित हो गई और सासने उसे अपने भृत्यों द्वारा उस महाकाल नामक श्मशानमें जो यमराजके लिए भी भय उत्पन्न करनेवाला था छुड़वा दिया ॥१०९॥

वज्रमुष्टि जब रात्रिको घर आया और सब वृत्तान्त उसे मालूम हुआ तो वह बड़े स्नेहसे अपनी प्रिया मंगीको ढूँढ़नेके लिए महाकाल श्मशानमें जा घुसा ॥११०॥ उस समय उसके हाथमें एक चमकती हुई तलवार थी। उसीके बलपर वह निःशङ्क होकर श्मशानमें घुसा जा रहा था। आगे चलकर उसने उस श्मशानमें रात्रिभरके लिए प्रतिमा योग लेकर विराजमान वर धर्म

१. दृढमुष्टि -म० । २. वीणेव । ३. श्वश्रूशुश्रूषया म०,ग० । ४. सकृतापाय -ग० । ५. राज्ञा अमा = सहेत्यर्थः । ६. रात्रिप्रतिमया-म०, ख०, ग० ।

त्रिः परीत्य स तं नत्वा जगौ ते पादपूजनम् । कुर्वे पद्मसहस्रेण मुने ! मङ्गीं लभे यदि ॥११२॥
उक्त्वेति प्रगतो लब्ध्वा स तामानीय मानिनीम् । महामुनिपदस्पर्शान्निर्विषां विदधे वधूम् ॥११३॥
मुनिपादोपकण्ठेऽसौ तावत्तिष्ठेत्युदीर्य ताम् । सुदर्शनं सरो यातः पद्मानामाभिलाषया ॥११४॥
शूरसेनस्तमादृश्य महास्नेहं प्रियां प्रति । स जिज्ञासुर्मनस्तस्या रूपी रूपमदर्शयत् ॥११५॥
गूढधीः कृतसंलापस्तया सकृतमन्त्रणः । तस्य दर्शनमात्रेण जाताऽसौ कामविह्वला ॥११६॥
समागत्याब्रवीद् देव ! मामिच्छ कृपयान्वितः । स बभाण करोम्येवं कथं भर्तरि जीवति ॥११७॥
बिभेम्यतः प्रियेऽवश्यं वीर्यान्वितभटादहम् । त्वं मा कुर्वीभयं नाथ ! सा तं प्राह सुरक्तधीः ॥११८॥
असिना घातयाम्येनं तेनाभ्युपगतं तथा[1] । तत्र गूढतनुस्तस्थौ तत्कृतं[2] तद्दिदृक्षया ॥११९॥
आगत्याभ्यर्च्य साध्वंह्री[3] नमतोऽस्य शिरस्यसिः । मुक्तस्तया निरुद्धो प्राक् शूरसेनेन तेन सः ॥१२०॥
अन्तर्हितवपुर्यातः शूरसेनो विरक्तधीः । ततोऽनु मायया मङ्गी तस्य स्पर्शेण शङ्किता ॥१२१॥
स्वदोषच्छादनायासौ पपात धरणीतले । भर्त्रा पृष्टा प्रिये किं नु केनचिद् भीषिताऽत्र हि ॥१२२॥
न किंचिदपि चास्त्यत्र तां प्रबोध्य भयातुराम् । वज्रमुष्टिर्मुनिं नत्वा सकान्तः स्वगृहं गतः ॥१२३॥

नामक मुनिराजको देखा ॥१११॥ उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर मुनिराजको नमस्कार किया और कहा कि हे मुनिराज ! यदि मैं मंगीको प्राप्त कर सका तो एक हजार कमलोंसे आपके चरणोंकी पूजा करूँगा ॥११२॥ इस प्रकार कहकर वह ज्योंही आगे बढ़ा त्योंही उसे उसकी स्त्री मंगी मिल गई । वह उसे मुनिराजके पास ले आया और उनके चरणोंके स्पर्शसे उसने उसे विष रहित कर लिया ॥११३॥

तदनन्तर 'जबतक मैं न आ जाऊँ तबतक तुम मुनिराजके चरणोंके समीप बैठना' इस प्रकार मंगीसे कहकर वज्रमुष्टि कमल लानेकी इच्छासे सुदर्शन नामक सरोवरकी ओर चला गया ॥११४॥ पास ही छिपा हुआ शूरसेन मंगीके प्रति वज्रमुष्टिका महान् स्नेह देख चुका था इसलिए उसने उसके मनका भाव जाननेकी इच्छासे उसे अपना रूप दिखाया । वह सुन्दर तो था ही ॥११५॥ वह अपने अभिप्रायको छिपाकर उसके साथ मीठी-मीठी बातचीत और गुप्त सलाह करने लगा । मंगी उसे देखते ही कामसे विह्वल हो गई ॥११६॥ उसी विह्वल दशामें उसने शूरसेनके पास जाकर कहा कि हे देव ! आप कृपाकर मुझे स्वीकृत कीजिए । मंगीकी प्रार्थना सुनकर शूरसेनने कहा कि जबतक तुम्हारा पति जीवित है तबतक मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ ? हे प्रिये ! मैं इस शक्तिशाली सुभटसे अवश्य ही डरता हूँ । इसके उत्तरमें अनुरागसे भरी मंगीने कहा कि हे नाथ ! आप इसका भय नहीं कीजिए । मैं इसे तो तलवारसे अभी मार डालती हूँ । शूरसेनने उत्तर दिया कि यदि ऐसा है तो मुझे स्वीकार है । इस प्रकार कहकर वह उसका वह कार्य देखनेकी इच्छासे वहीं छिपकर खड़ा हो गया ॥११७-११९॥

तदनन्तर वज्रमुष्टिने आकर मुनिराजके चरणोंकी पूजा की और पूजा करनेके बाद ज्योंही वह नमस्कार करने लगा त्योंही मंगीने उसके शिरपर तलवार छोड़ना चाही, परन्तु शूरसेनने शीघ्र ही आकर तलवार छीन ली ॥१२०॥ शूरसेनको यह दृश्य देखकर संसारसे वैराग्य हो आया, इसलिए वह अपने-आपको प्रकट किये बिना ही वहाँसे चला गया । मंगी उसके स्पर्शसे शङ्कित हो गई, इसलिए अपना दोष छिपानेके लिए वह माया बताती हुई पृथिवी तलपर गिर पड़ी । वज्रमुष्टिको मंगीके इस दुष्कृत्यका पता नहीं चल पाया । इसलिए वह उससे पूछता है कि प्रिये ! क्या यहाँ तुम्हें किसीने डरा दिया है ? यहाँ भयका तो कुछ भी कारण दिखाई नहीं देता । इस प्रकार भयसे पीड़ित मंगीको सचेत कर वज्रमुष्टिने मुनिराजको नमस्कार किया और तदुपरान्त वह स्त्रीको साथ ले घर चला गया ॥१२१-१२३॥

१. यदा म० । २. तत्कृत्यं म० । ३ मुनिचरणौ ।

चौरास्ततः समागत्य चौर्याहृतधनं तदा । विभज्य समभागेन स्वं गृहाणेति तं जगुः ॥१२४॥
अनिच्छन् शूरसेनोऽपि जगौ दारार्थमर्थिनः । घटन्तेऽनर्थकार्ये ते वज्रमुष्टिस्त्रियः समाः ॥१२५॥
दृष्ट्वा श्रुत्वा च वृत्तान्तं षट् कनिष्ठाः विरागिणः । प्राव्रजन् वरधर्मान्ते [1]ज्येष्ठेभ्योऽप्यनयद् धनम् ॥१२६॥
सप्तसु श्रुतवार्तासु निष्क्रान्तास्वथ तास्वपि । तस्यैव स गुरोरन्ते सुभानुः प्राव्रजत्सुधीः ॥१२७॥
मुनीन् कालान्तरेणामूनागतान् वीक्ष्य सूरिणा । दीक्षाहेतुमसौ पृष्ट्वा वज्रमुष्टिरदीक्षत ॥१२८॥
आर्यिकास्तास्तथा पृष्ट्वा जिनदत्तापुरःसराः । मङ्गी संस्मृतवृत्तान्ता प्रवव्राज दृढव्रता ॥१२९॥
भृतघोरतपोभाराः सर्वेऽप्याराध्य तेऽभवन् । सौधर्मे चार्णवायुष्कास्त्रायस्त्रिंशत्सुरोत्तमाः ॥१३०॥
पूर्वस्मिन् धातकीखण्डे भारते रौप्यपर्वते । च्युत्वा दक्षिणश्रेण्यां च नित्यालोकपुरोत्तमे ॥१३१॥
चित्रचूलमनोहर्योर्ज्येष्ठश्चित्राङ्गदोऽङ्गजः । जज्ञे[2] त्रिद्वन्द्वगर्भास्तु क्रमेणैव तथोत्तरे ॥१३२॥
कान्तौ गरुडसेनौ द्वौ गरुडध्वजवाहनौ । चूलौ मणिहिमादी च व्योमानन्दचरौ वरौ ॥१३३॥
अभिरूपतमाः सर्वे भूरिविद्योद्यताः स्थिताः । चित्रचूलसुता मूर्ध्नि ते चूलामणयो नृणाम् ॥१३४॥
राजा मेघपुरे चैव सर्वश्रीशो धनञ्जयः । धनश्रीरिति विख्याता तस्य कन्यातिरूपिणी ॥१३५॥

तदनन्तर शूरसेनके जो छह भाई चोरी करनेके लिए गये थे उन्होंने चोरीसे प्राप्त हुए धनके बराबर हिस्से कर शूरसेनसे कहा कि अपना हिस्सा उठा लो ॥१२४॥ शूरसेनने हिस्सा लेनेके प्रति अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा कि लोग स्त्रियोंके पीछे ही नाना प्रकारके अनर्थ करते हैं और स्त्रियाँ वज्रमुष्टिकी स्त्रीके समान होती हैं ॥१२५॥ इस वृत्तान्तको देख-सुनकर छह छोटे भाइयोंने विरक्त होकर उसी समय वरधर्मगुरुके समीप दीक्षा ले ली और बड़ा भाई स्त्रियोंके पास धन ले गया ॥१२६॥ जब उन भाइयोंकी सातों स्त्रियोंने यह वृत्तान्त सुना तो उन्होंने भी विरक्त हो दीक्षा ले ली। अन्तमें बड़े भाई सुभानुकी बुद्धि भी ठिकाने आ गई इसलिए उसने भी उन्हीं वरदत्त गुरुके पास दीक्षा ले ली ॥१२६-१२७॥

अथानन्तर किसी समय अपने गुरुके साथ विहार करते हुए वे सातों मुनि उज्जयिनी आये। उनके दर्शन कर वज्रमुष्टिने उनसे दीक्षा लेनेका कारण पूछा। उत्तरमें उन्होंने वज्रमुष्टि और मंगीका सब वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन वज्रमुष्टिको बहुत खेद हुआ तथा उसी समय उसने दीक्षा ले ली ॥१२८॥ उसी समय आर्यिका जिनदत्ताके साथ विहार करती हुई पूर्वोक्त सात आर्यिकाएँ भी उज्जयिनी आईं। मंगीने उनसे दीक्षाका कारण पूछा। उन्होंने जो उत्तर दिया उसे सुनकर मंगीको अपना पिछला सब वृत्तान्त स्मृत हो गया इसलिए उसने भी दृढ़ व्रत धारण कर दीक्षा ले ली ॥१२९॥ तदनन्तर घोर तपके भारको धारण करनेवाले सातों मुनिराज आयुके अन्तमें समाधिमरण कर सौधर्म स्वर्गमें एक सागरकी आयुवाले त्रायस्त्रिंश जातिके उत्तम देव हुए ॥१३०॥

धातकीखण्डद्वीपके पूर्व भरतक्षेत्रमें जो विजयार्ध पर्वत है उसकी दक्षिण श्रेणीमें एक नित्यालोक नामका नगर है ॥१३१॥ उसमें किसी समय राजा चित्रचूल राज्य करता था उसकी स्त्रीका नाम मनोहरी था। बड़े भाई सुभानुका जीव उन्हीं दोनोंके चित्राङ्गद नामका पुत्र हुआ और शेष छह भाइयोंके जीव भी उन्हींके क्रम-क्रमसे तीन युगलोंके रूपमें गरुडकान्त, सेनकान्त, गरुडध्वज गरुडवाहन, मणिचूल और हिमचूल नामके छह पुत्र हुए। ये सभी आकाशमें आनन्दसे विचरण करते थे तथा अत्यन्त उत्कृष्ट थे ॥१३२-१३३॥ चित्रचूलके ये सभी पुत्र अत्यन्त सुन्दर थे, अनेक विद्याओंके प्राप्त करनेमें उद्यत थे और मनुष्योंके मस्तकपर चूडामणिके समान स्थित थे ॥१३४॥ उसी समय मेघपुर नगरमें सर्वश्री नामका स्त्रीका स्वामी धनञ्जय नामका राजा राज्य करता था। राजा धनञ्जय और रानी सर्वश्रीके एक धनश्री नामकी अत्यन्त रूपवती

१. ज्येष्ठश्चासौ इभ्यश्चेति ज्येष्ठेभ्यः । २. यज्ञे म० ।

स्वयंवरमनुप्राप्ता विश्वे विद्याधरात्मजाः । [1]तत्रात्ममैथुनं वव्रे कन्याऽसौ हरिवाहनम् ॥१३६॥
वयं स्वयंवरव्याजात् स्वविवाहाय मायया । समाहूता इति क्रुद्धास्तत्पित्रे गगनायनाः ॥१३७॥
परस्परवधं चक्रुस्ते तत्कन्यार्थिनस्ततः । चित्रचूलसुता निन्द्यं दृष्ट्वा क्षत्रवधं तकम् ॥१३८॥
पापहेतुं विनिन्द्याक्षविषयान् विषमानमी । भूतानन्दजिनस्यान्ते प्रव्रज्यां ते प्रपेदिरे ॥१३९॥
सप्ताप्याराध्य माहेन्द्रे सप्ताब्ध्युपमजीविताः । सामानिकसुरा भूत्वा सुखं बुभुजिरे चिरम् ॥१४०॥
ततश्च्युत्वाऽग्रजोऽत्रैव भारते हस्तिनाह्वये । नगरे श्रेष्ठिनः शङ्खो बन्धुमत्यामभूत्सुतः ॥१४१॥
इतरे गङ्गदेवस्य तत्पुरेशस्य भूपतेः । नन्दना नन्दयशसो द्वन्द्वभूतास्तु जज्ञिरे ॥१४२॥
गङ्गश्च गङ्गदत्तश्च गङ्गरक्षितकस्तथा । नन्दश्चापि सुनन्दश्च नन्दिषेणश्च सुन्दरः ॥१४३॥
सप्तमस्तु सुतो देव्या गर्भे दौर्भाग्यदुःखया । त्यक्तः संवर्धितश्चासौ धात्र्या रेवतिकाख्यया ॥१४४॥
शङ्खो [2]यातोऽन्यदाऽऽदाय तं निर्नामकनामकम् । इयं मनोहरोद्यानं पौरलोकसमाकुलम् ॥१४५॥
भुञ्जानानाह राजन्यांस्तत्र राजसुतैः सह । भोक्तुं नाहूयते कस्मादयं निर्नामकोऽनुजः ॥१४६॥
आहूतस्तैरसौ भोक्तुमासीनः सादरैः सह । [3]राज्ञ्या चागतया मात्रा कोपात्पादेन ताडितः ॥१४७॥
धिग् मद्धेतोरयं दुःखं निर्नामा प्राप्तवानिति । दुःखी शङ्खस्तमादाय गत्वा राजादिभिर्वने ॥१४८॥

कन्या थी ॥१३५॥ धनश्रीका किसी समय स्वयंवर किया गया, स्वयंवरमें समस्त विद्याधरोंके पुत्र गये परन्तु कन्याने उनमें अपने पिताके भानजे हरिवाहनको वरा ॥१३६॥ 'जब इसे अपने सम्बन्धीके साथ ही विवाह करना था तो स्वयंवरके बहाने छलपूर्वक हम लोगोंको क्यों बुलाया—यह कहते हुए अन्य विद्याधर कन्याके पितापर क्रुद्ध हो गये ॥१३७॥ तदनन्तर उस कन्याकी इच्छा रखते हुए वे विद्याधर परस्पर एक-दूसरेका वध करने लगे। राजा चित्रचूलके पुत्र भी स्वयंवरमें गये थे इस निन्दनीय क्षत्रिय-वधको देखकर वे विचार करने लगे कि अहो! ये इन्द्रियोंके विषम विषय ही पापके कारण हैं। इस प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंकी निन्दा कर भूतानन्द जिनराजके समीप दीक्षित हो गये ॥१३८-१३९॥ सातों मुनिराज अन्तमें समाधि धारण कर माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरकी आयुके धारक सामानिक जातिके देव हुए और वहाँकी विभूतिसे चिरकाल तक सुख भोगते रहे ॥१४०॥

तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर बड़े भाईका जीव इसी भरतक्षेत्रके हस्तिनापुर नगरमें किसी सेठकी बन्धुमती स्त्रीसे शङ्ख नामका पुत्र हुआ ॥१४१॥ शेष छह भाइयोंके जीव इसी नगरके राजा गङ्गदेवकी नन्दयशा रानीसे तीन युगलके रूपमें गङ्ग, गङ्गदत्त, गङ्गरक्षित, नन्द, सुनन्द और नन्दिषेण नामके छह सुन्दर पुत्र हुए ॥१४२-१४३॥ रानी नन्दयशाके गर्भमें जब सातवाँ पुत्र आया तब उसके अत्यन्त दुर्भाग्यका उदय आ गया उससे दुखी होकर उससे उत्पन्न होनेपर उस पुत्रको छोड़ दिया, निदान, रेवती नामक धायने पालन-पोषण कर उसे बड़ा किया ॥१४४॥ रानी नन्दयशाके इस त्याज्य पुत्रका नाम निर्नामक था। यह निर्नामक, श्रेष्ठिपुत्र शङ्खको बड़ा प्रिय था। एक दिन शङ्ख, निर्नामकको साथ लेकर नागरिक मनुष्योंसे भरे हुए मनोहर उद्यानमें गया ॥१४५॥ वहाँ राजा गङ्गदेवके छहों पुत्र एक साथ भोजन कर रहे थे उन्हें देख शङ्खने कहा कि यह निर्नामक भी तो तुम्हारा छोटा भाई है इसे भोजन करनेके लिए क्यों नहीं बुलाते? ॥१४६॥ शङ्खकी बात सुन राजपुत्रोंने निर्नामकको बुला लिया और वह भाइयोंके साथ भोजन करनेके लिए बैठ गया। उसी समय उसकी माता रानी नन्दयशा कहींसे आ गई और उसने क्रोधसे आगबबूला हो उसे लात मार दी ॥१४७॥ इस घटनासे शङ्खको बड़ा दुःख हुआ। वह कहने लगा कि मेरे निमित्तसे ही निर्नामकको यह दुःख उठाना पड़ा है

१. पितुर्भगिनीपुत्रम् इति ग पुस्तके टिप्पणी। २. जातो म०। ३. राज्ञामागतया म०।

द्रुमषेणर्षिमेकान्ते दृष्ट्वा नत्वा स पृष्टवान् । निर्नामकस्य जन्मानि सावधिः सोऽप्यथान्मुनिः ॥१४९॥
आसीच्चित्ररथो राजा नगरे गिरिपूर्वके । कामिनी गुणिनी यस्य कान्ता कनकमालिनी ॥१५०॥
मांसप्रियस्य तस्यासीत्सूदोऽमृतरसायनः । राज्ञा च मांसपाकज्ञो दशग्रामेश्वरः कृतः ॥१५१॥
मांसदोषं नृपः श्रुत्वा सुधर्मात्त्रिशतैर्नृपैः । क्षिप्त्वा मेघरथे लक्ष्मीमदीक्षिष्ट मुमुक्षया ॥१५२॥
नवराजेन सूदोऽपि श्रावकेन सता ततः । निर्मदीकृत्य मास्पाको ग्राममात्रपतिः कृतः ॥१५३॥
सूदेन कुपितेनासौ मुनिर्मांसनिषेधनः । कट्वालाम्बुविषाहारं दत्त्वा प्राणैर्वियोजितः ॥१५४॥
ऊर्जयन्तगिरौ मृत्वा स्वयोगादूर्जितादभूत् । द्वात्रिंशदब्धितुल्यायुः सोऽहमिन्द्रोऽपराजिते ॥१५५॥
सूपकारो मृतः प्राप पृथिवीं वालुकाप्रभाम् । त्रिसमुद्रोपमं कालं नारकं दुःखमन्वभूत् ॥१५६॥
ततश्चोद्धृत्य पर्यट्य तिर्यग्गतिमहाटवीम् । सोऽङ्गी मलयराष्ट्रान्तःपलाशग्रामवर्तिनोः ॥१५७॥
कुटुम्बिनोर्जडप्रायो यक्षिलायक्षदत्तयोः । यक्षस्यावरजो नाम्ना सूनुर्यक्षलिकोऽभवत् ॥१५८॥
स भ्रात्रा वार्यमाणोऽपि पर्यटन् शकटं शठः । उपरिष्टात्[1]तदान्धाहेरवाहयदनिष्टकृत् ॥१५९॥
भग्नभोगा भुजङ्गी तु म्रियमाणातिदुःखतः । अकामनिर्जरायोगात् मानुष्यगतिमार्जयत् ॥१६०॥
मृत्वा श्वेताम्बिकापुर्यां वासवस्य महीपतेः । जाता वसुन्धरागर्भे[2] देवी नन्दयशा स्त्रियम् ॥१६१॥

अतः मुझे धिक्कार है । अन्तमें वह दुखी होता हुआ निर्नामकको लेकर राजा आदिके साथ वनमें गया ॥१४८॥ वहाँ एकान्तमें द्रुमषेण नामक मुनिराजको देखकर शङ्खने उनसे निर्नामकके पूर्वभव पूछे । मुनिराज अवधिज्ञानी थे अतः उसके भवान्तर इस प्रकार कहने लगे ॥१४९॥

गिरिनगर नामक नगरमें राजा चित्ररथ रहता था, उसकी कनकमालिनी नामकी गुणवती एवं सुन्दरी स्त्री थी ॥१५०॥ राजा चित्ररथ मांस खानेका बड़ा प्रेमी था, उसका एक अमृतरसायन नामका रसोइया था जो मांस पकाना बहुत अच्छा जानता था । उसकी कलासे प्रसन्न होकर राजाने उसे दश ग्रामोंका स्वामी बना दिया था ॥१५१॥ एक दिन राजाने सुधर्म नामक मुनिराजसे मांस खानेके दोष सुने जिससे प्रभावित होकर उसने राज्य-लक्ष्मीको मेघरथ नामक पुत्रके लिए सौंप दी और स्वयं मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छासे तीन सौ राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥१५२॥ नवीन राजा मेघरथ श्रावक बन गया इसलिए उसने मांस पकानेवाले रसोइयाको अपमानित कर केवल एक ग्रामका स्वामी कर दिया ॥१५३॥ इस घटनासे रसोइया बड़ा कुपित हुआ । उसने सोचा कि मेरे अपमानके कारण मांसका निषेध करनेवाले ये मुनि ही हैं इसलिए उसने कडुवी तूमड़ीका विषमय आहार देकर मुनिको प्राण रहित कर दिया ॥१५४॥ मुनिराजका समाधिमरण ऊर्जयन्तगिरिपर हुआ था । प्रबल आत्मध्यानके प्रभावसे वे मरकर अपराजित नामक अनुत्तर विमानमें बत्तीस सागरकी आयुके धारक अहमिन्द्र हुए ॥१५५॥ रसोइया मरकर तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवीमें गया और वहाँ तीन सागर तक नरकके तीव्र दुःख भोगता रहा ॥१५६॥ वहाँसे निकलकर तिर्यञ्च गति रूपी महा अटवीमें भ्रमण करता रहा । एक बार वह मलय देशके अन्तर्गत पलाश नामक ग्राममें रहनेवाले यक्षदत्त और यक्षिला नामक दम्पतीके यक्षलिक नामका पुत्र हुआ । यह यक्षलिक स्वभावसे ही मूर्ख था । और यक्षस्व नामक बड़े भाईसे छोटा था ॥१५७–१५८॥ एक बार दुष्ट यक्षलिक गाड़ीपर बैठा कहीं जा रहा था । सामने मार्गमें एक अन्धी सर्पिणी पड़ी थी । बड़े भाईके रोकनेपर अनिष्टकारी यक्षलिकने उसपर गाड़ी चला दी जिससे उसका फण कट गया । तीव्र दुःखसे वह मरणोन्मुख हो गई उसी समय अकामनिर्जराके कारण उसने मनुष्यगतिका बन्ध कर लिया ॥१५९–१६०॥ तदनन्तर सर्पिणी मरकर श्वेताम्बिका पुरीमें वहाँके राजा वासवकी स्त्री वसुन्धराके गर्भमें यह नन्दयशा

१. उपरिष्टात्ततो ग्राहे म०, ख०, ग० । २. वसुन्धरी गर्भे–म० ।

सोऽयं यक्षलिको नाम्ना निर्नामा मुनिमारणात् । निर्दयत्वाच्च पूर्वत्र मात्रा विद्वेषतां गतः ॥१६२॥
श्रुत्वा तद्द्विशतक्षत्रै राजा संसारभीरुधीः । देवनन्दे श्रियं न्यस्य तस्यान्ते दीक्षितो मुनेः ॥१६३॥
राजपुत्राश्च ते सर्वे श्रेष्ठी शङ्खश्च दीक्षितः । सुनिर्मलं तपश्चक्रुर्भवचक्रनिवृत्तये ॥१६४॥
राज्ञी चापि सधात्रीका बन्धुमत्या सहाश्रिता । प्रव्रज्यां सुव्रतार्यान्ते सुव्रतव्रातभूषिताम् ॥१६५॥
कुर्वन्निर्नामकस्तीव्रं सिंहनिःक्रीडितं तपः । निदानमकरोदन्यजनने [1]जनकान्तताम् ॥१६६॥
धात्री मानुष्यकं प्राप्ता पुरे भद्रिलसाह्वये । सुदृष्टिश्रेष्ठिनो भार्या वर्तते ह्यलकाभिधा ॥१६७॥
गङ्गाद्या देवकीगर्भे षडपि द्वन्द्वभाविनः । उत्पत्स्यन्ते [2]क्रमेणैव विक्रमैकमहार्णवाः ॥१६८॥
हारिणा स्वर्गिणा धात्र्यां सुत्रामादेशकारिणा । प्राप्स्यन्ते जातिमात्रेण[3] तत्राप्स्यन्ति च यौवनम् ॥१६९॥
नृपदत्तोऽग्रजस्तेषां देवपालस्तथाऽपरः । तृतीयोऽनीकदत्तस्तु तुरीयोऽनीकपालकः ॥१७०॥
[4]शत्रुघ्नो जितशत्रुस्ताविति नामभिरीरिताः । रूपेण सदृशाः सर्वे भविष्यन्ति तवात्मजाः ॥१७१॥
हरिवंशशशाङ्कस्य जिनस्य त्रिजगद्गुरोः । शिष्यतां ते करिष्यन्ति गमिष्यन्ति च निर्वृतिम् ॥१७२॥
आगत्य देवकीगर्भे निर्नामा सप्तमः[5] सुतः । उत्पद्य भविता वीरो वासुदेवोऽत्र भारते ॥१७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

श्रुत्वा कंसभवान्तरं तदुदयं सञ्चिन्त्य पुण्योदयात्
सोपेक्षान्तरमित्रतामुपगतोऽप्यत्राभवत्कालवित् ।

नामकी पुत्री हुई ॥१६१॥ और यक्षलिक निर्नामक हुआ, इस यक्षलिकने रसोइयाकी पर्यायमें मुनिराजको मारा था तथा सर्पिणीके साथ अत्यन्त निर्दयताका व्यवहार किया था इसलिए माता नन्दयशाके साथ विद्वेषको प्राप्त हुआ है ॥१६२॥ यह सुनकर राजा गङ्गदेव संसारसे भयभीत हो गया और अपने देवनन्द नामक पुत्रको राज्यलक्ष्मी सौंपकर दो सौ राजाओंके साथ उन्हीं मुनिके समीप उसने दीक्षा धारण कर ली ॥१६३॥ समस्त राजपुत्रों और श्रेष्ठिपुत्र शङ्खने भी दीक्षा ले ली तथा सब, संसार चक्रसे निवृत्त होनेके लिए निर्मल तप करने लगे ॥१६४॥ रानी नन्दयशाने रेवती धाय और बन्धुमती सेठानीके साथ सुव्रता नामक आर्यिकाके समीप उत्तम व्रतोंके समूहसे सुशोभित दीक्षा धारण कर ली ॥१६५॥ निर्नामकने मुनि होकर सिंहनिष्क्रीडित नामक कठिन तप किया था और यह निदान बाँध लिया कि मैं जन्मान्तरमें नारायण होऊँ ॥१६६॥ रेवती धाय मनुष्य पर्याय प्राप्त कर भद्रिलसा नगरमें सुदृष्टि नामक सेठकी अलका नामकी स्त्री हुई है ॥१६७॥ गङ्ग आदि छह पुत्रोंके जीव युगलिया रूपसे देवकीके गर्भमें क्रम-क्रमसे उत्पन्न होंगे और वे पराक्रमके महासागर—अत्यन्त पराक्रमी होंगे ॥१६८॥ इन्द्रका आज्ञाकारी हारी नामका देव उन पुत्रोंको उत्पन्न होते ही धायके जीव अलकाके पास पहुँचा देगा वहीं वे यौवनको प्राप्त करेंगे ॥१६९॥ उन पुत्रोंमें बड़ा पुत्र नृपदत्त, दूसरा देवपाल, तीसरा अनीकदत्त, चौथा अनीकपालक, पाँचवाँ शत्रुघ्न और छठवाँ जितशत्रु नामसे प्रसिद्ध होगा। तुम्हारे ये सभी पुत्र रूपसे अत्यन्त सदृश होंगे अर्थात् समान रूपके धारक होंगे ॥१७०-१७१॥ ये सभी कुमार हरिवंशके चन्द्रमा, तीन जगत्के गुरु श्री नेमिनाथ भगवान्की शिष्यताको प्राप्त कर मोक्ष जावेंगे ॥१७२॥ निर्नामकका जीव देवकीके गर्भमें आकर सातवाँ पुत्र होगा। वह अत्यन्त वीर होगा तथा इस भरत क्षेत्रमें नौवाँ नारायण होगा ॥१७३॥ जिनमतकी लक्ष्मीकी प्रशंसा करनेवाले कालज्ञ वसुदेव, मुनिराजके मुखसे कंसके भवान्तर तथा पुण्यके उदयसे प्राप्त हुए उसके अभ्युदयको सुनकर उसके साथ उपेक्षा पूर्ण मित्रताको प्राप्त हुए अर्थात् उन्होंने मित्रता

१. जनानां मध्ये कान्ततां मनोज्ञताम् (क॰ टि॰) जनकान्तिकम् म॰, ग॰, ङ॰, ख॰ । २. क्रमेणैक-म॰ । ३. यातमात्रेण म॰, क॰ । ४. शत्रुघ्न-म॰ । ५. देवकीसुतः म॰ ।

आकर्ण्याष्टसुतप्रियासुचरितं चामुत्र चेहात्र च
प्राप्तः सम्मदमुन्नतं जिनमतश्रीशंसनो यादवः ॥१७४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कंसोपाख्यानबलदेववासुदेव-देवकीतनयागारचरितवर्णनो नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥

तो पूर्ववत् बनाये रक्खी परन्तु उसमें उपेक्षाका भाव आ गया। वे अपने आठों पुत्र तथा प्रिया देवकीके पूर्वभव एवं वर्तमान भव सम्बन्धी चरितको सुनकर अत्यधिक हर्षको प्राप्त हुए ॥१७४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कंसका उपाख्यान तथा बलदेव, वासुदेव और देवकीके अन्य पुत्रोंके गृह चरितका वर्णन करनेवाला तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३३॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

स्ववंशभाविनं श्रुत्वा जिनेन्द्रं देवकीप्रियः । हृष्टः श्रेणिक ! नत्वेति पृष्टवानतिमुक्तकम् ॥१॥
कथं नाथ ! जिनो भावी हरिवंशविशेषकः । चरितं श्रोतुमिच्छामि तस्येत्युक्तेऽवदन्मुनिः ॥२॥
द्वीपेऽत्रैव सुपद्माख्ये शीतोदायास्त्वपाक्तटे[1] । अभूत् सिंहपुरे भूभृदर्हद्दासो महाहितः ॥३॥
जायाऽस्य जिनदत्ताऽसौ कृतोरुजिनपूजना । लेभे श्रीभमृगेन्द्रार्कचन्द्रसुस्वप्नदृक् सुतम् ॥४॥
अपराजित इत्याख्यो स परैरपराजितः । पितृभ्यां कल्पितो द्यावापृथिव्योः प्रथितस्ततः ॥५॥
पुत्रीं चक्रभृतस्तत्र पवित्रगुणमालिनीम् । कन्यां प्रीतिमतीं मान्यामुपयेमे स यौवने ॥६॥
तमन्योऽन्यातिशायिन्यो[2] मानिन्यो गुणमण्डनाः । कन्याश्चारीरमन् धन्याः[3] सहस्रगणनाः पतिम् ॥७॥
राजा मनोहरोद्याने वन्द्यं देवैर्विवन्दिषुः । अन्येद्युः ससुतो यातो जिनं विमलवाहनम् ॥८॥
प्रवव्राज नृपोऽस्यान्ते पञ्चराजशतान्वितः । बभ्रेऽपराजितो राज्यं सम्यक्त्वं चैव निर्मलम् ॥९॥
जिनेन्द्रपितृनिर्वाणं गन्धमादनपर्वते । श्रुत्वा कृत्वाऽष्टमं भक्तं कृतनिर्वाणभक्तिकः ॥१०॥
जिनार्चां चैत्यगेहार्चां समर्च्य धनदार्पिताम् । आसीनो जातु जायाभ्यो धर्मं सप्रोषधोऽवदत्[4] ॥११॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! 'तीर्थङ्कर भगवान् अपने वंशमें उत्पन्न होने वाले हैं' यह सुनकर कुमार वसुदेव बहुत ही हर्षित हुए और उन्होंने उसी समय अतिमुक्तक मुनिराज को नमस्कार कर इस प्रकार पूछा कि 'हे नाथ ! हरिवंश के तिलक स्वरूप जिनेन्द्र भगवान् किस प्रकार होंगे ? मैं उनका चरित सुनना चाहता हूँ ।' कुमार वसुदेवके इस प्रकार कहने पर अतिमुक्तक मुनिराज कहने लगे ॥१-२॥

इसी जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें शीतोदा नदीके दक्षिण तटपर सुपद्मा नामका देश है। उसमें सिंहपुर नामका नगर है। और उसमें किसी समय राजा अर्हद्दास रहता था जो अत्यन्त योग्य था ॥३॥ जिनेन्द्र भगवान् की महा पूजा करने वाली जिनदत्ता उसकी स्त्री थी। एक बार उसने लक्ष्मी, हाथी, सिंह, सूर्य और चन्द्रमा ये पाँच शुभ स्वप्न देखनेके बाद उत्तम पुत्र प्राप्त किया ॥४॥ चूँकि वह पुत्र दूसरोंके द्वारा कभी पराजित नहीं होता था इसलिए माता-पिताने उसका 'अपराजित' नाम रक्खा। अपराजित आकाश और पृथिवी दोनोंमें ही अत्यन्त प्रसिद्ध था ॥५॥ यौवन काल आनेपर अपराजितने चक्रवर्ती की पवित्र गुणों की मालासे सहित, प्रीतिमती नामकी माननीय कन्याके साथ विवाह किया ॥ ६ ॥ इसके सिवाय जो परस्पर एक दूसरे की शोभाका उल्लङ्घन कर रही थीं, माननीय थीं एवं गुण रूपी आभूषणोंसे सुशोभित थीं ऐसी सौभाग्यशालिनी एक हजार कन्याएँ उसे और भी क्रीड़ा कराती थीं ॥ ७ ॥ किसी एक दिन राजा अर्हद्दास, मनोहर नामक वनमें देवोंके द्वारा वन्दनीय विमलवाहन भगवान् की वन्दना करनेके लिए अपने पुत्र सहित गया ॥ ८ ॥ उपदेशसे प्रभावित होकर राजा अर्हद्दासने पाँच सौ राजाओंके साथ उन्हीं भगवान्‌के समीप दीक्षा ली। पिताके दीक्षा लेनेके बाद युवराज अपराजितने राज्य एवं निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया ॥९॥ एक दिन अपराजितने सुना कि गन्धमादन पर्वतपर जिनेन्द्र विमलवाहन और पिता अर्हद्दासको मोक्ष प्राप्त हो गया है। यह सुनकर उसने तीन दिनका उपवासकर निर्वाण भक्ति की ॥१०॥

एक बार राजा अपराजित, कुबेरके द्वारा समर्पित जिन-प्रतिमा एवं चैत्यालयमें विराजमान अर्हत्प्रतिमा की पूजाकर उपवासका नियम ले मन्दिरमें बैठा हुआ अपनी स्त्रियोंके लिए

१. दक्षिणतटे । २. शायिनो क०, ख०, म० । ३. चारीरमद्धन्याः म० । ४. प्रोषधोऽभुवत् म० । प्रौषधोऽभुवत् ख०, ग०, घ०, ङ० ।

काले तत्र मुनी व्योम्नश्चारणाववतेरतुः । मत्वा क्षितौ सुखासीनौ पप्रच्छेति कृताञ्जलिः ॥१२॥
तोषः साधुषु मे नाथौ ! जैनस्वाकृत्रिमो युवाम् । अपूर्वो वीक्ष्य किं जातः सहजस्नेहवर्त्मनः ॥१३॥
अस्ति तत्पूर्वसम्बन्धः स्नेहाधिक्यप्रबोधनः । राजन्नित्याह तत्राद्यः स्रवन्निव गिरामृतम् ॥१४॥
पाश्चात्यपुष्करार्धस्य विदेहस्यापरस्य हि । रौप्याद्रेरुत्तरश्रेण्यामस्ति गण्यपुरं पुरम् ॥१५॥
[1]सूर्याभो विभुरस्यासीत्सूर्याभ इति भूपतिः । धारिणी धारिणीवार्या गृहिणी तस्य हारिणी[2] ॥१६॥
पुत्रास्त्रयस्तयोश्चिन्तामनश्चपलपूर्वकाः । गत्यन्ता वेगवन्तस्ते स्नेहवन्तः सुपौरुषाः ॥१७॥
तत्रैवारिंजयो राजा पुरेऽरिंजयसंज्ञके । कन्याऽस्याजितसेनायां जाता प्रीतिमती वरा ॥१८॥
सिद्धविद्या प्रसिद्धाऽसौ स्त्रैणगर्हणकारिणी । गुरुं प्राह वरं देहि पितरेकमभीप्सितम् ॥१९॥
कन्याकृतविदूचे स वृणीष्व वरमीप्सितम् । तपसोऽन्यमितीदं च श्रुत्वाऽह प्रीतिमत्यपि ॥२०॥
तपो वरप्रसादो मे पितर्यदि न दीयते । गतियुद्धे विजेत्रेऽहं देयेत्येष वरोऽस्तु मे ॥२१॥
तथाऽस्त्वित्यभिधायासावाजुहाव नभश्चरान्[3] । स्वयंवरे स्वकन्याया गतियुद्धजिगीषया ॥२२॥
विश्वान् विद्याधरान् प्राप्तान् प्राह कन्यापिता ततः । गतियुद्धं[4] समर्थोऽस्या ददातु दुहितुर्मम ॥२३॥
मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य कृत्वा जिनवरार्चनम् । प्राप्तस्येह द्वयोः पूर्वमेकस्य विजयो मतः ॥२४॥

धर्मोपदेश कर रहा था ॥११॥ कि उसी समय दो चारणऋद्धिधारी मुनिराज आकाशसे नीचे उतरे। जब दोनों मुनिराज पृथ्वीतलपर सुखसे विराजमान हो गये तब राजा अपराजितने हाथ जोड़ नमस्कार कर उनसे इस प्रकार पूछा—॥१२॥

हे नाथ ! वैसे तो जैनधर्मके साधुओंको देखकर मुझे अकृत्रिम—स्वाभाविक आनन्द होता ही है परन्तु आप दोनोंके दर्शन कर आज अपूर्व ही आनन्द हो रहा है तथा मेरा स्वाभाविक स्नेह उमड़ पड़ा है सो इसका कारण क्या है ? ॥१३॥ उन मुनियोंमें जो बड़े मुनि थे वे अपनी वाणीसे अमृत झराते हुए के समान बोले कि हे राजन् ! पूर्वभवका सम्बन्ध ही स्नेहकी अधिकताको प्रकट करनेवाला है । मैं पूर्वभवका सम्बन्ध कहता हूँ सो सुनो—॥१४॥

पश्चिम पुष्करार्धके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें जो रूप्याचल है उसकी उत्तर श्रेणीमें एक गण्यपुर नामका नगर है ॥१५॥ उस नगरका स्वामी सूर्याभ था जो सचमुच ही सूर्याभ-सूर्यके समान आभा वाला था और धारिणी उसकी स्त्री थी जो दूसरी धारिणी—पृथिवीके समान जान पड़ती थी और आर्य तथा अत्यन्त सुन्दरी थी ॥१६॥ उन दोनोंके चिन्तागति, मनोगति और चपलगति नामके तीन पुत्र थे । जो अतिशय वेगशाली, स्नेहवान् और उत्तम पराक्रमसे युक्त थे ॥१७॥ उसी समय अरिंजयपुरमें राजा अरिंजय रहता था उसकी अजितसेना नामकी स्त्री थी और उससे उसके प्रीतिमती नामकी उत्तम कन्या उत्पन्न हुई थी ॥१८॥ प्रीतिमतीको अनेक विद्याएँ सिद्ध थीं, वह अत्यन्त प्रसिद्ध थी और स्त्री पर्यायकी सदा निन्दा करती रहती थी । एक दिन उसने अपने पितासे कहा कि हे पिताजी ! मुझे एक इच्छित वर दीजिए ॥१९॥ पिता कन्याके भावको जानता था इसलिए उसने कहा कि तपके सिवाय और जो कुछ वर तुझे इष्ट हो सो माँग ले । पिताका उत्तर सुनकर प्रीतिमतीने कहा कि हे पिताजी ! यदि तप करनेका वर आप नहीं देते हैं तो यह वर मुझे अवश्य दीजिये कि गति युद्धमें जीतने वालेके लिए ही मैं दी जाऊँ ॥२०–२१॥ 'तथास्तु' कहकर पिताने कन्याका वर स्वीकृत कर लिया और गतियुद्धमें जीतनेकी इच्छासे अपनी कन्याका स्वयंवर रचकर उसमें विद्याधरोंको आमन्त्रित किया ॥ २२ ॥ तदनन्तर जब सब विद्याधर आगये तब कन्याके पिताने सबको लक्ष्य बनाते हुए कहा कि आप लोगोंमें जो भी समर्थ हो वह मेरी पुत्रीके लिए गतियुद्धका अवसर देवे ॥ २३ ॥ गतियुद्धका रूप यह है कि वर और कन्या जो भी, मेरु पर्वतकी

---

१. सूर्याभं वसु—म० (?) । २. मनोहारिणी । ३. नभश्चरं म० । ४. गतियुद्धे म० ।

जीयेत येन कन्येयं गतियुद्धेऽतिवेगिना । परिणेया तेन वीरेण मन्मनोरथपूरिणा ॥२५॥
श्रुत्वेति खेचरास्तस्थुर्ज्ञात्वा विद्याधिकाममूम् । विद्यावेगोद्यता बोढुमुत्तस्थुर्धारिणीसुताः ॥२६॥
ततः परिकरं बद्ध्वा चेतसा च समं तदा । करमास्फाल्य लोकेन मुक्ता माध्यस्थ्यमीयुषा ॥२७॥
अहंयवो ययुस्ते सार्धमर्धपथं पथा । [1]मरुतां मेरुमुद्दिश्य हरन्तो मरुतां रयम् ॥२८॥
अतिक्रम्य तथा कन्या परीत्य सुरपर्वतम् । भद्रशालवनेऽभ्यर्च्य जिनार्चाः प्राङ् न्यवर्तत ॥२९॥
वेगश्रमागतस्वेदकणमुक्ताफलार्चिता । प्राप्य नत्वा ददौ पित्रे सिद्धशेषां प्रमोदिने ॥३०॥
ततो लब्धजया पित्रा मुक्ता मुक्तैहिकस्पृहा । [2]निर्वृत्त्यन्ते प्रवव्राज व्रतव्रातविभूषिता ॥३१॥
गतियुद्धे जितास्तेऽपि चिन्तागत्यादयस्तया । दीक्षां दमवरस्यान्ते त्रयोऽपि भ्रातरो दधुः ॥३२॥
अन्ते माहेन्द्रकल्पान्ते प्राप्तसप्ताब्धिजीविनः । सामानिकास्त्रयोऽप्यत्र दिव्यं बुभुजिरे सुखम् ॥३३॥
प्रच्युत्य पुष्कलावत्यामुदक्श्रेण्यां ततो नृप[3] । मध्यमावरजौ जातौ पुरे गगनवल्लभे ॥३४॥
सुतौ गगनसुन्दर्यां गगनेन्दोः क्रमेण तौ । प्रथमोऽमितवेगाख्योऽमिततेजास्ततोऽनुजः ॥३५॥
दीक्षित्वा पुण्डरीकिण्यां स्वयंप्रभजिनान्तिके । श्रुत्वा पूर्वभवांस्तस्मादावामिह पार्थिव ॥३६॥

प्रदक्षिणा देकर तथा श्री जिनेन्द्र देव की पूजाकर सबसे पहले वापिस आ जावेगा उसी एककी जीत समझी जावेगी ॥ २४॥ इस प्रकार अत्यन्त वेगसे गमन करनेवाले जिस वीरके द्वारा गतियुद्धमें यह कन्या जीती जावेगी मेरे मनोरथको पूर्ण करनेवाले उसी वीरके द्वारा यह कन्या विवाहने योग्य है ॥ २५ ॥ यह सुनकर अन्य विद्याधर उसे अधिक विद्यावती जान चुप-चाप बैठे रहे परन्तु विद्याके वेगसे उद्यत धारिणीके पुत्र चिन्तागति, मनोमति और चपलगति गतियुद्ध करनेके लिए उठकर खड़े हो गये ॥ २६ ॥ तदनन्तर मनके साथ-साथ परिकर बाँधकर जब सब तैयार हो गये तब मध्यस्थता को प्राप्त हुए लोगोंने हाथ हिलाकर उन्हें छोड़ा ॥ २७ ॥ अहंकारसे वे चारों व्यक्ति अपने वेगसे वायुके वेग को रोकते हुए, मेरुको लक्ष्यकर आकाशमें दौड़े और आधे मार्गतक तो साथ-साथ दौड़ते रहे परन्तु उसके बाद कन्याने उन्हें पीछे छोड़ दिया और वह मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देकर तथा भद्रशालवनमें विद्यमान जिन-प्रतिमाओंकी पूजाकर पहले वापिस लौट आई ॥ २८–२९ ॥ वेगके श्रमसे उत्पन्न पसीनाके कणोंसे जो मोतियोंके समान सुशोभित होरही थी ऐसी कन्याने आकर पिताके लिए नमस्कार किया एवं पूजाके शेषाक्षत भेंट किये। पुत्रीकी विजयसे पिता को अधिक हर्ष हुआ ॥३०॥

तदनन्तर गतियुद्धमें जिसे विजय प्राप्त हुई थी और इस लोक सम्बन्धी भोगोंकी इच्छा जिसकी छूट चुकी थी ऐसी कन्या प्रीतिमतीके लिए पिताने तप धारण करनेकी अनुमति दे दी जिससे उसने व्रतोंके समूहसे सुशोभित हो निर्वृत्ति नामक आर्यिकाके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥३१॥ गतियुद्धमें प्रीतिमतीके द्वारा पराजित चिन्तागति आदि तीनों भाइयोंने भी दमवर मुनिराजके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥३२॥ आयुके अन्तमें तीनों भाई महेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पटलमें सात सागरकी आयु प्राप्तकर सामानिक जातिके देव हुए और वहाँके दिव्य सुखका उपभोग करने लगे ॥३३॥ तदनन्तर हे राजन्! पुष्कलावती देशके विजयार्ध की उत्तर श्रेणीमें जो गगनवल्लभ नामका नगर है उसमें राजा गगनचन्द्र रहते हैं और उनकी स्त्रीका नाम गगनसुन्दरी है। मध्यम तथा छोटे भाईके जीव माहेन्द्र स्वर्गसे च्युत होकर उनके क्रमसे हम अमितवेग और अमिततेज नामक पुत्र हुए हैं ॥३४–३५॥ पुण्डरीकिणी नगरीमें स्वयंप्रभ जिनेन्द्रके समीप दीक्षा लेकर उनसे हमने अपने पूर्व भव सुने। हे राजन्! हमें स्वयंप्रभ जिनेन्द्रने बताया कि तुम्हारे बड़े भाई चिन्तागतिका जीव माहेन्द्र स्वर्गसे पूर्व ही च्युत हो कर

---

१. मरुतां पथा = आकाशेन। २. निर्वृत्तिनामिकार्यिकासमीपे। ३. नृपः म०, ग०।

पूर्वं प्रच्युत्य माहेन्द्रात्प्रजातमपराजितम् । व्यायांसं द्रष्टुमायातौ त्वां चिन्तागतिपूर्वकम् ॥३७॥
अरिष्टनेमिनामार्हन् भविता भरतावनौ । हरिवंशमहावंशे त्वमितः पञ्चमे भवे ॥३८॥
आयुर्मासावशेषं ते साम्प्रतं [1]पथ्यमात्मनः । क्रियतामिति तावुक्त्वा तमापृच्छ्य गतौ यती ॥३९॥
श्रवणीयं वचः श्रुत्वा चारणश्रमणस्य सः । प्रहृष्टोऽपि चिरं दध्यौ तपःकालव्यतिक्रमम् ॥४०॥
अष्टाहं प्रविधायासौ जिनेन्द्रमहमन्ततः[2] । प्रीतिङ्करे श्रियं न्यस्य शरीरादिषु निस्पृहः ॥४१॥
स द्वाविंशत्यहोरात्रो प्रायोपगमनाश्रितो । [3]आराध्यापाच्युतेन्द्रत्वं द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥४२॥
च्युत्वा गजपुरे जज्ञे जिनेन्द्रमतभावितः । श्रीचन्द्रश्रीमतीसूनुः सुप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः ॥४३॥
सुप्रतिष्ठं प्रतिष्ठाप्य राज्ये श्रीचन्द्रचन्द्रमाः । सुमन्दिरगुरोरन्ते दीक्षित्वा मोक्षमाप्तवान् ॥४४॥
श्रीचन्द्रात्मजराजोऽसौ दानं मासोपवासिने । यशोधराय दत्त्वाऽऽप वसुधारादिपञ्चकम् ॥४५॥
कार्तिक्यामन्यदा रात्रावष्टस्त्रीशतवेष्टितः । तिष्ठन्पतनमुल्काया दृष्ट्वा लक्ष्मीं सुदृष्टये ॥४६॥
सुनन्दासूनवे दत्त्वा सुमन्दिरमहागुरोः । सुप्रतिष्ठोऽप्यदीक्षिष्ट दृष्टोल्कासदृशीं श्रियम् ॥४७॥
चतुःसहस्रसंख्याताः सहस्रकिरणौजसः । प्रातिष्ठन्त तपस्युग्रे सुप्रतिष्ठेन पार्थिवाः ॥४८॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविवृद्धिमान् । अध्यैष्ट सोऽङ्गपूर्वाणि सरहस्यान्यतन्द्रितः ॥४९॥
तपोविधिविशेषैः स सर्वतोभद्रपूर्वकैः । वपुर्विभूषयांचक्रे सिंहनिःक्रीडितोत्तरैः ॥५०॥
श्रवणादपि पापघ्नानुपवासमहाविधीन् । शृणु यादव ! ते वच्मि समाधाय मनः क्षणम् ॥५१॥

यहाँ अपराजित राजा हुआ है सो उसे देखनेके लिए हम दोनों आये हैं ॥३६-३७॥ हे अपराजित ! तुम इससे पाँचवें भवमें भरतक्षेत्रके हरिवंश नामक महावंशमें अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकर होओगे ॥३८॥ इस समय तुम्हारी आयु एक माहकी शेष रह गई है इसलिए आत्महित करो। यह कह कर तथा राजा अपराजितसे पूछकर दोनों मुनिराज विहार कर गये ॥ ३९ ॥ चारण ऋद्धि धारी मुनिराजके श्रवण करने योग्य वचन सुन कर राजा अपराजित हर्षित होता हुआ भी चिर कालतक इस बातकी चिन्ता करता रहा कि अहो ! मेरा तप करनेका समय व्यर्थ ही निकल गया ॥४० ॥ वह आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करता रहा और अन्तमें प्रीतिंकर नामक पुत्रके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपकर शरीरादिसे निःस्पृह हो गया ॥४१॥ तत्पश्चात् प्रायोपगमन संन्याससे सुशोभित बाईस दिन राततक चारों आराधनाओं को आराधना कर वह अच्युत स्वर्गमें बाईस सागरकी आयुका धारक इन्द्र पदको प्राप्त हुआ ॥४२॥ वहाँसे चयकर नागपुरमें श्रीचन्द्र और श्रीमतीके सुप्रतिष्ठ नामका पुत्र हुआ। वह सुप्रतिष्ठ जिनेन्द्रमत की भावनासे युक्त था ॥ ४३ ॥ राजा श्रीचन्द्ररूपी चन्द्रमा, सुप्रतिष्ठ पुत्र को राज्य सिंहासनपर प्रतिष्ठित कर सुमन्दिर नामक गुरुके पास दीक्षा ले मोक्ष चले गये ॥४४॥ एक दिन राजा सुप्रतिष्ठने मासोपवासी यशोधर मुनिराजके लिए दान देकर रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥४५॥

कदाचित् राजा सुप्रतिष्ठ कार्तिककी पूर्णिमाकी रात्रिमें अपनी आठ सौ स्त्रियोंसे वेष्टित हो महलकी छतपर बैठा था। उसी समय आकाशसे उल्कापात हुआ उसे देख वह राज्य-लक्ष्मीको उल्काके समान ही क्षणभंगुर समझने लगा। इसलिए अपनी सुनन्दा रानीके पुत्र सुदृष्टिके लिए राज्यलक्ष्मी देकर उसने सुमन्दिर नामक महागुरुके समीप दीक्षा ले ली ॥४६-४७॥ राजा सुप्रतिष्ठके साथ, सूर्यके समान तेजस्वी चार हजार राजाओंने भी उग्र तप धारण किया था ॥४८॥ मुनिराज सुप्रतिष्ठने ज्ञान दर्शन चारित्र तप और वीर्यकी वृद्धिसे युक्त हो आलस्य छोड़ गूढार्थसहित ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंका अध्ययन किया तथा सर्वतोभद्रको आदि लेकर सिंहनिष्क्रीडितपर्यन्तके विशिष्ट तपोंसे अपने शरीरको विभूषित किया ॥४९-५०॥ हे यादव ! श्रवण मात्रसे भी पापोंको नष्ट करनेवाली, उन उपवासोंकी महाविधि, मैं तेरे लिए कहता हूँ सो तू क्षणभरके लिए मन स्थिरकर सुन ॥५१॥

१. हितम् । २. महिमां ततः म० । ३. आराध्य आप अच्युतेन्द्रत्वम् इति पदच्छेदः ।

एकादिषूपवासेषु पञ्चान्तेषु यथाक्रमम् । अन्तयोः कृतयोरादौ शेषभङ्गसमुद्भवे ॥५२॥
कल्पितश्चतुरस्रोऽयं प्रस्तारः पञ्चभङ्गकः । सर्वतोऽप्युपवासाश्च गण्याः पञ्चदशात्र हि ॥५३॥
पञ्चभिर्गुणितास्ते स्युः संख्यया पञ्चसप्ततिः । ताडिताः पञ्चभिः पञ्च पारणाः पञ्चविंशतिः ॥५४॥
सर्वतोभद्रनामायमुपवासविधिः कृतः । विधत्ते सर्वतोभद्रं निर्वाणाभ्युदयोदयम् ॥५५॥
पञ्चादिषु नवान्तेषु भङ्गोत्तरवसन्तकः । विधिस्तत्रोपवासास्तु पञ्चत्रिंशत्समं परम् ॥५६॥
सप्तान्तेष्वेकपूर्वेषु प्रस्तारे सप्तभङ्गके । आद्ययोः कृतयोरन्ते सर्वभङ्गेष्वनुक्रमम् ॥५७॥
अष्टाविंशतिरिष्टास्ते सर्वतः सप्तपारणाः । स महासर्वतोभद्रः सर्वतोभद्रसाधनः ॥५८॥
पञ्चाद्या यत्र रूपान्ता द्व्याद्यास्ते चतुरन्तकाः । त्र्याद्या रूपान्तकाः स त्रिलोकसारः स्मृतो विधिः ॥५९॥

सर्वतोभद्र—पाँच भङ्गका एक चौकोर प्रस्तार बनावे और एकसे लेकर पाँच तकके अङ्क उसमें इस तरह भरे कि सब ओरसे गिननेपर पन्द्रह-पन्द्रह उपवासोंकी संख्या निकल आवे। इन पन्द्रह उपवासोंमें पाँच भंगोंका गुणा करनेसे उपवासोंकी संख्या पचहत्तर और पाँच पारणाओंमें पाँच भंगोंका गुणा करनेसे पारणाओंकी संख्या पच्चीस निकलती है। यह सर्वतोभद्र नामका उपवास है तथा इसकी विधि यह है कि एक उपवास, एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा। इसी प्रकार आगेके भंगोंमें भी समझना चाहिए। यह सर्वतोभद्र व्रत सौ दिनमें होता है और निर्वाण तथा स्वर्गादिककी प्राप्तिरूप समस्त कल्याणोंको प्रदान करता है ॥५२-५५॥

वसन्तभद्र—एक सीधी रेखामें पाँचसे लेकर नौ तक अङ्क लिखे। उन सबका जोड़ पैंतीस होता है। इस प्रकार वसन्तभद्र व्रतमें ३५ उपवास होते हैं। उनका क्रम यह है कि पाँच उपवास एक पारणा, छह उपवास एक पारणा, सात उपवास एक पारणा, आठ उपवास एक पारणा और नौ उपवास एक पारणा। इस व्रतमें उपवासोंके ३५ और पारणाओंके ५ इस तरह चालीस दिन लगते हैं ॥५६॥

सर्वतोभद्रयंत्रम्

उपवास	१	२	३	४	५
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	४	५	१	२	३
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	२	३	४	५	१
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	५	१	२	३	४
पारणा	१	१	१	१	१
उपवास	३	४	५	१	२
पारणा	१	१	१	१	१

वसन्तभद्रयंत्रम्

उपवास	५	६	७	८	९
पारणा	१	१	१	१	१

महासर्वतोभद्र—सात भंगोंवाला एक चौकोर प्रस्तार बनावे। उसमें एकसे लेकर सात तकके अङ्क इस रीतिसे लिखे कि सब ओरसे संख्याका जोड़ अट्ठाईस-अट्ठाईस आवे। एक-एक भङ्गमें अट्ठाईस-अट्ठाईस उपवास और सात-सात पारणाएँ होती हैं। सातों भङ्गोंको मिलाकर एक सौ छयानवे उपवास और उनचास पारणाएँ होती हैं। इसके उपवास और पारणाओंकी विधि पहलेके समान जानना चाहिए। यह महासर्वतोभद्र नामका व्रत कहलाता है तथा सब प्रकारके कल्याणोंका करनेवाला है। इसमें दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं ॥५७-५८॥

त्रिलोकसारविधि—जिसमें नीचेसे पाँचसे लेकर एक तक, फिर दोसे लेकर चार तक और उसके बाद तीनसे लेकर एक तक बिन्दु रक्खी जावें वह त्रिलोकसार विधि है। इसका

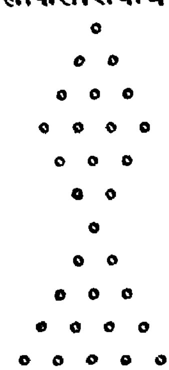
प्रस्तारश्चास्य बिन्दूनां त्रिलोकाकृतिरत्र तु । धारणाः पारणाश्चापि त्रिंशदेकादशक्रमात् ॥६०॥
फलमस्य विधेः श्रेष्ठं कोष्ठबीजादिबुद्धयः । त्रिलोकसारभूतं च त्रिलोकशिखरे सुखम् ॥६१॥
क्रमेणाद्यन्तमध्येषु यः पञ्चैकोपवासकः । वज्रमध्यो विधिः स स्याद् गण्याः पारणधारणाः ॥६२॥
शक्रचक्रिगणेशत्वं समनःपर्ययोऽवधिः । प्रज्ञाश्रमणता मोक्षो वज्रमध्यविधेः फलम् ॥६३॥
द्व्याद्यास्ते यत्र पञ्चान्ता द्व्यन्ताश्च चतुरादयः । विधिर्मृदङ्गमध्योऽयं मृदङ्गाकृतिरिष्यते ॥६४॥

प्रस्तार तीन लोकके आकार बनाना चाहिए। इसमें तीस धारणाएँ अर्थात् तीस उपवास और ग्यारह पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस विधिमें इकतालीस दिन लगते हैं। इस विधिका फल कोष्ठबीज आदि ऋद्धियाँ तथा तीन लोकके शिखरपर तीन लोकका सारभूत मोक्ष सुखका प्राप्त होना है ॥५९-६१॥

महासर्वतोभद्रयन्त्रम्

उपवास	१	२	३	४	५	६	७
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	३	४	५	६	७	१	२
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	५	६	७	१	२	३	४
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	७	१	२	३	४	५	६
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	२	३	४	५	६	७	१
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	४	५	६	७	१	२	३
पारणा	१	१	१	१	१	१	१
उपवास	६	७	१	२	३	४	५
पारणा	१	१	१	१	१	१	१

त्रिलोकसारविधियन्त्रम्



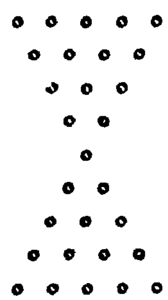
वज्रमध्यविधि—जिसमें आदि और अन्तमें पाँच-पाँच तथा बीचमें घटते-घटते एक बिन्दु रह जाय वह वज्रमध्यविधि है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इनका क्रम इस प्रकार है—पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा। इस व्रतमें उनतीस उपवास और नौ पारणाएँ होती हैं तथा अड़तीस दिनमें समाप्त होता है। इन्द्र, चक्रवर्ती और गणधरका पद, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि और मोक्षका प्राप्त होना इस वज्रमध्यविधि व्रतका फल है ॥६२-६३॥

मृदङ्गमध्यविधि—जिसमें दोसे लेकर पाँच तक और चारसे लेकर दो तक बिन्दुएँ रक्खी जावें वह मृदङ्गाकार प्रस्तारसे युक्त मृदङ्गमध्यविधि है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इनका क्रम यह है—दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा। इस प्रकार इस

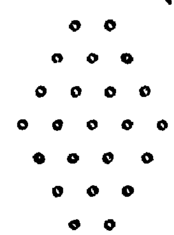
क्षीरस्रावित्वमक्षीणमहानसगुणादिकाः । लब्धयोऽवधिरन्ते[1] च फलं निर्वाणमस्य च ॥६५॥
पञ्चाद्यो द्विपर्यन्ताः पञ्चान्ता द्व्यादयः परे । विधिर्मुरजमध्योऽस्य फलं चानन्तरं श्रुतम् ॥६६॥
[2]चतुर्थकानि यत्र स्युश्चतुर्विंशतिरेव सा । एकावली फलं तस्याः सुखमेकावलीस्थितम् ॥६७॥

व्रतमें तेईस उपवास और सात पारणाएँ होती हैं तथा तीस दिनमें समाप्त होता है। क्षीरस्रावित्व, अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, अवधिज्ञान और अन्तमें मोक्ष प्राप्त होना इस व्रतका फल है ॥६४-६५॥

वज्रमध्यविधियन्त्रम्—



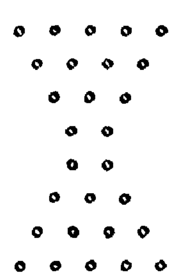
मृदङ्गमध्यविधियन्त्रम्—



मुरजमध्यविधि—जिसमें पाँचसे लेकर दो तक, दोसे लेकर पाँचतक बिन्दुएँ हों वह मुरजमध्यविधि कहलाती है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ समझनी चाहिए। इनका क्रम यह है कि पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा और पाँच उपवास एक पारणा है। इस प्रकार इसमें अट्ठाईस उपवास और आठ पारणाएँ हैं तथा छत्तीस दिनमें समाप्त होता है। इसका फल मृदङ्गमध्यविधिके समान है ॥६६॥

एकावलीविधि—जिसमें चौबीस उपवास और चौबीस पारणा हों वह एकावलीविधि है। इसमें एक उपवास तथा एक पारणाके क्रमसे चौबीस उपवास और चौबीस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत अड़तालीस दिनमें समाप्त होता है तथा अखण्ड सुखकी प्राप्ति होना इसका फल है ॥६७॥

मुरजमध्यविधियन्त्रम्—



एकावलीयन्त्रम्—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

१. विधिरन्ते म० । २. उपवासाः ।

यत्र षष्ठोपवासाः स्युश्चत्वारिंशत्तथाष्ट च । द्विकावलीयमुद्दीता लोकद्वितयसुखावली ॥६८॥
एकाद्या यत्र पञ्चान्ता एकान्ताश्चतुरादिकाः । मुक्तावलीयमाख्याता ख्याता मुक्तावली यथा ॥६९॥
सान्तरीयकमेतस्या लोकालङ्करणं फलम् । मुक्तालयपरिप्राप्तिरन्ते चात्यन्तिकं फलम् ॥७०॥
पञ्चान्ता यत्र चैकाद्याः पञ्चाद्येकान्तिका पुनः । रत्नावलीयमस्याश्च फलं रत्नावलीगुणाः ॥७१॥

---

[1]द्विकावलीविधि—जिसमें अड़तालीस बेला और अड़तालीस पारणाएँ हों वह द्विकावलीविधि कही गई है। यह दोनों लोकोंमें सुखको देनेवाली है। इसमें एक बेलाके बाद एक पारणा होता है। यह व्रत छयानबे दिनमें पूर्ण होता है ॥६८॥

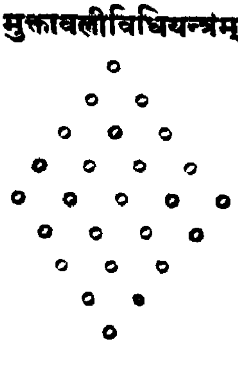
२ द्विकावलीयन्त्रम्—

२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

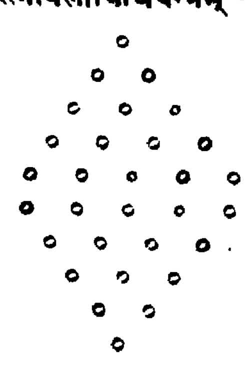
मुक्तावली विधि—जिसमें एकसे लेकर पाँचतक और चारसे लेकर एकतक बिन्दुएँ हों वह मुक्तावली विधि है। यह मोतियों की मालाके समान प्रसिद्ध है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हैं उतने उपवास और जितने स्थान हैं उतनी पारणाएँ होती हैं। इस प्रकार इस व्रतमें पच्चीस उपवास और नौ पारणाएँ होती हैं। उनका क्रम यह है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, और एक उपवास एक पारणा। यह व्रत चौंतीस दिनमें पूर्ण होता है। इसका साक्षात् फल यह है कि इस व्रतको करते ही मनुष्य समस्त लोगोंका अलंकार स्वरूप श्रेष्ठ हो जाता है और अन्तमें सिद्धालयकी प्राप्तिस्वरूप आत्यन्तिक फलकी प्राप्ति होती है ॥६९–७०॥

रत्नावली विधि—जिसमें एकसे लेकर पाँचतक और पाँचसे लेकर एकतक बिन्दुएँ हों वह रत्नावली विधि है। इसका फल रत्नावलीके समान अनेक गुणोंकी प्राप्ति होना है। इसमें जितनी बिन्दुएँ हों उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। उनका क्रम यह है—एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा। इस प्रकार इसमें तीस उपवास और दस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत चालीस दिनमें पूर्ण होता है ॥७१॥

मुक्तावलीविधियन्त्रम्—



रत्नावलीविधियन्त्रम्—



---

[1] दिनद्वयोपवासाः।

इन्द्रवज्रावृत्तम्

[1]रूपान्तराः पञ्चदशावसाना रूपान्तराः षोडश यत्र चाग्रे ।
रूपोनकाः स्तत्परमन्तरूपाः मुक्तावलीयं खलु रत्नपूर्वा ॥७२॥

उपजातिवृत्तम्

द्विशत्यशीतिश्चतुरुत्तराः स्युरत्रोपवासाः परिगण्यमानाः ।
एकोनषष्टिश्च हि भुक्तिकाकाः फलं तु रत्नत्रयसारकल्पिः ॥७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एको द्वौ च नव त्रिकाण्यपि ततश्चैकादिभिः षोडश
प्राज्ञैस्ते[2] गणिताश्चतुस्त्रिकयुतं त्रिंशत्त्रिकाण्येव तु ।

रत्नमुक्तावलीविधि—एक ऐसा प्रस्तार बनाया जावे जिसमें रूप अर्थात् एक-एकका अन्तर देते हुए एकसे लेकर पन्द्रह तकके अङ्क लिखे जावें। उसके आगे एक-एकका अन्तर देकर सोलह लिखे जावें और उसके आगे एक-एकका अन्तर देते हुए एक-एक कमकर अन्तमें एक आ जावे वहाँ तक लिखे। इसमें प्रारम्भमें प्रथम अङ्कसे दूसरा अङ्क लिखते समय बीचमें और अन्तमें दोसे प्रथम अङ्क लिखते समय बीचमें पुनरुक्त होनेके कारण एकका अन्तर नहीं देवे। इस व्रतमें सब अङ्कोंका जोड़ करनेपर दो सौ चौरासी उपवास और उनसठ पारणाएँ होती हैं। उस उपवासमें तीन सौ तैंतालीस दिन लगते हैं। इसका फल रत्नत्रयकी प्राप्ति है। इसकी विधि यह है कि एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा आदि ॥७२-७३॥

कनकावलीविधि—जिसमें एकका अङ्क, दो का अङ्क, नौ बार तीनका अङ्क, फिर एकसे लेकर सोलह तकके अङ्क, फिर चौंतीस बार तीनके अङ्क, सोलहसे लेकर एक तकके अङ्क, नौ बार तीनके अङ्क तथा दो और एकका अङ्क लिखा जावे अर्थात् इस क्रमसे चार सौ चौंतीस उपवास और अठासी पारणाएँ की जावें वह कनकावली व्रत है। लौकान्तिक देव पदकी प्राप्ति होना अथवा संसारका अन्तकर मोक्ष प्राप्त करना इस व्रतका फल है। इसका क्रम यह है कि एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा आदि। इस व्रतके

रत्नमुक्तावलीयन्त्रम्—

१ १
१ २ १ ३ १ ४ १ ५ १ ६ १ ७ १ ८ १ ९ १ १० १ ११ १ १२ १ १३ १ १४ १ १५ १ १६
१ १
१ १५ १ १४ १ १३ १ १२ १ ११ १ १० १ ९ १ ८ १ ७ १ ६ १ ५ १ ४ १ ३ १ २ १

कनकावलीयन्त्रम्—

१ १
१ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ ३ ३
१ १
३ २ ३ ३ ३ ३ ३ ३
१ १
३ ३ ३ १६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ २ १

१. रूपान्तराख्यं च दशा ख० । २. -स्तद्गणिता म० ।

रूपान्तान्यपि षोडशप्रभृतयो रन्ध्रं [1]त्रिकं द्व्येककं
यत्रैषा कनकावली[2] प्रकुरुते लौकान्तिकत्वं फलम् ॥७४॥
द्विघ्ने संकलिते हि षोडशगते त्रिघ्नाष्टकोष्ठैश्चतुः-
पञ्चाशत् त्रिकयोज्ययोजितचतुःशत्याश्चतुस्त्रिंशता ।
द्विघ्नैकादश षोडशान्वितचतुस्त्रिंशद्दिनैः साशनै[3]-
र्वर्षं द्वादशवासरैरभिहिताः पञ्चेह मासा[4] विधौ ॥७५॥
एकद्वित्रि[5]चतुर्द्विकानि सहितैस्ते षोडशैकादिभि-
र्विज्ञेयानि सितं[6] चतुर्द्विकयुतं त्रिंशद्द्विकान्यादरात् ।
एकान्ता खलु षोडशादय इह ह्यष्टौ द्विकान्येव तु
त्रिद्व्येकोऽपि च यत्र ते प्रकथिता रत्नावलीयं परा ॥७६॥

स्रग्धरावृत्तम्

षट्पञ्चाशद्द्विकोत्थे द्विकपरिगुणिते मिश्रिते षोडशोत्थ-
द्वासप्तत्या द्विशत्याशनिरसनगणो गण्यते मिश्रितेऽस्मिन् ।

उपवासोंकी गणना निकालनेकी दूसरी विधि यह है कि एकसे लेकर सोलह तक दो बार संख्या लिखे और उसे आपसमें जोड़ देनेपर जितनी संख्या हो उसमें चौवनके तिगुने एक सौ बासठ और मिला दें। ऐसा करनेसे चार सौ चौंतीस उपवास निकल आते हैं और अठासी स्थान होनेसे अठासी पारणाएँ होती हैं। इस कनकावली विधिमें एक वर्ष पाँच मास और बारह दिन लगते हैं।

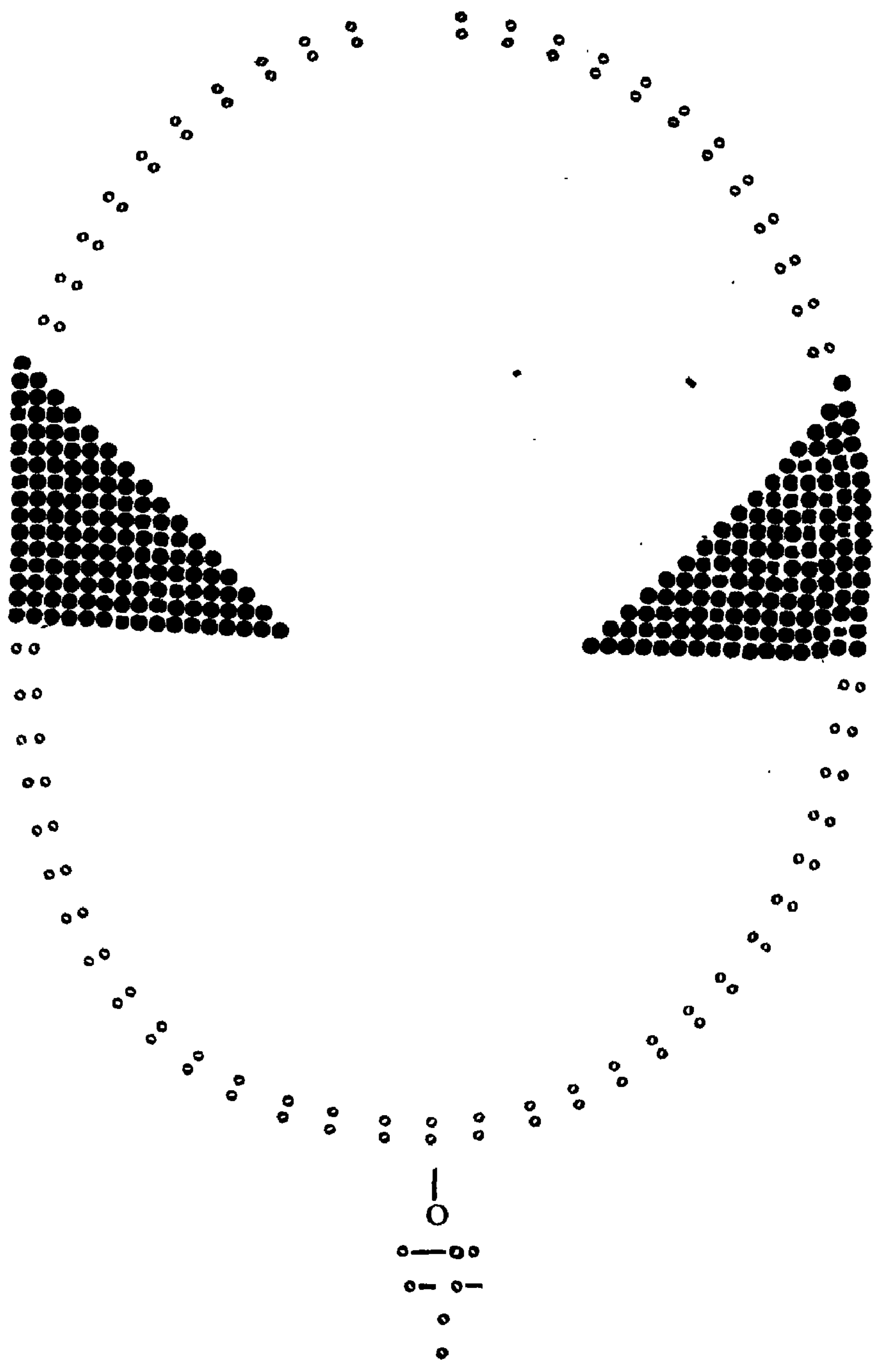
दूसरे प्रकारको रत्नावलीविधि—जिसमें रत्नोंके हारके समान एक प्रस्तार बनाकर बाँई ओर पहले बेलाका सूचक दो बिन्दुओंका एक द्विक लिखे, फिर दो बेलाओंके सूचक दो द्विक लिखे, फिर तीन बेलाओंके सूचक तीन द्विक लिखे, फिर चार बेलाओंके सूचक चार द्विक लिखे। इसके आगे एक उपवासकी सूचक एक बिन्दु लिखे, उसके बाद दो उपवासोंकी सूचक दो बिन्दुएँ बराबरीपर लिखे। तदनन्तर इसके आगे इसी प्रकार तीन आदि उपवासोंकी सूचक सोलह तक बिन्दुएँ रक्खे। फिर वे बाँई ओरसे दाहिनी ओर गोलाकार बढ़ते हुए बत्तीस बेलाओंके बत्तीस द्विक लिखे और उनके नीचे चार बेलाओंके सूचक चार द्विक लिखे। तीस द्विकके ऊपर सोलह आदि उपवासोंके सूचक सोलहसे लेकर एक तक बराबरीपर सोलह पन्द्रह आदि बिन्दुएँ रक्खे। और उसके आगे आठ बेलाओंके सूचक आठ द्विक, तीन बेलाओंके सूचक तीन द्विक, दो बेलाओंके सूचक दो द्विक तथा एक बेलाका सूचक एक द्विक लिखे। इस व्रतमें छप्पन द्विकके द्विगुणित एक सौ बारह तथा दोनों ओरकी षोडशियोंके दो सौ बहत्तर इस प्रकार सब मिलाकर तीन सौ चौरासी उपवास और अठासी स्थानोंके अठासी भुक्तिकाल होते हैं। यह व्रत एक वर्ष तीन माह और बाईस दिनमें पूरा होता है तथा रत्नत्रयरूपी तेजको बढ़ानेवाला है अर्थात् इस व्रतके फल स्वरूप रत्नत्रयमें निर्मलता आती है। इसकी विधि इस प्रकार है—एक बेला एक पारणा, एक बेला एक पारणा, इस क्रमसे दश बेला दश पारणा, फिर एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा इस क्रमसे सोलह उपवास तक बढ़ाना चाहिए। फिर एक बेला एक पारणा इस क्रमसे तीस बेला तीस पारणा, फिर षोडशीके सोलह उपवास एक पारणा, पन्द्रह उपवास एक पारणा, इस क्रमसे एक उपवास एक

१. द्विकं त्र्येककं म०। २. एकः द्वौ, नववारं त्रयः, एकः द्वौ त्रयः इत्यादि षोडशपर्यन्ताः, ततः चतुस्त्रिंशद्वारं उपवासत्रिकं (तेला) ततः षोडश पञ्चदश इत्याद्येकपर्यन्ताः, ततः नववारं उपवासत्रिकं ततो द्वावेकश्च इति कनकावली। ३. पारणादिवसैः। ४. कनकावलीसमयः एको वर्षः पञ्चमासाः द्वादशदिनानि। ५. गिरि क०, म०। ६. अन्तं।

अष्टाशीत्या समाहैरिह भवति विधौ[1] कालसंख्याप्यहोभि—
द्वाविंशत्या त्रिरत्नद्युतिकृतिसुकृते वर्षमेकं [2]त्रिमास्या ॥७७॥

पारणा तक आना चाहिए। फिर एक बेला एक उपवासके क्रमसे बारह बेला और बारह पारणाएँ तत्पश्चात् नीचेके चार बेला और चार पारणाएँ करना चाहिए ॥७६–७७॥

द्वितीयरत्नावलीयन्त्रम्—



१. विधौ ग०म०। २. रत्नावली समय एको वर्षस्त्रयो मासा द्वाविंशतिदिनानि।

अनुष्टुप्

द्वौ द्वौ चैकादयः प्रस्ताः पञ्चपर्यन्तसात्मकाः । हीने क्रमवतः षष्टिः सिंहनिष्क्रीडिते विधौ ॥७८॥
त एव चाष्टपर्यन्ता नवं च शिखराः पुनः । मध्यमेऽत्रुपवासाः स्युस्त्रि पञ्चाशं शतं स्फुटम् ॥७९॥

सिंहनिष्क्रीडित विधि—सिंहनिष्क्रीडित व्रत जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है उनमें हीन अर्थात् जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रतका क्रम इस प्रकार है। एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर पाँच तकके अङ्क दो दोबार आ जावें तथा वे पहलेके अंकोंमें दो-दो अङ्कोंकी सहायतासे एक-एक बढ़ता और घटता जाय इस रीतिसे लिखे जावें। पुनः पाँचसे लेकर एक तकके अङ्क भी दो-दो बार पूर्वोक्त क्रमसे लिखे जावें। समस्त अङ्कोंका जोड़ करनेपर जितनी संख्या हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जानना चाहिए। इस व्रतके प्रस्तारका आकार यह है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	१	३	२	४	३	५	४	५	५	४	५	३	४	२	३	१	२	१

इसमें पहले एक उपवास एक पारणा और दो उपवास एक पारणा करना चाहिए। फिर दोमें से एक उपवासका अङ्क घट जानेसे एक उपवास एक पारणा, दोमें एक उपवासका अङ्क बढ़ आनेसे तीन उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अङ्क घट जानेसे दो उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अङ्क बढ़ जानेसे चार उपवास एक पारणा, चारमें से एक उपवासका अङ्क घट जानेसे तीन उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अङ्क बढ़ जानेसे पाँच उपवास एक पारणा, पाँचमें से एक उपवासका अंक कमा देनेपर चार उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अङ्क बढ़ा देनेपर पाँच उपवास एक पारणा होती है। यहाँपर अन्तमें पाँचका अङ्क आ जानेसे पूर्वार्ध समाप्त हो जाता है। आगे उल्टी संख्यासे पहले पाँच उपवास एक पारणा करना चाहिए। पश्चात् पाँचमें से एक उपवासका अंक कमा देनेपर चार उपवास एक पारणा, चारमें एक उपवासका अङ्क बढ़ा देनेपर पाँच उपवास एक पारणा, चारमें से एक उपवासका अङ्क घटा देनेपर तीन उपवास एक पारणा, तीनमें एक उपवासका अङ्क बढ़ा देनेपर चार उपवास एक पारणा, तीनमें से एक उपवासका अङ्क घटा देनेपर दो उपवास एक पारणा, दोमें एक उपवासका अङ्क बढ़ा देनेसे तीन उपवास एक पारणा, दोमें से एक उपवासका अङ्क घटा देनेपर एक उपवास एक पारणा, फिर दो उपवास एक पारणा और एक उपवास एक पारणा करना चाहिए। इस जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें समस्त अङ्कोंका जोड़ साठ होता है इसलिए साठ उपवास होते हैं और स्थान बीस है इसलिए पारणाएँ बीस होती हैं। यह व्रत अस्सी दिनमें पूर्ण होता है ॥७८॥

मध्यम सिंहनिष्क्रीडित विधि—मध्यम सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर आठ अङ्क तकका प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखरपर नौ अङ्क लिखना चाहिए। उसके बाद उल्टे क्रमसे एक तकके अङ्क लिखना चाहिए। यहाँ भी जघन्य निष्क्रीडितके समान दो दो अङ्कोंकी अपेक्षा एक एक उपवासका अङ्क घटाना बढ़ाना चाहिए। इस रीतिसे लिखे हुए समस्त अङ्कोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ समझनी चाहिए। इस तरह इस व्रतमें एक सौ त्रेपन उपवास और तेतीस पारणाएँ होती हैं। यह व्रत एक सौ छयासी दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—॥७९॥

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१	२	१	३	२	४	३	५	४	६	५	७	६	८	७	८	९
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
८	७	८	६	७	५	६	४	५	३	४	२	३	१	२	१	

१. त्वेकादयः म० ।

पूर्वे पञ्चदशान्तास्तु शिखरे षोडशाधिकाः । उत्कृष्टे तत्र ते वेद्याः षण्णवत्या चतुःशती ॥८०॥

उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित विधि—उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर पन्द्रह तकके अङ्कोंका प्रस्तार बनाना चाहिए और उसके शिखरमें सोलहका अङ्क लिखना चाहिए। उसके बाद उल्टे क्रमसे एक तकके अङ्क लिखना चाहिए। यहाँपर भी जघन्य और मध्यम सिंह-निष्क्रीडितके समान दो-दो अङ्कोंकी अपेक्षा एक-एक उपवासका अङ्क घटाना-बढ़ाना चाहिए। इस रीतिसे लिखे हुए समस्त अङ्कोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाननी चाहिए। इस तरह इस व्रतमें चार सौ छियानवे उपवास और इकसठ पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पाँच सौ सत्तावन दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—॥८०॥

१ १
१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९ ८ १० ९ ११ १० १२ ११

१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
१३ १२ १४ १३ १५ १४ १५ १६ १५ १४ १५ १३ १४ १२ १३

१ १
११ १२ १० ११ ९ १० ८ ९ ७ ८ ६ ७ ५ ६ ४ ५ ३ ३ २ ३ १ २ १

विशेष—७८, ७९, ८० वें श्लोकोंका एक सीधा-साधा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है विद्वज्जन इसपर विचार करें—

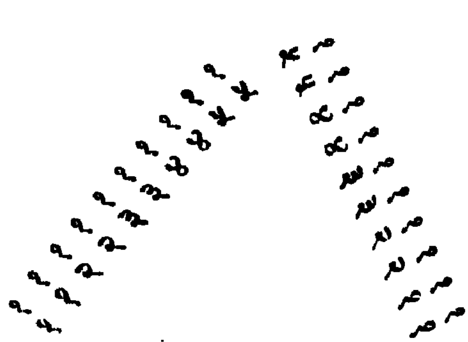
जघन्य सिंहनिष्क्रीडित विधिमें एकसे लेकर पाँच तकके अङ्क दो-दो की संख्यामें लिखें और उसके बाद उलटे क्रमसे पाँचसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखें। दोनों ओरके सब अंकोंका जोड़ कर देनेपर साठ उपवास और बीस पारणाएँ होती है ॥७८॥

मध्यम सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर आठ तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखें और उनके ऊपर शिखरस्थानपर नौका अंक लिखे फिर उल्टे क्रमसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे। सब अंकोंका जोड़ करनेपर एकसौ त्रेपन उपवास और तेतीस पारणाएँ आती हैं ॥७९॥

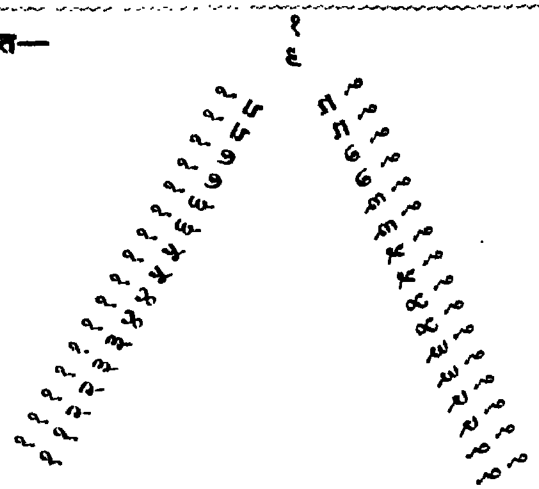
उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर पन्द्रह तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे और उसके ऊपर शिखर स्थानपर सोलहका अंक लिखे फिर उल्टे क्रमसे एक तकके अंक दो-दोकी संख्यामें लिखे सब अंकोंका जोड़ करनेपर चारसौ छियानवे उपवास और इकसठ पारणाएँ होती हैं।

इनके प्रस्तार इस क्रमसे जानना चाहिए—

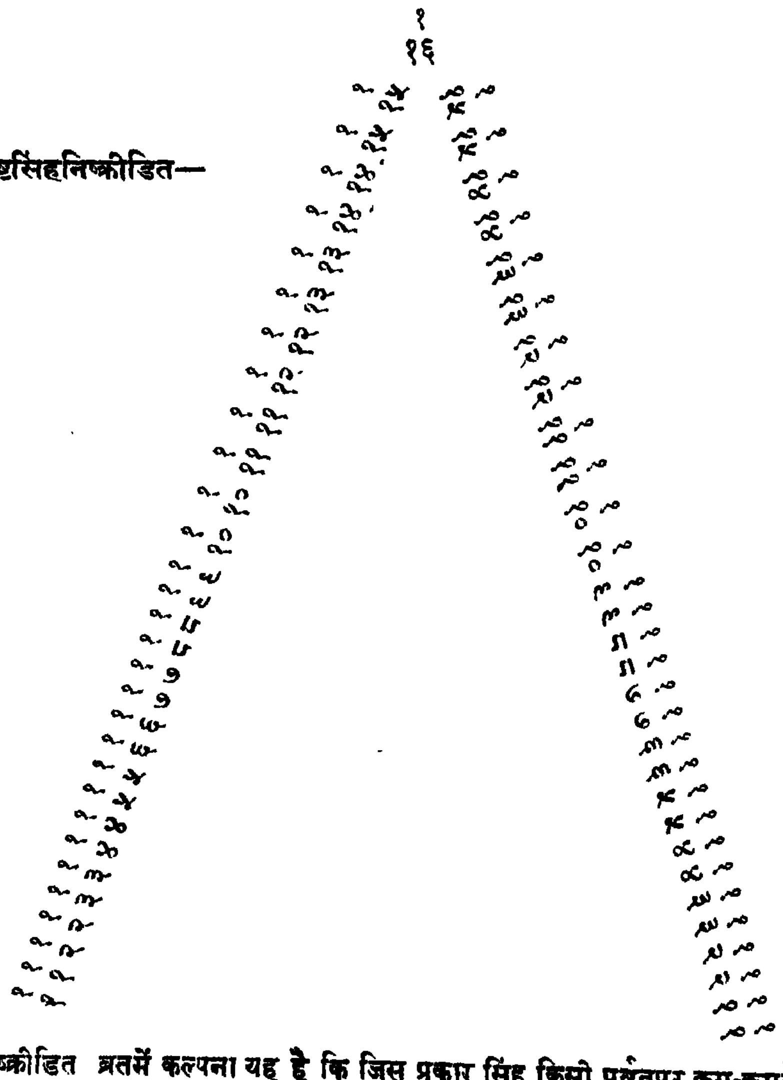
जघन्य सिंहनिष्क्रीडित—



मध्यम सिंहनिष्क्रीडित—



उत्कृष्टसिंहनिष्क्रीडित—



सिंहनिष्क्रीडित व्रतमें कल्पना यह है कि जिस प्रकार सिंह किसी पर्वतपर क्रम-क्रमसे चढ़ता हुआ उसके शिखरपर पहुँचता है और बादमें क्रम-क्रमसे नीचे उतरता है उसीप्रकार मुनिराज क्रम-क्रमसे उपवास करते हुए तपरूपी पर्वतके शिखरपर चढ़ते हैं और उसके बाद क्रम-क्रमसे नीचे उतरते हैं।

आर्या

पञ्चानां संकलिते चतुर्गुणो वर्हिरेवमवगमात् । नवभिर्मिश्रितमध्यः पञ्चदशानां च षोडशभिः ॥८१॥

अनुष्टुप्

विंशतिश्च त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिश्च पारणाः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टसिंहनिष्क्रीडितं क्रमात् ॥८२॥

वज्रसंहननोऽनन्तवीर्यसिंह इवाभयः । अणिमादिगुणः सिद्धयेत्फलेनास्य नरोऽचिरात् ॥८३॥

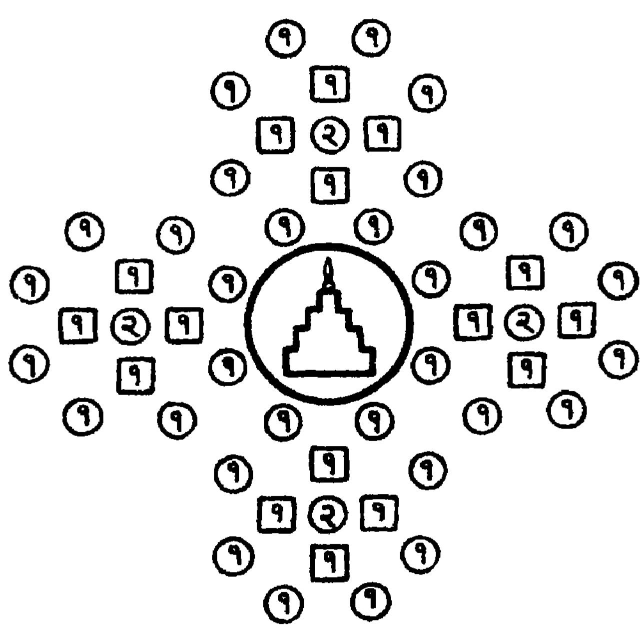
हरिणीच्छन्दः

प्रतिदधिमुखं चत्वारस्ते निरस्तमनोमलाः प्रतिरतिकरं चाष्टौ यत्र ह्युपोषितवासराः ।
प्रतिदिशमथो षष्ठं कार्यं तथाञ्जनकान्प्रति व्रतविधिरयं श्रेष्ठो नन्दीश्वरो जिनचक्रिकृत् ॥८४॥

ग्रन्थ कर्ताने तीनों प्रकारके सिंहनिष्क्रीडित व्रतोंकी संख्या और पारणा गिननेकी एक सरल रीति यह भी बतलाई है कि जघन्यसिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर पाँचतकके अंक लिखकर सबको जोड़ ले फिर उसमें चारका गुणा कर दे। जैसे एकसे लेकर पाँच तकके अंकोंका जोड़ पन्द्रह होता है उसमें चारका गुणा करनेपर उपवासोंकी संख्या साठ आती है। मध्यमसिंहनिष्क्रीडित व्रतमें एकसे लेकर आठतकके अंक लिखकर सबको जोड़ दे फिर उसमें चारका गुणा कर दे और शिखरके नौ अलगसे जोड़ दे। जैसे—एकसे लेकर आठ तकके अंकोंका जोड़ छत्तीस होता है उसमें चारका गुणा करनेपर एकसौ चवालीस आते हैं उसमें शिखरके नौ जोड़ देनेपर उपवासोंकी संख्या एक सौ त्रेपन होती है। उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडितमें एकसे लेकर पन्द्रहतकके अंक लिखकर उनका जो जोड़ हो उसमें चारका गुणा करे फिर शिखरके सोलह अलग से जोड़ दे। जैसे एक से पन्द्रह तक के अंक का जोड़ एक सौ बीस होता है। उसमें चार का गुणा करनेपर चार सौ अस्सी होते हैं। उसमें शिखरके सोलह जोड़ देनेपर उपवासोंकी संख्या चार सौ छयानबे होती है ॥८१॥ जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रतोंकी पारणाएँ क्रमसे बीस, तेंतीस और इकसठ होती हैं ॥८२॥ इस व्रतके फलस्वरूप मनुष्य वज्रवृषभनाराच संहननका धारक, अनन्तवीर्यसे सम्पन्न, सिंहके समान निर्भय और अणिमा आदि गुणोंसे युक्त होता हुआ शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥८३॥

नन्दीश्वर व्रतविधि—नन्दीश्वर द्वीपकी एक-एक दिशामें चार-चार दधिमुख हैं इसलिए प्रत्येक दधिमुखको लक्ष्यकर मनकी मलिनताको दूर करते हुए चार उपवास करना चाहिए।

नन्दीश्वर व्रतविधि-यंत्रम्—



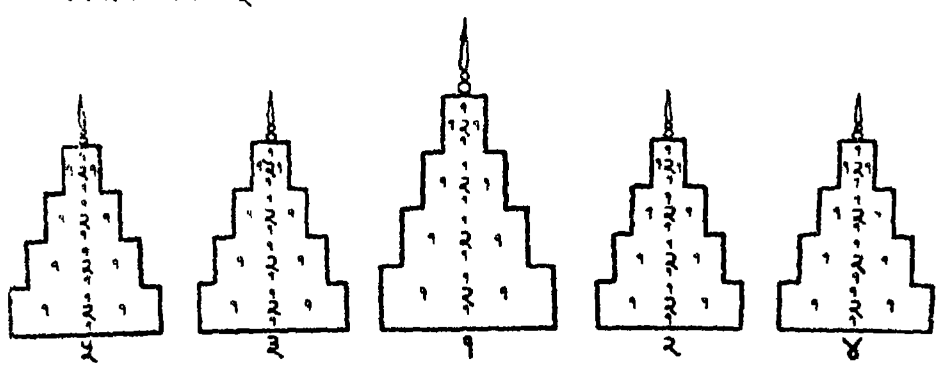
रथोद्धता

मेरुषु प्रतिवनं तु षष्ठतः प्रत्यगारमुदिता चतुर्थकान् ।
मेरुपंक्तिविधिरेषु मेरुषु प्रापयिष्यति महाभिषेचनम् ॥८५॥

एक एक दिशामें आठ-आठ रतिकर हैं इसलिए प्रत्येक रतिकरको लक्ष्यकर आठ उपवास करना चाहिए। एक-एक दिशामें एक-एक अंजनगिरि है इसलिए उसे लक्ष्यकर एक बेला करना चाहिए। इस प्रकार एक दिशाके बारह उपवास एक बेला और तेरह पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व दिशासे प्रारम्भ कर दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके क्रमसे चारों दिशाओंमें करना चाहिए। इसमें अड़तालीस उपवास, चार बेला और बावन पारणाएँ हैं। इस तरह यह व्रत एक-सौ आठ दिनमें पूर्ण होता है। यह नन्दीश्वर व्रत अत्यन्त श्रेष्ठ है और जिनेन्द्र तथा चक्रवर्तीके पदको प्राप्त कराने वाला है ॥८४॥

मेरुपंक्तिव्रत विधि—जम्बूद्वीपका एक, धातकीखण्ड पूर्वदिशाका एक, धातकीखण्ड पश्चिम दिशाका एक, पुष्करार्ध पूर्व दिशाका एक और पुष्करार्ध पश्चिम दिशाका एक इस प्रकार कुल पाँच मेरु पर्वत हैं। प्रत्येक मेरु पर्वतपर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक ये चार वन हैं और एक-एक वनमें चार-चार चैत्यालय हैं। मेरुपंक्तिव्रतमें वनोंको लक्ष्य कर बेला और

मेरुपंक्तिव्रतयन्त्रम्—



अथवा—

१	१	१	१	१	पा.	१	१	१	१	१	पा.	१	१	१	१	१	पा.	१	१	१	१	१	पा.	१	१	१	१	१
०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०
				०						०						०						०						०
१	१	१	१	१	सौ.	१	१	१	१	१	सौ.	१	१	१	१	१	सौ.	१	१	१	१	१	सौ.	१	१	१	१	१
०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०
				०						०						०						०						०
१	१	१	१	१	नं.	१	१	१	१	१	नं.	१	१	१	१	१	नं.	१	१	१	१	१	नं.	१	१	१	१	१
०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०
				०						०						०						०						०
१	१	१	१	१	भ.	१	१	१	१	१	भ.	१	१	१	१	१	भ.	१	१	१	१	१	भ.	१	१	१	१	१
०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०		०	०	०	०	०
				०						०						०						०						०

---

१. ८० उपवासाः २० षष्ठानि।

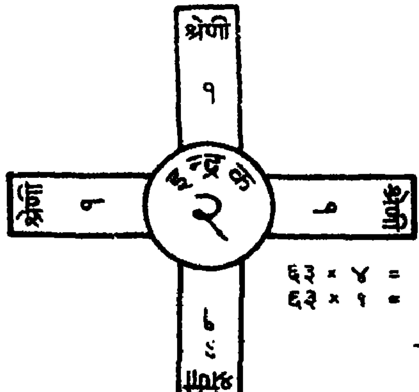
उपजातिः

चतुश्चतुर्थान्वितषष्ठकेन त्रिषष्टितावेष्टनभागषष्ठे ।
विमानपंक्तिर्विधिरस्य कर्ता विमानपंक्तीश्वरभावकर्ता ॥८६॥

चैत्यालयोंको लक्ष्यकर उपवास करने पड़ते हैं। इस प्रकार इस व्रतमें पाँचों मेरु सम्बन्धी अस्सी चैत्यालयोंके अस्सी उपवास और बीस वन सम्बन्धी बीस बेला करने पड़ते हैं तथा सौ स्थानोंकी सौ पारणाएँ होती हैं। इसमें दो सौ बीस दिन लगते हैं। व्रत, जम्बूद्वीपके मेरुसे शुरू होता है। इसमें प्रथम ही भद्रशाल वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास; चार पारणाएँ और वनसम्बन्धी एक बेला, एक पारणा होती है। फिर नन्दन वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास, चार परणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। फिर सौमनस वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास चार पारणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। तदनन्तर पाण्डुक वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास चार पारणाएँ और वन सम्बन्धी एक बेला एक पारणा होती है। इसी क्रमसे धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व और पश्चिममेरु तथा पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व और पश्चिम मेरु सम्बन्धी उपवासबेला और पारणाएँ जानना चाहिए। यह मेरुपंक्तिव्रत, मेरु पर्वतपर महाभिषेकको प्राप्त कराता है अर्थात् इस व्रतका पालन करने वाला पुरुष तीर्थङ्कर होता है ॥८५॥

विमानपंक्ति विधि—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके हैं। इन्द्रक विमान बीचमें है और श्रेणीबद्ध विमान चारों दिशाओंमें श्रेणी रूपसे स्थित हैं। ऋतु विमानको आदि लेकर इन्द्रक विमानोंकी संख्या त्रेसठ है। विमानपंक्तिव्रतमें इन्द्रककी चारों दिशाओंमें श्रेणीबद्ध विमानोंकी अपेक्षा चार उपवास, चार पारणाएँ और इन्द्रककी अपेक्षा एक बेला एक पारणा होती है। इस तरह त्रेसठ इन्द्रक विमानोंकी चार-चार श्रेणियोंकी अपेक्षा चार-चार उपवास होनेसे ये दो सौ बावन उपवास तथा त्रेसठ इन्द्रक सम्बन्धी त्रेसठ बेला होते हैं। त्रेसठ बेलाके बाद एक तेला होता है इस प्रकार उपवास २५२ बेला ६३ और तेला १ सब मिलाकर तीन सौ सोलह स्थान होते है अतः इतनी ही पारणाएँ होती हैं। यह व्रत पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाके क्रमसे होता है। चारों दिशाओंके चार उपवासके बाद बेला होता है। इसमें कुल छह सौ सत्तानबे दिन लगते हैं। यह व्रत विमानोंकी ईश्वरता प्राप्त कराने-वाला है अर्थात् इस व्रतका करनेवाला मनुष्य विमानोंका स्वामी होता है ॥८६॥

विमानपंक्तियन्त्रम्—



६३ × ४ = २५२ उपवास
६३ × १ = ६३ बेला
१ तेला
३१६
३१६ पारणा

१. ६८७ दिनेषु समाप्यते अत्र ३१६ स्थानानि ।

रथोद्धता

रूपमादिरधि यत्र पञ्च ते विस्तृतो भवति रूपमध्यतः ।
शातकुम्भविधिरेष सम्भवे शातकुम्भसुखदस्तृतीयके ॥८७॥

शातकुम्भ विधि—शातकुम्भ विधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है उनमें जघन्य शातकुम्भ विधि इस प्रकार है। एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर पाँच तकके अक्षर पाँच, चार, तीन, दो, एकके क्रमसे लिखे। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात् पाँच को छोड़कर अवशिष्ट अंकोंको चार, तीन, दो, एकके क्रमसे तीन बार लिखे। सब अंकोका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जानें। इस विधिमें पैंतालीस उपवास और सत्तर पारणाएँ हैं, यह बासठ दिनमें पूर्ण होता है। प्रस्तारका आकार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
५	४	३	२	१	४	३	२	१	४	३	२	१	४	३	२	१

मध्यमशातकुम्भ विधि—एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर नौ पर्यन्त तकके अंक नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो, एकके क्रमसे लिखे। तदनन्तर प्रथम अंक अर्थात् नौको छोड़कर आठ-सात आदिके क्रमसे अवशिष्ट अंकोंको तीन बार लिखे। सब अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाने। इस व्रतमें एक सौ त्रेपन उपवास और तैंतीस पारणाएँ हैं। यह व्रत एकसौ छयासी दिनमें पूर्ण होता है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
९	८	७	६	५	४	३	२	१	८	७	६	५	४	३	२	१
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
८	७	६	५	४	३	२	१	८	७	६	५	४	३	२	१	

उत्कृष्ट शातकुम्भ विधि—एक ऐसा प्रस्तार बनावे जिसमें एकसे लेकर सोलह तकके अंक सोलह पन्द्रह चौदह आदिके क्रमसे एक तक लिखे फिर प्रथम अंकको छोड़ कर अवशिष्ट अंकोंका जितना जोड़ हो उतने उपवास और जितने स्थान हों उतनी पारणाएँ जाने। इस व्रतमें चार सौ छयानवे उपवास और इकसठ पारणाएँ हैं। यह विधि पाँच सौ सन्तावन दिनमें पूर्ण होती है। इसका प्रस्तार इस प्रकार है—

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	
३	२	१	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	८	७	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
६	५	४	३	२	१	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
८	७	६	५	४	३	२	१	१५	१४	१३	१२	११
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१			
१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१			

यह विधि सुवर्णमय कलशोंसे अभिषेक सम्बन्धी सुखको देनेवाली है। यह इन

---

१. ४५ उपवासाः १७ पारणाः।

आर्या

एकाद्यः प्रणीता विधयोऽमी शास्त्रक्रमपर्यन्ताः ।
पञ्चनवषोडशान्ता भवन्त्यपि प्रथम[1]मध्य[2]मोत्कृष्टाः ॥८८॥

उपजातिवृत्तम्

यथोक्तमेषां हि तपोविधीनां विधेरशक्तैरुपवाससंख्या ।
यथात्मशक्ति स्वहितप्रवृत्तैश्चतुर्थषष्ठाष्टमतोऽपि पूर्या ॥८९॥

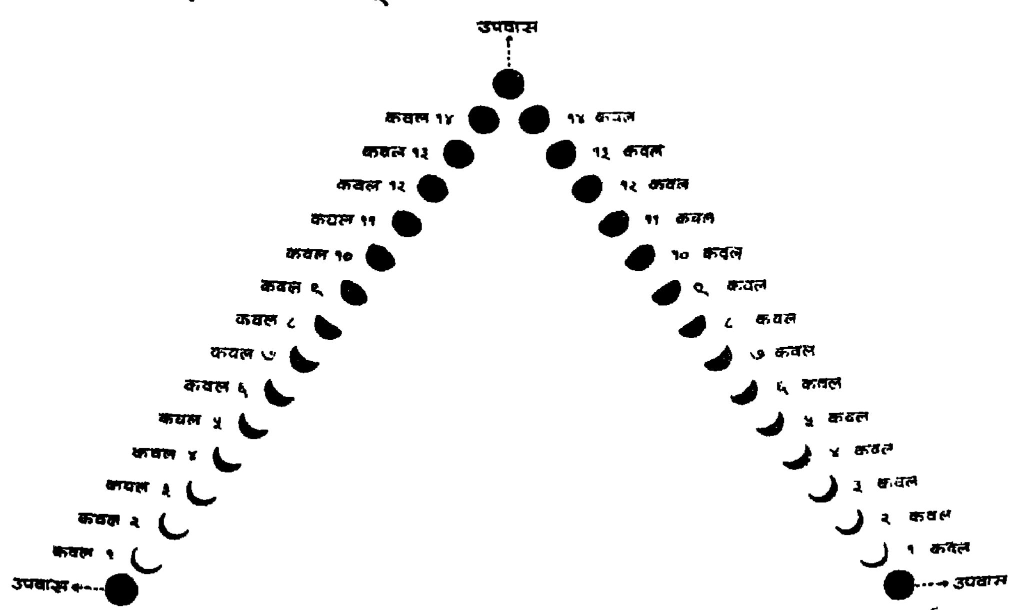
स्रग्धरा

योऽमावस्योपवासी प्रतिपदि कवलाहारमात्रः पुरस्ता-
द्वृद्ध्या पौर्णमास्यामुपवसनयुतो ह्रासयन् ग्रासमग्रे ।
सामावस्योपवासः स भजति तपसश्चन्द्रगत्यानुपूर्व्या
ख्यातां चान्द्रायण[3]स्य प्रथितयशसः कर्तृणः कर्तृभावम् ॥९०॥

तपोंकी विधि कही है परन्तु जो मनुष्य इनके करनेमें असमर्थ हैं वे अपनी शक्तिके अनुसार आत्महितमें प्रवृत्त होते हुए उपवास, बेला तथा तेलाके द्वारा भी उपवासोंकी निश्चित संख्या पूरी कर सकते हैं ॥८७-८९॥

चान्द्रायणविधि—चान्द्रायण व्रत चन्द्रमाकी सुन्दर गतिके अनुसार होता है। इस व्रतका करनेवाला अमावास्याके दिन उपवास करता है फिर प्रतिपदाको एक ❀कवल—एक ग्रास मात्र आहार लेता है। तदनन्तर द्वितीयादि तिथियोंमें एक-एक ग्रास बढ़ाता हुआ चतुर्दशीको चौदह कवलका आहार करता है। पूर्णिमाके दिन उपवास करता है फिर चन्द्रमाकी कलाओंके अनुसार एक एक कवल घटाता हुआ चौदह, तेरह, बारह आदि कवलोंका आहार लेता है और अन्तमें

कवलचान्द्रायणविधियन्त्रम्—



---

१. १५३ उपवासाः ३३ पारणाः । २. ४९६ उपवासाः ६१ पारणाः । ३. अमावस्यायामुपवासः प्रतिपदि एककवलाहारः एवं क्रमेण चतुर्दश्यां चतुर्दशकवलाहारः तत उपवासः कृष्णप्रतिपदि चतुर्दशकवलाहारः एवमूनक्रमेण पुनरमावस्यायामुपवासः ।

❀ एक हजार चावलोंका एक कवल होता है। अतः एक हजार चावलोंका जितना परिमाण हो उतना कवल बनाना चाहिए।

रथोद्धता

प्रागुपोष्य कवलस्य भोजनं सप्तमान्तमपि सैकवृद्धिकम् ।
सप्तकृत्व इति यत्र तु क्रिया सप्तसप्तमतपोविधिस्त्वसौ ॥६१॥

आर्या

अष्टाष्टमनवनवमौ दशदशमैकादशो विधयः ।
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशद्विध्यन्ता एवमात्मका बोध्याः ॥६२॥

अनुष्टुप्

एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्त भुक्तिपिण्डकाः । प्रत्येकं सप्तमान्ताः स्युः सप्तसप्तमकेऽथवा ॥६३॥
अष्टान्तादिषु विज्ञेयः शेषेष्वपि विधिस्त्वयम् । क्रमेणैकोपवासादिकवलक्रमसंज्ञकः ॥६४॥

आर्या

आचाम्लवर्धमाने भवन्ति सौवीरभुक्तयस्त्वेकाद्याः ।
सोपोषिता दशान्ता दशाद्यश्चापि रूपान्ताः ॥६५॥
निर्विकृतिं पूर्वार्धः सैकस्थानस्तु पश्चिमार्धश्च ।
आचाम्लवर्धमानाः क्रमेण विधयो विधेयास्ते ॥६६॥

अमावास्याको पुनः उपवास करता है। यह व्रत इकतीस दिनमें पूर्ण होता है और यशको विस्तृत करनेवाला है अतः इस व्रतको करनेवाला यशको प्राप्त होता है ॥६०॥

सप्तसप्तमतपोविधि—जिसमें पहले दिन उपवास और उसके बाद एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए आठवें दिन सात ग्रासका आहार लिया जाय फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए अन्तिम दिन उपवास किया जाय। इसी प्रकारकी क्रिया सात बार की जाय। वह सप्तसप्तमविधि है ॥६१॥

अष्टअष्टम, नवनवमादिविधि—सप्तसप्तमविधिके अनुसार अष्टअष्टम, नवनवम, दशदशम, एकादशएकादश और द्वादशद्वादशको आदि लेकर द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशद् तककी विधि भी इसी प्रकार जानना चाहिए। जितनेवीं विधि प्रारम्भ की जावे उसमें प्रथम दिन उपवास रखकर एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए उतने ग्रास तक आहार लेना चाहिए। फिर एक-एक ग्रास घटाते हुए एक ग्रास तक आवे और अन्तिम दिनका उपवास रखना चाहिए। मनुष्यका स्वाभाविक भोजन बत्तीस ग्रास बतलाया है, अतः यह व्रत भी बत्तीस ग्रास तक ही सीमित रक्खा गया है ॥६२॥ अथवा सप्तसप्तमविधिका एक दूसरा क्रम यह भी बतलाया गया है कि पहले दिन उपवास न कर क्रमसे एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह और सात कवलका आहार ले जब एक दौर पूर्ण हो जावे तो यही क्रम फिर करे। इस तरह सात बार इस क्रमके कर चुकनेपर यह व्रत पूर्ण होता है ॥६३॥ अष्टअष्टम आदि विधियोंमें भी यही क्रम जानना चाहिए। इनमें क्रमसे एक उपवाससे प्रारम्भ कर एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए ॥६४॥

आचाम्लवर्धमानविधि—आचाम्लवर्धमान विधिमें पहले दिन उपवास करना चाहिए दूसरे दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए, तीसरे दिन दो बेर बराबर, चौथे दिन तीन बेर बराबर इस तरह एक-एक बेर बराबर बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन दस बेर बराबर भोजन करना चाहिए फिर दशको आदि लेकर एक-एक बेर बराबर घटाते हुए दशवें दिन एक बेर बराबर भोजन करना चाहिए और अन्तमें एक उपवास करना चाहिए। इस व्रतके पूर्वार्धके दश दिनोंमें निर्विकृति-नीरस भोजन लेना चाहिए और उत्तरार्द्धके दश दिनोंमें इक्कट्ठाणाके साथ अर्थात् भोजनके लिए बैठनेपर पहली बार जो भोजन परोसा जाय उसे ग्रहण करना चाहिए। दोनों ही अर्धोंमें भोजनका परिमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिए। ये आचाम्ल वर्धमान तपकी विधियाँ क्रमसे करनी चाहिए ॥६५-६६॥

---

१. प्रथमदिने उपवासः पुनरेकैकवृद्धिक्रमेण अष्टमदिवसे सप्तकवलाहारः पुनर्हानिक्रमेणोपवासः एवं सप्तवारं कर्तव्यम् ।

शार्दूलविक्रीडितम्

अष्टाविंशतिरिष्टसाधनमतौ चैकादशाङ्गेषु ते
द्वाविष्टौ परिकर्मणोऽष्टसहिताशीतिस्तु सूत्रस्य हि ।
एकौ चाद्यनुयोगकेवलकृतौ द्विःसप्तपूर्वेष्वमी
षट्पञ्चावधिचूलिके श्रुतविधौ द्वौ तौ मनःपर्यये[1] ॥९७॥

उपजातिः

प्रत्येकमष्टावुपवासभेदा निश्शंकिताद्यष्टगुणव्यपेक्षाः ।
त्रिदर्शनानामपि ते विधेयास्तपोविधौ दर्शनशुद्धिसंज्ञे[2] ॥९८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

द्वावेकः पुनरेक एव हि परे पञ्चैक एकः क्रमात्
षोढा बाह्यतपस्यमी क्रमगताः पुण्योपवासाः पृथक् ।
अन्तःस्थे दश साधिकाश्च नवभिस्त्रिंशद्दश व्याहृताः
पञ्च द्वौ पुनरेक एव च तपःशुद्धौ विधेया विधौ । ९९॥

अनुष्टुप्

चतुर्दशस्वहिंसार्थं[3] जीवस्थानेषु भाविताः । त्रियोगनवकोटिघ्ना ते षड्विंशं शतं स्फुटम् ॥१००॥

श्रुतविधि—श्रुतविधि उपवासमें मतिज्ञानके अट्ठाईस, ग्यारह अङ्गोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अठासी, प्रथमानुयोग और केवलज्ञानके एक एक, चौदह पूर्वोंके चौदह, अवधिज्ञानके छह, चूलिकाके पाँच और मनःपर्यय ज्ञानके दो इस प्रकार एक सौ अंट्ठावन उपवास करने पड़ते हैं। एक एक उपवासके बाद एक एक पारणा होती है इसलिए यह व्रत तीन सौ सोलह दिनोंमें पूर्ण होता है ॥९७॥

दर्शनशुद्धि विधि—दर्शनविशुद्धि नामक तपकी विधिमें औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन सम्यग्दर्शनोंके निःशङ्कित आदि आठ-आठ अङ्गोंकी अपेक्षा चौबीस उपवास होते हैं। एक एक उपवासके बाद एक-एक पारणा होती है। इस तरह यह व्रत अड़तालीस दिनमें समाप्त होता है ॥९८॥

तपःशुद्धि विधि—बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तपके दो भेद हैं। उनमें बाह्य तपके अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह भेद हैं और आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग ये छह भेद हैं। इनमें अनशनादि बाह्य तपोंके क्रमसे दो, एक, एक, पाँच, एक और एक इस प्रकार ग्यारह पवित्र उपवास होते हैं और प्रायश्चित्त आदि छह अन्तरङ्ग तपोंके क्रमसे उन्नीस, तीस, दश, पाँच, दो और एक इस प्रकार सड़सठ उपवास होते हैं। दोनों भेदोंके मिलाकर अठहत्तर उपवास होते हैं। ये सब उपवास पृथक् पृथक्* होते हैं अर्थात् एक उपवासके बाद एक पारणा होती है ॥९९॥

चारित्रशुद्धि विधि—पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति पाँच समितिके भेदसे चारित्रके तेरह भेद हैं। चारित्रशुद्धि विधिमें इन सबकी शुद्धिके लिए पृथक्-पृथक् उपवास करनेकी प्रेरणा दी गई है। प्रथम ही अहिंसा महाव्रत है सो १ बादर एकेन्द्रियपर्याप्तक, २ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, ३ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक, ४ सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक, ५ द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, ६ द्वीन्द्रिय अप-

१. १५८ उपवासस्थानानि । २. २४ उपवासस्थानानि । ३. अहिंसाव्रतोपवासाः १४ × ९ = १२६ ।

* कुछ लोग अठहत्तर उपवासोंके बारह स्थान मानते हैं अर्थात् पारणाएँ केवल बारह ही होती हैं ऐसा अर्थ करते हैं परन्तु इस अर्थमें पृथक् शब्द निरर्थक जाता है और आभ्यन्तर तपोंमें उन्नीसके बाद एक पारणा तथा उसके बाद तीस उपवास लगातार करना अत्यन्त कष्टसाध्य है।

[1]भीर्ष्यास्वपक्षपैशुन्यक्रोधलोभात्मशंसनैः । द्वासप्ततिर्वचनैस्ते परनिन्दान्वितैरिति ॥१०१॥
ग्रामारण्यखलैकान्तैरन्यत्रोपध्यभुक्तकैः । [3]सपृष्ठग्रहणैः प्राग्वद्द्वासप्ततिरमी मताः ॥१०२॥
[4]नृदेवाचित्ततिर्यक्स्त्रीरूपैः पञ्चेन्द्रियाहतैः । नवघ्नैः ब्रह्मचर्यैः स्युः शतं तेऽशीतिमिश्रितम् ॥१०३॥

उपजातिः

चतुष्कषाया नव नोकषाया मिथ्यात्वमेते द्विचतुःपदे च ।
क्षेत्रं च धान्यं च हि कुप्यभाण्डे धनं च यानं शयनासनं च ॥१०४॥
अन्तर्बहिर्भेदपरिग्रहास्ते रन्धैश्चतुर्विंशतिराहतास्तु ।
ते द्वे शते षोडशसंयुते स्युर्महाव्रते स्यादुपवासभेदाः ॥१०५॥

अनुष्टुप्

षष्ठे दशोपवासाः स्युरनिच्छा नव कोटिभिः । प्रत्येकं नव विज्ञेया त्रिगुप्तिसमितित्रिके ॥१०६॥

र्याप्तक, ७ त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, ८ त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, ९ चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक, १० चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक, ११ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक, १२ संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक, १३ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और १४ असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक। इन चौदह प्रकारके जीवस्थानोंकी हिंसाका त्याग मन वचन काययोग तथा कृत कारित अनुमोदना इन नौ कोटियोंसे करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर प्रथम अहिंसा व्रतके एक सौ छब्बीस उपवास होते हैं और एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा होनेसे एक सौ छब्बीस ही पारणाएँ होती हैं ॥१००॥

दूसरा सत्य महाव्रत है सो १ भय, २ ईर्ष्या, ३ स्वपक्ष पुष्टि, ४ पैशुन्य, ५ क्रोध, ६ लोभ, ७ आत्मप्रशंसा और ८ परनिन्दा—इन आठ निमित्तोंसे बोले जानेवाले असत्यका पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर द्वितीय सत्य महाव्रतके बहत्तर उपवास होते हैं तथा उपवासके बाद एक-एक पारणा होनेसे बहत्तर ही पारणाएँ होती हैं ॥१०१॥

तीसरा अचौर्य महाव्रत है सो १ ग्राम, २ अरण्य, ३ खलिहान, ४ एकान्त, ५ अन्यत्र, ६ उपधि, ७ अभुक्तक और ८ पृष्ठ ग्रहण—इन आठ भेदोंसे होनेवाली चोरीका पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर तृतीय अचौर्य महाव्रतमें बहत्तर उपवास होते हैं तथा प्रत्येक उपवासकी एक-एक पारणा होनेसे बहत्तर ही पारणाएँ होती हैं ॥१०२॥

चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है सो मनुष्य, देव, अचित्त और तिर्यञ्च इन चार प्रकारकी स्त्रियोंका प्रथम ही स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों और तदनन्तर पूर्वोक्त नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर ५×४=२०×९=१८० एक सौ अस्सी उपवास होते हैं और इतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०३॥

पाँचवाँ परिग्रह त्याग महाव्रत है। सो चार कषाय, नौ नोकषाय और एक मिथ्यात्व इन चौदह प्रकारके अन्तरङ्ग और दोपाये, (दासी-दास आदि) चौपाये, (हाथी घोड़ा आदि) खेत, अनाज, वस्त्र, बर्तन, सुवर्णादिधन, यान (सवारी), शयन और आसन—इन दस प्रकारके बाह्य दोनों मिलाकर चौबीस प्रकारके परिग्रहका नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए। इस अभिप्रायको लेकर परिग्रहत्याग महाव्रतमें दो सौ सोलह उपवास होते हैं और उतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०४-१०५॥

छठवाँ रात्रिभोजन त्याग महाव्रत यद्यपि तेरह प्रकारके चारित्रोंमें परिगणित नहीं है तथापि गृहस्थके सम्बन्धसे मुनियोंपर भी असर आ सकता है अर्थात् गृहस्थ द्वारा रात्रिमें बनाई हुई वस्तुको मुनि जान-बूझकर ग्रहण करे तो उन्हें रात्रिभोजनका दोष लग सकता है।

१. वीर्ष्या म० । २–७२ उपवासाः । २. ३–७२ उपवासाः ६–१८० । ३. संपुष्टग्रहणैः म० । ४. नृदेवचित्र ।

आर्या

भावोपमाव्यवहारप्रतीत्यसम्भावनानुभाषायाम् । जनपदसंवृतिनामस्थापनारूपा दश नवघ्नाः ॥१०७॥

अनुष्टुप्

षट्चत्वारिंशद्दोषानेषणासमितौ मलान् । नवघ्नान् छिन्नितुं कार्यास्तावन्त उपवासकाः ॥१०८॥
त्रयोदशविधस्यैव चारित्रस्य विशुद्धये । विधौ चारित्रशुद्धौ स्युरुपवासाः प्रकीर्तिताः ॥१०९॥

आर्या

निर्विकृतिपश्चिमार्धैकस्थानं[1] तथोपवासश्च । आचाम्ल-भुक्तमेकं तपोविधिस्त्वेककल्याणः ॥११०॥

अनुष्टुप्

पञ्चकृत्वः कृतावश्यः[2] पञ्चकल्याण उच्यते । चतुर्विंशतिसंख्यान् स कार्यस्तीर्थंकरान् प्रति ॥१११॥
तुर्यव्रतोपवासैस्तु शीलकल्याणको विधिः । पञ्चविंशतिसंख्यैस्तैर्भावनाविधिरिष्यते ॥११२॥

इस प्रकारके रात्रिभोजनका नौ कोटियोंसे त्याग करना चाहिए तथा अनिच्छा—दूसरेकी जबर्दस्तीसे भी रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए। इस भावनाको लेकर रात्रिभोजन त्याग व्रतमें दश उपवास होते हैं और दश ही पारणाएँ होती हैं। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, इन तीन गुप्तियों तथा ईर्या, आदान, निक्षेपण और प्रतिष्ठापन समिति इन तीन समितियोंमें प्रत्येकके नौ कोटियोंकी अपेक्षा नौ-नौ उपवास होते हैं अर्थात् तीन गुप्तियोंके सत्ताईस उपवास और सत्ताईस पारणाएँ हैं तथा उपरिकथित तीन समितियोंके भी सत्ताईस उपवास और सत्ताईस पारणाएँ जानना चाहिए ॥१०६॥

भाषा समितिमें १ भाव सत्य, २ उपमा सत्य, ३ व्यवहार सत्य, ४ प्रतीत सत्य, ५ सम्भावना सत्य, ६ जनपद सत्य, ७ संवृत्ति सत्य, ८ नाम सत्य, ९ स्थापना सत्य और १० रूप सत्य इन दश प्रकार सत्य वचनोंका नौ कोटियोंसे पालन करना पड़ता है। इस अभिप्रायको लेकर भाषा-समितिमें नब्बे उपवास होते हैं तथा इतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०७॥

और एषणा समितिमें नौ कोटियोंसे लगनेवाले छियालिस दोषोंको नष्ट करनेके लिए चार सौ चौदह उपवास होते हैं तथा उतनी ही पारणाएँ होती हैं ॥१०८॥ इस प्रकार तेरह प्रकारके चारित्रको शुद्ध रखनेके लिए चारित्र शुद्धि व्रतमें सब मिलाकर एक हजार दो सौ चौंतीस उपवास कहे हैं तथा इतनी ही पारणाएँ कही गई हैं। इस व्रतमें छह वर्ष दश माह आठ दिन लगते हैं ॥१०९॥

एककल्याण विधि—पहले दिन नीरस आहार लेना; दूसरे दिन, दिनके पिछले भागमें अर्ध आहार लेना, तीसरे दिन एकस्थान—इकट्ठाना करना अर्थात् भोजनके लिए बैठनेपर एक बार जो भोजन सामने आवे उसे ही ग्रहण करना, चौथे दिन उपवास करना और पाँचवें दिन आचाम्ल—इमलीके साथ केवल भात ग्रहण करना, यह एक कल्याणककी विधि है ॥११०॥

पञ्चकल्याण विधि—जो विधि एककल्याण व्रतमें कही गई है उसे समता, वन्दना आदि आवश्यक कार्य करते हुए पाँच बार करना सो पञ्चकल्याणक विधि है। यह पञ्च कल्याणक विधि चौबीस तीर्थंकरोंको लक्ष्य करके करना चाहिए ॥१११॥

शील कल्याणक विधि—चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रतमें जो एकसौ अस्सी उपवास, बतलाये हैं उनमें उपवास कर लेनेपर शील कल्याणक विधि-व्रत पूर्ण होता है। एक उपवास एक पारणा, दूसरा उपवास दूसरी पारणा, इस क्रमसे करनेपर इस व्रतमें ३६० दिन लगते हैं।

भावनाविधि—अहिंसादि महाव्रतोंमें प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं। एकत्रित करनेपर पाँच व्रतोंकी पच्चीस भावनाएँ होती हैं। उन्हें लक्ष्य कर पच्चीस उपवास करना

---

१. पश्चिमाहारैकस्थानं म० । पश्चिमाहारैकस्थानं ङ० । २. कृतावश्या म०, ग० ।

पञ्चविंशतिकल्याणभावनाविधिरत्र तैः । तावद्भिरेव बोद्धव्यो विद्वद्भिरुपवर्णितः ॥११३॥
सम्यक्त्वविनयज्ञानशीलसत्यश्रुतश्रुताः । समित्येकान्तगुप्तीनां भावना धर्म्यशुक्लगाः ॥११४॥
संक्लेशेच्छानिरोधस्य संवरस्य च भावनाः । प्रशस्तयोग[1]संवेगक[2]रुणोद्वेगभावनाः ॥११५॥
भोगसंसारनिर्वेदभुक्तिवैराग्यमोक्षगाः । मैत्र्युपेक्षा प्रमोदान्ताः[3] ख्याताः कल्याणभावनाः ॥११६॥
प्रतीत्य सप्तभूमीनां जघन्यपरमायुषाम् । चतुर्दशोपवासास्तु विधेया विधिवद्बुधैः ॥११७॥
तिर्यग्गतावपर्याप्तपर्याप्तानां नृणां गतौ । प्रत्येकमपि चत्वार ऐशानान्ते[4] प्रबुद्धये[5] ॥११८॥
द्वाविंशतिरतस्तू[6]र्ध्वमच्युतान्तेष्वमी ततः । ग्रैवेयकेषु कर्तव्या अष्टादश नवस्वपि ॥११९॥
द्वौ नवानुदिशेष्वेतौ द्वौ चानुत्तरपञ्चके । अष्टषष्टिरमी सर्वे स्युर्दुःखहरणे विधौ ॥१२०॥
नामत्रि[7]णवतित्यादीनुत्तरप्रकृतीः प्रति । ते चत्वारिंशदष्टाभिः कर्मक्षयविधौ स तम् ॥१२१॥

तथा एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा करना, यह भावना विधि नामका व्रत है। यह पचास दिनमें पूर्ण होता है ॥११२॥

पञ्चविंशति कल्याण भावना विधि—पच्चीस कल्याण भावनाएँ हैं, उन्हें लक्ष्य कर पच्चीस उपवास करना तथा उपवासके बाद पारणा करना यह पञ्चविंशति कल्याण भावना व्रत विद्वानोंके द्वारा कहा गया है ॥११३॥ १. सम्यक्त्व भावना, २. विनय भावना, ३. ज्ञान भावना ४. शील भावना, ५. सत्य भावना, ६. श्रुत भावना, ७. समिति भावना, ८. एकान्त भावना, ९. गुप्तिभावना, १०. ध्यानभावना, ११. शुक्ल ध्यान भावना, १२. संक्लेश निरोध भावना, १३. इच्छा निरोध भावना, १४. संवर भावना, १५. प्रशस्तयोग, १६. संवेग भावना, १७. करुणा भावना, १८. उद्वेग भावना, १९. भोगनिर्वेद भावना, २०. संसारनिर्वेद भावना, २१. भुक्ति-वैराग्य भावना, २२. मोक्षभावना, २३. मैत्री भावना, २४. उपेक्षा भावना और २५. प्रमोद भावना, ये पच्चीस कल्याण भावनाएँ हैं ॥११४-११६॥

दुःखहरण विधि—दुःखहरण विधिमें सर्वप्रथम विद्वानोंको सात भूमियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयुकी अपेक्षा चौदह उपवास करना चाहिए ॥११७॥ तदनन्तर तिर्यञ्चगतिके पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंकी द्विविध आयुकी अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। उसके बाद मनुष्यगतिके पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंकी द्विविध आयुकी अपेक्षा चार उपवास करना चाहिए। फिर देवगतिमें ऐशान स्वर्ग तकके दो, उसके आगे अच्युत स्वर्ग तकके बाईस, फिर नौ ग्रैवेयकोंके अठारह, नौ अनुदिशोंके दो और पञ्चानुत्तर विमानोंके दो इस प्रकार सब मिलाकर अड़सठ उपवास करना चाहिए। इस व्रतमें दो उपवासके बाद एक पारणा होती है। इस तरह अड़सठ उपवास और चौंतीस पारणा दोनोंको मिलकर यह विधि एक सौ दो दिनमें पूर्ण होती है। इस विधिके करनेसे सब दुःख दूर हो जाते हैं ॥११८-१२०॥

कर्मक्षय विधि—कर्मक्षय विधिमें नाम कर्मकी तेरानबे प्रकृतियोंको आदि लेकर समस्त कर्मोंकी जो एक सौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं उन्हें लक्ष्य कर एक सौ अड़तालीस उपवास करना चाहिए। इसमें एक उपवासके बाद एक पारणा होती है। इस प्रकार उपवास और पारणा दोनोंको मिलाकर दो सौ छियानबे दिनमें यह व्रत पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे कर्मोंका क्षय होता है ॥१२१॥

---

१. प्रसुतयो संवेग-म० । प्रशास्तप्रयोगसंवेग ग० । २. कारणोद्वेग ग०,म०,क० । ३. प्रमादान्ताः ग०, म० । ४. प्रशमान्ते म० । ५. प्रबुद्धयन् ? म० प्रबुद्धयः ग० । ६. परमूर्ध्वं ग० । ७. नामतस्त्रिनवत्वादी–म० ।

आर्या

कल्याणातिविशेषैः प्रतिकार्यैः प्रातिहार्यकारणगैः ।
जिनगुणसम्पत्तिस्तैः पञ्चचतुस्त्रिंशदष्टषोडशभिः ॥१२२॥

अनुष्टुप्

द्वात्रिंशता चतुःषष्ट्या अष्टोत्तरशतेन तैः । दिव्यलक्षणपंक्तिः स्याद्दिव्यातिमहतः परा ॥१२३॥
स्यात्परस्परकल्याणा चतुर्विंशतिवारतः । आदौ षष्ठोपवासः स्यात्समाप्तावष्टमस्तथा ॥१२४॥

जिनेन्द्रगुणसंपत्ति विधि—जिसमें पाँच कल्याणकोंके पाँच, चौंतीस अतिशयोंके चौंतीस, आठ प्रातिहार्योंके आठ और सोलह कारण भावनाओंके सोलह इस प्रकार त्रेशठ उपवास किये जावें तथा एक-एक उपवासके बाद एक-एक पारणा की जावे उसे जिनेन्द्र गुण सम्पत्ति व्रत कहते हैं। यह व्रत एक सौ छब्बीस दिनमें पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी प्राप्ति होती है अर्थात् इसका आचरण करनेवाला तीर्थंकर होता है ॥१२२॥

दिव्यलक्षण पंक्ति विधि—बत्तीस व्यञ्जन, चौंसठ कला और एक सौ आठ लक्षण इस प्रकार दो सौ चार लक्षणोंकी अपेक्षा जिसमें दो सौ चार उपवास किये जावें उसे दिव्यलक्षण विधि कहते हैं। इसमें एक उपवासके बाद एक पारणा होती है अतः दोनोंके मिलाकर चार सौ आठ दिनमें यह व्रत पूर्ण होता है। इस व्रतके प्रभावसे यह जीव अत्यन्त महान् होता है तथा उसके अत्यन्त श्रेष्ठ दिव्य लक्षणोंकी पंक्ति प्रकट होती है ॥१२३॥

[1]धर्मचक्र विधि—धर्मचक्रमें हजार अराएँ होती हैं। उनमें प्रत्येक अरा की अपेक्षा एक एक उपवास लिया गया है, इसलिए इस व्रतमें हजार उपवास हैं तथा स्थान भी हजार है इसलिए पारणा भी हजार समझनी चाहिए। इस तरह उपवास और पारणा इसमें कुल दो हजार हैं। एक उपवास एक पारणा, पुनः एक उपवास एक पारणा इसी क्रमसे इस व्रतका आचरण करना चाहिए। इस व्रतके आदि और अन्तमें एक एक बेला करना आवश्यक है। यह व्रत दो हजार चार दिनमें समाप्त होता है और इससे धर्म चक्रकी प्राप्ति होती है।

[2]परस्पर कल्याण विधि—पाँच कल्याणकोंके पाँच उपवास, आठ प्रातिहार्योंके आठ और चौंतीस अतिशयोंके चौंतीस इस प्रकार ये सैंतालीस उपवास हैं। इन सैंतालीसको चौबीस बार गिननेपर जितनी संख्या सिद्ध हो उतने तो इस विधिमें उपवास समझना चाहिए और जितने स्थान हों उतनी पारणा जाननी चाहिए। सैंतालीसको चौबीस बार गिननेसे ग्यारह सौ अट्ठाईस होते हैं, इसलिए इतने तो उपवास समझना चाहिए और स्थान भी ग्यारह सौ अट्ठाईस हैं इसलिए इतनी ही पारणा जाननी चाहिए। इस प्रकार इस व्रतमें कुल उपवास और पारणा दो हजार दो सौ छप्पन हैं। इसके आचरण करनेकी विधि एक उपवास एक पारणा पुनः एक उपवास एक पारणा इस प्रकार है। यह व्रत दो हजार दो सौ छप्पन दिनमें समाप्त होता है। इसके प्रारम्भमें एक बेला और अन्तमें एक तेला करना पड़ता है। यह व्रत आचरण करने वालेका कल्याण करने वाला है ॥१२४॥

---

१. धर्मचक्र विधिका वर्णन करनेवाला श्लोक हमारे द्वारा उपलब्ध प्रतियोंमें नहीं है परन्तु श्रीमान् स्व० पं० गजाधरलालजीने अपने अनुवादमें उसका वर्णन किया है तथा श्लोकका नम्बर भी दिया है अतः उनके द्वारा उपलब्ध प्रतियोंमें वह श्लोक होगा। इसी भावनासे हमने अनुवादमें उक्त पण्डितजीके अनुवाद-से उक्त व्रतकी विधि अंकित की है।

२. इस व्रतकी विधि भी पण्डित गजाधरलालजीके अनुवादके आधारपर ही लिखी है। उनके अनुवादमें 'आदौ षष्ठोपवासः स्यात्समाप्तावष्ठमस्तथा' इस पङ्क्तिका अनुवाद इस व्रतकी विधिसे हटकर आगे बढ़ गया है' उसे इसमें शामिल किया गया है।

विधीनामिह सर्वेषामेषा हि च प्रदर्शना । एकश्चतुर्थकाभिख्यो द्वौ षष्ठं तु त्रयोऽष्टमः ।
दशमाद्यास्तथा ज्ञेयाः षण्मास्यन्तोपवासकाः ॥१२५॥

आर्या

पञ्चदशीपर्यन्ता उपवासाः प्रतिपदादितिथिषु[1] कार्याः ।
बहुभेदा विज्ञेया जिनमार्गे सर्वसौख्यसम्पन्नाः ॥१२६॥
भाद्रपदशुक्लपक्षे सप्तम्यामप्यनन्तफलसुखफलदः[2] ।
परिनिर्वाणाख्यविधिः[3] प्रतिवर्षमुपोषणीयस्तु ॥१२७॥

शालिनी

एकादश्यां प्रातिहार्यप्रसिद्धः तुल्यां पल्यैः शं फलत्यस्य चैव ।
एकादश्यां कृष्णजायामशीतिः षट् पूर्वाशं संविधत्ते ह्यनन्तम् ॥१२८॥

अनुष्टुप्

शुक्लस्य मार्गशीर्षस्य तृतीयस्यामनन्तकृत् । विमानपंक्तिवैराज्यः चतुर्थ्यां षष्ठतो विधिः ॥१२९॥
एतेषु विधयः कार्या यथाशक्ति शरीरिभिः । स्वर्गापवर्गसौख्यस्य पारम्पर्येण हेतवः ॥१३०॥

इस प्रकरणमें ऊपर जितनी विधियोंका वर्णन किया गया है उन सबमें सामान्य रूपसे यह दिखा देना आवश्यक है कि जहाँ उपवासके लिए चतुर्थक शब्द आया है वहाँ एक उपवास, जहाँ षष्ठ शब्द आया है वहाँ दो उपवास और जहाँ अष्टम शब्द आया है वहाँ तीन उपवास समझना चाहिए। इसी प्रकार दशमको आदि लेकर छह मासपर्यन्तके उपवासोंकी संज्ञा जाननी चाहिए ॥१२५॥ प्रतिपदासे लेकर पञ्चदशी तककी तिथियोंमें उपवास करना चाहिए। ये उपवास अनेक भेदोंको लिये हुए हैं और जैन मार्गमें इन्हें सब प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न करनेवाला कहा है ॥१२६॥ प्रतिवर्ष भादों सुदी सप्तमीके दिन उपवास करना चाहिए। यह परिनिर्वाण नामक विधि है तथा अनन्त सुखरूपी फलको देनेवाली है॥१२७॥ भादों सुदी एकादशीके दिन उपवास करनेसे प्रातिहार्य प्रसिद्धि नामकी विधि होती है तथा यह पल्यों प्रमाणकाल तक सुखरूपी फलको फलती है। हरएक मासकी कृष्ण पक्षकी एकादशियोंके दिन किये हुए छियासी उपवास अनन्त सुखको उत्पन्न करते हैं ॥१२८॥ मार्गशीर्ष सुदी तृतीयाके दिन उपवास करना अनन्त मोक्ष फलको देनेवाला है तथा इसी मासकी चतुर्थीके दिन बेला करनेसे विमान पङ्क्ति वैराज्य नामकी विधि होती है और उसके फलस्वरूप विमानोंकी पंक्तिका राज्य प्राप्त होता है ॥१२९॥ इन ऊपर कही हुई विधियोंमें मनुष्योंको यथाशक्ति विधियाँ करनी चाहिए क्योंकि वे साक्षात् और परम्परासे स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुखके कारण

१. प्रतिपदादिषु च कार्या–क० । २. फलसुखदः म० । ३. विंशति सप्ताधिकाश्चाष्टौ क०, ङ० ।

* अस्मिन् प्रकरणे क० ङ० ग० पुस्तकेषु पार्श्वभागे निम्नाङ्किताः श्लोकाः समारब्धाः सन्ति परन्तु रचनाशैथिल्यात्ते ग्रन्थाङ्गभूताः सन्तीति न प्रतिभान्ति । पश्चात् केनचित् योजिता इति प्रतीयते । पं० गजाधरलालेन तु स्वकृतानुवादे प्रवेशितास्ते––

भाद्रपदकृष्णपक्षे षष्ठ्यां सूर्यप्रभस्त्रयोदश्याम् ।
चन्द्रप्रभनामा च ज्योतिर्माला च पल्यं तु ॥
ततः कृष्णद्वादश्यां नन्दीश्वर इत्युदीरितानन्तफलः ।
कार्तिकशुक्लतृतीयामधिष्ठितश्चापि विविधसर्वार्थविधिः ।

श्री पं० गजाधरलालेन अन्येऽपि द्वित्राः श्लोका अनूदिताः येषु कुमारसंभव-सुकुमारविध्योरुल्लेखः कृतः किन्तूपलब्धपुस्तकेषु ते श्लोका नावलोकिताः, मुम्बईस्थ सरस्वतीभवनपुस्तकेऽपि एते श्लोका न सन्ति ।

इत्युक्तविधिकर्तासौ सुप्रतिष्ठो यतिस्तदा । बबन्ध तीर्थकृन्नाम शुद्धैः षोडशकारणैः ॥१३१॥

आर्या

निःशङ्काद्यष्टगुणा जिनकथिते मोक्षसत्पथे श्रद्धा ।
दर्शनविशुद्धिराद्यस्तीर्थंकरप्रकृतिबन्धहेतुः ॥१३२॥
ज्ञानादिषु तद्वत्सु च महादरो यः कषायविनिवृत्त्या ।
तीर्थंकरनामहेतुः स विनयसम्पन्नताभिख्यः ॥१३३॥
शीलव्रतरक्षायां कायमनोवचनवृत्तिरनवद्या ।
वेद्यो मार्गोद्युक्तैः स शुद्धः शीलव्रतेष्वनतिचारः ॥१३४॥
अज्ञाननिवृत्तिफले प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणज्ञाने ।
नित्यमभियुक्ततोक्तस्त्वभीक्ष्णज्ञानोपयोगस्तु ॥१३५॥
जन्मजरामरणामयमानसशारीरदुःखसम्भारात् ।
संसाराद्भीरुत्वं संवेगो विषयतृट्छेदी ॥१३६॥
आहाराभयदानं तद्दिनभवदुःखमुच्चयायोगम् ।
संसारदुःखहरणं ज्ञानमहादानमिष्यते त्यागः ॥१३७॥
अनिगूहितवीर्यस्य हि विशरारु शरीरमशुचि मृतकाभम् ।
संयोजयतः कार्ये तपोऽपि मार्गानुगावेशः ॥१३८॥
भाण्डागारहुताशोपशमनवज्जातविघ्नमनुपद्य ।
सन्धारणं हि तपसः साधूनां स्यात्समाधिरिह ॥१३९॥
गुणवत्साधुजनानां क्षुधातृषाव्याधिजनितदुःखस्य ।
व्यपहरणे व्यापारो वैयावृत्यं [1]व्यसुद्रव्यैः ॥१४०॥

है ॥१३०॥ इस प्रकार कही हुई विधियोंके कर्ता सुप्रतिष्ठ मुनिराजने उस समय निर्मल सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध किया ॥१३१॥

जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कथित समीचीन मोक्षमार्गमें निःशंकता आदि आठ गुणोंसे सहित जो श्रद्धा है उसे दर्शनविशुद्धि कहते हैं। यह तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका प्रथम कारण है ॥१३२॥ ज्ञानादि गुणों और उनके धारकोंमें कषायको दूर कर जो महान् आदर करना है वह तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धमें कारणभूत विनयसम्पन्नता नामकी दूसरी भावना है ॥१३३॥ शीलव्रतोंकी रक्षामें मन, वचन और कायकी जो निर्दोष प्रवृत्ति है उसे मार्गमें उद्युक्त पुरुषोंको शुद्ध शीलव्रतेष्वनतीचार नामकी भावना जाननी चाहिए ॥१३४॥ अज्ञानकी निवृत्ति रूप फलसे युक्त तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंसे सहित ज्ञानमें निरन्तर उपयोग रखना सो अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावना है ॥१३५॥ जन्म, जरा, मरण तथा रोग आदि शारीरिक और मानसिक दुःखोंके भारसे युक्त संसारसे भयभीत होना सो विषयरूपी तृषाको छेदनेवाली संवेग भावना है ॥१३६॥ जिस दिन आहार ग्रहण किया जाता है उस दिन एवं पर्याय सम्बन्धी दुःखको दूर करनेवाला आहारदान, अभयदान और संसारके दुःखको हरनेवाला ज्ञान महादान शक्तिके अनुसार देना सो त्याग नामकी भावना है ॥१३७॥ शक्तिको नहीं छिपानेवाले एवं विनाशीक, अपवित्र और मृतकके समान शरीरको कार्यमें लगानेवाले पुरुषका मोक्षमार्गके अनुरूप जो उद्यम है वह तप नामकी भावना है ॥१३८॥ भण्डारमें लगी हुई अग्निको उपशान्त करनेके समान आगत विघ्नोंको नष्टकर साधुजनोंके तपकी रक्षा करना सो साधुसमाधि नामकी भावना है ॥१३९॥ गुणवान् साधुजनोंके क्षुधा, तृषा, व्याधि आदिसे उत्पन्न दुःखको प्रासुक द्रव्योंके द्वारा दूर करनेका

१. शुद्धशक्तिव्रते–म०, ख० । २. प्रासुक द्रव्यैः (क० ङ० टि०) वसुद्रव्यैः म० ।

अर्हत्सु योऽनुरागो यश्चाचार्ये बहुश्रुते यश्च ।
प्रवचनविनयश्चासौ चातुर्विध्यं भजति [1]भक्तेः ॥१४१॥
आवश्यकक्रियाणां षण्णां काले प्रवर्तनं [2]नियते ।
तासां साऽपरिहाणिर्ज्ञेया सामायिकादीनाम् ॥१४२॥
सावद्ययोगविरहं सामायिकमेकभावगं चित्तम् ।
गुणकीर्तिस्तीर्थंकृतां [3]चतुरादेर्विंशतेः स्तवकः ॥१४३॥
द्वयासना यासु शुद्धा द्वादशावर्ताः प्रवृत्तिषु प्राज्ञैः ।
सशिरश्चतुरानतिकाः प्रकीर्तिता वन्दना वन्द्याः ॥१४४॥
द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च कृतप्रमादनिर्हरणम् ।
वाक्कायमनःशुद्ध्या प्रणीयते तु प्रतिक्रमणम् ॥१४५॥
आगन्तुकदोषाणां प्रत्याख्यानं तु वर्ज्यतेऽपोहः[4] ।
कायोत्सर्गः [5]काये मितकालं[6] निर्ममत्वं तु ॥१४६॥
परमतभेदसमर्थज्ञानतपोजिनमहामहैर्जगति ।
मार्गप्रभावना स्यात्प्रकाशनं मोक्षमार्गस्य ॥१४७॥
धेनोरिव निजवत्से सौत्सुक्यधियः सधर्मणि स्नेहः ।
प्रवचनवत्सलता स्यात्सस्नेहः प्रवचने यस्मात् ॥१४८॥
तीर्थंकरनामकर्मणि षोडश तत्कारणान्यमून्यनिशम् ।
व्यस्तानि समस्तानि च भवन्ति [7]सद्भाव्यमानानि ॥१४९॥

प्रत्यक्ष करना सो वैयावृत्य भावना है ॥१४०॥ अर्हन्तमें जो अनुराग है, आचार्यमें जो अनुराग है, बहुश्रुत—अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठीमें जो अनुराग है और प्रवचनमें जो विनय है वह क्रमसे अर्हद् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति नामक चार भावनाएँ हैं ॥१४१॥ सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओंकी नियत समयमें प्रवृत्ति करना सो आवश्यकापरिहाणि नामक भावना है ॥१४२॥ समस्त सावद्य योगोंका त्यागकर चित्तको एक पदार्थमें स्थिर करना सो सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंका कथन करना सो स्तुति है ॥१४३॥ जिन प्रवृत्तियोंमें दो आसन, निर्दोष बारह आवर्त और चार शिरोनतियाँ की जाती हैं उन्हें विद्वज्जन वन्दनीय वन्दना कहते हैं ॥१४४॥ द्रव्य क्षेत्र काल और भावके विषयमें किये हुए प्रमादका मन वचन कायकी शुद्धिसे निराकरण करना सो प्रतिक्रमण है ॥१४५॥ आगन्तुक—आगामी दोषोंका निराकरण करना प्रत्याख्यान कहलाता है। और निश्चित समय तक शरीरमें ममताका त्याग करना कायोत्सर्ग है ॥१४६॥ अन्य मतोंके खण्डन करनेमें समर्थ ज्ञान, तपश्चरण एवं जिनेन्द्र भगवान्की महामह-पूजाओंसे संसारमें मोक्षमार्गका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है ॥१४७॥ जिस प्रकार गायका अपने बछड़ेमें स्नेह होता है उसी प्रकार उत्सुकतासे युक्त बुद्धि-वाले मनुष्यका सहधर्मी भाईमें जो स्नेह है उसे प्रवचनवात्सल्य कहते हैं क्योंकि सहधर्मीसे जो स्नेह है वह प्रवचनसे ही स्नेह है ॥१४८॥ सत्पुरुषोंके द्वारा निरन्तर चिन्तन की हुई उक्त सोलह भावनाएँ, पृथक् पृथक् अथवा समुदाय रूपसे तीर्थंकर नामकर्मके बन्धकी कारण हैं ॥१४९॥

---

१ भक्तिः म० । २. क्रियते म० । ३. चतुरादिर्विंशतिस्तवकः म०, क०, ख० । ४. वर्ण्यते यो शे म० । ५. कालो म० । ६. मितकायं म० । ७. स्फुरिद्भः भाव्यमानानि सद्भावभ्यमानानि (क० टि०) ।

शार्दूलविक्रीडितम्

त्रैलोक्यासनकम्प[1]शक्तसुमहत्पुण्यप्रकृत्यात्मकः
प्रत्याख्याय स सुप्रतिष्ठमुनिर्भक्तं ततो मासिकम् ।
आराध्याथ चतुर्विधां बुधनुतामाराधनां शुद्धधी-
र्द्वाविंशज्जलधिस्थितिः पृथुसुखं स्वर्गं जयन्तं [2]श्रितः ॥१५०॥
[3]भुक्त्वा संसृतिसारसौख्यमतुलं तत्राहमिन्द्रोचितं
सज्ज्ञानत्रयदृष्टनेत्रसकल[4]त्रैलोक्यतत्त्वस्थितिः ।
च्युत्वातो भविता समुद्रविजयाद्देव्यां शिवायां शिवो
नेमीशो हरिवंशशैलतिलको द्वाविंशसंख्यो जिनः ॥१५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ महोपवासविधिवर्णनो नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ।

इस प्रकार तीनों लोकोंके आसनोंको कम्पित करनेमें समर्थ तीर्थंकर प्रकृतिनामक महापुण्य प्रकृतिके बन्ध करनेवाले सुप्रतिष्ठ मुनिराजने, एक मासके आहारका त्याग कर दिया तथा विशुद्ध बुद्धिके धारक हो विद्वज्जनोंके द्वारा स्तुत चार प्रकारकी आराधनाओंकी अच्छी तरह आराधना की जिससे बाईस सागरकी स्थितिके धारक हो विशाल सुखसे युक्त जयन्त स्वर्ग (जयन्त नामक अनुत्तर विमान) में उत्पन्न हुए ॥१५०॥ अब जिन्होंने तीन सम्यग् ज्ञान रूपी नेत्रोंसे तीन लोकके पदार्थोंकी स्थितिको देख लिया है ऐसे सुप्रतिष्ठ मुनिराज, जयन्त विमानमें अहमिन्द्रोंके योग्य, संसारके सारभूत अनुपम सुखका उपभोगकर वहाँसे च्युत होंगे और राजा समुद्रविजयकी शिवा देवीसे हरिवंशरूपी पर्वतके तिलक स्वरूप नेमीश्वर नामके कल्याणकारी बाईसवें तीर्थंकर होंगे ॥१५१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें महोपवास विधिका वर्णन करनेवाला चौंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३४॥

---

१. सक्त-म०, ख० । २. स्थितः म० । ३. मुक्त्वा म० । ४. त्रैलोक्यनेत्र म० ।

पञ्चत्रिंशः सर्गः

उपेन्द्रवज्रा

अरिष्टनेमेश्चरितं निशम्य यदुः परं श्रेणिक संप्रहृष्टः ।
प्रणम्य भावादतिमुक्तकर्षि[1] जगाम कान्तासहितो निशान्ते ॥१॥
यथापुरा तौ मथुरापुर्यां यथेष्टमाक्रीडनपातिसक्तौ[2] ।
सुदम्पती तस्थतुरिष्टभोगौ सशङ्ककंसेन समर्च्यमानौ ॥२॥
बभार गर्भं युगलात्मकं सा सुदेवकी कंसभयस्य हेतुम् ।
सहायभावो हि विपक्षयोगान्महाभयस्योपनिपातहेतुः ॥३॥
अथ प्रसूतौ सुतयुग्ममस्याः सुरेण संक्रामितमिन्द्रवाक्यात् ।
सुनैगमेतिश्रुतिना सुभद्रं सुभद्रिलोद्भूतपुरोकयाभ्याः ॥४॥
प्रजातमात्रं खलु दैवयोगात् सुदृष्टिजायाभ्यं[3]सुपुत्रयुग्मम् ।
स देवकीसूतिगृहे निधाय जगाम देवो निजदेवलोकम् ॥५॥
प्रविश्य कंसः स्वसृसूतिगेहं निरीक्ष्य निर्जीवितजीवयुग्मम् ।
प्रगृह्य पादेषु निरात् सैन्द्रः शिलातले ताडितवान् सशङ्कः ॥६॥
क्रमेण स द्वन्द्वयुगं प्रयातं निनाय देवोऽप्यलकां सुकामाम् ।
पुनश्च कंसोऽप्यसुविप्रयुक्तमताडयत्पूर्ववदेव पापी ॥७॥
षडप्यविघ्ना वसुदेवपुत्राः स्वपुण्यरक्यात्स्वककातिहृद्याः
पुरोक्तसंज्ञाः सुखलालितास्ते शनैरवर्धन्त ततोऽतिरूपाः ॥८॥

अथानन्तर गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! इस प्रकार अतिमुक्तक मुनिराजसे भगवान् अरिष्टनेमिका चरित सुनकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और भावपूर्वक मुनिराजको नमस्कारकर स्त्री सहित अपने घर चले गये ॥ १ ॥ जिन्हें भोग अत्यन्त इष्ट थे ऐसे दोनों दम्पति इच्छानुसार क्रीड़ामें आसक्त होते हुए मथुरापुरीमें पहलेके समान रहने लगे और मृत्युकी शङ्कासे शङ्कित कंस इनकी निरन्तर सेवा-शुश्रूषा करने लगा ॥ २ ॥ तदनन्तर देवकीने कंसके भयका कारण युगल सन्तान रूप गर्भ धारण किया सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंमें परस्परके मिल जानेसे जो सहाय भाव उत्पन्न होता है, वह शत्रुके लिए महाभयकी प्राप्तिका कारण हो जाता है ॥३॥ तत्पश्चात् प्रसूति कालके आनेपर जब देवकीके युगल पुत्र उत्पन्न हुए तब इन्द्रकी आज्ञासे सुनैगम नामका देव उन उत्तम युगल पुत्रोंको उठाकर सुभद्रिल नगरके सेठ सुदृष्टिकी स्त्री अलका (पूर्वभवकी रेवती धायका जीव) के यहाँ पहुँचा आया। उसी समय अलकाके भी युगलिया पुत्र हुए थे परन्तु भाग्यवश वे उत्पन्न होते ही मर गये थे। नैगम देव उन दोनों मृत पुत्रोंको उठाकर देवकीके प्रसूति गृहमें रख आया और उसके बाद अपने स्वर्ग लोक को चला गया ॥ ४-५ ॥ शङ्कासे युक्त कंसने बहिनके प्रसूतिका गृहमें प्रवेश कर उन दोनों मृतकपुत्रोंको देखा और भीलके समान रौद्रपरिणामी हो पैर पकड़ कर उन्हें शिलातलपर पछाड़ दिया ॥६॥ तदनन्तर देवकीने क्रम क्रमसे दो युगल और उत्पन्न किये सो देवने उन्हें भी पुत्रोंकी इच्छा रखने वाली अलका सेठानीके पास भेज दिया। इधर पापी कंसने भी उन निष्प्राण पुत्रोंको पहलेके समान ही शिलापर पछाड़ दिया ॥ ७ ॥ तदनन्तर अपना पुण्य ही जिनकी रक्षा कर रहा था, जो अलका सेठानीके लिए अत्यन्त प्रिय थे, जिनके नृपदत्त, देवपाल

१. - दतिमुक्तिकर्षि म० । २. -तिशक्तौ ग०, घ०, ङ० । ३. मृत ।

प्रवर्धमानेष्वथ तत्र तेषु सुदृष्टिसुश्रावकभूतिवृद्धिः ।
अपूर्वनानाविधवस्तुलाभैस्तदात्यशेतापरभूपभूतीः[1] ॥९॥
इतोऽपि देवक्यपि भर्तृवाक्यादपाकृतापत्यवियोगदुःखा ।
शनैः प्रपेदे प्रतिपत्कलेव दिनोत्तरैः पूर्ववदेव कान्तिम् ॥१०॥
अथैकदा चन्द्रसिते निशान्ते निशान्तकान्ते शयने शयाना ।
ददर्श सत्सोदयशंसिनः सा पदार्थकान् स्वप्न इमान्निशान्ते ॥११॥
प्रदीप्तमुद्यन्तमिनं[2] तमोऽन्तं समस्तकान्तं[3] शशिनं प्रपूर्णम् ।
श्रियं सदिग्नागमहाभिषेकां विमानमाकाशतलावमञ्च ॥१२॥
ज्वलद्बृहज्ज्वालहुताशमुच्चैः सुरध्वजं रत्नमरीचिचक्रम् ।
मृगाधिपं चाननमाविशन्तं निशाम्य सौम्या बुबुधे सकम्पा ॥१३॥
अपूर्वसुस्वप्नविलोकनात्सा सविस्मया हृष्टतनूरुहा तान् ।
जगौ प्रभाते कृतमङ्गलाङ्गा समेत्य पत्येऽभिदधे स विद्वान् ॥१४॥
प्रतापविध्वस्तरिपुः सुतस्ते प्रियोऽतिसौभाग्ययुतोऽभिषेकी ।
दिवोऽवतीर्णोऽतिरुचिः स्थिरोऽभीर्भविष्यति क्षिप्रमिनो[4] जगत्याः ॥१५॥

अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु ये नाम पहले कहे जा चुके थे, जिनका सुख पूर्वक लालन पालन हो रहा था, तथा जो अत्यन्त रूपवान् थे ऐसे वसुदेवके छहों पुत्र धीरे-धीरे वृद्धिको प्राप्त होने लगे ॥८॥ तदनन्तर उन पुत्रोंके वृद्धिंगत होनेपर सुदृष्टि सेठको नाना प्रकारकी अपूर्व अपूर्व वस्तुओंका लाभ होने लगा और उसके वैभवकी वृद्धिने उस समय अन्य राजाओंके वैभवको भी अतिक्रान्त कर दिया ॥ ९ ॥ इधर पतिके कहनेसे जिसने संतान वियोग जन्य दुःखको दूर कर दिया था ऐसी देवकी भी धीरे धीरे प्रतिपद्की चन्द्रकलाके समान दिनों दिन पहलेकी ही कान्तिको प्राप्त हो गई ॥ १० ॥

तदनन्तर एक दिन देवकी, चन्द्रमाके समान सफेद भवनमें प्रातःकालके समान सुन्दर शय्यापर शयन कर रही थी कि उसने रात्रिके अन्तिम प्रहरमें अभ्युदयको सूचित करनेवाले निम्नलिखित सात पदार्थ स्वप्नमें देखे ॥११॥ पहले स्वप्नमें उसने अन्धकारको नष्ट करनेवाला उगता हुआ सूर्य देखा। दूसरे स्वप्नमें उसीके साथ अत्यन्त सुन्दर पूर्ण चन्द्रमा देखा। तीसरे स्वप्नमें दिग्गज जिसका अभिषेक कर रहे थे ऐसी लक्ष्मी देखी। चौथे स्वप्नमें आकाश तलसे नीचे उतरता हुआ विमान देखा। पाँचवें स्वप्नमें बड़ी-बड़ी ज्वालाओंसे युक्त अग्नि देखी। छठवें स्वप्नमें ऊँचे आकाशमें रत्नोंकी किरणोंसे युक्त देवों की ध्वजा देखी और सातवें स्वप्नमें अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ एक सिंह देखा। इन स्वप्नोंको देखकर सौम्यवदना देवकी भयसे काँपती हुई जाग उठी ॥१२-१३॥ अपूर्व एवं उत्तम स्वप्न देखनेसे जिसे विस्मय उत्पन्न हो रहा था, जिसके शरीरमें रोमाञ्च निकल आये थे, और जिसने प्रातःकालके समय शरीरपर मङ्गलमय अलंकार धारण कर रक्खे थे ऐसी देवकीने जाकर पतिसे सब स्वप्न कहे और विद्वान् पति—राजा वसुदेवने इस प्रकार उनका फल कहा ॥१४॥

"हे प्रिये ! तुम्हारे शीघ्र ही एक ऐसा पुत्र होगा जो समस्त पृथिवीका स्वामी होगा। तुमने पहले स्वप्नमें सूर्यको देखा है इससे सूचित होता है कि वह अपने प्रतापसे शत्रुओंको नष्ट करनेवाला होगा। दूसरे स्वप्नमें पूर्ण चन्द्रमा देखा है उसके फलस्वरूप वह सबको प्रिय होगा। तीसरे

१. भूपभूतिः म० । २. सूर्यम् । ३. समन्तकान्तं म० । ४. इनः स्वामी । 'राजाधिपः पतिः स्वामी भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः ।

निशम्य सा स्वप्नफलं स्वभर्तुस्तथास्त्विति [1]प्रीतिमतिप्रपद्य ।
व्यवस्थिता गर्भमधत्त चाशु जगद्धितं द्यौरिव तापशान्त्यै ॥१६॥
यथा यथासौ परिवर्धतेऽस्याः प्रवर्धमानाङ्गमनःसुखायाः ।
तथा तथावर्धत भूतधात्र्यां जनस्य सर्वस्य च सौमनस्यम् ॥१७॥
ररक्ष गर्भं प्रसवव्यपेक्षः स्वसुः स संक्षोभगतस्तु कंसः ।
दिनानि मासानसमञ्जसात्मा गुणानपेक्षो गणयन्नलक्ष्यः ॥१८॥
[2]अथोदपादि श्रवणे तु पक्षे ह्यधोक्षजो भाद्रपदस्य शुक्ले ।
पवित्रयन् द्वादशिकां तिथिं तामलक्षितः सप्तम एव मासे ॥१९॥
सशङ्खचक्रादिसुलक्षिताङ्गः स्फुरन्महानीलमणिप्रकाशः ।
स देवकीसूतिगृहं स्वदीप्त्या [3]प्रदीप्तिमान् द्योतयति स्म कृष्णः ॥२०॥
स्वपक्षगेहेषु तदाऽऽविरासन् स्वतो निमित्तानि शुभावहानि ।
विपक्षगेहेषु भयावहानि प्रभावतस्तस्य नरोत्तमस्य ॥२१॥
तदा च सप्ताहमहातिवर्षे प्रवर्तमाने निशि जातमात्रम् ।
हली स्वपित्रा विधृतातपत्रं हरिं गृहीत्वा गृहतो निरैद् द्राक् ॥२२॥

स्वप्नमें दिग्गजों द्वारा लक्ष्मीका महाभिषेक देखा है इससे जान पड़ता है कि वह अत्यन्त सौभाग्यशाली एवं राज्याभिषेकसे युक्त होगा। चौथे स्वप्नमें आकाशसे नीचे आता हुआ विमान देखा है उससे प्रकट होता है कि वह स्वर्गसे अवतीर्ण होगा। पाँचवें स्वप्नमें देदीप्यमान अग्नि देखी है इसके फल स्वरूप वह अत्यन्त कान्तिसे युक्त होगा। छठवें स्वप्नमें रत्नोंकी किरणोंसे युक्त देवोंकी ध्वजा देखी है इसके फलस्वरूप वह स्थिर प्रकृतिका होगा और सातवें स्वप्नमें मुखमें प्रवेश करता हुआ सिंह देखा है इससे जान पड़ता है कि वह निर्भय होगा ॥१५॥

इस प्रकार पतिके मुखसे स्वप्नोंका फल सुनकर 'तथास्तु'—ऐसा ही होगा—कहती हुई वह अत्यधिक प्रीतिको प्राप्त हुई। तदनन्तर जिस प्रकार आकाश, संतापकी शान्तिके लिए जगत् हितकारी मेघको धारण करता है उसी प्रकार उसने शीघ्र ही जगत्का हित करनेवाला गर्भ धारण किया ॥१६॥ जिसके शारीरिक और मानसिक सुखकी वृद्धि हो रही थी ऐसी देवकीका वह गर्भ ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था त्यों-त्यों पृथिवीपर समस्त मनुष्योंका सौमनस्य बढ़ता जाता था ॥१७॥ परन्तु कंसका क्षोभ उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। फलस्वरूप जिसकी आत्मा अत्यन्त नीच थी, जो गर्भस्थ बालकके गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता था और जो अलक्ष्यरूपसे गर्भके महीनों तथा दिनोंकी गिनती लगाता रहता था ऐसा कंस, प्रसवकी प्रतीक्षा करता हुआ बहिनके गर्भकी रक्षा कर रहा था अर्थात् उसपर पूर्ण देख-रेख रखता था ॥१८॥ सब बालक नौ मासमें ही उत्पन्न होते हैं परन्तु कृष्ण श्रवण नक्षत्रमें भाद्रमासके शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथिको पवित्र करते हुए सातवें ही मासमें अलक्षित रूपसे उत्पन्न हो गये ॥१९॥ जिनका शरीर शङ्ख चक्र आदि उत्तमोत्तम लक्षणोंसे युक्त था, जिनके शरीरसे देदीप्यमान महानीलमणिके समान प्रकाश प्रकट हो रहा था और जो प्रकृष्ट कान्तिसे सहित थे ऐसे कृष्णने अपनी कान्तिसे देवकीके प्रसूतिका गृहको प्रकाशमान कर दिया था ॥२०॥ उस समय उस पुरुषोत्तमके प्रभावसे स्नेही बन्धुजनोंके घरोंमें अपने आप अच्छे अच्छे निमित्त प्रकट हुए और शत्रुओंके घरोंमें भय उत्पन्न करनेवाले निमित्त प्रकट हुए ॥२१॥ उन दिनों सात दिनसे बराबर घनघोर वर्षा हो रही थी फिर भी उत्पन्न होते ही बालक कृष्णको बलदेवने उठा लिया और पिता वसुदेवने उनपर छत्ता तान दिया एवं रात्रिके समय

---

१. प्रीतमतिः प्रपद्य म० । २. अथोदयादिश्रमणे म० । ३. प्रदीप्तवान् म० । प्रदीपमान् ग० ।

अलक्षितः कंसभटैः प्रसुप्तैः प्रसुप्तपौरे समये पुरस्य ।
स गोपुरद्वारकपाटसन्धिं विपाट्य विष्णुक्रमयुग्मसङ्गात् ॥२३॥
पयःकणे घ्राणपुटं प्रविष्टे शिशोस्तडिद्वातगभीरनादे ।
क्षुते चिरञ्जीव जयत्वविघ्नस्त्वमित्यनुश्रुत्य तदोपरिष्टात् ॥२४॥
प्रियोग्रसेनेन नृपेण दत्तां प्रियाशिषं तोषयुतोऽवादीत्तम् ।
रहस्यरक्षा क्रियतां प्रतीक्ष्य[1] विमुक्तिरस्मात्तव देवकेयात् ॥२५॥
प्रवर्धतां भ्रातृशरीरजायाः सुतोऽयमज्ञातमरेरितीष्टम् ।
तदोग्रसेनीमभिनन्द्य वाचममू विनिर्जग्मतुराशु पुर्याः ॥२६॥
ज्वलद्विषाणो वृषभः पुरस्तात्प्रदीपयन्मार्गमगात्स तूर्णम् ।
महानुभावाद्यमुना हरेर्द्राक् बभूव विच्छिन्नमहाप्रवाहा ॥२७॥
धुनीं समुत्तीर्य ततोऽभिगम्य वनं च वृन्दावनमत्र गोष्ठे ।
सुनन्दगोपं सयशोदमाप्तं क्रमागतं तौ निशि दृष्टवन्तौ ॥२८॥
समर्प्य ताभ्यामहरस्यभेदं प्रवर्धनीयं निजपुत्रबुद्ध्या ।
शिशुं विशालेक्षणमीक्षणानां महामृतं कान्तिमयं स्रवन्तम् ॥२९॥
ततश्च तत्कालभवां यशोदाशरीरजां विश्वसनाय शत्रोः ।
अरं समादाय समेत्य देव्यै प्रदाय तौ तस्थतुरप्रलक्ष्यौ ॥३०॥

ही दोनों शीघ्र ही घरसे बाहर निकल पड़े ॥२२॥ उस समय समस्त नगरवासी सो रहे थे तथा कंसके सुभट भी गहरी नींदमें निमग्न थे इसलिए कोई भी उन्हें देख नहीं सका। गोपुर द्वारपर आये तो किवाड़ बन्द थे परन्तु श्रीकृष्णके चरणयुगलका स्पर्श होते ही उनमें निकलने योग्य सन्धि हो गई जिससे सब बाहर निकल आये ॥२३॥

उस समय पानीकी एक बूँद बालककी नाकमें घुस गई जिससे उसे छींक आ गई। उस छींकका शब्द बिजली और वायुके शब्दके समान अत्यन्त गम्भीर था। उसी समय ऊपरसे आवाज आई कि 'तू निर्विघ्न रूपसे चिरकाल तक जीवित रह।' गोपुर द्वारके ऊपर कंसके पिता राजा उग्रसेन रहते थे। उक्त आशीर्वाद उन्होंने दिया था। उनके इस प्रिय आशीर्वादको सुनकर बलदेव तथा वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उग्रसेनसे कहने लगे कि हे पूज्य! रहस्यकी रक्षा की जाय। इस देवकीके पुत्रसे तुम्हारा छुटकारा होगा ॥२४-२५॥ इसके उत्तरमें उग्रसेनने स्वीकृत किया कि 'यह हमारे भाईकी पुत्रीका पुत्र शत्रुसे अज्ञात रहकर वृद्धिको प्राप्त हो।' उस समय उग्रसेनके उक्त वचनकी प्रशंसा कर दोनों शीघ्र ही नगरीसे बाहर निकल गये ॥२६॥ उस समय, जिसके सींग देदीप्यमान थे ऐसा एक बैल आगे-आगे मार्ग दिखाता हुआ बड़े वेगसे जा रहा था। यमुनाका अखण्ड प्रवाह बह रहा था परन्तु श्रीकृष्णके प्रभावसे उसका महाप्रवाह शीघ्र ही खण्डित हो गया ॥२७॥ तदनन्तर नदीको पार कर वे वृन्दावनकी ओर गये। वहाँ गाँवके बाहर खिरकामें अपनी यशोदा स्त्रीके साथ सुनन्द नामका गोप रहता था। वह वंश परम्परासे चला आया इनका बड़ा विश्वासपात्र व्यक्ति था। बलदेव और वसुदेवने रात्रिमें ही उसे देखा और दोनोंको पुत्र सौंपकर कहा कि देखो भाई! यह पुत्र विशाल नेत्रोंका धारक है तथा नेत्रोंके लिए कान्ति रूपी महाअमृतको वर्षानेवाला है। इसे अपना पुत्र समझकर बढ़ाओ और यह रहस्य किसीको प्रकट न हो सके इस बातका ध्यान रक्खो ॥२८-२९॥ तदनन्तर उसी समय उत्पन्न हुई यशोदाकी पुत्रीको लेकर दोनों शीघ्र ही वापिस आ गये और शत्रुको विश्वास दिलानेके लिए उसे रानी देवकीके लिए देकर गुप्त रूपसे स्थित हो गये ॥३०॥

---

१. पूज्य ! प्रतीक्ष म० ।

स्वसुः प्रसूतिं प्रतिविद्य[1] कंसः प्रसूत्यगारं [2]विघृणः प्रविश्य ।
विलोक्य बालाममलाममुष्याः पतिः कदाचित्प्रभवेदरिर्मे ॥३१॥
विचिन्त्य शङ्काकुलितस्तदेति निरस्तकोपोऽपि स दीर्घदर्शी ।
स्वयं समादाय करेण तस्याः प्रणुद्य नासां [3]चिपिटीचकार ॥३२॥
स देवकीमानसतापकारी सुतान्तदर्शी किल निर्वृतात्मा ।
अतिष्ठदन्तर्हितरौद्रभावः सुखेन तावत्कतिचिद्दिनानि ॥३३॥
ततो व्रजस्थः कृतजातकर्मा स्तनंधयोऽसौ कृतकृष्णनामा ।
प्रवर्धते नन्दयशोदयोस्तु प्रवर्धयन् प्रीतिमभूतपूर्वाम् ॥३४॥
गदासिचक्राङ्कुशशङ्खपद्मप्रशस्तरेखारुणपाणिपादः ।
स गोपगोपीजनमानसानि सकाममुत्तानशयो जहार ॥३५॥
सुरूपमिन्दीवरवर्णशोभं स्तनप्रदानव्यपदेशगोप्यः ।
अहंयवः पूर्णपयोधरास्तमतृप्तनेत्राः पपुरेकतानम् ॥३६॥
इतः कदाचिद्वरुणेन कंसो निमित्तविज्ञेन हितैषिणोक्तः ।
नृपैधते ते रिपुरत्र कश्चित्पुरे वने वा परिमृग्यतां सः ॥३७॥
ततोऽष्टमाह्यानशनं तपोऽसौ चकार कंसो रिपुनाशबुद्धया ।
पुराभ्युपेतार्थसमर्थनाय सुदेवताः प्रोचुरुपेत्य तास्तम् ॥३८॥
पुरातपःसाधितदेवतास्ता इमा वयं ते वद वस्तु कृत्यम् ।
विहाय[4] शीरायुधचक्रपाणी क्षणेन कः कंसरिपुर्निरस्यः ॥३९॥

तदनन्तर बहिनकी प्रसूतिका समाचार पाकर निर्दय कंस प्रसूतिका गृहमें घुस गया। वहाँ निर्दोष कन्याको देखकर यद्यपि इसका क्रोध दूर हो गया था तथापि दीर्घदर्शी होनेके कारण उसने विचार किया कि कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है। इस शङ्कासे आकुलित होकर उसने उस कन्याको स्वयं उठा लिया और हाथसे मसलकर उसकी नाक चपटी कर दी ॥३१-३२॥ इस प्रकार देवकीके मनको संताप करनेवाले कंसने जब देखा कि अब इसके पुत्र होना बन्द हो गया है तब वह संतुष्ट हो हृदयकी क्रूरताको छिपाता हुआ कुछ दिनों तक सुखसे निवास करता रहा ॥३३॥

तदनन्तर जिसका जातसंस्कार कर कृष्ण नाम रक्खा गया था ऐसा व्रजवासी बालक नन्द और यशोदाकी अभूतपूर्व प्रीतिको बढ़ाता हुआ सुखसे बढ़ने लगा ॥३४॥ जब वह बालक चित्त पड़ा हुआ गदा, खड्ग, चक्र, अङ्कुश, शङ्ख तथा पद्म आदि चिह्नोंकी प्रशस्त रेखाओंसे चिह्नित लाल-लाल हाथ पैर चलाता था तब गोप और गोपियोंके मनको बरबस खींच लेता था ॥३५॥ नील कमल जैसी सुन्दर शोभाको धारण करनेवाले उस मनोहर बालकको, पूर्ण स्तनोंको धारण करनेवाली गोपिकाएँ स्तन देनेके बहाने अतृप्त नेत्रोंसे टकटकी लगाकर देखती रहती थीं ॥३६॥

इधर किसी दिन कंसके हितैषी वरुण नामक निमित्तज्ञानीने उससे कहा कि राजन्! यहीं कहीं नगर अथवा वनमें तुम्हारा शत्रु बढ़ रहा है उसकी खोज करनी चाहिए ॥३७॥ तदनन्तर शत्रुके नाशकी भावनासे कंसने तीन दिनका उपवास किया सो पूर्व भवमें इसने जिन देवियोंको यह कहकर वापिस कर दिया था कि अभी कुछ काम नहीं है अगले भवमें आवश्यकता पड़े तो सहायता करना। वे देवियाँ पूर्व स्वीकृत कार्यको सिद्ध करनेके लिए आकर

---

१. विज्ञ म०। २. विगता घृणा दया यस्य सः विघृणः म०, ग०। ३. चिपिटीचकार म०। ४. बलभद्रनारायणौ मुक्त्वा।

जगत्यसौ कोऽपि ममास्ति वैरी प्रवर्धमानः क्वचिदप्यलक्ष्यः ।
तमाशु यूयं परिमृग्य मृत्योर्मुखे कुरुध्वं करुणानपेक्षाः ॥४०॥
इतीरितं ताः प्रतिपद्य याताः प्रदर्श्य चैकोग्रशकुन्तरूपा ।
प्रतुद्य हन्त्री हरिणात्ततुण्डा प्रचण्डनादा प्रणनाश भीता ॥४१॥
कुपूतना पूतनभूतमूर्तिः प्रपाययन्ती सविषस्तनौ तम् ।
स देवताधिष्ठितनिष्ठुरास्यो व्यरीरटच्चूचुकचूषणेन[1] ॥४२॥
स्वपन्निषीदन्नुरसा प्रसर्पन् पदं [2]ददत्सस्खलितं प्रधावन् ।
कलाभिलापो नवनीतमश्नन्नजीगमज्जिष्णुरहर्दिनानि ॥४३॥
[3]अनःशरीरामपरां पिशाचीं स चापतन्तीं घनपादघाती ।
विभीर्बभञ्जाञ्जनशैलशोभी पृथूदयस्तां पृथुकोऽपि [4]कोऽपि ॥४४॥
यशोदया दामगुणेन जातु यदृच्छयोदूखलबद्धपादः ।
निपीडयन्तौ रिपुदेवतागौ न्यपातयत्तौ जमलार्जुनौ सः ॥४५॥
सुनन्दगोपेन यशोदया च सुदृष्ट[5]शक्तिः शुभशैशवादौ ।
सविस्मिताभ्यामभिनन्द्यमानो बालः स दृश्यो ववृधे वनान्ते[6] ॥४६॥
स गोपतिं दृप्तमशेषघोषमितस्ततो दृष्टमुदग्रघोषम् ।
महार्णवं वा प्रतिपूर्णयन्तं जघान कण्ठोद्गलनात्सुकण्ठः ॥४७॥

कंससे कहने लगीं कि ये हम सब तुम्हारे पूर्व भवके तपसे सिद्ध हुई देवियाँ हैं । आपका जो कार्य हो वह कहिए, बलभद्र और नारायणको छोड़कर कंसका कौन-सा शत्रु क्षणभरमें नष्ट करने योग्य है सो बताओ ।।३८–३९।। कंसने कहा कि हमारा कोई वैरी कहीं गुप्त रूपसे बढ़ रहा है सो तुमलोग दयासे निरपेक्ष हो शीघ्र ही पता लगाकर उसे मृत्युके मुखमें करो—उसे मार डालो ।।४०।। इस प्रकार कंसके द्वारा कथित बातको स्वीकृत कर वे देवियाँ चली गईं । उनमेंसे एक देवी शीघ्र ही उग्र—भयंकर पक्षीका रूप दिखाकर आई और चोंच द्वारा प्रहार कर बालक कृष्णको मारनेका प्रयत्न करने लगी परन्तु कृष्णने उसकी चोंच पकड़कर इतनी जोरसे दबाई कि वह भयभीत हो प्रचण्ड शब्द करती हुई भाग गई ।।४१।। दूसरी देवी प्रपूतन भूतका रूप रखकर कुपूतना बन गई और अपने विष सहित स्तन उन्हें पिलाने लगी । परन्तु देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण श्रीकृष्णका मुख अत्यन्त कठोर हो गया था इसलिए उन्होंने स्तनका अग्रभाग इतने जोरसे चूसा कि वह बेचारी चिल्लाने लगी ।।४२।। बालक कृष्ण कभी तो सोता था, कभी बैठता था, कभी छातीके बल सरकता था, कभी लड़खड़ाते पैर उठाता हुआ चलता था, कभी दौड़ा-दौड़ा फिरता था, कभी मधुर आलाप करता था और कभी मक्खन खाता हुआ दिन-रात व्यतीत करता था ।।४३।। तीसरी पिशाची शकटका रूप रखकर उनके सामने आई परन्तु कृष्ण बालक होने पर भी अत्यन्त निर्भय थे, अञ्जनगिरिके समान शोभायमान थे और अत्यधिक अभ्युदयको धारण करनेवाले कोई अनिर्वचनीय पुरुष थे इसलिए उन्होंने जोरकी लात मारकर ही उसे नष्ट कर दिया ।।४४।। किसी दिन उपद्रवकी अधिकताके कारण यशोदाने कृष्णका पैर रस्सीसे कसकर उखलीमें बाँध दिया था उसी दिन शत्रुकी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्षका रूप रखकर उन्हें पीड़ा पहुँचाने लगीं परन्तु कृष्णने उस दशामें भी दोनों देवियोंको गिरा दिया—मार भगाया ।।४५।। शुभ बाल्यकालके प्रारम्भमें ही सुनन्दगोप और यशोदाने जिसकी अद्भुत शक्ति देखी थी तथा आश्चर्यसे चकित हो जिसकी प्रशंसा की थी ऐसा वह दर्शनीय—मनोहर बालक वनके मध्यमें बढ़ने लगा ।।४६।। एक दिन छठवीं देवी

१. भूषणेन म० । २. ददनूसंस्खलितं क० । ३. अतः शरीरां म० । शकटरूपामित्यर्थः । ४. कोपी ग० । ५. सुदृष्टिशक्तिः ग० । ६. वनान्तरे ग० ।

कुदेवपाषाणमयातिवर्षैरनाकुलो व्याकुलगोकुलाय ।
दधार गोवर्धनमूर्ध्वमुच्चैः स भूधरं भूधरणोरुदोर्भ्याम् ॥४८॥
अमानुषं कृष्णविचेष्टितं तत्सकर्णमाकर्ण्य बलेन[1] वर्ण्यम् ।
कृतोपवासव्यपदेशतोऽगाद्व्रजं सवित्री[2] सुतदर्शनाय ॥४९॥
सुकण्ठगोपालक[3]लोपगीतं सुतारघण्टाध्वनिगोधनाढ्यम् ।
महीध्रपादे वनरन्ध्रमार्गा[4]त्पुरन्ध्रिरध्यास्य[5] परां धृतिं सा ॥५०॥
क्वचिच्चितं स्निग्धसुकृष्णवर्णैः क्वचिच्च सोपहलभद्रशुभ्रैः ।
गवां गणैर्वीक्ष्य वनं जहर्ष भवत्यपत्यप्रतिमं हि [6]हृद्यै ॥५१॥
तृणाम्बुतृप्ताः स्तनलग्नवत्साः प्रदुह्यमानाश्च परा घटोध्न्यः ।
ददर्श गा गोष्ठगतास्तदैषा प्रवृत्तरोमाञ्चसुखाभिरामा[7] ॥५२॥
सवत्सधेनुध्वनयोऽतिधीरा रवाश्च गोपीदधिमन्थनोत्थाः ।
मनोऽभिजह्रे हरिमातुरुच्चैर्गंभीरनादा न हरन्ति किं वा ॥५३॥
ततोऽभिनन्दी हृदि नन्दगोपो यशोदयोपेत्य यशोविशुद्धाम् ।
स देवकीं स्वामिनिकां निकायैर्मनस्विनीं भक्तियुतो ननाम ॥५४॥

बैलका रूप बनाकर आई । वह बैल बड़ा अहंकारी था, गोपालोंकी समस्त बस्तीमें जहाँ-तहाँ दिखाई देता था, जोरदार शब्द करता था और सबको डुबोते हुए महासागरके समान जान पड़ता था परन्तु सुन्दर कण्ठके धारक कृष्णने उसकी गरदन मोड़कर उसे नष्ट कर दिया—दूर भगा दिया ॥४७॥ सातवीं देवीने पाषाणमयी तीव्र वर्षासे कृष्णको मारना चाहा परन्तु वे उस वर्षासे रञ्चमात्र भी व्याकुल नहीं हुए प्रत्युत उन्होंने घबड़ाये हुए गोकुलकी रक्षा करनेके लिए पृथिवीका भार धारण करनेसे विशाल अपनी दोनों भुजाओंसे गोवर्धन पर्वतको बहुत ऊँचा उठा लिया और उसके नीचे सबकी रक्षा की ॥४८॥

जब कृष्णकी इस लोकोत्तर चेष्टाका पता कानों-कान बलदेवको चला तब उन्होंने माता देवकीके सामने इसका वर्णन किया । उसे सुन वह किये हुए उपवासके बहाने पुत्रको देखनेके लिए व्रज-गोकुलकी ओर गई ॥४९॥ वहाँ पर्वतकी शाखापर स्थित, सुन्दर कण्ठके धारक गोपालकोंके मुख गीतसे झंकृत एवं घंटाओंके जोरदार शब्दोंसे सहित गोधनसे युक्त वनखण्डमें बैठकर वह परम संतोषको प्राप्त हुई ॥५०॥ कहीं तो वह वन, कृष्णके रङ्गके समान स्निग्ध एवं उत्तम कृष्ण वर्ण वाली गायोंके समूहसे व्याप्त था और कहीं बलभद्रके समान सफेद वर्ण वाली गायोंके समूहसे युक्त था । उसे देख माता देवकी बहुत ही प्रसन्न हुई सो ठीक ही है क्योंकि पुत्रकी समानता प्राप्त करनेवाली वस्तु भी हर्षके लिए होती है ॥५१॥ जो घास और पानीसे संतुष्ट थीं, जिनके थनोंसे बछड़े लगे हुए थे, गोपाल लोग जिन्हें दुह रहे थे तथा घड़ोंके समान जिनके बड़े-बड़े स्तन थे ऐसी गोशालाओंमें खड़ीं एक-से बढ़कर एक सुन्दर गायोंको देखकर माता देवकीके रोमांच निकल आये और वह सुखसे सुशोभित होने लगी ॥५२॥ उस समय वहाँ बछड़ोंके साथ गायोंके रँभानेकी ध्वनि फैल रही थी तथा गोपियों द्वारा दही मथे जानेका जोरदार शब्द प्रसरित हो रहा था । उन सबसे देवकीका मन अत्यधिक हरा गया सो ठीक ही है क्योंकि गम्भीर शब्द क्या नहीं हरते हैं ? ॥५३॥

तदनन्तर जो मन ही मन अत्यधिक हर्षित हो रहा था, ऐसे नन्द गोपने यशोदाके साथ आकर, यशसे विशुद्ध, अनेक लोगोंके समूहसे सहित, गौरवशालिनी स्वामिनी देवकीको भक्ति-

१. बलरामेण । २. माता देवकी । ३. कपोलगीतं ग० । ४. मार्गा म० । ५. रथ्यास म० । ६. हृदयै म० । ७. रामाः म० ।

सुपीतवासोयुगलं वसानं वनेवतंसीकृतबर्हिबर्हम् ।
अखण्डनीलोत्पलमुण्डमालं सुकण्ठिकाभूषितकम्बुकण्ठम् ॥५५॥
सुवर्णकर्णाभरणोज्ज्वलाभं सुबन्धुजीवालिकसुबद्धमौलिम् ।
हिरण्मयोद्वलय[1]प्रकोष्ठं सुपादगोपालकसानुवंशम्[2] ॥५६॥
यशोदयानीय यशोदयाढ्यं[3] प्रणामितं पुत्रमसौ सवित्री ।
सुगोपवेषं निकटे निषण्णं परामृशन्ती चिरमालुलोके ॥५७॥
जगौ च देवी विपिनेऽपि वासस्तवेदृशापत्यदृशो यशोदे ।
यशस्विनि श्लाघ्यतमो जगत्यां न राज्यलाभोऽभिमतोऽनपत्यः ॥५८॥
जगाद गोपी भवती यथाह तथैव मे स्वामिनि सत्यमेतत् ।
तथैव सन्तोषविशेषपोषी[4] प्रियाशिषा जीवतु भृत्यभृत्यः ॥५९॥
इहान्तरे सा सुतदर्शनेन सुनिर्भरप्रस्नुत[5]सुस्तनौ तौ ।
शशाक नो संवरितुं क्षरन्तौ न संवृतिः स्यात्सति चित्तभेदे ॥६०॥
रिपोर्भयात्पुत्र वियोजितोऽसि न दुष्टबुद्ध्येति विशुद्धिमन्तः ।
स्तनक्षरत्क्षीरनिभेन राज्ञी प्रदर्शयन्तीव तदा रराज ॥६१॥
प्रकाशभीरुः सहसा ततोऽसौ हलायुधः क्षीरघटेन दक्षः ।
तदाभ्यषिञ्चत्स्वयमञ्चितास्थां[6] न मुह्यति प्राप्तकृतौ कृती हि ॥६२॥

पूर्वक नमस्कार किया ॥५४॥ तत्पश्चात् जो पीले रङ्गके दो वस्त्र पहिने हुए था, वनके मध्यमें मयूर-पिच्छकी कलँगी लगाये हुए था, अखण्ड नील कमलकी माला जिसके शिरपर पड़ी हुई थी, जिसका शङ्खके समान सुन्दर कण्ठ उत्तम कण्ठीसे विभूषित था, सुवर्णके कर्णाभरणोंसे जिसकी आभा अत्यन्त उज्ज्वल हो रही थी, जिसके ललाटपर दुपहरियाके फूल लटक रहे थे, जिसके शिरपर ऊँचा मुकुट बँधा हुआ था, जिसकी कलाइयोंमें सुवर्णके देदीप्यमान कड़े सुशोभित थे, जिसके साथ अनेक सुन्दर गोपाल बालक थे एवं जो यश और दयासे सहित था ऐसे पुत्रको लाकर यशोदाने देवकीके चरणोंमें प्रणाम कराया। उत्तम गोपके वेषको धारण करनेवाला वह पुत्र प्रणामकर पासमें ही बैठ गया। माता देवकी उसका स्पर्श करती हुई चिरकाल तक उसे देखती रही ॥५५–५७॥ देवकीने यशोदासे कहा कि हे यशस्विनि यशोदे ! तू ऐसे पुत्रका निरन्तर दर्शन करती है अतः तेरा वनमे भी रहना प्रशंसनीय है। यदि पृथिवीका राज्य भी मिल जाय पर संतान न हो तो वह राज्य अच्छा नहीं लगता ॥५८॥ इसके उत्तरमें गोपी यशोदाने कहा कि हे स्वामिनि ! आपने जैसा कहा है यह वैसा ही सत्य है। मेरे मनके संतोषको अत्यधिक रूपसे पुष्ट करनेवाला यह सदाका दास आपके प्रिय आशीर्वादसे चिरंजीव रहे यही प्रार्थना है ॥५९॥

इसी बीचमें पुत्रको देखनेसे देवकी रानीके दोनों स्तन अत्यधिक दूधसे परिपूर्ण हो गये। वह उन झरते हुए स्तनोंको रोकनेमें समर्थ नहीं हो सकी सो ठीक ही है क्योंकि चित्तमें भेद पड़ जाने पर किसी बातका छिपाना नहीं हो सकता ॥६०॥ उस समय स्तनोंसे झरते हुए दूधके बहाने रानी, 'हे पुत्र ! शत्रुके भयसे मैंने तुझे वियुक्त किया है दुष्ट बुद्धिसे नहीं' अपने अन्तरङ्गकी इस विशुद्धिको दिखाती हुई के समान सुशोभित हो रही थी ॥६१॥ 'कहीं रहस्य न खुल जाय' इससे भयभीत हो बुद्धिमान बलदेवने उसी समय स्वयं ही दूधके घड़ेसे प्रेमपूर्ण माताका अभिषेक कर दिया—उसके ऊपर दूधसे भरा घड़ा उड़ेल दिया सो ठीक ही है क्योंकि

१. वलयः प्रकोष्ठं म० । २. सानुवंशे म० । ३. यशश्च दया चेति यशोदये ताभ्याम् आढ्यं सहितम् । ४. दोषी म० । ५. प्रस्तुत म० । ६. मञ्चितास्था ग० ।

ततो हरिप्रेक्षणलब्धसौख्यां[1] हली समानीय समाप्तकार्याम् ।
प्रवेश्य साध्वीं मथुरां पुनस्तं न्यवेदयद्वृत्तमपि स्वपित्रे ॥६३॥
कलागुणान् प्रत्यहमेत्य दक्षमशिक्षयत्केशवमाशु शौरी ।
स्थिरोपदेशे प्रणते न शिष्ये गुरूपदेशाः क्षपयन्ति कालम् ॥६४॥
स बालभावात्सुकुमारभावस्तथैवमुद्भिन्नकुचाः कुमारः ।
सुयौवनोन्मादभराः [2]सुरासैररीरमत्केलिषु गोपकन्याः ॥६५॥
कराङ्गुलिस्पर्शसुखं स रासेष्वजीजनद्गोपवधूजनस्य ।
सुनिर्विकारोऽपि महानुभावो सुमुद्रिकानद्धमणिर्यथार्घ्यः ॥६६॥
यथा हरौ भूरिजनानुरागो जगाम वृद्धिं हृदि वृद्धिसूची ।
तथास्य तेने विरहानुरागो विहारकाले विरहातुरस्य ॥६७॥
द्विषं तमन्वेष्टुमितः प्रविष्टः स शङ्कया कंसरिपुः कदाचित् ।
व्रजं निजैर्व्रजवद्भ्युतोऽस्मात्पुरोऽभ्युपायाद्गमितो जनन्या[3] ॥६८॥
स ताडवीं[4] स्पष्टकृताट्टहासां कुरावसीं रूक्षनिरीक्षणाक्ष्याम् ।
अधोक्षजो वीक्ष्य विवृद्धकायां शरीरयष्ट्यां विकृतां जघान ॥६९॥

कुशल मनुष्य अवसरके अनुसार कार्य करनेमें कभी नहीं चूकते ॥६२॥ तदनन्तर कृष्णके देखनेसे जिसे सुख प्राप्त हुआ था और जिसके दुग्धाभिषेकका कार्य समाप्त हो चुका था ऐसी साध्वी माता देवकीको लाकर बलदेवने मथुरापुरीमें प्रविष्ट कराया और इसके बाद उन्होंने यह समाचार अपने पिता वसुदेवके लिए भी सुनाया ॥६३॥

कृष्ण अत्यन्त चतुर थे अतः बलदेवने प्रतिदिन जा-जाकर उन्हें शीघ्र ही कलाओं और गुणोंकी शिक्षा दी थी सो ठीक ही है क्योंकि स्थिर रूपसे उपदेश ग्रहण करनेवाले विनयी शिष्यके मिलने पर गुरुओंके उपदेश व्यर्थ ही समय नहीं नष्ट करते अर्थात् शीघ्र ही उसे निपुण बना देते हैं ॥६४॥ कुमारके समान अत्यन्त निर्विकार अथवा अत्यन्त कोमल हृदयको धारण करनेवाले वह कुमार कृष्ण, क्रीड़ाओंके समय अतिशय यौवनके उन्मादसे भरी एवं प्रस्फुटित स्तनोंवाली गोपकन्याओंको उत्तम रासों द्वारा क्रीड़ा कराते थे ॥६५॥ वे रासक्रीड़ाओंके समय गोपबालाओंके लिए अपने हाथकी अङ्गुलियोंके स्पर्शसे होनेवाला सुख उत्पन्न कराते थे परन्तु स्वयं अत्यन्त निर्विकार रहते थे। जिस प्रकार उत्तम अंगूठीमें जड़ा हुआ श्रेष्ठ मणि स्त्रीके हाथकी अंगुलिका स्पर्श करता हुआ भी निर्विकार रहता है उसी प्रकार महानुभाव कृष्ण भी गोपबालाओंकी हस्तांगुलिका स्पर्श करते हुए भी निर्विकार रहते थे ॥६६॥ क्रीड़ाके समय कुमार कृष्णसे मिलने पर वृद्धिको सूचित करनेवाला मनुष्योंका अत्यधिक अनुराग जिस प्रकार हृदयमें वृद्धिको प्राप्त होता था उसी प्रकार उनके विरहकालमें विरहसे पीड़ित मनुष्योंका विरहानुराग भी वृद्धिको प्राप्त होता था। भावार्थ—खेलके समय कृष्णको पाकर जिस प्रकार लोगोंको प्रसन्नता होती थी उसी प्रकार उनके अभावमें लोगोंको विरह जन्य संताप भी होता था ॥६७॥

कृष्णकी लोकोत्तर चेष्टाएँ सुन एक दिन कंसको इनके प्रति संदेह हो गया और वह वैरी जान इन्हें खोजनेके लिए गोकुल आया। कृष्ण अपने सखाओंके साथ उसके समीप आ रहे थे—परन्तु माताने कोई उपाय रच उन्हें आत्मीय जनोंके द्वारा नगरके बाहर व्रजको भेज दिया ॥६८॥ व्रजमें एक ताडवी नामकी पिशाची आई जो जोर-जोरसे अट्टहास कर रही थी, जिसके नेत्र और मुख दोनों ही अत्यन्त रूक्ष थे, जिसका शरीर अत्यन्त बढ़ा हुआ था और जिसकी शरीरयष्टि

१. सौख्या म० । २. सुराशै–म० । सुन्दररासक्रीडाभिः । ३. जनन्याः म० । ४. नाट्वीं म० ।

सुशाल्मलीखण्डसुमण्डपस्य [1]सुदुर्भरास्तम्भततिं परेषाम् ।
समुत्क्षिपन्तं स्वयमं विदित्वा न्यवर्तयत्सा जननी विशङ्का ॥७०॥
निवृत्य कंसः पुरि [2]घोषणां स्वैरघोषयद्दैवविदु[3]क्तकारी ।
गवेषणार्थं द्विषतो निजस्य स पापतापाभिमुखः सुखार्थी ॥७१॥
भुजङ्गशय्यामिह सिंह[4]वाहं शरासनं चाप्यजितं जयान्तम् ।
सपाञ्चजन्याब्जमथारुहेद्यः करोत्यधिज्यं परिपूरयेच्च ॥७२॥
ददाति तस्मै पुरुषोत्तमाय पराजिताशेषपराक्रमाय ।
अलभ्यलाभं समभीष्टमिष्टः प्रहृष्टकंसः [5]पुरुषान्तरज्ञः ॥७३॥
इति प्रवृत्तिश्रवणात्प्रवृत्तास्ततस्तदारोहणपूर्विकासु ।
क्रियासु निस्त[6]र्जितवृत्तयश्च महीक्षितो जग्मुरतो विलक्षाः ॥७४॥
अथानयद्भानुरुपेन्द्रमर्थी सहोदरोऽसौ खलु कंसवध्वाः ।
तदीयसामर्थ्यमुदीक्ष्य जातु प्रजाततोषो मथुरापुरीं ताम् ॥७५॥
महाहिशय्यामिह सज्जि[7]तां तां विलोक्य चन्द्रव्यपदेशपृष्ठाम्[8] ।
समारुहद्भीषणभोगिभोगां स्वभावशय्यामिव शौरिराशु ॥७६॥

अत्यन्त विकृत थी कृष्णने उसे देखते ही मार भगाया ॥६९॥ व्रजमें एक शाल्मली वृक्षकी लकड़ीका मण्डप तैयार हो रहा था वहाँ उसके ऐसे बड़े-बड़े खम्भोंका समूह पड़ा था जिसे दूसरे लोग उठा नहीं सकते थे परन्तु कृष्णने उन्हें अकेले ही उठा कर ऊपर चढ़ा दिया। यह जान माताने निःशङ्क हो उन्हें व्रजसे वापिस लौटा लिया ॥७०॥ दुष्ट एवं सुखार्थी कंसको जब कृष्ण गोकुलमें नहीं मिले तब वह मथुरा लौट आया। उसी समय उसके यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितंजय नामका धनुष और पाञ्चजन्य नामका शङ्ख ये तीन अद्भुत पदार्थ प्रकट हुए। कंसके ज्योतिषीने बताया कि 'जो कोई नागशय्यापर चढ़कर धनुषपर डोरी चढ़ा दे और पांचजन्य शंखको फूँक दे वही तुम्हारा शत्रु है', अतः ज्योतिषीके कहे अनुसार कार्य करनेवाले कंसने अपने शत्रुकी तलाश करनेके लिए आत्मीय जनोंके द्वारा नगरमें यह घोषणा करा दी कि 'जो कोई यहाँ आकर सिंहवाहिनी नागशय्यापर चढ़ेगा, अजितंजय धनुषको डोरीसे सहित करेगा और पाञ्चजन्य शंखको मुखसे पूर्ण करेगा—फूँकेगा वह पुरुषोंमें उत्तम तथा सबके पराक्रमको पराजित करनेवाला समझा जावेगा। पुरुषोंके अन्तरको जाननेवाला कंस उसपर बहुत प्रसन्न होगा, अपने आपको उसका मित्र समझेगा तथा उसके लिए अलभ्य इष्ट वस्तु देगा' ॥७१-७३॥

कंसकी यह घोषणा सुन अनेक राजा मथुरा आये और नागशय्यापर चढ़ने आदिकी क्रियाओंमें प्रवृत्ति करने लगे परन्तु सब भयभीत हो लज्जित होते हुए चले गये ॥७४॥ एक दिन कंसकी स्त्री जीवद्यशाका भाई भानु, किसी कार्यवश गोकुल गया। वहाँ कृष्णका अद्भुत पराक्रम देख वह बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें अपने साथ मथुरापुरी ले आया ॥७५॥

यहाँ, जिसके समीपका प्रदेश अत्यन्त सुसज्जित था, जिसका पृष्ठ भाग चन्द्रमाके समान उज्ज्वल था एवं जिसके ऊपर भयंकर सर्पोंके फणा लहलहा रहे थे ऐसी महानाग शय्यापर कृष्ण

---

१. सुदुर्भरास्तम्भततिः म० । २. पुरघोषणां म० । ३. देवविदुक्त–म० । ४. सिंहवाह म० । ५. स रुपान्तरज्ञः म० । ६. निस्तेजितवृत्तयः ग० । ७. सज्जितान्तं म० । ८. चेन्द्रस्य पदे स पृष्ट्वा म० (?) । चेन्द्रस्य पदेश दृष्ट्वा ग० (?) ।

धनुस्ततोऽधिज्यमसौ व्यधत्त भुजङ्गमोद्गीर्णविकीर्णधूमम् ।
अपूरयच्छङ्खमखेदमाशाः प्रपूरयन्तं निखिला निनादैः ॥७७॥
जनस्तदालोक्य तदाखिलोकं तदीयमाहात्म्यमुदीयमानम् ।
अघोषयत्क्षुब्धसमुद्रघोषो महानहो कोऽप्ययमित्यशेषः ॥७८॥
कुकंसशङ्की बहुताग्रजेन निजेन गीत्या प्रहितो हरिस्तु ।
महानुकूलो व्रजमात्मनीनैः सहानुजर्त्ताग्रगुणानुरागैः ॥७९॥

शालिनीच्छन्दः

गर्भाधानात्पूर्वमर्वाक् प्रसूतेराबद्धान्तर्वैरभावोऽपि शत्रुः ।
मत्तः कुर्यात्किं ह्युदात्तस्य पुंसो जैनाद्धर्मात् पूर्वजन्मप्रयातात् ॥८०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ कृष्णबालक्रीडावर्णनो नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥३५॥

स्वाभाविक शय्याके समान शीघ्र चढ़ गये ॥७६॥ तदनन्तर उन्होंने साँपोंके द्वारा उगले हुए धूमको बिखेरनेवाले धनुषको प्रत्यञ्चासे युक्त किया और शब्दोंसे समस्त दिशाओंको भरनेवाले शङ्खको खेद रहित—अनायास ही पूर्ण कर दिया ॥७७॥ उस समय कृष्णके प्रकट होते हुए लोकोत्तर माहात्म्यको देखकर समस्त लोगोंने घोषणा की कि अहो क्षुभित समुद्रके समान शब्द करनेवाला यह कोई महान् पुरुष है ॥७८॥ कृष्णका यह पराक्रम देख बड़े भाई बलदेवको दुष्ट कंससे आशङ्का हो गई इसलिए उन्होंने महान् आज्ञाकारी कृष्णको, साथ-साथ जानेवाले गुणोंके तीव्र अनुरागी आत्मीय जनोंके साथ व्रजको भेजा। भावार्थ—बलदेवने कंससे शङ्कित हो कृष्णको अकेला नहीं जाने दिया किन्तु 'यह बहुत गुणी है, इसलिए सब लोग इसे भेजने जाओ' यह कहकर अपने पक्षके बहुतसे लोगोंको उनके साथ कर दिया ॥७९॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो पूर्व जन्ममें प्राप्त हुए जैन धर्मसे उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ है उस मनुष्यका मदोन्मत्त शत्रु क्या कर सकता है ? भले ही वह गर्भाधानसे पूर्व और जन्मके पहले ही हृदयमें वैरभाव बाँधकर बैठा हो ॥८०॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें कृष्णकी बालक्रीड़ाओंका वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ॥३५॥

षट्त्रिंशः सर्गः

मालिनीच्छन्दः

अथ विरुवदलिज्याकृष्टबाणासनायां कलरवकलहंसीशङ्खशय्याश्रितायाम् ।
रिपुशिखिमदपक्षोद्‌पक्षोदयायां शरदि हरिनवश्रीलीलयाध्यासितायाम् ॥१॥
घननिवहविघाताद्‌द्यौरभाच्चन्द्रहासा विघटितघनपङ्का मेदिनी काशहासा ।
कतिपयदिनभाविप्रौढकंसाभिघातप्रकटितहरि[1]हासाकारविद्योततीव (वद् द्योतने सा) ॥२॥
विपुलपुलिनफे[2]नैर्व्याजतः स्वच्छनद्यः सहजजलसरस्यः पुण्डरीकापदेशात् ।
सितकुसुमनिभेन स्वैर्वनान्तैश्च शैला हरियश इव शुभ्रं द्राग्दधाना विरेजुः ॥३॥
फलकुचगुरुभाराक्रान्तिराक्रान्तसस्यप्रचुररुचिरकास[3]त् कञ्चुकोद्भासमाना ।
प्रमदवशविकासिन्युर्वरा सर्वतोऽभाद्भिनवहरिकण्ठाश्लेषणोत्कण्ठितेव ॥४॥
प्रसवभरविभूतिव्यग्रताव्यग्रगर्भग्रहणसमयहृष्यद्गोवृषोद्घोषघोषाः ।
शरदि हृदयतोषं पोष[4]यन्तिस्म विष्णोः प्रसभमिह रिपूणां पेषणं घोषयन्तः ॥५॥
विदितहरिसमीहश्चापि कंसस्तदानीं पुनरपि तदपायोपा[5]यधीर्गोपवर्गम् ।
कमलहरणहेतोर्दुर्गमत्यङ्[6]गभाजां ह्रदमपि विष[7]माहि प्राहिणो[8]द्यामुनं सः[9] ॥६॥

अथानन्तर गूँजते हुए भ्रमररूपी प्रत्यञ्चासे युक्त बाणासन जातिके वृक्षरूपी धनुषसे सुशोभित, कबूतर रूपी शङ्ख और कलहंस रूपी शय्यासे सहित तथा शत्रुरूपी मयूरोंके मद और पङ्खोंको नष्ट करनेवाली शरद् ऋतु आई सो ऐसी जान पड़ती थी मानो कृष्णकी नवीन लक्ष्मीकी लीलासे ही सहित हो। भावार्थ—जिस प्रकार कृष्णने उज्ज्वल नागशय्यापर आरूढ हो शङ्ख बजाया था और धनुष धारण किया था उसी प्रकार वह शरद् ऋतु भी कलहंस रूपी नाग-शय्यापर आरूढ़ हो कबूतर रूपी शङ्खको बजा रही थी तथा बाणासन वृक्षरूपी धनुषको धारण कर रही थी ॥१॥ उस समय आकाशमें मेघोंका समूह नष्ट हो गया था तथा चन्द्रमाका प्रकाश फैलने लगा था इसलिए वह अत्यधिक सुशोभित हो रहा था। इसी प्रकार पृथिवीकी विपुल कीचड़ नष्ट हो गई थी तथा उसपर काशके फूल फूल उठे थे इसलिए वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कुछ दिन बाद जो अतिशय बलवान् कंसका घात होनेवाला है उससे प्रकट होनेवाले कृष्णके अट्टहासको ही पहलेसे धारण करने लगी हो ॥२॥ उस समय स्वच्छ नदियोंमें विशाल पुलिनोंकी टक्करसे फेन निकल रहा था, स्वाभाविक जलसे भरे सरोवरोंमें सफेद-सफेद कमल फूल रहे थे और पर्वतोंके अपने वनोंमें सफेद-सफेद फूल खिल उठे थे उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उन सबके बहाने श्रीकृष्णके शुक्ल यशको ही शीघ्र धारण कर रहे हों ॥३॥ फलरूपी स्तनोंके भारी भारसे आक्रान्त, सर्वत्र व्याप्त धानकी सातिशय कान्तिरूपी चोलीसे सुशोभित और हर्षातिरेकसे सब ओर विकसित—नये-नये अंकुरोंको धारण करनेवाली उपजाऊ भूमिरूपी रमणी उस समय नये राजा श्रीकृष्णके कण्ठालिङ्गनके लिए उत्सुकके समान जान पड़ती थी ॥४॥ उस शरद् ऋतुमें सन्ततिके भार रूप विभूतिसे प्राप्त होनेवाली व्यग्रतासे व्यग्र एवं गर्भधारणके योग्य समय पाकर हर्षित होनेवाली गायों और बैलोंके जोरदार शब्द श्रीकृष्णके हृदय सम्बन्धी संतोषको मानो इसलिए ही बरबस पुष्ट कर रहे थे कि वे उनके शत्रुओंके नष्ट होनेकी घोषणा कर रहे थे ॥५॥

यद्यपि कंस, श्रीकृष्णकी चेष्टाको जान चुका था तथापि उनके नष्ट करनेके उपायोंमें बुद्धि लगानेवाले उस दुष्टने फिर भी उस समय कमल लानेके लिए समस्त गोपोंके समूहको यमुनाके

१. भासा ग०, घ०, ङ० । २. केन म० । ३. शोभमान । ४. तोष–म० । ५. तदपायेपापधी–म० । ६. मत्यङ्ग–म० । ७. विषमा अहयो यस्मिन् । ८. प्रेषयामास । ९. यमुनाया इदं यामुनम् ।

निजभुजबलशाली हेलयैवावगाह्य ह्रदमपि कुपितोत्थं कालियाहिं महोग्रम् ।
फणमणिकिरणौघोद्गीर्णवह्निस्फुलिङ्गव्यतिकरमतिकृष्णं मंक्षु[1] कृष्णो ममर्द[2] ॥७॥
तटरुहविटपाग्रव्यग्रगोपप्रणादस्फुटहलधरधीरध्वानसंहृष्टदेहः ।
भुजनिहतभुजङ्गः संसमुच्छिद्य पद्मान्युपतटमटतिस्म द्राक् मरुत्वा[3]निवासौ ॥८॥
प्रविलसदतिभास्वत्पीतवासा बलेन प्रमदभरवशेन प्रोल्लसन्मेचकेन ।
सरभसमुपगूढश्चोद्धृतोऽभाद्भुजाभ्यामसितसितशिलाग्रेणेव सोऽब्दः सविद्युत् ॥९॥
निहितकमलभारान् गोपकैरग्रतोऽरिः परगुणमसहिष्णुः सोष्णमुच्छ्वस्य दृष्ट्वा ।
समभणदिति शीघ्रं नन्दगोपात्मजाद्याः सरभसमिह गोपा मल्लयुद्धाय सन्तु ॥१०॥
इति विहितमहाज्ञो मल्लयुद्धाय मल्लानतिकठिनकनिष्ठज्येष्ठमध्यप्ररूढान् ।
द्रुततरमुपकण्ठे स्वस्य चक्रे स चक्रक्रकचनिशितचित्तः कर्तुकामस्तदाज्ञाम् ॥११॥
चरितमिदमकालक्षेपि विज्ञाय शत्रोः स्थिरमतिवसुदेवश्चाप्यनावृष्टियुक्तः ।
ज्ञपयितुमपि सर्वं ज्येष्ठवर्गं स वार्तामगमयदिह शीघ्रं सन्निधानाय तस्य ॥१२॥
विदितरिपुविचेष्टास्ते नव ज्येष्ठमुख्या रथतुरगपदातिप्रोन्मदेभैः स्वसैन्यैः ।
सरभसमभिजग्मुर्भूतलं भूषयन्तः शठहृदयमकस्मात्सस्मयं दारयन्तः ॥१३॥

उस ह्रदके सन्मुख भेजा जो प्राणियोंके लिए अत्यन्त दुर्गम था और जहाँ विषम साँप लहलहाते रहते थे ॥६॥

अपनी भुजाओंके बलसे सुशोभित कृष्ण अनायास ही उस ह्रदमें घुस गये और जो कुपित होकर सामने आया था, महाभयङ्कर था, फणपर स्थित मणियोंकी किरणोंके समूहसे जो अग्निके तिलगोंकी शोभा प्रकट कर रहा था तथा अत्यन्त काला था ऐसे कालिय नामक नागका उन्होंने शीघ्र ही मर्दन कर डाला ॥७॥ किनारेके वृक्षकी शाखाओंपर चढ़े घबड़ाये हुए गोपोंकी जय-जयकार तथा बलभद्रके गम्भीर शब्दसे जिनका समस्त शरीर रोमाञ्चित एवं हर्षित हो रहा था तथा भुजाओंसे जिन्होंने कालिय भुजङ्गको नष्ट किया था ऐसे श्रीकृष्ण कमल तोड़कर वायुके समान शीघ्र ही तटके समीप आ गये ॥८॥ देदीप्यमान पीताम्बरसे सुशोभित श्रीकृष्ण ज्योंही ह्रदसे बाहर निकले त्योंही आनन्दके समूहसे विवश, नीलाम्बरसे सुशोभित बलभद्रने दोनों भुजाओंसे उनका गाढालिङ्गन किया। उस समय नीलाम्बरधारी गौरवर्ण बलभद्रसे आलिङ्गित पीताम्बरधारी श्याम सलोने कृष्ण, ऐसे जान पड़ते थे जैसे बिजली सहित श्याम मेघ, काली और सफेद शिलाओंके अग्रभागसे आलिङ्गित हो रहा हो ॥९॥

दूसरोंके गुणोंको सहन नहीं करनेवाला वैरी कंस, गोपालोंके द्वारा सामने रखे हुए कमलोंके समूहको देखकर गरम-गरम उच्छ्वास भरने लगा। तदनन्तर उसने शीघ्र ही यह आज्ञा दी। नन्द गोपके पुत्रको आदि लेकर समस्त गोप यहाँ मल्लयुद्धके लिए अविलम्ब तैयार हो जावें ॥१०॥ इस प्रकार मल्लयुद्धके लिए कड़ी आज्ञा देकर चक्र और करोंतके समान तीक्ष्ण चित्तका धारक कंस मल्लयुद्धके लिए इच्छुक हो शीघ्र ही अत्यन्त बलवान् छोटे-बड़े और मध्यम श्रेणीके मल्लोंको उसी समय बुलाकर अपने पास रख लिया ॥११॥ स्थिर बुद्धिके धारक वसुदेवने, अपने अनावृष्टि पुत्रके साथ सलाहकर शत्रुकी इस चेष्टाको तत्काल समझ लिया और अपने समस्त बड़े भाइयोंको बतलाने तथा उन्हें शीघ्र ही मथुरामें उपस्थित होनेके लिए खबर भेज दी ॥१२॥ जिन्होंने शत्रुकी चेष्टाको जान लिया था ऐसे वसुदेवके नौ ही बड़े भाई, रथ, घोड़े, पदाति और मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त अपनी सेनाओंके द्वारा पृथिवीतलको

---

१. शीघ्रम् म० । २. भेदः म० । ३. वायुरिव (ग० टि०) ।

चिरवियुतकनीयोदर्शनव्याजतस्तान् पृथुतरमथुरां तामागतान् यादवेन्द्रान् ।
अभिमुखमपशङ्कोऽभ्येत्य कंसः सशङ्को निभृतकृतनतिः प्रावेशयत्सानुजान् सः ॥१४॥
पुरु पुरगृहशोभादर्शनात्तृप्तनेत्रास्तदधिपतिनियुक्तावासकास्ते[1] यथेष्टम् ।
प्रतिदिनमुपसेव्या दानमानप्रणामैः प्रणयमिव वहन्तस्तस्थुरन्तर्विदाहाः[2] ॥१५॥
हलभृदवधृतार्थो[3] मद्युद्धाभिलाषं वृष[4]धवलविशेषोऽत्यन्तविज्ञो विधित्सुः ।
अतिनिपुणमतिस्तां सन्निधौ तस्य धीरो वदति लघु यशोदां स्नानमाकल्पयेति ॥१६॥
चिरयसि किमिति त्वं विस्मृतात्मीयदेहे न सकृदसकृदुक्ता न स्वभावं जहासि ।
न हि शुचिशुभशुक्त्युत्पादितोदारमुक्तामणिरतिभृतवेला चापलं स्वं जहाति ॥१७॥
इति सह चिरवासेऽप्युक्तपूर्वा न जातु झटितिचकितभया सा साश्रुनेत्रा निरुक्तिः ।
द्रुततरमुपकल्प्य स्नानमन्नप्रसिद्ध्यै प्रकृतमकृत यत्नं स्नातुमेतौ नदीं तौ ॥१८॥
अवददिति बलस्तं कृष्णमेकान्तवर्ती किमिति मुखमिदं ते दीर्घनिश्वाससास्रम् ।
हिमहतरुचिपद्मच्छायमच्छायमद्य प्रथयति पृथुमन्तस्तापमाचक्ष्व हेतुम् ॥१९॥

भूषित करते और अकस्मात् आगमनसे दुष्ट कंसके अहंकारपूर्ण हृदयको विदीर्ण करते हुए शीघ्र ही मथुराकी ओर चल पड़े ॥१३॥

यदुवंशी राजाओंको विशाल मथुरा नगरीकी ओर आया देख यद्यपि कंस शङ्कासे युक्त हो गया था तथापि जब उसे यह बताया गया कि ये चिरकालसे वियुक्त छोटे भाई—वसुदेवको देखनेके लिए आये हैं तब उसने निःशङ्क हो सामने जाकर उनका स्वागत किया, उन्हें अच्छी तरह नमस्कार किया और छोटे भाइयोंसे सहित उन समस्त भाइयोंका नगरमें प्रवेश कराया ॥१४॥ विशाल मथुरा नगरीके घरोंकी शोभा देखनेसे जिनके नेत्र सन्तुष्ट हो गये थे तथा नगरीके अधिपति—कंसने जिन्हें उत्तमोत्तम भवन प्रदान किये थे, ऐसे वे सब यदुवंशी राजा मथुरा नगरीमें रहने लगे। कंस दान, मान तथा नमस्कारके द्वारा प्रतिदिन उनकी सेवा करता था। यद्यपि वे बाह्यमें ऐसी चेष्टा दिखाते थे जैसे प्रेम ही धारण कर रहे हों तथापि अन्तरङ्गमें अत्यधिक दाह रखते थे ॥१५॥

तदनन्तर जिन्होंने समस्त कार्यका अच्छी तरह निश्चय कर लिया था, जिनके अवयव वृषभके समान सफेद थे, जो अत्यन्त विज्ञ थे, जिनकी बुद्धि अत्यन्त निपुण थी और जो कृष्णके हृदयमें युद्धकी अभिलाषा उत्पन्न करना चाहते थे ऐसे धीर वीर बलभद्रने गोकुल जाकर कृष्णके सामने ही यशोदासे कहा कि जल्दी स्नान कर ॥१६॥ क्यों इस तरह देर कर रही है, तू अपने शरीरकी सम्भालमें ही भूली हुई है, एक बार नहीं अनेक बार कहा फिर भी अपनी आदत नहीं छोड़ती। ठीक ही है उज्ज्वल एवं शुभ शुक्तियोंके द्वारा उत्तम मुक्तामणियोंको उत्पन्न करनेवाली समुद्रकी वेला अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ती है। चिरकाल तक साथ-साथ रहनेपर भी बलभद्रने यशोदासे ऐसे कटुक वचन पहले कभी नहीं कहे थे इसलिए वह बहुत ही चकित तथा भयभीत हो गई। यद्यपि उसने कहा कुछ नहीं फिर भी उसके नेत्रोंसे आँसू निकल आये। वह चुपचाप शीघ्र ही स्नान कर भोजन बनानेके लिए प्रकृत-अवसरानुकूल यत्न करने लगी। इधर कृष्ण और बलभद्र-दोनों स्नान करनेके लिए नदी चले गये ॥१७-१८॥

एकान्तमें पहुँचनेपर बलभद्रने कृष्णसे कहा कि आज तुम्हारा यह मुख लम्बी-लम्बी साँसों तथा अश्रुओंसे युक्त क्यों है ? तुषारसे कुम्हलाये हुए कमलके समान कान्तिसे रहित

१. तदधिपतिना कंसेन नियुक्ताः प्रदत्ता आवासा येभ्यस्ते। २. हृदये मात्सर्योपेताः। ३. हलभृदवधृतार्थो म०, ख०। ४. वृषलवधविशेषोदन्तविज्ञो म०, ख०।

प्रणयसहितमित्थं प्रश्नितः प्राह कृष्णः प्रहसितमुखपद्मं [1]पद्ममालोक्य वाक्यम् ।
शृणु वचनमिहार्य त्वं मदीयं प्रसिद्धं स्फुटवदनविकाराशंसितं चित्तदुःखम् ॥२०॥
श्रुतगुरुरसि विद्वान् वेत्सि लोकानुवृत्तिं त्वमुपदिशसि मार्गं चार्य वर्यं पुरस्य ।
तदिह भण सुपूज्यां युज्यते मे यशोदामतिपरुषवचोभिस्ते तिरस्कर्तुमद्य ॥२१॥
इति सुविहितमन्युं गद्गदं[2] तं गदन्तं हृषिततनुरुहोऽसौ गाढमाश्लिष्य दोर्भ्याम् ।
अवददविरलाश्रुपातसंसूचितान्तःकरणविशदवृत्तिः सर्ववृत्तान्तमस्मै ॥२२॥
मुनिवचनमवन्ध्यं तज्जरासन्धजायाः पटुमदवशवृत्तेर्हेतुतो वृत्तमादौ ।
निधनमपि च षण्णां देवकीगर्भजानां क्षुभितहृदयकंसापादितं कोपहेतुम् ॥२३॥
प्रसवसमयतोऽर्वाग्गोकुले लीनवृत्तिं रिपुविहितमनेकापायमप्यत्र बाल्यात् ।
प्रभृति सकलमग्रे मल्लसंग्राममुग्रं विरचितमवधार्यं द्विड्वधेऽस्य चित्तम् ॥२४॥
हरिरिति हरिवंशं रौ[3]हिणेयादशेषं पितृजनगुरुबन्धुं भ्रातृवर्गं विदित्वा ।
प्र[4]मदमुरुमुवाह श्रीमुखाम्भोजलक्ष्मीं[5] हरिरिव गुरुभूभृद्भूरिरक्षासनाथः ॥२५॥
हितसहजतयोत्थस्नेहसंपृक्तभावौ सुसरिति यमुनायां तौ महामीनलीलौ ।
जलविहरणदक्षौ स्नानमासेव्यसेव्यौ निजसदनमगातामन्वितौ गोपवर्गैः ॥२६॥

तुम्हारा यह मुख किसी भारी मानसिक सन्तापको प्रकट कर रहा है सो उसका कारण कहो ॥१९॥ इस प्रकार प्रेमसहित पूछे हुए कृष्णने, प्रसन्न मुख कमलसे युक्त बलभद्रकी ओर देखकर यह वचन कहे कि हे आर्य ! मेरे वचन सुनिए। मेरे मुखपर प्रकट हुए विकारसे मेरा मानसिक दुःख प्रकट हो रहा है, यह ठीक है। आप शास्त्र ज्ञानसे श्रेष्ठ विद्वान् हैं, लोककी रीतिको जानते हैं और हे पूज्य ! आप नगरवासी लोगोंको श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देते हैं फिर यह तो बताइए कि आज आपको हमारी पूज्य माता यशोदाका अत्यन्त कठोर वचनोंसे तिरस्कार करना क्या उचित था ? ॥२०॥ इस प्रकारके वचनों द्वारा शोक प्रकट करते हुए कृष्णका बलभद्रने दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिङ्गन कर लिया। हर्षसे उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया। तदनन्तर अविरल अश्रुधारासे हृदयकी स्वच्छ वृत्तिको सूचित करते हुए उन्होंने कृष्णके लिए सब वृत्तान्त कह सुनाया ॥२१॥ उन्होंने सबसे पहले तीव्र अहङ्कारको वशीभूत जरासंधकी पुत्री कंसकी स्त्री जीवद्यशाके लिए अतिमुक्तक मुनिने जो अवन्ध्य—सत्य वचन कहे थे वे सुनाये। तदनन्तर क्षुभितहृदय कंसने देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए छह पुत्रोंको अपनी जानमें मार डाला यह क्रोधवर्धक समाचार सुनाया। फिर, तुम प्रसवके समयसे पहले ही उत्पन्न हुए थे और उत्पन्न होते ही तुम्हें हम गोकुलमें छिपाकर यशोदाके यहाँ रख गये थे यह कहा। तदनन्तर बाल्य-कालसे ही लेकर शत्रुने मारनेके जो नाना साधन जुटाये उनका निरूपण किया। अन्तमें यह बताया कि इस समय कंस भयंकर मल्लयुद्धका निश्चय कर तुम्हारे मारनेमें चित्त लगा रहा है ॥२२–२४॥ इस प्रकार ज्योंही कृष्णने बड़े भाई बलभद्रसे समस्त हरिवंश, पिता, गुरु, बन्धु, तथा भाइयोंका हाल जाना त्योंही वे आनन्दसे अत्यधिक मुख-कमलकी शोभाको धारण करने लगे—हर्षातिरेकसे उनके मुख-कमलकी लक्ष्मी खिल उठी। और वे बड़े भाई रूपी पर्वतसे प्राप्त अत्यधिक रक्षासे युक्त हो सिंहके समान सुशोभित होने लगे ॥२५॥

तदनन्तर जन्मजात हितबुद्धिसे उत्पन्न स्नेहसे जिनके अन्तःकरण परस्पर मिल रहे थे, जो महामच्छोंकी लीला धारण कर रहे थे एवं जलक्रीड़ामें जो अत्यन्त चतुर थे ऐसे दोनों भाइयोंने यमुना नदीमें स्नान किया। तत्पश्चात् गोप समूहसे सेवनीय दोनों भाई उन्हीं

---

१. बलम्। २. विष्णुं कृष्णमित्यर्थः। ३. बलात्। ४. प्रमदपुरु–म०। ५. लक्ष्मीर्हरिरिव म०।

शुभपरिमलसद्यस्तापहैयङ्गवीन[1]स्फुटसुरससुसूपव्यञ्जनक्षीरदध्ना[2] ।
विरचितमणिभूमौ हेमपात्र्यां सहेलौ मृदुविशदसुसिक्थं शालिभक्तं हि भुक्त्वा[3] ॥२७॥
[4]सुमृदुसुरभिगन्ध्युद्वर्तितास्यस्वपाणी स्वकरकिसलयौ तौ स्निग्धदिव्यानुलिप्तौ ।
[स्वकरकिसलयात्तोस्निग्धदिव्यानुलेपौ]
[5]दलितहरितपूगैलादिताम्बूलरागप्रचितसुखरागाद्भासमानाधरोष्ठौ ॥२८॥
विविधकरणदक्षौ मल्लविद्यानवद्यौ कृतचलनसुवेषौ नीलपीताम्बराभ्याम् ।
बृहदुरसि विधायोदारसिन्दूरधूलीरभिनववनमालामालतीमुण्डमालौ ॥२९॥
स्थिरमनसि विधाय ध्वंसनं कंसशत्रोश्चलचरणनिपातैर्धारिणीं क्षोभयन्तौ ।
[6]सममरमतिघोरैर्मल्लवेषैः सवर्गैः पुरमभि मथुरां तौ चेलतुर्गोपवर्गैः ॥३०॥
अभिपतदुरगेन्द्रं रासभं दूरसन्तं पथि हि पुरनिवेशे विघ्नयन्तं बृहद्ध्वम् ।
विवृतवदनरन्ध्रं चापतन्तं दुरन्तं कुतुरगमवधीत्तं केशवः केशिनं सः ॥३१॥
नगरमभिविशन्तौ [7]द्वारि तौ वारणेन्द्रावविरतमदलेखामण्डितापाण्डुगण्डौ ।
युगपदरिनियोगादापतन्तौ विदित्वा तुतुषतुरिव दृष्ट्वा युद्धरङ्गादिमल्लौ ॥३२॥

गोपोंके साथ-साथ अपने घर आ गये ।।२६।। घरपर दोनों साथ-साथ मणिजटित भूमिमें गये और वहाँ उन्होंने साथ-ही-साथ, जिसके सीथ अत्यन्त कोमल और उज्ज्वल थे ऐसा शालिधानका भात, शुभ सुगन्धित एवं तत्काल तपाये हुए घी से स्वादिष्ट दाल, शाक, दूध और दहीके साथ जीमा। जीमनेके बाद अत्यन्त कोमल और सुगन्धित चन्दनादि द्रव्योंके चूर्णसे कुल्ला किया, हाथोंमें उन्हींका उद्वर्तन किया, अपने कर-किसलयमें लेकर गाढ़ा-गाढ़ा सुन्दर लेप लगाया, कटी हुई हरी सुपारी तथा इलायची आदिसे युक्त पान खाया। पानकी लालीसे उनके मुखकी स्वाभाविक लाली और भी अधिक बढ़ गई जिससे उनके अधर तथा ओठ अत्यन्त सुन्दर दिखने लगे ॥२७–२८॥ तदनन्तर जो नाना आसनोंके लगानेमें चतुर थे, मल्लविद्याके निर्दोष ज्ञाता थे, नीलाम्बर और पीताम्बर धारण कर जिन्होंने चलनेके योग्य सुन्दर वेष धारण किया था, लम्बे-चौड़े वक्षस्थलपर उत्तम सिन्दूरकी रज लगा कर जिन्होंने नूतन वनमाला और मालतीका सेहरा धारण किया था, और जो अपने दृढ़ मनमें वैरी कंसके मारनेका निश्चय कर चञ्चल चरणोंके आघातसे पृथिवीको कम्पित कर रहे थे ऐसे दोनों भाई, अतिशय भयानक मल्लोंके वेषसे युक्त एवं अपने-अपने वर्गके लोगोंसे सहित गोपोंके साथ शीघ्र ही मथुराकी ओर चले ।।२६–३०।। मार्गमें कंसके भक्त एक असुरने नागका रूप बनाया, दूसरेने कटु शब्द करनेवाले गधाका और तीसरेने दुष्ट घोड़ेका रूप बनाया तथा नगर प्रवेशमें विघ्न डालते हुए सबके-सब मुँह फाड़ कर सामने आये परन्तु कृष्णने उन सबको मार भगाया ।।३१।।

नगरमें प्रवेश करते हुए दोनों भाई जब द्वारपर पहुँचे तो शत्रुकी आज्ञासे उनपर एक-साथ चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी हूल दिये गये। उन हाथियोंके भूरे रङ्गके *गण्डस्थल, निरन्तर झरती हुई मदकी रेखाओंसे सुशोभित थे।* उन हाथियोंको सामने आते जान कर दोनों भाई ऐसे संतुष्ट हुए जैसे युद्धकी रङ्गभूमिमें आगत प्रथम मल्लोंको देख कर

१. हैयङ्गवीनं म० । २. दध्नः म० । ३. भुक्तम् ग० । ४. २८–२९ श्लोकयोः स्थाने ख पुस्तके एवं पाठः—सुमृदुसुरभिगन्ध्युद्वर्तनोद्वर्तितास्यस्वकरकिसलयौ तौ मल्लविद्यानवद्यौ। कृतचलनसुवेषौ नील-पीताम्बराभ्यां बृहदुरसि विधायोदारसिन्दूरधूलीः ॥ अभिनववनमालामालतीमुण्डमालौ दरदलितसुबिम्बोद्भास-मानाधरोष्ठौ। ५. पलित म० । ६. समम् अरम् इतिच्छेदः । ७. वारितौ म० ।

सकलितमभितस्थौ चम्पकं सीरपाणिः [1]फणिरिपुरपि नागं तत्र पादामराख्यम् ।
अभवदभिनवं तद्विस्मयापादि पुंसां नरवरकरिमल्लद्वन्द्वयोर्द्वन्द्वयुद्धम् ॥३३॥
दृढपदहतिगाढाक्रान्ति चोत्पाटयन्तौ कुटिलितकर[2]रुद्धान् दन्तिदन्तावभाताम् ।
पृथुभुजबललीलोत्पाट्य[3]मानाग्रबन्धक्षितिभृदुरगवेष्ट[4]प्रौढवंशाङ्कुरान् वा ॥३४॥
अदयमथसमूलोन्मूलितोल्लासिता[5]भस्वरदनपरिघातैर्घोरनिर्घात[6]घोषैः ।
विरसविरटितेभौ तौ निहत्य प्रविष्टौ पुरमुरुरवबेलाक्ष्वेडितास्फोटगोपैः (?) ॥३५॥
कमलकिसलयोद्यत्तोरणद्वारशोभां नृपजनपदशुम्भच्चक्रवालालयालिम् ।
भुजशिखरनिघृष्टज्येष्ठमल्लांसकूटौ विशदमविशतां तौ तां महारङ्गभूमिम् ॥३६॥
स्वचरणभुजदण्डाकुञ्चिताकारशोभान्यभिनयदृढदृष्टिक्षेपरम्याणि रेजुः ।
चलितचलनवस्त्रप्रान्तकान्तानि रङ्गे हरिहलधरहेलावल्गितास्फोटितानि ॥३७॥
रिपुरयमिह कंसोऽयं जरासन्धलोकः सलिलधिविज[7]याद्यास्ते दशार्हाः सपुत्राः ।
सहलिसहरिचं[8]क्रालोकिनो लाङ्गलीत्थं प्रतिपुरुषमशेषं संज्ञयादर्शयत्तान् ॥३८॥

ही संतुष्ट हो रहे हों ॥३२॥ उनमेंसे बलभद्र तो बड़ी सुन्दरताके साथ चम्पक हाथीके सामने अड़ गये और कृष्ण पादाभर हाथीके सामने जा डटे। तदनन्तर नर मल्ल और हस्तिमल्लोंकी जोड़ियोंमें ऐसा मल्लयुद्ध हुआ जो देखनेवाले मनुष्योंके लिए बिलकुल नया तथा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला था ॥३३॥ यद्यपि हाथियोंने अपने दाँत टेढ़ी सूँड़ोंसे छिपा रक्खे थे तथापि उन दोनोंने उन्हें पैरोंके मजबूत प्रहार और बहुत भारी चपेटसे उखाड़ लिया था। उस समय वे हाथियोंके दाँत ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यधिक बाहुबलकी लीलासे जिसका अग्रभाग उखाड़ा जा रहा था ऐसे किसी पर्वतके साँपोंसे घिरे हुए बड़े बाँसोंके अंकुरोंका समूह ही हो ॥३४॥

तदनन्तर निर्दयतापूर्वक जड़से उखाड़े हुए अपने सुशोभित दाँतोंके परिघातसे जो भयंकर वज्रपातके समान जोरदार-विरस शब्द कर रहे थे ऐसे उन दोनों हाथियोंको मारकर दोनों भाई नगरमें प्रविष्ट हुए। उस समय वह मथुरा नगर जोरसे जय-जयकार करनेवाले गोपोंसे व्याप्त होनेके कारण बहुत बड़ा जान पड़ता था (?) ॥३५॥

तदनन्तर कमलकी कलिकाओंसे जिसके तोरण द्वारकी शोभा बढ़ रही थी एवं जिसके भीतर घेरकर बैठे हुए राजाओं तथा नगरवासियोंसे सुशोभित, कुश्तीके लिए गोलाकार स्थान बनाये गये थे ऐसी बहुत बड़ी रङ्गभूमिमें दोनों भाई, अपने कन्धोंसे बड़े-बड़े मल्लोंके उन्नत कन्धोंको धक्का देते हुए, हर्ष पूर्वक प्रविष्ट हुए ॥३६॥ उस समय रङ्गभूमिमें अपने चरणों और भुजदण्डोंके संकोच तथा विस्तारसे जिनकी शोभा बढ़ रही थी, जो अभिनयके अनुरूप दृष्टिके दृढ़ निक्षेपसे अत्यन्त रमणीय थीं एवं हिलते हुए चञ्चल वस्त्रोंके छोरसे जो सुन्दर थीं ऐसी कृष्ण और बलभद्रकी क्रीड़ा पूर्वक उछलना तथा ताल ठोकना आदि चेष्टाएँ अत्यधिक सुशोभित हो रही थीं ॥३७॥ रङ्गभूमिमें पहुँचते ही बलभद्रने 'यह यहाँ शत्रु कंस बैठा है, ये जरासंधके आदमी हैं और ये अपने-अपने पुत्रों सहित समुद्रविजय आदि दशों भाई विराजमान हैं' इस प्रकार इशारेसे कृष्णको समस्त मनुष्योंका परिचय करा दिया। वे समस्त लोग भी उसी गोलकी ओर देख रहे थे जो बलभद्र तथा कृष्णसे सहित था ॥३८॥

१. कृष्णः। २. कररुद्धादन्ति म०। कररुद्धौ दन्तिदन्तावभाताम् क०। ३. पाट्यमानाग्रवाद्ये क०, ग०, ङ०, म०। ४. वेष्ट–म०। ५. ल्लासिताभ–ख०, ग०, घ०, ङ०। ६. निर्घोषघोषैः–म०। ७. समुद्रविजयादयः म०। ८. सहलसहरिचक्रालोकिनो म०।

बहुजनपदराजप्राज्यलोकावलोके क्षुभितसकलमल्लास्फोटवल्गाभिरामे ।
क्रमसहितमिहान्ये तावदादेशभाजो वनमहिषविदृप्ता मल्लयुद्धं प्रचक्रुः ॥३९॥
अथ गिरितटभित्तिव्यूढवक्षोविभागस्फुटदृढभुजयन्त्रोत्पी[1]डितोद्दृप्तमल्लम् ।
हरिमभि खलकंसो ऽयुङ्क्त[2] चाणूरमल्लं विषमितविषदृष्ट्या पृष्ठतो मुष्टिकं च ॥४०॥
खरनखरकठोरौ मुष्टिबन्धौ विधाय प्रकटितपटु[3]सिंहाकारसंस्थानभेदौ ।
स्थिरचरणनिवेशौ शौरिचाणूरमल्लावनिभृतमभिलग्नौ मुष्टिसंबद्धयुद्धे ॥४१॥
कुलिशकठिनमुष्टिं मुष्टिकं पृष्ठतस्तं समपतितुसकामं राममल्लः सलीलम् ।
अलमलमिह तावत्तिष्ठ तिष्ठेति सार्वाः शिरसि करतलेनाक्रम्य चक्रे गतासुम्[4] ॥४२॥
हरिरपि हरिशक्तिः[5] शक्तचाणूरकं तं द्विगुणितमुरसि स्वे हारिहुङ्कारगर्भः ।
व्यतनुत भुजयन्त्राक्रान्तनीरन्ध्रनिर्यद्बहलरुधिरधारोद्गारमुद्गीर्णजीवम् ॥४३॥
दशशतहरिहस्तिप्रोद्बलौ साधिभूमाविति हठहतमल्लौ वीक्ष्य तौ शौरिकृष्णौ ।
प्रचलितवति कंसे शात[6]निस्त्रिंशहस्ते व्यचलदखिलरङ्गाम्भोधिरुत्तुङ्गनादः ॥४४॥
अभिपतदरिहस्तात्खड्गमाक्षिप्य [7]केशेष्वतिदृढमतिगृह्याहत्य भूमौ सरोषम् ।
विहितपरुषपादाकर्षणस्तं शिलायां तदुचितमिति मत्वास्फाल्य हत्वा जहास ॥४५॥

अथानन्तर जहाँ अनेक नगरवासी और राजा आदि श्रेष्ठ पुरुष देखनेके लिए एकत्रित थे तथा क्षोभको प्राप्त हुए समस्त मल्लोंकी उछल-कूद एवं तालके शब्दोंसे जो अत्यधिक मनोहर जान पड़ता था ऐसे अखाड़ेमें बारी-बारीसे कंसकी आज्ञा पाकर अन्य अनेक मल्ल जंगली भैंसाओंके समान अहंकारी हो मल्ल युद्ध करने लगे ॥३९॥ जब साधारण मल्लोंका युद्ध हो चुका तब दुष्ट कंसने कृष्णसे लड़नेके लिए उस चाणूर मल्लको आज्ञा दी जो पर्वतकी विशाल दीवालके समान विस्तृत वक्षःस्थलसे युक्त था और जिसने अपने मजबूत भुजयन्त्रसे बड़े-बड़े अहंकारी मल्लोंको पेल डाला था। यही नहीं, पीछेसे मुष्टिक मल्लको भी उसने उनपर क्रूर पड़नेके लिए अपनी विषम-विषमयी दृष्टिसे इशारा कर दिया ॥४०॥

तदनन्तर समर्थ सिंहके समान आकार और खड़े होनेकी मुद्रा विशेषको प्रकट करनेवाले कृष्ण और चाणूर मल्ल, स्थिर चरण रख एवं तीक्ष्ण नखोंसे कठोर मुट्ठियाँ बाँधकर अविराम रूपसे मुष्टि-युद्धमें जुट गये—परस्पर मुक्केबाजी करने लगे ॥४१॥ वज्रके समान कठोर मुट्ठिका धारक मुष्टिक मल्ल पीछेसे मुट्ठिका प्रहार करना ही चाहता था कि इतनेमें बलभद्र मल्लने शीघ्रतासे 'बस-बस ! ठहर-ठहर !' यह कहते हुए चपड़े और शिरमें जोरसे मुक्का लगाकर उसे प्राणरहित कर दिया ॥४२॥ इधर सिंहके समान शक्तिके धारक एवं मनोहर हुंकारसे युक्त श्रीकृष्णने भी चाणूर मल्लको जो उनसे शरीरमें दूना था अपने वक्षःस्थलसे लगाकर भुजयन्त्रके द्वारा इतने जोरसे दबाया कि उससे अत्यधिक रुधिरकी धारा बहने लगी और वह निष्प्राण हो गया ॥४३॥ कृष्ण और बलभद्रमें एक हजार सिंह और हाथियोंका बल था। इस प्रकार अखाड़ेमें जब उन्होंने हठ पूर्वक कंसके दोनों प्रधान मल्लोंको मार डाला तो उन्हें देख, कंस हाथमें पैनी तलवार लेकर उनकी ओर चला। उसके चलते ही समस्त अखाड़ेका जनसमूह समुद्रकी नाईं जोरदार शब्द करता हुआ उठ खड़ा हुआ ॥४४॥ कृष्णने सामने आते हुए शत्रुके हाथसे तलवार छीन ली और मजबूतीसे उसके बाल पकड़ उसे क्रोधवश पृथिवीपर पटक दिया। तदनन्तर उसके कठोर पैरोंको खींचकर 'उसके योग्य यही दण्ड है।' यह विचार उसे पत्थरपर पछाड़कर मार डाला। कंसको मारकर कृष्ण हँसने लगे ॥४५॥

१. पीलितं हतमल्लं क०, पीडितो द्दप्तमल्लं म०, ख०। २. अयुङ्क्त=योजितवान्, युक्तचाणूर-म०। ३. पद म०। ४. मृतम्। ५. हरेः सिंहस्येव शक्तिर्यस्य सः। ६. शाल-म०। ७. कोशेषु म०।

क्षुभितमभिपतन्तं कंससैन्यं च रामः कुटिलभृकुटिमल्लस्तम्भमुत्खा[1]य कोपात् ।
कुलिशसदृशघातैः सर्वतो गर्वदृप्तैरकृत कृतविरावं काम्दिशीकं क्षणेन ॥४६॥
यदुषु विषमदृष्टिष्वेककालं बलैः स्वैश्चलितजलधिनादैरुत्थितेषूद्धतेषु ।
क्षुभितमपि समस्तं कंसकार्ये नियुक्तं स्वनशदृशमत्तं तज्जरासन्धसैन्यम् ॥४७॥
रथमथ चतुर[2]श्वं तावनावृष्टियुक्तौ सपदि समभिरूढौ मल्लनेपथ्ययुक्तौ ।
सदनमगमतां तत्पैतृकं याद[3]वौघैर्जलधिविजयपूर्वैः पूर्णमुर्वीभृदीशैः ॥४८॥
क्रमयुतमवनत्या पूजयित्वा दशार्हप्रभृतिगुरुजनान् तौ तत्र दत्ताशिषौ तैः ।
चिरविरहजमन्तस्तापमस्तं स्वयोग[4]प्रथमसलिलधारासक्तौ निन्यतुस्तम् ॥४९॥
वसु[5]निभवसुदेवो देवकी चात्मजस्य प्रशमितरिपुवह्नेर्वीक्ष्य विश्रब्धमास्यम् ।
सुखमतुलमगातामेकनासा च कन्या भुवि सुतसहजानां संप्रयोगः सुखाय ॥५०॥
गतनिगलकलङ्कः कंसशङ्काविमुक्तश्चिरविरहकृशाङ्गं राज्यलक्ष्मीकलत्रम् ।
यदुनिवहनियोगादुग्रसेनस्तदानीमभजत मथुरायां कंसमाथिप्रदत्तम् ॥५१॥
स्वजननिजवधूनां क्रन्दनाद्यैः समावे श्रितवति लघु कंसेऽन्त्यसंस्कारमन्त्यम् ।
यदुषु कुपितचित्ता[6] प्राप[7] जीवद्यशार्तं[8] स्वकपितुरुपकण्ठे बाष्पसंरुद्धकण्ठा ॥५२॥

कंसकी सेना क्षुभित हो सामने आई तो उसे देख रामकी भौंहें कुटिल हो गईं। उन्होंने उसी समय क्रोधवश मल्लका एक खम्भा उखाड़ लिया और गर्वसे सब ओर दिये हुए उसके वज्रतुल्य कठोर आघातोंसे चिल्लाती हुई उस सेनाको क्षणभरमें खदेड़ दिया ॥४६॥ कंसके कार्यमें नियुक्त जरासंधकी स्वच्छन्द एवं मदोन्मत्त सेना यद्यपि क्षुभित हुई थी तथापि ज्योंही विषम दृष्टिके धारक शक्तिशाली यादव लोग चञ्चल समुद्रके समान शब्द करनेवाली अपनी-अपनी सेनाओंके साथ एक ही समय उठ खड़े हुए त्योंही वह समस्त सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई ॥४७॥

तदनन्तर मल्लके वेषसे युक्त दोनों भाई अनावृष्टिके साथ-साथ, चार घोड़ोंसे वाहित रथपर सवार हो अपने पिताके घर गये। पिताका वह घर समुद्रविजय आदि राजाओं तथा अन्य अनेक यदुवंशियोंके समूहसे भरा हुआ था ॥४८॥ वहाँ जाकर दोनों भाइयोंने क्रमसे समुद्रविजय आदि गुरुजनोंको नमस्कार कर उनकी पूजा की तथा गुरुजनोंने उन्हें आशीर्वाद दिया। इस प्रकार अपने संयोग रूप प्रथम जलकी धारासे युक्त दोनों भाइयोंने चिर कालके विरहसे उत्पन्न सबके मानसिक संतापको अस्त कर दिया ॥४९॥ कुबेरकी उपमा धारण करनेवाले वसुदेव और देवकी, शत्रु रूपी अग्निको शान्त करनेवाले पुत्रके मुखको निःशङ्क रूपसे देख कर अनुपम सुखको प्राप्त हुए। इसी प्रकार कंसने जिसकी नाक चिपटी कर दी थी उस कन्याने भी भाईका मुख देख अनुपम सुखका अनुभव किया सो ठीक ही है क्योंकि संसारमें पुत्र-पुत्रियोंका समागम सुखके लिए होता ही है ॥५०॥ जिनकी बेड़ियोंका कलंक नष्ट हो गया था और जो कंसकी शङ्कासे विमुक्त हो चुके थे ऐसे राजा उग्रसेन उस समय यादवोंकी आज्ञासे कृष्णके द्वारा प्रदत्त, चिरकालीन विरहसे दुबली-पतली राज्यलक्ष्मी रूपी स्त्रीका मथुरामें पुनः उपभोग करने लगे ॥ भावार्थ—कृष्णने राजा उग्रसेनकी बेड़ी काट कर उन्हें पुनः मथुराका राजा बना दिया और वे चिरकालके विरहसे कृश राज्यलक्ष्मीका पुनः सेवन करने लगे ॥५१॥ उधर कुटुम्बी जन तथा अपनी स्त्रियोंके रुदन आदिसे सहित कंस जब अन्तिम शारीरिक संस्कारको प्राप्त हो चुका तथा यादवोंके ऊपर जिसका चित्त अत्यन्त

१. मल्लस्तम्भमुत्पाद्य म० । २. चतुरश्वम् म० । ३. यादवाढ्यै क० । ४. संयोग म० । ५. 'वसु-र्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति कोशः । ६. चित्ताः म० । ७. प्राप्य म० । ८. जीवद्यशायाः म० ।

अथ गगनसमुद्रे मोदरङ्गत्तरङ्गे त्वरितगतिरनूनामुद्वहन्मीनलीलाम् ।
खचरनृपतिदूतोऽलोकि लोकैः समस्तैः स्फुरितमणिविभूषो माथुरैरुन्मुखाब्जैः ॥५३॥
तनुविशददुकूलश्चन्दनार्द्रीकृताङ्गः स्फुट इव कलहंसो मानसस्नानसेवी ।
सुरसरितमिवाशो माथुरीं सोऽत्र रथ्यां दिशि दिशि धृतशोभां सञ्चरद्राजहंसैः ॥५४॥
परिषदमथ दत्तद्वारपालप्रवेशो यदुभिरवहितात्मा भूषितां सम्प्रविश्य ।
कृतविनतिनिषण्णो विष्णुमूचेऽरिजिष्णुं प्रभुमवसरवेदी यादवानां समक्षम् ॥५५॥
शृणुत विनुत राजा राजताद्रौ सुकेतुर्नमिविनमिकुलश्रीवैजयन्तीसुकेतुः ।
अधिवसति रथं यो नूपुरं चक्रवालं पुरमिह नयदक्षो दक्षिणश्रेण्यधिष्ठम् ॥५६॥
जलजशयनचापैस्त्वां परीक्ष्यासुनाहं तव निकटमिहाशु प्रेषितः प्रेमपूर्वम् ।
भज वरदवृतस्त्वं सत्यभामावरत्वं खचरभुवनभूत्यै सर्वकल्याणमूलम् ॥५७॥
सकलयदुमनोज्ञं दूतवाक्यं निशम्य प्रतिवचनमुपेन्द्रोऽदादिति प्रीतचित्तः ।
[1]खगधनपतिसृष्टा रत्नशैले मयि द्राक् निपततु वसुधारा सत्यभामाभिधाना ॥५८॥

कुपित हो रहा था एवं आँसुओंसे जिसका गला रुँधा हुआ था ऐसी जीवद्यशा अपने पिता जरासंधके पास पहुँची ॥५२॥

अथानन्तर किसी समय ऊपरकी ओर मुख कमल किये हुए मथुरानिवासी समस्त लोगोंने आकाशमें विद्याधरोंके राजा सुकेतुका दूत देखा। वह दूत हर्षसे लहराते हुए आकाश रूपी समुद्रमें बड़े वेगसे आ रहा था, मच्छकी उत्कट लीलाको धारण कर रहा था, और देदीप्यमान मणियोंके आभूषणोंसे युक्त था ॥५३॥ उसका शरीर चन्दनसे आर्द्र था तथा वह महीन और श्वेत वस्त्र पहिने था इसलिए मानसरोवरमें स्नान करनेवाले हंसके समान जान पड़ता था। वह शीघ्र ही प्रत्येक दिशाओंमें विचरण करनेवाले श्रेष्ठ राजाओं (पक्षमें राजहंस पक्षियों) से गङ्गा नदीके समान सुशोभित मथुरानगरीकी गलीमें आया ॥५४॥ तदनन्तर द्वारपालने जिसे प्रवेश दिया था ऐसा वह दूत, यादवोंसे सुशोभित सभामें सावधानीसे प्रविष्ट हो नमस्कार कर बैठ गया। फिर कुछ देर बाद अवसरको जाननेवाले उस दूतने यादवोंके समक्ष, शत्रुओंको जीतनेवाले कृष्णसे निम्नाङ्कित वचन कहे ॥५५॥ उसने कहा कि हे राजाओंके द्वारा स्तुत ! आप मेरी प्रार्थना सुनिए—विजयार्ध पर्वतके ऊपर एक सुकेतु नामका राजा है जो नमि और विनमिकी कुललक्ष्मीकी मानो विजय-पताका है, नीतिमें अत्यन्तमें चतुर है और दक्षिण श्रेणिमें स्थित रथनूपुरचक्रवाल नामक नगरमें रहता है ॥५६॥ शङ्ख फूकना, नागशय्या पर चढ़ना और धनुष चढ़ाना इन लक्षणोंसे आपकी परीक्षा कर उसने शीघ्र ही प्रेमपूर्वक मुझे यहाँ आपके पास भेजा है तथा कहलाया है कि यद्यपि आप उत्तमोत्तम वस्तुओंको प्रदान करनेवाले लोगोंसे घिरे रहते हैं तथापि मेरी एक तुच्छ प्रार्थना है वह यह कि आप मेरी पुत्री सत्यभामाको स्वीकृत करलें। आपका यह कार्य विद्याधर लोकके वैभवको बढ़ाने वाला एवं समस्त कल्याणोंका मूल होगा ॥५७॥ समस्त यादवोंके लिए रुचिकर दूतके वचन सुन कर प्रसन्नचित्त कृष्णने यह उत्तर दिया कि विद्याधरोंके राजा सुकेतु रूपी कुबेरके द्वारा रची सत्यभामा नामक रत्नोंकी धारा मुझ रत्नाचलपर शीघ्र ही पड़े। भावार्थ—मुझे सत्यभामाका वर होना स्वीकृत है अथवा कुछ पुस्तकोंमें धनपतिके स्थानपर नगपति पाठ है इसलिए इस श्लोकका यह अर्थ भी होता है कि विद्याधर रूपी विजयार्ध पर्वतके द्वारा रची सत्यभामा रूपी जलकी धारा मुझ रत्नाचलपर शीघ्र ही पड़े ॥५८॥

---

१. खगनगपतिसृष्टा ग० ।

प्रतिविहितसुपूजः खेचरेन्द्रस्य दूतः प्रमुदितमतिरित्वा स्वास्पदं स्वामिनेऽसौ ।
वरगुणनुतिपूर्वं सर्वकार्यस्य सिद्धिं समभणदिति तोषी[1] तोषिणे[2] सप्रियाय ॥५९॥
भुवि हरिबलदेवौ[3] भ्रातरौ भ्राजमानौ प्रतिहतपरतेजोरूपकान्ती विदित्वा ।
निजवचनहरास्यात्खेचरेन्द्रः सुकेतुः खचरप-रतिमालश्चागतौ कन्यकाभ्याम् ॥६०॥
रतिमिव रतिमालो रूपतो रेवतीं स्वां दुहितरमतिकान्तां देहजां ज्यायसेऽदात् ।
अतिमुदितसुकेतुः सत्यभामां प्रभायाः स्वयमुपपदवत्या गर्भजां केशवाय ॥६१॥
कुचकलशकल[4]त्रोदारभारातिखिन्नाः शिथिलवसनकाञ्चीकेशपाशोत्तरीयाः ।
ननृतुरिह विवाहे नूपुरारावरम्याः क्षितिचरखचराणां योषितः शोचिवेषाः ॥६२॥
प्रथमनववधूकौ नीलपीताम्बरौ तौ विविधमणिविभूषाज्योतिरुद्भासिताङ्गौ ।
यदुनृपतिपरीतौ वीक्ष्य पुत्रावतोषीद्यदुयुवतिसमग्रा रोहिणी देवकी च ॥६३॥
प्रथममदनरङ्गे शार्ङ्गिणः सत्यभामा हृदयमहरदिष्टा रेवती शीरपाणेः ।
गुणितगुणकलानां सुप्रयोगै[5]स्तयोस्तावुचितकरणकाले न स्खलन्ति प्रगल्भाः ॥६४॥
अथ सकलुषभावा सा जरासन्धराजं जलनिधिमिव वेला व्याकुला क्षोभयन्ती ।
अतिविततत[6]मालोनीलकेशाप्यरोदीद्यदुकुलकृतदोषं कंसयोषिद्वदन्ती ॥६५॥

तदनन्तर कृष्णकी ओरसे जिसका सत्कार किया गया था और जिसकी बुद्धि अत्यन्त प्रसन्न थी ऐसा राजा सुकेतुका वह दूत अपने स्थानपर चला गया। वहाँ जा कर उसने पहले कृष्णके उत्तम गुणोंकी स्तुति की उसके पश्चात् संतुष्ट हो कर, वल्लभाके साथ बैठे हुए संतोषी राजा सुकेतुके लिए सर्व कार्यके सिद्ध होनेकी सूचना दी ॥५९॥ 'पृथिवीपर श्री कृष्ण और बलदेव दोनों भाई अत्यन्त देदीप्यमान हैं तथा शत्रुओंके तेज, रूप और कान्तिको खण्डित करनेवाले हैं' इस प्रकार अपने दूतके मुखसे जान कर विद्याधरोंका राजा सुकेतु और उसका भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओंके साथ मथुरा आ पहुँचे ॥६०॥ रतिमालकी कन्याका नाम रेवती था और वह रूपमें साक्षात् रतिके समान जान पड़ती थी। रतिमालने अपनी वह सुन्दर कन्या बड़े भाई बलभद्रके लिए दी और अत्यन्त प्रसन्न सुकेतुने स्वयंप्रभा रानीके गर्भसे उत्पन्न अपनी सत्यभामा नामक पुत्री कृष्णके लिए दी ॥६१॥ इस विवाह-मङ्गलके अवसर पर जो स्तन रूपी कलश और नितम्बोंके बहुत भारी भारसे खिन्न थीं, जिनके वस्त्र, मेखला, केश-पाश और उत्तरीय वस्त्र शिथिल हो रहे थे, जो नूपुरोंकी झनकारसे मनोहर जान पड़ती थीं और उज्ज्वल वेषको धारण करनेवाली थीं ऐसी भूमिगोचरी एवं विद्याधरोंकी स्त्रियोंने नृत्य किया था ॥६२॥ जो पहली पहली नई वधुओंसे सहित थे, नील और पीत वस्त्रके धारक थे, नाना प्रकारके मणिमय आभूषणोंकी कान्तिसे जिनके शरीर देदीप्यमान हो रहे थे तथा जो चारों ओर बैठे हुए यदुवंशी राजाओंसे घिरे हुए थे ऐसे अपने पुत्रोंको देख कर यादवोंकी स्त्रियोंसे युक्त रोहिणी तथा देवकी अत्यधिक संतुष्ट हो रही थीं ॥६३॥ प्रथम समागममें ही सत्यभामाने कृष्णके तथा अतिशय प्रिय रेवतीने बलभद्रके हृदयको हर लिया था। इसी प्रकार कृष्ण तथा बलभद्रने भी अभ्यस्त गुण और कलाओंके उत्तमोत्तम प्रयोगोंसे उन दोनोंका हृदय हर लिया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर मनुष्य उचित कार्यके करनेके समय कभी नहीं चूकते हैं ॥६४॥

तदनन्तर जिसका हृदय अत्यन्त कलुषित था, जो अत्यधिक व्याकुल थी और जिसके तमाल पुष्पके समान काले काले केश बिखरे हुए थे ऐसी कंसकी स्त्री जीवयशा, राजा जरा-सन्धके पास जाकर यदुवंशियोंके द्वारा किये हुए दोष का बखान करती हुई रोने लगी तथा

१. तेषां म० । २. तोषयो म०, ग० । ३. हरबलदेवौ म० । ४. नितम्ब । ५. सुप्रयोगौ तयो-म० । ६. तमालानील-म० ।

त्वयि सकलधरित्रीं शासति ध्वस्तनाथा कथमहमुपयाता तात वैधव्यदुःखम् ।
इदमपि खलु सोढं वैरनिर्यातनार्थं मदमुदितयदूनां रक्तपङ्कैः शिरोभिः ॥६६॥
दुहितुरिति विलापप्रायमाकर्ण्य वाक्यं नरपतिरवदीत्स्मुञ्च बालेऽतिशोकम् ।
जगति हि भवितव्यं भाविनो दैवयोगादगणितपरवीर्यं दैवमत्र प्रधानम् ॥६७॥
पशुरपि निरपायं निर्गमोपायमार्गं विमृशति वधशङ्कः क्षेत्रमादौ विविक्षुः ।
स्फुटमिदमपि वृत्तं विस्मृतं मर्तुकामैस्तव पतिमतिमत्तैर्यादवैर्मारयद्भिः ॥६८॥
तव पदशरणा[1]स्तेऽकण्टका यद्यपि स्युः सहबलकुलशाखास्ते तथाप्याशु वत्से ।
श्रुतिपथमति[2]वृत्ताः सन्ति म[3]त्क्रोधवर्षद्दवदहनशिखाभिर्भस्मिता ध्वस्तसंज्ञाः ॥६९॥
प्रियवचनपयोभिर्देहजाक्रोधवह्निप्रततिमुपशमय्य क्षुब्धकोपानलः सः ।
यवननिधनकालं कालकल्पं तनूजं यदुजनिधनहेतोरादिदेशाशु राजा ॥७०॥
चलजलधिसमानेनाभ्यमित्रं बलेन द्विपचतुरतुरङ्गस्यन्दनाद्येन गत्वा ।
स लघु दश च सप्त[4]प्रयुद्धानि युद्ध्वा यदुभिरतुलमालावर्तशैले ननाश ॥७१॥
पुनरपि जितजेयं भ्रातरं मागधो प्रागजितमपरपूर्वं प्राहिणोत्प्राणतुल्यम् ।
प्रलयशिखिशिखालीघस्मरः स स्वयोगात्स्वबलपवननुन्नो[5] द्विट्जगद्ग्रासलोलः ॥७२॥

जिस प्रकार वेला समुद्रको क्षुभित कर देती है उसी प्रकार उसने राजा जरासंधको क्षुभित कर दिया ।।६५।। वह कह रही थी कि हे तात ! जब आप समस्त पृथिवीका शासन कर रहे हैं तब मैं पतिरहित हो वैधव्यके दुःखको कैसे प्राप्त हो गई ? हे पिताजी ! अब तक मैंने जो यह वैधव्यका दुःख सहा है वह गर्वसे फूले यादवोंके रक्त रूप पङ्कसे युक्त शिरोंसे वैरका बदला चुकानेके लिए ही सहा है ।।६६।। इस प्रकार प्रायः विलापसे युक्त पुत्रीके वचन सुनकर राजा जरासंधने कहा कि बेटी ! अत्यधिक शोक छोड़ । इस संसारमें जो होता है वह होनहार दैवके योगसे ही होता है । दूसरोंकी शक्तिका तिरस्कार करनेवाला दैव ही इस संसारमें प्रधान है ।।६७।। खेतमें घुसनेका इच्छुक पशु भी वधकी शंका कर सबसे पहले निकलनेके लिए निरुपद्रव मार्गका विचार कर लेता है परन्तु तेरे पतिको मारते हुए इन अत्यन्त मत्त यादवोंने इस स्पष्ट बातको भी भुला दिया इससे सिद्ध है कि ये मरना चाहते हैं ।।६८।। हे वत्से ! ये भले ही अब तक तेरे चरणोंकी शरण प्राप्त कर निष्कण्टक रहे हों और भले ही ये बल तथा कुलकी शाखाओंसे युक्त हों परन्तु यह निश्चित है कि ये शीघ्र ही मेरे क्रोधसे बरसनेवाली दावानलकी ज्वालाओंसे भस्म होने वाले हैं, इनका नाम भी नष्ट हो जाने वाला है और ये श्रवण मार्गको अतिक्रान्त कर चुके हैं—अब इनका नाम भी नहीं सुनाई देगा ।।६९।।

इस प्रकार प्रिय वचन रूपी जलके द्वारा पुत्रीकी क्रोधाग्निके समूहको शान्त कर क्षोभको प्राप्त हुए क्रोधानलसे युक्त राजा जरासंधने यादवोंको मारनेके लिए यमराजके तुल्य अपने कालयवन नामक पुत्रको शीघ्र ही आदेश दिया ।।७०।। कालयवन, चञ्चल समुद्रके समान दिखनेवाली हाथी घोड़ा और रथ आदिसे युक्त सेनाके साथ शीघ्र ही शत्रुके सम्मुख चला और यादवोंके साथ सत्रह बार भयङ्कर युद्ध कर अतुल मालावर्त नामक पर्वत पर नष्ट हो गया–मर गया ।।७१।। तदनन्तर राजा जरासंधने शीघ्र ही अपने भाई अपराजित को भेजा जो कि शत्रुओंको जीतने वाला था, प्राणोंके तुल्य था, अपने संयोगसे प्रलय कालकी अग्निकी शिखाओंके समूहको नष्ट करने वाला था, अपनी सेना रूपी प्रबल पवनसे प्रेरित था, और शत्रु रूपी जगत्के ग्रसनेके

१. शरणाशा कण्टका म०, क०, ग०, ङ० । २. मतिमत्ताः क०, ख०, ग०, ङ०, म० । ३. न क्रोध–क० । ४. व्युग्रयुद्धानि म० । ५. द्विट्गजग्रास–ग० ।

युदुकुलजशतानि त्रीणि [1] स प्रीणितास्तैर्यदुभिररिषु चत्वारिंशतं षट् च युद्ध्वा ।
श्रमनुदमिव वीरो वीरशय्यां यशस्वी हरिशरमुखपीतप्राणसारोऽध्यशेत ॥७३॥
प्रमदमथ वहन्तः सन्ततं संवसन्तो[2] हरिपुरि मथुरायां माथुरैः पौरलोकैः ।
हरिहलधरवीरावार्यवीर्यावलेपप्रतिहतरिपुशङ्काः शौरयो रेमिरेऽमी ॥७४॥
शमयति रिपुलोकोद्दारदावावलेपं जनयति जनबन्धुर्बन्धुलोकप्रहर्षम् ।
जिनमतघनवर्यावारिधाराततिर्भूवलयफलसमृद्धिः श्रीयशोमालिनीयम् ॥७५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कंसापराजितवधवर्णनो नाम षट्त्रिंशः सर्गः ।

लिए सतृष्ण था ॥७२॥ वीर अपराजितने संतुष्ट होकर शत्रुओंके बीच यादवोंके साथ तीन सौ छयालिस बार युद्ध किया परन्तु अन्तमें वह श्रीकृष्णके बाणोंके अग्रभागसे निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। पृथिवी पर पड़ा यशस्वी अपराजित ऐसा जान पड़ता था मानो थकावटको दूर करनेवाली वीरशय्या पर ही शयन कर रहा हो ॥७३॥ अथानन्तर जो निरन्तर हर्षको धारण कर रहे थे, कृष्णपुरी मथुरामें निवास करते थे और वीर कृष्ण तथा बलभद्रके अवार्य वीर्यके गर्वसे जिनकी शत्रुकी शंका नष्ट हो गई थी ऐसे यादव लोग मथुरावासी नागरिक जनोंके साथ क्रीड़ा करने लगे ॥७४॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो समस्त जीवोंके लिए बन्धुके समान है, पृथिवी मण्डलके फलों की समृद्धिको बढ़ाने वाली है तथा लक्ष्मी और यशकी मालासे सहित है ऐसी यह जिनेन्द्र मतरूपी मेघके जलकी धारा शत्रुसमूह रूपी प्रचण्ड दावानलके गर्वको शान्त करती है और बन्धुजनोंके प्रकृष्ट बहुत भारी हर्षको उत्पन्न करती है ॥७५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कंस और अपराजितके वधका वर्णन करनेवाला छत्तीसवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ॥३६॥

१. सप्रीणितास्ते म० । २. वंशहेतोः ख., संवहन्तो म०, क० । शं वहन्तो ग० । ३. हरिरिपु म०, हरिपुर० ख० ।

सप्तत्रिंशः सर्गः

वंशस्थवृत्तम्

अथात्र यद्वृत्तमतीव पावनं पुरैव तु श्रेणिक लोकहर्षणम् ।
दशार्हमुख्यस्य [1]सुसौर्यवासिनः शृणु प्रवक्ष्येऽवहितस्तदद्भुतम् ॥ १ ॥
जिनस्य नेमेस्त्रिदिवावतारतः पुरैव षण्मासपुरस्सरा सुरैः ।
प्रवर्तिता तज्जननावधिर्गृहे हिरण्यवृष्टिः पुरुहूतशासनात् ॥ २ ॥
तया पतन्त्या वसुधारयार्धभाक्त्रिकोटिसंख्यापरिमाणया जगत् ।
प्रतर्पितं प्रत्यहमर्थि सर्वतः क पात्रभेदोऽस्ति धनप्रवर्षिणाम् ॥ ३ ॥
दिशां मुखेभ्यः समितास्तदाश्रिता दिशां कुमार्यः परिचर्यया शिवाम् ।
दिशां च चक्रस्य जयं जगत्त्रये न्यशाम्यपरयेन जिनेन जिष्णुना ॥ ४ ॥
समेत्य पत्यातिशयप्रदर्शनादतीव संहृष्टमतिः शिवान्यदा ।
ददर्श सा [2]सुप्तमिमान् निशान्तरे प्रशंसितान् स्वप्नवरान् हि षोडश ॥ ५ ॥
समन्ततोऽश्रान्तमदाम्बुनिर्झरः प्रतिध्वनिव्याप्तदिगिन्द्रपो द्विपः ।
तथा तमालासितभृङ्गझङ्कृतिरलोकि कैलास इवाचलाचलः[3] ॥ ६ ॥
सुशृङ्गमुत्तुङ्गककुत्खनत्खुरं प्रलम्बसास्नायतबालधीक्षणम् ।
सितं घनोद्रेकितधीरमम्बिकामहोक्षमक्षिप्रियमैक्षत क्षणम् ॥ ७ ॥

अथानन्तर—गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक ! दशार्होंमें मुख्य सौर्यपुर निवासी राजा समुद्रविजयके यहाँ भगवान्के गर्भमें आनेके पहलेसे ही जो लोकको हर्षित करनेवाला परम पवित्र आश्चर्य हुआ था उसे मैं कहता हूँ सो सावधान होकर सुनो ॥१॥ भगवान् नेमि जिनेन्द्रके स्वर्गावतारसे छह माह पहलेसे लेकर जन्म पर्यन्त—पन्द्रह मास तक इन्द्रकी आज्ञासे राजा समुद्रविजयके घर देवोंने धनकी वर्षा जारी रक्खी ।।२।। वह धनकी धारा प्रतिदिन, तीन बार साढ़े तीन करोड़की संख्याका परिमाण लिये हुए पड़ती थी और उसने सब ओर याचक जगत्को संतुष्ट कर दिया था सो ठीक ही है क्यों कि धनको वर्षा करनेवालोंको पात्र भेद कहाँ होता है ? ।।३।। उस समय पूर्वादि दिशाओंके अग्रभागसे आई हुई दिक्कुमारी देवियाँ परिचर्या द्वारा माता शिवादेवीकी सेवा कर रही थीं और उससे यह सूचित कर रही थीं कि जो विजयी जिन बालक माताके गर्भमें आनेवाला है उसने तीनों जगत्में समस्त दिशाओंके समूहको जीत लिया है ॥४॥ पतिके साथ मिलकर नाना प्रकारके अतिशय देखनेसे जिसकी बुद्धि अत्यन्त हर्षित हो रही थी ऐसी शिवादेवीने एक दिन रात्रिमें सोते समय नीचे लिखे सोलह उत्तम स्वप्न देखे ।।५।।

पहले स्वप्नमें उसने इन्द्रका वह ऐरावत हाथी देखा जिसके सब ओरसे निरन्तर लगातार मदरूपी जलके निर्झर झर रहे थे, जिसने अपनी ध्वनिसे दिशाओंको व्याप्त कर रक्खा था, जिसपर तमालके समान काले-काले भ्रमर झङ्कार कर रहे थे और जो कैलास पर्वतके समान स्थिर था ।।६।। दूसरे स्वप्नमें अम्बिकाका वह महावृषभ देखा जिसके सुन्दर सींग थे जिसकी डोकांड ऊँची उठ रही थी, जिसके खुर पृथिवीको खोद रहे थे, जिसकी सास्ना—गलकम्बल अत्यन्त लम्बी थी, जिसकी पूँछ और आँखें अत्यन्त दीर्घ थीं, जो रङ्गमें सफेद था, मेघकी गर्जनाके समय

---

१. सुशौर्यवासिनः घ० । २. सुप्तं यथा स्यात्तथा । पूततमान्–ख० । स्वप्न इमान् म० ।
३. अचलाचलः इति, अचलाचलः स्थिर इत्यर्थः । चलाचलः ख०, चलाऽमलः क० इवाचलोऽचलः ग० ।

विलङ्घिताचलमाप्लुतमग्रगोचरं मृगाङ्कलेखाङ्कुशदंष्ट्रमायतम् ।
दिगन्तविश्रान्तनिनादमाविशत्शरत्पयोदाभमिभारिमैक्षत ॥ ८ ॥
महेभकुम्भाभकुचाभिभैः शुभैः कृताभिषेका कुटगन्धवारिभिः ।
कर[2]श्रिताम्भोजपुटां ददर्श सा विकासिपद्मासनवर्तिनीं श्रियम् ॥ ९ ॥
स्रजौ प्रलम्बे विमलाम्बरे वरे रजोरुणीभूतषडङ्घ्रिमण्डले ।
भुजे निजे वा कुसुमातिकोमले सजागरेवावहिता व्यलोकत ॥ १० ॥
निरस्य नैशं निशितैरुपागतं करैस्तमोजालमलं निशाकरम् ।
निरभ्रिते व्योम्नि प्रपश्यति स्म सा स्थिराट्टहासं रजनीवरस्त्रियाः ॥ ११ ॥
दिनं दिनं दृश्यमुखं दिवाकरं [3]सुसान्ध्यसिन्दूरपरागपिञ्जरम् ।
पुरन्दराशासुपुरन्ध्रिनन्दनं चिरं धृतं दृष्टिसुखं ददर्श सा ॥१२॥
तडिच्चलाङ्गं सरसीवराङ्गनाविलोलसल्लोचनयुग्ममायतम् ।
परस्परस्नेहभरं तयारमद् व्यलोकि सन्मत्स्ययुगं विमत्सरम् ॥१३॥
सुसौरभाम्भोभरकुम्भयुग्मकं [4]मुखाहिताम्भोरुहमम्बुजेक्षणा ।
सुशातकुम्भात्मकमभ्यलोकत स्वभावसूत्थकुचकुम्भसन्निभम् ॥१४॥
शुभाम्बुपूर्णं जलपुष्पराजितं सुराजहंसादिविहङ्गसङ्गतम् ।
महासरोऽदर्शि ततो मनोहरं मनो निजं वा शुचि निर्मलं तया ॥१५॥

गम्भीर शब्द कर रहा था तथा नेत्रोंके लिए अत्यन्त प्रिय था ॥७॥ तीसरे स्वप्नमें एक ऐसा सिंह देखा जो पर्वतोंको लाँघनेवाला था, पर्वतके अग्रभागपर स्थित था, चन्द्रमाकी कला अथवा अंकुशके समान दाँढ़ोंको धारण करनेवाला था, शरीरका अत्यन्त लम्बा था, जिसका शब्द दिशाओंके अन्तमें विश्राम कर रहा था और जो शरद् ऋतुके घुमड़ते हुए मेघके समान सफ़ेद था ॥८॥ चौथे स्वप्नमें वह लक्ष्मी देखी जो किसी बड़े हाथीके गण्डस्थलोंके समान स्थूल स्तनोंसे युक्त थी, शुभ हाथी घड़ोंमें रखे हुए सुगन्धित जलसे जिसका अभिषेक कर रहे थे, जो अपने हाथमें कमल लिये हुए थी और खिले हुए कमलोंके आसनपर बैठी थी ॥९॥ पाँचवें स्वप्नमें जागती हुईके समान सावधान शिवादेवीने निर्मल आकाशमें लटकती हुई दो ऐसी उत्तम मालाएँ देखीं जिन्होंने अपनी परागसे भ्रमरोंके समूहको लाल-लाल कर दिया था और जो अपनी भुजाओंके समान फूलोंसे भी कहीं अधिक सुकोमल थीं (पक्षमें फूलोंके द्वारा अत्यन्त कोमल थीं) ॥१०॥ छठवें स्वप्नमें उसने निरभ्र आकाशके बीच ऐसा चन्द्रमा देखा जो अपनी तीक्ष्ण किरणों (पक्षमें हाथों) से रात्रिके सघन अन्धकारके समूहको नष्टकर उदित हुआ था और रात्रिरूपी स्त्रीके स्थिर अट्टहासके समान जान पड़ता था ॥११॥ सातवें स्वप्नमें ऐसा सूर्य देखा जिसका मुख सम्पूर्ण दिन दर्शनीय था, जो संध्याकी लालीरूपी सिन्दूरकी परागसे पिञ्जर वर्ण था, पूर्व दिशारूपी स्त्रीके पुत्रके समान जान पड़ता था और नेत्रोंके लिए चिरकाल तक सुख उत्पन्न करनेवाला था। ॥१२॥ आठवें स्वप्नमें उसने मत्स्योंका वह युगल देखा जो बिजलीके समान चञ्चल शरीरका धारक था, सरसी रूपी उत्तम स्त्रीके चञ्चल एवं समीचीन नेत्रोंके युगलके समान जान पड़ता था, लम्बा था, पारस्परिक स्नेहसे भरा हुआ था, क्रीड़ा कर रहा था और ईर्ष्यासे रहित था ॥१३॥ नौवें स्वप्नमें कमललोचना शिवादेवीने अत्यन्त सुगन्धित जलसे भरे हुए दो ऐसे कलश देखे जिनके मुख-पर कमल रखे हुए थे, जो उत्तम स्वर्णसे निर्मित थे और स्वभावसे उठते हुए कुचकलसके समान जान पड़ते थे ॥१४॥ तदनन्तर दशवें स्वप्नमें उसने एक ऐसा बड़ा सरोवर देखा जो शुभ जलसे भरा हुआ था, कमलोंसे सुशोभित था, राजहंस आदि उत्तम पक्षियोंसे युक्त था, मनको हरण करनेवाला था और अपने मनके समान पवित्र एवं निर्मल था ॥१५॥

१. विलम्बित—म० । २. करोद्धृताम्भोजपुटां ख० । ३. सुसाध्य—म० । ४. मुखावहिताम्भोरुह—म० ।

प्रघूर्णितोत्तुङ्गतरङ्गभङ्गुरं प्रवालमुक्तामणिपुष्पशोभितम् ।
महार्णवं फेनिलमुद्धतं भ्रमद्विभीषणग्राहगृहं निरैक्षत ॥१६॥
नखाग्रदंष्ट्रादृढदृष्टिभासुरज्वलत्सटाटोपमृगेन्द्रधारितम् ।
मणिप्रभारञ्जितदिग्वधूमुखं ददर्श सिंहासनमासनं श्रियः ॥१७॥
विचित्रभक्ति ध्वजकोटिसङ्कुलं[1] सुवैजयन्तीभुजमालयानटत् ।
प्रलम्बमुक्तामणिमालिकोज्ज्वलं विमानमालोकि तया नभस्तले ॥१८॥
[2]फणामणिद्योतविभिन्नभूतमःफणीन्द्रकन्याकलगीतसंकुलम् ।
ज्वलन्मणि प्रैक्षि भुवः समुद्गतं फणीन्द्रभास्वद्भवनं महत्तया ॥१९॥
सपद्मरागोज्ज्वलवज्रपूर्वकं प्रकृष्टमाणिक्यमहाशिखाकुलम् ।
व्यलोकतेन्द्रायुधरुद्धदिङ्मुखं सुरत्नराशिं गगनस्पृशं शिवा[3] ॥२०॥
शिखाकरालं शिखिनं मुखं दिशां प्रकाशयन्तं[4] शुचिशोचिषा निशि ।
ददर्श सन्दर्शितसौम्यविग्रहं सविग्रहा श्रीरिव तोषपोषिणी ॥२१॥
अनन्तरं स्वप्नगणस्य कम्पयन् सुरासनान्याविशदम्बिकाननम् ।
सितेभरूपो भगवान् दिवश्च्युतः प्रकाशयन् कार्तिकशुक्लषष्ठिकाम् ॥२२॥

ग्यारहवें स्वप्नमें एक ऐसा महासागर देखा जो उठती हुई ऊँची-ऊँची लहरोंसे भङ्गुर था, मूँगा, मोती, मणि और पुष्पोंसे सुशोभित था, फेनसे युक्त था, उद्धत था, तथा घूमते हुए भयंकर मगरमच्छोंका घर था ॥ १६ ॥ बारहवें स्वप्नमें लक्ष्मीका आसनभूत एक ऐसा सिंहासन देखा जिसे नखोंके अग्रभाग एवं डाँढ़ोंसे मजबूत, दृष्टिसे देदीप्यमान और चमकती हुई सटाओंसे युक्त सिंह धारण किये हुए थे तथा मणियोंकी कान्तिसे जिसने दिशा रूप स्त्रियोंके मुखको रक्त वर्ण कर दिया था ॥ १७ ॥ तेरहवें स्वप्नमें [उसने आकाशतलमें ऐसा विमान देखा जो नाना प्रकारके बेल-बूटोंसे युक्त था, ध्वजाओंके अग्रभागसे चंचल था, उत्तम पताका रूपी भुजाओंकी मालासे जो नृत्य करता हुआ-सा जान पड़ता था, और जो लटकती हुई मोतियों और मणियोंकी मालाओंसे उज्ज्वल था ॥ १८ ॥ चौदहवें स्वप्नमें उसने नागेन्द्रका एक ऐसा विशाल देदीप्यमान भवन देखा जो फणाओंपर स्थित मणियोंके प्रकाशसे पृथिवीके अन्धकारको नष्ट करनेवाली नागकन्याओंके मधुर संगीतसे व्याप्त था, देदीप्यमान मणियोंसे जगमगा रहा था और पृथिवीसे ऊपर प्रकट हुआ था ॥ १९ ॥ पन्द्रहवें स्वप्नमें शिवा देवीने उत्तम रत्नोंकी एक ऐसी राशि देखी जो पद्मरागमणि तथा चमकते हुए हीरोंके सहित थी, उत्तमोत्तम मणियोंकी बड़ी-बड़ी शिखाओंसे व्याप्त थी, इन्द्र-धनुषसे दिशाओंके अग्रभागको रोकने वाली थी, तथा आकाशका स्पर्श कर रही थी ॥२०॥ और शरीरधारिणी लक्ष्मीके समान संतोषको पुष्ट करने वाली शिवा देवीने सोलहवें स्वप्नमें ऐसी अग्नि देखी जो शिखाओंसे भयंकर थी, रात्रिके समय अपनी उज्ज्वल किरणोंसे दिशाओंके अग्रभागको प्रकाशित कर रही थी तथा अपना सौम्य रूप दिखला रही थी ॥ २१ ॥ इस प्रकार स्वप्न दर्शनके बाद कार्तिक शुक्ला षष्ठीके दिन देवोंके आसनोंको कम्पित करते हुए भगवान्ने स्वर्गसे च्युत हो सफेद हाथीका रूप धर कर माताके मुखमें प्रवेश किया। भावार्थ—आनुपूर्वी नामकर्मके उदयसे भगवानके आत्म-प्रदेशोंका आकार तो पूर्व शरीरके समान ही रहता है। यहाँ जो 'सफेद हाथीका रूप धर कर' कहा गया है उसका तात्पर्य यह है कि माताने सोलह स्वप्न देखनेके बाद देखा था कि एक सफेद हाथी आकाशसे

१. द्विज-(?) म० । २. फणामणीनां द्योतेन विभिन्नं भूतमो याभिः तथाभूता याः फणीन्द्रकन्यास्तासां कलं मधुरं यद् गीतं तेन संकुलम् । ३. शुभा म० । ४. शुचिरोचिषां म० ।

पुनः पुनर्जागरणेन सान्तरानमन्तरायानिति तान् विलोक्य सा ।
विनिद्रनेत्रा अपगीतमङ्गलैरनालसा तल्पतलं ततोऽत्यजत् ॥२३॥
प्रभातकाले कृतमङ्गलाङ्गिका कुतूहलादेत्य पतिं प्रणामिनी ।
क्रमेण तान् स्वप्नवरान्न्यवेदयत् प्रसन्नधीरित्यगदीत्स तत्फलम् ॥२४॥
प्रिये यदुत्पत्तिमियं वदत्यहर्दिनं पतन्ती वसुवृष्टिरद्भुता ।
सुदिक्कुमार्यो भवतीमुपासते यदर्थमास्थात्त्वयि सोऽद्य तीर्थकृत् ॥२५॥
किमत्र ते स्वप्नफलं निगद्यते वरोरु यत्तीर्थकरप्रसूरसि ।
प्रपत्स्यते सोऽपि महान् महीयसां जगत्त्रये यत्तदवेहि कथ्यते ॥२६॥
[2]अनेकपोऽनेक[3]पलोकनादलं विलम्बितानेकपविभ्र[4]मो गतैः ।
जगत्त्रये ते तनयस्तनूदरि प्रकाममेकाधिपतित्वमेष्यति ॥२७॥
अलंकरिष्यत्यकलङ्कधीः कुलं जगत्त्रयं चात्र जगद्गुरुर्गुणैः ।
गवां कुलं वा वृषभो वृषेक्षणाद्वृषेक्षणः स्कन्धधृतिः सुतस्तव ॥२८॥
महावलेपानखिलाननेकपान् करिष्यते सिंहवदुज्झितोन्मदान् ।
अनन्तवीर्यः[1] स हि सिंहदर्शनात् महैकधीरोऽन्ते[5]तपोवनेश्वरः ॥२९॥

उतर कर हमारे मुखमें प्रविष्ट हुआ है ॥२२॥ इस प्रकार बार-बार जागनेसे जिनमें अन्तर पड़ रहा था ऐसे पूर्वोक्त निरन्तराय–निर्विघ्न सोलह स्वप्नोंको देख कर जय-जयकार और मङ्गलमय संगीतसे माता शिवा देवीके नेत्र निद्रारहित हो गये तथा आलस्यरहित होकर उसने शय्या छोड़ दी ॥ २३ ॥ प्रातःकाल होनेपर जिसने शरीरपर मङ्गलमय अलंकार धारण किये थे ऐसी शिवा देवीने कुतूहल वश पतिके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया तथा रात्रिमें देखे हुए सब स्वप्न क्रम-क्रमसे सुना दिये। तदनन्तर प्रसन्न बुद्धिके धारक राजा समुद्रविजयने उन स्वप्नोंका इस प्रकार फल कहा—॥ २४ ॥

हे प्रिये ! यह प्रतिदिन पड़ने वाली आश्चर्यकारिणी धनकी वृष्टि जिसकी उत्पत्ति कह रही है, तथा दिक्कुमारी देवियाँ जिसके लिए आपकी सेवा करती हैं वह तीर्थंकर आज तुम्हारे गर्भमें आकर विराजमान हुआ है ॥ २५ ॥ हे सुन्दर जाँघोंवाली प्रिये ! यहाँ तेरे स्वप्नोंका फल क्या कहा जाय ? क्योंकि तू तीर्थंकरकी माता है। तेरे तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होगा। यद्यपि स्वप्नोंका इतना ही फल पर्याप्त है तथापि वह तीनों लोकोंका परम गुरु जिस फलको प्राप्त होगा वह कहा जाता है सो समझ ॥ २६ ॥ हे कृशोदरि ! तूने स्वप्नमें अनेकप—हाथी देखा है उसका फल यह है कि तेरा पुत्र अनेकप—अनेक जीवोंकी रक्षा करने वाला होगा। अपनी चालसे हाथीकी चालको विडम्बित करनेवाला होगा और तीनों जगत्‌में इच्छाके अनुरूप एक आधिपत्यको प्राप्त होगा ॥ २७ ॥ हे प्रिये ! बैल देखनेसे तेरा पुत्र निर्मल बुद्धिका धारक, तथा जगत्‌का गुरु होगा और जिस प्रकार बैल गायोंके कुलको अलंकृत करता है उसी प्रकार वह गुणोंसे अपने कुल तथा तीनों जगत्‌को अलंकृत करेगा। वह बैलके समान उज्ज्वल नेत्र तथा उन्नत कन्धोंको धारण करनेवाला होगा ॥२८॥ सिंह देखनेसे वह अनन्त वीर्यका धारक होगा और जिस प्रकार सिंह मदोन्मत्त हाथियोंको मदरहित कर देता है उसी प्रकार वह अत्यधिक गर्वको धारण करनेवाले समस्त पुरुषोंको गर्वरहित कर देगा। वह महान्, अद्वितीय धीर, वीर और अन्तमें तपोवनका स्वामी होगा अर्थात् दीक्षा लेकर

१. स हि म० । २. अनेकान् पाति रक्षतीति अनेकपः । ३. हस्तिदर्शनात् । ४. विलम्बितोऽनुकृतः अनेकपस्य हस्तिनो विभ्रमो येन सः । ५. धीरोऽप्रतपोवनेश्वरः क० ।

यदैक्षि लक्ष्मीरभिषेकिणी ततः प्रसूतमात्रस्य गिरीन्द्रमस्तके ।
सुरासुरेन्द्रैर्दयितेऽभिषिच्यते गिरिस्थिरः क्षीरसमुद्रवारिभिः ॥२०॥
स्रजोः सुगन्ध्यायतयोः प्रदर्शनाज्जगत्त्रयव्यापियशाः सुगन्धिभाक् ।
निरन्तरं लोकमलोकमप्यसावनन्तदृग्ज्ञानदृशा तनिष्यति ॥२१॥
स चन्द्रसंदर्शनतः सुदर्शने [1]महादयाचन्द्रिकया सुदर्शनः ।
जिनेन्द्रचन्द्रो जगतां तमोऽन्तकृन्निरन्तराह्लादकरो भविष्यति ॥२२॥
समस्ततेजस्विजनस्य भूयसा निजेन तेजांसि विजित्य तेजसा ।
जगन्ति तेजोनिधिरर्कदर्शनात्करिष्यति ध्वस्ततमांसि ते सुतः ॥२३॥
सुखं कृतक्रीडझषद्वयेक्षणादवाप्य सौख्यं विषयोप[2]भोगजम् ।
अनन्तमन्ते सुखमाप्स्यति ध्रुवं शिवालयेऽसौ शिवदेवि ! नन्दनः ॥२४॥
सुपूर्णकुम्भद्वयदर्शनात्ततो गृहं प्रपूर्णं निधिभिर्भविष्यति ।
जगन्मुदापूर्णमनोरथस्य हि प्रभावतस्तस्य शरीरजस्य ते ॥२५॥
विचित्रपुष्पाम्बुजखण्डदर्शनादशेषसल्लक्षणलक्षितः सुतः ।
विदाहितृष्णातृषितान्वितृष्णधीरिहैव निर्वाणमयान् करिष्यति ॥२६॥
महासमुद्रस्य महामृतात्मनः समुद्रगम्भीरमतिर्विलोकनात् ।
[3]श्रुताम्बुधिं नीतिमहासरिद्धृतं स पाययिष्यत्युपदेशकृज्जनान् ॥२७॥
सुरत्नसिंहासनदर्शनेन स स्फुरन्मणिद्योतिकिरीटपाणिभिः ।
परीतमारोक्ष्यति देवदानवैः परार्ध्यसिंहासनमूर्ध्वशासनः ॥२८॥

कठिन तपश्चरण करेगा ॥२९॥ हे वल्लभे ! जो तूने अभिषेकसे युक्त लक्ष्मी देखी है उसका फल यह है कि उत्पन्न होते ही तेरे पुत्रका सुरेन्द्र और असुरेन्द्र सुमेरु पर्वतके मस्तकपर क्षीरसागरके जलसे अभिषेक करेंगे और वह पर्वतके समान स्थिर होगा ॥३०॥ सुगन्धित मालाओंके देखनेसे यह सूचित होता है कि वह पुत्र तीनों जगत्में व्याप्त यशसे सहित होगा, उत्तम सुगन्धिको प्राप्त होगा और अपने अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन रूपी दृष्टिके द्वारा समस्त लोक और अलोकको भी व्याप्त करेगा॥३१॥हे सुन्दरि ! चन्द्रमाके देखनेसे वह जिनेन्द्र चन्द्र, अत्यधिक दया रूपी चन्द्रिकासे सुन्दर होगा, जगत्के अज्ञान रूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला होगा और समस्त जगत्के निरन्तर आह्लादको करने वाला होगा ॥ ३२ ॥ सूर्यके देखनेसे तेरा वह पुत्र तेजका भाण्डार होगा, और अपने बहुत भारी तेजके द्वारा समस्त तेजस्वी जनोंके तेजको जीतकर तीनों लोकोंको अन्धकारसे रहित करेगा ॥ ३३ ॥ हे शिव देवि ! सुखसे क्रीड़ा करती हुई मछलियोंका युगल देखनेसे यह सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र विषयोंके उपभोगसे उत्पन्न सुखको पाकर अन्तमें मोक्षके अनन्त सुखको अवश्य ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥ सुवर्ण कलशोंका युगल देखनेसे यह सिद्ध होता है कि तुम्हारा पुत्र हर्ष पूर्वक जगत्के मनोरथोंको पूर्ण करने वाला होगा और उसके प्रभावसे यह घर निधियोंसे परिपूर्ण हो जायगा ॥ ३५ ॥ नाना प्रकारके पुष्पोंसे युक्त कमल सरोवरके देखनेसे तुम्हारा वह पुत्र समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त होगा, तृष्णा रहित बुद्धिका धारक होगा और अत्यधिक दाह उत्पन्न करने वाली तृष्णारूपी प्याससे पीड़ित मनुष्योंको इसी संसारमें संतोषसे युक्त-सुखी करेगा ॥ ३६ ॥ अमृतमय महासागरके देखनेसे यह सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र समुद्रके समान गम्भीर बुद्धिका धारक होगा, तथा उपदेश देकर जगत्के जीवोंको कीर्तिरूपी महा नदियोंसे परिपूर्ण श्रुतज्ञान रूपी सागरका पान करायेगा ॥ ३७ ॥ उत्तम रत्नोंसे जटित सिंहासन देखनेसे यह प्रकट होता है कि तुम्हारे पुत्रकी आज्ञा सर्वोपरि होगी और वह देदीप्यमान मणियोंसे जगमगाते

१. महोदयाचन्द्रिकया म० । महोदयचन्द्रिकया ग० । २. विषयोपयोगजं म० । ३. श्रुताम्बुधिर्नीति म० ।

विमाननाथामरनाथकोटिभिः[1] प्रपूजिताङ्घ्रिः सुविमानदर्शनात् ।
[2]विमानसाधिः महतो महोदयो विमानमुख्यादवतीर्णवानिह[3] ॥३९॥
भवेत्तु भेत्ता भवपञ्जरस्य स फणीन्द्रनिर्यद्भवनावलोकनात् ।
सुतोऽम्बिकस्थापि मतिश्रुतावधिप्रधाननेत्रत्रितयेन जायते ॥४०॥
बहुप्रकारस्फुरदंशुरञ्जितं सुरत्नराशिप्रविलोकनात्सुतम् ।
प्रतीहि नानागुणरत्नराशिना श्रयिष्यमाणं शरणाश्रिताश्रयम् ॥४१॥
शिखावलीलीढनभस्तलोज्ज्वलत्प्रदक्षिणावर्तविधूमवह्नितः ।
निरीक्षिताद्ध्यानमहाहुताशनः स कर्मकक्षं सकलं प्रधक्ष्यति ॥४२॥
किरीटसत्कुण्डलपूर्वभूषणाः प्रभावतस्तस्य मदीयशासनम् ।
अलंकरिष्यन्त्यनुकूलसेवकाः सुरेश्वराः प्राकृतपार्थिवा इव ॥४३॥
श्लथात्मधम्मिल्लसलस्रजस्रजः समेखलानूपुरमञ्जुशिञ्जिताः ।
प्रसाधनादावनुभावतोऽस्य ते सुरेन्द्रसुन्दर्य उपासनोद्यताः ॥४४॥
जनिष्यमाणेन जिनेन्द्रभानुना प्रतीहि तेनात्र पवित्रकर्मणा ।
स्ववंशमात्मानमिमं च मां जगत्पवित्रितं भूषितमुद्धृ[4]तं तथा ॥४५॥

मुकुटोंपर हाथ लगाये हुए देव-दानवोंसे घिरे उत्तम सिंहासनपर आरूढ़ होगा ॥ ३८ ॥ उत्तम विमानके देखनेसे यह सूचित होता है कि विमानोंके स्वामी इन्द्रोंकी पङ्क्तियोंसे उसके चरण पूजित होंगे, वह मानसिक व्यथासे रहित होगा, महान् अभ्युदयका धारक होगा और बहुत बड़े मुख्य विमानसे वह यहाँ अवतार लेगा ॥ ३९ ॥ नागेन्द्रके निकलते हुए भवनको देखनेसे यह प्रकट होता है कि तुम्हारा वह पुत्र संसार रूपी पिंजड़ेको भेदनेवाला होगा और मति श्रुत तथा अवधिज्ञान रूपी तीन प्रमुख नेत्रोंसे युक्त होगा ॥ ४० ॥ आकाशमें रत्नोंकी राशि देखनेसे तुम यह विश्वास करो कि तुम्हारा पुत्र बहुत प्रकारकी देदीप्यमान किरणोंसे अनुरंजित होगा, नाना प्रकारके गुण रूपी रत्नोंकी राशि उसका आश्रय लेगी और वह शरणागत जीवोंको आश्रय देने वाला होगा ॥ ४१ ॥ और ज्वालाओंके समूहसे व्याप्त आकाशमें देदीप्यमान तथा दक्षिणावर्तसे युक्त निर्धूम अग्निके देखनेसे यह सिद्ध होता है कि तुम्हारा पुत्र ध्यानरूपी महा प्रचण्ड अग्निको प्रकट कर समस्त कर्मोंके वनको जलावेगा ॥ ४२ ॥ हे प्रिये ! उस पुत्रके प्रभावसे मुकुट तथा उत्तम कुण्डल आदि आभूषणोंसे सुशोभित इन्द्र साधारण राजाओंके समान अनुकूल सेवक होकर मेरी आज्ञाको अलंकृत करेंगे ॥ ४३ ॥ अपनी चोटीमें गुंथी हुई जिनकी निजकी मालाएँ ढीली हो रही हैं तथा जो मेखला और नूपुरोंकी मनोहर झंकारसे युक्त हैं ऐसी इन्द्रकी इन्द्राणियाँ इसके प्रभावसे सजावट आदिके कार्यमें तेरी सेवा करनेके लिए सदा उद्यत रहेंगी ॥ ४४ ॥ हे प्रिये ! यहाँ पवित्र कर्म करनेवाला जो जिनेन्द्र रूपी सूर्य उत्पन्न होने वाला है उससे तुम अपने वंशको, अपने आपको, इस मुझको तथा समस्त जगत्को पवित्रित भूषित एवं संसार-सागरसे उद्धृत समझो ॥ ४५ ॥

१. विमाननाथोऽमरनाथ-म० । २. विगतो मानसाधिः मानसी व्यथा यस्य सः । ३. एकोनचत्वारिंशत्तमः श्लोकः 'ग' पुस्तके एवं पठितः—'विमानसंदर्शनतो नुता नतो विमाननाथा मरनाथकोटिभिः । प्रपूजिताङ्घ्रिर्महतो महोदयो विमानमुख्यादवतीर्णवानिह ॥३९॥ ४. मुद्धतं म० ।

निशम्य सा स्वप्नफलं पतीरितं प्रतुष्टचित्ता सुतमङ्कवर्तिनम् ।
विचिन्त्य चक्रे जिनपूजनादिकाः क्रियाः प्रशस्ता जनतामनोहराः ॥४६॥
[1]जिनोद्भवे स्वप्नफलानुकीर्तनं पवित्रसुस्तोत्रमिदं दिने दिने ।
प्रभातसन्ध्यासमये पठन् जनः स्मरंश्च शृण्वन् श्रयते जिनश्रियम् ॥४७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ स्वप्नफलकथनो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ।

इस प्रकार पतिके द्वारा कहे हुए स्वप्नके फलको सुनकर रानी शिवा देवीका चित्त बहुत ही संतुष्ट हुआ । और पूर्वोक्त गुण विशिष्ट पुत्र मेरी गोदमें आ ही गया है, ऐसा विचार कर वह समस्त जन समूहके मनको हरने वाली जिनपूजा आदि उत्तम क्रियाएँ करने लगीं ॥ ४६ ॥ गौतम स्वामी कहते हैं, कि जो मनुष्य, जिनेन्द्र भगवानके जन्मसे संबद्ध स्वप्नोंके फलका वर्णन करने वाले इस स्तोत्रका प्रतिदिन प्रातः संध्याके समय पाठ करता है, स्मरण करता है, अथवा श्रवण करता है वह जिनेन्द्र भगवान्की लक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें स्वप्नोंके फलका वर्णन करने वाला सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

१. जिनोद्भवस्वप्नफलानुकीर्तनं क० ।

अष्टात्रिंशः सर्गः

पृथिवीच्छन्दः

जिनेन्द्रपितरौ ततो धनपतिः सुरेन्द्राज्ञया स्वभक्तिभरतोऽपि च स्वयमुपेत्य[1] तीर्थोदकैः ।
शुभैः समभिषिच्य तौ सुरभिपारिजातोद्भवैः सुगन्धवरभूषणैर्भुवनदुर्लभैः प्रार्चयत् ॥१॥

पुरैव परिशोधिते विदितदिक्कुमारीगणैर्बभार विमलोदरे प्रथमगर्भमुद्यत्प्रभम् ।
स्वबन्धुजनसिन्धुवृद्धिकरमस्तसन्तापोदयं शिवाय जगतां शिवा शशिनमम्बरश्रीरिव ॥२॥

चकार न वियोजितत्रिवलिभंगशोभामसौ न च श्वसनबाधिताधरसुपल्लवां[2] नालसाम् ।
स्तनस्तवकभारनम्रतनुमध्यसुश्रीलतां नितान्तकृपयेव तां फलभरो न चाबाधत ॥३॥

निगूढनिजगर्भसंभवतनोरिव व्यक्तये पयोधरभरो ययावतितरां पयःपूर्णताम् ।
तदुद्वहनगौरवादिव विशेषविस्तीर्णतां जगाम जघनस्थली निबिडमेखलाबन्धना ॥४॥

मनो भुवनरक्षणे सकलतत्त्वसंवीक्षणे[3] वचोऽपि हितभाषणे निखिलसंशयोत्क्षेपणे ।
वपुर्व्रतविभूषणे विनयपोषणे चोचितं बभूव जिनवैभवादतितरां शिवायास्तदा ॥५॥

महामृतरसाशनैः सुरवधूभिरापादितैरनन्तगुणकान्तिवीर्यकरणैः समास्वादितैः ।
जिनेन्द्रजननीतनुस्तनुरपि प्रभाभिर्दिशो दशापि कनकप्रभा विदधतीव विद्युद्बभौ ॥६॥

तदनन्तर इन्द्रकी आज्ञा और अपनी भक्तिके भारसे कुबेरने स्वयं आकर शुभ तीर्थ-जलसे भगवान्के माता-पिताका अच्छी तरह अभिषेक किया और मनोज्ञ कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न अन्यजनदुर्लभ सुगन्ध और उत्तमोत्तम आभूषणोंसे उनकी पूजा की ॥१॥ जिस प्रकार आकाशकी लक्ष्मी अपने निर्मल उदरमें चन्द्रमाको धारण करती है उसी प्रकार भगवान्की माता शिवादेवीने प्रसिद्ध दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा पहलेसे ही शुद्ध किये हुए अपने निर्मल उदरमें जगत्के कल्याणके लिए सर्वप्रथम उस गर्भको धारण किया जो उठती हुई प्रभासे युक्त था, अपने बन्धुजनरूपी समुद्रकी वृद्धिको करनेवाला था, तथा संतापके उदयको दूर करनेवाला था ॥२॥ उस गर्भरूपी फलके भारने अत्यधिक दयासे प्रेरित होकर ही मानो स्तनरूपी गुच्छोंके भारसे नम्रीभूत एवं पतली कमरवाली शिवादेवी रूपी लताको रञ्चमात्र भी बाधा नहीं पहुँचाई थी। न तो उसकी त्रिवलिरूपी तरङ्गकी शोभाको नष्ट किया था, न श्वासोच्छ्वाससे उसके अधररूपी पल्लवको बाधित किया था और न उसे आलस्यसे युक्त ही होने दिया था ॥३॥ अपने अत्यन्त गूढ गर्भमें भगवान्के शरीरकी जो उत्पत्ति हुई थी उसे प्रकट करनेके लिए ही मानो शिवादेवीके स्तनोंका भार अत्यधिक दूधसे परिपूर्णताको प्राप्त हो गया था तथा मेखलाके सघनबन्धनसे युक्त उसकी नितम्बस्थली उस स्तनके भारको धारण करनेके गौरवसे ही मानो अत्यधिक विस्तृत हो गई थी ॥४॥ उस समय भगवान्के प्रभावसे शिवादेवीका मन संसारकी रक्षा करने तथा समस्त तत्त्वोंके अवलोकन करनेमें अभ्यस्त रहता था, वचन सब प्रकारके संशयको नष्ट करनेवाले हित-कारी भाषणमें अभ्यस्त रहता था और शरीर व्रतरूपी आभूषणके धारण करने तथा विनयके पोषण करनेमें अभ्यस्त रहता था ॥५॥ भगवान्की माता, देवाङ्गनाओंके द्वारा संपादित एवं अनन्तगुणी कान्ति और बलको बढ़ानेवाला अमृतमय आहार करती थीं इसलिए उनका शरीर कृश होनेपर भी अपनी प्रभासे दशों दिशाओंको सुवर्ण जैसी कान्तिका धारक करता हुआ

---

१. –मुदेत्य म० । २. पल्लवं म० । ३. संवीक्षणे ग० ।

करीन्द्रमकरस्फुरत्तुरगतुङ्गमीनावली महारथसुयानपात्रनृपवाहिनीसन्मुखैः ।
विशद्भिरनुकूलकैः समभिवर्धितो[1]ऽद्धोर्मिभिः समुद्रविजयोऽन्वहं पृथुसमुद्रलीलां वहन् ॥७॥

जिनेशजनकौ जगद्वलयवेलयाभ्यर्चितौ परस्परविवर्धमानपृथुसम्मदौ नित्यशः ।
महेन्द्रवरशासनाभिरतदेवदेवीकृतप्रभूतिविभवान्वितौ गमयतः स्म मासान्नव ॥८॥

ततः कृतसुसङ्गमे निशि निशाकरे चित्रया प्रशस्तसमवस्थिते ग्रहगणे समस्ते शुभे ।
असूत तनयं शिवा शिवदशुक्लवैशाखज[2]त्रयोदशतिथौ जगज्जयनकारिणं हारिणम् ॥९॥

त्रिबोधशुचिचक्षुषा दशशताष्टसल्लक्षणैः सुलक्षितसुनीलनीरजवपुर्वपुर्बिभ्रता ।
जिनेन नि[3]जशोचिषा बहुगुणीकृतं मण्डलं प्रसूतिभवनोदरे[4] मणिगणप्रदीपार्चिषाम् ॥१०॥

विपाण्डुरपयोधरां दिवमखण्डचन्द्राननां निशि स्फुरिततारकानिकरमण्डनां[5] हारिणीम् ।
तरङ्गभुजपञ्जरोदरविवर्तिनीं स्वेच्छया चुचुम्ब मदनाम्बुधिः सति जिनेन्द्रचन्द्रोदये ॥११॥

गभीरगिरिराजनाभिकुलशैलकण्ठाकुलस्तनोच्छलद्वाहिनीनिवहहारभाराधरा ।
चचाल कृतन[6]र्तनेव मुदिताऽत्र जम्बूमती समुद्रवलयाम्बरा रणितवेदिकामेखला ॥१२॥

बिजलीके समान सुशोभित हो रहा था ॥६॥ हाथीरूपी मगरमच्छों, उछलते हुए उन्नत अश्वरूपी मीन-समूहों, बड़े-बड़े रथरूपी जहाजों, राजाओंकी सेनारूपी नदियों और जहाँ-तहाँ प्रवेश करते हुए मित्रोंरूपी तरङ्गोंसे प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हुए राजा समुद्रविजय उस समय सचमुच ही विशाल समुद्रकी शोभाको धारण करते हुए वृद्धिंगत हो रहे थे ॥७॥ इस प्रकार जो जगद्वलयरूपी वेलासे पूजित थे परस्परमें जिनका विशाल हर्ष निरन्तर बढ़ रहा था और जो इन्द्रकी आज्ञामें लीन देव-देवियोंके द्वारा की हुई विभूतिसे सहित थे ऐसे भगवान्‌के माता-पिताने गर्भके नौ माह सानन्द व्यतीत किये ॥८॥

तदनन्तर वैशाख शुक्ल त्रयोदशीकी शुभ तिथिमें रात्रिके समय जब चन्द्रमाका चित्रा नक्षत्रके साथ संयोग था और समस्त शुभग्रहोंका समूह जब यथायोग्य उत्तम स्थानोंपर स्थित था तब शिवादेवीने समस्त जगत्‌को जीतनेवाले अतिशय सुन्दर पुत्रको उत्पन्न किया ॥९॥ जो तीन ज्ञानरूपी उज्ज्वल नेत्रोंके धारक थे तथा एक हजार आठ लक्षणोंसे युक्त नील कमलके समान सुन्दर शरीरको धारण कर रहे थे ऐसे जिनबालकने अपनी कान्तिके द्वारा, प्रसूतिकागृहके भीतर व्याप्त मणिमय दीपकोंके कान्तिसमूहको कई गुणा अधिक कर दिया था ॥१०॥ उस समय जिनेन्द्र-रूपी चन्द्रमाका उदय होनेपर जो धवल पयोधर–मेघोंको धारण करनेवाली थी (पक्षमें धवल स्तनोंसे युक्त थी) अखण्ड-पूर्ण चन्द्रमा ही जिसका मुख था, (पक्षमें पूर्णचन्द्रमाके समान जिसका मुख था), देदीप्यमान ताराओंके समूह ही जिसके आभूषण थे, (पक्षमें देदीप्यमान ताराओंके समूहके समान जिसके आभूषण थे), जो अत्यन्त सुन्दरी थी (पक्षमें हारसे सुशोभित थी), और जो तरङ्गरूपी भुजपञ्जरके मध्यमें वर्तमान थी ऐसी--आकाशरूपी स्त्रीका मदनरूपी महासागरने अपनी इच्छानुसार चुम्बन किया था ॥११॥ उस समय जो सुमेरुरूपी गंभीर नाभिसे युक्त थी, कुलाचलरूपी कण्ठ और स्तनोंसे सहित थी, बहती हुई नदियोंके समूहरूपी हारके भारको धारण करनेवाली थी, समुद्रका घेरा ही जिसका वस्त्र था तथा शब्दायमान वेदिका ही जिसकी मेखला थी, ऐसी जम्बूद्वीपकी भूमि चल-विचल हो गई जिससे ऐसी जान पड़ती थी

---

१. समभिवर्धितः + अद्धा + ऊर्मिभिः इतिच्छेदः । समभ्यवर्धतोद्धोर्मिभिः ग० । २. शुच्यप्रज–म० । शुद्धपप्रज क०, ख० । ३. जिनरोचिषा म० । ४. भवनोपरे म० । ५. मण्डनाहारिणीम् म० । ६. वर्तनेव ग० ।

अनुत्तरमुखोज्ज्वलः शिवपदोत्तमाङ्गस्तथा नवानुदिशसच्चुबुकं नवविमानकग्रीवकः ।
सुकल्पवपुरन्तराधरजगत्कटीजङ्घकस्त्रिलोकपुरुषोऽचलत्कटिकरो नटित्वा स्फुटम् ॥१३॥
अभून्नवनवासिनां जगति तारशङ्खस्वनो रराट पटहः पटुर्भटिति भौमलोकेऽखिले ।
रवेर्जगति सिंहनाद उरुघोषघण्टानदत्सुकल्पभवने जिनप्रसववैभवाद्धि स्वयम् ॥१४॥
जगत्त्रितयवासिनश्चलितमौलिसिंहासनास्ततोऽसुरसुराधिपाः प्रणिहितावधिस्वेक्षणाः ।
प्रबुध्य जिनजन्म जातपृथुसम्मदाः सम्पदा प्रचेलुरिह भारतं प्रति चतुर्णिकायामरैः[1] ॥१५॥
विशुद्धतमदृष्टयो मुकुटकोटिसङ्घट्टित-स्फुरत्कटकरत्नरश्मिखचिताखिलाशामुखाः ।
प्रणेमुरहमिन्द्रदेवनिवहास्तु तत्र स्थिताः पदान्यभिसमेत्य सप्त हरिविष्टरेभ्यो जिनम् ॥१६॥
क्षितेरसुरनागविद्युदनलानिलद्वीपसत्सुपर्णसुमहोदधिस्तनितदिक्कुमाराभिधाः ।
समुच्चयुरितस्ततो भवनवासिनो भास्वरास्तदा विदधतो दिशो दश दशप्रकारामराः ॥१७॥
सुकिम्पुरुषकिन्नरामरमहोरगा राक्षसाः पिशाचसुरभूरिभूतवरयक्षगन्धर्वकाः ।
मनोहरणदक्षगीतबहुनृत्ययुक्ताङ्गनाः समीयुरिह मध्यलोकरतयोऽष्टधा व्यन्तराः ॥१८॥
गणश्च [2]शुचिशोचिषां प्रथितपञ्चधाज्योतिषां ग्रहर्क्षशशिभास्करप्रततारकाख्यापुषाम् ।
बभौ युगपदापतत्स्वविमानकेभ्योऽधिकं विधातुमिव चोद्यतो जगदिहापरं ज्योतिषाम् ॥१९॥

मानो हर्षके वशीभूत हो नृत्य ही कर रही हो ॥१२॥ जो अनुत्तर विमानरूपी मुखसे उज्ज्वल था, मोक्षरूपी मस्तकसे सहित था, नौ अनुदिश रूपी ठोढ़ीसे युक्त था, नौ ग्रैवेयकरूपी ग्रीवाको धारण करनेवाला था, स्वर्गरूपी शरीरसे सहित था, तथा मध्यम लोकरूपी कमर और अधोलोक-रूपी जंघाओंसे युक्त था ऐसा तीन लोकरूपी पुरुष उस समय चञ्चल हो उठा था सो ऐसा जान पड़ता था मानो कमरपर हाथ रखकर नृत्य ही कर रहा हो ॥१३॥ उस समय जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्मके प्रभावसे भवनवासी देवोंके लोकमें अपने आप शङ्खोंका जोरदार शब्द होने लगा। समस्त व्यन्तर देवोंके लोकमें शीघ्र ही जोरदार पटह शब्द होने लगे। सूर्यलोकमें सिंहनाद होने लगा और कल्पवासी देवोंके भवनोंमें विशाल शब्द करनेवाले घण्टा बज उठे ॥१४॥

तदनन्तर जिनके मुकुट और सिंहासन कम्पायमान हो रहे थे, जिन्होंने अपने अवधिज्ञान रूपी नेत्रको प्रयुक्त किया था, और उसके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्मको जानकर जिन्हें अत्यधिक हर्ष उत्पन्न हुआ था ऐसे तीनों लोकोंमें रहने वाले सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र चतुर्णिकायके देवोंको साथ ले बड़ी विभूतिसे भरत क्षेत्रकी ओर चल पड़े ॥१५॥ हाथ जोड़कर मस्तकसे लगाते समय मुकुटोंके अग्रभागसे टकराये हुए कटकोंके रत्नोंकी किरणोंसे जिन्होंने समस्त दिशाओंके अग्रभाग व्याप्त कर दिये थे ऐसे अत्यन्त शुद्ध सम्यग्दर्शनके धारक अहमिन्द्र देव, यद्यपि अपने अपने ही निवास स्थानोंमें स्थित रहे थे तथापि उन्होंने सिंहासनोंसे सात कदम सामने आकर जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार किया था ॥१६॥ असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, द्वीपकुमार, महोदधिकुमार, स्तनितकुमार और उदधिकुमार ये दश प्रकारके भवनवासी देव, दशों दिशाओंको देदीप्यमान करते हुए जहाँ तहाँ पृथिवीसे ऊपर आने लगे ॥१७॥ जिनकी स्त्रियाँ मनको हरण करनेमें दक्ष, गीत तथा नाना प्रकारके नृत्योंसे युक्त थीं, ऐसे किंपुरुष, किन्नर, महोरग, राक्षस, पिशाच, भूत, यक्ष और गन्धर्व ये मध्यमलोकमें विशिष्ट प्रीतिके रखने वाले आठ प्रकारके व्यन्तर देव चारों ओरसे आने लगे ॥१८॥ उज्ज्वल किरणोंसे युक्त ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य और तारा नामको धारण करनेवाले पांच प्रकारके प्रसिद्ध ज्योतिषी देवोंका समूह एक साथ अपने-अपने विमानोंसे यहां आता हुआ ऐसा सुशोभित होने लगा मानो वह पृथिवी पर एक दूसरा ही ज्योतिषलोक बनानेके लिए उद्यत हुआ हो ॥१९॥

---

१. चतुर्निकायामराः क० । २. शुच्चिरोचिषां म० ।

यथास्वमपि सप्तभिः प्रथमकल्पनाथादयोऽप्यनीकमिव हैवृंता युगपदच्युतेन्द्रोत्तराः ।
प्रतिस्वमपि सप्तभिः सकलकल्पजैः षोडश प्रमोदवशवर्तिनः समभिजग्मुरिन्द्राः सुरैः ॥२०॥
अनेकमुखदन्तसत्कमलखण्डपत्रावलीसुरूपसुरसुन्दरीललितनाटकोल्लासिनम् ।
हिमाद्रिमिव जङ्गमं निजवधूभिरैरावतं करोन्नमधिरूढवानभिरराज सौधर्मपः ॥२१॥
अनीकमथ यौवजं रचितसप्तकक्षान्तरं गृहीतवलयाकृतिप्रकृतिपौरुषाधिष्ठितम् ।
परीत्य कुलिशायुधं कुलिशपूर्वशस्त्राटवीनिरुद्धगगनान्तरं भृशमशोभत त्रैदशम् ॥२२॥
जवेन लघु लङ्घयद्द्रुतसमीरणं हेषितप्रयोजितवियोजितत्रिभुवनान्तरालं तथा ।
बृहद्बहिरवर्तत प्रवितत हयानीकमप्यरं गगनवारिधेरधितरङ्गरङ्गायितम् ॥२३॥
सुमुग्धमुखकोशकैर्नयनपुण्डरीकैर्निजैलसत्ककुदवालधिश्रुतिसुगात्रसास्नापुटैः ।
सुवर्णखुरशृङ्गकैः प्रतिवृषं वृषानीकमप्युवाह परितः स्थितं विपुलकान्तिमिन्दुप्रभाम् ॥२४॥
विभिन्नमपि सप्तधा स्वयमभेद्यमप्यद्रिभिर्नभोवलयसागरे त्रिदशयानपात्रायितम् ।
प्रभाविजितविस्फुरद्रविरथं रथानीकमप्यभादतिमनोहरं वलयवत्परिक्षेपकम् ॥२५॥
विकीर्णघनशीकरैः करिभिरूर्ध्वलीलाकरैः प्रवृत्तगुरुगर्जितैर्गुरुतरैरिवाम्भोधरैः ।
महामरुदधिष्ठितैः सुघटितं गजानीकमप्यनेकरचनान्तरं व्यतनुत श्रियं प्रावृषः ॥२६॥
स्वरैरपि च सप्तभिर्मधुरमूर्छनाकोमलैः सवीणवरवंशतालरवमिश्रितैराश्रितैः ।
प्रपूर्णभुवनोदरं बहिरतोऽप्यनीकं बभौ युवत्यमरबन्धुरं धृतिकरं तु गान्धर्वजम् ॥२७॥

जो यथायोग्य अपनी अपनी सात प्रकारकी सेनाओंके सहित थे, ऐसे प्रथम स्वर्गसे लेकर सोलहवें स्वर्गतकके सोलह इन्द्र, आनन्दके वशीभूत हो समस्त स्वर्गोंके देवोंके साथ यहाँ आ पहुँचे ॥२०॥ सौधर्मेन्द्र अपनी स्त्रियोंके साथ उस ऐरावत नामक गजराजपर बैठा हुआ सुशोभित हो रहा था, जो चलते-फिरते हिमालयके समान जान पड़ता तथा अनेक मुखोंके भीतर दाँतोंपर विद्यमान कमल-समूहकी कलिकाओंपर नृत्य करती हुई देवाङ्गनाओंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित था ॥२१॥ इन्द्रको चारों ओरसे घेरे हुए देवोंकी वह सेना सुशोभित हो रही थी जिसने सात कक्षाओंका विभाग किया था, जो गोल आकारके सहित थी, स्वाभाविक पुरुषार्थसे युक्त थी, तथा वज्र आदि शस्त्रोंके वनसे जिसने आकाशके अन्तरालको रोक रखा था ॥ २२ ॥ तदनन्तर घोड़ोंकी बहुत बड़ी विराट सेना थी जो अपने वेगसे शीघ्रगामी वायुको शीघ्र ही जीत रही थी। जो अपनी हिनहिनाहटसे तीन लोकके अन्तरालको संयुक्त तथा वियुक्त कर रही थी, और आकाशरूपी समुद्रकी उठती हुई तरङ्गोंके समूहके समान जान पड़ती थी ॥२३॥ तदनन्तर बैलोंकी वह सेना चारों ओर खड़ी थी जो कि सुन्दर मुख, सुन्दर अण्डकोश, नयन कमल, मनोहर कांदौल, पूँछ, शब्द, सुन्दर शरीर, सास्ना, सुवर्ण मय खुर और सींगोंसे युक्त थी तथा अत्यधिक कान्तिसे युक्त चन्द्रमाकी प्रभाको धारण कर रही थी ॥ २४ ॥ तदनन्तर रथोंकी वह सेना भी सुशोभित हो रही थी जो स्वयं सात प्रकारसे विभिन्न होनेपर भी पर्वतोंसे अभेद्य थी, आकाश रूपी सागरमें जो देवोंके यानपात्रके समान जान पड़ती थी, प्रभासे जिसने सूर्यके देदीप्यमान रथको जीत लिया था, जो अत्यन्त मनोहर थी और जिसका घेरा वलयके समान सुशोभित था ॥२५॥ तत्पश्चात् जो चारों ओर जलके छींटोंकी वर्षा कर रहे थे, जिनके शुण्डादण्ड ऊपरकी ओर उठे हुए थे, जो बहुत भारी गर्जना कर रहे थे, जो आकारमें बहुत भारी थे, एवं जो बड़े-बड़े देवोंसे अधिष्ठित थे, ऐसे मेघोंकी समानता धारण करने वाले हाथियोंसे रचित, अनेक प्रकारकी रचनाओंसे युक्त हाथियोंकी सेना भी वर्षा ऋतुकी शोभा विस्तृत कर रही थी ॥२६॥ हाथियोंकी

१. दन्तसत्कमल म०, दन्तदन्तसरकमल ग० । २. योधजं म०, ख० । देवजं घ० । ३. प्रघोषित ग० । ४. कौशिकैर्नयन म० । कौशकैर्नयन ग० । ५. पटैः ग० । ६. अपूर्णभुवनोपरम् म० ।

समस्तरसपुष्टिकं [1]वलयहारिगात्रोत्करैर्मनःकुसुममञ्जरीरमरभूरुहामाहरत् ।
प्रनृत्यद्[2]रुनर्तकीमयमनीकमभ्यम्ब[3]रे नितम्बभरमन्थरं शिथिलमाविरासीत्तदा ॥२८॥
सहस्रगुणितोदिता चतुरशीतिरेषु स्फुटं प्रमाणमपि सप्तसु प्रथमसप्तकक्षास्वतः ।
परं द्विगुणमेतदेव सकलेषु कक्षान्तरेष्वनीकबलकेष्विदं क्रमविदां समासेः स्थितिः ॥२९॥
यथायथमनीकिनः सकलनाकलोकाधिपा जिनेन्द्रजननाभिषेककर[4]णाय यावद्दिवत् ।
वितत्य पुरमाव्रजन्ति मुदितास्तु तावद्दिशां कुमार्य उपकुर्वते निखिलजातकर्मादृताः ॥३०॥
तथाहि विजया स्मृता जगति वैजयन्ती परा परोक्तिरपराजिता प्रवदिता जयन्ती [5]वरा ।
तथैव सह नन्दया भवति चापरानन्दया सनन्द्यभिधवर्धना हृदयनन्दिनन्दोत्तरा ॥३१॥
कुचानिव निजानिमान् विगलदङ्गभृङ्गाररसप्रसेन भरितान् भृशं विपुलतुङ्गभृङ्गारकान् ।
समूहुरभिरामकानमलहारभारोज्ज्वला ज्वलन्मणिविभूषणश्रवणकुण्डलोद्भासिताः ॥३२॥
तथैव सयशोधरा प्रथितसुप्रबुद्धामरी सुकीर्तिरपि सुस्थिता प्रणिधिरत्र लक्ष्मीमती ।
विचित्रगुणचित्रया सह वसुन्धरा चाप्यमू गृहीतमणिदर्पणा दिश इवेन्दुमत्यो बभुः ॥३३॥
इला नवमिकासुरासहितपीतप[6]द्मावती तथैव पृथिवी परप्रवरकाञ्चना चन्द्रिका ।
प्रभास्फुटितसारकाभरणभूषिता भास्वराः सचन्द्ररजनीनिभा धृतसितातपत्रा बभुः ॥३४॥

सेनाके बाद गन्धर्वोंकी वह सेना सुशोभित हो रही थी जिसने मधुर मूर्छनासे कोमल वीणा, उत्कृष्ट बाँसुरी और तालके शब्दसे मिश्रित सातों प्रकारके आश्रित स्वरोंसे जगत्‌के मध्यभागको पूर्ण कर दिया था, जो देव-देवाङ्गनाओंसे सुशोभित थी एवं सबको आनन्द उत्पन्न करनेवाली थी ॥ २७ ॥ गन्धर्वोंकी सेनाके बाद उत्कृष्ट नृत्य करनेवाली नर्तकियोंकी वह सेना भी आकाशमें प्रकट हुई थी जो कि नितम्बोंके भारसे मन्द-मन्द चल रही थी, समस्त रसोंको पुष्ट करनेवाली थी और वलयोंसे सुशोभित अपने शरीरोंसे देव रूपी वृक्षोंके मन रूपी पुष्प-मञ्जरीको ग्रहण कर रही थी ॥२८॥ प्रत्येक सेनामें सात-सात कक्षाएँ थीं। उनमेंसे प्रथम कक्षामें चौरासी हजार घोड़े, बैल आदि थे फिर दूसरी-तीसरी आदि कक्षाओंमें क्रमसे दूने-दूने होते गये थे ॥२९॥

अपनी-अपनी सेनाओंसे युक्त समस्त इन्द्र, भगवान्‌का जन्माभिषेक करनेके लिए आकाशमें व्याप्त हो जब-तक सूर्यपुर आते हैं तब-तक प्रसन्नतासे युक्त एवं आदरसे भरी दिक्कुमारी देवियाँ भगवान्‌का समस्त जातकर्म करने लगीं ॥३०॥ देवियोंमें निर्मल हारोंके धारण करनेसे सुशोभित एवं चमकते हुए मणियोंके आभूषण और कानोंके कुण्डलोंसे विभूषित-जगत्-प्रसिद्ध विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना, और हृदयको आनन्दित करनेवाली नन्दोत्तरा नामकी देवियाँ अपने स्तनोंके समान स्थूल, तथा अङ्गसे विगलित होते हुए शृङ्गार रसके समान निर्मल जलसे भरी हुई बड़ी ऊँची झारियाँ लिये हुए थीं ॥३१-३२॥ यशोधरा, सुप्रसिद्धा, सुकीर्ति, सुस्थिता, प्रणिधि, लक्ष्मीमती, विचित्र गुणोंसे युक्त चित्रा और वसुन्धरा ये देवियाँ मणिमय दर्पण लेकर खड़ी थीं और चन्द्रमासे युक्त दिशाओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ३३ ॥ इला, नवमिका, सुरा, पीता, पद्मावती, पृथ्वी, प्रवरकाञ्चना और चन्द्रिका नामकी देवियाँ, प्रभासे देदीप्यमान ताराओंके समान आभूषणोंसे सुशोभित तथा देदीप्यमान थीं। ये देवियाँ भगवान्‌की मातापर सफेद छत्र लगाये हुए थीं और चन्द्रमाके सहित रात्रियोंके समान जान पड़ती थीं ॥ ३४ ॥

---

१. वलमहारि- म० । २. प्रनृत्यपुरुनर्तकी म० । ३. मध्यम्बरे- म० । ४. करणाय म० । ५. परा म० । ६. पीठपद्मावती म० ।

श्रिया च धृतिराशया च वरवारुणी पुण्डरीकिणी स्फुरदलम्बुसा च सह मिश्रकेशी ह्रिया ।
सचामरकरा इमा अभ्युदारफेनावलीतरङ्गकुलसङ्कुला इव कुलापगाः सङ्गताः ॥३५॥
कनत्कनकचित्रया सहितया पुनश्चित्रया त्रिलोकसुरविश्रुतत्रिशिरसा च सूत्रामणिः ।
कुमार्य इव विद्युतो विकसितैर्जिनस्यान्तिके तमोनुद इवाम्बुजंलधरस्य विद्युल्लताः ॥३६॥
सहैव रुचकप्रभा रुचकया तदाद्याभया परा च रुचकोज्ज्वला सकलविद्युदग्रेसराः ।
दिशां च विजयादयो युवतयश्चतस्रो वरा जिनस्य विदधुः परं सविधि जातकर्मश्रिताः ॥३७॥
चतुर्विधसुरासुरा लघु समेत्य तावत्परं कुबेरजनिताद्भुतप्रथमशोभमुच्चध्वजम् ।
परीत्य जिनभक्तिलक्षितशनाथलोकश्रियं विजेतुमिव चोद्यतं ददृशुरादृताः सेन्द्रकाः ॥३८॥
प्रविश्य नगरं ततः शतमखः स्वयं सत्सखः शिवास्पदसमीपगः स्थितिविदादिदेशादृताम्[1] ।
शचीं शुचिमचापलां समुपनेतुमीशं शिशुं प्रसूतिगृहमाविशन्निति तदा बभौ सादरा ॥३९॥
विकृत्य सुरमायया शिशुमिहापरं निद्रया प्रयोज्य जिनमातरं प्रणतिपूर्वकं यत्नतः ।
प्रगृह्य मृदुपाणिना शिशुमदादसौ स्वामिने प्रणम्य शिरसा ददावमरराट् कराभ्यां जिनम् ॥४०॥
[2]जितेन्द्रमुखचन्द्रकं विजितपुण्डरीकेक्षणं विशेषविजितासितोत्पलवनश्रियं तं श्रिया ।
निरीक्ष्य जित[3]पद्मपाणिचरणं सहस्रेक्षणः सहस्रगणनेक्षणैरपि ययौ न तृप्तिं तदा ॥४१॥

श्री, धृति, आशा, वारुणी, पुण्डरीकिणी, अलम्बुसा, मिश्रकेशी और ह्री आदि देवियाँ हाथोंपर चामर लिये खड़ी थीं तथा अत्यधिक फेनावली और तरङ्गोंसे युक्त आई हुई कुलनदियों—गङ्गा आदि नदियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ३५ ॥ देदीप्यमान कनकचित्रा, चित्रा, तीन लोकके देवोंमें प्रसिद्ध त्रिशिरा और सूत्रामणि, ये विद्युत्कुमारी देवियाँ उस समय जिनेन्द्र भगवान्‌के समीप अपनी चेष्टाओंसे ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानो मेघके समीप अन्धकारको नष्ट करने वाली बिजली रूपी लताएँ ही हों ॥३६॥ उस समय समस्त विद्युत्कुमारियोंमें प्रधान रुचकप्रभा, रुचका, रुचकाभा और रुचकोज्ज्वला तथा दिक्कुमारियोंमें प्रधान विजय आदि चार देवियाँ विधिपूर्वक भगवान्‌का जातकर्म कर रही थीं ॥३७॥

भगवान्‌के जन्मोत्सवके पूर्व ही कुबेरने सूर्यपुरकी अद्भुत शोभा बना रक्खी थी। उसके महलोंपर बड़ी ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं तथा वह इन्द्रलोककी शोभाको जीतनेके लिए उद्यत सरीखा जान पड़ता था। अपने-अपने इन्द्रों सहित चारों निकायोंके सुर और असुर आदरके साथ शीघ्र ही आकर जिनेन्द्र भगवान्‌की भक्तिसे उस नगरकी तीन प्रदक्षिणाएँ दे उसकी शोभा देखने लगे ॥ ३८ ॥ तदनन्तर सज्जनोंका सखा और मर्यादाको जाननेवाला इन्द्र नगरमें प्रवेश कर शिवादेवीके महलके समीप खड़ा हो गया और वहींसे उसने आदरसे युक्त, पवित्र एवं चञ्चलतासे रहित इन्द्राणीको जात बालकके लानेका आदेश दिया। पतिकी आज्ञानुसार इन्द्राणीने प्रसूतिका-गृहमें प्रवेश किया। उस समय आदरसे भरी इन्द्राणी अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥ ३९ ॥ वहाँ उसने यत्नपूर्वक जिन-माताको प्रणाम कर मायामयी निद्रामें सुला दिया तथा देव-मायासे एक दूसरा बालक बनाकर उनके समीप लिटा दिया। तदनन्तर इन्द्राणीने कोमल हाथोंसे जिन-बालकको उठा कर अपने स्वामी—इन्द्रके लिए दे दिया और देवोंके राजा इन्द्रने शिरसे जिन-बालकको प्रणाम कर दोनों हाथोंसे उन्हें ले लिया ॥ ४० ॥ जिन्होंने अपने मुख रूपी चन्द्रमाके द्वारा चन्द्रमाको जीत लिया था, नेत्रोंसे पुण्डरीक-सफेद कमलको जीत लिया था, शरीरकी कान्तिसे नील कमलोंके वनकी शोभाको प्रमुख रूपसे पराजित कर दिया था और अपने हाथों तथा पैरोंसे कमलोंको पराभूत कर दिया था ऐसे जिनेन्द्र बालकको उस समय इन्द्र एक हजार नेत्रोंसे भी देख कर तृप्तिको प्राप्त

१. स्थितिविद् + आदिदेश + आहताम् । २. जिनेन्द्रमुख—म०, ग० । ३. जिनपद्म—म० ।

विधाय स सुरद्विपस्फटिकभूभृतो मस्तके जिनेन्द्रशिशुमिन्द्रनीलमणितुङ्गचूडामणिम्[1] ।
चचाल चलचामरातपनिवारणोच्चैश्चिरचलोर्मिकुलसङ्कुलो जलनिधिर्यथा फेनिलः ॥४२॥

सुरेभवदनत्रिके दशगुणे द्वयोश्चाष्ट ते रदाः प्रतिरदं सरः सरसि पद्मिनी तत्र च ।
भवन्ति मुखसंख्यया सहितपद्मपत्राण्यपि प्रशस्तरसभाविता[2] प्रतिदलं नटत्यप्सराः[3] ॥४३॥

तथाविधविभूतिभिः समुपगम्य मेरुं सुराः परीत्य पृथु पाण्डुकाख्यवनखण्डमभ्येत्य ते ।
जिनेन्द्रमतिचन्द्रपाण्डुकशिलातले कोमले सुपञ्चशतकार्मुकोच्चहरिविष्टरेऽतिष्ठपन्[4] ॥४४॥

ततश्च धृतपूजनोपकरणेषु देवाङ्गनागणेषु परितः स्थितेष्वभिनवोत्सवानन्दिषु ।
नटत्सु कृतपोत्कटप्रकटनाटकेषु[5] स्फुटप्रकृष्टरसभावहावलयरञ्जितस्वर्गिषु ॥ ४५ ॥

रटत्पटहशङ्खशब्दहरिनादभेरीरवैर्गिरीन्द्रसुबृहद्गुहाप्रतिनिनादसंवर्धितैः ।
दिगन्तरविसर्पिभिर्जिनगुणैरिव प्रस्फुटैरशेषभुवनोदरे श्रुतिसुखावहैः पूरिते ॥४६॥

नभस्तलमितस्ततः स्थगयति स्फुरत्सौरभे विचित्रपटवासधूपपटले सुपुष्पोत्करे ।
सुगन्धयति बन्धुरे परमगन्धहृद्ये दिशां मुखानि सुखपाण्डुकप्रभवमातरिश्वन्यलम् ॥४७॥

गृहीतबहुविग्रहः सुरपरिग्रहो वासवः समारभत भक्तितो जिनमहाभिषेकं स्वयम् ।
विधातुममराहृतैस्तु मणिहेमकुम्भच्युतैः पयोमयपयोनिधेः शुभपयोभिरुद्गन्धिभिः ॥४८॥

[चतुर्भिः कलापकम्]

नहीं हुआ उसकी देखनेको उत्कण्ठा ज्यों-की-त्यों बनी रही ॥४१॥ वह इन्द्र जिनके मस्तकपर इन्द्रनील मणिका ऊँचा चूडामणि सुशोभित हो रहा था, ऐसे जिन-बालकको ऐरावत हाथी रूपी स्फटिकमय पर्वतके मस्तकपर विराजमान कर चला। उस समय वह इन्द्र चञ्चल चामर और छत्रोंसे अतिशय शोभायमान था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो चञ्चल तरङ्गोंके समूहसे युक्त फेनसे भरा समुद्र ही चला जा रहा हो ॥४२॥ ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ-आठ दाँत थे, प्रत्येक दाँतपर एक-एक सरोवर था, प्रत्येक सरोवरमें एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनीमें बत्तीस-बत्तीस पत्र थे और एक-एक पत्रपर उत्तम रससे भरी हुई एक-एक अप्सरा नृत्य कर रही थी ॥४३॥ उस प्रकार की लोकोत्तर विभूतिके के साथ देव लोग मेरु पर्वतके समीप पहुँचे तथा उसकी परिक्रमा देकर पाण्डुक नामक विशाल वन खण्डमें प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने विशाल पाण्डुकशिलाके ऊपर जो पाँच सौ धनुष ऊँचा सिंहासन है उसपर जिन-बालकको विराजमान किया ॥४४॥

तदनन्तर पूजाके उपकरणोंको धारण करनेवाले एवं नवीन उत्सवसे आनन्दित देवाङ्गनाओंके समूह जब चारों ओर खड़े थे, स्पष्ट तथा श्रेष्ठ रस, भाव, हाव और लयसे देवोंको अनुरञ्जित करनेवाले श्रेष्ठ नृत्यकारोंके समूह जब नृत्य कर रहे थे, सुमेरु पर्वतकी सुविशाल गुफाओंसे गूँजनेवाली प्रतिध्वनिसे वृद्धिङ्गत, दिशाओंके अन्तरालमें फैलनेवाले, जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंके समान अत्यन्त प्रकट, एवं कानोंको सुख देनेवाले बजते हुए नगाड़ों और शङ्खोंके शब्द तथा सिंहनाद और भेरियोंकी ध्वनियोंसे जब संसारका मध्यभाग परिपूर्ण हो रहा था, प्रकट होती हुई सुगन्धिसे युक्त, नाना प्रकारके पटवास, धूपोंके समूह और उत्तमोत्तम पुष्पोंके समूह जब इधर-उधर आकाशतलको व्याप्त कर रहे थे, और सुखरूपी पाण्डुक वनसे उत्पन्न उत्कृष्ट गन्धसे हृदयको प्रिय लगनेवाली सुन्दर वायु जब दिशाओंके मुखको अत्यन्त सुगन्धित कर रही

१. चूलामणिं क०, ख०, ग० । २. भाविताः म०, ग० । ३. नटन्त्यप्सराः म०, ग० । ४. -मतिष्ठद् म० । ५. नाटकपेटकः (ग० टि०) ।

बहुत्रिदशपङ्क्तिभिः प्रमदपूरिताभिर्नभः स्फुरन्मणिगणोज्ज्वलत्कलशपाणिभिः सर्वतः ।
सुमेरुगिरिदुग्धाम्बुनिधिमध्यमध्यासितं रराज बहुरज्जुभिस्तदिव [1]नीयमानं तदा ॥४९॥
गृहाण कलशं लघु क्षिप नयाशु सन्धारय प्रभुं च मम सन्मुखं त्वमिति कर्णरम्यारवैः ।
करात्करमितस्ततः सुरगणस्य कुम्भावली श्रिया श्रयति पाण्डुकं वनमिवोरुहंसावली ॥५०॥
[2]सुवर्णमणिरत्नरौप्यमयकुम्भकाल्यो बभुः प्रवेगमरुतां[3] वशा रविशशाङ्कमाला यथा ।
सुपक्षपुटदीप्तिभिः खचितदिङ्मुखाः खे रयोत्पतद्गरुडहंसपङ्क्तय इव यथानेकशः ॥५१॥
शताध्वरभुजोद्धृतैर्जलधरैरिवोद्गर्जितैः सहस्रगणनैर्घटैः शुचिपयोभिरावर्जितैः ।
जिनोऽभिषवमाप्नुवन् [4]धवलमद्रिराजं व्यधाद्दधाति धवलात्मतामधवलो हि शुद्धाश्रयात् ॥५२॥
सतोषमपरेऽपि ते निखिल[5]कल्पनाथादयो यथेष्टमभिषेचनं विदधुरम्बुभिर्निर्मलैः ।
जिनस्य जिनशासनाधिगमशस्तरागोदयाः प्रकाशिततनूरुहास्तनुतरात्मजन्मा[6]म्बुधयः ॥५३॥
ततः सुरपतिस्त्रियो जिनमुपेत्य शच्यादयः सुगन्धितनुपूर्वकैर्मृदुकराः समुद्वर्तनम् ।
प्रचक्रुरभिषेचनं शुभपयोभिरुच्चैर्घटैः पयोधरभरैर्निजैरिव समं समावर्जितैः ॥५४॥

थी तब अनेक शरीरोंको धारण करनेवाले इन्द्रने देवोंके साथ भक्ति पूर्वक, देवोंके द्वारा लाये हुए, मणिमय और सुवर्णमय कुम्भोंसे च्युत, अत्यन्त सुगन्धित क्षीरसागरके शुभ जलसे जिनेन्द्र भगवान्का स्वयं महाभिषेक करना शुरू किया ॥४५-४८॥ उस समय सुमेरु पर्वत और क्षीरसागरके मध्य आकाशमें, हर्षसे भरी एवं देदीप्यमान मणियोंके समूहसे उज्ज्वल कलश हाथमें लिये देवोंकी पंक्तियाँ सब ओर खड़ी थीं उनसे उस समय वह आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत-सी रस्सियोंसे बाँधकर कहीं ले जाया जा रहा हो ॥४९॥ उस समय वहाँ 'कलश लो, जल्दी दो, और तुम भगवान्को शीघ्र ही मेरे सम्मुख धारण करो' इस प्रकार कानोंके लिए प्रिय शब्द हो रहे थे। तथा वह कलशोंकी पंक्ति देव-समूहके एक हाथसे दूसरे हाथमें जाती हुई शोभा पूर्वक पाण्डुक वनमें ऐसी प्रवेश कर रही थी मानो बड़े-बड़े हंसोंकी पंक्ति ही प्रवेश कर रही हो ॥५०॥ आकाशमें वेगशाली देवोंके वशीभूत (हाथोंमें स्थित) सुवर्ण, मणि, रत्न और चाँदीसे निर्मित कलशोंकी पंक्तियाँ आकाशमें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सुन्दर पङ्खोंकी कान्तिसे दिशाओंको व्याप्त करती हुई वेगसे उड़नेवाले गरुड़ और हंसोंकी अनेक पंक्तियाँ ही हों ॥५१॥ इन्द्रकी भुजाओंके द्वारा उठाये हुए, मेघोंके समान गर्जना करनेवाले एवं उज्ज्वल जलसे भरे हुए हजार कलशोंसे अभिषेकको प्राप्त होनेवाले भगवान्ने मेरुपर्वतको सफेद कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि शुद्ध पदार्थके आश्रयसे अशुद्ध भी शुद्धताको प्राप्त हो जाता है। भावार्थ—भगवान्के अभिषेक जलसे मेरु पर्वत सफेद-सफेद दिखने लगा ॥५२॥ जिनशासनकी प्राप्तिसे जिनके प्रशस्त रागका उदय हो रहा था, जिनके शरीरमें रोमाञ्च प्रकट हुए थे और जिनका संसार रूपी सागर अत्यन्त अल्प रह गया था ऐसे अन्य समस्त स्वर्गोंके इन्द्रोंने भी बड़े सन्तोषके साथ इच्छानुसार निर्मल जलसे जिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक किया था ॥५३॥ तदनन्तर कोमल हाथोंको धारण करनेवाली शची आदि इन्द्राणियोंने आकर सुगन्धित द्रव्योंसे भगवान्को उद्वर्तन—उबटन किया और अपने ही स्तनोंके समान सुशोभित एक साथ उठाये हुए,

---

१. तदवनीयमानं म० । २. सुवर्णमयरूपकान्तिमय-म० । ३. प्रवेगमरुतां म० । ४. ·माप्नुयाद्धवल-म० । ५. समस्तदेवेन्द्रादयः । ६. जन्माधयः म० ।

दुकूलमणिभूषणस्रगनुलेपनोद्भासितं प्रयोज्य शुभपर्वतं विभुमरिष्टनेम्याख्यया ।
सुरासुरगणास्ततः स्तुतिभिरित्थमिन्द्रादयः परीत्य परितुष्टुवुर्जिनमिमं[1] सुपृथ्वीश्रियाम्[2] ॥५५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ जन्माभिषेकवर्णनो नामाष्टत्रिंशः सर्गः ॥३८॥

शुभ जलसे परिपूर्ण कलशोंके द्वारा उनका अभिषेक किया ॥५४॥ तदनन्तर इन्द्र आदि समस्त सुर और असुरोंके समूहने उत्तम वस्त्र, मणिमय आभूषण, माला तथा विलेपनसे सुशोभित, कल्याणके पर्वत, एवं अतिशय विशाल लक्ष्मीके स्वामी श्री जिनेन्द्र देवका अरिष्टनेमि नाम रखकर उनकी प्रदक्षिणा दी और उसके बाद नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे उनका स्तवन किया ॥५५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें भगवान्‌के जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला अड़तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥३८॥

१. जिनमिति म० । २. श्रियम् म०, ग० ।

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

[1]सकलश्रुतमत्यवधिप्रविकासिविशुद्धविलासमिनिद्र विशिष्ट-
विलोचनदृष्टिविदृष्टसमस्तचराचरतत्त्वजगत्त्रितय ।
त्रितयात्मकदर्शनबोधचरित्रविनिर्मलरत्नविराजितपूर्व[2]-
भवोग्रतपोयुतषोडशकारणसंचिततीर्थंकरप्रकृते ॥१॥
प्रकृतेः स्थितितोऽनुभवाच्च विशिष्टतराद्भुतपुण्यमहोदय-
मारुतवेगविचालितदेवनिकायकुलाचलसेवितपादयुग ।
युगमुख्य मुखाम्बुजदर्शनतृप्तिविवर्जितभव्यमधुव्रतधीर-
तरस्तवनध्वनिबृंहितदुन्दुभिनादनिवेदितशुद्धयशः ॥२॥
यशसा धवलीकृतजन्मपवित्रितभारतवर्ष महाहरिवंश-
महोदयशैलशिखामणिबालदिवाकरदीप्तिजितार्कवपुः ।
वपुषाधिककान्तिभृताजितपूर्णशशाङ्क, विभो ! हरिनीलमणि-
द्युतिमण्डलमण्डितदिङ्मुखमण्डल नेमिजिनेन्द्र ! नमो भवते ॥३॥
भवतेह भुवां त्रितये भवता गुरुणा परमेश्वर विश्वजनीन
महेद्धधिया प्रतिपादितमप्रतिमप्रतिमारहितम् ।
हितमुक्तिपथं प्रथितं विधिवत् प्रतिपद्य विधाय[3] तपो विविधं
विधिना प्रविधूय कुकर्ममलं सकलं भुवि भव्यजनः प्रणतः ॥४॥

इन्द्र, नेमिजिनेन्द्रकी इस प्रकार स्तुति करने लगा—हे प्रभो ! आपने समस्त श्रुतज्ञान मतिज्ञान और अवधिज्ञानसे विकसित, शुद्ध चेष्टाओंके धारक, जागरूक एवं विशिष्ट पदार्थोंको दिखलानेवाली दृष्टिके द्वारा समस्त चराचर पदार्थोंसे युक्त तीनों जगत्‌को अच्छी तरह देख लिया है। आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके भेदसे त्रिविधताको प्राप्त निर्मल रत्नोंसे सुशोभित पूर्वभव सम्बन्धी उग्र तपसे युक्त सोलह कारण भावनाओंके द्वारा तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिका संचय किया है ॥१॥ उसी तीर्थंकर प्रकृतिकी स्थिति तथा अनुभागबन्धके कारण अत्यन्त विशिष्ट एवं अद्भुत पुण्यके महोदय रूपी वायुके वेगसे आपने देव समूह रूपी कुलाचलोंको विचलित किया है। उन्होंने आपके चरण युगलकी सेवा की है। आप युगमें मुख्य हैं तथा आपके मुख कमलके देखने सम्बन्धी तृप्तिसे रहित भव्यजीव रूपी भ्रमरोंके अत्यधिक स्तवनोंको ध्वनिसे वृद्धिंगत दुन्दुभियोंके शब्दसे आपका शुद्ध यश प्रकट हो रहा है ॥२॥ हे नाथ ! आपने यशसे शुक्लीकृत जन्मसे समस्त भारतवर्षको पवित्र किया है। अत्यन्त श्रेष्ठ हरिवंश रूप विशाल उदयाचलके शिखामणि स्वरूप बालदिनकर जैसी कान्तिसे आपने सूर्यके शरीरको जीत लिया है। हे विभो ! आपने अधिक कान्तिको धारण करनेवाले शरीरके द्वारा पूर्णचन्द्रको जीत लिया है एवं इन्द्रनील मणि जैसी कान्तिके समूहसे आपने समस्त दिशाओंके मुख मण्डलको सुशोभित कर दिया है इसलिए हे नेमि जिनेन्द्र ! आपको नमस्कार हो ॥३॥ हे परमेश्वर ! हे विश्वजनीन ! हे अप्रतिम—हे अनुपम ! आप तीनों लोकोंके गुरु हैं, एवं उत्कट बुद्धिके धारक हैं। यहाँ उत्पन्न होते ही आपने अनुपम, प्रसिद्ध एवं मोक्षका जो हितकारी मार्ग बतलाया है उसे स्वीकारकर तथा नाना प्रकारका तपकर भव्यजीव विधिपूर्वक समस्त पाप

१. त्रोटकद्वयनिर्मितः कश्चित् छन्दो-विशेषः (?)। २. तीर्थंकरनाम्नः स्थितेरनुभागोदयाच्च (ग० टि०)। ३. विधायि म०।

प्रणत[1]प्रिय ! संप्रति जन्मजरामरणामयभीममहाभवदुःख-
समुद्रमपारमतीत्य समेष्यति मोक्षमशेषजगच्छिखरम् ।
शिखराग्रसमग्रगुणाश्रयसिद्धमहापरमेष्ठिमहोपचयं
प्र[2]वदन्ति च यं मुनयः परमं पदमेकमिहाक्षरमात्महितम् ॥५॥
महितं महतां महदात्मगतं सततोदयमन्तविवर्जितमूर्जित-
सत्त्वसुखं प्रतिलभ्यमलभ्यमभव्यजनैः खलु यत्र सुखम् ।
सुखमत्र यदीश्वरविश्वजगत्प्रभुताप्रति[3]बद्धमपि प्रिय-
शेन्द्रनरेन्द्रपुरस्सरदेवमनुष्यविशेषमहाभ्युदयप्रभवम् ॥६॥
प्रभवप्रलयस्थितिधर्मपदार्थनिरूपणनैपुणशासन शासन
तावकशासनसेवनयैव भविष्यति नान्यमताश्रयतः ।
श्रयतामिति निश्चयमेत्य भवन्ति भवत्यवि[4]मूर्तिमति[5]प्रवणाः
सततं तनुभृन्निवहा भुवि येऽत्र त एव जिनेन्द्र कृतित्वमिताः ॥७॥
प्रियसर्वहितार्थवचोविभवं विभवं सुरभीकृतदिग्विवरं
वरसंहतिसंस्थितिरूपयुतं युतसर्वसुलक्षणपङ्क्तिरुचिम् ।
रुचिमत्पयसा समदेहरसं रसभावविदं मलमुक्ततनुं
तनुजस्विदिहीनमनन्ततया ततया [6]संहितं भुवि वीर्यतया ॥८॥

तोटकवृत्तम्

यतयात्मधिया[7] जितमात्मभुवं[8] भुवमत्यतरां सुखसस्यभृताम्[9] ।
भृतविश्व ! भवन्तमनन्तगुणं गुणकाङ्क्षितया वयमीश नताः ॥९॥

कर्मरूपी मलको विधिपूर्वक नष्टकर पृथिवीमें वन्दनीय होंगे ॥४॥ हे प्रणतप्रिय ! हे भक्त-वत्सल ! अब आप जन्म जरा मरण रूपी रोगोंसे भयंकर संसार रूपी महादुःखके अपार सागर-को पारकर मोक्षस्वरूप, समस्त लोककी उस शिखरको प्राप्त होंगे जहाँपर उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त समस्त गुणोंके आधारभूत सिद्ध भगवान् रूप महा परमेष्ठी विराजमान रहते हैं और जिसे मुनिगण उत्कृष्ट, अद्वितीय, अविनाशी एवं आत्म-हितकारी पद कहते हैं ॥५॥ जहाँका उत्तम, महान्, आत्मगत, निरन्तर उदयमें रहनेवाला, अन्तरहित और अनन्त बलसम्पन्न सुख महापुरुषोंको ही प्राप्त हो सकता है अभव्य जीवोंको नहीं। हे स्वामिन् ! आप उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाववाले पदार्थोंके निरूपण करनेमें निपुण शासनका उपदेश करनेवाले हैं। इस संसारमें समस्त जगत्की प्रभुतासे संबद्ध एवं इन्द्र नरेन्द्र आदि देव और मनुष्योंके विशेष महान् अभ्युदयोंका कारण भूत जो सुख है वह भी आपके शासनकी सेवासे ही प्राप्त होगा। अन्य मतोंके आश्रयसे नहीं। इसलिए सब आपका ही आश्रय लेवें इस प्रकार आपके विषयमें निश्चय—दृढ़ श्रद्धाको प्राप्तकर जो प्राणी इस पृथिवीमें निर्ग्रन्थ बुद्धिके धारण करनेमें प्रवीण होते हैं—निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करते हैं हे जिनेन्द्र ! वे ही प्राणी इस संसारमें कृतकृत्यताको प्राप्त होते हैं ॥६–७॥ हे भगवन् ! आप प्रिय एवं सर्वहितकारी वचनोंके वैभवसे सहित हैं, संसारका अन्त करने वाले हैं, आपने दिशाओंके अन्तरालको सुगन्धित कर दिया है, आप उत्कृष्ट संहनन, उत्कृष्ट संस्थान और उत्कृष्ट रूपसे युक्त हैं, आप समस्त लक्षणोंसे सुशोभित हैं, आपके शरीरका रस—रुधिर दूधके समान है, आप रस और भावको जाननेवाले हैं, आपका शरीर मलसे रहित है, पसीनासे रहित है, आप पृथिवीमें व्याप्त अनन्त बलसे सहित हैं, ॥८॥ अपने संयम रूप आत्म बुद्धिसे कामदेवको जीत लिया है। आप सुख रूपी

१. प्रणतिप्रिय म० । २. प्रविदन्ति म० । ३. प्रतिबुद्धमपि म० । ४. -त्यभिभूति म० । ५. नति ग० । ६. -महितम् ग० । ७. जिनयात्मभुवम् । ८. कामदेवम् (ग० टि०) । ९. सुखसस्यभृतम् ।

दोधकवृत्तम्

योजनभूरिसहस्रसमोच्चं योगकरत्वमिवाचलनाथम् ।
नाथ ! परं स्नपनासनमिद्धमिद्धमतिः कुरुते क उदारः ॥ १० ॥
ईदृशमीश विभुत्वममानं मानधनामरमानवमान्यम् ।
मान्यतमोऽन्यतमो भुवि ना[1] को नाकभवोऽ[2]पि जिनेति यथा त्वम् ॥११॥
शैशव एव जनातिगसत्त्वः सत्त्वहितो भुवनत्रयनूतः ।
नूतनभक्तिभरेण नतानां तानव[3]मानससौख्यकर[4]स्त्वम् ॥१२॥
कामकरीन्द्रमृगेन्द्र नमस्ते क्रोधमहाहिविराज[5] नमस्ते ।
मानमहीधरवज्र नमस्ते लोभमहावनदाव नमस्ते ॥१३॥
ईश्वरताधरधीर नमस्ते विष्णुतया युत देव नमस्ते ।
अर्हदचिन्त्यपदेश नमस्ते ब्रह्मपदप्रतिबन्ध[6] नमस्ते ॥१४॥
सत्यवचोनिवहैः सुरसंघा इत्यभिनुत्य जिनं प्रणिपत्य ।
तारकमुग्रभवादुरमेकं याचितवन्त इनं वरबोधिम् ॥१५॥

सस्यसे परिपूर्ण एवं अत्यन्त रक्षणीय भूमिकी रक्षा करनेवाले हैं। हे सबके रक्षक भगवन्! इस तरह आप अनन्त गुणोंके धारक हैं। हे नाथ! आपके गुणोंकी अभिलाषासे हम आपके प्रति नम्रीभूत हैं—आपको नमस्कार करते हैं ॥९॥ हे नाथ! यह अनेकों हजार योजन ऊँचा पर्वतोंका राजा सुमेरु पर्वत भी मानो आपके योगका साधन हो गया। सो आपके सिवाय प्रचण्ड बुद्धिको धारण करनेवाला ऐसा कौन महापुरुष है जो इसे श्रेष्ठ तथा देदीप्यमान स्नानपीठ बना सकनेको समर्थ है ॥१०॥ हे ईश! यह आपका ऐश्वर्य अपरिमित है, मान-रूपी धनके धारक बड़े-बड़े देव तथा मनुष्योंके द्वारा माननीय है। हे जिनेन्द्र! इस संसारमें स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाला भी ऐसा कौन दूसरा माननीय पुरुष है जो आपके समान ऐश्वर्यको प्राप्त कर सके ॥११॥ हे भगवन्! बाल्यकालमें भी आप लोकोत्तर पराक्रमके धारक हैं, प्राणियोंके हितकारक हैं, तीनों लोकोंके द्वारा स्तुत हैं तथा आप नूतन भक्तिके भारसे नम्रीभूत मनुष्योंके लिए शारीरिक और मानसिक सुखके करनेवाले हैं ॥१२॥ हे प्रभो! आप कामरूपी गजराजको नष्ट करनेके लिए सिंहके समान हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप क्रोधरूपी महानागको वश करनेके लिए पक्षिराज—गरुडके समान हैं इसलिए आपको नमस्कार हो। आप मानरूपी पर्वतको चकनाचूर करनेके लिए वज्रके समान हैं अतः आपको नमस्कार हो और आप लोभरूपी महावनको भस्म करनेके लिए दावानलके समान हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥१३॥ आप ईश्वरताके धारण करनेमें धीर-वीर हैं अतः आपको नमस्कार हो। हे देव! आप विष्णुतासे युक्त हैं अतः आपको नमस्कार हो। आप अर्हन्त रूप अचिन्त्य पदके स्वामी हैं अतः आपको नमस्कार हो और आप ब्रह्म पदको प्राप्त करनेवाले हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥१४॥ इस प्रकार सत्य वचनोंके समूहसे देवोंने भगवान्‌की स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया तथा भयंकर संसारसे पार करनेवाले भगवान्‌से उन्होंने यही एक वर माँगा कि हे भगवन्! हम लोगोंको उत्तम बोधिकी प्राप्ति हो ॥१५॥

---

१. ना पुरुषः भटः किंनामधेय इत्यर्थः। २. नाकभुवोऽपि ग०। ३. मानव म०। ४. शारीरिक-मानसिकसौख्यविधायकः। ५. क्रोधमहानागगरुड़। ६. ब्रह्मपथप्रतिबन्ध म०, ग०।

वृत्तानुगन्धिगद्यम्

अथ मथितमहामृताम्भोधिसंशुद्धपीयूषपिण्डातिपानातिदोषाचिराज्जीर्यमाणेष्विवोद्गीर्यमाणेषु तत्खण्ड-खण्डेषु, शङ्खेषु खे खेदमुक्तैः सुरैस्तोषपोषादनीषन्मनीषैर्भृशं पूर्यमाणेषु तथा वाद्यमानोरुगम्भीरभेरीमृदङ्गा-नकादिप्रभूताततातोद्यशब्देषु संवृत्तजैनेन्द्रजन्माभिषेकोत्सवोद्घोषणायेव निःशेषलोकान्तदिक्चक्रवाला[1]न्तरा-क्रान्तिमभ्युत्थितेषु प्रनृत्यत्सु विद्याधरव्रातदेवाङ्गनातुङ्गसंगीतनादाभिरामातिशृङ्गारहास्याद्भुतोद्यद्रसोदारवा[2]गङ्ग-सत्त्वस्फुटाहार्यहार्यात्मदिव्याभिनेयप्रवृत्ताप्सरोवृन्दबन्धेषु, सौधर्मकल्पाधिपः संभ्रमाद्विभ्रमभ्राजमानोद्यदैरावत-स्कन्धमारोप्य संवृत्यधीरं जिनेन्द्रं सितच्छत्रशोभं चलच्चामरालीभिरावीज्यमानं प्रगीताप्सरोलोकसंगीय-मानातिशुद्धात्मकीर्तिं चचालाचलेन्द्राद[3]नीकैरशेषैस्त्वशेषं नभोभागमापूर्[4]य शौर्यं शैलैरलं यादवेन्द्रैर्मृगेन्द्रैरिवाध्या-सितं प्रथितविबुधनिकायैः पथि प्रस्थितैः सप्रमोदैः प्रणामप्रणुतिप्रगीतिप्रयोगप्रवृत्तैर्यथायोगमभिनन्द्यमानो महानन्दमापादयन् पादपद्मोपसेवासनाथस्य नाथस्त्रिलोकामराधीशलोकस्य लोकातिवर्तिप्रवृत्तं परम्पार-मैश्वर्यमत्यद्भुतं संदधानः, शिवानन्दनो, नन्द वर्धस्व जीवेति चेत्यादि पुण्याभिधानैस्तदा स्तूयमानः कुलाद्रिप्रसूतिप्रभूताच्छतोयापगावीचिसन्तानसंसर्गशीतात्मना भोगभूभूरुहाणां विचित्रप्रसूनप्रतानप्रसङ्गेन

अथानन्तर खेद-रहित एवं विशाल बुद्धिके धारक देव संतोषकी अधिकतासे आकाशमें जिन शङ्खोंको अधिक मात्रामें फूँक रहे थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अमृतके महासागरके मथनेसे जो अत्यन्त शुद्ध अमृतका पिण्ड निकला था उसे अधिक मात्रामें पी जानेके दोषसे देव लोग चिरकाल तक पचा नहीं सके इसलिए उन्होंने उगल दिया हो उसी पीयूष-पिण्डके टुकड़े हों। शङ्खोंके शब्दोंके साथ-साथ बजाये जानेवाले अत्यधिक गम्भीर ध्वनिसे युक्त भेरी, मृदङ्ग तथा पटह आदिको एवं अधिक मात्रासे बजनेवाली बाँसुरी और वीणाके शब्द, 'श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्माभिषेकका उत्सव हो चुका है' इसकी घोषणा करनेके लिए ही मानो जब समस्त लोकके अन्त तक एवं समस्त दिशाओंके अन्तरालमें व्याप्त होनेके लिए उठ रहे थे। और जब विद्याधरोंके समूह एवं देवाङ्गनाओंके उन्नत संगीतमय शब्दोंसे सुन्दर श्रेष्ठ शृङ्गार, हास्य और अद्भुत रससे परिपूर्ण वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य इन चार प्रकारके अपने सुन्दर दिव्य अभिनेयोंके प्रकट करनेमें प्रवृत्त अप्सराओंके समूह सुन्दर नृत्य कर रहे थे। तब सौधर्म स्वर्गका इन्द्र, संभ्रम पूर्वक विभ्रमोंसे शोभायमान उठते हुए ऐरावत हाथीके कन्धेपर धीर-वीर जिनेन्द्रको विराजमानकर सुमेरु पर्वतसे उस शौर्यपुरकी ओर चला जो शूरवीरताके पर्वत एवं सिंहोंके समान बलवान् यादववंशी राजाओंसे अधि-ष्ठित था। उस समय जिनेन्द्र भगवान्‌के ऊपर सफेद छत्र सुशोभित हो रहा था, चञ्चल चमरोंकी पंक्तियाँ उनपर ढोरी जा रही थीं, और प्रकृष्ट गीतोंसे युक्त अप्सराओंके समूह उनकी अत्यन्त विशुद्ध कीर्ति गा रहे थे। सौधर्मेन्द्रने उस समय समस्त आकाशको सब प्रकारकी सेनाओंसे पूर्ण कर रखा था। मार्गमें चलते हुए, हर्षसे परिपूर्ण, प्रणाम, स्तुति तथा संगीतके प्रयोगमें लीन प्रसिद्ध देवोंके समूह भगवान्‌का यथायोग्य अभिनन्दन कर रहे थे। त्रिलोक सम्बन्धी इन्द्रोंका समूह भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवामें तत्पर था और भगवान् उसे महान् आनन्द प्राप्त करा रहे थे। इस प्रकार जो लोकोत्तर एवं अत्यन्त आश्चर्य-कारी परम ऐश्वर्यको धारण कर रहे थे, शिवादेवीके पुत्र थे, 'समृद्धिको प्राप्त होओ' 'बढ़ते रहो' 'जीवित रहो' इत्यादि पुण्य शब्दोंसे उस समय जिनकी स्तुति हो रही थी, कुलाचलोंसे उत्पन्न अत्यधिक स्वच्छ जलसे युक्त महानदियोंकी तरंगोंके संसर्गसे शीतल, भोगभूमि सम्बन्धी कल्पवृक्षोंके रंग-विरंगे पुष्प-समूहके संयोगसे आश्चर्यकारी सुगन्धिको धारण करने-

---

१. चक्रवालोत्तराक्रान्ति म० । २. धाराङ्ग म० । ३. -दनेकै-म० । ४. -मापूर्यशैलै-म० ।

सौगन्ध्यमत्यद्भुतं बिभ्रता सम्भ्रमेणातिदूराद् खेदापनोदार्थमभ्युत्थितेनेव मित्रेण गात्रानुकूलेन मन्दानिलेन प्रभुस्तीर्थकृत्कोमलाङ्गः समालिङ्ग्यमानो मनोहारिबाल्यानुरूपाम्बरोद्भासिभूषाविशेषोद्यमाल्योज्ज्वलो बालकल्पद्रुमोद्दामशोभातिशायी घनश्यामभूर्तिः सितोद्गन्धिसच्चन्दनेनोपदिग्धः स्फुरत्सान्द्रचन्द्रातपाश्लिष्ट-सम्प्रेन्द्रनीलाद्रिलक्ष्मीधरो देवसेनावृतः शीघ्रमुल्लङ्घ्य काष्ठामुदीचीमधिष्ठानमात्मीयमुच्चैर्ध्वजव्रातवादित्रधीर-ध्वनिव्याप्तदिक्चक्रवालाम्बरं दिव्यगन्धाम्बुवर्षाभिषिक्तापतत्पुष्पवर्षोपरुद्धोरुरथ्यापथं श्रीनिधानं विधानेन माङ्गल्यसंसक्तिना चारुसौर्यं पुरं प्रापदैश्वर्यमाश्चर्यभूतं भुवि प्राकटं विश्वलोकस्य कुर्वन्नसौ नेमिनाथः।
जिनशिशुमशिशुश्रियं शौरिसौर्यप्रजाशुंभदम्भोजिनीबालभास्वन्तमुत्तुङ्गमातङ्गराजोत्तमाङ्गस्थमादाय तं मातुरुत्सङ्गमानीय शक्रः स्वयंविक्रियाशक्तियुक्तः सहस्रं भुजां भासुरांसस्थलश्रीमुषां स [१]प्रकृत्य प्रसार्यो-रुसौन्दर्यसन्दर्भगर्भामरस्त्रीसहस्राणि चित्रं प्रनृत्यन्ति बिभ्रद्भुजेष्वग्रतो यादवानां मुदा पश्यतां विश्वकाश्यप्य-धीशत्वलाभादपि प्राज्यलाभं हृदि ध्यायतां स्फारिताक्षं क्षणारब्धसत्ताण्डवाखण्डशोभाप्रयोगान्वितं वाद्य[२]जातिप्रतानप्रवृद्धाभिनेयं सभ्रूक्षोभलीलं सदिक्चक्रभेदं सभूमिप्रपातं[३] महानन्दसन्नाटकं राज्यदक्षो ननाट स्फुटीभूतनानारसोदारभावं ततोऽर्हद्गुरुं देवराजः प्रणम्य प्रपूज्यान्यमर्त्यैरनर्घ्यैरलभ्यैर्विभूषादिभिर्भूष-

बाले तथा खेद दूर करनेके लिए संभ्रमपूर्वक बहुत दूरसे सम्मुख आये हुए मित्रके समान, शरीरके अनुकूल मन्द-मन्द समीरसे जिनका आलिङ्गन हो रहा था, जो प्रभु थे, तीर्थंकर थे, कोमल शरीरके धारक थे, जो मनको हरण करनेवाले तथा बाल्य अवस्थाके अनुरूप वस्त्रोंसे सुशोभित विशिष्ट आभूषणोंसे युक्त थे, देदीप्यमान मालाओंसे उज्ज्वल थे, बाल कल्पवृक्षकी उत्कट शोभाको तिरस्कृत करनेवाले थे, मेघके समान श्याममूर्तिके धारक थे, सफेद एवं उत्कृष्ट गन्धसे युक्त उत्तम चन्दनसे लिप्त थे और इसके कारण जो उदित होती हुई सघन चाँदनीसे आलिङ्गित प्रगाढ़ इन्द्रनीलमणिके पर्वतकी शोभाको धारण कर रहे थे, और देवोंकी सेनासे आवृत थे ऐसे नेमिजिनेन्द्र शीघ्र ही उत्तर दिशाको उल्लङ्घ कर अपने उस सौर्यपुर नगरमें जा पहुँचे जहाँकी दिशाओंका अन्तराल और आकाश ऊँची-ऊँची ध्वजाओंके समूह तथा वादित्रोंकी गंभीर ध्वनिसे व्याप्त था, जहाँके बड़े-बड़े मार्ग, दिव्य और सुगन्धित जलकी वृष्टिसे सींचे जाकर फूलोंकी पड़ती हुई वर्षासे रुके हुए थे, जो लक्ष्मीका भण्डार था तथा मङ्गलाचारमय विधि-विधानसे सुन्दर था, उस समय भगवान् नेमिनाथ पृथिवीपर समस्त लोगोंको आश्चर्यमें डालनेवाले आश्चर्यको प्रकट कर रहे थे।

बालक होनेपर भी जिनकी शोभा बालकों जैसी नहीं थी अर्थात् जो प्रकृतिसे वयस्कके समान सुन्दर थे। जो कृष्ण तथा सौर्यपुरकी प्रजारूपी शोभायमान कमलिनीको विकसित करनेके लिए बालसूर्य थे और जो अतिशय ऊँचे ऐरावत-गजराजके मस्तकपर विराजमान थे ऐसे जिन-बालकको लेकर इन्द्रने उन्हें माताकी गोदमें दिया। तदनन्तर विक्रिया शक्तिसे युक्त इन्द्रने स्वयं देदीप्यमान कन्धोंकी शोभाको पुष्ट करनेवाली हजार भुजाएँ बनाकर उन्हें फैलाया तथा उनपर अत्यधिक सौन्दर्यसे युक्त नानाप्रकारका नृत्य करनेवाली हजारों देवियोंको धारण किया। तत्पश्चात् इस लीलाको जब सामने बैठे हुए यादव लोग बड़े हर्षसे देख रहे थे तथा अपने हृदयमें जब इसे समस्त पृथ्वीके स्वामित्वके लाभसे भी अधिक समझ रहे थे तब राज्यमें दक्ष इन्द्रने महानन्द नामका वह उत्तम नाटक किया जिसने सबके नेत्रोंको विस्तृत कर दिया था, अर्थात् जिसे सब टकटकी लगाकर देख रहे थे। उत्सवपूर्वक प्रारम्भ किये हुए उत्तम ताण्डव नृत्यकी अखण्ड शोभाके प्रयोगसे सहित

१. प्रकृत्यपसार्यो म०। २. वाद्यजातिप्रतातप्रवृत्ताभिनेयं म०, वाद्यजातिप्रभानुप्रवृद्धाभिनेयं ग०। ३. प्रयातं म०।

पित्वा जिनस्यामृताहारमु[1]त्कराङ्गुष्ठके दक्षिणे न्यस्य रक्षानिमित्तं वयस्यान् कुमारान् सुराणां सुरेन्द्रः कुमारस्य सम्यग्निरूप्याप्रमत्तं कुबेरं वयोभेदकालर्तुयोग्यं विभोः क्षेमयोग्यं विधेयं समस्तं त्वयेति स्थिरं ज्ञापयित्वा समापृच्छ्य जैनौ गुरू तावनुज्ञां ततः प्राप्य संप्राप्तकामः कृतार्थं निजं मन्यमानो यथायातमन्यैरशेषैः सुरेन्द्रैश्चतुर्भेददेवानुगैर्यातवान् सिद्धयात्रस्ततो दिक्कुमार्योऽपि संवृत्तकार्याः समासाद्य तामार्यपुत्रीं सपुत्रीं शिवां संप्रणम्य प्रहृष्टाः प्रजग्मुर्निजस्थानदेशान् दिशस्ता दश द्योतयन्त्यः शरीरप्रभाभिर्जगन्नेमिचन्द्रोऽपि शुभ्रैर्गुणग्रामसान्द्रांशुजालैः समाह्लादयन् बालभावेऽप्यबालक्रि[2]यो लालितो बन्धुवर्गामरैर्वर्द्धमानो रराज श्रिया।

स्तवनमिदमरिष्टनेमीश्वरस्येष्टजन्माभिषेकाभिसम्बन्धमाक्रान्तलोकत्रयातिप्रभावस्य पापापनोदस्य पुण्यैकमार्गस्य संसारसारस्य मोक्षोपकण्ठस्य भव्यप्रजानां प्रमोदस्य कर्तुः प्रमादस्य हर्तुर्धर्मस्योपनेतुर्मुदा श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य च संकीर्त्यमानस्य संकीर्तनं पठ्यमानं समाकर्ण्यमानं सदा

था, नानाप्रकारके वादित्रोंकी जातियोंके समूहसे जिसमें अभिनेय अंश वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे, जो भौंहोंके क्षोभकी लीलासे सहित था, दिङ्मण्डलके भेदसे सहित था, पृथ्वीके प्रपातसे सहित था, और नाना रसोंके कारण जिसमें उदार-भाव प्रकट हो रहा था।

तदनन्तर इन्द्रने भगवान्‌के माता-पिताको प्रणाम किया, उनकी पूजा की, अन्य मनुष्योंके लिए दुष्प्राप्य अमूल्य आभूषण आदिसे उन्हें विभूषित किया, रक्षाके निमित्त जिनेन्द्रके दाहिने हाथके अँगूठेमें अमृतमय मुख्य आहार विक्षिप्त किया। क्रीडाके लिए भगवान्‌की समान अवस्थाको धारण करनेवाले देवकुमारोंको उनके पास नियुक्त किया, कुबेरको यह आज्ञा दी कि तुम भगवान्‌की अवस्था, काल और ऋतुके अनुकूल उनके कल्याणके योग्य समस्त व्यवस्था करना। इस प्रकार इन्द्र यह आज्ञा देकर भगवान्‌के माता-पितासे पूछकर तथा उनकी आज्ञा प्राप्तकर अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ चार निकायके देवोंसे अनुगत समस्त इन्द्रोंके साथ जैसा आया था वैसा चला गया। इन्द्रकी यात्रा सफल हुई।

तदनन्तर अपना-अपना कार्य पूरा कर दिक्कुमारी देवियोंने आर्यपुत्री, जिनबालक सहित माता–शिवादेवीके पास आकर उन्हें प्रणाम किया और उसके बाद वे प्रकृष्ट हर्षसे युक्त अपने शरीरकी प्रभाओंसे दशों दिशाओंको देदीप्यमान करती हुई अपने-अपने स्थानोंपर चली गईं। इधर गुण-समूहरूपी किरणोंके समूहसे समस्त जगत्‌को आनन्दित करनेवाले, बालक होनेपर भी वृद्धों जैसी क्रियासे युक्त, बन्धुवर्ग तथा देवोंके द्वारा लालित नेमिजिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए लक्ष्मीसे सुशोभित होने लगे।

गौतम स्वामी कहते हैं कि यह स्तवन उन नेमिजिनेन्द्रके जन्माभिषेकसे सम्बन्ध रखनेवाला है जिनके सातिशय प्रभावने तीनों लोकोंको व्याप्त कर रखा है, जो पापको दूर करनेवाले हैं, एक पुण्यका ही मार्ग बतानेवाले हैं, संसारमें सारभूत हैं, मोक्षके निकट हैं, भव्य-जीवोंको हर्ष उत्पन्न करनेवाले हैं, प्रमादको हरनेवाले हैं, धर्मका उपहार देनेवाले हैं, सब लोग बड़े हर्षसे जिनका नाम श्रवण करते हैं, जिनका स्मरण करते हैं और जिनका अच्छी तरह कीर्तन करते हैं। पढ़ा गया, सुना गया और सदा चिन्तवन किया गया यह स्तोत्र इस लोकमें साक्षात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी सम्पत्तिको करता है, मानसिक और शारीरिक सुख-प्रदान करता है, शान्ति करता है, पुष्टि करता है, तुष्टि और

---

१. मुख्यं म०। २. क्रियोल्लालितो ग०।

चिन्त्यमानं सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररत्नत्रयस्याप्तिसंपत्करं [1]चैवत्वारीरसौख्यप्रदं शान्तिकं पौष्टिकं तुष्टिसंप्राप्तिसंपादि साक्षादिहामुत्र चानेककल्याणसंप्राप्तिहेतोः प्रपुण्यास्रवस्य स्वयं कारणं वारणं सर्वपापास्रवाणां सहस्रस्य विध्वंसकरणं दारुणस्यापि पूर्वत्र सर्वत्र चानेहसि स्नेह[2]मोहादिभावेन संचित-स्यैनसः । स्तोत्रमुख्यं जिनेन्द्रे[3] विधेयादिदं भक्तिभारं परम् ।

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ जन्माभिषेके इन्द्रस्तुतिवर्णनो नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥३९॥

सम्पत्तिको सम्पन्न करता है तथा परलोकमें अनेक कल्याणोंकी प्राप्तिमें कारणभूत उत्कृष्ट पुण्यास्रवका स्वयं कारण है, समस्त पाप कर्मोंके हजारों प्रकारके आस्रवोंका निवारण करता है और पूर्वभवमें सर्वदा स्नेह तथा मोह आदि भावोंसे सञ्चित भयंकरसे-भयंकर पापोंका नाश करता है। यह मुख्य स्तोत्र, जिनेन्द्र भगवान्‌में सातिशय भक्ति उत्पन्न करे।

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें जन्माभिषेक के समय इन्द्र द्वारा कृत स्तुतिका वर्णन करनेवाला उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३९॥

---

१. चैवं म० । २. स्नेहमोदिभावेन म० । ३. जिनेन्द्र ग० ।

चत्वारिंशः सर्गः

अथ श्रुत्वा जरासन्धो भ्रातुर्वधमसौ मृधे[1] । शोकसिन्धौ निमग्नोऽरिक्रोधपोतेन धारितः ॥१॥
समस्तयदुनाशाय समस्तनयपौरुषः । सोऽभ्यमित्रममीर्गन्तुं मित्रवर्गमजिज्ञपत् ॥२॥
प्रभोस्तस्य समादेशान्नानादेशाधिपा नृपाः । चतुरङ्गबलोयुक्ताः श्रिताः स्वामिहितैषिणः ॥३॥
दत्तप्रयाणमेनं स्वमनन्तसैन्याब्धिवर्तिनम् । विविदुर्यदुशार्दूलाश्चतुराश्चारचक्षुषः ॥४॥
ततः श्रुतवयोवृद्धा वृष्णिभोजकुलोत्तमाः । कर्तुमारेभिरे मन्त्रमिति तत्त्वनिरूपिणः ॥५॥
त्रिखण्डाखण्डिताज्ञोऽन्यैः प्रचण्डश्चण्डशासनः । चक्रखड्गगदादण्डरत्नाद्यस्त्रबलोद्धतः ॥६॥
कृतज्ञः कृतदोषेषु प्रणतेषु कृतक्षमः । [2]अस्मास्वनपकारः प्रागुपकारैकतत्परः ॥७॥
जामातृभ्रातृघातोत्थपराभवरजोमलम् । प्रमार्ष्टुं कोपवानस्मान्मागधोऽभ्येत्य बिभ्यतः ॥८॥
दैवपौरुषसामर्थ्यमस्मदीयमतिस्मयः । प्रकटीभूतमप्येष पश्यन्नपि न पश्यति ॥९॥
कृष्णस्य पु[3]ण्यसामर्थ्यं पौरुषं च बलस्य च । बाल्यादारभ्य निःशेषमिदं परमवैभवम् ॥१०॥
नेमितीर्थंकरस्यापि देवेन्द्रासनकम्पिनः । प्रभुत्वं च स्फुटीभूतं बालस्यापि जगत्त्रये ॥११॥

अथानन्तर—युद्धमें भाईका वध सुनकर शोकरूपी सागरमें डूबता हुआ जरासंध, शत्रुओंपर उत्पन्न हुए क्रोधरूपी जहाजके द्वारा बचाया गया था। भावार्थ—भाई अपराजितके मरनेसे जरासन्धको जो दुःख हुआ था उससे वह अवश्य ही मर जाता परन्तु शत्रुओंसे बदला लेनेके क्रोधने उसकी रक्षा कर दी ॥१॥ समस्त नय और पराक्रममें निपुण जरासंधने समस्त यादवोंका नाश करनेके लिए मनमें पक्का विचार कर लिया और निर्भीक हो शत्रुके सन्मुख जानेके लिए मित्रोंके समूहको आज्ञा दे दी ॥२॥ स्वामीकी आज्ञा पाकर उसके हितकी इच्छा करनेवाले नाना देशोंके राजा अपनी-अपनी चतुरङ्ग सेनाओंसे युक्त हो आ पहुँचे ॥३॥ इधर अनन्त सेनारूपी सागरके मध्यमें वर्तमान जरासन्धने जब यादवोंकी ओर प्रयाण किया तब गुप्तचररूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले चतुर यादवोंने शीघ्र ही उसका पता चला लिया ॥४॥ तदनन्तर जो शास्त्र और अवस्थामें वृद्ध थे तथा पदार्थका यथार्थ स्वरूप निरूपण करनेवाले थे ऐसे वृष्णिवंश एवं भोजवंशके प्रधान पुरुष इस प्रकार मन्त्र करनेके लिए तत्पर हुए ॥५॥

वे कहने लगे कि तीन खण्डोंमें इसकी आज्ञा अन्य पुरुषोंके द्वारा कभी खण्डित नहीं हुई। यह अत्यन्त उग्र है, इसका शासन भी अत्यन्त उग्र है, चक्र, खड्ग, गदा तथा दण्डरत्न आदि अस्त्रोंके बलसे यह उद्धत है, किये हुए उपकारको माननेवाला है, जो मनुष्य अपराधकर नम्रीभूत हो जाते हैं उनपर यह क्षमा कर देता है, हम लोगोंका इसने पहले कभी अपकार नहीं किया, उपकार करनेमें ही निरन्तर तत्पर रहा है किन्तु अब माता और भाईके वधसे उत्पन्न पराभवरूपी रजके मलको दूर करनेके लिए क्रोध युक्त हुआ है और भयभीत होते हुए हम लोगोंके सम्मुख आ रहा है ॥६–८॥ यह इतना अहंकारी है कि हम लोगोंकी दैव और पुरुषार्थ सम्बन्धी सामर्थ्यको जो कि अत्यन्त प्रकट है देखता हुआ भी नहीं देख रहा है ॥९॥ कृष्णके पुण्यका सामर्थ्य और बलरामका पौरुष—यह सब परम वैभव बालक अवस्था ही से प्रकट हो रहा है। इन्द्रोंके आसनको कम्पित कर देनेवाले नेमिनाथ तीर्थंकर यद्यपि इस समय बालक हैं तथापि उनका प्रभुत्व तीनों जगत्में प्रकट हो चुका है। वह यह भी नहीं सोच रहा

---

१. रणे। २. अस्मास्वनपकारेषु प्रागुपकारतत्परः (म० टि०)। ३. पूर्ण इत्यपि (म० टि०)।

यस्यानुपालनव्यग्राः[1] समग्रा लोकपालिनः । तत्तीर्थकृत्कुले को वा मानुषोऽपकरिष्यति ॥१२॥
करेण कः स्पृशेदज्ञः कृशानुमकृशार्चिषम् । तीर्थकृद्बलकृष्णान् वा कोऽभ्येति विजिगीषया ॥१३॥
प्रतिशत्रुरयं राजा जरासन्धोऽस्य हिंसकौ । ध्रुवमत्र समुद्भूतौ रामनारायणाविमौ ॥१४॥
तदत्र यावदायस्य सपक्षः कृष्णपावके । प्रतिशत्रुपतङ्गोऽयं भस्मीभवति न स्वयम् ॥१५॥
तावदाशु वयं शूरं [2]शौरिमस्मद्वशं परम् । विगृह्यासनयोगेन योजयामो जयोन्मुखम् ॥१६॥
स्वीकृत्य वारुणीमाशां कानिचिद्दिवसानि वै । विगृह्यासनमेवं हि कार्यसिद्धिरसंशया ॥१७॥
आसीनानेवमप्यस्मानभ्येति यदि मागधः । रणातिथ्यं प्रकृत्यैनं प्रेषयामो [3]रणप्रियम् ॥१८॥
इति संमन्त्र्य ते मन्त्रं प्रकाश्य कटके स्वके । [4]आनन्दिनीनिनादेन प्रयाणकमजिज्ञपन् ॥१९॥
भेर्यास्तस्या रवं श्रुत्वा चतुरङ्गबलं ततः । यदुभोजकुलक्ष्माभृत्प्रधानमचलद्बलम् ॥२०॥
माथुर्यः शौर्यपूर्यश्च वीर्यपूर्यः प्रजास्तदा । समं स्वाम्यनुरागेण स्वयमेव प्रतस्थिरे ॥२१॥
प्रजाः [5]प्रकृतिभिः सर्वाश्चातुर्वर्ण्याः सधार्मिकाः । प्रस्थानं मेनिरे स्थानादुद्यानक्रीडया समम् ॥२२॥
अष्टादशेति संख्याताः कुलकोट्यः प्रमाणतः । अप्रमाणधनाकीर्णा निर्यान्ति स्म यदुप्रियाः ॥२३॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगवारादिलब्धयः । सुलब्धसुकुला भूपा अगमुरल्पैः प्रयाणकैः ॥२४॥
देशानुल्लङ्घ्य निःशेषान् प्रतीचीं प्रति गच्छताम् । बभूव विपुलस्तेषामुपान्ते विन्ध्यपर्वतः ॥२५॥
गजकाननरम्यस्य सिंहशार्दूलशालिनः । भृङ्गालीडम्बरस्यास्य श्रीर्जहार मनो नृणाम् ॥२६॥

है कि जिस तीर्थंकरका पालन करनेके लिए समस्त लोकपाल व्यग्र रहते हैं उस तीर्थंकरके कुलका कौन मनुष्य अपकार कर सकेगा ? ऐसा कौन अज्ञानी है जो बड़ी-बड़ी ज्वालाओंको धारण करनेवाली अग्निका हाथसे स्पर्श करेगा और ऐसा कौन बलवान् है जो जीतनेकी इच्छासे तीर्थंकर, बलभद्र और कृष्णका सामना करेगा ? ।।१०–१३।। यह राजा जरासन्ध प्रतिनारायण है और इसके मारनेवाले ये बलभद्र तथा नारायण यहाँ निश्चित ही उत्पन्न हो चुके हैं ।।१४।। इसलिए जबतक यह प्रतिनारायण रूपी पतंग, अपने पक्षों (सहायकों, पक्षमें पङ्खों) के साथ आकर कृष्णरूपी अग्निमें स्वयं भस्म नहीं हो जाता है तबतक हम लोग शीघ्र ही विग्रहके बाद अन्यत्र आसन ग्रहण कर शूर-वीर कृष्णको विजयके सम्मुख करें। इस समय हम लोगोंको पश्चिम दिशाका आश्रयकर कुछ दिनों तक चुप बैठ रहना उचित है क्योंकि ऐसा करनेसे कार्यकी सिद्धि निःसन्देह होगी ।।१५–१७।। हम लोग इस तरह शान्तिसे चुप रहेंगे फिर भी यदि जरासन्ध हमारा सामना करेगा तो हम लोग युद्ध-द्वारा सत्कार कर उसे यमराजके पास भेज देंगे ।।१८।। इस प्रकार परस्पर सलाहकर उन्होंने वह मन्त्रणा अपने कटकमें प्रकट की और भेरीके शब्दसे नगरमें प्रस्थान करनेकी आज्ञा दे दी ।।१९।। भेरीका शब्द सुनकर यादव और भोजवंशी राजाओंकी चतुरङ्ग सेना चल पड़ी ।।२०।। मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुरकी प्रजाने स्वामीके अनुरागसे साथ ही प्रस्थान कर दिया ।।२१।। धर्मात्माजनोंसे युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि चारों वर्णकी प्रजाने राजा, मन्त्री आदि प्रकृतिके साथ होने वाले उस प्रस्थानको ऐसा माना जैसे अपने स्थानसे वनक्रीड़ाके लिए ही जा रहे हैं ।।२२।। उस समय अपरिमित धनसे युक्त अठारह करोड़ यादव शौर्यपुरसे बाहर निकले थे ।।२३।। उत्तम तिथि, नक्षत्र, योग और वार आदिको प्राप्त हुए वे उच्चकुलीन राजा, छोटे-छोटे पड़ावों-द्वारा गमन करते थे ।।२४।। तदनन्तर अनेक देशोंका उल्लंघन कर जब वे पश्चिम दिशाकी ओर गमन कर रहे थे तो विशाल विन्ध्याचल पर्वत उनके समीपस्थ हुआ अर्थात् क्रमशः गमन करते हुए वे विन्ध्याचलके समीप जा पहुँचे ।।२५।। जो हाथियोंके वनोंसे सुन्दर था,

१. पालने व्यग्राः म० । २. वसुदेवजं कृष्णम् । ३. रणः प्रियो यस्य तं यममित्यर्थः । ४. भेरीशब्देन ।
५. 'स्वाम्यमात्यं सुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ इत्यमरः ।

अनुवर्त्मं जरासन्धं समायातं निशम्य ते । प्रत्यैक्षन्त महोत्साहा यादवोऽपि युयुत्सवः ॥२७॥
अल्पमन्तरमालोक्य देवताः सेनयोस्तयोः । भरतार्द्धनिवासिन्यः कालदैवनियोगतः ॥२८॥
विकृत्य दिव्यसामर्थ्यादन्तरे चितिकाश्च ताः । अग्निज्वाला[1]परीतांस्तान् दर्शयाञ्चक्रिरे[2]ऽरये ॥२९॥
चतुरङ्गबलं तत्र दह्यमानमितस्ततः । पश्यति स्म जरासन्धो ज्वालालीलीढविग्रहम् ॥३०॥
ज्वालारुद्धपथस्तत्र विश्रान्तनिजसाधनः । अपृच्छद्रुदतीमेकां स्थविरीभूय देवताम् ॥३१॥
दह्यते विपुलः कस्य स्कन्धावारोऽयमाकुलः । किमर्थं रोदिषि त्वं च वद वृद्धे ! यथास्थितम् ॥३२॥
इति पृष्टा समाचष्टे तस्मायश्राविलेक्षणा । शोकं निगृह्य कृच्छ्रेण रुद्धे कण्ठेऽपि मन्युना ॥३३॥
वदामि शृणु तेजस्विन् ! यथादृष्टं यतो जनः । निवेद्य महते दुःखान्महतोऽपि विमुच्यते ॥३४॥
अस्ति राजगृहे राजा जरासन्ध इति श्रुतिः । सत्यसन्धः स यः शास्ति सागरान्तां वसुन्धराम् ॥३५॥
वाडवार्चिश्छलेनास्य नूनमम्बुनिधावपि । प्रज्वलन्ति द्विषां शान्त्यै प्रतापदहनार्चिषः ॥३६॥
आत्मापराधबाहुल्यात्सशल्यहृदयास्ततः । यादवाः क्वापि सन्त्रस्ताः प्रयान्तः प्रियजीविताः ॥३७॥
ते काश्यप्यामपश्यन्तः सन्तः सशरणं क्वचित् । प्रविश्य दहनं याताः शरणं मरणं परम् ॥३८॥
कुलक्रमागता तेषां भुजिष्या भूभुजामहम् । स्वामिदुर्मृतिदुःखार्ता रोदिमि प्रियजीविता ॥३९॥

सिंह और व्याघ्रोंसे सुशोभित था, और अपनी चोटियोंसे आकाशका चुम्बन कर रहा था ऐसे उस विन्ध्याचलकी शोभाने मनुष्योंका मन हर लिया ॥२६॥ 'मार्गमें पीछे-पीछे जरासन्ध आ रहा है' यह सुनकर अत्यधिक उत्साहसे भरे हुए यादव लोग भी युद्धकी इच्छा करते हुए उसकी प्रतीक्षा करने लगे ॥२७॥ उन दोनोंकी सेनाओंमें थोड़ा अन्तर देखकर समय और भाग्यके नियोगसे अर्धभरत क्षेत्रमें निवास करनेवाली देवियोंने अपने दिव्य सामर्थ्यसे विक्रिया कर बहुत-सी चिताएँ रच दीं और शत्रुके लिए यह दिखा दिया कि यादव लोग अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त हैं ॥२८–२९॥ जरासन्धने, ज्वालाओंके समूहसे जिसका शरीर व्याप्त था ऐसी जलती हुई चतुरङ्ग सेनाको जहाँ-तहाँ देखा ॥३०॥ ज्वालाओंसे जब जरासन्धका मार्ग रुक गया तब उसने अपनी सेना वहीं ठहरा दी और बुढ़ियाका रूप धरकर रोती हुई एक देवीसे पूछा कि 'हे वृद्धे ! यह किसका विशाल कटक व्याकुल हो जल रहा है ? और तू यहाँ क्यों रो रही है ? सब ठीक-ठीक कह'। उस समय वृद्धाके नेत्र आँसुओंसे व्याप्त थे तथा उसका कण्ठ यद्यपि शोकसे रुँधा हुआ था तथापि जरासन्धके इस प्रकार पूछनेपर बड़ी कठिनाईसे शोकको रोककर वह कहने लगी ॥३१–३३॥

हे प्रतापी राजन् ! मैंने जो कुछ देखा है वह कहती हूँ क्योंकि यह एक साधारण बात है कि जो मनुष्य महापुरुषके लिए अपना दुःख निवेदन करता है वह बड़े-से-बड़े दुःखसे विमुक्त हो जाता है—छूट जाता है ॥३४॥ राजगृह नगरमें जरासन्ध नामका एक वह सत्यप्रतिज्ञ राजा है जो समुद्रान्त पृथिवीका शासन करता है ॥३५॥ जान पड़ता है कि उसकी प्रतापरूपी अग्निकी ज्वालाएँ शत्रुओंको शान्त करनेके लिए बड़वानलके छलसे समुद्रमें भी देदीप्यमान रहती हैं ॥३६॥ अपने अपराधोंकी बहुलतासे यादव लोग जरासन्धकी ओरसे सदा सशल्यहृदय रहते थे इसलिए उससे भयभीत हो प्राण बचानेके लिए कहीं भाग निकले। परन्तु समस्त पृथिवीमें जब उन्होंने कहीं किसीको शरण देनेवाला नहीं देखा तब वे अग्निमें प्रवेश कर मरणकी ही उत्तम शरणमें जा पहुँचे अर्थात् अग्निमें जलकर निःशल्य हो गये ॥३७–३८॥ मैं उन राजाओंकी वंशपरम्परासे चली आई दासी हूँ। मुझे अपना जीवन प्रिय था इसलिए मैं उनके साथ नहीं जल सकी परन्तु अपने स्वामीके कुमरणके दुःखसे दुःखी होकर रो रही हूँ

१. परीतास्तान् म० । २. चक्रिरे रये म०

यादवाः कौरवा भोजाः प्रजाः प्रकृतिभिः सह । अनुक्रमजरासन्धाः प्रलीना हुतभुङ्मुखे ॥४०॥
अहं तु दुःखसम्भारनिकषीकृतविग्रहा । सग्रहेव वियोगार्त्ता प्राणिमि प्राणवल्लभा ॥४१॥
श्रुत्वेति जरतीवाक्यं जरासन्धोऽतिविस्मितः । श्रद्दधान्धकवृष्णीनामन्वयान्तममन्यत ॥४२॥
द्राग् निवृत्य निजं स्थानं सोऽध्यास्य सह बान्धवैः । विपक्षेभ्यो जलं दत्वा कृतकृत्य इव स्थितः ॥४३॥
यदवोऽपि ययुः स्वेच्छमुपकण्ठमुदन्वतः । एलावनलतासङ्गसद्गन्धानिलवीजितम् ॥४४॥
अपरार्णवमासाद्य दूरदेशनिवेशनाः । यथास्वं ते नृपास्तस्थुः प्रजाः प्रकृतयस्तथा ॥४५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पार्ष्णिग्राहितयानुमार्गमघृणो क्रुद्धोऽतिनिर्बन्धतः
सन्धावन् परनाशमाशु कुपितः कर्तुं च मर्तुं स्वयम्
ज्वालारुद्धपथो न्यवर्तत रिपुर्यद्भव्यसर्वक्रिया-[1]
स्तज्जैनाः कथयन्ति तावदनयोः पुण्योदयः श्रूयताम् ॥४६॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनेसनाचार्यकृतौ हरिवंशयादवप्रस्थानवर्णनो नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

॥३९॥ जिनके पीछे जरासन्ध लगा हुआ था ऐसे यदुवंशी, कुरुवंशी तथा भोजवंशी राजाओंकी प्रजा अपने मन्त्री आदिके साथ अग्निके मुखमें प्रविष्ट हो चुकी है ॥४०॥ परन्तु मुझ अभागिनीको अपने प्राण प्यारे रहे इसलिए मेरा शरीर दुःखके भारका स्थान हो रहा है तथा उन सबके वियोगसे दुःखी हो मैं पिशाचसे ग्रस्तकी तरह साँसें भर रही हूँ—जी रही हूँ ॥४१॥

वृद्धाके इस प्रकार वचन सुनकर जरासन्ध बहुत विस्मित हुआ और उसके वचनोंका विश्वासकर अन्धकवृष्णियोंके वंशका नाश मानने लगा ॥४२॥ वह उसी समय अपने स्थान-पर वापिस लौट आया और वहाँ रहकर मृतक जनोंके लिए बन्धुजनोंके साथ जलाञ्जलि देकर कृतकृत्यकी तरह निश्चिन्ततासे रहने लगा ॥४३॥ उधर यादव लोग भी अपनी इच्छा-नुसार इलायचीके वनकी लताओंके समागमसे सुगन्धित वायुके द्वारा वीजित समुद्रके तटपर जा पहुँचे ॥४४॥ इस प्रकार पश्चिम समुद्रके पास आकर दूर देशमें ठहरे हुए वे सब राजा, प्रजा तथा मन्त्री आदि लोग यथायोग्य स्थानोंमें स्थित हो गये ॥४५॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो, अत्यन्त निर्दय और कुपित जरासन्ध अत्यधिक हठसे मार्गमें यादवोंके पीछे लगा और शत्रुका नाश करने तथा स्वयं मरनेके लिए शीघ्र दौड़ा परन्तु ज्वालाओंसे मार्ग रुक जानेके कारण चूँकि लौट आया इसलिए समस्त उत्तम क्रियाओंको करनेवाले जिनेन्द्र भक्त जन कहते हैं कि वह उन दोनोंका पुण्योदय ही श्रवण करने योग्य था। भावार्थ—अपने-अपने पुण्योदयसे ही दोनोंकी रक्षा हुई थी ॥४६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें हरिवंश और यादवोंके प्रस्थानका वर्णन करनेवाला चालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४०॥

---

१. क्रियस्त-ग० ।

एकचत्वारिंशः सर्गः

दिदृक्षया ततो याताः क्षत्रियाः क्षुब्धतोयधेः । ते दशार्हमहाभोजविष्णुनेमीश्वरादयः ॥१॥
ततः शीकरिणं मत्तमिव दिक्करिणं मुहुः । झषस्फुरणलीलेषदुन्मीलननिमीलनम् ॥२॥
महत्त्वस्पर्धयेवोर्ध्वमूर्मिदोर्मण्डलैश्चलैः । आस्फालयितुमाकाशमाशानुगत[1] मूर्जितम् ॥३॥
घूर्णमानमुदीर्णोग्रमकरग्राहविग्रहम् । [2]मकराकरमैक्षन्त मकरीकरिणीवृतम् ॥४॥
अलब्धपारमुद्युक्तैरप्यनुत्पन्नबुद्धिभिः । अतिगम्भीरतायोगादलङ्घितनिजस्थितिम् ॥५॥
तुङ्गभङ्गतरङ्गोद्यदङ्गपूर्णमहार्णसम् । पुराणमार्गसंपातनदीमुखमनोहरम् ॥६॥
अनर्घ्यात्ममहारत्नमुक्ताकरमनादिकम् । वैपुल्यस्वच्छतासङ्गादङ्गीकृतनभःश्रियम् ॥७॥

तदनन्तर समुद्रविजय आदि दशार्ह, महाभोज, वृष्णि, कृष्ण तथा नेमिजिनेन्द्र आदि क्षत्रिय लहराते हुए समुद्रको देखनेकी इच्छासे उसके समीप गये ॥ १ ॥ उस समय उस समुद्रमें जहाँ-तहाँ जलके छींटे बिखर रहे थे। उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो मदोन्मत्त दिग्गज ही हो और मछलियोंके बार-बार उछलने तथा नीचे आनेकी लीलासे ऐसा जान पड़ता था मानो नेत्रोंको कुछ-कुछ खोल रहा हो और बन्द कर रहा हो ॥२॥ वह समुद्र ऊँची उठती हुई अपनी चञ्चल तरङ्ग-रूपी भुजाओंके समूहसे ऐसा जान पड़ता था मानो विशाल आकाशसे ईर्ष्याकर समस्त दिशाओंसे युक्त आकाशका आस्फालन करनेके लिए ही उद्यत हुआ हो ॥३॥ जो लहरोंसे चारों ओर घूम रहा था, जिसके भीतर बड़े-बड़े भयंकर मगर-मच्छ उछल-कूद कर रहे थे, एवं जो मकरी-रूपी हस्तिनियोंसे घिरा हुआ था ऐसे समुद्रको उन सबने देखा ॥४॥ उस समय वह समुद्र, जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा निरूपित शास्त्र-रूपी सागरके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार बुद्धि-हीन मनुष्य उद्योग करनेपर भी जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागरका पार प्राप्त नहीं कर पाते हैं उसी प्रकार बुद्धिहीन (नौकानिर्माण आदिकी बुद्धिसे रहित) मनुष्य उद्यम करने पर भी उस समुद्रका पार नहीं प्राप्त कर पा रहे थे। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्र-रूपी सागरकी अपनी स्थिति, अत्यन्त गम्भीरताके योगसे अलङ्घित है अर्थात् उसका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है उसी प्रकार उस समुद्रकी अपनी स्थिति भी अत्यधिक गम्भीरता—गहराईके योगसे अलङ्घित थी अर्थात् उसे लाँघकर कोई नहीं जा सकता था। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर, उत्कृष्ट भङ्गरूपी तरङ्गोंसे युक्त अङ्ग—द्वादशाङ्गरूपी महाजलसे युक्त है उसी प्रकार वह समुद्र भी ज्वारभाटा, तरङ्ग तथा फेन आदि उठते हुए अङ्गोंसे पूर्ण महाजलसे युक्त था। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर पुराणोंमें निरूपित नाना मार्गोंके समूहरूपी नदियोंके अग्रभागसे मनोहर है उसी प्रकार वह समुद्र भी पुराण—जीर्ण-शीर्ण मार्गको बहाकर लानेवाले नदियोंके अग्रभागसे मनोहर था अर्थात् उसमें अनेक नदियाँ आकर मिल रही थीं। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर सर्व-श्रेष्ठ आत्मद्रव्य, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी महारत्न तथा मुक्त जीव रूपी मुक्ताफलोंका आकर-खान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमूल्य-श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त बड़े-बड़े रत्न तथा मुक्ताफलोंका आकर—खान था। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर अनादिक है—अर्थ

---

१. वर्जितम् क० । २. मकराकार म० ।

आत्मान्तःस्थापितानन्तजीवरक्षादृढव्रतम् । अलङ्घितपदं सर्वैर्वादिभिर्विजिगीषुभिः ॥८॥
¹निरस्यन्तमनन्तानुबन्धितापमुपाश्रिताम् । मुखेन स्पर्शनेनापि स्वावगाहेन किं पुनः ॥९॥
निशम्यार्णवमुद्वीर्णमिव शास्त्रार्णवं जिनैः । पिप्रिये राजकं राजदाकीर्णकुसुमाञ्जलिः ॥१०॥
नेमिनाथागमोद्भूतसम्मदेनेव भूरिणा । नृत्यन्निवोर्मिदोर्वल्लिर्वल्गी शङ्खस्वनोद्धुरः ॥११॥
प्रवालमौक्तिकैरर्घ्यं स्वतरङ्गकरैः किरन् । स्वागतं व्याजहारेव हरये मुखरोम्बुधिः ॥१२॥
युगप्रधानमम्भोधिर्बलं वीक्ष्य झषेक्षणः । अम्भःस्थलैः समुच्छलद्भिरभ्युत्तिष्ठन्निवाबभौ ॥१३॥
समुद्रविजयाक्षोभ्यभोजादिविषयां मुदम् । आविष्कुर्वन्निवाभात्स्वां समुद्रः फेनमण्डलैः ॥१४॥

सामान्यकी दृष्टिसे अनादि है उसी प्रकार वह समुद्र भी *अनादिक—असदृश जलसे युक्त है। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर विशालता और निर्दोषताके संयोगसे आकाशकी लक्ष्मीको स्वीकृत करता है—आकाशके समान जान पड़ता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अपने विस्तार और स्वच्छताके कारण आकाशकी लक्ष्मीको स्वीकृत कर रहा था। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर अपने भीतर अनन्त जीवोंकी रक्षा रूप दृढ व्रतको धारण करता है अर्थात् अनन्त जीवोंकी रक्षा रूप सुदृढ़ व्रतको धारण करनेका उपदेश देता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अपने भीतर रहनेवाले अनन्त जीवोंकी रक्षा रूप दृढ व्रतको धारण करता था—अपने भीतर रहनेवाले अनन्त जीवोंकी रक्षा करता था। जिस प्रकार जिनेन्द्र-निरूपित शास्त्ररूपी सागर, विजयकी इच्छा रखनेवाले समस्त वादियोंके द्वारा अलङ्घित पद है अर्थात् समस्त वादी उससे एक पदका भी खण्डन नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार वह समुद्र भी बक-झक करनेवाले समस्त विजयाभिलाषी लोगोंके द्वारा अलङ्घित पद था अर्थात् उसके एक स्थानका भी कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता था। जिस प्रकार जिनेन्द्रनिरूपित शास्त्ररूपी सागर अपने मुख अथवा स्पर्शसे ही शरणागत मनुष्योंके अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी संतापको दूर करता है फिर अपने अवगाहन, मनन, चिन्तन आदिके द्वारा तो कहना ही क्या है? उसी प्रकार वह समुद्र भी अपने अग्रभाग अथवा स्पर्शसे ही समीपमें आये हुए मनुष्योंके अगणित एवं सन्ततिबद्ध संतापको दूर करता था फिर अपने अवगाहनकी तो बात ही क्या थी? इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा निरूपित शास्त्र-रूपी सागरके समान उस समुद्रको देखकर वह राजाओंका समूह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उस समय वह समुद्र बिखरी हुई पुष्पाञ्जलियोंसे सुशोभित हो रहा था, तरङ्गोंसे लहरा रहा था और शङ्खोंके शब्दसे व्याप्त था। इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो भगवान् नेमिनाथके आगमनसे उत्पन्न अत्यधिक हर्षसे ही उसने पुष्पाञ्जलियाँ बिखेरी हों, तरङ्गरूपी भुजाओंको ऊपर उठाकर वह नृत्य कर रहा हो और शङ्खध्वनिके बहाने हर्षध्वनि कर रहा हो ॥५-११॥ वह अपने तरङ्गरूपी हाथोंके द्वारा मूंगा और मोतियोंका अर्घ्य बिखेर रहा था तथा गर्जनासे मुखर होनेके कारण मानो कृष्णके लिए स्वागत शब्दका उच्चारण ही कर रहा हो ॥१२॥ उस समुद्रमें मछलियाँ उछल रही थीं उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वह मछलियाँ रूपी नेत्रोंसे युगके प्रधान श्री बलदेवको देखकर उछलते हुए जलसे उठकर उनका सत्कार ही कर रहा हो ॥१३॥ समुद्रमें जो फेनोंके समूह उठ रहे थे उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्र-विजय, अक्षोभ्य तथा भोजक वृष्णि आदि राजाओंको देख उनके निमित्तसे होनेवाले अपने हर्षको ही प्रकट कर रहा हो ॥१४॥

---

१. -मुपाश्रितम् म०।

*. न विद्यते आदिः सदृशो यस्य तत् अनादि, तथाभूतं कं जलं यस्मिन् सः अनादिकः तम्।

ततस्तिथौ प्रशस्तायां कृतमङ्गलसन्निधिः । कृष्णः स्थानेप्सया चक्रे सबलोऽष्टमभक्तकम् ॥१५॥
दर्भशय्याश्रिते तस्मिन् कृतपञ्चगुरुस्तवे । नियमस्थितया धीरे समुद्रस्य तटे स्थिते ॥१६॥
गौतमाख्यः सुरो वार्धिं सौधर्मेन्द्रनिदेशतः । व्यवर्तयद्दरं शक्तः कृतकालान्तरस्थितिम् ॥१७॥
वासुदेवस्य पुण्येन भक्त्या तीर्थंकरस्य च । सद्यो द्वारवतीं चक्रे कुबेरः परमां पुरीम् ॥१८॥
नगरी द्वादशायामा नवयोजनविस्तृतिः । वज्रप्राकारवलया समुद्रपरिखावृता ॥१९॥
रत्नकाञ्चननिर्माणैः प्रासादैर्बहुभूमिकैः । रुन्धाना गगनं रेजे साऽलकेव दिवश्च्युता ॥२०॥
वापीपुष्करिणीदीर्घदीर्घिकासरसीह्रदैः । पद्मोत्पलादिसञ्छन्नैरक्षया स्वादुवारिभिः ॥२१॥
भास्वत्कल्पलतारूढकल्पवृक्षोपशोभितैः । नागवल्लीलवङ्गादिपूगादीनां च सद्वनैः ॥२२॥
प्रासादाः सङ्गतास्तस्यां हेमप्राकारगोपुराः । सर्वत्र सुखदा रेजुर्विचित्रमणिकुट्टिमाः ॥२३॥
रथ्याभिरभिरा[1]मान्तःप्रपाभिश्च सदादिभिः । राज्ञां सर्वप्रजानां च वासयोग्या व्यराजत ॥२४॥
सर्वरत्नमयैस्तुङ्गैर्जिनेन्द्रभवनैरसौ । प्राकारतोरणोपेतै रेजे सोपवनैः पुरी ॥२५॥
आग्नेयादिषु मध्येऽस्या दिक्षु प्रासादपङ्क्तयः । समुद्रविजयादीनां दशानां क्रमतो बभुः ॥२६॥
तन्मध्ये सर्वतोभद्रः कल्पवृक्षलतावृतः । प्रासादः केशवस्याभादष्टादशभूमिकः ॥२७॥
अन्तःपुरसुतादीनां योग्याः प्रासादमालिकाः । शौरिसौधमुपाश्रित्य परितोऽतिबभासिरे ॥२८॥

तदनन्तर किसी प्रशस्त तिथिमें मङ्गलाचारकी विधिको जाननेवाले कृष्णने अपने बड़े भाई बलदेवके साथ स्थान प्राप्त करनेकी अभिलाषासे अष्टमभक्त अर्थात् तीन दिनका उपवास किया ॥१५॥ तत्पश्चात् पञ्चपरमेष्ठियोंका स्तवन करनेवाले धीर-वीर कृष्ण, जब समुद्रके तटपर नियमोंमें स्थित होनेके कारण डाभकी शय्यापर उपस्थित थे तब सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे गोतम नामक शक्तिशाली देवने आकर समुद्रको शीघ्र ही दूर हटा दिया। वह समुद्र वहाँ कालान्तरसे आकर स्थित हो गया था ॥१६–१७॥ तदनन्तर श्रीकृष्णके पुण्य और श्री नेमिनाथ तीर्थंकरकी सातिशय भक्तिसे कुबेरने वहाँ शीघ्र ही द्वारिका नामकी उत्तम पुरीकी रचना कर दी ॥१८॥ वह नगरी बारह योजन लम्बी, नौ योजन चौड़ी, वज्रमय कोटके घेरासे युक्त तथा समुद्ररूपी परिखासे घिरी हुई थी ॥१९॥ रत्न और स्वर्णसे निर्मित अनेक खण्डोंके बड़े-बड़े महलोंसे आकाशको रोकती हुई वह द्वारिकापुरी आकाशसे च्युत अलकापुरीके समान सुशोभित हो रही थी ॥२०॥ कमल तथा नीलोत्पलों आदिसे आच्छादित, स्वादिष्ट जल से युक्त वापी, पुष्करिणी, बड़ी-बड़ी वापिकाएँ, सरोवर और ह्रदोंसे युक्त थी ॥२१॥ देदीप्यमान कल्पलताओंसे आलिङ्गित कल्पवृक्षोंके समान सुशोभित पान-लौंग तथा सुपारी आदिके उत्तमोत्तम वनोंसे सहित थी ॥२२॥ वहाँ सुवर्णमय प्राकार और गोपुरोंसे युक्त बड़े-बड़े महल विद्यमान थे तथा सभी स्थानोंपर सुख देने वाले रङ्ग-बिरङ्गे मणिमय फर्स शोभायमान थे ॥२३॥ जिनके बीच-बीचमें प्याऊ तथा सदावर्त आदिका प्रबन्ध था ऐसी लम्बी-चौड़ी सड़कोंसे वह नगरी बहुत सुन्दर जान पड़ती थी तथा वह राजाओं और समस्त प्रजाके निवासके योग्य सुशोभित थी ॥२४॥ सब प्रकारके रत्नोंसे निर्मित प्राकार और तोरणोंसे युक्त एवं बाग-बगीचोंसे सहित ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरोंसे वह नगरी अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥२५॥ इस नगरीके बीचों-बीच आग्नेय आदि दिशाओंमें समुद्रविजय आदि दशों भाइयोंके क्रमसे महल सुशोभित हो रहे थे ॥२६॥ उन सब महलोंके बीचमें कल्पवृक्ष और लताओंसे आवृत, अठारह खण्डोंसे युक्त श्री कृष्णका सर्वतोभद्र नामका महल सुशोभित हो रहा था ॥२७॥ अन्तःपुर तथा पुत्र आदिके योग्य महलोंकी पंक्तियाँ श्रीकृष्णके भवनका

१. –रभिरामाभिः क० ।

स्वान्तःपुरगृहालीभिः प्रासादः परिवारितः । शुशुभे बलदेवस्य वाप्युद्यानादिभूषितः ॥२९॥
तस्यालयपुरः शक्रसभामण्डपसंनिभः । श्रीसभामण्डपोऽभासीन्मार्तण्डकरखण्डनः ॥३०॥
उग्रसेनादिभूपानां योग्या भवनकोटयः । [1]साष्टक्षान्तरास्तत्र सर्वेषामपि रेजिरे ॥३१॥
अवाक्यवर्णनां दिव्यां बहुद्वारवतीं पुरीम् । निर्माय वासुदेवाय [2]राजराजो न्यवेदयत् ॥३२॥
किरीटं वरहारं च कौस्तुभं पीतवाससी । भूषानक्षत्रमालादि वस्तु लोके सुदुर्लभम् ॥३३॥
गदां कुमुद्वतीं शक्तिं खड्गं नन्दकसंज्ञकम् । शार्ङ्गं धनुश्च तूणीरयुग्मं वज्रमयान् शरान् ॥३४॥
सर्वायुधयुतं दिव्यं रथं सगरुडध्वजम् । चामराणि सितच्छत्रं हरये धनदो ददौ ॥३५॥
मेचकं वस्त्रयुगलं मालां च मुकुटं गदाम् । लाङ्गलं मुसलं चापं सशरं शरधिद्वयम् ॥३६॥
रथं दिव्यास्त्रसंपूर्णमुच्चैस्तालध्वजोर्जितम् । कुबेरः कामपालाय[3] ददौ छत्रादिभिः सह ॥३७॥
भ्रातरोऽपि दशार्हास्ते वस्त्राभरणपूर्वकैः । सम्प्राप्तपूजनास्तेन भोजाद्याश्च नृपाः कृताः ॥३८॥
तीर्थकृत्पुनरभ्यूचैर्वयोयोग्यैः सुवस्तुभिः । प्राज्यैः पूजनमेवासौ किं तत्र बहुवर्णनैः ॥३९॥
प्रविशन्तु पुरीं सर्वे भवन्त इति रैपतिः[4] । तानुक्त्वा पूर्णभद्रं च सन्दिश्यान्तर्हितः क्षणात् ॥४०॥
ततो यादवसङ्घास्तावभिषिच्याम्बुधेस्तटे । जयशब्देन संघुष्य हृष्टा हलगदाधरौ ॥४१॥
विविशुर्द्वारिकां भूत्या चतुरङ्गबलान्विताः । सप्रजाः कृतपुण्यास्ते प्राप्तां दिवमिव स्वयम् ॥४२॥
पूर्णभद्रोपदिष्टेषु भद्रेषु भवनेष्वमी । [5]यथायथं सुखं तस्थुः प्रजाश्च निजसंस्थया ॥४३॥

आश्रय कर चारों ओर सुशोभित हो रही थीं ॥२८॥ अन्तःपुरके घरोंकी पंक्तियोंसे घिरा एवं वापिका तथा बगीचा आदिसे विभूषित बलदेवका भवन सुशोभित हो रहा था ॥२९॥ बलदेव के महलके आगे एक सभामण्डप सुशोभित था जो इन्द्रके सभामण्डपके समान था और अपनी दीप्तिसे सूर्यकी किरणोंका खण्डन करनेवाला था ॥३०॥ उस नगरीमें उग्रसेन आदि सभी राजाओंके योग्य महलोंकी पंक्तियाँ सुशोभित थीं जो आठ-आठ खण्डकी थीं ॥३१॥ जिसका वर्णन करना शक्य नहीं था तथा जो अनेक द्वारोंसे युक्त थी ऐसी सुन्दर नगरीकी रचना कर कुबेरने श्रीकृष्णसे निवेदन किया अर्थात् नगरी रची जानेकी सूचना श्रीकृष्णको दी ॥३२॥ उसी समय कुबेरने श्रीकृष्णके लिए मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभमणि, दो पीत-वस्त्र, लोकमें अत्यन्त दुर्लभ नक्षत्रमाला आदि आभूषण, कुमुद्वती नामकी गदा, शक्ति, नन्दक नाम का खड्ग, शार्ङ्ग नामका धनुष, दो तरकश, वज्रमय बाण, सब प्रकारके शस्त्रोंसे युक्त एवं गरुड की ध्वजासे युक्त दिव्य रथ, चमर और श्वेत छत्र प्रदान किये ॥३३–३५॥ साथ ही बलदेवके लिए दो नील-वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मुसल, धनुष-बाणोंसे युक्त दो तरकश, दिव्य अस्त्रोंसे परिपूर्ण एवं तालकी ऊँची ध्वजासे सबल रथ और छत्र आदि दिये ॥३६–३७॥ समुद्र-विजय आदि दसों भाई तथा भोज आदि राजाओंका भी कुबेरने वस्त्र, आभरण आदिके द्वारा खूब सत्कार किया ॥३८॥ श्री नेमिनाथ तीर्थंकर अपनी अवस्थाके योग्य उत्तमोत्तम वस्तुओंके द्वारा पूजाको प्राप्त हुए ही थे। इस विषयका अधिक वर्णन करनेसे क्या प्रयोजन है ? ॥३९॥ 'आप सब लोग नगरीमें प्रवेश करें' इस प्रकार सबसे कहकर और पूर्णभद्र नामक यक्षको संदेश देकर कुबेर क्षणभरमें अन्तर्हित हो गया ॥४०॥

तदनन्तर यादवोंके संघने समुद्रके तटपर श्रीकृष्ण और बलदेवका अभिषेक कर हर्षित हो उनकी जयजयकार घोषित की ॥४१॥ तत्पश्चात् जिन्होंने पुण्यका संचय किया था ऐसे श्रीकृष्ण आदिने चतुरङ्ग सेना और समस्त प्रजाके साथ, प्राप्त हुए स्वर्गके समान उस द्वारिकापुरीमें बड़े वैभवसे प्रवेश किया ॥४२॥ पूर्णभद्र यक्षके द्वारा बतलाये हुए मङ्गलमय भवनोंमें प्रजाके सब लोग अपने परिवारके साथ यथायोग्य सुखसे ठहर गये ॥४३॥

१. अष्टक्षणाः (ग० टि०) । २. कुबेरः । ३. बलभद्राय । ४. कुबेरः । ५. यथा स्वेच्छं म० ।

माथुराः सौर्यजा[1] [2]वीर्यपुरपौराः पुरा यथा । यथास्वं [3]कृतसंकेतसंनिवेशा ययुर्धृतिम् ॥४४॥
पुर्यामर्धचतुर्थानि दिनानि धनदाज्ञया । यक्षा ववृषुरक्षीणधनधान्यादि धामसु ॥४५॥
तत्र स्थितस्य कृष्णस्य प्रतापेन वशीकृताः । अपरान्तिकभूपालाः शासनं प्रतिपेदिरे ॥४६॥
बहुराजसहस्राणां तनयाः स सहस्रशः । परिणीय ततो रेमे यथेष्टं द्वारिकापतिः ॥४७॥
तत्र नेमिकुमारोऽपि कुमार इव चन्द्रमाः । संवर्धते स्म निःशेषकलानिलयविग्रहः ॥४८॥
दशार्हवदनाम्भोजविकासकरणोदयः । बालभानुर्बभासेऽसौ ज्योतिर्धूततमस्तरः ॥४९॥
रामदामोदरानन्दं प्रत्यहं प्रतिवर्धयन् । चकार क्रीडितं बाल्ये पौरनेत्रमनोहरम् ॥५०॥
समस्तयदुपत्नीनां करात्करमितस्ततः । अलंकुर्वन्नलंरूपी स ययौ यौवनोदयम् ॥५१॥
प्रव्यक्तलक्षणे तत्र यूनि श्यामाम्बुजेक्षणे । विश्रान्तदृष्टिमन्यत्र नेतुं शेकुर्न योषितः ॥५२॥
जिनरूपशरो दूराज्जगतो हृदयस्थलीम् । बिभेद न पुनर्जैनीं पररूपशरायतिः ॥५३॥
नोपमा जिनरूपस्य नोपमेयं क्षितौ यतः । उपमानोपमेयार्थं खिद्यते स्म हरिस्ततः ॥५४॥
स्वान्तरङ्गजनैर्जातु क्रियमाणासु केलिषु । स्वविवाहकथास्वीशः स्मेरास्यो लज्जते स्वयम् ॥५५॥
बोधत्रयाम्बुनिर्धूतमोहनीयकलङ्कजम् । न तस्य भूतिधूलीभिर्धूसरीकृतमान्तरम् ॥५६॥

मथुरा, सूर्यपुर और वीर्यपुरके निवासी लोग अपने-अपने मोहल्लोंके पूर्व जैसे ही नाम रख कर यथा योग्य संतोषको प्राप्त हुए ॥४४॥ कुबेरकी आज्ञासे यक्षोंने इस नगरीके समस्त भवनोंमें साढ़े तीन दिन तक अटूट धन-धान्यादिकी वर्षा की थी ॥४५॥ जब श्रीकृष्ण वहाँ रहने लगे तब उनके प्रतापसे वशीभूत हो पश्चिमके राजा उनकी आज्ञा मानने लगे ॥४६॥ तदनन्तर द्वारिकापुरीके स्वामी श्रीकृष्ण अनेक राजाओंकी हजारों कन्याओंके साथ विवाह कर वहाँ इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे ॥४७॥

जिनका शरीर समस्त कलाओंका स्थान था ऐसे नेमिकुमार भी वहाँ बालचन्द्रमाके समान दिनों-दिन बढ़ने लगे ॥४८॥ जिनका उदय यादवोंके मुख-कमलको विकसित करने वाला था, एवं जिन्होंने अपनी ज्योतिसे अन्धकारके समूहको नष्ट कर दिया ऐसे नेमिकुमार रूपी बालसूर्य अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥४९॥ प्रतिदिन बलभद्र और श्रीकृष्णके आनन्दको बढ़ाते हुए नेमिकुमार बाल्य अवस्थामें नगरनिवासी लोगोंके नेत्र और मनको हरण करनेवाली क्रीड़ा करते थे ॥५०॥ अतिशय रूपके धारक भगवान् नेमिनाथ जहाँ-तहाँ समस्त यादवोंकी स्त्रियोंके एक हाथसे दूसरे हाथको सुशोभित करते हुए यौवन अवस्थाको प्राप्त हुए ॥५१॥ जिनके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण प्रकट थे, तथा जिनके नेत्र नील कमलके समान थे ऐसे युवा नेमिकुमारपर लगी दृष्टिको स्त्रियाँ दूसरी जगह ले जानेमें समर्थ न हो सकीं ॥५२॥ भगवान्के रूपरूपी बाणने दूरसे ही जगत्के जीवोंकी हृदयस्थलीको भेद दिया था परन्तु उनकी हृदयस्थलीको दूसरोंका रूपरूपी बाणोंका समूह नहीं भेद सका था। भावार्थ— यौवन प्रकट होनेपर भी भगवान्के हृदयमें कामकी बाधा उत्पन्न नहीं हुई थी ॥५३॥ चूँकि पृथिवीतलपर भगवान्के रूपकी न उपमा थी और न उपमेय ही था इसलिए भगवान्के रूपके विषयमें उपमान और उपमेयके लिए इन्द्रको खेदखिन्न होना पड़ा ॥५४॥ क्रीड़ाओंके समय अपने कुटुम्बी जनोंके द्वारा अपने विवाहकी चर्चा की जानेपर नेमिजिनेन्द्र मन्द-मन्द मुसकराते हुए स्वयं लज्जित हो उठते थे ॥५५॥ तीन ज्ञान रूपी जलके द्वारा जिसके भीतरका मोहरूपी कलङ्क धुल गया था ऐसा भगवान्का अन्तःकरण वैभवरूपी धूलिसे धूसर नहीं हुआ ॥५६॥

---

१. सौरजा म०, ग० । २. वीरपुर म०, ग० । ३. पूर्वपूर्वस्वनाम्ना (ग० टि०) ।

शालिनीछन्दः

[1]जैनै[2]र्वार्ष्णेयै[3]र्वैष्णवै[4]र्बालभद्रैश्चन्द्रालोकप्राकटैः सद्गुणौघैः ।
[5]स्पृष्टात्यर्थं हृष्टलोकोर्मिरामा द्वेलेवाब्धेर्द्वारिका द्वारकान्ता[6] ॥५७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ द्वारवतीनिवेशवर्णनो नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥४१॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि जो नेमिजिनेन्द्र, भोजक वृष्णि, कृष्ण और बलभद्रके उत्तम गुणोंके समूहरूपी प्रकट चाँदनीसे स्पृष्ट थी, जिसमें हर्षसे भरे लोग तरङ्गोंके समान उछल रहे थे तथा जो द्वारोंसे सुन्दर थी ऐसी द्वारिकापुरी समुद्रकी वेलाके समान अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥ ५७ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें द्वारिकापुरीका वर्णन करनेवाला इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४१ ॥

---

१. नेमिजिनसम्बन्धिभिः । २. वृष्णीनामिमे वार्ष्णास्तैः । ३. विष्णोरिमे वैष्णवास्तैः श्रीकृष्णसम्बन्धिभिः । ४. बलभद्रस्येमे बालभद्रास्तैः । ५. स्पष्टात्यर्थं म० । ६. द्वारैः कान्ता मनोहरा ।

द्वाचत्वारिंशः सर्गः

अथ सभ्यसमाकीर्णामन्यदा यादवीं सभाम् । आजगाम नभोगामी नारदो नभसो मुनिः ॥१॥
आपिशङ्गजटाभारश्मश्रुकूर्चः शशिद्युतिः । विद्युद्वलयविद्योतिशारदाम्बुधरोपमः ॥२॥
विचित्रवर्णविस्तीर्णयोगपट्टविभूषितः । परिवेषवतो बिभ्रदौषधीशस्य विभ्रमम् ॥३॥
[1]चलद्दुकूलकौपीनपरिधानपरिच्युतः । दिवोऽनुग्रहबुद्ध्येव जगतः कल्पपादपः ॥४॥
देहस्थितेन शुद्धेन त्रिगुणेनोज्ज्वलीकृतः । यज्ञोपवीतसूत्रेण स रत्नत्रितयेन वा ॥५॥
असाधारणरूपेण गौरवाधानहेतुना । नैष्ठिकब्रह्मचर्येण पाण्डित्येनेव मण्डितः ॥६॥
शुद्धप्रकृतिरत्यन्तमरिषड्वर्गवर्जितः । राज्योदय इवोदारो राजलोकस्य पूजितः ॥७॥
द्वारिकाविभवालोकस्वशिरःकम्पविग्रहम् । तेऽवतीर्णं तमालोक्य सहसोत्थाय पार्थिवाः[2] ॥८॥
नमस्यासनदानादि सोपचारेण सक्रमम् । पूजयन्ति स्म सन्मानमात्रेण परितोषिणम् ॥९॥
जिनकृष्णबलालोकसंभाषणसुखामृतम् । पीत्वाप्यतृप्तनेत्रस्तमध्यतिष्ठत्सभार्णवम् ॥१०॥
पूर्वापरविदेहानां जिनेन्द्राणां कथामृतैः । समेरुवन्दनोदन्तैर्मनोऽमीषामतर्पयत् ॥११॥

अथानन्तर किसी समय आकाशमें गमन करनेवाले नारद मुनि आकाशसे उतर कर सभासदोंसे भरी हुई यादवोंकी सभामें आये ॥१॥ उन नारदजीकी जटाएँ दाढ़ी और मूँछ कुछ-कुछ पीले रङ्गकी थीं तथा वे स्वयं चन्द्रमाके समान शुक्ल कान्तिके धारक थे इसलिए बिजलियोंके समूहसे सुशोभित शरद् ऋतुके मेघके समान जान पड़ते थे ॥२॥ वे रङ्ग-विरङ्गे एक विस्तृत योगपट्टसे विभूषित थे इसलिए परिवेष (मण्डल) से युक्त चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥३॥ उनका कौपीन और चद्दर हवासे मन्द-मन्द हिल रहा था इसलिए वे उनसे ऐसे जान पड़ते थे मानो जगत्‌का उपकार करनेकी इच्छासे आकाशसे कल्प वृक्ष ही नीचे आ गिरा हो ॥४॥ वे अपने शरीरपर स्थित तीन लरके उस शुद्ध यज्ञोपवीत सूत्रसे अत्यन्त उज्ज्वल थे जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन गुणोंके समान जान पड़ता था ॥५॥ वे जिस प्रकार असाधारण पाण्डित्यसे सुशोभित थे उसी प्रकार गौरवकी उत्पत्तिके असाधारण कारण रूप नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे सुशोभित थे ॥६॥ वे राजाओंके उत्कृष्ट राज्योदयके समान समस्त राजाओंके पूजनीय थे क्योंकि जिस प्रकार राज्योदय शुद्धप्रकृति अर्थात् भ्रष्टाचार-रहित मन्त्री आदि प्रकृतिसे सहित होता है उसी प्रकार नारद भी शुद्धप्रकृति अर्थात् निर्दोष स्वभावके धारक थे और राज्योदय जिस प्रकार शत्रुओंके षड्वर्गसे रहित होता है उसी प्रकार नारद भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओंसे रहित थे ॥७॥ द्वारिकाका वैभव देख, आश्चर्यसे जिनका शिर तथा शरीर कंपित हो रहा था ऐसे नारदजीको आकाशसे नीचे उतरते देख सब राजा लोग सहसा उठ कर खड़े हो गये ॥८॥ सम्मान मात्रसे संतुष्ट हो जाने वाले नारदजीको सबने नमस्कार तथा आसन-दान आदि उपचारोंसे क्रमपूर्वक सम्मान किया ॥९॥ श्रीनेमि जिनेन्द्र, कृष्ण नारायण और बलभद्रके दर्शन तथा संभाषणसे उत्पन्न सुखरूपी अमृतका पान करके भी जिनके नेत्र तृप्त नहीं हुए थे ऐसे नारद मुनि सभा रूप सागरके मध्यमें अधिष्ठित हुए—विराजमान हुए ॥ ९-१० ॥ तत्पश्चात् नारदने

---

१. चलद्दुकूलकौपीनपरिधानपरिच्युतः ग०, घ०, ङ०, म० । २. पार्थिवः म० ।

प्रस्तावेऽत्र गणिज्येष्ठं श्रेणिकोऽपृच्छदित्यसौ । क एष नारदो नाथ ! कुतो वाऽस्य समुद्भवः ॥१२॥
गणभृदुवाच वचो गम्यः शृणु श्रेणिक भण्यते । उत्पत्तिरन्त्यदेहस्य[1] नारदस्य स्थितिस्तथा ॥१३॥
आसीत्सौर्यपुरस्यान्ते दक्षिणे तापसाश्रमः । वसन्ति तापसास्तस्मिन् फलमूलादिवृत्तयः ॥१४॥
सुमित्रस्तापसस्तत्र स सोमयशसि स्त्रियाम् । उञ्छवृत्तिः शशिच्छायं पुत्रमेकमजीजनत् ॥१५॥
तमुत्तानशयं यावत्तौ संस्थाप्य तरोरधः । उञ्छवृत्त्यर्थमायातौ नगरं क्षुत्पिपासितौ ॥१६॥
संक्रीडमानमेकान्ते तावत्तं जृम्भकामराः । दृष्ट्वा पूर्वभवस्नेहान्नीत्वा वैताढ्यपर्वतम् ॥१७॥
मणिकाञ्चनसंज्ञायां गुहायां तत्र तं शिशुम् । कल्पवृक्षसमुद्भूतैर्दिव्याहारैरवर्द्धयन् ॥१८॥
स्वेष्टाय तेऽष्टवर्षाय सरहस्यं जिनागमम् । देवास्तस्मै ददुस्तुष्टा विद्यां चाकाशगामिनीम् ॥१९॥
नारदो बहुविद्योऽसौ नानाशास्त्रविशारदः । संयमासंयमं लेभे साधुः साधुनिषेवया ॥२०॥
कन्दर्पस्य विजेतापि कन्दर्पनिभविभ्रमः । [2]सकन्दर्पप्रियो हासलोलोऽभूल्लोभवर्जितः ॥२१॥
अन्त्यदेहः प्रकृत्यैव निःकषायोऽप्यसौ क्षितौ । रणप्रेक्षाप्रियः प्रायो जातो जल्पाक[3]भास्करः ॥२२॥
जिनजन्माभिषेकादिमहातिशयदर्शने । कुतूहलितया लोकं परिभ्रमति विभ्रमी ॥२३॥

पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न तीर्थङ्करोंकी कथा रूप अमृतसे तथा मेरु पर्वतकी वन्दनाके समाचारोंसे उन सबके मनको सन्तुष्ट किया ॥११॥

इसी अवसरमें राजा श्रेणिकने गौतम गणधरसे पूछा कि हे नाथ ! यह नारद कौन है ? और इसकी उत्पत्ति किससे हुई है ? इसके उत्तरमें पूज्य गणधर देव कहने लगे कि हे श्रेणिक ! चरमशरीरी नारदकी उत्पत्ति तथा स्थिति कहता हूँ सो श्रवण कर ॥१२–१३॥

सौर्यपुरके पास दक्षिण दिशामें एक तापसोंका आश्रम था उसमें फल-मूल आदिका भोजन करनेवाले अनेक तापस रहते थे ॥ १४ ॥ वहाँ उञ्छ वृत्तिसे आजीविका करनेवाले एक सुमित्र नामक तापसने अपनी सोमयशा नामक स्त्रीमें चन्द्रमाके समान कान्तिवाला एक पुत्र उत्पन्न किया ॥१५॥ भूख और प्याससे पीड़ित सुमित्र और सोमयशा, दोनों दम्पती चित्त सोनेवाले उस बच्चेको एक वृक्षके नीचे रखकर उञ्छ वृत्तिके लिए जब तक नगरमें आये तब तक एकान्तमें क्रीड़ा करते हुए उस बालकको देखकर जृम्भक नामक देव पूर्वभवके स्नेहसे उठाकर वैताढ्यपर्वतपर ले गये। वहाँ उन्होंने मणिकाञ्चन नामक गुहामें उस बालकको रखकर कल्प वृक्षोंसे उत्पन्न दिव्य आहारसे उसका पालन-पोषण किया ॥१६–१८॥ वह बालक देवोंको बहुत ही इष्ट था इसलिए जब वह आठ वर्षका हुआ तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर उसे रहस्यसहित जिनागम और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की ॥१९॥ वही नारदके नामसे प्रसिद्ध हुआ। नारद अनेक विद्याओंका ज्ञाता तथा नाना शास्त्रोंमें निपुण था। वह साधुके वेषमें रहता था तथा साधुओंकी सेवासे उसने संयमासंयम—देशव्रत प्राप्त किया था। वह कामको जीतनेवाला होकर भी कामके समान विभ्रमको धारण करता था, कामी मनुष्योंको प्रिय था, हास्य रूप स्वभावसे युक्त था, लोभसे रहित था, चरमशरीरी था, यद्यपि स्वभावसे ही निष्कषाय था तथापि पृथ्वीमें युद्ध देखना उसे बहुत प्रिय था, अधिकतर वह अधिक बोलनेवालोंमें शिरोमणि था, और जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्माभिषेक आदि महान् अतिशयोंके देखनेका कुतूहली होनेसे विभ्रमपूर्वक लोकमें परिभ्रमण करता रहता था ॥ २०–२३ ॥

---

१. चरमशरीरस्य (ग० टि०, म० टि०) । नारदस्य चरमशरीरत्वमाम्नायविरुद्धमस्ति अतः 'अन्त्यदेहस्य' स्थाने 'अत्यदेहस्य' इति पाठो योजनीयः । न विद्यते देहो यस्य सोऽदेहः कामः, तमतिक्रान्त इत्यदेहस्तस्य, कामबाधारहितस्येति तदर्थः। एवं २२ तमे श्लोकेऽपि 'अन्त्यदेहः' इत्यस्य स्थाने 'अत्यदेहः' इति पाठो योजनीयः (प० ला०)। २. कन्दर्पेण सह वर्तन्ते इति सकन्दर्पास्तेषां प्रियः (ग० टि०) । ३. वाचालभानुः (ग० टि०) ।

स एव नारदो राजन् परिपृच्छ्य यदूत्तमान्। केशवान्तःपुरं द्रष्टुं प्रविष्टोऽन्तःपुरालयम् ॥२४॥
तत्र विष्णोर्महादेवीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्। कृतप्रसाधनां साध्वीं करस्थे मणिदर्पणे ॥२५॥
प्रेक्षमाणां निजं रूपं सत्यभामां विदूरतः। ददर्श नारदः साक्षाद् दृष्टेरतिमिव स्थिताम् ॥२६॥
स्वरूपालोकनाक्षिप्तचेतसा सत्यया यतिः। न दृष्टः सहसा रुष्टो निर्जगाम ततो द्रुतम् ॥२७॥
दध्याविति स लोकेऽस्मिन् सविद्याधरभूचराः। मामुत्थाय नमस्यन्ति राज्ञामन्तःपुरस्त्रियः ॥२८॥
सत्यभामा त्वियं रूपमदगर्वितमानसा। धिग् मां नालोकतेऽस्मापि धृष्टा विद्याधरात्मजा ॥२९॥
तदस्या रूपसौभाग्यगर्वपर्वतचूरणम्। प्रतिपक्षवधूवज्रसंपातेन[1] करोम्यहम् ॥३०॥
रूपसौभाग्यतो ह्यन्यां सत्यभामातिशायिनीम्। हरिर्लघु लभेत् कन्यां बहुरत्ना वसुन्धरा ॥३१॥
ततः पश्यामि भामाया निश्वासश्याममाननम्। कुतोऽनर्थविमोक्षः स्यात् कुपिते मयि नारदे ॥३२॥
इति ध्यायन् समुत्पत्य कुण्डिनाख्यमयात्पुरम्। यत्र भीष्मो नृपस्तिष्ठत्यरिभीष्मो महान्वयः ॥३३॥
रुक्मीति तनयस्तस्य नयपौरुषपोषणः। रुक्मिणी च शुभा कन्या कलागुणविशारदा ॥३४॥
तां ददर्श च शुद्धान्ते शुद्धान्तःकरणः श्रिताम्। पितृस्वस्रानुरागिण्या सन्ध्ययेवोदयश्रियम् ॥३५॥
सौलक्षण्यं च सौरूप्यं सौभाग्यं त्रिजगद्गतम्। गृहीत्वेव हरे पुण्यैः परमैस्तां विनिर्मिताम् ॥३६॥
पाणिपादमुखाम्भोजजङ्घोरुजघनश्रिया। रोमराजिभुजानाभिकुचोदरतनुत्विषा ॥३७॥

हे राजन्! यह वही नारद, यादवोंसे पूछकर श्रीकृष्णका अन्तःपुर देखनेके लिए अन्तःपुरके महलमें प्रविष्ट हुआ ॥२४॥ उस समय कृष्णकी महादेवी सत्यभामा, जो उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी, आभूषणादि धारणकर हाथमें स्थित मणिमय दर्पणमें अपना रूप देख रही थी। नारदने उस साध्वीको दूरसे ही देखा। वह उनकी दृष्टिके सामने साक्षात् रतिके समान जान पड़ती थी। अपना रूप देखनेमें जिसका चित्त उलझा हुआ था ऐसी सत्यभामा नारदको न देख सकी इसलिए वह सहसा रुष्ट हो वहाँसे शीघ्र ही बाहर निकल आये ॥२५–२७॥ बाहर आकर वह विचार करने लगे कि इस संसारमें समस्त विद्याधर और भूमिगोचरी राजा तथा उनके अन्तःपुरोंकी स्त्रियाँ उठकर मुझे नमस्कार करती हैं परन्तु यह विद्याधरकी लड़की सत्यभामा इतनी ढीठ है कि इसने सौन्दर्यके मदसे गर्वितचित्त हो मेरी ओर देखा भी नहीं अतः इसे धिक्कार है ॥२८–२९॥ अब मैं सपत्नी रूपी वज्रपातके द्वारा इसके सौन्दर्य, सौभाग्य और गर्वरूपी पर्वतको अभी हाल चूर-चूर करता हूँ ॥३०॥ रूप और सौभाग्यमें सत्यभामाको अतिक्रान्त करने वाली अन्य कन्याको श्री कृष्ण शीघ्र ही प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि यह पृथ्वी अनेक रत्नोंसे युक्त है। सपत्नीके आनेपर मैं सत्यभामाके मुखको श्वासोच्छ्वाससे मलिन देखूँगा। मुझ नारदके कुपित होनेपर इसका अनर्थसे छुटकारा कैसे हो सकता है? ॥ ३१–३२ ॥ इस प्रकार विचार करते हुए नारद आकाशमें उड़कर उस कुण्डिनपुरमें जा पहुँचे, जहाँ शत्रुओंके लिए भयंकर महाकुलीन राजा भीष्म रहते थे ॥ ३३ ॥ उनके नीति और पौरुषको पुष्ट करनेवाला रुक्मी नामका पुत्र था तथा कला और गुणोंमें निपुण रुक्मिणी नामकी एक शुभ कन्या थी ॥ ३४ ॥ निर्मल अन्तःकरणके धारक नारदने, राजा भीष्मके अन्तःपुरमें, अनुराग—प्रेमको धारण करनेवाली फुआसे युक्त उस रुक्मिणी नामक कन्याको देखा जो अनुराग—लालिमाको धारण करनेवाली सन्ध्यासे युक्त सूर्यकी उदयकालीन लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी ॥ ३५ ॥ वह कन्या ऐसी जान पड़ती थी मानो तीनों जगत्‌के उत्तम लक्षण, उत्तम रूप और उत्तम भाग्यको लेकर नारायण–कृष्णके उत्कृष्ट पुण्यके द्वारा ही रची गयी हो ॥ ३६ ॥ वह कन्या अपने हाथ, पैर, मुख, कमल, जङ्घा और स्थूल नितम्बकी शोभासे,

---

१. सन्तापेन म०, ग०।

भ्रूकर्णाक्षिशिरःकण्ठघोणाधरपुटाभया[1] । अभिभूयोपमाः सर्वाः स्थिता जगति तां पराम् ॥३८॥
दृष्ट्वासौ विस्मितो दध्यौ दृष्टानेकाङ्गनोत्तमः । अहो रूपस्य पर्यन्ते कन्येयं वर्तते भुवि ॥३९॥
संयोज्य हरिणा कन्यामनन्यसदृशीमिमाम् । भनज्मि सत्यभामाया रूपसौभाग्यदुर्मदम् ॥४०॥
इति ध्यायन्तमायातं नारदं वीक्ष्य रुक्मिणी । अभ्युत्तस्थौ रणद्भूषा स्वभावविनयैकभूः ॥४१॥
साञ्जलिः प्रणनामासौ प्रत्युपेत्य समादरात् । [2]द्वारिकापतिपत्याप्त्या सोऽप्यनन्दयदानताम् ॥४२॥
प्रश्रितेन तया तेन द्वारावत्या विकीर्तने । कृतेऽनुरागिणी कृष्णे रुक्मिणी नितरामभूत् ॥४३॥
कृष्णं भीष्मसुताचित्तभित्तौ नारदचित्रकृत् । वर्णरूपवयोविद्धं विलिख्य बहिरप्ययौ ॥४४॥
विलिख्य पट्टके स्पष्टं रुक्मिण्या रूपमद्भुतम् । हरयेऽदर्शयद्गत्वा चित्तसंमोहकारणम् ॥४५॥
दृष्ट्वा चित्रगतां कन्यां श्यामां स्त्रीलक्षणाङ्किताम् । पप्रच्छ हरिरित्येवं द्विगुणादरसंगतः ॥४६॥
कस्येयं भगवन्! कन्या विचित्रा पट्टके त्वया । दुष्करं मानुषीं क्षिप्त्वा[3] विचित्रासुरकन्यका ॥४७॥
इति पृष्टोऽवदत्सोऽस्मै यथावृत्तमवञ्चकः । श्रुत्वा शौरिरपि प्राप्तश्चिन्तां कन्याकरग्रहे ॥४८॥
काले पितृष्वसा तस्मिन्नेकान्ते हितकाम्यया । रुक्मिणीमित्यभाषिष्ट सर्ववृत्तान्तवेदिनी ॥४९॥
आकर्णय वचो बाले कदाचिदतिमुक्तकः । दिव्यचक्षुरिहायातस्त्वां दृष्ट्वाऽवददित्यसौ ॥५०॥

रोमराजि, भुजा, नाभि, स्तन, उदर तथा शरीरकी कान्तिसे, भौंह, कान, नेत्र, शिर, कण्ठ, नाक और अधरोष्ठकी आभासे संसारकी समस्त उपमाओंको अभिभूत–तिरस्कृत कर उत्कृष्टरूपसे स्थित थी ॥ ३७–३८ ॥ अनेक उत्तमोत्तम स्त्रियोंको देखनेवाले नारद उस कन्याको देखकर आश्चर्यमें पड़ गये तथा इस प्रकार विचार करने लगे कि 'अहो! यह कन्या तो पृथिवीपर रूपकी चरम सीमामें विद्यमान है—सबसे अधिक रूपवती है ॥ ३९ ॥ जो अपनी सानी नहीं रखती ऐसी इस कन्याको कृष्णके साथ मिलाकर मैं सत्यभामाके रूप तथा सौभाग्य-सम्बन्धी दुष्ट अहङ्कारको अभी हाल खण्डित किये देता हूँ' ॥ ४० ॥

इस प्रकार विचार करते हुए नारदको आये देख, शब्दायमान भूषणोंसे युक्त तथा स्वाभाविक विनयकी भूमि रुक्मिणी उठकर खड़ी हो गयी ॥ ४१ ॥ उसने हाथ जोड़कर बड़े आदरसे सम्मुख जाकर नारदको प्रणाम किया तथा नारदने भी 'द्वारिकाके स्वामी तुम्हारे पति हों' इस आशीर्वादसे उस नम्रीभूत कन्याको प्रसन्न किया ॥ ४२ ॥ उसके पूछनेपर जब नारदने द्वारिकाका वर्णन किया तब वह कृष्णमें अत्यन्त अनुरक्त हो गयी ॥ ४३ ॥ अन्तमें नारदरूपी चित्रकार, रुक्मिणीके हृदयकी दीवालपर वर्ण रूप तथा अवस्थासे युक्त कृष्णका चित्र खींचकर बाहर चले गये ॥ ४४ ॥

बाहर आकर नारदने रुक्मिणीका आश्चर्यकारी रूप स्पष्टरूपसे चित्रपर लिखा और चित्तमें विभ्रम उत्पन्न करनेवाला वह रूप उन्होंने जाकर श्रीकृष्णके लिए दिखाया ॥ ४५ ॥ नवयौवनवती तथा स्त्रियोंके लक्षणोंसे युक्त उस चित्रगत कन्याको देखकर कृष्णने दुगुने आदरसे युक्त हो नारदसे इस प्रकार पूछा कि हे भगवन्! यह किसकी विचित्र कन्या आपने चित्रपटपर अङ्कित की है? यह तो मानुषीका तिरस्कार करनेवाली कोई विचित्र देव-कन्या जान पड़ती है ॥ ४६–४७ ॥ कृष्णके इस प्रकार पूछनेपर छल-रहित नारदने सब समाचार ज्योंका-त्यों सुना दिया तथा उसे सुनकर कृष्ण उसके साथ विवाह करनेकी चिन्ता करने लगे ॥ ४८ ॥

उधर सब समाचारको जाननेवाली फुआने हितकी इच्छासे एकान्तमें ले जाकर योग्य समयमें रुक्मिणीसे इस प्रकार कहा कि हे बाले! तू मेरे वचन सुन। किसी समय अवधिज्ञानके धारक अतिमुक्तक मुनि यहाँ आये थे। उन्होंने तुझे देखकर कहा था कि 'यह कन्या

१. पुटोभया म० । २. द्वारिकापतिरेव पतिस्तस्याप्तिः प्राप्तिस्तया । ३. क्षिप्ता म० ।

स्त्रीलक्षणवती लक्ष्मीरिव वक्षःस्थलाश्रिता । बालेयं वासुदेवस्य भविष्यति भविष्यतः ॥५१॥
षोडशानां सहस्राणां विष्णोः स्त्रीगुणसंयुजाम् । अन्तरन्तःपुरस्त्रीणां प्रभुत्वमियमेष्यति ॥५२॥
इत्यादिश्य तदा यातः सिद्धादेशो महामुनिः । कथा चान्तर्हिता विष्णोः कियन्तंचिदनेहसम् ॥५३॥
पुनर्जन्मकथेवेयं नारदेन कथा कृता । यदि सत्यमिदं सर्वं सत्यं वेद्मि मुनेर्वचः ॥५४॥
त्वं पुनः शिशुपालाय बाले ! बान्धवतां युजे । सुप्रभुत्वभृता भ्रात्रा रुक्मिणा[1] किल दीयसे[2] ॥५५॥
विवाहसमयस्तेऽपि प्रत्यासन्नस्तु वर्तते । अद्य श्वो वा त्वदर्थं च शिशुपालः किलैष्यति ॥५६॥
विदर्भपतिपुत्री तन्निशम्य वचनं जगौ । कथमस्य मुनेर्वाक्यमन्यथा भवति क्षितौ ॥५७॥
तन्मदीयमभिप्रायं कथञ्चिदपि सत्वरम् । द्वारिकापतये यत्नात् प्रापयेति स मत्प्रियः ॥५८॥
इति श्रुत्वा मनो ज्ञात्वा कन्यकायाः पितृष्वसा । विससर्ज रहस्येनं लेखमाप्तेन सत्वरम् ॥५९॥
त्वन्नामग्रहणाहारप्रीणितप्राणधारिणी । हरे ! काङ्क्षति ते रक्ता रुक्मिणी हरणं त्वया ॥६०॥
शुक्लाष्टम्यां हि माघस्य यदि माधव ! रुक्मिणीम् । त्वमेत्य हरसि क्षिप्रं तवेयमविसंशयम् ॥६१॥
अन्यथा तु वितीर्णायाश्चैद्याय गुरुबान्धवैः । त्वदलाभे भवेदस्याः शरणं मरणं हरे ! ॥६२॥
नागवल्यपदेशेन बाह्योद्यानस्थितामिमाम् । तदवश्यं त्वमागत्य स्वीकुरुष्व कृपापरः ॥६३॥
लेखार्थमिति तस्यार्थमधिगम्य स माधवः । सावधानमनास्तस्थौ रुक्मिणीहरणं प्रति ॥६४॥

स्त्रियोंके उत्तम लक्षणोंसे युक्त है अतः लक्ष्मीके समान होनहार नारायण श्रीकृष्णके वक्षःस्थलका आलिङ्गन प्राप्त करेगी। कृष्णके अन्तःपुरमें स्त्रियोंके योग्य गुणोंसे युक्त सोलह हजार रानियाँ होंगी उन सबमें यह प्रभुत्वको प्राप्त होगी—उन सबमें प्रधान बनेगी।' इस प्रकार कहकर अमोघवादी मुनिराज उस समय चले गये और कुछ समय तक कृष्णकी चर्चा अन्तर्हित रही आयी। परन्तु आज नारदने पुनर्जन्मकी कथाके समान यह कथा पुनः उठायी है। यदि यह सब सत्य है तो मैं समझती हूँ कि मुनिराजके उक्त वचन सत्य ही निकलेंगे। परन्तु हे बाले! विचारणीय बात यह है कि तेरा भाई रुक्मी जो अत्यधिक प्रभावको धारण करनेवाला है वह तुझे बन्धुपनेको धारण करनेवाले शिशुपालके लिए दे रहा है। तेरे विवाहका समय भी निकट है और आज-कलमें तेरे लिए शिशुपाल यहाँ आनेवाला है॥ ४९–५६ ॥

फुआके ऐसे वचन सुन रुक्मिणीने कहा कि मुनिराजके वचन पृथिवीपर अन्यथा कैसे हो सकते हैं॥ ५७ ॥ इसलिए आप मेरे अभिप्रायको किसी तरह शीघ्र ही प्रयत्न कर द्वारिकापतिके पास भेज दीजिए। वही मेरे पति होंगे॥ ५८ ॥ कन्याके यह वचन सुनकर तथा उसका अभिप्राय जानकर फुआने शीघ्र ही एक विश्वासपात्र आदमीके द्वारा गुप्त रूपसे यह लेख श्रीकृष्णके पास भेज दिया॥ ५९ ॥ लेखमें लिखा था कि हे कृष्ण! रुक्मिणी आपमें अनुरक्त है तथा आपके नामग्रहणरूपी आहारसे सन्तुष्ट हो प्राण धारण कर रही है। यह आपके द्वारा अपना हरण चाहती है। हे माधव! यदि माघ शुक्ला अष्टमीके दिन आप आकर शीघ्र ही रुक्मिणीका हरण कर ले जाते हैं तो निःसन्देह यह आपकी होगी। अन्यथा पिता और बान्धवजनोंके द्वारा यह शिशुपालके लिए दे दी जायेगी और उस दशामें आपकी प्राप्ति न होनेसे मरना ही इसे शरण रह जायेगा अर्थात् यह आत्म-घातकर मर जायेगी। यह नागदेवकी पूजाके बहाने आपको नगरके बाह्य उद्यानमें स्थित मिलेगी सो आप दयालु हो अवश्य ही आकर इसे स्वीकृत करें॥ ६०-६३ ॥ इस प्रकार लेखके यथार्थ भावको ज्ञातकर कृष्ण, रुक्मिणीका हरण करनेके लिए सावधानचित्त हो गये॥ ६४ ॥

---

१. रुक्मिणी म० । २. दीयते म० ।

कन्यादानकृतारम्भविदर्भेश्वरवाक्यतः । चेदीनामीश्वरः[1] प्राप्तो वैदर्भपुरमादरात् ॥६५॥
बलेन महता तस्य चतुरङ्गेण रागिणा । [2]मण्डिताशान्तरं जातं कुण्डिनं नगरं तदा ॥६६॥
इतश्चावसरज्ञेन नारदेन रहस्यरम् । चोदितो हरिरभ्यागो गूढवृत्तः सहाग्रजः ॥६७॥
दत्तनागबलिः कन्या पुरोपवनवर्तिनी । पितृष्वस्रादिभिर्युक्ता माधवेन निरीक्षिता ॥६८॥
श्रुतीन्धनसमृद्धोऽनुरागवन्यहुताशनः । अतिवृद्धिं तदा प्राप्तस्तयो[3]र्दर्शनवायुना ॥६९॥
कृतोचितकथस्तत्र रुक्मिणीमाह माधवः । त्वदर्थमागतं भद्रे ! विद्धि मां हृदयस्थितम् ॥७०॥
सत्यं यदि मयि प्रेम त्वया बद्धमनुत्तरम् । तदेहि रथमारोह मन्मनोरथपूरणि ॥७१॥
पितृष्वस्राऽपि साऽभाषि योऽतिमुक्तकभाषितः । स एव तव कल्याणि वरः[4] पुण्यैरिहाहृतः ॥७२॥
यत्रापि पितरौ भद्रे ! दातारौ दुहितुर्मतौ । तत्राऽपि विधिपूर्वौ तौ ततो ज्येष्ठो विधिर्गुरुः ॥७३॥
सानुरक्तां त्रपायुक्तां श्रीमत्यास्तनयां[5] ततः । रथमारोपयद्दोर्भ्यामुत्क्षिप्यामीलितेक्षणः ॥७४॥
निर्वाहकस्तयोरासी[6]त्तदान्योन्यसुखावहः । सर्वाङ्गीणस्तनुस्पर्शः प्रथमो मन्मथार्तयोः ॥७५॥
सुगन्धिमुखनिश्वासस्तयोरन्योन्ययोगतः । वास्यवासकभावस्थो वशीकरणतामगात् ॥७६॥
विमुखीकृतचैद्येन सम्मुखीकृतविष्णुना । विधिनैकेन रुक्मिण्यास्तत्कल्याणमनुष्ठितम् ॥७७॥

इधर कन्यादानकी तैयारी करनेवाले विदर्भेश्वर—राजा भीष्मके कहे अनुसार शिशुपाल आदरके साथ कुण्डिनपुर जा पहुँचा ॥ ६५ ॥ उस समय उसकी रागसे युक्त बहुत भारी चतुरङ्गिणी सेनासे कुण्डिनपुरके दिग्दिगन्त सुशोभित हो उठे ॥ ६६ ॥ इधर अवसरको जाननेवाले नारदने शीघ्र ही आकर एकान्तमें कृष्णको प्रेरित किया सो वे भी बड़े भाई बलदेवके साथ गुप्त रूपसे कुण्डिनपुर आ पहुँचे ॥ ६७ ॥ रुक्मिणी नागदेवकी पूजाकर फुआ आदिके साथ नगरके बाह्य उद्यानमें पहलेसे ही खड़ी थी सो कृष्णने उसे अच्छी तरह देखा ॥ ६८ ॥ उन दोनोंकी जो अनुरागरूपी अग्नि एक दूसरेके श्रवणमात्र ईंधनसे युक्त थी वह उस समय एक दूसरेको देखने रूप वायुसे अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हो गयी ॥ ६९ ॥ कृष्णने यथायोग्य चर्चा करनेके बाद वहाँ रुक्मिणीसे कहा कि 'हे भद्रे ! मैं तुम्हारे लिए ही आया हूँ और जो तुम्हारे हृदयमें स्थित है वही मैं हूँ ॥ ७० ॥ यदि सचमुच ही तूने मुझमें अपना अनुपम प्रेम लगा रखा है तो हे मेरे मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली प्रिये ! आओ रथपर सवार होओ' ॥ ७१ ॥ फुआने भी रुक्मिणीसे कहा कि हे कल्याणि ! अतिमुक्तक मुनिने जो तुम्हारा पति कहा था वही यह तुम्हारे पुण्यके द्वारा खींचकर यहाँ लाया गया है ॥ ७२ ॥ हे भद्रे ! जहाँ माता-पिता पुत्रीके देनेवाले माने गये हैं वहाँ वे कर्मोंके अनुसार ही देनेवाले माने गये हैं इसलिए सबसे बड़ा गुरु कर्म ही है ॥ ७३ ॥

तदनन्तर जिनके नेत्र कुछ-कुछ निमीलित हो रहे थे ऐसे श्रीकृष्णने अनुराग और लज्जासे युक्त रुक्मिणीको अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर रथपर बैठा दिया ॥ ७४ ॥ कामकी व्यथासे पीड़ित उन दोनोंका जो सर्व-प्रथम सर्वाङ्गीण शरीरका स्पर्श हुआ था वह उन दोनोंके लिए परस्पर सुखका देनेवाला हुआ था ॥ ७५ ॥ उन दोनोंके मुखसे जो सुगन्धित श्वास निकल रहा था वह परस्पर मिलकर एक दूसरेको सुगन्धित कर रहा था तथा एक दूसरेको वशमें करनेके लिए वशीकरणमन्त्रपनेको प्राप्त हो रहा था ॥ ७६ ॥ रुक्मिणीका वह कल्याण, शिशुपालको विमुख और कृष्णको सम्मुख करनेवाले एक विधि—पुराकृत कर्मके द्वारा ही किया गया था। भावार्थ—रुक्मिणीका जो कृष्णके साथ संयोग हुआ था उसमें उसका पूर्वकृत कर्म ही प्रबल कारण था क्योंकि उसने पूर्वनिश्चित योजनाके साथ

१. शिशुपालः । २. शोभितदिगन्तरालम् । ३. कृष्णरुक्मिण्योः । ४. कल्याणवरः म० । ५. तनया म० । ६. –रासीदन्योन्य म० ।

रुक्मिणः शिशुपालस्य भीष्मस्य च हरिस्ततः । रुक्मिणीहरणोदन्तं दत्त्वा रथमचोदयत् ॥७८॥
पाञ्चजन्यमतो दध्मौ मुखरीकृतदिङ्मुखम् । सुघोषं तु बलः शङ्खं सुक्षोभारिबलं ततः ॥७९॥
रुक्मी विदितवृत्तान्तः शिशुपालश्च सत्वरौ । धीरौ धीरौ परिप्राप्तौ रथिनौ रथिनौ प्रति ॥८०॥
रथैः षष्टिसहस्रैस्तैः करिणामयुतेन च । त्रिभिः शतसहस्रैश्च वाजिनां वायुरंहसाम् ॥८१॥
असिचक्रधनुःपाणिबहुलक्षपदातिभिः । ग्रसमानौ दिशो शेषा निकटत्वमुपागतौ ॥८२॥
अर्धासनसुखासीनां सान्त्वयन् भीष्मजां हरिः । ग्रामाकरसरःसिन्धून् दर्शयन् प्रययौ शनैः ॥८३॥
अथ रौद्रं बलं प्राप्तमन्वीक्ष्य हरिणेक्षणा । रुक्मिण्युवाच भर्तारमपायपरिशङ्किनी ॥८४॥
भ्राता मे कुपितः प्राप्तः सम्प्रत्येष[1] महारथः । शिशुपालश्च तन्नाथ[2] न मन्ये स्वन्तमात्मनः ॥८५॥
युवयोः पृथुसेनाभ्यामाभ्यां जाते महारणे । विजयं प्रति संशीतिरहो मे मन्दभाग्यता ॥८६॥
ब्रुवाणामिति तां शार्ङ्गी मा भैषीर्मृदुमानसे । बहुत्वेन किमन्येषां मयि सत्त्ववति स्थिते ॥८७॥
[3]इत्युक्त्वाऽसौ क्षुरप्रेण क्षिप्रमप्राकृतास्त्रवित् । अयत्नेनैव चिच्छेद तालवृक्षं पुरःस्थितम् ॥८८॥
अङ्गुलीयकनद्धं च वज्रं सञ्चूर्ण्य पाणिना । तस्याः सन्देहमामूलं चिच्छेद यदुनन्दनः ॥८९॥
ततः सा प्राञ्जलिः प्राह प्रियसामर्थ्यवेदिनी । नाथ ! यत्नेन मे भ्राता रक्षणीयस्त्वयाहवे ॥९०॥

आये हुए शिशुपालको विमुख कर दिया था और अनायास आये हुए श्रीकृष्णको सम्मुख कर दिया था ॥ ७७ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने रुक्मिणीके भाई रुक्मी, शिशुपाल और भीष्मको रुक्मिणीके हरणका समाचार देकर अपना रथ आगे बढ़ा दिया ॥ ७८ ॥ उसी समय श्रीकृष्णने दिशाओंको मुखरित करनेवाला अपना पाञ्चजन्य और बलदेवने अपना सुघोष नामका शङ्ख फूँका जिससे शत्रुकी सेना क्षोभयुक्त हो गयी ॥ ७९ ॥ समाचार मिलते ही रुक्मी और शिशुपाल दोनों धीर-वीर, बड़ी शीघ्रतासे रथोंपर सवार हो, धीर-वीर एवं रथोंपर सवार होकर जाने वाले कृष्ण और बलदेवका सामना करनेके लिए पहुँचे ॥८०॥ साठ हजार रथों, दश हजार हाथियों, वायुके समान वेगशाली तीन लाख घोड़ों और खड्ग, चक्र, धनुष, हाथमें लिये कई लाख पैदल सिपाहियोंके द्वारा शेष दिशाओंको ग्रस्त करते हुए वे दोनों वीर निकटताको प्राप्त हुए ॥८१-८२॥ इधर अर्धासनपर बैठी रुक्मिणीको सान्त्वना देते एवं ग्राम, खानें, सरोवर तथा नदियोंको दिखाते हुए श्रीकृष्ण धीरे-धीरे जा रहे थे ॥८३॥

तदनन्तर भयंकर सेनाको आयी देख मृगनयनी रुक्मिणी अनिष्टकी आशङ्का करती हुई स्वामीसे बोली कि 'हे नाथ! क्रोधसे युक्त यह मेरा भाई महारथी रुक्मी और शिशुपाल अभी हाल आ रहा है इसलिए मैं अपना भला नहीं समझती ॥८४-८५॥ विशाल सेनासे युक्त इन दोनोंके साथ एकाकी आप दोनोंका महायुद्ध होनेपर विजयमें सन्देह है। अहो! मैं बड़ी मन्द भाग्यवती हूँ' ॥८६-८७॥ इस प्रकार कहती हुई रुक्मिणीसे श्रीकृष्णने कहा कि 'हे कोमल हृदये! भयभीत न हो, मुझ पराक्रमीके रहते हुए दूसरोंकी संख्या बहुत होनेपर भी क्या हो सकता है?' इस प्रकार कहकर असाधारण अस्त्रके जाननेवाले श्रीकृष्णने अपने बाणसे सामने खड़े हुए ताल-वृक्षको अनायास ही काट डाला ॥८८॥ और अँगूठीमें जड़े हुए हीराको हाथसे चूर्णकर उसके सन्देहको जड़-मूलसे नष्ट कर दिया ॥८९॥

तदनन्तर इन कार्योंसे पतिकी शक्तिको जाननेवाली रुक्मिणीने हाथ जोड़कर कहा कि

---

१. सम्प्रत्येव म० । २. सन्नाथ क० । ३. सप्ताशीतितमात् श्लोकादग्रे घ०, ग०, ङ०, म० पुस्तकेषु निम्नाङ्कितौ श्लोकौ अधिकावुपलभ्येते ।

तयोक्तं मुनिरादेशः सप्ततालान्नृजून् पुमान् । यश्छिनत्त्येकबाणेन स हरिर्नान्यथा शुभे ॥१॥
तद्वचः शौरिणा श्रुत्वा क्रमेणाक्रम्य तत्स्थिरम् । स चिच्छेद क्षुरप्रेणाप्यनृजुं तालमण्डलीम् ॥२॥

एवमस्त्विति सन्त्रस्तां सान्त्वयित्वा[1] प्रियां हरिः । व्यवर्तयद्रथं वेगाद्भ्यमित्रं[2] हली तथा ॥९१॥
रुष्टयोः शरजालेन छिन्नसैन्यं ततोऽनयोः । क्षिप्रं गताक्षि विध्वस्तक्लिष्टदर्पमभिद्रुतम् ॥९२॥
[3]हरिणेव रणे रौद्रे हरिणा[4] दमघोषजः[5] । हलिना भीष्मजो राजा भीष्माकारः पुरस्कृतः ॥९३॥
द्वन्द्वयुद्धे[6] शिरस्तुङ्गं शिशुपालस्य पातितम् । विष्णुना यशसा साकं सायकेन विदूरतः ॥९४॥
हली जर्जरितं कृत्वा रथेन सह रुक्मिणम् । प्राणशेषमपाकृत्य कृती कृष्णयुतो ययौ ॥९५॥
रुक्मिणीं परिणीयासौ गिरौ रैवतके हरिः । विभूत्या परया तुष्टः सबन्धुरविशत् पुरीम् ॥९६॥
स्वं विवेश गृहं शौरी रेवतीदर्शनोत्सुकः । शार्ङ्गपाणिरपि प्रीतो नववध्वा युतो निजम् ॥९७॥

पृथिवीच्छन्दः

अनेकरथचक्रचूर्णि विजिगीषुतेजोहरं निरीक्ष्य शिशुपालघाति[7] चरितं हरेराहवे ।
वपुः स्वमुपसंहरन् करसहस्रतीक्ष्णोऽप्ययं गतोऽस्तगिरिगह्वरं ग्रहणशङ्कयेवांशुमान् ॥९८॥
अनेन घनरागिणा समनुवर्तिता रागिणी महोदयनिषेविणाप्यनुरतेन पूर्वं तु या ।
तयाऽस्तमितसम्पदं तमनुवृत्तया सन्ध्यया कुसुम्भकुसुमाभया तदनुरक्तता दर्शिता ॥९९॥

हे नाथ ! आपके द्वारा युद्धमें मेरा भाई यत्नपूर्वक रक्षणीय है अर्थात् उसकी आप अवश्य रक्षा कीजिए ॥९०॥ 'ऐसा ही होगा' इस प्रकार भयभीत प्रियाको सान्त्वना देकर श्रीकृष्ण तथा बलभद्रने बड़े वेगसे शत्रुकी ओर अपने रथ घुमा दिये ॥९१॥ तदनन्तर रोषसे भरे हुए इन दोनोंके बाणोंके समूहसे मुठभेड़को प्राप्त हुई शत्रुकी सेना चारों ओर भागकर नष्ट हो गयी तथा उसका सब अहंकार नष्ट-भ्रष्ट हो गया ॥९२॥ भयंकर युद्धमें सिंहके समान शूर-वीर कृष्णने शिशुपालको और बलदेवने भयंकर आकारको धारण करनेवाले भीष्मपुत्र राजा रुक्मीको सामने किया ॥९३॥ द्वन्द्व-युद्धमें श्रीकृष्णने अपने बाणके द्वारा यशके साथ-साथ शिशुपालका ऊँचा मस्तक दूर जा गिराया ॥९४॥ और बलदेवने रथके साथ-साथ रुक्मीको इतना जर्जर किया कि उसके प्राण ही शेष रह गये। तदनन्तर कुशल बलदेव कृष्णके साथ वहाँसे चल दिये ॥९५॥ रैवतक (गिरनार) पर्वतपर श्रीकृष्णने विधि-पूर्वक रुक्मिणीके साथ विवाह किया और उसके पश्चात् उत्कृष्ट विभूतिसे सन्तुष्ट हो भाई-बलदेवके साथ द्वारिकापुरीमें प्रवेश किया ॥९६॥ रेवतीके देखनेके लिए उत्सुक बलदेवने अपने महलमें प्रवेश किया और प्रीतिसे युक्त कृष्णने भी नववधूके साथ अपने महलमें प्रवेश किया ॥९७॥

तदनन्तर सूर्य अस्त होनेके सम्मुख हुआ सो ऐसा जान पड़ता था मानो युद्धमें अनेक रथोंके चक्रको चूर्ण करनेवाला, विजिगीषु राजाओंके तेजको हरनेवाला एवं शिशुपालका घात करनेवाला कृष्णका चरित देखकर वह अपने आपके पकड़े जानेकी आशङ्कासे भयभीत हो गया था इसीलिए तो हजार किरणोंसे तीक्ष्ण होनेपर भी वह अपने शरीरको संकुचितकर अस्ताचलकी गुफामें चला गया था ॥९८॥ प्रातःकालके समय राग (प्रेम-पक्षमें ललाई) से युक्त जिस सन्ध्याको सूर्यने महान् उदय (उदय-पक्षमें वैभव) के धारक होनेपर भी तीव्र राग (प्रेम-पक्षमें ललाई) से युक्त हो अपने बदलेके प्रेमसे अच्छी तरह अनुवर्तित किया था अर्थात् सन्ध्याको रागयुक्त देख अपने आपको भी रागयुक्त किया था उस सन्ध्याने अब सायंकालके समय कुसुम्भके फूलके समान लाल वर्ण हो किरणरूप सम्पत्तिके नष्ट हो जानेपर भी सूर्यके प्रति अपनी अनुरक्तता दिखलायी थी। भावार्थ—'सूर्यने महान् अभ्युदयसे

१. शान्तयित्वा म० । २. दस्य मित्रं म० । ३. सिंहेनेव । ४. कृष्णेन । ५. शिशुपालः । ६. द्वन्द्व-युक्ते म० । ७. घात—म०, ग० ।

ततोऽञ्जनमहारजोमलिनमूर्तिभिर्मोहकैः प्रभञ्जनवशैरिव प्रतिभयावहैरुद्धतैः ।
तमःपटलपातकैरभिपतद्भिरत्युन्मुखैः खलैरिव निरन्तरैर्जगदभिद्रुतं च द्रुतम् ॥१००॥
किरन्नमृतदीधितिर्बहुलमन्धकारं करैः तृषेव जनलोचनैः सपदि पीयमानस्ततः ।
जगन्मदनदीपनस्तपनजातसन्तापनुत् सुखाय सुखिनामपि[1] प्रकटमुज्जगामोदयम् ॥१०१॥
विकासमगमद् विधोः कुमुदिनी करामर्शनाज्जगत्यखिलजन्तुभिः सह निजप्रियाप्रोषितैः ।
तदा न खलु पद्मिनी विरहदीप्तचक्राह्वयैः प्रमदहेतवोऽपि सुखयन्ति नो दुःखितान् ॥१०२॥
प्रदोषसमये ततो मुषितमानिनीमानके प्रवृत्तवति दम्पतिप्रमदसम्पदापादने ।
सुधाधवलचन्द्रिकाधवलितेषु हर्म्येषु ते मनोज्ञवनितासखास्तु परिरेमिरे यादवाः ॥१०३॥
मुरारिरपि रुक्मिणीतनुलताद्विरेफस्तदा चिरं रमितया तयाऽरमत रम्यमूर्तिर्निशि ।
अशेत शयनस्थले मृदुनि गूढगूढाङ्गना[2] घनस्तनभुजानन[3] स्पर्शलब्धनिद्रासुखः ॥१०४॥
ततः प्रमितयामिनीनिखिलयामभेदा मदप्रसुप्तयदुकामिनीजनभियेव नीचोच्चकैः ।
क्रमेण पटुपक्षपातसुभगाश्चुकूजुः कलं क्षपाक्षयनिवेदिनो विविधचूडकाः कुक्कुटाः ॥१०५॥
तया प्रथमबुद्धया प्रथमसन्ध्ययेवोषसि प्रशस्तकरपद्मया विहितदेहसंवाहनः ।
विबुध्य हरिराश्रितां श्रियमिव व्यलोकिष्ट तां रतिव्यतिकरस्फुरत्परिमलां ह्रिया सन्नताम् ॥१०६॥

युक्त होनेपर भी मेरे प्रति राग धारण किया था इसलिए इस विपत्तिके समय मुझे भी इसके प्रति राग धारण करना चाहिए' यह विचारकर ही मानो सन्ध्याने सूर्यास्तके समय लालिमा धारण कर ली ॥९९॥ तदनन्तर अञ्जनकी महारजके समान काले, मोह उत्पन्न करनेवाले, प्रचण्ड पवनके समान भयंकर, उद्धत, सब ओर फैलनेवाले, उन्मुख एवं अन्तर-रहित अन्धकारके समूहरूपी पापोंसे जगत् शीघ्र ही ऐसा आच्छादित हो गया मानो दुर्जनोंसे ही व्याप्त हुआ हो ॥१००॥ तत्पश्चात् जो अपनी किरणोंसे गाढ़ अन्धकारको दूर हटा रहा था, मनुष्योंके नेत्र तृषासे पीड़ित होकर ही मानो जिसका शीघ्र पान कर रहे थे, जो जगत्के जीवोंको कामकी उत्तेजना करनेवाला था और जो सूर्यसे उत्पन्न हुए सन्तापको नष्ट कर रहा था ऐसा चन्द्रमा सुखी मनुष्योंके सुखको और भी अधिक बढ़ानेके लिए उदयको प्राप्त हुआ ॥१०१॥ उस समय जगत्में समस्त जीवोंके साथ-साथ, चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे कुमुदिनी विकासको प्राप्त हुई और अपनी प्रियासे वियुक्त विरहसे देदीप्यमान चक्रवाकोंके साथ-साथ कमलिनी विकासको प्राप्त नहीं हुई सो ठीक ही है क्योंकि दुःखी मनुष्योंको हर्षके कारण सुख नहीं पहुँचा सकते ॥१०२॥ तदनन्तर मानवती स्त्रियोंके मानको हरनेवाले एवं दम्पतियोंको हर्षरूपी सम्पत्तिके प्राप्त करानेवाले प्रदोष कालके प्रवृत्त होनेपर वे यादव अपनी सुन्दर स्त्रियोंके साथ चूनाके समान उज्ज्वल चाँदनीसे शुभ्र महलोंमें क्रीड़ा करने लगे ॥१०३॥ जो रुक्मिणीके शरीररूपी लतापर भ्रमरके समान जान पड़ते थे ऐसे सुन्दर शरीरके धारक कृष्ण भी रात्रिके समय चिरकाल तक रमण की हुई रुक्मिणीके साथ क्रीड़ा करते रहे और क्रीड़ाके अनन्तर कोमल शय्यापर उसके गाढ़ आलिङ्गित स्थूल स्तन, भुजा और मुखके स्पर्शसे निद्रा सुखको प्राप्त कर सो रहे ॥१०४॥ तदनन्तर रात्रिके समस्त भेदोंको जाननेवाले, उत्तम पङ्खोंकी फड़फड़ाहटसे सुन्दर, रात्रिके अन्तकी सूचना देनेवाले और नाना प्रकारकी कलँगियोंसे युक्त मुर्गे पहले नीची और बादमें ऊँची ध्वनिसे सुन्दर बांग देने लगे सो उससे ऐसा जान पड़ता था मानो 'मदमें सोई हुई यदु स्त्रियाँ जाग न जाँय' इस भयसे ही वे एक साथ न चिल्लाकर क्रम-क्रमसे चिल्लाते थे ॥१०५॥ प्रातःकालमें प्रातः सन्ध्याके समान रुक्मिणी पहले जाग गयी और अपने उत्तम करकमलोंसे कृष्णका शरीर दबाने लगी। उसके कोमल हाथोंका स्पर्श पा श्रीकृष्ण

१. सन्ना सुमुखिनामपि म०, ग०, च० । २. घनस्तन ग० । ३. अत्र छन्दोभङ्गः ।

प्रभातपटहस्फुटध्वननशङ्खसंगीतकप्रघोषघनगर्जिताम्बुधिनिनादिनी द्वारिका ।
गृहं गृहमितोऽमुतो बुधितराजलोकाभवद् यथायथमनुष्ठितस्वकनियोगसर्वप्रजा ॥१०७॥
परैर्घटितमप्यतो विघटयन् पदार्थं झटित्युपेत्य [1]घटयन्नहो विघटितं समर्थक्रियः ।
परं भुवनचक्षुरुज्ज्वलमनिद्रमभ्युद्ययौ यथा जिनवचःपथो विधिरिवाऽथ वा भानुमान् ॥१०८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ रुक्मिणीहरणवर्णनो नाम द्वाचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

भी जाग गये और जागकर उन्होंने रतिक्रीड़ाके कारण जिसके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी तथा जो लज्जासे नम्रीभूत थी ऐसी रुक्मिणीको पासमें बैठी लक्ष्मीके समान देखा ॥१०६॥ उस समय द्वारिकापुरी प्रातःकालके नगाड़ोंके जोरदार शब्दों, शङ्खों, मधुर संगीतों और मेघोंकी उत्कट गर्जनाके समान समुद्रकी गम्भीर गर्जनाके शब्दोंसे गूँज उठी। इधर-उधर घर-घर राजा और प्रजाके लोग जाग उठे तथा यथायोग्य अपने-अपने कार्योंमें सब प्रजा लग गयी ॥ १०७ ॥ तदनन्तर जो शीघ्र ही आकर दूसरोंके द्वारा संयोजित पदार्थको यहाँ से दूर हटा रहा था, तथा दूसरोंके द्वारा वियोजित पदार्थको मिला रहा था, अत्यन्त चतुर था, समर्थ था, जगत्‌का उज्ज्वल एवं जागृत रहनेवाला उत्कृष्ट नेत्र था, जो जिनेन्द्र भगवान्‌के वचनमार्गके समान था अथवा विधाताके समान था ऐसा सूर्य उदयको प्राप्त हुआ। भावार्थ—रात्रिके समय चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि कान्तिमान् पदार्थ अपने साथ अन्धकारको भी थोड़ा-बहुत स्थान दे देते हैं पर सूर्य आते ही साथ उस अन्धकारको पृथिवीतलसे दूर हटा देता है। इसी प्रकार रात्रिके समय चकवा-चकवी परस्पर वियुक्त हो जाते हैं परन्तु सूर्य उदय होते ही उन्हें मिला देता है ॥१०८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें रुक्मिणी-हरणका वर्णन करनेवाला ब्यालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४२ ॥

---

१. प्रतिपत्य दुर्विघटितं म०, ख०, ग०, ङ० ।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सत्यभामागृहाभ्यर्णमाकीर्णं द्रव्यसम्पदा । धिष्ण्यं विष्णुर्ददौ दिव्यं रुक्मिण्यै परिवारवत्[1] ॥१॥
महत्तरप्रतीहारीभृत्यादिपरिवारिता[2] । नानाश्वरथवृषादि पत्न्या गौरविताऽतुषत् ॥२॥
ज्ञात्वा भामा[3] हरीष्टां तां भामां भामातिशायिनीम् । सा सेर्ष्याऽपि हरिं धीरा रहः क्रीडास्वरीरमत् ॥३॥
एकदा मुखताम्बूलं निष्ठ्यूतं भीष्मजन्मना[4] । सोंऽशुकान्तेन[5] संगोप्य सत्यभामागृहं गतः ॥४॥
स्वभावमुखसौगन्ध्यवद्भ्रान्तालिमण्डलम् । अहरत्सत्यभामा तद् भ्रान्त्या सद्गन्धवस्त्विति ॥५॥
वर्णगन्धाढ्यमापिष्य समालभत चादरात् । हसिता हरिचक्रेण सा चुक्रोश तमीर्ष्यया ॥६॥
सौभाग्यातिशयं सत्या सपत्न्या हरिचेष्टितैः । विदित्वा रूपलावण्यं द्रष्टुमभ्युत्सुकाऽभवत् ॥७॥
अवदच्च पतिं नाथ ! रुक्मिणीं मम दर्शय । श्रोत्रयोरिव संहर्षं नेत्रयोरपि मे कुरु ॥८॥
प्रतिपद्य स तद्वाक्यमन्तर्गूढो विनिर्गतः । मणिवाप्यास्तटे कान्तां संस्थाप्य पुनरागतः ॥९॥
आनयामि तवाभीष्टां विशोद्यानमिति प्रियाम् । सम्प्रेष्यानुगतस्तस्थौ गुल्मसंगूढविग्रहः ॥१०॥
तावच्च मणिवाप्यन्ते मणिभूषणधारिणीम् । पादाग्रेण स्थितां चूतलतामाक्रम्य पाणिना ॥११॥
प्रोल्लसत्स्थूलधम्मिल्लां वामहस्तेन बिभ्रतीम् । स्तनभारनतामूर्ध्वफलन्यस्तायतेक्षणाम् ॥१२॥

श्रीकृष्णने सत्यभामाके महलके पास, नाना प्रकारकी सम्पदाओंसे व्याप्त एवं योग्य परिजनोंसे सहित एक सुन्दर महल रुक्मिणीके लिए दिया ॥१॥ उसे महत्तरिका, द्वारपालिनी तथा सेवक आदि परिजनोंसे युक्त किया। नाना प्रकारके वाहन घोड़े, रथ, बैल आदि दिये तथा पट्टरानी पदसे उसका गौरव बढ़ाया जिससे वह बहुत ही सन्तुष्ट हुई ॥२॥ इधर सत्यभामाको जब पता चला कि श्रीकृष्ण समस्त स्त्रियोंको अतिक्रान्त करनेवाली एक स्त्री लाये हैं और वह उन्हें अत्यधिक प्रिय है तब वह ईर्ष्यासे सहित होनेपर भी बड़ी धीरतासे उन्हें नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंमें रमण कराने लगी ॥३॥

एक दिन कृष्ण रुक्मिणीके द्वारा उगले हुए मुखके पानको वस्त्रके छोरमें छिपाकर सत्यभामाके घर गये वह पान स्वभावसे ही सुगन्धित था और उसपर रुक्मिणीके मुखकी सुगन्धिने चार चाँद लगा दिये थे इसलिए उसपर भ्रमरोंका समूह आ बैठा था। 'यह कोई सुगन्धित पदार्थ है' इस भ्रान्तिसे सत्यभामाने उसे ले लिया और उत्तम वर्ण तथा गन्धसे युक्त उस पानके उगालको अच्छी तरह पीसकर अपने शरीरपर लगा लिया। यह देख श्रीकृष्णने उसकी खूब हँसी उड़ायी जिससे वह ईर्ष्यावश उनके प्रति आगबबूला हो गयी ॥४-६॥

कृष्णकी चेष्टाओंसे सौतके सौभाग्यका अतिशय जानकर सत्यभामा उसका रूप-लावण्य देखनेके लिए उत्सुक हो गयी ॥७॥ और एक दिन पतिसे बोली कि 'हे नाथ ! मुझे रुक्मिणी दिखलाइए, कानोंकी तरह मेरे नेत्रोंको भी हर्ष उपजाइए' ॥८॥ सत्यभामाकी बात स्वीकृतकर वे हृदयमें कुछ रहस्य छुपाये हुए गये और मणिमय वापिकाके तटपर रुक्मिणीको खड़ाकर पुनः सत्यभामाके पास आ गये ॥९॥ तदनन्तर 'तुम उद्यानमें प्रवेश करो, मैं तुम्हारी इष्ट रुक्मिणीको अभी लाता हूँ' यह कहकर उन्होंने सत्यभामाको तो आगे भेज दिया और आप स्वयं पीछेसे जाकर किसी झाड़ीके ओटमें शरीर छिपाकर खड़े हो गये ॥१०॥ मणिमय आभूषणोंको धारण करनेवाली रुक्मिणी मणिमय वापिकाके समीप एक हाथसे आमकी लता पकड़कर पञ्जोंके बल खड़ी थी। उस समय वह अपनी अतिशय सुशोभित बड़ी

१. परिचारवत् ख० । २. परिवारिताः म० । ३. सत्यभामा । ४. रुक्मिणया । ५. सोंऽशुकान्तेन म० ।

निरूप्य रुक्मिणीं सत्या देवतामिव रूपिणीम् । देवतेयमिति ध्यात्वा विकीर्य कुसुमाञ्जलिम् ॥१३॥
निपत्य पादयोस्तस्याः स्वसौभाग्यमयाचत । विपक्षस्य तु दौर्भाग्यमीर्ष्याशल्यकलङ्किता ॥१४॥
अन्तरेऽत्र हरिः सत्यां हासिस्मितमुखोऽवदत् । अपूर्वं दर्शनं स्वस्रोरहो वृत्तं नयान्वितम् ॥१५॥
श्रुत्वा तत्सत्यभामोचे ज्ञाततत्त्वा रुषान्विता । किं भवान्यदिच्छं[1] नौ दर्शनं किं तवेति[2] तम् ॥१६॥
कृतकृष्णवचा भामां[3] रुक्मिणी विनयात्ततः । ननाम कुलजातानां विनयः सहजो मतः ॥१७॥
विहृत्य चिरमुद्यानं लतामण्डपमण्डितम् । ताभ्यामधोक्षजो यातो निवृत्तो भवनं निजम् ॥१८॥
ताभ्यामेकदिनौपम्यमनेकेषु दिनेष्वतः । तस्य यात्सु सुखाम्भोधिवर्तिनः शौर्यशालिनः ॥१९॥
दुर्योधनोऽन्यदा दूतं हरये प्रियपूर्वकम् । प्रजिघाय घनस्नेहः स हास्तिनपुराधिपः ॥२०॥
यः प्रागुत्पत्स्यते यस्या रुक्मिणीसत्यभामयोः । सूनुरुत्पत्स्यमानायाः स वरो दुहितुर्मम ॥२१॥
इति दूतवचः श्रुत्वा प्रीतः सम्पूज्य तं हरिः । विससर्ज स पत्येऽतः कार्यसिद्धिं न्यवेदयत् ॥२२॥
तां वार्तामुपलभ्यासौ भामा [4]भीष्मात्मजान्तिकम् । व्यसृजन्निजदूतीस्ताः पादयोः प्रणता जगुः ॥२३॥
स्वामिनि ! स्वामिनी नस्त्वामिति वक्ति वचो वरम् । अवतंसमिव श्लाघ्यं कुरु कर्णे मनस्विनी ॥२४॥
आवयोः प्रथमं यस्यास्तनयोऽत्र भविष्यति । सुतां दुर्योधनस्यासौ भाविनीं परिणेष्यति ॥२५॥

मोटी चोटी बायें हाथसे पकड़े थी। स्तनोंके भारसे वह नीचेको झुक रही थी तथा ऊपर लगे हुए फलपर उसके बड़े-बड़े नेत्र लग रहे थे। देवीके समान सुन्दर रूपको धारण करनेवाली रुक्मिणीको देखकर सत्यभामाने समझा कि 'यह देवी है' इसलिए उसने उसके सामने फूलोंकी अञ्जलि बिखेर कर तथा उसके चरणोंमें गिरकर अपने सौभाग्य और सौतके दौर्भाग्यकी याचना की वह ईर्ष्या रूपी शल्यसे कलङ्कित जो थी ॥११-१४॥ इसी समय मन्द-मन्द मुसकाते हुए श्रीकृष्णने आकर सत्यभामासे कहा कि अहा! दो बहिनोंका यह नीतियुक्त अपूर्व मिलन हो लिया ? ॥१५॥ श्रीकृष्णके वचन सुन सत्यभामा सब रहस्य जान गयी और कुपित हो बोली कि अरे! क्या आप हैं ? हम दोनोंका इच्छानुरूप दर्शन हो इसमें आपको क्या मतलब ? ॥१६॥ तदनन्तर कृष्णके वचन स्वीकारकर रुक्मिणीने सत्यभामाको विनयपूर्वक नमस्कार किया सो ठीक ही है क्योंकि उच्च कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके विनय स्वभावसे ही होता है ॥१७॥ श्रीकृष्ण लतामण्डपोंसे सुशोभित उद्यानमें उन दोनों रानियोंके साथ चिरकाल तक क्रीड़ा कर अपने महलमें लौट गये ॥१८॥

तदनन्तर सुखसागरमें निमग्न एवं पराक्रमसे सुशोभित कृष्णके अनेक दिन उन दोनों रानियोंके साथ जब एक दिनके समान व्यतीत हो रहे थे तब एक दिन अत्यधिक स्नेहसे युक्त हस्तिनापुरके राजा दुर्योधनने इस प्रिय समाचारके साथ कृष्णके पास अपना दूत भेजा कि 'आपकी रुक्मिणी और सत्यभामा रानियोंमेंसे जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा वह यदि मेरे पुत्री उत्पन्न हुई तो उसका पति होगा' ॥१९-२१॥ दूत के उक्त वचन सुनकर श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूतका सम्मान कर उसे बिदा किया। दूतने भी अपने स्वामीके लिए कार्य सिद्ध होनेका समाचार कह सुनाया ॥२२॥

यह समाचार सुनकर सत्यभामाने रुक्मिणीके पास अपनी दूतियाँ भेजीं और वे रुक्मिणीके चरणोंमें नम्रीभूत हो कहने लगीं कि हे स्वामिनि! हम लोगोंकी स्वामिनी—सत्यभामा आपसे कुछ उत्तम वचन कह रही हैं सो हे मानवति ! आभरणकी तरह उस प्रशंसनीय वचनको आप कानमें धारण करें—श्रवण करें। वह वचन यह है कि 'हम दोनोंमेंसे जिसके पहले पुत्र होगा वह दुर्योधनकी होनहार पुत्रीको विवाहेगा यह निश्चित हो चुका है। उस

---

१. –दित्थं म० । २. तवेरितं ग० । ३. कृतकृष्णवचो भामा म०, ग० । ४. भीष्मजान्तिकं म० ।

तत्रापत्यविहीनाया विलूनालकवल्लरीम् । [1]स्नास्यतस्तामधः कृत्वा पादयोस्तु वधूवरौ ॥२६॥
प्रशस्यं च यशस्यं च यशोभागिनि भागिनि । यदि ते रोचते कार्यमिदमार्येऽनुमन्यताम् ॥२७॥
कर्णामृतमिवाकर्ण्य तच्छ्रुत्य जगावसौ । तथाऽस्त्विति ततो गत्वा ताः स्वामिन्यै न्यवेदयन्[2] ॥२८॥
रुक्मिणी तु शिरःस्नाता शयिता शयने निशि । स्वप्ने हंसविमानेन विजहार विहाम्बरे ॥२९॥
विबुद्धा च समाचख्यौ पत्ये स्वप्नमसौ जगौ । सुपुत्रस्ते वियच्चारी भविताऽत्र महानिति ॥३०॥
वचः पत्युरसौ श्रुत्वा विकासमगमद् वधूः । तेजसांऽशुमतः श्लिष्टा पद्मिनीव दिनागमे ॥३१॥
अवतीर्याऽच्युतेन्द्रस्तु रुक्मिणीगर्भमाश्रितः । पूरयन् परमानन्दमुपेन्द्रस्य जनस्य च ॥३२॥
तत्काले सत्यभामाऽपि शिरःस्नातवती सती । अधत्त स्वश्च्युतं गर्भे सुतं सुस्वप्नपूर्वकम् ॥३३॥
वर्धमानौ च तौ गर्भौ वर्धमानयशोलतौ । वर्धमानां मुदं मात्रोः पितुश्चाकुरुतां पराम् ॥३४॥
पूर्णप्रसवमासेऽत्र प्रसूता रुक्मिणी सुतम् । नरलक्षणसम्पूर्णं सत्याऽपि युगपन्निशि ॥३५॥
प्रहिताश्च हितास्ताभ्यां युगपन्निशि वर्धकाः । शिरोऽन्ते सत्यया विष्णोः पादान्ते तस्थुरन्यया ॥३६॥
प्रबुद्धश्च [3]हरिर्वृद्ध्यै रुक्मिणीपुत्रजन्मना । आनन्दितो ददौ तेभ्यः स्वाङ्गस्पृष्टं विभूषणम् ॥३७॥
परावृत्य पुनः पश्यन् सत्यभामाजनैः स्तुतः । पुत्रोत्पत्त्या ददौ तुष्टस्तेभ्योऽप्यर्थं जनार्दनः ॥३८॥

विवाहके समय जिसके पुत्र न होगा उसकी कटी हुई केश-लताको पैरोंके नीचे रखकर वधू और वर स्नान करेंगे'। यह कार्य बहुत ही प्रशस्त तथा यशको बढ़ानेवाला है इसलिए हे यशस्विनि! हे भाग्यशालिनि! हे आर्ये! यदि आपको रुचता है—अच्छा लगता है तो स्वीकृति दीजिए ॥२३-२७॥ कानोंके लिए अमृतके समान आनन्द देनेवाले उस वचनको सुनकर रुक्मिणीने सन्तुष्ट हो 'तथास्तु' कह दिया और दूतियोंने जाकर अपनी स्वामिनी—सत्यभामा के लिए वह समाचार कह सुनाया ॥२८॥

तदनन्तर चतुर्थ स्नानके बाद रुक्मिणी जब रात्रिमें शय्यापर सोई तब उसने स्वप्नमें हंसविमानके द्वारा आकाशमें विहार किया ॥२९॥ जागनेपर उसने वह स्वप्न पतिदेव श्रीकृष्णके लिए कहा और उसके उत्तरमें उन्होंने कहा कि तुम्हारे आकाशमें विहार करनेवाला कोई महान् पुत्र होगा ॥३०॥ पतिके वचन सुनकर रुक्मिणी, प्रातःकालके समय सूर्यकी किरणोंसे संसर्गको प्राप्त हुई कमलिनीके समान विकासको प्राप्त हुई ॥३१॥ तदनन्तर श्रीकृष्ण तथा अन्य समस्त जनोंके परम आनन्दको बढ़ाता हुआ अच्युतेन्द्र, स्वर्गसे अवतार ले रुक्मिणीके गर्भमें आया ॥३२॥

उसी समय सत्यभामाने भी शिरसे स्नानकर उत्तम स्वप्नपूर्वक स्वर्गसे च्युत हुए पुत्रको गर्भमें धारण किया ॥३३॥ जिनकी यशरूपी लता बढ़ रही थी ऐसे बढ़ते हुए दोनों गर्भोंने अपनी-अपनी माताओं और पिताके परम आनन्दको वृद्धिंगत किया ॥ ३४ ॥ प्रसवका महीना पूर्ण होनेपर रुक्मिणीने उत्तम मनुष्यके लक्षणोंसे युक्त पुत्र उत्पन्न किया और उसीके साथ-साथ सत्यभामाने भी रात्रिमें उत्तम पुत्रको जन्म दिया ॥३५॥ दोनों ही रानियोंने हितके इच्छुक एवं शुभ समाचार देनेवाले पुरुष रात्रिके ही समय एक साथ श्रीकृष्णके पास भेजे। उस समय श्रीकृष्ण शयन कर रहे थे इसलिए सत्यभामाके द्वारा भेजे सेवक उनके सिरके पास और रुक्मिणीके द्वारा भेजे सेवक उनके चरणोंके समीप खड़े हो गये ॥३६॥ जब श्रीकृष्ण जगे तो पहले उनकी दृष्टि चरणोंके पास खड़े सेवकोंपर पड़ी। उन्होंने भाग्य-वृद्धिके लिए पहले रुक्मिणीके पुत्र-जन्मका समाचार सुनाया जिससे प्रसन्न होकर कृष्णने उन्हें अपने शरीरपर स्थित आभूषण पुरस्कारमें दिये ॥३७॥ तदनन्तर जब कृष्णने मुड़कर दूसरी ओर देखा तो

---

१. स्नास्येते म०, ख०, आस्येते ग०, ङ०, प० । २. न्यवेदयत् म० । ३. हरिर्हृष्ट्यै म० ।

तस्यामेव च वेलायां बलवान् नभसा व्रजन् । धूमकेतुर्विमानस्थो धूमकेतुरिवासुरः ॥३९॥
स्खलितेन विमानेन कथंचिदपि विस्मितः । अधोऽवलोकमानोऽसौ विभङ्गज्ञानलोचनः ॥४०॥
रुक्मिण्याः सुतमालोक्य रोषाऽरुणनिरीक्षणः । दर्शनेन्धनसंदीप्तपूर्ववैरविभावसुः ॥४१॥
महारक्षाधिकारस्य परिवारजनस्य सः । रुक्मिण्याश्च महानिद्रां निपात्यापत्यपातकः ॥४२॥
शिशुमुद्धृत्य बाहुभ्यां महीध्रमिव गौरवात् । नभः समुत्पपौ नीलो [1]नीलबुद्धिर्महासुरः ॥४३॥
हस्ताभ्यां किमु मृद्नामि पूर्ववैरिणमेनकम् । [2]खगेभ्यो नखनिर्भिन्नं खे बलिं विकिरामि किम् ॥४४॥
नक्रचक्रमहारौद्रे मकरग्राहसंकुले । पातयामि समुद्रे किं क्षुद्रं मे द्रोहिणं रिपुम् ॥४५॥
अथवा मांसपिण्डेन मारितेनामुनाऽत्र किम् । [3]त्यक्तश्चापेतरक्षस्तु स्वयमेव मरिष्यति ॥४६॥
इति संचिन्त्य पुण्येन शिशोरेव महासुरः । पश्यन्नवततारासौ विदूरखदिराटवीम् ॥४७॥
अधस्तक्षशिलायास्तं निधायार्भकमाशु सः । धूमकेतुरिवादृश्यो धूमकेतुरभूत्ततः ॥४८॥
तदनन्तरमेवाऽत्र मेघकूटपुराधिपः । कालसंवर इत्याख्यः सार्धं कनकमालया ॥४९॥
प्राप्तो भौमविहारेण विमानेन वियच्चरः । शिशोस्तस्य प्रभावेण स्खलिताऽस्य गतिस्तदा ॥५०॥
किमेतदित्यसौ ध्यात्वा परं विस्मयमागतः । अवतीर्य शिलां [4]पृथ्वीमुच्छ्वसन्तीं व्यलोकत ॥५१॥
समुत्क्षिप्य शिलां स्वैरमपसार्य स दृष्टवान् । अक्षताङ्गमनङ्गाममर्भकं कनकप्रभम् ॥५२॥

सत्यभामाके सेवकजनोंने उनकी स्तुति कर उन्हें सत्यभामाके पुत्रोत्पत्तिका समाचार सुनाया जिससे सन्तुष्ट होकर कृष्णने उन्हें भी पुरस्कारमें धन दिया ॥३८॥

उसी समय अग्निके समान देदीप्यमान धूमकेतु नामका एक महाबलवान् असुर विमानमें बैठकर आकाशमार्गसे जाता हुआ रुक्मिणीके महलपर आया ॥ ३९ ॥ आतेके ही साथ उसका विमान रुक गया जिससे कुछ आश्चर्यमें पड़कर वह नीचेकी ओर देखने लगा। वह विभङ्गावधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाला था ही इसलिए उसके द्वारा रुक्मिणीके पुत्रको देख क्रोधसे उसके नेत्र लाल हो गये और दर्शनरूपी ईन्धनसे उसकी पूर्व वैररूपी अग्नि भड़क उठी। उस पापीने आते ही कड़ी रक्षामें नियुक्त पहरेदारोंको, परिवारके लोगोंको तथा स्वयं रुक्मिणीको महानिद्रामें निमग्न कर पुत्रको उठा लिया और वजनमें पर्वतके समान भारी उस पुत्रको दोनों भुजाओंसे लेकर वह मलिनबुद्धि एवं श्यामरङ्गका धारक महा असुर आकाशमें उड़ गया ॥ ४०–४३ ॥ आकाशमें ले जाकर वह विचार करने लगा कि इस पूर्व भवके वैरीको क्या मैं हाथोंसे मसल डालूँ ? या नखोंसे चीरकर आकाशमें पक्षियोंके लिए इसकी बलि बिखेर दूँ ? अथवा मुझसे द्रोह करनेवाले इस क्षुद्र शत्रुको नाकोंके समूहसे महाभयंकर एवं मगरों और ग्राहोंके समूहसे भरे हुए समुद्रमें गिरा दूँ ? अथवा यह मांसका पिण्ड तो है ही। इसके मारनेसे क्या लाभ है ? यह रक्षकोंसे रहित ऐसा ही छोड़ दिया जायेगा तो अपने-आप मर जायेगा ॥ ४४–४६ ॥ बालकके पुण्यसे इस प्रकार विचार करता वह महासुर जा रहा था कि दूरसे खदिर अटवीको देख वह नीचे उतरा ॥ ४७ ॥ और वहाँ तक्षशिलाके नीचे उस बालकको रखकर वह धूमकेतु नामका असुर, धूमकेतु ताराके समान शीघ्र ही अदृश्य हो गया ॥ ४८ ॥

तदनन्तर उसी समय मेघकूट नगरका राजा कालसंवर, अपनी कनकमाला रानीके साथ पृथिवीके समस्त स्थलोंपर विहार करता हुआ विमान-द्वारा आकाश-मार्गसे वहाँ आया सो बालकके प्रभावसे उसकी गति रुक गयी ॥ ४९–५० ॥ 'यह क्या है' इस प्रकार विचारकर कालसंवर परम आश्चर्यको प्राप्त हुआ। नीचे उतरकर उसने हिलती हुई एक बड़ी मोटी शिला देखी ॥ ५१ ॥ स्वेच्छासे शिला हटाकर जब उसने देखा तो उसके नीचे अक्षत शरीर,

---

१. मलिनाशयः । २. पक्षिभ्यः । ३. त्यक्तश्चापदरक्षस्तु म० । ४. विशालाम् ।

गृहीत्वा करुणोपेतः प्रियायै दातुमुद्यतः । तनयस्तेऽनपत्याया गृहाणेति प्रियंवदः ॥५३॥
प्रसार्य करयुग्मं सा पुनः संकोच्य कोविदा । अनिच्छन्तीव संतस्थे खेचरी दीर्घदर्शिनी ॥५४॥
प्रिये ! किमिदमित्युक्ते सा जगौ तव सूनवः । महाभिजनसम्पन्नाः सन्ति पञ्चशतानि ते ॥५५॥
तैरज्ञातकुलं दृप्तैस्ताड्यमानं शिरस्यमुम् । न शक्नोमि तदा द्रष्टुं तन्मे वरमपुत्रता ॥५६॥
इत्युक्ते सान्त्वयित्वा[1] तां गृहीत्वा कर्णपत्रकम् । युवराजोऽयमित्युक्त्वा पट्टमस्य बबन्ध सः ॥५७॥
ततो जग्राह तुष्टा सा तनयं नयशालिनी । सपुत्रौ तौ प्रविष्टौ च मेघकूटपुरं परम्[2] ॥५८॥
गूढगर्भा महादेवी प्रसूता तनयं शुभम् । इति वार्त्तां पुरे कृत्वा कोविदः कालसंवरः ॥५९॥
नृत्यद्विद्याधरीवृन्द[3]सिञ्जत्सिञ्जीरनूपुरम् । तस्य पुण्यनिधानस्य जन्मोत्सवमकारयत् ॥६०॥
प्रकृष्टद्युम्नधामत्वात् प्रद्युम्न इति संज्ञितः । कुमारो वर्धते तत्र कुमारशतसेवितः ॥६१॥
इतश्च रुक्मिणी सूनुं विबुद्धा नेक्षते यदा । वृद्धधात्रीभिरित्युच्चैः सह द्रष्टुं ततस्तदा ॥६२॥
विललाप च हा पुत्र ! हृतः केनाऽपि वैरिणा । विधिना निधिमादर्श्य नेत्रं मेऽपहृतं कथम् ॥६३॥
वियोजिता मया नूनमपत्येन भवान्तरे । काचन स्त्री न हीदृक्षं भवेत्फलमहेतुकम् ॥६४॥
विलापमिति कुर्वन्त्यां रुक्मिण्यां करुणावहम् । रोदनध्वनिरुत्तस्थौ परिवारस्य मांसलः ॥६५॥

कामदेवके समान आभावाला एवं सुवर्णके समान कान्तिमान् वह बालक देखा ॥ ५२ ॥ दयासे युक्त हो कालसंवरने उस बालकको उठा लिया और 'तुम्हारे पुत्र नहीं है इसलिए यह तुम्हारा पुत्र हुआ, लो' इस प्रकार मधुर शब्द कहकर अपनी प्रियाको देनेके लिए उद्यत हुआ ॥ ५३ ॥ पहले तो विद्याधरी कनकमालाने दोनों हाथ पसार दिये पर पीछे चतुर एवं दूर तक देखनेवाली उस विद्याधरीने अपने हाथ संकोच लिये और इस प्रकार खड़ी हो गयी मानो पुत्रको चाहती ही न हो ॥ ५४ ॥ 'प्रिये ! यह क्या है ?' इस प्रकार पतिके कहनेपर उसने कहा कि आपके उच्च कुलमें उत्पन्न हुए पाँच सौ पुत्र हैं ॥ ५५ ॥ सो जब वे इस अज्ञात कुलवाले पुत्रको अहंकारसे उन्मत्त हो शिरमें थप्पड़ मारेंगे तब मैं वह दृश्य देखनेको समर्थ न हो सकूँगी इसलिए मेरा निपूती रहना ही अच्छा है ॥ ५६ ॥

रानीके इस प्रकार कहनेपर कालसंवरने उसे सान्त्वना दी और कानका सुवर्ण-पत्र ले 'यह युवराज है' ऐसा कहकर उसे पट्ट बाँध दिया ॥ ५७ ॥ तदनन्तर नीति-निपुण कनकमालाने सन्तुष्ट होकर वह पुत्र ले लिया। और पुत्रसहित दोनों मेघकूट नामक श्रेष्ठ नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ५८ ॥ अतिशय निपुण राजा कालसंवरने नगरमें यह घोषणा कराकर कि 'गूढ गर्भको धारण करनेवाली महादेवी कनकमालाने आज शुभ पुत्रको जन्म दिया है' पुण्यके भण्डारस्वरूप उस पुत्रका जन्मोत्सव कराया। जन्मोत्सवमें विद्याधरियोंके समूह नृत्य कर रहे थे और उनके नूपुरोंकी रुनझुन न्यारी ही शोभा प्रकट कर रही थी ॥५९-६०॥ स्वर्णके समान श्रेष्ठ कान्तिका धारक होनेसे उसका प्रद्युम्न नाम रखा गया। वहाँ सैकड़ों विद्याधर-कुमारोंके द्वारा सेवित होता हुआ वह प्रद्युम्न कुमार दिनों-दिन बढ़ने लगा ॥ ६१ ॥

इधर द्वारिकापुरीमें जब रुक्मिणी जागृत हुई तो उसने पुत्रको नहीं देखा। तदनन्तर वृद्ध धायोंके साथ उसने उसे जहाँ-तहाँ देखा पर जब प्रयत्न सफल नहीं हुआ तब वह जोर-जोरसे इस प्रकार विलाप करने लगी कि हाय पुत्र ! तुझे कौन हर ले गया है ? विधाताने मेरे नेत्रोंको निधि दिखाकर क्यों छीन ली है ? अवश्य ही मैंने दूसरे जन्ममें किसी स्त्रीको पुत्रसे वियुक्त किया होगा नहीं तो कारणके बिना यह ऐसा फल कैसे प्राप्त होता ? ॥६२-६४॥ रुक्मिणीके इस प्रकार करुण विलाप करनेपर परिवारके लोग भी रोने लगे और इस तरह रोनेका एक जोरदार शब्द उठ खड़ा हुआ ॥ ६५ ॥

---

१. शान्तयित्वा म० । २. पुरम् म० । ३. वृन्दं सिञ्जत् म०, ग० ।

ततो विदितवृत्तान्तो वासुदेवः सबान्धवः । संप्राप्य सहसा तत्र कलत्रैः [1]सुकलत्रिभिः ॥६६॥
आक्रन्दनस्वनप्राप्तसंकर्षणपुरःसरः । निनिन्द भुजवीर्यं स्वं प्रमादं च [2]सनन्दकः ॥६७॥
अवदच्च वचो दक्षो दैवपौरुषयोः परम् । दैवमेव परं लोके धिक् पौरुषमकारणम् ॥६८॥
अन्यथा कथमुत्खातखड्गधाराविभासिनः । ह्रियेत वासुदेवस्य ममापि तनयः परैः ॥६९॥
इत्यादि बहुवादी स रुक्मिणीमाह मा प्रिये । शोकिनी भूरिहात्यर्थं धीरे ! धारय धीरताम् ॥७०॥
नान्यः कल्पच्युतः पुत्रो जातस्तव ममापि वः । भवितव्यमिहैतेन भुवने भोगभागिना ॥७१॥
गवेषयामि [3]तल्लोके तं लोकनयनोत्सवम् । सूक्ष्मदृष्टिरिवोद्विम्बं प्रतिपच्चन्द्रमम्बरे ॥७२॥
सान्त्वयित्वाश्रुसंधौतकपोलयुगलां प्रियाम् । माधवोऽन्वेषणे सूनोरुपायपरमोऽभवत् ॥७३॥
काले तत्र हरिं प्राप्तो नारदोऽनारतोद्यमः । श्रुतवार्तश्च शोकेन क्षणं निश्चलतां गतः ॥७४॥
आननानि यदूनां स पश्यति स्म सविस्मयः । क्लान्तानि हिमदग्धानि पद्मानीव समन्ततः ॥७५॥
ततो निरस्तमन्युश्च प्रत्युवाच जनार्दनम् । वीर ! शोककलिं मुञ्च सुतवार्तामहं लभे ॥७६॥
योऽतिमुक्तक इत्यासीदवधिज्ञानवान् मुनिः । स केवलमयं नेत्रं लब्ध्वा निर्वाणमाश्रितः ॥७७॥
योऽपि नेमिकुमारोऽत्र ज्ञानत्रयविलोचनः । जानन्नपि न स ब्रूयान्न विद्मो केन हेतुना ॥७८॥
अतः पूर्वविदेहेषु गत्वा सीमन्धरं जिनम् । संपृच्छ्य पुत्रवार्तां ते प्रापयामीति नारदः ॥७९॥
दत्तोत्तरो विनिर्गत्य रुक्मिणीभवनं गतः । शोकप्राकेयनिर्दग्धं दृष्ट्वा तन्मुखपङ्कजम् ॥८०॥

तदनन्तर सब वृत्तान्त जानकर भाई-बान्धवों एवं अन्य सुन्दर स्त्रियोंके साथ कृष्ण भी वहाँ शीघ्र आ पहुँचे। रोनेका शब्द सुनकर बलदेव भी आ गये। अपने नन्दक नामक खड्गको हाथमें लिये श्रीकृष्ण अपने भुजाओंके पराक्रम तथा अपने प्रमादकी निन्दा करने लगे ॥ ६६–६७ ॥ वचन बोलनेमें अतिशय चतुर श्रीकृष्ण कहने लगे कि 'दैव और पुरुषार्थमें दैव ही परम बलवान् है। संसारमें इस अकारण पुरुषार्थको धिक्कार है ॥ ६८ ॥ अन्यथा उभारी हुई तलवारकी धारासे सुशोभित मुझ वासुदेवका भी पुत्र दूसरोंके द्वारा किस प्रकार हरा जाता ?' ॥ ६९ ॥ इत्यादि बहुत बोलनेवाले श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे कहा कि 'हे प्रिये ! इस विषयमें अधिक शोकयुक्त न होओ। हे धीरे ! धीरता धारण करो ॥ ७० ॥ जो पुत्र स्वर्गसे च्युत हो तुम्हारे और हमारे उत्पन्न हुआ है वह साधारण पुत्र नहीं है। उसे इस संसारमें अवश्य ही भोगोंका भोगनेवाला होना चाहिए ॥ ७१ ॥ इसलिए जिस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि मनुष्य आकाशमें सूक्ष्म बिम्बको धारण करनेवाले प्रतिपदाके चन्द्रमाको खोजते हैं उसी प्रकार मैं लोगोंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाले तेरे पुत्रको लोकमें सर्वत्र खोजता हूँ ॥ ७२ ॥

इस प्रकार आँसुओंसे जिसके दोनों कपोल धुल रहे थे ऐसी प्रिया रुक्मिणीको शान्त कर श्रीकृष्ण पुत्रके खोजनेमें उपाय करने लगे ॥ ७३ ॥ उसी समय निरन्तर उद्यम करनेवाले नारद ऋषि वहाँ श्रीकृष्णके पास आये और सब समाचार सुनकर शोकसे क्षणभरके लिए निश्चलताको प्राप्त हो गये ॥ ७४ ॥ उन्होंने सब ओर तुषारसे जले कमलोंके समान मुरझाये हुए यादवोंके मुख बड़े आश्चर्यके साथ देखे ॥ ७५ ॥ तदनन्तर शोक दूरकर नारदने कृष्णसे कहा कि 'हे वीर ! शोक छोड़ो, मैं पुत्रका समाचार लाता हूँ ॥ ७६ ॥ यहाँ जो अवधिज्ञानी अतिमुक्तक मुनिराज थे वे तो केवलज्ञानरूपी नेत्रको प्राप्त कर मोक्ष जा चुके हैं ॥७७॥ और जो तीन ज्ञानके धारक नेमिकुमार हैं वे जानते हुए भी नहीं कहेंगे। किस कारणसे नहीं कहेंगे ? यह हम नहीं जानते। इसलिए मैं पूर्वविदेह क्षेत्रमें जाकर तथा सीमन्धर भगवान्से पूछकर पुत्रका सब समाचार तेरे लिए प्राप्त कराऊँगा' ॥ ७८–७९ ॥

श्रीकृष्णका उत्तर पा नारद वहाँसे निकल रुक्मिणीके भवन पहुँचे और वहाँ शोक

---

१. सुनितम्बयुक्तैरित्यर्थः । सकलत्रिभिः म०, ग० । २. नन्दकनामखड्गसहितः । ३. तल्लोकं म० ।

शोकवानपि चित्तेन बहिर्धैर्यमुपाश्रितः । अभ्युत्थायार्चितस्तस्या न्यषीदन्निकटासने ॥८१॥
सा तं पितृसमं दृष्ट्वा रुरोदोन्मुक्तकण्ठकम् । सज्जनोपनिधौ शोकः पुराणोऽपि नवायते ॥८२॥
तस्याः शोकसमुद्रं स प्रक्षिपन्निव दक्षिणः । आह्लादयन्मनोऽवादीदिति नारदसन्मुनिः ॥८३॥
त्यज रुक्मिणि ! शोकं त्वं क्वचिज्जीवति ते [1]सुतः । कथञ्चिदपि नीतोऽपि केनचित्पूर्ववैरिणा ॥८४॥
दीर्घजीवितसद्भावं ननु तस्य महात्मनः । निवेदयति सम्भूतिर्वासुदेवात् त्वयि ध्रुवम् ॥८५॥
संयोगाश्च वियोगाश्च प्राणिनां प्राणवत्सले । वत्से भवन्ति संसारे सुखदुःखविधायिनः ॥८६॥
तत्र कर्मवशज्ञानां ज्ञानोन्मीलितचीदृशाम् । प्रभवन्ति न ते वत्से यदूनामिव शत्रवः ॥८७॥
जिनशासनतत्त्वज्ञा संसृतिस्थितिवेदिनी । मा भूः शोकवशा वार्ता त्वत्सुतस्य लभे लघु ॥८८॥
इति तां नारदस्तन्वीमनुशिष्य वचोऽमृतैः । प्रयातो वियदुत्पत्य सीमन्धरजिनान्तिकम् ॥८९॥
[2]विषये पुष्कलावत्यां नृसुरासुरसेवितम् । नगर्यां पुण्डरीकिण्यामर्हन्तं स तमैक्षत ॥९०॥
कृताञ्जलिपुटस्तोत्रपवित्रीकृतवाग्मुखः । प्रणम्य जिनमासीनः स नरेन्द्रसभान्तरे ॥९१॥
तत्र पद्मरथश्चक्री पञ्चचापशतोच्छ्रितिः । दशचापोच्छ्रितिं पश्यन्नारदं नरशंसितम् ॥९२॥
कौतुकात्करपद्माभ्यामादायापृच्छदीश्वरम् । मर्त्याकृतिरयं नाथ ! कीटः किमभिधानकः ॥९३॥
ततः प्राह जिनस्तस्वं जम्बूद्वीपस्य भारते । नारदो वासुदेवस्य नवमस्य हितोद्यतः ॥९४॥

रूपी तुषारसे जले हुए रुक्मिणीके मुख-कमलको देख स्वयं हृदयसे शोक करने लगे परन्तु बाहरमें धैर्यको धारण किये रहे। रुक्मिणीने उठकर उनका सत्कार किया। अनन्तर वे उसीके निकट आसनपर बैठ गये ॥ ८०–८१ ॥ रुक्मिणी पिताके तुल्य नारदको देखकर गला फाड़-फाड़कर रोने लगी सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंके समीप पुराना शोक भी नवीनके समान हो जाता है ॥ ८२ ॥ अत्यन्त चतुर नारदमुनि, उसके शोक-सागरको हलका करनेके लिए ही मानो मनको आनन्दित करते हुए इस प्रकार वचन बोले ॥ ८३ ॥

हे रुक्मिणि ! तू शोक छोड़, तेरा पुत्र कहीं जीवित है भले ही उसे पूर्वभवका कोई वैरी किसी तरह हरकर ले गया है। श्रीकृष्णसे तुझमें जो उसकी उत्पत्ति हुई है यही उस महात्माके दीर्घायुष्यको सूचित कर रही है ॥ ८४–८५ ॥ हे प्रिय पुत्री ! तू जानती है कि इस संसारमें प्राणियोंको सुख-दुःख उत्पन्न करनेवाले संयोग और वियोग होते ही रहते हैं ॥ ८६ ॥ परन्तु जो कर्मोंकी अधीनताको जाननेवाले हैं एवं ज्ञानके द्वारा उन्मीलित बुद्धि-रूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले हैं ऐसे यादवोंके ऊपर वे संयोग और वियोग शत्रुओंके समान अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं ॥ ८७ ॥ तू तो जिन-शासनके तत्त्वको जाननेवाली एवं संसारकी स्थितिकी जानकार है अतः शोकके वशीभूत मत हो। मैं शीघ्र ही तेरे पुत्रका समाचार लाता हूँ ॥ ८८ ॥ इस प्रकार वचनरूपी अमृतसे उस कृशाङ्गीको समझाकर नारदमुनि आकाशमें उड़ सीमन्धर भगवान्के समीप जा पहुँचे ॥ ८९ ॥ वहाँ पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीमें मनुष्य सुर और असुरोंसे सेवित सीमन्धर जिनेन्द्रके उन्होंने दर्शन किये ॥ ९० ॥ हाथ जोड़ मुखसे पवित्र स्तोत्रका उच्चारण कर उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्-को नमस्कार किया और उसके बाद वे राजाओंकी सभामें जा बैठे ॥ ९१ ॥

वहाँ उस समय पाँच-सौ धनुषकी ऊँचाईवाला पद्मरथ चक्रवर्ती बैठा था। दश धनुष ऊँचे नर-प्रशंसित नारदको देखते ही उसने उन्हें कौतुकवश अपने हस्त-कमलोंसे उठाकर भगवान्से पूछा कि हे नाथ ! यह मनुष्यके आकारका कीड़ा कौन-सा है ? और इसका क्या नाम है ? ॥ ९२–९३ ॥ तदनन्तर सीमन्धर भगवान्ने सब रहस्य कहा। उन्होंने बताया कि यह जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रके नौवें नारायणके हितमें उद्यत रहनेवाला नारद है ॥ ९४ ॥

१. सुतं म० । २. विषयेषु म० ।

किमर्थमागतो भर्तरिहायमिति पृच्छते[1] । मूलतः कथितं सर्वं चक्रिणे धर्मचक्रिणा ॥९५॥
प्रद्युम्न इति नाम्नाऽसौ पितृभ्यां योक्ष्यते पुनः । संप्राप्ते षोडशे वर्षे प्राप्तषोडशलाभकः ॥९६॥
स प्रज्ञप्तिमहाविद्याप्रद्योतितपराक्रमः । देवानामपि सर्वेषामजय्योऽत्र भविष्यति ॥९७॥
कीदृशं चरितं तस्य हृतो वा केन हेतुना । इति पृष्टो जिनोऽभाणीत्तस्मै नारदसंनिधौ ॥९८॥
इह भारतवर्षेऽभूद्विषये मगधाभिधे । शालिग्रामेऽग्रजन्माग्र्यो सोमदेव इति श्रुतः ॥९९॥
अग्निला ब्राह्मणी तस्य स्वाहेवाग्नेः सुखावहा । अग्निभूतिरभूत्तस्या वायुभूतिश्च नन्दनः ॥१००॥
बभूवतुरिमौ भूमौ वेदवेदार्थकोविदौ । छादितान्यद्विजच्छायौ यथा शुक्रबृहस्पती ॥१०१॥
वेदार्थभावनाजातजातिवादातिगर्वितौ । वाचाटौ चाटुभिः पित्रोर्लालितौ भोगतत्परौ ॥१०२॥
द्विरष्टवर्षौ तु स्त्रीषु स्वर्गबुद्धिं प्रकृत्य तौ । जातावत्यन्तविद्विष्टौ परलोककथां प्रति ॥१०३॥
अन्यदाऽऽगत्य सङ्घेन महता नन्दिवर्धनः । तत्रोद्याने गुरुस्तस्थौ श्रुतसागरपारगः ॥१०४॥
तद्वन्दनार्थमद्वन्द्वं चातुर्वर्ण्यमहाजनम् । निर्गच्छन्तं समालोक्य कारणं तावपृच्छताम् ॥१०५॥
निवेदितं ततस्ताभ्यां द्विजेनैकेन साधुना । महच्छ्रमणसङ्घस्य[2] वन्दनार्थमिति स्फुटम् ॥१०६॥
अस्मत्परः परः कोऽपि वन्दनीयोऽस्ति भूतले । पश्यामस्तस्य माहात्म्यमिति तौ मानिनौ गतौ ॥१०७॥

यह सुन चक्रवर्तीने फिर पूछा कि हे स्वामिन् ! यह यहाँ किसलिए आया है ? इसके उत्तरमें धर्मचक्रके प्रवर्तक सीमन्धर भगवानने चक्रवर्तीके लिए प्रारम्भसे लेकर सब समाचार कहा। साथ ही यह भी कहा कि उस बालकका प्रद्युम्न नाम है। वह सोलहवाँ वर्ष आनेपर सोलह लाभोंको प्राप्तकर अपने माता-पिताके साथ पुनः मिलेगा। प्रज्ञप्ति नामक महाविद्यासे जिसका पराक्रम चमक उठेगा ऐसा वह प्रद्युम्न इस पृथिवीपर समस्त देवोंके लिए भी अजय्य हो जावेगा ॥९५-९७॥

चक्रवर्तीने फिर पूछा—'प्रभो ! प्रद्युम्नका चरित कैसा है ? और वह किस कारणसे हरा गया ?' इसके उत्तरमें सीमन्धर जिनेन्द्रने चक्रवर्तीके लिए नारदके सन्निधानमें प्रद्युम्नका निम्न प्रकार चरित कहा ॥ ९८ ॥

भरतक्षेत्र सम्बन्धी मगध देशके शालिग्राम नामक गाँवमें सोमदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था ॥ ९९ ॥ अग्निकी स्वाहाके समान उसकी अग्निला नामकी ब्राह्मणी थी जो उसे बहुत ही सुख देनेवाली थी। उस ब्राह्मणीसे सोमशर्माके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो पुत्र हुए ॥ १०० ॥ ये दोनों ही पुत्र, पृथिवीपर वेद तथा वेदार्थमें अत्यन्त निपुण हो गये। इन्होंने अपने प्रभावसे अन्य ब्राह्मणोंकी प्रभाको आच्छादित कर दिया तथा शुक्र और बृहस्पतिके समान देदीप्यमान होने लगे ॥ १०१ ॥ वेदार्थकी भावनासे उत्पन्न जातिवादसे गर्वित, बकवास करनेवाले, माता-पिताके प्रिय वचनोंसे पले-पुसे ये दोनों पुत्र भोग-वासनामें तत्पर हो गये। जब वे सोलह वर्षके हुए तो स्त्रियोंको ही स्वर्ग समझने लगे और परलोककी कथासे अत्यन्त द्वेष करने लगे ॥ १०२-१०३ ॥

तदनन्तर किसी समय श्रुतरूप सागरके पारगामी नन्दिवर्धन नामके गुरु विशाल संघके साथ आकर शालिग्रामके बाहर उपवनमें ठहर गये ॥ १०४ ॥ चारों वर्णके महाजन आकुलतारहित हो उनकी वन्दनाके लिए जा रहे थे सो उन्हें देख दोनों ब्राह्मण-पुत्रोंने उसका कारण पूछा ॥ १०५ ॥ तदनन्तर एक सरलस्वभावी ब्राह्मणने उन्हें स्पष्ट बताया कि मुनियोंका एक बड़ा सङ्घ आया है। उसीकी वन्दनाके लिए हम लोग जा रहे हैं ॥१०६॥ ब्राह्मणका उत्तर सुन दोनों पुत्र विचारने लगे कि 'पृथिवीतलपर हम लोगोंसे बढ़कर दूसरा वन्दनीय है ही कौन ? चलो हम भी उसका माहात्म्य देखें' इस प्रकार विचारकर मानसे भरे दोनों पुत्र

१. पृच्छति म० । २. 'महाश्रमणसङ्घस्य' इति सुष्ठु भाति ।

प्राप्तावपश्यतां विप्राववधिज्ञानचक्षुषम् । जनसागरमध्यस्थं साध्विन्द्रं धर्मवादिनम् ॥१०८॥
महिषाभ्यामिव क्षोभो माभूदाभ्यामिहाधुना । सद्धर्मश्रवणस्येति शुश्रूषुहितबुद्धिना ॥१०९॥
साधुनाऽवधिनेत्रेण दूरात्सात्यकिना तकौ । इत आगम्यतां विप्राविस्याहूतौ पुरःस्थितौ ॥११०॥
ततो लोकस्तकौ दृष्ट्वा[1] सावष्टम्भौ यतेः पुरः । आपुपूर[2] पयःपूरैः प्रावृषीव महानदः ॥१११॥
अतः प्राह यतिः प्राप्तौ कुतः पण्डितमानिनौ । प्राहतुस्तौ न किं ज्ञातौ शालिग्रामादिहागतौ ॥११२॥
सात्यकिः प्राह सत्यं भोः शालिग्रामादुपागतौ । किन्त्वनाद्यन्तसंसारे संसरन्तौ कुतो गतेः ॥११३॥
अन्यस्यापि च दुर्बोधमेतदित्युदिते यतिः । नैवमित्यगदीद् विप्रौ ! श्रूयतां कथयाम्यहम् ॥११४॥
ग्रामस्यास्यैव सीमान्ते शृगालौ कर्मनिर्मितौ । युवां परस्परप्रीतौ जातौ जन्मन्यनन्तरे ॥११५॥
आसीत्प्रवरको नाम्ना ग्रामेऽत्रैव कृषीवलः । विप्रः प्रकृष्य स क्षेत्रं महावर्षानिलार्दितः ॥११६॥
मुक्त्वोपकरणं क्षेत्रे वटवृक्षतलेऽखिलम् । कम्पमानशरीरोऽगात् क्षुद्रोगातिवशीकृतः ॥११७॥
सप्ताहोरात्रवर्षेण प्राणिसंहारकारिणा । आर्द्रोपकरणं ताभ्यां तिर्यग्भ्यां भक्षितं क्षुधा ॥११८॥
जातोदरमहाशूलौ प्रसह्यासह्यवेदनाम् । अकामनिर्जरायोगादर्जितेनोर्जितायुषा ॥११९॥

उपवनकी ओर चले॥ १०७॥ उस समय अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक, साधुशिरोमणि नन्दिवर्धनगुरु, समुद्रके समान अपार जन-समूहके मध्यमें स्थित हो धर्मका उपदेश दे रहे थे। जब दोनों ब्राह्मण उनके पास पहुँचे तब 'भैंसाओंके समान इन दोनोंसे इस समय यहाँ समीचीन धर्मके श्रवणमें बाधा न आवे' इस प्रकार श्रोताओंका हित चाहनेवाले अवधिज्ञानी सात्यकि मुनिने उन दोनों ब्राह्मणोंको दूरसे देख 'हे ब्राह्मणो! यहाँ आइए' इस तरह बुला लिया और आकर वे उनके सामने बैठ गये॥ १०८–११०॥ तदनन्तर उन अहंकारी ब्राह्मणोंको सात्यकि मुनिराजके सामने बैठा देख, लोगोंने आ-आकर उनके सामनेकी भूमिको उस प्रकार भर दिया जिस प्रकार कि वर्षाऋतुमें महानद जलके प्रवाहसे भर देता है। भावार्थ—कौतुकसे प्रेरित हो लोक मुनिराजके पास आ गये॥ १११॥

तदनन्तर मुनिराजने कहा कि हे विद्वानो! आप लोग कहाँसे आये हैं? इसके उत्तरमें ब्राह्मणोंने कहा कि क्या आप नहीं जानते इसी शालिग्रामसे आये हैं॥ ११२॥ सात्यकि मुनिराजने कहा कि हाँ यह तो सत्य है कि आप शालिग्रामसे आये हैं परन्तु यह तो बताइए कि इस अनादि-अनन्त संसारमें भ्रमण करते हुए आप किस गतिसे आये हैं?॥ ११३॥ ब्राह्मणोंने कहा कि यह बात तो हम लोग ही क्या दूसरेके लिए भी दुर्ज्ञेय है अर्थात् इसे कोई नहीं जान सकता। तब मुनिराजने कहा कि हे ब्राह्मणो! सुनो यह बात नहीं है कि कोई नहीं जान सकता, सुनिए, मैं कहता हूँ॥ ११४॥

तुम दोनों भाई इस जन्मसे पूर्व जन्ममें इसी शालिग्रामकी सीमाके निकट अपने कर्मसे दो शृगाल थे और दोनों ही परस्परकी प्रीतिसे युक्त थे॥ ११५॥ इसी ग्राममें एक प्रवरक नामका ब्राह्मण किसान रहता था। एक दिन वह खेतको जोतकर निश्चिन्त हुआ ही था कि बड़े जोरसे वर्षा होने लगी तथा तीव्र आँधी आ गयी। उनसे वह बहुत पीड़ित हुआ, उसका शरीर काँपने लगा और भूख-रूपी रोगने भी उसको खूब सताया जिससे वह खेतके पास ही वटवृक्षके नीचे अपना चमड़ेका उपकरण छोड़कर घर चला गया॥ ११६–११७॥ प्राणियोंका संहार करनेवाली वह वर्षा लगातार सात दिन-रात तक होती रही। इस बीचमें दोनों शृगाल भूखसे अत्यन्त व्याकुल हो उठे और उन्होंने उस किसानका वह भीगा हुआ उपकरण खा लिया॥ ११८॥ कुछ समय बाद पेटमें बहुत भारी शूलकी वेदना उठनेसे उन दोनों शृगालोंको असह्य वेदना सहन करनी पड़ी। अकामनिर्जराके योगसे

१. सगर्वौ। २. आययुश्च म०।

कालं कृत्वा सुतौ जातौ जातिगौरवगर्वितौ । अग्निभूतिर्मरुद्भूतिः सोमदेवस्य देहजौ ॥१२०॥
पापपाकेन दौर्गत्यं सौगत्यं पुण्यपाकतः । जीवानां जायते तत्र जातिगर्वेण किं वृथा ॥१२१॥
प्राप्तः पामरको दृष्ट्वा क्रोष्टारौ नष्टजीवितौ । दृती कृत्वा कृती गेहे तिष्ठतोऽद्यापि तद्दृतौ ॥१२२॥
सोऽपि मृत्वा सुतस्यैव सुतो भूत्वातिमानवान् । जातिस्मरः स्मरच्छायो मृषा मूक इव स्थितः ॥१२३॥
स एष बन्धुमध्यस्थो मामतीव विलोकते । इत्युक्त्वाऽऽहूय तं मूकं सात्यकिः सत्यवाग् जगौ ॥१२४॥
स त्वं पामरको विप्रः प्राप्तस्तोकस्य[1] तोकताम्[2] । शोकं च मूकभावं च मुञ्च मुञ्च वचोऽमृतम् ॥१२५॥
जायतेऽत्र नटस्येव संसारे स्वामिभृत्ययोः । पितृपुत्रकयोर्मातृभार्ययोश्च विपर्ययः ॥१२६॥
घटीयन्त्रघटीजाले जटिले कुटिले भवे । उत्तराधर्यमायान्ति जन्तवः सततभ्रमाः ॥१२७॥
इति विज्ञाय निस्सारं घोरं संसारसागरम् । कुरु पुत्र ! दयामूलं व्रताख्यं सारसङ्ग्रहम् ॥१२८॥
इति साक्षात्कृते तेन प्रत्यये यतिना द्विजः । पपात पादयोस्तस्य प्रदक्षिणपुरःसरम् ॥१२९॥
आनन्दाश्रुपरीताक्षः पुनरुत्थाय विस्मयी । जगाद गद्गदालापः कृताञ्जलिपुटालिकः ॥१३०॥
अहो सर्वज्ञकल्पस्त्वं वस्तुमस्तत्त्वमीश्वरः । अत्रस्थः[3] पश्यसि स्पष्टं[4] जगत्त्रितयगोचरम् ॥१३१॥
उन्मीलितं मनोनेत्रमज्ञानपटलाविलम् । त्वया नाथ ! ममाद्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥१३२॥

उन्हें प्रशस्त आयुका बन्ध हो गया और उसके फलस्वरूप मरकर वे सोमदेव ब्राह्मणके जातिके गर्वसे गर्वित अग्निभूति और वायुभूति नामके तुम दोनों पुत्र हुए ॥ ११९–१२० ॥ पापके उदयसे प्राणियोंको दुर्गति मिलती है और पुण्यके उदयसे सुगति प्राप्त होती है इसलिए जातिका गर्व करना वृथा है ॥ १२१ ॥ वर्षा बन्द होनेपर जब किसान खेतपर पहुँचा तो वहाँ मरे हुए दोनों शृगालोंको देखकर उठा लाया और उनकी मशकें बनवाकर कृत-कृत्य हो गया। वे मशकें उसके घरमें आज भी रखी हैं ॥ १२२ ॥ तीव्र मानसे युक्त प्रवरक भी समय पाकर मर गया और अपने पुत्रके ही पुत्र हुआ। वह कामदेवके समान कान्तिका धारक है तथा जाति स्मरण होनेसे झूठ-मूठ ही गूँगाके समान रहता है ॥ १२३ ॥ देखो, वह अपने बन्धुजनोंके बीचमें बैठा मेरी ओर टकटकी लगाकर देख रहा है। इतना कहकर सत्यवादी सात्यकि मुनिराजने उस गूँगेको अपने पास बुलाकर कहा कि तू वही ब्राह्मण किसान अपने पुत्रका पुत्र हुआ है। अब तू शोक और गूँगेपनको छोड़ तथा वचनरूपी अमृतको प्रकटकर—स्पष्ट बात-चीत कर अपने बन्धुजनोंको हर्षित कर ॥ १२४–१२५ ॥ इस संसारमें नटके समान स्वामी और सेवक, पिता और पुत्र, माता तथा स्त्रीमें विपरीतता देखी जाती है अर्थात् स्वामी सेवक हो जाता है, सेवक स्वामी हो जाता है, पिता पुत्र हो जाता है, पुत्र पिता हो जाता है, और माता स्त्री हो जाती है, स्त्री माता हो जाती है ॥ १२६ ॥ यह संसार रेंहटमें लगी घटियोंके जालके समान जटिल तथा कुटिल है। इसमें निरन्तर भ्रमण करनेवाले जन्तु ऊँच-नीच अवस्थाको प्राप्त होते ही हैं ॥ १२७ ॥ इसलिए हे पुत्र ! संसाररूपी सागरको निःसार एवं भयंकर जानकर दयामूलक व्रतका सारपूर्ण संग्रह कर ॥ १२८ ॥

इस प्रकार मुनिराजने जब उसके गूँगेपनका कारण प्रत्यक्ष दिखा दिया तब वह तीन प्रदक्षिणा देकर उनके चरणोंमें गिर पड़ा ॥१२९॥ उसके नेत्र आनन्दके आँसुओंसे व्याप्त हो गये। वह बड़े आश्चर्यके साथ खड़ा हो हाथ जोड़ मस्तकसे लगा गद्गद वाणीसे कहने लगा ॥१३०॥

'भगवन् ! आप सर्वज्ञके समान हैं, ईश्वर हैं, यहाँ बैठे-बैठे ही तीनों लोक सम्बन्धी वस्तुके यथार्थ स्वरूपको स्पष्ट जानते हैं ॥१३१॥ हे नाथ ! मेरा मनरूपी नेत्र अज्ञानरूपी पटलसे मलिन हो रहा था सो आज आपने उसे ज्ञानरूपी अञ्जनकी सलाईसे खोल दिया

१. पुत्रस्य । २. पुत्रताम् । ३. अत्रैत्यं म०, ग० । ४. स्पृष्टं म० ।

अनादौ भवकान्तारे महामोहान्धकारिते । भ्रमतो मे मुने ! जातो बन्धुस्त्वं मार्गदर्शनः ॥१३३॥
प्रसीद भगवन् ! दीक्षां देहि दैगम्बरीमिति । प्रसाद्य[1] गुरुमासाद्य जग्राहानुमतां सताम् ॥१३४॥
चरितं तस्य विप्रस्य श्रुत्वा दृष्ट्वा च तादृशम् । श्रामण्यं केचिदापन्नाः केचित् श्रावकतां पराम् ॥१३५॥
तावग्निवायुभूती तु विलक्षौ लोकगर्हितौ । स्वनिकेतं पुनर्यातौ पितृभ्यामपि निन्दितौ ॥१३६॥
कायोत्सर्गस्थितं रात्रौ मुनिमेकान्तवर्तिनम्[2] । जिघांसू[3] खड्गहस्तौ तौ यक्षेण स्तम्भितौ स्थितौ ॥१३७॥
प्रभाते च जनो दृष्ट्वा तौ यतेः पार्श्वयोः स्थितौ । निनिन्द निन्दिताचारौ तावेतौ पातकाविति ॥१३८॥
तावचिन्तयतां साधोः प्रभावोऽयमहो महान् । आवामयत्नतो येन स्तम्भितौ स्तम्भतां गतौ ॥१३९॥
कथञ्चिद् यदि मोक्षः स्यादस्माकं कृच्छ्रतोऽमुतः । जिनधर्मं प्रपत्स्यामो दृष्टसामर्थ्यमित्यपि ॥१४०॥
तावत्तद्व्यसनं श्रुत्वा पितरौ शीघ्रमागतौ । पादलग्नौ मुनिं तं तौ प्रसादयितुमुद्यतौ ॥१४१॥
करुणावानसौ योगी योगं संहृत्य सुस्थितः । क्षेत्रपालकृतं ज्ञात्वा तमाह विनयस्थितम् ॥१४२॥
क्षम्यतां यक्ष ! दोषोऽयमनयोरनयोद्भवः । कर्मप्रेरितयोः प्रायः कुरु कारुण्यमङ्गिनोः ॥१४३॥
इत्यासाद्य मुनेराज्ञां राज्ञामिव नियोगतः । यथाऽऽज्ञापयसीत्युक्त्वा विससर्ज स तौ तदा ॥१४४॥

है ॥१३२॥ महामोहरूपी अन्धकारसे व्याप्त इस अनादि संसार-अटवीमें भ्रमण करते हुए मुझे आपने सच्चा मार्ग दिखलाया है इसलिए हे मुनिराज ! आप ही मेरे बन्धु हैं ॥१३३॥ हे भगवन् ! प्रसन्न होइए और मुझे दैगम्बरी दीक्षा दीजिए।' इस प्रकार गुरुको प्रसन्न कर तथा उनके निकट आ उस गूँगे ब्राह्मणने सत्पुरुषोंके लिए इष्ट दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली ॥१३४॥ उस ब्राह्मणका पूर्वोक्त चरित सुनकर तथा देखकर कितने ही लोग मुनिपदको प्राप्त हो गये और कितने ही श्रावक अवस्थाको प्राप्त हुए ॥१३५॥

अग्निभूति और वायुभूति अपने पूर्वभव सुन बड़े लज्जित हुए। लोगोंने भी उन्हें बुरा कहा इसलिए वे चुप-चाप अपने घर चले गये। वहाँ माता-पिताने भी उनकी निन्दा की ॥१३६॥ रात्रिके समय सात्यकि मुनिराज कहीं एकान्तमें कायोत्सर्ग मुद्रासे स्थित थे सो उन्हें अग्निभूति और वायुभूति तलवार हाथमें ले मारना ही चाहते थे कि यक्षने उन्हें कील दिया जिससे वे तलवार उभारे हुए ज्योंके-त्यों खड़े रह गये ॥१३७॥ प्रातःकाल होनेपर लोगोंने मुनिराजके पास खड़े हुए उन दोनोंको देखा और 'ये वही निन्दित कार्यके करनेवाले पापी ब्राह्मण हैं' इस प्रकार कहकर उनकी निन्दा की ॥१३८॥ अग्निभूति, वायुभूति सोचने लगे कि देखो, मुनिराजका यह कितना भारी प्रभाव है कि जिनके द्वारा अनायास ही कीले जाकर हम दोनों खम्भे-जैसी दशाको प्राप्त हुए हैं ॥१३९॥ उन्होंने मनमें यह भी संकल्प किया कि यदि किसी तरह इस कष्टसे हम लोगोंका छुटकारा होता है तो हम अवश्य ही जिनधर्म धारण करेंगे क्योंकि उसकी सामर्थ्य हम इस तरह प्रत्यक्ष देख चुके हैं ॥१४०॥ उसी समय उनका कष्ट सुन उनके माता-पिता शीघ्र दौड़े आये और मुनिराजके चरणोंमें गिरकर उन्हें प्रसन्न करनेका उद्यम करने लगे ॥१४१॥ करुणाके धारक मुनिराज अपना योग समाप्त कर जब विराजमान हुए तब उन्होंने यह सब क्षेत्रपालके द्वारा किया जान विनयपूर्वक बैठे क्षेत्रपालसे कहा कि—'यक्ष ! यह इनका अनीतिसे उत्पन्न दोष क्षमा कर दिया जाय। कर्मसे प्रेरित इन दोनों प्राणियोंपर दया करो' ॥१४२–१४३॥ इस प्रकार राजाओंकी आज्ञाके समान मुनिराजकी आज्ञा प्राप्तकर 'जैसी आपकी आज्ञा हो' यह कह क्षेत्रपालने दोनोंको छोड़ दिया ॥१४४॥

१. प्रासाद्य म०, ग०। २. वर्तिनौ म०, ग०। ३. जिघांसौ म०, ग०।

मुनिमासाद्य तौ धर्मं श्रुत्वा द्विविधमन्यतः । अणुव्रतानि संगृह्य श्रावकत्वमुपागतौ ॥१४५॥
अनुपाल्य चिरं धर्मं सम्यग्दर्शनभावितौ । कालेन कालधर्मेण जातौ सौधर्मवासिनौ ॥१४६॥
अश्रद्धाय मतं जैनं पितरौ तु मृतौ तयोः । [1]जातौ कुयोनिपान्थौ तौ यतो मिथ्यात्वमोहितौ ॥१४७॥
देवौ देवसुखं भुक्त्वा च्युत्वाऽयोध्यानिवासिनः । जातौ समुद्रदत्तस्य धारिण्यां श्रेष्ठिनः सुतौ ॥१४८॥
पूर्णभद्रस्तयोर्ज्येष्ठो मणिभद्रोऽनुजोऽभवत् । अविराधितसम्यक्त्वौ तौ च शासनवत्सलौ ॥१४९॥
गुरोर्महेन्द्रसेनाख्याद् धर्मं श्रुत्वा पिताऽनयोः । तत्पुरेश्वरराजश्च भव्याश्चान्ये प्रवव्रजुः ॥१५०॥
अन्यदा मुनिपूजार्थं रथेन प्रस्थितौ पुरः । चाण्डालं सारमेयीं च तौ दृष्ट्वा स्नेहमागतौ ॥१५१॥
वन्दित्वा तद्गुरुं भक्त्या पृच्छतः स्म सविस्मयौ । शुनीचाण्डालयोः स्नेहः स्वामिन्नौ किमभूदिति ॥१५२॥
गुरुराहावधिज्ञानज्ञातलोकत्रयस्थितिः । विप्रजन्मनि यौ तौ वां पितरौ ताविमौ यतः ॥१५३॥
निशम्येति गुरुं नत्वा गत्वा तौ धर्ममूचतुः । भवान्तरकथाश्रावमुपशान्तौ ततस्तकौ ॥१५४॥
निर्वेदी दीनतां त्यक्त्वा त्यक्त्वाहारं चतुर्विधम् । मासेन श्वपचो मृत्वा भूत्वा नन्दीश्वरोऽमरः ॥१५५॥
सारमेयीं पुरेऽत्रैव राजपुत्रीत्वमागताम् । अबोधयदसावेत्य स्वयंवरगतां सतीम् ॥१५६॥

तदनन्तर मुनिराजके समीप आकर अग्निभूति, वायुभूतिने मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारका धर्मश्रवण किया और अणुव्रत धारण कर श्रावक पद प्राप्त किया ॥१४५॥ सम्यग्दर्शनकी भावनासे युक्त दोनों ब्राह्मणपुत्र चिरकाल तक धर्मका पालन कर मृत्युको प्राप्त हो सौधर्म स्वर्गमें देव हुए ॥१४६॥ उनके माता-पिताको जैनधर्मकी श्रद्धा नहीं हुई इसलिए वे मिथ्यात्वसे मोहित हो मरकर कुगतिके पथिक हुए ॥१४७॥

अग्निभूति, वायुभूतिके जीव जो सौधर्म स्वर्गमें देव हुए थे, स्वर्गके सुख भोग, वहाँसे च्युत हुए और अयोध्या नगरीमें रहनेवाले समुद्रदत्त सेठकी धारिणी नामक स्त्रीसे पुत्र उत्पन्न हुए ॥१४८॥ उनमें बड़े पुत्रका नाम पूर्णभद्र और छोटे पुत्रका नाम मणिभद्र था। इस पर्यायमें भी दोनोंने सम्यक्त्वकी विराधना नहीं की थी तथा दोनों ही जिन-शासनसे स्नेह रखनेवाले थे ॥१४९॥ तदनन्तर काल पाकर इन दोनोंके पिता, अयोध्याके राजा तथा अन्य भव्य जीवोंने महेन्द्रसेन गुरुसे धर्म श्रवण कर जिन-दीक्षा धारण कर ली ॥१५०॥ किसी समय पूर्णभद्र और मणिभद्र, रथपर सवार हो मुनिपूजाके लिए नगरसे जा रहे थे सो बीचमें एक चाण्डाल तथा कुत्तीको देखकर स्नेहको प्राप्त हो गये ॥१५१॥ मुनिराजके पास जाकर दोनोंने भक्तिपूर्वक उन्हें नमस्कार किया। तदनन्तर आश्चर्यसे युक्त हो उन्होंने पूछा कि हे स्वामिन्! कुत्ती और चाण्डालके ऊपर हम दोनोंको स्नेह किस कारण उत्पन्न हुआ? ॥१५२॥

अवधिज्ञानके द्वारा तीनों लोकोंकी स्थितिको जाननेवाले मुनिराजने कहा कि ब्राह्मण-जन्ममें तुम्हारे जो माता-पिता थे वे ही ये कुत्ती और चाण्डाल हुए हैं सो पूर्वभवके कारण इनपर तुम्हारा स्नेह हुआ है ॥ १५३ ॥ इस प्रकार सुनकर तथा मुनिराजको नमस्कारकर दोनों भाई कुत्ती और चाण्डालके पास पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने उन दोनोंको धर्मका उपदेश दिया तथा पूर्वभवकी कथा सुनायी जिससे वे दोनों ही शान्त हो गये ॥१५४॥ चाण्डालने संसारसे विरक्त हो दीनता छोड़ चारों प्रकारके आहारका त्याग कर दिया और एक माहका संन्यास ले मरकर नन्दीश्वर द्वीपमें देव हुआ ॥ १५५ ॥ कुत्ती इसी नगरमें राजाकी पुत्री हुई। इधर राजपुत्रीका स्वयंवर हो रहा था। जिस समय वह स्वयंवरमें स्थित थी उसी समय पूर्वोक्त नन्दीश्वर देवने आकर उसे सम्बोधा ॥ १५६ ॥ जिससे

१. यातौ म०, ग० ।

ज्ञातसंसारनिःसारा सम्यक्त्वपरिभाविता । सितैकवसना कन्या प्राव्रजन्नवयौवना ॥१५७॥
अनुष्ठाय चिरं श्रेष्ठं श्रावकव्रतमुत्तमम् । संलिख्य[1] भ्रातरौ जातौ सौधर्मे सुरसत्तमौ ॥१५८॥
च्युत्वा पुनरयोध्यायां हेमनाभस्य भूपतेः । धरावत्यां सुतौ भूतौ मधुकैटभनामकौ ॥१५९॥
अभिषिच्य मधुं राज्ये यौवराज्ये च कैटभम् । हेमनाभो महाभागो व्रतं जैनेन्द्रमग्रहीत् ॥१६०॥
मधुकैटभवीरौ तावेकवीरौ धरातले । भूतावद्भुततेजस्कौ सूर्याचन्द्रमसाविव ॥१६१॥
[2]अक्षुण्णः क्षुद्रसामन्तैरन्धकार इवैतयोः । गिरिदुर्गमुपाश्रित्य भीमकः प्रत्यवस्थितः ॥१६२॥
तद्वशीकरणार्थं तौ चेलतुर्मधुकैटभौ । प्राप्तौ वटपुरं यत्र वीरसेनोऽधितिष्ठते ॥१६३॥
अभ्युद्गतेन तेनासौ प्रीतेन मधुरादरात् । सान्तःपुरेण वीरेण स्वामिभक्त्यातिमानितः ॥१६४॥
चन्द्राभा चन्द्रिकेवाऽस्य मानिनी रूपमानिनी । अहरन्मधुराजस्य मनो मधुरभाषिणी ॥१६५॥
शस्त्रशास्त्रकठोराऽपि चन्द्राभादर्शनान्मधोः । आर्द्रभावमगाद् बुद्धिश्चन्द्रकान्तशिला यथा ॥१६६॥
राज्यं यदनया युक्तं रूपसौभाग्ययुक्तया । सुखाय तदहं मन्ये वियुक्तं तु विषोपमम् ॥१६७॥
चन्द्राभयोपगूढस्य महोदयमहीभृतः । सम्पूर्णस्येव चन्द्रस्य कलङ्कोऽप्यतिशोभते ॥१६८॥

संसारको असार जान सम्यक्त्वकी भावनासे युक्त उस नवयौवनवती राजपुत्रीने एक सफेद साड़ीका परिग्रह रख आर्यिकाकी दीक्षा ली ॥१५७॥

पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दोनों भाई चिरकाल तक श्रावकके उत्तम एवं श्रेष्ठ व्रतका पालन कर अन्तमें सल्लेखना-द्वारा सौधर्म स्वर्गमें उत्तम देव हुए ॥१५८॥ पश्चात् स्वर्गसे च्युत होकर अयोध्या नगरीके राजा हेमनाभकी धरावती रानीमें मधु और कैटभ नामक पुत्र हुए ॥१५९॥ तदनन्तर किसी दिन राज्यगद्दीपर मधुका और युवराजपदपर कैटभका अभिषेक कर महानुभाव राजा हेमनाभने जिनदीक्षा धारण कर ली ॥१६०॥ मधु और कैटभ पृथिवीतलपर अद्वितीय वीर हुए। वे दोनों सूर्य और चन्द्रमाके समान अद्भुत तेजके धारक थे ॥१६१॥

तदनन्तर जो क्षुद्र सामन्तोंके द्वारा वशमें नहीं किया जा सका था ऐसा अन्धकारके समान भयंकर भीमक नामका एक राजा पहाड़ी दुर्गका आश्रय पा मधु और कैटभके विरुद्ध खड़ा हुआ सो उसे वश करनेके लिए दोनों भाई चले। चलते-चलते वे उस वटपुर नगरमें पहुँचे जहाँ वीरसेन राजा रहता था ॥१६२–१६३॥ प्रसन्नतासे युक्त राजा वीरसेनने सम्मुख आकर बड़े आदरसे मधुकी अगवानी की और स्वामि-भक्तिसे प्रेरित हो अपने अन्तःपुरके साथ उसका खूब सम्मान किया ॥१६४॥ राजा वीरसेनकी एक चन्द्राभा नामकी स्त्री थी जो चन्द्रिकाके समान सुन्दर और मानवती थी। मधुर-मधुर भाषण करनेवाली उस चन्द्राभाने राजा मधुका मन हर लिया ॥१६५॥ जिस प्रकार अत्यन्त कठोर चन्द्रकान्तमणिकी शिला, चन्द्रमाको देखनेसे, आर्द्रभावको प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार शस्त्र और शास्त्रोंके अभ्याससे अत्यन्त कठोर होनेपर भी मधु राजाकी बुद्धि चन्द्राभाको देखनेसे आर्द्रभावको प्राप्त हो गयी ॥१६६॥ वह विचार करने लगा कि जो राज्य, रूप और सौभाग्यसे युक्त इस चन्द्राभासे सहित है उसे ही मैं सुखका कारण मानता हूँ और इससे रहित राज्यको विषके समान समझता हूँ ॥१६७॥ जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमाका कलङ्क भी सुशोभित होता है उसी प्रकार चन्द्राभाके द्वारा आलिङ्गित मुझ राजाधिराजका कलङ्क भी शोभा देगा। **भावार्थ**—परस्त्रीके सम्पर्कसे यद्यपि मेरा अपवाद होगा—मैं कलङ्की कहलाऊँगा तथापि चन्द्रमाके कलङ्कके समान मेरा वह कलङ्क शोभाका ही कारण होगा ॥ १६८ ॥ जिस प्रकार

१. सल्लेखनां कृत्वा । २. अक्षुद्रः म०, ग० ।

चन्द्राभासंगसंजातविकासस्य सुगन्धिताम् । कुमुदाकरराजस्य पङ्कगन्धो न बाधते ॥१६९॥
इति संचिन्त्य रागान्धः स तस्या हरणे मनः । न्यधत्त मधुरुर्वीशो मतिमानपि मान्यपि ॥१७०॥
ततो भीमकमुद्वृत्तं वशीकृत्य कृती मधुः । अयोध्यापुरमागत्य चन्द्राभाहृतमानसः ॥१७१॥
सान्तःपुरान् स्वसामन्तान् स्वपुरं स्वपुरस्थितान् । सत्वरं सत्वसम्पन्नः समाहूय यथायथम् ॥१७२॥
सर्वान् संपूज्य संपूज्य विचित्राम्बरभूषणैः । विससर्ज निजावासान् प्रसादाह्लादिताननान् ॥१७३॥
अतिसंमान्य सस्त्रीकं तथा वटपुरेश्वरम् । अजीगमदतिप्रीतं प्रीतिपूर्वं निजास्पदम् ॥१७४॥
चन्द्राभायास्तु यद् योग्यमद्याप्याभरणं वरम् । न सज्जमिति तावत्सा तेन रुद्ध्वा निजीकृता ॥१७५॥
प्रभुत्वमखिलस्त्रीणां महादेवीपदेन सः । दत्त्वा कामान् यथाकामं न्यषेवत तया मधुः ॥१७६॥
तस्याः कौमारभर्ता तु वियोगानलदीपितः । उन्मत्ततां परां प्राप्तः पर्यटन् क्षितिमाकुलः ॥१७७॥
चन्द्राभालापवार्तार्तः पुररथ्यासु पर्यटन् । धूसरो वीक्षितो जातु प्रासादस्थितया तया ॥१७८॥
[1]जातकारुण्ययाऽवाचि मधुराजस्ततोऽनया । नाथ ! पूर्वपतिं पश्य भ्रमन्तं मे प्रलापिनम् ॥१७९॥
तस्मिन्नवसरे चण्डैस्तैः कश्चित्पारदारिकः । गृहीत्वा दर्शितस्तस्मै नृपाय न्यायवेदिने ॥१८०॥
किमर्हो[2] देवदण्डोऽस्य तेनोक्तं सोऽपराधवान् । अत्यन्तपापभागेष तस्मादस्य विधीयते ॥१८१॥

चन्द्रिकाके संगसे विकसित कुमुदवनकी सुगन्धिको कीचड़की दुर्गन्ध नष्ट नहीं कर सकती उसी प्रकार चन्द्राभाके संगसे प्रफुल्लित मेरी कीर्तिको अपवादरूपी कीचड़की दुर्गन्ध नष्ट नहीं कर सकेगी ।।१६९।। राजा मधु यद्यपि बहुत बुद्धिमान और अभिमानी था तथापि रागसे अन्धा होनेके कारण उसने उक्त विचारकर चन्द्राभाके हरण करनेमें अपना मन लगाया—उसके हरनेका मनमें पक्का निश्चय कर लिया ।।१७०।।

तदनन्तर उच्छृङ्खल राजा भीमकको वशकर कृतकृत्य होता हुआ राजा मधु अयोध्या नगरीमें वापिस आ गया। वहाँ चूँकि चन्द्राभाके द्वारा उसका मन हरा गया था इसलिए उसने बड़े उत्साहसे युक्त हो अपने समस्त सामन्तोंको अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ शीघ्र ही अपने नगरमें बुलाया और यथायोग्य नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे सबका सत्कारकर उन्हें अपने-अपने घर विदा कर दिया। स्वामीके द्वारा यह सत्कार प्राप्तकर सबके मुख प्रसन्नतासे विकसित हो रहे थे। वटपुरका राजा वीरसेन भी अपनी स्त्री चन्द्राभाके साथ वहाँ आया था सो राजा मधुने उसका बहुत भारी सत्कार कर उसे यह कहकर अपने घरके लिए विदा कर दिया कि चन्द्राभाके योग्य आभूषण अभी तक तैयार नहीं हो सके हैं इसलिए तैयार होनेपर भेज देंगे। भोला-भाला वीरसेन चला गया और चन्द्राभाको रोककर राजा मधुने अपनी स्त्री बना ली। महादेवीका पद देकर उसने चन्द्राभाको समस्त स्त्रियोंका प्रभुत्व प्रदान किया। इस प्रकार वह उसके साथ मनचाहे भोग भोगने लगा ।।१७१–१७६।।

इधर चन्द्राभाका पहलेका पति उसकी विरहरूपी अग्निसे प्रदीप्त हो अत्यधिक उन्मत्तताको प्राप्त हो पृथिवीपर बड़ी व्यग्रतासे इधर-उधर घूमने लगा ।।१७७।। एक दिन वह 'चन्द्राभा चन्द्राभा' इस प्रकारके आलापकी वार्तासे दुखी हुआ धूलि-धूसरित हो नगरकी गलियोंमें घूम रहा था कि महलपर खड़ी चन्द्राभाने उसे देख लिया ।। १७८ ।। देखते ही के साथ उसके हृदयमें दया उमड़ आयी। उसने पास ही बैठे राजा मधुसे कहा कि हे नाथ ! देखो यह मेरा पूर्व पति कैसा प्रलाप करता हुआ घूम रहा है ।।१७९।।

उसी अवसरपर कुछ क्रूर कर्मचारियोंने परस्त्रीसेवन करनेवाले किसी पुरुषको पकड़कर न्यायके वेत्ता राजा मधुके लिए दिखाया और कहा कि हे देव ! इसके लिए कौन-सा दण्ड योग्य है ? राजा मधुने उत्तर दिया कि यह अपराधी अत्यन्त पापी है इसलिए इसके हाथ-

---

१. यातकारुण्यया म०, ग० । २. किमिह म० ।

हस्तपादशिरश्छेदं देहदण्डं भयास्पदम् । देव्या चोक्तं तदा देव ! अयं दोषो न किं तव ॥१८२॥
[1]तद्वचसा स म्लानो हि हिमानीहतपद्मवत् । चिन्तयेदनया तथ्यं ममोक्तं हितमिच्छया ॥१८३॥
परस्त्रीहरणं सत्यं दुर्गतेर्दुःखकारणम् । ज्ञात्वा विरागिणं कान्तमूचे सापि विरागिणी ॥१८४॥
किं भोगैरीदृशैः कृत्यं परस्त्रीविषयैः प्रभो । किंपाकसदृशैः स्वामिन् ! दुःखदैः प्रीणकैरपि ॥१८५॥
भोगास्ते स्वपरयोर्ये नोपतापस्य हेतवः । सम्मताः साधुलोकस्य नेतरे विषयात्मकाः ॥१८६॥
इति प्रबोध्यमानोऽयं मधुश्चन्द्राभया शनैः । मुमोच सुदृढीभूतं मोहकादम्बरीमदम् ॥१८७॥
जगाद च स तां देवीं प्रसन्नमतिरादरात् । साधु ! साधु ! त्वया साध्वि ! प्रतिपादितमत्र मे ॥१८८॥
न युक्तमीदृशं कर्म पुंसामाचरितुं सताम् । परपीडाकरं बाढं परत्रेह च पापकृत् ॥१८९॥
मादृशोऽपि यदीदृक्षं कर्म लोकविगर्हितम् । करोति तत्र किं वाच्यमबुधस्य पृथग्जनः ॥१९०॥
स्वकलत्रेऽपि यत्रायं रागोऽत्यर्थं निषेवितः । कर्मबन्धस्य हेतुः स्यात् किं पुनः परयोषिति ॥१९१॥
ज्ञानाङ्कुशनिरुद्धोऽपि मनोमत्तमहाद्विपः । उत्पथेन नयत्युग्रः किमत्र कुरुते बुधः ॥१९२॥
निरुद्ध्य निशितैर्दण्डैरनङ्कुशमनोगजम् । प्रवर्तयन्ति ये मार्गे केचिद्वात्र ते भटाः ॥१९३॥
दण्डैर्मनोगजो मत्तो रतिवासितया हृतः । यावन्न युज्यते तावत् कुतस्तस्य [2]मदक्षतिः ॥१९४॥
प्रयत्नेन मनोहस्ती यावन्नात्र वशीकृतः । तावदारोहकस्यापि भयायैव न शान्तये ॥१९५॥

पाँव तथा शिर काटकर इसे भयंकर शारीरिक दण्ड दिया जाये। देवी चन्द्राभाने उसी समय कहा कि हे देव! क्या यह अपराध आपने नहीं किया है? आपने भी तो परस्त्री-हरणका अपराध किया है ॥१८०–१८२॥ चन्द्राभाके उक्त वचन सुनते ही राजा मधु तुषारसे पीड़ित कमलके समान म्लान हो गया—उसके मुखकी कान्ति नष्ट हो गयी। वह विचार करने लगा कि मेरा हित चाहनेवाली इस चन्द्राभाने यह सत्य ही कहा है ॥१८३॥ सचमुच ही परस्त्रीहरण दुर्गतिके दुःखका कारण है। पतिको विरागी देख चन्द्राभाने भी विरक्त हो कहा कि हे प्रभो! इन परस्त्रीविषयक भोगोंसे क्या प्रयोजन है? हे नाथ! ये भोग यद्यपि वर्तमानमें सुख पहुँचानेवाले हैं तथापि परिपाक कालमें किंपाक फलके समान दुःखदायी हैं। सज्जन पुरुषोंको वे ही भोग इष्ट होते हैं जो निज और परके सन्तापके कारण नहीं हैं। अन्य विषय रूप भोगोंको सत्पुरुष भोग नहीं मानते ॥१८४–१८६॥

चन्द्राभाके द्वारा इस प्रकार समझाये जानेपर राजा मधुने धीरे-धीरे मोहरूपी मदिराके सुदृढ़ मदको छोड़ दिया ॥१८७॥ और बड़ी प्रसन्नतासे आदरपूर्वक उससे कहा कि ठीक, ठीक, हे साध्वि! तुमने बहुत अच्छी बात कही ॥१८८॥ यथार्थमें सत्पुरुषोंको ऐसा काम करना उचित नहीं जो परलोक तथा इस लोकमें दूसरोंको पीड़ा करनेवाला तथा पापको बढ़ानेवाला हो ॥१८९॥ जब मेरे जैसा प्रबुद्ध व्यक्ति भी ऐसा लोक-निन्द्य कार्य करता है तब अविवेकी साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है? ॥१९०॥ जहाँ अपनी स्त्रीके विषयमें भी सेवन किया हुआ यह अत्यधिक राग कर्मबन्धका कारण है वहाँ परस्त्रीविषयक रागकी तो कथा ही क्या है? ॥१९१॥ यह मनरूपी मदोन्मत्त महा हाथी ज्ञानरूपी अंकुशसे रोके जानेपर भी इस जीवको कुमार्गमें ले जाता है। यहाँ विद्वान् क्या करे? ॥१९२॥ जो इस अनंकुश मनरूपी गजको तीक्ष्ण दण्डोंसे रोककर सुमार्गमें ले जाते हैं ऐसे शूर-वीर पुरुष संसारमें विरले ही हैं ॥१९३॥ रतिरूपी हस्तिनीके द्वारा हरा हुआ यह मनरूपी मत्त हाथी जबतक इन्द्रिय-विजयरूपी दण्डोंसे युक्त नहीं किया जाता है तबतक इसके मदका नाश कैसे हो सकता है? ॥१९४॥ यह मनरूपी हाथी जबतक प्रयत्नपूर्वक वशमें नहीं किया गया है तबतक यह चढ़नेवालेके लिए भयका ही कारण रहता है, शान्तिका नहीं ॥१९५॥

१. तद्वचसामलाभो हि हेमन्ते पद्मवन्नृपः ग० । २. मदक्षितिः म०, ग० ।

सुवशस्तु मनोहस्ती तपोमयरणक्षितौ । पापसेनां निगृह्णाति साध्वाधोरणनोदितः ॥१९६॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धसस्याभिलाषिणः । हृषीकमृगयूथस्य मनोमारुतहारिणः ॥१९७॥
निरुध्य प्रसभं धैर्यं दृढवागुरया चिरम् । चिरसंचितपापस्य करोमि तपसा क्षयम् ॥१९८॥
इत्याभाष्य मनोवेगं निगृह्य विदधे मधुः । धियं बोधपयोधौतां तापस्यै तापशान्तये ॥१९९॥
आगत्य च तदाऽयोध्यां नाम्ना विमलवाहनः । मुनिर्मुनिसहस्रेण सहस्राम्रवनेऽवसत् ॥२००॥
मधुः सकैटभः श्रुत्वा तमयात्सवधूजनः । प्रपूज्य विधिना धर्मं शुश्राव च विशेषतः ॥२०१॥
भोगसंसारशारीरपुरवैराग्यसंगतः । प्रवव्राज सह भ्रात्रा क्षत्रियैर्बहुभिर्मधुः ॥२०२॥
विशुद्धान्वयसम्भूताः शतशोऽथ सहस्रशः । प्राव्रजन् व्रतशीलाढ्याश्चन्द्राभाद्या नृपस्त्रियः ॥२०३॥
माधवोऽपि निजं राज्यं ररक्ष कुलवर्धनः । वर्धमानः शरीरेण पौरुषेण जयेन च ॥२०४॥
चक्रतुस्तौ तपो घोरं राजानौ मधुकैटभौ । व्रतगुप्तिसमित्याढ्यौ निर्ग्रन्थौ ग्रन्थवर्जितौ ॥२०५॥
एक एव तयोरासीदङ्गोपाङ्गपरिग्रहः । न बाह्याभ्यन्तरासंगादङ्गोपाङ्गपरिग्रहः ॥२०६॥
षष्ठाष्टमादिषण्मासपर्यन्तोपोषितावृषी । निःशेषैरागमोक्तैस्तौ चक्रतुः कर्मनिर्जराम् ॥२०७॥
उत्तुङ्गगिरिशृङ्गेषु तयोरातापनस्थयोः । स्वेदस्य बिन्दवः पेतुर्विलीनस्येव कर्मणः ॥२०८॥
वर्षासु जीवरक्षार्थं वृक्षमूलस्थयोर्वपुः । धुधीव [1]शरधाराभिर्न भिन्नं धृतिकण्टकम्[2] ॥२०९॥

इसके विपरीत अच्छी तरह वशमें किया हुआ मनरूपी हाथी, साधुरूपी महावतके द्वारा प्रेरित हो तपरूपी रणभूमिमें पापरूपी सेनाको अच्छी तरह रोक लेता है ॥१९६॥ शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धरूपी धान्यकी अभिलाषा रखनेवाले एवं मनरूपी वायुसे प्रेरित हो चौकड़ी भरनेवाले इस इन्द्रियरूपी मृगोंके झुण्डके संचित धैर्यको ध्यानरूपी मजबूत जालसे जबरदस्ती रोककर मैं तपके द्वारा चिरसंचित पापका अभी हाल क्षय करता हूँ ॥१९७–१९८॥ इस प्रकार कहकर तथा मनके वेगको रोककर राजा मधुने ज्ञानरूपी जलसे धुली हुई अपनी बुद्धिको संतापकी शान्तिके लिए तपश्चरणमें लगाया ॥१९९॥

उसी समय विमलवाहन नामक मुनिराज एक हजार मुनियोंके साथ अयोध्या नगरीमें आकर उसके सहस्राम्रवनमें ठहर गये ॥२००॥ मुनियोंके आगमनका समाचार सुन राजा मधु, अपने छोटे भाई कैटभ और स्त्रीजनोंके साथ उनके दर्शन करनेके लिए गया। विधिपूर्वक उनकी पूजा कर उसने विशेष रूपसे धर्मश्रवण किया ॥२०१॥ तथा भोग, संसार, शारीरिक सुख एवं नगर आदिसे विरक्त हो उसने भाई कैटभ तथा अन्य अनेक क्षत्रियोंके साथ जिन-दीक्षा ले ली ॥२०२॥ विशुद्ध कुलमें उत्पन्न तथा व्रत और शीलसे युक्त चन्द्राभा आदि सैकड़ों हजारों रानियाँ भी दीक्षित हो गयीं—आर्यिका बन गयीं ॥२०३॥ राजा मधुके बाद उसका पुत्र कुलवर्धन, जो शरीर, पुरुषार्थ तथा विजयसे निरन्तर बढ़ रहा था अपने कुलकी रक्षा करने लगा ॥२०४॥

राजा मधु और कैटभ घोर तप करने लगे। वे व्रत गुप्ति और समितिसे युक्त थे तथा परिग्रहसे रहित निर्ग्रन्थ-मुनिराज थे ॥२०५॥ उस समय उन दोनोंके एक अङ्गोपाङ्ग ही परिग्रह था अथवा बाह्य और आभ्यन्तर आसक्तिका अभाव होनेसे अङ्गोपाङ्ग भी परिग्रह नहीं था ॥२०६॥ वे दोनों मुनि बेला तेलाको आदि लेकर छह-छह माहके उपवास करते थे और आगममें प्रतिपादित समस्त आचरणोंसे कर्मोंकी निर्जरा करते थे ॥२०७॥ जब कभी वे ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंकी चोटियोंपर आतापन योग लेकर विराजमान होते थे तब उनके शरीरसे पसीनाकी बूँदे टपकने लगती थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानो कर्म ही गल-गल कर नीचे गिर रहे हों ॥२०८॥ वर्षाऋतुमें जीवोंकी रक्षाके लिए वे विहार बन्द कर वृक्षोंके

१. जलधाराभिः पक्षे बाणधाराभिः । २. धैर्यकवचयुक्तम् ।

यामिनीषु मनीविम्ब्यां हैमनीषु हिमानिलाः । सेहिरे प्रतिमास्थाभ्यां देहच्छायाब्जिनीप्लुषः ॥२१०॥
अनुप्रेक्षाभिरुग्राभिर्धर्मचारित्रशुद्धिभिः । चक्रतुः संवरं धीरौ परीषहजयेन च ॥२११॥
स्वाध्यायध्यानयोगस्थौ वैयावृत्त्यक्रियोद्यतौ । रत्नत्रयविशुद्ध्या तौ दृष्टौ दृष्टान्ततां गतौ ॥२१२॥
बहुवर्षसहस्राणि संचितोरुतपोधनौ । मधुकैटभयोगीशौ शल्यदोषविवर्जितौ ॥२१३॥
अन्ते सम्मेदमारुह्य प्रायोपगमनेन तौ । मासक्षपणयोगेन समाराध्योज्झिताङ्गकौ ॥२१४॥
आरणाच्युतकल्पे ताविन्द्रसामानिकौ प्रभू । देवीदेवसहस्राणां [1]जातौ प्रत्येकमीश्वरौ ॥२१५॥
द्वाविंशतिपयोराशिप्रमाणपरमायुषौ । बुभुजाते सुखं सम्यक् सम्यग्दर्शनभावितौ ॥२१६॥
अवतीर्य मधुर्जातो रुक्मिणीकुक्षिभूमणिः । कृष्णस्य भारते पुत्रो नाम्ना प्रद्युम्न इत्यसौ ॥२१७॥
कैटभोऽपि दिवश्च्युत्वा भ्रातास्यैव भविष्यति । जाम्बवत्यां महादेव्यां शम्बः कृष्णनिभद्युतिः ॥२१८॥
जन्मान्तरमहाप्रीत्या परस्परहितोद्यतौ । धीरौ चरमदेहौ तौ शम्बप्रद्युम्नसुन्दरौ ॥२१९॥
कान्ताविरहसन्तापादार्तध्यानपरायणः । भ्रान्त्वा संसारकान्तारं चिरं वटपुरप्रभुः ॥२२०॥
मनुष्यभावमापन्नः स भूत्वाऽज्ञानतापसः । धूमकेतुरिवोद्दीप्तो धूमकेतुरभूत्सुरः ॥२२१॥

नीचे विराजमान रहते थे। उस समय धैर्यरूपी कवचको धारण करनेवाला उनका शरीर युद्धमें बाणोंकी पङ्क्तिके समान जलकी धाराओंसे खण्डित नहीं होता था। भावार्थ—वर्षा योगके समय वे वृक्षोंके नीचे बैठते थे और जलकी अविरल धाराओंको बड़े धैर्यके साथ सहन करते थे ॥२०९॥ हेमन्त ऋतुकी रात्रियोंमें वे प्रतिमा योगसे विराजमान रहकर शरीर-की कान्तिरूपी कमलिनीको जलानेवाली तुषार वायुको बड़ी शान्तिसे सहन करते थे ॥२१०॥ वे दोनों धीर, वीर, मुनिराज, उत्तम अनुप्रेक्षाओं, दशधर्मों, चारित्रकी शुद्धियों और परीषह-जयके द्वारा संवर करते थे ॥२११॥ वे स्वाध्याय, ध्यान तथा योगमें स्थित रहते थे, वैयावृत्त्य करनेमें उद्यत रहते थे और रत्नत्रयकी विशुद्धताके द्वारा दृष्टान्तपनेको प्राप्त देखे गये थे ॥२१२॥ इस प्रकार अनेक हजार वर्ष तक जिन्होंने तपरूपी विशाल धनका संचय किया था और जो शल्यरूपी दोषसे सदा दूर रहते थे ऐसे मधु और कैटभ मुनिराज अन्तमें सम्मेदाचलपर आरूढ़ हुए और वहाँ एक महीनेका प्रायोपगमनसंन्यास लेकर उन्होंने समाधिपूर्वक शरीरका त्याग किया ॥२१३–२१४॥ शरीर त्यागकर वे आरण और अच्युत स्वर्गमें हजारों देव-देवियोंके स्वामी इन्द्र और सामानिक देव हुए ॥२१५॥ वहाँ बाईस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयुको धारण करनेवाले वे दोनों सम्यग्दृष्टि देव स्वर्गके उत्तम सुखका उपभोग करने लगे ॥२१६॥

उनमें जो मधुका जीव था वह स्वर्गसे च्युत हो भरत क्षेत्रमें कृष्ण नारायणकी रुक्मिणी रानीके उदररूपी भूमिका मणि बन प्रद्युम्न नामका पुत्र हुआ ॥२१७॥ और जो कैटभका जीव था वह भी स्वर्गसे च्युत हो कृष्णकी जाम्बवती पट्टरानीमें कृष्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला प्रद्युम्नका शम्ब नामका छोटा भाई होगा ॥२१८॥ प्रद्युम्न और शम्ब दोनों ही भाई अत्यन्त धीर वीर चरमशरीरी एवं सुन्दर थे और दूसरे जन्मसम्बन्धी महाप्रीतिके कारण परस्पर एक दूसरेके हित करनेमें उद्यत रहते थे ॥२१९॥

वटपुरका स्वामी राजा वीरसेन चन्द्राभाके विरहजन्य सन्तापसे आर्तध्यानमें तत्पर रहता हुआ चिर काल तक संसार रूपी अटवीमें भ्रमण करता रहा ॥२२०॥ अन्तमें मनुष्य पर्यायको प्राप्तकर वह अज्ञानी तापस हुआ और आयुके अन्तमें मरकर धूमकेतु—अग्निके समान प्रचण्ड धूमकेतु नामका देव हुआ ॥२२१॥ ज्यों ही उसे पूर्वजन्मसम्बन्धी

---

१. यातौ म० ।

प्राक्तनीवैरानुबन्धेन स प्रबोधमुपेयुषा । शिशुं व्ययोजयन्मात्रा धिग्वैरं पापवर्धनम् ॥२२२॥
प्रद्युम्नो रक्षितोऽपायात्स्वपुण्यैः पूर्वसंचितैः । पुण्यानामेव सामर्थ्यमपायपरिरक्षणे ॥२२३॥
सीमन्धरजिनेन्द्रेण तदानीमिति भाषितम् । श्रुत्वा पद्मरथश्चक्री प्रणनाम प्रमोदवान् ॥२२४॥
नारदोऽपि जिनं नत्वा प्रमोदेन वशीकृतः । समुत्पत्य नभोमार्गे मेघकूटं समाययौ ॥२२५॥
कालसंवरमानन्द्य पुत्रलाभोत्सवेन सः । देवीं कनकमालां च स्तुत्वा पुत्रवतीं मुहुः ॥२२६॥
रुक्मिण्यास्तनुजं दृष्ट्वा कुमारशतसेवितम् । गूढरूढप्रमोदेन रोमाञ्चमभजत्परम् ॥२२७॥
प्रणामेनार्चितस्तेषां दत्त्वाशिषमतिद्रुतम् । वियदुत्पत्य संप्राप्तो द्वारिकां नारदो मुनिः ॥२२८॥
यथागतं यथादृष्टं यथाश्रुतमशेषतः । स प्रद्युम्नकथां कृत्वा यादवेभ्यो मुदं ददौ ॥२२९॥
देवीं च रुक्मिणीं दृष्ट्वा विकासिमुखपङ्कजः । सीमन्धरजिनेन्द्रोक्तं प्रतिपाद्य पुनर्जगौ ॥२३०॥
दृष्टो रुक्मिणि ते पुत्रो मया क्रीडन् कुमारकः । खचरेशगृहे देवकुमार इव रूपवान् ॥२३१॥
लब्धषोडशलाभोऽयं कृतप्रज्ञप्तिसंग्रहः । अमोघं षोडशे वर्षे समेष्यति सुतस्तव ॥२३२॥
[1]तस्यागमनवेलायामुद्याने तव रुक्मिणि । शिखी कूजिष्यतेऽत्युच्चैरकाले प्रियसूचनः ॥२३३॥
शुष्का तद्गतवेलायामुद्यानमणिवापिका । सुतागमनवेलायां पूर्यते साम्बुजाम्बुना ॥२३४॥
तव शोकापनोदाय शोकापनुदसूचकः । अशोकः पादपोऽकाले मुञ्चत्यङ्कुरपल्लवान् ॥२३५॥

वैरका स्मरण आया त्यों ही उसने बालक प्रद्युम्नको मातासे वियुक्त कर दिया सो आचार्य कहते हैं कि पापको बढ़ानेवाले इस वैर-भावको धिक्कार है ॥२२२॥ अपने पूर्व-संचित पुण्यने प्रद्युम्नकी मृत्युसे रक्षा की सो ठीक ही है क्योंकि अपायसे रक्षा करनेमें पुण्यकी ही सामर्थ्य कारण है ॥२२३॥ इस प्रकार उस समय सीमन्धर जिनेन्द्रके द्वारा प्रतिपादित प्रद्युम्नका चरित श्रवण कर चक्रवर्ती राजा पद्मरथने बड़ी प्रसन्नतासे जिनेन्द्र भगवान्‌को प्रणाम किया ॥२२४॥

इधर आनन्दके वशीभूत हुए नारद, सीमन्धर जिनेन्द्रको नमस्कार कर आकाश-मार्गमें जा उड़े और मेघकूट नामक पर्वतपर आ पहुँचे ॥२२५॥ वहाँ पुत्रलाभके उत्सवसे नारदने कालसंवर राजाका अभिनन्दन किया तथा पुत्रवती कनकमाला नामकी देवीकी स्तुति की ॥२२६॥ सैकड़ों कुमार जिसकी सेवा कर रहे थे ऐसे रुक्मिणी-पुत्रको देख नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे प्रसन्नताके वेगको मनमें छिपाये हुए परम रोमाञ्चको प्राप्त हुए ॥२२७॥ कालसंवर आदिने नमस्कार कर नारदका सम्मान किया। तदनन्तर आशीर्वाद देकर वे बहुत ही शीघ्र आकाशमें उड़कर द्वारिका आ पहुँचे ॥२२८॥ वहाँ आकर जिस प्रकार गये, जिस प्रकार देखा और जिस प्रकार सुना वह सब प्रकट कर नारदने प्रद्युम्नकी कथा कर यादवोंके लिए हर्ष प्रदान किया ॥२२९॥ तदनन्तर जिनका मुखकमल खिल रहा था ऐसे नारदने रुक्मिणी रानीको देखकर उसे सीमन्धर जिनेन्द्रके द्वारा कहा सब समाचार कह सुनाया ॥२३०॥ अन्तमें उन्होंने कहा कि हे रुक्मिणि! मैंने विद्याधरोंके राजा काल-संवरके घर क्रीड़ा करता हुआ तुम्हारा पुत्र देखा है। वह देवकुमारके समान अत्यन्त रूपवान् है ॥२३१॥ सोलह लाभोंको प्राप्तकर तथा प्रज्ञप्तिविद्याका संग्रहकर तुम्हारा वह पुत्र सोलहवें वर्षमें अवश्य ही आवेगा ॥२३२॥

हे रुक्मिणि! जब उसके आनेका समय होगा तब तेरे उद्यानमें असमयमें ही प्रिय समाचारको सूचित करनेवाला मयूर अत्यन्त उच्च स्वरसे शब्द करने लगेगा ॥२३३॥ तेरे उद्यानमें जो मणिमयी वापिका सूखी पड़ी है वह उसके आगमनके समय कमलोंसे सुशोभित जलसे भर जावेगी ॥२३४॥ तुम्हारा शोक दूर करनेके लिए, शोक दूर होनेकी सूचना देने-

१. सुतागमन ख०, घ०।

मूकीभूय स्थितास्तावद्यावत्प्रद्युम्नदूरता । प्रत्यासन्ने पुनर्मूका मूकभावं विमुञ्चति ॥२३६॥
सुतागमनवेलैतैर्निमित्तैर्लक्ष्यतां स्फुटैः । सीमन्धरविभोर्वाक्यं मान्यथामंस्त मानिता ॥२३७॥
आकर्ण्यं नारदीयं तद्रुक्मिणी वचनं हितम् । श्रद्धाय प्रणतावोचदिति सा प्रस्नुतस्तनी ॥२३८॥
बन्धुकार्यमिदं साधु वात्सल्योद्यतचेतसा । कृतं त्वयाद्य मे सद्यो भगवन्परदुष्करम् ॥२३९॥
पुत्रशोकाग्निदग्धाहं निरालम्बा त्वया मुने । दत्त्वा साधारिता धीर ! नाथ ! हस्तावलम्बनम् ॥२४०॥
प्रोक्तं सीमन्धरेशेन सर्वज्ञेनेह यद्यथा । तत्तथास्ति ममावश्यं जीवन्त्याः पुत्रदर्शनम् ॥२४१॥
जीवामि जिनवाक्येन कठिनीभूतमानसा । व्रज त्वमधुना स्वेच्छं पुनर्दर्शनमस्तु ते ॥२४२॥
सप्रणाममिति प्रोक्तो दत्ताशीर्नारदो ययौ । मुक्तशोका हरेरिच्छां पूरयन्तीव सा स्थिता ॥२४३॥

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

[1]मनुजदेवनरामरमर्त्यजं विबुधजं च शिवाभ्युदयावहम् ।
मदनशम्बपुराचरितं जनश्चरतु भक्तिमना जिनशासने ॥२४४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ शम्बप्रद्युम्नवर्णनो नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥४३॥

वाला अशोक वृक्ष असमयमें ही अङ्कुर और पल्लवोंको धारण करने लगेगा ॥२३५॥ तेरे यहाँ जो गूँगे हैं वे तभी तक गूँगे रहेंगे जब तक कि प्रद्युम्न दूर है। उसके निकट आते ही वे गूँगापन छोड़ देवेंगे ॥२३६॥ इन प्रकट हुए लक्षणोंसे तू पुत्रके आगमनका समय जान लेना। सीमन्धर भगवान्‌के वचनोंको अन्यथा मत मान ॥२३७॥

इस प्रकार नारदके हितकारी वचन सुन रुक्मिणीके स्तनोंसे दूध झरने लगा। वह श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन् ! वात्सल्य प्रकट करनेमें जिनका चित्त सदा उद्यत रहता है ऐसे आपने आज यह मेरा उत्तम बन्धुजनोंका ऐसा कार्य किया है जो दूसरोंके लिए सर्वथा दुष्कर है ॥२३८–२३९॥ हे मुने ! हे धीर ! हे नाथ ! मैं पुत्रकी शोकाग्निमें निराधार जल रही थी सो आपने हाथका सहारा दे मुझे बचा लिया है ॥२४०॥ सीमन्धर भगवान्‌ने जो कहा है वह वैसा ही है और मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे जीते रहते अवश्य ही पुत्रका दर्शन होगा ॥२४१॥ मैं अपना हृदय कठोरकर जिनेन्द्र भगवान्‌के कहे अनुसार जीवित रहूँगी। अब आप इच्छानुसार जाइए और मुझे आपका दर्शन फिर भी प्राप्त हो इस बातका ध्यान रखिए ॥२४२॥ इस प्रकार नारदसे निवेदन कर रुक्मिणीने उन्हें प्रणाम किया और नारद आशीर्वाद देकर चले गये। तदनन्तर रुक्मिणी शोक छोड़ श्रीकृष्णकी इच्छाको पूर्ण करती हुई पूर्वकी भाँति रहने लगी ॥२४३॥

इस सर्गमें कुमार प्रद्युम्न और शम्बके पूर्वभवोंका चरित लिखा गया है जिसमें उनके मनुष्यसे देव, देवसे मनुष्य, मनुष्यसे देव, देवसे मनुष्य, पुनः मनुष्यसे देव और देवसे मनुष्य तकका चरित बताया गया है तथा यह भी बताया गया है कि ये दोनों अन्तमें मोक्षके अभ्युदयको प्राप्त करेंगे इसलिए जिनशासनमें भक्ति रखनेवाले भव्यजन इस चरितका अच्छी तरह आचरण करें—ध्यानसे इसे पढ़ें-सुनें ॥२४४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें शम्ब और प्रद्युम्नका वर्णन करनेवाला तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४३॥

१. विप्रपुत्रौ, सौधर्मे देवौ, श्रेष्ठिनो मणिभद्रपूर्णभद्रौ पुत्रौ, पुनः सौधर्मे देवौ, मधुकैटभौ, अच्युते देवौ ततः प्रद्युम्नशम्बकुमारौ—(ग० टि०)।

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

भामायास्तनुजः श्रीमान् भानुभामण्डलद्युतिः । भानुर्नाम्ना महिम्नासौ ववृधे बालभानुवत् ॥१॥
भानुना वर्धमानेन [1]भानुभानुनिभौजसा । सूनुना सत्यभामाया मानशैलः प्रवर्धितः ॥२॥
अन्यदा नारदोऽवादि कृष्णेन भगवन् ! कुतः । आगतोऽस्यधुनाऽऽस्यं ते कथयत्यधिकां मुदम् ॥३॥
सोऽवोचद्दक्षिणश्रेण्यामस्ति जम्बूपुरे खगः । जाम्बवः शिवचन्द्राऽस्य चन्द्रास्या वल्लभा तयोः ॥४॥
विश्वक्कृतयशाः पुत्रो विश्वक्सेन इतिश्रुतिः । कन्या जाम्बवती नाम्ना श्रीरिव स्वयमागता ॥५॥
जाह्नवीमवतीर्णां तु सखीभिः स्नातुमुद्यताम् । चन्द्रलेखामिवोदारां कान्तताराभिरावृताम् ॥६॥
गङ्गाद्वार[2]गतामङ्गतुङ्ग[3]च्छन्नपयोधराम् । हर वीर पराशक्यां जाम्बव[4]स्येव वाहिनीम् ॥७॥
इति नारदवाक्येन सस्नेहेन हरिस्तदा । प्रोद्दीपितः समुत्तस्थौ घृतेनेव हुताशनः ॥८॥
अनावृष्टिबलोपेतस्तं प्रदेशमितोऽचिरात् । प्रारब्धमज्जनक्रीडामपश्यत्कन्यकां हरिः ॥९॥
सहसा कन्ययादर्शि हरिरिन्दीवरद्युतिः । ततोऽङ्गजेन तौ विद्धौ शरैः पञ्चभिरेकदा ॥१०॥
दोर्भ्यामालिङ्ग्य तां गाढं सुखामीलितलोचनाम् । आमीलितेक्षणो जह्रे ह्रेपितश्रीरतिह्रियम् ॥११॥

रानी सत्यभामाका जो पुत्र था वह श्रीमान् तथा सूर्यके प्रभामण्डलके समान देदीप्यमान था इसलिए उसका भानु नाम रखा गया। वह भानु प्रातःकालके सूर्यके समान अपनी महिमासे बढ़ने लगा ॥१॥ सूर्यकी किरणोंके समान तेजका धारक भानु ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था त्यों-त्यों सत्यभामाका मान रूपी पर्वत बढ़ता जाता था ॥२॥

तदनन्तर किसी समय नारद कृष्णकी सभामें आये तो कृष्णने उनसे पूछा—भगवन् ! इस समय कहाँ से आ रहे हैं ? आपका मुख किसी बड़े भारी हर्षको प्रकट कर रहा है ॥३॥ नारदने कहा—विजयार्ध पर्वतकी दक्षिणश्रेणीमें एक जम्बूपुर नामका नगर है। उसमें जाम्बव नामका विद्याधर रहता है, उसकी शिवचन्द्रा नामकी चन्द्रमुखी भार्या है। उन दोनोंके सब ओर यशको फैलानेवाला विश्वक्सेन नामका पुत्र तथा जाम्बवती नामकी कन्या है। जाम्बवती क्या है मानो स्वयं आयी हुई लक्ष्मी ही है ॥४–५॥ वह इस समय सखियोंके साथ स्नान करनेके लिए गङ्गा नदीमें उतरी है और सुन्दर ताराओंसे घिरी चन्द्रमाकी कलाके समान उत्तम जान पड़ती है। वह गङ्गाके द्वारमें स्थित है तथा ऊँचे उठे वस्त्राच्छादित स्तनोंसे युक्त है। वह जाम्बव नाम पर्वतसे निकली नदीके समान है एवं दूसरेके लिए प्राप्त करना अशक्य है अथवा अपने पिता जाम्बवकी सेनाके समान दूसरेके लिए वश करना अशक्य है ॥६–७॥

इस प्रकार स्नेहसे युक्त नारदके इन वचनोंसे श्रीकृष्ण उस समय उस प्रकार उत्तेजित हो उठे जिस प्रकार कि घीसे अग्नि उत्तेजित हो उठती है ॥८॥ वे *अनावृष्टि और उसकी सेनाको साथ ले शीघ्र ही उस स्थानकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने स्नान-क्रीड़ाको प्रारम्भ करनेवाली जाम्बवतीको देखा ॥९॥ उसी समय सहसा नील कमलके समान कान्तिके धारक श्रीकृष्णपर कन्या जाम्बवतीकी दृष्टि भी जा पड़ी। तदनन्तर कामदेवने एक ही साथ अपने पाँचों बाणोंसे दोनोंको वेध दिया ॥१०॥ अवसर देख श्रीकृष्णने श्री, रति और ह्रीदेवीको लज्जित करनेवाली जाम्बवतीका दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिङ्गन किया। तदनन्तर जिनके नेत्र कुछ-कुछ निमीलित हो रहे थे ऐसे श्रीकृष्ण, स्पर्शजन्य सुखसे निमीलित नेत्रोंवाली

१. सूर्यकिरणतुल्यतेजसा । २. गङ्गाद्वारवती ख० । ३. तुङ्गवृत्तपयोधरां म० । ४. जाम्बवो नाम पर्वतः तस्य वाहिनी नदी तामिव ।

* अथवा अनावृष्टि और बलदेवको साथ ले ।

सखीनामभवत्तुङ्गस्तत्र चाक्रन्दनस्वनः । समीपशिबिरव्यापी कन्याहरणकारणः ॥१२॥
श्रुत्वा कन्यापिता क्रुद्धः खड्गोद्यतकरः खगेट् । समुत्पत्य[1] क्षणं प्राप्तः कनत्खेटकहस्तकः ॥१३॥
अनावृष्टिस्ततस्तस्य खेटको खड्गपाणिकम् । रणातिथ्यं स खे कृत्वा बबन्ध खचराधिपम् ॥१४॥
आनीय नीतिविद्वीरो विष्णवे तमदर्शयत् । सूनुं जामातरि न्यस्य स ययौ तपसे वनम् ॥१५॥
जाम्बवत्या विवाहेन परमानन्दमाश्रितः । विश्वक्सेनयुतो विष्णुर्द्वारिकामगमन्निजाम् ॥१६॥
प्रासादस्योपकण्ठे च रुक्मिण्या मुदितात्मनः । प्रासादं प्रददौ दिव्यं जाम्बवत्यै जनार्दनः ॥१७॥
सम्मान्य भ्रातरं तस्या विसृज्य निजमास्पदम् । अरीरमदिमां भोगी भोगैर्भूतलदुर्लभैः ॥१८॥
परस्परगृहाजस्रगत्यागमनवर्धिता । रुक्मिणीजाम्बवत्याः प्राग्जाता प्रीतिरखण्डिता ॥१९॥
श्लक्ष्णधीः श्लक्ष्णरोमाख्यो राजाभूत्सिंहलेश्वरः । तद्वशीकृतये शौरिर्जातु दूतमजीगमत् ॥२०॥
गत्वागत्याशु दूतस्तं प्रतिकूलमवेदयत् । लक्ष्मणां लक्षणोपेतां तत्कन्यां चापि शार्ङ्गिणः ॥२१॥
सत्वरं स ततो गत्वा हलिना सह सम्मदी । समुद्रं स्नातुमायातामद्राक्षीद्दीर्घवीक्षणाम् ॥२२॥
द्रुमसेनं महावीर्यं हत्वा सेनापतिं युधि । हृत्वा चेतः [2]स्वरूपेण रूपिणीमहरत्पुनः ॥२३॥
उपयम्य समानीय लक्ष्मणां लक्ष्मणप्रभुः । जाम्बवत्या गृहाभ्यर्णगृहे [3]रमयति स्म ताम् ॥२४॥

उस कन्याको हर लाये ॥११॥ उसी समय वहाँ कन्या हरणके कारण उसकी सखियोंका जोरदार रोनेका शब्द हुआ जो समीपवर्ती शिविरमें फैल गया ॥१२॥ उस शब्दको सुन, क्रोधसे भरा कन्याका पिता विद्याधरोंका राजा जाम्बव, हाथमें तलवार और देदीप्यमान ढाल ले आकाश-मार्गसे चलकर शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचा ॥१३॥ उसे आया देख आकाश-गामी अनावृष्टिने आकाशमें कुछ देर तक तो उसका युद्धके द्वारा अतिथि-सत्कार किया। तदनन्तर हाथमें तलवारको धारण करनेवाले उस विद्याधर राजा जाम्बवको उसने बाँध लिया ॥१४॥ नीतिके ज्ञाता वीर अनावृष्टिने उसे लाकर श्रीकृष्णको दिखाया। इस घटनासे राजा जाम्बवको वैराग्य उत्पन्न हो गया जिससे वह अपने पुत्र विश्वक्सेनको श्रीकृष्णके अधीन कर तपके लिए वनको चला गया ॥१५॥ जाम्बवतीके विवाहसे परम आनन्दको प्राप्त हुए श्रीकृष्ण विश्वक्सेनको साथ ले अपनी द्वारिका नगरीको चले गये ॥१६॥ जाम्ब-वतीके आगमनसे रुक्मिणीको भी हर्ष हुआ, इसलिए श्रीकृष्णने रुक्मिणीके महलके समीप ही जाम्बवतीके लिए सुन्दर महल दिया ॥१७॥ जाम्बवतीके भाई विश्वक्सेनका सम्मान कर उसे अपने स्थानपर विदा किया और पृथिवीतलमें दुर्लभ भोगोंसे जाम्बवतीके साथ क्रीड़ा करने लगे ॥१८॥ रुक्मिणी और जाम्बवतीमें जो प्रीति प्रथम उत्पन्न हुई थी वह परस्पर एक-दूसरेके महलमें आने-जानेसे बढ़ती गयी तथा अखण्ड रूपमें परिणत हो गयी ॥१९॥

उसी समय सिंहलद्वीपमें सूक्ष्मबुद्धिका धारक श्लक्ष्णरोम नामका राजा रहता था। उसे वश करनेके लिए किसी समय कृष्णने अपना दूत भेजा ॥२०॥ दूतने वहाँ जाकर और शीघ्र ही वापिस आकर श्रीकृष्णको उसके प्रतिकूल होनेकी खबर दी और साथ ही यह भी खबर दी कि उसके उत्तम लक्षणोंसे युक्त एक लक्ष्मणा नामकी कन्या है ॥२१॥ तदनन्तर हर्षसे युक्त श्रीकृष्ण बलदेवके साथ शीघ्र ही वहाँ गये। वहाँ जाकर उन्होंने स्नान करनेके लिए समुद्रमें आयी हुई दीर्घलोचना लक्ष्मणाको देखा ॥२२॥ तदनन्तर अपने रूपसे उसके चित्तको हरकर और महाशक्तिशाली द्रुमसेन नामक सेनापतिको युद्धमें मारकर श्रीकृष्ण उस रूपवती लक्ष्मणाको हर लाये ॥२३॥ द्वारिकामें लाकर उसके साथ विधिपूर्वक विवाह किया और जाम्बवतीके महलके समीप उसे महल दे रमण करने लगे ॥२४॥ लक्ष्मणा-

१. समुत्पत्य म० । २. सुरूपेण घ० । ३. स रमतिस्म क०, ख०, ग० ।

तस्या भ्राता महासेनः समागत्य नतो हरिम् । संमान्य मानिना मुक्तः सिंहलद्वीपमभ्यगात् ॥२५॥
राष्ट्रवर्धन इत्यासीत्सुराष्ट्राधिपतिर्नृपः । अजाखुरी पुरी चास्य विनया वनितोत्तमा ॥२६॥
तस्यां नमुचिनामाभूत्तनयो नयविक्रमी । तनया च सुसीमाख्या सुसीमा वसुधा यथा ॥२७॥
युवराजः स नमुचिः क्षितिविश्रुतपौरुषः । राज्ञोऽवमन्यते मान्यानभिमानमहागिरिः ॥२८॥
नमुचिश्च सुसीमा च समुद्रं स्नातुमागतौ । हितेन हरये तेन नारदेन निवेदितौ ॥२९॥
प्रभासतीर्थतीरस्थसैन्यं तं सीरिणा हरिः । गत्वा निहत्य हृत्वा तां कन्यां द्वारवतीमगात् ॥३०॥
लक्ष्मणाभवनाभ्यर्णं सौवर्णं भुवनोत्तमम् । दत्वा सौधं यथारंस्त सीमन्तिन्या सुसीमया ॥३१॥
राष्ट्रवर्धनराजोऽपि सुतायै सुपरिच्छदम् । प्रजिघाय रथेभादिप्राभृतं प्रभवे तथा[1] ॥३२॥
सिन्धुदेशाधिपो मेरुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः । पुरे वीतभये चासीच्चन्द्रवत्यस्य भामिनी ॥३३॥
गौरीं नामासवत्तस्यां गौरीं वर्णेन कन्यका । गौरीव रूपिणी विद्या गौ[2]रीतिरहितेव सा ॥३४॥
दूतप्रेषणपूर्वं स मेरुः प्रेषयति स्म ताम् । नैमित्तिकवचःस्मर्ता हरये हरिणेक्षणाम्[3] ॥३५॥
परिणीय हरिर्गौरीं [4]मनोहरणकारिणीम् । सुसीमासदनाभ्यर्णं प्रादात्प्रासादमुच्चकैः ॥३६॥
अरिष्टपुरनाथस्य सीरिणो मातुलस्य तु । राज्ञो हिरण्यनाभस्य श्रीकान्तायां सुबोधिति ॥३७॥

का भाई महासेन कृष्णके पास आकर नम्रीभूत हुआ और मानी कृष्णके द्वारा सम्मान-पूर्वक विदा पाकर अपने सिंहलद्वीपको चला गया ॥२५॥

उसी समय सुराष्ट्र देशमें एक राष्ट्रवर्धन नामका राजा था। अजाखुरी उसकी नगरी थी और विनया नामकी रानी थी जो समस्त स्त्रियोंमें उत्तम थी ॥२६॥ विनया नामक रानीसे उसके नमुचि नामका पुत्र हुआ था जो नीति और पराक्रमका भण्डार था। इसी प्रकार एक सुसीमा नामकी पुत्री थी जो कि उत्तम सीमासे युक्त पृथिवीके समान जान पड़ती थी ॥२७॥ युवराज नमुचिका पराक्रम समस्त पृथिवीमें प्रसिद्ध था। वह अभिमानका मानो बड़ा ऊँचा पर्वत था और माननीय राजाओंका निरन्तर तिरस्कार करता रहता था ॥२८॥ एक दिन युवराज नमुचि और उसकी बहिन सुसीमा दोनों ही स्नान करनेके लिए समुद्रतटपर आये। इधर हितकारी नारदने श्रीकृष्णके लिए उन दोनोंकी खबर दी ॥२९॥ श्रीकृष्ण खबर पाते ही बलदेवके साथ वहाँ गये और प्रभास तीर्थके तीरपर जिसकी सेना ठहरी हुई थी ऐसे उस नमुचिको मारकर तथा कन्या सुसीमाको हरकर द्वारिका आ गये ॥३०॥ वहाँ लक्ष्मणाके भवनके समीप सुवर्णमय उत्तम महल देकर उसके साथ इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे ॥३१॥ तदनन्तर सुसीमाके पिता राजा राष्ट्रवर्धनने भी पुत्रीके लिए उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण और श्रीकृष्णके लिए रथ, हाथी आदिकी भेंट भेजी ॥३२॥

उसी समय सिन्धुदेशके वीतभय नामक नगरमें इक्ष्वाकु वंशको बढ़ानेवाला मेरु नामका राजा रहता था, उसकी चन्द्रवती नामकी भार्या थी ॥३३॥ उससे उसके एक गौरी नामकी कन्या उत्पन्न हुई थी जो गौरवर्णकी थी, रूपवती गौरी विद्याके समान थी अथवा ईतियोंसे रहित पृथिवीके समान जान पड़ती थी ॥३४॥ निमित्तज्ञानीने बताया था कि यह नौवें नारायण श्रीकृष्णकी स्त्री होगी, इसलिए उसके वचनोंका स्मरण रखनेवाले राजा मेरुने पहले तो श्रीकृष्णके पास दूत भेजा और उसके बाद मृगलोचना गौरीको भेजा ॥३५॥ श्रीकृष्णने मनको हरनेवाली गौरीको विवाहकर उसके लिए सुसीमाके भवनके समीप ऊँचा महल प्रदान किया ॥३६॥

उसी समय बलदेवके मामा राजा हिरण्यनाभ अरिष्टपुर नगरमें राज्य करते थे।

---

१. यथा म० । २. ईतिरहिता गौरिव पृथिवी इव । ३. हरिणेक्षणा म० । ४. मनोहरणसारिणीं म० ।

पद्मावतीं समुत्पन्नां कन्यां पद्मामिव स्वयम् । स्वयंवरगतां श्रुत्वा संप्राप्तौ रामकेशवौ ॥३८॥
सगौरवमिमौ दृष्ट्वानावृष्टिपुरस्सरौ । प्रीत्या हिरण्यनाभेन स्वजनस्नेहवर्धनौ ॥३९॥
पित्रा हिरण्यनाभस्य सत्रा प्राव्रजदग्रजः । पुरैव रेवतो नाम्ना महिम्ना यो वनश्रितः ॥४०॥
चतस्रस्तत्सुताः कन्या रेवती बन्धुमत्यपि । सीता राजीवनेत्रा च ता दत्ताः सीरिणे पुरा ॥४१॥
स्वयंवरे प्रवृत्तेऽत्र हृत्वा पद्मावतीं हठात् । रणशौण्डान्ममर्दाशु शौरिराहवदक्षिणः ॥४२॥
परिणीय सभार्यौ तौ भ्रातरौ भ्रातृभिर्युतौ । द्वारिकाम[1]रमायातावरंसातां सुरोपमौ ॥४३॥
गौरीगृहसमीपे च पद्मावत्यै गृहं हरिः । प्रदाय प्रमदोपेतः प्रसादपरमोऽभवत् ॥४४॥
नगर्यां पुष्कलावत्यां गान्धारविषयेऽभवत् । भूभृदिन्द्रगिरिस्तस्य मेरुमत्यभिधा प्रिया ॥४५॥
सुतो हिमगिरिस्तस्यां जातो हिमगिरिस्थिरः । गान्धारी दुहिता चार्वी गन्धर्वादिकलाधिका ॥४६॥
भ्रात्रा हयपुरीन्द्राय सुमुखाय ततो हरिः । दीयमानां विदित्वैनां [2]नारदादरमागतात् ॥४७॥
गत्वा हिमगिरिं हत्वा प्रतिकूलं रणाजिरे । तां हृत्वानीय सौम्यास्यामुपयम्य ससंमदः ॥४८॥
पद्मावत्या गृहोपान्ते गान्धार्यै भवनं वरम् । वितीर्य धैर्यसंपन्नामेनां भोगैरमानयत् ॥४९॥
महादेवीभिरिष्टाभिरष्टाभिरवरोधने । प्रसाधिताभिराशाभिरिव ताभिरुपासितः ॥५०॥
विन्दन् भोगफलं भूरि गोविन्दः पुण्यवृक्षजम् । संवर्द्धजनतानन्दं ननन्द पुरुपौरुषः ॥५१॥

उनकी श्रीकान्ता नामकी उत्तम स्त्री थी। उससे उनके पद्मावती नामकी कन्या उत्पन्न हुई थी जो साक्षात् लक्ष्मीके समान जान पड़ती थी। 'उसका स्वयंवर हो रहा है' यह सुनकर अनावृष्टिके साथ-साथ बलदेव और कृष्ण भी वहाँ गये ॥३७-३८॥ आत्मीयजनोंके साथ स्नेह बढ़ानेवाले इन दोनोंको राजा हिरण्यनाभने बड़े गौरव और प्रेमके साथ देखा ॥३९॥ हिरण्यनाभका बड़ा भाई रेवत जो पिताके साथ पहले ही दीक्षित हो वनमें रहने लगा था उसकी चार कन्याएँ १ रेवती, २ बन्धुमती, ३ सीता और ४ राजीवनेत्रा बलदेवके लिए पहले ही दी जा चुकीं ॥४०-४१॥ जब पद्मावतीका स्वयंवर होने लगा तब युद्धनिपुण श्रीकृष्ण, उसे हठपूर्वक हर ले आये और रणमें जिन्होंने शूरवीरता दिखायी उन्हें शीघ्र ही नष्ट कर डाला ॥४२॥ तदनन्तर विवाह कर अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लिये दोनों भाई, भाइयोंके साथ शीघ्र ही द्वारिका आये और देवोंके समान क्रीड़ा करने लगे ॥४३॥ हर्षित श्रीकृष्ण गौरीके महलके समीप पद्मावतीके लिए महल देकर बहुत प्रसन्न हुए ॥४४॥

उसी समय गान्धार देशकी पुष्कलावती नगरीमें एक इन्द्रगिरि नामका राजा रहता था। उसकी मेरुमती नामकी स्त्री थी। उससे उसके हिमगिरिके समान स्थिर हिमगिरि नामका पुत्र था और गान्धारी नामकी सुन्दरी पुत्री थी जो गन्धर्व आदि कलाओंमें अत्यन्त निपुण थी ॥४५-४६॥ शीघ्रतासे आये हुए नारदसे श्रीकृष्णको जब यह विदित हुआ कि गान्धारीका भाई उसे हयपुरीके राजा सुमुखको दे रहा है तब वे शीघ्र ही जाकर रणाङ्गणमें प्रतिकूल हिमगिरिको मारकर गान्धारीको हर लाये एवं उस सौम्यमुखीके साथ विवाह कर बहुत हर्षित हुए ॥४७-४८॥ उन्होंने पद्मावतीके महलके समीप गान्धारीके लिए उत्तम महल दिया और उस धैर्यशालिनीको उत्तम भोगोंसे सम्मानित किया ॥४९॥ इस प्रकार जो वशीकृत आठ दिशाओंके समान उन आठ इष्ट पट्टरानियोंसे अन्तःपुरमें सदा सेवित रहते थे, जो पुण्यरूपी वृक्षसे उत्पन्न भोगरूपी विशाल फलका उपभोग करते थे, जन-समूहको आनन्द प्रदान करते थे, एवं प्रबल पराक्रमके धारक थे ऐसे श्रीकृष्ण समृद्धिको प्राप्त हुए ॥५०-५१॥ गौतमस्वामी

१. अरं शीघ्रम् । २. नारदात् + अरम् + आगतात् ।

द्रुतविलम्बितम्

कृतरणं परिभूय[1] पुरःस्थितं रिपुगणं तृणवत्क्षणमात्रतः ।
वरवधूवररत्नमयत्नतः श्रयति भव्यजनो जिनधर्मकृत् ॥५२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ जाम्बवत्यादिमहादेवीलाभवर्णनो नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥४४॥

कहते हैं कि जिनधर्मको धारण करनेवाला भव्य जीव युद्धमें सामने खड़े शत्रुओंके समूहको क्षणमात्रमें तृणके समान पराजित कर अनायास ही उत्तमोत्तम स्त्रीरूपी रत्नोंको प्राप्त कर लेता है ॥५२॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें जाम्बवती आदि महादेवियोंके लाभका वर्णन करनेवाला चवालीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥४४॥

१. प्रविभूय म०, ग० ।

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

अथ प्राप्ता महासत्त्वास्तदा द्वारवतीं पुरीम् । भागिनेया दशार्हाणां प्रसिद्धाः पञ्च पाण्डवाः ॥१॥
युधिष्ठिरोऽर्जुनो ज्येष्ठो भीमसेनो महाबलः । नकुलः सहदेवश्च पञ्चैते पाण्डुनन्दनाः ॥२॥
मागधोऽत्रान्तरेऽप्राक्षीत्प्राञ्जलिर्गणनायकम् । अन्वये भगवन् ! कस्य पाण्डुः पाण्डवनन्दनाः ॥३॥
गण्याह कुरुराजानामन्ववाये महोदये । शान्तिकुन्थ्वरनामानो यत्र तीर्थकरास्त्रयः ॥४॥
आदितः कुरुवंश्यानां चतुर्वर्गोपसेविनाम् । कतिचिन्मागधाख्यामि शृणु नामानि भूभृताम् ॥५॥
कुरुजाङ्गलदेशस्य कुरुभूमिसमस्य हि । अभूतां भूषणे भूपौ यौ हास्तिनपुरे परे ॥६॥
श्रेयान् सोमप्रभश्चेति कुरुवंशविशेषकौ । नाभेयसमकालौ तौ दानधर्मस्य नायकौ ॥७॥
तत्र सोमप्रभस्याभूत्कुमारो [2]जयनायकः । मेघस्वरस्स एवात्र भरतेन कृताभिधः ॥८॥
तस्मात्कुरुरभूत्तस्मात्कुरुचन्द्रस्तु नन्दनः । ततः शुभङ्करो राजा जातो धृतिकरस्ततः ॥९॥
राज्ञां कोटिषु कालेन समतीतासु भूरिषु । जिनान्तरेषु चानेकसागरोपमकोटिषु ॥१०॥
धृतिदेवो धृतिकरो गङ्गदेवादयस्तथा । धृतिमित्रधृति[3]क्षेमसुव्रतव्रातमन्दराः ॥११॥
श्रीचन्द्रसुप्रतिष्ठाद्या व्यतीताः शतशो नृपाः । धृतपद्मो धृतेन्द्रश्च धृतवीर्यः प्रतिष्ठितः ॥१२॥
इत्यादिषु व्यतीतेषु धृतिदृष्टिर्धृतिद्युतिः । धृतिप्रीतिकराद्याश्च व्यतीताः कुरुवंशजाः ॥१३॥
ततो भ्रमरघोषाख्यो हरिघोषो हरिध्वजः । सूर्यघोषः सुतेजाश्च पृथुश्च पृथिवीपतिः ॥१४॥
इभवाहननामाद्याः समतीतास्ततो नृपाः । विजयाख्यो महाराजो जयराजस्ततोऽभवत् ॥१५॥

अथानन्तर किसी दिन यादवोंके भानेज महापराक्रमी, राजा पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर, अर्जुन, महा बलवान् भीमसेन, नकुल और सहदेव ये पाँचों पाण्डव द्वारिकापुरी आये ॥१-२॥ इसी बीचमें राजा श्रेणिकने हाथ जोड़कर गौतमगणधरसे पूछा कि हे भगवन् ! पाण्डु और पाण्डव किसके वंशमें उत्पन्न हुए हैं ? ॥३॥ गौतमस्वामीने कहा कि पाण्डु और पाण्डव कुरुवंशमें हुए हैं जिसमें कि शान्ति, कुन्थु और अर ये तीन तीर्थंकर हुए हैं ॥४॥ हे मगधेश्वर ! अब मैं प्रारम्भसे लेकर चतुर्वर्गकी सेवा करनेवाले कुरुवंशी राजाओंके कुछ नाम कहता हूँ सुनो ॥५॥

शोभामें देवकुरु-उत्तरकुरुकी तुलना करनेवाले कुरुजाङ्गल देशके हस्तिनापुर नगरमें जो आभूषणस्वरूप श्रेयान् और सोमप्रभ नामके दो राजा हुए थे वे कुरुवंशके तिलक थे, भगवान् वृषभदेवके समकालीन थे और दानतीर्थके नायक थे ॥६-७॥ उनमें सोमप्रभके जयकुमार नामका पुत्र हुआ। वह जयकुमार ही आगे चलकर भरत चक्रवर्तीके द्वारा 'मेघस्वर' इस नामसे सम्बोधित किया गया ॥८॥ जयकुमारसे कुरु पुत्र हुआ। कुरुके कुरुचन्द्र, कुरुचन्द्र के शुभंकर और शुभंकरके धृतिकर पुत्र हुआ ॥९॥ तदनन्तर कालक्रमसे अनेक करोड़ राजा और अनेक सागर प्रमाण तीर्थंकरोंका अन्तराल काल व्यतीत हो जानेपर धृतिदेव, धृतिकर, गङ्गदेव, धृतिमित्र, धृतिक्षेम, सुव्रत, व्रात, मन्दर, श्रीचन्द्र और सुप्रतिष्ठ आदि सैकड़ों राजा हुए। तदनन्तर धृतपद्म, धृतेन्द्र, धृतवीर्य, प्रतिष्ठित आदि राजाओंके हो चुकनेपर धृतिदृष्टि, धृतिद्युति, धृतिकर, प्रीतिकर आदि हुए ॥१०-१३॥ तत्पश्चात् भ्रमरघोष, हरिघोष, हरिध्वज, सूर्यघोष, सुतेजस्, पृथु और इभवाहन आदि राजा हुए। तदनन्तर विजय, महाराज और

१. श्रेणिकः । २. जननायकः म० । ३. धृतिक्षेत्र म० ।

ततः सनत्कुमारोऽभूच्चतुर्थश्चक्रवर्तिनाम् । रूपपाशसमाकृष्टसुरबोधितदीक्षितः ॥१६॥
सुकुमारः सुतस्तस्य तस्माद्वरकुमारकः । विश्वो वैश्वानरश्चामूद्विश्वकेतुर्बृहद्ध्वजः ॥१७॥
विश्वसेनस्ततो जातो यस्यैरा प्राणवल्लभा । तत्सुतः पञ्चमश्चक्री शान्तिः षोडशतीर्थकृत् ॥१८॥
नारायणो नरहरिः प्रशान्तिः शान्तिवर्धनः । शान्तिचन्द्रः शशाङ्काङ्कः कुरुश्च कुरुवंशजाः ॥१९॥
एवमाद्येष्वतीतेषु सूर्योऽभूत्तस्य भामिनी । श्रीमती तीर्थकृत्कुन्थुस्तयोश्चक्रधरोऽपि सः ॥२०॥
अतिक्रान्तेषु भूपेषु ततोऽपि बहुषु क्रमात् । राजा सुदर्शनो जातो यस्य मित्रा प्रियाङ्गना ॥२१॥
तयोरर इति ख्यातः सप्तमश्चक्रवर्तिनाम् । कृती तीर्थकराणाञ्च यतोऽष्टादशसंख्यकः ॥२२॥
ततः सुचारुश्चारुश्च चारुरूपोऽथ वीर्यवान् । चारुपद्मस्तथान्येषु समतीतेषु राजसु ॥२३॥
पद्ममालः सुभौमश्च जातः पद्मरथो नृपः । ततश्चक्री महापद्मो विष्णुपद्मौ तु तत्सुतौ ॥२४॥
सुपद्मः पद्मदेवश्च कुलकीर्तिस्ततः परः । कीर्तिः सुकीर्तिकीर्ती तौ वसुकीर्तिश्च वीर्यवान् ॥२५॥
वासुकिर्वासवाभिख्यो वसुः सुवसुरेव च । पुरुवंशश्रियो नाथः श्रीवसुश्च वसुन्धरः ॥२६॥
जज्ञे वसुरथस्तस्मादिन्द्रवीर्यश्च वीर्यवान् । चित्रो विचित्रो वीर्योऽथ विचित्रोऽपि महाबलः ॥२७॥
ततो विचित्रवीर्योऽभूत्ततश्चित्ररथो नृपः । महारथो धृतरथो वृषानन्तो वृषध्वजः ॥२८॥
श्रीव्रतो व्रतधर्मा च धृतो धारण एव च । महासरः प्रतिसरः शरः पारशरो नृपः ॥२९॥
शरद्वीपश्च राजाऽसौ द्वीपो द्वीपायनो नृपः । सुशान्तिः शान्तिभद्रश्च शान्तिषेणश्च भूपतिः ॥३०॥
भर्ता योजनगन्धाया राजपुत्र्यास्तु शन्तनुः । तनयः शन्तनोर्भूभृद्धृतव्यास इति स्मृतिः ॥३१॥
धृतधर्मा ततस्तस्य तनयोऽपि धृतोदयः । धृततेजा धृतयशा धृतमानो धृतो नृपः ॥३२॥
ततोऽपि धृतराजोऽभूत्तस्य तिस्रः प्रियाङ्गनाः । अम्बिकाऽम्बालिकाऽम्बाख्या वेद्याभिजनसंभवाः ॥३३॥
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च विदां वरः । यथाक्रममभी तासां तिसृणां तनयास्त्रयः ॥३४॥

जयराज हुए ।।१४–१५।। इनके पश्चात् उसी वंशमें चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार हुए जो रूपपाशसे खिंचकर आये हुए देवोंके द्वारा सम्बोधित हो दीक्षित हो गये थे ।।१६।। सनत्कुमारके सुकुमार नामका पुत्र हुआ। उसके बाद वरकुमार, विश्व, वैश्वानर, विश्वकेतु और बृहद्ध्वज नामक राजा हुए। तदनन्तर विश्वसेन राजा हुए जिनकी स्त्रीका नाम ऐरा था। इन्हींके पञ्चम चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ हुए ।।१७–१८।। इनके पश्चात् नारायण, नरहरि, प्रशान्ति, शान्तिवर्धन, शान्तिचन्द्र, शशाङ्काङ्क और कुरु राजा हुए ।।१९।। इत्यादि राजाओंके व्यतीत होनेपर इसी वंशमें सूर्य नामक राजा हुए जिनकी स्त्रीका नाम श्रीमती था। उन दोनोंके भगवान् कुन्थुनाथ उत्पन्न हुए जो तीर्थंकर भी थे और चक्रवर्ती भी थे ।।२०।। तदनन्तर क्रम-क्रमसे बहुत राजाओंके व्यतीत हो जानेपर सुदर्शन नामक राजा हुए जिनकी स्त्रीका नाम मित्रा था। इन्हीं दोनोंके सप्तम चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ हुए ।।२१–२२।। उनके बाद सुचारु, चारु, चारुरूप और चारुपद्म राजा हुए। तदनन्तर अन्य राजाओंके हो चुकनेपर इसी वंशमें पद्ममाल, सुभौम और पद्मरथ राजा हुए। उनके बाद महापद्म चक्रवर्ती हुए। उनके विष्णु और पद्म नामक दो पुत्र हुए ।।२३–२४।। तदनन्तर सुपद्म, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्र, विचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानन्त, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रतधर्मा, धृत, धारण, महासर, प्रतिसर, शर, पारशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण, योजनगन्धा राजपुत्रीके भर्ता शन्तनु और शन्तनुके राजा धृतव्यास पुत्र हुए ।।२५–३१।। तदनन्तर धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान और धृत हुए। धृतके धृतराज नामक पुत्र हुआ। उसकी अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नामकी तीन स्त्रियाँ थीं जो उच्चकुलमें उत्पन्न हुई थीं ।।३२–३३।। उनमें अम्बिकासे धृतराष्ट्र, अम्बालिकासे पाण्डु और अम्बासे

भीष्मोऽपि शन्तनोरेव सन्ताने रुक्मणः पिता । यस्य गङ्गाभिधा माता राजपुत्री पवित्रधीः ॥३५॥
धृतराष्ट्रस्य तनया दुर्योधनपुरस्सराः । नयपौरुषसम्पन्नाः परस्परहिते रताः ॥३६॥
पाण्डोः कुन्त्यां समुत्पन्नः कर्णः कन्याप्रसङ्गतः । युधिष्ठिरोऽर्जुनो भीम ऊढायामभवंस्त्रयः ॥३७॥
नकुलः सहदेवश्च कुलस्य तिलकौ सुतौ । मद्र्यामद्रिस्थिरौ जातौ पञ्च ते पाण्डुनन्दनाः ॥३८॥
पाण्डौ स्वर्गं गते देव्यां मद्र्यां च जिनधर्मतः । पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च राज्येऽभूवन्विरोधिनः ॥३९॥
विभज्य कौरवं राज्यं भुञ्जतां समभागतः । पञ्चानामेकतस्तेषामितरेषां तथैकतः ॥४०॥
भीष्मश्च विदुरो द्रोणो मध्यस्थाः शकुनिः पुनः । मन्त्री दुर्योधनस्येष्टाः शशरोमादयस्तथा ॥४१॥
अजर्यं सह कर्णेन वर्यं दुर्योधनस्य तु । जरासन्धेन नैभृत्यं[1] निभृतस्याभवत्तराम् ॥४२॥
भार्गवाचार्यकं द्रोणो धनुर्वेदविशारदः । कौन्तेयधार्तराष्ट्राणां चक्रे मध्यस्थभावतः ॥४३॥
भार्गवाचार्यवंशोऽपि शृणु श्रेणिक वर्ण्यते । द्रोणाचार्यस्य विख्याता शिष्याचार्यपरम्परा ॥४४॥
आत्रेयः प्रथमस्तत्र तच्छिष्यः [2]कौथुमिः सुतः । तस्याभूदमरावर्तः सितस्तस्यापि नन्दनः ॥४५॥
वामदेवः सुतस्तस्य तस्यापि च [3]कपिष्ठलः । जगत्स्थामा सरवरस्तस्य शिष्यः शरासनः ॥४६॥
तस्माद्रावण इत्यासीत्तस्य विद्रावणः सुतः । विद्रावणसुतो द्रोणः सर्वभार्गववन्दितः ॥४७॥
अश्विन्यामभवत्तस्मादश्वत्थामा धनुर्धरः । रणे यस्य प्रतिस्पर्धी पार्थ एव धनुर्धरः ॥४८॥

ज्ञानिश्रेष्ठ विदुर ये तीन पुत्र हुए ॥३४॥ भीष्म भी शन्तनुके ही वंशमें उत्पन्न हुए थे। धृतराज के भाई रुक्मण उनके पिता थे और पवित्र बुद्धिको धारण करनेवाली राजपुत्री गङ्गा उनकी माता थी ॥३५॥ राजा धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे जो नय-पौरुषसे युक्त तथा परस्पर एक दूसरेके हित करनेमें तत्पर थे ॥३६॥ राजा पाण्डुकी स्त्रीका नाम कुन्ती था, जिस समय राजा पाण्डुने गन्धर्व विवाह कर कुन्तीसे कन्या अवस्थामें संभोग किया था उस समय कर्ण उत्पन्न हुए थे और विवाह करनेके बाद युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम ये तीन पुत्र हुए ॥३७॥ इन्हीं पाण्डुकी माद्री नामकी दूसरी स्त्री थी उससे नकुल और सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न हुए। ये दोनों ही पुत्र कुलके तिलकस्वरूप थे और पर्वतके समान स्थिर थे। युधिष्ठिरको आदि लेकर तीन तथा नकुल और सहदेव ये पाँच पाण्डव कहलाते थे ॥३८॥ जब राजा पाण्डु और रानी मद्री जिन-धर्मके प्रसादसे स्वर्गवामी हो गये तब पाण्डव और दुर्योधनादि धार्तराष्ट्र राज्य-विषयको लेकर एक दूसरेके विरोधी हो गये ॥३९॥ जब इनका विरोध बढ़ने लगा तब भीष्म, विदुर, द्रोण, मन्त्री शकुनि तथा दुर्योधनके मित्र शशरोम आदिने मध्यस्थ बनकर कौरवोंके राज्यके बराबर दो भाग कर दिये। एक भाग युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डवोंको मिला और दूसरा भाग दुर्योधन आदि सौ कौरवोंको प्राप्त हुआ ॥४०-४१॥

इधर दुर्योधनकी कर्णके साथ उत्तम मित्रता हो गयी और जरासंधके साथ स्थिर बैठकें होने लगीं ॥४२॥ द्रोणाचार्य धनुर्विद्यामें अत्यन्त निपुण थे और वे मध्यस्थ-भावसे पाण्डवों तथा कौरवोंके लिए भार्गवाचार्यका काम करते थे अर्थात् दोनोंको समान रूपसे धनुर्विद्याका उपदेश देते थे ॥४३॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक! द्रोणाचार्यकी शिष्य और आचार्योंकी परम्परा तो प्रसिद्ध है अतः उसे छोड़ भार्गवाचार्यकी वंशपरम्पराका वर्णन करता हूँ उसे सुन ॥४४॥ भार्गवका प्रथम शिष्य आत्रेय था, उसका शिष्य कौथुमि पुत्र था, *कौथुमिका अमरावर्त, अमरावर्तका सित, सितका वामदेव, वामदेवका कपिष्ठल, कपिष्ठलका जगत्स्थामा, जगत्स्थामाका सरवर, सरवरका शरासन, शरासनका रावण,* रावणका विद्रावण और विद्रावणका पुत्र द्रोणाचार्य था जो समस्त भार्गव वंशियोंके द्वारा वन्दित था—सब लोग उसे नमस्कार करते थे ॥४५-४७॥ द्रोणाचार्यकी अश्विनी नामक स्त्रीसे

---

१. नैभृत्यं ग० । २. कौथिडनिः म० । ३. कपिष्ठकः म० ।

पार्थप्रतापविज्ञानमात्सर्योपहता अथ । दुर्योधनादयः कर्तुं सन्धिदूषणमुद्यताः ॥४९॥
पञ्च कौरवराज्यार्धमेकतः[1] शतमेकतः । भुञ्जन्ति किमितोऽन्यत्स्यादन्याय्यमिति ते जगुः ॥५०॥
समुद्रा इव चत्वारस्ततः परुषवायुभिः । अपि प्रसन्नगम्भीराः क्षुभिताः पाण्डुनन्दनाः ॥५१॥
छादयामि द्विषच्छैलं शरधाराभिरुच्छ्रितम् । इत्युत्थितोऽर्जुनोऽम्भोदः शमितोऽग्रजवायुना ॥५२॥
दृष्ट्या दहामि दायादशतमित्युदितं ब्रुवन् । मन्त्रेणाशीशमज्ज्यायान् स्फुरद्भीमभुजङ्गमम् ॥५३॥
[2]अहितापकुलान्ताय नकुलोऽपि[3] कृतोद्यमः । ज्येष्ठेन सनयं रुद्धो भुजपञ्जरयन्त्रितः ॥५४॥
भस्मयामि लघु द्वेषिवनखण्डमिति ज्वलन् । अशामि[4] ज्येष्ठमेघेन सहदेवदवानलः ॥५५॥
वसतां शान्तचित्तानां दिनैः कतिपयैरपि । प्रसुप्तानां गृहं तेषां दीपितं धृतराष्ट्रजैः ॥५६॥
विबुध्य सहसा मात्रा समं ते पञ्चपाण्डवाः । सुरङ्गया विनिःसृत्य गताः क्वाप्यपभीरवः ॥५७॥
ततोऽपरागो लोकस्य जातो दुर्योधनं प्रति । क वा पापानुरागाढ्ये नापरागः सतो भवेत् ॥५८॥

अश्वत्थामा नामक पुत्र हुआ था। यह अश्वत्थामा बड़ा धनुर्धारी थी और युद्धमें एक अर्जुन ही उसका प्रतिस्पर्धी था—अर्जुन ही उसकी बराबरी कर सकता था अन्य नहीं ॥४८॥

तदनन्तर अर्जुनके प्रताप और विज्ञानसे ईर्ष्या रखनेवाले दुर्योधन आदि कौरव सन्धिमें दोष लगानेके लिए उद्यत हो गये अर्थात् अर्जुनके लोकोत्तर प्रताप और अनुपम सूझ-बूझसे ईर्ष्या कर कौरव लोग राज्यके विषयमें पहले जो सन्धि हो चुकी थी उसमें दोष लगाने लगे ॥४९॥ वे कहने लगे कि कौरवोंके आधे राज्यको एक ओर तो सिर्फ पाँच पाण्डव भोगते हैं और एक ओर आधे राज्यको हम सौ भाई भोगते हैं—इससे बढ़कर अन्याय-पूर्ण कार्य और क्या होगा ? ॥५०॥ दुर्योधनादिकका यह विचार पाण्डवोंने भी सुना। पाण्डवोंमें युधिष्ठिर शान्तिप्रिय व्यक्ति थे अतः उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान नहीं दिया परन्तु शेष चार पाण्डव प्रसन्न तथा गम्भीर होनेपर भी उस तरह क्षोभको प्राप्त हो गये जिस तरह कि प्रचण्ड वायुसे चारों दिशाओंके चार समुद्र क्षोभको प्राप्त हो जाते हैं ॥५१॥ अर्जुनरूपी मेघ यह कहता हुआ उठकर खड़ा हो गया कि मैं उठते हुए इस शत्रुरूपी पर्वतको बाणरूपी जलकी धारासे अभी हाल आच्छादित किये देता हूँ परन्तु युधिष्ठिररूपी वायुने उसे शान्त कर दिया ॥५२॥ भीमरूपी भुजङ्ग यह कहकर उठ खड़ा हुआ कि मैं सौ-के-सौ हिस्सेदारोंको अपनी दृष्टिसे अभी भस्म किये देता हूँ परन्तु बड़े भाई युधिष्ठिरने उसे मन्त्रके द्वारा शान्त कर दिया ॥५३॥ नकुल भी, नकुल (नेवला) के समान शत्रुरूपी सर्पोंके सन्ताप-दायी कुलका अन्त करनेके लिए उद्यम करने लगा परन्तु अग्रज—युधिष्ठिरने उसे अपने भुजरूपी पिंजरेमें कैद कर रोक रखा ॥५४॥ और सहदेवरूपी दावानल यह कहता हुआ देदीप्यमान होने लगा कि मैं शत्रुरूपी वनखण्डको अभी हाल भस्म किये देता हूँ परन्तु बड़े भाई—युधिष्ठिररूपी मेघने उसे शान्त कर दिया ॥५५॥

तदनन्तर सब पाण्डव शान्तचित्त होकर रहने लगे। कुछ दिनों बाद जब वे गहरी नींदमें सो रहे थे तब कौरवोंने उनके घरमें आग लगवा दी ॥५६॥ सहसा उनकी नींद खुल गयी और पाँचोंके पाँच पाण्डव माताको साथ ले सुरङ्गसे निकलकर निर्भय हो कहीं चले गये ॥५७॥ इस घटनासे जनताका दुर्योधनके प्रति विद्वेष उमड़ पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि पापमें अनुराग रखनेवाले किस पुरुषपर सज्जनोंको विद्वेष नहीं होता ? अर्थात् सभीपर होता

१. राज्यार्थं म०, ग० । २. अहितानां शत्रूणामपकृष्टं कुलमपकुलं तस्यान्तस्तस्मै, पक्षे तापेनोपलक्षितं कुलं तापकुलं अहीनां सर्पाणां यत् तापकुलं तस्यान्तस्तस्मै । ३. नकुलः पाण्डवः पक्षे नकुलो जन्तुविशेषः । ४. शान्तः कृतः ।

प्रलीनानेव तान्मत्वा पाण्डवान् गोत्रजास्ततः । निवृत्ता इव ते तस्थुः कृतकालोचितक्रियाः ॥५९॥
नदीं गङ्गां समुत्तीर्य कौन्तेयास्तु महाधियः । कृतवेषपरावर्तास्ते पूर्वां दिशमा[1]श्रिताः ॥६०॥
कुन्तीगतिवशेनैते गच्छन्तः सुखमिच्छया । कौशिकाख्यां पुरीं प्राप्ता वर्णो यत्र नरेश्वरः ॥६१॥
तस्य प्रभावती भार्या सुता कुसुमकोमला । जनानुरागतस्तांस्तान्[2] श्रुत्वा दृष्टवती तदा ॥६२॥
युधिष्ठिरकुमारेन्दुदर्शनेन सुदर्शना । कन्याकुमुद्वती धन्या विकासमगमत्परम् ॥६३॥
अचिन्तयदसौ तस्य भाविनी प्रियभामिनी । इह जन्मनि मे भूयादयमेव परो वरः ॥६४॥
ज्ञात्वाभिप्रायमस्याः स संजातप्रेमबन्धनः । आशाबन्धं प्रदर्श्यागात्संज्ञयैव करग्रहे ॥६५॥
प्रतीक्षमाणया तस्य तया भूयः समागमम् । नीयते स्म विनोदैः स्वैः कालः कन्याजनोचितैः ॥६६॥
ततस्ते ललिताकाराः स्वभावेन सहोदराः । द्विजवेषभृतो जग्मुर्जनचित्तापहारिणः ॥६७॥
आसनं शयनं तेषां भोजनं च मनोहरम् । सुखेनैव सुपुण्यानामचिन्तितमभूत्तदा ॥६८॥
पुनस्तापसवेषेण प्राप्ताः श्लेष्मान्तकं वनम् । ते तापसाश्रमे रम्ये विशश्रमुरिहार्चिताः ॥६९॥
वसुन्धरपुरेशस्य विन्ध्यसेनस्य देहजा । वसन्तसुन्दरीनाम्ना नर्मदा[3]जाऽस्ति तत्र च ॥७०॥
युधिष्ठिराय सा दत्ता पुरैव गुरुभिर्वरा । दग्धवार्तामुपश्रुत्य निन्दितस्वपुराकृता ॥७१॥
जन्मान्तरेऽपि काङ्क्षन्ती तस्य कान्तस्य दर्शनम् । तपश्चरितुमारब्धा तत्र सा तापसाश्रमे ॥७२॥

हैं ।।५८।। तदनन्तर कुटुम्बके लोगोंने समझा कि पाण्डव तो इसी आगमें भस्म हो चुके हैं इसलिए वे मरणोत्तरकाल होनेवाली क्रियाओंको कर निश्चिन्त-जैसे होकर रहने लगे ।।५९।।

इधर महाबुद्धिमान् पाण्डव गङ्गा नदीको पार कर तथा वेष बदलकर पूर्व दिशाकी ओर गये ।।६०।। माता कुन्ती धीरे-धीरे चल पाती थी इसलिए वे उसकी चालके अनुसार इच्छापूर्वक सुखसे धीरे-धीरे चलते हुए उस कौशिक नामकी नगरीमें पहुँचे जहाँ वर्ण नामका राजा रहता था ।।६१।। राजा वर्णकी स्त्रीका नाम प्रभावती था और उससे उसके कुसुमकोमला नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। पाण्डवोंपर लोगोंका अधिक अनुराग था इसलिए कुसुमकोमलाने भी उनका नाम सुना तथा उन्हें देखा ।।६२।। वह भाग्यशालिनी सुन्दर कन्या रूपी कुमुदिनी, युधिष्ठिररूपी चन्द्रमाको देखनेसे परम विकासको प्राप्त हो गयी ।।६३।। जो युधिष्ठिरकी प्रिय स्त्री होनेवाली थी ऐसी कन्या कुसुमकोमला उन्हें देख मनमें विचार करने लगी कि इस जन्ममें मेरे यही उत्तम पति हों ।।६४।। कन्याके अभिप्रायको जानकर युधिष्ठिरके भी प्रेमरूपी बन्धन समुत्पन्न हो गया और वे उसे इशारेसे विवाहकी आशा दिखा आगे चले गये ।।६५।। कुसुमकोमला, उनके पुनः समागमकी प्रतीक्षा करती हुई कन्याजनोंके योग्य विनोदोंसे समय बिताने लगी ।।६६।।

तदनन्तर जो स्वभावसे ही सुन्दर आकारके धारक थे ऐसे वे पाँचों भाई ब्राह्मणका वेष रख, मनुष्योंके चित्तको हरते हुए आगे चले ।।६७।। वे सब महापुण्यशाली जीव थे इसलिए उस अज्ञातवासके समय भी उन्हें मनोहर आसन, शयन और भोजन सुखपूर्वक अचिन्तित रूपसे प्राप्त होते रहते थे ।।६८।। तत्पश्चात् वे तापसके वेषमें श्लेष्मान्तक नामक वनमें पहुँचे वहाँ तापसोंके सुन्दर तपोवनमें उन्होंने विश्राम किया और तापसोंने उनका अच्छा सत्कार किया ।। ६९ ।। उस आश्रममें वसुन्धरपुरके राजा विन्ध्यसेनकी वसन्तसुन्दरी नामकी पुत्री, जो कि नर्मदा नामक स्त्रीसे उत्पन्न हुई थी रहती थी ।।७०।। यह कन्या गुरुजनोंने युधिष्ठिरके लिए पहले ही दे रखी थी परन्तु जब उनके जल जानेका समाचार सुना तब वह अपने पूर्वकृत कर्मकी निन्दा करती हुई इस इच्छासे कि 'उन प्राणनाथका दर्शन इस जन्ममें न हो सका तो जन्मान्तरमें हो', तपस्वियोंके उस आश्रममें तप करने लगी थी ।।७१-७२।। वह

१. -मासृताः म० । २. तांस्तान् म० । ३. नर्मदायाश्च तत्र च क० । नर्मदायास्ति—ग०, घ०, ङ० ।

उदाररूपलावण्या दुकूलपटसाटिका । जटिला वटशाखेव स्निग्धच्छाया व्यराजत ॥७३॥
आकर्णायतनेत्राभ्यां स्वधरेण[1] मुखेन्दुना । जघनस्तनभारेण मनो हरति तापसी ॥७४॥
पूज्या तापसलोकस्य सकलस्य तपोवनम् । अकरोत्पावनं तन्वी चन्द्रलेखेव निर्मला ॥७५॥
कौन्तेयानां कृतातिथ्या तापसोचितवृत्तिभिः । जहार हारिवाक्यासौ क्षुत्पिपासापथश्रमम् ॥७६॥
कुन्ती पप्रच्छ तां प्रीत्या बाले ! कमलकोमले । नवे वयसि वैराग्यं कुतो जात[2]मतिव्रते ॥७७॥
इति सानुनयं पृष्टा राजपुत्री जगौ गिरा । मनो मधुरया तेषां हरन्ती हरिणेक्षणा ॥७८॥
साधु पृष्टं त्वया पूज्ये ! श्रूयतामत्र कारणम् । सज्जनो हि मनोदुःखं निवेदितमुदस्यति[3] ॥७९॥
कौरवाय पुरैवाहं कौन्तेयायाग्रजाय हि । स्वभावोदारचेष्टाय गुरुभिर्विनिवेदिता ॥८०॥
समातृभ्रातृकस्यास्य मदपुण्यप्रभावतः । श्रुता वार्ता जनेभ्यो या न स्मर्तुमपि शक्यते ॥८१॥
दाहदुःखमृतं कान्तं युक्तं तेनैव वर्त्मना । अनुमर्तुं तु तापस्ये शक्तिहीनतया स्थिता ॥८२॥
निशम्येति वचः सौम्या सा जगौ भाविनीं स्नुषाम् । कृतं भद्रं त्वया भद्रे कुर्वन्त्या प्राणरक्षणम् ॥८३॥
अन्यथा चिन्तयत्येष[4] मित्रे मित्रजनो जने । अन्यथा विधिरप्यस्मादर्थ्यते[5] दीर्घदर्शिता ॥८४॥
कल्याणहेतवः प्राणाः कल्याणि ! मम वाक्यतः । तपस्यन्त्यापि धार्यन्तां जीवन्ती भद्रमाप्स्यसि ॥८५॥

अतिशय रूप और लावण्यकी धारक थी, सुन्दर स्वच्छ साड़ीसे सुशोभित थी, शिरपर जटाएँ रखाये हुई थी और स्निग्ध कान्तिसे सहित थी इसलिए पायोंको धारण करनेवाली स्निग्ध छायासे सहित वटवृक्षकी शाखाके समान सुशोभित हो रही थी ॥७३॥ वह तापसी कानों तक लम्बे नेत्र, सुन्दर ओंठ, मुखरूपी चन्द्रमा एवं नितम्ब और स्तनोंके भारसे सबका मन हरती थी ॥७४॥ वह समस्त तापसोंके द्वारा पूज्य थी, चन्द्रमाकी कलाके समान कृश तथा निर्मल थी और अपने आवाससे उस तपोवनको पवित्र करती थी ॥७५॥ मधुर वचन बोलनेवाली उस तापसीने तापसोंके योग्य वृत्तिसे पाण्डवोंका अतिथि-सत्कार किया तथा उनकी भूख-प्यास और मार्गकी थकावटको दूर किया ॥७६॥

एक दिन कुन्तीने बड़े प्रेमसे उससे पूछा कि हे कमलके समान कोमलाङ्गी बेटी ! तुझे नयी अवस्थामें ही वैराग्य किस कारणसे हो गया है जिससे तूने यह कठिन व्रत धारण कर रखा है ? ॥७७॥ इस प्रकार स्नेहके साथ पूछी जानेपर मृगनेत्री राजपुत्री मनोहर वाणीसे उनका मन हरती हुई बोली कि हे पूज्ये ! आपने ठीक पूछा है, मेरे वैराग्यका कारण सुनिए क्योंकि सज्जन पुरुष बताये हुए मनके दुःखको दूर कर देते हैं ॥७८-७९॥ मेरे गुरुजनोंने मुझे स्वभावसे उत्तम चेष्टाके धारक पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरके लिए पहले ही दे रखा था ॥८०॥ परन्तु मेरे पापके प्रभावसे माता और भाइयोंके साथ उनके विषयका जो समाचार लोगोंसे सुना है उसका स्मरण भी नहीं किया जा सकता ॥८१॥ 'मेरा पति दाहके दुःखसे मरा है इसलिए मुझे भी उसी मार्गसे मरना युक्त था परन्तु मैं शक्तिहीन होनेके कारण उस मार्गसे मर नहीं सकी इसलिए तपस्या करने लगी हूँ' ॥८२॥

तापसीके वचन सुन उसे होनहार पुत्रवधू जान सौम्य स्वभावकी धारक कुन्तीने कहा कि हे भद्रे ! तूने बहुत उत्तम किया जो प्राणोंकी रक्षा की ॥ ८३ ॥ मित्रजन, मित्रजनके विषयमें कुछ अन्य विचार करते हैं और भाग्य उससे विपरीत कुछ अन्य ही कार्य कर देता है इसलिए दीर्घदर्शिताकी आकांक्षा की जाती है ॥८४॥ हे कल्याणि ! प्राण कल्याणके कारण हैं इसलिए मेरे कहनेसे तू तपस्या करती हुई भी इन्हें अवश्य धारण कर। यदि

१. सुष्ठु अधरः स्वधरः तेन । २. जातमितिव्रते म० । ३. दूरीकरोति । ४. चिन्तयत्येषा म०, घ०, ग०, क० । ५. –दर्थ्यते म०, घ०, ग०, क० ।

तदेवान्ववदत्पाण्डोः प्रथमस्तनयो यतः । धर्मं चाकथयद्युक्तमणुशीलगुणव्रतैः ॥८६॥
परस्परं समालापे मनः प्रीतिकरेऽनयोः । वर्तमाने तदा कन्या मनसामन्यतेति सा ॥८७॥
राजलक्षणयुक्तः स किं स्यादेष युधिष्ठिरः । समातृकोऽनुशास्तीह मामतीव कृपान्वितः ॥८८॥
सर्वथा मम पुण्येन गण्येन तपसापि च । सत्यसन्धः प्रियो जीव्यादृना[1]हतिरिहोद्यमी ॥८९॥
यियासवस्तु युक्तानां पुनर्दर्शनमस्त्विति । सम्मानिताः[2] प्रियालापैस्युरस्थाच्च साशया ॥९०॥
[3]समुद्रविजयः श्रुत्वा स्वसृस्वस्रीयमारणम् । मारणाय कुरूणां स प्राप्तः कुपितमानसः ॥९१॥
जरासन्धस्ततः प्राप्य स्वयमेव महादरः । यदूनां कौरवाणां च सन्धिमापाद्य यातवान् ॥९२॥
हृतोऽपि तापसाकारं त्यक्त्वेति द्विजवेषिणः । प्रयान्तो भ्रातरः कुन्त्या प्रापुरीहापुरं परम् ॥९३॥
भीमसेनो महाभीमं भृङ्गाभं भृङ्गराक्षसम् । मनुजाशनमुद्धास्य [4]तत्रास त्रासमङ्गिनाम् ॥९४॥
वीतभीभ्यः प्रजाभ्यस्ते [5]प्राप्तपूजाः समातृकाः । व्रजन्तः स्वेच्छया प्रापुस्त्रिशृङ्गाख्यं महापुरम् ॥९५॥
प्रचण्डवाहनस्तत्र प्रचण्डश्चण्डकर्मणाम् । आसीन्नृपतिरस्येष्टा वनिता विमलप्रभा ॥९६॥
रूपातिशयसम्पूर्णाः पूर्णचन्द्रसमाननाः । कलापारमिताः सर्वास्तयोर्दुहितरो दश ॥९७॥

जीवित रहेगी तो कल्याणको अवश्य प्राप्त करेगी ॥८५॥ पाण्डुके प्रथम पुत्र—युधिष्ठिरने भी माता कुन्तीके ही वचनोंका अनुवाद किया—वही बात कही और अणुव्रत, शीलव्रत तथा गुणव्रतोंसे युक्त धर्मका उपदेश दिया ॥८६॥ उस समय युधिष्ठिर तथा कन्याका, मनमें प्रीति उत्पन्न करनेवाला जो परस्पर वार्तालाप हुआ था उससे कन्याने मनमें यह समझा अर्थात् यह शङ्का उसके मनमें उत्पन्न हुई कि क्या यह राजाओंके लक्षणोंसे युक्त वही युधिष्ठिर हैं जो दयासे युक्त हो माताके साथ यहाँ मुझे अत्यधिक उपदेश दे रहे हैं ? मेरे पुण्य अथवा गणनीय आदरणीय तपसे ही यहाँ प्रकट हुए हैं। ये दृढ़प्रतिज्ञ और उद्यमी प्रिय, कुमार यहाँ बिना किसी आघातके चिर काल तक जीवित रहें ॥८७–८९॥

युधिष्ठिर आदि पाण्डव जब वहाँसे जाने लगे तब उस कन्याने 'आप शिष्ट जनोंका फिरसे दर्शन प्राप्त हो' यह कह मधुर वार्तालापसे उनका सम्मान किया। वे चले गये और कन्या युधिष्ठिरकी प्राप्तिकी आशासे उसी तपोवनमें रहने लगी ॥९०॥ इधर जब राजा समुद्रविजयने सुना कि दुर्योधनने हमारी बहिन तथा भानजोंको महलमें जला कर मार डाला है तब वे कुपित हो कौरवोंको मारनेके लिए आये ॥९१॥ तदनन्तर महान् आदरसे युक्त जरासन्धने स्वयं आकर यादवों और कौरवोंके बीच सन्धि करा दी। सन्धि कराकर जरासन्ध अपनी राजधानीको चला गया ॥९२॥

इधर पाण्डव तापसोंका वेष छोड़ सामान्य ब्राह्मणके वेषमें विचरण करने लगे और माता कुन्तीके साथ चलते-चलते सब ईहापुर नामक उत्तम नगरमें पहुँचे ॥९३॥ वहाँ एक भ्रमरके समान काला भृङ्गराक्षस नामका महाभयंकर नरभोजी राक्षस मनुष्योंको दुःखी कर रहा था सो भीमसेनने उसे नष्ट कर वहाँके निवासियोंका भय दूर किया ॥९४॥ जिनका भय नष्ट हो गया था ऐसे, प्रजाके लोगोंने मातासहित पाण्डवोंका खूब सत्कार किया। तदनन्तर इच्छानुसार चलते हुए वे त्रिशृङ्ग नामक महानगरमें पहुँचे ॥९५॥ वहाँ क्रूरकर्मा मनुष्योंके लिए तीव्र दण्ड देनेवाला प्रचण्डवाहन नामका राजा था। उसकी विमलप्रभा नामकी प्रिय स्त्री थी ॥९६॥ उन दोनोंके दश पुत्रियाँ थीं जो सबकी-सब रूपके अतिशयसे युक्त, पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली और कलाओंमें पारङ्गत थीं ॥९७॥ उनके नाम थे—

१. -दन्याहति म० । २. सम्मानिता म० । ३. ९१–९२ तमौ श्लोकौ क-पुस्तके केनापि रेखां दत्त्वा-न्यक्कृतौ । ४. तत्र + त्रास । तत्र = नगरे, अङ्गिनां त्रासम् , त्रास = छिन्नवान् । ५. प्राप्तपूजा म० ।

आद्या गुणप्रभा तासु सुप्रभा ह्रीश्रियौ रतिः। पद्मा चेन्दीवरा विश्वा[1] चर्या चाशोकया सह ॥९८॥
युधिष्ठिराय ताः सर्वाः पूर्वमेव निवेदिताः। लब्ध्वा[2] तत्वान्यथा वार्तामणुव्रतधराः स्थिताः ॥९९॥
इभ्योऽपि प्रियमित्राख्यस्तत्र पुर्यां सपर्यया। अन्ववर्तत कौन्तेयान्[3] पुरुषान्तरविद्धनी ॥१००॥
सोमिनी भामिनी तस्य कन्या नयनसुन्दरी। सौन्दर्येण स्वरूपेण नयनानन्ददायिनी ॥१०१॥
युधिष्ठिराय वीराय प्रागेव प्रतिपादिता। राजपुत्र्यो यथा पूर्वास्तथा सा तद्‌व्रता स्थिता[4] ॥१०२॥
राजा समार्यं इभ्यश्च महापुरुषवेदिनौ। कुन्तीपुत्राय ताः कन्या ज्यायसे दातुमिच्छतः ॥१०३॥
तास्तु [5]निश्चिन्तचित्तत्वादन्यलोकगतोऽपि हि। स एष पतिरस्माकमिति नेच्छन्ति तं द्विजम् ॥१०४॥
ततोऽपि नगराद्याता [6]नगराजस्थिरात्मकाः। प्रापुश्चम्पापुरीं तेऽमी कर्णो यत्र महानृपः ॥१०५॥
तत्र भीमो महानागं पुरमध्ये मदोत्कटम्। प्रक्रीड्य[7] निर्मदीचक्रे [8]कर्णसंक्षोभकृत्कृती ॥१०६॥
ततोऽपि वैदिशं [9]याता पुरं सुरपुरोपमम्। राजा वृषध्वजो यत्र युवराजो दृढायुधः ॥१०७॥
दिशावली प्रिया राज्ञो दिशानन्दा तु नन्दना। दिशासु विदिताकारा दिशामिव विशुद्धता ॥१०८॥
भीमो राजगृहे राज्ञा गम्भीरस्वरदर्शनः। अदृश्यतदृशां[10] कान्तो भिक्षार्थी किल रूपवान् ॥१०९॥

१ गुणप्रभा, २ सुप्रभा, ३ ह्री, ४ श्री, ५ रति, ६ पद्मा, ७ इन्दीवरा, ८ विश्वा, ९ आचर्या और १० अशोका। इनमें गुणप्रभा ज्येष्ठ थी ॥९८॥ ये सभी कन्याएँ पहले युधिष्ठिरके लिए प्रदान की गयी थीं परन्तु बादमें उनका अन्यथा समाचार प्राप्त कर वे अणुव्रतोंको धारण करनेवाली श्राविकाएँ बन गयी थीं ॥९९॥ उसी त्रिशृङ्गपुरमें एक प्रियमित्र नामका सेठ रहता था जो बहुत भारी धनी तथा पुरुषोंके अन्तरको समझनेवाला था। पाण्डवोंको विशिष्ट पुरुष समझ उसने उनका बहुत सत्कार किया ॥१००॥ उसकी सोमिनी नामकी स्त्री थी और उससे उसके स्वरूप तथा सौन्दर्यसे नेत्रोंको आनन्द देनेवाली नयनसुन्दरी नामकी कन्या हुई थी ॥१०१॥ यह कन्या वीर युधिष्ठिरके लिए पहले ही दे दी गयी थी इसलिए वह भी पूर्वोक्त राजपुत्रियोंके समान अणुव्रत धारण कर रहती थी ॥१०२॥ राजा प्रचण्डवाहन और अपनी स्त्रीसहित सेठ प्रियमित्र, ब्राह्मणवेषधारी पाण्डवोंको महापुरुष समझते थे इसलिए ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरके लिए वे सब कन्याएँ देना चाहते थे ॥१०३॥ परन्तु कन्याओंने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि 'युधिष्ठिर भले ही परलोक चले गये हों पर इस भवमें वे ही मेरे पति हैं अन्य नहीं।' इस निश्चयसे उन्होंने ब्राह्मणवेषधारी युधिष्ठिरको अन्य पुरुष समझ स्वीकृत नहीं किया ॥१०४॥

तदनन्तर सुमेरुके समान स्थिरचित्तके धारक वे सब पाण्डव उस नगरसे भी चल दिये और चलते-चलते उस चम्पापुरीमें पहुँचे जहाँ महाराजा कर्ण राज्य करते थे ॥१०५॥ वहाँ एक मदोन्मत्त बड़ा हाथी नगरमें उपद्रव मचा रहा था सो कुशल भीमने क्रीड़ा कर उसे मदरहित कर दिया। भीमकी यह वीरता देख कर्णको क्षोभ उत्पन्न हुआ ॥१०६॥ वहाँसे चलकर वे इन्द्रपुरके समान सुन्दर वैदिशपुर पहुँचे। उस समय वहाँका राजा वृषध्वज था और युवराज दृढायुध था ॥१०७॥ राजा वृषध्वजकी रानीका नाम दिशावली था और उसके दिशानन्दा नामकी पुत्री थी। दिशाओंकी विशुद्धताके समान दिशानन्दाकी सुन्दरता समस्त दिशाओंमें प्रसिद्ध थी ॥१०८॥ एक दिन गम्भीर स्वर और गम्भीर दृष्टिको धारण करनेवाले, नेत्रप्रिय रूपवान् भीम भिक्षाकी अभिलाषासे राजमहलमें गये।

१. विश्वाचार्या म०। २. युधिष्ठिरस्य। ३. कौन्तेया म०। ४. स्थिताः म०। ५. निश्चित म०। ६. नगराज इव सुमेरुरिव स्थिर आत्मा येषां ते। ७. प्रक्रीडन् क०। ८. वर्ण-म०। ९. जाताः क०, ग०, घ०, म०। १०. दृशा कान्ता म०।

ज्ञात्वा महानरं तं च कन्यामादाय तां नृपः । सान्तःपुरः पुरः स्थित्वा जगाद मधुरं वचः ॥११० ॥
तवानुरूपकन्येयं दीयते प्रतिपद्यताम् । भिक्षा[1] प्रसारय श्रीमन्[2] पाणिं पाणिग्रहं प्रति ॥१११॥
अपूर्वेयमहो भिक्षा नेदृशीं प्रति साम्प्रतम् । स्वातन्त्र्यमिति सम्भाष्य गत्वा तेभ्यो न्यवेदयत् ॥११२॥
सार्धं मासमिह स्थित्वा पुरे जग्मुरमी ततः । तरीत्व(?)नर्मदां नर्मप्रवणां विन्ध्यमाविशन् ॥११३॥
सन्ध्याकारेऽन्तरद्वीपे सन्ध्याकारे पुरे नृपः । हिडम्बवंशसंभूतः सिंहघोषोऽवतिष्ठते ॥११४॥
देवी सुदर्शना तस्य सुता हृदयसुन्दरी । मेघवेगः त्रिकूटेन्द्रो याचित्वा तां न लब्धवान् ॥११५॥
यो [3]हनिष्यति तं विन्ध्ये गदाविद्याप्रसाधकम् । भर्ता हृदयसुन्दर्या इति नैमित्तिकागमः ॥११६॥
द्रुमकोटरमध्यास्थ साधयन्तं खगं गदाम् । तयैव गदया सार्गं[4] भीमोऽ[5]पीपतदेकदा[6] ॥११७॥
ततो हृदयसुन्दर्या भीमसेनस्य संगमः । हैडिम्बेन च सम्बन्धः संबभूव महोत्सवः ॥११८॥
विहृत्य विविधान् देशान् दाक्षिणात्यान् महोदयाः । ते हास्तिनपुरं गन्तुं प्रवृत्ताः पाण्डुनन्दनाः ॥११९॥
प्राप्ता मार्गवशाद्विष्वे माकन्दीं नगरीं दिवः । प्रतिच्छन्दस्थितिं [7]दिव्यान् दधाना देवविभ्रमान्[8] ॥१२०॥
द्रुपदोऽस्यास्तदा भूपस्तस्य भोगवती प्रिया । धृष्टद्युम्नादयः पुत्राः प्रत्येकं दृष्टशक्तयः ॥१२१॥

वहाँ राजा वृषध्वजने उन्हें देखा ॥१०९॥ देखते ही उसने समझ लिया कि यह कोई महापुरुष है इसलिए वह कन्या दिशानन्दाको लेकर अपने अन्तःपुरके साथ भीमके आगे खड़ा हो गया और इस प्रकारके मधुर वचन कहने लगा ॥११०॥ 'हे श्रीमन्! यह कन्या ही आपके लिए अनुरूप भिक्षा है इसलिए इसे स्वीकृत कीजिए, पाणिग्रहणके लिए हाथ पसारिए' ॥१११॥ भीमने कहा कि 'अहा! यह भिक्षा तो अपूर्व रही, इस समय ऐसी भिक्षा स्वीकृत करनेके लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ'। उक्त उत्तर दे भीमने अपने आवासस्थानपर आकर युधिष्ठिर आदिके लिए यह समाचार सुनाया ॥११२॥ तदनन्तर ये सब इस नगरमें डेढ़ मास तक रहे। उसके बाद क्रीड़ाओंके प्रदान करनेमें निपुण नर्मदा नदीको पार कर विन्ध्याचलमें प्रविष्ट हुए ॥११३॥ विन्ध्याचलके बीच सन्ध्याके आकारका एक अन्तरद्वीप था उसके सन्ध्याकार नामक नगरमें हिडम्बवंशमें उत्पन्न राजा सिंहघोष रहता था ॥११४॥ उसकी सुदर्शना नामकी स्त्री थी और उससे हृदयसुन्दरी नामकी पुत्री उत्पन्न हुई थी। त्रिकूटाचलका स्वामी मेघवेग उस हृदयसुन्दरीको चाहता था और उसके निमित्त उसने राजा सिंहघोषसे याचना भी की थी परन्तु वह उसे प्राप्त नहीं कर सका ॥११५॥ हृदयसुन्दरीके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने यह कहा था कि 'विन्ध्याचलपर गदाविद्याको सिद्ध करनेवाले विद्याधरको जो मारेगा वही हृदयसुन्दरीका पति होगा' ॥११६॥ भीमने विन्ध्याचलपर जाकर देखा कि एक विद्याधर वृक्षकी कोटरमें बैठकर गदाको सिद्ध कर रहा है। देखते ही भीमने वह गदा हाथमें ले ली और उसीके प्रहारसे उस वृक्षको एक साथ गिरा दिया ॥११७॥ तदनन्तर भीमका हृदयसुन्दरीके साथ समागम हुआ। हिडिम्बवंशी राजा सिंहघोषके साथ पाण्डवोंका यह सम्बन्ध महान् हर्षका कारण हुआ ॥११८॥

तदनन्तर महान् अभ्युदयको धारण करनेवाले पाण्डव दक्षिणके नाना देशोंमें विहार कर हस्तिनापुर जानेके लिए उद्यत हुए ॥११९॥ मार्गके वश चलते-चलते वे सब, स्वर्गके प्रतिबिम्बको धारण करनेवाली माकन्दी नगरी पहुँचे। उस समय सुन्दर शरीरसे सुशोभित पाण्डव देवोंके विभ्रमको धारण कर रहे थे—देवोंके समान जान पड़ते थे ॥१२०॥ वहाँका राजा द्रुपद था, उसकी स्त्रीका नाम भोगवती था और उन दोनोंके धृष्टद्युम्न आदि अनेक

१. भिक्षां क०, ख०, ग०, घ० । २. श्रीमान् म०, श्रीमन् ख०, घ० । ३. हतिष्यति म० । ४. सवृक्षं । ५. पातयामास । ६. सोऽङ्गं भीमोऽपापटपदेकदा म० । ७. दिव्यां म० । ८. देवविभ्रमाः म० दिव्यां दधानां देवविभ्रमाः घ० ।

रूपलावण्यसौभाग्यकलालंकृतविग्रहा । द्रौपदी तनया तस्य द्रुपदस्योपमोज्झिता ॥१२२॥
तस्याः कृते कृताः सर्वे [1]मनोजेन नृपात्मजाः । सग्रहा इव याचन्ते नानोपायनपाणयः ॥१२३॥
दाक्षिण्यभङ्गभीतेन द्रुपदेन ततो नृपाः । विश्वे चन्द्रकवेधार्थमाहूताः कन्यकार्थिनः ॥१२४॥
द्रौपदीग्रहवश्यानां [2]काश्यप्यामिह भूभृताम् । कर्णदुर्योधनादीनां माकन्द्यां निवहोऽभवत् ॥१२५॥
सुरेन्द्रवर्धनः खेन्द्रः स्वसुतावरमार्गणे । धनुर्गाण्डीवमादेशाद्दिव्यं तत्र तदाऽकरोत् ॥१२६॥
चण्डगाण्डीवकोदण्डमण्डलीकरणक्षमः । राधावेधसमर्थो यो द्रौपद्याः स भवेत्पतिः ॥१२७॥
इतीमां घोषणां श्रुत्वा द्रोणकर्णादयो नृपाः । समेत्य मण्डलीभूय कोदण्डमभितः स्थिताः ॥१२८॥
देवताधिष्ठितायास्तैश्चापयष्टेः प्रदर्शनम् । आसीत्तस्या इवाशक्यं स्पर्शनाकर्षणे कुतः ॥१२९॥
भाविना स्वामिना पश्चादर्जुनेन [3]सदर्जुना । दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा तदाकृष्टा स सतीव वशं स्थिता ॥१३०॥
आरोप्याकृष्य पार्थेन धनुर्ज्यास्फालिताक्षिभिः[4] । भ्रान्तं बधिरितं कर्णैः कर्णादीनां पटुध्वनौ ॥१३१॥
वितर्कः कर्कशं दृष्ट्वा तं तेषामित्यभूदयम् । सहजैः सहजैश्वर्यो मृत्वोत्पन्नः किमर्जुनः ॥१३२॥
धन्विनः स्थानमन्यस्य सामान्यस्येदृशं कुतः । अहो दृष्टिरहो मुष्टिरहो सौष्ठवमित्यपि ॥१३३॥

पुत्र थे जो एकसे-एक बढ़कर बलवान् थे ॥१२१॥ राजा द्रुपदकी एक द्रौपदी नामकी पुत्री भी थी जिसका शरीर रूप लावण्य सौभाग्य तथा अनेक कलाओंसे अलंकृत था एवं जो अपने सौन्दर्यके विषयमें सानी नहीं रखती थी ॥१२२॥ कामदेवने सब राजपुत्रोंको उसके लिए पागल-सा बना दिया था इसलिए वे नाना प्रकारके उपहार हाथमें ले उसकी याचना करते थे ॥१२३॥ तदनन्तर 'किस-किससे बुराई की जाये' यह विचार दाक्षिण्य-भङ्गसे भयभीत राजा द्रुपदने कन्याकी इच्छा रखनेवाले सब राजकुमारोंको चन्द्रक यन्त्रका वेध करनेके लिए आमन्त्रित किया ॥१२४॥ इस पृथिवीपर द्रौपदीरूपी ग्रहके वशीभूत हुए कर्ण, दुर्योधन आदि जितने राजा थे उन सबका झुण्ड माकन्दी नगरीमें इकट्ठा हो गया ॥१२५॥ उसी समय सुरेन्द्रवर्धन नामका एक विद्याधर राजा अपनी पुत्रीके योग्य वर खोजनेके लिए वहाँ आया और उसने राजा द्रुपदकी आज्ञासे गाण्डीव नामक धनुषको वरकी परीक्षाका साधन निश्चित किया ॥१२६॥ उस समय यह घोषणा की गयी कि 'जो अत्यन्त भयङ्कर गाण्डीव धनुषको गोल करने एवं राधावेध (चन्द्रकवेध) में समर्थ होगा वही द्रौपदीका पति होगा' ॥१२७॥ इस घोषणाको सुनकर वहाँ जो द्रोण तथा कर्ण आदि राजा आये थे वे सब गोलाकार हो धनुषके चारों ओर खड़े हो गये ॥१२८॥ परन्तु सती स्त्रीके समान देवोंसे अधिष्ठित उस धनुष-यष्टिका देखना भी उनके लिए अशक्य था फिर छूना और खींचना तो दूर रहा ॥१२९॥

तदनन्तर जब सब परास्त हो गये तब द्रौपदीके होनहार पति एवं सदा सरल प्रकृतिको धारण करनेवाले अर्जुनने उस धनुष-यष्टिको देखकर तथा छूकर ऐसा खींचा कि वह सती स्त्रीके समान इनके वशीभूत हो गयी ॥१३०॥ जब अर्जुनने खींचकर उसपर डोरी चढ़ायी और उसका आस्फालन किया तो उसके प्रचण्ड शब्दमें कर्ण आदि राजाओंके नेत्र फिर गये तथा कान बहरे हो गये ॥१३१॥ तीक्ष्ण आकृतिके धारक पार्थको देखकर कर्ण आदिके मनमें यह तर्क उत्पन्न हुआ कि क्या स्वाभाविक ऐश्वर्यको धारण करनेवाला अर्जुन अपने भाइयोंके साथ मरकर यहाँ पुनः उत्पन्न हुआ है ? ॥१३२॥ अर्जुनके सिवाय अन्य सामान्य धनुर्धारीका ऐसा खड़ा होना कहाँ सम्भव है ? अहा इसकी दृष्टि, इसकी मुट्ठी और इसकी चतुराई—

१. मनोवेगैर्नृपात्मजाः म०, क० । २. पृथिव्याम् 'क्षोणीज्या काश्यपी क्षितिः' इति धनञ्जयः । ३. सदा सर्वदा ऋजुना सरलेन । ४. क्षितिः म० (?) ।

अमचक्रसमारूढो बाणं संधृत्य दक्षिणः । लक्ष्यं चन्द्रकवेधाख्यं विध्याध[1] नृपसन्निधौ ॥१३४॥
द्रौपदी च द्रुतं मालां कन्धरेऽभ्येत्य बन्धुरे । अकरोत्करपद्माभ्यामर्जुनस्य वरेच्छया ॥१३५॥
विप्रकीर्णा तदा माला सहसा सहवर्तिनाम् । पञ्चानामपि गात्रेषु चपलेन नभस्वता ॥१३६॥
ततश्चपललोकस्य तरवमूढस्य कस्यचित् । वाचो[2] विचेरुरित्युच्चैर्वृताः पञ्चानयेत्यपि ॥१३७॥
सद्गन्धस्य सुवृक्षस्य तुङ्गस्य फलितस्य सा । पुष्पितेव लतामासीदर्जुनस्याङ्कमाश्रिता ॥१३८॥
ततः कुन्त्याः समीपं सा [3]धीरमञ्जीरबन्धना । अग्रतः पश्यतां राज्ञां नीतानीतिविदां विदा ॥१३९॥
सन्नद्धा ये नृपाः केचिदनुयाता युयुत्सवः । निषिद्धा अपि यत्नेन द्रुपदेन नयैषिणा ॥१४०॥
अर्जुनेन च भीमेन धृष्टद्युम्नेन च त्रिभिः । धन्विभिर्दूरतो रुद्धा नामितः पदमप्यदुः ॥१४१॥
धृष्टद्युम्नरथस्थेन स्वनामाङ्कः किरीटिना । द्रोणस्याङ्के शरः क्षिप्तः सर्वसंबन्धवाचकः ॥१४२॥
द्रोणाश्वत्थामवीराभ्यां भीष्मेण विदुरेण च । वाचितः सर्वसम्बन्धः प्रमदं प्रददौ[4] परम् ॥१४३॥
द्रुपदस्य सगोत्रस्य द्रोणादीनां च सौख्यतः[5] । शङ्खवादित्रनिर्घोषा[6] जाताः पाण्डवसंगमे ॥१४४॥
जातबान्धवसंबन्धे परमानन्ददायिनि । संवृत्त्या नन्दिताः पञ्च तेऽमी दुर्योधनादिभिः ॥१४५॥
द्रौपदी दीपिकेवासौ स्नेहसंभारपूरिता । पाणिग्रहणयोगेन दिदीपेऽर्जुनधारिता ॥१४६॥

सभी आश्चर्यकारी हैं ॥१३३॥ उधर राजा लोग ऐसा विचार कर रहे थे इधर अत्यन्त चतुर अर्जुन डोरीपर बाण रख झटसे चलते हुए चक्रपर चढ़ गया और राजाओंके देखते-देखते उसने शीघ्र ही चन्द्रकवेध नामका लक्ष्य बेध दिया ॥१३४॥ उसी समय द्रौपदीने शीघ्र ही आकर वरकी इच्छासे अर्जुनकी झुकी हुई सुन्दर ग्रीवामें अपने दोनों कर-कमलोंसे माला डाल दी ॥१३५॥ उस समय जोरदार वायु चल रही थी इसलिए वह माला टूटकर साथ खड़े हुए पाँचों पाण्डवोंके शरीरपर जा पड़ी ॥१३६॥ इसलिए विवेकहीन किसी चपल मनुष्यने जोर-जोरसे यह वचन कहना शुरू कर दिया कि इसने पाँच कुमारोंको वरा है ॥१३७॥ जिस प्रकार किसी सुगन्धित, ऊँचे एवं फलोंसे युक्त वृक्षपर लिपटी फूली लता सुशोभित होती है उसी प्रकार अर्जुनके समीप खड़ी द्रौपदी सुशोभित हो रही थी ॥१३८॥ तदनन्तर कुशल अर्जुन नूपुरोंके निश्चल बन्धनसे युक्त उस द्रौपदीको अनीतिज्ञ राजाओंके आगेसे उनके देखते-देखते माता कुन्तीके पास ले चला ॥१३९॥ युद्ध करनेके लिए उत्सुक राजाओंको यद्यपि नीतिचतुर राजा द्रुपदने रोका था तथापि कितने ही राजा जबर्दस्ती अर्जुनके पीछे लग गये ॥१४०॥ परन्तु अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न इन तीनों धनुर्धारियोंने उन्हें दूरसे ही रोक दिया। ऐसा रोका कि न आगे न पीछे कहीं एक डग भी रखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके ॥१४१॥ तदनन्तर धृष्टद्युम्नके रथपर आरूढ़ अर्जुनने अपने नामसे चिह्नित एवं समस्त सम्बन्धोंको सूचित करनेवाला बाण द्रोणाचार्यकी गोदमें फेंका ॥१४२॥ द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म और विदुरने जब उस समस्त सम्बन्धोंको सूचित करनेवाले बाणको बाँचा तो उसने सबको परम हर्ष प्रदान किया ॥१४३॥ पाण्डवोंका समागम होनेपर राजा द्रुपद, कुटुम्बी जन, तथा द्रोणाचार्य आदिको जो महान् सुख उत्पन्न हुआ था। उससे शङ्ख और बाजोंके शब्द होने लगे ॥१४४॥ परम आनन्दको देनेवाले भाइयोंके इस समागमपर दुर्योधन आदिने भी ऊपरी स्नेह दिखाया और पाँचों पाण्डवोंका अभिनन्दन किया ॥१४५॥ जिस प्रकार स्नेह—तेलके समूहसे भारी दीपिका किसीके पाणिग्रहण—हाथमें धारण करनेसे अत्यधिक देदीप्यमान होने लगती है उसी प्रकार स्नेह—प्रेमके भारसे भरी द्रौपदी, पाणिग्रहण—विवाहके योगसे

१. विध्याध म० । २. वाचोदितोरु म०, ग० । ३. धीरगा जीवबन्धना म० । ४. प्रपदौ म० ।
५. सौख्यतां म० । सौख्यतः ग०, ख० । ६. निर्घोषाजाताः म० ।

विवाहमङ्गलं दृष्ट्वा द्रौपद्यर्जुनयोर्नृपाः । [1]प्रयाताः पाण्डवैर्युक्तः स्थानं दुर्योधनोऽप्यगात् ॥१४७॥
अर्धराज्यविभागेन ते हास्तिनपुरे पुनः । तस्थुर्दुर्योधनाद्याश्च पाण्डवाश्च यथायथम् ॥१४८॥
आनाय्यानाय्यवृत्तोऽसौ ज्येष्ठं कन्याः पुरातनीः । विवाह्य सुखिताश्चक्रे भीमसेनो निजोचिताः ॥१४९॥
स्नुषाबुद्धिरभूत्तस्यां ज्येष्ठयोरर्जुनस्त्रियाम् । द्रौपद्यां [2]यमलस्यापि मातरीवानुवर्तनम् ॥१५०॥
तस्याः श्वशुरबुद्धिस्तु पाण्डाविव तयोरभूत् । अर्जुनप्रेमसंरूढमौचित्यं देवरद्वये ॥१५१॥
अत्यन्तशुद्धवृत्तेषु [3]येऽभ्याख्यानपरायणाः । तेषां तत्प्रभवं पापं को निवारयितुं क्षमः ॥१५२॥
सद्भूतस्यापि दोषस्य परकीयस्य भाषणम् । पापहेतुरमोघः स्यादसद्भूतस्य किं पुनः ॥१५३॥
प्राकृतानामपि प्रीत्या समानधनता धने । न [4]स्त्रीषु त्रिषु लोकेषु प्रसिद्धानां किमुच्यते ॥१५४॥
महापुरुषकोटीस्थकूटदोषविभाषिणाम् । असतां कथमायाति न जिह्वा शतखण्डताम् ॥१५५॥
वक्ता श्रोता च पापस्य यत्रात्र फलमश्नुते । तदमोघममुत्रास्य वृद्ध्यर्थमिति बुध्यताम् ॥१५६॥
वक्तुः श्रोतुश्च सद्बुद्ध्या यथा पुण्यमयी श्रुतिः । श्रेयसे विपरीताय तथा पापमयी श्रुतिः ॥१५७॥

अर्जुनके द्वारा धारण की हुई अत्यधिक देदीप्यमान होने लगी ॥१४६॥ राजा लोग द्रौपदी और अर्जुनका विवाह-मङ्गल देखकर अपने-अपने स्थानपर चले गये और दुर्योधन भी पाण्डवोंको साथ ले हस्तिनापुर पहुँच गया ॥१४७॥ दुर्योधनादि सौ भाई और पाण्डव आधे-आधे राज्यका विभाग कर पुनः पूर्वकी भाँति रहने लगे ॥१४८॥ उज्ज्वल चारित्रके धारक युधिष्ठिर तथा भीमसेनने पहले अज्ञातवासके समय अपने-अपने योग्य जिन कन्याओंको स्वीकृत करनेका आश्वासन दिया था उन्हें बुलाकर तथा उनके साथ विवाह कर उन्हें सुखी किया ॥१४९॥ द्रौपदी अर्जुनकी स्त्री थी उसमें युधिष्ठिर और भीमकी बहू-जैसी बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल उसे माताके समान मानते थे ॥१५०॥ द्रौपदीकी भी पाण्डुके समान युधिष्ठिर और भीममें श्वसुर बुद्धि थी और सहदेव तथा नकुल इन दोनों देवरोंमें अर्जुनके प्रेमके अनुरूप उचित बुद्धि थी ॥१५१॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि जो अत्यन्त शुद्ध आचारके धारक मनुष्योंकी भी निन्दा करनेमें तत्पर रहते हैं उनके उस निन्दासे उत्पन्न हुए पापका निवारण करनेके लिए कौन समर्थ है ? ॥१५२॥ दूसरेके विद्यमान दोषका कथन करना भी पापका कारण है फिर अविद्यमान दोषके कथन करनेकी तो बात ही क्या है ? वह तो ऐसे पापका कारण होता है जिसका फल कभी व्यर्थ नहीं जाता—अवश्य ही भोगना पड़ता है ॥१५३॥ साधारणसे-साधारण मनुष्योंमें प्रीतिके कारण यदि समान-धनता होती है तो धनके विषयमें ही होती है स्त्रियोंमें नहीं होती। फिर जो तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं उनकी तो बात ही क्या है ? ॥१५४॥ महापुरुषोंकी कोटिमें स्थित पाण्डवोंके मिथ्या दोष कथन करनेवाले दुष्टोंकी जिह्वाके सौ खण्ड क्यों नहीं हो जाते ? ॥१५५॥ पापका वक्ता और श्रोता जो इस लोकमें उसका फल नहीं प्राप्त कर पाता है वह मानो परलोकमें वृद्धिके लिए ही सुरक्षित रहता है ऐसा समझना चाहिए। भावार्थ—जिस पापका फल वक्ता और श्रोताको इस जन्ममें नहीं मिल पाता है उसका फल परभवमें अवश्य मिलता है और ब्याजके साथ मिलता है ॥१५६॥ सद्बुद्धिसे पुण्यरूप कथाओंका सुनना वक्ता और श्रोताके लिए जिस प्रकार कल्याणका कारण माना गया है उसी प्रकार पाप रूप कथाओंका सुनना उनके लिए अकल्याणका कारण माना गया है ॥१५७॥ इसलिए असत्य

१. आयाताः पाण्डवैर्युक्ता म०, ख० । २. सहदेवनकुलयोः म० । ३. योऽभ्याख्यान-म० । ४. स्त्रीचरित्रलोकेषु म०, ख० ।

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

त्यजत वाचमसत्यमलोद्धतां भजत [1]सत्यवचोनिरवद्यताम् ।
[2]निजयशोविशदां सगुणोद्यतां विजयिनीं त्विह विश्वविदोदिताम्[3] ॥१५८॥
सुभृतमाचरणं शरणं भवेदसुभृतां विपदीह [4]पराभवे ।
सुचरितस्य फलं नयपौरुषं परिभवत्यहितस्य हि तां रुषम् ॥१५९॥
शिखिशिखावलिधर्मघनागमः परनिराकरणैकजिनागमः ।
विविधलाभनिधिर्ध्रियतां जनैर्व्रतविधिः[5] श्रुतवर्तिकृताञ्जनैः ॥१६०॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ कुरुवंशोत्पत्तिपाण्डवधार्तराष्ट्राणां च पार्थद्रौपदीलाभवर्णनो नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥४५॥

रूप दोषसे उद्धत वाणीको छोड़ो, और सत्य वचनसे उत्पन्न उस निर्मलताका सेवन करो जो अपने यशसे विशद है, गुणी मनुष्योंके प्राप्त करनेमें उद्यत है। इस लोकमें विजय प्राप्त करानेवाली है और सर्वज्ञदेवके द्वारा निरूपित है ॥१५८॥ इस संसारमें विपत्ति और पराभवके समय अच्छी तरहसे आचरित अपना आचरण ही प्राणियोंके लिए शरण है क्योंकि सदाचारका फल जो नीति और पौरुष है वह शत्रुके उस रोषको परिभूत कर देता है—दूर कर देता है ॥१५९॥ जो अग्निकी शिखावलीसे वर्धमान धर्मरूपी ग्रीष्म कालको नष्ट करनेके लिए वर्षा ऋतुके समान है, दूसरोंका निराकरण करनेके लिए एक जिनागम है, और नाना प्रकारके लाभोंका भण्डार है, ऐसा व्रतविधान, श्रुतरूपी अञ्जनकी शलाकाका प्रयोग करनेवाले मनुष्योंके द्वारा अवश्य ही धारण करने योग्य है ॥१६०॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें कुरुवंशकी उत्पत्ति, पाण्डव और धार्तराष्ट्रोंके समागम तथा अर्जुनको द्रौपदीके लाभका वर्णन करनेवाला पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४५॥

---

१. सत्यवचसः निरवद्यता तां । २. निजयशोविशदाशगुणोद्यतां म० । निजयशो विशदं न गुणोद्यतां क० । ३. अथवा विजयिनीं त्विह वित्थ विदोऽद्य ताम् इति पाठः क पुस्तकटिप्पणकृत इह संगतः लोके, हे विदः हे पण्डिताः अद्य अधुना, ताम् वाचं, विजयिनीं वित्थ जानीथ । ४. पुराभवे ख०, ङ० । ५. व्रतविधि-श्रुतवर्ति-क० व्रतविधिप्रतिपादकश्रुतवर्त्या कृतमञ्जनं यः इति क-प्रति टिप्पणी ।

षट्चत्वारिंशः सर्गः

अथ मानितबन्धूनां पाण्डवानां गजाह्वये । नगरे नगधीराणां काले गच्छति भोगिनाम् ॥१॥
प्रत्यहं [1]परया भूत्या वर्धमानानमूनमी[2] । पञ्चापि शतमालोक्य पूर्ववच्चलिताः स्थितेः ॥२॥
तं शकुन्युपदेशेन सद्यो द्यूते विजित्य सः । [3]पञ्चज्येष्ठं शतज्येष्ठः[4] सानुजं सानुजोऽगदीत् ॥३॥
गन्तव्यं यत्र ते नाम श्रूयते न युधिष्ठिर । स्थातव्यं सत्यसन्धेन त्वया प्रच्छन्नवर्तिना[5] ॥४॥
इत्युक्तं [6]प्रतिपद्यासौ शमितभ्रातृमण्डलः । निरैत्परिच्छदं त्यक्त्वा द्वादशाब्दकृतावधिः ॥५॥
[7]अनुयातार्जुनं प्रेम्णा प्रमदेन च पूरिता । द्रौपदीन्दुमिव ज्योत्स्ना कृतकृष्णनिजस्थितिः (?) ॥६॥
ततस्ते धैर्यसम्पन्नाः सुवीर्या नरकुञ्जराः । क्रमेण सहिताः प्राप्ता रम्यां कालाञ्जलाटवीम् ॥७॥
प्रकीर्णकासुरीसूनुः सुतारस्तत्र खेचरः । असुरोद्गीतनगरादागत्य रमते तदा ॥८॥
कान्तया कुसुमावल्या रममाणं वनान्तरे । किरातवेषिणं कान्तं युक्तं शाबरविद्यया ॥९॥
किरातवेषभृत्पत्न्या सह क्रीडन् यदृच्छया । ददर्श खेचरं चापी चापिनं स धनञ्जयः ॥१०॥
अकस्माच्च तयोर्जाते दर्शने सहसानयोः । बभूव विषमं युद्धं दिव्येषुच्छन्नदिङ्मुखम् ॥११॥
भुजयुद्धे ततो लग्ने भुजेन दृढमुष्टिना । अघानोरसि तं पार्थः खचरं बलिनं बली ॥१२॥

अथानन्तर बन्धुओंका सम्मान करनेवाले पर्वतोंके समान धीर-वीर पाण्डवोंका भोग भोगते हुए हस्तिनापुरमें सुखसे समय व्यतीत होने लगा ॥१॥ पाँचों पाण्डव उत्कृष्ट विभूतिसे प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे, उन्हें देख सौ कौरव पहलेके समान पुनः मर्यादासे विचलित हो गये ॥२॥ एक बार शकुनिके उपदेशसे दुर्योधनने युधिष्ठिरको शीघ्र ही जुआमें जीत लिया। जीत लेनेपर अपने छोटे भाइयोंके साथ मिलकर दुर्योधनने भीमसेन आदि छोटे भाइयोंसे युक्त युधिष्ठिरसे कहा कि हे युधिष्ठिर ! चूँकि तुम सत्यवादी हो—तुम्हारे द्वारा की हुई प्रतिज्ञा कभी मिथ्या नहीं होती इसलिए तुम्हें अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार यहाँसे चला जाना चाहिए और छिपकर वहाँ रहना चाहिए जहाँसे तुम्हारा नाम भी सुनायी न दे सके ॥३-४॥ दुर्योधनके इस कथनको सुनकर यद्यपि भीमसेन आदि भाइयोंको क्षोभ उत्पन्न हुआ तथापि युधिष्ठिर उन्हें शान्त कर बारह वर्षकी लम्बी अवधिके लिए सब राज्य-पाट छोड़ हस्तिनापुरसे बाहर निकल गये ॥५॥ जिस प्रकार चाँदनी चन्द्रमाके पीछे-पीछे चलती है उसी प्रकार प्रेम और हर्षसे भरी द्रौपदी अर्जुनके पीछे-पीछे चलने लगी ॥६॥

तदनन्तर धैर्यसे सम्पन्न, उत्तम शक्तिसे सुशोभित एवं एक-दूसरेके हित करनेमें तत्पर वे सब श्रेष्ठ पुरुष क्रम-क्रमसे कालाञ्जला नामक अटवीमें पहुँचे ॥७॥ उस समय वहाँ प्रकीर्णकासुरीका पुत्र सुतार नामका विद्याधर असुरोद्गीत नामक नगरसे आकर क्रीड़ा कर रहा था ॥८॥ वह शाबरी विद्यासे युक्त था अतः किरातका सुन्दर वेष रख अपनी कुसुमावली नामक स्त्रीके साथ क्रीड़ा कर रहा था ॥९॥ उसकी स्त्री भी किरातका वेष रखे थी और दोनों इच्छानुसार साथ-साथ क्रीड़ा कर रहे थे। धनुर्धारी अर्जुनने धनुर्धारी उस विद्याधरको देखा ॥१०॥ उन दोनोंने ज्योंही अकस्मात् एक-दूसरेको देखा त्योंही उनमें भयङ्कर युद्ध होने लगा। ऐसा युद्ध कि जिसमें दिशाएँ दिव्य बाणोंसे आच्छादित हो गयीं ॥११॥ तदनन्तर उन दोनोंमें बाहुयुद्ध होनेपर बलवान् अर्जुनने दृढ मुट्ठी बाँधकर उस बलवान् विद्याधरकी छातीपर

१. परमा म० । २. कौरवाः । ३. युधिष्ठिरं । ४. दुर्योधनः । ५. वैरिणा म० । ६. प्रतिपाद्यासौ म० । ७. अनुजाता—म०, घ० ।

पतिभिक्षां ययाचेऽसावर्जुनं कुसुमावली । मुक्तः स तं प्रणम्यागाद्रौप्याद्रेर्दक्षिणां क्षितिम् ॥१३॥
गता क्रमेण ते धीराः पुरं मेघदलाभिधम् । सिंहो नरेश्वरो यत्र कान्ता कनकमेखला ॥१४॥
तनया कनकावर्ता तयोरत्यन्तसुन्दरी । मेघेभ्या[1]लकयोश्चारुलक्ष्मीः कान्ता शरीरजा ॥१५॥
ते चादेशवशात्कन्ये भीमो भीमांसवेषभृत् । भिक्षार्थमागतो लेभे पुण्यस्य किमु दुष्करम् ॥१६॥
विश्रम्य तत्र ते सौम्या दिनानि कतिचित्सुखम् । याताः क्रमेण पुन्नागा[2] विषयं कौशलाभिधम् ॥१७॥
स्थित्वा तत्रापि सौख्येन मासान् कतिपयानपि । प्राप्ता रामगिरिं प्राग् यो रामलक्ष्मणसेवितः ॥१८॥
चैत्यालया जिनेन्द्राणां यत्र चन्द्रार्कभासुराः । कारिता रामदेवेन संभान्ति[3] शतशो गिरौ ॥१९॥
नानादेशगतैर्भव्यैर्वन्द्यन्ते या दिने दिने । वन्दितास्ता जिनेन्द्राणां प्रतिमाः पाण्डुनन्दनैः ॥२०॥
चिरं चिक्रीड तत्राद्रौ द्रौपद्या सहितोऽर्जुनः । लतागृहेषु रम्येषु सीतयेव रघूत्तमः ॥२१॥
अविज्ञातसुखच्छेदा स्वेच्छया विहृतिं श्रिताः । निन्युरेकादशाब्दानि धन्यास्ते मान्यचेष्टिताः ॥२२॥
अतः परं पुनः प्राप्ता विराटपुटभेदनम् । विराटो यत्र राजासौ भार्या यस्य सुदर्शना ॥२३॥
अव्यक्ताः पाण्डवास्तत्र द्रौपदी च विचक्षणा । विराटनगरे तस्थुर्विराटस्यातिपूजिताः ॥२४॥
यथायथं विनोदेन तत्र संवसतां सताम् । [4]प्रयाति सुखिनां काले प्रमादरहितात्मनाम् ॥२५॥

भुजासे मजबूत प्रहार किया। जिससे घबड़ाकर विद्याधरकी स्त्री कुसुमावली अर्जुनसे पतिकी भिक्षा माँगने लगी। फलस्वरूप अर्जुनने उसे छोड़ दिया और वह उन्हें प्रणाम कर विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें चला गया ॥१२–१३॥

तदनन्तर वे धीर-वीर क्रम-क्रमसे मेघदल नामक उस नगरमें पहुँचे जहाँ सिंह नामका राजा राज्य करता था। राजा सिंहकी स्त्रीका नाम कनकमेखला था और उन दोनोंके कनकावर्ता नामकी अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। उसी नगरीमें मेघ नामक सेठ और अलका नामक सेठानीके चारुलक्ष्मी नामकी एक सुन्दर कन्या और थी ॥१४–१५॥ निमित्तज्ञानीके आदेशानुसार भिक्षाके लिए गये हुए भयङ्कर कन्धोंको धारण करनेवाले भीमसेनने उन दोनों कन्याओंको प्राप्त किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके लिए क्या कार्य कठिन है ? ॥१६॥ सौम्य प्रकृतिके धारक उन श्रेष्ठ पुरुषोंने कुछ दिन तक वहाँ विश्राम किया। तदनन्तर क्रम-क्रमसे चलकर वे कौशल नामक देशमें पहुँचे ॥१७॥ वहाँ भी कुछ महीने तक सुखसे ठहरकर वे उस रामगिरि पर्वतपर पहुँचे जो कि पहले राम और लक्ष्मणके द्वारा सेवित हुआ था ॥१८॥ तथा जिस पर्वतपर रामचन्द्रजीके द्वारा बनवाये हुए, चन्द्रमा और सूर्यके समान देदीप्यमान, सैकड़ों जिन-मन्दिर सुशोभित हो रहे थे ॥१९॥ नाना देशोंसे आये हुए भव्य जीव प्रतिदिन जिन-प्रतिमाओंकी वन्दना करते थे, पाण्डवोंने भी उन प्रतिमाओंकी बड़ी भक्तिसे वन्दना की ॥२०॥ जिस प्रकार सीताके साथ रामचन्द्रजीने क्रीड़ा की थी उसी प्रकार उस पर्वतके सुन्दर-सुन्दर लतागृहोंमें अर्जुन द्रौपदीके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता था ॥२१॥ जिन्होंने कभी सुखके विच्छेदका अनुभव नहीं किया था, जो स्वेच्छासे जहाँ-तहाँ विहार करते थे और मान्य चेष्टाओंके धारक थे ऐसे उन भाग्यशाली पाण्डवोंने उस पर्वतपर ग्यारह वर्ष व्यतीत कर दिये ॥२२॥

तदनन्तर वहाँसे चलकर वे उस विराटनगरमें पहुँचे जहाँ विराट नामका राजा रहता था। राजा विराटकी स्त्रीका नाम सुदर्शना था ॥२३॥ पाण्डव और अत्यन्त कुशल द्रौपदी—सब अपने-आपको छिपाकर राजा विराटसे सम्मानित हो विराटनगरमें रहने लगे ॥२४॥ इस प्रकार विनोदपूर्वक वहाँ रहते हुए प्रमादरहित पाण्डवोंका सुखसे समय बीतने लगा ॥२५॥ अब इनसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी घटना लिखी जाती है—

१. मेघश्चालकया-ग०, घ०, ङ० । २. पुरुषश्रेष्ठाः । ३. संभाति म० । ४. गच्छति सति ।

चूलिका नगरी राजा चूलिकस्तस्य कामिनी। विकचा विकचाब्जास्या शतपुत्रपवित्रिता ॥२६॥
कीचकः प्रथमस्तेषां प्रथमश्चण्डकर्मणाम्। रूपयौवनविज्ञाने शौर्यद्रव्यमदाविलः ॥२७॥
विराटनगरं जातु स्वसारं स सुदर्शनाम्। आगतो द्रष्टुमत्रैतां दृष्टवान् द्रौपदीं सतीम् ॥२८॥
गन्धयुक्तिविशेषेण सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम्। रूपलावण्यसौभाग्यगुणपूरितविग्रहाम् ॥२९॥
तस्यां दर्शनमात्रेण मानिनोऽपि मनोगतम्। दैन्यमन्यत्र यातस्य तस्य तन्मयतां गतम् ॥३०॥
अनेकोपाययोगैस्तामुपलोभयतामुना। स्वतोऽपि परतोऽप्यस्या नालाभि हृदये स्थितिः ॥३१॥
प्रत्याख्यातस्य धृष्टस्य तृणीभूतस्य तस्य सा। निर्बन्धं भीमसेनाय शैलन्ध्री तं न्यवेदयत् ॥३२॥
ततः कुपितचित्तोऽसौ शैलन्ध्रीवेषभृद्बली। प्रदोषे कृतसङ्केतमेकान्ते मदनातुरम् ॥३३॥
वारीबन्धमिवायातं स्पर्शान्धं गन्धवारणम्। कण्ठे जग्राह बाहुभ्यां स्पर्शामीलितलोचनम् ॥३४॥
भूमौ निपात्य पादाभ्यामुरस्याक्रम्य कामिनम्। पिपेष मुष्टिनिर्घातैर्निर्घातैरिव भूधरम् ॥३५॥
तथा तस्य तदा श्रद्धां प्रपूर्य परयोषिति। अमुचद् व्रज पापेति दयमानो महामनाः ॥३६॥
महावैराग्यसम्पन्नस्ततो विषयहेतुकम्। प्राव्रजत्कीचकः श्रित्वा मुनीन्द्रं रतिवर्धनम् ॥३७॥

इसी पृथिवीतलपर एक चूलिका नामकी नगरी थी। उसके राजाका नाम चूलिक था। राजा चूलिककी, विकसित कमलके समान मुखवाली एवं सौ पुत्रोंसे पवित्र विकचा नामकी स्त्री थी ।।२६।। विकचाके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े पुत्रका नाम कीचक था। यह कीचक क्रूरकर्मा मनुष्योंमें अग्रणी था तथा रूप, यौवन, विज्ञान, शूर-वीरता और धनके मदसे मलिन था ।।२७।। एक बार वह कीचक, अपनी बहिन सुदर्शनाको देखनेके लिए विराटनगर आया। वहाँ उसने द्रौपदीको देखा ।।२८।। उस समय द्रौपदी किसी विशिष्ट सुगन्धित पदार्थके संयोगसे समस्त दिशाओंको सुगन्धित कर रही थी एवं रूप, लावण्य, सौभाग्य आदि गुणोंसे उसका शरीर परिपूर्ण था ।।२९।। यद्यपि कीचक मानी था तथापि उसका मन देखते ही द्रौपदीके विषयमें दीनताको प्राप्त हो गया। वह वहाँसे अन्यत्र जाता था तब भी उसका मन द्रौपदीके साथ तन्मयताको ही प्राप्त रहता था ।।३०।। कीचकने अनेक उपायोंसे द्रौपदीको स्वयं लुभाया तथा दूसरोंके द्वारा भी उसे प्रलोभन दिखलाये पर वह उसके हृदयमें स्थितिको प्राप्त न कर सका।।३१।। द्रौपदी उसे तृणके समान तुच्छ समझती थी और उसे मना भी कर चुकी थी पर वह अपनी धृष्टता नहीं छोड़ता था अतः विवश हो शैलन्ध्री (सैरन्ध्री) का वेष धारण करनेवाली द्रौपदीने एक दिन उसको इस दुर्हठकी शिकायत भीमसेनसे कर दी ।।३२।। फिर क्या था, भीमसेनका हृदय क्रोधसे उबल उठा। उन्होंने कामातुर कीचकको द्रौपदीके द्वारा सायंकालके समय एकान्त स्थानमें मिलनेका संकेत करा दिया और आप स्वयं शैलन्ध्री (द्रौपदी) का वेष रख उस स्थानपर पहुँच गये। आप अत्यन्त बलवान् तो थे ही ।।३३।। जिस प्रकार हस्तिनीके स्पर्शसे अन्धा मदोन्मत्त हाथी बन्धनके स्थानमें स्वयं आ जाता है उसी प्रकार मदनातुर कीचक उस संकेत-स्थानमें स्वयं आ गया। तदनन्तर स्पर्शजन्य आनन्दके अतिरेकसे जिसके नेत्र निमीलित हो रहे थे ऐसे उस कीचकके कण्ठको द्रौपदीका वेष धारण करनेवाले भीमसेनने अपनी दोनों भुजाओंसे आलिङ्गित किया और पृथिवीपर पटक कर उसकी छातीपर दोनों पैरोंसे चढ़ गये। जिस प्रकार वज्राघातसे किसी पर्वतको चूर-चूर किया जाता है उसी प्रकार मजबूत मुक्कोंके प्रहारसे उसे चूर-चूर कर दिया। इस प्रकार उसकी परस्त्रीविषयक आकांक्षाको पूर्ण कर महामना भीमसेनने दयायुक्त हो 'अरे पापी जा' यह कह उसे छोड़ दिया ।।३४-३६।।

तदनन्तर विषयोंका प्रत्यक्ष फल देख कीचकको उनसे अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हो गया

---

१. विज्ञानं शौर्य म०। २. द्रौपदीमयताम्।

अनुप्रेक्षाभिरात्मानं भावयन् भावशुद्धितः । रत्नत्रयमसौ शुद्धं श्रुतवान् कर्तुमुद्यतः ॥३८॥
कीचकं शतसंख्यास्ते भ्रातरो भ्रान्तचेतसः । अदृ[1]ष्ट्वा कुपिता दुष्टाश्चितकाग्निमचिन्वत ॥३९॥
तत्र चि[2]क्षिप्सवः पापाः शैलन्ध्रीं बलशालिनः । क्षिप्तास्ते तत्र भीमेन भस्मसाद्भावमागताः ॥४०॥
एकेनैवाह्व[3]यं नीतास्ते भीमेन मदोद्धताः । बहवोऽपि हि हिंस्यन्ते सिंहेनैकेन दन्तिनः ॥४१॥
अथासौ कीचकः साधुरेकान्तोद्यानमध्यगः । पर्यङ्कासनयोगस्थो यक्षेणैक्षि कदाचन ॥४२॥
तस्य चित्तपरीक्षार्थं द्रौपदीवेषमाश्रितः । निशीथेऽदर्शयद्रूपमात्मनो मदनालसम् ॥४३॥
साधुना बधिरेणेव रम्यालापश्रुतौ स्थितम् । रूपं दृष्टिवि[4]लासाढ्यमन्धेनेव मनोहरम् ॥४४॥
गुप्तेन्द्रियकलापस्य मनःशुद्धिमुपेयुषः । साधोस्तस्य समुत्पन्नमवधिज्ञानलोचनम् ॥४५॥
उपसंहृतयोगं तं प्रणम्यासौ सुरस्ततः । मुनिमक्षमयन्नाथ क्षमस्वेति पुनः पुनः ॥४६॥
पुनः प्रणम्य पप्रच्छ द्रौपदीमोहकारणम् । कारणेन विना न स्यात्तादृग्मोहसमुद्भवः ॥४७॥
कतिचित्पूर्वजन्मानि द्रौपद्याः स्वस्य चेत्यसौ । कीचकाख्योऽवदद्योगी यक्षाय प्रणतात्मने ॥४८॥
तरङ्गिणीसरित्तीरे वेगवत्याश्च संगमे । म्लेच्छोऽहमभवद्रौद्रः क्षुद्रः क्षुद्रासुमद्रिपुः ॥४९॥

जिससे उसने रतिवर्धन नामक मुनिराजके पास जाकर दीक्षा धारण कर ली ॥३७॥ कीचक मुनि अनुप्रेक्षाओंके द्वारा आत्माकी भावना करते—आत्माका स्वरूप विचारते, शास्त्रोंका स्वाध्याय करते और भाव-शुद्धिके द्वारा रत्नत्रयको शुद्ध करनेके लिए उद्यम करने लगे ॥३८॥ कीचकके सौ भाइयोंने जब कीचकको नहीं देखा तो वे बहुत ही घबड़ाये। उन्होंने जहाँ-तहाँ उसकी खोज की पर कहीं नहीं दिखा। उसी समय उन्हें एक जलती हुई चिताकी अग्नि दिखी। किसीने बता दिया कि वह कीचककी ही चिता है, यह सुन वे सब भाई बहुत ही कुपित हुए। वे सोचने लगे कि कीचककी यह दशा इस शैलन्ध्रीने ही की है इसलिए वे कुपित होकर उसे (शैलन्ध्रीका वेष धारण करनेवाले भीमको) उसी चितामें डालनेकी इच्छा करने लगे। परन्तु भीमसेनने उनकी बलवत्ता ठिकाने लगा दी और एक-एक कर सबको जलती हुई चितामें डाल दिया जिससे सब जलकर राख हो गये ॥३९-४०॥ देखो, एक ही भीमसेनने मदसे उद्धत हुए अनेक पुरुषोंको नामावशिष्ट कर दिया—मरणको प्राप्त करा दिया सो ठीक ही है क्योंकि एक सिंह अनेकों हाथियोंको नष्ट कर देता है ॥४१॥

अथानन्तर किसी दिन कीचक मुनि एकान्त उपवनके मध्यमें विराजमान थे। वे उस समय पद्मासनसे योगारूढ हो निश्चल बैठे थे कि एक यक्षने उन्हें देखा ॥४२॥ उनके चित्तकी परीक्षा करनेके लिए वह यक्ष आधी रातके समय द्रौपदीका रूप रख उनके पास पहुँचा और कामसे अलसाया हुआ अपना रूप उन्हें दिखाने लगा ॥४३॥ परन्तु मुनिराज कीचक, उसके सुन्दर आलापके सुननेमें बहिरे-जैसे हो गये और दृष्टिके विलाससे युक्त उसका मनोहर रूप देखनेके लिए अन्धेके समान हो गये ॥४४॥ जिन्होंने अपनी इन्द्रियोंके समूहकी अच्छी तरह रक्षा की थी तथा जो मनकी शुद्धिको प्राप्त हो रहे थे ऐसे उन कीचक मुनिराजको उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥४५॥ तदनन्तर ध्यान समाप्त होनेपर यक्षने उन्हें प्रणाम किया और 'हे नाथ ! क्षमा कीजिए' इस प्रकार बार-बार कहकर उनसे क्षमा माँगी ॥४६॥ तत्पश्चात् यक्षने पुनः नमस्कार कर उनसे द्रौपदीके प्रति मोह उत्पन्न होनेका कारण पूछा क्योंकि बिना कारणके उस प्रकारके मोहकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ ४७ ॥ उत्तरस्वरूप मुनिराज कीचक, नम्रीभूत यक्षके लिए अपने तथा द्रौपदीके कुछ पूर्वभव इस प्रकार कहने लगे ॥४८॥

एक समय मैं, तरङ्गिणी नामक नदीके तटपर जहाँ वेगवती नामक नदीका संगम

---

१. दृष्टा म०, घ० । २. विक्षिप्सवः म० । ३. नामावशेषं मरणमित्यर्थः (ग० टि०) ।
४. विलासाभ्या—म० ।

साधुदर्शनतः शान्तः [1]प्राप्तमर्यमनुष्यताम् । धनदेवः पिता चात्र माता मे सुकुमारिका ॥५०॥
कुमारदेवसंज्ञोऽहं मात्रा च मम सुव्रतः । मारितः साधुराहारं दत्त्वा विषविमिश्रितम् ॥५१॥
प्रविश्य नरकं पापा दुःखं साधुवधोद्भवम् । अनुभूय पुनस्तिर्यङ्नारकेष्वटतिस्म सा ॥५२॥
असंयतोऽहमपि भ्रान्त्वा संसारं तीव्रवेदनम् । मातरिश्वतया वृत्तो(?) जुर्गोहोमातरिश्वभिः[2] ॥५३॥
सितेन तापसेनान्ते जनितो मधुसंज्ञकः । तापस्यां मृगशृङ्गिण्यां प्रवृद्धस्तापसाश्रमे ॥५४॥
मुनेर्विनयदत्तस्य दानमाहात्म्यदर्शनात् । प्रव्रज्य स्वर्गमारुह्य जातोऽहं कीचकश्च्युतः ॥५५॥
चिरं पर्यट्य संसारं सुदुःखं सुकुमारिका । मानुषी दुर्भगीभूता भूताभूत[3]सुखावहा ॥५६॥
सा चानुमतिका नाम्ना सनिदानतपोयुता । जातेयं द्रौपदी तेन मोहोऽस्यां मे महानभूत् ॥५७॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

माता स्वसा च तनुजा प्रियकामिनीत्वं मातृस्वसृत्वदुहितृत्वमुपैति पत्नी ।
संसारचक्रपरिवर्तिनि जीवलोके ही संकरव्यतिकरौ नियतौ भवेताम् ॥५८॥
वैचित्र्यमेतदवगम्य भवस्य भव्या वैराग्यमेत्य सुखतो महतोऽप्यमुष्य ।
संसारकारणनिवृत्तधियः सुवृत्ता मोक्षार्थमेव महता तपसा यतन्ताम् ॥५९॥
इत्यादि तस्य वचनं मुनिकीचकस्य श्रुत्वा सुरः सुरवधूभिरमा तदानीम् ।
सम्यक्त्वरत्नवरभूषणभूषितात्मा नत्वा गुरुं धृतियुतोऽन्तरधाद्वनान्ते ॥६०॥

होता था, क्षुद्र मनुष्योंका वैरी क्षुद्र नामका म्लेच्छ था, उस समय मेरे परिणाम अत्यन्त रौद्र रूप थे ।।४९।। एक बार अचानक ही मुनिराजके दर्शन कर मैं अत्यन्त शान्त हो गया और वैश्य कुलमें मनुष्य पर्यायको प्राप्त हुआ । इस समय मेरे पिता धनदेव और माता सुकुमारिका थी तथा मेरा निजका नाम कुमारदेव था । एक बार मेरी माताने विष मिला आहार देकर एक सुव्रत नामक मुनिको मार डाला ।।५०-५१।। उसके फल-स्वरूप वह पापिनी नरक पहुँची और वहाँ मुनिके घातसे उत्पन्न दुःख भोगकर तिर्यञ्च तथा नरकगतिके दुःख भोगती रही ।।५२।। मैं भी संयमसे रहित था इसलिए तीव्र वेदनावाले संसारमें भटक कर पापरूपी पवनसे प्रेरित हुआ अपनी माताके जीवके कुत्ता हुआ । तदनन्तर तापसोंके किसी तपोवनमें सित नामक तापसके द्वारा मृगशृङ्गिणी नामक तापसीके मधु नामका पुत्र हुआ तथा तापसोंके आश्रममें ही मैं वृद्धिको प्राप्त हुआ ।।५३–५४।। एक दिन किसी श्रावकने विनयदत्त नामक मुनिराजको आहार दान दिया। उसका माहात्म्य देख मैंने दीक्षा ले ली और उसके फलस्वरूप स्वर्गारोहण कर वहाँसे च्युत होता हुआ कीचक हुआ ।।५५।। माता सुकुमारिका चिरकाल तक भ्रमण कर संसारमें तीव्र दुःख भोगती रही । अन्तमें वह दौर्भाग्यसे युक्त दुःखोंको भोगनेवाली मानुषी हुई ।।५६।। अनुमतिका उसका नाम था । अन्तमें वह निदान सहित तपसे युक्त हो द्रौपदी हुई है । इसी कारण इसमें मुझे मोह उत्पन्न हो गया था ।।५७।। देखो, माता बहिन हो जाती है, पुत्री प्रिय स्त्री हो जाती है, और स्त्री, माता, बहिन तथा पुत्रीपनेको प्राप्त हो जाती है । आश्चर्यकी बात है कि संसार रूपी चक्रके साथ घूमनेवाले जीवोंमें संकर और व्यतिकर नियम से होते रहते हैं ।।५८।। इसलिए हे भव्यजनो ! संसारकी इस विचित्रताको अच्छी तरह समझ कर वैषयिक सुखसे भले ही वह कितना ही महान् क्यों न हो विरक्त होओ और संसार के कारणोंसे विरक्त हो सदाचारके धारी बन विशाल तपसे मोक्षके लिए ही यत्न करो ।।५९।।

इस प्रकार कीचक मुनिके वचन सुन उस यक्षने अपनी देवियोंके साथ-साथ अपनी आत्माको उस समय सम्यग्दर्शन रूपी उत्कृष्ट रत्नोंके आभूषणोंसे आभूषित किया । तदनन्तर

---

१. वैश्यकुलम् 'ऊरव्या ऊरुजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः' इत्यभिधानात् । 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' इति पाणिनिसूत्रम् । –मार्यमनुष्यताम् म०, क०, ख०, ग०, घ० । २. पापपवनैः । ३. भूतामाता सुखावहा घ० ।

सम्पूज्यमानचरणो नृसुरासुरौघैः कृत्वा तपो द्विविधमन्तरमूढधीर्यः ।
लोके प्रकाश्य जिनमार्गमनर्गलं संप्राप्तं परं पदमनत्ययमात्मशुद्ध्या ॥६१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कीचकनिर्वाणगमनो
नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥४६॥

वह बड़े हर्षसे मुनिराजको नमस्कार कर वनके अन्तमें अन्तर्हित हो गया–छिप गया ॥६०॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि अन्तरङ्गमें विवेक बुद्धिको धारण करनेवाला जो मनुष्य, अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे दोनों प्रकारका तप करता है वह मनुष्य देव तथा असुरोंके समूहसे पूजित-चरण होता हुआ लोकमें निर्बाध जिनमार्गको प्रकाशित करता है और आत्मशुद्धिके द्वारा अविनाशी परम पदको प्राप्त होता है ॥६१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें कीचकके
निर्वाण गमनका वर्णन करनेवाला छयालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४६॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

कीचकानुजवृत्तान्ते गोग्रहे तदनन्तरे । वृत्ते भीमार्जुनक्रोधाग्निभस्मितारिवनान्तरे ॥१॥
अभिन्ननिजमर्यादा भिन्नदुःशासनान्तराः । पाण्डवाः पाण्डुभवने [1]संहताः [2]सुनया इव ॥२॥
सम्पूर्णावधयो गत्वा धर्मराजस्य ते युधि । सह दुर्योधनेनास्थुः सम्मता मुनयो यथा ॥३॥
ततः पूरितसर्वाशाः सर्वार्थामृतवर्षिणः । [3]तेऽप्यूनुच्चपदमत्युच्चैः प्रावृषेण्या इवाम्बुदाः ॥४॥
[4]तत्प्रसाद्यापि चुक्षोभ गान्धारीय-शतं पुनः । नेयस्य जलवर्गस्य सुप्रसादः कियच्चिरम् ॥५॥
कृते दायादवर्गेण पूर्ववत्सन्धिदूषणे । प्रशमय्य तनून् भ्रातॄन् प्रागिवासौ युधिष्ठिरः ॥६॥
अनिच्छन् स्वच्छधीर्धीरः कृपावान् कौरवाहितम् । मात्रा भ्रात्रादिभिर्भूयः श्रितवान् दक्षिणां दिशाम् ॥७॥
स विन्ध्यवनमध्यास्य तपस्यन्तं निजाश्रमे । दृष्ट्वा विदुरमानम्य शशंस सानुजैः सह ॥८॥
कृतार्थं पूज्य ते जन्म संपरित्यज्य सम्पदः । स्थितोऽभयो जिनेन्द्रोक्ते मोक्षमार्गे महातपाः ॥९॥
विशुद्धं दर्शनं यत्र तत्त्वश्रद्धानलक्षणम् । ज्ञानं सर्वार्थविद्योति चारित्रमनवद्यकम् ॥१०॥

अथानन्तर कीचकके छोटे भाइयोंका वृत्तान्त और उसके बाद जिसमें भीम तथा अर्जुनकी कोपाग्निसे शत्रुरूपी वनका अन्तराल भस्म हो गया था ऐसा गायोंका पकड़ना आदि घटनाएँ हो चुकीं तब अपनी मर्यादाको खण्डित न करनेवाले होकर भी दुःशासन (खोटा शासन अथवा दुःशासन नामक कौरवके अन्तरको) विदीर्ण करनेवाले पाण्डव समीचीन नयोंके समान एक-दूसरेके अनुकूल रहते हुए अपने पिता पाण्डुके भवनमें एकत्रित हुए॥१–२॥ अबतक उनकी अज्ञात निवासकी अवधि पूर्ण हो चुकी थी इसलिए धर्मराज–युधिष्ठिरकी आज्ञासे वे भीमसेन आदि, युद्धमें दुर्योधनके साथ जा खड़े हुए और जिस प्रकार मुनि सबको सम्मत–इष्ट होते हैं उसी प्रकार वे पाण्डव भी सबको सम्मत–इष्ट थे ॥ ३ ॥ तदनन्तर जिस प्रकार समस्त दिशाओंको पूर्ण करके और सर्वहितकारी जलकी वर्षा करनेवाले वर्षाकालिक मेघ अत्यन्त उन्नत उत्तम पदको प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार सबके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले एवं समस्त अर्थरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले वे पाण्डव भी अत्यन्त उच्च पदको प्राप्त हुए। भावार्थ—पाण्डव हस्तिनापुर आकर रहने लगे और सबकी दृष्टिमें उच्च माने जाने लगे ॥४॥

तदनन्तर दुर्योधनादिक सौ भाई ऊपरसे उन्हें प्रसन्न रख कर हृदयमें पुनः क्षोभको प्राप्त होने लगे—भीतर-ही-भीतर उन्हें परास्त करनेके उपाय करने लगे सो ठीक ही है क्योंकि इधर-उधर बहने वाले जलमें स्वच्छता कितने समय तक रह सकती है ? ॥५॥ दुर्योधनादिकने पहलेके समान फिरसे सन्धिमें दोष उत्पन्न करना शुरू कर दिया और उससे भीम, अर्जुन आदि छोटे भाई फिरसे उत्तेजित होने लगे परन्तु युधिष्ठिर उन्हें शान्त करते रहे ॥६॥ स्वच्छ बुद्धिके धारक, धीर-वीर एवं दयालु युधिष्ठिर कौरवोंका कभी अहित नहीं विचारते थे इसलिए वे माता तथा भाई आदि परिवारके साथ पुनः दक्षिण दिशाकी ओर चले गये ॥७॥ चलते-चलते युधिष्ठिर विन्ध्यवनमें पहुँचे। वहाँ अपने आश्रममें रहकर तपस्या करनेवाले विदुरको देख कर उन्होंने अपने सब भाइयोंके साथ उन्हें नमस्कार किया और उनकी इस प्रकार स्तुति की ॥८॥ हे पूज्य ! आपका ही जन्म सफल है जो आप सम्पदाओंका परित्याग कर जिनेन्द्रोक्त मोक्षमार्गमें महा तप करते हुए निर्भय स्थित हैं ॥ ९ ॥ जिस मार्गमें तत्त्वश्रद्धान रूप निर्मल सम्यग्दर्शन, समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान और निर्दोष चारित्र प्रतिपादित है

---

१. संहृताः म० । २. सुघना इव म० । ३. ऊनुः प्राप्ताः (क० टि०) तेप्यनुष्पदं—म० । ४. प्रासाद्यापि म०, घ० ।

व्रतगुप्तिसमित्यक्षकषायजयसंयमाः । यत्र मार्गे स्थितास्तत्र सिद्ध्यन्ति त्वादृशोऽचिरात् ॥११॥
इति मार्गस्तुतिं कृत्वा तं च स्तुत्वा कृतानतिः । द्वारिकां ज्ञातिभिर्ज्ञातः संविवेश सहानुजैः ॥१२॥
उत्सवः परमो जातः स्वस्रस्वस्रीयसंगमे । समुद्रविजयादीनां दशानां चिरदर्शनात् ॥१३॥
नेमीशहरिरामादिदशार्हसुतसुन्दराः । अन्तःपुराणि सर्वाणि प्रजाश्च तुतुषुस्तदा ॥१४॥
यथाक्रममशेषाणां दर्शने दर्शनोत्सवे । जाते परस्परं तेषां स्वजनानां सुखावहे ॥१५॥
यदुपाण्डववर्गौ तौ मेनाते मिलितौ मुदा । अपकारमपि त्यक्त्वा सूपकारं परैः कृतम् ॥१६॥
ततः प्रासादवर्येषु पञ्च पञ्चसु विष्णुना । निरूपितेषु ते तस्थुः सर्वभोगप्रदायिषु ॥१७॥
ज्येष्ठो लक्ष्मीमतीं लेभे भीमः शेषवतीं ततः । सुभद्रामर्जुनः कन्यां कनिष्ठौ विजयां रतिम् ॥१८॥
दशार्हतनयास्तास्ते परिणीय यथाक्रमम् । रेमिरेऽमूभिरिष्टाभिः पाण्डवास्त्रिदशोपमाः ॥१९॥
कथेयं कुरुवीरस्य कथिता ते समासतः । प्रद्युम्नस्याधुना वच्मि शृणु श्रेणिक चेष्टितम् ॥२०॥
विजयार्धगिरौ रम्ये प्रद्युम्नोऽसौ कलागुणैः । विधुवद्बन्धुमुद्राब्धिं सहावर्धत वर्धयन् ॥२१॥
विद्याधरोचिता विद्या स विद्याधरपुत्रकः । वियद्यानादिका बाल्ये जग्राहाशु महोद्यमः ॥२२॥
बाल्यादारभ्य लावण्यरूपसौभाग्यपौरुषैः । सोऽरिमित्रनरस्त्रीणामस्त्रीभूतैर्मनोऽहरत् ॥२३॥
यौवनं स परिप्राप्तः प्राप्तसर्वास्त्रकौशलः । हृदयेषु युवा यूनां प्रहरन्नपि वल्लभः ॥२४॥

एवं व्रत, गुप्ति, समिति तथा इन्द्रिय और कषायको जीतनेवाले संयमका निरूपण किया गया है उस मार्गमें स्थित हो आप-जैसे महानुभाव शीघ्र ही सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ॥१०-११॥ इस प्रकार जिनेन्द्रोक्त मार्ग तथा महामुनि विदुरकी स्तुति कर युधिष्ठिर द्वारिका पहुँचे। यादवोंको पाण्डवोंके आगमनका जब पता चला तो उन्होंने इनका बड़ा स्वागत किया और छोटे भाइयोंके साथ युधिष्ठिरने द्वारिकामें प्रवेश किया ॥१२॥ समुद्रविजय आदि दशों भाइयोंने बहिन तथा अपने भानजोंको बहुत समयके बाद देखा था इसलिए इन सबके समागमसे उन्हें परम हर्ष हुआ ॥ १३ ॥ भगवान् नेमिनाथ, कृष्ण, बलदेव आदि समस्त यादव कुमार, समस्त अन्तःपुर और प्रजाके सब लोग उस समय बहुत ही सन्तुष्ट हुए ॥१४॥ नेत्रोंको आनन्द देनेवाला पाण्डवों तथा समस्त स्वजनोंका वह दर्शन—परस्परका मिलना सबके लिए सुखदायी हुआ ॥ १५ ॥ यादव और पाण्डव परस्पर मिलकर हर्षसे ऐसा मानने लगे कि शत्रुओंने हमारा अपकार नहीं उपकार ही किया है। भावार्थ—यदि दुर्योधनादिक अपकार न करते तो हम लोग इस तरह परस्पर मिलकर आनन्दका अनुभव नहीं कर सकते थे, अतः उनका किया अपकार अपकार नहीं प्रत्युत उपकार है ऐसा सब लोग मानने लगे ॥१६॥

तदनन्तर श्रीकृष्णके द्वारा दिखलाये हुए भोगोपभोगकी सब सामग्रीसे युक्त पाँच उत्तमोत्तम महलोंमें पाँचों पाण्डव पृथक्-पृथक् रहने लगे ॥१७॥ युधिष्ठिरने लक्ष्मीमती, भीमने शेषवती, अर्जुनने सुभद्रा, सहदेवने विजया और नकुलने रति नामक कन्याको प्राप्त किया ॥१८॥ यथा-क्रमसे पूर्वोक्त यादव-कन्याओंको विवाह कर देवोंकी उपमाको धारण करनेवाले पाण्डव उन इष्ट स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे ॥१९॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक! इस प्रकार मैंने तेरे लिए संक्षेपसे कुरुवीरकी कथा कही। अब मैं प्रद्युम्नकी चेष्टाएँ कहता हूँ सो सुन ॥२०॥

अत्यन्त रमणीय विजयार्ध पर्वतपर कन्या रूपी गुणोंके द्वारा बन्धु-जनोंके हर्षरूपी सागरको बढ़ाता हुआ प्रद्युम्न चन्द्रमाके समान बढ़ने लगा ॥ २१ ॥ विद्याधरपुत्र प्रद्युम्नने बड़े उद्यमके साथ बाल्यकालमें ही आकाशगामिनी आदि विद्याधरोंके योग्य विद्याओंको शीघ्र ही सीख लिया था ॥२२॥ वह बाल्य अवस्थासे ही लेकर अस्त्रके समान अपने लावण्य रूप, सौभाग्य और पौरुषके द्वारा शत्रु-मित्र पुरुष तथा स्त्रियोंके मनको हरण करता था ॥ २३ ॥ यौवनको प्राप्त होते ही प्रद्युम्न समस्त अस्त्र-शस्त्रोंमें कुशल हो गया। अपने सौन्दर्यके कारण

मन्मथो मदनः कामः कामदेवो मनोभवः । इत्यन्वर्थाभिधानः स नानङ्गोऽनङ्गनामकः ॥२५॥
युद्धे सिंहरथं जित्वा जितपञ्चशतात्मजम् । कालसंवरभूपाय सकामोऽदर्शयत्कृती ॥२६॥
तादृशं तनयं दृष्ट्वा सतुष्टः कालसंवरः । मेने श्रेणीद्वयं दृष्टं वशीकृतमिवात्मनाम् ॥२७॥
महाराज्यपदोदारफलपुष्पं नृपोऽस्य सः । यौवराजमहापट्टं बबन्ध च विधानतः ॥२८॥
शतानि तनयाः पञ्च कालसंवरभूभृतः । चिन्तयन्ति ततोऽपायं मदनस्य समन्ततः ॥२९॥
आसने शयने वस्त्रे ताम्बूलेऽशनपानके । नालं छलयितुं ते तं छलान्वेषणतत्पराः ॥३०॥
अन्यदा तु विनीतोऽसौ नीतो नीत्यानुकूलकैः । कुमारस्तैः कुमारौघैः सिद्धायतनगोपुरम् ॥३१॥
नोदितस्तैः समारूढो गोपुराग्रं सवेगवान् । विद्याकोशं तिरीटं च लेभे तद्वासिनोऽमरात् ॥३२॥
प्रविश्य पुनर्वेगान्महाकालगुहामसौ । खड्गं सखेटकं लेभे छत्रचामरसंयुतम् ॥३३॥
लेभे नागगुहायां च पादपीठं सुराहृतम् । नागशय्यासनं वीणां विद्यां प्रासादकारिणीम् ॥३४॥
मकरध्वजमुत्तुङ्गं वाप्यां युद्धे जितात्सुरात् । अग्निकुण्डेऽग्निसंशोध्यं वस्त्रयुग्ममवाप्य सः ॥३५॥
मेषाकृतिगिरौ लेभे कर्णकुण्डलयोर्द्वयम् । मौलिं चामृतमालां च पाण्डके मर्कटामरात् ॥३६॥

तरुण प्रद्युम्न यद्यपि अन्य युवाओंके हृदयपर प्रहार करता था—उनमें मात्सर्य उत्पन्न करता था तथापि वह सबको प्रिय था ॥२४॥ मन्मथ, मदन, काम, कामदेव और मनोभव इत्यादि सार्थक नामोंसे वह युक्त था। यद्यपि वह अनङ्ग—शरीरसे रहित नहीं था तथापि लोग उसे अनङ्ग कहते थे। भावार्थ—प्रद्युम्न कामदेव पदका धारक था। साहित्यमें कामका एक नाम अनङ्ग है इसलिए प्रद्युम्न भी अनङ्ग कहलाता था ॥ २५ ॥ अतिशय कुशल प्रद्युम्नने, पाँच-सौ पुत्रोंको जीतनेवाले सिंहरथको युद्धमें जीतकर कालसंवरको दिखा दिया। भावार्थ—उस समय एक सिंहरथ नामका विद्याधर कालसंवरके विरुद्ध था उसे जीतनेके लिए उसने अपने पाँच-सौ पुत्र भेजे थे परन्तु सिंहरथने उन सबको पराजित कर दिया था। प्रद्युम्न ऐसा कुशल शूरवीर था कि उसने उसे युद्धमें जीतकर कालसंवरके आगे डाल दिया ॥ २६ ॥ ऐसे वीर पुत्रको देखकर कालसंवर बड़ा सन्तुष्ट हुआ और विजयार्धकी दोनों श्रेणियोंको अपने वशीभूत मानने लगा ॥२७॥ इसीसे प्रभावित हो राजाने प्रद्युम्नके लिए विधि-विधान पूर्वक युवराज पद-का वह महापट्ट बाँध दिया जो महाराज्य पद रूपी उत्कृष्ट फलके लिए पुष्पके समान था ॥२८॥ इस घटनासे राजा कालसंवरके जो पाँच-सौ पुत्र थे वे सब ओरसे प्रद्युम्नके नाशका उपाय सोचने लगे ॥ २९ ॥ वे निरन्तर छलके खोजनेमें तत्पर रहने लगे। परन्तु बैठने, सोने, वस्त्र, पान तथा भोजन, पानी आदिके समय वे उसे छलनेके लिए समर्थ नहीं हो सके ॥ ३० ॥

किसी एक समय नीतिके अनुकूल आचरण करनेवाले कुमारोंके समूह, विनीत प्रद्युम्न-कुमारको सिद्धायतनके गोपुरके समीप ले गये और इस प्रकारकी प्रेरणा करने लगे कि 'जो इस गोपुरके अग्रभागपर चढ़ेगा वह उसपर रहनेवाले देवसे विद्याओंका खजाना तथा मुकुट प्राप्त करेगा'। साथियोंसे इस प्रकार प्रेरित हो कुमार वेगसे गोपुरके अग्रभागपर चढ़ गया और वहाँके निवासी देवसे विद्याओंका खजाना तथा मुकुट ले आया ॥ ३१–३२ ॥ तदनन्तर भाइयोंसे प्रेरित हो वेगसे महाकाल नामक गुहामें घुस गया और वहाँसे तलवार, ढाल, छत्र तथा चमर ले आया ॥ ३३ ॥ वहाँसे निकलकर नागगुहामें गया और वहाँके निवासी देवसे उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा तथा भवन बना देनेवाली विद्या ले आया ॥३४॥ वहाँसे आकर किसी वापिकामें गया और युद्धमें जीते हुए देवसे मकरके चिह्नसे चिह्नित ऊँची ध्वजा प्राप्त कर निकला। तदनन्तर अग्निकुण्डमें प्रविष्ट हुआ सो वहाँसे अग्निसे शुद्ध किये दो वस्त्र ले आया ॥ ३५ ॥ तत्पश्चात् मेषाकृति पर्वतमें प्रवेश कर कानोंके दो कुण्डल ले आया। उसके बाद पाण्डुक नामक वनमें प्रवेश कर वहाँके निवासी मर्कट नामक देवसे मुकुट और

विद्याकरिवरं प्राप कपित्थवनदेवतः । वल्मीके क्षुरिकां चापि कवचं मुद्रिकादिकम् ॥३७॥
शरावपर्वते लेभे कटिसूत्रमुरश्छदम् । कामः कटककेयूरकण्ठिकाभरणं शुभम् ॥३८॥
शूकरासुरतः शङ्खं दिव्यं प्राप शरासनम् । हारं सुरेन्द्रजालं च मनोवेगाद्विकीलितात् ॥३९॥
मनोवेगरिपोर्लेभे वसन्तखचरात्ततः । कन्यां नरेन्द्रजालं च तयोः सख्यस्य कारकः ॥४०॥
चापं च कौसुमं प्रापदर्जुनो भवनाधिपात् । उन्मादमोहसंतापमदशोककरान् शरान् ॥४१॥
अन्यां नागगुहां यातश्चन्दनागुरुमालिकाः । पौष्पं छत्रं च शयनं लेभे तत्र तु पार्थिवात् ॥४२॥
स दुर्जयवने लेभे जयन्तगिरिवर्तिनी । खेटवायुसरस्वत्यो रतिं कामः शरीरजाम् ॥४३॥
षोडशेष्वपि चैतेषु लाभस्थानेषु मन्मथम् । लब्धानेकमहालाभं दृष्ट्वा विस्मितमानसाः ॥४४॥
ज्ञात्वा पुण्यस्य माहात्म्यं कुमाराः संवरादयः । [1]शंश्रित्वा मदनेनामा[2] निजं नगरमाययुः ॥४५॥
लब्धं दिव्यं रथं शुभ्रैर्वृषैर्युक्तमधिष्ठितः । चापी पञ्चशरी छत्री ध्वजी दिव्यविभूषणी ॥४६॥
मनो हरन्नरस्त्रीणां मदनो मदनेषुभिः । मेघकूटं प्रविष्टोऽसौ कुमारशतवेष्टितः ॥४७॥
सप्रणामस्ततो दृष्ट्वा प्रद्युम्नः कृष्णसंवरम् । धिष्ण्यं कनकमालायाः प्रस्थितः स रथे स्थितः ॥४८॥
तथा च स्थितनेपथ्यं नेत्रपथ्यं न दूरतः । दृष्ट्वा कनकमाला तं भावं कमपि संश्रिता ॥४९॥
रथादुत्तीर्य विनतं शंसित्वाघ्राय मस्तके । आसयित्वान्तिके तं सास्पर्शयन्मृदुपाणिना ॥५०॥

अमृतमयी माला लेकर लौटा ॥ ३६ ॥ कपित्थ नामक वनमें गया तो वहाँके निवासी देवसे विद्यामय हाथी ले आया। वल्मीक वनमें प्रवेश कर वहाँके निवासी देवसे क्षुरी, कवच तथा मुद्रिका आदि ले आया ॥३७॥ शराव नामक पर्वतमें वहाँके निवासी देवसे कटिसूत्र, कवच, कड़ा, बाजूबन्द और कण्ठाभरण आदि प्राप्त किये ॥ ३८ ॥ शूकर नामक वनमें शूकरदेवसे शङ्ख और सुन्दर धनुष प्राप्त किया तथा वहींपर कीले हुए मनोवेग नामक विद्याधरसे हार और इन्द्रजाल प्राप्त किया ॥ ३९ ॥ मनोवेगका वैरी वसन्त विद्याधर था, कुमारने उन दोनोंकी मित्रता करा दी इसलिए उससे एक कन्या तथा नरेन्द्रजाल प्राप्त किया ॥४०॥ आगे चलकर एक भवनमें प्रवेश कर उसके अधिपति देवसे पुष्पमय धनुष और उन्माद, मोह, सन्ताप, मद तथा शोक उत्पन्न करनेवाले बाण प्राप्त किये ॥ ४१ ॥ तदनन्तर एक दूसरी नागगुहामें गया तो वहाँके स्वामी देवसे चन्दन तथा अगुरुकी मालाएँ, फूलोंका छत्र और फूलोंकी शय्या प्राप्त की ॥ ४२ ॥ तदनन्तर जयन्तगिरिपर वर्तमान दुर्जय नामक वनमें गया और वहाँसे विद्याधर वायु तथा उसकी सरस्वती नामक स्त्रीसे उत्पन्न रति नामक पुत्री लेकर लौटा ॥ ४३ ॥ इस प्रकार इन सोलहों लाभके स्थानोंमें जिसे अनेक महा लाभोंकी प्राप्ति हुई थी ऐसे प्रद्युम्न कुमारको देखकर संवर आदि कुमारोंके चित्त आश्चर्यसे चकित हो गये। तदनन्तर पुण्यका माहात्म्य समझ शान्ति धारण कर वे प्रद्युम्नके साथ अपने नगर वापिस आ गये ॥ ४४–४५ ॥ जो प्राप्त हुए सफेद बैलोंसे जुते दिव्य रथपर आरूढ़ था, धनुष, पाँच बाण, छत्र, ध्वजा और दिव्य आभूषणोंसे आभूषित था तथा कामके बाणोंसे पुरुष और स्त्रियोंके मनको हर रहा था ऐसे प्रद्युम्नने सैकड़ों कुमारोंसे परिवृत हो मेघकूट नामक नगरमें प्रवेश किया ॥ ४६–४७ ॥

पहुँचते ही उसने नमस्कार कर कालसंवरके दर्शन किये और उसके बाद उसी भाँति रथपर बैठा हुआ कनकमालाके घरकी ओर प्रस्थान किया ॥ ४८ ॥ उस प्रकारकी वेषभूषासे युक्त तथा नेत्रोंके लिए आनन्ददायी प्रद्युम्नको समीप आया देख कनकमाला किसी दूसरे ही भावको प्राप्त हो गयी ॥ ४९ ॥ रथसे नीचे उतरकर नम्रीभूत हुए प्रद्युम्नकी कनकमालाने बहुत प्रशंसा की, उसका मस्तक सूँघा, उसे पासमें बैठाया और कोमल हाथसे उसका स्पर्श

१. संश्रित्वा म०, ग० । २. सह ।

गाढमोहोदयात्तस्यास्ततः परवशात्मनः । कर्षन्तो हृदयक्षोणीं प्रवृत्ता दुर्मनोरथाः ॥५१॥
स्वाङ्गैरस्याङ्गसङ्गं या लभेत शयने सकृत् । कामिनी भुवने सैका शेषास्त्वाकृतिमात्रकम् ॥५२॥
रूपलावण्यसौभाग्यवैदग्ध्यं गुणगोचरम् । [1]कामाश्लेषस्य सौलभ्ये दौर्लभ्ये स्यात्तृणं तु मे ॥५३॥
इतिप्रवृत्तसंकल्पामसंभाविततन्मनाः । तां प्रणम्य स लब्धाशीः प्रद्युम्नः स्वगृहं गतः ॥५४॥
इतिप्रबलदुःखेयं खेचरी निखिलाः क्रियाः । विसस्मार स्मराश्लेषसुखलाभ[2]मनोरथा ॥५५॥
अस्वस्थामपरेद्युस्तां प्रद्युम्नो प्रष्टुमागतः । अद्राक्षीद्बिसिनीपत्रपर्यङ्कस्ततनुमाकुलाम् ॥५६॥
पृच्छति स्म स तां कामः शरीरास्वास्थ्यकारणम् । इङ्गितैराङ्गिकैः[3] साऽपि[4] वाचिक्यैश्च व्यबोधयत् ॥५७॥
वैपरीत्यं ततो ज्ञात्वा निन्दित्वा कर्मचेष्टितम् । स मात्रपत्यसंबन्धप्रत्यायनपरोऽभवत् ॥५८॥
सापि तस्मै यथावृत्तमादिमध्यावसानतः । अटवीलाभसंवृद्धिविद्यालाभानवेदयत् ॥५९॥
स्वसंबन्धं ततः श्रुत्वा संदिग्धार्थमतिर्गतः । दृष्ट्वा सागरचन्द्राख्यं मुनिं चैत्यगृहे मुदा ॥६०॥
नत्वा पृष्ट्वा ततो ज्ञात्वा सर्वान् पूर्वभवाञ्जिजान् । तथा कनकमालायाश्चन्द्राभायाः पुरा भवे ॥६१॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धो ज्ञातप्रज्ञप्तिलाभकः । गत्वा शीलधनोऽप्राक्षीन्मदनो मदनातुराम्[5] ॥६२॥

किया ॥५०॥ तदनन्तर मोहका तीव्र उदय होनेसे उसकी आत्मा विवश हो गयी और हृदयरूपी भूमिको खोदते हुए अनेक खोटे विचार उसके मनमें उठने लगे ॥५१॥ वह विचारने लगी कि जो स्त्री शय्यापर अपने अंगोंसे इसके अंगोंके स्पर्शको एक बार भी प्राप्त कर लेती है संसारमें वही एक स्त्री है अन्य स्त्रियाँ तो स्त्रीकी आकृतिमात्र हैं ॥ ५२ ॥ यदि मुझे प्रद्युम्नका आलिङ्गन प्राप्त होता है तो मेरा रूप, लावण्य, सौभाग्य तथा चातुर्य सफल है और दुर्लभ रहता है तो यह सब मेरे लिए तृणके समान तुच्छ है ॥ ५३ ॥ जिसके मनमें कनकमालाके ऐसे विचारोंकी कल्पना भी नहीं थी ऐसा प्रद्युम्न, पूर्वोक्त संकल्प-विकल्प करनेवाली कनकमालाको प्रणाम कर तथा आशीर्वाद प्राप्त कर अपने घर चला गया ॥ ५४ ॥

उधर प्रद्युम्नके आलिङ्गनजन्य सुखको प्राप्त करनेकी जिसकी लालसा लग रही थी ऐसी विद्याधरी कनकमाला प्रबल दुःखसे दुःखी हो सब काम-काज भूल गयी ॥ ५५ ॥ दूसरे दिन उसके अस्वस्थ होनेका समाचार पा प्रद्युम्न उसे देखने गया तो क्या देखता है कि कनकमाला कमलिनीके पत्तोंकी शय्यापर पड़ी हुई बहुत व्याकुल हो रही है ॥५६॥ प्रद्युम्नने उससे शरीरकी अस्वस्थताका कारण पूछा तो उसने शरीर और वचनसम्बन्धी चेष्टाओंसे अपना अभिप्राय प्रकट किया ॥५७॥ तदनन्तर इस विपरीत बातको जानकर और कर्मकी चेष्टाओंकी निन्दा कर प्रद्युम्न उसे माता और पुत्रका सम्बन्ध बतलानेमें तत्पर हुआ ॥५८॥ इसके उत्तरमें कनकमालाने भी उसे आदि, मध्य और अन्त तक जैसा वृत्तान्त हुआ था वह सब बतलाते हुए कहा कि तू मुझे अटवीमें किस प्रकार मिला, किस प्रकार तेरा लालन-पालन हुआ और किस प्रकार मुझे विद्याओंका लाभ हुआ ॥५९॥ कनकमालासे अपना सम्बन्ध सुन प्रद्युम्नके मनमें संशय उत्पन्न हुआ जिससे वह स्पष्ट पूछनेके लिए जिन-मन्दिरमें विद्यमान सागरचन्द्र मुनिराजके पास गया और हर्षपूर्वक उन्हें नमस्कार कर उसने उनसे अपने सब पूर्वभव पूछे। पूर्वभव ज्ञात कर उसे यह भी मालूम हो गया कि यह कनकमाला पूर्वभवमें चन्द्राभा थी ॥६०–६१॥ शुद्ध सम्यग्दर्शनके धारक प्रद्युम्नको मुनिराजसे यह भी विदित हुआ कि तुझे कनकमालासे प्रज्ञप्ति विद्याका लाभ होनेवाला है। तदनन्तर शीलरूपी धनको धारण करनेवाले प्रद्युम्नने जाकर कामसे पीड़ित कनकमालासे प्रज्ञप्ति विद्याके विषयमें पूछा ॥६२॥

---

१. प्रद्युम्नालिङ्गनस्य । २. लाभः मनोरथा म० । ३. –राङ्गितैः म०, घ०, ङ०, –रागितैः ग० । ४. सांऽपि म० । ५. मदनातुरम् म० ।

दृष्ट्वा हृष्टा जगौ तं सा शृणु काम भणामि ते । गौरीं प्रज्ञप्तिविद्यां च त्वं गृहाण यदीच्छसि ॥६३॥
ततः प्रसाद इच्छामि दीयतामितिवादिने । ददौ विधिवते विद्ये विद्याधरदुरासदे ॥६४॥
प्रसारितकरो विद्ये गृहीत्वा प्रमदी स ताम् । प्राणविद्याप्रदानान्मे गुरुस्त्वमिति सद्वचाः ॥६५॥
त्रिःपरीत्य प्रणम्याग्रे स्थितः सुकरशेखरः । अपत्योचितमादेशं याचित्वा स्वोचितं ययौ ॥६६॥
छलिताहमिति ज्ञात्वा सातिकोपवशात्ततः । कक्षवक्षः[1]कुचोद्देशान् नखक्षतभृतोऽकरोत् ॥६७॥
साऽदर्शयच्च पत्येऽङ्गं नाथ प्रद्युम्नचेष्टितम् । पश्येत्यपत्यसंभारं प्रत्येतिस्म स चापि तत् ॥६८॥
आहूय रहसि क्रुद्धः पुत्रपञ्चशतानि सः । आदिदेशान्यदुर्बोधं प्रद्युम्नो मार्यतामिति ॥६९॥
लब्धादेशास्ततस्तुष्टास्ते तमादाय सादराः । अन्येद्युरगमन्पापा वापीं कालाम्बुनामिकाम् ॥७०॥
निपत्य युगपत्सर्वे तस्योपरि जिघांसवः[2] । प्राचूचुदन् जलक्रीडां वाप्यां कुर्म इति द्विषः ॥७१॥
[3]कर्णे कथितमेतस्य ततः प्रज्ञप्तिविद्यया । यथातथ्यमिति क्रोधादन्तर्हिततनुः क्षणात् ॥७२॥
पपात मायया वाप्यां निर्घाता इव निर्घृणाः । तेऽपि सर्वे समं पेतुरस्योपरि जिघांसवः ॥७३॥
ऊर्ध्वपादानधोवक्त्रानेकशेषानमूनसौ । स्तम्भयित्वानुजं कृत्वा पञ्चचूडमजीगमत् ॥७४॥

प्रद्युम्नको आया देख कनकमालाने उससे कहा कि हे काम ! मैं एक बात कहती हूँ सुन, यदि तू मुझे चाहता है तो मैं तुझे गौरी और प्रज्ञप्ति नामक विद्याएँ कहती हूँ—बतलाती हूँ—तू ग्रहण कर ॥ ६३ ॥

तदनन्तर 'यह आपकी प्रसन्नता है, मैं आपको चाहता हूँ, विद्याएँ मुझे दीजिए' इस प्रकार कहनेवाले प्रद्युम्नके लिए कनकमालाने विद्याधरोंको दुष्प्राप्य दोनों विद्याएँ विधिपूर्वक दे दीं ॥ ६४ ॥ हाथ फैलाकर दोनों विद्याओंको ग्रहण करता हुआ प्रद्युम्न बड़ा प्रसन्न हुआ। जब वह विद्याएँ ले चुका तब इस प्रकारके उत्तम वचन बोला कि 'पहले अटवीसे लाकर आपने मेरी रक्षा की अतः प्राणदान दिया और अभी विद्यादान दिया—इस तरह प्राणदान और विद्यादान देनेसे आप मेरी गुरु हैं'। इस प्रकारके उत्तम वचन कह तीन प्रदक्षिणाएँ दे वह हाथ जोड़ शिरसे लगा कर सामने खड़ा हो गया और पुत्रके उचित जो भी आज्ञा मेरे योग्य हो सो दीजिए, इस प्रकार याचना करने लगा। कनकमाला चुप रह गयी और प्रद्युम्न थोड़ी देर वहाँ रुक कर चला गया ॥६५–६६॥

'मैं इस तरह इसके द्वारा छली गयी हूँ' यह जान कनकमालाने तीव्र क्रोधवश अपने कक्ष, वक्षःस्थल तथा स्तनोंको स्वयं ही नखोंके आघातसे युक्त कर लिया ॥६७॥ और पतिके लिए अपना शरीर दिखाते हुए कहा कि हे नाथ ! अपत्यजनोंके योग्य (?) यह प्रद्युम्नकी करतूत देखो। पतिने भी स्त्रीके इस प्रपञ्चपर विश्वास कर लिया ॥ ६८ ॥ राजा कालसंवर इस घटनासे बहुत ही क्रुद्ध हुआ। उसने एकान्तमें बुलाकर अपने पाँच सौ पुत्रोंसे कहा कि 'जिस तरह किसी अन्यको पता न चल सके उस तरह इस प्रद्युम्नको मार डाला जाये' ॥६९॥

तदनन्तर पिताकी आज्ञा पा हर्षसे फूले हुए वे पापी कुमार बड़े आदरसे दूसरे दिन प्रद्युम्नको साथ लेकर कालाम्बु नामक वापिका पर गये ॥७०॥ और एक साथ सब प्रद्युम्नपर कूद कर उसके घातकी इच्छा रखते हुए उसे बार-बार प्रेरित करने लगे कि चलो वापीमें जलक्रीड़ा करें ॥ ७१ ॥ उसी समय प्रज्ञप्ति विद्याने प्रद्युम्नके कानमें सब बात ज्योंकी-त्यों कह दी। सुन कर प्रद्युम्नको बहुत क्रोध आया और वह उसी क्षण मायासे अपना मूल शरीर कहीं छिपा कृत्रिम शरीरसे वापिकामें कूद पड़ा। उसके कूदते ही वज्रके समान निर्दय एवं मारनेके इच्छुक सब कुमार एक साथ उसके ऊपर कूद पड़े ॥ ७२–७३ ॥ प्रद्युम्नने एकको शेष बचा सभी कुमारोंको ऊपर पैर और नीचे मुख कर कील दिया और एक भाईको पाँच चोटियोंका

१. कचोद्देशान् म० । २. जिघित्सवः म० । ३. कर्णो म० ।

पुत्रोदन्तं ततः श्रुत्वा द्विगुणक्रोधदीपितः । सन्नह्य सर्वसैन्येन संप्राप्तः कालसंवरः ॥७५॥
विद्याविकृतसैन्येन प्रद्युम्नेन ततश्चिरम् । युद्ध्वाभग्नोऽति भग्नेच्छः स गत्वा कृष्णसंवरः ॥७६॥
ऊचे कनकमालां तां देहि प्रज्ञप्तिमित्वरम् । स्तन्येन सह बाल्येऽस्मै मया दत्तेति साऽवदत् ॥७७॥
ज्ञातमायादुरीहोऽसौ पुनरागत्य मानवान् । युध्यमानोऽमुना बद्धो निहितो हि शिलातले ॥७८॥
तदानीमेव संप्राप्तो नारदोऽतिविशारदः । प्रद्युम्नेन कृताभ्यर्चः संबन्धमखिलं जगौ ॥७९॥
कालसंवरमुन्मुच्य क्षमयित्वा ततोऽवदत् । पूर्वकर्मवशेच्छाया मातुर्मे क्षम्यतामिति ॥८०॥
[1]निरुपायानुपायज्ञो मुक्त्वा पञ्चशतान्यपि । भ्रातृस्नेहपरः कामः क्षमयित्वा पुनः पुनः ॥८१॥
आपृष्टेन स तुष्टेन कालसंवरभूभृता । विसृष्टो रुक्मिणीकृष्णदर्शनोत्सुकमानसः ॥८२॥
प्रणम्य पितरं स्नेहान्नारदेन सहाम्बरम् । अथारूढो विमानेन द्वारिकागमनं प्रति ॥८३॥
संकथाभिर्विचित्राभिर्नभस्यागच्छतोस्तयोः । अतिक्रान्तेभपुर्योः सैन्यं दृष्टिपथेऽभवत् ॥८४॥
कस्येदमटवीमध्ये पूज्य सैन्यमधो महत् । पश्चिमाशामुखं याति क्व किमर्थमतिद्रुतम् ॥८५॥
संपृष्टः कामदेवेन नारदोऽप्यगदीदिति । शृणु काम कथालेशं कथयामि तवाधुना ॥८६॥
अस्ति दुर्योधनो राजा कुरुवंशविभूषणः । दुर्योधनो द्विषां युद्धे स हास्तिनपुरे वरे ॥८७॥

धारक बना खबर देनेके लिए कालसंवरके पास भेज दिया ॥७४॥

तदनन्तर पुत्रोंका समाचार सुन द्विगुणित क्रोधसे देदीप्यमान होता हुआ कालसंवर युद्धकी तैयारी कर सब सेनाके साथ वहाँ पहुँचा ॥७५॥ उधर प्रद्युम्नने भी विद्याके प्रभावसे एक सेना बना ली सो उसके साथ चिर काल तक युद्ध कर कालसंवर हार गया और जीवन की आशा छोड़ जाकर कनकमालासे बोला कि 'तू मुझे शीघ्र ही प्रज्ञप्तिनामक विद्या दे।' कनकमालाने कहा कि 'मैं तो बाल्य अवस्थामें दूधके साथ वह विद्या प्रद्युम्नके लिए दे चुकी हूँ' ॥ ७६–७७ ॥ तदनन्तर स्त्रीकी मायापूर्ण दुश्चेष्टाको जान कर मानी कालसंवर पुनः युद्धके मैदानमें आकर युद्ध करने लगा और प्रद्युम्नने उसे बाँध कर एक शिलातलपर रख दिया ॥७८॥ उसी समय अत्यन्त निपुण नारदजी वहाँ आ पहुँचे। प्रद्युम्नने उनका सन्मान किया। तदनन्तर नारदने सब सम्बन्ध कहा ॥७९॥ तदनन्तर राजा कालसंवरको बन्धनसे मुक्त कर प्रद्युम्नने क्षमा माँगते हुए उनसे कहा कि माता कनकमालाने जो भी किया है वह पूर्व कर्मके वशीभूत होकर ही किया है अतः उसे क्षमा कीजिए ॥८०॥ उपायके ज्ञाता प्रद्युम्नने जिनका कुछ भी उपाय नहीं चल रहा था ऐसे पाँच सौ कुमारोंको भी छोड़ दिया और भ्रातृस्नेहके प्रकट करनेमें तत्पर हो उनसे बार-बार क्षमा माँगी ॥८१॥

तदनन्तर रुक्मिणी और कृष्णके दर्शनके लिए जिसका मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा था ऐसे प्रद्युम्नने जानेके लिए राजा कालसंवरसे आज्ञा माँगी और उसने भी सन्तुष्ट होकर उसे विदा कर दिया ॥८२॥ तत्पश्चात् स्नेहपूर्वक पिताको प्रणाम कर प्रद्युम्न, द्वारिका जानेके लिए नारदके साथ-साथ विमान-द्वारा आकाशमें आरूढ हुआ ॥८३॥ नाना प्रकारकी कथाओंके द्वारा आकाशमें आते हुए दोनों जब हस्तिनापुरको पार कर कुछ आगे निकल आये तब एक सेना उनके दृष्टिपथमें आयी—एक सेना उन्हें दिखायी दी ॥८४॥ सेनाको देख प्रद्युम्नने नारदसे पूछा कि 'हे पूज्य ! यह अटवीके बीच नीचे किसकी बड़ी भारी सेना विद्यमान है ? इस सेनाका मुख पश्चिम दिशाकी ओर है। यह बड़ी तेजीसे कहाँ और किसलिए जा रही है ?' इस प्रकार प्रद्युम्नके पूछने पर नारदने कहा कि हे प्रद्युम्न ! सुनो, मैं इस समय तुझसे एक कथाका कुछ अंश कहता हूँ ॥८५–८६॥

कुरुवंशका अलंकारभूत एक दुर्योधन नामका राजा है जो युद्धमें शत्रुओंके लिए सचमुच

---

१. निरपायानु. म०, ब०।

अग्रजाय मया देया रुक्मिणीसत्यभामयोः । दुहितेति प्रतिज्ञातं पूर्वं प्रीतेन तेन च ॥८८॥
अग्रजस्त्वं ततो जातो विष्णवे विनिवेदितः । भानुश्च सत्यभामायास्तदनन्तरमान्तरैः ॥८९॥
अकस्माद्गच्छता क्वापि [1]हृतस्त्वं धूमकेतुना । विषण्णा रुक्मिणी जाता सत्यभामा तु तोषिणी ॥९०॥
अविज्ञातभवद्वार्तो दुर्योधनयशोधनः । कन्यकामुदधिं नाम्ना भानवे प्राहिणोदसौ ॥९१॥
[2]भाविनीन ततः सेयं महासाधनरक्षिता । द्वारिकां प्रस्थिता कन्या भानवे किल भाविनी ॥९२॥
श्रुत्वा नारदमाकाशे स्थापयित्वा क्षणं ततः । सोऽवतीर्य पुरस्तस्थौ शाबरं वेषमाश्रितः ॥९३॥
केशवेन वितीर्णं मे शुल्कं दत्त्वा तु गम्यताम् । इत्युक्ते कैश्चिदित्युक्तं प्रार्थ्यतां प्रार्थितं तव ॥९४॥
यदत्र निखिले सैन्ये सारभूतमितीरिते । ईरितं सारभूतात्र कन्यकेति समन्युभिः ॥९५॥
यद्येवं दीयतां मह्यं सैवेत्युक्ते जगुः परे । विष्णुना जनितो न त्वं स प्राह जनितस्त्विति ॥९६॥
असंबद्धप्रलापस्य धृष्टतां पश्यतेति ते । धनुःकोटिभिरुत्सार्य प्रवृत्ता गन्तुमुद्यताः ॥९७॥
ततः शाबरसेनाभिर्विद्यया विकृतात्मभिः । दुर्योधनबलं जित्वा कन्यामादाय खं श्रितः ॥९८॥
दिव्यरूपं तमालोक्य कन्या त्यक्तभया ततः । हृष्टा नारदवाक्येन बुद्धतत्त्वा समाश्वसीत् ॥९९॥

ही दुर्योधन है (जिसके साथ युद्ध करना कठिन है) और वह हस्तिनापुर नामके उत्तम नगर में रहता है ।।८७।। एक बार पहले प्रसन्न होकर उसने कृष्णसे प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे कन्या हुई और आपकी रुक्मिणी तथा सत्यभामा रानियोंके पुत्र हुए तो जो पुत्र पहले होगा उसके लिए मैं अपनी कन्या दूँगा ।।८८।। तदनन्तर रुक्मिणीके तुम और सत्यभामाके भानु साथ ही साथ उत्पन्न हुए परन्तु रुक्मिणीके सेवकोंने कृष्ण महाराजके लिए पहले तुम्हारी खबर दी इसलिए तुम 'अग्रज' घोषित किये गये और सत्यभामाके स्वजनोंने पीछे खबर दी इसलिए उसका पुत्र भानु 'अनुज' घोषित किया गया ।।८९।। तदनन्तर अकस्मात् कहीं जाता हुआ धूमकेतु नामका असुर तुम्हें हर ले गया इसलिए तुम्हारी माता रुक्मिणी बहुत दुखी हुई और सत्यभामा संतुष्ट हुई ।।९०।। जब आपका कुछ समाचार नहीं मिला तब यशरूपी धनको धारण करनेवाले दुर्योधनने अपनी उदधिकुमारी नामकी कन्या सत्यभामाके पुत्र भानुके लिए भेज दी ।।९१।। हे स्वामिन् ! नाना भावोंको धारण करनेवाली यह वही कन्या बड़ी भारी सेनासे सुरक्षित हो द्वारिकाको जा रही है तथा सत्यभामाके पुत्र भानुकी स्त्री होनेवाली है ।।९२।।

यह सुन प्रद्युम्नने नारदको तो वहीं आकाशमें खड़ा रखा और आप उसी क्षण नीचे उतर कर भीलका वेष रख सेनाके सामने खड़ा हो गया ।।९३।। वह कहने लगा कि 'कृष्ण महाराजने मेरे लिए जो शुल्क देना निश्चित किया है वह देकर जाइए'। भीलके इस प्रकार कहने पर कुछ लोगोंने कहा कि 'माँग क्या चाहता है' ? ।।९४।। भीलने उत्तर दिया कि 'इस समस्त सेनामें जो वस्तु सारभूत हो वही चाहता हूँ'। उसके इस प्रकार कहने पर लोगोंने क्रोध दिखाते हुए कहा कि 'सेनामें सारभूत तो कन्या है'। भीलने फिर कहा कि 'यदि ऐसा है तो वही कन्या मुझे दी जाये'। यह सुन लोगोंने कहा कि 'तू विष्णु—कृष्णसे उत्पन्न नहीं हुआ है'—कन्या उसे दी जायगी जो विष्णुसे उत्पन्न होगा। भीलने जोर देकर कहा कि 'मैं विष्णुसे उत्पन्न हुआ हूँ'। 'इस असम्बद्ध बकनेवालेकी धृष्टता तो देखो' यह कह उसे धनुषकी कोटीसे अलग हटाकर लोग ज्योंही आगे जानेके लिए उद्यत हुए त्योंही वह विद्याके द्वारा निर्मित भीलोंकी सेनासे दुर्योधनकी सेनाको जीत कर तथा कन्या लेकर आकाशमें जा पहुँचा ।।९५–९८।। विमानमें पहुँचकर प्रद्युम्नने अपना असली रूप रख लिया अतः सुन्दर रूपको धारण करनेवाले उसको देख कर कन्या निर्भय हो गयी और नारदके कहनेसे यथार्थ बातको जान हर्षित हो सुखकी साँस लेने लगी ।।९९।।

१. हृतस्त्वं म० । २. भाविनीव म०, ख० । भाविनी+इन इतिच्छेदः ।

विमानं [1]कामगं [2]कामः समारुह्य समं तया । नारदेन च संप्राप्तो द्वारिकां द्वारहारिणीम् ॥१००॥
अपश्यत्स विदूरेण सागरेण गरीयसा । प्राकारेण च तां गुप्तां गोपुराट्टालसंकुलाम् ॥१०१॥
बाह्यबाह्यालिकां भानुरश्वव्यायामहेतुना । निर्गतोऽदर्शि कामेन गगनस्थविमानिना ॥१०२॥
तुरगस्त्वरया [3]विप्रः स्थविराकारधारिणा । नीतो भानुकुमारार्थमारूढस्तं स हारिणम् ॥१०३॥
वाह्यमानेन तेनासौ कुमारः कामरूपिणा । खलीकृत्य चिरं नीतः स्थविरान्तं निजेच्छया ॥१०४॥
अवतीर्णस्ततो भानुरहो कौशलमित्यलम् । हसितः साट्टहासेन कराऽऽस्फालनकारिणा ॥१०५॥
अश्वारोप्यमाणस्तु भानुलोकेन तं चिरम् । खलीकृत्य व्यलीकेन व्याजाश्वस्थः स्वयं ययौ ॥१०६॥
मायामर्कटमायाश्वैर्भामोपवनमक्षुदत् । अशोषयन्महावापीं मायया मदनस्तदा ॥१०७॥
मक्षिकादंशमशकैः सकरस्पन्दनं नृपम् । निवर्त्य द्वारि चिक्रीड खरमेषरथी चिरम् ॥१०८॥
व्यामोह्य पौरलोकं च विविधक्रीडया चिरम् । वसुदेवेन संक्रीड्य मेषयुद्धेन संमदी ॥१०९॥
भोजनेऽग्रासने विप्रः सत्यायाः सोऽग्रजन्मनः । खलीकृत्यासनैर्लम्बैश्छर्दिकाहारकोऽगमत् ॥११०॥

अथानन्तर कन्या उदधिकुमारी और नारद मुनिके साथ, इच्छानुकूल गमन करनेवाले विमानपर आरूढ़ होकर प्रद्युम्न, द्वारोंसे सुन्दर द्वारिका नगरी जा पहुँचा ॥१००॥ दूरसे ही उसने विशाल सागर और कोटसे सुरक्षित एवं गोपुर और अट्टालिकाओंसे व्याप्त द्वारिकाको देखा ॥१०१॥ उसी समय सत्यभामाका पुत्र भानुकुमार, घोड़ेको व्यायाम करानेके लिए नगरी के बाह्य मैदानमें आया था उसे प्रद्युम्न ने देखा। देखते ही वह विमानको आकाशमें खड़ा रख पृथिवीपर आया और वृद्धका रूप रख सुन्दर घोड़ा लेकर भानुकुमारके पास पहुँचा। बोला कि मैं यह घोड़ा भानुकुमारके लिए लाया हूँ। देखते ही भानुकुमार उस सुन्दर घोड़ा पर सवार हो गया ॥१०२–१०३॥ इच्छानुकूल रूपको धारण करनेवाले उस घोड़ेने भानुकुमार को बहुत देर तक तंग किया और बादमें वह भानुकुमारको साथ ले अपनी इच्छानुसार उस वृद्धके पास ले आया। भानुकुमार घोड़ासे नीचे उतर आया और वृद्धने अट्टहास कर तथा हाथसे घोड़ाका आस्फालन कर व्यङ्ग्यपूर्ण भाषामें हँसी उड़ाते हुए भानुकुमारसे कहा कि अहो! घोड़ाके चलानेमें आपको बड़ी चतुराई है? ॥१०४–१०५॥ साथ ही वृद्धने यह भी कहा कि मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ स्वयं मुझसे घोड़ापर बैठते नहीं बनता। यदि कोई मुझे बैठा दे तो मैं अपना कौशल दिखाऊँ। साथ ही भानुकुमारके लोग उसे घोड़ापर चढ़ानेके लिए उद्यम करने लगे परन्तु प्रद्युम्नने अपना शरीर इतना भारी कर लिया कि उन अनेक लोगोंको उसका उठाना दुर्भर हो गया। इस प्रकार अपनी मायासे उन सब लोगोंको तंग कर वह वृद्ध रूपधारी प्रद्युम्न उस घोड़ेपर स्वयं चढ़ गया और अपना कौशल दिखाता हुआ चला गया ॥१०६॥

तदनन्तर उसने मायामयी वानरों और मायामयी घोड़ोंसे सत्यभामाका उपवन उजाड़ डाला तथा मायासे उसकी बड़ी भारी वापिका सुखा दी ॥ १०७ ॥ नगरके द्वारपर राजा श्रीकृष्ण आ रहे थे उन्हें देख उसने मायामयी मक्खियों और डांस-मच्छरोंको इतनी अधिक सख्यामें छोड़ा कि उनका आगे बढ़ना कठिन हो गया और हाथ हिलाते हुए उनसे लौटते ही बना। तदनन्तर वह गधे और मेढ़के रथपर सवार हो नगरमें चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा ॥१०८॥ इस प्रकार नाना तरहकी क्रीड़ाओंसे नगरवासियोंको मोहित कर उसने बड़ी प्रसन्नतासे अपने बाबा वसुदेवके साथ मेषयुद्धसे क्रीड़ा की ॥१०९॥

तदनन्तर सत्यभामाके महलमें पहुँचा। वहाँ ब्राह्मणोंका भोज होनेवाला था सो प्रद्युम्न एक ब्राह्मणका रूप रख सबसे आगेके आसन पर जा बैठा। एक अपरिचित ब्राह्मणको आगे बैठा देख सब ब्राह्मण कुपित हो गये तब लगे हुए आसनोंसे उसने उन ब्राह्मणोंको खूब तंग

१. यथेच्छगामि । २. प्रद्युम्नः । ३. दिव्यस्थविराकार—म०, ग० ।

विकृत्य क्षौल्लकं वेषं मातृमोदकभक्षिणा । [1]भामादेशाकरस्तेन नापितश्च तिरस्कृतः ॥१११॥
संकर्षणस्य हस्वेच्छां पादाकर्षणकारिणः । आरराम चिरं स्वेच्छं लोकविस्मयकृत्कृती ॥११२॥
प्रद्युम्नागमचिह्नानि पूर्वोक्तानि तदा परम्[2] । प्रस्नुतस्तनकुम्भाया मातुरध्यक्षतां ययुः ॥११३॥
साऽतोऽचिन्तयदत्यन्तविस्मिता मे सुतो न्वयम्[3] । कृतरूपपरावृत्तिरागतः षोडशाब्दके ॥११४॥
तां प्रद्युम्नकुमारोऽपि तत्क्षणं प्रकृतिस्थितः । सुतस्नेहमितीरित्वा मातरं प्रणनाम सः ॥११५॥
[4]सानन्दा साकुलाक्षी तं रुक्मिणी तनयं नतम् । परिष्वज्य जहौ दुःखमश्रुभिः सहसा चितम् ॥११६॥
दर्शनामृतसिक्ताया पुलकव्यपदेशतः । प्रत्यङ्गरोमकूपेभ्यः सुतस्नेह इवोद्ययौ ॥११७॥ |
तयोः कुशलसंप्रश्ने संवृत्ते मातृपुत्रयोः । माता पुत्रमवोचत्तं चित्तनिर्वृतिदायिनम् ॥११८॥
धन्या कनकमालासौ पुत्र ! पुत्रफलं यया । बालक्रीडावलोकाख्यमनुभूतं शिशोस्तव ॥११९॥
इत्युक्ते प्रणिपत्यासौ जगाद नयनोत्सवः । बालभावमहं मातर्दर्शयामीह दृश्यताम् ॥१२०॥
ततः स तत्क्षणं जातस्तदहर्जातदारकः । आस्वादितकराङ्गुष्ठः प्रोत्फुल्लनयनोत्पलः ॥१२१॥

किया। तत्पश्चात् उस विप्रभोजमें जितना भोजन बना था वह सब प्रद्युम्नने खा लिया। जब कुछ भी न बचा तो सत्यभामाको कृपण बता खाये हुए भोजनको वमन-द्वारा वहीं उगल वह वहाँसे बाहर चला गया ॥११०॥ अब वह क्षुल्लकका वेष रख माता रुक्मिणीके महलमें गया वहाँ उसने माता रुक्मिणीके द्वारा दिये हुए लड्डू खाये। उसी समय सत्यभामाका आज्ञाकारी नाई रुक्मिणीके शिरके बाल लेनेके लिए उसके घर आया सो प्रद्युम्नने सब समाचार जान उसका खूब तिरस्कार किया ॥१११॥ सत्यभामाकी शिकायत सुन बलदेव रुक्मिणीके महलपर आनेको उद्यत हुए तो प्रद्युम्न एक ब्राह्मणका रूप रख द्वारपर पैर फैलाकर पड़ रहा। बलदेवने उसे दूर हटनेके लिए कहा पर वह टससे मस नहीं हुआ और कहने लगा कि आज सत्यभामाके घर बहुत भोजन कर आया हूँ हमसे उठते नहीं बनता। कुपित हो बलदेवने उसकी टाँग पकड़कर खींचना चाहा पर उसने विद्याबलसे टाँगको इतना मजबूत कर लिया कि वे खींचते-खींचते तंग आ गये। इस प्रकार नाना विद्याओंमें कुशल प्रद्युम्न अपनी इच्छानुसार लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ चिर काल तक क्रीड़ा करता रहा ॥११२॥

उसी समय, प्रद्युम्नके आनेके जो चिह्न पहले नारदने कहे थे वे माता रुक्मिणीको प्रत्यक्ष दिखने लगे और उसके स्तनरूपी कलशोंसे अत्यधिक दूध झरने लगा ॥११३॥ अत्यन्त आश्चर्यमें पड़कर वह विचार करने लगी कि कहीं सोलह वर्ष व्यतीत होनेके बाद यह मेरा पुत्र ही तो रूप बदल कर नहीं आ गया है ? ॥११४॥ उसी क्षण प्रद्युम्नने भी अपने असली रूपमें प्रकट हो पुत्रका स्नेह प्रकट कर माताको प्रणाम किया ॥११५॥ पुत्रको देखते ही रुक्मिणी आनन्दसे भर गयी, उसके नेत्र हर्षके आँसुओंसे व्याप्त हो गये और वह नम्रीभूत पुत्रका आलिङ्गन कर चिरसंचित दुःखको आँसुओंके द्वारा तत्काल छोड़ने लगी ॥११६॥ पुत्रके दर्शन रूपी अमृतसे सींची हुई रुक्मिणीके शरीरमें प्रत्येक रोम-कूपसे रोमाञ्च निकल आये थे उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो पुत्रका स्नेह ही फूट-फूट कर प्रकट हो रहा हो ॥११७॥ तदनन्तर जब माता और पुत्र परस्पर कुशल समाचार पूछ चुके तब माताने चित्तके लिए अत्यधिक संतोष प्रदान करनेवाले पुत्रसे कहा कि हे पुत्र ! वह कनकमाला धन्य है जिसने तेरी बाल्य अवस्थाकी बाल-क्रीड़ाओंके देखने रूप पुत्र जन्मके फलका उपभोग किया ॥ ११८-११९ ॥ माताके इतना कहते ही नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले प्रद्युम्नने नमस्कार कर कहा कि हे मातः ! मैं यहाँ ही अपनी बाल-चेष्टाएँ दिखलाता हूँ, देख, ॥१२०॥

तदनन्तर वह उसी क्षण एक दिनका बालक बन गया और नेत्र रूपी नील कमलको

---

१. नामादेश—म० । २. परे म०, ग० । ३. सुतो नु + अयम् इतिच्छेदः । ४. सानन्दसाकुलाक्षी म० ।

ततः स्तनन्धयो जातो गृहीतस्तनचूचुकः । तथोत्तानशयो मातुः करपल्लवसौख्यदः ॥१२२॥
संसर्पेदुरसा जातस्तथोत्तिष्ठन्पतन्पुनः । मातुः कराङ्गुलौ लग्नो मणिकुट्टिमसर्पणः ॥१२३॥
पांसुक्रीडां विधायाम्बाकण्ठलग्नो व्यधात्सुखम् । कलालापस्मिताह्लादिवदनो वदनेक्षणः ॥१२४॥
मनोहरशिशुक्रीडापूरिताम्बामनोरथः । स्वभावस्थितदेहस्थो नत्वा विज्ञाप्य तां सुतः ॥१२५॥
क्षिप्रमुत्क्षिप्य बाहुभ्यां वियति प्रकटस्थितः । जगाद श्रूयतां सर्वैरिह यादवपार्थिवैः ॥१२६॥
युष्माकं पश्यतामेव लक्ष्मीरिव हरेः प्रिया । ह्रियते रुक्मिणी देवी यादवाः परिरक्ष्यताम् ॥१२७॥
इत्युक्त्वा शङ्खमापूर्य नारदोदधिकन्ययोः । विमाने स्थापयित्वा तां युद्धार्थं वियति स्थितः ॥१२८॥
विनिर्ययुस्ततः पुर्या योद्धुं सन्नद्ध यादवाः । चतुरङ्गबलोपेताः पञ्चायुधविचक्षणाः ॥१२९॥
विद्याबलेन निःशेषं कामो यादवसाधनम् । मोहयित्वाम्बरस्थेन युयुधे हरिणा चिरम् ॥१३०॥
अस्त्रकौशलवैफल्ये कृते कृष्णस्य सूनुना । प्रौढदृष्टी महादोर्भ्यां योद्धुं वीरौ समुच्छ्रितौ ॥१३१॥
विमुक्तनारदेनोभौ वियत्यागत्य वेगिना । वारितौ तौ पितापुत्रसंबन्धविनिवेदिना ॥१३२॥
ततः प्रणतमाश्लिष्य प्रद्युम्नं [1]प्रमदी हरिः । आनन्दाश्रुपरीताक्षः समयोजयदाशिषा ॥१३३॥
मायया शायितं सैन्यं समुत्थाप्य सविद्यया । तुष्टो बान्धवलोकेन मदनः प्राविशत्पुरीम् ॥१३४॥
रुक्मिणीजाम्बवत्यौ ते जातपुत्रसमागमे । तदाचीकरतां तोषादुत्सवं वत्सवत्सले ॥१३५॥

फुला-फुलाकर हाथका अंगूठा चूसने लगा ॥ १२१ ॥ कुछ देर बाद वह माताके स्तनका चूचक मुँहमें दाबकर दूध पीने लगा तथा चित्त लेटकर माताके कर-पल्लवोंको सुख उपजाने लगा ॥ १२२ ॥ फिर छातीके बल सरकने लगा। पुनः उठनेका प्रयत्न करता परन्तु फिर नीचे गिर पड़ता। तदनन्तर माताकी हाथकी अँगुली पकड़ मणिमय फर्शपर चलने लगा ॥१२३॥ तदनन्तर धूलिमें खेलता-खेलता आकर माताके कण्ठसे लिपटकर उसे सुख उपजाने लगा और कभी माताके मुखकी ओर नेत्र लगा मुसकराता हुआ तोतली बोली बोलने लगा ॥ १२४ ॥ इस प्रकार मनोहर बाल-क्रीड़ाओंसे माताका मनोरथ पूर्ण कर वह अपने असली रूपमें आ गया और नमस्कार कर बोला कि मैं तुझे आकाशमें लिये चलता हूँ ॥ १२५ ॥

तदनन्तर वह दोनों भुजाओंसे शीघ्र ही रुक्मिणीको ऊपर उठा आकाशमें खड़ा हो कहने लगा कि 'समस्त यादव राजा सुनें। मैं तुम लोगोंके देखते-देखते लक्ष्मीकी भाँति सुन्दर श्री कृष्णकी प्रिया रुक्मिणीको हर कर ले जा रहा हूँ। हे यादवो! शक्ति हो तो उसकी रक्षा करो' ॥ १२६–१२७ ॥ इस प्रकार कहकर तथा शङ्ख फूँककर उसने रुक्मिणीको तो विमानमें नारद और उदधिकुमारीके पास बैठा दिया और स्वयं युद्धके लिए आकाशमें आ खड़ा हुआ ॥१२८॥ तदनन्तर चतुरङ्ग सेनाओंसे सहित और पाँचों प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण यादव राजा, युद्धके लिए तैयार हो नगरीसे बाहर निकले ॥ १२९ ॥ प्रद्युम्न विद्याबलसे यादवोंकी सब सेनाको मोहित कर आकाशमें स्थित कृष्णके साथ चिरकाल तक युद्ध करता रहा ॥ १३० ॥ अन्तमें प्रद्युम्नने जब कृष्णके अस्त्र-कौशलको निष्फल कर दिया तब प्रौढ़ दृष्टिको धारण करनेवाले दोनों वीर अपनी बड़ी-बड़ी भुजाओंसे युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए ॥ १३१ ॥ उसी समय रुक्मिणीके द्वारा प्रेरित नारदने आकाशमें शीघ्र ही आकर पिता-पुत्रका सम्बन्ध बतला दोनों वीरोंको युद्ध करनेसे रोका ॥ १३२ ॥

तदनन्तर नम्रीभूत पुत्रका आलिङ्गन कर श्रीकृष्ण परम हर्षको प्राप्त हुए और हर्षके आँसुओंसे नेत्रोंको व्याप्त करते हुए उसे आशीर्वाद देने लगे ॥१३३॥ तत्पश्चात् मायासे सुलायी हुई सेनाको विद्यासे उठाकर प्रद्युम्नने सन्तुष्ट हो बन्धुजनोंके साथ-साथ नगरीमें प्रवेश किया ॥ १३४ ॥ जिन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई थी ऐसी पुत्रवत्सला रानी रुक्मिणी और जाम्बवतीने उस

१. प्रमदं म० ।

मान्यो मान्याभिरन्यस्त्रीह्रीकरीभि[1]रसौ ततः । मनोभूर्वरकन्याभिः कल्याणमभजत्परम् ॥१३६॥

पृथिवीच्छन्दः

कनत्कनकमालया कनकमालया [2]सेशया
विवाहसमयात्तया समभिदृष्टकल्याणकः ।
विवाह्य विधिना वधूरुदधिपूर्विका मन्मथो
जिनेन्द्रवरशासनोर्जितसुखोदयः सोऽन्वभूत् ॥१३७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ कुरुवंशप्रद्युम्नमातृपितृसमागमवर्णनो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥४७॥

समय हर्षसे बहुत उत्सव कराया ॥ १३५ ॥ तदनन्तर मान्य प्रद्युम्नकुमार अन्य स्त्रियोंको लज्जा उत्पन्न करनेवाली उत्तमोत्तम मान्य कन्याओंके साथ उत्तम विवाह-मङ्गलको प्राप्त हुआ ॥ १३६ ॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि स्वर्णकी देदीप्यमान मालासे युक्त रानी कनकमालाने अपने पति कालसंवर विद्याधरके साथ विवाहके समय आकर जिसके विवाह रूप कल्याणको देखा था एवं जिनेन्द्र भगवान्के उत्कृष्ट शासनके प्रभावसे जिसे बहुत भारी सुखकी प्राप्ति हुई थी ऐसा प्रद्युम्नकुमार उदधिकुमारी आदि कन्याओंको विधिपूर्वक विवाह कर उनका उपभोग करने लगा ॥ १३७ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें कुरुवंश तथा प्रद्युम्नका माता-पिताके साथ समागमका वर्णन करनेवाला सैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४७॥

१. श्रीकरीभि—म० ग० । २. ईशेन पत्या सह वर्तमाना सेशा तया । सेवया म० ।

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

अथ शम्बस्य संभूतिं सुभानोश्च यथाक्रमम् । कथयामि यथावृत्तं शृणु श्रेणिक हारिणीम् ॥१॥
देवः कैटभपूर्वोऽसौ पूर्वमुक्तोऽच्युतोद्भवः । हरये हारिणं हारं ददौ भामासुतार्थिने ॥२॥
प्रदोषसमये हारं तं प्रद्युम्नप्रयोगतः । सत्यारूपधरा भुक्त्वा लेभे जाम्बवती हरेः ॥३॥
कैटभश्च तदा च्युत्वा पुण्यादप्रच्युतोदयः । श्रितो जाम्बवतीगर्भं सागता च निजं गृहम् ॥४॥
हरिं सत्यापि संप्राप्ता संप्राप्तमदनोदया । रमिता च दधे गर्भं सा स्वर्गच्युतमर्भकम् ॥५॥
वर्धते स्म ततो हर्षो गर्भयोर्वर्धमानयोः । पितृमातृ[1]सबन्धूनां सिन्धूनामिव चन्द्रयोः ॥६॥
पूर्णेषु नवमासेषु शम्बं जाम्बवती सुतम् । सुषुवे सत्यभामापि सुभानुं भानुभास्वरम् ॥७॥
हृष्टा प्रद्युम्नशम्बाभ्यां रुक्मिणी जाम्बवत्यपि । भामा भानुसुभानुभ्यां श्रिताभ्यामुदयश्रियम् ॥८॥
हरेरन्यास्वपि स्त्रीषु जाताः पुत्रा यथायथम् । यदूनां हृदयानन्दाः सत्यसत्त्वयशोऽधिकाः ॥९॥
शम्बः क्रीडासु सर्वासु कुमारशतसेवितः । जित्वा सुभानुमाक्रम्य विक्रमी रमतेतराम् ॥१०॥
रुक्मिणी रौक्मिणेयाय वैदर्भीं रुक्मिणः सुताम् । ययाचे न ददौ कन्यां सोऽपि पूर्वविरोधतः ॥११॥
गत्वा मातङ्गवेषेण शम्बप्रद्युम्नसंवरौ । बलादाहरतां कन्यां रुक्मिणं परिभूय तौ ॥१२॥

अथानन्तर गौतम गणधरने कहा कि हे श्रेणिक ! अब मैं आगमानुसार क्रमसे शम्ब तथा सुभानु कुमारकी मनोहर उत्पत्तिका वर्णन करता हूँ तुम सुनो ॥१॥

राजा मधुका भाई कैटभ जिसका पहले वर्णन आ चुका है, अच्युत स्वर्गमें देव हुआ था। जब उसकी वहाँकी आयु समाप्त होनेको आयी तब वह सत्यभामाके लिए पुत्रकी इच्छा रखनेवाले श्रीकृष्णके लिए एक सुन्दर हार दे गया ॥२॥ सायंकालके समय प्रद्युम्नके प्रयोगसे सत्यभामाका रूप धारण कर रानी जाम्बवतीने कृष्णके साथ उपभोग कर वह हार प्राप्त कर लिया ॥३॥ पुण्यके उदयसे उसी समय अखण्ड अभ्युदयको धारण करनेवाला कैटभका जीव स्वर्गसे च्युत हो जाम्बवतीके गर्भमें आ गया। गर्भ धारण कर रानी जाम्बवती अपने घर आ गयी ॥४॥ तदनन्तर सत्यभामा भी श्रीकृष्णके पास पहुँची और कामके उदयको प्राप्त हो श्रीकृष्णके साथ रमण कर उसने भी स्वर्गसे च्युत किसी शिशुको गर्भमें धारण किया ॥५॥ तदनन्तर दोनों रानियोंका गर्भ बढ़ने लगा और जिस प्रकार चन्द्रमाओंके बढ़नेपर समुद्रोंका हर्ष बढ़ने लगता है उसी प्रकार उन दोनों रानियोंके गर्भके बढ़नेपर माता-पिता तथा कुटुम्बी जनोंका हर्ष बढ़ने लगा ॥६॥

तदनन्तर नौ माह पूर्ण होनेपर रानी जाम्बवतीने शम्ब नामक पुत्रको और रानी सत्यभामाने सूर्यके समान देदीप्यमान सुभानु नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥७॥ इधर अभ्युदयको प्राप्त प्रद्युम्न और शम्बसे रुक्मिणी तथा जाम्बवती हर्षको प्राप्त हुईं उधर भानु और सुभानुसे सत्यभामा भी अत्यधिक हर्षित हुई ॥८॥ कृष्णकी अन्य स्त्रियोंमें भी यथायोग्य अनेक पुत्र उत्पन्न हुए जो यादवोंके हृदयको आनन्द देनेवाले तथा सत्य, पराक्रम और यशसे अत्यधिक सुशोभित थे ॥९॥ सैकड़ों कुमारोंसे सेवित पराक्रमी शम्ब, समस्त क्रीड़ाओंमें सुभानु कुमारको दबा देता था और उसे जीतकर सातिशय क्रीड़ा करता था ॥१०॥

रुक्मिणीके भाई रुक्मीकी एक वैदर्भी नामकी कन्या थी। रुक्मिणीने उसे प्रद्युम्नके लिए माँगा परन्तु रुक्मीने पूर्व विरोधके कारण उसके लिए वह कन्या न दी ॥११॥ यह सुन शम्ब और प्रद्युम्न दोनों भीलके वेषमें गये और रुक्मीको पराजित कर बलपूर्वक उस कन्याको हर

१. स्वबन्धूनां म० ।

परिणीय ततः कामः कन्यामन्यामिव श्रियम् । अरीरमत्पुरं भोगैर्द्वारिकायां मनोरमैः ॥१३॥
द्यूते जित्वा सुभानुं तं द्यूते प्रेक्षणकेक्षणे । शम्बो ददाति सर्वस्य लोकस्य सकलं धनम् ॥१४॥
क्रीडया स पुनर्जिग्ये पक्षिणोर्बहुजल्पिनोः । गन्धयुक्तिप्रयोगेण पुनः सदसि शार्ङ्गिणः ॥१५॥
अग्निशौच्येन दिव्येन सवस्त्रयुगलेन तम् । दिव्यालङ्कारयोगेन जिगाय सदसि प्रभोः ॥१६॥
बलदर्शनतो जित्वा तमसौ हृष्टविष्णुतः । मासं लब्ध्वा पुना राज्यं चक्रे दुर्ललिताः क्रियाः ॥१७॥
ताडितः पुंनरुद्वृत्तः पित्रा प्रणयकोपिना । [1]युग्येन कन्यकारूपः सत्योत्सङ्गमतोऽविशत् ॥१८॥
सत्या सुतार्थमानीतां विवाह्य [2]वरकन्यकाम् । आविश्चकार रूपं स्वं शम्बो लोकस्य पश्यतः ॥१९॥
एकस्यामेव रात्रौ तु कन्यकानां शतेन सः । कल्याणस्नानकं[3] स्नात्वा मातृसौख्यकरोऽभवत् ॥२०॥
सत्यभामादिदेवीनां कुमाराः शतशस्तदा । विवाह्य बहुशः कन्याश्चिक्रीडुः शक्रकीर्तयः ॥२१॥
क्रीडापूर्वं गतो गेहमन्यदा मान्यमात्मनः । पितामहमिति प्राह शम्बः प्रणतिपूर्वकम् ॥२२॥
युष्माभिः सर्वकालेन क्लेशेन खचराङ्गनाः । पर्यटद्भिः क्षितौ लब्धाः पूज्य पूज्या मनोरमाः ॥२३॥
अक्लेशेनैकरात्रेण मया तु गृहवर्तिना । परिणीताः शतं कन्याः पश्यतान्तरमावयोः ॥२४॥
वसुदेवस्ततः प्राह वत्स त्वमिषुवत्पुनः । [4]क्षिप्तोऽपि गृहमध्येऽपि दूरमन्तरमावयोः ॥२५॥

लाये ॥१२॥ तदनन्तर दूसरी लक्ष्मीके समान सुन्दर उस कन्याको विवाह कर प्रद्युम्न द्वारिका नगरीमें उसे मनोहर भोगोंसे शीघ्र ही क्रीड़ा कराने लगा ॥१३॥ शम्ब जुआ खेलनेमें बहुत चतुर था। एक दिन उसने सबके देखते-देखते जुआमें सुभानुका सब धन जीत लिया और सब लोगोंको बाँट दिया ॥१४॥ नाना प्रकारकी बोली बोलनेवाले पक्षियोंकी क्रीड़ासे शम्बने सुभानु कुमारको जीत लिया। एक बार श्रीकृष्णकी सभामें दोनों कुमारोंके बीच सुगन्धिकी परखमें शास्त्रार्थ हो पड़ा जिसमें शम्बने सुभानुको पुनः हरा दिया ॥१५॥ एक बार उसने अग्निमें शुद्ध किये हुए दो दिव्य वस्त्रों तथा दिव्य अलंकारोंको प्राप्तकर राजा कृष्णकी सभामें सुभानुको जीत लिया ॥१६॥ एक बार अपना बल दिखाकर उसने सुभानु कुमारको ऐसा जीता कि कृष्ण महाराज उसपर एकदम प्रसन्न हो गये। कृष्णने उससे वर माँगनेका आग्रह किया जिससे एक माहका राज्य प्राप्तकर उसने बहुत विपरीत क्रियाएँ कीं ॥१७॥ प्रणय कोपको धारण करनेवाले कृष्णने उस दुराचारी शम्बको बहुत ताड़ना दी। एक दिन शम्बकुमार कन्याका रूप धारण कर रथमें सवार हो सत्यभामाकी गोदमें जा प्रविष्ट हुआ ॥१८॥ सत्यभामाने समझा कि यह कन्या मेरे पुत्र सुभानुके लिए ही लायी गयी है इसलिए उसने सुभानुके साथ विवाह करा दिया परन्तु विवाहके बाद ही शम्बकुमारने लोगोंके देखते-देखते अपना असली रूप प्रकट कर दिया ॥१९॥ उसने एक ही रात्रिमें सौ कन्याओंके साथ विवाह सम्बन्धी माङ्गलिक स्नान कर अपनी माता जाम्बवतीको बहुत सुखी किया ॥२०॥ इन्द्रके समान कीर्तिको धारण करनेवाले सत्यभामा आदि रानियोंके सैकड़ों कुमार भी उस समय अनेक कन्याओंको विवाह कर इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगे ॥२१॥ एक दिन शम्ब अपने मान्य पितामह वसुदेवके घर गया और प्रणाम कर क्रीड़ापूर्वक इस प्रकार कहने लगा—हे पूज्य! आपने पृथिवीपर बहुत समय तक क्लेश उठाते हुए भ्रमण किया तब कहीं आप विद्याधरोंकी पूज्य एवं मनोहर कन्याएँ प्राप्त कर सके परन्तु मैंने घर बैठे बिना किसी क्लेशके एक ही रात्रिमें सौ कन्याओंके साथ विवाह कर लिया। आप हम दोनोंके अन्तरको देखिए ॥२२–२४॥ यह सुन वसुदेवने कहा कि वत्स! तू बाणके समान दूसरेसे (प्रद्युम्नसे) प्रेरित हो चलता है और फिर तेरी चाल भी कहाँ है? सिर्फ घरमें ही। इसलिए हम दोनोंमें बहुत अन्तर

१. रथेन (ग० टि०)। २. वरकन्यकाः म०। ३. कल्याणस्नातकं म०। ४. बाणवत्परप्रेरितः प्रद्युम्नप्रेरितश्चलसि (ग० टि०)।

मया खेटपुराम्भोधिमकरेण समं निजम् । द्वारिकाकूपमण्डूकः पण्डितम्मन्य मन्यसे ॥२६॥
अनुभूतं श्रुतं दृष्टं यन्मयातिमनोहरम् । विद्याधरपुरेष्वेतदन्येषामतिदुर्लभम् ॥२७॥
इत्युक्ते प्रणतेनोक्तः शम्बेनानकदुन्दुभिः । शुश्रूषाम्यार्य वृत्तं ते भण्यतामिति सादरम् ॥२८॥
स प्राहानन्दभेर्या त्वं वत्स बोधय यादवान् । कथयामि [1]समस्तानां सहैव चरितं निजम् ॥२९॥
तथा कृते समस्तेभ्यो यादवेभ्यः सविस्तरम् । कलत्रादिसमेतेभ्यो वृत्तं तेनाकथि स्वकम् ॥३०॥
लोकालोकविभागोक्तिं हरिवंशानुकीर्तनम् । स्वक्रीडां सौर्यलोकोक्तिनिर्गमं च ततो निजम् ॥३१॥
इत्यादि चरितं दिव्यं दिव्यमानुषसंभवम् । प्रद्युम्नशाम्बसंभूतिभूतिपर्यवसानकम् ॥३२॥
वसुदेवस्य सर्वोऽपि सर्वविद्याधरीमयः । अन्तःपुरजनो हृष्टः श्रुतस्मरणसंगतः ॥३३॥
श्रुत्वा सभाजनाश्चापि वृद्धस्त्रीयुवबालकाः । [2]यदवोऽन्तःपुराण्येषां कुरवो द्वारिकाजनाः ॥३४॥
विस्मयं परमं प्राप्ताः शशंसुः संशयोज्झिताः । वसुदेवं शिवाद्याश्च देव्यः पीतकथारसाः ॥३५॥
यथायथं नृपा जग्मुरावासान्वासिताम्बराः । अन्तःपुराणि सर्वेषां रक्षितानि सुरक्षकैः ॥३६॥
कथा पुनर्नवीभूता प्रतिवेश्म दिने दिने । जाता जनस्य साश्चर्या वसुदेवमयी कथा ॥३७॥
नत्वा पृच्छते [3]भूयः श्रेणिकाय गणी जगौ । कुमारान् कतिचिद्वर्यानिति वीरवचःक्रमात् ॥३८॥

है ॥२५॥ मैं विद्याधरोंके नगररूपी समुद्रोंका मगर हूँ और तू द्वारिकारूपी कूपका मेंढक है फिर भी हे पण्डितंमन्य ! तू अपने आपको मेरे समान मानता है ॥२६॥ मैंने विद्याधरोंके नगरोंमें जो कुछ अनुभव किया, देखा तथा सुना है वह अत्यन्त मनोहारी है और दूसरोंके लिए अतिशय दुर्लभ है ॥२७॥ वसुदेवके इस प्रकार कहनेपर शम्बने नमस्कार कर आदरपूर्वक उनसे कहा कि हे आर्य ! मैं आपका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ कृपा कर कहिए ॥२८॥ इसके उत्तरमें वसुदेवने कहा कि हे वत्स ! तू आनन्दभेरी बजवाकर समस्त यादवोंको इसकी सूचना दे । सबके लिए मैं साथ ही अपना चरित्र कहूँगा ॥२९॥ तदनन्तर आनन्दभेरीके बजवानेपर जब स्त्री-पुत्रादि सहित समस्त यादव एकत्रित हो गये तब वसुदेवने उनके लिए विस्तारपूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३०॥ उन्होंने लोकालोकके विभागका वर्णन किया, हरिवंशकी परम्पराका निरूपण किया, अपनी क्रीड़ाओंका कथन किया, सौर्यपुरके लोगोंने राजा समुद्रविजयसे मेरी क्रीड़ाओंसे होनेवाली लोगोंकी विपरीत चेष्टाएँ कहीं, तदनन्तर मैं छलसे सौर्यपुरसे निकलकर बाहर चला गया''''यह निरूपण किया। इस प्रकार प्रद्युम्न और शम्बकी उत्पत्ति तथा उनकी विभूतिपर्यन्त अपना मनुष्य तथा विद्याधरोंसे सम्बन्ध रखने वाला दिव्य चरित कह सुनाया ॥३१-३२॥ वसुदेवके अन्तःपुरमें जो विद्याधर स्त्रियाँ थीं वे सब उनका यह चरित सुन पूर्व वृत्तान्तको स्मरण करती हुई अत्यन्त हर्षित हुईं ॥३३॥ सभासद लोग, वृद्ध पुरुष, स्त्री, युवा, बालक, समस्त यदुवंशी, इनके अन्तःपुर, पाण्डव तथा द्वारिकाके अन्य लोग, वसुदेवके उक्त चरितको सुनकर परम आश्चर्यको प्राप्त हुए और शिवा आदि देवियाँ वसुदेवके इस कथारूपी रसका पान कर संशयरहित हो उनकी प्रशंसा करने लगीं ॥३४-३५॥ सुगन्धित वस्त्रोंको धारण करनेवाले सब राजा यथायोग्य अपने-अपने स्थानोंपर चले गये और सबके अन्तःपुर भी पहरेदारोंसे सुरक्षित हो अपने-अपने स्थानोंपर पहुँच गये ॥३६॥ अनेक आश्चर्योंसे युक्त वसुदेवकी कथा फिरसे ताजी हो गयी और पुनः प्रतिदिन घर-घर होने लगी ॥३७॥

तदनन्तर नमस्कार कर पूछनेवाले राजा श्रेणिकके लिए गौतम गणधर, भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिके अनुसार कुछ कुमारोंका इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥३८॥

---

१. समासानां म० । २. यादवोऽन्तः—म० । ३. भूपः म० ।

उग्रसेनस्य तनया धरो गुणधरोऽपि च । युक्तिको दुर्धरश्चापि सागरश्चन्द्रसंज्ञकः ॥३९॥
उग्रसेनपितृव्यस्य शान्तनस्य सुतास्त्वमी । महासेनशिविस्वस्थविषदानन्तमित्रकाः[1] ॥४०॥
महासेनस्य तनयः सुषेण इति नामतः । हृदिको विषमित्रस्य शिवेः सत्यक इत्यसौ ॥४१॥
हृदिकात्कृतिधर्मासौ दृढधर्मा च देहजः । सत्यकाद्वज्रधर्मोऽभूदसंगस्तु तदङ्गजः ॥४२॥
समुद्रविजयोद्भूता महासत्यदृढादिकाः । नेमयोऽरिष्टनेमीशः सुनेमिर्जयसेनकः ॥४३॥
महीजयः सुफल्गुश्च तेजःसेनो मयस्तथा । मेघाख्यः शिवनन्दश्च चित्रको गौतमादयः ॥४४॥
अक्षोभ्यस्योद्धवः सूनुर्वचःक्षुभितवारिधिः । अम्भोधिजलधी चान्यौ वामदेवदृढव्रतौ ॥४५॥
तनयाः पञ्च विख्याता जाताः स्तिमितसागरात् । ऊर्मिमान् वसुमान्वीरः पातालस्थिर इत्यमी ॥४६॥
विद्युत्प्रभो नरपतिर्माल्यवान् गन्धमादनः । इत्यमी सत्यसत्त्वाढ्यास्त्रयो हिमवतः सुताः ॥४७॥
विजयस्यापि षट् पुत्रा निष्कम्पोऽकम्पनो [2]बलिः । [3]युगन्तः केशरी धीमानलम्बुष इति श्रुताः ॥४८॥
महेन्द्रो मलयः सह्यो गिरिः शैलो नगोऽचलः । इत्येतेऽन्वर्थनामानः सप्ताचलशरीरजाः ॥४९॥
धरणस्यात्मजाः पञ्च वासुकिः स धनञ्जयः । कर्कोटकः शतमुखो विश्वरूपश्च नामतः ॥५०॥
दुष्पूरो दुर्मुखाभिख्यो दुर्दर्शो दुर्धरोऽपि च । सूनवः पूरणस्यामी चत्वारश्चतुरक्रियाः ॥५१॥
पुत्राः षडभिचन्द्रस्य चन्द्रनिर्मलकीर्तयः । चन्द्रः शशाङ्कचन्द्राभौ शशी सोमोऽमृतप्रभः ॥५२॥
तनया वसुदेवस्य बहुसंख्या महाबलाः । नामतः कतिचिद्वच्मि शृणु श्रेणिक तानहम् ॥५३॥
पुत्रौ विजयसेनाया अक्रूरक्रूरनामकौ । ज्वलनानिलवेगाख्यौ श्यामाख्यायाः शरीरजौ ॥५४॥
पुत्राः गन्धर्वसेनायास्त्रयो लोका इव त्रयः । वायुवेगोऽमितगतिर्महेन्द्रगिरिरित्यसौ ॥५५॥

धर, गुणधर, युक्तिक, दुर्धर, सागर और चन्द्र ये राजा उग्रसेनके पुत्र थे ॥३९॥ महासेन, शिवि, स्वस्थ, विषद और अनन्तमित्र ये उग्रसेनके चाचा राजा शान्तनके पुत्र थे ॥ ४० ॥ इनमें महासेनके सुषेण, विषमित्रके हृदिक, शिविके सत्यक, हृदिकके कृतिधर्मा और दृढधर्मा, सत्यकके वज्रधर्मा और वज्रधर्माके असंग नामका पुत्र हुआ ॥४१–४२॥ राजा समुद्रविजयके महानेमि, सत्यनेमि, दृढनेमि, भगवान् अरिष्टनेमि, सुनेमि, जयसेन, महीजय, सुफल्गु, तेजःसेन, मय, मेघ, शिवनन्द, चित्रक और गौतम आदि अनेक पुत्र हुए ॥४३–४४॥ अक्षोभ्यके, अपने वचनोंसे समुद्रको क्षुभित करनेवाला उद्धव, अम्भोधि, जलधि, वामदेव और दृढव्रत ये पाँच पुत्र प्रसिद्ध थे। स्तिमितसागरसे ऊर्मिमान्, वसुमान् वीर और पातालस्थिर ये चार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥४५–४६॥ राजा विद्युत्प्रभ, माल्यवान्, और गन्धमादन ये तीन हिमवत्‌के पुत्र थे तथा ये तीनों ही सत्यव्रत और पराक्रमसे युक्त थे ॥४७॥ निष्कम्प, अकम्पन, वलि, युगन्त, केशरिन् और बुद्धिमान् अलम्बुष ये छह पुत्र विजयके प्रसिद्ध थे ॥४८॥ महेन्द्र, मलय, सह्य, गिरि, शैल, नग और अचल, सार्थक नामोंको धारण करनेवाले ये सात पुत्र अचलके थे ॥४९॥ वासुकि, धनञ्जय, कर्कोटक, शतमुख और विश्वरूप ये पाँच पुत्र धरणके थे ॥५०॥ दुष्पूर, दुर्मुख, दुर्दर्श और दुर्धर, चतुर क्रियाओंको धारण करनेवाले ये चार पुत्र पूरणके थे ॥५१॥ चन्द्र, शशाङ्क, चन्द्राभ, शशिन्, सोम और अमृतप्रभ चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्तिको धारण करनेवाले ये छह पुत्र अभिचन्द्रके थे ॥५२॥ और वसुदेवके महाबलवान् अनेक पुत्र थे। हे श्रेणिक! मैं यहाँ उनमें-से कुछके नाम कहता हूँ सो सुन ॥५३॥

वसुदेवकी विजयसेना रानीसे अक्रूर और क्रूर नामके दो पुत्र हुए थे। श्यामा नामक रानीसे ज्वलन और अग्निवेग ये दो पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥५४॥ गन्धर्वसेनासे वायुवेग, अमितगति और महेन्द्रगिरि ये तीन पुत्र हुए थे। ये तीनों पुत्र ऐसे जान पड़ते थे मानो तीनों लोक

१. विषादानन्त –म० । २. बलः म० । ३. युगान्तः म० ।

अमात्यदुहितुर्जाताः पद्मावत्याः सुतास्त्रयः । दारुर्वृद्धार्थनामा च दारुक इत्युदीरिताः ॥५६॥
द्वौ नीलयशसः पुत्रौ धीरौ सिंहमतङ्गजौ । नारदो मरुदेवोऽपि सोमश्रीतनयौ वरौ ॥५७॥
[1]मित्रश्रियः सुमित्राख्यः कपिलः कपिलात्मजः । पद्मश्च पद्मकाख्यश्च पद्मावत्याः शरीरजौ ॥५८॥
अश्वसेनोऽश्वसेनाया पौण्ड्राया पौण्ड्र एव तु । रत्नगर्भः सुगर्भश्च रत्नवत्याः सुतौ मतौ ॥५९॥
सोमदत्तसुतायास्तु चन्द्रकान्तशशिप्रभौ । वेगवान्वायुवेगश्च वेगवत्यास्तनूभवौ ॥६०॥
दृढमुष्टिरनावृष्टिर्हिमसुष्टिश्च ते त्रयः । पुत्रा मदनवेगाया मदनप्रतिमागताः ॥६१॥
बन्धुषेणस्तथा सिंहसेनो बन्धुमतीसुतौ । प्रियङ्गुसुन्दरीसूनुः शीलायुध इति श्रुतिः ॥६२॥
द्वौ सुतौ तु प्रभावत्या गन्धारः पिङ्गलस्तथा । जरत्कुमारवाह्लीकौ जरायास्तनयौ स्मृतौ ॥६३॥
अवन्त्याः सुमुखश्चैव दुर्मुखश्च महारथः । रोहिण्या बलदेवश्च सारणश्च विदूरथः ॥६४॥
तनूजौ बालचन्द्राया वज्रदंष्ट्रामितप्रभौ । देवकीतनुजो विष्णुरितीमे वसुदेवजाः ॥६५॥
उन्मुण्डो निषधश्चासौ प्रकृतिद्युतिरप्यतः । चारुदत्तो ध्रुवः पीठः स शक्रन्दमनोऽपि च ॥६६॥
श्रीध्वजो नन्दनश्चैव धीमान् दशरथस्तथा । देवनन्दश्च विख्यातो विद्रुमः शन्तनुः परः ॥६७॥
पृथुः शतधनुश्चैव नरदेवो महाधनुः । रोमशैत्यादयः पुत्रा बहवो बलिनस्तथा ॥६८॥
भानुः सुभानुभीमौ च महाभानुसुभानुकौ । बृहद्रथश्चाग्निशिखो विष्णुसञ्जय एव च ॥६९॥
अकम्पनो महासेनो धीरो गम्भीरनामकः । उदधिर्गौतमश्चापि वसुधर्मा प्रसेनजित् ॥७०॥
सूर्यश्च चन्द्रवर्मा च चारुकृष्णश्च विश्रुतः । सुचारुर्देवदत्तश्च भरतः शंखसंज्ञकः ॥७१॥
प्रद्युम्नशम्बनामाद्याः केशवस्य शरीरजाः । शस्त्राशास्त्रनिष्णाताः सर्वे युद्धविशारदाः ॥७२॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च यादवानां यशस्विनाम् । पैतृस्वस्रीयाः स्वस्रीयाः कुमारास्ते सहस्रशः ॥७३॥

हो हीं ॥५५॥ मन्त्रीकी पुत्री पद्मावतीसे दारु, वृद्धार्थ और दारुक ये तीन पुत्र हुए थे ॥५६॥ नीलयशाके सिंह और मतंगज ये दो धीर-वीर पुत्र थे। सोमश्रीके नारद और मरुदेव ये दो पुत्र थे ॥५७॥ मित्रश्रीसे सुमित्र, कपिलासे कपिल और पद्मावतीसे पद्म तथा पद्मक ये दो पुत्र हुए थे ॥५८॥ अश्वसेनासे अश्वसेन, पौण्ड्रासे पौण्ड्र और रत्नवतीसे रत्नगर्भ तथा सुगर्भ ये दो पुत्र हुए थे ॥५९॥ सोमदत्तकी पुत्रीसे चन्द्रकान्त और शशिप्रभ तथा वेगवतीसे वेगवान् और वायुवेग ये दो पुत्र हुए थे ॥६०॥ दृढमुष्टि, अनावृष्टि और हिमसुष्टि ये तीन पुत्र मदन-वेगासे उत्पन्न हुए थे। ये तीनों ही पुत्र कामदेवकी उपमाको प्राप्त थे ॥६१॥ बन्धुषेण और सिंहसेन ये बन्धुमतीके पुत्र थे तथा शीलायुध प्रियङ्गुसुन्दरीका पुत्र था ॥६२॥ रानी प्रभावती से गन्धार और पिङ्गल ये दो तथा रानी जरासे जरत्कुमार और वाह्लीक ये दो पुत्र हुए थे ॥६३॥ अवन्तीसे सुमुख, दुर्मुख और महारथ, रोहिणीसे बलदेव, सारण तथा विदूरथ, बालचन्द्रासे वज्रदंष्ट्र और अमितप्रभ और देवकीसे कृष्ण पुत्र हुए थे। इस प्रकार वसुदेवके पुत्रोंका वर्णन किया ॥६४–६५॥

उन्मुण्ड, निषध, प्रकृतिद्युति, चारुदत्त, ध्रुव, पीठ, शक्रन्दमन, श्रीध्वज, नन्दन, धीमान्, दशरथ, देवनन्द, विद्रुम, शन्तनु, पृथु, शतधनु, नरदेव, महाधनु और रोमशैत्यको आदि लेकर बलदेवके अनेक पुत्र थे ॥६६–६८॥ भानु, सुभानु, भीम, महाभानु, सुभानुक, बृहद्रथ, अग्निशिख, विष्णुसञ्जय, अकम्पन, महासेन, धीर, गम्भीर, उदधि, गौतम, वसुधर्मा, प्रसेन-जित्, सूर्य, चन्द्रवर्मा, चारुकृष्ण, सुचारु, देवदत्त, भरत, शङ्ख, प्रद्युम्न तथा शम्ब आदि कृष्णके पुत्र थे। ये सभी पुत्र शस्त्र, अस्त्र तथा शास्त्रमें निपुण और युद्धमें कुशल थे ॥६९–७२॥ उन यशस्वी यादवोंके पुत्र और पौत्र, बुआके लड़के तथा भानजे भी हजारोंकी संख्यामें

१. मित्राश्रयः म०।

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च कुमाराणां महौजसाम् । मनोभवस्वरूपाणां रमन्ते रमणप्रियाः ॥७४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

नित्यं द्वारवती पुरी परिगता वीरैः कुमारैरिमै
निर्गच्छद्भिरितस्ततो रथगजारूढैर्विशद्भिस्तथा ।
नानावेषधरैः प्रचण्डचरितैः पौरप्रजाह्लादिभि-
र्बभ्राजे भवनामरैरिव पुरी पाताललोकस्थिता ॥७५॥

स्रग्धराच्छन्दः

प्रायः स्वर्गच्युतानां जिनपथचरितोदारपुण्योदयानां
कीर्त्यानां कीर्त्यमानं चरितमिदमिह श्रीकुमारोत्तमानाम् ।
संशृण्वन्त्येकमत्या मतिविभवयुताः श्रद्धाना जना ये
कौमारं यौवनं च व्यपगमितरुजस्ते वयो निर्विशन्ति ॥७६॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ यदुकुलकुमारोद्देशवर्णनो नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥४८॥

थे ॥७३॥ इस प्रकार सब मिलाकर महाप्रतापी तथा कामदेवके समान सुन्दर रूपको धारण करनेवाले साढ़े तीन करोड़ कुमार, क्रीड़ाके प्रेमी हो निरन्तर क्रीड़ा करते रहते थे ॥७४॥

निरन्तर रथ तथा हाथियोंपर सवार हो बाहर निकलते तथा भीतर प्रवेश करते हुए, नाना वेषोंके धारक, प्रबल पराक्रमी और नगरवासी प्रजाको आनन्द उत्पन्न करनेवाले इन वीर कुमारोंसे युक्त द्वारावती नगरी उस समय भवनवासी देवोंसे युक्त पातालपुरीके समान सुशोभित हो रही थी ॥७५॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि प्रायः स्वर्गसे च्युत होकर आये हुए तथा जिनेन्द्र प्रणीत मार्गका अनुसरण करनेसे सातिशय पुण्यका संचय करनेवाले इन प्रशंसनीय उत्तम यदुकुमारोंके इस कहे जानेवाले चरितको जो बुद्धिमान् मनुष्य एकाग्रचित्त होकर सुनते हैं तथा श्रद्धान करते हैं वे समस्त रोगोंको दूर कर कौमार और यौवन अवस्थाका उपभोग करते हैं—उनकी वृद्धावस्था छूट जाती है ॥७६॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें यदुवंशके कुमारोंका नामोल्लेख करनेवाला अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४८॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

नर्कुटकच्छन्दः[1]

अथ मधुसूदनावरजया वरया जगतामवितथकन्यया[2] शशिविशुद्धयशोधरया ।
प्रथितसुदुर्धरप्रथमयौवनभूरिभरः प्रकटमधारि हारिगुणभूषणभूषितया ॥१॥
नखमणिमण्डले[3]न्दुकलिताङ्गुलिपल्लवयोरकृतकरक्तताहसितभास्वदलक्तकयोः[4] ।
मृदुपदपद्मयोः प्रपद[5]मागसमोन्नतयोर्जगति यदीययोरुपमयापगतं त्रपया ॥२॥
दृढगुणगूढगुल्फनिजजानुमनोहरयोः प्रतिपदमानुपूर्व्यपरिवृत्तविलोमशयोः ।
निरुपमजङ्घयोर्घनभूरिभरक्षमयोः स[6]विरसमल्लयोर्न हि यदीयकयोरुपमा ॥३॥
मृदुपरिवृत्तपाण्डुरगुणं[7] विगलद्बहलस्थिरवरकान्तिदीप्तिरसपूरितमूरुयुगम् ।
करिकरवर्तुलकदलीमृदिमानमतिप्रथितमतील्य सत्यगुणधारि यदीयमभात् ॥४॥
बहुरसपूर्णवर्णकुलशैलभवप्रमदाप्रमदविधायिपुण्यसरितः कलहंसगतेः ।
गुरुजघनस्थलीपुलिनभूमिरभूमिरसौ कुसुमरथस्य शुम्भितनितम्बतटा[8] विबभौ ॥५॥
तनुमृदुरोमराजिलतयातिविनीलरुचा[9] जननयनाभिरामनिजनाभिगभीरतया ।
तनुमध्यबन्धनवलित्रयविचित्रतया ललितवधूजनेष्वतिविराजितमग्रतया[10] ॥६॥

अथानन्तर कृष्णकी छोटी बहिन जगत्में उत्तम, चन्द्रमाके समान निर्मल यशको धारण करनेवाली एवं मनोहर गुणरूपी आभूषणोंसे भूषित यशोदाकी पुत्री (जो कृष्णके बदलेमें आयी थी)ने अतिशय प्रसिद्ध प्रथम यौवनके बहुत भारी भारको धारण किया ॥१॥ जिनके अङ्गुलिरूपी पल्लव श्रेष्ठ नखरूपी चन्द्रमण्डलसे सुशोभित थे, जिन्होंने अपनी स्वाभाविक ललाईसे देदीप्यमान महावरकी हँसी की थी, तथा जो अग्रभागमें समान रूपसे ऊँचे उठे हुए थे ऐसे उसके कोमल चरण-कमलोंकी उपमा उस समय लज्जासे ही मानो संसारमें कहीं चली गयी थी। उसके कोमल चरण-कमल अनुपम थे ॥२॥ जो अत्यन्त मजबूत एवं गूढ गाँठों और घुटनोंसे मनोहर थी, उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गोलाईसे सुशोभित एवं रोमरहित थी, नितम्बोंका बहुत भारी भार धारण करनेमें समर्थ थी, और जो परस्परके प्रतिस्पर्धी मल्लके समान जान पड़ती थी ऐसी उसकी अनुपम जङ्घाओंकी उस समय कहीं उपमा नहीं रही ॥३॥ जो कोमल गोल और शुभ्र थे, जिनसे अत्यधिक स्थायी एवं श्रेष्ठ कान्ति चू रही थी, जो दीप्ति रूपी रससे परिपूर्ण थे, हाथीकी सूँड़ और गोल कदलीकी सुकुमारताको उल्लंघन कर विद्यमान थे, अतिशय प्रसिद्ध थे और यथार्थ गुणोंसे युक्त थे, ऐसे उसके दोनों ऊरु उस समय अत्यधिक सुशोभित होने लगे ॥४॥ कलहंसके समान सुन्दर चालसे सुशोभित उस कन्याकी स्थूल जघनस्थली, अनेक रसोंसे परिपूर्ण वर्णवाले कुलाचलोंसे उत्पन्न स्त्रियोंके लिए हर्ष उत्पन्न करनेवाले पुण्यरूपी, नदीकी उस पुलिन भूमि–तट भूमिके समान सुशोभित होने लगी जो कामकी अभूमि—अगोचर तथा नितम्बरूपी सुन्दर तटोंसे युक्त थी ॥ ५ ॥ वह कन्या, सूक्ष्म, कोमल और अत्यन्त काली रोमराजिसे, मनुष्योंके नेत्रोंको आनन्द देनेवाली अपनी नाभिकी गहराईसे और शरीरके मध्यमें स्थित त्रिवलियों—तीन रेखाओंकी विचित्रतासे

१. "हयदशभिर्नजौ भजजला गुरु नर्कुटकम्" इति लक्षणात् (वृत्तरत्नाकरस्य)। २. यशोदायाः कन्यया (इ० टि०)। ३. वरनिर्मलपल्लवयोः क०, अतिनिर्मल इ०, रतिनिर्मल—म०। ४. अकृतकरकृता हसित (?) म०। ५. प्रमदमागसमन्वितयोः म०, पादस्याग्रं प्रपदः। ६. सविरसमल्पयोः क०, सविरसमल्लयोः म०। ७. स्थिरकर—क०, ख०, इ०, म०। ८. नितम्बतटेव बभौ म०। ९. विनीतरुचा म०। १०. –मत्रपया म०।

उरसि नितान्तनीलनिजचूचुकयोरसकौ कठिनसुवृत्तपीवरपयोधरयोर्भरतः ।
अमृतरसभ[1]यक्षरणभीहरिनीलमणिस्थिरतरमुद्रिकोज्ज्वलकुम्भवहेव बभौ ॥७॥
भुजलतयोः शिरीषमृदुपीनवरांसकयोः वरकमलप्रभापटलपाटलपल्लवयोः ।
कुरुवकताम्रकम्रनखपुष्पकयोर्वपुषस्व[2]नुकृतमुद्गकोशकरशाखकयोर्विबभौ ॥८॥
अकठिनकम्बुकण्ठचिबुकापरबिम्बफलप्र[3]हसितपाण्डुगण्डकुटिलभ्रुललाटतटी—
द्विगुणितकोमलोत्पलसुनालसुकर्णभृता चिरमनयास्यमासि धवलासितदीर्घदृशा ॥९॥
प्रमितशिरस्यतिभ्रमरकान्तिकनत्कुटिलप्रकटकटीतटीपतितकेशकलापमसौ ।
शशिवदना प्रकाशमवहद्विहसद्दशना प्रशिथिलकामपाशमिव लोकवशीकरणम् ॥१०॥
करपदमुद्रिकाकटकनूपुरपूर्वकसत्प्रथितचतुर्दशाभरणभूषणभूततनुः ।
प्रविलसदङ्गरागमृदुवस्त्रमहास्रगियं स्थगयति कन्यकोचितसुखा वपुषा [4]युवतीः ॥११॥
पितृसुतपूर्वकस्य यदुसर्वकुलस्य जनैरुचितसपर्यया विहितगौरवभूमिरसौ ।
सकलकलाकलगुणकलापमहावसतिः सकलसरस्वती स्वयमिव स्वजनोपविधौ ॥१२॥
इति समये प्रयाति नु कदाचिदसौ प्रणतैरुपहसिता प्रयाज्ञिरवशाद्बलराजसुतैः ।
चिपिटनासिकं रहसि दर्पणके स्वमुखं स्फुटमवलोक्य तन्नवविरागमगान्निपिता ॥१३॥

संसारकी समस्त सुन्दर स्त्रियोंके बीच अत्यधिक सुशोभित होने लगी ॥ ६ ॥ वक्षःस्थलपर अत्यन्त नील चूचुकसे युक्त कठोर गोल और स्थूल स्तनोंका भार धारण करनेसे वह कन्या ऐसी सुशोभित होने लगी मानो 'अमृत रसका घर खिरकर कहीं नष्ट न हो जाये' इस भयसे इन्द्रनील मणिकी मजबूत मुहरसे युक्त देदीप्यमान सुवर्णके दो कलश ही धारण कर रही हो ॥ ७ ॥ शिरीषके फूलके समान कोमल मोटी और उत्तम कन्धोंसे युक्त, उत्तम कमलकी कान्तिके समूहके समान लाल-लाल हथेली रूप पल्लवोंसे सहित, कुरुवकके फूलके समान लाल एवं सुन्दर नखरूपी पुष्पोंसे सुशोभित तथा मूँगाकी कोशोंका अनुकरण करनेवाली अङ्गुलियोंसे युक्त भुजारूपी लताओंसे वह अत्यधिक सुशोभित होने लगी ॥८॥ कोमल शङ्खके समान कण्ठ, ठुड्डी, अधरोष्ठ रूपी बिम्बीफल, प्रकृष्ट हास्यसे युक्त श्वेत कपोल कुटिल भौंहें, ललाट तट एवं द्विगुणित कोमल नील कमलकी उत्तम डण्ठलके समान कानोंको धारण करनेवाली और सफेद काले तथा विशाल नेत्रोंसे सहित वह कन्या चिर काल तक अत्यधिक सुशोभित होने लगी ॥ ९ ॥ हास्ययुक्त दाँतोंसे सहित वह चन्द्रमुखी कन्या, सुन्दर शिरपर भ्रमरोंकी कान्तिको तिरस्कृत करनेवाले देदीप्यमान घुँघराले एवं विस्तृत कटी-तटपर पड़े प्रकाशमान उस केशसमूहको धारण कर रही थी, जो लटकते हुए काम-पाशके समान लोगोंको वश करनेवाला था ॥ १० ॥ हाथ और पैरोंमें स्थित अँगूठी, कड़े तथा नूपुर आदि समीचीन एवं प्रसिद्ध चौदह आभरणोंसे जिसका शरीर आभूषण स्वरूप हो रहा था, जो शोभायमान अङ्गराग, कोमल वस्त्र और महामालाओंको धारण कर रही थी तथा जिसे कन्याओंके उचित समस्त सुख उपलब्ध थे ऐसी वह कन्या अपने शरीरके द्वारा संसारकी अन्य युवतियोंको आच्छादित कर रही थी—तिरस्कृत कर रही थी ॥११॥ वह पिता, पुत्र आदि समस्त यदुवंशके मनुष्योंके द्वारा योग्य सत्कारके द्वारा किये हुए गौरवकी भूमि थी, समस्त कलाओं और मनोहर गुणोंके समूहकी महावसतिका थी और कुटुम्बी जनोंके समीप स्वयं शरीरधारिणी सरस्वतीके समान जान पड़ती थी ॥ १२ ॥

इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर कदाचित् बलदेवके पुत्रोंने आकर उसे नमस्कार

१. क्षयो निवासः (क० टि०) । २. वपुषस्तनुकृत-म०, वपुषास्वनुकृत-ङ० । ३. प्रसहित म० ।
४. युवती म० ।

धुरि विदितार्यिकागणमहत्तरिकापदया व्रतधरपादमूलमितया सह सुव्रतया ।
सुगुरुरपृच्छ्यत[1] प्रणतया निजपूर्वकृतं स्फुरदवधीक्षणः क्षणमसाविति तां न्यगदीत् ॥१४॥
तव दुहितः सुराष्ट्रविषये विषयेन्द्रियजैर्विगतभवे[2] सुखैरतिविमूर्छितमूढधिया ।
[3]परुषतयाभिरूपवदपुरुहताङ्गभृता[4] न भृतमनङ्कुशं निभृतमात्ममनोनयनम् ॥१५॥
अतिविषमं तपो चरतो मृतशायिकया शकटमपेतपर्युपरि हितं तदा स्वकया ।
चिपिटितनासिकापुटतटस्य मुनेः स्खलनं मनसि न जातमीषदपि धीरतया धृतया ॥१६॥
अजनितजीवघातगुणतो नरके पतनं तव हि मनाग्न जातवपुर्विगात्रवधादिह तु ।
अजनि विनासिकस्य वदनस्य महाविकृतिः फलति फलं स्वकर्मजगतां हि यथाविहितम् ॥१७॥
सकृदपि जीवघातकृदवाप्सकृत्परतः परवशघातदुःखमभियास्यति जन्तुरिह ।
अवयवघातकृत् सकृदपि स्वकृतैरसकृदवयवघातमेष्यति सदेति जिनस्य वचः ॥१८॥
वचनमनस्तनुभिरभियः[5] परुषाः पुरुषाः पुरुषवधादिषु प्रभुतया प्रयतन्त इह ।
दुरितमहाप्रभुः परभवेषु जनेषु पुनः प्रभवति दुःखदान[6]चतुरश्चतुरेष्वपि हि ॥१९॥
अत इह जन्तुभिः परवधादिनिवृत्तिपरैः स्वपरहितैः सदापि भवितव्यमपि प्रभुभिः ।

किया और जाते समय अपने अल्हड़ स्वभावसे उसे 'चिपटी नाकवाली' कह कर चिढ़ा दिया। उसने एकान्तमें दर्पणमें प्रतिबिम्बित चिपटी नाकसे युक्त अपना मुख देखा जिससे वह लज्जित होती हुई उस पर्यायसे विरक्त हो गयी ॥ १३ ॥ उसने नगरमें विद्यमान आर्यिकाओं के समूहकी प्रधान सुव्रता नामक गणिनीके चरणोंकी शरण प्राप्त की और उन्हें साथ लेकर वह व्रतधर नामक मुनिराजके चरणमूलमें गयी। उन्हें नमस्कार कर उसने उक्त मुनिराजसे पूछा कि 'हे भगवन्! मैंने पूर्वभवमें क्या पाप किया था जिससे मुझे यह कुरूप प्राप्त हुआ है।' इसके उत्तरमें अवधिज्ञानरूपी नेत्रको विकसित करनेवाले मुनिराज उससे इस प्रकार कहने लगे—॥ १४ ॥

हे पुत्री! पूर्वभवमें तेरा जीव सुराष्ट्र देशमें उत्तम रूपको धारण करनेवाला पुरुष था। वहाँ विषय और इन्द्रियजन्य सुखोंसे अत्यन्त मूढ़ बुद्धि होनेके कारण वह क्रूरतावश विषयोंमें स्वच्छन्द हुए अपने मन और नेत्रोंको स्वाधीन नहीं रख सका ॥ १५ ॥ एक बार एक मुनि मृतशय्यासे अत्यन्त विषम तप तप रहे थे। तूने उनपर अपनी गाड़ी चला दी जिससे उनकी नाक पिचक गयी। मुनिराजने अपने मनमें बहुत भारी धीरता धारण कर रखी थी इसलिए इस घटनासे उनके मनमें कुछ भी क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ ॥१६॥ मुनिराजके जीवका घात नहीं हुआ था इसलिए तेरा नरक वास नहीं हुआ। किन्तु उनके शरीरका कुछ घात हुआ था इसलिए इस जन्ममें तेरा मुख नासिकासे रहित हो महाविकृत हुआ है। ठीक ही है संसारमें जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है ॥१७॥ जिनेन्द्र भगवान्का यह कहना है कि जो प्राणी इस संसारमें एक बार भी किसी जीवका घात करता है वह उसके पापसे पर-भवमें दूसरोंके द्वारा घात होनेके दुःखको प्राप्त होगा और जो किसीके अवयवका एक बार भी घात करता है वह अपने किये पापके अनुसार अनेक बार अवयवके घातको प्राप्त होगा ॥ १८ ॥ जो क्रूर मनुष्य, प्रभुताके कारण निर्भय हो मन, वचन, कायसे मनुष्य आदि प्राणियोंके वधमें प्रयत्न करते हैं परभवोंमें वे कितने ही चतुर क्यों न हों दुःख देनेमें चतुर पापरूपी महाप्रभु उनपर बार-बार अपना प्रभाव जमाता है—उन्हें बार-बार दुःख देता है ॥ १९ ॥ इसलिए स्वपर हितको चाहनेवाले प्राणियोंको भले ही वे राजा क्यों न

१. सुरगुरु म० । २. विगतभये म०, ङ० । ३. कठोरतया (क० टि०) । पुरुषतया म०, ख०, ङ० । ४. निवभृतं म०, ङ० । ५. रभि यः पुरुषाः परुषाः म० । ६. दुःखदानचतुरश्चतुरेष्वपि हि म० ।

न हि भवपङ्क्तौ भवभृतामिह संसरतां [1]स्वकृतभुजां सतां प्रतिभवति सदा प्रभुता ॥२०॥
इति वचनं गुरोरभिनिशम्य कृतावनतिः प्रगतवती तया सह महत्तरिकार्यिकया।
व्रतमदधाद्विमोच्य हि सकाखिलबन्धुजनं सितवसनावृतस्तनभरोद्धृतकाककचा[2] ॥२१॥
व्यपहृतभूषणस्रगिवमात्मकराङ्गुलिभिर्निकचितकेशभारनिखिलोत्खननं तु तदा।
प्रविदधती बभौ कुसुमकोमलबाहुलता स्फुटमिव [3]धीकुटीकुटिलशल्यकुलोद्धरणम् ॥२२॥
जघनमुरः कुचावुदरमाचरणं च वपुः सुसूक्ष्मदुकूलकैकवसनेन कृतावरणम्।
[4]सुविदधती सती चिरमराजत सा च तदा वृतसिकतास्थलाच्छपयसा शरदीव नदी ॥२३॥
स्वजनकृताभिनिष्क्रमणपूजनिकां जनिकां पुरुतपसां[5] निशाम्य नवसंयतिकां हि तकाम्।
अजनि महाजनस्य सकलस्य तदेतिमतिः सधृतिः सरस्वती किमु तपस्यति किं नु रतिः ॥२४॥
व्रतगुणसंयमोपवसनादितपोभिरसौ प्रतिदिनभावनाभिरपि भावितभावयुता।
वसति तपस्यया वसतिरागमगीतगिरां पुरुगुणसंयुता[6] गणनिवासगता सततम् ॥२५॥
बहुषु तु वर्षवासरगणेषु गतेषु ततो जिनजननाभिनिष्क्रमणनिर्वृतिभूमिषु सा।
कृतविहृतिः कदाचन गता पृथुसार्थवशान्निजसहधर्मिणीभिरलविन्ध्यमहागहनम् ॥२६॥

हों सदा परहिंसा आदि पापोंसे दूर रहना चाहिए। क्योंकि संसारमें भ्रमण करनेवाले प्राणी अपने द्वारा किये हुए कर्मोंका फल भोगते हैं उनकी प्रभुता—राज्य अवस्था सदा स्थित नहीं रहती ॥ २० ॥

इस प्रकार गुरुके वचन सुन वह, सुव्रत गणिनीके साथ चली आयी और समस्त बन्धु जनोंका त्यागकर उसने सफेद साड़ीसे स्तनोंको ढक तथा काले केशोंको उखाड़कर आर्यिका का व्रत धारण कर लिया ॥२१॥ जिसने आभूषण और मालाएँ उतारकर फेंक दी थीं तथा जिसकी बाहुरूपी लताएँ फूलोंके समान कोमल थीं ऐसी वह कन्या उस समय अपने हाथकी कोमल अँगुलियोंसे अपने बँधे हुए समस्त बालोंको उखाड़ती हुई ऐसी जान पड़ती थी मानो बुद्धिरूपी कुटीके भीतर विद्यमान शल्योंके समूहको ही उखाड़ रही हो ॥२२॥ जघन, वक्षःस्थल, स्तन, उदर और चरणोंपर्यन्त समस्त शरीरको एक अत्यन्त कोमल वस्त्रसे आच्छादित करती हुई वह सती उस समय चिरकाल तक शरद् ऋतुकी उस नदीके समान सुशोभित हो रही थी जिसने स्वच्छ जलसे अपने बालुमय स्थलको ढक रखा था ॥२३॥ कुटुम्बी-जनोंने जिसकी दीक्षा-कालीन पूजा की थी और जो बड़े-बड़े तपोंको जन्म देनेवाली थी ऐसी उस नव-दीक्षिता आर्यिकाको देखकर उस समय समस्त महाजनोंके हृदयमें यही बुद्धि उत्पन्न होती थी कि क्या यह धैर्यसहित सरस्वती है अथवा रति तपस्या कर रही है ॥२४॥ व्रत, गुण, संयम तथा उपवास आदि तपों एवं प्रतिदिन भायी जानेवाली अनित्य आदि भावनाओंसे जो विशुद्ध भावोंको प्राप्त हुई थी, जो आगमोक्त अनेक पाठोंकी वसतिका थी, उत्तमोत्तम गुणोंसे सहित थी, और सदा आर्यिकाओंके समूहके साथ निवास करती थी ऐसी वह आर्यिका तपस्या करती हुई रहती थी ॥२५॥

तदनन्तर बहुत वर्षों और दिनोंके समूह व्यतीत हो जानेपर वह जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्म, दीक्षा और निर्वाण कल्याणककी भूमियोंमें विहार कर किसी समय बहुत बड़े सङ्घकी प्रेरणा से अपनी सहधर्मिणियोंके साथ विन्ध्याचलके विशाल वनमें जा निकली ॥२६॥ और रात्रिके

१. सुकृत—क०, ङ०, म०। २. कुचा म०। ३. धीरेव कुटी तत्र कुटिलशल्यकुलस्योद्धरणं पुनः श्रोटनं कुर्वती इति क पुस्तके टिप्पणी।–भिवोद्धरणं म०, बलोद्धरणं ङ०। ४. स्वविदधती म०। ५. पुरुतपसं क०, ख०, ङ०, म०। ६. संयता म०, ङ०।

निशि निशितासिनिर्मलनिशातमनास्त्वसकौ प्रतिपथमास्थिता[1] प्रतिमया प्रतिमाप्रतिमा ।
वरशवरसेनया स्फुटमदर्शि निशानिभया[2] बहुधनसार्थपातविधये द्रुतमागतया ॥२७॥
इह वनदेवता स्थितवतीयमिति प्रणतैः शबरशतैरितिस्ववरदानमथाच्यत सा ।
भगवति वः प्रसादनिरुपद्रविणो द्रविणं यदभिलभेमहि प्रथमकिङ्करका वयकम् ॥२८॥
इति तु वनेचरैः कृतमनोरथकैः पृथुकैः प्रबलतया सुसार्थमभितः पुनरापतितैः ।
[3]विनिहतसार्थसार्थकतयान्तमितैः प्रतिमास्थितियुतसंयतास्थितिभुवीदमदर्शि तु तैः ॥२९॥
प्रशमसमाधिमागमशमस्थितिमामरणादुपगतपुण्डरीकाद्[4]धुरुपप्लव[5]खण्डतया ।
स्वयमुपपद्य सा दिवमगात्प्रतिमासमृतिर्मधुमथनस्वसा स्खलति न स्थितितः सुजनः ॥३०॥
नखमुखदंष्ट्रिकाविकटकोटिविपाटितया यदपि कलेवरखण्डमुपार्जितधर्मतया ।
मृतिमितया विमुक्तमविमुक्तसमाधितया तदपि कराङ्गुलित्रिकशेषमशेषमभूत् ॥३१॥
रुधिरविलि[6]प्तगुप्तपथभूतलमाकुलिताः सकलमितस्ततस्तदभिवीक्ष्य तदा शबराः ।
रतिरिह बध्यते वरददेवतया रुधिरे इति विनिधाय दैवतमदस्त्रिकराङ्गुलिभिः ॥३२॥
वनमहिषं निपात्य विषमं विषमाः परितः परुषकिरातका रुधिरमांसवलिप्रकरम् ।
[7]विचकरुरुन्मदप्रमथशाकमक्षिकमक्षिविषं प्रविततविस्रगन्धदुरमीकृतदिग्वलयम् ॥३३॥

समय, तीक्ष्ण तलवारके समान निर्मल एवं निर्विकल्प चित्तको धारण करनेवाली वह प्रतिमा तुल्य आर्यिका किसी मार्गके सम्मुख प्रतिमायोगसे विराजमान हो गयी। उसी समय किसी बहुत धनी सङ्घपर आक्रमण करनेके लिए रात्रिके समान काली भीलोंकी एक बड़ी सेना शीघ्रतासे वहाँ आयी और उसने प्रतिमायोगसे विराजमान उस आर्यिकाको देखा॥२७॥ 'यह यहाँ वनदेवी विराजमान है' यह समझकर सैकड़ों भीलोंने नमस्कार कर उससे अपने लिए यह वरदान माँगा कि 'हे भगवति! यदि आपके प्रसादसे निरुपद्रव रहकर हम लोग धन प्राप्त कर सकेंगे तो हम आपके पहले दास होंगे' ॥२८॥ इस प्रकारका मनोरथ कर भीलोंका वह विशाल समूह बड़ी मजबूतीसे चारों ओरसे यात्रियोंके उस सङ्घपर टूट पड़ा और उसे मार-कर तथा लूटकर कृतकृत्य होता हुआ जब वह वापिस समीपमें आया तो उसने प्रतिमायोगसे स्थित आर्यिकाके खड़े होनेके स्थानपर यह देखा॥२९॥ जब भील लोग आर्यिकाके दर्शनकर आगे बढ़ गये तब वहाँ एक सिंहने आकर उनपर घोर उपसर्ग शुरू कर दिया। उपसर्ग देख उन्होंने बड़ी शान्तिसे समाधि धारण की और मरण पर्यन्तके लिए अनशनपूर्वक रहनेका नियम ले लिया। तदनन्तर प्रतिमायोगमें ही मरणकर वे स्वर्ग गयीं सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष अपनी मर्यादासे कभी विचलित नहीं होते॥३०॥ निरन्तर धर्मका उपार्जन करने-वाली एवं गृहीत समाधिको न छोड़नेवाली उस आर्यिकाका शरीर सिंहके नख, मुख और डाढ़ोंके अग्रभागसे विदीर्ण होनेके कारण यद्यपि छूट गया था तथापि उसके हाथकी तीन अँगुलियाँ वहाँ शेष बच रही थीं यही तीन अँगुलियाँ उन भीलोंको दिखायी दीं॥३१॥ खूनसे विलिप्त होनेके कारण जिसका मार्ग अन्तर्हित हो गया था ऐसी वहाँकी समस्त भूमिको उन भीलोंने उस समय बड़ी आकुलतासे यहाँ-वहाँ देखा पर कहीं उन्हें वह आर्यिका नहीं दिखी। अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि वरदान देनेवाली वह देवी इस रुधिरमें ही सन्तोष धारण करती है इसलिए हाथकी उन तीन अँगुलियोंको वहीं देवता रूपसे विराजमान कर दिया और बड़े-बड़े जंगली भैंसाओंको मारकर उन विषम एवं क्रूर भीलोंने सब ओर खून एवं मांसकी बलि

१. प्रतिपथया स्थिता प्रविशया प्रतिमा। २. रात्रिप्रभातुल्यया–कृष्णया। ३. विनिहित–म०, क० ख०, ङ०। ४. उपगतसिंहात्। ५. द्रुतपल्लवचयडतया म०। ६. विलुप्त–म०। ७. विचकरुरुद्रमग्नशाकमक्षिक म०–विचकरुरुद्रमथशाकमक्षिक ग०।

सुगतिगतामम्ं परमकारुणिकां तपसा जगति जनस्ततः प्रभृति निरागसम्[1]अत्र जडः ।
वनचरदर्शितेन तु पथा नरकाभिमुखः पिशितवशो निहन्ति हि पशून् महिषप्रभृतीन् ॥३४॥
न हि महिषार्द्र[2]पानविधिका न हि शूलकरा न हि सुरदुर्गतावपि परस्परघातकता ।
रचयति भित्तिमात्रमुपलभ्य कविः कवितां सदसतीं यथा च लिखति स्फुटचित्रकरः ॥३५॥
सदपि दुरीहितं रहसिजं हि परस्य परैः सदसि निगद्यमानमघमावहतीति[3] सताम् ।
मतमिदमस्य तु प्रकटनं जगतामसतो न नरकपातहेतुरिति कस्य सतो वचनम् ॥३६॥
अवितथमित्यमी वितथमेव शठा कवयः स्वपरमहारयो विदधते विकथाकथनम् ।
परवधकापथेषु भुवि तेषु तथेति जनः सुर-रव-मूढधीः पतति गड्डरिकाकटवत् ॥३७॥
क्व परदयापरः परमधर्मपथो भुवने विधिवदनुष्ठितस्तनुभृतां सुखदः प्रकटः ।
क्व च परघातजो नरकहेतुरधर्मकलिः कुकविविकल्पितः खलकलौ खलु धर्मतया ॥३८॥
प्रकटितलोकपालचरिताः [4]खललोकभयात्तनुभृदनुग्रहं विदधतः परिरक्षणतः ।
समहिषमेषघातमधिदैवतमत्र नृपाः विदधति यत्र तत्र कुजनेषु तु कैव कथा ॥३९॥
कथमपि कार्यसिद्धिमुपलभ्य हि दैववशात्प्रतिनिधिदेवताकृतमिति प्रतिपद्य नरः ।
निजवपुरायुधैः सुविनिकृत्य ददद्रुधिरं परतनुकर्तने भवति या स कथं सघृणः ॥४०॥

चढ़ाना शुरू कर दी। इस बलिदानसे वहाँ मक्खियाँ और मच्छर उतराने लगे, वह स्थान आँखोंके लिए विषके समान दिखायी पड़ने लगा। तथा फैली हुई सड़ी बाससे वहाँकी दिशाएँ दुर्गन्धित हो गयीं ॥ ३२-३३ ॥ यद्यपि वह आर्यिका परम दयालु थी, निष्पाप थी और तपके प्रभावसे उत्तम गतिको प्राप्त हुई थी तथापि इस संसारमें मांसके लोभी नरकगामी मूर्ख जन भीलोंके द्वारा दिखलाये हुए मार्गसे चलकर उसी समयसे भैंसा आदि पशुओंको मारने लगे ॥३४॥ उत्तम देवगतिकी बात छोड़िए निकृष्ट देवगतिमें भी कोई देव भैंसाओंका रुधिर पान करनेवाले एवं हाथोंमें त्रिशूल धारण करनेवाले नहीं हैं और न उनमें परस्पर एक दूसरे का मारना ही है फिर भी कवि स्फुट चित्रकारके समान जरा-सी भित्तिका आधार पा सत्पुरुषोंको भी दूषण लगानेवाली कविता लिख डालते हैं ॥३५॥

दूसरेकी एकान्तमें होनेवाली सत्य कुचेष्टाका भी सभामें दूसरोंके द्वारा कहा जाना पाप बन्धका कारण है—यह सत्पुरुषोंका मत है। फिर किसीके अविद्यमान दोषको संसारके सामने प्रकट करना नरकगतिका कारण नहीं है यह किस सत्पुरुषका वचन है? अर्थात् किसीका नहीं ॥३६॥ स्व-परके महावैरी ये धूर्त कवि असत्यको सत्य है ऐसा बताकर विकथाओं का कथन करते हैं और 'ये देवताओंके वचन हैं' ऐसा समझ मूर्ख प्राणी पृथिवीपर, परका वध करना आदि कुमार्गोंमें भेड़िया-धसानके समान गिरते चले जाते हैं ॥३७॥ विधि-पूर्वक आराधना करनेपर प्राणियोंको सुख देनेवाला, परजीवोंकी दयामें तत्पर संसारमें प्रकट हुआ परम धर्मका मार्ग कहाँ? और दुष्ट कलिकालमें कुकवियोंके द्वारा धर्मरूपसे कल्पित, परघातसे उत्पन्न, नरकका कारण अधर्मकी कलह कहाँ? भावार्थ—धर्म और अधर्ममें महान् अन्तर है ॥३८॥ जिन्होंने लोकपालका चरित प्रकट किया है और जो दुष्टजनोंके भयसे रक्षा कर जीवोंपर सदा अनुग्रह करते हैं ऐसे राजा भी जहाँ इस संसारमें देवताओंको लक्ष्य कर भैंसा तथा मेष आदि जन्तुओंका घात करते हैं वहाँ अन्य क्षुद्र मनुष्योंकी तो कथा ही क्या है? ॥३९॥ भाग्यवश किसी तरह कार्यकी सिद्धिको पाकर 'यह प्रतिनिधिभूत देवताके द्वारा ही कार्य सिद्ध हुआ है' ऐसा मान जो मनुष्य शस्त्रोंसे अपने ही शरीरको चीर खूनकी बलि देने लगता है वह दूसरोंके शरीरके छेदनेमें दयासहित कैसे हो सकता है? भावार्थ—मनुष्य

१. निष्पापाम्। २. महिषाक्षपानवधिका म०। ३. -मावहतीहि म०। ४. खल्ल लोकभयात्तनु—म०।

विपुलसपर्यया प्रणतलोकसुतोषितया विगतविपर्ययस्वगुणया जगतीश्वर: ।
यदि हि वितीर्यते वरदया वरदेवतया न भवति कश्चिदप्यभिमतेन जनो विकलः ॥४१॥
प्रतिनिधिराश्रयश्च सकलस्य परस्य कृतिः प्रतिदिनदीपतैलबलिपुष्पविधिः परतः ।
अथ च वरं परस्य नियतं प्रददाति कृतं जडजनदेवता जगति हास्यमिदं परमम् ॥४२॥
प्रतिकृतिरर्चिता भुवि कृतार्थजिनाधिपतेरभिनतभक्तिभिर्द्रविणभावविधार्थनया[1] ।
फलति फलं परम परिणामविशेषवशादभिमतकल्पवृक्षलतिकेव जनाभिमतम् ॥४३॥
[2]अपथनिपातपातनघनानुमतैरशुभैस्त्रिभिरशुभास्रवो भवति दुर्गतिहेतुरलम् ।
पथि यतिभाषिते स्वकृतकारकतानुमतैर्भवति शुभास्रवः सुगतिहेतुरपीह शुभैः ॥४४॥
मनसि शुभे निजे वचसि वा वपुषि [3]प्रगुणे किमिति न पुण्यमेव जगदेकगतं कुरुते ।
घटयति पापमेव [4]विगुणैस्तु कृतैः करणैर्गुरुतरमत्र कारणमहो गुरुकर्मकृतम् ॥४५॥
तिमिरभरं त्रिमूढिमयमत्र दृढं जगतः स्थगयत्कुलं पवित्रनेत्रमनौषधकम् ।
तदिह जनो दिदृक्षुरपि तत्त्वमतत्त्वमपि प्रतिपदमाकुलः किमु निरूपयितुं क्षमते ॥४६॥

की कार्यसिद्धि तो अपने पूर्वकृत कर्मके अनुसार होती है परन्तु देवताकी प्रतिनिधि रूप मूर्तिकी उपासना करनेवाला मनुष्य उस सिद्धिको उस मूर्तिके द्वारा किया हुआ मानता है इसलिए प्रसन्न होकर शस्त्रोंसे ही अङ्गोंको छेदकर खूनकी बलि देने लगता है। जो अपने ही अङ्गोंको छेद डालता है उसे दूसरेके अङ्ग छेदनेमें दया कहाँ हो सकती है ? ॥४०॥ नम्रीभूत मनुष्योंने बहुत बड़ी पूजासे जिसे अच्छी तरह सन्तुष्ट कर लिया है और जिसका विद्वेषरूप विपरीत गुण दूर हो गया है ऐसी वर देनेवाली उत्कृष्ट देवीके द्वारा यदि संसारमें इष्ट वर दिया जाता है तो किसी भी मनुष्यको इष्ट सामग्रीसे रहित नहीं होना चाहिए। भावार्थ—जब सभी लोग पूजाके द्वारा देवताको सन्तुष्ट कर उससे इष्ट वरदान प्राप्त कर सकते हैं तब सभीको इष्ट वस्तुओंसे भरपूर होना चाहिए ॥४१॥ जिसकी मूर्ति और मन्दिरका निर्माण अन्य धनवान मनुष्यका कार्य है, तथा जिसकी प्रतिदिन काम आनेवाली दीप, तेल, बलि, पुष्प आदिकी विधि सदा दूसरोंसे पूर्ण होती है वह मूर्खजनोंकी देवता दूसरोंके लिए माँगा हुआ वरदान निश्चित रूपसे देती है यह संसारमें बड़ी हँसीकी बात है। भावार्थ—जो अपनी मूर्ति और मन्दिर स्वयं नहीं बना सकती तथा प्रतिदिन उपयोगमें आनेवाले दीपक, तेल, नैवेद्य और फूल आदिके लिए जिसे दूसरोंका मुँह देखना पड़ता है वह दूसरोंके लिए क्या वरदान देगी ? ॥४२॥ पृथिवीपर भक्तजनों द्वारा द्रव्य, भाव, पूजासे पूजी हुई कृतकृत्य जिनेन्द्र भगवानकी प्रतिमा, अपने-अपने विशिष्ट परिणामोंके अनुसार परभवमें इष्ट कल्पवृक्षकी लताके समान मनुष्योंके इष्ट मनोरथरूप फलको फलती है ॥४३॥ कुमार्गमें स्वयं प्रवृत्त होना, दूसरेको प्रवृत्त कराना और प्रवृत्त होते हुए को अनुमति देना इन तीन अशुभ प्रवृत्तियोंसे अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है जो कि दुर्गतिका मुख्य कारण है और मुनिराजके द्वारा बताये हुए मार्गमें स्वयं प्रवृत्त होना, दूसरेको प्रवृत्त कराना और प्रवृत्त होते हुए को अनुमति देना इन तीन शुभ प्रवृत्तियोंसे शुभ कर्मोंका आस्रव होता है जो कि सुगतिका मुख्य कारण है ॥४४॥ इस प्रकार जब अपने ही शुभ मन, शुभ वचन और शुभ कायसे पुण्यबन्ध होता है और वे शुभ मन आदि अपने अधीन हैं तब संसारके समस्त प्राणी एक पुण्य कर्मको ही क्यों नहीं करते ? किन्तु उसके विपरीत किये हुए निरर्थक कार्योंसे पाप ही क्यों करते हैं ? अहो ! जान पड़ता है कि इसमें पूर्वबद्ध बहुत भारी कर्मोंके द्वारा किया हुआ बहुत बड़ा कारण है ॥४५॥ अहो !

१. विधार्यतया म०, विधार्थनया ग०। २. अपथनिपातनिपातन–म०, ग०। ३. प्रगुणो म०। ४. विगुणैः सुकृतैः म०।

अतिनिचिताग्निवायुजलभूमिलतातरुभिः क्षितिरपचेतनैश्च गृहकल्पितदैवतकैः।
रविविधुतारकाग्रहगणैर्जननेत्रपथैर्गगनमतोऽस्तु मूढिरिह कस्य जनस्य न वा ॥४७॥
सदसदनेकमेकमथ नित्यमनित्यमपि स्वकपररूपभेदमपि शेषमशेषपरम्।
गुणगुणिकार्यकारणभिदाद्यखिलात्मतया जगदिदमित्यमी नियमिनो हतमूढतया ॥४८॥
यदि च परस्परव्युदसनव्यसनाः स्युर्मृषा स्फुटमितरेतरेक्षणतया नमृषा हि तथा।
निगमनसंग्रहव्यवहृतिप्रमुखाश्च नयाः सकलनयप्रमाणपरिनिश्चितवस्तुनि याः ॥४९॥
[1]पुरुषपुरस्सरेऽभिरुचिरन्यनिवृत्तिरुचेर्मुनिपति[2]शासनाभिनिरतस्य जनस्य हि सा।
सुगतिमयत्नतो विशति सिद्धिसुखा[3]न्वयिनीं शुभमखिलार्थगोचरमुदारचरित्रमपि ॥५०॥
व्रतगुणशीलराशिरतिघोरतपो विविधं विमलमिदं यतो भवति दर्शनशुद्धियुतम्।
[4]जननजरामृतिक्षयकरीं सुखदां भुवि तां भजतु जनस्ततो जिनगुणग्रहणाभिरतः ॥५१॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ दुर्गोत्पत्तिवर्णनो नामैकोनपञ्चाशः सर्गः ॥४९॥

देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता इन तीन मूढ़ताओंरूप अन्धकारका समूह बहुत प्रबल है, वह जगत्‌के जीवोंके पवित्र नेत्रको अच्छी तरह आच्छादित कर रहा है और इसकी कोई ओषधि भी नहीं है इसी अन्धकारके कारण देखनेका इच्छुक मनुष्य भी पद-पदपर आकुल होता हुआ तत्त्व और अतत्त्वको देखनेमें क्या समर्थ हो पाता है? अर्थात् नहीं हो पाता ॥४६॥ यह पृथिवी अग्नि, वायु, जल, भूमि, लता और वृक्षोंसे तथा मन्दिरोंमें कल्पित अचेतन देवोंसे व्याप्त है और आकाश मनुष्योंके नेत्रगोचर सूर्य, चन्द्र, तारा तथा ग्रहोंके समूहसे व्याप्त है इसलिए इनके विषयमें किसे मूढ़ता नहीं होगी? भावार्थ—पृथिवी और आकाश कल्पित देवताओंसे भरे हुए हैं इसलिए विवेकसे विचारकर यथार्थ देवका निर्णय करना चाहिए ॥४७॥ यह संसार कथञ्चित् सत् है, कथञ्चित् असत् है, कथञ्चित् एक है, कथञ्चित् अनेक है, कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित् अनित्य है, कथञ्चित् स्वरूप है, कथञ्चित् पररूप है, कथञ्चित् सान्त है, कथञ्चित् अनन्त है, और गुण-गुणी तथा कार्य-कारणके भेदसे अनेक रूप है फिर भी ये संसारके प्राणी गाढ़ मूढ़ताके कारण एकान्तवादमें निमग्न हैं ॥४८॥ समस्त नयों और प्रमाणोंके द्वारा निश्चित वस्तुके विषयमें जो नैगम, संग्रह तथा व्यवहार आदि प्रमुख नय माने गये हैं वे यदि परस्परमें एक दूसरेका निषेध करते हैं तो मिथ्या हैं और परस्पर एक दूसरेपर दृष्टि रखते हैं तो समीचीन हैं ॥४९॥ अन्य देवताओंकी रुचिसे रहित एवं जिनेन्द्र भगवान्‌के शासनमें निरत मनुष्यकी जो जीव आदि तत्त्वोंमें अगाढ़ श्रद्धा है उसकी वही श्रद्धा बिना किसी प्रयत्नके मोक्ष-सुखसे सम्बन्ध जोड़नेवाली सुगति अथवा सम्यग्ज्ञानको और शुभ एवं समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले उत्कृष्ट चारित्रको भी प्राप्त होती है। भावार्थ—मनुष्य की श्रद्धारूप परिणति ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिका कारण है ॥५०॥ यह व्रत गुण और शीलकी राशि तथा नना प्रकारका अत्यन्त घोर तप चूँकि दर्शनकी शुद्धिसे युक्त होनेपर ही निर्मल होता है इसलिए जिनेन्द्र भगवान्‌के गुण-ग्रहण करनेमें तत्पर मनुष्यको चाहिए कि वह जन्म, बुढ़ापा और मृत्युका क्षय करनेवाली एवं सुखदायी दर्शनकी शुद्धिका आराधन करे—अपने सम्यग्दर्शनको निर्मल बनावे ॥५१॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंश पुराणमें दुर्गाकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला उनचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥४९॥

१. पुरुषपुरस्सरोऽभि म० । २. मुनिपतिशासनाशासनाभिरतस्य म० । ३. सिद्धिसुखान्वयिनं म०, क० । ४. भवपारमपारमनन्तं यियासु च चेन्मनः म०, ङ० । अस्मिन् पाठे छन्दोभङ्गः अनन्तपदस्य वैयर्थ्यं च वर्तते ।

पञ्चाशत्तमः सर्गः

इतः [1]केनापि वणिजा ह्यनर्घ्यैर्मणिराशिभिः । जरासन्धो नृपो दृष्टः [2]स्वक्रयाणकहेतुना ॥१॥
दृष्ट्वा कस्मात्समानीताः प्रोवाच मगधेश्वरः । [3]द्वारवत्याः प्रभो पुरे यत्र राजाऽच्युतो बली ॥२॥
यादवेन्द्रशिवादेव्योर्नेमिस्तीर्थंकरोऽभवत् । मासान् पञ्चदश तत्र रत्नवृष्टिः कृता सुरैः ॥३॥
यादवानां च माहात्म्यं श्रुत्वा राजगृहाधिपः । वणिजः तार्किकेभ्यश्च जातः कोपारुणेक्षणः[4] ॥४॥
यदुवृद्धिमिति श्रुत्वा श्रुतवृद्धिविलोचनम् । प्रणम्य गणिनं भूपः श्रेणिकोऽपृच्छदित्यसौ ॥५॥
मणिराशिष्विवाम्भोधौ महागुणमरीचिषु । प्रख्यातेष्वखिले लोके यादवेष्वतिभूरिषु ॥६॥
अनेकाहवनिर्व्यूढदृढवीर्ये हरौ श्रुते । किमचेष्टत राजासौ [5]भगवन्मगधाधिपः ॥७॥
ततो गणभृदाचख्यावनयोर्नरमुख्ययोः । वृत्तं श्रेणिकभूपाय शुश्रूषावहितात्मने ॥८॥
श्रुतवार्तो जरासन्धः सन्धिं प्रति पराङ्मुखः । प्रमुख्यैर्मन्त्रिभिः सत्रा मन्त्रमारभते स्म[6] सः ॥९॥
उपेक्षिताः कुतो हेतो मन्त्रिणो [7]भणतारयः । वार्धौ प्रवृद्धसन्तानास्तरङ्गा इव भङ्गुराः ॥१०॥
मन्त्रिणो हि प्रभोश्चक्षुर्निर्मलं चारचक्षुषः । ते कथं स्वामिनं स्वं च वञ्चयन्ति पुरः स्थिताः ॥११॥
यदि नाम महैश्वर्यप्रमत्तेन [8]मया द्विषः । नालक्ष्यन्त प्रसन्त्वाना युष्माभिस्तु कथं तु ते ॥१२॥
नोच्छिद्येरन्महोद्योगैर्जातमात्रा यदि द्विषः । दुःखयन्ति दुरन्तास्ते व्याधयः कुपिता इव ॥१३॥

इधर कोई एक वणिक् अपना खरीदा हुआ माल बेचनेके लिए बहुत-से अमूल्य मणि लेकर राजा जरासन्धसे मिला ॥१॥ उन मणियोंको देखकर राजा जरासन्धने उससे पूछा कि ये मणि तुम कहाँ से लाये हो ? इसके उत्तरमें वणिक्ने कहा कि हे स्वामिन् ! ये मणि उस द्वारिकापुरीसे आये हैं जहाँ अत्यन्त पराक्रमी राजा कृष्ण रहते हैं ॥२॥ यादवोंके स्वामी कृष्ण समुद्रविजय और उनकी रानी शिवा देवीके जब नेमिनाथ तीर्थंकर उत्पन्न हुए थे तब पन्द्रह मास तक देवोंने रत्न-वृष्टि की थी ॥३॥ उन्हीं रत्नोंमें-से ये रत्न लाया हूँ । वणिक् तथा मन्त्रियोंसे इस प्रकार यादवोंका माहात्म्य सुनकर जरासन्ध क्रोधसे लाल-लाल नेत्रोंका धारक हो गया ॥४॥ इस प्रकार यादवोंकी वृद्धि सुनकर राजा श्रेणिकने श्रुतज्ञान रूपी नेत्रके धारक गौतम गणधरको नमस्कार कर पूछा कि हे भगवन् ! महागुण रूपी किरणोंसे सुशोभित, समुद्रमें मणियोंकी राशिके समान समस्त लोकमें प्रख्यात अत्यधिक यादवोंमें जब जरासन्धने अनेक युद्धोंमें जिनका दृढ़ पराक्रम परिपूर्णताको प्राप्त हो चुका था ऐसे कृष्णका नाम सुना तब उसकी क्या चेष्टा हुई ? सो कृपा कर कहिए ॥५-७॥

तदनन्तर गौतम गणधर, श्रवण करनेके लिए उत्सुक राजा श्रेणिकके लिए दोनों नर-श्रेष्ठ—जरासन्ध और कृष्णका चरित इस प्रकार कहने लगे—॥८॥

यादवोंका समाचार जानकर जरासन्ध सन्धिसे विमुख हो गया और मुख्य मन्त्रियोंके साथ मन्त्र करने लगा ॥९॥ उसने पूछा कि हे मन्त्रियो ! बताओ तो सही समुद्रमें बढ़ती हुई तरङ्गोंके समान भंगुर शत्रु आजतक उपेक्षित कैसे रहे आये ? ॥९-१०॥ गुप्तचर रूपी नेत्रोंसे युक्त राजाके मन्त्री ही निर्मल चक्षु हैं फिर वे सामने खड़े रहकर स्वामीको तथा अपने-आपको क्यों धोखा देते हैं ? ॥११॥ यदि महान् ऐश्वर्यमें मत्त रहनेवाले मैंने उन शत्रुओंको नहीं देखा तो आप लोगोंसे अदृष्ट कैसे रह गये ? आप लोगोंने उन्हें क्यों नहीं देखा ? ॥१२॥ यदि शत्रु उत्पन्न होते ही महान् प्रयत्नपूर्वक नष्ट नहीं किये जाते हैं तो वे कोपको प्राप्त

१. केनचिद्वणिजा अनर्घ्ये०, म०, ख०, घ० । २. स्वक्रियाणक—म० । ३. 'नारायणः द्वर्मा शास्ति द्वारावत्याः प्रभो बली' म० । ४. कोपारुणो दृशोः ग० । ५. भगवान्मगधाधिपः । ६. -मारभ्यते स्म सः म० । ७. भरतारयः म० । ८. महाद्विषः म० ।

कंसं जामातरं हत्वा भ्रातरं चापराजितम् । प्रविष्टाः शरणं दुष्टा यादवा यादसांपतिम्[1] ॥१४॥
यद्यप्यनवगाह्याब्धिगम्भीरोदरमाश्रिताः । उपायानायभिःकृष्टा वध्यास्ते मे झषा यथा ॥१५॥
[2]द्वारिकामधितिष्ठन्तः संतिष्ठन्ते कुतोऽभयाः । तावदेव हि ते यावन्न मे कोपानलो ज्वलेत् ॥१६॥
इयन्तं कालमज्ञाता ज्ञातिभिः सह सुस्थिताः । ज्ञातानामधुना तेषां सुस्थितिर्मद्द्विषां कुतः ॥१७॥
साम्नश्चोपप्रदानस्य न ते स्थानं कृतागसः । ततो युष्माभिरेकान्तात्स्थाप्यतां भेददण्डयोः ॥१८॥
दण्डोपायप्रधानं तं स्वामिनं मन्त्रिणस्ततः[3] । प्रशाम्य प्रणताः प्रोचुः प्रसादपदवीस्थिताः ॥१९॥
आकर्ण्यतां यथा नाथ विदन्तोऽपि वयं द्विषाम् । द्वारिकायां [4]महावृद्धिं कालयापनया स्थिताः ॥२०॥
यादवान्वयसंभूताः स्वर्भुवामपि [5]दुर्जयाः । श्रीनेमिर्वासुदेवश्च बलदेवश्च ते त्रयः ॥२१॥
स्वर्गावतारकाले यः पूजितो वसुवृष्टिभिः । सुरेन्द्रैरभिषिक्तश्च जिनो जन्मनि [6]मन्दरे ॥२२॥
स कथं युधि जीयेत भवतामररक्षितः । युक्तेनापि समस्तेन राजकेन भुवस्तले ॥२३॥
बलकेशवयोश्चापि सामर्थ्यं भवता न किम् । तच्छ्रुतं बहुयुद्धेषु शिशुपालवधादिषु ॥२४॥
यत्पक्षाः पाण्डवाश्चण्डाः प्रतापार्जितकीर्तयः । विद्याधराश्च बहवो वैवाहिकपथस्थिताः ॥२५॥
कोट्यो यत्र कुमाराणां प्रसिद्धा रणशालिनाम् । स्वामिन्नर्धचतुर्थास्ते जीयन्ते यादवाः कथम् ॥२६॥
अन्तस्थानल्पवर्गा पश्युस्तान् कदाचिदपेक्षया । मज्जीता इति मामंस्था नयमार्गविदो यदून् ॥२७॥

हुई बीमारियोंके समान दुःख देते हैं और उनका अन्त अच्छा नहीं होता ॥१३॥ ये दुष्ट यादव मेरे जमाई कंस और भाई अपराजितको मारकर समुद्रकी शरणमें प्रविष्ट हुए हैं ॥१४॥ यद्यपि वे प्रवेश करनेके अयोग्य समुद्रके मध्यभागमें स्थित हैं तथापि उपाय रूपी जलसे खींचकर मछलियोंके समान मेरे वध्य हैं ॥१५॥ द्वारिकामें रहते हुए वे निर्भय क्यों हैं ? अथवा वे तभीतक निर्भय रह सकते हैं जबतक कि मेरी क्रोधाग्नि प्रज्वलित नहीं हुई है ॥१६॥ इतने समयतक मुझे उनका पता नहीं था इसलिए अपने कुटुम्बीजनोंके साथ वे सुखसे रहे आये पर अब मुझे पता चल गया है इसलिए उनका सुख-पूर्वक रहना कैसे हो सकता है ? ॥१७॥ तीव्र अपराध करनेवाले वे साम और दानके स्थान नहीं हैं इसलिए आपलोग एकान्तरूपसे उन्हें भेद और दण्डके ही पक्षमें रखिए ॥१८॥

तदनन्तर प्रधान रूपसे दण्डको ही उपाय समझनेवाले स्वामी जरासन्धको शान्त कर प्रसादके मार्गमें स्थित मन्त्रियोंने नम्रीभूत हो कहा कि हे नाथ ! हमलोग शत्रुओंकी द्वारिकामें होनेवाली महा वृद्धिको जानते हुए भी समय व्यतीत करते रहे इसका कारण सुनिए ॥१९-२०॥ यादवोंके वंशमें उत्पन्न हुए श्री नेमिनाथ तीर्थंकर श्री कृष्ण और बलदेव ये तीन महानुभाव इतने बलवान् हैं कि मनुष्योंकी तो बात ही क्या देवोंके लिए भी उनका जीतना कठिन है ॥२१॥ स्वर्गावतारके समय जो रत्नोंकी वृष्टिसे पूजित हुआ था, जन्मके समय इन्द्रोंने सुमेरु पर्वतपर जिसका अभिषेक किया था और देव जिसकी सदा रक्षा करते हैं वह नेमि जिनेन्द्र युद्धमें आपके द्वारा कैसे जीता जा सकता है अथवा पृथिवी तलके समस्त राजा भी इकट्ठे होकर उसे कैसे जीत सकते हैं ? ॥२२-२३॥ शिशुपालके वधको आदि लेकर जो अनेक युद्ध हुए उनमें क्या आपने बलदेव और कृष्णकी उस लोकोत्तर सामर्थ्यको नहीं सुना ? ॥२४॥ प्रतापसे कीर्तिको उपार्जित करनेवाले महातेजस्वी पाण्डव तथा विवाह सम्बन्धसे अनुकूलता दिखलानेवाले अनेक विद्याधर इस समय जिनके पक्षमें हैं ॥२५॥ और जिनके साढ़े तीन करोड़ कुमार रणविद्यामें कुशल हैं वे यादव कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥२६॥ नय मार्गके जानकार

---

१. प्रति म० । २. द्वारिकामधि तिष्ठन्तः म०, ग० । ३. मन्त्रिणस्तथा म० । ४. महावृद्धिः म० । ५. दुर्जयां म० । ६. मन्दिरे म० । मन्दरे = मेरौ ।

दैवकालबलोपेता देवताकृतरक्षणाः । सुप्तव्याघ्रोपमा देव ! तावत्तिष्ठन्तु यादवाः ॥२८॥
आस्महे वयमप्यत्र कालयापनया प्रभो ! । स्वाज्ञ स्वपरकालानां याप्यावस्था हि शस्यते ॥२९॥
अस्यामवस्थयाऽऽसीने त्वयि तेषां प्रकोपिनाम् । द्विषां प्रतिविधानाय प्रतिपद्यस्व पौरुषम् ॥३०॥
इत्यादि मन्त्रिभिः पथ्यं तथ्यं विज्ञापितं प्रभुः । नाग्रहीत्क्षयकाले हि ग्राही ग्राहं न मुञ्चति ॥३१॥
सचिवानपकर्ण्याशु प्रकोपाय नृपो द्विषाम् । दूतं सोऽजितसेनाख्यं प्राहिणोद्द्वारिकां पुरीम् ॥३२॥
स प्राच्यानां प्रतीच्यानामपाच्यानां च भूभृताम् । उदीच्यानामगस्थानां मध्यदेशाधिवासिनाम् ॥३३॥
चतुरङ्गबलेशानां शासनानतिलङ्घिनाम् । दूतानजीगमत्क्षिप्रमायान्त्विति पराक्रमी ॥३४॥
दूतदर्शनमात्रेण कर्णदुर्योधनादयः । ते संप्राप्ता जरासन्धं सत्यसन्धाहितैषिणः ॥३५॥
नृपैस्तैरनुयातोऽसौ तनयाद्यैर्महाबलैः । निमित्तैर्वार्यमाणोऽपि प्रतस्थेऽरिजिगीषया ॥३६॥
स दूतोऽजितसेनोऽपि स्वामिकार्यहितः पुरीम् । सुद्वारां द्वारिकां प्राप सुकृतीव दिवं कृती ॥३७॥
प्रविश्य नगरीं रम्यामनेकाद्भुतसङ्कुलाम् । दृश्यमानो जनैः पौरैराससाद नृपालयम् ॥३८॥
अशेषयादवाकीर्णां भोजपाण्डवसंयुताम् । सभां स प्राविशद्विष्णोः प्रतीहारनिवेदितः ॥३९॥
कृतप्रणतिरध्यास्य दापितासनमग्रतः । वक्तुं प्रारभत स्वामिबललाभावलेपतः ॥४०॥
आकर्ण्यतां समाधाय मनः सकलयादवैः । यथा शास्ति महाराजो मागधः परमेश्वरः ॥४१॥

यदु किसी समय किसी अपेक्षा समुद्रके मध्य जाकर रहे थे। वे 'हमसे भयभीत हैं' ऐसा मत समझिए ।।२७।। इसलिए हे देव ! जो दैव और कालके बलसे सहित हैं, देव जिनकी रक्षा करते हैं और जो सोते हुए सिंहके समान हैं ऐसे यादव उधर द्वारिकामें सुखसे रहें और इधर हम लोग भी समय व्यतीत करते हुए सुखसे रहें क्योंकि हे उत्तम आज्ञाके धारक ! प्रभो ! जिसमें अपना और परका समय सुखसे व्यतीत हो वही अवस्था प्रशंसनीय कही जाती है ।।२८–२९।। आपके इस अवस्थासे रहनेपर भी यदि वे क्रोध करते हैं तो उनका प्रतिकार करनेके लिए पुरुषार्थको स्वीकृत करो ।।३०।। इसे आदि लेकर मन्त्रियोंने यद्यपि हितकारी एवं सत्य निवेदन किया तथापि जरासन्धने उसे कुछ भी ग्रहण नहीं किया सो ठीक ही है क्योंकि विनाशके समय हठी मनुष्य अपना हठ नहीं छोड़ता ।।३१।।

राजा जरासन्धने मन्त्रियोंको अनसुना कर शत्रुओंको शीघ्र ही कुपित करनेके लिए अजितसेन नामक दूतको द्वारिकापुरी भेजा ।।३२।। पराक्रमी राजा जरासन्धने चतुरङ्ग सेनाओंके स्वामी, एवं आज्ञाका उल्लङ्घन न करनेवाले पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं, पर्वतों एवं मध्यदेशके निवासी राजाओंको 'आप लोग जल्दी आइए' यह कहकर दूत भेजे ।।३३–३४।। दूतको देखते ही सत्यप्रतिज्ञ एवं हितको चाहनेवाले कर्ण, दुर्योधन आदि राजा, जरासन्धके पास आ पहुँचे ।।३५।। उक्त राजा तथा महाबलवान् पुत्र आदि कुटुम्बीजन जिसके पीछे-पीछे चल रहे थे ऐसा जरासन्ध, खोटे निमित्तोंसे रोके जानेपर भी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छासे चल पड़ा ।।३६।।

उधर जिस प्रकार पुण्य कार्य करनेवाला कुशल मनुष्य स्वर्ग जा पहुँचता है उसी प्रकार स्वामीके कार्यमें लगा हुआ अजितसेन दूत भी उत्तमोत्तम द्वारोंसे युक्त द्वारिका नगरीमें जा पहुँचा ।।३७।। अनेक आश्चर्यकारी रचनाओंसे व्याप्त सुन्दर द्वारिकापुरीमें प्रवेशकर नगरवासी-जनोंके द्वारा देखा गया वह दूत क्रम-क्रमसे राजमहलमें पहुँचा ।।३८।। द्वारपालके द्वारा सूचना देनेपर उसने समस्त यादवोंसे व्याप्त एवं भोज और पाण्डवोंसे युक्त श्री कृष्णकी सभा में प्रवेश किया ।।३९।। प्रणाम करनेके बाद आगे दिलाये हुए आसनपर बैठकर उसने स्वामी के बलकी प्राप्तिसे उत्पन्न घमण्डसे इस प्रकार बोलना शुरू किया ।।४०।।

वह बोला कि राजाधिराज महाराज जरासन्ध जो आज्ञा देते हैं उसे समस्त यादव

यूयमेव स्फुटं ब्रूत किमनिष्टं कृतं मया । युष्माकं येन साशङ्काः प्रविष्टाः सागरोदरम् ॥४२॥
सापराधतया यूयं यद्यप्युद्भूतभीतयः । दुर्गं श्रितास्तथाप्यस्मद्भयं नमतैत्य माम् ॥४३॥
अथ दुर्गबलाद्यूयं तिष्ठतानतिवर्जिताः । एषोऽहं सागरं पीत्वा बलैः कुर्वे कदर्थनाम् ॥४४॥
अज्ञातावस्थितीनां च कालदेशबलं बलम् । अधुना ज्ञातवार्तानां कालदेशबलं कुतः ॥४५॥
वचोहरवचः श्रुत्वा कुपिता निखिला नृपाः । कृष्णादयो जगुस्तत्र भृकुटीकुटिलाननाः ॥४६॥
आयात्वासन्नकालोऽसौ समस्तबलसंयुतः । रणातिथ्यं ददामोऽस्मै सङ्ग्रामोत्कण्ठिता वयम् ॥४७॥
इत्युक्त्वा स विसृष्टस्तै रूक्षवाग्वज्रताडितः । गत्वा स्वस्वामिने [1]पूर्वं निवेद्य कृतितां गतः ॥४८॥
विमलामलशार्दूलाः समुद्रविजयं ततः । मन्त्रिणो मन्त्रनिपुणाः संमन्त्र्येति व्यजिज्ञपन् ॥४९॥
शान्तये साम लोकस्य [2]स्यात्स्वपक्षविपक्षयोः । मागधेन समं साम तस्माद्राजन् प्रयुञ्ज्महे ॥५०॥
ज्ञातिवर्गः समस्तोऽयं कुमारनिकरादिकः । अपायबहुले युद्धे संशयः कुशलं प्रति ॥५१॥
सन्ति योधा यथाऽस्माकममोघशरवर्षिणः । साधनो मागधस्यापि तथैव भुवि विश्रुतः ॥५२॥
तदेकस्यापि हि ज्ञातेरपायो रणमूर्धनि । यथा शत्रोस्तथास्माकमतिदुःखकरो भवेत् ॥५३॥
अतो विश्वजनीनार्थं साम तावत्प्रशस्यते । तदर्थं प्रेष्यतां दूतो [3]मागधान्तिकमस्मयात् ॥५४॥

मन स्थिर कर सुनें ॥४१॥ उनका कहना है कि आप ही लोग स्पष्ट बताओ कि मैंने आपका क्या अनिष्ट किया है ? जिससे कि भयभीत हो आप लोग समुद्रके मध्यमें जा बसे हो ॥४२॥ यद्यपि अपराधी होनेके कारण भयभीत हो तुम लोगोंने दुर्गका आश्रय लिया है तथापि मुझसे तुम्हें भय नहीं है तुम लोग आकर मुझे नमस्कार करो ॥ ४३ ॥ यदि दुर्गका बल पा तुम लोग बिना नमस्कार किये यहाँ रहोगे तो यह मैं समुद्रको पीकर सेनाओंके द्वारा तुम्हारी अभी हाल दुर्दशा कर दूँगा ॥४४॥ जबतक तुम्हारे यहाँ रहनेका पता नहीं था तभी तक तुम्हें काल और देशका बल, बल था पर आज पता चल जानेपर काल और देशका बल कैसे रह सकता है ? ॥४५॥

दूतके उक्त वचन सुनकर कृष्ण आदि समस्त राजा कुपित हो उठे और भौंहोंसे मुखको कुटिल करते हुए कहने लगे कि जिसकी मृत्यु निकट आ पहुँची है ऐसा तुम्हारा राजा समस्त सेनाओंके साथ आ रहा है सो युद्धके द्वारा हम उसका सत्कार करेंगे। हम लोग संग्रामके लिए उत्कण्ठित हैं ॥४६–४७॥ इस प्रकार कहकर यादवोंने दूतको विदा किया। वह उनके रूक्ष वचनरूपी वज्रसे ताडित होता हुआ द्वारिकासे चलकर अपने स्वामीके पास गया और सब समाचार कहकर कृतकृत्यताको प्राप्त हुआ ॥४८॥ तदनन्तर दूतके चले जानेपर मन्त्र करनेमें निपुण विमल, अमल और शार्दूल नामक मन्त्रियोंने सलाहकर राजा समुद्रविजयसे इस प्रकार निवेदन किया ॥४९॥

हे राजन् ! क्योंकि साम, स्वपक्ष और परपक्षके लोगोंको शान्तिका कारण होगा इस-लिए हम लोग जरासन्धके साथ सामका ही प्रयोग करें। यह जो कुमारोंका समूह आदि है वह सब स्वजनोंका समूह है। अपायबहुल युद्धमें इन सबकी कुशलताके प्रति सन्देह है ॥५०–५१॥ जिस प्रकार हमारी सेनामें अमोघ बाणोंकी वर्षा करनेवाले योद्धा हैं उसी प्रकार जरासन्धकी सेना भी पृथिवीमें प्रसिद्ध है ॥ ५२ ॥ युद्धके अग्रभागमें यदि एक भी स्वजन की मृत्यु हो जायेगी तो वह जिस प्रकार शत्रुके लिए दुःखका कारण होगी उसी प्रकार हमारे लिए भी दुःखका कारण हो सकती है ॥ ५३ ॥ इसलिए सबकी भलाईके लिए साम ही प्रशंस-नीय उपाय है। अतः अहङ्कारको छोड़कर साम–शान्तिके लिए जरासन्धके पास दूत भेजा

१. पूर्वी म० । २. दण्डस्य म० । ३. माधवान्तिक-म० ।

मागधः शाम्यमानोऽपि साम्ना यदि न शाम्यति । तदा तदुचितं कुर्मः को दोषः सामयोजने ॥५५॥
इति मन्त्रिभिरामन्त्र्य राजा विज्ञापितस्तदा । को दोष इति संमन्त्र्य लोहजङ्घमजीगमत् ॥५६॥
स दक्षः शौर्यसंपन्नः कुमारो नीतिलोचनः । जगाम निजसैन्येन जरासन्धेन सन्धये ॥५७॥
पूर्वमालवमासाद्य कृतसैन्यनिवेशनः । प्राप्तौ कान्तारभिक्षार्थं कान्तारे सार्थयोगिनौ ॥५८॥
मासोपवासिनौ दृष्ट्वा तिलकानन्दनन्दकौ । प्रतिगृह्यान्नपानाद्यैः पञ्चाश्चर्याणि लब्धवान् ॥५९॥
तीर्थं देवावताराख्यं ततः प्रभृति भूतले । भूतं भूतसहस्राणां पापोपशमकारणम् ॥६०॥
दूतो गत्वा जरासन्धं सन्धानं प्रत्यसम्मुखम् । प्रत्यबोधयदेकान्ते प्रतिबोधनपण्डितः ॥६१॥
लोहजङ्घवचोऽत्यन्तप्रसन्नः प्रतिपन्नवान् । स सन्धानं जरासन्धः षण्मासावधिकं ततः ॥६२॥
दूतः पूजां नृपात्प्राप्य स प्राप्य द्वारिकां ततः । समुद्रविजयाद्यर्थं निवेद्य स्थितवान् कृती ॥६३॥
साम्नैव ततो वर्षे सामग्रीप्रत्यपेक्षया । पूर्णे पूर्णमहासन्धो[1] महासामन्तसन्ततिः[2] ॥६४॥
जरासन्धोऽत्र संप्राप्तः सैन्यसागररुद्धदिक् । कुरुक्षेत्रं महाक्षत्रप्रधानप्रधनोचितम् ॥६५॥
पूर्वमभ्येत्य तत्रैव केशवोऽपरसागरः । तस्थावापूर्यमाणः सन् वाहिनीनिवहैर्निजैः ॥६६॥
तत्रापाच्या नृपाः केचिदुदीच्याश्चापरान्तिकाः । संबन्धिनः सृता विष्णुं सकलैः स्वबलैर्युताः ॥६७॥

जाये ॥ ५४ ॥ हाँ, सामके द्वारा शान्त करनेपर भी यदि जरासन्ध शान्त नहीं होता है तो हम लोग फिर उसके अनुरूप कार्य करेंगे। इस प्रकार साम उपायके अवलम्बन करनेमें क्या दोष है ? ॥ ५५ ॥

इस प्रकार मन्त्रकर मन्त्रियोंने जब राजा समुद्रविजयसे कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'क्या दोष है ?' दूत भेजा जाये। इस प्रकार सलाह कर उन्होंने लोहजङ्घ कुमारको भिजवा दिया ॥५६॥ कुमार लोहजङ्घ बहुत ही चतुर, शूर-वीर और नीतिरूपी नेत्रका धारक था। वह अपनी सेना ले जरासन्धके साथ सन्धि करनेके लिए चला ॥५७॥ पूर्वमालव देशमें पहुँचकर उसने वहाँके वनमें अपनी सेनाका पड़ाव डाला, वहाँ साथ-साथ बिचरनेवाले तिलकानन्द और नन्दन नामक दो मुनिराज आये। वे दोनों मुनि मासोपवासी थे और 'वनमें आहार मिलेगा तो लेंगे अन्यथा नहीं' यह नियम ले वनमें विहार कर रहे थे। उन्हें देख कुमार लोहजङ्घने उन्हें पड़गाह कर आहार दिया और उसके फलस्वरूप पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ॥५८–५९॥ उसी समयसे वह स्थान पृथिवीतलपर 'देवावतार' नामक तीर्थ बन गया और हजारों प्राणियोंके पाप शान्त होनेका कारण हो गया ॥६०॥

जरासन्ध यद्यपि सन्धि करनेके पक्षमें नहीं था तथापि समझानेमें चतुर दूत लोहजङ्घने जाकर उसे एकान्तमें समझाया ॥६१॥ लोहजङ्घके वचनोंसे जरासन्ध बहुत प्रसन्न हुआ और उसने छह माह तकके लिए सन्धि स्वीकृत कर ली ॥६२॥ तदनन्तर राजा जरासन्धसे सम्मान प्राप्तकर लोहजङ्घ द्वारिका वापस लौट आया और समुद्रविजय आदिके लिए सब समाचार सुनाकर कृतकृत्य हो सुखसे रहने लगा ॥६३॥ तदनन्तर युद्धकी तैयारीका ध्यान रख यादवोंने एक वर्ष शान्तिसे व्यतीत किया। इस प्रकार एक वर्ष पूर्ण हो जानेपर महाप्रतिज्ञाको पूर्ण करनेवाला जरासन्ध बड़े-बड़े सामन्तोंके समूहसे युक्त तथा सेनारूपी सागरसे दिशाओंको व्याप्त करता हुआ बड़े-बड़े राजाओंके युद्धके योग्य कुरुक्षेत्रके मैदानमें आ पहुँचा ॥६४–६५॥ अपनी सेनारूपी नदियोंके समूहसे भरे हुए कृष्णरूपी दूसरे सागर भी पहले ही आकर वहाँ आ जमे थे ॥६६॥ उस समय कृष्णके सम्बन्धी कितने ही दक्षिण-उत्तर और पश्चिमके राजा अपनी-अपनी समस्त सेनाओंके साथ आकर कृष्णसे आ मिले ॥ ६७ ॥

१. पूर्णमहासन्धौ म० । २. महासामन्तसन्नतिः म० ।

दशार्हाः सान्त्वना भोजाः पाण्डवाश्चापि बान्धवाः। अन्ये च नृपशार्दूलाः प्रसिद्धा हरये हिताः॥६८॥
अक्षौहिणीपतिस्तत्र समुद्रविजयो नृपः। उग्रसेनोऽग्रणीः पुंसां तथैवाक्षौहिणीप्रभुः॥६९॥
मेरुरक्षौहिणीस्वामी श्रीमानिक्ष्वाकुवंशजः। अक्षौहिण्यर्धनाथस्तु राष्ट्रवर्धनभूपतिः॥७०॥
तथार्धाक्षौहिणीनाथः सिंहलानामधीश्वरः। राजा पद्मरथश्चापि तत्समानबलो बली॥७१॥
दायादः शकुनेर्वीरश्चारुदत्तः पराक्रमी। अक्षौहिणीचतुर्थांशपतिः कृष्णहितेरितः॥७२॥
बर्बरा यमनाभीराः काम्बोजा द्रविडा नृपाः। अन्ये च बहवः शूराः शौरिपक्षमुपाश्रिताः॥७३॥
अक्षौहिण्यो बहुगुणा[1] जरासन्धमुपागताः। चक्ररत्नप्रभावेण वशीकृतभारतम्॥७४॥
अक्षौहिणीप्रमाणं तु सप्रमाणमुदीरितम्। वाजिवारणपत्तीनां रथानां गणनायुतम्॥७५॥
नवहस्तिसहस्राणि नवलक्षा रथा मताः। नव कोट्यस्तुरङ्गास्तु शतकोट्यो नरा नव॥७६॥[2]
यदुष्वतिरथो नेमिस्तथैव बलकेशवौ। अतिक्रम्य स्थितान् सर्वान् भारतेऽतिरथांस्तु ते॥७७॥
समुद्रविजयो राजा वसुदेवो युधिष्ठिरः। भीमकर्णार्जुना रुक्मी रौक्मणेयश्च सत्यकः॥७८॥
धृष्टद्युम्नोऽप्यनावृष्टिः शल्यो भूरिश्रवा नृपः। राजा हिरण्यनाभश्च सहदेवश्च सारणः॥७९॥
शस्त्रशास्त्रार्थनिपुणाः पराङ्मुखदयापराः। महावीर्या महाधैर्या राजानोऽमी महारथाः॥८०॥

दशार्ह, सान्त्वना देनेवाले भोज और पाण्डव आदि बन्धुजन तथा अन्य अनेक उत्तमोत्तम प्रसिद्ध राजा श्री कृष्णके हितकी इच्छा करते हुए आ मिले॥६८॥ वहाँ राजा समुद्रविजय एक अक्षौहिणीके स्वामी थे, पुरुषोंमें अग्रेसर राजा उग्रसेन भी एक अक्षौहिणीका स्वामी था और इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा मेरु भी एक अक्षौहिणीका अधिपति था। राष्ट्रवर्धन देशका राजा आधी अक्षौहिणीका स्वामी था॥६९–७०॥ सिंहल देशका राजा आधी अक्षौहिणीका प्रभु था और बलवान् राजा पद्मरथ भी उसीके समान—अर्ध अक्षौहिणी प्रमाण सेनासे युक्त था॥७१॥ शकुनिका भाई वीर पराक्रमी चारुदत्त जो कि कृष्णके हितमें सदा तत्पर रहता था एक चौथाई अक्षौहिणीका स्वामी था॥७२॥ बर्बर, यमन, आभीर, काम्बोज और द्रविड़ आदिके अन्य शूर-वीर राजा कृष्णके पक्षमें आ मिले॥७३॥

उस ओर चक्ररत्नके प्रभावसे भरतक्षेत्रको वश करनेवाले राजा जरासन्धको भी अनेक अक्षौहिणी सेनाएँ प्राप्त थीं॥७४॥ घोड़े, हाथी, पैदल सैनिक तथा रथोंकी गणनासे युक्त अक्षौहिणी सेनाका प्रमाण इस प्रकार कहा गया है॥७५॥ जिसमें नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ-सौ करोड़ पैदल सैनिक हों उसे एक अक्षौहिणी कहते हैं॥७६॥ यादवोंमें कुमार नेमि, बलदेव और कृष्ण ये तीनों अतिरथ थे। ये तीनों भारतवर्षमें जितने अतिरथ थे उन सबको अतिक्रान्त कर उन सबमें श्रेष्ठ थे॥७७॥ राजा समुद्रविजय, वसुदेव, युधिष्ठिर, भीम, कर्ण, अर्जुन, रुक्मी, प्रद्युम्न, सत्यक, धृष्टद्युम्न, अनावृष्टि, शल्य, भूरिश्रवस्, राजा हिरण्यनाभ, सहदेव और सारण, ये सब राजा महारथ थे। ये सभी शस्त्र और शास्त्रार्थमें निपुण, पराङ्मुख जीवोंपर दया करनेमें तत्पर, महाशक्तिमान् और महाधैर्यशाली

१. वरगुणा म०। २. अक्षौहिण्यामित्यधिकैः सप्तत्या ह्यष्टभिः शतैः। संयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविंशतिः॥ एवमेव रथानां तु संख्यानं कीर्तितं बुधैः। पञ्चषष्टिसहस्राणि षट्शतानि दशैव तु। संख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथतुरङ्गमैः॥ नृणां शतसहस्राणि सहस्राणि तथा नव। शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातयः॥ इत्यमरकोशटीकायाम्। भारते अक्षौहिणीप्रमाणम्—अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः। रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥ गजाः २१८७०, रथाः २१८७०, अश्वाः ६५६१०, नराः १०९३५० इति।

अक्षोभ्यपूर्वकाश्चाष्टौ शम्बो भोजो विदूरथः । द्रुपदः सिंहराजोऽपि शल्यो वज्रः सुयोधनः ॥८१॥
पौण्ड्रः पद्मरथश्चापि कपिलो भगदत्तकः । क्षेमधूर्तं इमे सर्वे समाः समरथा रणे ॥८२॥
महानेमिधराक्रूरनिषधोल्मुकदुर्मुखाः । [1]कृतवर्मा वराटाख्यश्चारुकृष्णश्च यादवाः ॥८३॥
शकुनिर्यवनो भानुर्दुश्शासनशिखण्डिनौ । वाह्लीकसोमदत्तश्च देवशर्मा बकस्तथा ॥८४॥
वेणुदारी च विक्रान्तो राजानोऽर्धरथा इमे । विचित्रयोधिनो धीराः संग्रामेष्वपराङ्मुखाः ॥८५॥
अतः परं नृपाः सर्वे कुलमानयशोधनाः । रथिनः प्रथिताश्चामी यथायोग्यं बलद्वये ॥८६॥
अर्णवोपमयोस्तत्र तदाभ्यर्णनिवेशयोः । सेनयोस्तूर्णमागत्य कर्णस्याभ्यर्णमाकुला ॥८७॥
कुन्ती निष्णातसम्बन्धतनयानुमता मता । कानीनस्नेहसम्भारपरायत्तशरीरिका ॥८८॥
कण्ठलग्ना रुदन्ती तं प्रतिबोधयति स्म सा । मातापुत्रत्वसम्बन्धमादिमध्यावसानतः ॥८९॥
ततः कम्बलवृत्तान्तकुरुवंशावतारवित् । कुन्तीपाण्डुसुतत्वं तु निश्चिकायाग्मनस्तदा ॥९०॥
सान्तःपुरेण कर्णेन निर्णीतनिजबन्धुना । पूजिताप्रात्मजं कुन्ती जगाद जनितादरा ॥९१॥
उत्तिष्ठ पुत्र गच्छामो यत्र ते भ्रातरोऽखिलाः । तिष्ठन्त्युत्कण्ठिताश्चान्ये वैकुण्ठप्रमुखा निजाः ॥९२॥
कुरूणामीश्वरः पुत्र त्वमेव भुवि साम्प्रतम् । कृष्णस्य रामभद्रस्य सम्प्रति प्राणवत् प्रियः ॥९३॥
त्वं राजावरजास्ते छत्रधारी युधिष्ठिरः । भीमश्चामरधारी तु मन्त्रिमुख्यो धनञ्जयः ॥९४॥
नकुलः सहदेवेन प्रतीहारः सहस्फुटम् । अहं तु जननी नीत्या नित्यं तव हितोद्यता ॥९५॥

थे ।।७८-८०।। समुद्रविजयसे छोटे और वसुदेवसे बड़े अक्षोभ्य आदि आठ भाई, शम्ब, भोज, विदूरथ, द्रुपद, सिंहराज, शल्य, वज्र, सुयोधन, पौण्ड्र, पद्मरथ, कपिल, भगदत्त और क्षेम-धूर्त ये सब समरथ थे तथा युद्धमें समान शक्तिके धारक थे ।।८१-८२।। महानेमि,-धर, अक्रूर, निषध, उल्मुक, दुर्मुख, कृतवर्मा, वराट, चारुकृष्ण, शकुनि, यवन, भानु, दुश्शासन, शिखण्डी, वाह्लीक, सोमदत्त, देवशर्मा, वक, वेणुदारी और विक्रान्त ये राजा अर्धरथ थे। ये सभी राजा आश्चर्यकारक युद्ध करनेवाले एवं धीर-वीर थे तथा युद्धसे कभी पराङ्मुख नहीं होते थे ।।८३-८५।। इनके सिवाय कुल, मान और यशरूपी धनको धारण करनेवाले समस्त राजा रथी नामसे प्रसिद्ध थे। ये राजा यथायोग्य दोनों ही सेनाओंमें थे ।।८६।।

समुद्रोंके समान दोनों पक्षकी सेनाएँ जब पास-पास आ गयीं तब कुन्ती बहुत घबड़ायी। वह शीघ्र ही कर्णके पास गयी। वहाँ जानेमें उसे युधिष्ठिर आदि पुत्रोंने अनुमति दे दी थी। उस समय कन्या अवस्थाके पुत्र कर्णके ऊपर जो उसका अपार स्नेह था उससे उसका शरीर विवश हो रहा था। उसने कर्णके कण्ठसे लगकर रोते-रोते आदि, मध्य और अन्तमें जैसा कुछ हुआ वह सब अपना माता और पुत्रका सम्बन्ध बतलाया। उसने यह भी बतलाया कि मैंने तुझे उत्पन्न होते ही लोकलाजके भयसे कम्बलमें लपेटकर छोड़ दिया था। कर्ण कम्बलके वृत्तान्तको जानता था और यह भी जानता था कि कुरुवंशमें मेरा जन्म हुआ है। अब कुन्तीके कहनेसे उसने निश्चय कर लिया कि मैं कुन्ती और पाण्डुका पुत्र हूँ ।।८७-९०।। अपने बन्धुजनोंका निर्णय कर कर्णने अपनी समस्त स्त्रियोंके साथ कुन्तीकी पूजा की। तदनन्तर आदर दिखाती हुई कुन्तीने अपने प्रथम पुत्र कर्णसे कहा कि हे पुत्र! उठ, वहाँ चलें जहाँ तेरे सब भाई तथा श्रीकृष्ण आदि अपने अन्य आत्मीय जन तेरे लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं ।।९१-९२।। हे पुत्र! इस समय पृथिवीपर कुरुओंका स्वामी तू ही है और कृष्ण तथा बलदेवके लिए प्राणोंके समान प्रिय है ।। ९३ ।। तू राजा है तेरा छोटा भाई युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगावेगा, भीम चँवर ढोरेगा, धनंजय मन्त्री होगा, सहदेव और नकुल तेरे द्वारपाल होंगे और नीति पूर्वक निरन्तर हित करनेमें उद्यत मैं तेरी माता हूँ ।।९४-९५।।

१. कृतवर्मा म० ।

इति मातृवचः श्रुत्वा भ्रातृस्नेहवशोऽपि सः । जरासन्धोपकारैस्तैः स्वामिकार्यपरोऽवदत् ॥९६॥
पितरौ भ्रातरो लोके बान्धवाश्च सुदुर्लभाः । यद्यप्येवं तथाप्यत्र प्रस्तावे समुपस्थिते ॥९७॥
स्वामिकार्यं परित्यज्य बन्धुकार्यमसांप्रतम्[1] । अप्रशस्यं च हास्यं च संमुखे सांप्रतं रणे ॥९८॥
एतावदत्र कार्यं तु युद्धे भ्रातृवधादृते । योद्धव्यमन्ययोधैर्हि स्वामिकार्यकृता मया ॥९९॥
निवृत्ते युधि जीवामो यदि दैववशाद्वयम् । भविता [2]निश्चितोऽस्माकमम्ब भ्रातृसमागमः ॥१००॥
प्रयाहि भ्रातृबन्धूनामेतदेव निवेद्यताम् । इत्युक्त्वा पूजिता गत्वा कुन्ती सर्वं तथाऽकरोत् ॥१०१॥
जरासन्धबले तत्र समभूमागवर्तिनी । चक्रव्यूहो द्विषो [3]जित्यै रचितः कुशलैर्नृपैः ॥१०२॥
चक्रस्यारसहस्रे हि राजैकैकः समास्थितः । तस्य राजसहस्रस्य करिणां तु शतं शतम् ॥१०३॥
एकैकस्य नरेन्द्रस्य द्विसहस्ररथाः स्थिताः । वाजिपञ्चसहस्राणि भटानां तानि षोडश ॥१०४॥
अतश्चतुर्थभागेन संयुताः सपदि स्थिताः । नरेन्द्राः षट् सहस्राणि निविष्टास्तत्र नेमिषु ॥१०५॥
मध्यत्वं च समासाद्य सुस्थितो मागधः स्वयम् । राजपञ्चसहस्रैः स श्रीमान् कर्णपुरस्सरैः ॥१०६॥
तस्यैव मध्यभागे तु सैन्यं गान्धारसैन्धवम् । दुर्योधनसमेतं तु धार्तराष्ट्रशतं स्थितम् ॥१०७॥
मध्ये च मध्यदेशास्तु स्थितास्तत्र नरेश्वराः । पूर्वभागे स्थितास्तस्य शेषा नृपगणास्तथा ॥१०८॥
कुलमानधरा धीरा नरेशा बलशालिनः । पञ्चाशत्सकलव्यूहा [4]नेमिसन्धिष्ववस्थिताः ॥१०९॥
अन्तरान्तरसंस्थास्तु [5]गुल्मैर्गुल्मैर्नरोत्तमैः । व्यूहस्य बाह्यतश्चापि नानाव्यूहैर्नृपाः स्थिताः ॥११०॥

इस प्रकार माताके वचन सुनकर यद्यपि कर्ण भाइयोंके स्नेहसे विवश हो गया परन्तु जरासन्धने उसके प्रति जो उपकार किये थे उनसे स्वामीके कार्यका विचार करता हुआ बोला कि लोकमें माता-पिता, और भाई-बान्धव अत्यन्त दुर्लभ हैं यह बात यद्यपि ऐसी ही है, परन्तु इस अवसरके उपस्थित होनेपर स्वामीका कार्य छोड़ भाइयोंका कार्य करना अनुचित है, अप्रशस्त है और इस समय जब कि युद्ध सामने है हास्यका कारण भी है ॥९६-९८॥ इस समय तो स्वामीका कार्य करता हुआ मैं इतना ही कर सकता हूँ कि युद्धमें भाइयोंको छोड़कर अन्य योद्धाओंके साथ युद्ध करूँ ॥९९॥ युद्ध समाप्त होनेपर यदि भाग्यवश हम लोग जीवित रहेंगे तो हे माँ! हमारा भाइयोंके साथ समागम अवश्य ही होगा। तू जा और भाई-बान्धवोंको इतनी खबर दे दे। इस प्रकार कहकर कर्णने माता कुन्तीकी पूजा की और कुन्तीने जाकर उसके कहे अनुसार सब कार्य किया ॥१००-१०१॥

उधर समान भूभागमें वर्तमान राजा जरासन्धकी सेनामें कुशल राजाओंने शत्रुओंको जीतनेके लिए चक्रव्यूहकी रचना की ॥१०२॥ उस चक्रव्यूहमें जो चक्राकार रचना की गयी थी उसके एक हजार आरे थे, एक-एक आरेमें एक-एक राजा स्थित था, एक-एक राजाके सौ-सौ हाथी थे, दो-दो हजार रथ थे, पाँच-पाँच हजार घोड़े थे और सोलह-सोलह हजार पैदल सैनिक थे ॥ १०३-१०४ ॥ चक्रकी धाराके पास छह हजार राजा स्थित थे और उन राजाओंके हाथी, घोड़ा आदिका परिमाण पूर्वोक्त परिमाणसे चौथाई भाग प्रमाण था ॥१०५॥ कर्ण आदि पाँच हजार राजाओंसे सुशोभित राजा जरासन्ध स्वयं उस चक्रके मध्यभागमें जाकर स्थित था ॥१०६॥ गान्धार और सिन्ध देशकी सेना, दुर्योधनसे सहित सौ कौरव, और मध्यदेशके राजा भी उसी चक्रके मध्यभागमें स्थित थे ॥१०७-१०८॥ कुलके मानको धारण करनेवाले धीर, वीर, पराक्रमी पचास राजा अपनी-अपनी सेनाके साथ चक्रधाराकी सन्धियों पर अवस्थित थे ॥ १०९ ॥ आरोंके बीच-बीचके स्थान अपनी-अपनी विशिष्ट सेनाओंसे युक्त

१. अयुक्तम् । २. निश्चयोऽस्माक—म० । ३. जयनं जितिः तस्यै । नित्यै म० । ४. नेमिसन्धिष्विव स्थिताः म०, ग० । ५. एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः । त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ तिसृभिः पत्तिभिः सेनामुखं, त्रिभिः सेनामुखैर्गुल्मः, गुल्मत्रयेण गणः । इत्यमरटीकायाम् ।

चक्रव्यूहस्तदा मध्ये रचितोऽसौ व्यराजत । स्वसाधनमनस्तोषी परसाधनभीतिकृत् ॥१११॥
चक्रव्यूहं विदित्वा तं वसुदेवो विनिर्मितम् । चकार गरुडव्यूहं तद्भेदाय विशारदः ॥११२॥
अर्धकोटीकुमाराणां [1]मुखे तस्य महात्मनाम् । स्थापिता रणशूराणां नानाशस्त्रास्त्रधारिणाम् ॥११३॥
बली हलधरस्तत्र शार्ङ्गपाणिश्च मूर्धनि । स्थितावतिरथौ वीरौ स्थैर्यनिर्जितभूधरौ ॥११४॥
अक्रूरः कुमुदो वीरः सारणो विजयो जयः । पद्मो जरत्कुमारोऽपि सुमुखोऽपि च दुर्मुखः ॥११५॥
सूनुर्मदनवेगाया दृढमुष्टिर्महारथः । विदूरथोऽप्यनावृष्टिर्वसुदेवस्य [2]येऽङ्गजाः ॥११६॥
रथरक्षान्वितौ रामकृष्णयोः पृष्ठरक्षिणः । रथकोट्या समेतस्तु [3]पृष्ठेभोजः प्रतिष्ठितः ॥११७॥
पृष्ठरक्षानृपास्तस्य भोजस्य नृपतेस्ततः । धारणः सागरश्चान्ये रणशौण्डा व्यवस्थिताः ॥११८॥
दक्षिणं पक्षमाश्रित्य सुतैः साकं महारथैः । समुद्रविजयोऽतिष्ठद्बलेन महता वृतः ॥११९॥
तत्पक्षरक्षणे दक्षाः कुमारा रिपुमारणाः । सत्यनेमिर्महानेमिर्दृढनेमिः सुनेमिना ॥१२०॥
नमिर्महारथश्चापि जयसेनमहीजयौ । तेजःसेनो [4]जयः सेनो नयो मेघो महाद्युतिः ॥१२१॥
दशार्हाश्चापि विख्याताः शतशोऽन्ये च भूभृतः । रथकोटीचतुर्भागसहिताः समवस्थिताः ॥१२२॥
वामपक्षमुपाश्रित्य रामस्य तनयाः स्थिताः । पाण्डवाश्च महात्मानः पण्डिता युद्धकर्मणि ॥१२३॥
उल्मुको निषधश्चापि प्रकृतिद्युतिरप्यतः । सत्यकः शत्रुदमनः श्रीध्वजो ध्रुव इत्यपि ॥१२४॥
राजा दशरथश्चापि देवानन्दोऽथ शन्तनुः । आनन्दश्च महानन्दश्चन्द्रानन्दो महाबलः ॥१२५॥
पृथुः [5]शतधनुश्चापि विपृथुश्च यशोधनः । दृढबन्धोऽनुवीर्यश्च सर्वशस्त्रभृतांवरः ॥१२६॥

राजाओंसे सहित थे। इनके सिवाय व्यूहके बाहर भी अनेक राजा नाना प्रकारके व्यूह बनाकर स्थित थे ॥ ११० ॥ इस प्रकार चतुर राजाओंके द्वारा रचित, अपनी सेनाके मनको सन्तुष्ट करनेवाला और शत्रुकी सेनाके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला वह चक्रव्यूह उस समय अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१११॥

इधर रचना करनेमें निपुण वसुदेवको जब पता चला कि जरासन्धकी सेनामें चक्रव्यूहकी रचना की गयी है तब उसने भी चक्रव्यूहको भेदनेके लिए गरुड़-व्यूहकी रचना कर डाली ॥११२॥ उदात्तचित्त, रणमें शूर-वीर तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको धारण करनेवाले पचास लाख यादव कुमार उस गरुड़के मुखपर खड़े किये गये ॥११३॥ धीर-वीर एवं स्थिरतासे पर्वतको जीतनेवाले अतिरथ, पराक्रमी बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तकपर स्थित हुए ॥११४॥ अक्रूर, कुमुद, वीर, सारण, विजय, जय, पद्म, जरत्कुमार, सुमुख, दुर्मुख, मदनवेगाका पुत्र महारथ दृढमुष्टि, विदूरथ और अनावृष्टि ये जो वसुदेवके पुत्र थे वे बलदेव और कृष्णके रथकी रक्षा करनेके लिए उनके पृष्ठरक्षक बनाये गये। एक करोड़ रथोंसे सहित भोज, गरुड़के पृष्ठ भागपर स्थित हुआ ॥११५–११७॥ राजा भोजकी पृष्ठ-रक्षाके लिए धारण तथा सागर आदि अन्य अनेक रणवीर राजा नियुक्त हुए ॥११८॥ अपने महारथी पुत्रों तथा बहुत बड़ी सेनासे युक्त राजा समुद्रविजय उस गरुड़के दाहिने पंखपर स्थित हुए ॥११९॥ और उनकी आजू-बाजूकी रक्षा करनेके लिए चतुर, शत्रुओंको मारनेवाले सत्यनेमि, महानेमि, दृढनेमि, सुनेमि, महारथी नमि, जयसेन, महीजय, तेजसेन, जय, सेन, नय, मेघ, महाद्युति, आदि दशार्ह (यादव) तथा सैकड़ों अन्य प्रसिद्ध राजा पच्चीस लाख रथोंके साथ स्थित हुए ॥ १२०–१२२ ॥ बलदेवके पुत्र और युद्ध कार्यमें निपुण महामना पाण्डव गरुड़के बाँये पक्षका आश्रय ले खड़े हुए ॥ १२३ ॥ इन्हींके समीप उल्मुक, निषध, प्रकृतिद्युति, सत्यक, शत्रुदमन, श्रीध्वज, ध्रुव, राजा दशरथ, देवानन्द, शन्तनु, आनन्द, महानन्द, चन्द्रानन्द, महाबल, पृथु, शतधनु, विपृथु, यशोधन, दृढबन्ध और सब प्रकारके शस्त्रोंसे आकाशको भर

१. मुख्ये म० । २. तेऽङ्गजाः म० । ३. पृष्ठभोजः म० । ४. जयसेनो । ५. शतधनश्चापि म० ।

अनेकरथलक्षास्ते शस्त्रास्त्रेषु कृतश्रमाः । [1]धार्तराष्ट्रवधं युद्धे समाधाय व्यवस्थिताः ॥१२७॥
युद्धे चन्द्रयशा भूपः सिंहलो बर्बरोऽपि च । कम्बोजाः केरलाश्चापि कुशला द्रमिलास्तथा ॥१२८॥
रथषष्टिसहस्रैस्तु शान्तनः समवस्थितः । पक्षिणो रक्षिणो ह्येते स्थिता विक्रमशालिनः ॥१२९॥
अशितश्चापि भानुश्च तोमरः समरप्रियः । सञ्जयोऽकम्पितश्चापि भानुर्विष्णुर्बृहद्ध्वजः ॥१३०॥
शत्रुञ्जयो महासेनो गम्भीरो गौतमोऽपि च । वसुधर्मादयश्चापि कृतवर्मा प्रसेनजित् ॥१३१॥
[2]दृढवर्मा च विक्रान्तश्चन्द्रवर्मा च पार्थिवः । एते [3]गणसहायास्तु कुलं रक्षन्ति शार्ङ्गिणः ॥१३२॥
एषोऽसौ गरुडव्यूहो वसुदेवेन निर्मितः । महारथकृतोत्साहश्चक्रव्यूहं बिभित्सति ॥१३३॥

शालिनीछन्दः

चक्रव्यूहे दुर्विगाहे कृतेऽपि [4]व्यूहे व्यूहे पक्षिराजेऽपि दक्षैः ।
युद्धे जेता नायकः कश्चिदेको धर्मात्मायादर्जिताज्जैनमार्गे ॥१३४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ चक्रगरुडव्यूहवर्णनो नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५०॥

देनेवाले अनुवीर्य स्थित थे। ये सभी कुमार अनेक लाख रथोंसे युक्त थे, शस्त्र और अस्त्रों में परिश्रम करनेवाले थे, तथा युद्धमें कौरवोंके वधका निश्चय किये हुए थे॥ १२४–१२७॥ इनके पीछे राजा चन्द्रयश, सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल, कुशल (कोसल) और द्रमिल देशोंके राजा तथा शान्तन साठ-साठ हजार रथ लेकर स्थित थे। इस प्रकार ये बलशाली राजा उस गरुड़की रक्षा करते हुए स्थित थे॥ १२८–१२९॥ इनके सिवाय अशित, भानु, युद्धका प्रेमी तोमर, सञ्जय, अकम्पित, भानु, विष्णु, बृहद्ध्वज, शत्रुञ्जय, महासेन, गम्भीर, गौतम, वसुधर्मादि, कृतवर्मा, प्रसेनजित्, दृढवर्मा, विक्रान्त और चन्द्रवर्मा आदि राजा अपनी-अपनी सेनाओंसे युक्त हो श्रीकृष्णके कुलकी रक्षा करते थे॥१३०–१३२॥ जिसके भीतर स्थित महारथी राजा उत्साह प्रकट कर रहे थे, ऐसा यह वसुदेवके द्वारा निर्मित गरुड़-व्यूह, जरासन्धके चक्रव्यूहको भेदने की इच्छा कर रहा था॥१३३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि दोनों पक्षके चतुर मनुष्योंने उस ओर यद्यपि दुःखसे प्रवेश करनेके योग्य चक्रव्यूह और इधर गरुड़-व्यूहकी रचना की थी तथापि जिनेन्द्र प्रदर्शित मार्गमें चलकर सञ्चित किये हुए धर्मके प्रभावसे युद्धमें कोई एक नायक ही विजयी होगा ऐसा मैं समझता हूँ॥१३४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें चक्रव्यूह और गरुड़व्यूहका वर्णन करनेवाला पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ॥५०॥

---

१. धार्तराष्ट्रा वधं म०, ग०। २. दृढवर्या म०। ३. दृढसहायस्तु म०। ४. तर्कयामि।

एकपञ्चाशत्तमः सर्गः

अत्रान्तरे सह प्राप्ताः समुद्रविजयं नृपाः । विद्याधरसमस्तास्ते वसुदेवहितैषिणः ॥१॥
श्वसुरोऽशनिवेगोऽसौ हरिग्रीवो वराहकः । सिंहदंष्ट्रः खगेन्द्रश्च विद्युद्वेगो महोद्यमः ॥२॥
तथा मानसवेगश्च विद्युद्दंष्ट्रः खगाधिपः । राजा पिङ्गलगान्धारो नारसिंहो नरेश्वरः ॥३॥
[1]इत्याद्या ह्यार्यमातङ्गा वासुदेवार्थसिद्धये । वसुदेवं पुरस्कृत्य समुद्रविजयं श्रिताः ॥४॥
तान् सम्मान्य यथायोग्यं समुद्रविजयादयः । सिद्धार्था वयमद्येति प्रहृष्टमनसो जगुः ॥५॥
वसुदेवरिपूणां ते खगानां क्षोभमूचिरे । जरासन्धार्थसिद्ध्यर्थं तेषामागमनं तथा ॥६॥
तच्छ्रुत्वा यादवाः सर्वे सम्मन्त्र्यानकदुन्दुभिम्[2] । प्रद्युम्नशम्बसंयुक्तं सपुत्रं तैरमामुचन् ॥७॥
जिनकेशवरामादीन् परिष्वज्य स वेगवान् । पुत्रनप्तृखगैः साकं खचराचलमाययौ ॥८॥
सिंहविद्यारथं दिव्यं दिव्यास्त्रपरिपूरितम् । धनदेवसमानीतमारुरोह हलायुधः ॥९॥
गारुडं रथमारूढस्तथा गरुडकेतनः । नानाप्रहरणैर्दिव्यैः परिपूर्णं [3]जयावहम् ॥१०॥
मातल्यधिष्ठितं साक्षं सुत्रामप्रहितं रथम् । नेमीश्वरः समारूढो यदूनामर्थसिद्धये ॥११॥
सेनानां नायकं शूरमनावृष्टिं कपिध्वजम् । अभ्यषिञ्चन्नृपाः सर्वे समुद्रविजयादयः ॥१२॥
राजा हिरण्यनाभस्तु मागधेन महाबलः । सेनापतिपदे शीघ्रमभिषिक्तस्तदा मुदा ॥१३॥
युद्धे भेर्यस्तथा शङ्खा नेदुर्धीरं बलद्वये । [4]चतुरंगं बलं योद्धुमाससाद परस्परम् ॥१४॥

अथानन्तर इसी बीचमें वसुदेवका हित चाहनेवाले नीचे लिखे समस्त विद्याधर एक साथ मिलकर समुद्रविजयके पास आ पहुँचे ॥१॥ वसुदेवका श्वसुर अशनिवेग, हरिग्रीव, वराहक, सिंहदंष्ट्र, महापुरुषार्थी विद्युद्वेग, मानसवेग, विद्युद्दंष्ट्र, पिङ्गलगान्धार और नारसिंह इन्हें आदि लेकर आर्य और मातङ्गजातिके अनेक विद्याधर राजा श्रीकृष्णकी भलाईके लिए आ पहुँचे और वसुदेवको आगे कर राजा समुद्रविजयसे जा मिले ॥२-४॥ समुद्रविजय आदि उनका यथायोग्य सम्मान कर हर्षितचित्त होते हुए कहने लगे कि अब हम लोग कृतार्थ हो गये ॥५॥ उन आगत विद्याधरोंने कहा कि इस युद्धसे वसुदेवके विरोधी विद्याधरोंमें बड़ा क्षोभ हो रहा है और वे जरासन्धकी कार्यसिद्धिके लिए आनेवाले हैं ॥६॥ यह सुनकर सब यादवोंने परस्पर सलाह की और विद्याधरोंको शान्त करनेके लिए उन्होंने उन्हीं विद्याधरोंके साथ प्रद्युम्न, शम्ब एवं अनेक पुत्रों-सहित वसुदेवको विजयार्धके लिए छोड़ा ॥७॥ वसुदेव भी भगवान् नेमिनाथ, कृष्ण, बलदेव आदिका आलिङ्गन कर कुछ पुत्रों, पोतों और विद्याधरोंके साथ शीघ्र ही विजयार्धकी ओर चल पड़े ॥८॥ उसी समय कुबेरके द्वारा समर्पित, दिव्य अस्त्रोंसे परिपूर्ण सिंहविद्याके दिव्य रथपर बलदेव आरूढ़ हुए ॥९॥ गरुडाङ्कित पताकासे सुशोभित कृष्ण, नाना प्रकारके दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे पूर्ण विजय प्राप्त करानेवाले गरुड विद्याके रथपर सवार हुए ॥१०॥ और भगवान् नेमिनाथ, इन्द्रके द्वारा प्रेषित, मातलि नामक सारथिसे युक्त, तथा अस्त्र-शस्त्रसे पूर्ण रथपर यादवोंकी कार्यसिद्धिके लिए आरूढ़ हुए ॥११॥ समुद्रविजय आदि समस्त राजाओंने वानरकी ध्वजासे युक्त, वसुदेवके शूर-वीर पुत्र अनावृष्टिको सेनापति बनाकर उसका अभिषेक किया ॥१२॥

उधर राजा जरासन्धने भी हर्षपूर्वक महाबलवान् राजा हिरण्यनाभको शीघ्र ही सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया ॥१३॥ दोनों ओरकी सेनाओंमें युद्धके समय बजनेवाली भेरियाँ और शङ्ख गम्भीर शब्द करने लगे तथा दोनों ओरकी चतुरङ्ग सेना युद्ध करनेके लिए

१. -ह्यार्य म०, घ० । २. वसुदेवः 'वसुदेवोऽस्य जनकः स एवानकदुन्दुभिः' इत्यमरः । ३. जयावहः म० ।
४. चतुरङ्गबलं म० ।

अन्योन्याह्वानपूर्वं ते योद्धुं लग्ना यथायथम् । [1]राजानः क्रोधसम्भारभ्रूभङ्गविषमाननाः ॥१५॥
गजा गजैः [2]समं लग्नास्तुरङ्गास्तुरगैः सह । रथा रथैः समं योद्धुं पत्तयः पत्तिभिः सह ॥१६॥
ज्यारवै रथनिर्घोषैर्गजानां गर्जितेन च । भटानां सिंहनादैश्च दलन्तीव दिशो दश ॥१७॥
ततः परबलं दृष्ट्वा प्रबलं स्वबलाशनम् । नेमिपार्थबलाधीशा वृषहस्तिकपिध्वजाः ॥१८॥
तार्क्ष्यकेतुमनोभिज्ञाः स्वयं योद्धुं समुद्यताः । ऊरीकृत्य सुसन्नाहाश्चक्रव्यूहस्य भेदनम् ॥१९॥
दध्मौ नेमीश्वरः शङ्खं शाक्रं शत्रुभयावहम् । देवदत्तं पृथापुत्रः सेनानीश्च बलाहकम्[3] ॥२०॥
शङ्खानां निनदं श्रुत्वा ततो व्याप्तदिगन्तरम् । स्वसैन्येऽभून्महोत्साहः परसैन्ये महाभयम् ॥२१॥
मध्यं बिभेद सेनानीर्नेमिर्दक्षिणतः क्षणात् । अपरोत्तरदिग्भागं चक्रव्यूहस्य पाण्डवः ॥२२॥
सेनानीः परसेनान्या नेमिनाथोऽपि रुक्मिणा । पार्थो दुर्योधनेनासौ सधैर्येण पुरस्कृतः ॥२३॥
महायुद्धमभूत्तस्य ततस्तेषां यथायथम् । [4]सगन्धबलयुक्तानां पञ्चायुधविवर्षिणाम् ॥२४॥
नारदोऽप्सरसां संघैर्दूरेण नभसि स्थितः । मुञ्चन् पुष्पाणि तुष्टात्मा ननर्त कलहप्रियः ॥२५॥
निपात्य शरवर्षेण रुक्मिणं चिरयोधनम् । रिपुराजसहस्राणि नेमिश्चिक्षेप संयुगे ॥२६॥
समुद्रविजयाद्याश्च भ्रातरस्तत्सुतास्तथा । यथायथं रणे प्राप्ता निन्युर्मृत्युमुखं रिपून् ॥२७॥
रामकृष्णसुतैः [5]संख्ये निःसंख्यशरवर्षिभिः । यथेष्टं क्रीडितं मेघैः पर्वतेष्विव वैरिषु ॥२८॥
पाण्डवानां सपुत्राणां धृतराष्ट्रसुतैः सह । कदनं यद् बभूवात्र तत्कः कथयितुं क्षमः ॥२९॥

परस्पर एक-दूसरेके सामने आ गयीं ॥१४॥ क्रोधकी अधिकतासे भौंह टेढ़ी हो जानेके कारण जिनके मुख विषम हो रहे थे ऐसे दोनों पक्षके राजा परस्पर एक-दूसरेको ललकार कर यथायोग्य युद्ध करने लगे ॥१५॥ हाथी हाथियोंके साथ, घोड़े घोड़ोंके साथ, रथ रथोंके साथ और पैदल पैदलोंके साथ युद्ध करने लगे ॥१६॥ उस समय प्रत्यञ्चाओंके शब्द, रथोंकी चीत्कार, हाथियोंकी गर्जना और योद्धाओंके सिंहनादसे दशों दिशाएँ फटी-सी जा रही थीं ॥१७॥

तदनन्तर शत्रुसेनाको प्रबल और अपनी सेनाको नष्ट करती देख, बैल, हाथी और वानरकी ध्वजा धारण करनेवाले नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि, कृष्णका अभिप्राय जान स्वयं युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए और चक्रव्यूहके भेदन करनेका निश्चय कर पूर्ण तैयारीके साथ आगे बढ़े ॥१८–१९॥ भगवान् नेमिनाथने शत्रुओंको भय उत्पन्न करनेवाला अपना शाक्र (इन्द्रप्रदत्त) नामक शङ्ख फूँका, अर्जुनने देवदत्त और सेनापति अनावृष्टिने बलाहक नामका शङ्ख बजाया ॥२०॥ तदनन्तर इन शङ्खोंके दिगन्तव्यापी शब्द सुनकर अपनी सेनामें महान् उत्साह उत्पन्न हुआ और शत्रुकी सेनामें महाभय छा गया ॥२१॥ सेनापति अनावृष्टिने चक्रव्यूहका मध्य भाग, भगवान् नेमिनाथने दक्षिण भाग और अर्जुनने पश्चिमोत्तर भाग क्षण-भरमें भेद डाला ॥२२॥ सेनापति अनावृष्टिका जरासन्धके सेनापति हिरण्यनाभने, भगवान् नेमिनाथका रुक्मीने और धैर्यशाली दुर्योधनने अर्जुनका सामना किया ॥२३॥ तत्पश्चात् अहंकारपूर्ण सेनासे युक्त एवं पाँचों प्रकारके शस्त्र बरसानेवाले उन वीरोंका यथायोग्य महायुद्ध हुआ ॥२४॥ अप्सराओंके समूहके साथ आकाशमें दूर खड़ा कलहप्रिय नारद पुष्प-वर्षा करता हुआ हर्षसे नाच रहा था ॥२५॥ भगवान् नेमिनाथने चिरकाल तक युद्ध करनेवाले रुक्मीको बाण-वर्षासे नीचे गिराकर हजारों शत्रुराजाओंको युद्धमें तितर-बितर कर दिया ॥२६॥ इसी प्रकार समुद्रविजय आदि भाइयों तथा उनके पुत्रोंने युद्धमें पहुँच कर शत्रुओंको मृत्युके मुखमें पहुँचाया ॥२७॥ युद्धमें असंख्यात बाणोंकी वर्षा करनेवाले बलदेव और कृष्णके पुत्रोंने, पर्वतोंपर बहुत भारी जलवर्षा करनेवाले मेघोंके समान शत्रुओंके बीच इच्छानुसार क्रीड़ा की ॥२८॥ पुत्रोंसहित पाण्डवोंका धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ जो युद्ध

१. राजानं म० । २. समालग्ना म० । ३. बलाहकः । ४. संबन्ध म०, क०, ग० । ५. युद्धे ।

युधिष्ठिरोऽत्र शल्येन भीमो दुश्शासनेन तु । सहदेवः शकुनिना ह्युलूको नकुलेन हि ॥३०॥
दुर्योधनार्जुनौ योद्धुं लग्नौ युद्धं ततस्तयोः । बभूव भूतवित्रासी शरसन्धानदक्षयोः ॥३१॥
[1]निहताः पाण्डवैः केचिद् धृतराष्ट्रशरीरजाः । रणे दुर्योधनाद्यास्तु केचिज्जीवन्मृताः कृताः ॥३२॥
आकर्णाकृष्टचापौघैः कर्णोऽभिमुखमागतान् । योधान् बिभेद संग्रामे कृष्णपक्षाननेकशः ॥३३॥
द्वन्द्वयुद्धे तदा जाते बहुभूतक्षयावहे । सेनापत्योरभूद्रौद्रं[2] कदनं विविधायुधैः ॥३४॥
हिरण्यनाभवीरेण स सप्तभिः शरैः शतैः । नवत्या सप्तविंशत्याविद्धोऽनावृष्टिराहवे ॥३५॥
प्रजघान शतेनासौ सहस्रेण च पत्रिणाम् । अनावृष्टिर्हिरण्याभं कुशलः प्रतिकर्मणि ॥३६॥
यादवस्य ध्वजं तुङ्गं चिच्छेद रुधिरात्मजः । सोऽपि चास्य बिभेदाशु चापं छत्रं च सारथिम् ॥३७॥
धनुरन्यदुपादाय शरवर्षं ववर्ष सः । परिघं तु यदुः क्षिप्त्वा रथं शत्रोरपातयत् ॥३८॥
खड्गखेटकहस्तं तं आपतन्तमरिर्यदुः । खड्गखेटकहस्तोऽगाद्रथादुत्तीर्य सम्मुखः ॥३९॥
प्रहारवञ्चनादानलाघवातिशयात्मनोः । असियुद्धमभूद्घोरं सेनापत्योस्ततस्तयोः ॥४०॥
वार्ष्णेयखड्गघातेन प्रहृतेन भुजे रिपुः । छिन्नबाहुद्वयोरस्कः पपात वसुधातले ॥४१॥
हते सेनापतौ तत्र चतुरङ्गबलं द्रुतम् । विद्रुतं शरणं प्राप्तं जरासन्धं[3] महारणे ॥४२॥
तुष्टोऽनावृष्टिरप्याशु रथमारुह्य सैनिकैः । स्तूयमानो गतोऽभ्याशं[4] रामकेशवयोस्ततः ॥४३॥
बलकेशववीराभ्यां वृषहस्तिकपिध्वजाः । चक्रव्यूहस्य भेत्तारः परिव्यक्ता महौजसः ॥४४॥

हुआ था उसे कहनेके लिए कौन समर्थ है ? ॥२९॥ युधिष्ठिर शल्यके साथ, भीम दुःशासनके साथ, सहदेव शकुनिके साथ और उलूक नकुलके साथ युद्ध कर रहे थे ॥३०॥ तदनन्तर दुर्योधन और अर्जुन युद्ध करनेके लिए तत्पर हुए सो बाणोंके चढ़ानेमें चतुर उन दोनोंका भूतोंको भयभीत करनेवाला भयंकर युद्ध हुआ ॥३१॥ पाण्डवोंने युद्धमें धृतराष्ट्रके कितने ही पुत्रोंको मार डाला और दुर्योधन आदि कितने ही पुत्रोंको जीवित रहते हुए भी मृतकके समान कर दिया ॥३२॥ कर्णने, युद्धमें आये हुए कृष्णके पक्षके अनेक योद्धाओंको कान तक खींचे हुए बाणोंके समूहसे नष्ट कर डाला ॥३३॥ उस समय जब दोनों ओरसे अनेक प्राणियों का क्षय करनेवाला द्वन्द्व युद्ध हो रहा था तब दोनों पक्षके सेनापतियोंका नाना प्रकारके शस्त्रोंसे भयंकर युद्ध हुआ ॥३४॥ वीर हिरण्यनाभने युद्धमें यादव सेनापति अनावृष्टिको सात-सौ नब्बे बाणों-द्वारा सत्ताईस बार घायल किया ॥३५॥ और बदला लेनेमें कुशल हिरण्यनाभने भी एक हजार बाणों-द्वारा उसे सौ बार घायल किया ॥३६॥ रुधिरके पुत्र हिरण्यनाभने अनावृष्टिकी ऊँची ध्वजा छेद डाली और अनावृष्टिने शीघ्र ही उसके धनुष, छत्र और सारथिको भेद डाला ॥३७॥ हिरण्यनाभने दूसरा धनुष लेकर बाणोंकी वर्षा शुरू की और अनावृष्टिने परिघ फेंककर शत्रुका रथ गिरा दिया ॥३८॥ अब हिरण्यनाभ तलवार और ढाल हाथमें ले सामने आया तो अनावृष्टि भी तलवार और ढाल हाथमें ले रथसे उतर कर उसके सामने गया ॥३९॥ तदनन्तर प्रहारके बचाने और प्रहारके देनेकी बहुत भारी कुशलतासे युक्त दोनों सेनापतियोंमें भयङ्कर खड्गयुद्ध होता रहा ॥४०॥ अन्तमें अनावृष्टिने हिरण्यनाभकी भुजाओंपर तलवारका घातक प्रहार किया जिससे उसकी दोनों भुजाएँ कट गयीं, छाती फट गयी और वह प्राणरहित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥४१॥ सेनापतिके मरनेपर उसकी चतुरङ्ग सेना शीघ्र ही भागकर महायुद्धमें जरासन्धकी शरणमें पहुँची ॥४२॥ तदनन्तर सैनिक लोग जिसकी स्तुति कर रहे थे ऐसा अनावृष्टि, सन्तुष्ट हो शीघ्र ही रथपर बैठकर बलदेव और कृष्णके समीप गया ॥४३॥ बलदेव और श्रीकृष्णने चक्रव्यूहको

१ निहिताः म० । २. भयावहं । ३. जरासंधमहारणे म० । ४. समीपं म० ।

पृथ्वीच्छन्दः

विषादविषदूषितं मगधराजसैन्यं ततो निवेशमगमन्निजं[1] लघु दिवाकरेऽस्तङ्गते ।
नितान्तपृथुहर्षपूर्णमतितूर्णमानार्णव-प्रमाणमरिभङ्गतो यदुबलं जिनश्रीयुतम् ॥४५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ हिरण्यनाभवधवर्णनो नामैकपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५१॥

भेदनेवाले महापराक्रमी नेमिनाथ अर्जुन और अनावृष्टिका आलिङ्गन किया ॥४४॥ तदनन्तर उधर सूर्यास्त होनेपर विषाद रूपी विषसे दूषित जरासन्धकी सेना शीघ्र ही अपने निवास स्थानपर चली गयी और इधर जिनराज श्री नेमिनाथ भगवान्की लक्ष्मीसे युक्त यादवोंकी सेना, शत्रुके नाशसे अत्यधिक हर्षित एवं लहराते हुए समुद्रके समान झूमती हुई अपने निवासस्थानपर आ गयी ॥४५॥ ।

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें हिरण्यनाभके बधका वर्णन करनेवाला इक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५१॥

---

१. -मगमं निजं म० ।

द्वापञ्चाशः सर्गः

अन्येद्युर्द्युमणिद्योतद्योतिते भुवनोदरे । सन्नद्धौ निर्गतौ योद्धुं बलैर्मागधमाधवौ ॥१॥
विधाय पूर्ववद् व्यूहौ बलद्वयमधिष्ठितम् । नानाराजन्यविन्यासमन्योन्यं हन्तुमुद्यतम्[1] ॥२॥
रथस्थो मागधो युद्धे हंसकं निजमन्त्रिणम् । अन्तिकस्थमिति प्राह यादवानभिवीक्ष्य सः ॥३॥
प्रत्येकं नामचिह्नाद्यैर्यदूनां वद हंसक । किमन्यैरत्र निहतैरित्युक्ते संजगाविति ॥४॥
फेनपुञ्जप्रतीकाशैर्हयैः काञ्चनदामभिः । रथोऽर्करथवद्दृश्यः कृष्णस्य गरुडध्वजः ॥५॥
शुकवर्णसमैरश्वैर्युक्तोऽयं स्वर्णशृङ्खलैः । अरिष्टनेमिवीरस्य वृषकेतुर्महारथः ॥६॥
कृष्णदक्षिणपार्श्वस्थारिष्टवर्णैस्तुरङ्गमैः । रथस्तालध्वजो राजन् बलदेवस्य राजते ॥७॥
कृष्णवर्णैर्हयैर्युक्तो भ्राजतेऽयं महारथः । अनीकाधिपतेरत्र कपिकेतूपलक्षितः ॥८॥
नीलकेसरबालाग्रैर्हयैर्हेमपरिष्कृतैः । रथो युधिष्ठिरस्यायं पाण्डवस्य विराजते ॥९॥
शशाङ्कविशदैरश्वैर्मातरिश्वजवैर्वृतः । गजध्वजयुतो भाति सव्यसाचिरथो महान् ॥१०॥
नीलोत्पलनिभैरेष युक्तो[2] यद्युभिरीक्ष्यते । रथो वृकोदरस्यापि मणिकाञ्चनभूषणः ॥११॥
शोणवर्णैर्हयैर्भाति समुद्रविजयस्य हि । मध्ये यादवसैन्यानां महासिंहध्वजो रथः ॥१२॥
अक्रूरस्य कुमारस्य रथोऽसौ कदलीध्वजः । सबलैर्वाजिभिर्भाति रुक्मविद्रुमभास्वरः ॥१३॥

दूसरे दिन जब संसारका मध्य भाग सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित हो गया तब जरासन्ध और कृष्ण युद्ध करनेके लिए तैयार हो अपनी-अपनी सेनाओंके साथ बाहर निकले ॥१॥ तदनन्तर जो पहलेके समान व्यूहोंकी रचना कर स्थित थीं और जिनमें अनेक राजा लोग यथास्थान स्थित थे ऐसी दोनों सेनाएँ परस्पर एक दूसरेका घात करनेके लिए उद्यत हुईं ॥२॥ युद्धके मैदानमें आकर रथपर बैठा जरासन्ध, यादवोंको देखकर अपने समीपवर्ती हंसक मन्त्रीसे बोला कि हे हंसक! यादवोंमें प्रत्येकके नाम चिह्न आदि तो बता और जिससे उन्हींको देखूँ अन्य लोगोंके मारनेसे क्या लाभ है? इस प्रकार कहनेपर हंसक बोला—॥३-४॥

हे स्वामिन्! जिसमें सुवर्णमयी सांकलोंसे युक्त फेनके समान सफेद घोड़े जुते हुए हैं और जिसपर गरुड़की ध्वजा फहरा रही है ऐसा यह सूर्यके रथके समान देदीप्यमान कृष्णका रथ दिखायी दे रहा है ॥५॥ जो सुवर्णमयी सांकलोंसे युक्त तोतेके समान हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त है तथा जिसपर बैलकी पताका फहरा रही है ऐसा यह शूर-वीर अरिष्टनेमिका रथ है ॥६॥ हे राजन्! जो कृष्णकी दाहिनी ओर रीठाके समान वर्णवाले घोड़ोंसे जुता हुआ है तथा जिसपर तालकी ध्वजा फहरा रही है ऐसा यह बलदेवका रथ सुशोभित हो रहा है ॥७॥ इधर यह कृष्णवर्णके घोड़ोंसे युक्त एवं वानरकी ध्वजासे सहित जो बड़ा भारी रथ दिखायी दे रहा है वह सेनापतिका रथ है ॥८॥ उधर सुवर्णमयी सांकलोंसे युक्त, गरदनके नीले-नीले बालोंवाले घोड़ोंसे जुता हुआ यह पाण्डु राजाके पुत्र युधिष्ठिरका रथ सुशोभित हो रहा है ॥९॥ जो चन्द्रमाके समान सफेद एवं वायुके समान वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ है तथा जिसपर हाथीकी ध्वजा फहरा रही है ऐसा यह बड़ा भारी अर्जुनका रथ है ॥१०॥ जो नील कमलके समान नीले-नीले घोड़ोंसे युक्त है तथा जिसपर मणिमय और सुवर्णमय आभूषण सुशोभित हैं ऐसा यह भीमसेनका रथ है ॥११॥ वह यादवोंकी सेनाके बीचमें लाल रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ तथा बड़े-बड़े सिंहोंकी ध्वजासे युक्त समुद्रविजयका रथ सुशोभित हो रहा है ॥१२॥ वह कुमार अक्रूरका रथ सुशोभित है जो कदलीकी ध्वजासे सहित है, बलवान् घोड़ोंसे युक्त है तथा सुवर्ण और मूँगाओंसे देदीप्यमान हो रहा है ॥१३॥

---

१. -मुद्यतौ म० । २. अश्वैः ।

हयैस्तित्तिरकल्माषैः सत्यकस्य महारथः । महानेमिकुमारस्य कौमुदैर्वाजिभी रथः ॥१४॥
चामीकरबृहद्दण्डपताकाध्वजभूषितः । [1]शुकतुण्डनिभैरश्वैर्भोजस्यैष महारथः ॥१५॥
अश्वैः कनकपृष्ठ्यैर्यो युक्तैर्भाति महारथः । असौ जरत्कुमारस्य मृगकेतोर्विराजते ॥१६॥
शुक्लः सोमसुतस्यैष सिंहलस्य विराजते । काम्बोजैर्वाजिभिर्युक्तो रथोऽर्करथभास्वरः ॥१७॥
अश्वैरारक्तसबलैर्म[2]रुराजस्य राजते । रथः काञ्चनचित्राङ्गैः शिंशुमाराकृतिध्वजः ॥१८॥
रथः पद्मरथस्यैष पद्माभैस्तुरगैर्युतः । शोभते रणशूरस्य बलानामग्रतः स्थितः ॥१९॥
[3]पारावतनिभैः पत्रैः सारणस्य त्रिहायनैः । तपनीयच्छदैर्भाति रथोऽसौ पुष्करध्वजः ॥२०॥
शशलोहितसंकाशैर्वाजिभिः पञ्चहायनैः । रथो नग्नजितः सूनोर्मेरुदत्तस्य काशते ॥२१॥
वाजिभिः पञ्चवर्णैर्यो रथो भाति [4]रविप्रभः । विदूरथकुमारस्य जवनः कलशध्वजः ॥२२॥
सर्ववर्णनिभैरश्वैर्यादवानां तरस्विनाम् । न शक्यन्ते [5]रथाः प्रोक्तुं शतशोऽथ सहस्रशः ॥२३॥
अस्माकं नृपवीराणां रथान् वेत्सि यथायथम् । कुमाराणां च सर्वेषां नानाचिह्नान्महारथान् ॥२४॥
क्षत्रियैर्बहुभिर्युक्तो नानादेशसमागतैः । शोभते भवतो व्यूहो रिपुसेनाभयङ्करः ॥२५॥
तदाकर्ण्य निजं प्राह सारथिं मगधेश्वरः । यादवान् प्रति शीघ्रं त्वं रथं नोदय सारथे ! ॥२६॥
नोदितेऽथ रथे तेन समाच्छादयितुं नृपेट् । यादवानभितः सर्वान् शरासारैर्निरन्तरैः ॥२७॥

तीतरके समान मटमैले घोड़ोंसे युक्त रथ सत्यकका है और कुमुदके समान सफेद घोड़ोंसे जुता रथ महानेमिकुमारका है ॥१४॥ जो सुवर्णमय विशाल दण्डकी पताकासे शोभित है तथा तोतेकी चोंचके समान लाल-लाल घोड़ोंसे युक्त है ऐसा यह भोजका महारथ है ॥१५॥ जो सुवर्णमय पलानसे युक्त जुते हुए घोड़ोंसे सुशोभित है ऐसा वह हरिणकी ध्वजाके धारक जरत्कुमारका रथ सुशोभित हो रहा है ॥१६॥ वह जो काम्बोजके घोड़ोंसे युक्त, सूर्यके रथके समान देदीप्यमान सफेद रंगका रथ सुशोभित हो रहा है वह राजा सोमके पुत्र सिंहलका रथ है ॥१७॥ जो सुवर्णमय आभूषणोंसे चित्र-विचित्र शरीरके धारक कुछ-कुछ लाल रंगके घोड़ोंसे जुता हुआ है तथा जिसपर मत्स्यकी ध्वजा फहरा रही है ऐसा यह मरुराजका रथ सुशोभित हो रहा है ॥१८॥ यह जो कमलके समान आभावाले घोड़ोंसे जुता, सेनाओंके आगे स्थित है वह रणवीर राजा पद्मरथका रथ सुशोभित है ॥१९॥ वह जो सुवर्णमयी झूलोंसे युक्त कबूतरके समान रंगवाले तीन वर्षके घोड़ोंसे जुता, एवं कमलकी ध्वजासे सहित रथ सुशोभित हो रहा है वह सारणका है ॥२०॥ जो सफेद और लाल रंगके पाँच वर्षके घोड़ोंसे जुता है ऐसा वह नग्नजित्के पुत्र मेरुदत्तका रथ प्रकाशमान है ॥२१॥ जो पाँच वर्णके घोड़ोंसे जुता है, सूर्यके समान देदीप्यमान है और जिसपर कलशकी ध्वजा फहरा रही है ऐसा यह कुमार विदूरथका वेगशाली रथ सुशोभित है ॥२२॥ इस प्रकार बलवान् यादवोंके रथ सब रंगके घोड़ोंसे सहित हैं तथा वे सैकड़ों या हजारोंकी संख्यामें हैं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२३॥ अपने पक्षके शूर-वीर राजाओं तथा समस्त राजकुमारोंके नाना चिह्नोंसे युक्त रथोंको आप यथायोग्य जानते ही हैं ॥२४॥ नाना देशोंसे आये हुए अनेक क्षत्रियोंसे युक्त आपका यह व्यूह अत्यन्त शोभित हो रहा है तथा शत्रु सेनाके लिए भय उत्पन्न कर रहा है ॥ २५ ॥

यह सुनकर जरासन्धने अपने सारथिसे कहा कि हे सारथि ! तू मेरा रथ शीघ्र ही यादवोंकी ओर ले चल ॥२६॥ तदनन्तर सारथिने रथ आगे बढ़ाया और जरासन्ध लगातार

१. शुकदण्ड- म० । २. मनुराजस्य क०, मेरुराजस्य म० । ३. पारावती म० । ४. बृहद्ध्वजः म०, ख० । ५. रथान् म० ।

जरासन्धसुतास्तत्र यादवैः सह कोपिनः । यथायथं रथादिस्था रणक्रीडां प्रचक्रिरे ॥२८॥
स कालयवनः काल इव स्वयमुपागतः । गजं मलयनामानमारूढो युयुधेऽधिकम् ॥२९॥
सहदेव इति ख्यातो द्रुमसेनो द्रुमस्तथा । जलचित्रादिकौ केतू धनुर्धरमहीजयौ[1] ॥३०॥
स भानुः काञ्चनरथो दुर्धरो गन्धमादनः । सिंहाङ्कश्चित्रमाली च महीपालबृहद्ध्वजौ ॥३१॥
सुवीरादित्यनागाख्यौ सत्यसत्वसुदर्शनौ । धनपालशतानीकौ महाशुक्रमहावसू ॥३२॥
वीराख्यो गङ्गदत्तश्च प्रवरः पार्थिवाभिधः । चित्राङ्गदो वसुगिरिः श्रीमान् सिंहकटिः स्फुटः ॥३३॥
मेघनादमहानादौ सिंहनादवसुध्वजौ । वज्रनाभमहाबाहू जितशत्रुपुरन्दरौ ॥३४॥
अजिताजितशत्रू च देवानन्दशतद्रुतौ । मन्दरो हिमवान्नाम्ना तौ विद्युत्केतुमालिनौ ॥३५॥
कर्कोटकहृषीकेशौ देवदत्तधनञ्जयौ । सगरस्वर्णबाहू च मघवानच्युतोऽपि च ॥३६॥
दुर्जयो दुर्मुखश्चापि तथा वासुकिकम्बलौ । त्रिशिरा धारणाभिख्यो माल्यवान् सम्भवाभिधः ॥३७॥
महापद्मो महानागो महासेनो महाजयः । वासवो वरुणाभिख्यः शतानीकोऽपि भास्करः ॥३८॥
गरुत्मान् वेणुदारी च वासुवेगशशिप्रभौ । वरुणादित्यधर्माणौ विष्णुस्वामी सहस्रदिक् ॥३९॥
केतुमाली महामाली चन्द्रदेवो बृहद्बलिः । सहस्ररश्मिरर्चिष्मान् [3]जह्नुर्मागधसूनवः ॥४०॥
[4]पतन्मनुजमातङ्गतुरङ्गरथसङ्कटे । स कालयवनो युद्धे निरुद्धो वसुदेवजैः ॥४१॥
तेषां तस्य च संग्रामो यशःसंग्रहकारिणाम् । अन्योन्याक्षेपिवाक्यानां प्रवृत्तो वार्त्तसंकथम् ॥४२॥
छिन्ना तेन कुमाराणां शिरोभी रुधिरारुणैः । चक्रनाराचनिर्भिन्नैः पङ्कजैरिव भूरभात् ॥४३॥
सारणेन कुमारेण स कालयवनो रुषा । नीतः खड्गप्रहारेण कालस्य सदनं चिरात् ॥४४॥

बाणोंकी वर्षासे समस्त यादवोंको आच्छादित करने लगा ॥२७॥ रथ आदि वाहनोंपर स्थित क्रोधसे भरे जरासन्धके पुत्र भी यादवोंके साथ यथायोग्य रणक्रीड़ा करने लगे ॥२८॥ राजा जरासन्धका सबसे बड़ा पुत्र कालयवन जो आये हुए साक्षात् यमराजके समान जान पड़ता था, मलय नामक हाथीपर सवार हो अधिक युद्ध करने लगा ॥२९॥ इसके सिवाय सहदेव, द्रुमसेन, द्रुम, जलकेतु, चित्रकेतु, धनुर्धर, महीजय, भानु, काञ्चनरथ, दुर्धर, गन्धमादन, सिंहाङ्क, चित्रमाली, महीपाल, बृहद्ध्वज, सुवीर, आदित्यनाग, सत्यसत्व, सुदर्शन, धनपाल, शतानीक, महाशुक्र, महावसु, वीराख्य, गङ्गदत्त, प्रवर, पार्थिव, चित्राङ्गद, वसुगिरि, श्रीमान्, सिंहकटि, स्फुट, मेघनाद, महानाद, सिंहनाद, वसुध्वज, वज्रनाभ, महाबाहु, जितशत्रु, पुरन्दर, अजित, अजितशत्रु, देवानन्द, शतद्रुत, मन्दर, हिमवान्, विद्युत्केतु, माली, कर्कोटक, हृषीकेश, देवदत्त, धनंजय, सगर, स्वर्णबाहु, मघवान्, अच्युत, दुर्जय, दुर्मुख, वासुकि, कम्बल, त्रिशिरस्, धारण, माल्यवान्, सम्भव, महापद्म, महानाग, महासेन, महाजय, वासव, वरुण, शतानीक, भास्कर, गरुत्मान्, वेणुदारी, वासुवेग, शशिप्रभ, वरुण, आदित्य-धर्मा, विष्णुस्वामी, सहस्रदिक्, केतुमाली, महामाली, चन्द्रदेव, बृहद्बलि, सहस्ररश्मि और अर्चिष्मान् आदि जरासन्धके पुत्र प्रहार करने लगे ॥३०-४०॥ गिरते हुए मनुष्य, हाथी, घोड़े और रथोंसे व्याप्त युद्धमें कालयवनको वसुदेवके पुत्रोंने घेर लिया ॥४१॥ तदनन्तर यशका संग्रह करनेवाले एवं एक-दूसरेके प्रति निन्दात्मक वाक्योंका प्रयोग करनेवाले उन कुमारों और कालयवनका भयंकर संग्राम हुआ। संग्रामके समय वे अहङ्कारवश व्यर्थकी डींगे भी हाँक रहे थे ॥४२॥ कालयवनने चक्र, नाराच आदि शस्त्रोंसे कितने ही कुमारोंके शिर छेद डाले जिससे खूनसे लथ-पथ उन कटे हुए शिरोंसे पृथ्वी ऐसी सुशोभित होने लगी मानो कमलोंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥४३॥ यह देख कुमार सारणने क्रोधमें आकर एक ही तलवारके

१. महीधरौ म० । २. विष्णु-म० । ३. जह्नो म० । ४. तपन् म० ।

कृष्णेनाभिमुखीभूता मागधस्य सुताः परे । शूरा मृत्युमुखं नीतास्तेऽर्धचन्द्रैः शिरश्छिदा ॥४५॥
ततः स्वयं जरासन्धः कृष्णस्याभिमुखं रुषा । दधाव धनुरास्फाल्य रथस्थो रथवर्तिनः ॥४६॥
अन्योन्याक्षेपिणोर्युद्धं तयोरुद्धतवीर्ययोः । अस्त्रैः स्वाभाविकैर्दिव्यैरभूदत्यन्तभीषणम्[1] ॥४७॥
अस्त्रं नागसहस्राणां सृष्टप्रज्वलनप्रभम् । माधवस्य वधायासौ क्षिप्रं चिक्षेप मागधः ॥४८॥
असूढमानसः शौरिर्नागनाशाय गारुडम् । अस्त्रं चिक्षेप तेनाशु ग्रस्तं नागास्त्रमग्रतः ॥४९॥
अस्त्रं संवर्तकं रौद्रं विससर्ज स मागधः । तन्महाश्वसनास्त्रेण माधवोऽपि निराकरोत् ॥५०॥
वायव्यं व्यमुचच्छस्त्रमस्त्रविन्मगधेश्वरः । अन्तरिक्षेण वास्त्रेण [2]व्याक्षिपत्तदधोक्षजः ॥५१॥
अग्निसात्करणे सक्तमस्त्रमाग्नेयमुज्ज्वलम् । मागधक्षिप्तमाक्षिप्तं वारुणास्त्रेण शौरिणा ॥५२॥
अस्त्रं वैरोचनं मुक्तं मागधेन्द्रेण रोषिणा । [3]उपेन्द्रेणापि तद्दूरान्माहेन्द्रास्त्रेण दारितम् ॥५३॥
राक्षसास्त्रं रिपुक्षिप्तं क्षिप्रं नारायणो रणे । क्षिप्त्वा नारायणास्त्रेण [4]सोऽरीणां धृतिमाहरत् ॥५४॥
तामसास्त्रं परिक्षिप्तं भास्करास्त्रेण सोऽभिनत् । अश्वग्रीवास्त्रमत्युग्रं [5]ब्रह्मशिरसारुणत् ॥५५॥
दिव्यान्यन्यानि चास्त्राणि क्षिप्तानि प्रतिशत्रुणा । प्रतिक्षिप्य निरायामो वासुदेवोऽवतिष्ठते[6] ॥५६॥
तथा व्यर्थप्रयासोऽसौ क्षितिक्षिप्तशरासनः । रक्ष्यं यक्षसहस्रेण चक्ररत्नमचिन्तयत् ॥५७॥

प्रहारसे कालयवनको चिरकालके लिए यमराजके घर भेज दिया ॥४४॥ जरासन्धके शेष शूर-वीर पुत्र युद्धके लिए सामने आये तो अर्धचन्द्र बाणोंके द्वारा शिर काटनेवाले कृष्णने उन्हें मृत्युके मुखमें पहुँचा दिया ॥४५॥

तदनन्तर स्वयं जरासन्ध, क्रोधवश धनुष तान कर रथपर सवार हो, रथपर बैठे हुए कृष्णके सामने दौड़ा ॥४६॥ दोनों ही एक-दूसरेके प्रति तिरस्कारके शब्द कह रहे थे तथा दोनों ही उत्कट वीर्यके धारक थे इसलिए दोनोंमें स्वाभाविक एवं दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे भयंकर युद्ध होने लगा ॥४७॥ उधर जरासन्धने श्रीकृष्णको मारनेके लिए शीघ्र ही अग्निके समान देदीप्यमान प्रभाका धारक नागास्त्र छोड़ा ॥४८॥ इधर सावधान चित्तके धारक कृष्णने नागास्त्रको नष्ट करनेके लिए गारुड़ अस्त्र छोड़ा और उसने शीघ्र ही आगे बढ़कर उस नागास्त्रको ग्रस लिया ॥४९॥ जरासन्धने प्रलयकालके मेघके समान भयंकर वर्षा करनेवाला संवर्तक अस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्णने भी महाश्वसन नामक अस्त्रके द्वारा तीव्र आँधी चलाकर उसे दूर कर दिया ॥५०॥ अस्त्रोंके प्रयोगको जाननेवाले जरासन्धने वायव्य अस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्णने अन्तरीक्ष अस्त्रके द्वारा उसका तत्काल निराकरण कर दिया ॥५१॥ जरासन्धने जलानेमें समर्थ देदीप्यमान आग्नेय बाण छोड़ा तो कृष्णने वारुणास्त्रके द्वारा उसे दूर कर दिया ॥५२॥ क्रोधमें आकर जरासन्धने वैरोचन शस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्णने माहेन्द्र अस्त्रसे उसे दूरसे ही नष्ट कर दिया ॥५३॥ शत्रुने युद्धमें राक्षसबाण छोड़ा तो कृष्णने शीघ्र ही नारायण अस्त्र चलाकर शत्रुओंके छक्के छुड़ा दिये ॥५४॥ जरासन्धने तामसास्त्र चलाया तो कृष्णने भास्कर अस्त्रके द्वारा उसे नष्ट कर दिया। और जरासन्धने अश्वग्रीव नामक अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र चलाया तो कृष्णने ब्रह्मशिरस नामक शस्त्रसे उसे तत्काल रोक दिया ॥५५॥ इनके सिवाय शत्रुने और भी दिव्य अस्त्र चलाये परन्तु कृष्ण उन सबका निराकरण कर ज्योंके-त्यों स्थिर खड़े रहे—उनका बाल भी बाँका नहीं हुआ ॥५६॥

इस प्रकार जब जरासन्धका समस्त प्रयास व्यर्थ हो गया तब उसने धनुष पृथ्वीपर फेंक दिया और हजार यक्षोंके द्वारा रक्षित चक्ररत्नका चिन्तवन किया ॥५७॥ चिन्तवन

१. भीषणः म० । २. व्याक्षिप्यत्तदधोक्षजः क० । ३. उपेन्द्रेण न दारितं ख० । ४. शौरिणां म० । ५. विक्षेपारुणदारुणः म० । ६. ऽधितिष्ठते म० ।

चिन्तानन्तरमेवात्र सहस्रकिरणप्रभम् । चक्रं दिक्चक्रविद्योति मागधस्य करे स्थितम् ॥५८॥
नानास्त्रव्यर्थताक्रुद्धश्चक्रं [1]प्रभ्राम्य मागधः । [2]माधवं प्रतिचिक्षेप क्षिप्रं भ्रूभङ्गभीषणः ॥५९॥
नभस्यागच्छतस्तस्य विच्छायीकृतभास्वतः । यथास्वं चिक्षिपुः सर्वे चक्राद्यन्येऽपि भूभृतः ॥६०॥
शार्ङ्गी शक्तिगदाद्यानि हलं समुसलं हली । गदां वृकोदरः पार्थो नानास्त्राण्यस्त्रपार्थिवः ॥६१॥
सेनानीः परिघं शक्तिं युधिष्ठिरनृपस्तथा । तस्य तु प्रतिघातार्थमुद्गीर्णाशीसमं ययौ ॥६२॥
समुद्रविजयाक्षोभ्यप्रभृतिभ्रातरो भृशम् । अप्रमत्ता महास्त्राणि प्रतिचक्रं प्रचिक्षिपुः ॥६३॥
नेमीशस्त्ववधिज्ञातभाविकार्यगतिस्थितिः । चक्रस्याभिमुखश्चक्रे विष्णुनैव सह स्थितिम् ॥६४॥
वार्यमाणं तु तच्चक्रमस्त्रचक्रेण भूभृताम् । विस्फुरद्विस्फुलिङ्गौघं शनैरागत्य मित्रवत् ॥६५॥
सह प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्नेमिना हरिम् । तत्करे दक्षिणे तस्थौ शङ्खचक्राङ्कुशाङ्किते ॥६६॥
व्योम्नि दुन्दुभयो नेदुरपतत्पुष्पवृष्टयः । नवमो वासुदेवोऽयमिति देवा जगुस्तदा ॥६७॥
सुगन्धिवायुभिः सार्धमनुकूलैरलं तदा । हृदयैर्यदुवीराणां समुच्छ्वसितमायुधम् ॥६८॥
[3]चक्रहस्तं हरिं दृष्ट्वा संयुगे मगधाधिपः । दध्यौ चक्रपराभूतिरप्यर्थेयमभूदिति ॥६९॥
चक्रविक्रमसंभारसमाक्रान्तदिगन्तरः । त्रिखण्डाधिपतिश्चण्डो जातः खण्डितपौरुषः ॥७०॥
चतुरङ्गबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम् । कार्यकृत्तावदेवात्र यावद्दैवबलं परम् ॥७१॥
दैवे तु विकले कालपौरुषादिर्निरर्थकः । इति यत्कथ्यते विज्ञैस्तत्तथ्यमिति नान्यथा ॥७२॥

करते ही सूर्यके समान देदीप्यमान तथा दिशाओंके समूहको प्रकाशित करनेवाला चक्ररत्न जरासन्धके हाथमें आकर स्थित हो गया ॥५८॥ नाना शस्त्रोंके व्यर्थ हो जानेसे जिसका क्रोध बढ़ रहा था तथा जो भ्रकुटिके भङ्गसे अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था, ऐसे जरासन्धने घुमाकर शीघ्र ही वह चक्ररत्न कृष्णकी ओर फेंका ॥ ५९ ॥ जिसने अपनी कान्तिसे सूर्यको फीका कर दिया था ऐसे आकाशमें आते हुए उस चक्ररत्नको नष्ट करनेके लिए कृष्णपक्षके अन्य समस्त राजाओंने भी यथायोग्य चक्र छोड़े ॥६०॥ श्रीकृष्ण शक्ति तथा गदा आदि लेकर, बलदेव हल और मूसल लेकर, भीमसेन गदा लेकर, अस्त्रविद्याके राजा अर्जुन नाना अस्त्र लेकर, सेनापति-अनावृष्टि परिघ लेकर और युधिष्ठिर प्रकट हुए साँपके समान शक्तिको लेकर आगे आये ॥६१-६२॥ समुद्रविजय तथा अक्षोभ्य आदि भाई अत्यन्त सावधान होकर उस चक्ररत्न की ओर महा अस्त्र छोड़ने लगे ॥६३॥ किन्तु भगवान् नेमिनाथ, अवधि-ज्ञानके द्वारा आगामी कार्यको गतिविधिको अच्छी तरह जानते थे इसलिए वे कृष्णके साथ ही चक्ररत्नके सामने खड़े रहे ॥६४॥ राजाओंके अस्त्रसमूह जिसे रोक रहे थे तथा जिससे देदीप्यमान तिलगोंके समूह निकल रहे थे ऐसा वह चक्ररत्न मित्रके समान धीरे-धीरे पास आया और भगवान् नेमिनाथ के साथ-साथ कृष्णकी प्रदक्षिणा देकर शङ्ख, चक्र और अंकुशसे चिह्नित कृष्णके दाहिने हाथमें स्थित हो गया ॥६५-६६॥ उसी समय आकाशमें दुन्दुभि बजने लगे, पुष्पवृष्टि होने लगी, और 'यह नौवाँ नारायण प्रकट हुआ है' इस प्रकार देव कहने लगे ॥६७॥ अनुकूल एवं सुगन्धित वायु बहने लगी तथा वीर यादवोंके अस्त्र उनके हृदयोंके साथ-साथ उच्छ्वसित हो उठे ॥६८॥ संग्राममें कृष्णको चक्र हाथमें लिये देख, जरासन्ध इस प्रकार विचार करने लगा कि हाय यह चक्र चलाना भी व्यर्थ हो गया ॥६९॥ चक्ररत्न और पराक्रमके समूहसे जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर रखा था तथा जो तीन खण्डका शक्तिशाली अधिपति था ऐसा मैं आज पौरुष-हीन हो गया—मेरा पुरुषार्थ खण्डित हो गया ॥७०॥ 'जबतक दैवका बल प्रबल है तभीतक चतुरङ्ग सेना, काल, पुत्र, मित्र एवं पुरुषार्थ कार्यकारी होते हैं ॥७१॥ और दैवके निर्बल होनेपर काल तथा पुरुषार्थ आदि निरर्थक हो जाते हैं…'यह जो विद्वानों-द्वारा कहा जाता

१. प्रणम्य म० । २. मागधं म० । ३. चक्रहस्तहरिं म० ।

गर्भेश्वरोऽहमन्येषामलङ्घ्यो महतामपि । प्रारब्धो जेतुमल्पेन गर्भादिक्लेशिना[1] कथम् ॥७३॥
मज्जेतापि यदीदृक्षो दृष्टोऽत्र विधिना ततः । किमर्थं क्लेशितो बाल्ये गोकुले धिग्विधीहितम् ॥७४॥
लोकान्धीकरणे दक्षां धीरधैर्यविलोपिनीम् । [2]बन्धकीमिव धिग्लक्ष्मीं परसंक्रमकाङ्क्षिणीम् ॥७५॥
ध्यायन्नित्यादि निश्चित्य मृत्युकालमुपस्थितम् । प्रकृत्यैव जरासन्धः कृष्णमित्याह निर्भयः ॥७६॥
क्षिप चक्रं किमर्थं त्वं गोप ! कालमुपेक्षसे । कालस्योत्क्षेपको मुग्ध ! दीर्घसूत्री विनश्यति ॥७७॥
इत्युक्तस्तं प्रति प्राह प्रकृत्या प्रश्रयी हरिः । चक्रवर्त्यहमुद्भूतः शासने मम तिष्ठ भोः ॥७८॥
अपकारे प्रवृत्तस्त्वमस्माकं यद्यपि स्फुटम् । तथापि मृष्यतेऽस्माभिर्नतिमात्रप्रसादिभिः ॥७९॥
तथोदितः स तं प्राह प्रसभं [3]गर्वनिर्भरः । चक्रं नालातचक्रं मे किमनेन स्मयं गतः ॥८०॥
अथवादृष्टकल्याणः स्वल्पेनाल्पः स्मयीभवेत् । न महान् दृष्टकल्याणः मत्स्मयो [4]महतापि हि ॥८१॥
सह दशार्हचक्रेण[5] चक्रेणानेन च त्वकम् । नृपचक्रेण त्वामाशु समुद्रे प्रक्षिपामि भोः ॥८२॥
इत्युक्ते कुपितश्चक्री चक्रं [6]प्रभ्राम्य सोऽमुचत् । [7]भूभृतस्तेन गत्वारं वक्षोभित्तिरभिद्यत ॥८३॥
आगतं च पुनः पाणिं चक्रपाणेः क्षणेन तत् । प्रयुक्तस्य कृतार्थस्य कालक्षेपो हि निष्फलः ॥८४॥
पाञ्चजन्यं हरिः शङ्खं दध्मौ यदुमनोहरम् । नेमिपार्थबलाग्रण्यो गण्या दध्मुर्निजाम्बुजम् ॥८५॥

है वह सत्य ही कहा जाता है रंचमात्र भी अन्यथा नहीं है ।।७२।। मैं गर्भसे ही ईश्वर था और बड़ेसे-बड़े लोगोंके लिए अलंघनीय था फिर भी गर्भके प्रारम्भसे ही क्लेश उठानेवाले एक छोटेसे व्यक्तिके द्वारा क्यों जीता जा रहा हूँ ? ।।७३।। यदि ऐसा साधारण व्यक्ति भी, विधाताके द्वारा मेरा जीतनेवाला देखा गया था तो फिर इसे बाल्य अवस्थामें गोकुलमें नाना क्लेश क्यों उठाने पड़े ? इसलिए विधिकी इस चेष्टाको धिक्कार है ।।७४।। जो लोगोंको अन्धा बनानेमें दक्ष है, धीर-वीर मनुष्योंके भी धैर्यको नष्ट करनेवाली है तथा जो वेश्याके समान अन्य पुरुषके पास जानेकी इच्छा रखती है ऐसी इस लक्ष्मीको धिक्कार है ।।७५।। इत्यादि विचार करते-करते जरासन्धको यद्यपि यह निश्चय हो चुका था कि हमारा मरणकाल आ चुका है तथापि वह प्रकृतिसे निर्भय होनेके कारण कृष्णसे इस प्रकार बोला ।।७६।। अरे गोप ! तू चक्र चला, व्यर्थ ही समयकी उपेक्षा क्यों कर रहा है ? अरे मूर्ख ! समयकी उपेक्षा करनेवाला दीर्घसूत्री मनुष्य अवश्य ही नष्ट होता है ।।७७।।

जरासन्धके इस प्रकार कहनेपर स्वभावसे विनयी कृष्णने उससे कहा कि मैं चक्रवर्ती उत्पन्न हो चुका हूँ इसलिए आजसे मेरे शासनमें रहिए ।।७८।। यद्यपि यह स्पष्ट है कि तुम हमारा अपकार करनेमें प्रवृत्त हो तथापि हम नमस्कार मात्रसे प्रसन्न हो तुम्हारे अपकारको क्षमा किये देते हैं ।।७९।। श्रीकृष्णके इस प्रकार कहनेपर अहंकारसे भरे हुए जरासन्धने जोर देकर कहा—अरे यह चक्र तो मेरे लिए अलात चक्रके समान है तू इससे अहंकारको क्यों प्राप्त हो गया है ? ।।८०।। अथवा जिसने कभी कल्याण देखा ही नहीं ऐसा क्षुद्र मनुष्य थोड़ा-सा वैभव पाकर ही अहंकार करने लगता है और जिसने कल्याण देखा है ऐसा महान् पुरुष बहुत भारी वैभव पाकर भी अहंकार नहीं करता ।।८१।। मैं तुझे यादवोंके साथ, इस चक्रके साथ तथा तेरी सहायता करनेवाले अन्य राजाओंके साथ शीघ्र ही समुद्रमें फेंकता हूँ ।।८२।। जरासन्धके इस प्रकार कहनेपर चक्रवर्ती कृष्णने कुपित हो घुमाकर चक्ररत्न छोड़ा और उसने शीघ्र ही जाकर जरासन्धकी वक्षःस्थलरूपी भित्तिको भेद दिया ।।८३।। वह चक्ररत्न जरासन्धको मारकर क्षण-भरमें पुनः कृष्णके हाथमें आ गया सो ठीक ही है क्योंकि भेजे हुए व्यक्तिके कृतकार्य हो चुकनेपर कालक्षेप करना निष्फल है ।।८४।। कृष्णने यादवोंके मनको हरण करने-

---

१. क्लेदिना म० । २. वेश्यामिव । ३. गर्भनिर्भरः म० । ४. महतामपि म०, ङ०, ख० । ५. चक्रेण ङ । ६. प्रभृत्य ङ । ७. प्रभृतः म० ।

वादित्रध्वनयो धीरा क्षुभिताब्धिस्वनोपमाः । प्रभूताः प्रादुरभवंस्तथैवाभयघोषणाः ॥८६॥
स्वसैन्यं परसैन्यं च संन्यस्तस्वभयं ततः । अनुकम्पाभ्युपेत्य वासुदेवस्य शासने ॥८७॥
नृपो दुर्योधनो द्रोणस्तथा दुःशासनादयः । निर्विण्णा विदुरस्यान्ते जैनीं दीक्षां प्रपेदिरे ॥८८॥
कर्णः सुदर्शनोद्याने दीक्षां दमवरान्तिके । जग्राह रणदीक्षान्ते निर्वाणफलदायिनीम् ॥८९॥
तत्सुवर्णाक्षरं यत्र कर्णकुण्डलमत्यजत् । कर्णः कर्णसुवर्णाख्यं स्थानं तत्कीर्तितं जनैः ॥९०॥
गतो मातलिरापृच्छ्य सेवेयं स्वामिनोऽन्तिकम् । यादवाः शिबिरस्थानं निजं जग्मुः सपार्थिवाः ॥९१॥

पृथ्वीच्छन्दः

निरीक्ष्य मधुसूदनेन युधि मारितं मागधं हतं दिनकृदम्बुधावकृत मज्जनं सज्जनः ।
शुचा प्रकटरोदनादिव दधन्मुखं दिग्मुखैर्जपाकुसुमपाटलं स्विव जलाञ्जलेर्दित्सया ॥९२॥
भजन्ति खलु जन्तवः कृतशुभोदये संपदां प्रचण्डपुरुषान्तराक्रमणकारिणीं तत्क्षये ।
भजेद्विपदमप्यतो जिनमते जना निर्मलं कुरुध्वमपुनर्भवप्रभवहेतुभूतं तपः ॥९३॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ जरासन्धवधवर्णनो नाम द्वापञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५२॥

वाला अपना पाञ्चजन्य शङ्ख फूँका और भगवान् नेमिनाथ, अर्जुन तथा सेनापति अनावृष्टिने भी अपने-अपने शङ्ख फूँके ॥८५॥ क्षोभको प्राप्त समुद्रके शब्दके समान बाजोंके गम्भीर शब्द होने लगे और चारों ओर अभय घोषणाएँ प्रकट की गयीं ॥८६॥ जिससे स्वसेना और परसेना अपना-अपना भय छोड़ बिना कुछ कहे ही—चुपचाप आकर श्रीकृष्णकी आज्ञाकारिणी हो गयीं ॥८७॥ राजा दुर्योधन, द्रोण तथा दुःशासन आदिने संसारसे विरक्त हो मुनिराज विदुरके समीप जिनदीक्षा धारण कर ली ॥८८॥ राजा कर्णने भी रणदीक्षाके बाद सुदर्शन नामक उद्यानमें दमवर मुनिराजके समीप मोक्षफलको देनेवाली दीक्षा ग्रहण कर ली ॥८९॥ राजा कर्णने जिस स्थानपर सुवर्णके अक्षरोंसे भूषित कर्णकुण्डल छोड़े थे उस स्थानको लोग कर्ण-सुवर्ण कहने लगे ॥९०॥ 'क्या मैं अपने स्वामीकी सेवा करूँ ?' यह पूछ कर मातलि अपने स्वामी इन्द्रके पास चला गया और यादव भी अन्य अनेक राजाओंके साथ अपने-अपने शिविरमें चले गये ॥९१॥

उस समय सूर्य अस्त हो गया और सन्ध्याकी लालिमा दशों दिशाओंमें फैल गयी, उससे ऐसा जान पड़ने लगा मानो संग्राममें श्रीकृष्ण-द्वारा मारे गये जरासन्धको देखकर सहृदय सूर्य पहले तो शोकके कारण खूब रोया इसलिए उसका मुख जपाकुसुमके समान लाल हो गया और पश्चात् जलाञ्जलि देनेकी इच्छासे उसने समुद्रमें मज्जन किया है ॥९२॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि ये संसारके प्राणी, शुभ कर्मका उदय होनेपर बड़ेसे-बड़े पुरुषोंपर आक्रमण करनेवाली सम्पदाको प्राप्त होते हैं और शुभ कर्मका उदय नष्ट होनेपर विपत्तियाँ भी भोगते हैं इसलिए हे भव्यजनो ! जिनमतमें स्थिर हो मोक्ष-प्राप्तिमें कारणभूत निर्मल तप करो ॥९३॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें जरासन्धके वधका वर्णन करनेवाला बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः

अथाऽभ्युदयमभ्येते हरिदश्वे हराविव । परालङ्घ्यमहातेजः[1] प्रसाधितहरिन्मुखे ॥१॥
कृतेषु [2]व्रणभङ्गेषु प्रवीराणामितोऽमुतः । संस्कारेषु [3]तथान्त्येषु जरासन्धादिभूभृताम् ॥२॥
आस्थाने ते यथास्थानं समुद्रविजयादयः । राजानो हरिणासीना वसुदेवागमोन्मुखाः ॥३॥
किमर्थं क्षेमवार्ता नो नायात्यानकदुन्दुभेः । सपुत्रनप्तृकस्याद्रिं गतस्यैति हि खेचरम् ॥४॥
इत्यन्योन्याश्रितालापास्ते नृपा यावदासते । धेनुवत्ससमस्वान्ता बालवृद्धपुरःसराः ॥५॥
तावदुद्योतिताशास्ता विद्याधर्यः खविद्युतः । वेगवत्या सहागत्य नागवध्वा कृताशिषः ॥६॥
[4]अगुरद्य कृतार्था वो गुरुदत्ताशिषोऽखिलाः । सुतेन मागधो ध्वस्तो यत्र पित्रा नभश्चराः ॥७॥
सपुत्रनप्तृकः क्षेमी क्षेमिणो प्रणयी स वः । यथाज्येष्ठं नमस्यन्नङ्घ्रीन् सुतानाश्लेषयत्यपि ॥८॥
इति श्रुत्वा प्रमोदेन ते प्रहृष्टतनूरुहाः । पप्रच्छुः खेचरास्तेन विजिताः कथमित्यमूः ॥९॥
ऊचे [5]वनवती देवी वसुदेवहितोद्यता[6] । श्रूयतां वसुदेवस्य रणे सामर्थ्यमित्यसौ ॥१०॥
गत्वा स विजयार्धाद्रिं श्वसुरश्यालपूर्वकैः । एकीभूय खगैः खेटानरुणद्रणदक्षिणः ॥११॥
समग्रबलयुक्तास्ते[7] ततस्तेन पुरस्कृताः । रणे मागधसाहाय्यं विरहय्य युधि स्थिताः ॥१२॥

अथानन्तर दूसरे दिन, शत्रुओंके द्वारा अलङ्घ्य महातेजके द्वारा दिशाओंके मुखको अलंकृत करनेवाले कृष्णके समान जब सूर्य उदयको प्राप्त हुआ तब इधर यादवोंकी सेनामें सुभटोंके घाव अच्छे किये गये और उधर जरासन्ध आदि राजाओंके अन्तिम संस्कार सम्पन्न किये गये ॥ १–२ ॥ एक दिन समुद्रविजय आदि राजा, सभामण्डपमें कृष्णके साथ यथास्थान बैठे हुए वसुदेवके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥ ३ ॥ वे परस्परमें चर्चा कर रहे थे कि पुत्र और नातियोंके साथ विजयार्ध पर्वतपर गये हुए वसुदेवको बहुत समय हो गया पर आज तक उनकी कुशलताका समाचार क्यों नहीं आया ? ॥ ४ ॥ इस प्रकार जो परस्पर वार्तालाप कर रहे थे, जिनके हृदय गाय और बछड़ेके समान स्नेहसे सराबोर थे एवं जो बालक और वृद्धजनोंसे युक्त थे ऐसे सब राजा यथास्थान बैठे ही थे कि उसी समय आकाशमें चमकती हुई बिजलीके समान, अपने उद्योतसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली अनेक विद्याधरियाँ वेगवती नागकुमारीके साथ वहाँ आ पहुँचीं और आशीर्वाद देती हुई कहने लगीं कि आप लोगोंको गुरुजनोंने जो आशीर्वाद दिये थे वे आज सब सफल हो गये। इधर पुत्रने जरासन्धको नष्ट किया है तो उधर पिताने विद्याधरोंको नष्ट कर दिया है ॥५–७॥ पुत्र और नातियोंसे सहित तथा आप लोगोंके स्नेहसे युक्त वसुदेव अच्छी तरह हैं और अपनेसे ज्येष्ठ जनोंके चरणोंमें प्रणाम और पुत्रोंके प्रति आलिङ्गनका सन्देश कह रहे हैं ॥ ८ ॥

विद्याधरियोंके मुखसे यह समाचार सुनकर हर्षकी अधिकतासे जिनके रोमाञ्च निकल आये थे ऐसे सब राजाओंने उनसे पूछा कि वसुदेवने विद्याधरोंको किस प्रकार जीता था ? ॥ ९ ॥ यह सुन वसुदेवके हित करनेमें उद्यत रहनेवाली नागकुमारी देवीने कहा कि वसुदेवने रणमें जो सामर्थ्य दिखायी उसे ध्यानसे सुनिए ॥१०॥ युद्धमें निपुण वसुदेवने विजयार्ध पर्वतपर जाकर अपने श्वसुर और साले आदि विद्याधरोंसे मिलकर यहाँ आनेवाले विद्याधरोंको रोका ॥११॥ तदनन्तर समग्र सेनासे युक्त उन विद्याधरोंका जब वसुदेवने रणमें सामना किया तो वे जरासन्धकी सहायता छोड़कर स्वयं युद्धमें संलग्न हो गये ॥ १२ ॥

१. महत्तेजः म० । २. व्रणभङ्गेषु म०, ख० । ३. तथान्त्येषु म०, क० । ४. अग्मु- म० । ५. धनवती म० । ६. हितोद्यताः म० । ७. युक्तांस्ते म० ।

बलद्वयस्य संपाते जाते तत्र ततोऽन्वभूत् । प्रजानां प्रलयाशङ्का भयव्याकुलचेतसाम्[1] ॥१३॥
द्वन्द्वयुद्धे प्रवृत्तेऽस्मिन् नृवाजिरथहस्तिनाम् । अन्योन्यं न्यायतोऽन्योन्यमवधीत्सैन्ययोर्द्वयम् ॥१४॥
आनकेन सपुत्रेण प्रद्युम्नेनाभिमानिना । तथा शम्बेन पक्षेण खेचराणां जनेन च ॥१५॥
हेतिज्वालाकलापैरेभिः शत्रुभूभृत्कदम्बकम् । भस्मीकुर्वद्भिरत्युत्तैर्लोकैर्दावानलायितम् ॥१६॥
अत्रान्तरे सुरैस्तुष्टैस्तस्मिन्नुद्घुष्टमम्बरे[2] । नवमो वासुदेवोऽभूद्वसुदेवस्य नन्दनः ॥१७॥
निहतश्च जरासन्धस्तच्चक्रेणैव संयुगे । प्रतिशत्रुर्गुणद्वेषी वासुदेवेन चक्रिणा ॥१८॥
इत्युक्त्वा वसुदेवस्य रथस्योपरि पातिता । नानारत्नमयी वृष्टिः कौमुदीव दिवः सुरैः ॥१९॥
गिरस्ता महतीं श्रुत्वा ततस्ते रिपुखेचराः । त्रस्ताः शरणमायाता वसुदेवमितोऽमुतः ॥२०॥
वसुदेवस्य पुत्राणां शम्बप्रद्युम्नवीरयोः । वसुदेवमुपाश्रित्य कन्या विद्याधरा ददुः ॥२१॥
वयं तु वसुदेवोक्ता युष्मदन्तिकमागताः । क्षेमोदन्तं तथैवास्य निवेदयितुमागताः ॥२२॥
नानाविद्याधराधीशा नानाप्राभृतपाणयः[3] । आनकेन सहायान्ति तं नारायणभक्तितः ॥२३॥
[4]यावद्धनवती तेषामितीष्टं कथयत्यसौ । तावद्विमानसङ्घातैः खेटानामावृतं नभः ॥२४॥
अवतीर्य विमानेभ्यो वसुदेवानुयायिनः । वासुदेवं बलोपेतं प्रणेमुः प्राभृतान्विताः ॥२५॥
अभ्युत्थाय ततो भक्तौ पितरं रामकेशवौ । प्रणेमतुरनेनापि तावाश्लिष्याभिनन्दितौ ॥२६॥
ज्येष्ठानपूजयत्सर्वान्प्रणम्यानकदुन्दुभिः । प्रद्युम्नाद्या यथायोग्यं प्रणेमुर्गुरुबान्धवान् ॥२७॥
यथाक्रमं नमोयाताः केशवेन बलेन च । प्रतिसम्मानिताः सर्वे सफलं जन्म मेनिरे ॥२८॥

तत्पश्चात् वहाँ जब दोनों सेनाओंमें घोर युद्ध होने लगा तब लोगोंको प्रलयकी आशङ्का होने लगी और उनके चित्त भयसे व्याकुल हो उठे ॥१३॥ हाथी, घोड़े, रथ और प्यादोंका द्वन्द्व युद्ध होनेपर दोनों सेनाएँ परस्पर न्यायपूर्वक एक-दूसरेका बध करने लगीं ॥ १४ ॥ वसुदेव, उनके पुत्र, अभिमानी प्रद्युम्न, शम्ब तथा पक्षके अनेक विद्याधर ये सब शस्त्ररूपी ज्वालाओंको धारण कर शत्रुरूपी राजाओंके समूहको भस्म कर रहे थे एवं बड़ी चपलताके साथ सामने आये थे इसलिए दावानलके समान जान पड़ते थे ॥ १५–१६ ॥ इसी अवसरपर सन्तुष्ट हुए देवोंने आकाशमें यह घोषणा की कि वसुदेवका पुत्र कृष्ण नौवाँ नारायण हुआ है और उसने चक्रधारी होकर अपने गुणोंमें द्वेष रखनेवाले प्रतिशत्रु जरासन्धको उसीके चक्रसे युद्धमें मार डाला है। यह कहकर देवोंने आकाशसे चाँदनीके समान नानारत्नमयी वृष्टि वसुदेवके रथपर करनी प्रारम्भ कर दी ॥१७–१९ ॥ तदनन्तर शत्रु विद्याधर देवोंकी उक्त वाणी सुनकर भयभीत हो गये और जहाँ-तहाँसे एकत्रित हो वसुदेवकी शरणमें आने लगे ॥२०॥ उन्होंने वसुदेवके पास आकर उनके पुत्रोंको एवं प्रद्युम्न कुमार और शम्ब कुमारको अपनी अनेक कन्याएँ प्रदान कीं ॥ २१ ॥ हम लोग वसुदेवकी प्रेरणा पाकर यह कुशल समाचार सुनानेके लिए आपके पास आयी हैं ॥२२॥ नारायणकी भक्तिसे प्रेरित हुए अनेक विद्याधर राजा, नाना प्रकारके उपहार हाथमें लिये वसुदेवके साथ आ रहे हैं ॥२३॥ इस प्रकार वनवती (नागकुमारी) देवी जबतक उन्हें यह इष्ट समाचार सुनाती है तबतक विद्याधरोंके विमानोंके समूहसे आकाश व्याप्त हो गया ॥ २४ ॥ वसुदेवके अनुयायी विद्याधरोंने विमानोंसे उतर कर बलदेव और कृष्णको नमस्कार किया तथा नाना प्रकारके उपहार समर्पित किये ॥ २५ ॥ तदनन्तर भक्तिसे भरे बलदेव और नारायणने पिताको नमस्कार किया और पिताने भी दोनोंका आलिङ्गन कर उनकी बहुत प्रशंसा की ॥ २६ ॥ वसुदेवने समुद्रविजय आदि समस्त गुरुजनोंको प्रणाम किया एवं प्रद्युम्न आदिने भी गुरुजनों एवं भाई-बान्धवोंको यथायोग्य नमस्कार किया ॥ २७ ॥ नारायण और बलभद्रने यथायोग्य जिनका सत्कार किया था ऐसे समस्त विद्याधरोंने अपना-

१. चेतसा म० । २. न्नुत्कृष्टसंगरे म० । ३. प्रभृतपाणयः म० । ४. यावद्धनवती म० ।

समस्तबलसंयुक्तौ प्रतीचीं बलकेशवौ । प्रयातौ प्रमदापूर्णौ पूर्णसर्वमनोरथौ ॥२९॥
आनन्दं ननृतुर्यत्र यादवा मागधे हते । आनन्दपुरमित्यासीत्तत्र जैनालयाकुलम् ॥३०॥
ततश्चक्रमहं कृत्वा सर्वरत्नान्वितो हरिः । दक्षिणं भारतं जिग्ये सदेवासुरमानुषम् ॥३१॥
वर्षैरष्टाभिरिष्टार्थैः सेव्यमानोऽनुवासरम् । जितजेयो ययौ कृष्णः स कोटिकशिलां प्रति ॥३२॥
यतस्तस्यामुदारायामनेका ऋषिकोटयः । सिद्धास्ततः प्रसिद्धात्र लोके कोटिकशिला शिला ॥३३॥
शिलायां तत्र कृत्वादौ पवित्रायां बलिक्रियाम् । दोर्भ्यामुत्क्षिपतिस्मासौ तां विष्णुश्चतुरङ्गुलम् ॥३४॥
सा शिला योजनोच्छ्राय समायोजनविस्तृता । अर्धभारतवर्षस्थदेवतापरिरक्षिता ॥३५॥
तद्बाहुनोर्ध्वमुत्क्षिप्ता त्रिपृष्ठेन शिला पुरा । मूर्द्धदघ्नं द्विपृष्ठेन कण्ठदघ्नं स्वयम्भुवा ॥३६॥
वक्षोद्वयमुत्क्षिप्ता च पुरुषोत्तमचक्रिणा । क्षिप्ता पुरुषसिंहेन हृदयावधि हारिणी ॥३७॥
पुण्डरीकः कटीमात्रमूरुदघ्नं हि दत्तकः । जानुमात्रं च सौमित्रिः कृष्णोऽधाच्चतुरङ्गुलम् ॥३८॥
प्रधानपुरुषादीनां सर्वेषां हि युगे युगे । भिद्यते कालभेदेन शक्तिः शक्तिमतामपि ॥३९॥
शिलाबलेन विज्ञातो महाकायबलो बलैः । सोऽनुयातो ययौ चक्री द्वारिकां प्रतिबान्धवैः ॥४०॥
प्रविष्टश्च विशिष्टानामाशीर्भिरभिनन्दितः । द्वारिकां द्वारकान्तां स कृतशोभां दिवं यथा ॥४१॥

अपना जन्म सफल माना ॥२८॥

तदनन्तर जिनके सर्व मनोरथ पूर्ण हो गये थे तथा जो हर्षसे परिपूर्ण थे ऐसे बलदेव और नारायणने समस्त सेनाको साथ ले पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥ २९ ॥ जरासन्धके मारे जानेपर यादवोंने जिस स्थानपर आनन्द-नृत्य किया था वह स्थान आनन्दपुरके नामसे प्रसिद्ध और जैन-मन्दिरोंसे व्याप्त हो गया ॥ ३० ॥ तदनन्तर सब रत्नोंसे सहित नारायणने, चक्ररत्नकी पूजा कर देव, असुर और मनुष्योंसे सहित दक्षिण भरत-क्षेत्रको जीता ॥ ३१ ॥ लगातार आठ वर्षों तक प्रतिदिन मनोवाञ्छित पदार्थोंने जिनकी सेवा की थी और जीतने योग्य समस्त राजाओंको जिन्होंने जीत लिया था ऐसे श्री कृष्ण अब कोटिक शिलाकी ओर गये ॥ ३२ ॥ चूँकि उस उत्कृष्ट शिलापर अनेक करोड़ मुनिराज सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हुए हैं इसलिए वह पृथ्वीमें कोटिक शिलाके नामसे प्रसिद्ध है ॥३३॥ श्रीकृष्णने सर्व-प्रथम उस पवित्र शिलापर पूजा की और उसके बाद अपना दोनों भुजाओंसे उसे चार अंगुल ऊपर उठाया ॥ ३४ ॥ वह शिला एक योजन ऊँची, एक योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी है तथा अर्ध भरतक्षेत्रमें स्थित समस्त देवोंके द्वारा सुरक्षित है ॥ ३५ ॥ पहले त्रिपृष्ठ नारायणने इस शिलाको जहाँतक भुजाएँ ऊपर पहुँचती हैं वहाँतक उठाया था । दूसरे द्विपृष्ठने मस्तक तक, तीसरे स्वयंभूने कण्ठ तक, चौथे पुरुषोत्तमने वक्षःस्थल तक, पाँचवें नृसिंहने हृदय तक, छठवें पुण्डरीकने कमर तक, सातवें दत्तकने जाँघों तक, आठवें लक्ष्मणने घुटनों तक, और नवें कृष्ण नारायणने उसे चार अङ्गुल तक ऊपर उठाया था ॥ ३६–३८ ॥ क्योंकि युग-युगमें कालभेद होनेसे प्रधान पुरुषको आदि लेकर सभी शक्ति-शाली मनुष्योंकी शक्ति भिन्न-भिन्न रूप होती आयी है ॥ ३९ ॥ शिला उठानेके बलसे समस्त सेनाने जान लिया कि श्रीकृष्ण महान् शारीरिक बलसे सहित हैं । तदनन्तर चक्ररत्नको धारण करनेवाले श्रीकृष्ण बान्धवजनोंके साथ द्वारिकाकी ओर वापस आये ॥ ४० ॥ वहाँ वृद्धजनोंने नाना प्रकारके आशीर्वादोंसे जिनका अभिनन्दन किया था ऐसे श्रीकृष्ण नारायणने मनोहर गोपुरोंसे सुन्दर एवं स्वर्गके समान सजी हुई द्वारिकापुरीमें प्रवेश किया ॥ ४१ ॥

---

१. आनन्दे ननृदु– म० । २. सेवमानो नु वासरम् म० । ३. लोके कोटिशिला शिला म० । ४. योजनोच्छ्राया समा- म० । ५. सानुयातो म० ।

यथायोग्यं समोग्यास्ते भूनभोयानभूभृतः। प्रासादेषु स्थिताः सुस्था द्वारिकायां यथाविधि ॥४२॥
अभिषिक्तौ ततः सर्वैर्भूपैर्भूचरखेचरैः। भरतार्धविभुत्वे तौ प्रसिद्धौ रामकेशवौ ॥४३॥
संस्थाप्य सहदेवं स चक्री राजगृहे नृपम्। मागधानां चतुर्भागं ददौ तस्मै गतस्मयः ॥४४॥
उग्रसेनसुतायादाद्द्वाराय[1] मथुरां पुरीम्। स महानेमये शौर्यनगरं प्रददौ नृपः ॥४५॥
श्रीहास्तिनपुरं प्रीत्या पाण्डवेभ्यः प्रियं हरिः। [2]कोशलं रुक्मनाभाय रुधिरात्मजसूनवे ॥४६॥
भूचरान् खेचरान्भूपानौचित्येन समागतान्। स्थानेषु स्थापनां चक्रे चक्रपाणिर्यथायथम् ॥४७॥
विसृष्टाश्च यथास्थानं यातास्ते पाण्डवादयः। आरेमुर्द्वारिकायां तु यादवास्त्रिदशा यथा ॥४८॥

वसन्ततिलका

चक्रं सुदर्शनमदृष्टमुखं[3] रिपूणां शार्ङ्गं धनुर्ध्वननभूतविपक्षपक्षम्।
सौनन्दकोऽपि च गदापि च कौमुदी सा मोघेतरा रिपुषु शक्तिरमोघमूला ॥४९॥
शङ्खश्च [4]शङ्खखचितस्य स पाञ्चजन्यः श्रीकौस्तुभो मणिरभावनणुप्रतापः।
रत्नानि सप्त महितानि हरेर्हितानि भ्राजन्ति दिव्यमयमूर्तियुतानि तानि ॥५०॥
दिव्यायुधं हलममादपराजिताख्यं दिव्या गदामुसलशक्त्यथ तंसमालाः।
रत्नानि पञ्च महितानि हलायुधस्य हेलाविधूतरिपुमण्डलविभ्रमस्य ॥५१॥
राज्ञां स षोडशसहस्रगुणैर्गुणज्ञैर्गण्यैर्गुणी प्रणतमूर्धभिरर्धचक्री।

जो भूमिगोचरी और विद्याधर राजा उनके साथ लौटकर आये थे उन्हें यथायोग्य भोग्य सामग्री दी गयी और वे द्वारिकपुरीके महलोंमें विधिपूर्वक निश्चिन्ततासे ठहराये गये थे ॥४२॥

तदनन्तर समस्त भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओं ने अतिशय प्रसिद्ध बलदेव और श्रीकृष्णको अर्ध भरतक्षेत्रके स्वामित्वपर अभिषिक्त किया अर्थात् राज्याभिषेक कर उन्हें अर्ध भरतक्षेत्रका स्वामी घोषित किया ॥ ४३ ॥ तत्पश्चात् चक्ररत्नके धारक श्रीकृष्णने जरासन्धके द्वितीय पुत्र सहदेवको राजगृहका राजा बनाया और उसे निरहङ्कार होकर मगध देशका एक चौथाई भाग प्रदान किया ॥४४॥ उग्रसेनके पुत्र द्वारके लिए मथुरापुरी दी, महानेमिके लिए शौर्यपुर दिया ॥ ४५ ॥ पाण्डवोंके लिए प्रीतिपूर्वक उनका प्रिय हस्तिनापुर दिया और राजा रुधिरके नाती रुक्मनाभके लिए कोशल देश दिया ॥ ४६ ॥ इस प्रकार चक्रपाणि-श्रीकृष्णने आये हुए समस्त भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंकी यथायोग्य स्थानोंपर स्थापना की—यथायोग्य स्थानोंका उन्हें राजा बनाया ॥ ४७ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णसे विदा लेकर पाण्डव आदि यथास्थान चले गये और यादव देवोंके समान द्वारिकामें क्रीड़ा करने लगे ॥ ४८ ॥

शत्रुओंका मुख नहीं देखनेवाला सुदर्शन चक्र, अपने शब्दसे शत्रुपक्षको कम्पित करनेवाला शार्ङ्ग धनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, शत्रुओंपर कभी व्यर्थ नहीं जानेवाली अमोघमूला शक्ति, पाञ्चजन्य शङ्ख और विशाल प्रतापको प्रकट करनेवाला कौस्तुभ मणि; शङ्खके चिह्नसे चिह्नित श्रीकृष्णके ये सात रत्न थे। ये सातों रत्न देवोंके द्वारा पूजित, अतिशय हितकारी और दिव्य आकारसे युक्त होते हुए अत्यन्त सुशोभित थे ॥४९-५०॥ शत्रु-समूहके विभ्रमको अनायास ही नष्ट करनेवाले बलदेवके, अपराजित नामक दिव्य हल, दिव्य गदा, दिव्य मुसल, दिव्य शक्ति और दिव्य माला ये पाँच रत्न थे। बलभद्रके भी ये पाँचों रत्न देवोंके द्वारा पूजित थे ॥ ५१ ॥ गुणोंको जाननेवाले, गणनीय एवं नतमस्तक सोलह-

१. सुतायाद्वीराय क०, सुतायादाद्द्वाराय म० । २. कोशलां म० । ३. सुखं म० । ४. शङ्खाख्येन लक्षणेन खचितस्य (क० टि०) ।

भक्तैस्तदर्ध[1]गणनैर्गणबद्धदेवैराज्ञाकरैः सुखमसेवत सेव्यमानः ॥५२॥

शार्ङ्गी स षोडशसहस्रवराङ्गनानां देवाङ्गनाललितविभ्रमहारिणीनाम् ।
सङ्गैः क्रमेण रतिभूपनिषेविताङ्गो रेमे तदर्धगणनैस्तु हली सुदारैः ॥५३॥

मालिनीच्छन्दः

हिमशिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरत्सु प्रिययुवतिसहाया यादवा द्वारिकायाम् ।
जिनमतकृतधर्मा योग्यदेशेषु [2]भोगैरविरतरतिरागा रेमिरे सार्वभौमाः ॥५४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ कृष्णविजयवर्णनो नाम त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥५३॥

हजार प्रमुख राजा और आठ हजार आज्ञाकारी, भक्त, गणबद्ध देव जिनकी निरन्तर सेवा करते थे ऐसे श्रीकृष्ण सुखका उपभोग करते थे ॥ ५२ ॥ रतिकालमें देवाङ्गनाओंके समान सुन्दर हाव-भावोंसे मनको हरनेवाली सोलह हजार स्त्रियाँ श्रीकृष्णके शरीरकी सेवा करती थीं और उनसे आधी अर्थात् आठ हजार उत्तम स्त्रियाँ बलदेवके शरीरकी सेवा करती थीं। श्रीकृष्ण और बलदेव अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ यथेच्छ क्रीड़ा करते थे ॥५३॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो जिन-धर्मको धारण करनेवाले थे, जिनके रति और रागमें कभी व्यवधान नहीं पड़ता था, प्रिय युवतियाँ ही जिनकी सहायक थीं और जो समस्त भूमिके अधिपति थे ऐसे यादव लोग, द्वारिकापुरीमें हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ऋतुके योग्य स्थानोंमें मनचाहे भोग भोगते हुए क्रीड़ा करते थे ॥५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कृष्णविजयका वर्णन करनेवाला तिरेपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५३ ॥

१. गुणनैः क०, ख०, ग०, घ० । २. योगैः म० ।

चतुःपञ्चाशः सर्गः

श्रेणिकेन पुनः पृष्टश्चेष्टितं पाण्डवोद्भवम् । सन्देहध्वान्तघातार्को गौतमः स जगौ गणी ॥१॥
स्थितेषु हास्तिनपुरे पाण्डवेषु यथाक्रमम् । निजस्वामिपरिप्राप्त्या तुतुषुः कुरवोऽधिकम् ॥२॥
सौराज्ये पाण्डुपुत्राणां वर्तमाने सुखावहे । सर्वे वर्णाश्रमा राष्ट्रे धार्तराष्ट्रान् विसस्मरुः ॥३॥
अखण्डितगतिः प्राप्तः कदाचित्पाण्डवालयम् । नारदश्चण्डचित्तोऽसौ प्रकृत्या कलहप्रियः ॥४॥
आदरेण स तैर्दृष्टः प्रविशन्निस्सरन्नपि । व्यग्रयालङ्कृतौ तन्व्या द्रौपद्या तु न लक्षितः ॥५॥
ततो जज्वाल कोपेन तैलासङ्गादिवानलः । सज्जनावसरज्ञो न प्राणी सम्मानदुःखितः ॥६॥
स तद्दुःखविधानाय कृतेच्छः कृतनिश्चयः । धातकीखण्डपूर्वार्धभारतं प्रति खे ययौ ॥७॥
अङ्गेष्वमरकङ्कायां पुरि शङ्काविवर्जितः । स्त्रीलोलं पद्मनामाख्यं [1]सामिख्यं दृष्टवान्नृपम् ॥८॥
तेनान्तःपुरमात्मीयमात्मीयस्यास्य दर्शितम् । पृष्टश्च दृष्टमीदृक्षं स्त्रीरूपं क्वचिदित्यसौ ॥९॥
पर्यस्तं मन्यमानोऽयं पायसेऽभिमतं घृतम् । द्रौपदीरूपलावण्यं लोकातीतमवर्णयत् ॥१०॥
तं द्रौपदीमयं [2]ग्राहं ग्राहयित्वा स नारदः । द्वीपक्षेत्रपुरावासकथनः क्वापि यातवान् ॥११॥
आराधयदसौ तीव्रतपसा द्रौपदीप्सया । सुरं संगमकाभिख्यं पातालान्तर्वासिनम् ॥१२॥
आराधितेन देवेन पद्मनाभपुरीं निशि । सा सुप्तैव समानीता पार्थस्य वनिता प्रिया ॥१३॥

अथानन्तर राजा श्रेणिकने पुनः पाण्डवोंकी चेष्टा पूछी सो सन्देहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए सूर्यके समान गौतम गणधर इस प्रकार कहने लगे ॥१॥

जब पाण्डव हस्तिनापुरमें यथायोग्य रीतिसे रहने लगे तब कुरु देशकी प्रजा अपने पूर्वस्वामियोंको प्राप्तकर अत्यधिक सन्तुष्ट हुई ॥२॥ पाण्डवोंके सुखदायक सुराज्यके चालू होनेपर देशके सभी वर्ण और सभी आश्रम धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदिको सर्वथा भूल गये ॥३॥ एक दिन सर्वत्र बे-रोक-टोक गमन करनेवाले, क्रुद्ध हृदय और स्वभावसे कलहप्रेमी नारद, पाण्डवोंके घर आये ॥४॥ पाण्डवोंने नारदको बहुत आदरसे देखा परन्तु जब वे द्रौपदीके घर गये तब वह आभूषण धारण करनेमें व्यग्र थी इसलिए कब नारदने प्रवेश किया और कब निकल गये यह वह नहीं जान सकी ॥५॥ नारदजी, द्रौपदीके इस व्यवहारसे तेलके सङ्गसे अग्निके समान, क्रोधसे जलने लगे सो ठीक ही है क्योंकि जो प्राणी सम्मानसे दुखी होता है वह सज्जनोंके भी अवसरको नहीं जानता ॥६॥ उन्होंने द्रौपदीको दुःख देनेका दृढ़ निश्चय कर लिया और उसी निश्चयके अनुसार वे पूर्वधातकीखण्डके भरत क्षेत्रकी ओर आकाशमें चल पड़े ॥७॥ वे निःशङ्क होकर अङ्ग देशकी अमरकङ्कापुरीमें पहुँचे और वहाँ उन्होंने स्त्रीलम्पट, पद्मनाभ नामक शोभासम्पन्न राजाको देखा ॥८॥ राजा पद्मनाभने नारदको आत्मीय जान, अपना अन्तःपुर दिखाया और पूछा कि ऐसा स्त्रियोंका रूप आपने कहीं अन्यत्र भी देखा है ? ॥९॥ राजा पद्मनाभके प्रश्नको खीरमें पड़े घीके समान अनुकूल मानते हुए नारदने द्रौपदीके लोकोत्तर सौन्दर्यका वर्णन इस रीतिसे किया कि उसने उसे द्रौपदी रूपी पिशाचके वशीभूत कर दिया अर्थात् उसके हृदयमें द्रौपदीके प्रति अत्यन्त उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी। तदनन्तर द्रौपदीके द्वीपक्षेत्र, नगर तथा भवनका पता बताकर वे कहीं चले गये ॥१०-११॥ पद्मनाभने द्रौपदीके प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र तपके द्वारा पाताललोकमें निवास करनेवाले संगमक नामक देवकी आराधना की ॥१२॥ तदनन्तर आराधना किया हुआ वह देव रात्रिके समय

---

१. सशोभम् 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । २. ग्राहं म० ।

निवेदिता सुरेणासौ भवनोद्यानवर्तिनी । अद्राक्षीद् द्रौपदीं गत्वा साक्षादिव सुराङ्गनाम् ॥१४॥
प्रबुद्धा सर्वतोभद्रे शयने सा पुनः पुनः । स्वपित्येव विनिद्राऽपि स्वप्नोऽयमिति शङ्किनी ॥१५॥
विनिमीलितनेत्रां तां ज्ञात्वाकूतमसौ नृपः । शनैः समीपमाश्रित्य वदति स्म प्रियंवदः ॥१६॥
आयताक्षि निरीक्षस्व नैष स्वप्नो घटस्तनि । द्वीपोऽयं धातकीखण्डः पद्मनाभस्त्वहं नृपः ॥१७॥
नारदेन समाख्यातं तव रूपं मनोहरम् । मयाराधितदेवेन त्वं मदर्थमिहाहृता ॥१८॥
श्रुत्वा चकितचित्ता सा किमेतदिति वादिनी । अचिन्तयदहो दुःखं दुरन्तं मे समागतम् ॥१९॥
पार्थदर्शनपर्यन्तमाहारत्यागमात्मनि । कृत्वा पार्थविमोच्यं च वेणीबन्धं दधार सा ॥२०॥
द्रौपदीशीलनिर्भेद्यवज्रप्राकारमध्यगा । पद्मनाभमुवाचेत्थं [1]बाध्यमानं मनोभुवा ॥२१॥
भ्रातरौ रामकृष्णौ मे भर्ता पार्थो धनुर्धरः । भर्तुर्ज्येष्ठौ महावीरावनुजौ च यमोपमौ ॥२२॥
जलस्थलपथैस्तेषामनिवारितगोचराः । विचरन्ति भुवं सर्वां मनोरथरया रथाः ॥२३॥
क्षेमं यदि [2]नृपैतेभ्यो वाञ्छसि त्वं सबान्धवः । तद्विसर्जय मां शीघ्रमाशीविषवधूपमाम् ॥२४॥
इत्युक्तोऽप्यनिवृत्तेच्छः स्वग्राहं नैष मुञ्चति । यदा तदा तका प्राह प्रत्युत्पन्नमतिः सती ॥२५॥
मासस्याभ्यन्तरे भूप यदीह स्वजना मम । नागच्छन्ति तदा त्वं मे कुरुष्व यदभीप्सितम् ॥२६॥
तथाऽस्त्विति निगद्यैतां पद्मनाभोऽनुवर्तयन् । सान्तःपुरः प्रियशतैर्विलोभनपरः स्थितः ॥२७॥

सोती हुई द्रौपदीको पद्मनाभकी नगरीमें उठा लाया ॥१३॥ देवने लाकर उसे भवनके उद्यानमें छोड़ दिया और इसकी सूचना राजा पद्मनाभको कर दी। राजा पद्मनाभने जाकर साक्षात् देवाङ्गनाके समान द्रौपदीको देखा ॥१४॥ यद्यपि द्रौपदी अपनी सर्वतोभद्र शय्यापर जाग उठी थी और निद्रारहित हो गयी थी तथापि 'यह स्वप्न है' इस प्रकार शङ्का करती हुई बार-बार सो रही थी ॥१५॥ नेत्रोंको बन्द करनेवाली द्रौपदीका अभिप्राय जानकर राजा पद्मनाभ धीरेसे उसके पास गया और प्रिय वचन बोलता हुआ इस प्रकार कहने लगा ॥१६॥ उसने कहा कि हे विशाललोचने! देखो, यह स्वप्न नहीं है। हे घटस्तनि! यह धातकीखण्ड द्वीप है और मैं राजा पद्मनाभ हूँ ॥१७॥ नारदने मुझे तुम्हारा मनोहर रूप बतलाया था और मेरे द्वारा आराधित देव मेरे लिए तुम्हें यहाँ हर कर लाया है ॥१८॥ यह सुनकर उसका हृदय चकित हो गया तथा यह 'क्या है' इस प्रकार कहती हुई वह विचार करने लगी कि अहो! यह मुझे दुरन्त दुःख आ पड़ा है ॥१९॥ 'जबतक अर्जुनका दर्शन नहीं होता तबतकके लिए मेरे आहारका त्याग है' ऐसा नियम लेकर उसने अर्जुनके द्वारा छोड़ने योग्य वेणी बाँध ली ॥२०॥ तदनन्तर शीलरूपी वज्रमय कोटके भीतर स्थित द्रौपदी कामके द्वारा पीड़ित होनेवाले राजा पद्मनाभसे इस प्रकार बोली ॥२१॥ कि बलदेव और कृष्णनारायण मेरे भाई हैं, धनुर्धारी अर्जुन मेरा पति है, पतिके बड़े भाई महावीर भीम और अर्जुन अतिशय वीर हैं और पतिके छोटे भाई सहदेव और नकुल यमराजके समान हैं ॥२२॥ जल और स्थलके मार्गोंसे जिन्हें कोई कहीं रोक नहीं सका ऐसे मनोरथके समान शीघ्रगामी उनके रथ समस्त पृथिवीमें विचरण करते हैं ॥२३॥ इसलिए हे राजन्! यदि तू भाई-बान्धवों-सहित, इनसे अपना भला चाहता है तो सर्पिणीके समान मुझे शीघ्र ही वापिस भेज दे ॥२४॥ जिसकी अन्य सब इच्छाएँ दूर हो चुकी थीं ऐसे पद्मनाभने द्रौपदीके इस तरह कहनेपर भी जब अपना हठ नहीं छोड़ा तब परिस्थितिके अनुसार तत्काल विचार करनेवाली द्रौपदीने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया ॥२५॥ कि हे राजन्! यदि मेरे आत्मीयजन एक मासके भीतर यहाँ नहीं आते हैं तो तुम्हारी जो इच्छा हो वह मेरा करना ॥२६॥ 'तथास्तु'—'ऐसा हो' इस प्रकार कहकर पद्मनाभ अपनी स्त्रियोंके साथ उसे अनुकूल करता और सैकड़ों प्रिय पदार्थोंसे लुभाता हुआ रहने लगा

१. बाध्यमानं म० । २. नृपैस्तेभ्यो म० ।

विश्वस्ता भयमुज्झित्वा स्थित्वा साश्रुविलोचना । [1]विविहारा निराहारा पत्युः पन्थानमीक्षते ॥२८॥
अदृश्यायामकस्मात्तु तस्यां पाण्डवपञ्चकम् । किंकर्तव्यतया मूढमभूदत्यन्तमाकुलम् ॥२९॥
निरुपायास्ततो गत्वा चक्रिणे ते न्यवेदयन् । दुःखी सयादवः सोऽत्र क्षेत्रेऽप्यश्रावयत्तदा ॥३०॥
क्षेत्रान्तरहृतां मत्वा केनचित्क्षुद्रवृत्तिना । तत्प्रवृत्तिपरिप्राप्तौ यादवास्ते सतत्पराः ॥३१॥
आस्थानस्थितमागत्य कदाचिन्नारदो हरिम् । पूजितो यदुलोकस्य जगादेति प्रियोदितः ॥३२॥
ईक्षिता धातकीखण्डे [2]कृष्णा कृष्णकृशाङ्गिका । पुर्याममरकङ्कायां पद्मनाभस्य सद्मनि ॥३३॥
अनारतगलद्बाष्पधाराविलविलोचना । सा तस्यान्तःपुरस्त्रीभिः सादराभिरुपास्यते ॥३४॥
शीलमात्रमहाश्वासा दीर्घनिश्वासमोचिनी । सत्सु बन्धुषु युष्मासु कथमास्ते रिपोर्गृहे ॥३५॥
लब्ध्वेति द्रौपदीवार्तां हरिप्रभृतयस्तदा । शशंसुर्नारदं हृष्टाः सापकारोपकारिणम्[3] ॥३६॥
द्रौपदीहरणं कृत्वा क्व प्रयाति स दुष्टधीः । प्रेषयामि दुराचारं मृत्यवे [4]मृत्युकाङ्क्षिणम् ॥३७॥
इति द्विष्टो द्विषे कृष्णः कृष्णामानेतुमुद्यमी । दक्षिणो दक्षिणाम्भोधेस्तटं [5]सशकटो गतः ॥३८॥
लवणाब्धिपतिं देवं सुस्थितं नियमस्थितम् । आराध्य पाण्डवैः सार्धं धातकीखण्डमीप्सया[6] ॥३९॥
देवेन नीयमानः सन् रथैः षड्भिः सपाण्डवः । प्रागुल्लङ्घ्याब्धिमापद्धातकीखण्डभारतम् ॥४०॥

॥२७॥ द्रौपदी भय छोड़कर विश्वस्त हो गयी और निरन्तर अश्रु छोड़ती तथा आहार-विहार बन्द कर पतिका मार्ग देखने लगी ॥२८॥

इधर जब द्रौपदी अकस्मात् अदृश्य हो गयी तब पाँचों पाण्डव किंकर्तव्यविमूढ हो अत्यन्त व्याकुल हो गये ॥२९॥ तदनन्तर जब वे निरुपाय हो गये तब उन्होंने श्रीकृष्णके पास जाकर सब समाचार कहा। उसे सुनकर यादवों-सहित श्रीकृष्ण बहुत दुःखी हुए और उसी समय उन्होंने समस्त भरत क्षेत्रमें यह समाचार श्रवण कराया ॥३०॥ जब भरत क्षेत्रमें कहीं पता नहीं चला तब उन्होंने समझ लिया कि कोई क्षुद्र वृत्तिवाला मनुष्य इसे हरकर दूसरे क्षेत्रमें ले गया है। इस तरह समस्त यादव उसका समाचार प्राप्त करनेमें तत्पर हो गये ॥३१॥

किसी दिन श्रीकृष्ण सभामण्डपमें बैठे हुए थे कि उसी समय नारदजी वहाँ आ पहुँचे। समस्त यादवोंने उनका सम्मान किया। तदनन्तर प्रिय समाचार सुनाते हुए उन्होंने कहा कि मैंने द्रौपदीको धातकीखण्ड द्वीपकी अमरकङ्कापुरीमें राजा पद्मनाभके घर देखा है। उसका शरीर अत्यन्त काला तथा दुर्बल हो गया है, उसके नेत्र निरन्तर पड़ती हुई अश्रुधारासे व्याप्त रहते हैं और राजा पद्मनाभके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ बड़े आदरके साथ उसकी सेवा करती रहती हैं ॥३२-३४॥ उसे इस समय अपने शीलव्रतका ही सबसे बड़ा भरोसा है तथा वह लम्बी-लम्बी श्वास छोड़ती रहती है। आप-जैसे भाइयोंके रहते हुए वह शत्रुके घरमें क्यों रह रही है? ॥ ३५ ॥ इस प्रकार द्रौपदीका समाचार पाकर उस समय कृष्ण आदि बहुत हर्षित हुए और अपकारके साथ-साथ उपकार करनेवाले नारदकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३६ ॥ 'वह दुष्ट द्रौपदीका हरणकर कहाँ जावेगा? मृत्युके इच्छुक उस दुराचारीको अभी यमराजके घर भेजता हूँ' ॥ ३७ ॥ इस प्रकार शत्रुके प्रति द्वेष प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण द्रौपदीको लानेके लिए उद्यत हुए और रथपर बैठकर दक्षिण समुद्रके तटपर जा पहुँचे ॥ ३८ ॥ वहाँ जाकर उन्होंने धातकीखण्ड द्वीपको प्राप्त करनेकी इच्छासे पाण्डवोंके साथ नियममें स्थित लवणसमुद्रके अधिष्ठाता देवकी अच्छी तरह आराधना की ॥ ३९ ॥ तदनन्तर लवणसमुद्रका अधिष्ठाता देव पाँच पाण्डवों-सहित कृष्णको छह रथोंमें ले गया और इस तरह वे शीघ्र ही

1. विनिहारा म० । 2. द्रौपदी । 3. -कारिणाम् म० । 4. -कांक्षिणाम् म० । 5. सशकटः सरथः इत्यर्थः । 6. वीप्सया क०, लब्धेप्सया ख० ।

पुर्यास्तेऽमरकङ्कायाः बहिरुद्यानवर्तिनः। कृष्णाद्याः पद्मनाभाय तन्नियुक्तैर्निवेदिताः ॥४१॥
चतुरङ्गबलं तस्य पुर्या निर्यातमुद्धतम्। भ्रातृभिः पञ्चभिर्युद्धे भग्नं नगरमाविशत् ॥४२॥
नृपः स नगरद्वारं पिधाय सनयः स्थितः। अलङ्घ्ये पाण्डुपुत्राणां ततश्चक्री स्वयं रुषा ॥४३॥
बिभेद पादनिर्घातैर्निर्घातैरिव [1]नागरीम्। बहिरन्तर्भुवं भिन्नां भ्रश्यत्प्राकारगोपुराम् ॥४४॥
पतत्प्रासादशालौघैर्भ्राम्यन्मत्तेभवाजिनि। विप्रलापमहारावे पुरे जाते जनाकुले ॥४५॥
सपौरान्तःपुरो राजा निरुपायो भयाकुलः। प्रविष्टः शरणं द्रोही द्रौपदीं प्रणमानतः ॥४६॥
क्षम्यतां क्षम्यतां सौम्ये ! देवि ! देवतया समे। दाप्यतामभयं मेऽद्य सवाच्यस्य पतिव्रते ! ॥४७॥
तं सा कृपावती प्राह द्रौपदी शरणागतम्। गच्छ स्त्रीवेषेण शरणं चक्रवर्तिनः ॥४८॥
कृतदोषेष्वपि प्रायः प्रणतेषु नरोत्तमाः। सकृपाः स्युर्विशेषेण भीरुवेषेषु भीरुषु ॥४९॥
सस्त्रीकः स्त्रीकृताकारः श्रुत्वा पार्थाङ्गनाग्रणीः। प्रविष्टः शरणं गत्वा विष्टरश्रवसं नृपः ॥५०॥
दत्त्वाऽसावभयं तस्य शरणागतभीहरः। विससर्ज निजं स्थानं स्थाननामादिभेदिनम्[2] ॥५१॥
[3]कृष्णा कृष्णपदं नत्वा क्षेमदानपुरस्सरम्। प्रायुङ्क्त विनयं योग्यं पञ्चस्वपि यथाक्रमम् ॥५२॥
आश्लिष्य दयितां पार्थो विरहव्यथितां ततः। स्वयं प्रस्वेदिहस्ताभ्यां तद्वेणीमुदमोचयत् ॥५३॥

समुद्रका उल्लङ्घन कर धातकीखण्ड द्वीपके भरत क्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ ४० ॥ वहाँ जाकर ये अमरकङ्कापुरीके बाह्य उद्यानमें ठहर गये और राजा पद्मनाभके द्वारा नियुक्त पुरुषोंने उसे खबर दी कि कृष्ण आदि आ पहुँचे हैं ॥४१॥ खबर पाते ही उसकी उद्धत चतुरङ्ग सेना नगरीसे बाहर निकली परन्तु पाँचों पाण्डवोंने युद्धमें उसे इतना मारा कि वह भागकर नगरमें जा घुसी ॥ ४२ ॥ राजा पद्मनाभ बड़ा नीतिज्ञ था इसलिए वह नगरका द्वार बन्दकर भीतर रह गया। नगरका द्वार लाँघना जब पाण्डवोंके वशकी बात नहीं रही तब श्रीकृष्णने स्वयं पैरके आघातोंसे द्वारको तोड़ना शुरू किया। उनके पैरके आघात क्या थे मानो वज्रके प्रहार थे। उन्होंने नगरकी समस्त बाह्य तथा आभ्यन्तर भूमिको तहस-नहस कर डाला। प्राकार और गोपुर टूटकर गिर गये। बड़े-बड़े महल और शालाओंके समूह गिरने लगे जिससे मदोन्मत्त हाथी और घोड़े इधर-उधर दौड़ने लगे, नगरमें सर्वत्र हाहाकारका महान् शब्द गूँजने लगा और मनुष्य घबड़ाकर बाहर निकल आये ॥ ४३-४५ ॥ जब द्रोही राजा पद्मनाभ निरुपाय हो गया तब वह भयसे व्याकुल हो नगरवासियों और अन्तःपुरकी स्त्रियोंको साथ ले शीघ्र ही द्रौपदीकी शरणमें पहुँचा और नम्रीभूत होकर कहने लगा कि हे देवि ! तू देवताके समान है, सौम्य है, पतिव्रता है, मुझ पापीको क्षमा करो, क्षमा करो और अभय दान दिलाओ ॥ ४६-४७ ॥ द्रौपदी परम दयालु थी इसलिए उसने शरणमें आये हुए पद्मनाभसे कहा कि तू स्त्रीका वेष धारण कर चक्रवर्ती कृष्णकी शरणमें जा। क्योंकि उत्तम मनुष्य नमस्कार करनेवाले अपराधी जनोंपर भी प्रायः दया-सहित होते हैं, फिर जो भीरु हैं अथवा भीरुजनोंका वेष धारण करते हैं उनपर तो वे और भी अधिक दया करते हैं ॥ ४८-४९ ॥ यह सुनकर राजा पद्मनाभने स्त्रीका वेष धारण कर लिया और स्त्रियोंको साथ ले तथा द्रौपदीको आगे कर वह श्रीकृष्णकी शरणमें जा पहुँचा ॥ ५० ॥ श्रीकृष्ण शरणागतोंका भय हरनेवाले थे इसलिए उन्होंने उसे अभय दान देकर अपने स्थानपर वापिस कर दिया केवल उसके स्थान तथा नाम आदिमें परिवर्तन कर दिया ॥ ५१ ॥ द्रौपदीने कुशल-प्रश्नपूर्वक श्री कृष्णके चरणोंमें नमस्कार किया और पाँचों पाण्डवोंके साथ यथायोग्य विनयका व्यवहार किया ॥ ५२ ॥ तदनन्तर अर्जुनने विरहसे पीड़ित वल्लभाका आलिङ्गन कर पसीनासे भीगे हुए दोनों हाथोंसे स्वयं उसकी वेणी खोली ॥ ५३ ॥

---

१. नागरम् म०। २. -वेदिनम् क०। ३. द्रौपदी।

स्नात्वा भुक्त्वा कृतातिथ्या मनसा पाण्डवैः सह । निवेद्य निजदुःखं सा मुमोचाश्रुभिः[1] समं ततः ॥५४॥
रथमारोप्य तां वार्धौ [2]दध्मौ शङ्खं निजं हरिः । आपुपूरे दिशां चक्रं चक्रिशङ्खस्य निस्वनः ॥५५॥
कपिलो वासुदेवोऽपि तदा चम्पाबहिःस्थितम् । जिनं नन्तुं गतोऽपृच्छत् श्रुत्वा तं कम्पितक्षितिम् ॥५६॥
केनार्य पूरितः शङ्खो नाथ ! मत्समशक्तिना । न चाद्य मादृशोऽस्तीह भारते मदधिष्ठिते ॥५७॥
जिनेन कथिते तत्त्वे प्रश्नितोत्तरवादिना । दिदृक्षुस्तं यियासुः स भाषितो धर्मचक्रिणा ॥५८॥
नान्योन्यदर्शनं जातु चक्रिणां धर्मचक्रिणाम् । हलिनां वासुदेवानां [3]त्रैलोक्ये प्रतिचक्रिणाम् ॥५९॥
गतस्य चिह्नमात्रेण तव तस्य च दर्शनम् । शङ्खास्फोटनिनादैश्च रथध्वजनिरीक्षणैः ॥६०॥
आयातस्य ततस्तस्य कपिलस्यानुयादवम् । साफल्यमभवद्दूराज्जिनोक्तिविधिनाम्बुधौ ॥६१॥
आगत्य कपिलश्चम्पामसाम्प्रतविधायिनम् । कोपादमरकङ्केशं केशवः सोऽभ्यतर्जयत् ॥६२॥
पूर्वेणैव क्रमेणामी लघूत्तीर्णा महार्णवम् । वेलातटे विशश्राम केशवः पाण्डवा गताः ॥६३॥
नौभिर्गङ्गां समुत्तीर्य तस्थुस्ते दक्षिणे तटे । व्यपनीता च भीमेन [4]क्रीडाशीलेन नौस्तटी ॥६४॥
आगतोऽनुपदं विष्णुः कृष्णया सहितस्तदा । अप्राक्षीत्कथमुत्तीर्णा गङ्गां यूयमितीमिकाम् ॥६५॥
वृकोदरोऽवददोर्भिरिति जिज्ञासुरीहितम् । स सत्यमिति मत्वा तदुत्तरीतुमिति त्वरी ॥६६॥

द्रौपदीने पाण्डवोंके साथ स्नान किया, भोजन किया, हृदयसे सबका अतिथि-सत्कार किया, उनके सामने अपना दुःख निवेदन किया और अश्रुधाराके साथ-साथ सब दुःख छोड़ दिया। भावार्थ—पाण्डवोंके सामने सब दुःख प्रकट कर वह सब दुःख भूल गयी ॥ ५४ ॥

तदनन्तर कृष्णने द्रौपदीको रथमें बैठाकर समुद्रके किनारे आ इस रीतिसे अपना शङ्ख बजाया कि उसका शब्द समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो गया ॥ ५५ ॥ उस समय वहाँ चम्पा नगरीके बाहर स्थित जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करनेके लिए धातकीखण्डका नारायण कपिल आया था उसने पृथिवीको कम्पित करनेवाला शङ्खका उक्त शब्द सुनकर जिनेन्द्र भगवान्‌से पूछा कि हे नाथ ! मेरे समान शक्तिको धारण करनेवाले किस मनुष्यने यह शङ्ख बजाया है। इस समय मेरे द्वारा शासित इस भरतक्षेत्रमें मेरे समान दूसरा मनुष्य नहीं है ॥ ५६-५७ ॥ प्रश्नका उत्तर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान्‌ने जब यथार्थ बात कही तब कृष्णको देखनेकी इच्छा करता हुआ वह वहाँसे जाने लगा। यह देख जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा कि हे राजन्! तीन लोकमें कभी चक्रवर्ती-चक्रवर्तियोंका, तीर्थङ्कर-तीर्थङ्करोंका, बलभद्र-बलभद्रोंका, नारायण-नारायणोंका और प्रतिनारायण-प्रतिनारायणोंका परस्पर मिलाप नहीं होता। तुम जाओगे तो चिह्न मात्रसे ही उसका और तुम्हारा मिलाप हो सकेगा। एक दूसरेके शङ्खका शब्द सुनना तथा रथोंकी ध्वजाओंका देखना इन्हीं चिह्नोंसे तुम्हारा और उसका साक्षात्कार होगा ॥५८-६०॥ तदनन्तर कपिल नारायण, श्रीकृष्णको लक्ष्य कर आया और जिनेन्द्र भगवान्‌के कहे अनुसार उसका दूरसे ही समुद्रमें कृष्णके साथ साक्षात्कार हुआ ॥ ६१ ॥ कपिल नारायणने चम्पा नगरीमें वापस आकर अनुचित कार्य करनेवाले अमरकङ्कापुरीके स्वामी राजा पद्मनाभको क्रोधमें आकर बहुत डाँटा ॥ ६२ ॥

कृष्ण तथा पाण्डव पहलेकी ही भाँति महासागरको शीघ्र ही पार कर इस तटपर आ गये। वहाँ कृष्ण तो विश्राम करने लगे परन्तु पाण्डव चले आये ॥ ६३ ॥ पाण्डव नौकाके द्वारा गङ्गाको पार कर दक्षिण तटपर आ ठहरे। भीमका स्वभाव क्रीड़ा करनेका था इसलिए उसने इस पार आनेके बाद नौका तटपर छिपा दी ॥ ६४ ॥ पीछे जब द्रौपदीके साथ कृष्ण आये और उन्होंने पूछा कि आप लोग इस गङ्गाको किस तरह पार हुए हैं ? तो कृष्णकी चेष्टाको जाननेके इच्छुक भीमने कहा कि हम लोग भुजाओंसे तैरकर आये हैं। श्रीकृष्ण भीम

---

1. मुमोचास्रः म० । 2. दध्मौ म० । 3. त्रैलोक्य—म० । 4. क्रीडाशैलेन म०, क० ।

रथमुद्धृत्य हस्तेन साश्वसारथिमच्युतः । आजानुदघ्नमिवोत्तीर्णस्तां जङ्घाभ्यां भुजेन च ॥६७॥
ततो विस्मितहृष्टास्ते त्वरयाभ्येत्य सन्नताः । [1]शक्त्यभिज्ञाः स्तुतिव्यग्राः समालिङ्गन्नधोक्षजम् ॥६८॥

वंशस्थवृत्तम्

स्वयं कृतं नर्म ततो वृकोदरः स्वयं च विश्रावयता जगाद सः ।
तदैव कृष्णोऽतिविरक्ततामगाददेशकालं न हि नर्म शोभते ॥६९॥
अमानुषं कर्म जगत्यनेकशः कृतं मया पश्यतामपि स्वयम् ।
मदीयसामर्थ्यपरीक्षणक्षमं किमत्र गङ्गोत्तरणे कुपाण्डवाः ॥७०॥
निगद्य तानेवमसौ जनार्दनः सहैव तैरेत्य तु हास्तिनं पुरम् ।
सुभद्रया कच्छसुतार्यसूनवे वितीर्य राज्यं विससर्ज तान् क्रुधा ॥७१॥
समस्तसामन्तकृतानुयानकः कृताभियानो यदुभिः कृतार्थकः ।
प्रविश्य कृष्णो नगरीं गरीयसीं निजां निजस्त्रीनिवहानमानयत्[2] ॥७२॥
सुतास्तु पाण्डोर्हरिचन्द्रशासनादकाण्ड एवाशनिपातनिष्ठुरात् ।
प्रगत्य दाक्षिण्यभृता सुदक्षिणां जनेन काष्ठां मधुरां न्यवेशयन् ॥७३॥
समुद्रवेलासु मनोहरासु ते लवङ्गकृष्णागुरुगन्धवायुषु ।
सुचन्दनामोदितदिक्षु दक्षिणा विजह्रुरुच्चैर्मलयाद्रिसानुषु ॥७४॥

के कथनको सत्य मान गङ्गाको पार करनेकी शीघ्रता करने लगे ॥६५–६६॥ श्रीकृष्णने घोड़ों और सारथीसे सहित रथको एक हाथपर उठा लिया और एक हाथ तथा दो जङ्घाओंसे गङ्गाको इस तरह पार कर लिया जिस तरह मानो वह घोंटू बराबर ही हो ॥६७॥ तदनन्तर आश्चर्यसे चकित और आनन्दसे विभोर पाण्डवोंने शीघ्र ही सामने जाकर नम्रीभूत हो श्रीकृष्णका आलिङ्गन किया और उनकी अपूर्व शक्तिसे परिचित हो वे उनकी स्तुति करने लगे ॥ ६८ ॥ तत्पश्चात् भीमने सबको सुनाते हुए स्वयं कहा कि यह तो मैंने हँसी की थी। यह सुन, श्रीकृष्ण उसी समय पाण्डवोंसे विरक्तताको प्राप्त हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बिना देश-कालकी हँसी शोभा नहीं देती ॥ ६९ ॥ कृष्णने पाण्डवोंको फटकारते हुए कहा कि अरे निन्द्य पाण्डवो ! मैंने संसारमें स्वयं तुम लोगोंके देखते-देखते अनेकों बार अमानुषिक कार्य किये हैं फिर इस गङ्गाके पार करनेमें कौन-सी बात मेरी शक्तिकी परीक्षा करनेमें समर्थ थी ? ॥ ७० ॥ इस प्रकार पाण्डवोंसे कहकर वे उन्हींके साथ हस्तिनापुर गये और वहाँ सुभद्राके पुत्र आर्य-सूनुके लिए राज्य देकर उन्होंने पाण्डवोंको क्रोधवश वहाँसे विदा कर दिया ॥ ७१ ॥

तदनन्तर समस्त सामन्त जिनके पीछे-पीछे चल रहे थे और यादवोंने सम्मुख आकर जिनका अभिनन्दन किया था ऐसे कृतकार्य श्रीकृष्णने विशाल द्वारिका नगरीमें प्रवेश कर अपनी स्त्रियोंके समूहको प्रसन्न किया ॥७२॥ असमयमें वज्रपातके समान कठोर कृष्णचन्द्रकी आज्ञासे पाण्डव, अपने अनुकूल जनोंके साथ दक्षिण दिशाकी ओर गये और वहाँ उन्होंने मथुरा नगरी बसायी ॥७३॥ वहाँ वे दक्षिण दिशामें लौंग और कृष्णागुरुकी सुगन्धित वायुसे व्याप्त समुद्रके मनोहर तटोंपर तथा उत्तम चन्दनसे दिशाओंको सुगन्धित करनेवाली मलय-गिरिकी ऊँची-ऊँची चोटियोंपर विहार करने लगे ॥७४॥

---

१. शक्तिभिज्ञाः म० । २. निवहाय्यमानयत् म० ।

क्व वार्धिजम्बूद्रुममण्डिता क्षितिः क्व धातकीखण्डधरा दुरासदा ।
गतागताद्यर्थगतिस्तथापि तु प्रसिद्ध्यति प्राक्तनजैनधर्मतः ॥७५॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ द्रौपदीहरणाहरणदक्षिणमथुरानिवेशवर्णनो नाम चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥५४॥

गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो, कहाँ तो लवणसमुद्र और जम्बू वृक्षसे सुशोभित जम्बूद्वीपकी भूमि और कहाँ अत्यन्त दुर्गम धातकीखण्डकी भूमि ? फिर भी पूर्वकृत जैनधर्मके प्रभावसे वहाँ यातायातके द्वारा कार्यकी सिद्धि हो जाती है ॥७५॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें द्रौपदीका हरण, पुनः उसका ले आना तथा दक्षिण-मथुराके बसाये जानेका वर्णन करनेवाला चौवनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

द्रुतविलम्बितवृत्तम्

अथ स नेमिकुमारयुवान्यदा धनदसंभृतवस्त्रविभूषणैः ।
स्रगनुलेपनकैरतिराजितो नृपसुतैः प्रथितैः परिवारितः ॥१॥
समविशत्समदेभगतिर्नृपैरभिगतः [1]प्रणतश्चलितासनैः ।
[2]कुसुमचित्रसमां बलकेशवप्रभृतियादवकोटिभिराचिताम् ॥२॥
हरिकृताभिगतिर्हरिविष्टरं स तदलङ्कुरुते हरिणा सह ।
श्रियमुवाह परां तदलं तदा धृतहरिद्वयहारि यथासमम् ॥३॥
सदसि सभ्यकथामृतपायिभिः प्रकटशौर्यशरीरविभूतिभिः ।
सह हरिर्नृवरैः समुपासितः क्षणमरंस्त रुचा स्थगिताखिलः ॥४॥
बलवतां गणनास्वथ केचन प्रतिशशंसुरतीव किरीटिनम् ।
युधि युधिष्ठिरमुग्रवृकोदरं युगलमुद्धतमप्यपरे परान् ॥५॥
हलधरं बलवन्तमलं तथा हरिमथोद्धृतदुर्धरभूधरम् ।
स्वबलदर्शनतत्परराजकं चलयितुं स्वपदात्तु [3]सचापिकम् ॥६॥
हरिसभागतराजकभारतीरिति निशम्य सलीलदृशा हली ।
जिनमुदीक्ष्य जगौ जिननेमिना भगवता न समोऽस्ति जगत्त्रये ॥७॥

अथानन्तर एक दिन कुबेरके-द्वारा भेजे हुए वस्त्र, आभूषण, माला और बिलेपनसे सुशोभित, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओंसे घिरे एवं मदोन्मत्त हाथीके समान सुन्दर गतिसे युक्त युवा नेमिकुमार, बलदेव तथा नारायण आदि कोटि-कोटि यादवोंसे भरी हुई कुसुमचित्रा नामक सभामें गये। राजाओंने अपने-अपने आसन छोड़ सम्मुख जाकर उन्हें नमस्कार किया। श्रीकृष्णने भी आगे आकर उनकी अगवानी की। तदनन्तर श्रीकृष्णके साथ वे उनके आसनको अलंकृत करने लगे। श्रीकृष्ण और नेमिकुमारसे अधिष्ठित हुआ वह सिंहासन, दो इन्द्रों अथवा दो सिंहोंसे अधिष्ठितके समान अत्यधिक शोभाको धारण करने लगा ॥१-३॥ सभाके बीच, सभ्यजनोंकी कथारूप अमृतका पान करनेवाले एवं अत्यधिक शूर-वीरता और शारीरिक विभूतिसे युक्त अनेक राजा जिनकी उपासना कर रहे थे और अपनी कान्तिसे जिन्होंने सबको आच्छादित कर दिया था ऐसे नेमिकुमार श्रीकृष्णके साथ क्षण-भर क्रीड़ा करते रहे ॥४॥

तदनन्तर बलवानोंकी गणना छिड़नेपर कोई अर्जुनकी, कोई युद्धमें स्थिर रहनेवाले युधिष्ठिरकी, कोई पराक्रमी भीमकी, कोई उद्धत सहदेव और नकुलकी एवं कोई अन्य लोगोंकी, अत्यन्त प्रशंसा करने लगे ॥५॥ किसीने कहा कि बलदेव सबसे अधिक बलवान् हैं तो किसीने दुर्धर गोवर्धन पर्वतको उठानेवाले एवं अपना बल देखनेमें तत्पर राजाओंके समूहको अपने स्थानसे विचलित करनेके लिए बाण धारण करनेवाले श्रीकृष्णको सबसे अधिक बलवान् कहा ॥५-६॥ इस प्रकार कृष्णकी सभामें आगत राजाओंकी तरह-तरहकी वाणी सुनकर लीलापूर्ण दृष्टिसे भगवान् नेमिनाथकी ओर देखकर कहा कि तीनों जगत्‌में इनके समान

---

१. प्रणतै क०, ख० । २. कुसुमचित्रानाम्नीं सभाम् । ३. स्वपदं तु सशामर्क क० ।

करतलेन महीतलमुद्धरेज्जलनिधीनपि दिक्षु लघु[1] क्षिपेत् ।
प्रचलयेद् गिरिराजमयत्नतो ननु जिनः कतमः परमोऽमुतः ॥८॥

इति निशम्य वचोऽथ निशाम्य तं स्मितमुखो हरिरीशमुवाच सः ।
किमिति युष्मदुदारवपुर्बलं भुजरणे भगवन् न परीक्ष्यते ॥९॥

सह [2]ममाभिनयोर्ध्वमुखो जिनः किमिह मल्लयुधेति तमब्रवीत् ।
भुजबलं भवतोऽग्रज बुध्यते चलय मे चरणं सहसासनात् ॥१०॥

परिकरं परिबध्य [3]तदोत्थितो भुजबलेन जिनस्य जिगीषया ।
चलयितुं न शशाक पदाङ्गुलिमसुलमस्य नखेन्दुधरं[4] हरिः ॥११॥

श्रमजवारिलवाञ्चितविग्रहः प्रचलनिश्वसितोच्छ्वसिताननः[5] ।
बलमहो तव देव जनातिगं स्फुटमिति स्मयमुक्तमुवाच सः ॥१२॥

[6]बलरिपुश्च तदा चलितासनः स्वयमुपेत्य सुरैः सहसा सह ।
कृतजिनार्चनकः कृतसंस्तवः कृतनतिः प्रययौ पदमात्मनः ॥१३॥

निजमगारमगाज्जिनचन्द्रमाः परिवृतः क्षितिपैः [7]क्षपितस्मयः ।
हरिरपि स्फुटमात्मनि शङ्कितः क्लिशितधीर्हि जिनेष्वपि शङ्कते ॥१४॥

दूसरा बलवान् नहीं है ॥७॥ ये अपनी हथेलीसे पृथिवीतलको उठा सकते हैं, समुद्रोंको शीघ्र ही दिशाओंमें फेंक सकते हैं और गिरिराजको अनायास ही कम्पायमान कर सकते हैं। यथार्थमें ये जिनेन्द्र हैं, इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है ? ॥८॥ इस प्रकार बलदेवके वचन सुन कृष्णने पहले तो भगवान्‌की ओर देखा और तदनन्तर मुसकराते हुए कहा कि हे भगवन् ! यदि आपके शरीरका ऐसा उत्कृष्ट बल है तो बाहु-युद्धमें उसकी परीक्षा क्यों न कर ली जाये ? ॥९॥ भगवान्‌ने कुछ खास ढंगसे मुख ऊपर उठाते हुए कृष्णसे कहा कि मुझे इस विषयमें मल्ल युद्धकी क्या आवश्यकता है ? हे अग्रज ! यदि आपको मेरी भुजाओंका बल जानना ही है तो सहसा इस आसनसे मेरे इस पैरको विचलित कर दीजिए ॥१०॥ श्रीकृष्ण उसी समय कमर कसकर भुजबलसे जिनेन्द्र भगवान्‌को जीतनेकी इच्छासे उठ खड़े हुए परन्तु पैरका चलाना तो दूर रहा नखरूपी चन्द्रमाको धारण करनेवाली पैरकी एक अङ्गुलिको भी चलानेमें समर्थ नहीं हो सके ॥११॥ उनका समस्त शरीर पसीनाके कणोंसे व्याप्त हो गया और मुखसे लम्बी लम्बी साँसें निकलने लगीं। अन्तमें उन्होंने अहंकार छोड़कर स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा कि हे देव ! आपका बल लोकोत्तर एवं आश्चर्यकारी है ॥१२॥ उसी समय इन्द्रका आसन कम्पायमान हो गया और वह तत्काल ही देवोंके साथ आकर भगवान्‌की पूजा-स्तुति तथा नमस्कारकर अपने स्थानपर चला गया ॥१३॥ उधर कृष्णके अहङ्कारको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा अनेक राजाओंसे परिवृत हो अपने महलमें चले गये और इधर कृष्ण भी अपने आपके विषयमें शङ्कित होते हुए अपने महलमें गये सो ठीक ही है क्योंकि संक्लिष्ट बुद्धिके धारक पुरुष जिनेन्द्र भगवान्‌के विषयमें भी शङ्का करते हैं। भावार्थ—कृष्णके मनमें यह शङ्का घर कर गयी कि भगवान् नेमिनाथके बलका कोई पार नहीं है अतः इनके रहते हुए हमारा राज्य-शासन स्थिर रहेगा या नहीं ? ॥ १४ ॥ उस समयसे श्रीकृष्ण, उत्तम-अमूल्य

१. शीघ्रम् । २. समाभिनयो-म० । ३. तदोक्तितो म० । ४. नखेन्दुहरिं म० । ५. -मुच्छ्वसिताननः म०, क० । ६. इन्द्रः । ७. क्षपितस्मयः म० ।

उपचरन्ननुवासरमादरात् प्रियशतैर्जिनचन्द्रमसं हरिः ।
प्रणयवर्शनपूर्वकमर्चयन्[1] स्वयमनर्घगुणं जिनमुन्नतम् ॥१५॥
अथ पुनर्विजयार्धनगोत्तरे पुरवरेऽभिधया श्रुतशोणिते ।
जगति बाण इति प्रथितः खगः स खलु तिष्ठति गर्वितमानसः ॥१६॥
स्वयमुषा दुहितास्य खगेशिनो[2] गुणकलाभरणाविदितावनौ ।
मदनसूनुमुदारगुणैः श्रुतं[3] तमनिरुद्धमधत्त चिरं हृदि ॥१७॥
सुमृदुनापि तदा मृदुनि स्वयं विनिहितेन कृतं तनुतापनम् ।
मनसि संवसता कुटिलभ्रुवः कुटिलवृत्तिरनेन निजीकृता ॥१८॥
अनुदितेन परस्य महाधिना कृशतरां परिपृच्छ्य हि तां हिताम् ।
निशि निनाय सखी खचरीवरं खचरलोकमनङ्गशरीरजम्[4] ॥१९॥
प्रतिविबुध्य युवा सहसा ह्युषामुषसि रत्नमयूखचिते गृहे ।
मृदुतले शयने शयितः स्वयं स खलु पश्यति तत्र तु कन्यकाम् ॥२०॥
गुरुनितम्बघनस्तनभारिणीं सुतनुमध्यवलित्रयहारिणीम् ।
सुपरिदृश्य सतां सुविहारिणीं चिरमचिन्तयदङ्गजधारिणीम् ॥२१॥
हरति केयमिह प्रवरा मनो [5]हरिवधूरुत नागवधूरियम् ।
न हि मनुष्यवधूमहमीदृशीं क्वचिदपीह कदाचन दृष्टवान् ॥२२॥
पदमपीदमपूर्वमिवेक्ष्यते नयनहारिसुरेन्द्रपदोपमम् ।
किमिह सत्यमसत्यमिदं नु किं भ्रमति हि स्वपतां भुवनं मनः ॥२३॥

गुणोंसे युक्त जिनेन्द्ररूपी उन्नत चन्द्रमाकी बड़े आदरसे प्रतिदिन सेवा-शुश्रूषा करते हुए प्रेम-प्रदर्शनपूर्वक उनकी पूजा करने लगे ॥१५॥

अथानन्तर विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें श्रुतशोणित नामका एक नगर है, उस समय उसमें बाण नामका एक महा अहंकारी विद्याधर रहता था ॥ १६ ॥ राजा बाणके गुण और कला रूपी आभूषणोंसे युक्त तथा पृथिवीमें सर्वत्र प्रसिद्ध उषा नामकी एक पुत्री थी जो अपने उदार गुणोंसे विख्यात प्रद्युम्नके पुत्र अनिरुद्धको चिरकालसे अपने हृदयमें धारण कर रही थी ॥ १७ ॥ यद्यपि कुमार अनिरुद्ध अत्यन्त कोमल शरीरका धारक था तथापि कुटिल भौंहों वाली उषाके हृदयमें वास करते हुए उसने कुटिलवृत्ति अङ्गीकृत की थी इसीलिए तो उसके शरीरमें उसने भारी सन्ताप उत्पन्न किया था ॥ १८ ॥ यद्यपि कुमारी उषा अपने मनको महाव्यथा दूसरेसे कहती नहीं थी तथापि भीतर-ही-भीतर वह अत्यन्त दुर्बल हो गयी थी। एक दिन उसकी सखीने अपना हित करनेवाली उस उषासे पूछकर सब कारण जान लिया और वह रात्रिके समय अनिरुद्धको विद्याधरियोंसे श्रेष्ठ विद्याधरलोकमें ले गयी ॥ १९ ॥ प्रातःकालके समय जब सहसा युवा अनिरुद्धकी नींद खुली तब उसने अपने आपको रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त महलमें कोमल शय्यापर सोता हुआ पाया। जागते ही उसने एक कन्याको देखा ॥ २० ॥ वह कन्या स्थूल नितम्ब और निविड़ स्तनोंके भारसे युक्त थी, पतली कमर और त्रिवलिसे सुशोभित थी, सत्पुरुषोंके मनको हरण करने वाली थी और काम अथवा रोमाञ्चों को धारण करनेवाली थी। उसे देख अनिरुद्ध विचार करने लगा कि यह यहाँ कौन उत्तम स्त्री मेरा मन हरण कर रही है? क्या यह इन्द्राणी है? अथवा नाग-वधू है? क्योंकि ऐसी मनुष्य-की स्त्री तो मैंने कभी भी कहीं भी नहीं देखी है ॥ २१-२२ ॥ इन्द्रके स्थानके समान नेत्रोंको हरण करनेवाला यह स्थान भी तो अपूर्व ही दिखायी देता है। यहाँ दिखायी देनेवाला यह

१. -मर्थयन् म० । २. वरणादि म० । ३. तमनुबद्ध म० । ४. प्रद्युम्नपुत्रम् । ५. इन्द्राणी ।

इति वितर्कमतर्कितदर्शनं सुपरिबोध्य तया तमयोजयत् ।
रहसि कन्यकया कृतकङ्कणं विदितचित्रपदादिकलेखिका[1] ॥२४॥
अविरहं सुरतामृतपायिनोरमृतपायिवधूवरयोरिव ।
वरवधूवरयोः समये[2] तयोर्व्रजति वृत्तमिदं विदितं हरेः ॥२५॥
हरिरतो बलशाम्बमनोभवप्रभृतिभिर्यदुभिः सह सङ्गतः[3] ।
मदनजानयनं प्रति यातवान्[4] खगपबाणपुरं स विहायसा ॥२६॥
नरतुरङ्गरथद्विपसङ्कुले युधि विजित्य स तत्र खगाधिपम् ।
तमनिरुद्धमुषासहितं हि तं निजनिवासपुरं हरिरानयत् ॥२७॥
विरहदुःखमपोह्य ततोऽखिलः शमनिरुद्धसमागमसम्भवम् ।
अनुदिनं स्वजनो जनतासखः सुखमरंस्त समस्तसुखाश्रयः ॥२८॥
निजवधूजनलालितनेमिना हरिरमा नृपपौरपयोधिना ।
कुसुमितोपवनं स मधौ ययौ विदितरैवतकं रमणेच्छया ॥२९॥
पृथुभिरश्वरथै[5]र्युरोश्वरा रुचिरभूषणनेमिबलाच्युताः ।
धृतसितातपवारणहारिणो वृषभतालबृहद्गरुडध्वजाः ॥३०॥
दशदशार्हकुमारगणावृतः करितुरङ्गरथैर्मदयन् जनम् ।
कुसुमबाणधनुर्मकरध्वजैः पथि रथेन ययौ मकरध्वजः ॥३१॥
पुरजनोऽथ यथार्हसुवाहनैर्विविधवस्त्रविभूषणभूषितः ।
हरिपुरस्सरराजवधूजनः पथि जगाम तथा शिविकादिभिः ॥३२॥

सब सत्य है ? या असत्य है ? यथार्थमें सोनेवालोंका मन संसारमें भ्रमण करता रहता है ॥ २३ ॥ अतर्कित वस्तुओंको देखकर कुमार इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि इतनेमें चित्रलेखा सखी आयी और सब समाचार बता एकान्तमें कंकण बन्धन कराकर उस कन्याके साथ मिला गयी ॥२४॥ तदनन्तर देव-देवाङ्गनाओंके समान निरन्तर सुरत रूपी अमृतका पान करनेवाले उन दोनों स्त्री-पुरुषोंका समय सुखसे व्यतीत होने लगा। इधर श्रीकृष्णको जब अनिरुद्धके हरे जानेका वृत्तान्त विदित हुआ तब वे बलदेव, शम्ब और प्रद्युम्न आदि यादवों-के साथ मिलकर अनिरुद्धको लानेके लिए आकाशमार्गसे विद्याधरोंके राजा बाणकी नगरी पहुँचे ॥ २५-२६ ॥ और मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथियोंसे व्याप्त युद्धमें विद्याधरोंके अधिपति बाणको जीतकर उषासहित अनिरुद्धको अपने नगर वापिस ले आये ॥ २७ ॥ तदनन्तर अनिरुद्धके समागमसे समुत्पन्न सुखको पाकर सब लोगोंका विरहजन्य दुःख दूर हो गया और समस्त सुखोंके आधारभूत स्वजन और पुरजन सुखसे क्रीड़ा करने लगे ॥ २८ ॥

अथानन्तर एक समय वसन्त ऋतु के आनेपर श्रीकृष्ण, अपनी स्त्रियोंसे लालित भगवान् नेमिनाथ, राजा महाराजा और नगरवासी रूपी सागरके साथ, जहाँ उपवन फूल रहे थे ऐसे गिरनार पर्वतपर क्रीड़ा करनेकी इच्छासे गये ॥ २९ ॥ जो धारण किये हुए सफेद छत्रोंसे सुशोभित थे, तथा बैल, ताल और गरुड़की ध्वजाओंसे युक्त थे ऐसे सुन्दर भूषणोंसे विभूषित भगवान् नेमिनाथ, बलदेव और श्रीकृष्ण पृथक्-पृथक् बड़े-बड़े घोड़ोंके रथोंपर सवार हो एकके बाद एक जा रहे थे ॥ ३० ॥ उनके पीछे समुद्रविजय आदि दश यादवोंके कुमारोंसे परिवृत प्रद्युम्न, मार्गमें फूलोंके बाण, धनुष तथा मकर चिह्नाङ्कित ध्वजासे मनुष्यों को आनन्दित करता हुआ हाथी और घोड़ोंके रथोंपर सवार हो जा रहा था ॥ ३१ ॥ उसके पीछे नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित नगरवासी लोग यथायोग्य उत्तमोत्तम वाहनोंपर

१. चित्रलेखा नाम सखी । २. -र्विदित-म० । ३. संगतैः म० । ४. खगक म० । ५. रथयुतै-म० ।

उपचितो जनताभिरसौ गिरिः श्रियमुवाह सहोपवनैस्तदा ।
सुरगिरेः सुरलोकवधूजनैरुपचितस्य चितस्य वनान्तरैः ॥३३॥
[1]समपनीतयथोचितवाहना वनविहाररसा जनतालिका ।
सपदि कर्तुमसावुपचक्रमे गिरिनितम्बवनेषु यथायथम् ॥३४॥
सुरभिपुष्परजःसुरभौ श्रमव्यपगमव्यसने वसने दिशः ।
वहति शीतलदक्षिणमारुते स्मररतिश्रम एव नृणामभूत् ॥३५॥
[2]रसितचूतलतारसकोकिलाः कलरवाः कलकण्ठतया गिरौ ।
जनमनांस्यपहर्तुमतिक्षमाः परिचुकूजुरिह स्मरदीपिताः ॥३६॥
मधुलिहां मधुपानजुषां कुलैः कुरवका बकुलाः सुभगाः कृताः ।
द्विपदषट्पदभेदवतां रवैः श्रयति चाश्रय [3]आश्रयिणो गुणान् ॥३७॥
करिकटेष्वयुगच्छदगन्धिषु स्थितिमपास्य [4]मदभ्रमराः श्रिताः ।
सहकारसुरद्रुममञ्जरीरभिनवासु रतिर्महती भवेत् ॥३८॥
कुसुमभारभृतः प्रणता भृशं प्रणयभङ्गभियेव नता द्रुमाः ।
युवतिहस्तधुताः[5] कुसुमोच्चयेऽतनुसुखं [6]तरुणा इव भेजिरे ॥३९॥
अनतिनम्रतया निजशाखया कथमपि प्रमदाकरलग्नया ।
तरुगणः कुसुमग्रहणेऽभजद्दृढकचग्रहसौख्यमिव प्रभुः ॥४०॥

सवार होकर चल रहे थे और इनके बाद कृष्ण आदि राजाओंकी स्त्रियाँ पालकी आदिपर सवार हो मार्गमें प्रयाण कर रही थीं ॥ ३२ ॥ उस समय जन-समूहसे व्याप्त और उपवनोंसे सुशोभित गिरनार पर्वत, देव-देवियोंसे व्याप्त एवं नाना वनोंसे युक्त सुमेरु पर्वतकी शोभाको धारण कर रहा था ॥ ३३ ॥ समीप पहुँचनेपर सब लोग यथायोग्य अपने-अपने वाहन छोड़, पर्वतके नितम्बपर स्थित वनोंमें शीघ्र ही इच्छानुसार विहार करने लगे ॥ ३४ ॥ उस समय वासन्ती फूलोंकी परागसे सुगन्धित, श्रमको दूर करनेवाली, ठण्डी दक्षिणकी वायु सब दिशाओंमें बह रही थी इसलिए मनुष्योंके कामभोग-सम्बन्धी श्रम ही शेष रह गया था शेष सब श्रम दूर हो गया था ॥ ३५ ॥ आम्रलताओंके रसका आस्वादन करनेवाली, सुन्दर कण्ठसे मनुष्योंका मन हरण करनेमें अत्यन्त दक्ष और कामको उत्तेजित करनेमें निपुण मधुरभाषी कोकिलाएँ उस समय पर्वतपर चारों ओर कुहू-कुहू कर रहीं थीं ॥ ३६ ॥ मधुपान करनेमें लीन भ्रमरोंके समूहसे कुरवक और मौलिश्रीके वृक्ष तथा द्विपद अर्थात् स्त्री-पुरुष अथवा कोकिल आदि पक्षी और षट्पद अर्थात् भ्रमरोंके शब्दसे वनके प्रदेश, अत्यन्त मनोहर हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि आश्रय, आश्रयी—अपने ऊपर स्थित पदार्थके गुण ग्रहण करता ही है ॥ ३७ ॥ मदपायी भ्रमर, सप्तपर्ण पुष्पके समान गन्धवाले हाथियोंके गण्डस्थलोंपर स्थितिको छोड़कर आम्र और देवदारुकी मञ्जरियोंपर जा बैठी सो ठीक ही है क्योंकि नवीन वस्तुओंमें अल्पाधिक प्रीति होती ही है ॥ ३८ ॥ फूलोंके भारको धारण करनेवाले वृक्ष अत्यन्त नम्रीभूत हो रहे थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो स्नेह-भङ्गके भयसे ही नम्रीभूत हो रहे थे। वे ही वृक्ष पुष्पावचयन के समय जब युवतियोंके हाथोंसे कम्पित होते थे तब तरुण पुरुषोंके समान अतनु—बहुत भारी अथवा कामसम्बन्धी सुखको प्राप्त होते थे ॥ ३९ ॥ फूल चुनते समय वृक्षोंकी ऊँची शाखाओंको स्त्रियाँ किसी तरह अपने हाथसे पकड़कर नीचेकी ओर खींच रही थीं उससे वे नायकके समान स्त्री-द्वारा केश खींचनेके सुखका अनुभव कर

१. समय म० । २. रसितः स्वादितः चूतलतारसो यैस्ते, ते च ते कोकिलाश्च इति— । ३. -माश्रयिणो म० । ४. मदं भ्रमराश्रिताः म० । ५. युवतिहस्तधृता म० । ६. अतनुसुखं महासुखं कामसुखं वा ।

[1]वनपरिभ्रमसौख्यमितस्ततः समनुभूय चिरं वनितासखः ।
युवजनः कुसुमोत्करकल्पितेऽभजत तल्पतले सुरतामृतम् ॥४१॥
प्रतिवनं प्रतिगुल्मलतागृहं प्रतितरु प्रतिवापि विहारतः ।
विषयसौख्यमसेवत सौख्यवानखिलयादवपौरजनो मधौ ॥४२॥
द्विगुणिताष्टसहस्रवधूगणैर्बहुगुणीकृतभोगनभोगतः ।
सुमधुमाधवमासममानयत् सुभगताधरमाधवचन्द्रमाः ॥४३॥
पतिनिदेशजुषो हरियोषितो मुषितमानवमानसवृत्तयः ।
सह विजह्रुरधीश्वरनेमिना तरुलतारमणीयवनेषु ताः ॥४४॥
[2]वनलताकुसुमस्तबकोच्चये मधुमदालसमानसलोचना[3] ।
मुखसुगन्धितया मुखरालिभिर्वलयिताऽधृत काचन देवरम् ॥४५॥
उरसि चुम्बति तं कठिनस्तनी स्पृशति काचन जिघ्रति तं परा ।
मृदुकरेण करे परिगृह्य तं शशिमुखं कुरुतेऽभिमुखं परा ॥४६॥
विटपकैरपि सालतमालजैर्व्यजनकैरिव काश्चिदवीजयन् ।
विदधुरस्य परास्त्ववतंसकश्रियमशोकतरोर्नवपल्लवैः ॥४७॥
विरचितां कुसुमैर्विविधैः स्रजं निजपरिष्वजनस्पृहया परा ।
शिरसि मालयति स्म गले परा कुरवकान्यपरा शिरसेऽकिरत् ॥४८॥
इति वसन्तमनन्तमसौ युवा हरिवधूभिरमा प्रतिमानयन् ।
स ऋतुना तदनन्तरभाविना विभुरसेव्यत सेवकवृत्तिना ॥४९॥

रहे थे ॥ ४० ॥ तरुण पुरुष, स्त्रियोंके साथ चिरकाल तक जहाँ-तहाँ वन-भ्रमणके सुखका उपभोग कर फूलोंके समूहसे निर्मित शय्याओंपर सम्भोगरूपी अमृतका सेवन करने लगे ॥ ४१ ॥ उस वसन्त ऋतुमें सुखसे युक्त समस्त यादव, प्रत्येक वन, प्रत्येक झाड़ी, प्रत्येक लतागृह, प्रत्येक वृक्ष और प्रत्येक वापीमें विहार करते हुए विषय-सुखका सेवन कर रहे थे ॥ ४२ ॥ सोलह हजार स्त्रियोंके द्वारा अनेकरूपताको प्राप्त भोगरूपी आकाशमें विद्यमान एवं सौन्दर्यको धारण करनेवाले श्रीकृष्णरूपी चन्द्रमाने भी वसन्तऋतुके उस चैत्र-वैशाख मासको बहुत अच्छा माना था ॥ ४३ ॥ मनुष्यकी मनोवृत्तिको हरण करनेवाली श्रीकृष्णकी स्त्रियाँ, पतिकी आज्ञा पाकर वृक्षों और लताओंसे रमणीय वनोंमें भगवान् नेमिनाथके साथ क्रीड़ा करने लगीं ॥ ४४ ॥ मधुके मदसे जिसका हृदय और नेत्र अलसा रहे थे ऐसी किसी स्त्रीको वन-लताओंके फूलोंके गुच्छे तोड़ते समय मुखकी सुगन्धि-से प्रेरित गुनगुनाते हुए भ्रमरोंने घेर लिया इसलिए उसने भयभीत हो देवर—नेमिनाथको पकड़ लिया ॥ ४५ ॥ कोई कठिनस्तनी वक्षःस्थलपर उनका चुम्बन करने लगी, कोई उनका स्पर्श करने लगी, कोई उन्हें सूँघने लगी, कोई अपने कोमल हाथसे उनका हाथ पकड़ चन्द्रमाके समान मुखके धारक भगवान् नेमिनाथको अपने सम्मुख करने लगी ॥ ४६ ॥ कितनी ही स्त्रियाँ साल और तमाल वृक्षकी छोटी-छोटी टहनियोंसे पङ्खोंके समान उन्हें हवा करने लगीं। कितनी ही अशोक वृक्षके नये नये पल्लवोंसे कर्णाभरण अथवा सेहरा बनाकर उन्हें पहिनाने लगीं ॥४७॥ कोई अपने आलिङ्गनकी इच्छासे नाना प्रकारके फूलोंसे निर्मित माला उनके शिरपर पहनाने लगी, कोई गलेमें डालने लगी और कोई उनके शिरको लक्ष्यकर कुरवकके पुष्प फेंकने लगी ॥ ४८ ॥ इस प्रकार युवा नेमिनाथ कृष्णकी स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए उस वसन्तको ऐसा समझ रहे थे जैसे उसका कभी अन्त ही आनेवाला न हो। तदनन्तर वसन्तके बाद आनेवाली ग्रीष्म ऋतु

---

१. नवपरिभ्रम-म० । २. वनलताः म० । ३. लोचनाः म० ।

प्रतिदिनं वसति स्म हरिस्तदा खरनिदाघऋतुं प्रतिमानयन् ।
स्वधृतिकारिणि रैवतके गिरौ शिशिरशीकरनिर्झरहारिणि ॥५०॥
हरिवधूनिवहैरुपरोधतः[1] प्रकृतिरागपरागपराङ्मुखः ।
शिशिरवारिणि तत्र जलास्पदे जलविहारमसेवत तीर्थकृत् ॥५१॥
तरणदूरनिमज्जनकक्रियाः सलिलयन्त्रकराश्च परस्परम् ।
यदुनृपस्य मुदा वरयोषितः[2] प्रतिविचिक्षिपुरम्बुमुखाम्बुजे ॥५२॥
विभुमपि प्रति ता व्यकिरन्पयः करतलाञ्जलिभिर्जलयन्त्रकैः ।
प्रलघु तेन तु ताः[3] किरतापगाः जलधिनेव मुहुर्विमुखीकृताः ॥५३॥
अजनि मज्जनकं जनरञ्जनं न खलु केवलमेवमनीदृशम् ।
अपि तु चित्रसमालभनैर्भ्रमत्परिमलैरपि तज्जलरञ्जनम् ॥५४॥
उदतरत् प्रभुणा तरुणीघटा [4]गतनिदाघजघर्मघनश्रमा ।
मृदितपुष्करिणी करिणी चिरादिव महाकरिणा करिणीघटा ॥५५॥
च्युतवतंसविशेषकमाकुलं तरलदृष्टि विधूसरिताधरम् ।
शिथिलमेखलमिष्टकचग्रहं रत इवाप पुरन्ध्रिकुलं श्रियम् ॥५६॥
परिजनाहृतवस्त्रविभूषणैस्तदनुभूषिततोषितयोषितः ।
विभुवपुर्वसनैः सममार्जयन् सुपरिधाय परं परिधानकम् ॥५७॥

सेवककी तरह भगवान्‌की सेवा करने लगीं ॥ ४९ ॥

उस समय तीक्ष्ण गरमीसे युक्त ग्रीष्म ऋतुको अच्छा मानते हुए श्रीकृष्ण उसी गिरनार पर्वतपर प्रतिदिन निवास करने लगे क्योंकि वह उन्हें बहुत ही आनन्दका कारण था और ठण्डे-ठण्डे जलकणोंसे युक्त निर्झरोंसे मनोहर था ॥५०॥ यद्यपि भगवान् नेमिनाथ स्वभावसे ही रागरूपी परागसे पराङ्मुख थे तथापि श्रीकृष्णकी स्त्रियोंके उपरोधसे वे शीतल जलसे भरे हुए जलाशयमें जलक्रीड़ा करने लगे ॥ ५१ ॥ यदु नरेन्द्रकी उत्तम स्त्रियाँ कभी तैरने लगती थीं, कभी लम्बी-लम्बी डुबकियाँ लगाती थीं, कभी हाथमें पिचकारियाँ ले हर्षपूर्वक परस्पर एक-दूसरे के मुखकमलपर पानी उछालती थीं ॥५२॥ वे अपनी हथेलीकी अञ्जलियों और पिचकारियोंसे जब भगवान्‌के ऊपर जल उछालने लगीं तो उन्होंने भी जल्दी-जल्दी पानी उछालकर उन सबको उस तरह विमुख कर दिया जिस तरह कि समुद्र अपने जलकी तीव्र ठेलसे जब कभी नदियोंको विमुख कर देता है—उल्टा लौटा देता है ॥ ५३ ॥ उनका वह ऐसा अनुपम स्नान न केवल जनरञ्जन—मनुष्योंको राग—प्रीति उत्पन्न करनेवाला हुआ था किन्तु फैलती हुई सुगन्धिसे युक्त नाना प्रकारके विलेपनोंसे जल रञ्जन—जलको रँगने वाला भी हुआ था ॥५४॥ जिस प्रकार कमलोंके समूहको मर्दन करनेवाली एक चञ्चल सूँड़से युक्त हस्तिनियोंका समूह जलाशयमें किसी महाहस्तीके साथ चिरकालतक तैरता रहता है उसी प्रकार वह तरुण स्त्रियोंका समूह अपने हाथ चलाता और कमलोंके समूहको मर्दित करता हुआ चिर कालतक तैरता रहा। इस जल-क्रीड़ासे उनका ग्रीष्मकालीन घामसे उत्पन्न समस्त भय दूर हो गया था ॥ ५५ ॥ उस समय स्त्रियोंके कर्णाभरण गिर गये थे, तिलक मिट गये थे, आकुलता बढ़ गयी थी, दृष्टि चञ्चल हो गयी थी, ओंठ धूसरित हो गये थे, मेखला ढीली हो गयी थी और केश खुल गये थे इसलिए वे सम्भोगकाल-जैसी शोभाको प्राप्त हो रही थीं ॥ ५६ ॥ तदनन्तर परिजनोंके द्वारा लाये हुए वस्त्राभूषणोंसे विभूषित स्त्रियोंने, सन्तुष्ट होकर वस्त्रोंसे भगवान्‌का शरीर पोंछा और उन्हें दूसरे वस्त्र पहिनाये ॥ ५७ ॥

१. -रुपरोधितः म०, ङ। २. स्वमुखवारिमुसेकवधूजनाः म०, ङ०। ३. सता म०। ४. गतनिदाघज म०।

सपदि मुक्तजलाम्बरपीलने स्फुटकटाक्षगुणेन विलासिना ।
मधुरिपुस्थिरगौरवभूमिकामतुलजाम्बवतीं समनोदयत् ॥५८॥

कृतककोपविकारकटाक्षिणी सकलितभ्रु विलोक्य तु चक्षुषा ।
विमुमुचावचः पथपण्डिता स्वरितजाम्बवती स्फुटिताधरा ॥५९॥

भुजगकोटिमणिद्युतिमण्डलद्विगुणिताङ्गकिरीटमणिप्रभः ।
समधिरुह्य स कौस्तुभभासुरः स्वहरिवाहमहाशयनं हरिः ॥६०॥

घननिनादततान्बरमम्बुजं[1] जगति पूरयते निजमम्बुमाः[2] ।
कठिनशार्ङ्गधनुः सगुणं करोत्यखिलभूपविभुः सुभगाङ्गनः ॥६१॥

पतिरसौ मम सोऽपि[3] कदाचन प्रति न शास्ति हि वेदशशासनम् ।
तदिह कश्चिदयं किल शास्ति मामपि भवान् सजलाम्बरपीलने ॥६२॥

इति निशम्य नु काश्चन तद्वचः प्रतिजगुर्जगतीपतियोषितः ।
किमिति नाथमधिक्षिपसि त्रिभूप्रभुमनन्तगुणं विगतत्रपे ॥६३॥

कियदिदं जगतीपतिपौरुषं जगति दुष्करमित्यभिधाय सः ।
सरभसं पुरमेत्य नृपालयं द्रुतगतिः प्रविवेश हसन्मुखः ॥६४॥

चलभुजङ्गमभोगविभूषणं तदधिरुह्य महाशयनं हरेः ।
तदकरोद्द्विगुणं सगुणं धनुस्तमपि शङ्खमपूरयदीश्वरः[4] ॥६५॥

भगवान्‌ने जो तत्काल गीला वस्त्र छोड़ा था उसे निचोड़नेके लिए उन्होंने कुछ विलासपूर्ण मुद्रामें कटाक्ष चलाते हुए कृष्णकी प्रेमपात्र एवं अनुपम सुन्दरी जाम्बवतीको प्रेरित किया ॥ ५८ ॥ भगवान्‌का अभिप्राय समझ शीघ्रतासे युक्त तथा नाना प्रकारके वचन बनानेमें पण्डित जाम्बवती बनावटी क्रोधसे विकारयुक्त कटाक्ष चलाने लगी, उसका ओष्ठ कम्पित होने लगा एवं हाव-भावपूर्वक भौंहें चलाकर नेत्रसे भगवान्‌की ओर देखकर कहने लगी कि ॥ ५९ ॥ जिनके शरीर और मुकुटके मणियोंकी प्रभा करोड़ों सर्पोंके मणियोंके कान्तिमण्डलसे दूनी हो जाती है, जो कौस्तुभ मणिसे देदीप्यमान हैं, जो महानागशय्यापर आरूढ़ हो जगत्‌में प्रचण्ड आवाजसे आकाशको व्याप्त करनेवाला अपना शङ्ख बजाते हैं, जो जलके समान नीली आभाको धारण करनेवाले हैं, जो अत्यन्त कठिन शार्ङ्गनामक धनुषको प्रत्यञ्चासे युक्त करते हैं, जो समस्त राजाओंके स्वामी हैं और जिनकी अनेक शुभ-सुन्दर स्त्रियाँ हैं वे मेरे स्वामी हैं किन्तु वे भी कभी मुझे ऐसी आज्ञा नहीं देते फिर आप कोई विचित्र ही पुरुष जान पड़ते हैं जो मेरे लिए भी गीला वस्त्र निचोड़नेका आदेश दे रहे हैं ॥ ६०-६२ ॥ जाम्बवतीके उक्त शब्द सुनकर कृष्णकी कितनी ही स्त्रियोंने उसे उत्तर दिया कि अरी निर्लज्ज ! इस तरह तीन लोकके स्वामी और अनन्तगुणोंके धारक भगवान् जिनेन्द्रकी तू क्यों निन्दा कर रही है ? ॥ ६३ ॥ जाम्बवतीके वचन सुन भगवान् नेमिनाथने हँसते हुए कहा कि तूने राजा कृष्णके जिस पौरुषका वर्णन किया है संसारमें वह कितना कठिन है ? इस प्रकार कह कर वे वेगसे नगरकी ओर गये और शीघ्रतासे राजमहलमें घुस गये ॥ ६४ ॥ वे लहलहाते सर्पोंकी फणाओंसे सुशोभित श्रीकृष्णकी विशाल नागशय्यापर चढ़ गये । उन्होंने उनके शार्ङ्ग धनुषको दूना कर प्रत्यञ्चासे युक्त कर दिया और उनके पाञ्च-

१. शङ्खं । २. पूरयते च निबाम्बुभाः म०, पूरयते च जिनाधिपैः घ०, पूरयते निजमाम्बुभाः ग०, पूरयते निजमाम्बुभाः ङ०, ख० । ३. कोऽपि म० । ४. -दीश्वरम् म० ।

मुखरशङ्खरवेण दिशां मुखाम्बलिकमम्बरमम्बुनिधिश्च भूः ।
निखिलमेतदलीव विपूरितस्फुटदिवस्फुटमाविरभूत्तदा ॥६६॥

पटुमदाः करिणः क्षुभिता निजाननिबमम्भुरितस्तत आश्रवान् ।
त्रुटितबन्धतुरङ्गमकोटयः पुरि सहेषितकास्त्वरितोऽभ्रमन् ॥६७॥

भवनकूटतटान्यपतन् हरिः स्वकमकर्षदसिं क्षुभिता सभा ।
पुरजनः प्रलयागमशङ्कया भयमगात् परमाकुलितस्तदा ॥६८॥

हरिरवेत्य निजाम्बुजनिस्वनं त्वरितमेत्य कुमारमवज्ञया ।
स्फुरदहीशमहाशयने स्थितं परिनिरीक्ष्य नृपैः सुविसिस्मिये ॥६९॥

परुषजाम्बवतीवचसो रुषा स्फुटमवेत्य कुमारकृतं हरिः ।
परितुतोष सबन्धुरधीशितुर्विकृतिरप्यतितोषकरी तदा ॥७०॥

कृतपरिष्वजनः स्वजनैः स तं समभिपूज्य युवानमगाद्गृहम् ।
स्वयुवतिं प्रति दीपितमन्मथं समवबुध्य हरिर्मुमुदेऽधिकम् ॥७१॥

सविधियाचितभोजसुताकरग्रहणहेतुविबोधितबान्धवः ।
नरपतीन् सकलान् सकलत्रकानकृत सन्निहितान् कृतगौरवः ॥७२॥

विहिततत्समयोचितमज्जनौ परमरूपधरौ धृतमण्डनौ ।
पुरि यथास्वमगारमधिष्ठितौ जनमनोऽहरतां सुवधूवरौ ॥७३॥

जन्य शङ्खको जोरसे फूँक दिया ॥ ६५ ॥ शङ्खके उस भयंकर शब्दसे दिशाओंके मुख, समस्त आकाश, समुद्र, पृथिवी आदि सभी चीजें व्याप्त हो गयीं और उससे ऐसी जान पड़ने लगीं मानो शङ्खके शब्दसे व्याप्त होनेके कारण फट ही गयी हों ॥ ६६ ॥ अत्यधिक मदको धारण करनेवाले हाथियोंने क्षुभित होकर जहाँ-तहाँ अपने बन्धनके खम्भे तोड़ दिये। घोड़े भी बन्धन तुड़ाकर हिनहिनाते हुए नगरमें इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ६७ ॥ महलोंके शिखर और किनारे टूट-टूट कर गिरने लगे। श्री कृष्णने अपनी तलवार खींच ली। समस्त सभा क्षुभित हो उठी, और नगरवासी जन प्रलयकालके आनेकी शङ्कासे अत्यन्त आकुलित होते हुए भयको प्राप्त हो गये ॥ ६८ ॥ जब कृष्णको विदित हुआ कि यह तो हमारे ही शङ्खका शब्द है तब वे शीघ्र ही आयुधशालामें गये और नेमिकुमारको देदीप्यमान नागशय्यापर अनादरपूर्वक खड़ा देख अन्य राजाओंके साथ आश्चर्य करने लगे ॥ ६९ ॥ ज्यों ही कृष्णको यह स्पष्ट मालूम हुआ कि कुमारने यह कार्य जाम्बवतीके कठोर वचनोंसे कुपित होकर किया है त्यों ही बन्धुजनोंके साथ उन्होंने अत्यधिक सन्तोषका अनुभव किया। उस समय कुमारकी वह क्रोध-रूप विकृति भी कृष्णके लिए अत्यन्त सन्तोषका कारण हुई थी ॥७०॥ अपने स्वजनोंके साथ कृष्णने युवा नेमिकुमारका आलिङ्गन कर उनका अत्यधिक सत्कार किया और उसके बाद वे अपने घर गये। घर जानेपर जब उन्हें विदित हुआ कि अपनी स्त्रीके निमित्तसे उन्हें कामोद्दीपन हुआ है तब वे अधिक हर्षित हुए ॥ ७१ ॥ श्रीकृष्णने नेमिनाथके लिए विधिपूर्वक भोजवंशियोंकी कुमारी राजीमतीकी याचना की, उसके पाणिग्रहण संस्कारके लिए बन्धुजनोंके पास खबर भेजी और स्त्रियोंसहित समस्त राजाओंको बड़े सम्मानके साथ बुलाकर अपने निकट किया ॥ ७२ ॥ उस समयके योग्य जिनका स्नपन किया गया था, जो परम रूपको धारण कर रहे थे, जिन्होंने उत्तमोत्तम आभूषण धारण किये थे और जो अपने-अपने नगरमें अपने-अपने घर स्थित थे ऐसे उत्तम वधू और वर मनुष्योंका मन हरण कर रहे थे ॥ ७३ ॥

ऋतुरियाय स घर्ममयस्ततो भुवि घनागमकालभयादिव ।
नभसि दीनदृशं घनावली ददृशे पथिकैस्तृषितैरपि ॥७४॥
प्रथमगर्जितशीतपयःकणा जनुषां [1] शिखिचातकसौख्यदाः ।
भुवि बभूवुरमी घनवियोगिनां द्विगुणतापकृतामतिदुःसहाः ॥७५॥
दवदिवाकरदग्धवनावलीप्रथमनिर्गतबाष्पसुसौरभे [2] ।
अभवतामिव सौहृदवृत्तये [3] नभसि वर्षति मेघकदम्बके ॥७६॥
चलतडित्सबलाकबलाहके [4] सुरपचापधरे शरवर्षिणी ।
क्षितिरभात्सुरगोपशतैश्चिता पतितपान्थमनोभिरिवाभितः ॥७७॥
कुटजनीपकदम्बकदम्बकैः कुसुमितैः ककुभैः [5] ककुभोऽखिलाः ।
नवशिलीन्ध्रदलैश्च मनोहराः सवनरन्ध्रगिरिक्षितयो बभुः ॥७८॥
घनघनाघनगर्जिततर्जिता मुखरबाहुलतावलयारवैः ।
युवतयः प्रियकण्ठतटग्रहैर्विदधुरुग्रभयग्रहनिग्रहम् ॥७९॥
गिरिशिलातपयोगविमोचितास्त्रिविधयोगधरा मुनयो वने ।
शिशिरमारुतवर्षसहाः समास्तरुलताभिमुखास्त्ववतस्थिरे ॥८०॥
पृथुरथं चतुरश्वयुतं तदा ध्वजपताकिनमर्करथप्रभम् ।
समधिरुह्य सनेमियुवान्वितो नृपसुतैश्चलितो वनभूमिकाम् ॥८१॥

तदनन्तर अब पृथिवीपर वर्षाकाल आनेवाला है इस भयसे ही मानो ग्रीष्म ऋतु कहीं चली गयी। आकाशमें मेघमाला छा गयी और उसे मरुस्थलके पथिक प्यासे होनेपर भी बड़ी दीनतासे देखने लगे ॥ ७४ ॥ मेघोंकी प्रथम गर्जनाके जो शब्द और शीतल जलके छींटे क्रमसे मयूरों तथा चातकोंको सुखदायी थे वे ही पृथिवीपर दूने संतापको प्राप्त समस्त विरही मनुष्योंके लिए अत्यन्त दुःसह हो रहे थे ॥ ७५ ॥ सावनके महीनेमें जब मेघोंके समूह बरसने लगे तब दावानल और सूर्यके कारण दग्ध वनपंक्तिसे जो सर्व प्रथम बाष्प (भाप) और सोंधी-सोंधी सुगन्धि निकली वह ऐसी जान पड़ने लगी मानो मेघरूपी मित्रके दिखनेसे ही वनावलीके बाष्प—हर्षाश्रु और सुखोच्छ्वासकी सुगन्धि निकलने लगी हो ॥ ७६ ॥ चञ्चल बिजली और बलाकाओंसे सहित, मेघ जब इन्द्रधनुषरूपी धनुषको धारण कर शर अर्थात् बाण (पक्षमें जल) की वर्षा करने लगे तब सैकड़ों इन्द्रगोपोंसे व्याप्त पृथिवी ऐसी जान पड़ने लगी मानो जहाँ-तहाँ पथिक जनोंके गिरे हुए अनुरागी हृदयोंसे ही व्याप्त हो रही हो ॥ ७७ ॥ समस्त दिशाएँ फूले हुए कुटज, कदम्ब और कोहाके वृक्षोंसे मनोहर दिखने लगीं तथा वन, गर्त और पर्वतोंसे सहित समस्त भूमि शिलीन्ध्रके नये-नये दलोंसे सुशोभित हो उठी ॥ ७८ ॥ मेघोंकी घनघोर गर्जनासे डरी हुई युवतियाँ, भुजाओंकी खनकती हुई चूड़ियोंके शब्दसे युक्त पतियोंके कण्ठके दृढालिंगनसे अपने तीव्र भयरूपी पिशाचका निग्रह करने लगीं। भावार्थ–मेघगर्जनासे भयभीत स्त्रियाँ पतियोंके कण्ठका दृढालिङ्गन करने लगीं ॥ ७९ ॥ आतापन, वर्षा और शिशिरके भेदसे तीन प्रकारके योगको धारण करनेवाले मुनियोंका उस समय पर्वत की शिलाओंपर होनेवाला आतापन योग छूट गया था इसलिए वे वनमें शीत, वायु और वर्षाकी बाधा सहन करते हुए वृक्ष और लताओंके नीचे स्थित हो गये। भावार्थ—मुनिगण वृक्षोंके नीचे बैठकर वर्षायोग धारण करने लगे ॥ ८० ॥ ऐसी ही वर्षाऋतुमें एक दिन युवा नेमिकुमार, ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित सूर्यके रथके समान देदीप्यमान एवं चार घोड़ोंसे

१. दिवि चातक क०, भुवि चातक ङ० । २. कर्तृपदम् । ३. श्रावणमासे । ४. सुरचापधरे क०, ङ०, म० । ५. इन्द्रः ककुभोऽर्जुनः इत्यमरः । 'कोहा' इति हिन्दी ।

मुदितभोजसुतानगराङ्गनातृषितलोचनपीतवपुर्जलः ।
विपुलराजपथेन स तैः समं शनकमेव मनोहरदर्शनः ॥८२॥

जलनिधिर्मुखरः स्वतरङ्गकैर्ललितनर्तनदोर्भिरिवाकुलैः ।
अतितरां विबभौ विभुसन्निधौ विधृतनर्तनवर्तकवत्तदा[1] ॥८३॥

उपवनं समुपेत्य वनश्रियं सपदि यूनि विलोकयतीश्वरे ।
विततशाखवनद्रुमजातयो विचकरुः कुसुमाञ्जलिमानताः ॥८४॥

स खलु पश्यति तत्र तदा वने विविधजातिभृतस्तृणभक्षिणः ।
भयविकम्पितमानसगात्रकान् पुरुषरुद्धमृगानतिविह्वलान् ॥८५॥

लघु निरुध्य रथं स हि सारथिं[2] निजनिनादजिताम्बुदनिस्वनः ।
अपि विदन्नवदन्मृगजातयः किमिह रोधमिताः प्रविकम्पिताः ॥८६॥

अकथयत् प्रणतः स कृताञ्जलिः क्षितिभुजामिह मांसभुजां विभो ।
तव विवाहविधौ मृगरोधनं विविधमांसनिमित्तमनुष्ठितम् ॥८७॥

इति निशम्य निशाम्य मृगव्रजान् प्रकृतिभूतदयार्द्रितमानसः ।
नृपसुतानभिवीक्ष्य विबुद्धमानभिनिबोधविजृम्भणसावधिः ॥८८॥

गृहमरण्यमरण्यतृणोदकान्यशनपानमतीव निरागसः ।
मृगकुलस्य तथापि वधो नृभिर्व्रजति पश्यत निर्घृणतां नृणाम् ॥८९॥

जुते रथपर सवार हो अनेक राजकुमारोंके साथ वनभूमिकी ओर चल दिये ॥ ८१ ॥ प्रसन्नतासे युक्त राजीमती तथा नगरकी स्त्रियोंने अपने प्यासे नेत्रोंसे जिनके शरीर रूपी जल-का पान किया था एवं जिसका दर्शन मनको हरण कर रहा था ऐसे नेमिनाथ भगवान्, उन राजकुमारोंके साथ विशाल राज-मार्गमें दर्शकोंपर दया करते हुएके समान धीरे-धीरे गमन कर रहे थे ॥ ८२ ॥ उस समय समुद्र, सुन्दर नृत्यमें व्यस्त भुजाओंके समान अपनी चञ्चल तरङ्गोंसे शब्दायमान हो रहा था और भगवान्के समीप आनेपर नाना प्रकारके नृत्योंको धारण करनेवाले नर्तकके समान अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥८३॥ उपवनमें पहुँचकर युवा नेमि कुमार शीघ्र ही वन की लक्ष्मीको देखने लगे और वनके नाना वृक्षोंकी पंक्तियाँ अपनी शाखारूप भुजाएँ फैलाकर नम्रीभूत हो उनपर फूलोंकी अञ्जलियाँ बिखेरने लगीं ॥ ८४ ॥ उसी समय उन्होंने वनमें एक जगह, भयसे जिनके मन और शरीर काँप रहे थे, जो अत्यन्त विह्वल थे, पुरुष जिन्हें रोके हुए थे और जो नाना जातियोंसे युक्त थे ऐसे तृणभक्षी पशुओंको देखा ॥ ८५ ॥ यद्यपि भगवान्, अवधिज्ञानसे उन पशुओंको एकत्रित करनेका कारण जानते थे तथापि उन्होंने शीघ्र ही रथ रोककर अपने शब्दसे मेघध्वनिको जीतते हुए, सारथिसे पूछा कि ये नाना जातिके पशु यहाँ किस लिए रोके गये हैं ? ॥ ८६ ॥ सारथिने नम्रीभूत हो हाथ जोड़कर कहा कि हे विभो ! आपके विवाहोत्सवमें जो मांसभोजी राजा आये हैं उनके लिए नाना प्रकारका मांस तैयार करनेके लिए यहाँ पशुओंका निरोध किया गया है ॥ ८७ ॥ इस प्रकार सारथिके वचन सुनकर ज्यों ही भगवान्ने मृगोंके समूहकी ओर देखा त्यों ही उनका हृदय प्राणिदयासे सराबोर हो गया। वे अवधिज्ञानी तो थे ही इसलिए राजकुमारोंकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगे कि वन ही जिनका घर है, वनके तृण और पानी ही जिनका भोजन-पान है और जो अत्यन्त निरपराध हैं ऐसे दीन मृगोंका संसारमें फिर भी मनुष्य

---

१. विधृतनर्तकनर्तन म०, ख० । २. सहसारथिं म० ।

रणमुखेषु रणार्जितकीर्तयः करितुरङ्गरथेष्वपि निर्भयाः ।
अभिमुखानभिहन्तुमभिस्थितानभिमुखाः प्रहरन्ति न हीतरान् ॥९०॥
शरभसिंहवनद्विपयूथपान् प्रकुपितान् परिहृत्य विदूरतः ।
मृगशशान् पृथुकान् प्रहरत्यमून् कथमिवात्र पुमान्न विलज्जते ॥९१॥
चरणकण्टकवेधभयाकुला विदधते परिधानमुपानहाम् ।
मृदुमृगान् मृगयासु पुनः स्वयं निशितशस्त्रशतैः प्रहरन्ति हि ॥९२॥
विषयसौख्यफलप्रदवीरुधः प्रथम एव मृगौघवधोऽधमः ।
अनुभवे पुनरस्य रसप्रदे षडसुकायविनिपीडनमप्यपि ॥९३॥
विपुलराज्यपदस्थितिमिच्छता सकलसत्त्ववधोऽभिमुखीकृतः ।
दुरितबन्धफलस्तु वधो ध्रुवं कटुफला स्थितिरस्य परा[1] यतः ॥९४॥
प्रकृतिदेशरसानुभवस्थिति[2] प्रचितबन्धचतुष्कवशीकृतः ।
भजति दुर्गतिषु क्रमतो भ्रमन् विविधदुःखमयं भवभृद्गणः ॥९५॥
प्रतिभवं भवदुःखखनीसुखैर्विषयजैः[3] कुसुखैरतिभावितः ।
नरभवेऽप्यसुमानतिमोहितो न यतते भवदुःखनिवृत्तये ॥९६॥
भवसुखानि बहिर्विषयोद्भवान्यतिमहान्त्यपि [4]सन्ततिमन्त्यपि ।
भवभृतो न भवन्ति हि तुष्टये जलनिधेरिव सिन्धुशतान्यपि ॥९७॥

वध करते हैं। अहो! मनुष्योंकी निर्दयता तो देखो ॥ ८८-८९ ॥ रणके अग्रभागमें जिन्होंने कीर्तिका संचय किया है ऐसे शूरवीर मनुष्य हाथी, घोड़े और रथ आदिपर सवार हो निर्भयताके साथ मारनेके लिए सामने खड़े हुए लोगों पर ही उनके सामने जाकर प्रहार करते हैं अन्य लोगोंपर नहीं ॥ ९० ॥ जो पुरुष अत्यधिक क्रोधसे युक्त शरभ, सिंह तथा जंगली हाथियों आदिको तो दूरसे छोड़ देते हैं और मृग तथा खरगोश आदि क्षुद्र प्राणियों-पर प्रहार करते हैं उन्हें लज्जा क्यों नहीं आती ? ॥ ९१ ॥ अहा! जो शूरवीर पैरमें काँटा न चुभ जाये इस भयसे स्वयं तो जूता पहिनते हैं और शिकारके समय कोमल मृगोंको सैकड़ों प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्रोंसे मारते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ९२ ॥ यह निन्द्य मृग-समूहका वध प्रथम तो विषयसुखरूपी फलको देता है परन्तु जब इसका अनुभाग अपना रस देने लगता है तब उत्तरोत्तर छह कायका विघात सहन करना पड़ता है। भावार्थ—हिंसक प्राणी छहकायके जीवोंमें उत्पन्न होता है और वहाँ नाना जीवोंके द्वारा मारा जाता है ॥ ९३ ॥ यह मनुष्य चाहता तो यह है कि मुझे विशाल राज्यकी प्राप्ति हो पर करता है समस्त प्राणियोंका वध सो यह विरुद्ध बात है क्योंकि प्राणिवधका फल तो निश्चित ही पापबन्ध है और उसके फलस्वरूप कटुक फलकी ही प्राप्ति होती है राज्यादिक मधुर फलकी नहीं ॥९४॥ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकारके बन्धके वशीभूत हुआ यह प्राणियोंका समूह क्रम-क्रमसे दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख भोगता रहता है ॥९५॥ यह प्राणी प्रत्येक भवमें भय और दुःखकी खान से युक्त विषय-सम्बन्धी खोटे सुखोंसे प्रभावित रहा है और आज मनुष्यभवमें भी इतना अधिक मोहित हो रहा है कि संसार-सम्बन्धी दुःखको दूर करनेके लिए यत्न ही नहीं करता ॥ ९६ ॥ जिस प्रकार सैकड़ों नदियाँ समुद्रके सन्तोषके लिए नहीं हैं उसी प्रकार बाह्य विषयों-से उत्पन्न, सन्ततिबद्ध, बहुत भारी संसारसुख भी प्राणीके सन्तोषके लिए नहीं हैं ॥ ९७ ॥

१. वधा म० । २. स्थितिः प्रचित म० । ३. विषमजैः म० । ४. सन्ततितान्यपि म० ।

स्वचरदेवनृपामरजन्मजं सुखमजयन्तविमानभवोद्भवम् ।
न हि सुखं[1] बहुसागरजीविनः समनुभूतमभून्मम तृप्तये ॥९८॥
कतिपयाहभवं बत किं पुनः सुखमसारमिदायुरसारकम् ।
भवति तृप्तिकरं मम साम्प्रतं सुखमसारमसारतयायुषः ॥९९॥
अत इदं क्षयि तापकरं सुखं विषयजं प्रविहाय महोद्यमः ।
क्षयविमुक्तमतापजमात्मजं शिवसुखं महता तपसार्जये ॥१००॥
इति तदा मनसा वचसा समं सुपरिचिन्तयति भुवनेश्वरे ।
शशिनिभाः खलु [2]पञ्चमकल्पजास्तुषितवह्न्यरुणार्कसुरस्सराः ॥१०१॥
लघु समेत्य नता भगवत्पदोः कृतकराञ्जलिविग्रहा जगुः ।
समय एष विभो भरतेऽधुना त्वमिह वर्तय तीर्थमिति प्रभुम् ॥१०२॥
प्रतिविबुद्धपथः स्वयमेव स प्रतिविबोधकदेवगिरोऽस्य ताः ।
अनुवदन्त्यपि ताः पुनरुक्ततां फलति चावसरे पुनरुक्तता ॥१०३॥
लघु विसृज्य मृगान् मृगबान्धवो नृपसुतैः प्रविवेश पुरं प्रभुः ।
सपदि तत्र नृपासनभूषणं[3] तुष्टुवुरेत्य पुरेव सुरेश्वराः ॥१०४॥
तमुपवेश्य ततः स्नपनासने समुपनीतपयःपयसा सुरैः ।
समभिषिच्य विभूष्य सुरोचितस्रगनुलेपनवस्त्रविभूषणैः ॥१०५॥
सुहरिविष्टरवर्तितमीश्वरं [4]हरिबलान्वितभूपसुरासुराः ।
बभुरतीव तदा परितः स्थिताः प्रथममेरुमिवोरुकुलाचलाः ॥१०६॥

औरकी बात जाने दो मैंने स्वयं सागरों पर्यन्त विद्याधरेन्द्र, देवेन्द्र और नरेन्द्रके जन्ममें राजाओं तथा जयन्त विमानमें समुत्पन्न सुखका उपभोग किया है पर वह मेरी तृप्तिके लिए नहीं हुआ ॥ ९८ ॥ यद्यपि मुझे लोकोत्तर सुख सुलभ है तथापि वह कुछ ही दिन ठहरनेवाला है, निःसार है और मेरी आयु भी असार है अतः वह मेरे लिए तृप्ति करनेवाला कैसे हो सकता है ? ॥ ९९ ॥ इस लिए मैं इस विनाशीक एवं सन्तापकारी विषयजन्यसुखको छोड़कर महान् उद्यम करता हुआ अत्यधिक तपसे अविनाशी, असन्तापसे उत्पन्न आत्मोत्थ मोक्ष सुखका उपार्जन करता हूँ ॥ १०० ॥ भगवान् उस समय मन-वचनसे इस प्रकारका विचार कर ही रहे थे कि उसी समय पञ्चम स्वर्गमें उत्पन्न, चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण तुषित, वह्नि, अरुण, आदित्य आदि लौकान्तिक देव शीघ्र ही आ पहुँचे और मस्तक झुकाकर तथा हाथ जोड़ कर निवेदन करने लगे कि हे प्रभो ! इस समय भरतक्षेत्रमें तीर्थ प्रवर्तानेका समय है इसलिए तीर्थप्रवृत्ति कीजिए ॥ १०१–१०२ ॥ भगवान् स्वयं ही मार्गको जानते थे इसलिए लौकान्तिक देवोंके उक्त वचन यद्यपि पुनरुक्त बातका ही कथन करते थे तथापि अवसरपर पुनरुक्तता भी फलीभूत होती है ॥ १०३ ॥ मृगोंके हितैषी भगवान्ने शीघ्र ही मृगोंको छोड़ दिया और राजकुमारोंके साथ स्वयं नगरीमें प्रवेश किया। नगरीमें जाकर वे राज्यसिंहासनको अलंकृत करने लगे और इन्द्रोंने पहलेके समान आकर उनकी स्तुति की ॥ १०४ ॥ तदनन्तर इन्द्रोंने उन्हें स्नानपीठपर विराजमान कर देवोंके द्वारा लाये हुए क्षीरोदकसे उनका अभिषेक किया और देवोंके योग्य माला, विलेपन, वस्त्र एवं आभूषणोंसे विभूषित किया ॥१०५॥ उत्तम सिंहासनके ऊपर विराजमान भगवान्को घेरकर खड़े हुए कृष्ण, बलभद्र आदि अनेक राजा और सुर-असुर ऐसे जान पड़ते थे जैसे प्रथम सुमेरुको घेरकर स्थित कुलाचल ही

१. सुखम्भवसागरजीवितः म० । २. पञ्चमस्वर्गोत्पन्ना लौकान्तिकदेवाः । ३. ननृतुरेत्य म०, तस्तुवुरेत्य क० । ४. हरियुगा—म०, ङ० ।

जिगमिषुं तपसे जिनमाप्तता हरिपुरःसरभोजयदूत्तमाः ।
अनुनयैर्न निरोद्धुमलं तदा प्रबलसिंहमिवोद्धृतपञ्जरम् ॥१०७॥
पितृपुरःसरबन्धुजनं जिनः सुपरिबोध्य जगत्स्थितिकोविदः ।
धनदशिल्पिकृतां शिबिकां पदैरगमदुत्तरकुर्वभिधानिकाम्[1] ॥१०८॥
ध्वजसितातपवारणमण्डितां सुमणिभित्तिसुपादितवल्लिकाम् ।
विविधरूपधरामधिरूढवान् विधुरिवोदयभूधरभित्तिकाम् ॥१०९॥
क्षितिभुजः क्षितिजः शिबिकां शिवामुदवहन् प्रथमाः प्रथमं ततः ।
सुरपथे सुरनाथपुरोगमाः सुरवराः सुखमूहुरमुं मुदा ॥११०॥
नभसि पूर्णमुरुमुदा[2] रवः[3] सुरगणैर्विहितो[4] विहितोऽश्रियाम्[5][6] ।
श्रुतिपथोत्तुदती दुःखरोदितो[7] व्यथितभोजगतो[8] अगतोऽगमत् ॥१११॥
ननृतुरप्सरसः[9] सहसा रसैः[10] शिखिनि[11] साप्सरसः[12] सह सारसैः[13][14] ।
[15]यमभिसाम[16] रसंगमताङ्कं तमिव शान्तरसं घनतां[17] गतम् ॥११२॥

हों ॥ १०६ ॥ जिस प्रकार पिञ्जरेको तोड़कर निकलनेवाले बलवान् सिंहको कोई अनुनय-विनयके द्वारा रोकनेमें समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार तपके लिए जानेके इच्छुक भगवान्को श्रीकृष्ण भोजवंशी तथा यदुवंशी आदि कोई भी रोकनेमें समर्थ नहीं हो सके ॥ १०७ ॥

तदनन्तर संसारकी स्थितिके जानकार जिनेन्द्र भगवान् पिता आदि परिवारके लोगोंको अच्छी तरह समझाकर कुबेररूप शिल्पीके द्वारा निर्मित उत्तरकुरु नामकी पालकीकी ओर पैदल ही चल पड़े ॥१०८॥ वह पालकी ध्वजाओं और सफेद छत्रसे मण्डित थी, उत्तम मणिमय दीवालोंसे युक्त थी। उत्तमोत्तम बेल-बूटोंसे सहित थी, और विविधरूपको धारण कर रही थी। जिस प्रकार उदयाचलकी भित्तिपर चन्द्रमा आरूढ़ होता है उसी प्रकार भगवान् भी उस पालकीपर आरूढ़ हो गये ॥१०९॥ तदनन्तर सबसे पहले कुछ दूर तक पृथिवीपर तो श्रेष्ठ राजा लोगोंने उस कल्याणकारिणी पालकीको उठाया और उसके बाद इन्द्र आदि उत्तमोत्तम देव उसे बड़े हर्षसे आकाशमें ले गये ॥ ११० ॥ उस समय आकाशमें तो अत्यधिक आनन्दसे देवोंके द्वारा किया हुआ वह शब्द व्याप्त हो रहा था जो श्रीहीन मनुष्योंके लिए हितकारी नहीं था और नीचे पृथिवीपर दुःखसे पीड़ित भोजवंशके लोगोंका जोरदार करुणक्रन्दन मुखसे रुदन करने वाले जगत्के जीवोंके कर्ण-विवरको व्याप्त कर रहा था ॥१११॥ जिनके शरीरको देवोंका समूह नमस्कार कर रहा था तथा जो निबिडताको प्राप्त हुए शान्त रसके समान जान पड़ते थे ऐसे उन भगवान् नेमिनाथके सम्मुख, जिस प्रकार जलके सरोवरके निकट मयूर और सारस नृत्य करते हैं उसी प्रकार अप्सराओंका समूह नाना रसोंको प्रकट करता हुआ बड़ी शीघ्रतासे नृत्य कर रहा था ॥ ११२ ॥ इस प्रकार जो पापोंकी सेनाको जीत रहे थे वे जिनेन्द्र भगवान् कमलके समान कान्तिकी धारक हितकारी देवसेनाके साथ सुमेरु पर्वतके

१. कुर्वभिधातकं म० । २. उत्कटहर्षेण । ३. शब्दः । ४. कृतः । ५. विगतं हितं यस्मात् सः । ६. अश्रियां श्रीरहितानां भाग्यहीनानामित्यर्थः । ७. व्यथितभो म०, ख०, ग०, घ०; व्यथितवो क०, व्यथितवो जगतो म० । ८. जगतः म० । ९. सुराङ्गनाः । १०. झटिति । ११. सशिखमाप्सरसः म०, शिखिभिः सदृशं यथा स्यात्तथा सशिखि मयूरसदृशम् । १२. अप्सिरूपजलान्वितं सरः साप्सरः तस्य । १३. सार्धम् । १४. सारसैः जलपक्षिभिः । १५. यमभि यत्संमुखम् । १६. अमरसङ्घेन नतं अङ्गं यस्य तस्य भावः अमरसङ्गनताङ्गता, तया सहितः तम् । १७. घनतां निबिडतां गतं प्राप्तं शान्तरसमिव ।

[1]गिरिमितः सहितामरसेनया जिनवरः स हि तामरसेन यः ।
समरुचिर्गिरिराड्रुगमूर्जयन्त इति योऽस्ति हि पापचमूर्जयन् ॥११३॥

रविनिशाकरयोरुभया[2]न्तयोर्विचरतोस्तिमिरोरुभयान्तयोः ।
दिवि न यत्र महात्मनिदर्शनं किमिह तुङ्गतयास्य निदर्शनम् ॥११४॥

मुखरनि[3]र्झरपातपतत्त्रिभिर्मुखरसप्रदचूतलताफलैः ।
कुसुमनिर्भरपा[4]दपजातिभिः कुसुमनोरहितोऽतिविराजते ॥११५॥

[5]मणिसुवर्णसुवर्णधराधरे विविधधातुरसौघधराधरे ।
शिखररञ्जितकिन्नरदेवके वनभुवा हृतधीनरदेवके ॥११६॥

उपवने [6]वृजिने शिविकामतः सुमतमाप्य जिनेशिशिविकामतः[7] ।
द्रवति यद्रहितो [8]हरिणा हरिः[9] स निदधे सहितो हरिणा[10] हरिः[11] ॥११७॥

समान कान्तिवाले गिरनार पर्वतपर पहुँचे ॥११३॥ जिस पर्वतपर रात्रि और दिनके अन्तमें अर्थात् प्रातःकाल और सायंकालके समय आकाशमें विचरनेवाले एवं अन्धकारसे होनेवाले विशाल भयका अन्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके महान् स्वरूपका दर्शन नहीं हो पाता उस गिरनार पर्वतका यहाँ ऊँचाईमें उदाहरण ही क्या हो सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं। भावार्थ—यह पर्वत इतना ऊँचा है कि उसपर प्रातःकाल और सायंकालके समय सूर्य और चन्द्रमाका दर्शन ही नहीं हो पाता। वह गिरनार पर्वत कुत्सित फूलोंसे रहित था, और शब्दायमान किरणोंके गिरनेके स्थानमें उड़नेवाले पक्षियों, मुखमें मधुर रसको देनेवाले आम्रलताके फलों एवं फूलोंसे लदे नाना प्रकारके वृक्षोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ११५ ॥ तदनन्तर जो मणियों और सुवर्णके कारण सुमेरु गिरिके समान जान पड़ता था, जो नाना प्रकारकी धातुओंके रसके समूहसे उपलक्षित भूमिको धारण कर रहा था, जो अपनी शिखरोंसे किन्नर देवोंको अनुरक्त कर रहा था, और जो वनकी वसुधासे मनुष्य तथा देवोंकी बुद्धिको हरण कर रहा था ऐसे गिरनार पर्वतके उस निष्कलङ्क उपवनमें जिसमें कि वानरसे रहित एकाकी सिंह विचरण करता था विष्णु–कृष्णसहित इन्द्रने वीतराग जिनेन्द्रकी

---

१. हि यः पापचमूः पापसेनाः जयन् स हि जिनवरः, या तामरसेन कमलेन समरुचिः सदृशकान्तिः तया, सहितामरसेनया हितेन सहिता सहिता सा चासौ अमरसेना च तया सार्धं गिरिराड्रुचं गिरिराड् मेरुस्तस्य रुगिव रुग्यस्य तं, ऊर्जयन्त इति प्रसिद्धगिरिम् इतः प्राप्तः। २. उभयान्तयोः–उभयोर्निशादिवसयोरन्तयोः। दिवि विचरतोः, तिमिरात् अन्धकारात् यद् उरु विपुलं भयं तस्य अन्तो विनाशो याभ्यां तयोः रविनिशाकरयोः यत्र गिरौ महात्मदर्शनं न विद्यते अस्य गिरेः तुङ्गतया किं निदर्शनं किमुदाहरणम्। ३. निर्झर—म०। ४. कुत्सितपुष्परहितो यो गिरिः मुखरेषु निर्झरपातेषु विद्यमाना पतत्त्रिणः तैः मुखे प्रारम्भे रसप्रदानि यानि चूतलताफलानि तैः, कुसुमानि च, निर्झराश्च, पादपजातयश्च तैः, अतिविराजते नितरां शोभते। ५. मणिभिः सुवर्णैश्च सुवर्णधराधरः यः सुमेरुपर्वतस्तस्मिन्, विविधधातुरसौघेन नानाधातुरससमूहेनोपलक्षिता या धरा तस्या धरः तस्मिन्, शिखरैः रञ्जिताः किन्नरदेवा यस्मिन् तस्मिन्, वनभुवा, कान्तारभूम्या हृतधियः वशीभूता नरदेवा यस्मिन् तस्मिन्। ६. निष्पापे। ७. जिनेशी चासौ शिवामरश्च तस्मात्। ८. मर्कटेन रहितः। ९. सिंहः। १०. विष्णुना। ११. इन्द्रः।

इह जहौ [1]वसुधाशिबिकासनं [2]पृथुतपोऽभि [3]सुधाशितिविकासनम् ।
नमिसमः स [4]शिलातलमाययावपगमाय [5]इलातलमायया ॥११८॥
[6]स्रजमितोऽथ [7]सवस्त्रमलङ्कृतीरपगमय्य सवस्त्रमलङ्कृती ।
प्रविलसत्कमलासनधीरतः प्रियवधूकमलासनधीरतः ॥११९॥
[8]मृदुकराङ्गुलिभीरुचिरासितान्[9] घनकचानतिभीरुचिरासितान्[10] ।
न्युदहरद्दृढपञ्चपरिग्रहैः स रहितः सकृपं च परिग्रहैः ॥१२०॥
[11]नृपसहस्रममा नमिना तपः श्रितमिवैनममानमिनातपः ।
तपति नातपवारणवारितः [12]प्रपतदातपवारणवारितः ॥१२१॥
निकचितां कचसम्पदमात्मना प्रकुटिलां गतकोपदमात्मना[13] ।
व्यपनयन्निव शल्यपरम्परां नृपगणः श्रियमैत् स्वपरम्पराम् ॥१२२॥

सम्मति पाकर वह पालकी रख दी ॥११६-११७॥ उस उपवनमें पहुँचकर भगवान्ने विशाल तप धारण करनेके उद्देश्यसे देवोंको हर्षित करनेवाले पृथ्वीपर विद्यमान पालकी रूपी आसनको छोड़ दिया और स्वयं पृथ्वीतलकी मायाका परित्याग करनेके लिए नमिनाथ भगवान्के समान शिलातलपर जा पहुँचे ॥११८॥ तदनन्तर जो अतिशय बुद्धिमान् थे, जिनकी पद्मासन और धीरता अत्यन्त शोभायमान थी तथा जो प्रियकी, एवं राज्यलक्ष्मीके त्यागकी बुद्धिमें रत-लीन थे ऐसे भगवान् नेमिनाथने परदाके अन्दर माला, वस्त्र और सब अलंकार उतारकर परिग्रहसे रहित तथा दयासे युक्त होकर कोमल अङ्गुलियोंसे युक्त सुदृढ़ पञ्चमुष्टियोंसे उन सघन केशोंको तत्काल उखाड़कर फेंक दिया जो अत्यन्त सुन्दर और काले थे एवं अतिशय भीरु मनुष्य ही अपने शरीरमें जिनका चिरकाल तक स्थान बनाये रखते हैं ॥११९-१२०॥ भगवान् नेमिनाथने जिस तपको धारण किया था उसी तपको एक हजार राजाओंने भी भगवान् नमिनाथके साथ धारण किया था उस समय मानरहित भगवान्को सूर्यका आताप सन्तप्त नहीं कर सका था क्योंकि इन्द्रके द्वारा लगाये हुए छत्रसे वह रुक गया था अथवा छत्ररूपी जल वहाँ पड़ रहा था उसके प्रभावसे सूर्यजन्य आताप उन्हें दुखी करनेमें समर्थ नहीं हो सका था ॥१२१॥ उस समय क्रोधरहित इन्द्रिय-दमनसे युक्त अपने आपके द्वारा शिरपर बद्ध कुटिल केशोंको उखाड़ता हुआ राजाओंका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो चिरकालसे साथ लगी हुई कुटिल शल्योंकी परम्पराको ही उखाड़कर फेंक

---

१. वसुधायां विद्यमानं यत् शिबिकारूपं आसनं तत् । २. विशालतपःसम्मुखम् । ३. देवहर्षकम् । ४. शिलातलम् आययौ इति पदच्छेदः । ५. इलातले या माया तया सह । ६. स्रजमितोऽथ म० । ७. अथ अलम् अत्यर्थं कृती पण्डितः स इनः स्वामी, सवस्त्रं यथा स्यात्तथा वस्त्रस्य नेपथ्यमध्ये इत्यर्थः । स्रजं वस्त्रं अलंकृतीः अलङ्कारांश्च अपगमय्य त्यक्त्वा कथंभूतः इनः ? कमलासनं च धीरता च इति कमलासनधीरते प्रविलसन्त्यौ कमलासनधीरते यस्य सः, प्रियवधूश्च कमला च लक्ष्मीश्च तयोः, असनस्य त्यागस्य धियां रतः तत्परः । ८. मृदवः कराङ्गुल्यो येषु तैः, दृढपञ्चपरिग्रहैः दृढपञ्चमुष्टिभिः । ९. रुचिरा मनोहराः असिताः कृष्णाश्च ये तान् । १०. अति भीरुषु चिरं आसितं स्थानं येषां तान्, घनकचान् सान्द्रकेशान् । ११. नमिनाथेन इव अनेन नेमिनाथेन अमा सह नृपसहस्रं तपः श्रितम् । अमानं मानरहितं एनम् जिनम् इनातपः सूर्यघर्मः न तपति स्म । आतपवारणेन छत्रेण वारितः सन् । १२. आतप-वारणं च तद् वारि च इत्यातपवारणवारि प्रपतच्च तत् आतपवारणवारि च तस्मात् । १३. गतः कोपो यस्मिन् एवंभूतो यो दमः इन्द्रियवशीकारः स आत्मा स्वरूपं यस्य तेन, एवंभूतेन आत्मना शल्यपरम्परामिव; निकचितां निबद्धां कुटिलां वक्रां कचसम्पदं व्यपनयन् दूरीकुर्वन्, नृपगणः स्वपरम्परां श्रियं ऐत् प्रापत् ।

मणिमयांशुकलापककीकृतान् [1]जिनकचान् कुलिशी[2] कलशीकृतान्[3] ।
अकृत दुग्धमये स[4] महोदधौ[5] वपुरकं समये [6]समहो दधौ ॥१२३॥

[7]समवतारमिनोऽखिलकृपावनं स्वकृत वस्त्रमयस्य सुपावनम् ।
सपदि यत्र तदत्र यथाश्रुतं जगति तीर्थमभूत् यथाश्रुतम् ॥१२४॥

यतिषु [8]बोधचतुष्कविराजितत्रिदशकोटिमहाकविराजितः ।
विधुरिवोरुगणग्रहतारकः प्रभुरभादपरिग्रहतारकः[9] ॥१२५॥

[10]नभसि शुक्लतुरीयतया तिथौ क्रमभृतीशिनि षष्ठतयातिथौ ।
विहितनिष्क्रमणे नृसुरासुराः सुविदधुर्महमेषु सुरासुराः ॥१२६॥

मदनभङ्गकृतप्रभवे भवे भयभृतां शरणाय हितेहिते ।
हतरुषे वितृषे सुनये नये स्थितवते नम इत्यसुराः सुराः ॥१२७॥

स्तवनपूर्वममी च समन्ततः प्रणतिमेत्य नृपाश्च समं ततः ।
[11]स्वहृदयस्थतपःस्थितनेमयः स्वपदमीयुररिस्थितनेमयः[12] ॥१२८॥

रहा हो ॥१२२॥ इन्द्रने भगवान्‌के केशोंको इकट्ठाकर मणिसमूहकी किरणोंसे सुशोभित पिटारेमें रखकर उन्हें क्षीरसागरमें क्षेप दिया। उस समय भगवान् अतिशय तेजसे युक्त शरीर धारण कर रहे थे ॥१२३॥ भगवान् नेमिनाथने जिस स्थानपर जीवदयाकी रक्षा करनेवाला, एवं अत्यन्त पवित्र, वस्त्ररूप परिग्रहका त्याग किया था वह शीघ्र ही संसारमें शास्त्र-सम्मत प्रसिद्ध तीर्थस्थान बन गया ॥१२४॥ उस समय चार ज्ञानसे सुशोभित, करोड़ों देव-रूपी महाकवियोंसे विभूषित और परिग्रहरहित मनुष्योंको संसारसे तारनेवाले भगवान् अनेक मुनियोंके बीच, ग्रहों और ताराओंके मध्यमें स्थित चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥१२५॥ अतिथि भगवान्‌ने सावन सुदी चौथके दिन बेलाका नियम लेकर दीक्षा धारण की थी इसलिए उसदिन अनेक उत्तम वस्तुओंका त्याग करनेवाला मनुष्य देव तथा असुरोंने दीक्षा कल्याणकका उत्सव किया था ॥१२६॥ तदनन्तर सुर और असुर भगवान्‌की इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे भगवन्! आप कामदेवका पराजय करनेमें समर्थ हैं, हितकारी चेष्टाओंसे युक्त संसारी प्राणियोंके शरणभूत हैं—रक्षक हैं, क्रोधसे रहित हैं, तृष्णासे रहित हैं, उत्तम नयमें स्थित हैं—नयका पालन करनेवाले हैं और मुनि हैं मनन-शील हैं अतः आपको नमस्कार हो। इस प्रकार साथ-साथ स्तुतिकर तथा सब ओरसे नमस्कारकर अपने हृदयोंमें तपस्वी नेमिनाथ भगवान्‌को धारण करनेवाले एवं चक्रमें स्थित नेमि—चक्रधाराके समान प्रवर्तक राजा तथा सुर-असुर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१२७-१२८॥

१. जिनकचा म० । २. इन्द्रः । ३. पुञ्जीकृतान् । ४. इन्द्रः । ५. दुग्धमये महोदधौ क्षीरसागरे । ६. तस्मिन् समये जिनः, अकमत्यन्तं समहः तेजोयुक्तं वपुः दधौ । ७. स इनः भगवान् अखिलकृपावनं अखिलु या कृपा तस्या अवनं रक्षकं सुपावनं अतिशयपावित्र्यकारणम्, वस्त्रमयस्य वस्त्रादिपरिग्रहस्य, समवतारं त्यागं सपदि, यत्र स्वकृत सुष्ठु अकृत कृतवान्, यथाश्रुतं शास्त्रानुसारं तीर्थमभूत् । ८. मतिषु म० । ९. अपरि-ग्रहाणां तारकः अपरिग्रहतारकः । १०. श्रावणे मासे प्रतिपदादिक्रमयाशुक्लपक्षस्य चतुर्थ्यां तिथौ, अतिथौ ईशिनि नेमिनाथे षष्ठतया दिनद्वयोपवासेन, विहितनिष्क्रमणे कृतत्यागमहे सति नृसुरासुराः महम् उत्सवं सुविदधुः, सुरासु शोभनद्रव्येषु, राः रान्तीति राः दातारः । ११. स्वहृदयस्थः तपःस्थितो नेमिः नेमिजिनेन्द्रः येषां ते । १२. अरि चक्रं तस्मिन् विषये स्थितनेमयः स्थितचक्रधाराः इत्यर्थः एवंभूताः नृपाः स्वपदम् ईयुः ।

पुरि विशति तु तत्र जिनाय ताः सुपरमान्नमथाघजिनाय[1] ताः ।
प्रवरदत्त इतो महिमा हिताः सुरगणैः सुमहामहिमाहिताः ॥१२९॥
पथि तपस्यति तत्र कृते हिते नृपसुता मनसि त्रपितेहिते ।
न्यभृत तापमपारवियोगिनी कुमुदिनीव दिवारवियोगिनी ॥१३०॥
प्रबलशोकवशा प्रविलापिनी शिथिलभूषणकेशकलापिनी ।
परिजनेन वृता प्ररुरोद सा करुणशब्दतता[2] व्युरुरोदसा ॥१३१॥
विधिमुपालभते वरहारिणं[3] वरवधूर्वरमप्यतिहारिणम्[4] ।
जघनपीनपयोधरहारिणी[5] नयनवारिकणाविलहारिणी[6] ॥१३२॥
शमितशोकभरा वचनैर्हितैर्गुरुजनस्य [7]तपोवचनैर्हि तैः[8] ।
मतिमधत्त तपस्यनपायिनि[9] प्रशमसौख्यतपस्यनपायिनि[10] ॥१३३॥

शालिनी-छन्दः

[11]राजीमत्याश्चारुराजीवलक्ष्मी-राजीमत्याः पाणिपादस्य कान्त्या ।
तापस्यान्तं ज्ञातयोऽवेत्य[12] वृत्तं तापस्यान्तं मानसस्यापुरन्ते ॥१३४॥
स्त्रीणामाद्यं पारतन्त्र्यं [13]विदुःखं दौर्लभ्येऽमूर्भर्तुरङ्गं[14] विदुः खम् ॥

तदनन्तर जब पापरहित भगवान् आहार लेनेके लिए द्वारिकापुरीमें आये तब उत्तम तेजके धारक प्रवरदत्तने उन्हें उत्तम खीरका आहार देकर देवसमूहके द्वारा महिमासे युक्त, हितकारी अद्भुत महिमा—प्रतिष्ठा प्राप्त की ॥१२९॥ जब भगवान् नेमिनाथ किये हुए उस हितकारी मार्गमें तपस्या करने लगे तब अपार वियोगसे युक्त राजपुत्री राजीमती अपने लज्जापूर्ण चेष्टासे युक्त मनमें दिनके समय सूर्यके संयोगसे सहित कुमुदिनीके समान सन्तापको धारण करने लगी ॥१३०॥ राजीमती, प्रबल शोकके वशीभूत थी, निरन्तर विलाप करती रहती थी, उसके आभूषण और केशोंका समूह शिथिल हो गया था तथा वह करुण शब्दोंसे आकाश और पृथ्वीके विशाल अन्तरालको व्याप्त करनेवाले परिजनोंसे घिरकर अत्यधिक रोती रहती थी ॥१३१॥ नितम्ब और स्थूल स्तनोंसे सुन्दर तथा अश्रुकणोंसे व्याप्त हारको धारण करनेवाली वह राजीमती कभी तो वरको हरनेवाले अपने दुर्दैवको उलाहना देती थी और कभी अत्यन्त मनोहर वरको दोष देती थी ॥१३२॥ तदनन्तर तप धारण करनेकी प्रेरणा देनेवाले गुरुजनोंके उन हितकारी वचनोंसे जब उसके शोकका भार शान्त हो गया तब उसने अपाय-बाधासे रहित, शान्तिरूप सुखके दायक, एवं दुर्भाग्यको दूर करनेवाले तपमें बुद्धि लगायी—तप धारण करनेका विचार किया ॥१३३॥ हाथों और पाँवोंकी कान्तिसे सुन्दर कमल सम्बन्धी शोभाके समूहको धारण करनेवाली राजीमतीने जो वृत्त—चारित्र धारण किया है वह उसके ताप—दुःखको अन्त करनेवाला है ऐसा जानकर अन्तमें उसके कुटुम्बीजन मानसिक सन्तापके अन्तको प्राप्त हुए ॥१३४॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि ये स्त्रियाँ नाना दुःख

---

१. अघजिनाय पापरहिताय ताः इति महिमाशब्दस्य विशेषणम् अत्र आकारान्तमहिमाशब्दः प्रयुक्तः । २. करुणशब्देन तते अतिशयेन व्याप्ते अतीव उरू रोदसी द्यावाभूमी येन स तेन, परिजनेन । ३. वरं हरतीति वरहारी तं विधिम् इत्यस्य विशेषणम् । ४. अतिमनोहरम् । ५. नितम्बस्थूलकुचमनोहरा । ६. नयनवारिकणैः आविलो मलिनो हारो विद्यते यस्याः सा । ७. तपसि विषये वचनं भणनं येषां तैः, तपःप्रेरणादायिभिः । ८. हि निश्चयेन तैः प्रसिद्धैः । ९. स्थायिनि । १०. अपकृष्टः अयो भाग्यं अपायः, न विद्यतेऽपायो यस्मिन् तस्मिन् । ११. चारु राजीवस्य सुन्दरसरोरुहस्य लक्ष्मीराजी शोभापङ्क्तिः विद्यते यस्याः तस्याः । १२. ज्ञात्वा । १३. विविधं दुःखं विदुःखम् । १४. भर्तुरङ्गे क०, अमूः स्त्रियः भर्तुः दौर्लभ्ये सति अङ्गं स्वकीयं शरीरं खं शून्यं व्यर्थमिति यावत् विदुः जानन्ति ।

सापत्न्यं वा पुष्पवत्त्वं च वान्ध्यं[1] वैधव्ये वा सूतिरोगेऽपि [2]वान्ध्यम् ॥१३५॥
दौर्भाग्ये वा भाग्यहीने [3]स्वनाथे स्त्रीगर्भत्वे [4]भर्त्रपत्ये [5]स्वनाथे ।
गर्भस्रावे गर्भभारे वियोगे [6]जीवद्भर्त्रा मर्मरोगाभियोगे ॥१३६॥
स्यान्मिथ्यात्वं स्त्रीत्वहेतुः स्वतन्त्रं [7]वस्त्रस्येवातानतिर्यक् स्वतन्त्रम् ।
स्त्रीदुःखानामन्तकृद्भव्यसत्त्वैर्जैनी दृष्टिः सेव्यतां सेव्यसत्त्वैः ॥१३७॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ भगवन्निष्क्रमणकल्याणवर्णनो नाम पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥५५॥

उठाती हैं। सबसे पहिले तो इन्हें परतन्त्रताका विशिष्ट दुःख है, फिर पतिके दुर्लभ होनेपर शरीरको शून्य-व्यर्थ समझती हैं। फिर सपत्नीके होनेका ऋतुमती होनेका, वन्ध्या होनेका, विधवा होनेका, प्रसूतिकालमें रोग हो जानेका, अन्धा होनेका, दौर्भाग्य होनेका, भाग्यहीन पतिके मिलनेका, लड़की-लड़की ही, गर्भमें आनेका बार-बार मृत सन्तानके होनेका, बिलकुल अनाथ हो जानेका, गर्भ गिर जानेका, गर्भका भार धारण करनेका, पतिके जीवित रहते हुए भी उसके साथ वियोग होनेका, अथवा किसी मर्मान्तक रोगके हो जानेका दुःख सहन करती है ॥१३५–१३६॥ जिस प्रकार आतान-वितानभूत तन्तु वस्त्रके स्वतन्त्र कारण हैं, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन स्त्रीपर्यायका स्वतन्त्र कारण है, इसलिए सेवनीय शक्तिके धारक भव्य-जीवोंको स्त्री-सम्बन्धी दुःखोंका अन्त करनेवाले सम्यग्दर्शनकी सेवा करनी चाहिए ॥१३७॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें भगवान्‌के दीक्षा-कल्याणका वर्णन करनेवाला पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५५॥

१. वन्ध्यायाः भावो वान्ध्यम्। २. आ अथवा आन्ध्याया भावः आन्ध्यम्। ३. स्वभर्तरि। ४. भर्तुः अस्वाधीनम् अपत्यं तस्मिन्। ५. सुष्ठु अनाथः तस्मिन् स्वनाथे सति। ६. जीवंश्चासौ भर्ता च जीवद्भर्ता तेन। ७. वस्त्रस्य यथा आतानभूताः तिर्यग्भूताश्च ये तन्तवः ते स्वतन्त्रं कारणं भवन्ति तथा मिथ्यात्वं स्त्रीत्वस्य स्वतन्त्रं कारणमस्तीत्यर्थः।

षट्पञ्चाशः सर्गः

अथ नेमिमुनीन्द्रोऽपि रत्नत्रयतपःश्रिया । व्रतगुप्तिसमित्युच्चै रेजे सोढपरीषहः ॥१॥
अप्रशस्तमपोह्यासावार्तं रौद्रं[1] च शुद्धधीः । ध्यानं धर्म्यं च शुक्लं च प्रशस्तं ध्यातुमुद्यतः ॥२॥
[2]ध्यानमेकाग्रचिन्ताया घनसंहननस्य हि । निरोधोऽन्तर्मुहूर्तं स्याच्चिन्ता स्यादस्थिरं मनः ॥३॥
ऋतार्तिरर्दनं बाधा आर्तं तत्रभवं पुनः । सुकृष्णनीलकापोतलेश्याबलसमुद्भवम् ॥४॥
लक्षणं द्विविधं तस्य बाह्यमाक्रन्दनादिकम् । परश्रीविस्मयप्रायं[3] विषयासंजनादिकम् ॥५॥
तदात्मनः स्ववेद्यं तत् परेषामानुमानिकम् । आभ्यन्तरं चतुर्भेदं स्वलक्षणसमन्वितम् ॥६॥
विषयस्यामनोज्ञस्य यदनुत्पत्तिचिन्तनम् । उत्पन्नस्य वियोगाय संकल्पाध्यवसायकम् ॥७॥
मनोज्ञविप्रयोगस्य [4]यत्नानुत्पत्तिचिन्तनम् । उत्पन्नस्यान्तचिन्ता च चातुर्विध्यमितीरितम् ॥८॥
तत्रामनोज्ञदुः[5]खस्य साधनं चेतनादिकम् । मर्त्यादि विषशस्त्रादि बाह्यमेतदुदीरितम् ॥९॥
आध्यात्मिकं तु वातादिप्रकोपजमनेकधा । कुक्ष्यक्षिदन्तशूलादिशारीरमतिदुस्सहम् ॥१०॥
शोकारतिभयोद्वेगविषादविषदूषितम् । जुगुप्सादौर्मनस्यादि मानसं दुःखसाधनम् ॥११॥
सर्वस्यास्यामनोज्ञस्य माभूदुत्पत्तिरित्यलम् । चिन्ताप्रबन्ध आद्यं स्यादार्तध्यानं मलाविलम् ॥१२॥

अथानन्तर—व्रत गुप्ति और समितियोंसे उत्कृष्टताको प्राप्त एवं परीषहोंको सहन करनेवाले मुनिराज नेमिनाथ रत्नत्रय और तपरूपी लक्ष्मीसे सुशोभित होने लगे ॥ १ ॥ उज्ज्वल बुद्धिके धारक भगवान्, आर्त्त और रौद्र नामक अप्रशस्त ध्यानको छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान नामक प्रशस्त ध्यानोंका ध्यान करनेके लिए उद्यत हुए ॥ २ ॥ उत्तमसंहननके धारक पुरुषको चिन्ताका किसी एक पदार्थमें अन्तर्मुहूर्तके लिए रुक जाना सो ध्यान है और चिन्ताका अर्थ चञ्चल मन है ॥ ३ ॥ पीड़ाको आर्ति कहते हैं। आर्तिके समय जो ध्यान होता है उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह आर्तध्यान अत्यन्त कृष्ण, नील और कापोत लेश्याके बलसे उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे आर्तध्यान दो प्रकारका है। उनमें रोना आदि तथा दूसरेकी लक्ष्मी देख कर आश्चर्य करना और विषयोंमें आसक्त होना आदि बाह्य आर्तध्यान है ॥ ५ ॥ अपने-आपका आर्तध्यान स्वसंवेदनसे जाना जाता है और दूसरोंका अनुमानसे। आभ्यन्तर आर्तध्यानके चार भेद हैं जो नीचे लिखे अनुसार अपने-अपने लक्षणोंसे सहित हैं ॥ ६ ॥ अनिष्ट वस्तुकी उत्पत्ति न हो ऐसा चिन्तवन करना सो पहला आर्तध्यान है। यदि अनिष्ट वस्तु उत्पन्न हो चुकी है तो उसके वियोगका बार-बार चिन्तवन करना दूसरा आर्तध्यान है। इष्ट विषयका कभी वियोग न हो ऐसा चिन्तवन करना सो तीसरा आर्तध्यान है और इष्ट विषयका यदि वियोग हो गया है तो उसके अन्तका विचार करना यह चौथा आर्तध्यान है ॥ ७–८ ॥ अमनोज्ञ दुःखके बाह्य साधन चेतन और अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें मनुष्य आदि तो चेतन साधन हैं और विष-शस्त्र आदि अचेतन साधन हैं ॥ ९ ॥ अन्तरङ्ग साधन भी शारीरिक और मानसिकके भेदसे दो प्रकारका है। वात आदिके प्रकोपसे उत्पन्न उदर-शूल, नेत्र-शूल, दन्त-शूल आदि नाना प्रकारकी दुस्सह बीमारियाँ शारीरिक साधन हैं ॥ १० ॥ और शोक, अरति, भय, उद्वेग, विषाद आदि विषसे दूषित जो जुगुप्सा तथा दौर्मनस्य–बेचैनी आदि विकार हैं वे मानसिक दुःखके साधन हैं ॥ ११ ॥ 'सभी प्रकारके अमनोज्ञ—अनिष्ट विषयोंकी उत्पत्ति नहीं हो' इस प्रकार बार-बार चिन्ता करना सो पहला मलिन आर्तध्यान है ॥ १२ ॥

---

१. रौद्रय म० । २. 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्'—त० सू० । ३. विस्मयं प्राप्तं म०, विस्मयप्रायः क० । ४. यथानुत्पत्ति म० । ५. तत्रामनोज्ञस्य दुःखस्य म० ।

उत्पन्नस्यास्य चाभावः कथं मे स्यादितीरणम् । संकल्पाध्यवसानं तु द्वितीयं तत्प्रकीर्तितम् ॥१३॥
पशुपुत्रकलत्रादि मनोज्ञं सुखसाधनम् । बाह्यं स्याद्धनधान्यादि सचेतनमचेतनम् ॥१४॥
आध्यात्मिकं च पित्तादि साम्यादारोग्यमाङ्गिकम् । मानसं सौमनस्यादि रत्यशोकाभयादिकम् ॥१५॥
विप्रयोगश्च मे माभूदैहिकामुत्रिकस्य तु । मनोज्ञस्येति संकल्पस्तृतीयं चार्तमुच्यते ॥१६॥
मनोज्ञविप्रयोगस्य पूर्वोत्पन्नस्य वस्तुनः । अभावेऽध्यवसानं तु तुर्यमार्तमनोज्ञजम् ॥१७॥
अधिष्ठानं प्रमादोऽस्य तिर्यग्गतिफलस्य हि । [1]परोक्षं मिश्रको भावः षड्गुणस्थानभूमिकम् ॥१८॥
रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रं तत्रभवं ततः । हिंसासंरक्षणस्तेयमृषानन्दैश्चतुर्विधम् ॥१९॥
आनन्दोऽभिरुचिर्येषां हिंसादिषु यथायथम् । हिंसानन्दादयस्तेऽतो निरुच्यन्ते समासतः ॥२०॥
लक्षणं द्विविधं तत्र पारुष्याक्रोशनादिकम् । स्वसंवेद्यं परैर्मेयं बाह्यमाध्यात्मिकं पुनः ॥२१॥
स्यात्संरम्भसमारम्भारम्भलक्षणमात्मना । हिंसायां रञ्जनं तीव्रं हिंसानन्दं तु नन्दितम् ॥२२॥
श्रद्धेयं परलोकस्य [2]स्वविकल्पितयुक्तिभिः । विप्रलम्भनसङ्कल्पो मृषानन्दं सुनन्दितम् ॥२३॥
प्रतीक्षया प्रमादस्य परस्वहरणं प्रति । प्रसह्य हरणं ध्यानं स्तेयानन्दमुदीरितम् ॥२४॥
स्वपरिग्रहभेदे तु चेतनाचेतनात्मनि । संरक्षणाभिधानं तु स्वस्वामिस्वामिचिन्तनम् ॥२५॥

यदि किसी प्रकारके अमनोज्ञ—अनिष्ट विषयकी उत्पत्ति हो गयी है तो उसका अभाव किस प्रकार होगा ? इसी बातका निरन्तर संकल्प करना दूसरा आर्तध्यान कहा गया है ॥ १३ ॥ मनोज्ञ सुखके बाह्य साधन चेतन-अचेतनके भेदसे दो प्रकारके हैं। उनमें पशु, स्त्री, पुत्र आदि सचेतन साधन हैं और धन-धान्यादि अचेतन साधन हैं ॥ १४ ॥ आभ्यन्तर साधन भी शारीरिक और मानसिकके भेदसे दो प्रकारके हैं। इनमें पित्त आदिकी समतासे जो आरोग्य अवस्था है वह शारीरिक साधन है और रति, अशोक, अभय आदिसे उत्पन्न जो सौमनस्य आदि है वह मानसिक साधन है ॥ १५ ॥ मुझे इस लोक-सम्बन्धी और परलोक-सम्बन्धी इष्ट विषयका वियोग न हो ऐसा संकल्प करना तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥१६ ॥ और पहले उत्पन्न इष्ट विषयके वियोगके अभावका संकल्प करना—बार-बार चिन्तवन करना चौथा आर्तध्यान है ॥ १७ ॥ इस आर्तध्यानका आधार, प्रमाद है, फल तिर्यञ्च गति है। यह परोक्ष क्षायोपशमिक भाव है और पहलेसे लेकर छठवें गुणस्थान तक पाया जाता है ॥१८॥

क्रूर अभिप्रायवाले जीवको रुद्र कहते हैं। उसके जो ध्यान होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। यह हिंसानन्द, चौर्यानन्द, मृषानन्द और परिग्रहानन्दके भेदसे चार प्रकारका है ॥ १९ ॥ जिनको हिंसा आदिमें आनन्द अर्थात् अभिरुचि होती है वे संक्षेपसे हिंसानन्द आदि कहे जाते हैं ॥ २० ॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे रौद्रध्यानके दो भेद हैं। उनमें क्रूर व्यवहार करना तथा गाली आदि अशिष्ट वचन बकना, बाह्य रौद्रध्यान है। अपने आपमें पाया जानेवाला रौद्रध्यान स्वसंवेदनसे जाना जाता है—स्वयं ही अनुभवमें आ जाता है और दूसरेमें पाया जानेवाला रौद्रध्यान अनुमानसे जाना जाता है। हिंसा आदि कार्योंमें जो संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूपी प्रवृत्ति है वह आभ्यन्तर आर्तध्यान है। इसके हिंसानन्द आदि चार भेद हैं जिनके लक्षण इस प्रकार हैं। हिंसामें तीव्र आनन्द मानना सो हिंसानन्द नामक पहला रौद्रध्यान है ॥ २१-२२ ॥ श्रद्धान करने योग्य पदार्थोंके विषयमें अपनी कल्पित युक्तियोंसे दूसरोंको ठगनेका संकल्प करना मृषानन्द नामका दूसरा रौद्र आर्तध्यान है ॥ २३ ॥ प्रमादपूर्वक दूसरेके धनको जबरदस्ती हरनेका अभिप्राय रखना सो स्तेयानन्द नामका तीसरा रौद्रध्यान कहा गया है ॥ २४ ॥ और चेतन, अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रहकी रक्षाका निरन्तर अभिप्राय रखना तथा मैं इसका स्वामी हूँ और यह मेरा स्व है इस

१. परोक्षमिश्रको भावः क० । २. सविकल्पित म० ।

सुकृष्णनीलकापोतबलाधानं प्रमादवत्। अधःपञ्चगुणस्थानं रौद्रध्यानचतुष्टयम् ॥२६॥
अन्तर्मुहूर्तकालं तु दुर्धरत्वात्ततः परम्। क्षयोपशमभावस्तु परोक्षज्ञानभावतः ॥२७॥
भावलेश्याकषायत्वात्तत्स्यादौदयिकोऽपि वा। उत्तरं फलमेतस्य नारकी गतिरुच्यते ॥२८॥
परिहृत्यार्तरौद्रे द्वे पापध्याने मुमुक्षवः। धर्म्यशुक्लधियः सन्तु शुद्धभिक्षादिभिक्षवः ॥२९॥
एकान्तं प्रासुकं क्षेत्रं क्षुद्रोपद्रववर्जितम्। दिव्यं संहननं द्रव्यं कालोऽत्युष्णादिवर्जितः ॥३०॥
भावशुद्धिरपि श्रेष्ठा यदा भवति योगिनः। आरभेत तदा ध्यानं सर्वद्वन्द्वसहः स हि ॥३१॥
गम्भीरः स्तम्भमूर्तिः सन् पर्यङ्कासनबन्धनः। नात्युन्मीलनिमीलाक्षो दत्तदन्ताग्रदन्तकः ॥३२॥
निवृत्तकरणग्रामव्यापारः श्रुतपारगः। मन्दं मन्दं प्रवृत्तान्तःप्राणापानादिसञ्चरः ॥३३॥
नाभेरूर्ध्वं मनोवृत्तिं मूर्ध्नि वा हृदि [1]भालिके। मुमुक्षुः प्रणिधायाक्षं ध्यायेद्ध्यानद्वयं हितम् ॥३४॥
बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्म उच्यते। तद्धर्मादनपेतं यद्धर्म्यं तद्ध्यानमुच्यते ॥३५॥
लक्षणं द्विविधं तस्य बाह्याध्यात्मिकभेदतः। सूत्रार्थमार्गणं शीलं गुणमालानुरागिता ॥३६॥
[2]जृम्भाजृम्भाक्षुतोद्गारप्राणापानादिमन्दता। निभृताङ्गव्रतात्मत्वं तत्र बाह्यं प्रकीर्तितम् ॥३७॥
दशधाऽऽध्यात्मिकं धर्म्यमपायविचयादिकम्। अपायो रहो विचयो मीमांसाऽस्तीति तत्तथा ॥३८॥

प्रकार बार-बार चिन्तवन करना सो परिग्रह संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्रमें चारों प्रकारका ध्यान है ॥ २५ ॥ यह रौद्रध्यान तीव्र कृष्ण, नील तथा कापोत लेश्याके बलसे होता है, प्रमादसे सम्बन्ध रखता है और नीचेके पाँच गुण स्थानोंमें होता है ॥ २६ ॥ इसका काल अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि इससे अधिक एक पदार्थमें उपयोगका स्थिर होना दुर्धर है। यह परोक्ष ज्ञानसे होता है अतः क्षयोपशमभाव रूप है ॥ २७ ॥ भावलेश्या और कषायके आधीन होता है इसलिए औदायिकभाव रूप भी है। इस ध्यानका उत्तर फल नरकगति है ॥ २८ ॥ जो पुरुष मोक्षाभिलाषी हैं वे आर्त्तरौद्र नामक दोनों अशुभ ध्यानोंको छोड़ शुद्ध भिक्षाको ग्रहण करनेवाले भिक्षु-मुनि होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें अपनी बुद्धि लगावें ॥ २२ ॥ जिस समय एकान्त, प्रासुक तथा क्षुद्र जीवोंके उपद्रवसे रहित क्षेत्र, दिव्य संहनन—आदिके तीन संहनन रूप द्रव्य, उष्णता आदिकी बाधासे रहित काल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठभाव, इस प्रकार क्षेत्रादि चतुष्टय रूप सामग्री मुनिको उपलब्ध होती है तब समस्त बाधाओंको सहन करनेवाला मुनि प्रशस्त ध्यानका आरम्भ करता है ॥३०–३१॥ ध्यान करनेवाला पुरुष, गम्भीर, निश्चल शरीर और सुखद पर्यङ्कासनसे युक्त होता है। उसके नेत्र न तो अत्यन्त खुले होते हैं और न बन्द ही रहते हैं ॥ ३२ ॥ नीचेके दाँतोंके अग्रभागपर उसके ऊपरके दाँत स्थित रहते हैं, वह इन्द्रियोंके समस्त व्यापारसे निवृत्त हो चुकता है, श्रुतका पारगामी होता है, धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वासका सञ्चार करता है ॥३३॥ मोक्षका अभिलाषी मनुष्य अपनी मनोवृत्तिको नाभिके ऊपर मस्तकपर, हृदयमें अथवा ललाटमें स्थिरकर आत्माको एकाग्र करता हुआ धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो हितकारी ध्यानोंका चिन्तवन करता है ॥३४॥ बाह्य और आध्यात्मिक भावोंका जो यथार्थभाव है वह धर्म कहलाता है, उस धर्मसे जो सहित है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥३५॥ बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे धर्म्यध्यानका लक्षण दो प्रकारका है। शास्त्रके अर्थकी खोज करना, शीलव्रतका पालन करना, गुणोंके समूहमें अनुराग रखना, अंगड़ाई, जमुहाई, छींक, डकार और श्वासोच्छ्वासमें मन्दता होना, शरीरको निश्चल रखना तथा आत्माको व्रतोंसे युक्त करना, यह धर्म्यध्यानका बाह्य लक्षण है। और आभ्यन्तर लक्षण अपाय विचय आदिके भेदसे *दश प्रकारका है। इनमें अपायका अर्थ त्याग है और

---

१. ललाटे वा। भालके म०, ख०। २. भंजाजृम्भा म०, क्षितोद्गार म०, ख०।

* १. अपाय विचय २. उपाय विचय, ३. जीव विचय ४. अजीव विचय ५. विपाक विचय ६. वैराग्य विचय ७. भव विचय ८. संस्थान विचय ९. आज्ञा विचय और १० हेतु विचय····।

संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः । अपायो वर्जनं तासां स मे स्यात्कथमित्यलम् ॥३९॥
चिन्ताप्रबन्धसम्बन्धः शुभलेश्यानुरञ्जितः । अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यमीप्सितम् ॥४०॥
उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया । उपायः स कथं मे स्यादिति संकल्पसन्ततिः ॥४१॥
अनादिनिधना जीवा द्रव्यार्थादन्यथान्यथा । असंख्येयप्रदेशास्ते स्वोपयोगस्वलक्षणाः ॥४२॥
अचेतनोपकरणाः स्वकृतोचितभोगिनः । इत्यादिचेतनाध्यानं यज्जीवविचयं हि तत् ॥४३॥
द्रव्याणामप्य[1] जीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम् । स्वभावचिन्तनं धर्म्यमजीवविचयं मतम् ॥४४॥
यच्चतुर्विधबन्धस्य कर्मणोऽष्टविधस्य तु । विपाकचिन्तनं धर्म्यं विपाकविचयं विदुः ॥४५॥
शरीरमशुचिर्भोगा किंपाकफलपाकिनः । विरागबुद्धिरित्यादि विरागविचयं स्मृतम् ॥४६॥
प्रेत्यभावो भवोऽमीषां चतुर्गतिषु देहिनाम् । दुःखात्मेत्यादिचिन्ता तु [2]भवादिविचयं पुनः ॥४७॥
[3]सुप्रतिष्ठितमाकाशमाकाशे वलयत्रयम् । संस्थानध्यानमित्यादि संस्थानविचयं स्थितम् ॥४८॥
अतीन्द्रियेषु भावेषु बन्धमोक्षादिषु स्फुटम् । जिनाज्ञानिश्चयध्यानमाज्ञाविचयमीरितम् ॥४९॥
तर्कानुसारिणः पुंसः स्याद्वादप्रक्रियाश्रयात् । सन्मार्गाश्रयणध्यानं यद्धेतुविचयं तु तत् ॥५०॥
अप्रमत्तगुणस्थानभूमिकं ह्यप्रमादजम् । पीतपद्मल[4] सल्लेश्याबलाधानमिहात्मिकम् ॥५१॥

मीमांसाका अर्थ विचार है ॥ ३६-३८ ॥ मन, वचन और काय इन तीन योगोंकी प्रवृत्ति ही प्रायः संसारका कारण है सो इन प्रवृत्तियोंका मेरे अपाय—त्याग किस प्रकार हो सकता है ? इस प्रकार शुभ लेश्यासे अनुरञ्जित जो चिन्ताका प्रबन्ध है वह अपाय विचय नामका प्रथम धर्म्यध्यान माना गया है ॥३९-४०॥ पुण्यरूप योग प्रवृत्तियोंको अपने आधीन करना उपाय कहलाता है । यह उपाय मेरे किस प्रकार हो सकता है इस प्रकारके संकल्पोंकी जो सन्तति है वह उपाय विचय नामका दूसरा धर्म्यध्यान है ॥४१॥ द्रव्यार्थिक नयसे जीव अनादि निधन हैं—आदि अन्तसे रहित हैं और पर्यायार्थिक नयसे सादि सनिधन हैं । असंख्यात प्रदेशी हैं, अपने उपयोगरूप लक्षणसे सहित हैं, शरीररूप अचेतन उपकरणसे युक्त हैं और अपने-द्वारा किये हुए कर्मके फलको भोगते हैं"'इत्यादि रूपसे जीवका जो ध्यान करना है वह जीव विचय नामका तीसरा धर्म्यध्यान है ॥४२-४३॥ धर्म-अधर्म आदि अजीव द्रव्योंके स्वभावका चिन्तन करना यह अजीव विचय नामका चौथा धर्म्यध्यान है ॥४४॥ ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके प्रकृति प्रदेश स्थिति और अनुभाग रूप चार प्रकारके बन्धोंके विपाक-फलका विचार करना सो विपाक विचय नामका पाँचवाँ धर्म्यध्यान है ॥४५॥ शरीर अपवित्र है और भोग किंपाक फलके समान तदात्व मनोहर हैं इसलिए इनसे विरक्त बुद्धिका होना ही श्रेयस्कर है"'इत्यादि चिन्तन करना सो विराग विचय नामका छठवाँ धर्म्यध्यान है ॥४६॥ चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाले इन जीवोंकी मरनेके बाद जो पर्याय होती है उसे भव कहते हैं । यह भव दुःख रूप है । इस प्रकार चिन्तवन करना सो भव विचय नामका सातवाँ धर्म्यध्यान है ॥४७॥ यह लोकाकाश अलोकाकाशमें स्थित है तथा चारों ओरसे तीन वातवलयोंसे वेष्टित है इत्यादि लोकके संस्थान-आकारका विचार करना सो संस्थान विचय नामका आठवाँ धर्म्यध्यान है ॥४८॥ जो इन्द्रियोंसे दिखायी नहीं देते ऐसे बन्ध मोक्ष आदि पदार्थोंमें जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञाके अनुसार निश्चयका ध्यान करना सो आज्ञा विचय नामका नौवाँ धर्म्यध्यान है ॥४९॥ और तर्कका अनुसरण करनेवाले पुरुष स्याद्वादकी प्रक्रियाका आश्रय लेते हुए समीचीन मार्गका आश्रय करते हैं—उसे ग्रहण करते हैं, इस प्रकार चिन्तवन करना सो हेतु विचय नामका दसवाँ धर्म्यध्यान है ॥५०॥ यह दश प्रकारका धर्म्यध्यान अप्रमत्त गुणस्थानमें होता है, प्रमादके अभावसे उत्पन्न होता है, पीत और पद्मनामक शुभ लेश्याओंके

१. मपि जीवानां म० । २. भावादिविचयं म० । ३. स्वप्रतिष्ठित -क० । ४. पितपद्मस्य सल्लेश्या क० ।

कालभावविकल्पस्थं धर्म्यध्यानं दशान्तरम्। स्वर्गापवर्गफलदं ध्यातव्यं ध्यानतत्परैः ॥५२॥
शुक्लं शुचित्वसम्बन्धाच्छौचं दोषाद्यपोढता। शुक्लं परमशुक्लं च प्रत्येकं ते द्विधा मते ॥५३॥
सवीचारविवीचारपृथक्त्वैकत्ववितर्कके। सूक्ष्मोच्छिन्नक्रियापूर्वप्रतिपातिनिवर्तके ॥५४॥
लक्षणं द्विविधं बाह्यं [1]जृम्भाजृम्भाद्यपोहनम्। प्राणापानप्रचारस्या[2]व्यक्तस्युच्छिन्नताप्रवृत्यतः ॥५५॥
परेषामनुमेयं स्यात्स्वसंवेद्यं यदात्मनः। आध्यात्मिकं तयोरेव लक्षणं [3]प्रतिपाद्यते ॥५६॥
पृथग्भावः पृथक्त्वं हि नानात्वमभिधीयते। वितर्को[4] द्वादशाङ्गं तु श्रुतज्ञानमनाविलम् ॥५७॥
अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः[5] संक्रमः क्रमात्। ध्येयोऽर्थो व्यञ्जनं शब्दो योगो वागादिलक्षणः ॥५८॥
पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारोऽर्थादिषु क्रमात्। यस्मिन्नस्ति यथोक्तं तत्प्रथमं शुक्लमिष्यते ॥५९॥
[6]तद्यथा पूर्वविद्ध्यायन्नविक्षिप्तमना मुनिः। द्रव्याणुं चापि भावाणुमेकमालम्ब्य संवृतः ॥६०॥
अतीक्ष्णेनापि शस्त्रेण शनैश्छिन्दन्निव द्रुमम्। मोहस्योपशमं कुर्वन् क्षयं वा बहुनिर्जरः ॥६१॥

बलसे होता है, काल और भावके विकल्पमें स्थित है तथा स्वर्ग और मोक्ष रूप फलको देनेवाला है। ध्यानमें तत्पर मनुष्योंको यह ध्यान अवश्य ही करना चाहिए। भावार्थ—यहाँ उत्कृष्टताकी अपेक्षा धर्म्यध्यानको सातवें अप्रमत्त-गुणस्थानमें बताया है परन्तु सामान्य रूपसे यह चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है और स्वर्गका साक्षात् तथा मोक्षका परम्परासे कारण है ॥ ५१-५२ ॥

जो शुचित्व अर्थात् शौचके सम्बन्धसे होता है वह शुक्लध्यान कहलाता है। दोष आदिकका अभाव हो जाना शौच है। यह शुक्ल और परम शुक्लके भेदसे दो प्रकार है तथा शुक्ल और परम शुक्ल दोनोंके दो-दो भेद माने गये हैं ॥५३॥ पृथक्त्व वितर्क वीचार और एकत्व वितर्क ये दो भेद शुक्लध्यानके हैं और सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तथा व्युपरत क्रिया निवर्ति ये दो परम शुक्लध्यानके भेद हैं ॥५४॥ बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे शुक्लध्यानका लक्षण दो प्रकारका कहा गया है। इनमें श्वासोच्छ्वासके प्रचारकी अव्यक्त अथवा उच्छिन्नदशासे युक्त मनुष्यके जो अंगड़ाई और जमुहाई आदिका छूट जाना है वह बाह्य लक्षण है एवं अपने-आपको जिसका स्वसंवेदन होता है तथा दूसरेको जिसका अनुमान होता है वह आध्यात्मिक लक्षण है। आगे उन शुक्ल और परम शुक्ल ध्यानोंका आध्यात्मिक लक्षण कहा जाता है ॥५५-५६॥ पृथग्भाव अथवा नानात्वको पृथक्त्व कहते हैं। निर्दोष द्वादशाङ्ग-श्रुतज्ञान वितर्क कहलाता है। अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) और योगोंका जो क्रमसे संक्रमण होता है उसे वीचार कहते हैं। जिस पदार्थका ध्यान किया जाता है वह अर्थ कहलाता है, उसके प्रतिपादक शब्दको व्यञ्जन कहते हैं और वचन आदि योग हैं ॥५७-५८॥ जिसमें वितर्क (द्वादशाङ्ग) के अर्थादिमें क्रमसे नानारूप परिवर्तन हो वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका पहला शुक्लध्यान माना जाता है ॥५९॥ इसका स्पष्टीकरण यह है कि निश्चल चित्तका धारक कोई पूर्वविद् मुनि द्रव्याणु अथवा भावाणुका अवलम्बन कर ध्यान कर रहा है सो जिस प्रकार कोई अतीक्ष्ण—मोथले शस्त्रसे किसी वृक्षको धीरे-धीरे काटता है उसी प्रकार वह विशुद्धताका वेग कम होनेसे मोहनीय कर्मके उपशम अथवा

---

१. जम्भास्तम्भा—म०। २. स्या व्युत्पन्नाप्रवृत्यतः म०। ३. प्रतिपद्यते म०। ४. 'वितर्कः श्रुतम्' त० सू० अ० ९। ५. 'वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः' त० सू० अ० ९। ६. तत्र द्रव्यं परमाणुं वा ध्यायन्नाहितवितर्कसामर्थ्यादर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन संक्रामता मनसापर्याप्तबालोत्साहवदव्यवस्थितेनापि शस्त्रेण चिरात्तरुं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाग् भवति।—स. सि. अ. ९।

द्रव्याद्द्रव्यान्तरं याति पर्यायं चान्यपर्ययात् । व्यञ्जनाद् व्यञ्जनं योगाद्योगान्तरमुपैति यत् ॥६२॥
शुक्लं तत्प्रथमं शुक्लतरलेश्याबलाश्रयम् । श्रेणीद्वयगुणस्थानं क्षयोपशमभावकम् ॥६३॥
सर्वपूर्वधरस्येदमन्तर्मौहूर्तिकस्थिति । श्रेणीद्वयवशाद्द्वेधं स्वर्गमोक्षफलप्रदम् ॥६४॥
एकत्वेन वितर्कोऽस्ति यस्मिन्वीचारवर्जिते । तदेकत्ववितर्कावीचारं शुक्लं तदुत्तरम् ॥६५॥
एकमेवाणुपर्यायं [1]विषयीकृत्य वर्तते । [2]मोहादिघातिघातीदं पूर्विणः स कृती ततः ॥६६॥
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्यचारित्रपूर्वकैः । भासते क्षायिकैर्भावैस्तीर्थकृद्वान्यकेवली ॥६७॥
सोऽर्चनीयोऽभिगम्यश्च त्रिभुवां परमेश्वरः । देशोनां विहरत्येकां पूर्वकोटीं प्रकर्षतः ॥६८॥
अन्तर्मुहूर्तशेषायुः स यदा भवतीश्वरः । तत्तुल्यस्थितिवेद्यादित्रितयश्च तदा पुनः ॥६९॥
समस्तं वाङ्मनोयोगं काययोगं च बादरम् । प्रहाप्याकम्य सूक्ष्मं तु काययोगं स्वभावतः ॥७०॥
तृतीयं शुक्लसामान्यात्प्रथमं तु विशेषतः । सूक्ष्मक्रियाप्रतीपाति ध्यानमास्कन्तुमर्हति ॥७१॥
सोऽन्तर्मुहूर्तशेषायुरधिकान्यत्रिकस्थितिः[3] । यदा भवति योगीशस्तदा स्वाभाव्यतः स्वयम् ॥७२॥
स्वोपयोगविशेषस्य विशिष्टकरणस्य हि । सामायिकसहायस्य [4]महासंवरसङ्गतेः ॥७३॥

शमको धीरे-धीरे करता है। कर्मोंकी अत्यधिक निर्जराको करता हुआ वह मुनि द्रव्यसे द्रव्यान्तरको, पर्यायसे पर्यायान्तरको, व्यञ्जनसे व्यञ्जनान्तरको और योगसे योगान्तरको प्राप्त होता है ॥६०–६२॥ वह प्रथम शुक्लध्यान शुक्लतर लेश्याके बलसे होता है। उपशम-श्रेणी और क्षपकश्रेणी—दोनोंके गुणस्थानोंमें होता है। क्षायोपशमिक भावसे सहित है। समस्त पूर्वोके ज्ञाता मुनिके यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक रहता है तथा दोनों श्रेणियोंके वशसे यह स्वर्ग और मोक्ष रूप फलको देनेवाला है। भावार्थ—उपशम श्रेणीमें होनेवाला शुक्लध्यान स्वर्गका कारण है और क्षपकश्रेणीमें होनेवाला मोक्षका कारण है ॥६३–६४॥

जिसमें वीचार—अर्थादिके संक्रमणसे रहित होनेके कारण एक रूपमें ही वितर्कका उपयोग होता है अर्थात् वितर्कके अर्थ एवं व्यञ्जन आदिपर अन्तर्मुहूर्त तक चित्तकी गति स्थिर रहती है वह एकत्व वितर्क वीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान है ॥६५॥ यह ध्यान एक ही अणु अथवा पर्यायको विषय कर प्रवृत्त होता है। मोह आदि घातिया कर्मोंका घात करनेवाला है, पूर्व धारीके होता है और इस ध्यानके प्रभावसे ध्यान करनेवाला कुशल मुनि ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य और चारित्र आदि क्षायिक भावोंसे सुशोभित होने लगता है। अब वह तीर्थंकर अथवा सामान्य केवली हो जाता है। वह सबके द्वारा पूज्य एवं सेवनीय हो जाता है और तीन लोकोंका परमेश्वर हो उत्कृष्ट रूपसे देशोन कोटिवर्ष पूर्व तक विहार करता रहता है ॥६६–६८॥

जब उन केवली भगवान्की आयु अन्तर्मुहूर्तकी शेष रह जाती है तथा आयुके बराबर ही वेदनीय आदि तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति अवशिष्ट रहती है तब वे समस्त वचन योग, मनोयोग और स्थूल काय योगको छोड़कर स्वभावसे ही सामान्य शुक्लकी अपेक्षा तीसरे और विशेष—परमशुक्लकी अपेक्षा प्रथम सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामक ध्यानको प्राप्त करनेके योग्य होते हैं ॥६९–७१॥ जब उन केवली भगवान्की स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी हो और शेष तीन अघातिया कर्मोंकी स्थिति अधिक हो तब वे स्वभाववश अपने-आप चार समयों-द्वारा आत्म प्रदेशोंको फैलाकर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक पूरण कर तथा उतने ही समयोंमें उन्हें संकुचित कर सब कर्मोंकी स्थिति एक बराबर कर लेते हैं। इस क्रियाके

---

१. विषमीकृत्य म० । २. -घातघातीदं म० । ३. स्थितः म० । ४. महासंवरसंगते म० ।

अन्तस्य घातने शेषकर्मणां परिपाचने । दण्डं चापि कपाटं च प्रतरं लोकपूरणम् ॥७४॥
चतुर्भिः समयैः कृत्वा स्वप्रदेशविसर्पणात् । तावद्भिरेव संहृत्य कृतकर्मसमस्थितिः ॥७५॥
पूर्वकायप्रमाणः सन् भूत्वा निष्ठापयन्निदम् । प्रथमं शुक्लमध्यास्ते द्वितीयं परमं पुनः ॥७६॥
स्वप्रदेशपरिस्पन्दयोगप्राणादिकर्मणाम् । समुच्छिन्नतयोक्तं तत्समुच्छिन्नक्रियाख्यया ॥७७॥
सर्वबन्धास्रवाणां हि निरोधस्तत्र यत्नतः । अयोगस्य यथाख्यातचारित्रं मोक्षसाधनम् ॥७८॥
[1]अयोगकेवली आत्मा प्रध्वस्ताखिलकर्मकः । जात्यहेमवदुद्भूतचेतनाशक्तिभास्वरः ॥७९॥
सिद्ध्यन्निहैव संसिद्धस्वोर्ध्वव्रज्यास्वभावतः । पूर्वप्रयोगासंगत्वबन्धच्छेदत्वहेतुतः[2] ॥८०॥
अग्नेः[3] शिखावदाविद्धचक्रालाम्बुवदुत्पतन् । एरण्डबीजवच्चोर्ध्वं लोकं समयतो व्रजेत् ॥८१॥
धर्मास्तिकायाभावाच्च लोकान्तमतिगच्छति । चात्र संतिष्ठतेऽतोऽग्रे सोऽनन्तसुखसन्ततिः ॥८२॥
चतुर्वर्गे हि देहिभ्यो मोक्षोऽतिशयतो हितः । स योगादेव [4]सद्ध्यानात्स्वकर्मक्षयलक्षणः ॥८३॥
कर्मप्रकृत्यभावो हि मोक्षोऽनन्तसुखावहः । स यत्नायत्नसाध्यत्वाद्द्विधा भवति देहिनः ॥८४॥
चरमोत्तमदेहस्य प्रागसत्त्वादयत्नतः । गत्यन्तरायुषामेषामभावो भवतीतरः ॥८५॥
उच्यते तु गुणस्थानात्सम्यग्दृष्टेरसंयतात्[5] । समारभ्याप्रमत्तान्ते[6] क्वचिदेवात्र[7] मानुषः ॥८६॥

समय उनका उपयोग विशेष अपने-आपमें होता है, वे विशिष्ट करण अर्थात् भावका अवलम्बन करते हैं, सामायिक भावसे युक्त होते हैं, महासंवरसे सहित होते हैं—नवीन कर्मोंका आस्रव प्रायः बन्द कर देते हैं और सत्तामें स्थित कर्मोंके नष्ट करने तथा उदयावलीमें लानेमें समर्थ रहते हैं। यह सब करनेके बाद जब वे पुनः पूर्व शरीर प्रमाण हो जाते हैं तब प्रथम परम शुक्लध्यानको पूर्ण कर द्वितीय परमशुक्लध्यानको प्राप्त होते हैं ॥७२–७६॥ आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्द रूप योग तथा कायबल आदि प्राणोंके समुच्छिन्न—नष्ट हो जानेसे यह ध्यान समुच्छिन्नक्रिय नामसे कहा गया है ॥७७॥ इस ध्यानके समय यत्नपूर्वक समस्त कर्मोंके बन्ध और आस्रवोंका निरोध हो चुकता है। ध्याता अयोग—योगरहित हो जाता है और उसके मोक्षका साक्षात् कारण परम यथाख्यातचारित्र प्रकट हो जाता है ॥७८॥ वह अयोगकेवली आत्मा, समस्त कर्मोंको नष्ट कर सोलहवानीके स्वर्णके समान प्रकट हुई चेतनाशक्तिसे देदीप्यमान हो उठता है ॥७९॥ इसी समय वह सिद्ध होता हुआ अनादि सिद्ध ऊर्ध्वगमन स्वभाव, पूर्व प्रयोग, असङ्गत्व और बन्धच्छेद रूप हेतुओंसे अग्निशिखा, आविद्धकुलालचक्र, व्यपगतलेपालाबु और एरण्डबीजके समान ऊपरको जाता हुआ एक समय मात्रमें ऊर्ध्वलोकके अन्तमें पहुँच जाता है ॥८०–८१॥ धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे सिद्धात्मा लोकान्तको उल्लङ्घन कर आगे नहीं जाता। वह उसी स्थानपर अनन्त सुखका उपभोग करता हुआ विराजमान हो जाता है ॥८२॥ चारों वर्गोंमें प्राणियोंके लिए मोक्ष ही अतिशय हितकारी है, अपने समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना मोक्षका लक्षण है और ऐसा मोक्ष ऊपर कहे हुए समीचीन ध्यानसे ही प्राप्त होता है ॥८३॥ कर्मप्रकृतियोंका अभाव हो जाना ही अनन्त सुखका देनेवाला मोक्ष है। वह कर्म प्रकृतियोंका अभाव यत्नसाध्य तथा अयत्नसाध्यकी अपेक्षा दो प्रकारका है। चरमशरीरी जीवके भुज्यमान आयुको छोड़कर अन्य आयुओंका जो अभाव है वह अयत्नसाध्य अभाव है क्योंकि इनकी सत्ता पहलेसे आती नहीं है और चरमशरीरीके नवीन बन्ध होता नहीं है। अब यत्नसाध्य प्रकृतियोंका अभाव किस तरह होता है यह कहते हैं ॥८४–८५॥ असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर

---

१. सोऽयोग म० । २. गतिभ्रमैः म० । ३. 'पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च' । त० सू० । 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' ॥ त० सू० । ४. सद्ध्यातात् म० । ५. –रसंयतान् म० । ६. समारभ्य प्रवर्तन्ते क० । ७. क्वचिदेकत्र म० ।

मोहस्य प्रकृतीः सप्त क्षपयित्वा विशुद्धधीः । सम्यग्दर्शनमर्काभं क्षायिकं प्रतिपद्यते ॥८७॥
आरोढा क्षपकश्रेणीमप्रमत्तः प्रकृत्य सः । अथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणं स्वकृत् ॥८८॥
अपूर्वकरणो भूत्वा स पापप्रकृतिस्थितिम् । तनूकृत्यानुभागं चानिवृत्तिकरणाश्रितः ॥८९॥
अनिवृत्तिगुणस्थाने क्षपकव्यपदेशभाक् । शुक्लध्यानानलाक्रान्तकर्मप्रकृतिकक्षकः ॥९०॥
सनिद्रानिद्राप्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धिभिः । दुर्गती सानुपूर्व्यके पूर्वा जातिचतुष्टयीम् ॥९१॥
सस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणाभिधाः । सहैव क्षपयत्येताः षोडश प्रकृतीः कृती ॥९२॥
[1]अत्रैवातः परं स्थानं कषायाष्टकमस्यति । ततो नपुंसकं वेदं स्त्रीवेदं च ततः परम् ॥९३॥
[2]पुंवेदे नोकषायाणां षट्कं प्रक्षिप्य वै सह । निरस्याक्षिप्य पुंवेदं क्रोधसंज्वलनानले ॥९४॥
मानसंज्वलने तं च मायासंज्वलने स्वसुम् । लोभसंज्वलने स्वेनं निक्षिप्य दहति क्रमात् ॥९५॥
लोभसंज्वलनं सूक्ष्मं कृत्वा सूक्ष्मकषायगः । लोभसंज्वलनस्यान्तमन्ते कृत्वा विमोहकम् ॥९६॥
भूत्वा क्षीणकषायस्योपान्तिमे समयेऽस्यति । निद्रां च प्रचलामन्त्ये ज्ञानावृत्यन्तराययोः ॥९७॥
प्रत्येकं प्रकृतीः पञ्च चतस्रो दर्शनावृतेः । दग्ध्वैकत्ववितर्काग्नेः[3] सयोगः केवली भवेत् ॥९८॥
सद्वेद्यं चाप्यसद्वेद्यं नामदेवगतिश्रुतिः । औदारिकशरीरादिनाम्ना पञ्चतयं तथा ॥९९॥
सङ्घातपञ्चकं चापि पुनर्बन्धकपञ्चकम् । वैक्रियौदारिकाहारकायाङ्गोपाङ्गकत्रिकम् ॥१००॥
संस्थाननामषट्कं च षट्संहनननाम च । वर्णपञ्चकनामापि रसपञ्चकनाम च ॥१०१॥

अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थान तक किसी गुणस्थानमें कर्मभूमिका मनुष्य मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंका क्षय कर विशुद्ध बुद्धिका धारक होता हुआ सूर्यके समान क्षायिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥८६–८७॥ तदनन्तर सातिशय अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मनुष्य क्षपक श्रेणीमें चढ़कर अथाप्रवृत्तकरण (अधःप्रवृत्तकरण) को करके उसके बाद अपूर्व करणको करता है ॥८८॥ फिर अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती होकर पापप्रकृतियोंकी स्थिति तथा अनुभागको क्षीण करता हुआ अनिवृत्तिकरणको प्राप्त होता है ॥८९॥ तदनन्तर अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानमें क्षपक संज्ञाको प्राप्त होता हुआ कर्मप्रकृतिरूप वनको शुक्लध्यानरूपी अग्निसे आक्रान्त करता है ॥९०॥ फिर सत्तामें स्थित निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका एक साथ क्षय करता है ॥९१–९२॥ इसी गुणस्थानमें सोलह प्रकृतियोंके क्षयके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण नामक आठ कषायोंको नष्ट करता है। फिर नपुंसकवेद और स्त्रीवेदको नष्ट कर हास्यादि छह नोकषायोंको पुंवेदमें डालकर एक साथ नष्ट करता है। फिर पुंवेदको संज्वलन क्रोधरूपी अग्निमें, संज्वलन क्रोधको संज्वलन मानमें संज्वलन मानको संज्वलन मायामें और संज्वलन मायाको संज्वलन लोभमें डालकर क्रमसे दग्ध करता है ॥९३–९५॥ फिर संज्वलन लोभको और भी सूक्ष्म कर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानमें पहुँचता है। इसके अन्तमें संज्वलन लोभका अन्त कर मोहकर्मका बिलकुल अभाव कर चुकता है ॥ ९६ ॥ फिर क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती होकर एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यानरूपी अग्निसे इसके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचलाको तथा अन्त समयमें ज्ञानावरण और अन्तरायकी पाँच-पाँच और दर्शनावरणकी चार प्रकृतियोंको जलाकर सयोग-केवली होता है ॥९७–९८॥ तदनन्तर सयोगकेवली गुणस्थानको उल्लङ्घकर जब आगामी गुण-स्थानको प्राप्त होता है तब अयोगकेवली होकर अर्हन्त अवस्थाके उपान्त्य समयमें साता वेदनीय और असाता वेदनीयमें-से कोई एक, देवगति, औदारिक शरीरको आदि लेकर पाँच शरीर,

1. अत्रैवान्तः परं म० । 2. पुंवेद क० । 3. वितर्काग्निः म० ।

अष्टधा स्पर्शनामापि गन्धनाम पुनर्द्विधा । तत्प्रायोग्यानुपूर्वी च नामदेवगतेः पुनः ॥१०२॥
नामागुरुलघूच्छ्वासपरघातोपघातकम् । प्रशस्ताशस्तभेदस्थं विहायोगति नाम च ॥१०३॥
प्रत्येककायापर्याप्तस्थिरास्थिरशुभाशुभम् । तथा दुर्भगनामापि पुनः सुस्वरदुःस्वरम् ॥१०४॥
अनादेयायशःकीर्तिनाम निर्माणनाम च । प्रकृतीर्द्वासप्ततिं नीचैर्गोत्रेण सुपिण्डिताः ॥१०५॥
सयोगकेवलिस्थानमतीत्य पदमास्थितः । अयोगकेवली हन्ति स्वोपान्त्यसमयेऽर्हतः ॥१०६॥
वेद्यमेकं मनुष्यायुर्मनुष्यगतिरेव च । तत्प्रायोग्यानुपूर्वी च जातिः पञ्चेन्द्रियाभिधा ॥१०७॥
त्रसबादरपर्याप्तसुभगादेयसंज्ञिका । उच्चैर्गोत्रं यशःकीर्तिस्तीर्थंकरनाम च ॥१०८॥
एतास्त्रयोदश ख्याताः प्रकृतीः प्रकृतिस्थिरः । अयोगकेवली हन्ति चरमे समये ततः[1] ॥१०९॥
ह्रस्वोच्चारणावृत्तीः पञ्च स्थित्वा स्वकालतः । सिद्धिः सादिरनन्ता स्यादनन्तगुणसन्निधिः ॥११०॥
धर्म्यध्यानप्रकारं स ध्यायन्नेमिर्यथोचितम् । षट्पञ्चाशदहोरात्रकालं सुतपसानयत् ॥१११॥

पाँच संघात, पाँच बन्धन, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन अङ्गोपाङ्ग, छह संस्थान, छह संहनन, पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गन्ध, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उच्छ्वास, परघात, उपघात, प्रशस्त और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारकी विहायोगति, प्रत्येक शरीर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीच गोत्र इन बहत्तर प्रकृतियोंको नष्ट करता है ॥९९-१०६॥ फिर अन्त समयमें साता-वेदनीय असातावेदनीयमें-से एक, मनुष्य आयु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति और तीर्थङ्कर इन तेरह प्रकृतियों-को नष्ट करता है। अयोगकेवली गुणस्थानमें यह जीव प्रदेशपरिस्पन्दका अभाव हो जानेके कारण स्वभावसे स्थिर रहता है ॥१०७-१०९॥ अ इ उ ऋ लृ इन पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने काल तक चौदहवें गुणस्थानमें रहकर यह जीव सिद्ध हो जाता है। जीवकी यह सिद्धि सादि तथा अनन्त है और अनन्त गुणोंके सन्निधानसे युक्त है ॥११०॥

भगवान् नेमिनाथने धर्म्यध्यानके पूर्वोक्त दस भेदोंका यथायोग्य ध्यान करते हुए,

---

१. कर्माभावो द्विविधः—यत्नसाध्योऽयत्नसाध्यश्चेति । तत्र चरमदेहस्य नारकतिर्यग्देवायुषामभावो न यत्नसाध्यः असत्त्वात् । यत्नसाध्य इत ऊर्ध्वमुच्यते—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु चतुर्षु गुणस्थानेषु कस्मिंश्चित्सप्त-प्रकृतिप्रक्षयः क्रियते । निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतितिर्य-ग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणसंज्ञिकानां षोडशानां कर्मप्रकृतीनामनिवृत्तिबादरसाम्परायस्थाने युगपत्क्षयः क्रियते । नपुंसकवेदः स्त्रीवेदश्च तत्रैव क्षयमुपयाति । नोकषायषट्कं च सहैकेनैव प्रहारेण विनि-पातयति । ततः पुंवेदसंज्वलनक्रोधमानमायाः क्रमेण तत्रैवात्यन्तिकं ध्वंसमास्कन्दन्ति । लोभसंज्वलनः सूक्ष्मसाम्प-रायान्ते यात्यन्तम् । निद्राप्रचले क्षीणकषायवीतरागच्छद्मस्थस्योपान्त्यसमये प्रलयमुपव्रजतः । पञ्चानां ज्ञाना-वरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां पञ्चानामन्तरायाणां च तस्यैवान्त्यसमये प्रक्षयो भवति । अन्यतरवेदनीयदेव-गत्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसंस्थानषट्कौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराङ्गोपाङ्गषट्संहननपञ्चप्रश-स्तवर्णपञ्चाप्रशस्तवर्णगन्धद्वयपञ्चप्रशस्तरसपञ्चाप्रशस्तरसस्पर्शाष्टकदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातो-च्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनिर्मा-णनाम नीचैर्गोत्राख्या द्वासप्ततिप्रकृतयोऽयोगकेवलिनमुपान्त्यसमये विनाशमुपयान्ति । अन्यतरवेदनीयमनुष्या-युर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातिमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यत्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशःकीर्तितीर्थंकरनामोच्चैर्गोत्रसंज्ञि-कानां त्रयोदशानां प्रकृतीनामयोगकेवलिनश्चरमसमये विच्छेदो भवति ।

—सर्वार्थसिद्धि अ. १० सूत्र. २

पूर्वाह्णेऽश्वयुजस्याथ शुक्लप्रतिपदि प्रभुः । शुक्लध्यानाग्निना दग्ध्वा चतुर्घातिमहावनम् ॥११२॥
अनन्तकेवलज्ञानदर्शनादिचतुष्टयम् । त्रैलोक्येन्द्रासनाकम्पि सम्प्रापत्परदुर्लभम् ॥११३॥

स्रग्धरावृत्तम्

घण्टारावोरुसिंहस्फुटपटहरवोदारशङ्खस्वनैस्तां
जैनीं कैवल्यलब्धिं सकलसुरगणा प्राविविदिरथा यथास्वम् ।
इन्द्राः सिंहासनोघैर्मुकुटविचलनैः स्वान् प्रयुज्यावधीन् स्वैः
प्राप्तानीकैः सहागुः क्षुभितसलिलधिव्रातविभिन्नलोक्याः ॥११४॥
आपूर्यावार्यवेगैर्गगनजलनिधिं वाहनानां समूहैः
सप्तानीकै[2]रनेकैर्गिरिमथ पतिगणास्तं परीत्य प्रपेदे ।
प्रोच्चैर्मूर्धावलेपं गिरिपतिमपि सुस्नानकल्याणमात्रं
भूयः कल्याणकण्ठे गुणभरगुणनादूर्जयन्तं जयन्तम् ॥११५॥
मन्दारादिद्रुमाणां सुरभितककुभा पुष्पवृष्ट्या सुराणां
दिव्यस्त्रीगीतमूर्छन्मुखरितभुवनैर्दुन्दुभीनां निनादैः ।
भेत्रा लोकस्य शोकं फलकुसुमभृताशोकशाखाभृता च
श्वेतच्छत्रत्रयेण त्रिभुवनविभुताचिह्नभूतोरुभूम्ना ॥११६॥
हंसालीपातलोलैर्धवलितककुभैश्चामराणां सहस्रैः
भाभिर्भामण्डलेन प्रतिहतविकसद्भानुभामण्डलेन ।

छद्मस्थ अवस्थाके छप्पन दिन समीचीन तपश्चरणके द्वारा व्यतीत किये ॥१११॥ तदनन्तर आश्विन शुक्ल प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय भगवान्‌ने शुक्लध्यानरूपी अग्निके द्वारा चार घातियारूपी महावनको जलाकर तीन लोकके इन्द्रोंके आसन कँपा देनेवाले एवं अन्य जनदुर्लभ, केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनन्तचतुष्टय प्राप्त किये ॥११२-११३॥ घण्टाओंके शब्द, विशाल सिंहनाद, दुन्दुभियोंके स्पष्ट शब्द और शंखोंकी भारी आवाजसे समस्त देवोंने शीघ्र ही निश्चय कर लिया कि जिनेन्द्र भगवान्‌को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है तथा इन्द्रोंने भी सिंहासन और उन्नत मुकुटोंके कम्पित होनेसे अपने-अपने अवधिज्ञानका प्रयोग कर उक्त बातका ज्ञान कर लिया। तदनन्तर तीनों लोकोंके इन्द्र, समुद्रोंके समूहको क्षुभित करनेवाली अपनी-अपनी सेनाओंके साथ गिरनार पर्वतकी ओर चल पड़े ॥११४॥

उस समय इन्द्रोंने अवार्य वेगसे युक्त वाहनोंके समूह और सात प्रकारकी अनेक सेनाओंसे आकाशरूपी समुद्रको व्याप्त कर दिया और आकर गिरनार पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। उस समय वह पर्वत, ऊँचे शिखरका अभिमान धारण करनेवाले गिरिराज—सुमेरु पर्वतको भी जीत रहा था क्योंकि सुमेरु पर्वत पर तो भगवान्‌का मात्र जन्मकल्याणक सम्बन्धी अभिषेक हुआ था और गिरनार पर्वतपर दीक्षाकल्याणकके बाद पुनः ज्ञानकल्याणक होनेसे अनेक गुण प्रकट हुए थे ॥११५॥ देवलोग, दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले मन्दार आदि वृक्षोंके फूलोंकी वर्षा करने लगे। देवाङ्गनाओंके सुन्दर संगीतसे मिश्रित दुन्दुभियोंके शब्द संसारको मुखरित करने लगे। लोगोंके शोकको नष्ट करनेवाला फल और फूलोंसे युक्त अशोक वृक्ष प्रकट हो गया। तीन लोककी विभुताके चिह्नस्वरूप श्वेत छत्रत्रय सिरपर फिरने लगे। हंसावलीके पातके समान सुशोभित एवं पर्वतकी भूमिको सफेद करनेवाले हजारों चमर ढुलने लगे। अपनी कान्तिसे देदीप्यमान सूर्यकी प्रभाके समूहको पराजित करनेवाला भामण्डल प्रकट हो गया। नाना रत्नसमूहकी किरणोंसे इन्द्रधनुषको

---

१. —वह्निः म० । २. —रनीकैः म० ।

नानारत्नौघरोचिर्जनितसुरधनुर्हेमसिंहासनेन
भाषाभेदस्फुरन्त्या स्फुरणविरहितस्वोष्ठयोर्भाषया च ॥११७॥
अष्टाभिः प्रातिहार्यैरतिशमितपरैः स्वैर्विशेषैरशेषैः
कर्मापायस्वभावत्रिदिवपतिसमैस्तैश्चतुस्त्रिंशता च ।
त्रैलोक्योद्धारणाय प्र[1]कृतिधृतधृतिर्नेमिनाथो जगत्यां
हरिवंशो [2]हारिवंशो गुणगणवि[3]ततीर्थकृत्प्रादुरासीत् ॥११८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ भगवन्नेमिनाथ-केवलज्ञानवर्णनो नाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥५६॥

उत्पन्न करनेवाला स्वर्ण-सिंहासन आविर्भूत हो गया और नाना भाषाओंके भेदसे युक्त एवं ओठोंके स्फुरणसे रहित दिव्यध्वनि खिरने लगी। इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रातिहार्यों, दूसरोंको अत्यन्त शान्त करनेवाली अपनी समस्त विशेषताओं और केवलज्ञान-सम्बन्धी, जन्म-सम्बन्धी तथा देवकृत चौंतीस अतिशयोंसे विभूषित, तीन लोकके उद्धारके लिए स्वाभाविक धैर्यके धारक और अनेक गुणोंके समूहको प्रकट करनेके लिए सूर्यके समान, हरिवंशके शिरोमणि बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ भगवान् पृथिवीपर प्रकट हुए ॥११६-११८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें भगवान् नेमिनाथके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला छप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५६॥

---

१. प्रकृत—म० । २. हरिवंशे भवो हारिवंशः । ३. गुणगुणवृहतात् म०, घ० । जिनगुणगुणभृत् —क० ।

सप्तपञ्चाशः सर्गः

समवादि समापादि शरणं शरणं क्षणात् । त्रिजगज्जन्मिनां देवैः पाकशासनशासनात् ॥१॥
सर्वो द्वारवतीलोको यदुभोजकुलाम्बुधिः । आरुरोह गिरिं भूत्या रामकेशवपूर्वकः ॥२॥
अवलोक्य जिनेन्द्रस्य शरणं समवादिकम् । बहिरन्तःपरं प्रापद्विस्मयं जनसागरः ॥३॥
यादृशी समवस्थानभूमिस्तीर्थकृतामिह । तादृशी श्रोतृलोकस्य समासेन निगद्यते ॥४॥
भूमेः स्वभावभूताया दिव्यारत्निप्रमोच्छ्रितिः । भूमिस्तावत्समुच्छ्राया कल्पभूमिकपर्यंतः ॥५॥
स्वर्गश्रियं श्रिया जेत्री चतुरस्रा सुखप्रदा । सैकान्तद्वादशाद्यात्मयोजना कालदेशतः ॥६॥
उच्चैर्गन्धकुटीदेशकर्णिका पद्ममूर्तिवत्[1] । भाति भूमिरसौ बाह्य[2]भूमीपत्रपरम्परा ॥७॥
इन्द्रनीलमयी भूमिर्बाह्यादर्शतलोपमा । भूयसामपि भूयस्त्वं विशतां विदधाति या ॥८॥
दूरादिन्द्रादयो यस्यां मानयन्ति नमस्यया । मानार्हास्त्रिजगन्नाथं साभूर्मानाङ्गणाभिधा ॥९॥
महादिक्षु चतस्रोऽस्या गव्यूतिद्वयविस्तृताः । वीथ्यस्तन्मध्यगामीयुर्मानपीठान्पुरः[3] प्रभान् ॥१०॥
स्वोत्सेधत्रिगुणात्मीयविस्तराण्युक्तिविस्तरैः । सौवर्णरत्नमूर्तीनि मान्यन्ते नृसुरासुरैः ॥११॥
नृसुरामानवस्तम्भानास्थायार्चन्ति यत्र भूः । सा त्वास्थानाङ्गणाभिख्या ज्वलल्लौहितरत्नभा ॥१२॥
मध्ये[4] वीथि चतस्रोऽत्र त्रिमङ्गा हैमपीठिकाः । मान्त्युरोद्वयसोच्छ्रायाः वृत्ताः क्रोशार्धविस्तृताः ॥१३॥

अथानन्तर देवोंने इन्द्रकी आज्ञासे क्षण-भरमें तीन जगत्के जीवोंके लिए शरणभूत समवशरणकी रचना कर दी ॥१॥ बलदेव और कृष्णको आदि ले यादव और भोजवंशके सागर स्वरूप समस्त द्वारिका निवासी बड़े वैभवके साथ गिरिनार पर्वत पर चढ़े और भीतर-बाहर जिनेन्द्र भगवान्का समवशरण देखकर वह जनताका अपार सागर परम आश्चर्यको प्राप्त हुआ ॥२-३॥ तीर्थंकरोंकी समवसरण भूमि जैसी होती है उसका यहाँ संक्षेपसे श्रोताओंके लिए वर्णन किया जाता है ॥४॥

समवसरणकी दिव्य भूमि स्वाभाविक भूमिसे एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर कल्पभूमि होती है ॥५॥ यह भूमि अपनी शोभासे स्वर्गलक्ष्मीको जीतनेवाली, चौकोर, सुखदायी और देशकालके अनुसार बारह योजनसे लेकर एक योजन तक विस्तारवाली होती है। भावार्थ—समवसरण भूमिका उत्कृष्ट विस्तार बारह योजन और कमसे-कम विस्तार एक योजन प्रमाण होता है ॥६॥ यह भूमि कमलके आकार होती है इसमें गन्धकुटी तो कर्णिकाके समान ऊँची उठी होती है और बाह्य भूमि कमलदलके समान विस्तृत होती है ॥७॥ यह इन्द्रनीलमणिसे निर्मित होती है, इसका बाह्य भाग दर्पणतलके समान निर्मल होता है और प्रवेश करनेवाले बहुतसे जीवोंको एक साथ स्थान देनेवाली रहती है ॥८॥ जिसमें मानके योग्य इन्द्र आदि देव त्रिलोकीनाथ—भगवान्की दूरसे ही पूजा करते हैं वह मानाङ्गण नामकी भूमि है ॥९॥ इस भूमिकी चारों महादिशाओंमें दो-दो कोश विस्तृत चार महावीथियाँ हैं। ये वीथियाँ अपने मध्यमें स्थित चार मानस्तम्भोंके पीठ धारण करती हैं ॥१०॥ ये पीठ अपनी ऊँचाईसे तिगुने चौड़े एवं सुवर्ण और रत्नमयी मूर्तियोंके धारक होते हैं तथा मनुष्य, सुर, असुर सभी आकर इन्हें नमस्कार करते हैं ॥११॥ जहाँ स्थित होकर मनुष्य और देव, मानस्तम्भोंकी पूजा करते हैं वह आस्थानाङ्गणा नामकी भूमि है। यह भूमि देदीप्यमान लाल मणियोंकी कान्तिको धारण करती है ॥१२॥ वीथियोंके मध्यमें तीन कटनीदार चार सुवर्णमयी पीठिकाएँ हैं जो छाती बराबर

१. पद्मरूपवत् क० । २. बाह्यभू म०, बाह्याभू क० । ३. पुरः प्रभाः क०, ख०, ग०, म० । ४. मध्ये वापि म० ।

चापोनपीठिकाव्यासा योजनं[1] त्वधिकोच्छ्रयाः । शुंभिता मानस्तंभाश्चत्वारः पीठिकास्वधि ॥१४॥
द्विषड्योजनदृश्यास्ते पालिकास्वाम्बुजस्थिताः । वज्रस्फटिकवैडूर्यमूलमध्याग्रविग्रहाः ॥१५॥
द्विसहस्राश्रयो नानारत्नरश्मिविमिश्रिताः । चतुर्दिशूर्ध्वसिद्धार्चाः रत्न[2]भूतोरुपालिकाः ॥१६॥
पालिकाम्बुजपद्मस्थवर्णीयस्फुरद्घटाः । घटाग्राबद्धफलकाः श्रीमामाभिषवश्रियः ॥१७॥
श्रीचूडारत्नभाचक्रभास्यविंशतियोजनाः । सामिमानमनोदेवमानवस्तंभना बभुः ॥१८॥
ततः सरांसि चत्वारि[3] फुल्लदम्भोजभांस्यकम्[4] । हंससारसचक्राह्वारावरम्यककुप्तवकम्[5] ॥१९॥
अतो वज्रमयो वप्रो वक्षोदघ्नो घनद्युतिः । द्विगुणीभूतविस्तारः परीवाय समन्ततः ॥२०॥
परीत्य परिखातोऽस्थाज्जलकम्रमणिक्षितिः । जानुदघ्नाम्बुगम्भीरा कृष्णसाटीव भूस्त्रियाः ॥२१॥
हेमाम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरी भाविताम्भसि । स्व[6]च्छायां दिङ्मुखान्यस्यां साङ्गरागाणि चाप्यभात् ॥२२॥
वल्लीवनमतोऽप्यन्तः परीत्य स्थितमित्यभात् । कुसु[7]मामोदिता शान्तं शकुन्तालिकुलाकुलम् ॥२३॥
प्राकारोऽन्तः परीवाय ज्वलत्कनकभास्वरः । विजयादिबृहद्रौप्यचतुर्गोपुरमण्डितः ॥२४॥
तत्र दौवारिका भौमाः कटकादिविभूषणाः । प्रभावोत्सारितायोग्या मुद्गरोद्धतपाणयः ॥२५॥

ऊँची हैं गोल हैं और आधा कोश चौड़ी हैं ॥१३॥ उन पीठिकाओं पर चार मानस्तम्भ सुशोभित हैं जो पीठिकाओंकी चौड़ाईसे एक धनुष कम चौड़े हैं और एक योजनसे कुछ अधिक-ऊँचे हैं ॥१४॥ वे मानस्तम्भ बारह योजनकी दूरीसे दिखायी देते हैं। पालिकाके अग्रभागपर जो कमल हैं उन्हीं पर स्थित हैं, उनका मूलभाग हीराका, मध्यभाग स्फटिकका और अग्रभाग वैडूर्यमणिका बना हुआ है ॥१५॥ हर एक मानस्तम्भ दो-दो हजार कोणोंसे सहित हैं—दो-दो हजार पहलके हैं, नाना रत्नोंकी किरणोंसे मिले हुए हैं, उनकी चारों दिशाओंमें ऊपर सिद्धोंकी प्रतिमाएँ विराजमान हैं तथा उनकी रत्नमयी बड़ी-बड़ी पालिकाएँ हैं ॥१६॥ पालिकाओंके अग्रभाग पर जो कमल हैं उन पर सुवर्णके देदीप्यमान घट हैं, उन घटोंके अग्रभागसे लगी हुई सीढ़ियाँ हैं, तथा उन सीढ़ियों पर लक्ष्मीदेवीके अभिषेककी शोभा दिखलायी गयी है ॥१७॥ वे मानस्तम्भ लक्ष्मीदेवीके चूड़ारत्नके समान अपनी कान्तिके समूहसे बीस योजन तकका क्षेत्र प्रकाशमान करते रहते हैं तथा जिनका मन अहंकारसे युक्त है ऐसे देव और मनुष्योंको वहीं रोक देनेवाले हैं ॥१८॥ उन मानस्तम्भोंकी चारों दिशाएँ हंस, सारस और चकवोंके शब्दोंसे अत्यन्त सुन्दर हैं तथा उनमें खिले हुए कमलोंसे युक्त चार सरोवर हैं ॥१९॥

सरोवरोंके आगे एक वज्रमय कोट है जो छाती बराबर ऊँचा है, अत्यन्त कान्तिसे युक्त है, ऊँचाईसे दूना चौड़ा है और चारों ओरसे घेरे हुए है ॥२०॥ इस कोटको चारों ओरसे घेरकर एक परिखा स्थित है जिसकी भूमि जलके समान कान्तिवाले मणियोंसे निर्मित है, उसमें घुटनों प्रमाण गहरा पानी भरा है तथा वह पृथिवीरूपी स्त्रीकी नीली साड़ीके समान जान पड़ती है ॥२१॥ वह परिखा अत्यन्त स्वच्छ है तथा उसका जल स्वर्णमय कमलोंकी परागके समूहसे पीला-पीला हो रहा है अतएव उसमें प्रतिबिम्बित दिशारूप स्त्रियोंके मुख अङ्गरागसे सहितके समान जान पड़ते हैं ॥२२॥ उसके आगे चारों ओरसे घेरकर स्थित लताओंका वन सुशोभित है जो फूलोंके द्वारा दिशाओंके अन्त भागको सुगन्धित कर रहा है तथा पक्षियों और भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त है ॥२३॥ उसके आगे देदीप्यमान सुवर्णके समान चमकीला, एवं विजय आदि चाँदीके बड़े-बड़े चार गोपुरोंसे सुशोभित कोट, चारों ओरसे घेरे हुए है ॥२४॥ उन गोपुरोंपर व्यन्तर जातिके देव द्वारपाल हैं जो कटक आदि

१. योजनान्यधिको—म० । २. रत्नभूतोदपालिकाः ङ० । ऽरत्नभूतोनुपालिका : क० । ३. चत्वारः म० । ४. व्यक्ति । ५. ककुप्चलं क०, ख० । ६. मुखायां क० । मुखयां घ० । ७. कुसुमामादिता सान्तं म० ।

मणितोरणपार्श्वेषु गोपुराणां स्फुरत्त्विषाम् । छत्रचामरभृङ्गारपूर्वाष्टशतकान्यमान् ॥२६॥
तद्गोपुरपुरो भान्ति प्रेक्षाशालास्त्रिभूमिकाः । द्विर्द्विर्वीथ्यंतयोर्नृत्यद्द्वात्रिंशत्सुरकन्यकाः ॥२७॥
भात्यशोकवनं प्राच्यां सप्तपर्णवनं त्वपाक् । प्रतीच्यां चम्पकवनमुदीच्यामाम्रसद्वनम् ॥२८॥
[1]ससिद्धप्रतिमोऽशोकः सप्तपर्णश्च चम्पकः । तथैवाम्रतरुस्तेषां वनानामधिपाः क्रमात् ॥२९॥
त्रिकोणाः मण्डलाकाराश्चतुरस्राश्च वापिकाः । वनेषु रत्नत[2]ट्यस्ताः शुद्धस्फटिकभूमयः ॥३०॥
चित्राः सतोरणाः रम्यास्तीर्थ्यास्तुङ्गैर्व[3]रण्डकैः । मञ्जुलागाहमानेष्वगाधा द्विक्रोशविस्तृताः ॥३१॥
नन्दा नन्दोत्तरानन्दानन्दवत्यभिनन्दिनी । नन्दघोषेत्यमूर्वाप्यः षडशोकवनस्थिताः ॥३२॥
विजयाभिजया जैत्री वैजयन्त्यपराजिताः । जयोत्तरेति षड्वाप्यः सप्तपर्णवनाश्रिताः ॥३३॥
कुमुदा नलिनी पद्मा पुष्करा विश्वोत्पला । कमलेत्यपि षड्वाप्यश्चम्पकाख्यवने मताः ॥३४॥
प्रभासा भास्वती भासा सुप्रभा भानुमालिनी । स्वयम्प्रभेति षड्वाप्यः सहकारवनोदिताः ॥३५॥
उदयो विजयः प्रीतिः ख्यातिश्चेति क्रमोदितैः । फलैः पूर्वादयो वाप्यः पूज्यन्ते तत्फलार्थिभिः ॥३६॥
तद्वापीपुष्पसन्दोहं यथोक्तं प्राप्य भाक्तिकाः । आस्तूपं क्रमशोऽभ्यर्च्य विशन्ति क्रमकोविदाः ॥३७॥
अन्तरेणोदयं प्रीतिं वापीतस्त्रिभुवोऽध्वसु । भान्ति नाटकशालास्ता हाटकोज्ज्वलमूर्तयः ॥३८॥
अध्यर्धक्रोशविस्तारा द्वात्रिंशज्ज्योतिषां स्त्रियः । तद्भुवो रत्ननिर्माणाः स्वच्छस्फटिकभित्तयः ॥३९॥

आभूषणोंसे सुशोभित हैं, अपने प्रभावसे अयोग्य व्यक्तियोंको दूर हटाते रहते हैं तथा जिनके हाथ मुद्गरोंसे उद्धत होते हैं ॥२५॥ देदीप्यमान कान्तिसे युक्त उन गोपुरोंके मणिमय तोरणोंकी दोनों ओर छत्र चमर तथा भृंगार आदि अष्टमङ्गल द्रव्य एक-सौ आठ एक सौ आठ संख्यामें सदा सुशोभित रहते हैं ॥२६॥ उन गोपुरोंके आगे वीथियोंकी दोनों ओर तीन-तीन खण्डकी दो-दो नाट्यशालाएँ हैं जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव-कन्याएँ नृत्य करती हैं ॥२७॥ तदनन्तर पूर्वदिशामें अशोक वन, दक्षिणमें सप्तपर्ण वन, पश्चिममें चम्पक वन और उत्तरमें आम्रवन सुशोभित है ॥२८॥ इन चारों वनोंमें अशोक वनका अशोक वृक्ष, सप्तपर्ण वनका सप्तपर्ण वृक्ष, चम्पक वनका चम्पक वृक्ष और आम्रवनका आम्रवृक्ष स्वामी है। ये स्वामी वृक्ष सिद्धकी प्रतिमाओंसे सहित हैं अर्थात् इनके नीचे सिद्धोंकी प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं ॥२९॥ उन वनोंमें तिकोनी, चौकोनी और गोलाकार अनेक वापिकाएँ हैं। उन वापिकाओंके तट रत्ननिर्मित हैं तथा उनकी भूमि शुद्ध स्फटिकसे निर्मित है। ये सभी वापिकाएँ तोरणोंसे युक्त हैं, दर्शनीय हैं, सीढ़ियोंसे युक्त हैं, ऊँचे-ऊँचे वरण्डोंसे सुशोभित हैं, प्रवेश करनेमें गहरी हैं और दो कोश चौड़ी हैं ॥३०-३१॥ नन्दा, नन्दोत्तरा, आनन्दा, नन्दवती, अभिनन्दिनी, और नन्दघोषा ये छह वापिकाएँ अशोक वनमें स्थित हैं ॥३२॥ विजया, अभिजया, जैत्री, वैजयन्ती, अपराजिता और जयोत्तरा ये छह वापिकाएँ सप्तपर्ण वनमें स्थित हैं ॥३३॥ कुमुदा, नलिनी, पद्मा, पुष्करा, विश्वोत्पला और कमला ये छह वापियाँ चम्पक वनमें मानी गयी हैं ॥३४॥ और प्रभासा, भास्वती, भासा, सुप्रभा, भानुमालिनी और स्वयंप्रभा ये छह वापियाँ आम्रवनमें कही गयी हैं ॥३५॥ पूर्व आदि दिशाओंकी वापिकाएँ क्रमसे उदय, विजय, प्रीति और ख्याति नामक फल देती हैं तथा इन फलोंके इच्छुक मनुष्य इन वापिकाओंकी पूजा करते हैं ॥३६॥ क्रमके जाननेवाले भक्तजन उन वापिकाओंसे यथोक्त फूलोंका समूह प्राप्त कर स्तूपोंतक क्रम-क्रमसे जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हुए आगे प्रवेश करते हैं ॥३७॥ उदय और प्रीतिरूप फलको देनेवाली वापिकाओंके बीचके मार्गके दोनों ओर तीन खण्डकी सुवर्णमय देदीप्यमान बत्तीस नाट्यशालाएँ हैं ॥३८॥ ये नाट्यशालाएँ डेढ़ कोश चौड़ी हैं,

1. ससिद्धप्रतिमाशोकः म० । 2. रत्नतटोना म० । 3. धारारण्डकैः ङ० । अण्डकैः हंसादिपक्षिभिः ङ० टि० ।

तासु भक्त्या प्रनृत्यन्ति द्वात्रिंशज्ज्योतिषां स्त्रियः । हावभावविलासाढ्या[1] रसपुष्टिप्रपुष्टयः ॥४०॥
सचतुर्गोपुरास्तोऽपि पर्येति वनवेदिका[2] । दिव्या वज्रमयी वीथीपार्श्वयोर्ध्वजपङ्क्तयः ॥४१॥
त्रिदण्डविस्तृताश्चित्राः पीठिकाः प्रतिभक्तिगाः । योजनार्धोच्छ्रितास्तासु वंशा रत्नात्मपूर्वकाः ॥४२॥
तदग्रपालिकानद्धफलकाधिष्ठिता ध्वजाः । महान्तो दश चित्राः सकिङ्किणीचित्रपट्टकाः ॥४३॥
शिखिहंसगरुत्मत्स्रक्सिंहेभमकराम्बुजैः । वृषरूपेण चक्रेण समधिष्ठितमूर्तयः ॥४४॥
तेषामष्टशतं जातिर्द्वात्रिंशच्च चतुःशती । ध्वजसंख्या भवेदेषां सामान्येन समासतः ॥४५॥
सद्वात्रिंशत्सहस्राः स्युर्लक्षाः पञ्चाशदष्ट च । साधिका ध्वजसंख्येयं सैकदिक्का द्विसंगुणा ॥४६॥
षट्पञ्चाशत्सहस्राणि लक्षा षट्षष्टिरष्टसु । ध्वजकोट्यश्चतस्रः स्युश्चतुर्दिक्ष्वपि साधिकाः ॥४७॥
प्रीतिकल्याणमध्ये स्युरभितः पञ्चभूमिकाः । नृत्तशालाः[3] प्रनृत्यन्ति यत्र भावनयोषितः ॥४८॥
प्राकारोऽन्तः परीताय द्वितीयो हेमनिर्मितः । पञ्चभूमिकरत्नश्रीचतुर्गोपुरभूषितः ॥४९॥
स्फुटद्धाटकपीठस्थाः कम्बुकण्ठगुणोज्ज्वलाः । शातकुम्भमयाः कुम्भाः साम्भोजास्याः सहाम्भसः ॥५०॥
शोभन्ते तद्द्विपार्श्वेषु द्वौ द्वौ मङ्गलदर्शनाः । वेत्रदण्डधरा द्वास्थास्तद्द्वाःसु भवनाधिपाः ॥५१॥
पुरस्ताद्गोपुराणां च द्वे द्वे नाटकवेश्मनी । पुरस्तात्तु ततो हैमौ द्वौ द्वौ धूपघटौ स्फुटौ ॥५२॥
चतुर्दिक्सिद्धरूपाढ्यं द्विर्द्विः सिद्धार्थपादपम् । कल्पवृक्षवनं तत्र वीथ्यन्तेषु यथायथम् ॥५३॥

नाना प्रकारके बेलबूटोंसे सुशोभित हैं और उनकी भूमियाँ रत्नोंकी बनी हैं तथा उनकी दीवालें स्वच्छ स्फटिकसे निर्मित हैं ॥३९॥ उनमें ज्योतिषी देवोंकी बत्तीस-बत्तीस देवाङ्गनाएँ नृत्य करती हैं जो हाव, भाव और विलाससे युक्त तथा शृङ्गार आदि रसोंकी पुष्टिसे सुपुष्ट होती हैं ॥४०॥ उसके आगे चार गोपुरोंसे युक्त अत्यन्त सुन्दर वज्रमयी वनवेदी है जो पूर्वोक्त वनोंको चारों ओरसे घेरे हुए है। चार गोपुरोंके आगे चार वीथियाँ हैं और उनके दोनों पसवाड़ोंमें ध्वजाओंकी पंक्तियाँ फहराती रहती हैं ॥४१॥ प्रत्येक विभागमें उन ध्वजाओंकी पृथक्-पृथक् पीठिकाएँ हैं जो तीन धनुष चौड़ी हैं, चित्र-विचित्र हैं तथा उनपर आधा योजन ऊँचे रत्नमयी बाँस लगे हुए हैं ॥४२॥ उन बाँसोंके अग्रभागपर जो पटिया लगे हैं उनमें दश प्रकारकी रङ्ग-बिरङ्गी, छोटी-छोटी घण्टियों और चित्रपट्टकोंसे युक्त बड़ी ध्वजाएँ फहराती रहती हैं ॥४३॥ वे दस प्रकारकी ध्वजाएँ क्रमसे मयूर, हंस, गरुड, माला, सिंह, हाथी, मकर, कमल, बैल और चक्रके चिह्नसे चिह्नित होती हैं ॥४४॥ एक दिशामें एक जातिकी ध्वजाएँ एक-सौ आठ होती हैं और चारों दिशाओंको मिलकर एक जातिकी चार-सौ बत्तीस होती हैं। यह इनकी सामान्य रूपसे संक्षेपमें संख्या बतलायी है ॥४५॥ विशेष रीतिसे एक दिशामें एक करोड़ सोलह लाख चौंसठ हजार हैं और चारों दिशाओंमें चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार कुछ अधिक हैं ॥४६-४७॥

प्रीति और कल्याणरूप फल देनेवाली वापिकाओंके बीचके मार्गमें दोनों ओर पाँच खण्डकी नृत्यशालाएँ हैं जिनमें भवनवासी देवोंकी देवाङ्गनाएँ नृत्य करती हैं ॥४८॥ नृत्यशालाओंके आगे पाँच-पाँच खण्डके रत्नमयी चार गोपुरोंसे विभूषित स्वर्णनिर्मित दूसरा कोट है ॥४९॥ गोपुरोंके दोनों पसवाड़ोंमें देदीप्यमान सुवर्णके पीठोंपर स्थित, शङ्खके समान सुन्दर कण्ठोंमें पड़ी मालाओंसे सुशोभित मुखोंपर कमल धारण करनेवाले एवं जलसे भरे स्वर्णनिर्मित मङ्गलकलश दो-दोकी संख्यामें सुशोभित हैं। इस दूसरे कोटके द्वारोंपर भवनवासी देवोंके इन्द्र द्वारपाल हैं जो बेंतकी छड़ी धारण किये हुए पहरा देते हैं ॥ ५०-५१ ॥ गोपुरोंके आगे दो-दो नाट्यशालाएँ हैं और उनके आगे स्वर्णनिर्मित दो-दो धूपघट रखे हुए हैं ॥ ५२ ॥ उससे आगे चारों दिशाओंमें सिद्धोंकी प्रतिमाओंसे युक्त, दो दो सिद्धार्थ

---

१. विलासाढ्या म० । २. वनवेदिका म० । ३. नृत्तशालाः म० ।

सचतुर्गोपुरा ततोऽन्तर्वेदिका वनपातत:[1] । तोरणान्तरिताः सार्वाः स्तूपा नव नवाध्वसु ॥५४॥
पद्मरागमहास्तूपपर्यन्तेषु सभागृहाः । हेमरत्नमयाश्चि[2]त्रा मुनिदेवगणोचिताः ॥५५॥
नभःस्फटिकनिर्माणस्ततः सालस्तृतीयकः । चतुश्चित्र[3]महारत्नसप्तभूमिकगोपुरः ॥५६॥
विजयो विश्रुतं कीर्तिर्विमलोदयविश्वभुक् । वासवीर्यं वरं चेति पूर्वाख्या ख्यापिताष्टधा ॥५७॥
[4]वैजयन्तं शिवं ज्येष्ठं वरिष्ठानघधारणम् । याम्यमप्रतिघं चेति दक्षिणाख्याष्टधा मताः ॥५८॥
जयन्तामितसारं च सुधामाक्षोभ्यसुप्रभम् । वरुणं वरदं चेति पश्चिमाख्याष्टधा स्मृताः ॥५९॥
अपराजितमर्थाख्यमतुलार्थममोघकम् । उदयं चाक्षयं चोदक्कौबेरं पूर्णकामकम् ॥६०॥
सुरत्नासनमध्यस्था द्रष्टृणां भवदर्शिनः । तद्द्वारोभयपार्श्वेषु भान्ति मङ्गलदर्पणाः ॥६१॥
यैः प्रध्वस्तमहाध्वान्तप्रभावलयभास्वरैः । भास्वतो भासमुल्लङ्घ्य भासन्ते गोपुराण्यलम् ॥६२॥
विजयादिपुरद्वाःसु द्वाःस्थास्तिष्ठन्ति कल्पजाः । यथायथं ज्वलद्भूषा जयकल्याणकारिणः ॥६३॥
शालास्त्रयोऽप्यमी त्वेकद्वित्रिक्रोशोच्छ्रयोन्मिताः । मूलमध्योपरि[5]व्यासैस्तदर्धांशसुसम्मिताः ॥६४॥
स्वहस्तित्रयहीनोक्तप्रमाणजगतीतलाः । [6]हस्तोद्विद्धाश्च[7]विस्तीर्णव्यामा[8]र्धकपिशीर्षकाः ॥६५॥
ततोऽप्यन्तर्वणं नानातरुवल्लीगृहाकुलम् । मञ्चप्रेङ्खागिरिप्रेक्षागृहकोटिविराजितम् ॥६६॥
वेदिकाबद्धवीथीषु कल्याणादिजयाजिरम् । कदल्यः कदलीकल्पाः प्रकाशन्तेऽन्तरस्थिताः ॥६७॥

वृक्षोंसे सहित कल्पवृक्षोंका वन वीथियोंके अन्तमें यथारीति स्थित है ॥ ५३ ॥ तदनन्तर चार गोपुरोंसे सहित, वनकी रक्षा करनेवाली अन्तर्वेदिका है और मार्गोंमें तोरणोंसे युक्त, सबका भला करनेवाले नौ-नौ स्तूप हैं ॥ ५४ ॥ वे स्तूप पद्मराग मणियोंसे निर्मित होते हैं तथा उनके समीप स्वर्ण और रत्नोंके बने, मुनियों और देवोंके योग्य नाना प्रकारके सभागृह रहते हैं ॥ ५५ ॥ सभागृहोंके आगे आकाशस्फटिक मणिसे बना, नाना प्रकारके महारत्नोंसे निर्मित सात खण्डवाले चार गोपुरोंसे सुशोभित तीसरा कोट है ॥ ५६ ॥ इस कोटके पूर्व द्वारके विजय, विश्रुत, कीर्ति विमल, उदय, विश्वधुक्, वासवीर्य और वर ये आठ नाम प्रसिद्ध हैं ॥ ५७ ॥ दक्षिण द्वारके वैजयन्त, शिव, ज्येष्ठ, वरिष्ठ, अनघ, धारण, याम्य और अप्रतिघ ये आठ नाम कहे गये हैं ॥ ५८ ॥ पश्चिम द्वारके जयन्त, अमितसार, सुधाम, अक्षोभ्य, सुप्रभ, वरुण और वरद ये आठ नाम स्मरण किये गये हैं ॥ ५९ ॥ और उत्तर द्वारके अपराजित, अर्थ, अतुलार्थ, उदक, अमोघक, उदय, अक्षय और पूर्णकामक ये आठ नाम हैं ॥ ६० ॥ उन द्वारोंके दोनों पसवाड़ोंमें उत्तम रत्नमय आसनोंके मध्यमें स्थित मंगलरूप दर्पण सुशोभित हैं जो देखनेवालोंके पूर्व भव दिखलाते हैं ॥ ६१ ॥ ये दर्पण गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेवाले कान्तिके समूहसे सदा देदीप्यमान रहते हैं और उनसे गोपुर सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत कर अतिशय शोभायमान होते हैं ॥ ६२ ॥ विजयादिक गोपुरोंमें यथायोग्य 'जय हो' 'कल्याण हो' इन शब्दोंका उच्चारण करनेवाले एवं देदीप्यमान आभूषणोंसे युक्त कल्पवासी देव द्वारपाल रहते हैं ॥ ६३ ॥ ये तीनों कोट एक कोश, दो कोश और तीन कोश ऊँचे होते हैं तथा मूल मध्य और ऊपरी भागमें इनकी चौड़ाई ऊँचाईसे आधी होती है ॥ ६४ ॥ इन कोटोंके जगतीतलोंका प्रमाण अपनी ऊँचाईसे तीन हाथ कम कहा गया है और उनके ऊपर बने हुए बन्दरके शिरके आकारके कंगूरे एक हाथ तथा एक वितस्ति चौड़े और आधा वेमा ऊँचे कहे गये हैं ॥ ६५ ॥ उसके आगे नाना वृक्षों और लतागृहोंसे व्याप्त, मञ्च, प्रेङ्खागिरि और प्रेक्षागृहोंसे सुशोभित अन्तर्वण है ॥ ६६ ॥ वेदिकाओंसे बद्ध वीथियोंके बीचमें कल्याणजय नामका आँगन है और उसमें शाल्मली वृक्षके समान

१. वनपाठतः म० (?) । २. चित्रमुनि-म० । ३. चतुश्चित्रा म० । ४. वैजयन्त्यम् । ५. परिण्याहै- म०, क०, ङ० । ६. हस्तोद्विद्धाश्च म० । ७. विस्तीर्णाद्धान्तराः म०, ख० । ८. व्यासार्धं ख० ।

अन्तर्नाटकशाला स्यात्ततः कनकाभासप्रभाः । लोकपालविलासिन्यो यत्र नृत्यन्ति सन्ततम् ॥६८॥
तदन्तरे भवत्यन्यत्पीठं पीठगुणास्पदम् । प्रोद्गुरत्नजालास्ततिमिरावलिमण्डलम् ॥६९॥
सिद्धार्थपादपाः सन्ति सिद्धरूपविराजितैः । विटपैर्व्याप्य दिग्भागमिच्छयेव स्थितास्ततः ॥७०॥
स्तूपा द्वादशभूभूषा[1] भूषयन्त्यथ मन्दिरम् । हिरण्मया महामेरुं चत्वारो मेरवो यथा ॥७१॥
चतुर्दिग्गोपुरद्वारवेदिकालङ्कृताः शुभाः । चतस्रो दिक्ष्वथ ज्ञेयास्तत्स्वपि वापिकाः ॥७२॥
नन्दाभद्राजयापूर्णास्वभिख्याभिः क्रमोदिताः । यज्जलाभ्युक्षिताः पूर्वां जातिं जानन्ति जन्तवः ॥७३॥
ताः पवित्रजलापूर्णसर्वपापरुजाहराः । परापरभवाः सप्त दृश्यन्ते यासु पश्यताम् ॥७४॥
अथ गव्यूतमुद्विद्धं योजनाधिकविस्तृतम् । कटीमात्रवरण्डस्थकदलीध्वजसङ्कुलम् ॥७५॥
निरन्तरविशन्निर्यज्जनद्वारोच्चतोरणम् । त्रिलोकविजयाधानमहो भाति जयाजिरम् ॥७६॥
मुक्तावालुकविस्तीर्णप्रवालसिकतान्तरम् । सुरत्नकुसुमैश्चित्रं हेमाम्भोजैस्तदर्पितैः ॥७७॥
तपनीयरसालिप्तैस्तपनैरिव भूगतैः । तत्र तत्र यथादेशं मण्ड्यन्ते पृथुमण्डलैः ॥७८॥
प्रासादैर्मण्डपैश्चान्यैः सुखावासैः सुशोभते । देवासुरनरापूर्णैस्तत्र तत्र विचित्रितम् ॥७९॥
क्वचिदालेख्यहृद्यानि वेश्मानि क्वचिदन्तरे । पुराणाद्भुतभूतीनि चित्राख्यानान्वितानि च ॥८०॥
क्वचित्पुण्यफलप्राप्त्या पापपाकेन च क्वचित् । धर्माधर्मगतिं साक्षाद्दर्शयन्तीव पश्यतः ॥८१॥

ऊँचे एवं अन्तरसे स्थित केलाके वृक्ष प्रकाशमान हो रहे हैं ॥ ६७ ॥ तदनन्तर उन्हींके भीतर नाटकशाला है जिसमें सुवर्णके समान कान्तिकी धारक लोकपाल देवोंकी देवाङ्गनाएँ निरन्तर नृत्य करती रहती हैं ॥ ६८ ॥ उनके मध्यमें श्रेष्ठ गुणोंका स्थान तथा ऊँची उठनेवाली किरणोंसे सुशोभित रत्नावलीसे अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाला दूसरा पीठ है ॥ ६९ ॥ उसके आगे सिद्धार्थवृक्ष हैं जो सिद्धोंकी प्रतिमाओंसे सुशोभित शाखाओंसे इच्छापूर्वक ही मानो दिशाओंको व्याप्त कर स्थित हैं ॥ ७० ॥ उसके आगे एक मन्दिर है जिसे पृथ्वीके आभरण स्वरूप बारह स्तूप उस तरह सुशोभित करते रहते हैं जिस तरह कि सुवर्णमय चार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपके महामेरुको सुशोभित करते रहते हैं ॥ ७१ ॥ इनके आगे चारों दिशाओंमें शुभ वापिकाएँ हैं जो चारों दिशाओंमें बने हुए गोपुर-द्वारों और वेदिकासे अलंकृत हैं ॥ ७२ ॥ नन्दा, भद्रा, जया और पूर्णा ये चार उनके नाम हैं। उन वापिकाओंके जलमें स्नान करनेवाले जीव अपना पूर्व-भव जान जाते हैं ॥ ७३ ॥ वे वापिकाएँ पवित्र जलसे भरी एवं समस्त पापरूपी रोगोंको हरनेवाली हैं। इनमें देखनेवाले जीवोंको अपने आगे-पीछेके सात भव दिखने लगते हैं ॥ ७४ ॥ वापिकाओंके आगे एक जयाङ्गण सुशोभित है जो एक कोश ऊँचा है, एक योजनसे कुछ अधिक चौड़ा है, कटि बराबर ऊँचे वरण्डोंपर स्थित कदली-ध्वजाओंसे व्याप्त है, जिनमें मनुष्य निरन्तर प्रवेश करते और निकलते रहते हैं ऐसे द्वारों और उच्च तोरणोंसे युक्त है, तीन लोककी विजयका आधार है, उसमें बीच-बीचमें मूँगाओंकी लाल-लाल बालूका अन्तर देकर मोतियोंकी सफेद बालू बिछी हुई है, उत्तम रत्नमय पुष्पों और रखे हुए सुवर्ण-कमलोंसे चित्र-विचित्र है। उस जयाङ्गणके भूभाग, जहाँ-तहाँ सुवर्ण रससे लिप्त अतएव पृथिवीपर आये हुए सूर्योके समान दिखनेवाले विशाल वर्तुलाकार मण्डलोंसे सुशोभित हैं। जहाँ तहाँ नाना प्रकारके चित्रोंसे चित्रित वह जयाङ्गण, देव, असुर और मनुष्योंसे परिपूर्ण भवनों, मण्डपों तथा अन्य सुखकर निवासस्थानोंसे सुशोभित है ॥ ७५-७९ ॥ कहीं चित्रोंसे सुन्दर और कहीं पुराणोंमें प्रतिपादित आश्चर्यकारी विभूतिसे युक्त तथा नाना प्रकारके कथानकोंसे सहित भवन बने हैं ॥ ८० ॥ वे भवन कहीं पुण्यके फलकी प्राप्तिसे देखनेवाले लोगोंको धर्मका साक्षात् फल दिखलाते हैं तो कहीं पापका

---

1. भूभागा क० ।

दानशीलतपःपूजाप्रारम्भास्तत्फलानि च । तद्वियोगविपत्तीश्च तानि श्रद्धापयन्त्यमून् ॥८२॥
स्फुरत्पुलकसंसक्तमुक्तादामोर्मिमन्मणिः । पताका घण्टिकारावरम्यवायानिलेरिता[1] ॥८३॥
उदंशुरत्नमालेव स्फुरच्छ्री वीचिरर्णवे । वीक्ष्यते व्योमनीन्द्राद्यैः कौतुकाद्येन चाभितः[3] ॥८४॥
राजतीन्द्रध्वजः सोऽयं तन्मध्ये हेमपीठिकाम्[4] । अलङ्कुर्वन् यथामूर्तो देहो देवजयश्रियः ॥८५॥
ततः स्तम्भसहस्रस्थो मण्डपोऽस्ति महोदयः । नाम्ना मूर्तिमती यत्र वर्तते श्रुतदेवता ॥८६॥
तां कृत्वा दक्षिणे भागे धीरैर्बहुश्रुतैर्वृतः । श्रुतं व्याकुरुते यत्र श्रायसं श्रुतकेवली ॥८७॥
तदर्धमानाश्चत्वारस्तत्परीवारमण्डपाः । आक्षेपण्यादयो येषु कथ्यन्ते कथकैः कथाः ॥८८॥
तत्प्रकीर्णकवासेषु चित्रेष्वाचक्षते स्फुटम् । ऋषयः स्वेष्टमर्थिभ्यः केवलादिमहर्द्धयः ॥८९॥
तपनीयमयं पीठं ततश्चित्रलताचितम् । यत्तद्वस्तूपहारेण यथाकालं समर्च्यते ॥९०॥
[5]पीठार्हश्रीपदद्वारं सरत्नकुसुमोत्करम् । मण्डलैः पूर्यते मध्ये[6] मार्गं चन्द्रार्कसप्रभैः ॥९१॥
अभितः स्वाश्रया द्वौ तं मण्डपौ स्तः प्रभासकौ । अभ्यर्च्यं[7] राजतो यत्र निधीशौ कामदायिनौ ॥९२॥
प्रेक्षाशाले विशाले स्तः प्रमदाख्ये ततोऽन्तरे[8] । यत्र कल्पनिवासिन्यो नृत्यन्त्यप्सरसः सदा ॥९३॥
विजयाजिरकोणेषु विलसत्केतुमालिनः । चत्वारो योजनोद्विद्धा लोकस्तूपा भवन्त्यमी ॥९४॥

परिपाक दिखाकर अधर्मका साक्षात् फल दिखलाते हैं ॥ ८१ ॥ वे भवन, उन दर्शकजनोंको दान, शील, तप और पूजाके प्रारम्भ तथा उनके फलोंकी एवं उनके अभावमें होनेवाली विपत्तियोंकी श्रद्धा कराते हैं ॥ ८२ ॥ उस जयाङ्गणके मध्यमें सुवर्णमय पीठको अलंकृत करता हुआ इन्द्रध्वज सुशोभित होता है जो ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान्‌की विजयलक्ष्मीका मूर्तिधारी शरीर ही हो। उस इन्द्रध्वजमें देदीप्यमान गोले, लटकती हुई मोतियोंकी माला और जगमगाते हुए मणियोंसे युक्त एक पताका लगी रहती है। वह पताका वायुसे कम्पित होनेके कारण घंटियोंके शब्दसे अत्यन्त रमणीय जान पड़ती है। ऊपर उठती हुई किरणोंसे युक्त रत्नोंकी मालासे सुशोभित वह पताका जब आकाशमें फहराती है तब ऐसी जान पड़ती है मानो समुद्रमें लहर ही उठ रही हो। इन्द्रादिक देव उसे बड़े कौतुकसे देखते हैं ॥ ८३-८५ ॥

उसके आगे एक हजार खम्भोंपर खड़ा हुआ महोदय नामका मण्डप है जिसमें मूर्तिमती श्रुतदेवता विद्यमान रहती है ॥ ८६ ॥ उस श्रुतदेवताको दाहिने भागमें करके, बहुश्रुतके धारक अनेक धीर-वीर मुनियोंसे घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुतका व्याख्यान करते हैं ॥८७॥ महोदय मण्डपसे आधे विस्तारवाले चार परिवार मण्डप और हैं जिनमें कथा कहनेवाले पुरुष आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं ॥ ८८ ॥ इन मण्डपोंके समीपमें नाना प्रकारके फुटकर स्थान भी बने रहते हैं जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महाऋद्धियोंके धारक ऋषि इच्छुकजनोंके लिए उनकी इष्ट वस्तुओंका निरूपण करते हैं ॥ ८९ ॥

उसके आगे नाना प्रकारकी लताओंसे व्याप्त एक सुवर्णमय पीठ रहता है जिसकी भव्यजीव नाना प्रकारकी सामग्रीसे समयानुसार पूजा करते हैं ॥ ९० ॥ उस पीठका श्रीपद नामका द्वार है जो रत्नों और फूलोंके समूहसे युक्त है तथा जो मार्गके बीचमें बने हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान देदीप्यमान मण्डलोंसे परिपूर्ण है ॥ ९१ ॥ उस द्वारके दोनों ओर प्रभासक नामके दो मण्डप हैं जिनमें मार्गके सम्मुख, इच्छानुसार फल देनेवाले निधियोंके स्वामी दो देव सुशोभित रहते हैं ॥ ९२ ॥ उनके आगे प्रमदा नामकी दो विशाल नाट्यशालाएँ हैं जिनमें कल्पवासिनी अप्सराएँ सदा नृत्य करती रहती हैं ॥ ९३ ॥ विजयाङ्गणके कोनोंमें चार लोकस्तूप होते हैं जिनपर पताकाओंकी पंक्तियाँ फहराती रहती हैं, तथा जो एक योजन ऊँचे

---

१. –रावो म०,क०,ङ०। २ –लेरिताः म०,क०,ङ० । ३. वीभिता ख०,वीक्षिता म० । ४. हेमपीठका म० । ५. पीठार्हा म०,ङ० । ६. मध्ये मार्गश्चन्द्रार्क—म०,क०,ङ० । ७. अत्यर्घ्यं म० । ८. तमोऽम्बरे म० ।

अधो वेत्रासनाकारा झल्लरीसममध्यगाः । ऊर्ध्वं मृदङ्गसंस्थानाः स्यान्ततालाग्रनालिकाः ॥९५॥
स्वच्छस्फटिकरूपास्ते सुव्यक्तान्तर्निवेशकाः । दृश्यते लोकविन्यासो यत्रादर्शतले यथा ॥९६॥
मध्यलोकस्वरूपाभिव्यक्तनिर्माणमूर्तयः । मध्यलोका इति ख्याताः सन्ति स्तूपास्ततः परे ॥९७॥
मन्दरस्तूपनामानो मन्दराकारभास्वराः । चतुःकाष्ठचतुर्दिक्षु चैत्या भान्ति ततोऽपरे ॥९८॥
ततोऽन्ये कल्पवासाख्याः कल्पवासिनिवेशिनः । स्तूपास्ते कल्पवासर्द्धिं साक्षात्कुर्वन्ति पश्यताम् ॥९९॥
ग्रैवेयकपरास्तेऽन्ये नाम्ना स्तूपास्तथाविधाः । ततो ग्रैवेयकाभिख्यां दर्शयन्तीव मानवान् ॥१००॥
नवानुदिशनामानस्ततः स्तूपा विराजते । नवानुदिशम[1]ध्यक्षं पश्यन्ते[2] यत्र प्राणिनः ॥१०१॥
विजयादिचतुर्दिक्का[3] विमानोद्भासिनस्ततः । सर्वार्थदायिनः सन्ति स्तूपाः सर्वार्थसिद्धयः[4] ॥१०२॥
सिद्धस्तूपाः प्रकाशन्ते ततोऽन्ये स्फटिकामलाः । यत्रैव दर्पणच्छाया दृश्यते सिद्धरूपभाक् ॥१०३॥
भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोऽपरे । यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः ॥१०४॥
प्रमोहा नाम सन्त्यन्ये स्तूपा यत्र प्रमोहिताः । विस्मरन्ति यथाग्राहं[5] चिराभ्यस्तं च देहिनः ॥१०५॥
प्रबोधाख्या भवन्त्यन्ये स्तूपा यत्र प्रबोधिताः । तत्त्वमासाद्य संसारान्मुच्यन्ते[6] साधवो ध्रुवम् ॥१०६॥
एवमन्योऽन्यसंसक्तवेदिकातोरणोज्ज्वलाः । दश स्तूपाः समुत्तुङ्गाः राजन्त्यापरिधेः[7] क्रमात् ॥१०७॥
ततोऽस्ति क्रोशविस्तारः[8] परिधिर्धनुरुच्छ्रितिः । यत्र मण्डलभूभागं परियन्ति नरामराः ॥१०८॥

रहते हैं ।। ९४ ।। ये लोकस्तूप, नीचे वेत्रासनके समान, मध्यमें झालरके समान, ऊपर मृदङ्गके समान और अन्तमें तालवृक्षके समान लम्बी नालिकासे सहित हैं ।।९५।। इनका स्वच्छ स्फटिकके समान रूप होता है, अतः इनके भीतरकी रचना अत्यन्त स्पष्ट रहती है। इन स्तूपोंमें लोककी रचना दर्पणतलके समान स्पष्ट दिखायी देती है ।। ९६ ।। इन स्तूपोंके आगे मध्यलोक नामसे प्रसिद्ध स्तूप हैं जिनके भीतर मध्यलोककी रचना स्पष्ट दिखती है ।। ९७ ।। आगे मन्दराचलके समान देदीप्यमान मन्दर नामके स्तूप हैं जिनपर चारों दिशाओंमें भगवान्‌की प्रतिमाएँ सुशोभित हैं ।। ९८ ।। उनके आगे कल्पवासियोंकी रचनासे युक्त कल्पवास नामक स्तूप हैं जो देखनेवालोंको कल्पवासी देवोंकी विभूति साक्षात् दिखाते हैं ।। ९९ ।। उनके आगे ग्रैवेयकोंके समान आकारवाले ग्रैवेयक स्तूप हैं जो मनुष्योंको मानो ग्रैवेयकोंकी शोभा ही दिखाते रहते हैं ।।१००।। उनके आगे अनुदिश नामके नौ स्तूप सुशोभित हैं जिनमें प्राणी नौ अनुदिशोंको प्रत्यक्ष देखते हैं ।।१०१।। आगे चलकर जो चारों दिशाओंमें विजय आदि विमानोंसे सुशोभित हैं ऐसे समस्त प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले सर्वार्थसिद्धि नामके स्तूप हैं ।।१०२।। उनके आगे स्फटिकके समान निर्मल सिद्धस्तूप प्रकाशमान हैं जिनमें सिद्धोंके स्वरूपको प्रकट करनेवाली दर्पणोंकी छाया दिखायी देती है ।। १०३ ।। उनके आगे देदीप्यमान शिखरोंसे युक्त भव्यकूट नामके स्तूप रहते हैं जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते क्योंकि उनके प्रभावसे उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं ।। १०४ ।। उनके आगे प्रमोह नामके स्तूप हैं जिन्हें देखकर लोग अत्यधिक विभ्रममें पड़ जाते हैं और चिरकालसे अभ्यस्त गृहीत वस्तुको भी भूल जाते हैं ।। १०५ ।। आगे चलकर प्रबोध नामके अन्य स्तूप हैं जिन्हें देखकर लोग प्रबोधको प्राप्त हो जाते हैं और तत्त्वको प्राप्तकर साधु हो निश्चित ही संसारसे छूट जाते हैं ।। १०६ ।। इस प्रकार जिनकी वेदिकाएँ एक दूसरेसे सटी हुई हैं तथा जो तोरणोंसे समुद्भासित हैं ऐसे अत्यन्त ऊँचे दशस्तूप क्रम-क्रमसे परिधि तक सुशोभित हैं ।। १०७ ।। इसके आगे

---

१. नवानुदिश अध्यक्षं घ०, म० । नवानुदिशनामानि ङ० । नवानामनुदिशानां समाहारो नवानुदिशं ग० । २. यत्र पश्यन्ति प्राणिनः इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति । ३. चतुर्दिक्षु ग०, ख० । ४. सिद्धिदाः म० । ५. यथाग्राह्यं ङ० । ६. मुच्यते म० । ७. राजन्त्याः परिधेः म० । ८. विस्तारं म० ।

बाह्याः सप्तदश न्यस्ता गव्यूतैर्वृत्तमेकतः । कर्णिकाथ तदन्तस्था ज्ञेया सार्धत्रियोजना ॥१०९॥
परिवेष इवार्के यः परिधिः[1] परिवेष्टते[2] । चित्ररत्नमयोऽन्तस्थं भासुरं परिमण्डलकम् ॥११०॥
निर्मित्सानन्तरं भर्तुर्गणस्योत्पद्यते पुरम् । दिव्यं तत्र प्रभावो हि मनसा ज्ञानिनां महान्[3] ॥१११॥
त्रिलोकसारं श्रीकान्तं श्रीप्रभं शिवमन्दिरम् । त्रिलोकीलोककान्तिश्री श्रीपुरं त्रिदशप्रियम् ॥११२॥
लोकालोकप्रकाशश्रीरुदयोऽभ्युदयावहम् । क्षेमं क्षेमपुरं पुण्यं पुण्याहं पुष्पकास्पदम् ॥११३॥
भुवः स्वर्भूस्तपः सत्यं लोकालोकोत्तमं रुचिः । रुचावहमुदारर्धि दानधर्मपुरं परम् ॥११४॥
श्रेयः श्रेयस्करस्तीर्थं तीर्थावहमुदग्रहम् । विशालश्चित्रकूटं धीश्रीधरं च त्रिविष्टपम् ॥११५॥
मङ्गलोत्तमकल्याणशरणादिपुराणि पूः । जयापराजितादित्यजयन्त्यचलसंपुरम् ॥११६॥
विजयं तं जयन्ताभं विमलं विमलप्रभम् । कामभूर्गगनाभोगं कल्याणं कलिनाशनम् ॥११७॥
पवित्रं पञ्चकल्याणं पद्मावर्तः प्रभोदयः । परार्घ्यं मण्डितावासौ महेन्द्रं महिमालयम् ॥११८॥
स्वायम्भुवं सुधाधात्री शुद्धावासः सुखावती । विरजा वीतशोकार्थविमला विनयावनिः ॥११९॥
भूतधात्री पुराकल्पः पुराणं पुण्यसंचयः । [4]ऋषीवती यमवती रत्नवत्यजरामरा ॥१२०॥
प्रतिष्ठा ब्रह्मनिष्ठोर्वी केतुमालिन्यरिन्दमम्[5] । मनोरमं तमःपारमरत्नीरत्नसञ्चयम् ॥१२१॥
अयोध्यामृतधानीति समं ब्रह्मपु[6]राख्यया । जाताङ्कमुदात्तार्थं तत्कल्पज्ञैरुदीर्यते ॥१२२॥
अथ त्रैलोक्यसारैकसन्दोहमयमद्भुतम् । भाति भर्तृप्रभावोत्थं तत्पदं बहुविस्मयम् ॥१२३॥
कृतावधानस्तत्सिद्धिं भूयः स्रष्टापि चिन्तयन् । ध्रुवं मोमुह्यतेऽन्यस्य तथा चेत्तत्र का कथा ॥१२४॥

एक कोट रहता है जो एक कोश चौड़ा तथा एक धनुष ऊँचा होता है और उसके मण्डलको भूमिको बचाकर मनुष्य तथा देव प्रदक्षिणा देते रहते हैं ॥१०८॥ इस परिधिमें बाहरकी ओर सत्रह कर्णिकाएँ हैं जो एक-एक कोश विस्तृत हैं और भीतरकी ओर एक कर्णिका है जो साढ़े तीन योजन विस्तार वाली है (?) ॥१०९॥ जिस प्रकार परिवेष सूर्यको घेरता है उसी प्रकार चित्र-विचित्र रत्नोंसे निर्मित यह परिधि भीतरके देदीप्यमान मण्डलको घेरे रहती है ॥११०॥ वहाँ गणधर देवकी इच्छा करते ही एक दिव्य पुर बन जाता है सो ठीक ही है क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानके धारक जीवोंका प्रभाव महान् होता है ॥ १११ ॥ वह पुर कल्पके ज्ञाता मनुष्यके द्वारा त्रिलोकसार, श्रीकान्त, श्रीप्रभु, शिवमन्दिर, त्रिलोकीश्री, लोककान्तिश्री, श्रीपुर, त्रिदशप्रिय, लोकालोकप्रकाशश्री, उदय, अभ्युदयावह, क्षेम, क्षेमपुर, पुण्य, पुण्याह, पुष्पकास्पद, भुवःस्वर्भूः, तपःसत्य, लोकालोकोत्तम, रुचि, रुचावह, उदारर्द्धि, दानधर्मपुर, श्रेय, श्रेयस्कर, तीर्थ, तीर्थावह, उदग्रह, विशाल, चित्रकूट, धीश्रीधर, त्रिविष्टप, मङ्गलपुर, उत्तमपुर, कल्याणपुर, शरणपुर, जयपुरी, अपराजितापुरी, आदित्यपुरी, जयन्तीपुरी, अचल-संपुर, विजयन्त, जयन्ताभ, विमल, विमलप्रभ, कामभू, गगनाभोग, कल्याण, कलिनाशन, पवित्र, पञ्चकल्याण, पद्मावर्त, प्रभोदय, पराघ्य, मण्डितावास, महेन्द्र, महिमालय, स्वायम्भुव, सुधाधात्री, शुद्धावास, सुखावती, विरजा, वीतशोका, अर्थविमला, विनयावनि, भूतधात्री, पुराकल्प, पुराण, पुण्यसञ्चय, ऋषीवती, यमवती, रत्नवती, अजरामरा, प्रतिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठोर्वी, केतुमालिनी, अरिन्दम, मनोरम, तमःपार, अरत्नी, रत्नसञ्चय, अयोध्या, अमृतधानी, ब्रह्मपुर, जाताङ्क और उदात्तार्थ नामसे कहा जाता है ॥ ११२–१२२ ॥ भगवान्के प्रभावसे उत्पन्न वह नगर, तीन लोकके समस्त श्रेष्ठ पदार्थोंके समूहसे युक्त, आश्चर्यस्वरूप एवं बहुत भारी आश्चर्य उत्पन्न करता हुआ सुशोभित होता है ॥ १२३ ॥ उसका बनानेवाला कुबेर भी यदि एकाग्रचित्त हो उसके बनानेका पुनः विचार करे तो वह भी नियमसे भूलकर

---

१. परिवेः म०, ङ० । २. परिवेष्ट्यते म०, परिविष्यते ङ० । ३. महत् म० । ४. रिषीवती क०, ङ० । ५. केतुमालिन्यनिन्दितम् म० । ६. ब्रह्मपराख्यया क०, ङ० ।

षड्विंशतिभिस्तस्य सुवर्णमणिजातिभिः । यथास्थानं स्वयं चित्रं निर्माणमभिराजते ॥१२५॥
तलं तिस्रो जगत्यश्च तत्र कोशार्धविस्तृताः । उपर्युपरि तत्र स्यात्परिहाणिश्च तावती ॥१२६॥
तासां वज्रमयी भित्तिश्चित्ररत्नोज्ज्वला शुभा । यत्प्रभा शक्रचापानि तनोति परितः परा ॥१२७॥
उरोदघ्ना वरण्डास्ते भूषयन्ति ज्वलत्प्रभाः । जगतीर्यत्र राजन्ते कदल्यो धनुरन्तराः ॥१२८॥
त्रिंशद्वक्षमितैः[1] कूटैर्द्विगुणायतकोष्ठकैः । द्विगुणैर्भूयते तासु दशदण्डान्तरास्थितैः ॥१२९॥
द्वौ द्वौ दौवारिकावासावभितस्तस्तदन्तिके । यत्र वैश्रवणस्यार्थः प्रतिद्वारं प्रकाशते ॥१३०॥
कूटानां सप्तशत्यासु द्वासप्तत्यधिका क्रमात् । चत्वारिंशदष्टयुक्ता कोष्ठकानां च सा गतिः ॥१३१॥
द्वाविंशतिशतान्याहुर्विंशानि जगतीत्रये । कूटसंख्या समासेन कोष्ठकानां च तावती ॥१३२॥
एकाष्टलोकभीमाङ्गा[2] नवैकद्विचतुर्भिवः[3] । षडस्तिशैकभङ्गाः[4] स्युर्जगतीकेतवः क्रमात् ॥१३३॥
वियद्योनिभीमाङ्गश्रेया[5]श्च पूर्वकूटगाः । भूपमण्डगलव्योमखोत्क्रमा[6] मध्यकूटगाः ॥१३४॥
खाष्टा[7]ष्टचतुरस्त्यक्षीण्यन्तकूटगता ध्वजाः । कोष्ठगास्तत्र तन्नामी भाष्यन्ते ते द्विसंगुणाः ॥१३५॥
लक्षा षड्विंशतिर्ज्ञेयाः सहस्राणां च विंशतिः । षट्पञ्चाशद्विशत्यामा[8] तत्सर्वकदलीगणः ॥१३६॥
तत्र [9]सस्वेदृदेशेषु मण्डपा रत्नमण्डिताः । द्व्येकगव्यूतविस्तारसमुत्सेधाश्चकासति ॥१३७॥
तदर्धव्यासनिर्माणशिखरान्तरवासिनः । सन्ति सन्मङ्गलोद्भासि मूर्तयोऽर्चा जिनेश्वराः ॥१३८॥

जायेगा फिर अन्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है ? ॥ १२४ ॥ उस नगरका निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकारके सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र है अतः अत्यधिक सुशोभित होता है ॥ १२५ ॥ उसके तल भागमें तीन जगती रहती हैं जो आधा-आधा कोश चौड़ी होती हैं और ऊपर-ऊपर उन जगतियोंमें उतनी ही हानि होती जाती है ॥ १२६ ॥ उन जगतियोंकी रचना वज्रमयी एवं चित्र-विचित्र रत्नोंसे उज्ज्वल है और उनकी श्रेष्ठ कान्ति चारों ओर इन्द्रधनुषोंको विस्तृत करती रहती है ॥ १२७ ॥ छाती प्रमाण ऊँचे तथा देदीप्यमान प्रभाके धारक वरण्डे उन जगतियोंको सुशोभित करते रहते हैं, तथा उनपर एक धनुषके अन्तरसे स्थित सुशोभित पताकाएँ हैं ॥ १२८ ॥ उन जगतियोंमें तीस-तीस वितस्तियोंके कूट और उनसे द्विगुण आयामवाले दश-दश धनुषोंके अन्तरसे स्थित कोष्ठक रहते हैं ॥ १२९ ॥ उन जगतियोंके समीप दोनों ओर द्वारपालोंके दो-दो आवासस्थान हैं जिनमें प्रत्येक द्वारपर कुबेरकी अपूर्व धनराशि प्रकाशमान है ॥ १३० ॥ प्रत्येक जगतीके कूटोंकी संख्या सात-सौ बहत्तर है तथा कोष्ठकोंकी संख्या अड़तालीस है ॥ १३१ ॥ संक्षेपसे तीनों जगतियोंकी कूटसंख्या बाईस-सौ बीस है और कोष्ठोंकी संख्या उसी प्रमाणसे है ॥ १३२ ॥ प्रथम जगतीमें बत्तीस हजार तीन सौ इक्यासी, दूसरीमें चौबीस हजार दो सौ उन्नीस और तीसरीमें इकतीस हजार छप्पन ध्वजाएँ रहती हैं ॥ १३३ ॥ पूर्व कूटोंमें दो लाख बत्तीस हजार चार सौ सत्तर, मध्यम कूटोंमें सात लाख इकसठ हजार एक सौ, और अन्तिम कूटोंमें दो लाख चौवन हजार आठ सौ अस्सी और कोष्ठकोंमें दूनी-दूनी हैं ॥ १३४-१३५ ॥ इस प्रकार समस्त ध्वजाओंकी संख्या छब्बीस लाख बीस हजार दो सौ छप्पन है ॥ १३६ ॥ वहाँ सस्वेद प्रदेशों (?) में रत्नोंसे मण्डित अनेक मण्डप हैं जो दो कोस चौड़े और एक कोस ऊँचे हैं ॥ १३७ ॥ जिनकी रचना मण्डपोंसे आधी चौड़ी है, ऐसे शिखरोंके मध्य भागमें विराजमान जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रति-

१. वितस्ति (क० टि०) । २. ३२३८१ । ३. २४२१९ । ४. ३१०५६ । ५. २३२४७० । ६. ७६११०० । ७. २५४८८० । भूपदेन सप्त, षट्पदेन षट्, मण्डः पिच्छवाची तेन एकः, गलः कण्ठवाची तेन एकः, व्योमख-पदाभ्यां शून्यद्वयम्, यद्यपि सर्वत्र अङ्कानां वामतो गतिरिति नियमः तथापि अत्र उत्क्रमशब्देन उपरि उल्लेखः तेन पूर्वोक्ता संख्या निःसरति । ८. अमा—सह । ९. संस्वेददेशेषु म० ।

तत्रस्था[1] अपि तद्देशाद्विनिष्क्रम्य नभस्यमी । यथोपविष्टा दृश्यन्ते सम्मुखीभूय पश्यताम् ॥१३९॥
पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु । चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्वके ॥१४०॥
द्वितीये तु महापीठे शिखिहंसध्वजेतरे । अष्टौ तिष्ठन्ति दिग्भागान्[2]भासयन्तो महाध्वजाः ॥१४१॥
अग्रे श्रीमण्डपोल्लासी[3] प्रासादो बहुमङ्गलः । गन्धकुट्यभिधानः स्यात्तत्र सिंहासनं विभोः ॥१४२॥
तत्रासीनं जिनाधीशं नृसुरासुरकोटयः । तुष्टुवुस्तुष्टचित्तास्ता मुकुटन्यस्तपाणयः ॥१४३॥
विजयस्व महादेव ! विजयस्व महेश्वर । विजयस्व महाबाहो ! विजयस्व महेक्षण ॥१४४॥
इत्यादि[4] स्तुतिकोटीनामन्ते प्रव्रज्य तत्क्षणात् । गणिनामग्रणीर्जातो वरदत्तो गणाधिपः ॥१४५॥
षट्सहस्रनृपस्त्रीभिः सह राजीमती तदा । प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्यिकाणां गणस्य तु ॥१४६॥
यतिवर्गादयः सर्वे गणा द्वादश ते ततः । प्रणिपत्य यथास्थानं तं प्रभुं समुपासते ॥१४७॥
परिपर्यञ्चनस्तस्मिन्पदेषु द्वादशस्वमी । पूर्वदक्षिणभागादिष्वासतेऽग्रप्रदक्षिणम् ॥१४८॥
तत्र प्रत्यक्षधर्माणो धर्मांशा इवामलाः । [5]भासन्ते वरदस्याग्रे वरदत्तादियोगिनः ॥१४९॥
भर्तुर्या भूतयो बाह्यास्तदन्तर्भूतितः प्रति । राजन्ते कल्पवासिन्यो युक्ता[6]स्तन्मूर्तयो यथा ॥१५०॥
ह्रीदयाक्षान्तिशान्त्यादिगुणालंकृतसम्पदः । समेत्योपविशन्त्यार्या [7]सद्धर्मतनया यथा ॥१५१॥

माएँ हैं जो उत्तम मंगल द्रव्योंसे सुशोभित हैं ॥१३८॥ यद्यपि ये प्रतिमाएँ अपने-अपने स्थान-पर स्थित हैं तथापि सामने खड़े होकर देखनेवालोंको ऐसी दिखायी देती हैं मानो उन स्थानोंसे निकलकर आकाशमें ही विद्यमान हों ॥ १३९ ॥

वहाँ चारों दिशाओंमें देदीप्यमान तीन पीठ होते हैं उनमें पहले पीठपर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं ॥१४०॥ दूसरी महापीठपर मयूर और हंसोंकी ध्वजाओंसे भिन्न आठ प्रकारकी महाध्वजाएँ दिशाओंको सुशोभित करती हुई विद्यमान हैं ॥१४१॥ तीसरी पीठपर श्रीमण्डपको सुशोभित करनेवाला अनेक मङ्गलद्रव्योंसे सहित गन्धकुटी नामका प्रासाद है उसमें भगवान्का सिंहासन रहता है ॥१४२॥ उस सिंहासनपर विराजमान जिनेन्द्रदेवकी सन्तुष्ट चित्तके धारक मनुष्य सुर और असुरोंके झुण्डके झुण्ड मुकुटोंपर हाथ लगाकर स्तुति करते थे ॥१४३॥ वे कह रहे थे कि हे महादेव ! आपकी जय हो । हे महेश्वर ! आप जयवन्त हों, हे महाबाहो ! आप विजयी हों, हे विशालनेत्र ! जयवन्त हों ॥१४४॥ इत्यादि करोड़ों स्तवनोंके बाद वरदत्तने तत्काल दीक्षा ले ली और गणोंके स्वामी प्रथम गणधर हो गये ॥१४५॥ उसी समय छह हजार रानियोंके साथ दीक्षा लेकर राजीमती आर्यिकाओंके समूह-की प्रधान बन गयी ॥१४६॥ मुनिसमूहको आदि लेकर बारह गण भगवान् नेमिनाथको प्रणाम कर यथास्थान उनकी उपासना करते थे ॥१४७॥ मार्गके चारों ओर घेरकर बारह सभाएँ उनकी पूर्व दक्षिण आदि दिशाओंमें मुनिसमूहको आदि लेकर बारह गण विराजमान थे ॥१४८॥ वहाँ उत्कृष्ट वरको प्रदान करनेवाले भगवान् नेमिनाथके आगे वरदत्तको आदि लेकर अनेक मुनि सुशोभित थे जो धर्मके स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले एवं अत्यन्त निर्मल धर्मेश्वरके अंशके समान जान पड़ते थे ॥१४९॥ उनके आगे कल्पवासिनी देवियाँ सुशोभित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो भगवान्की बाह्याभ्यन्तर विभूतियाँ ही उनका रूप रख कर स्थित हों ॥१५०॥ उनके बाद तीसरी सभामें लज्जा, दया, क्षमा, शान्ति आदि गुणरूपी सम्पत्तिसे सुशोभित आर्यिकाएँ विराजमान थीं जो समीचीन धर्मकी पुत्रियोंके समान

---

१. तत्रस्थापि । २. दिग्भागा म० । ३. मण्डपोल्लासी म०, ङ० । ४. श्रुति म० । ५. भासते म० । ६. व्यक्तं तन्मूर्तयो यथा म०, ङ० । ७. तद्धर्म ख० ।

ज्योतिर्लोकवासिन्यो[1] भर्तुर्ज्योतिर्विजितप्रभाः । अभितस्तस्थुरात्माभासभकान्तयः ॥१५२॥
वनश्रियो यथा मूर्ता वानव्यन्तरयोषितः । वन्यपुष्पलतानम्रा नमन्ति चरणक्रमम् ॥१५३॥
भवनावासवासिन्यो भगवत्यतिभक्तयः[2] । स्वर्भूर्भुवो यथा लक्ष्म्यः समया तं[3] समासते ॥१५४॥
भावनाः पापबन्धस्य छेत्तारं निकषा सते । बिभ्यतः स्वभवाद्भास्वरफणारत्नविभारुणाः ॥१५५॥
व्यन्तराः सुन्दराकारा मन्दरस्येव[4] कल्पकाः । भवन्ति भर्तुराकल्पाः सुमनोमालभारिणः ॥१५६॥
परमेश्वरभामग्नस्वप्रभा भास्करादयः । ज्योतिर्गणाः प्रभावृद्धिं प्रार्थयन्ते समानताः ॥१५७॥
सौन्दर्येशाः[5] सुखात्मानो भागा भर्तुरिवोद्गताः । [6]स्वर्भुवः प्रतिभास्यन्ते सहस्राक्षपुरस्सराः ॥१५८॥
दानपूजादिधर्मांशा देहवन्तो यथामलाः । वरदं वरिवस्यन्ति भूपाश्चक्रधरादयः ॥१५९॥
अविद्यावैरमायादिदोषापायाप्ततद्गुणाः । हरीभाद्या विभान्त्यन्ये तिर्यञ्चस्तादृशो यथा ॥१६०॥
एवं द्वादशवर्गीयैर्द्वादशाङ्गगुणोपमैः । परीत्योक्तक्रमादीशो गणैरेभिरुपासितः ॥१६१॥
पारमेष्ठ्यमनन्यस्थं स्वापञ्चास्यासनश्रिया । चामरैरमरोत्क्षिप्तैः क्रमस्थैः सुमहेशिताम् ॥१६२॥

जान पड़ती थीं ॥१५१॥ चौथी सभामें प्रशंसनीय एवं अपने-आपसे निकलनेवाली प्रभासे सुशोभित ज्योतिषी देवोंकी स्त्रियाँ बैठीं थीं जो भगवान्‌की कान्तिके समान जान पड़ती थीं ॥१५२॥ पाँचवीं सभामें मूर्तिधारिणी वनकी लक्ष्मीके समान सुन्दर वनवासी व्यन्तर देवों की स्त्रियाँ स्थित थीं तथा वे वनकी पुष्पलताओंके समान नम्रीभूत हो भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर रही थीं ॥१५३॥ छठी सभामें भगवान्‌की अत्यधिक भक्तिसे युक्त भवनवासी देवोंकी अङ्गनाएँ स्थित थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो स्वर्ग, भूमि और अधोलोककी लक्ष्मियाँ ही भगवान्‌के समीप आकर बैठी हैं ॥ १५४ ॥ सातवीं सभामें फणाके देदीप्यमान रत्नोंकी कान्तिसे लाल-लाल दिखनेवाले भवनवासी देव, अपने संसारसे भयभीत होते हुए, पापबन्धका छेदन करनेवाले भगवान्‌के समीप विद्यमान थे ॥१५५॥ आठवीं सभामें सुन्दर आकारके धारक व्यन्तर देव बैठे थे। वे भगवान्‌के आभूषण स्वरूप थे, तथा फूलोंकी मालाओं-को धारण करनेवाले मन्दरगिरिके समान जान पड़ते थे ॥१५६॥ नवमी सभामें, जिनकी अपनी प्रभा भगवान्‌की प्रभामें निमग्न हो गयी थी ऐसे सूर्य आदि ज्योतिषी देवोंके समूह नम्रीभूत हो भगवान्‌से अपनी प्रभावृद्धिकी प्रार्थना कर रहे थे ॥१५७॥ दसवीं सभामें सौन्दर्य-के स्वामी, सुखी एवं ऊपर उठे हुए भगवान्‌के अंशोंके समान इन्द्र आदि कल्पवासी देव सुशोभित हो रहे थे ॥१५८॥ ग्यारहवीं सभामें चक्रवर्ती आदि राजा भगवान्‌की उपासना करते थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरीरधारी दान-पूजा आदि धर्मोंके निर्मल अंश ही हों ॥१५९॥ तथा बारहवीं सभामें, जिन्हें अविद्या, वैर, माया आदि दोषोंके नष्ट हो जाने-से विद्या, क्षमा आदि तत्तद्गुण प्राप्त हुए थे ऐसे सिंह, हाथी आदि तिर्यञ्च विद्यमान थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हींके समान दूसरे तिर्यञ्च हों। भावार्थ—तिर्यञ्च अपनी स्वाभाविक कुटिलताको छोड़कर तदाकार होनेपर भी ऐसे लगते थे जैसे ये वे न हों दूसरे ही हों ॥१६०॥ इस प्रकार द्वादशाङ्गके गुणोंके समान बारह सभाओं-सम्बन्धी बारह गण, प्रदक्षिणा रूपसे भगवान्‌की उपासना करते थे ॥१६१॥

भगवान् नेमिनाथ, अपने सिंहासनकी शोभासे दूसरोंमें न पाये जानेवाले परमेष्ठीपना-

१. ज्योतिर्मण्डल-क० । २. भगवत्यतिभक्तय: म०, भगवत्यविभक्तय: ड० । ३. समवान्तं म०, तं भगवतः समया समीपे 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । ४. मन्दरेस्येव म० । ५. सौन्दर्यैशा म० । ६. स्वर्गोत्पन्नाः कल्पवासिदेवाः ।

त्रिलोकाधीशितां छत्रत्रयेणेन्दुत्रयत्विषा । भामण्डलेन भाधिक्यं भवान्तस्तमसच्छिदा ॥१६३॥
सर्वर्तुकुसुमेनान्यसर्वशोकापहारिताम् । अशोकेनाभिपूज्यत्वं[1] सुमनोवृष्टिपूजया ॥१६४॥
सार्वत्वमभयाधानघोषणेन जयश्रियाम् । नन्दिमङ्गलघोषेण साधुचित्ताभिनन्दिनम् ॥१६५॥
आत्माधीनाः प्रतीहाराः प्रातिहार्यगुणोद्भवैः । भूषितोऽष्टमहोदग्रप्रातिहार्यैर्महेश्वरः ॥१६६॥
लोकानां भूतये भूतिमात्मीयां सकलां दधत् । सर्वलोकातिवर्तिन्या भासास्थानमधिष्ठितः[2] ॥१६७॥
अयमास्ते समग्रात्मा स्वार्थकामाः[3] ससंभ्रमाः । एतैत नमतैनमित्याह्वानं सघोषणम् ॥१६८॥
वर्तयन्ति सुरास्तस्मिन्मण्डले तदनु द्रुतम् । समन्तात्समायान्ति भूतिभिर्नृसुरासुराः ॥१६९॥
तद्दृष्टिगोचरे मङ्क्षु वाहनेभ्योऽवतीर्यते । मानाङ्गणमथास्थाय पूर्वं साञ्जलिमौलिभिः ॥१७०॥
तत्र बाह्ये परित्यज्य वाहनादिपरिच्छदम् । विशिष्टकैकुदैर्युक्ता[4] मानपीठं परीत्य ते ॥१७१॥
प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादितः[5] । उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥१७२॥
पापशीला विकर्माणः शूद्राः पाखण्डपण्डकाः[6] । विकलाङ्गेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति बहिस्ततः[7] ॥१७३॥
छत्रचामरभृङ्गाराद्यपहाय जयाजिरे । वाहैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यञ्जलिमीश्वराः ॥१७४॥

को ख्यापित कर रहे थे। क्रमपूर्वक ढोरे जानेपर देवोपनीत चमरोंसे महेशिताको, तीन चन्द्रमाके समान कान्तिको धारण करनेवाले छत्रत्रयसे तीन लोकके स्वामित्वको, संसारके आन्तरिक अन्धकारको नष्ट करनेवाले भामण्डलसे कान्तिकी अधिकताको, सब ऋतुओंके फूलोंसे युक्त अशोक वृक्षके द्वारा अन्य समस्त जीवोंके शोक दूर करनेकी सामर्थ्यको, पुष्पवृष्टि रूप पूजाके द्वारा पूज्यताको, अभयोत्पत्तिकी घोषणा करनेवाली दिव्यध्वनिसे जयलक्ष्मीकी सर्वहितकारिताको और आनन्ददायी मङ्गलमय वादित्रोंके नादसे साधुजनोंके चित्तको आनन्दित करनेकी सामर्थ्यको प्रकट कर रहे थे ॥१६२–१६५॥ जो आत्माके आधीन हो उन्हें प्रतीहार कहते हैं। इस प्रकार आत्माधीन गुणोंसे उत्पन्न अष्ट महाप्रातिहार्योंसे भगवान् नेमिनाथ सुशोभित हो रहे थे ॥१६६॥ आत्मोत्थ समस्त विभूतिको धारण करनेवाले भगवान् सर्वलोकातिवर्ती दीप्तिसे लोगोंका कल्याण करनेके लिए समवसरणमें विराजमान हुए ॥१६७॥ उस समय देव लोग घोषणाके साथ यह कहकर जीवोंका आह्वान कर रहे थे कि हे आत्महितके इच्छुक भव्यजनो! सम्पूर्ण विकसित आत्माको धारण करनेवाले केवली भगवान् यह विराजमान हैं, शीघ्रतासे यहाँ आओ-आओ और इन्हें नमस्कार करो ॥१६८॥ इस प्रकार जब देवोंने आह्वान किया तब शीघ्र ही मनुष्य, देव और असुर वैभवके साथ सब ओरसे समवसरणमें आने लगे ॥१६९॥

समवसरणके दृष्टिगोचर होते ही वे मानाङ्गणमें खड़े हो सबसे पहले हाथ जोड़ मस्तकसे लगाकर वाहनोंसे नीचे उतरते हैं ॥१७०॥ तदनन्तर वाहन आदि परिग्रहको बाहर छोड़कर विशिष्ट राज्यचिह्नोंसे युक्त हो मानपीठकी प्रदक्षिणा देते हैं ॥१७१॥ प्रदक्षिणाके बाद सबसे पहले मानस्तम्भको नमस्कार करते हैं तदनन्तर हृदयमें उत्तम भक्तिको धारण करते हुए उत्तम पुरुष भीतर प्रवेश करते हैं ॥१७२॥ और पापी, विरुद्ध कार्य करनेवाले, शूद्र, पाखण्डी, नपुंसक, विकलाङ्ग, विकलेन्द्रिय तथा भ्रान्त चित्तके धारक मनुष्य बाहर ही प्रदक्षिणा देते रहते हैं ॥१७३॥ सुरेन्द्र, असुरेन्द्र तथा नरेन्द्र आदि उत्तम पुरुष छत्र, चमर

१. पूज्यन्ते म० । २. अधिष्ठितं म० । ३. सार्थकामाः म० । ४. विशिष्टकाकुदै-म० 'स्त्री ककुत् ककुदोऽप्यस्त्री वृषाङ्गे राज्यलक्ष्मणि' इति विश्वलोचनः । ५. मानस्तम्भमनादितः म० । ६. नपुंसकाः (क० टि०) पाण्डवाः म०, ग० । ७. मिच्छाइट्ठि अभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं । तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ॥ ९३२ ॥ त्रैलोक्यप्रज्ञप्तौ चतुर्थ उधिकारः । मिथ्यादृष्टिरभव्योऽसंज्ञी जीवोऽत्र विद्यते नैव । यश्चानध्यवसायो यः सन्दिग्धो विपर्यस्तः ॥ ५८ ॥—समवसरणस्तोत्रे ।

प्रविश्य विधिवद्भक्त्या प्रणम्य मणिमौलयः । चक्रपीठं समारुह्य परियन्ति जिनेश्वरम् ॥१७५॥
पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्तिविभवार्चनैः । सुरासुरनरेन्द्राद्याः नामादेशं नमन्ति च ॥१७६॥
ततोऽवतीर्य सोपानैः स्वैः स्वैः स्वाञ्जलिमौलयः । रोमाञ्चव्यक्तहर्षास्ते यथास्थानं समासते ॥१७७॥
अभ्यर्कं विकसद्भाति कमलाकरमण्डलम् । यथा तथा जिनाभ्यर्के [1]तद्गणाम्बुजमण्डलम् ॥१७८॥
सा सेना सर्वतः सर्वा प्रविशन्ती तदास्पदम् । नालं पूरयितुं पूर्वा नदीव मकरास्पदम् ॥१७९॥
निर्यदायद्विशत्पश्यत्परीयत्प्रीयदानमत् । स्तुवदीशं सतां वृन्दं सततं तत्र वर्तते ॥१८०॥
न मोहो न भयद्वेषौ नोत्कण्ठारतिमत्सराः । अस्यां भद्रप्रभावेण जृम्भाजृम्भा न संसदि ॥१८१॥
निद्रातन्द्रापरिक्लेशक्षुत्पिपासाऽसुखानि न । [2]नास्त्यमन्यच्चाशिवं सर्वमहरेव च सर्वदा[3] ॥१८२॥

मालिनीछन्दः

समवसरणभूमौ बाह्यभूत्येकभूमौ स्थितवति मुनिनाथेऽन्तरङ्गाग्निपूते[4] ।
पिबति तृषितनेत्रैर्द्वादशानां गणानां समितिरमृतरूपं जैनरूपाम्बुराशिम् ॥१८३॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ समवसरणवर्णनो नाम सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

और भृंगार आदिको जयाङ्गणमें छोड़कर आप्तजनोंके साथ हाथ जोड़कर भीतर प्रवेश करते हैं ॥१७४॥ मणिमय मुकुटोंको धारण करनेवाले वे सब, भीतर प्रवेश कर विधिपूर्वक प्रणाम करते हैं और चक्रपीठपर आरूढ होकर भगवान् जिनेन्द्रकी तीन बार प्रदक्षिणा देते हैं ॥१७५॥ इच्छानुसार अपनी शक्ति और विभवके अनुकूल सामग्रीसे पूजा करते हुए अपने नामका उल्लेख कर नमस्कार करते हैं ॥१७६॥ तदनन्तर जिन्होंने अपनी अञ्जलियाँ मस्तकसे लगा रखी हैं और रोमाञ्चोंसे जिनका हर्ष प्रकट हो रहा है ऐसे वे सब अपनी-अपनी सीढ़ियोंसे नीचे उतर कर सभाओंमें यथास्थान बैठते हैं ॥१७७॥ जिस प्रकार सूर्यके सम्मुख खिला हुआ कमलोंका समूह सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान्‌रूपी सूर्यके सम्मुख वह गण-रूपी—द्वादश सभारूपी कमलोंका समूह सुशोभित हो रहा था ॥१७८॥ जिस प्रकार नदी समुद्र-को भरनेमें समर्थ नहीं है उसी प्रकार सब ओरसे समवसरणमें प्रवेश करती हुई वह सेना उसे भरनेमें समर्थ नहीं थी ॥१७९॥ वहाँ बाहर निकलता, आता, प्रवेश करता, दर्शन करता, प्रदक्षिणा देता, सन्तुष्ट होता, भगवान्‌को प्रणाम करता और उनकी स्तुति करता हुआ सज्जनों-का समूह सदा विद्यमान रहता है ॥१८०॥ समवसरणके भीतर भगवान्‌के प्रभावसे न मोह रहता है, न राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, न उत्कण्ठा, रति एवं मात्सर्यभाव रहते हैं, न अंगड़ाई और जमुहाई आती है, न नींद आती है, न तन्द्रा सताती है, न क्लेश होता है, न भूख लगती है, न प्यासका दुःख होता है और न सदा समस्त दिन कभी अन्य समस्त प्रकारका अमङ्गल ही होता है ॥१८१–१८२॥ बाह्य विभूतिके अद्वितीय स्थान समवसरण भूमिमें जब अन्तरङ्ग आत्माकी पवित्रतासे युक्त भगवान् विराजमान होते हैं तब बारह सभाओंका समूह अपने तृषित नेत्रोंसे उनके अमृतरूप सौन्दर्य सागरका पान करता है ॥१८३॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें समवसरणका वर्णन करनेवाला सत्तावनवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥५७॥

---

१. तद्गुणाम्बुज-म० । २. नास्त्यमङ्गर्चाशिवं म०, नास्त्यन्यथा क० । ३. आतंकरोगमरणप्पुत्तीओ वेरकामबाधाओ । तण्हाछुहपीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवंति ॥६३३॥ त्रै० प्र० । ४. गाद्रिपूतौ म. ।

अष्टपञ्चाशः सर्गः

एवं नित्योत्सवानन्तकल्याणैकास्पदे पदे । लोके धर्मं प्रशुश्रूषौ[1] कृताञ्जलिपुटे स्थिते ॥१॥
वदतां वरमानम्य[2] वरदत्तो गणाग्रणीः । हितं पप्रच्छ भव्यानां समस्तानां जिनेश्वरम् ॥२॥
तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुखविनिर्गता[3] । चतुर्मुखफला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया ॥३॥
चतुरस्रानुयोगानां चतुर्णामेकमातृका । चतुर्विधकथावृत्तिश्चतुर्गतिनिवारिणी ॥४॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टनवास्पदा । अपर्यायापि सत्तेवानन्तपर्यायभाविनी ॥५॥
[4]अहितं शातयन्ती सा रोचयन्ती हितं[5] सदा । स्थापयन्ती च तत्पात्रे धारयन्ती यथाश्रयम् ॥६॥
वारयन्त्यशुभादाशु पूरयन्ती शुभं परम् । श्लथयन्त्यर्जितं कर्म गलयन्ती प्रभावतः ॥७॥
समन्ततः स्थितस्थानाद्योजनाधिकमण्डले । अत्रैवात्रैव श्रुतेति तत्र तत्रास्ति तादृशी[6] ॥८॥

इस प्रकार नित्य उत्सव और अनन्त कल्याणोंके एक स्थानस्वरूप समवसरणमें जब धर्म सुननेके इच्छुक जीव हाथ जोड़कर बैठ गये तब वरदत्त गणधरने वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्री नेमि जिनेन्द्रको नमस्कार कर समस्त भव्यजीवोंका हित पूछा। भावार्थ—हे भगवन्! समस्त जीवोंके लिए हित रूप क्या है, ऐसा प्रश्न किया॥ १-२॥ गणधरके उक्त प्रश्नके अनन्तर भगवान्‌की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान्‌की वह दिव्यध्वनि चारों दिशाओंमें दिखनेवाले चार मुखोंसे निकलती थी; चार पुरुषार्थरूप चार फलको देनेवाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और चार आश्रमोंको आश्रय देनेवाली थी, चारों ओर सुनायी पड़ती थी, चार अनुयोगोंकी एक माता थी, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओंका वर्णन करनेवाली थी, चार गतियोंका निवारण करनेवाली थी। एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ और नौका स्थान थी, अर्थात् सामान्य रूपसे एक जीवका वर्णन करनेवाली होनेसे एकका स्थान थी, श्रावक और मुनिके भेदसे दो प्रकारके धर्मका अथवा चेतन-अचेतन और मूर्तिक-अमूर्तिकके भेदसे दो द्रव्योंका निरूपक होनेसे दोका स्थान थी, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूपी रत्नत्रय अथवा चेतन, अचेतन और चेतनाचेतन द्रव्योंका वर्णन करनेवाली होनेसे तीनका स्थान थी, चार गति, चार कषाय अथवा मिथ्यात्वादि चार प्रत्ययोंका निरूपण करनेवाली होनेसे चारका स्थान थी, पाँच अस्तिकाय अथवा प्रमाद-सहित मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्ययोंका वर्णन करनेवाली होनेसे पाँचका स्थान थी, छह द्रव्योंका वर्णन करनेवाली होनेसे छहका स्थान थी, सात तत्त्वोंकी निरूपक होनेसे सातका स्थान थी, आठ कर्मोंका निरूपण करनेवाली होनेसे आठका स्थान थी और सात तत्त्व तथा पुण्य-पाप इन नौ पदार्थोंका वर्णन करनेवाली होनेसे नौका स्थान थी। पर्याय-रहित होनेपर भी सत्ताके समान अनन्त पर्यायोंको उत्पन्न करनेवाली थी, अहितको नष्ट करनेवाली थी, सदा हितकी रुचि उत्पन्न करानेवाली थी, हितका स्थापन करनेवाली थी, पात्रमें यथायोग्य हितको अपने प्रभावसे धारण करने वाली थी, अशुभसे शीघ्र हटानेवाली थी, उत्कृष्ट शुभको पूर्ण करनेवाली थी, अर्जित कर्मको शिथिल करनेवाली अथवा बिलकुल ही नष्ट करनेवाली थी। जहाँ भगवान् विराजमान थे वहाँसे चारों ओर एक योजनके घेरामें इतनी स्पष्ट सुनायी पड़ती थी जैसे यहीं उत्पन्न हो रही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्तिस्थानमें सुनायी पड़ती थी वैसी ही एक योजनके घेरामें सर्वत्र सुनायी पड़ती थी—उसमें हीनाधिकता नहीं मालूम होती थी, मधुर

---

१. प्रकर्षेण श्रोतुमिच्छौ । २. -मानस्य म०, क०, ग० । ३. विनिर्गते म० । ४. संसारः संसारकारण-हितम् (क० टि०) । ५. मोक्षो मोक्षकारणं हितम् ख० । ६. तादृशं क०, ग०, म० ।

मधुरस्निग्धगम्भीरदिव्योदात्तस्फुटाक्षरम् । वर्तते ऽनन्यवृत्तैका तत्र साध्वी सरस्वती ॥९॥
भावाभावद्वयाद्वैत[1]भावबद्धा जगत्स्थितिः । अहेतुर्दृश्यते तस्यामनादिः पारिणामिकी ॥१०॥
अस्त्यात्मा परलोकोऽस्ति धर्माधर्मौ स्त एव च । तयोः कर्तास्ति भोक्तास्ति चास्ति नास्तीति यत्पृथक् ॥११॥
स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते । स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१२॥
अविद्यारागसंक्लिष्टो बम्भ्रमीति[2] भवार्णवे । विद्यावैराग्यशुद्धः सन् सिद्ध्यत्यविकलस्थितिः ॥१३॥
इत्याध्यात्मविशेषस्य दीपिका दीपिकेव सा । रूपादेः समवस्थाशु तमिस्रं तत्र सत्वरम् ॥१४॥
एकतानात्मापि तद्रूपं नाना पात्रगुणाश्रयम् । सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ ॥१५॥
सावधानसभान्तस्थं ध्वान्तं सावरणं ध्वनिः । जैनोऽत्यर्काभिभवच्छिन्दो विश्वासेत्यादिभासनः[3] ॥१६॥
भवपद्धतिपान्थस्य भव्यताशुद्धियोगिनः । देहिनः पुरुषार्थोऽत्र प्रेक्षितो मोक्षलक्षणः ॥१७॥
उपायस्तस्य मोक्षस्य ध्यानाध्यायैकहेतुतः[4] । प्राक्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ॥१८॥
सम्यग्दर्शनमत्रेदं तत्त्वश्रद्धानमुज्ज्वलम् । व्यपोढसंशयाद्यन्तर्निःशेष[5]मलसङ्करम् ॥१९॥
तच्च दर्शनमोहान्धक्षयोपशममिश्रजम् । [6]क्षायिकाद्यं त्रिधा द्वेधा निसर्गाधिगमत्वतः ॥२०॥

स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरोंसे युक्त थी, अनन्यरूप थी, एक थी और साध्वी—अतिशय निर्मल थी ॥ ३-९ ॥

भगवान्‌की उस दिव्यध्वनिमें जगत्‌की वह स्थिति दिख रही थी जो भाव और अभावके अद्वैत-भावसे बँधी हुई है अर्थात् द्रव्यार्थिक नयसे भाव रूप और पर्यायार्थिक नयसे अभाव रूप है, अहेतुक है–किसी कारणसे उत्पन्न नहीं है, अनादि है और पारिणामिकी है–स्वतः सिद्ध है ॥१०॥ आत्मा है, परलोक है, धर्म और अधर्म हैं, यह जीव उनका कर्ता है, भोक्ता है तथा संसारके सब पदार्थ अस्ति रूप और नास्ति रूप हैं, यह कथन भी उसी दिव्यध्वनिमें दिखायी देता था ॥११॥ यह जीव स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसका फल भोगता है, स्वयं संसारमें घूमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है ॥१२॥ अविद्या तथा रागसे संक्लिष्ट होता हुआ संसार-सागरमें बार-बार भ्रमण करता है और विद्या तथा वैराग्यसे शुद्ध होता हुआ पूर्णस्वभावमें स्थित हो सिद्ध हो जाता है ॥ १३ ॥ इस अध्यात्म-विशेषको प्रकट करनेके लिए वह दीपिकाके समान थी तथा रूप आदि गुणोंके विषयमें जो अज्ञानान्धकार विस्तृत था उसे शीघ्र ही दूर कर रही थी ॥१४॥ जिस प्रकार आकाशसे बरसा पानी एकरूप होता है परन्तु पृथिवीपर पड़ते ही वह नानारूप दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार भगवान्‌की वह वाणी यद्यपि एकरूप थी तथापि सभामें पात्रके गुणोंके अनुसार वह नानारूप दिखायी दे रही थी ॥१५॥ संसारके जीवादि समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली भगवान्‌की वह दिव्यध्वनि सूर्यको पराजित करनेवाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभाके अन्तःकरणमें स्थित आवरण-सहित अज्ञानान्धकारको खण्ड-खण्ड कर रही थी ॥१६॥

भगवान् कह रहे थे कि संसारके मार्गका जो पथिक भव्यतारूपी शुद्धिसे युक्त होता है उसीके मोक्ष पुरुषार्थ देखा गया है। भावार्थ—मोक्षकी प्राप्ति भव्य जीवको ही होती है ॥१७॥ उस मोक्षका उपाय ध्यान और अध्ययन रूप एक हेतुसे प्राप्त होता है तथा सबसे पूर्व वह, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र इन तीनके समुदायरूप है ॥१८॥ उनमें जीवादि सात तत्त्वोंका, निर्मल तथा शंका आदि समस्त अन्तरंग मलोंके सम्बन्धसे रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन माना गया है ॥ १९ ॥ वह सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहरूपी अन्धकारके क्षय, उपशम तथा क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, क्षायिक आदिके भेदसे तीन प्रकारका है और

---

१. द्वैते भावबद्धा म० । २. अतिशयेन भूयो भूयो वा भ्रमतीति (क० टि०) । ३. भास्वनः म० । ४. हेतुनः म० । ५. संशयाद्यन्तनिःशेष-म० । ६. क्षायिकत्वं म० ।

जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा । मोक्षश्च सप्त तत्त्वानि श्रद्धेयानि स्वलक्षणैः ॥२१॥
जीवस्य लक्षणं लक्ष्यमुपयोगोऽष्टधा स च । मतिश्रुतावधिज्ञानतद्विपर्ययपूर्वकः ॥२२॥
इच्छा द्वेषः प्रयत्नश्च सुखं दुःखं चिदात्मकम् । आत्मनो लिङ्गमेतेन लिङ्ग्यते चेतनो यतः ॥२३॥
न पृथिव्यादिभूतानां जीवः संस्थानमात्रकः । तदवस्थास्य कायस्य चैतन्यव्यभिचारिणः ॥२४॥
पिष्टकिण्वोदकाद्येषु मद्याङ्गेषु पृथग्भवेत् । शक्तेः लेशो मदं कर्तुं कायाङ्गेषु तु नास्ति सः ॥२५॥
चैतन्योत्पत्त्यभिव्यक्ती चतुर्भूतेभ्य इच्छताम् । तैलस्य सिकतादिभ्यो व्यक्त्युत्पत्ती न किं मते ॥२६॥
अनादिनिधनो जन्तुरेति गत्यन्तरादिह । याति गत्यन्तरं चातो निजकर्मवशो भवे[2] ॥२७॥
एतावानेव पुरुषो यावान्प्रत्यक्षगोचरः । इत्यादिरपसंवादः स्वपराहितवादिनाम् ॥२८॥
न संविन्मात्रमात्मा स्यात्संवित्तौ क्षणिकात्मनि । अनुसन्धानधीलोपे व्यवहारविलोपतः ॥२९॥
द्रव्यभूतः[3] स्वयं जीवो ज्ञाता द्रष्टास्ति कारकः । भोक्ता मोक्ता व्ययोत्पादध्रौव्यवान् गुणवान् सदा॥३०॥
असंख्यातप्रदेशात्मा ससंहारविसर्पणः । स्वशरीरप्रमाणस्तु मुक्तवर्णादिविंशतिः ॥३१॥

निसर्गज तथा अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है ॥ २० ॥ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं; इनका अपने-अपने लक्षणासे श्रद्धान करना चाहिए ॥ २१ ॥ जीवका लक्षण उपयोग है और वह उपयोग आठ प्रकारका है । उपयोगके आठ भेदोंमें मति, श्रुत और अवधि ये तीन, सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान—दोनों रूप होते हैं ॥ २२ ॥ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख ये सब चिदात्मक हैं ये ही जीवके लक्षण हैं; क्योंकि इनसे ही चैतन्यरूप जीवकी पहिचान होती है ॥२३॥ पृथिवी आदि भूतोंकी आकृति मात्रको जीव नहीं कहते; क्योंकि वह तो इसके शरीरकी अवस्था है । शरीरका चैतन्यके साथ अनेकान्त है अर्थात् शरीर यहीं रहा आता है और चैतन्य दूर हो जाता है ॥२४॥ आटा, किण्व (मदिराका बीज) तथा पानी आदि मदिराके अंगोंमें मद उत्पन्न करनेवाली शक्तिका अंश पृथक् होता है, परन्तु शरीरके अवयवोंमें चैतन्य शक्ति पृथक् नहीं होती । भावार्थ—आटा आदि मदिराके कारणोंको पृथक्-पृथक् कर देनेपर भी उनमें जिस प्रकार मादक शक्तिका कुछ अंश बना रहता है उस प्रकार शरीरके अंगोंको पृथक्-पृथक् करनेपर उनमें चैतन्य शक्तिका कुछ अंश नहीं रहता इससे सिद्ध होता है कि चैतन्य शरीरके अंगोंका धर्म नहीं है, किन्तु उनसे पृथक् द्रव्य है ॥ २५ ॥ जो पृथिवी आदि चार भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति मानते हैं उनके मतमें बालू आदिसे तैलकी उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति क्यों नहीं मान ली जाती है ? भावार्थ—जिस प्रकार बालू आदिसे तेलकी उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति और अभिव्यक्ति नहीं हो सकती ॥ २६ ॥ यह जीव इस संसारमें अनादि निधन है, निजकर्मसे परवश हुआ यह यहाँ दूसरी गतिसे आता है और कर्मके परवश हुआ दूसरी गतिको जाता है ॥ २७ ॥ जितना यह प्रत्यक्ष गोचर दिखायी देता है इतना ही जीव है—अतीत अनागत कालमें इसकी संतति नहीं चलती इत्यादि कथन निज-परका अहित करनेवाले जीवोंका ही विरुद्ध कथन है ॥ २८ ॥ क्षण-क्षणमें जो संविद् (ज्ञान) उत्पन्न होता है उतना ही आत्मा है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि संवित्तिको क्षणिक मान लेनेपर आगे-पीछेकी कड़ी जोड़नेवाली बुद्धिका लोप हो जायेगा और उसके लोप होनेपर देने-लेने तथा कर्ता-कर्म आदि व्यवहारका ही लोप हो जायेगा ॥ २९ ॥ इससे सिद्ध होता है कि यह जीव स्वयं द्रव्यरूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, कर्मोंका नाश करनेवाला है, उत्पाद-व्ययरूप है, सदा गुणोंसे सहित है, असंख्यात प्रदेशी है, संकोच विस्तार

---

१. भ्रान्तो म० । २. भवेत् ङ०, म० । ३. सत्यभूतः म० ।

श्यामाककणमात्रो न न चाकाशाणुमात्रकः । नाङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा न पञ्चशतयोजनः ॥३२॥
देहे देहे [1]सवृत्तित्वे प्रदेशैः सकलैः[2] सह । न स्यार्थं प्रतिपद्येत स्पर्शनं चक्षुरादिवत् ॥३३॥
परिमाणमहत्त्वेऽपि योजनेषु बहुष्वपि । [3]स्पर्शनं न समन्तः स्याच्चक्षुषेवार्थदर्शनम् ॥३४॥
तथा सति विरोधः स्याद्दृष्टेष्टाभ्यां पुमानयम् । देहमात्रोऽधिगन्तव्यः सर्वस्यानुभवात्तथा ॥३५॥
स गतीन्द्रियषट्काययोगवेदकषायतः । ज्ञानसंयमसम्यक्त्वलेश्यादर्शनसंज्ञिभिः ॥३६॥
भव्यत्वाहारपर्यन्तमार्गणाभिः स मृग्यते । चतुर्दशभिराख्यातो गुणस्थानैश्च चेतनः ॥३७॥
प्रमाणनयनिक्षेपसत्संख्यादिकिमादिभिः । संसारी प्रतिपत्तव्यो मुक्तोऽपि निजसद्गुणैः ॥३८॥
[5]नयोऽनेकात्मनि द्रव्ये नियतैकात्मसंग्रहः । द्रव्यार्थिको यथार्थोऽन्यः पर्यायार्थिक एव च ॥३९॥
[6]ज्ञेयौ मूलनयावेतावन्योन्यापेक्षिणौ मतौ । सम्यग्दृष्टास्तयोर्भेदाः सङ्गता नैगमादयः ॥४०॥
[7]नैगमः संग्रहश्चात्र व्यवहारर्जुसूत्रकौ । शब्दः समभिरूढाख्य एवंभूतश्च ते नयाः ॥४१॥

रूप है, अपने शरीर प्रमाण है और वर्णादि बीस गुणोंसे रहित है ॥ ३०—३१ ॥ न यह आत्मा सावाँके कणके बराबर है, न आकाशके बराबर है, न परमाणुके बराबर है, न अंगूठाके पोराके बराबर है और न पाँच-सौ योजन प्रमाण है ॥३२॥ यदि आत्माको सावाँके कण, अंगुष्ठ-पर्व अथवा परमाणुके समान छोटा माना जायेगा तो आत्मा प्रत्येक शरीरमें उसके खण्ड-खण्ड रूप प्रदेशोंके साथ ही रह सकेगा, समस्त प्रदेशोंके साथ नहीं और इस दशामें जहाँ आत्मा न रहेगा वहाँकी स्पर्शन इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकेगी। जिस प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियाँ शरीरके किसी निश्चित स्थानमें ही कार्य कर सकती हैं उसी प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय भी जहाँ आत्मा होगा वहीं कार्य कर सकेगी सर्वत्र नहीं। इसी प्रकार आत्माका परिमाण यदि शरीरसे अधिक माना जायेगा तो अनेकों योजनों तक जहाँकि शरीर नहीं है मात्र आत्माके प्रदेश हैं, वहाँ सब ओर क्या पदार्थका स्पर्श न होने लगेगा ? और इस दशामें जिस प्रकार चक्षुके द्वारा योजनोंकी दूरी तक पदार्थका अवलोकन होता है उसी प्रकार योजनोंकी दूरी तक पदार्थका स्पर्शन भी होने लगेगा और ऐसा माननेपर प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनोंसे विरोध आता है इसलिए शरीरके प्रमाण ही आत्माको मानना चाहिए। सबका अनुभव भी इसी प्रकारका है ॥ ३३–३५ ॥ वह जीव गति, इन्द्रिय, छह काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, सम्यक्त्व, लेश्या, दर्शन, संज्ञित्व, भव्यत्व और आहार इन चौदह मार्गणाओंसे खोजा जाता है तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानोंसे उसका कथन किया गया है ॥ ३६–३७ ॥ प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या और निर्देश आदिसे संसारी जीवका तथा अनन्त ज्ञान आदि आत्मगुणोंसे मुक्त जीवका निश्चय करना चाहिए ॥ ३८ ॥ वस्तुके अनेक स्वरूप हैं उनमें-से किसी एक निश्चित स्वरूपको ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय कहलाता है। इसके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो भेद हैं। इनमें द्रव्यार्थिक नय यथार्थ है और पर्यायार्थिक नय अयथार्थ है ॥३९॥ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये ही दो मूल नय हैं तथा दोनों ही परस्पर सापेक्ष माने गये हैं। अच्छी तरह देखे गये नैगम, संग्रह आदि नय इन्हीं दोनों नयोंके भेद हैं ॥४०॥ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र,

---

१. देहे देहसवृत्तित्वे क० । २. शकलैः ङ०, ख० । ३. स्पर्शनं न तस्य स्याच्चक्षु ङ०, सर्म तस्य चक्षुषेवार्थ—ख०, ग० । ४. शरव्यातगुण-म०, ङ०, ग० । ५. सामान्यलक्षणं तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापण-प्रवण-प्रयोगो नयः । स द्वेधा द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति (स० सि०) । ६. दो चेव मूलिमणया भणिया दव्वत्थपज्जयत्थगया । अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ॥११॥ —लघुनयचक्रसंग्रह । ७, नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः—त० सू० ।

[1]त्रयो द्रव्यार्थिकस्याद्या भेदाः सामान्यगोचराः । स्युः पर्यायार्थिकस्यान्ये विशेषविषया नयाः ॥४२॥
[2]अर्थसङ्कल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः । उदाहरणमस्येदं प्रस्थौदनपुरस्सरम् ॥४३॥
[3]आक्रान्तभेदपर्यायमैकध्यमुपनीय यत् । समस्तग्रहणं तत्स्यात्सद्द्रव्यमिति संग्रहः ॥४४॥
[4]संग्रहाक्षिप्तसत्तादेरवहारो विशेषतः । व्यवहारो यतः सत्तां नयत्यन्तविशेषताम् ॥४५॥
[5]वक्रं भूतं भविष्यन्तं त्यक्त्वर्जुं सूत्रपातवत् । वर्तमानार्थपर्यायं सूत्रयन्नृजुसूत्रकः ॥४६॥
[6]लिङ्गसाधनसंख्यानकालोपग्रहसङ्करम् । यथार्थशब्दनाच्छब्दो न [7]वष्टि व्यभिचारकः[8] ॥४७॥

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ।।४१।। इनमें प्रारम्भके तीन नय द्रव्यार्थिक नय-के भेद हैं और वे सामान्यको विषय करते हैं तथा अवशिष्ट चार नय पर्यायार्थिक नयके भेद हैं और वे विशेषको विषय करते हैं ।। ४२ ।। पदार्थके संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नय नैगम नय कहलाता है। प्रस्थ तथा ओदन आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। भावार्थ—जो नय अनिष्पन्न पदार्थके संकल्पमात्रको विषय करता है वह नैगम नय कहलाता है, जैसे कोई प्रस्थ-की लकड़ी लेनेके लिए जा रहा है उससे कोई पूछता है कि कहाँ जा रहे हो, तो वह उत्तर देता है कि प्रस्थ लेनेके लिए जा रहा हूँ। यद्यपि जंगलमें प्रस्थ नहीं मिलता है वहाँसे लकड़ी लाकर प्रस्थ बनाया जाता है तथापि नैगम नय संकल्प मात्रका ग्राहक होनेसे ऐसा कह देता है कि प्रस्थ लेनेके लिए जा रहा हूँ। इसी प्रकार कोई ओदन—भात बनानेके लिए लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी कर रहा है उस समय कोई पूछता है कि क्या कर रहे हो ? तो वह उत्तर देता है कि ओदन बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह ओदन नहीं बना रहा है तथापि उसका संकल्प है इसलिए नैगम नय ऐसा कह देता है कि ओदन बना रहा हूँ ।।४३।।

अनेक भेद और पर्यायोंसे युक्त पदार्थको एकरूपता प्राप्त कराकर समस्त पदार्थका ग्रहण करना संग्रह नय है; जैसे सत् अथवा द्रव्य। भावार्थ—संसारके पदार्थ अनेक रूप हैं उन्हें एकरूपता प्राप्त कराकर सत् शब्दसे कहना। इसी प्रकार जीव, अजीव आदि अनेक भेदोंसे युक्त पदार्थोंको 'द्रव्य' इस सामान्य शब्दसे कहना यह संग्रह नय है ।। ४४ ।।

संग्रह नयके विषयभूत सत्ता आदि पदार्थोंके विशेष रूपसे भेद करना व्यवहार नय है, क्योंकि व्यवहार नय सत्ताके भेद करता-करता उसे अन्तिम भेद तक ले जाता है। भावार्थ—जैसे संग्रह नयने जिस सत्को ग्रहण किया था व्यवहार नय कहता है कि वह सत्, द्रव्य और गुणके भेदसे दो प्रकारका है। अथवा संग्रह नयने जिस द्रव्यको विषय किया था व्यवहार नय कहता है कि उस द्रव्यके जीव और अजीवके भेदसे दो भेद हैं। इस प्रकार यह नय पदार्थमें वहाँतक भेद करता जाता है जहाँतक भेद करना संभव है ।।४५।।

पदार्थकी भूत-भविष्यत् पर्यायको वक्र और वर्तमान पर्यायको ऋजु कहते हैं। जो नय पदार्थकी भूत-भविष्यत्रूप वक्र पर्यायको छोड़कर सरल सूत्रपातके समान मात्र वर्तमान पर्यायको ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है। भावार्थ—इसके सूक्ष्म और स्थूलके भेदसे दो भेद हैं। जीवकी समय-समयमें होनेवाली पर्यायको ग्रहण करना सूक्ष्म ऋजुसूत्र नयका विषय है और देव मनुष्य आदि बहुसमय-व्यापी पर्यायको ग्रहण करना स्थूल ऋजु-सूत्र नयका विषय है ।।४६।। यौगिक अर्थका धारक होनेसे शब्द नय, लिङ्ग, साधन—कारक,

---

१. पढमतिया दव्वत्थी पज्जयगाही य इयरजे भणिया । ते चदु अत्थपधाणा सद्दपधाणा हु तिण्णियरा ॥ न० च० । २. अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः । ३. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय पर्यायानाक्रान्त-भेदानविशेषेण समस्तग्रहणात्संग्रहः । ४. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः । ५. ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयते इति ऋजुः । ६. लिङ्गसंख्या साधनादि—व्यभिचारनिवृत्ति परः शब्दकम् । ७. आकांक्षति 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' प्रयोगः । वृष्टि—क०, ङ०, म० । ८. शब्दशास्त्राधीनः ।

[1]शब्दभेदेऽर्थभेदार्थी व्यक्तपर्यायशब्दकः । नयः समभिरूढोऽर्थो नानासमभिरोहणात् ॥४८॥

संख्या-वचन, काल और उपग्रहपदके व्यभिचारको नहीं चाहता अर्थात् लिङ्ग संख्या आदिके भेदसे होनेवाले दोषको वह सदा दूर करता है। वह व्याकरणशास्त्रके आधीन रहता है। भावार्थ—जैसे लिङ्गव्यभिचार— 'पुष्यस्तारका नक्षत्रम्' यहाँ पुंलिङ्ग पुष्यका स्त्रीलिङ्ग तारका अथवा नपुंसक लिङ्ग नक्षत्रके साथ सम्बन्ध हो जाता है, लिङ्गभेद होनेपर भी विशेषण-विशेष्यभावमें अन्तर नहीं आता। साधनव्यभिचार—साधन कारकको कहते हैं, इसका उदाहरण 'सेना पर्वतमधिवसति' है। यहाँ पर्वत शब्द अधिकरणकारक है अतः उसमें सामान्य नियमके अनुसार सप्तमी विभक्ति आना चाहिए तथापि अधि उपसर्गपूर्वक वस् धातुका प्रयोग होनेसे कर्मकारकमें आनेवाली द्वितीया विभक्ति हो गयी फिर भी अर्थ अधिकरणकारकके अनुसार ही-'सेना पर्वतपर रहती है' होता है। संख्याव्यभिचार—संख्या वचनको कहते हैं, इसके उदाहरण हैं 'जलमापो, वर्षाः ऋतुः, आम्राः वनम्, वरणाः नगरम्' यहाँपर 'जलम्' एकवचन है फिर भी उसका पर्याय 'आपः' यह नित्य बहुवचनान्त शब्द दिया जा सकता है। 'वर्षाः' बहुवचन है और 'ऋतुः' एकवचन है फिर भी इनका विशेष्य-विशेषण भाव हो सकता है। इसी प्रकार शेष उदाहरण भी समझ लेना चाहिए। कालव्यभिचार—भूत, भविष्यत् और वर्तमानके भेदसे कालके तीन भेद हैं इनमें परस्पर विरुद्ध कालोंका भी प्रयोग होता है, जैसे 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता' यह उदाहरण है। यहाँ विश्वदृश्वाका अर्थ होता है 'विश्वं दृष्टवान्' इति विश्वदृश्वा—जिसने विश्वको देख लिया। परन्तु यहाँपर विश्वदृश्व इस भूतकालिक कर्मका जनिता इस भविष्यत्कालिक क्रियाके साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। उपग्रहव्यभिचार—आत्मनेपद, परस्मैपद आदि पदोंको उपग्रह कहते हैं। शब्दनय परस्मैपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर परस्मैपदके प्रयोगको जो कि व्याकरणके अनुसार होता है स्वीकृत कर लेता है। जैसे तिष्ठति, संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, रमते, विरमति, उपरमति आदि। यहाँ 'तिष्ठति'में परस्मैपदका प्रयोग होता है परन्तु सम् और प्र उपसर्ग लग जानेसे संतिष्ठते तथा प्रतिष्ठतेमें आत्मनेपद हो गया। 'रमते' यह आत्मनेपदका प्रयोग है परन्तु 'विरमति'में वि उपसर्ग और 'उपरमति'में उप उपसर्ग लग जानेसे परस्मैपद प्रयोग हो जाता है। लिङ्गादिके व्यभिचारके समान शब्दनय पुरुष व्यभिचारको भी नहीं मानता जैसे 'एहि मन्ये रथेन यास्यति, नहि यास्यति, यातस्ते पिता'—यहाँपर 'मन्यसे' इस मध्यमपुरुषके बदले हास्यमें 'मन्ये' इस उत्तमपुरुषका प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि शब्दनय व्याकरणके नियमोंके आधीन है, अतः वह सामान्य नियमोंके विरुद्ध प्रयोग होनेसे आनेवाले दोषको स्वीकृत नहीं करेगा ॥ ४७ ॥

जो शब्दभेद होनेपर अर्थभेद स्वीकृत करता है अर्थात् एक पदार्थके लिए अनेक पर्यायात्मक शब्द प्रयुक्त होनेपर उनके पृथक्-पृथक् अर्थको स्वीकृत करता है वह समभिरूढ़नय है, जैसे लोकमें देवेन्द्रके लिए इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दका प्रयोग आता है परन्तु समभिरूढनय इन सबके पृथक्-पृथक् अर्थको ग्रहण करता है। वह कहता है कि जो परम ऐश्वर्यका अनुभव करता है वह इन्द्र है, जो शक्तिसम्पन्न है वह शक्र है और जो पुरोंका विभाग करनेवाला है। वह पुरन्दर है, इसलिए इन भिन्न-भिन्न पर्याय शब्दोंसे सामान्य देवेन्द्रका ग्रहण न कर उसकी भिन्न-भिन्न विशेषताओंका ग्रहण करता है। अथवा जो नाना अर्थोंका

१. 'नानार्थसमभिरोहणात् समभिरूढः' अथवा 'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' अथवा 'यो यत्राभिरूढः स तत्र समेत्याभिमुख्येनारोहणात् समभिरूढः'।

[1]यदेन्दति तदैवेन्द्रो नान्यदेति क्रियाक्षणे । वाचकं मन्यते त्वेवमेवंभूतो यथार्थवाक् ॥४९॥
द्रव्यस्यानन्तशक्तित्वात्प्रतिशक्तिभिदा[2]श्रिताः । उत्तरोत्तरसूक्ष्मार्थगोचराः सप्त सन्नयाः ॥५०॥
अर्थशब्दप्रधानत्वाच्छब्दान्ताः पञ्चधा नयाः । [3]संग्रहादिनयाः[4] षोढा प्रत्येकं स्युः शतानि ते ॥५१॥
यावन्तोऽपि वचोमार्गास्तावन्तो नयवादतः । इयन्त इति संख्यानं नयानां नास्ति तत्त्वतः ॥५२॥
धर्माधर्मौ तथाकाशं पुद्गलः काल एव च । पञ्चाप्यजीवतत्त्वानि सम्यग्दर्शनगोचराः ॥५३॥
गतिस्थित्योर्निमित्तं तौ धर्माधर्मौ यथाक्रमम् । नभोऽवगाहहेतुस्तु जीवाजीवद्वयोस्सदा ॥५४॥
पूरणं गलनं कुर्वन् पुद्गलोऽनेकधर्मकः । सोऽणुसंघाततः स्कन्धः स्कन्धभेदादणुः पुनः ॥५५॥
वर्तनालक्षणो लक्ष्यः समयादिरनेकधा । कालः कलनधर्मेण [5]सपरत्वापरत्वकः ॥५६॥

उल्लंघन कर एक अर्थको मुख्यतासे ग्रहण करता है वह समभिरूढ़नय है, जैसे गो शब्द कोशमें वचन आदि अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध है किन्तु लोकमें वह अधिकतासे पशु अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। अथवा जो शब्दके निरुक्त—प्रकृति-प्रत्ययके संयोगसे सिद्ध होनेवाले अर्थको न मानकर उसके चालू वाच्यार्थको ही माना है वह समभिरूढ़नय है, जैसे गौ शब्दका निरुक्त अर्थ गच्छतीति गौः जो चले वह है, परन्तु लोकमें इस अर्थकी उपेक्षा कर पशु विशेषको गौ कहते हैं, वह चलती हो तब भी गौ है और बैठी या खड़ी हो तब भी गौ है ॥४८॥

जो पदार्थ जिस क्षणमें जैसी क्रिया करता है उसी क्षणमें उसको उस रूप कहना अन्य क्षणमें नहीं, यह एवंभूतनय है। यह नय पदार्थके यथार्थ स्वरूपको कहता है जैसे 'इन्दतीति इन्द्रः' जिस समय इन्द्र ऐश्वर्यका अनुभव करता है उसी समय इन्द्र कहलाता है अन्य समयमें नहीं ॥ ४९ ॥

द्रव्यकी अनन्त शक्तियाँ हैं। ये सातों नय प्रत्येक शक्तिके भेदोंको स्वीकृत करते हुए उत्तरोत्तर सूक्ष्म पदार्थको ग्रहण करते हैं ॥५०॥ इन †नयोंमें कितने ही नय अर्थप्रधान हैं और कितने ही शब्दप्रधान हैं, इसलिए प्रारम्भसे लेकर शब्दनय तक पाँच प्रकारके नय और संग्रह-को आदि लेकर अन्त तक छह प्रकारके नय अर्थात् नैगमादि सातों नयोंमें प्रत्येक सैकड़ों प्रकारके हैं ॥ ५१ ॥ क्योंकि जितने वचनके मार्ग-भेद हैं उतने नय हैं इसलिए नय इतने हैं। इस प्रकार यथार्थमें नयोंकी संख्या निश्चित नहीं है ॥ ५२ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पाँचो अजीव तत्त्व हैं तथा सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं ॥ ५३ ॥ इनमें-से धर्म और अधर्म द्रव्य क्रमसे गति और स्थितिके निमित्त हैं अर्थात् धर्म द्रव्य जीव और पुद्गलके गमनमें निमित्त है तथा अधर्म द्रव्य उन्हींकी स्थितिमें निमित्त है। आकाश, जीव और अजीव दोनों द्रव्योंके अवगाहमें निमित्त है ॥ ५४ ॥ पुद्गल द्रव्य पूरण गलन क्रिया करता हुआ वर्णादि अनेक गुणोंसे युक्त है। उसके दो भेद हैं, स्कन्ध और परमाणु। बहुतसे परमाणुओंके संयोगसे स्कन्ध बनता है और स्कन्धमें भेद होते-होते परमाणुकी उत्पत्ति होती है ॥ ५५ ॥ जो वर्तना लक्षणसे सहित है वह काल द्रव्य है। इसके समय आदि अनेक भेद हैं। परिवर्तनरूप धर्मसे सहित होनेके कारण काल द्रव्य परत्व और अपरत्व व्यवहारसे युक्त है ॥ ५६ ॥

---

१. येनात्मना भूतस्तेनैवात्मनाध्यवसाययतीति एवंभूतः —स० सि०। २. भिदा म०। ३. संग्रहादितया म०, ङ०, क०। ४. जावदिया वयणविहा तावदिया चेव होंति णयवादा। ५. परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः। ते अत्र कालोपकरणात्कालकृते गृह्येते। एते ते वर्तनादयः उपकाराः कालस्यास्तित्वं गमयन्ति। ननु वर्तनाग्रहणमेवास्तु तद्भेदाः परिणामादयः—(क० टि०)

† नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजु ये चार अर्थनय हैं तथा शेष तीन शब्दनय हैं।

[1]कायवाङ्मनसां कर्मयोगः स [2]पुनरास्रवः । शुभः[3] पुण्यस्य गण्यस्य पापस्याशुभलक्षणः ॥५७॥
[4]सकषायाकषायौ द्वौ स्वामिनावास्रवस्य सः । मिथ्यादृष्ट्यादिकाद्यस्य साम्परायिककर्मणः ॥५८॥
उपशान्तकषायादेरकषायस्य योगिनः । आस्रवः स्वामिनोऽन्यस्य स्यादीर्यापथकर्मणः ॥५९॥
[5]इन्द्रियाणि कषायाश्च हिंसादीन्यव्रतान्यपि । साम्परायिककर्मद्वाः स्यात्क्रियापञ्चविंशतिः ॥६०॥
चैत्यप्रवचनार्हत्सद्गुरुपूजादिकक्रिया । सा सम्यक्त्वक्रिया ख्याता सम्यक्त्वपरिवर्धिनी ॥६१॥
प्रवृत्तिरकृतादन्यदेवतास्तवनादिका । सा मिथ्यात्वक्रिया ज्ञेया मिथ्यात्वपरिवर्धिनी ॥६२॥
कायाद्यादिभिरन्येषां गमनादिप्रवर्तनम् । सा प्रयोगक्रिया वेद्या प्रायोऽसंयमवर्धिनी ॥६३॥
आभिमुख्यं प्रति प्रायः संयतस्याप्यसंयमे । समादानक्रिया प्रोक्ता प्रमादपरिवर्धिनी ॥६४॥
ईर्यापथनिमित्ता या सा प्रोक्तेर्यापथक्रिया । एताः पञ्चक्रिया हेतुरास्रवे साम्परायिके ॥६५॥
क्रोधावेशवशात्प्रादुर्भूता प्रादोषिकी क्रिया । योऽभ्युद्यमः प्रदुष्टस्य सततं सा कायिकी क्रिया ॥६६॥
क्रियाधिकारिणीत्युक्ता हिंसोपकरणग्रहात् । दुःखोत्पत्तिः स्वपरयोः क्रियान्या पारितापिकी ॥६७॥
इन्द्रियायुर्बलप्राणवियोगकरणात्क्रिया । प्राणातिपातिकी नाम्ना पञ्चैवाध्यात्मिकाः क्रियाः ॥६८॥
रागार्द्रीकृतचित्तत्वात्प्रशस्तस्य [6]प्रमादिनः । रम्यरूपावलोकाभिप्रायो दर्शनक्रिया ॥६९॥

काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं । वह योग ही आस्रव कहलाता है । उसके शुभ और अशुभके भेदसे दो भेद हैं । उनमें शुभयोग शुभास्रवका और अशुभयोग अशुभास्रवका कारण है ॥५७॥ आस्रवके स्वामी दो हैं—सकषाय (कषायसहित) और अकषाय (कषायरहित) । इसी प्रकार आस्रवके दो भेद हैं—साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव । मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर सूक्ष्मकषाय गुणस्थान तकके जीव सकषाय हैं और वे प्रथम साम्परायिक आस्रवके स्वामी हैं तथा उपशान्तकषायको आदि लेकर सयोगकेवली तकके जीव अकषाय हैं और ये अन्तिम ईर्यापथ आस्रवके स्वामी हैं । [चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भी अकषाय हैं परन्तु उनके योगका अभाव हो जानेसे आस्रव नहीं होता] ॥ ५८-५९ ॥ पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, हिंसा आदि पाँच अव्रत और पचीस क्रियाएँ ये साम्परायिक आस्रवके द्वार हैं ॥ ६० ॥ इनमें पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय और पाँच अव्रत प्रसिद्ध हैं, अतः इन्हें छोड़कर पचीस क्रियाओंका स्वरूप कहते हैं । प्रतिमा, शास्त्र, अर्हन्त देव तथा सच्चे गुरु आदिकी पूजा, भक्ति आदि करना सम्यक्त्वको बढ़ानेवाली सम्यक्त्वक्रिया है ॥ ६१ ॥ पापके उदयसे अन्य देवताओंकी स्तुति आदिमें प्रवृत्ति करना मिथ्यात्वको बढ़ानेवाली मिथ्यात्व क्रिया है ॥ ६२ ॥ गमनागमनादिमें प्रवृत्ति करना सो प्रायः असंयमको बढ़ानेवाली प्रयोग क्रिया है ॥ ६३ ॥ संयमी पुरुषका प्रायः असंयमकी ओर सम्मुख होना प्रमादको बढ़ानेवाली समादान क्रिया है ॥ ६४ ॥ जो क्रिया ईर्यापथमें निमित्त है वह ईर्यापथ क्रिया है । ये पाँच क्रियाएँ साम्परायिक आस्रवकी हेतु हैं ॥ ६५ ॥ क्रोधके आवेशसे जो क्रिया होती है वह प्रादोषिकी क्रिया है । दोषसे भरा मनुष्य जो उद्यम करता है वह कायिकी क्रिया है ॥ ६६ ॥ हिंसाके उपकरण-शस्त्र आदिके ग्रहणसे जो क्रिया होती है वह क्रियाधिकरिणी क्रिया है । स्व-परको दुःख उत्पन्न करनेवाली पारितापिकी क्रिया है ॥ ६७ ॥ इन्द्रिय, आयु और बल प्राणका वियोग करनेवाली क्रिया प्राणातिपातिकी है । ये पाँच आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं ॥६८॥ चित्तके रागसे आर्द्र हो जानेके कारण जब उत्तम पुरुष प्रमादी बन, किसी सुन्दर रूपके

---

१. 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' ॥१॥ २. 'स आस्रवः' ॥२॥ ३. 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य' ॥३॥ ४. 'सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः' ॥ ४ ॥ त० सू० अ० ६ । ५. इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥ त० सू० अ० ६ । ६. प्रशक्तस्य म०, ख० ।

सचेतनानुबन्धो यः [1]स्प्रष्टव्येऽतिप्रमादिनः । सा [2]स्पर्शनक्रिया ज्ञेया कर्मोपादानकारणम् ॥७०॥
उत्पादनादपूर्वस्य पापाधिकरणस्य तु । पापास्रवकरी प्रायः प्रोक्ता प्रत्यायिकी क्रिया ॥७१॥
स्त्रीपुंसपशुसम्पातिदेशेऽन्तर्मलमोक्षणम् । क्रिया साधुजनायोग्या सा समन्तानुपातिनी ॥७२॥
अप्रमृष्टाप्रदृष्टायां निक्षेपोऽङ्गादिनः क्षितौ । अनाभोगक्रिया सा तु पञ्चैता अपि दुष्क्रियाः ॥७३॥
[3]परेणैव तु निर्वर्त्या या स्वयं क्रियते क्रिया । सा स्वहस्तक्रिया बोध्या पूर्वोक्तास्रववर्धिनी ॥७४॥
पापादानादिवृत्तीनामभ्यनुज्ञानमात्मना । सा निसर्गक्रिया नाम्ना निसर्गेणास्रवावहा ॥७५॥
पराचरितसावद्यक्रियादेस्तु प्रकाशनम् । विदारणक्रिया [4]साऽन्यधीविदारणकारिणी ॥७६॥
यथोक्ता[5]ज्ञानसक्तस्य कर्तुमावश्यकादिषु । प्ररूपणान्यथा मोहादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥७७॥
[6]शाठ्यालस्याद्धि शास्त्रोक्तविधिकर्तव्यतां प्रति । अनादरस्त्वनाकाङ्क्षा-क्रिया पञ्चक्रिया इमाः ॥७८॥
आरम्भे क्रियमाणेऽन्यैः स्वयं हर्षः [7]प्रमादिनः । सा प्रारम्भक्रियात्यन्तं तात्पर्यं वा [8]छिदादिषु ॥७९॥
सा पारिग्राहिकी[9] ज्ञेया परिग्रहपरा क्रिया । मायाक्रियापि च ज्ञानदर्शनादिषु वञ्चना ॥८०॥
या मिथ्यादर्शनारम्भदृढीकरणतत्परा । प्रोत्साहनादिनान्यस्य सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥८१॥
कर्मोदयवशात्पापादनिवृत्तिरपि क्रिया । अप्रत्याख्यानसंज्ञा सा पञ्चामूरास्रवक्रियाः ॥८२॥

देखनेकी अभिलाषा करता है तब उसके दर्शन क्रिया होती है ॥ ६९ ॥ वही मनुष्य जब अत्यधिक प्रमादी बन स्पर्श करने योग्य पदार्थका बार-बार चिन्तन करता है तब कर्मबन्धमें कारणभूत स्पर्शन क्रिया होती है ॥ ७० ॥ पापके नये-नये कारण उत्पन्न करनेसे पापका आस्रव करनेवाली जो क्रिया होती है वह प्रत्यायिकी क्रिया कही गयी है ॥ ७१ ॥ स्त्री-पुरुष और पशुओंके मिलने-जुलने आदिके योग्य स्थानपर शरीर-सम्बन्धी मल-मूत्रादिको छोड़ना समन्तानुपातिनी क्रिया है। यह क्रिया साधुजनोंके अयोग्य है ॥ ७२ ॥ बिना शोधी, बिना देखी भूमिपर शरीरादिका रखना अनाभोगक्रिया है। ये पाँचों ही क्रियाएँ दुष्क्रियाएँ कहलाती हैं ॥ ७३ ॥ दूसरेके द्वारा करने योग्य क्रियाको स्वयं अपने हाथसे करना यह पूर्वोक्त आस्रवको बढ़ानेवाली स्वहस्तक्रिया है ॥ ७४ ॥ पापोत्पादक वृत्तियोंको स्वयं अच्छा समझना निसर्गक्रिया है, यह स्वभावसे ही आस्रवको बढ़ानेवाली है ॥ ७५ ॥ दूसरेके द्वारा आचरित पापपूर्ण क्रियाओंका प्रकट करना यह दूसरेकी बुद्धिको विदारण करनेवाली विदारणक्रिया है ॥ ७६ ॥ आगमकी आज्ञाके अनुसार आवश्यक आदि क्रियाओंके करनेमें असमर्थ मनुष्यका मोहके उदयसे उनका अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ॥ ७७ ॥ अज्ञान अथवा आलस्यके सहित होनेके कारण शास्त्रोक्त विधियोंके करनेमें अनादर करना अनाकांक्षाक्रिया है, इस प्रकार ये पाँच क्रियाएँ हैं ॥ ७८ ॥ दूसरोंके द्वारा किये जानेवाले आरम्भमें प्रमादी होकर स्वयं हर्ष मानना अथवा छेदन-भेदन आदि क्रियाओंमें अत्यधिक तत्पर रहना प्रारम्भ क्रिया है ॥ ७९ ॥ परिग्रहमें तत्पर जो क्रिया है वह पारिग्राहिकी क्रिया है। ज्ञान दर्शन आदिके विषयमें जो छलपूर्ण प्रवृत्ति है वह मायाक्रिया है ॥ ८० ॥ प्रोत्साहन आदिके द्वारा दूसरेको मिथ्यादर्शनके प्रारम्भ करने तथा उसके दृढ़ करनेमें तत्पर जो क्रिया है वह मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥ ८१ ॥ कर्मोदयके वशीभूत होनेसे पापसे निवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। इस प्रकार आस्रवको बढ़ानेवाली ये पाँच क्रियाएँ हैं। इस प्रकार पाँच-पाँचके पञ्चकसे पचीस क्रियाओंका वर्णन किया ॥ ८२ ॥

१. स्प्रष्टव्योऽतिप्रमादिनः म० । २. दर्शनक्रिया म० । ३. वरेणैव म० । ४. सान्या धीविदारण- म०, ङ० । ५. यथोक्तादान-म० । ६. सा व्यालस्याद्धि म०, साद्यालस्याद्धि० क०, ङ० । ७. हर्षप्रमादिनः । ८. वाञ्छितादिषु म०, क०, ङ०, ख० । ९. पारिग्राहिणी म०, क०, ङ० ।

[1]मन्दमध्यातितीव्रत्वात्परिणामस्य देहिनाम् । मन्दो मध्योऽतितीव्रः स्यादास्रवो हेतुभेदतः ॥८३॥
[2]जीवाधिकरणश्चान्यजीवाधिकरणोऽपि सः । आस्रवो भिद्यते द्वेधा जीवाधिकरणास्रवाः ॥८४॥
[3]तैः संरम्भसमारम्भैः सारम्भैस्त्रिकृतादिभिः । त्रियोगैश्च कषायैश्च षट्त्रिंशत्पृथगास्रवाः ॥८५॥
[4]निर्वर्तना च निक्षेपोऽजीवाधिकरणास्रवाः । संयोगश्च निसर्गश्च द्विचतुर्द्वित्रिभेदिनः ॥८६॥
निर्वर्तनाधिकरणं मूलोत्तरगुणा द्विधा । शरीरवाङ्मनःप्राणापानादीनां च तौ गुणौ ॥८७॥
सहसादुःप्रमृष्टानाभोगसाप्रत्यवेक्षितैः[5] । भेदैश्चतुर्विधैस्तन्निक्षेपाधिकरणं पुनः ॥८८॥

जीवोंके परिणाम मन्द, मध्यम और तीव्र होते हैं इसलिए हेतुमें भेद होनेसे आस्रव भी मन्द, मध्यम और तीव्र होता है ॥ ८३ ॥ जीवाधिकरण और अजीवाधिकरणके भेदसे आस्रवके दो भेद हैं। जीवाधिकरण आस्रवके मूलमें तीन भेद हैं—१ संरम्भ २ समारम्भ और ३ आरम्भ। इनमें-से प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदना—तीन, मनोयोग, वचनयोग, काययोग तीन और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय—चार इनसे परस्पर गुणित होनेपर छत्तीस-छत्तीस भेद होते हैं। तीनोंके मिलाकर एक-सौ आठ भेद हो जाते हैं॥ भावार्थ—किसी कार्यके करनेका मनमें विचार करना संरम्भ है। उसके साधन जुटाना समारम्भ है और कार्य रूपमें परिणत करना आरम्भ है। स्वयं कार्य करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है और कोई करे उसमें हर्ष मानना अनुमति है। मनसे किसी कार्यका विचार करना मनोयोग है, वचनसे प्रकट करना वचनयोग है और कायसे कार्य करना काययोग है। क्रोध कषायसे प्रेरित हो किसी कार्यको करना क्रोध कषाय है, मानसे प्रेरित हो करना मान कषाय है, मायासे प्रेरित हो करना माया कषाय है और लोभसे प्रेरित होकर करना लोभ कषाय है। मूलमें संरम्भ आदिके भेदसे आस्रव तीन प्रकारका होता है, इनमें-से प्रत्येक भेद कृत, कारित अनुमोदनाकी अपेक्षा तीन प्रकारका होता है, फिर यही तीन भेद तीन योगके निमित्तसे होते हैं, इसलिए तीनका तीनमें गुणा करनेपर नौ भेद होते हैं। तदनन्तर यही नौ भेद क्रोधादि कषायकी अपेक्षा चार-चार प्रकारके होते हैं इसलिए नौमें चारका गुणा करनेपर छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस भेद संरम्भके, छत्तीस समारम्भके और छत्तीस आरम्भके, तीनोंको मिलाकर एक सौ आठ भेद होते हैं। अथवा दूसरी तरहसे संरम्भादि तीनमें कृत कारितादिका गुणा करनेपर नौ भेद हुए, उनमें तीन योगका गुणा करनेपर सत्ताईस हुए और उसमें क्रोधादि चार कषायका गुणा करनेपर एक-सौ आठ भेद होते हैं। ये सब परिणाम जीवकृत हैं अतः इन्हें जीवाधिकरण आस्रव कहते हैं ॥८४–८५॥ दो प्रकारकी निर्वर्तना, चार प्रकारका निक्षेप, दो प्रकारका संयोग और तीन प्रकारका निसर्ग ये अजीवाधिकरण आस्रवके भेद हैं ॥८६॥ मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तनाके भेदसे निर्वर्तनाके दो भेद हैं। शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्वास आदिकी रचना होना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, पाषाण, मिट्टी आदिसे चित्राम आदिका बनाना उत्तरगुण निर्वर्तना है ॥८७॥ सहसा निक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, अनाभोग निक्षेपाधिकरण और अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण इन चार भेदोंसे निक्षेपाधिकरण चार प्रकारका होता है। शीघ्रतासे किसी वस्तुको रख देना सहसा निक्षेप है। दुष्टतापूर्वक साफ की हुई भूमिमें किसी वस्तुको रखना दुष्प्रमृष्ट निक्षेप है। अव्यवस्थाके साथ चाहे जहाँ किसी वस्तुको रख देना अनाभोग निक्षेप है और बिना देखी-

१. तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥६॥ त० सू० अ० ६ । २. अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥ त० सू० अ० ६ । ३. आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥ त० सू० अ० ६ । ४ निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः ॥९॥ त० सू० अ० ६ । ५. परम् साम्प्रत्यवेदितौ म० ।

भक्तपानोपकरणसंयोगद्वितयात्मना । तद्द्वैविध्यं हि संयोगकारणस्य च कीर्तितम् ॥८९॥
यन्निसर्गाधिकरणं तत्त्रैविध्यं प्रपद्यते । वाङ्मनःकायपूर्वैस्तु निसर्गैस्तत्प्रवर्तकैः ॥९०॥
कर्मास्रवाणां भेदोऽयं सामान्येन निरूपितः । भेदः कर्मविशेषाणामास्रवस्य विशिष्यते ॥९१॥
[1]प्रदोषनिह्नवा[2]दानविघ्नासादनदूषणाः । ज्ञानस्य दर्शनज्ञानावृत्त्योरास्रवहेतवः ॥९२॥
[3]दुःखशोकवधाक्रन्दतापाः सपरिदेवनाः । असद्वेद्यास्रवद्वाराः स्वपरोभयवर्तिनः ॥९३॥
[4]दया सकलभूतेषु व्रतिष्वत्यनुरागता । सरागसंयमो दानं क्षान्तिः शौचं यथोदितम् ॥९४॥
अर्हत्पूजादितात्पर्यं बालवृद्धतपस्विषु । वैयावृत्त्यादयो ज्ञेयाः सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥९५॥

शोधी भूमिमें किसी वस्तुको रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है॥८८॥ भक्तपान संयोग और उपकरण संयोगके भेदसे संयोगाधिकरण आस्रव दो प्रकारका कहा गया है। भोजन और पानको अन्य भोजन तथा पानमें मिलाना भक्तपान संयोग है तथा बिना विवेकके उपकरणोंका परस्पर मिलाना उपकरण संयोग है जैसे शीतस्पर्श युक्त पीछीसे घाममें संतप्त कमण्डलुका सहसा पोंछना आदि॥८९॥ वाङ्निसर्ग, मनोनिसर्ग और कायनिसर्गके भेदसे निसर्गाधिकरण आस्रव तीन रूपताको प्राप्त होता है। वचनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको वाङ्निसर्ग कहते हैं, मनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको मनोनिसर्ग कहते हैं और कायकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको काय निसर्ग कहते हैं॥९०॥ इस प्रकार यह सामान्य रूपसे कर्मास्रवोंका भेद कहा। अब ज्ञानावरणादिके भेदसे युक्त विशिष्ट कर्मोंके आस्रवका भेद कहा जाता है॥९१॥ ज्ञानके विषयमें किये हुए प्रदोष, निह्नव, अदान, विघ्न, आसादन और दूषण ज्ञानावरणके आस्रव हैं और दर्शनके विषयमें किये हुए प्रदोष आदि दर्शनावरणके आस्रव हैं। मोक्षके साधनभूत तत्त्वज्ञानका निरूपण होनेपर कोई मनुष्य चुपचाप बैठा है परन्तु भीतर-ही-भीतर उसका परिणाम कलुषित हो रहा है इसे प्रदोष कहते हैं। किसी कारणसे 'मेरे पास नहीं है' अथवा 'मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि रूपसे ज्ञानको छिपाना निह्नव है। मात्सर्यके कारण देने योग्य ज्ञान भी दूसरेको नहीं देना सो अदान है। ज्ञानमें अन्तराय डाल देना सो विघ्न है। दूसरेके द्वारा प्रकाशमें आने योग्य ज्ञानको काय और वचनसे रोक देना आसादन है और प्रशस्त ज्ञानमें दोष लगाना दूषण है॥९२॥

वेदनीय कर्मके दो भेद हैं—१ असातावेदनीय और २ सातावेदनीय। इनमें-से निज, पर और दोनोंके विषयमें होनेवाले दुःख, शोक, वध, आक्रन्दन, ताप और परिदेवन ये असातावेदनीयके आस्रव हैं। पीड़ारूप परिणामको दुःख कहते हैं। अपने उपकारक पदार्थोंका संबन्ध नष्ट हो जानेपर परिणामोंमें विकलता उत्पन्न होना शोक है। आयु, इन्द्रिय तथा बल आदि प्राणोंका वियोग करना वध है। संताप आदिके कारण अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है। लोकमें अपनी निन्दा आदिके फैल जानेसे हृदयमें तीव्र पश्चात्ताप होना ताप है। और उपकारीका वियोग होनेपर उसके गुणोंका स्मरण तथा कीर्तन करते हुए इस तरह विलाप करना जिससे सुननेवाले दयार्द्र हो जावें उसे परिदेवन कहते हैं॥९३॥ समस्त प्राणियोंपर दया करना, व्रती जनोंपर अनुराग रखना, सरागसंयम, दान, क्षमा, शौच, अर्हन्त भगवान्‌की पूजामें तत्पर रहना और बालक तथा वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्ति आदि करना सातावेदनीय-

१. तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥ त० सू० अ० ६। २. निह्नवादाने म०, ङ०। ३. दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥ त० सू० अ० ६। ४. भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥ त० सू० अ० ६।

[1]केवलिश्रुतसंघेषु धर्मदेवेष्ववर्णवाक् । हेतुर्दर्शनमोहस्याप्यास्रवस्य निरूपितः ॥९६॥
[2]उदयात्तु कषायाणां परिणामोऽपि तीव्रकः । हेतुश्चारित्रमोहस्य नानाभेदास्रवस्य तु ॥९७॥
तत्र स्वान्यकषायाणामुत्पादेन समुद्धता । कषायवेदनीयस्य हेतुः सद्वृत्तदूषणम्[3] ॥९८॥
प्रहासशीलतादिः स्याद्धर्मोपहसनादिभिः । सहास्यवेदनीयस्य महास्रवनिबन्धनम् ॥९९॥
विचित्रक्रीडनासक्तिर्व्रतशीलारोचनम् । रत्याख्यवेदनीयस्य हेतुः स्यादास्रवो महान् ॥१००॥
परारतिविधानं च रतेरपि विनाशनम् । अरतेर्वेदनीयस्य हेतुर्दुःशीलसेवनम् ॥१०१॥
स्वशोकोत्पादनं चान्यशोकवृद्ध्यभिनन्दनम्[4] । कुशोकवेदनीयस्य नित्यमास्रवकारणम् ॥१०२॥
भयोत्पादनमन्येषां स्वभयस्य च भावनम् । भयाख्यवेदनीयस्य सन्ततो हेतुरास्रवे ॥१०३॥
कुशलाचरणाचारजुगुप्सापरिवादिता । जुगुप्सावेदनीयस्य हेतुरास्रवगोचरः ॥१०४॥
अतिसंधानपरता परस्यालीकवादिता । प्रवृद्धरागतादि स्त्रीवेदनीयस्य कारणम् ॥१०५॥
सानुत्सेकतनुक्रोधस्वदारपरितोषिताः । हेतुः पुंवेदनीयस्य कर्मणः संसृतौ मतः ॥१०६॥
प्राचुर्यं च कषायाणां गुह्याङ्गव्यपरोपणम् । परस्त्रीसक्तिरन्यस्य वेदनीयस्य हेतवः ॥१०७॥

के आस्रव हैं ॥९४-९५॥ केवली, श्रुत, संघ, धर्म तथा देवका अवर्णवाद करना—झूठे दोष लगाना दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके हेतु कहे गये हैं। केवली कवलाहारसे जीवित रहते हैं इत्यादि असद्भूत दोषोंका निरूपण करना केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रमें मांस भक्षण आदि निषिद्ध कार्योंका उल्लेख है इत्यादि कहना श्रुतका अवर्णवाद है। ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंका समूह संघ कहलाता है-इनके दोष कहना अर्थात् ये शरीरसे अपवित्र हैं, शूद्र-तुल्य हैं, नास्तिक हैं आदि कहना संघका अवर्णवाद है। जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ धर्म निर्गुण है और उसके पालन करनेवाले असुर होते हैं इत्यादि कहना धर्मका अवर्णवाद है और देव मांस-मदिराका सेवन करते हैं, इत्यादि कहना देवका अवर्णवाद है ॥९६॥ कषायके उदयसे जो तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोहके नाना-प्रकारके आस्रवोंका कारण है ॥९७॥ चारित्र मोहनीयके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय-की अपेक्षा दो भेद हैं। इनमें-से निज तथा पर को कषाय उत्पन्न कर उद्धत वृत्तिका धारण करना तथा तपस्विजनोंके सम्यक् चारित्रमें दूषण लगाना कषायवेदनीयके आस्रव हैं। धर्मका उपहास आदि करनेसे हास्यरूप स्वभावका होना अर्थात् धर्मकी हँसी उड़ाकर प्रसन्नताका अनुभव करना हास्य अकषायवेदनीयका आस्रव है ॥९८-१००॥ दूसरोंको अरति उत्पन्न करना, रतिको नष्ट करना और दुष्ट स्वभावके धारक जनोंकी सेवा करना रति नामक अकषायवेदनीयके आस्रव हैं ॥१०१॥ अपने-आपको शोक उत्पन्न करना तथा दूसरोंके शोककी वृद्धि देख प्रसन्नता-का अनुभव करना शोक अकषायवेदनीयके आस्रव हैं ॥१०२॥ दूसरोंको भय उत्पन्न करना तथा अपने भयकी चिन्ता करना भय अकषायवेदनीयके आस्रव हैं ॥१०३॥ उत्तम आचरण करनेवाले मनुष्योंके आचारमें ग्लानि करना तथा उनकी निन्दा करना जुगुप्सा अकषाय-वेदनीयका आस्रव है ॥१०४॥ दूसरेको धोखा देनेमें अत्यधिक तत्पर रहना, असत्य बोलना तथा रागकी अधिकता होना स्त्री अकषायवेदनीयके आस्रव हैं ॥१०५॥ नम्रतासे सहित होना, क्रोधकी न्यूनता होना और अपनी स्त्रीमें संतोष रखना ये संसारमें पुंवेद अकषायवेदनीयके आस्रव माने गये हैं ॥१०६॥ कषायोंकी प्रचुरता होना, गुह्य अङ्गोंका छेदन करना तथा परस्त्री-में आसक्ति रखना ये नपुंसक अकषायवेदनीयके आस्रव हैं ॥१०७॥

---

१. केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥ त० सू० अ० ६ । २. कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥ त० सू० अ० ६ । ३. सद्वृत्तभूषणम् म० । ४. निन्दनम् म० ।

[1]नारकस्यायुषो योगो बह्वारम्भपरिग्रहैः । तैर्यग्योनस्य[2] माया तु हेतुरास्रवणस्य सः ॥१०८॥
[3]मानुषस्यायुषो हेतुरल्पारम्भपरिग्रहैः । [4]सन्तुष्टस्याव्रतत्वादि मार्दवं च स्वभावतः[5] ॥१०९॥
[6]सम्यक्त्वं च व्रतित्वं च[7] बालतापस्ययोगिता । अकामनिर्जरा चास्य दैवस्यास्रवहेतवः ॥११०॥
[8]स्वयोगवक्रता चान्यविसंवादनयोगिता । हेतुर्नाम्नोऽशुभस्यैव [9]शुभस्यातिसुयोगता ॥१११॥
[10]तथा नामविशेषस्य तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः । सद्दर्शनविशुद्ध्याद्याः षोडशातिविनिर्मलाः ॥११२॥
[11]सद्गुणाच्छादनं निन्दा परेषां स्वस्य शंसनम् । असद्गुणसमाख्यानं नीचैर्गोत्रास्रवावहाः ॥११३॥
[12]सनीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ हेतुरुक्तविपर्ययः । उच्चैर्गोत्रेऽन्तरायस्य[13] दानविघ्नादिकर्तृता ॥११४॥
शुभः पुण्यस्य सामान्यादास्रवः प्रतिपादितः । तद्विशेषप्रतीत्यर्थमिदं तु प्रतिपद्यते ॥११५॥
[14]हिंसानृतवचश्चौर्याब्रह्मचर्यपरिग्रहात् । विरतिर्देशतोऽणु स्यात्सर्वतस्तु महद्व्रतम् ॥११६॥
[15]महाणुव्रतयुक्तानां स्थिरीकरणहेतवः । व्रतानामिह पञ्चानां प्रत्येकं पञ्च भावनाः ॥११७॥

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना नरकायुका आस्रव है। मायाचार तिर्यञ्च आयुका आस्रव है ॥१०८॥ थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखनेसे मनुष्य आयुका आस्रव होता है। संतोष धारण करते हुए अव्रत अवस्था होना तथा स्वभावसे कोमल परिणामी होना भी मनुष्यायुके आस्रव हैं ॥१०९॥ सम्यग्दर्शन, व्रतीपना, बालतप तथा अकामनिर्जरा ये देवायुके आस्रव हैं ॥११०॥ अपने योगोंकी कुटिलता और दूसरोंके साथ विसंवाद ये अशुभ नामकर्मके आस्रव हैं और अपने योगोंकी सरलता तथा विसंवादका अभाव होना शुभ नामका आस्रव है ॥१११॥ नामकर्मका विशेष भेद जो तीर्थंकर प्रकृति है उसके आस्रव, अत्यन्त निर्मलताको प्राप्त दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ हैं ॥११२॥ दूसरोंके विद्यमान गुणोंको छिपाना, अपनी प्रशंसा करना तथा अपने अविद्यमान गुणोंका कथन करना ये नीच-गोत्रकर्मके आस्रव हैं ॥११३॥ विनयपूर्ण प्रवृत्ति करना तथा अहंकार नहीं करना उच्चगोत्रके आस्रव हैं और दान आदिमें विघ्न करना अन्तरायकर्मके आस्रव हैं ॥११४॥

पुण्यकर्मका जो शुभास्रव होता है उसका सामान्यरूपसे वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब उसकी विशेष प्रतीतिके लिए यह प्रतिपादन किया जा रहा है ॥११५॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त होना सो व्रत है। यह व्रत अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है। उक्त पापोंसे एकदेश विरत होना अणुव्रत है और सर्वदेश विरत होना महाव्रत है ॥११६॥ महाव्रत और अणुव्रतसे युक्त मनुष्योंको अपने व्रतमें स्थिर रखनेके लिए उक्त पाँचों व्रतोंमें प्रत्येककी पाँच-पाँच भावनाएँ कही जाती हैं ॥११७॥ सम्यक्

---

१. बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥ २. माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥ ३. अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥ ४. निश्शीलव्रतित्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥ ५. स्वभावमार्दवं च ॥१८॥ ६. सम्यक्त्वं च ॥२१॥ ७. सरागसंयमसंयमासंयमकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥ ८. योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥ ९. तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥ १०. दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥ त० सू० अ० ६। ११. परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥ १२. तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥ १३. विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥ त० सू० अ० ६। १४. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥ त० सू० अ० ७। १५. तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

[1]सुवाग्गुप्तिमनोगुप्ती स्वकाले वीक्ष्य भोजनम् । ईर्यादाननिक्षेपसमिती प्राग्व्रतस्य ताः[2] ॥११८॥
[3]स्वक्रोधलोभभीरुत्वहास्यहानोद्धभाषणाः । द्वितीयस्य व्रतस्यैता भाविताः पञ्च भावनाः ॥११९॥
[4]शून्यान्यमोचितागारवासान्यानुपरोधिताः । भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादौ तृतीयस्य व्रतस्य ताः ॥१२०॥
[5]स्त्रीरागकथाश्रुत्या रम्याङ्गेक्षाङ्गसंस्कृतः । रसपूर्वरतस्मृत्योस्त्यागास्तुर्यव्रतस्य ताः ॥१२१॥
[6]इष्टानिष्टेन्द्रियार्थेषु रागद्वेषविमुक्तयः । यथास्वं पञ्च विज्ञेयाः पञ्चमव्रतभावनाः ॥१२२॥
[7]हिंसादिष्विह चामुष्मिन्नपायावद्यदर्शनम् । व्रतस्थैर्यार्थमेवात्र भावनीयं मनीषिभिः ॥१२३॥
[8]दुःखमेवेति चाभेदादसद्वेद्यादिहेतवः । नित्यं हिंसादयो दोषा भावनीयाः मनीषिभिः ॥१२४॥
[9]मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यं च यथाक्रमम् । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे ह्यविनेये च भाव्यते ॥१२५॥
[10]स्वसंवेगविरागार्थं नित्यं संसारभीरुभिः । जगत्कायस्वभावौ च भावनीयौ मनस्विभिः ॥१२६॥
[11]इन्द्रियाद्या दश प्राणाः प्राणिभ्योऽत्र प्रमादिना । यथासंभवमेषां हि हिंसा तु व्यपरोपणम् ॥१२७॥

वचनगुप्ति, सम्यग्मनोगुप्ति, भोजनके समय देखकर भोजन करना (आलोकितपान भोजन) ईर्यासमिति और आदाननिक्षेपण समिति ये पाँच अहिंसा व्रतकी भावनाएँ हैं ॥११८॥ अपने क्रोध,लोभ,भय और हास्यका त्याग करना तथा प्रशस्त वचन बोलना (अनुवोचिभाषण) ये पाँच सत्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥११९॥ शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्य व्रतकी भावनाएँ हैं ॥१२०॥ स्त्री—रागकथा श्रवण त्याग, अर्थात् स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथाओंके सुननेका त्याग करना, उनके मनोहर अङ्गोंके देखनेका त्याग करना, शरीरकी सजावटका त्याग करना, गरिष्ठ रसका त्याग करना एवं पूर्व कालमें भोगे हुए रतिके स्मरणका त्याग करना ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ हैं ॥१२१॥ पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें यथायोग्य राग-द्वेषका त्याग करना ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएँ हैं ॥१२२॥ बुद्धिमान् मनुष्योंको व्रतोंकी स्थिरताके लिए यह चिन्तवन भी करना चाहिए कि हिंसादि पाप करनेसे इस लोक तथा परलोकमें नाना प्रकारके कष्ट और पापबन्ध होता है ॥ १२३ ॥ अथवा नीतिके जानकार पुरुषोंको निरन्तर ऐसी भावना करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि दोष दुःख रूप ही हैं। यद्यपि ये दुःखके कारण हैं दुःख रूप नहीं परन्तु कारण और कार्यमें अभेद विवक्षासे ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ॥१२४॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ क्रमसे प्राणी-मात्र, गुणाधिक, दुःखी और अविनेय जीवोंमें करना चाहिए। भावार्थ—किसी जीवको दुःख न हो ऐसा विचार करना मैत्री भावना है। अपनेसे अधिक गुणी मनुष्योंको देखकर हर्ष प्रकट करना प्रमोद भावना है। दुःखी मनुष्योंको देखकर हृदयमें दयाभाव उत्पन्न होना करुणा भावना है और अविनेय-मिथ्यादृष्टि जीवोंमें मध्यस्थ भाव रखना माध्यस्थ्य भावना है ॥ १२५ ॥ अपनी आत्मामें संवेग और वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए संसारसे भयभीत रहनेवाले विचारक मनुष्योंको सदा संसार और शरीरके स्वभावका चिन्तवन करना चाहिए ॥१२६॥

इस संसारमें प्राणियोंके लिए यथासंभव इन्द्रियादि दश प्राण प्राप्त हैं। प्रमादी बनकर

१. स्ववाग् म० । २. वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥ ३. क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ ४. शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ ५. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ ६. मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ ७. हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥ ८. दुःखमेव वा ॥ १० ॥ ९. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥ १०. स्वसंवेगादिरागार्थं म०, जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥ ११. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्माय वियोजनम् । प्राणानां तु प्रमत्तस्य समितस्य न बन्धकृत्[1] ॥१२८॥
स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्[2] । पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः[3] ॥१२९॥
सदर्थमसदर्थं च प्राणिपीडाकरं वचः । असत्यमनृतं प्रोक्तमृतं प्राणिहितं वचः ॥१३०॥
[4]अदत्तस्य स्वयं ग्राहो वस्तुनश्चौर्यमीर्यते । संक्लेशपरिणामेन प्रवृत्तिर्यत्र तत्र तत् ॥१३१॥
अहिंसादिगुणा यस्मिन् बृंहन्ति ब्रह्म तत्स्वतः । [5]अब्रह्मान्यत्तु[6] रत्यर्थं स्त्रीपुंसमिथुनेहितम् ॥१३२॥
गवाश्वमणिमुक्तादौ चेतनाचेतने धने । बाह्येऽबाह्ये च रागादौ हेयो[7] मूर्च्छा परिग्रहः[8] ॥१३३॥
तेभ्यो विरतिरूपाण्यहिंसादीनि व्रतानि हि । महत्त्वाणुत्वयुक्तानि यस्य सन्ति व्रती तु सः ॥१३४॥
सत्यपि व्रतसंबन्धे निःशल्यस्तु[9] व्रती मतः[10] । मायानिदानमिथ्यात्वं शल्यं शल्यमिव त्रिधा ॥१३५॥
[11]सागारश्चानगारश्च द्वाविह व्रतिनौ मतौ । [12]सागारोऽणुव्रतोऽत्र स्यादनगारो महाव्रतः ॥१३६॥
सागारो रागभावस्थो वनस्थोऽपि कथञ्चन । निवृत्तरागभावो यः सोऽनगारो गृहोषितः ॥१३७॥
त्रसस्थावरकायेषु त्रसकायाऽपरोपणात् । विरतिः प्रथमं प्रोक्तमहिंसाख्यमणुव्रतम् ॥१३८॥

उनका विच्छेद करना सो हिंसा पाप है ॥१२७॥ प्राणियोंके दुःखका कारण होनेसे प्रमादी मनुष्य जो किसीके प्राणोंका वियोग करता है वह अधर्मका कारण है—पापबन्धका निमित्त है परन्तु समितिपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले प्रमादरहित जीवके कदाचित् यदि किसी जीवके प्राणोंका वियोग हो जाता है तो वह उसके लिए बन्धका कारण नहीं होता है ॥१२८॥ प्रमादी आत्मा अपनी आत्माका अपने-आपके द्वारा पहले घात कर लेता है पीछे दूसरे प्राणियोंका वध होता भी है और नहीं भी होता है ॥१२९॥ विद्यमान अथवा अविद्यमान वस्तुको निरूपण करनेवाला प्राणि-पीड़ाकारक वचन असत्य अथवा अनृत वचन कहलाता है। इसके विपरीत जो वचन प्राणियोंका हित करनेवाला है वह ऋत अथवा सत्यवचन कहलाता है ॥१३०॥ बिना दी हुई वस्तुका स्वयं ले लेना चोरी कही जाती है। परन्तु जहाँ संक्लेश परिणामपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहीं चोरी होती है ॥१३१॥ जिसमें अहिंसादि गुणोंकी वृद्धि हो वह वास्तविक ब्रह्मचर्य है। इससे विपरीत संभोगके लिए स्त्री-पुरुषोंकी जो चेष्टा है वह अब्रह्म है ॥१३२॥ गाय, घोड़ा, मणि, मुक्ता आदि चेतन, अचेतनरूप बाह्य धनमें तथा रागादिरूप अन्तरङ्ग विकारमें ममताभाव रखना परिग्रह है। यह परिग्रह छोड़ने योग्य है ॥१३३॥ इन हिंसादि पाँच पापोंसे विरत होना सो अहिंसा आदि पाँच व्रत हैं। ये व्रत महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके हैं तथा जिसके ये होते हैं वह व्रती कहलाता है ॥१३४॥ व्रतका संबन्ध रहनेपर भी जो निःशल्य होता है वही व्रती माना गया है। माया, निदान और मिथ्यात्वके भेदसे शल्य तीन प्रकारकी है। यह शल्य, शल्य अर्थात् काँटोंके समान दुःख देनेवाली है ॥१३५॥

सागार और अनगारके भेदसे व्रती दो प्रकारके माने गये हैं। इनमें अणुव्रतोंके धारी सागार कहलाते हैं और महाव्रतोंके धारक महाव्रती कहे जाते हैं ॥१३६॥ जो मनुष्य राग-भावमें स्थित है वह किसी तरह वनमें रहनेपर भी सागार—गृहस्थ है और जिसका रागभाव दूर हो गया है वह घरमें रहनेपर भी अनगार है ॥१३७॥ त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। इनमें-से त्रसकायिक जीवोंके विघातसे विरत होना पहला अहिंसाणुव्रत कहा

---

१. उच्चालिदम्हि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमणट्ठाणे। आवादे[धे]ज्जकुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥ १ ॥ ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समए। मुच्छापरिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥२॥ सर्वार्थसिद्धौ उद्धृतम्। २. प्राणव्यपहरणात् म०। ३. यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्। पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। ४. अदत्तादानं स्तेयम्। ५. मैथुनमब्रह्म। ६. अब्रह्मण्यं तु क०, अब्रह्मान्यस्तु म०, ङ०। ७. हेये म०, ङ०। ८. मूर्च्छा परिग्रहः। ९. निःशल्यो व्रती। १०. यतः म०। ११. अगार्यनगारश्च। १२. अणुव्रतोऽगारी।

यद्रागद्वेषमोहादेः परपीडाकरादिह । अनृताद्विरतिर्यत्र तद्द्वितीयमणुव्रतम् ॥१३९॥
परद्रव्यस्य नष्टादेर्महतोऽल्पस्य चापि यत् । अदत्तस्येऽस्य नादानं तत्तृतीयमणुव्रतम् ॥१४०॥
दारेषु परकीयेषु परित्यक्तरतिस्तु यः । स्वदारेष्वेव सन्तोषस्तच्चतुर्थमणुव्रतम् ॥१४१॥
स्वर्णदासगृहक्षेत्रप्रभृतेः परिमाणतः । [1]बुद्धयेच्छापरिमाणाख्यं पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥१४२॥
गुणव्रतान्यपि त्रीणि पञ्चाणुव्रतधारिणः । शिक्ष्या (क्षा) व्रतानि चत्वारि भवन्ति गृहिणः सतः ॥१४३॥
यः प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृतावध्यनतिक्रमः । दिग्विदिक्षु गुणेष्वाद्यं तद् दिग्विरतिव्रतम् ॥१४४॥
ग्रामादीनां प्रदेशस्य परिमाणकृतावधिः । बहिर्गतिनिवृत्तिर्या तद्देशविरतिव्रतम् ॥१४५॥
पापोपदेशोऽपध्यानं[2] प्रमादाचरितं तथा । हिंसाप्रदानमशुभश्रुतिश्चापीति पञ्चधा ॥१४६॥
पापोपदेशहेतुर्योऽनर्थदण्डोऽपकारकः । अनर्थदण्डविरतिर्व्रतं तद्विरतिः स्मृतम् ॥१४७॥
पापोपदेश आदिष्टो वचनं पापसंयुतम् । वणिग्वधकारम्भपूर्वं सावद्यकर्मसु ॥१४८॥
अपध्यानं जयः स्वस्य यः परस्य पराजयः । वधबन्धार्थहरणं कथं स्यादिति चिन्तनम् ॥१४९॥
वृक्षादिच्छेदनं भूमिकुट्टनं जलसेचनम् । इत्याद्यनर्थकं कर्म प्रमादाचरितं तथा ॥१५०॥
विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुदण्डकशादिनः । दानं हिंसाप्रदानं हि हिंसोपकरणस्य वै ॥१५१॥
हिंसारागादिसंवर्धिदुःकथाश्रुतिशिक्षयोः[3] । पापबन्धनिबन्धो यः स स्यात्पापाशुभश्रुतिः ॥१५२॥
माध्यस्थ्यैकत्वगमनं देवतास्मरणस्थितेः[4] । सुखदुःखारिमित्रादौ बोध्यं सामायिकं व्रतम् ॥१५३॥

गया है ॥१३८॥ जिसमें राग, द्वेष मोहसे प्रेरित हो पर-पीड़ाकारक असत्य वचनसे विरति होती है वह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥१३९॥ दूसरेका गिरा-पड़ा या भूला हुआ द्रव्य चाहे अधिक हो चाहे थोड़ा, बिना दी हुई दशामें उसको नहीं लेना तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥१४०॥ परस्त्रियोंमें राग छोड़कर अपनी स्त्रियोंमें ही जो संतोष होता है वह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥१४१॥ सुवर्ण, दास, गृह तथा खेत आदि पदार्थोंका बुद्धिपूर्वक परिमाण कर लेना इच्छा-परिमाण नामका पाँचवाँ अणुव्रत है ॥१४२॥

पाँच अणुव्रतोंके धारक सद्गृहस्थके तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी होते हैं ॥१४३॥ दिशाओं और विदिशाओंमें प्रसिद्ध चिह्नों-द्वारा की हुई अवधिका उल्लङ्घन नहीं करना सो दिग्व्रत नामका पहला गुणव्रत है ॥१४४॥ दिग्व्रतके भीतर यावज्जीवनके लिए किये हुए बृहत् परिमाणके अन्तर्गत कुछ समयके लिए जो ग्राम-नगर आदिकी अवधि की जाती है उससे बाहर नहीं जाना सो देशव्रत नामका दूसरा गुणव्रत है ॥१४५॥ पापोपदेश, अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंसादान और दुःश्रुति ये पाँच प्रकारके अनर्थदण्ड हैं। जो पापके उपदेशका कारण है वह अपकार करनेवाला अनर्थदण्ड है उससे विरत होना सो अनर्थदण्ड-त्याग नामका तीसरा गुणव्रत है ॥१४६–१४७॥ वणिक् तथा वधक आदिके सावद्य कार्योंमें आरम्भ करानेवाले जो पापपूर्ण वचन हैं वह पापोपदेश अनर्थ दण्ड है ॥१४८॥ अपनी जय, दूसरेकी पराजय तथा वध, बन्धन एवं धनका हरण आदि किस प्रकार हो ऐसा चिन्तन करना सो अपध्यान है ॥१४९॥ वृक्षादिकका छेदना, पृथिवीका कूटना, पानीका सींचना आदि अनर्थक कार्य करना प्रमादाचरित नामका अनर्थदण्ड है ॥१५०॥ विष, कण्टक, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, दण्ड तथा कोड़ा आदि हिंसाके उपकरणोंका देना सो हिंसादान नामका अनर्थदण्ड है ॥१५१॥ हिंसा तथा रागादिको बढ़ानेवाली दुष्ट कथाओंके सुनने तथा दूसरोंको शिक्षा देनेमें जो पाप-बन्धके कारण एकत्रित होते हैं वह पापसे युक्त दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है ॥१५२॥

देवताके स्मरणमें स्थित पुरुषके सुख-दुःख तथा शत्रु-मित्र आदिमें जो माध्यस्थ्य

१. बुद्धेच्छा म०, क०, ङ० । २. पापोपदेशो हेतुर्यो ङ० । ३. शिक्षया म० । ४. स्थितिः म० ।

चतुराहारहानं यन्निरारम्भस्य पर्वसु । स प्रोषधोपवासोऽक्षाण्युपेत्यास्मिन्वसन्ति[1] यत् ॥१५४॥
गन्धमाल्यान्नपानादिरुपभोग उपेत्य यः । भोगोऽन्यः परिभोगो यः परित्यज्यासनादिकः ॥१५५॥
परिमाणं तयोर्यत्र यथाशक्ति यथायथम् । उपभोगपरीभोगपरिमाणव्रतं हि तत् ॥१५६॥
मांसमद्यमधुद्यूतवेश्यास्त्रीनक्तभुक्तितः । विरतिर्नियमो ज्ञेयोऽनन्तकायादिवर्जनम्[2] ॥१५७॥
स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः । प्रदानं संविभागोऽस्मै यथाशुद्धियथोदितम् ॥१५८॥
भिक्षौषधोपकरणप्रतिश्रयविभेदतः । संविभागोऽतिथिभ्यस्तु चतुर्विध उदाहृतः ॥१५९॥
सम्यक्कायकषायाणां बहिरन्तर्हि लेखना । सल्लेखनापि कर्तव्या कारणे मारणान्तिकी[3] ॥१६०॥
रागादीनामनुत्पत्तावागमोदितवर्त्मना[4] । अशक्यपरिहारे हि सान्ते सल्लेखना मता ॥१६१॥
अष्टौ निःशङ्कितादीनामष्टानां प्रतियोगिनः । सम्यग्दृष्टेरतीचारास्त्याज्याः शङ्कादयः सताम्[5] ॥१६२॥
पञ्च पञ्च त्वतीचारा व्रतशीलेषु भाषिताः । यथाक्रममभी वेद्याः परिहार्याश्च तद्व्रतैः ॥१६३॥
गतिरोधकरो बन्धो वधो दण्डादिताडना । कर्णाद्यवयवच्छेदो[6]ऽप्यतिभारातिरोपणम्[7] ॥१६४॥

भावकी प्राप्ति है उसे सामायिक नामका पहला शिक्षाव्रत जानना चाहिए ॥१५३॥ दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चार पर्वके दिनोंमें निरारम्भ रहकर चार प्रकारके आहारका त्याग करना सो प्रोषधोपवास नामका दूसरा शिक्षाव्रत है। जिसमें इन्द्रियाँ बाह्य-संसारसे हटकर आत्माके समीप वास करती हैं वह उपवास कहलाता है ॥१५४॥ गन्ध, माला, अन्न, पान आदि उपभोग हैं और आसन आदिक परिभोग हैं। पास जाकर जो भोगा जाता है वह उपभोग कहलाता है और जो एक बार भोगकर छोड़ दिया जाता है तथा पुनः भोगनेमें आता है वह परिभोग कहलाता है। जिसमें उपभोग तथा परिभोगका यथाशक्ति परिमाण किया जाता है वह उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत है ॥१५५-१५६॥ मांस, मदिरा, मधु, जुआ, वेश्या, तथा रात्रिभोजनसे विरत होना एवं काम आदि जीवोंका त्याग करना सो नियम कहलाता है ॥१५७॥ जो संयमकी वृद्धिके लिए निरन्तर भ्रमण करता रहता है वह अतिथि कहलाता है उसे शुद्धिपूर्वक आगमोक्त विधिसे आहार आदि देना अतिथिसंविभाग व्रत है ॥१५८॥ भिक्षा, औषध, उपकरण और आवासके भेदसे अतिथि संविभाग चार प्रकारका कहा गया है ॥१५९॥ मृत्युके कारण उपस्थित होनेपर बहिरङ्गमें शरीर और अन्तरङ्गमें कषायोंका अच्छी तरह कृश करना सल्लेखना कहलाती है। व्रती मनुष्यको मरणान्तकालमें यह सल्लेखना अवश्य ही करनी चाहिए ॥१६०॥ जब अन्त अर्थात् मरणका किसी तरह परिहार न किया जा सके तब रागादिकी अनुत्पत्तिके लिए आगमोक्त मार्गसे सल्लेखना करना उचित माना गया है ॥१६१॥

निःशङ्कित आदि आठ अङ्गोंके विरोधी शङ्का, कांक्षा आदि आठ दोष सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं। सत्पुरुषोंको इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए ॥१६२॥ पाँच अणुव्रत तथा सात शील व्रतोंमें प्रत्येकके पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। यहाँ यथाक्रमसे उनका वर्णन किया जाता है। तद्-तद् व्रतोंके धारक मनुष्योंको उन अतिचारोंका अवश्य ही परिहार करना चाहिए ॥१६३॥ जीवोंकी गतिमें रुकावट डालनेवाला बन्ध, दण्ड आदिसे अत्यधिक पीटना-

---

१. इन्द्रियाणि। २. अल्पफलबहुविघातान्मूलकार्द्रकनवनीतकादीनि सन्धानकादीनि, बहुजन्तुयोनिस्थानानि, अतोऽन्यदनिष्टान्निवर्तनम् (क० टि०)। ३. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता-त० सू०। ४. रागादीनां समुत्पत्ता-म०। ५. तत्त्वार्थसूत्रे तु पञ्चैव अतिचाराः प्रतिपादिताः। तथाहि—'शंका-कांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः'-त० सू०। ६. कर्णाद्यपनयच्छेदो। ७. वधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अन्नपाननिरोधस्तु क्षुद्बाधादिकरोऽङ्गिनाम् । अहिंसाणुव्रतस्योक्ता अतिचारास्तु पञ्च ते ॥१६५॥
अतिसन्धापनं मिथ्योपदेश इह चान्यथा । यदभ्युदयमोक्षार्थक्रियास्वन्यप्रवर्तनम् ॥१६६॥
रहोभ्याख्यानमेकान्तस्त्रीपुंसेहाप्रकाशनम् । कूटलेखक्रियान्येन त्वनुक्तस्य स्वलेखनम् ॥१६७॥
विस्मृतन्यस्तसंख्यस्य स्वल्पं स्वं संप्रगृह्णतः । न्यासापहार एतावदित्यनुज्ञापकं वचः ॥१६८॥
साकारमन्त्रभेदोऽसौ भ्रूविक्षेपादिकेङ्गितैः । पराकूतस्य गुह्यस्याविर्भावनं यदसूयया ॥१६९॥
सत्यस्याणुव्रतस्यामी पञ्चातीचारकाश्चिरम् । परिहार्याः समर्यादैर्विचार्या[1]चार्यवेदिभिः[2] ॥१७०॥
[3]स्वस्तेनप्रयोगस्तैराहृतादानमात्मनः । अन्यो विरुद्धराज्यातिक्रमश्चाक्रमकक्रये ॥१७१॥
हीनेन दानमन्येषा[4]मधिकेनात्मनो ग्रहः । प्रस्थादिमानभेदेन तुलाद्युन्मानवस्तुनः ॥१७२॥
रूपकैः कृत्रिमैः स्वर्णैर्वंचनः प्रतिरूपकः । व्यवहारस्त्वतीचारास्तृतीयाणुव्रतस्य ते[5] ॥१७३॥
[6]परविवाहकरणमनङ्गक्रीडया गती । गृहीतागृहीतेत्वर्योः कामतीव्राभिवेशनम् ॥१७४॥
एते स्वदारसन्तोषव्रतस्याणुव्रतात्मनः । अतीचाराः स्मृताः पञ्च परिहार्याः प्रयत्नतः ॥१७५॥

वध, कान आदि अवयवोंका छेदना, अधिक भार लादना और भूख आदिकी बाधा करनेवाला अन्नपानका निरोध ये पाँच अहिंसाणु व्रतके अतिचार कहे गये हैं ॥१६४–१६५॥ मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं। किसीको धोखा देना तथा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करानेवाली क्रियाओंमें दूसरोंकी अन्यथा प्रवृत्ति कराना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषोंकी एकान्त चेष्टाको प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। जो बात दूसरेने नहीं कही है उसे उसके नामपर स्वयं लिख देना कूटलेखक्रिया है। कोई मनुष्य धरोहरमें रखे हुए धनकी संख्या भूलकर उससे स्वल्प ही धनका ग्रहण करता है तो उस समय ऐसे वचन बोलना कि 'हाँ इतना ही था ले जाओ' यह न्यासापहार है। भौंहका चलना आदि चेष्टाओंसे दूसरे रहस्यको जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकार मन्त्रभेद है। मर्यादाके पालक तथा आचार शास्त्रके ज्ञाता मनुष्योंको विचार कर इन अतिचारोंका अवश्य ही परिहार करना चाहिए ॥१६६–१७०॥ स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध-राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार हैं। कृत कारित अनुमोदनासे चोरको चोरीमें प्रेरित करना स्तेन प्रयोग है। चोरोंके द्वारा चुराकर लायी हुई वस्तुका स्वयं खरीदना तदाहृतादान है। आक्रमणकर्ताकी खरीद होनेपर स्वकीय राज्यकी आज्ञाका उल्लंघन कर विरुद्ध राज्यमें आना-जाना, अपने देशकी वस्तुएँ वहाँ लेजाकर बेचना विरुद्ध-राज्यातिक्रम नामका अतिचार है। प्रस्थ आदि मानमें भेद और तुला आदि उन्मानमें भेद रखकर हीन मानोन्मानसे दूसरोंको देना और अधिक मानोन्मानसे स्वयं लेना हीनाधिक मानोन्मान नामका अतिचार है। कृत्रिम-मिलावटदार सोना, चाँदी आदिके द्वारा दूसरोंको ठगना प्रतिरूपक व्यवहार नामका अतिचार है ॥१७१–१७३॥ परविवाहकरण, अनङ्गक्रीड़ा, गृहीतेत्वरिकागमन, अगृहीतेत्वरिकागमन और कामतीव्राभिनिवेश ये पाँच स्वदार संतोषव्रतके अतिचार हैं। प्रयत्नपूर्वक इनका परिहार करना चाहिए। अपनी या अपने संरक्षणमें रहनेवाली संतानके सिवाय दूसरेकी संतानका विवाह कराना परविवाहकरण है। काम-सेवनके लिए निश्चित अंगोंके अतिरिक्त अंगोंके

---

१. विचार्याचार्यवेदिभिः म०। २. मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥–त० सू० अ० ७। ३. मुष्णन्तं स्वयमेव प्रयुङ्क्ते अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुक्तमनुमन्यते वा यतः स स्तेनप्रयोगः (क० टि०)। ४. मित्येषा-म०, क०, ङ०। ५. स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ ६. परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

[1]हिरण्यस्वर्णयोर्वास्तुक्षेत्रयोर्धनधान्ययोः । दासीदासाश्रयोः पञ्च कुप्यस्यैते व्यतिक्रमाः ॥१७६॥

[2]दिग्विरत्यतिचारोऽधस्तिर्यगूर्ध्वव्यतिक्रमाः । लोभात्स्मृत्यन्तराधानं[3] क्षेत्रवृद्धिश्च पञ्चधा ॥१७७॥

[4]प्रेष्यप्रयोगानयनपुद्गलक्षेपलक्षणाः । शब्दरूपानुपातौ द्वौ तद्देशविरतिव्रते ॥१७८॥

पञ्च कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तृतीयके । असमीक्ष्याधिकरणोपभोगादिनिरर्थने ॥१७९॥

[5]योगनिःप्रणिधानानि त्रीण्यनादरता च ते । पञ्च स्मृत्यनुपस्थानं स्युः सामायिकगोचराः ॥१८०॥

द्वारा काम सेवन करना अनंग क्रीड़ा है। दूसरेके द्वारा अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके यहाँ जाना गृहीतेत्वरिकागमन है। दूसरेके द्वारा अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके यहाँ जाना अगृहीतेत्वरिकागमन है। और स्वस्त्रीके साथ भी काम सेवनमें अधिक लालसा रखना कामतीव्राभिनिवेश है ॥१७४-१७५॥ हिरण्य-सुवर्ण, वास्तु-क्षेत्र, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य—बर्तन तथा वस्त्रकी सीमाका उल्लंघन करना ये पाँच परिग्रहपरिमाणव्रतके अतिचार हैं। रुपया, चाँदी आदिको हिरण्य तथा सोना व सोनेके आभूषण आदिको सुवर्ण कहते हैं। रहनेके मकानको वास्तु और गेहूँ, चना आदि के उत्पत्ति-स्थानोंको क्षेत्र कहते हैं। गाय, भैंस आदिको धन तथा गेहूँ, चना आदि अनाजको धान्य कहते हैं। दासी-दास शब्दका अर्थ स्पष्ट है। बर्तन तथा वस्त्रको कुप्य कहते हैं। इनके प्रमाणका उल्लंघन करना सो हिरण्यसुवर्णातिक्रम आदि अतिचार होते हैं ॥१७६॥

अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, ऊर्ध्वव्यतिक्रम, स्मृत्यन्तराधान और क्षेत्रवृद्धि ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं। लोभके वशीभूत होकर नीचेकी सीमाका उल्लंघन करना अधोव्यतिक्रम है, समान धरातलकी सीमाका उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है। ऊपरकी सीमाका उल्लंघन करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। की हुई सीमाको भूलकर अन्य सीमाका स्मरण रखना स्मृत्यन्तराधान है तथा मर्यादित क्षेत्रकी सीमा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है ॥१७७॥ प्रेष्य प्रयोग, आनयन, पुद्गल क्षेप, शब्दानुपात और रूपानुपात ये पाँच देशव्रतके अतिचार हैं। मर्यादाके बाहर सेवकको भेजना प्रेष्यप्रयोग है। मर्यादासे बाहर किसी वस्तुको बुलाना आनयन है। मर्यादाके बाहर कंकड़-पत्थर आदिका फेंकना पुद्गलक्षेप है, मर्यादाके बाहर अपना शब्द भेजना शब्दानुपात है और मर्यादाके बाहर काम करनेवाले लोगोंको अपना रूप दिखाकर सचेत करना रूपानुपात है ॥१७८॥ कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्ड व्रतके अतिचार हैं। रागकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित चण्ड वचन बोलना कन्दर्प है। शरीरसे कुचेष्टा करना कौत्कुच्य है। आवश्यकतासे बोलना मौखर्य है। प्रयोजनका विचार न रख आवश्यकतासे अधिक किसी कार्यमें प्रवृत्ति करना-कराना असमीक्ष्याधिकरण है और उपभोग-परिभोगकी वस्तुओंका निरर्थक संग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है ॥१७९॥ मनोयोग दुष्प्रणिधान, वचनयोग दुष्प्रणिधान, काययोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतिचार हैं। मनको अन्यथा चलायमान करना मनोयोगदुष्प्रणिधान है, वचनकी अन्यथा प्रवृत्ति करना—पाठका अशुद्ध उच्चारण करना वचनयोग दुष्प्रणिधान है। कायको चलायमान करना काययोग दुष्प्रणिधान है। सामायिकके प्रति आदर या उत्साह नहीं होना-बेगार समझकर करना अनादर है और चित्तकी एकाग्रता न होनेसे सामायिककी विधि या पाठका भूल जाना अथवा कार्यान्तरमें उलझकर सामायिकके समयका स्मरण

---

१. क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥ २. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥ ३. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ स्मृत्यन्तराध्यानं क० । ४. कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥ ५. योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

[1]अनवेक्ष्य मलोत्सर्गादानसंस्तरसंक्रमाः । स्युः प्रोषधोपवासस्य ते ऐकाग्र्यमनादरः[2] ॥१८१॥
[3]सचित्ताहारसंबन्धसन्मिश्राभिषवास्तु ते । उपभोगपरीभोगे दुष्पक्वाहार एव च ॥१८२॥
[4]ते सचित्तेन निक्षेपः सचित्तावरणं परम् । व्यपदेशश्च[5] मात्सर्यं कालातिक्रमतातिथौ ॥१८३॥
[6]आशंसे जीविते मृत्यौ निदानं दीनचेतसः । सुखानुबन्धमित्रानुरागौ सल्लेखनामलाः ॥१८४॥
सम्यग्ज्ञानादिवृद्ध्यादिस्वपरानुग्रहेच्छया । दानं त्यागोऽतिसर्गाख्यः[7] प्रासुकस्वस्य पात्रगम्[8] ॥१८५॥
विधिदेयविशेषाभ्यां दातृपात्रविशेषतः । भेदः फलस्य भूम्यादेर्भेदात्सस्यर्द्धिभेदवत्[9] ॥१८६॥
प्रतिग्रहादिषु प्रायः सादरानादरत्वतः । दानकाले विधौ भेदः फलभेदस्य कारकः ॥१८७॥
तपःस्वाध्यायवृद्ध्यादेर्देयभेदोऽपि हेतुतः[10] । एकं हि साम्यकृद्देयं ततो वैषम्यकृत्परम् ॥१८८॥
[11]अनसूयाविषादादिरसूयादिपरस्त्वयम् । दायकस्य विशेषोऽपि विचित्रा हि मनोगतिः ॥१८९॥

नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है ॥१८०॥ बिना देखी हुई जमीनमें मलोत्सर्ग करना, बिना देखे किसी वस्तुको उठाना, बिना देखी हुई भूमिमें बिस्तर आदि बिछाना, चित्तकी एकाग्रता नहीं रखना और व्रतके प्रति आदर नहीं रखना ये पाँच प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार हैं ॥१८१॥ सचित्ताहार, सचित्त संबन्धाहार, सचित्त सन्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुष्पक्वाहार ये पाँच उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रतके अतिचार हैं। सचित्त—हरी वनस्पति आदिका आहार करना सचित्ताहार है। सचित्तसे संबन्ध रखनेवाले आहार-पानको ग्रहण करना सचित्त संबन्धाहार है। सचित्तसे मिली हुई अचित्त वस्तुका सेवन करना सचित्तसन्मिश्राहार है। गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन करना अभिषवाहार है और अधपके अथवा अधिक पके आहारका ग्रहण करना दुष्पक्वाहार है ॥१८२॥ सचित्त-निक्षेप, सचित्तावरण, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रमता ये पाँच अतिथिसंविभाग व्रतके अतिचार हैं। हरे पत्ते आदिपर रखकर आहार देना सचित्तनिक्षेप है। हरे पत्ते आदिसे ढका हुआ आहार देना सचित्तावरण है। अन्य दाताके द्वारा देय वस्तुको देना परव्यपदेश है। अन्य दाताओंके गुणको नहीं सहन करना मात्सर्य है और समय उल्लंघन कर देना कालातिक्रम है ॥१८३॥ जीविताशंसा, मरणाशंसा, निदान, सुखानुबन्ध और मित्रानुराग ये पाँच सल्लेखनाके अतिचार हैं। क्षपकका दीनचित्त होकर अधिक समय तक जीवित रहनेकी आकांक्षा रखना जीविताशंसा है। पीड़ासे घबड़ाकर जल्दी मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा है। आगामी भोगोंकी आकांक्षा करना निदान है। पहले भोगे हुए सुखका स्मरण रखना सुखानुबन्ध है और मित्रोंसे प्रेम रखना मित्रानुराग है ॥१८४॥ सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि आदि स्व-परके उपकारकी इच्छासे योग्य पात्रके लिए प्रासुक द्रव्यका देना त्याग कहलाता है, इसका दूसरा नाम अतिसर्ग भी है ॥१८५॥ जिस प्रकार भूमि आदिके भेदसे धान्यकी उत्पत्ति आदिमें भेद होता है उसी प्रकार विधि द्रव्य दाता और पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें भेद होता है ॥१८६॥ दानके समय पडगाहने आदिकी क्रियाओंमें आदर या अनादरके होनेसे दानकी विधिमें भेद हो जाता है और वह फलके भेदका करनेवाला हो जाता है ॥१८७॥ तप तथा स्वाध्यायकी वृद्धि आदिका कारण होनेसे देयमें भेद होता है। यथार्थमें एक पदार्थ तो ऐसा है जो लेनेवालेके लिए समताभावका करनेवाला होता है और दूसरा पदार्थ ऐसा है जो विषमताका करनेवाला होता है।

१. अप्रवेक्ष्य ख० । २. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥ ३. सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥३५॥ ४. सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥ ५. अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः (का० टि०) ६. जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥ ७. निसर्गाख्यः म० । ८. अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥ ९. विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥ १०. हेतुता म०, ङ० । ११. अनसूया म० ।

मोक्षकारणभूतानां दानानां धारणे सताम् । तारतम्यं मनःशुद्धेर्विशेषः पात्रगोचरः ॥१९०॥
पुण्यास्रवः सुखानां हि हेतुरभ्युदयावहः । हेतुः संसारदुःखानामपुण्यास्रव इष्यते ॥१९१॥
[1]मिथ्यादर्शनमात्मस्थं हिंसाद्यविरतिस्तथा । प्रमादश्च कषायश्च योगो बन्धस्य हेतवः ॥१९२॥
तन्मिथ्यादर्शनं द्वेधा निसर्गान्योपदेशतः । मिथ्याकर्मोदयादाद्यं तत्त्वाश्रद्धानलक्षणम् ॥१९३॥
परोपदेशपूर्वं तु चतुर्धा मतभेदतः । क्रियावाद्यक्रियावादिवैनयाज्ञानिकत्वतः ॥१९४॥
एकान्तविपरीतत्वविनयाज्ञानसंशयैः । निमित्तैः पञ्चधा चापि मिथ्यादर्शनमिष्यते ॥१९५॥
द्विषोढाऽविरतिर्ज्ञेया प्रमादोऽनेकधा स्थितः । नवभिर्नोकषायैस्तु कषायाः पञ्चविंशतिः ॥१९६॥
[2]चत्वारः स्युर्मनोयोगा वाग्योगाश्च तथैव ते । काययोगास्तु पञ्चापि मतायोगास्त्रयोदश ॥१९७॥

इस लिए देय द्रव्यमें भेद होनेसे दानके फलमें भी भेद होता है ॥१८८॥ कोई दाता तो ईर्ष्या, विषाद आदि दुर्गुणोंसे रहित होता है और कोई दाता ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंसे युक्त होता है। यही दाताकी विशेषता है। यथार्थमें मनकी गति विचित्र होती है ॥१८९॥ मोक्षके कारणभूत दानोंके ग्रहण करनेमें सत्पुरुषोंके मनकी शुद्धिका जो तारतम्य-हीनाधिकता है वह पात्रकी विशेषता है ॥१९०॥ पुण्यास्रव अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति करानेवाला होनेसे सुखोंका कारण कहा जाता है और पापास्रव संसारके दुःखोंका कारण माना जाता है ॥१९१॥ इस प्रकार आस्रव तत्त्वका वर्णन होनेके बाद भगवान्‌की दिव्य ध्वनिमें बन्ध तत्त्वका वर्णन प्रारम्भ हुआ।

आत्मपरिणामोंमें स्थित मिथ्यादर्शन, हिंसा आदि अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके कारण हैं ॥१९२॥ इनमें मिथ्यादर्शन, निसर्गज (अगृहीत) और अन्योपदेशज (गृहीत) के भेदसे दो प्रकार का है। मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वका अश्रद्धान होता है वह निसर्गज मिथ्यादर्शन है ॥१९३॥ और परोपदेशपूर्वक होनेवाले अतत्त्व श्रद्धानको अन्योपदेशज मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक और अज्ञानीके भेदसे चार भेद हैं ॥१९४॥ इनके सिवाय एकान्त, विपरीत, विनय, अज्ञान और संशय इन निमित्तोंकी अपेक्षा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकारका भी माना जाता है। वस्तु अनेक धर्मात्मक है परन्तु उसे एक धर्मरूप ही श्रद्धान करना एकान्त मिथ्यादर्शन है, जैसे वस्तु नित्य ही है अथवा अनित्य ही है। वस्तुका जैसा स्वरूप है उससे विपरीत श्रद्धान करना सो विपरीत मिथ्यादर्शन है जैसे हिंसामें धर्म मानना, सग्रन्थवेषसे मोक्ष मानना आदि। देव अदेव, और तत्त्व अतत्त्व का विवेक न रखकर सबको एक-सा मानना तथा सबकी भक्ति करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। हिताहितकी परीक्षा-रहित अज्ञानमूलक रूढिवश श्रद्धान करना सो अज्ञान मिथ्यादर्शन है और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र मोक्षका मार्ग है या नहीं? अहिंसामें धर्म है या हिंसामें। इस प्रकार संदेह रूप श्रद्धान करना संशय मिथ्यादर्शन है ॥१९५॥ पाँच स्थावर और त्रस इन छह कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करना, तथा पाँच इन्द्रिय और मनको वश नहीं करना यह बारह प्रकारकी अविरति है। प्रमाद अनेक प्रकारका है और नौ नोकषायोंको साथ मिलाकर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके भेदसे कषायके पच्चीस भेद हैं ॥ १९६ ॥ सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और अनुभयमनोयोगके भेदसे मनोयोग चार प्रकारके हैं। सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग

१. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥ त० सू० अ० ८। २. चत्वारो मनोयोगाः चत्वारो वाग्योगाः पञ्चकाययोगा इति त्रयोदश विकल्पो योगः। आहारककाययोगाः आहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयते सम्भवात् पञ्चदशापि भवन्ति—स० सि० अ० ८।

समस्तव्यस्तरूपास्तु पञ्चैते बन्धहेतवः । मिथ्यादृष्टेर्हि पञ्चोर्ध्वं चत्वारस्त्रिषु पश्चिमाः ॥१९८॥
विरत्यविरतिर्मिश्रा प्रमादाद्यास्त्रयः परे । संयतासंयतस्योक्ताः कर्मबन्धस्य हेतवः ॥१९९॥
प्रमत्तसंयतस्यापि योगाद्यास्त्रय एव ते । तत ऊर्ध्वं चतुर्णां तु कषाययोगसङ्गताः ॥२००॥
शान्तक्षीणकषायौ तौ सयोगकेवली तथा । बन्धका योगमात्राद्वयोगो नैव बन्धकः ॥२०१॥
[1]कषायकलुषो ह्यात्मा कर्मणो योग्यपुद्गलान् । प्रतिक्षणमुपादत्ते स बन्धो नैकधा मतः ॥२०२॥
[2]प्रकृतिश्च स्थितिश्चापि स बन्धोऽनुभवस्ततः । प्रदेशबन्धभेदेन चातुर्विध्यं प्रपद्यते ॥२०३॥
प्रकृतिः स्यात्स्वभावोऽत्र निम्बादेस्तिक्ततादिवत् । कर्मणामिह सर्वेषां यथास्वं नियता स्थिता ॥२०४॥
अज्ञानं प्रकृतिर्ज्ञेया ज्ञानावरणकर्मणः । दृश्यार्थादर्शनं दृश्या दर्शनावरणस्य सा ॥२०५॥
सदसल्लक्षणस्यापि वेदनीयस्य कर्मणः । संवेदनं विदां ज्ञेयं प्रकृतिः सुख-दुःखयोः ॥२०६॥
स्याद्दर्शनमोहस्य तत्त्वाश्रद्धानमेव सा । तथा चारित्रमोहस्य महतोऽसंयमः सदा ॥२०७॥
प्रकृतिः प्रतिपत्ता तु भवधारणमायुषः । देवनारकनामादिकरणं नामकर्मणः ॥२०८॥

और अनुभव वचनयोगके भेदसे वचनयोगके चार भेद हैं। तथा औदारिक काययोग, औदारिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग और कार्मण काययोगके भेदसे काययोगके पाँच भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर योगके तेरह भेद हैं। भावार्थ—प्रमत्त संयत गुणस्थानमें आहारक काययोग और आहारक मिश्रकाययोगकी भी संभावना रहती है इसलिए उन्हें मिलानेपर योगके पन्द्रह भेद हो जाते हैं ॥१९७॥ ये मिथ्यादर्शनादि पाँच समस्त और व्यस्त रूपसे बन्धके कारण हैं। अर्थात् कहीं सब बन्धके कारण हैं और कहीं कम। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पाँचों ही बन्धके कारण हैं। उसके तीन गुणस्थानोंमें मिथ्यादर्शनको छोड़कर अन्तिम चार बन्धके कारण हैं ॥१९८॥ संयतासंयत नामक पञ्चम गुणस्थानमें विरति, अविरति, मिश्रित तथा प्रमाद आदि तीन कर्मबन्धके हेतु कहे गये हैं ॥१९९॥ प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानवर्ती जीवके प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्धके कारण हैं। इसके आगे चार गुणस्थानोंमें अर्थात् सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो बन्धके कारण हैं ॥२००॥ उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगकेवली इन तीन गुणस्थानोंके जीवमात्र योगके निमित्तसे कर्मबन्ध करते हैं। अयोगकेवली भगवान् योगका भी अभाव हो जानेसे कर्मोंका बन्ध नहीं करते हैं ॥२०१॥

कषायसे कलुषित जीव प्रत्येक क्षण कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। वही बन्ध कहलाता है। यह बन्ध अनेक प्रकारका माना गया है ॥२०२॥ सामान्यरूपसे बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार भेदोंको प्राप्त होता है ॥२०३॥ प्रकृतिका अर्थ स्वभाव होता है। जिस प्रकार नीम आदिकी प्रकृति तिक्तता आदि है। उसी प्रकार समस्त कर्मोंकी अपनी-अपनी प्रकृति नियतरूपसे स्थित है ॥२०४॥ जैसे ज्ञानावरण कर्मकी प्रकृति अज्ञान अर्थात् पदार्थका ज्ञान नहीं होने देना है। दर्शनावरण कर्मकी प्रकृति पदार्थोंका अदर्शन अर्थात् दर्शन नहीं होने देना है ॥२०५॥ साता, असातावेदनीय कर्मकी प्रकृति ज्ञानी मनुष्योंको क्रमसे सुख और दुःखका वेदन कराना है ॥२०६॥ दर्शनमोहकी प्रकृति तत्त्वका अश्रद्धान कराना है तथा अतिशय महान् चारित्रमोह कर्मकी प्रकृति सदा असंयम उत्पन्न करना है ॥२०७॥ आयुकर्मकी प्रकृति भवधारण करना है। नामकर्मकी प्रकृति जीवमें देव, नारकी

१. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ त० सू० अ० ८। २. प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥ त० सू० अ० ८।

गोत्रस्योच्चैश्च नीचैश्च स्थानसंशब्दनं तथा । अन्तरायस्य दानादिविघ्नानां करणं घनम् ॥२०९॥
तदेवं लक्षणं कार्यं यत्तत्क्रियते ततः । प्रकृतिस्तत्स्वभावस्य तथैवाप्रच्युतिः स्थितिः ॥२१०॥
यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां स्वस्वभावतः । माधुर्यादच्युतिस्तद्वत्कर्मणां प्रकृतिस्थितिः ॥२११॥
तीव्रमन्दादिभावेन क्षीरे रसविशेषवत् । कर्मपुद्गलसामर्थ्यविशेषोऽनुभवो मतः ॥२१२॥
कर्मत्वपरिणत्यात्मपुद्गलस्कन्धसंहतेः । प्रदेशः परमाण्वात्मपरिच्छेदावधारणा ॥२१३॥
¹प्रकृतेः सप्रदेशाया नित्यं योगनिमित्तता । स्थितेः सानुभवायास्तु स्यात्कषायनिमित्तता ॥२१४॥
अनेनाव्रियते ज्ञानमावृणोतीति वा स्वयम् । ज्ञानावरणमाख्यातं दर्शनावरणं तथा ॥२१५॥
वेद्यते वेदयत्येवं वेदनीयमनेन वा । मोह्यते मोहयत्येवं मोहनीयमपीरितम् ॥२१६॥
नारकादिभवानेति यनेनेत्यायुरित्यपि । नम्यतेऽनेन वाऽऽत्मानं नमयत्यपि नाम तत् ॥२१७॥
गूयते शब्द्यते गोत्रमुच्चैर्नीचैश्च यत्नतः । अन्तरायोऽन्तरं मध्यं देयादेरेति यत्नतः ॥२१८॥
एकात्मपरिणामेन गृह्यमाणा हि पुद्गलाः । नानाकर्मत्वमायान्ति प्रभुक्ताहाररसादिवत् ॥२१९॥
मूलप्रकृतिभेदोऽयमष्टभेदः प्रभाषितः । उत्तरप्रकृतीनां तु भेदोऽतः परमुच्यते ॥२२०॥

आदि संज्ञाएँ उत्पन्न करना है ॥२०८॥ गोत्र कर्मकी प्रकृति उच्च और नीच व्यवहार कराना है तथा अन्तराय कर्मकी प्रकृति दान आदिमें तीव्र विघ्न करना है ॥२०९॥ इसलिए ऐसा लक्षण करना चाहिए कि कर्मोंके द्वारा जो किया जाता है वही प्रकृतिबन्ध है और उनका अपने स्वभावसे च्युत नहीं होना सो स्थितिबन्ध है ॥२१०॥

जिस प्रकार बकरी, गाय तथा भैंस आदिके दूध अपने-अपने स्वभावसे ही माधुर्य गुणसे च्युत नहीं होते हैं उसी प्रकार कर्म भी अपनी-अपनी प्रकृतिसे च्युत नहीं होते हैं ॥२११॥

जिस प्रकार दूधमें रसविशेष, तीव्र अथवा मन्द आदि भावसे रहता है उसी प्रकार कर्मरूप पुद्गलमें भी सामर्थ्य-विशेष तीव्र अथवा मन्द आदि भावसे रहता है। यही अनुभव-बन्ध माना गया है ॥२१२॥ आत्माके कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंके समूहमें परमाणुके प्रमाणसे कल्पित परिच्छेदों-खण्डोंकी जो संख्या है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है ॥२१३॥ प्रकृति और प्रदेशबन्ध योगके निमित्तसे होते हैं तथा स्थिति और अनुभवबन्ध कषायके निमित्तसे माने गये हैं ॥२१४॥

जिसके द्वारा ज्ञान ढँका जाये अथवा जो स्वयं ज्ञानको ढाँके वह ज्ञानावरण कर्म है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्मकी निरुक्ति जानना चाहिए अर्थात् जिसके द्वारा दर्शन ढँका जाये अथवा जो स्वयं दर्शनको ढाँके उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं ॥२१५॥ जिसके द्वारा सुख-दुःखका वेदन-अनुभव कराया जाये अथवा जो स्वयं सुख-दुःखका अनुभव करे वह वेदनीय कर्म है। जिसके द्वारा जीव मोहित किया जाये अथवा जो स्वयं मोहित करे वह मोहनीय कर्म है ॥२१६॥ जीव जिसके द्वारा नारकादि भवको प्राप्त कराया जाये अथवा जो स्वयं नारकादि भवको प्राप्त हो वह आयु कर्म है। आत्मा जिसके द्वारा नाना नामोंको प्राप्त कराया जाये अथवा जो स्वयं आत्माको नाना नामोंसे युक्त करे वह नामकर्म है ॥२१७॥ आत्मा जिसके द्वारा प्रयत्नपूर्वक उच्च अथवा नीच कहा जाता है वह गोत्र कहलाता है और जो यत्नपूर्वक देय आदिके बीचमें आ जाता है वह अन्तराय कर्म है ॥२१८॥ जिस प्रकार एक बार खाया हुआ अन्न रस, रक्त आदि नानारूपताको प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक आत्मपरिणामके द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गल नाना कर्मरूपताको प्राप्त हो जाते हैं ॥२१९॥ यह आठ

---

१. जोगा पयडि-पदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति । अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥ गो० कर्म० ॥

पञ्चधा ज्ञानावरणं नवधा दर्शनावृतिः । द्विधा तु वेदनीयं स्यान्मोहोऽष्टाविंशतिस्थितिः ॥२२१॥
आयुश्चतुर्विधं नाम द्विचत्वारिंशदीरितम् । द्विविधं गोत्रमुद्गीतमन्तरायस्तु पञ्चधा ॥२२२॥
मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययकेवलैः । आवृत्यैरावृतीः पञ्च ह्युत्तरप्रकृतीर्विदुः ॥२२३॥
द्रव्यार्थादेशतः [1]शक्तेर्मनःपर्ययकेवली । [2]अभव्योऽप्यस्ति यत्तस्थं ज्ञानावरणपञ्चकम् ॥२२४॥
व्यक्तियोग्यत्वसद्भावापेक्षा भव्यस्य भव्यता । कैवल्यव्यक्त्ययोग्यत्वादभव्यस्य ह्यभव्यता ॥२२५॥
चक्षुषोऽचक्षुषो दृष्टेरवधेः केवलस्य च । चत्वार्यावरणान्येवं निद्राद्यैः पञ्चभिर्नव ॥२२६॥
मदखेदविनोदार्थः स्वापो निद्राभिकल्पतः । उपर्युपरि तद्वृत्तिर्निद्रानिद्राभिधीयते ॥२२७॥

प्रकारका मूल प्रकृतिबन्ध कहा गया है, अब इसके आगे उत्तर प्रकृतियोंके भेद कहे जाते हैं ॥२२०॥

ज्ञानावरण पाँच प्रकारका है, दर्शनावरण नौ प्रकारका है, वेदनीय दो प्रकारका है, मोहनीय अट्ठाईस प्रकारका है, आयु चार प्रकारका है, नाम बयालीस प्रकारका है, गोत्र दो प्रकारका कहा गया है और अन्तराय पाँच प्रकारका है ॥२२१-२२२॥ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच आवरण करने योग्य गुण हैं। इन्हें आवरण करनेवाले मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ हैं ॥२२३॥ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा शक्तिरूपसे अभव्य जीव भी मनःपर्यय और केवलज्ञानसे युक्त है, अतः उसके भी ज्ञानावरणके पाँचों भेद स्थित हैं ॥२२४॥ भव्य जीवकी भव्यता उक्त गुणोंके प्रकट होनेकी योग्यताके सद्भावकी अपेक्षा रखती है और अभव्य जीवकी अभव्यता केवलज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञानके प्रकट होनेकी योग्यता न होनेकी अपेक्षासे है। भावार्थ—किसीने प्रश्न किया था कि जब भव्य और अभव्य दोनोंके ही मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञानकी शक्ति विद्यमान है तब इनमें भव्यता और अभव्यताका भेद कैसे हुआ ? इसका उत्तर ग्रन्थकर्ताने दिया है कि भव्य जीवके उन शक्तियोंकी प्रकटता हो जाती है और अभव्य जीवके उनकी प्रकटता नहीं होती ॥२२५॥

चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार आवरण तथा निद्रा आदिक पाँच अर्थात् निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ सब मिलाकर दर्शनावरण कर्मकी नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। जो जीवके चक्षुर्दर्शन—चक्षु इन्द्रियसे होनेवाले सामान्य अवलोकनको प्रकट न होने दे वह चक्षुर्दर्शनावरण है। जो अचक्षुर्दर्शन—चक्षुको छोड़ कर अन्य इन्द्रियों तथा मनसे होनेवाले सामान्य अवलोकनको प्रकट न होने दे वह अचक्षुर्दर्शनावरण है। जो अवधिदर्शन—अवधिज्ञानके पहले प्रकट होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे वह अवधिदर्शनावरण है और जो केवलदर्शन—केवलज्ञानके साथ होनेवाले सामान्यावलोकनको न होने दे वह केवलदर्शनावरण है ॥ २२६ ॥ मद तथा खेदको दूर करनेके लिए सोना निद्रा कहलाती है। ऊपर-ऊपर अधिक रूपसे निद्राका आना निद्रा निद्रा कही जाती है ॥ २२७ ॥

---

१. शक्तिर्मनः—म०, ख०, ङ० । २. अभव्याऽप्यस्ति क०, ङ० । अत्र चोद्यते—अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा ? यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः । अथ नास्ति तत्रावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति ? उच्यते—आदेशवचनान्न दोषः । द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसम्भवः । पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः । यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते; उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात् । न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते । कुतस्तर्हि ? व्यक्तिसद्भावासद्भावापेक्षया । स० सि० अ० ८ सूत्र ६ ।

श्रमादिप्रभवात्मानं प्रचला प्रचलयत्यलम् । सा पुनः पुनरावृत्ता प्रचलाप्रचलाभिधा ॥२२८॥
स्त्यानगृद्धिर्ययात्स्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते । आत्मा यदुदयाद्रौद्रं बहुकर्म करोति सा ॥२२९॥
शारीरं मानसं सौख्यं दुःखं चोदयते ययोः । स्यातां ते वेदनीये स्तः सातासाते यथाक्रमम् ॥२३०॥
सम्यक्त्वं चापि मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वमित्यदः । इत्थं दर्शनमोहस्य सुत्तरं प्रकृतित्रिकम्॥२३१॥
शुभात्मपरिणामेन निरुद्धस्वरसे स्थिते । मिथ्यात्वे श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वप्रकृतिर्भवेत् ॥२३२॥
मिथ्यात्वे त्वर्धसंशुद्धे कोद्रवे मदशक्तिवत् । शुद्धाशुद्धात्मको भावः सम्यग्मिथ्यात्वमुच्यते ॥२३३॥
द्वेधा चारित्रमोहस्तु नोकषायकषायतः । नवधा नोकषायोऽत्र कषायाः षोडशोदिताः ॥२३४॥
उदयाद्यस्य हासाविर्भावो हास्यं तदुत्सुकः । यस्योदयाद्रतिः सा स्यादरतिस्तद्विपर्ययः ॥२३५॥
शोचनं यद्विपाकात्स शोक उद्वेगकृद्भयम् । स्वदोषगोपनं यस्य जुगुप्सा सा जुगुप्सिता ॥२३६॥
भावांस्त्रैण्यान्यतो याति स स्त्रीवेदोऽतिगर्हितः । पुन्नपुंसकवेदौ स्तः पौंस्नान्नापुंसकाद् यतः ॥२३७॥

थकावट आदिसे उत्पन्न होनेवाली जो निद्रा जीवको बैठे-बैठे ही अत्यधिक चपल कर देवे वह प्रचला है। प्रचला जब बार-बार अधिक रूपमें आती है तब प्रचलाप्रचला कहलाने लगती है ॥ २२८ ॥ जिसके द्वारा आत्मा स्त्यान अर्थात् सोते समय गृद्धता करने लगे—किसी कर्ममें सचेष्ट हो जावे और जिसके उदयसे यह जीव अत्यधिक कठिन काम कर ले वह स्त्यानगृद्धि है। यह पाँच प्रकारकी निद्रा, दर्शनावरण कर्मके उदयसे आती है और इन निद्राओंके माध्यमसे दर्शनावरण कर्म आत्माके दर्शनगुणको घातता है ॥ २२९ ॥ वेदनीय कर्मके दो भेद हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। जिनके उदयसे शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं वे यथाक्रमसे सातावेदनीय और असातावेदनीय कहलाते हैं ॥ २३० ॥

मोहनीय कर्मके मूलमें दो भेद हैं—१. दर्शनमोहनीय, २. चारित्रमोहनीय। इनमें-से दर्शनमोहनीयको सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यङ्मिथ्यात्व ये तीन उत्तर प्रकृतियाँ हैं ॥ २३१ ॥ आत्माके शुभ परिणामोंसे जब मिथ्यात्वप्रकृतिका स्वरस—फल देनेकी शक्ति रुक जाती है तब श्रद्धान करनेवाले जीवके सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होता है। इस प्रकृतिके उदयसे आत्माका श्रद्धानगुण तिरोहित नहीं होता किन्तु चल, मल, अगाढ़ दोषोंसे दूषित हो जाता है ॥ २३२ ॥ मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे श्रद्धान गुण विकृत हो जाता है और अतत्व श्रद्धानरूपी परिणति हो जाती है। अर्ध शुद्ध कोदोंकी मदशक्तिके समान मिथ्यात्व प्रकृतिके अर्द्ध शुद्ध होनेपर जीवका जो शुद्ध और अशुद्ध भाव एक साथ प्रकट होता है वह सम्यङ्मिथ्यात्व कहलाता है। सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवके परिणाम दही और गुड़के मिश्रित स्वादके समान श्रद्धान और अश्रद्धान रूप होते हैं ॥ २३३ ॥ नोकषाय और कषायके भेदसे चारित्रमोहके दो भेद हैं। इनमें नोकषायके नौ और कषायके सोलह भेद कहे गये हैं ॥ २३४ ॥ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषायके भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—जिसके उदयसे उत्सुक होता हुआ हास्य प्रकट हो वह हास्यकर्म है। जिसके उदयसे रति—प्रीति उत्पन्न हो वह रति कर्म है। जिसके उदयसे अरति—अप्रीति उत्पन्न हो वह अरति है। जिसके उदयसे शोक हो वह शोक है। जो उद्वेग—भय उत्पन्न करनेवाला है वह भय है। जिसके उदयसे अपने दोष छिपानेमें प्रवृत्ति हो वह जुगुप्सा है। जिसके उदयसे यह जीव स्त्रीके भावको अर्थात् पुरुषसे रमनेकी इच्छाको प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है। जिसके उदयसे पुरुषके भावको अर्थात् स्त्रीसे रमनेकी इच्छाको प्राप्त होता है वह पुरुषवेद है। और जिसके उदयसे नपुंसकके भावको—अर्थात् स्त्री-पुरुष दोनोंसे रमनेकी इच्छाको प्राप्त होता है वह

कषायाः क्रोधमानौ च मायालोभौ च घातकाः । सम्यक्त्वस्य सवृत्तस्य तत्रानन्तानुबन्धिनः[1] ॥२३८॥
यदीयोदयतो ह्यात्मा प्रत्याख्यातुं न शक्नुयात् । हिंसादीन्[2]युदयात्ते स्युरप्रत्याख्यानसंज्ञकाः ॥२३९॥
यदीयोदयतो जीवः संयमं न प्रपद्यते । ते क्रोधमानमायाद्याः [3]प्रत्याख्यानविनिःश्रुताः ॥२४०॥
यदीयोदयतो वृत्तं यथाख्यातं न जायते । ज्वलन्तः संयमेनामा ख्याताः [4]संज्वलनास्तु ते ॥२४१॥
नारकं नरकोद्भूतं तैर्यग्योनं च मानुषम् । दैवं चायुर्भवेत्तेषु चतुर्विधमितीरितम् ॥२४२॥
यदीयोदयतो जन्तुर्भवान्तरमियर्ति सा । गतिश्चतुर्विधा देवनरकादिविभेदतः ॥२४३॥
आत्मनो नरकादित्वं यन्निमित्तं प्रजायते । तस्यान्नरकगत्यादि गतिनाम चतुर्विधम् ॥२४४॥
गतिष्वेकीकृतार्था[5] सा साम्येनाव्यभिचारिणा । जातिस्तस्या निमित्तं तु जातिनामात्र पञ्चधा ॥२४५॥
एकेन्द्रियादिकां जातिमुदयाद्यस्य जन्तवः । प्रयान्त्येकेन्द्रियाद्येतज्जातिनामाभिधीयते ॥२४६॥
शरीरपञ्चकस्यास्य निर्वृत्तिर्यस्य चोदयात् । औदारिकशरीरादि नाम पञ्चविधं तु तत् ॥२४७॥
अङ्गोपाङ्गविवेकः स्याच्छरीराणां यतस्तु तत् । त्रिधाङ्गोपाङ्गनामाख्यमौदारिकपुरस्सरम् ॥२४८॥
चक्षुरादीन्द्रियस्थानप्रमाणे जात्यपेक्षया[6] । ये निर्मापयतस्ते स्तो नाम्नी निर्माणनामनी ॥२४९॥

नपुंसक वेद है ॥ २३५-२३७ ॥ कषायके मूलमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलनके भेदसे चार भेद हैं। फिर प्रत्येकके क्रोध, मान, माया और लोभकी अपेक्षा चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कषायके कुल सोलह भेद हैं। इनमें-से अनन्तानुबन्धीसम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्रके घातक हैं ॥ २३८ ॥ जिसके उदयसे आत्मा हिंसादि रूप परिणतियोंका त्याग करनेमें समर्थ न हो सके वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं ॥ २३९ ॥ जिनके उदयसे जीव संयमको प्राप्त न हो सके वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ हैं ॥ २४० ॥ और जिनके उदयसे यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता तथा जो संयमके साथ विद्यमान रहते हैं वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ हैं ॥ २४१ ॥

नारक, तैर्यग्योन, मानुष और दैवके भेदसे आयु कर्म चार प्रकारका कहा गया है। आयु कर्मके उदयसे यह जीव नारकादि पर्यायोंमें उत्पन्न होता है ॥ २४२ ॥

जिसके उदयसे जीव भवान्तरको प्राप्त होता है वह गति नाम कर्म है। देव तथा नारकादिके भेदसे गति नाम कर्म चार प्रकारका है ॥ २४३ ॥ जिसके निमित्तसे आत्मामें नरकादि पर्याय प्रकट होती है वह चार प्रकारका नरकादि नाम कर्म है ॥२४४॥ उन नरकादि गतियोंमें जो अविरोधी समान धर्मसे आत्माको एक रूप करनेवाली अवस्था है उसे जाति कहते हैं। उस जातिका जो निमित्त है वह जाति नाम कर्म कहा जाता है इसके एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच भेद हैं ॥ २४५ ॥ जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रियादि जातिको प्राप्त होते हैं वह एकेन्द्रियादि जाति नाम कर्म कहलाता है ॥ २४६ ॥ जिसके उदयसे औदारिक आदि पाँच शरीरोंकी रचना होती है वह औदारिक शरीरादि पाँच प्रकारका शरीर नाम कर्म है ॥ २४७ ॥ जिसके उदयसे शरीरोंमें अङ्गोपाङ्गका विवेक होता है वह औदारिक शरीराङ्गोपाङ्गको आदि लेकर तीन प्रकारका अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म है ॥ २४८ ॥ जो जातिकी अपेक्षा चक्षु आदि इन्द्रियोंके स्थान और प्रमाणका निर्माण करते हैं वे स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण-

१. यस्यान्तो नास्ति सोऽनन्तः संसारस्तस्य कारणत्वात् मिथ्यात्वमपि अनन्तं तदनुबध्नन्तीत्यनन्तानुबन्धिनः। २. ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं तस्यावरणं यैस्तेऽप्रत्याख्यानावरणाः। ३. प्रत्याख्यानं चारित्रं तस्यावरणं यैस्ते प्रत्याख्यानावरणाः। ४. नामैकदेशेन सर्वदेशग्रहणात् सम् पदेन संयमस्य ग्रहणं तेन सह ज्वलतीति संज्वलनम्। ५. एकीगतार्था म०। ६. यदपेक्षया म०, ङ०।

कर्मोदयवशोपात्तपुद्गलान्योन्यबन्धनम् । शरीरेषूदयाद्यस्य भवेद्बन्धननाम तत् ॥२५०॥
यस्योदयाच्छरीराणां नीरन्ध्रान्योन्यसंहतिः । संघातनाम तन्नाम्ना संघातानाम[1]नत्ययात् ॥२५१॥
शरीराकृतिनिर्वृत्तिर्यतो भवति देहिनाम् । संस्थाननाम तत् षोढा संस्थानकरणार्थतः ॥२५२॥
समादिचतुरस्रोतो न्यग्रोधपरिमण्डलम् । स्वातिसंस्थाननामापि कुब्जवामनहुण्डकम् ॥२५३॥
यतो भवति सुश्लिष्टमस्थिसंधानबन्धनम् । [2]तत्संहनननामापि नाम्ना षोढा विभज्यते ॥२५४॥
तद्वज्रर्षभनाराचवज्रनाराचकीलकाः । सनाराचार्धनाराचाः सासंप्राप्तसृपाटिकाः ॥२५५॥
स्पर्शनस्योदयाद्यस्य प्रादुर्भावेन भूयते । स्पर्शनाम भवत्येतदविभक्तमिवाष्टधा ॥२५६॥
कथितं कर्कशनामैकं मृदुनाम तथापरम् । गुरुनाम लघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णनाम च ॥२५७॥

के भेदसे दो प्रकारके निर्माण नाम कर्म हैं ॥२४९॥* जिसके उदयसे, कर्मोदयके वशसे प्राप्त पुद्गलोंका परस्पर संश्लेष होता है वह बन्धन नाम कर्म है । इसके औदारिक शरीर बन्धन आदि पाँच भेद हैं ॥ २५० ॥ जिसके उदयसे शरीरके प्रदेशोंका परस्पर छिद्ररहित संश्लेष होता है वह संघात नाम कर्म है । संघातोंका कभी अत्यय—विघटन नहीं होता इसलिए संघात नाम सार्थक है । इसके औदारिक शरीर संघात आदि पाँच भेद हैं ॥ २५१ ॥ जिसके उदयसे जीवोंके शरीरकी आकृतिकी रचना होती है वह संस्थान नाम कर्म है । संस्थान अर्थात् आकृतिको करे सो संस्थान है यह संस्थान शब्दको निरुक्ति है । वह संस्थान, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान और हुण्डक संस्थानके भेदसे छह प्रकारका होता है । जिसके उदयसे सुडौल-सुन्दर शरीरकी रचना हो वह समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म है । जिसके उदयसे शरीरके अवयव न्यग्रोध—वट वृक्षके समान नाभिसे नीचे छोटे और नाभिसे ऊपर बड़े हों वह न्यग्रोध परिमण्डल नाम कर्म है । जिसके उदयसे शरीरकी रचना स्वाति--साँपकी वामीके समान नाभिके नीचे विस्तृत और नाभिसे ऊपर संकुचित हो वह स्वाति नाम कर्म है । जिसके उदयसे शरीरमें कूबड़ निकल आवे वह कुब्जक संस्थान है । जिसके उदयसे शरीर वामन—बौना हो वह वामन नाम कर्म है और जिसके उदयसे शरीरकी आकृति बेडौल हो वह हुण्डक संस्थान नाम कर्म है ॥२५२-२५३॥ जिसके उदयसे हड्डियोंका परस्पर मिलन और बन्धन अच्छी तरह होता है वह संहनन नाम कर्म है । इसके वज्रर्षभनाराच संहनन, वज्रनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलकसंहनन और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन ये छह भेद हैं । जिसके उदयसे वज्रके वेष्टन, वज्रकी कीलियाँ और वज्रके हाड़ हों उसे वज्रर्षभनाराच संहनन कहते हैं । जिसके उदयसे कीलियाँ और हाड़ तो वज्रके हों परन्तु वेष्टन वज्रके न हों वह वज्रनाराच-संहनन है । जिसके उदयसे हाड़ तथा संधियोंकी कीलें तो हों परन्तु वज्रमय न हों इसी तरह वेष्टन भी वज्रमय न हो उसे नाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हड्डियाँ आधी कीलोंसे सहित हों उसे अर्धनाराचसंहनन कहते हैं । जिसके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों उसे कीलक संहनन कहते हैं और जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियाँ कीलोंसे रहित हों तथा मात्र नसों और मांससे बँधी हों उसे असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं ॥ २५४-२५५ ॥ जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शकी उत्पत्ति होती है वह स्पर्श नाम कर्म है । यह कड़ा, कोमल, गुरु,

---

१. संघाता नाम सत्यया म० । संघाता नाम सत्वयात् घ०, ङ०, ग० । संघाता नाम सत्वया स० । २. तत्संहारनामापि म० ।

* निर्माण नाम कर्मके दो भेद अवश्य हैं परन्तु बयालीस भेदोंकी गणनामें उसका एक भेद ही परिगणित है ।

यद्धेतुरसभेदः स्याद्रसनाम तदीरितम् । [1]कटुतिक्तकषायाम्लमधुरध्वनिनाम तत् ॥२५८॥
यस्योदयाद्भवेद्गन्धो गन्धनाम तदुच्यते । द्विविधं तत्तु बोद्धव्यं सुरभ्यसुरभीति च ॥२५९॥
यद्धेतुर्वर्णभेदस्तद्वर्णनामाख्यपञ्चधा । कृष्णनीलत्वरक्तत्वपीतशुक्लत्वयोगतः ॥२६०॥
उदयाद्यस्य पूर्वात्मशरीराकृत्यसंक्षयः[2] । चतुर्गत्यानुपूर्व्यं तत्तथागुरुलघूदितम् ॥२६१॥
यस्योदयादयोवत्तु गुरुत्वान्न पतत्यधः । न गच्छति पुमानूर्ध्वं लघुत्वादर्कतूलवत् ॥२६२॥
स्वकृतो बन्धनाद्यैः स्यादुपघातो यतस्तु तत् । उपघातं समुद्दिष्टं परघातं [3]पराद्वधः ॥२६३॥
यदीयोदयनिर्वृत्तं [4]भवत्यातपनं महत् । आदित्यवद्वर्तमानं [5]मतमातपनाम तत् ॥२६४॥
यद्धेतुद्योतनं देहे वेद्यमुद्योतनाम तत् । चन्द्रखद्योतकाद्येषु वर्तमानं यदीक्ष्यते [6]॥२६५॥
उच्छ्वासकारणं यत्तु मतमुच्छ्वासनाम तत् । विहायोगतिराकाशे शस्ताशस्तगतिप्रभुः ॥२६६॥
तत्प्रत्येकशरीराख्यं नाम यत्र शरीरकम् । [7]सदैकात्मोपभोगस्य हेतुर्निर्वर्तते यतः ॥२६७॥
साधारणमनेकेषामेकं यस्माच्छरीरकम् । साधारणशरीराख्यं नाम तद्भोगकारणम् ॥२६८॥
उदयाद्यस्य जीवानां द्वीन्द्रियादिषु जन्म यत् । त्रसनाम विपर्यस्थं स्थावराख्यं तु नाम तत् ॥२६९॥
सर्वप्रीतिकरो यस्मात्प्राणी सुभगनाम तत् । यतोऽप्रीतिकरोऽन्येषां नाम्ना दुर्भग नाम तत् ॥२७०॥

लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्णके भेदसे आठ प्रकारका है ॥ २५६-२५७ ॥ जिसके निमित्तसे रसमें भेद होता है वह रस नाम कर्म कहा गया है। इसके कटुक, तिक्त, कषाय, आम्ल और मधुरके भेदसे पाँच भेद हैं ॥ २५८ ॥ जिसके उदयसे गन्ध होता है वह गन्ध नाम कर्म है। इसके सुगन्ध और दुर्गन्धकी अपेक्षा दो भेद जानना चाहिए ॥ २५९ ॥ जिसके निमित्तसे वर्णमें भेद होता है वह वर्ण नाम कर्म है। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्लके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥ २६० ॥ जिसके उदयसे विग्रह गतिमें पूर्व शरीरकी आकृतिका विनाश न हो वह नरकगत्यानुपूर्व्य आदिके भेदसे चार प्रकारका आनुपूर्व्य नाम कर्म है। जिसके उदयसे यह जीव भारीपनके कारण लोहेके समान नीचे नहीं गिरता है और लघुपनके कारण आककी रुईके समान ऊपर नहीं उड़ता है वह अगुरु लघु नाम कर्म कहा गया है ॥२६१-२६२॥ जिसके उदयसे अपने ही बन्धन आदिसे अपना ही घात होता है वह उपघात नाम कर्म कहा गया है और जिसके उदयसे दूसरोंका घात होता है वह परघात नाम कर्म है ॥ २६३ ॥ जिसके उदयसे शरीरमें सूर्यके समान बहुत भारी आतापकी उत्पत्ति होती है वह आताप नाम कर्म माना गया है इसका उदय सूर्यके विमानमें स्थित बादरपृथिवीकायिक जीवोंके ही होता है। इसकी विशेषता यह है कि यह मूलमें ठण्डा होता है और इसकी प्रभा उष्ण होती है ॥ २६४ ॥ जिसके उदयसे शरीरमें विशिष्ट प्रकारका प्रकाश होता है वह उद्योत नाम कर्म है। यह उद्योत चन्द्रमाके विमानमें स्थित बादरपृथिवीकायिक जीव तथा जुगनू आदिमें देखा जाता है ॥ २६५ ॥ जो उच्छ्वासका कारण है वह उच्छ्वास नाम कर्म माना गया है तथा जो आकाशमें प्रशस्त एवं अप्रशस्त गति करानेमें समर्थ है वह विहायोगति नाम कर्म है ॥ २६६ ॥ जिसके उदयसे ऐसे शरीरकी रचना हो जो सदा एक ही आत्माके उपभोगका कारण हो वह प्रत्येकशरीर नाम कर्म है ॥ २६७ ॥ जिसके उदयसे एक ही शरीर अनेक जीवोंके उपभोगका कारण होता है वह साधारण नाम कर्म है ॥ २६८ ॥ जिसके उदयसे जीवोंका द्वीन्द्रियादिक जीवोंमें जन्म होता है वह त्रसनाम कर्म है। जिसके उदयसे इसके विपरीत सिर्फ एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो वह स्थावर नाम कर्म है ॥२६९॥ जिसके निमित्तसे यह जीव

---

१. कट्वातिक्त म० । २. शरीराकृतिसंक्षयः म०, क०, ङ० । ३. परैर्वधः क० । ४. भवत्यापतनं म० । ५. मतं सातप-म०, ङ० । ६. यदीक्षते म० । ७. सदैवात्मोपभोगस्य म०, ङ० ।

मनोज्ञस्वरनिर्वृत्तिर्यतः सुस्वरनाम तत् । अनिष्टस्वरहेतुर्यत्प्रोक्तं दुःस्वरनाम तत् ॥२७१॥
यतस्तु रमणीयत्वं शुभनाम तदीरितम् । अतिवैरूप्यहेतुश्च नाम्नाशुभमशोभनम् ॥२७२॥
[1]यत्तु सूक्ष्मशरीरस्य कारणं सूक्ष्म नाम तत् । परबाधाकृतो हेतुः शरीरस्य तु बादरः ॥२७३॥
यदाहारादिपर्याप्तिभेदनिर्वृत्तिकारणम् । पर्याप्तिनाम तत्षोढा षड्विधमुदितं बुधैः ॥२७४॥
आहारस्य शरीरस्य प्राणापानेन्द्रियस्य च । [2]पर्याप्त्यभावहेतुस्तु [3]भाषाया मनसोऽपरम् ॥२७५॥
कारणं स्थिरभावस्य स्थिरमस्थिरमन्यथा । नामादेयमनादेयं सप्रभाप्रभदेहकृत् ॥२७६॥
हेतुः पुण्यगुणाख्यातेः यशःकीर्तिरितीर्यते । अयशःकीर्तिनामापि तद्विपर्यासकारणम् ॥२७७॥

समस्त प्राणियोंके लिए प्रीति करनेवाला होता है वह सुभग नाम कर्म है। जिसके निमित्तसे दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न करनेवाला हो वह दुर्भग नाम कर्म है ॥ २७० ॥ जिससे मनोज्ञ स्वर-की रचना होती है वह सुस्वर नाम कर्म है। जो अनिष्ट स्वरका कारण है वह दुःस्वर नाम कर्म है ॥ २७१ ॥ जिससे शरीरमें रमणीयता प्रकट होती है वह शुभ नाम कर्म है। जो अत्यन्त विरूपताका कारण है वह दुःखदायी अशुभ नाम कर्म है ॥ २७२ ॥ जो सूक्ष्म शरीरका कारण है वह सूक्ष्म नाम कर्म है। जो दूसरोंको बाधा करनेवाले शरीरका हेतु है वह बादर नाम कर्म है ॥ २७३ ॥ जो आहार आदि पर्याप्तियोंकी रचनाका कारण है वह पर्याप्ति नाम कर्म है। विद्वानोंने इसके आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति ये छह भेद कहे हैं ॥ २७४ ॥ जो आहार, शरीर, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रिय, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियोंके अभावका कारण है वह अपर्याप्ति नाम कर्म है ॥ भावार्थ—विग्रह गतिके बाद उत्पत्ति स्थानमें पहुँचनेपर ग्रहण किये हुए आहार-वर्गणाके परमाणुओंमें खल रसभाग रूप परिणमन करनेकी जीवकी शक्तिकी पूर्णताको आहारपर्याप्ति कहते हैं। जिन परमाणुओंको खल रूप परिणमाया था उन्हें हड्डी आदि कठोर अवयव रूप तथा जिन्हें रस रूप परिणमाया था उन्हें रुधिर आदि तरल अवयव रूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको शरीरपर्याप्ति कहते हैं। शरीर रूप परिणत परमाणुओंमें स्पर्शनादि इन्द्रियोंके आकार परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। भीतरकी वायुको बाहर छोड़ना और बाहरकी वायुको भीतर खींचनेकी शक्तिकी पूर्णताको श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं। भाषावर्गणाके परमाणुओंको शब्द रूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको भाषापर्याप्ति कहते हैं। और मनोवर्गणाके परमाणुओंको हृदय-क्षेत्रमें स्थित आठ पाँखुड़ीके कमलाकार द्रव्यमनरूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको मनःपर्याप्ति कहते हैं। इनमें-से एकेन्द्रिय जीवके भाषा और मनको छोड़कर चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रियसे लेकर असैनीपञ्चेन्द्रिय तक मनको छोड़कर शेष पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं और सैनी पञ्चेन्द्रिय जीवके सभी पर्याप्तियाँ होती हैं। जिसके उदयसे ये पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं वह पर्याप्तक नाम कर्म है और जिसके उदयसे एक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती वह अपर्याप्तक नाम कर्म है। यहाँ अपर्याप्तक शब्दसे लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी विवक्षा है, निर्वृत्त्यपर्याप्तककी नहीं। क्योंकि वह कर्मोदयकी अपेक्षा तो पर्याप्तक ही है सिर्फ निर्वृत्ति-रचनाकी अपेक्षा लघु अन्तर्मुहूर्तके लिए अपर्याप्तक होता है ॥ २७५ ॥ जो धातु-उपधातुओंकी स्थिरताका कारण है वह स्थिर नाम कर्म है और जो इससे विपरीत अस्थिरताका कारण है वह अस्थिर नाम कर्म है, जो प्रभापूर्ण शरीरका कारण है वह आदेय नाम कर्म है और जो प्रभा-रहित शरीरका कारण है वह अनादेय नाम कर्म है ॥ २७६ ॥ जो पुण्य रूप गुणोंकी प्रसिद्धिका कारण है वह

१. यत्र म०, ख० । २. पर्याप्त्यभावहेतुस्तु क० । ३. भाषायां म० ।

हेतुस्तीर्थंकरत्वस्य तत्तीर्थंकरनाम तत् । नाम्नः प्रकृतिभेदास्त्रिनवतिस्तूत्तरोत्तराः ॥२७८॥
गोत्रमुच्चैश्च नीचैश्च तत्र यस्योदयात्कुले । पूजिते जन्म [1]तदुच्चैर्नीचैर्नीचकुलेषु तत् ॥२७९॥
दीयते दातुकामैर्न लब्धुकामैर्न लभ्यते । यदुदयात्प्रणीतौ तौ दानलाभान्तरायकौ ॥२८०॥
भोक्तुकामोऽपि नो भुङ्क्ते नोपभुङ्क्ते तथेच्छुकः । यदेतावन्तरायौ तौ ज्ञेयौ भोगोपभोगयोः ॥२८१॥
तथोत्सहितुकामो यो यतो नोत्सहते स हि । वीर्यान्तराय एषोऽसौ बन्धः प्रकृतिलक्षणः ॥२८२॥
स्थितिबन्धविकल्पस्तु जघन्योत्कृष्टभेदवान् । अष्टानां कर्मणामेषां द्विविधोऽपि निरूप्यते ॥२८३॥
[2]ज्ञानदर्शनसंवृत्योर्वेदनीयान्तराययोः । सागरोपमकोटीनां कोट्यस्त्रिंशत्परा स्थितिः ॥२८४॥
सप्ततिर्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैवं ज्ञेया पर्याप्तकस्य तु ॥२८५॥
आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमिका परा । स्थितिः सा वेदनीयस्य मुहूर्ता द्वादशावरा ॥२८६॥
साष्टावेव मुहूर्ता स्याज्जघन्या नामगोत्रयोः । पञ्चानामपि शेषाणां स्थितिरन्तर्मुहूर्तिका ॥२८७॥

यशःकीर्ति नामकर्म कहलाता है और जो इससे विपरीत अपयशका कारण है वह अपयशस्कीर्ति नामकर्म है ॥ २७७ ॥ और जो तीर्थंकर पर्यायका कारण है वह तीर्थंकर नामकर्म है यह सातिशय पुण्य प्रकृति है। इस प्रकार नामकर्मकी तिरानबे उत्तर प्रकृतियाँ हैं ॥२७८॥

गोत्रकर्मके दो भेद हैं—१. उच्च गोत्र और नीच गोत्र। जिसके उदयसे लोकपूज्य कुलमें जन्म होता है उसे उच्च गोत्र कहते हैं और जिसके उदयसे नीच कुलोंमें जन्म होता है वह नीच गोत्र है ॥ २७९ ॥

अन्तराय कर्मके पाँच भेद हैं—१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय और ५. वीर्यान्तराय। जिसके उदयसे जीव दान करनेकी इच्छा करते हुए भी दान न कर सके वह दानान्तराय है। जिसके उदयसे लाभकी इच्छा रखते हुए भी लाभ प्राप्त न कर सकें वह लाभान्तराय है ॥ २८० ॥ जिसके उदयसे जीव, भोगकी इच्छा रखता हुआ भी भोग नहीं सकता वह भोगान्तराय है। जिसके उदयसे उपभोगकी इच्छा रखता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता वह उपभोगान्तराय है ॥ २८१ ॥ और जिसके उदयसे कार्योंमें उत्साहित होता हुआ भी उत्साह प्रकट नहीं कर सकता वह अन्तराय नामका कर्म है। इस प्रकार यह प्रकृतिबन्धका निरूपण किया ॥ २८२ ॥ अब स्थितिबन्धका निरूपण करते हैं। आठों कर्मोंका स्थितिबन्ध, जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षासे दो प्रकारका कहा जाता है ॥ २८३ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है ॥ २८४ ॥ मोहनीय कर्मकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है और नाम तथा गोत्र कर्मकी बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। यह उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके ही बँधती है ॥ २८५ ॥ आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। नाम और गोत्रकी आठ मुहूर्त है तथा शेष पाँच कर्मोंकी अन्तर्मुहूर्त है ॥ २८६–२८७ ॥

---

१. तदुच्चैः म० । २. आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥ विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१६॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥ अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥ नामगोत्रयोरष्टौ ॥१९॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥—त० सू० अ० ८ । तीसं कोडाकोडी तिघादितदियेसु वीसणामदुगे । सत्तरि मोहे सुद्धं उवही आउस्स तेत्तीसं ॥१२७॥ बारस य वेयणीये णामे गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता । गो० क० ॥ भिण्णमुहुत्तं तु ठिदी जहण्णयं सेसपंचण्हं ॥१३९॥

कषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषतः । विशिष्टपाक इष्टस्तु विपाकोऽनुभवोऽथवा ॥२८८॥
स द्रव्यक्षेत्रकालोरुभवभावविभेदतः । विविधो हि विपाको यः सोऽनुभावः समुच्यते ॥२८९॥
प्रकृष्टोऽनुभवः पुण्यप्रकृतीनां शुभो यथा[2] । अशुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवस्तथा ॥२९०॥
अशुभप्रकृतीनां तु परिणामविशेषतः । प्रकृष्टोऽनुभवोऽन्यासां निकृष्टोऽनुभवस्तथा ॥२९१॥
स्वमुखेनानुभूयन्ते मूलप्रकृतयोऽखिलाः । उत्तरास्तुल्यजातीया द्वयाम्मोहायुषी विना[3] ॥२९२॥

कषायोंकी तीव्रता, मन्दता आदि भावास्रवकी विशेषतासे जो उनका विशिष्ट परिपाक होता है उसे अनुभव कहते हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावकी विभिन्नतासे कर्मों-का जो विविध—नाना प्रकारका परिपाक होता है वह अनुभवबन्ध कहलाता है ॥२८८–२८९॥ शुभ परिणामोंसे जिस प्रकार पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है उसी प्रकार पाप प्रकृतियोंका जघन्य अनुभव बन्ध होता है और अशुभ परिणामोंकी विशेषतासे जिस प्रकार अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है उसी प्रकार शुभ प्रकृतियोंका जघन्य अनुभव बन्ध होता है ॥ भावार्थ—प्रत्येक समय पुण्य और पाप प्रकृतियोंका अनुभव बन्ध जारी रहता है। जिस समय शुभ परिणामोंकी प्रकर्षता होती है उस समय पुण्य प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभव बन्ध होता है और पाप प्रकृतियोंका जघन्य अनुभव होता है। इसी प्रकार जिस समय अशुभ परिणामोंकी विशेषतासे पापप्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभव होता है उस समय पुण्यप्रकृतियोंका जघन्य अनुभव बन्ध होता है ॥२९०–२९१॥ कर्मोंकी समस्त मूल प्रकृतियाँ स्वमुखसे ही अनुभवमें आती हैं—अपना फल देती हैं और मोहनीय तथा आयुकर्मको छोड़कर शेष कर्मों की तुल्य जातीय प्रकृतियाँ स्वमुख तथा परमुख—दोनों रूपसे अनुभवमें आती हैं—फल देती हैं। भावार्थ—जिस प्रकृतिका जिस रूप बन्ध हुआ है उसका उसी रूप उदय आना स्व-मुखसे उदय आना कहलाता है और अन्य प्रकृति रूप उदय आना परमुखसे उदय आना कहलाता है। कर्मोंकी ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियाँ सदा स्वमुखसे ही उदयमें आती हैं अर्थात् ज्ञानावरणका उदय दर्शनावरणादि रूप कभी नहीं होता है परन्तु उत्तर प्रकृतियोंमें एक कर्मकी प्रकृतियाँ स्वमुख तथा परमुख दोनों रूपसे फल देती हैं। जैसे वेदनीय कर्मकी साता वेदनीय और असाता वेदनीय ये दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनमें सातावेदनीयका उदय साता रूप भी आ सकता है और असाता रूप भी आ सकता है। इसी प्रकार असाता वेदनीयका उदय असाता रूप भी आ सकता है और साता रूप भी। जिस समय अपने रूप उदय आता है उस समय स्वमुखसे उदय आना कहलाता है और जिस समय अन्य रूप उदय आता है उस समय परमुखसे उदय आना कहलाता है। विशेषता यह है कि मोहनीय कर्मके जो दर्शन-मोह और चारित्र-मोह भेद हैं उनकी प्रकृतियाँ परस्पर एक दूसरे रूपमें उदय नहीं आतीं—सदा

१. विपाकोऽनुभवः ॥२१॥ त० सू० अ० ८ ॥ विशिष्टो नानाविधो वा पाकोविपाकः । पूर्वोक्त-कषायतीव्रमन्दादिभावास्रव विशेषाद् विशिष्टः पाको विपाकः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेद-जनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः । २. 'शुभाद्यथा' इति सम्यक्प्रतिभाति । ३. शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः । अशुभप्रकृतीनां निकृष्टः । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभ-प्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवः । शुभप्रकृतीनां निकृष्टः । स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः । उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति आयुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम् । न हि नरकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते । नापि दर्शनमोहश्चा-रित्रमोहमुखेन, चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन । स० सि० सूत्र ॥२१॥

[1]कर्मणोऽनुभवात्सम्यक्तपसश्चापि[2] निर्जरा । विपाकजा तु तत्रैका परा चाप्यविपाकजा ॥२९३॥
संसारे भ्रमतो जन्तोः प्रारब्धफलकर्मणः । क्रमेणैव निवृत्तिर्या निर्जराऽसौ विपाकजा[3] ॥२९४॥
यदुपायविपाच्यं तदाम्रादिफलपाकवत् । अनुदीर्णमुदीर्यास्तु निर्जरा त्वविपाकजा[4] ॥२९५॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकाः । घनाङ्गुलस्यासंख्येयभाग[5]क्षेत्रावगाहिनः ॥२९६॥
एकद्वित्र्यादिसंख्येयसमयस्थितयः सदा । प्रदेशबन्धसन्तानेऽप्यासते कर्मपुद्गलाः[6] ॥२९७॥
[7]शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्यं च चतुर्विधः । पुण्यबन्धोऽन्यकर्माणि पापबन्धः प्रपञ्चितः ॥२९८॥
[8]आस्रवस्य निरोधस्तु संवरः परिभाष्यते । स भावद्रव्यभेदाभ्यां द्वैविध्येन निरूप्यते ॥२९९॥
[9]क्रियाणां भवहेतूनां निवृत्तिर्भावसंवरः । तत्कर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ॥३००॥

स्वमुख ही उदय आती हैं परन्तु इन भेदोंकी जो अवान्तर उत्तर प्रकृतियाँ हैं उनका दोनोंसे उदय आता है। इसी प्रकार आयु कर्मकी उत्तर प्रकृतियोंका सदा स्वमुखसे ही उदय आता है परमुखसे नहीं। जैसे नरकायुका सदा नरकायु रूप ही उदय आता है अन्य रूप नहीं ॥ २९२ ॥

विपाकसे और तपसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। इस निर्जरामें एक निर्जरा तो विपाकजा है और दूसरी अविपाकजा है। भावार्थ—निर्जराके विपाकजा और अविपाकजाके भेदसे दो भेद हैं ॥ २९३ ॥ संसारमें भ्रमण करनेवाले जीवका कर्म जब फल देने लगता है तब क्रमसे ही उसकी निवृत्ति होती है, यही विपाकजा निर्जरा कहलाती है ॥ २९४ ॥ और जिस प्रकार आम आदि फलोंको उपाय-द्वारा असमयमें ही पका लिया जाता है उसी प्रकार उदयावलीमें अप्राप्त कर्मकी तपश्चरण आदि उपायसे निश्चित समयसे पूर्व ही उदीरणा द्वारा जो शीघ्र ही निर्जरा की जाती है वह अविपाकजा निर्जरा है ॥ २९५ ॥ आत्माके समस्त प्रदेशोंके साथ कर्मपरमाणुओंका जो बन्ध है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है। इस प्रदेशबन्धकी सन्ततिमें अनन्तानन्त प्रदेशोंसे युक्त घनांगुलके असंख्येयभाग प्रमाणक्षेत्रमें अवगाढ एक दो, तीन आदि संख्यात समयोंकी स्थितिवाले कर्म रूप पुद्गल आत्माके समस्त प्रदेशोंमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥ २९६–२९७ ॥ उपर्युक्त कर्मबन्ध, पुण्यबन्ध और पापबन्धके भेदसे दो प्रकारका है, उनमें शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र और सद्वेद्य ये चार पुण्यबन्धके भेद हैं और शेष कर्म पापबन्ध रूप हैं ॥ २९८ ॥

आस्रवका रुक जाना संवर कहलाता है। यह भावसंवर और द्रव्यसंवरके भेदसे दो प्रकारका कहा जाता है ॥ २९९ ॥ संसारकी कारणभूत क्रियाओंका रुक जाना भाव

---

१. ततश्च निर्जरा। तपसा निर्जरा च। त० सू० । ३. तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतः शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा। ४. यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्योदयावलिं प्रविश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा ॥ स०सि०अ० ८ सू० २३ ॥ ५. भागे क्षेत्रा—क० ङ० म० । ६. नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥—त० सू० अ० ८। 'ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा घनाङ्गुलस्यासंख्येयभाग क्षेत्रावगाहिनः एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णपञ्चरसद्विगन्धचतुःस्पर्शस्वभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या योगवशादात्मनाऽऽत्मसात् क्रियन्ते ॥ स० सि० ॥ ७. 'शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्' ॥२५॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥त०सू० । ८. आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥ त० सू० अ० ९ । ९. तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः । तन्निरोधे तत्पूर्वकर्मपुद्गलादानविच्छेदो द्रव्यसंवरः ॥ स० सि० ।

[1]त्रिसंख्या गुप्तयः पञ्चसंख्याः समितयस्तथा । दशद्वादशधर्मानुप्रेक्षाश्चारित्रपञ्चकम् ॥३०१॥
द्वाविंशतिभिदा भिन्नपरीषहजयोऽपि च । हेतवः संवरस्यैते सप्रपञ्चाः समन्विताः ॥३०२॥
[2]बन्धहेतोरभावाद्धि निर्जरातश्च कर्मणाम् । कार्त्स्न्येन विप्रमोक्षस्तु मोक्षो निर्ग्रन्थरूपिणः ॥३०३॥
[3]जीवादिसप्ततत्त्वानामेतेषां ज्ञानसंगतम् । श्रद्धानं सच्चरित्रं च साक्षान्मोक्षस्य साधनम् ॥३०४॥
भवेनैकेन मार्गस्थाः केचित्सप्ताष्टभिः परे । भुक्तस्वर्गसुखा भव्याः सिद्ध्यन्ति ध्यायिनः सदा ॥३०५॥
इति श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं मोक्षमार्गमनाविलम् । प्रणेमुर्द्वादशगणाः [4]प्रकृताञ्जलयो विभुम् ॥३०६॥
ते सम्यग्दर्शनं केचित्संयमासंयमं परे । संयमं केचिदायाताः संसारावासभीरवः ॥३०७॥
द्वे सहस्रे नरेन्द्रास्ते कन्याश्च नृपयोषितः । सहस्राणि बहून्यापुः संयमं जिनदेशितम् ॥३०८॥
[5]शिवा च रोहिणी देवी देवकी रुक्मिणी तथा । देव्योऽन्याश्च सुचारित्रं गृहिणां प्रतिपेदिरे ॥३०९॥
यदुभोजकुलश्रेष्ठा राजानः सुकुमारिकाः । जिनमार्गविदो जाता द्वादशाणुव्रतस्थिताः ॥३१०॥
कृतपूजाः सुरैरिन्द्राः प्रणम्य जिनभास्करम् । प्रयाताः स्वास्पदं रामकेशवाद्याश्च यादवाः ॥३११॥

शार्दूलविक्रीडितम्

विश्वाशा विशदाः शरद्विदधती धौतं पयोदैस्तथा
विस्पष्टग्रहतारकाकुसुमितं रम्यं नभोमण्डलम् ।

संवर है और कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके ग्रहणका विच्छेद हो जाना द्रव्यसंवर है ॥ ३०० ॥ तीन गुप्तियाँ, पाँच समितियाँ, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, पाँच चारित्र और बाईस परिषह-जय ये अपने अवान्तर विस्तारसे सहित संवरके कारण हैं ॥ ३०१-३०२ ॥ निर्ग्रन्थ मुद्राके धारक मुनिके बन्धके कारणोंका अभाव तथा निर्जराके द्वारा जो समस्त कर्मोंका अत्यन्त क्षय होता है वह मोक्ष कहलाता है ॥ ३०३ ॥ इन जीवादि सात तत्त्वोंका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन है ॥ ३०४ ॥ मोक्षमार्गमें स्थित कितने ही भव्य जीव एक ही भवमें सिद्ध हो जाते हैं और कितने ही भव्य स्वर्गके सुख भोग कर सदा आत्माका ध्यान करते हुए सात-आठ भवमें मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३०५ ॥

इस प्रकार नेमि जिनेन्द्रके द्वारा कहा हुआ निर्मल मोक्षमार्ग सुनकर बारह सभाओंके लोगोंने हाथ जोड़कर भगवान्को नमस्कार किया ॥ ३०६ ॥ श्रोताओंमें-से कितने ही लोगोंने सम्यग्दर्शन धारण किया, कितने ही लोगोंने संयमासंयम प्राप्त किया और संसारवाससे डरनेवाले कितने ही लोगोंने पूर्ण संयम—मुनिव्रत स्वीकृत किया ॥ ३०७ ॥ उस समय दो हजार राजाओंने, दो हजार कन्याओंने एवं हजारों रानियोंने जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए पूर्ण संयमको प्राप्त किया ॥ ३०८ ॥ शिवा देवी, रोहिणी, देवकी, रुक्मिणी तथा अन्य देवियोंने श्रावकोंका चारित्र स्वीकृत किया ॥ ३०९ ॥ यदुकुल और भोजकुलके श्रेष्ठ राजा तथा अनेक सुकुमारियाँ जिनमार्गकी ज्ञाता बन बारह अणुव्रतोंकी धारक हो गयीं ॥ ३१० ॥ जो देवोंके साथ पूजा कर चुके थे, ऐसे इन्द्र तथा बलभद्र और कृष्ण आदि यादव, जिनेन्द्ररूपी सूर्यको नमस्कार कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥ ३११ ॥

तदनन्तर जो समस्त दिशाओंको उज्ज्वल कर रही है, मेघोंके द्वारा धुले हुए सुन्दर

---

१. स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥ त० सू० अ० ९ । २. बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ त० सू० अ० १० । ३. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ त० सू० अ० १ । ४. प्रकृताञ्जलयो म० । ५. ३०९, ३१०, ३११ तमाः श्लोकाः ङ० ख० पुस्तकयोर्न सन्ति क पुस्तकेऽपि पश्चात् योजिताः सन्ति ।

[1]बन्धूकाब्जसुसप्तपर्णसुरभिप्रत्यग्रपुष्पाञ्जलिं
मुञ्चन्ती जिनपादयोरुपगता भक्तेव लोकत्रयी ॥३१२॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ श्रीनेमिनाथधर्मोपदेशवर्णनो नाम अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥५८॥

आकाशमण्डलको जो निर्मल ग्रहों और ताराओंसे पुष्पित बना रही थी एवं जो बन्धूक, कमल और सप्तपर्णके सुगन्धित नूतन फूलोंकी अञ्जलि छोड़ रही थी ऐसी शरद् ऋतु, भक्तिसे भरी लोकत्रयीके समान जिनेन्द्रदेवके चरणोंके समीप आयी ॥ ३१२ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें श्रीनेमिनाथ भगवान्के धर्मोपदेशका वर्णन करनेवाला अंठावन सर्ग समाप्त हुआ ॥५८॥

---

१. बन्धूकाब्जसुसप्तपर्ण म०, ख० ।

एकोनषष्टितमः सर्गः

विहाराभिमुखेऽगोग्राज्जिनेन्द्रेऽवतरिष्यति । स्वर्गाग्रादिव भूलोकं समुद्धर्तुं भवोदधेः ॥१॥
गृह्यतां गृह्यतां काम्यं यथाकाममिहार्थिभिः । इति नित्यं धनेशेन घुष्यते कामघोषणा ॥२॥
कामदा कामधद्भूमिः कल्प्यते मणिकुट्टिमा । माङ्गल्यविजयोद्योगे विभोः किं वा न कल्प्यते ॥३॥
महाभूतानि सर्वाणि [2]भर्तुर्भूतहितोद्यमे[3] । सर्वभूतहितानि स्युस्तादृशी खलु सार्वता ॥४॥
प्रावृषेण्याम्बुधारेव वसुधारा वसुन्धराम् । दिवोऽन्वर्थाभिधानत्वं नयतीत्यपतत्पथि[4] ॥५॥
[5]प्रादुःष्यन्ति सुराः सद्यः प्रणामचलमौलयः । भासा व्याप्य दिशो भर्तुः प्रभाकारानुरागिणः ॥६॥
ये द्वे [यद् द्वे] पूर्वोत्तरे पंक्ती हेमाम्बुजसहस्रयोः । सहस्रपत्रं तत्पूतं भुवः कण्ठे गुणाकृती ॥७॥
पद्मरागमयं भास्वच्चित्ररत्नविचित्रितम् । प्रभूतप्रतिपत्रस्थपद्माभागमनोहरम् ॥८॥
सहस्राक्षसहस्राक्षिभृङ्गावलिनिषेवितम् । देवासुरनरालोकमधुपापानमण्डकम् ॥९॥
[6]पद्मोद्भासि परं पुण्यं पद्मयानं प्रकाशते । सद्यो योजनविष्कम्भं तच्चतुर्भागकर्णिकम् ॥१०॥
महिमाग्रे सुरेशाष्टमूर्तिस्पष्टगुणश्रियः । वसवोऽष्टौ पुरोधाय वासवं वरिवस्यया ॥११॥

अथानन्तर जिस प्रकार पहले संसार-समुद्रसे प्राणियोंको पार करनेके लिए भगवान् स्वर्गके अग्रभागसे पृथिवी लोकपर अवतीर्ण हुए थे, उसी प्रकार जब विहारके लिए सम्मुख हो गिरनार पर्वतके शिखरसे नीचे उतरनेके लिए उद्यत हुए तब कुबेरने निरन्तर यह मनचाही घोषणा शुरू कर दी कि जिस याचकको जिस वस्तुकी इच्छा हो वह यहाँ आकर उसे इच्छानुसार ले ॥ १–२ ॥ उस समय कामधेनुके समान इच्छित पदार्थ प्रदान करनेवाली मणिमयी भूमि बनायी गयी। सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्के मङ्गलमय विजयोद्योगके समय क्या नहीं किया जाता ? अर्थात् सब कुछ किया जाता है ॥ ३ ॥ जब कि भगवान्का समस्त भूतों—प्राणियोंके हितके लिए उद्यम हो रहा था तब पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप चार महाभूत भी समस्त भूतों—प्राणियोंके हितकर हो गये सो ठीक ही है क्योंकि भगवान्की सर्वहितकारिता वैसी ही अनुपम थी ॥ ४ ॥ धनकी बड़ी मोटी धारा वर्षा ऋतुके मेघकी जलधाराके समान पृथिवीके वसुन्धरा नामको सार्थकता प्राप्त कराती हुई आकाशसे मार्गमें पड़ने लगी ॥ ५ ॥ प्रणाम करनेसे जिनके मस्तक चञ्चल हो रहे थे तथा जो भगवान्की प्रभा और आकारमें अनुराग रखते थे ऐसे देव अपनी कान्तिसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए शीघ्र ही प्रकट होने लगे ॥ ६ ॥ सर्व-प्रथम देवोंने एक ऐसे सहस्रदल पवित्र कमलकी रचना की जो पूर्व और उत्तरकी ओर स्वर्णमय हजार-हजार कमलोंकी दो पंक्तियाँ धारण करता था तथा वे पंक्तियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो पृथिवीरूपी स्त्रीके कण्ठमें पड़ी दो मालाएँ ही हों ॥ ७ ॥ वह कमल पद्मराग मणियोंसे निर्मित था, देदीप्यमान नाना प्रकारके रत्नोंसे चित्र-विचित्र था, प्रत्येक पत्रपर स्थित लक्ष्मीके भागसे मनोहर था, इन्द्रके हजार नेत्ररूपी भ्रमरावलीसे सेवित था, देव धरणेन्द्र और मनुष्योंके नेत्ररूपी भ्रमरोंके लिए मानो मधुगोष्ठीका स्थान था, लक्ष्मीसे सुशोभित था, परम पुण्यरूप था, एक योजन विस्तृत था और उसके चौथाई भाग प्रमाण उसकी कर्णिका-डंठल थी ॥ ८–१० ॥ यह कमल पद्मयानके नामसे प्रसिद्ध था। सेवा-द्वारा इन्द्रको आगे कर आठ वसु उस पद्मयानके आगे-आगे चल रहे थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानो इन्द्रके अणिमा, महिमा आदि आठ गुण ही मूर्तिधारी हो चल रहे हों।

---

१. पर्वताग्रात्–गिरनारशिखरतः। २. भर्तु–म० घ०। ३.—द्यते क०। ४. नयतीति पतत्यपि क०। ५. प्राङ्मुख्यन्ति। ६. जयोद्भासि इत्यपि पाठः इति क० पुस्तकपार्श्वे लिखितम्।

जय प्रसीद भर्तुस्ते वेला लोकहितोद्यमे । जाताद्येत्यानमन्नीशं स हि विश्वसृजो विधिः ॥१२॥
ततः प्रक्रमते [1]शम्भुरारोढुं पद्मयानकम् । तत्क्षणं भूयते भूम्या [2]हृष्टसम्भ्रान्तयापि च ॥१३॥
[3]विजयी [4]विहरत्येष विभेशो विश्वभूतये । धर्मचक्रपुरस्सारी त्रिलोकी तेन सम्पदा ॥१४॥
वर्धतां वर्धतां नित्यं निरीतिर्भवतामिति । श्रूयतेऽभ्यम्बुदध्वानः प्रयाणपटहध्वनिः ॥१५॥
वीणावेणुमृदङ्गोरुझल्लरीशङ्खकाहलैः । तूर्यमङ्गलघोषोऽपि पयोधिमधिगर्जति ॥१६॥
सङ्कथाक्ष्वेडितागीताट्टहासैः कलकलोत्तरैः । [5]द्यावापृथिव्यौ प्राप्नोति [6]प्रास्थानिकमहारवः ॥१७॥
[7]वल्गु गायन्ति किन्नर्यो नृत्यन्त्यप्सरसो दिवि । घूर्णन्त्यातोद्यमानर्ता[8] गन्धर्वाद्य इत्यपि ॥१८॥
स्तुवन्ति मङ्गलस्तोत्रैर्जयमङ्गलपूर्वकैः । तत्र तत्र सतां वन्द्यं [9]वन्दिनो नृसुरासुराः ॥१९॥
चित्रैश्चित्तहरैर्दिव्यैर्मानुषैश्च समन्ततः । नृत्यसङ्गीतवादित्रैर्भूतलेऽपि प्रभूयते[10] ॥२०॥
पालयन्ति [11]सदिग्भागैर्लोकपालाः सभूतयः । भर्तृसेवा हि भृत्यानां स्वाधिकारेषु सुस्थितिः ॥२१॥
धावन्ति परितो देवा केचिद्भासुरदर्शनाः । हिंसया[12] व्यापसः सर्वानुत्सार्योत्सार्य दूरतः ॥२२॥
उदस्तैरत्नवलयैर्वीचिहस्तैः कृताञ्जलिः । मन्ये प्रीतस्तदोदन्वान्वेलामूर्ध्ना नमस्यति ॥२३॥

वे वसु यह कहते हुए भगवान्‌को प्रणाम करते जा रहे थे कि हे भगवन् ! आप जयवन्त हों, प्रसन्न होइए, लोकहितके लिए उद्यम करनेका आज समय आया है। यथार्थमें वह सब भगवान्‌का माहात्म्य था ॥ ११—१२ ॥ तदनन्तर उस पद्मयानपर भगवान् जिनेन्द्र आरूढ़ हुए थे और उस समय पृथिवी हर्षसे झूमती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ १३ ॥ उस समय मेघों-के शब्दको पराजित करनेवाला देव-दुन्दुभियोंका यह प्रयाणकालिक शब्द सुनायी पड़ रहा था कि धर्मचक्रको आगे-आगे चलानेवाले ये जगत्‌के स्वामी विजयी भगवान् सब जीवोंके वैभवके लिए विहार कर रहे हैं। इनके इस विहारसे तीन लोकके जीव सम्पत्तिसे वृद्धिको प्राप्त हों अर्थात् सबकी सम्पदा वृद्धिंगत हो, और सब अतिवृष्टि आदि ईतियोंसे रहित हों ॥ १४–१५ ॥ उस समय वीणा, बाँसुरी, मृदङ्ग, विशाल झालर, शङ्ख और काहलके शब्दसे युक्त तुरहीका मङ्गलमय शब्द भी समुद्रकी गर्जनाको तिरस्कृत कर रहा था ॥ १६ ॥ प्रस्थान कालमें होनेवाला बहुत भारी शब्द, उत्तम कथा, चिल्लाहट, गीत, अट्टहास तथा अन्य कल-कल शब्दोंसे आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर रहा था ॥ १७ ॥ आकाशमें किन्नरियाँ मनोहर गान गाती थीं, अप्सराएँ नृत्य करती थीं, झूमते हुए गन्धर्व आदि देव तबला बजा रहे थे और नमस्कार करते हुए मनुष्य, सुर तथा असुर, सज्जनोंके द्वारा वन्दनीय भगवान्‌को नमस्कार करते हुए जय-जयकी मङ्गलध्वनिपूर्वक मङ्गलमय स्तोत्रोंसे जहाँ-तहाँ उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ १८–१९ ॥ पृथिवीतलपर भी सब ओर मनुष्य चित्तको हरनेवाले नाना प्रकारके दिव्य नृत्य, संगीत और वादित्रोंसे युक्त हो रहे थे ॥ २० ॥ विभूतियोंसे सहित लोकपाल समस्त दिग्भागोंके साथ सबकी रक्षा कर रहे थे। सो ठीक ही है क्योंकि अपने-अपने नियोगों-पर अच्छी तरह स्थित रहना ही भृत्योंकी स्वामि-सेवा है ॥ २१ ॥ देदीप्यमान दृष्टिके धारक कितने ही देव समस्त हिंसक जीवोंको दूर खदेड़कर चारों ओर दौड़ रहे थे ॥ २२ ॥ उस समय प्रसन्नतासे भरा समुद्र, रत्नरूप वलयोंसे सुशोभित ऊपर उठे हुए तरङ्गरूपी हाथोंसे

---

१. क०, ख०, ग०, घ०, ङ०, सर्वपुस्तकेषु 'सिन्धुरारोढु' इति पाठो विद्यते, परं तस्यार्थसंगतिर्न प्रतिभाति। अतः मैसूरस्थित-प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिरस्थितपुस्तके समुपलब्धः 'शम्भुरारोढु' इति पाठः स्वीकृतः। अत्र शम्भुपदं जिनेन्द्रवाचकम्। २. हृष्ट ग०, ङ०, हृष्ट म०, क०। 'हृष्टसंभ्रान्तयापि च' इति पाठोऽपि मैसूरस्थितपुस्तके समुपलब्धः। ३. विजये क०, ङ०, म०। ४. विचरत्येष क०। ५. दिवः-पृथिव्यौ म०, क०, ङ०। ६. प्रस्थानीकमहारवः म०। ७. फल्गु म०। ८. मानार्ता म०, क०, ङ०। ९. वन्दिता म०। १०. प्रभूतये म०। ११. सदिग्भागै-म०। १२. हिंसापापीयसः। हिंसयान्वयि सर्वा क०।

[1]विलम्बितसहस्रार्कयुगपत्पतनोदयैः[2] । नमतानन्दितालोकनामोन्नामैः[3] पदे पदे ॥२४॥
सुराणां[4] भूतलस्पर्शिमुकुटैर्बहुकोटिभिः । भूः पुरःसोपहारेव शोभतेऽम्बुजकोटिभिः ॥२५॥
लौकान्तिकाः पुरो यान्ति लोकान्तव्यापितेजसः[5] । लोकेशस्य यथालोकाः पुरोगा मूर्तिसम्भवाः ॥२६॥
पद्मा सरस्वतीयुक्ता परिवारात्तमङ्गला । पद्महस्ता पुरो याति परीत्य परमेश्वरम् ॥२७॥
[6]प्रसीदेत इतो देवेत्यानम्य प्रकृताञ्जलिः । तद्भूमिपतिभिः सार्धं पुरो याति पुरन्दरः ॥२८॥
एवमीशस्त्रिलोकेशपरिवारपरिष्कृतः । लोकानां भूतये भूतिमुद्वहन् सार्वलौकिकीम् ॥२९॥
पद्मकेतुः पवित्रात्मा परमं पद्मयानकम् । भव्यपद्मैकसद्बन्धुर्यदारोहति तत्क्षणात् ॥३०॥
जय नाथ जय ज्येष्ठ जय लोकपितामह । जयात्मभूर्जयात्मेश जय देव जयाच्युत ॥३१॥
जय सर्वजगद्बन्धो जय सद्धर्मनायक । जय सर्वशरण्यश्रीर्जय पुण्यजयोत्तम ॥३२॥
[7]इत्युदीर्णसुरुद्घोषो रुन्धानो रोदसी स्फुटः । [8]जयत्युच्चोऽतिगम्भीरो घनाघनघनध्वनिः ॥३३॥

अञ्जलि बाँध कर वेलारूपी मस्तकसे मानो भगवान्‌के लिए नमस्कार ही कर रहा था ॥२३॥

उस समय डग-डग पर भगवान्‌को नमस्कार करनेवाले देवोंके करोड़ों देदीप्यमान मुकुटोंका बहुत भारी प्रकाश बार-बार नीचेको झुकता और बार-बार ऊपरको उठता था। उससे ऐसा जान पड़ता था मानो हजारों सूर्योंका एक साथ पतन तथा उदय हो रहा हो। उन्हीं देवोंके जब करोड़ों मुकुट पृथिवीतलका स्पर्श करते थे तब भगवान्‌के आगेकी भूमि ऐसी सुशोभित होने लगती थी मानो उसपर करोड़ों कमलोंकी भेंट ही चढ़ायी गयी हो ॥ २४–२५ ॥ जिनका तेज लोकके अन्त तक व्याप्त था, ऐसे लौकान्तिक देव भगवान्‌के आगे-आगे चल रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो लोकके स्वामी भगवान् जिनेन्द्रका प्रकाश ही मूर्तिधारी हो आगे-आगे गमन कर रहा था ॥ २६ ॥ जिनके परिवारको देवियोंने मङ्गल द्रव्य धारण कर रखे थे, तथा जिनके हाथोंमें स्वयं कमल विद्यमान थे, ऐसी पद्मा और सरस्वती देवी, भगवान्‌की प्रदक्षिणा देकर उनके आगे-आगे चल रही थीं ॥ २७ ॥ 'हे देव! इधर प्रसन्न होइए, इधर प्रसन्न होइए।' इस प्रकार नमस्कार कर जिसने अञ्जलि बाँध रखी थी ऐसा इन्द्र, तद्-तद् भूमिपतियोंके साथ भगवान्‌के आगे-आगे चल रहा था ॥ २८ ॥

इस प्रकार जो तीनों लोकोंके इन्द्र तथा उनके परिवारसे घिरे हुए थे, लोगोंकी विभूतिके लिए जो समस्त लोककी विभूतिको धारण कर रहे थे, जो कमलकी पताकासे सहित थे, जिनकी आत्मा अत्यन्त पवित्र थी, और जो भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए उत्तम सूर्यके समान थे, ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र जिस समय उस पद्मयानपर आरूढ हुए उसी समय देवोंने मेघ-गर्जनाके समान यह शब्द करना शुरू कर दिया कि हे नाथ! आपकी जय हो, हे ज्येष्ठ! आपकी जय हो, हे लोकपितामह! आपकी जय हो, हे आत्मभू! आपकी जय हो, हे आत्मेश! आपकी जय हो, हे देव! आपकी जय हो, हे अच्युत! आपकी जय हो। हे समस्त जगत्‌के बन्धु! आपकी जय हो, हे समीचीन धर्मके स्वामी! आपकी जय हो, हे सबके शरणभूत लक्ष्मीके धारक! आपकी जय हो, हे पुण्य रूप! आपकी जय हो, हे उत्तम! आपकी जय हो। इस प्रकार उठा हुआ पुण्यात्मा जनोंका जोरदार, अत्यन्त गम्भीर एवं मेघ-गर्जनाकी तुलना करनेवाला वह शब्द आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त करता हुआ अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥ २९–३३ ॥

---

१. डलयोरभेदात् विलम्बितपदेन विडम्बितस्य ग्रहणम् । २. पतनोदयोः म० । ३. नन्दितस्य समृद्धस्य आलोकस्य नामोन्नामैः । ४. शूराणाम् म० । ५. लोकान्तस्थापितै– म० । ६. प्रसीदेति इतो देवे क० । ७. इत्युदीर्णसुरुद्घोषः म० । ८. जयत्युच्चेति– म० ।

स देवः सर्वदेवेन्द्रव्या[1]हृतालोकमङ्गलः । तन्मौलिभ्रमरालीढक्रमत्पादपयोरुहः ॥३४॥
तत्पयोरुहवासिन्या पद्मयानन्दयञ्जगत् । [2]व्यहरत् परमोद्भूतिर्भूतानामनुकम्पया ॥३५॥
देवमार्गे स्थिते दिव्ये बिम्बस्याब्जे पदाम्बुजम् । स्वच्छाम्भोवा[3]न्मुखाम्भोजप्रतिबिम्बश्रियि[4] प्रभुः ॥३६॥
उद्यतस्तस्य लोकार्थं [5]राजराजः पुरस्सरः । राजते राजयन्मार्गं पुरोभानोर्यथारुणः ॥३७॥
पदवी जातरूपाङ्गी स्फुरन्मणिविभूषया । श्लाघते सा सती भर्त्रे स्वभर्त्रे भामिनी यथा ॥३८॥
परितः परिमार्जन्ति मरुतो मधुरेरणैः[6] । अवदातक्रियायोगैः स्वां वृत्तिं साधवो यथा ॥३९॥
अभ्युक्षन्ति सुरास्तत्र गन्धाम्भोऽम्बुदवाहनाः[7] । स्फुरत्सौदामिनीदीप्तिभासिताखिलदिङ्मुखाः ॥४०॥
मन्दारकुसुमैर्मत्तभ्रमद्भ्रमरचुम्बितैः । नन्द्यते सुरसङ्घातैर्मार्गो मार्गविदुत्तमं ॥४१॥
ज्योतिर्मण्डलसंकाशैः सौवर्णरसमण्डलैः । सुलग्नैः शोभते मार्गो रत्नचूर्णतलाचितैः[8] ॥४२॥
गुह्यकाश्चित्रपत्राणि चिन्वते कौङ्कुमै रसैः[9] । [10]चित्रकर्मकृतां चित्रां स्वामाचिख्यासवो[11] यथा ॥४३॥
कदलीनालिकेरेक्षुक्रमुकाद्यैः क्रमस्थितैः । [12]सपत्रैर्मार्गसीमापि रम्याऽऽरामायते द्रुमैः ॥४४॥

तदनन्तर समस्त इन्द्र जिनके जय-जयकार और मङ्गल शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे, जिनके चलते हुए चरणकमल उन इन्द्रोंके मुकुटरूपी भ्रमरोंसे व्याप्त थे, जो उन कमलोंमें निवास करनेवाली लक्ष्मीसे समस्त जगत्को आनन्दित कर रहे थे, और जो अत्यन्त उत्कृष्ट विभूतिके धारक थे, ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र जीवोंपर दया कर विहार करने लगे ॥ ३४–३५॥ वे प्रभु , आकाशमें, स्वच्छ जलके भीतर पड़ते हुए मुख-कमलके प्रतिबिम्बकी शोभाको धारण करनेवाले दिव्य कमलपर अपने चरणकमल रख कर विहार कर रहे थे ॥ ३६ ॥ उस समय भगवानके दर्शन करनेके लिए उद्यत एवं उनके आगे-आगे चलनेवाला कुबेर मार्गको सुशोभित करता हुआ ऐसा जान पड़ता था जैसा सूर्यके आगे चलता हुआ उसका सारथि अरुण हो ॥ ३७ ॥ भगवान्के विहारका वह मार्ग सुवर्णमय था एवं देदीप्यमान मणियोंके आभूषणसे सहित था। इसलिए अपने पतिके लिए स्थित, सुवर्णमय शरीरकी धारक एवं देदीप्यमान मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित पतिव्रता स्त्रीके समान प्रशंसनीय था ॥ ३८ ॥ जिस प्रकार मुनिगण निर्मल क्रियाओंसे अपनी वृत्तिको सदा साफ करते रहते हैं—निर्दोष बनाये रखते हैं उसी प्रकार पवनकुमार देव वायुके मन्द-मन्द झोंकोंसे उस मार्गको साफ बनाये रखते थे ॥ ३९ ॥ कौंदती हुई बिजलीकी चमकसे समस्त दिशाओंके अग्रभागको प्रकाशित करनेवाले मेघवाहन देव उस मार्गमें सुगन्धित जल सींचते जाते थे ॥ ४० ॥ मोक्षमार्गके ज्ञाता भगवान्के विहारकालमें, देवोंके समूह, जिनपर मदोन्मत्त भौंरे मँडरा रहे थे ऐसे मन्दार वृक्षके पुष्पोंसे मार्गको सुशोभित कर रहे थे ॥ ४१ ॥ वह मार्ग, गले हुए सोनेके रसके उन मण्डलोंसे जिनके कि तलभाग रत्नोंके चूर्णसे व्याप्त थे एवं नक्षत्रोंके समूहके समान जान पड़ते थे, अतिशय सुशोभित हो रहा था ॥ ४२ ॥ गुह्यक जातिके देव केशरके रससे नाना प्रकारके बेल-बूटे बनाते जाते थे मानो वे अपनी चित्रकर्मकी नाना प्रकारकी कुशलताको ही प्रकट करना चाहते थे ॥ ४३ ॥ मार्गके दोनों ओरकी सीमाएँ क्रमपूर्वक खड़े किये हुए पत्रोंसे युक्त केला, नारियल, ईख तथा सुपारी आदिके वृक्षोंसे सुन्दर बगीचोंके समान जान पड़तीं

---

१. व्याहृतालोक म०, ङ० । २. विहरत् क०, ङ० । ३. स्वच्छाम्भोवत्– ख० । ४. श्रिति क०, वृश्रिप्रभुः ख० । ५. राजराजपुरस्सरः म० । ६. मनोहरप्रेरणैः । ७. वाहनः म० । ८. तलोच्चितैः म०, तलाञ्चितैः क० । ९. कुंकुमैः म० । १०. चित्रकर्मकृताम् म०, ख०, ङ० । ११. चिद्यासवो यथा म०, घ०, ग० । १२. सपत्रै–म०, ख०, ङ० ।

तत्राक्रीडपदानि स्युः सुन्दराणि निरन्तरम् । यत्र [1]हृष्टाः स्वकान्ताभिराक्रीडयन्ते नरामराः ॥४५॥
भोग्यान्यपि यथाकामं भोगिनां भोगभूमिवत् । सर्वाण्यप्यनूनभूतीनि [2]संभवन्त्यन्तरेऽन्तरे ॥४६॥
योजनत्रयविस्तारो मार्गो मार्गान्तयोर्द्वयोः । सीमान्तौ द्वे अपि [3]ज्ञेये गव्यूतिद्वयविस्तृते ॥४७॥
तोरणैः शोभते मार्गः [4]करणैरिव कल्पितैः । दृष्टिगोचरसम्पन्नैः सौवर्णैरष्टमङ्गलैः ॥४८॥
कामशाला विशालाः स्युः कामदास्तत्र तत्र च । भागवत्यो यथा मूर्ताः कामदा दानशक्तयः ॥४९॥
तोरणान्तरभूतुङ्गसमस्तकदलीध्वजैः । संछन्नोऽध्वा घनच्छायो रुणद्धि सवितुश्छविम् ॥५०॥
वनवासिसुरैर्वन्यमञ्जरीपुञ्जपिञ्जरः । स्वपुण्यप्रचयाकारः कल्प्यते पुष्पमण्डपः ॥५१॥
युक्तो रत्नलताचित्रभित्तिभिः सद्द्वियोजनः । चन्द्रादित्यप्रभारोचिर्मण्डलोपान्तमण्डितः ॥५२॥
[5]घण्टिकाकलनिर्ह्रादैर्घण्टानादैर्निनादयन् । दिशो [6]मुक्तागुणामुक्तप्रान्तमध्यान्तरान्तरः ॥५३॥
सद्गन्धाकृष्टसम्भ्रान्तभृङ्गमालोल्लसद्द्युतिः । वियतीशयशोमूर्तवितानच्छविरीक्ष्यते ॥५४॥
[7]सोत्तम्भस्तम्भसङ्काशैः स्थूलमुक्तागुणोत्करैः । चतुर्भिर्दामभिर्भाति विद्रुमान्तान्तराचितैः[8] ॥५५॥
तस्यान्तस्थो दयामूर्तिः प्रयाति दमिताहितः[9] । हिताय सर्वलोकस्य स्वयमीशः स्वयंप्रभः ॥५६॥

थीं ॥ ४४ ॥ मार्गमें निरन्तर सुन्दर क्रीड़ाके स्थान बने हुए थे जिनमें हर्षसे भरे मनुष्य और देव अपनी स्त्रियोंके साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करते थे ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार भोग-भूमिमें भोगी जीवोंको इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार उस मार्गमें भी, बीच-बीचमें भोगी जीवोंको उत्कृष्ट विभूतिसे युक्त सब प्रकारकी भोग्य वस्तुएँ प्राप्त होती रहती थीं ॥ ४६ ॥ भगवान्के विहारका वह मार्ग तीन योजन चौड़ा बनाया गया था तथा मार्गके दोनों ओरकी सीमाएँ दो-दो कोस चौड़ी थीं ॥ ४७ ॥ वह मार्ग, जगह-जगह निर्मित तोरणों तथा दृष्टिमें आनेवाले सुवर्णमय अष्टमङ्गलद्रव्योंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इन्द्रियोंसे ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ४८ ॥ मार्गमें जगह-जगह भोगियोंको इच्छानुसार पदार्थ देनेवाली बड़ी-बड़ी कामशालाएँ बनी हुई थीं जो ऐसी जान पड़ती थीं मानो इच्छानुसार पदार्थ देनेवाली भगवान्की मूर्तिमती दानशक्तियाँ ही हों ॥ ४९ ॥ तोरणोंकी मध्यभूमिमें जो ऊँचे-ऊँचे केलेके वृक्ष तथा ध्वजाएँ लगी हुई थीं उनसे आच्छादित हुआ मार्ग इतनी सघन छायासे युक्त हो गया था कि वह सूर्यकी छविको भी रोकने लगा था ॥ ५० ॥ वनके निवासी देवोंने वनकी मञ्जरियोंके समूहसे पीला-पीला दिखनेवाला पुष्पमण्डप तैयार किया था जो उनके अपने पुण्यके समूहके समान जान पड़ता है ॥ ५१ ॥ वह पुष्पमण्डप रत्नमयी लताओंके चित्रोंसे सुशोभित दीवालोंसे युक्त था, दो योजन विस्तारवाला था, चन्द्रमा और सूर्यकी प्रभाके कान्तिमण्डलसे समीपमें सुशोभित था, छोटी-छोटी घण्टियोंकी रुनझुन और घण्टाओंके नादसे दिशाओंको शब्दायमान कर रहा था, उसके दोनों छोर तथा मध्यका अन्तर मोतियोंकी मालाओंसे युक्त था, उत्तम गन्धसे आकर्षित हो सब ओर मँडराते हुए भ्रमरोंके समूहसे उसकी कान्ति उल्लसित हो रही थी, आकाशमें उसका चँदेवा भगवान्के मूर्तिक यशके समान दिखायी देता था, उस मण्डपके चारों कोनोंमें ऊँचे खड़े किये हुए खम्भोंके समान सुशोभित, बड़े-बड़े मोतियोंसे निर्मित तथा बीच-बीचमें मूँगाओंसे खचित चार मालाएँ लटक रही थीं उनसे वह अधिक सुशोभित हो रहा था। दयाकी मूर्ति, अहितका दमन करनेवाले, स्वयं ईश एवं स्वयं देदीप्यमान भगवान् नेमि जिनेन्द्र उस मण्डपके मध्यमें स्थित हो समस्त

१. हृष्टा म० । २. सर्वाण्यनूनभूतीनि ख० । ३. सीमान्तौ द्वावपि ज्ञेयौ क०, ख०, ङ० । ४. कारणै म० । गव्यूतिद्वयविस्तृतौ म०, क०, ङ०, ख० । ५. घटिकाकलनिर्ह्रादी म० । ६. मुक्तागुणामुक्तं प्रान्तमध्यान्तरान्तरः म० । ७. स्वोत्तम्भस्तम्भ- म० । ८ -तराचितैः क० । ९. दयिताहितः म० ।

पश्यन्त्यात्मभवान् सर्वे सप्त सप्त परापरान्। यत्र तत्रालसत्यर्कं पश्चाद्भामण्डलं प्रभोः ॥५७॥
[1]त्रिलोकीवान्तसारात्युपर्युपरि निर्मला। त्रिच्छत्री[2] सा[3] जिनेन्द्रश्रीस्त्रैलोक्येशित्वशंसिनी ॥५८॥
चामराण्यभितो भान्ति सहस्राणि तमीश्वरम्। स्वयंवीज्यानि शैलेन्द्रं हंसा इव नभस्तले ॥५९॥
ऋषयोऽनुव्रजन्तीशं स्वर्गिणः परिवृण्वते। प्रतीहारः पुरो याति वासवो वसुभिः सह ॥६०॥
ततः केवललक्ष्मीवः प्रतिपद्या[4] प्रकाशते। साकं [5]शच्या त्रिलोकोद्भूतिर्लक्ष्मीः समङ्गला ॥६१॥
श्रीसनाथैस्ततः सर्वैर्भूयते पूर्णमङ्गलैः। मङ्गलस्य हि माङ्गल्या यात्रा मङ्गलपूर्विका ॥६२॥
शङ्खपद्मौ ज्वलन्मौलिसार्थीयौ सत्त्वकामदौ। निधिभूतौ प्रवर्तेते हेमरत्नप्रवर्षिणौ ॥६३॥
भास्वत्फणामणिज्योतिर्दीपिका भान्ति पन्नगाः। हतान्धतमसज्ञानदीपदीप्त्यनुकारिणः ॥६४॥
विश्वे वैश्वानरा यान्ति [6]धृतधूपघटोद्धताः। यद्गन्धो याति लोकान्तं जिनगन्धस्य सूचकः ॥६५॥
सौम्याग्नेयगुणा देवभक्ताः सोमदिवाकराः। स्वप्रभामण्डलादर्शमङ्गलानि[7] वहन्त्यहो ॥६६॥
तपनीयमयैश्छत्रैर्नभस्तपनरोधिभिः। [8]तपनैरेव सर्वत्र संरुद्धमिव दृश्यते ॥६७॥

जीवोंके हितके लिए विहार कर रहे थे ॥ ५२–५६ ॥

उसी पुष्पमण्डपमें भगवान्के पीछे सूर्यको पराजित करनेवाला भामण्डल सुशोभित होता था जिसमें सब जीव अपने आगे-पीछेके सात-सात भव देखते हैं ॥ ५७ ॥ भगवान्के शिरपर ऊपर-ऊपर अत्यन्त निर्मल तीन छत्र सुशोभित हो रहे थे जिनमें तीनों लोकोंके द्वारा सार तत्त्व प्रकट किया गया था और उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो वह जिनेन्द्र भगवान्की लक्ष्मी तीन लोकके स्वामित्वको सूचित ही कर रही थी ॥ ५८ ॥ भगवान्के चारों ओर अपने-आप दुलनेवाले हजारों चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे आकाशतलमें मेरु पर्वतके चारों ओर हंस सुशोभित होते हैं ॥ ५९ ॥ ऋषिगण भगवान्के पीछे-पीछे चल रहे थे, देव उन्हें घेरे हुए थे और इन्द्र प्रतिहार बन कर आठ वसुओंके साथ भगवान्के आगे-आगे चलता था ॥ ६० ॥ इन्द्रके आगे तीन लोककी उत्कृष्ट विभूतिसे युक्त लक्ष्मी नामक देवी, मङ्गलद्रव्य लिये शची देवीके साथ-साथ जा रही थी और वह केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीके प्रतिबिम्बके समान जान पड़ती थी ॥ ६१ ॥ तदनन्तर श्रीदेवीसे सहित समस्त एवं परिपूर्ण-मङ्गलद्रव्य विद्यमान थे सो ठीक ही है क्योंकि मङ्गलमय भगवान्की मङ्गलमय यात्रा मङ्गल-द्रव्योंसे युक्त होती ही है ॥ ६२ ॥ उनके आगे, जिनपर देदीप्यमान मुकुटके धारक प्रमुख देव बैठे थे ऐसी शङ्ख और पद्म नामक दो निधियाँ चलती थीं। ये निधियाँ समस्त जीवोंको इच्छित वस्तुएँ प्रदान करनेवाली थीं तथा सुवर्ण और रत्नोंकी वर्षा करती जाती थीं ॥ ६३ ॥ उनके आगे फणाओंपर चमकते हुए मणियोंकी किरणरूप दीपकोंसे युक्त नागकुमार जातिके देव चलते थे और वे अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले केवलज्ञानरूपी दीपककी दीप्तिका अनुकरण करते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ६४ ॥ उनके आगे धूपघटोंको धारण करनेवाले समस्त अग्निकुमार देव चल रहे थे। उन धूपघटोंकी गन्ध लोकके अन्त तक फैल रही थी और वह जिनेन्द्र भगवान्की गन्धको सूचित कर रही थी ॥ ६५ ॥ तदनन्तर शान्त और तेज रूप गुण-को धारण करनेवाले, भगवान्के भक्त, चन्द्र और सूर्य जातिके देव अपनी प्रभाके समूहरूप मङ्गलमय दर्पणके धारण करते हुए चल रहे थे ॥ ६६ ॥ उस समय संतापके रोकनेके लिए सुवर्णमय छत्र लगाये गये थे, उनसे सर्वत्र ऐसा जान पड़ता था मानो आकाश सूर्योंसे ही

---

१. त्रिलोकीवान्तसारा—क०। २. त्रयाणां छत्राणाम् समाहारः त्रिछत्री। ३. त्रिछत्रीशो ख०। ४. प्रतिपद्या ख०। प्रतिप्राज्या क०। ५. साकं सच्या त्रिलोकोद्भूतिलक्ष्मीः क०। ६. धृतधूमघटोद्धताः म०। ७. मङ्गलादर्शमङ्गलानि क०, ङ०। ८. तपनीयैरेव म०, ख०, ङ०।

पताकाहस्तविक्षेपैः संतर्ज्य परवादिनः[1] । दयामूर्ता इवेशांसा[2] नृत्यन्ति जयकेतवः ॥६८॥
[3]वैभवी विजयाख्यातिर्वैजयन्ती पुरेरिता । राजते त्रिजगन्नेत्रकुमुदामलचन्द्रिका ॥६९॥
भुवःस्वर्भूर्निवासिन्यो भुवि यद्व्यन्तरा स्थिताः । नरीनृत्यन्ति देव्योऽग्रे प्रेमानन्दरसाष्टकम् ॥७०॥
आमन्द्रमधुरध्वानाव्याप्तदिग्विदिगन्तरा । धीरं नानद्यते नान्दी[4] जित्वा प्रावृड्घनावलीम् ॥७१॥
जितार्को धर्मचक्रार्कः सहस्रारांशुदीधितिः । [5]याति देवपरीवारो [6]वियत्यातिततमोपहः ॥७२॥
लोकानामेकनाथोऽयमेतैत नमतेति च । घुष्यते स्तनितैरग्रेघोषणाभयघोषणा ॥७३॥
भर्तृप्रभावसदृशा सत्पूर्वं व्याप्य दिक्पथे । प्रकुर्वन्ति जयाह्वानं धावन्तः प्रथमोत्तमाः ॥७४॥
देवयात्रामिमां दिव्यामन्वेत्य परमाद्भुताम् । अद्भुतान्यर्थवृष्ट्यादिसर्वाण्यनुभूतां भुवि ॥७५॥
[7]आधयो नैव जायन्ते व्याधयो व्यापयन्ति न[8] । ईतयश्चाज्ञया भर्तुर्नेति तद्देशमण्डले ॥७६॥
अन्धाः पश्यन्ति रूपाणि शृण्वन्ति बधिराः श्रुतिम् । मूकाः स्पष्टं प्रभाषन्ते विक्रमन्ते[9] च पङ्गवः॥७७॥
नात्युष्णा नातिशीताः स्युरहोरात्रादिवृत्तयः । अन्यथाशुभमप्येषि शुभं सर्वं प्रवर्धते ॥७८॥

व्याप्त हो रहा हो ॥६७॥ जगह-जगह विजय-स्तम्भ दिखायी दे रहे थे, उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो पताकारूपी हाथोंके विक्षेपसे पर-वादियोंको परास्त कर दयारूपी मूर्तिको धारण करनेवाले भगवान्‌के मानो कन्धे ही नृत्य कर रहे हों ॥ ६८ ॥ आगे-आगे भगवान्‌की विजय-पताका फहराती हुई सुशोभित थी जो ऐसी जान पड़ती थी मानो तीन जगत्‌के नेत्ररूपी कुमुदोंको विकसित करनेके लिए निर्मल चाँदनी ही हो ॥ ६९ ॥ जो देवियाँ अधोलोक और ऊर्ध्वलोकमें निवास करती हैं तथा पृथिवीपर नाना स्थानोंमें निवास करनेवाली हैं वे भगवान्‌के आगे प्रेम और आनन्दसे आठ रस प्रकट करती हुई नृत्य कर रही थीं ॥७०॥ जिसने अपनी गम्भीर और मधुर ध्वनिसे समस्त दिशाओं और विदिशाओंके अन्तरको व्याप्त कर रखा था ऐसी नान्दी-ध्वनि (भगवत्स्तुतिकी ध्वनि) वर्षा ऋतुकी मेघावलीको जीतकर बड़ी गम्भीरतासे बार-बार हो रही थी ॥७१॥ जिसने अपनी प्रभासे सूर्यको जीत लिया था, जो हजार अररूप किरणोंसे सहित था, देवोंके समूहसे घिरा हुआ था और अत्यधिक अन्धकारको नष्ट कर रहा था ऐसा धर्मचक्र आकाश-मार्गसे चल रहा था ॥७२॥ आगे-आगे चलनेवाले स्तनितकुमार देव अभय घोषणाके साथ-साथ यह घोषणा करते जाते थे कि 'ये भगवान् तीन लोकके स्वामी हैं, आओ, आओ और इन्हें नमस्कार करो' ॥७३॥ उस समय बहुत-से उत्तम भवनवासी देव, भगवान् नेमिनाथके प्रभावके अनुरूप दिशाओं और मार्गको अच्छी तरह व्याप्त कर दौड़ते हुए जय-जयकार करते जाते थे ॥७४॥ जो जीव अनेक आश्चर्योंसे भरी हुई भगवानकी इस दिव्ययात्रामें साथ-साथ जाते थे, पृथिवीपर उन्हें अर्थ-वृष्टिको आदि लेकर समस्त आश्चर्योंकी प्राप्ति होती थी। भावार्थ—उन्हें चाहे जहाँ धन दिखायी देना आदि अनेक आश्चर्य स्वयं प्राप्त हो जाते थे ॥७५॥ जिस देशमें भगवानका विहार होता था उस देशमें भगवान्‌की आज्ञा न होने-से ही मानो किसीको न तो आधि-व्याधि—मानसिक और शारीरिक पीड़ाएँ होती थीं और न अतिवृष्टि आदि ईतियाँ ही व्याप्त होती थीं ॥७६॥ वहाँ अन्धे रूप देखने लगते थे, बहरे शब्द सुनने लगते थे, गूँगे स्पष्ट बोलने लगते थे और लँगड़े चलने लगते थे ॥७७॥ वहाँ न अत्यधिक गरमी होती थी, न अत्यधिक ठण्ड पड़ती थी, न दिन-रातका विभाग होता था, और न अन्य अशुभ कार्य अपनी अधिकता दिखला सकते

---

१. परिवादिनः म० । २. इवेशांशा म० । ३. विभोरियं वैभवी । ४. 'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥' ५. यति म०, क० । ६. वियतीत म० । ७. आवयोर्नैव म० । ८. नः म० । ९. विक्रमन्ते च म० ।

भूवधूः सर्वसम्पन्नसस्यरोमाञ्चकञ्चुका । करोत्यम्बुजहस्तेन भर्तुः पादग्रहं मुदा ॥७९॥
जिनार्कपादसम्पर्कप्रोत्फुल्लकमलावलीम्[1] । प्रथयत्युद्वहन्ती[2] द्यौरस्थायिसरसीश्रियम् ॥८०॥
[3]सर्वेऽत्युक्ताः समारब्धाः समदृष्टेश्वरेक्षिताः । ऋतवः सममेधन्ते [4]निर्विकल्पा हि सेशिता ॥८१॥
निधानानि निधीन्खान्याकराण्यमृतानि च । सूयते[5] तेन विख्याता रत्नसूरिति मेदिनी ॥८२॥
[6]अन्तकोऽन्तकजिद्वीर्यपराजितपराक्रमः । धर्मचक्रोर्जिते लोके नाकाले करमिच्छति ॥८३॥
कालः कालहरस्याज्ञामनुकूलभयादिव । प्रविहाय स्ववैषम्यं पूज्येच्छामनुवर्तते ॥८४॥
[7]त्रसस्थावरकाः सर्वे सुखं विन्दन्ति देहिनः । सैषा विश्वजनीना हि विभुता भुवि वर्तते ॥८५॥
जन्मानुबन्धवैरो यः सर्वोऽहिनकुलादिकः । तस्यापि जायतेऽजर्यं संगतं सुगताज्ञया ॥८६॥
गन्धवाहो वहद्गन्धं भर्तुस्तं कथमाप्नुयात्[8] । अचण्डः सेवते[9] सेवां शिक्षयन्ननुजीविनः ॥८७॥
रजस्तिमिरिकापायनैर्मल्याभरणत्विषः । दिक्कन्याः पुष्पजालैस्तं पूजयन्ति दिशां पतिम् ॥८८॥

थे। सब ओर शुभ-ही-शुभ कार्योंकी वृद्धि होती थी ॥७८॥ उस समय सर्व प्रकारकी फली-फूली धान्यरूपी रोमाञ्चको धारण करनेवाली पृथिवीरूपी स्त्री कमलरूपी हाथोंके द्वारा बड़े हर्षसे भगवान्‌रूपी भर्तारके पादमर्दन कर रही थी ॥७९॥ जिनेन्द्ररूपी सूर्यके पादरूपी किरणों-के सम्पर्कसे फूली हुई कमलावलीको धारण करनेवाला आकाश उस समय चलते-फिरते तालाबकी शोभाको विस्तृत कर रहा था ॥८०॥ उस समय बिना कहे ही समस्त ऋतुएँ एक साथ वृद्धिको प्राप्त हो रही थीं, सो ऐसी जान पड़ती थीं मानो समदृष्टि भगवान्‌के द्वारा अवलोकित होनेपर वे समरूपी ही हो गयी थीं। यथार्थमें स्वामीपना तो वही है जिसमें किसीके प्रति विकल्प—भेदभाव न हो ॥८१॥ उस समय पृथिवी जगह-जगह अनेक खजाने, निधियाँ, अन्न, खानें और अमृत उत्पन्न करती थीं इसलिए 'रत्नसू' इस नामसे प्रसिद्ध हो गयी थी ॥८२॥ अन्तकजित्—यमराजको जीतनेवाले भगवान्‌के वीर्यसे जिसका पराक्रम पराजित हो गया था ऐसा यमराज, धर्मचक्रसे सबल संसारमें असमयमें करग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता था। भावार्थ—जहाँ भगवान्‌का धर्मचक्र चलता था वहाँ किसीका अस-मयमें मरण नहीं होता था ॥८३॥ काल (यम) को हरनेवाले हैं (पक्षमें समयको हरनेवाले) भगवान्‌की आज्ञाके विरुद्ध आचरण न हो जाये, इस भयसे काल (समय) अपनी विष-मताको छोड़कर सदा भगवान्‌की इच्छानुसार ही प्रवृत्ति करता था। भावार्थ—काल, सर्दी-गरमी, दिन-रात आदिकी विषमता छोड़ सदा एक समान प्रवृत्ति कर रहा था ॥८४॥ भगवान्‌के विहार-क्षेत्रमें स्थित समस्त त्रस, स्थावर जीव सुखको प्राप्त हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि संसारमें विभुता वही है जो सबका हित करनेवाली हो ॥८५॥ जो साँप, नेवला आदि समस्त जीव जन्मसे ही वैर रखते थे उन सभीमें भगवान्‌की आज्ञासे अखण्ड मित्रता हो गयी थी ॥८६॥ भगवान्‌की बहती हुई गन्धको, पवन किस प्रकार प्राप्त कर सकता है इस प्रकार अनुजीवी जनोंको सेवाकी शिक्षा देता हुआ वह शान्त होकर भगवान्‌की सेवा कर रहा था। भावार्थ—उस समय शीतल, मन्द सुगन्धित पवन भगवान्‌की सेवा कर रहा था सो ऐसा जान पड़ता था मानो वह सेवकजनोंको सेवा करनेकी शिक्षा ही दे रहा था ॥८७॥ धूलिरूपी अन्धकारके नष्ट हो जानेसे प्रकट हुई निर्मलतारूपी आभरणोंकी कान्तिसे युक्त

१. कमलावली म० । २. प्रथयन्त्युद्वहन्तो म०, क०, ङ० । ३. स्वर्वेत्युक्ताः म० । सर्वे अत्युक्ताः इति पदच्छेदः, उक्तं अतिक्रान्ता इति अत्युक्ताः अकथिता एवेत्यर्थः । ४. निर्विकल्पा म०, क०, ख०, ङ० । ५. सूयन्ते म०, क०, ख०, ङ० । ६. अन्ते कौन्तकजिद् म० । ७. तत्र स्थावरकाः म० । ८. तत्कथाप्नुयात् म० । तत्कथयाऽनुयात् क० । ९. सेव्यते क० । सेहते ख० ।

नभः स्वच्छतरं स्पष्टतारातरलभासुरम् । सरः शरत्प्रसन्नाम्भः कुमुद्वदिव दृश्यते ॥८९॥
दूराद्बाल्पधियः सर्वे [1]नमन्ति किमुतेतरे । चतुरास्यश्चतुर्दिक्षु छायादिरहितो विभुः ॥९०॥
भुक्त्यभावो जिनेन्द्रस्योपसर्गस्य तथैव च । अहो लोकैकनाथस्य माहात्म्यं महदद्भुतम् ॥९१॥
शुभंयवो नमन्त्येत्याहंयवोऽपि प्रवादिनः । अवसानाद्भुतं चैतन्निर्द्वन्द्वं प्राभवं हि तत् ॥९२॥
यस्यां यस्यां दिशीशः स्यात्त्रिदशेशपुरस्सरः । तस्यां तस्यां दिगीशाः स्युः प्रत्युद्याताः सपूजनाः ॥९३॥
यतो [2]यतश्च यातीशस्तद्दीशाश्च समङ्गलाः । [3]अनुयान्त्याश्च सीमानः सार्वभौमो हि तादृशः ॥९४॥
त्रिमार्गगा [4]प्रयात्येवं देवसेना त्वमार्गगा । पवित्रयति भूलोकं पवित्रेण प्रभाविता ॥९५॥
तस्यामेकः समुत्तुङ्गो भादण्डो दण्डसंनिभः । अधरोपरिलोकान्तः प्राप्तः प्रत्यागतांशुभिः ॥९६॥
त्रिगुणीकृततेजस्कः स्थूलदृश्यः स्वतेजसा । भासते [5]भास्करादन्याज्ज्योतिष्टोमतिरस्करः ॥९७॥
आलोको यस्य लोकान्तव्यापी निःप्रतिबन्धनः । ध्वस्तान्धतमसो भास्वत्प्रकाशमतिवर्तते ॥९८॥
तस्यान्तस्तेजसो भर्ता तेजोमय इवापरः । रश्मिमालिसहस्रैकरूपाकृतिरनाकृतिः[6] ॥९९॥

दिशारूपी कन्याएँ फूलोंके जापसे भगवान्की पूजा कर रही थीं ॥८८॥ अत्यन्त स्वच्छ और जगमगाते हुए ताराओंसे देदीप्यमान आकाश, उस सरोवरके समान दिखायी देता था जिसका जल शरद् ऋतुके कारण स्वच्छ हो गया था तथा जिसमें कुमुदोंका समूह विद्यमान था ॥८९॥ उस समय अन्यकी तो बात ही क्या थी अल्पबुद्धिके धारक तिर्यञ्च आदि समस्त प्राणी भगवान्को दूरसे ही नमस्कार करते थे। भगवान् चतुर्मुख थे इसलिए चारों दिशाओंमें दिखायी देते और छाया आदिसे रहित थे ॥९०॥ भगवान् नेमि जिनेन्द्रके भोजन तथा सब प्रकारके उपसर्गोंका अभाव था सो ठीक ही है क्योंकि लोकके अद्वितीय स्वामीका ऐसा आश्चर्यकारी अद्भुत माहात्म्य होता ही है ॥९१॥ जिनका कल्याण होनेवाला था ऐसे प्रवादी लोग, अहङ्कारसे युक्त होनेपर भी आ-आकर भगवान्को नमस्कार करते थे सो ठीक ही है क्योंकि उन जैसा प्रभाव अन्तमें आश्चर्य करनेवाला एवं प्रतिपक्षीसे रहित होता ही है ॥९२॥ जिनके आगे-आगे इन्द्र चल रहा था ऐसे भगवान् जिस-जिस दिशामें पहुँचते थे उसी-उसी दिशाके दिक्पाल पूजनकी सामग्री लेकर भगवान्की अगवानीके लिए आ पहुँचते थे ॥९३॥ भगवान् जिस-जिस दिशासे वापिस जाते थे उस-उस दिशाके दिक्पाल मङ्गल द्रव्य लिये हुए अपनी-अपनी सीमा तक पहुँचाने आते थे सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् उसी प्रकारके सार्वभौम थे—समस्त पृथिवीके अधिपति थे ॥९४॥ त्रिमार्गगा अर्थात् गङ्गानदी अपने निश्चित तीन मार्गोंसे चलती हैं परन्तु वह देवोंकी सेना बिना मार्गके ही चल रही थी—उसके चलनेके मार्ग अनेक थे। इस तरह वह सेना अतिशय पवित्र भगवान्से प्रभावित हो पृथिवीलोकको पवित्र कर रही थी ॥९५॥ उस देवसेनाके बीच दण्डके समान एक बहुत ऊँचा कान्तिदण्ड विद्यमान था जो नीचेसे लेकर ऊपर लोकके अन्त तक फैला था और वापिस आयी हुई किरणोंसे युक्त था ॥९६॥ अन्य तेजधारियोंकी अपेक्षा उस कान्तिदण्डका तेज तिगुना था। अपने तेजके द्वारा वह बड़ा स्थूल दिखायी देता था और सूर्यके सिवाय अन्य ज्योतिषियोंके समूहको तिरस्कृत करनेवाला था ॥९७॥ उस कान्तिदण्डका प्रकाश लोकके अन्त तक व्याप्त था, रुकावटसे रहित था, गाढ अन्धकारको नष्ट करनेवाला था, और सूर्यके प्रकाशको अतिक्रान्त करनेवाला था ॥९८॥ उस कान्तिदण्डके बीचमें पुरुषाकार एक ऐसा दूसरा कान्तिसमूह दिखायी देता था जो तेजका धारक था, अन्य तेजोमयके समान जान पड़ता था, एक

१. नयन्ति म० । २. अनुयान्त्या स्वसीमानः ख० । अनुयान्त्या स्वसीमानः म० । ३. यातश्च क० । यातस्य ङ० । ४. प्रयान्त्येव क० । ५. भास्करादन्याज्ज्योतिष्टमतिरस्करः म०, ख० । ६. नराकृतिः ङ० ।

परितो [1]भामिरुत्सर्पद्घनो भर्तुर्महोदयः । [2]भासिगव्यूतिविस्तारो युक्तोच्छ्रायस्तनूद्भवः[3] ॥१००॥
दृश्यते दृष्टिहारीव सुखदृश्यः सुखावहः । पुण्यमूर्तिस्तदन्तस्थः पूज्यते पुरुषाकृतिः ॥१०१॥
काधियोऽपुण्यजन्मानः स्वापुण्यजरुषान्विताः । न पश्यन्ते च तद्भासं भानुभासमुलूकवत् ॥१०२॥
तिरयन्ती रवेस्तेजः पूरयन्ती दिशोऽखिलाः । तत्प्रभा भानवीयेव पूर्वं व्याप्नोति भूतलम् ॥१०३॥
तस्याश्चानुपदं याति लोकेशो लोकशान्तये । लोकानुद्भासयन् सर्वानतिदीधितिमत्प्रभः ॥१०४॥
आसंवत्सरमात्माङ्कैः प्रथयन्प्राभवीं गतिम् । भासते [4]रत्नवृष्ट्याध्वामरोस्यैरावतो यथा ॥१०५॥
अनुबन्धावनिभ्रव्यं दिवि मार्गादि दृश्यते । त्रिलोकातिशयोद्भूतं तद्धि [5]प्राभवमद्भुतम् ॥१०६॥
पटूभवन्ति मन्दाश्च सर्वे [6]हिंस्रास्त्वपर्धयः । [7]खेदस्वेदार्तिचिन्तादि न [8]तेषामस्ति तत्क्षणे ॥१०७॥
विहारानुगृहीतायां भूमौ न डमरादयः । [9]दशाभ्यस्तयुगं(?)भर्तुरहोऽत्र महिमा महान् ॥१०८॥
विभूत्योद्धतया भूत्यै जगतां जगतां विभुः । विजहार भुवं भव्यान् बोधयन् बोधदः क्रमात् ॥१०९॥

हजार सूर्यके समान कान्तिका धारक था, जिससे बढ़कर और दूसरी आकृति नहीं थी, जो चारों ओर फैलनेवाली कान्तिसे घन रूप था, भगवान्‌के महान् अभ्युदयके समान था, जिसकी कान्तिका विस्तार एक कोस तक फैल रहा था, जो भगवान्‌की ऊँचाईके बराबर ऊँचा था, दृष्टिको हरण करनेवाला था, सुखपूर्वक देखा जा सकता था, सुखको उत्पन्न करनेवाला था, पुण्यकी मूर्ति स्वरूप था और सबके द्वारा पूजा जाता था ॥९९-१०१॥ जिस प्रकार उल्लू सूर्यकी प्रभाको नहीं देख पाते हैं उसी प्रकार दुर्बुद्धि, पापी एवं अपने पापसे उत्पन्न क्रोधसे युक्त पुरुष उस कान्ति-समूहको नहीं देख पाते हैं ॥१०२॥ उस कान्ति-समूहमें-से एक विशेष प्रकारकी प्रभा निकलती थी जो सूर्यके तेजको आच्छादित कर रही थी, समस्त दिशाओंको पूर्ण कर रही थी और सूर्यकी प्रभाके समान पृथिवीतलको पहलेसे व्याप्त कर रही थी ॥१०३॥ उस प्रभाके पीछे, जो समस्त लोकोंको प्रकाशित कर रहे थे तथा जिनकी प्रभा अत्यधिक किरणोंसे युक्त थी ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र, लोकशान्तिके लिए—संसारमें शान्तिका प्रसार करनेके लिए बिहार कर रहे थे ॥१०४॥ जिस मार्गमें भगवान्‌का विहार होता था वह मार्ग, अपने चिह्नोंसे एक वर्षतक यह प्रकट करता रहता था कि यहाँ भगवान्‌का विहार हुआ है तथा रत्नवृष्टिसे वह मार्ग ऐसा सुशोभित होता था जैसा नक्षत्रोंके समूहसे ऐरावत हाथी सुशोभित होता है ॥१०५॥ जिस प्रकार विहारसे सम्बन्ध रखनेवाली पृथिवीमें मार्ग आदि दिखलायी देते हैं उसी प्रकार आकाशमें भी मार्ग आदि दिखायी देते हैं सो ठीक ही है क्योंकि तीन लोकके अतिशयसे उत्पन्न भगवान्‌का वह अतिशय ही आश्चर्यकारी था॥ १०६॥ उस समय मन्द बुद्धि मनुष्य तीक्ष्ण बुद्धिके धारक हो गये थे। समस्त हिंसक जीव प्रभावहीन हो गये थे और भगवान्‌के समीप रहनेवाले लोगोंको खेद, पसीना, पीड़ा तथा चिन्ता आदि कुछ भी उपद्रव नहीं होता था॥१०७॥ भगवान्‌के विहारसे अनुगृहीत भूमिमें दो सौ योजन तक विप्लव आदि नहीं होते थे। अथवा दशसे गुणित युग अर्थात् पचास वर्ष तक उस भूमिमें कोई उपद्रव आदि नहीं होते थे। भावार्थ—जिस भूमिमें भगवान्‌का विहार होता था वहाँ ५० वर्ष तक कोई उपद्रव-दुर्भिक्ष आदि नहीं होता था। यह भगवान्‌की बहुत भारी महिमा ही समझनी चाहिए ॥१०८॥ इस प्रकार उत्कृष्ट विभूतिसे युक्त, बोधको देनेवाले जगत्‌के स्वामी भगवान् नेमिनाथने भव्य जीवोंको संबोधित करते हुए, जगत्‌के वैभवके लिए क्रमसे पृथिवीपर

१. भाति तूत्सर्पद्घनो ख०, म०, ङ० । २. राशिगव्यूत–क०, ख०, म० । ३. युक्तोच्छ्रायतनूद्भवः म० । ४. रत्नवृष्ट्या वा परीत्यैरावतो म०, ख० । रत्नवृष्ट्या वा भरतैरावतो यथा क० । ५. प्रभोरिदं प्राभवम् प्रभुसम्बन्धीत्यर्थः । ६. हिंस्रास्त्वपर्धयः म०, ख०, ङ०, क० । ७. खेदः स्वेदार्ति- म० । ८. न चैषामस्ति म० । ९. देशाभ्यस्तयुगं ङ० । द्विशतयोजनं (म० टि०) अत्र 'शताभ्यस्तयुगं' इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति ।

सुराष्ट्रमत्स्यलाटोरुसूरसेनपटच्चरान् । कुरुजाङ्गलपाञ्चालकुशाग्रमगधाञ्जनान् ॥११०॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गादीन् नानाजनपदान् जिनः । विहरन् जिनधर्मस्थांश्चक्रे क्षत्रियपूर्वकान् ॥१११॥
ततो मलयनामानं देशमागत्य स क्रमात् । सहस्राम्रवने तस्थौ पुरे भद्रिलपूर्वके ॥११२॥
पूर्ववद्रचिते तत्र चतुर्भेदैः सुरासुरैः । समवस्थानभूभागे जिनोऽभाद् गणवेष्टितः ॥११३॥
तत्पुराधिपतिः पौण्ड्रः पौरलोकसमन्वितः । सस्तुतिर्जिनमानम्य समासीनः कृताञ्जलिः ॥११४॥
देवक्यास्तनया ये षट् सुदृष्ट्यलकयोः स्थिताः । पुत्रप्रीतिं प्रकुर्वाणास्तेऽपि तत्रैव संगताः ॥११५॥
प्रत्येकं योषितस्तेषां द्वात्रिंशद्गणना गुणैः । रूपादिभिरपीन्द्रस्य जयन्त्यः शुचयः शचीम् ॥११६॥
अवतीर्य रथेभ्यस्ते षड्भ्यः षडपि सोदराः । नत्वा नुत्वा जिनं राज्ञा सहासीना महौजसः ॥११७॥
जिनः श्रावकधर्मं च सम्यग्दर्शनभूषितम् । यतिधर्मं च कर्मघ्नं जगाद सदसे तदा ॥११८॥
ततो विदिततत्त्वार्थाः श्रुत्वा धर्मामृतं जिनात् । जातसंसारनिर्वेदा बन्धुभ्यो विनिवेद्य ते ॥११९॥
जिनपादान्तिके दीक्षां मोक्षलक्ष्मीविधायिनीम् । भ्रातरः सहनिस्संगाः षडपि प्रतिपेदिरे ॥१२०॥
द्वादशाङ्गं श्रुतज्ञानं लब्धबीजादिबुद्धयः । अधिगम्य तपो घोरं चक्रुस्ते राजसूनवः ॥१२१॥
षष्ठाद्यः सहामीषां धारणापारणाः सह । योगास्त्रैकालिकाः साकं साकं शय्यासनक्रियाः ॥१२२॥
तेषां चरमदेहानां तपतां परमं तपः । देहानां परमा कान्तिः पूर्वतोऽपि विवर्धते ॥१२३॥
उपमानोपमेयत्वमन्योन्यस्य तपस्यमी । सबाह्याभ्यन्तरे प्रापुस्तीर्थकृत्पदसेवकाः ॥१२४॥

विहार किया ॥१०९॥ सुराष्ट्र, मत्स्य, लाट, विशाल शूरसेन, पटच्चर, कुरुजाङ्गल, पाञ्चाल, कुशाग्र, मगध, अञ्जन, अङ्ग, वङ्ग तथा कलिङ्ग आदि नाना देशोंमें विहार करते हुए भगवान्ने क्षत्रिय आदि वर्णोंको जैनधर्ममें स्थित किया ॥११०–१११॥

तदनन्तर विहार करते-करते भगवान् मलय नामक देशमें आये और उसके भद्रिलपुर नगरके सहस्राम्रवनमें विराजमान हो गये ॥११२॥ पहलेकी तरह चारों प्रकारके देवोंने वहाँपर भी समवसरणकी रचना कर दी और उसमें गणधरोंसे वेष्टित भगवान् सुशोभित होने लगे ॥११३॥ उस नगरका राजा पौण्ड्र, नगरवासियोंके साथ समवसरणमें आया और हाथ जोड़ स्तुति करता हुआ जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर मनुष्योंके कोठेमें बैठ गया ॥११४॥ देवकीके जो छह पुत्र सुदृष्टि सेठ और अलका सेठानीकी पुत्रप्रीतिको बढ़ाते हुए उनके यहाँ रहते थे वे भी समवसरणमें आये ॥११५॥ उनमें-से प्रत्येककी बत्तीस-बत्तीस स्त्रियाँ थीं जो अत्यन्त उज्ज्वल थीं और अपने रूप आदि गुणोंसे इन्द्रकी इन्द्राणीको भी जीतती थीं ॥११६॥ बहुत भारी तेजको धारण करनेवाले वे छहों भाई अपने-अपने पृथक्-पृथक् छह रथोंसे नीचे उतरकर समवसरणमें गये और जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर तथा उनकी स्तुति कर राजाके साथ मनुष्योंके कोठेमें बैठ गये ॥११७॥ उस समय भगवान्ने सभामें स्थित लोगोंके लिए सम्यग्दर्शनसे सुशोभित श्रावकधर्म और कर्मोंका नाश करनेवाले मुनिधर्मका उपदेश दिया ॥११८॥ तदनन्तर जिनेन्द्र भगवान्से धर्मरूप अमृतका श्रवण कर जिन्होंने तत्त्वके वास्तविक स्वरूपको जान लिया था ऐसे छहों भाई संसारसे विरक्त हो उठे और बन्धुजनोंको इसकी सूचना दे जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके समीप निर्ग्रन्थ हो एक साथ मोक्ष-लक्ष्मीको प्रदान करनेवाली दीक्षाको प्राप्त हो गये ॥११९–१२०॥ जिन्हें बीज-बुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्राप्त हुई थीं ऐसे उन राजकुमारोंने द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानका अभ्यास कर घोर तप किया ॥१२१॥ इन छहों मुनियोंके बेला आदि उपवास, उनकी धारणाएँ, पारणाएँ, त्रैकालिक योग तथा शयन, आसन आदि क्रियाएँ साथ-साथ ही होती थीं ॥१२२॥ उत्कृष्ट तप तपनेवाले उन चरमशरीरी मुनियोंके शरीरकी उत्कृष्ट कान्ति पहलेसे भी अधिक बढ़ गयी थी ॥१२३॥ तीर्थंकर भगवान्के चरणोंकी सेवा करनेवाले ये छहों मुनि, बाह्याभ्यन्तर तपमें परस्पर एक-दूसरेके उपमानोपमेय-

तथाविधमहाभूत्या विहृत्य स महीं जिनः । आगत्य समवस्थानेनोर्जयन्तमभूषयत् ॥१२५॥
इन्द्राद्यैस्त्रिदशैस्तस्मिन्नुपेन्द्राद्यैश्च यादवैः । द्वारिकापौरलोकेन सेव्यमानो जिनो बभौ ॥१२६॥
एकादश गणाधीशा वरदत्तादयस्तदा । श्रुतज्ञानसमुद्रान्तर्दर्शिनोऽत्र विरेजिरे ॥१२७॥
चतुःशतानि तत्रान्ये मान्याः पूर्वधराः सताम् । एकादशसहस्राष्टशतसंख्यास्तु शिक्षकाः ॥१२८॥
शतान्यवधिनेत्रास्तु केवलज्ञानिनोऽपि च । ते पञ्चदशसंख्यानाः प्रत्येकमुपवर्णिताः ॥१२९॥
मत्या विपुलया युक्ता शतानि नव संख्यया । वादिनोऽष्टौ शतानि स्युरेकादश तु वैक्रियाः ॥१३०॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि राजीमत्या सहार्यिकाः । लक्षैकैकोनसप्तत्या सहस्रैः श्रावकाः स्मृताः ॥१३१॥
षट्त्रिंशच्च सहस्राणि लक्षाणां त्रितयं तथा । सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः श्राविकाः श्रावकव्रताः ॥१३२॥
पूर्ववत्तीर्थकृन्मेघस्तृषितान् भव्यचातकान् । वर्षन् धर्मामृतं दिव्यं दिव्यध्वनिरतर्पयत् ॥१३३॥

इति दुरापमहोदयपर्वते जिनरवौ स्थितवत्यमितोदये ।
विकसति प्रकृताञ्जलिकुड्मलं सकललोकसरोजबुधाम्बुजम् ॥१३४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ भगवद्विहारवर्णनो नामैकोनषष्टितमः सर्गः ॥५९॥

को प्राप्त हो रहे थे ॥१२४॥

तदनन्तर उस प्रकारकी महाविभूतिके साथ पृथिवीपर विहार कर भगवान् ऊर्जयन्त गिरि—गिरनार पर्वतपर आये और समवसरणके द्वारा उसे सुशोभित करने लगे ॥१२५॥ इन्द्रादिक देवों, कृष्ण आदि यादवों और द्वारिकावासी नागरिक जनोंसे जिनकी सेवा हो रही थी ऐसे भगवान् नेमि जिनेन्द्र उस ऊर्जयन्त गिरिपर अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥१२६॥ उस समय समवसरणमें श्रुतज्ञानरूपी समुद्रके भीतरी भागको देखनेवाले वरदत्त आदि ग्यारह गणधर सुशोभित थे ॥१२७॥ भगवान्‌के समवसरणमें सज्जनोंके माननीय चार सौ पूर्वधारी, एक हजार आठ सौ शिक्षक, पन्द्रह सौ अवधिज्ञानी, पन्द्रह सौ केवलज्ञानी, नौ सौ विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी, आठ सौ वादी और ग्यारह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनिराज थे ॥१२८-१३०॥ राजीमतीको साथ लेकर चालीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख उनहत्तर हजार श्रावक और सम्यग्दर्शनसे शुद्ध तथा श्रावकके व्रत धारण करनेवाली तीन लाख छत्तीस हजार श्राविकाएँ वहाँ विद्यमान थीं ॥१३१-१३२॥ दिव्यध्वनिके धारक भगवान् तीर्थंकर-रूपी मेघ, धर्मरूपी दिव्य अमृतकी वर्षा करते हुए, प्यासे भव्यजीवरूपी चातकोंको पहलेकी तरह तृप्त करने लगे ॥१३३॥

इस प्रकार अपरिमित अभ्युदयके धारक नेमिजिनेन्द्ररूपी सूर्यके दुर्लभ महोदयसे युक्त ऊर्जयन्त पर्वतरूपी उदयाचलपर स्थित होते ही अञ्जलिरूपी कमलको धारण करने-वाले समस्त लोकरूपी सरोवरमें उत्पन्न हुए विद्वज्जनरूपी कमल प्रफुल्लित हो गये ॥१३४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें भगवान्‌के विहारका वर्णन करनेवाला उनसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५९॥

षष्टितमः सर्गः

अथ धर्मकथाच्छेदे प्रणिपत्य जिनेश्वरम् । कृताञ्जलिरपृच्छत् सा देवकी विनयं श्रिता ॥१॥
भगवन् भवने मेऽद्य जातरूपमनोहरम् । मुनियुग्मं प्रविश्य [1]त्रिरपर्युपरि भुक्तवान् ॥२॥
भगवन् भुक्तिवेलायामेकस्यामेकभुक्तये । बहुकृत्वो [2]गृहं त्वेकं यतयः प्रविशन्ति किम् ॥३॥
अथातिशयरूपत्वाद्यतियुग्मत्रयं मया । भ्रान्त्या नालक्षि मे स्नेहो देहजेष्विव तेष्वभूत् ॥४॥
इत्युक्तेऽकथयन्नाथस्तनयास्ते षडप्यमी । युग्मत्रयतया सूता भवत्या कृष्णपूर्वजाः ॥५॥
देवेन रक्षिताः कंसात् सुदृष्ट्यलकयोः पुनः । सुतत्वेन च वृद्धास्ते पुरे भद्रिलनामनि ॥६॥
धर्मं श्रुत्वा समं सर्वे मम शिष्यत्वमागताः । कृत्वा कर्मक्षयं सिद्धिं यास्यन्त्यत्रैव जन्मनि ॥७॥
स्नेहोऽपत्यकृतोऽमीषु भवत्याः समभूदतः । धर्मचारिषु सर्वेषु स्नेहः किमुत सूनुषु ॥८॥
प्रणनाम ततस्तुष्टा देवकी देहजान्मुनीन् । यादवाश्च समस्तास्ते कृष्णाद्यास्तुष्टुवुर्नताः ॥९॥
प्रणम्यात्मभवान् पृष्टो जिनेन्द्रः सत्यभामया । यदुलोकामराध्यक्षं दिव्यचक्षुर्जगाविति ॥१०॥
प्राग्भद्रिलपुरेऽत्राभून्मरीचिकपिलासुतः । काव्यकृत्पण्डितम्मन्यो विप्रो मुण्डशलायनः ॥११॥

अथानन्तर धर्मकथा पूर्ण होनेपर विनयको धारण करनेवाली देवकीने हाथ जोड़कर भगवान्को नमस्कार किया और उसके बाद यह पूछा कि भगवन्! आज सुवर्णके समान सुन्दर दो मुनियोंका युगल मेरे भवनमें तीन बार आया और फिर-फिरसे उसने तीन बार आहार लिया। हे प्रभो! जब मुनियोंके भोजनकी वेला एक है और एक ही बार वे भोजन करते हैं तब मुनि एक ही घरमें अनेक बार क्यों प्रवेश करते हैं? ॥ १–३ ॥ अथवा यह भी हो सकता है कि वह तीन मुनियोंका युगल हो और अत्यन्त सदृश रूप होनेके कारण मैं भ्रान्तिवश उन्हें देख नहीं सकी हूँ। परन्तु इतना अवश्य है कि मेरा उन सबमें पुत्रोंके समान स्नेह उत्पन्न हुआ था ॥ ४ ॥

देवकीके इस प्रकार कहनेपर भगवान्ने कहा कि ये छहों मुनि तेरे पुत्र हैं और कृष्णके पहले तीन युगलके रूपमें तूने इन्हें उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥ देवने कंससे इनकी रक्षा की और भद्रिलपुर नगरमें सुदृष्टि सेठ तथा अलका सेठानीके यहाँ पुत्ररूपसे इनका लालन-पालन हुआ ॥ ६ ॥ धर्म श्रवण कर ये सबके सब एक साथ मेरी शिष्यताको प्राप्त हो गये—मुनि हो गये और कर्मोंका क्षयकर इसी जन्ममें सिद्धिको प्राप्त होंगे ॥ ७ ॥ तेरा इन सबमें जो स्नेह हुआ था वह अपत्यकृत था—पुत्र होनेसे किया गया था सो ठीक ही है क्योंकि समस्त धर्मात्मा जनोंमें प्रेम होता है फिर जो पुत्र होकर धर्मात्मा हैं उनका तो कहना ही क्या है? ॥ ८ ॥ तदनन्तर देवकीने संतुष्ट होकर उन पुत्ररूप मुनियोंको नमस्कार किया तथा कृष्ण आदि समस्त यादवोंने भी नम्रीभूत होकर उनकी स्तुति की ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् कृष्णकी पट्टरानी सत्यभामाने भगवान्को प्रणाम कर अपने पूर्वभव पूछे। उत्तरमें दिव्य नेत्र—केवलज्ञानके धारक भगवान् यादवों और देवोंके समक्ष इस प्रकार उसके पूर्वभव कहने लगे ॥ १० ॥

पहले भद्रिलपुर नगरमें मुण्डशलायन नामका एक ब्राह्मण रहता था जो मरीचि ब्राह्मण और कपिला ब्राह्मणीका पुत्र था, काव्यकी रचनामें निपुण था और अपने आपको पण्डित

---

१. वारत्रयम्। २. गृहेत्वेकम् म०।

पुष्पदन्तजिनेन्द्रस्य तीर्थे व्युच्छेदभावतः । अभावे जिनमार्गज्ञभव्यानां भरतक्षितौ ॥१२॥
गोभूकन्याहिरण्यादिदानानि विषयातुरः । पापबन्धनिमित्तानि विप्रः प्रख्याप्य सोऽवनौ ॥१३॥
मोहयित्वा जडं लोकं राजलोकपुरोऽगमत्[1] । प्रवृत्तः पापसूत्रेषु सप्तमीं पृथिवीमितः ॥१४॥
उद्धृत्यापि परिभ्रम्य तिर्यङ्नारकयोनिषु । काकतालीययोगेन मानुषत्वमुपागतः ॥१५॥
गन्धावतीसरित्तीरे गन्धमादनपर्वते । व्याधः पर्वतको नाम्ना वल्लरीवल्लभोऽभवत् ॥१६॥
श्रीधरं धर्मसंज्ञं च [2]चारणश्रमणौ गिरौ । दृष्ट्वोपशमकृत्वाभ्यां प्रोषितं धर्मकालभाक् ॥१७॥
ज्योतिर्मालाख्यखेचर्यामलकायां महाबलात् । जातः शतबलिभ्राता स पुत्रो हरिवाहनः ॥१८॥
राजा राज्ये नियोज्यैतौ प्रव्रज्य श्रीधरान्तिके । प्रव्रज्यायाः फलं मुख्यं मोक्षसौख्यमवाप सः ॥१९॥
निर्वासितो विरोधस्थो ज्येष्ठेन हरिवाहनः । भगलीदेशशैलेऽस्थादम्बुदावर्तनामनि ॥२०॥
श्रीधर्मानन्तवीर्याख्यौ चारणौ वीक्ष्य तत्र सः । प्रव्रज्याराध्य स प्रापत् कल्पमैशानमेव च ॥२१॥
भुक्त्वा देवसुखं देवश्च्युत्वा संक्लेशभावतः । जाता स्वयंप्रभागर्भे भामा त्वं हि सुकेतुतः ॥२२॥
अत्र जन्मनि कृत्वान्ते तपो भूत्वाऽमरोत्तमः । च्युत्वा जैनं तपः कृत्वा निर्वाणसुखमाप्स्यति ॥२३॥
आकर्ण्यात्मभवानेवं ज्ञात्वात्मासन्ननिर्वृतिम् । आननाम जिनाधीशं सत्यभामा प्रमोदिनी ॥२४॥

मानता था ॥ ११ ॥ श्री पुष्पदन्त जिनेन्द्रके तीर्थमें धर्मका व्युच्छेद हो जानेसे जब भरत-क्षेत्रकी भूमिमें जिनमार्गके ज्ञाता भव्य जीवोंका अभाव हो गया तब उस विषयोंसे पीड़ित ब्राह्मणने पृथिवीपर पापबन्धमें कारण भूत गाय, कन्या तथा सुवर्ण आदिसे दानकी प्रवृत्ति चलायी ॥ १२-१३ ॥ मूर्ख जनोंको मोहित कर वह राजपुरुषोंके आगे तक पहुँच गया अर्थात् क्रम-क्रमसे उसने राजा प्रजा सभीको अपने चक्रमें फँसा लिया और पापाचारमें प्रवृत्त हो अन्तमें वह सातवें नरक गया ॥ १४ ॥ वहाँसे निकलकर भी तिर्यञ्च और नारकियोंकी योनिमें परिभ्रमण करता रहा । तदनन्तर कदाचित् काकतालीयन्यायसे मनुष्य पर्यायको प्राप्त हुआ ॥ १५ ॥ गन्धावती नदीके किनारे गन्धमादन पर्वतपर वह वल्लरी नामक स्त्रीका स्वामी पर्वतक नामका भील हुआ ॥१६॥ कदाचित् उस पर्वतपर श्रीधर और धर्म नामके दो चारणऋद्धिधारी मुनि आये । उनके दर्शन कर इसके परिणामोंमें कुछ शान्ति आयी जिससे मुनियोंने उससे उपवास कराया । अन्तमें वह धर्मपूर्वक मरणको प्राप्त हो विजयार्ध पर्वतकी अलका नगरीमें महाबल नामक विद्याधरसे ज्योतिर्माला नामकी विद्याधरीमें शतबलीका भाई हरिवाहन नामका पुत्र हुआ ॥ १७-१८ ॥ कदाचित् राजा महाबल, शतबली और हरिवाहन नामक दोनों पुत्रोंको राज्य-कार्यमें नियुक्त कर श्रीधर गुरुके पास दीक्षित हो गया और दीक्षाका मुख्य फल जो मोक्षसम्बन्धी सुख उसे प्राप्त हो गया ॥ १९ ॥ किसी कारण वश शतबली और हरिवाहनमें विरोध पड़ गया जिससे बड़े भाई शतबलीने उसे निकाल दिया। निर्वासित हरि-वाहन भगलीदेशके अम्बुदावर्त नामक पर्वतपर स्थित था ॥ २० ॥ उसी समय वहाँ श्री-धर्म और अनन्तवीर्य नामक दो चारणऋद्धिधारी मुनि आये । उनके दर्शन कर हरिवाहनने दीक्षा ले ली और अन्तमें सल्लेखना धारण कर वह ऐशान स्वर्गको प्राप्त हुआ ॥ २१ ॥ हरि-वाहनके जीव देवने वहाँ देवोंके सुखोंका उपभोग किया परन्तु संक्लेशमय परिणाम होनेके कारण वहाँसे च्युत होकर वह राजा सुकेतुकी रानी स्वयंप्रभाके गर्भमें तू सत्यभामा नामकी कन्या हुई ॥ २२ ॥ इस जन्ममें तपकर तू अन्तमें उत्तम देव होगी और वहाँसे च्युत हो जिनेन्द्र प्रणीत तपकर मोक्ष सुखको प्राप्त होगी ॥ २३ ॥ इस प्रकार अपने भव सुनकर तथा निकट कालमें हमें मोक्ष प्राप्त होनेवाला है यह जानकर सत्यभामाने हर्षित हो भगवान्को नमस्कार किया ॥ २४ ॥

---

१. पुरोगमम् म० । २. चारणश्रमणौ म०, ङ० ।

रुक्मिण्यापि ततः पृष्टः पूर्वजन्मानि सर्ववित् । अवोचदिति [1]लोकेऽसौ प्रणिधानपरे स्थिते ॥२५॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे विषये मगधाभिधे । ब्राह्मणी सोमदेवस्य लक्ष्मीग्रामेऽग्रजन्मनः ॥२६॥
आसील्लक्ष्मीमती नाम्ना लक्ष्मीरिव सुलक्षणा । रूपाभिमानतो मूढा पूज्याश्च प्रतिमन्यते ॥२७॥
धृतप्रसाधना वक्त्रं कदाचिच्चित्तहारिणी । नेत्रहारिणि चन्द्राभे पश्यन्ती मणिदर्पणे ॥२८॥
समाधिगुप्तनामानं तपसातिकृशीकृतम् । साधुं भिक्षागतं दृष्ट्वा निनिन्द विचिकित्सिता ॥२९॥
मुनेर्निन्दातिपापेन सप्ताहाभ्यन्तरे च सा । क्लिष्टोदुम्बरकुष्ठेन प्रविश्याग्निमगान्मृतिम् ॥३०॥
[2]सहार्ता सा खरी भूत्वा मृत्वा लवणभारतः । शूकरी मानदोषेण जाता राजगृहे पुरे ॥३१॥
वराकी मारिता मृत्वा गोष्ठेऽ[3]जायत कुक्कुरी । गोष्ठागतेन सा दग्धा परुषेण दवाग्निना ॥३२॥
त्रिपदाख्यस्य मण्डूक्यां मण्डूकग्रामवासिनः । मत्स्यबन्धस्य जाता सा दुहिता पूतिगन्धिका ॥३३॥
मात्रा त्यक्ता स्वपापेन पितामह्या प्रवर्धिता । निष्कुटे वटवृक्षस्य जालेनाच्छादयन्मुनिम् ॥३४॥
बोधितावधिनेत्रेण प्रभाते करुणावता । धर्मं समाधिगुप्तेन प्रोक्तपूर्वमथाग्रहीत् ॥३५॥
पुरं [4]सोपारकं याता तत्रार्याः [5]समुपास्य सा । ययौ राजगृहं ताभिः कुर्वाणाचाम्लवर्धनम् ॥३६॥

तदनन्तर रानी रुक्मिणीने भी अपने पूर्वभव पूछे सो समस्त पदार्थोंके ज्ञाता भगवान् नेमिनाथ, इस प्रकार कथन करने लगे। उस समय समस्त लोग सुननेके लिए एकाग्रचित्त होकर बैठे थे ॥ २५ ॥

इसी भरत क्षेत्रके मगध देशमें एक लक्ष्मी नामका ग्राम है। उसमें एक सोमदेव नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी लक्ष्मीमती नामकी ब्राह्मणी थी जो कि लक्ष्मीके समान उत्तम लक्षणोंकी धारक थी और अपने रूपके अभिमानसे मूढ होकर पूज्य जनोंको भी कुछ नहीं समझती थी ॥ २६-२७ ॥ चित्तको हरण करनेवाली वह लक्ष्मीमती, एक दिन आभूषण धारण कर नेत्रोंको प्रिय तथा चन्द्रमाके समान आभावाले मणिमय दर्पणमें अपना मुख देख रही थी उसी समय तपसे अतिशय कृश समाधिगुप्त नामके मुनि भिक्षाके लिए आये। उन्हें देख ग्लानियुक्त हो उसने उनकी निन्दा की ॥ २८-२९ ॥ मुनिनिन्दाके बहुत भारी पापसे वह सात दिनके भीतर ही उदुम्बर कुष्ठसे पीड़ित हो गयी और इतनी अधिक पीड़ित हुई कि वह अग्निमें प्रवेश कर मर गयी ॥ ३० ॥ आर्तध्यानके साथ मरकर वह गधी हुई। उस पर नमक लादा जाता था। सो उसके भारसे मरकर वह मान कषायके दोषसे राजगृह नगरमें शूकरी हुई ॥३१॥ उस बेचारीको भी लोगोंने मार दिया जिससे मरकर वह गोष्ठ—गायोंके रहनेके स्थानमें कुत्ती हुई। एक दिन उस गोष्ठमें भयंकर दावाग्नि लग गयी जिससे वह कुत्ती उसी दावाग्निमें जल गयी ॥ ३२ ॥ और मरकर मण्डूकग्राममें रहनेवाले त्रिपद नामक धीवरकी मण्डूकी नामक स्त्रीसे पूतिगन्धिका नामक पुत्री हुई ॥ ३३ ॥ अपने पापके उदयसे माताने उसे छोड़ दिया अर्थात् उसकी माता मर गयी जिससे दादीने उसका पालन-पोषण किया। एक दिन इसके घरके उपवनमें वही समाधिगुप्त मुनिराज विहार करते हुए आये और वट वृक्षके नीचे विराजमान हो गये। रात्रिके समय शीतकी अधिकता देख पूतिगन्धाने उन मुनिराजको जालसे ढक दिया ॥ ३४ ॥ मुनिराज अवधिज्ञानरूपी नेत्रके धारक थे इसलिए उन्हें उसकी दशा देख दया आ गयी। उन्होंने उसे समझाया और उसके पूर्व भव सुनाये जिससे उसने धर्म धारण कर लिया ॥ ३५ ॥ एक बार वह पूतिगन्धा सोपारक नगर गयी। वहाँ आर्यिकाओंकी उपासना कर वह उन्हींके साथ आचाम्ल नामका तप करती हुई

---

१. लोकेशो म० । २. सा आर्तेन ख०, ङ०, म० । ३. जाताथ म०, घ० । ४. सोपानकम् क० । ५. समुपास्यथा म०, क०, ङ०, ख० ।

तत्र [1]सिद्धशिलां वन्द्यां वन्दित्वा च स्थिता सती । कृत्वा नीलगुहायां सा सती सल्लेखनां मृता ॥३७॥
अच्युतेन्द्रमहादेवी नाम्ना गगनवल्लभा । वल्लभाऽभवदुत्कृ[2]ष्टस्त्रीस्थितिस्तत्र देव्यसौ ॥३८॥
ततोऽवतीर्य भीष्मस्य श्रीमत्यां त्वं सुताऽभवः । नगरे कुण्डिनाभिख्ये रुक्मिणो रुक्मिणः स्वसा ॥३९॥
कृत्वा चात्र भवे भव्ये प्रव्रज्यां विबुधोत्तमः । च्युत्वा तपश्च कृत्वात्र नैर्ग्रन्थ्यं मोक्ष्यसे ध्रुवम् ॥४०॥
भीष्मजा भीष्मसंसारभीकराकर्ण्य सा भवान् । ज्ञात्वासन्नस्वमोक्षाप्तिं[3] प्रणनाम प्रभुं मुदा ॥४१॥
जाम्बवत्या जिनः पृष्टस्तस्याः प्राह पुराभवम् । संसारभयभीतानां सन्निधौ निखिलाङ्गिनाम् ॥४२॥
सुतासीत् पुष्कलावत्यां जम्बूद्वीपस्य देविलात् । नगर्यां वीतशोकायां देवमत्यां यशस्विनी ॥४३॥
गृहपत्यात्मजायासौ [4]गृहपस्य शरीरजा । दत्ता सुमित्रसंज्ञाय मृते तत्र सुदुःखिता ॥४४॥
जैनेन जिनदेवेन जिनधर्मोपदेशिना । शाम्यमाना न सम्यक्त्वं लेभे मोहोदयादसौ ॥४५॥
दानोपवासविधिना लौकिकेन मृता सती । नन्दने व्यन्तरस्यासीत् सा भार्या मेरुनन्दना ॥४६॥
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि लक्षाशीतियुतानि तत् । भोगं भुक्त्वा चिरं कालं संसारं संससार सा ॥४७॥
द्वीपेऽत्रैरावतक्षेत्रे पुरे विजयपूर्वके । बन्धुषेणस्य भूपस्य बन्धुमत्याः सुताऽभवत् ॥४८॥
नाम्ना बन्धुयशाः कन्या श्रीमत्या प्रोषधव्रतम् । कन्यया जिनदेवस्य प्रतिपद्य मृताऽभवत् ॥४९॥
धनदस्य प्रिया पत्नी नामतः सा स्वयंप्रभा । च्युत्वातः पुण्डरीकिण्यां जम्बूद्वीपे पृथौ पुरि ॥५०॥

राजगृह नगर चली गयी ॥ ३६ ॥ वहाँ वन्दना करने योग्य जो सिद्धशिला थी उसकी वन्दना कर वह वहीं नीलगुहामें रहने लगी और सल्लेखना धारण कर मृत्युको प्राप्त हुई ॥ ३७ ॥ मरकर वह सोलहवें स्वर्गमें अच्युतेन्द्रकी गगनवल्लभा नामकी अतिशय प्रिय महादेवी हुई । सोलहवें स्वर्गमें स्त्रियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्यकी है सो वह उसी उत्कृष्ट स्थितिकी धारक हुई थी ॥ ३८ ॥ वहाँसे चय कर तू कुण्डिनपुरमें राजा भीष्मकी श्रीमती रानीसे रुक्मी-की बहिन रुक्मिणी नामकी पुत्री हुई है ॥ ३९ ॥ इस उत्तम पर्यायमें तू दीक्षा धारणकर उत्तम देव होगी और वहाँसे च्युत हो निर्ग्रन्थ तपश्चरण कर निश्चित ही मोक्ष प्राप्त करेगी ॥ ४० ॥ अपने पूर्व भव सुनकर रुक्मिणी भयंकर संसारसे भयभीत हो गयी और अपने लिए निकट कालमें मोक्ष प्राप्त होगा यह जानकर बड़े हर्षसे उसने भगवान्‌को नमस्कार किया ॥ ४१ ॥

तदनन्तर कृष्णकी तीसरी पट्टरानी जाम्बवतीने श्री नेमिजिनेन्द्रसे अपने पूर्वभव पूछे सो संसारसे भयभीत समस्त प्राणियोंके समक्ष वे उसके पूवभव इस प्रकार कहने लगे ॥४२॥ जम्बूद्वीपकी पुष्कलावती देशमें एक वीतशोका नामकी नगरी थी । उसमें देविल नामका एक गृहस्थ रहता था । उसकी देवमती नामकी स्त्रीसे तू यशस्विनी नामकी पुत्री हुई थी ॥ ४३ ॥ यशस्विनी, गृहपति (गहोई) की लड़की थी और गृहपति (गहोई) के पुत्र सुमित्रके लिए दी गयी थी । परन्तु पतिके मर जानेपर वह बहुत दुःखी हुई ॥ ४४ ॥ जिनधर्मका उप-देश देनेवाले किसी जिनदेव नामक जैनने उसे उपदेश देकर शान्त किया परन्तु मोहके उदयसे वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकी ॥ ४५ ॥ वह पतिव्रता लौकिक दान तथा उपवास करती रही और उनके प्रभावसे मरकर नन्दन वनमें व्यन्तर देवकी मेरुनन्दना नामकी स्त्री हुई ॥ ४६ ॥ तीस हजार अस्सी वर्ष तक वहाँके भोग भोग कर वह चिर काल तक संसारमें परिभ्रमण करती रही ॥ ४७ ॥ तदनन्तर इसी जम्बूद्वीपके ऐरावत क्षेत्रमें विजयपुर नगरके राजा बन्धुषेणकी बन्धुमती नामक स्त्रीसे बन्धुयशा नामकी कन्या हुई । बन्धुयशाने कन्या अवस्थामें ही श्रीमती नामक आर्यिकासे जिनदेव प्ररूपित प्रोषधव्रत धारण किया था इसलिए वह मरकर कुबेरकी स्वयंप्रभा नामकी स्त्री हुई । आयुके अन्तमें वहाँसे च्युत हो जम्बूद्वीपकी

---

१. सिद्धशिला वन्द्या म० । २.–दुत्कृष्टा म०, क०, ङ० । ३. मोक्षाप्तिः म० । ४. गृहपतेः ङ० ।

वज्रमुष्टेः सुभद्रायां सुमतिस्तनयाऽभवत् । [1]सुन्दर्यार्यिकया पार्श्वे कृत्वा रत्नावलीतपः ॥५१॥
सा त्रयोदशपल्यायुर्ब्रह्मेन्द्राग्र्याङ्गनाऽभवत् । च्युताऽसौ दक्षिणश्रेण्यां विजयार्धस्य भारते ॥५२॥
नगरे जाम्बवाभिख्ये जाम्बवस्य खगेशिनः । जाम्बवत्यां प्रियायां त्वं जाता जाम्बवती सुता ॥५३॥
तपस्तपस्विनी कृत्वा भूत्वा कल्पामरोत्तमः । च्युत्वा नृपात्मजो भूत्वा तपसा सिद्धिमेष्यति ॥५४॥
सेत्युक्ते त्यक्तसंशीतिः शीलालंकृतिशालिनी । प्रणम्य जिनमासीना मन्वाना भवनिर्गमम् ॥५५॥
भवनानि जिनो पृष्टो विनयेन सुसीमया । सभाजनमनोह्लादजननध्वनिनाऽब्रवीत् ॥५६॥
धातकीखण्डपूर्वार्धमेरुपूर्वविदेहजे । [2]विषये मङ्गलावत्यां नगरे रत्नसंचये ॥५७॥
भूपतिर्विश्वसेनोऽभूद्भार्यास्यानुन्धरीरिता । अमात्यः श्रावकोऽस्यैव विश्रुतः सुमतिश्रुतिः ॥५८॥
पद्मसेनेन निहतोऽयोध्याधिपतिना युधि । विश्वसेनोऽस्य जायायै सोऽमात्यो धर्ममब्रवीत् ॥५९॥
मोहादप्राप्तसम्यक्त्वा विजयद्वारवासिनः । मृत्वा ज्वलितवेगाभूद् व्यंतरी विजयस्य सा ॥६०॥
दशवर्षसहस्राणि भुक्त्वा तत्र सुखं ततः । च्युता चिरं परिभ्रम्य भीमं संसारसागरम् ॥६१॥
जम्बूद्वीपविदेहेऽस्तः[3] सीताया दक्षिणे तटे । रम्ये रम्याभिधे क्षेत्रे शालिग्रामे महाधने ॥६२॥

पुण्डरीकिणी नामक विशालपुरीमें वज्रमुष्टिकी सुभद्रा स्त्रीसे सुमति नामकी पुत्री हुई। वहाँ उसने सुन्दरी नामक आर्यिकासे प्रेरित हो उनके समीप रत्नावली नामका तप किया जिसके प्रभावसे मरकर वह तेरह पल्यकी आयुकी धारक ब्रह्मेन्द्रकी प्रधान इन्द्राणी हुई। तदनन्तर वहाँसे भी च्युत होकर भरतक्षेत्र सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें जाम्बव नामक नगरके विद्याधर राजा जाम्बवकी जाम्बवती नामक रानीसे तू जाम्बवती नामकी पुत्री हुई ॥ ४८-५३ ॥ इस भवमें तू तपस्विनी होकर तप करेगी और स्वर्गका उत्तम देव होकर वहाँसे च्युत हो राजपुत्र होगी। तदनन्तर तपके द्वारा मोक्षको प्राप्त होगी ॥ ५४ ॥ इस प्रकार भगवान्के द्वारा अपने पूर्वभव कहे जानेपर जिसका सब संशय दूर हो गया था तथा जो शील रूपी अलंकारसे सुशोभित थी ऐसी जाम्बवती रानी जिनेन्द्र देवको प्रणाम कर 'मैं संसारसे पार हो गयी' ऐसा मानती हुई सुखसे आसीन हुई ॥ ५५ ॥

तदनन्तर सुशीला नामक चौथी पट्टरानीने विनयपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्से अपने भवान्तर पूछे सो भगवान् सभासदोंके मनको आनन्द उत्पन्न करनेवाली दिव्यध्वनिसे उसके भवान्तर इस प्रकार वर्णन करने लगे—

धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वार्धमें जो मेरु पर्वत है उससे पूर्वकी ओरके विदेह क्षेत्रमें एक मङ्गलावती नामका देश है। उसके रत्नसञ्चय नामक नगरमें किसी समय विश्वसेन राजा रहता था उसकी स्त्रीका नाम अनुन्धरी था। इसी राजाका एक सुमति नामका प्रसिद्ध मन्त्री था जो श्रावक धर्मका प्रतिपालक था ॥ ५६-५८ ॥ कदाचित् अयोध्याके राजा पद्मसेनने राजा विश्वसेनको युद्धमें प्राणरहित कर दिया जिससे उसकी स्त्री अनुन्धरी बहुत दुःखी हुई। सुमति मन्त्रीने उसे धर्मका उपदेश दिया परन्तु मोहके कारण वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं हो सकी और आयुके अन्तमें मरकर विजयद्वारपर निवास करनेवाले विजय नामक व्यन्तर देवकी ज्वलनवेगा नामकी व्यन्तरी हुई ॥ ५९-६० ॥ दश हजार वर्ष तक वहाँके सुख भोगकर वह वहाँसे च्युत हुई और चिरकाल तक भयंकर संसार-सागरमें परिभ्रमण करती रही ॥ ६१ ॥ तदनन्तर जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक रम्य नामका सुन्दर क्षेत्र है। उसके महाधनसम्पन्न शालिग्राम नामक नगरमें एक यक्षिल नामका गृहपति

---

१. सुन्दर्यार्यिकायाः ख० । २. विजयो म० (?) । ३. विदेहेन्तः म० ।

सुताऽभूद् देवसेनायां यक्षिलस्य गृहेशिनः । यक्षाराधनतो लब्ध्या यक्षदेवी स्वनामतः ॥६३॥
सा यक्षगृहपूजार्थमन्यदा प्रगताऽत्र च । धर्मसेनगुरोरन्ते धर्मं शुश्राव गौरवात् ॥६४॥
आहारदानमस्मै सा पात्रायातिथयेऽन्यदा । दत्त्वा भक्तिमती कन्या पुण्यबन्धं बबन्ध च ॥६५॥
सखीभिः क्रीडितुं याता कदाचिद्विमलाचलम् । तत्र चाकालवर्षेण पीडिता प्राविशद् गुहाम् ॥६६॥
तत्र सिंहेन संत्रस्ता मृत्वा त्यक्तात्मविग्रहा । बभूव हरिवर्षेऽसौ द्विपल्योपमजीविता ॥६७॥
ज्योतिर्लोकमतो गत्वा पल्योपमसमस्थितिः । तच्च्युत्वा पुष्कलावत्यां जम्बूद्वीपस्य भारते ॥६८॥
वीतशोकाभिधानायामशोकस्य महीपतेः । श्रीमत्यामभवत् कन्या श्रीकान्ता नामतः सुता ॥६९॥
जिनदत्तार्यिकोपान्ते विनिष्क्रम्य कुमारिका । रत्नावलिं तपः कृत्वा माहेन्द्राधिपतेः प्रिया ॥७०॥
भूत्वैकादशपल्यायुर्भुक्त्वा स्वर्गसुखं च्युता । सुज्येष्ठायां सुराष्ट्रेषु राष्ट्रवर्धनभूभृतः ॥७१॥
सुसीमा तनयाभूस्त्वं नगरे गिरिपूर्वके । देवो भूत्वा तपःशक्त्या मोक्ष्यसे नृभवे ततः ॥७२॥
निशम्यात्मभवानित्थं सुसीमा सौम्यमानसा । प्रकृष्टासन्ननिष्ठेति निष्ठितार्थं ननाम सा ॥७३॥
पृष्टो लक्ष्मणया नत्वा जिनः प्रोवाच तद्भवान् । जिनाः सर्वहिताः सर्वे यत्प्रश्नोत्तरवादिनः ॥७४॥
द्वीपेऽस्मिन् कच्छकावत्यां सीताया उत्तरे तटे । राजारिष्टपुरे ह्यासीद्वासवो वासवोपमः ॥७५॥
सुमित्राख्या प्रियास्यासौ वन्दितुं साङ्गनो ययौ । गुरुं सागरसेनाख्यं सहस्राम्रवनस्थितम् ॥७६॥

रहता था। उसकी स्त्रीका नाम देवसेना था। ज्वलनवेगाका जीव इन्हीं दोनोंके एक पुत्री हुआ। वह पुत्री चूँकि यक्षकी आराधनासे प्राप्त हुई थी इसलिए उसका यक्षदेवी यही नाम प्रसिद्ध हो गया ॥ ६२-६३ ॥ किसी समय वह यक्षदेवी, यक्षगृहकी पूजाके लिए गयी थी। वहाँ उसने धर्मसेन गुरुके समीप बड़े गौरवसे धर्मका उपदेश सुना ॥ ६४ ॥ किसी दिन उस भक्तिमती कन्याने उक्त मुनिके लिए आहार दान दिया और उसके फलस्वरूप पुण्यबन्ध बाँधा ॥ ६५ ॥ किसी समय वह यक्षदेवी सखियोंके साथ क्रीड़ा करनेके लिए विमल नामक पर्वतपर गयी थी वहाँ अकाल वर्षासे पीड़ित होकर वह एक गुफामें घुस गयी ॥ ६६ ॥ उस गुफामें पहलेसे सिंह बैठा था सो उस सिंहने देखते ही यक्षदेवीको खा लिया। यक्षदेवी अपना शरीर छोड़ हरिवर्ष क्षेत्रमें दो पल्यकी आयुकी धारक आर्या हुई ॥ ६७ ॥ वहाँसे चयकर वह ज्योतिष लोकमें एक पल्यकी आयुवाली देवी हुई। तदनन्तर वहाँसे च्युत हो जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें वीतशोका नामक नगरीके राजा अशोककी श्रीमती नामक रानीसे श्रीकान्ता नामकी पुत्री हुई ॥ ६८-६९ ॥ श्रीकान्ताने कुमारी अवस्था में ही जिनदत्ता आर्यिकाके पास दीक्षा लेकर रत्नावली नामका तप किया और उसके फल स्वरूप वह माहेन्द्रस्वर्गके इन्द्रकी ग्यारह पल्यकी आयुवाली प्रिय देवी हुई। स्वर्गके सुख भोगकर वहाँसे च्युत हुई और सुराष्ट्र देशके गिरिनगरमें राष्ट्रवर्धन राजाकी सुज्येष्ठा नामक रानीसे तू सुसीमा नामकी पुत्री हुई है। अब तू तपकी शक्तिसे देव होगी और तदनन्तर मनुष्य पर्याय प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त करेगी ॥ ७०-७२ ॥ इस प्रकार अपने भव श्रवण कर तथा अपना संसार अत्यन्त निकट जानकर सुसीमा बहुत प्रसन्न हुई और उसने कृतकृत्य भगवान् नेमिजिनेन्द्रको नमस्कार किया ॥ ७३ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणा नामक पाँचवीं पट्टरानीने नमस्कार कर भगवान्से अपने पूर्व भव पूछे सो भगवान् उसके पूर्वभव कहने लगे। चूँकि समस्त तीर्थंकर भगवान् प्रश्नोंका उत्तर, निरूपण करते हैं इसलिए वे सर्वहितकारी कहलाते हैं ॥७४॥ उन्होंने कहा कि इसी जम्बूद्वीपकी सीता नदीके उत्तर तटपर एक कच्छकावती नामका देश है। उसके अरिष्टपुर नगरमें किसी समय इन्द्रकी उपमाको धारण करनेवाला एक वासव नामका राजा रहता था। उसकी सुमित्रा नामकी वल्लभा थी। एक दिन वह अपनी वल्लभाके साथ, सहस्राम्र

धर्मं श्रुत्वा गुरो राजा राज्ये विन्यस्य देहजम् । वसुसेनमदीक्षिष्ट न पत्नी पुत्रमोहतः ॥७७॥
पतिपुत्रवियोगोग्रशोकदुःखहता मृता । [1]पुलिन्दीत्वं गता दृष्ट्वा नन्दिभद्रं सचारणम्[2] ॥७८॥
अवधिज्ञानिनं श्रुत्वा तस्मात्पूर्वभवं हि सा । स्मृतपूर्वभवा [3]मृत्वा त्रिदिनानशनव्रता ॥७९॥
नारदस्याभवद्देवी नामतो मेघमालिनी । च्युत्वा च भरतक्षेत्रे रौप्याद्रेर्दक्षिणे तटे ॥८०॥
सानुन्धर्यां महेन्द्रस्य पुरे चन्दनपूर्वके । सुता कनकमालाभूद्विद्याधरमनोहरा ॥८१॥
हरिवाहनविद्येशं महेन्द्रनगरेश्वरम्[4] । वृत्वा स्वयंवरे कन्या मान्या जाताऽस्य वल्लभा ॥८२॥
अन्यदा चैत्यपूजार्थं सिद्धकूटमियं गता । श्रुत्वा च चारणाज्जातिमार्या मुक्तावलीं तपः ॥८३॥
कृत्वा सनत्कुमारेन्द्रवल्लभाऽभूत् सुराङ्गना । नवपल्योपमायुष्का सौख्यं भुक्त्वा ततश्च्युता ॥८४॥
जाताऽत्र श्लक्ष्णरोम्णस्त्वं कुरुमत्यां सुता भवे । तृतीये मुक्तिरित्युक्ते लक्ष्मणा प्रणता प्रभुम् ॥८५॥
स गान्धार्यां कृते प्रश्ने तद्भवान्भगवान् जगौ । नगर्यां कोशलेष्वासीदयोध्यायां महीपतेः ॥८६॥
महिषी रुद्रदत्तस्य विनयश्रीः श्रुताख्यया । श्रीधराय ददौ दानं पत्या सिद्धार्थके वने ॥८७॥
मृत्वोत्तरकुरुष्वासीद्दानात्पल्यत्रयस्थितिः । पल्याष्टभागतुल्यायुः सातश्चन्द्रमसः प्रिया ॥८८॥

वनमें स्थित सागरसेन नामक मुनिराजकी वन्दना करनेके लिए गया ॥७५-७६॥ राजा वासव, मुनिराजसे धर्मश्रवण कर विरक्त हो गया और वसुसेन नामक पुत्रको राज्यभार सौंपकर दीक्षित हो गया। राजा तो दीक्षित हो गया परन्तु पुत्रके मोहसे रानी सुमित्रा दीक्षा नहीं ले सकी ॥७७॥ कदाचित् पुत्रका भी वियोग हो गया अतः पति और पुत्रके वियोगजन्य तीव्र शोकसे उत्पन्न दुःखसे पीड़ित होकर वह मर गयी और मरकर भीलिनी पर्यायको प्राप्त हुई। एक दिन उस भीलिनीने अवधिज्ञानके धारक नन्दिभद्र नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराजके दर्शन कर उनसे अपने पूर्वभव सुने। पूर्वभवोंको स्मरण कर उसने तीन दिनका अनशन किया और मरकर नारद नामक देवकी मेघमालिनी नामकी स्त्री हुई। वहाँसे च्युत होकर भरत क्षेत्रके दक्षिण तटपर चन्दनपुर नामक नगरमें राजा महेन्द्रकी अनुन्धरी रानीसे विद्याधरोंके मनको हरण करनेवाली कनकमाला नामकी पुत्री हुई ॥७८-८१॥ कनकमाला स्वयंवरमें महेन्द्र नगरके राजा हरिवाहन विद्याधरको वरकर उसकी माननीय वल्लभा हो गयी ॥८२॥ किसी समय कनकमाला जिन-प्रतिमाओंकी पूजा करनेके लिए सिद्ध-कूट गयी थी। वहाँ चारण ऋद्धिके धारक मुनिराजसे अपने पूर्वभव श्रवणकर वह आर्यिका हो गयी और मुक्तावली नामका तप कर सनत्कुमार स्वर्गके इन्द्रकी प्रिय देवी हुई। वहाँ उसकी नौ पल्यकी आयु थी। सुख भोगकर वह वहाँसे च्युत हो यहाँ राजा श्लक्ष्णरोमकी कुरुमती रानीसे लक्ष्मणा नामकी पुत्री हुई है। तीसरे भवमें तेरी मुक्ति होगी। इस प्रकार भवान्तर कहे जानेपर लक्ष्मणा रानीने भगवान् नेमिजिनेन्द्रको नमस्कार किया ॥८३-८५॥

तदनन्तर कृष्णकी छठी पट्टरानी गान्धारीके द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् उसके पूर्वभव कहने लगे। उन्होंने कहा कि कोशल देशकी अयोध्या नगरीमें किसी समय रुद्रदत्त नामका राजा रहता था। उसकी विनयश्री नामकी रानी थी। उसने एक समय सिद्धार्थक नामक वनमें अपने पतिके साथ, श्रीधर नामक मुनिराजके लिए आहार दान दिया ॥८६-८७॥ दानके प्रभावसे मरनेके बाद वह उत्तरकुरुमें तीन पल्यकी आयुकी धारक आर्या हुई। उसके बाद पल्यके आठवें भाग बराबर आयुकी धारक चन्द्रमाकी प्रिया

१. शबरीपर्यायं। २. चारणमुनिं। ३. मृत्वा निन्दितानशनव्रता म०। ४. कृत्वा म०।

तत्रैवात्रोत्तरश्रेण्यां पुरे गगनवल्लभे । विद्युद्वेगस्य कन्याऽभूद्विद्युन्मत्यां महाद्युतिः ॥८९॥
विनयश्रीर्गुणैः ख्याता नित्यालोकपुरेशिनः । महेन्द्रविक्रमस्यैषा योषिद्गुणसमन्विता ॥९०॥
चारणश्रमणाभ्यां तु धर्मं श्रुत्वा स मन्दरे । राज्ये नियोज्य निष्क्रान्तो नन्दनं हरिवाहनम् ॥९१॥
विनयश्रीस्तु कृत्वाऽसौ सर्वभद्रमुपोषितम् । पञ्चपल्यस्थितिर्जाता सौधर्मेन्द्रस्य वल्लभा ॥९२॥
पुर्यां त्वं पुष्कलावत्यां गान्धारेषु दिवश्च्युता । गान्धारीन्द्रगिरे राज्ञो मेरुमत्यामभूत्सुता ॥९३॥
तृतीयभवसिद्धिस्त्वमित्युक्ते सानमज्जिनम् । गौर्या विज्ञापितो नत्वा तद्भवानाह विश्ववित्[1] ॥९४॥
इभ्यस्येभ्यपुरेऽत्राभूद्धनदेवस्य कामिनी । यशस्विनी स्थिता हर्म्ये चारणौ वीक्ष्य साम्बरे ॥९५॥
सस्मार स्वभवान् सर्वान् धातकीखण्डमण्डले । पूर्वस्य मन्दरस्यासं विदेहेष्वपरेष्वहम् ॥९६॥
आनन्दश्रेष्ठिनः पत्नी नन्दशोकपुरेऽर्हते । मितसागरनाम्नेऽत्र दानं दत्त्वा सभर्तृका ॥९७॥
पञ्चाश्चर्याण्यहं प्रापं कृतानि त्रिदशैर्मुदा । पीत्वाकाशोदकं भर्त्रा सविषं मृतवत्यमा ॥९८॥
भूत्वा देवकुरुष्वासमैशानेन्द्रप्रिया ततः । जाताऽत्राहमिति ज्ञात्वा सा संवेगपरा यतिम् ॥९९॥
नत्वा सुभद्रनामानं प्रोषधव्रतमग्रहीत् । मृत्वा शक्रस्य देव्यासीत्पञ्चपल्यसमस्थितिः ॥१००॥

हुई ॥८८॥ तदनन्तर इसी विजयार्धकी उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके स्वामी राजा विद्युद्वेगकी विद्युन्मती नामक रानीसे महाकान्तिकी धारक विनयश्री नामकी कन्या हुई। यह कन्या गुणोंसे अत्यन्त प्रसिद्ध थी और नित्यालोक नगरके स्वामी राजा महेन्द्रविक्रमकी गुणवती स्त्री हुई। कदाचित् सुमेरु पर्वतपर चारण ऋद्धिके धारक युगल मुनियोंसे धर्म श्रवण कर राजा महेन्द्रविक्रम संसारसे विरक्त हो गया और उसने हरिवाहन नामक पुत्रको राज्य कार्यमें नियुक्त कर दीक्षा धारण कर ली ॥८९-९१॥ विनयश्रीने भी संसारसे विरक्त हो सर्वभद्र नामक उपवास किया और उसके प्रभावसे वह पाँच पल्यकी स्थितिकी धारक सौधर्मेन्द्रकी देवी हुई ॥९२॥ अब तू स्वर्गसे च्युत होकर गान्धार देशकी पुष्कलावती नगरीमें राजा इन्द्रगिरिकी मेरुमती नामक रानीसे गान्धारी नामकी पुत्री हुई है ॥९३॥ तू तीसरे भवमें मोक्ष प्राप्त करेगी। इस प्रकार अपने भवान्तरके कहे जानेपर गान्धारीने जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार किया। तदनन्तर कृष्णकी सातवीं पट्टरानी गौरीने नमस्कार कर अपने पूर्वभव पूछे सो समस्त पदार्थोंको जाननेवाले भगवान् इस प्रकार उसके पूर्वभव कहने लगे ॥९४॥

इस भरत क्षेत्रके इभ्यपुर नगरमें किसी समय धनदेव नामका एक सेठ रहता था। उसकी यशस्विनी नामकी स्त्री थी। एक दिन यशस्विनी अपने महलकी छतपर खड़ी थी वहाँ उसने आकाशमें जाते हुए दो चारण ऋद्धिधारी मुनि देखे ॥९५॥ उन्हें देखते उसे अपने समस्त पूर्वभवोंका स्मरण हो गया। उसे मालूम हो गया कि मैं धातकीखण्ड द्वीपके पूर्व मेरुकी पश्चिम दिशामें विद्यमान विदेह क्षेत्रके अन्तर्गत नन्दशोक नामक नगरमें आनन्द नामक सेठकी पत्नी थी। वहाँ मैंने अपने पतिके साथ, मितसागर नामक मुनिराजके लिए आहार दान दिया। जिसके फलस्वरूप मैंने हर्षपूर्वक देवोंके द्वारा किये हुए पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये थे। कदाचित् हम दोनोंने आकाशसे पड़ता हुआ वर्षाका पानी पिया। वह पानी विष-सहित था इसलिए पतिके साथ मेरा मरण हो गया ॥९६-९८॥ मरकर मैं देवकुरुमें आर्या हुई। उसके बाद ऐशानेन्द्रकी प्रिया हुई और उसके बाद यहाँ यशस्विनी हुई हूँ। इस प्रकार जानकर संसारसे भयभीत होती हुई यशस्विनीने सुभद्र नामक मुनिराजको नमस्कार कर उनसे प्रोषधव्रत ग्रहण किया। तदनन्तर मरकर पाँच पल्यकी आयुकी धारक प्रथम स्वर्गके

---

१. सर्वज्ञः, नेमिजिनेन्द्रः।

च्युत्वाऽभूदिह कौशाम्ब्यां सुमित्रायां सुभद्रतः । इभ्याद्धर्ममतिर्नाम्ना कन्या धर्ममतिः सदा ॥१०१॥
जिनमत्यार्यिकापार्श्वे तपो जिनगुणाभिधम् । गृहीत्वोपोष्य जातासि महाशुक्रेन्द्रवल्लभा ॥१०२॥
एकविंशतिपल्यायुश्च्युत्वा चन्द्रमतिप्रियाम् । गौरी त्वं वीतशोकायां मेरुचन्द्रादभूत्सुता ॥१०३॥
भवैः सिद्धिस्त्रिभिस्ते स्यादित्युक्ते सा नता विभुम् । प्रणिपत्य ततः पृष्टः पद्मावत्या भवान् जगौ ॥१०४॥
उज्जयिन्यामिहैवासीदपराजितभूभृतः । तनया विनयश्रीः सा विजयावनिताङ्गजा ॥१०५॥
हस्तिशीर्षपुराधीशं हरिषेणमसौ पतिम् । प्राप्ता पतियुता दानं वरदत्ताय संददौ ॥१०६॥
कालागुरुकधूपेन भर्त्रा गर्भगृहे मृता । भूत्वा हैमवते भुक्त्वा सुखं पल्यसमस्थितिः ॥१०७॥
जाता चन्द्रप्रभादेवी ततश्चन्द्रस्य वल्लभा । पल्योपमाष्टभागायुस्ततश्च्युत्वा तु[1] भारते ॥१०८॥
ग्रामेऽभूच्छाल्मलीखण्डे मगधेषु गृहेशिनोः । दुहिता पद्मदेवीति देविलाजयदेवयोः ॥१०९॥
[2]आचार्याद्वरधर्माख्यादेकदा व्रतमग्रहीत् । यावज्जीवं न भक्ष्यं मे फलमज्ञातमप्यसौ ॥११०॥
[3]प्रचण्डः शाल्मलीखण्डे ग्रामेऽवस्कन्ददानतः[4] । अकाण्डे चण्डबाणाख्यो व्याधमुख्योऽहरज्जनम् ॥१११॥
बन्दिगेहे गृहीत्वा तां पद्मदेवीं स्वदारताम् । निनीषुः शीलवत्यासौ प्रत्याख्यातोऽनया नयात् ॥११२॥
स राजगृहनाथेन राज्ञा सिंहरथेन तु । हठेन निहतोऽरण्येऽशरण्ये[5] जनताऽभ्रमत् ॥११३॥

इन्द्रकी इन्द्राणी हुई ॥९९-१००॥ वहाँसे च्युत हो कौशाम्बी नगरीमें सुभद्र सेठकी सुमित्रा नामक स्त्रीसे सदा धर्ममें बुद्धि लगानेवाली धर्ममति नामकी कन्या हुई ॥१०१॥ धर्ममतिने जिनमति आर्यिकाके पास जिनगुण नामका तप लेकर उपवास किये और उनके फलस्वरूप वह महाशुक्र स्वर्गके इन्द्रकी वल्लभा हुई ॥१०२॥ वहाँ उसकी इक्कीस पल्यकी आयु थी। वहाँसे च्युत होकर अब तू वीतशोका नगरीमें राजा मेरुचन्द्रकी चन्द्रमति स्त्रीसे गौरी नामकी पुत्री हुई है ॥१०३॥ तीन भवमें तुझे मुक्तिकी प्राप्ति होगी। इस प्रकार कहे जानेपर गौरीने नम्रीभूत होकर भगवान्को प्रणाम किया। तदनन्तर कृष्णकी आठवीं पट्टरानी पद्मावतीने भी अपने पूर्वभव पूछे जिसके उत्तरमें भगवान् उसके पूर्वभव इस प्रकार कहने लगे ॥१०४॥

इसी भरत क्षेत्रकी उज्जयिनी नगरीमें किसी समय अपराजित नामका राजा रहता था। उसकी स्त्री विजया थी और उन दोनोंके विनयश्री नामकी पुत्री थी ॥१०५॥ विनयश्री हस्तिनापुरके राजा हरिषेण पतिको प्राप्त हुई थी अर्थात् उसका विवाह हस्तिनापुरके राजा हरिषेणके साथ हुआ था। एक दिन उसने पतिके साथ, वरदत्त मुनिराजके लिए आहार दान दिया ॥१०६॥ कदाचित् वह अपने पतिके साथ गर्भगृहमें शयन कर रही थी कि कालागुरुकी धूपसे उसका प्राणान्त हो गया। मरकर वह हैमवत क्षेत्रमें एक पल्यकी आयुवाली आर्या हुई। वहाँके सुख भोग कर वह चन्द्रदेवकी चन्द्रप्रभा नामकी देवी हुई। वहाँ पल्यके आठवें भाग उसकी आयु थी। वहाँसे च्युत हो भरतक्षेत्रके मगध देशसम्बन्धी शाल्मली खण्ड नामक ग्राममें देविला और जयदेव नामक दम्पतीके पद्मदेवी नामकी पुत्री हुई ॥१०७-१०९॥ एक समय उसने वरधर्म नामक आचार्यसे यह व्रत लिया कि मैं जीवन पर्यन्त अज्ञात फलका भक्षण नहीं करूँगी ॥ ११० ॥ किसी एक दिन असमयमें चण्डबाण नामक शक्तिशाली भील शाल्मली खण्ड ग्रामपर आक्रमण कर वहाँकी समस्त प्रजाको हर ले गया ॥ १११ ॥ साथ ही पद्मदेवीको भी पकड़कर अपने कारागारमें ले गया। वह उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता था परन्तु शीलवती पद्मदेवीने किसी नीतिसे उसका निराकरण कर दिया ॥ ११२ ॥ उसी समय राजगृहके राजा सिंहरथने हठपूर्वक उस भीलको मार डाला जिससे

---

१. नु म० । २. आचार्याद्भूतधर्माख्यात् क०, ख०, ग०, ङ०, आचार्याद्वरधर्माख्यात् म० । ३. प्रचण्डशाल्मली म०, क०, ख०, ङ० । ४. ऽवस्कन्दनामतः म०, क०, ङ० । ५. स्तरण्ये क० ।

क्षुत्पीडिता वनान्तेऽत्र दिङ्मूढा मूढबुद्धयः । मृगा इव मृता दुःखात् किंपाकफलभक्षिणः ॥११४॥
अनास्वाद्य फलान्येषा [1]पद्मदेवी दृढव्रता । प्रत्याख्यायैकपल्यायुरन्ते हैमवतेऽभवत् ॥११५॥
देवी स्वयंप्रभस्यासौ व्यन्तरस्य स्वयंप्रभा । स्वयम्भूरमणद्वीपे स्वयंप्रभगिरावभूत् ॥११६॥
ततश्चागत्य भरते जयन्तनगरेशिनः । श्रीमत्यां विमलश्रीः सा श्रीधरस्य सुताभवत् ॥११७॥
प्रादायि मेघनादाय सा भद्रिलपुरेशिने । लेभे च तनयं ख्यातं मेघघोषाख्ययाऽवनौ ॥११८॥
भर्तरि स्वर्गते साऽपि पद्मावत्यार्यिकान्तिके । आचाम्लवर्धमानाख्यं तपः कृत्वा दिवं ययौ ॥११९॥
सा सहस्रारकल्पस्य पत्युर्मुख्याग्रकामिनी । नवपञ्चकपल्यैस्तु तुल्यं कालमजीगमत् ॥१२०॥
जातास्यत्र ततश्च्युत्वा त्वमरिष्टपुरेशिनः । श्रीमत्यां स्वर्णनाभस्य सुता पद्मावती श्रुता ॥१२१॥
तपसा नाकमारुह्य देवश्च्युत्वा तपोबलात् । सेत्स्यति त्वमिति प्रोक्ते श्रुत्वा सा जिनमानमत् ।१२२।
रोहिणीदेवकीपूर्वा देव्योऽन्येऽपि च यादवाः । पृष्ट्वा श्रुत्वा स्वजन्मानि जाता संसारभीरवः ॥१२३॥
[2]नुत्वा नत्वा जिनेन्द्रं तं सुराऽसुराश्च यादवाः । यान्ति स्वस्थानमायान्ति पूजनार्थं पुनः पुनः ।१२४।
विजहार पुनर्देशान् जिनो भव्यहिताय सः । सूर्यस्येव हि चर्यासीज्जगत्कार्याय [3]वैभवी ॥१२५॥
इतश्च वसुदेवाभं वासुदेवमनःप्रियम् । सुतं गजकुमाराख्यं देवकी सुषुवे शुभम् ॥१२६॥

उसके बन्धनमें स्थित शाल्मलीखण्ड ग्रामकी समस्त जनता छूटकर शरणरहित वनमें इधर-उधर भ्रमण करने लगी ॥ ११३ ॥ मूढबुद्धि लोग दिशाभ्रान्ति होनेसे उस वनमें मृगोंकी भाँति भटक गये और भूखसे पीड़ित हो किंपाक फल खाकर दुःखसे मर गये ॥ ११४ ॥ पद्मदेवी अपने व्रतमें दृढ़ थी इसलिए उसने अज्ञात फल होनेसे उन फलोंको नहीं खाया और संन्यास मरण कर वह अन्तमें हैमवत क्षेत्रमें एक पल्यकी आयुवाली आर्या हुई ॥ ११५ ॥ तदनन्तर स्वयंभूरमण द्वीपके स्वयंप्रभ नामक पर्वतपर स्वयंप्रभ नामक व्यन्तर देवकी स्वयंप्रभा नामकी देवी हुई ॥ ११६ ॥ वहाँसे आकर भरत क्षेत्रसम्बन्धी जयन्त नगरके स्वामी राजा श्रीधरकी श्रीमती नामक रानीसे विमलश्री नामकी पुत्री हुई ॥ ११७ ॥ विमलश्री, भद्रिलपुरके राजा मेघनादके लिए दी गयी। उसके संयोगसे उसने पृथिवीपर मेघघोष नामसे प्रसिद्ध पुत्र प्राप्त किया ॥ ११८ ॥ कदाचित् पतिका स्वर्गवास हो जानेपर उसने पद्मावती आर्यिकाके समीप दीक्षा लेकर आचाम्लवर्धननामका तप तपा और उसके प्रभावसे वह स्वर्ग गयी ॥ ११९ ॥ स्वर्गमें वह सहस्रार स्वर्गके इन्द्रकी प्रधान देवी हुई और पैंतालीस पल्य प्रमाण वहाँका काल व्यतीत करती रही ॥ १२० ॥ अब वहाँसे च्युत होकर तू अरिष्टपुरके राजा स्वर्णनाभकी श्रीमती रानीसे पद्मावती नामकी पुत्री हुई है ॥ १२१ ॥ तपकर तू स्वर्गमें देव होगी और वहाँसे च्युत हो तपके सामर्थ्यसे मोक्ष प्राप्त करेगी। इस प्रकार कहे जानेपर अपने भवान्तर सुन पद्मावतीने नेमि जिनेन्द्रको नमस्कार किया ॥ १२२ ॥

रोहिणी, देवकी आदि देवियों और अन्य यादवोंने भी अपने-अपने भव पूछे तथा श्रवण कर वे संसारसे भयभीत हुए ॥ १२३ ॥ इस प्रकार सुर, असुर तथा यादव लोग जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति कर तथा उन्हें नमस्कार कर अपने-अपने स्थानपर चले जाते थे और पूजाके लिए बार-बार आ जाते थे ॥ १२४ ॥ तदनन्तर नेमि जिनेन्द्रने भव्य जीवोंके हितके लिए पुनः अनेक देशोंमें विहार किया सो ठीक ही है क्योंकि उनकी चर्या सूर्यके समान जगत्के हितके लिए ही थी ॥ १२५ ॥

इधर देवकीने कृष्णके पश्चात् गजकुमार नामका एक दूसरा पुत्र उत्पन्न किया जो वसुदेवके समान कान्तिका धारक था, श्रीकृष्णको अत्यन्त प्रिय था एवं अत्यन्त शुभ था ॥१२६॥

---

१. पद्मादेवी म० । २. बुद्ध्वा म० । ३. बिभोरियं वैभवी ।

यौवनं स परिप्राप्तः कन्याजनमनोहरम् । ततोऽस्मै वरयाञ्चक्रे चक्री राजकुमारिकाः ॥१२७॥
अभिरूपतरां कन्यां सोमशर्मद्विजन्मनः । प्रजातां क्षत्रियायां च सोमाख्यां वृतवान् हरिः ॥१२८॥
विवाहारम्भसमये मुदिताखिलयादवे । आते जिनपतिः प्राप्तो विहरन् द्वारिकां तदा ॥१२९॥
समागत्योपविष्टं तमग्रौ रैवतिके विभुम् । वन्दितुं [1]निर्ययुः सर्वे यादवा बहुमङ्गलाः ॥१३०॥
दृष्ट्वा गजकुमारस्तमाटोपं द्वारिकोद्भवम् । [2]पृष्ट्वा कञ्चुकिनं चैवं विवेद हितमादितः ॥१३१॥
ततो गजकुमारोऽपि प्रयातो वन्दितुं जिनम् । रथेनादित्यवर्णेन हर्षाद्रोमाञ्चमुद्वहन् ॥१३२॥
आर्हन्त्यविभवोपेतं गणैर्द्वादशभिर्वृतम् । जिनं नत्वोपविष्टोऽसौ कुमारश्चक्रपाणिना ॥१३३॥
अगाद् भगवांस्तत्र नृसुराऽसुरसंसदि । संसारतरणोपायं धर्मं रत्नत्रयोज्ज्वलम् ॥१३४॥
प्रस्तावे हरिरप्राक्षीज्जिनेन्द्रं प्रणिपत्य सः । अत्यन्तादरपूर्णेच्छः श्रोतृलोकहितेच्छया ॥१३५॥
[3]अर्हतां चक्रिणामर्धचक्रिणां सीराधरिणाम्[4][5] । [6]उत्पत्तिं [7]प्रतिशत्रूणां जिनानामन्तराणि[8] च ॥१३६॥
यथाप्रश्नमितस्तस्मै संभूतिं विष्णवे ततः । त्रिषष्टियुगमुख्यानां प्रोवाच पुरुषेशिनाम् ॥१३७॥
आद्यो वृषभनाथोऽभूदजितः संभवः प्रभुः । अभिनन्दननाथश्च सुमतिः पद्मसंप्रभः ॥१३८॥
सुपार्श्वनामधेयोऽन्यश्चन्द्रप्रभ इतीश्वरः । सुविधिः शीतलः श्रेयान् वासुपूज्यश्च पूजितः ॥१३९॥

जब गजकुमार कन्याओंके मनको हरण करनेवाले यौवनको प्राप्त हुआ तब कृष्णने उत्तमोत्तम राजकुमारियोंके साथ उसका विवाह कराया ॥ १२७ ॥ सोमशर्मा ब्राह्मणकी एक सोमा नामकी अत्यन्त सुन्दर कन्या थी जो उसकी क्षत्रिया स्त्रीसे उत्पन्न हुई थी। श्रीकृष्णने गजकुमारके लिए उसका भी वरण किया ॥ १२८ ॥ जब उसके विवाहके प्रारम्भका समय आया तब समस्त यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसी समय विहार करते हुए भगवान् नेमिनाथ द्वारिकापुरी आये ॥ १२९ ॥ जब भगवान् आकर गिरनार पर्वतपर विराजमान हो गये तब समस्त यादव अनेक मङ्गल द्रव्य लिये हुए उनकी वन्दना करनेके लिए नगरसे बाहर निकले ॥ १३० ॥ द्वारिकामें होनेवाले इस आटोप (हलचल) को देखकर गजकुमारने किसी कञ्चुकीसे पूछा और प्रारम्भसे ही जिनेन्द्र भगवान्‌की समस्त हितकारी चेष्टाको जान लिया ॥ १३१ ॥ तदनन्तर गजकुमार भी हर्षसे रोमाञ्च धारण करता हुआ सूर्यके समान वर्णवाले रथपर सवार हो जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दना करनेके लिए गया ॥ १३२ ॥ वहाँ आर्हन्त्य लक्ष्मीसे युक्त तथा बारह सभाओंसे घिरे हुए जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर गज-कुमार श्रीकृष्णके साथ मनुष्योंकी सभामें बैठ गया ॥ १३३ ॥ भगवान् नेमि जिनेन्द्रने, मनुष्य, सुर तथा असुरोंकी उस सभामें उस धर्मका निरूपण किया जो संसार-सागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय था एवं जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयसे उज्ज्वल था ॥ १३४ ॥ अवसर आनेपर अत्यन्त आदरसे पूर्ण इच्छाके धारक श्रीकृष्णने जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर श्रोताओंके हितकी इच्छासे तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, अर्ध चक्रवर्तियों, बलभद्रों और प्रतिनारायणोंकी उत्पत्ति तथा तीर्थंकरोंके अन्तरालको पूछा ॥ १३५–१३६ ॥

तदनन्तर भगवान् प्रश्नके अनुसार श्रीकृष्णके लिए श्रेष्ठ शलाकापुरुषोंमें प्रमुख चौबीस तीर्थंकरोंकी उत्पत्ति इस प्रकार कहने लगे ॥ १३७ ॥ उन्होंने कहा कि इस युगमें सबसे पहले तीर्थंकर वृषभ नाथ हुए। उनके पश्चात् क्रमसे अजितनाथ, संभवनाथ, अभि-नन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ,

---

१. निर्ययौ म० । २. दृष्ट्वा म० । ३. तीर्थकृताम् । ४. नारायणानाम् । ५. बलभद्राणाम् । ६. उत्पत्तिः म० । ७. प्रतिनारायणानाम् । ८. च विशेषतः म०, घ० ।

विमलोऽनन्तजिद्धर्मः शान्तिः कुन्थुररो जिनः । मल्लिः शल्यकुशोद्धारो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रतः ॥१४०॥
नमिश्च निर्वृतो नेमिर्वर्तमानोऽहमत्र तु । पार्श्वश्चापि महावीरो भवितारौ जिनेश्वरौ ॥१४१॥
जम्बूद्वीपविदेहेऽष्टौ भरते पञ्च ते जिनाः । सप्तैव धातकीखण्डे चत्वारः पुष्करार्धजाः ॥१४२॥
प्राग्भवे पुण्डरीकिण्यां वृषभः शान्तिरीश्वरः । अजितस्तु सुसीमायां क्षेमपुर्यामरो जिनः ॥१४३॥
रत्नसञ्चयजः कुन्थुः संभवश्चाभिनन्दनः । मल्लिश्च वीतशोकायां जम्बूद्वीपविदेहजाः ॥१४४॥
चम्पायामिह कौशाम्ब्यां गजाह्वनगरेऽपि ते-ऽयोध्यायां भरतक्षेत्रे छत्राकारपुरे क्रमात् ॥१४५॥
मुनिसुव्रतनाथश्च नमिर्नेमिजिनस्तथा । पार्श्वाख्यश्च महावीरः पञ्चामी पूर्वजन्मनि ॥१४६॥
पुण्डरीकिण्यखण्डश्रीः सुसीमाक्षेमपुर्यपि । धातकीखण्डपूर्वार्धे सक्रमं रत्नसञ्चयम् ॥१४७॥
सुमत्यादिचतुर्णां च पुरः पूर्वत्र जन्मनि । सुविध्यादिचतुर्णां च पूर्वपुष्करजास्त्रयम् ॥१४८॥
तथैव धातकीखण्डे पश्चादैरावतक्षितौ । अनन्तजिद्भूत्पूर्वमरिष्टपुरसंभवः ॥१४९॥
पूर्वार्धभारते तस्य विमलस्तु महापुरे । भद्रिलाख्ये पुरे धर्मस्तत्र नामान्यमूनि तु ॥१५०॥
वज्रनाभिरभूदाद्यो विमलस्तदनन्तरः । विपुलो वाहनान्तोऽन्यो महाबल इतीरितः ॥१५१॥
परोऽतिबल इत्यासीदपराजित इत्यतः । नन्दिषेणस्तथा पद्मो महापद्मः स्मृतः परः ॥१५२॥
पद्मगुल्मोऽपि नलिनगुल्मः पद्मोत्तरः परः । पद्मासनः पुनः पद्मस्तथा दशरथो नृपः ॥१५३॥
राजा मेघरथः सिंहरथो धनपतिः परः । नाम्ना वैश्रवणो राजा श्रीधर्माख्यस्ततः [1]परः ॥१५४॥

वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तजित्, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, शल्यरूपी कुशको निकालनेवाले मल्लिनाथ, मुनियोंके स्वामी मुनि सुव्रतनाथ और नमिनाथ तीर्थंकर हुए हैं। ये सभी निर्वाणको प्राप्त हो चुके हैं। बाईसवाँ तीर्थंकर मैं नेमिनाथ अभी वर्तमान हूँ और पार्श्वनाथ तथा महावीर ये दो तीर्थंकर आगे होंगे ॥ १३८–१४१ ॥ इन तीर्थंकरोंमें-से आठ तीर्थंकर पूर्वभवमें जम्बूद्वीपके विदेहक्षेत्रमें पाँच भरतक्षेत्रमें, सात धातकीखण्डमें और चार पुष्करार्धमें उत्पन्न हुए थे ॥ १४२ ॥ जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न हुए आठ तीर्थङ्करोंका विवरण इस प्रकार है—वृषभनाथ और शान्तिनाथ पूर्वभवमें जम्बूद्वीपसम्बन्धी विदेहक्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें, अजितनाथ सुसीमा नगरीमें, अरनाथ क्षेमपुरीमें, कुन्थुनाथ, संभवनाथ और अभिनन्दननाथ रत्नसंचय नगरमें और मल्लिनाथ वीतशोका नगरीमें उत्पन्न हुए थे ॥ १४३–१४४ ॥ भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए पाँच तीर्थंकर इस प्रकार हैं—मुनि सुव्रतनाथ चम्पापुरीमें, नमिनाथ कौशाम्बी नगरीमें, नेमिनाथ हस्तिनापुरमें, पार्श्वनाथ अयोध्यामें और महावीर छत्राकारपुरमें पूर्वभवमें उत्पन्न हुए थे ॥ १४५–१४६ ॥ धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वार्धमें जन्म लेनेवाले सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ, इन चार तीर्थंकरोंकी पूर्वभवकी नगरियाँ क्रमसे अखण्ड लक्ष्मीकी धारक पुण्डरीकिणीपुरी, सुसीमापुरी, क्षेमपुरी और रत्नसंचयपुरी थीं। सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ और वासुपूज्य इन चार तीर्थङ्करोंकी पूर्व जन्मकी नगरियाँ क्रमसे पूर्व पुष्करार्धसम्बन्धी पुण्डरीकिणी, सुसीमा, क्षेमपुरी और रत्नसंचयपुरी थीं ॥ १४७–१४८ ॥ अनन्तजित् (अनन्तनाथ) भगवान् पूर्वभवमें धातकीखण्ड द्वीपके पश्चिम ऐरावत क्षेत्रसम्बन्धी अरिष्टपुर नगरमें उत्पन्न हुए थे ॥ १४९ ॥ विमलनाथ पूर्वार्धसम्बन्धी भरतक्षेत्रके महापुर नगरमें और धर्मनाथ भद्रिलपुर नगरमें उत्पन्न हुए थे। इन तीर्थंकरोंके पूर्वभवके नाम इस प्रकार हैं—१. वज्रनाभि, २. विमल, ३. विपुलवाहन, ४. महाबल, ५. अतिबल, ६. अपराजित, ७. नन्दिषेण, ८. पद्म, ९. महापद्म, १०. पद्मगुल्म, ११. नलिनगुल्म,

---

१. पद्मः म० ।

सिद्धार्थः सुप्रतिष्ठोऽहमानन्दो नन्दनो नृपः । पूर्वजन्मनि नामानि जिनानामानुपूर्वतः ॥१५५॥
चक्री पूर्वधरः पूर्वो महामाण्डलिकाः परे । एकादशाङ्गिनः स्वाङ्गैः[1] सर्वेऽपि कनकप्रभाः ॥१५६॥
सिंहनिष्क्रीडितं कृत्वा प्रायोपगमनं गताः । मासक्षपणतः सर्वे यथास्वं स्वर्गलोकगाः ॥१५७॥
वज्रसेन इति ख्यातस्तथारिन्दमसंज्ञकः । स्वयंप्रभाभिधश्चान्यः परो विमलवाहनः ॥१५८॥
सूरिः सीमन्धराभिख्यो गुरुश्च पिहितास्रवः । अरिन्दममुनिर्मान्यो वन्दनीयो युगन्धरः ॥१५९॥
सार्वः सर्वजनानन्दोऽप्युभयानन्दनामकः । वज्रदत्तोऽपरो वेद्यो वज्रनाभिरभिष्टुतः ॥१६०॥
सर्वगुप्तस्त्रिगुप्ताख्यश्चित्तरक्षाभिधः परः । विमलाचारसंपन्नो मान्यो विमलवाहनः ॥१६१॥
गुरुर्घनरथाभिख्यः संवरः संवरान्वितः । वरधर्मस्त्रिलोकीड्यः सुनन्दो नन्दसंज्ञकः ॥१६२॥
व्यतीतशोकनामाख्यो दामरः प्रौष्ठिलः परः । जिनानां गुरवोऽमी च क्रमेणातीतजन्मनि ॥१६३
वृषो धर्मश्च शान्तिश्च कुन्थुः सर्वार्थसिद्धितः । चत्वारः प्रच्युता ज्ञेया विजयादभिनन्दनः ॥१६४॥
चन्द्रप्रभसुमत्याख्यौ वैजयन्ताज्जयन्ततः । नेम्यरौ नमिमल्लीशावपराजिततश्च्युतौ ॥१६५॥
आरणात्पुष्पदन्तेशः शीतलेशोऽच्युताच्च्युतः । पुष्पोत्तरविमानेशः श्रेयोऽनन्तौ च सन्मतिः ॥१६६॥
सहस्रारात्तु विमलश्रीपार्श्वमुनिसुव्रताः । क्रमात्संभवसुपार्श्वपद्मप्रभजिनाः पुनः ॥१६७॥
अधो मध्योपरिप्रख्यग्रैवेयकपरिच्युताः । वासुपूज्यो महाशुक्रादिति तीर्थकृतां दिवः ॥१६८॥
वृषभश्चैत्रकृष्णस्य नवम्यामुदपद्यत । माघशुक्लनवम्यां तु तथैवाऽजिततीर्थकृत् ॥१६९॥

---

१२. पद्मोत्तर, १३. पद्मासन, १४. पद्म, १५. दशरथ, १६. मेघरथ, १७. सिंहरथ, १८. धनपति, १९. वैश्रवण, २०. श्रीधर्म, २१. सिद्धार्थ, २२. सुप्रतिष्ठ, २३. आनन्द और २४. नन्दन ॥ १५०—१५५ ॥ इनमें भगवान् वृषभनाथ पूर्वभवमें चक्रवर्ती तथा चौदह पूर्वोके धारक थे और शेष तीर्थंकर महामण्डलेश्वर और ग्यारह अङ्गके वेत्ता थे। उक्त सभी तीर्थंकर पूर्व-भवमें अपने शरीरोंकी अपेक्षा सुवर्णके समान कान्तिवाले थे ॥ १५६ ॥ सभी तीर्थंकरोंने पूर्वभवमें सिंहनिष्क्रीडित तपकर एक महीनेके उपवासके साथ प्रायोपगमन संन्यास धारण किया था और सभी यथायोग्य स्वर्गगामी थे—अपनी-अपनी साधनाके अनुसार स्वर्गोंमें उत्पन्न हुए थे ॥ १५७ ॥ तीर्थंकरोंके पूर्व जन्मके गुरु क्रमसे १. वज्रसेन, २. अरिन्दम, ३. स्वयं-प्रभ, ४. विमलवाहन, ५. सीमन्धर, ६. पिहितास्रव, ७. अरिन्दम, ८. युगन्धर, ९. सबका हित करनेवाले सर्वजनानन्द, १०. उभयानंद, ११. वज्रदत्त, १२. वज्रनाभि, १३. सर्वगुप्त, १४. त्रिगुप्त, १५. चित्तरक्ष, १६. निर्मल अचारसे सहित माननीय विमल वाहन, १७. घनरथ, १८. संवरसे सहित संवर, १९. तीन लोकके द्वारा स्तुति करनेके योग्य वरधर्म, २० सुनन्द, २१. नन्द, २२. व्यतीतशोक, २३. दामर और २४. प्रोष्ठिल थे ॥ १५८–१६३ ॥ वृषभनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ ये चार तीर्थंकर सर्वार्थसिद्धिसे, अभिनंदन विजय विमानसे, चंद्रप्रभ और सुमतिनाथ वैजयंत विमानसे, नेमि और अरनाथ जयंत विमानसे, नमि और मल्लिनाथ अपराजित विमानसे, पुष्पदन्त आरण स्वर्गसे, शीतलनाथ अच्युत स्वर्गसे, श्रेयोनाथ, अनन्तनाथ और महावीर पुष्पोत्तर विमानसे, विमलनाथ, पार्श्वनाथ और मुनिसुव्रतनाथ सहस्रार स्वर्गसे, संभवनाथ, सुपार्श्वनाथ और पद्मप्रभ क्रमशः अधो-ग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिम ग्रैवेयकसे तथा वासुपूज्य महाशुक्र स्वर्गसे चयकर भरत-क्षेत्रमें उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार ऋषभादि तीर्थंकरोंके पूर्वभवके स्वर्ग कहे जाते हैं ॥ १६४–१६८ ॥

भगवान् वृषभनाथ चैत्र कृष्ण नवमीके दिन उत्पन्न हुए थे। अजितनाथ माघ शुक्ल

---

१. साङ्गैः म०।

सम्भवो मार्गशीर्षस्य पौर्णमास्यां हि संभवः । द्वादश्यां माघशुक्लस्य जिनेन्द्रस्त्वभिनन्दनः ॥१७०॥
सुमतिः श्रावणस्यासीदेकादश्यां सितात्मनि । ऊर्जकृष्णत्रयोदश्यां[1] पद्मप्रभजिनेश्वरः ॥१७१॥
द्वादश्यां ज्येष्ठमासस्य शुक्लायां सप्तमो जिनः । पौषस्य कृष्णपक्षेऽभूदेकादश्यां जिनोऽष्टमः ॥१७२॥
सुविधिर्मार्गशीर्षस्य शुक्लप्रतिपदि प्रभुः । शीतलो माघकृष्णस्य द्वादश्यामभवज्जिनः ॥१७३॥
फाल्गुनासितपक्षेऽभूदेकादश्यां जिनोऽपरः । पक्षेऽत्रैव चतुर्दश्यां वासुपूज्यजिनेश्वरः ॥१७४॥
माघशुक्लचतुर्दश्यां विमलो विमलात्मकः । द्वादश्यां ज्येष्ठकृष्णस्य संजातोऽनन्तजिज्जिनः ॥१७५॥
माघशुक्लत्रयोदश्यां जज्ञे धर्मो जिनाधिपः । ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां शान्तिनाथश्च शान्तिकृत् ॥१७६॥
कुन्थुर्वैशाखमासस्य शुक्लायां प्रतिपद्यभूत् । मार्गशीर्षस्य शुक्लायां चतुर्दश्यामरो जिनः ॥१७७॥
एकादश्यां तु तस्यैव शुक्लायां मल्लिरीश्वरः । शुक्लायामाश्वयुज्यां च द्वादश्यां मुनिसुव्रतः ॥१७८॥
जातश्च कृष्णदशम्यामाषाढस्य नमिर्जिनः । नेमिर्वैशाखशुक्लस्य त्रयोदश्यां जिनेश्वरः ॥१७९॥
स कृष्णैकादशीं पार्श्वः पौषमासस्य भूषयन् । शुक्लत्रयोदशीं वीरश्चैत्रस्य निजजन्मना ॥१८०॥
पितरौ जन्मनक्षत्रं जन्मभूमिं जिनेशिनाम् । चैत्यवृक्षं च निर्वाणभूमिं वच्मि निबुध्यताम् ॥१८१॥
विनीता मरुदेवी च नाभिर्न्यग्रोधपादपः । कैलासश्चोत्तराषाढावृषभो[2] वृषभो नृणाम् ॥१८२॥
अयोध्या विजया राजा जितशत्रुर्जिनोऽजितः । सम्मेदः सम्मदायास्तु रोहिणी विषमच्छदः ॥१८३॥
श्रावस्ती संभवः सेना जितारिः शालपादपः । ज्येष्ठा नक्षत्रमेनांसि संमेदश्च पुनन्तु वः ॥१८४॥
सरलः संवरोऽयोध्या सिद्धार्था च पुनर्वसुः । जिनोऽभिनन्दनः शैलः स एवास्तु मुदे सताम् ॥१८५॥

नवमीके दिन, सम्भवनाथ मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमाके दिन, अभिनन्दननाथ माघ शुक्ल द्वादशीके दिन, सुमतिनाथ श्रावण शुक्ल एकादशीके दिन, पद्मप्रभ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीके दिन, सुपार्श्वनाथ ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशीके दिन, चन्द्रप्रभ पौष कृष्ण एकादशीके दिन, सुविधिनाथ मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदाके दिन, शीतलनाथ माघ कृष्ण द्वादशीके दिन, श्रेयोनाथ फाल्गुन कृष्ण एकादशीके दिन, वासुपूज्य फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीके दिन, निर्मल आत्माके धारक विमलनाथ माघ शुक्ल चतुर्दशीके दिन, अनन्तनाथ ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीके दिन, धर्मनाथ माघ शुक्ल त्रयोदशीके दिन, शान्तिके करनेवाले शान्तिनाथ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशीके दिन, कुन्थुनाथ वैशाख शुक्ल प्रतिपदाके दिन, अरनाथ मार्गशीर्ष शुक्ल चतुर्दशीके दिन, मल्लिनाथ मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीके दिन, सुव्रतनाथ आसौज शुक्ल द्वादशीके दिन, नमिनाथ आषाढ कृष्ण दशमी के दिन और नेमिनाथ वैशाख शुक्ल त्रयोदशीके दिन, उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार पार्श्वनाथ पौष कृष्ण एकादशीको और महावीर चैत्र शुक्ल त्रयोदशीको अपने जन्मसे अलंकृत करते हुए उत्पन्न होंगे ॥ १६९–१८० ॥ अब चौबीस तीर्थंकरोंके माता-पिता जन्मनक्षत्र, जन्मभूमि, चैत्यवृक्ष और निर्वाणभूमिको कहते हैं सो ज्ञात करो ॥ १८१ ॥

जिनकी जन्मनगरी विनीता—अयोध्या, माता मरुदेवी, पिता नाभि, चैत्यवृक्ष वट, निर्वाणभूमि कैलास और जन्मनक्षत्र उत्तराषाढ था। वे वृषभनाथ भगवान् मनुष्योंमें अत्यन्त श्रेष्ठ थे ॥ १८२ ॥ जिनकी जन्मनगरी अयोध्या, माता विजया, पिता राजा जितशत्रु, निर्वाणक्षेत्र सम्मेदाचल, जन्म नक्षत्र रोहिणी और चैत्यवृक्ष सप्तपर्ण था वे अजितनाथ भगवान् सबके हर्षके लिए हों ॥ १८३ ॥ श्रावस्ती नगरी, सेना माता, जितारि पिता, शाल चैत्यवृक्ष, ज्येष्ठा जन्मनक्षत्र, सम्मेदाचल निर्वाणक्षेत्र और संभवनाथ जिनेन्द्र ये सब तुम्हारे पापोंको पवित्र करें ॥ १८४ ॥ चैत्यवृक्ष सरल, पिता संवर, माता सिद्धार्था, अयोध्या नगरी, पुनर्वसु नक्षत्र, अभिनन्दन जिनेन्द्र और सम्मेदगिरि निर्वाणक्षेत्र ये सज्जनोंके आनन्दके

---

१. कार्तिकशुक्लद्वादश्याम् । २. चोत्तराषाढवृषभः म०, क० ।

मेघप्रभो मघाऽयोध्या प्रियङ्गुश्च सुमङ्गला । सुमतिः [1]सुमतिं नित्यं संमेदश्च दिशन्तु वः ॥१८६॥
कौशाम्बी धरणश्चित्रा सुसीमा जिनपुङ्गवः । पद्मप्रभः प्रियङ्गुश्च मङ्गलं वः स पर्वतः ॥१८७॥
पृथिवी सुप्रतिष्ठोऽस्य काशी वा नगरी गिरिः । स विशाखा शिरीषश्च सुपार्श्वश्च जिनेश्वरः ॥१८८॥
वन्द्या चन्द्रपुरी चन्द्रप्रभो नागतरुर्गिरिः । सोऽनुराधा महासेनो लक्ष्मणा जननी सताम् ॥१८९॥
काकन्दी पुष्पदन्तश्च रामा सुग्रीवभूपतिः । मूलर्क्षं शालिवृक्षश्च सगिरिर्भूतयेऽस्तु वः ॥१९०॥
भद्रिला प्रथमाषाढा प्लक्षो दृढरथो नृपः । सुनन्दा शीतलः शैलः स एव हितचेतसः ॥१९१॥
विष्णुश्रीर्विष्णुराजश्च सिंहनादपुरं जिनः । श्रावणः श्रेयान् शं दद्युस्तिन्दुकः स च भूधरः ॥१९२॥
चम्पा जन्मनि मुक्तोऽभूद्वासुपूज्यो जयाधिपः । पाटला वसुपूज्यश्च पूज्याः शतभिषापि च ॥१९३॥
[2]शर्मा च कृतवर्मा च जम्बूः प्रोष्ठपदोत्तरा । काम्पिल्यं स गिरिः शल्यं विमलश्चोद्धरन्तु वः ॥१९४॥
साकेता सिंहसेनश्च रेवत्यश्वत्थपादपः । पान्तु सर्वयशाः सोऽद्रिरनन्तश्चापि वः सदा ॥१९५॥
धर्मश्च दधिपर्णश्च भानुराजश्च सुव्रता । पुष्यो रत्नपुरं सोऽद्रिर्धर्मे बुद्धिं ददातु वः ॥१९६॥
ऐरा च विश्वसेनश्च भरणीभपुरं[3] तरुः । नन्दीश्च शान्तिनाथश्च सोऽगः शान्तिं दिशन्तु वः ॥१९७॥
[4]सोऽगो नागपुरं सूर्यः श्रीमती कृत्तिका तथा । तिलकश्च तरुः कुन्थुर्घ्नन्तु दुरितानि वः ॥१९८॥

लिए हों ॥ १८५ ॥ मेघप्रभ पिता, मघा नक्षत्र, अयोध्या नगरी, प्रियङ्गु वृक्ष, सुमङ्गला माता, सम्मेदशिखर निर्वाणक्षेत्र और सुमति जिनेन्द्र ये सब तुम्हें सुमति— सद्बुद्धि प्रदान करें ॥ १८६ ॥ कौशाम्बी नगरी, धरण पिता, चित्रा नक्षत्र, सुसीमा माता, पद्मप्रभ जिनेन्द्र, प्रियङ्गु वृक्ष और सम्मेद शिखर निर्वाणक्षेत्र ये सब तुम्हारे लिए मङ्गल रूप हों ॥१८७॥ पृथिवी माता, सुप्रतिष्ठ पिता, काशी नगरी, सम्मेद शिखर निर्वाणक्षेत्र, विशाखा नक्षत्र, शिरीष वृक्ष और सुपार्श्व जिनेन्द्र ये सब तुम्हारे लिए मङ्गलस्वरूप हों ॥ १८८ ॥ चन्द्रपुरी नगरी, चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र, नाग वृक्ष, सम्मेदशिखर निर्वाणक्षेत्र, अनुराधा नक्षत्र, महासेन पिता और लक्ष्मणा माता ये सब सज्जनोंके लिए वन्दना करने योग्य हैं ॥ १८९ ॥ काकन्दी नगरी, पुष्पदन्त भगवान्, रामा माता, सुग्रीव पिता, मूल नक्षत्र, शालि वृक्ष और सम्मेदशिखर पर्वत ये सब तुम्हारे वैभवके लिए हों ॥ १९० ॥ भद्रिला पुरी, पूर्वाषाढा नक्षत्र, प्लक्ष वृक्ष, दृढरथ राजा पिता, सुनन्दा माता, शीतलनाथ जिनेन्द्र और सम्मेदगिरि निर्वाणक्षेत्र ये सब तुम्हारा हित चाहनेवाले हों ॥ १९१ ॥ विष्णु श्री माता, विष्णुराज पिता, सिंहनाद पुर, श्रवण नक्षत्र, श्रेयांस जिनेन्द्र, तेंदूका वृक्ष और सम्मेदशिखर पर्वत ये सब तुम्हें सुख प्रदान करें ॥ १९२ ॥ जन्मभूमि तथा निर्वाणभूमि चम्पापुरी, वासुपूज्य जिनेन्द्र, जया माता, चैत्यवृक्ष पाटला, वसुपूज्य पिता और शतभिषा नक्षत्र ये सब पूजनीय हैं ॥ १९३ ॥ शर्मा माता, कृतवर्मा पिता, जामुन चैत्य वृक्ष, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र, काम्पिल्य नगरी, सम्मेदशिखर निर्वाणक्षेत्र और श्री विमलनाथ भगवान् ये सब तुम्हारी शल्यको दूर करें ॥ १९४ ॥ अयोध्या नगरी, सिंहसेन पिता, रेवती नक्षत्र, पीपल चैत्यवृक्ष, सर्वयशा माता, सम्मेदशिखर निर्वाणक्षेत्र और अनन्तनाथ जिनेन्द्र ये सदा तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान करें ॥ १९५ ॥ धर्मनाथ जिनेन्द्र, दधिपर्ण चैत्य वृक्ष, भानुराज पिता, सुव्रता माता, पुष्य नक्षत्र, रत्नपुर नगर और सम्मेदशिखर सिद्धिक्षेत्र ये सब तुम्हें धर्मबुद्धि देवें ॥ १९६ ॥ ऐरा माता, विश्वसेन पिता, भरणी नक्षत्र, हस्तिनापुर नगर, नन्दी चैत्यवृक्ष, शान्तिनाथ, जिनेन्द्र और सम्मेदशिखर निर्वाणक्षेत्र ये सब तुम्हें शान्ति प्रदान करें ॥ १९७ ॥ सम्मेद-शिखर निर्वाणक्षेत्र, हस्तिनापुर नगर, सूर्य पिता, श्रीमती माता, कृत्तिका नक्षत्र, तिलक वृक्ष

---

१. सुमतिर्नित्यं म० । २. सर्मा च ङ, म० । ३. इभपुरं–हस्तिनापुरम् । ४. स एव वृक्षः ।

[1]चूतो गजपुरं मित्रा पार्थिवश्च सुदर्शनः । सम्मेदो रोहिणी चारो दुरितं वारयन्तु वः ॥१९९॥
मिथिला रक्षिता कुम्भो जिनेन्द्रो मल्लिरश्विनी । अशोकश्च तरुः सोऽद्रिरशोकाय भवन्तु वः ॥२००॥
पद्मावती सुमित्रोऽस्तु कुशाग्रनगरं मुदे । चम्पकः श्रवणर्क्षं च सोऽद्रिर्वो मुनिसुव्रतः ॥२०१॥
मिथिला विजयो वप्रा बकुलो नमिरश्विनी । नमयन्तु महामानं सम्मेदश्च महीधरः ॥२०२॥
नेमिः सूर्यपुरं चित्रा समुद्रविजयः शिवा । ऊर्जयन्तो जयं तेऽमी मेषश्रृङ्गो दिशन्तु वः ॥२०३॥
वाराणसी च वर्मा च विशाखा च धवांह्रिपः । अश्वसेननृपः पार्श्वः सम्मेदश्च मुदेऽस्तु वः ॥२०४॥
शालः कुण्डपुरं वीरः सिद्धार्थः प्रियकारिणी । उत्तराफाल्गुनी पावा पापानि घ्नन्तु वः सदा ॥२०५॥
चैत्यवृक्षस्तु वीरस्य द्वात्रिंशद्धनुरुच्छ्रितः । देहोत्सेधाच्च शेषाणां स द्वादशगुणो मतः ॥२०६॥
सुपार्श्वशोऽनुराधायां ज्येष्ठासु च शशिप्रभः । श्रेयानपि [2]धनिष्ठासु वासुपूज्योऽश्विनीषु सः ॥२०७॥
भरणीषु जिनो मल्लिर्वीरः स्वातिषु सिद्धिभाक् । जन्मनक्षत्रवर्गेषु शेषाणां परिनिर्वृतिः ॥२०८॥
शान्तिकुन्थ्वरनामानस्तीर्थकृच्चक्रवर्तिनः । शेषास्तीर्थकराः सर्वे पृथिवीपतयो नृपाः ॥२०९॥
चन्द्राभ एव चन्द्राभः सुविधिः शङ्खसत्प्रभः । प्रियङ्गुमञ्जरीपुञ्जवर्णः सुपार्श्वतीर्थकृत् ॥२१०॥
मेघश्यामवपुः श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुतः । पद्मगर्भनिभामश्च पद्मप्रभजिनाधिपः ॥२११॥

और कुंथुनाथ भगवान् ये तुम्हारे पापोंको नष्ट करें ॥ १९८ ॥ आम्र वृक्ष, हस्तिनापुर नगर, मित्रा माता, सुदर्शन राजा पिता, सम्मेद शिखर निर्वाणक्षेत्र, रोहिणी नक्षत्र और अरनाथ जिनेन्द्र ये सब तुम्हारे पापको खण्डित करें ॥ १९९ ॥ मिथिला नगरी, रक्षिता माता, कुम्भ पिता, मल्लिनाथ जिनेन्द्र, अश्विनी नक्षत्र, अशोक वृक्ष और सम्मेद शिखर निर्वाण क्षेत्र ये सब तुम्हारे अशोक—शोक दूर करनेके लिए हों ॥ २०० ॥ पद्मावती माता, सुमित्र पिता, कुशाग्र नगर, चम्पक वृक्ष, श्रवण नक्षत्र और सम्मेद शिखर पर्वत ये सब तुम्हारे हर्षके लिए हों॥२०१॥ मिथिला नगरी, विजय पिता, वप्रा माता, वकुल वृक्ष, नमिनाथ जिनेन्द्र, अश्विनी नक्षत्र और सम्मेद शिखर पर्वत महामानी मनुष्यको आपके समक्ष नम्रीभूत करें ॥ २०२ ॥ नेमिनाथ भगवान्, सूर्यपुर नगर, चित्रा नक्षत्र, समुद्रविजय पिता, शिवा माता, ऊर्जयन्त पर्वत और मेषश्रृङ्ग (मेढ़ासिंगी) वृक्ष ये सब तुम्हारे लिए जय प्रदान करें ॥ २०३ ॥ वाराणसी नगरी, वर्मा माता, विशाखा नक्षत्र, धव चैत्यवृक्ष, अश्वसेन राजा पिता, पार्श्वनाथ जिनेन्द्र और सम्मेद शिखर निर्वाणक्षेत्र ये सब तुम्हारे आनन्दके लिए हों ॥२०४॥ शाल वृक्ष, कुण्डपुर नगर, वीर जिनेन्द्र, सिद्धार्थ पिता, प्रियकारिणी माता, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, और पावापुरी निर्वाणक्षेत्र ये सब सदा तुम्हारे पापोंको नष्ट करें ॥ २०५ ॥

भगवान् महावीरका चैत्यवृक्ष बत्तीस धनुष ऊँचा होगा और शेष तीर्थंकरोंके चैत्यवृक्षों-की ऊँचाई उनके शरीरकी ऊँचाईसे बारहगुनी मानी गयी है ॥ २०६ ॥ सुपार्श्वनाथ भगवान् अनुराधा नक्षत्रमें, चन्द्रप्रभ ज्येष्ठा नक्षत्रमें, श्रेयोनाथ धनिष्ठा नक्षत्रमें, वासुपूज्य अश्विनी नक्षत्रमें, मल्लि जिनेन्द्र भरणी नक्षत्रमें, महावीर स्वाति नक्षत्रमें निर्वाणको प्राप्त हुए हैं और शेष तीर्थंकरोंका निर्वाण अपने-अपने जन्म नक्षत्रोंमें ही हुआ है ॥ २०७-२०८ ॥ शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीन तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती हुए तथा शेष सब तीर्थंकर सामान्य राजा हुए ॥ २०९ ॥ चन्द्रप्रभ भगवान् चन्द्रमाके समान आभावाले, सुविधिनाथ शङ्खके समान कान्तिके धारक, सुपार्श्वनाथ प्रियङ्गुवृक्षकी मञ्जरीके समूहके समान हरितवर्ण, धरणेन्द्रके द्वारा स्तुत श्रीमान् पार्श्वजिनेन्द्र मेघके समान श्यामल शरीर, पद्मप्रभ जिनराज

१. भूतो क०, ङ । २. प्रतिष्ठासु म० ।

रक्तकिंशुकपुष्पाभो वासुपूज्यो जिनेश्वरः । नीलाञ्जनाचलच्छायो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रतः ॥२१२॥
नीलकण्ठस्फुरत्कण्ठरुचिर्नेमिः समीक्षितः । सुतप्तकनकच्छायाः शेषास्तु जिनपुङ्गवाः[1] ॥२१३॥
[2]निष्क्रान्तिर्वासुपूज्यस्य मल्लेर्नेमिजिनान्त्ययोः । पञ्चानां तु कुमाराणां राज्ञां शेषजिनेशिनाम् ॥२१४॥
वृषभस्य विनीतायां परिनिष्क्रमणं तथा । नेमेस्तु द्वारवत्यां तु शेषाणां जन्मभूमिषु ॥२१५॥
निष्क्रान्तिः सुमतेर्भुक्त्वा मल्लेः साष्टमभक्तका । तथा पार्श्वजिनस्यापि [3]जयाजस्य चतुर्थका ॥२१६॥
षष्ठभक्तभृतां दीक्षा शेषाणां [4]तीर्थदर्शिनाम् । श्रेयः सुमतिमल्लीशां पूर्वाह्णे नेमिपार्श्वयोः ॥२१७॥
अन्येषामपराह्णे तां वीरो ज्ञातृवनेऽश्रयत् । क्रीडोद्याने जयासूनुः स सिद्धार्थवने वृषः ॥२१८॥
धर्मस्तु वप्रकास्थाने विंशो नीलगुहाश्रये । पार्श्वो मनोरमोद्याने तपोभागाश्रमाश्रये ॥२१९॥
सहस्राम्रवनाद्येषु पुरोद्यानेषु भूमिषु । शेषतीर्थकृतां वेद्यं परिनिष्क्रमणं बुधैः ॥२२०॥
सुदर्शना तु शिबिका सुप्रभा तदनन्तरा । सिद्धार्थाचार्थसिद्धा च तन्नामभयङ्करी प्रभा ॥२२१॥
सा निवृत्तिकरी षष्ठी सप्तमी सुमनोरमा । परा मनोहरा सूर्यप्रभाशुक्रप्रभा परा ॥२२२॥
ततः परेण विज्ञेया शिबिका विमलप्रभा । पुष्पाभा देवदत्ताख्या परा सागरपत्रिका ॥२२३॥
नागदत्ताभिधा चान्या चार्वी सिद्धार्थसिद्धिका । विजया वैजयन्ती च जयन्ताख्यापराजिता ॥२२४॥

पद्मगर्भके समान लालवर्ण, वासुपूज्य जिनेन्द्र रक्त पलाश पुष्पके समान लालवर्ण, मुनियोंके स्वामी मुनिसुव्रतनाथ नीलगिरि अथवा अञ्जनगिरिके समान नीलवर्ण, नेमिनाथ नीलकण्ठ मयूरके सुन्दर कण्ठके समान नीलवर्ण और शेष जिनेन्द्र तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाले कहे गये हैं ॥ २१०–२१३ ॥ वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान इन पाँच तीर्थंकरोंने कुमारकालमें ही दीक्षा धारण की थी और शेष तीर्थंकरोंने राजा होनेके बाद दीक्षा धारण की थी ॥ २१४ ॥ भगवान् वृषभदेवका दीक्षाकल्याणक विनीतामें, नेमिनाथका द्वारवतीमें और शेष तीर्थंकरोंका अपनी-अपनी जन्मभूमिमें हुआ था ॥२१५॥ सुमतिनाथ और मल्लिनाथने भोजन करनेके बाद दीक्षा धारण की थी तथा दीक्षाके बाद तीन दिनका उपवास लिया था। पार्श्वनाथ तथा वासुपूज्य भगवानने दीक्षाके बाद एक दिनका उपवास धारण किया था और शेष तीर्थंकरोंने दो दिनका उपवास लिया था*। श्रेयोनाथ, सुमतिनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकरोंने दिनके पूर्वाह्णकालमें और अन्य तीर्थंकरोंने अपराह्ण कालमें दीक्षा धारण की थी। भगवान् महावीरने ज्ञातृवनमें, वासुपूज्यने क्रीडोद्यानमें, वृषभदेवने सिद्धार्थ वनमें, धर्मनाथने वप्रका स्थानमें, मुनि सुव्रतनाथने नीलगुहाके समीप, पार्श्वनाथने तापसोंके तपोवनके समीप मनोरम नामक उद्यानमें और शेष तीर्थंकरोंने सहस्राम्रवनको आदि लेकर नगरके उद्यानोंमें दीक्षा धारण की थी ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिए ॥ २१६–२२० ॥ १ सुदर्शना, २ सुप्रभा, ३ सिद्धार्थ, ४ अर्थसिद्धा, ५ अभयंकरी, ६ निवृत्तिकरी, ७ सुमनोरमा, ८ मनोहरा, ९ सूर्यप्रभा, १० शुक्रप्रभा, ११ विमलप्रभा, १२ पुष्पाभा, १३ देवदत्ता, १४ सागरपत्रिका, १५ नागदत्ता, १६ सिद्धार्थसिद्धिका, १७ विजया, १८ वैजयन्ती, १९ जयन्ता, २० अपराजिता, २१ उत्तर-

---

१. द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ, द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियङ्गुप्रभौ। शेषाः षोडशजन्ममृत्युरहिताः सन्तप्तहेमप्रभास्ते संज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥६॥ चैत्यभक्तिः। २. णेमीमल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य। पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरिमम्मि ॥६७१॥ त्रै०, श्र० ४। ३. जयासूनोः वासुपूज्यस्य। ४. तीर्थदर्शिनाः म०।

*. भगवान् वृषभदेवकी दीक्षा लेनेके बाद छह माहकी अनशनकी कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

नागोत्तरकुरुश्चान्या दिव्या देवकुरुश्रुतिः । विमलाभो च चन्द्राभा जिनानां शिबिकाः क्रमात् ॥२२५॥
दीक्षा कृष्णनवम्यां तु चैत्रस्य वृषभेशिनः । मुनिसुव्रतदीक्षास्यां वैशाखस्य बभूव सा ॥२२६॥
वैशाखस्यैव शुक्लस्य प्रतिपद्यभिनम्यते । कुन्थोर्निष्क्रमणं लोके नवम्यां सुमतेः पुनः ॥२२७॥
द्वादश्यां ज्येष्ठकृष्णस्य त्रयोदश्यां च संक्रमम् । अनन्तस्य च शान्तेश्च परिनिष्क्रमणं स्मृतम् ॥२२८॥
द्वादश्यां ज्येष्ठकृष्णस्य सुपार्श्वस्य जिनेशिनः । नमेराषाढकृष्णस्य दशम्यां कथितं हि तत् ॥२२९॥
नेमेः सितचतुर्थ्यां तु श्रावणस्योपवर्णितम् । पद्मामस्य त्रयोदश्यां कृष्णायां कार्तिकस्य तु ॥२३०॥
कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यां सुमतेस्तु तत् । शुक्लप्रतिपदि प्रोक्तं पुष्पदन्तजिनेशिनः ॥२३१॥
तस्यैवारो दशम्यां तु पौर्णमास्यां च संभवः । एकादश्यां तु मल्लीशः परिनिष्क्रमणं श्रितः ॥२३२॥
पौषस्य कृष्णपक्षस्य ह्येकादश्यां सुकालजम् । ज्ञेयं निष्क्रमणं चन्द्रप्रभपार्श्वजिनेन्द्रयोः ॥२३३॥
माघस्य कृष्णपक्षस्य द्वादश्यां शीतलस्य च । विमलस्य सितायां हि चतुर्थ्यां परिकीर्तितम् ॥२३४॥
अजितस्य नवम्यां तु द्वादश्यामभिनन्दनः । धर्मस्य तु त्रयोदश्यां परिनिष्क्रमणं मतम् ॥२३५॥
फाल्गुनासितपक्षस्य त्रयोदश्यां जिनेशिनः । श्रेयसो वासुपूज्यस्य चतुर्दश्यां तदीरितम् ॥२३६॥
वर्षेण पारणाद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रकीर्तिता । तृतीयदिवसेऽन्येषां [1]पारणाः प्रथमा मताः ॥२३७॥
[2]आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः । अन्यैर्गोक्षीरनिष्पन्नपरमान्नमलालसैः ॥२३८॥

कुरु, २२ देवकुरु, २३ विमलाभा और २४ चन्द्राभा ये क्रमसे ऋषभादि तीर्थङ्करोंकी शिबिका–पालकियोंके नाम हैं ॥ २२१–२२५ ॥

चैत्र कृष्ण नवमीको भगवान् वृषभदेवकी, वैशाख कृष्ण नवमीको मुनिसुव्रतनाथकी, वैशाख सुदी प्रतिपदाके दिन कुन्थुनाथकी, वैशाख सुदी नवमीके दिन सुमतिनाथकी, ज्येष्ठ-कृष्ण द्वादशीके दिन अनन्तनाथ जिनेन्द्रकी, ज्येष्ठ कृष्ण त्रयोदशीके दिन शान्तिनाथकी, ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीके दिन सुपार्श्व जिनेन्द्रकी, आषाढ़ कृष्ण दशमीके दिन नमिनाथकी, सावन सुदी चतुर्थीको नेमिनाथकी, कार्तिक कृष्ण त्रयोदशीको पद्मप्रभकी, मार्गशीर्ष कृष्ण दशमीको सुमतिनाथकी, मार्गशीर्ष सुदी प्रतिपदाके दिन पुष्पदन्त जिनेन्द्रकी, मार्गशीर्ष सुदी दशमीको अरनाथकी, मार्गशीर्ष सुदी पूर्णिमाको संभवनाथकी, मार्गशीर्ष सुदी एकादशीको मल्लिनाथकी, पौषकृष्ण एकादशीको चन्द्रप्रभ और पार्श्वनाथकी, माघ कृष्ण द्वादशीको शीतलनाथकी, माघ शुक्ल चतुर्थीको विमलनाथकी, माघ शुक्ल नवमीको अजितनाथकी, माघ शुक्ल द्वादशीको अभिनन्दननाथकी, माघशुक्ल त्रयो-दशीको धर्मनाथकी, फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीके दिन श्रेयांसनाथकी और फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीके दिन वासुपूज्य भगवान्की दीक्षा हुई थी ॥ २२६–२३६ ॥ श्री आदि जिनेन्द्रकी प्रथम पारणा एक वर्षमें [मल्लिनाथ और पार्श्वनाथकी चौथे दिन] तथा शेष तीर्थंकरोंकी तीसरे दिन हुई थी। भावार्थ—आदि जिनेन्द्रने छह माहका योग लिया था और छह माह विधि न मिलनेसे भ्रमण करते रहे इसलिए एक वर्ष बाद उन्हें आहार मिला। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथने दीक्षाके समय तीन दिनके उपवासका नियम लिया था इसलिए उन्हें चौथे दिन आहार मिला और शेष तीर्थंकरोंने दो दिनका उपवास किया था ॥ २३७ ॥ श्री आदिनाथ भगवानने पारणाके दिन उत्तम इक्षुरसको पवित्र किया था और शेष तीर्थंकरों-ने लालसासे रहित हो गो-दुग्धके द्वारा निर्मित खीरके द्वारा आहार किया था ॥ २३८ ॥

---

१. पारणा प्रथमा मता म० । २. एक्कवरिसेण उसहो उच्छुरसं कुणइ पारणं अवरे । गोक्खीरे णिप्पण्णं अण्णं विदियम्मि दिवसम्मि ॥ ४ अ०, ६७१ गाथा०, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति ।

श्रीहास्तिनपुरं रम्यमयोध्यानगरी शुभा । श्रावस्ती च विनीता च पुरं विजयपूर्वकम् ॥२३९॥
पुरं मङ्गलकं नाम्ना पाटलीखण्डसंज्ञकम् । पद्मखण्डपुरं कान्तं तथा श्वेतपुरं परम् ॥२४०॥
अरिष्टपुरमिष्टं तु सिद्धार्थपुरमप्यतः । महापुरमतो नाम्ना स्फुटं धान्यवटं पुरम् ॥२४१॥
वर्धमानपुरं ख्यातं पुरं सौमनसाह्वयम् । मन्दरं हास्तिनपुरं तथा चक्रपुरं मतम् ॥२४२॥
मिथिला राजगृहकं पुरं वीरपुरं तथा । पुरी द्वारवती [1]काम्यकृतं कुण्डपुरं पुरम् ॥२४३॥
चतुर्विंशतिसंख्यानां संख्यातानि यथाक्रमम् । जिनानां वृषभादीनां पारणानगराणि तु ॥२४४॥
स श्रेयान् ब्रह्मदत्तश्च सुरेन्द्र इव संपदा । राजा सुरेन्द्रदत्तोऽन्य इन्द्रदत्तश्च पद्मकः ॥२४५॥
सोमदत्तो महादत्तः सोमदेवश्च पुष्पकः । पुनर्वसुः सुनन्दश्च जयश्चापि विशाखकः ॥२४६॥
धर्मसिंहः सुमित्रश्च धर्ममित्रोऽपराजितः । नन्दिषेणश्च वृषभदत्तो दत्तश्च सन्नयः ॥२४७॥
वरदत्तश्च नृपतिर्धन्यश्च वकुलस्तथा । पारणासु जिनेन्द्रेभ्यो दायकाश्च स्वमी स्मृताः ॥२४८॥
[2]सर्वेषामादिभिक्षासु दातारोऽपि जिनेशिनाम् । सर्वासु वर्धमानस्य वसुधारानियोगतः ॥२४९॥
अर्धत्रयोदशोत्कर्षाद्वसुधारासु कोटयः । तावन्त्येव सहस्राणि दशघ्नानि जघन्यतः ॥२५०॥
आद्यौ द्वौ दायकौ श्यामौ श्रेयावन्त्यौ च वर्णतः । शेषास्तु दायकाः सर्वे सन्तप्तकनकप्रभाः ॥२५१॥
तपस्थिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना । जिनान्ते सिद्धिरन्येषां तृतीये जन्मनि स्मृताः ॥२५२॥
वृषभमल्लीशपार्श्वानामष्टमेन चतुर्थतः । जयाजस्य यशुः शेषाश्छद्मस्था हानिषष्ठतः ॥२५३॥
ज्ञानाप्तिः पूर्वतालेऽन्त्या वृषस्य सकटामुखे । ऊर्जयन्ते गिरौ नेमेः पार्श्वस्याप्याश्रमान्तिके ॥२५४॥

---

१ श्रीसुन्दर हस्तिनापुर, २ शुभ अयोध्या, ३ श्रावस्ती, ४ विनीता, ५ विजयपुर, ६ मङ्गलपुर, ७ पाटलीखण्ड, ८ पद्मखण्डपुर, ९ श्वेतपुर, १० अरिष्टपुर, ११ सिद्धार्थपुर, १२ महापुर, १३ धान्यवटपुर, १४ वर्धमानपुर, १५ सोमनसपुर, १६ मन्दरपुर, १७ हस्तिनापुर, १८ चक्रपुर, १९ मिथिला, २० राजगृह, २१ वीरपुर, २२ द्वारवती, २३ काम्यकृत और २४ कुण्डपुर ... ये यथाक्रमसे वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंके प्रथम पारणाके दिन प्रसिद्ध हैं ॥२३९-२४४॥ १ राजा श्रेयांस, २ ब्रह्मदत्त, ३ सम्पत्तिके द्वारा सुरेन्द्रकी समानता करनेवाला राजा सुरेन्द्रदत्त, ४ इन्द्रदत्त, ५ पद्मक, ६ सोमदत्त, ७ महादत्त, ८ सोमदेव, ९ पुष्पक, १० पुनर्वसु, ११ सुनन्द, १२ जय, १३ विशाख, १४ धर्मसिंह, १५ सुमित्र, १६ धर्ममित्र, १७ अपराजित, १८ नन्दिषेण, १९ वृषभदत्त, २० उत्तम नीतिका धारक दत्त, २१ वरदत्त, २२ नृपति, २३ धन्य और २४ बकुल ये वृषभादि तीर्थंकरोंको प्रथम पारणाओंके समय दान देनेवाले स्मरण किये गये हैं ॥ २४५-२४८ ॥ समस्त तीर्थंकरोंकी आदि पारणाओं और वर्धमान स्वामीकी सभी पारणाओंमें नियमसे रत्नवृष्टि हुआ करती थी। वह रत्नवृष्टि उत्कृष्टतासे साढ़े बारह करोड़ और जघन्य रूपसे साढ़े बारह लाख प्रमाण होती थी ॥ २४९-२५० ॥ इन दाताओंमें आदिके दो दाता और अन्तके दो दाता श्यामवर्णके थे और शेष सभी दाता तपाये हुए सुवर्णके समान वर्णवाले थे ॥ २५१ ॥ इनमें कितने ही दाता तो तपश्चरण कर उसी जन्मसे मोक्ष चले गये और कितने ही जिनेन्द्र भगवान्‌के मोक्ष जानेके बाद तीसरे भवमें मोक्ष गये ॥ २५२ ॥

वृषभनाथ मल्लिनाथ, और पार्श्वनाथको तेलाके बाद, वासुपूज्यको एक उपवासके बाद और शेष तीर्थंकरोंको वेलाके बाद केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी ॥ २५३ ॥ वृषभनाथ भगवान्‌को पूर्वताल नगरके शकटामुख वनमें, नेमिनाथको गिरिनार पर्वतपर, पार्श्वनाथ

---

१. काम्या कृतं म० । २. सव्वाणपारणदिवे णिवडइ वररयणवरिसमंबरदो । पणघणहददहलक्खं जेट्टं अवरं सहस्समागं च ॥६०२॥ त्र० ४ त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति ।

वीरस्य केवलोत्पाद ऋजुकूलासरित्तटे । अन्येषां तु जिनेन्द्राणां स्वोद्यानेषु यथायथम् ॥२५५॥
वृषभस्य श्रेयसो मल्लेः पूर्वाह्णे नेमिपार्श्वयोः । केवलोत्पत्तिरन्येषामपराह्णे जिनेशिनाम् ॥२५६॥
फाल्गुने कृष्णपक्षस्य स्वेकादश्यां वृषो भृतः । द्वादश्यां केवलं मल्लिः षष्ठ्यां तु मुनिसुव्रतः ॥२५७॥
सप्तम्यामेव संप्राप्तः पक्षे तत्रैव केवलम् । सुपार्श्वजिनचन्द्रश्च चन्द्रप्रभजिनस्तदा ॥२५८॥
चतुर्थ्यां चैत्रकृष्णस्य पार्श्वदेवस्य केवलम् । अमावास्यामनन्तस्य जिनेन्द्रस्य तदिष्यते ॥२५९॥
पक्षे सिते तृतीयस्यां नमेः कुन्थोश्च केवलम् । दशम्यां सुमतेर्जातं पद्मप्रभजिनस्य च ॥२६०॥
ज्ञेयं वैशाखशुक्लस्य दशम्यां वीरकेवलम् । सितेऽश्वयुजि पक्षेऽभून्नेमेस्तत्प्रतिपद्दिने ॥२६१॥
कार्तिकासितपञ्चम्यां शम्भवस्य सितात्मनि । सुविधेस्तु तृतीयस्यां तद्द्वादश्यामरस्य तु ॥२६२॥
पुष्यकृष्णचतुर्दश्यां शीतलः केवलं[1] श्रितः । दशम्यां विमलः शुक्ले शान्तिरेकादशे दिने ॥२६३॥
अजितोऽत्र चतुर्दश्यां केवलं प्रत्यपद्यत । अभिनन्दनधर्माख्यौ पौर्णमास्यामवाप तु ॥२६४॥
ज्ञानोत्पत्त्या त्वमावास्या माघस्य श्रेयसा कृता । श्रेयसी वासुपूज्येन द्वितीया शुक्लपक्षजा ॥२६५॥
माघकृष्णचतुर्दश्यां वृषस्य परिनिर्वृतिः । फाल्गुनस्यासिते पक्षे चतुर्थ्यां पद्ममासिनः ॥२६६॥
षष्ठ्यां सुपार्श्वनाथस्य द्वादश्यां मौनिसु[2]व्रती । सितफाल्गुनपञ्चम्यां मल्लिश्रीवासुपूज्ययोः ॥२६७॥
अमावस्या तु चैत्रस्य निर्वृता[3]भ्यां पवित्रिता । अनन्तारजिनेन्द्राभ्यां शुक्लपक्षस्य तु क्रमात् ॥२६८॥
पञ्चम्यामजितः षष्ठ्यां संभवः परिनिर्वृतः । दशम्यां सुमतिर्नाथः सुरनाथगणस्तुतः ॥२६९॥

भगवान्‌को आश्रमके समीप, महावीर भगवान्‌को ऋजुकूला नदीके तटपर और शेष तीर्थंकरोंको अपने-अपने नगरके उद्यानोंमें ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥ २५४–२५५ ॥ वृषभनाथ, श्रेयांसनाथ, मल्लिनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान्‌को पूर्वाह्ण कालमें तथा शेष तीर्थंकरोंको अपराह्ण कालमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति हुई थी ॥ २५६ ॥

फाल्गुन कृष्ण एकादशीके दिन वृषभनाथ, फाल्गुन कृष्ण द्वादशीके दिन मल्लिनाथ, फाल्गुन कृष्ण षष्ठीके दिन मुनिसुव्रतनाथ, फाल्गुन कृष्ण सप्तमीके दिन सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ, चैत्र कृष्ण चतुर्थीके दिन पार्श्वनाथ, चैत्रकृष्ण अमावास्याके दिन अनन्त जिनेन्द्र, चैत्र शुक्ल तृतीयाके दिन नमिनाथ और कुन्थुनाथ, चैत्रशुक्ल दशमीके दिन सुमतिनाथ और पद्मप्रभ भगवान्, वैशाख शुक्ल दशमीके दिन महावीर, आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको नेमिनाथ, कार्तिक कृष्ण पञ्चमीको संभवनाथ, कार्तिक शुक्ल तृतीयाको सुविधिनाथ, कार्तिक शुक्ल द्वादशीको अरनाथ, पौष कृष्ण चतुर्दशीको शीतलनाथ, पौष कृष्ण दशमीको विमलनाथ, पौष शुक्ल एकादशीको शान्तिनाथ, पौष शुक्ल चतुर्दशीको अजितनाथ, पौष शुक्ल पूर्णिमाको अभिनन्दन और धर्मनाथ, माघकृष्ण अमावसको श्रेयांसनाथ और माघ शुक्ल द्वितीयाको वासुपूज्य भगवान् केवलज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥ २५७–२६५ ॥

माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन वृषभनाथका, फाल्गुन कृष्ण चतुर्थीके दिन पद्मप्रभका, फाल्गुन कृष्ण षष्ठीके दिन सुपार्श्वनाथका, फाल्गुन कृष्ण द्वादशीके दिन मुनिसुव्रतनाथका, फाल्गुन शुक्ल पञ्चमीके दिन मल्लिनाथ और श्रीवासुपूज्यका निर्वाण हुआ है। चैत्रकी अमावास्या निर्वाणको प्राप्त हुए अनन्तनाथ और अरनाथ जिनेन्द्रके द्वारा पवित्र की गयी है। चैत्र शुक्ल पञ्चमीके दिन अजितनाथ, चैत्र शुक्ल षष्ठीके दिन संभवनाथ और चैत्रशुक्ल दशमीके दिन इन्द्रोंके समूहसे स्तुत सुमतिनाथ निर्वाणको प्राप्त हुए हैं ॥ २६६–२६९ ॥

---

१. विमलं म० । २. मौनिसुव्रतः म०, ख०, ङ०, मुनिसुव्रतस्येयं मौनिसुव्रती परिनिर्वृतिरित्यनेन सम्बन्धः । ३. निर्मिताभ्यां म०, ख० ।

वैशाखस्यापुनात्सिद्ध्या नमिः कृष्णचतुर्दशीम् । सितां प्रतिपदं कुन्थुः सप्तमीमभिनन्दनः ॥२७० ॥
शान्तेः सिद्धितिथिः सिद्धा ज्येष्ठकृष्णचतुर्दशी । तस्य शुक्लचतुर्थी तु धर्मस्य प्रतिपादिता ॥२७१ ॥
आषाढकृष्णपक्षस्य विमलस्याष्टमी मता । नेमेः शुक्लाष्टमी मान्या निर्वाणतिथिरिष्यते ॥२७२॥
श्रावणे शुक्लसप्तम्यां पार्श्वस्य परिनिर्वृतिः । श्रेयसः पौर्णमास्यां तु धनिष्ठासु प्रतिष्ठिता ॥२७३॥
चन्द्राभः शुक्लसप्तम्यां सिद्धो भाद्रपदस्य तु । अष्टम्यां पुष्पदन्तोऽस्य शीतलोऽश्वयुजस्य तु ॥२७४॥
निर्वृतः सितपञ्चम्यां कृष्णायां परिनिर्वृतिः । श्रीवीरस्य चतुर्दश्यां कार्तिकस्य विनिश्चिता ॥२७५॥
वृषोऽजितोऽपि च श्रेयान् शीतलश्चाभिनन्दनः । सुमतिश्च सुपार्श्वश्च पूर्वाह्णे चन्द्रभस्तथा ॥२७६॥
संभवः पद्मभासश्च पुष्पदन्तो भवान्तकः । अपराह्णे जिनाः सिद्धा वासुपूज्यजिनस्तथा ॥२७७॥
विमलानन्तशान्तीनां कुन्थोर्मल्लीशविंशयोः । प्रदोषसमये ज्ञेया निर्वृतिर्नेमिपार्श्वयोः ॥२७८॥
धर्मस्यारजिनेन्द्रस्य नमिवीरजिनेन्द्रयोः । प्रत्यूषे सिद्धिरुद्दिष्टा नष्टाष्टविधकर्मणाम् ॥२७९॥
[1]वृषस्य वासुपूज्यस्य नेमेः पर्यङ्कबन्धतः । कायोत्सर्गस्थितानां तु सिद्धिः शेषजिनेशिनाम् ॥२८०॥
[2]चतुर्दशदिनान्याद्यः संहृत्य विहृतिं जिनः । वीरोऽहर्द्वितयं शेषा मासं संहृत्य मुक्तिगाः ॥२८१॥
वीरस्यैकस्य निर्वाणं[3] षड्विंशतिसहितस्य तु । पार्श्वस्य सह नेमेः षट्त्रिंशता पञ्चभिः शतैः ॥२८२॥

वैशाख कृष्ण चतुर्दशीको नमिनाथ भगवान्, वैशाख शुक्ल प्रतिपदाको कुन्थुनाथने और वैशाख शुक्ल सप्तमीको अभिनन्दननाथने अपने निर्वाणसे पवित्र किया है ॥२७०॥ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी शान्तिनाथ भगवान्‌की, ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी धर्मनाथकी, आषाढ़ कृष्ण अष्टमी विमलनाथकी और आषाढ़ शुक्ल अष्टमी नेमिनाथ भगवान्‌की निर्वाणतिथि मानी जाती है ॥२७१–२७२॥ श्रावण शुक्ल सप्तमीको पार्श्वनाथका और श्रावण शुक्ल पूर्णिमाको धनिष्ठा नक्षत्रमें श्रेयांसनाथका निर्वाण हुआ है ॥२७३॥ भाद्रपद शुक्ल सप्तमीको चन्द्रप्रभ, भाद्रपद शुक्ल अष्टमीको पुष्पदन्त और आश्विन शुक्ल पञ्चमीको शीतलनाथ निर्वाणको प्राप्त हुए हैं एवं कार्तिक कृष्ण चतुर्दशीको श्री भगवान् महावीरका निर्वाण निश्चित है ॥२७४–२७५॥

वृषभनाथ, अजितनाथ, श्रेयांसनाथ, शीतलनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ ये पूर्वाह्णकालमें, संभवनाथ, पद्मप्रभ, संसार-भ्रमणका अन्त करनेवाले पुष्पदन्त और वासुपूज्य ये अपराह्णकालमें सिद्ध हुए हैं ॥२७६–२७७॥ विमलनाथ, अनन्तनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथकी सायंकालमें मुक्ति जानना चाहिए ॥२७८॥ और अष्ट प्रकारके कर्मोंको नष्ट करनेवाले धर्मनाथ, अरनाथ, नमिनाथ और महावीर जिनेन्द्रकी प्रातःकालमें सिद्धि कही गयी है ॥२७९॥

भगवान् वृषभनाथ, वासुपूज्य और नेमिनाथ पर्यङ्क आसनसे तथा शेष तीर्थंकर कायोत्सर्ग आसनसे स्थित हो मोक्ष गये हैं ॥२८०॥ आदि जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव, मुक्तिके पूर्व चौदह दिन तक विहारको संकोचकर मोक्ष गये हैं। भगवान् महावीर दो दिन और शेष तीर्थंकर एक मास पूर्व विहार बन्द कर मोक्षगामी हुए हैं ॥२८१॥

एक महावीर भगवानका छब्बीस मुनियोंके साथ, पार्श्वनाथ तथा नेमिनाथका

१. उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा। काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्ति समावण्णा। त्रै०प्र० चतुर्थ अधिकार ॥१२१०॥ २. उसहो चोद्दसदिवसे दुदिणं वीरेसरस्स सेसाणं। मासेण य विणिवत्ते जोगादो मुत्तिसम्पण्णो ॥१२०९ त्रै० प्र० च० अधिकार। ३. निर्वाणः म०, ख०, ङ०। मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणं श्रेयो निःश्रेयसामृतम् 'इत्यामरः

मल्लिः पञ्चशतैः सिद्धः शान्तिर्नवशतैः सह । सैकैरष्टशतैर्धर्मो द्वादशः सैकषट्शतैः ॥२८३॥
सहस्रैर्विमलः षड्भिरनन्तस्तैस्तु सप्तभिः । सप्तमः पञ्चशत्यामा पद्माभोऽष्टशतैस्त्रिभिः ॥२८४॥
वृषो दशसहस्रैस्तु मुनिभिर्मुक्तिमाश्रितः । प्रत्येकं तु जिनाः शेषाः सहस्रेण समन्विताः ॥२८५॥
भरतश्चक्रवर्त्याद्यः सगरो मघवांस्ततः । सनत्कुमारनामान्यः शान्तिः कुन्थुररस्तथा ॥२८६॥
सुभूमश्च महापद्मो हरिषेणो जयोऽपरः । ब्रह्मदत्तश्च षट्खण्डनाथा द्वादशचक्रिणः ॥२८७॥
त्रिपृष्ठश्च द्विपृष्ठश्च स्वयम्भूः पुरुषोत्तमः । पुरुषोपपदौ सिंहपुण्डरीकौ प्रचण्डकौ ॥२८८॥
दत्तो नारायणो कृष्णो वासुदेवा नवोदिताः । त्रिखण्डभरताधीशाः पराखण्डितपौरुषाः ॥२८९॥
विजयोऽचलः सुधर्माख्यः सुप्रभश्च सुदर्शनः । नान्दी च नन्दिमित्रश्च रामः पद्मो बला नव ॥२९०॥
अश्वग्रीवो भुवि ख्यातस्तारको मेरुकस्तथा । निशुम्भः शुम्भदम्भोजवदनो मधुकैटभः ॥२९१॥
बलिः प्रहरणाभिख्यो रावणः खेचरान्वयः[1] । भूचरस्तु जरासन्धो नवैते प्रतिशत्रवः ॥२९२॥
[2]ऊर्ध्वगा बलदेवास्ते निर्निदाना भवान्तरे । अधोगाः सनिदानास्तु केशवाः प्रतिशत्रवः ॥२९३॥
वृषभे भरतश्चक्री सगरोऽप्यजिते जिने । मघवांस्तुर्यश्चक्री च धर्मशान्त्यन्तरे मतौ ॥२९४॥
निजं जिनान्तरं ज्ञेयं शान्तिकुन्थ्वरचक्रिणाम् । चक्रवर्ती सुभूमोऽभूदरमल्लिजिनान्तरे ॥२९५॥

पाँच सौ छत्तीस मुनियोंके साथ निर्वाण हुआ है ॥२८२॥ मल्लिनाथ पाँच सौ, शान्तिनाथ नौ सौ, धर्मनाथ आठ सौ एक, वासुपूज्य छह सौ एक, विमलनाथ छह हजार, अनन्तनाथ सात हजार, सुपार्श्वनाथ पाँच सौ, पद्मप्रभ तीन हजार आठ सौ, वृषभनाथ दश हजार और शेष तीर्थंकर एक-एक हजार मुनियोंके साथ मोक्षको प्राप्त हुए हैं† ॥२८३–२८५॥

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती छह खण्डोंके स्वामी हुए ॥२८६–२८७॥ त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुरुष पुण्डरीक, (पुण्डरीक) दत्त, नारायण (लक्ष्मण) और कृष्ण ये नौ वासुदेव कहे गये हैं। ये तीन खण्ड भरतके स्वामी होते हैं तथा इनका पराक्रम दूसरोंके द्वारा खण्डित नहीं होता ॥२८८–२८९॥ विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नान्दी, नन्दिमित्र, राम और पद्म ये नौ बलभद्र हैं ॥२९०॥ अश्वग्रीव, पृथिवीमें प्रसिद्ध तारक, मेरुक, निशुम्भ, सुशोभित कमलके समान मुखवाला मधुकैटभ, बलि, प्रहरण, विद्याधर वंशज रावण और भूमिगोचरी जरासंध ये नौ प्रतिनारायण हैं ॥२९१–२९२॥ बलभद्र ऊर्ध्वगामी—स्वर्ग अथवा मोक्षगामी होते हैं तथा भवान्तरमें कोई निदान नहीं बाँधते और नारायण अधोगामी होते हैं एवं भवान्तरमें निदान बाँधते हैं ॥२९३॥

चक्रवर्ती भरत वृषभनाथके समयमें हुआ, सगर चक्रवर्ती अजितनाथके कालमें हुआ, मघवा और सनत्कुमार धर्मनाथ तथा शान्तिनाथके अन्तरालमें हुए। शान्ति, कुन्थु और अरनाथ चक्रवर्तीका काल अपना-अपना अन्तराल काल है। सुभूम चक्रवर्ती अरनाथ और मल्लिनाथके अन्तरालमें हुआ। महापद्म मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथके अन्तरालमें हुआ।

---

१. खेचरान्वयाः म० । २. अणिदाणगदा सव्वे बलदेवा केसवा णिदाणगदा । उड्ढंगामी सव्वे बलदेवा केसवा अधोगामी ॥१४३६ त्रि० प्र० ४ अधिकार ।

† इस उल्लेखसे यह बात सिद्ध होती है कि छह माह आठ समयमें जो छह सौ आठ जीवोंके मोक्ष जानेकी बात प्रसिद्ध है वह कमसे-कम जीवोंकी बात समझनी चाहिए। अधिक जीवोंकी संख्या निर्धारित नहीं है। कितने ही लोग कहते हैं कि इतने मुनि तीर्थंकरके कालमें आगे-पीछे मोक्ष गये परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि तीर्थंकरोंके मोक्ष जानेवाले शिष्योंकी संख्या त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिके चतुर्थ अधिकारमें गाथा नं० १२१८ से १२२९ तक अलग बतलायी है।

मुनिसुव्रतमल्ल्यन्तर्महापद्मः प्रकीर्तितः । मुनिसुव्रतनम्यन्तर्हरिषेणस्तु चक्रभृत् ॥२९६॥
नमिनेम्यन्तरे चक्री जयसेनोऽभवत्ततः । ब्रह्मदत्तोऽपि निर्दिष्टो नेमिपार्श्वजिनान्तरे ॥२९७॥
अष्टानां सिद्धिरुद्दिष्टा ब्रह्मदत्तसुभूमयोः । [1]सप्तमी मघवास्तुर्यौ तृतीयं कल्पमाश्रितौ ॥२९८॥
श्रेयः प्रभृतिधर्मान्तान् पञ्चापश्यन् बलोर्जितान् । त्रिपृष्ठाद्या नृसिंहान्ताः पञ्चसंख्यास्तु केशवाः ॥२९९॥
पुण्डरीकोऽरमल्ल्यन्तर्वासुदेवः प्रकीर्तितः । मुनिसुव्रतमल्ल्यन्तर्दत्तनामा तु केशवः ॥३००॥
मुनिसुव्रतनम्योस्तु मध्ये नारायणः स्मृतः । प्रत्यक्षं वन्दको नेमेः कृष्णः पद्मसमन्वितः ॥३०१॥
[2]एकस्य सप्तमी पृथ्वी पञ्चानां षष्ठ्युदीरिता । पञ्चम्येकस्य चान्यस्य पर्यन्तस्य तृतीयभूः ॥३०२॥
[3]अष्टानां मुक्तिरुद्दिष्टा बलानां तु तपोबलात् । अन्तस्य ब्रह्मकल्पस्तु तीर्थे कृष्णस्य सेत्स्यतः ॥३०३॥
[4]धनुःशतानि पञ्चाद्ये हानिः पञ्चाशतोऽष्टसु । दशानां पञ्चसु प्रोक्ता पञ्चानामष्टसु क्षयः ॥३०४॥
उत्सेधः पार्श्वनाथस्य नवारत्निमितस्ततः । वीरस्यारत्नयः सप्त जिनोत्सेधः क्रमादयम् ॥३०५॥

महापद्म मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथके अन्तरालमें हुआ । हरिषेण, मुनिसुव्रत और नमिनाथके अन्तरालमें हुआ । जयसेन चक्रवर्ती नमिनाथ और पार्श्वनाथके अन्तरमें हुआ और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ जिनेन्द्रके अन्तरालमें हुआ है ॥२९४–२९६॥ इन बारह चक्रवर्तियोंमें आठको मुक्ति प्राप्त हुई है, ब्रह्मदत्त और सुभूम सातवीं पृथिवी गये हैं तथा मघवा और सनत्कुमार तीसरे स्वर्गको प्राप्त हुए हैं ॥२९७॥

त्रिपृष्ठसे लेकर पुरुषसिंह तकके पाँच नारायणोंने श्रेयांसनाथसे लेकर धर्मनाथ तकके पाँच तीर्थंकरोंके अन्तराल कालको बलभद्रोंके साथ देखा है अर्थात् त्रिपृष्ठादि पाँच नारायण और विजय आदि पाँच बलभद्र श्रेयांसनाथसे लेकर धर्मनाथ तकके अन्तरालमें हुए हैं। पुण्डरीक, अरनाथ और मल्लिनाथके अन्तरालमें, दत्त, मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथके अन्तरालमें, नारायण (लक्ष्मण), मुनि सुव्रतनाथ और नमिनाथके अन्तरालमें हुआ है और कृष्ण पद्मके साथ नेमिनाथकी वन्दना करनेवाला प्रत्यक्ष विद्यमान है ही ॥२९८–३०१॥ इन नारायणोंमें प्रथम नारायण त्रिपृष्ठ सातवीं पृथिवी गया। दूसरेसे लेकर छठें तक पाँच नारायण छठी पृथिवी गये। सातवाँ पाँचवीं पृथिवी गया और आठवाँ तीसरी पृथिवी गया और नौवाँ भी तीसरी पृथिवी जायेगा ॥ ३०२ ॥ प्रारम्भके आठ बलभद्रोंने तपके माहात्म्यसे मुक्ति प्राप्त की है और अन्तिम बलभद्र पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग जावेगा। यह वहाँ से आकर जब कृष्ण तीर्थङ्कर होगा तब उसके तीर्थमें सिद्ध होगा—मोक्ष प्राप्त करेगा ॥३०३॥

वृषभजिनेन्द्रके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष थी, फिर आठ तीर्थङ्करोंकी ऊँचाई पचास-पचास धनुष कम होती गयी। उसके बाद पाँच तीर्थङ्करोंकी दस-दस धनुष कम हुई। तदनन्तर आठ तीर्थङ्करोंकी पाँच-पाँच धनुष कम हुई ॥३०४॥ पार्श्वनाथकी नौ हाथ और महावीरकी सात हाथ ऊँचाई होगी। इस प्रकार क्रमसे तीर्थङ्करोंकी ऊँचाई जानना चाहिए ॥३०५॥

---

१. सप्तमीं म० । २. पढमहरी सत्तम्मिए पंचच्छट्ठम्मि पंचमी एक्को । एक्को तुरिये चरिमो तदिए णिरए तहेव पडिसत्तू ॥१४३८॥ त्रै० प्र०, अ० ४, त्रैलोक्यप्रज्ञप्तौ त्रिलोकसारे च लक्ष्मणस्य चतुर्थपृथिवीगमनं प्रख्यातम् । हरिवंशे पद्मचरिते च तृतीयपृथिवीगमनं प्रख्यातम् । ३. णिस्सेयस अट्ठ गया हलिणो चरिमो बम्हकप्पगदो । तत्तो कालेण मदो सिज्झदि, केहस्स तित्थम्मि ॥१४३७॥ त्रै०, प्र०, च०, अ० । ४. पंचसयचावुपमाणो उसहजिणिंदस्स होदि उच्छेहो । तत्तो पण्णासूणा णियमेण य पुप्फदंतपेरंते ॥५८५॥ एत्तो जाव अणंतं दस दस कोदंडमेत्तपरिहीणो । तत्तो णेमि जिणंतं पणपणचावेहिं परिहीणो ॥५८६॥ णव हत्था पासजिणे सग हत्था वड्ढमाण णामम्मि । एत्तो तित्थयराणं सरीरवण्णं परूवेमो ॥५८७॥ त्रै० प्र०, अ० ४ ।

पञ्च चापशतान्याद्ये चक्रिण्युत्सेध इष्यते । चतुःशतानि सार्धानि धनूंषि सगरस्य तु ॥२०६॥
द्वाचत्वारिंशदिष्टानि सार्धानि तु धनूंष्यतः । सार्धैकेन युक्तानि चत्वारिंशद्धनूंषि तु ॥२०७॥
चत्वारिंशद्यथोक्तानि पञ्चमस्य तु चक्रिणः । पञ्चत्रिंशत्ततस्त्रिंशदष्टाविंशतिरष्टमे ॥२०८॥
द्वाविंशतिर्महापद्मे विंशतिश्च चतुर्दश । ततः सप्त धनूंषि स्यादुत्सेधश्चक्रवर्तिनाम् ॥२०९॥
अशीतिः सप्ततिः षष्टिः पञ्चाशत्पञ्चभिः सह । चत्वारिंशद्धनूंषि स्युः षड्विंशतिस्ततः परः ॥२१०॥
द्वाविंशतिस्तथोक्तानि षोडशापि दशैव तु । उत्सेधो वासुदेवानां बलदेवप्रतिद्विषाम् ॥२११॥
आयुश्चतुरशीतिश्च पूर्वलक्षा जिनेशिनाम् । द्वासप्ततिश्च षष्टिश्च पञ्चाशच्च यथाक्रमम् ॥२१२॥
चत्वारिंशत्तथा त्रिंशद्विंशतिश्च दशैव ताः । लक्षे लक्षं च पूर्वाणां दशानामायुरीरितम् ॥२१३॥
वर्षलक्षास्ततो लक्ष्या अशीतिश्चतुरुत्तरा । द्वासप्ततिस्ततः षष्टिस्त्रिंशद्दश तथैककम् ॥२१४॥
ततो वर्षसहस्राणि सपञ्चनवतिश्चतुः । अशीतिः पञ्चपञ्चाशत्त्रिंशद्दश तथैककम् ॥२१५॥
ततो वर्षशतं पूर्णं द्वासप्ततिरिति क्रमात् । जिनानामायुराख्यातमायुर्वृद्धिं करोतु वः ॥२१६॥
लक्षाश्चतुरशीतिस्तु द्वासप्ततिरिति क्रमात् । पूर्वाणां वर्षलक्षास्तु पञ्चत्र्येकाः प्रपञ्चिताः ॥२१७॥
ततो वर्षसहस्राणि नवतिः पञ्चभिर्युता । तथा चतुरशीतिः स्यादष्टाषष्टिस्ततः पुनः ॥२१८॥
त्रिंशत् षड्विंशतिस्त्रीणि वर्षसप्तशतानि च । आयुःप्रमाणमेतत्तु कथितं चक्रवर्तिनाम् ॥२१९॥
वर्षाणां चतुरशीतिर्लक्षा द्वासप्ततिस्ततः । षष्टिस्त्रिंशद्दशातोऽपि पञ्चषष्टिसहस्रकम् ॥२२०॥
द्वात्रिंशद्द्वादशैकं च प्रोक्तं वर्षसहस्रकम् । केशवानां यथासंख्यमायुःसंख्या विदां मता २२१॥

प्रथम चक्रवर्तीकी ऊँचाई, पाँच सौ धनुष, दूसरे सगर चक्रवर्तीकी साढ़े चार सौ धनुष, तीसरेकी साढ़े बयालीस धनुष, चौथेकी साढ़े इकतालीस धनुष, पाँचवेंकी चालीस धनुष, छठेंकी पैंतीस धनुष, सातवेंकी तीस धनुष, आठवेंकी अट्ठाईस धनुष, नौवें महापद्म-की बाईस धनुष, दशवेंकी बीस धनुष, ग्यारहवेंकी चौदह धनुष, और बारहवेंकी सात धनुष थी। इस प्रकार चक्रवर्तियोंकी ऊँचाईका वर्णन किया ॥२०६–३०९॥

अस्सी, सत्तर, साठ, पचपन, चालीस, छब्बीस, बाईस, सोलह और दश धनुष यह क्रमसे नारायण, बलभद्र और प्रतिनारायणोंकी ऊँचाई है ॥३१०–३११॥

प्रारम्भसे लेकर दशवें तीर्थंकर तककी आयु क्रमसे चौरासी लाख पूर्व, बहत्तर लाख पूर्व, साठ लाख पूर्व, पचास लाख पूर्व, चालीस लाख पूर्व, तीस लाख पूर्व, बीस लाख पूर्व, दश लाख पूर्व, दो लाख पूर्व और एक लाख पूर्व आयु कही गयी है ॥३१२–३१३॥ तदनन्तर श्रेयांसनाथसे लेकर महावीर पर्यन्तकी आयु क्रमसे चौरासी लाख वर्ष, बहत्तर लाख वर्ष, साठ लाख वर्ष, तीस लाख वर्ष, दश लाख वर्ष, एक लाख वर्ष, पंचानवे हजार वर्ष, चौरासी हजार वर्ष, पचपन हजार वर्ष, तीस हजार वर्ष, दश हजार वर्ष, एक हजार वर्ष, सौ वर्ष और बहत्तर वर्ष की है। इस प्रकार क्रमसे तीर्थङ्करोंकी आयु कही। यह तुम्हारी आयु वृद्धि करे ॥३१२–३१६॥

चौरासी लाख पूर्व, बहत्तर लाख पूर्व, पाँच लाख, तीन लाख, एक लाख, पंचानवे हजार, चौरासी हजार, अड़सठ हजार, तीस हजार, छब्बीस हजार, तीन हजार और सात सौ वर्ष यह क्रमसे चक्रवर्तियोंकी आयुका प्रमाण कहा गया है ॥३१७–३१९॥

चौरासी लाख, बहत्तर लाख, साठ लाख, तीस लाख, दश लाख, पैंसठ हजार, बत्तीस हजार, बारह हजार और एक हजार वर्ष यह क्रमसे नौ नारायणोंकी आयुका प्रमाण विद्वानोंके द्वारा माना गया है ॥३२०–३२१॥

आयुर्लक्षा बलानां स्युः सप्ताशीतिश्च सप्ततिः । सप्तोत्तरा तथा षष्टिः पञ्चत्रिंशद्दश क्रमात् ॥३२२॥
षष्टिर्वर्षसहस्राणि त्रिंशद्दश च सप्तभिः । द्विशत्याब्दसहस्रं तु तत्परमस्य बलस्य तु ॥३२३॥
वृषाद्याः धर्मपर्यन्ता जिनाः पञ्चदश क्रमात् । निरन्तरास्ततः शून्ये त्रिजिनाश्शून्ययोर्द्वयम् ॥३२४॥
[1]जिनः शून्यद्वयं तस्माज्जिनः शून्यद्वयं पुनः । [2]जिनः शून्यं जिनः शून्यं द्वौ जिनेन्द्रौ निरन्तरौ ॥३२५॥
चक्रिणौ भरताद्यौ द्वौ तौ शून्यानि त्रयोदश । षट्चक्रिणस्त्रिशून्यानि चक्री शून्यं च चक्रभृत् ॥३२६॥
ततः शून्यद्वयं चक्री शून्यं चक्रधरस्ततः । शून्ययोर्द्वितयं तस्मादिति चक्रधरक्रमः[3] ॥३२७॥
शून्यानि दश पञ्चातस्त्रिपृष्ठाद्यास्तु केशवाः । शून्यषट्कं ततश्चैकः केशवो व्योमकेशवः ॥३२८॥
त्रिशून्यं केशवश्चैकः शून्यद्वितयमप्यतः । केशवस्त्रीणि शून्यानि केशवानामयं क्रमः ॥३२९॥

सतासी लाख, सत्तर लाख, सड़सठ लाख, पैंतीस लाख, दश लाख, साठ हजार, तीस हजार, सत्रह हजार और बारह सौ वर्ष यह क्रमसे बलभद्रोंकी आयु है ॥३२२-३२३॥ तीर्थंकरोंके कालमें चक्रवर्ती तथा नारायणोंका क्रम जाननेके लिए चौंतीस कोठाका एक यन्त्र बनाना चाहिए। उसके नीचे चौंतीस-चौंतीस कोठाके दो यन्त्र और बनाना चाहिए। ऊपरके यन्त्रमें तीर्थंकरोंका, बीचके यन्त्रमें चक्रवर्तियोंका और नीचेके यन्त्रमें नारायणोंका विन्यास करे। यन्त्रोंमें तीर्थंकरोंके लिए एकका अंक, चक्रवर्तियोंके लिए दोका अंक और नारायणोंके लिए तीनका अंक प्रयुक्त किया जाता है। ऊपरके यन्त्रमें ऋषभनाथसे लेकर धर्मनाथ तक पन्द्रह तीर्थंकरोंका क्रमसे विन्यास करना चाहिए अर्थात् प्रारम्भसे लेकर पन्द्रह स्थानोंमें एक-एक लिखना चाहिए। उसके बाद दो शून्य, फिर तीन तीर्थंकर, फिर दो शून्य, फिर एक तीर्थंकर, फिर दो शून्य, फिर एक तीर्थंकर, फिर दो शून्य, फिर एक तीर्थंकर, फिर एक शून्य और फिर लगातार दो तीर्थंकर इस प्रकार तीर्थंकरोंका विन्यास करना चाहिए। तदनन्तर नीचेके यन्त्रमें भरत आदि दो चक्रवर्ती, फिर तेरह शून्य, फिर छह चक्रवर्ती, फिर तीन शून्य, फिर एक चक्रवर्ती, फिर एक शून्य, फिर एक चक्रवर्ती, फिर दो शून्य, फिर एक चक्रवर्ती, फिर एक शून्य, फिर एक चक्रवर्ती और फिर दो शून्य इस प्रकार चक्रवर्तियोंका क्रमसे विन्यास करे। तदनन्तर नीचेके यन्त्रमें प्रारम्भमें दश शून्य, फिर त्रिपृष्ठ आदि पाँच नारायण, फिर छह शून्य, फिर एक नारायण, फिर एक शून्य, फिर एक नारायण, फिर तीन शून्य, फिर एक नारायण, फिर दो शून्य, फिर एक नारायण और फिर तीन शून्य इस प्रकार क्रमसे नारायणोंका विन्यास करे। इसकी संदृष्टि इस प्रकार है*—

भावार्थ—भरत चक्रवर्ती वृषभनाथके समक्ष, सगर चक्रवर्ती अजितेश्वरके समक्ष तथा

१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१	१	१	०	०	१	०	०	१	०	०	१	०	१	०	१	१
२	२	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२	२	२	२	२	२	०	०	०	२	२	२	०	०	२	०	२	०	०
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३	३	३	३	३	०	०	०	०	०	०	३	०	३	०	०	०	३	०	०	३	०	०	०

१. जिने म० । २. जिने म० । ३. चक्रधराः क्रमात् ङ० ।

* यह प्रकरण तिलोयपण्णत्तिके चतुर्थ महाधिकारसे लिया हुआ जान पड़ता है, वहाँ इस प्रकरणकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

रिसहेसरस्स भरहो सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं । मघवा सणक्कुमारो दो चक्की धम्म संति विच्चाले ॥१२८३॥ अह संति कुन्थु अर जिण तित्थयरा ते च चक्कवट्टित्ते । एक्को सुभउमचक्की अरमल्लिअंतराल-

[1]पूर्वः कुमारकालः स्यादायुषो वृषभस्य सः । न्यूनः संयमकालस्य राज्यकालस्ततोऽपरः ॥३२०॥

मघवा और सनत्कुमार ये दो चक्रवर्ती, धर्मनाथ और शान्तिनाथके अन्तरालमें हुए हैं। शान्ति, कुन्थु और अर ये तीन स्वयं तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती हुए हैं। सुभौम चक्रवर्ती अरनाथ और मल्लिनाथके अन्तरालमें, पद्म चक्रवर्ती मल्लि और मुनिसुव्रतके अन्तरालमें, हरिषेण चक्रवर्ती सुव्रत और नमिनाथके अन्तरालमें, जयसेन चक्रवर्ती नमिनाथ और नेमिनाथके अन्तरालमें तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नेमिनाथ और पार्श्वनाथके अन्तरालमें हुए हैं। यहाँ जो चक्रवर्ती तीर्थंकरोंके समक्ष न होकर अन्तरालमें हुए हैं उनके ऊपर तीर्थंकरोंके कोष्ठकमें शून्य रखे गये हैं और जो तीर्थंकरोंके समक्ष हुए हैं उनके ऊपर तीर्थंकरोंके कोष्ठकमें एक लिखा गया है। जिन तीर्थंकरोंके समक्ष चक्रवर्ती हुए हैं उनके नीचे चक्रवर्तीके कोष्ठकमें दो का अंक लिखा गया है और जिनके समक्ष अभाव रहा है उनके नीचे शून्य रखा गया है। इसी प्रकार नारायणोंके विषयमें जानना चाहिए अर्थात् पहलेसे लेकर दशम तीर्थंकर तक तो कोई भी नारायण नहीं हुआ पश्चात् ग्यारहवेंसे पन्द्रहवें तक पाँच नारायण हुए। तदनन्तर अर और मल्लिनाथके अन्तरालमें, मल्लि और मुनिसुव्रतके अन्तरालमें, सुव्रत और नमिके अन्तरालमें और नेमिनाथके समयमें नारायण हुए। जहाँ नारायणोंका अभाव है वहाँ कोष्ठकोंमें शून्य और जहाँ सद्भाव है, वहाँ तीनका अंक लिखा गया है ॥३१९-३२४॥

भगवान् वृषभदेवकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी। उसका एक चतुर्थ भाग अर्थात् बीस लाख पूर्वका कुमारकाल था। शेष संयमके कालको घटाकर जो बचता है वह राज्यकाल था। भावार्थ—भगवान् वृषभदेवने बीस लाख पूर्व कुमारकाल बिताया, त्रेसठ लाख पूर्व राज्य किया, एक हजार वर्ष तप किया और एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवलीकाल

म्मि ॥ १२८४ ॥ अह पउमचक्कवट्टी मल्ली मुणि सुव्वयाण विच्चाले। सुव्वअणमीण मज्झे हरिसेणो णामचक्कहरो ॥ १२८५ ॥ जयसेणचक्कवट्टी णमि-णेमिजिणाणमंतरालम्मि। तह बह्मदत्तणामो चक्कवई णेमिपासविच्चाले ॥ १२८६ ॥ चउसट्ठिय तीस कोट्ठा कादव्वा तिरिय रूव पंतीए। उड्ढेणं बे कोट्ठा कादूणं पढमकोट्ठेसुं ॥ १२८७ ॥ पण्णरसेसु जिणिंदा णिरंतरं दोसु सुण्णआ तत्तो। तीसु जिणा दो सुण्णा इगि जिण दो सुण्ण एक्क जिणे ॥१२८८॥ दो सुण्णा एक्क जिणो इगि सुण्णो इगि जिणो य इगि सुण्णो। दोण्णि जिणा इदि कोट्ठा णिद्दिट्ठा तित्थ कत्ताणं ॥ १२८९ ॥ दो कोट्ठेसु चक्की सुण्णं तेरससु चक्किणो छक्के। सुण्ण तिय चक्कि सुण्णं दो सुण्णं चक्कि सुण्णो य ॥ १२९० ॥ चक्की दो सुण्णाइं छक्खंड वईण चक्क वट्टीणं। एदे कोट्ठा कमसो संदिट्ठी एक्क दो अंका ॥ १२९१ ॥ बलदेववासुदेवप्पडिसत्तूणं जाणावणट्ठं संदिट्ठी—

पंच जिणिंदे वंदंति केसवा पंच आणुपुव्वीए। सेयंस सामिपहुदिं तिविट्ठपमुहा य पत्तेक्कं ॥१४१४॥ अरमल्लि अंतराले णादव्वो पुंडरीअणामो सो। मल्लिमुणिसुव्वयाणं विचाले दत्तणामो सो ॥ १४१५ ॥ सुव्वयणमि सामीणं मज्झे णारायणो समुप्पण्णो। णेमि समयम्मि किण्णो एदे णव वासुदेवा य ॥१४१६॥ दस सुण्णा पंच केसव छस्सुण्णा केसि सुण्ण केसीओ। तिय सुण्ण मेक्क केसी दो सुण्णं एक्क केसि तिय सुण्णं ॥ १४१७ ॥ तिलोयपण्णत्ति ४ अधिकार।

१. पढमे कुमारकालो जिणरिसहे बीस पुव्वलक्खाणि। अजिआदिअर जिणंते सगसग आउस्स पादेणो ॥ ५८३ ॥ तत्तो कुमारकालो एगसयं सगसहस्स पंचस या। पणुवीतसयं तिसया तीसं तीसं च छक्कस्स ॥ ५८४ ॥ त्रै०, प्र०, च० अ०।

पादोऽष्टादशसंख्यानां पूर्णः शेषजिनेशिनाम् । [1]कुमारकालशेषस्य राज्यसंयमकालता ॥३३१॥
कुमाराणां जिनानां तु संयमानेहसोज्झितः । आयुःकालः स कुमारः पञ्चानामपि वर्ण्यते ॥३३२॥
जिनसंयमकालस्तु पूर्वलक्षाथ सोज्झिता । पूर्वाङ्गेन चतुर्भिश्च चाष्टाभिर्द्वादशाङ्गकैः ॥३३३॥
ततः षोडशभिर्हीनो विंशत्या तु ततः परम् । चतुर्विंशतिपूर्वाङ्गैरष्टाविंशतिसंख्यकैः ॥३३४॥
दशानामायुषः पादः पादोनो द्वादशस्य सः । मल्लेर्वर्षशतेनोनो नेमेर्वर्षशतैस्त्रिभिः ॥३३५॥
त्रिंशद्वर्षविहीनस्तु प्रत्येकं पार्श्ववीरयोः । द्वेधा संयमकालोऽयं छाद्मस्थः केवली स्थितः ॥३३६॥
वृषछद्मस्थकालोऽत्र स्यात्सहस्रवर्षाण्यतः । द्वादशाब्दानि पूर्वाणि स्युर्वर्षाणि चतुर्दश ॥३३७॥
ततोऽष्टादशवर्षाणि विंशतिस्तु ततः परे । षण्मासा नव वर्षाणि त्रिचतुस्त्रिद्विमासकाः ॥३३८॥

व्यतीत किया ॥३३०॥ अजितनाथसे लेकर अठारहवें अरनाथ तक तीर्थंकरोंकी जो पूर्ण आयु थी उसका एक चतुर्थ भाग कुमारकाल था, और पूर्ण आयुमें-से कुमारकाल छोड़ देनेपर जो शेष रहता है वह उनके राज्य तथा संयमका काल था। [अन्तिम छह तीर्थंकरोंका कुमार-काल क्रमसे सौ वर्ष, साढ़े सात हजार वर्ष, अढ़ाई हजार वर्ष, तीन सौ वर्ष, तीस वर्ष और तीस वर्ष था]* ॥ ३३१ ॥ वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाँच तीर्थंकर बाल-ब्रह्मचारी तीर्थंकर थे, इसलिए इनकी आयुका जो काल था उसमें संयमका काल कम देनेपर उनका कुमारकाल कहा जाता है ॥३३२॥ श्री वृषभनाथ भगवान्का संयम-काल एक लाख पूर्व था। अजितनाथका एक पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, संभवनाथका चार पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, अभिनन्दननाथका आठ पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, सुमतिनाथका बारह पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, पद्मप्रभका सोलह पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, सुपार्श्व-नाथका बीस पूर्वाङ्ग कम एक लाख पूर्व, चन्द्रप्रभका चौबीस पूर्वाङ्ग कम, पुष्पदन्तका अट्ठाईस पूर्वाङ्ग कम, वासुपूज्यका पूर्ण आयुका तीन चौथाई भाग, (चौवन लाख वर्ष) मल्लिनाथका सौ वर्ष कम पूर्ण आयु (सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष), नेमिनाथका तीन सौ वर्ष कम पूर्ण आयु (सात सौ वर्ष), पार्श्वनाथका तीस वर्ष कम पूर्ण आयु (सत्तर वर्ष), महावीरका तीस वर्ष कम बहत्तर वर्ष (ब्यालीस वर्ष) और शेष दस तीर्थंकरोंका अपनी आयुका एक चौथाई भाग संयम काल था। समस्त तीर्थंकरोंका यह संयमकाल छद्मस्थ काल और केवलिकालकी अपेक्षा दो प्रकारका है ॥३३३—३३६॥ वृषभनाथका छद्मस्थ काल एक हजार वर्ष, अजितनाथका बारह वर्ष, संभवनाथका चौदह वर्ष, अभिनन्दननाथका अठारह वर्ष, सुमतिनाथका बीस वर्ष, पद्मप्रभका छह मास, सुपार्श्वनाथका नौ वर्ष, चन्द्रप्रभ-का तीन मास, †पुष्पदन्तका चार मास, शीतलनाथका तीन मास, श्रेयांसनाथका दो मास,

---

१. कुमारकालः शेषस्य म० ।

* तिलोयपण्णत्तिके च. अ. गाथा नं० ५८४ का अनुवाद है ।

†. नौवें पुष्पदन्तसे लेकर धर्मनाथ तकका छद्मस्थ काल यहाँ ४, ३ आदि मास बतलाया है परन्तु तिलोयपण्णत्तीमें ४, ३ आदि वर्ष बतलाया है । तिलोयपण्णत्तिकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

उसहादीसु वासा सहस्स बारस चउद्दसट्ठरसा । वीस छदुमत्थकालो छच्चिय पउमप्पहे मासा ॥६७५॥ वासाणिणव सुपासे मासा चंदप्पहम्मि तिण्णि तदो । चदु तिदु एक्का तिदु इगि सोलस चउवग्ग चउक्दी वासा ॥ ६७६ ॥ मल्लिजिणे छद्दिवसा एक्कारस सुव्वदे जिणे मासा । णमि णाहे णव मासा दिणाणि छप्पण्ण णेमि-जिणे ॥ ६७७ ॥ पासजिणे चउमासा बारसवासाणि वड्ढमाणजिणे । एत्तियमेत्ते समये केवलणाणं ण ताण उप्पण्णं ॥ ६७८ ॥

एकस्त्रिद्व्येकमासाश्च वर्षाणि त्रिषु षोडश । षडेकादशसंख्याहर्मासा वर्षाण्यतो नव ॥३३९॥
षट्पञ्चाशद्दिनानि स्युर्मासाश्चत्वार एव च । वर्षाणि द्वादशैवातः परं केवलिनो जिनाः ॥३४०॥
आद्यस्य गणिनो भर्तुरशीतिश्चतुरुत्तरा । नवतिः पञ्चसंयुक्तं शतत्र्युत्तरमप्यतः ॥३४१॥
शतमेव पुनर्द्वयं षोडशैकादशाधिकम् । पञ्चोत्तरा च नवतिस्त्र्युत्तरा नवतिस्तथा ॥३४२॥
[1]ततोऽष्टैकाधिकाशीतिः[2] सप्ततिः सप्तभिर्युता । षट् षष्टिः पञ्च पञ्चाशत्पञ्चाशच्च ततः परम् ॥३४३॥
त्रिचत्वारिंशदेवातः षट्त्रिंशत्त्रिंशदन्विता । पञ्चभिस्त्रिंशदप्यस्मादष्टाविंशतिरेव तु ॥३४४॥
अष्टादश गणाधीशास्तथा सप्तदश क्रमात् । एकादश दशैव स्युरेकादश च ते पुनः ॥३४५॥
आद्यस्याद्यो गणी नाम्ना सेनान्तो वृषभः प्रभोः । सिंहसेनस्ततोऽप्यन्यश्चारुदत्त इतीरितः ॥३४६॥
वज्रश्च चमरो वज्रचमरो [3]बलिदत्तकौ । वैदर्भश्चानगारश्च कुन्थुश्चापि सुधर्मकः ॥३४७॥

वासुपूज्यका एक मास, विमलनाथका तीन मास, अनन्तनाथका दो मास, धर्मनाथका एक मास, शान्ति, कुन्थु और अरनाथका सोलह-सोलह वर्ष, मल्लिनाथका छह दिन, मुनिसुव्रतनाथका ग्यारह मास, नमिनाथका नौ वर्ष, नेमिनाथका छप्पन दिन, पार्श्वनाथका चार मास और महावीरका बारह वर्ष है। इस छद्मस्थ कालके बाद सभी तीर्थंकर केवली हुए हैं ॥ ३३७—३४० ॥

भगवान् ऋषभदेवके चौरासी गणधर थे, अजितनाथके नब्बे, संभवनाथके एक सौ पाँच, अभिनन्दननाथके एक सौ तीन, सुमतिनाथके एक सौ सोलह, पद्मप्रभके एक सौ ग्यारह, सुपार्श्वनाथके पंचानवे, चन्द्रप्रभके तेरानवे, पुष्पदन्तके अठासी, शीतलनाथके इक्यासी, श्रेयांसनाथके सतहत्तर, वासुपूज्यके छयासठ, विमलनाथके पचपन, अनन्तनाथके पचास, धर्मनाथके तेतालीस, शान्तिनाथके छत्तीस, कुन्थुनाथके पैंतीस, अरनाथके तीस, मल्लिनाथके अट्ठाईस, मुनिसुव्रतनाथके अठारह, नमिनाथके सत्तरह, नेमिनाथके ग्यारह, पार्श्वनाथके दस और महावीरके ग्यारह गणधर थे* ॥ ३४१–३४५ ॥

†आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके प्रथम गणधर वृषभसेन, अजितनाथके सिंहसेन, संभवनाथके चारुदत्त, अभिनन्दनके वज्र, सुमतिनाथके चमर, पद्मप्रभके वज्रचमर, सुपार्श्वनाथके

---

१. ततोऽष्टैकादशाशीतिः म० । २. तिलोयपण्णत्तौ तु शीतलनाथस्य सप्ताशीतिगणधराः प्रोक्ताः । ३. बलदत्तकौ ग०, ख० ।

* तिलोयपण्णत्तिमें शीतलनाथके ८१ के स्थानपर ८७ गणधर बतलाये हैं। गाथा इस प्रकार है—

चुलसीदि णउदि पण तिग सोलस एक्कारसूत्तरसयाइं । पणणउदी तेणउदी गणहरदेवा हु अट्ठ परियंतं ॥९६१॥ अडसीदी सगसीदी सत्तत्तरि छक्क समाधिया छट्ठी । पणवण्णा पण्णासा तत्तो य अणंत परियंतं ॥९६२॥ तेदालं छत्तीसा पणतीसा तीस अट्ठवीसा य । अट्ठारह सत्तरसेक्कारस दश एक्करस य वीरंते ॥ ९६३ ॥ च० अ० ।

†तिलोयपण्णत्तिमें अन्तर है—गाथा इस प्रकार है—

पढमो हु उसहसेणो केसरिसेणो य चारुदत्तो य । वज्जचमरो य वज्जो चमरो बलदत्त वेदब्भा ॥९६४॥ णागो कुन्थू धम्मो मन्दिरणामा जओ अरिट्ठो य । सेणो चक्कायुधयो सयंभु कुंभो विसाखो य ॥ ९६५ ॥ मल्लीणामो सुप्पहवरदत्ता सयंभु इंदभूदीओ । उसहादीणं आदिम गणधर णामाणि एदाणि ॥ ९६६ ॥ एदे गणधरदेवा सव्वे वि हु अट्ठरिद्धिसंपण्णा । ताणं रिद्धिसरूवं लव मेत्तं तं णिरूवेमो ॥ ९६७ ॥ च० अ० [1]ऋषभसेन केसरीसेन[2], चारुदत्त[3], वज्रचामर[4], वज्र[5], चमर[6], बलदत्त[7], वैदर्भ[8], नाग[9], कुन्थु[10], धर्म[11], मन्दिर[12], जय[13], अरिष्ट[14], सेन[15], चक्रायुध[16], स्वयंभू[17], कुम्भ[18], विशाख[19], मल्लि[20], सुप्रभ[21], वरदत्त[22], स्वयंभू[23], और इन्द्रभूति[24], ये ऋषभादि तीर्थंकरोंके प्रथम गणधरोंके नाम हैं।

मन्दरार्यो जयोऽरिष्टसेनश्चक्रायुधस्ततः । स्वयम्भूः कुन्थुनामा च विशाखो मल्लिसोमकौ ॥३४८॥
वरदत्तः स्वयम्भूः स्यादिन्द्रभूतिर्गणप्रभुः । ऋद्धिभिः सप्तभिर्युक्ताः सर्वे ते श्रुतपारगाः ॥३४९॥
वीरस्यैकस्य निष्क्रान्तिस्त्रिशतैर्मल्लिपार्श्वयोः । षडुत्तरैः शतैः षड्भिर्वासुपूज्यजिनस्य तु ॥३५०॥
चतुःसहस्रसंख्यातैर्निष्क्रान्तो वृषभो नृपैः । सहस्रपरिवारास्तु प्रत्येकमितरे जिनाः ॥३५१॥
चतुर्भिरधिकाशीतिः सहस्राणि वृषस्य तु । लक्षं लक्षे त्रिलक्षाश्च त्रिलक्षाः सहस्रकैः ॥३५२॥
विंशत्या त्रिंशता युक्तास्तास्तु लक्षात्रयं ततः । सार्धलक्षे पुनर्लक्षे लक्षाशीतिश्चतुर्युता ॥३५३॥
सहस्रगुणिता सा तु द्वासप्ततिरपीदृशी । अष्टाषष्टिश्च षट्षष्टिश्चतुःषष्टिसहस्रकम् ॥३५४॥
द्वाषष्टिश्च सहस्राणि षष्टिः पञ्चाशदेव च । चत्वारिंशत्सहस्राणि त्रिंशद्विंशतिरेव तु ॥३५५॥
अष्टादशसहस्राणि षोडशापि चतुर्दश । सहस्राणि यथासंख्यं गणसंख्या जिनेशिनाम् ॥३५६॥
[1]संघः सप्तविधः पूर्वधरशिक्षकभेदतः । सावधिः केवली वादी विक्रिया विपुलायुतः ॥३५७॥

बलि, चन्द्रप्रभके दत्ताक, पुष्पदन्तके वैदर्भ, शीतलनाथके अनगार, श्रेयांसनाथके कुन्थु, वासुपूज्यके सुधर्म, विमलनाथके मन्दरार्य, अनन्तनाथके जय, धर्मनाथके अरिष्टसेन, शान्तिनाथके चक्रायुध, कुन्थुनाथके स्वयंभू, अरनाथके कुन्थु, मल्लिनाथके विशाख, मुनिसुव्रतके मल्लि, नमिनाथके सोमक, नेमिनाथके वरदत्त, पार्श्वनाथके स्वयंभू और महावीरके इन्द्रभूति थे। ये सभी गणधर सात ऋद्धियोंसे युक्त तथा समस्त शास्त्रोंके पारगामी थे ॥३४६—३४९॥

भगवान् महावीरने अकेले ही दीक्षा ली थी अर्थात् उनके साथ किसीने दीक्षा नहीं ली थी। मल्लिनाथ और पार्श्वनाथने तीन-तीन सौ राजाओंके साथ, *वासुपूज्यने छह सौ छह राजाओंके साथ, वृषभनाथने चार हजार राजाओंके साथ और शेष तीर्थंकरोंके एक-एक हजार राजाओंके साथ दीक्षा ली थी ॥ ३५०—३५१ ॥

भगवान् ऋषभदेवके समस्त गणों—मुनियोंकी संख्या चौरासी हजार थी। अजितनाथकी एक लाख, संभवनाथकी दो लाख, अभिनन्दननाथकी तीन लाख, सुमतिनाथकी तीन लाख बीस हजार, पद्मप्रभकी तीन लाख तीस हजार, सुपार्श्वनाथकी तीन लाख, चन्द्रप्रभकी अढ़ाई लाख, पुष्पदन्तकी दो लाख, शीतलनाथकी एक लाख, श्रेयांसनाथकी चौरासी हजार, वासुपूज्यकी बहत्तर हजार, विमलनाथकी अड़सठ हजार, अनन्तनाथकी छयासठ हजार, धर्मनाथकी चौंसठ हजार, शान्तिनाथकी बासठ हजार, कुन्थुनाथकी साठ हजार, अरनाथकी पचास हजार, मल्लिनाथकी चालीस हजार, मुनिसुव्रतनाथकी तीस हजार, नमिनाथकी बीस हजार, नेमिनाथकी अठारह हजार, पार्श्वनाथकी सोलह हजार और महावीरकी चौदह हजार संख्या थी ॥३५२—३५६॥

तीर्थंकर भगवान्का यह संघ १ पूर्वधर, २ शिक्षक, ३ अवधिज्ञानी, ४ केवलज्ञानी, ५ वादी, ६ विक्रिया ऋद्धिके धारक और ७ विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञानके धारकके भेदसे सात

---

१. पुव्वधरसिक्खकोट्ठीकेवलिवेकुव्विविउलमदिवादी। पत्तेक्कं सत्तगणा सव्वाणं तित्थकराणं ॥१०९८॥ ति० प०, अ० ४।

*. तिलोयपण्णत्तिमें वासुपूज्य भगवान्के सहदीक्षितोंकी संख्या छह सौ छिहत्तर बतलायी है। प्रकरणानुसार गाथा इस प्रकार है—

पव्वइदो मल्लिजिणो रायकुमारेहिं तिसयमेत्तेहिं। पासजिणो वि तह च्चिय एक्क च्चिय वड्ढमाणजिणो ॥ ६६८ ॥ छाहत्तरिजुद छस्सयसंखेहिं वासुपुज्ज सामी य। उसहो तासयएहिं सेसा पुह-पुह सहस्स मेत्तेहिं ॥ ६६९ ॥

चतुश्चत्वारि सहस्राणि तथा सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च वृषस्वामी सर्वे पूर्वधरा विभोः ॥३५८॥
चतुःसहस्रगणनाः शतं पञ्चाशदुत्तरम् । शिक्षकाः सावधिज्ञानाः सहस्राणि नव स्मृताः ॥३५९॥
विंशतिस्तु सहस्राणि पूज्याः केवलिनः सताम् । सहस्राण्येव तावन्ति षट्शतानि च वैक्रियाः ॥३६०॥
स्युर्द्वादशसहस्राणि मत्या विपुलया युताः । शतानि सप्तपञ्चाशत्तत्संख्यावादिनोऽपि च ॥३६१॥
अजितस्य सहस्राणि त्रीणि सप्तशतानि च । पञ्चाशच्च सतां सेव्याः सभ्यानां पूर्वधारिणः ॥३६२॥
शिक्षकाः षट्शतैः सार्धं सहस्राण्येकविंशतिः । चतुःशत्या सहस्राणि नव सावधयो मताः ॥३६३॥
स्युर्विंशतिसहस्राणि केवलाख्यास्तु वैक्रियाः । ज्ञेयास्तावत्सहस्राणि पञ्चाशच्च चतुःशती ॥३६४॥
द्वादशैव सहस्राणि प्रत्येकं च चतुःशती । मत्या विपुलया युक्ता वादिनो हितवादिनः ॥३६५॥
[1]संभवस्य सहस्रे द्वे शतं पञ्चाशता समम् । पूज्याः पूर्वभृतो ज्ञेयाः पूर्वसद्भाववादिनः[2] ॥३६६॥
एकोनत्रिंशता लक्षा सहस्रैस्त्रिशतानि च । संख्या शिक्षकसाधूनां संख्याताः प्रश्रयाश्रिताः ॥३६७॥
षट् शतानि सहस्राणि नव सावधयः स्मृताः । तथा दशसहस्राणि पञ्चभिः केवलाश्रिताः ॥३६८॥
तथैवैकोनविंशत्या सहस्रैरष्टभिः शतैः । पञ्चाशद्वैक्रियाः प्रोक्ता विक्रियाशक्तिधारिणः ॥३६९॥
द्वाभ्यां दशसहस्राणि विपुलां मतिमाश्रिताः । शताधिकानि तावन्ति सहस्राणि च वादिनः ॥३७०॥
शतानि पञ्च तुर्यस्य द्वे सहस्रेऽथ पूर्विणः । द्विलक्षे शिक्षकास्त्रिंशत्सहस्राण्यर्धितं शतम् ॥३७१॥
शतान्यष्टौ सहस्राणि नवैवानधिवीक्षणाः । षोडशैव सहस्राणि मुनयः केवलेक्षणाः ॥३७२॥
एकान्नविंशतिर्ज्ञेया सहस्राणि तु वैक्रियाः । एकादशसहस्राणि पञ्चाशत्षट्शतानि च ॥३७३॥
विपुलोपगता ये ते बोद्धव्या भव्यदेहिनाम् । वादिनोऽपि च तावन्ति सहस्राणीष्टवादिनः ॥३७४॥

प्रकारका होता है ॥३५७॥ भगवान् वृषभदेवके समवसरणमें चार हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, चार हजार एक सौ पचास शिक्षक, नौ हजार अवधिज्ञानी, बीस हजार सत्पुरुषोंके द्वारा पूजनीय केवली, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, बारह हजार सात सौ पचास विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञानी और इतने ही वादी थे ॥३५८–३६१॥

अजितनाथके समवसरणमें समीचीन सभ्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय तीन हजार सात सौ पचास पूर्वधारी, इक्कीस हजार छह सौ शिक्षक, नौ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, बीस हजार केवली, बीस हजार चार सौ पचास विक्रिया ऋद्धिके धारक, बारह हजार चार सौ विपुलमति मतिज्ञानके धारक और इतने ही वादी थे ॥३६२–३६५॥

संभवनाथके समवसरणमें दो हजार एक सौ पचास पूर्वोंके सद्भावका निरूपण करनेवाले पूजनीय पूर्वधारी जानने योग्य हैं ॥३६६॥ एक लाख उनतीस हजार तीन सौ शिक्षक साधुओंकी संख्या स्मरण की गयी है ॥३६७॥ नौ हजार छह सौ अवधिज्ञानी माने गये हैं, पन्द्रह हजार केवलज्ञानी स्मृत किये गये हैं ॥३६८॥ उन्नीस हजार आठ सौ पचास विक्रिया शक्तिको धारण करनेवाले वैक्रिय साधु थे। बारह हजार विपुलमति ज्ञानके धारक थे और बारह हजार एक सौ वादी मुनि थे ॥३६९॥

अभिनन्दननाथके समवसरणमें दो हजार पाँच सौ पूर्वके धारक, दो लाख तीस हजार पचास शिक्षक, नौ हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, सोलह हजार केवलज्ञानी, उन्नीस हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, ग्यारह हजार छह सौ पचास विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और भव्य जीवोंको हितका उपदेश देनेवाले उतने ही वादी थे ॥३७०—३७४॥

---

१. संयमस्य म० (?)। २. पूर्वसद्भाववेदिनः म०।

सुमतेर्द्वे सहस्रे तु चतुःशत्यपि पूर्विणः । द्वे लक्षे शिक्षका दश्याश्चतुःपञ्चाशदेव च ॥३७५॥
सहस्राण्यभियुक्तानि पञ्चाशच्च शतत्रयम् । एकादशसहस्राणि विमलावधयस्तथा ॥३७६॥
त्रयोदशसहस्राणि केवलज्ञानचक्षुषः । अष्टादशसहस्राणि चतुःशत्यपि वैक्रियाः ॥३७७॥
दश्या दशसहस्राणि विपुलाख्याश्चतुःशती । तावन्तो वादिनस्तेभ्यः सर्वे पञ्चाशताधिकाः ॥३७८॥
पद्माभस्य सहस्रे द्वे शतानि त्रीणि पूर्विणः । लक्षे द्वे शिक्षकाः षष्टिसहस्राणि नवापि च ॥३७९॥
ज्ञेया दशसहस्राणि मुनयोऽवधिलोचनाः । द्वादशाष्टशतैर्युक्ताः सहस्राण्यात्तकेवलाः ॥३८०॥
षोडशैव सहस्राणि त्रिशती वैक्रिया नव । वादिनो विपुलाख्याः षट् शत्यामा दश तानि वै ॥३८१॥
द्वे सहस्रे सुपार्श्वस्य त्रिंशता पूर्विणश्चतुः । चत्वारिंशत्सहस्राणि लक्षे नवशतैः सह ॥३८२॥
शिक्षका विंशतिं प्राप्ताः सहस्राणि [1]नवावधिम् । एकादश सहस्राणि त्रिशती केवलान्विताः ॥३८३॥
शतं पञ्चाशता पञ्च सहस्राणि दशापि च । वैक्रियाविपुलाख्याः षट्शती नवसहस्रकैः ॥३८४॥
वादिनोऽष्टसहस्राणि ततश्चन्द्रप्रभस्य तु । पूर्विणो द्वे सहस्रे तु शैक्षा लक्षे चतुःशती ॥३८५॥
[2]संवावष्टसहस्राणि पृथक् सविपुलावधी । दशकेवलिनस्तानि वैक्रियास्तु चतुःशती ॥३८६॥
ज्ञेयाः सप्त सहस्राणि षट् शतानि च वादिनः । सुविधेः पूर्विणः पञ्च दशशत्युपवर्णिता ॥३८७॥
लक्षैका पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि शतानि च । पञ्च शिक्षकसाधूनामवधिज्ञानिनोऽष्ट तु ॥३८८॥
सहस्राणि चतुःशत्या पञ्चशत्या तु सप्त वै । सहस्राण्यात्तकैवल्याः स्युस्त्रयोदश वैक्रियाः ॥३८९॥
षट् सहस्राणि विपुलां पञ्चशत्या मतिं श्रिताः । वादिनः षट्शतैः सप्त सहस्राणि विनिश्चिताः ॥३९०॥

सुमतिनाथके समवसरणमें दो हजार चार सौ पूर्वधारी, दो लाख चौवन हजार तीन सौ पचास शिक्षक, ग्यारह हजार निर्मल अवधिज्ञानी, तेरह हजार केवलज्ञानी, अठारह हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, उतने ही विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानके धारक और उनसे पचास अधिक अर्थात् दश हजार चार सौ पचास वादी थे ॥३७५—३७८॥

पद्मप्रभके समवसरणमें दो हजार तीन सौ पूर्वधारी, दो लाख उनहत्तर हजार शिक्षक, दस हजार अवधिज्ञानी, बारह हजार आठ सौ केवलज्ञानी, सोलह हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, नौ हजार वादी और दस हजार छह सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी थे ॥३७९—३८१॥

सुपार्श्वनाथके समवसरणमें दो हजार तीस पूर्वधारी, दो लाख चवालिस हजार नौ सौ बीस शिक्षक, नौ हजार अवधिज्ञानी, ग्यारह हजार तीन सौ केवली, पन्द्रह हजार एक सौ पचास विक्रिया ऋद्धिके धारक, नौ हजार छह सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी, और आठ हजार वादी थे।

चन्द्रप्रभके समवसरणमें दो हजार पूर्वधारी, दो लाख चार सौ शिक्षक, आठ हजार विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी, आठ हजार अवधिज्ञानी, दस हजार केवलज्ञानी, दस हजार चार सौ विक्रियाऋद्धिके धारक और सात हजार छह सौ वादी थे।

सुविधिनाथके समवसरणमें पाँच हजार पूर्वधारी, एक लाख पचपन हजार पाँच सौ शिक्षक, आठ हजार चार सौ अवधिज्ञानी, सात हजार पाँच सौ केवलज्ञानी, तेरह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, छह हजार पाँच सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और सात हजार छह सौ वादी थे ॥३८२–३९०॥

---

१. नवावधेः क० । २. संख्या चाष्ट क० ।

शीतलस्य चतुःशत्या सहस्रं पूर्ववेदिनः । द्विशत्यैकान्नषष्टिस्तु सहस्राणि सुशिक्षकाः ॥३९१॥
द्विशत्या सावधिः संघः सहस्राणि हि सप्त सः । सप्तकेवलिनस्तानि द्वादशैतानि वैक्रियाः ॥३९२॥
पञ्चशत्या सहस्राणि सप्तैते विपुलेश्वराः । सप्तशत्या सहस्राणि पञ्च सद्वादवादिनः ॥३९३॥
त्रयोदश शतानि स्युः पूर्विणः श्रेयसोऽष्टभिः । चत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशती शैक्ष्यसाधवः ॥३९४॥
सावधिः षट् सहस्राणि गणः केवलिनामपि । पञ्चशत्या सहस्राणि तथैकादश वैक्रियाः ॥३९५॥
ततोऽन्ये षट् सहस्राणि पञ्च तानि ततः परे । शतानि द्वादशैव स्युर्वासुपूज्यस्य पूर्विणः ॥३९६॥
द्विशत्या शिक्षकास्त्रिंशत्सहस्राणि नवापि च । चतुःशत्या सहस्राणि पञ्च सावधयो मताः ॥३९७॥
सर्वज्ञाः षट् सहस्राणि वैक्रियाः दश षट् परे । वादिनस्तु सहस्राणि चत्वारि द्विशती तथा ॥३९८॥
शतान्येकादश ज्ञेया विमलस्य तु पूर्विणः । अष्टात्रिंशत्सहस्राणि पञ्चशत्या तु शैक्षकाः ॥३९९॥
अष्टशत्या सहस्राणि चत्वार्यवधिलोचनाः । पञ्चशत्या सहस्राणि पञ्च केवलिनो नव ॥४००॥
वैक्रियाश्च सहस्राणि ततोऽन्ये केवलिप्रमाः वादिनस्त्रिसहस्री च षट्शती च विनिश्चिताः ॥४०१॥
पूर्विणोऽनन्तनाथस्य सहस्रगणनाः स्मृताः । पञ्चशत्या सहस्राणि त्रिंशन्नव च शिक्षकाः ॥४०२॥
स्युश्चत्वारि सहस्राणि त्रिशत्या सावधिर्गणः । अन्ये पञ्चाष्टपञ्चत्रिसहस्राण्यन्तके[1] शते ॥४०३॥
शतानि नव धर्मस्य पूर्विणः शिक्षकाः पुनः । चत्वारिंशत्सहस्राणि तथा सप्तशतानि च ॥४०४॥
षट् शतानि सहस्राणि त्रीणि सावधयः स्मृताः । पञ्चशत्या सहस्राणि चत्वारि सकलेक्षणाः ॥४०५॥
सन्तः सप्तसहस्राणि वैक्रिया विपुलान्विताः । पञ्चशत्या तु चत्वारि द्विसहस्र्यष्टशत्यतः ॥४०६॥

शीतलनाथके समवसरणमें एक हजार चार सौ पूर्ववेदी, उनसठ हजार दो सौ शिक्षक, सात हजार दो सौ अवधिज्ञानी, सात हजार केवलज्ञानी, बारह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, सात हजार पाँच सौ विपुलमतिज्ञानके स्वामी और पाँच हजार सात सौ उत्तम वादी थे ॥३९१—३९३॥

श्रेयांसनाथके समवसरणमें तेरह सौ पूर्वधारी, अड़तालीस हजार दो सौ शिक्षक, छह हजार अवधिज्ञानी, छह हजार पाँच सौ केवलज्ञानी, ग्यारह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, छह हजार विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और पाँच हजार वादी थे।

वासुपूज्यके समवसरणमें बारह सौ पूर्वधारी, उनतालीस हजार दो सौ शिक्षक, पाँच हजार चार सौ अवधिज्ञानी, छह हजार केवलज्ञानी, दस हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, छह हजार विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और चार हजार दो सौ वादी थे ॥३९४—३९८॥

विमलनाथके ग्यारह सौ पूर्वधारी, अड़तीस हजार पाँच सौ शिक्षक, चार हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, पाँच हजार पाँच सौ केवली, नौ हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, नौ हजार विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी और तीन हजार छह सौ वादी निश्चित थे ॥३९९—४०१॥

अनन्तनाथके समवसरणमें एक हजार पूर्वधारी, उनतालीस हजार पाँच सौ शिक्षक, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी, पाँच हजार केवल ज्ञानी, आठ हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक और तीन हजार दो सौ वादी थे ॥४०२—४०३॥

धर्मनाथके समवसरणमें नौ सौ पूर्वधारी, चालीस हजार सात सौ शिक्षक, तीन हजार छह सौ अवधिज्ञानी, चार हजार पाँच सौ केवलज्ञानी, सात हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, चार हजार पाँच सौ विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी और दो हजार आठ सौ वादी थे ॥४०४—४०६॥

---

१. न्यन्तगे म० ।

पूर्विणोऽष्टशती शान्तेरष्टसत्यत्र शिक्षकाः । चत्वारिंशत्सहस्रयेकं त्रिसहस्रीगणः परः ॥४०७॥
चत्वारि षट् (च)चत्वारि द्वे सहस्रे चतुःशती । कुन्थोस्तु सप्तशत्येव पूर्विणः शिक्षकाः पुनः ॥४०८॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि त्रीणि पञ्चाशता शतम् । सावधिः पञ्चशत्या तु द्वे सहस्रे गणो मतः ॥४०९॥
त्रिसहस्री द्विशत्या तु गणः केवलिनां स्मृतः । शतैकं वैक्रियाः पञ्च सहस्राणि च सम्मताः ॥४१०॥
त्रिशत्या त्रिसहस्री तु पञ्चाशद्विपुलेश्वराः । वादिनां जितवादानां सहस्रद्वितयी मता ॥४११॥
[1]पूज्याः पूर्वभृतोऽरस्य षट्शती तु दशोत्तरा । शैक्षास्तु पञ्चत्रिंशत्सहस्रैरष्टभिः शतैः ॥४१२॥
पञ्चत्रिंशन्मताः सर्वे सावधिः परिषत्पुनः । सकेवलावधिर्ज्ञेया द्विसहस्र्यष्टशत्यपि ॥४१३॥
वैक्रियास्तु सहस्राणि चत्वारि त्रिशती तथा । सहस्रे पञ्चपञ्चाशन्मत्या विपुलयान्विताः ॥४१४॥
शतानि षोडशैव स्युर्वादिनः पटुवादिनः । मल्लेस्तु पूर्विणः सर्वे पञ्चाशत् सप्तशत्यपि ॥४१५॥
एकोनत्रिंशदुद्दिष्टाः सहस्राणि तु शिक्षकाः । द्वाविंशतिः शतानि स्युर्मुनयोऽवधिचक्षुषः ॥४१६॥
सहस्रे षट् च शत्यामा पञ्चाशच्च सकेवलाः । चतुःशत्या सहस्रं तु वैक्रियाः यतयो मताः ॥४१७॥
द्वे सहस्रे शते द्वे च मता विपुलबुद्धयः । तावन्त एव जेतारो वादिनः प्रतिवादिनाम् ॥४१८॥
मुनिसुव्रतनाथस्य पूर्विणः पञ्चशत्यभूत् । शिक्षकाः शिक्षया युक्ताः सहस्राण्येकविंशतिः ॥४१९॥
अष्टादश शतान्येव मताः सावधिकेवलाः[2] । द्वाविंशतिः पञ्चदश द्वादशैतान्यतः परे ॥४२०॥
पञ्चाशता शतानि स्युश्चत्वारि नमिपूर्विणः[3] । षड्भिः शतैः सहस्राणि द्वादशैव तु शिक्षकाः ॥४२१॥
शतानि षोडश ख्याताः केवलावधिलोचनाः । वैक्रियास्तु शतानि स्युस्तथा पञ्चदशैव तु ॥४२२॥

शान्तिनाथके समवसरणमें आठ सौ पूर्वधारी, इकतालीस हजार आठ सौ शिक्षक, तीन हजार अवधिज्ञानी, चार हजार केवलज्ञानी, छह हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, चार हजार विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और दो हजार चार सौ वादी थे।

कुन्थुनाथके समवसरणमें सात सौ पूर्वधारी, तैंतालीस हजार एक सौ पचास शिक्षक, दो हजार पाँच सौ अवधिज्ञानी, तीन हजार दो सौ केवली, पाँच हजार एक सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, तीन हजार तीन सौ पचास विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और दो हजार वादोंको जीतनेवाले वादी थे ॥४०७—४११॥

अरनाथके समवसरणमें छह सौ दश पूर्वधारी, पैंतीस हजार आठ सौ पैंतीस शिक्षक, दो हजार आठ सौ अवधिज्ञानी, इतने ही केवलज्ञानी, चार हजार तीन सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, दो हजार पचपन विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और सोलह सौ उत्तम वाद करनेवाले वादी थे।

मल्लिनाथके समवसरणमें सात सौ पचास पूर्वधारी, उनतीस हजार शिक्षक, बाईस सौ अवधिज्ञानी, दो हजार छह सौ पचास केवलज्ञानी, एक हजार चार सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, दो हजार दो सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और उतने ही प्रतिवादियोंको जीतनेवाले वादी थे ॥४१२—४१८॥

मुनि सुव्रतनाथके समवसरणमें पाँच सौ पूर्वधारी, इक्कीस हजार शिक्षासे युक्त शिक्षक, अठारह सौ अवधिज्ञानी, अठारह सौ केवलज्ञानी, बाईस सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, पन्द्रह सौ विपुलमतिमनःपर्यय ज्ञानी और बारह सौ वादी थे ॥४१९—४२०॥

नमिनाथके समवसरणमें चार सौ पचास पूर्वधारी, बारह हजार छह सौ शिक्षक, सोलह सौ अवधिज्ञानी, सोलह सौ केवलज्ञानी, पन्द्रह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, बारह

---

१. पूज्यः म० । २. लोचनाः म० । ३. नमिपूर्विताः म० ।

शतानि द्वादश प्रोक्ताः पञ्चाशद्विपुलेक्षणाः । सहस्रपरिमाणास्तु वादिनोऽप्रतिवादिनः[1] ॥४२३॥
चतुःशतानि नेमेस्तु पूर्विणः शिक्षकाः स्मृताः । एकादश सहस्राणि शतैरष्टभिरेव तु ॥४२४॥
सकेवलावधी संख्यौ सहस्रं पञ्चशत्यपि । सहस्रं वैक्रियाश्चापि शतं च शुभवैक्रियाः ॥४२५॥
शतानि नव विज्ञेयाः शान्ता विपुलबुद्धयः[2] । वादिनोऽष्टौ शतानीह निःप्रतिप्रतिभान्विताः ॥४२६॥
पञ्चाशत्त्रिशती चापि स्युः पार्श्वस्य तु पूर्विणः । शैक्षा दश सहस्राणि शतानि नव च स्मृताः ॥४२७॥
चतुःशत्या सहस्रं तु निर्मलावधिबोधनाः । सहस्रं केवलालोका वैक्रियाश्च तथा मताः ॥४२८॥
शतानि सप्त पञ्चाशद्विपुलामल[3]बुद्धयः । वादिनः षट् शतानि स्युर्वादन्यायविधौ बुधाः ॥४२९॥
वर्धमानजिनेन्द्रस्य त्रिशती पूर्वधारिणः । शैक्षा नव सहस्राणि शतानि च नवोदिताः ॥४३०॥
त्रयोदश शतानि स्युरवधिज्ञानिनः परे । ये सप्त नव पञ्च स्युश्चत्वारि च शतानि वै ॥४३१॥
आर्यास्तिस्रोऽभवँल्लक्षा जिनपञ्चकसंसदि । पञ्चाशद्विंशतित्रिंशत्त्रिंशत्त्रिंशत्सहस्रकैः ॥४३२॥
चतस्रो विदिता लक्षाः पद्माभस्य सभान्तरे । विंशतिश्च सहस्राणि सहस्राणीव रोचिषाम् ॥४३३॥
तिस्रस्त्रिंशत्सहस्राणि सप्तमस्य सभाम्बुधौ । ततः परं त्रयाणां तास्तिस्रोऽशीतिसहस्रकैः ॥४३४॥
स्याद्विंशतिसहस्रैस्तु लक्षैकान्यस्य संसदि । एका लक्षा त्रयाणां च षट्त्रिकाष्टसहस्रकैः ॥४३५॥
स्युर्द्वाषष्टिसहस्राणि धर्मस्यापि चतुःशती । शान्तेः षष्टिसहस्राणि शतानां त्रितयं तथा ॥४३६॥

सौ पचास विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी, और एक हजार प्रतिवादियोंसे रहित वादी थे ॥४२१—४२३॥

नेमिनाथके समवसरणमें चार सौ पूर्वधारी, ग्यारह हजार आठ सौ शिक्षक, एक हजार पाँच सौ अवधिज्ञानी, एक हजार पाँच सौ केवली, एक हजार एक सौ शुभविक्रिया करनेवाले विक्रियाऋद्धिके धारक, नौ सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानके धारक और आठ सौ अनुपम प्रतिभासे युक्त वादी थे ॥४२४-४२६॥

पार्श्वनाथके समवसरणमें तीन सौ पचास पूर्वधारी, दश हजार नौ सौ शिक्षक, एक हजार चार सौ निर्मल अवधिज्ञानके धारक, एक हजार केवलज्ञानी, एक हजार विक्रिया ऋद्धिके धारक, सात सौ पचास विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी, और छह सौ वाद-विवादमें निपुण वादी थे ॥४२७-४२९॥

और वर्धमान जिनेन्द्रके समवसरणमें तीन सौ पूर्वधारी, नौ हजार नौ सौ शिक्षक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, नौ सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक, पाँच सौ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानी और चार सौ वादी कहे गये हैं ॥४३०—४३१॥

भगवान् वृषभदेवके समवसरणमें आर्यिकाएँ तीन लाख पचास हजार, अजितनाथके समवसरणमें तीन लाख बीस हजार, संभवनाथके समवसरणमें तीन लाख तीस हजार, अभिनन्दननाथके समवसरणमें तीन लाख तीस हजार, सुमतिनाथके समवसरणमें तीन लाख तीस हजार, पद्मप्रभके समवसरणमें हजारों किरणोंके समान चार लाख बीस हजार, सुपार्श्वनाथके समवसरणमें तीन लाख तीस हजार, चन्द्रप्रभके समवसरणमें तीन लाख अस्सी हजार, पुष्पदन्तके समवसरणमें तीन लाख अस्सी हजार, शीतलनाथके समवसरणमें तीन लाख अस्सी हजार, श्रेयांसनाथके समवसरणमें एक लाख बीस *हजार, वासुपूज्यके समवसरणमें

---

१. वादिनोऽप्रतिवादिनाम् म० । २. विमलबुद्धयः म० । ३.-विमलामल म०, क० ।

* तिलोयपण्णत्तिमें श्रेयांसनाथकी आर्यिकाओंकी संख्या, एक लाख तीस हजार बतलायी है 'तीससहस्स अब्भहियं लक्खं सेयंस देवम्मि' ॥११७०॥ च. अ. ।

कुन्थोः षष्टिसहस्राणि पञ्चाशच्च शतत्रयम् । पुनः षष्टिसहस्राणि जिनस्यारस्य संसदि ॥४३७॥
मल्लेस्तु पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि समान्तरे । सहस्राण्येव पञ्चाशन्मुनिसुव्रतसंसदि ॥४३८॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि नमेः पञ्चोत्तराणि ताः । चत्वारिंशत्सहस्राणि नेमेः सदसि ताः स्मृताः ॥४३९॥
अष्टात्रिंशत्सहस्राणि त्रयोविंशस्य संसदि । पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि चतुर्विंशस्य सम्मताः ॥४४०॥
तिस्रोऽष्टानां पृथग्लक्षा जिनानां श्रावकाः स्मृताः । द्वे लक्षे च ततोऽष्टानां लक्षाष्टानां मता ततः ॥४४१॥
पञ्चलक्षास्तथाष्टानां संसदि श्राविकाः स्मृताः । चतस्रस्तास्ततोऽष्टानां तिस्रोऽष्टानां जिनेशिनाम् ॥४४२॥
सिद्धाः षष्टिसहस्राणि नवशत्या वृषस्य ते । सप्तसप्ततिरन्यस्य सहस्राणि शतान्विताः ॥४४३॥
[1]शिष्या लक्षा तृतीयस्य सहस्राणि च सप्ततिः । शतं चातः शतं लक्षे सहाशीतिसहस्रकैः ॥४४४॥
तिस्रो लक्षाः सहस्रं च षट्शतानि ततस्ततः । त्रयोदशसहस्राणि तिस्रो लक्षाश्च षट्शती ॥४४५॥
पञ्चाशीतिसहस्राणि द्वे लक्षे षट्शती ततः । चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि द्वे लक्षे च ततः परम् ॥४४६॥
लक्षैकेन विनाशीतिः सहस्राण्यपि षट्शती । ततोऽशीतिसहस्राणि षट्शतानि च निर्वृताः ॥४४७॥
पञ्चषष्टिसहस्राणि श्रेयसः षट्शती यथा । चतुःपञ्चाशदेव स्यात्सहस्राण्यपि षट्शती ॥४४८॥
सहस्राण्येकपञ्चाशत् त्रिशती विमलस्य तु । अनन्तस्यापि तावन्ति सहस्राण्येव केवलम् ॥४४९॥
धर्मस्यैकान्नपञ्चाशत् सहस्री सप्तशत्यपि । चत्वारिंशत्ततोऽष्टौ च सहस्राणि चतुःशती ॥४५०॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि षट् चाष्टौ च शतान्यतः । सप्तत्रिंशत्सहस्राणि द्विशत्यरजिनस्य तु ॥४५१॥

एक लाख छह हजार, विमलनाथके समवसरणमें एक लाख तीन हजार, अनन्तनाथके समवसरणमें एक लाख आठ हजार, धर्मनाथके समवसरणमें बासठ हजार चार सौ, शान्तिनाथके समवसरणमें साठ हजार तीन सौ, कुन्थुनाथके समवसरणमें साठ हजार तीन सौ पचास, अरनाथके समवसरणमें साठ हजार, मल्लिनाथके समवसरणमें पचपन हजार, मुनिसुव्रतनाथके समवसरणमें पचास हजार, नमिनाथके समवसरणमें पैंतालीस हजार, नेमिनाथके समवसरणमें चालीस हजार, पार्श्वनाथके समवसरणमें अड़तीस हजार, और चौबीसवें महावीर भगवान्के समवसरणमें पैंतीस हजार आर्यिकाएँ मानी गयी हैं ॥४३२—४४०॥

प्रारम्भसे लेकर आठ तीर्थंकरोंके समवसरणमें प्रत्येकके तीन-तीन लाख, फिर आठ तीर्थंकरोंके प्रत्येकके दो-दो लाख और तदनन्तर शेष आठ तीर्थंकरोंके प्रत्येकके एक-एक लाख श्रावक थे ॥४४१॥

इसी प्रकार प्रारम्भके आठ तीर्थंकरोंके समवसरणमें प्रत्येककी पाँच-पाँच लाख, फिर आठ तीर्थंकरोंकी प्रत्येककी चार-चार लाख और तदनन्तर शेष आठ तीर्थंकरोंकी प्रत्येककी तीन-तीन लाख श्राविकाएँ थीं ॥४४२॥

भगवान् वृषभनाथके मोक्ष जानेवाले शिष्योंकी संख्या साठ हजार नौ सौ, अजितनाथके सत्तर हजार एक सौ, संभवनाथके एक लाख सत्तर हजार एक सौ, अभिनन्दननाथके दो लाख अस्सी हजार एक सौ, सुमतिनाथके तीन लाख एक हजार छह सौ, पद्मप्रभके तीन लाख तेरह हजार* छह सौ, चन्द्रप्रभके दो लाख चौंतीस हजार, सुविधिनाथके एक लाख उन्यासी हजार छह सौ, शीतलनाथके अस्सी हजार छह सौ, श्रेयांसनाथके पैंसठ हजार छह सौ, वासुपूज्यके चौवन हजार छह सौ, विमलनाथके इक्यावन हजार तीन सौ, अनन्तनाथके इक्यावन हजार, धर्मनाथके उनचास हजार सात सौ, शान्तिनाथके अड़तालीस हजार

---

१. शिक्षा म० ।

* तिलोय पण्णत्तिमें पद्मप्रभ जिनेन्द्रके मुक्त होनेवाले शिष्योंकी संख्या तीन लाख चौदह हजार बतलायी है । 'चोद्दस सहस्स सहिदा पउमप्पह जिणवरस्स तियलक्खा' ॥१२२०॥ प्र० च० ।

चत्वारि सहस्राणि ततोऽष्टाविंशतिस्तथा । एकान्नविंशतिस्तस्मात्सहस्राणि शतद्वयम् ॥४५२॥
नमेर्नव सहस्राणि षट् शतानि च निर्वृताः । नेमेरष्टौ सहस्राणि षट् सप्त द्वे शते द्वयोः ॥४५३॥
यदैव केवलोत्पत्तिः षोडशानां जिनेशिनाम् । तदैव तेषां शिष्याणां सिद्धिः केषाञ्चिदिष्यते ॥४५४॥
एकद्वित्रिकषण्मासैरन्येषां शिष्यनिर्वृतिः । एक-द्वि-त्रिचतुर्वर्षैरपरेषां विनिश्चिता ॥४५४॥
त्रिविंशतिसहस्राणि पञ्चानां द्वादशैव तु । तान्येकादशपञ्चानां पञ्चानां दश तान्यतः ॥४५६॥
अष्टाशीति शतान्येव शिष्याः पञ्चजिनेशिनाम् । षट् सहस्राणि वीरस्य शिष्यास्तेऽनुत्तरोद्भवाः ॥४५७॥
ऊर्ध्वग्रैवेयकान्तासु सौधर्मादिषु भूमिषु । शतं त्रीणि सहस्राणि बभूवुर्वृषशिष्यकाः ॥४५८॥
एकान्नत्रिसहस्राणि द्वितीयस्य दिवं गताः । नवान्यस्य सहस्राणि शिष्या नवशतीयुताः ॥४५९॥
नवशत्या सहस्राणि तुरीयस्य तु सप्त वै । ततश्चतुःशतीयुक्ता षट्सहस्री दिवङ्गता ॥४६०॥

चार सौ, कुन्थुनाथके छयालीस हजार आठ सौ, अरनाथके सैंतीस हजार दो सौ, मल्लिनाथके अट्ठाईस हजार आठ सौ, मुनिसुव्रतनाथके उन्नीस हजार दो सौ, नमिनाथके नौ हजार छह सौ, नेमिनाथके आठ हजार, पार्श्वनाथके छह हजार दो सौ और भगवान् महावीरके सात हजार †दो सौ हैं ॥४४२-४५३॥

किन्हीं आचार्योंका मत है कि—प्रारम्भसे लेकर सोलह तीर्थंकरोंके शिष्य, जिस समय उन्हें केवलज्ञान हुआ था उसी समय सिद्धिको प्राप्त हो गये थे। तदनन्तर चार तीर्थंकरोंके शिष्य क्रमसे एक, दो, तीन और छह मासमें सिद्धिको प्राप्त हुए और उनके बाद चार तीर्थंकरोंके शिष्य एक, दो, तीन और चार वर्षमें सिद्धिको प्राप्त हुए★ ॥४५४-४५५॥

प्रारम्भसे लेकर तीन तीर्थंकरोंके बीस-बीस हजार, फिर पाँच तीर्थंकरोंके बारह-बारह हजार, फिर पाँच तीर्थंकरोंके ग्यारह-ग्यारह हजार, फिर पाँच तीर्थंकरोंके दश-दश हजार, फिर पाँच तीर्थंकरोंके अठासी-अठासी सौ और महावीरके छह हजार शिष्य अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले हैं ॥४५६॥

सौधर्म स्वर्गसे लेकर ऊर्ध्व ग्रैवेयक तकके विमानोंमें भगवान् वृषभदेवके तीन हजार एक सौ, अजितनाथके उनतीस सौ, संभवनाथके नौ हजार नौ सौ, अभिनन्दननाथके सात हजार नौ सौ, सुमतिनाथके छह हजार चार सौ, पद्मप्रभके चार हजार चार सौ, सुपार्श्वनाथके दो हजार चार सौ, चन्द्रप्रभके चार हजार, पुष्पदन्तके नौ हजार चार सौ, शीतल-

१. 'णवसयअब्भहिय दोसहस्साणि' ति० प०, अ०, च० ॥१२३३॥

† भगवान् महावीरके मुक्त होनेवाले शिष्योंकी संख्या तिलोयपण्णत्तिमें चवालीस सौ बतलायी है—'चउदालसया वीरेसरस्स'—अ. ॥१२२९॥ अ. च.

★. इस विषयका तिलोयपण्णत्तिमें इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

उसहादि सोलसाणं केवलणाणप्पसूदि दिवसम्मि ।
पढमं च्चिय सिस्सगणा णिस्सेयस संपयं पत्ता ॥१२३०॥
कुंथु चउक्के कमसो इगि दुति छम्मास समय पेरंते ।
णमि पहुदि जिणिंदेसुं इगि दुति छव्वाससंखाए ॥१२३१॥—अ० चार

अर्थात् ऋषभादिक सोलह तीर्थंकरोंके शिष्यगण केवलज्ञान उत्पन्न होनेके दिन पहले ही निःश्रेयस संपदाको प्राप्त हुए। कुन्थुनाथ आदि चार तीर्थंकरोंके शिष्यगण क्रमसे एक, दो, तीन और छह मास तक तथा नमि आदि चार जिनेन्द्रोंके शिष्यगण एक, दो, तीन और छह वर्ष तक निःश्रेयस पदको प्राप्त हुए ॥१२३०-१२३१॥

ततश्चतुःसहस्राणि चतुःशत्यान्वितानि तु । द्विसहस्री चतुःशत्यातः सहस्रचतुष्टयी ॥४६१॥
ततो नव सहस्राणि सहितानि चतुःशतैः । ततोऽष्टौ सप्त षट्चापि सहस्राणि चतुःशतैः ॥४६२॥
ततः पञ्चसहस्राणि सप्तशत्या ततोऽपि च । पञ्चैव तु सहस्राणि चत्वारि त्रिशतैस्ततः ॥४६३॥
ततस्त्रीणि सहस्राणि शतैः षड्भिस्ततः पुनः । त्रीण्येव तु सहस्राणि द्विशते च दिवङ्गताः ॥४६४॥
सहस्रद्वितयं चातो द्वयोरष्ट चतुःशतैः । द्वे सहस्रे ततोऽन्यस्य सहस्रं षट् शतान्यतः ॥४६५॥
द्विशत्यातः सहस्रं हि सहस्रं केवलं ततः । अष्टौ शतानि वीरस्य शिष्यास्ते स्वर्गगामिनः ॥४६६॥
कोटीलक्षास्तु पञ्चाशत्त्रिंशदेव नवाब्धयः । नवतिश्च सहस्राणि नवतिश्च शतान्यपि ॥४६७॥
तथा नवशतान्येव नवतिर्नवकोटयः । जिनानां वृषभादीनामन्तराणि नव क्रमात् ॥४६८॥
षट्षष्टिवर्षलक्षाभिः षड्विंशतिसहस्रकैः । विहीनाब्दशतेनाब्धिः कोटी दशममन्तरम् ॥४६९॥
चतुःपञ्चाशदेवातस्त्रिंशन्नव च सागराः । चत्वारस्ते त्रयस्त्नास्त्रिचतुर्भागपल्यकैः ॥४७०॥
पल्यार्धं च चतुर्भागो हीनकोटीसहस्रकः । कोटीसहस्रमब्दानां चतुर्लक्षाः शतार्धगाः ॥४७१॥
षट् लक्षाः पञ्चलक्षाश्च त्र्योऽशीतिसहस्रकैः । सार्धसप्तशतान्यर्धतृतीये च शते मते ॥४७२॥
[1]वर्धमानजिनेन्द्रस्य सहस्राण्येकविंशतिः । तीर्थकालस्तु तावन्ति सहस्राण्यतिदुःषमः ॥४७३॥
[2]आदावष्टौ तथान्तेऽष्टावव्युच्छिन्नानि षोडश । मध्ये तु सप्ततीर्थानि व्युच्छिन्नानीह भारते ॥४७४॥

नाथके आठ हजार चार सौ, श्रेयांसनाथके सात हजार चार सौ, वासुपूज्यके छह हजार चार सौ, विमलनाथके पाँच हजार सात सौ, अनन्तनाथके पाँच हजार, धर्मनाथके चार हजार तीन सौ, शान्तिनाथके तीन हजार छह सौ, कुन्थुनाथके तीन हजार दो सौ, अरनाथके दो हजार आठ सौ, मल्लिनाथके दो हजार चार सौ, मुनि सुव्रतनाथके दो हजार, नमिनाथके एक हजार छह सौ, नेमिनाथके एक हजार दो सौ, पार्श्वनाथके एक हजार, और महावीरके आठ सौ शिष्य उत्पन्न हुए हैं ॥४५७-४६६॥

पचास लाख करोड़, तीस लाख करोड़, दश लाख करोड़, नौ लाख करोड़, नब्बे हजार करोड़, नौ हजार करोड़, नौ सौ करोड़, नब्बे करोड़ और नौ करोड़ सागर यह क्रमसे वृषभादि नौ तीर्थंकरोंके मुक्त होनेका अन्तर काल है ॥४६७-४६८॥ छयासठ लाख छब्बीस हजार एक सौ कम एक करोड़ सागर प्रमाण दशवाँ अन्तर है अर्थात् शीतलनाथ भगवान्के मुक्ति जानेके बाद इतना समय बीत जानेपर श्रेयांसनाथ भगवान् मुक्ति गये ॥४६९॥ तदनन्तर चौवन, तीस, नौ, चार और पौन पल्य कम तीन हजार सागर यह वासुपूज्यसे लेकर शान्ति जिनेन्द्र तकका अन्तरकाल है। तत्पश्चात् अर्धपल्य, एक हजार करोड़ वर्ष कम पाव पल्य, एक हजार करोड़, चौवन लाख, छह लाख, पाँच लाख, तेरासी हजार सात सौ पचास और अढ़ाई सौ वर्ष प्रमाण क्रमसे कुन्थुनाथसे लेकर महावीर पर्यन्तका अन्तर है ॥४७०-४७२॥

महावीर भगवानका तीर्थकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण पाँचवाँ काल और इतना ही छठवाँ काल इस प्रकार बयालीस हजार वर्ष प्रमाण है ॥ ४७३॥ आदिके आठ और अन्तके आठ इस प्रकार सोलह तीर्थ तो इस भरतक्षेत्रमें अविच्छिन्न रूपसे प्रवृत्त हुए

---

१. तिलोयपण्णत्तेः चतुर्थमहाधिकारे १२५०—१२७४ गाथासु वृषभादीनां सर्वेषां जिनेन्द्राणां पृथक् पृथक् तीर्थकालो निरूपितः। इह तु वर्धमानजिनेन्द्रस्यैव निरूपितः 'इगिवीससहस्साणि दुस्सम वीरस्स सो कालो' ॥ ति० प० ॥ २. उच्छिण्णो सोधम्मो सुविहिप्पमुहेसु सत्ततित्थेसुं। सेसेसु सोलसेसुं णिरंतरं धम्म सन्ताणं ॥१२७८॥ पल्लस्स पादमद्धं तिचरणपल्लं खु तिचरणं अद्धं। पल्लस्स पादमेत्तं वोच्छेदो धम्म तित्थस्स ॥१२७९॥ हुंडावसप्पिणिस्स य दोसेणं सत्त होंति विच्छेदा। दिक्खाहि मुहाभावे अत्थमिओ धम्मरविदेओ ॥१२८०॥ ति० प०, ४ अ० ।

पादः पल्यस्य पल्यार्धं त्रिपादी पल्यमेव तु । त्रिपाद्यर्धं च पादश्च व्युच्छेदानेहसः क्रमात् ॥४७५॥
आदितः सप्ततीर्थेषु केवलश्रीर्निरन्तरा । चन्द्राभस्य मुनेरन्ते सुविधेर्नवतिर्मता ॥४७६॥
तीर्थे चतुरशीतिस्तु शीतलस्य निरन्तरा । केवलज्ञानिनोऽन्यस्य द्वासप्ततिरुदाहृता ॥४७७॥
चत्वारिंशच्चतुर्युक्ता वासुपूज्यस्य पूजिता । चतुर्हानिस्तु दशसु द्वयोः केवलिनस्त्रयः ॥४७८॥
वीरकेवलिनां कालो द्वाषष्ट्यब्दानि संस्तुतः । ततो वर्षशतं पूर्णं स्याच्चतुर्दशपूर्विणाम् ॥४७९॥
त्र्योऽशीत्या शताब्दानि भवन्ति दशपूर्विणाम् । विंशत्यङ्गभृतां युक्ताः कालो वर्षशतद्वयम् ॥४८०॥

परन्तु बीचके सात तीर्थ व्युच्छिन्न होकर पुनः-पुनः प्रवृत्त हुए ॥ ४७४ ॥ पाव पल्य, अर्ध पल्य, पौन पल्य, एक पल्य, पौन पल्य, अर्धपल्य और पाव पल्य, यह क्रमसे व्युच्छिन्न तीर्थोंके विच्छेदकालका प्रमाण है। भावार्थ—वृषभदेवसे लेकर पुष्पदन्त तक तो तीर्थ अविच्छिन्न रूपसे चलते रहे उसके बाद पुष्पदन्तके तीर्थमें जब पाव पल्य प्रमाण काल बाकी रह गया तब तीर्थ—धर्मका विच्छेद हो गया। तदनन्तर शीतलनाथके केवली होनेपर पुनः तीर्थ प्रारम्भ हुआ, इसी प्रकार धर्मनाथ पर्यन्त ऊपर लिखे अनुसार तीर्थ विच्छेद समझना चाहिए। शान्तिनाथसे लेकर महावीर पर्यन्त बीचमें तीर्थका विच्छेद नहीं है। महावीरका तीर्थ बयालीस हजार वर्ष तक चलेगा, उसके बाद विच्छिन्न हो जायेगा। तदनन्तर आगामी उत्सर्पिणी युगमें जब प्रथम तीर्थंकरको केवलज्ञान होगा तब पुनः तीर्थका प्रारम्भ होगा ॥ ४७५ ॥

प्रारम्भसे लेकर सात तीर्थंकरोंके तीर्थमें केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी निरन्तर विद्यमान रही। उसके पश्चात् चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्तके तीर्थमें नब्बे-नब्बे, शीतलनाथके तीर्थमें चौरासी, श्रेयांसनाथके तीर्थमें बहत्तर, वासुपूज्यके तीर्थमें चौवालीस, फिर विमलनाथसे लेकर नेमिनाथ तक दश तीर्थंकरोंके तीर्थमें चार-चार कम और अन्तिम दो तीर्थंकरोंके तीर्थमें तीन-तीन केवली अनुबद्ध हुए हैं अर्थात् एकके मोक्ष जानेके बाद दूसरेको केवलज्ञान हो गया है† ॥४७६-४७८॥ महावीर स्वामीके केवलियोंका काल बासठ वर्ष कहा गया है उसके बाद सौ वर्ष चौदह पूर्वधारियोंका काल है, तदनन्तर एक सौ तेरासी वर्ष दश पूर्वधारियोंका समय है, फिर दो सौ बीस वर्ष ग्यारह अङ्गके पाठियोंका काल है, और इसके बाद एक सौ अठारह वर्ष आचाराङ्गके धारियों-

---

† तिलोयपण्णत्तिमें अनुबद्ध केवलियोंका वर्णन करते हुए दो मत दिये हैं। प्रथम मतके अनुसार आदिनाथसे लेकर दसवें तीर्थंकर तक प्रत्येकके ८४, श्रेयांस और वासुपूज्यके क्रमसे ७२ और ४४ विमलनाथके ४०, अनन्तनाथके ३६, धर्मनाथके ३२, शान्तिनाथके २८, कुन्थुनाथके २४, अरनाथके २०, मल्लिनाथके १६, मुनिसुव्रतनाथके १२, नमिनाथके ८, नेमिनाथके ४, पार्श्वनाथके ३ और महावीरके ३। अनुबद्ध केवली हैं तथा दूसरे मतके अनुसार—आदिनाथसे लेकर सातवें तीर्थंकर तक प्रत्येकके १००, चन्द्रप्रभके ६०, पुष्पदन्तके ९०, शीतलनाथके ६०, श्रेयांसनाथके ९०, वासुपूज्यके ८४, विमलनाथके ४०, अनन्तनाथके ३६, धर्मनाथके ३२, शान्तिनाथके २८, कुन्थुनाथके २४, अरनाथके २०, मल्लिनाथके १६, मुनिसुव्रतनाथके १२, नमिनाथके ८, नेमिनाथके ४, पार्श्वनाथके ३ और महावीरके ३ अनुबद्ध केवली हैं। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

दसमंते चउसीदी कमसो अणुबद्ध केवली होंति । बाहत्तरि चउदालं सेयंसे वासुपुज्जे य ॥ १२१२॥ विमल जिणे चालीसं णवयु तदो चउ विविजिदा कमसो । तिण्णि च्चिय पासजिणे तिण्णि च्चिय वड्ढमाणम्मि ॥१२१३॥ आ सत्तमेक्क सयं उवरितिए पाउदि णउदि च उसीदी । सेसेसु पुव्वसंखा हवंति अणुवद्धकेवली अहवा ॥१२१४॥ ति. प. अ।

आचाराङ्गभृतामीतः शतमष्टादशोत्तरम् । त्रिपञ्चैकादश ज्ञेया पञ्च चत्वार एव ते ॥४८१॥
वीरस्य गणिनां वर्षाण्यायुर्द्वानवतिश्चतुः । विंशतिः सप्ततिश्च स्यादशीतिः शतमेव च ॥४८२॥

का काल कहा गया है। महावीर स्वामीके केवलियोंकी संख्या तीन[1], चौदह पूर्वके धारियोंकी संख्या पाँच[2], दश पूर्वधारियोंकी संख्या ग्यारह[3], ग्यारह अङ्गके धारियोंकी संख्या पाँच[4] और आचाराङ्गके पाठियोंकी संख्या[5] चार है[6] ॥४७९—४८१॥ महावीर भगवान्‌के गणधरोंकी आयु

---

१. गौतम[1] स्वामी, सुधर्माचार्य[2], जम्बूस्वामी[3] ये तीन केवली हुए। २. नन्दी[1], नन्दिमित्र[2], अपराजित[3], गोवर्द्धन[4] और भद्रबाहु[5] ये पाँच चौदह पूर्वके धारी हुए। ३. विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गङ्गदेव और सुधर्म ये ग्यारह दश पूर्वधारी हुए। ४. नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच ग्यारह अंगके धारी हुए। ५. सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचारांगके धारी हुए।

६. यहाँ तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४, गाथा १४७६ से १४९२ तकका प्रकरण विशेष ज्ञानके लिए द्रष्टव्य है—

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ १४७६ ॥
तम्मि कदकम्मणासे जंबू सामित्ति केवली जादो ।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥ १४७७ ॥
बासट्ठीवासाणि गोदम पहुदीण णाणवंताणं ।
धम्मपयट्टण काले परिमाणं पिंडरूवेणं ॥ १४७८ ॥
कुंडल गिरिम्मिचरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो ।
चारण रिसीसु चरिमो सुपासचंदाभिधाणो य ॥ १४७९ ॥
पण्ण समणेसु चरिमो वइरजसो णाम ओहिणाणिसुं ।
चरिमो सिरिणामो सुद विणय सुसीलादिसंपण्णो ॥ १४८० ॥
मउड धरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य ।
तत्तो मउडधरा दु प्पव्वज्जं णेव गेण्हंति ॥ १४८१ ॥
णंदी य णंदिमित्तो बिदिओ अवराजिदो तइज्जो य ।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहुत्ति ॥ १४८२ ॥
पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा ।
ते बारस अंगधरा तित्थे सिरि वड्ढमाणस्स ॥ १४८३ ॥
पंचाण मेलिदाणं कालपमाणं हवेदि वाससदं ।
वीदम्मि य पंचमए भरहे सुदकेवली णत्थि ॥ १४८४ ॥
पढमो विसाहणामो पुट्ठिल्लो खत्तियो जओ णागो ।
सिद्धत्थो धिदिसेणो विजओ बुद्धिल्लगंगदेवा य ॥ १४८५ ॥
एक्करसो य सुधम्मो दशपुव्वधरा इमे सुविक्खाण ।
पारंपरिओवगदो तेसीदि सदं च ताण वासाणि ॥ १४८६ ॥
सव्वेसु वि कालवसा तेसु अदीदेसु भरह खेत्तम्मि ।
वियसंत भव्वकमला ण संति दसपुव्विदिवसयरा ॥ १४८७ ॥
णक्खत्तो जयपालो पंडुयधुवसेण कंस आइरिया ।
एक्कारसंगधारी पंच इमे वीर तित्थम्मि ॥ १४८८ ॥

त्र्योऽशीतिश्च नवतिः पञ्चभिः [1]साष्टसप्ततिः । द्वाभ्यां च [2]सप्ततिः षष्टिश्चत्वारिंशच्च संयुताः ॥४८३॥
षट्सु कालेषु पल्याष्टभागे शेषे तृतीयके । भूतिः कुलकराणां च ततोऽपि वृषभस्य तु ॥४८४॥
जन्म क्रमेण शेषाणां जिनानां चक्रवर्तिनाम् । हलिनां वासुदेवानां तुर्ये काले विनिश्चितम् ॥४८५॥
[3]त्र्यब्दाष्टमासमासार्धशेषयोरिह कालयोः । तृतीयतुर्ययोः सिद्धिः प्रसिद्धा वृषवीरयोः ॥४८६॥
वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते । लोकेऽवन्तिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥४८७॥
षष्टिवर्षाणि तद्राज्यं ततो विजयभूभुजाम् । शतं च पञ्चपञ्चाशद्वर्षाणि तदुदीरितम् ॥४८८॥
चत्वारिंशत्पुरूढानां भूमण्डलमखण्डितम् । त्रिंशत्तु पुष्पमित्राणां षष्टिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥४८९॥
शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः । चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ॥४९०॥
भद्रबाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम् । एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥४९१॥
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता । ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥४९२
कौमार्ये मण्डलेशत्वे विजये राज्यसंयमे । चक्र्यादीनां यथायोग्यमितः कालो निरूप्यते ॥४९३॥

क्रमसे बानबे वर्ष, चौबीस वर्ष, सत्तर वर्ष, अस्सी वर्ष, सौ वर्ष, तेरासी वर्ष, पंचानबे वर्ष, अठहत्तर वर्ष, बहत्तर वर्ष, साठ वर्ष और चालीस वर्ष है ।।४८२-४८३।। छह कालोंमें-से जब तृतीय कालमें पल्यका आठवाँ भाग बाकी रहा था तब क्रमसे चौदह कुलकरों और उनके बाद वृषभदेवका जन्म हुआ था। शेष तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलभद्रों और नारायणोंका जन्म चौथे कालमें निश्चित है ।। ४८४—४८५।। जब तीसरे कालमें तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहे थे तब भगवान् ऋषभदेवका मोक्ष हुआ था और जब चौथे कालमें तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहे थे तब महावीरका मोक्ष होगा ।।४८६।। जिस समय भगवान् महावीरका निर्वाण होगा उस समय यहाँ अवन्तिपुत्र पालक नामके राजाका राज्याभिषेक होगा। वह राजा प्रजाका अच्छी तरह पालन करेगा और उसका राज्य साठ वर्ष तक रहेगा। उसके बाद तद्-तद् देशोंके राजाओंका एक सौ पचपन वर्ष तक राज्य होगा ।।४८७—४८८।। फिर चालीस वर्ष तक पुरूढ राजाओंका अखण्ड भूमण्डल होगा। तदनन्तर तीस वर्ष तक पुष्पमित्रका, साठ वर्ष तक वसु और अग्निमित्रका, सौ वर्ष तक रासभ राजाओंका, फिर चालीस वर्ष तक नरवाहनका, फिर दो सौ ब्यालीस वर्ष तक बाणभट्टका, तदनन्तर दो सौ इक्कीस वर्ष तक गुप्तोंका और इसके बाद ब्यालीस वर्ष तक कल्कि राजाका राज्य होगा। उसके बाद अजितंजय नामका राजा होगा जिसकी राजधानी इन्द्रपुर नगर होगी ।।४८९-४९२।। अब इसके आगे चक्रवर्ती आदिकी, कुमार अवस्था, मण्डलेश्वर, दशा, दिग्विजय, राज्य और संयममें जो काल व्यतीत हुआ है उसका यथायोग्य निरूपण किया जाता है ।। ४९३।।

दोण्णि सया वीसजुदा वासाणं ताण पिंड परिमाणं ।
तेसु अतीदे णत्थि हु भरहे एक्कारसंगधरा ।। १४८९ ।।
पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू ।
तुरिमो य लोहणामो एदे आयारअंगधरा ।। १४९० ।।
सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा ।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं वासजुदं ताण परिमाणं ।। १४९१ ।।

—ति. प. अधिकार ४

1. साष्टसप्तभिः म० । 2. सप्तभिः म० । 3. अष्टाष्टमास—म० ।

पूर्वलक्षाः कुमारेऽगुर्भरते सप्तसप्ततिः । वर्षाणां च सहस्रं तु मण्डलाधिपतौ मतम् ॥४९४॥
षष्टिर्वर्षसहस्राणि विजयो राज्यमूर्जितम् । एकपूर्वविहीनास्तु[1] पूर्वलक्षाः षडेव तु ॥४९५॥
अङ्गलक्षास्त्रयोऽशीतिर्नवतिर्नवभिः सह । सहस्राणि नवान्यानि शतानि नवतिर्नव ॥४९६॥
वर्षलक्षास्त्रयोऽशीतिस्त्रिंशन्नवसहस्रकैः । चक्रिसंयमकालस्तु पूर्वलक्षैव केवला[2] ॥४९७॥
पञ्चाशत्तु सहस्राणि पूर्वाणां पूर्वकालयोः । त्रिंशदब्दसहस्राणि विजयः सगरस्य तु ॥४९८॥
एकान्नसप्ततिर्लक्षा पूर्वाणां नवतिर्नव । सहस्राणि नवापीह शतानि नवतिर्नव ॥४९९॥
पूर्वाङ्गप्रमितिः पूर्वाः सप्ततिश्च[3] सहस्रकैः । राज्यं लक्षास्त्रयोऽशीतिः पूर्वलक्षैव संयमः ॥५००॥
पञ्चविंशतिसंख्याब्दसहस्राणि कुमारकः । मण्डलेशश्च मघवान् जये दशसहस्रवान् ॥५०१॥
तिस्रोऽस्य[4] वर्षलक्षास्तु नवत्यब्दसहस्रकैः । राज्यं तपस्तु पञ्चाशत्सहस्राणि तपस्विनः ॥५०२॥
सनत्कुमारकौमार्यं मण्डलेशत्वमेव च । सहस्राणि तु पञ्चाशद्विजयो दश[5] तानि वै ॥५०३॥
नवत्यब्दसहस्राणि राज्यं प्राज्यमुदीरितम् । वर्षलक्षास्ततस्तस्य संयमः संयमात्मनः ॥५०४॥
शान्तेर्माण्डलिकत्वे तु[6] पञ्चविंशतिरेव तु । सहस्राण्यष्टशत्येव विजये गदितं परम् ॥५०५॥

पहले भरत चक्रवर्तीका आयुकाल चौरासी लाख पूर्वका था, उसमें सतहत्तर लाख पूर्व तो कुमार कालमें बीते, एक हजार वर्ष मण्डलेश्वर अवस्थामें व्यतीत हुए, साठ हजार वर्ष तक दिग्विजय किया, एक पूर्व कम छह लाख पूर्व चक्रवर्ती होकर राज्य किया तथा एक लाख पूर्व तेरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे पूर्वाङ्ग और तेरासी लाख नौ हजार तीस वर्ष पर्यन्त संयमी तथा केवली रहे* ॥४९४—४९७॥

दूसरे सगर चक्रवर्तीकी आयु बहत्तर लाख पूर्व थी उसमें पचास हजार लाख पूर्व तो कुमारकालमें बीते, इतने ही मण्डलेश्वर अवस्थामें व्यतीत हुए, तीस हजार वर्ष दिग्विजयमें गये, उनहत्तर लाख सत्तर हजार पूर्व, निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे पूर्वाङ्ग और तेरासी लाख वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य किया और एक लाख पूर्व तक संयमी रहे ॥ ४९८—५००॥

तीसरे मघवा चक्रवर्तीकी कुल आयु पाँच लाख वर्षकी थी। उसमें पचीस हजार वर्ष कुमारकालमें, पचीस हजार वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, दस हजार वर्ष दिग्विजयमें, तीन लाख नब्बे हजार वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्यकार्यमें और पचास हजार वर्ष संयमी अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५०१—५०२॥

चौथे सनत्कुमार चक्रवर्तीकी कुल आयु तीन लाख वर्षकी थी। उसमें पचास हजार वर्ष कुमारकालमें, पचास हजार वर्ष माण्डलिक अवस्थामें, दस हजार वर्ष दिग्विजयमें, नब्बे हजार वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्यके उपभोगमें और एक लाख वर्ष संयमी अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५०३—५०४॥

पाँचवें शान्तिनाथ चक्रवर्तीकी कुल आयु एक लाख वर्षकी थी, उसमें पचीस हजार वर्ष कुमार अवस्थामें, पचीस हजार वर्ष माण्डलीक अवस्थामें, आठ सौ वर्ष दिग्विजयमें बीते

---

१. एकपूर्वाङ्गहीनास्तु म० । २. केवलं क० । ३. सप्तसप्तसहस्रकैः क०, सप्तत्यब्दसहस्रकैः ख० । ४. तिस्रस्तु क० ङ०, । ५. सहस्राणि । ६. तु शब्दात् कौमार्ये (क० टि०) ।

* तिलोयपण्णत्तिमें चौरासी लाख पूर्व कुल आयु, सतहत्तर लाख पूर्व कुमारकाल, एक हजार वर्ष मण्डलेश्वर राजा, साठ हजार वर्ष दिग्विजय, इकसठ हजार वर्ष कम छह लाख पूर्व चक्रवर्ती होकर राज्यकाल और एक लाख पूर्व संयमकाल बतलाया है। ८. तिलोय पण्णत्तिमें चक्रवर्ती होकर राज्य करनेका काल तीस हजार वर्ष कम सत्तर लाख पूर्व बतलाया है।

कुन्थोर्माण्डलिकत्वे हि त्रिसहस्रैस्तु विंशतिः । पञ्चाशत्सप्तशत्यामा षट्शती विजयः पुनः ॥५०६॥
अरमाण्डलिकत्वेऽपि सहस्राण्येकविंशतिः । चतुःशतानि विजयः शेषः प्रागेव भाषितम् ॥५०७॥
सुभौमस्य सहस्राणि पञ्च कौमार्यमिष्यते । विजयः पञ्चशत्येव प्रचण्डस्य कुमण्डले ॥५०८॥
द्वाषष्टयब्दसहस्राणि तथा पञ्चशतानि च । बालत्वे गूढवृत्तस्य तस्य राज्यमिहोर्जितम् ॥५०९॥
शतानि पञ्च कौमार्यं तथा मण्डलनाथता । महापद्मस्य विजयो वर्षाणां तु शतत्रयम् ॥५१०॥
अष्टादश सहस्राणि राज्यं सप्त शतान्यपि । दशवर्षसहस्राणि संयमः संयमार्थिनः ॥५११॥
हरिषेणस्य कौमार्यं त्रिशती पञ्चविंशतिः । पञ्चाशता तु विजयस्तस्य वर्षशतं मतम् ॥५१२॥
पञ्चविंशतिसंख्यानि सहस्राणि तथा शतम् । राज्यं च पञ्चसप्तत्या पञ्चाशत्त्रिशती तपः ॥५१३॥

और शेष* विवरण तीर्थंकरोंके वर्णनके समयमें कहा जा चुका है ॥५०५॥

छठे कुन्थुनाथ चक्रवर्ती की कुल आयु पंचानवे हजार वर्षकी थी, उसमें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकालमें, इतने ही माण्डलिक अवस्थामें और छह सौ वर्ष दिग्विजय कालमें व्यतीत हुए तथा शेष वर्णन पहले कर चुके† हैं ॥५०६॥

सातवें अरनाथ चक्रवर्तीकी कुल आयु पचासी हजार वर्षकी थी। उसमें इक्कीस हजार वर्ष कुमार अवस्थामें, इतने ही माण्डलिक अवस्थामें और चार सौ वर्ष दिग्विजयमें व्यतीत हुए। शेष वर्णन पहले किया जा चुका‡ है ॥५०७॥

आठवें सुभौम चक्रवर्तीकी कुल आयु अरसठ हजार वर्षकी थी उसमें, पाँच हजार वर्ष कुमार अवस्थामें, पाँच सौ वर्ष दिग्विजयमें और साढ़े बासठ हजार वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य अवस्थामें बीते। ये परशुरामके भयसे आश्रममें पले थे इसलिए मण्डलीक पद प्राप्त नहीं कर सके। ये पृथिवी मण्डलपर अतिशय तीक्ष्ण प्रकृतिके थे तथा अज्ञानी दशामें रहनेके कारण संयम धारण नहीं कर सके और मरकर सातवें नरक §गये ॥५०८–५०९॥

नौवें महापद्म चक्रवर्तीकी आयु तीस हजार वर्षकी थी उसमें पाँच सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, पाँच सौ वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, तीन सौ वर्ष दिग्विजयमें, अठारह हजार सात सौ वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य अवस्थामें और दस हजार वर्ष संयमी अवस्थामें व्यतीत हुए हैं ॥ ५१०—५११॥

दसवें हरिषेण चक्रवर्तीकी आयु छब्बीस हजार वर्षकी थी। उसमें तीन सौ पच्चीस वर्ष कुमार अवस्थामें, एक सौ पचास वर्ष दिग्विजयमें, पच्चीस हजार एक सौ पचहत्तर वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य अवस्थामें और तीन सौ पचास वर्ष संयमी अवस्थामें व्यतीत

---

* शान्तिनाथने चौबीस हजार दो सौ वर्ष तक चक्रवर्ती होकर राज्य भोगा, सोलह वर्ष तक संयमी रहे और सोलह वर्ष कम पच्चीस हजार वर्ष तक केवली रहे।

† कुन्थुनाथने तेईस हजार एक सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती होकर राज्य किया, सोलह वर्ष संयमी रहे और तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष तक केवली रहे।

‡ अरनाथने इक्कीस हजार छह सौ वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य भोगा, सोलह वर्ष संयमी रहे और सोलह वर्ष कम इक्कीस हजार वर्ष केवली रहे।

§ तिलोयपण्णत्तिमें सुभौम चक्रवर्तीकी आयु साठ हजार वर्षकी बतायी है। जिसमें पाँच हजार वर्ष कुमारकालमें, पाँच हजार वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, पाँच सौ वर्ष दिग्विजयमें और साढ़े उनचास हजार वर्ष राज्य अवस्थामें बीते हैं।

जयसेनस्य कौमार्यं त्रिशती मण्डलेशिता । विजयस्तु शतं राज्यं सहस्रं नवशत्यपि ॥५१४॥
चतुःशती तपस्तस्य ब्रह्मदत्तकुमारता । अष्टाविंशतिवर्षाणि षट्पञ्चाशत्समण्डली ॥५१५॥
विजयः षोडशाब्दानि षट् शतानि तु राजता । ब्रह्मदत्तस्य विज्ञेया केशवानां तु कथ्यते ॥५१६॥
त्रिपृष्ठस्य सहस्राणि कौमार्ये पञ्चविंशतिः । विज्ञेयोऽब्दसहस्रं तु विजयः स्नेहवाहिनः ॥५१७॥
वर्षलक्षास्त्रयोऽशीतिसहस्राणि तु सप्ततिः । चतुर्भिरधिका तस्य राज्यं राजकराजितम् ॥५१८॥
द्विपृष्ठस्यापि कौमार्यं मण्डलैश्यमपि स्फुटम् । सहस्राणि समाख्यातं प्रत्येकं पञ्चविंशतिः ॥५१९॥
विजयोऽब्दशतं लक्षा राज्यं तस्यैकसप्ततिः । चत्वारिंशत्सहस्राणि नवतिर्नवशत्यपि ॥५२०॥
द्वादशैव सहस्राणि पञ्चशत्या स्वयम्भुवः । कौमार्यं मण्डलेशत्वं विजयो नवतिः पुनः ॥५२१॥
एकान्नषष्टिलक्षाश्च चतुःसप्ततिरेव च । सहस्राणि शतै राज्यं नवभिर्दश पञ्चकैः[1] (?) ॥५२२॥
पुरुषोत्तमकौमार्यं मतं सप्त शतानि तु । अशीतिर्विजयस्त्रीणि शतान्यब्दसहस्रकम् ॥५२३॥
मण्डलेशत्वमेतद्धि त्रिंशल्लक्षा विनैककम् । नवतिश्च सहस्राणि सप्तभिर्नवशत्यपि ॥५२४॥

हुए* ॥५१२—५१३॥

ग्यारहवें जयसेन चक्रवर्तीकी कुल आयु तीन हजार वर्षकी थी। उसमें तीन सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, तीन सौ वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, सौ वर्ष दिग्विजयमें, एक हजार नौ सौ वर्ष चक्रवर्ती होकर राज्य अवस्थामें और चार सौ वर्ष संयम अवस्थामें व्यतीत हुए।

और बारहवें ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीकी आयु सात सौ वर्षकी थी। उसमें अट्ठाईस वर्ष कुमार अवस्थामें, छप्पन वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, सोलह वर्ष दिग्विजयमें और छह सौ वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए। ये संयम धारण नहीं कर सके और मरकर सातवें नरक गये। इस प्रकार चक्रवर्तियोंकी आयुका विवरण कहा और नारायणोंकी आयुका विवरण कहा जाता है ॥५१४—५१६॥

स्नेहको धारण करनेवाले त्रिपृष्ठ नारायणकी कुल आयु चौरासी लाख वर्षकी थी। उसमें पचीस हजार वर्ष कुमार अवस्थामें, एक हजार वर्ष दिग्विजयमें और तेरासी लाख चौहत्तर हजार वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए† ॥५१७—५१८॥

द्विपृष्ठ नारायणकी कुल आयु बहत्तर लाख वर्षकी थी उसमें पचीस-पचीस हजार वर्ष कुमार अवस्था तथा मण्डलीक अवस्थामें, सौ वर्ष दिग्विजयमें और इकहत्तर लाख उनचास हजार नौ सौ वर्ष पर्यन्त राज्य किया ॥५१९—५२०॥

स्वयम्भू नारायणकी कुल आयु साठ लाख वर्षकी थी। उसमें बारह हजार पाँच सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, इतने ही मण्डलीक अवस्थामें, नब्बे वर्ष दिग्विजयमें और उनसठ हजार लाख चौहत्तर हजार नौ सौ दस वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५२१—५२२॥

पुरुषोत्तम नारायणकी कुल आयु तीस लाख वर्षकी थी। उसमें सात सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, एक हजार तीन सौ वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, अस्सी वर्ष दिग्विजयमें और उनतीस

---

१. नवभिर्दशवर्षकैः (ङ० पुस्तके टिप्पण्यां पाठान्तरम्)।

*. तिलोयपण्णत्तिमें हरिषेण चक्रवर्तीकी आयु दस हजार वर्षकी बतायी है। उसमें तीन सौ पच्चीस कुमार अवस्थामें, इतने ही मण्डलीक अवस्थामें, एक सौ पचास दिग्विजयमें, आठ हजार आठ सौ पचास वर्ष राज्य अवस्थामें और तीन सौ पचास वर्ष संयमी अवस्थामें बीते हैं।

†. तिलोयपण्णत्तिमें पच्चीस हजार वर्ष कुमार अवस्थामें, पचीस हजार वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, एक हजार वर्ष दिग्विजयमें और शेष तेरासी लाख उनचास हजार वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए ऐसा लिखा है।

विंशतिश्चैव वर्षाणि राज्यमस्यन्त्यमूर्जितम् । पुरुषोत्तमतां भूमौ भूत्वा तस्येह बिभ्रतः ॥५२५॥
कौमार्यं त्रिशती पञ्चविंशत्या शतमीरितम् । मण्डलैश्यं हि विजयः सप्ततिः प्रतिपादितः ॥५२६॥
नवलक्षा सहस्राणि नवतिर्नव च स्मृता । राज्यं पुरुषसिंहस्य पञ्चभिः पञ्चशत्यपि ॥५२७॥
पञ्चाशता शते द्वे तु कौमार्यं मण्डलेशता । विजयः षष्टिवर्षाणि विजयोर्जिततेजसः ॥५२८॥
चत्वारिंशच्च वर्षाणि स्याच्चत्वारि शतान्यपि । चतुःषष्टिसहस्राणि पुण्डरीकस्य राजता ॥५२९॥
शते दत्तस्य कौमार्यं पञ्चाशत्कालयोर्द्वयम् । एकत्रिंशत्सहस्राणि सप्तशत्यापि राजता ॥५३०॥
शतं लक्ष्मणकौमार्यं चत्वारिंशद्विजेतृता । एकादशसहस्राष्टशतषष्टयब्दराजता ॥५३१॥
कुमारकालः कृष्णस्य षोडशाब्दानि षट्युता । पञ्चाशन्मण्डलेशत्वं विजयोऽष्टाब्दकं स्फुटम् ॥५३२॥
शतानि नव विंशत्या कृष्णराजस्य सम्मितिः । तथैकादशरुद्राणां कालसंख्या निरूप्यते ॥५३३॥
तीर्थे भीमावलिर्जातो वृषभस्याजितस्य तु । जितशत्रुरिति ख्यातो रुद्राख्यः सुविधेः पुनः ॥५३४॥
विश्वानलस्तु दशमे श्रेयसः सुप्रतिष्ठकः । अचलो वासुपूज्यस्य पुण्डरीकस्तु वैमले ॥५३५॥

लाख सन्तानबे हजार नौ सौ बीस वर्ष पृथिवीतलपर नारायणपद धारण करते हुए राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५२३–५२५॥

पुरुष सिंह नारायणकी कुल आयु दस लाख वर्षकी थी। उसमें तीन सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, एक सौ पच्चीस वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, सत्तर वर्ष दिग्विजयमें और नौ लाख निन्यानबे हजार पाँच सौ पाँच वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए* ॥५२६–५२७॥

पुण्डरीक नारायणकी कुल आयु पैंसठ हजार वर्षकी थी। उसमें दो सौ पचास वर्ष कुमार अवस्थामें, इतने ही मण्डलीक अवस्थामें, साठ वर्ष दिग्विजयमें, और चौंसठ हजार चार सौ चालीस वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५२८–५२९॥

दत्त नारायणकी कुल आयु बत्तीस हजार वर्षकी थी। उसमें सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, पचास वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, पचास वर्ष दिग्विजयमें और इकतीस हजार सात सौ वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत हुए ॥५३०॥

लक्ष्मण नारायणकी कुल आयु बारह हजार वर्षकी थी। उसमें सौ वर्ष कुमार अवस्थामें, चालीस वर्ष दिग्विजयमें और ग्यारह हजार आठ सौ साठ वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीतमें †हुए ॥५३१॥

कृष्ण नारायणकी कुल आयु एक हजार वर्षकी है। उसमें सोलह वर्ष कुमार अवस्थामें, छप्पन वर्ष मण्डलीक अवस्थामें, आठ वर्ष दिग्विजयमें और नौ सौ बीस वर्ष राज्य अवस्थामें व्यतीत होंगे। इस प्रकार नारायणोंके कालका वर्णन किया। अब ग्यारह रुद्रोंके काल और संख्याका वर्णन करते हैं ॥५३२—५३३॥

रुद्र ग्यारह होते हैं। उनमें भगवान् वृषभदेवके तीर्थमें भीमावलि, अजितनाथके तीर्थमें जितशत्रु, पुष्पदन्तके तीर्थमें रुद्र, शीतलनाथके तीर्थमें †विश्वानल, श्रेयांसनाथके तीर्थमें सुप्रतिष्ठक, वासुपूज्यके तीर्थमें अचल, विमलनाथके तीर्थमें पुण्डरीक, अनन्तनाथके तीर्थमें

---

*. ति. प. में पुरुषसिंह नारायणका मण्डलीककाल १२५० वर्ष तक और राज्यकाल नौ लाख अंठानबे हजार तीन सौ अस्सी वर्ष बतलाया है।

†. ति. प. में लक्ष्मणका मंडलीककाल तीन सौ वर्ष और राज्यकाल ग्यारह हजार पाँच सौ साठ वर्ष बतलाया है।

†. ति. प. में 'वैश्वानर' नाम आया है।

अजितन्धरोऽनन्तस्य धर्मस्याजितनाभिकः । पीठाख्यः शान्तितीर्थेऽभूत् सुतो वीरस्य सत्यकेः ॥५३६॥
भीमावलेस्तनूत्सेधः पञ्चचापशतान्यतः । तान्यर्धपञ्चमान्येकं दशहानिस्तु पञ्चसु ॥५३७॥
अष्टाविंशतिरन्यस्य चतुर्विंशतिरप्यतः । सप्तैवारत्नयोऽन्त्यस्य वपुरुत्सेध इष्यते ॥५३८॥
पूर्वाण्यायुस्त्रयोऽशीतिलक्षास्त्वेकसप्ततिः । द्वे लक्षे चैकलक्षा च [1]शब्दाकस्य विचक्षणैः ॥५३९॥
लक्षाश्चतुरशीतिश्च षष्टिः पञ्चाशदेव च । चत्वारिंशच्च वर्षाणां विंशतिर्लक्षया[2] क्रमात् ॥५४०॥
आयुरेकादशस्यापि वर्षाण्येकान्नसप्ततिः । अभिन्नदशपूर्वाणां रुद्राणां रौद्रकर्मणाम् ॥५४१॥
त्रयः कालास्तु सर्वेषां रुद्राणां क्रमशः स्थिताः । कौमारः संयमोपेतो गृहीतोज्झितसंयमः ॥५४२॥
कालस्त्रिभागशेषेण चतुर्थो संयमाधिकः । समा द्वयोस्त्रयोऽप्यन्ये कौमाराधिक इष्यते ॥५४३॥
संयमाधिक एकस्य कौमारोऽन्यस्य साधिकः । दशमस्यापि रुद्रस्य संयमाधिक एव सः ॥५४४॥
वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशतिः संयमेऽष्टभिः । एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसंयमे ॥५४५॥
द्वयोस्तु सप्तमी पृथ्वी पञ्चानां षष्ठधिष्ठितिः । एकस्य पञ्चमी भूमिश्चतुर्थी तु द्वयोस्ततः ॥५४६॥
तृतीयान्त्यस्य निर्दिष्टा यथोद्दिष्टा इमाः पुनः । [3]भूर्यसंयमभाराणां रुद्राणां जन्मभूमयः ॥५४७॥

अजितन्धर, धर्मनाथके तीर्थमें अजितनाभि, शान्तिनाथके तीर्थमें पीठ नामका रुद्र हुआ है तथा महावीरके तीर्थमें सत्यकिपुत्र रुद्र होगा ॥५३४—५३६॥

भीमावलीके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष, जितशत्रुकी साढ़े चार सौ धनुष, रुद्रकी सौ धनुष, विश्वानलकी नब्बे धनुष, सुप्रतिष्ठककी अस्सी धनुष, अचलकी सत्तर धनुष, पुण्डरीककी साठ धनुष, अजितन्धरकी पचास धनुष, अजितनाभिकी अट्ठाईस धनुष, पीठकी चौबीस धनुष, और सत्यकिपुत्रकी सात धनुष मानी जाती है ॥५३७—५३८॥

इन रुद्रोंकी आयु क्रमसे तेरासी लाख पूर्व, इकहत्तर लाख पूर्व, दो लाख पूर्व, एक लाख पूर्व, चौरासी लाख वर्ष, साठ लाख वर्ष, पचास लाख वर्ष, चालीस लाख वर्ष, बीस लाख वर्ष, दस लाख वर्ष और उनहत्तर वर्ष है। ये सभी रुद्र दश पूर्वके पाठी होते हैं और रौद्र कार्यके करनेवाले हैं ॥५३९—५४१॥

इन सभी रुद्रोंके क्रमसे तीन काल होते हैं—१ कुमारकाल, २ संयमकाल और ३ गृहीत संयमको छोड़कर असंयमी होनेका काल ॥५४२॥ इनमें चारका संयमकाल त्रिभाग शेषसे कुछ अधिक था अर्थात् कुमारकाल और असंयमकालसे कुछ अधिक था, दोके तीनों काल बराबर थे, सातवेंका कुमारकाल, आठवेंका संयमकाल, नौवेंका कुमारकाल, और दसवेंका संयमकाल अधिक था। ग्यारहवें रुद्रका कुमारकाल सात वर्षका, संयमकाल अट्ठाईस वर्षका और असंयमकाल चौंतीस वर्षका होगा† ॥५४२—५४५॥

इनमें प्रारम्भके दो रुद्र सातवीं पृथिवी, पाँच रुद्र छठवीं पृथिवी, एक पाँचवीं पृथिवी और दो चौथी पृथिवी गये हैं तथा अन्तिम रुद्र तीसरी भूमिमें जावेगा। उन रुद्रोंके जीवनमें असंयमका भार अधिक होता है। इसलिए उन्हें नरकगामी होना पड़ता है ॥५४६—५४७॥

---

१. शतव्या (ङ० टि०)। २. 'दशलक्षाप्रपितम्' इति सर्वहस्तलिखितप्रतिषु 'लक्षया' इत्योस्योपरि अङ्कैर्लिखितम्। तेसीदी इगिसत्तरि दोण्णि एक्कं च पुव्वलक्खाणि। चुलसीदि सट्ठिपण्णा चालिस वस्साणि लक्खाणि ॥१४४६॥ वीस दस चेव लक्खा वासा एक्कूणसत्तरी कमसो। एक्कारसरुद्दाणं पमाणमाउस्स णिद्दिट्ठं ॥ १४४७ ॥ ३. तूर्यसंयम—ख, तूर्य-ङ चतुर्थव्रतधारिणां नारदानाम् (ङ० टि०)।

† यह विषय ति. प. में तीनों कालोंके अलग-अलग अङ्क देकर स्पष्ट किया गया है (चतुर्थ अधिकार गाथा १४४८ से १४६७ गाथा तक)

भीमश्चाथ महाभीमो रुद्रनामा तृतीयकः । महारुद्रोऽथ कालश्च महाकालश्चतुर्मुखः ॥५४८॥
नरवक्त्रोन्मुखाख्यौ द्वौ नवैते नारदाः स्मृताः । वासुदेवसमानायुःस्थितिस्तेषां प्रजायते ॥५४९॥
कलहे प्रीतिसंयुक्ताः कदाचिद्धर्मवत्सलाः । हिंसानन्दवशास्त्वेते महाभव्या जिनानुगाः ॥५५०॥
वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम् । मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥५५१॥
मुक्तिंगते महावीरे प्रतिवर्षसहस्रकम् । एकैको जायते कल्की जिनधर्मविरोधकः ॥५५२॥
इहाप्यामवसर्पिण्यां यथा तीर्थकरादयः । उत्सर्पिण्यां भविष्यन्त्यां भविष्यन्ति तथा परे ॥५५३॥
भविष्यद्दुःषमाशेषे सहस्रपरिमाणके । चतुर्दश भविष्यन्ति प्राग्निमे कुलकारिणः ॥५५४॥
कनत्कनकसंकाशः कनकः कनकप्रभः । त्रयः कनकपूर्वाः स्युस्ते राजध्वजपुङ्गवाः ॥५५५॥
नलिनीदलसंकाशो नलिनो नलिनप्रभः । नलिनोपपदास्त्वन्ये ते राजध्वजपुङ्गवाः ॥५५६॥
ततः पद्मप्रभो ज्ञेयः पद्मराजस्ततः परः । पद्मध्वजश्च बोद्धव्यः पद्मपुङ्गव एव च ॥५५७॥
तीर्थकृच्च महापद्मः सुरदेवो जिनाधिपः । सुपार्श्वनामधेयोऽन्यो यथार्थश्च स्वयंप्रभः ॥५५८॥
सर्वात्मभूत इत्यन्यो देवदेवः प्रभोदयः । उदङ्कः प्रश्नकीर्तिश्च जयकीर्तिश्च सुव्रतः ॥५५९॥
अरश्च पुण्यमूर्तिश्च निष्कषायो जिनेश्वरः । विपुलो निर्मलाभिख्यश्चित्रगुप्तो परः स्मृतः ॥५६०॥

भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, चतुर्मुख, नरवक्त्र और उन्मुख, ये नौ नारद माने गये हैं। उनकी आयु नारायणोंकी आयुके बराबर होती है तथा वे नारायणोंके समय ही होते हैं। वे कलहमें प्रीतिसे युक्त होते हैं, कदाचित् धर्मसे भी स्नेह रखते हैं, हिंसामें आनन्द मानते हैं तथा महाभव्य और जिनेन्द्र भगवान्के अनुगामी होते हैं ॥५४८—५५०॥

भगवान् महावीरके मोक्ष जानेके पश्चात् छह सौ पाँच वर्ष पाँच मास बीत जानेपर राजा शक* होगा और हजार-हजार वर्ष बाद एक-एक कल्की राजा होता रहेगा जो जैनधर्मका विरोधी होगा ॥५५१—५५२॥ जिस प्रकार इस अवसर्पिणीमें तीर्थङ्कर आदि हुए हैं उसी प्रकार आगे आनेवाली उत्सर्पिणीमें भी दूसरे-दूसरे तीर्थङ्कर आदि होंगे ॥५५३॥ जब आनेवाले दुःषमा नामक कालमें एक हजार वर्ष शेष रह जावेंगे तब पहले क्रमसे ये चौदह कुलकर होंगे—१ देदीप्यमान स्वर्णके समान कान्तिवाला कनक, २ कनकप्रभ, ३ कनकराज, ४ कनकध्वज, ५ कनकपुङ्गव, ६ कमलिनीके पत्तेके समान वर्णवाला नलिन, ७ नलिनप्रभ, ८ नलिनराज, ९ नलिनध्वज, १० नलिनपुङ्गव, ११ पद्मप्रभ, १२ पद्मराज, १३ पद्मध्वज और १४ पद्मपुङ्गव ॥५५४—५५७॥

कुलकरोंके बाद क्रमसे निम्नलिखित चौबीस तीर्थंकर होंगे—१ महापद्म, २ सुरदेव, ३ सुपार्श्व, ४ स्वयंप्रभ, ५ सर्वात्मभूत, ६ देवदेव, ७ प्रभोदय, ८ उदङ्क, ९ प्रश्नकीर्ति, १० जयकीर्ति, ११ सुव्रत, १२ अर, १३ पुण्यमूर्ति, १४ निष्कषाय, १५ विपुल, १६ निर्मल, १७ चित्रगुप्त,

* शकराजाकी उत्पत्तिके विषयमें ति. प. में इस मतके सिवाय निम्नलिखित ३ मतोंका उल्लेख और किया गया है—(१) वीर जिनेन्द्रकी मुक्ति होनेके बाद चार सौ इकसठ वर्ष प्रमाणकाल बीत जानेपर शक राजा उत्पन्न हुआ। (२) नौ हजार सात सौ पचासी वर्ष और पाँच मास बीत जानेपर (३) चौदह हजार सात सौ तिरानबे वर्ष बीत जानेपर। गाथा निम्न प्रकार हैं—वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद इगि सट्ठिवास परिमाणे। कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ॥१४९६॥ अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयब्भहिये। पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादो ॥१४९७॥ चोद्दस सहस्स सगसय तेणउदी वासकाल विच्छेदे। वीरेसरसिद्धीदो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥१४९८॥ णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसुं। पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥१४९९॥ ति. प. च. अ.।

समाधिगुप्तनामान्यः स्वयम्भूरनिवर्तकः । जयो विमलसंज्ञश्च [1]दिव्यपाद इतीरितः ॥५६१॥
चरमोऽनन्तवीर्योऽमी वीर्यधैर्यादिसद्गुणाः । चतुर्विंशतिसंख्याना भविष्यत्तीर्थकारिणः ॥५६२॥
भरतो दीर्घदन्तश्च जन्मदत्तश्च चक्रिणः । गूढदत्तोऽपरो नाम्ना श्रीषेण इति विश्रुतः ॥५६३॥
श्रीभूतिरितिभूतोऽन्यः श्रीकान्तः पद्मनामकः । महापद्मस्तथैवान्यश्चित्रवाहनसंज्ञकः ॥५६४॥
विमुक्तमलसंपर्को नाम्नः विमलवाहनः । अरिष्टसेन इत्येते चक्रिणो द्वादशोदिताः ॥५६५॥
नन्दी च नन्दिमित्रश्च नन्दिनो नन्दिभूतिकः । महातिबलनामानौ बलभद्रश्च सप्तमः ॥५६६॥
द्विपृष्ठश्च त्रिपृष्ठश्च वासुदेवा नवैव ते । भविष्यन्त्यञ्जनच्छायाश्छायाच्छादिगन्तराः ॥५६७॥
चन्द्रश्चापि महाचन्द्रस्तथा चन्द्रधरश्रुतिः । सिंहचन्द्रो हरिश्चन्द्रः श्रीचन्द्रः पूर्णचन्द्रकः ॥५६८॥
सुचन्द्रो बालचन्द्रश्च नवैते चन्द्रसप्रभाः । बलाः प्रतिद्विषश्चान्ये नव श्रीहरिकण्ठकौ ॥५६९॥
नीलकण्ठाश्वकण्ठौ च सुकण्ठशिखिकण्ठकौ । अश्वग्रीवहयग्रीवौ मयूरग्रीव इत्यपि ॥५७०॥
प्रमदः सम्मदो हर्षः प्रकामः कामदो भवः । हरो मनोभवो मारः कामो रुद्रस्तथाङ्गजः ॥५७१॥
भव्याः कतिपयैरेव तेऽपि सेत्स्यन्ति जन्मभिः । रत्नत्रयपवित्राङ्गाः सन्तः सन्तो नरोत्तमाः ॥५७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

अन्तर्मुहूर्तमपि लब्धविमुक्तमेकं सम्यक्त्वरत्नमचिरेण विमुक्तिहेतुः ।
रत्नत्रयस्य तु [2]पवित्रतमस्य लोके साक्षाद्भवभ्रमथनस्य किमत्र वाच्यम् ॥५७३॥

---

१८ समाधिगुप्त, १९ स्वयंभू, २० अनिवर्तक, २१ जय, २२ विमल, २३ दिव्यपाद और २४ अनन्तवीर्य। ये सभी वीर्य धैर्य आदि सद्गुणोंसे सहित होते हैं ॥५५८–५६२॥

१ भरत, २ दीर्घदन्त, ३ जन्मदत्त, ४ गूढदत्त, ५ श्रीषेण, ६ श्रीभूति, ७ श्रीकान्त, ८ पद्म-नामक, ९ महापद्म, १० चित्रवाहन, ११ मलके संपर्कसे रहित विमलवाहन और १२ अरिष्टसेन ये आगे होनेवाले बारह चक्रवर्ती कहे गये हैं ॥५६३–५६५॥

१ नन्दी, २ नन्दिमित्र, ३ नन्दिन, ४ नन्दिभूतिक, ५ महाबल, ६ अतिबल, ७ बलभद्र, ८ द्विपृष्ठ और त्रिपृष्ठ ये नौ भविष्यत्कालमें होनेवाले नारायण हैं। ये अञ्जनके समान कान्ति-के धारक होते हैं तथा अपनी कान्तिसे दिशाओंके अन्तरालको व्याप्त करते हैं ॥५६६–५६७॥

१ चन्द्र, २ महाचन्द्र, ३ चन्द्रधर, ४ सिंहचन्द्र, ५ हरिश्चन्द्र, ६ श्रीचन्द्र, ७ पूर्णचन्द्र, ८ सुचन्द्र और ९ बालचन्द्र ये नौ आगामीकालमें होनेवाले बलभद्र हैं। ये सभी चन्द्रमाके समान कान्तिके धारक होते हैं।

१ श्रीकण्ठ, २ हरिकण्ठ, ३ नीलकण्ठ, ४ अश्वकण्ठ, ५ सुकण्ठ, ६ शिखिकण्ठ, ७ अश्व-ग्रीव, ८ हयग्रीव और मयूरग्रीव ये नौ प्रतिनारायण होंगे ॥५६८–५७०॥

१ प्रमद, २ संमद, ३ हर्ष, ४ प्रकाम, ५ कामद, ६ भव, ७ हर, ८ मनोभव, ९ मार, १० काम और ११ अङ्गज ये ग्यारह रुद्र होंगे। ये सब भव्य होंगे तथा कुछ ही भवोंमें मोक्ष प्राप्त करेंगे। इनके शरीर भी रत्नत्रयसे पवित्र होंगे तथा उत्तम महापुरुष होंगे ॥५७१–५७२॥

एक सम्यग्दर्शनरूपी रत्न अन्तर्मुहूर्तके लिए भी प्राप्त होकर छूट जाता है तो वह भी शीघ्र ही मोक्षप्राप्तिका कारण होता है, फिर संसारमें अतिशय पवित्र एवं साक्षात् भवभ्रमण-को नष्ट करनेवाले रत्नत्रयकी तो बात ही क्या है ? ॥५७३॥

---

१. दिव्यवाद म० । २. पवित्रितमस्य म० ।

वाक्यं त्रिकालविषयार्थनिरूपणार्थमाकर्ण्य कर्णसुखमित्थमिनस्य भूपाः ।
कृष्णादयो हरिरविप्रमुखाश्च देवा नत्वा जिनं स्वपदमीयुरुपात्ततत्त्वाः ॥५७४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यकृतौ त्रिषष्टिपुरुषजिनान्तरवर्णनो नाम षष्टितमः सर्गः ॥६०॥

इस प्रकार भगवान् नेमिनाथकी कर्णोंको सुख उपजानेवाली एवं त्रिकालविषयक पदार्थोंका वर्णन करनेवाली दिव्यध्वनि सुनकर कृष्ण आदि राजा तथा इन्द्र और सूर्य आदि देव, धर्मके यथार्थ तत्त्वको ग्रहण कर एवं नेमि जिनेन्द्रको नमस्कार कर अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥५७४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें त्रेशठ शलाकापुरुषोंका चरित्र तथा तीर्थंकरोंके अन्तरालका वर्णन करनेवाला साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

आकूतं श्रेणिकस्याथ ज्ञात्वा गणभृदग्रणीः । वृत्तं गजकुमारस्य जगादेति जगत्स्तुतम् ॥१॥
श्रुत्वा गजकुमारोऽसौ जिनादिचरितं तथा । विमोच्य सकलान् बन्धून् पितृपुत्रपुरस्सरान् ॥२॥
संसारभीरुरासाद्य जिनेन्द्रं [1]प्रश्रयान्वितम् । गृहीत्वाऽनुमतो दीक्षां तपः कर्तुं समुद्यतः ॥३॥
निरूपितास्तु याः कन्याः कुमाराय गजाय ताः । प्रभावत्यादयः सर्वा निर्वेदिन्यः प्रवव्रजुः ॥४॥
कुमारश्रमणस्याथ गजस्यैकान्तवर्तिनः । निशीथे प्रतिमास्थस्य सर्वद्वन्द्वसहस्य सः ॥५॥
सोमशर्मा सुतात्यागक्रोधाग्निकणदीपितः[2] । अदीदिपदुदाराग्निं शिरसि स्थिरचेतसः ॥६॥
दह्यमानशरीरोऽसौ शुक्लध्यानेन कर्मणाम् । अन्तं कृत्वा ययौ मोक्षमन्तकृत्केवली मुनिः ॥७॥
तस्य [3]देहमहं चक्रुः समुपेत्य सुराऽसुराः । यक्षकिन्नरगन्धर्वमहोरगपुरोगमाः ॥८॥
ज्ञात्वा तन्मरणं [4]दुःखाद् यादवा बहवस्तथा । दशार्हाश्च विहायान्त्यं दीक्षिता मोक्षकांक्षिणः ॥९॥
देव्यः शिवादयो बह्व्यो देवकीं रोहिणीं विना । वसुदेवस्त्रियो विष्णोः कन्याश्चापि प्रवव्रजुः ॥१०॥
ततः [5]सुरनराभ्यर्च्यो नानाजनपदान् जिनः । विजहार महाभूत्या भव्यराजीं प्रबोधयन् ॥११॥
उदीच्यान्नृपशार्दूलान् मध्यदेशनिवासिनः । प्राच्यानपि प्रजायुक्तान् स धर्मे स्थापयन् बहून् ॥१२॥

अथानन्तर श्रेणिकका अभिप्राय जानकर गणधरोंके अधिपति श्री गौतम स्वामीने जगत्के द्वारा स्तुत गजकुमारका वृत्तान्त इस प्रकार कहना शुरू किया ॥ १ ॥ वे कहने लगे कि इस प्रकार गजकुमार, तीर्थंकर आदिका चरित्र सुनकर संसारसे भयभीत हो गया और पिता, पुत्र, आदि समस्त बन्धुजनोंको छोड़कर बड़ी विनयसे जिनेन्द्र भगवान्‌के समीप पहुँचा और उनसे अनुमति ले दीक्षा ग्रहण कर तप करनेके लिए उद्यत हो गया ॥ २-३ ॥ गजकुमारके लिए जो प्रभावती आदि कन्याएँ निश्चित की गयी थीं उन सभीने संसारसे विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली ॥ ४ ॥

तदनन्तर किसी दिन गजकुमार मुनि रात्रिके समय एकान्तमें प्रतिमायोगसे विराजमान हो सब प्रकारकी बाधाएँ सहन कर रहे थे कि सोमशर्मा अपनी पुत्रीके त्यागसे उत्पन्न क्रोधरूपी अग्निके कणोंसे प्रदीप्त हो उनके पास आया और स्थिर चित्तके धारक उन मुनिराजके शिरपर तीव्र अग्नि प्रज्वलित करने लगा ॥ ५-६ ॥ उस अग्निसे उनका शरीर जलने लगा। उसी अवस्थामें वे शुक्लध्यानके द्वारा कर्मोंका क्षय कर अन्तकृत्केवली हो मोक्ष चले गये ॥ ७ ॥ यक्ष, किन्नर, गन्धर्व और महोरग आदि सुर और असुरोंने आकर उनके शरीरकी पूजा की ॥ ८ ॥ गजकुमार मुनिका मरण जानकर दुःखी होते हुए बहुत-से यादव तथा वसुदेवको छोड़कर शेष समुद्रविजय आदि दशार्ह मोक्षकी इच्छासे दीक्षित हो गये ॥ ९ ॥ शिवा आदि देवियों, देवकी और रोहिणीको छोड़कर वसुदेवकी अन्य स्त्रियों तथा कृष्णकी पुत्रियोंने भी दीक्षा धारण कर ली ॥ १० ॥

तदनन्तर देव और मनुष्योंसे पूजित भगवान् नेमिजिनेन्द्रने, भव्य जीवोंके समूहको प्रबोधित करते हुए, नाना देशोंमें बड़े वैभवके साथ विहार किया ॥ ११ ॥ उन्होंने उत्तर दिशाके, मध्यदेशके तथा पूर्व दिशाके प्रजासे युक्त अनेक बड़े-बड़े राजाओंको धर्ममें स्थिर

---

१. प्रश्रयान्वितं यथा स्यात्तथा। २. दीपितः म०। ३. शरीरपूजाम्। ४. दुःखा म०। ५. सुरवराभ्यर्च्यो म०।

विहृत्य चिरमीशानः पुनरागत्य पूर्ववत् । गिरौ रैवतके तस्थौ समवस्थानमण्डनः ॥१३॥
तत्र स्थितं जिनेन्द्रं तं देवेन्द्राः सान्द्रतेजसः । प्राप्य नत्वा नतिं कृत्वा निजस्थानेषु सुस्थिताः ॥१४॥
वसुदेवो बलः कृष्णः सान्तःपुरसुहृज्जनः । द्वारिकाप्रजया युक्तः[1] प्रद्युम्नादिसुतान्वितः ॥१५॥
विभूत्या परयागत्य शैवेयं[2] मभिवन्द्यते । आसीनाः समवस्थाने[3] धर्मं [4]शुश्रुवुरीश्वरात् ॥१६॥
तत्र धर्मकथान्तेऽसौ जिनं नत्वा हलायुधः । पप्रच्छ वस्तुचित्तस्थं करकुड्मलिताञ्जलिः ॥१७॥
नाथ वैश्रवणेनेयं निर्मिता द्वारिकापुरी । कियतानेहसान्तोऽस्याः कृतका हि विनश्वराः ॥१८॥
निमज्जेत् स्वत एवेयं किमु कालान्तरेऽम्बुधौ । निमित्तान्तरसांनिध्ये केनचिद्वा[5] विनाङ्क्ष्यते ॥१९॥
स्वान्तकाले निमित्तत्वं को वा कृष्णस्य यास्यति । जातानां हि समस्तानां जीवानां नियता मृतिः ॥२०॥
संयमप्रतिपत्तिर्वा[6] कालेन कियता प्रभो । कृष्णस्नेहमहापाशबद्धचित्तस्य मे भवेत्[7] ॥२१॥
इति पृष्टो जिनोऽगादीद्दृष्टाशेषपरापरः । याथातथ्यं यथाप्रश्नं यत्प्रश्नोत्तरवागसौ ॥२२॥
पुरीयं द्वादशे वर्षे राममद्येन हेतुना । द्वैपायन[8]कुमारेण मुनिना धक्ष्यते रुषा ॥२३॥
[9]कौशाम्बवनसुप्तस्य कृष्णस्य परमायुषः । प्रान्ते जरत्कुमारोऽपि संहारे हेतुतां व्रजेत् ॥२४॥
[10]अभ्यन्तरस्य सांनिध्ये हेतोः परिणतेर्वशात् । बाह्यो हेतुर्निमित्तं हि जगतोऽभ्युदये क्षये ॥२५॥

करते हुए विहार किया था ॥ १२ ॥ चिरकाल तक विहार कर भगवान् पुनः आये और रैवतक (गिरनार) पर्वतपर समवसरणको सुशोभित करते हुए विराजमान हो गये ॥ १३ ॥ प्रबल तेजको धारण करनेवाले इन्द्र वहाँ विराजमान जिनेन्द्र भगवान्के पास आये और नमस्कार तथा स्तुति कर अपने-अपने स्थानोंपर बैठ गये ॥ १४ ॥

अन्तःपुरकी रानियों, मित्रजन, द्वारिकाकी प्रजा तथा प्रद्युम्न आदि पुत्रोंसे सहित वसुदेव, बलदेव तथा कृष्ण भी बड़ी विभूतिके साथ आये और भगवान् नेमिनाथको नमस्कार कर समवसरणमें यथास्थान बैठ भगवान्से धर्म श्रवण करने लगे ॥१५-१६॥ तदनन्तर धर्मकथाके बाद जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर बलदेवने हाथ जोड़ ललाटसे लगा, अपने हृदयमें स्थित बात पूछी ॥ १७ ॥ उन्होंने पूछा कि हे भगवन् ! यह द्वारिकापुरी कुबेरके द्वारा रची गयी है सो इसका अन्त कितने समयमें होगा । क्योंकि कृत्रिम वस्तुएँ अवश्य ही नश्वर होती हैं ॥ १८ ॥ यह द्वारिकापुरी कालान्तरमें क्या अपने-आप ही समुद्रमें डूब जावेगी अथवा निमित्तान्तरके सन्निधानमें किसी अन्य निमित्तसे विनाशको प्राप्त होगी ? कृष्णके अपने अन्तकालमें निमित्तपनेको कौन प्राप्त होगा ? क्योंकि उत्पन्न हुए समस्त जीवोंका मरण निश्चित है । हे प्रभो ! मेरा चित्त कृष्णके स्नेहरूपी महापाशसे बँधा हुआ है अतः मुझे संयमकी प्राप्ति कितने समय बाद होगी ? ॥ १९–२१ ॥ इस प्रकार बलदेवके पूछनेपर समस्त परापर पदार्थोंको देखनेवाले नेमि जिनेन्द्र, प्रश्नके अनुसार यथार्थ बात कहने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् प्रश्नोंका उत्तर निरूपण करनेवाले ही थे ॥ २२ ॥

उन्होंने कहा कि हे राम ! यह पुरी बारहवें वर्षमें मदिराके निमित्तसे द्वैपायन मुनिके द्वारा क्रोधवश भस्म होगी ॥ २३ ॥ अन्तिम समयमें श्रीकृष्ण कौशाम्बीके वनमें शयन करेंगे और जरत्कुमार उनके विनाशमें कारणपनेको प्राप्त होगा ॥ २४ ॥ अन्तरङ्ग कारणके रहते हुए परिणतिवश बाह्य हेतु जगत्के अभ्युदय तथा क्षयमें कारण होते हैं इसलिए वस्तुके

१. युक्ताः म० । २. शिवाया अपत्यं पुमान् शैवेयस्तं नेमिनाथम् । ३. धर्मस्थाने म० । ४. 'शुश्रुवुरीश्वरात्' इति पाठेन भवितव्यम् । ५. –द्वाविनाश्यते म० । ६. का केन म० । ७. मेऽभवत् म० । ८. द्वीपायन म० । ९. कौशाम्बीवन—ख० । १०. अनन्तरस्य म० ।

जानन्तो वस्तुसद्भावमतोऽभ्युदयनाशयोः । हर्षं भुवि विषादं च न गच्छन्ति मनस्विनः ॥२६॥
भवतोऽपि तपःप्राप्तिस्तन्निमित्तात्तदा भवेत् । भवपद्धतिभीतस्य ब्रह्मलोकोपपादिनः ॥२७॥
द्वैपायनकुमारोऽसौ रोहिण्याः सोदरो यतिः । तदाकर्ण्य वचो जैनं निर्वेदी तपसि स्थितः ॥२८॥
अवधेः पूरणाय्यातः पूर्वदेशमुपेत्य सः । तपश्चरितुमारब्धः कषायतनुशोषणम् ॥२९॥
दुःखी जरत्कुमारश्च दुःखितान् भ्रातृबान्धवान् । परित्यज्य गतः क्वापि स हरिर्यत्र नेक्ष्यते ॥३०॥
जरत्कुमारे प्रगते वनमेकाकिनि स्थिते । हरिः स्नेहाकुलो मेने शून्यमात्मानमात्मनि ॥३१॥
चचार मृगसामान्यं विजनो विजनं वनम् । [2]हरिप्राणप्रियः प्राणान् प्रियान् हातुमनाः क्वचित् ॥३२॥
इतोऽपि जिनमानम्य यादवा विविशुः पुरीम् । आगामिदुःखसंभारचिन्तासंतप्तमानसाः ॥३३॥
घोषणां कारयामास चक्री पुरि बलान्वितः । मद्याङ्गानि च मद्यानि विसृज्यन्तामिति द्रुतम् ॥३४॥
पिष्टकिण्वादिमद्याङ्गैस्ततो मद्यानि मद्यपैः । क्षिप्तानि सशिलाकुण्डे[3] कादम्बगिरिगह्वरे ॥३५॥
कदम्बवनकुण्डेषु[4] मुक्ता कादम्बरी तु या । साश्मपाकविशेषस्य हेतुत्वेनावतिष्ठते ॥३६॥
तथान्या घोषणा दायि कृष्णेन हितबुद्धिना । द्वारिकायां महापुर्यां स्त्रीणां पुंसां च शृण्वताम् ॥३७॥
पिता मे यदि वा माता सुता चान्तःपुराङ्गना । तपस्यन्तु मते जैने वारयामि न तानहम् ॥३८॥

स्वभावको जाननेवाले उत्तम मनुष्य अभ्युदय तथा क्षयके समय पृथिवीपर कभी हर्ष और विषादको प्राप्त नहीं होते ।। २५-२६ ।।

संसारके मार्गसे भयभीत रहनेवाले आपको भी उसी समय कृष्णकी मृत्युका निमित्त पाकर तपकी प्राप्ति होगी तथा तपकर आप ब्रह्मस्वर्गमें उत्पन्न होंगे ।।२७।। द्वैपायनकुमार रोहिणीका भाई—बलदेवका मामा था सो उस समय भगवान्‌के वचन सुनकर वह संसारसे विरक्त हो मुनि होकर तप करने लगा ।।२८।। वह बारह वर्षकी अवधिको पूर्ण करनेके लिए यहाँसे पूर्व देशकी ओर चला गया और वहाँ कषाय तथा शरीरको सुखानेवाला तप करने लगा ।।२९।। 'मेरे निमित्तसे कृष्णकी मृत्यु होगी' यह जानकर जरत्कुमार भी बहुत दुःखी हुआ और दुःखसे युक्त भाई-बन्धुओंको छोड़कर वह कहीं ऐसी जगह चला गया जहाँ कृष्ण दिखायी भी न दें ।।३०।। जब जरत्कुमार वनमें जाकर अकेला रहने लगा तब स्नेहसे आकुल श्रीकृष्णने अपने-आपमें अपने-आपको सूना अनुभव किया ।।३१।। जो कृष्णको प्राणोंके समान प्यारा था ऐसा जरत्कुमार कहीं प्रिय प्राणोंको छोड़नेकी इच्छासे अकेला ही मृगोंके समान निर्जन वनमें भ्रमण करने लगा ।।३२।। इधर आगामी दुःखके भारकी चिन्तासे जिनके मन संतप्त हो रहे थे ऐसे यादव लोग भगवान्‌को नमस्कार कर नगरीमें प्रविष्ट हुए ।।३३।। बलदेवके साथ कृष्णने नगरमें यह घोषणा करा दी कि मद्य बनानेके साधन और मद्य शीघ्र ही अलग कर दिये जायें ।।३४।। घोषणा सुनते ही मद्यपायी लोगोंने पिष्ट, किण्व आदि मदिरा बनानेके साधनोंके साथ-साथ समस्त मदिराको शिलाओंके बीच बने हुए कुण्डसे युक्त कादम्ब गिरिकी गुहामें फेंक दिया ।।३५।। कदम्ब वनके कुण्डोंमें जो मदिरा छोड़ी गयी थी वह अश्मपाक विशेषके कारण उन कुण्डों-में भरी रही। भावार्थ—पत्थरकी कुण्डियोंमें जिस प्रकार कोई तरल पदार्थ स्थिर रहा आता है उसी प्रकार कदम्ब वनके शिलाकुण्डोंमें वह मदिरा स्थिर रही आयी ।।३६।। हितकी इच्छा रखनेवाले कृष्णने समस्त स्त्री-पुरुषोंके सुनते समय द्वारिकापुरीमें दूसरी घोषणा यह दी कि यदि मेरे पिता, माता, पुत्री अथवा अन्तःपुरकी स्त्री आदि कोई भी जिनेन्द्र भगवान्‌के मतमें दीक्षित हो तप करना चाहें तो मैं उन्हें मना नहीं करता हूँ—उन्हें तप करनेकी मेरी ओरसे

---

१. द्वीपायन–म०, ख० । २. हरिः प्राणप्रियः म० । ३. सशिलाकुण्डकादम्ब—क० । ४. मुक्ता म० ।

ततः प्रद्युम्नभान्वाद्याः कुमाराश्चरमाङ्गकाः । अन्ये च बहवो यातास्तपोवनमसङ्गिनः ॥३९॥
रुक्मिणीसत्यभामाद्या महादेव्योऽष्ट सस्नुषाः । लब्धानुज्ञा हरेः स्त्रीभिः सपत्नीभिः प्रवव्रजुः ॥४०॥
सिद्धार्थसारथिर्भ्राता बलदेवेन याचितः[1] । बोधनं व्यसने स्वस्य [2]प्रतिपद्य तपोऽगृहीत् ॥४१॥
ततः संघेन महता जिनः पल्लवदेशभाक् । बभूव भव्यबोधार्थं भव्याम्भोरुहभास्करः ॥४२॥
राजस्त्रीनरसंघातो यावान् प्रव्रजितस्तदा । जिनेनैव समं [3]सोऽयादुत्तरापथमुद्यमी ॥४३॥
[4]वर्षं द्वादश चोद्दिश्य पुर्याः लोकः क्वचिद्वने । कृत्वा वासं पुनस्तत्र स्वागतश्च विधेर्वशात् ॥४४॥
इतो [5]द्वारवतीलोकः परलोकभयान्वितः । व्रतोपवासपूजासु सुतरां निरतोऽभवत् ॥४५॥
[6]द्वैपायनोऽपि महता तपसा सहितस्ततः । व्यतीतं द्वादशं वर्षं मन्वानो भ्रान्तिहेतुना ॥४६॥
व्यतिक्रान्तो जिनादेश इति ध्यात्वा विमूढधीः । संप्राप्तो द्वादशे वर्षे सम्यग्दर्शनदुर्बलः ॥४७॥
धृतातापनयोगश्च तस्थौ प्रतिमया पथि । द्वारिकाबहिरभ्याशे कदाचिन्निकटे गिरेः ॥४८॥
वनक्रीडापरिश्रान्ताः पिपासाकुलिता जलम् । इति कादम्बकुण्डेषु [7]शम्बाद्यास्तां सुरां पपुः ॥४९॥
कदम्बवनसंन्यस्तां कदम्बकतया स्थिताम् । पीत्वा कादम्बरीं मृष्टां कुमारा विकृतिं गताः ॥५०॥

पूर्ण कूट है ।।३७-३८।। घोषणा सुनते ही प्रद्युम्नकुमार तथा भानुकुमारको आदि लेकर चरम-शरीरी कुमार और अन्य बहुत-से लोग परिग्रहका त्याग कर तपोवनको चले गये ।।३९।। रुक्मिणी और सत्यभामा आदि आठ पट्टरानियोंने भी आज्ञा प्राप्त कर पुत्रवधुओं तथा अन्य सौतोंके साथ दीक्षा धारण कर ली ।।४०।। सिद्धार्थ नामका सारथि जो बलदेवका भाई था जब दीक्षा लेनेके लिए उत्सुक हुआ तब बलदेवने उससे याचना की कि कदाचित् मैं मोहजन्य व्यसनको प्राप्त होऊँ तो मुझे संबोधित करना। बलदेवकी इस प्रार्थनाको स्वीकृत कर उसने तप ग्रहण कर लिया ।।४१।।

तदनन्तर जो भव्यरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान थे ऐसे भगवान् नेमिजिनेन्द्र, भव्य जीवोंको संबोधनेके लिए बड़े भारी संघके साथ पल्लव देशको प्राप्त हुए ।।४२।। उस समय जो राजा-रानियों और मनुष्योंका समूह दीक्षित हुआ था वह जिनेन्द्र भगवान्के साथ-ही-साथ उत्तरापथकी ओर चलनेके लिए उद्यमी हुआ ।।४३।। द्वारिकाके लोग द्वारिकासे बाहर जाकर बारह वर्ष तक कहीं वनमें रहते आये परन्तु भाग्यकी प्रबलतासे वे वहाँ निवास कर फिर वहीं वापस आ गये ।।४४।। इधर द्वारिकामें जो लोग रहते थे वे परलोकके भयसे युक्त हो व्रत, उपवास तथा पूजा आदि सत्कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहते थे ।।४५।। तदनन्तर बहुत भारी तपसे युक्त जो द्वैपायन मुनि थे वे भी भ्रान्तिवश बारहवें वर्षको व्यतीत हुआ मानते हुए बारहवें वर्षमें वहाँ आ पहुँचे। 'जिनेन्द्र भगवान्का आदेश पूरा हो चुका है' यह विचार कर जिनकी बुद्धि विमूढ हो रही थी तथा जो सम्यग्दर्शनसे दुर्बल थे ऐसे द्वैपायन मुनि बारहवें वर्षमें वहीं आ पहुँचे ।। ४६-४७ ।। वे किसी समय द्वारिकाके बाहर पर्वतके निकट, मार्गमें आतापन योग धारण कर प्रतिमायोगसे विराजमान थे ।।४८।। उसी समय वनक्रीड़ासे थके एवं प्यासससे पीड़ित शम्ब आदि कुमारोंने कादम्ब वनके कुण्डोंमें स्थित उस शराबको पी लिया ।।४९।। कदम्ब वनमें छोड़ी एवं कदम्ब रूपसे डबरोंके रूपमें स्थित उस मधुर मदिराको पीकर वे सब कुमार विकार भावको प्राप्त

---

१. बलदेवनयान्वितः म० । २. प्रतिपाद्य क०, ख०, घ०, म० । ३. पाया- म०, याया ख०, घ० । ४. वर्षान् द्वादश क०, वर्षे द्वादश म० । ५. द्वारवतीम् म० । ६. द्वीपायनोऽपि म० । ७. सुस्वाद्यां तां क० ।

वारुणी सा पुराणापि परिपाकवशाद्वशान् । तरुणानकरोद्गाढं तरुणीवारुणेक्षणान् ॥५१॥
असंबद्धानि गायन्तो नृत्यन्तः स्खलितक्रमाः । मुक्तकेशाः कृतोत्तंसाः कण्ठालम्बिवनस्रजः॥५२॥
आगच्छन्तः पुरः सर्वे दृष्ट्वार्काभिमुखं मुनिम् । प्रत्यभिज्ञाय चाबोचन् घूर्णमाननिरीक्षणाः ॥५३॥
सोऽयं द्वैपायनो योगी द्वारवत्याः किलान्तकृत् । । भवितास्माकमद्याग्रे क्व प्रयाति वराककः ॥५४॥
इत्युक्त्वा तं कुमारास्ते लोष्टुभिः सर्वतोऽश्मभिः । प्रजघ्नुर्निर्घृणास्तावद्यावत्पतति भूतले ॥५५॥
क्रोधाधिक्यात्ततो दध्रे दष्टोष्ठो भ्रूकुटीकुटीम् । प्रलयाय यदूनां सः प्रायः स्वतपसोऽपि च ॥५६॥
प्रविष्टास्तु पुरीं व्याला व्याला इव चलाचलाः । कुमाराः कैश्चिदुक्तं तु दुर्वृत्तं लघु विष्णवे ॥५७॥
बलनारायणौ श्रुत्वा द्वैपायनमुपश्रुतम् । द्वारिकायाः क्षयं प्राप्तं मेनाते जिनभाषितम् ॥५८॥
संभ्रमेण परिप्राप्तौ परित्यक्तपरिच्छदौ । मुनिं क्षमयितुं क्रोधाज्ज्वलन्तमिव पावकम् ॥५९॥
दृष्टः संक्लिष्टधीस्ताभ्यां भ्रूभङ्गविषमाननः । दुर्निरीक्ष्येक्षणः क्षीणः कण्ठप्राणो विभीषणः ॥६०॥
कृताञ्जलिपुटाभ्यां स प्रणिपत्य महादरात् । याच्यते याचना वन्ध्यं जानद्भ्यामपि मोहतः ॥६१॥
रक्ष्यतां रक्ष्यतां साधो चिरं सुपरिरक्षितः । क्षमामूलस्तपोभारो धक्ष्यते क्रोधवह्निना ॥६२॥
मोक्षसाधनमप्येष तपो दूषयति क्षणात् । चतुर्वर्गरिपुः क्रोधः क्रोधः स्वपरनाशकः ॥६३॥

हो गये ॥ ५० ॥ यद्यपि वह मदिरा पुरानी थी तथापि परिपाकके वशसे उसने तरुण स्त्रीके समान, लाल-लाल नेत्रोंको धारण करनेवाले उन तरुण कुमारोंको अत्यधिक वशीभूत कर लिया ॥५१॥ फलस्वरूप वे सब कुमार असंबद्ध गाने लगे, लड़खड़ाते पैरोंसे नाचने लगे, उनके केश बिखर गये, आभूषण अस्त-व्यस्त हो गये और उन्होंने अपने कण्ठोंमें जंगली फूलोंकी मालाएँ पहिन लीं ॥ ५२ ॥ जब वे सब नगरकी ओर आ रहे थे तब उन्होंने सूर्यके सम्मुख खड़े हुए द्वैपायन मुनिको पहचान लिया। पहचानते ही उनके नेत्र घूमने लगे। उन्होंने आपसमें कहा कि यह वही द्वैपायन योगी है जो द्वारिकाका नाश करनेवाला होगा। आज यह बेचारा हम लोगोंके आगे कहाँ जायेगा ? ॥ ५३—५४ ॥ इतना कहकर उन निर्दय कुमारोंने लुड्डों और पत्थरोंसे उन्हें तबतक मारा जबतक कि वे घायल होकर पृथिवीपर नहीं गिर पड़े ॥ ५५ ॥ तदनन्तर क्रोधकी अधिकतासे मुनि अपना ओठ डँसने लगे तथा यादवों और अपने तपको नष्ट करनेके लिए उन्होंने भ्रुकुटी चढ़ा ली ॥५६॥ मदमाते हाथियोंके समान अत्यन्त चञ्चलकुमार जब द्वारिकापुरीमें प्रविष्ट हुए तब उनमें-से किन्हींने यह दुर्घटना शीघ्र ही कृष्णके लिए जा सुनायी ॥५७॥ बलदेव तथा नारायणने द्वैपायनसे सम्बन्ध रखने-वाली इस घटनाको सुनकर समझ लिया कि जिनेन्द्र भगवान्‌ने जो द्वारिकाका क्षय बतलाया था वह आ पहुँचा है—अब शीघ्र ही द्वारिकाका क्षय होनेवाला है ॥५८॥ बलदेव और नारायण घबड़ाहटवश सब प्रकारका परिकर छोड़, क्रोधसे अग्निके समान जलते हुए मुनिको शान्त करनेके लिए, उनसे क्षमा माँगनेके लिए उनके पास दौड़ गये ॥५९॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त संक्लेशमय थी, भ्रुकुटीके भंगसे जिनका मुख विषम हो रहा था, जिनके नेत्र दुःखसे देखने योग्य थे, जिनके प्राण कण्ठगत हो रहे थे और जो अत्यन्त भयंकर थे ऐसे द्वैपायन मुनिको बलदेव और कृष्णने देखा। उन्होंने हाथ जोड़कर बड़े आदरसे मुनिको प्रणाम किया और 'हमारी याचना व्यर्थ होगी' यह जानते हुए भी मोहवश याचना की ॥६०—६१॥ उन्होंने कहा कि, 'हे साधो ! आपने चिरकालसे जिसकी अत्यधिक रक्षा की है तथा क्षमा ही जिसकी जड़ है ऐसा यह तपका भार क्रोधरूपी अग्निसे जल रहा है सो इसकी रक्षा की जाये, रक्षा की जाये ॥६२॥ यह क्रोध मोक्षके साधनभूत तपको क्षण-भरमें दूषित कर देता है, यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों वर्गोंका शत्रु है तथा निज और परको नष्ट करनेवाला है ॥६३॥

क्षम्यतां क्षम्यतां मूढैः प्रमादबहुलैः कृतम् । दुर्विचेष्टितमस्मभ्यं प्रसादः क्रियतां यते ॥६४॥
इत्यादिप्रियवादिभ्यां प्रार्थ्यमानोऽनिवर्तकः । सप्राणिद्वारिकादाहे पापधीः कृतनिश्चयः ॥६५॥
संज्ञयाऽदर्शयत्ताभ्यामङ्गुलीद्वयदर्शनम् । युवयोरेव मोक्षोऽत्र नान्यस्येति परिस्फुटम् ॥६६॥
[1]अनिवर्तकरोषं तं विदित्वा विदितक्षयौ । विषण्णौ तौ पुरीं यातौ किंकर्तव्यत्वविह्वलौ ॥६७॥
शम्बाद्यास्तु तदाऽनेके यादवाश्चरमाङ्गकाः । पुर्या निष्क्रम्य निष्क्रान्तास्तस्थुर्गिरिगुहादिषु ॥६८॥
मृत्वा क्रोधाग्निनिर्दग्धतपःसारधनश्च[2] सः । बभूवाग्निकुमाराख्यो मिथ्यादृग्भवनामरः ॥६९॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन पर्याप्तः प्रतिबुद्धवान् । विभङ्गेन विकारं स्वं कृतं यदुकुमारकैः ॥७०॥
रौद्रध्यानं स दध्यौ मे तपस्थस्य निरागसः । हिंसकानां पुरीं सर्वां दहामि सह जन्तुभिः ॥७१॥
इति ध्यात्वा [3]स दुर्वारो यावदायाति दारुणः । द्वारावत्यां महोत्पातास्तावज्जाताः क्षयावहाः ॥७२॥
बभूवुः प्रत्यगारं च रोमहर्षविकारिणः । प्रजानां निशि सुप्तानां स्वप्नाश्च भयशंसिनः ॥७३॥
प्राप्य पापमतिश्चासौ पुरीमारभ्य बाह्यतः । कोपी दग्धुं समारेभे तिर्यग्मानुषपूरिताम् ॥७४॥
धूमज्वालाकुलान्[4] वृद्धस्त्रीबालपशुपक्षिणः । नश्यतोऽग्नौ[5] क्षिपत्येष कारुण्यं पापिनः कुतः ॥७५॥
प्राणिजातस्य सर्वस्य जातवेदसि मज्जतः । आक्रन्दनस्वना जाता येऽत्र जाता न जातुचित् ॥७६॥

हे मुनि राज ! प्रमादसे भरे हुए मूर्ख कुमारोंने जो दुष्ट चेष्टा की है उसे क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए, हम लोगोंके लिए प्रसन्न होइए' ॥६४॥ इत्यादि प्रियवचन बोलनेवाले बलदेव और कृष्णने द्वैपायनसे बहुत प्रार्थना की पर वे अपने निश्चयसे पीछे नहीं हटे । उनकी बुद्धि अत्यन्त पापपूर्ण हो गयी थी और वे प्राणियों-सहित द्वारिकापुरीके जलानेका निश्चय कर चुके थे ॥६५॥ उन्होंने बलदेव और कृष्णके लिए दो अंगुलियाँ दिखायीं तथा इशारेसे स्पष्ट सूचित किया कि तुम दोनोंका ही छुटकारा हो सकता है, अन्यका नहीं ॥६६॥

जब बलदेव और कृष्णको यह विदित हो गया कि इनका क्रोध पीछे हटनेवाला नहीं है तब वे द्वारिकाका क्षय जान बहुत दुःखी हुए और किंकर्तव्य-विमूढ हो नगरीकी ओर लौट आये ॥६७॥ उस समय शम्बकुमार आदि अनेक चरमशरीरी यादव, नगरीसे निकल कर दीक्षित हो गये तथा पर्वतकी गुफा आदिमें विराजमान हो गये ॥६८॥ क्रोधरूपी अग्निके द्वारा जिनका तपरूपी श्रेष्ठ धन भस्म हो चुका था ऐसे द्वैपायन मुनि मरकर अग्निकुमार नामक मिथ्यादृष्टि भवनवासी देव हुए ॥६९॥ वहाँ अन्तर्मुहूर्तमें ही पर्याप्तक होकर उन्होंने यादव कुमारोंके द्वारा किये हुए अपने अपकारको विभङ्गावधिज्ञानके द्वारा जान लिया ॥७०॥ उन्होंने इस रौद्रध्यानका चिन्तवन किया कि, 'देखो, मैं निरपराधी तपमें लीन था फिर भी इन लोगोंने मेरी हिंसा की अतः मैं इन हिंसकोंकी समस्त नगरीको सब जीवोंके साथ अभी हाल भस्म करता हूँ ।' इस प्रकार ध्यान कर क्रूर परिणामोंका धारक वह दुर्वार देव ज्यों ही आता है त्यों ही द्वारिकामें क्षयको उत्पन्न करनेवाले बड़े-बड़े उत्पात होने लगे ॥७१—७२॥ घर-घरमें जब प्रजाके लोग रात्रिके समय निश्चिन्ततासे सो रहे थे तब उन्हें रोमाञ्च खड़े कर देनेवाले भयसूचक स्वप्न आने लगे ॥७३॥ अन्तमें उस पापबुद्धि क्रोधी देवने आकर बाहरसे लेकर तिर्यञ्च और मनुष्यों-से भरी हुई नगरीको जलाना शुरू कर दिया ॥७४॥ वह धूम और अग्निकी ज्वालाओंसे आकुल हो नष्ट होते हुए वृद्ध, स्त्री, बालक, पशु तथा पक्षियोंको पकड़-पकड़ कर अग्निमें फेंकने लगा सो ठीक ही है क्योंकि पापी मनुष्यको दया कहाँ होती है ? ॥७५॥ उस समय अग्निमें जलते हुए समस्त प्राणियोंकी चिल्लाहटके जो शब्द हुए थे वैसे शब्द इस पृथिवीपर कभी नहीं हुए थे

---

१. अनिवर्तक–म० । २. धनश्च यः म० । ३. सुदुर्वारो म० । ४. ज्वालाकरान् म० । ५. अग्नौ ।

दिव्येन दह्यमानायां दहनेन तदा पुरि । नूनं क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता ॥७७॥
अन्यथा देवराजस्य राजराजेन शासनात् । निर्मिता [1]रक्षिता चासौ दह्यते कथमग्निना ॥७८॥
रक्षतां बलकृष्णौ नः[2] चिरेणाग्निभयार्दितान्[3] । इति स्त्रीबालवृद्धानामालापा बभुराकुलाः ॥७९॥
आकुलौ बलकृष्णौ च भित्त्वा प्राकारमम्बुधेः । विध्यापयितुमारब्धौ प्रवाहैस्तं हुताशनम् ॥८०॥
सागराम्बु हलाकृष्टं हलिना बलशालिना । अज्वाल ज्वलनस्तेन तैलभावमुपेयुषा ॥८१॥
असाध्यतां विदित्वाग्नेर्जनन्यौ जनकं जनम् । सुबहुं रथमारोप्य संयोज्य गजवाजिनः ॥८२॥
रथं नोदयतोः क्षोण्यां रथचक्राणि पङ्कवत् । निमज्जन्ति विपत्काले क्व गजा वाजिनः क्व च ॥८३॥
स्वयमेव रथं दोर्भ्यामाकृष्य प्रयतोस्तयोः । निरुद्धः कीलयित्वाऽसाविन्द्रकीलेन[4] पापिना ॥८४॥
अवष्टभ्नाति पादेन यावत्कीलं हलायुधः । पिहितं गोपुरद्वारं तावद्दैत्येन कोपिना ॥८५॥
कपाटं पादघातेन ताभ्यां पातितमाशु तत् । द्विषोक्तं निर्गमोऽन्यस्य युवाभ्यां नानुविद्यते ॥८६॥
ततः पित्रा च मातृभ्यां पुत्रौ यातमितीरितौ । विनिश्चित्योपसंहारमात्मीयमिति दुःखिभिः ॥८७॥
भवतोः जीवतोः पुत्रौ कदाचिद्वंशसन्ततिः । न क्षम्येदप्यतो [5]यातमिति तद्वाक्यमस्तकौ ॥८८॥
तान्प्रशाम्य गतौ दीनौ दुःखितौ दुःखपीडितान् । प्रणत्य पादयोर्यातौ गुरुवाक्यकरौ पुरः ॥८९॥

॥७६॥ दिव्य अग्निके द्वारा जब नगरी जल रही थी तब जान पड़ता था कि देव लोग कहीं चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि भवितव्यता दुर्निवार है ॥७७॥ अन्यथा इन्द्रकी आज्ञासे कुबेरने जिस नगरीकी रचना की थी तथा कुबेर ही जिसकी रक्षा करता था वह नगरी अग्निके द्वारा कैसे जल जाती ? ॥७८॥ 'हे बलदेव और कृष्ण ! हम लोग चिरकालसे अग्निके भयसे पीडित हो रहे हैं, हमारी रक्षा करो' इस प्रकार स्त्री, बालक और वृद्धजनोंके घबराहटसे भरे शब्द सर्वत्र व्याप्त हो रहे थे ॥७९॥ घबड़ाये हुए बलदेव और कृष्ण कोट फोड़कर समुद्रके प्रवाहोंसे उस अग्निको बुझाने लगे ॥८०॥ बलशाली बलदेवने अपने हलसे समुद्रका जल खींचा परन्तु वह जल तेलरूपमें परिणत हो गया और उससे अग्नि अत्यधिक प्रज्वलित हो उठी ॥८१॥ जब बलदेव और कृष्णको इस बातका निश्चय हो गया कि अग्नि असाध्य है—बुझायी नहीं जा सकती तब उन्होंने दोनों माताओंको, पिताको तथा अन्य बहुतसे लोगोंको रथपर बैठाकर तथा रथमें हाथी और घोड़े जोत कर रथको पृथिवीपर चलाया परन्तु रथके पहिये जिस प्रकार कीचड़में फँस जाते हैं उस प्रकार पृथिवीमें फँस गये सो ठीक ही है क्योंकि विपत्तिके समय कहाँ हाथी और कहाँ घोड़े काम आते हैं ? ॥८२—८३॥ हाथी और घोड़ोंको बेकार देख जब दोनों भाई स्वयं ही भुजाओंसे रथ खींचकर चलने लगे तब उस पापी देवने वज्रमय कीलसे कील कर रथको रोक दिया ॥८४॥ जबतक बलदेव पैरके आघातसे कीलको उखाड़ते हैं तब तक उस क्रोधी दैत्यने नगरका द्वार बन्द कर दिया ॥८५॥ जब दोनों भाइयोंने पैरके आघातसे द्वारके कपाटको शीघ्र ही गिरा दिया तबतक शत्रुने कहा कि तुम दोनोंके सिवाय किसी अन्यका निकलना नहीं हो सकता ॥८६॥

तदनन्तर अब हम लोगोंका विनाश निश्चित है यह जानकर दोनों माताओं और पिताने दुःखी होकर कहा कि 'हे पुत्रो ! तुम जाओ। कदाचित् तुम दोनोंके जीवित रहते वंश घातको प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार गुरुजनोंके वचन मस्तकपर धारण कर दोनों भाई अत्यन्त दुःखी हुए तथा दुःखसे पीड़ित दीन माता-पिताको शान्त कर और उनके चरणोंमें गिर कर उनके वचनोंको मानते हुए नगरसे बाहर निकल आये ॥८७—८९॥

१. रक्षता म० । २. च ख० । ३. भयार्दिताः म०, ख० । ४. वज्रवत्कीलकेन (ङ० टि०) । ५. पात क०, ख०, ङ० ।

निर्गत्य निर्गती पुर्या ज्वालालीढवेश्मनः । रुदित्वा कण्ठलग्नौ तौ दक्षिणां दिशमाश्रितौ ॥९०॥
इतोऽपि वसुदेवाद्या यादवाश्च तदङ्गनाः । प्रायोपगमनं प्राप्ताः संप्राप्ता बहवो दिवम् ॥९१॥
केचिच्चरमदेहास्तु बलदेवसुतादयः । गृहीतसंयमा नीता जृम्भकैर्जिनसन्निधिम् ॥९२॥
बहूनां यादवीनां च धर्म्यध्यानवशात्मनाम् । सम्यग्दर्शनशुद्धानां प्रायोपगममाश्रिताम् ॥९३॥
बहूनां दह्यमानानामपि देहविनाशनः । [3]जातो हुताशनो रौद्रो न तु ध्यानविनाशनः ॥९४॥
आर्तध्यानकरः प्रायो मिथ्यादृष्टिषु जायते । उपसर्गश्चतुर्भेदो न सद्दृष्टेस्तु जातुचित् ॥९५॥
आगाढे चाप्यनागाढे मरणे समुपस्थिते । न मुह्यन्ति जना जातु जिनशासनभाविताः ॥९६॥
मिथ्यादृष्टेः सतो जन्तोर्मरणं शोचनाय हि । न तु दर्शनशुद्धस्य समाधिमरणं शुचे ॥९७॥
मृतिर्जातस्य[4] नियता संसृतौ नियतेर्वशात् । सा समाधियुजो भूयादुपसर्गेऽपि देहिनः ॥९८॥
धन्याः शिखिशिखाजालकवलीकृतविग्रहाः । अपि साधुसमाधाना ये त्यजन्ति कलेवरम् ॥९९॥
तपो वा मरणं वापि शस्तं स्वपरसौख्यकृत् । [5]न च द्वैपायनस्येव स्वपरासुखकारणम् ॥१००॥
परस्यापकृतिं कुर्वन् कुर्यादेकत्र जन्मनि । पापी परवधं स्वस्य जन्तुर्जन्मनि जन्मनि ॥१०१॥
कषायवशगः प्राणी हन्ता स्वस्य भवे भवे । संसारवर्धनोऽन्येषां भवेद्वा वधको न वा ॥१०२॥

ज्वालाओंके समूहसे जिसके महल जल रहे थे ऐसी नगरीसे निकलकर दोनों भाई पहले तो गतिहीन हो गये—इस बातका निश्चय नहीं कर सके कि कहाँ जाया जाये ? वे बहुत देर तक एक-दूसरेके कण्ठसे लगकर रोते रहे । तदनन्तर दक्षिण दिशाकी ओर चले ॥९०॥ इधर वसुदेव आदि यादव तथा उनकी स्त्रियाँ—अनेक लोग संन्यास धारण कर स्वर्गमें उत्पन्न हुए ॥९१॥ बलदेवके पुत्रोंको आदि लेकर जो कुछ चरमशरीरी थे उन्होंने वहीं संयम धारण कर लिया और उन्हें जृम्भकदेव जिनेन्द्रभगवान्‌के पास ले गये ॥९२॥ जिनकी आत्मा धर्मध्यान-के वशीभूत थी—जो सम्यक्‌दर्शनसे शुद्ध थे, तथा जिन्होंने प्रायोपगमन नामक संन्यास धारण कर रखा था ऐसे बहुत-से यादव और उनकी स्त्रियाँ यद्यपि अग्निमें जल रही थीं तथापि भयंकर अग्नि केवल उनके शरीरको नष्ट करनेवाली हुई, ध्यानको नष्ट करनेवाली नहीं ॥९३-९४॥ मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और जड़के भेदसे चार प्रकारका उपसर्ग प्रायः मिथ्या-दृष्टि जीवोंको ही आर्तध्यानका करनेवाला होता है, सम्यग्दृष्टि जीवको कभी नहीं ॥ ९५ ॥ जो मनुष्य जिनशासनकी भावनासे युक्त हैं वे संभावित और असंभावित किसी भी प्रकारका मरण उपस्थित होनेपर कभी मोहको प्राप्त नहीं होते ॥९६॥ मिथ्यादृष्टि जीवका मरण शोकके लिए होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवका समाधिमरण शोकके लिए नहीं होता ॥ ९७ ॥ संसार का नियम ही ऐसा है कि जो उत्पन्न होता है उसका मरण अवश्य होता है, अतः सदा यह भावना रखनी चाहिए कि उपसर्ग आनेपर भी समाधिपूर्वक ही मरण हो ॥ ९८ ॥ वे मनुष्य धन्य हैं जो अग्निकी शिखाओंके समूहसे ग्रस्तशरीर होनेपर भी उत्तम समाधिसे शरीर छोड़ते हैं ॥ ९९ ॥ जो तप और मरण निज तथा परको सुख करनेवाला है वही उत्तम है—प्रशंसनीय है, जो तप द्वैपायनके समान निज और परको दुःखका कारण है वह उत्तम नहीं है ॥ १०० ॥

दूसरेका अपकार करनेवाला पापी मनुष्य, दूसरेका वध तो एक जन्ममें कर पाता है पर उसके फलस्वरूप अपना वध जन्म-जन्ममें करता है ॥१०१॥ यह प्राणी दूसरोंका वध कर सके अथवा न कर सके परन्तु कषायके वशीभूत हो अपना वध तो भव-भवमें करता है

१. दिव: म० । २. गमनाश्रिताम् क० । ३. यातो म० । ४.- र्यातस्य म० । ५. तच्च म० ।

परं हन्मीति संजातं लोहपिण्डमुपाददत् । दहत्यात्मानमेवादौ कषायवशगस्तथा ॥१०३॥
संसारान्तकरं पुंसामेकेषां परमं तपः । द्वैपायनस्य तज्जातं दीर्घसंसारकारणम् ॥१०४॥
जन्तोः को वापराधोऽत्र स्वकर्मवशवर्तिनः । यत्नवानपि यज्जन्तुर्मोह्यते मोहवैरिणा ॥१०५॥
[1]अपाक्रियेतापि परः कथञ्चिदतितिक्षुणा[2] । उपक्रियेत यथात्मा तथेहपरलोकयोः ॥१०६॥
परदुःखविधानेन यत्स्वदुःखपरम्परा । अवश्यम्भाविनी तस्मात्तितिक्षैवातिभाव्यताम्[3] ॥१०७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

क्रोधान्धेन विधेर्वशेन नगरी द्वैपायनेनाखिला
बालस्त्रीपशुवृद्धलोककलिता द्वाराकुला द्वारिका ।
मासैः षड्भिरशोषिता विलसिता संत्यज्य जैनं वचो
धिक् क्रोधं स्वपरापकारकरणं संसारसंवर्धनम् ॥१०८॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ द्वारावतीविनाशवर्णनो नामैकषष्टितम सर्गः ॥६१॥

तथा अपने संसारको बढ़ाता है ॥१०२॥ जिस प्रकार तपाये हुए लोहेके पिण्डको उठानेवाला मनुष्य पहले अपने-आपको जलाता है पश्चात् दूसरेको जला सके अथवा नहीं। उसी प्रकार कषायके वशीभूत हुआ प्राणी 'दूसरेका घात करूँ' इस विचारके उत्पन्न होते ही पहले अपने-आपका घात करता है पश्चात् दूसरेका घात कर सके या नहीं कर सके ॥१०३॥ किन्हीं मनुष्यों-के लिए यह परम तप संसारका अन्त करनेवाला होता है पर द्वैपायन मुनिके लिए दीर्घ संसार-का कारण हुआ ॥१०४॥ अथवा इस संसारमें अपने कर्मके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाले प्राणीका क्या अपराध है ? क्योंकि यत्न करनेवाला प्राणी भी मोहरूपी वैरीके द्वारा मोहको प्राप्त हो जाता है ॥१०५॥ असहनशील पुरुष दूसरेका अपकार किसी तरह कर भी सकता है परन्तु उसे अपने-आपका तो इस लोक और परलोकमें उपकार ही करना चाहिए ॥१०६॥ क्योंकि दूसरोंको दुःख पहुँचानेसे अपने-आपको भी दुःखकी परम्परा प्राप्त होती है, इसलिए क्षमा अवश्यम्भावी है-अवश्य ही धारण करने योग्य है ऐसा निश्चय करना चाहिए ॥१०७॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो, विधिके वशीभूत हुए क्रोधसे अन्धे द्वैपायनने जिनेन्द्र भगवान्‌के वचन छोड़कर बालक, स्त्री, पशु और वृद्धजनोंसे व्याप्त एवं अनेक द्वारों से युक्त शोभायमान द्वारिका नगरी-को छह मासमें भस्म कर दिया सो निज और परके अपकारका कारण तथा संसार-को बढ़ानेवाले इस क्रोधको धिक्कार है ॥१०८॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें द्वारिकाके नाशका वर्णन करनेवाला इकसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥६१॥

---

१. अपि क्रियेतापि म० । २. अविचक्षणः ग०, अतितिक्षुणः म०, ख०, ङ० । ३. भाव्यताम् म० ।

द्विषष्टितमः सर्गः

पुण्योदयात्पुरा [1]प्राप्तावुन्नतिं यौ जगातिगाम् । चक्रादिरत्नसंपन्नौ बलिनौ बलकेशवौ ॥१॥
पुण्यक्षयात्तु तावेव रत्नबन्धुविवर्जितौ । प्राणमात्रपरीवारौ शोकभारवशीकृतौ ॥२॥
प्रस्थितौ दक्षिणामाशां जीविताशावलम्बिनौ । क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ यातौ [2]सत्कांक्षिणौ पथि ॥३॥
उद्दिश्य पाण्डवान् [3]यान्तौ मधुरां दक्षिणामुमौ । हस्तवप्रं पुरं प्राप्तौ तत्रोद्याने हरिः स्थितः ॥४॥
गतोऽन्नपानमानेतुं कृतसंकेतकोऽग्रजः । वस्त्रसंवृतसर्वाङ्गः प्रविष्टश्च [4]ततः पुरम् ॥५॥
अच्छदन्तो नृपस्तत्र धार्तराष्ट्रोऽवतिष्ठते । पृथिव्यां प्रथितो धन्वी यदुरन्ध्रदुरन्तधीः ॥६॥
जनैर्जनितसंघट्टैः रूपपाशवशीकृतैः । प्रविश्य तत्पुरीं वीरो दृश्यमानः सविस्मयैः ॥७॥
[5]कण्टकं कुण्डलं चापि दत्वा कस्यचिदापणे । अन्नपानमुपादाय निर्गच्छन् वीक्ष्य रक्षकैः ॥८॥
विज्ञाय बलदेवोऽयमिति राज्ञे निवेदितः । ततस्तेन वधायास्य प्रेषितं सकलं बलम् ॥९॥
संघट्टोऽभूत्पुरद्वारे सैन्यस्य बलरोधिनः । बलेन संज्ञयाऽऽहूतः कृष्णश्च द्रुतमागतः ॥१०॥
[6]अन्नपानं सुसंस्थाप्य गजस्तम्भं बलोऽग्रहीत् । कृष्णस्तु परिघं घोरं किञ्चित्कुपितमानसः ॥११॥

जो बलदेव और कृष्ण पहले पुण्योदयसे लोकोत्तर उन्नतिको प्राप्त थे, चक्र आदि रत्नोंसे सहित थे, बलवान् थे, बलभद्र एवं नारायण-पदके धारक थे। वे ही अब पुण्य क्षीण हो जानेसे रत्न तथा बन्धुजनोंसे रहित हो गये, प्राणमात्र ही उनके साथी रह गये और शोकके वशीभूत हो गये ॥ १-२ ॥ केवल जीवित रहनेकी आशा रखनेवाले दोनों भाई दक्षिण दिशाकी ओर चले। वहाँ वे भूख-प्याससे व्याकुल हो मार्गमें किसी उत्तम आश्रयकी इच्छा करने लगे ॥ ३ ॥ पाण्डवोंको लक्ष्य कर वे दक्षिण मथुराकी ओर जा रहे थे कि मार्गमें हस्तवप्र नामक नगरमें पहुँचे। वहाँ कृष्ण तो उद्यानमें ठहर गये और बलदेव संकेत कर तथा वस्त्रसे अपना समस्त शरीर ढँक कर अन्न-पानी लेनेके लिए नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ ४-५ ॥ उस नगरमें अच्छदन्त नामका राजा रहता था, धृतराष्ट्रके वंशका था, जो पृथिवीमें प्रसिद्ध धनुर्धारी और यादवोंके छिद्र ढूँढ़नेवाला था ॥ ६ ॥ वीर बलदेवने ज्यों ही उस नगरमें प्रवेश किया त्यों ही उनके रूप-पाशसे वशीभूत हुए लोगोंके झुण्डके-झुण्ड आश्चर्यसे चकित हो उन्हें देखने लगे ॥ ७ ॥ बलदेवने बाजारमें किसीके लिए अपना कड़ा और कुण्डल देकर उससे अन्न-पान—खाने-पीनेकी सामग्री खरीदी और उसे लेकर जब वे नगरके बाहर निकल रहे थे तब राजाके पहरेदारोंने देखकर तथा 'यह बलदेव है' इस प्रकार पहचान कर राजाके लिए खबर कर दी। फिर क्या था, राजाने उनके वधके लिए अपनी समस्त सेना भेज दी ॥ ८-९ ॥ नगरके द्वारपर बलदेवको रोकनेवाली सेनाकी बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी। बलदेवने संकेतसे कृष्णको बुलाया और वे शीघ्र ही वहाँ आ गये ॥ १० ॥ बलदेवने अन्न-पानको किसी जगह अच्छी तरह रखकर हाथी बाँधनेका एक खम्भा लिया तथा कृष्णने कुछ क्रुद्धचित्त हो भयं-

१. प्राप्तावुन्नतिं म० । २. यत्कांक्षिणौ म०, ख०, ङ० । ३. यातौ ख०, ङ०, म० । ४. 'स तत्पुरं' ख० । ५. कण्ठकं म० । ६. अन्नं पानं च सुस्थाप्य म० । अन्नं पानं च संस्थाप्य ख० ।

चतुरङ्गं ततः सैन्यं सनायकमितस्ततः । हन्यमानं नमाकाभ्यां विह्वलीभूतमानसम् ॥१२॥
समादायान्नपानं तौ निर्गत्य नगरात्ततः । वनं विजयमागत्य सरो रम्यमपश्यताम् ॥१३॥
स्नात्वा सरसि तौ तत्र जिनं नत्वा मनःस्थितम् । विश्रम्याभ्यवहृत्यान्नं पयः पीत्वातिशीतकम् ॥१४॥
विश्रम्य च क्षणं वीरौ प्रयान्तौ[1] दक्षिणां दिशम् । कौशाम्ब्याख्यं वनं भीमं प्रविष्टौ परदुर्गमम् ॥१५॥
खगरावखराराव[2]मुखरीकृतदिग्मुखम् । तृष्णार्तमृगयूथानां गम्यं प्रोन्मृगतृष्णकम् ॥१६॥
ग्रीष्मोग्रतापपरुषवहन्मारुतदुस्सहम् । दावदग्धलताजालगुल्मपादपखण्डकम् ॥१७॥
असंभाव्याम्भसि भ्राम्यच्छ्वापदश्वासशब्दके । वने वनेचरोद्भिन्नकुम्भिकुम्भास्तमौक्तिके ॥१८॥
आरोहति वियन्मध्यं सुतीव्रे तीव्ररोचिषि । जगौ जनार्दनो ज्येष्ठं गुणज्येष्ठमिति श्रमी ॥१९॥
पिपासाकुलितोऽत्यर्थमार्य शुष्कौष्ठतालुकः । शक्नोमि पदमप्येकं न च यातुमतः परम् ॥२०॥
तत्पायय पयः शीतमार्य तृष्णापहारि माम् । सद्दर्शनमिवानादौ संसारे सारवर्जिते ॥२१॥
इत्युक्ते स्नेहसञ्चारसमार्द्रीकृतमानसः[3] । स जगाद बलः [4]कृष्णमुष्णनिश्वासमोचिनम् ॥२२॥
[5]तात शीतलमानीय पानीयं पाययाम्यहम् । त्वं जिनस्मरणाम्भोभिस्तावत्तृष्णां विमर्दय ॥२३॥
निरस्यति पयस्तृष्णां स्तोकां वेलामिदं पुनः । जिनस्मरणपानीयं पीतं तां मूलतोऽस्यति ॥२४॥

कर अर्गल उठाया ॥ ११ ॥ तदनन्तर इन दोनोंके द्वारा मार पड़नेपर वह चतुरङ्ग सेना अपने सेनापतिके साथ विह्वलचित्त हो इधर-उधर भाग गयी ॥ १२ ॥

तदनन्तर अन्न-पान लेकर दोनों भाई नगरसे निकल विजय नामक वनमें आये। वहाँ उन्होंने एक सुन्दर सरोवर देखा ॥ १३ ॥ सरोवरमें स्नान कर हृदयमें स्थित जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर नाना प्रकारका भोजन किया, अत्यन्त शीतल पानी पिया और क्षण-भर विश्राम किया। विश्रामके बाद दोनों वीर फिर दक्षिण दिशाकी ओर चले और चलते-चलते दूसरोंके लिए अत्यन्त दुर्गम कौशाम्बी नामके भयंकर वनमें प्रविष्ट हुए ॥ १४–१५ ॥ उस वनकी समस्त दिशाएँ पक्षियों तथा शृगालोंके शब्दोंसे शब्दायमान थीं, प्याससे पीड़ित मृगोंके झुण्ड वहाँ इधर-उधर फिर रहे थे, बड़ी ऊँची मृगतृष्णा वहाँ उठ रही थी, ग्रीष्मके उग्र संतापसे कठोर बहती हुई वायुसे वह वन अत्यन्त असह्य था, तथा दावानलसे वहाँकी लताओंके समूह, झाड़ियाँ और वृक्षोंके समूह जल गये थे ॥१६–१७॥ जहाँ पानीके मिलनेकी कोई संभावना नहीं थी, जहाँ दौड़ते हुए जङ्गली जानवरोंकी श्वासका शब्द हो रहा था, तथा जहाँ वनेचरोंके द्वारा विदीर्ण किये हुए हाथियोंके गण्डस्थलोंसे बिखरकर मोती इधर-उधर पड़े थे, ऐसे वनमें पहुँच कर जब अत्यन्त तीक्ष्ण सूर्य आकाशके मध्यमें आरूढ़ हो रहा था तब थके हुए कृष्णने गुणोंसे श्रेष्ठ बड़े भाई—बलदेवसे कहा कि 'हे आर्य ! मैं प्याससे बहुत व्याकुल हूँ, मेरे ओठ और तालु सुख गये हैं, अब इसके आगे मैं एक डग भी चलनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥१८–२०॥ इसलिए हे आर्य ! अनादि एवं सारहीन संसारमें सम्यग्दर्शनके समान तृष्णाको दूर करनेवाला शीतल जल मुझे पिलाइए' ॥२१॥ इस प्रकार कहनेपर स्नेहके संचारसे जिनका मन आर्द्र हो रहा था ऐसे बलदेवने गरम-गरम श्वास छोड़नेवाले कृष्णसे कहा कि 'हे भाई ! मैं शीतल पानी लाकर अभी तुम्हें पिलाता हूँ तुम तबतक जिनेन्द्र भगवान्‌के स्मरणरूपी जलसे प्यासको दूर करो ॥ २२–२३ ॥ यह पानी तो थोड़े समय तकके लिए

१. प्रयातौ म० । २. सूर्ये । ३. मानसं म० । । ४. कृष्णं दीर्घनिःश्वास ग० । ५. ततः म०

छायायामस्य वृक्षस्य शीतलायामिहास्यताम् । आनयामि जलं तेऽहं शीतलं शीतलाशयात् ॥२५॥
अग्रजः प्रतिपाद्यैवमनुजं मनसा वहन् । जगाम जलमानेतुं निजं श्रममचिन्तयन् ॥२६॥
कृष्णोऽपि च यथोद्दिष्टां तरुच्छायां घनां श्रितः । क्षितौ मृदुमृदि श्लक्ष्णवाससा संवृताङ्गकः[1] ॥२७॥
वामे जानुनि विन्यस्य दक्षिणं चरणं क्षणम् । [2]श्रमव्यपोहनायासावशेत गहने हरिः ॥२८॥
तं प्रदेशं स [3]दैवासौ जरासूनुर्यदृच्छया । एकाकी पर्यटन्प्राप्तो मृगयाव्यसनप्रियः ॥२९॥
यो हरिस्नेहसंभारो हरिप्राणरिरक्षया । द्वारिकाया विनिर्गत्य प्राविशन्मृगवद्वनम् ॥३०॥
स तत्र विधिनानीय तदानीं विनियोजितः । अद्राक्षीद्दूरतोऽस्पष्टं किंचिदग्रे धनुर्धरः ॥३१॥
मरुच्चलितवस्त्रान्तजनितभ्रान्तिरन्तिके । प्रसुप्तमृगकर्णोऽयं चलतीति विचिन्त्य सः ॥३२॥
गुल्मगूढवपुर्गाढमाकर्णाकृष्टकार्मुकः । विव्याध व्याधधीस्तीक्ष्णशरेण चरणं हरेः ॥३३॥
[4]विद्धपादतलः शौरिरुत्थाय सहसाखिलाः । दिशो निरीक्ष्य सोऽदृष्ट्वा परमुच्चैर्जगाविति ॥३४॥
विद्धपादतलोऽहं भो केनाकारणवैरिणा । कथ्यतां कुलमात्मीयं नाम च स्फुटमत्र मे ॥३५॥
अज्ञातकुलनामानं नरं नावधिषं रणे । कदाचिदपि योऽहं हा किं ममेदमुपागतम् ॥३६॥
तद् ब्रवीतु भवान् को भो [5]योऽज्ञातकुलनामकः । अज्ञातवैरसंबन्धो वने जातो ममान्तकः ॥३७॥

ही प्यासको दूर करता है पर जिनेन्द्र भगवान्‌का स्मरणरूपी पानी पीते ही के साथ उस तृष्णाको जड़-मूलसे नष्ट कर देता है ॥ २४ ॥ तुम यहाँ इस वृक्षकी शीतल छायामें बैठो, मैं तुम्हारे लिए सरोवरसे शीतल पानी लाता हूँ ॥२५॥

इस प्रकार छोटे भाई कृष्णसे कहकर उसे अपने हृदयमें धारण करते हुए बलदेव अपने श्रमका विचार न कर पानी लेनेके लिए गये ॥ २६ ॥ इधर कृष्ण भी बतायी हुई वृक्षकी सघन छायामें जा पहुँचे और कोमल वस्त्रसे शरीरको ढँक कर मृदु मृत्तिकासे युक्त पृथिवीपर पड़ रहे। उसी सघन वनमें वे थकावट दूर करनेके लिए बायें घुटनेपर दाहिना पाँव रखकर क्षण-भरके लिए सो गये ॥ २७-२८ ॥ शिकार-व्यसनका प्रेमी जरत्कुमार अकेला उस वनमें घूम रहा था, सो अपनी इच्छासे उसी समय उस स्थानपर आ पहुँचा ॥ २९ ॥ भाग्यकी बात देखो कि कृष्णके स्नेहसे भरा जो जरत्कुमार उनके प्राणोंकी रक्षाकी इच्छासे द्वारिकासे निकलकर मृगकी तरह वनमें प्रविष्ट हो गया था वही उस समय विधाताके द्वारा लाकर उस स्थानपर उपस्थित कर दिया गया। धनुर्धारी जरत्कुमारने दूरसे आगे देखा तो उसे कुछ अस्पष्ट-सा दिखायी दिया ॥ ३०-३१ ॥ उस समय कृष्णके वस्त्रका छोर वायुसे हिल रहा था इसलिए जरत्कुमारको यह भ्रान्ति हो गयी कि यह पास ही में सोये हुए मृगका कान हिल रहा है। फिर क्या था झाड़ीसे जिसका शरीर छिपा हुआ था और शिकारीके समान जिसकी क्रूर बुद्धि हो गयी थी ऐसे जरत्कुमारने बड़ी मजबूतीसे कान तक धनुष खींचकर तीक्ष्ण बाणसे कृष्णका पैर वेध दिया ॥ ३२-३३ ॥ पदतलके विद्ध होते ही श्रीकृष्ण सहसा उठ बैठे और सब दिशाओंमें देखनेके बाद भी जब कोई दूसरा मनुष्य नहीं दिखा तब उन्होंने जोरसे इस प्रकार कहा कि किस अकारण वैरीने मेरा पादतल वेधा है। वह यहाँ मेरे लिए अपना कुल तथा नाम साफ-साफ बतलाये ॥ ३४-३५ ॥ जिस मुझने युद्धमें कभी भी अज्ञात-कुल और अज्ञात नामवाले मनुष्यका वध नहीं किया आज उस मुझके लिए यह क्या विपत्ति आ पड़ी ? ॥ ३६ ॥ इसलिए कहो कि अज्ञातकुल नामवाले आप कौन हैं ? तथा जिसके वैरका पता नहीं ऐसा कौन इस वनमें मेरा घातक हुआ है ? ॥ ३७ ॥

१. संभृताङ्गकः ख०, क० । २. श्रमव्यपोहनाय + असौ + अशेत । ३. तदेवासौ म० । ४. विद्धतल-पदः म० । ५. यज्ञज्ञात म०, क०, ङ० ।

इत्युक्ते सोऽब्रवीदस्ति हरिवंशोद्भवो नृपः । वसुदेव इति ख्यातः पिता मे हलिचक्रिणोः ॥३८॥
सूनुर्जरत्कुमारोऽस्मि तस्याहमतिवल्लभः । एकवीरो भ्रमाम्यत्र वने भीरुदुरासदे ॥३९॥
सोऽहं नेमिजिनादेशभीरुर्वनचरो वने । द्वादशाब्दप्रमाणं च वसाम्यत्र प्रियानुजः ॥४०॥
इयन्तं वसता कालमरण्ये वचनं मया । आर्यलोकस्य कस्यापि न श्रुतं को भवानिह ॥४१॥
इति श्रुत्वा हरिर्ज्ञात्वा भ्रातरं स्नेहकातरः । एह्येहि भ्रातरत्रेति संभ्रमेण तमाह्वयत् ॥४२॥
सोऽपि ज्ञात्वानुजं प्राप्तो हाकारमुखराननः । क्षितिक्षिप्तधनुर्बाणो निपत्यास्याथ पादयोः ॥४३॥
उत्थाप्य तं हरिः प्राह कण्ठलग्नं महाशुचम् । मातिशोकं कृथा ज्येष्ठ दुर्लङ्घ्या भवितव्यता ॥४४॥
प्रमादस्य निरासाय निरस्तसुखसंपदा । चिरं पुरुषशार्दूल सेविता वनवासिता ॥४५॥
करोति सज्जनो यत्नं दुर्यशःपापभीरुकः । दैवे तु कुटिले तस्य स यत्नः किं करिष्यति ॥४६॥
ततस्तेन हरिः पृष्टो वनागमनकारणम् । आदितोऽकथयद्वृत्तं द्वारिकादाहदारुणम् ॥४७॥
श्रुत्वा [1]गोत्रक्षयं सोऽपि प्रलापमुखरोऽवदत् । हा भ्रातः कृतमातिथ्यं मया ते चिरदर्शनात् ॥४८॥
किं करोमि क्व गच्छामि क्व लभे चित्तनिर्वृतिम् । दुःखं च दुर्यशो लोके हन्त्रा ते हा मयार्जितम् ॥४९॥
इत्यादि प्रलपन्नुक्तः कृष्णेनासौ सुचेतसा । प्रलापं त्यज राजेन्द्र कृत्स्नं स्वकृतभुग् जगत् ॥५०॥

श्रीकृष्णके इस प्रकार कहनेपर जरत्कुमारने कहा कि हरिवंशमें उत्पन्न हुए एक वसुदेव नामके राजा हैं जो बलदेव और कृष्णके पिता हैं। मैं जरत्कुमार नामका उन्हींका अतिशय प्यारा पुत्र हूँ। जहाँ कायर मनुष्य प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे इस वनमें मैं अकेला ही वीर घूमता रहता हूँ। नेमिजिनेन्द्रने आज्ञा की थी कि जरत्कुमारके द्वारा कृष्णका मरण होगा सो मैं उनकी इस आज्ञासे डरकर बारह वर्षसे इस वनमें रह रहा हूँ। मुझे अपना छोटा भाई कृष्ण बहुत ही प्यारा था, इसलिए इतने समयसे यहाँ रह रहा हूँ, इस बीचमें मैंने किसी आर्यका नाम भी नहीं सुना। फिर आप यहाँ कौन हैं ? ॥ ३८–४१ ॥

जरत्कुमारके यह वचन सुन कृष्णने जान लिया कि यह हमारा भाई है तब स्नेहसे कातर हो उन्होंने 'हे भाई! यहाँ आओ, यहाँ आओ' इस प्रकार संभ्रमपूर्वक उसे बुलाया ॥ ४२ ॥ जरत्कुमारने भी जान लिया कि यह हमारा छोटा भाई है तब 'हाय हाय' शब्दसे मुखको शब्दायमान करता हुआ वह वहाँ आया और धनुष-बाणको पृथिवीपर फेंक श्रीकृष्ण-के चरणोंमें आ गिरा ॥ ४३ ॥ कृष्णने उसे उठाया तो वह कण्ठमें लगकर महा शोक करने लगा। कृष्णने कहा कि हे बड़े भाई! अत्यधिक शोक मत करो, होनहार अलङ्घनीय होती है ॥ ४४ ॥ हे श्रेष्ठ पुरुष! आपने प्रमादका निराकरण करनेके लिए समस्त सुखसम्पदाओंको छोड़ चिरकाल तक वनमें निवास करना स्वीकृत किया। अपयश और पापसे डरनेवाला सज्जन पुरुष बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करता है परन्तु दैवके कुटिल होनेपर उसका वह यत्न क्या कर सकता है ? ॥ ४५–४६ ॥

तदनन्तर जरत्कुमारने कृष्णसे वनमें आनेका कारण पूछा तो उन्होंने प्रारम्भसे लेकर द्वारिकादाह तकका सब दारुण समाचार कह सुनाया ॥ ४७ ॥ गोत्रका क्षय सुनकर जरत्कु-मार प्रलापसे मुखर होता हुआ बोला कि हा भाई! चिरकालके बाद आप दिखे और मैंने आपका यह अतिथि-सत्कार किया! ॥ ४८ ॥ मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? चित्तकी शान्ति कहाँ प्राप्त करूँ ? हा कृष्ण! तुझे मारकर मैंने लोकमें दुःख तथा अपयश दोनों प्राप्त किये ॥ ४९ ॥ इत्यादि रूपसे विलाप करते हुए जरत्कुमारसे उत्तम हृदयके धारक कृष्णने कहा कि

---

१. गोत्रक्षयः म० ।

सुखं वा यदि वा दुःखं दत्ते कः कस्य संसृतौ । मित्रं वा यदि वामित्रः स्वकृतं कर्म तत्त्वतः ॥५१॥
तोयार्थं मे गतो रामो यावन्नायाति सत्वरम् । व्रजाहि तावदक्षान्तिः कदाचित्स्यात्त्वयि प्रभौ[1] ॥५२॥
गच्छ त्वमादितो वार्तां पाण्डवेभ्यो निवेदय । हितास्तेऽस्मत्कुलस्याप्ताः करिष्यन्ति तव स्थितिम् ॥५३॥
उक्त्वेति कौस्तुभं तस्मै दत्त्वाभिज्ञानमादरात् । परावृत्यान्तरं स्तोकं व्रजेति प्रतिपादितः ॥५४॥
उक्त्वाऽसौ क्षम्यतां देव ममेति करकौस्तुभः । शनैरुद्धृत्य तं बाणं परावृत्तपदोऽगमत् ॥५५॥
तस्मिन्याते हरिस्तीव्रव्रणवेदनयार्दितः[2] । उत्तराभिमुखो भूत्वा कृतपञ्चनमस्कृतिः ॥५६॥
कृत्वा नेमिजिनेन्द्राय वर्तमानाय साञ्जलिः । पुनः पुनर्नमस्कारं गुणस्मरणपूर्वकम् ॥५७॥
जिनेन्द्रविहृतिध्वस्त[3]समस्तोपद्रवा यतः । ततः कृतशिराः शौरिः क्षितिशय्यामधिश्रितः ॥५८॥
वस्त्रसंवृतसर्वाङ्गः सर्वसङ्गनिवृत्तधीः । सर्वत्र मित्रभावस्थः शुभचिन्तामुपागतः ॥५९॥
पुत्रपौत्रकलत्राणि ते भ्रातृगुरुबान्धवाः । अनागतविधातारो धन्या ये तपसि स्थिताः ॥६०॥
अन्तःपुरसहस्राणि सहस्राणि सुहृद्गणाः । [4]अविधाय तपः कष्टं कष्टं वह्निमुखे मृताः ॥६१॥
कर्मगौरवदोषेण मयापि न कृतं तपः । सम्यक्त्वं मेऽस्तु संसारपातहस्तावलम्बनम् ॥६२॥

हे राजेन्द्र ! प्रलापको छोड़ो, समस्त जगत् अपने किये हुए कर्मको अवश्य भोगता है ॥ ५० ॥ संसारमें कौन किसके लिए सुख देता है ? अथवा कौन किसके लिए दुःख देता है ? और कौन किसका मित्र है अथवा कौन किसका शत्रु है ? यथार्थमें अपना किया हुआ कार्य ही सुख अथवा दुःख देता है * ॥ ५१ ॥ बड़े भाई राम मेरे लिए पानी लानेके लिए गये हैं सो जबतक वे नहीं आते हैं तबतक तुम शीघ्र ही यहाँसे चले जाओ। संभव है कि वे तुम्हारे ऊपर अशान्त हो जायें ॥ ५२ ॥ तुम जाओ और पहलेसे ही पाण्डवोंके लिए सब समाचार कह सुनाओ। वे अपने कुलके हितकारी आप्तजन हैं अतः तुम्हारी अवश्य रक्षा करेंगे ॥ ५३ ॥ इतना कहकर उन्होंने पहचानके लिए उसे आदरपूर्वक अपना कौस्तुभमणि दे दिया और कुछ थोड़ा मुड़कर कहा कि जाओ। हाथमें कौस्तुभमणि लेते हुए जरत्कुमारने कहा कि हे देव ! मुझे क्षमा कीजिए। इस प्रकार कह कर और धीरेसे वह बाण निकाल कर वह उलटे पैरों वहाँसे चला गया ॥ ५४–५५ ॥

जरत्कुमारके चले जानेपर कृष्ण व्रणकी तीव्र वेदनासे व्याकुल हो गये। उन्होंने उत्तराभिमुख होकर पञ्च-परमेष्ठियोंको नमस्कार किया ॥ ५६ ॥ वर्तमान तीर्थंकर श्रीनेमिजिनेन्द्रको हाथ जोड़कर गुणोंका स्मरण करते हुए बार-बार नमस्कार किया ॥ ५७ ॥ क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्के विहारसे पृथिवीके समस्त उपद्रव नष्ट हो चुके हैं इसलिए शिर रखकर वे पृथिवीरूपी शय्यापर लेट गये ॥ ५८ ॥ तदनन्तर जिन्होंने वस्त्रसे अपना समस्त शरीर ढक लिया था, सब परिग्रहसे जिनकी बुद्धि निवृत्त हो गयी थी और जो सबके साथ मित्रभावको प्राप्त थे ऐसे श्रीकृष्ण इस प्रकारके शुभ विचारको प्राप्त हुए ॥ ५९ ॥ वे पुत्र, पोते, स्त्रियाँ, भाई, गुरु और बान्धव धन्य हैं जो भविष्यत्का विचार कर अग्निके उपद्रवसे पहले ही तपश्चरण करने लगे ॥ ६० ॥ बड़े कष्टकी बात है कि हजारों स्त्रियाँ और हजारों मित्रगण तपका कष्ट न कर अग्निके मुखमें मृत्युको प्राप्त हो गये ॥ ६१ ॥ कर्मके प्रबल भारसे मैंने भी तप नहीं किया इसलिए मेरा सम्यग्दर्शन ही मुझे संसारपातसे बचानेके लिए हस्तावलम्बन-

---

१. प्रभो क० । २. वेदनमार्दितः म० । ३. विनतिध्वस्त-म० । ४. अभिधाय म०, क०, ख०, ग०, घ० ।

* को सुख को दुख देत है कर्म देत झकझोर ।
उरझै सुरझै आप ही ध्वजा पवनके जोर ॥

इत्यादि शुभचिन्तात्मा भविष्यत्तीर्थकृद्धरिः । बद्धायुष्कतया मृत्वा तृतीयां पृथिवीमितः ॥६३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

दक्षो दक्षिणभारतार्धविभुतामुद्भाव्य [1]भव्यप्रजा-
बन्धुर्बन्धुजनाम्बुधेरहरहर्वृद्धिं विधाय प्रभुः ।
पूर्णं वर्षसहस्रमेकमगमत्संजीव्य कृष्णो गतिं
भोगी स्वाचरणोचितो जिनतया[2] यो भोत्स्यते दर्शनात् ॥६४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ हरिगत्यन्तरवर्णनो नाम द्वाषष्टितमः सर्गः ॥६२॥

रूप हो ॥ ६२ ॥ इत्यादि शुभ विचार जिनकी आत्मामें उत्पन्न हो रहे थे, और जो भविष्यत् कालमें तीर्थंकर होनेवाले थे ऐसे श्रीकृष्ण पहलेसे ही बद्धायुष्क होनेके कारण मरकर तीसरी पृथिवीमें गये ॥ ६३ ॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि जो आगे चलकर सम्यग्दर्शनके कारण तीर्थंकर पदसे युक्त होंगे वे नीतिनिपुण, भव्य प्रजाके परम बन्धु, भोगी कृष्ण, दक्षिण भरतार्धकी विभुताको प्रकट कर, प्रतिदिन बन्धुजनरूपी सागरकी वृद्धिको बढ़ाकर एवं एक हजार वर्ष तक जीवित रहकर अपने आचरणके अनुरूप तीसरी पृथिवीमें गये ॥ ६४ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें कृष्णके परलोकगमनका वर्णन करनेवाला बासठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६२॥

---

१. सेव्यप्रजां बन्धु क० । २. जनतया म० ।

त्रिषष्टितमः सर्गः

रथोद्धतावृत्तम्

स्नेहवानथ जलार्थमाकुलो विष्णुमात्मनि वहन् हलायुधः ।
वारितोऽप्यपशकुनैः[1] पदे पदे दूरमन्तरमितो वनान्तरे ॥१॥
धावतोऽस्य मृगयूथवर्त्मना लोभितस्य मृगतृष्णिकाम्भसा ।
प्रत्यभासत दिशां कदम्बकं प्रोत्तरङ्गसरसीमयं तदा ॥२॥
अभ्यलोकि कलिता कलस्वनैश्चक्रवाककलहंससारसैः ।
सीरिणाथ सरसी तरङ्गिणी भृङ्गनादितसरोजसंकुला ॥३॥
चेतसास्य सहसा तदीक्षणाद्दीर्घमुच्छ्वसितमङ्गसङ्गिना ।
मारुतेन शिशिरेण सौहृदं सम्मुखेन गदितं सुगन्धिना ॥४॥
संपतद्भिरभितः पिपासुभिः श्वापदैः सभयमीक्षितस्ततः ।
आससाद सरसीं स सादरो वन्यहस्तिमदवारिवासिताम् ॥५॥
वारि तीर्थमवगाह्य शीतलं संप्रपाय निरपास्य तृड्व्यथाम् ।
पद्मपत्रपुटिकां स वारिणा संप्रपूर्य परिवृत्य वाससा ॥६॥
आदधाव पदधूतधूलिभिर्धूसरीकृतशरीरमूर्धजः ।
कम्पमानहृदयः स शंकया प्रत्यपायबहुले वने हरौ ॥७॥

अथानन्तर स्नेहसे भरे बलदेव जल प्राप्त करनेके लिए बहुत व्याकुल हुए। वे हृदयमें कृष्णको धारण किये हुए आगे बढ़े जाते थे। यद्यपि अपशकुन उन्हें पद-पदपर रोकते थे तथापि वे दूसरे वनमें बहुत दूर जा पहुँचे ॥ १ ॥ जिस मार्गसे मृगोंके झुण्ड जाते थे बलदेव उसी मार्गसे दौड़ते जाते थे और वे जगह-जगह मृगतृष्णाको जल समझकर लुभा जाते थे। उस समय उन्हें समस्त दिशाएँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो लहराते हुए तालाबोंसे युक्त ही हों ॥ २ ॥ तदनन्तर बलदेवको एक तालाब दिखा जो मधुर शब्द करनेवाले चक्रवाक, कलहंस और सारस पक्षियोंसे युक्त था, तरङ्गोंसे व्याप्त था एवं भ्रमर गुंजित कमलोंसे सहित था ॥ ३ ॥ तालाबके देखते ही बलदेवके हृदयने एक लम्बी साँस ली और उसकी शीतल सुगन्धित वायु सम्मुख आकर इनके शरीरसे लग गयी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो उसने अपनी मित्रता ही प्रकट की हो ॥ ४ ॥

तदनन्तर चारों ओरसे आनेवाले प्यासे जंगली जानवर जिन्हें भयपूर्ण दृष्टिसे देख रहे थे ऐसे बलदेव जंगली हाथियोंके मदजलसे सुवासित उस सरोवरपर बड़े आदरसे आ पहुँचे ॥ ५ ॥ उन्होंने घाटमें अवगाहन कर शीतल पानी पिया, अपनी प्यासकी व्यथा दूर कर और कमलके पत्तोंका एक पात्र बनाकर उसे पानीसे भरा तथा कपड़ेसे उसे ढँक लिया ॥ ६ ॥ पानी लेकर वे बड़े वेगसे दौड़े। उस समय पैरोंके आघातसे उड़ी धूलिसे उनके शिरके बाल धूसरित हो गये थे और 'मैं अनेक विघ्नोंसे भरे वनमें कृष्णको अकेला छोड़ आया हूँ' इस आशङ्कासे उनका हृदय बार-बार कम्पित हो रहा था ॥ ७ ॥ तदनन्तर वक्षके द्वारा

---

१. वारितोऽपि शकुनैः म० ।

दूरतस्तमथ तत्र दृष्टवान् संवृताङ्गमजितोऽम्बरेण सः ।
आस्त एव भुवि यत्र शायितः शूरशौरिरिति[1] दीर्घनिद्रया ॥८॥
सुप्त एव सुखनिद्रया हरिः सुप्रबोधमुपगच्छतु स्वयम् ।
[2]इत्युपेक्ष्य हरिबोधनं तदा तत्प्रबोधनमसौ प्रतीक्षते[3] ॥९॥
वीर ! किं स्वपिषि दीर्घमित्यलं स्वापमुज्झ पिब तोयमिच्छया ।
इत्युदीर्णमधुरस्वरः पुनः सकृद्विरुद्ध[4]वचनोऽवतिष्ठते ॥१०॥
सीरिणा क्षतजगन्धतस्ततः कृष्णसंवरणवाससोऽन्तरे ।
संप्रवेशनिजनिर्गमाकुला[5] प्रैक्षि तीक्ष्णमुखकृष्णमक्षिका[6] ॥११॥
[7]संकटोद्घटिततन्मुखो हरिं वीक्ष्य शान्तजनकान्तजीवितम् ।
हा हतोऽस्मि मृत एव तृष्णया विष्णुरित्युपरि तस्य सोऽपतत् ॥१२॥
मोहमूढमनसोऽस्य मूर्छया प्रासबोपकृतमप्यनिष्टया ।
स्नेहपाशदृढबन्धनो हली प्राणहानमकरिष्यदन्यथा ॥१३॥
बोधमाप्य परितः परामृशन् केशवस्य वपुरात्मपाणिना ।
पश्यति स्म चरणव्रणजं तीव्रगन्धरुधिरारुणक्षमम् ॥१४॥
सुप्त एव विषमेषुणा हरिः विद्ध [8]एष चरणेन केनचित् ।
दुष्प्रबोधहरिमारकोऽत्र कोऽपूर्वमथ मृगयाफलं श्रितः ॥१५॥

सब ओरसे जिनका शरीर ढँका था ऐसे कृष्णको बलदेवने दूरसे देखा। देखकर वे सोचने लगे कि मैं शूरवीर कृष्णको जिस भूमिमें सुला गया था यह वहाँ गहरी नींद्में सो रहा है ॥ ८ ॥ पास आनेपर उन्होंने विचार किया कि अभी यह सुखनिद्रासे सो रहा है इसलिए स्वयं ही जगने दिया जाये। इस प्रकार कृष्णको जगानेकी उपेक्षा कर वे स्वयं ही उनके जागनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ ९ ॥ जब कृष्ण बहुत देर तक नहीं जगे तब बलदेवने कहा, 'वीर ! इतना अधिक क्यों सो रहे हो ? बहुत हो गया, निद्रा छोड़ो और इच्छानुसार जल पिओ'। इस प्रकार मधुर स्वरमें एक-दो बार कहकर वे पुनः वचन रोककर चुप बैठ रहे ॥ १० ॥

तदनन्तर बलभद्रने देखा कि तीक्ष्ण मुखवाली काली एक मक्खी रुधिरकी गन्धसे कृष्णके ओढ़े हुए वस्त्रके भीतर घुस तो गयी पर परन्तु निकलनेका मार्ग न मिलनेसे व्याकुल हो रही है ॥ ११ ॥ यह देख उन्होंने शीघ्र ही कृष्णका मुख उघाड़ा और उन्हें निष्प्राण देख 'हाय मैं मारा गया' यह कहकर वे एक दम चीख पड़े। 'हाय हाय यह कृष्ण प्याससे मर ही गया है' यह सोच वे उनके शरीरपर गिर पड़े ॥ १२ ॥ कृष्णके मोहसे जिनका मन अत्यन्त मोहित हो रहा था ऐसे बलदेवको तत्काल मूर्च्छा आ गयी। यद्यपि मूर्च्छाका आना अनिष्ट था तथापि उस समय उसने इ..का बड़ा उपकार किया। अन्यथा स्नेहरूपी पाशसे दृढ़ बँधे हुए बलदेव अवश्य ही प्राण त्याग कर देते ॥ १३ ॥ सचेत होनेपर वे अपने हाथसे चारों ओर कृष्णके शरीरका स्पर्श करने लगे। उसी समय उन्होंने तीव्र गन्धसे युक्त रुधिरसे लाल लाल पैरका घाव देखा ॥ १४ ॥ और देखते ही निश्चय कर लिया कि सोते समय ही किसीने तीक्ष्ण बाणसे इसे पैरमें प्रहार किया है। जिनका जागना कठिन है ऐसे कृष्णको मारनेवाला

---

१. सूरिसौरि म० । २. इत्यपेक्ष्य म० । ३. प्रतीक्ष्यते म० । ४. सन्निरुध्य वचनो म०, क०, ङ० । ५.– माकुलाः म० । ६. मक्षिकाः म०, ङ० । ७. संघटोद्घटित– म०, घ० । ८. एव म० ।

इत्युदीर्य कुपितो हली बली सिंहनादमकरोद्भयङ्करम् ।
व्यापिनं विपिनदुर्गसञ्चरद्व्याघ्रसिंहकरिदर्पशातनम् ॥१६॥
संगतो च शयितो ममानुजः छद्मना विधिविधानयोगतः ।
येन केनचिदहेतुवैरिणा संददातु लघु सोऽद्य दर्शनम् ॥१७॥
सुप्तमाप्तमपशस्त्रमानतं[1] मुक्तमानमसकृत्पलायिनम् ।
प्रत्यवाययुतमङ्गनां शिशुं घ्नन्ति शत्रुमपि नो यशोधनाः ॥१८॥
उच्चकैरिति गदन् समन्ततः संप्रधाव्य कियदप्यथान्तरम् ।
सोऽन्यदीयपदवीमनाप्नुवन्नेत्य कृष्णमुपगृह्य रोदिति ॥१९॥
हा जगत्सुभग ! हा जगत्पते ! हा जनाश्रयण ! हा जनार्दन !
हाऽपहाय गतवानसि क्व मां हानुजेहि लघु हेति चारुदत् ॥२०॥
हारि वारि परितापहारि तं पाययत्यपि विचेतनं मुहुः ।
क्राम्यतीषदपि तच्च तद्गले दूरभव्यमनसीव दर्शनम् ॥२१॥
मार्ष्टि मार्दवगुणेन पाणिना सन्मुखं मुखमुदीक्षते मुदा ।
लेढि जिघ्रति विमूढधीर्वचः श्रोतुमिच्छति धिगात्ममूढताम् ॥२२॥
द्यौरिवोरुविभवाग्निभस्मिता द्वारिकेति किमिवासि तप्तवान् ।
अक्षयैर्बहुविधाकरैश्रिता प्रागिवास्ति ननु भारतावनिः ॥२३॥

कौन पुरुष आज यहाँ शिकारके फलको प्राप्त हुआ है ? ॥ १५ ॥ इस प्रकार कहकर बलवान् बलदेवने कुपित हो ऐसा भयंकर सिंहनाद किया जो समस्त वनमें व्याप्त हो गया तथा जिसने वनके दुर्गम स्थानोंमें चलनेवाले व्याघ्र, सिंह और हाथियोंका गर्व नष्ट कर दिया ॥ १६ ॥ उन्होंने कहा कि भाग्यके फेरसे सोते हुए मेरे छोटे भाईको जिस किसी अकारण वैरीने छलसे मारा है वह आज शीघ्र ही मुझे दर्शन दे—मेरे सामने आवे ॥ १७ ॥ यशरूपी धनको धारण करनेवाले शूरवीर ऐसे शत्रुको भी नहीं मारते जो सो रहा हो, शस्त्ररहित हो, नम्रीभूत हो, मानरहित हो, बार-बार पीठ दिखाकर भाग रहा हो, अनेक विघ्नोंसे युक्त हो, स्त्री हो अथवा बालक हो ॥ १८ ॥ इस प्रकार जोर-जोरसे कहते हुए वे इधर-उधर कुछ दूर तक दौड़े भी परन्तु जब उन्हें किसी दूसरेका मार्ग नहीं मिला तब वे कृष्णके पास वापिस आकर तथा उन्हें गोदमें लेकर रोने लगे ॥ १९ ॥

हाय जगत्के प्रिय ! हा जगत्के स्वामी ! हा समस्त जनोंको आश्रय देनेवाले ! हा जनार्दन ! तू मुझे छोड़ कहाँ चला गया ? हा भाई ! तू जल्दी आ, जल्दी आ—इस प्रकार कहते हुए वे चिरकाल तक रोते रहे ॥ २० ॥ वे चेतना शून्य—निर्जीव कृष्णको सुन्दर एवं सन्तापको दूर करनेवाला पानी बार-बार पिलाते थे परन्तु जिस प्रकार दूरानुदूर भव्यके हृदयमें सम्यग्दर्शन नहीं प्रवेश करता है उसी प्रकार उनके गलेमें वह जल थोड़ा भी प्रवेश नहीं करता था ॥ २१ ॥ मूढबुद्धि बलदेव सामने बैठकर कोमल हाथोंसे उनका मुख धोते थे, हर्षपूर्वक उसे देखते थे, चूमते थे, सूँघते थे, और वचन सुननेकी इच्छा करते थे। आचार्य कहते हैं कि ऐसी आत्म-मूढ़ताको धिक्कार है ॥ २२ ॥ 'स्वर्गके समान विशाल वैभवसे युक्त द्वारिकापुरी अग्निसे भस्म हो गयी है इसलिए अब जीनेकी क्या आवश्यकता है' ? यह सोचकर क्या तू तप्त हो रहा है ? अरे नहीं भाई ! नाना प्रकारकी अविनाशी खानोंसे युक्त भरत क्षेत्रकी भूमि

---

१. सुप्तमत्त क० ।

भोजराजकुलयादवक्षये अबन्धुरिति किं विमुह्यसि ।
सत्यसन्ध मयि ते मम त्वयि प्राणितीह सकलास्ति बन्धुता ॥२४॥
पूर्वजन्मसु बहुष्वनारतं पश्यतो हि तव मामिहापि च ।
एकतानयनस्य नोदभूत्तृप्तिरद्य किमिवासि तृप्तवान् ॥२५॥
त्वां पयोर्थमपहाय मोहतो हा गतेन[1] नररत्नभूषणम् ।
लोकसारमपहारितं मया सन्निधौ तु मम कोऽस्य हारकः ॥२६॥
कंसकोपमदपर्वताशनिर्भूमगोचरविपक्षपन्नगः ।
पीतमागधयशोऽम्बुधेरभूद्गोष्पदे बत निमज्जनं तव ॥२७॥
शार्वरं तिमिरमुग्रतेजसा शात्रवं त्वमिव निर्विधूय यः ।
विष्टपं तपति विष्टरश्रवः पश्य सोऽस्तमुपयात्यहर्पतिः ॥२८॥
दीर्घनिद्रमिव वीक्ष्य संहृतैरस्तमस्तकनिवेशितैः करैः ।
त्वां विशोचति रविर्ध्रुवं भ्रुवे स्वाप एष तव कस्य नो शुचे ॥२९॥
वारुणीमतिनिषेव्य [2]वारुणश्चक्रवाकनिवहैरुदश्रुभिः ।
शोचितः पतति भानुमानधः को न वा पतति वारुणीप्रियः ॥३०॥
शोकभारमपनीय सांप्रतं सन्निमज्जति पयोनिधौ रविः ।
दातुमेष तव वा जलाञ्जलिं कालविद्धि कुरुते यथोचितम् ॥३१॥

पहलेके समान अब भी मौजूद हैं ! ॥ २३ ॥ 'भोजराजका कुल तथा समस्त यादवोंका क्षय हो जानेसे मैं बन्धुरहित हो गया हूँ' यह सोचकर क्या तू मोहको प्राप्त हो रहा है ? पर ऐसा करना उचित नहीं। हे दृढप्रतिज्ञ ! यदि तू और मैं जीवित हूँ तो समझ कि हमारे समस्त बन्धुओंका समूह जीवित है ॥ २४ ॥ अनेकों पूर्व जन्ममें तथा इस जन्ममें भी निरन्तर मेरी ओर तू स्थिर नयन होकर देखता रहा फिर भी तुझे तृप्ति नहीं हुई फिर आज तू तृप्त कैसे हो गया ? ॥ २५ ॥ हाय ! मोहवश तुझे अकेला छोड़ पानीके लिए गये हुए मैंने लोकके सारभूत नररूपी रत्नोंका आभूषण अपहृत करा लिया। अन्यथा मेरे पास रहते इसे हरनेवाला कौन था ? ॥२६॥ अरे भाई ! तू तो कंसके क्रोध और मदरूपी पर्वतको नष्ट करनेके लिए वज्रस्वरूप था। भूमिगोचरी और विद्याधररूपी सर्पोंको नष्ट करनेके लिए गरुड़स्वरूप था और जरासन्धके यशरूपी सागरको पीनेवाला था पर खेद है कि तू इस गोष्पदमें डूब गया ॥ २७ ॥ हे नारायण ! देख, जो सूर्य तेरे समान अपने उग्र तेजसे शत्रु-तुल्य रात्रिके अन्धकारको नष्ट कर संसारको सन्तप्त करता है वही अब अस्ताचलकी ओर जा रहा है ॥ २८ ॥ इस सूर्यने तुझे दीर्घ निद्रामें निमग्न देखकर ही मानो अपने किरणरूपी हाथ अन्य स्थानोंसे संकोच कर अस्ताचलरूपी मस्तकपर रख छोड़े हैं और उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो तेरे प्रति शोक ही कर रहा है। सो ठीक ही है क्योंकि तेरा यह सोना तीनों लोकोंमें किसके शोकके लिए नहीं है ? ॥ २९ ॥ जो वारुणी—पश्चिम दिशारूपी मदिराका अधिक सेवन कर लाल-लाल हो रहा है तथा आँसुओंसे युक्त चकवाक पक्षियोंका समूह जिसकी दशापर शोक प्रकट कर रहा है ऐसा यह सूर्य नीचे गिरा जा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी (मदिरा) का प्रेमी कौन व्यक्ति नीचे नहीं गिरता है ? ॥ ३० ॥ अथवा यह सूर्य, इस समय शोकका भार दूर कर समुद्रमें अवगाहन कर रहा है सो ऐसा जान पड़ता है मानो स्नान कर तुझे जलाञ्जलि ही देना चाहता है। ठीक ही है क्योंकि कालको जाननेवाला

1. मतेन म० । 2. वा + अरुणः इतिच्छेदः ।

सान्ध्यरागपटलेन सर्वतः पश्य संस्थगितमङ्ग विष्टपम् ।
त्वय्यतिस्वपति रोदनोद्गतैरक्षिरागनिवहैरिवाङ्गिनाम् ॥३२॥
देवभक्त भज सान्ध्यवन्दनां वन्ध्यया किमिह[1] देव ! निद्रया ।
संध्ययापि गलितं गतप्रभा वेगवद्रविरथानु[2]बन्धया ॥३३॥
एकवर्णमखिलं जगत्खला कुर्वती समवसर्पति द्रुतम् ।
ध्वान्तसन्ततिरपेतदर्शना कालवृत्तिरतिदुःषमा यथा ॥३४॥
श्वापदानि पदशब्दगन्धतो [3]घ्राणकर्णबलवन्ति विन्दते ।
एहि दुर्गमिह संश्रयावहे क्षेमतो व्रजति तत्र नौ निशा ॥३५॥
चित्रिते कुसुमचित्रमण्डपे दत्तबन्धुनृपलोकदर्शनः ।
[4]श्रीपुषि स्वपिषि यो वधूजनैः सोपधानशयने महामृदौ ॥३६॥
त्वं महीध्रवनरन्ध्रवृत्तिभिर्गृध्रकाककुलजम्बुकादिभिः ।
सोऽद्य भक्षकगणैरुपासितः श्रीपते [5]स्वपिषि शार्करक्षितौ[6] ॥३७॥
कामिनीः प्रणयकेलिकोपिनीस्त्वं प्रसाद्य कुपितः प्रसादितः ।
यः पुरा नयसि यामिनीं रतैः सोऽद्य किं विगतचेतनात्मना ॥३८॥
चारुवारवनितासुगीतकैर्वन्दिवृन्दपटुपाठनिस्वनैः ।
यः प्रबोधमुषसि प्रपद्यसे सोऽद्य वीर ! विरसैः शिवारुतैः ॥३९॥

पुरुष यथायोग्य कार्य करना ही है ॥३१॥ हे भाई ! देख, यह समस्त संसार सन्ध्याकी लाली-से सब ओरसे आच्छादित हो रहा है सो ऐसा जान पड़ता है मानो तुम्हारे दीर्घ निद्रामें निमग्न होनेपर संसारके सब मनुष्योंके रोदनजन्य नेत्रोंकी लालिमासे ही मानो लाल-लाल हो रहा है ॥ ३२ ॥ हे देवभक्त ! यह सन्ध्या भी फीकी पड़ बड़े वेगसे जाते हुए सूर्यके रथके पीछे-पीछे चली जा रही है । उठ सन्ध्या-वन्दन कर । हे देव ! व्यर्थकी निद्रासे क्या कार्य सिद्ध होता है ? ॥ ३३ ॥ जो अतिदुःषमा नामक छठवें कालके समान समस्त जगत्को एक वर्ण (ब्राह्मणादि वर्णके भेदसे रहित एक वर्णरूप, पक्षमें एक श्यामवर्ण रूप कर रही है, अतिशय दुष्ट है, एवं अपेतदर्शना—सम्यग्दर्शनसे रहित (पक्षमें देखनेकी शक्तिसे रहित) है ऐसी यह अन्धकारकी सन्तति बड़े वेगसे सब ओर फैल रही है ॥ ३४ ॥ देखो, ये घ्राणेन्द्रिय और कर्णे-न्द्रियके बलसे युक्त जंगली जानवर अपने पैरोंकी गन्ध और शब्दको ग्रहण कर इस ओर आ रहे हैं इसलिए आओ इस दुर्गमें चलें वहाँ अपनी रात्रि कुशलपूर्वक बीत जायेगी ॥ ३५ ॥ हे भाई ! जो तू फूलोंसे चित्र-विचित्र, आश्चर्यकारी मण्डपमें बन्धुजनों तथा राजाओंको दर्शन देता था और लक्ष्मीको पुष्ट करनेवाले, अत्यन्त कोमल एवं तकियोंसे सुशोभित शय्यापर स्त्रीजनोंके साथ शयन करता था हे लक्ष्मीपते ! वही तू आज पर्वत और वनकी गुफाओंमें रहनेवाले गीध, कौवे तथा शृगाल आदि भक्षक जन्तुओंके समूहसे सेवित होता हुआ कंक-रीली-पथरीली भूमिपर सो रहा है ॥ ३६-३७ ॥ जो तू पहले प्रणय क्रीड़ासे कुपित स्त्रियोंको प्रसन्न करता था और तेरे कुपित हो जानेपर वे तुझे प्रसन्न करती थीं और इस तरह रति-क्रीड़ासे रात्रि व्यतीत करता था वही तू आज चेतनासे रहित हो रात्रि व्यतीत कर रहा है ॥ ३८ ॥ हे वीर ! जो तू पहले प्रातःकालमें सुन्दर वारवनिताओंके सुसंगीतों एवं वन्दीजनों

---

१. किमपि म० । २. रथानुबन्ध्यया म० । ३. घ्राणकर्णबलंबन्ति म० । ४. श्रीयुषि म०, ख० । ५. स्वपिति म० । ६. भसितक्षितौ ङ० । तक्षितक्षितौ म०, ख० ।

त्वत्प्रवृत्तिमिव वेदितुं [1]पुरः पूर्वमित्रपतिसुप्रयुक्तया[2] ।
संध्ययाप्युषसि सानुरागया रज्यते शयनतो विरज्यताम् ॥४०॥
अभ्युदेति करमित्रपङ्कजश्रीसमग्रमुदयाचलादयम् ।
प्राक् प्रधानपुरुषाय तेऽधुना दातुमर्घमिव घर्मदीधितिः ॥४१॥
चाटुकारशतमत्र सीरिणा प्राणवल्लभतया कृतं हरौ ।
निष्फलं [3]सकलमप्यभूत्पुरा गाढसुप्त इव मुग्धबालके ॥४२॥
तं प्रवृत्य भुजपञ्जरोदरे स्पर्शनेन्द्रियसुखं भजन् शिशोः ।
जन्मनीव वनमध्यमाट सच्छत्रधा[4]गुरुकंसशङ्कया ॥४३॥
इत्यनेकदिनरात्रियापनैः सोऽप्यतन्द्रितमनोवचोवपुः ।
प्रत्यहं हरिवपुर्वहन् भ्रमन् प्रत्यपद्यत रतिं न कानने ॥४४॥
तीव्रघर्मसमयात्यये ततः प्रावृषा शमितघर्मसंपदा ।
गर्जदम्बुदघटाम्बुवर्षणैः प्रापितं जगदितस्ततः शिवम् ॥४५॥
वासुदेववचनाज्जरासुतः शाबरं विषमवेषमुद्वहन् ।
दाक्षिणां म[5]धुरलोकसंकुलां प्रा[6]प पाण्डवपुरीमखण्डितः ॥४६॥

के उच्च पाठोंके शब्दोंसे प्रबोधको प्राप्त होता था—जागता था, वहीं तू आज शृगालियोंके विरस शब्दोंसे प्रबोधको प्राप्त हो रहा है ॥ ३९ ॥ हे भाई ! अब प्रातःकाल हुआ चाहता है। पूर्व सूर्यरूप पतिके द्वारा प्रेषित अनुरागवती सन्ध्या भी लाल हो रही है सो ऐसी जान पड़ती है मानो तुम्हारा समाचार जाननेके लिए ही सूर्यने उसे पहलेसे भेजा है अतः शय्यासे विरक्त होओ—उठ कर बैठो ॥ ४० ॥ देखो, यह उदयाचलसे सूर्य उदित हो रहा है सो ऐसा जान पड़ता है मानो इस समय तुम प्रधान पुरुषके लिए अपनी किरणोंसे विकसित कमलों-की लक्ष्मीसे युक्त अर्घ देनेके लिए ही शीघ्रतासे बढ़ा आ रहा है ॥ ४१ ॥ बलभद्रको कृष्ण प्राणोंसे अधिक प्यारे थे इसलिए उन्होंने उन्हें जगानेके लिए सैकड़ों प्रिय वचन कहे परन्तु जिस प्रकार पहलेसे प्रगाढ़ नींदमें सोये भोले-भाले बालकके विषयमें कहे प्रिय वचन निष्फल जाते हैं उसी प्रकार उनके वे प्रिय वचन निष्फल गये ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार जन्मकालमें कंसके भयसे बलभद्रने कृष्णको अपने भुजरूप पञ्जरके मध्यमें ले लिया था तथा वसुदेवने उनपर छत्र लगा लिया था उसी प्रकार अब भी उन्होंने स्पर्शनेन्द्रियसम्बन्धी सुखका अनुभव करते हुए उन्हीं भुजरूप पञ्जरके मध्यमें ले लिया और लेकर वे वनके मध्यमें इधर-उधर घूमने लगे ॥ ४३ ॥ इस प्रकार अनेक दिन-रात व्यतीत होनेपर भी उनके मन, वचन और शरीरमें जरा भी आलस्य नहीं आया वे प्रतिदिन कृष्णके शवको धारण किये हुए वनमें घूमते रहे तथा रञ्च मात्र भी प्रीतिको प्राप्त नहीं हुए ॥ ४४ ॥

जब ग्रीष्म ऋतु चली गयी और आतपके वैभवको नष्ट करनेवाली वर्षा ऋतुने गरजते बादलोंकी घटा तथा जल वर्षासे जगत्में जहाँ-तहाँ हर्ष प्राप्त करा दिया तब कृष्णके कहे अनुसार भीलके विषम वेषको धारण करता हुआ जरत्कुमार अखण्डित रूपसे सुन्दर लोगोंसे व्याप्त पाण्डवोंकी पुरी दक्षिण मथुरामें पहुँचा ॥ ४५–४६ ॥ कृष्णके दूतका

---

१. परः म० । २. पूर्वमित्रसुपतिप्रयुक्तया क० । ३. सफल-म० । ४. पुरु ङ०, पुर म०, सच्छत्रधारी गुरुर्वसुदेवो यस्मिन्नटने (क० टि०) । ५. मधुर म० । ६. प्राप्य म० ।

सोऽवगाह्य हरिदूतकार्यकृत् प्रश्रयेण विहितोचितस्थितिः[1] ।
सन्निषण्णमुदपृच्छ्यतेशितुः क्षेममित्यथ युधिष्ठिरादिभिः ॥४७॥
मन्युरुद्धगलगद्गदस्वरः सन्निवेद्य स जरात्मजो[2] जगौ ।
द्वारिकास्वजनदाहपूर्वकं स्वप्रमादवशतो मृतिं हरेः ॥४८॥
प्रत्ययाय हरिदत्तकौस्तुभं प्रस्फुरत्किरणजालकं पुरः ।
संप्रदर्श्य पुरुदुःखपूरितः पूत्कृतिं व्यतनुतातनुस्वनः ॥४९॥
तत्क्षणेक्षमुदितोद्धवाकुलः कुन्त्यधिष्ठितकलत्रकण्ठजः ।
पाण्डुपुत्रभवनेऽखिले रुदत्याकुलस्य जलधेरिव ध्वनिः ॥५०॥
हा प्रधानपुरुषैकधीर हा हा जगद्व्यसननोदनोद्यत ।
हा त्वमीह विधिना किमीहितं हा बतेति रुदितं चिरं त्वभूत् ॥५१॥
संहृतातिबहुरोदनैस्ततः पाण्डवादिबहुबान्धवैर्जगद् ।
वृत्तवेदिभिरदायि विष्णवे संस्थितस्वजनतृप्तये जलम् ॥५२॥
जारसेयमपनीय पूर्वदुर्वेषमीषदवधीरिताधिकम्[3] ।
अग्रतस्तमभिकृत्य पाण्डवा जग्मुरार्तहलभृद्दिदृक्षया ॥५३॥

कार्य करनेवाले जरत्कुमारने पाण्डवोंकी सभामें प्रवेश कर विनयपूर्वक दूतकी सब मर्यादाओंका पालन किया। तदनन्तर जब वह सभामें बैठ गया तब युधिष्ठिर आदिने उससे स्वामीकी कुशल-वार्ता पूछी ॥ ४७ ॥ शोकसे जिसका कण्ठ रुँध गया था तथा स्वर गद्गद हो गया था ऐसे जरत्कुमारने द्वारिका तथा कुटुम्बीजनोंके जल जाने और अपने प्रमादसे कृष्णके मारे जानेका सब समाचार कह दिया और विश्वास दिलानेके लिए देदीप्यमान किरणोंसे युक्त, कृष्णका दिया कौस्तुभमणि उनके सामने दिखा दिया। तदनन्तर बहुत भारी दुःखसे भरा जरत्कुमार गला फाड़-फाड़कर जोरसे रोने लगा ॥ ४८-४९ ॥ उसी समय माता कुन्ती तथा पाण्डवोंकी स्त्रियोंके कण्ठसे उत्पन्न रोनेका विशाल शब्द उठ खड़ा हुआ। यही नहीं, उस समय जो वहाँ विद्यमान थे वे सभी रोने लगे जिससे पाण्डवोंके भवनमें समुद्र जैसी ध्वनि गूँज उठी ॥ ५० ॥ वे सब रोते-रोते कह रहे थे कि 'हा प्रधानपुरुष ! हा अद्वितीय धीर ! हा जगत्‌का कष्ट दूर करनेमें सदा उद्यत रहनेवाले ! विधिने तुम्हारे ऊपर यह क्या चेष्टा की। हाय हाय, बड़े दुःखकी बात है' इस प्रकार चिरकाल तक रुदन चलता रहा ॥ ५१ ॥

तदनन्तर जब रोना-धोखना बन्द हुआ तब जगत्‌का वृत्तान्त जाननेवाले पाण्डव आदि बान्धवोंने सब ओर घेरकर बैठे आत्मीयजनोंके संतोषके अर्थ कृष्णके लिए जल दिया* ॥ ५२ ॥ पहलेका निन्द्यवेष दूर कर जिसने मानसिक व्यथाको कुछ कुछ कम कर दिया था

---

१. स्थितः क० । २. जरात्मको म० । ३. ईषत् किञ्चित् अवधीरितः आधिर्मनोव्यथा येन स तम् बहुसमासान्तः ।

*मृतकके लिए जल देनेकी पद्धति जैन संस्कृतिमें नहीं है। फिर ग्रन्थकर्ताने इसका वर्णन क्यों किया ? यहाँ उनका यह भाव जान पड़ता है कि पाण्डव आदि स्वयं तो जल देनेके पक्षमें नहीं थे किन्तु उस समय उनके दुःखमें समवेदना प्रदर्शित करनेके लिए जो अन्य जनसमूह आकर एकत्रित हो गया था उनकी तृप्तिके लिए पाण्डवोंने कृष्णको जल दिया था। उस समय वैदिक संस्कृतिके अनुसार लोकमें मृतकके लिए जल देनेकी पद्धति थी और पाण्डव लोककी सब विधियोंको जाननेवाले थे इसलिए लोकाचारसे उन्होंने यह कार्य किया था।

ते कियद्भिरपि वासरैद्रु तं द्रौपदीप्रभृतिभामिनीजनैः ।
मातृपुत्रसहिताः ससाधनाः प्राप्य तं ददृशुरादृता वने ॥५४॥
व्यर्थिकाः शवशरीरगोचरोद्वर्तनस्नपनमण्डनक्रियाः ।
वर्तयन्तमुपगृह्य तं चिरं बान्धवा रुरुदुरुच्चकैःस्वनाः ॥५५॥
कुन्त्यथीनतनया विनम्य तं बोधयन्ति हरिसंस्क्रियां प्रति ।
कोपनः स न ददाति याचितस्तं तदा विषफलं शिशुर्यथा ॥५६॥
सज्ज्यतां सुलघुमज्जनक्रिया पाण्डवास्तदनुपानभोजनम् ।
भोक्तुमिच्छति पिपासितः प्रभुः क्षिप्रमित्यभिहिते तथाकृते ॥५७॥
मज्जयत्यभिनिवेश्य विष्टरे भोजयत्यपि स पाययत्यपः ।
व्यर्थतामपि तदास्य पाण्डवा मेनिरेऽनुचरणाः कृतार्थताम् ॥५८॥
निन्युरित्थमनुवृत्तितस्तु ते तत्र मेघसमयं बलानुगाः ।
मोहमेघपटलं बलस्य वा भेत्तुमाविरभवत्तदा शरत् ॥५९॥
सप्तपर्णसुरभेः सदा तदा वैष्णवस्य वपुषो वपुष्मतः ।
दूरदेशमगमद्विगन्धता गन्धयोर्हि न तयोः सहस्थितिः ॥६०॥
आययावथ कृतव्यवस्थितिर्भ्रातृपूर्वनिजसारथिः सुरः ।
सोऽयमाभिमुख्यकाललब्धितः बोधनाय बलदेवसन्निधिम् ॥६१॥

ऐसे जरत्कुमारको आगे कर पाण्डव लोग दुःखसे पीड़ित बलदेवको देखनेकी इच्छासे चले॥५३॥ द्रौपदी आदि रानियों, माता-पुत्रों एवं सेनाके साथ बड़ी शीघ्रतासे चलकर कुछ दिनों बाद उन्होंने वनमें बलदेवको प्राप्त कर देखा। उस समय बलदेव कृष्णके मृत शरीरको उबटन लगाना, स्नान कराना तथा आभूषण पहिनाना आदि व्यर्थ क्रियाएँ कर रहे थे। उन्हें देख सब बन्धुजन आदरके साथ उनसे लिपट गये और उच्च शब्द कर चिरकाल तक रोते रहे ॥ ५४-५५ ॥ कुन्ती और उनके पुत्रोंने नमस्कार कर बलदेवसे कृष्णके दाह संस्कारकी प्रार्थना की परन्तु जिस प्रकार बालक विषफलको नहीं देता है उलटा कुपित होता है उसी प्रकार बलदेवने भी माँगनेपर कृष्णका मृतक शरीर नहीं दिया, उल्टा क्रोध प्रकट किया॥ ५६ ॥ बलदेवने कहा कि, हे पाण्डवो! स्नानकी शीघ्र ही तैयारी करो और फिर उत्तम भोजन पानकी व्यवस्था करो, हमारा प्रभु (कृष्ण) प्यासा है तथा शीघ्र ही भोजन करना चाहता है। बलदेवके इस प्रकार कहनेपर पाण्डवोंने स्नान तथा भोजन-पानकी तैयारी की॥ ५७ ॥ बलदेवने कृष्णको आसनपर बैठाकर नहलाया, भोजन कराया और पानी पिलाया परन्तु उनका वह सब प्रयत्न व्यर्थ गया। यद्यपि पाण्डव भी बलदेवके इस कार्यको व्यर्थ मानते थे तथापि वे उनके कहे अनुसार आचरण कर अपने आपको कृतकृत्य मानते थे॥ ५८ ॥ इस प्रकार बलदेवके पीछे-पीछे चलनेवाले पाण्डवोंने उनके कहे अनुसार कार्य कर उस वनमें वर्षाकाल पूर्ण किया। तदनन्तर उनके मोहरूपी मेघपटलको भेदनेके लिए शरद्काल प्रकट हुआ॥ ५९ ॥ पहले कृष्णके शरीरसे सदा सप्तपर्णके समान सुगन्धि आती थी परन्तु उस समय दुर्गन्ध आने लगी और वह दुर्गन्ध दूर देश तक फैल गयी सो ठीक ही है क्योंकि दोनों गन्धोंकी एक साथ स्थिति नहीं होती॥ ६० ॥

अथानन्तर-कृष्णका भाई सिद्धार्थ, जो सारथि था, मरकर स्वर्गमें देव हुआ था और जिसने दीक्षा लेते समय सम्बोधनेकी व्यवस्था स्वीकृत की थी, काललब्धिकी निकटतासे सम्बोधनेके लिए बलदेवके निकट आया॥ ६१ ॥ उसने एक मायामयी ऐसा रथ बलदेवके

भूभृतोऽतिविषमं तटं रथः संव्यतीत्य दलितः समे पथि ।
संधितस्य यतता सुरः पुनर्दर्शितः सपदि तेन सीरिणे ॥६२॥
सीरिणा स गदितस्तटे गिरेः स्यन्दनस्तव न भज्यते स्म यः ।
मार्गकीर्णपतितस्य तस्य भो जन्मनीह पुनरुद्गतिः कुतः ॥६३॥
प्रत्युवाच विबुधो हरेर्महाभारत[2]मरणपारदर्शिनः ।
जारतेयकरकाण्डकाण्डकापातमात्रपतितस्य सा कुतः ॥६४॥
इत्युदीर्य स तु पद्मिनीं पुनः रोपयत्यसलिले शिलातले ।
पर्यनुयुक्त इतः शिलातले पद्मिनीप्रभव इत्यनेन सः ॥६५॥
[3]सोत्तरेण तु दृती मुधाजिना सिञ्चता सुचिरशुष्कपादपम् ।
[4]गोकलेवरतृणाम्बुदायिना कृष्णभूः प्रतिविबोधितस्तदा ॥६६॥
सत्यमेव विगतोऽसुभिर्हरिर्यद् ब्रवीषि मम मानुषेदृशम्[5] ।
सत्यमेतदिह नान्यथेति [6]सन् भव्य ! सर्वमपदार्थयास्थितम् ॥६७॥
सर्वमत्र जिनभाषितं पुरा जानतापि भवता भवस्थितिम् ।
मासषट्कमतिवाहितं वृथा केशवस्य वहता कलेवरम् ॥६८॥

लिए दिखाया जो पर्वतके अत्यन्त विषम तटको पार कर तो टूटा नहीं और सम—चौरस मार्गपर आते ही टूट गया। वह देव उस रथकी सन्धिको फिरसे ठीक कर रहा था परन्तु वह ठीक होता नहीं था ॥ ६२ ॥ बलदेवने यह देख उससे कहा कि हे भाई ! बड़ा आश्चर्य है जो तेरा रथ पर्वतके विषम तटपर तो टूटा नहीं और वह समान मार्गमें टूट गया। अब इसका इस जन्ममें फिरसे खड़ा होना कैसे सम्भव है ? इसे ठीक करनेका तेरा प्रयत्न व्यर्थ है ॥६३॥ इसके उत्तरमें उस देवने कहा कि जो कृष्ण महाभारत-जैसे रणका पारदर्शी है अर्थात् उतने विकट युद्धमें जिसका बाल बाँका नहीं हुआ, वह जरत्कुमारके हाथमें स्थित धनुषसे छूटे बाणके लगने मात्रसे नीचे गिर गया। अब इस जन्ममें उसका फिरसे उठना कैसे हो सकता है ? ॥ ६४ ॥ इतना कह वह देव, जहाँ पानीका अंश भी नहीं था ऐसे शिलातलपर कोमल कमलिनी लगाने लगा। यह देख बलदेवने पूछा कि शिलातलपर कमलिनीकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६५ ॥ इसका उत्तर देवने दिया कि निर्जीव शरीरमें कृष्णकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? उत्तर देनेके बाद वह एक सूखे वृक्षको सींचने लगा। बलदेवने फिर पूछा—भाई ! सूखे वृक्षको सींचनेसे क्या लाभ है ? इसका देवने उत्तर दिया कि मृत कृष्णको स्नानादि करानेसे क्या लाभ है ? तदनन्तर वह देव एक मरे बैलके शरीरको घास-पानी देने लगा। यह देख बलदेवने फिर पूछा कि अरे मूर्ख ! इस मृतक शरीरको घास-पानी देनेसे क्या लाभ है ? इसके उत्तरमें देवने कहा कि मृतक कृष्णको आहार-पानी देनेसे क्या लाभ है ? इस प्रकार उस देवने बड़ी कठिनाईसे बलदेवको समझा पाया ॥ ६६ ॥ प्रतिबोधको प्राप्त हुए बलदेव कहने लगे कि कृष्ण सचमुच ही प्राणरहित हो गया है। हे भद्र मानुष ! तू जो कह रहा है वह ऐसा ही है, यही सत्य है, इसमें रञ्चमात्र भी अन्यथा बात नहीं है; हे सत्पुरुष ! हे भव्य ! तूने ठीक ही कहा है ॥ ६७ ॥ इसके उत्तरमें देवने कहा कि यहाँ जो कुछ हुआ है वह सब नेमिजिनेन्द्र पहले ही कह चुके थे। संसारकी स्थितिको जानते हुए भी आपने कृष्णका मृतशरीर धारण कर छह माह व्यर्थ ही बिता दिये ॥ ६८ ॥ इस संसारमें कौन

---

१. तु म० । २. महाभारताम्बरण— म० । महाभारतान्तरण— ख० । ३. सोऽन्तरे वत म०, ख० ।
४. गोकुलेवरतृणाम्बु— म० । ५. हे मानुष ! ईदृशम् इति च्छेदः, मानुषेदृशी म०, क०, ङ० । ६. स क० ।

कोऽत्र कस्य बहिरङ्गहिंसकः स्यान्तरङ्गशुभकर्म रक्षकम् ।
[1]आयुरेव निजरक्षकारणं तत्क्षये भवति सर्वथा क्षयः ॥६९॥
[2]संपदत्र करिकर्णचञ्चलाः संगमाः प्रियवियोगदुःखदाः ।
जीवितं मरणदुःखनीरसं मोक्षमक्षयमतोऽर्थयेद् बुधः ॥७०॥
[3]पूर्वरूपधरवंशदेवतो लब्धबोधिरिति वीतमोहकः ।
निर्बभौ हलधरस्तदाधिकं धूतमेघपटलः शशी यथा ॥७१॥
पाण्डवैः सह जरासुतान्वितैस्तुङ्गीगिरिमस्तके ततः ।
संविधाय हरिदेहसंस्क्रियां जरसेयसुवितीर्णराज्यकः ॥७२॥
भङ्गुरं सकलमस्य तस्य तैः संगतैः [4]सचिततं ततः स्थितः ।
संगहानकृतनिश्चयो बलो भङ्गुरं समधिगम्य जीवितम् ॥७३॥
पल्लवस्थजिननाथशिष्यतां संसृतोऽस्म्यहमिह स्थितोऽपि सन् ।
इत्युदीर्य जगृहे मुनिस्थितिं पञ्चमुष्टिभिरपास्य मूर्धजान् ॥७४॥
पारणासु पुरसंप्रवेशने वैपरीत्यमवगम्य योषिताम् ।
सत्त्रियोगभृदतो रणव्रती संतुतोष वनभैक्ष्यवर्तनैः ॥७५॥
पाण्डवास्तु बहुराजकन्यकाः संप्रदाय हरिवंशभूभुजे[5] ।
पुत्रयोजितनिजश्रियोऽगमन् पल्लवाख्यविषयं जिनं प्रति ॥७६॥

किसका बहिरङ्ग हिंसक है ? अपना अन्तरङ्ग शुभ कर्म ही रक्षक है। यथार्थमें आयु ही अपनी रक्षाका कारण है, उसका क्षय होनेपर सब प्रकारसे क्षय हो जाता है ॥ ६९ ॥ सम्पत्ति हाथीके कानके समान चञ्चल है। संयोग, प्रियजनोंके वियोगसे दुःख देनेवाले हैं और जीवन-मरणके दुःखसे नीरस है। एक मोक्ष ही अविनाशी है अतः विद्वज्जनोंको उसे ही प्राप्त करना चाहिए ॥ ७० ॥ इस प्रकार पूर्वरूपको धारण करनेवाले अपने वंशके देवसे जिन्हें रत्नत्रयकी प्राप्ति हुई थी और जिनका मोह दूर हो गया था ऐसे बलदेव, मेघपटलसे रहित चन्द्रमाके समान उस समय अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ ७१ ॥

तदनन्तर जरत्कुमार और पाण्डवोंके साथ उन्होंने तुङ्गीगिरिके शिखरपर कृष्णका दाह-संस्कार कर जरत्कुमारको राज्य दिया और जीवनको क्षणभङ्गुर समझ परिग्रहके त्यागका निश्चय कर साथियोंके साथ उसी पर्वतके शिखरका आश्रय लिया। उन्होंने, 'मैं यहाँ रहता हुआ भी पल्लव देशमें स्थित श्री नेमिजिनेन्द्रकी शिष्यताको प्राप्त हुआ हूँ' यह कहकर पञ्च-मुष्टियोंसे शिरके बाल उखाड़कर मुनि-दीक्षा धारण कर ली ॥ ७२-७४ ॥ बलदेव शरीरसे अत्यन्त सुन्दर थे। इसलिए पारणाओंके लिए नगरमें प्रवेश करते समय स्त्रियोंकी विपरीत चेष्टा होने लगी। यह जान त्रियोगको धारण करनेवाले रणव्रती बलदेव 'यदि वनमें भिक्षा मिले तो लेंगे अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर संतोषको प्राप्त हुए ॥७५॥ पाण्डवोंने हरिवंशके राजा जरत्कुमारके लिए बहुत-सी राज-कन्याएँ दीं, अपने पुत्रोंके लिए राज्यलक्ष्मी सौंपी और उसके बाद जिनेन्द्र भगवान्को लक्ष्य कर सबके-सब पल्लव देशकी ओर चले गये ॥ ७६ ॥

१. आयुकर्म म० । २. संपदोऽत्र करिकर्णचञ्चलाः ख० । ३. पूर्वरूपधरवासुदेवतो क० । ४. सचिततस्ततः स्थितः क० । ५. इत ऊर्ध्वं म०, क० पुस्तकयोरधोलिखितः पाठोऽधिको वर्तते । 'प्रेत्य सूर्यपुरसंज्ञिकं निधानात्मजांश्च मुनिपाय शासने । स्वकरागमपि पाण्डुनन्दनाः संविभज्य निजसंपदो ददुः ॥'

द्रौपदीप्रभृतयस्तथाङ्गनाः संयमं प्रति निविष्टबुद्धयः ।
पाण्डवाननुगता जनन्यपि[1] संसृतौ विगतकाङ्क्षिणी सती ॥७७॥
द्वादशात्मनिदशासतामनुप्रेक्षयानुमतया हलायुधः ।
[2]व्यापृतोऽभवदखण्डितस्थितिः सत्रिदण्डदलनक्षणोन्मुखः ॥७८॥
यत्र नित्यमिति यत्र मूर्च्छना स्थानदेहधनसौख्यबन्धुषु ।
तत्र किञ्चिदपि नास्ति नित्यता आत्मनोऽन्यदिति चिन्तयत्यसौ ॥७९॥
मृत्युदुःखपरिपीडितस्य मे व्याघ्रवक्त्रमृगबालकस्य वा[3] ।
बान्धवा न शरणं धनादि वा धर्मतोऽन्यदिति चिन्तनामितः ॥८०॥
नैकयोनिकुलकोटिकूटसंसारचक्रमिह यान्ति जन्तवः ।
प्रेरिताः कटुककर्मयन्त्रकैः स्वामिभृत्यपितृपुत्रपूर्वताम् ॥८१॥
एक एव भवभृत्प्रजायते मृत्युमेति पुनरेक एव तु ।
धर्ममेकमपहाय नापरः सत्सहाय इति चैकता स्मृतिः ॥८२॥
नित्यता मम तनोरनित्यता चेतनोऽहमपचेतना तनुः ।
अन्यता मम शरीरतोऽपि यत्तत्किमङ्ग ! पुनरन्यवस्तुनः ॥८३॥
शुक्लशोणितकुबीजजन्मके सप्तधातुमयके त्रिदोषके ।
कः शुचं [4]तदनुयाशुचौ शुची रज्यते स्वपरयोः शरीरके ॥८४॥

संयमकी ओर जिनकी बुद्धि लग रही थी ऐसी द्रौपदी आदि स्त्रियाँ तथा संसारसे जिसकी बुद्धि विमुख हो गयी थी ऐसी माता कुन्ती भी पाण्डवोंके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ ७७ ॥

इधर अखण्ड चारित्रके धारक एवं मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप तीन दण्डोंका दृढ़ताके साथ खण्डन करनेमें तत्पर मुनिराज बलदेव, सज्जनोंको इष्ट अनित्यत्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें व्याप्त हो गये ॥ ७८ ॥ वे विचार करने लगे कि जिन महल, शरीर, धन, सांसारिक सुख और बन्धुजनोंमें 'ये नित्य हैं', यह समझकर ममताभाव उत्पन्न होता है, उनमें आत्माके सिवाय किसीमें भी नित्यता नहीं है, सभी क्षणभङ्गुर हैं ॥ ७९ ॥ जिस प्रकार व्याघ्रके मुखमें पड़े मृगके बच्चेको कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार मृत्युके दुःखसे पीड़ित मेरे लिए धर्मके सिवाय न भाई-बन्धु शरण हैं और न धन ही शरण है। इस प्रकार वे अशरण अनुप्रेक्षाका चिन्तवन करते थे ॥ ८० ॥ नाना योनियों और कुलकोटियोंके समूहसे युक्त इस संसाररूपी चक्रके ऊपर चढ़े प्राणी, महा विषम कर्मरूपी मन्त्रसे प्रेरित हो स्वामीसे भृत्य और पितासे पुत्र आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ ८१ ॥ यह जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मृत्युको प्राप्त होता है। एक धर्मको छोड़कर दूसरा इसका सहायक नहीं है। इस प्रकार वे एकत्व अनुप्रेक्षाका चिन्तवन करते थे ॥ ८२ ॥ मैं नित्य हूँ और शरीर अनित्य है। मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है। जब शरीरसे भी मुझमें भिन्नता है तब दूसरी वस्तुओंसे भिन्नता क्यों नहीं होगी ? ॥ ८३ ॥ यह अपना अथवा पराया शरीर रज, वीर्यरूप निन्द्य निमित्तोंसे उत्पन्न है, सप्तधातुओंसे भरा है एवं वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंसे युक्त है इसलिए ऐसा कौन पवित्र आत्मा होगा जो इस अपवित्र शरीरमें वियोगके समय शोकको प्राप्त होगा और संयोगके समय राग करेगा ? ॥ ८४ ॥ काययोग

१. 'पाण्डवाननुगता जनन्यपि स्निग्धता विगतरुक्षमीशु या' ख० । 'पाण्डवाननुगता विमोहिता संसृतौ विगतकाङ्क्षिषु या ॥' ङ० । २. व्यापृतो म० । ३. 'वा स्याद् विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये'' इत्यमरः । ४. तदनुगाशुची म० ।

कायवाङ्मनसयोगभेदत आस्रवो भवति पुण्यपापयोः ।
कर्मबन्धदृढशृङ्खलश्चिरं संसरत्यसुभृदुग्रसंसृतौ ॥८५॥
स्याद् द्विधास्रवनिरोधलक्षणः संवरः समितिगुप्तिपूर्वकैः ।
संवरे सति सनिर्जरेऽसुभृत्सिद्ध्यति स्वकृतकर्मसंक्षयात् ॥८६॥
दुर्गतिष्वकुशलानुबन्धिनी संयमात्तु कुशलानुबन्धिनी ।
निर्जरा निरनुबन्धिनी च सा चिन्तिता परमयोगिनामुना[1] ॥८७॥
लोकसंस्थितिरनाद्यनन्तिकालोकमध्यमभागभाक् ।
अत्र ही षडसुकायसंहतिर्दुःखिनीति खलु लोकचिन्तना ॥८८॥
[2]स्थावरे त्रसकुलेऽखिलेन्द्रियैः पूर्णतादिषु सुधर्मलक्षणा ।
बोधिलब्धिरतिदुर्लभा भवेत्सत्समाधिमरणाप्तिलक्षणा ॥८९॥
धर्म एव जिनभाषितः शिवप्राप्तिहेतुरहिंसादिलक्षणः ।
त्यागतोऽस्य भवदुःखितेत्यनुप्रेक्षिकान्त्यशुभचिन्तनात्मिका ॥९०॥
इत्यनुश्रुतमनूनधीरनुप्रेक्षिकार्थमनुभावयन् मुहुः ।
आत्तमोहमजयज्जयन्मुनिः सद्विविंशतिपरीषहद्विषः ॥९१॥

वचनयोग और मनोयोग यह तीन प्रकारका योग ही आस्रव है। इसीके निमित्तसे आत्मामें पुण्य और पापकर्मका आगमन होता है। आस्रवके बाद यह जीव कर्मबन्धनरूप दृढ़ साँकलसे बद्ध होकर भयंकर संसारमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है ॥ ८५ ॥ द्रव्यास्रव और भावास्रवरूप दोनों प्रकारके आस्रवका रुक जाना संवर है। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्रसे होता है। निर्जराके साथ-साथ संवरके हो जानेपर यह जीव स्वकृत कर्मोंका क्षय कर सिद्ध हो जाता है ॥ ८६ ॥ अनुबन्धिनी और निरनुबन्धिनीके भेदसे निर्जराके मूलमें दो भेद हैं। फिर अनुबन्धिनी निर्जराके अकुशला और कुशलाके भेदसे दो भेद हैं। नरकादि गतियोंमें जो प्रतिसमय कर्मोंकी निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धिनी निर्जरा है और संयमके प्रभावसे देव आदि गतियोंमें जो निर्जरा होती है वह कुशलानुबन्धिनी निर्जरा है। जिस निर्जराके बाद पुनः कर्मोंका बन्ध होता रहता है वह अनुबन्धिनी निर्जरा है और जिस निर्जराके बाद पूर्वकृत कर्म खिरते तो हैं पर नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता उसे निरनुबन्धिनी निर्जरा कहते हैं।

परम योगी बलदेव मुनिराजने इसी निरनुबन्धिनी अनुप्रेक्षाका चिन्तवन किया था ॥ ८७ ॥ लोककी स्थिति अनादि, अनन्त है, यह लोक अलोकाकाशके ठीक मध्यमें स्थित है। इस लोकके भीतर छह कायके जीव निरन्तर दुःख भोगते रहते हैं, ऐसा चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है ॥ ८८ ॥ प्रथम तो निगोदसे निकलकर अन्य स्थावरोंमें उत्पन्न होना ही दुर्लभ है फिर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है, त्रसोंमें भी इन्द्रियोंकी पूर्णता होना दुर्लभ है और इन्द्रियोंकी पूर्णता होनेपर भी समीचीन धर्म जिसका लक्षण है एवं उत्तम समाधिका प्राप्त होना जिसका फल है ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ८९ ॥ जिनेन्द्र भगवान‌के द्वारा कहा हुआ यह अहिंसादि लक्षण धर्म ही मोक्षप्राप्तिका कारण है। इसका त्याग करनेसे संसारका दुःख प्राप्त होता है—इस प्रकार चिन्तवन करना सो अन्तिम धर्मानुप्रेक्षा है ॥ ९० ॥ इस प्रकार परम्परासे प्रसिद्ध बारह अनुप्रेक्षाओंका बार-बार चिन्तवन

---

१. परमयोगिनी शुभा म० । २. स्थावरेऽत्र कुशलेऽखिलेन्द्रियैः क०, ङ० ।

बहुनियमपरिग्रहोद्भवकजाठराग्निकठोरोपरोधतः ।
मोक्षसाधनतयार्धभुग्व्यधात्क्षुत्परीषहजयं महामुनिः ॥९२॥
[1]देहगिर्यवयवाटवीप्लुषा दावमूर्तिनिभया पिपासया ।
निष्प्रतिक्रियधृतिर्न [2]विव्यथे शान्तिनीरदघटाभिषिक्तया ॥९३॥
स्थण्डिले निशि दिवा च योगिना तीव्रवातहिमवृष्टयनेहसि ।
वातवर्षविषमे तरोरधोऽयोधि शीतपरुषः परीषहः ॥९४॥
पर्वताग्रशिखरस्थितोऽजयद् ग्रैष्ममुष्णमभितः परीषहम् ।
दावधूमघनकातपत्र[3]सच्छाययेव विनिवारितातपः ॥९५॥
गूढवृत्तिभिरनार्यै[4]र्जन्तुभिर्गाढपीतरुधिरोऽप्यकम्पितः ।
सोढवान् दृढमसौ परीषहं प्रौढदंशमशकोपकल्पितम् ॥९६॥
सोऽङ्गलग्नमनपायमप्यविश्वास्यमेकदिनदुःखपालनम् ।
सत्कलत्रमिव सत्रपं व्यधान्नाग्न्यमात्मवशगं परीषहम् ॥९७॥
ध्यानयोग्यगिरिमार्गदुर्गभूष्वेक[5] एव हि विहृत्य निग्रहे ।
धर्मसाधनरतिर्यथा रिपोर्व्यापृतो[6] रतिपरीषहस्य सः ॥९८॥
भ्रूलताकुटिलचापयोजितस्त्रीकटाक्षशरवर्षिणं वृथा ।
कुर्वता मदनयोधमूर्जितस्त्रीपरीषहजयः कृतोऽमुना ॥९९॥

करनेवाले उत्कृष्ट बुद्धिके धारक बलदेव मुनिराजने बाईस परीषहरूपी शत्रुओंको जीतकर भाईके मोहको जीत लिया ॥ ९१ ॥

नाना प्रकारके नियम-आखड़ी आदिके लेनेसे उनकी जठराग्नि अत्यधिक प्रज्वलित रहती थी। उतनेपर भी वे मोक्षकी सिद्धिके लिए भूखसे आधा ही भोजन करते थे। इस प्रकार वे महामुनि क्षुधापरीषहको जीतते थे ॥ ९२ ॥ प्रतिकाररहित धैर्यके धारक बलदेव मुनिराज, शान्तिरूपी घनघटासे अभिषिक्त होनेके कारण शरीररूपी पर्वतके अवयवभूत अटवीको जलानेवाली दावानलके समान तीव्र प्याससे पीड़ित नहीं होते थे—इस प्रकार वे तृषापरीषहपर विजय प्राप्त करते थे ॥ ९३ ॥ तीव्र वायु और हिमवर्षाके समय रात-दिन खुले चबूतरेपर बैठकर तथा वायु और वर्षासे विषम वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे बैठकर वे कठोर शीत परीषहके साथ युद्ध करते थे ॥ ९४ ॥ ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके ऊँची शिखरपर स्थित होकर वे चारों ओरसे उष्ण परीषह सहन करते थे। उस समय उनके ऊपर दावानलका धुआँ छा जाता था, उससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे छतरीकी छायासे गरमीकी बाधाको ही दूर कर रहे हों ॥ ९५ ॥ चुपके-चुपके आनेवाले हर्षरहित जन्तुओं—डाँस, मच्छरोंसे उनका रुधिर खूब पिया गया फिर भी वे निश्चल रहते थे। इस प्रकार उन्होंने दंश, मशक नामक कठिन परीषहको बड़ी दृढ़तासे सहन किया था ॥ ९६ ॥ जो शरीरमें संलग्न था, अपायरहित होनेपर भी विश्वासके योग्य नहीं था, जिसका एक दिन भी पालन करना कठिन था एवं जो उत्तम स्त्रीके समान लज्जासे सहित था, ऐसे नाग्न्यपरीषहको वे अपनी इच्छानुसार सहन करते थे ॥ ९७ ॥ वे ध्यानके योग्य पहाड़ी मार्ग एवं वनकी दुर्गम भूमियोंमें अकेले ही विहार कर सदा धर्मसाधनमें प्रीति रखते थे और शत्रुकी तरह रतिपरीषहके निग्रह करनेमें संलग्न रहते थे ॥ ९८ ॥ भ्रुकुटि लतारूपी कुटिल धनुषपर चढ़ाये हुए स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणों-

---

१. देहनिर्वयव- क० । २. बध्यते म० । ३. पत्रसंघायमेव म० । ४. -रनर्थ जन्तुभिः म० । ५. दुर्गभूष्वेक एव म०, ह० । ६. व्यापृतो म० ।

तीर्थभूमिविहृतिः ससंयमावश्यकेष्वपरिहापितो व्रजन् ।
वाहनाद्यनभिसन्ध्य चर्यया खिद्यते स्म न परीषहाख्यया ॥१००॥
प्रासुकास्वथ विविक्तभूमिषु ध्यानधौतधिषणो विभूतधीः ।
क्षेत्रकालनियतासनेष्वसौ बाध्यते स्म न निषद्ययाऽनिशम् ॥१०१॥
ध्यानतोऽध्ययनतो मुनिः क्रमादल्पकालनियताल्पनिद्रया ।
एकपार्श्वकृतभूमिशय्यया [1]नावृतोऽपि निशि न प्रपीडितः ॥१०२॥
दुर्जनैर्निशितदुर्वचोऽस्त्रकैराहतोऽपि हृदयेऽतिदुस्सहैः ।
क्रोशबाधसहनः क्षमावृतः स्यामिति स्मृतिमवन्स धीरधीः ॥१०३॥
अस्त्रशस्त्रनिवहैर्वपुर्वधः प्राप्यते यदि नु मे तथाऽप्यकम् ।
सह्यते वधपरीषहो मयेत्येव बुद्धिमवधा[2]दनारतम् ॥१०४॥
बाह्यमान्तरमसौ तपश्चरन्नस्थिशेषवपुषः स्थितिं प्रति ।
व्यापृतोऽपि समयव्यवस्थया याचनाख्यमजयत्परीषहम् ॥१०५॥
मौनिना निजशरीरदर्शिना संहितेन हितचन्द्र[3]चर्यया ।
लब्ध्यलब्धिसुखिनामुना जितोऽलाभनामविदितः परीषहः ॥१०६॥
रूक्षशीतलविरुद्धभुक्तिजां वातपित्तकफकोपजां रुजम् ।
सोऽप्रतिक्रियतयाऽवधीरयन् रोगसंज्ञमजयत्परीषहम् ॥१०७॥

की वर्षा करनेवाले कामदेवरूपी योधाको व्यर्थ करनेवाले उन मुनिराजने अतिशय बलवान् स्त्री परीषहको जीता था ॥ ९९ ॥

वे संयमी मनुष्योंके आवश्यक कार्योंमें हानि न कर सवारी आदिका विचार किये बिना ही तीर्थ क्षेत्रोंके लिए विहार करते थे और चर्या-परीषहसे कभी खेदखिन्न नहीं होते थे ॥ १०० ॥ प्रासुक और एकान्त भूमियोंमें ध्यान करनेसे जिनकी बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो गयी थी तथा जो उत्कृष्ट बुद्धिके धारक थे ऐसे बलदेव मुनिराज, क्षेत्र अथवा कालमें निश्चित आसनोंके बीच निषद्या-परीषहसे कभी दुःखी नहीं होते थे ॥ १०१ ॥ वे मुनि ध्यान और अध्ययनमें सदा निमग्न रहते थे, इसलिए रात्रिके समय क्रम-क्रमसे बहुत थोड़ी निद्रा लेते थे वह भी पृथिवीरूपी शय्यापर एक करवटसे और बिना कुछ ओढ़े हुए। इस प्रकार वे शय्या परीषहसे कभी पीडित नहीं होते थे ॥ १०२ ॥

धीर-वीर बुद्धिको धारण करनेवाले बलदेव मुनिराज दुर्जनोंके द्वारा तीक्ष्ण कुवचन-रूपी शस्त्रोंसे हृदयमें घायल होनेपर भी कुवचनोंकी बाधा सहते हुए सदा इस बातका स्मरण रखते थे कि मुझे क्षमासे युक्त होना चाहिए ॥ १०३ ॥ वे मुनि सदा ऐसी बुद्धि धारण करते थे कि यदि अस्त्र और शस्त्रके समूहसे मेरा शरीर वधको प्राप्त होता है तो भी मुझे अच्छी तरह वध-परीषह सहन करना चाहिए ॥ १०४ ॥ बाह्य और आभ्यन्तर तपको करनेवाले वे मुनि, हड्डीमात्र अवशिष्ट शरीरकी स्थिरताके लिए यद्यपि चरणानुयोगकी पद्धतिसे उद्यम करते थे—चर्याके लिए जाते थे पर कभी किसीसे आहार आदिकी याचना नहीं करते थे, इस प्रकार वे याचना-परीषहको जीतते थे ॥ १०५ ॥ वे मौनसे आहारके लिए विहार करते थे, अपना शरीरमात्र दिखाते थे, चान्द्री-चर्यासे युक्त रहते थे अर्थात् चन्द्रमाके समान अमीर, गरीब सभीके घर प्रवेश करते थे और लाभ, अलाभमें प्रसन्न रहते थे, इस प्रकार उन्होंने अलाभ-परीषहको जीत लिया था ॥ १०६ ॥ वे रूखे, शीतल एवं प्रकृतिके विरुद्ध आहार तथा

---

१. व्यावृतोऽपि ख० । २. दनागतं म० । ३. चण्ड– म० ।

लाक्षकेसतृणशर्करादिभिः कर्कशैः स शयनासनादिषु ।
पीडितोऽप्यविकृतान्तरस्तृणस्पर्शकमिमगात्परीषहम् ॥१०८॥
अस्पृशन् करनखैस्तनुं मुनिः शोभते स्म चयको मलावृतः ।
शैलतुङ्गशिखराश्रितो यथा कालमेघपटलावृतः शशी ॥१०९॥
नादरे परकृते कृतादरोऽनादरे च न मनोविकारवान् ।
शुद्धधीर्विषहते स्म तत्पुरस्कारकमपरं परीषहम् ॥११०॥
वादिवाग्मिगमको महाकविः सांप्रतं सकलशास्त्रविद्भुवि ।
नास्मदन्य इति हि स्मयो मनाक् प्रज्ञया न परिषहदूषितः ॥१११॥
अज्ञ एष न पशुर्न मानुषो वीक्षते न हि न भाषते मृषा ।
मौनमित्यनुभवान्यवज्ञयाऽज्ञानमेव सहते परीषहम् ॥११२॥
वार्तमुग्रतपसा महर्धयः पूर्वमित्यनुपलब्धितोऽधुना ।
इत्यनुक्तिरतिशुद्धदर्शनोऽदर्शनाख्यमसहत्परीषहम् ॥११३॥
इत्यशेषितपरीषहारिणा सीरिणा विषयदोषहारिणा ।
अभ्यतप्यत तपोऽतिहारिणा जैनचरणभूविहारिणा[1] ॥११४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ बलदेवतपोवर्णनो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥६३॥

वात, पित्त और कफके प्रकोपसे उत्पन्न रोगका प्रतिकार नहीं करते थे। सदा उसकी उपेक्षा ही करते थे। इस प्रकार रोग-परीषहको उन्होंने अच्छी तरह जीत लिया था ॥ १०७ ॥ शयन, आसन आदिके समय कठोर लाखके कण, तृण तथा कंकण आदिके द्वारा पीडित होनेपर भी उनके अन्तरङ्गमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता था और भी तृणस्पर्श-परीषहको अच्छी तरह सहन करते थे ॥ १०८ ॥ जो हाथके नाखूनोंसे शरीरका कभी स्पर्श नहीं करते थे—नखोंसे शरीरका मल नहीं छुटाते थे ऐसे मैलसे आवृत शुभ्रकाय मुनिराज, पहाड़की ऊँची चोटीपर स्थित काले-काले मेघोंके पटलसे ढँके चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०९ ॥ यदि दूसरे लोग उनका आदर करते थे, तो उन्हें प्रसन्नता नहीं होती थी और अनादर करते थे तो मनमें विकार भाव नहीं लाते थे। आदर और अनादर दोनोंमें ही अपनी बुद्धिको सदा विशुद्ध रखते थे, इस तरह वे सत्कार पुरस्कार-परीषहको अच्छी तरह सहन करते थे ॥११०॥ इस समय पृथिवीपर मुझसे बढ़कर न कोई वादी है, न वाग्मी है, न गमक है और न महाकवि है। इस प्रकारके अहंकारको उन्होंने प्रज्ञा-परीषहके द्वारा किञ्चित् भी दूषित नहीं होने दिया था ॥ १११ ॥ यह अज्ञानी न पशु है, न मनुष्य है, न देखता है, न बोलता है, व्यर्थ ही इसने मौन ले रखा है। इस प्रकारके अज्ञानी जनोंके वचनोंकी परवाह न कर वे अज्ञान-परीषहको सहन करते थे ॥ ११२ ॥ उग्र तपके प्रभावसे पहले बड़ी-बड़ी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती थीं यह कहना व्यर्थ है क्योंकि आज तक हमें एक भी ऋद्धिकी प्राप्ति नहीं हुई। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले बलदेव मुनिराज कभी नहीं कहते थे। इस तरह उन्होंने अदर्शन परीषहको अच्छी तरह सहन किया था ॥ ११३ ॥ इस प्रकार जिन्होंने परीषहरूपी शत्रुओंको समाप्त कर दिया था। जो पञ्चेन्द्रियोंके विषयरूपी दोषको हरनेवाले थे, शरीरसे अत्यन्त सुन्दर थे, और जिनेन्द्रप्रणीत सम्यक् चारित्रकी भूमिकामें विहार करनेवाले थे ऐसे मुनिराज बलदेवने चिरकाल तक तप किया ॥ ११४ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें बलदेवके तपका वर्णन करनेवाला त्रेसठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६३॥

---

१. क०, ङ० पुस्तकयोः ११३–११४ श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते ।

चतुःषष्टितमः सर्गः

अथ ते पाण्डवाश्चण्डसंसारभयभीरवः । प्राप्य पल्लवदेशेषु विहरन्तं जिनेश्वरम् ॥१॥
चतुर्विधामराकीर्णसमवस्थानमण्डनम् । तं ते ववन्दिरे देवं परीत्य परमेश्वरम् ॥२॥
पीत्वा धर्मामृतं लब्धजिनेन्द्रघनकालतः । पूर्वजन्मानि तेऽपृच्छन् जिनेन्द्रोऽप्यवगदीदिति ॥३॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे चम्पायां मेघवाहने । रक्षति क्षितिपे क्षोणीं कुरुवंशविभूषणे ॥४॥
विप्रस्य सोमदेवस्य सोमिलायां त्रयः सुताः । प्रथमः सोमदत्तोऽभूत्सोमिलः सोमभूतिना ॥५॥
अग्निभूत्यग्निलोद्भूतास्तेषां मातुलजाः क्रमात् । धनश्रीरपि सोमश्रीर्नागश्रीरिति योषितः ॥६॥
शरीरभोगसंसारनिर्वेदं सर्ववेदवित् । सोमदेवः परिप्राप्य प्राव्राजीज्जिनशासने ॥७॥
त्रयोऽत्र भ्रातरस्तेऽपि जिनशासनभाविताः । गृहधर्मरता जाता धर्मकामार्थसेविनः ॥८॥
भिक्षाकालेऽन्यदा तेषां गृहं धर्मरुचिर्यतिः । धर्मपिण्ड इवाखण्डः प्रविष्टश्चन्द्रचर्यया ॥९॥
प्रतिगृह्य समुत्थाय सोमदत्तो यमीश्वरम् । कार्यव्यग्रतया दाने नागश्रियमयोजयत् ॥१०॥
सा स्वपापोदयात्साध्वी कोपावेशवशाददात् । विषान्नमेव संन्यासकारीसर्वार्थसिद्धिमैत् ॥११॥
नागश्रीदुष्कृतं ज्ञात्वा ते त्रयोऽपि सहोदराः । दीक्षां वरुणगुर्वन्ते निर्विण्णाः प्रतिपेदिरे ॥१२॥
धनश्रीश्चापि मित्रश्रीर्गुणवत्यार्यिकान्तिके । अदीक्षिषातां निःशेषभववासविषावृतः ॥१३॥

अथानन्तर संसारके तीव्र भयसे भयभीत पाण्डव, पल्लव देशमें विहार करते हुए श्री नेमिजिनेन्द्रके समीप पहुँचे। उस समय भगवान् चार प्रकारके देवोंसे व्याप्त समवसरणको सुशोभित कर रहे थे एवं अष्ट प्रातिहार्यरूप परम ऐश्वर्यसे युक्त थे। पाण्डवोंने प्रदक्षिणा देकर भगवान्‌को नमस्कार किया ॥ १-२ ॥ तदनन्तर प्राप्त हुए जिनेन्द्ररूपी वर्षा कालसे धर्मामृतका पान कर उन्होंने अपने पूर्वभव पूछे और श्रीजिनेन्द्र इस प्रकार उनके पूर्वभव कहने लगे ॥ ३ ॥ इसी भरतक्षेत्रकी चम्पा नगरीमें जब कुरुवंशका आभूषण स्वरूप राजा मेघवाहन पृथिवीकी रक्षा करता था, तब वहाँ सोमदेव नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी सोमिला नामकी स्त्री थी और उससे उसके सोमदत्त, सोमिल और सोमभूति नामके तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ४-५ ॥ इन पुत्रोंके मामाका नाम अग्निभूति था, उसकी स्त्री अग्निला थी और उन दोनोंके क्रमसे धनश्री, सोमश्री और नागश्री नामकी तीन कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं जो कि उक्त तीन पुत्रोंकी क्रमसे स्त्रियाँ हुई थीं ॥ ६ ॥ समस्त वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण सोमदेव कदाचित् शरीरभोग और संसारसे विरक्त हो जिनधर्ममें दीक्षित हो गया ॥ ७ ॥ सोमदत्त आदि तीनों भाई भी जिनशासनकी भावनासे युक्त थे इसलिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका सेवन करते हुए गृहस्थ धर्ममें रत हो गये ॥ ८ ॥

किसी समय धर्मरुचि नामक मुनिराज जो धर्मके अखण्ड पिण्डके समान जान पड़ते थे, भिक्षाके समय चान्द्री-चर्यासे उनके घर प्रविष्ट हुए ॥९॥ सोमदत्तने उठकर बड़ी विनयसे उन मुनिराजको पड़िगाहा। पड़िगाहनेके बाद किसी अन्य कार्यमें व्यग्र होनेसे वह तो चला गया और दान देनेके कार्यमें नागश्रीको नियुक्त कर गया ॥ १० ॥ अपने पूर्वकृत पापोदयसे मुनिराजके विषयमें कोपके वशीभूत हो नागश्रीने उन्हें विषमिश्रित अन्नका आहार दिया जिससे वे मुनिराज संन्यास मरण कर सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए ॥ ११ ॥ नागश्रीके इस दुष्कार्यको जानकर वे तीनों भाई बहुत दुःखी हुए और संसारसे विरक्त हो उन्होंने वरुण गुरुके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥ १२ ॥ धनश्री और मित्रश्रीने भी समस्त संसार वाससे-

ज्ञानपञ्चकसिद्धयै ते दर्शनत्रिकशुद्धये । चारित्रतपसोः शुद्धयै प्रवृत्ताश्चरणोद्यताः[1] ॥१४॥
स्यात्सामायिकचारित्रं सर्वत्र समभावकम् । सर्वसावद्ययोगस्य प्रत्याख्यानमखण्डितम् ॥१५॥
स्वप्रमादकृतानर्थप्रबन्धप्रतिलोपने । सम्यक् प्रतिक्रिया या सा छेदोपस्थापना मता ॥१६॥
विशिष्टा परिहारेण शुद्धिर्यत्र प्रतिष्ठिता । परिहारविशुद्धयाख्यं चारित्रं तत्प्रकल्प्यते ॥१७॥
संपरायाः कषायास्तु यत्र ते सूक्ष्मवृत्तयः । तत्सूक्ष्मसांपरायाख्यं चारित्रं पापनोदनम् ॥१८॥
यथाख्यातमथाख्यातमिति वा परिभाषितम् । सुशान्तक्षीण[2]मोहं तच्चारित्रं मोक्षसाधनम् ॥१९॥
तपः षोढा भवेद्बाह्यमनशनपूर्वकम् । आभ्यन्तरं तपः षोढा प्रायश्चित्तादिकं मतम् ॥२०॥
संयमादिकसद्ध्यानसिद्धि[3]दृष्टफलाप्तये । रागोच्छित्त्यै तपो नानाविधं ह्यनशनं स्मृतम् ॥२१॥
दोषोपशमसन्तोषस्वाध्यायध्यानसिद्धये । संयमायावमौदर्यं प्रजागरणकारणम् ॥२२॥
भिक्षार्थिमुनिसंकल्पा ये वेश्मादिकगोचराः । आशानिवृत्तये वृत्तिपरिसंख्यानमिष्यते ॥२३॥
घृतक्षीरादिवृष्यात्मरसानां विरहः परम् । तपो रसपरित्यागो निद्रेन्द्रियजयाय सः ॥२४॥
पशुस्त्रीप्रविविक्तेषु स्थानेषु प्रासुकेषु यत् । वसनं व्रतशुद्धयै तद्विविक्तशयनासनम् ॥२५॥
त्रिकालयोगप्रतिमास्थानपूर्वः स्वयंकृतः । कायक्लेशः सुखत्यागो मोक्षमार्गप्रभावनः ॥२६॥

विरक्त हो गुणवती आर्यिकाके समीप दीक्षा धारण कर ली ॥ १३ ॥ इस प्रकार वे सब, पाँच ज्ञान, तीन सम्यग्दर्शन, चारित्र एवं तपकी शुद्धिके लिए प्रवृत्त हो चारित्रपालन करनेके लिए उद्यत हो गये ॥ १४ ॥ चारित्रके सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात ये पाँच भेद हैं। सब पदार्थोंमें समताभाव रखना तथा सब प्रकारके सावद्ययोगका पूर्ण त्याग करना सामायिक चारित्र है ॥ १५ ॥ अपने प्रमादके द्वारा किये हुए अनर्थका सम्बन्ध दूर करनेके लिए जो समीचीन प्रतिक्रिया होती है वह छेदोपस्थापना चारित्र है ॥ १६ ॥ जिसमें जीव हिंसाके परिहारसे विशिष्ट शुद्धि होती है वह परिहारविशुद्धि नामका चारित्र कहलाता है ॥ १७ ॥ संपराय कषायको कहते हैं, ये कषाय जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म रह जाती हैं वह पापको दूर करनेवाला सूक्ष्म साम्पराय नामका चारित्र है ॥१८॥ जहाँ समस्त मोहकर्मका उपशम अथवा क्षय हो चुकता है उसे यथाख्यात अथवा अथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र मोक्षका साक्षात् साधन है ॥ १९ ॥ तपके बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो भेद हैं। इनमें बाह्य तप अनशन आदिके भेदसे छह प्रकारका है और आभ्यन्तर तप भी प्रायश्चित्त आदिके भेदसे छह प्रकारका माना गया है ॥ २० ॥

संयमको आदि लेकर समीचीन ध्यानकी सिद्धि रूप प्रत्यक्ष फलकी प्राप्तिके लिए तथा रागको दूर करनेके लिए आहारका त्याग करना अनशन तप है। यह वेला, तेला आदिके भेदसे नाना प्रकारका स्मरण किया गया है ॥ २१ ॥ वात, पित्त आदि दोनोंका उपशम, संतोष, स्वाध्याय और ध्यानकी सिद्धिके लिए तथा संयमकी प्राप्तिके लिए भूखसे कम भोजन करना अवमौदर्य तप है। यह जागरणका कारण है—इस तपके प्रभावसे निद्राकी अधिकता दूर हो जाती है ॥ २२ ॥ भोजनविषयक तृष्णाको दूर करनेके लिए भिक्षाके अभिलाषी मुनि जो घर तथा अन्न आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले नाना प्रकारके नियम लेते हैं वह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है ॥ २३ ॥ निद्रा और इन्द्रियोंको जीतनेके लिए जो घी, दूध आदि गरिष्ठ रसोंको त्याग किया जाता है वह रसपरित्याग नामका तप है ॥ २४ ॥ व्रतकी शुद्धिके लिए पशु तथा स्त्री आदिसे रहित एकान्त प्रासुक स्थानमें उठना, बैठना विविक्तशयनासन तप है ॥ २५ ॥ आतापन, वर्षा और शीत ये तीन योग धारण करना तथा प्रतिमायोगसे स्थित होना

---

१. चरणोदिताः ख० । २. तीव्रम म० । ३.-दिष्ट ग० ।

बाह्यद्रव्यव्यपेक्षत्वात्परप्रत्ययहेतुकः । बहिर्विषयत्वादस्य बाह्यत्वं तपसः प्रतिपादितम् ॥२७॥
मनोनियमनार्थत्वादाभ्यन्तरमभिष्टुतम् । प्रायश्चित्तं कृतावद्यशोधनं नवधाऽत्र तु ॥२८॥
चतुर्धा विनयः पूज्येष्वादरो दशधा पुनः । वैयावृत्त्यं [1]स्वकायेनान्यद्रव्यैरप्युपासनम् ॥२९॥
स्वाध्यायः पञ्चधा ज्ञानभावनालस्यवर्जनम् । स्वसंकल्पपरित्यागो व्युत्सर्गो द्विविधः पुनः ॥३०॥
चित्ताक्षेपपरित्यागो ध्यानं चापि चतुर्विधम् । आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं धर्म्यशुक्ले तु शोभने ॥३१॥
तत्रालोचनकं [2]कृत्स्नं [3]दशदोषविवर्जितम् । प्रमादकृतदोषाणां गुरवे [4]विनिवेदनम् ॥३२॥
मिथ्या मे दुष्कृताद्यैर्यत्स्वाभिव्यक्तप्रतिक्रियम् । दोषव्यपोहनं साधु तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥३३॥
आलोचनाद्यतः शुद्धिः प्रतिक्रमणतोऽपि च । तदुभयं तु तदुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं विशुद्धिकृत् ॥३४॥
स्याद्विवेको विभजनं यः [5]संसक्तान्नपानयोः । कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः संप्रकीर्तितः ॥३५॥
तपस्त्वनशनाद्येव प्रायश्चित्तमुदीरितम् । प्रव्रज्याहापनं छेदो दिनमासादिभिर्यतेः ॥३६॥

इन्हें आदि लेकर बुद्धिपूर्वक जो सुखका त्याग किया जाता है वह मोक्षमार्गकी प्रभावना करनेवाला कायक्लेश नामका तप है ॥ २६ ॥ यह अनशनादि छह प्रकारका तप बाह्यद्रव्यकी अपेक्षा रखता तथा पर-कारणोंसे होता है, इसलिए इसे बाह्यतप कहा जाता है ॥ २७ ॥

मनका नियमन करनेके लिए आभ्यन्तर तप कहा गया है; इसमें किये हुए दोषोंकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त तप है। यह प्रायश्चित्त आलोचना आदिके भेदसे नौ प्रकारका कहा गया है ॥ २८ ॥ पूज्य पदार्थोंमें आदर प्रकट करना विनय है। विनयके चार भेद हैं। अपने शरीरसे तथा अन्य द्रव्योंसे द्रव्योंकी सेवा करना वैयावृत्य है, इसके दश भेद हैं ॥ २९ ॥ ज्ञानकी भावनामें आलस्य छोड़ना स्वाध्याय है, इसके पाँच भेद हैं। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंमें 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग है, इसके दो भेद हैं ॥३०॥ और चित्तकी चञ्चलताका त्याग करना ध्यान है, यह चार प्रकारका होता है। इनमें आर्त और रौद्र ये दो ध्यान खोटे ध्यान हैं और धर्म्य तथा शुक्ल ये दो उत्तम ध्यान हैं ॥३१॥ आलोचनाके नौ भेद इस प्रकार हैं—१ आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिहार और ९ उपस्थापन। इनमें प्रमादसे किये हुए दोषोंका सम्पूर्ण रूपसे दश प्रकारके दोष छोड़कर गुरुके लिए निवेदन करना आलोचना नामका प्रायश्चित्त है ॥३२॥ 'मिथ्यामें दुष्कृतमस्तु' इत्यादि शब्दोंके द्वारा अपने-आप दोषोंको प्रकट कर उनका दूर करना प्रतिक्रमण नामक प्रायश्चित्त माना गया है ॥३३॥ आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनोंसे जो शुद्धि होती है वह विशुद्धिको करनेवाला तदुभय नामका प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ३४ ॥ संसक्त अन्न-पानका विभाग करना विवेक कहलाता है। भावार्थ—कुछ समयके लिए अपराधी मुनिको इस प्रकारका दण्ड देना कि अन्य निर्दोष मुनियोंके साथ चर्याके लिए न जाओ अन्य मुनियोंके भोजनके बाद किसी अन्य चौकामें भोजन करो तथा अपने पीछी कमण्डलु जुदे रखो दूसरोंके पीछी कमण्डलु अपने उपयोगमें न लाओ। इस प्रकारके दण्डको विवेक नामक प्रायश्चित्त कहते हैं। कायोत्सर्ग आदिका करना व्युत्सर्ग कहलाता है ॥ ३५ ॥ उपवास आदि तप करना तप नामका प्रायश्चित्त कहा गया है। दिन,

---

१. स्वकामेन म० । २. समस्तं (ङ० टि०), कृच्छ्रं म०, क०, ख० । ३. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम् 'आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च । छण्णं सद्दाउलियं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी' ॥ इति दस दोसा—स० सि० । ४. विनिवेदितम् ग० । ५. संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः—स० सि० ।

पक्षमासादिभेदेन दूरतः परिवर्जनम् । परिहारः पुनर्दीक्षा स्यादुपस्थापना पुनः ॥३७॥
कालानतिक्रमाद्यो तु ज्ञानाचारेऽष्टधागमे[1] । यथोक्तग्रहणाद्यैः स ज्ञानविनयो मतः ॥३८॥
[2]अष्टधा दर्शनाचारे निःशङ्कादिषु संस्थिते । विनयो दर्शने ज्ञेयो गुणदोषविवेकिता ॥३९॥
त्रयोदशविधोदारचारित्राचारगोचरा । निरतीचारता चारुचारित्रविनयः परः ॥४०॥
याः प्रत्यक्षपरोक्षेषु प्रत्युत्थानादिकाः[3] क्रियाः । गुर्वादिषु यथायोग्यं विनयश्चौपचारिकः ॥४१॥

महीना आदिसे मुनिकी दीक्षा कम कर देना छेद नामका प्रायश्चित है। भावार्थ—मुनियोंमें नवीन दीक्षित मुनि पूर्वदीक्षित मुनिको नमस्कार करते हैं। यदि किसी पूर्वदीक्षित मुनिकी दीक्षा कम कर दी जाती है तो वह नवीन दीक्षित मुनिसे पीछेका दीक्षित हो जाता है; इस तरह उसे, जिससे वह पहले पूजता था उसे पूजना पड़ता है, नमस्कार करना पड़ता है, यह छेद नामका प्रायश्चित है ॥३६॥

पक्ष, महीना आदि निश्चित समय तक अपराधी मुनिको संघसे दूर कर देना परिहार नामका प्रायश्चित्त है और फिरसे नवीन दीक्षा देना उपस्थापना नामका प्रायश्चित्त है। जिसे उपस्थापना दण्ड दिया गया है उसे संघके सब मुनियोंको नमस्कार करना पड़ता है, क्योंकि वे अब इससे पूर्वदीक्षित हो जाते हैं और यह नवीन दीक्षित कहलाने लगता है ॥ ३७ ॥

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनयके भेदसे विनयतपके चार भेद हैं। इनमें कालानतिक्रमण आदि जो आठ प्रकारका ज्ञानाचार बताया है उसे आगमोक्त विधिसे ग्रहण करना वह ज्ञानविनय है। भावार्थ—१ शब्दाचार, २ अर्थाचार, ३ उभयाचार, ४ कालाचार, ५ विनयाचार, ६ उपधानाचार, ७ बहुमानाचार और ८ अनिह्नवाचार, ये ज्ञानाचारके आठ भेद हैं। शब्दका शुद्ध उच्चारण करना शब्दाचार है। शुद्ध अर्थका निश्चय करना अर्थाचार है। शब्द और अर्थ दोनोंका शुद्ध होना उभयाचार है। अकालमें स्वाध्याय न कर विहित समयमें ही स्वाध्याय करना कालाचार है। विनयपूर्वक स्वाध्याय करना—स्वाध्यायके समय शरीर तथा वस्त्र शुद्ध रखना एवं आसन वगैरहका ठीक रखना विनयाचार है। चित्तकी स्थिरतापूर्वक स्वाध्याय करना उपधानाचार है। शास्त्र तथा गुरु आदिका पूर्ण आदर रखना बहुमानाचार है और जिस गुरु अथवा जिस शास्त्रसे ज्ञान हुआ है उसका नाम नहीं छिपाना, उसके प्रति सदैव कृतज्ञ रहना अनिह्नवाचार है। इन आठ ज्ञानाचारोंका विधिपूर्वक पालन करना वह ज्ञानविनय है ॥ ३८ ॥ निःशङ्कित आदि आठ अंगोंके भेदसे दर्शनाचार आठ प्रकारका है, उसमें गुणदोषका विवेक रखना वह दर्शनविनय है ॥ ३९ ॥ पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिके भेदसे जो तेरह प्रकारका चारित्राचार है उसमें निरतिचार प्रवृत्ति करना चारित्रविनय है ॥ ४० ॥ प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें गुरु आदिके उठनेपर उठकर अगवानी करना, नमस्कार करना आदि जो यथायोग्य प्रवृत्ति की जाती है उसे औपचारिकविनय कहते हैं ॥ ४१ ॥

---

१. 'ग्रन्थव्यञ्जनतद्द्वयाविकलता कालोपधाप्रश्रयाः । स्वाचार्याद्यनपह्नवो बहुमतिश्चेत्यष्टधा व्याहृतम् ।' रत्नत्रयपूजा 'ग्रन्थार्थोभयपूर्णकाले विनयेन सोपधानं च । बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥ पु० सि० । २. शङ्कादृष्टिविमोहकाङ्क्षणविधिव्यावृत्तिसन्नद्धतां, वात्सल्यं विचिकित्सितादुपरतिं धर्मोपबृंहक्रियाम् । शक्त्या शासनदीपनं हितपथाद् भ्रष्टस्य संस्थापनं, वन्दे दर्शनगोचरं सुचरितं मूर्ध्ना नमन्नादरात् ॥ द० पू० । ३. प्रत्युत्थानादिका क्रिया क० ।

आचार्ये वाप्युपाध्याये तपःश्रेष्ठे तपस्विनि । शिक्षाशीले यतौ शैक्ष्ये ग्रस्ते ग्लाने रुजादिभिः ॥४२॥
गणे स्थविरसंतानलक्षणे च कुलेऽपि च । दीक्षकाचार्यशिष्यादिसंस्त्यायनिजलक्षणे ॥४३॥
गृहिश्रमणसंघाते संघे च गुणसंघके । चिरप्रव्रजिते साधौ मनोज्ञे लोकसम्मते ॥४४॥
व्याधिमिथ्यात्वसंपातपरीषहरिपूदये । वैय्यावृत्त्यं यथायोग्यं विचिकित्साव्यपोहनम् ॥४५॥
ग्रन्थार्थयोः प्रदानं हि वाचना प्रच्छनं पुनः । परानुयोगो निश्चित्यै निश्चितानुबलाय वा ॥४६॥
ज्ञानस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा परिवर्तनम् । [1]आम्नायो देशनान्येषामुपदेशोऽपि धर्मगः ॥४७॥
प्रशस्ताध्यवसायार्थं [2]प्रज्ञातिशयलब्धये । संवेगाय तपोवृद्ध्यै स्वाध्यायः पञ्चधा भवेत् ॥४८॥
क्रोधाद्यभ्यन्तरोपाधेः कायस्य सविचारता । बाह्योपाधेश्चलक्षस्य[3] त्यागोऽप्युत्सर्ग इष्यते ॥४९॥
निस्संगनिर्भयत्वाय जीविताशानिवृत्तये । स[4] बाह्याभ्यन्तरोपध्योर्व्युत्सर्गः संप्रजायते ॥५०॥
तपसा निर्जरा मुक्त्यै संवृतस्योपजायते । परिणामस्य भेदेन प्रतिस्थानं तु भिद्यते ॥५१॥

---

१ दीक्षा देनेवाले आचार्य, २ पठन-पाठनकी व्यवस्था रखनेवाले उपाध्याय, ३ महान् तप तपनेवाले तपस्वी, ४ शिक्षा ग्रहण करनेवाले शैक्ष्य, ५ रोग आदिसे ग्रस्त ग्लान, ६ वृद्ध मुनियोंके समुदाय रूप गण, ७ दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्यसमूहरूप कुल, ८ गृहस्थ क्षुल्लक, ऐलक तथा मुनियोंके समुदायरूप संघ, ९ चिरकालके दीक्षित गुणी मुनिरूप साधु और १० लोकप्रिय मनोज्ञ—इन दश प्रकारके मुनियोंको कदाचित् बीमारी आदिकी अवस्था प्राप्त हो, मोहके तीव्र उदयसे मिथ्यात्वकी ओर इनकी प्रवृत्ति होने लगे (अथवा मिथ्यादृष्टि जीवोंके द्वारा कोई उपद्रव-उपसर्ग खड़ा कर दिया जाये) अथवा परीषहरूपी शत्रुओंका उदय हो तो ग्लानि दूर कर उनकी यथायोग सेवा करना वह दश प्रकारका वैयावृत्त्य तप है ॥ ४२–४५ ॥

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं। निर्दोष ग्रन्थ तथा उसका अर्थ दूसरेके लिए प्रदान करना—पढ़कर सुनाना सो वाचना नामका स्वाध्याय है। अनिश्चित तत्त्वका निश्चय करनेके लिए अथवा निश्चित तत्त्वको सुदृढ़ करनेके लिए दूसरेसे पूछना वह पृच्छना नामका स्वाध्याय है। ज्ञानका मनसे अभ्यास—चिन्तन करना वह अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है। पाठको बार-बार पढ़ना आम्नाय है और दूसरोंको धर्मका उपदेश देना उपदेश नामका स्वाध्याय है। यह पाँच प्रकारका स्वाध्याय प्रशस्त अभिप्रायके लिए, प्रज्ञा—भेदविज्ञानके अतिशयकी प्राप्तिके लिए, संवेगके लिए और तपकी वृद्धिके लिए किया जाता है ॥ ४६–४८ ॥

आभ्यन्तरोपाधित्याग और बाह्योपाधित्यागकी अपेक्षा व्युत्सर्गके दो भेद हैं। क्रोधादि अन्तरङ्ग उपाधिका त्याग करना तथा शरीरके विषयमें भी 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकारका विचार रखना आभ्यन्तरोपाधित्याग है और आभूषणादि बाह्यउपाधिका त्याग करना बाह्योपाधित्याग है। यह दोनों प्रकारकी उपाधियोंका त्याग निष्परिग्रहता, निर्भयता और मैं 'अधिक दिन तक जीवित रहूँ' इस प्रकारकी आशाको दूर करनेके लिए धारण किया जाता है ॥ ४९–५० ॥

संवरके धारक जीवके तपसे जो निर्जरा होती है वह मोक्षका कारण है। यह निर्जरा

---

१. आम्नाये म० । २. प्रशस्ताध्यवसायार्थप्रतिज्ञातिशय- क०, ख०, ङ०, म० । स एषः पञ्चविधः स्वाध्यायः किमर्थः ? प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः परमसंवेगस्तपोवृद्धिरतिचारविशुद्धिरित्येवमाद्यर्थः—स० सि० । ३. आभरणस्य (ङ० टि०) । ४. स किमर्थः ? निःसङ्गत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थः—स० सि० ।

भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तो लब्धिभिर्युतः । अन्तःशुद्धिप्रवृद्धो स्याद्बहुकर्मविनिर्जरः ॥५२॥
ततः प्रथमसम्यक्त्वलाभकारणसन्निधौ । सम्यग्दृष्टिर्भवेत्स स्यादसंख्यगुणनिर्जरः ॥५३॥
ततः श्रावकतापन्नोऽसंख्येयगुणनिर्जरः । ततोऽपि विरतस्तस्मादनन्तानां वियोजकः ॥५४॥
ततो दर्शनमोहस्य क्षपकः क्षायिकोद्धकृत् । ततश्चारित्रमोहस्य सर्वोपशमको यतिः ॥५५॥
उपशान्तकषायोऽतोऽसंख्येयगुणनिर्जरः । ततश्चारित्रमोहस्य क्षपकः क्षपकाभिधः ॥५६॥
ततः क्षीणकषायाख्योऽसंख्येयगुणनिर्जरः । जिनेन्द्रः केवली तस्मादनन्तज्ञानदर्शनः ॥५७॥
[2]पुलाको बकुशश्चैव कुशीलो गुणशीलवान् । निर्ग्रन्थः स्नातकश्चेति निर्ग्रन्थाः पञ्चधा मताः ॥५८॥
पुलाका भावनाहीना ये गुणेषूत्तरेषु ते । न्यूनाः क्वचित्कदाचिच्च पुलाकाभा व्रतेष्वपि ॥५९॥
अखण्डितव्रताः कायभूषोपकरणानुगाः । [3]अविविक्तपरीवाराः शबला[4] बकुशाः स्मृताः ॥६०॥
परिपूर्णोभया उत्तरगुणविरोधिनः । प्रतिसेवनाकुशीला ये अविविक्तपरिग्रहाः ॥६१॥

परिणामोंमें भेद होनेसे प्रत्येक स्थानोंमें भेदको प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥ यहाँ निर्जराके कुछ स्थान बताये जाते हैं—सर्वप्रथम संज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकभव्य जीव जब करणादि लब्धियों-से युक्त हो, अन्तरङ्गकी शुद्धिको वृद्धिंगत करता है तब उसके बहुत कर्मोंकी निर्जरा होती है। उसके बाद जब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य कारणोंके मिलनेपर सम्यग्दृष्टि होता है तब उसके पूर्वस्थानकी अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥५२–५३॥ उससे असंख्यातगुणी निर्जरा श्रावकके होती है, उससे असंख्यातगुणी विरतके, विरतसे असंख्यातगुणी अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवालेके, उससे असंख्यातगुणी दर्शनमोहका क्षय कर क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करनेवालेके, उससे असंख्यातगुणी चारित्र-मोहका उपशम करनेवाले उपशमश्रेणीमें स्थित मुनिके, उससे असंख्यातगुणी उपशान्त-कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीके, उससे असंख्यातगुणी चारित्रमोहका क्षय करनेवाले क्षपकश्रेणीमें स्थित मुनिके, उससे असंख्यातगुणी क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्तीके और उससे असंख्यातगुणी अनन्तज्ञानदर्शनके धारक केवली जिनेन्द्रके होती है ॥५४–५७॥

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके भेदसे निर्ग्रन्थ मुनियोंके पाँच भेद हैं ॥५८॥ जो उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित हों तथा मूल व्रतमें भी जो कहीं कभी पूर्णताको प्राप्त न हों वे धान्यके छिलकेके समान पुलाक मुनि कहलाते हैं ॥५९॥ जो मूल व्रतोंका तो अखण्ड रूपसे पालन करते हैं परन्तु शरीर और उपकरणोंको साफ-सुथरा रखनेमें लीन रहते हों, जिनका परिवार नियत न हो—जो अनेक मुनियोंके परिवारसे युक्त हों और मलिन—सातिचार चारित्रके धारक हों उन्हें बकुश कहते हैं ॥६०॥ प्रतिसेवनाकुशील और कषाय-कुशीलकी अपेक्षा कुशील मुनियोंके दो भेद हैं। जो मूलगुण और उत्तरगुण दोनोंकी पूर्णतासे युक्त हैं, परन्तु कदाचित् उत्तरगुणोंकी विराधना कर बैठते हैं एवं संघ आदि परि-

---

१. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥ त० सू०, न०, अ० । सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणन्तकम्मंसे । दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगे य उवसंते ॥६६॥ खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा । तव्विवरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥ ६७ ॥ गो० जी० । २. 'पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ त० सू०, नवमाध्याय, ४६ सूत्र । ३. अनियतपरिवाराः (ङ० टि०) । ४. मलिनचारित्र-युक्ताः (ङ० टि०), सबलाः म०, क०, ख०, ङ० ।

शमितान्यकषाया ये सत्संज्वलनमात्रकाः । ते कषायकुशीलाः स्युः कुशीला द्विविधा यतः ॥६२॥
अव्यक्तोदयकर्माणो ये पयोदण्डराजिवत् । निर्ग्रन्थास्ते मुहूर्तोर्ध्वोद्भिन्नकेवलबोधकाः ॥६३॥
प्रक्षीणघातिकर्माणः स्नातकाः केवलीश्वराः । एते पञ्चापि निर्ग्रन्था नैगमादिनयाश्रयात् ॥६४॥
[1]संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैर्यथाक्रमम् । ते पुलाकादयः साध्याः साध्यसाधनभेदिनः ॥६५॥
प्रतिसेवनाकुशीलाः पुलाका बकुशा द्वयोः । प्राक्कषायकुशीलाः स्युरन्तवर्ज्ये चतुष्टये ॥६६॥
संयमे च यथाख्याते निर्ग्रन्थस्नातकाः स्थिताः । श्रुतादयोऽपि पञ्चानां प्रकथ्यन्ते यथाक्रमम् ॥६७॥
प्रतिसेवनाकुशीलाः पुलाका बकुशाः स्थिताः । दशपूर्वाण्यभिन्नानि बिभ्रत्युत्कर्षतः श्रुतम् ॥६८॥
ये कषायकुशीला ये निर्ग्रन्थाख्याश्च संयताः । ते चतुर्दशपूर्वाणि सर्वे बिभ्रति सर्वथा ॥६९॥
जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु तत् । निर्ग्रन्थान्तयतीनां स्यादष्टौ प्रवचनमातरः ॥७०॥
व्रतानां रात्र्यभुक्तेश्च बलादन्यतमं प्रति । सेवमानः पुलाकः स्यात्परेषामभियोगतः ॥७१॥
बकुशः सोपकरणो बहूपकरणप्रियः । शरीरबकुशः कायसंस्कारं प्रतिसेवते ॥७२॥
प्रतिसेवनाकुशील उत्तरेषु विराधनाम्[2] । गुणेषु सेवते कांश्चिदविराधितमूलकः ॥७३॥
स्युः कषायकुशीलास्तु रहितप्रतिसेवनाः । निर्ग्रन्थाः स्नातकाश्चापि ते सर्वे सर्वतीर्थजाः ॥७४॥
[3]भावलिङ्गं प्रतीत्यामी निर्ग्रन्थाः पञ्च लिङ्गिनः । प्रतीत्य द्रव्यलिङ्गं तु भजनीया मनीषिभिः ॥७५॥

ग्रहसे युक्त होते हैं वे प्रतिसेवनाकुशील हैं, जिनके अन्य कषाय शान्त हो गये हैं सिर्फ संज्वलनका उदय रह गया है वे कषायकुशील कहलाते हैं ।।६१–६२।। जिनके जलमें खींची गयी दण्डकी रेखाके समान कर्मोंका उदय अव्यक्त—अप्रकट रहता है तथा जिन्हें एक मुहूर्तके बाद केवलज्ञान उत्पन्न होनेवाला है वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ।।६३।। और जिनके घातियाकर्म नष्ट हो गये हैं, ऐसे केवली भगवान् स्नातक कहलाते हैं । ये पाँचों ही मुनि नैगमादि नयोंकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ माने जाते हैं ।।६४।। साध्यसाधनके भेदसे युक्त वे पुलाक आदि मुनि संयम आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा साध्य हैं ।।६५।। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि प्रारम्भके सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमोंमें, कषायकुशील यथाख्यातको छोड़ कर शेष चार संयमोंमें और निर्ग्रन्थ तथा स्नातक यथाख्यात संयममें स्थित हैं । अब पाँचों मुनियोंके श्रुत आदिका भी यथाक्रमसे कथन किया जाता है ।।६६–६७।। प्रतिसेवना कुशील, पुलाक और बकुश ये उत्कृष्ट रूपसे अभिन्न दशपूर्व श्रुतको धारण करते हैं ।।६८।। जो कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ नामक मुनि हैं वे सब चौदह पूर्वको धारण करते हैं ।।६९।। जघन्यकी अपेक्षा पुलाकमुनिके आचारवस्तुरूप श्रुत होता है और निर्ग्रन्थपर्यन्त समस्त मुनियोंके पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप अष्टप्रवचन मातृका प्रमाणश्रुत होता है ।।७०।। प्रतिसेवनाकी अपेक्षा पुलाक मुनि पाँच महाव्रत तथा रात्रिभोजन त्याग इनमें-से किसी एकका कभी दूसरोंका बलपूर्वक जबर्दस्तीसे सेवन करनेवाला होता है ।।७१।। बकुशके सोपकरणबकुश और शरीरबकुशकी अपेक्षा दो भेद होते हैं । इनमें सोपकरणबकुश अनेक उपकरणोंके प्रेमी होते हैं और शरीरबकुश शरीरसंस्कारकी अपेक्षा रखते हैं—शरीरकी शोभा बढ़ाना चाहते हैं ।।७२।। प्रतिसेवनाकुशील मूल गुणोंमें विराधना नहीं करते किन्तु उत्तर गुणोंमें कभी कोई विराधना कर बैठते हैं ।।७३।। कषायकुशील निर्ग्रन्थ और स्नातकप्रतिसेवनासे रहित होते हैं । तीर्थकी अपेक्षा पुलाक आदि पाँचों मुनि सभी तीर्थकरोंके तीर्थमें होते हैं ।।७४।। लिङ्गके भाव और द्रव्यकी अपेक्षा दो भेद होते हैं । भावलिङ्गकी अपेक्षा पुलाक आदि पाँचों मुनि

---

१. संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥ त०, सू०, नवमाध्याय ।
२. विराधनं म० । ३. भावलिङ्गं प्रतीत्य पञ्च निर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्याः । स०सि० ।

पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो बकुशप्रतिसेवन । कुशीलस्योभ [1]षड्लेश्याः कषाये चतुरुत्तराः ॥७६॥
स्यात्सूक्ष्मसाम्पराये च निर्ग्रन्थस्नातकेऽपि च । शुक्लैव केवला लेश्याऽयोगाः लेश्याविवर्जिताः ॥७७॥
पुलाकस्योपपादः स्यात्सहस्रारे परायुषः । प्रतिसेवनाकुशीलबकुशस्यारणेऽच्युते ॥७८॥
तथा सर्वार्थसिद्धौ तु निर्ग्रन्थान्त्यकुशीलयोः । द्विसागरोपमायुष्काः सौधर्मे ते जघन्यतः ॥७९॥
संयमस्थानभेदास्तु स्युः कषायनिमित्तकाः । असंख्येयसमानन्तगुणसंयमलब्धयः ॥८०॥
तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि सर्वदा । स्युः कषायकुशीलस्य पुलाकस्य च योगिनः ॥८१॥
गच्छतस्तावसंख्येयस्थानानि युगपत्ततः । व्युच्छिद्यते पुलाकोऽन्यस्त्वसंख्येयानि गच्छति ॥८२॥
बकुशेन कुशीलौ द्वौ स्थानानि युगपत्ततः । असंख्यानि च तौ यातौ बकुशस्त्वत्र हीयते ॥८३॥
असंख्येयानि गत्वातः स्थानानि प्रतिसेवना । कुशीलो हीयते तस्मात्तः कषायकुशीलकः ॥८४॥
स्थानान्यतोऽकषायाणि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोऽसंख्येयानि गत्वातो व्युच्छेदमुपगच्छति ॥८५॥
स्थानमेकमतस्तूर्ध्वं गत्वानन्तगुणर्धिकः । स्नातकः [2]कृतकर्मान्तो निर्वाणं प्रतिपद्यते ॥८६॥

निर्ग्रन्थ लिङ्गके धारक हैं और द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा विद्वानोंके द्वारा भजनीय हैं ॥७५॥ लेश्याकी अपेक्षा पुलाकमुनिके आगेकी तीन अर्थात् पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन, बकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके छहों, कषायकुशीलके आगेकी चार अर्थात् कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चार एवं सूक्ष्मसाम्पराय, निर्ग्रन्थ और स्नातकके एक शुक्ललेश्या ही होती है। अयोग-केवली स्नातक लेश्यासे रहित होते हैं ॥७६–७७॥ उपपादकी अपेक्षा पुलाकका उपपाद सहस्रार स्वर्गमें होता है और वह वहाँ उत्कृष्ट आयुका धारक होता है। प्रतिसेवनाकुशील और बकुशका उपपाद आरण और अच्युत स्वर्गमें होता है। निर्ग्रन्थ (ग्यारहवें गुणस्थान-वर्ती) और कषायकुशीलका उपपाद सर्वार्थसिद्धिमें होता है और जघन्यकी अपेक्षा पुलाक आदि पाँचों मुनियोंका उपपाद सौधर्मस्वर्गमें होता है और वहाँ वे दो सागरकी आयुके धारक होते हैं ॥७८–७९॥ प्रारम्भमें, संयममें जो स्थानभेद होते हैं वे कषायके निमित्तसे होते हैं तथा उनमें असंख्येय और अनन्तगुणी संयमकी प्राप्ति होती है ॥८०॥ इनमें सर्व-जघन्य लब्धिस्थान कषायकुशील और पुलाक मुनिके होते हैं। ये दोनों मुनि असंख्येय स्थानों तक साथ-साथ जाते हैं, उसके बाद पुलाकमुनि नीचे विच्छिन्न हो जाता है—नीचे रह जाता है और कषायकुशील असंख्येय स्थान तक आगे चला जाता है ॥८१–८२॥ तदनन्तर बकुश और दोनों प्रकारके कुशील साथ-साथ असंख्यात स्थानों तक जाते हैं, उसके बाद बकुश नीचे रह जाता है और दोनों कुशील आगे बढ़ जाते हैं। तदनन्तर असंख्येय स्थान तक साथ-साथ जाकर प्रतिसेवनाकुशील नीचे छूट जाता है और कषायकुशील असंख्येय स्थान आगे चला जाता है। इसके आगे कषायकुशील भी निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर कषायरहित संयमके स्थान प्रकट होते हैं और उन्हें निर्ग्रन्थ मुनि प्राप्त करता है। वह असंख्येय स्थानों तक जाकर पीछे छूट जाता है ॥८३–८५॥ इसके आगे संयमका एक स्थान रहता है जिसे अनन्तगुण रूप ऋद्धियोंको धारण करनेवाला स्नातक प्राप्त करता है और वह वहाँ कर्मोंका अन्त कर निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८६॥

---

१. कृष्णलेश्यादित्रितयं तयोः कथमिति चेदुच्यते—तयोरुपकरणासक्तिसंभवात् आर्तध्यानं कदाचित्संभवति, आर्तध्यानेन च कृष्णादि लेश्यात्रितयं संभवतीति । २. कृतकर्मांतो म० ।

[1]क्षेत्रकालादिभिः सिद्धाः साध्या द्वादशभिस्तु ते । अनुयोगैर्यथायोग्यं नयद्वयविवक्षया ॥८७॥
सिद्धिक्षेत्रे मता सिद्धिरात्माकाशप्रदेशयोः । प्रत्युत्पन्नप्रतिग्राहिनययोगाद्विशिनाम् ॥८८॥
कर्मभूमिषु सर्वासु जन्म प्रति च संहृतिम् । संसिद्धिर्मानुषे क्षेत्रे भूतग्राहिनयेक्षया ॥८९॥
एकस्मिन् समये कालात्प्रत्युत्पन्ननयेक्षया । भूतग्राहिनयेनातो जन्मतोऽस्त्यविशेषतः ॥९०॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिद्धयति जन्मवान् । विशेषेणावसर्पिण्यां तृतीयान्तचतुर्थयोः ॥९१॥
दुःषमायां तु संजातो दुःषमायां न सिद्धयति । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः संहारात्सर्वदा पुनः ॥९२॥
सिद्धिः सिद्धिगतौ ज्ञेया सुमनुष्यगतौ यथा । अवेदत्वेन लिङ्गेन भावतस्तु त्रिवेदतः ॥९३॥
न द्रव्याद्द्रव्यतः सिद्धिः पुल्लिङ्गेनैव निश्चिता । निर्ग्रन्थेन च लिङ्गेन सग्रन्थेनाथवा न वा ॥९४॥
तीर्थसिद्धिर्द्विधा तीर्थकारीतरविकल्पतः । सति तीर्थकरे सिद्धा असतीतीतरे द्विधा ॥९५॥
सिद्धिरव्यपदेशेन यथाख्येन वा पुनः । चतुर्भिः पञ्चभिर्वापि चारित्रैरुपजायते ॥९६॥

क्षेत्र, काल आदि बारह अनुयोगोंके द्वारा सिद्धोंमें भूतपूर्व प्रज्ञापन और प्रत्युत्पन्न-ग्राही नयकी अपेक्षा भेद सिद्ध करने योग्य हैं ॥ ८७ ॥ क्षेत्रअनुयोगसे जब विचार करते हैं तब प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा मुक्त जीवोंकी सिद्धि, सिद्धिक्षेत्रमें अथवा आत्मप्रदेशमें अथवा आकाशके प्रदेशोंमें होती है ॥ ८८ ॥ और भूतग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे पन्द्रह कर्मभूमियोंमें तथा संहरणसे मनुष्यलोक अर्थात् अढाई द्वीपमें होती है ॥८९॥ कालअनुयोग-से विचार करनेपर यह जीव प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समयमें सिद्ध होता है और भूत-ग्राही नयकी अपेक्षा जन्मसे सामान्यतया उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है और विशेष रूपसे अवसर्पिणीको तृतीय कालके अन्तमें तथा चतुर्थ कालमें सिद्ध होता है। चतुर्थ कालका उत्पन्न हुआ जीव दुःषमा नामक पञ्चम कालमें सिद्ध हो सकता है परन्तु दुःषमाका उत्पन्न हुआ दुःषमामें सिद्ध नहीं होता। संहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके सभी कालोंमें सिद्ध होता है। भावार्थ—जिस समय भरत और ऐरावतक्षेत्रमें प्रथम आदिकाल विद्यमान रहते हैं उस समय यदि कोई व्यन्तरादि देव किसी विदेहक्षेत्रके मुनिको संहरण कर भरत अथवा ऐरावतक्षेत्रमें छोड़ दे तो उनकी वहाँसे सिद्धि हो सकती है ॥९०–९२॥ गतिअनुयोगसे विचार करनेपर सिद्धिगतिमें अथवा मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है। लिङ्गअनुयोगसे विचार करनेपर प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा अवेदसे सिद्धि होती है और भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा भाववेदसे तीनों वेदोंमें सिद्धि होती है। द्रव्यवेदकी अपेक्षा तीनों वेदोंसे सिद्धि नहीं होती सिर्फ पुरुषवेदसे ही होती है। अथवा लिङ्गका अर्थ वेष भी हो सकता है इसलिए प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिङ्गसे ही सिद्धि होती है और भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा सग्रन्थ लिङ्गसे होती भी है और नहीं भी होती है ॥९३–९४॥ तीर्थअनुयोगसे विचार करनेपर सिद्धि दो प्रकारकी होती है, कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध होता है और कोई सामान्य केवली होकर सिद्ध होता है। अथवा कोई तीर्थंकरके विद्यमान रहते सिद्ध होता है और कोई तीर्थंकरके मोक्ष चले जानेपर उनके तीर्थमें सिद्ध होता है ॥९५॥ चारित्रअनुयोगकी अपेक्षा विचार करनेपर प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा एक यथाख्यात चारित्रसे ही सिद्धि होती है और भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा चार अथवा पाँच चारित्रोंसे होती है। भावार्थ—यथाख्यातके पहले सामायिक, छेदोपस्थापना और सूक्ष्म-

---

1. 'क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।' ॥ ९ ॥ त० सू०, दशमाध्याय ।

सिद्धिः प्रत्येकबुद्धानां स्वतो बोधिमुपेयुषाम् । तथा बोधितबुद्धानां परतो बोधिकामिनाम् ॥९७॥
[1]सिद्धिर्ज्ञानविशेषैः स्यादेकद्वित्रिचतुष्ककैः । अवगाहेन चोत्कृष्टजघन्यान्तर्भिदावता ॥९८॥
अवगाहनमुत्कृष्टमूनं पञ्चधनुःशती । [2]पञ्चविंशा च देशोनारत्नयोऽर्धचतुर्थकाः ॥९९॥
मध्येऽनेकविकल्पास्तु यथासंभवमीरिताः । तत्र सिद्ध्यति चैतस्मिन्नेकस्मिन्नवगाहने ॥१००॥
अन्तरः शून्यकालः स्यादन्तरं सिद्ध्यतां पुनः । जघन्येनैकसमयो मासानां षट्कमन्यथा ॥१०१॥
जघन्येनैक एवैकसमये सिद्ध्यति ध्रुवम् । तथोत्कर्षेणाष्टशतसंख्यास्ते संख्यया स्मृताः ॥१०२॥
क्षेत्रादिभेदभिन्नानां संख्याभेदः परस्परम् । यस्तदल्पबहुत्वं च सिद्धिक्षेत्रे न विद्यते ॥१०३॥
भूतपूर्वव्यपेक्षातश्चिन्त्यते तत्तु तद्यथा । जन्मतः संहृतेश्चेति क्षेत्रसिद्धा द्विधा मताः[3] ॥१०४॥
अल्पे संहारसिद्धास्ते जन्मसिद्धास्तु तत्त्वतः । स्युः संख्येयगुणाः सर्वे सार्वसर्वज्ञशासने ॥१०५॥
ऊर्ध्वलोकस्य सिद्धा ये स्तोकास्तेऽधो जगद्गताः । स्युः संख्येयगुणास्तिर्यग्लोकसिद्धास्तथा ततः ॥१०६॥

साम्परायचारित्र अनिवार्य रूपसे सभीके होते हैं और परिहारविशुद्धि किन्हीं-किन्हींके होता है इसलिए जिनके परिहारविशुद्धि नहीं होगा उनके चार चारित्रोंसे और जिनके परिहारविशुद्धि होगा उनके पाँच चारित्रोंसे सिद्धि होती है, यह भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा है। प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा चौदहवें गुणस्थानमें एक परमयथाख्यात चारित्र ही होता है इसलिए एक चारित्रसे ही सिद्धि प्राप्त होनेका कथन है ॥ ९६ ॥ प्रत्येक बुद्ध और बोधितबुद्ध-अनुयोगसे विचार करनेपर प्रत्येक बुद्ध जो कि अपने-आप रत्नत्रयको प्राप्त होते हैं और बोधित बुद्ध जो कि दूसरोंके उपदेशसे रत्नत्रय प्राप्त करते हैं—दोनोंको सिद्धि प्राप्त होती है—दोनों ही मोक्ष जाते हैं ॥९७॥ ज्ञान अनुयोगसे विचार करनेपर प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा एक केवलज्ञानसे ही सिद्धि होती है और भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा दो, तीन और चार ज्ञानोंसे सिद्धि होती है। भावार्थ—किन्हीं जीवोंकी केवलज्ञानके पूर्व मति और श्रुतमें दो ज्ञान होते हैं। किन्हींको मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, मनःपर्यय ये तीन ज्ञान होते हैं। और किन्हींको मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान होते हैं। अवगाहना अनुयोगसे विचार करनेपर अवगाहनाके उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यमके भेदसे तीन भेद होते हैं। इनमें मुक्त जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ कम पाँच-सौ पचीस धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम साढ़े तीन हाथ है। मध्यम अवगाहनाके यथासम्भव अनेक विकल्प कहे गये हैं। इन अवगाहनाओंमें-से जीव किसी एक अवगाहनासे सिद्ध होता है ॥९८–१००॥ अन्तर अनुयोगकी अपेक्षा विचार करनेपर अन्तरका अर्थ शून्यकाल—विरहकाल होता है सो सिद्ध होनेवाले जीवोंमें जघन्य अन्तर एक समयका और उत्कृष्ट अन्तर छह माहका होता है ॥१०१॥ संख्या अनुयोगकी अपेक्षा विचार करनेपर जघन्यरूपसे एक समयमें एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टतासे एक सौ आठ जीव तक सिद्ध होते हैं ॥१०२॥ अल्पबहुत्व अनुयोगकी अपेक्षा विचार करनेपर क्षेत्रादि भेदोंसे भिन्न जीवोंमें जो परस्पर संख्याका भेद है वह अल्पबहुत्व कहलाता है। यह अल्पबहुत्व प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा सिद्धिक्षेत्रमें नहीं है किन्तु भूतार्थग्राही नयकी अपेक्षा उसका कुछ विचार किया जाता है। क्षेत्रसिद्ध जीव जन्म और संहरणकी अपेक्षा दो प्रकारके माने गये हैं। इनमें संहरणसिद्ध थोड़े हैं और जन्मसिद्ध, सर्वहितकारी सर्वज्ञ जिनेन्द्रके शासनमें संहरण सिद्धोंकी अपेक्षा संख्यातगुणे बतलाये गये हैं ॥ १०३–१०५ ॥ ऊर्ध्वलोकसे सिद्ध होनेवाले थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुणे अधोलोकसे सिद्ध होनेवाले हैं और उनसे संख्यातगुणे तिर्यग्लोकसे

---

१. सिद्धिर्ज्ञानविशेषैरेकद्वित्रिचतुष्ककैः म० । २. पञ्चविंशा म०, पञ्चविंशाव ख० । ३. मता म० ।

स्तोकाः समुद्रसिद्धास्तु स्युः संख्येयगुणाः पुनः । द्वीपसिद्धा इतीहेत्थमविशेषेण[1] भाषिताः ॥१०७॥
[2]लवणोदेऽत्र ये सिद्धाः सर्वस्तोकास्तु ते स्तुताः । कालोदसिद्धा बोद्धव्यास्तत्संख्येयगुणाः सदा ॥१०८॥
ये जम्बूद्वीपसिद्धास्ते स्युः संख्येयगुणास्तथा । धातकीखण्डसिद्धाश्च पुष्करद्वीपगास्तथा ॥१०९॥
यथा क्षेत्रविभागेन प्रोक्ताल्पबहुता तथा । सा कालादिविभागेन वेदितव्या यथागमम्[3] ॥११०॥
इति दृग्ज्ञानचारित्रतपसामत्युपासकाः । सोमदत्तादयोऽन्त्ये ते पञ्च भूत्वारणाच्युते ॥१११॥
देवाः सामानिका भोगं द्वाविंशत्यब्धिजीविनः । भुञ्जानास्तस्थुरत्यन्तशुद्धदर्शनदर्शनाः ॥११२॥
नागश्रीरपि भूत्वाप फलं धूमप्रभावनौ । अनुभूय महादुःखं सा सप्तदशसागरम् ॥११३॥
भूत्वा स्वयंप्रभद्वीपे दुष्टो दृष्टिविषोरगः । त्रिसागरोपमायुष्कां मृत्वागाद्वालुकाप्रभाम् ॥११४॥
तत्रानुभूय [4]दुःखौघांश्चिरादुद्धृत्य पापतः । [5]त्रसस्थावरकायेषु सानयत्सागरद्वयम् ॥११५॥
ततो मातङ्गकन्याभूच्चम्पायां साऽन्यदा मुनेः । समाधिगुप्ततः कृत्वा मधुमांसादिवर्जनम् ॥११६॥
जीवितान्ते सुबन्धोः स्याच्चम्पायामेव वैश्यतः । धनवत्यां सुता जाता नाम्ना च सुकुमारिका ॥११७॥
पापानुबन्धदोषेण सुदुर्गन्धशरीरिका । रूपवत्यपि विद्वेष्या जाता युवजनस्य सा ॥११८॥
वैश्यस्य धनदेवस्याशोकदत्तासमुद्भवौ । तनयौ जिनदेवश्च जिनदत्तश्च विश्रुतौ ॥११९॥
कन्यां तामपि दुर्गन्धां वृतां बन्धुभिरग्रजः । परित्यज्य प्रवव्राज सुव्रतः सुव्रतान्तिके ॥१२०॥

सिद्ध होनेवाले हैं ॥१०६॥ समुद्रसे सिद्ध होनेवाले थोड़े हैं, इनसे संख्यातगुणे द्वीपसे सिद्ध होनेवाले हैं, यह सामान्यकी अपेक्षा कथन है, विशेषकी अपेक्षा लवणसमुद्रमें जो सिद्ध होते हैं, वे सबसे थोड़े हैं, उनसे संख्यातगुणे कालोदधिसे सिद्ध होनेवाले हैं ॥१०७-१०८॥ जो जम्बूद्वीपसे सिद्ध होते हैं वे संख्येयगुणे हैं, उनसे संख्यातगुणे धातकीखण्डसे होनेवाले सिद्ध हैं और उनसे संख्यातगुणे पुष्करद्वीपसे होनेवाले सिद्ध हैं ॥१०९॥ जिस प्रकार क्षेत्रविभागकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन किया है उसी प्रकार आगमके अनुसार काल आदि विभागकी अपेक्षा भी जानना चाहिए ॥११०॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी अत्यन्त उपासना करनेवाले सोमदत्त आदि पाँचों जीव अन्त समय मरकर आरण अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुए। वहाँ बाईससागरकी उनकी आयु थी। अत्यन्त शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले वे देव उत्तम भोग भोगते हुए वहाँ बाईस सागर तक स्थित रहे ॥१११-११२॥ विषमिश्रित भोजन देनेवाली नागश्री भी मरकर धूमप्रभानामक पाँचवें नरकके फलको प्राप्त हुई। वह सत्तरह सागर तक वहाँके महादुःख भोगकर निकली और स्वयंप्रभद्वीपमें दृष्टिविष नामका दुष्ट सर्प हुई। तदनन्तर मरकर तीन सागरकी आयुवाली वालुकाप्रभा नामक तीसरी पृथ्वीमें पहुँची ॥११३-११४॥ वहाँ पापके फलस्वरूप चिरकाल तक दुःखोंका समूह भोगकर निकली और त्रसस्थावर पर्यायमें दो सागर तक भटकती रही ॥११५॥ तदनन्तर चम्पापुरीमें एक चण्डालकी कन्या हुई। वहाँ उसने एक दिन समाधिगुप्त नामक मुनिराजके पास मधु-मांसादिका त्याग किया ॥११६॥ जिससे अन्त समय उसी चम्पापुरीमें सुबन्धु वैश्यकी धनवती स्त्रीसे सुकुमारिका नामकी पुत्री हुई ॥ ११७ ॥ पापके पूर्व संस्कारसे उसके शरीरसे तीव्र दुर्गन्ध आती थी इसलिए रूपवती होनेपर भी वह युवाजनोंके द्वेषका पात्र हुई ॥ ११८ ॥ उसी नगरीमें धनदेव वैश्यकी अशोकदत्ता नामक स्त्रीसे उत्पन्न जिनदेव और जिनदत्त नामक दो पुत्र रहते थे ॥ ११९ ॥ जिनदेवके कुटुम्बी जनोंने उस दुर्गन्धा कन्याके साथ उसका विवाह

१. —मध्यभेदेन म० । २. लवणोदे त्रयः म० । ३. एष सर्व उल्लेखः 'क्षेत्रकालगति—इत्यादिसूत्रस्य सर्वार्थसिद्धिटीकानुप्राणितो वर्तते । ४. दुःखौघं क० । ५. तत्र स्थावर—म० ।

कनीयान् जिनदत्तस्तां बन्धुवाक्योपरोधतः[1] । परिणीयापि तत्याज दुर्गन्धामतिदूरतः ॥१२१॥
आत्मानमपि निन्दन्ती सोपवासान्यदा च सा । क्षान्त्यार्यामार्यिकायुक्तां भोजयित्वातिभक्तितः ॥१२२॥
अभिवन्द्य तदापृच्छदार्यिके केन हेतुना । इमे परमरूपिण्यौ स्थिते तपसि दुष्करे ॥१२३॥
सेति पृष्टा जगौ हेतुमार्ययोस्तपसस्तयोः । प्रबोधनाय तस्याश्च करुणापरिनोदिता ॥१२४॥
श्रूयतां सुकुमारि त्वं सुकुमारकुमारिके । हेतुर्या येन तापस्ये तपस्विन्यौ व्यवस्थिते ॥१२५॥
सौधर्माधिपतेर्देव्याविमे पूर्वत्र जन्मनि । विमला सुप्रभा चेति सुप्रसिद्धे बभूवतुः ॥१२६॥
ते नन्दीश्वरयात्रायां जिनपूजार्थमागते । कथञ्चिज्जातसंवेगे चिन्तान्तरमिति श्रिते ॥१२७॥
मनुष्यभवसंप्राप्तौ करिष्यावो महत्तपः । आवां स्त्रीत्वनिमित्तं तु येन दुःखं न दृश्यते ॥१२८॥
इति संगीर्य ते देव्यौ दिवः प्रच्युत्य भूपतेः । श्रीषेणस्येह साकेते श्रीकान्तायां सुयोषिति ॥१२९॥
हरिषेणा सुता ज्येष्ठा श्रीषेणा च कनीयसी । जाते जाते च कान्ते ते यौवनश्रीविभूषिते ॥१३०॥
स्वयंवरविधौ स्मृत्वा पूर्वं जन्म च संगरम् । बन्धुलोकं परित्यज्य कुमार्यौ तपसि स्थिते ॥१३१॥
इति श्रुत्वार्यिकावाक्यं निर्विण्णा सुकुमारिका । तदन्ते सा प्रवव्राज संसारभयवेदिनी ॥१३२॥
तपस्विनीभिरन्याभिस्तपस्यन्ती तपस्विनी । कालं नीतवती नीत्या तपसा शोषिताङ्गिका ॥१३३॥

करना चाहा पर उसे वह स्वीकृत नहीं था इसलिए वह उस कन्याको छोड़ सुव्रत मुनिके समीप दीक्षित हो गया ॥ १२० ॥ बन्धुजनोंके उपरोधसे छोटे भाई जिनदत्तने यद्यपि उसके साथ विवाह कर लिया परन्तु दुर्गन्धके कारण उसे दूरसे ही छोड़ दिया ॥ १२१ ॥ इस घटनासे सुकुमारिकाने अपनी बहुत निन्दा की। एक दिन उसने उपवास किया तथा अनेक आर्यिकाओं-से युक्त क्षान्ता नामकी आर्यिकाको बड़ी भक्तिसे भोजन कराया ॥ १२२ ॥ क्षान्ता आर्यिकाके साथ दो आर्यिकाएँ परम रूपवती तथा कठिन तपन तपनेवाली थीं उन्हें देख उसने क्षान्ता आर्याको नमस्कार कर उनसे पूछा कि हे आर्ये ! ये दो रूपवती आर्यिकाएँ कठिन तपमें किस कारण स्थित हैं ? ॥ १२३ ॥ इस प्रकार पूछे जानेपर दयासे प्रेरित क्षान्ता आर्याने सुकुमा-रिकाको सम्बोधन करनेके लिए उन दो आर्यिकाओंके तपका कारण कहा ॥१२४॥ उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—कि हे सुकुमारि ! सुन, ये सुकुमार कुमारिकाएँ जिस कारण तपस्विनी बनकर तप करनेमें लगी हुई हैं ॥ १२५ ॥

ये दोनों पूर्व भवमें सौधर्म स्वर्गके इन्द्रकी विमला और सुप्रभा नामकी देवियाँ थीं ॥ १२६ ॥ एक दिन ये नन्दीश्वर पर्वकी यात्रामें जिनपूजाके लिए आयी थीं कि किसी कारण संसारसे विरक्त हो चित्तमें इस प्रकारका विचार करने लगीं कि यदि हम मनुष्यभवको प्राप्त हों तो महातप करेंगी। ऐसा महातप कि जिससे फिर यह स्त्री-पर्यायसम्बन्धी दुख दिखायी नहीं देगा ॥ १२७-१२८ ॥ इस प्रकार प्रतिज्ञा कर वे देवियाँ स्वर्गसे च्युत हुईं और यहाँ अयोध्या नगरीके राजा श्रीषेणकी श्रीकान्ता नामक स्त्रीसे हरिषेणा नामकी बड़ी और श्रीषेणा नामकी छोटी पुत्री हुईं। समय पाकर ये दोनों ही रूपवती और यौवनरूपी लक्ष्मीसे सुशो-भित हो गयीं ॥ १२९-१३०॥ इन दोनों कुमारियोंका स्वयंवर हो रहा था कि उसी समय इन्हें अपने पूर्व जन्म तथा की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया जिससे ये बन्धुजनोंको छोड़ तत्काल तप करने लगीं ॥ १३१ ॥

क्षान्ता आर्यिकाके उक्त वचन सुन सुकुमारिका भी विरक्त हो गयी और संसारसे भयभीत हो उन्हींके समीप दीक्षित हो गयी ॥१३२॥ अन्य तपस्विनियोंके साथ तप करती हुई

१.-रोधनः म० ।

वसन्तसेनां गणिकां कामुकैः परिवेष्टिताम् । दृष्ट्वा वनविहारेऽसावेकदा क्रीडनोद्यताम् ॥१३४॥
निदानमकरोत्क्लिष्टा दुर्यशःप्राप्तिकारणम् । सौभाग्यमीदृशं [1]मेऽन्यजन्मन्यस्त्विति सादरा ॥१३५॥
स्वभर्तुः सोमभूतेस्तु मृत्वाभूदारणाच्युते । देवी सा पञ्चपञ्चाशत्पल्यतुल्यनिजस्थितिः ॥१३६॥
च्युत्वा ते पाण्डुराजस्य सोमदत्तादयस्त्रयः । कुन्त्यां युधिष्ठिरो भीमः पार्थश्चेत्यभवन्[2] सुताः ॥१३७॥
धनश्रीपूर्वको देवो मित्रश्रीपूर्वकस्तथा । नकुलः सहदेवश्च माद्र्यां जातौ शरीरजौ ॥१३८॥
सा कुमारी दिवश्च्युत्वा द्रुपदस्य शरीरजा । जाता दृढरथाख्यायां स्त्रियां द्रौपद्यभिख्यया ॥१३९॥
द्रौपद्यर्जुनयोर्योगः पूर्वस्नेहेन साम्प्रतम् । सुव्यक्तं साम्प्रतं जातो राधावेधपुरस्सरः ॥१४०॥
ज्येष्ठानां भविता सिद्धिस्त्रयाणामिह जन्मनि । सर्वार्थसिद्धिर्हि तयोरन्त्यपाण्डवयोरिह ॥१४१॥
सम्यग्दर्शनशुद्धाया द्रौपद्यास्तपसः [3]फलात् । आरणाच्युतदेवत्वपूर्विका सिद्धिरिष्यते ॥१४२॥
इत्थं ते पाण्डवाः श्रुत्वा धर्मं पूर्वभवांस्तथा । संवेगिनो जिनस्यान्ते संयमं प्रतिपेदिरे ॥१४३॥
कुन्ती च द्रौपदी देवी सुभद्राद्याश्च योषितः । राजीमत्याः समीपे ताः समस्तास्तपसि स्थिताः ॥१४४॥
ज्ञानदर्शनचारित्रैर्व्रतैः समितिगुप्तिभिः । आत्मानं भावयन्तस्ते पाण्डवाद्यास्तपोऽचरन् ॥१४५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

[4]कुन्ताग्रेण वितीर्णभैक्ष्यनियमः क्षुत्क्षामगात्रैः[5] क्षमः
षण्मासैरथ भीमसेनमुनिपो[6] निष्ठाप्य स्वान्तक्लमम्[7] ।

वह समय व्यतीत करने लगी। नीतिपूर्वक—आगमानुकूल तप करनेसे उसका शरीर सूख गया ॥ १३३ ॥

एक दिन उसी गाँवकी गणिका वसन्तसेना कामीजनोंसे वेष्टित हो वन-विहारके लिए आयी। क्रीड़ा करनेमें उद्यत उस गणिकाको देखकर आर्यिका सुकुमारिकाने क्लिष्ट परिणामोंसे युक्त हो बड़े आदरसे अपयशकी प्राप्तिमें कारणभूत यह निदान किया कि अन्य जन्ममें मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो ॥ १३४-१३५ ॥ आयुके अन्तमें मरकर वह आरणाच्युत युगलमें अपने पूर्व भवके पति सोमभूति देवकी पचपन पल्यकी आयुवाली देवी हुई ॥ १३६ ॥ सोमदत्त आदि तीनों भाइयोंके जीव स्वर्गसे च्युत हो पाण्डु राजाकी कुन्ती नामक स्त्रीमें युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र हुए ॥ १३७ ॥ और धनश्री तथा मित्रश्रीके जीव देव भी उन्हीं पाण्डु राजाकी माद्री नामक दूसरी स्त्रीसे नकुल और सहदेव नामक पुत्र हुए ॥ १३८ ॥ सुकुमारिकाका जीव भी स्वर्गसे च्युत हो राजा द्रुपदकी दृढरथा नामक स्त्रीसे द्रौपदी नामकी पुत्री हुई ॥१३९॥ पूर्व भवके स्नेहके कारण इस भवमें भी राधावेध पूर्वक द्रौपदी और अर्जुनका संयोग हुआ है ॥ १४० ॥ तीन ज्येष्ठ पाण्डव—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इसी जन्ममें मोक्षको प्राप्त होंगे और अन्तिम दो पाण्डव—नकुल और सहदेवको सर्वार्थसिद्धि प्राप्त होगी ॥ १४१ ॥ सम्यग्दर्शनसे शुद्ध द्रौपदी तपके फलस्वरूप आरणाच्युत युगलमें देव होगी और उसके बाद मनुष्यपर्याय रख मोक्ष जायेगी ॥ १४२ ॥

इस प्रकार वे पाण्डवधर्म तथा पूर्व भव श्रवण कर संसारसे विरक्त हो श्री नेमि जिनेन्द्रके समीप संयमको प्राप्त हो गये ॥ १४३ ॥ कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियाँ थीं वे सब राजीमती आर्यिकाके समीप तपमें लीन हो गयीं ॥ १४४ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, महाव्रत, समिति तथा गुप्तियोंसे अपनी आत्माके स्वरूपका चिन्तवन करते हुए वे पाण्डव आदि तप करने लगे ॥१४५॥ उन सब मुनियोंमें भीमसेन मुनि बहुत ही शक्तिशाली

---

१. मेऽन्ये जन्मन्यस्त्विति म० । २. –त्यभवत्सुताः म० । ३. क्रमात् म० । ४. कुन्तमग्रेण म०, ख० । ५. क्षुत्क्षामगात्रक्षमः क० । ६. मुनिपो इति पाठः प्रतिभाति । मुनिभिर्निष्ठाप्य क०, ख०, ङ०, म० । ७. स्वान्तकर्म म०, ङ०, सान्तकर्मं क० ।

षष्ठाद्यैरुपवासभेदविविधैर्भिक्षाभिमुख्यैः स्थितै-
ज्येष्ठार्यैर्विजहार योगिभिरिलां जैनागमाम्भोधिभिः ॥१४६॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ युधिष्ठिरादिपञ्चपाण्डवप्रव्रज्यावर्णनो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ॥६४॥

थे। उन्होंने भालेके अग्रभागसे दिये हुए आहारको ग्रहण करनेका नियम लिया था, क्षुधासे उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था और छह महीनेमें उन्होंने इस वृत्ति परिसंख्यात तप-को पूरा कर हृदयका श्रम दूर किया था। युधिष्ठिर आदि मुनियोंने भी बड़ी श्रद्धाके साथ वेला तेला आदि उपवास किये थे। इस प्रकार मुनिराज भीमसेनने जैनागमके सागर युधिष्ठिर आदि मुनियोंके साथ पृथिवीपर विहार किया ॥ १४६ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डवोंकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥६४॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

अथ सर्वामराकीर्णस्तीर्थकृत्कृतदेशनः । उत्तरापथतो देशं सुराष्ट्रमभितो ययौ ॥१॥
उत्तरायणमुत्क्रम्य दक्षिणायनमागते । जिनार्के तेजसो वृत्तिः प्राग्वत्सर्वत्रगाभवत् ॥२॥
आर्हन्त्यविभवोपेते महीं विहरतीश्वरे । दक्षिणा दक्षिणा देशा रेजिरे[1] स्वर्गविभ्रमाः ॥३॥
तत्रोर्जयन्तमन्तेऽसावन्तकल्याणभूतिभाक् । आरुरोह स्वभावेन नृसुरासुरसेवितः ॥४॥
पूर्ववत्समवस्थानभूमिस्तत्राभवत्प्रभोः । तिर्यग्मानवदेवौघैरनघैः समधिष्ठिता ॥५॥
धर्मं तत्र जिनोऽवोचद्रत्नत्रितयपावनम् । स्वर्गापवर्गसौख्यैकसाधनं साधुसम्मतम् ॥६॥
निषद्यायां यथाद्यायां पूर्वं सर्वहितो जिनः । अन्त्यायां च तथा धर्मं स सविस्तरमब्रवीत् ॥७॥
ऊर्ध्वज्वलनमुष्णत्वं यथाग्नेः शीतताप्यपाम् । जवनं मरुतस्तिर्यग्भास्वरत्वं च तेजसः ॥८॥
अमूर्तत्वं यथा व्योम्नः स्वभावाद्[2]धारणं क्षितेः । कृतार्थस्य जिनेन्द्रस्य तथा धर्मस्य देशनम् ॥९॥
अघातिकर्मणामन्तं ततो योगनिरोधकृत् । कृत्वानेकशतैः सिद्धिं जिनेन्द्रो मुनिभिर्ययौ ॥१०॥
परिनिर्वाणकल्याणपूजामन्त्यशरीरगाम् । चतुर्विधसुरा जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥११॥

अथानन्तर समस्त देवोंसे युक्त भगवान् नेमिनाथ उपदेश करते हुए उत्तरापथसे सुराष्ट्र देशकी ओर आये ॥१॥ जिनेन्द्ररूपी सूर्य यद्यपि उत्तरायणको उल्लंघन कर दक्षिणायनको प्राप्त हुए थे तथापि उनके तेजकी वृत्ति पहले ही-के समान सर्वत्र व्याप्त थी ॥ भावार्थ—जब सूर्य उत्तरायणसे दक्षिणायनकी ओर आता है तब उसका तेज कुछ कम हो जाता है परन्तु नेमिजिनेन्द्ररूपी सूर्यका तेज उत्तरायण—उत्तर दिशासे दक्षिणायन—दक्षिण दिशामें आनेपर भी कम नहीं हुआ था, पहले ही के समान सर्वत्र व्याप्त था ॥२॥ समवसरणकी विभूतिसे युक्त नेमिजिनेन्द्र जब दक्षिण दिशामें विहार करते थे तब वहाँके देश स्वर्गके समान सुशोभित हो रहे थे ॥३॥ तदनन्तर जब अन्तिम समय आया तब निर्वाणकल्याणककी विभूतिको प्राप्त होनेवाले नेमिजिनेन्द्र मनुष्य, सुर और असुरोंसे सेवित होते हुए अपने-आप गिरनार पर्वतपर आरूढ हो गये ॥४॥ वहाँ पहले ही के समान फिरसे कलुषतारहित तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंके समूहसे युक्त समवसरणकी रचना हो गयी ॥५॥ समवसरणके बीच विराजमान होकर जिनेन्द्र भगवान्ने स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिका एक साधन, रत्नत्रयसे पवित्र एवं साधुसंमत धर्मका उपदेश दिया ॥६॥ जिस प्रकार सर्वहितकारी जिनेन्द्र भगवान्ने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद पहली बैठकमें विस्तारके साथ धर्मका उपदेश दिया था उसी प्रकार अन्तिम बैठकमें भी उन्होंने विस्तारके साथ धर्मका उपदेश दिया ॥७॥ जिस प्रकार अग्निमें ऊर्ध्वज्वलन और उष्णता, पानीमें शीतलता, वायुमें वेग, सूर्य चन्द्र आदि तेजस्वी पदार्थोंमें सब ओरसे प्रकाशमानता, आकाशमें अमूर्तिकपना और पृथिवीमें किसी पदार्थको धारण करनेकी क्षमता स्वभावसे ही होती है, उसी प्रकार कृतकृत्य जिनेन्द्र भगवान्का धर्मोपदेश भी स्वभावसे होता था किसीकी प्रेरणासे नहीं ॥८-९॥ तदनन्तर योगनिरोध करनेवाले भगवान् नेमिजिनेन्द्र अघातिया कर्मोंका अन्त कर अनेक सौ मुनियोंके साथ निर्वाण धामको प्राप्त हो गये ॥१०॥ जिनके आगे-आगे इन्द्र चल रहे थे ऐसे चारों निकायके देवोंने, भगवान्के

---

१. भ्रेजिरे क०, भेजिरे म० । २. स्वभावाद्वारणं म० ।

गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् । जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा ॥१२॥
स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः । मुञ्चन्ति स्कन्धतामन्ते क्षणात्क्षणरुचामिव ॥१३॥
ऊर्जयन्तगिरौ वज्री वज्रेणालिख्य [1]पाविनीम् । लोके सिद्धिशिलां चक्रे जिनलक्षणपङ्क्तिभिः[2] ॥१४॥
वरदत्तादिसंघं च वन्दित्वा वासवादयः । देवा नृपतयश्चापि ययुः सर्वे यथायथम् ॥१५॥
दशार्हादयो मुनयः षट्सहोदरसंयुताः । सिद्धिं प्राप्तास्तथान्येऽपि शम्बप्रद्युम्नपूर्वकाः ॥१६॥
ऊर्जयन्तादिनिर्वाणस्थानानि भुवने ततः । तीर्थयात्रागतानेकभव्यसेव्यानि रेजिरे ॥१७॥
ज्ञात्वा भगवतः सिद्धिं पञ्च पाण्डवसाधवः । शत्रुञ्जयगिरौ धीराः प्रतिमायोगिनः स्थिताः ॥१८॥
दुर्योधनान्वयस्तत्र स्थितो [3]क्षुयवरोधनः । श्रुत्वागत्याकरोद्वैरादुपसर्गं सुदुस्सहम् ॥१९॥
तप्तायोमयमूर्तीनि मुकुटानि ज्वलन्त्यलम् । कटकैः कटिसूत्रादि तन्मूर्धादिष्वयोजयत् ॥२०॥
रौद्रं दाहोपसर्गं ते मेनिरे हिमशीतलम् । धीराः कर्मविपाकज्ञाः कर्मक्षयकृतौ क्षमाः ॥२१॥
शुक्लध्यानसमाविष्टा भीमार्जुनयुधिष्ठिराः । कृत्वाष्टविधकर्मान्तं मोक्षं जग्मुस्त्रयोऽक्षयम् ॥२२॥
नकुलः सहदेवश्च ज्येष्ठदाहं निरीक्ष्य तौ । [4]अनाकुलितचेतस्कौ जातौ सर्वार्थसिद्धिजौ ॥२३॥

अन्तिम शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली निर्वाणकल्याणककी पूजा की ॥११॥ दिव्य गन्ध तथा पुष्प आदिसे पूजित, तीर्थंकर आदि मोक्षगामी जीवोंके शरीर, क्षण-भरमें बिजलीकी नाईं आकाशको देदीप्यमान करते हुए विलीन हो गये ॥१२॥ क्योंकि यह स्वभाव है कि तीर्थङ्कर आदिके शरीरके परमाणु अन्तिम समय बिजलीके समान क्षण-भरमें स्कन्धपर्यायको छोड़ देते हैं ॥१३॥ गिरनार पर्वतपर इन्द्रने वज्रसे उकेरकर इस लोकमें पवित्र सिद्धशिलाका निर्माण किया तथा उसे जिनेन्द्र भगवान्के लक्षणोंके समूहसे युक्त किया ॥१४॥ तदनन्तर वरदत्त आदि मुनियोंके संघकी वन्दना कर इन्द्रादि देव और राजा लोग सब यथायोग्य अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥१५॥ समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकीके युगलिया छह पुत्र तथा शंब और प्रद्युम्नकुमार आदि अन्य मुनि भी गिरनार पर्वतसे मोक्षको प्राप्त हुए। इसलिए उस समयसे गिरनार आदि निर्वाण स्थान संसारमें विख्यात हुए और तीर्थयात्राके लिए आनेवाले अनेक भव्य जीवोंके द्वारा सेवित होते हुए सुशोभित होने लगे ॥१६-१७॥

धीर-वीर पाँचों पाण्डव मुनि, भगवान्को मोक्ष हुआ जान शत्रुञ्जय पर्वतपर प्रतिमायोगसे विराजमान हो गये ॥१८॥ उस समय वहाँ दुर्योधनके वंशका क्षुयवरोधन नामका कोई पुरुष रहता था। ज्यों ही उसने वहाँ पाण्डवोंका आना सुना त्यों ही आकर उसने वैर वश उनपर घोर उपसर्ग करना शुरू कर दिया ॥१९॥ उसने तपाये हुए लोहेके मुकुट, कड़े तथा कटिसूत्र आदि बनवाये और उन्हें अग्निमें अत्यन्त प्रज्वलित कर उनके मस्तक आदि स्थानोंमें पहिनाये ॥२०॥ पाण्डव मुनिराज अत्यन्त धीर-वीर थे, कर्मके उदयको जाननेवाले थे एवं कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ थे, इसलिए उन्होंने दाहके उस भयंकर उपसर्गको हिमके समान शीतल समझा था ॥२१॥ भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर ये तीन मुनिराज तो शुक्लध्यानसे युक्त हो आठों कर्मोंका क्षय कर मोक्ष गये परन्तु नकुल और सहदेव बड़े भाईकी दाहको देख कुछ-कुछ आकुलितचित्त हो गये इसलिए सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हुए ॥२२-२३॥

१. पावनीं ख०, पावनं म० । २. युक्तिभिः म०, घ० । ३. युधवरोधनः घ०,म० । ४. ईषदाकुलितं चेतो ययोस्तौ ईषदर्थे नञ्प्रयोगः ।

नारदोऽपि नरश्रेष्ठः प्रव्रज्य तपसो बलात् । कृत्वा भवक्षयं मोक्षमक्षयं समुपेयिवान्[1] ॥२४॥
अन्येऽपि बहवो भव्याः सुरत्नत्रयधारिणः । मोक्षं प्राप्ताः परे स्वर्गमासन्नभवसंक्षयाः[2] ॥२५॥
तुङ्गिकाशिखरारूढो बलदेवोऽपि दुष्करम् । तपो नानाविधं चक्रे भवचक्रक्षयोद्यतः ॥२६॥
एकद्वित्र्यादिषण्मासपर्यन्तोपोषितैरसौ । कषायवपुषां चक्रे शोषणं पोषणं धृतेः ॥२७॥
कान्तारभिक्षया प्राणधारणां कर्तुमुद्यतः । भ्रमन् कान्तारमध्येऽन्यैर्व्यलोकि शशिविभ्रमः ॥२८॥
पुरग्रामादिषु क्ष्मातां श्रुत्वा वार्तां तथाविधाम् । पर्यन्तवासिनो भूपाः प्राप्ताः क्षुभितमानसाः ॥२९॥
शङ्काविषसमापन्नान्नानाप्रहरणान्वितान् । सिद्धार्थस्तान् तथालोक्य ससृजे सिंहसन्ततिम् ॥३०॥
मुनिपादसमीपे तान् सिंहानालोक्य भूभृतः । ते ज्ञातमुनिसामर्थ्याः प्रणम्योपशमं ययुः ॥३१॥
ततः प्रभृत्यसौ लोके नरसिंह इति श्रुतिम् । सिंहोरस्को हली प्राप्तः सिंहानुचरसंयतः ॥३२॥
एकं वर्षशतं कृत्वा तपो हलधरो मुनिः । समाराध्य परिप्राप्तः ब्रह्मलोके सुरेशताम् ॥३३॥
तत्र पद्मोत्तरे नाम्नि विमाने रत्नभास्वरे । देवदेवीगणाकीर्णे प्रासादोद्यानमण्डिते ॥३४॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ नारद भी दीक्षा ले तपके बलसे संसारका क्षय कर अविनाशी मोक्षको प्राप्त हुए ॥२४॥ समीचीन रत्नत्रयको धारण करनेवाले अन्य अनेक भव्य जीव भी मोक्षको प्राप्त हुए तथा निकट कालमें जिनके संसारका क्षय होनेवाला था ऐसे कितने ही जीव स्वर्ग गये ॥२५॥

तुङ्गीगिरिकी शिखरपर स्थित बलदेवने भी संसार-चक्रका क्षय करनेमें उद्यत हो नाना प्रकारका तप किया ॥२६॥ वे एक दिन, दो दिन, तीन दिनको आदि लेकर छह माह तकके उपवासोंसे कषाय और शरीरका शोषण तथा धैर्यका पोषण करते थे ॥२७॥ वनमें मिलनेवाली भिक्षासे प्राण धारण करनेके लिए उद्यत बलदेव मुनिराज, वनमें विहार करने लगे और चन्द्रमाका भ्रम उत्पन्न करनेवाले उन मुनिराजको लोगोंने देखा ॥२८॥ 'बलदेव वनमें विहार कर रहे हैं' यह बात नगरों तथा गाँवोंमें फैल गयी उसे सुन समीपवर्ती राजा क्षुभितचित्त हो वहाँ आ पहुँचे ॥२९॥ शङ्कारूपी विषसे युक्त तथा नाना प्रकारके शस्त्रोंसे सुसज्जित उन राजाओंको जब देव सिद्धार्थने देखा तो उस वनमें उसने सिंहोंके समूह रच दिये ॥३०॥ जब उन आगत राजाओंने मुनिराजके चरणोंके समीप सिंहोंको देखा तब वे उनकी सामर्थ्य जान नमस्कार कर शान्त भावको प्राप्त हो गये ॥३१॥ उसी समयसे बलदेव मुनिराज लोकमें नर-सिंह इस प्रसिद्धिको प्राप्त हो गये। वे सिंहके समान चौड़े वक्षःस्थलसे सुशोभित थे तथा सिंहरूपी सेवकोंसे युक्त थे ॥३२॥ इस प्रकार एक-सौ वर्ष तक तप कर बलदेव मुनिराजने अन्तमें समाधि धारण की और उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोकमें इन्द्रके पदको प्राप्त हुए ॥३३॥ वहाँ देव-देवियोंके समूहसे युक्त, महल और उद्यानोंसे सुशोभित तथा रत्नोंके समान देदीप्यमान पद्म नामक विमानमें वे कोमल उपपाद शय्यापर उस प्रकार देव उत्पन्न हुए जिस प्रकार

---

१. नारदस्य मोक्षप्राप्तिरन्यदिगम्बरग्रन्थाद्विरुद्धा वर्तते, तेषु तस्य नरकगामित्वदर्शनात्। 'कलहप्पिया कदाइं धम्मरदा वासुदेवसमकाला। भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छंति'। त्रिलोकसार गाथा ८३५॥ 'एदावइ अइरुद्दा पावणिहाणा हवंति सव्वे वे। कलहमहा जुज्झपिया अधोगया वासुदेवव्व' ॥१४७० त्रि० प्र० अथवा अत्र नारदपदेन वसुदेवस्य सोमश्रीजीवमुत्पन्नः पुत्रो ग्राह्यः-नारदो मरुदेवोऽपि सोमश्रीतनयौ वरौ। सर्ग ४८, श्लोक ५७ हरिवंशपुराणे। २. आसन्नभवसंक्षयाः म०।

उपपादशय्यायामुदपादि सकोऽमरः । महामणिरिवोदाररत्नाकरमहाक्षितौ ॥३५॥
भाषामनःशरीराक्षप्राणाहारप्रसिद्धिभिः । षड्भिः पर्याप्तिभिः सद्यः पर्याप्तोऽभूत्सुरोत्तमः ॥३६॥
शयने सर्वतोभद्रे वस्त्राभरणभूषितः । विबुधः सुखनिद्रान्ते यथाऽस्थ नवयौवनः ॥३७॥
विलोकमानमालोक्य सर्वैरमरयोषिताम् । सुराणामनुरक्तानामप्यसावभिनन्दितः ॥३८॥
चन्द्रादित्याधिकोदारप्रभावलयदेहभृत् । इति दध्यौ धृतध्यानः प्रमदापूर्णमानसः ॥३९॥
कोऽयं रम्यतमो देशः कोऽयं प्रमुदितो जनः । कोऽहं कात्र भवोऽयं मे धर्मः को वार्जितो मया ॥४०॥
बोधितः सुरमुख्यैः स भवप्रत्ययावधिः । विवेद सहसा देवः पौर्वापर्यमशेषतः ॥४१॥
ज्ञातपूर्वभवाशेषबन्धुर्बन्धुहितोद्यतः । प्राप्ताभिषेककल्याणः स्वीकृतात्मपरिच्छदः ॥४२॥
अवधिज्ञातकृष्णश्च गत्वाऽसौ वालुकाप्रभाम् । दृष्ट्वाऽनुजं निजं देवो दुःखितं दुःखितोऽभवत् ॥४३॥
महाप्रभावसंपन्ने देवे तत्र तथास्थिते । शब्दगन्धरसस्पर्शाः शुभतामशुभा ययुः ॥४४॥
एह्येहि कृष्ण योऽहं ते भ्राता ज्येष्ठो हलायुधः । ब्रह्मलोकाधिपो भूत्वा त्वत्समीपमिहागतः ॥४५॥
इत्युक्त्वा तं समुद्धृत्य स्वर्लोकं नेतुमुद्यते । देवे तस्य व्यलीयन्त गात्राणि नवनीतवत् ॥४६॥
ततः कृष्णो जगौ देव भ्रातः किं व्यर्थचेष्टितैः । किन्न ज्ञातं यथा सर्वे जीवाः स्वकृतभोगिनः ॥४७॥
यद्येन यादृशं कर्म संसारे समुपार्जितम् । तत्तेन तादृशं भ्रातर्नियमादनुभूयते ॥४८॥

कि विशाल रत्नाकरकी महाभूमिमें महामणि उत्पन्न होता है ॥३५॥ वह उत्तम देव वहाँ शीघ्र ही आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियोंसे पूर्ण हो गया ॥३६॥ नवयौवनसे युक्त एवं वस्त्राभरणसे विभूषित वह देव, सर्वतोभद्र नामक शय्यापर ऐसा उठकर बैठ गया जैसा मानो सुखनिद्रा पूर्ण होनेपर ही उठा हो ॥३७॥ जब इस देवने चारों ओर देखा तब अनुरागसे युक्त देवाङ्गनाओं और देवोंके शब्दोंने इसका अभिनन्दन किया ॥३८॥ चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक उत्कृष्ट प्रभावलयसे युक्त शरीरको धारण करनेवाला वह देव, हर्षसे पूर्ण हृदय होता हुआ इस प्रकारका ध्यान करने लगा कि यह अत्यन्त सुन्दर देश कौन है ? ये हर्षसे भरे जन कौन हैं ? मैं कौन हूँ ? मेरा यहाँ कहाँ जन्म हुआ है ? और मैंने किस धर्मका संचय किया है ? ॥३९–४०॥

तदनन्तर मुख्य-मुख्य देवोंने उसे समझाया—सब वस्तुओंका परिचय दिया जिससे तथा भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे युक्त हो उसने शीघ्र ही आगे-पीछेका सब वृत्तान्त जान लिया ॥ ४१ ॥ तदनन्तर जिसने पूर्वभवके सब बन्धुओंको जान लिया था, जो भाईका हित करनेमें उद्यत था, जिसे अभिषेकरूप कल्याण प्राप्त हुआ था, जिसने वस्त्राभूषणादि सब सामग्री प्राप्त की थी, और अवधिज्ञानसे जिसने कृष्णका समाचार जान लिया था ऐसा वह देव बालुकाप्रभा पृथिवीमें गया और अपने छोटे भाई कृष्णको दुःखी देख स्वयं बहुत दुःखी हुआ ॥ ४२-४३ ॥ महाप्रभावसे सम्पन्न वह देव जब वहाँ जाकर खड़ा हो गया तब वहाँके अशुभ शब्द गन्ध रस और शब्द शुभरूपताको प्राप्त हो गये ॥ ४४ ॥ वह कहने लगा कि हे कृष्ण ! आओ आओ, जो मैं तुम्हारा बड़ा भाई बलदेव था वही ब्रह्मलोकका अधिपति होकर यहाँ तुम्हारे पास आया हूँ ॥ ४५ ॥ यह कहकर वह देव ज्यों-ही कृष्णके जीवको उठाकर स्वर्गलोकमें ले जानेके लिए उद्यत हुआ त्यों-ही उसका शरीर मक्खनके समान गलकर विलीन हो गया ॥ ४६ ॥

तदनन्तर कृष्णने कहा कि हे देव ! हे भाई ! व्यर्थकी चेष्टाओंसे क्या लाभ है ? क्या आप यह नहीं जानते कि सब जीव अपने कियेका फल भोगते हैं ॥ ४७ ॥ संसारमें जिसने जैसा कर्म उपार्जन किया है, हे भाई ! नियमसे उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है ॥ ४८ ॥

शक्नुयुः सुखमाहर्तुं हर्तुं वा दुःखमङ्गिनाम् । देवा यदि ततो घ्नन्ति मृत्युदुःखं निजं न किम् ॥४९॥
भ्रातर्याहि ततः स्वर्गं भुङ्क्ष्व पुण्यफलं निजम् । आयुषोऽन्तेऽहमप्येमि मोक्षहेतुं मनुष्यताम् ॥५०॥
आवां तत्र तपः कृत्वा जिनशासनसेवया । मोक्षसौख्यमवाप्स्यावः कृत्वा कर्मपरिक्षयम् ॥५१॥
[1]आवां पुत्रादिसंयुक्तौ महाविभवसंगतौ । भारते दर्शयान्येषां विस्मयव्याप्तचेतसाम् ॥५२॥
शङ्खचक्रगदापाणिमदीयप्रतिमागृहैः । भारतं व्यापय क्षेत्रं मत्कीर्तिपरिवृद्धये ॥५३॥
इत्यादि वचनं तस्य प्रतिपद्य सुरेश्वरः । सम्यक्त्वे शुद्धिमत्रयाप्य भारतं क्षेत्रमागतः ॥५४॥
भ्रातृस्नेहवशो देवो यथोद्दिष्टं स विष्णुना । चक्रे दिव्यविमानस्थौ[2]चक्रिकाङ्ककदर्शनम् ॥५५॥
वासुदेवगृहैश्चक्रे नगरादिनिवेशितैः । विष्णुमोहमयं लोकं स्नेहात्किं वा न चेष्टते ॥५६॥
ब्रह्मलोकं [3]समासाद्य कृतजैनमहामहः । विन्दन् सुरसुखं सोऽस्थात्सुरस्त्रीनिवहावृतः ॥५७॥

स्रग्धरा

उच्चैर्देशस्थितोऽपि प्रतिभयपतनं याति पातालमूलं
भुङ्क्ते नैवोपलब्धं विषयसुखरसं सारसंसारसारम् ।
स्नेहाधिक्यादधीतं स्मरति न तनुभृत्सेवते प्रत्यनीकं
धिक् धिक् स्वर्मोक्षसौख्यप्रतिघमतिघनस्नेहमोहं जनानाम् ॥५८॥

देव, यदि दूसरे प्राणियोंके लिए सुख देने और दुःख हरनेमें समर्थ हैं तो फिर अपना ही मृत्युरूपी दुःख क्यों नहीं नष्ट कर लेते हैं ॥ ४९ ॥ इसलिए भाई ! स्वर्गको जाओ और अपने पुण्यका फल भोगो। मैं भी आयुके अन्तमें मोक्षका कारण जो मनुष्यपर्याय है उसे प्राप्त करूँगा ॥ ५० ॥ हम दोनों उस मनुष्यपर्यायमें तप करेंगे और जिनशासनकी सेवासे कर्मोंका क्षय कर मोक्ष प्राप्त करेंगे ॥५१॥ हाँ, एक काम आप अवश्य करें कि 'भरत क्षेत्रमें हम दोनों-को लोग पुत्र आदिसे सहित तथा महावैभवसे युक्त देखें और हम लोगोंको देखकर दूसरोंके चित्त आश्चर्यसे व्याप्त हो जावें ॥ ५२ ॥ मेरी कीर्तिकी वृद्धिके लिए आप शङ्ख, चक्र तथा गदा हाथमें लिये मेरी प्रतिमाओंके मन्दिरोंसे समस्त भरत क्षेत्रको व्याप्त कर दें'। बलदेवका जीव देवेन्द्र कृष्णके पूर्वोक्त वचन स्वीकार कर तथा उसे सम्यग्दर्शनमें शुद्धता रखनेका उपदेश दे भरत क्षेत्र आया ॥ ५३-५४ ॥ भाईके स्नेहके वशीभूत हुए उस देवने कृष्णका कहा सब काम किया। उसने दिव्य विमानमें स्थित कृष्ण और बलदेवका सबको दर्शन कराया ॥ ५५ ॥ तथा नगर-ग्राम आदिमें बनवाये हुए कृष्णके मन्दिरोंसे संसारको कृष्णविषयक मोहसे तन्मय कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि स्नेहसे क्या-क्या चेष्टा नहीं होती है ? ॥ ५६ ॥ तदनन्तर देवने ब्रह्मस्वर्ग जाकर जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा की और वहाँ वह स्त्रियोंके समूहसे आवृत हो देवों-के सुखका उपभोग करता हुआ रहने लगा ॥ ५७ ॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि देखो स्नेहकी अधिकतासे यह जीव उच्च स्थानमें स्थित होता हुआ भी भयपूर्ण पातालके मूलमें जाता है, श्रेष्ठ संसारके सारभूत प्राप्त हुए विषयसुखका उपभोग नहीं करता है, पहले अध्ययन किये हुए शास्त्रका स्मरण नहीं रखता है और विपरीत काम करने लगता है इसलिए स्वर्ग और मोक्ष-

---

१. सम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थंकरनाम प्रकृतिः कृष्णस्य जीवः, एवं मिथ्यात्ववर्धनं कार्यं कारयतीति विचित्रोऽयमुल्लेखः प्रतिभाति । २. दिव्यविमानस्थं चक्रि म०, क०, ङ० । ३. समाक्रम्य क० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तीर्थे नेमिजिनस्य तत्र वहति व्यामोहविच्छेदने
संजाते वरदत्तनामनि मुनौ कैवल्यचक्षुष्मति ।
राजासौ हरिवंशसन्ततिधरो धीरो जरायाः सुतो
दध्रे राज्यधुरां धुरन्धरधराधीशश्रियं धारयन् ॥५९॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ भगवन्निर्वाणवर्णनो नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥६५॥

सुखके बाधक प्राणियोंके अत्यधिक स्नेहसम्बन्धी मोहको धिक्कार हो ॥५८॥ तदनन्तर मोहको नष्ट करनेवाले नेमिजिनेन्द्रके उस प्रचलित तीर्थमें वरदत्त नामक मुनिको केवलज्ञान हुआ और हरिवंशकी सन्ततिको धारण करनेवाला धीर वीर जरत्कुमार धुरन्धर राजलक्ष्मीकी रक्षा करता हुआ राज्यका भार सँभालने लगा ॥ ५९ ॥

इस प्रकार अरिष्टनेमि पुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्य रचित हरिवंशपुराणमें भगवान् नेमिनाथके निर्वाणका वर्णन करनेवाला पैंसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

वंशस्थवृत्तम्

प्रतापवश्याखिलराजके नृपे प्रशासति क्ष्मातलमुग्रशासने ।
जरत्कुमारे जनितादराः प्रजाः प्रकाममापुः प्रमदं धरातले ॥१॥
कलिङ्गराजस्य नृपस्य देहजा जरत्कुमारस्य वधूर्वधूत्तमा ।
सुखेन लेभे जगतः सुखावहं वसुध्वजं राजकुलध्वजं सुतम् ॥२॥
स तत्र यूनि व्यवसायिनि क्षितिं जरत्कुमारो हरिवंशशेखरे ।
निधाय यातस्तपसे वनं सतां कुलव्रतं तीव्रतपोनिषेवणम् ॥३॥
सुतोऽभवच्चन्द्र इव प्रजाप्रियो [1]वसुध्वजाख्यात्सुवसुर्वसूपमः ।
स भीमवर्मास्य कलिङ्गपालकस्तदन्वयेऽतीयुरनेकशो नृपाः ॥४॥
कपिष्टनामान्वयभूषणस्त्वभूदजातशत्रुस्तनयस्ततोऽभवत् ।
स शत्रुसेनोऽस्य जितारिरङ्गजस्तदङ्गजोऽयं जित[2]शत्रुरीश्वरः ॥५॥
भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थकनीयसीपतिम् ।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया प्रतापवन्तं जितशत्रुमण्डलम् ॥६॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुण्डपुरं सुहृत्परः ।
सुपूजितः कुण्डपुरस्य भूभृता नृपोऽयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमङ्गलम् ।
अनेककन्यापरिवारयाऽऽरुहत्समीक्षितुं तुङ्गमनोरथं तदा ॥८॥

तदनन्तर प्रतापके द्वारा समस्त राजाओंको वश करनेवाला, उग्रशासनका धारक राजा जरत्कुमार जब पृथिवीका शासन करने लगा तब उसके प्रति प्रजाने बहुत आदर किया और पृथिवीतलपर अधिक हर्ष प्राप्त किया ॥१॥ कलिङ्ग राजाकी पुत्री जरत्कुमारकी उत्तम पट्टरानी थी, उससे उसने जगत्‌को सुख देनेवाला एवं राजकुलकी ध्वजास्वरूप वसुध्वज नामका पुत्र प्राप्त किया ॥२॥ व्यवसायी तथा हरिवंशके शिरोमणि उस युवापर पृथिवीका भार रख जरत्कुमार तपके लिए वनको चला गया सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र तपका सेवन करना सत्पुरुषोंका कुलव्रत है ॥३॥ वसुध्वजके चन्द्रमाके समान प्रजाको आनन्द देनेवाला कुबेरतुल्य सुवसु नामका पुत्र हुआ। सुवसुके कलिङ्ग देशकी रक्षा करनेवाला भीमवर्मा नामका पुत्र हुआ और उसके वंशमें अनेक राजा हुए ॥४॥ तदनन्तर उसी वंशका आभूषण कपिष्ट नामका राजा हुआ, उसके अजातशत्रु, अजातशत्रुके शत्रुसेन, शत्रुसेनके जितारि और जितारिके यह जितशत्रु नामका पुत्र हुआ है ॥५॥ हे राजन् श्रेणिक! क्या तुम इस जितशत्रुको नहीं जानते? जिसके साथ भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी छोटी बहिनका विवाह हुआ है, जो अत्यन्त प्रतापी और शत्रुओंके समूहको जीतनेवाला है ॥६॥ जब भगवान् महावीरका जन्मोत्सव हो रहा था तब यह कुण्डपुर आया था और कुण्डपुरके राजा सिद्धार्थने इन्द्रके तुल्य पराक्रमको धारण करनेवाले इस परम मित्रका अच्छा सत्कार किया था ॥७॥ इसकी यशोदया रानीसे उत्पन्न यशोदा नामकी पवित्र पुत्री थी। अनेक कन्याओंसे सहित उस

---

१. वसुध्वजाख्यासुवसु- म०। २. यन्त्रितशत्रु- म०।

[1]स्थितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययम् ॥९॥
अमुष्य [2]जाताय तपोबलान्मुनेरवाप्तकैवल्यफला मनुष्यता।
मनुष्यभावो हि महाफलं भवे भवेद्यं प्राप्तफलस्तपःफलात् ॥१०॥
इतीरितेयं हरिवंशसत्कथा समासतः श्रेणिक लोकविश्रुता।
त्रिषष्टिसंख्यानपुराणपद्धतिप्रदेशसम्बन्धवती श्रियेऽस्तु ते ॥११॥
[3]सुगौतमात्पुण्यपुराणपद्धतिं सपार्थिवैः श्रेणिकपार्थिवस्तदा।
सुदृष्टिराकर्ण्य सकर्णतां गतो गतः पुरं [4]प्रीतमतिः कृतानतिः ॥१२॥
चतुर्णिकायामरखेचरादयो जिनं परीत्य प्रणिपत्य भक्तितः।
यथायथं जग्मुरजन्मकाङ्क्षिणः प्रसिद्धसद्धर्मकथानुरागिणः ॥१३॥
विहृत्य पूज्योऽपि महीं [5]महीयसां महामुनिर्मोचितकर्मबन्धनः।
इयाय मोक्षं जितशत्रुकेवली निरन्तसौख्यप्रतिबद्धमक्षयम् ॥१४॥
जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥१५॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः ॥१६॥

यशोदाका भगवान् महावीरके साथ विवाह-मङ्गल देखनेकी यह उत्कट अभिलाषा रखता था। परन्तु स्वयंभू भगवान् महावीर तपके लिए चले गये और केवलज्ञानरूपी विशाल नेत्र प्राप्त कर जगत्‌का कल्याण करनेके लिए पृथिवीपर विहार करने लगे, तब यह स्वयं भी पृथिवीको छोड़ तपमें लीन हो गया ॥८-९॥ आज मुनि जितशत्रुको तपके फलस्वरूप केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है और उससे उनका मनुष्यपर्याय सार्थक हुआ है सो ठीक ही है, क्योंकि संसारमें मनुष्यपर्याय महाफलरूप तभी होता है जब वह तपके फलस्वरूप इस केवलज्ञानरूपी फलको प्राप्त कर लेता है ॥ १० ॥ गौतम स्वामी कहते हैं कि हे श्रेणिक! मैंने यह लोकप्रसिद्ध तथा त्रेसठशलाका पुरुषोंके पुराणपद्धतिसे सम्बन्ध रखनेवाली हरिवंशकी कथा संक्षेपसे कही है सो तुझे लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए हो ॥११॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित राजा श्रेणिक अनेक राजाओंके साथ गौतमगणधरसे इस पवित्र पुराणका वर्णन सुन अपने कानोंको सफल मानने लगा तथा नमस्कारकर प्रसन्न होता हुआ अपने नगरको चला गया ॥१२॥ मोक्षकी इच्छा रखनेवाले एवं प्रसिद्ध समीचीन धर्मकथाके अनुरागी चारों निकायके देव और विद्याधर जिनेन्द्र भगवान्‌को प्रदक्षिणा देकर तथा प्रणाम कर अपने-अपने स्थानोंपर चले गये ॥१३॥ बड़े-बड़े पुरुषोंके द्वारा पूज्य महामुनि जितशत्रु केवली भी पृथिवीपर विहार कर अन्तमें कर्मबन्धनसे रहित हो अनन्त सुखसे युक्त अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त हुए ॥१४॥ भगवान् महावीर भी निरन्तर सब ओरके भव्यसमूहको संबोधकर पावानगरी पहुँचे और वहाँके 'मनोहरोद्यान' नामक वनमें विराजमान हो गये ॥१५॥ जब चतुर्थकालमें तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे तब स्वाति नक्षत्रमें कार्तिक अमावास्याके दिन प्रातःकालके समय स्वभावसे ही योग निरोध कर घातियाकर्मरूप ईन्धनके समान अघातियाकर्मोंको भी नष्ट कर बन्धनरहित हो संसारके प्राणियोंको

---

१. स्थितेऽथ म०। २. यताय क०, ख०, ङ०, म०। ३. सुगौतमायुष्यपुराण- म०। ४. स्फीतमतिः म०, महाप्रीतमतिः ख०। ५. महीयसीं क०।

अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीन्धनवद्विबन्धनः ।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम् ॥१७॥
स पञ्चकल्याणमहामहेश्वरः प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः ।
शरीरपूजाविधिना विधानतः सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः ॥१८॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१९॥
तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः[1] प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः ।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ॥२०॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते ।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥२१॥
त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन् ।
ततः परे पञ्च समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरं गताः ॥२२॥
त्र्यशीतिके वर्षशते तु [2]रूपयुक् दशैव गीता दशपूर्विणः शते ।
द्वये च विंशेऽङ्गभृतोऽपि पञ्च ते शते च साष्टादशके चतुर्मुनिः ॥२३॥
गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामकः परो[3] यशोबाहुरनन्तरस्ततः ।
महार्हलोहार्यगुरुश्च ये दधुः प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥२४॥

सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुखसे सहित निर्बन्ध—मोक्ष स्थानको प्राप्त हुए ॥१६—१७॥ गर्भादि पाँचों कल्याणकोंके महान् अधिपति, सिद्धशासन भगवान् महावीरके निर्वाण महोत्सवके समय चारों निकायके देवोंने विधिपूर्वक उनके शरीरकी पूजा की ॥१८॥ उस समय सुर और असुरोंके द्वारा जलायी हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकोंकी पंक्तिसे पावानगरीका आकाश सब ओरसे जगमगा उठा ॥१९॥ श्रेणिक आदि राजाओंने भी प्रजाके साथ मिलकर भगवान्के निर्वाण कल्याणककी पूजा की। तदनन्तर बड़ी उत्सुकताके साथ जिनेन्द्र भगवान्के रत्नत्रयकी याचना करते हुए इन्द्र देवोंके साथ-साथ यथास्थान चले गये ॥ २० ॥ उस समयसे लेकर भगवान्के निर्वाणकल्याणकी भक्तिसे युक्त संसारके प्राणी इस भरतक्षेत्रमें प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिकाके द्वारा भगवान् महावीरकी पूजा करनेके लिए उद्यत रहने लगे। भावार्थ—उन्हींकी स्मृतिमें दीपावलीका उत्सव मनाने लगे ॥२१॥

भगवान् महावीरके निर्वाणके बाद बासठ वर्षमें क्रमसे गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्षमें समस्त पूर्वोंको जाननेवाले पाँच* श्रुतकेवली हुए ॥२२॥ तदनन्तर एक सौ तेरासी वर्षमें † ग्यारह मुनि दश पूर्वके धारक हुए। उनके बाद दो सौ बीस वर्षमें पाँच‡ मुनि ग्यारह अङ्गके धारी हुए। तदनन्तर एक सौ अठारह वर्षमें सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्यगुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचाराङ्गके धारी हुए ॥२३—२४॥

---

१. पूर्वभूभृतः म० । २. एकाधिका दश एकादशेत्यर्थः । ३. जयभद्रनामा- म०, ख०, ङ०, म० ।

*. १ नन्दी, २ नन्दिमित्र, ३ अपराजित, ४ गोवर्धन और ५ भद्रबाहु । †. १ विशाख, २ प्रोष्ठिल, ३ क्षत्रिय, ४ जय, ५ नाग, ६ सिद्धार्थ, ७ धृतिषेण, ८ विजय, ९ बुद्धिल, १० गङ्गदेव और ११ सुधर्म । ‡. १ नक्षत्र, २ जयपाल, ३ पाण्डु, ४ ध्रुवसेन और ५. कंसार्य ।

महातपोभृद्विनयंधरः[1] श्रुतामृषिश्रुतिं गुप्तपदादिकां दधत् ।
मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्तसंज्ञको गुणैः स्वमर्हद्बलिरप्यधाद्धरन् ॥२५॥
स मन्दरार्योऽपि च मित्रवीरवि[2] गुरू तथान्यौ बलदेवमित्रकौ ।
विवर्धमानाय त्रिरत्नसंयुतः श्रियान्वितः सिंहबलश्च वीरवित् ॥२६॥
स पद्मसेनो गुणपद्मखण्डभृद् गुणाग्रणीर्व्याघ्रपदादिहस्तकः ।
स नागहस्ती जितदण्डनामभृत्सनन्दिषेणः प्रभुदीपसेनकः ॥२७॥
तपोधनः श्रीधरसेननामकः सुधर्मसेनोऽपि च सिंहसेनकः ।
सुनन्दिषेणेश्वरसेनकौ प्रभू सुनन्दिषेणाभयसेननामकौ ॥२८॥
स सिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिनशान्तिषेणकौ ।
अखण्डषट्खण्ड[3]मखण्डितस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः ॥२९॥
दधार कर्मप्रकृतिं श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः ।
प्रसिद्धवैय्याकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ॥३०॥
तदीयशिष्योऽमितसेनसद्गुरुः पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीर्गणी ।
जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधिजीविना ॥३१॥
सुशास्त्रदानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता ।
[4]यदग्रजो धर्मसहोदरः शमी समग्रधीधर्म इवात्तविग्रहः ॥३२॥
तपोमयीं कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन् बभौ कीर्तितकीर्तिषेणकः ।

उनके बाद महातपस्वी विनयंधर, गुप्तश्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक, बढ़ते हुए पुण्यसे सहित रत्नत्रयके धारक एवं ज्ञान-लक्ष्मीसे युक्त सिंहबल, वीरवित्, गुणरूपी कमलोंके समूहको धारण करनेवाले पद्मसेन, गुणोंसे श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन और शान्तिसेन आचार्य हुए। तदनन्तर जो अखण्ड मर्यादाके धारक होकर परिपूर्ण षट्खण्डों (१ जीवस्थान, २ क्षुद्रबन्ध, ३ बन्धस्वामी, ४ वेदनाखण्ड, ५ वर्गणाखण्ड और ६ महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्तको अर्थरूपसे धारण करते थे अर्थात् षट्खण्डागमके ज्ञाता थे, कर्मप्रकृतिरूप श्रुतिके धारक थे और इन्द्रियोंकी वृत्तिको जीतनेवाले थे ऐसे जयसेन नामक गुरु हुए। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्तरूपी सागरके पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गणके अग्रणी—अग्रेसर आचार्य थे। जिनेन्द्र शासनके स्नेही, परमतपस्वी, सौ वर्षकी आयुके धारक एवं दाताओंमें मुख्य इन अमितसेन आचार्यने शास्त्रदानके द्वारा पृथिवीमें अपनी वदान्यता—दानशीलता प्रकट की थी। इन्हीं अमितसेनके अग्रज धर्मबन्धु कीर्तिषेण नामक मुनि थे जो बहुत ही शान्त थे, पूर्ण बुद्धिमान् थे, शरीरधारी धर्मके समान जान पड़ते थे और जो अपनी तपोमयी कीर्तिको समस्त दिशाओंमें प्रसरित कर रहे थे। उनका प्रथम शिष्य मैं जिनसेन हुआ। मोक्षके उत्कृष्ट सुखका उपभोग करनेवाले अरिष्टनेमि जिनेन्द्रकी भक्तिसे युक्त मुझ जिनसेन सूरिने अपने सामर्थ्यके अनुसार अल्पबुद्धिसे इस हरिवंशपुराणकी रचना की

---

१. विनयंधरश्रुतां म०, विनयंधरश्रुतीं ख० । २. मित्रवीरविं क०, ख०, ग०, ङ० । ३. षट्खण्ड-सुमण्डितस्थितिः म० । ४. तदग्रजो म० ।

तदग्रशिष्येण शिवाग्रसौख्यभागरिष्टनेमीश्वरभक्तिभाविना ।
स्वशक्तिभाजा जिनसेनसूरिणा धियाल्पयोक्ता हरिवंशपद्धतिः[1] ॥३३॥
यदत्र किञ्चिद्रचितं प्रमादतः परस्परव्याहतिदोषदूषितम्[2] ।
तदप्रमादास्तु पुराणकोविदाः सृजन्तु जन्तुस्थितिशक्तिवेदिनः ॥३४॥
प्रशस्तवंशो हरिवंशपर्वतः क्व मे मतिः क्वाल्पतराल्पशक्तिका ।
अनेन पुण्यप्रभवस्तु केवलं जिनेन्द्रवंशस्तवनेन वाञ्छितः ॥३५॥
न काव्यबन्धव्यसनानुबन्धतो न कीर्तिसन्तानमहामनीषया ।
न काव्यगर्वेण न [3]चान्यवीक्षया जिनस्य भक्त्यैव कृता कृतिर्यथा ॥३६॥
जिनाश्चतुर्विंशतिरत्र कीर्तिताः सुकीर्तयो द्वादश चक्रवर्तिनः ।
नवत्रिधा सीरिहरिप्रतिद्विषस्त्रिषष्टिरित्थं पुरुषाः पुराणगाः ॥३७॥
अवान्तरेऽनेकशतानि पार्थिवा महीचरा व्योमचराश्च भूरिशः ।
क्षितौ चतुर्वर्गफलोपभोगिनः पुराणमुख्येऽत्र यशस्विनः स्तुताः ॥३८॥
अगण्यपुण्यं हरिवंश[4]कीर्तनाद्यदत्र गण्यं गुणसञ्चितं मया ।
फलादमुष्मान्नु मनुष्यलोकजा भवन्तु भव्या जिनशासनस्थिताः ॥३९॥
जिनस्य नेमेश्चरितं चराचरप्रसिद्धजीवादिपदार्थभासनम् ।
प्रवाच्यतां वाचकमुख्यसज्जनैः समागतैः श्रोत्रपुटैः प्रपीयताम् ॥४०॥
जिनेन्द्रनामग्रहणं भवत्यलं ग्रहादिपीडापगमस्य कारणम् ।
प्रवाच्यमानं दुरितस्य दारणं सतां समस्तं चरितं किमुच्यते ॥४१॥

है ॥२५—३३॥ इस ग्रन्थमें मेरे द्वारा यदि कहीं प्रमादवश पूर्वापर विरोधसे युक्त रचना की गयी हो तो जीवोंकी स्थिति और सामर्थ्यके जाननेवाले पुराणोंके ज्ञाता विद्वान् प्रमादरहित हो उसे ठीक कर लें॥३४॥कहाँ तो यह उत्तम वंशों—कुलों (पक्षमें बाँसों) से युक्त यह हरिवंशरूपी पर्वत और कहाँ मेरी अत्यन्त अल्पशक्तिकी धारक क्षुद्रबुद्धि ? मैंने तो सिर्फ जिनेन्द्र भगवान्के वंशकी इस स्तुतिसे पुण्योत्पत्तिकी इच्छा की है॥३५॥मैंने इस ग्रन्थकी रचना न तो काव्यरचनाके व्यसनजन्य संस्कारसे की है, न कीर्तिसमूहकी बलवती इच्छासे की है, न काव्यके अभिमानसे की है, और न दूसरेकी देखा-देखीसे की है। किन्तु यह रचना मैंने मात्र जिनेन्द्र भगवान्की भक्तिसे की है ॥३६॥ इस ग्रन्थमें चौबीस तीर्थंकर, उत्तम कीर्तिके धारक बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण इन पुराणगामी त्रेशठ शलाका पुरुषोंका वर्णन किया गया है ॥३७॥ इनके सिवाय इस श्रेष्ठ पुराणमें बीच-बीचमें पृथिवीपर चतुर्वर्गके फलको भोगनेवाले सैकड़ों भूमिगोचरी और अनेकों यशस्वी विद्याधर राजाओंका वर्णन किया गया है ॥३८॥ हरिवंशका कथन करनेसे जो असंख्य पुण्यका सञ्चय हुआ है उसके फलस्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए भव्यजीव जिनशासनमें स्थित हों ॥३९॥ तथा त्रसस्थावरके भेदसे प्रसिद्ध जीव आदि पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले नेमिजिनेन्द्रके इस चरितको बाँचनेवाले मुख्य सज्जन बाँचे और सभामें आये हुए श्रोताजन अपने कर्णरूप पात्रोंसे इसका पान करें ॥४०॥ क्योंकि जिनेन्द्र भगवान्का मात्र नाम ग्रहण ही ग्रह-पिशाच आदिकी पीड़ाको दूर करनेका कारण है फिर सत्पुरुषोंके पापको दूर करनेवाला पूरा चरित

---

१. षट्पदवृत्तम् । २. व्याहृति क०, म०, ख० । ३. नवान्यदोर्ष्यया ख० । ४. हरिवंशकीर्तिता म०, ख०, ङ० ।

कुर्वन्तु व्याख्यानमनन्यचेतसः परोपकाराय स्वमुक्तिहेतवे ।
सुमङ्गलं मङ्गलकारिणामिदं निमित्तमप्युत्तममर्थिनां सताम् ॥४२॥
महोपसर्गे शरणं सुशान्तिकृत् सुशाकुनं शास्त्रमिदं जिनाश्रयम् ।
प्रशासनाः शासनदेवताश्च या [1]जिनांश्चतुर्विंशतिमाश्रिताः सदा ॥४३॥
हिताः सतामप्रतिचक्रयान्विताः प्रयाचिताः सन्निहिता भवन्तु ताः ।
गृहीतचक्राप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी ।
शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने[2] ॥४४॥
ग्रहोरगा भूतपिशाचराक्षसा हितप्रवृत्तौ [3]जनविघ्नकारिणः ।
जिनेशिनां शासनदेवतागणैः[4]प्रभावशक्त्याथ शमं[5] श्रयन्ति ते ॥४५॥
प्रकाममाकाङ्क्षितकामसिद्धयः प्रसिद्धधर्मार्थविमोक्षलब्धयः ।
भवन्ति तेषां स्फुटमल्पयत्नतः पठन्ति भक्त्या हरिवंशमत्र ये ॥४६॥
निवार्य मात्सर्यमवार्यवीर्यया धिया सुधैर्योर्जितया जिनादराः ।
अनार्यवर्याः सहिताः सपर्यया पुराणमार्याः [6]प्रथयन्तु विष्टपे ॥४७॥
किं मेऽथवा प्रार्थनया यतस्ततः स्वभावतो विश्वभरक्षमाविदः ।
पयोधरोन्मुक्तमिवाम्बु भूधरा विधाय मूर्ध्नि [7]प्रथयन्तु भूतले ॥४८॥

यदि बाँचा जायेगा तो उसके फलका तो कहना ही क्या है ? ॥ ४१ ॥ विद्वज्जन एकाग्रचित्त होकर दूसरोंके उपकारके लिए और अपने-आपकी मुक्तिके लिए इस ग्रन्थका व्याख्यान करें। यह ग्रन्थ मङ्गल करनेवालोंके लिए उत्तम मङ्गलरूप है तथा मङ्गलकी इच्छा रखनेवाले सत्पुरुषोंके लिए मङ्गलका उत्तम निमित्त भी है ॥४२॥ जिनेन्द्र भगवान्का वर्णन करनेवाला यह शास्त्र महान् उपसर्गके आनेपर रक्षा करनेवाला है, उत्तम शान्तिका दाता है और उत्तम शकुन रूप है, अप्रतिचक्रदेवतासे सहित, सज्जनोंके हितैषी जो शासनदेव और शासनदेवियाँ सदा चौबीस तीर्थङ्करोंकी सेवा करती हैं उनसे भी मैं याचना करता हूँ कि वे सदा जिनशासनके निकट रहें। चक्ररत्नको धारण करनेवाली अप्रतिचक्रदेवता तथा गिरिनार पर्वतपर निवास करनेवाली सिंहवाहिनी—अम्बिकादेवी, जिस जिन-शासनमें सदा कल्याणके लिए सन्निहित—निकट रहती हैं उस जिनशासनपर विघ्न अपना प्रभाव कहाँ जमा सकते हैं ? ॥ ४३–४४ ॥ हितके कार्यमें मनुष्योंको विघ्न उत्पन्न करनेवाले जो ग्रह, नाग, भूत, पिशाच और राक्षस आदि हैं वे जिनशासनके भक्त देवोंकी प्रभाव शक्तिसे शान्तिको प्राप्त हो जाते हैं। भावार्थ—जिन शासनके भक्त देव स्वयं कल्याण करते हैं तथा अन्य उपद्रवी देवोंको भी शान्त बना देते हैं ॥४५॥ जो भव्य जीव यहाँ भक्ति-पूर्वक हरिवंशपुराणको पढ़ते हैं उन्हें थोड़े ही प्रयत्नसे मनोवाञ्छित सिद्धियाँ तथा प्रसिद्ध धर्म, अर्थ और मोक्षकी लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥४६॥ जिनसे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ आर्य नहीं तथा जो मान-प्रतिष्ठासे रहित हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान्के भक्त आर्यपुरुष, मात्सर्यको दूर कर अवार्य वीर्यसे युक्त एवं उत्तम धैर्यसे बलिष्ठ बुद्धिके द्वारा इस पुराणको संसारमें प्रसिद्ध करें—इसके अर्थका विस्तार करें ॥४७॥ अथवा मुझे प्रार्थना करनेसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि संसारका भार धारण करनेमें समर्थ पर्वत, जिस प्रकार स्वभावसे ही मेघोंके द्वारा छोड़े हुए

---

१. जिनांश्चतुर्विंशति म० । २. षट्पदवृत्तम् । ३. जिनविघ्न- ख० । ४. गणाः म० । ५. सर्म म० । ६. प्रथमं तु म० । ७. प्रथमं तु म० ।

सुशब्दगुरुपक्षसुवादसज्जकैर्नवं पुराणं च पुराणवारि सत्।
महाबुधाब्दैर्जनतासरित्कुलैश्चतुःसमुद्रान्तमिदं प्रकल्प्यते ॥४९॥
जयन्ति देवाः सुरसंघसेविताः प्रजातिशान्तिप्रदशान्तशासनाः।
विबुद्धकैवल्यविनिद्रदृष्टयो सुदृष्टतत्त्वा भुवने जिनेश्वराः ॥५०॥
जयत्वजय्या जिनधर्मसन्ततिः प्रजास्विह क्षेमसुभिक्षमस्त्विह।
सुखाय भूयात्प्रतिवर्षवर्षणैः सुजातसस्या वसुधा[3]सुधारिणाम् ॥५१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
　　पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्साधिराजेऽपरां
　　सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥
कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
　　श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्जने
　　शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

जलको अपने मस्तकपर धारण कर पृथिवीपर फैला देते हैं उसी प्रकार संसारका भार धारण करनेमें समर्थ विज्ञपुरुष स्वभावसे ही इस पुराणको पृथिवीतलपर फैला देंगे ॥४८॥ जो उत्तम शब्दोंसे युक्त (पक्षमें उत्तम गर्जना करनेवाले) महाविद्वान्‌रूपी मेघोंसे रचित है, जिसके विषयमें खूब प्रश्नोत्तर हुए हैं तथा जो नूतन होकर भी पुराणरूप है ऐसा यह पुराणरूपी जल जनसमूहरूपी नदियोंके समूहसे चारों समुद्रों पर्यन्त विस्तृत किया जाता है। भावार्थ—जिस प्रकार मेघोंसे बरसाये हुए पानीको नदियाँ समुद्र तक फैला देती हैं उसी प्रकार विद्वानों-द्वारा रचित पुराणको जनता परस्परकी चर्चा-वार्तासे दूर-दूर तक फैला देती है ॥४९॥

जो देवोंके समूहसे सेवित हैं, जिनका शान्त शासन प्रजाके लिए अत्यन्त शान्ति प्रदान करनेवाला है, जिनकी केवलज्ञानरूपी दृष्टि सदा विकसित रहती है और जिन्होंने समस्त तत्त्वोंको अच्छी तरह देख लिया है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् सदा जयवन्त रहें ॥५०॥ वादियोंसे सर्वथा अजेय जिनधर्मकी परम्परा सदा जयवन्त रहे, प्रजाओंमें क्षेम और सुभिक्षकी वृद्धि हो तथा प्रतिवर्ष अनुकूल वर्षाके कारण उत्तम धान्यसे सुशोभित यह पृथिवी प्राणियोंके सुखके लिए हो ॥५१॥

सात-सौ पाँच शक संवत् में, जब कि उत्तर दिशाका इन्द्रायुध, दक्षिणका कृष्णराजका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व दिशाका श्रीमान् अवन्तिराज वत्सराज और पश्चिमका सौर्योंके अधिमण्डल-सौराष्ट्रका वीर जयवराह पालन करता था तब कल्याणोंसे निरन्तर बढ़नेवाली लक्ष्मीसे युक्त श्री 'वर्धमानपुर' में नन्नराजा-द्वारा निर्मापित श्रीपार्श्वनाथके मन्दिरमें पहले इस हरिवंशपुराणकी रचना प्रारम्भ की गयी थी परन्तु वहाँ इसकी रचना पूर्ण नहीं हो सकी। पर्याप्त भाग शेष बच रहा तब पीछे 'दोस्तटिका' नगरीकी प्रजाके द्वारा रचित उत्कृष्ट अर्चना और पूजा-स्तुतिसे युक्त वहाँके शान्तिनाथ भगवान्‌के शान्तिपूर्ण मन्दिरमें इसकी

---

१. जनिता सरित्कुलैः म०, ख०, ङ०। २. 'ख' पुस्तके ५१–५२ श्लोकयोः क्रमभेदो वर्तते। ३. असुधारिणां प्राणिनाम् इत्यर्थः।

व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये
व्याप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय[1] बोधेः पुनः ।
दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितश्रीपर्वतः[2] सर्वतो
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात् पृथिव्यां चिरम् ॥५४॥

इत्यरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य कृतौ गुरुपादकमलवर्णनो नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

इति श्रीहरिवंशपुराणं सम्पूर्णम् ।

रचना पूर्ण हुई ॥५२-५३॥ अन्य संघोंकी सन्ततिको पीछे छोड़ देनेवाले अत्यन्त विशाल पुन्नाट संघके वंशमें उत्पन्न हुए श्रीजिनसेन कविने रत्नत्रयके लाभके लिए जिस हरिवंश-पुराणरूपी श्रीपर्वतको प्राप्त कर उसका अच्छी तरह अवलोकन किया था, सब ओरसे दिशाओंके मुखमण्डलको व्याप्त करनेवाला वह सुदृढ़ श्रीपर्वत पृथिवीमें चिरकाल तक स्थिर रहे ॥५४॥

इस प्रकार अरिष्टनेमिपुराणके संग्रहसे युक्त, जिनसेनाचार्यरचित हरिवंशपुराणमें गुरुओंके चरण-कमलोंका वर्णन करनेवाला छयासठवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥६६॥

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा । दयाचन्द्रस्य शिष्येण पन्नालालेन सूरिणा ॥१॥
फाल्गुनाभिधमासस्य शिशिरर्तु विशोभिनः । शुक्लपक्षतृतीयायां तारापतिसुवासरे ॥२॥
निशायाः प्रथमे यामे नक्षत्रनिचयान्विते । रसकर्मयुगद्व्याख्ये, (२४८६) वीरनिर्वाणवत्सरे ॥३॥
हरिवंशपुराणस्य जिनसेनकृतेरियम् । टीका समापिता, भूयाद् विद्वज्जनमनोमुदे ॥४॥
नानाशास्त्ररहस्यज्ञान् विबुधान् प्रार्थयाम्यहम् । क्षमध्वं स्खलनं यूयं यदत्र विहितं मया ॥५॥

---

१. बोधे म०, क० । २. श्रीपार्वतः ङ० ।

परिशिष्टानि

२
हरिवंशस्थ सूक्तयः

स० श्लो०

'निर्गुणापि गुणान् सद्भिः कर्णपूरीकृताकृतिः ।
बिभर्त्येव वधूवक्त्रैश्चूतस्येवाग्रमञ्जरी ॥' १।४२
'साधुरस्यति काव्यस्य दोषवत्ता मयाचितः ।
पावकः शोधयत्येव कलधौतस्य कालिकाम् ॥' १।४३
'दुर्वचो विषदुष्टान्तर्मुखस्फुरितजिह्वकान् ।
निगृह्णन्ति खलव्यालान् सन्मन्त्रा: स्वशक्तिभिः॥'१।४६
'रजो बहुलमारूक्षं खलं कालं विदाहिनम् ।
सन्तः काले कलध्वाना: शमयन्ति यथा घनाः ॥'१।४७
'आलोके जिनभानुना विरचिते ध्वान्तस्य वा
क्व स्थितिः ? ॥' ४।३८४
'मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥' ९।१२९
'किं न स्याद् गुरुसेवया ॥' ९।१३१
'विद्या लाभो गुरोर्वशात् ॥' ९।१३०
'सर्वतोऽपि सुदुःप्रेक्ष्यां नरेन्द्राणामपि स्वयम् ।
दृष्टिं दृष्टिविषस्येव धिक्-धिक् लक्ष्मीं
भयावहाम् ॥' ११।९४
'सति बन्धुविरोधे हि न सुखं न धनं नृणाम्॥'११।९६
'अपवादो हि सह्येत रक्तेन न मनोव्यथा ॥' १४।३९
'तमःपतनकाले हि प्रभवत्यपि भास्वतः ॥' १४।०४
'पापोपशमनोपायाः सन्त्येव सति जीविते ॥' १४।६५
'अत्यभ्यर्णविपत्तीनां मन्त्रिणो हि निवर्तकाः॥' १४।६६
'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रो रक्षणीयः स यत्नतः॥'१४।८३
'तप्तं तप्तेन योज्यते ॥' १४।९१
'रहसि दुर्लभमाप्य मनीषितं, न हि विमुञ्चति
लब्धरसो जनः ॥' १५।४
'न सुलभं सुमुखे किमु भर्तरि ॥' १५।५
'परिचितः प्रणयः खलु दुस्त्यजः ॥' १५।४३
'कामग्रहगृहीतस्य का मर्यादा क्रमोऽपि कः ॥' १७।१५
'तावद्धार्यादयो यावन्मर्यादा संस्थितः प्रभुः ॥'१७।१६
'पातकात्पतनं ध्रुवम् ॥' १७।१५१
'का वा कठिनचित्तस्य जिनशासनभक्तता॥'१८।१४९
'पुनर्बोधिपरिप्राप्तिर्दुर्लभा भवसङ्कटे ॥' १८।१५०
'यत्रोपयुज्यते यस्य धनं वा वपुरेव वा ।
स्वशासनजने तेन तस्य किं बन्धुहेतुना ॥' १८।१४६

स० श्लो०

'का स्त्री का वा स्वसा भ्राता को वै कार्या-
भिलाषिणः ।
वैरिणो ननु हन्तारो हन्तव्य नात्र दुर्यशः ॥'१९।१०६
'निर्वाप्यते ज्वलन्नग्निर्जलेन सुमहानपि ।
उत्तिष्ठेद् यद्यतो तस्मात्तस्य शान्तिः
कुतोऽन्यतः ॥' २०।३४
'साधोः शीतलशीलस्य तापनं न हि शान्तये ।
गाढतप्तो दहत्येव तोयात्मा विकृतिं गतः ॥' २०।३७
'तदेवोपकृतं पुंसां यत् सद्भावदर्शनम् ॥' २१।३२
'दृष्टश्रुतानुभूतं हि नवं धृतिकरं नृणाम् ॥' २१।३७
'शास्त्रव्यसनमन्येषां व्यसनानां हि बाधकम्' २१।३९
'अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा ।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम्॥'२१।१५६
'पापकूपे निमग्नेभ्यो धर्महस्तावलम्बनम् ।
ददता कः समो लोके संसारोत्तारिणा नृणाम्॥'२१।१५५
'स्त्रीणां प्रणयकोपस्य प्रणामो हि निवर्तकः॥' २२।४६
'कुतो लुब्धस्य सत्यता ॥' २७।३५
'न मुह्यति प्राप्तकृतो कृती हि ॥' ३५।६२
'न राज्यलाभोऽभिमतोऽनपत्यः ॥' ३५।५८
'स्फुटवदनविकाराल्लक्षितं चित्तदुःखम् ॥' ३६।२०
'क्व पात्रभेदोऽस्ति धनप्रवर्षिणाम् ॥' ३७।३
'बहुरत्ना वसुन्धरा ॥' ४२।३१
'अहो प्रमदहेतवोऽपि सुखयन्ति नो
दुःखितान् ॥' ४२।१०२
'दैवमेव परं लोके धिक् पौरुषमकारणम् ॥' ४३।६८
'सद्भूतस्यापि दोषस्य परकीयस्य भाषणम् ।
पापहेतुरमोघः स्यादसद्भूतस्य किं पुनः ॥' ४५।१५३
'वक्ता श्रोता च पापस्य यस्मात्र फलमश्नुते ।
तदमोघममुत्रास्य वृद्धयर्थमिति बुध्यताम् ॥' ४५।१५६
'त्यजत वाचमसत्यमलोद्धतां
भजत सत्यवचो निरवद्यताम् ।
निजयशो विशदां सगुणोद्यतां
विजयिनीं त्विह विश्वविदोदिताम् ॥' ४५।१५८
'पुण्यस्य किमु दुष्करम् ॥' ४६।१६

'अदेशकालं न हि नर्म शोभते ॥' ५४।६
'क्लिशितधीर्हि जिनेष्वपि शङ्कते ॥' ५५।१४
'भ्रमति हि स्वपतां भुवनं मनः' ५५।२३
'जनानां हि समस्तानां जीवानां नियता मृतिः॥' ६१।२०
क्षमा मूलस्तपो भारो बक्ष्यते क्रोधवह्निना ॥' ६१।६२
'मोक्षसाधनमप्येष तपो दूषयति क्षणात् ।
चतुर्वर्गरिपुः क्रोधः क्रोधः स्वपरनाशकः ॥' ६१।६३
'दुर्वारा हि भवितव्यता ॥' ६१।७७
'अगाढे वाप्यनागाढे मरणे समुपस्थिते ।
न मुह्यन्ति जना जातु जिनशासनभाविताः ॥' ६१।९६
'परस्यापकृतिं कुर्वन् कुर्यादेकत्र जन्मनि ।
पापी परवधं स्वस्य जन्तुर्जन्मनि जन्मनि ॥' ६१।१०१
'कषायवशगः प्राणी हन्ता स्वस्य भवे भवे ।
संसारवर्धनोऽन्येषां भवेद्वा वधको न वा ॥' ६१।१०२
'परं हन्मीति सन्ध्यातं लोहपिण्डमुपाददत् ।
दहत्यात्मानमेवादौ कषायवशगस्तथा ॥' ६१।१०३
'धिक् क्रोधं स्वपरापकारकरणं संसार-
संवर्धनम् ॥' ६१।१०८
'निरस्यति पयस्तृष्णां स्तोकां वेलामिदं पुनः ।
जिनस्मरणपानीयं पीतं तां मूलतोऽस्यति ॥' ६२।२४
'दुर्लङ्घ्या भवितव्यता ॥' ६२।४४
'करोति सज्जनो यत्नं दुर्यशः पापभीरुकः ।
दैवे तु कुटिले तस्य स यत्नं किं करिष्यति ॥' ६२।६४
'सुखं वा यदि वा दुःखं दत्ते कः कस्य संसृतौ ।
मित्रं वा यदि वामित्रं स्वकृतं कर्म तत्त्वतः ॥' ६२।५१
'सुप्तमात्तमपशस्त्रमानतं
मुक्तमानमसकृत् पलायितम् ।
प्रत्यवाययुतमङ्गनां शिशुं
घ्नन्ति शत्रुमपि नो यशोधनाः ॥' ६२।१८
'को न वा पतति वारुणी प्रियः' ६३।२०
'कोऽत्र कस्य बहिरङ्गहिंसकः
स्वान्तरङ्ग शुभकर्म रक्षकम् ।
आयुकर्म (रेव) निजत्राणकारणं
तत्क्षये भवति सर्वथा क्षयः ॥' ६३।३९
'सम्पदत्र करिकर्णचञ्चला
संगताः प्रियवियोग दुःखदाः ।
जीवितं मरणदुःखनीरसं
मोसमक्षयमतोऽर्जयेद् बुधः ॥' ६३।७०

२

हरिवंशपुराणस्थ

श्लोकानामकाराद्यनुक्रमः

[आ]

[ई]

[ख]

[द]

[प]

[भ]

[र]

[ल]

[व]

[ष]

[स]

शब्दानुक्रमणिका

इस स्कन्धमें हरिवंश पुराणमें आगत व्यक्तिवाचक, भौगोलिक पारिभाषिक और कुछ साहित्यिक शब्दोंका अर्थ अवगत कराया गया है। व्यक्तिवाचकके आगे कोष्ठकमें (व्य), भौगोलिकके आगे (भौ) और पारिभाषिक शब्दके आगे (पा) दिया गया है। साहित्यिक शब्द = चिह्न देकर खाली छोड़ दिये गये हैं। इन शब्दोंमें ६०वें सर्गमें आगत तीर्थंकरोंसे सम्बद्ध शब्द संकलित नहीं हैं क्योंकि उनका विवरण पृथक् स्तम्भमें दिया गया है। इसी प्रकार अन्तिम सर्गमें वर्णित आचार्य-परम्पराके नाम भी संगृहीत नहीं हैं क्योंकि उनका प्रस्तावनामें उल्लेख कर दिया गया है। इस ग्रंथमें एक-एक शब्द अनेकों स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है परन्तु उनका एक बार ही उल्लेख किया जा सका है। शब्दोंके आगे सर्ग और श्लोकोंके अंक दिये गये हैं। समानता रखनेवाले वे ही शब्द पुनरुक्त किये गये हैं जिनका भिन्न अर्थ होता है।

[अ]

अकम्पन (व्य) कृष्णका पुत्र ४८।७०

अङ्गारक (भौ) देशका नाम ११।६८

अग्निगतिदक्षिणा २२।६६

अङ्गारक (व्य) ज्वलनवेगकी विमला रानीसे उत्पन्न पुत्र १९।८३

अधर्म (पा) जीव और पुद्गलकी स्थितिमें कारण एक द्रव्य ७।२

अधर्मास्तिकाय (पा) जीव और पुद्गलके ठहरनेमें सहायक द्रव्य ४।३

अधिकारिणी (पा) एक क्रिया ५८।६७

अधित्यका = पर्वतका ऊपरी मैदान २।३३

अकम्पन (व्य) भगवान् महावीरका अष्टम गणधर ३।४३

अकम्पन (व्य) सात सौ मुनियोंके प्रमुख आचार्य २०।५

अतिथिसंविभाग (पा) शिक्षाव्रतका भेद ५८।१५८

अतिदारुण (व्य) एक भीलका पुत्र २७।१०७

अतिदुःषमा (पा) अवसर्पिणीका छठवाँ काल ७।५९

अजित (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३५

अजित (व्य) द्वितीय तीर्थंकर १३।२६

अटट (पा) चौरासी लाख अटटाङ्गोंका एक अटट ७।२८

अटटाङ्ग (पा) चौरासी लाख वर्षोंका एक अटटाङ्ग ०७।२८

अटनप्रिय = घूमनेको शौकीन १९।३६

अग्निभूति (व्य) पुत्रविशेष ६४।६

अग्निभूति (व्य) भगवान् ऋषभदेवका गणधर १२।५७

अग्निमित्र (व्य) भगवान् ऋषभदेवका गणधर १२।५८

अग्निका (व्य) सोमदेव ब्राह्मणकी स्त्री ४३।१००

अतिनिरुद्ध (भौ) पाँचवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी तम इन्द्रककी पश्चिम दिशामें स्थित महानरक ४।१५६

अजितसेन (व्य) जरासंधका एक दूत ५०।३२

अजितशत्रु (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३५

अजितंजय = कृष्णका धनुष ३५।७२

अजितञ्जित = चक्रवर्तीका रथ ११।४

अञ्जनमूलक (भौ) रत्नप्रभाके खर भागका ग्यारहवाँ पटल ४।५३

अञ्जनमूलकूट (भौ) मानुषोत्तरकी पश्चिमदिशाका एक कूट ५।६०४

अजितसेना (व्य) अरिञ्जयपुरके राजा अरिञ्जयकी स्त्री ३४।१८

अतिमुक्तक (व्य) एक मुनि १।८९

अतिपिपास (भौ) प्रथम पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी सीमन्तक इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित महानरक ४।१५१

अग्निशिखर (व्य) कृष्णका पुत्र ४८।६९

अग्रजन्मा = ब्राह्मण ४३।९९

अग्निका (व्य) एक स्त्री ६४।६

अक्षय (पा) स्फटिक सालका उत्तर गोपुर ५७।६०

अक्षर (पा) श्रुतज्ञानका भेद १०।१२

अरुण (व्य) हरिक्षेत्रके नाभि-गिरिपर रहनेवाला व्यन्तर देव ५।१६४

अरुणद्वीप (भौ) नौवाँ द्वीप ५।६१७

अरुणसागर (भौ) नौवाँ सागर ५।६१७

अरुण (व्य) लौकान्तिक देवका एक भेद ५५।१०१

अरुणोद्भासद्वीप (भौ) दसवाँ द्वीप ५।६१७

अरुणोद्भास सागर (भौ) नौवाँ सागर ५।६१७

अर्क (व्य) लौकान्तिक देवका एक भेद दूसरा नाम आदित्य ५५।१०१

अर्क (व्य) राजा वसुका पुत्र १७।५८

अर्कप्रभ (व्य) कापिष्ठ स्वर्गका एक देव (रश्मिवेगका जीव) २७।८७

अर्कमूल (भौ) वि० द० नगरी २२।९९

अर्चाढ्य (पा) स्फटिक सालका उत्तर गोपुर ५७।६०

अर्चि (भौ) पहला अनुदिश ६।६३

अर्चिर्माली (व्य) किन्नरोद्गीत नगरका राजा १९।८१

अर्चिर्मालिनी (भौ) दूसरा अनुदिश ६।६३

अर्चिष्मान् (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।४०

अर्जुन (व्य) पाण्डव ४५।२

अर्थपद (पा) अर्थबोधक पद-समूहको अर्थपद कहते हैं १०।२३

अर्थ (पा) आग्रायणी पूर्वकी वस्तु १०।७९

अर्हत् = अरहन्त १।१३

अर्हद्दत्त (व्य) धनदत्त और नन्द-यशाका पुत्र १८।११५

अर्हद्भक्ति = भावना ३४।१४१

अर्हद्दास (व्य) गन्धिला देशकी अयोध्या नगरीका राजा २७।११२

अर्हद्दास (व्य) धनदत्त और नन्दयशाका पुत्र १८।११४

अर्हद्दास (व्य) ज० वि० सुपद्मा देशके सिंहपुर नगरका राजा ३४।३

अलका (व्य) भद्रिलसा नगरीके सेठकी स्त्री ३३।१६७

अलका (व्य) मेघदलपुरके सेठ मेघकी स्त्री ४६।१५

अलका (भौ) विद्याधरोंकी नगरी ६०।१८

अलङ्कारविधि = शरीर स्वरका भेद १९।१४८

अलोक (पा) लोकके बाहरका अनन्त आकाश २।११०

अलोकाकाश (पा) चौदह राजु प्रमाण लोकके बाहरका अनन्त आकाश ४।१

अलअल = गोली ५।४४५

अलम्बुष (व्य) विजयका पुत्र ४८।४८

आलोक = प्रकाश २।१०

अलंकार = वैणस्वरका एक भेद १९।१४७

अवक्रान्त (भौ) रत्नप्रभा पृथिवी-के बारहवें प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।७७

अवग्रह (पा) मतिज्ञानका भेद १०।१४६

अवतंस = कानका आभूषण ४३।२४

अवदात = उज्ज्वल २।३२

अवधिज्ञानचक्षुष् = अवधिज्ञानके धारक ३।४७

अवध्या (भौ) विदेहकी एक नगरी ५।२६३

अवनद्ध = चमड़े मढ़े हुए मृदंग आदि वादित्र १९।१४२

अवपद = तालगत गान्धर्वका प्रकार १९।१५१

अवाय (पा) मतिज्ञानका भेद १०।१४६

अवर्णवाक् (पा) मिथ्यादोष कथन ५८।९६

अवसर्पिणी (पा) जिसमें बुद्धि, बल, विद्या आदि सद्गुणोंका ह्रास हो ऐसा कालभेद १।२६

अवसर्पिणी (पा) दश कोड़ा-कोड़ी अद्धा सागरोंकी एक अवसर्पिणी ७।५६–५७

अवसंज्ञ (पा) अनन्तानन्त-पर-माणुओंका समूह ७।३७

अवन्तिसुन्दरी (व्य) वसुदेवकी एक स्त्री ३१।७

अविद्धार्थ = तालगत गान्धर्वका एक प्रकार १९।१५१

अविपाकजा (पा) निर्जराका भेद ५८।२९५

अविध्वंस (व्य) विभुका पुत्र १३।११

अशनिघोष (व्य) मानुषोत्तरके अञ्जनकूटपर रहनेवाला देव ५।६०४

अशनिवेग (व्य) विजयार्ध पर्वत-के कुञ्जरावर्त नगरका राजा १९।७०

अशनिवेग (व्य) अर्चिर्माली और प्रभावतीका पुत्र १९।८१

अशनिवेग (व्य) वसुदेवका सम्बन्धी एक विद्याधर ५१।२

अशब्दपातिनी = एक विद्या २२।७०

एकभक्त (पा) मुनियोंका एक मूलगुण, दिनमें एक बार ही भोजन करना २।१२८
एकशैल (भौ) पूर्वविदेहका वक्षारगिरि ५।२२८
एकातपत्र = अद्वितीय ३।३६
एकादशाङ्ग = आचारांग आदि ग्यारह अंग
एकावलीविधि = एक उपवास ३४।६७
एणीपुत्र (व्य) श्रावस्तीका राजा २८।५
एणीपुत्र (व्य) श्रावस्तीके राजा शीलायुधकी ऋषिदत्ता स्त्री से उत्पन्न पुत्र २९।५३
एरा (व्य) राजा विश्वसेनकी स्त्री, भगवान् शान्तिनाथकी माता ४५।१८
एवंभूत (पा) एक नय ५८।४१
एषणा समिति (पा) दिनमें एक बार शुद्ध आहार ग्रहण करना २।१२४
एषणा समिति व्रत = व्रतविशेष ३४।१०८

[ऐ]

ऐरावण (भौ) नील पर्वतसे साढ़े पाँच-सौ योजन दूर नदीके मध्यमें स्थित एक ह्रद ५।१९४
ऐरावत = सौधर्मेन्द्रका हाथी ३८।२१
ऐरावतकूट (भौ) शिखरिकुलाचलका दशवाँ कूट ५।१०७
ऐरावत (भौ) जम्बू द्वीपकी उत्तर दिशामें शिखरिन् कुलाचल और लवणसमुद्रके मध्य स्थित सातवाँ क्षेत्र ५।१४
ऐरावती (भौ) एक नदी २७।११९
ऐरावती (भौ) एक नदी २१।१०२
ऐलेय (व्य) राजा दक्ष और इलाका पुत्र १७।३
ऐशान (भौ) द्वितीय स्वर्ग ४।१४
ऐशान = विद्यास्त्र २५।४९
ऐशान (भौ) दूसरा स्वर्ग ६।३६
ऐशान = द्वितीय स्वर्गका इन्द्र २।३८

[क]

ककुभ् = पूर्वादि दशों दिशाएँ ११८
कच्छ (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६८
कच्छकावती (भौ) पश्चिम विदेह का एक देश ५।२४५
कच्छा (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२४५
कच्छा कूट (भौ) माल्यवान् पर्वतका एक कूट ५।२१९
कज्जला (भौ) मेरुके नैऋत्यमें स्थित एक वापी ५।३४३
कज्जलप्रभा (भौ) मेरुके नैऋत्यमें स्थित एक वापी ५।३४३
कण्ठक = गलेका आभूषण ६२।८
कदन = युद्ध ११।०८
कदम्बुक (भौ) लवणसमुद्रका पश्चिम दिशास्थित पाताल ५।४४३
कनक, कनकाभ (व्य) घृतवर समुद्रके रक्षक देव ५।६४२
कनक (व्य) आगामी प्रथम मनु ६०।५५५
कनक कूट (भौ) मानुषोत्तरकी पश्चिम दिशाका एक कूट ५।६०४
कनककेशी (व्य) सुमाली तापस की स्त्री २७।११९
कनकपुञ्जश्री (व्य) नमिकी पुत्री २२।१०८
कनक कूट (भौ) रुचिकगिरिका एक कूट ५।७०५
कनक (भौ) कुण्डलगिरिकी पूर्व-दिशाका एक कूट ५।६९०
कनकचित्रा (व्य) रुचिकगिरि-के नित्यालोक कूटपर रहने-वाली देवी ५।७१९
कनकध्वज (व्य) आगामी चौथा मनु ६०।५५५
कनकपुङ्गव (व्य) आगामी पाँचवाँ मनु ६०।५५५
कनकप्रभ (भौ) कुण्डलगिरिकी पूर्व दिशाका एक कूट ५।६९०
कनकप्रभ (व्य) आगामी दूसरा मनु ६०।५५५
कनकप्राकार (पा) समवसरणका स्वर्ण निर्मित कोट ५७।२४
कनकमञ्जरी (व्य) नमिकी पुत्री २२।१०८
कनकमाला (व्य) राजा काल-संवरकी स्त्री ४३।४९
कनकमाला (व्य) महेन्द्र और सानुधरीकी पुत्री ६०।८१
कनकमालिनी (व्य) गिरिनगर-के राजा चित्ररथकी स्त्री ३३।१५०
कनकमेखला (व्य) मेघदल नगरके राजा सिंहकी स्त्री ४६।१४
कनकराज (व्य) आगामी तीसरा मनु ६०।५५५
कनकावलीविधि = एक उपवास व्रत ३४।७३-७७
कनकावर्त (व्य) सिंह और कनकमेखलाकी पुत्री ४६।१५
कनीयस् (भौ) देशविशेष ३।४
कन्दर्प = देवविशेष ३।१३६
कन्दर्प (पा) अनर्थदण्डव्रतका अतिचार ५८।१७९

[ख]

[ग]

गङ्ग, गङ्गदत्त (व्य) हस्तिनापुरके राजा गङ्गदेव और नन्दयशाके युगल पुत्र ३३।१४१
गङ्गदत्त (व्य) कृष्ण ३९।२२
गङ्गदत्त (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३३
गङ्गदेव (व्य) कुरुवंशका एक राजा ४५।११
गङ्गदेव (व्य) दशपूर्वके ज्ञाता एक आचार्य १।६३
गङ्गरक्षित, नन्द (व्य) युगलयुक्त ३३।१४१
गङ्गा (भौ) चौदह महानदियोंमेंसे एक नदी ५।१२३
गङ्गाकूट (भौ) हिमवत् कुलाचलका पाँचवाँ कूट ५।५४
गङ्गादेवी (व्य) गङ्गाकूटपर रहनेवाली देवी ११।५१
गङ्गानुकूलं = गङ्गाके किनारे-किनारे ११।२
गङ्गा-सिन्धु (भौ) विदेह क्षेत्रके कच्छा आदि देशोंमें बहनेवाली नदियाँ ५।२६७
गजकुमार (व्य) श्रीकृष्णके एक भाई १।११६
गजपुर (भौ) हस्तिनागपुर १८।१०३
गजवती (भौ) वरुण पर्वतके समीप पञ्चनद समागमकी एक नदी २७।१४
गणधारिन् = तीर्थंकरकी सभा प्रमुख श्रोता ४ ज्ञानके धारी अपर नाम गणधर ३।४१
गणभृद् = गणधर १।७५
गणबद्ध (व्य) भरत चक्रवर्तीके आज्ञाकारी देव ११।३७
गन्धपुर (भौ) अ० प० विदेहके रूप्याचलकी उत्तर श्रेणीका एक नगर ३४।१५

गति = तालगत गान्धर्वका एक प्रकार १९।१५१
गन्ध (व्य) इक्षुवर समुद्रका रक्षक देव ५।६४४
गन्धकुटी (पा) समवसरणका एक स्थान जिसमें तीर्थंकर विराजते हैं ५७।७
गन्धदेवी कूट (भौ) शिखरि कुलाचलका नौवाँ कूट ५।१०७
गन्धमादन (भौ) मेरुपर्वतकी पश्चिमोत्तर दिशामें स्थित स्वर्णमय एक पर्वत ५।२१०
गन्धमादन (व्य) हिमवत्का पुत्र ४८।४७
गन्धमादन (भौ) वि० उ० नगरी २२।९७
गन्धमादन = शौर्यपुरके उद्यानमें स्थित गन्धमादन नामका एक पर्वत १८।२९
गन्धमादन (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३१
गन्धमादन (भौ) एक पर्वत ६०।१६
गन्धमादन कूट (भौ) गन्धमादन पर्वतका एक कूट ५।२१७
गन्धमादिनी (भौ) विदेहकी विभंगा नदी ५।२४२
गन्धमालिनी (भौ) जम्बूद्वीप विदेह क्षेत्रका एक नगर २७।११५
गन्धमालिनी (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२५१
गन्धमालिनी (भौ) जम्बूद्वीप विदेह क्षेत्रका एक देश २७।५
गन्धमालिनीका कूट (भौ) गन्धमादनका एक कूट ५।२१७
गन्धमित्र (व्य) एक राजा २७।१०२

गन्धर्व (भौ) मेरुके नन्दन वनकी पश्चिम दिशामें स्थित एक भवन ५।३१५
गन्धर्व = विद्याके निकायका नामान्तर २२।५८
गन्धर्वसेना (व्य) एक कन्या जिसका वसुदेवके साथ विवाह हुआ १।८१
गन्धर्वसेना (व्य) चारुदत्तकी कन्या १९।१२३
गन्धर्वसेना (व्य) अमिततगति विद्याधरकी विजयसेनासे उत्पन्न पुत्री। जो चारुदत्तके द्वारा वसुदेवको दी गयी २१।१२०
गन्धवत् (भौ) हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें स्थित एक गोलाकार पर्वत ५।१६१
गन्धसमृद्ध (भौ) वि० द० नगरी २२।९४
गन्धसमृद्ध (भौ) वि० द० के गान्धार देशका एक नगर ३०।६
गन्धा (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२५१
गन्धार (व्य) वसुदेव और प्रभावतीका पुत्र ४८।६३
गन्धार (व्य) वि० द० के गन्धसमृद्ध नगरका राजा ३०।६
गन्धावती (भौ) एक नदी ६०।१६
गम्भीर (व्य) एक राजा ५०।१३१
गम्भीर (व्य) कृष्णका पुत्र ४८।७०
गरुड (भौ) सानत्कुमार युगलका चौथा इन्द्रक ६।४८
गरुडकान्त (व्य) सेनकान्त (व्य) चित्रचूल और मनोहरीके युगल पुत्र ३३।१३३
गरुडवेग (व्य) सिंहपुरका एक मान्त्रिक, सर्पविषको दूर करनेवाला २७।४९

गौरमुण्ड (व्य) अमितगति विद्याधरका मित्र २१।२३
गौरिक (भौ) वि० उ० नगरी २२।८८
गौरिक = अदिति देवीके द्वारा दस विद्याओंका एक निकाय २२।५७
गौरिक विद्याधर = विद्याधरोंकी एक जाति २६।६
गौरिकूट (भौ) वि० द० नगरी २२।९७
गौरी (व्य) वीतभय नगरके राजा मेरु और चन्द्रमतीकी पुत्री कृष्णकी पट्टराज्ञी ४४।१४
गौरी = एक विद्या २७।१३१
गौरी = एक विद्या २२।६२
ग्राहवती (भौ) विदेह क्षेत्रकी विभङ्गा नदी ५।२३९
ग्राम = समूह २।५७
ग्राम (पा) बाड़ीसे घिरा छोटा गाँव २।३
ग्राम = शारीर स्वरका भेद १९।१४८
ग्राम = वैण स्वरका एक भेद १९।१४७
ग्रैवेयक = हार ११।१३
ग्रैवेयक (भौ) सोलह स्वर्गोंके ऊपर स्थित नौ पटल ३।१५०
ग्रैवेयक स्तूप (पा) समवसरणके स्तूप ५७।१००

[घ]

घन = काँसेके झाँझ मंजीरा आदि १९।१४२
घनवात (पा) एक वातवलय ४।३३
घनोदधि (पा) एक वातवलय ४।३३
घर्मा (भौ) रत्नप्रभाका रूढ़ि नाम ४।४६
घर्मा (भौ) रत्नप्रभा पृथिवी ४।२१८
घाट (भौ) शर्कराप्रभा पृथिवीके पञ्चम प्रस्तारका इन्द्रक-बिल ४।१०९
घातिचतुष्क (पा) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंका समूह २।५९
घृतवर द्वीप (भौ) छठवाँ द्वीप ५।६१५
घृतवर समुद्र (भौ) छठवाँ समुद्र ५।६१५
घोष (पा) अहीरोंकी बस्ति २।३

[च]

चक्र (भौ) सानत्कुमार युगलका सातवाँ इन्द्रक ६।४८
चक्रपाणि = कृष्ण ३५।३९
चक्रपाणिजिनार = चक्रवर्ती और तीर्थंकर पदके धारक अठारहवें अरनाथ जिनेन्द्र १।२०
चक्रपुर (भौ) एक नगर २७।८९
चक्रवर्तिन् (चि) छहखण्ड पृथिवीके स्वामी १।१९
चक्रवाक (भौ) वि० द० नगरी २२।९३
चक्रव्यूह (पा) सेनाके निवेशका एक प्रकार ५०।१०३-१११
चक्रा (भौ) विदेहकी एक नगरी ५।२६३
चक्रायुध (व्य) शान्तिनाथका प्रथम गणधर ६०।३४८
चक्रायुध (व्य) चक्रपुरके राजा अपराजित और सुन्दरीका पुत्र २७।९०
चक्री = श्रीकृष्ण नारायण ५४।३०
चक्रेश (चि) चक्ररत्नके स्वामी चक्रवर्ती १।१८
चक्षुष्मान् (व्य) मानुषोत्तर पर्वतका रक्षक देव ५।६३९
चक्षुष्मान् (व्य) आठवाँ कुलकर ७।१५७
चन्दन (भौ) सौधर्म युगलका ग्यारहवाँ इन्द्रक ६।४५
चञ्चला = बिजली १५।१७
चण्डरोचिष् = सूर्य ३।३४
चण्डवाण (व्य) एक व्याध ६०।१११
चण्डवेग (व्य) विद्युद्वेगका पुत्र २५।४०
चण्डवेगा (भौ) वरुण पर्वतके समीप पञ्च नदोंके समागमकी एक नदी २७।१४
चतुरङ्गा (चि) हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सिपाही इन चार अङ्गोंसे सहित, सेना २।७१
चतुर्थक = एक उपवास ३४।१२५
चतुर्थ काल (पा) सुषमा काल १।२६
चतुर्दश पूर्विन् = उत्पाद पूर्व आदि १४ पूर्वोंके ज्ञाता १।५८
चतुर्मुख (व्य) सातवाँ नारद ६०।५४८
चतुर्विंशतिस्तव (पा) अङ्गबाह्य श्रुतका एक भेद २।१०२
चतुरस्र = चौकोन ३।५३
चतुरष्टका = बत्तीस ५।२४४
चतुरनुयोग (पा) १ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग, ४ द्रव्यानुयोग ५८।४
चतुष्क = चौक ५।२६६
चतुस्त्रिंशद् महाद्भुत = चौंतीस अतिशय १० जन्मके १० केवलज्ञानके १४ देवकृत २।६७

ताम्रलिप्ति (भौ) एलेयके द्वारा अङ्गदेशमें बसाया हुआ एक नगर १७।२०

तार (भौ) पङ्कप्रभापृथिवीके द्वितीय प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।१३०

तारा (व्य) राजा कार्तवीर्यकी गर्भवती स्त्री २५।११

तारक (व्य) दूसरा प्रतिनारायण ६०।२९१

तार्ण (भौ) देशविशेष ३।६

तिर्यग्लोक (भौ) मध्यलोक ५।१

तिर्यग्व्यतिक्रम (पा) दिग्व्रतका अतिचार ५८।१७७

तिरस्करिणी = एक विद्या २२।६३

तिलका (व्य) भानुकीर्तिकी स्त्री ३३।९९

तिलकानन्द (व्य) एक मुनि ५०।५९

तिलवस्तुक (भौ) एक नगर, जहाँ वसुदेव पहुँचे २४।२

तीर्थ (पा) धर्मकी आम्नाय १।४

तीर्थंकर (पा) धर्मकी आम्नाय चलानेवाला, ये २४ होते हैं २।१४६

तीर्थकृत् (पा) तीर्थंकर १।८

तीर्णकर्ण (भौ) देशका नाम ११।६७

तेजःसेन (व्य) समुद्रविजयका पुत्र ४८।४४

तेजस्वी (व्य) प्रभूत तेजका पुत्र १३।९

तेजस्वी (व्य) भगवान् ऋषभदेवका गणधर १२।५८

तेजोराशि (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६६

तुङ्गीगिरि (भौ) मांगीतुंगी नाम का पर्वत ६३।७२

त्रुट्य (पा) चौरासी लाख त्रुट्याङ्गोंका एक त्रुट्य ७।२८

त्रुट्याङ्ग (पा) चौरासी लाख कमलोंका एक त्रुट्याङ्ग ७।२८

तुलिङ्ग (भौ) देशका नाम ११।६४

तुषित (व्य) लौकान्तिक देवका एक भेद ५५।१०१

तूर्याङ्ग = एक कल्पवृक्ष ७।८०

तृणबिन्दु (व्य) चन्द्रवंशी एक राजा २३।४७

तृतीय काल (पा) सुषमादुःषमा काल १।२६

तोक = पुत्र २७।११९

तोमर (व्य) एक राजा ५०।१३०

तोयधारा (व्य) नन्दनवनमें रहनेवाली दिक्कुमारी ५।३३३

त्रसरेणु (पा) आठ त्रुटिरेणुओंका एक त्रसरेणु होता है ७।३८

त्रसित (भौ) रत्नप्रभा पृथिवीके दशवें प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।७७

त्रस्त (भौ) रत्नप्रभा पृथिवीके नौवें प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।७७

त्रुटिरेणु (पा) आठ संज्ञा संज्ञाओंका एक त्रुटिरेणु होता है ७।३८

त्रिकूट (भौ) पूर्व विदेहका वक्षार गिरि ५।२२९

त्रिगर्त (भौ) देशविशेष ३।३

त्रिगिञ्छ (भौ) निषध कुलाचलका ह्रद ५।१२१

त्रिगुप्ति, त्रिसमितिव्रत = व्रतविशेष ३४।१०६

त्रिदश = देव १८।१२

त्रिदिव = स्वर्ग २१।१६३

त्रिपद (व्य) एक डोमर ६०।३३

त्रिपर्वा = एक विद्या २२।६७

त्रिपातिनी = एक विद्या २२।६८

त्रिपृष्ठ (व्य) पहला नारायण ६०।२८८

त्रिपुर (भौ) देशविशेष ११।७३

त्रिपृष्ठ (व्य) आगामी नारायण ६०।५६७

त्रिलक्षण (वि) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप तीन लक्षणोंसे सहित २।१०८

त्रिलोकसार विधि = एक उपवास व्रत ६४।५९-६१

त्रिवर्ग = धर्म, अर्थ, काम २१।१८५

त्रिविष्टपपुर = स्वर्गपुरी ५।२३

त्रिशङ्क (भौ) एक नगर ४५।९५

त्रिशिरस् (व्य) कुण्डलगिरिके वज्रकूटपर रहनेवाला देव ५।६९०

त्रिशिरस् (व्य) रुचिकगिरिके स्वयंप्रभ कूटपर रहनेवाली देवी ५।७२०

त्रिशिखर (व्य) नभस्तिलक नगरका राजा २५।४१

त्रिशिरस् (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३७

त्रिषष्टि पुरुष (पा) त्रेसठ शलाका पुरुष, २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र १।११७

त्विष् = कान्ति १।११

[द]

दक्ष = चतुर १७।२

दक्ष (व्य) सुव्रतका पुत्र १७।२

दक्षप्रजापति (व्य) राजा दक्ष १।७८

दक्षिण = निपुण ३।१९३

दक्षिण = उदार प्रकृतिवाला ५४।३८

दक्षिणश्रेणी (भौ) विजयार्ध पर्वत की दक्षिण दिशावर्ती कगार जिसपर ५० नगर स्थित हैं ५।२३

दक्षिणार्धकूट (भौ) ऐरावतके विजयार्धका आठवाँ कूट ५।१११

[ध]

निर्वर्तना (पा) अजीवाधिकरण आस्रवका भेद ५८।८६
निर्विचिकित्सा = बिना किसी ग्लानिके १८।१६५
निर्वाण = मोक्ष १।१२५
निर्वाण (पा) आग्रायणी पूर्वकी वस्तु १०।८०
निर्विण्ण = विरक्त १।१२१
निर्वृति (व्य) प्रतिमाओंके समीप विद्यमान एक देवी ५।३६३
निर्वृति = एक विद्या २२।६५
निर्वृत्ति (पा) इन्द्रियाकार पुद्गल का परिणमन १८।८५
निशान्त = घर ३५।१
निशान्त = प्रातःकाल ३५।११
निशुम्भ (व्य) चौथा प्रतिनारायण ६०।२९१
निश्चयकाल (पा) लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर स्थित अमूर्तिक कालाणु ७।३
निष्कषाय (व्य) आगामी तीर्थंकर ६०।५६०
निषद्यका (पा) = अङ्ग बाह्यश्रुत का एक भेद २।१०५
निषध (व्य) निषध देशका राजा ५०।१२४
निषध (भौ) जम्बूद्वीपका तीसरा कुलाचल ५।१५
निषध (भौ) निषध पर्वतसे उत्तर की ओर नदीके मध्य स्थित एक ह्रद ५।१९६
निषध (भौ) नन्दनवनका एक कूट ५।३२९
निषध (व्य) एक राजा ५०।८३
निषध (व्य) बलदेवका पुत्र ४८।६६
निषध कूट (भौ) निषधाचलका दूसरा कूट ५।८८
निषाद = एक स्वर १९।१५३
निषाद = भील ३५।६
निषादजा = षड्ज स्वरसे सम्बन्ध रखने वाली जाति १९।१७४
निष्कम्प (व्य) विजयका पुत्र ४८।४८
निष्क्रमण = दीक्षाकल्याणक २।५५
निष्काम = तालगत गान्धर्वका एक प्रकार १९।१५०
निष्क्रान्त = दीक्षित हो गया १८।१७८
निसर्गक्रिया (पा) एक क्रिया ५८।७५
निसर्ग (पा) अजीवाधिकरण आस्रवका भेद ५८।८६
निसृष्ट (भौ) चौथी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी आर इन्द्रकको पूर्व दिशामें स्थित महानरक ४।१५५
निहतशत्रु (व्य) शतधनुके वंश का एक राजा १८।२१
निह्नव (पा) ज्ञाना० और दर्शना० का आस्रव ५८।९२
नील (भौ) छठी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी हिम इन्द्रक की पूर्व दिशामें स्थित महा नरक ४।१५७
नील (व्य) नीलवान् विद्याधरका पुत्र २३।४
नील (भौ) जम्बूद्वीपका छठा कुलाचल ५।१५
नीलक (व्य) रुचकगिरिके श्रीवृक्ष कूटका निवासी देव ५।७०२
नीलकण्ठ (व्य) नीलका पुत्र २३।७
नीलकण्ठ (व्य) आगामी प्रतिनारायण ६०।५७०
नीलकण्ठ (व्य) एक विद्याधर राजा २५।६३
नीलकूट (भौ) नील कुलाचलका दूसरा कूट ५।९९
नीलगुहा (भौ) राजगृहके समीपवर्ती एक गुफा ६०।३७
नीलयशा (व्य) सिंहदंष्ट्र और नीलाञ्जनाकी पुत्री २२।११३
नीलयशा (व्य) वसुदेवकी स्त्री १।८२
नीलाञ्जना (व्य) नीलवान् विद्याधरकी पुत्री २३।४
नीललेश्या = लेश्याका एक भेद ४।३४३
नीलाञ्जना (व्य) सिंहदंष्ट्रकी स्त्री २२।११३
नीलाञ्जना (व्य) इन्द्रकी नर्तकी ९।४७
नीलवान् (व्य) शकटामुख नगर का स्वामी विद्याधर २३।३
नीलवान् (भौ) नील कुलाचलसे साढ़े पाँच-सौ योजन दूर नदीके मध्यमें स्थित एक ह्रद ५।१९४

[प]

पङ्क (भौ) छठी पृथिवीके हिम नामक इन्द्रकी दक्षिण दिशामें स्थित महानरक ४।१५७
पङ्कप्रभा (भौ) चौथी पृथिवी ४।४४
पङ्कबहुल (भौ) रत्नप्रभा पृथिवीका दूसरा भाग ४।४८
पक्ष (पा) व्यवहार कालका भेद १५ दिनका पक्ष होता है ७।२१
पण्डक = नपुंसक ३।११३
पञ्चकल्याणविधि (पा) एक व्रतका नाम ३४।१११
पञ्चम (पा) एक स्वरका नाम १९।१५३

[भ]

मलय (भौ) एक देश ३।१५७
मलय (व्य) अचलका पुत्र ४८।४९
मलय (व्य) कालयवनका हाथी ५२।२९
मलयाद्रि (भौ) दक्षिणदिशाका एक पर्वत जिसपर चन्दन होता है ५४।७४
मल्ल (भौ) देशका नाम ११।६८
मल्लि (व्य) मुनिसुव्रत नामका प्रथम गणधर ६०।३४८
मल्लि (व्य) मल्लिनाथ नामक उन्नीसवें तीर्थङ्कर १।२०
मसारगल्ल (भौ) रत्नप्रभाके खरभागका पाँचवाँ भेद ४।५३
मस्तक (भौ) देशका नाम ११।६८
महाकक्ष (भौ) वि. द. नगरी २२।९७
महाकच्छ (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६८
महाकच्छा (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२४५
महाकल्प (पा) अङ्गबाह्यश्रुतका एक भेद २।१०४
महाकाक्ष (भौ) प्रथम पृथिवी-सम्बन्धी प्रथम प्रस्तारके सीमन्तक इन्द्रकी पश्चिम दिशामें स्थित महानरक ४।१५१
महाकाल (व्य) उज्जयिनीका एक वन ३३।१०२
महाकाल (भौ) सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान इन्द्रककी पश्चिम दिशामें स्थित महानरक ४।१५८
महाकाल (पा) चक्रवर्तीकी निधि ११।११०
महाकाल (व्य) मधुपिङ्गल मुनि मरकर महाकाल देव हुआ २३।१२६
महाकाल (व्य) कालोदधिका रक्षक देव ५।६३८
महाकाल (व्य) छठा नारद
महाकाली = एक विद्या २२।६६
महागन्ध (व्य) इक्षुवर समुद्रका रक्षक देव ५।६४४
महागिरि (व्य) हरिका पुत्र १५।५९
महागौरी = एक विद्या २२।६२
महाचन्द्र (व्य) आगामी बलभद्र ६०।५६८
महाजय (व्य) जरासन्धका पुत्र ५२।३८
महाज्वाल (भौ) वि. उ. नगरी २२।९०
महादुःख (भौ) तीसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी तप्त नामक इन्द्रककी पश्चिम दिशामें स्थित महानरक ४।१५४
महादेवी = पट्टराज्ञी १।११५
महाद्युति (व्य) यादव ५०।१२१
महाधि = भारी मानसिक दुःख ५५।१९
महाधनु (व्य) बलदेवका पुत्र ४८।६८
महानन्द (व्य) एक राजा
महातमःप्रभा (भौ) नरकोंकी सातवीं भूमि ४।४५
महानाग (व्य) जरासन्धका पुत्र ५२।३८
महानाद (व्य) जरासन्धका पुत्र ५२।३४
महानिष्ठ (भौ) दूसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी तरक इन्द्रक बिलकी पूर्वदिशामें स्थित महानरक ४।१५३
महानिरोध (भौ) चौथी पृथिवी-के प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी आर इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित महानरक ४।१५५
महानील (भौ) छठी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी हिम इन्द्रककी पश्चिम दिशामें स्थित महानरक ४।१५७
महानुभाव (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६९
महानेमि (व्य) यादव ५०।१२०
महानेमि (व्य) एक यदुवंशी राजा ५०।८३
महानेमि (व्य) समुद्रविजयका पुत्र ४८।४३
महानेमिकुमार (व्य) कृष्णके पक्षका योद्धा ५२।१४
महापङ्का (भौ) छठी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी हिम इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित महानरक ४।१५७
महापद्म (व्य) नवम चक्रवर्ती ६०।२८७
महापद्म (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३८
महापद्म (व्य) कुण्डलगिरिके सुप्रभ कूटका निवासी देव ५।६९२
महापद्म (भौ) महाहिमवत् कुलाचलका ह्रद ५।१२१
महापद्म (व्य) आगामी चक्र-वर्ती ६०।५६५
महापद्म (व्य) आगामी तीर्थं-कर ६०।५५८
महापद्मा (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४९
महापुण्डरीक (भौ) रुक्मिकुला-चलका ह्रद ५।१२१
महापुण्डरीक (पा) अङ्गबाह्य-श्रुतका एक भेद २।१०४

महापुर (भौ) वि. उ. नगरी २२।९१

महापुर (भौ) एक नगर, जहाँ वसुदेव गये थे २४।३७

महापुरी (भौ) विदेहकी एक नगरी ५।२६१

महाप्रभ (व्य) क्षीरवर द्वीपका रक्षक देव ५।५४२

महाप्रभ (भौ) कुण्डलगिरिका दक्षिण दिशाका कूट ५।६९२

महाबल (व्य) एक विद्याधर ६०।१८

महाबल (व्य) भगवान् ऋषभदेवका पूर्वभव ९।५८

महाबल (व्य) एक राजा ५०।१२५

महाबल (व्य) सोमयशका पुत्र १३।१६

महाबल (व्य) सुबलका पुत्र १३।८

महाबल (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६६

महाबल (व्य) आगामी नारायण ६०।५६६

महाबाहु (व्य) विनमिका पुत्र २२।१०५

महाबाहु (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३४

महाभानु (व्य) कृष्णका पुत्र ४८।६९

महाभुज (व्य) कुण्डलगिरिके कनकप्रभकूटका निवासी देव ५।६९०

महाभीम (व्य) दूसरा नारद ६०।५४८

महामालिन् (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।४०

महारथ (व्य) कुरुवंशका एक राजा ४५।२८

महारथ (व्य) वसुदेव और अवन्तीका पुत्र ४८।६४

महारथ (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६६

महाराज (व्य) कुरुवंशका एक राजा ४५।१५

महारुद्र (व्य) चौथा नारद ६०।५४८

महारौरव (भौ) सातवीं पृथिवी-के अप्रतिष्ठान इन्द्रककी उत्तरदिशामें स्थित महानरक ४।१५८

महालता (पा) चौरासी लाख महालताङ्गोंकी एक महालता होती है ७।२९

महालताङ्ग (पा) चौरासी लाख लताओंका एक महालताङ्ग होता है ७।२९

महावत्सा (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७

महावप्रा (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२५१

महावसु (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३२

महावसु (व्य) राजा वसुका पुत्र १७।५८

महाविन्ध्य (भौ) दूसरी पृथिवी-के प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित, महाभयानक नरक ४।१५३

महाविमर्दन (भौ) पाँचवीं पृथिवीके प्रथम प्रस्तार-सम्बन्धी तम इन्द्रककी उत्तर दिशामें स्थित महानरक ४।१५६

महावीर (व्य) अन्तिम तीर्थंकर २।१८

महावेदन (भौ) तीसरी पृथिवीके प्रथम प्रस्तारसम्बन्धी तप्त नामक इन्द्रक बिलकी उत्तर दिशामें स्थित महानरक ४।१५४

महाव्रत (पा) हिंसा आदि पाँच पापोंका सर्वदेश त्याग करना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म-चर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महाव्रत हैं २।११७

महाविरस् (व्य) कुण्डलगिरिके कनककूटपर रहनेवाला देव ५।६९०

महाशुक्र (भौ) दसवाँ स्वर्ग ४।२५

महाशुक्र (व्य) जरासन्धका पुत्र ५२।३३

महाशुक्र (भौ) दसवाँ स्वर्ग ६।३७

महाश्वेता—एक विद्या २२।६३

महासर (व्य) कुरुवंशका एक राजा ४५।२९

महासर्वतोभद्र = एक उपवास व्रत ३४।५७-५८

महासेन (व्य) भोजकवृष्णि और पद्मावतीका पुत्र १८।१६

महासेन (व्य) जरासंधका पुत्र ५२।३८

महासेन (व्य) कृष्णकी लक्ष्मणा स्त्रीका भाई ४४।२५

महासेन (व्य) उग्रसेनके चाचा शान्तनका पुत्र ४८।२४०

महासेन (व्य)—एक आचार्य १।३३

महासेन (व्य) कृष्णका पुत्र ४८।७०

महासेन (व्य) एक राजा ५०।१३१

महाहिमवत् (भौ) जम्बूद्वीपका दूसरा कुलाचल ५।१५

[य]

योगनिषद्यानिषद्यान (पा) सामायिक व्रतके अतिचार, इसके तीन भेद हैं ५८।१८०
योजन (पा) आठ हजार दण्डका एक योजन ७।४६
योजन (पा) अकृत्रिम चीजोंके मापमें दो हजार कोशका एक योजन होता है और कृत्रिम चीजोंके मापमें चार कोशका ४।३६
योजनगन्धा (व्य) शन्तनुकी स्त्री ४५।३१
यौनिविकल्प = सचित्त, अचित्त, सचित्ताचित्त, शीत, उष्ण, शीतोष्ण, संवृत, विवृत, संवृत, विवृत ये नौ योनियाँ २।११६
योषित् = स्त्री २।८

[र]

रक्तकम्बला (भौ) पाण्डुकवनके वायव्यमें स्थित शिला ५।३४७
रौरव (भौ) सातवीं पृथिवीके अप्रतिष्ठान इन्द्रकको दक्षिण दिशामें स्थित महानरक ४।१५
रुक्मि कूट (भौ) रुक्मिकुलाचल का दूसरा कूट ५।१०२
रुक्मिन् (भौ) जम्बूद्वीपका छठा कुलाचल ५।१५
रवि (व्य) राजा वसुका पुत्र १७।५९
रोहिणी (पा) पाँच-सौ महाविद्याओंमें-से एक १०।११५
रौहिणी (व्य) अरिष्टपुरके राजा रुधिरकी पुत्री ३१।११
रौरुक (भौ) रत्नप्रभा पृथिवीके तृतीय प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।७६
रूपगता (पा) दृष्टिवाद अङ्गके चूलिकाभेदका उपभेद १०।१२३
रूपसत्य (पा) दश प्रकारके सत्योंमें-से एक सत्य १०।९९
रुचकवर (भौ) अन्तिम सोलह द्वीपोंमें सातवाँ द्वीप ५।६२३
रोहितकूट (भौ) हिमवत् कुलाचलका सातवाँ कूट ५।५४
रोहितास्यकूट (भौ) महा हिमवत् कुलाचलका चौथा कूट ५।७१
राजीमती (व्य) भगवान् नेमिनाथ का जिसके साथ विवाह होनेवाला था १।११४
रम्या (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७
रम्यक (भौ) जम्बूद्वीपके नील और रुक्मिकुलाचलके मध्यमें स्थित पाँचवाँ क्षेत्र ५।१३
रोहिणी (व्य) वसुदेवकी स्त्री १।८६
रोहिणी = एक विद्या २७।१३१
रोहित, लोहिताङ्क, (व्य) लवणसमुद्रमें उदक और उदवास पर्वतोंके निवासी दो देव ५।४६३
रोहितास्या (भौ) एक महानदी ५।१२३
रोहया (रोहित) (भौ) चौदह महानदियोंमें एक नदी ५।१२३
रेवती (व्य) अरिष्टपुरनिवासी रेवतकी पुत्री बलदेवकी स्त्री ४४।४१
रेवती (व्य) एक धाय ३३।१४४
रवि (व्य) रविषेणाचार्य १।३४
रेवत (व्य) अरिष्टपुरके राजा हिरण्यनाभका बड़ा भाई ४४।४०
रमणीया (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७
रम्यककूट (भौ) नीलकुलाचल का आठवाँ कूट ५।१०१
रम्यककूट (भौ) रुक्मिकुलाचल का तीसरा कूट ५।१०२
रम्यका (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७
रम्यपार्वतेय (भौ) वि० उ० नगरी २२।९८
रुक्मी (व्य) कुण्डिनपुरके राजा भीष्मका पुत्र रुक्मिणीका भाई ४२।३४
रुक्मी (व्य) एक राजा ५०।७८
रुक्मिणी (व्य) कुण्डिनपुरके राजा भीष्मकी पुत्री कृष्णकी पट्टराज्ञी ४२।३४
रजोबहुल = पापसे युक्त, पक्षमें धूलिसे परिपूर्ण
रैवतकगिरि = गिरनार पर्वत ४२।९६
रोचनकूट (भौ) मेरुसे उत्तर सीता नदीके पूर्व तटपर स्थित एक कूट ५।२०८
रजत, रजतप्रभ (भौ) कुण्डल गिरिके दक्षिण दिशासम्बन्धी कूट ५।६९१
रजत (भौ) नन्दनवनका एक कूट ५।३२९
रजत (भौ) रुचकगिरिका उत्तर दिशासम्बन्धी कूट ५।७१६
रजतकूट (भौ) मानुषोत्तरकी पश्चिम दिशाका एक कूट ५।६०५
रजक (भौ) नन्दनवनका एक कूट ५।३२९

वज्रमय (भौ) मेरुकी एक परिधि ५।३०५
वज्रमुख (भौ) पद्मसरोवरका वह द्वार जिससे गङ्गा निकली है ५।१३६
वज्रमुखकुण्ड (भौ) पृथिवीपर स्थित एक कुण्ड जिसमें गङ्गा गिरती है। ५।१४२
वज्रमुष्टि (व्य) एक पुरुष ६०।५१
वज्रमुष्टि (व्य) दृढ़मुष्टि और वप्रश्रीका पुत्र ३३।१०४
वज्रायुध (व्य) चक्रायुध और चित्रमालाका पुत्र (राजा सिंहसेनका जीव)
वज्रायुध (व्य) वज्रध्वजका पुत्र १३।२२
वज्रवर (भौ) अन्तिम सोलह द्वीपोंमें नौवाँ द्वीप ५।६२४
वज्रवान् (व्य) वज्रभानुका पुत्र १३।२३
वज्रसुन्दर (व्य) वज्राङ्कका पुत्र १३।२३
वज्रसूरि (व्य) एक प्राचीन आचार्य १।३२
वज्रसेन (व्य) वज्रजङ्घका पुत्र १३।२१
वज्रा (भौ) रत्नप्रभाके खरभागका दूसरा पटल ४।५२
वज्राङ्क (व्य) वज्रबाहुका पुत्र १३।२३
वज्राभ (व्य) वज्रभृत्का पुत्र १३।२३
वज्रास्य (व्य) वज्रसुन्दरका पुत्र १३।२३
वटपुर (भौ) एक नगर ४३।१६३
वडवामुख (भौ) लवणसमुद्रका दक्षिण दिशास्थित पाताल ५।४४३
वणिज्या = व्यापार १८।९९
वत्स (भौ) देशविशेष ११।७५
वत्सकावती (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७
वत्सदेश (भौ) प्रयागका समीपवर्ती प्रदेश १४।१
वत्समित्रा (व्य) दिक्कुमारी देवी ५।२२७
वत्सा (भौ) पूर्वविदेहका एक देश ५।२४७
वतंसकूट (भौ) मेरुसे उत्तर सीता नदीके पश्चिम तटपर स्थित एक कूट ५।२०८
बदर = बेर ७।६९
वध (पा) असातावेदनीयका आस्रव ५८।९३
वनक (भौ) शर्कराप्रभा पृथिवीके चतुर्थप्रस्तारका इन्द्रकबिल ४।१०८
वनमाला (व्य) कौशाम्बीकी एक स्त्री १४।५१
वनमाल (भौ) सानत्कुमार युगलमें दूसरा इन्द्रक ६।४८
वनवास्य (भौ) चरमके द्वारा बसाया हुआ एक नगर १७।२७
वन्दना = आवर्त तथा शिरोनति आदिकी क्रिया करना ३४।१४४
वन्दना (पा) अङ्गबाह्य श्रुतका एक भेद २।१०२
बन्धुमती (व्य) हस्तिनापुरके सेठकी स्त्री ३३।१४१
वप्रश्री (व्य) दृढ़मुष्टिकी स्त्री ३३।१०३
वप्रा (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२५१
वप्रकावती (भौ) पश्चिम विदेहका एक देश ५।२५१
वप्रथु (व्य) सुमित्रका पुत्र १८।१९
वर (पा) स्फटिक सालका पूर्व गोपुर ५७।५७
वरकुमार (व्य) कुरुवंशका एक राजा ४५।१७
वरदत्त (व्य) नेमिनाथ भगवान्का प्रथम गणधर ५८।२
वराङ्गचरित (व्य) जटासिंहनन्दीका एक काव्य ग्रन्थ १।३५
वराङ्गना = वेश्या १।३५
वर्चक (भौ) रत्नप्रभाके खर भागका पन्द्रहवाँ पटल ४।५४
वर्चस्क (भौ) पङ्कप्रभा पृथिवीके चतुर्थ प्रस्तारका इन्द्रक बिल ४।१३२
वराट (व्य) एक राजा ५०।८३
वर्ण = पदगत गान्धर्वकी विधि १९।१४९
वर्ण = शारीरस्वरका भेद १९।१४८
वर्ण (व्य) कौशिका नगरीका राजा ४२।६१
वर्ण = वैणस्वरका एक भेद १९।१४७
वर्णाश्रम = ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम ५४।३
वरुण (व्य) देवविशेष (लोकपाल) ५।३१७
वरुण (व्य) जरासन्धका पुत्र ५२।३९
वरुण (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६५
वरुण (व्य) वारुणीवर द्वीपका रक्षक देव ५।६४०
वरुण (व्य) कंसका हितैषी एक निमित्तज्ञ ३५।३७

स्वाध्याय = शास्त्राध्ययन करते हुए अपनी आत्माका अध्ययन करना १।६९

स्वायम्भुव (व्य) ऋषभदेवका गणधर १२।६४

स्वार्थसम्पन्न (वि) आत्महितसे युक्त १।९

स्वस्थिता (व्य) रुचकगिरिके अमोघ कूटपर रहनेवाली देवी ५।७०८

[ह]

हंस = बतखके आकारका एक जलपक्षी, जो बड़ी-बड़ी झीलोंमें रहता है ८।१४४

हंसगर्भ (भौ) विजयार्ध उत्तर-श्रेणीकी एक नगरी २२।९१

हरि (व्य) राजा आर्य और मनोरमाका पुत्र १५।५७

हरि (व्य) कृष्ण ३५।२२

हरि = मर्कट ५५।११७

हरि = सिंह ५५।११७

हरि = विष्णु ५५।११७

हरि = इन्द्र ५५।११७

हरिकण्ठ (व्य) दूसरा प्रति-नारायण ६०।५६९

हरिचन्द्र (व्य) कृष्णचन्द्र ५४।७३

हरिक्षेत्र (भौ) जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोंमें एक क्षेत्र ५।१३

हरिकण्ठ (व्य) हयग्रीवका दूसरा मन्त्री २८।४३

हरिण = हिरनकी एक जाति ८।१३७

हरिकान्त (भौ) महाहिमवान्के आठ कूटोंमें-से एक कूट ५।७२

हरिकान्ता (भौ) महा पद्महृदसे निकली हुई एक नदी ५।१३३

हरित् (भौ) जम्बूद्वीपकी एक नदी ५।१२३

हरिवर्ष (भौ) महाहिमवान्के आठ कूटोंमें-से एक कूट ५।७२

हरिद्वती (भौ) विजयार्ध दक्षिण श्रेणीकी एक नदी २७।१३

हरिवर्ष (भौ) निषध पर्वतके नौ कूटोंमें-से एक कूट ५।८८

हरिषेण (व्य) मिथिलाके राजा देवदत्तका पुत्र १७।३४

हरिवंश = भगवान् नेमिनाथका वंश १।७१

हरिवंश = जैनपुराण १।५१

हरिविष्टर = सिंहासन ३८।१६

हरिशक्तिः = हरेः सिंहस्येव शक्तिर्यस्य सः ३६।४३

हरिश्चन्द्र (व्य) आगामी नौ बलभद्रोंमें-से पाँचवाँ बलभद्र ६०।५६८

हरिषेण (व्य) दसवाँ चक्रवर्ती ६०।५१२

हरिषेणा (व्य) अयोध्याके राजा श्रीषेणकी श्रीकान्ता स्त्रीसे उत्पन्न कन्या ६४।१३०

हरिश्मश्रु (व्य) राजा अश्वग्रीव-का मन्त्री २८।३२

हरिश्मश्रु (व्य) राजा विनमिका पुत्र २२।१०४

हरिचन्द्र (व्य) एक मुनि २७।८३

हरिसह कूट (भौ) विद्युत्प्रभ पर्वतपर स्थित नौ कूटोंमें-से एक कूट ५।२२३

हरिसह कूट (भौ) माल्यवान् पर्वतपर स्थित नौ कूटोंमें एक कूट ५।२२०

हस्तिनायक (भौ) विजयार्ध उत्तर श्रेणीकी एक नगरी २२।८७

हस्तन्यास = धरोहर १७।७९

हस्तसंवाहन = हाथ दबाना ८।४६

हस्तप्रहेलिका (भौ) चौरासी लाख चिरःप्रकम्पितोंकी एक हस्तप्रहेलिका होती है ७।३०

हलधर = बलभद्र २५।३५

हलभृद् (व्य) बलदेव ३६।१६

हलायुध (व्य) बलदेव ३५।६२

हली (व्य) बलभद्र १।१२७

हायन = वर्ष ५२।२०

हार = एक आभूषण ७।८९

हारिद्र (भौ) इकतीस पटलोंमें-से एक पटल ६।४६

हारी (व्य) इन्द्रका आज्ञाकारी एक देव ३३।१६९

हारी = एक विद्या २२।६३

हास्तिन (भौ) विजयार्ध उत्तर श्रेणीकी एक नगरी २२।८७

हास्तिविजय (भौ) विजयार्ध उत्तर श्रेणीकी एक नगरी २२।८६

हास्तिनपुराधीश = हस्तिनापुर-का राजा १२।१०

हिंसा = प्रमत्तयोगात् प्राणव्य-परोपणं हिंसा (त० सू० ७।१३) ५८।१२७

हिंसाभ्युदास = हिंसाका त्याग १७।१६४

हिडम्ब (व्य) विन्ध्याचलके सन्ध्याकार नामक नगरका एक वंश ४५।११४

हिमवान् (व्य) अन्धकवृष्णिका सुभद्रासे उत्पन्न पुत्र १८।१३

हिमपुर (भौ) विजयार्ध दक्षिण श्रेणीकी नगरी २२।९८

हिमवान् (भौ) जम्बूद्वीपका एक पर्वत ५।१५

चौबीस तीर्थंकर सम्बन्धी विवरण

शान्तिनाथ	कुन्थुनाथ	अरनाथ	मल्लिनाथ	मुनिसुव्रत
सर्वार्थसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि	अपराजित	अपराजित	आनत
हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	नागपुर (ह० पुर)	मिथिला	राजगृह
विश्वसेन	सूरसेन (सूर्यसेन)	सुदर्शन	कुम्भ	सुमित्र
ऐरा	श्रीमती	मित्रा	प्रभावती	पद्मा
ज्येष्ठ शुक्ला १२	वैशाख शुक्ला १	मार्गशीर्ष शुक्ला १४	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	आश्विन शुक
भरणी	कृत्तिका	रोहिणी	अश्विनी	श्रवण
इक्ष्वाकु	कुरु	कुरु	इक्ष्वाकु	यादव
१ लाख वर्ष	९५००० वर्ष	८४००० वर्ष	५५००० वर्ष	३०००० वर्ष
२५००० वर्ष	२३७५० वर्ष	२१००० वर्ष	११००० वर्ष	७५०० वर्ष
४० धनुष	३५ धनुष	३० धनुष	२५ धनुष	२० धनुष
सुवर्णवर्ण	सुवर्णवर्ण	सुवर्णवर्ण	सुवर्णवर्ण	नीलवर्ण
५०००० वर्ष	४७५०० वर्ष	४२००० वर्ष	राज्य नहीं किया	१५००० वर्ष
हरिण	छाग	तगरकुसुम	कलश	कछवा
जातिस्मरण	जातिस्मरण	मेघविनाश	अध्रुवादि भावना	जातिस्मरण
ज्येष्ठ कृ० ४	वैशाख शु० १	मार्गशीर्ष शु० १०	मार्गशीर्ष शु० ११	वैशाख कृ०
भरणी	कृत्तिका	रेवती	अश्विनी	श्रवण
आम्र	सहेतुक	सहेतुक	शालि	नील
तृतीय उपवास	तृतीय भक्त	तृतीय भक्त	षष्ठ भक्त	तृतीय उपवा
अपराह्न	अपराह्न	अपराह्न	पूर्वाह्न	अपराह्न
१०००	१०००	१०००	३००	१०००
१६ वर्ष	१६ वर्ष	१६ वर्ष	६ दिन	११ मास
पौष शु० ११	चैत्र शु० ३	कार्तिक शु० १२	फाल्गुन कृ० १२	फाल्गुन कृ०
अपराह्न	अपराह्न	अपराह्न	अपराह्न	पूर्वाह्न
आम्रवन	सहेतुक वन	सहेतुक वन	मनोहर	नील वन
भरणी	कृत्तिका	रेवती	अश्विनी	श्रवण
४॥ योजन	४ योजन	३॥ योजन	३ योजन	२॥ योजन
नन्दी	तिलक	आम्र	अशोक	चम्पक
गरुड़	गन्धर्व	कुबेर	वरुण	भृकुटी
मानसी	महामानसी	जया	विजया	अपराजिता
२४९८४ वर्ष	२३७३४ वर्ष	२०९८४ वर्ष	५४८९९ वर्ष ११ मास २४ दिन	७४९९ वर्ष
३६	३५	३०	२८	१८
चक्रायुध	स्वयम्भु	कुम्भ	विशाख	मल्लि

तनाथ	नमिनाथ	नेमिनाथ	पार्श्वनाथ	वर्द्धमान
	अपराजित	अपराजित	प्राणत	पुष्पोत्तर
	मिथिलापुरी	शौरीपुर	वाराणसी	कुण्डलनगर
	विजय	समुद्रविजय	अश्वसेन	सिद्धार्थ
	वप्रिला	शिवदेवी	वर्मिला	प्रियकारिणी
क्ला १२	आषाढ़ शुक्ला १०	वैशाख शुक्ला १३	पौष कृष्णा ११	चैत्र शुक्ला १३
	अश्विनी	चित्रा	विशाखा	उ० फाल्गुनी
	इक्ष्वाकु	यादव	उग्र	नाथ
	१०००० वर्ष	१००० वर्ष	१०० वर्ष	७२ वर्ष
	२५०० वर्ष	३०० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
	१५ धनुष	१० धनुष	९ हाथ	७ हाथ
	सुवर्णवर्ण	नीलवर्ण	हरितवर्ण	सुवर्णवर्ण
	५००० वर्ष	राज्य नहीं किया	राज्य नहीं किया	राज्य नहीं किया
	नील कमल	शंख	सर्प	सिंह
	जातिस्मरण	जातिस्मरण	जातिस्मरण	जातिस्मरण
१०	आषाढ़ कृ० १०	श्रावण शु० ६	माघ शु० ११	मार्गशीर्ष कृ० १०
	अश्विनी	चित्रा	विशाखा	उत्तरा
	चैत्र	सहकार	अश्वत्थ	नाथ
स	तृतीय भक्त	तृतीय भक्त	षष्ठ भक्त	तृतीय भक्त
	अपराह्न	अपराह्न	पूर्वाह्न	अपराह्न
	१०००	१०००	३००	एकाकी
	९ मास	५६ दिन	४ मास	१२ वर्ष
६	चैत्र शु० ३	आश्विन शु० १	चैत्र कृ० ४	वैशाख शु० १०
	अपराह्न	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न	पूर्वाह्न
	चैत्रवन	ऊर्जयन्तगिरि	शक्रपुर	ऋजुकूलातीर
	अश्विनी	चित्रा	विशाखा	मघा
	२ योजन	१॥ योजन	१। योजन	१ योजन
	बकुल	मेषशृंग	धव	शाल
	गोमेध	पार्श्व	मातंग	गुह्यक
	बहुरूपिणी	कूष्माण्डी	पद्मा (पद्मावती)	सिद्धायनी
१ मास	२४९१ वर्ष	६९९ वर्ष १० मास ४ दिन	६९ वर्ष ८ मास	३० वर्ष
	१७	११	१०	११
	सुप्रभ	वरदत्त	स्वयम्भु	इन्द्रभूति